

गुजरेश्वर-सिद्धराजे गुजरातना पाटनगर पाटण शहेरमा "श्रीसिद्धहेमचन्द्र  
 शब्दानुशासनम्" महाव्याकरण ग्रन्थरत्ने हस्ति-रत्न उपर  
 पधरावीने सन्मालपूर्वक करेल-स्वागत ।

खपरसिद्धान्त-सिन्धुमन्थनमन्दरायमाणशब्दाऽवतारकलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्र-

सूरीश्वरविरचितं खोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकासुशोभितं पन्त्यासप्रवरश्रीचन्द्र-

सागरगणीन्द्रविनिर्मिताऽऽनन्दबोधिनीवृत्तिविभूषितम्

## ॥ श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ॥

तस्याऽयं

संज्ञा-सन्धि-नाम-कारकपर्यन्तः प्रथमो विभागः ।

संशोधकः सम्पादकः श्रीआनन्दबोधिनीवृत्तिकारश्च

पन्त्यासप्रवर-श्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रः ।

प्रकाशयित्री—

‘श्रीसिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति’ इति संस्था.

२५-२७, धनजी-स्ट्रीट, मुंबई नं. ३

तस्याः प्रधानसंचालकः—

रूपचन्द्रात्मजः पानाचन्द्रः झव्हेरी

मूल्य ५०/-

वीरसंवत्-२४७२ ]

प्रथमाऽऽवृत्तिः—१००० प्रतयः

[ विक्रमसंवत्-२००२

श्रीवर्द्धमान जैन-आगममन्दिर-संस्थापकाः आगमोद्धारकाः



आचार्यदेवेश श्रीआनन्दसागरसूरीश्वराः



प्रातःस्मरणीय-परमवन्दनीय-पूज्यपादाना श्रीदेवसूरतपागच्छसरक्षकाणा श्रीजैनागमोदयसमिति-श्रीवर्द्धमान-  
 जैनागममन्दिरसंस्थासंस्थापकाना सकल-गीतार्थसार्वभौमेश्वराणा शासनप्रभावकमण्डलाधिपानामाद्य-  
 प्रावचनिकाना वर्तमानकालीनसम्पूर्णबहुश्रुतधराणामागमाद्युद्धरणैकवद्धकक्षागमोद्धारका-  
 णामस्मद्गुरुवर्याणामाचार्यश्रीआनन्दसागरसूरीश्वराणां सर्वज्ञकथितस्याद्वाद-  
 सिद्धान्तमुद्रामुद्रिताऽऽगमस्थितमहाप्रभावशालिविविधसूत्रार्थरहस्यानि  
 द्रव्य-क्षेत्रकालभावोत्सर्गादितलस्पर्शीयरीत्या ज्ञात्वा ज्ञापयित्वा  
 च विश्वविश्वविख्यातवर्तमानकालीनगीतार्थसार्वभौमता  
 सम्पूर्णबहुश्रुतताऽऽद्यप्रावचनिकता च विद्वज्जनजैन-  
 जैनैतरहृद्यहृद्यान्वयौ विनेयप्रविनेयविनीत-  
 हृदयवारिधौ च पुनः पुनः  
 परिस्फुटी भवन्ति ।

विशेषतो वादिसर्पदर्पमर्दनचण्डप्रचण्डभूजदण्डमयूराणां श्रीमतामागमोद्धारकाणा गुरुवर्याणा पूज्यपादाना  
 पवित्रकरकमले तत्त्वप्रकाशिकावृत्त्या भवन्नामसार्थकीभूताऽऽनन्दबोधिनीवृत्त्या च विभूषित शब्दा-  
 वतारकलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरविनिर्मितश्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनस्य सज्ञा-  
 सन्धि-नाम-कारकादिप्रकरणसमावेशितप्रथम-विभागरूपमिदं 'श्रीहेमचन्द्राऽऽ-  
 नन्दग्रन्थाब्धि'नामग्रन्थरत्नाकरस्य द्वितीय ग्रन्थरत्न भवतामविस्मरण-  
 शीलानेकानेकोपकारोपकृतोऽहमनृणीकृतार्थं बहुमानप्रणतिपुरस्सरं  
 मया समर्प्यत इति शुभम् ।

भवस्वरणारविन्दचञ्चरीकः—

चन्द्रसागरः ।

## ॥ सम्पादकानां संस्मरणीय-शासनहितवर्द्धककार्याणि ॥

१	‘श्रीमुन्वर्द्धवर्द्धमान-तप-आयंवीलखातुं-’ इतिव्यवस्थितसस्थानामादिस्थापना वि० सं०	१९७९
२	‘श्रीसिद्धचक्राराधक-समाज’ मुंबई.                   ”                   ”                   ”	१९८०
३	‘श्रीवर्द्धमान-जैन-पाठशाला’ मुंबई.                   ”                   ”                   ”	१९८१
४	‘श्रीनवपदाराधक-समाज’ मुंबई                   ”                   ”                   ”	१९८४
५	‘श्रीचाणस्मा-वर्द्धमानतपआयंवीलखातुं’                   ”                   ”	१९८६
६	‘श्रीसिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति’ मुंबई.                   ”                   ”	१९८८
६	‘श्रीरतलाम-वर्द्धमानतपआयंवीलखातुं’                   ”                   ”	१९९३
७	‘श्रीऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढी-’उज्जैन                   ”                   ”	१९९३
८	‘श्रीहेमचन्द्रानन्दग्रन्थाब्धिः’ मुंबई इति साहित्यप्रकाशनसस्था                   ”	१९९८
९	‘श्रीवर्द्धमानतपसहायकसमिति’ अमदावाद                   ”                   ”	१९९८
१०	‘श्रीहेमचन्द्रकृतिकुसुमावली’ इति ग्रन्थसम्पादनम्                   ”                   ”	१९९८
११	‘श्रीसिद्धहेमचन्द्रवृहद्बृहत्स्यवचूर्णिः’ इति                   ”                   ”	१९९८
१२	श्रीसूत्रकृताङ्ग-द्वितीयाङ्गम्                   ”                   ”                   ”	१९९८
१३	श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्                   ”                   ”                   ”	१९९८
१४	श्रीआनन्दबोधिनीवृत्तिग्रन्थनम् ।                   ”                   ”	१९९८
१५	‘श्रीआनन्द-चन्द्र-किरणावलि’ उज्जैन इति साहित्यप्रकाशनसस्था.                   ”	१९९८
१६	‘अखिलभारतवर्षीय-श्रीवर्द्धमान-तपसहायकसमिति’ मुंबई                   ”                   ”	२०००
१७	‘श्रीहेमचन्द्राचार्यसाहित्यप्रचारकसमिति-’मुंबई                   ”                   ”	२००१
१८	‘श्रीवर्द्धमानतपोभाहात्म्यम्’ इति ग्रन्थलेखनम् ।                   ”                   ”	२००२

# ॥ श्रीहेमचन्द्राऽऽनन्दग्रन्थाब्धिः ॥

स्थापना—राजनगरे, वि० सं० १९९८

सर्वाधिकार—संरक्षितः ।

सस्थापकः सशोधकः सम्पादकश्च

श्रीसिद्धचक्राराधनतीर्थोद्धारक-पन्थासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रः ।

अस्मिन्नमूल्यग्रन्थरत्नाकरे 'श्रीहेमचन्द्राऽऽनन्दग्रन्थाब्धिः' इत्यभिधानविभूषिते विशेषतः शब्दावतार-कलिकाल-सर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिपुरन्दरविरचितानि गौरवशालिग्रन्थरत्नानि शासनमान्यपूज्यवर्याऽऽचार्याऽऽदिगुम्फिताऽमोघरत्नानि च नवीनसशोधात्मकसाहित्यप्रकाशनरीत्या सम्पादकेन सम्पाद्यन्ते, तदनन्तर प्रकाशकेन प्रकाश्यन्ते चेति ।

नवपदपीयूषपानोद्यतभव्यभावभावोद्बोधसूर्योदय-श्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाज-श्रीवर्द्धमानतप-आचामार्ल-संस्था-श्रीवर्द्धमानतपसहायकसमिति-श्रीसिद्धचक्राऽऽराधन-तीर्थ-सप्तक्षेत्रसरक्षणेकतत्परीभूत-श्रीऋषभदेवजी छगनीराम-जी की पेढी-उज्जैन' इत्यादिनामधेयानां सस्थाना कलिकालसर्वज्ञविरचितसाहित्यसशोधन-सपादन-प्रकाशन-प्रचारकाऽऽदि-कुशलकार्यैकबद्धकक्षीभूत—'श्रीहेमचन्द्रानन्दग्रन्थाब्धि'-'श्रीहेमचन्द्राचार्यसाहित्यप्रचारकसमिति'-'श्रीआनन्दचन्द्र-किरणावल्या'दीना प्रकाशनप्रचारिकाणां सकलसमीहित-पूरकसकलयत्न-तत्त्व-मन्त्राधिराजराजेश्वरश्रीसिद्धचक्राराधनतीर्था-द्युद्धरणानां चाऽनुक्रमेण शासनमान्यसस्थापकत्व, तीर्थोद्धारकत्व, सशोधकत्व, सम्पादकत्व, प्रचारकत्वं च सफली भवन्ति ।

प्रथम ग्रन्थरत्नम्—श्रीहेमचन्द्रकृतिकुसुमावली ।

द्वितीय ,, श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ( सज्ञा-सन्धि-नाम-कारकपर्यन्तः प्रथमविभागः ) ।

तृतीय ,, श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ( द्वितीयविभागः-निर्णयसागर-प्रेसमा ) ।

## ग्रन्थ-प्राप्तिस्थानानि—

१ श्रीहेमचन्द्राचार्यसाहित्यप्रचारकसमिति ।

ठि झवेरी जमनादास मोनजी, बुलीयन  
एक्सचेन्ज, झवेरीबजार, मुम्बई न २

३ श्रीऋषभदेवजी छगनीरामजी की पेढी ।

ठि श्रीसिद्धचक्राराधनतीर्थ, खाराकूआ, उज्जैन ।



२ श्रीसिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति ।

ठि. झवेरी पानाचन्द रूपचन्द, २५-२७,  
धनजी स्ट्रीट, मुम्बई न. ३ ।



४ श्रीमेघराज-जैनपुस्तकमण्डार ।

ठि. पायधुनी, गोडीजीनी चाल, मुम्बई नं ३

## ॥ प्रस्तावनाना पुनीत-प्रकरणो ॥

- अ मानवजीवननी दुर्लभता अने सहकारिसयोगीनी दुर्लभता ॥ १ ॥
- आ मार्गदर्शक साहित्यखजानो ॥ २ ॥
- आ साहित्यसरक्षण ॥ ३ ॥
- ई पठन-पाठन अने परिशीलननी जरूरत ॥ ४ ॥
- ” भाषाज्ञाननी व्यवस्था करनार व्याकरण ॥ ५ ॥
- उ साङ्गोपाङ्ग सस्कृतभाषाज्ञाननी अनिवार्य जरूरत ॥ ६ ॥
- ऊ सस्कृतभाषानु प्राथमिक पठन-पाठन थवु ज जोहए ॥ ७ ॥
- ऋ प्रेरणात्मक प्रार्थनाए प्रकटावेल प्रधानतम व्याकरण ॥ ८ ॥
- ऌ अखिलभारतवर्षनु प्रधानतम व्याकरण ॥ ९ ॥
- ए त्रिविधदोषोथी दूषित शब्दानुशासनसमूह ॥ १० ॥
- ओ अनुकरणरूपे रचयेली सिद्धान्तकौमुदी ॥ ११ ॥
- औ प्रधानतम-व्याकरण प्रति अनादरताना मुख्य कारणो ॥ १२ ॥
- अः ग्रन्थप्रकाशनसम्बन्धी पुनीत विचार ॥ १३ ॥
- क प्रकाशन अंगे रसायलो जरूरपूरतो विवेक ॥ १४ ॥
- का प्रकाशनना पुनीतकार्यमा श्रीसङ्गनो सहकार ॥ १५ ॥
- ” ग्रन्थनु सम्पादनादि काम कोण करे ? ॥ १६ ॥
- कि आनन्दबोधिनी-वृत्तिनी पूर्वावस्था ॥ १७ ॥
- कु अनेकविध सामग्रीओना सचयरूप आनन्दबोधिनी ॥ १८ ॥
- कू सूत्र-वृत्तिना प्रतिविम्ब छतां अनुकरण तो नथी ज ॥ १९ ॥
- के सिद्धान्तना रहस्यनु प्रतिविम्ब होवा छता पण अनुकरण तो नथी ज ॥ २० ॥
- कै श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननामनी यथार्थ गुणनिष्पन्नता ॥ २१ ॥
- ” प्रधानतम व्याकरण-ग्रन्थरचनासमय ॥ २२ ॥
- कौ ग्रन्थरचयितानी आछी जीवनचर्या ॥ २३ ॥
- कः कलिकालसर्वज्ञ विरुदनी यथार्थता ॥ २४ ॥
- ख परम्पराए प्राप्त थयेल पुनीत सस्कृतवारसो ॥ २५ ॥
- खु आ प्रधानतम व्याकरणमां मददगार थयेल सयोगो अने सामग्रीओ ॥ २६ ॥
- खै उभरातां रत्नोथी भरपूर प्रधानतम व्याकरण श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन ॥ २७ ॥
- खः अभ्यासको माटे मार्गसूचन ॥ २८ ॥
- गि मङ्गलसूत्र-रहस्यम् ॥ २९ ॥
- गी अधिकारसूत्र-रहस्यम् ॥ ३० ॥
- गू सज्ञासूत्र-रहस्य ॥ ३१ ॥
- गै सन्धिप्रकरण० ॥ ३२ ॥
- गो नामप्रकरण० ॥ ३३ ॥
- गौ फारकप्रकरण ॥ ३४ ॥
- घा परिशिष्टोनी समज ॥ ३५ ॥
- घि प्रकाशनना प्रासङ्गिक मददगारो ॥ ३६ ॥

Shrī Hemachandrānandagrānthābdhi No. 2

**ŚRĪ SIDDHAHEMACHANDRAŚABDĀNUŚASANAM**  
**( PART I )**

BY

**KALIKĀLASARVAJNA ŚRĪ HEMACHANDRASURI**

with Hemachandrasūri's Tattvaparakāsikā and Pannyāsappravara S'rī  
Chandrasāgaragani's Ānanda-bodhini

EDITED BY

**PANNYASAPRAVARA S'RĪ CHANDRASĀGARAGANI.**

author of the Ānandabodhini, compiler of Śrī Siddhahemachandrasabdānus'āsana-brihadvṛityavachurni,  
founder of Hemachandrānandagrānthābdhi-Bombay, Shrī Hemachandrāchārya sāhityaprachārak-  
samiti-Bombay, Navapadārādhaksamāja-Bombay, Akhil Bhāratavarshiya Shrī Vardhamānatap-  
sahayaka-samiti-Bombay, Ānandaachandrakīranāvahī-Ujjain, Malava, etc., etc.,

PUBLISHED BY

**JHAVERI PANACHAND RUPCHAND,**

HON SECRETARY,

**SIDDHACHAKRASAHITYA PRACHARAKSAMITI,**

25-27, Dhanji Street, BOMBAY

Vira Samvat 2472

Vikrama Samvat 2002

A. D 1946

First Edition ]

Price Rs 30.

[ 1000 Copies.



## ॥ प्रस्तावनाना पुनीत-प्रकरणो ॥

- अ मानवजीवननी दुर्लभता अने सहकारिसंयोगोनी दुर्लभता ॥ १ ॥
- आ मार्गदर्शक साहित्यखजानो ॥ २ ॥
- आ साहित्यसरक्षण ॥ ३ ॥
- ई पठन-पाठन अने परिशीलननी जरूरत ॥ ४ ॥
- ” भाषाज्ञाननी व्यवस्था करनार व्याकरण ॥ ५ ॥
- उ साङ्गोपाङ्ग संस्कृतभाषाज्ञाननी अनिवार्य जरूरत ॥ ६ ॥
- ऊ संस्कृतभाषातु प्राथमिक पठन-पाठन थवु ज जोड्ण ॥ ७ ॥
- ऋ प्रेरणात्मक प्रार्थनाए प्रकटावेल प्रधानतम व्याकरण ॥ ८ ॥
- ऌ अखिलभारतवर्षतु प्रधानतम व्याकरण ॥ ९ ॥
- ए त्रिविधदोषोथी दूषित शब्दानुशासनसमूह ॥ १० ॥
- ओ अनुकरणरूपे रचायेली सिद्धान्तकौमुदी ॥ ११ ॥
- औ प्रधानतम-व्याकरण प्रति अनादरताना मुख्य कारणो ॥ १२ ॥
- अः ग्रन्थप्रकाशनसम्बन्धी पुनीत विचार ॥ १३ ॥
- क प्रकाशन अगे रखायलो जरूरपूरतो विवेक ॥ १४ ॥
- का प्रकाशनना पुनीतकार्यमां श्रीसङ्गनो सहकार ॥ १५ ॥
- ” ग्रन्थतु सम्पादनादि काम कोण करे ? ॥ १६ ॥
- कि आनन्दबोधिनी-वृत्तिनी पूर्वावस्था ॥ १७ ॥
- कु अनेकविध सामग्रीओना सचयरूप आनन्दबोधिनी ॥ १८ ॥
- कू सूत्र-वृत्तिना प्रतिविम्ब छतां अनुकरण तो नथी ज ॥ १९ ॥
- के सिद्धान्तना रहस्यतु प्रतिविम्ब होवा छता पण अनुकरण तो नथी ज ॥ २० ॥
- कै श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननामनी यथार्थ गुणनिष्पन्नता ॥ २१ ॥
- ” प्रधानतम व्याकरण-ग्रन्थरचनासमय ॥ २२ ॥
- कौ ग्रन्थरचयितानी आछी जीवनचर्या ॥ २३ ॥
- कः कलिफालसर्वज्ञ विरुदनी यथार्थता ॥ २४ ॥
- ख परम्पराए प्राप्त थयेल पुनीत संस्कृतवारसो ॥ २५ ॥
- खु आ प्रधानतम व्याकरणमां मददगार थयेल संयोगो अने सामग्रीओ ॥ २६ ॥
- खै उभराता रत्नोथी भरपूर प्रधानतम व्याकरण श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन ॥ २७ ॥
- खः अभ्यासको माटे मार्गसूचन ॥ २८ ॥
- गि मङ्गलसूत्र-रहस्यम् ॥ २९ ॥
- गी अधिकारसूत्र-रहस्यम् ॥ ३० ॥
- गू सज्ञासूत्र-रहस्य ॥ ३१ ॥
- गै सन्धिप्रकरण० ॥ ३२ ॥
- गो नामप्रकरण० ॥ ३३ ॥
- गौ कारकप्रकरण ॥ ३४ ॥
- घा परिशिष्टोनी समज ॥ ३५ ॥
- धि प्रकाशनना प्रासङ्गिक मददगारो ॥ ३६ ॥

*Shrī Hemachandrānandagrānthābdhī No. 2*

**ŚRĪ SIDDHAHEMACHANDRASĀBDĀNUSĀSANAM**  
**( PART I )**

BY

**KALIKĀLASARVAJNA ŚRĪ HEMACHANDRASURI**

with Hemachandrasūri's *Tattvapraśāśikā* and *Pannyāsappravara Śrī*  
*Chandrasāgaragani's Ānanda-bodhinī*

EDITED BY

**PANNYASAPRAVARA ŚRĪ CHANDRASĀGARAGANI.**

author of the *Ānandabodhinī*, compiler of *Śrī Siddhahemachandrasābdānusāsana-bṛihadvṛtyavachurnī*,  
founder of *Hemachandrānandagrānthābdhī-Bombay*, *Shrī Hemachandrāchārya sāhityapraohāra-*  
*samitī-Bombay*, *Navapadārādhaksamāja-Bombay*, *Akhal Bhāratavarshīya Shrī Vardhamānatap-*  
*sahayaka-samitī-Bombay*, *Ānandachandrakīranāvahī-Ujjain, Malava, etc, etc.*

PUBLISHED BY

**JHAVERI PANACHAND RUPCHAND,**

HON SECRETARY,

**SIDDHACHAKRASAHITYA PRACHARAKSAMITI,**

25-27, Dhanji Street, BOMBAY.

Vira Samvat 2472

Vikrama Samvat 2002

A. D. 1946

*First Edition ]*

Price Rs 30.

[ 1000 Copies.

## PREFACE

The Siddha-Hemachandra Sabdanusasanam was Composed by Kalikalarvajna Shri Hemachandrasuri at the request of Siddharaja (A D 1094 to 1143) and was very popular in the time of Siddharaja and Kumarapala (A D 1143 to 1174) but has fallen in disuse, at present for various reasons, Firstly—the published work was printed from a palm-leaf manuscript with the financial help of Sheth Mansukhbhai Bhagubhai in V S 1962 (A D 1905-6), but the quality of paper on which it was printed was low, and so the readers had to experience great difficulty Secondly—it was not edited by a learned scholar to render it as free from errors as possible Thirdly—there is a dearth of qualified persons to undertake the teaching of this grammar Fourthly—most of the Jain monks and nuns enter the priestly order at an advanced age, and therefore, have no inclination to study this grammar A few who want to study it do not get the required facility and have to rest Content with the study of the Siddhanta-Kaumudi Fifthly the Jains are mostly businessmen and have not as much regard for the study of Sanskrit as the Brahmins Sixthly, Sanskrit is a dead language, and so the general public is not as much interested in the study of this work as in that of other works

In order to stimulate the study of this grammar and to help those who study it, I undertook the work of editing it in V S 1997 (A D 1941) For the Convenience of the readers, the work is printed on excellent paper, in bold type

In this part, I have given Sañjāprakarana, Sandhi-prakarana, Nāmaprakarana, Kāraprakarana with *Anandbodhini* and fifteen appendices

In the second part, along with the text, I shall give introduction together with a life-sketch of Hemachandrasuri To the same, a learned paper on the life of Hemachandrasuri will also be Contributed by Chhmanlal Bhailal Sheth, M A, LL B, Research Scholar, University of Bombay.

In fine, I acknowledge the financial help given by Sheth Kantilal Ishvarlal, Chhmanlal Laxmichand & Seth Jamnadas Monji and others in publishing this work *Muni-shri Punyavijayaji*, Seth Mulchand Bulakhidas, Mohanlal Dipchand, Hiralal Amratlal, Babalchand Keshavlal Modi, Bhaichand Nagimbhai and Saubhagyachand Umedchand have taken great pains to secure for manuscripts

Karamchanda Jain Poshadhashala, }  
VILE PARLE, }  
Bombay No 24 }  
1-1-46 }

*Panniyas Pravara—*  
Shree Chandrasāgara Ganivar.



## मानवजीवननी दुर्लभता अने सहकारिसंयोगोनी दुर्लभता ।

आधि-व्याधि-उपाधि अने जन्म-जरा-मरणादि अनेकविध दुःखानुभवकारक अतिगहन-गुंचोथी गुंचायलो आ चातुर्गतिक संसार छे ।

आजनी भौगोलिकदृष्टि देखातां दरियाओनो अने शास्त्रसुप्रसिद्ध लवणसमुद्र-स्वयम्भूरमणसमुद्र विगेरेनो पार पामवो मुश्केल लागे छे, छता तेना करता पण अतिदुर्गम विस्तृत एवा आ ससारसमुद्रनो पार पामवो अत्यन्त मुश्केल छे ए बुद्धि-माननी बुद्धिने बंधबेसतो विषय छे ।

देव-मनुष्य-तिर्यच अने नरक-गतिरूप चातुर्गतिक संसारसमुद्रनो पार पामवा माटे मनुष्यगति ए महान् नौकासमान छे, अने तेथी ज दरेक शास्त्रकारोए सर्व दुःखोनो अन्त करवामा तथा सर्व सुखोनी प्राप्ति करवामां मानव जीवनने अतिश्रेष्ठ-तम साधनरूपे स्वीकारेछुं छे। 'किंमति साधननी प्राप्ति अति दुर्लभ होय छे' ए कथनानुसार मनुष्यपणु प्राप्त करवु दुर्लभ छे ।

करोडोनी कमाणीथी उभराती रियासतना राज्यसिंहासनोपर आवी चढेला नवीन राजकुमारोने, अथवा सूना पढेलां सिंहासनोना सत्ताधीश बनेला शाणा राजवीओने राज्य प्राप्तिनी दुर्लभता समजाती नथी, तेवीज रीते मानवजीवन पामी गयेला मनुष्योने मनुष्यपणानी दुर्लभता युवावस्थानी शरुआतथी वृद्धावस्थापर्यंतना आ जीवनमा पण समजाती नथी ए अति-खेदनो विषय छे !!! ।

खावा-पीवा माटे, पहेरवा-ओढवा माटे, रंग-राग उडाववा माटे, मनमानिती भोज-शोखनी वृप्ति करवा माटे, अगर तेथी आगळ वधीने पाचे इंद्रियोना त्रेवीस विषयोमा अने दीउगे वधता बसें बावन विकारोमा मस्त बनीने विलासीजीवन भोगववाज माटे आ मनुष्य-जीवननी दुर्लभताना यशोगान कोइ पण शास्त्रकारे गायां ज नथी, एटळं ज नहि पण सुंदर स्त्रीओना समागम करवा माटे, कुटुंब परिवारने बधारवा माटे, स्थावर-जंगम मिल्कतोना हचमची गयेला पायाओने संगीन अने सुदृढ बनाववा माटे; अने कामनी कारमी वासनाओनी परिपूर्णता माटे आर्थिकयोजनाना प्रबन्ध घडवा माटे आ मानव जीवननी दुर्लभता स्वीकारी नथी । परंतु स्व-परकल्याणार्थे आ मानव-जीवनने जीवी जाणवा माटेनी दुर्लभता स्वीकारी छे, ए निःसदेहनिर्णयने हृदयपटपर हर-हंमेश माटे अकित करवो जरूरीनो छे ।

स्व-पर-कल्याणना अर्थिआत्माओने मनुष्यपणु मेळवुं ए जेटळं दुर्लभ छे, तेटळं अगर तेथीए विशेषपणे प्राप्त थएला मनुष्यपणाने सफल करवामां छे ।

मनुष्यपणु मेळव्या मात्रथी धारेली धारणाओ, विचारेली विचारणाओ, आरंभेली आशाओ अने वारंवार इच्छेली इच्छाओ सफल थती नथी तेथी ज मानव-जीवननी सफळता माटे सानुकूल सयोगोना सहकार अवश्यमेव जरूरीना छे ।

जमीनमां वावेली बीजने वृक्ष बनीने फळरूपे देखवामां जेवी रीते जमीन-खातर-पाणी-हवा-ताप, अने नकामा घास वगेरेनुं उन्मूलन अने बाढ-रक्षणादि सयोगोनी अनिवार्य आवश्यकता छे, तेवीज रीते मानवजीवनने साफल्य करवा माटे सानुकूल सयोगोनी प्राप्तिने अत्यंत दुर्लभरूपे दरेक शास्त्रकारोए स्वीकारी छे ।

ते सानुकूलसयोगो पैकी सस्कारित सुक्षेत्र, उत्तमकुळ, अनुपमजाति, दीर्घायुष्य, पाच इंद्रियोनी पटुता, निरोगि शरीर सन्मार्गदर्शक वडीलो-गुल्बयो, तेओश्रीना वचनोनी विनयपूर्वक उपासना, घमोंपदेशादिकनुं श्रवण-पठन-पाठन अने परिशीलन, श्रवणादि साथे वृद्धि पामतो विवेक, विशिष्टविवेकपूर्वक हेय-उपादेयविभागनी यथाशक्ति निवृत्ति अने प्रवृत्ति, निवृत्ति अने प्रवृत्तिना अवसरे आवता विज्ञोने निरखवा अने निवारवानु बुद्धि-कौशल्य अने धैर्यपूर्वकनुं सामर्थ्य, शरु करेला सत्कार्यनी सिद्धिमाटे अपूर्व श्रद्धाबळ अने कार्यबळ, श्रद्धाबळ अने कार्यबळना वधता वेगथी प्राप्त थयेल सत्कार्यनी सिद्धि अने ते सिद्धिनुं अन्त्यने प्रेमपूर्वकनुं प्रदान करवु, तथा प्राप्त थयेल सिद्धिप्रदाननी पुनित परंपराओ अस्खलितपणे वद्धा करे ते सार

योग्य प्रबंध अने अविरत उद्यम, आवधा उत्तरोत्तर संयोगोना सहकार्यी मानव-जीवनने सफळ कराय छे, अन्यथा कोइए सफळ कर्तु नथी, वर्तमानमा कोई सफळ करतो होय एम नजरे जणातु नथी, अने भविष्यमा कोई सफळ करशे ए कल्पनाने लेश अवकाश पण नथी । दुर्लभ मानव-जीवनसाथे अति दुर्लभ सहकारिसयोंगो पण पुण्यवानने अल्प प्रयत्ने पण साध्य छे ।

मनुष्यमात्रना हृदयमन्दिरमा अहोनिश उठती जर्मिओ-विचारो-अभिलाषाओ-मनोरथो-वाछाओ अने इच्छाओनु वर्गीकरण करीए तो तेना ओछामा ओछा चार विभागो थाय अने ते चारे विभागोमा समग्र संकेतो समाह जाय छे-वहेंचाह जाय छे ।

आ चार विभागो धर्म-अर्थ-काम अने मोक्ष ए चार पुरुषार्थ तरीके जगत्मा सुप्रसिद्ध छे । कोईपण स्थळे कोईपण सयोंगोमा कोइ पण क्षणे आविर्भाव थयेल्ल अभिलाषादिने चोकसाइपूर्वक तपासशो तो ते अभिलाषने आ चार विभागीय पुरुषार्थना कोइपण विभागमा दाखल करवोज पडशे ।

### \* मार्गदर्शकसाहित्य-खजानो ।

वारिकाइथी तपासता आ चारे पुरुषार्थमा एक धर्मपुरुषार्थ ज एवो छे के जे बाकीना-अर्थ-काम अने मोक्ष ए-त्रण पुरुषार्थने अनुक्रमे प्राप्त कराववामा, टकाववामा, वधारवामा प्राप्तपदार्थोने भोगववामा, भोगवता न खूटे तेवा वनाववामा अने उत्तरोत्तर जन्मान्तरे वधुने वधु प्राप्ति-टकावादिमा सपूर्ण जवावदार पुरुषार्थ छे, एटल्ल ज नहि पण जे धर्मनी-धर्मपुरुषार्थनी आराधनाद्वारा अक्षय-अव्याबाध अन्तिम-साध्यनी सिद्धि थह शके छे । अने तेथी ज कोटि काम-वासनारूप कामपुरुषार्थ अने तेनी पूर्तिना साधनरूप अर्थपुरुषार्थना अभिलाषाओ माटे तथा आधि-व्याधि-उपाधि-जन्म-जरा-मरणादि दु खोथी रहित अने जे स्थळे कोई राजानी आज्ञा प्रवर्तती नथी एवा सुदर शाश्वत प्रदेशरूप स्वदेश-मोक्ष प्राप्ति माटे आ एक धर्म ज जवावदार अने जोखमदार रखो छे, रहे छे अने रहेशे ते निर्विवाद सत्य छे ।

जवावदार धर्मपुरुषार्थनी सेवना माटे सहकारिसयोंगसाथे मानव-जीवननो सदुपयोग करवो ए माणसमात्रनु अवश्यमेव कर्तव्य छे । ते धर्मपुरुषार्थनी प्राप्तिना धोरीमार्गमां गमन-करनाराओ माटे प्रातःस्मरणीय परमोपकारि पुण्यपुरुषोना पुनित साहित्य-ग्रन्थो मार्गदर्शक छे ।

विना सकोचे कहेवु पडशे के अभिनव-अभिलाषना अर्थोओ माटे अने सर्वकेशना-निवारणार्थे जैतदर्शननु विद्यमान साहित्य पण एक अनुपम साधन छे, एटल्ल ज नहि पण समस्तविश्वना समग्रप्राणिओने सफळजीवन जीववा माटे सर्वज्ञसर्जित साहित्य ए एक अनुपम आधारभूत परम आशीर्वादरूपे मार्गदर्शक बनीने पूर्वकाले रखु हल्लु, वर्तमानमा रखु छे अने भविष्यमा रहेशे एमा लेशभर शकाने स्थानज नथी ।

विशेषमा शाश्वत सुखशान्ति अने आनन्दनी प्राप्तिना अमोघ कारणरूप ते साहित्य छे एम जैने कहे छे एटल्ल ज नहि परंतु जैनेतर विद्वानो पण कही गया छे अने कही रखा छे ।

त्रिकालावाधित अविच्छिन्नप्रभावमय स्याद्वादमुद्राथी मुद्रित, रागद्वेषादि दुष्टदुश्मनोथी सदाय अजित श्रीजैनशासनना परमप्रभावक प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद शासनस्तमरूप शासनसरक्षक पुण्यपुरुषोए अखिलविश्वने एकान्त हितकारी अने जैनसमाजने परमप्राणाधारभूत सर्वोत्तम-सगीन-सर्वांगसुदर ते साहित्य-वारसो श्रीसधने समर्पण करेल्लो छे । अमूल्य खजानारूप ते वारसो भयकर भवाटवीमा मूला पडेल्लोओ माटे मार्गदर्शक छे ।

### \* साहित्यसंरक्षण ।

श्रीसधने समर्पित थयेल्ल अतीव हितकर साहित्यनु सर्वदा-सर्वत्र-सर्वथा-संरक्षण करवा तन-मन अने धनथी कटिबद्ध थवु ए जैनसमाज-चतुर्विधसंधनी अग्रगण्य दरेके दरेक व्यक्तिनी अनिवार्य फरज छे ।

संरक्षणकरनाराओए हस्तलिखित कागळनी प्रतो, ताडपत्रीय ग्रन्थो अने लेखनादि सर्वसामग्रीने साचववाना संरक्षण-नियमोने नाना मोटा दरेक ज्ञानमंदिर-ज्ञानमंडारमा जाहेरखवररूपे एवा स्थळे गोठववा के ते स्थाननी मुलाकात लेनाराओनी नजर तुरत ज ते उपर पडे ।

१ हस्तलिखित समग्रग्रन्थोने आग तथा सळगी उठे तेवा पदार्थ विगेरेना भयथी बचावी शकीए तेवां स्थान, अने हवा, मेज, उधई विगेरेथी बचावी शकीए तेवा साधन पसद करवा, तेवा स्थान तथा साधन न होय तो श्रीसंधे ते माटे ताकीदे प्रयत्न करवो घटे छे ।

२ ते स्थानमां बीडी पीवानी, दीवो राखवानी अने सळगी उठे एवा पदार्थो राखवानी सस्त-भनाइ होवीज जोइए ।

- ३ श्रीश्रुतपंचमी-ज्ञानपंचमी-सौभाग्यपंचमीथी शरु करीने मौन एकादशी सुधीमां दरेकेदरेक ग्रन्थोने एकवार सूर्यनो ताप जरूर खवराववो अने दरेक प्रतोनो खोलीने फरीथी बाधवानो रिवाज शरु करवो ज जोइए के जेथी करीने उधड़-हवा-भेज-उंदर-वादा विगेरे जीव जतुओना उपद्रवथी बचावी शकाय ।
- ४ ताडपत्रीय ग्रन्थनी प्रतिना मापसरना आगळ-पाळळ मळीने वे पाटीयां होवा जोइए, प्रतिने छोटता बाधतां बहु ज काळजी राखवी के, जेथी करीने ताडपत्रनो आगळ-पाळळनो भाग खरे नहि, प्रतिनी आसपास कागळ लपेटवो अने खोलवाना अवसरे प्रतिना मापसरना साधनपर जमावीने खोलवी, प्रतिने पाळी मूकता तेनी उपर टोरी एवी रीते बाधवी के जेथी प्रतिने नुकशान न थाय ।
- ५ दरेक प्रतिना कवर उपर ग्रन्थनु नाम, पत्रसख्या, ग्रन्थकारनु नाम, भापा, विषय, लिपि, रचनासवत्, लेखनसवत् अने लेखकनु नाम विगेरे सपादनोपयोगी विगतो-बाबतो लखेली होय तो ते विगतमाटे वारंवार प्रतिओना तेज पानाओने फेरववां पडे नहि ।
- ६ कागळनी प्रतिनी बर्जे बाजुए जाडा पुठा अगर हालमा वपराती पाटलिओ होवी ज जोइए ।
- ७ प्रतिओना जीर्ण थइ गयेला पानाओने पारदर्शक-कागळोना कवर करावीने राखवा जोइए ।
- ८ जीर्ण थवा मांडेली प्रतिओने फरीथी लखावी लेवी अने तेवी प्राचीनप्रतिओना चित्रो अने प्रशस्तिओनां प्रतिविंब-फोटा लेइ राखवाथी भविष्यमा ते साहित्यवारसो भविष्यनी जनताने आशीर्वाददायक बनशे ।
- ९ वधारानु देवद्रव्य जेम जीर्णोद्धारमा उपयोगी बने छे, तेवी रीते ज्ञानद्रव्यने एकटुं करी वधारवा करता प्राचीन ग्रन्थोने लखाववा अने साचववामा ते द्रव्यनो सद्व्यय करवो जरुरीनो छे ।

ता०क०—कोइ पण प्राचीनग्रन्थना सपादकने ते ग्रन्थनी हस्तलिखित प्रति मेळववामा घणीज मुश्केली निवारणार्थे दरेक ज्ञानमण्डारना कार्यवाहकोए तुरंत प्रबन्ध करवो जोइए, अलवत्त ग्रन्थना रक्षणपूरती जोगवाह राखीने लेवडदेवड चाळु रखाय तो ग्रन्थनु गौरव दिन प्रतिदिन बधे छे ए बिना विसारवा जेवी नथी ।

सरक्षण करनारोओए अद्यापि पर्यन्त ताडपत्रीय ग्रन्थो, भोजपत्रीय ग्रन्थो, हस्तलिखित ग्रन्थो, गैण्डी (ग्रन्थी), कच्छपी, मुष्टि अने सपाटि-आदि अनेकविध आकारना पुस्तको, नकशाओ, ग्रन्थ लखवाना अनेकविध साधनोने सुरक्षित राखवा माटे बनतुं कर्तुं छे अने हजु पण करे छे ।

सुरक्षित साधनो पैकी आगथी बचे तेवा ज्ञानमण्डारो-ज्ञानमन्दिरो, उदर-वादा विगेरेना बचावमाटे घेटी-घटारा अने डामडाओ, उधड़ अने हवाथी पुस्तकनु आयुष्य न घटे तेथी बख्खाच्छादन-रूमाल विगेरे सरक्षणना साधनो छे, आठळु संरक्षण कर्या छता पण ज्ञानपंचमीना दिवसे दर्शनार्थे बहु पुस्तक बहार काढवानो रीवाज जैनशासन-प्रणालिकामा अद्यापि पर्यंत नजरे जणाय छे । चोमासामा वर्षादने लीधे अगर भेजवाली हवाथी पुस्तकोने क्षति पहोंची गइ होय तेवा पुस्तकोने बहार काढी सारो ताप अपाय तो लिखित ग्रन्थोनु आयुष्य वृद्धि पामे, अने साथे साथे दर्शनार्थे आवनाराओनुं लक्ष्य ग्रन्थप्रत्ये जाय तो जीर्ण-थयेल, अर्धजीर्ण-थयेल, प्राय जीर्ण थयेल ग्रन्थो लखवा-लखाववानी उर्मिओ जागे के जेथी करीने श्रुतज्ञानना साधनोना संरक्षण साथे अभिवृद्धि थया ज करे ।

कहेवुं पडशे के लखवा-लखाववानी पुनित पद्धतिए आठसो-नवसो वर्ष उपरातना अमूल्य साहित्योना दर्शन करवा कराववाने आपणने आजे आ दुःषमकाळमा भाग्यशाळी बनाव्या छे ए ओछा आनन्दनो विषय नथी ।

प्रायण-समात विगेरेना ज्ञानमण्डारोमाथी ताडपत्रीयग्रन्थो अने हस्तलिखितग्रन्थो ते ते मण्डारना धाराधोरणने अनुसरीने मळी शके छे, परंतु पूनाना माण्डारकर प्राच्यविद्यासशोधनमन्दिरमाथी ताडपत्रीयग्रन्थो मळी शकताज नथी, तेनु वास्तविक कारण साभळ्वांप्रमाणे आ छे के—ताडपत्रीयग्रन्थने खोलवानी, जोवानी, बाधीने मुकवानी, साचववानी अने रक्षण करवानी रीतनो अजाण संपादक हमारो साहित्यनो लगभग नाश न करी शके—अर्थात् नाश थतो अटके ते हेतुथीज हमारी समुस्त कार्य करवाज ते प्रतोनो लेवड-देवड करीए छीए अन्यथा नहि ।

आ उपरथी संपादको यथायोग्य जोइतु ध्यान नहि रंखे तो भविष्यमा मण्डारना उदार कार्यकर्ताओने पण लेवड-देवडनो रस्तो बध करवो न पडे ते माटे सपादकोने सावधान थवानी अवश्यमेव जरूर छे ।

१ - ये लेखयन्ति जिनशासनपुस्तकानि, व्याख्यानयन्ति च पठन्ति च पाठयन्ति ।

श्रुयन्ति रक्षणविधौ च समाद्रियन्ते, ते देवमर्त्यैशिवशर्म नरा लभन्ते ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीजिनशासनना ग्रन्थोने जेओ लपटवे छे, व्याख्यानकरीने लोकोने सभळवे छे, पोते भणे छे, चीजाने मणावे छे, पोते साभळे छे अथवा रक्षण करवामां आदरप्रयत्न करे छे ते मनुष्यो देवलोकना, मनुष्यलोकना अने छेवटे मोक्षना सुखोने प्राप्त करे छे । उपदेशतरङ्गिणी-पृ० १३९ ।

२ आ नया गण्डी विगेरे भेदो धीदशवैकालिक अने श्रीअनुयोगद्वार आदि जैनागमग्रन्थोमां स्पष्टपणे मळी आवे छे ।

भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरना कार्यकर्ताओं पासेथी लागवग अने अमुक शरतोए अमेरिकाना अने युरोपना विद्वानो कागळनी प्रतोनी माफक ताडपत्रीयग्रन्थो पण मेळवता हशे, परंतु हमारा अनुभवप्रमाणे तो हस्तलिखितग्रन्थो जे रीतिए मेळवी शकाय छे तेटली सहैलाइथी ताडपत्रीयग्रन्थो त्याथी पण मेळवी शकाता नथी ।

एटलु कहेवु जरूरीनुं छे के संरक्षणना धाराधारणने अनुसरीने तेमज साथे आवरुदार वे व्यक्तिओने जवावदार राखीने पण मेळववा धारेल ताडपत्रीय-प्रति जो नहिज मळे तो ते साहित्यी तेना अर्थिओ वञ्चित रहे माटे तेवुं न थवु जोइए वत्के वीजो कोई वचलो मार्ग काडीने पण ताडपत्रीय-ग्रन्थोनी लेवड देवड सारा प्रमाणमां थती रहे तेम करवुंज जोइए ए जरूरीनुं छे ।

उपरना सरक्षणनियमो अगर सरक्षणार्थे एथी पण वधु नियमो योजवानी जरूर पडे तो तेवो प्रबन्ध करीने पण संरक्षण करवुं अने साथे साथे अमूल्य साहित्य वारसानु लेखन-सशोधन-पठन-पाठन विगेरे प्रवृत्तिओनो सुदर वेग वधे ते सारु सरक्षकोए लुच्छता-सकोचताने देशवटो दह उदारताने आगळ करीने एकान्त कल्याणार्थे मळेल वारसानो उत्तरोत्तर लाम अर्थिओने मळ्याज करे तेवो प्रबन्ध करवो जरूरीनुं छे ।

साथे साथे मारु ए नम्र-निवेदन छे के वर्तमानमां तहन मन्द पडी गयेल लखवा-लखाववानी पुनीत पद्धतिने शासननी अग्रगण्य व्यक्तिओए अपनाववानी वधु जरूर छे । हस्तलिखित साहित्यनु सरक्षण सुव्यवस्थापूर्वकनुं थतुं होय तो तेनुं दीर्घा-युष्य जेटलु समवी शके छे तेटलु मुद्रित थयेल ग्रन्थोनुं समवतु नथी, आ बावतमा साहित्यरसिक विद्वानोना पण वे मत नथी ।

दरेक वर्षे-महिने-दिवसे अने दीउजे जीर्णप्राय थता ग्रन्थोने मुद्रित करवा-कराववाद्वाराए तन-मन-धनथी यथाशक्ति उद्यम थइ रखो छे, परंतु लखवा-लखाववानी भावनाओने नवपल्लवित करीने प्राचीन पुनीत पद्धतिने वेगपूर्वक वधारवी जोइए के जेथी भावि-समाज पण हजारो वर्षे आ पुनीत साहित्यना दर्शन करी शके अने अन्तरना आशीर्वाद समर्पी शके ।

मुद्रणकलानी शरुआत पूर्वे नवदीक्षित साधुओ अभ्यास करवानी शरुआतमा गाथा के श्लोक, खोत्र के खवन, प्रकरण के अध्ययन, नानो ग्रन्थ के मोटो ग्रन्थ विनयपूर्वक पूज्य शुरुवर्षो पासेथी विधिपूर्वक भणता अने स्वहस्ते ज प्रायः लखता हता ।

सत्तरमी सदी सुधी तो 'अमुक शिष्य के अमुक शिष्या माटे वाचवा-भणवा माटे आ पुस्तक लखुं अथवा लखावु, एवी जातनुं लखाण वर्तमान हस्तलिखित घणी खरी प्रतोना अन्त्यभागमा नजरे पडे छे ।

पूर्वे थइ गयेल ग्रन्थरचनाराओने आपणे नजरे देख्या नथी, परंतु तेओना रचेला साहित्योमाथी आजे रचनाराओ सबधी रचनासमय, बुद्धिवैभव, कार्यदक्षता, जीवनप्रभाव, तत्कालीन इतिहास विगेरे विगेरे घणु घणु समजावी शकाय, अने वर्तमान जीवन जीवनाराओनी साते धातुओमा प्रेरकतत्त्वो पुरी शकाय एवं घणु घणु मळी आवे छे; ते बधो प्रताप पुनित लेखनपद्धतिथी लखायेल अने सुरक्षित रहेल ते साहित्यनो ज छे ।

### \* पठन-पाठन अने परिशीलननी जरूर ।

अमुद्रित अने जीर्णप्राय थता ग्रन्थोने सशोधन-संपादन-करवा माटेनो जे वेग वधी रखो छे ते पण सरक्षणतानुं एक अंग छे, परंतु एटलेथी इतिकर्तव्यता माननाराओ प्रति मारा हृदयगत अभिप्राय साथे मारुं ए मन्तव्य छे के अभ्यास-योग्य ग्रन्थनुं संपादनकार्य हाथ धरता सशोधनपूर्वक पठन-पाठननी संपूर्ण सामग्रीओ साथे प्रकाशन करवु, अने प्रकाशित थयेल ग्रन्थोनुं पठन-पाठन पूर्णवेगथी वधारवा सारु अनेकविध आर्थिकादि प्रबन्धो गोठवीने निर्जीव-स्थावर-साहित्यने सजीव-जगम-साहित्य बोलता-साहित्यरूपे बनाववा कटिबद्ध थवु एज पूर्वाचार्य गुम्फित साहित्यनी संपूर्ण सेवा बजावी गणाशे । एटलु ज नहि पण ते ते साहित्यो उत्तरोत्तर वधु फलद्रुप बनी नवनवीन रीते विकास पामशे ए निःसंदेह सत्य स्वीकारवा लायक छे ।

पठन-पाठन योग्य साहित्यनु पठन-पाठन थवु ज जोइए, पठन-पाठननी पद्धति पूर्णवेगथी शरु रहेशे तो ते साहित्यना पारङ्गतो मळी आवशे । क्रमे क्रमे साहित्यपारङ्गतोनो वधारो थता तेओ नवनवीन साहित्यसृष्टिना सर्जनो पण कर्मा ज करशे, ए दृष्टिए विचारता मालुम पडे छे के एक दिवस एवो आवशे के पठन-पाठन अने परिशीलनमा मुकायेल ते साहित्य साहि-ल्वनी सृष्टिमां सर्वोपरिसत्ता भोगवतु हशे ।

जे उद्देश्यथी जे साहित्यनी रचना रचयिताओए करी छे ते उद्देशने ते रीतिए पहाँचवा माटे पठन-पाठननी प्रणालि-कानो वेग वधारवा पाछळ तन-मन-धन समर्पण करवा यथाशक्ति उद्यम चालु ज राखवो ए ज एक श्रेयस्कर मार्ग छे ।

### \* भाषाज्ञाननी व्यवस्था करनार व्याकरण ।

झवेरातनो वहेपार झवेरीनी नजरने अवलम्बे छे, झवेरातना तेज-किम्मत अने तोलने समज्या वगरनो झवेरी जेम झवेरा-तना वहेपार माटे नकामो छे तेम साहित्यनी रचना, विषयनी स्पष्टता, अनन्तर-परम्पर लामादिने जाणवा-जोवा, समजवा

अने समजाववानी शक्तिवगरनो मनुष्य साहित्यना सुदर मूल्यांकन आकी शकतो नथी तेथीज ते नकामो ठरे छे । ते माटे ते ते साहित्यना श्रेष्ठ मूल्यांकन अने सुंदरता समजवा माटे साहित्यरसिकोने भाषाज्ञानरूप भव्य नजरनी अवश्यमेव जरूर छे ।

मानवजीवन जीवनाराओ पासे एक एवी अनुपम-अमूल्य-अचिन्त्य संपत्ति छे के जेना द्वारा पोताना अभिप्रायोने बोली शके छे अने लखी शके छे । ते अमूल्य संपत्ति ए भाषाज्ञान छे, ते बोलती-लखाती भाषाने अगर भाषाज्ञानने जैनदर्शन श्रुतज्ञानना आशिकविभागनी प्राप्ति थइ एन कहे छे । श्रुतज्ञानावरणीयना क्षयोपशमद्वारा आ ज्ञान प्राप्त थाय छे, अने जेटली भाषा शुद्ध अने व्यवस्थित होय तेटलीज स्व-परहितकर प्रवृत्ति लाभदायी निवडी शके छे । भाषामा वपराता शब्दोने एकसरखी रीतिए व्यवस्थित राखनार अने दरेके दरेकने व्यवस्थित रीतिए बोलवा-लखवानी फरज पाडनार ते ते भाषानुं व्याकरण छे ।

दरेके दरेक भाषाने व्यवस्थित राखनार व्याकरणोमा ओछावत्तारूपे सुधारओए प्रवेग कर्यो छे, अने साथे साथे कांइक अंशे अव्यवस्थाए पण प्रवेश करी दीघो छे; परन्तु लखाती अने बोलाती संस्कृतभाषानी सुव्यवस्था अने सुनियमितता अद्यापि पर्यन्त जळवाइ रखा छे । आ भाषानी सुव्यवस्थाए अने नियमितताए दुनियाभरनी समग्रभाषाओ पर विजय मेळ्यो छे ए निर्भेळ सत्य छे ।

एक विद्वान् पोताना पुत्रने हितशिक्षा आपे छे के—हे पुत्र ! वधी भाषाओना पारङ्गत बनवुं ते तो श्रेयस्कर छे ज, तथापि वधी भाषाओनो पार पामी न शके तो पण संस्कृत भाषानो पार पामवा माटे अवश्यमेव ते भाषा तो भणवीज जोइए, कारण के महर्षिओना मौघा अने अणमोलां सिद्धान्तो ते भाषाथी भरपूर छे, ते माटे ते शिक्षापद बोलीने पुत्रने भणवा माटे उत्तेजित करे छे.—

“यद्यपि बहु नाऽधीषे, तथापि च त्वं पठ पुत्र ! व्याकरणम् ।

स्वजनः श्वजनो मा भूत्, सकलं शकलं सकृच्छकृत् ॥ १ ॥”

अर्थ—हे पुत्र ! जो तुं बहु ग्रन्थो न भणो तो पण एक व्याकरण तो जरूर भण के जेथी करीने स्वजन (सवन्धिर्वा), सकल (संपूर्ण); अने सकृत् (एकवार) ने बदले अनुक्रमे श्वजन (कुतरानो समुदाय), शकल (टुकडो), अने शकृत् (विष्टा) ए प्रमाणे लखाइ के बोलाइ जाय नहि, कारण के दन्त्य सकारने बदले ताल्ज्य शकार बोलाइ लखाइ जाय तो अर्थनो अनर्थ थइ जाय छे, ए अनर्थथी बचावनार व्याकरण ज छे एवो ए श्लोकनो भावार्थ छे ।

व्याकरण भणवानी आवश्यकताने लीलावतीकार-भास्कराचार्ये पण पोताना सिद्धान्त-शिरोमणिनामना ग्रन्थमां भाषाज्ञाननी प्राप्तिने स्वीकारी छे,—

“शब्दात् पदप्रसिद्धिः, पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।

अर्थात्तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥ १ ॥”

अर्थ—शब्दथी-शब्दना ज्ञानथी पदोनी प्रसिद्धि-प्रकटता समजाय छे, पदोनी सिद्धिथी अर्थनो निर्णय थाय छे, अर्थना निर्णयथी तत्त्वोनु ज्ञान थाय छे, अने तत्त्वोना ज्ञानथी परम कल्याणनी प्राप्ति थाय छे ।

उपरना पद्यथी सिद्धान्तटीकाकार परमपदनी प्राप्तिने माटे शब्दानुशासननी यथास्थित व्यवस्था अने नियमितता जणावे छे, तथा आदरणीयरूपे स्वीकारवा भलामण करे छे एवो ए श्लोकनो ध्वनि छे ।

सत्य बोलवाना अवसरे नाम—आख्यात विगेरे व्याकरणनी रीतिए यथार्थ उपयोगपूर्वक बोलवानुं भगवान् श्रीमहा-वीरदेवे जैनागमोमा ठामठाम फरमावेछु छे । तेज आगम ग्रन्थोमा तथा ते ग्रन्थोनी टीकामा बार प्रकारना सत्यना स्पष्टीकरणने अवसरे प्राकृत-संस्कृत-मागधी-पैशाची-शौरसेनी अने अपभ्रंश ए छ भाषाना गद्य अने पद्य बजे विभागने मेळवता बार विभाग थाय, आ बारे विभागनो यथार्थ ज्ञाता थया वगर कोई पण मनुष्य सत्य बोली शकतो नथी । सत्यनी दरकार राखनार माटे संस्कृतभाषानु नियमन सात अध्यायना २८ पादमां, अने बाकीनी पाच भाषाओना प्रयोगोनी व्यवस्था अने नियमन आठमा अध्यायना ४ पादमा करीने ए छए भाषानो सपूर्णज्ञाता बनवाने माटे कलिकालसर्वज्ञ-भगवन्ते श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानु-शासन ए नामना आ प्रधानतम व्याकरणनी अत्यन्त सुदर रचना करीने आपणी उपर घणो ज उपकार कर्यो छे ।

\* साङ्गोपाङ्ग संस्कृतभाषाज्ञाननी अनिवार्य जरूरीयात ।

सुरक्षित रहेल साहित्य चार विभागमा वहेँचायळं छे—१ द्रव्यानुयोग, २ गणितानुयोग, ३ धर्मकथानुयोग अने ४ चरणकरणानुयोग । आ चारे अनुयोगनी रचना कया क्षेत्रमा<sup>१</sup>, कया काळमा<sup>२</sup>, अने कया सयोगोमा कोणे करी<sup>३</sup>, रचना थतानी साथे ज लखाती गइ के सरण-पथमां रखाती गइ<sup>४</sup>, रचयिताए स्वतन्त्रपणे के परतन्त्रपणे रचना करी<sup>५</sup>, विगेरे विगेरे अनेक-विध प्रश्न-समाधानसाथेनी सामग्रीओने विस्तारपूर्वक रजु करवा माटे तो स्वतन्त्र निबन्ध अगर स्वतन्त्र ग्रन्थ लखवानी जरूर पडे ते नि शंक बीना समजवा जेवी छे ।



आ चारे अनुयोगना हृदयने जाणवा माटे संस्कृत भाषानी अनिवार्य जरूर छे । मूलकारोए, सूत्रकारोए, भाष्यकारोए, निर्मुक्तिकारोए, चूर्णिकाकारोए, सग्रहकारोए, अने संक्षेपकारोए पोताना हार्दिक-अनुभवगम्य भरपूर भावथी उभरातां अनेक अभिप्रायोने उच्चारैला छे अने लखेला छे, ते आजै पण उद्यमप्रधान पुरुषोने जरूर दृष्टिगोचर थाय छे । दृष्टिगोचर करनारा विद्वानो देखतानी साथे उरना आनन्दपूर्वक स्तुत्यवचनो ठालवता जाय छे, एथी पण सर्वज्ञ साहित्यनी महत्त्वता सिद्ध थाय छे ए जैनसाहित्यनी शोभानी सुरम्य सुवासनाओ छे !!! ।

संस्कृत भाषानो साङ्गोपाङ्ग अभ्यास कर्था वगर अने ते अभ्यासने पठन-पाठन-वाचन मनन अने परिशीलनपूर्वक पुन पुन प्रवृत्तिरूपे परिणामाव्या वगर अने साथे साथे प्राकृत भाषाना पारावार साहित्यना अखण्ड-ऊडा अभ्यासी वन्या वगर संस्कृत-प्राकृत-भाषाबद्ध साहित्यना सशोधन-सपादनमा हाथ नाखवो, भाषान्तर करवु अने ते सबन्धी अभिप्रायादि उच्चारवा के लखवा ते पूर्वकालीन महापुरुषोना रचित पुनित सिद्धान्तने अन्याय आपवा जेवु छे ।

शब्दरूपावली, धातुरूपावली, समासचक्र के समासप्रकरण, भाण्डारकरनी एक अगर वे वृकनो उपलब्धदृष्टि ए अभ्यास करीने अने परीक्षाना विषयमा उत्तीर्ण थवा पूरती तैयारी करीने विद्वान्-प्रोफेसर-लेखक अने वक्तानी पङ्क्तिमा बेसवानी अभिलाषाथी बहार पड़ेला कहेवाता विद्वानो-प्रोफेसरो-लेखको अने वक्ताओए बोलवा-लखवादि क्रियाद्वारा पूर्व-कालीन महापुरुषोना अजोड अने अतुट सिद्धान्तोने जे अन्याय आप्यो छे अने हजु पण आपी रखा छे, ते अनिर्वचनीय अने अनिलेखनीय छे, तेमा पण भाषामा वपरायला अने वपराता शब्दोमा शाब्दिक अने आर्थिक-यथार्थ-अनुभवनी गेर-हाजरी ज जवावदार गणी शकाय ।

पोताना हाथे थयेल अधम अन्यायो अने अनेकविध भूलोनु यथार्थ अवलोकन करी प्रायश्चित्तपूर्वक प्रौढ-विद्वज्जन-मान्य-सन्मार्गे विहरवानी अभिलाषा राखनाराओए तो जरूर संस्कृतभाषानो साङ्गोपाङ्ग अभ्यास सपूर्ण करवो एज कहेवु सत्र प्रासंगिक छे ।

संस्कृतभाषामा बंधारणरूपे घडायैला सूत्रो, पूर्व-पर-विधि-निषेध-नियम-अपवादादिक-न्यायपूर्वक ते सूत्रोनी व्हेंचण, भाषामां वपरायैला शब्दो कया सूत्रथी केवी रीते बनेला छे, भविष्यमा बोलवा-लखवाना काळमा पण शब्दो वापरवा माटे केवा उपयोगनी जरूर छे, शब्दरचनाकाळे शब्द प्रत्ये जेटल लक्ष्य केन्द्रित करवानी जरूर छे तेदलज बल्के तेथी वधारै अर्थ-काळे लक्ष्य देवु जरूरी छे, आ बहु समज्या छता साहचर्य-संबन्ध-काळ-प्रकरण-विषयादिने विचार्या वगर अर्थ करनारा पण केवा अवळे रस्ते चढी जाय छे ते नीचेनी सामान्य वीनाथी समजी शकाशे ।

बजारमा बेठेला सराफो-बैसानी लेवड-देवड करनारा परस्पर कहे छे के हालमा नाणानी एटली बधी छूट छे के वे रामे पण पैसा कोइ राखतु नथी ।

दिल्हि, आब्राना एक बजारमा एक वहेपारीनी दुकाने एक ग्राहक माल लेवा बेठो के तुरत पाछळथी दलाली कर-वारा एक माणसे आवीने वहेपारीने राम राम एम कहु, वहेपारीनु ध्यान ते तरफ न हतुं अने वहेपारी भाव कहेवा जतो हतो एटलामा गुमास्ताए कहु के आ माणसे तमने वे वखत राम राम कहा ते तमे सामज्या के नहि ।

रामे मुखेलेली वगर लका लइ लीधी, रामे पृथ्वीने घणी वार क्षत्रिय वगरनी कीधी, वैधे दर्दीनी नाडी जोई-तपासीने कहु के हवे थोडा टाइमना महेमान छे, धारवा प्रमाणे एकाद कलाकमा राम रमी जशे ।

उपरना दृष्टान्तमा अनुक्रमे वे रामे=वे आना व्याजे, राम राम=वे टका दलाली, रामे=वशरथना पुत्रे, रामे=परशुरामे, राम रमी जशे=मरी जशे, ए रीते प्रसंगानुसार जूदा जूदा अर्थो एक राम-शब्दनाज थाय छे, उपरना वधा प्रसंगोमा पूर्वा-परना वाक्य-सबन्ध-प्रकरण-विषय विगेरेने समज्या वगरनी कोई माणस दरेक स्थळे राम-शब्दो एकज अर्थ करे तो जरूर सुझवर्णमा मुकाय ।

आ उपरथी संस्कृतभाषामा पण वपराता शब्दोनी निष्पत्ति अने यथार्थ ज्ञप्ति थया वगर पूर्वकालीन महापुरुषोना महान् भावोने जाणी शकाता नथी, माटेज संस्कृतभाषाना साङ्गोपाङ्ग अखण्ड अभ्यासनी अनिवार्य आवश्यकता छे ।

### \* संस्कृतभाषानुं प्राथमिक पठन-पाठन थवुं ज जोइए ।

पूर्वे विचारी गया के पूर्वमहर्षिप्रणीत साहित्य संस्कृतभाषामा अने प्राकृतभाषामा छे, ज्यारे बले भाषामा छे तो पठी केवल संस्कृतभाषाने ज बहु वेग आपवानुं प्रयोजन शु, आ शङ्काना समाधानमा एटल समजवु जरूरीनु छे के संस्कृतभाषाना साङ्गोपाङ्ग सपूर्ण अभ्यास कर्था वगर प्राकृतभाषामा प्रवेश करवो ते पारावार-प्राकृतभाषान् गद्य-पद्य साहित्यने अन्याय आप-वानी उतावळ करवा जेवु छे ।

एटला माटे ज सस्कृतभाषांना साङ्गोपाङ्ग-साहित्यना सर्वोत्तम लघा कलिकालसर्वज्ञ-भगवान्-श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजीए पण सस्कृतभाषांना नियमन माटे क्रमशः सज्ञा-सन्धि-नाम-कारकादि अनेकविध विषयोथी भरपूर सात अध्यायरूप ३५६६ सूत्रोनी रचना करी । सिंहावलोकनदृष्टिए विचारिए तो पाचमा अध्यायना बीजा पादना अतमा आवेल—“उणादयः” ॥५१२।९३॥ ए सूत्रनी पूरवणीरूपे सात अध्यायना सूत्रोथी नहि निष्पन्न थता शब्दोनी निष्पत्ति माटे उणादिना १००६ सूत्रोनी रचना करी।तेवी ज रीते प्रथम अध्यायना प्रथमपादमा आवेल—“पुस्त्रियो. समौजस्” ॥१।१।२९॥ ए सूत्रनी पूरवणीरूपे पुलिङ्गस्त्री-लिङ्गादिनी व्यवस्था जाणवा माटे १३८ श्लोकप्रमाणना लिङ्गानुशासननी रचना करी । शब्दस्वरूपना निर्णय माटे धातुज्ञाननी जरूर छे ते हेतुथी सर्व-धातुओनु सपूर्ण ज्ञान जेनाथी थइ शके एवा धातुपारायणनी पण रचना करी । यदाहु—“कलिकाल-सर्वज्ञा”—“शब्दस्वरूपनिर्णय इति तत्राऽपि धातुमूलत्वमेव” पृ० १-१०, इति धातुपारायणग्रन्थे ।

आ वधा सस्कृतसाहित्यना अगोपागने जाण्या वाद प्राकृतभाषामा प्रवेश करवो उचित छे ।

कलिकालसर्वज्ञ भगवान् प्राकृतादिभाषा माटे आठमा अध्यायनी शरुआतमा ज—“अथ प्राकृतम्” ॥ ८।१।१ ॥ ए प्रमाणेना प्रथम सूत्रनी रचना करीने ते सूत्रनी वृत्तिमा पण लख्यु छे के—सस्कृतभाषानो पार पाम्या पठी ज प्राकृतभाषा भणवी उन्नित छे, यदाहु.—कलिकालसर्वज्ञाः—अथशब्द आनन्तर्यार्थोऽधिकारार्थश्च × × × सस्कृतानन्तरं प्राकृतमधिक्रियते । इत्यादिना × × । प्राकृते च प्रकृति-प्रत्यय-लिङ्ग-कारक-समास-सज्ञादयः सस्कृतवद्वेदितव्या ।

आ उपरथी एटलो निर्णय थयो के प्रथम सस्कृतभाषानुं पठन-पाठन करवुज उचित छे ।

वर्तमानकाले सस्कृतभाषानो पार पामवा माटे सकल सामग्रीओथी भरपूर जो कोइ पण व्याकरण होय तो लेश पण अतिशयोक्ति बगर कहेवु पडरो के श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन ज छे । आ ग्रन्थमा उभराती अनेकविध सामग्रीओ कइ कइ छे ते—‘ग्रन्थनी अनेकविध सामग्री’नामना आगळना प्रकरणमा पूर्णप्रेमथी अवलोकन करशु, हाल तो अनेक व्याकरणो मौजुद छतां आ महान् व्याकरणनी रचना कया संयोगमा कइ रीतिए थइ ते तपासीए ।

### \* प्रेरणात्मक-प्रार्थनाए प्रकटावेल प्रधानतम-व्याकरण ।

आ ग्रन्थनी विशिष्टता सर्वश्रेष्ठतया समजाय तो अखिल भारतवर्षनुं प्रधानतम व्याकरण कहेवामा विद्वानोने लेश पण संकोच थवोज न जोइए ।।

आ ग्रन्थनी विशिष्टता समजवा माटे पूर्वकालीन-महापुरुषोए आपणी उपर न विसरी शकाय एवो अनहद उपकार कर्यो छे । ते ते महापुरुषो पैकी श्रीसोमप्रभाचार्ये श्रीकुमारपालप्रतिबोध वि० स० १२४१ मा रच्यो छे, श्रीप्रभाचन्द्रसूरीजीए श्रीप्रभावकचरित्र वि० सं० १३३४ मा रच्यु छे, श्रीमेरुतुङ्गाचार्ये श्रीप्रबन्धचिन्तामणि वि० सं० १३६१ मा रच्यो छे, विविधतीर्थसबन्धि उल्लेखमय ग्रन्थ—श्रीविविधतीर्थकल्प वि० सं० १३८९ मा रच्यो छे, श्रीराजशेखरसूरीश्वरजीए श्रीप्रबन्धकोष वि० सं० १४०५ मा रच्यो छे, श्रीजिनमण्डनगणिए श्रीकुमारपालचरित्रं वि० सं० १४९२ मा रच्यु छे, श्रीचारित्रसुंदरगणिए श्रीकुमारपालप्रबन्ध वि० सं० १६०१ मा रच्यो छे । ओछावचा प्रमाणमा मळी आवती वर्णनरूप आ वधी रचनाओमा श्रीप्रभावकचरित्रना रचयिता पूज्य श्रीप्रभाचन्द्रसूरीजीए वि० सं० १३३४ ना चैत्र शुदि ७ शुक्रवासरे रचेल प्रभावकचरित्र आपणने परम आधाररूप छे । कारण के सविस्तर वर्णन तेमाथी मळे छे, ते सविस्तर वर्णनमा अतिशयोक्तिरूप असंभवित वचनो दृष्टिप्रथमा आवता नथी, तेथी ऐतिहासिक दृष्टिए अवलोकन-करनाराओ माटे आ रचनामा कथन करेलु सर्व कथन जरूर आदरणीय छे, आज वातने समर्थन करनारो सिंधी जैन ग्रन्थमाला. ग्रन्थाङ्क—१३ श्रीप्रभावकचरित्रना ‘प्रास्ताविक वक्तव्य’ पृ० ६ ना बीजा परेआफमा सपादके पोतानो अभिप्राय हिन्दीभाषामा प्रगट कर्यो छे के—“रचनाकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ उच्च कोटिका है । इसकी मापा प्रावाहिक हो कर प्रासादिक है । वर्णन सुसन्न और सुपरिमित है । कहीं भी अतिशयोक्ति या असंभवोक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती । महाकवि और प्रभावशाली धर्माचार्योका ऐतिहासिक वर्णन करनेवाला इसकी कोटिका और कोई दूसरा ग्रन्थ समग्र सस्कृत साहित्यमें उपलब्ध नहीं है ।”

श्रीसिद्धमूसृन्द्येष्ट, राजपाटिकया चरन् । हेमचन्द्र प्रसुं वीक्ष्य, तदस्थविपणौ स्थितम् ॥ ६५ ॥

निरुध्य दिम्बकासन्ने, गजप्रसरमङ्कुशात् । किञ्चिद्गणिष्यतेत्याह, प्रोवाच प्रसुरप्यथ ॥ ६६ ॥

कारय प्रसरं सिद्ध !, हस्तिराजमशङ्कितम् । त्रस्यन्तु दिग्मजा किं तैर्मूत्त्वयैवोद्धृता यत ॥ ६७ ॥

श्रुत्वेति मूपति प्राह, दृष्टिपुष्टः सुधीश्वर । मध्याहे मे प्रमोदायाऽऽगन्तव्य भवता सदा ॥ ६८ ॥

तत्पूर्वं दर्शन तस्य, जज्ञे कुत्राऽपि सत्क्षणे । आनन्दमन्दिरे राज्ञा, यत्राऽज्यर्मभूत्प्रभो ॥ ६९ ॥

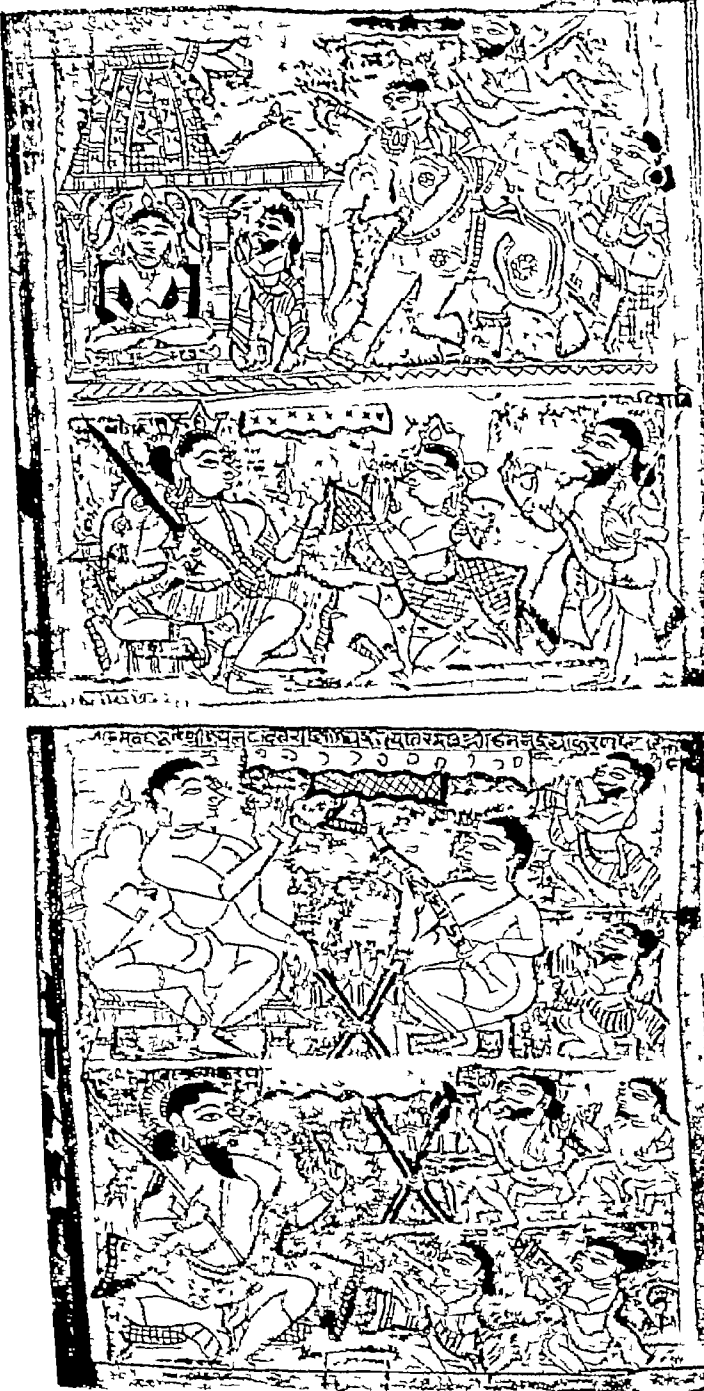
१ सिंधीजैनग्रन्थमाला-ग्रन्थाङ्क १३, विषयाङ्कम ०२ श्रीहेमचन्द्रचरित पृ० १८५ थी १८६, श्लो० ६५ थी ११५ सुधीनी पद्यबन्ध रचना छे, आगळ पाठळनो सचन्ध वाच्यथाथी विशेष छल्लासो यरो । अत्र चालू-प्रकरणमा तो ते श्लोकोमाथी सक्षित सारांश ज आप्यो छे ।

अन्यदा सिद्धराजोऽपि, जित्वा मालवमण्डलम् । समाजगाम तस्यै चाऽऽशिषं दर्शनिनो वृत्  
तत्र श्रीहेमचन्द्रोऽपि, सूरिभूरिकलानिधिः । उवाच काव्यमव्यग्रमतिश्रव्यनिदर्शनम् ॥ ७१ ।

तथा हि—

भूमिं कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा !, मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुद्भुप ! त्वं पूर्णकुम्भो भव  
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्गवारणास्तोरणा-न्याघत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ॥  
व्याख्याविभूषिते वृत्ते, वृत्ते इव विभोस्ततः । आजुहावाऽवनीपाल., सूरि सौधे पुनः पुनः ॥ ७३  
अन्यदाऽवन्तिकोशीयपुस्तकेषु नियुक्तकैः । दर्शयमानेषु भूपेन, प्रैक्षि लक्षणपुस्तकम् ॥ ७४ ॥  
किमेतदिति पप्रच्छ, स्वामी तेऽपि व्यजिज्ञपन् । भोजव्याकरण ह्येतच्छब्दशास्त्र प्रवर्तते ॥ ७५ ॥  
असौ हि मालवाधीशो, विद्वच्चक्रशिरोमणिः । शब्दालङ्कारदैवज्ञतर्कशास्त्राणि निर्ममे ॥ ७६ ॥  
चिकित्सा—राजसिद्धान्त-रस-वास्तूदयानि च । अङ्ग-शाकुनकाध्यात्म-स्वप्न-सामुद्रिकान्यपि ॥ ७७ ॥  
ग्रन्थान्निमित्तव्याख्यान-प्रश्नचूडामणीनिह । विवृतिं चायसद्भावेऽर्धकाण्डं मेघमालया ॥ ७८ ॥  
भूपालोऽप्यवदत् किं नास्तत्कोशे शास्त्रपद्धतिः । विद्वान् कोऽपि कथं नास्ति, देशे विश्वेऽपि गूर्जरे ॥ ७९ ॥  
सर्वे सम्भूय विद्वान्सो, हेमचन्द्रं व्यलोकयन् । महाभक्त्या च राज्ञाऽसावभ्यर्च्यं प्रार्थित. प्रभुः ॥ ८० ॥  
शब्दव्युत्पत्तिकृच्छ्रास्त्र, निर्मायाऽस्मन्मनोरथम् । पूर्यस्व महर्षे ! त्वं, विना त्वामत्र क. प्रभु. ॥ ८१ ॥  
सक्षिप्तश्च प्रवृत्तोऽय, समयेऽस्मिन् कलापकः । लक्षणं तत्र निष्पत्तिः, शब्दानां नाऽस्ति तादृशी ॥ ८२ ॥  
पाणिनिर्लक्षण वेदस्याऽङ्गमित्यत्र च द्विजा. । अवलेपादसूयन्ति, कोऽर्थस्यैरुन्मनायितैः ॥ ८३ ॥  
यशो मम तव ख्यातिः, पुण्यं च मुनिनायक ! । विश्वलोकोपकाराय, कुरु व्याकरणं नवम् ॥ ८४ ॥  
इत्याकर्ण्योऽभ्यधात् सूरिहेमचन्द्रः सुधीनिधिः । कार्येषु न किलोक्तिर्वि, स्मरणायैव केवलम् ॥ ८५ ॥  
परं व्याकरणान्यद्यौ, वर्तन्ते पुस्तकानि च । तेषां श्रीभारतीदेवीकोश एवाऽस्तिता ध्रुवम् ॥ ८६ ॥  
आनाययतु काश्मीरदेशाचानि स्वमानुषैः । महाराजो यथा सम्यक्, शब्दशास्त्रं प्रतन्यते ॥ ८७ ॥  
इति तस्योक्तिमाकर्ण्य, तत्क्षणादेव भूपतिः । प्रधानपुरुषान् प्रैषीद्, वाग्देवीदेशमध्यतः ॥ ८८ ॥  
प्रवराख्यपुरे तत्र, प्राप्तास्ते देवतां गिरम् । वन्दनादिभिरभ्यर्च्य, तुष्टुवुः पाठनस्तवैः ॥ ८९ ॥  
समादिक्षतस्तुष्टा, निजाधिष्ठायकान् गिरा । मम प्रसादचित्तः श्रीहेमचन्द्रः सिताम्बर ॥ ९० ॥  
ततो मूर्त्यन्तरस्येव, मदीयस्याऽप्य हेतवे । समर्प्य प्रेष्यता प्रेष्यवर्गं पुस्तकसञ्चयम् ॥ ९१ ॥  
ततः सत्कृत्य तान् सम्यग्, भारतीसचिवा नरान् । पुस्तकान्यर्पयामासुः, प्रैषुश्चोत्साहपण्डितम् ॥ ९२ ॥  
अचिरान्नगरं स्वीय, प्रापुर्देवीप्रसादिताः । हर्षप्रकर्षसम्पन्नपुलकाङ्कुरपूरिताः ॥ ९३ ॥  
सर्वं विज्ञापयामासुर्भूपालाय गिरोदिता । निष्ठानिष्ठे प्रभौ हेमचन्द्रे तोषमहादरम् ॥ ९४ ॥  
इत्याकर्ण्य चमत्कारं, धारयन् वसुधाधिपः । उवाच धन्यो महेशोऽहं च यत्रेदृशः कृती ॥ ९५ ॥  
श्रीहेमसूरयोऽप्यत्राऽऽलोक्य व्याकरणत्रयम् । शास्त्रं चक्रुर्नव श्रीमत्, सिद्धहेमाख्यमद्भुतम् ॥ ९६ ॥  
द्वान्त्रिंशत्पादसम्पूर्णमष्टाध्यायमुणादिमत् । धातुपारायणोपेतं, रङ्गलिङ्गानुशासनम् ॥ ९७ ॥  
सूत्रसङ्घट्टिमन्त्राममालानेकार्थसुन्दरम् । मौलिं लक्षणशास्त्रेषु, विश्वविद्वद्भिराहतम् ॥ ९८ ॥—त्रिभिर्विशेषकम् ।  
आदौ विस्तीर्णशास्त्राणि, नहि पाठ्यानि सर्वतः । आयुषा सकलेनाऽपि, पुमर्थस्त्वलनानि तत् ॥ ९९ ॥  
सकीर्णानि च दुर्वोधदोषस्थानानि कानिचित् । एतत्प्रमाणितं तस्माद्, विद्वद्भिरधुनातनैः ॥ १०० ॥  
श्रीमूलराजप्रभृति राजपूर्वजभूभृताम् । वर्णवर्णनसम्बद्धं, पादान्ते श्लोकमेककम् ॥ १०१ ॥  
तच्चतुष्कं च सर्वान्ते, श्लोकैश्चिञ्चिद्विरद्भुता । पञ्चाधिकैः प्रशस्तिश्च, विहिताऽवहितैस्तदा ॥ १०२ ॥—गुणम् ।  
राज्ञः पुरः पुरोगैश्च, विद्वद्भिर्वाचितं ततः । चक्रे लक्षणत्रयं वर्षे, राज्ञा पुस्तकलेखने ॥ १०३ ॥  
राजादेशान्निधुक्तैश्च, सर्वस्थानेभ्य उद्यतैः । तदा चाऽऽहूय सच्चके, लेखकानां शतत्रयम् ॥ १०४ ॥  
पुस्तकाः समलेख्यन्त, सर्वदर्शनिना ततः । प्रत्येकमेवादीयन्ताच्येतृणासुथमस्पृशाम् ॥ १०५ ॥—विशेषकम् ।  
अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु, लाटकर्णाटकुङ्गणे । महाराष्ट्रसुराष्ट्रासु, वत्से कच्छे च मालवे ॥ १०६ ॥  
सिन्धुसौवीरनेपाले, पारसीकसुरण्डयोः । गङ्गापारे हरिद्वारे, काशिचेदिगयासु च ॥ १०७ ॥  
कुरुक्षेत्रे कन्यकुङ्गजे, गौडश्रीकामरूपयोः । सपादलक्षवज्जालन्वरे च स्वसमद्यतः ॥ १०८ ॥

श्री सिद्धहेमचन्द्र गद्दानुशामन तत्त्वप्रकाशिका गृह्यवृत्ति  
आनन्दबोधिनी टीका समेत



(COPYRIGHT © M. NAWAB)

(ब्लॉक सागरभाट नवाबना सौजन्य से)

नाडपत्रीय प्रत-उपर श्री सिद्धहेमव्याकरणनी इस्ति उपर स्थापना ।  
नीच मलिकालमरज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यन श्री जयमिहदेवनी न्याकरण रचवा भाटे प्राधना॥

सिंहलेऽथ महाबोधे, चौ(गौ)डे मालवकैशिके । इत्यादि विश्वदेशेषु, शास्त्रं व्यस्तार्यत स्फुटम् ॥ १०९ ॥

—चतुर्भिः कलापकम् ।

अस्य सोपनिबन्धानां, पुस्तकानां च विंशतिः । प्राहीयत नृपेन्द्रेण, काश्मीरेषु महादरात् ॥ ११० ॥  
एतत्तत्र गतं शास्त्रं, स्वीयकोशे निवेशितम् । सर्वो निर्वाहयेत् स्वेनाऽऽहतं देव्यास्तु का कथा ॥ १११ ॥  
काकलो नाम कायस्थकुलकल्याणशेखरः । अष्टव्याकरणाऽध्येता, प्रज्ञाविजितभोगिराट् ॥ ११२ ॥  
प्रमुस्तं दृष्टमात्रेण, ज्ञाततत्त्वार्थमस्य च । शास्त्रस्य ज्ञापकं चाऽऽशु, विदधेऽध्यापकं तदा ॥ ११३ ॥  
प्रतिमास स च ज्ञानपञ्चम्या पृच्छना दधौ । राजा च तत्र निर्व्यूढान्, कङ्कणैः समभूषयत् ॥ ११४ ॥  
निष्पन्ना अत्र शास्त्रे च, दुक्कलस्वर्णमूषणै । सुखासनातपत्रैश्च, ते भूपालेन योजिताः ॥ ११५ ॥

आ चरित्रमा उपरना श्लोकोमाथी नीचेनी बिनाओपर ध्यान देवाथी ग्रन्थनी विशिष्टता नजर सन्मुख तरी आवे छे,  
आ बधा श्लोको अने तेनुं साराशरूपे भाषान्तर वाचवाथी आ ग्रन्थनी महत्त्वता स्पष्ट मालूम पडे छे ।

एकदा महाराजा सिद्धराजे मालवदेश जितीने पाटणमा प्रवेश कर्यो, ते अवसरे धारानगरीनी समग्र ऋद्धि-सम्पदा साथे श्रीभोजराजानो ग्रन्थमण्डार पण लाववामा आव्यो हतो । विजयवन्त सिद्धराजनु पाटणमा शुभागमन साभळीने आशीर्वचन देवा अनेक पण्डितो साथे भगवान् श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी पण आव्या, पूज्य सूरीश्वरजीए नीचे लखेल श्लोकवडे आशीर्वाद आप्यो—'भूमिं कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिद्ध' श्लो० ७२ इत्यादि—आशीर्वचन साभळी महाराजाए वखतो-वखत पधारवानी वारंवार नम्र प्रार्थना करी । सिद्धराजना ग्रन्थमण्डार-रक्षको भोजराजाना आवेला मण्डारनु निरीक्षण करता हता । ते अवसरे श्रीहेमचन्द्रसूरीजी पण आवेला हता तेओनी विद्यमानतामाज मण्डारिओए लक्षण नामनो ग्रन्थ राजाने बताव्यो, ते जोइने राजा सूरीश्वरजीने पूछे छे, अने सूरीश्वरजी जेना जवाबमा 'भोजव्याकरण' नामनु शब्दशास्त्र छे एम कहै छे । विशेषमां कहुं के मालवदेशनो महाराजा विद्वद्बृन्द-शिरोमणि हतो, तेणे शब्दशास्त्र अलङ्कारशास्त्रादि अनेकविध शास्त्रो रच्या हतां । आ बहु साभळीने सिद्धराज बोच्यो के शु अमारा मण्डारमा सुदर रचनाबद्ध शास्त्रो नथी ? अखिल गुर्जरदेशमा आवो कोई सर्वशास्त्रनिपुण विद्वान् नथी तेनु शु कारण ?—श्लो० ७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९ उपरनी विनानो सर्व माव आ श्लोकोमा छे । तेज अवसरमा—

“सर्वे सम्भूय विद्वांसो, हेमचन्द्र व्यलोकयन् । महामत्तया च राज्ञाऽसावभ्यर्च्य प्रार्थितः प्रभुः ॥ ८० ॥

शब्दव्युत्पत्तिकृच्छ्रास्त्रं, निर्मायाऽऽसन्मनोरथम् । पूरयस्व महर्षे ! त्वं विना त्वामत्र कः प्रभुः ? ॥ ८१ ॥”

अर्थ—सर्व विद्वानोए आचार्य हेमचन्द्रसूरीजी प्रति मीठी नजरे जोयु, अवसरना जाणकार-महाराजाए सूरीश्वरजीने अत्यन्त भक्तिभावथी विनती करी के हे महर्षि ! आप शब्दव्युत्पत्तिकर-शास्त्रने रचीने अमारा मनोरथने पूर्ण करो, आ कार्य करवा माटे आपना विना बीजा कोण समर्थ छे ?, अर्थात् आपना शिवाय बीजो कोई रची शके तेम नथी । श्लो० ८०-८१ ।

आ समये आपणो देश सक्षिप्त कलापक-कातम्र-व्याकरणमा प्रवृत्तिशील छे, प्रवृत्ति कर्या छता पण प्रवृत्ति करनारने शब्दव्युत्पत्तिनु ज्ञान बराबर थतुं नथी ॥ श्लो० ८२ ॥ ।

अने पाणिनिनु व्याकरण वेदाङ्ग छे ए हेतु आगळ धरीने ब्राह्मणो विद्यार्थिओनी अवगणना करे छे, कदाच ते विप्रो उंचा मनवाळा थाय अने दरेक अवसरे टकोर कर्या करे तेनो अर्थ शु ?, अर्थात् आथी तो नवीन व्याकरणनी रचना करवी श्रेयस्कर छे ॥ श्लो० ८३ ॥

अने तेथी ज भोजराजानी पाण्डित्य-कीर्तिपर विजय मेळववा माटे महत्त्वाऽऽकाङ्क्षा उत्पन्न थई अने ते विजय मेळववा माटे योग्य व्यक्ति देखीने वार्तालापना अन्तमा सिद्धराजे जणावी दीधु के—

यशो मम तव ख्याति, पुण्य च मुनिनायक ! ।

विश्वलोकोपकाराय, कुरु व्याकरण नवम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—हे मुनिवृन्दशिरोमणि ! जगत्ना सर्वजनोना उपकारार्थे एक नवीन व्याकरणनी रचना करो के जेथी मने यश अने आपने कीर्ति तथा पुण्यनी प्राप्ति थाय ॥ ८४ ॥

सिद्धराज-जयसिंहे भोजराजानो मण्डार जोयो, तेमा भोजराजाना नामथी अङ्कित भोजव्याकरणने जोयुं, तथा ते व्याकरण शिवाय बीजा पण घणा ग्रन्थोनी रचना भोजराजाए करी छे एम सामव्यु ते वखते तेणे विचार्युं हशे के—मारा गुजरातमां वैभव छे, तेने भोगववाना विलासस्थानो छे, सपत्तिओनी सरिताओ छे, लक्ष्मीना लताकुंजो छे, विद्याप्राप्तिना विद्याभवनो अने विद्याधामो छे, विद्याना अम्यासिओ छे, विद्वानो छे, धर्म छे, धर्मप्राप्तिना स्थानको छे, धर्मना साधनो छे, देवगुरुधर्मने पूजनारा धर्मिओ छे, देवगुरुधर्मना स्वरूपने समजावनारा धर्मपुरंधर धर्मोपदेशको पण छे, अरे ! बहु ए छे, ना ! ना !, बहुं ए छे

પણ આ નથી,—મારો દેશ પરાયા સાહિત્યપર જીવે છે, પરાયા પાણિડત્યપર ગાજે છે, માટે એ પરાયા સાહિત્યની શૃંગ્હલાઓને છેદી-ભેદીને મારો દેશ પોતાના સાહિત્યથી જીવે અને ગાજે તેવું વધુ કરવું જોઈએ । રાજવીઓ જશે, રાજસત્તાઓ જશે, રાજ્યાધિકારીઓ જશે, રાજ્યકાયદાઓ જશે, રાજસપત્તિ વૈમવ અને વિલાસોનો વિલય થશે અને સર્વવિનાશિસાધનોનો વિનાશ થશે અર્થાત્ જતા જતા વધુ એ જશે પણ સંસ્કૃતિ અને સાહિત્ય રહી જશે, રહી ગયેલા સાહિત્યો અને સંસ્કૃતિઓ મૂતકાઢના મન્ય હિતિ-હાસોના સર્જન કરશે અને રસિક રચનાઓને રચશે અને ગુજરાતના ગૌરવને ગજવશે । ઇટલુંજ નહિ પણ સૂર્ય-ચન્દ્રના તેજની માફક ગુજરાતના યશો ગાન દિગ્ગન્તવ્યાપી વનશે । ગુર્જરેશની આ મહત્ત્વાકાંક્ષાએ ભગવાન્-શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિજીને પ્રેર્યા, તે મહત્ત્વાકાંક્ષા અને પ્રેરણાના પુનીત સગમે ભગવાન્-શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિના રોમે રોમમાં રચનાત્મક રસ ઉત્પન્ન કર્યો અને તે રસે શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રવ્યાકરણનું અક્ષર દેહસ્વરૂપ ધારણ કર્યું ।

### \* અખિલભારતવર્ષનું પ્રધાનતમ—વ્યાકરણ ।

આ પ્રેરણાત્મક પ્રાર્થનાથી પ્રેરાયેલ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીએ અખિલ-ભારતવર્ષનો આશીર્વાદ સપાદન કરી શકે તેવી આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રસિક રચના કરી ।

આ નવીન રચના કરવાની માવનાથી ભાવિત થયેલા ગુર્જરેશ્વરના આશયને સ્પષ્ટ કરતા પૂજ્ય સૂરીશ્વરજી શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્ર-શબ્દાનુશાસનની પ્રશસ્તિમા જણાવે છે કે—

“તેનાઽતિવિસ્તૃતદુરાગમવિપ્રકીર્ણશબ્દાનુશાસનસમૂહકદર્થિતેન ।

અમ્યર્થિતો નિરવમ વિધિવદ્ વ્યધત્, શબ્દાનુશાસનમિદ મુનિહેમચન્દ્ર ॥ ૩૫ ॥”

અર્થ—અતિવિસ્તૃત=અતિવિસ્તારવાળા—લંબાણપૂર્વક વિવેચનવાળા, દુરાગમ=દુ સ્થિત કરીને જાણી શકાય એવા, અને વિપ્રકીર્ણ=હુટા છવાયા—વિસ્તારાયેલા અપૂર્ણપ્રાય. પ્રકરણ-વિષય-દૃષ્ટાત-સૂત્રવિવેચનાદિથી ભરપૂર એવા, શબ્દાનુશાસનસમૂહ=વ્યાકરણોના સમૂહથી, કદર્થિત=અત્યંત મુશ્કાળેલા ગુર્જરેશ્વર શ્રીસિદ્ધરાજે સર્વાંગસુદર અને પરિપૂર્ણ નૂતન વ્યાકરણ રચવાની શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીને પ્રાર્થના કરી અને તે મુજબ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીએ વિધિવત્=વિધિપૂર્વક-બ્રહ્મા એ જેમ સૃષ્ટિની રચના કરી તેવી રીતે અથવા અમ્યાસિઓને અત્યંત અનુકૂલ પહે તેવી પદ્ધતિએ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચના કરી ॥ ૩૫ ॥

ઉપરના શ્લોકમા કદર્થિતેન એ સિદ્ધરાજનું વિશેષણ છે । પૂર્વ પ્રકરણમાં ૮૪ માં શ્લોકના ‘યશો મમ x x x’ ઇત્યાદિ પદના આશય સાથે અત્ર અનુસન્ધાન કરતા સ્પષ્ટ-ધ્વનિ નીચે મુજબના તરી આવે છે ।

૧. માલ્વાધિપતિ મોજરાજા એક વ્યાકરણકાર હતો, પોતાના દેશમાં પોતાનાજ વ્યાકરણનો પ્રચાર કરાવતો હતો । મોજવ્યાકરણ ગુજરાતની વિદ્યામૃમિને ગજવતું હોય આથી પણ યશના અર્થે રાજાને પોતાના દેશમા પોતાના વ્યાકરણની જલ્લીયાતરૂપ મુજવણ મુજવતી હોય ।

૨. પૂર્વે ૭૯ માં શ્લોકમા રાજાનો એવો ભાવ જણાય છે કે—અમારા મખ્ધારમા આવી શાસ્ત્રરચનાઓ નથી । વર્તમાન સમયે મિત્ર મિત્ર દેશમાં વસનારા વિદ્વાનોએ મિત્ર મિત્ર વ્યાકરણો રચ્યાં છે, અને તેનોજ પ્રચાર ચાલ્યા કરે છે, માટેજ ગુર્જરદેશમાં જન્મેલા વિદ્વાને સર્વાંગસુંદર શાસ્ત્ર રચ્યું હોય અને ગુર્જરમૃમિમા વસનારાઓ તે રચનાથી અમિમાન લઈ શકે એવી વ્યાપક-વ્યથાથી વ્યથિત થયો હોય ।

૩. માલવદેશ જેમ ધન-ધાન્ય-ઋદ્ધિ-સિદ્ધિ વિગેરેથી સમૃદ્ધશાલી હતો તેમ અનેકવિધશાસ્ત્રની રચના અને રચયિતાઓથી પણ ભરપૂર હતો તો મારો દેશ પણ જેમ સ્થાવર-જગમલક્ષ્મીથી સમૃદ્ધ બનેલો છે તેમ સાહિત્ય અને સાહિત્યકારોથી પણ સમૃદ્ધ કેમ ન બને એ અભિલાષાની અકઠ્ઠામળથી અકઠ્ઠાયો હોય ।

૪. ગુજરાતના વિદ્યાર્થીઓ વિદ્યા-સપાદન-કાઠે પરાયા-દેશના સાહિત્યથી પરાધીનપણે પોતાનું જીવન નમાવતા જોઈને, અને ક્ષણમજ્જુર-આયુષ્ય-પ્રાપ્તકાઠમા અતિવિસ્તારવાળા અધૂરા અને મહેનત કરવા છતાં પણ પૂર્ણવૌધ-દેવામા કૃપણ સાહિત્યના અમ્યાસથી ત્રાસ પામેલા વિદ્યાર્થીઓના ત્રાસને દેશવટો દેવા માટે વિદ્યાવિલાસિ-રાજાએ ગુર્જરદેશના ગૌરવને વધારી શકે એ હેતુથી હૃદયના આદોલનોમા અટવાયો હોય । કદર્થિતેન એ પદમા આ વધા અર્થો અત્યંત ગૂઢપણે છુપાયા છે, ઇટલુંજ નહિ પણ નવીન સાહિત્ય નિર્માણ માટે રાજાની પ્રેરણામાથી લક્ષ્મીસમૃદ્ધ દેશને સાહિત્યસમૃદ્ધ બનાવવાની સુંદર માવનાઓ સાથે ગુજરાતના પ્રદેશને, અને ગુજરાતિઓને ગૌરવશાલિપણે જીવન-જીવવાના અનેકવિધ સત્યો નોતરી આવે છે કે જેથી કરીને તેનાં જેટલાયે નિર્મઠ યશોગાન ગાઈએ તેટલા ઓછા છે ।

આગઠ પાછઠના સવન્ધ વિચારીને આ શ્લોકના માવાર્થને ધ્યાનમા લેતા ઉપર મુજબના અને તે સિવાયના અનેકવિધ ધ્વનિત અર્થો નિકઠી આવે છે । પરન્તુ પ્રશસ્તિમા લખેલા ત્રણ દોષોને દૂર કરવા માટે અર્થાત્ ત્રણ દોષને સર્વથા દેશવટો દેવા માટેજ આ પ્રધાનતમ વ્યાકરણની રચના થઈ છે, એ અર્થ વિશેષપણે વધ વેસતો છે એ નિ.સદેહ નમ, સત્ત્વ સ્ત્રીકાર્યા વગર ચૂલે તેમ નથી ।

प्रार्थनाना प्रेरणात्मक-प्रेमबलना वेगमाटे उपरना वधा अर्थो सङ्गतरूप छे, परन्तु आज्ञेयी साढी आठसो वर्ष पहेलाना कालमा रचायला आ महान् ग्रन्थने साद्यन्त पठन-पाठन-मनन अने परिशीलनरूपे अवलोकवामा आवे तो अवलोकन करनार अभ्यासी एकज अमिप्राय आपे के त्रण दोषना उद्धारपूर्वक परिमित-पूर्णसकलना-वद्ध-सहेलाइथी बोध थइ शके तेवी सर्वाङ्ग-सुंदर परिपूर्ण रचनाथी आ प्रधानतम व्याकरण रचायुं छे ।

वर्तमानकालीन सकलव्याकरणोने समूह अतिविस्तृत-दुरागम अने विप्रकीर्ण आदि दोषोथी दूषित छे अने सर्वाङ्गसुंदर नथी पण अपूर्ण छे एम पूरवार थतु होय तो विना सकोचे आ व्याकरणे 'अखिलभारतवर्षनुं प्रधानतम व्याकरण' कहेवामा लेश पण अतिशयोक्ति नथी, एटल्ल ज नहि पण कर्तानी विद्वद्भोग्यकृतिनी श्रेष्ठता पिछाणीने अने कार्यदक्षतानी कदर करीने गुणज्ञविद्वत्समाजे कलिकालसर्वज्ञ एवी यथार्थ उपाधिथी व्याकरण विरचयिताने विमूषित करीने पोताना गुणज्ञपणाने प्रकट कर्तुं छे । असदिग्धवातने लोको आ ससारमा जोरशोरथी उच्चारें छे, यदाह—'असन्दिग्ध हि लोकेऽस्मिन्नुच्चैर्निर्भयमुच्यते' इति माप्ये । 'अखिलभारतवर्षनुं प्रधानतम व्याकरण' आ असदिग्ध कथन माटे जुओ वि०स० १२६४ मा श्रीजयानन्दसूरिना शिष्य अमरचन्द्रसूरिजीए रचेली श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन उपर बृहत्-अवचूर्ण दे० ला० जैन पु०फण्ड तरफथी प्रकाशित थयेल ग्रन्थाद्ध ९२, पृ० ३, पक्ति १८ थी २०—इत्यादि 'शब्दानुशासनजातमस्ति तस्माच्च कथमिदं प्रशस्यतरमिति ? उच्यते—तद्धि अतिविस्तीर्णं विप्रकीर्णं च । कातन्नं तर्हि साधु भविष्यतीति चेन्न, तस्य सकीर्णत्वात्, इदं तु सिद्धहेमचन्द्राभिधानं शब्दानुशासनं नाऽतिविस्तीर्णं, न विप्रकीर्णं, न च सकीर्णमिति । अनेनैव शब्दव्युत्पत्तिर्भवतीति । इति मौलोऽर्थः प्रतीत एव' ।

आ प्रस्तावनाना आगळना प्रकरणमा चाल्ल व्याकरणोना अतिविस्तृतादि दोषो संक्षेपथी जणाववामा आव्या छे । स्थाली-पुलाकन्याये वाचवाथी माळूम पडरो के भारतवर्षना प्रधानतम व्याकरण थवानी योग्यता जो कोइए प्राप्त करी होय तो केवळ श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनेज प्राप्त करी छे । सर्व-दोषे करीने रहित सर्वगुणे करीने सहित श्रीसिद्ध-हेमचन्द्रशब्दानुशासन छे, अने तेथीज प्रधानतमपणे वर्तवानो सघळो ये यश आ कृतिने फाळे जाय छे ।

### \* त्रिविध दोषोथी दूषित शब्दानुशासनसमूह ।

शरीर नाशवत छे, आयुष्य विद्युद्भंग जेवु चपळ छे माटे अतिविस्तारवाळा सूत्र-विषय-विवेचनादिथी भरपूर प्रकरणोने पार पामी शकातो नथी । जे प्रकरणमा विषयने स्पष्ट करवा एकाद वे सूत्रथी नमी जतुं होय त्या सूत्रोने दगलो करी देवो ते कार्यदक्षता नथी, तेथी ज आ प्रधानतम रचना सिवायना व्याकरण रचनाना विषयविभागमा अतिविस्तृत दोष ठाम ठाम नजरे पडे छे । व्याकरणनी रचनामा अर्धमात्रागौरवने दोषरूपे गणवामा आवे छे, तेथी ज दरेक वैयाकरणो ए दोषथी बचवानो प्रयत्न पोतपोतानी बुद्धि अनुसार अवश्यमेव करता होवाथी 'अर्धमात्रालाघवमपि पुत्रोत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणा' एवी उक्ति लोकोमां-वैयाकरणोमां प्रचलित थयेली जणाय छे ।

संक्षेपतया लखवा छता पूर समजी शकातुं न होय तो ते संक्षेपता गुणकारी निवडती नथी, आथी ज सक्षिप्त परिमित अक्षरो अने वचनोथी भरपूर प्रकरणो-विषयो अने सूत्रो रच्या होय अने तेनाथी बधु ज समजी शकातुं होय अने कहेवानुं न रही, जतुं होय तो ते रचना गुणकारी निवडे छे अने अतिविस्तृत दोषने हठाववामा कार्यसाधक निवडे छे ।

दुःखे करीने बोध थइ शके तेवा सक्षिप्तवचनोथी भरपूर प्रकरणो लख्या होय परन्तु तेथी अतिविस्तृतदोषने हठाववा जता दुरागम दोष उपस्थित थइ जतो होय तो कहेवु पडरो के आतो 'बकरु काढता उट पेसी गयु ।'

सूत्रोनी रचना कठिण शब्दोमा करी होय, सूत्रोनु व्याख्यान कठिण शब्दोमा अने कठिण शैलीथी कर्तुं होय, वाचवा-विचारवा छता विषय समजाय नहि तेवु लखाण लख्यु होय, सूत्रोना अर्थने समजाववा वृत्ति लखी होय अने तेज्ज च्चिने समजाव जता अनेकविध सद्विधताओ उभी थती होय, जे विषय सहेलाइथी समजी शकाय त्या कठिणता करी होय, अने कठिणता होय तेने स्पर्शज कर्को न होय तो आवी अनेकविध अगवडोथी व्याकरण दुरागम दोषथी दूषित थयुं छे एम क्रहेज् योम्य छे, आ दोषना उद्धार माटे सरळ शैलीथी वाचवा साथे बोध थइ शके तेवु, कठिण विषय प्रसंगने पण सरळ वक्तवो दे एवु ए विगेरे विनाओ लक्ष्य राखी रचना करी होय तो ते रचना दुरागम दोषने दूर करी सहेलाइथी बोध करवामा सफळता प्राप्त करे छे । अस्पष्टविषयने पण वेने वे चारनी माफक समजी शकाय तेवी ते रचना बने एमा शङ्काने स्थानज नथी ।

दरेक विषयने स्पष्ट करवा माटे सूत्ररचनाओ सकलनाचद्ध साकळना अकोडानी माफक चाली आवे, सूत्रव्याख्यान अवसरे पूर्व सूत्रोमाथी आवता पदो अगर अधिकार-सूत्रोथी आवता पदो सहेलाइथी हाजरी आपी शके, सूत्रस्थित पदोने स्पष्ट करनारा उदाहरणो गळाना प्रवाहनी माफक अस्खलितपणे आवीने चाल्ल प्रकरणमा विषयने स्पष्ट करी दे, सूत्रनो अर्थ-प्रदेश आटलीज जग्याए व्यापक छे ते सिवाय बीजे नथी तेनु मान करावनारा प्रत्युदाहरणो क्रमसर आवीने पदप्रयोजननी पारमाथिकता समजावी दे, उदाहरण अने प्रत्युदाहरणनी समजावट साथे कार्य प्रदेशनु बोधदायक नियमन करीने सीधी के

आडकतरी रीति ए ध्वनित-ऐतिहासिक विगैरे अनेकविषयोनुं ज्ञान कष्टवगर सपादन करावी दे, एटल्लज नहिं पण पठन-पाठनकाळे अभ्यासिओ विषयने रसमर समजी शके तेवु जे रीति ए जोइए तेवु अने तेटल्लु योग्य सगृहीत थयु होय के जेथी सतोष उपर सतोष मेळवता जाय, आ बधुं आ प्रधानतमव्याकरणमा सपूर्णपणे भरी दीधु छे। परन्तु विषयस्पष्टीकरणना स्थाने विषयान्तरनु स्पष्टीकरण करे, सन्धि अवसरे सन्धिविधायक सूत्रना स्थाने समासविधायक-सूत्रो आवे, नामप्रकरणावसरे नामोप-योगिसूत्रोने बदले कारकव्यवस्थापक-सूत्रो आवे, अने कारकप्रसंगे षत्व-णत्व-समासविधायक सूत्रो चाल्या आवे, त्यारे अभ्यासिओने भूलभूलामणी जेवो गुचवाडो जरूर उभो थाय ए समजमा आवे एवी स्पष्ट विना छे।

हवे दरेक व्याकरणमा उपर जणाव्या सुजवना ओछा वत्ता प्रमाणमा दोषो दृष्टिगोचर थाय छे, ते तरफ पण जरा नजर करी ल्हए,—पाणिनिना व्याकरणमा अभ्यासिने अनुकूल पडे तेवो क्रम सचवायो नथी, नामप्रकरणने अनुसरता बधा ज सूत्रो एक साथे नामप्रकरणमा आववा जोइए तेने बदले बीजा छट्टा अने सातमा अध्यायमाथी छुटा छुटा सूत्रो आवेला छे, आ एक नामप्रकरणमा ज आम थयु छे एम नथी, परंतु दरेक प्रकरणमा प्रायः एवु ज थयु छे के जेथी स्थळे स्थळे विप्रकीर्णदोषनी बहुलता नजरे पडे छे। आ विनाने विस्तारथी जणाववानुं कार्य 'तुलनात्मक दृष्टि ए प्रधानतम व्याकरण' नामना लेखमा जणावाशे।

पाणिनीय व्याकरणमा अतिविस्तृत दोष तो ठाम ठाम नजरे पडे छे—“उपदेशेऽजनुनासिक इत्” ॥ १।३।२॥, “हल्न्त्यम्” ॥ १।३।३॥, “अदर्शन लोप ॥ १।१।६० ॥”, “तस्य लोपः ॥ १।३।९ ॥”, आ चार सूत्रोथी पाणिनीय व्याकरण जेटल्लु कार्य करे छे, तेटल्लु ज कार्य आ प्रधानतम व्याकरण “अप्रयोगीत् ॥ १।१।३७ ॥” ए एक ज सूत्रथी कार्यसिद्धि करे छे। आ सबधमा विस्तारथी स्पष्टीकरण तेज सूत्रनी आ० बो० वृत्तिमा पक्ति ४६ थी ४८ सुधीमा करवामा आव्यु छे ते दरेक अभ्यासिए वाचवा-विचारवा माटे जरूरनु छे।

आगळ चालता कारकप्रकरणमा पण पाणिनि ए “ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥ १।४।२४ ॥” आ सूत्रथी अपादानकार-कनी व्यवस्था अशुरी रहेती हती तेनी पूर्ति माटे नीचे जणावेली बीजा पण सूत्रो तेमने रचवा पड्यां, तथापि पूर्ति नहि थवाथी वार्तिककारने वार्तिको रचवा पड्या, ते रचायेली वार्तिक-सूत्रो नीचे जणाववामा आवे छे,—“जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुप-संख्यानम्”—वार्तिकम्। “यत्श्चाऽध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी”—वार्तिकम्। “भीत्रार्थाना भयहेतुः” ॥ १।४।२५ ॥, “पराजेरसोढ ” ॥ १।४।२६ ॥, “वारणार्थानामीप्सित ” ॥ १।४।२७ ॥, “अन्तर्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति” ॥ १।४।२८ ॥ “जनिकर्तुं प्रकृतिः” ॥ १।४।३० ॥, “भुवः प्रभवः” ॥ १।४।३१ ॥, “पञ्चमी विभक्ते” ॥ २।३।४२ ॥, आ बधा सूत्रो अने वार्तिकोनी जग्याए आ प्रधानतम व्याकरणमा “अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २।२।२९ ॥” ए एक ज सूत्रथी सर्व प्रयोगोनी व्यवस्था करवामा आवी छे।

आ व्यवस्थाने पातञ्जल-महाभाष्यकार पण सम्मत छे, कारण के पाणिनीय व्या०ने वधाराना सूत्रो अने वार्तिको रचवानी जरूर नथी एम भाष्यकार जणावे छे, यदाहु—“अयमपि योगः शक्योऽवकुम्” इत्यादि वचनोथी वधाराना सूत्रो अने वार्तिकोनी जरूरज न होती एम मारपूर्वक भाष्यकार भगवान् जणावे छे—जुओ पा० महाभाष्य पृ० ३६५ थी ३६८।

आ व्यवस्थानुं विशेषत स्पष्टीकरण “अपायेऽवधिरपादानम्” आ सूत्रनी आनन्दबोधिनीमा अभ्यासिने मालुम पडे छे। वळी दुरागमदोषनी चर्चामा उतरीए तो पाणिनीय व्याकरणमा नीचेनी बावतो जणाइ आवे छे। नवीन रचनामा नवीनता लाववा माटे पूर्वपरम्परागत, सार्थक अने गुणनिष्पन्न सज्ञाओने तिलाञ्जलि दइ अपरिचित सज्ञाओनु सर्जन करवुं, बुद्धि अने स्मृतिने पोषक रचनाक्रम छोडीने एक ज अध्यायमा नाम क्रियापद अने कृदन्तने लगता अनेकविध सूत्रोनु मिश्रण करी देवुं, एटल्ले ज नहि पण दुरागमदोषथी दूषित पाणिनीय व्याकरणना अष्टाध्यायिक्रमने भट्टोजी दीक्षिते फेरवीने दुरागम-दोषनो यत्किंचित् उद्धार कर्यो छे। कहेवु पडशे के कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजीनी आ प्रधानतम व्याकरण-रचना निहाळीने ते रचनानु अनुकरण कौमुदीकारे सिद्धान्तकौमुदीमा कर्युं छे।

कौमुदीकारे सिद्धान्तकौमुदीनी रचना करीने लगमग विप्रकीर्ण अने दुरागम ए वे दोषोनु यथाशक्ति निवारण करवा छता आ प्रधानतम व्याकरणनी सरसाइने ते रचना पहाँची शकी नथी, कारण के अतिविस्तृत दोष तो तेनी तेज अवस्थामां हजु पण कायम रखोज छे।

आ उपरथी केवळ पाणिनीय व्याकरणनो अष्टाध्यायिक्रम अने ते उपर काशिकावृत्ति कहे के सिद्धान्तकौमुदी कहे ते पण उक्तदोषोथी दूषित छे, एटल्लु ज नहि पण चान्द्रव्याकरण, जैनेन्द्रव्याकरण, शाकटायन-व्याकरण अने तत्कालीन बधा व्याकरणो लगमग ते क्रमने अनुसरीनेज रचायला छे अने ओछा वत्ता दोषोथी दूषित छे।



ते ते व्याकरणकारोए व्याकरणो रचने विद्यार्थिओने माटे क्लिष्टता ओछी करी नथी । क्लिष्टता ओछी करवानुं अने त्रण दोषोथी अलिप्त रहेवानो सघळोये यश आ प्रधानतम व्याकरणे विना सकोचे प्राप्त थाय छे, ए कहेवुं लेशपण अस्थाने नथी ।

### \* अनुकरणरूपे रचायली-सिद्धान्तकौमुदी ।

पाणिनीयव्याकरणनो अष्टाध्यायिक्रम जे त्रण दोषोथी दूषित हतो ते वात पूर्वना प्रकरणमा विचारी गया, ते त्रण दोषोनी अतिगाढ गुचवणने उकेलवा सिद्धान्तकौमुदीकारे यथाशक्ति प्रयत्न कर्यो छे, ते सिद्धान्तकौमुदीने देखता स्पष्ट मालूम पडे छे । आ प्रधानतम व्याकरणनी रचना निहाळीने छूटा-छवाया सूत्रोने प्रक्रियाक्रमे तेमणे गोठव्या छे, आजे पण प्रक्रियाक्रमे गोठवायली अने रचनारूपे सिद्धान्तकौमुदी भणावाय छे । अनुकरणरूपे रचायली रचना जगतमा आदरणीयरूप बनी छे तेनो सघळोये यश कलिकालसर्वज्ञ-भगवान्-हेमचन्द्रसूरीश्वरजीने फाळे जाय छे ।

साथे साथे ए वात लक्ष्यमा लेवा जेवी छे के पूर्वकथित त्रण दोषोथी दूषित पाणिनीयव्याकरण हनुं तेथी ज प्रक्रिया-क्रम गोठवीने विद्यार्थिओने सरलता करी आपी ने कौमुदीकारे यथाशक्ति ते दोषोनी उद्धार कर्यो छे, परन्तु रचनाकाळे कौमुदीकारे प्रक्रियारूपे गुथणीनो जे प्रयास कर्यो छे ते स्तुत्य छे पण कलिकालसर्वज्ञनी आ महान् कृतिने पहोंची शके तेम तो नथी ज, अनुकरण करवा छता कलिकालसर्वज्ञनी सर्वदेशीयताने, सर्वसाम्राहिताने, सकळ मतनी छणवटने, अने प्रमाणोपेत उदाहरण-प्रत्युदाहरणादिनी पूर्वने पूरी करवामा अनुकरण करनार कौमुदीकार कलिकालसर्वज्ञनी आ प्रधानतम-कृतिनी सरसाहमा आवी शक्या नथी, ए वात हाथ कंकणने आरीसा जेवी छे ।

आ प्रकरण वाचनाराओने एम लागशे के आदरणीय बनेली आ रचनाने उतारी पाडवा अगर तो कलिकालसर्वज्ञनी रचनाने आगळ लाववा माटे आ प्रयत्न करायो छे, परन्तु आ वाबतमा नीचेनी विना वाचवार्थी तेओने स्पष्ट मालूम पडशे के जे कहेवासु छे ते तद्दन नम सत्यज छे ।

कलिकालसर्वज्ञनी आ कृतिना रचना-समयथी लगभग चारसो वर्ष पछीना समयमा कौमुदीकार भट्टोजी दीक्षित थयेला छे, तेओश्रीना जोवामा आ प्रधानतम व्याकरण आव्युं होय अने ए महान् कृतिने जोइनेज परापूर्वथी उतरी आवेला पाणिनिना क्रमने फेरववानो प्रयास कर्यो होय एवं अनुमान थाय छे, केम के बचेनो रचनोक्रम लगभग सरखोज छे ।

१ कलिकालसर्वज्ञनो रचनाक्रम ।

- १ संज्ञाप्रकरणम् ।
- २ स्वरसन्धिप्रकरणम् ।
- ३ व्यञ्जनसन्धिप्रकरणम् ।
- ४ नामप्रकरणम् ।
- ५ कारकप्रकरणम् ।
- ६ षत्वैणत्वम् ।
- ७ स्त्रीप्रत्ययम् ।
- ८ समासम् ।
- ९ आख्यातम् ।
- १० कृदन्तम् ।
- ११ तद्धितम् ।

२ भट्टोजीदीक्षितनो रचनाक्रम ।

- १ संज्ञाप्रकरणम् ।
- २ अचूसन्धिप्रकरणम् ।
- ३ हलसन्धिम् ।
- ४ विसर्गसन्धिम् ।
- ५ स्वादिसन्धिम् ।
- ६ अजन्तपुल्लिङ्गप्रकरणम् ।
- ७ अजन्तस्त्रीलिङ्गम् ।
- ८ अजन्तनपुसकलिङ्गम् ।
- ९ हलन्तपुल्लिङ्गम् ।
- १० हलन्तस्त्रीलिङ्गम् ।
- ११ हलन्तनपुसकलिङ्गम् ।
- १२ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।
- १३ कारकप्रकरणम् ।
- १४ समासम् ।
- १५ तद्धितम् ।
- १६ तिङन्तम् ।
- १७ कृदन्तम् ।

१ आ रचनासु अनुकरण अने रचनानी क्लिष्टताने दर्शावतो एक लेख 'पुरातत्त्व' पुस्तक-४थामा 'शुजरातसु प्रधान व्याकरण' ए नामनो छपाह गयेलो छे, ते लेखना लेखके जणाव्यु छे के—“पाणिनिना व्याकरणमा अष्टाध्यायीनो क्रम छे, ए क्रम भले कीई विशेष धारणाथी रचायो होय पण अभ्यासिने माटे तो ए क्लिष्ट छे ।” तेज लेखके अनुकरण सवन्धि उल्लेख करीने आ प्रधानतम व्याकरणनी महत्त्वता, निर्दूषणता, सरलता, सुसङ्गतता विगरे शुणो यथायं रीतिण् यशोगान गावानो पण प्रयत्न कर्यो छे ते अति प्रशंसनीय छे ।

२ 'शुजरातसु प्रधानव्याकरण' नामना लेखमा तेना लेखके आ विनाने सक्षेपथी जणावी छे ।

उपर मुजवना प्रकरणो तेपासता प्रकरणविभाग लगभग कलिकालसर्वज्ञ रचित प्रकरणविभागने मळतो छे । पाणिनीयना सूत्रो सिद्धान्तकौमुदीमा होवायी ते सूत्रोना सवन्धमा अने प्रकरणोना सवन्धमा कलिकालसर्वज्ञ जे कार्य एक नामप्रकरणथी सुदररीतिए परिसमाप्त करे छे ,ते ज कार्यने कौमुदीकार खरान्त व्यञ्जनान्त अने ए वनेना पुलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग नपुसकलिङ्ग ए रीति ए त्रण त्रण विभाग करी कुल छ विभागमा नामप्रकरण पूरु करे छे, एटले सूत्रनी जेम प्रकरणविभागमा पण अतिविस्तृतदि दोषो माटे कहेवानु रहेतु नथी । एटलु ज नहि पण वृत्तिमा विस्तार थयेलो स्पष्ट मालुम पडेछे ।

प्रथम अध्यायना त्रीजा पादमा कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् व्यञ्जनसन्धिप्रकरण समाप्त करे छे, ज्यारे कौमुदीकार एक व्यञ्जन-सन्धिप्रकरणनेज त्रण प्रकरणमा व्हेंचीने विस्तारपूर्वकनी रचना करे छे ।

नामप्रकरणमां अकारान्तादि नामो पछी ते पुलिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग के नपुसकलिङ्गना होय ते वधा नामोने अनुक्रमे चोथा अने पाचमा पादना एक ज प्रकरणमा कलिकालसर्वज्ञे समावेश कर्यो छे, ज्यारे कौमुदीकारे अजन्त (स्वरान्त) पु० स्त्री० न० अने हलन्त (व्यञ्जनान्त) पु० स्त्री० न० ए प्रमाणे एक प्रकरणना छ विभाग कर्या छे । आ उपरथी प्रकरणनी रचनामां पण अति-विस्तृतदोषने निवारवानु लक्ष्यमा राख्यु नथी ।

पाणिनिना व्याकरणमां कोई पण प्रकारनो प्रकरणविभाग नथी, तेवी रीते शाकटायन अने जैनेन्द्रव्याकरणमा पण प्रकरण-विभाग यथार्थरीतिए करायो नथी । पाणिनिए विधानक्रमने लक्ष्यमा राखी सूत्र रचना करी छे, शाकटायन अने जैनेन्द्रव्याकरणनी रचना पण लगभग ते ज क्रमने अनुसरीने करायली छे । कलिकालसर्वज्ञे केवळ आठमा अध्यायमाज लोकोपयोगी प्राकृत-अप-भ्रशादिभाषाणुं नियमन कर्यु छे, ज्यारे पाणिनिए आठे अध्यायमा यत्र तत्र वैदिकभाषाणुं नियमन कर्यु छे, अर्थात् एकदेशीय उपकार अने सर्वदेशीय उपकारनी लाभदायक कक्षानो विवेक विचारवा योग्य होवा छंता ते पण लक्ष्यमा लेवायुं नथी ।

श्रीपूज्यपाद=श्रीदेवनन्दिकृत-जैनेन्द्रव्याकरणने प्रक्रियाक्रममा गोठववा प्रयत्न कर्यो छे, परन्तु ते ग्रन्थ जोता पठन-पाठनकाळे विद्यार्थीओनी क्लिष्टता दूर करवानो यथाशक्ति प्रयत्न पण थयेलो जणातो नथी ।

आ उपरथी अनुकरणरूपे रचायली सिद्धान्तकौमुदीनी रचना कलिकालसर्वज्ञनी महान् कृतिनी रचनानी बरोबरी करी शकी नथी, ते छता जगतमा आजे पण तेनो (सिद्धान्तकौमुदीनो) जे आदर छे ते कलिकालसर्वज्ञनी कृतितु यथाशक्ति अनुकरण कर्यु छे तेने ज आभारी छे । विशेषमा आ प्रधानतम व्याकरणनी रचना शब्दकोषनी माफक छे तेथी आ महान् व्याकरणनो रचनाक्रम प्रक्रियाक्रमने तिलाञ्जलि आपी दे एवो अपूर्व विशिष्टक्रम छे । आ प्रधानतमव्याकरणनी रचनाना क्रमनी यथार्थता समज्यावगर प्रक्रियाक्रमने गोठववा-जवु ते महान् कृतितु अनुकरण करनार कौमुदीकारनु अनुकरण करवा जवा जेवु छे, एटलुंज नहिं पण आगळ वधीने कहेवामा आवे तो कष-ताप अने छेदनी परीक्षामा सपूर्णतया उत्तीर्ण थयेल प्रधानतमकृतिरूप आ महान् व्याकरणमा अर्थात् सो टचना शुद्ध सुवर्णमा शका करवा जेवु छे ।

पाणिनीयना सूत्रोना प्रक्रियाक्रम जेवी रीते कौमुदीकारे गोठव्यो छे, तेवी ज रीते आ महान् व्याकरणनो प्रक्रियाक्रम महोपाध्याय श्रीमेषविजयजीए हैमकौमुदी अपरनाम चन्द्रप्रभाव्याकरणमा गोठव्यो छे, एम तेओ पोते ज प्रशस्तिमा नीचेना श्लोकार्थथी जणावे छे—श्रीसिद्धहैमानुगता व्यधायि सैवाऽऽश्रिता मानुविमोदयाय । है० कौ० प्रश० श्लो० ।

एज रीतिए रचायला सहोपाध्याय श्रीमेषविजयजीकृत हैमशब्दचन्द्रिका, हैमप्रक्रिया, देवातन्दकृत सिद्धसारस्वत, उ० विनयविजयजीकृत हैमलघुप्रक्रिया, हैमलघुप्रक्रियान्यास ( हैमप्रकाश ), बालभाषाव्याकरणसूत्रवृत्ति, हैमवृहत्प्रक्रिया, हैमप्रभा अने सिद्धप्रभा विगेरे व्याकरणो आ प्रधानतम व्याकरणरूप रत्नाकरमा प्रवेश करवाने माटे नौकासमान सहायक थाय ए उद्देशने अनुसरीनेज रचायला छे, अन्यथा कलिकालसर्वज्ञभगवान्नी त्रुटिओ के न्यूनताने परिपूर्ण करवाने कोइए पण प्रयास कर्योज नथी ।

### \* प्रधानतम व्याकरण प्रति अनादरताना मुख्य कारणो ।

अनुकरणरूपे रचायली रचनानो आदर आजे जगतमा व्यापक बन्यो छे, ज्यारे मूलस्वरूपे सचवायली अने विद्यार्थी-ओने एकान्त-लामदायी आ प्रधानतम व्याकरणनी रसिक रचनानो आदर अल्प प्रमाणमा पण नजरे पडतो नथी तेनु वास्त-विक कारण शुः

आ प्रश्नु समाधान पूर्वे प्रेरणात्मक प्रार्थनाए प्रकटावेल प्रधानतम व्याकरणरचनाना पेरैआफमा विस्तारथी जे अपाइ गयुं छे तेनु तेज समाधान अही पण समजवावु छे ।

आ महान् कृतिना विरहकाळमा व्याकरणादिपठन-पाठनकाळे जैनो प्रति ईर्ष्या-असूया अने प्रसंगोपाच-टकोर फरनारा जैनेतरो तो वक्रदृष्टीयज विलोकता हंता, तथापि कलिकालसर्वज्ञना समयमा आ व्याकरणनु पठन-पाठन खूब प्रसरेलु हवुं,

तेनुं कारण ते वखते. संयोग-सामग्री अनुकूल हता । गुर्जरेश्वर-सिद्धराजना समयमा आ व्याकरणनुं पठन-पाठन आदरपूर्वक जेटला प्रमाणमा थतु हतु तेटलाज अथवा तेथी पण वधु प्रमाणमा आ व्याकरणनुं पठन-पाठन. दयावारानिधि परमार्हत कुमारपाळ-राजाना समयमां पण थतु हतु । आ बघा प्रसङ्गोए जैनु प्रति जैनैतरोने वधु ने वधु नम्र अने मायाळु बनाव्या ।

बीजु समाधान ए छे के हस्तलिखित प्रत उपरथी आ प्रधानतम व्याकरणने सौथी प्रथम वि० स० १९६२ मा स्व० शेट मनसुखमाई भगुमाईनी आर्थिक मददथी श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् (बृहद्बृत्ति अने लघुन्यास साथे) मुद्रित कर-वामा आव्यु, परन्तु तेमा घणाज हलका कागळो वापरेला होवाथी ते प्रति उपरथी वाचनार-भणनारने बहु प्रतिकूलता वेठवी पडती हती, अने कोई सारा पण्डितद्वारा तेनु सशोधन करायळु न होवानी तेमज भणवा योग्य सामग्रीओना अभावने लीधे पण भणनारने प्रतिकूल पडवाथी कमश. आ व्याकरणनु पठन-पाठन मद पडी गयु । एवी रीते आ व्याकरणना भणनाराओनी संख्या घटी गई अने आ व्याकरणना भणनारने सतोषपूर्वक सागोपाग अभ्यास करावी विद्यार्थीओनी संख्यामा वधारो करी शके एवा पण्डितनी तो सुदुर्लभता प्रथमथीज हती । आवा सयोगोमा पठन-पाठननी प्रणालिका नष्टप्राय. थवाथी आवा सर्वोत्तम व्याकरण उपरथी सस्कृत शिखनाराओनो आदर घटतो जाय ए तो स्वाभाविकज छे । कदाचित् कोई आ महान् व्याकरणनो रसीयो आज व्याकरणने भणवानो प्रयत्न करे तो सिद्धान्तकौमुदीने भणेल पण्डितो आ व्याकरणनी आधुनिक शैलिए मुद्रित थयेल प्रतिनो अभाव, साङ्गोपाङ्ग भणावी शके एवा पण्डितनो पण अभाव वगैरे कारणो जणावी आ व्याकरणने भणवाना उस्ता-हनुज उन्मूलन करी नांखे छे, अने विशेषमा जणावे के-‘हालमा जे जे पण्डितो जोवामा आवे छे ते वधा सिद्धान्तकौमुदीज भणला छे माटे जो तमारे पण्डित थवु होय तो सिद्धान्तकौमुदीने भणो, सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनने भणावी शके एवो पण्डितज तमने प्रायः मळशे नहि, छता तमे हठ पकडीने ए व्याकरणने भणवामाज प्रयत्न करशो तो तमारो समय अने प्रयत्न ए बने व्यर्थ जशे एम अमारं मानवु छे’ ।

आ रीतिए जे ग्रन्थना भणनार-भणवानारने अभावे पठन-पाठनप्रणालिकाज वध थइ जाय ते ग्रन्थ भविष्यमा ग्रन्थरूपे भले रहे, परन्तु रचयितानो उद्देश सफल थतो नथी तो पछी ग्रन्थनु के प्रथकारनु महत्त्व तो जगतनी जाणमां आवेज क्याथी ? ।

रचयिताए जे उद्देशथी ग्रन्थनी रचना करी होय, अत्यन्त प्रयत्न सेवीने ग्रन्थमा जे सामग्रीओ भेगी करी होय, छिष्टताने स्पर्शा वगर अभ्यास थइ शके तेवी गुन्थनी गुंथी होय, स्मृतिने भार दीघा वगर सूत्र-वृत्ति-उदाहरण अने प्रत्युदाहरणादि चिरकाळ याद रही शके तेवी सुदर रचनानो-शैलीनो स्वीकार करेले होय, एवा अनेक कारणोने अवलबीने करायली रचनाने कार्यसिद्धिमा परिणामावा माटे ग्रन्थना पठन-पाठन-मनन अने परिशीलनने वेग मळतो रहे तेवा प्रबन्धनी अति आवश्यकता छे ।

त्रीजुं समाधान ए छे के सस्कृत-प्राकृत भाषाबद्ध-जैनसाहित्यमां प्रवेश करवा माटे आ व्याकरणने भणवा-भणवानी मुख्य अने अनिवार्य फरज जैन साधुओनी तथा साध्वीओनी छे, परन्तु तेओमा मोटी उम्मरे दीक्षित-थयेलओ तो बहुधा व्याकरण भण्या विना भाषान्तरोथीज काम चलावी लेता जणाय छे । आ व्याकरणने लघुवृत्ति के बृहद्बृत्ति सहित भणी शके एवी उम्मरना दीक्षितोमाथी घणाखरा तो भाण्डारकरनी बे बूकोनी अथवा पूर्वार्ध-सारस्वत अने उत्तरार्ध-चन्द्रिकानो अभ्यास करीने पोतानु काम चलावी लेनारा होय छे । बाकी रहेला दीक्षितोमाथी जैनशासननी प्रभावना करवानी आकाङ्क्षावाळु केटलाएक साधु-साध्वीओ तलस्पर्शीय ज्ञान भेळववा माटेना प्रयत्ननो प्रारंभ करे त्या शरुआतमाज प्रथमकवले मक्षिकानी पेटे सिद्धहेम-चन्द्रशब्दानुशासनबृहद्बृत्ति सहितनी मुद्रित थयेली प्रति पोताना रूपरग-आकृति अने क्षणजीवितादिथी भणनारनी अर्धोत्कण्ठाने तो उडाडीज मूके छे, अने तेवा प्रकारनी प्रतिथी पण अभ्यास करवा इच्छनारनी बाकी रहेली अर्धी उत्कण्ठा साङ्गोपाङ्ग भणावी शकनारनी दुर्लभताथी स्वयमेव नष्ट थइ जाय छे, एटले निरुपाये साधु-साध्वीओ आ प्रधानतम व्याकरणनी लघुवृत्ति भणवानो प्रारम्भ करे छे । तेमा वळी ते भणवानार लघुवृत्ति के बृहद्बृत्तिने साङ्गोपाङ्ग अने यथार्थ रीतिए भणावी शकतो न होय, अने भणनारने उस्ताहने बदले मुझवण थती होय, त्यारे ते पण्डित पोतानी अनावडतने गौपवीने आ व्याकरणना अवगुणो जणावी करेला प्रयत्न अने समयने निष्फल करावी आ व्याकरणने पडतु मुकावी सिद्धान्तकौमुदीनु श्रीगणेशाय नमः करावे छे, तेथी करीने आ व्याकरणनी महत्त्वता के विशिष्टता तो तेओना समजवामा आवतीज नथी । पूर्वना दृष्टान्तो वर्तमानकाळे बनेला पण अनुभवगोचर थयेल छे, तो पछी मूलकाळमा तो घणाज बन्या हशे एम मानवामा लेश पण शंका नथी । आ महान् ग्रन्थ प्रति लोकोनो आदर वधवाने बदले घटवामा मुख्य कारण तो उपर दर्शाव्यु तेज होवु जोहए एम अमारं मानवु छे ।

चोथु समाधान ए छे के ब्राह्मणसमाज मूलथी ज सस्कृतभाषादि-साहित्यरसिक छे, अने जैनसमाजने श्रमणोपासक-वर्ग व्यापाररसिक छे, तेथी करीने कोहपण काळे तपास करवामा आवे तो सस्कृतादिभाषाना रसिको अने पारङ्गतो जेटली संख्यामां ब्राह्मणो मळशे तेटला तो शु पण तेथी अर्धवी संख्यामा पण जैनो मळवा दुर्लभ छे । ।

उपर मुजवना प्रकरणो तपासता प्रकरणविभाग लगभग कलिकालसर्वज्ञ रचित प्रकरणविभागने मळतो छे । पाणिनीयना सूत्रो सिद्धान्तकौमुदीमा होवायी ते सूत्रोना सवन्धमा अने प्रकरणोना सवन्धमा कलिकालसर्वज्ञ जे कार्य एक नामप्रकरणयी सुदररीतिए परिसमाप्त करे छे ,ते ज कार्यने कौमुदीकार स्वरान्त व्यञ्जनान्त अने ए वनेना पुलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग नपुसकलिङ्ग ए रीति ए त्रण त्रण विभाग करी कुल छ विभागमा नामप्रकरण पूरु करे छे, एटले सूत्रनी जेम प्रकरणविभागमा पण अतिविस्तृतादि दोपो माटे कहेवानु रहेतु नयी । एटले ज नहि पण वृत्तिमा विस्तार थयेलो स्पष्ट माळुम पडेछे ।

प्रथम अध्यायना त्रीजा पादमा कलिकाल सर्वज्ञ भगवान् व्यञ्जनसन्धिप्रकरण समाप्त करे छे, ज्यारे कौमुदीकार एक व्यञ्जन-सन्धिप्रकरणनेज त्रण प्रकरणमा व्हेंचीने विस्तारपूर्वकनी रचना करे छे ।

नामप्रकरणमां अकारान्तादि नामो पठी ते पुलिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग के नपुसकलिङ्गना होय ते वधा नामोने अनुक्रमे चोधा अने पाचमा पादना एक ज प्रकरणमा कलिकालसर्वज्ञे समावेश कर्यो छे, ज्यारे कौमुदीकारे अजन्त (स्वरान्त) पु० स्त्री० न० अने हलन्त (व्यञ्जान्त) पु० स्त्री० न० ए प्रमाणे एक प्रकरणना छ विभाग कर्या छे । आ उपरयी प्रकरणनी रचनानामा पण अति-विस्तृतदोपने निवारवानु लक्ष्यमा राख्यु नयी ।

पाणिनिना व्याकरणमा कोई पण प्रकारनो प्रकरणविभाग नयी, तेवी रीते शाकटायन अने जैनेन्द्रव्याकरणमा पण प्रकरण-विभाग यथार्थरीतिए करायो नयी । पाणिनिए विधानक्रमने लक्ष्यमा राखी सूत्र रचना करी छे, शाकटायन अने जैनेन्द्रव्याकरणनी रचना पण लगभग ते ज क्रमने अनुसरीने करायली छे । कलिकालसर्वज्ञे केवळ आठमा अध्यायमाज लोकोपयोगी प्राकृत-अप-अशादिमाषानुं नियमन कर्यु छे, ज्यारे पाणिनिए आठे अध्यायमा यत्र तत्र वैदिकभाषानु नियमन कर्यु छे, अर्थात् एकदेशीय उपकार अने सर्वदेशीय उपकारनी लाभदायक कक्षानो विवेक विचारवा योग्य होवा छंता ते पण लक्ष्यमा लेवायुं नयी ।

श्रीपूज्यपाद=श्रीदेवनन्दिकृत-जैनेन्द्रव्याकरणने प्रक्रियाक्रममा गोठववा प्रयत्न कर्यो छे, परन्तु ते ग्रन्थ जोता पठन-पाठनकाळे विद्यार्थिओनी क्लिष्टता दूर करवानो यथाशक्ति प्रयत्न पण थयेलो जणातो नयी ।

आ उपरयी अनुकरणरूपे रचायली सिद्धान्तकौमुदीनी रचना कलिकालसर्वज्ञनी महान् कृतिनी रचनानी बरोवरी करी शकी नयी, ते छता जगतमा आजे पण तेनो (सिद्धान्तकौमुदीनो) जे आदर छे ते कलिकालसर्वज्ञनी कृतितु यथाशक्ति अनुकरण कर्यु छे तेने ज आमारी छे । विशेषमा आ प्रधानतम व्याकरणनी रचना शब्दकोपनी माफक छे तेथी आ महान् व्याकरणनो रचनाक्रम प्रक्रियाक्रमने तिलाञ्जलि आपी दे एवो अपूर्व विशिष्टक्रम छे । आ प्रधानतमव्याकरणनी रचनाना क्रमनी यथार्थता समज्यावगर प्रक्रियाक्रमे गोठववा जवु ते महान् कृतितु अनुकरण करनार कौमुदीकारनु अनुकरण करवा जवा जेवु छे, एटलेज नहि पण आगळ वधीने कहेवामा आवे तो कष-त्ताप अने छेदनी परीक्षामा सपूर्णतया उत्तीर्ण थयेल प्रधानतमकृतिरूप आ महान् व्याकरणमां अर्थात् सो टचना शुद्ध सुवर्णमा शका करवा जेवु छे ।

पाणिनीयना सूत्रोने प्रक्रियाक्रम जेवी रीते कौमुदीकारे गोठव्यो छे, तेवी ज रीते आ महान् व्याकरणनो प्रक्रियाक्रम महोपाध्याय श्रीमेघविजयजीए हैमकौमुदी अपरनाम चन्द्रप्रभाव्याकरणमा गोठव्यो छे, एम तेओ पोते ज प्रशस्तिमा नीचेना श्लोकार्थी जणावे छे- 'श्रीसिद्धहैमानुगता व्यधायि सैवाऽऽश्रिता मानुविभोदयाय । है० कौ० प्रश० श्लो० ।

एज रीतिए रचायला सहोपाध्याय श्रीमेघविजयजीकृत हैमशब्दचन्द्रिका, हैमप्रक्रिया, देवाचन्दकृत सिद्धसारस्वत, उ० विनयविजयजीकृत हैमलघुप्रक्रिया, हैमलघुप्रक्रियान्यास ( हैमप्रकाश ), बालभाषाव्याकरणसूत्रवृत्ति, हैमबृहत्प्रक्रिया, हैमप्रभा अने सिद्धप्रभा विगेरे व्याकरणो आ प्रधानतम व्याकरणरूप रत्नाकरमा प्रवेश करवाने माटे नौकासम्मान सहायक थाय ए उद्देशने अनुसरीनेज रचायला छे, अन्यथा कलिकालसर्वज्ञभगवान्नी त्रुटिओ के न्यूनताने परिपूर्ण करवाने कोइए पण प्रयास कर्योज नयी ।

### \* प्रधानतम व्याकरण प्रति अनादरताना मुख्य कारणो ।

अनुकरणरूपे रचायली रचनानो आदर आजे जगतमा व्यापक बन्यो छे, ज्यारे मूलस्वरूपे सचवायली अने विद्यार्थि-ओने एकान्त-लाभदायी आ प्रधानतम व्याकरणनी रसिक रचनानो आदर अल्प प्रमाणमा पण नजरे पडतो नयी तेनु वास्त-विक कारण शु<sup>२</sup>

आ प्रश्नुं समाधान पूर्वे प्रेरणात्मक प्रार्थनाए प्रकटावेल प्रधानतम व्याकरणरचनाना पेरेआफमा विस्तारयी जे अपाह गयुं छे तेनु तेज समाधान अही पण समजवानुं छे ।

आ महान् कृतिना विरहकाळमा व्याकरणादिपठन-पाठनकाळे जैने प्रति ईर्ष्या-असूया अने प्रसंगोपात्-टकोर करनारा जैनेतरों तो वक्रदृष्टिज विलोकता हंता, तथापि कलिकालसर्वज्ञना समयमा आ व्याकरणनु पठन-पाठन खूब प्रसरेछुं हतु,

तेनुं कारण ते वखते, सयोग-सामग्री अनुकूल हता । गुर्जरेश्वर-सिद्धराजनां समयमां आ व्याकरणनुं पठन-पाठन आदरपूर्वक जेटला प्रमाणमा थतुं हतु तेटलाज अथवा तेथी पण वधु प्रमाणमा आ व्याकरणनुं पठन-पाठन, दयावारानिधि परमाहृत कुमारपीळ-राजाना समयमां पण थतु हतु । आ वधा प्रसङ्गोए जैनो प्रति जैनैतरोने वधु ने वधु नम्र अने मायाळु वनाव्या ।

बीजु समाधान ए छे के हस्तलिखित प्रत उपरथी आ प्रधानतम व्याकरणने सौथी प्रथम वि० स० १९६२ मां स्व० शेट मनसुखभाई भगुभाईनी आर्थिक मददथी श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ( बृहद्बृत्ति अने लघुन्यास साथे ) मुद्रित कर-वामा आव्यु, परन्तु तेमां घणाज हलका कागळो वापरेला होवाथी ते प्रति उपरथी वांचनार-भणनारने बहु प्रतिकूलता वेठवी पडती हती, अने कोई सारा पण्डितद्वारा तेनु सशोधन करायळु न होवानी तेमज भणवा योग्य सामग्रीओना अभावने लीधे पण भणनारने प्रतिकूल पड्वाथी क्रमशः आ व्याकरणनु पठन-पाठन मद पडी गयु । एवी रीते आ व्याकरणना भणनाराओनी संख्या घटी गई अने आ व्याकरणना भणनारने सतोषपूर्वक सागोपाग अभ्यास करावी विद्यार्थीओनी संख्यामा वधारो करी शके एवा पण्डितनी तो सुदुर्लभता प्रथमथीज हती । आवा सयोगोमा पठन-पाठननी प्रणालिका नष्टप्रायः थवाथी आवा सर्वोत्तम व्याकरण उपरथी संस्कृत शिखनाराओनो आदर घटतो जाय ए तो स्वाभाविकज छे । कदाचित् कोई आ महान् व्याकरणनो रसीयो आज व्याकरणने भणवानो प्रयत्न करे तो सिद्धान्तकौमुदीने मणेल पण्डितो आ व्याकरणनी आधुनिक शैलिए मुद्रित थयेल प्रतिनो अभाव, साङ्गोपाङ्ग भणावी शके एवा पण्डितनो पण अभाव वगैरे कारणो जणावी आ व्याकरणने भणवाना उत्साह-हनुंज उन्मूलन करी नांखे छे, अने विशेषमा जणावे के—‘हालमां जे जे पण्डितो जोवामा आवे छे ते वधा सिद्धान्तकौमुदीज मणेल छे माटे जो तमारे पण्डित थवु होय तो सिद्धान्तकौमुदीने भणो, सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनने भणावी शके एवो पण्डितज तमने प्रायः मळशे नहि, छता तमे हठ पकडीने ए व्याकरणने भणवामाज प्रयत्न करशो तो तमारो समय अने प्रयत्न ए वने व्यर्थ जशे एम अमारु मानवु छे’ ।

आ रीतिए जे ग्रन्थना भणनार-भणानारने अभावे पठन-पाठनप्रणालिकाज वध थइ जाय ते ग्रन्थ भविष्यमा ग्रन्थरूपे मळे रहे, परन्तु रचयितानो उद्देश सफळ थतो नथी तो पछी ग्रन्थनुं के ग्रथकारनु महत्त्व तो जगतनी जाणमां आवेज क्याथी ? ।

रचयिताए जे उद्देशथी ग्रन्थनी रचना करी होय, अत्यन्त प्रयत्न सेवीने ग्रन्थमा जे सामग्रीओ भेगी करी होय, क्लिष्टताने स्पष्टी वगर अभ्यास थइ शके तेवी गुन्थनी गुंथी होय, स्मृतिने भार दीधा वगर सूत्र-वृत्ति-उदाहरण अने प्रत्युदाहरणादि चिरकाळ याद रही शके तेवी सुदर रचनानो—शैलीनो स्वीकार करेले होय, एवा अनेक कारणोने अवलंबीने करायली रचनाने कार्यसिद्धिमा परिणामाववा माटे ग्रन्थना पठन-पाठन-मनन अने परिशीलनने वेग मळतो रहे तेवा प्रबन्धनी अति आवश्यकता छे ।

त्रीजु समाधान ए छे के संस्कृत-प्राकृत भाषाबद्ध-जैनसाहित्यमां प्रवेश करवा माटे आ व्याकरणने भणवा-भणववानी मुख्य अने अनिवार्य फरज जैन साधुओनी तथा साध्वीओनी छे, परन्तु तेओमा मोटी उमरे दीक्षित-थयेलाओ तो बहुधा व्याकरण मण्या विना भाषान्तरोथीज काम चलावी लेता जणाय छे । आ व्याकरणने लघुवृत्ति के बृहद्बृत्ति सहित भणी शके एवी उमरना दीक्षितोमाथी घणाखरा तो माण्डारकरनी बे बूकोनी अथवा पूर्वार्ध-सारखत अने उचरार्ध-चन्द्रिकानो अभ्यास करीने पोतानु काम चलावी लेनारा होय छे । बाकी रहेला दीक्षितोमाथी जैनशासननी प्रभावना करवानी आकाङ्क्षावाळा केटलाएक साधु-साध्वीओ तलस्पर्शीय ज्ञान मेळववा माटेना प्रयत्नो प्रारम्भ करे त्या शरुआतमाज प्रथमकवले मक्षिकानी पेटे सिद्धहेम-चन्द्रशब्दानुशासनबृहद्बृत्ति सहितनी मुद्रित थयेली प्रति पोताना रूपरग-आकृति अने क्षणजीवितादिथी भणनारनी अर्धोत्कण्ठाने तो उडाडीज मुके छे, अने तेवा प्रकारनी प्रतिथी पण अभ्यास करवा इच्छनारनी बाकी रहेली अर्धी उत्कण्ठा साङ्गोपाङ्ग भणावी शकनारनी दुर्लभताथी स्वयमेव नष्ट थइ जाय छे, एटले निरुपाये साधु-साध्वीओ आ प्रधानतम व्याकरणनी लघुवृत्ति भणवानो प्रारम्भ करे छे । तेमा वळी ते भणानार लघुवृत्ति के बृहद्बृत्तिने साङ्गोपाङ्ग अने यथार्थ रीतिए भणावी शकतो न होय, अने भणनारने उत्साहने बदले मुझवण थती होय, त्यारे ते पण्डित पोतानी अनावडतने गोपवीने आ व्याकरणना अवगुणो जणावी करेला प्रयत्न अने समयने निष्फळ करावी आ व्याकरणने पडतु मुकावी सिद्धान्तकौमुदीनु श्रीगणेशाय नमः करावे छे, तेथी करीने आ व्याकरणनी महत्त्वता के विशिष्टता तो तेओना समजवामा आवतीज नथी । पूर्वना दृष्टान्तो वर्तमानकाळे बनेला पण अनुभवगोचर थयेला छे, तो पछी मूतकाळमा तो घणाज वन्या हशे एम मानवामा लेश पण शंका नथी । आ महान् ग्रन्थ प्रति लोकोनो आदर वधवाने बदले घटवामा मुख्य कारण तो उपर दर्शाव्यु तेज होवु जोइए एम अमारु मानवु छे ।

चोथु समाधान ए छे के ब्राह्मणसमाज मूळथी ज संस्कृतभाषादि-साहित्यरसिक छे, अने जैनसमाजने श्रमणोपासक-वर्ग व्यापाररसिक छे, तेथी करीने कोइपण काळे तपास करवामा आवे तो संस्कृतादिभाषाना रसिको अने पारङ्गतो जेटली संख्यामां ब्राह्मणो मळशे तेटला तो शु पण तेथी अडधी संख्यामा पण जैनो मळवा दुर्लभ छे । ।

पाचसुं समाधान लोकोने व्यावहारिक कार्यमा अने आर्थिकसयोगोमा ङगले ने पगले जेवी व्यावहारिक भाषाजाननी जरूरीयात होय छे तेथी शताशे पण आ सस्कृतादि भाषानी जरूरीयात पडती नथी, तेथी पण आ भाषा प्रति लोकोने अनादर होय ए स्वाभाविक छे । आथी आ भाषाना रसिको वधु उत्साही बने ते हेतुथी आर्थिक अनुसन्धानो योजवानी अनिवार्य जरूर छे ।

उपरोक्त कारणोथी आविर्भाव थयेल अनादरने दूर करी आ प्रधानतम व्याकरणनो पठन-पाठन क्रम वेगपूर्वक वधारवा माटे ग्रन्थनु बाह्य-अभ्यन्तरदर्शन पण विद्यार्थिओने उत्कण्ठित करे, एवा प्रकारनी आधुनिक सर्वोत्तम मुद्रणकलाए मुद्रित करावी आ ग्रन्थने सौथी प्रथम प्रकट करवामा आवे, अने त्यार पछी आ व्याकरण अने वीजा पण अनेक ग्रन्थोनी जैनीयपाटित्य-प्राप्तकराववारी पचवर्षीय-परीक्षानो क्रम योजी वर्षो वर्ष परीक्षा लेवामा आवे अने उचीर्ण थनाराओने हजारो रुपीयाना इनामो आपवामा आवे, अने भविष्यमा पाच वर्षे तैयार थयेलओने योग्य पद अने योग्य वेतन आपवानो प्रबन्ध थाय तो शरूआतमा आ व्याकरणने भणनारा अने आगळ उपर भणाववारा सख्यावद्ध मळी आवे ए नि सदेह छे ।

भट्टोजी दीक्षिते कौमुदी कण्ठस्थ करनारने सेंकडो रुपीयानी दक्षिणा अपाववानो प्रबन्ध राजाओ पासे वर्षो सुधी कराव्यो हतो, वर्षो सुधी चाल्ल रखावेला तेवा प्रबन्धथी कौमुदी भणोलाओनी सख्या हजारोनी यइ गइ, आर्थिक अनुसन्धान वगर कौमुदीनु पठन-पाठन वधशे नहि एवो अनुभव थवाथी तेमणे दक्षिणानो प्रबन्ध कराववो पढ्यो ए जगप्रसिद्ध घटना छे ।

आ वाचतमा उपरना कारणो तो अमे अगुलि-निर्देशरूपे जणाव्या छे, परन्तु आ ग्रन्थ प्रतिना अनादरने घटाडवा अने आदरने वधारवा माटे साहित्यनी अपूर्व सेवाना रसिकोए आ विषयमा व्यवस्थित-कारणो दर्शाववापूर्वक एक स्वतंत्र निबध लखवानी जरूर छे ।

आ व्याकरणना प्रचार माटे पठन-पाठन करनाराओने आर्थिक अनुसन्धानरूप इनामोनी योजना करवानी सौथी पहेली जरूर छे, तेम कर्या वगर अर्थात् इनामोनी लालच अने भविष्यमा भारे वेतन साथे योग्य पद अने योग्य स्थान आप्या वगर आ ग्रन्थना पठन-पाठननी अभिरुचि अने आदर वधवाना नथी, माटे भारे इनामोनी योजना करी आ ग्रन्थना पठन-पाठन अने परिशीलननी प्रणालिका सतत चाल्या करे एवो प्रबन्ध करवा माटे जैनसमाजे पोताना तन-मन अने धनने समर्पण करवा हर-हमेश तत्पर रहेवुं जोइए ।

### \* ग्रन्थप्रकाशनसंबन्धी पुनीत विचार ।

आ प्रधानतम व्याकरणनो प्रचार वधारवाना मुख्य बे उपायो जणाय छे, एक तो पठन-पाठनने सर्वथा अनुकूल आवे एवु आधुनिक पद्धतिए आ ग्रन्थनु मुद्रण कराववु जोइए, अने वीजा उपाय तरीके मुद्रित थया पछी इनामोनी जाहेरात करी, पास थयेलओने भारे लाम आपवा पूर्वक भणनाराओनी सख्या वधारी तेओने अभ्यास करवाना साधनोनी तथा अभ्यासमा उचीर्ण थयेलओने पदप्रदानपूर्वक योग्य वेतन साथे योग्य स्थाने गोठववानी जोगवाइ करी आपवी जोइए ।

उपर जणावेल बे उपायमाथी पहेला उपायने मूर्तस्वरूप शी रीते आपी शक्या ते संबन्धी पण आ स्यळे काइक जणावी देवु योग्य छे ।

श्रीविजयदेवसूरगच्छ-सङ्घाना मुबई शहरमा पाययुनी उपर आवेला श्रीगोडीपार्श्वनाथ-जैनमन्दिरनी पेदीना अग्रगण्य श्रावको अने श्रीसधनी आग्रहभरी विनन्तिथी अने प्रातःसरणीय-पूज्यपाद-आगमोद्धारक-आचार्यदेव-श्रीआनन्दसागरसूरी-श्वरजीनी आज्ञाथी नव साधु-साथे साथे म्हारु वि० स० १९९७ नु चातुर्मास श्रीगोडीपार्श्वनाथ-जैन-उपाश्रयमा थयु । ते चातुर्मासमा सदुपदेशद्वारा अनेकविध शासनहितकारक-कार्यो थया । शासनहितकारक-कार्यो पैकी पठन-पाठनने सर्वथा अनुकूल थइ पडे एवी आधुनिक सशोधन पद्धतिथी सारा कागळमा सुदर टाइपोथी श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननु प्रकाशन करवानो पुनीत विचार लगभग चाल्ल चातुर्मासनी श्रा० सु० पञ्चमीए थयो ।

आ पुनीत विचारनी पीठिकानो पायो तो आजथी आठ वर्ष उपर नखाइ गयो हतो । स० १९८४ ना वैशाख वद ६ ना-तीर्थाधिराज श्रीशत्रुजय उपर तीर्थपतिना गादीनशीनना-दिवसे अमदावादमा न्हारी दीक्षा थइ अने पहेल्ल चातुर्मास पण पूज्य गुरुदेवनी साथे अमदावादमा थयु । श्रमणयोग्य आवश्यक क्रियाना सूत्रो शिखी लइने गृहस्थाश्रममा संस्कृत बे बूकोनो अभ्यास करेलेो होवाथी संस्कृत व्याकरण भणवानी भावनाने बदले जैनागमोनी अभ्यास करवानी तीव्र उत्कण्ठा हती । ते उत्कण्ठानी पूर्तिने माटे पूज्यगुरुदेवने प्रार्थना करवामा आवी, त्यारे पूज्यश्रीए जणाव्यु के आगमोना साङ्गोपाङ्ग अभ्यासने माटे तथा तेना रहस्य-तात्पर्यने जाणवा माटे उत्तमप्रकारनु भाषाज्ञान होवु जोइए, अने भाषाज्ञान माटे बे बूकोनो अभ्यास

પૂરતો નથી. માટે પહેલાં વ્યાકરણનો અભ્યાસ કરવો યોગ્ય છે । પૂજ્ય ગુરુદેવની હિતશિક્ષાને માન્ય કરી પૂજ્ય ગુરુદેવ-ગુમ્ફિત 'શ્રીસિદ્ધપ્રભાવ્યાકરણ' મળવાની શરુઆત કરી, ગમે તે કારણથી મળવામાં ઉત્સાહ નહિ આવવાથી એકાદ વે વાર તો તે વ્યાકરણને પઢતુ મુકવાનો વિચાર થયેલો છતાં પૂજ્ય ગુરુદેવના પ્રોત્સાહનથી છેવટે તે વ્યાકરણ પૂર્ણ તો કર્યું, પરંતુ જોડે તેવો ઘોષ થયો નહિ । આગમાદિ ગ્રંથ વાંચવાની તીવ્ર ઉત્ક્રાંઠા હતી છતાં તેને રોકીને વિ०સં०૧૯૮૭ માં સમ્માત શહેરમા પ્રાકૃત વ્યાકરણના અભ્યાસની શરુઆત કરી અને પૂર્ણતા પળ કરી । ત્યાર પછી સં ૧૯૮૮ ના સુંવર્ષના ચાતુર્માસમા પૂજ્ય ગુરુદેવની તવીયત અવર નવર નરમ રહેવાથી વ્યાખ્યાન વાચવાનો પ્રસન્ન આવવા માલ્યો, છતાં પળ ચાલુ કરેલો સાહિત્ય અને ન્યાયનો અભ્યાસ તો ચાલુ જ રહેતો, પરંતુ સશલ્ય હૃદયવાલાની માફક મારા મનમા કોઈક વસ્તુ રેવદ થયા કરે કે ત્રણ વર્ષ લગાતાર વ્યાકરણમાં ગાલ્યા છતાં જોડે તેવો લામ થયો નહિ, આ વાત પૂજ્ય ગુરુદેવના જાણવામાં આવવાથી તેઓશ્રીએ વિ० સં ૧૯૮૯ માં સુરત શહેરમાં કાલિકાલ્સર્વજ્ઞ-વિરચિત-શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન-બૃહદ્રુતિ(તત્ત્વપ્રકાશિકા)નો અભ્યાસ કરવાનું જણાવ્યું, તે વાત માન્ય કરીને પરિશીલનપૂર્વક એક અધ્યાયનો અભ્યાસ કરવાથી અને મળવામાં રસ આવવાથી તથા ઉત્સાહમાં વધારો થવાથી હૃદયમાં નિર્ણય થયો કે વ્યાકરણ મળવાનું યથાર્થ ફલ હવે જરુર પ્રાપ્ત થશે । સાથેના સહાધ્યાયીઓ ગ્રંથ વાચવામા જોડાયા, મને એમ થયા કરતું હતું કે વ્યાકરણમા પાચ વર્ષ તો ગયા અને હજી વીજા પાચ વર્ષ જશે તો પછી આગમો અને વીજું જૈનસાહિત્ય ક્યારે વાંચી શકાશે ?, આ વાત પૂજ્ય ગુરુદેવને જણાવતા તેઓશ્રીએ જણાવ્યું જે 'માષાજ્ઞાનનો વિવેક સુન્દર રીતિએ થઈ ગયા પછી મળવા કે વાંચવા પાછલ્લી પરાધીનતા મોગવવી નહિ પડે, પરંતુ વાંચતાની સાથે અર્થ અને રહસ્ય યથાર્થરીતિએ સમજવામા આવી જશે' એમ જણાવીને આગમ વાચનની ઉત્કટ ઉત્ક્રાંઠાને શાન્ત પાલવા માટે પૂજ્ય ગુરુદેવે અનુયોગદ્વાર સૂત્રની વાચના આપવા માહી, અનુયોગદ્વારસૂત્ર પૂર્ણ થયા વાદ સ્થાનાન્કસૂત્રની વાચના શરુ થઈ, આ પ્રમાણે આગમશાસ્ત્રના અભ્યાસ સાથે શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનનો અભ્યાસ પળ ચાલુ રહ્યો । જેમ જેમ આ વ્યાકરણનો અભ્યાસ વધતો ગયો તેમ તેમ એની મહત્ત્વતા સમજાવા લાગી, સાથે સાથે એવી શક્તા ઉત્પન્ન થઈ કે આવા સુન્દર વ્યાકરણનું પઠન-પાઠન (વીજા સમાજની વાત તો દૂર રહી) પળ અમારા જૈન સમાજમા-અને તેથી વધુ કહુ તો અમારા જૈન સાધુ સમુદાયમાં કેમ પ્રચલિત નથી ?, મળનાર અને મળાવનારનો સર્વત્ર દુષ્કાલ જ કેમ નજરે પડે છે ?; ઉપરના બંને પ્રશ્નોનું સમાધાન નહિ થવાથી છેવટે એવી અમિલાષા ઉત્પન્ન થઈ કે જ્યારે શાસનદેવની કૃપાથી અનુકૂલ સયોગો પ્રાપ્ત થાય ત્યારે આ મહાન્ ગ્રંથને સર્વાન્કસુન્દરતયા પ્રકટ કરવા માટે, તથા ત્યાર પછી તેના પઠન-પાઠનના પ્રચાર માટે શ્રીજૈનસહજને સતત ઉપદેશ આપી પ્રવન્ધ કરાવવા પ્રયત્ન કરું । તે વસ્તુના આ વિચારોને આજે આઠ વર્ષે યત્કિશ્ચિત્ મૂર્તસ્વરૂપ આપવા જે માગ્યશાલ્લી થયો છું તેનો સઘલ્લોયે યશ પૂજ્ય ગુરુદેવને જ ઘટે છે, એટલું જ નહિ પળ તે પૂજ્ય ગુરુદેવની અસીમ કૃપાનું જ હું ફલ સમજું છું । કારણકે વ્યાકરણ મળવાની નષ્ટપ્રાય-આશાઓને નવપલ્લવિત રાલવાની, નિરુત્સાહિત બનેલ ઇચ્છાઓને પ્રોત્સાહનપૂર્વક ટકાવી રાલવાની, અને કાલ્જી રાલ્લી મને આટલી હદે પહોંચાડવામાં જે પ્રયત્ન તેઓશ્રીએ કર્યો છે, તથા વીજા પળ અનેકવિધ અસીમ-ઉપકારો મારા ઉપર પૂજ્ય ગુરુમહારાજે કર્યા છે તે વધાનો વદલો યથાર્થરીતે વાલ્લી શકાય એમ ન હોવાથી તેઓશ્રીનો તો હું સદાય ઋણીજ છું । શાલ્લોના માવોને-રહસ્યોને જાણવા-જણાવવાની તથા બોલવા-લલવાની જે કહ યત્કિશ્ચિત્ શક્તિ પ્રાપ્ત થઈ છે તે પળ તેઓશ્રીની અસીમ કૃપાનું જ પ્રતિવિમ્બ છે ।

### \* પ્રકાશન અંગે રલાયલો જરુરીનો વિવેક ।

આ અમૂલ્ય ગ્રંથનું પ્રકાશન કેવલ પ્રકાશનદષ્ટિએ જ થયેલ નથી, પરંતુ પઠન-પાઠન-મનન અને પરિશીલન કરવામાં અભ્યાસિઓને સર્વથા અનુકૂલ પડે એ દષ્ટિએ પ્રકાશન કરવામા આવેલું છે । હાલના લઢાઈના સયોગોને લીધે કાગલ્લો વપરાશ ઉપર કટ્રોલ તથા માવોમા વેહદ વધારો હોવા છતાં પળ મુદ્રણકલ્લાની શોમાને ક્ષતિ પહોંચાડે એવી રીતે કાગલ્લમા કરકસર અગર તો પુસ્તકના આયુષ્યમા ઘટાલો કરે એવા હલકા કાગલ્લોનો ઉપયોગ કરવામા આવ્યો જ નથી । ગ્રંથ પ્રકાશનમા દેલ્લનારને દેલ્લતાની સાથે આકર્ષક, વાચનારને વાચતાની સાથે અર્થ-ઘોષાદિજનક, પઠન-પાઠન કાલ્લે પ્રકરણ-સૂત્ર-ઉદાહરણ-પ્રત્યુદાહરણ, સૂત્રરહસ્ય, વૃત્તિરહસ્ય અને મતમતાન્તર મિત્ર મિત્ર રીતિએ નજર તલ્લે તરી આવે એવી રીતે નાના મોટા ટાઈપોમા રહસ્યાદિજનક; એટલું જ નહિ પળ મુદ્રણકલ્લાથી મુદ્રિત આવા મહાન્ ગ્રંથનું સમ્પાદન તથા પ્રકાશન વારંવાર થઈ શકતુ નથી, તેથી આ ગ્રંથ જેમ વધુ દીર્ઘજીવી બને તેવા ઉત્તમજાતિના બહુમૂલ્ય કાગલ્લોમા તથા લપાઈ વગેરેમા અધિક દ્રવ્યનો વ્યય થતો હોવા છતાં પળ મુદ્રણકલ્લામા લઘ્વપ્રતિષ્ઠ-પ્રેસમાં લપાવીને પ્રકાશન કરવાની જરુરીયાતને સ્વીકારી છે ।

ઉપરની સર્વ વિનાને ધ્યાનમાં રાલ્લીને આ મહાન્ ગ્રંથનું મુદ્રણ અલિલમારતવર્ષમાં સુપ્રસિદ્ધ-મુમ્બાપુરીમા આવેલુ નિર્ણયસાગરપ્રેસમા વિવિધપ્રકારના તદ્દન નવીન ટાઈપોથી વાહોશ-કપાશીટરોદ્વારા વિદ્વાન્ પઠિતોની નજરતલ્લે કરાવવામા આવ્યું છે ।

प्रथम मुद्रित थयेली आ व्याकरणनी प्रति हालमां दुष्प्राप्य छे, तथापि प्रयत्न करतां कदाच मळी जाय तो ते पुस्तकमा एवी जातना हलका कागळो वापरवामा आव्या छे के भणती वखते पाना ने फेरवता ते प्रति पत्रचूर्णनी वर्णानो विद्यार्थिने साक्षात्कार करावे छे, भणनारने ग्रन्थ पूरो थतां सुधी दशोक प्रति मळी शके तो पण ओछी पडे अने ग्रन्थ पूरो भूणी शक्य नहि एटली त्थी प्रथमावृत्तिनी नाजुक अवस्था छे । आ आवृत्तिमा तेवु न वने ए हेतुथी क्रोक्षली लायन ब्राड लेझर पेपरमां, सुपररोयल-क्राऊन जेवी चालु साइझमा छपाववानो विचार होवा छता ते साइझना सारा कागळो नहि मळी शकवाथी फुर्सकेप साइझना विशाल आकारमां, लगभग अठ्याशी ( ८८ ) फारमना दळदार कदमां, पाका पुठानी सुदर ( वाइन्डिंगनी ) बांधकामनी सुबद्ध अवस्थामा, ताडपत्रीय प्राचीन-अर्वाचीन प्रत उपरथी लेखावेला रगवेरंगी सुदर चित्रोथी सुशोभित बनावेल, आ महान् ग्रन्थने पठन-पाठन-वाचन-मनन अने परिशीलन करता, लेता मूकता अने तपासता पण दीर्घायुपी बनी रहे ते वास्तनी पूरती काळजी राखवामा आवेली छे ।

### \* प्रकाशनना पुनीत-कार्यमां श्रीसङ्घनो सहकार ।

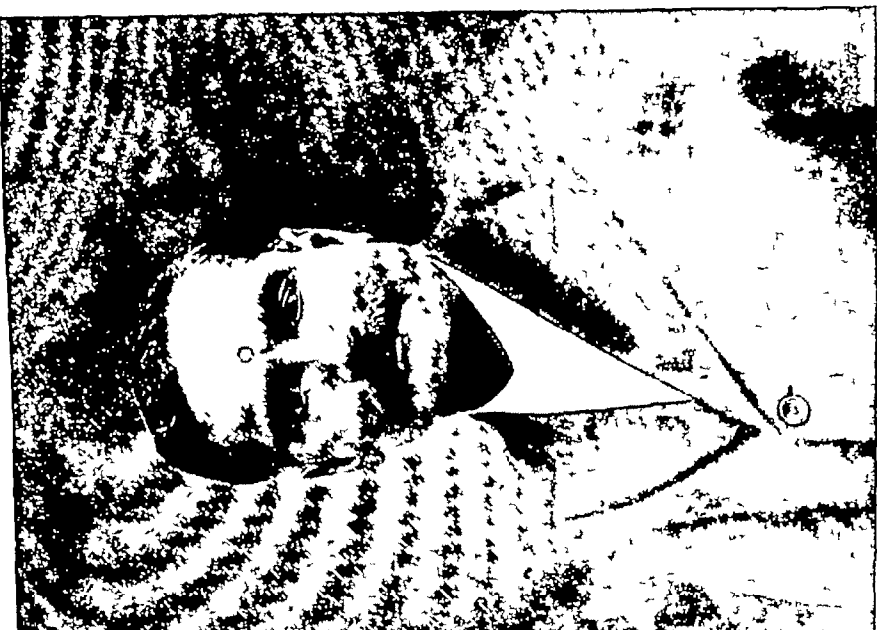
आ प्रधानतमव्याकरणने तत्त्वप्रकाशिका-टीकासहित सशोधन अने सपादननी दृष्टि ए कोइ पण जातनी स्वामी न रहे ए रीति ए छपाववानो बहु विचार करीने निर्णय करवामा आव्यो, सद्ग्रहस्थोने ते निर्णय जणावी ते कार्यमा २० आठेक हजारनो खर्च थवानु जणावता ए खर्चने पहोंची वळवामा तेओ उत्साहित थया । १ जामनगर-निवासि-संघवी चुनीलाल लक्ष्मी-चन्द, २ राधनपुर निवासि रावसाहेब कान्तिराल ईश्वरराल जे. पी., तथा ३ जामनगर-निवासि-शेखरी जमनादास मोनजीभाई ए त्रणे लक्ष्मीवन्तो ए साडीवारसो साडीवारसो २० नी मदद आपवानु जाहेर करी टीपनी शरुआत करावी । ए प्रमाणे आ ग्रन्थना प्रकाशनकार्यनी जाण थता तुरतज शरुआतमा वीजा मदद आपनारना नामो टपोटप लखाइ गया । तेओना सुवारक नामो आ ग्रन्थमा मददनी टीपनी शरुआत करावनारा उपर जणावेला त्रण सखी गृहस्थोना चित्रोनी पाछळ प्रकाशित करवामा आवेलां छे । ज्ञानदानना अजब रंगथी रंगायेला मुम्बापुरीना जैनसमाजे मदद माटे धारेली रकम पर्युषणपर्वनी शरुआत पहैलाज पूर्ण करी आपी । आ ग्रन्थना प्रकाशन-कार्यमा लोकौनो उत्साह घणोज होवाथी धारेली रकम पूर्ण थया पछी पण टीपमा मदद नोंधाववा आवनाराओने निराश करवा पड्या । आ प्रसङ्गे कहेवुं जरूरीनु छे के आ आखा ग्रन्थने तत्त्व-प्रकाशिकासहित बे ज भागमा बहार पाडवानो हतो । परन्तु कद मोटु थइ जवाथी पठन-पाठनमा उपयोगी नहि थइ शके एम जणायाथी अने पठन-पाठन-उपयोगि-बिनाओनी गेरहाजरी होवाथी शरुआतथी सूत्रनी, उपपत्ति, नवीन सूत्र रचनानी जरूरीयात, वृत्तिस्थ-पदोना पूर्वापरसंबन्ध, उदाहरण-प्रत्युदाहरणनी यथार्थ योजना विगेरेने यथार्थ समजण आपी शके तेवी नानी सरखी वृत्ति साथे कारक सुधीना विभागनेज विद्यार्थिओनी अनुकूलता माटे प्रथम भाग तरीके प्रकाशित करवामा आव्यो छे, आज रीति ए आगळना ग्रन्थना लगभग सात विभागो पाडी क्रमशः बहार पाडवानी अभिलाषा छे ।

टीपमा मरायला नाणा भरपाइ थया पहैला ज प्रथम मुद्रित प्रतिना जेवो अनुभव न थाय, अने लडाइना सयोगोने लहने विलम्ब थशे तो कदाच जोइए तेवा कागळो मळी शकशे नहि, एम जणायाथी सरकारी ओफीसोमा वपराता कागळो पैकीना क्रोक्षली लायन ब्राड पेपर जल्दी खरीद करावी लीषा । आवा कार्यो श्रीसंघना सहकार वगर थता नथी अने जे कार्यथी तात्कालिक लाम देखाय ते कार्यमा पोताना संपत्ति-साधनोने समर्पण करवामा अने पुण्यना मण्डार-भरवामा श्रीसङ्घ जरा पण विलम्ब करतो नथी एम उपरनी बिना वाचनारना लक्ष्यमा आव्या बिना रहेशे नहि ।

### ग्रन्थनुं सम्पादनादि काम कोण करे ? ।

आ ग्रन्थनु मारी धारणा मुजबनु सम्पादन करी शके तेवा त्रणेक जैन पण्डितोना नाम सामळवामा आव्या, तेमाना बे पण्डितोना तो केवळ नामोज सामळ्या हता, परन्तु तेओनो अङ्गत परिचय न हतो । त्रीजा पण्डित तरीकेनो अङ्गत परिचय थयेलो होवाथी तेओनी साथे सम्पादन सम्बन्धी वाटाघाट चलावीने छेवटे नक्की कर्तु के सम्पादन कार्य माटे प्राचीन ताडपत्रीय प्रतो, हस्तलिखित प्रतो, महाभाष्य, वाक्यपदीय, निरुक्त, शाकटायन अने तेनी वृत्तियो पैकी अमोघावृत्ति-चिन्तामणि वगेरे ग्रन्थो म्हारे मेळवी आपवा अने मारा तरफथी आपेली सूचनाओ अनुसारनुं सम्पादन कार्य तेमणे करवुं । ते प्रमाणे तेमणे कबुल कर्था पछी वधारामा में तेओने जणाव्युं के आ सम्पादन कार्य केवळ द्वितीयावृत्ति तरीकेज करवानु नथी, परन्तु सशोधनावसरे पाठान्तरो-स्थलनिर्देश विगेरे जणाववा पूर्वक आधुनिक ढबथी पठन-पाठन काळे अत्यन्त उपयोगी थइ पडे एवी परिशिष्टादि सामग्रीसहितनु करवानु छे, एम जणावीने तेओने जोइतु साहित्य ता० ९-९-४१ ना रोज सोंपवामा आव्युं । सम्पादन कार्य तेमणे तेमना मुकामे अमदावादमा करवानु हतु, एटले छपाववानु काम पण अमदावादमाना ज कोइ प्रेसने सोंपवामा आवे तो अनुकूलता आवे अने काम पण जल्दी थाय, ए हेतुथी शारदाप्रेसना कार्यवाहके अमारी मागणी मुजबना निर्णय-सागरीय तद्द नवा टाइपोमा काम करवानु स्वीकार्याथी भाव नक्की करीने, सम्पादन कार्य त्रीजा पण्डित यासे कराववानु अने





श्रीष्टिवर्य श्रीचुनीभाई लक्ष्मीचंद संघवी,



रावसाहेब कान्तीलाल ईश्वरभाई जे. पी.



श्रीष्टिवर्य श्रीजमनादास मोनजी शंवेरी.

वि० सं० १९९७ ना श्री मुंबई मुकामे श्रीगोडीजी-पार्श्वनाथजी मन्दिरना उपाश्रयमां चातुर्मास विराजमान पू. पं. प्रवर श्रीचन्द्रसागरजी गणिवरजीनी छत्रछायामां श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनना प्रकाशन अंगे अंगाउथी रकम आपनार सखी गृहस्थोनी मुवारक नामावलि.

७२११

१२५०	श्रेष्ठि कान्तीलाल ईश्वरदास जे पी	१५०	श्रेष्ठि गुलाबचद नगीनदास उस्ताद.
१२५०	„ चुनीलाल लक्ष्मीचद सघवी,	१०१	„ मोहनलाल हेमचंद झवेरी
१२५०	„ जमनादास मोनजी झवेरी	१०१	„ चतुरचद रायचद
५०१	स्व. बुलाखीदास नानचद ह मुळचदभाई	१०१	„ गगलभाई दलछाराम
५०१	श्रेष्ठि मोहनलाल मगनलाल खाडु	१०१	„ माणेकलाल जेटालाल
५०१	„ मनुभाई मुळचद	१०१	„ तलकचद केवळदास.
२५१	„ मगनलाल लालजी हरजीभाई	१०१	„ मगनलाल दलीचद
२५१	„ साकरचद खुगालदास झवेरी	१०१	„ जीवाभाई दलशुखभाई
२५१	„ छोटालाल भीखाभाई, सुरत	१०१	„ विठ्ठलदास काळीदास
२५१	„ वाडीलाल दोलतराम माणसा	१०१	„ शान्तीलाल मगनलाल
२०१	„ दलशुखभाई हीरालाल ह मोहनभाई खमात	१०१	„ वरधीलाल कचराभाई
२०१	„ चीमनलाल मोहनलाल माणसा	५१	„ माणेकलाल केवळदास
२०१	„ चीमनलाल चुनीलाल	५१	„ भीखाभाई रवचद जोटाणा, ह मणीलाल
२००	„ झवेरी मोतीचद मगनलाल, सुरत	५१	„ नटवरलाल मगळदास जोटाणा
१५१	„ प्रेमजीभाई नागरदास मागरोळ	१५	„ गोपाळदास

७२११

८५३९

ता० क० टीप करवाना अवसरे श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका साथे बे भागमा छापवानु विचार्यु ह्छु, परन्तु पठन-पाठनमां उपयोगी नीवडे ए हेतुथी अने ग्रन्थ प्रवेशमां यथार्थ मददगार बनी शके ते कारणथी आनन्दबोधिनीवृत्ति अने परिनिष्ठो साथे छपाद-कारक पर्यंतनो प्रथमभाग चहार पडे छे ग्रन्थपूर्णाहुति सातभाग उपर थवा समव छे, अने धारवा करता दशभारगणु खर्च थवा समव छे

लि

प्रकाशक.

मुद्रणकार्य शीघ्रताप्रेसमां कराववांचुं नकी कर्तुं । आ ग्रन्थना स्वळ-निर्देश माटे व्याकरण-साहित्य अने न्याय ए त्रणे विषयमां आचार्य थयेला एक बीजा पण्डितने हमार चातुर्मासिक स्थले रोकवामां आल्या, परन्तु धार्या प्रमाणेचुं कार्य तेजो पण करी शक्या नहि एटले ता० २४-२-४१ थी शुरु करावेल्लें कार्य एकज मास लगभग चलावीने बंध करावचुं पडचुं ।

**\* संशोधन-सम्पादनचुं कार्य मारे जातेज करचुं, अने मुद्रणकार्य निर्णयसागरमांज करावचुं ।**

आ ग्रन्थचुं काम जे प्रेसने सोंपुं छे ते प्रेस आ ग्रन्थना मुद्रण माटे योग्य नथी, प्रेसना साधनो परिमित होवाची अव-सरे अवसरे नवीन दाइपो पुरा पाडी शकशे नहि, तेवीज रीते सम्पादनकार्य जेने सोंपेल्ले छे ते पण कार्य पुरं करी शकशे नहि, कदाच करशे तो पण तमारी धारणा मुजबनु सुन्दर कार्य थये नहि; आची रीतनी अनेकविध वातो भणकारारूपे अने पत्ररूपे सर्वदिशांमांथी मारी पासे आववा लागी । सम्पादन करनारने विद्वानोए एवी सल्लाह आपी के-सूत्रोना पूर्वापरता सम्बन्ध, पूर्वसूत्रमांथी आवतां अनुवृत्त पदो, अधिकारथी आवतां पदो, उत्थान पामती नवनवीन पङ्क्तिओना भावो, मतमलान्तरो अने स्वळ-निर्देशनी चोखवट करवामा नहि आवशे तो आ प्रकाशन पठन-पाठनमां उपयोगी निवडशे नहि । आ वधी वावतोने लक्ष्यमा लेतां अने ते उपर खूब विचार करवाथी एम समजायु जे आ महान् व्याकरणना पठन-पाठनचो वेग खूब वेधे ए हेतुधीज प्रकाशनचुं कार्य हाथ धर्युं छे, प्रकाशित थहने ज्ञानमन्दिरोना कवाटोमा गोठवाइ जहने कवाटोनी शोभामा वृद्धि करे एटला माटे कांइ आ कार्य हाथ धर्युं नथी, माटे आपणो धारेलो उद्देश पार पाडवा माटे केवी जातनो प्रयत्न करचो जोइए?; एवी जातना विचार-तरङ्गोमा सौथी पहेला तो सम्पादनकार्य करनार पण्डितने अमदावाद पत्र लखीने सम्पादनकार्य सोंपती वखते आपेली सूचनाओने थाद देवरावीने फरीथी जणाव्यु जे तमने सोंपवामां आवेल्लें कार्य अगाउ प्रकट थयेल प्रतिनी द्वितीयवृत्तिरूप करवानुं नथी, परन्तु पठन-पाठन अने परिशीलन करनार दरेक व्यक्तिये आ ग्रन्थ निर्जीव छता सजीवनी माफक उत्साहित करे एवा अचेतन प्रकारनी आधुनिक रीति छता सचेतन शैलीए सर्वाङ्गसुन्दर बने तेवी दरेक सामग्रीओनो आ सम्पादनकार्यमा समावेश थवो जोइए ।

संपादनसाधने पत्रव्यवहारमां उत्तर प्रत्युत्तर लेवा-देवामा लगभग छ महिना चीती गया, तेमा छेला पत्रमा जवाब आब्यो के आ संपादनचुं कार्य मारा एकलथी थये नहि, बे त्रण विद्वानोनी जरूरीयात ररेशे तेनी गोठवण आप करी आपता हो तो आपनी धारणा मुजबनु कार्य थइ शकशे, वळी जे प्रेसमां काम कराववांचुं नकी कर्तुं छे ते प्रेसनी पासे परिमित साधनो होवाथी आपने जोइना दरेक जातना दाइपो ते प्रेस पुरा पाडी शकशे नहि माटे बीजा कोई प्रेसनी सगवळ पण करी लेचानी छे; आवा प्रकारना जवाबचुं तात्पर्य ए नीकळ्युं के आपनी धारणा मुजबना कार्य माटे बीजा संपादनकी अने बीजा प्रेसनी गोठवण करी लेशो । आम छता पण प्रतिओनी मेळवणी करी पाठान्तरादि गोंधवानुं काम सम्पादके चाळ राख्यु तेथी संपादन करनार पण्डितने ते काम माटे पाटण साहित्यरसिक मुनिश्रीपुण्यविजयजी पासे मोकल्या । त्या घणा दिवस रही प्रतिओनी मेळवणी करी पाळा अमदावाद आब्या अने मने लख्युं के आ कार्य माटे पाटण रहेवामा, विद्वानोना अमिप्राय मेळववामा खर्च घणो लागशे, जेना जवाबमा खर्चनी बाजतमा बेपीकर रही आपणु कार्य जेम सुन्दर थाय तेम करवाचुं में जणाव्युं तो पण तेमणे काम करी शकवानी अशक्तिज जणावी अर्थाद मारी मागणीओने मूर्च्छस्वरूप आपवामा सम्पादकने घणी मुश्केलीओ जणाह ।

त्यार पळी श्रीसिद्धचक्राराधकसमाज तरफथी करावती आराधना प्रसङ्गे पानसर जवा माटे सुंबईथी साधुसमुदाय साथे मारो विहार थयो, अमदावाद महोच्चने छ महिन्यामा थयेला संपादन-कार्यने तपाश्चुं तो मारी धारणाने सफळता मळे तेचुं कार्य हळुं नहि, तेथी संपादनचुं कार्य बंध रखावी तेमने आपेली प्रतो विगेरे सामग्री पाळी ल्ह लीधी । संशोधन-संपादनचुं कार्य मारे जाते ज करवानो निश्चय करी, मुद्रणकार्य माटे निर्णयसागरप्रेस साथे नकी कर्तुं । सर्वाङ्गसुन्दर सम्पादनना कार्यमां सहायक थइ शके एवा सहायकोनी निमणुक करीने "आप समान वळ नहि ने मेघ समान जळ नहि", तथा "काम सुधारचुं होय तो जाते ज महेनत करो", ए उक्तिओने चरितार्थ करवा हुं प्रयत्नवान् थयो ।

**\* आनन्दबोधिनी-वृत्तिनी पूर्वावस्था ।**

अनुपम धारणाओनी सिद्धिमाटे अनुपम साधनो मळे तो ज फळ बेसी शके । अनुपम सामग्रीओथी भरपूर संपादनमा सहायक थाय तेवा वर्तमानकालीन दरेक व्याकरणोना सारी रीते जाणकार अने आ प्रधानतम व्याकरणना अनुरागी एवा एक ब्राह्मण पण्डितनी शोध करता स १९२५ मा झापडानी पोळमा चातुर्मास रहीने जे पण्डिततापसे आ व्याकरणनो कारकादिसुधीनो विभाग घणी सरस रीतिए हुं मण्यो हतो, ते काशी-वनारसना व्याकरणाचार्य अने व्याकरणोना समय ग्रन्थोना निष्पात पण्डितनो अचानक मेळप थयो । तेओने आ संपादन कार्यमा सहायक थवानु जणावीने जे पद्धतिए कार्य करवांचुं छे ते वधी

हकीकत तेमने जणावतां कार्य करवामां सहायक थवानी तेमणे तत्परता जणावी तेथी काम करवानी वावतमां केटलीक समजुती आपीने तेमने जोइती ग्रन्थ-विगेरेनी सामग्रीनी गोठवण करावी आपी कामनी शरुआत करावी दीधी ।

त्यार पछी सं. १९९८ ना चैत्र मासनी ओळीनुं आराधन डामलानिवासी शेठ सोमचंद लालचंद तरफथी पानसरतीर्थमां रखायलु हतुं । त्या जवाने माटे अमारो विहार थयो, पानसरमा अमारी स्थिरता होवाथी दोढेक मासमां करेल्ल काम वताववा ते पण्डितजी पानसर आव्या, तेमणे करेल्ल काम जोता सतोष थयो नहि तेथी तेओने जणाव्युं के आ साल्लु मारुं चातुर्मास अमदावाद थवानु छे तो चातुर्मासमा तमे मारी पासे रही शकता हो, आ प्रधानतम व्याकरणमां आवती भाष्यादिनी पक्तिओ तथा वाक्यपदीय वगेरेनी उक्तिओ समजावी शकता हो, तेम ज भिन्नभिन्न ग्रन्थोमांथी आवता श्लोको-वाक्यो वगेरे जे जे ग्रन्थमांथी लीधेला होय ते बघा शोधी शकता हो, आ सपादनकार्य माटे तमारुं बीजुं बघु काम छोडीने मारी पासे रही शकता हो तो राखवानी मारी इच्छा छे, आ वात सामळीने ते पण्डितजीए रहेवानी इच्छा जणावी तेथी ताडपत्रीय वगेरे हस्तलिखित ग्रन्थोनी मेळवणी करवा तथा प्रेस कॉपी करवा वीजा एक मास्तरने पण राखवामा आव्या अने चातुर्मास पहेला मारा विचारोने मूर्च्छस्वरूप आपवा ते पण्डितजीने पुस्तकादि जोइती सामग्री मेळवी आपीने कामनी शरुआत करावी । चातुर्मास वेसवाने हजी चार हती तेथी पानसरनी नजीकना मेसाणा-जोटाणा-श्रीशङ्खेश्वरतीर्थीदि क्षेत्रोमा मारो विहार चाळ रखो त्यार पछी अमदावाद आववानु थयु, अने चातुर्मासने प्रारंभ थयो । मारी धारणाओने लक्ष्यमा लहने पण्डितजीए आ व्याकरण उपर विभा-नामनी एक नाती सरखी वृत्ति बनाववा माडी हती ते वृत्ति सूत्र-वृत्ति-उदाहरण अने प्रत्युदाहरणने समर्थन करवाने बदले स्वतंत्र विषय स्पष्ट करनारी जणाइ एटले ते पण कार्यसाधक बनी शकी नहि, ए रीते मुवईना चातुर्मासनी शरुआतथी अमदावादना चातुर्मासनी शरुआत सुधीमा सम्पादनने सर्वाङ्गसुन्दर बनाववाना 'श्रीगणेशाय नमः'माज बार मास वीती गया । आ वखते अमदावादमा कपर्धु ओर्डर चालु हतो तेथी लोकोनी अवर जवर ओळी होवाथी कंइ पण कार्य करतु होय तो समय घणो अनुकूल हतो, पर्युषणपर्वनी समाप्ति सुधी तो सम्पादननी दिशामा संशोधननुं ज कार्य चालतुं हतुं तेथी बीजु काइ बनी शक्युं नहि । परन्तु पर्युषणनी समाप्ति थताज भादरवा सुद ५ नो रोज सकल-विन्न विनाशक-श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथनी तथा सकल-समीहित-पूरक-श्रीसिद्धचक्रनी स्तुतिरूप भाववाही वे श्लोको बनावीने मारी धारणा मुजबना बघा भावोभरीने आनन्दबोधिनी नामनी वृत्ति बनाववानो मे प्रारम्भ कर्यो । कलिकालसर्वज्ञ भगवाननी हार्दिक स्तुति श्लोकना पादमा उतरी अने पद्यरचना पूरी थइ एटले मार्गदर्शन थयुं के आ कार्य आ रीतिए ज करतु ए विद्यार्थीओ माटे श्रेयस्कर छे ।

पठन-पाठननी सर्व सामग्रीओ के जे आनन्दबोधिनी नामना प्रकरणमा जणावी छे ते बधी सामग्रीओ पीरसवानु मन ते दिवसथी थयुं । अमदावाद मुकामे सं० १९९८ ना भादरवा सुद ५ ना शरुआत करेली ते छ पादनी आनन्दबोधिनीनी रचना खम्भातमां सं० २००० ना माह सुदी ५ ने दिवसे पूरी थइ । आ प्रकाशनना छ पादमा आवेला मेटरनु सौथी पहेला काचु लखाण तैयार करतुं, पछी तेमा सुधारो वधारो करी प्रेस कॉपी करावी मुद्रणकार्य शरु राखतु, अने तेमां त्रण वखतनां पुफ तपासी चोथी वखत तपासीने छापवानी रजा आपवामा केटलो काळ व्यतीत थाय ते आवा उच्च कोटिना मुद्रणकार्य माटे अनुभव लइ चुकेलाओने समजावतुं पडे तेम नथी ।

दरेक पादनी आनन्दबोधिनीनी रचना कया संयोगोमा अने कया क्षेत्रमा थइ?, ते बधी हकीकत प्रशस्तिमां जणावेली छे । आ छ पादनी आनन्दबोधिनीना रचनाकाळमा अमदावादथी उपघाननी माळने प्रसङ्गे ऊझा, ऊझाथी जैनागममन्दिरनी प्रतिष्ठा प्रसङ्गे पालीताणा, पालीताणाथी सामुदायिक-श्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधन-प्रसङ्गे कपडवज, अने कपडवजथी चातुर्मासिक निमित्ते खम्भात सुधीनो लगभग ५०० माइलनो विहार थयो हतो । त्यार पछी खम्भातथी सामुदायिक-श्रीसिद्धचक्र-नव-पदाराधन-प्रसङ्गे उज्जैन, उज्जैनथी इन्दोर थइने प्रतिष्ठा प्रसङ्गे कानवन, धार अने धारथी राजगढ-माडवगढ-त्तारापुरतीर्थ, सीरपुर-धुळीया-मालेगाम अने नासिक थइने चातुर्मास-निमित्ते मुंबई ( घाटकोपर ) सुधीना लगभग १५०० माइलना लावा विहारमा शासनहितना कार्यो करवा-कराववा उपरात जे टाइम मळी शकतो ते टाइममा आगळनी आनन्दबोधिनीनी रचानां, आवता पुफोने सुधारवानु, तथा रही गयेली त्रुटिओनी पूरवणीनु काम चालुज रहेतुं हतु ।

आ प्रथम विभाग प्रकट थया पहेला तो एने माटे मुंबईमा थयेली टीपना नाणां खर्चाइ गया, छता पण वचमाना-मुंबई-अमदावाद-खम्भात अने घाटकोपरना-चातुर्मासमा ते ते स्थळना चातुर्मास करावनार ज्ञानरसिक सज्जनो-श्रावको तरफथी पण प्रसङ्गे प्रसङ्गे मदद मळती रहेवाथी आ प्रथमभागनुं प्रकाशन विना सकोचे थइ शक्युं छे ।

आनन्दबोधिनीनी रचना करवामा मद पडता उत्साहने प्रोत्साहन आपीने तथा आनन्दबोधिनीना आ प्रथम विभागनुं कार्य सफळता पूर्वेक पूर्ण करवामा प्रसङ्गानुसार जोइती सामग्रीओ पुरी पाडवामा सहायक थनार मारी साच्चियमा रहेला व्याकरणाचार्य-पण्डितवर्यनी सहायता मने अतीव उपकारक निवडी छे । आनन्दबोधिनीनी रचना करवामा महार्णवन्यास,

महामाष्य, वाक्यपदीय; अने श्लो० दे० ला० जैन पु० फण्ड तरफथी छेला अन्थाङ्क तरीके छपाती श्रीसिद्धहेमचन्द्र० वृहद्धृत्ति अवचूर्णिनी मुख्यतया सहायता लेवामा आवेली छे ।

### \* अनेकविध-सामग्रीओना संचयरूप आनन्दबोधिनी ।

सपादननुं कार्य जेने प्रथम सौंप्यु हलु तेमनाथी नहि थइ शके एम जणायाथी तेमने सौंपेळुं काम पाळुं लेवा विगेरेमां लामग एक वर्ष वीती गयु तेथी मनमा खेद तो थयो, परन्तु अन्ते दृढ निश्चय कर्यो के भले मोडुं थयुं पण आ प्रकाशन एवी उच्चकक्षानुं करवुं के पठन-पाठन-मनन अने परिशीलननो वेग बध्या ज करे । ए रीते “मोडुं थयु ते ग्हेला माटे”, अने “खोटु थयु ते सारा माटे” एवी वे उक्तिओना अवलवनथी मन सुप्रसन्न रहेवा लाग्यु ।

ऐतिहासिक दृष्टिए अवलोकनाराओ ऐतिहासिक दृष्टिए अपूर्वताने अवलोके, पठन-पाठन करनाराओ पठन-पाठन दृष्टिए प्रेमपूर्वक पेखे, मनन करनाराओ मानसिक विचारणापूर्वक मनन करे, अने साहित्यकारो साहित्यनी सर्वदेशीय-दृष्टिए साक्षात्कार करे तेवी अनेकविध सामग्रीओरूप नवनवीन-नवीनताओनु दिग्दर्शन करावे एवा प्रकारनु सपादन थवुं ज जोइए आवी विचारणा हृदयमा अनेकवार आवती हती ।

उच्चारणकाळे, प्रयोगसिद्धिकाळे, उदाहरणोनी सफलीभूत योजनाकाळे, प्रत्युदाहरणोना यथायोग्य न्यायकाळे, मतमतान्तरोनी स्पष्टता प्रतिपादनकाळे, सूत्ररचनाना रहस्य-निरूपणकाळे,—सर्वरीतिए सुंदर रचनाथी सुबद्धसूत्रोनु स्पष्टीकरण थवुं होय, सूत्रमा तत्त्वने स्वरूपादि त्रितयव्याख्याद्वारा समजावीने अने सूत्रार्थप्रदेश नियत उदाहरणो पूरतो ज छे परन्तु प्रत्युदाहरणो पूरतो नथी ज ए रीते तत्त्वोनु पूर्ण प्रकाशन करनारी तत्त्वप्रकाशिकानु साङ्गोपाङ्ग शिक्षण अपातु होय, विविधप्रकरणो अने विषयो केवी रीते अनुस्यूत संकलनाबद्ध छे ते समजनुं सुंदर दान देवातु होय, सूत्रथी प्रगट थतो अर्थ अने वृत्तियी प्रगट थतो अर्थ ए बलेनो मेदाभेद केटलो छे ? अने कयी अपेक्षाए एक ज छे ते समजवा माटे आ सूत्रनो पूर्वोपरसूत्र साथेनो सवन्ध अने अनुवर्तन पदो, अधिकारथी आवता पदो केम आवे छे ते अनुभव अमृत पीरसातु होय, सूत्रो साथे सीधा अने आडकतरी रीतिए थता संबन्धो अने नवीन सूत्रोत्थाननी अनिवार्य जरूरीयातो जणावाती होय, सूत्रानुक्रमने साचववाथी थता फायदा अने सूत्रानुक्रमनी परिपाटीने बदलवाथी थता गेरफायदानु दिग्दर्शन करावातुं होय, अनेकसूत्रोना भावने एक सूत्रमा निवेश केवी रीते कर्यो छे ते समजावातु होय, सूत्रार्थमा तरी आवती त्रितय-व्याख्याओ विचाराती होय, उत्सर्ग-अपवाद-अतरङ्ग-बहिरङ्गादि न्यायोनी छणावट थती होय, प्रत्येकपदनुं समर्थन करनारा उदाहरणो तेमज प्रत्येकपदनी यथार्थता समजावनारां प्रत्युदाहरणो अपाता होय, मतमतान्तरोना मन्तव्य अने स्थलनिर्देश, सूत्रवृत्तिनुं अन्तिम रहस्य, अन्यशाब्दिकोना आधारयुक्त प्रमाणो, अन्य वैयाकरणोना नामनिर्देश, महामाष्य—महार्णवन्यास अने वाक्यपदीयादि ग्रन्थोनी उक्तिओनु प्रसंगे प्रसंगे स्पष्टीकरण करातुं होय तो ज पठन-पाठननी सर्वोत्तमसामग्रीओ सपूर्णपणे संपादनना सर्व-श्रेष्ठ-थाळमा पीरसी कहेवाय । एटलु ज नहि पण तुलनात्मक दृष्टिए गौरव-लाघव-अतिविस्तृत-दुरागम अने विप्रकीर्णादि दोषोनी तुलना करीने आ प्रधानतम व्याकरणनी निर्दोषता सिद्ध करी होय अने साथे साथे कारकपर्यन्तना आ प्रथम भागने भणनाराने प्रासङ्गिक अनेकविध लामो-जेवा के बीजा अध्ययना त्रीजा पादनी शरुआतथी सातमा अध्ययना चोथा पाद पर्यन्तना घणा सूत्रोना भाव, घणा खरा उणादि सूत्रोना भाव, अने पाणिनीय-शाकटायन-चान्द्र अने जैनेन्द्र व्याकरणना घणा खरा सूत्रोना भाव जणावाता होय, अने साथे साथे धातुओना प्रयोगोनुं ज्ञान अपातु होय तो कहेतुं ज पडशे के आ सपादन पठन-पाठननी दृष्टिए सर्वाङ्गसुंदर थयेछुं छे ।

उपर जणावेली बधी सामग्रीओ मरचक मरी शकाय तो ज पठन-पाठनकाळे आ संपादनकार्य सुंदर गणाय । एटला माटे लगभग बधी सामग्रीओना सचयरूप, आनन्दोत्पादनपूर्वक यथार्थबोध दइ शके अने भणनारना क्लेशने सदाकाळ देशवटो आपी शके तेवा हेतुथी ज आ आनन्दबोधिनी-नामकवृत्तिने यथायोग्यकाळे जन्म आपवामा जाव्यो छे एम कहेतुं ए सर्वथा उचितज गणाशे ।

सज्ञा-सन्धि-नाम अने कारकपर्यन्तना आ प्रकाशनमा आवेला छ पादना सूत्रोने तत्त्वप्रकाशिकानामकवृहद्धृत्ति अने आनन्दबोधिनी-नामकलघुवृत्ति सहित भणनार विद्यार्थी महामाष्य—महार्णवन्यास अने वाक्यपदीय जेवा महान् ग्रन्थोमां अल्प-प्रयासे प्रवेश करवानी शक्तिने प्राप्त करशे एम अमार्ह मानवु छे ।

रसदायक सामग्रीओथी भरपूर, क्लेशरहितपणे आनन्दने उत्पन्न करनारी यथार्थनामवती आ आनन्दबोधिनी छे, एम कहेवा करता दरेक अभ्यासिने आ ग्रन्थनो अभ्यास करती वखते उपर जणावेली वात स्वयमेव समजाइ जशे ए नि.सन्देह बीना छे । पोताना खरा उत्साहथी अगर तो अन्य कोई निमित्तने लइने पण आ प्रथमभागनु अध्ययन करनाराओ द्विगुणित उत्साहथी फलिकालसर्वज्ञाना आ प्रधानतम सम्पूर्ण व्याकरणनु अध्ययन करे, अने संस्कृत व्याकरणशास्त्रना पारङ्गत बने ए एक ज इच्छाथी आ आनन्दबोधिनी-वृत्तिने रचवानो प्रयास कर्यो छे ।

## \* सूत्रवृत्तिना प्रतिबिम्ब छतां अनुकरणं तो नथी ज ।

विश्वप्रसिद्ध भाषानी व्यवस्था अने नियमन करनार व्याकरण शास्त्र छे, एमां प्रकरण-विषयक-शब्दसिद्धिमां नवीनता होती नथी; परन्तु व्याकरणनी रचनामा आणेली सरलता के कठिनतानी, अने सर्व-सद्वाहिता के एकदेशीयतानी नवीनता अथवा विशेषता प्रत्येक व्याकरणमा थोडे घणे अशे रहेली होय छे ।

आ प्रधानतम व्याकरणमा केवा प्रकारनी नवीनता आणेली छे, अने कया व्याकरणनुं प्रतिबिम्ब विशेषतया उतारेछे छे, ए वे वावतोनुं अवलोकन करतां आ व्याकरणना सूत्रमा अने वृत्तिमा विशेषतया शाकटायन व्याकरणनु अने सङ्क्षेपतया जैनेन्द्र व्याकरणनुं प्रतिबिम्ब उतारेछे जणाय छे, छतां अनुकरण तो नथीज ।

सूत्र अने वृत्तिनी रचना गम्भीरता पूर्वक एवी अजब रीतिए करेली छे के शाकटायन अने महाभाष्य ए बनेना विस्तृत-विषयो पण अल्प-शब्दोमा योग्य रीतिए सम्पूर्णपणे समजाइ जाय छे, एटलुज नहि पण वलोणा वखते मात्तणनी जेम गहनविषयने पण अल्पशब्दोमा लखवानुं कौशल्य अने रचनाकाळे अतिविस्तृतादि दोषथी रहित सूत्र अने वृत्ति रचवानु महद्भाग्य तेओश्रीनेज प्राप्त थयेछे छे ।

शाकटायन व्याकरणना प्रथमाध्यायना प्रथमपादमाथी अर्धमात्राना पण फेरफार वगर अक्षरश. नीचेना २० सूत्रो आ प्रधानतम-व्याकरणमा लीधेला छे—

नं०	श्रीशाकटायन० सूत्राङ्कः ।	श्रीसिद्धहेमचन्द्र० सूत्राङ्कः ।
१	अप्रयोगीत् ॥ १ । १ । ५ ॥	॥ १ । १ । ३७ ॥
२	आसन्नः ॥ १ । १ । ७ ॥	॥ ७ । ४ । १२० ॥
३	सम्बन्धिना सम्बन्धे ॥ १ । १ । ८ ॥	॥ ७ । ४ । १२१ ॥
४	बहुगणं भेदे ॥ १ । १ । १० ॥	॥ १ । १ । ४० ॥
५	कसमासेऽध्यर्धः ॥ १ । १ । ११ ॥	॥ १ । १ । ४१ ॥
६	क्रियार्थो घातुः ॥ १ । १ । २२ ॥	॥ ३ । ३ । ३ ॥
७	गत्यर्थवदोच्छ ॥ १ । १ । ३० ॥	॥ ३ । १ । ८ ॥
८	तिरोऽन्तर्धी ॥ १ । १ । ३१ ॥	॥ ३ । १ । ९ ॥
९	स्वान्येऽधिः ॥ १ । १ । ३४ ॥	॥ ३ । १ । १३ ॥
१०	प्राध्व बन्धे ॥ १ । १ । ३८ ॥	॥ ३ । १ । १६ ॥
११	परः ॥ १ । १ । ४४ ॥	॥ ७ । ४ । ११८ ॥
१२	स्पर्धे ॥ १ । १ । ४६ ॥	॥ ७ । ४ । ११९ ॥
१३	नं क्ये ॥ १ । १ । ६३ ॥	॥ १ । १ । २२ ॥
१४	मनुर्नमोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । ६७ ॥	॥ १ । १ । २४ ॥
१५	स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम् ॥ १ । १ । ८५ ॥	॥ १ । २ । १५ ॥
१६	वौष्टौतौ समासे ॥ १ । १ । ८८ ॥	॥ १ । २ । १७ ॥
१७	इन्द्रे ॥ १ । १ । ९७ ॥	॥ १ । २ । ३० ॥
१८	सम्राट् ॥ १ । १ । ११३ ॥	॥ १ । ३ । १६ ॥
१९	सुचो वा ॥ १ । १ । १७० ॥	॥ २ । ३ । १० ॥
२०	समासेऽसमस्तस्य ॥ १ । १ । १७३ ॥	॥ २ । ३ । १३ ॥

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनमा उपर जणावेली वीस सूत्रो शाकटायन व्याकरणना वीस सूत्रो साथे अक्षरश मळता छे । शाकटायनना चारज अध्याय छे, तेना कुल सोळ पादमाथी फक्त प्रथम अध्यायना प्रथम पादमाथीज एटला अक्षरश मळता सूत्रो उपलब्ध थाय छे । जो मात्राना, अक्षरना अने अर्थना काइक फारफेरवाळा सूत्रोनी तारवणी करीए तो ए पहेला अध्यायना वीजा पादमाथी षणा सूत्रो मळी आवे, परन्तु अहीं तो मात्र प्रतिबिम्बितपणुं जणाववा पूरतोज आ प्रयास कर्यो छे । जो चारो अध्यायना सोळे पादमाथी तारवणी करवामा आवे तो एक तुलनात्मक ग्रन्थ तैयार थइ जाय । आ वधु तपासी जोता शाकटायननुं प्रतिबिम्बितपणुं सावीत थाय छे, तो पछी तेनुं अनुकरण करेछे छे एम केम नहि कहेवाय, तेना समाधानमा जणाववानु के सूत्ररचना समान होवा छता विषयप्रकरणमा लघुता-सुन्दरता लाववी, क्लिष्टता दूर करवी, वृत्तिमा

कुशलता देखाडवी, उदाहरणोनां चतुर्थतानु दर्शन करावुं, एटलुंज नहि पण पूर्वापर प्रसङ्गनुं अने व्याकरणना मौलिक-सिद्धान्तनुं प्रतिपादन करवानी अनुपम शैली-प्रतिभा अने बुद्धिवैभव वगैरे दरेक व्याकरणकार करतां. चढीआतां जणाया विना रहेतां नथी एज तेओश्रीनी अपूर्वता छे, अर्थात् अनुकरण तो नथीज ।

सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननी तत्त्वप्रकाशिकावृत्तिनी साथे शाकटायन-अमोघावृत्तिनी तुलना करतां-शाकटायनमा-अप्रयोगीत् ॥ १ । १ । ५ ॥, बहुगणं भेदे ॥ १ । १ । १० ॥, अने कसमासेऽध्यर्धः ॥ १ । १ । ११ ॥ ए त्रण सूत्रो अक्षरशः लीघा होवा छता अने वृत्तिना शब्दो पण लगमग एक सरखा होवा छतां वृत्तिनो परमार्थ स्पष्ट करी आपवामां तेओ-श्रीए तत्त्वप्रकाशिकाद्वारा केटली बधी कुशलता दर्शावी छे ते नीचे जणावेली बने वृत्तिने तपासी जोनार स्वयमेव समजी शकशे ।

अ० वृत्तिः—इह शास्त्रे उपदिश्यमानो वर्णः समुदायो वा लौकिकशब्दप्रयोगे न दृश्यते स इत्संज्ञो भवति । अत एव चाऽस्य प्रयोगाभावः सिद्धः । उपदेशस्तु कार्यार्थः । एधि एषते । × × × ॥ ५ ॥

त० वृत्तिः—इह शास्त्रे उपदिश्यमानो वर्णस्तत्समुदायो वा यो लौकिके शब्दप्रयोगे न दृश्यते स एति-अपगच्छतीति इत्संज्ञो भवति । अपयोगित्वानुवादेनेत्संज्ञाविधानाच्चाऽस्य प्रयोगाभावः सिद्धः । उपदेशस्तु-धातुनामप्रत्ययविकाराऽऽगमेषु कार्यार्थः । धातौ 'एधि', एषते ॥ ३७ ॥

अ० वृत्तिः—बहुगण इत्येतौ शब्दौ भेदे वर्तमानौ सरख्यावद्भवतः । भेदो नानात्वमेकत्वप्रतियोगि । बहुक. बहुधा बहुकृत्व । × × × । भेदे किं ?—वैपुल्ये सङ्घे च सरख्याकार्यं मा भूत् । बहुगणनाऽत्यन्ताय सचक्षते इति वचनम् । अत एव भूर्यादीति निवृत्तिः ॥ १० ॥

त० वृत्तिः—बहुगण इत्येतौ शब्दौ भेदे वर्तमानौ सरख्यावद्भवतः । भेदो नानात्वमेकत्वप्रतियोगि । बहुकः, बहुधा; बहुकृत्वः । × × × । भेद इति किम् ?—वैपुल्ये सङ्घे च संख्याकार्यं मा भूत् । बहुगणौ न नियतावधिभेदाभिधायकाविति सरख्याप्रसिद्धेरमावाद्भवत् । अत एव भूर्यादिनिवृत्तिः ॥ ४० ॥

उपर प्रमाणे सूत्रोनी रचना समान होवा छता वृत्तिना स्पष्टीकरणमा केटली बधी कुशलता जणावी छे ते अभ्यासिने समजावु पडे तेम नथी । तेवी रीते कसमासे० ए सूत्रमा पण समजी लेवुं ।

अर्थमां समानता होवा छता प्रकरण-विषयने लक्ष्यमा राखीने अक्षर मात्रादिकना फारफेरवाळी सूत्ररचना करीने क्लिष्टता-अर्थ संदिग्धताने दूर करवामा केटली बधी सफलता प्राप्त करी छे, ते नीचे जणावेली सूत्रोने तुलनात्मक दृष्टिए जोनारना स्यालमा आव्या विना रहेशे नहि—

### शा० सूत्राणि ।

१	प्रादिर्नाऽप्रत्यये ॥ १ । १ । २४ ॥
२	कणमनः श्रद्धोच्छेदे ॥ १ । १ । २८ ॥
३	नित्यं हस्ते पाणौ स्त्रीकृतौ ॥ १ । १ । ३६ ॥
४	ह्रस्वो वाऽपदे ॥ १ । १ । ७४ ॥
५	प्रस्योढोढ्यहैषैष्ये ॥ १ । १ । ८४ ॥
६	एवेऽनियोगे ॥ १ । १ । ८७ ॥
७	चादेरचोऽनाह ॥ १ । १ । १०१ ॥
८	सौ घेतौ ॥ १ । १ । १०३ ॥
९	अब्धौ चोदन्वान् ॥ १ । २ । ९९ ॥

### सि० सूत्राणि ।

न प्रादिरप्रत्ययः ॥ ३ । ३ । ४ ॥
कणमनस्तृप्तौ ॥ ३ । १ । ६ ॥
नित्यं हस्तेपाणानुद्वाहे ॥ ३ । १ । १५ ॥
ह्रस्वोऽपदे वा ॥ १ । २ । २२ ॥
प्रस्यैष्योढोढ्यहै स्वरण ॥ १ । २ । १४ ॥
अनियोगे लुगेवे ॥ १ । २ । १६ ॥
चादि स्वरोऽनाह ॥ १ । २ । ३६ ॥
सौ नवेतौ ॥ १ । २ । ३८ ॥
उदन्वानब्धौ च ॥ २ । १ । ९७ ॥

उपर प्रमाणे शाकटायनसूत्र-वृत्तिना प्रतिबिम्बो स्थले स्थले मालूम पडे छे तेथी अनुकरण लेशभर नथी, परन्तु लाघवता, सरलता, कुशलता, चातुर्यता, प्रतिभानी ओजसिता, अने बुद्धिवैभवना विकासो पगले पगले मालूम पडे छे, तेथी ज सूत्र-वृत्तिना प्रतिबिम्ब होवा छता पण अनुकरण तो नथी ज एम बुद्धिमानोने समजावु पडे तेम नथी ।

\* सिद्धान्तना रहस्यनुं प्रतिबिम्ब होवा छतां पण अनुकरण तो नथी ज ।

आ प्रधानतम व्याकरणमा प्रयोग-सिद्धिकाळे अने प्रयोग-व्यवस्थापनकाळे सिद्धान्त प्रतिपादन करवामा महामाप्य-कारनी उक्तिओना माव स्थले स्थले मालूम पडे छे, छता अनुकरणतो नथीज ।

सिद्धान्त प्रतिपादनकाले महाभाष्यकारना सिद्धान्तना विस्तारानो सम्पूर्ण भाव समजवामां आवी जाय एवी रीते अल्प-शब्दोमां कही देवु, कक्षा छता कहेवानुं वाकी नहि रहेवा देवुं अने योग्य रीतिए समजाइ जाय एवी अजब शक्तिथी सम-जावी देवु ए तेओश्रीनी पराकाष्ठाए परिपूर्ण-पहोंचेली-प्रतिमानु पूर्ण साम्राज्य छे, एम कक्षा वगर चाले तेम नथी ।

अपादान(कारक)विपयक प्रयोगोनी व्यवस्था करवा माटे महर्षि पाणिनिए “ध्रुवमपायेऽपादानम्” वगेरे सूत्रो रचेल छे, ते सूत्रोथी अपादाननी सम्पूर्ण व्यवस्था थइ शकती न होवाथी महर्षि पाणिनिने अने कात्यायनने अनेक सूत्रो अने वार्तिकोनी रचना करवी पडी छे । ए वधा सूत्रो अने वार्तिकोनी आवश्यकताज नथी, एम “ध्रुवमपायेऽपादानम्” ए सूत्रना अमे पूर्ति माटे रचेल सूत्रो अने वार्तिकोना भाष्यमां भाष्यकारे विस्तारथी जणावी दीधुं छे ।

ए वधां सूत्रो अने वार्तिकोरूप दहीमाथी नवनीतनी माफक तारवीने “अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २ । २ । २९ ॥” एवा एकज सूत्रनी कलिकालसर्वज्ञ-भगवान् श्रीहेमचन्द्रसूरिजीए रचना करीने ए सूत्रमाथी निकळी शकता अर्थद्वारा भाष्यकारना अभिप्रायरूप अमृतने युक्ति दृष्टान्तादि प्रदर्शनपूर्वक वृत्तिमा समावी दीधुं छे ए कइ ओछु कौशल्य न कहेवाय ।

सिद्धान्त अने भावार्थ भाष्यकारने मळता होय तेवु प्रतिबिम्ब छता अनुकरण तो नथीज, कारण के सूत्र-वृत्ति अने प्रयोगोने प्रशसनीय रीतिए समजावनारी कलिकालसर्वज्ञनी विशिष्टताओ अने नवीनताओनुं पगले पगले दर्शन थाय छे ।

अभ्यासकोनी बुद्धिनी उत्कर्ष थवा माटे जे जे सूत्रनी वृत्तिमा शङ्काओनु उत्थान करीने तेनु विस्तारपूर्वक समाधान कर-वामा कलिकालसर्वज्ञे सैद्धान्तिकभाष्यनु आलेखन करता ते भाष्यना भावोने सूत्र-वृत्तिमा जे रीतिए गुथ्या छे, ते आलेखन अने गुथणीनुं तुलनात्मक दृष्टिए विवेचन करवामा आवे तो एक स्वतंत्र निबन्ध ज तैयार थइ जाय । छता पण कलिकालसर्वज्ञे आ व्याकरणना साते अध्यायमा प्रसंगे प्रसंगे भाष्यकारोना भावोने केवी रीते झळकाव्या छे ते विस्तारपूर्वक जणाववानी भावनाने बनता सुधी आ ग्रन्थना अन्तिमभागमा सफळ करवामां आवशे ।

मतमतान्तरोनु स्पष्टीकरण करवामा भाष्यकारना सिद्धान्तने अनुसरीनेज सूत्र-वृत्ति-उदाहरण तथा प्रत्युदाहरणादिनी छणवट अने चोखवट करेली छे, दरेक जग्याए भाष्यकार प्रत्ये बहुमान दर्शाव्यु छे । अने तेओश्रीथी विरुद्ध प्रतिपादन कर्तुं होय तेवु आ कारकपर्यन्तना प्रथम भागमा प्रायः जोवामा आव्यु नथी ।

आ उपरथी सिद्धान्तना भावो प्रतिबिम्बित थयेला होवा छता अनुकरण तो कर्तुं ज नथी ए समजाइ जाय एवी स्पष्ट वात छे ।

### \* श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननामनी यथार्थ-गुणनिष्पन्नता ।

आ महान् व्याकरणनुं श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन एवुं नाम राखवामा आव्यु छे, ते शब्दार्थगुणनिष्पन्न नाम होवाथी यथार्थज राख्युं छे, एम नीचे जणावेल नामान्तर्गत-शब्दार्थना स्पष्टीकरणने मनन पूर्वक वाचता वाचनाराओ स्वीकार कर्या विना रहेशे नहि ।

श्रीसिद्ध=द्रव्य अने भाव अथवा बाह्य अने अभ्यतर शोभाए करीने प्रतिष्ठा प्राप्त करेली होवाथी—श्रीसिद्ध, कष-ताप अने छेदरूप त्रिविध परीक्षामा उत्तीर्ण थयेल सुवर्णसम-सूत्रोथी शोभायमान होवाथी—हेम, तत्त्वप्रकाशिकावडे सूत्रोना समस्त-तत्त्वो प्रकाशित थइने चन्द्रना किरणोनी पेटे आह्लादोत्पादक होवाथी—चन्द्र; अथवा—राज्यादिक श्री एटले लक्ष्मी तथा शोभाए करीने संयुक्त एवा सिद्धराज नामना गुर्जरधराधिपतिए आग्रहपूर्वक प्रार्थना करीने रचावेल होवाथी—श्रीसिद्ध, हेमचन्द्रसूरी-धरजीए रचेलुं होवाथी—हेमचन्द्र, तथा शब्दसमूहनु अनुशासन-व्यवस्था अने नियमन-करनारं आ व्याकरण होवाथी—शब्दानुशासन, ए रीते श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन ए नाममा आवेल शब्दोना अर्थनु स्पष्टीकरण थनुं होवाथी नामकरणनी यथार्थता समजाइ जाय छे ।

### \* प्रधानतम-व्याकरण-ग्रन्थरचना समय ।

आ महान् ग्रन्थनी रचनानो समय ग्रन्थकारे आ ग्रन्थमा तो जणाव्यो नथी, परन्तु पोताना रचेल द्वाश्रयमहाकाव्यादि वीजा अनेक ग्रन्थोमा पण ए सबन्धी काइ पण उल्लेख करेलो जणातो नथी, अने श्रीसिद्धराज तथा कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यना सबन्धमा अनेक उल्लेखो जेमा मळी आवे छे एवा १ प्रभावकचरित्र, २ प्रबन्धचिन्तामणि, ३ कुमारपालप्रबोध अने ४ कुमारपालचरित्रमा पण ते ते ग्रन्थकारोए आ प्रधानतम व्याकरणनी रचनानो समय जणावनार कोइ पण उल्लेख स्पष्टपणे जणावेलो नथी ।

उपर जणाव्या प्रमाणे आ व्याकरणनी रचनानो समय कोइ पण स्थळे स्पष्टपणे जणातो नथी, तथापि ते सबन्धमा मळी आवतां अन्यान्य साधनो वडे रचनाना समयनो निर्णय करी शकाय तेम छे ।



आ सम्बन्धमां ऐतिहासिक विषययी अनभिज्ञ-मनुष्योने रचनाना समयनो निर्णय-करवायी लाम शो छे १, अने रचना एकाद वर्षमा अगर तो चार पाच वर्षमां पूरी करी छे, अथवा थइ छे ते जाणवायी पण लाम शो छे १; एवा अनेकविध विकल्पो थाय ए स्वभाविक छे, छता तेना समाधानमा एक समाधान तो ए छे के आवा अनुपम-ग्रन्थनुं अल्प-समयमां सर्जन थयेछ जाणीने विद्यार्थिओने रचयितानी प्रतिभा, प्रतिपादन शक्ति अने ग्रन्थनी गुन्थणी-सम्बन्धि-कौशल्यादि अनेकानेक गुणो प्रये जरूर बहुमान थाय छे, बीजु आ ग्रन्थने लगता सर्वसाहित्यो ग्रन्थकर्ताए वाच्या क्यारे १, विचार्या क्यारे १, ते उपर मनन अने परिशीलन कर्नु क्यारे १, अने ते वधानु मन्थन-दोहन करीने मतमतान्तरोना निर्देश सहित आवा उच्चकोटिना ग्रन्थनुं निर्माण कर्नु शी रीते १, आ बधी बावतो विचारनारा-विद्यार्थिओने ग्रन्थकारना परिश्रम, अप्रमत्तता, विषय-सद्वाहिता अने बुद्धिवैभवादि गुणो आश्चर्यसुग्ध बनानी दे छे, एटलज नहि पण ते कृतिद्वारा घणु घणु मेळवी शकीशु एवा अनेकविध उमगो उठी आवे छे, एटला माटे मळी-शकता साधनोथी ग्रन्थ-रचनाना समयनो निर्णय करवो ए पण एक प्रस्तावनानो आवश्यकिय विषय गणाय छे ।

आ प्रधानतम व्याकरणनी रचनाना समयनो निर्णय करवा माटे एना रचयिताए रचेला समग्र साहित्यनो पौर्वापर्यक्रम प्रथम नक्की करवो जरूरीनो छे, अने ते क्रम नक्की करवा माटे तेओश्रीना समग्र-साहित्यसागरमा पर्याप्त-अवगाहन-करवुं जोइये, एम कर्याथीज ते क्रम विश्वसनीय अने माननीय थइ शके । परन्तु ए क्रम तैयार करवाना पूरता साधनो उपलब्ध थता न होय तो पण विद्वानोए जेटला साधनो उपलब्ध थाय तेटला साधनोथी पौर्वापर्यक्रमनी सङ्कलना करीने दरेक ग्रन्थनी रचनाना समयनो न्यायपूर्वकनो निर्णय करवो जोइये, एटला माटे चाळ प्रसङ्गमां आ ग्रन्थनी रचनाना समयनो निर्णय करवाना उपलब्ध-साधनोने तपासी जोइए—

अ—एक लेखक क० स० श्रीहेमचन्द्राचार्यजीना जीवैनचरित्रमा लखे छे, तेनो साराश ए छे के,—‘यशोवर्माए वि० स० ११९२ ना माह महिनामा कोइने जमीननु दान दीघु हतु, ते वखते ते माळवानो स्वतन्न महाराजा हतो एम लागे छे । दानना प्रसङ्ग पछी तरतज श्रीसिद्धराजे यशोवर्मा उपर जीत मेळवी हरो, अने ते वखते युद्ध माटे चोमासा सिवायनो काळ अनुकूल गणातो होवाथी चोमासा पहेलाज जीत मेळवीने पाटणमा प्रवेश पण कर्यो हरो, आ उपरथी माळवानो विजय, पाटणमा विजयप्रवेश अने विजयमहोत्सवादि कार्यो स० ११९२ ना श्रावण मास लगभग समाप्त थया हरो अने ते ज अरसात्ता तेगे प्रार्थना करीने आ प्रधानतम-व्याकरणनी रचनानो प्रारम्भ कराव्यो हरो ।

आ—माळवदेशना उजैन-नगरमा आवेली माधव-कॉलेजना विशाळ-चोगानमा वि० स० ११९५ ना जेट वद १४ ने गुरुवारे लखायला एक शिलालेखमा नीचेनुं सारभूत वृत्तान्त जणावेलु छे के ‘ते वखतमा अणहिल-पाटणमा महाराजाधिराज-परमेश्वर-जयसिंहदेव राज्य करता हता, तेओ १ त्रिभुवनगण्ड, २ सिद्धचक्रवर्ती, ३ अवन्तीनाथ, अने ४ वर्वरिकजिष्णु एवा चार विरुदो-विशेषणो-ने धारण करनारा हता ।’

इ—दोहदमा मळी आवेला वि० स० ११९६ नी सालना शिलालेखमा अने केटलाएक-प्रबन्धोमा ‘सिद्धराजे माळवाना राजा साथे वार-वर्ष-पर्यन्त युद्ध करीने छेवटे ते राजाने जीति लइ केद करीने माळवा देशने गुजरात देशनी साथे मेळवी दीघो’ एम जणावेलु छे । आ अने इ विभागना शिलालेखोना सवत् पूर्वकालीन-घटनाने बारीकाईथी अवलोकवा भलामण करे छे ।

ई—माळवाना राजा नरवर्मा उपर गुजरातना राजा सिद्धराजे अनेकवार चढाइ करी, परन्तु नरवर्मानु वळ वधारे होवाथी सिद्धराजने विजय मळ्यो नहि, छता माळवानो विजय प्राप्त-करवाना-निश्चयने छोब्यो पण नहि । ते निश्चयने अमलमा मेळववानी तक जोता जोता छेवटे सिद्धराजे नरवर्माना अवसान पछी गद्दी पर आवेला तेना (नरवर्माना) पुत्र यशोवर्मानो उपर चढाइ करी, तेमा घणा कष्टने वेठीने आखरे वि० स० ११९२ मा यशोवर्माने हराचीने (केदखानमा नाखी दीघा पछी) माळवाने गुजरात साथे मेळवी दीघो । पोताना पूर्वजोनी (माळवाने जीतिने गुजरातमा भेळववानी) अपूर्व आकाङ्क्षाने पूर्ण-करी त्यारथी सिद्धराजे पोताने अवन्तीनाथ एवु विरुद लगाडवानु शरु कर्नु होय एम ते वखतमा-आसपासना प्रसङ्गो उपरथी जणाय छे ।

उ—माळवाना राजा यशोवर्माए वि० स० ११९१ ना कार्तिक सुद ६ ने दिवसे एक दानपत्र आपेलु छे तेनी उपरथी, तथा वि० सं० ११९२ ना माघ वद ३ नो लखेलो एक ताम्रलेख मळी आव्यो छे तेनी उपरथी, ए वनेमा जणावेलु समयनी नजीकनाज समयमा यशोवर्मानो हार थयेली होय एम मानी शकाय छे, अर्थात् मानवाने घणा कारणो मोजुद छे ।

ऊ—काठियावाडमा आवेला प्रागधारास्टेटना गाळा-नामना गाममाथी वि० स० ११९३ ना वैशाख वद १४ ते दिवसे लखायलो एक शिलालेख मळ्यो छे, तेमा सिद्धराजने अवन्तीनाथ एवु विशेषण लगाडेछु होवाथी वि.स. ११९३ पहेल सिद्धराजे माळवा उपर जीत भेळवेली हती एम मान्या विना कोइने पण चाले एम नथी ।

उपर जणावेला ६ ऐतिहासिक प्रमाणोमाथी अ-ई-उ-अने ऊ वाळा प्रमाणोने वारिकार्इथी अवलोकन कर्या पछी पूर्वापर सबन्धनी विचारणा करीए तो वि० स० ११९२ ना मागसर मास पछी अने ११९३ ना वैशाख मास पहेला सिद्धराजे माळवा देशने सर कर्यो हशे एम चोक्कस जणाय छे, परन्तु विशेष साधनोना अभावे वर्ष-मास अने दिवसो चोक्कस निर्णय करी शकतो नथी । माळवा देशनो विजय प्राप्त थया पछी ज सिद्धराजे आ प्रधानतम व्याकरणने रचवानी प्रार्थना करी अने ते प्रार्थनानो स्वीकार करीने कलिकालसर्वज्ञ-भगवान् श्रीहेमचन्द्रसूरिजीए रचना करी एम ते काळना अने त्यार पछीना वर्तमानकालीन वधा ग्रन्थकारो एक मते मानता आव्या छे ।

आ व्याकरणनी प्रशस्तिना श्लोक १९ थी २९ सुधीना ११ श्लोकमा कलिकालसर्वज्ञे सिद्धराजे प्राप्त करेला माळवाना विजयनु उत्कर्षरूपे वर्णन करेले छे, अने स्वरचित-व्याकरणना “ख्याते दृश्ये” ॥ ५ । २ । ८ ॥ सूत्रना उदाहरणमा ‘अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तीम्’ सिद्धराजे अवन्तीने घेरो घाल्यो हतो एवु उदाहरण आप्यु छे ते माळवाना विजय साथे घणु ज सुसगत छे ।

गुर्जरेश्वर-सिद्धराज साथे प्रथम परिचय थया पछी उत्तरोत्तर (ते परिचय) वधता वधता माळवानो विजय प्राप्त कर्यो त्या सुधीमा तो ते घणो ज वधी गयो हतो एम कहेवामा लेश पण अतिशयोक्ति नथी, कारण के वि० स० ११८१ ना वैशाख मासनी पूर्णिमाना दिवसे वादि-देवैसूरि अने कुमुदचन्द्रनो शास्त्रार्थ सिद्धराजना प्रमुखपणामा पाटणमा थयो हतो, ते अवसरे क० स० श्रीहेमचन्द्रसूरिनी पण हाजरी हती, ते प्रसङ्गथी जाण्णि शकाय छे के-‘सूरीश्वरजीनो गुर्जरेश्वरनी साथेनो आछो परिचय पण स० ११८१ थी पहेलानो छे’ ।

मालवदेशनी जीत भेळवीने गुर्जरेश्वर-सिद्धराजे पोतानी राजधानी-पाटणमा घणा ज आडम्बरथी प्रवेश कर्या पछी अल्प समयमा ज भोजव्याकरणथी भोजराजानी दीर्घकालव्यापिनी-नामनाने अनुलक्षीने पोतानी नामना पण दीर्घकालव्यापिनी थाय एवा हेतुथी एक अत्यन्त-सुन्दर-नवीन-व्याकरण रचवाने माटे योग्य व्यक्ति तरीके कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरिजीने जाणीने तेमने अत्यन्त विनम्रपणे प्रार्थना करी, आ विनाने वधा पण्डितो निर्वादापणे मान्य राखे छे । नगरप्रवेशमहोत्सव अने व्याकरण रचवा माटेनी प्रार्थना ए बन्ने प्रसंगो लगभग एकसाथे स० ११९३ नी पूर्वे बन्या हता । कोई शुभशुद्धर्तमा सिद्धराजनी थयेली प्रार्थनानो सूरिजीए सहर्ष स्वीकार करवाथी गुर्जरेश्वरने माळवाना विजयथी प्राप्त थयेला आनन्दथी पण विशेष आनन्द थयो । त्यार पछी काश्मीरदेशथी पुस्तको भगावता थयेला काल-क्षेपने गणवामा आवे तो पण आ व्याकरणनी रचनानो प्रारम्भ वि०सं० ११९३ ना प्रारम्भमां ज थयो हशे, अने ते ज वर्षना अन्तमां अगर तो वि०सं० ११९४ मां समाप्ति थइ हशे; एटले एक वर्ष या सवा वर्षमा ज आ व्याकरणनी रचना थयेली छे । ए वाचतमां प्रबन्धचिन्तामणिमां-‘श्री-हेमचन्द्राचार्यैः श्रीसिद्धहेमाभिधानमभिनवं पञ्चाङ्गमपि व्याकरणं सपादलक्षप्रमाणं संवत्सरेण रचयाञ्चक्रे’ एवो उल्लेख करवामा आवेलो छे ।

अन्य-व्याकरण-समूहने प्राप्त-करवामा तथा ते वधानु अवलोकन करवामा वीतेला काळने वाद करीए तो कलिकाल-सर्वज्ञ भगवान् ने आ व्याकरणनी रचना करवामा एक वर्षथी वधारे काळ वीत्यो होय एम संभवतु नथी । आ वाचतमा केटलाएक लेखकोनो एवो अभिप्राय छे के ‘आ व्याकरणना सूत्रो अने लघुवृत्तिनी रचना एक वर्षमा थइ हशे अने वाकीना अगोनी रचना त्यार पछी करीने स० ११९४ मा अथवा सं० ११९५ ना प्रारम्भमा सम्पूर्ण ग्रन्थनी रचना करेली हशे’ । आ विना ऐतिहासिक-सत्यने यथार्थ रीतिए स्पर्शती नथी ।

आ आखा प्रकरणने विचारता आ प्रधानतम व्याकरणना सूत्रो-लघुवृत्ति-बृहद्वृत्ति-लिङ्गानुशासन-उणादिप्रकरण-घातुपारायण-आदिदरेक-अगनी रचना कलिकालसर्वज्ञे क्यारे अने केटला समयमा करी तेना निर्णयने माटे घणा साहित्यना अवलोकननी आवश्यकता होवाथी आगळ उपर कोइक प्रसंगे विगतवार जणाववानो यथाशक्ति प्रयत्न करवामा आवशे ।

### \* ग्रन्थरचयितानी आछी-जीवनचर्या ।

कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्य जेवा महाप्रभावक महापुरुषना व्यक्तित्वनु मूल्याकन सपूर्णतया करी शकातुं नथी, तथापि आ महापुरुषे सर्जन-करेला-साहित्यना अवलोकन उपरथी एओश्रीना व्यक्तित्वनी आछी रूपरेखाओनु मूल्याकन करी शकाय एम छे ।

१—पुरातत्त्व पु० ४ धु पोप-चैत्र-पृ० १७-२१ । २—हेमसमीक्षा-पृ० २७ । ३—सिंधी प्र० १३ वादिदेव० पृ० १७८ थी द्रव ।

४—जुओ-हे० ल० प्रस्ता० पृ० ९-१०, तथा बुद्धिप्रकाश पु० ८२ अ० १ लो जान्यू० श्री मार्च-पृ० ५७ थी ६६ ।

आजयी आठसो-पंचावन-वर्ष-पूर्वे थइ गयेला आ महाप्रभावक-महापुरुषना १ जन्मकाळने, २ वाल्यकाळने, ३ दीक्षाकाळने, ४ विद्याऽध्ययनकाळने, ५ सूरीपदप्राप्तिकाळने, ६ गुर्जरेश्वरसम्मिलनकाळने, ७ विविधसाहित्यसर्जनकाळने, ८ कुमारपाळप्रतिबोधन तथा सर्वोत्कृष्टजीवदया-प्रचारादि शासन-सेवाकाळने, ९ कलिकालसर्वजादि-विरुद्धप्राप्तिकाळने, अने १० अन्तिम-सर्वस्व-समर्पणपूर्वकना स्वर्गगमनकाळने, श्रद्धालुओए श्रद्धाला जोरे, वक्ताओए वक्तात्वकळाना जोरे वाणीरूप-वर्षाना बोधमारे, विद्वानोए विद्वत्ताना विशुद्ध बळे अने लेखकोए लेखो निबन्धो, नवलिकाओ अने जीवनचरित्रो लखीने लेख-नशक्ति बडे मळी आवेला साधनोद्वारा जगज्जनताने नवनवीन-नवनीत पीरसीने आ दशे विभागोना यशोगान आज पूर्वे गाया छे, गवराव्या छे, लख्या छे, लखाव्या छे, कथन कर्या छे, कथन कराव्या छे, प्रचार्या छे अने प्रचाराव्या छे। एटलुज नहि पण आ चालु वर्तमान काळमा पण ए वधा कार्यो पाठळ जैन-जैनेतरोने प्रयत्न तन-मन अने धन द्वारा चालुज रहेलो छे, एटले ए सन्ध्यामा मारे काह पण लखवु ते पिष्टपेपण करवा जेवु छे, कारणके ए दशे विभागना न्यूनाधिक स्वरूपने जणावनारा घणा पुस्तको प्रगट थइ चुकेला छे, हनु पण जाणवानी जिज्ञासावाळाओने ते ते साहित्यो प्रयत्ने पण प्राप्त थइ शके छे।

सागरसमी लोकप्रिय थइ पडेली सर्वाङ्गसुन्दर-कृतिओमा करेली सूत्र गुन्थणी, विषय-व्हेंचणी अने विषय-विवेचनादि अनेकविध सामग्रीओना महत्त्वु सम्पूर्णतया दिग्दर्शन कराववानो प्रयत्न करवो ते वे हाथ पडोळा करीने महासागरना विस्तारने जणाववानो प्रयत्न करवा समान छे। छता आ प्रसङ्गे शासनमान्य-अष्टमप्रभावक-परदु खमजन-विक्रमादित्यप्रतिबोधक-श्रीसिद्धसेन दिवाकरसूरिजीनी (कल्याणमन्दिरस्तोत्रमां कथन करेल) उक्तिनु सरण थाय छे-‘बालोऽपि कि न निजवाहुयुग वितत्य०’।

प्रातःकाळमा प्रकाशित थयेला किरणोवडे सुशोभित थयेला सूर्यनी, तथा पूर्णिमानी रात्रिए परिपूर्ण खीलेला चन्द्रनी ओळखाण कराववी ए निरर्थक होवा छता पण साहित्य-ससारमा अनेक स्थळे आवी पडेला चन्द्र-सूर्यना प्रसङ्गमा जरूरीयात पूरतु वर्णन करवानुं कविओ उचित ज समजे छे, तदनुसार आ श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनना कर्ता-कलिकालसर्वज-भगवान् श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूरेश्वरजीनी ओळखाण कराववानु उचित जाणीने आ स्थळे यत्किञ्चित् प्रयत्न करवामा आवे छे।

गुर्जरदेशना माल-नामक प्रदेशनी समीपमा आवेछ घणुका-नामनु नगर आ महापुरुषना जन्मथी जगमशहर थयु हतु।

शाश्वतप्राय गणाता श्रीशत्रुजयादि-महातीर्थीनी यात्रानी शरुआत थती होवाथी अखिल जैनसमाजना आनन्दनो जे दिवसे पार न हतो, अने एकज स्थानमा रहेता घणा दिवसो थइ गया होवाथी स्थानान्तर करवानी अने साथे साथे विहार करीने बीजा ग्राम-नगरना लोकने उपदेश आपीने सन्मार्गे मुकवानी केटला एक दिवसोथी उत्पन्न थयेली उत्कट अभिलाषा फळीभूत थवाथी श्रमण-भगवन्तोना समुदायोना आनन्दनो पण जे दिवसे पार न हतो एवा वि० स० ११४५ नी कार्तिकी-पूर्णिमानी पवित्र-दिवसे आ महापुरुषनो जन्म थयो हतो।

वि० स० ११४३ मा जन्मेला सिद्धराजथी वे वर्ष नाना अने वि० स० ११४९ मा जन्मेला कुमारपाळथी चार वर्ष मोटा, अने महाप्रभावशाली आ महापुरुषनी प्रमाना तेजस्वि-किरणोने झीलीने दिगन्तव्यापी वनाववाने माटे ज जाणे आ महापुरुषना जन्मकाळनी नजीकना ज काळमा ए बने गुर्जरेश्वरोनो पण जन्म थयो न होय एवु अनुमान रहेजे थइ जाय एवी आ एक अपूर्व घटना छे।

आ महापुरुषनी दीक्षा स्तमनतीर्थे वि० स० ११५० ना माघ शुक्ला ४ शनीवासरे, अने प्रभावकचरित्रानुसारे वि० स० ११५४ ना माघ शुक्ला चतुर्दश्या शनीवासरे थयेल छे, आ संवत्सरोने अनुसरीने पाच वर्षे अथवा नव वर्षे दीक्षा थई एम मानी शक्या। विसवादि-प्रश्ननो निर्णय केवळ-ज्ञानियो सिवाय थई शकतो नथी, एटलुज जाणवु जरूरीनु छे।

दीक्षा लीषा पछी दरेक विषयना शास्त्रोना अभ्यास करवामा लगभग सोळ वर्ष अथवा तो चार वर्ष वीत्या बाद दरेक विषयमा पारङ्गत थयेला जाणीने शासनप्रभावक गुरुमहाराजे वि० स० ११६६ ना वैशाख मासनी अक्षय तृतीयाने दिवसे महोत्सवपूर्वक तेओश्रीने अणहिलपुर-पाटण पासना शहेरमा आचार्यपदवीथी विभूषित करीने दीक्षा समयना सोमचन्द्र-मुनिने हवे श्रीहेमचन्द्रसूरिवर नामथी अलकृत कर्या।

श्रीहेमचन्द्राचार्ये सूरीपदनी प्राप्ति थया पडेला सरस्वतीनी आराधनानी शरुआत करेली ते सूरीपद प्राप्त थया पछी पण चालु ज हती, एम देववोधिना प्रसंग वगेरेथी जाणी शक्या छे।

आ महापुरुषना जीवनना घणा प्रसंगो व्यवस्तिरूपे मळी शकता नथी ए आपणु दुर्भाग्य छे। आवा सततपरिश्रमी विद्वाने आटलो बघो अभ्यास शी रीते<sup>१</sup>, अने कोनी पासे कर्यो<sup>२</sup>, तेवोश्रीना अभ्यासनो क्रम केवा प्रकारनो हतो<sup>३</sup>, ग्रन्थ लखवा-लखाववानी शरुआत क्यारे अने केवा सयोगोमा करी<sup>४</sup>, जुदा जुदा विषयना ग्रन्थो लखवा माटे अनेक लहियाओने सन्मुख

वेसाडीने पोते दरेक लहियाने लखाववा माडेल ग्रन्थना विषयने धाराप्रवाहशी लखावता हता एवी किं-वदन्तीमा केळुं सत्य छे ?; आवा प्रकारना उपस्थित-थता-ढगलाबन्ध-प्रश्नोनु समाधान थइ शके एवा साधनो मळी शकतां नथी, जो मळी शकता होत तो तेओनु अगाध-पाडुदर्शनीयज्ञान, अनेक विषयना ग्रन्थोनी एकसाथे रचना करवानी अपूर्व शक्ति, अने अनेक स्थळेयी आकर्षित करेला विषयोनी क्रमबद्ध-गुथणी करीने ग्रन्थरचना-करवामा लीधेला अहोरात्रना परिश्रमने जाणीने आपणे वधा आश्व-र्यमुग्ध थया विना रहेते नहि, एटलुंज नहि पण तेओश्री प्रत्ये हृदयपूर्वकनी भक्ति-बहुमानमा वधारो पण थया विना रहेते नहि ।

महापुरुषोना हाथे घडायेली महाकृतिओना निरीक्षण अवसरे पूर्वजन्मना सस्कार, जन्मप्रदेशथी उत्तरी आवेल चारसारूपे सस्कृति-परम्पराओ अने सयोगो जोवाय छे । कारण के ते कृतिओना अनेकविध-विषयोमा सस्कार, संस्कृति अने सुसयोगो विवेकपूर्वकना वणाइ गयेला मालूम पडे छे ।

जे प्रदेशमा आ महापुरुषनो जन्म थयो छे ते प्रदेश सारस्वतप्रदेश तरीके ओळखाय छे । त्रीजाँ सैकानी शरुआतथी वारमा सैका सुधीमा तो सरस्वतीना सुधा-झरणाने गुजरातना प्रतिभाशाली पुरुषोए शीलया छे, खीलव्यां छे, अने तेनो फाल्यो फुल्यो फाळ तेओश्री तरफथी पेढीपरम्परामा चारसारूपे उत्तरी आवेलो जणाय छे ।

आचार्य-पदारूढ थया पछी लगभग सत्तावीस वर्ष जेटला लावा समय बाद आलेखन करेला आ महान् व्याकरण-ग्रन्थनी लेखिनीनो दीर्घकाळ पर्यन्त अभ्यास करवामा आवे तो अनेक प्रकारनी नवनवीन सामग्रीओ सशोधकोने अने बोधकोने मळी आवे तेम छे । सर्व सामग्रीओ पैकी कलिकालसर्वज्ञ-विरुदनी यथार्थता समज्जिने पछी परम्पराए प्राप्त थयेल पुनीत वारसाना प्रकरणने समजवा प्रयत्न करीए ।

### \* कलिकालसर्वज्ञ-विरुदनी यथार्थता ।

‘वर्तमानकाळमा मनगमता विरुदो लगाडवानी प्रथा जेम चाली रहेली छे तेम प्राचीन काळमां पण चाल्ती ज हशे’ एवी कल्पनाने आगळ करीने कलिकाल-सर्वज्ञना विरुद माटे शंकाशील बननाराओना सवन्धमा हमारं एक ज कथन छे के तेओए तेओश्रीना विस्तृत-साहित्यनो विशेषतया परिचय कर्यो ज नथी ।

शब्द-शास्त्रोमा शोर-बकोर करनारा शाब्दिको त्या सुधी ज गर्वने धारण करी शके छे, साहित्यसृष्टिनु सर्जन करनारा साहित्यकारो त्या सुधी ज गौरवने टकावी शके छे, अने कर्कश-युक्ति-प्रयुक्ति तथा दलीलोना दरोडा पाडनारा तर्कवादियो त्यां सुधी ज तर्कावलम्बन करे छे, के ज्या सुधी हेमचन्द्रसूरिजीनी वाणीनो पूरो परिचय तेओने थयो न होय ।

तेओश्रीए रचेली दरेक-कृति सर्वग्राही एटले सर्वजनोपयोगी ज छे । सस्कृत, प्राकृत अने अपभ्रंश-भाषारूपक्षेत्रने खूब खेडीने गद्य-पद्यरूप लोक-भोग्य प्रचुर-पाक-पकवीने जनता उपर महोपकार कर्यो छे । जे जे विषयोनी छणवट करी छे ते संपूर्ण, स्पष्ट अने सरल करी छे । मन्द, मध्यम अने तीव्रबुद्धिवाळाने समानरीतिए लाम थइ शके एवी रीतिए साहित्यना दरेक विभागोनु सर्जन कर्युं छे । कोइ पण विषयना लखाणनी शरुआत कर्या पछी ते विषयने पुरो करता करता कोइ स्थळे मुझवण आवी पडी होय एवु एक पण प्रमाण प्राप्त थतुं नथी, दरेक विषयने दरेक अभ्यासी सहैलाइ-सरळताथी ग्रहण करी शके एवो सरळ बनाववानो तेओश्रीनो उद्देश सर्वत्र सफल थयेलो ज जणाय छे ।

आ उपरथी वर्तमानकाळे तेओश्रीना उपलब्ध थता समग्र साहित्यनु पठन-पाठन-परिशीलन-पूर्वक अवलोकन करनार कोई पण मनुष्य तेओश्री कलिकालसर्वज्ञ-विरुदने सर्वथा लायक ज हता एम स्वीकार्या विना रही शके एम नथी । कलिकाल-सर्वज्ञ एटले तेओश्रीनी हयातिमा आ कलिकाल-कलियुगना सर्वसाहित्यनु संपूर्णज्ञान धरावनार,—अर्थात् तत्कालिन समग्र साहित्यना सर्वशे जाणकार एवो अर्थ थाय छे, एटल ज माटे तेओश्रीना साहित्यनो पूर्णतया परिचय-करनारा अन्यान्य ग्रन्थकारोए पोतपोताना ग्रन्थमा तेओश्रीने कलिकाल-सर्वज्ञ, सर्वसग्रह, वागीश्वर, सर्वविद्यापारंगत, पण्डितप्रवर, जगमज्ञानमाण्डागार, ज्ञानमहार्णव, शब्दावतार अने शब्दाम्मोनिधि विगेरे विगेरे यथार्थ विशेषणो लगाडेल ठाम ठाम नजरे पडे छे ।

मगवान् श्रीहेमचन्द्रसूरिश्वरजीए आजीवन करेली अद्वितीय-वाक्य-उपासनाना फळ तरीके उपलब्ध-थता समग्रसाहित्यनु आकर्षण अखिल विश्वमा एटल वधु व्यापक वनेछ छे, के उपर जणावेल विशेषणो उपरात कोषमार्थी मळी आवता बीजा पण एवा एवा जेटला विशेषणो तेओश्रीने लगाडीए टेटला ओछा ज छे ।

अखिल भारतवर्षना नाना-मोटा-गामके शहेरमा आवेला नाना-मोटा-जैनज्ञानमन्दिरो-जैनग्रन्थमण्डारो अथवा जैनपुस्तकालयो हालना समयमां पण हज्जारोनी सङ्ख्यामा विद्यमान छे । तेमाना कोई पण मण्डारनी मुलाकात लेवामा आवे तो अन्यान्य ग्रन्थोनी साथे कलिकाल-सर्वज्ञनी प्राय एक ज नहि पण अनेक कृतिओना दर्शन थया विना रहे नहि । एटल ज नहि परन्तु सुरोपादि-देशना ग्रन्थ-सङ्ग्रहालयोमा पण आ महापुरुषनी अनेक कृतिओ सग्रहायेली जोवामां आवे छे । ए उपरथी समजी

શકાય છે કે કલિકાલ-સર્વજ્ઞના સાહિત્યમાં જે સર્વાંગિ-સુન્દરતા અને સર્વપ્રાહિતા ઠસોઠસ મરેલી છે તેવી પ્રાયઃ વીંજા કોઈના સાહિત્યમાં હશે જ નહિ, અને એ જ કારણને લઈને એજોશ્રીના સાહિત્યનું પઠન-પાઠન અને પરિશીલન કરતા કરતા જૈનેતરો પણ એજોશ્રીના અનેક ગુણોના યશોગાન ગાવામા લયલીન થઈ જાય છે એજ તેજોશ્રીની રચનાનો અજવ ચમત્કાર છે । સામ્પ્ર-વાયિક તીવ્ર દુરાગ્રહતાનો અથવા તો મોહાન્ધતાનો જગતના દરેક વિદ્યાર્પીઓમા અને વિદ્યાના દરેક-ધામોમાં જો પ્રવેશ થયો ન હોત તો તે દરેક સ્થલોમાં તેજોશ્રીના સાહિત્યનું પઠન-પાઠન નિરન્તર પૂર્વે ચાલુ રહ્યું હોત, અને વર્તમાનમા ચાલતું જ હોત ।

જૈનદર્શનમાં કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરજીની પૂર્વે પણ શ્રીગૌતમસ્વામી અને શ્રીસુધર્મસ્વામી આદિ ગણ-ધર મગવતો, શ્રીમદ્રવાહુસ્વામી આદિ શ્રુતકેવલિઓ, મહારાજા-વિક્રમાદિત્ય-પ્રતિષોધક-શ્રીસિદ્ધસેન-દિવાકરસૂરિજી, ચૌદ-સોને ચુમ્માલીસ-ગ્રન્થના પ્રણેતા-મગવાન-હરિમદ્રસૂરિજી, જૈનસિદ્ધાન્તના સારમૂલ-સૂત્રસમગ્રહકાર અને તત્ત્વાર્થાધિગમસૂત્રના પ્રણેતા ઉમાસ્વાતિ-વાચકવર્ધ-મહારાજ, જૈનાગમાદિ ગ્રન્થોને પુસ્તકારૂઢ-કરાવનાર-દેવાર્ધિગણિક્ષમાશ્રમણ આદિ અનેક પૂર્વધરો, પ્રૌઢ-ગીતાર્થો, વિદ્વાન-આચાર્યો અને મહાપ્રમાવક-મહાત્માઓ થઈ ગયા છે, છતાં જૈનેતર-દર્શનોમા આ મહાપુરુષનું અને એમના સાહિત્યનું જે રીતિએ જેટલું સ્થાન છે તે રીતિએ તેટલું સ્થાન અન્ય કોઈ જૈનાચાર્યનું જણાતું નથી । જૈનેતરદર્શનોના પૂર્વે થઈ ગયેલા અને હાલના વિદ્વાનોને કોઈ પણ કારણસર જૈનસાહિત્યના સંવન્ધમા આવવાનું થાય તો તેઓની દ્રષ્ટિ સૌથી પ્રથમ આ મહાપુરુષ-ગુમ્ફિત-સાહિત્ય ઉપરજ પડતી હતી અને પડે છે । બારસી સદીની શરુઆતથી આજ સુધીમા થઈ ગયેલા સર્વશ્રેષ્ઠ સાહિત્ય-કારોની ગણનાનો પ્રારંભ જો કોઈ પોતાની આગઢીના ટેરવા ઉપર કરવા માહે તો પણ તેમા આ મહાપુરુષનું નામ તો પ્રથમ જ આવીને ઉમ્મુ રહે એમ કહેવામા લેશમર અતિશયોક્તિ નથી ।

આવા સર્વાંગસુન્દર પરિપૂર્ણ વ્યાકરણ અને લોકપ્રસિદ્ધ-સર્વમાપાને સરઢ્ઢતાથી પી શકે તેવું જૈન-જૈનેતરોપયોગિ સાહિત્ય પુરુ પાઢનાર કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાનનો વિદ્વત્સમાજ સદાકાલ ઋણી જ હતો, અને રહેશે । તો પણ કાઢક અશે સુક્ત થવા માટે એ મહાપુરુષ પ્રત્યે હૃદયમાં વહુમાન ધારણ કરીને તેજોશ્રીએ કરેલા ઉપકારો સમ્બન્ધી યથાશક્તિ બોલવું, લખવું લખાવવું અને પ્રચારવું તે સર્વ-સાહિત્યોપાસકોની પ્રથમ ફરજ છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાનના રચેલા સાહિત્યની મદદથી જેઓ સામાન્યતયા બોલતા-લખતાં-સમજતા અને સમજાવતા શિક્ષ્યા અગર તો વિશેષતયા ગ્રન્થકે નિવન્ધનું આલેખન કરતા આગઢ વચ્ચા, તથા હજારોની મેદિનીમા વ્યાસંધ્યાન કરતા શિક્ષ્યા, તેઓને જ મહોપકારિ-કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાનના સદુણો સમ્બન્ધી અને તેજોશ્રીના વિરન્નિત-વિશાઢ-સાહિત્ય-સમ્બન્ધિ બોલવા કે લખવાનો કોઢક પ્રસન્ન આવી પડે ત્યારે તે તે કહેવાતા વિદ્વાનોમાથી કેટલાપક શબ્દશાસ્ત્રના દારિદ્રનારાયણો રૂપે દેલાઈ આવે છે, ત્યારે તેઓ ઉપકારીના ઉપકારને સૂઢી જવામા કઢ જાતનું ગૌરવ સમજે છે તે હુદ્ધિમાનોની સમજમા પણ આવી શકતું નથી । ઘોઢીઆ-પારણામા રમતા બાઢકને રમાઢવા આવનારાઓ જેવી છેદ્યા કરે તેવી છેદ્યાઓ વિદ્વાનોનો ફાકો રાક્ષનારાઓ કલિકાલસર્વજ્ઞના રચેલા સાહિત્ય પ્રત્યે કરે તો તે સર્વજ્ઞ-સર્વથા-સર્વઢા અનુચિત જ ગણાતું જોઢપ, એમ કહેવામા લેશ પણ સોઢુ નથી, જાતિવાન બઢ્ઢો માટે જેમ ઢસારાની જરુર છે તેમજ અહીં પણ એજ રીતિએ સમર્જી લેવું જરુરનું છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિશેષણની સાર્થકતા સમજાવવા માટે શરુ કરેલા અહીંના પ્રસન્નને અનુસરીને લ્લેલ્લ ઉપરનું લ્લ્યાળ પર્યાસ જ છે । દરેકે દરેક પ્રસન્નને અવલ્લ્બીને એ વિશેષણની સમ્પૂર્ણતયા યથાર્થતા સમજાવવાને માટે તો એક આસો જુઢો જ નિવન્ધ લખવામા આવે તો જ સમજાવી શકાય ।

તે કાઢમા સંસ્કૃતમાપાના કેન્દ્ર ગણાતા ધારાનગરી, કાઢ્ઢીરદેશ અને કાઢ્ઢીપુરી વિગેરેના ઉત્કટ વિદ્વાનોની વિદ્વત્તાની હરિપાઈમા સર્વથા અગ્રેસર થઈ શકે એવા વિવિધ વિષયના સર્વાંગ સુન્દર સાહિત્યનું સર્જન કરીને આ મહાપુરુષે પોતાના કલિકાલસર્વજ્ઞ-વિરુદ્ધને ચરિતાર્થ કરેલું છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞનું નામ શ્રવણ થતા અગર તેજોશ્રીની કૃતિપર નજર પઢતા આઠસો ઉપરાત વર્ષો પહેલાના બનાવને આજે પણ જીવન્તપ્રસંગ જેવો જોઈ શકીએ છીએ અને જાણી શકીએ છીએ એ આપણું મહદ્વાગ્ય છે ।

ત્રિકાઢ વન્દન છે એ સાહિત્યાવતારને !, ત્રિકાઢ નમસ્કાર છે એ શબ્દાવતારને !!, ડરના અન્નન્ત અમિન્નન્દન છે એ શ્રીકલિકાલસર્વજ્ઞને !!!, કે જેજોશ્રીના સ્વર્ગગમન વાદ-તેજોશ્રીનો યશોદેહ યદપિ અમર હોવા છતાં પણ-વૈદુષ્ય સર્વથા આશ્રય રહિત-નિરાધાર થઈ ગયાનું કવિઓ એ કાવ્યઢ્ઢારા જણાવેલું છે, તે યથોચિત છે એમ કહેવું એ અસ્થાને નથી ।

**\* પરમ્પરાએ પ્રાસ થયેલ પુનીત સંસ્કૃતિ-ચારસો ।**

પૂર્વ-જન્મના પુનીત સ્કારો લઈને જન્મેલા કલિકાલસર્વજ્ઞને સાહિત્યસર્જનમા લખવા-લખાવવામા અને અપનાવવામાં

जन्मप्रदेश-कार्यप्रदेश अने प्रचारप्रदेश ए त्रण-स्थानो एकलां ज कार्यसाधक नथी, पण परम्पराए उतरी आवेली सस्कृति अने तत्कालीन सयोगो पण छे, ए जणाववाने माटे आ प्रकरणमा परम्परानो वारसो अने सयोगो कह रीते मददगार बने छे ते विचारखु जरूरीनु छे । भापानी उत्पत्ति, वपराश अने विकास, लेखनकाळ अने लिपिवद्धग्रन्थो, प्रान्तीयभाषा, ज्ञातिवारभाषा, बोलाता प्रयोगो अने लखाता प्रयोगोनो सम्पूर्ण विचार करवामा आवे तो आ वधा ऐतिहासिक तत्त्वो जरूर पूरा पाडे छे ।

वि० सं० १३४ थी ४५४ सुधीना काळमा गुजरात अने सौराष्ट्र-पर क्षत्रपोनु शासन हतु । क्षत्रप-रुद्रदामा नामनो राजा शङ्करपन्थनो अनुयायी हरो एवी कल्पना राजाना नामना लीधे थाय छे । रुद्रदामानो शिलालेख निहाळता ते काळमा सस्कृत-भाषानु साम्राज्य अत्यन्त उन्नत हरो एम जणाय छे । गुजरात अने सौराष्ट्रमा ते समयमा बौद्धगुरुओए अने जैनाचार्योए पोत-पोताना सिद्धान्तो, अनुष्ठानो, अने आचार-विचारोथी तत्कालीन-प्रजाना मानसने रगी दीधा हता ।

धर्मसत्ताधीशो धर्मसत्ताना जोरे अने राज्यसत्ताधीशो राज्यसत्ताना पाया उडा अने अचळ रही शके एवा कायदा-कानु-नोना जोरे प्रजावर्गो उपर बाह्य-अभ्यन्तर-शासन चलावे ए निर्विवाद वात छे । आ बन्ने प्रकारना शासनथी प्रजाना प्राणमूत जीवन सस्कारवाळा बने छे, ते बन्नेमा जे सिद्धान्तोनो परिणाम दीर्घकालीन फळदायक देखाय ते तरफ प्रजाना जीवन वेगीला बने ते स्वाभाविक छे । एटलुज नहि पण धार्मिक विचार-वाणी-वर्तनरूप त्रिवेणिसगममा प्रजा पूर्ण प्रेमथी झीलया करेछे ।

व्याकरण वगैरे शास्त्रोनो सर्जन अने विज्ञान जगतना सर्वदेशो करता आ भारतवर्षमा प्राचीन काळथी ज फुल्यु-फाल्यु जणाय छे, तेथी ज आ देशमा विपुलसंख्यामा मळी आवता वैयाकरणो, सेंकडोनी सख्यामा मळी आवता ग्रन्थ-टीकाकारो अने हजारोनी सख्यामा मळी आवता साहित्यसर्जनकारोथी आ भारतवर्ष जाणे उभरातो न होय एम जणातु हतु ।

कल्पनाधीश-कविकालीदास वगैरे कवियोए आ आर्यावर्तनी सस्कृति उच्च कक्षाए पहुँचेली हती एम अनेक स्थळे जणावेल्ले छे । पश्चिम आर्यावर्तनी राजधानी उज्जयिनी हती । उज्जयिनी नगरीमा उभराता सस्कृतिना प्रतिबिम्बो, समृद्धिना स्थानो, बुद्धिना निधानो अने कल्पनाना सागरोनी कमनीय मूर्त्तिओ ठाम ठाम नजरे पडती हती । सर्वांगसुन्दरताने धारण करनारी ते नगरीनु अवलोकन करनार हरकोई परदेशवासीने ईर्ष्या उत्पन्न थया विना न रहे एवु तेनु बाह्य अने आभ्यन्तर स्वरूप हतु ।

विना सङ्कोचे कहेवु पडे छे के उज्जयिनी नगरी पोताना सर्वोत्तम सौरभथी समस्त गुजरात देशनु आकर्षण करी रही हती, ते आकर्षण करवामा सस्कृतिनी अस्खलितधारार्थी भरपूर एवी धारानगरी पण तेनी अद्वितीय सहायिका हती एम कक्षा विना पण चाले तेम नथी । अथवा सक्षेपमा कहिए तो गुजरातनी सस्कृति उपर आखा मालवदेशनी सस्कृतिनी जे असर थयेली छे ते परम्पराए तपासवामा आवे तो छट्टी-शताब्दिनी शरूआतथी चौलुक्योनो शासन पर्यन्त असर थती रही छे एम जणाया विना रहेरो नहि ।

श्रीमहावीरप्रभुए प्ररूपेला जैनागमोने तथा पूर्वधरोए रचेल शास्त्रोने पूर्वकाळना जैनाचार्यो आदि श्रमणसङ्घ कण्ठस्थ करीनेज धारी राखतो हतो, परन्तु काळक्रमे यादशक्तिनी मन्दता थवार्थी (हवे जो सघळा शास्त्रोने कण्ठस्थ ज राखवामा आवरो तो शास्त्रो विच्छेद थवा माडरो एवु जणायाथी) जैनशासनना-स्तभसमान-महोपकारी पूज्य श्रीदेवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमणना नेतृत्व नीचे श्रमण मगवन्तोए जैनसिद्धान्तोने लगभग वि० सं० ५१० मा पुस्तकारूढ कर्यो । सकळ-जैनशास्त्रोने पुस्तकारूढ करार माटे वल्लभीपुर (हालना भावनगरस्टेटमा आवेल वळा नामना गाम) मा स्वविरोनो समुदाय भेगो थयो हतो । वाढना अखाडामा अद्वितीय-मल्ल तरीके जैनशासनमा जेनी प्रसिद्धि छे ते श्रीमल्लवादीए पण पोतानी शासनसेवाद्वारा वल्लभीपुरने उन्नत वनाव्यु हतु । अनुक्रमे वि० सं० आठमा सैकानी आसपास वल्लभीनु पतन थयु, त्यारे वल्लभीनो-वल्लभीमा रहेला मोभा-दार व्यक्तियोनो अने बहुमूल्य पदार्थोनो मुख्य मुख्य वारसो अणहिलपुरपाटण जइ पहुँच्यो अर्थात् तेने मळ्यो ।

मिह्र अने माल नामनी जगली प्रजाओनी बहुलताने लहने जे नगरनु नाम मिह्रमाल हतु, अथवा काळान्तरे मिह्र-माल थयेल्ले छे, ते नगरनु श्रीमाल एवु त्रीजु नाम पण प्रख्यात छे । ए मिह्रमालनगरमा थइ गयेला राजाओ प्राय गुर्जरो हता, श्रीशिशुपालवध-नामना महाकाव्यना रचयिता पण्डित माघकविनो जन्म, तथा श्रीउपमितिमवप्रपाकथाना रचयिता श्रीसिद्धर्षिगणिनो जन्म आ नगरमा थयो हतो । ए वन्ने साहित्यकारोए उपर जणावेली ग्रन्थरचना पण आज नगरमा करी

१—परदु रामजन, विक्रमचवत्सरप्रवर्तक, सिद्धसेन दिवाकरसूरि-प्रतिबुद्ध-वीर-विक्रमादित्य मालववदशनो महाराजा हतो । अने तेना शासनमा जैनधर्मनी अपूर्व जाहोजलाली हती । तेणे श्रीसिद्धगिरिनी यात्रार्थ छहरी पाळतो चतुर्विध श्रीसघ काव्यो हतो, तेनी राजधानी उज्जयिनीमाथी श्रीसघे प्रयाण कर्यु त्यारे ते सघमा पाच हजार जैनाचार्यो हता, तेओनो पाचसो गुणो शिष्यपरिवार हतो, शिष्यपरिवारथी प्रणुष्णी साप्तीओ हती अने लाखो श्रावकोना कुटुंबो हता । ए वगैरे श्रीचवना सम्पूर्ण-विस्तारनी हकीकत पर्युपपपचमाहात्म्यादि अनेक ग्रन्थोमा वर्णवेली छे, ते उपरथी राजा विक्रमादित्यनी तथा उज्जयिनीनी महत्त्वतानु अनुमान करी सकाय छे । २—उओ कल्पसूत्र-भाषान्तर महावीरना निर्वाण पठी ९८० वर्षे अने पाठ-भेदे ९९३ वर्षे वल्लभीपुरमा वाचना थई, एटले वी० ति० ९८० ना पाठभेदे वि० सं० ५१० गणवो, अने वी० ति० ९९३ ना पाठभेदे वि० सं० ५२३ गणवो । ३—सि० हे० शं० सूत्र ॥२१२१३॥ अनु महावादिन तार्किका । ८—वि० सं० ९६२ मा रचना थद होय एवी सम्भावना छ ।

हती । चौदसोने चुम्मालीस ग्रन्थना प्रणेता-भगवान्-हरिभद्रसूरीश्वरजीना पवित्र-चरण-कमळयी ए नगरनी भूमि घणी वार पवित्र थइ हती, ते सूरीश्वरजीनी अमोघ देशनारूप सुधावृष्टियी ओसवाल, पोरवाड (प्राग्वाद्), अने श्रीमाल ए त्रणे ज्ञातिना वणिको पण धर्मारानधना ओतप्रोत-लयलीन थइ गया हता एवा ऐतिहासिक कथन दृष्टिगोचर थाय छे ।

ते वखते ए नगरमा बौद्ध वगैरे वीजा धर्मोनी पण आछो प्रचार हतो । विद्याना धाम, समृद्धिओना ठाम तथा साहित्य-धर्मशास्त्र-संगोळशास्त्र अने विज्ञानशास्त्रना अध्ययन-अध्यापन अने परिशीलन माटेना अद्वितीयस्थान-समा ते श्रीमालनगरनी जाहोजलालीनो मध्याह्काळ ऐतिहासिकदृष्टिए अमीयारमी शताब्दिसुधी संपूर्ण हतो, त्यार पछी पतनना वायरा शरु थया । मित्रमालना पतन पछी साहसिकता-शौर्य-बुद्धिवैभव-प्रतिभा-गौरव-प्रताप अने मनोहरताना अद्वितीय प्रतिबिम्बरूप गुजरातने ओसवाल, पोरवाड अने श्रीमालज्ञातिना श्रीमानोए अने धीमानोए दीपाव्युं तथा अपनाव्यु छे । त्यार पछी गुजरातदेश पण खूव फाल्यो-फुल्यो अर्थात् तेणे बाख्यावस्था छोडीने युवानीना भरयौवनरूप-जाहोजलालीमा प्रवेश कर्यो ।

वि० स० ८०२ नी आसपास अणहिलपुरपाटणनी स्थापना वनराज चावडाने हाथे थइ । चावडा-वशना ऐतिहासिक उल्लेखो हुटो-छवाया जूज-जाज नजरे पडे छे । चावडावशनी अस्त-थवानी तैयारीमा सोलकीवशने आद्यपुरुष-महत्त्वाकाक्षी अने महापराक्रमी मूलराज नामनो अणहिलपुरपाटणनो राजा थयो । चावडा-वशना छेछा राजा सामन्तसिंहनी वेन लीलावतीए आ मूलराज नामना सोलकीवशना आधराजाने जन्म आप्यो हतो ।

राज्यप्राप्तिनी शरुआतमा मूलराजनीपासे अल्प प्रदेश हतो, परन्तु मालवदेशना उभराता साहित्य-स्थापत्य-संस्कारित-अङ्गोपाङ्ग अने समृद्धिओ देखीने पोताना प्रदेशने साम्राज्यनी कक्षामा मूकवाना कोड थया । केवळ ईर्ष्यायी सम्राट् थवातुं नथी पण दरेक कार्यमा स्पर्धानो वेग वधारवो जोइए । ईर्ष्याने दूर करी स्पर्धामा उत्तरवानो निश्चय करीने जगतभरना मानव-हृदयने जीतवानो प्रयत्न करवा माळ्यो, परन्तु साधनोनी ओछाश अने जीवनमा जे गुणो खीलवा जोइये ते नहि खीलवा होवथी माळवाना राजा सुंजनी बराबरी तेनाथी थइ शकी नहि । गुर्जेश्वरोने मालवेश्वरो साथेनी तीव्रतम स्पर्धाना श्रीगणेशनी स्थापना खरु कहीये तो मूलराजने हाथे ज थइ । माग्या करता सवाया दान देवा, सदाचार-नीति-न्यायने व्यवहार वनाववा, भीमगुण वडे दुर्जनोने दवाववा अने डराववा, मायाळताथी सज्जनोने सन्तोषवा अने पारितोषिकादिना दानपूर्वक विद्वानोनु बहुमान करवु इत्यादि अनेक रीतिए प्रतिपक्षिओनी प्रतिस्पर्धानो सामनो करी गुजरात देशने गौरववन्तो वनावी साम्राज्यनी कक्षामा मूकवारूप प्रासादनो पायो मूलराजना पुनीत हस्ते नखायो, अथवा गुजरातनी गौरवभरी संस्कृतिनो सूर्योदय मूलराजना समयमां शरु थयो, पोताना तेजस्वी किरणोथी दशे दिशामा व्यापक बनेला ते संस्कृतिरूप-सूर्यनो सिद्धराजना समयमां मध्याह्काळ थयो ।

सिद्धराजना हृदयमा माळवा वगैरे अनेक देशोने जीतवानी अने गुजरातने सर्वांगसुन्दर साम्राज्य वनाववानी अभिलाषा तो वशपरम्पराना वारसामा ज मळेली हती ।

धाराधिपति मुज अने भोज विद्याविलासी अने विद्वान् हता, तेथी सिद्धराजने पण गुजरातने विद्यानु धाम वनाववानी अभिलाषा नवपल्लवित थइ । एटलज नहिं पण दिन प्रतिदिन वधवा लागी ।

वल्लभीपुर अने मित्रमालना पतननी वात पूर्वे जणावी दीधी छे, छता पण ते वन्ने नगरोमानी विविध प्रकारनी समृद्धि-ओनो आ नगरमा साक्षात्कार थतो होवथी ते वन्ने नगरोए पोताना विनाशने अते ऐक्य साधीने जाणे अणहिलपुरपाटणरूपे नवो जन्म धारण न कर्यो होय एवी कल्पना ते काळना विद्वानोना हृदयमा वारंवार उत्पन्न थती हती ।

सोलकीओना समयमा गुजरातनी संस्कृति उपर जैनाचार्योनी अने जैनधर्मनी जवरदस्त असर पडी हती, कारण के ते समयमा गुजरातनी राजधानीमा घणा समर्थ-जैनाचार्योनु आवागमन अने स्थिरता थवाथी तेओना आचार-विचार अने तात्त्विक उपदेशनी असर पड्या विना न ज रहे ए स्वाभाविक छे ।

मूलराजना समयमा जैनधर्मनो प्रचार गुजरात करता मरुभूमिमा विशेष हतो, त्यार पछी दुर्लभराजना समयमा श्रीहरि-भद्रसूरिविरचित-अष्टक प्रकरणनी वृत्तिना कर्ता श्रीजिनेश्वरसूरि अने बुद्धिसागरनामक व्याकरणना कर्ता श्रीबुद्धिसागरसूरिनुं पाटण शहरमा आवा गमन थयु । घणा प्रतिकूल संयोगोने सामनो करीने पण ते वन्ने सूरीश्वरोए त्या स्थिरता करीने पोताना

१-सोलकीवशना इतिहास माटे जुबो-शास्त्रिदुर्गा० गू० स० स० ६० । २-गुर्जेश्वरोमानी सोलकीओनो राज्यकाळ मूलराजथी शरु थइ कुमारपाळ सुधीनो वि० स० १०१० थी १२२९ नो हतो । १-मूलराजनो वर्ष ३५ । २-चासुडनो वर्ष ११ । ३-वल्लभराजनो वर्ष ०॥, ४-दुर्लभराजनो वर्ष १२ । ५-भीमदेवनो वर्ष ४२ । ६-कर्णदेवनो वर्ष ३० । ७-सिद्धराजनो वर्ष ४९ । अने ८-कुमारपाळनो वर्ष ३१ लगभग समयमा नखाया, इमारतोना चणतरीनी शरुआत सिद्धराजना समयमा थइ अने कुमारपाळना समयमा समाप्ति थइ एम कहेवामा आवे तो तेमा लेख पण खोडु नथी तेम अतिशयोक्ति पण नथी । ३-जुबो-राजपुतानानो मध्यकालीन इतिहास भाग-१ छी तथा मो० ६० देसाइकृत जैन सा० इतिहास भाग २ जो ।

जन्मप्रदेश-कार्यप्रदेश अने प्रचारप्रदेश ए त्रण-स्थानो एकला ज कार्यसाधक नथी, पण परम्पराए उतरी आवेली सस्कृति अने तत्कालीन सयोगो पण छे, ए जणाववाने माटे आ प्रकरणमा परम्परानो वारसो अने सयोगो कइ रीते मददगार बने छे ते विचारवु जरूरीनु छे । भापानी उत्पत्ति, वपराश अने विकास, लेखनकाळ अने लिपिवद्दग्रन्थो, प्रान्तीयभाषा, जातिवारभाषा, बोलाता प्रयोगो अने लखाता प्रयोगोनो सम्पूर्ण विचार करवामा आवे तो आ वधा ऐतिहासिक तत्त्वो जरूर पूरा पाडे छे ।

वि० स० १३४ थी ४५४ सुधीना काळमा गुजरात अने सौराष्ट्र-पर क्षेत्रपोनु शासन हतु । क्षत्रप-रुद्रदामा नामनो राजा शङ्करपन्थनो अनुयायी हशे एवी कल्पना राजाना नामना लीधे थाय छे । रुद्रदामानो शिलालेख निहाळता ते काळमा सस्कृत-भाषानु साम्राज्य अत्यन्त उन्नत हशे एम जणाय छे । गुजरात अने सौराष्ट्रमा ते समयमा बौद्धगुरुओए अने जैनाचार्योए पोत-पोताना सिद्धान्तो, अनुष्ठानो, अने आचार-विचारोयी तत्कालीन-प्रजाना मानसने रगी दीधा हता ।

धर्मसत्ताधीशो धर्मसत्ताना जोरे अने राज्यसत्ताधीशो राज्यसत्ताना पाया उडा अने अचळ रही शके एवा कायदा-कानु-नोना जोरे प्रजावर्ग उपर बाह्य-अभ्यन्तर-शासन चलावे ए निर्विवाद बात छे । आ वन्ने प्रकारना शासनथी प्रजाना प्राणमृत जीवन सस्कारवाळा बने छे, ते वन्नेमा जे सिद्धान्तोनु परिणाम दीर्घकालीन फळदायक देखाय ते तरफ प्रजाना जीवन वेगील बने ते स्वाभाविक छे । एटलुज नहि पण धार्मिक विचार-वाणी-वर्तनरूप त्रिवेणिसगममा प्रजा पूर्ण प्रेमथी झीलया करेछे ।

व्याकरण वगैरे शास्त्रोनु सर्जन अने विज्ञान जगतना सर्वदेशो करता आ भारतवर्षमा प्राचीन काळथी ज फुल्यु-फाल्यु जणाय छे, तेथी ज आ देशमा विपुलसख्यामा मळी आवता वैयाकरणो, सेकडोनी सख्यामा मळी आवता ग्रन्थ-टीकाकारो अने हज्जारोनी सख्यामा मळी आवता साहित्यसर्जनकारोथी आ भारतवर्ष जाणे उभरातो न होय एम जणातु हतु ।

कल्पनाधीश-कविकालीदास वगैरे कविओए आ आर्यावर्तनी सस्कृति उच्च-कक्षाए पहुँचेली हती एम अनेक स्थळे जणावेछु छे । पश्चिम आर्यावर्तनी राजधानी उज्जयिनी हती । उज्जयिनी नगरीमा उभराता सस्कृतिना प्रतिविम्बो, समृद्धिना स्थानो, बुद्धिना निधानो अने कल्पनाना सागरोनी कमनीय मूर्त्तिओ ठाम ठाम नजरे पडती हती । सर्वांगसुन्दरताने धारण करनारी ते नगरीनु अवलोकन करनार हरकोई परदेशवासीने ईर्ष्या उत्पन्न थया विना न रहे एवु तेनु बाह्य अने आभ्यन्तर स्वरूप हतु ।

विना सङ्कोचे कहेवु पडे छे के उज्जयिनी नगरी पोताना सर्वोत्तम सौरभथी समस्त गुजरात देशनु आकर्षण करी रही हती, ते आकर्षण करवामा सस्कृतिनी अस्खलितधारार्थी भरपूर एवी धारानगरी पण तेनी अद्वितीय सहायिका हती एम कक्षा विना पण चाले तेम नथी । अथवा सक्षेपमा कहिए तो गुजरातनी संस्कृति उपर आखा मालवदेशनी सस्कृतिनी जे असर थयेली छे ते परम्पराए तपासवामा आवे तो छट्टी-शताब्दिनी शुरुवातथी चौलुक्योनो शासन पर्यन्त असर थती रही छे एम जणाया विना रहेशे नहि ।

श्रीमहावीरप्रभुए प्ररूपेला जैनागमोने तथा पूर्वघरोए रचेला शास्त्रोने पूर्वकाळना जैनाचार्यो आदि श्रमणसङ्घ कण्ठस्थ करीनेज धारी राखतो हतो, परन्तु काळक्रमे यादशक्तिनी मन्दता थवाथी (हवे जो सघळा शास्त्रोने कण्ठस्थ ज राखवामा आवशे तो शास्त्रो विच्छेद थवा माडशे एवु जणायाथी) जैनशासनना-स्तम्भसमान-महोपकारी पूज्य श्रीदेवार्द्धिगणि-क्षमाश्रमणना नेतृत्व नीचे श्रमण भगवन्तोए जैनसिद्धान्तोने लगभग वि० स० ५१० मा पुस्तकारूढ कर्या । सकळ-जैनशास्त्रोने पुस्तकारूढ करवा माटे वल्लभीपुर ( हालना भावनगरस्टेटमा आवेला वळा नामना गाम ) मा स्थविरोनो समुदाय भेगो थयो हतो । वादना अखाडामा अद्वितीय-महल तरीके जैनशासनमा जेनी प्रसिद्धि छे ते श्रीमहल्लादीए पण पोतानी शासनसेवाद्वारा वल्लभीपुरने उन्नत बनाव्यु हतु । अनुक्रमे वि० स० आठमा सैकानी आसपास वल्लभीनु पतन थयु, त्यारे वल्लभीनो-वल्लभीमा रहेला मोमा-दार व्यक्तियोनो अने बहुमूल्य पदार्थोनो मुख्य मुख्य वारसो अणहिलपुरपाटण जइ पहुँच्यो अर्थात् तेने मळ्यो ।

मिह्ल अने माल नामनी जगली प्रजाओनी बहुल्लताने लहने जे नगरनु नाम मिह्लमाल हतु, अथवा काळान्तरे भिन्न-माल थयेछु छे, ते नगरनु श्रीमाल एवु त्रीजु नाम पण प्रख्यात छे । ए भिन्नमालनगरमा थइ गयेला राजाओ प्राय. गुर्जरो हता, श्रीशिशुपालवध-नामना महाकाव्यना रचयिता पण्डित माघकविनो जन्म, तथा श्रीउपमितिभवप्रपचारकथाना रचयिता श्रीसिद्धार्द्धिगणिनो जन्म आ नगरमा थयो हतो । ए वन्ने साहित्यकारोए उपर जणावेली ग्रन्थरचना पण आज नगरमा करी

१—परदु खभजन, विक्रमसवत्सरप्रवर्तक, सिद्धसेन दिवाकरसूरि-प्रतिबुद्ध-वीर-विक्रमादित्य मालवदेशनो महाराजा हतो । अने तेना शासनमा जैनधर्मनी अपूर्व जाहोजलाली हती । तेणे श्रीसिद्धगिरिनी यात्रार्थे छहरी पाळतो चतुर्विध श्रीसघ काळो हतो, तेनी राजधानी उज्जयिनीमाथी श्रीसघे प्रयाण करुं त्यारे ते सघमा पाच हजार जैनाचार्यो हता, तेओनो पांचसो गुणो शिष्यपरिवार हतो, शिष्यपरिवारथी त्रणगुणी साध्वीओ हती अने लाखो श्रावकोना कुटुंबो हता । ए वगैरे श्रीसंघना सम्पूर्ण-विस्तारनी हकीकत पुरुषपर्वमाहात्म्यादि अनेक ग्रन्थोमा बर्णवेली छे, ते उपरथी राजा विक्रमादित्यनी तथा उज्जयिनीनी महत्त्वतानु अनुमान करी शक्य छे । २ जुओ कल्पसूत्र-भगवान महावीरना निर्वाण पछी ९८० वर्षे अने पाठ-भेदे ९९३ वर्षे वल्लभीपुरमा वाचना थइ, एटले वी० ति० ९८० ना पाठभेदे वि० स० ५१० गणवो, अने वी० ति० ९९३ ना पाठभेदे वि० स० ५२३ गणवो । ३—सि० हे० श० सूत्र ॥२।२।३९॥ अनु महल्लादिन तार्किका । ४—वि० सं० ९६२ मां रचना थइ होय एवी सम्भावना छे ।



हती । चौदसोने चुम्नालीस ग्रन्थना प्रणेता-भगवान्-हरिभद्रसूरीश्वरजीना पवित्र-चरण-कमळयी ए नगरनी भूमि घणी वार पवित्र थइ हती, ते सूरीश्वरजीनी अमोघ देशनारूप सुधाघृष्टियी ओसवाल, पोरवाड (प्राग्वाड), अने श्रीमाल ए त्रणे जातिना वणिको पण धर्मारधनमा ओतप्रोत-लयलीन थइ गथा हता एवा ऐतिहासिक कथन दृष्टिगोचर थाय छे ।

ते वलते ए नगरमा बौद्ध, वगैरे बीजा धर्मोनी पण आछो प्रचार हतो । विद्याना याम, समृद्धिओना ठाम तथा साहित्य-धर्मशास्त्र-खगोलशास्त्र अने विज्ञानशास्त्रना अध्ययन-अध्यापन अने परिशीलन माटेना अद्वितीयस्थान-समा ते श्रीमालनगरनी जाहोजलालीनो मध्याह्काळ ऐतिहासिकदृष्टि ए अगीयारमी शताब्दिसुधी सपूर्ण हतो, त्यार पठी पतनना वायरा गरु यया । मित्रमालना पतन पठी साहसिकता-शौर्य-बुद्धिवैभव-प्रतिभा-गौरव-प्रताप अने मनोहरताना अद्वितीय प्रतिविम्बरूप गुजरातने ओसवाल, पोरवाड अने श्रीमालजातिना श्रीमानोए अने वीमानोए दीपाव्यु तथा अपनाव्यु छे । त्यार पठी गुजरातदेश पण खूब फाल्यो-फुल्यो अर्थात् तेणे वाल्यावस्था छोडीने युवानीना भरयौवनरूप-जाहोजलालीमा प्रवेश कर्यो ।

वि० स० ८०२ नी आसपास अणहिलपुरपाटणनी स्थापना वनराज चावडाने हाये थइ । चावडा-वशना ऐतिहासिक उल्लेखो छुट्टा-छवाया जूज-जाज नजरे पडे छे । चावडावशनी अस्त-थवानी तैयारीमा सोलकीवशनी आधुरुरुप-महन्नाकाकी अने महापराक्रमी मूलराज नामनो अणहिलपुरपाटणनो राजा थयो । चावडा-वशना छेळा राजा सामन्तसिंहनी वेन लीलावतीए आ मूलराज नामना सोलकीवशना आधराजाने जन्म आप्यो हतो ।

राज्यप्राप्तिनी शरुआतमा मूलराजनीपासे अल्प प्रदेश हतो, परन्तु मालवदेशना उभराता साहित्य-स्थापत्य-संस्कारित-अङ्गोपाङ्ग अने समृद्धिओ देखीने पोताना प्रदेशने साम्राज्यनी कक्षामा मूकवाना कोड थया । केवल ईर्ष्यायी सम्राट् थवानु नथी पण दरेक कार्यमा स्पर्धाने वेग वधारवो जोइए । ईर्ष्याने दूर करी स्पर्धामा उतरवानो निश्चय करीने जगतभरना मानव-हृदयने जीतवानो प्रयत्न करवा माळ्यो, परन्तु साधनोनी ओछाश अने जीवनमा जे गुणो खीलवा जोइये ते नहि खील्ले होवाथी माळवाना राजा मुजनी बरावरी तेनाथी थइ शकी नहि । गुर्जरेधरोने मालवेशरो साथेनी तीव्रतम स्पर्धाना श्रीगणेशनी स्थापना खरु कहीये तो मूलराजने हाये ज थइ । माया करता सवाया दान देवा, सदाचार-नीति-न्यायने व्यवहार बनाववा, भीमगुण वडे दुर्जनोने दवाववा अने डराववा, मायाळतायी सज्जनोने सन्तोषवा अने पारितोषिकादिना दानपूर्वक विद्वानोनुं बहुमान करबु इत्यादि अनेक रीतिए प्रतिपक्षिओनी प्रतिस्पर्धानो सामनो करी गुजरात देशने गौरवन्तो वनावी साम्राज्यनी कक्षामा मूकवारूप प्रासादनो पायो मूलराजना पुनीत हस्ते नखायो, अथवा गुजरातनी गौरवभरी सस्कृतिनो सूर्योदय मूलराजना समयमा शरु थयो, पोताना तेजस्वी किरणोथी दशे दिशामा व्यापक बनेला ते सस्कृतिरूप-सूर्यनो सिद्धराजना समयमा मध्याह्काळ थयो ।

सिद्धराजना हृदयमा माळवा वगैरे अनेक देशोने जीतवानी अने गुजरातने सर्वांगसुन्दर साम्राज्य वनाववानी अभिलाषा तो वंशपरम्पराना वारसामा ज मळेळी हती ।

धाराधिपति मुज अने भोज विद्याविलासी अने विद्वान् हता, तेथी सिद्धराजने पण गुजरातने विद्यानु धाम वनाववानी अभिलाषा नवपल्लवित थइ । एटलुज नहिं पण दिन प्रतिदिन वधवा लागी ।

वल्लभीपुर अने मित्रमालना पतननी बात पूर्वे जणावी दीधी छे, छता पण ते बन्ने नगरोमानी विविध प्रकारनी समृद्धि-ओनो आ नगरमा साक्षात्कार थतो होवाथी ते बन्ने नगरोए पोताना विनाशने अते ऐक्य साधीने जाणे अणहिलपुरपाटणरूपे नवो जन्म धारण न कर्यो होय एवी कल्पना ते काळना विद्वानोना हृदयमा वारवार उत्पन्न थती हती ।

सोलकीओना समयमा गुजरातनी सस्कृति उपर जैनाचार्योनी अने जैनधर्मनी जवरदस्त असर पडी हती, कारण के ते समयमा गुजरातनी राजधानीमा घणा समर्थ-जैनाचार्योनुं आवागमन अने स्थिरता थवाथी तेओना आचार-विचार अने तात्त्विक उपदेशनी असर पळ्या विना न ज रहे ए स्वामाविक छे ।

मूलराजना समयमा जैनधर्मनो प्रचार गुजरात करता मरुभूमिमा विशेष हतो, त्यार पछी दुर्लभराजना समयमा श्रीहरि-भद्रसूरीविरचित-अष्टक प्रकरणनी वृत्तिना कर्ता श्रीजिनेश्वरसूरी अने बुद्धिसागरनामक व्याकरणना कर्ता श्रीबुद्धिसागरसूरीनुं पाटण शहरमा आवा गमन थयु । घणा प्रतिकूल संयोगोनो सामनो करीने पण ते बन्ने सूरीश्वरोए त्या स्थिरता करीने पोताना

१-सोलकीवशना इतिहास माटे सुधो-शाब्दिकदुर्गा० गू० म० स० ३० । २-गुर्जरेश्वरोमानी सोलकीओनो राज्यकाळ मूलराजथी शरु थइ कुमारपाळ सुधीनो वि० सं० ३०१७ थी १२२९ नो हतो । १-मूलराजनो वर्ष ३५ । २-चासुडनो वर्ष ११ । ३-वल्लभराजनो वर्ष ०॥, ४-दुर्लभराजनो वर्ष १२ । ५-सीमदेवनो वर्ष ४२ । ६-कर्णदेवनो वर्ष ३० । ७-सिद्धराजनो वर्ष ४९ । अने ८-कुमारपाळनो वर्ष ३१ लगभग सुधीनो हतो, ए रीते सोलकीओनो उपर जणाव्या मुजवनो राज्य अमल तो वसो वर्ष उपरंत चाळ रखो । परन्तु सस्कृतिना सुन्दर पाया भीमदेवना समयमा नखाया, इमारतोना वणतनी शरुआत सिद्धराजना समयमा थइ अने कुमारपाळना समयमा समाप्त थइ एम कहेवामा आवे तो तेमा लेश पण खोड नथी तेम अतिशयोक्ति पण नथी । ३-सुओ-राजपुतानानो मध्यकालीन इतिहास भाग-१ छी तथा मो० ६० देसाहकृत जैन सा० इतिहास भाग २ जो ।

प्रभावथी जैनधर्मेनुं महत्त्व वधार्यु । वि०स०१०८० मा बुद्धिसागरसूरिए ८००० श्लोक प्रमाण बुद्धिसागर व्याकरणनी, जिनेश्वरसूरिए प्रमा-लक्षण-नामक-न्यायशास्त्रनी अने तेमना शिष्य-नवाङ्गीवृत्तिकार-अभयदेवसूरिए सन्मति-तर्कनी वृत्तिनी रचना करी, आ त्रणे रचनाओ भीमदेवना समयमा रचायली छे । भीमदेवना दरवारमां कवीन्द्र-चादिचक्रवर्ति श्रीशान्तिसूरिनुं घणुं गौरव हतु । सरस्वती-विरुद्धधारी धनपाल कविए वनावेली तिलकमञ्जरीनु सशोधन मुंजराजाए श्रीशान्तिसूरीश्वरजी पासे कराव्यु हतु । भीमदेवना वे मामाओमांथी एक द्रोणाचार्य तरीके अने वीजा सुराचार्य तरीके प्रसिद्ध हता । ते वने आचार्योनी विद्वत्ताए भोजराजाने अति मुझवणमा नाखी दीधो हतो ।

भीमदेवना समयमा एक तो सर्वाङ्गि-साहित्य प्रवृत्तिनो वेग एटलो वधो वधवा लाग्यो के गुजरातनी सस्कृतिनी सौरम वशे दिशामा व्यापक बनवा लागी । भीमदेवे पोताना राज्यप्रदेशनी समीपना प्रदेशोने जीति जीतिने पोताना राज्यनी सीमाने वधारवा माडी, एम करता करता माळवाना भोजराजा उपर पण तेणे अनेकवार चढाइ करी । तेमा जो के तेने (भीमराजने) फावट न आवी, परन्तु माळवा उपर विजय मेळववा माटेना सिद्धराजना मार्गमा नडनारा केटलाएक कटकनो विनाश करी आपवानो-अर्थात् मार्गने निष्कटक करी आपवानो सघळो यश भीमराजने प्राप्त थयो ।

चारमी सदीना सुवर्ण युगमा थयेला पुण्यपुरूपोए गुजरातना गौरवमा खूब वधारो कर्यो छे, तथा गुजरातना इतिहासमा घणा महत्त्वना प्रकरणोनो उमेरो कर्यो छे, अने कराव्यो छे ।

पूर्वापरना इतिहासनुं अवलोकन करीए तो सिद्धराज अने कुमारपाळना समयनी जाहोजलालीरूप जगमशहर इमारतोनो पायो नाखनार तो भीमदेव ज हतो । भीमदेवना समयथी आरम्भीने सिद्धराजना शरुवातना समय पर्यन्त माळवा अने गुजरातना परस्पर सघर्षणो ओछा वत्ता प्रमाणमा चाल्याज करता हता । वि० स० ११५० मा सिद्धराजना पिता कर्णनु अवसान थयु हतु । कर्णना समयमा प्रमाणनयतत्त्व-लोकालङ्कारना रचयिता-चादि-देवसूरीश्वरजीनी अने नवाङ्गीवृत्तिकार-श्रीअभयदेवसूरी-श्वरजीनी घणीज प्रसिद्धि माळवा अने गुर्जरदेशमा खुणे खुणे प्रसरी रही हती ।

ज्यारे सिद्धराजनी राज्यारोहणक्रिया थइ त्यारे तेनी उम्मर आठ वर्षनी हती, पूर्वे जणाव्या प्रमाणे गुर्जेश्वर-सिद्धराज ज्यारे आठ वर्षना हता त्यारे एनाथी वे वर्ष नाना अने कुमारपाळथी चार वर्ष मोटा श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी हता ।

उम्मरनी अपेक्षाए सिद्धराज अने कुमारपाळ ए वने राजाओनी मध्यमा शोभता उम्मरमां-देखावमां नाना पण बुद्धिवैभवमा मोटा जणाता आ सूरिवर पोतानी कार्यदक्षताथी संस्कृति अने साहित्यना सिंहासनोनी रचना करे छे । अने उम्मरनी अपेक्षाए कंडक मोटा कंडक नाना पोतानी वने वाजुए रहेला संस्कारी नरेश्वरो पोताना तन-मन-धन समर्पण करीने ते सिंहासनोना दर्शननी झंखना-करनारा-जगतना मनुष्योने संस्कृति अने साहित्यद्वाराए आकर्षे छे । गुणवन्ती-गरवी-गुजरातनी स्थावर-जंगम सम्पत्तिओना पूर ओसरी गया छतां तेनां संस्कृति अने साहित्य तो शाश्वत धामनी पेठे अमरज रखां । ए संस्कृति अने साहित्यमाथी प्रेरणात्मक सुधापान करनाराओ स्वर्गवासिसूरिवरनो आजे पण साक्षात्कार करी रखा छे । धन्य छे संस्कृति अने साहित्यना समर्पक ए सूरिवरने !!!

आ आखु प्रकरण वाचता आ ग्रन्थना रचयिता कलिकालसर्वज्ञनो जन्मप्रदेश, कार्यप्रदेश अने प्रचारप्रदेश परम्पराथी उतरी आवेली संस्कृतिना सुन्दर धामरूप हता, अने संस्कृतिने सम्पूर्ण उन्नतिना शिखरे पहुँचाडवाना सुन्दरतम संयोगरूप हता ।

अहिंसा-सयम अने तपोरूपधर्मपालननी अमोघ-उद्धोषणा करावी करावीने गुणवन्ती-गुर्जरभूमिना निवासियोना हृदयोने अहिंसा-सयम-तपोरूप धर्मेने स्वभावगत बनावी दीधा । एटल ज नहि पण ते उद्धोषणाती सफळताने माटे समग्र भारतवर्षनी प्रजाना दिल सदा सर्वत्र नवपलवित रहे तेटला माटे अपूर्व साहित्यवारसो विशालरूपमा समर्पण करता गया ।

प्राचीन अने अर्वाचीन त्रिदेशीय विद्वानो पण प्रजानी स्वभावगत बनी गयेली रहेणी-कहेणी उपरथी आजनी वर्तमान-कालीन प्रजानी सस्कृतिनु माप काडी शके छे । आ प्रकरणने साधन्त वाचता माळस पडरो के साहित्यसर्जन अने परोपकारादि कार्यो करवामा परम्पराए उतरी आवेली संस्कृतिनो चारसो अने मददगार संयोगो परम कारणरूप होय छे ।

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्राचार्यना जन्मनी साथे श्रीहेमचन्द्राचार्यने महान् वनाववाना भावनानो जन्म पण तेओश्री-मुत्तवर्षना हृदयमा अपूर्वरीतिए उत्पन्न थयो हतो । ते एवी रीते के-शासननी थइ रहेली निस्तेजदशा उपर दृष्टिपात करता ते-ओए विचार्यु के श्रीवज्रस्वामीजी, पादलिप्तसूरीश्वरजी, वष्पभद्रिसूरीश्वरजी अने सिद्धसेनदिवाकरसूरीश्वरजी आदि महाप्रभावक शासनधुरन्धर जैनाचार्यो पूर्वे घणा थइ गया के जेओए पोतानी त्रिविध-शक्तिना जोरे विषमी राजाओने अने

प्रजायोने जैनधर्मी बनान्यां हतां, परन्तु हालना समयमां हमारा जेवा घणा जैनाचार्यो होवा छतां जनधर्मा थइ रहेल्य परामवने अमारी सगी आवे अने काने देखवो पडे छे अने सामळवो पडे छे ए ओछु दु खद नथी । छता केवल खेद धारण करीने वेसी नहि रहेता यथाशक्ति उद्यम करवो जोइए, एवो निश्चय करीने सूरिमन्ननी उपासना करवानो प्रारम्भ कर्यो । उपासना पुरी थतां ज अधिष्ठायक-देवीए प्रत्यक्ष थइने जणाव्यु जे-‘धन्धुकानगरीमा पाहिणीनामनी श्राविका पोताना बाळकने लइने आपने वन्दन करवा आवशे ते वखते ते बाळक आपना आसन उपर वेसी जशे ए निशानी उपरथी आपने जणावु छु के ते ज बाळक आपनी पासे दीक्षा लइने शासननो महाप्रभावक थशे’ ।

आ उपरनु कारण हेमचन्द्राचार्यनो शासनप्रभावना माटेनी पूर्वपीठिकानो प्रारम्भकाळ छे, तेनी साथे महा-अमात्य उदायनी मुत्सद्दीगिरी, सिद्धराजनी (भोजराजाना साहित्यदर्शनथी उत्पन्न थयेली) साहित्यसर्जननी महत्त्वाकाक्षा, अने स्वदेगाभिमानने टकावी राखवानी महत्त्वाकाक्षाना जोरे नवीन व्याकरण रचवानी धेरणात्मक-प्रार्थना, तथा दीक्षानु अने आचार्यपद-प्रदाननु शुभसुहृत् ए वधा पण चळवत्तर निमित्तो छे ।

### \* आ प्रधानतम व्याकरणमां मददगार थयेलो संयोगो अने सामग्रियो ।

आ प्रधानतम व्याकरणमा आवेलो वैयाकरणोना नाम अने स्पष्टीकरणो जोवाथी मालस पडे छे के कलिकालसर्वज्ञ-भगवन्ते व्याकरण विगेरे पूर्वकालीन साहित्यनु अवलोकन घणी सारी रीते कथ्यु हशे, ते माटे व्याकरण-सृष्टिना सौकर्यने पहेल तपासी जोइए, के जेथी करीने मददगार संयोग-सामग्रीनी पिछाण थय ।

पाणिनिना व्याकरणमा आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गाल्व, चाक्रवाणी, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन अने यास्कसुनि वगैरेना नामो अने उल्लेखो मळी आवे छे । ए वधा वैयाकरणो पाणिनिना पहेलाना मानी शकय । पाणिनिना व्याकरणमा ४००० सूत्रो छे । ते व्याकरणमा त्रुटिओनी पूर्ति वार्तिककार, भाष्यकार, उणादिसूत्रकार, धातुपाठ-सचयकार अने परिभाषासग्रहकार वगैरेए करेली छे । पाणिनिना लगभग वारसो उपरान्त सूत्रोपर वार्तिको रचीने वार्तिककारे ते वधा सूत्रोमा रही गयेली त्रुटिओ जणावी छे, अने एम मानवामा भाष्यकारनु-‘घणा खरा वार्तिकोनी रचना निरर्थक करेली छे’ आवु कथन आडे आवे छे, छता एटल तो चोक्स छे के केटलांएक वार्तिकोनी जरुरीयात भाष्यकारे पण स्वीकारेली छे, एटले पाणिनिना व्याकरणमानी त्रुटिओने दूर करवानु मान वार्तिककार वररुचि कात्यायनने घटे छे । महर्षि प्रतल्लिए पाणिनीय वगैरे पूर्वकालीन वधा व्याकरणोनो अभ्यास मनन अने परिशीलन-पूर्वक करीने पाणिनिना लगभग १७०० उपरान्त सूत्रो उपर विस्तारपूर्वक शका-समाधानो दर्शनीने प्रौढभाषामा महामाष्यनी रचना करी छे, माटे संस्कृत भाषानी व्यवस्था अने नियमन करनारा पाणिनीयना सूत्रोना गौरवने वधारवानो सघळोये यश महामाष्यकारने फाळे जाय छे । पाणिनिना व्याकरण पर काशिका नामनी एक वृत्ति थयेली छे, तेना कर्ता वामन अने जयादित्य छे, तेओ ३० स० नी सातमी सदीमा थया हशे एम मानी शकय ।

महामाष्यकार पछी लगभग त्रणसो वर्ष सुधी व्याकरण प्रदेशने खेडनार इतिहासमा कोई शोध्यो जडे एम नथी । त्यार पछी सर्ववर्माए कातन्ननामना व्याकरणनी रचना लगभग १४०० सूत्रोमा पूर्ण करी छे । बहु प्रचलित प्रयोगोनी ज सिद्धि करनारा आ व्याकरणनी थोडा सूत्रोमा रचना थयेली होइ सक्षेप होवा छतां सपूर्ण एवा ते व्याकरणने जल्दी भणी शकय तेवु होवाथी कातन्न-व्याकरण लोकप्रिय थइ पळ्युं हतुं । त्यार बाद चान्द्रनामना व्याकरणनी रचना चन्द्रगोमिनामना बौद्धाचार्ये करेली छे, तेओ ते समयना महावैयाकरण हता, तेमनो समय ३० स० पूर्वे ४५० नी आसपासनो छे । ते समयना शुष्क-तार्किक-ब्राह्मणोना दुर्लक्ष्यने लीधे नाश पामता महामाष्यनुं आ चन्द्रगोमिवौद्धाचार्ये गुणानुरागी थइने यथाशक्ति रक्षण कथ्युं, तेथी ज हालमा मळी शकता महामाष्यना दर्शन करवाने आपणे भाग्यशाली थया छीए, ते माटे आ बौद्धाचार्यनो आपणे जेटलो आमार मानीए तेटलो ओछो ज छे । जो मताग्रहिपणाने वश थइने एमणे पण महामाष्यनी रक्षानो प्रयत्न नहि कर्यो होत तो आजे तेना दर्शन अगोचर ज होत !!!

चन्द्रगोमिना समय विषे अने चान्द्र व्याकरणनी रचना विषे-

“चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा, देशात्तस्मात्तदाऽऽगमम् । प्रवर्तित महामाष्यं, ख च व्याकरण कृतम् ॥ १७६ ॥”

राजतरङ्गिणी-तरङ्ग. १ ।

आ पाठ अने टिप्पणीमा सुधारेलो पाठ ए बन्ने लगभग वध वेसता छे । राजतरङ्गिणीना कर्ता कवीधर कल्हण ‘श्रीचन्द्र-गोमिए चान्द्रव्याकरण वनाळ्युं हतुं’ तेनी उपरना पधवडे साक्षी पूरे छे ।

१-जुओ कुमारपालमहाकाव्य । २-गूळ प्रतोमा-चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वाऽऽदेश तस्मात्तदागमम् । प्रवर्तित महामाष्यं X X X ॥ १७६ ॥ रा० त० १ । एवो पाठ छे तेने सुधारने विद्वानोए नीचे मुजब मान्य राख्यो छे ते वैयाकरण समयने वध वेसतो लागे छे, ‘चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशात्तदागमम् ।’ बाकीनो पाठ बराबर छे ।

चन्द्रगोमिण महाभाष्यनुं रक्षण केवी रीते कर्तुं तेनु अने उपर जणावेला कल्हणकविना पद्यनुं समर्थन भर्तृहरिण पोताना वाक्यपदीयग्रन्थना बीजा काण्डना ४९० मा श्लोकमा कर्तुं छे,—

प्रायेण सक्षेपरुचीनरूपविद्यापरिग्रहान् । सम्प्राप्य वैयाकरणान् सग्रहेऽस्तमुपागते ॥ ४८४ ॥

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शना । सर्वेषा न्यायबीजाना महाभाष्ये निबन्धने ॥ ४८५ ॥

वैजिसौभवहर्षक्षे शुष्कतर्कानुसारिभिः । आर्षे विघ्नाविते ग्रन्थे सग्रहप्रतिकञ्चुके ॥ ४८८ ॥

य. पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणाऽऽगम । काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रव्यवस्थित. ॥ ४८९ ॥

पर्वतादागत लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः । सन्ततो बहुशाखात्त्व चन्द्राचार्यादिभि पुन ॥ ४९० ॥

न्यायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्व च दर्शनम् । प्रणीतो गुरुणाऽऽसाकमयमागमसग्रह. ॥ ४९१ ॥

**भावार्थः**— व्याडिमहर्षिणो सग्रहनामनो ग्रन्थ नाञ्च पाण्यो त्यारे पतञ्जलिऋषिण महाभाष्यनी रचना करी । सग्रहग्रन्थना नमूनारूप रचेल महाभाष्यनो नाञ्च पतञ्जलिना-वैजि-सौभव अने हर्षक्षनामना शुष्कतार्किक त्रण शिष्योएज कर्यो । नाञ्च थइ जता महाभाष्यनु-दाक्षिणदेशमा मात्र पाठरूपे रहेलानु-रक्षण करीने विस्तारपूर्वक पढवित कर्यो । भर्तृहरिविरचित-वाक्यपदीय-ग्रन्थ इ० स० सातमी सदीमा होवानु मानी शकाय, ते ग्रन्थमा व्याकरणना पदार्थो सवन्धी सुन्दर उल्लेखो छे, महाभाष्यनी माफक ते ग्रन्थना गौरवने आजे पण विद्वानो मान्य राखे छे, आ ग्रन्थना कर्ता भर्तृहरि चन्द्रगोमिने पोताना गुरुतरीके जणावे छे, तेथी भर्तृहरिने चन्द्रगोमि उपर अत्यन्त पूज्यमाव हतो एम स्पष्ट समजाय छे ।

चान्द्र-व्याकरणकारे पाणिनि, कात्यायन अने पतञ्जलिना पाठोने सुधारीने सरलता अने लघुता आणवानो प्रयत्न कर्यो छे । पाणिनिना प्रत्याहारो तो लीघा ज नथी परन्तु पोते नवा प्रत्याहारो वनाव्या छे, केटलाएक प्रकरणोमा कोई कोई सूत्र पण नवु ज वनावेछे छे, वैदिकप्रक्रिया अने धातुपाठनो समावेश पण कर्यो नथी. आ व्याकरणनी सूत्रसख्या लगभग ३१०० छे, अने एनी उपर रचायला टीका वगैरेना ग्रन्थो हालमा दश-बार मळी आवे छे ।

महाभाष्यनु रक्षण करवामा चान्द्रव्याकरणकारनी उदारता हती, एटले आ व्याकरणमा उपलब्धदृष्टि ए जोता जो के साम्प्रदायिक-गन्ध जणातो नथी, परन्तु तात्त्विकदृष्टि ए तपासता कोई कोई स्थले साम्प्रदायिक-गन्ध जणाया विना रहेतो नथी ।

जैनेन्द्रव्याकरणना कर्ता देवनन्दीनामे दिगम्बरमतना प्रसिद्ध आचार्य छे, तेओने पूज्यपादना नामथी पण घणी जग्याए सम्बोधेला छे, ते सिवाय यशःकीर्ति, यशोनन्दी, देवनन्दी, महायति, गुणनन्दी अने गुणाकर एटलां नामो नन्दीसङ्घनी पद्मावलीमां तेमना नामना पर्यायो तरीके जणावेला होवाथी ए वधा नामो पण तेओना ज छे एमा शक्ता करवा जेनु काइ नथी ।

आ व्याकरण उपर प्रक्रियाग्रन्थो, टीकाग्रन्थो अने न्यासग्रन्थो पण रचाया छे, आ ग्रन्थकारे बीजा पण ग्रन्थो रचेल छे । पाणिनीय वगैरे बीजा व्याकरणो करता आ व्याकरणमा शी शी विशिष्टताओ रहेली छे एवा प्रश्नना उत्तररूपे ढुंकमा एटल ज जणाववानु छे के-सज्ञाओमा, प्रत्ययोमा अने आदेशोमा ठाम ठाम लघुता आणेली छे, अने पाणिनिनी पेटे अपादान-कारकमा वार्तिकोने स्थान ज आप्यु नथी । विशेष जिज्ञासुओए अमयनन्द्रिकृत जैनेन्द्रप्रक्रियानी प्रस्तावनाना पृष्ठ १०-११ जोवा ।

आ व्याकरणपर प्रक्रियाकार-अमयनन्दिण महावृत्तिनी रचना करी छे, तेनी अन्दर वाक्यपदीय, शिशुपालवध अने राजवार्तिक ए त्रण ग्रन्थोने आधार पण लीघो होय एम ग्रन्थ तपासता माळमं पडे छे । आ व्याकरणपर श्रुतकीर्तिकृत पञ्च-वस्तु-प्रक्रिया तथा शब्दार्णवचन्द्रिका वगैरे ग्रन्थो हाल पण मळी शके छे ।

शाकटायन व्याकरणना कर्ता महाश्रमण-सङ्घाधिपति आचार्य भगवान् शाकटायन इ० स० ८१० पछी अमोघवर्षराजाना राज्यशासनमा थया छे । राजाने प्रसन्न राखवा माटे तेमणे पोताना व्याकरणनी रचेली स्तोपज्ञवृत्ति नाम अमोघवृत्ति राख्यु हतु, ते वृत्ति लोकोमा अमोघवृत्ति तरीके पण ओल्लावती हती । आचार्य श्रीमलयगिरिजी महाराजे नन्दीसङ्घनी टीका पृष्ठ १५ मां शाकटायनआचार्यने यापनीययतिग्रामाग्रणी तरीके जणाव्या छे । यापनीयसङ्घनी घणी मान्यताओ जैनश्रैता-म्बरसम्प्रदायने अनुसरती छे, परन्तु जिनदर्शन अने जिनपूजन वगैरे केटली एक बाबतोमां दिगम्बरोनी प्रणालिकाने अनुसरती छे । शाकटायनआचार्य तथा तेमनी परम्पराने अनुसरनाराओ श्वेताम्बरोना आगमो, छेदसूत्रो अने निर्युक्ति वगैरे ग्रन्थोने आदर-पूर्वक मान्य राखता हता, तेमणे स्त्रीमुक्ति अने केवलिमुक्ति सम्बन्धमा वे प्रकरणो लखीने स्त्रीनो मोक्ष थाय छे अने केवलिओ आहार ग्रहण करे छे, ए वे बाबतनु समर्थन कर्तुं छे तथापि हालना दिगम्बरो ए वजे बाबतने मानता नथी ।

आ शाकटायन-व्याकरणपर चिन्तामणि नामनी टीका तथा प्रक्रिया-ग्रन्थो पण रचाया छे, तथा स्तोपज्ञ-अमोघवृत्ति रचेली छे, जेनो मोटा भागो आ प्रधानतम व्याकरणमा केवी रीते उपयोग कर्यो छे ते पूर्वना प्रकरणमा विस्तारथी जणावेछे छे । आ आचार्यश्रीण अमोघवृत्तिथी रचनानी शुरुआत नीचे जणाव्या प्रमाणे करेली छे ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ श्रीमत्-पञ्चगुरुभ्यो नमः ॥

श्रीवीरममृतं ज्योतिर्निर्वाऽऽर्दिं सर्ववेदिनम् । शब्दानुशासनस्येयममोघा-वृत्तिरुच्यते ॥ १ ॥

अविद्येनेष्टप्रसिद्धयर्थं मङ्गलमारभ्यते-

नमः श्रीवर्द्धमानाय प्रबुद्धाशेषवस्तवे । येन शब्दार्थसम्बन्धा सावर्णेण सुनिरूपिता. ॥ २ ॥

शब्दो वाचकः, अर्थो वाच्यः, तयो सम्बन्धो योग्यता, अथवा-शब्द आगम अर्थ. प्रयोजनमभ्युदयो नि श्रेयस च तयो सम्बन्ध उपायोपेयभाव. । त एव सर्वसत्त्वहितेन सता तत्त्वत प्रजापिता तस्मै परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानाय भगवते वर्द्धमानाय षडपि द्रव्याण्यशेषाप्यनन्तपर्यायरूपाणि साकल्येन साक्षात् कुर्वते नमस्कुर्वे इत्युपस्कार । एव कृतमङ्गलरक्षाविधान परिपूर्णमल्प-ग्रन्थ लघूपायं शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं महाश्रमणसद्वाधिपतिर्भगवानाचार्यः शाकटायनः प्रारभते शब्दार्थज्ञानपूर्वकं च सन्मार्गानुष्ठानम् ॥ अइउण् ॥१॥ ऋक् ॥२॥ एओङ् ॥३॥ ऐऔच् ॥४॥ ह्यवरलञ् ॥५॥ जमङ्गनम् ॥६॥ जवगढदश् ॥७॥ झमघढघष् ॥८॥ खफळठथट् ॥९॥ चटतव् ॥१०॥ कपय् ॥११॥ शपसअअ ऋक्-पद् ॥१२॥ हल् ॥१३॥

इति वर्णसमाम्नाय क्रमानुबन्धोपादानः प्रत्याहारयन् शास्त्रस्य लाघवार्थं सामान्याश्रयणादीर्घप्लुतानुनासिकाना ग्रहणम् ।

प्रत्याहार लगभग पाणिनीय व्याकरणे मळता छे, सूत्रोनी रचना अने पद्धति पाणिनीय व्याकरणयी तद्द जूदी ज शैलीनी छे, अने विप्रकीर्णादि दोषो पण अभ्यासकाळे अभ्यासीनी नजरमा आव्या विना रहे नहि तेवा स्पष्ट छे ।

जैनश्वेताम्बर समाजमा व्याकरणनी रचना सौथी प्रथम शासनप्रभावक-श्रीबुद्धिसागरसूरिजीए करी छे एम तेमना रचेल्य बुद्धिसागर व्याकरणना नीचे जणावेल्ल अन्तिम श्लोक उपरथी जणाय छे—

“श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालात्, शाशीतिके याति समा सहस्रे । सश्रीकजावालिपुरे तदाऽऽद्य, दृढ्य मया सप्तसहस्रकल्पम् ॥”

आ व्याकरण सात हजार श्लोक प्रमाण छे एम उपरना श्लोकमा जणाव्यु छे, परन्तु अभयदेवसूरिप्रबन्धमा आठ हजार श्लोक प्रमाण जणाव्यु छे, अन्तिम निर्णय केवलिंगम्य छे ।

मीमदेवना पूर्वकालीन चौलुक्यवशीय दुर्लभराजना इ० स० १००९ थी १०२१ ( वि० स० १०६६ थी १०७८ ) सुधीना समयमा श्रीजिनेश्वरसूरिजीनी साथे श्रीबुद्धिसागरसूरिजीनो पाटणमा प्रवेश थयो हतो । ते समयमा जैनश्रमण-भगवन्तो प्रत्ये घणा सरा जैनेतरो द्वेष ईर्ष्या अने सकुचितता राखता हता, परन्तु राज-पुरोहित-सोमदेव वगैरे केटला एक जैनेतरो हृदयनी विशाळता, सौम्यता अने सज्जनता राखनारा पण हता । तेथी वन्ने आचार्योए सोमदेव पुरोहितने जणाव्यु जे चैत्य-वासिओना जोरथी हमने वसति (उतारो) मळती नथी, ते सामळीने सोमदेवे उतारानी गोठवण करीने वन्ने आचार्योने उतरवाने सान आप्यु । ते वात चैत्यवासिओना जाणवामा आव्या पछी तेओए एवो प्रयत्न करवा माळ्यो के जेथी ते वन्ने आचार्यो कटाळीने पाटणमाथी विहार करी जाय । आ बधी खटपटो राजाना जाणवामा आव्याथी ते वन्ने आचार्योने पाटणमां रहेवा देवानी चैत्यवासिओने आज्ञा फरमावी, पछी पुरोहिते पाटणमा ज स्थिरता करवानी वन्ने आचार्योने विनन्ति करी, तेथी लामनुं कारण जाणीने वन्ने आचार्योए त्या ज स्थिरता करी ।

ते अवसरमां शिवधर्मना ज्ञानदेव-नामना आचार्य पाटणमा पधार्थी, तेमणे दरेक धर्मना गुणिजनो सत्कार करवानो उपदेश आपवा माळ्यो, ते उपदेशनी असरथी वन्ने जैनाचार्योने माटे उपाश्रयनी गोठवण करवानुं अने स्वपरपक्षमा थता सघ-र्षणो निवारण करवानु राजाए वचन आप्यु । त्यार पछी ‘जैनोनु एकपण व्याकरण नथी’ एवा जैनेतरोना आक्षेपने श्रीबुद्धि-सागरसूरिजीए बुद्धिसागरनामना व्याकरणनी रचना करीने दूर कर्यो । ए विनाने जणाववा माटे ज तेओए व्याकरणनी प्रश-स्तिमा आद्यशब्दो प्रयोग कर्यो छे ।

विचारमां सुन्दरता, वाणीमां विवेकिता अने वर्तमानमां स्वपरकल्याणनी भावनारूप त्रिवेणीनो जे स्थळे सुमेळ होय त्यां संस्कृतिना सुन्दर झरणां झर्यां करे छे ।

पाणिनीय, कातम्ब, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन अने बुद्धिसागर वगैरे व्याकरणो तथा तेना स्पष्टीकरण करनारा वृत्ति-ग्रन्थोरूप व्याकरणना विशाल प्रदेशने नाममात्रथी, अथवा अल्पप्रबन्धमात्रथी यत्किंचित्संयोगसामग्रीओने स्वल्पाशे जोइ आव्या पछी आ प्रधानतम व्याकरणनी रचनाना पूर्वकालीन वैयाकरणोना तत्त्वोने योग्य स्थाने गोठवी देवा, अने मतमतान्तरोनी छण-वट अवसरे हृदयनु समतोलपणु राखी लेवु ए महावैयाकरण कलिकालसर्वज्ञ-भगवाननी कुशलता, कार्यदर्शता; अने बुद्धि-वैभवना अजव चमत्कारो छे !!!

સાથે સાથે આ પ્રકરણ વાંચીને ઇટલું વિચારવું જરૂરીનું છે કે આ વધી વિશિષ્ટ સામગ્રીરૂપ વલોણામાંથી તારવેલા નવનીતરૂપ મતમતાન્તરોના સ્પષ્ટીકરણ અવસરે યથાયોગ્ય વિનાઓનું દિગ્દર્શન કરાવે છે । આ ઉપરથી એક પ્રધાન-તમ વ્યાકરણદ્વારા ઉપર જોઈ આવ્યા તે વધા વ્યાકરણાદિ ગ્રન્થો પૈકી દરેક વ્યાકરણનું રહસ્ય પીરસી શકે છે એ જ કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાનની અજબ કાર્યકુશલતા છે ।

કલિકાલસર્વજ્ઞ-દેવનું અમરકાર્ય અને શુભનામ કેવલ જૈનસાહિત્ય-સૃષ્ટિમા જ નહિ, પરન્તુ અખિલ-ભારતવર્ષીય-સાહિત્ય-સૃષ્ટિમા શરત્પૂર્ણિમાના ચન્દ્રની માફક પોતાના આહ્વાદકારક અતિઉજ્જ્વલ કિરણોદ્વારા વિદ્વજ્જનવૃન્દકમઝોને વિકસાવી રહ્યાં છે । તથા તેઓશ્રીનું સ્થાન વિશ્વભરના તત્કાલીન અને અર્વાચીન અસાધારણ વિદ્વાનોમા, કવિઓમા, સાહિત્ય-સર્જનકારોમા અને તત્ત્વજ્ઞાનિ-ઓમા અતિ-ઉચ્ચ છે । ચારમી શતાબ્દીથી શરુ કરીને સાડી આઠસો ઉપરાન્ત વર્ષો વીતવા છતાં આજે પણ કોઈ ગૌરવાન્વિત ગુણિજનોની ગણના કરવા માટે તો અગુલિના પર્યપર પ્રથમ નમ્બર કલિકાલસર્વજ્ઞનો જ આવે તેમા શક્કાને લેશમર અવકાશ નથી । આજના જૈનેતરો પણ કલિકાલસર્વજ્ઞની અગાધ-વિદ્વત્તા અને અલૌકિક-પાણ્ડિત્યપર મુગ્ધ વન્યા છે, ઇટલું જ નહિ પણ તેઓના રચેલા વિવિધ-વિષયના અનેકાનેક ગ્રન્થોને અવલોકતા ક્ષણમર આશ્ચર્ય પામીને 'એક જ વ્યક્તિ આટલા વધા વિષયમા સફલ કેમ નિવડી હશે !' આવા ઉદ્ધારોના ઉમલકા ઉછલવા લાગે એ પણ એક અળ-ઉકેલ કોયદો વિશ્વ-સમક્ષ પડેલો છે ।

યદ્યપિ કલિકાલસર્વજ્ઞ સ્વર્ગે સીધાવી ગયા છે છતાં સર્વતોમુખી પ્રતિમા અને વલવાન્ બુદ્ધિના જોરે રચના કરીને જે સાહિત્યો મુકી ગયા છે, તે સાહિત્યોને આંખો મીંચીને જુઓ તો તે સર્વાંગસુન્દર સાહિત્યના રચયિતા કલિકાલસર્વજ્ઞના કલ્પનામય દર્શન જરુર થશે । ગુજરાતને ગૌરવાન્વિત બનાવવાનું માન તેઓશ્રીને જ છે, ઇટલું જ નહિ પણ એમના જેવો દરેક વિષયમાં પારગામી વિદ્વાન્ અઘાવધિ પાક્યો જ નથી, વલ્કે શોધ્યો પણ જડે તેમ નથી; એ નિર્વિવાદ સત્ય સ્ત્રીકાર્યા વિના ચાલે તેમ નથી ।

### ઉભરાતાં રત્નોથી ભરપૂર પ્રધાનતમ વ્યાકરણ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન ।

પ્રાતઃસ્મરણીય કલિકાલસર્વજ્ઞ મગવાન્ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરની સર્વતોમુખી પ્રતિમા, બુદ્ધિવૈભવ, ગમ્ભીરજ્ઞાન, અપૂર્વસાધુતા, સ્વ-પરશાસ્ત્રપારજ્ઞતપણ, રાજનીતિજ્ઞતા, કાર્યદક્ષતા અને શાસનવત્સલતા વગેરે ગુણો અત્યન્ત પ્રશસનીય હતા તેમા લેશ પણ શકા કરવા જેવું નથી, ઇટલું જ નહિ પણ સંસ્કૃત-પ્રાકૃત્તાદિ સાહિત્યનું મુખ સર્વ-રીતિએ ઉજ્જ્વલ કરવાનો સઘઝોયે યશ તેઓશ્રીના જ ફાલે જાય છે । અને તેથીજ અમારા પ્રાત સ્મરણીય-પૂજ્ય-ગુરુવર્યો પ્રસ્તાવનામા તેઓશ્રીના નિઃસીમ યશોગાન ગાતા થકા જણાવે છે, — 'તદ્યુક્તમેવ અતીતાઽનાગતવર્તમાનકાલીનાઽતીન્દ્રિયાર્થજ્ઞાનસમ્પન્નતાદિપ્રમાવલબ્ધકલિકાલસર્વજ્ઞત્વવિરુદ્ધાના મગવતા ક્રમેણ શ્રીસિદ્ધહેમાલ્ય પાણિનીયાઘણિલશબ્દાનુશાસનયશસ્તારાગણપ્રમાપટલવિકર્તનપ્રમમનૂન ત્રિમુન્યસમાપિત સમાપ્ત શબ્દાનુશાસન' × × × × × ।

આ મહાપુરુષની વિવિધ-વિષયની પાણ્ડિત્યપૂર્ણ રસિક રચનાઓનો સમ્પૂર્ણ અભ્યાસ કર્યા વિના જ એના સમ્બન્ધમા ફહ પણ આલેખન કરવું તે પારાવાર સમુદ્રની મર્યાદાને માપવા જેવો પ્રયાસ છે, છતાં પોતાના બે હાથ પહોઢા કરીને જેમ કોઈ બાઢક સમુદ્રના માપને શક્તિ અને સંયોગ અનુસાર વતાવે છે, અથવા કોમઢ અવસ્થાને પામેલો કોકિલ જેમ પોતાની શક્તિ અનુસાર સહકાર વૃક્ષના કાલા ઘેલા સુન્દર યશોગાન ગાઈ વતાવે છે, તેવી રીતે તેઓશ્રીની ઉપલબ્ધ થતી સર્વ-કૃતિઓમાથી ફક્ત શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન-સમ્બન્ધી શક્તિ અનુસાર આશિક ઉલ્લેખન કરુ તે પણ અસ્થાને નથી અર્થાત્ યોગ્ય છે ।

ક્યા અતિગમ્ભીર અને મનનીય શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન<sup>૧</sup>, અને ક્યા મન્દમતિ એવો હુ<sup>૨</sup>, તો પણ આપશ્રીની કૃતિ પ્રત્યે શ્રદ્ધાહુ, પ્રતીતિવાઢો અને રુચિવાઢો થયેલો હુ વાક્યરચનામા અને શબ્દસઢ્કલનામા સ્વલ્લના પાસુ તો પણ પર્વતની ઢોંચે પહોંચવાના મનોરથવાઢા સ્વલ્લના-પામનારા પાગઢા મનુષ્યની માફક સુજ્ઞનોમા હાસીપાત્ર થઈશ નહિ । આપશ્રીની કૃતિ પ્રત્યેની મક્તિ અને શ્રદ્ધાના જોરે જે સદ્ધિવેક અને સમમાવ ઉત્પન્ન થયેલો છે તે માટે તેઓશ્રીના સમગ્ર સાહિત્યનો સદાનો હુ ક્ષણી હુ ।

કોઈ પણ ગ્રન્થની રચનાને અવલોકીને અમિપ્રાય ઉચ્ચારનારમાં તે ગ્રન્થના રચયિતા પ્રત્યે અસાધારણ શ્રદ્ધા-મક્તિ તો હોવી જ જોઈએ એવો મારો મૌલિક અમિપ્રાય છે, કારણકે કોઈ પણ ગ્રન્થના અભ્યાસીને તે તે ગ્રન્થના કોઈ કઠિન વિષયમાં મુંઢવણ આવી પડે તો તે અવસરે તે અભ્યાસી મક્તિપૂર્વક ક્ષણમર સર્વસ્વ સમર્પણ કરવા તૈયાર થાય તો તેની મુંઢવણ તરત દૂર થઈ જાય છે આ વિના અનુમવ સિદ્ધ છે । વિશેષમા શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના અભ્યાસીએ 'સંસ્કૃતમાધાના અનેકવિધ પ્રકરણના પારજ્ઞત થવા માટે આ એક જ વ્યાકરણ શરણમૂત છે' એવી અતૂટ શ્રદ્ધા રાખીને અભ્યાસ કરવો । આ ગ્રન્થના કોઈ પણ પ્રકરણ માટે પરકીય વ્યાકરણનો આશ્રય લેવો પડે એવી અપૂર્ણતા આ વ્યાકર-ણમા રાખેલી જ નથી ।

तेजोश्रीनी समग्रकृतियैकी भारतवर्षना प्रधानतम-व्याकरण तरीके प्रसिद्धि पामेल श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन छे । ए प्रधानतम-व्याकरणना आठ अध्याय छे, तेमांन प्रथमना सात अध्यायनो उणादि सहितनो प्रथम-महाविभाग सस्कृतभाषाना सम्पूर्ण ज्ञानने समर्पे छे, अने फक्त आठमा अध्यायरूप द्वितीय-महाविभाग प्राकृत अने अपभ्रंशादि भाषाना बोधने समर्पे छे । तेमांथी संस्कृत भाषाना परिपूर्ण बोधने करावनारा उणादिसहित सात-अध्यायरूप प्रथम-महाविभागनो अही काइक विचार करीए—

आ प्रधानतम व्याकरणना प्रथम-महाविभागना सूत्रोपर वे वृत्तिओ खोपज छे, १ लघुवृत्ति, अने २ बृहद्वृत्ति=अपरनाम तत्त्वप्रकाशिका, ए वने वृत्तिनो परिपाटिक्रम तो एक सरखो ज राखेलो छे ।

आ सस्कृत भाषाना व्याकरणनी साथे एक ज व्याकरणमा सम्मिलित-रीतिए प्राकृत अने गौरसेनी आदि भाषाना व्याकरणने रचवाना रिवाजनी शुरुआत कलिकालसर्वज्ञे ज करी छे । वररुचि-भामह वगेरे वैयाकरणो विरचित वीजा प्राकृतव्याकरणोनी अने आ प्राकृतव्याकरणनी रचनामा जमीन अने आम जेटलु अन्तर छे । प्राकृतभाषा अने अपभ्रंशभाषादिना स्पष्टीकरणमा कलिकालसर्वज्ञनो फालो उच्चतम प्रकारनो छे । अपभ्रंशभाषादि माटे अखिल-विश्वमा क०स०-अद्वितीय व्याकरणकार छे एमां लेशमर अतिशयोक्तिने स्थान नथी । सस्कृत भाषा प्रत्ये ब्राह्मणोनो आग्रह इतिहासना पानापर नजरे चढे छे, ज्यारे सर्वसह पृथ्वीसमान अने जलप्रद-जलधरसमान श्रमणभगवन्तोनो संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषा प्रत्ये एक सरखो समभाव दृष्टिगोचर थाय छे; आ वधु वीजा-महाविभागरूप आ व्याकरणना आठमा अध्यायनी प्रस्तावनामा जोड्यु ।

आ लघुवृत्ति अने बृहद्वृत्तिमा तफावत एटलोज मालूम पढे छे के-लघुवृत्तिमा अन्य वैयाकरणोनो मतमतान्तरो नथी, आकृतिगणोनो नोध नथी, सूत्रनो अर्थ विस्तारथी जणाव्यो नथी, परन्तु सूत्रना कार्यप्रदेशने उपयोगी नीवडे तेटली ज वृत्ति अने तेटला ज उदाहरण-प्रत्युदाहरणो आपीने लघुपदने सार्थक बनान्यु छे । बृहद्वृत्तिमा सूत्रनो सम्पूर्ण अर्थ, पूर्वापर सूत्रसाधेनो सम्बन्ध, सूत्रना बहुवचनादिना फलनिर्देश, मतमतान्तरोनु प्रदर्शन, सूत्रना दरेक पदोनो यथार्थता जणावनारा उदाहरणो अने प्रत्युदाहरणो अने आकृतिगणो वगेरे वगेरे सस्कृत-भाषारूप महासागरनो पार पामवा माटे जे काइ जोडए ते वधु आ बृहद्वृत्तिमा समावेळ छे ।

आ प्रधानतम व्याकरणना प्रथम-महाविभागने चार विभागमां व्हेंचेलो छे-१ चतुष्कवृत्ति, २ आख्यातवृत्ति, ३ कृद्वृत्ति अने ४ तद्धितवृत्ति ।

१ चतुष्कवृत्ति=सन्धि, नाम, कारक, अने समास ।

प्रथमाऽध्याय ।	प्र०	पाद ।	सूत्र—४२—संज्ञाप्रकरणम् ।	} १ प्रथमो विभागः ।
”	द्वि०	”	” ४१—स्वरादिसन्धिप्रकरणम् ।	
”	च०	”	” ६५—व्यञ्जनसन्धिप्रकरणम् ।	
प्रथमाऽध्याय ।	च०	पाद ।	सूत्र—९३	} २ द्वितीयो विभागः ।
द्वितीयाऽध्याय ।	प्र०	”	” ११८	
”	द्वि०	”	” १२४	} ३ तृतीयो विभागः ।
”	च०	”	” १०५	
”	च०	”	” ११३	} ४ चतुर्थो विभागः ।
तृतीयाऽध्याय ।	प्र०	”	” १६३	
”	द्वि०	”	” १५६	

१०२०

आ चतुष्कवृत्तिना चार विभागो छे ।

१—ज्यो-सि० हे० श० बृहद्वृत्तिनी अवचूर्णि पृ० ३ प० २६ श्री २८ दे० ला० फण्ट प्र० ९२ । ते ग्रन्थमा आ प्रमाणे छे-‘उत्तरार्धेन शिका’ टीका मया विरच्यत इत्यर्थ ।’

સાથે સાથે આ પ્રકરણ વાંચીને ઇટલું વિચારવું જરૂરીનું છે કે આ વધી વિશિષ્ટ સામગ્રીરૂપ વલોણામાંથી તારવેલા નવનીતરૂપ મતમતાન્તરોના સ્પષ્ટીકરણ અવસરે યથાયોગ્ય વિનાઓનું દિગ્દર્શન કરાવે છે. આ ઉપરથી એક પ્રધાન-તમ વ્યાકરણદ્વારા ઉપર જોઈ આવ્યા તે વધા વ્યાકરણાદિ ગ્રન્થો પૈકી દરેક વ્યાકરણનું રહસ્ય પીરસી શકે છે એ જ કલિકાલસર્વજ્ઞ-ભગવાનની અજબ કાર્યકુશલતા છે.

કલિકાલસર્વજ્ઞ-દેવનું અમરકાર્ય અને શુભનામ કેવલ જૈનસાહિત્ય-સૃષ્ટિમા જ નહિ, પરન્તુ અસ્થિલ-ભારતવર્ષીય-સાહિત્ય-સૃષ્ટિમાં શરત્પૂર્ણિમાના ચન્દ્રની માફક પોતાના આહ્વાદકારક અતિઉજ્વલ કિરણોદ્વારા વિદ્વજ્જનવૃન્દકમઝોને વિકસાવી રહ્યા છે. તથા તેઓશ્રીનું સ્થાન વિશ્વભરના તત્કાલીન અને અર્વાચીન અસાધારણ વિદ્વાનોમા, કવિઓમા, સાહિત્ય-સર્જનકારોમા અને તત્ત્વજ્ઞાનિ-ઓમા અતિ-ઉચ્ચ છે. ચારમી શતાબ્દીથી શરૂ કરીને સાડી આઠસો ઉપરાન્ત વર્ષો વીતવા છતાં આજે પણ કોઈ ગૌરવાન્વિત ગુણિજનોની ગણના કરવા માટે તો અગુલિના પર્વપર પ્રથમ નમ્બર કલિકાલસર્વજ્ઞનો જ આવે તેમા શક્કને લેશમર અવકાશ નથી. આજના જૈનેતરો પણ કલિકાલસર્વજ્ઞની અગાધ-વિદ્વત્તા અને અલૌકિક-પાણ્ડિત્યપર મુગ્ધ બન્યા છે, ઇટલું જ નહિ પણ તેઓના રચેલા વિવિધ-વિષયના અનેકાનેક ગ્રન્થોને અવલોકતા ક્ષણમર આશ્ચર્ય પામીને 'એક જ વ્યક્તિ આટલા વધા વિષયમા સફલ કેમ નિવડી હશે!' આવા ઉદ્ધારોના ઉમલકા ઉછઠવા લાગે એ પણ એક અળ-ડકેલ કોયડો વિશ્વ-સમક્ષ પડેલો છે.

યદ્યપિ કલિકાલસર્વજ્ઞ સ્વર્ગે સીધાવી ગયા છે છતાં સર્વતોમુખી પ્રતિમા અને વલવાનુ બુદ્ધિના જોરે રચના કરીને જે સાહિત્યો મુકી ગયા છે, તે સાહિત્યોને આંખો મીંચીને જુઓ તો તે સર્વાજ્ઞસુન્દર સાહિત્યના રચયિતા કલિકાલસર્વજ્ઞના કલ્પનામય દર્શન જરૂર થશે. ગુજરાતને ગૌરવાન્વિત બનાવવાનું માન તેઓશ્રીને જ છે, ઇટલું જ નહિ પણ એમના જેવો દરેક વિષયમાં પારગામી વિદ્વાનુ અઘાવધિ પાક્યો જ નથી, વલ્કે શોધ્યો પણ જડે તેમ નથી; એ નિર્વિવાદ સત્ય સ્વીકાર્યા વિના ચાલે તેમ નથી.

### ઉભરાતાં રત્નોથી અરપૂર પ્રધાનતમ વ્યાકરણ શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન.

પ્રાતઃસ્મરણીય કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવાનુ શ્રીહેમચન્દ્રસૂરીશ્વરની સર્વતોમુખી પ્રતિમા, બુદ્ધિવૈભવ, ગમ્મીરજ્ઞાન, અપૂર્વસાધુતા, સ્વ-પરશાસ્ત્રપારજ્ઞતપણુ, રાજનીતિજ્ઞતા, કાર્યદક્ષતા અને શાસનવત્સલતા વગેરે ગુણો અત્યન્ત પ્રશસનીય હતા તેમા લેશ પણ શકા કરવા જેવું નથી, ઇટલું જ નહિ પણ સંસ્કૃત-ગ્રાકૃતાદિ સાહિત્યનું મુખ સર્વ-રીતિએ ઉજ્જ્વલ કરવાનો સઘઝોયે યશ તેઓશ્રીના જ ફાઠે જાય છે. અને તેથીજ અમારા પ્રાતઃસ્મરણીય-પૂજ્ય-ગુરુવર્યો પ્રસ્તાવનામા તેઓશ્રીના નિ સીમ યશોગાન ગાતા થકાં જણાવે છે, —'તદ્યુક્તમેવ અતીતાડનાગતવર્તમાનકાલીનાડ્ડતીન્દ્રિયાર્થજ્ઞાનસમ્પન્નતાદિપ્રભાવલબ્ધકલિકાલસર્વજ્ઞત્વવિરુદ્ધાના ભગવતા ક્રમેણ શ્રીસિદ્ધહેમાલ્ય પાણિનીયાઘસ્થિલશબ્દાનુશાસનયશસ્તારાગણપ્રમાપટલવિકર્તનપ્રભમનૂન ત્રિશુન્યસમાપિત સમાર્થ શબ્દાનુશાસન' x x x x x.

આ મહાપુરુષની વિવિધ-વિષયની પાણ્ડિત્યપૂર્ણ રસિક રચનાઓનો સમ્પૂર્ણ અભ્યાસ કર્યા વિના જ એના સમ્બન્ધમા ફહ પણ આલેખન કરવું તે પારાવાર સસુદ્રની મર્યાદાને માપવા જેવો પ્રયાસ છે, છતાં પોતાના બે હાથ પહોઠા કરીને જેમ કોઈ બાલક સસુદ્રના માપને શક્તિ અને સયોગ અનુસાર બતાવે છે, અથવા કોમઠ અવસ્થાને પામેલો કોકિલ જેમ પોતાની શક્તિ અનુસાર સહકાર વૃક્ષના કાલા ઘેલા સુન્દર યશોગાન ગાઈ બતાવે છે, તેવી રીતે તેઓશ્રીની ઉપલબ્ધ થતી સર્વ-કૃતિઓમાંથી ફક્ત શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન-સમ્બન્ધી શક્તિ અનુસાર આશિક ઉલ્લેખન કરું તે પણ અસ્થાને નથી અર્થાત્ યોગ્ય છે.

ક્યા અતિગમ્મીર અને મનનીય શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસન, અને ક્યા મન્દમતિ એવો હુ, તો પણ આપશ્રીની કૃતિ પ્રત્યે શ્રદ્ધાહ, પ્રતીતિવાઠો અને રુચિવાઠો થયેલો હુ વાક્યરચનામા અને શબ્દસઙ્કલનામા સ્વલ્લના પાસુ તો પણ પર્વતની ટોચે પહોંચવાના મનોરથવાઠા સ્વલ્લના-પામનારા પાગઠા મનુષ્યની માફક સુજ્ઞનોમા હાસીપાત્ર થઈશ નહિ. આપશ્રીની કૃતિ પ્રત્યેની ભક્તિ અને શ્રદ્ધાના જોરે જે સદ્ધિવેક અને સમમાવ ઉત્પન્ન થયેલો છે તે માટે તેઓશ્રીના સમગ્ર સાહિત્યનો સદાનો હુ ઋણી છું.

કોઈ પણ ગ્રન્થની રચનાને અવલોકીને અભિપ્રાય ઉચ્ચારનારમાં તે ગ્રન્થના રચયિતા પ્રત્યે અસાધારણ શ્રદ્ધા-ભક્તિ તો હોવી જ જોઈએ એવો મારો મૌલિક અભિપ્રાય છે, કારણકે કોઈ પણ ગ્રન્થના અભ્યાસીને તે તે ગ્રન્થના કોઈ કઠિન વિષયમાં મુંઝવણ આવી પડે તો તે અવસરે તે અભ્યાસી ભક્તિપૂર્વક ક્ષણમર સર્વસ્વ સમર્પણ કરવા તૈયાર થાય તો તેની મુંઝવણ તરત દૂર થઈ જાય છે આ વિના અનુમવ સિદ્ધ છે. વિશેષમા શ્રીસિદ્ધહેમચન્દ્રશબ્દાનુશાસનના અભ્યાસીએ 'સંસ્કૃતભાષાના અનેકવિધ પ્રકરણના પારજ્ઞત થવા માટે આ એક જ વ્યાકરણ શરણમૂત છે' એવી અતૂટ શ્રદ્ધા રાક્ષીને અભ્યાસ કરવો. આ ગ્રન્થના કોઈ પણ પ્રકરણ માટે પરકીય વ્યાકરણનો આશ્રય લેવો પડે એવી અપૂર્ણતા આ વ્યાકર-ણમા રાખેલી જ નથી.



तेओश्रीनी समग्रकृतिपैकी भारतवर्षना प्रधानतम-व्याकरण तरीके प्रसिद्धि पामेल श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन छे । ए प्रधानतम-व्याकरणना आठ अध्याय छे, तेमाना प्रथमना सात अध्यायनो उणादि सहितनो प्रथम-महाविभाग संस्कृतभाषाना सम्पूर्ण ज्ञानने समर्पे छे; अने फक्त आठमा अध्यायरूप द्वितीय-महाविभाग प्राकृत अने अपभ्रंशादि भाषाना बोधने समर्पे छे । तेमांथी संस्कृत भाषाना परिपूर्ण बोधने करवानारा उणादिसहित सात-अध्यायरूप प्रथम-महाविभागनो अर्ही काङ्क विचार करीए—

आ प्रधानतम व्याकरणना प्रथम-महाविभागना सूत्रोपर वे वृत्तिओ स्वोपज्ञ छे, १ लघुवृत्ति, अने २ बृहद्वृत्ति=अपरनाम तत्त्वप्रकाशिका, ए वने वृत्तिनो परिपाटिक्रम तो एक सरखो ज राखेलो छे ।

आ संस्कृत भाषाना व्याकरणनी साथे एक ज व्याकरणमा सम्मिलित-रीतिए प्राकृत अने शौरसेनी आदि भाषाना व्याकरणने रचवाना रिवाजनी शुरुआत कलिकालसर्वज्ञे ज करी छे । वररुचि-भामह वगेरे वैयाकरणो विरचित वीजा प्राकृतव्याकरणोनी अने आ प्राकृतव्याकरणनी रचनामा जमीन अने आम जेटल्ल अन्तर छे । प्राकृतभाषा अने अपभ्रंशभाषादिना स्पष्टीकरणमा कलिकालसर्वज्ञनो फालो उच्चतम प्रकारनो छे । अपभ्रंशभाषादि माटे अखिल-विश्वमा क०स०-अद्वितीय व्याकरणकार छे एमा लेशमर अतिशयोक्तिने स्थान नथी । संस्कृत भाषा प्रत्ये ब्राह्मणोनो आग्रह इतिहासना पानापर नजरे चढे छे, ज्यारे सर्वसह पृथ्वीसमान अने जलप्रद-जलधरसमान श्रमणभगवन्तोनो संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषा प्रत्ये एक सरखो समभाव दृष्टिगोचर थाय छे; आ बहु वीजा-महाविभागरूप आ व्याकरणना आठमा अध्यायनी प्रस्तावनामा जोड्यु ।

आ लघुवृत्ति अने बृहद्वृत्तिमा तफावत एटलोज मालूम पडे छे के-लघुवृत्तिमा अन्य वैयाकरणोनो मतनतान्तरो नथी, आकृतिगणोनी नोंध नथी, सूत्रनो अर्थ विस्तारथी जणाव्यो नथी, परन्तु सूत्रना कार्यप्रदेशने उपयोगी नीवडे तेटली ज वृत्ति अने तेटला ज उदाहरण-प्रत्युदाहरणो आपीने लघुपदने सार्थक बनाव्यु छे । बृहद्वृत्तिमा सूत्रनो सम्पूर्ण अर्थ, पूर्वापर सूत्रसाथेनो सम्बन्ध, सूत्रना बहुवचनादिना फलनिर्देश, मतमतान्तरोनु प्रदर्शन, सूत्रना दरेक पदोनी यथार्थता जणावनारा उदाहरणो अने प्रत्युदाहरणो अने आकृतिगणो वगेरे वगेरे संस्कृत-भाषारूप महासागरनो पार पामवा माटे जे काह जोइए ते बहु आ बृहद्वृत्तिमा समावेळ छे ।

आ प्रधानतम व्याकरणना प्रथम-महाविभागने चार विभागमां व्हेंचेलो छे-१ चतुष्कवृत्ति, २ आख्यातवृत्ति, ३ कृद्वृत्ति अने ४ तद्धितवृत्ति ।

१ चतुष्कवृत्ति=सन्धि, नाम, कारक, अने समास ।

प्रथमाऽध्याय ।	प्र०	पाद ।	सूत्र—४२—संज्ञाप्रकरणम् ।	} १ प्रथमो विभागः ।
”	द्वि०	”	” ४१—स्वरादिसन्धिप्रकरणम् ।	
”	तृ०	”	” ६५—व्यञ्जनसन्धिप्रकरणम् ।	
प्रथमाऽध्याय ।	च०	पाद ।	सूत्र—९३	} २ द्वितीयो विभागः ।
द्वितीयाऽध्याय ।	प्र०	”	” ११८	
”	द्वि०	”	” १२४	} ३ तृतीयो विभागः ।
”	तृ०	”	” १०५	
”	च०	”	” ११३	
तृतीयाऽध्याय ।	प्र०	”	” १६३	} ४ चतुर्थो विभागः ।
”	द्वि०	”	” १५६	

१०२०

आ चतुष्कवृत्तिना चार विभागो छे ।

१—जुओ-सि० हे० श० बृहद्वृत्तिनो अचूर्णं पृ० ३ प० २६ थी २८ दे० ला० फण्ड प्र० ९२ । ते ग्रन्थमा आ प्रमाणे छे-‘उत्तरार्धेन तु स्वकीयनाम भङ्गान्तरेण च सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनटीका नाम च ग्रन्थकार प्राचकद्वत् । स्वोपज्ञशब्दानुशासनस्य तत्त्वप्रकाशिका’ टीका मया विरच्यत इत्यर्थ ।

उपरनी प्रथम चतुष्कवृत्ति—१ संज्ञासहित सन्धिप्रकरण, २ नामप्रकरण, ३ कारकप्रकरण, अने ४ पत्वणत्वप्रकरण, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण, अने समासप्रकरण, आ चारनो समुदाय चतुष्कवृत्ति कहेवाय छे । आ चतुष्कवृत्तिमा पहेलो अने बीजो अध्याय सम्पूर्ण अने त्रीजा अध्यायना वे पाद एटले कूल दश पादना १०२० सूत्रो आवेला छे । प्रथम चतुष्कवृत्तिना आ वधा सूत्रोनुं वृत्तिसहितनुं प्रमाण लगभग ५००० श्लोक प्रमाण थाय छे ।

### २ आख्यातवृत्ति ।

तृतीयाध्याय	तृ० पाद सूत्र	१०८
"	च० " "	९४
चतुर्थाध्याय	प्र० " "	१२१
	द्वि० " "	१२३
	तृ० " "	११५
	च० " "	१२२
		६८३

दशप्रकारना प्रत्ययो, कर्मणि तथा भावे-प्रयोग, प्रेरक-सन्नन्त-यङ्न्त-नामधातु-विगेरेना क्रियापदोनी साधनिका अने आदेशो वगेरे, तथा सेट्-अनिट्-वेट्-विगेरे धातुसम्बन्धि-चर्चाओ । आ त्रीजा विभागरूप आख्यातवृत्तिमा त्रीजा अध्यायना त्रीजा पादथी चौथा अध्यायना चौथा पाद सुधीना—एटले दोढ अध्यायना छ पाद; अने कूल सूत्रो ६८३ छे, तेनुं लगभग ४५०० श्लोकप्रमाण गणी शकाय ।

### ३ कृद्वृत्ति ।

पञ्चमाध्याय	प्र० पाद सूत्र	१७४
"	द्वि० " "	९३
"	तृ० " "	१४१
"	च० " "	९०
		४९८

कृत्प्रकरणना प्रत्ययो तथा तेने लगता नियमो अने फेरफारो वगेरेनी चर्चा-ओ । आ त्रीजा विभागरूप कृद्वृत्तिमा पाचमा-अध्यायना चार पादना कूल सूत्रो ४९८ छे । पाचमा अध्यायना बीजा पादनु अन्तिम सूत्र "उणादयः" ॥५१२॥९३॥ छे, आ सूत्रनी पूर्तिरूप उणादि सूत्रो १००६ वृत्तिसहित छे, ए रीते कृदन्त अने उणादिना कूल सूत्रो १५०४ छे, तेनुं लगभग ७२०० श्लोकप्रमाण गणी शकाय ।

### ४ तद्धितवृत्ति ।

षष्ठाध्याय	प्र० पाद सूत्र	१४३
"	द्वि० " "	१४५
"	तृ० " "	२१९
"	च० " "	१८५
सप्तमाध्याय	प्र० पाद सूत्र	१९७
"	द्वि० " "	१७२
"	तृ० " "	१८२
"	च० " "	१२२
		१३६५

तद्धितना प्रत्ययो, समासान्त प्रकरण, घुतप्रकरण, न्यायना सूत्रो अने तेती विस्तारथी छणवट तथा ते संवन्धि चर्चा वगेरे चौथा विभागरूप तद्धितवृत्तिमा छद्दा अध्यायना पहेलो पादथी सातमा अध्यायना चौथा पाद सुधीना एटले वे अध्यायना आठ पादना कूल सूत्रो १३६५ छे, अने तेनुं लगभग ४५०० श्लोकप्रमाण गणी शकाय ।

उपर जणावेली चारे वृत्तिरूप प्रथममहाविभागमां—

वृत्तिनु नाम ।	अध्यायनु प्रमाण ।	सूत्र संख्या ।	श्लोकप्रमाणआसरे ।
१ चतुष्कवृत्ति—	२॥	१०२०	५०००
२ आख्यातवृत्ति—	१॥	६८३	४५००
३ कृद्वृत्ति—	} १	{ ४९८	{ ४००० }
(उणादिवृत्तिसहित)			
४ तद्धितवृत्ति—	२	१३६५	४५००
<u>वृत्ति चार</u>	<u>अध्याय सात</u>	<u>सूत्रो ४५७२</u>	<u>२१२००</u>

१ जुओ—श्रीजयानन्दसूरिशिष्य-अमरचन्द्र-लिखित श्रीसि० हे० श० बृहद्वृत्तिनी अवचूर्णि वि० स० १२६४ ना थावण सुवी ३ ने रविवारे लखेली, शेट दे० ला० जैन पु० फण्ड प्र० ९२, पृष्ठ ४ प० ५ थी १०—[सवत् १२६४ वर्षे थावण-सुवी ३ रवौ श्रीजयानन्दसूरिशिष्येणाऽमरचन्द्रे-णाऽऽत्मयोगेयावचूर्णिकाया प्रथमपुस्तिका लिखिता । शुभ भवतु लेखकपाठक्यो ] 'तत्राऽप्यध्यायसप्तके चतुष्काऽऽख्यातकृतद्धितल्पाणि चत्वारि प्रक-रणानि भवन्ति । तत्र सन्धिनामकारकसमासाधत्वारो मानमस्येति चतुष्कधतुर्णां समुदाय । धातुप्रत्यययोगात् क्रियासाधकत्वेनाऽऽख्यायत्वे स्मेल्या-ख्यात्, चतुष्काख्याताभ्या पश्चात् क्रियत् इति कृत्, तेभ्योऽणादिप्रत्ययेभ्यो हित तद्धितम् । तत्र चतुष्के दश पादा, आख्यायते पद, क्वति चत्वार-सद्धिते चाऽष्टौ, इति श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधान-शब्दातुशासन-सकलसूत्रार्थसमुद्देशः ।'

आ प्रथम-महाविभागमां आवेल्ल सात अध्यायना मूलसूत्र अने बृहद्बृत्तिनुं उणादिवृत्तिसहित श्लोकप्रमाण २१२०० थाय छे, पण केवल मूलसूत्रनुं श्लोकप्रमाण तो ११०० लगभग ज छे ।

आ सात अध्यायना २८ पादना ( उणादि सिवायना ) ३५६६ सूत्रो अने तेनी १८००० श्लोकप्रमाण बृहद्बृत्तिनो सर्वांगे सम्पूर्ण ज्ञाता थवा माटे अपूर्व-मददगार थइ शकनारा नीचेना ग्रन्थोनो अभ्यास पण करवो ज जोइए—

१	लिङ्गानुशासन—मूल—श्लोक	१३८
२	” वृत्ति ”	३६८०
३	उणादिगणविवरण ” ”	३२५०
४	सिद्धहेमवृहन्त्यास—” ”	८४०००

( महार्णवन्त्यास ) २८ पादमाथी आ न्यास फक्त नीचेना ७ पादनो ज उपलब्ध छे ।

प्रथमाध्यायना— १ ला पादनो ।

द्वितीयाध्यायना १-२-३-४ था ”

तृतीयाध्यायना— ४ था ”

सप्तमाध्यायना— ३ जा ”

५ धातुपारायणवृत्ति— श्लोक ५६००

आ वृत्तिमा धातुना स्वाभाविक अर्थ, उपसर्ग लागवाथी फरी जता अर्थ, रूपोमा थता फेरफारो वगैरेनुं सविस्तर वर्णन अने धातुना यथार्थ रहस्यने समजाववामा आवेल्ल छे ।

६ संस्कृतद्वयाश्रयमहाकाव्य श्लोक २८००

७ अमिधानचिन्तामणि—कोपवृत्तिसहित । श्लोक १००००

संस्कृतभाषाना ज्ञाननी पूर्णता माटे सूत्र-वृत्ति-गणपाठ-धातुपाठ-उणादि अने लिङ्गानुशासननी रचना पण पोते ज करेली छे ।

आ व्याकरणना नाममा 'सिद्ध अने हेम' ए वे शब्दने जोडीने एम ध्वनित कर्तु छे के 'मारी कृतिना आश्रय लेनारने ए ज विषयमा बीजानी कृतिमा फाफा मारवा पडे ए मारा अने सिद्धराजना नामने शोभे ज नहि', एटलुज नहि पण आ सुन्दर साहित्यनु निर्माण करवाथी जैनशासननी प्रभावना साथे सिद्धराजना यशःकीर्ति-कल्लोलेने दिगन्तव्यापी वनाव्या छे ।

आ प्रधानतम-व्याकरणना बीजा महाविभाग तरीके आठमो अध्याय प्रसिद्ध छे, एना चार पाद छे ते प्राकृतादि-भाषानुं परिपूर्ण ज्ञान आपवाने समर्थ छे । प्राकृतभाषादिना सम्पूर्ण ज्ञाता थवा माटे कार्यप्रदेशने उपयोगी शब्दार्थपूर्वक सूत्रोने कण्ठस्थ करवा ज जोइए ।

अष्टमाध्याय-वृत्तिसहित श्लोक २२००

प्राकृत-द्वयाश्रयमहाकाव्य ” १५००

उपरना वन्ने ग्रन्थनुं सारी रीते पठन-मनन अने परिशीलन करवाथी छए भाषानो पारङ्गत जरूर वने एवो कलिकाल सर्वज्ञना साहित्यनो सदने माटे आशीर्वाद छे!!!

सि हे श ना अष्टमाध्याय—प्राकृतव्याकरणना चारे पादना कूल सूत्रो १११९ छे । चोथा पादमा शौरसेनीभाषा माटे सूत्र २७, मागधी भाषामाटे सूत्र १६, पैशाची भाषामाटे सूत्र २२, चूलिकापैशाची भाषामाटे सूत्र ४, अने अपभ्रंश भाषामाटे सूत्र १२० मळी पांच भाषामाटेना कूल सूत्रो १८९ छे अने प्राकृत भाषामाटेना आ आठमा अध्यायमा ९३० सूत्रो छे, अने पांच भाषाना १८९ सूत्रो मेळवता कूल सूत्रो १११९ थाय छे ।

उपर जणावेली छ भाषा अने सातमी संस्कृत भाषा ए दरेकना गद्य अने पद्यरूप बन्ने विभाग गणिए तो चौद विभागमा व्यापक बनेल सात भाषानुं सरळ रीतिए सम्पूर्ण ज्ञान आपी शके एवं समर्थ-प्रभावशालि-श्रीसिद्धहेम-चन्द्रशब्दानुशासन व्याकरण छे । लोकप्रसिद्ध अने लोकोपयोगी साते भाषानां साङ्गोपाङ्ग साहित्यमां प्रवेश करवाना साधनरूप आ एक ज व्याकरण छे ।

प्रकाशित थता आ प्रथम विभागमा चतुष्कवृत्तिना चार विभागमाथी सन्धि, नाम, अने कारंकरूप त्रण विभागना सूत्रो, सूत्रोनी सामान्य-विवरणरूप तत्त्वप्रकाशिकावृत्ति, विशिष्टविवरणरूप आनन्दबोधिनीवृत्ति अने परिशिष्टोनो समावेश करवामा आव्यो छे ।

## अभ्यासको माटे मार्गसूचन ।

आ प्रधानतम-व्याकरणना अभ्यासकोने धारणा-मुजबनुं फळ मळ्ळु जोइए ते माटे आ प्रकरणमां अभ्यास करवानीं रीतिनु सूचन करवामा आवे छे ।

संस्कृतादि सात भाषाना बोधने प्राप्त कराववामां भारतना समग्र व्याकरणोमां आ प्रधानतम व्याकरणनो नम्बर सौथी पहेलो आवे छे, अने तेथीज तेने प्रधानतम ए विशेषण सार्थक छे । ए सात भाषामा मुख्य-भाषा संस्कृत छे, ते एक संस्कृत भाषाना बोधने माटे ज आ व्याकरणना सात अध्यायो रचेल छे, दरेक अध्यायना चार चार पादो होवाथी कूल अठ्ठावीस पादो छे, तेमाथी पहेला अध्यायना चार अने बीजा अध्यायना वे मळी प्रथमना छ पादना तत्त्वप्रकाशिकावृत्ति अने आनन्दबोधिनीवृत्ति सहित सूत्रो आ प्रथमभागमां प्रकट करवामां आल्यां छे ।

आ व्याकरणमा सारी रीते प्रवेश थइ शके ते हेतुने ध्यानमा लइने सदुपदेशद्वारा स्व० शेट नेमचन्द पोपटलाल वोराना सरणार्थे तेमना सुपुत्र जगच्चन्द्रभाईनी आर्थिक सहायताथी उज्जैननी 'श्रीऋषभदेवजी छगनीरामजीनी पेढीए' "श्रीहेमचन्द्राऽऽनन्दग्रन्थाब्धि" नामनी ग्रन्थमालाना प्रथम ग्रन्थरत्न तरीके 'श्रीहेमचन्द्रकृतिकुसुमावली' नामना ग्रन्थ समुच्चयने उणादिसहित सात अध्यायोना सूत्रो, लिङ्गानुशासन, काव्यानुशासनना सूत्रादि विगेरे प्रथम प्रकट करेल छे, अने ते ज ग्रन्थाब्धिना द्वितीय ग्रन्थरत्न तरीके आ सिद्धहेमशब्दानुशासनना प्रथमभागने बहार पाडवामां आवे छे । आ ग्रन्थमा सज्ञा-सन्धि-नाम, अने कारक, पर्यन्तना छ पादना सूत्रो, सूत्रोने सामान्य-बोध आपनारी तत्त्वप्रकाशिका-वृत्ति अने सूत्रकार भगवानना हृदयगत आशयनो आनन्दपूर्वक विशिष्ट-बोध देवामा समर्थाभूत-आनन्दबोधिनी-वृत्तिने प्रकट करवामा आल्या छे; तथा तेओने लगतां परिशिष्टो पण आपेला छे ।

अनेकविध सुन्दर सामग्रीरूप चिन्तामण्यादि-रत्नोथी भरपूर श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-प्रथमविभागरूप ग्रन्थरत्नाकरमां प्रवेश करनारे पहेला सात अध्यायना सूत्रो अने उणादिना सूत्रो कण्ठस्थ करवा जोइए ।

जैनकुळमां जन्मेलाओने अवश्यकर्तव्यरूप अनुष्ठानो माटे योजायेल सूत्रो अने वैदिकादिकुळमा जन्मेलाओने वेद-श्रुति अने स्मृतिना पाठो जेवी रीते कण्ठस्थ कराववामा आवे छे, तेवी ज रीतिए कण्ठस्थ करवानी रीतिने जाळ्ळीने कार्यप्रदेशमा सम्पूर्ण उपयोगी निवडी शके ते हेतुथी सूत्रोनी साथे सूत्रोने शब्दार्थ तथा ते बन्ने उपरथी नीकळतो आछो भावार्थ पण कण्ठस्थ करवो-कराववो ज जोइए ।

आ स्थळे अभ्यासकने शङ्का थशे के-केवळ छ पादना आ प्रथमभागमां प्रवेश करनारने अठ्ठावीस पादना सूत्रो अने उणादिसूत्रो शब्दार्थसहित कण्ठस्थ करवानी फरज पाडवानु प्रयोजन शु हशे १, तेना समाधानमा जणाववानु के वृत्तिस्थ-पदोने स्पष्ट करवामा तथा प्रयोगकाळे उदाहरण-प्रत्युदाहरणोने यथार्थरीतिए समजाववामा ओछा-वचा भ्रमाणमा लगभग बधा सूत्रोनी जरुरीयात पडे छे । दाखला तरीके वृत्तिना मङ्गलाचरणनी शरुआतना श्लोकना त्रीजा पादमाना "आचार्यहेमचन्द्रेण" ए पदमा आवेली तृतीया विभक्तिना निर्णय माटे "तृतीयायात्" ॥ ३ । १ । ८४ ॥, अने "द्विहेतो" ॥ २ । २ । ८७ ॥, आ वे सूत्रना आशयने समजवानी जरुर छे, कारण के आशयने स्पष्टरीतिए समज्या वगर तृतीयानु निर्णयात्मक ज्ञान थइ शकतुं नथी, तेवी ज रीते "सिद्धि स्याद्वादात्" ॥ १ । १ । २ ॥, अने "लोकात्" ॥ १ । १ । ३ ॥, आ बन्ने सूत्रमा पञ्चमीना निर्णयमाटे "गम्ययप. कर्माधारे" ॥ २ । २ । ७४ ॥ सूत्रने समजवानी अनिवार्य जरुर पडे छे ।

"एकद्वित्रि०" ॥ १ । १ । ५ ॥ नी वृत्ति पृ० ५ प० १२ मां 'ह्रस्वसज्ञाया अभावात्तोऽन्तो न भवति' अर्थात् ह्रस्वसज्ञाना अभावथी अर्ही अन्तमा त् आगम थतो नथी, ए निषेधने समजवा माटे तेनु विधान करनारा सूत्रने समजवानी जरुर पडे छे, अर्थात् "ह्रस्वस्य त. पित्कृति" ॥ ४ । ४ । ११३ ॥ ए सूत्रथी थता विधिने समज्या वगर निषेध लक्ष्यमा आवी शकतो नथी ।

तेवी रीते "अनवर्णा नामी" ॥१।१।६॥, अने "पञ्चको वर्गः" ॥१।१।१२॥, आ बन्ने सूत्रनी वृत्तिमा नामिप्रदेश अने वर्गप्रदेश बतावता "नामिनस्तयो षः ॥२।३।८॥" अने "कवर्गैकस्वरवति ॥२।३।७६॥" आ बन्ने सूत्रोने समजवानी अवश्यमेव जरुर रहे छे ।

तेज प्रमाणे "वृत्त्यन्तोऽस्ये" ॥१।१।२५॥ पृ० १४ नी प० १ मां "प्रत्यय प्रकृत्यादेः" ॥७।४।११५॥ आ सूत्रने समज्या वगर शङ्का-समाधान समजमां आवी शकता नथी ।

सज्ञाधिकारमा तथा सन्धि-नाम अने कारकप्रकरणमा शङ्का-समाधान अवसरे, साधनिका अवसरे अने पदप्रयोजन-अवसरे छपाद सिवायना बावीस पादमाथी लगभग ७२५ सूत्रो अवश्यमेव हाजरी आपी जाय छे । आ वधा सूत्रोसाथे उणादिना सूत्रो पण प्रसङ्गे प्रसङ्गे पोतानो भाग भजवी जाय छे ।

पठन-पाठन-मनन अने परिशीलन अवसरे सूत्रार्थ-सहित दरेक सूत्र अभ्यासिने पोताना नामनी माफक तुरत ज याद आवी जाय एवी रीतने अभ्यास पण्डिते कराववो जोइए । मणावनारे वनी शके त्या सुधी भणनारने तेनी मातृभाषामा दरेक सूत्रनो भाव आछा विवेचन-पूर्वक सक्षेपमा पहेला समजावी देवो, अने ते पछी सूत्रस्थित-पदोनो अने अनुवृत्त-पदोनो अर्थ समजाववो ।

अभ्यासके सूत्रने अने सूत्रना अर्थने एवी रीते याद राखवां जोइए के जेम गांधीनी दुकानमा हजारो वस्तुना ढाव-डावो होय, अने तेमा ( ढावडावमा ) रहेली चीजो पचीस वर्ष पहेला खरीदीने भरेली होय, परन्तु ग्राहक जे वस्तुनी मागणी करे ते ज वस्तुना ढावडा उपर गांधीनो हाथ पडे, तेम ज्या जे सूत्रनो विषय होय त्या ते ज सूत्र अभ्यासकना सरण प्रदेश पर आवीने उसु रहे एवा प्रकारनो अभ्यास होवो जोइए ।

सूत्रने कण्ठस्थ करती वस्तुते उच्चारण करवामा घणी ज सावधानी राखवानी छे, अर्थात् ह्स्वने वदले दीर्घ, दन्त्यने वदले तालव्य अथवा मूर्धन्य पण नहि बोलावु जोइए तो पछी कानो मात्रा के अनुस्वारनी वधघट तो कराय ज केम, कारण-के सूत्रने कण्ठस्थ करती वस्तुते सम्पूर्ण शुद्धता साचवी न होय तो प्रयोगोनी साधनिका करती वस्तुते सूत्रनो अर्थ करवामा अशुद्ध उच्चारणने लहने गुचवाडो उमो थाय छे । जे अभ्यासिने अर्थनु ज्ञान वरावर होय पण उच्चारण अशुद्ध होय अथवा उच्चारण शुद्ध होय परन्तु अर्थनु ज्ञान वरावर न होय तेवा अभ्यासिने समजाववामा शिक्षकनो केटलोक काळ ( टाइम ) न-कामो चाल्यो जाय छे ।

सूत्र अने सूत्रार्थनुं दान अनुक्रमे शुद्धोच्चारण पूर्वकनुं तथा समजावट पूर्वकनुं दइ शके तेवा शिक्षक पासे पहेला मूल-सूत्रनुं ज्ञान सम्पादन कर्या पछी ज आ कारकान्त-प्रथम-भागरूप ग्रन्थनो अभ्यास शरु करवो हितकारक छे ।

आ ग्रन्थना सूत्र अने सूत्रार्थने भणाववाने माटे आ व्याकरणनी वृहद्बृत्तिनुं पठन-पाठन मनन अने परिशीलन जेणे कर्तुं होय ते शिक्षक उत्तम गणाय, अने ए अभ्यास उपरान्त बृहद्व्यास, द्वाश्रयमहाकाव्य, अमोघावृत्ति, काशिकावृत्ति, चाळ व्याकरण-टीका-टीप्पनग्रन्थो तथा महाभाष्यनो गवेषक अने अखण्ड अभ्यासक होय तो ते शिक्षक उत्तमोत्तम गणाय; ए बडे प्रकारना शिक्षकना अमावे जेणे लघुवृत्तिनो सारी रीते अभ्यास कर्यो होय ते शिक्षकने मध्यमकोटिनो गणी शक्य । जे शिक्षकोए तत्त्वप्रकाशिकाने निहाळी नथी, लघुवृत्तिनुं साधन्त पठन कर्तुं नथी, पण सामान्यतया संस्कृतभाषानो बोध प्राप्त करीने केवल द्रव्यप्राप्तिसा ध्येयथी जेओ शिक्षक वनी वेठा छे तेवा अधकचरा-ज्ञानवाळा शिक्षको विद्यार्थिओने सन्तोषी शकता नथी । एटलु ज नहि पण विद्यार्थिए पूछेला प्रश्ननो यथार्थ उत्तर आपवाने वदले भलतो ज उत्तर आपीने विद्यार्थिना हृदयने शंकित वनावे छे, कारण के पोताना प्रश्ननो मळेलो उत्तर शङ्कानुं निवारण करी शकतो नथी । जे शिक्षक पोते ज ग्रन्थकारना आशयने समजी शकतो न होय ते वीजाने क्याथी समजावी शके, एवा शिक्षको ग्रन्थकारना आशयपूर्वकनी रचनाने अन्याय आपवानी उतावळ पण करी बेसे छे ।

काशी अने कलकत्तानी इतर-व्याकरणनी परीक्षामा उत्तीर्ण थहने संस्कृतभाषा पर सुन्दर काबू धरावनारा पण्डितो पण आ प्रधानतम व्याकरणनी शैली-सामर्थ्य अने सरलताने नहि जाणता होवाथी एना पठन-पाठनने हिमालय जेवा मोटा पर्वतने ओळंगवा जेवुं कठिण माने छे, अने बराबर भणावी शकतुं न होवाथी पोताने थती गुंझवण टाळवाने माटे 'आ व्याकरणने सारी रीते समजावीने मणावी शके एवो कोई पण्डित वर्तमान काळमां छे ज नहि, एटले तमे गमे तेदली महेनत करशो तो पण जोइए तेवो बोध थशे नहि, तेथी छेवटे थाकीने आ व्याकरणने सुकी देवुं पडशे तेना करतां हमणांज मुक्ती देवुं सारुं छे' ए प्रमाणे संभळावीने विद्यार्थिओने निरुत्साही वनावी दे छे ।

संस्कृतभाषाना पारङ्गत बनवानी इच्छा धरावनाराओने हमारी भलाभण छे के आ ग्रन्थनुं पठन-पाठन पद्धतिसरनुं कर्या पछी भाषाना साङ्गोपाङ्ग ज्ञाननी समाप्ति सुधी कलिकालसर्वज्ञविरचित-साहित्य सिवाय कोई पण साहित्यनी परतंत्रता सेववानी लेशभर जरूरीयात रहेती ज नथी ।

आटलु प्रासङ्गिक कथन कर्या पछी आपणे हवे मूळवातने विचारीए-सूत्र अने सूत्रार्थ थह गया पछी तीव्रबुद्धिवाळाए वनी शके तो कलिकालसर्वज्ञ भगवाननी सूत्रव्याख्यान-शैली हृदयपटमा सर्वदा स्थित थाय, कलिकालसर्वज्ञकथित सूत्र-सूत्रार्थ-प्रश्न-समाधान-भावार्थादि चिरकाळ सुधी जीवनमा अङ्कित थाय अगर ओतप्रोत वनी जाय, तेदळा माटे चतुष्क-वृत्तिना (१) एक वृत्तीयाश भागरूप संज्ञा-सन्धि-नाम अने कारकप्रकरणना सूत्रनो तत्त्वप्रकाशिका-वृत्तिसहितना आ प्रथमविभा-गने कण्ठस्थ करवो ज जोइए । अने ते वषु ओतप्रोत वनी जाय तेदळा माटे एक पण स्थळने छोड्या वगर आनन्दबोधिनी वृत्तिने समजी लेवी जोइए, अर्थात् आ छपादनो सम्पूर्ण ज्ञाता थया पछी ज पठन-पाठन अने परिशीलननी पूर्णपद्धति पूर्वक

कण्ठस्थ कर्था वगर पण बाकीना बावीस पादनुं अने उणादिनुं अध्ययन करवुं ज जोइए । अवसरे अवसरे बावीस पादना दरेक प्रदेशमा पोते उत्तीर्ण थयो होय तेवी रीते पोतानी भाषामा लखेला भावने स्पष्ट रीते समजतो होय अने समजावतो होय तेटली हद्दे बुद्धिनो विकास थइ गयो होय तेनो निर्णय करवो जोइए, अने ते पछी बृहद्व्यास अने धातुपारायणने भगवानी दृष्टिए भणी लेवा जोइए । आ व्याकरणनी साथे शाकटायन-व्याकरणना सूत्र-अमोघवृत्ति-उदाहरणो अने प्रत्युदाहरणोनी तुलना-परीक्षा-विशिष्टता वगैरे तपासवा । पाणिनीयव्याकरणना सूत्रो अने काशिकावृत्ति तथा ते सूत्रो उपरना महा-भाष्यना निर्णयो, सिद्धान्तोना निर्णयो वगैरेनी तुलना-शक्तिनो अने परीक्षणशक्तिनो विकास करवो । भाष्यकारना सिद्धान्तोने सुन्दर-सरळ अने सम्पूर्ण रीतिए कलिकालसर्वज्ञे कइ कइ जग्याए गोठव्या छे ते समजवानो प्रयत्न करवो, अने साथे साथे कोष्ठ-बुद्धिरूप भण्डारमा भरी शकाय तेटल्लु बधुं ए भरी देवु जोइए ।

भाषादिज्ञानना विस्तार माटे संकुचित-मनोवृत्ति, अणखेडायली बुद्धि, जिज्ञासा अने तृप्ति तथा वीजां व्याकरणो साथे तुलना-परीक्षामां थतां आळसने तिलाञ्जलि दीधा सिवाय भाषानी माहितीरूप महासागरनो कोई पण अभ्यासी पार पामी शकतो ज नथी ए वे ने वे चार जेवी स्पष्ट अने सीधी बात छे ।

ज्ञानना रसिकोए, जिज्ञासानी पूर्ति माटेना जीवन-समर्पकोए अने सत्यनी शोधमां नीकळी पडेली मुसाफरोए हृदयनी विशाळता पूर्वक पोतपोताना धारेला कार्यनी सिद्धि पाळळ उद्यमी थवुं ज जोइए ।

खंतीला उद्यमप्रधान पुरुषो ज गमे तेवी कटोकटीना प्रसङ्गमां धैर्यता पूर्वक पोतानुं समतोलपणुं जाळवीने पोताना पक्षनी, पोताना सिद्धान्तनी अने पोतानी बातनी सरखामणी करवामां, विचार-विनिमय करवामां, शक्का करनारनी शक्का सांभळवामां अने जवाब आपवामां लेशभर गभराता नथी । आ रीते अभ्यासिनो अभ्यास परा-काष्टाए पहुँच्यो छे, तेनी आगाहीरूप आ एक अमोघ विजय छे, आवा विजयोनी वरमाळने वरेलो विद्वान् गलीगुंची जेवा पोताना सांकडा मार्गने पण राजमार्ग जेवो वनावी शके छे एज विशाळ-अभ्यासनुं परिणाम छे ।

जेम समुद्रनी सपाटी उपर सहेल मारनारने हवाइ तरङ्गो भरती अने ओट नजरे चढे छे, पण तेना उंडाणमां रहेलां रत्नो नजरे चढतां नथी; परन्तु ते लेवां होय, तेनी गम्भीरता अने मर्यादाने मापवां होय तो समुद्रमां डूब-कीओ मारतां शिखंजुं ज जोइए अने सहीसलामतरीतिए पाछा बहार आववुं जोइए । तेवी रीते भाषाज्ञानना सागर-समान आ कृतिना प्रमाणने जोइने गभराया विना एना उंडाणमां प्रवेश करीने सहीसलामत बहार नीकळवानी कळाना शिखनारने एमांथी अमोघ रत्नोनी प्राप्ति थाय छे ए निर्विवाद-सत्य छे ।

भणनार-भणावनारने आ रीतिए भणवा-भणाववामा शरुआतमा जो के कठिणता माल्लस पडशे तो पण रत्नो कापनार मुसाफरने जेटळ चाल्या तेटळ चालवानु रहेतु नथी ते हिसावे जेम जेम आ ग्रन्थमा प्रवेश थतो जशे तेम तेम आगळनो मार्ग सरळ अने निष्कटक बनतो जशे । आ प्रधानतम व्याकरणना सम्पूर्ण पठन-पाठनथी भाषाज्ञाननी साथे भूगोळ-खगोळ-वैद्यक अने जैनेतर-दर्शनसम्बन्धि-विविध-विषयोनु पण ज्ञान थाय छे ।

अदार हजार श्लोकप्रमाण आ ग्रन्थने आनन्दबो० वृ० साथे सात विभागमा प्रकट करवा धारीए छीए । विविध-विषयोना परिशिष्टोना संमिश्रणथी आ ग्रन्थनुं कद वधी जशे तो सातथी वधारे भाग पण थइ जाय । प्रथम विभागमां आवेला छ पादना-सज्ञा-सन्धि-नाम अने कारकप्रकरणना-सूत्रो अने वृत्तिद्वारा कलिकालसर्वज्ञ-भगवान् केटळं विशाळ ज्ञान समर्पण करे छे ते सीजइ गयेली खीचडीना दाणानी जेम तपासवाथी तपासनारने माल्ल पडे छे ।

श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणना अभ्यासिनो अभ्यास कार्य प्रसंगे जणाइ आवे छे, अने साङ्गोपाङ्ग अभ्यासद्वारा केवी कुशळताने प्राप्त करी छे, ए विनाने ध्यानमा लहने अभ्यासिनोए सूत्रोनी अने सूत्रोना अर्थनो सारी रीते उपयोग करता शिखतु जरूरीनु छे । अभ्यासिनो माटे नीचेनी विना सुसंगत छे ।

कलिकालसर्वज्ञ-भगवान्ना शिष्य श्रीवर्धमानगणिवर हता, एवो उल्लेखं तेमणे वनावेली अनेकार्थकृतिमा करेलो छे, अने कुमारविहारप्रशस्तिना छ अर्थ थता हता तेना तेमणे एकसोने सोळ अर्थ कर्था छे एम पण जणाव्यु छे ।

श्रीसोमप्रभसूरिकृत कुमारपाल-प्रबोधनी प्रशस्ति उपरथी श्रीवर्धमानगणिवरनी विद्यमानता वि० स० १२१० नी आस-पास मानी शकाय । जे काव्यना पूर्वे छ अर्थ कर्था हता तेना ज पाळळथी ११६ अर्थ करी वताववामा श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनना सूत्रना शब्दार्थनो अने परमार्थनो सारी रीते उपयोग करेलो छे, तथा सस्कृत ब्रह्मश्रयमहाकाव्यनो पण छूटथी उपयोग करेलो छे ।

कुमारविहार-प्रशस्तिकव्यना ८७ मा श्लोकना जे ११६ अर्थ करेला छे, तेमांन ४१ मा अर्धमां कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यनु सुदररीतिए वर्णन करेछे छे ।

श्लोकना पदोने झूया पाहवानी तथा ते पदोना सामान्य अर्थने अने विशेषतया नीकळता अनेकार्थोने घटाववानी श्रीवर्धमानगणिनी कुशळताने देखीने कहेवुं पडशे के ते काळना तेओश्री समर्थ वैयाकरण हता । आ वात अत्रे जणाववानुं प्रयोजन ए छे के अभ्यासिओ अभ्यासमां अखण्ड रीतिए आगळ वधे तो श्रीवर्धमानगणिवरनी माफक आ महा-व्याकरणना प्रभावने दिगन्तव्यापी बनावी शके ।

अभ्यासिओए एटुं ध्यानमा राखवु के श्रीमलयगिरिमहाराजनी टीकामा जे सूत्रो आवे छे ते सूत्रो अने तेना अङ्क तपासता जणाय छे के ते सूत्रो तेमना पोताना बनावैला शब्दानुशासनना छे, परन्तु सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनना के पाणिनीयव्याकरणना नथी ।

प्राचीन-साहित्यसृष्टिमा अनेक वैयाकरणो थइ गया छे, तेओए नाना मोटा अनेक व्याकरणो रच्या छे, परन्तु संस्कृत, प्राकृत आदि लोकप्रसिद्ध सात भाषानुं सम्पूर्ण अनुशासन करनार कलिकालसर्वज्ञ सिवाय वीजो कोई जाण्यो नथी, सांभळ्यो नथी के ग्रन्थना पानां पर चढ्यो नथी ए ज तेओश्रीनी महत्ता छे ।

कलिकालसर्वज्ञ-भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यनी अनेकविध शास्त्र-रचनाओने साधन्त झीणवटथी अवलोकवामा आवे तो दरेके दरेक कृतिमाथी—अभ्यासी अभ्यास करीने अपूर्व प्राप्ति माटे रसपूर्वक एक ज स्थळैथी वधुं मेळवी शके—एवा प्रकारनो तेमनो उद्देश बलोणामां माखणनी जेम स्पष्ट तरी आवे छे ।

सर्व रचनाओ पैकी श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन जेवी महान् कृतिना प्रथम विभाग तरीके सज्ञा-सन्धि-नाम अने कारक-प्रकरणोने तपासता माळस पडे छे के—संस्कृतभाषाना रसिको रसिकतापूर्वक सम्पूर्ण रस लइ शके अने ते भाषानो पार-ज्ञत बने ते हिसावे दरेक प्रकरणो सर्वसामग्रीथी परिपूर्ण भरेला छे ।

सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननो अभ्यासी च्हाय तो सज्ञाप्रकरण शिखे के सन्धिप्रकरण शिखे, अगर तो नामप्रकरण शिखे के कारकप्रकरण शिखे छता ते ते प्रकरण शिख्या पछी ते ते प्रकरण माटे परकीय-व्याकरणनो आश्रित लेशभर न बने ए उद्देशने ख्यालमा राखीने दरेक प्रकरणनी गोठवण करी छे ए वात फरीथी अहीं याद देवराववी उचित गणी छे ।

आ प्रथम विभागमा चतुष्कवृत्तिनी चार वृत्तिमाथी १ सज्ञा-सन्धि २ नाम अने ३ कारक ए त्रण वृत्तिओ ज लेवामा आवी छे ।

चतुष्कवृत्ति, आख्यातवृत्ति आदि चारे वृत्तिमा एक सरखी उपयोगी बनी शके एवी व्यापक सज्ञाओ आ सज्ञाप्रकरणमा जणावेली छे, वीजी केटलीक सज्ञाओ जे जे प्रकरणा उपयोगी होय ते ते प्रकरणनी शुरुआतमा जणावेली छे, कारणके ते ते सज्ञाओने जणाववानी जरुरत त्या ज हती एटले आ सज्ञाप्रकरणमा जणाववामा आवी नथी ।

कारकप्रकरणमा कर्ता, कारक, कर्म अने व्याप्य वगैरे सज्ञाओ आवे छे ते बधी सज्ञाओ कारकप्रकरणमा ज उपयोगी छे, तेवीज रीते आख्यातवृत्तिमा, कृद्वृत्तिमा अने तद्धितवृत्तिमा पण जे केटलीक सज्ञाओ आवे छे ते बधी ते ज प्रकरणमा उपयोगी होवाथी आ सज्ञाप्रकरणमा लीधी नथी । ए बाबतमा कइ शक्या करवा जेनुं नथी, अर्थात् साते अध्यायनी चारे वृत्तिमा एक सरखी उपयोगी थइ पडे एवी सज्ञाओने ज आ सज्ञा-प्रकरणमा स्थान आपवानु अत्यन्त सुसङ्गत-कार्य कर्तुं छे ।

सज्ञाप्रकरणे—सूत्रसंख्या ४२,—पृ० १ थी २४ ।

सज्ञाप्रकरणमा कूल ४२ सूत्रो छे । एमानु पहेल्ले सूत्र छे ते सूत्रनु एटले सूत्रसमुदायनु अथवा सूत्रसमुदायरूपग्रन्थनुं मङ्गल छे । पछीना वे सूत्रो अधिकारसूत्र छे, अने बाकीना “औदन्ता स्वराः ॥१।१।१॥” वगैरे बधा सूत्रो सज्ञाप्रतिपादक सूत्रो छे, परन्तु छेला चार सूत्रो अतिदेशसूत्र छे । आ रीतिए दरेक प्रकरणना सूत्रोने न्हेंचता शीखवु ज जोइए ।

### \* मङ्गलसूत्र-रहस्यम् ।

मङ्गलरूप पहेला सूत्रनी अने अधिकाररूप सूत्रद्वयमाथी पहेला सूत्रनी—एटले ए बन्ने सूत्रोनी समालोचनानो उडो अभ्यास करवाथी कलिकालसर्वज्ञ भगवानना हृदयनी भावना अत्यन्त विशाल अने व्यापक हती एम जणाइ आवे छे । आवां सूत्रोनी रचना करीने पोताना अगाध-पाण्डित्यना परिचयथी सर्वदर्शनने यथार्थन्याय आपीने जैनसम्प्रदायनुं गौरव वधार्युं छे, कारणके दरेक सम्प्रदायवाळाओ पोतानी इष्टसिद्धि माटे ए बन्ने सूत्रोने उपयोगमा लइ एना शब्दार्थने अने भावार्थने योजी शके छे ।

कण्ठस्थ कर्या वगर पण वाकीना बावीस पादनुं अने उणादिनुं अध्ययन करवुं ज जोइए । अवसरे अवसरे बावीस पादना दरेक प्रदेशमा पोते उत्तीर्ण थयो होय तेवी रीते पोतानी भापामा लखेला भावने स्पष्ट रीते समजतो होय अने समजावतो होय तेटली हद्दे बुद्धिनो विकास थइ गयो होय तेनो निर्णय करवो जोइए, अने ते पठी वृहद्व्यास अने घातुपारायणने भणवानी दृष्टिए भणी लेवा जोइए । आ व्याकरणनी साथे शाकटायन-व्याकरणना सूत्र-अमोघवृत्ति-उदाहरणो अने प्रत्युदाहरणोनी तुलना-परीक्षा-विशिष्टता वगैरे तपासवा । पाणिनीयव्याकरणना सूत्रो अने काशिकावृत्ति तथा ते सूत्रो उपरना महाभाष्यना निर्णयो, सिद्धान्तोना निर्णयो वगैरेनी तुलना-शक्तिनो अने परीक्षणशक्तिनो विकास करवो । भाष्यकारना सिद्धान्तोने सुन्दर-सरळ अने सम्पूर्ण रीतिए कलिकालसर्वज्ञे कइ कइ जग्याए गोठव्या छे ते समजवानो प्रयत्न करवो, अने साथे साथे कौष्ठ-बुद्धिरूप भण्डारमा भरी शकाय तेटल वधु ए भरी देवु जोइए ।

भाषादिज्ञानना विस्तार माटे संकुचित-मनोवृत्ति, अणखेडायली बुद्धि, जिज्ञासा अने तृप्ति तथा बीजां व्याकरणो साथे तुलना-परीक्षामां थतां आळसने तिलाञ्जलि दीधा सिवाय भाषानी माहितिरूप महासागरनो कोई पण अभ्यासी पार पामी शकतो ज नथी ए वे ने वे चार जेवी स्पष्ट अने सीधी वात छे ।

ज्ञानना रसिकोए, जिज्ञासानी पूर्ति माटेना जीवन-समर्पकोए अने सत्यनी शोधमां नीकळी पडेला मुसाफरोए हृदयनी विशाळता पूर्वक पोतपोताना धारेला कार्यनी सिद्धि पाळळ उद्यमी थवुं ज जोइए ।

खंतीला उद्यमप्रधान पुरुषो ज गमे तेवी कटोकटीना प्रसङ्गमां धैर्यता पूर्वक पोतानुं समतोलपणुं जाळवीने पोताना पक्षनी, पोताना सिद्धान्तनी अने पोतानी वातनी सरखामणी करवामां, विचार-विनिमय करवामां, शङ्का करनारनी शङ्का सांभळवामां अने जवाव आपवामां लेशभर गभराता नथी । आ रीते अभ्यासिनो अभ्यास पराकाष्ठाए पहोंच्यो छे, तेनी आगाहीरूप आ एक अमोघ विजय छे, आवा विजयोनी वरमाळने वरेलो विद्वान् गलीगुंची जेवा पोताना सांकडा मार्गने पण राजमार्ग जेवो वनावी शके छे एज विशाळ-अभ्यासनुं परिणाम छे ।

जेम समुद्रनी सपाटी उपर सहेल मारनारने हवाइ तरङ्गो भरती अने ओट नजरे चढे छे, पण तेना उंडाणमां रहेलां रत्नो नजरे चढतां नथी; परन्तु ते लेवां होय, तेनी गम्भीरता अने मर्यादाने मापवां होय तो समुद्रमां डूबकीओ मारतां शिखवुं ज जोइए अने सहीसलामतरीतिए पाछा न्हार आववुं जोइए । तेवी रीते भाषाज्ञानना सागर-समान आ कृतिना प्रमाणने जोइने गभराया विना एना उंडाणमां प्रवेश करीने सहीसलामत बहार नीकळवानी कळाना शिखनारने एमांथी अमोघ रत्नोनी प्राप्ति थाय छे ए निर्विवाद-सत्य छे ।

भणनार-भणावनारने आ रीतिए भणवा-भणाववामा शरुआतमा जो के कठिणता माळस पडशे तो पण रस्तो कापनार मुसाफरने जेटळ चाल्या तेटळ चालवानु रहेतु नथी ते हिसाबे जेम जेम आ ग्रन्थमा प्रवेश थतो जशे तेम तेम आगळनो मार्ग सरळ अने निष्कटक बनतो जशे । आ प्रधानतम व्याकरणना सम्पूर्ण पठन-पाठनथी भाषाज्ञाननी साथे भूगोळ-खगोळ-वैद्यक अने जैनेतर-दर्शनसम्बन्धि-विविध-विषयोनु पण ज्ञान थाय छे ।

अठार हजार श्लोकप्रमाण आ ग्रन्थने आनन्दबो० वृ० साथे सात विभागमा प्रकट करवा धारीए छीए । विविध-विषयोना परिशिष्टोना समिश्रणथी आ ग्रन्थनुं कद वधी जशे तो सातथी वधारे भाग पण थइ जाय । प्रथम विभागमा आवेला छ पादना-सज्ञा-सन्धि-नाम अने कारकप्रकरणना-सूत्रो अने वृत्तिद्वारा कलिकालसर्वज्ञ-भगवान् केटळ विशाळ ज्ञान समर्पण करे छे ते सीजइ गयेली खीचडीना दाणानी जेम तपासवार्थी तपासनारने मालम पडे छे ।

श्रीसिद्धहेमचन्द्रव्याकरणना अभ्यासिनोना अभ्यास कार्य प्रसंगे जणाइ आवे छे, अने साङ्गोपाङ्ग अभ्यासद्वारा केवी कुशळताने प्राप्त करी छे, ए बिनाने ध्यानमा लइने अभ्यासिनोए सूत्रोना अने सूत्रोना अर्थनो सारी रीते उपयोग करता शिखवुं जरुरीनु छे । अभ्यासिनो माटे नीचेनी बिना सुसंगत छे ।

कलिकालसर्वज्ञ-भगवान्ना शिष्य श्रीवर्धमानगणिवर हता, एवो उल्लेख तेमणे वनावेली अनेकार्थकृतिमा करेलो छे, अने कुमारविहारप्रशस्तिना छ अर्थ थता हता तेना तेमणे एकसोने सोळ अर्थ कर्या छे एम पण जणाव्यु छे ।

श्रीसोमप्रभसूरिकृत कुमारपाल-प्रबोधनी प्रशस्ति उपरथी श्रीवर्धमानगणिवरनी विद्यमानता वि० स० १२१० नी आसपास मानी शकाय । जे काव्यना पूर्वे छ अर्थ कर्या हता तेना ज पाळळथी ११६ अर्थ करी बताववामा श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनना सूत्रना शब्दार्थनो अने परमार्थनो सारी रीते उपयोग करेलो छे, तथा संस्कृत ब्रह्माश्रयमहाकाव्यनो पण छूटथी उपयोग करेलो छे ।



कुमारविहार-प्रशस्तिकाव्यना ८७ मा श्लोकना जे ११६ अर्थ करेला छे, तेमाना ४१ मा अर्थमां कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यनु सुदररीतिए वर्णन करेछ छे ।

श्लोकना पदोने छूटा पाहवानी तथा ते पदोना सामान्य अर्थने अने विशेषतया नीकळता अनेकार्थोने घटाववानी श्रीवर्धमानगणिनी कुशळताने देखीने कहैवु पडशे के ते काळना तेओश्री समर्थ वैयाकरण हुता । आ वात अत्रे जणाववानुं प्रयोजन ए छे के अभ्यासिओ अभ्यासमां अखण्ड रीतिए आगळ वधे तो श्रीवर्धमानगणिवरनी माफक आ महा-व्याकरणना प्रभावने दिगन्तव्यापी बनावी शके ।

अभ्यासिओए एटछं ध्यानमा राखवु के श्रीमलयगिरिमहाराजनी टीकामा जे सूत्रो आवे छे ते सूत्रो अने तेना अङ्क तपासतां जणाय छे के ते सूत्रो तेमना पोताना बनावेल शब्दानुशासनना छे, परन्तु सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनना के पाणिनीयव्याकरणना नथी ।

प्राचीन-साहित्यसृष्टिमा अनेक वैयाकरणो थइ गया छे, तेओए नाना मोटा अनेक व्याकरणो रच्या छे, परन्तु सस्कृत, प्राकृत आदि लोकप्रसिद्ध सात भाषानुं सम्पूर्ण अनुशासन करनार कलिकालसर्वज्ञ सिवाय वीजो कोई जाण्यो नथी, सांभव्यो नथी के ग्रन्थना पानां पर चढ्यो नथी ए ज तेओश्रीनी महत्ता छे ।

कलिकालसर्वज्ञ-भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यनी अनेकविध शास्त्र-रचनाओने साधन्त झीणवटथी अवलोकवामा आवे तो दरेके दरेक कृतिमाथी—अभ्यासी अभ्यास करीने अपूर्व प्राप्ति माटे रसपूर्वक एक ज स्थळेथी वधुं भेळवी शके—एवा प्रकारनो तेमनो उद्देश वलोणामां माखणनी जेम स्पष्ट तरी आवे छे ।

सर्व रचनाओ पैकी श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन जेवी महान् कृतिना प्रथम विभाग तरीके सज्ञा-सन्धि-नाम अने कारक-प्रकरणोने तपासता माळस पडे छे के—सस्कृतभाषाना रसिको रसिकतापूर्वक सम्पूर्ण रस लइ शके अने ते भाषानो पार-ज्ञत बने ते हिसावे दरेक प्रकरणो सर्वसामग्रीथी परिपूर्ण भरेला छे ।

सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासननो अभ्यासी च्हाय तो सज्ञाप्रकरण शिखे के सन्धिप्रकरण शिखे, अगर तो नामप्रकरण शिखे के कारकप्रकरण शिखे छता ते ते प्रकरण शिख्या पछी ते ते प्रकरण माटे परकीय-व्याकरणनो आश्रित लेशभर न बने ए उद्देशने ख्यालमां राखीने दरेक प्रकरणनी गोठवण करी छे ए वात फरीथी अहीं याद देचराववी उचित गणी छे ।

आ प्रथम विभागमा चतुष्कवृत्तिनी चार वृत्तिमाथी १ सज्ञा-सन्धि २ नाम अने ३ कारक ए ञण वृत्तियो ज लेवामा आवी छे ।

चतुष्कवृत्ति, आख्यातवृत्ति आदि चारे वृत्तिमा एक सरखी उपयोगी बनी शके एवी व्यापक सज्ञाओ आ सज्ञाप्रकरणमा जणावेली छे, वीजी केटलीक सज्ञाओ जे जे प्रकरणा उपयोगी होय ते ते प्रकरणनी शुरुआतमा जणावेली छे, कारणके ते ते सज्ञाओने जणाववानी जरुरत त्या ज हती एटले आ सज्ञाप्रकरणमा जणाववामा आवी नथी ।

कारकप्रकरणमा कर्ता, कारक, कर्म अने व्याप्य वगैरे संज्ञाओ आवे छे ते बधी संज्ञाओ कारकप्रकरणमा ज उपयोगी छे, तेवीज रीते आख्यातवृत्तिमा, कृद्वृत्तिमां अने तद्धितवृत्तिमां पण जे केटलीक संज्ञाओ आवे छे ते बधी ते ज प्रकरणमा उपयोगी होवार्थी आ संज्ञाप्रकरणमा लीथी नथी । ए बाबतमां कइ शक्या करवा जेवु नथी, अर्थात् साते अध्यायनी चारे वृत्तिमा एक सरखी उपयोगी थइ पडे एवी संज्ञाओने ज आ सज्ञा-प्रकरणमा स्थान आपवानुं अत्यन्त सुसङ्गत-कार्य कर्तुं छे ।

संज्ञाप्रकरणो—सूत्रसंख्या ४२,—पृ० १ थी २४ ।

संज्ञाप्रकरणमा कूल ४२ सूत्रो छे । एमानु पहेंले सूत्र छे ते सूत्रनु एटले सूत्रसमुदायनु अथवा सूत्रसमुदायरूपग्रन्थनुं मङ्गल छे । पछीना वे सूत्रो अधिकारसूत्र छे, अने बाकीना “औदन्ता. स्वराः ॥१११४॥” वगैरे बधा सूत्रो संज्ञाप्रतिपादक सूत्रो छे, परन्तु छेला चार सूत्रो अतिदेशसूत्र छे । आ रीतिए दरेक प्रकरणना सूत्रोने न्हेंचता शीखवु ज जोइए ।

\* मङ्गलसूत्र—रहस्यम् ।

मङ्गलरूप पहिला सूत्रनी अने अधिकाररूप सूत्रद्वयमाथी पहिला सूत्रनी—एटले ए बच्चे सूत्रोनी समालोचनानो उडो अभ्यास करवाथी कलिकालसर्वज्ञ भगवानना हृदयनी भावना अत्यन्त विशाल अने व्यापक हती एम जणाइ आवे छे । आवां सूत्रोनी रचना करीने पोताना अगाध-पाण्डित्यना परिचयथी सर्वदर्शनने यथार्थन्याय आपीने जैनसम्प्रदायनुं गौरव वधार्युं छे, कारणके दरेक सम्प्रदायवाळाओ पोतानी इष्टसिद्धि माटे ए बच्चे सूत्रोने उपयोगमा लइ एना शब्दार्थने अने भावार्थने योजी शके छे ।

१—जूओ-गन्मीर श्रुतिभि सदाचरणत प्राप्तप्रतिष्ठोदय × × ×' इत्यादि श्लोक अने तेना विस्तृत अर्थो-सत्यप्रकाश वर्ष ४ सन्क ६ पृष्ठ ८५२ ।

आ व्याकरणो अभ्यास सर्व सग्रदायवाळाओ करी शके ते हेतुयी सौयी प्रथम “अहँ” ॥ १ । १ । १ ॥ एवा मङ्गलसूत्रनी रचना करी छे । अहँ शब्दने भिन्नभिन्नमतानुयायिओनी दृष्टिए विचारीए तो जैनदर्शनमा अहँशब्द पूजनीय अर्थमा सुविरल्यत छे । अरहतशब्द बौद्धदर्शनमा बुद्धदेव माटे वपराय छे । अहँ शब्दमा अइहँ अँ ए चार अक्षरो आवेला छे, तेना अर्थो कलिकालसर्वज्ञ विरचित महादेव स्तोत्रना ३९ श्लोकमा आ प्रमाणे जणावेलो छे—

“अकारेणोच्यते विष्णु रेफे ब्रह्मा व्यवस्थित । हकारेण हर प्रोक्तस्तदन्ते परम पदम्” ॥ ३९ ॥

अर्थ—अकार एटले विष्णु, रकार एटले ब्रह्मा, हकार एटले शङ्कर अने सानुनासिक (अँ) अकार एटले परमपद (मोक्ष), एवा अर्थ थाय छे, ए चारमाथी गमे तेने इष्ट माननारने अहँ शब्द पण मान्यज होइ शके एमा सशय राखवा जेवु नयी ।

कलिकालसर्वज्ञे सर्वधर्मना अनुयायिओ जेने इष्ट गणे छे, तेने गणीने अध्ययन करी शके एवा सूत्रना मङ्गलरूप अहँ शब्दने योजीने वृत्तिना मङ्गलमा पण सर्वमान्य परमात्मशब्दनी योजना करी छे, के जेथी कोइपण धर्मवाळाने आ व्याकरणना सूत्रके वृत्तिने भणवामा लेश पण सङ्कोचज न थाय । ए प्रमाणे सूत्रना अने वृत्तिना मङ्गलमा कलिकालसर्वज्ञे सर्वमान्यशब्दने मूकवामा जे दीर्घदर्शिता वापरी छे ते बाबतमा तेओश्रीनी पारावार उदारता माटे जेटली प्रशसा करीए तेटली ओठी ज छे ।

### \* अधिकारसूत्र-रहस्यम् ।

आ व्याकरणना कोई पण विभाग, प्रकरण के प्रयोगनो विचार करवामा “सिद्धिः स्याद्वादात्” ॥ १ । १ । २ ॥ नामनुं अधिकारसूत्र तो आवीने उमु ज रहे छे, कारण के आखा व्याकरणमा आ सूत्र पोताना अधिकारनु भान कराववाउ कार्य व्यापकपणे करे छे ।

स्याद्वादनो सिद्धान्त सर्वव्याकरणशास्त्रोमां सर्वदा, सर्वथा, अने सर्वत्र व्यापक छे । केमके आद्य वैयाकरण-पाणिनीए अने व्याडि विगेरे महर्षिओए अनुक्रमे पोताना व्याकरणमा अने सग्रहग्रन्थमा ते सिद्धान्तने स्वीकारेलो छे । पाणिनिना आशयने भाष्यकारे पोताना महाभाष्यमा शब्द, अर्थ अने प्रयोगो विगेरेने स्याद्वादसिद्धान्तना नित्यत्वाऽनित्यत्वस्वरूपे एटले उभयात्मकस्वरूपे स्वीकारवानो निर्देश ठाम ठाम करेलो छे । नमूनारूपे पाणिनिना आशयने भाष्यकार नीचे प्रमाणे स्पष्ट करे छे—

पदार्थनिर्णयाधिकरणे शङ्काभाष्यम्—किं पुनराकृतिः पदार्थः ?, आहोसित् द्रव्यम् ?; सिद्धान्तिनः समाधान-भाष्यम्—उभयमित्याह । [ लक्षणैकचक्षुष्कस्याऽऽक्षेपभाष्यम्—] कथं ज्ञायते ?, [ एकदेशिन समाधानभाष्यम् ]—उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि ( प्रणीतानि ) पठितानि । आकृतिं पदार्थं मत्वा—‘जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्’ इत्युच्यते । द्रव्यं पदार्थं मत्वा—‘सरूपाणाम्’ इत्येकशेष आरभ्यते ।

उपरनो भावार्थ,—शका भाष्य—शु पदार्थ=पदनो अर्थ, जातिरूपे=सामान्यरूपे छे के द्रव्यरूपे=विशेषरूपे छे ?; सिद्धान्त-कार समाधान आपे छे के—पदना अर्थने उभयात्मक मानवो । आक्षेप भाष्य—उभयात्मक शी रीते जणाय ?; समाधान-कारणके बन्ने प्रकारेने लक्ष्यमा राखीने आचार्य पाणिनीए सूत्रो रचेलो छे, पदना अर्थने आकृति—सामान्यजाति=नित्यत्वरूपे मानीने ‘जात्याख्यायामेकस्मिन्’ ए सूत्र रचेलो छे, अने पदना अर्थने द्रव्य—विशेषकार्यरूपे=अनित्यरूपे मानीने ‘सरूपाणाम्’ ए सूत्रनी रचना करेली छे । आक्षेपभाष्य=एटले वळी शका, शु शब्द नित्य छे के अनित्य ?; समाधान-व्याडिमहर्षिए रचेलो सग्रहनामना ग्रन्थमा आ सम्बन्धमा सविस्तर चर्चा करेली छे, ते ग्रन्थमा दोषो अने प्रयोजनो पण विशेषपणे कहेलो छे । ते ग्रन्थमा आवो निर्णय जणाव्यो छे के—जो के शब्द नित्य छे तो पण ते अनित्य छे, बन्ने प्रकारे लक्षणने—शब्दशास्त्रने प्रवर्ताववा लायक छे । तेवी रीते—अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः ?, तेवी रीते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति; इत्यादि वार्तिकमा रहेला सिद्धशब्दना निर्णयमा आक्षेप-समाधान आपता छेवटे उभयात्मकरूप निर्णय कथन करेलो छे ।

आवी रीते महाभाष्यमा जे जे स्थळे नित्यानित्यपणानी चर्चा चाली छे ते ते स्थळे बन्ने वादिओना दृष्टान्त अने युक्तिओ आपीने अन्तमा उभयात्मक निर्णय आपेलो छे, विशेष जिज्ञासुओए ते ते स्थळ सम्बन्ध-महाभाष्यनु साधन्त परिशीलन करवु जरूरीनु छे ।

एकज वर्ण अथवा शब्दनी अनेकविध सज्ञाओ, ह्रस्व-दीर्घादि विधिओ, विशेषणविशेष्यभाव, समानाधिकरण, अनेक-कारकता, शब्दार्थसम्बन्ध, वाच्यवाचकता, स्थानिआदेश, प्रकृतिविकृति, निमित्तनिमित्तिभाव अने लिङ्गव्यवस्था विगेरे व्याकरणना समग्र पदार्थोनी सिद्धि आ स्याद्वादना सिद्धान्त उपर ज निर्भर छे; अर्थात् एना बिना पदार्थो सङ्गत थता नयी । कष्टु छे के—

१—जुओ-अभिधानचिन्तामणिकोष-देवाधिदेवकाण्ड-श्लोक-२५ । २—आ श्लोकनी चर्चा अवचूर्णिकारे अवचूर्णिमां, लघुन्यासकारे लघुन्यासमा, अने संस्कृतद्वयाश्रयमहाकाव्यना वृत्तिकारे वृत्तिमा, अने कलिकालसर्वज्ञ-विरचित सूत्रोना रहस्यनु प्रतिपादन फरनारी श्रीचन्द्रयोधिनी-वृत्तिमां पण करी छे । ३—जूओ पृ० ४४ महाभाष्य-प्रथमाध्याय-प्रथमपाद-पस्यशाब्दिके । ४—जूओ महाभाष्य-पृ० ४८ । ५—जूओ महाभाष्य-पृ० ४७ ।

‘एकस्यैव हि ह्रस्वदीर्घादिविधयोऽनेककारकसन्निपातः सामानाधिकरण्यं विशेषणविशेष्यभावादयश्च स्याद्वादमन्तरेण नोपपद्यन्ते ।’

व्याडि, महाभाष्यकार, शाकटायन, पाणिनि, अने जैनेन्द्र-व्याकरणकार विगेरे सर्वे शाब्दिकोऽ स्याद्वादना सिद्धान्तने पोतपोताना व्याकरणोमा अपनाव्यो छे, एटल ज माटे कलिकालसर्वज्ञ भगवान् कहे छे के—

‘सर्वेपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम् । अथवा—

वौदात् सिद्धि. स्यात्—विविक्तशब्दप्रयोगात् सिद्धि—सम्यग्ज्ञान, तद्वारेण च निःश्रेयस स्याद्—भवेदिति’, भावार्थः—शुद्धशब्द प्रयोगथी सम्यग्ज्ञान थाय, अने तेनार्थी मोक्षप्राप्ति थाय । विशाल-हृदयवाळ भगवान् कलिकालसर्वज्ञ ए सूत्रनो अर्थ वीजी रीते करीने पण महाभाष्यकार अने भर्तृहरिना कथनने सम्मत थाय छे । तथा च भाष्यकारः—‘एकः शब्द. सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति ।’ इति महाभाष्ये ।

‘तद्वारमपवर्वास्य वाच्यलाना चिकित्सितम् । पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्य प्रकाशते” ॥ १४ ॥

“तस्माद्य शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः । तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्माद्युत्तमश्रुते” ॥ १३२ ॥

सिद्धान्तटीकाकारे पण कहु छे के—

“शब्दात् पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति । अर्थात्तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः” ॥ १ ॥

केवल जैनसम्प्रदायनी महत्ता गावा पुरतो ज तेमनो उद्देश होत तो “सिद्धिः स्याद्वादत्” ए सूत्रने वदले जैनेन्द्रव्याकरणकारनी पेटे “सिद्धिरनेकान्तात्” ॥ १ । १ । १ ॥ एवा एकार्थवाचि-सूत्रनी रचना करत, परन्तु तेम नहि करता द्व्यर्थि-सूत्रनी रचना करीने पोताना विशालभावने प्रकट कर्यो छे ।

उपर प्रमाणे स्याद्वाद-शब्दना रूढ अर्थथी भडकवावाळने पण उपरनो वीजो अर्थ सर्वथा अनुकूल पडे तेवो छे, एम करवाथी स्याद्वादशब्दनी महत्ता कइ घटी जती नथी, परन्तु अनेक गणी वधी जाय छे ते आगळ उपर दरेक प्रसङ्गे बुद्धिने जोर देवाथी समजाशे ।

“लोकात्” ॥ १ । १ । ३ ॥ आ सूत्र पण अधिकारसूत्र छे । आ सूत्रथी क्रिया-गुण आदि १३ पदार्थो विगेरेनुं विधान करे छे । कारणके ए पदार्थो वैयाकरणोनी सिद्धान्तसृष्टिमा अत्यन्त प्रसिद्ध होवाथी लोकथी अर्थात् वैयाकरणोथी जाणी लेवानु जणाव्यु छे, तथा पूर्वथी पर विगेरे न्यायोना बलावल पण लोकथी जाणी लेवानुं जणाव्यु छे । आ प्रमाणे वन्ने अधिकार-सूत्रोनु स्पष्टीकरण करी गया । सिद्धि स्याद्वाद ए अधिकार सूत्रनी जेम आ सूत्र केवल अधिकारनु काम करतु नथी, परन्तु क्रिया-गुण आदि प्रसिद्ध संज्ञाओ विगेरेनी व्यवस्था अने नियमन करवा-पूर्वक पोतानो अधिकार जमावे छे, अर्थात् निर्णित मर्यादामा रहिने वैयाकरणोना विश्वप्रसिद्ध-सिद्धान्तोने अनुसरीने आ सूत्र अधिकारनो अमल करे छे ।

आ सज्ञा-प्रकरणमा प्रवेशकरनारने ठाम ठाम चमत्कारिक-प्रसङ्गोथी प्रसन्नतानो अनुभव थाय छे, एटलु ज नहि पण दरेक प्रकरणने वाचता भणता के गोरवता तेमा काव्योना सर्व रसोनी मधुरता जाणे ठासी ठासीने भरी न होय एवो अनुभव डगले ने पगले थाय छे, ए रचनानी महत्त्वभरी विशिष्टता छे ।

आ सज्ञाप्रकरणमा गोठवेली सज्ञाओ अने वीजा प्रकरणोने उपयोगी संज्ञाओ क्लिष्टता बगरनी स्हेजे स्मृतिपटपर आ-लेखाइ जाय एवी प्रासादिक गोठवेली छे । वीजा वैयाकरणोए पोतपोताना व्याकरणमा श्रवणकाळे कर्कश, साम्भळताज अर्थनो बोध न थाय एवी अपरिचित सज्ञाओ गोठवी छे ज्यारे कलिकालसर्वज्ञे श्रवणकाळे मिष्ट, साम्भळता ज अर्थनो बोध थाय एवी परिचित सज्ञाओ गोठवी छे । आवी प्रासादिक संज्ञाओ सर्वज्ञ-प्रणीत-कैवलिकादिशास्त्रमा अने ऐन्द्रादिव्याकरणमा पण नजरे पडे छे, अर्थात् पाणिनिना अने शाकटायनना व्याकरणमा आवती अब्, हल् वगेरे सज्ञाओनो तेओए पण स्वीकार करेलेो नथी । कातन्नव्याकरणनी संज्ञाओ लगभग बधी लीधी छे छता कलिकालसर्वज्ञनी रचनामा जे विशेषता छे ते संज्ञा-सूत्रोने तपासता स्पष्ट रीते जणाइ आवे छे ।

१-जूओ सि० हे० श० शा० पृ० ३, प० ३ । २-जूओ सि० हे० श० शा० पृ० ३, प० ४५ । ३-सि० हे० श० शा० पृ० ४, प० ४ । ४-भर्तृहरि ए पोताना वाक्यपथीय-ग्रन्थना प्रथमकाण्डमां पृष्ठ २७, श्लोक १४ मा, तथा पृष्ठ ११८, श्लोक १३२ मा जणाव्यु छे । ५-ऐन्द्रव्याकरण आने उपलब्ध नथी, एना नाथ पछी पाणिनीयव्याकरण थयु । नाशना प्रसङ्गना वर्णन माटे कथासरित्सागरमां तरङ्ग-४ थाना श्लोक २० थी २५ जूओ, छेला श्लोकमा जणाव्यु छे के—“तेन प्रणष्टमैन्द्र तदस्मद्ब्याकरण शुवि । जिता पाणिनिना सर्वे सूत्रा भूता वय पुन ” ॥२५॥ ६-जूओ बृहन्न्यास पृ० ११ प० १९ । नद्यस्माभिर्नृतनोऽज्जलादिरूपो विधेय, सर्वज्ञप्रणीतकैवलिकादिशास्त्रेषु ऐन्द्रादिपूर्वव्याकरणेषु च अज्जला-दिरूपस्याऽप्रतिदे । ७-कातन्नव्याकरणे सिद्धो वर्णसमात्राय । तत्र चतुर्दशादौ खरा । दश समाना । पूर्वो ह्रस्व । परो दीर्घ । खरोऽवर्ण-वर्णो नामी । एकारादीनि सन्ध्याकाराणि । कादीनि व्यञ्जानि । ते वर्गा पञ्च पञ्च । पञ्चवर्गणा प्रथमद्वितीया षष्ठसत्थाऽधोषा । षोषवन्तोऽन्ये । अनुनासिका रुच्यनमा । अन्तस्था यरलवा । ऊपमाण षष्ठसत्ता । अ इति विसर्जनीय । ङ इति जिह्वामूलीय । ई इत्युपध्मानीय । अ इत्य-नुस्वार । आ वधा सूत्रो सज्ञाप्रकरणमा आवेला छे ।

पाणिनीय, शाकटायन अने जैनेन्द्रव्याकरणनी सज्ञाओ परस्पर लगभग मळती छे, ज्यारे कलिकालसर्वज्ञे नवीनता लाववा माटे अपरिचित संज्ञाओनी रचना करवा करता पूर्वपरम्पराने मान आपीने प्राचीन सज्ञाओनु ज विधान कर्तुं छे । पूर्वपरम्परातरीके ऐन्द्र, प्रातिशाख्य, अने कातन्नव्याकरणो तथा यास्कनिरुक्तग्रन्थ नजर सन्मुख राख्या होय एवी सम्भावना राखी शकाय । यास्कनिरुक्तग्रन्थमा नाम-सर्वनाम-आख्यात उपसर्ग अने निपात वगैरे शब्दोनु विस्तारथी स्पष्टीकरण पूरता प्रमाणमा मळी आवे छे, अने ते सज्ञाओना सदुपयोग आ प्रधानतम-व्याकरणमा थयेलो छे ।

पाणिनीयव्याकरणमा खरने अच्, व्यञ्जनने हल्, अन्तस्थाने यण्, अधोपने स्त्र, अने धोपने ट्श् तरीके मानवामा आवे छे । सामळवामा, बोलवामा, समजवामा अने समजाववामा सुश्राव्य अने दु.श्राव्य अथवा मधुर अने कर्कश संज्ञाओ कया व्याकरणनी छे ते तो वे ने वे चारनी माफक स्पष्ट रीते दरेकनी समजमा आवी जाय छे ।

आ सिवाय संज्ञाप्रकरणना सूत्रोनी रचनामा संज्ञि अने संज्ञानो निर्देश बहुवचनमा करवाने वदले एकवचनमा करवानु फळ, तथा ज्या एकवचनथी कार्य थइ शकतु होय छतां त्या बहुवचन करवानु फळ विगेरे दरेक प्रसंगे स्पष्टतया जणाव्या छे । नमूना तरीके अहीं जणाववामा आवे छे के-“औदन्ताः स्वरा.” ए सूत्रमाना बहुवचनथी छुतनी पण स्वरसज्ञा थइ ए फळ जणाव्यु छे, तथा “एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घछुताः” ए सूत्रमाना बहुवचनथी संज्ञि अने संज्ञाने यथासख्यत्वनी प्राप्ति थइ ए फळ जणाव्यु छे । “अनवर्णा नामी” ए सूत्रमा संज्ञि बहुवचनमा छे अने सज्ञा एकवचनमा छे तेनु फळ आनन्दबोधिनीवृत्तिमा स्पष्टपणे विस्तारथी जणावेळुं छे । आ तो दिशासूचन करवा माटे मात्र नमूना जणाव्या छे, विशेष जाणवानी इच्छावाळाने तो आ ग्रन्थना परिशिष्ट न. १२ मा जणावेल्ला सूत्रोनी अने बन्ने वृत्तियो जोवानी भलामण करवामा आवे छे ।

दरेके दरेक प्रकरणमा आवता मतमतान्तरो, स्थलनिर्देशो, मतव्यवस्थाओ अने योग्य-साधनिकाओ विगेरे बताववानो प्रयत्न कलिकालसर्वज्ञे बृहद्वृत्तिमा कर्षो छे, परन्तु अभ्यासकाळे उपयोगी नीवडे ए हेतुथी बृहद्वृत्तिमा कहैला विषयने वधु स्पष्ट करवाना अने ते सिवायनी बिनाओने योग्य अवसरे जणाववानो प्रयास आनन्दबोधिनीमा करवामा आव्यो छे । आ जग्याए “कलिकालसर्वज्ञनी रचना परिपूर्ण हती तो पछी एवो उद्यम करवानी शी जरूर पडी” एवी शंकांना समाधानमां अहीं जणावी देवु उचित छे के-आनन्दबोधिनीमां मारा जेवा मन्दबुद्धिवाळाने जरूर लाम थाय ते हिसावे आ शुभ प्रयत्न कर्षो छे, एवा शुभ प्रयासमां सफलीभूत थवानो सधळोये यश कलिकालसर्वज्ञने ज फाळे जाय छे, कारणके सशोधन, सम्पादन अने नूतन-वृत्ति रचवामा मुश्किलीना प्रसङ्गमा तेओधीना साहित्यप्रत्येनी श्रद्धा-भक्ति अने प्रेम ज कार्यसाधक बन्या छे ए निःसन्देह कथन कक्षा वगर चाली शके तेम नथी ।

### \*संज्ञासूत्र-रहस्यम् ।

हवे संज्ञाप्रकरणमा १-१-४ थी १-१-८ सुधीना सूत्रोथी स्वरोनी सामान्यसज्ञा अने विशेषसंज्ञानु विधान कर्तुं छे ।  
 १-१-९ सूत्रथी अनुस्वार अने विसर्गने व्युत्पत्तिना बळे करीने व्यञ्जन अने स्वर तरीके गणावेल्ला छे ।  
 १-१-१० थी १-१-१६ सुधीना सूत्रोथी व्यञ्जनोनी सामान्यसंज्ञा अने विशेषसंज्ञानु विधान कर्तुं छे ।  
 १-१-१७ सूत्रथी अक्षरोनी परस्पर स्वसंज्ञानु विधान करीने स्वसञ्ज्ञिक-स्वरो अने व्यञ्जनो कया कया छे, तेनुं यथार्थ स्पष्टीकरण मतान्तरोनी छणवट पूर्वक कर्तुं छे ।

१-१-१८ थी १-१-२२ सुधीना सूत्रोथी विभक्तिसज्ञा अने पदसंज्ञानु विधान कर्तुं छे, अने त्यार पछीना त्रण सूत्रोथी पदसंज्ञानो निषेध कर्षो छे ।

पदसंज्ञानो निषेध करनार “वृत्त्यन्तोऽस्ये” ॥ १ । १ । २५ ॥ सूत्र छे, ते शास्त्रवैषयिक चर्चाना स्थानरूप छे, आ सूत्रनो अभ्यासि कलिकालसर्वज्ञनी रचनानो जो रसिकताथी अभ्यास करे तो तेने नवनवीन-नवीनताओ प्राप्त थया ज करे छे ।

१-१-२६ अने १-१-२७ ए वे सूत्रोथी वाक्यसंज्ञा अने नामसंज्ञानु विधान करेछे छे, ते बन्ने सूत्रोनी वृत्तिने रचवामा अने उदाहरणो तथा प्रत्युदाहरणो आपीने पदोनी यथार्थता बताववामा कलिकालसर्वज्ञे भारोभार कुशळता अने भर्तृ-हरिना सिद्धान्तोने सुन्दर रीतिए प्रतिपादन करवामा पारावार प्रतिभानी पूर्ण-प्रकाशमय-प्रभा ठासी ठासीने भरेली जगाय छे ।

१-१-२८ अने १-१-२९ ए वे सूत्रोथी त्रणे लिङ्गना केटलाएक प्रत्ययोनी घुटसंज्ञानु विधान कर्तुं छे । आ सूत्रनी वृत्तिमा मूळकार भगवाने लिङ्ग व्यवस्था माटे संक्षेपथी शङ्का-समाधान कर्तुं छे, ते चर्चाने ज आनन्दबोधिनीमा विस्तारथी चर्चाने निर्णीतभूत सिद्धान्तो जणावेल्ला छे ।

पूर्वसुद्रित ग्रन्थमा आ स्थळे लिङ्गानुशासन आपेछे छे, परन्तु स्वर्गस्थ शेट नेमचन्द्र पोपटलालभाईनी आर्थिक मददथी उज्जैननी श्रीऋषभदेवजी छगनीरामजीनी पेढीए श्रीसिद्धहेमचन्द्राविष-ग्रन्थमालाना प्रथम-ग्रन्थरत्न तरीके श्रीहेमचन्द्रकृति-कुसु-

मावली नामनो ग्रन्थ वे वर्ष पहिलां वहार पाडेलो छे, ते ग्रन्थमां लिङ्गानुशासन छपाइ गयेछं होवाथी आ प्रकाशनमा एने लीधुं नथी । श्रीहेमचन्द्रकृति-कुसुमावलीमां उणादिसहित सात अध्यायना सूत्रो, अनुबन्धफल-वृद्धणफल-अनिदकारिका अने प्रकीर्ण-सङ्ग्रहना श्लोको, न्यायसग्रहना सूत्रो, लिङ्गानुशासनना श्लोको, काव्यानुशासनना सूत्रो, अन्ययोगव्य०द्वित्रिंशिका अने अयो-गव्य०द्वित्रिंशिकाना श्लोको प्रकट करेलां छे । आ प्रकाशनमां प्रवेश करनाराओ प्रथममूलसूत्र आदिने कण्ठस्थ करीने पछीज आ ग्रन्थनो अभ्यास शरु करे ए हेतुधीज ते ग्रन्थने श्रीसिद्धहेमचन्द्राविध(ग्रन्थरत्नमाला)ना प्रथम ग्रन्थरत्न तरीके प्रकट करीने आ चालु प्रकाशनने द्वितीय ग्रन्थरत्न तरीके प्रकट करवामा आव्यो छे ।

१-१-३० थी १-१-३८ सुधीना सूत्रोथी अव्ययसजा, इत्सज्ञा अने प्रत्ययसज्ञानु विधान करेलु छे, एमाना इत्सज्ञा-विधायकसूत्रनी रचनामा कलिकालसर्वज्ञ-भगवाने लघुता, सरलता, अने सुन्दरतानुं सम्पूर्ण दिग्दर्शन कराव्यु छे ।

१-१-३९ थी १-१-४२ सुधीना प्रथम अध्यायना प्रथम-पादना छेला चार सूत्रो अतिदेशसूत्रो छे, ते सूत्रोथी केटला-एक शब्दने सरख्यावाचिशब्दो जेवा गणवानु विधान करेछं छे । प्रथम पादनी परिसमाप्तिमा आ श्लोकद्वारा चोलुक्यवशना आद्यपुरुष-श्रीमूलराजमां श्रीकृष्ण-शङ्कर-ब्रह्मा ए त्रण व्यक्तिओमा रहेली विशिष्टताने सुदर रीतिए घटावेला छे ।

आ प्रकरणमा आटला विस्तारथी दरेक बाबतो जणाववानो मुख्य हेतु ए छे के संज्ञा-विधानमा, सूत्ररचनामा, शैली-पूर्वक गुणथी गुंथवामा, सूत्रार्थप्रदेशने नियत करवा माटे परिपूर्ण उदाहरणो आपवामा, अने पदप्रयोजननी सफलीभूत योजना माटे प्रत्युदाहरणो आपवामा कलिकालसर्वज्ञ भगवाननी परिपूर्ण प्रतिभा, बुद्धिवैभव, कुशळता अने सिद्धान्तप्रतिपादन शैली विगेरे अनेकविध-गुणो अभ्यासकना जाणवामा आवे तो उत्साहमा उमेरो थाय ।

आबु आबु अने आनाथी पण अधिक अधिकतर के अधिकतम आगळ आगळना प्रकरणोमा प्रसगे प्रसगे जाणवानुं मळ्या ज कररो ।

आ प्रकरणमा अने हवे पछीना प्रकरणोमा सूत्र अने तत्त्वप्रकाशिकावृत्तिनुं प्रतिपादन-करनारी आनन्दबोधिनी वृत्तिमा पूर्वापर-सूत्रोपपत्ति, वृत्तिस्थ-पदोपपत्ति, पदच्छेद, पदान्वय, पदविभक्तिप्रदर्शन, अधिकार अने पूर्वसूत्रथी आवता अनुवर्तन-पदो तथा उदाहरणो अने प्रत्युदाहरणोनी साधनिका देखाडवानो प्रयत्न-सामान्य रीतिए दरेक स्थळे करी बताव्यो छे । एक सरखा उदाहरणोमा एक उदाहरणने साधी बतावीने ते ज रीतिए बीजा उदाहरणोने साधी लेवानी मलामण करीने ग्रन्थनु कद वधी जवाना मथथी आगळ चालनु पड्यु छे ।

कलिकालसर्वज्ञ भगवाने टाकेला मतमतान्तरो कोना छे ?, कया ग्रन्थमा छे ?, कइ जग्याए छे ?, ए वधामाथी महेनत करता जेटळ मळ्यु तेटळ मेळवीने बताववानो प्रयत्न कर्यो छे । सूत्रार्थ अने सिद्धान्तनिर्देश माटे आपेला ग्रन्थो अने तेना स्थळनिर्देशो पण मळी शक्या तेटला बताव्या छे ।

हवे पछीना सन्धि, नाम अने कारकप्रकरणोमा उपर जणावेली हकीकतो तो आवशे ज, एटले ते सम्बन्धी कइ कहेवानुं नथी, परन्तु ते सिवाय जे कइ विशिष्टताओ आ त्रण प्रकरणमां आवेली छे तेओनु मात्र अगुलिनिर्देशरूपे अवलोकन करी जइए ।

पूर्वप्रकरणमा स्वरोनी जेटली संज्ञाओ सम्भवी शके तेटली संज्ञाओनुं विधान करीने पछी तुरत व्यञ्जनोनी संज्ञाओनुं विधान कर्युं छे, अने त्यार पछी ते बन्नेथी-स्वर अने व्यञ्जनथी-ध्वनित थती संज्ञाओनु विधान करेछु छे, ते बधु तो आपणे विस्तारपूर्वक जोइ आव्या । परन्तु सूत्रोनी रचना अने सूत्रोनी गोठवणी एवी सरस रीतिए करेली छे के गोठवायला सूत्रो प्रकरणनी प्रतीति आपिने तुरत नवीन प्रकरणमा प्रवेश करे छे, एटळ ज नहि पण क्रम तूटतो नथी, प्रकरण छूटनुं नथी अने विषय अघुरो रहेतो नथी । क्रम, प्रकरण अने विषयने साकळना अकोडानी जेम अनुस्यूत-राखीने तथा सूत्रना बलाबल तपा-सीने एवी अपूर्वरीतिए रच्या छे अने गोठव्या छे के पूर्वथी पर अने परथी नित्य वगेरे न्यायोनी व्यवस्थामा कोइ पण प्रकारनी न्यूनता रहेती ज नथी अर्थात् बधुं ज बराबर सचवाइ जाय छे ।

सात अध्यायना ३५६६ सूत्रोनी रचना करवी, दरेक सूत्रनी शक्तिनु माप काढनुं, कोई प्रयोगमा एक साथे घणा सूत्रो लागु थइ शकता होय, परन्तु सूत्रोनी गोठवणी एवी रीतिए करवी के लागु पडता न्यायना बळथी ते घणा सूत्रोमाथी योग्य ज सूत्रो लागु थइ शके एम दरेक सूत्रना बलाबलने तपासी राखवु, अने ए रीतिए रचना करीने गोठववु ए ज अपूर्व कुशळता छे । जगमशहर-क्षेत्री जेम दरेक मोतीनी किमतने आकीने अनुक्रमे चढता उतरता दाणाओने मोतीना हारमा गोठवीने हारने सुशोभित, आकर्षक, अने मूल्यवान् वनावे छे, तेवी रीते तेनाथी पण उत्तम-रीतिए आ सूत्रोने रचवानी अने योग्यस्थळे गोठववानी किमती कारीगरी कलिकालसर्वज्ञे जगो जगो पर ठासी ठासीने भरेली जणाय छे ।

दरेक प्रकरणो अने विषयो माटे स्वतन्त्र निबन्ध लेखवामा आवे तो खासु एक पुस्तक थइ जाय, एटली बधी सामग्रीओ दरेक प्रकरण अने विषयमाथी मळी शके एम छे । आ रीतिए संज्ञाविषयक-सूत्रोनु रहस्य समाप्त करीने आपणे आगळवधीए ।

\*सन्धिप्रकरण-पृष्ठ २५ थी ६३ । कुलसूत्र १०६ ।

प्रथम अध्यायना प्रथम पादना सज्ञाप्रकरण-विगेरेना ४२ सूत्रोना सम्बन्धमा पूरता प्रमाणमा विचार करी गया । हवे आ सन्धिप्रकरणमा स्वरसन्धि माटे प्रथम अध्यायना वीजा पादना ४१ सूत्रो, अने व्यञ्जनसन्धि माटे प्रथम अध्यायना वीजा पादना ६५ सूत्रो मळीने कुल १०६ सूत्रो छे ।

कातब्रव्याकरणमा स्वरसन्धि, प्रकृतिसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, अने विसर्जनीयसन्धि छे, एमांनी छेछी सन्धिमा द्वित्वसन्धिनो पण समावेश करेलो छे ।

शाकटायन-व्याकरणनी प्रक्रियाणा सन्धिप्रकरणमा अच्सन्धि, निषेधसन्धि, द्वित्वसन्धि, हल्सन्धि अने विसर्जनीयसन्धि मळीने कुल पाच सन्धि जणावेली छे ।

जैनेन्द्र प्रक्रियामा अच्सन्धि, हल्सन्धि अने विसर्गसन्धि मळीने त्रण ज सन्धि जणावेली छे, अने एमानी अच्सन्धिमा ज द्वित्वभाव अने प्रकृतिभावनो समावेश करेलो छे ।

सिद्धान्तकौमुदी व्याकरणमा अच्सन्धि, हल्सन्धि, विसर्गसन्धि अने स्वादिसन्धि मळीने कुल चार सन्धि जणावेली छे । शाकटायन, जैनेन्द्र अने पाणिनीय आ त्रण व्याकरणोमा प्रत्याहार कल्पनाने अनुसरीने अच्सन्धि, हल्सन्धि अने विसर्जनीयसन्धि आ त्रण सन्धिप्रकरणोमा वीजा सन्धिप्रकरणोना अन्तर्भाव करेलो छे, अगर जूदा रूपे जणावेलो छे ।

आ त्रण व्याकरणकारोनी प्रत्याहाररूप क्लिष्ट कल्पनानी अपेक्षा राख्या वगर प्राचीन-परम्पराथी चाली आवती सज्ञाओने अपनावीने तथा विद्यार्थीओने सुगम रीते बोध थाय ए हेतुने लक्ष्यमा राखीने प्रकरणो पाठ्या वगर कलिकालसर्वज्ञे सूत्रोनी गोठवणीज एवा प्रकारनी करेली छे के स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि वगेरे प्रकरणो प्रक्रिया क्रमनी जेम स्वयमेव मालूम पडी आवे छे ।

१-२-१ थी १-२-३० सुधीना सूत्रोथी स्वरसन्धिवु विधान करेछु छे, अने १-२-३१ थी १-२-४१ सुधीना सूत्रोथी स्वरसन्धिना निषेधनु अर्थात् असन्धि अथवा प्रकृतिभावनु विधान करीने प्रथम अध्यायना वीजा पादनी समाप्ति साथे स्वरसन्धि प्रकरणनी पण समाप्ति करी छे । अने छेवटे पादनी समाप्ति सूचवनारा श्लोकमा मूलराजने पुरुषोत्तम-श्रीकृष्णनी उपमा आपीने ते उपमानी यथार्थतानु दिग्दर्शन कराव्यु छे ।

स्वरसन्धि-प्रकरणरूप द्वितीय पादनी समाप्ति पछी व्यञ्जनसन्धि प्रकरणरूप तृतीय पादनी शरुआत थाय छे । वीजा पादना पहेला “तृतीयस्य पञ्चमे” सूत्रमा वे ज पद छे, परन्तु सूत्र १-२-२७ माथी ‘पदान्ते’, सूत्र १-२-३८ माथी ‘नवा’, अने सूत्र १-२-४१ माथी ‘अनुनासिकः’, ए त्रण अनुवर्तित पदो सहित कुल पाच पदोने अनुसरीने ज “तृतीयस्य पञ्चमे” सूत्रनो अर्थ करवामा आवे छे । उपरना दृष्टान्तथी वीजा अने वीजा पादनो परस्पर केटलो निकटवर्ती सम्बन्ध छे ते समजाइ जाय छे । ए ज रीते पूर्वना पादनो, सूत्रनो अने व्याख्याननो पछीना पाद-सूत्र अने व्याख्याननी साथेनो सम्बन्ध आगळना प्रकरणोमा पण दरेक स्थळे अखड-अनुत्पूतपणे चाल्यो आवे छे ते आ ग्रन्थनो अभ्यास करवाथी समजवामा आवशे ।

विशेषमा जणाववानु के सूत्रोमा आवता ‘नवा’ अने ‘वा’ ए बन्ने पदनो अर्थ तो सरखो ज छे तो पण तेमा फेर एटलो छे के जेम नवापदनो अधिकार आगळना सूत्रोमा जाय छे, तेम वा पदनो अधिकार आगळना सूत्रोमा जतो नथी । दृष्टान्त तरीके “सौ नवेतौ ॥ १ । २ । ३८ ॥” ए सूत्रमा नवा पद छे तेथी अर्हीथी विकल्पविधि शरु थइने “शषसे शपस वा” ॥ १ । ३ । ६ ॥ आ सूत्र सुधीना दश सूत्रमा अखडपणे चाल्य रहे छे । विकल्पविधि चाल्य होवा छता १-३-६ सूत्रमा ‘वा’पदनु कथन करवाथी त्यार पछीना सूत्रोमा विकल्पविधि जइ शकतो नथी । ए रीते ‘नवा’पद अने ‘वा’पदनो तफावत दरेक ठेकाणे समजवानी स्वतंत्र कल्पना कलिकालसर्वज्ञ भगवान्नी छे । उपर जणाव्या प्रमाणे सूत्र १-२-३८ थी सूत्र १-३-६ सुधीना दशे सूत्रमा विकल्पविधि थवो जोइए, परन्तु ए दश सूत्रोमाना “प्रत्यये च” ॥ १।३।२ ॥ ए एक सूत्र पूरतो ज विकल्प-विधि इष्ट न होवानु चकारमात्रथी सूचवीने नित्यविधान जणावी दीधु । आवी आवी अनेक प्रकारनी सूचनाओ वगेरे अनेक सूत्रोमाथी नीकळी आवे छे, ते बधु कलिकालसर्वज्ञनी स्वतंत्र अने आश्चर्यकारकसूत्र-रचनाना अभ्यासिओने अभ्यास करती वखते अगम्य कल्पनाओ जरूर दृष्टिगोचर थाय छे ।

हवे व्यञ्जनसन्धि प्रकरणमा १-३-१ थी १-३-२१ सुधीना सूत्रोथी स्थानिव्यञ्जन-सम्बन्धि आदेशोनु विधान करेछु छे । अने त्यार पछीना सूत्र १-३-२२ थी १-३-६५ सुधीना सूत्रोथी अनुक्रमे असन्धि, द्वित्वभाव, द्वित्वनिषेध, सवर्णवर्गान्त्य, लृक्, अने विसर्ग विगेरेनु विस्तारपूर्वक विधान करीने व्यञ्जनसन्धिनी समाप्ति साथे वीजा पादनी पण समाप्ति करेली छे । ए रीते प्रथम अध्यायना वीजा अने वीजा पादना आखा सन्धिप्रकरणनी समाप्ति करी छे । अने छेवटे पादनी परिसमाप्ति सूच-वनारा श्लोकमा मूलराजना अभिनव-यशानु वर्णन अपूर्व साहित्यनीतिए करवामा आव्यु छे ।

\* नामप्रकरण—पृष्ठ ६४ थी १५५ । कुल सू० २११ ॥

वस्तुतः लिङ्ग त्रण ज छे, तथापि ए त्रणे लिङ्गना स्वरान्त अने व्यञ्जनान्त एम वच्चे विभाग पाडी नाखवाथी सस्कृत-भाषामा षड्लिङ्गशब्दनी प्रवृत्ति प्रचलित थयेली छे । एटल ज माटे पाणिनीय, शाकटायन अने जैनेन्द्रव्याकरणनी प्रक्रियामा जेम अजन्त एटले स्वरान्त-पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग अने नपुसकलिङ्ग, तथा हलन्त एटले व्यञ्जनान्त-पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग अने नपुसकलिङ्ग; ए रीते बन्ने मळीने षड्लिङ्गना छ प्रकरणो गोठव्या छे ।

उपर मुजब आ ग्रन्थना नामप्रकरणता छ विभाग करवामा आव्या नथी, परन्तु त्रणे लिङ्गमाथी पहेला अकारान्त पडी आकारान्त अने पळी इकारान्त विगेरे स्वरना अनुक्रमथी नामोने लेवामा आव्या छे, पण पहेला पुल्लिङ्ग पळी स्त्रीलिङ्ग अने छेवटे नपुसकलिङ्गना क्रमथी नामो लेवामा आव्या नथी ।

आ नामप्रकरणने पहेला अध्यायना चोथा पादना ९३ सूत्रो, अने बीजा अध्यायना पहेला पादना ११८ सूत्रो मळीने कुल २११ सूत्रोमा समाप्त करवामा आव्यु छे । मूलथी ज अकारान्त होय अगर तो आदेश पामीने पण अकारान्त थयु होय तेवा अकारान्त नामथी शरुआत करीने नामना अन्तना अकारनो आकार, एकार विगेरे आदेशो अने प्रत्ययोना भिस्नो ऐम्, टानो इन विगेरे आदेशो १-४-१ थी १-४-१४ सुधीना सूत्रोथी जणावेल छे ।

सिद्धान्तकौमुदी विगेरे प्रक्रियाओथी आ प्रकरणमा शी विशेषता छे ?, एवा प्रश्नना समाधानमा सिद्धान्तकौमुदी विगेरे भणनारा अने अवलोकनाराओने हाथ कङ्कणने आरीसानी जेम विशेष जणाववानी जरुर रहेती नथी । तेथी सामान्यतया जणाववानु के ते ग्रन्थोना अजन्तपुल्लिङ्ग-प्रकरणनी शरुआतमा नामसज्ञानु स्वरूप, नामसज्ञा कोने कोने लागु पडे छे, विभक्ति सज्ञानु स्वरूप अने विभक्तिसज्ञाथी सञ्चित थता सञ्चितोने जणावीने पळी अकारान्तनामपुल्लिङ्गनी शरुआत करेली छे । आ बहु विचारता सूत्रसल्यानु गौरव, वृत्ति-शरीरगौरव, अर्थ-गौरव अने प्रकरण-गौरव पण नजरे पडे छे, जाटलु मात्र अङ्गुलिनिर्देश-रूपे जणाव्यु छे । जो षड्लिङ्गना छ ए प्रकरणोने तुलनात्मक-दृष्टि ए तपासवामा आवे तो एक अलग निबन्ध जेटलु लखाण लखी शक्या तेम होवाथी अत्रे विशेष जणाव्यु नथी ।

इदम् अने अदस् विगेरे व्यञ्जनान्तशब्दोने सिद्धान्तकौमुदी विगेरेमा हलन्तप्रकरणमा गोठव्या छे, परन्तु आदेश पामीने ए बे सर्वनाम विगेरे शब्दो स्वरान्त थइ जता होवा छता अजन्तप्रकरणमा गोठव्या नथी । आ उपरथी शब्दोनी मूलस्थिति उपरथीज तेओए अजन्त अने हलन्त विभाग पाख्या छे । परन्तु आदेश पामीने स्वरान्त थइ जता शब्दोने आ व्याकरण-कारनी माफक अजन्तप्रकरणमा सम्मिलित करी देवाथी प्राप्त थनारी सरलता अने लघुतानो ख्याल तेओए राख्यो नथी ।

त्यार पळी सर्वादिगण, तेमा आवता शब्दोनी व्यवस्था अने तेना प्रत्ययोना आदेशो विगेरे अकारान्तनामनी साधनिका माटेना १-४-१ थी १-४-१४ सुधी, अने सर्वादिगणना १-४-७ थी १-४-१६ सुधीना सूत्रोमा जणावी दीधा छे ।

नामप्रकरणमा त्रणे लिङ्गना नामो अकारान्तथी शरुआत करीने पळी अकारान्त, इकारान्त विगेरे स्वरना अनुक्रमथी ज लेवामा आव्या छे, पण लिङ्गनो अनुक्रम राखवामा आव्यो नथी ।

लिङ्गना ज्ञान माटे आ व्याकरणकारे १३८ श्लोकोमा लिङ्गानुशासननामना ग्रन्थनी रचना करी छे । ते ग्रन्थनु पठन, पाठन अने परिशीलन आ नामप्रकरणने मणता पहेला ज करी लेवाथी आ ग्रन्थनो अभ्यास करवामा घणी सरलता थइ जशे, एम घारीने ज कलिकालसर्वज्ञ भगवाने लिङ्गनो अनुक्रम नहि साचवता त्रणे लिङ्गना नामोने सम्मिलितरूपे अकारादिक्रम साचव्यो छे । तेथी ज तेओश्रीए “लिङ्गै” ॥ १ । ४ । २५ ॥ आ सूत्रथी सिद्ध थता उदाहरणोमा मुनौ, साधौ, बुद्धौ अने धेनौ एवा चार उदाहरणो पुल्लिङ्ग अने स्त्रीलिङ्गना आप्या छे । आ उपरथी ग्रन्थकारने लिङ्गनो अनुक्रम इष्ट नथी, मात्र स्वरनो अनुक्रम ज इष्ट छे एम स्पष्टपणे जणाइ आवे छे ।

प्रथम पादमा जेम “सिद्धि. स्याद्वादात्” अने “लोकात्” ए बन्ने सूत्रोने समग्र व्याकरणमा अधिकारसूत्रपणे जणाव्या छे, तेम कोइ स्थले सूत्रमा रहेला पदने पण अधिकारपद तरीके जणावेल छे—जेमके—“एदोत पदान्तेऽस्य लृक्” आ सूत्र-माना “पदान्ते” पदने अधिकारपदपणे जणावेल छे । तेथी ज रीते आ चोथा पादमा “घुटि” ॥ १ । ४ । ६८ ॥ आ सूत्रने अधिकारसूत्र कहेल छे । एटले हवे पळीना दरेक सूत्रमा चोथा पादनी समाप्ति सुधी ‘घुटि’नो अधिकार चाळ रहेशे, अर्थात् जे सूत्रमा कोइ पण विशेष-निमित्त पर छता कार्य थवानुं न जणाव्यु होय त्या घुट्पर छता कार्य थाय एम समजवानु छे, जेमके “अनङ्गह सौ” ॥ १ । ४ । ७२ ॥ आ सूत्रमा सिप्रत्यय पर छता कार्यनु विधान करेल छे, तेथी ए सूत्रमा “घुटि” सूत्रनो अधिकार नथी । परन्तु “ओत औ” ॥ १ । ४ । ७४ ॥ आ सूत्रमा कह पण निमित्त जणाव्यु नथी, एटले अहीं ‘घुटि’नो अधिकार आववाथी घुट्पर छता ओकारनो औकार थाय एवो अर्थ थयो । अधिकारसूत्रोने माटे दरेक जग्याए ए प्रमाणे

समजवानु छे । एटला माटे “धुटि” सूत्रनी आनन्दबोधिनी-वृत्तिमा अधिकारसूत्रना रहस्यने शङ्का-समाधानपूर्वक भाष्यकारना सिद्धान्तने अनुसरीने विस्तारथी समजावेलु छे ।

उपर जणाव्या प्रमाणे अकारान्तनामथी शरुआत करीने ओकारान्त सुधीना नामोने लगता सामान्यविधानो, विशेष-विधानो, नित्यविधानो, विकल्पविधानो अने निषेधोने प्रथम अध्यायना चोथा पादना ९३ अने वीजा पादना २-१-१ थी २-१-५ सुधीना ५ सूत्रो मळीने कुल ९८ सूत्रमा विस्तारपूर्वक जणाववामा आवेला छे । ए प्रमाणे स्वरान्तनामोनी साधनिकाको सम्बन्ध पहेला अध्यायना चोथा पादथी शरु थइने वीजा अध्यायना पहेला पादमा चालु रहेलो छे । चोथा पादनी समाप्ति सूचक-श्लोकमा मूलराजनी युद्धसम्बन्धि यशोगाथाओना अनुवादने कलिकालसर्वज्ञे साहित्यशैलिनी यथार्थरीतीए प्रति-पादन कर्यो छे ।

त्यार पछी युष्मद् अने असद्शब्दसम्बन्धि-साधनिकाने २-१-६ थी २-१-३२ सुधीना सूत्रोमा, अने त्यदादिना शब्दो सम्बन्धि-साधनिकाने २-१-३३ थी २-१-४९ सुधीना सूत्रोमा जणावेली छे । एटलुज नहि पण साधनिकासाथे तत्सम्बन्धि सिद्धान्तो पण जणावेलो छे ।

२-१-५० थी २-१-५९ सुधीना सूत्रोथी घातुना चोक्सवर्णसम्बन्धि, स्त्रीशब्दसम्बन्धि, अनेकस्वरवाळा घातुसम्बन्धि-अने किन्वृत्तिसम्बन्धि शब्दोना विधानादि जणावेलो छे ।

त्यार पछी “णपमसत्परे स्यादिविधौ च” ॥ २ । १ । ६० ॥ आ सूत्र अने तेनी वृत्तिनी रचना, शब्दार्थ अने भावार्थ तथा उदाहरणादिने समजवाथी सर्वज्ञ भगवाननी सर्वज्ञतानो आछो पण अतिसुन्दर-ख्याल नजर सन्मुख तरी आव्या बगर रहेतो ज नथी ।

उपर जणावेलो सूत्रने सारी रीते समजनारा ज असत् अधिकारने यथार्थ समजी शके छे ।

“एदोत पदान्तेऽस्य लुक्” ॥ १ । २ । २७ ॥ आ सूत्रमाना ‘पदान्ते’ पदनो अधिकार चालु पादनी समाप्ति उपरान्त वीजा पादना केटला एक सूत्रो सुधी जाय छे, तेवी रीते आ सूत्रमाना ‘असत्’ पदनो अधिकार पण आगळ घणा सूत्रो सुधी जाय छे, ए असत् पदथी णशब्दथी णत्वकार्य एटले णत्वविधायकशास्त्र अने षशब्दथी षत्वकार्य एटले पत्वविधायकशास्त्र ए बच्चेने ( कार्य अने शास्त्रने ) असत्-असिद्ध थयेला जणावे छे । आ सूत्रना कार्यासिद्धपक्षने अने शास्त्रासिद्धपक्षने सूक्ष्मदृष्टिए अवलोकन करवाथी विद्यार्थिओने माटे आगळनो मार्ग बहु सुगम थइ जाय छे ।

आ सूत्रमाना उदाहरणोने तपासीने सूत्रसाथे सङ्गत करवाथी, तथा पर-विधि अने स्यादि-विधिने समजवाथी, तेमज आगळ आवनारा सूत्रोनु परिशीलन करवाथी, आ सूत्रनी चमत्कारिक रचना करवामा कलिकालसर्वज्ञनी असीमबुद्धि-वैभवनु दिग्दर्शन थनु होवाथी अभ्यासिओने अवर्णनीय-आनन्द आवे छे ।

आ सूत्रथी शरु थयेलो ‘असत्परे’नो अधिकार २-१-६० थी २-१-९० सुधी जाय छे, अने ‘असत् स्यादिविधौ च’ नो अधिकार १-४-१ थी २-१-९९ सुधी जाय छे एम पण २-१-६० सूत्रनी वृत्तिमा जणावी दीधु छे । पूष्ण इत्यादि प्रयोगस्थळे “रषृवर्णां” २-३-६३ सूत्रथी थयेल णत्वकार्य ने असत् मानीने “अनोऽस्य” २-१-१०८ सूत्रथी अनुना अनो लुक् करे छे । आ प्रसगथी पर-विधि अने स्यादि-विधिना सूत्राङ्गनु उल्लङ्घन करीने २-३-६३ अने २-१-१०८ सूत्रोना कार्यने आ सूत्र साथे शो सम्बन्ध छे, ए मूल-मूलामणी अभ्यासियोने खास समजवा योग्य छे ।

त्यार पछीना २-१-६१ थी २-१-८७ सुधीना सूत्रोथी खास करीने केटलाएक व्यञ्जनोने स्थाने व्यञ्जानान्तरनो आदेश, २-१-८८ थी २-१-९३ सुधीना सूत्रोथी व्यञ्जनोनु लुक्, २-१-९४ थी २-१-९९ सुधीना सूत्रोथी मतुना मकारने स्थाने वकारनो आदेश अने निषेध अने २-१-१०० थी २-१-११८ सुधीना सूत्रोथी खास करीने केटलाएक शब्दोने स्थाने शब्दान्तरनो आदेश, अने केटला एक वर्णोने स्थाने वर्णान्तरनो आदेश, तथा केटलाएक वर्णोने स्थाने लुक्नु विधान अने निषेध विगेरे कार्यो थवानु जणावीने नामप्रकरणनी समाप्तिनी साथे पादनी समाप्ति करी छे । पादनी समाप्ति सूचवनारा श्लोकमा मूलराजनी महत्तानु वर्णन करवामा आव्यु छे ।

### \* कारकप्रकरण—पृष्ठ १५६ थी २१८ ।

आ प्रकरणने वीजा अध्यायना वीजा पादना १२४ सूत्रोमा सम्पूर्ण करवामा आव्यु छे । ते सूत्रोमाना २-२-१ थी २-२-३० सुधीना सूत्रोथी १ कर्ता, २ कर्म अथवा व्याप्य, ३ करण, ४ सम्प्रदान, ५ अपादान, अने ६ अधिकरण अथवा आधार ए छ प्रकारना, कारकोनी सज्ञानु विधान शका-समाधान सहित विस्तार पूर्वक करेछे छे । ‘प्रसिद्धस्याऽनुवादेनाऽप्रसिद्धस्य विधानम्’ ए न्यायने अनुसरीने जे स्थळे कर्मसज्ञानु, विधान कर्तुं होय त्या व्याप्य शब्दने वैयाकरण-समयसृष्टिमा प्रसिद्ध जाणवो अने जे स्थळे व्याप्यसज्ञानु विधान कर्तुं होय त्या कर्मशब्दने पण पूर्वनी जेम प्रसिद्ध जाणवो । कारणके



વ્યાકરણમાં કર્મસંજ્ઞા અને વ્યાપ્યસંજ્ઞાનો પર્યાયવાચી વપરાશ ઠામ ઠામ થયેલો છે । વિશેષમાં કર્મસંજ્ઞાને વદલે વ્યાપ્યસંજ્ઞા રાક્ષીને વૃત્તિમા તથા ઉદાહરણ વિગેરેમા વ્યાપ્યશબ્દના ભાવાર્થથી કર્મસંજ્ઞા કરતા વ્યાપ્યસંજ્ઞાનું કેટલું મહત્ત્વ છે તે જણાવ્યું છે । આવા પ્રસન્નોમા સંજ્ઞા અને સંજ્ઞિમા તથા શબ્દ અને અર્થમા શી શી ચમત્કૃતિ છે, અને કેવી કેવી સુસંજ્ઞત વ્યવસ્થા છે તે જાણાઈ આવે છે । કર્મ અને વ્યાપ્યસંજ્ઞાની માફક અધિકરણ અને આધાર સંજ્ઞામા પણ ઉપર જણાવેલી વધી હકીકત યથા યોગ્ય સમજાઈ જાય છે ।

છૂંદ કારકમા કારકશબ્દથી ધ્વનિત થતી શક્તિ જ કારક છે, પરન્તુ આભાસરૂપ જણાતા નિમિત્તો કારક નથી, એવું સમજાવવા માટે કારક-શબ્દનું અને કારક-પ્રદેશનું સમ્પૂર્ણ વ્યાખ્યાન આ કારક પ્રકરણના પહેલા જ સૂત્રની વૃત્તિમા સ્પષ્ટ રીતે જણાવી દીધું છે ।

કારકપ્રકરણના વીજા સૂત્રની વૃત્તિમા કર્તા કારકની વ્યાખ્યા, કર્તાની શક્તિ, અવાન્તર વ્યાપારો અને સર્વ-કારકોમા કર્તા-કારકનું પ્રાધાન્યપણ અને વીજા કારકોનું ગૌણપણ વિગેરે વિષયો અત્યંત સુંદર શૈલીથી સમજાવવામા આવ્યા છે ।

કારકપ્રકરણના ત્રીજા સૂત્રની વૃત્તિમા કર્મકારકના સ્વરૂપને વિસ્તારથી સમજાવવા માટે કર્મના મૂલ્ય નિર્વૈત્યોદિ ત્રણ ભેદ અને તે દરેકના પાછા ઇષ્ટાદિ ત્રણ ત્રણ ભેદ જણાવીને દરેક ભેદનું ઉદાહરણ આપીને પાઠકને અને વિદ્યાર્થીને સમજવામા તથા સમજાવવામા સરલતા કરી આપી છે । તથા દ્વિકર્મક ધાતુના પ્રધાન-કર્મ અને અપ્રધાન-કર્મની વ્યાખ્યાને વિસ્તારથી સમજાવેલી છે ।

કર્મકારકનું સર્વાંગીણ-વિવેચન કરવામા જે જે વિનાઓને સિદ્ધાન્ત-કૌમુદીકાર સ્પષ્ટ કરી શક્યા નથી, તે વધી વિના-ઓને માપ્યકારના ભાવોને જણાવવાપૂર્વક સ્પષ્ટ કરી આપીને કલિકાલસર્વેશ-ભગવાને અભ્યાસિઓની ઉપર અનહદ ઉપકાર કર્યો છે એમ કહ્યા વિના ચાલે એમ નથી ।

કારકપ્રકરણની શરૂઆતના આ ત્રણે સૂત્રોનું અને તેની તત્ત્વપ્રકાશિકાવૃત્તિનું જેમણે સારી રીતે અધ્યયન કરી લીધું હોય, અને આનન્દબોધિનીવૃત્તિમા કરેલા વિવેચનનું પરિશીલન પણ કરી લીધું હોય તેવા અભ્યાસિઓને કારકપ્રકરણના વીજા સૂત્રોને મળવામા અને સમજવામા વાર લાગતી નથી ।

ચોથા સૂત્રમા કર્મસંજ્ઞાનું વિકલ્પે વિધાન કર્યું છે । પૂર્વે જણાવી ગયા છીએ તેમ નવાપદની માફક વાપદનો અધિકાર આગલ ચાલતો નથી, અર્થાત્ આગલના સૂત્રોમા વિકલ્પની જરૂરત ન હોવાથી આ ચોથા સૂત્રમા ચોથા સૂત્ર પૂરતો જ વિકલ્પ જણાવવા વાપદનું ગ્રહણ કર્યું છે ।

૨-૨-૮ સૂત્રમાના નવાપદનો અધિકાર ૨-૨-૧૭ સૂત્ર સુધી જતો હોવાથી એ દશ સૂત્રો અને ૨-૨-૪ નું એક સૂત્ર મઠ્ઠી કુલ અગીયાર સૂત્રોથી કર્મસંજ્ઞા વિકલ્પે કરી છે, અને ૨-૨-૫ થી ૨-૨-૭ સુધીના ત્રણ સૂત્રોથી કર્મસંજ્ઞાનું નિત્ય-વિધાન જણાવ્યું છે ।

૨-૨-૧૮ સૂત્રથી કર્મસંજ્ઞાનો નિષેધ કર્યો છે, અને ૨-૨-૧૯ સૂત્રથી એકીસાથે કર્મસંજ્ઞા અને કરણસંજ્ઞા કરેલી છે ।

૨-૨-૨૦ અને ૨-૨-૨૧ સૂત્રથી આધારની કર્મસંજ્ઞા નિત્ય કરી છે, અને ૨-૨-૨૨ સૂત્રથી આધારની કર્મસંજ્ઞા વિકલ્પે કરી છે । અને ૨-૨-૨૩ સૂત્રથી આધારની કર્મસંજ્ઞા અને અકર્મસંજ્ઞા એકીસાથે વિકલ્પે કરી છે ।

૨-૨-૨૪ સૂત્રથી કરણસંજ્ઞાનું અને ૨-૨-૨૫ સૂત્રથી સમ્પ્રદાનસંજ્ઞાનું સ્વરૂપ જણાવ્યું છે ।

૨-૨-૨૬ થી ૨-૨-૨૮ સુધીના ત્રણ સૂત્રોથી અનુક્રમે સમ્પ્રદાનસંજ્ઞાનું વિકલ્પવિધાન, નિત્યવિધાન અને નિષેધ કરેલા છે ।

“અપાયેઽવધિરપાદાનમ્” ॥ ૨-૨-૨૯ ॥ આ સૂત્રના ત્રણે પદોને સરલશૈલીથી સ્પષ્ટપણે સમજાવીને અપાદાનસંજ્ઞાનું સ્વરૂપ જણાવ્યું છે । અત્યંતદીર્ઘદૃષ્ટિથી આ સૂત્રની રચના કરીને તથા એ સૂત્રમાથી વિવિધપ્રકારના અર્થો કાઢવાના કૌશલ્યવલ્લે કલિકાલસર્વેશે આ અપાદાનકારકને લગતા પાણિનીયના અનેક સૂત્રો, વાર્તિકો તથા વ્યાખ્યાનોને નિરર્થક બનાવી દીધા છે; અને સાથે સાથે માપ્યકારના શક્તા-સમાધાનોને સર્વથા સાર્થક રીતિએ અપનાવ્યા છે । ઇટલા માટે આ સૂત્રની રચના કરવામાં સર્વેશ ભગવાનની સર્વસંપ્રાહિતા, સચોટશૈલીની સુવદ્ધતા, વિવેચન કરવાની અતૂટ શક્તિ અને સકલના કરવાની અપૂર્વ-કુશલતા પ્રત્યે ઊરના અમિનન્દનો ઉમરાયા વગર રહેતા નથી । ઇટલુંજ નહિ પણ આ સૂત્રની આનન્દબોધિનીવૃત્તિમા પણ ‘અપાયે, અવધિઃ અને અપાદાનમ્’ એ ત્રણે પદોનો સુમેલ સાધીને અપાદાનકારકની શક્તિનો વ્યાપક પ્રદેશ બતાવી દીધો છે, તદુપરાન્ત પાણિની-યના સૂત્રોના અને વાર્તિકકારના વાર્તિકોના નિરર્થકપણાનું સ્પષ્ટરીત્યા શકા-સમાધાન સહિત વિસ્તારપૂર્વક દિગ્દર્શન કરાવ્યું છે ।

૨-૨-૩૦ સૂત્રમા અધિકરણસંજ્ઞાનું સ્વરૂપ જણાવ્યું છે ।

“નામ્ પ્રથમૈકદ્વિવૈ” ॥ ૨-૨-૩૧ ॥ આ સૂત્રમા પ્રથમાવિભક્તિનો અને તેના વચનોનો અર્થ જણાવીને પ્રથમાવિભક્તિનું

विधान अने नामनो अर्थ जणावी नामना विभागोनु विस्तारथी विवेचन करेळु छे । तथा साहचर्य-स्थानादि दशे स्थानमा वपराता प्रयोगोमा प्रथमानी प्राप्ति थवाना हेतु अने समाधानो जणावेला छे । आ सूत्रनी तत्त्वप्रकाशिकाने विस्तारथी समजाववा माटे प्रसङ्गे प्रसङ्गे वाक्यपदीय, भाष्य, अने महार्णवव्यासना भव्य-सिद्धान्तोने आनन्दबोधिनी-वृत्तिमा सारी रीते अपनावेला छे ।

“आमङ्ग्ये” ॥ २-२-३२ ॥ आ सूत्रमा आमङ्गणशब्दना स्वरूपने जणावीने पष्ठी-विभक्तिनी प्राप्तिना प्रसङ्गे प्रथमा-विभक्तिनुं विधान कर्तुं छे ।

“गौणात्समया०” ॥ २-२-३३ ॥ सूत्रथी शरु थयेलो गौणशब्दनो अधिकार “सर्वादि सर्वा” ॥ २-२-११९ ॥ सुधीना दरेक सूत्रमा प्रवर्ते छे ।

२-२-३३ सूत्रथी २-२-११९ सुधीना ८७ सूत्रोमा जणावेला नामो गौण एटले क्रियापदनी साथे जेनु समानाधिकरण न होय तेवा ते नामोथी द्वितीयथी सप्तमी सुधीनी विभक्तिओनु नित्य के विकल्पे विधान करवामा आव्यु छे ।

कारक-प्रकरणना छेला पाच सूत्रोमा गौण शब्दनो अधिकार आवतो नथी । ए पाच सूत्रोपैकी २-२-१२० सूत्रथी अमुकविभक्तिना मात्र एकवचननु ज विधान कर्तुं छे अने त्यार पळीना चार सूत्रोथी एकवचननी प्राप्तिमा अने द्विवचननी प्राप्तिमा बहुवचननु विकल्पे विधान करीने कारकप्रकरणनी समाप्ति करी छे । आ रीतिए उपलक दृष्टिए कारकप्रकरणने विचारी गयाथी एटलु तो जणाइ आवे छे के आ व्याकरणना भणनार माटे आ ग्रन्थमा दरेक सामग्रीनो सञ्चय करेलो छे, ए वात पठन-पाठनकाळे जरूर समजाइ जाय तेवी होवाथी अहीं विशेष जणाव्यु नथी ।

कारकप्रकरणनी समाप्ति साथे बीजा अध्यायना बीजा पादनी पण समाप्ति थाय छे । पादनी समाप्ति सूचवनारो श्लोक नीचे मुजब—

“मूलार्कः श्रूयते शास्त्रे, सर्वकल्याणकारणम् । अधुना मूलराजस्तु, चित्रं लोकेषु गीयते” ॥२।२।२।६॥

आ श्लोकना अर्थनु विस्तारथी स्पष्टीकरण आ ग्रन्थमा पृष्ठ २१८ नी पङ्क्ति ३१ थी ३८ सुधीमा करेळु छे ।

आ श्लोकना चार चरणमा ‘सर्वकल्याणकारणम्’ ए बीजु चरण छे, परन्तु कोइ जम्याए बीजा पादमा (चरणमा) फारफेरं जोवामा आवे छे । छता पण आ ग्रन्थना सम्पादन माटे अमोए अवलोकन करेली ताडपत्रीय प्रतिओमा, हस्तलिखित प्रतिओमा, वि० स० १९६२ मा स्व० शेठ मनसुखभाई भगुभाई तरफथी प्रकट थयेल प्रतिमा, वि० स० १९९१ मा शेठ आणन्दजी कल्याणजीनी पेढी तरफथी प्रकट थयेल सि० हे० श० लघुवृत्तिना द्वि० परिशिष्टना ६३ श्लोकमा, ‘गुजरातनुं प्रधान व्याकरण’ नामना निबन्धमा, अने जैनग्रन्थप्रकाशक-समा तरफथी प्रकट थयेल दीपिकासहित अष्टाध्यायी नामना ग्रन्थमा उपर जणाव्या प्रमाणे ज बीजु चरण जोवामा आव्याथी अने अर्थ पण सुसङ्गत होवाथी अमोए पण ए ज प्रमाणे बीजु चरण राख्यु छे ।

उपरोक्त श्लोकना पहिला अने बीजा चरणना पदो अने विभक्तिने लगतु आनन्दबोधिनीवृत्तिमा आज भावने अनुसरतु लखाण छे—“मूलनक्षत्रमा रहेलो सूर्य सर्वकल्याणनु कारण छे एम शास्त्रमा-ज्योति शास्त्रमा संमळाय छे” । ‘आ अर्थ ज्योति-शास्त्रनी साथे संगत थतो नथी, कारण के मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि ज्योति-शास्त्रना अथोमा मूलनक्षत्रमा रहेला सूर्यने अशुभ मानेलो छे, एटले उपरनी अर्थघटना ज्योति-शास्त्रनी साथे बधवेसती थती नथी,’ आवु लखनाराओने अने बोलनाराओने आ शङ्काना समाधानमा समजवानु छे ते आ प्रमाणे-शास्त्रमा=सुवर्णसिद्धि-कल्पशास्त्रमा अने ज्योति-शास्त्रमा, कल्याण=सुवर्ण-सोनु अथवा मङ्गल-सौख्य इत्यादि जूओ-अ० चि० का० ४ श्लो० १०९, अने शब्दरत्नमहोदधि-मा० १ लो पृष्ठ ४७९ ।

मूलार्कमा मूलशब्दनो अर्थ मूळीयु अने मूलनक्षत्र विगेरे थाय छे,—जुओ शब्दरत्नमहोदधि मा० २ जो पृ० १६७८ । अर्कशब्द पुर्लिगे छे, तेनो अर्थ-सूर्य, इन्द्र, आकडानु झाड, वृक्षविशेष, अरक अने त्रावु विगेरे थाय छे,—जुओ-शब्दरत्न-महोदधि मा० १ लो पृ० १५३ । उपर प्रमाणे शब्दोना अर्थो कौषमा जणायेला होवाथी आ श्लोकना पूर्वार्द्धना अर्थो नीचे मुजब थइ शके छे—

- १ आकडाना झाडना मूळीआ सर्वप्रकारना सुवर्णनु कारण छे ।
- २ आकडाना झाडनो अरक ( सत्त्व-रस ) अथवा मूळीआनो अरक सर्वप्रकारना सुवर्णनु कारण छे ।
- ३ वृक्षविशेषना मूळीआ सर्वप्रकारना सुवर्णनु कारण छे ।
- ४ वृक्षविशेषनो अगर तेना मूळीआनो अरक सर्वप्रकारना सुवर्णनु कारण छे ।
- ५ मूलार्क=शुद्ध-त्रावु सर्वप्रकारना सुवर्णनु कारण छे ।

- ६ मूलनक्षत्रनी विद्यमानतामा सूर्य ज्यारे पोताना किरणोने पूरेपूरां प्रगटावी रखो होय त्यारे सुवर्णसिद्धिने योग्य दरेक वस्तुओने भेळववी ते सर्वप्रकारना सुवर्णनु कारण छे ।
- ७ मूलनक्षत्रमा सूर्य होय त्यारे रोगीने दवा आपवाथी रोग जडमूलमाथी जाय छे ।
- ८ मूलनक्षत्रनो सूर्य सर्व मङ्गलनु कारण छे ।
- ९ मूलनक्षत्रना सूर्यमा रोगरहित थयेल निरोगिने आपेली लुद्धि-पुद्धिनी दवा सर्व-सौख्यनु कारण छे ।

‘गुजरातनु प्रधान व्याकरण’ ए नामना लेखमां तेना लेखके आ श्लोकना अनुवादमा जणावेलु छे के—

‘मूलार्क सर्वकल्याणनु कारण छे’ एम शास्त्रमां संभळाय छे, पण हमणां ‘मूलराज सर्वकल्याणनु कारण छे’ एम लोकोमा गवाय छे ए आश्चर्य छे । एटलं जणावीने अनुवादनी टिपणीमा लेखके आ भावनु लखाण जणाव्यु छे के—  
मूलार्क.=मूलनक्षत्रनो सूर्य सर्वकल्याणनु कारण छे एम शास्त्रमा समळाय छे पण हमणा [ तो ] मूलराज=मूलनक्षत्रनो ( राज् एटले ) चन्द्र अथवा मूलराजा सर्वकल्याणनु कारण छे एम लोकोमा गवाय छे ए आश्चर्य छे !—आ अर्थ पण वृत्तिने अनुसरतो ज छे ।

हवे आ श्लोकना पूर्वाद्धनी चर्चा माटे नीचेना वे ग्रन्थमा जणावेली हकीकतने तपासीए—

- १ श्रीहैमसारस्वत-सत्र ( गु० सा० प० नुं सम्मेलन, अहेवाल अने निबन्धसङ्ग्रह इ० स० १९४१ ) ना पृ० २१५ उपर ‘सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन अने ऐतिहासिक पांत्रीस श्लोको’ ए नामनो एक निबन्ध शरु थाय छे, अने ते निबन्धमा लेखके पृ० २२४ उपर आ श्लोक अने तेनो अनुवाद नीचे प्रमाणे जणाव्यो छे—

“मूलार्क. श्रूयते शास्त्रे सर्वाकल्याणकारकः । अधुना मूलराजस्तु, चित्र लोकेषु गीयते” ॥ ६ ॥ (अनुष्टुप्)

“मूलनक्षत्रनो सूर्य सर्व प्रकारना नुकसानोने करनार छे एम शास्त्रोमा समळाय छे, पण नवाइ जेवी वात छे के हालमां तो लोकोमा ते सर्वकल्याणोना कारणरूप गवाय छे” ( ज्योतिषशास्त्रमा मूळनो सूर्य खराव गणाय छे, पण मूलराजरूप सूर्यनी तो हालमा खूब चढती देखाय छे. ज्योतिषनी मान्यता पर अहीं मार छे )

आ श्लोकना चारे चरणो अने अर्थ उपर जणाव्यो ते प्रमाणे छे, छता ‘सर्वाकल्याणकारक’ ए विवादास्पद-पद छे । अर्थनी सङ्गति करवा माटे पण आ पदोनी उचितता नथी एम अमारु मानवु छे । आ एक पदने स्वीकारवामा वाकीना पदोनी चमत्कृति अने साराये श्लोकनी विशेषताओनु विसर्जन थाय छे । विशेषमा पृ० २२० नी टिपणीमा आ श्लोकने जे स्थळथी लीघानु जणाव्यु छे ते स्थळे तो × × × ‘सर्वकल्याणकारणम्’ छे, पण ‘सर्वाकल्याणकारक.’ नथी तो पछी आ फेरफार थयो शी रीते ?, ए बाबत विचारणीय छे । सि० हे० श० नी प्रथमावृत्तिमाथी ए श्लोक लीघानु जणावे छे, परन्तु ते आवृत्तिने अमे जोइ तो तेमा करेलो फेरफार जोवामा आव्यो नहि । वर्तमान समयमा बहुजनमान्य-प्रचलित-अर्थनी साथे सङ्गति करवा माटे उपरना लेखके जे स्थळथी अर्थात् मुद्रित पुस्तकमाथी ते श्लोक लीधो हरो, अने ते स्थळमा ते लेखके जाते ज बीजा चरणमा फेरफार कर्यो हरो एवी अमारी मान्यता छे । कारणके नीचेना ग्रन्थमा ‘सर्वाकल्याणकारणम्’ पद जणाय छे ।

२ ‘पी लार्ड्स ऑफ हेमचन्द्राचार्य’ ए नामना ग्रन्थमा तेना लेखक प्रो० डॉ० जी० बुहरे जर्मनभाषामा लखेला चरित्रनो प्रो० डॉ० मणिलाल पट्टेले ( पी एच् डी ) अंग्रेजीमा अनुवाद कर्यो छे, ते ग्रन्थमा नीचे प्रमाणे श्लोक जणाव्यो छे—

“मूलार्क श्रूयते शास्त्रे, सर्वाकल्याणकारणम् । अधुना मूलराजस्तु, चित्र लोकेषु गीयते” ॥ ६ ॥

आ श्लोकनु इंग्लीशभाषामा ट्रांसलेशन ( तरजुमो ) करीने तेना उपर नोट लखी छे ते आ प्रमाणे—

It is heard in the Sastra that the mula-sun is the root of evil and yet what a wonder that now the mula-king is praised in the three worlds! Note—The conjunction of the sun with mula spells destruction as surely this moon-house, whose protecting deity Nirrti works only evil.

आ स्थळे ‘सर्वाकल्याणकारणम्’ छे ज्यारे पूर्वना निबन्धमा ‘सर्वाकल्याणकारक.’ छे । इंग्लीश नोट लखनारे पाठान्तर तरीके सर्वक० लीधु छे, ए उपरथी ‘सर्वकल्याणकारणम्’ मूलनक्षत्र साथे अर्थमा संगत थतो नहि होय तेथी ‘सर्वाकल्याणकारणम्’ फेरवेलु जणाय छे, एवी सत्य समावना करवी स्थाने गणारो । सर्वाकल्याणकारकः ए पदनो गुजराती अनुवादनो भाव अने सर्वाकल्याणकारणम् ए पदनो इंग्लीश-अनुवादनो भाव लगभग एकसरखा जणाय छे ।

आ स्थळे ‘सर्वाकल्याणकारणम्’ ने बदले ‘सर्वाकल्याणकारक.’ लीधु क्याथी ?, अने जे स्थळे ‘सर्वाकल्याणकारणम्’ छे’ ते स्थळे आ ‘सर्वाकल्याणकारक.’ ए चरण पण लेवासु नथी । अमारं तो एवुं मानवुं छे के—वर्तमान समयमा श्रवणगोचर थतः

१-जूओ-अनेकार्यसग्रहे द्वितीयकाण्डे श्लो० २८३-२८४ । २-आ टिपणी लेखके लखी नथी एवु सबरूनी मुलाकातमा विचारविनिमय करता माळस पशु छे । ३-सिंधी-जैनग्रन्थमाला प्र० ११, पृ० ७४-७७ । ४-सर्वक० ११३३ । ५ हैमसारस्वत-सत्र इ० स० १९४१ पृ० २१५ ।

ग्रन्थोनी साथे अर्थने संगत करवा माटे ज लेखके-संपादके फेरफार कर्यो हशे । कारण के पाश्चात्य विद्वानो कोई ग्रन्थनु सम्पादन करता कोई जग्याए हस्तलिखित-प्रतिना पद के शब्दनो खरेखरो अर्थ पोतानी समजमा न आवे त्यारे पोताना मगजमां बेटेले अगर कल्पित-अर्थ नीकळी शके तेवी रीते ते जग्याए पद के शब्दमा फेरफार करी नाखे छे—जेम के चन्द्रगोमिना समयविषे राजतरङ्गिणीमा एवो उल्लेख छे के—“चन्द्राचार्यादिभिर्लब्धादेश तस्मात्तदागमम् । प्रवर्तित महाभाष्यम्” आ उल्लेखमा केटलाक विद्वानो ए सुधारो करीने पण वास्तविक अर्थ काढ्यो नथी, पण डॉ० कील्होर्ने उपरना पाठने “चन्द्राचार्यादिभिर्लब्धा देशान्तरात्तदागमम् । प्रवर्तित महाभाष्यम्” आ पमाणे सुधारिने अर्थ काढवानी कोशीप करी छे, छता आ स्थले पण विचारणाने अवकाश छे, ए ज प्रमाणे उपरना श्लोकना बीजा चरणमा पण पाठनो फेरफार कोइए कर्यो होय अने तेज चरणने अनुसरीने अनुवाद लखायो होय एम अनुमान थाय छे ।

हैमसारस्वत-सत्रमाना निबन्धना लेखके ‘सर्वाकल्याणकारकः’, अने ‘लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य’ नामना ग्रन्थना भाषा-न्तरकारे ‘सर्वाकल्याणकारणम्’ ए प्रमाणे छट्टा श्लोकना द्वितीय पादने जणाव्यु छे ।

‘सर्वाकल्याणकारकः’ ए प्रमाणे बीजा पादने जणावनार लेखके-अनुवादके ए पाद क्याथी लीधु ? ते सम्बन्धि ते ज लेखना पृ० २२० नी नोंधमा जणाव्यु छे, छता ते स्थळनी तपास करता अने उपरनी बीनानो वास्तविक खुलासो मेळववा माटे प्रयत्न करता सु आ भोतीचन्द्रमाइ ( ते श्लोकना अनुवादक ) अत्रे आवेला, अने रुवरूमा विचार-विनिमय करता अने अनुवादनी मूळ काँपी तपासता जाणवामा आव्यु के नोंध तेओए लखी नथी तेमज ते श्लोक क्याथी लेवायो ते पण तेमणे हाल स्मरण नथी ।

भारतीयविद्याभवनना प्रधान-सञ्चालकने पूछता एक विद्यार्थी ते सञ्चालकना नामे हस्तप्रतिनो पाठ साचो जणावीने विपरीत-पाठ माटे बुहरनी गेरसमज जणावे छे, अने साराशरूपे नीचेनो भावार्थ जणावे छे—

‘मूळनो सूर्य तो सर्वकल्याणनुं कारण शास्त्रमा कब्यो छे, पण हमणा तो आश्चर्य छे ( चित्र ) मूळनो चन्द्र ( मूलराज ) लोकमा गवाय छे, आम ‘मूलराज’ ( राजाने मूलनो चन्द्र ) पर श्लेष छे’ ।

आ उपरथी वाचकोना ख्यालमा आवी जशे के आ सम्बन्धमा चालू प्रकरणना श्लोक सम्बन्धमा उपर मुजबनु हमारुं अनुमान, मन्तव्य अने चर्चा योग्यस्थाने छे ।

कारकप्रकरण पूरु थता आ प्रथमभाग सम्पूर्ण थाय छे, त्यार पछी तरतज परिशिष्टोनी शरुआत करवामा आवी छे ।

### \* परिशिष्टोनी समज ।

सि० हे० श० ना आ प्रथमभागनु पठन-पाठन अने परिशीलन करनारा अभ्यासिओने अभ्यासमा अनुकूल अने मदद-गार थड शके तेवा १४ परिशिष्टोनी पूरवणीरूपे आ ग्रन्थमां गोठवण करवामा आवी छे ।

दरेक परिशिष्टमां आवेली विगतने सामान्यरूपे दरेक परिशिष्टने मथाळे जो के जणावी दीधी छे, तो पण काइक सक्षेपरूपे दरेक परिशिष्टनी हकीकत प्राय. पृष्ठाक अने पत्त्यक साथे अहीं अनुक्रमे जणावीए छीए—

परिशिष्ट १ जुं—पृ० २१९ थी २२५ सुधीमा आ प्रथमभागमा आवेल छ पादना कुल ४८३ मूल सूत्रोनी आवृत्ति करवानी अनुकूलता माटे मूल सूत्रो सूत्राङ्क साथे आपेला छे ।

परिशिष्ट २ जुं—पृ० २२६ थी २३१ सुधीमा साधनिका करवामा कोइपण सूत्र, वृत्ति अथवा उदाहरणादि जोवानी जरर पडे त्यारे सहेलाइथी जोइ शकाय, ए हेतुथी छ पादना ४८३ सूत्रोनी अकारादिक्रम आपेले छे ।

परिशिष्ट ३ जुं—पृ० २३२ थी २३७ सुधीमा आ ग्रन्थनु सशोधन, सम्पादन अने आनन्दबोधिनीवृत्तिनी रचना करवामा मददमा लीधेला—ताडपत्रीयग्रन्थो, हस्तलिखितग्रन्थो अने मुद्रितग्रन्थोनी अकारादिक्रम आपेले छे । तत्त्वप्रकाशिका अने आनन्दबोधिनीमा जे जे स्थले जे जे ग्रन्थनु नाम जणाववामा आवेल्ल होय छे ते दरेक ग्रन्थना नामोने जोवानी इच्छा-ब्याख्या आ परिशिष्टमा नजर करवी । आ परिशिष्टमा बधा मळीने १९४ ग्रन्थना नामो आवेला छे, तेमा ताडपत्रीय ग्रन्थना, ३ थी ७ ग्रन्थो, हस्तलिखितग्रन्थना ८ थी २५ सुधीना १८ ग्रन्थना नाम, अने मुद्रितग्रन्थोना २६ थी १९४ सुधीना १६९ ग्रन्थना नामनो समावेश करेले छे ।

परिशिष्ट ४ थुं—पृ० २३८ थी २५३ सुधीमा आ प्रथमभागना छ पादना सूत्रोना उदाहरणादिनी साधनिका करवामां मददगार थयेला छ पाद सिवायना वाकीना वावीस पादना अने उणादिगणना आवेल सूत्रोनी अकारादिक्रम आपेले छे ।

छ पाद सिवायना अने उणादिगणना सूत्रोमाथी घणाखरा सूत्रो आ परिशिष्टमां आवी गया छे, अर्थात् सात अध्यायना

अने उणादिगणना मळीने कुल सूत्रो ४५७२ छे, तेमाथी आ प्रथमभागमा आवेला ४८३ सूत्रो अने साधनिकामा मददगार थयेला आ परिशिष्टमा जणावेला ७२५ सूत्रो छे, ते वने मळीने १२०८ सूत्रोनु विशाल ज्ञान ( आ प्रथमभागनो काळजी पूर्वक ) अभ्यास करनारने थइ शके छे, एटले उणादिगण सहित साते अध्यायना कुल ४५७२ सूत्रमाथी चोथा भागथी पण वधु सूत्रोनु ज्ञान थइ शके छे ।

**परिशिष्ट ५ मुं—**पृ० २५४ थी २५५ सुधीमा आ प्रथमभागमा आवेला शाकटायन, जैनेन्द्र अने पाणिनिय वगेरे व्याकरणोना ८९ सूत्रोनु अकारादिक्रम आपेलो छे, एटले चोथा परिशिष्टमा जणावेला सूत्रो उपरान्त आ ८९ सूत्रनुं ज्ञान पण काळजी पूर्वकनो अभ्यासी प्राप्त करी शके छे ।

**परिशिष्ट ६ मुं—**पृ० २५६ थी २५९ सुधीमा साधनिका करती वखते विषयने स्पष्टतया समजाववा माटे व्याकरण-काव्य-कोष अने नाटक विगेरे साहित्यग्रन्थोमाथी अवतरण करेला १३६ गद्य-पद्योनु अकारादिक्रम आपेलो छे ।

**परिशिष्ट ७ मुं—**पृ० २६० थी २६१ सुधीमा, आ ग्रन्थना सूत्र, वृत्ति अगर उदाहरणना कोई विषयने स्पष्ट करवा माटे प्रमाण तरीके आपवामा आवेला ५७ ग्रन्थोना नामोनु अकारादिक्रम आपेलो छे । त्रीजा परिशिष्टमा ग्रन्थो छे ज्यारे आ परिशिष्टमा पृष्ठाक पंक्त्यक साथे ग्रन्थो जणावाय छे ।

**परिशिष्ट ८ मुं—**पृ० २६२ थी २६५ सुधीमा, शेष-कश्चित्-अन्य-अपर-पर अने एक विगेरे उपनामोथी जणावेला ९६ मतान्तरधारक-वैयाकरणोना नामोनु अकारादिक्रम आपेलो छे ।

**परिशिष्ट ९ मुं—**पृ० २६५ थी २६८ सुधीमा गद्यपद्यत्मक-व्याकरणप्रसिद्ध १९३ न्यायोनु अकारादिक्रम आपेलो छे ।

**परिशिष्ट १० मुं—**पृ० २६९ थी २७० सुधीमा अ-आ-इ-क-त-द-प, अने ङ विगेरे अक्षरोनी इत्सज्ञा करवानुं अने बहुवचन विगेरे करवानु फळ जे जे स्थळे वतावेळं छे, ते ७८ स्थळनो अकारादिक्रम आपेलो छे ।

**परिशिष्ट ११ मुं—**पृ० २७१ थी २७६ सुधीमा, आ ग्रन्थना उदाहरणोनी साधनिकामा आवेला ३०१ धातुनु अकारादिक्रम आपेलो छे ।

**परिशिष्ट १२ मुं—**पृ० २७६ थी २९१ सुधीमा, आ ग्रन्थमा केटलेक स्थळे कठिन जणाता शब्दोनु अर्थ जणावेलो छे, अथवा पर्यायवाची शब्दो मूक्या छे, तेवा ११३६ शब्दोनु अकारादिक्रम आपेलो छे ।

**परिशिष्ट १३ मुं—**पृ० २९२ थी ३२३ सुधीमा, ननु न च विगेरे पदोथी उत्पन्न करेली शक्काओनु सग्रह आपेलो छे । शक्काओना क्रमाक, सूत्र, शक्का अने पछी पृष्ठाङ्क तथा पक्त्यङ्क छे ।

**परिशिष्ट १४ मुं—**पृ० ३२४ थी शरू थता वैयाकरणोना १९८ मतान्तरोनो सग्रह आपेलो छे ।

**परिशिष्ट १५ मुं—**आ परिशिष्टमा भौगोलिक, वैज्ञानिक, वैदिक अने ऐतिहासिक विभागो पाडीने उदाहरणो अने प्रत्युदाहरणोनु अकारादिक्रम आपेलो छे, परन्तु हवे पछीना विभागमा अवसरे आपवामा आवशे ।

### \* प्रकाशनना प्रासङ्गिक मददगारो—

आ प्रधानतम व्याकरणना बहार पढता प्रथमविभागना सशोधन, सम्पादन, आनन्दबोधिनीवृत्ति-ग्रन्थनी प्रेसकॉपी अने प्रूफसशोधन विगेरे कार्यो मारी नजर तळे थयेलां होवाथी तत्सम्बन्धी दरेक हकीकतोने आ शास्त्र-प्रस्तावनाना प्रकरणमा संक्षेपतया जणावी देवामा आवी छे ।

सम्पादनकार्यने अङ्गेनी केटलीक हकीकतो आ प्रस्तावनाना 'प्रकाशन अङ्गे पुनीत विचार' नामना प्रकरणमा जणावी दीधी छे, तदुपरान्त जणाववानु ए छे के-आ सम्पादन कार्य माटे शमदमादिगुणगणविभूषित-मुनिवर्य-श्रीपुण्यविजयजी महाराजे पोताना ग्रन्थसग्रहमाथी सि० हे० श० नी प्रति आपीने तथा पाठ्यना श्रीहेमचन्द्राचार्य जैनज्ञानमन्दिरमाथी प्रतिओ अने प्रतिओमाथी चित्रो लेवानी सामग्रीओ अपाचीने ज्ञाननी आराधनानो अपूर्व लाभ प्राप्त कर्यो छे । तदुपरान्त आ प्रथम-भागना सम्पादनमा अभ्यासिओने शुद्धसामग्रीओथी भरपूर रसथाळ पीरसवामा तेओश्रीनी प्रतिनो ज मुख्यतया आश्रय अमोए लीथेलो होवाथी आ सम्पादनकार्यना मुख्य-मददगार तरीकेनो यश पण तेओश्रीने ज फाळे जाय छे । हवे पछीना बीजा भागोना सम्पादनमा पण तेओश्रीनी प्रतिनो ज मुख्यतया आश्रय लेवानी अमारी भावना छे अने कार्यपण चाळ् छे, कारण के अन्यस्थळे तपास करवा छता एनाथी सारी बीजी कोइ प्रति मळी शक्की नथी, पट्टज नहीं पण मळी शके एम जणातु पण नथी ।

'भाण्डारकर ऑरीएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट'-पूना ( Bhandarkar Oriental Research Institute-Poona ) अने 'रॉयल एशियाटीक सोसायटी' ए वने संस्थामाथी हस्तलिखित अने मुद्रित ग्रन्थो पोतानी लागवगथी मेळवी आपीने भावनगरनिवासी सुश्रावक हीरालाल अमृतलाले पुण्यानुबन्ध-पुण्य उपाजन करवामा भारे परिश्रम उठाव्यो छे ।

घी.

खम्भातना श्रीशान्तिनाथ प्राचीन ताडपत्रीय ज्ञानभण्डारमाथी ताडपत्रीयग्रन्थो, पोतानो माणस मोकलीने मंगावी आपनार खम्भातनिवासि-सुश्रावक मूलचन्द बुलाखीदास अने मोहनलाल दीपचन्द चोकसीए पण पुण्यानुबन्धि पुण्यनी प्राप्ति करवामा कमीना राखी नथी ।

लीम्बडीना जैनज्ञानभण्डारमाथी हस्तलिखित प्रतिओ चोक्स रकम ( डीपोझीट ) मूकीने मेळवी आपनार खम्भातनी ख० शेट बुलाखीदास नानचन्दनी पेढीए अनहद पुण्य उपार्जन कर्युं छे ।

मुम्बई ( सुखानन्द जैनधर्मशाळा ) ना श्रीऐलकपन्नालाल जैनसरस्वती-भवनमाथी शाकटायन अमोघावृत्तिनी हस्तलिखित प्रति चोक्स रकम (डीपोझीट) मूकीने मेळवी आपनार मुम्बईना श्रीगोडीजीपार्श्वनाथ जैनमन्दिरनी श्रीविजयदेवधरसद्धनी पेढीना मॅनेजिंग ट्रस्टीओ सु. श्रा. भायचन्दभाई नगीनभाई, सु. श्रा. वयलचन्द केशवलाल मोदी; अने सौभाग्यचन्द उमेदचन्द दोसीए अनर्गल पुण्य हासल कर्युं छे ।

ताडपत्रीय-प्रतिमा चित्रेला हाथी उपर विराजित सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनना वरघोडानो ब्लॉक आपीने तेना चित्रने आ ग्रन्थमा मूकवानी सवळता सु. श्रा. साराभाई मणीलाल नवावे करी आपी छे तेथी साहित्य प्रत्येनो तेमनो आदर प्रशसनीय छे ।

आगमोद्धारक पूज्य गुरुदेवना चित्रसम्बन्धनुं सघळु ये खर्च आपीने सुरतनिवासि मोतीचन्द मगनलाले अपूर्व-भक्ति प्रदर्शित करी छे ।

सर्व प्रकारनी सामग्रीओथी विमूषित आ ग्रन्थना सशोधन, सम्पादन अने प्रकाशन करवामां पण्डितोए, प्रेसकॉपी करनाराओए, प्रूफशोधनाराओए, मुद्राङ्कित-करनाराओए अने हस्तलिखित-प्रति आदि उपयोगमा आवेला साधनो प्रत्यक्ष के परोक्ष मेळवी आपनाराओ-विगेरेए जे जे प्रकारनी सहायता समर्पी छे, ते ते सहायताना असीम-उपकाररूप ऋणमाथी मुक्त थवा माटे तेओने म्हारा स्मृति-पट पर लावीने आ शास्त्र-प्रस्तावनानी परिसमाप्ति करवामा आवे छे ।

उपरनी शास्त्र-प्रस्तावनाने स्पर्श-करनारा प्रकरणो अने तेना प्रासङ्गिकना प्रकरणोनो उल्लेख करवामा, ग्रन्थना सशोधनादि कार्य करवामा, अने आनन्दबोधिनी वृत्तिनु गुन्थन करवामा अज्ञानताथी विश्ववद्य-वीतराग-भगवन्तनी आज्ञाविरुद्ध अथवा कलिकालसर्वज्ञ-भगवान्ना आशय विरुद्ध लस्वाह गयुं होय अने अज्ञानताथी अगर दृष्टि-दोषथी जे काह अशुद्धि विगेरे रही गया होय ते विवेकियोने विवेकपूर्वक वाचवानी सादर मलामण करीने ते सम्बन्धी 'दुष्कृत मिथ्या थाओ' एवी अभिलाषा साथे अत्रे विरमुं छुं । अन्तमा ग्रन्थ छपाती वखते कानो मात्रा अने अनुस्वार विगेरे उडी गया होय अगर आगळ के पाठळ थइ गया होय तेने सुधारीने वाचवानी वाचकोने पण भलामण करवामा आवे छे ।

श्रीजीरावलिपार्श्वनाथमन्दिर, जैन श्वे०मू० उपाश्रय,  
घाटकोपर (मुम्बई) वि० सं० २००१-  
कलिकालसर्वज्ञ-  
श्रीहेमचन्द्रान्वार्थसूरीश्वरभगवज्जन्मवासरे  
( कार्तिक्या-पूर्णमायाम् )

श्रीमत्तपागच्छगगनाऽहर्मणिगीतार्थसर्वभौमाऽऽगमो-  
द्धारक-श्रीवर्द्धमान-जैनाऽऽगममन्दिराद्यनेकसस्था-  
निर्माणोपदेशक-सस्थापक-शासनसरक्षक-  
श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरचरण-  
चञ्चरीकः-चन्द्रसागरः ।



## ॥ प्रकाशिकानुं निवेदन ॥

प्रातःसरणीय-पूज्यपाद-आगमोद्धारक-आचार्यदेवेश-श्रीआनन्दसागरस्त्रीश्वरजीनुं वि० स० १९८८ नु चातुर्मास-सुम्बई ( मूलेश्वर-लालबाग ) मा थयेछ । ते वखते तेओश्रीनी छत्रछायामा रहेला तेओश्रीना विद्वान्-शिष्य-सिद्धचक्राराधन-तीर्थोद्धारक-पद्म्यासप्रवर-श्रीचन्द्रसागरजी गणिवरना शुभ हस्ते मारो जन्म थयेलो छे, अर्थात् 'श्रीसिद्धचक्रसाहित्य-प्रचारकसमिति' ए नामनी सख्यारूपे म्हारो जन्म थयेलो छे ।

में मारी बाल्यावस्थानी शरुआतथी आज पर्यन्तना वार वर्षमा शासनसेवाना अनेकविध कार्योनी सिद्धि थवामा मारा तरफथी प्रगत थता शासनमान्य 'श्रीसिद्धचक्र' पाक्षिक ( हालमां मासिक ) द्वारा जे मदद करी छे ते चतुर्विध श्रीसधने सुविदित ज छे ।

शासनमान्य-सिद्धान्तो अने परम्परागत मान्यताथी व्याख्यानो कि वा भाषणोमा विरुद्ध बोलनाराओने, जाहेर वर्तमान-पत्रोमा विरुद्ध लखनाराओने, शासनना प्राणाधारभूत सर्वज्ञसस्थापित श्रमणमगवतोनी सस्थाना द्दवीभूत पायाने ढीला पाडवानी अनेकविध कार्यवाही करनाराओने, अने ए उपरान्त देव-गुरु-धर्म-धर्मि अने धर्मना साधनो प्रत्ये अनादरमात्र बधानारी कोइ पण प्रकारनी कार्यवाहीमा कुशळ बनेलाओने, अने कुशळ बनवा-बनाववाना प्रेरकतत्त्वोने पूरा पाडनाराओने सीधी के आहकतरी रीतिए पीछे हठ कराववानु अने विशेषमां तेओना मलिन हृदयोने पवित्र करनारी आगमोद्धारकनी अमोघ देशना, सागरसमाधान, सुधासागर अने समालोचनादि अनेकविध झरणाओना सद्युच्चरूप सिद्धान्त सुधारसनी सरिताओने बहेती मूकवानुं जे महान् कार्य आ सिद्धचक्रपाक्षिकद्वारा में कर्युं छे तेनो सघळ्योय यश आगमोद्धारक-आचार्यदेवेशने फाळे जाय छे ।

मारा जीवन-निभाव माटेना सर्वविभागनी साहित्यसामग्री तेओश्री तरफथी जेम अत्यार सुधी प्राप्त थयेली छे तेम भविष्यमां पण प्राप्त थया ज करशे, अने प्राप्त थयेली ते बधी साहित्यसामग्रीओने व्यवस्थित रीतिए गोठवीने मारा जीवनने भव्यजनोपकारक बनववानु कार्य पूज्य पं० श्रीचन्द्रसागरजी गणिवर जेम अत्यार सुधी कर्युं छे तेम भविष्यमा पण करशे ज, तेमज मारा जीवनथी चतुर्विधसंधने विशेष लाभ मळे ए हेतुथी अनेकविध सुन्दरतम ग्रन्थोने प्रकट करवानु कार्य झवेरी पानाचन्द रूपचन्द विगेरेए जेम अत्यार सुधी कर्युं छे तेम भविष्यमा पण करशे एवी मने सम्पूर्ण खानी छे ।

गुणग्राहि-जैनसमाज अने जैनैतर-समाजना शारीरिक मानसिक अने आर्थिक साधनो तथा आशीर्वादी वार वर्ष जेटलो मारी जीदगीनो भूतकाळ निर्विघ्नपणे जेम व्यतीत थयो छे, तेम विविध विजयवन्त-कार्योनी सिद्धि साथे भविष्यकाळ पण शासनसेवामा निर्गमन थशेज एवी मारी अविचळ मान्यता छे ।

श्रीसिद्धचक्रमाहात्म्य, श्रीआगमोद्धारक ( जीवनचरित्र ), तप उद्यापन, आचाराङ्ग सूत्र अने पयुषणपर्वमाहात्म्य विगेरे ग्रन्थोना प्रकाशनद्वारा-श्रद्धापोषक, सन्मार्गदर्शक, सञ्चारित्रवर्षक अने शासनसेवासमर्षक-प्रेरकतत्त्वोने पूरा पाडीने जनसमुदायना अन्त.करणने विशुद्ध बनाववामा विघ्नोनी के विघ्नकारकोनी दरकार कर्या वगर जेम अत्यार सुधी में सफळ प्रयत्नो कर्या छे तेम भविष्यमा पण हु करीथ एवी मारी दृढ प्रतिज्ञा छे । विशेषमा प्रात.सरणीय पूज्यपाद कलिकालसर्वज्ञ-भगवाननी साहित्य-रचनामा सर्वोत्कृष्ट-रचनारूप-श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनना आ प्रथमविभागने प्रकट करीने जैन साहित्यनु मुख उज्ज्वळ करवानो सुयशः मने अने मारा विघाताओने प्राप्त थयो छे ए कहेवु अत्र प्राप्त छि छे ।

आ प्रकाशनमा तन-भन अने धनथी मदद करनाराओना व्यक्तिगत नामनिर्देशपूर्वकनी योग्य उचितता हमार आ प्रकाशनमा माननीय सम्पादके जाळवी छे, छता तेओनो तथा यत्किञ्चित् मदद पण जेमणे करी होय ते बधाओनो आ तके आभार मानीने हु ऋणमुक्त थाउ छु, 'कारण के कोईनु पण ऋण माथे राखवु ते शिष्टाचारथी विरुद्ध गणाय छे' ।

आ प्रकाशनना सशोधक-सम्पादक अने आनन्दबोधिनीवृत्तिकार हमार माननीय-पूज्य-पद्म्यासप्रवर-श्रीचन्द्रसागरजी गणिवरनो तो जेटले आभार मानवामा आवे तेटले ओछो ज छे । तदुपरान्त तेओश्रीने आ ग्रन्थना सशोधन-सम्पादनादि कार्यमा जोइती सामग्रीओने मेळवी आपवामा तन मन अगर धनथी कोईपण सयोगमा कोईपण रीतिए जेवो मददगार थया होय ते बधाओनो तथा मारा गतिमान-चक्रोने हमेशा वैम आपनारा नगरशेठ पोपटलाल धारजीमाई संघवी प्रमुख, संघवी चुनीलाल लक्ष्मीचन्द खजानची; अने झवेरी पानाचन्द रूपचन्द प्रधान-संचालक विगेरे विगेरेनो अन्त.करणपूर्वक आभार मानीने आ मारा निर्मळ-निवेदननी समाप्ति करी अत्र विरमु छु, इति शब्—

कागळ उपर लखायेल आ प्रति श्रीहेमचन्द्राचार्य-जैन-ज्ञानमन्दिर-पाटणनी छे, ने ते मुनिवर्य श्रीपुण्यविजयजी महाराज-हे० चित्राङ्क १२ द्वारा प्राप्त थयेली हती । आ प्रतिनी लम्बाई प्रायः पोणा नव इंचनी अने पहोळाई साडा त्रण इंचने ए वे विन्दुनी छे, दरेक पत्रमा १६ के १७ पक्तिओ छे । प्रथम पत्र पर श्रमणभगवाननी प्रतिवृत्ति होवाथी दर्शनार्थे अत्र आपवामा आवी छे । पूर्वकाळमा व्याख्यान-पीठिकाओने अष्टमङ्गलादिना शुभ-चिह्नेथी सुशोभित राखवामा आवती हती, एम आ चित्रपरथी स्हेजे ख्यालमा आवी जाय छे ।

जे प्रतिओनां चित्रो लीधां नथी एवी प्रतिओ ।

१-सि. हे. श ना पाचमा अध्याय सुधीना मूळ सूत्रोनी ७ पत्रनी आ हस्तलिखित प्रति छे । आ प्रति पूनाना मा आँ इ नी छे, अने 'वि० सं० १४८२ ना आश्विन सुदी पूर्णिमाने रोज डुगरपुरमां लखेली छे' । आ प्रतिमां अशुद्धिओ घणी ज छे, छता आ प्रति उपरथी सूत्रोने तपासेला छे ।

२-सि हे श. नी स्वोपज्ञ-बृहद्भूतिना सम्पूर्ण सात अध्यायनी २५४ पत्रोनी आ हस्तलिखित प्रति छे, एनु पहेळं पत्र नथी, पत्र २ थी २५४ सुधीनी प्रति अखड छे । लिपि पडिमात्रानी छे अने लेखनपद्धति सुन्दर छे पण अशुद्धिओ घणी ज जोवामा आवे छे । आ प्रति पण पूनाना मा. आँ. इ नी छे, अने 'वि० सं० १४८६ ना जेठ सुदी १० सोमवासरे' लखेली छे । आ प्रतिनो उपयोग अतिरेक अगर अशुद्ध पाठनी मेळवणी प्रसङ्गे करवामा आवेलो छे ।

३-अमोघावृत्ति-अर्थात् शाकटायन-अमोघावृत्तिना नामथी प्रसिद्ध ग्रन्थनी आ हस्तलिखित प्रतिना कूल पत्रो ६२२ छे, तेमा ५८० थी ५८६ सुधीना कूल ७ पत्रो नथी । मूळ कानडी अने तैलगी लिपिउपरथी चाळ लिपिमा लखायेल प्रतिने देखता अने सवत्सर तपासता आ प्रति लखायाने प्रायः ३० वर्षथी वधारे समय थयो होय एम जणाय छे । आ ग्रन्थ चार अध्यायमा ज सम्पूर्ण करेलो होवाथी दरेक अध्यायना चार चार पाद प्रमाणे कूल सोळ पादनो आ ग्रन्थ छे । श्रीगोडीजीना मॅनेजिंग टस्टी श्वेरी भायचन्द्रमाई नगीनभाई, मोदी बवलचन्द्र केशवलाल, अने दोशी सौभाग्यचन्द्र उमेदचन्दे श्रीगोडीजीनी विजयदेवसूरसघनी पेढीथी रु० ३०० डीपोझीट भरीने आ प्रति मेळवी आपी छे । तुलनात्मक दृष्टिए अभ्यास करनारा माटे आ ग्रन्थ अतीव उपयोगी छे ।

४-५-सि. हे श ना सम्पूर्ण सात अध्यायना मूळसूत्रोनी आ ताडपत्रीय वन्ने प्रतिओ स्वम्भातना शा. ता. प्रा जै. ज्ञा म नी अनुक्रमे डा० नं० ११० ने १३० पाना १२१ अने १२३ नी छे । एनी साइझ इंच १२। अने १३ नी छे । एमाथी पहेली प्रति 'वि० सं० १२९२ ना जेठ सुदी १ ना रोज लखेली छे' । जीर्ण प्रायः छे, अने अशुद्ध छे ।

दरेक ताडपत्रीय अने कागळनी प्रतिओमा, पडिमात्रीय सस्कृत लिपिबद्ध-ग्रन्थोमा व्याख्येय-पदो कने व्याख्या-पदोने छूटा पाहेला होता ज नथी, माटे पदोने छूटा पाडती वखते बहु ज सावधानी राखेली छे ।

ग्रन्थना विषयनी अज्ञानता, लिपि सम्बन्धी अज्ञानता, अने प्रमादना जोरे लेखकना हाथे स्थळे स्थळे पद के अक्षरनी अशुद्धिओ, पाठोनु वेवहाइ जवापणुं अने पाठोनु रही जवापणुं, थयेल्ल छे तेथी ते वाबतमा पण बहु सावधानताथी काम लीधे छे ।

आवा ( ) प्रकारना कौसमा आपेला पदो मूळ प्रतिमा नहि होवा छता शब्दनु मेळसेळपणुं अने शब्द-अर्थादि-सन्देहना निवारणार्थे, तथा पद के पदार्थनी पूर्तिमाटे आपेला छे एम दरेक स्थळे समजवानुं छे ।

ता० क०—१ ग्रन्थनी शुरुवातमा हस्तिरत्नपर 'श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्' ए ग्रन्थरत्ननी पधरामणीना वरघोडानुं ताडपत्रीय ग्रन्थनुं मूल-चित्र छे ।

२ ताडपत्रीय ग्रन्थना मूल-चित्रपरथी आधुनिक ढवे नवीन चित्र छे ।

३ पू० आगमोद्धारक-आचार्यदेवेश-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजीनुं चित्र छे, अने ४ आर्थिक सहायकोनु चित्र छे.

पू० आगमोद्धारक-आचार्यदेवेश-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरपरमविनेय-

पत्न्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरापीन्द्र-चरणारविन्दचञ्चरीकः—

देवेन्द्रसागरः ।





## કલિકાલસર્વજ્ઞ-શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિપુરન્દરના જીવનનો સંક્ષિપ્ત-પરિચય.

જન્મસ્થાન—ઘણુકા ( અહમદાવાદ ) ।

„ સમય—વિ. સ ૧૧૪૫ કાર્તિકી-પૂર્ણિમા । ઇ. સ. ૧૦૮૯ ।

પિતાનામ—ચાર્વિંગ ( ચાચ ) ।

માતાનામ—પાહિની ।

જ્ઞાતિનામ—મોઢવણિક ।

ગૃહસ્થનામ—ચગદેવ ।

દીક્ષાનામ—મુનિશ્રીસોમચન્દ્ર ।

દીક્ષાસ્થાન—શ્રીસ્તમ્ભનતીર્થ ( સ્તમ્ભાત ) ।

દીક્ષાસમય— } વિ. સ ૧૧૫૦ માઘ-શુક્લા-ચતુર્થી-શનૈશ્વરવાર ।  
} વિ. સં. ૧૧૫૪ માઘ-શુક્લા-ચતુર્દશી-શનૈશ્વરવાર ।

ગુરુનામ—શ્રીદેવચન્દ્રસૂરિ ।

વિદ્યાધ્યયનસમય—૧૨ વર્ષ, અથવા ૧૬ વર્ષ । દીક્ષાસમયના હિસાબે ફરક આવે છે ।

આચાર્યપદારોહણ—વિ. સં ૧૧૬૬ અક્ષયતૃતીયા ( વૈ શુ ૩ ) ।

આચાર્યપદપ્રાપ્તિસમયનુ નામ—આચાર્ય-શ્રીહેમચન્દ્રસૂરિ ।

સ્વર્ગગમન—વિ. સ ૧૨૨૯ ।

સ્વર્ગગમનસ્થાન—પાટણ ( ગુજરાત )

નોંધ—૮૪ વર્ષના જીવનકાલમા ક્ષુદ્ર મનોરથોને પોતાના ઉચ્ચ સ્વભાવમા શમાવીને ઉત્તમ પ્રકારનો જીવનરસ જેઓએ પ્રાપ્ત કર્યો હતો । તેઓશ્રીના જન્મ, દીક્ષા, સંયમારાધન, વિદ્યાસમ્પાદન, શાસનસેવન, અને સાહિત્યસર્જનાદિના સમયો જીવન સમયવૃત્તાન્તને વધુને વધુ બલવચર બનાવે છે ।

દીક્ષાના સ્થાનને જણાવનારા મિત્રમિત્ર ઉલ્લેખો ૧ કુમારપાલપ્રતિવોધ, ૨ પ્રભાવકચરિત્ર, ૩ પ્રબન્ધચિન્તામણિ ૪ પ્રબન્ધકોષ, અને ૫ કુમારપાલપ્રબન્ધ વિગેરે ગ્રન્થોમા છે । ૬ પાંચ ગ્રન્થોનો રચનાકાલ અનુક્રમે વિ સ. ૧૨૪૧—૧૩૩૪—૧૩૬૧—૧૪૦૫ અને ૧૪૯૨ છે । ૬ ઉપરથી જણાય છે કે—કુમારપાલપ્રતિવોધ સૌથી પહેલા રચાયલો છે, તે ગ્રન્થના રચયિતા શ્રીસોમપ્રભસૂરિએ તથા પ્રભાવકચરિત્રના કર્તાએ દીક્ષાનુ સ્થાન સ્તમ્ભાત જણાવ્યું છે । દીક્ષામહોત્સવમા સ્તમ્ભાત-નિવાસિ-ઉદાયનમઝીએ ભાગ લીધેલો હોવાથી સ્તમ્ભાતને જ દીક્ષાનુ સ્થાન માનવાનું સુસંગત લાગે છે । વિશેષમા દયાવારા-નિધિ-મહારાજા-કુમારપાટે કલિકાલસર્વજ્ઞ-મગવાન્-શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યની દીક્ષામૂમિની યાદગિરિમા સ્તમ્ભાતમાં જિનમન્દિર બન્ધાવ્યાનો ઉલ્લેખ મળ્યો હોવાથી સ્તમ્ભાતને જ દીક્ષાનુ સ્થાન માનવાનું યોગ્ય જણાય છે । ઉપર જણાવેલો ઉલ્લેખ કુમાર-પાલપ્રબન્ધમા નીચે મુજબ જણાવેલો છે—‘સ્તમ્ભતીર્થે હેમાચાર્યદીક્ષાસ્થાને શ્રીઆલિગાર્હવસતિઃ શ્રીગુરુસ્નેહેન રત્નશ્રીવીરવિમ્બસૌવર્ણપાદુકાવિરાજિતાઽકારિ !’ વાકીના ત્રણ ગ્રન્થોમાં કર્ણાવતી નગરીમાં દીક્ષા થયાનું જણાવ્યું છે, પરન્તુ તે વાત અસંભવ લાગે છે; આટલું જરૂર પૂરું જણાવીને વિસ્તરના મયથી અહીં વિશેષ લખવાનું માહી વાવ્યું છે ।

વિ. દીક્ષાસ્થાન અને દીક્ષા-સમય આ વેજ બીનાઓ વિવાદાસ્પદ છે, તે સિવાયના વધા પ્રસન્નો વધા ગ્રન્થકારોએ એક સરસી રીતિએ માન્ય રાખ્યા છે, કલિકાલસર્વજ્ઞના જીવન-પ્રસંગો વિસ્તારથી હવે પઠીના વિભાગમા જણાવાશે । ॐ શાન્તિમ્ ॥

પૂ. આગમોદ્ધારક-આચાર્યદેવેશશ્રીઆનન્દસાગરસૂરીશ્વર-પરમવિનેય-

પત્ન્યાસપ્રવરશ્રીચન્દ્રસાગરગણીન્દ્ર-ચરણારવિન્દચંદ્રીક —

હીરમાગરઃ ।

# श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-

## प्रथमविभागाऽन्तर्गत-विषयानुक्रमणिका ।

विषय ।	अक्षराङ्क	पृ०	प०	सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
शास्त्र-प्रस्तावना ।	अ-धी ( पृ० ५६ )			१ आ०बो०—सकलागमोप०—इत्यादिव्याख्यानम् ।	२	२३-२५	
प्रकाशिका-निवेदनम् ।	बु ( पृ० ५७ )			" " —अशेषविज्ञ०— " " "	२	२५-२७	
चित्र-परिचय ।	बु-वे ( पृ० ५८-५९ )			" " —अखिलदृष्टादृष्ट०— " " "	२	२८-३९	
कलिकालसर्वज्ञजीवन० ।	वै ( पृ० ६० )			" " —आशास्त्राध्ययना०— " " "	२	३९-४२	
विषयानुक्रमारम्भ ।	घो ( पृ० ६१ )			" आ०बो०—प्रणिधेयम्—इत्यस्य व्याख्यानम् ।	२	४३-४४	
श्रीप्रण्यमालानाम ।		१	१	" " —प्रणिधानं च इत्यादिना			
सामान्यतः श्रीसिद्धचक्रनमस्कार ।		१	२	" " —नमस्कार इति इत्यन्तेन "	२	४४-५२	
" श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथनमस्कार ।		१	३	" " —स्वरूपादिजितयव्याख्यानम्			
श्रीतत्त्वप्रकाशिकासूत्रद्वयनाम ।		१	४	२ सूत्रम् । सिद्धिः स्याद्वादात् ॥१।१२॥	३	१	
श्रीव्यानन्दबोधोपनीविष्टितानाम ।		१	५	२ आ०बो०—प्रन्यारम्भे सूत्रसङ्गति ।	३	५-७	
सम्राट्-कुमारपालविशेषणानि ।		१	६	" " —स्याद्वादात् इत्यत्र पञ्चमीव्याख्यानम् ।	३	८	
क० स० श्रीहेमचन्द्रसुरनिशेषणानि ।		१	७-१३	" " —सिद्धिश्चन्देन नित्यानित्यवादिमत-			
क० स० विरचितमहाव्याकरणाभिधानम् ।		१	१४	निरूपणम् ।	३	९	
				" " —सूत्रफलितार्थ ।	३	१०-११	
				" " —स्याद्वादस्वरूपकथनम् ।	३	११-३६	
				" " —सिद्धिपदव्याख्यानम् ।	३	३६-३७	
				" " —स्याद्वादानङ्गीकारे दोषापत्ति ।	३	३७-४३	
				" " —इत्यधीर्षादिविषय इति पदव्यवस्था ।	३	४३	
				" " —अनेककारकसन्धिपाठ इति	३	४४-४९	
				" " —सामानाधिकरण्यमिति	३	४९-५०	
				३ सूत्रम् । लोकात् ॥१।१।३॥	४	१-२	
				३ त० प्र०—अन्योन्य० इति खोक्तपद्येन स्वसिद्धान्त-			
				समर्थनम् ।	४	१-२	
				" " —नयास्त्व० इत्यन्योक्तपद्येन व्याख्यानम् ।	४	२-३	
				" " —अथवेति पक्षान्तरेण सूत्रव्याख्यानम् ।	४	४-५	
				३ सूत्रम् । त० प्र०—उक्तातिरिक्तक्रियादिसंज्ञापदार्थः ।	४	७	
				२ आ०बो०—सामानाधिकरण्यमिति पदनिरूपणम् ।	४	८-९	
				" " —विशेषणविशेष्यभाव इति	४	९-१३	
				" " —स्याद्वादस्य विशालत्वम् ।	४	१३-१८	
				" " —अन्योन्य० इति खोक्तदृश्यम् ।	४	१८-२५	
				" " —नयास्त्व० " " "	४	२६-३०	
				" " —प्रयोजनायनुबन्धकथनम् ।	४	३१-३५	
				" " —लोकप्रसिद्धवर्णमाला ।	४	३६-३८	
				" " —सूत्राऽन्वय ।	४	३८-३९	
				" " —वृत्तिस्थपदान्वय ।	४	४०-४२	
				" " —उभयत्राऽन्वये विग्रहभेद ।	४	४२-४४	
				" " —क्रमेण क्रियादिसंज्ञापदव्याख्यानम् ।	४	४५-४९	
				" " —वृत्तिस्थपाठभेद ।	४	५०	
				३ त० प्र०—न्यायानां बलीयस्त्वम् ।	५	१	
				" " —लोकात्—इति पदपर्याया ।	५	१-२	
				। अथ संज्ञाप्रकरणम् ।	५	३	
				४ सूत्रम् । औदन्ताः स्वरः ॥ १।१।४ ॥	५	५	
				३ त० प्र०—स्वरसंज्ञानिरूपणम् ।	५	६	
				" " —औदन्ता इत्यत्र बहुवचनफलम् ।	५	७	
				" " —स्वरस्थाननिर्देश ।	५	८	

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
५ सूत्रम् । एकद्वित्रिमात्रा			
	ह्रस्वदीर्घसुताः ॥ १ । १ । ५ ॥	५	९
” त० प्र०—	स्वरसंज्ञामध्ये ह्रस्वादि संज्ञानिरूपणम् ।	५	१०-११
” त० प्र०—	ह्रस्वादि संज्ञाविषयेऽन्यमतम् ।	५	१२
” ”	—श्रुतिस्थौदन्ता इत्येव पदप्रयोजनम् ।	५	१२
” ”	—वर्णं वर्णं प्रति ह्रस्वादि संज्ञाविधान		
	समुदाय प्रति न ।	५	१३
३ आ० धो०—	लोकात्—इति पदव्याख्यानम् ।	५	१५-१६
” ”	—शास्त्रप्रवृत्तये इति ”	५	१६-१७
” ”	—वर्णसमात्रायत्येति ”	५	१७-१८
” ”	—औदन्ता इति सूत्रसङ्गतिकथनम् ।	५	२०
” ”	—समासाऽन्वयार्थप्रदर्शनम् ।	५	२१-२३
” ”	—औत्—इत्यत्र तकारग्रहणफलम् ।	५	२३-२५
” ”	—अन्त इति पदप्रयोजनम् ।	५	२५-२६
” ”	—के पुन—औकारावसाना वर्णा १	५	२६
” ”	—औदन्ता इत्यत्र बहुवचनफलप्रदर्शनम् ।	५	२८
” ”	—स्वरस्थाननिर्देश ।	५	३०
” ”	—एकद्वि० इति सूत्रसङ्गतिकथनम् ।	५	३१
” ”	—एकद्वित्रिमात्रा इति पदसमास ।	५	३१-३२
” ”	—मात्रास्वरूपकथनम् ।	५	३२-३३
” ”	—ह्रस्वदीर्घहता इति पदसमास ।	५	३३
” ”	—सूत्राऽन्वय ।	५	३४
” ”	—एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता इति		
	पदविग्रहा ।	५	३५
” ”	—यथासक्यलाभप्रदर्शनम् ।	५	३६
” ”	—श्रीशेषमश्रारकमतप्रदर्शनम् ।	५	३७
५ आ० धो०—	औदन्ता इत्येवेति पदव्याख्यानम् ।	५	३७-३८
” ”	—प्रतक्ष्य—इत्युदाहरणरहस्यम् ।	५	३८-४१
” ”	—तितरच्छत्रम् ” ”	५	४१-४४
” ”	—प्रतक्ष्य इत्युदाहरणस्य स्पष्टविवेचनम् ।	५	४४-४६
” ”	—तितरच्छत्रम् ” ” ”	५	४६-४७
” त० प्र०—	वर्णसमुदाय प्रति दीर्घसंज्ञाऽभाव ।	६	१
” ”	—ह्रस्वादिस्थलनिर्देश ।	६	२
६ सूत्रम् । अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥ ६			
” त० प्र०—	नामिसंज्ञास्वरूप नामिस्वरगणन च ।	६	४
” ”	—बहुवचनफलम् ।	६	४
” ”	—नामिस्थलनिर्देश ।	६	५
७ सूत्रम् । लृदन्ता. समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥ ६			
” त० प्र०—	समानसंज्ञास्वरूप समानस्वरगणन च ।	६	७
” ”	—समानस्थलनिर्देश ।	६	७-८
८ सूत्रम् । ए पे थो औ सन्ध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥ ६			
” त० प्र०—	सन्ध्यक्षरसंज्ञास्वरूप स्थलनिर्देशश्च ।	६	१०
९ सूत्रम् । अं अ. अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥ ६			
” त० प्र०—	अनुस्वारविसर्गसंज्ञास्वरूप स्थलनिर्देशश्च ।	६	११
५ आ० धो०—	ननु यथा—इत्यादिपदेन क्य न ह्रस्वा-		
	दिसंज्ञेति शङ्का ।	६	१६
” ”	—सन्ध्यक्षराणाम्—इत्यादिपदेन हेतु-		
	पुरस्वरं समाधानम् ।	६	१७-१८
६ ”	—सूत्रस्थपदविग्रह ।	६	२०
” ”	—नामिसंज्ञाशङ्का समाधानम् ।	६	२१
” ”	—नाम्यन्तस्या ह्रस्वपदव्याख्यानम् ।	६	२२-२३
” ”	—वचनभेदनिर्देशफलम् ।	६	२३-२५

सूत्रम् । वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
६ आ० धो०—	बहुवचनफलम् ।	६	२६
” ”	—एवमादिपदव्याख्यानम् ।	६	२६
७ ”	—सूत्रस्थपदव्याख्यानम् ।	६	२८-३०
८ ”	—सूत्रस्थपदसमासादिव्याख्यानम् ।	६	३१-३३
९ ”	—सूत्रस्थपदविग्रहस्थानादि ”	६	३४-३६
१० सूत्रम् । कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥ ७			
” त० प्र०—	व्यञ्जनसंज्ञानिरूपण व्यञ्जनगणन		
	व्यञ्जनस्थाननिर्देशश्च ।	७	२-३
११ सूत्रम् । अपञ्चमान्तस्थो ध्रुत् ॥ १ । १ । ११ ॥ ७			
” त० प्र०—	ध्रुत्संज्ञानिरूपण ध्रुत्गणन		
	ध्रुत्स्थाननिर्देशश्च ।	७	५-६
१२ सूत्रम् । पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥ ७			
” त० प्र०—	” ”	७	७-९
१३ सूत्रम् । आद्यद्वितीयशपसा० ॥ १ । १ । १३ ॥ ७			
” त० प्र०—	” ”	७	१०-१२
१४ सूत्रम् । अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥ ७			
” त० प्र०—	” ”	७	१३-१५
१५ सूत्रम् । यरलवा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥ ७			
” त० प्र०—	” ”	७	१७-१८
१० आ० धो०—	सूत्रस्थपदविग्रह ।	७	१९-२२
” ”	—विग्रहफलप्रदर्शनम् ।	७	२२-२४
” ”	—व्यञ्जनमित्यन्वर्थसंज्ञा ।	७	२५
” ”	—श्रुतिरहस्यम् ।	७	२५-२७
११ ”	—सूत्रस्थपदविग्रहोऽन्वयश्च ।	७	२८-२९
” ”	—श्रुतिरहस्यम् ।	७	२९-३०
१२ ”	—वर्गसंज्ञानिरूपण वर्गपरिगणन च ।	७	३१-३३
१३ ”	—अघोषसंज्ञानिरूपणम् ।	७	३४
१४ ”	—घोषसंज्ञानिरूपणम् ।	७	३६-३७
१५ ”	—अन्तस्थासंज्ञानिरूपण बहुवचनफल च ।	७	३९-४०
१६ सूत्रम् । अं अ. ङ्ग ० पशपसाः शिद्र			
	॥ १ । १ । १६ ॥	८	१
” त० प्र०—	शिद्रसंज्ञानिरूपण बहुवचनफल		
	शिद्रप्रदेशनिर्देशश्च ।	८	१-३
१७ सूत्रम् । तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्व.			
	॥ १ । १ । १७ ॥	८	४
” त० प्र०—	स्थानपदनिरूपणम् ।	८	५
” ”	—अष्टविधस्थानानि ।	८	५-६
” ”	—आस्यपदादिविग्रह ।	८	६-७
” ”	—चतुर्विधप्रयत्नानि ।	८	७-८
” ”	—सूत्रस्थपदविग्रह ।	८	८
” ”	—करणमिति श्रुतिस्थपदनिरूपणम् ।	८	९
” ”	—कण्ठ्यादिवर्णपरिगणनमन्यादिमत-		
	स्पष्टीकरण च ।	८	१०-१४
१६ आ० धो०—	शिद्रसंज्ञास्वरूप शिद्रुर्णपरिगणन च ।	८	१५
” ”	—श्रुतिस्थपदनिरूपणम् ।	८	१६-१८
” ”	—अकारादिप्रयोजनम् ।	८	१८-२०
” ”	—बहुवचनफल शिद्रुप्रदेशनिर्देशश्च ।	८	२१-२३
१७ ”	—स्वसंज्ञानिरूपणम् ।	८	२४-२६
” ”	—स्थान्यसंज्ञातिपुरस्वरं स्थान किम् ?		
” ”	—तस्य वषस्थानता कथम् ? इत्यादि		
” ”	—येत्येतत् आभ्यन्तस्थाननामिका		
” ”	—स्थाना इत्यन्तानां श्रुतिस्थपदानां		
	—व्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।	८	२६-४३

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
१७ आ०बो०—	आस्यप्रयत्ननिरूपणमन्यमतप्रदर्शनं च।	४३-४६	
” त० प्र०—	वर्णेषु करणव्यवस्थाप्रदर्शनम् ।	९	१-२
” ”	—अवर्णस्याऽष्टादशभेदास्त्वथैव सर्वेषां		
” ”	स्वराणां व्यवस्थापूर्वक भेदप्रदर्शनम् ।	९	२-८
” ”	—व्यञ्जनानां स्वसङ्गितया परिगणनम् ।	१९	८-९
” ”	—आस्यग्रहणमित्यादिना बाह्यप्रयत्न- निरूपणं स्वान्यमतप्रदर्शनं च ।	९	९-१८
” आ०बो०—	स्वसंज्ञानिष्ठस्वत्वनिरूपणं वर्णानां पर- स्परस्वसङ्गितया परिगणनं च ।	९	१९-२७
” ”	—बाह्यप्रयत्नानां कौपयोगोऽनुपयोगश्च ।	९	२८-२९
” ”	—बाह्यप्रयत्नस्वरूपं स्वान्यमतनिरूपणं च ।	९	२९-४६
” त० प्र०—	अनुस्वानस्वरूपकथनम् ।	१०	१
” ”	—घोषादिबाह्यप्रयत्ननिरूपणम् ।	१०	१-६
” ”	—अथवेति पक्षान्तरेण बाह्यप्रयत्न- कथनम् ।	१०	६-१०
” ”	—स्थानाऽऽस्यप्रयत्नादिग्रहणफलप्रदर्श- नम् ।	१०	१०-१३
” ”	—स्वप्रदेशनिर्देशः ।	१०	१३
” आ०बो०—	अनुस्वानादिबाह्यप्रयत्ननिरूपणम् ।	१०	१५-२६
” ”	—अथवेति पक्षान्तरेण बाह्यप्रयत्नस्पष्टी- करणम् ।	१०	२७-४१
” ”	—स्थानास्यप्रयत्नप्रयोजनं समाधान- कथनं च ।	१०	४१-४६
१८ सूत्रम् ।	स्यौजसमौ ॥ १ । १ । १८ ॥ ११	१-२	
” त० प्र०—	प्रत्ययस्वरूपदर्शनपूर्वकं प्रथमादि- संज्ञाविधानम् ।	११	३
” ”	—अनुबन्धफलं बहुवचनफलं च ।	११	३-४
” ”	—प्रथमादिप्रदेशनिर्देशश्च ।	११	५
१९ सूत्रम् ।	स्त्यादिर्विभक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥ ११	६	
” त० प्र०—	अनुबन्धप्रयोजनमादिपदव्याख्यानं च ।	११	७
” ”	—विभक्तिसंज्ञानिरूपणं विभक्तिप्रदेश- निर्देशश्च ।	११	८-९
<b>। अथ पदसंज्ञाप्रकरणम् ।</b>			
२० सूत्रम् ।	तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥ ११	१०	
” त० प्र०—	पदसंज्ञास्वरूपमुदाहरणं च ।	११	११
” ”	—अन्तग्रहणफलं पदप्रदेशनिर्देशश्च ।	११	११-१२
२१ सूत्रम् ।	नाम सिदध्यञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥ ११	१३	
” त० प्र०—	नाम्रं पदसंज्ञास्वरूपमुदाहरणं च ।	११	१४-१५
१८ आ०बो०—	प्रथमाद्वितीयादिसंज्ञानिरूपणम् ।	११	१६-२०
” ”	—अनुबन्धानां स्थाननिर्देशः प्रयोजन- कथनं च ।	११	२१-२३
” ”	—बहुवचनफलं शेषपदव्याख्यानं च ।	११	२४-२६
१९ ”	—विभक्तिसंज्ञानिरूपणं विग्रहप्रदर्शनं शेषपदव्याख्यानं च ।	११	२७-३२
२० ”	—स्त्यान्तादिपदसंज्ञानिरूपणं सूत्र- वृत्तिस्यपदव्याख्यानं च ।	११	३३-३९
२१ ”	—नाम्रं पदसंज्ञानिरूपणमुदाहर- णानां सफलीभूतयोजनं च ।	११	४०-४२
” त० प्र०—	सिदध्यञ्जनादिपदप्रयोजनं सूत्र- रहस्यं च ।	१२	१-२
२२ सूत्रम् ।	नं क्ये ॥ १ । १ । २२ ॥ १२	३	
” त० प्र०—	”	१२	४-७

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
<b>। अथ पदसंज्ञानिषेधप्रकरणम् ।</b>			
२३ सूत्रम् ।	न स्तं मत्वर्थे ॥ १ । १ । २३ ॥ १२	८	
” त० प्र०—	”	१२	९-११
२१ आ०बो०—	नामग्रहणादिपदप्रयोजनं स्पष्टी- करणं च ।	१२	१२-१४
” ”	—वस्तुतस्तु—इतिपदेन सूत्राऽऽशयः ।	१२	१५-१९
” ”	—अन्तर्वैतिर्न्यैव—इत्यादिपदेन निय- मनं नियमनफलं च ।	१२	१९-२४
२२ ”	—नकारान्तपदसंज्ञानियमनं स्पष्टी- करणं च ।	१२	२५-२८
” ”	—उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयः ।	१२	२९-३२
” ”	—सूत्रस्थपदप्रयोजनं सूत्ररचना- फलं च ।	१२	३३-३४
२३ ”	—पदसंज्ञा प्रतिनिषेधकथनम् ।	१२	३५-३६
” ”	—शाङ्खासमाधानपुरस्सरमुदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयं प्राप्तिपूर्वको निषे- धश्च ।	१२	३६-४४
२४ सूत्रम् ।	मनुर्नोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । २४ ॥ १३	१	
” त० प्र०—	”	१३	२-३
२५ सूत्रम् ।	वृत्त्यन्तोऽसवे ॥ १ । १ । २५ ॥ १३	४	
” त० प्र०—	”	१३	५-११
२४ आ०बो०—	सूत्रवृत्तिव्याख्यानम् ।	१३	१२-१४
२५ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयं परमार्थश्च ।	१३	१५-२०
” ”	—उदाहरणेषु सूत्रवृत्त्यर्थसमन्वयः ।	१३	२०-२७
” ”	—सूत्रस्थपदप्रयोजनं स्पष्टीकरणं च ।	१३	२७-२८
” ”	—वाक्यवक्तृत्वं इति परमार्थकथनम् ।	१३	२८-३५
” ”	—वाक्यत्वचम्—इत्यत्र शाङ्खासमाधा- नम् ।	१३	३१-३५
” ”	—समासान्ते—इत्यादिपदानां स्पष्टा- ऽऽशयः ।	१३	३५-३७
” ”	—पक्षान्तरेणाऽथवेति द्वयव्याख्यानम् ।	१३	३७-४०
” ”	—असवे किम्? इति पदप्रयोजनम् ।	१३	४१-४५
” ”	—सूत्रपरमार्थकथनम् ।	१३	४६
” त० प्र०—	पदत्वमित्यादि ।	१४	१-२
२६ सूत्रम् ।	सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥ १४	३	
” त० प्र०—	”	१४	४-१०
२५ आ०बो०—	वृत्तिस्यपदरहस्यम् ।	१४	११-१३
२६ ”	—वाक्यसंज्ञानिरूपणं सूत्रस्थपद- व्याख्यानं च ।	१४	१४-२०
” ”	—प्रयुज्यमानाद्युदाहरणानि ।	१४	२०-२६
” ”	—अर्थात्—इत्यादिपदानि प्रति शाङ्खा- समाधानं स्पष्टीकरणं च ।	१४	२६-३३
” ”	—लोकादेव—इत्यादिवृत्तिस्यपदानां व्याख्यानं स्पष्टीकरणं च ।	१४	३३-४६
” त० प्र०—	बलसादय इत्यादि ।	१५	१-३
२७ सूत्रम् ।	अघातुविभक्तिवाक्यमर्थ- वज्जाम ॥ १ । १ । २७ ॥ १५	४	
” त० प्र०—	”	१५	५-३
२६ आ०बो०—	लौकिकवाक्यत्वस्वीकारे दोषः ।	१५	१०
” ”	—ऊष ऊषणं कटम्—इत्यस्य रहस्यम् ।	१५	१०-१२
” ”	—वाक्यप्रदेशनिर्देशः ।	१५	१३

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
५ सूत्रम् । एकद्वित्रिमात्रा				
ह्रस्वदीर्घमुताः ॥ १ । १ । ५ ॥	५		१	
त० प्र०—खरसंज्ञामध्ये ह्रस्वादिज्ञानिरूपणम् ।	५		१०-११	
त० प्र०—ह्रस्वादिज्ञानिविषयेऽन्यमतम् ।	५		१२	
—वृत्तिस्थीदन्ता इत्येवपदप्रयोजनम् ।	५		१२	
—वर्ण वर्ण प्रति ह्रस्वादिज्ञानाविधान				
समुदाय प्रति न ।	५		१३	
३ आ०बो०—लोकात्-इति पदव्याख्यानम् ।	५		१५-१६	
—शास्त्रप्रवृत्तये इति	५		१६-१७	
—वर्णसमाप्तायत्येति	५		१७-१८	
—औदन्ता इति सूत्रसप्ततिकथनम् ।	५		२०	
—समासाऽन्वयार्थप्रदर्शनम् ।	५		२१-२३	
—औत्-इत्यत्र तकारग्रहणफलम् ।	५		२३-२५	
—अन्त इति पदप्रयोजनम् ।	५		२५-२६	
—के पुन-औकाराबसाना वर्णा १	५		२६	
—औदन्ता इत्यत्र बहुवचनफलप्रदर्शनम् ।	५		२८	
—खरस्थाननिर्देश ।	५		३०	
—एकद्वि० इति सूत्रसप्ततिकथनम् ।	५		३१	
—एकद्वित्रिमात्रा इति पदसमास ।	५		३१-३२	
—मात्रास्वरूपकथनम् ।	५		३२-३३	
—ह्रस्वदीर्घता इति पदसमास ।	५		३३	
—सूत्राऽन्वय ।	५		३४	
—एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता इति				
पदविग्रहा ।	५		३५	
—यथासख्यलाभप्रदर्शनम् ।	५		३६	
—श्रीशेषभट्टारकमतप्रदर्शनम् ।	५		३७	
आ०बो०—औदन्ता इत्येवेति पदव्याख्यानम् ।	५		३७-३८	
—प्रतक्ष्य-इत्युदाहरणरहस्यम् ।	५		३८-४१	
—तित्तच्छत्रम्	५		४१-४४	
—प्रतक्ष्य इत्युदाहरणस्य स्पष्टविवेचनम् ।	५		४४-४६	
—तित्तच्छत्रम्	५		४६-४७	
त० प्र०—वर्णसमुदाय प्रति दीर्घसंज्ञाऽभाव ।	६		१	
—ह्रस्वादिस्थलनिर्देश ।	६		२	
६ सूत्रम् । अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥	६		३	
त० प्र०—नामिसंज्ञास्वरूपं नामिखरगणन च ।	६		४	
—बहुवचनफलम् ।	६		४	
—नामिस्थलनिर्देश ।	६		५	
७ सूत्रम् । लृदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥	६		६	
त० प्र०—समानसंज्ञास्वरूप समानखरगणन च ।	६		७	
—समानस्थलनिर्देश ।	६		७-८	
८ सूत्रम् । एपे ओ औ सन्ध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥	६		९	
त० प्र०—सन्ध्यक्षरसंज्ञास्वरूप स्थलनिर्देशश्च ।	६		१०	
९ सूत्रम् । अ अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥	६		११	
त० प्र०—अनुस्वारविसर्गसंज्ञास्वरूप स्थलनिर्देशश्च ।	६		१२-१४	
आ०बो०—ननु यथा-इत्यादिपदेन कथं न ह्रस्वा-				
दिसहेति शङ्का ।	६		१६	
—सन्ध्यक्षराणाम्-इत्यादिपदेन हेतु-				
पुरस्सरं समाधानम् ।	६		१७-१८	
—सूत्रस्थपदविग्रह ।	६		२०	
—नामिसंज्ञाशङ्का समाधानम् ।	६		२१	
—नाम्यन्तस्था इतिपदव्याख्यानम् ।	६		२२-२३	
—वचनभेदनिर्देशफलम् ।	६		२३-२५	

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
६ आ०बो०—बहुवचनफलम् ।			६	२६
—एवमादिपदव्याख्यानम् ।			६	२६
—सूत्रस्थपदव्याख्यानम् ।			६	२८-३०
—सूत्रस्थपदसमासादिव्याख्यानम् ।			६	३१-३३
—सूत्रस्थपदविग्रहस्थानादि			६	३४-३६
१० सूत्रम् । कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥	७		१	
त० प्र०—व्यञ्जनसंज्ञानिरूपण व्यञ्जनगणन				
व्यञ्जनस्थाननिर्देशश्च ।	७		२-३	
११ सूत्रम् । अपञ्चमान्तस्यो धुट् ॥ १ । १ । ११ ॥	७		४	
त० प्र०—धुट्संज्ञानिरूपण धुट्संज्ञागणन				
धुट्संज्ञानिर्देशश्च ।	७		५-६	
१२ सूत्रम् । पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥	७		७	
त० प्र०—	७		७-९	
१३ सूत्रम् । आद्यद्वितीयशपसा० ॥ १ । १ । १३ ॥	७		१०	
त० प्र०—	७		१०-१२	
१४ सूत्रम् । अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥	७		१३	
त० प्र०—	७		१३-१५	
१५ सूत्रम् । यरलवा अन्तस्था ॥ १ । १ । १५ ॥	७		१६	
त० प्र०—	७		१७-१८	
१० आ०बो०—सूत्रस्थपदविग्रह ।	७		१९-२२	
—विग्रहफलप्रदर्शनम् ।	७		२२-२४	
—व्यञ्जनमित्यन्वयार्थसंज्ञा ।	७		२५	
—वृत्तिरहस्यम् ।	७		२५-२७	
—सूत्रस्थपदविग्रहोऽन्वयश्च ।	७		२८-२९	
—वृत्तिरहस्यम् ।	७		२९-३०	
—वर्गसंज्ञानिरूपण वर्णपरिगणन च ।	७		३१-३३	
—अघोषसंज्ञानिरूपणम् ।	७		३४	
—घोषसंज्ञानिरूपणम् ।	७		३६-३७	
—अन्तस्थासंज्ञानिरूपण बहुवचनफल च ।	७		३९-४०	
१६ सूत्रम् । अं अः झ ञ पशपसा० शिट्				
॥ १ । १ । १६ ॥	८		१	
त० प्र०—शिदसंज्ञानिरूपण बहुवचनफल				
शिदप्रदेशनिर्देशश्च ।	८		१-३	
१७ सूत्रम् । तुल्यस्यानास्वप्रयत्नः स्वः				
॥ १ । १ । १७ ॥	८		४	
त० प्र०—स्थानपदनिरूपणम् ।	८		५	
—अष्टविधस्थानानि ।	८		५-६	
—आस्यपदादिविग्रह ।	८		६-७	
—चतुर्विधप्रयत्नानि ।	८		७-८	
—सूत्रस्थपदविग्रह ।	८		८	
—करणमिति वृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।	८		९	
—कण्ठ्यादिवर्णपरिगणनमन्यादिमत-				
स्पष्टीकरण च ।	८		१०-१४	
१६ आ०बो०—शिदसंज्ञास्वरूप शिद्वर्णपरिगणन च ।	८		१५	
—वृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।	८		१६-१८	
—अकारादिप्रयोजनम् ।	८		१८-२०	
—बहुवचनफल शिदप्रदेशनिर्देशश्च ।	८		२१-२३	
—खसंज्ञानिरूपणम् ।	८		२४-२६	
—खान्यसम्प्रतिपुरस्सरं स्थानं किम् ?				
—तस्य वर्णस्थानता कथम् ? इत्यादि				
—यत्रेत्यत आरभ्य स्वस्थाननासिका-				
स्थाना इत्यन्तानां वृत्तिस्थपदानां				
—व्याख्यान स्पष्टीकरण च ।	८		२६-४३	

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
१७	आ०बो०	आस्यप्रयत्ननिरूपणमन्यमतप्रदर्शनं च।	४३-४६	
"	त० प्र०	वर्णेषु करणव्यवस्थाप्रदर्शनम् ।	९	१-२
"	"	—अवर्णस्याऽष्टादशभेदास्तथैव सर्वेषां		
"	"	स्वराणां व्यवस्थापूर्वक भेदप्रदर्शनम् ।	९	२-८
"	"	—व्यञ्जनानां स्वसंज्ञितया परिगणनम् ।	१९	८-९
"	"	—आस्यग्रहणमित्यादिना बाह्यप्रयत्न- निरूपण स्वान्यमतप्रदर्शनं च ।	९	९-१८
"	आ०बो०	—स्वसंज्ञानिष्ठस्वत्वनिरूपण वर्णानां पर- स्परस्वसंज्ञितया परिगणनं च ।	९	१९-२७
"	"	—बाह्यप्रयत्नानां क्रोपर्योगोऽनुपयोगश्च ।	९	२८-२९
"	"	—बाह्यप्रयत्नस्वरूपं स्वान्यमतनिरूपणं च ।	९	२९-४६
"	त० प्र०	—अनुस्वानस्वरूपकथनम् ।	१०	१
"	"	—घोषादिबाह्यप्रयत्ननिरूपणम् ।	१०	१-६
"	"	—अथवेति पक्षान्तरेण बाह्यप्रयत्न- कथनम् ।	१०	६-१०
"	"	—स्थानाऽऽस्यप्रयत्नादिग्रहणफलप्रदर्शो	१०	१०-१३
"	"	—स्वप्रदेशनिर्देश ।	१०	१३
"	आ०बो०	—अनुस्वानादिबाह्यप्रयत्ननिरूपणम् ।	१०	१५-२६
"	"	—अथवेति पक्षान्तरेण बाह्यप्रयत्नस्पष्टी- करणम् ।	१०	२७-४१
"	"	—स्थानास्यप्रयत्नप्रयोजन समाधान- कथनं च ।	१०	४१-४६
१८	सूत्रम् ।	स्त्रौजसमौ ॥ १ । १ । १८ ॥	११	१-२
"	त० प्र०	—प्रत्ययस्वरूपदर्शनपूर्वक प्रथमादि- संज्ञाविधानम् ।	११	३
"	"	—अनुबन्धफल बहुवचनफलं च ।	११	३-४
"	"	—प्रथमादिप्रदेशनिर्देशश्च ।	११	५
१९	सूत्रम् ।	स्त्यादिर्विभक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥	११	६
"	त० प्र०	—अनुबन्धप्रयोजनमादिपदव्याख्यानं च ।	११	७
"	"	—विभक्तिसंज्ञानिरूपण विभक्तिप्रदेश- निर्देशश्च ।	११	८-९
<b>। अथ पदसंज्ञाप्रकरणम् ।</b>				
२०	सूत्रम् ।	तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥	११	१०
"	त० प्र०	—पदसंज्ञास्वरूपमुदाहरणं च ।	११	११
"	"	—अन्तग्रहणफल पदप्रदेशनिर्देशश्च ।	११	११-१२
२१	सूत्रम् ।	नाम सिद्धव्यञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥	११	१३
"	त० प्र०	—नाम्न पदसंज्ञास्वरूपमुदाहरणं च ।	११	१४-१५
१८	आ०बो०	—प्रथमादितीयादिसंज्ञानिरूपणम् ।	११	१६-२०
"	"	—अनुबन्धानां स्थाननिर्देश प्रयोजनं च ।	११	२१-२३
"	"	—बहुवचनफल शेषपदव्याख्यानं च ।	११	२४-२६
१९	"	—विभक्तिसंज्ञानिरूपण विग्रहप्रदर्शनं शेषपदव्याख्यानं च ।	११	२७-३२
२०	"	—स्त्याद्यन्तादिपदसंज्ञानिरूपण सूत्र- वृत्तिस्थपदव्याख्यानं च ।	११	३३-३९
२१	"	—नाम्न पदसंज्ञानिरूपणमुदाहर- णानां सफलीभूतयोजनं च ।	११	४०-४२
"	त० प्र०	—सिद्धव्यञ्जनादिपदप्रयोजन सूत्र- रहस्यं च ।	१२	१-२
२२	सूत्रम् ।	नं क्ये ॥ १ । १ । २२ ॥	१२	३
"	त० प्र०	"	१२	४-७

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
<b>। अथ पदसंज्ञानिषेधप्रकरणम् ।</b>				
२३	सूत्रम् ।	न स्तं मत्वर्थे ॥ १ । १ । २३ ॥	१२	८
"	त० प्र०	"	१२	९-११
२१	आ०बो०	—नामग्रहणादिपदप्रयोजन स्पष्टी- करणं च ।	१२	१२-१४
"	"	—वस्तुतस्तु-इतिपदेन सूत्राऽऽशय ।	१२	१५-१९
"	"	—अन्तर्वर्तिन्त्वैव-इत्यादिपदेन निय- मनं नियमनफलं च ।	१२	१९-२४
२२	"	—नकारान्तपदसंज्ञानियमन स्पष्टी- करणं च ।	१२	२५-२८
"	"	—उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वय ।	१२	२९-३२
"	"	—सूत्रस्थपदप्रयोजन सूत्ररचना- फलं च ।	१०	३२-३४
२३	"	—पदसंज्ञा प्रतिनिषेधकथनम् ।	१२	३५-३६
"	"	—शङ्कासमाधानपुरस्सरमुदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वय प्रातिपूर्वको निषे- धश्च ।	१२	३६-४४
२४	सूत्रम् ।	मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । २४ ॥	१३	१
"	त० प्र०	"	१३	२-३
२५	सूत्रम् ।	वृत्त्यन्तोऽस्ये ॥ १ । १ । २५ ॥	१३	४
"	त० प्र०	"	१३	५-११
२४	आ०बो०	—सूत्रवृत्तिव्याख्यानम् ।	१३	१२-१४
२५	"	—सूत्रवृत्त्यन्वय परमार्थश्च ।	१३	१५-२०
"	"	—उदाहरणेषु सूत्रवृत्त्यर्थसमन्वय ।	१३	२०-२७
"	"	—सूत्रस्थपदप्रयोजन स्पष्टीकरणं च ।	१३	२७-२८
"	"	—वाक्यत्वकसुच इति परमार्थकथनम् ।	१३	२८-३१
"	"	—वाक्यत्वचम्-इत्यत्र शङ्कासमाधाः ।	१३	३१-३५
"	"	—समासान्ते-इत्यादिपदानां स्पष्टा- ऽऽशय ।	१३	३५-३७
"	"	—पक्षान्तरेणाऽथवेति द्वयव्याख्यानम् ।	१३	३७-४०
"	"	—अस्ये किम्?, इति पदप्रयोजनम् ।	१३	४१-४५
"	"	—सूत्रपरमार्थकथनम् ।	१३	४६
"	त० प्र०	—पदत्वमित्यादि ।	१४	१-२
२६	सूत्रम् ।	सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥	१४	३
"	त० प्र०	"	१४	४-१०
२५	आ०बो०	—वृत्तिस्थपदरहस्यम् ।	१४	११-१३
२६	"	—वाक्यसंज्ञानिरूपणं सूत्रस्थपद- व्याख्यानं च ।	१४	१४-२०
"	"	—प्रयुज्यमानाद्युदाहरणानि ।	१४	२०-२६
"	"	—अर्थात्-इत्यादिपदानि प्रति शङ्का- समाधान स्पष्टीकरणं च ।	१४	२६-३३
"	"	—लोकादेव-इत्यादिवृत्तिस्थपदानां व्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।	१४	३३-४६
"	त० प्र०	—वक्षसादय इत्यादि ।	१५	१-३
२७	सूत्रम् ।	अधातुविभक्तिवाक्यमर्थ- चन्नाम् ॥ १ । १ । २७ ॥	१५	४
"	त० प्र०	"	१५	५-३
२६	आ०बो०	—लौकिकवाक्यत्वस्वीकारे दोष ।	१५	१०
"	"	—कुरुकुरु कटम्-इत्यस्य रहस्यम् ।	१५	१०-१२
"	"	—वाक्यप्रदेशनिर्देश ।	१५	१३

सूत्रम् ।	शृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
२६	आ०बो०—	समासविग्रहपुरस्सरं सूत्रार्थः ।	१५	१४-१६
"	"	—अर्थपदव्याख्यान स्पष्टीकरण च ।	१५	१६-२५
"	"	—तद्वच्छब्दरूपम्—इत्यादिपदाना स्पष्टीकरणम् ।	१५	२६-२८
"	"	—सूत्रस्थपदप्रयोजनम् ।	१५	२९-३३
"	"	—स्वमते लाघवमन्यमते गौरवम् ।	१५	३३-३६
"	"	—लाघवस्थलप्रदर्शनम् ।	१५	३६-४५
२७	त० प्र०—	तद्धित—इत्यादि ।	१६	१-५
२८	सूत्रम् ।	शिर्घुट् ॥१११२८॥	१६	६
"	त० प्र०—	"	१६	७
२९	सूत्रम् ।	पुंस्त्रियोः स्यमौजस् ॥११२९॥	१६	८
"	त० प्र०—	"	१६	९-११
२७	आ०बो०—	औपगवादिपदसाधनिका ।	१६	१२-१३
"	"	—वाक्यवर्जनफल समासस्य नाम- सज्ञा च ।	१६	१४-१९
"	"	—अर्थवदिति किम् <sup>१</sup> , इत्यत्र शब्दा- समाधानम् ।	१६	१९-२३
"	"	—अनुकार्यानुकरणव्याख्यान स्पष्टी- करण च ।	१६	२३-३१
२८	"	—घुटसंज्ञाव्याख्यान प्रदेशनिर्देशश्च ।	१६	३२-३४
२९	"	—घुटसंज्ञाविधायकद्वितीयसूत्रनिरु- पणम् ।	१६	३५-४१
"	"	—घुटसंज्ञाफल सूत्रस्थपदप्रयोजन च ।	१६	४१-४५
"	"	—स्त्रीनिर्णयसम्बन्धिसाङ्कोत्थानम् ।	१६	४६
२९	त० प्र०—	किं पुनरित्यादि ।	१७	१-२
३०	सूत्रम् ।	स्वरादयोऽव्ययम् ॥११३०॥	१७	३
"	त० प्र०—	"	१७	४-८
२९	आ०बो०—	श्रीलिङ्गसम्बन्धिव्याख्यान स्वसि- द्धान्तप्रदर्शन च ।	१७	९-१७
"	"	—पारमार्थिकव्याख्यान स्वान्यमत- व्यवस्थापन च ।	१७	१७-२९
३०	"	—अव्ययसंज्ञानिरूपणम् ।	१७	३०-३१
"	"	—शिशुपालवधस्थलोकवर्णनम् ।	१७	३१-३५
"	"	—अत्युचैसौ—इत्यादिना वृत्तिस्थ- पदव्याख्यानम् ।	१७	३५-४८
"	"	—अव्ययं प्रत्यन्वयता ।	१७	४८-५०
३०	त० प्र०—	सर्वासु चेत्यादि ।	१८	१-१०
"	आ०बो०—	अन्वर्थसंज्ञाव्याख्यानम् ।	१८	११-१३
"	"	—वृत्तिस्थस्वरादिशब्दानामर्थकथनम् ।	१८	१३-४५
"	"	—अन्वेषामप्यव्ययसज्ञाविधानम् ।	१८	४६-५०
३०	त० प्र०—	बहुवचनमित्यादि ।	१९	१-२
३१	सूत्रम् ।	चादयोऽस्त्ववे ॥११३१॥	१९	३
"	त० प्र०—	"	१९	४-११
"	आ०बो०—	बहुवचनफलमाकृतिगणप्रयोजन च ।	१९	१२-१९
३१	"	—चाद्यव्ययसंज्ञानिरूपण परिगणन शब्दार्थश्च ।	१९	२०-४८
"	त० प्र०—	सुब्—इत्यादि ।	२०	१-७
३२	सूत्रम् ।	अघणतस्वाद्या शसः ॥११३२॥	२०	८
"	त० प्र०—	"	२०	९-१०
"	आ०बो०—	सुब्—इत्यादिशब्दानामर्थप्रकाशनम् ।	२०	११-३४
"	"	—सूत्रस्थपदव्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।	२०	३५-४०

सूत्रम् ।	शृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
३२	आ०बो०—	विग्रहपुरस्सरमुदाहरणानि ।	२०	४०-४४
"	त० प्र०—	परेयवि—इत्यादि ।	२१	१-४
३३	सूत्रम् ।	विभक्तियमन्त० ॥११३३॥	२१	५
"	त० प्र०—	"	२१	६-७
३२	आ०बो०—	पूर्वेद्यु—इत्याद्यव्ययशब्दानां साधनिका ।	२१	८-३५
"	"	—अघण्—इति पदप्रयोजन स्पष्टी- करण च ।	२१	३५-४०
३३	"	—विभक्तयन्तपदसमासार्थः ।	२१	४१-४४
"	"	—अह्यु—इत्यादिपदानां स्पष्टीकरणम् ।	२१	४४-४७
"	त० प्र०—	अन्तरेण—इत्यादि ।	२२	१-४
३४	सूत्रम् ।	वत्तस्याम् ॥ १ । १ । ३४ ॥	२२	५
"	त० प्र०—	"	२२	६-१०
३५	सूत्रम् ।	क्त्वातुमम् ॥ १ । १ । ३५ ॥	२२	११
"	त० प्र०—	"	२२	१२-१४
३६	सूत्रम् ।	गतिः ॥ १ । १ । ३६ ॥	२२	१५
"	त० प्र०—	"	२२	१६-१७
३७	सूत्रम् ।	अप्रयोगीत् ॥ १ । १ । ३७ ॥	२२	१८
"	त० प्र०—	"	२२	१९-२०
३३	आ०बो०—	चिरादित्यादयोऽव्यया ।	२२	२१-२२
३४	"	—सूत्रस्थपदव्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।	२२	२३-२७
३५	"	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान स्पष्टी- करणं च ।	२२	२८-३३
३६	"	—गतिसंज्ञास्वरूप स्पष्टीकरणं च ।	२२	३४-३६
३७	"	—ह्रस्वज्ञानिरूपण सूत्ररहस्यं च ।	२२	३७-४६
"	"	—एतेन पाणिनीयतन्त्रे गौरवम् ।	२२	४६-४८
३७	त० प्र०—	घातौ—इत्यादि ।	२३	१-४
३८	सूत्रम् ।	अनन्तः पञ्चम्या० ॥११३८॥	२३	५
"	त० प्र०—	"	२३	६-१०
३९	सूत्रम् ।	डत्यतु संख्याचत् ॥११३९॥	२३	११
"	त० प्र०—	"	२३	१२-१६
३७	आ०बो०—	अनुबन्धफलप्रदर्शनम् ।	२३	१७-३२
३८	"	—प्रत्ययसंज्ञास्वरूपम् ।	२३	३३-३७
"	"	—अनन्तपदप्रयोजन प्रत्ययप्रदेशश्च ।	२३	३८-४०
३९	"	—अतिदेशशास्त्ररूपम् ।	२३	४१-४६
४०	सूत्रम् ।	वहुगणं भेदे ॥११४०॥	२४	१
"	त० प्र०—	"	२४	२-४
४१	सूत्रम् ।	कस्तमासेऽध्यर्धः ॥११४१॥	२४	५
"	त० प्र०—	"	२४	६-८
४२	सूत्रम् ।	अर्थपूर्वपदं पूरणं ॥११४२॥	२४	९
"	त० प्र०—	"	२४	१०-१५
४०	आ०बो०—	सूत्रस्थपदव्याख्यान स्पष्टीकरणं च ।	२४	१६-१९
४१	"	"	२४	२०-२२
४२	"	"	२४	२३-२४
०	"	—सूत्रवृत्तिकारनामपुरस्सरं संज्ञा- प्रकरणसमाप्तिः ।	२४	२५
"	"	—पादान्तिमल्लोकस्यपदान्वय समा- सार्थश्च ।	२४	२६-३५
"	"	—श्रीमानन्दयोधिनीवृत्तिकारस्य सङ्क्षेपतया परिचयोऽस्ति ।	२४	३६-४०

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
<b>प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः । २५-३८</b>				
१ सूत्रम् ।	समानानां तेन दीर्घः ॥११२१॥	२५	३	
” त० प्र०—	” ” ”	२५	४-८	
२ सूत्रम् ।	ऋलृति ह्रस्वो वा ॥११२२॥	२५	९	
” त० प्र०—	” ” ”	२५	१०-१६	
३ सूत्रम् ।	लृत् वृलृत् ऋलृभ्यां वा ॥११२३॥	२५	१७	
” त० प्र०—	” ” ”	२५	१८	
१ आ० बो०—	शङ्कासमाधानपुरस्सरं क्षीर्घविधानम्	२५	१९-२२	
” ”	—उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वय ।	२५	२२-२३	
” ”	—व्याख्यार्थम्—इत्यादिस्यष्टीकरणम् ।	२५	२४-२६	
२ ”	—शङ्कासमाधानपुरस्सरं पाक्षिक- ह्रस्वविधानम् ।	२५	२७-३२	
” ”	—कथिन्मतप्रदर्शनं सूत्रविषयप्रदर्शनं च ।	२५	३२-३६	
३ ”	—अन्यमतप्रदर्शनपूर्वकं सूत्रार्थपरि- ०१२५	२५	३७-३९	
३ त० प्र०—	स्तरव्यञ्जन—इत्यादि ।	२६	१-४	
४ सूत्रम् ।	ऋतो वा तौ च ॥ ११२४ ॥	२६	५	
” त० प्र०—	” ” ”	२६	६-८	
५ सूत्रम् ।	ऋहस्तयोः ॥ ११२५ ॥	२६	९	
” त० प्र०—	” ” ”	२६	१०-११	
३ आ० बो०—	अन्यमतानां स्थलप्रदर्शनम् ।	२६	१२-२१	
४ ”	—सूत्रार्थादयव्याख्यानमुदाहरणानि च	२६	२२-२९	
५ ”	—सूत्रवृत्तिपदव्याख्यानमष्टविकल्प- व्याख्यानं च ।	२६	३०-४४	
६ सूत्रम् ।	अवर्णस्येवर्णादिनेदोद्वरलृ ॥ ११२६ ॥	२७	१	
” त० प्र०—	” ” ”	२७	२-६	
७ सूत्रम् ।	ऋणे प्रदशार्णवसन० ॥११२७॥	२७	७	
” त० प्र०—	” ” ”	२७	८-९	
५ आ० बो०—	एकोनत्रिंशद्भूप्रदर्शकयन्त्रम् ।	२७	१०-३२	
६ ”	—सूत्रवृत्तिपदव्याख्यानं स्पष्टीकरणं च	२७	३३-३९	
७ ”	—सूत्रवृत्तिपदव्याख्यानम् ।	२७	४०-४३	
७ त० प्र०—	सम्बन्धि—इत्यादि ।	२८	१-२	
८ सूत्रम् ।	ऋते वृत्तीयात्समासे ॥११२८॥	२८	३	
” त० प्र०—	” ” ”	२८	४-१०	
९ सूत्रम् ।	ऋत्यारुपसर्गस्य ॥११२९॥	२८	११-१५	
” त० प्र०—	” ” ”	२८	१२-१५	
१० सूत्रम् ।	नास्ति वा ॥ ११२१० ॥	२८	१६	
” त० प्र०—	” ” ”	२८	१७-१९	
७ आ० बो०—	एके इति के, इति प्रअस्योत्तरम् ।	२८	२०-२१	
८ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा- धानं स्पष्टीकरणं च ।	२८	२२-३२	
९ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा- धानं स्पष्टीकरणं च ।	२८	३३-३९	
१० ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा- धानं स्पष्टीकरणं च ।	२८	४०-४२	
११ सूत्रम् ।	लृत्वात्वा ॥ ११२११ ॥	२९	१	
” त० प्र०—	” ” ”	२९	२-४	
१२ सूत्रम् ।	पेदैत् सन्ध्यद्वरैः ॥११२१२॥	२९	५	
” त० प्र०—	” ” ”	२९	६-८	
१३ सूत्रम् ।	ऊटा ॥ ११२१३ ॥	२९	९	
” त० प्र०—	” ” ”	२९	१०-११	

१ शब्दानु० प्रस्तावना.

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
१४ सूत्रम् ।	प्रस्यैषैष्योढोऋवृहै स्वरण ॥ ११२१४ ॥	२९	१२	
” त० प्र०—	” ” ”	२९	१३-२०	
११ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानम् ।	२९	२१-२३	
१२ ”	—” ” ” चहु०फलं च ।	२९	२४-२७	
१३ ”	—” ” ” ” ”	२९	२८-३०	
१४ ”	—शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रवृत्तिस्थ- पदव्याख्यानं स्पष्टीकरणं च ।	२९	३१-४२	
१५ सूत्रम् ।	स्वैरस्वैर्यक्षौहिण्याम् ॥११२१५॥	३०	१	
” त० प्र०—	” ” ”	३०	२-५	
१६ सूत्रम् ।	अनियोगे लुगेवे ॥ ११२१६ ॥	३०	६	
” त० प्र०—	” ” ”	३०	७-१५	
१७ सूत्रम् ।	वौष्टौतौ समासे ॥ ११२१७ ॥	३०	१६	
” त० प्र०—	” ” ”	३०	१७-१९	
१५ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमदौहिणी- शब्दस्वरूपं च ।	३०	२०-२६	
१६ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च	३०	२७-२९	
” ”	—शास्त्रलोकाप्रतीतप्रयोगविरोधप्रदर्शनं	३०	३०-४०	
१७ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च	३०	४१-४५	
१८ सूत्रम् ।	ओमाङ्ङि ॥ ११२१८ ॥	३१	१	
” त० प्र०—	” ” ”	३१	२-५	
१९ सूत्रम् ।	उपसर्गस्याऽनिषेधेदोति ॥ ११२१९ ॥	३१	६	
” त० प्र०—	” ” ”	३१	७-९	
२० सूत्रम् ।	वा नास्ति ॥ ११२२० ॥	३१	१०	
” त० प्र०—	” ” ”	३१	११-१२	
२१ सूत्रम् ।	इचर्णादेरस्वे स्वर० ॥११२२१॥	३१	१३	
” त० प्र०—	” ” ”	३१	१४-१७	
१८ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं शङ्कासमा- धानं च ।	३१	१८-२२	
१९ ”	—” ” ” विग्रहप्रदर्शनादि च	३१	२३-२७	
२० ”	—” ” ” ” ”	३१	२८-३१	
२१ ”	—” ” ” शङ्कासमाधानं च ।	३१	३२-३४	
” ”	—अन्यमते पञ्चमीव्याख्यानम् ।	३१	३५-३६	
” ”	—सूत्रलाघवं प्रदर्श्य षड् रूपप्रदर्शनम्	३१	३६-३९	
२२ सूत्रम् ।	ह्रस्वोऽपदे वा ॥ ११२२२ ॥	३२	१	
” त० प्र०—	” ” ”	३२	२-९	
२३ सूत्रम् ।	पदैतोऽयात् ॥ ११२२३ ॥	३२	१०	
” त० प्र०—	” ” ”	३२	११-१२	
२४ सूत्रम् ।	ओदीतोऽवाच् ॥ ११२२४ ॥	३२	१३	
” त० प्र०—	” ” ”	३२	१४-१५	
२५ सूत्रम् ।	व्यन्त्रे ॥ ११२२५ ॥	३२	१६	
” त० प्र०—	” ” ”	३२	१७	
२२ आ० बो०—	सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च	३२	१८-२१	
” ”	—ह्रस्वविधानसामर्थ्यमन्यमतप्रद- र्शनादि च ।	३२	२२-३१	
२३ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं स्पष्टीकरणं च ।	३२	३२-३७	
२४ ”	—” ” ” ” ”	३२	३८-३९	
२५ ”	—” ” ” ” ”	३२	४०-४२	
२५ त० प्र०—	नात्यति—इत्यादि ।	३३	१-५	



सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
२६ सूत्रम् । ऋतो रस्तद्धिते ॥ १।२।२६ ॥ ३३		३३	६
३, त० प्र०—	”	३३	७
२७ सूत्रम् । पदोतः पदान्तेऽस्य			
लुक् ॥ १।२।२७ ॥ ३३		३३	८
” त० प्र०—	”	३३	९-१०
२८ सूत्रम् । गोर्नाड्यवोऽक्षे ॥ १।२।२८ ॥ ३३		३३	११
” त० प्र०—	”	३३	१२-१४
२९ सूत्रम् । स्वरे वाऽनक्षे ॥ १।२।२९ ॥ ३३		३३	१५
२५ आ०बो०—पदप्रयोजन शङ्कासमाधान च ।		३३	१७-२४
२६ ” —सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान प्रयोजन च ।		३३	२५-२९
२७ ” —” शङ्कासमाधान च ।		३३	३०-३४
२८ ” —” मतान्तरप्रदर्शन च ।		३३	३५-४२
२९ ” —” ”		३३	४३-४५
२९ त० प्र०—भवति—इत्यादि ।		३४	१-४
३० सूत्रम् । इन्द्रे ॥ १।२।३० ॥ ३४		३४	५
” त० प्र०—	”	३४	६
। असन्धिप्रकरणम् ।			
३१ सूत्रम् । वाऽत्वसन्धिः ॥ १।२।३१ ॥ ३४		३४	७
” त० प्र०—	”	३४	८-११
३२ सूत्रम् । सुतोऽनितौ ॥ १।२।३२ ॥ ३४		३४	१२
” त० प्र०—	”	३४	१३-१५
३३ सूत्रम् । इरे वा ॥ १।२।३३ ॥ ३४		३४	१६
” त० प्र०—	”	३४	१७-१८
२९ आ०बो०—उदाहरणस्पष्टीकरणं पदप्रयोजन च ।		३४	१९-२६
३० ” —सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान			
स्पष्टीकरण च ।		३४	२७-३०
३१ ” —” ” ”		३४	३१-३४
३३ ” —” ” ”		३४	३५-४१
३३ ” —” ” ”		३४	४२-४५
३४ सूत्रम् । ईद्वेद्विवचनम् ॥ १।२।३४ ॥ ३५		३५	१
” त० प्र०—	”	३५	२-७
३५ सूत्रम् । अदो मुमी ॥ १।२।३५ ॥ ३५		३५	८
” त० प्र०—	”	३५	९-१०
३४ आ०बो०—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च ।		३५	११-१७
” —पदप्रयोजन स्पष्टीकरणमन्यमत-			
प्रदर्शनं च ।		३५	१८-३२
” —कलिकालसर्वशमत तत्स्पष्टीकरणं च ।		३५	३२-३६
३५ ” —सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानम् ।		३५	३७-३८
” —भामुमुद्वा—इत्यस्य साधनिकेत्यादि ।		३५	३८-४४
३६ सूत्रम् । चादिः खरोऽनाह् ॥ १।२।३६ ॥ ३६		३६	१
” त० प्र०—	”	३६	२-१०
३७ सूत्रम् । ओदन्तः ॥ १।२।३७ ॥ ३६		३६	११
” त० प्र०—	”	३६	१२-१३
३६ आ०बो०—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च ।		३६	१४-१७
” —पदप्रयोजन तत्स्पष्टीकरणं च ।		३६	१८-२६
” —शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्ररहस्य-			
मित्यादि ।		३६	२७-३८
३७ ” —सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणादि-			
च ।		३६	३९-४५
” त० प्र०—न तु चादि—इत्यादि ।		३७	१-२

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
३८ सूत्रम् । सौ नवेतौ ॥ १।२।३८ ॥ ३७		३७	३
” त० प्र०—	”	३७	४-६
३९ सूत्रम् । ऊं चोञ् ॥ १।२।३९ ॥ ३७		३७	७
” त० प्र०—	”	३७	८-११
४० सूत्रम् । अव्वर्गात्स्वरे वोऽसन् ॥ १।२।४० ॥		३७	१२
” त० प्र०—	”	३७	१३-१४
३७ आ०बो०—तिरोभवत्—इत्यादिवृत्तिस्थपद-			
व्याख्यानम् ।		३७	१५-१९
३८ ” —सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणं च ।		३७	२०-२२
” —पदप्रयोजन स्याद्वादमतप्रदर्शनं च ।		३७	२३-२६
” —अधिकारार्थं नवेति पदम् ।		३७	२६-२७
३९ ” —सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान पद-			
प्रयोजनं च ।		३७	२८-३२
” —सूत्ररहस्य पदान्तरेणाऽपि सूत्र-			
रहस्यं च ।		३७	३२-३९
४० ” —सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरण-			
स्पष्टीकरणं च ।		३७	४०-४६
४० त० प्र०—जान्त्वस्य—इत्यादि ।		३८	१-२
४१ सूत्रम् । अइउवर्णस्याऽन्ते ॥ १।२।४१ ॥ ३८		३८	३
” त० प्र०—	”	३८	४-१४
४० आ०बो०—जान्त्वस्य रुजति—इति प्रयोगसिद्धिः ।		३८	१५-१६
” —अस्य पक्षान्तरेण स्पष्टीकरणमित्यादि ।		३८	१६-२३
४१ ” —सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान रहस्यं च ।		३८	२४-२९
” —उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयम् ।		३८	२९-३१
” —पदप्रयोजनम् ।		३८	३१-३६
” —अस्मिन् सूत्रे चादि—इति सूत्रा-			
ऽविषयम् ।		३८	३६-४०
श्लो० २ ” —श्लोकस्य व्याख्या रहस्यं च ।		३८	४१-४७
पा० २ ” —आन०बोधिनीवृत्तिकारणामोक्षेण च ।		३८	४८-५२
स्वरसन्धिप्रकरणसमाप्तिश्च ।			

॥ अर्हं ॥

प्रथमाध्याये तृतीय पादः । ३९-६३

१ सूत्रम् । तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १।३।१ ॥ ३९		३९	३
” त० प्र०—	”	३९	४-११
१ आ०बो०—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान तत्स्पष्टी-			
करणं च ।		३९	१२-१६
” —उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वयम् ।		३९	१६-२५
” —पदप्रयोजनमन्यमतप्रदर्शनं च ।		३९	२५-३९
२ सूत्रम् । प्रत्यये च ॥ १।३।२ ॥ ४०		४०	१
” त० प्र०—	”	४०	२-३
३ सूत्रम् । ततो ह्रस्वतुर्थं ॥ १।३।३ ॥ ४०		४०	४
” त० प्र०—	”	४०	५-७
४ सूत्रम् । प्रथमादधुटि शस्त्रं ॥ १।३।४ ॥ ४०		४०	८
” त० प्र०—	”	४०	९-११
२ आ०बो०—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदा-			
हरणानि च ।		४०	१२-१९
” —पदप्रयोजनं चकारफलं च ।		४०	१९-२२
३ आ०बो०—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यान शङ्का-			
समाधानं च ।		४०	२३-२८
” —उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पदप्रयो-			
जनं च ।		४०	२८-३५

सूत्रम् ।	वृत्ता० ।	विषयः ।	पृ०	प०
४ आ० बो०—		सूत्रवृत्तिस्यपदव्याख्यानमुदाहरण- 'स्पष्टीकरणं च ।	४०	३६-४२
" "		—पदप्रयोजनपर्युदासफल च ।	४०	४२-४५
५ सूत्रम् ।	रः	कखपर्यायोः ॥ १ । ३ । ५ ॥ ४१	४१	२-५
" त० प्र०—	"	"	४१	५-११
६ सूत्रम् ।		शषसे शषसं वा ॥ १ । ३ । ६ ॥ ४१	४१	१२
" त० प्र०—	"	"	४१	१३
७ सूत्रम् ।		चटते सव्रितीये ॥ १ । ३ । ७ ॥ ४१	४१	१४-१६
" त० प्र०—	"	"	४१	१६-२१
८ आ० बो०—		सूत्रवृत्तिस्यपदव्याख्यान ककारादि- 'प्रयोजनं च ।	४१	२२-३८
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरणमपवाद- प्रदर्शनं च ।	४१	३८-४१
९ सूत्रम् ।		सूत्रवृत्तिस्यपदव्याख्यानमुदाहरण- स्पष्टीकरणं च ।	४१	४२-४५
" "		—नवाधिकारे वाग्रहणफलप्रदर्शनम् ।	४१	४५-४६
" "		—सूत्रवृत्तिस्यपदव्याख्यान शङ्कासमा- धानं च ।	४१	४६-४७
" त० प्र०—	"	कश्चरति-इत्यादि ।	४२	१-२
१० सूत्रम् ।		नोऽप्रशानोऽनुस्वाराः ॥ १ । ३ । ८ ॥ ४२	४२	३-९
" त० प्र०—	"	"	४२	९-१०
११ सूत्रम् ।		पुमोऽशित्थयोषेऽख्यागिरिः ॥ १ । ३ । ९ ॥ ४२	४२	११-१४
" त० प्र०—	"	"	४२	१४-१५
१२ आ० बो०—		चविशिष्टल इत्यादिशङ्कानिरसन- मित्यादि ।	४२	१५-१६
" "		—सूत्रस्याऽन्वय परमार्थश्च ।	४२	१६-२५
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पदप्रयो- जनं च ।	४२	२५-३०
" "		—सूत्रान्वय सूत्रवृत्तिपरमार्थश्च ।	४२	३१-३३
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पदप्रयो- जनं च ।	४२	३३-४३
१३ सूत्रम् ।		नृनः पैपु वा ॥ १ । ३ । १० ॥ ४३	४३	२-४
" त० प्र०—	"	"	४३	४-६
१४ सूत्रम् ।		द्विः कानः कानि सः ॥ १ । ३ । ११ ॥ ४३	४३	६-८
" त० प्र०—	"	"	४३	८-११
१५ सूत्रम् ।		स्तटि समः ॥ १ । ३ । १२ ॥ ४३	४३	१०-११
" त० प्र०—	"	"	४३	११-१५
१६ आ० बो०—		सूत्रान्वयसङ्घटितपरमार्थश्च ।	४३	१२-१५
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पद- प्रयोजनं च ।	४३	१५-२०
१७ सूत्रम् ।		सूत्रान्वयसङ्घटितपरमार्थश्च ।	४३	२१-२४
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पद- प्रयोजनं च ।	४३	२४-२७
" "		—रत्याऽधिकारे सविधानफलम् ।	४३	२७-३१
१८ सूत्रम् ।		सूत्रान्वयसङ्घटितपरमार्थश्च ।	४३	३२-३४
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पद- प्रयोजनं च ।	४३	३४-४६
१९ सूत्रम् ।		लुक ॥ १ । ३ । १३ ॥ ४४	४४	१
" त० प्र०—	"	"	४४	२-३
२० सूत्रम् ।		तौ मुमो व्यजने स्तौ ॥ १ । ३ । १४ ॥ ४४	४४	४
" त० प्र०—	"	"	४४	५-१२

सूत्रम् ।	वृत्ता० ।	विषयः ।	पृ०	प०
१३ आ० बो०—		सूत्रवृत्त्यन्वयप्रदर्शनं पृथग्योग- फलं च ।	४४	१३-१६
" "		—पाणिन्युत्पलशाकटायनानां मत- प्रदर्शनम् ।	४४	१७-२०
१४ सूत्रम् ।		शङ्कासमाधानपुरस्तरं सूत्रवृत्त्य- न्वय परमार्थश्च ।	४४	२१-३०
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पद- प्रयोजनं च ।	४४	३१-४८
१५ सूत्रम् ।		मनयवलपरे हे ॥ १ । ३ । १५ ॥ ४५	४५	१
" त० प्र०—	"	"	४५	२-४
१६ सूत्रम् ।		सत्राद् ॥ १ । ३ । १६ ॥ ४५	४५	५
" त० प्र०—	"	"	४५	६
१७ सूत्रम् ।		ङ्णोः कटावन्तौ शिटि नवा ॥ १ । ३ । १७ ॥ ४५	४५	७
" त० प्र०—	"	"	४५	८-११
१८ सूत्रम् ।		ङ्गः सः त्सोऽश्वः ॥ १ । ३ । १८ ॥ ४५	४५	१२
" त० प्र०—	"	"	४५	१३-१५
१९ आ० बो०—		सूत्रवृत्त्यन्वयस्तत्समासपरमार्थश्च ।	४५	१६-२१
" "		—उदाहरणे सूत्रार्थसमन्वयः ।	४५	२१-२३
२० सूत्रम् ।		सूत्रवृत्तिस्यस्पष्टीकरणमुदाहरणं च ।	४५	२३-२५
२१ सूत्रम् ।		सूत्रवृत्तिस्यपदनिरूपणमन्तफल- प्रदर्शनं च ।	४५	२६-३४
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पद- प्रयोजनं च ।	४५	३४-३७
२२ सूत्रम् ।		सूत्रवृत्त्यन्वयस्तत्परमार्थश्च ।	४५	३८-४२
" "		—पाणिनीयशाकटायनानामभिप्रायः ।	४५	४२-४४
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पद- प्रयोजनं च ।	४५	४४-४७
२३ त० प्र०—	"	भवाच्-इत्यादि ।	४६	१-३
२४ सूत्रम् ।		नः शिञ्च ॥ १ । ३ । १९ ॥ ४६	४६	४
" त० प्र०—	"	"	४६	५-७
२५ सूत्रम् ।		अतोऽति रोहः ॥ १ । ३ । २० ॥ ४६	४६	८
" त० प्र०—	"	"	४६	९-११
२६ आ० बो०—		मधुक्-इत्यस्य साधनिका सूत्र- परमार्थता च ।	४६	१२-२२
" "		—सूत्रवृत्त्यन्वयप्रदर्शनं शङ्का- समाधानं च ।	४६	२३-२८
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पद- प्रयोजनं चेत्यादि ।	४६	२८-३५
२७ सूत्रम् ।		सूत्रवृत्तिस्यपदनिरूपणम् ।	४६	३६-४१
" "		—उदाहरणानां स्पष्टीकरण पद- प्रयोजनं च ।	४६	४२-४८
२८ सूत्रम् ।		घोषवति ॥ १ । ३ । २१ ॥ ४७	४७	१
" त० प्र०—	"	"	४७	२-४
२९ सूत्रम् ।		अवर्णभोमगोऽधोर्लुगसन्धिः ॥ १ । ३ । २२ ॥ ४७	४७	५
" त० प्र०—	"	"	४७	६-११
३० सूत्रम् ।		व्योः ॥ १ । ३ । २३ ॥ ४७	४७	१२
" त० प्र०—	"	"	४७	१३-१४
३१ आ० बो०—		सूत्रवृत्तिस्यपदव्याख्यानं शङ्का- समाधानं च ।	४७	१५-१७

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
२१ आ०बो०—	उदाहरणानां स्पष्टीकरण- प्रयोजन च ।	४७	१८-२०
२२ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणं शब्दा- समाधानं च ।	४७	२१-२८
”	—कात्यायनमतप्रदर्शनं सूत्ररहस्यं च ।	४७	२९-३४
२३ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणमुदाहरण- निष्पत्तिप्रदर्शनं च ।	४७	३५-४६
२३ त० प्र०—	घोषवतीत्येव—इत्यादि ।	४८	१-३
२४ सूत्रम् ।	स्वरे वा ॥ १ । ३ । २४ ॥	४८	४
” त० प्र०—	” ”	४८	५-१०
२५ सूत्रम् ।	अस्पष्टाववर्णात् ॥ १ । ३ । २५ ॥	४८	११
” त० प्र०—	” ”	४८	१२-१८
२३ आ०बो०—	भव्यमित्यादिसिद्धिप्रदर्शनम् ।	४८	१९-२०
”	—विश्रान्तविद्याधरमतस्पष्टीकरणम् ।	४८	२०-२३
२४ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणमुदाहरणानां स्पष्टीकरणं च ।	४८	२४-३३
२५ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणम् ।	४८	३४-३९
”	—सूत्रार्थसमन्वयप्रदर्शनं पाणिनि- तोल्लेखनं च ।	४८	३९-४४
२६ सूत्रम् ।	रौर्यः ॥ १ । ३ । २६ ॥	४९	१
” त० प्र०—	” ”	४९	२-४
२७ सूत्रम् ।	ह्रस्वाद् ह्रणतो ह्रे ॥ १ । ३ । २७ ॥	४९	५
” त० प्र०—	” ”	४९	६-१०
२८ सूत्रम् ।	अनामडाडो दीर्घाद्वा छः ॥ १ । ३ । २८ ॥	४९	११
” त० प्र०—	” ”	४९	१२-१३
२६ आ०बो०—	सूत्रवृत्त्यन्वयस्वरपरमार्थश्च ।	४९	१४-१६
”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणं पदप्रयोजनं च ।	४९	१७-१८
२७ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयस्वरपरमार्थश्च ।	४९	१९-२१
”	—शब्दासमाधानपुरस्सरं न्यामप्रदर्शनम् ।	४९	२२-२४
”	—पदप्रयोजनविधानस्य सूत्रे सङ्गमनं च ।	४९	२४-३३
२८ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयस्वरपरमार्थश्च ।	४९	३४-३७
”	—उदाहरणानां स्पष्टीकरणम् ।	४९	३७-४०
” त० प्र०—	गोष्ठाया—इत्यादि ।	५०	१-५
२९ सूत्रम् ।	हुताद्वाः ॥ १ । ३ । २९ ॥	५०	६
” त० प्र०—	” ”	५०	७-८
३० सूत्रम् ।	स्वरेभ्यः ॥ १ । ३ । ३० ॥	५०	९
” त० प्र०—	” ”	५०	१०-११
३१ सूत्रम् ।	ह्रिर्ह्रस्वरस्याऽनु नवा ॥ १ । ३ । ३१ ॥	५०	१२
” त० प्र०—	” ”	५०	१३-१४
२८ आ०बो०—	पदप्रयोजनं क्लिप्करणफलप्रदर्शनं च ।	५०	१५-२४
२९ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयस्वरपरमार्थश्च ।	५०	२५-३०
३० ”	—शब्दासमाधानपुरस्सरं सूत्रवृत्तिपर- मार्थं ।	५०	३१-३४
”	—उदाहरणानां निष्पत्तिप्रदर्शनं पद- प्रयोजनं च ।	५०	३४-३९
३१ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयो ह्यन्तस्तत्परमार्थश्च ।	५०	४०-४५
” त० प्र०—	धर्षा—इत्यादि ।	५१	१-२

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
३२ सूत्रम् ।	अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने ॥ १ । ३ । ३२ ॥	५१	३
” त० प्र०—	” ”	५१	४-११
३१ आ०बो०—	पदप्रयोजनं तत्रहस्यं च ।	५१	१२-२२
”	—अन्वयप्रदर्शनमुदाहरणानां साध- निका रहस्यं च ।	५१	२३-३२
”	—पदप्रयोजनं सूत्रवृत्तयैदम्पर्यं च ।	५१	३२-४४
३३ सूत्रम् ।	अध्वर्गस्याऽन्तस्थातः ॥ १ । ३ । ३३ ॥	५२	१
” त० प्र०—	” ”	५२	२-३
३४ सूत्रम् ।	ततोऽस्याः ॥ १ । ३ । ३४ ॥	५२	४
” त० प्र०—	” ”	५२	५-६
३५ सूत्रम् ।	शिटः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १ । ३ । ३५ ॥	५२	७
” त० प्र०—	” ”	५२	८-१२
३६ सूत्रम् ।	ततः शिटः ॥ १ । ३ । ३६ ॥	५२	१३
” त० प्र०—	” ”	५२	१४
३३ आ०बो०—	सूत्रवृत्त्यन्वयस्वरपरमार्थो ह्यन्तश्च ।	५२	१५-१९
३४ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरण- प्रत्युदाहरणानि च ।	५२	२०-२८
३५ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानमुदाहरणानां सिद्धीरहस्यं च ।	५२	२९-३३
”	—पदप्रयोजनमन्यमतप्रदर्शनं च ।	५२	३३-४३
३६ ”	—सूत्रस्याऽन्वयं परमार्थं उदाहरण- साधनिका च ।	५२	४३-४७
” त० प्र०—	तत्साधु—इत्यादि ।	५३	१-२
३७ सूत्रम् ।	न रात्स्वरे ॥ १ । ३ । ३७ ॥	५३	३
” त० प्र०—	” ”	५३	४-६
३८ सूत्रम् ।	पुत्रस्याऽऽदिन्पुत्रादिन्याकोशे ॥ १ । ३ । ३८ ॥	५३	७
” त० प्र०—	” ”	५३	८-११
३९ सूत्रम् ।	ज्ञा घुङ्गोऽन्त्योऽपदान्ते ॥ १ । ३ । ३९ ॥	५३	१२
” त० प्र०—	” ”	५३	१३-१४
३६ आ०बो०—	उदाहरणानां प्रत्युदाहरणानां च साधनिका ।	५३	१५-१९
३७ ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदव्याख्यानं प्रतिषेधस्य फलं च ।	५३	२०-२६
३८ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयस्वरपरमार्थश्च ।	५३	२७-२९
”	—उदाहरणानि पदप्रयोजनानि च ।	५३	२९-३९
३९ ”	—सूत्रवृत्त्यन्वयो ह्यन्तस्थित- परमार्थश्च ।	५३	४०-४३
” त० प्र०—	कम्पितम्—इत्यादि ।	५४	१-४
४० सूत्रम् ।	शिद्धेऽनुस्वारः ॥ १ । ३ । ४० ॥	५४	५
” त० प्र०—	” ”	५४	६-१०
३९ आ०बो०—	शब्दासमाधानपुरस्सरं बहुवचन- फलकथनं तत्रप्रदर्शनं च ।	५४	११-२१
”	—पदप्रयोजनमन्वित्पदाकर्षणफल- प्रदर्शनं च ।	५४	२१-२६
४० ”	—सूत्रवृत्तिस्थपदनिरूपणमुदाहरणानां सिद्धिप्रदर्शनं च ।	५४	२७-३३

सूत्रम् । घ०ना० ।	विषय ।	घ०	प०	सूत्रम् । घ०ना० ।	विषय ।	घ०	प०
४० आ०बो०—	त्रासिति वृत्तिस्यपदव्याख्यानं पद- प्रयोजन च ।	५४	३३-४२	५२ आ०बो०—	उदाहरण सहिताया विशेषस्वरूप चा	५९	२३-२७
४१ सूत्रम् ।	रो रे लुग् दीर्घश्चाऽदिदुतः ॥ १ । ३ । ४१ ॥	५५	१	५३ " —	विसर्गस्वरूपं, उदाहरणप्रत्युदाहरण- साधनिका ।	५९	२८-३५
" त० प्र०—	" " "	५५	२-४	" "	—शङ्कासमाधानमन्त्रव्यधिकारस्य फलप्रदर्शन च ।	५९	३५-४३
४२ सूत्रम् ।	ढस्त्वे ॥ १ । ३ । ४२ ॥	५५	५	५४ " —	उदाहरणसाधनिका सूत्ररचना- प्रयोजन च ।	५९	४४-४८
" त० प्र०—	" " "	५५	६-१०	५५ त० प्र०—	पदान्तरेफस्य विसर्ग एवेति विधान	६०	१-३
४१ आ०बो०—	अपदान्त इति नाऽनुवर्तते—इत्यु- चोर्हेतुदर्शनम् ।	५५	११-१५	५६ " —	" वा लुग्विधानम् ।	६०	४-७
" "	—शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रवृत्तिस्य- पदव्याख्यानम् ।	५५	१५-२१	५७ " —	रेफस्य रेफविधानम् ।	६०	८-१०
" "	—अहोरूपम्—इतिपदस्य साधनिका	५५	२१-२४	५८ " —	अर्हपत्यादिशब्दाना निपातेन शुद्ध- ताप्रदर्शनम् ।	६०	११-१४
४२ " —	सूत्रवृत्तेरन्वय परमार्थ उदाहरण- साधनिका च ।	५५	२५-४०	५९ " —	वर्गप्रथमस्य वर्गद्वितीयविधानम् ।	६०	१५-१६
" "	—पदप्रयोजन कार्यासत्त्वपक्षप्रदर्शनं चेत्यादि ।	५५	४०-४४	५५ आ०बो०—	नियमार्थमिद सूत्र नियमफलदर्शको- दाहरणानि च ।	६०	१७-२०
४३ सूत्रम् ।	सहिवहेरोच्चाऽवर्णस्य ॥ १ । ३ । ४३ ॥ ५६		१	५६ " —	व्यत्ययशब्दस्याऽर्थ सूत्रस्य फलि- तार्थश्च ।	६०	२१-२४
" त० प्र०—	" " "	५६	२-३	५७ " —	रेफस्याऽपि रेफविधानेनोत्पन्नाया शङ्काया समाधानमुदाहरणप्रत्यु- दाहरणानि च ।	६०	२५-२९
४४ सूत्रम् ।	उदः स्यास्तम्मः सः ॥ १ । ३ । ४४ ॥ ५६		४	५८ " —	अहर्षत्यादिगणान्तर्गतशब्दत्रयस्य साधनिका ।	६०	३०-३८
" त० प्र०—	" " "	५६	५-८	" "	—युहवचनस्य फलं तद्दर्शकोदाहरणे द्वे च ।	६०	३८-४१
४५ सूत्रम् ।	तदः सैः स्वरे पादार्था ॥ १ । ३ । ४५ ॥ ५६		९	५९ " —	कचटतपानं खलुठथफा शिटि परे भवन्तीति सूत्रस्य फलितार्थ ।	६०	४२-४३
" त० प्र०—	" " "	५६	१०-११	६० त० प्र०—	तवर्गस्य चवर्गटवर्गविधानम् ।	६१	३-१०
४३ आ०बो०—	सूत्रवृत्तिस्यपदनिरूपणमुदाहरण- प्रदर्शन च ।	५६	१२-१६	" आ०बो०—	सूत्रस्थसमासविग्रहो योगशब्दस्या- ऽर्थश्च ।	६१	१३-१६
४४ " —	" " " " " " " " " "	५६	१७-१९	" "	—योगग्रहणस्याऽऽशय ।	६१	१८-२२
" "	—पदप्रयोजन वृत्तिस्यपदरहस्य च ।	५६	२०-३२	" "	—तच् शेते—इत्यादीनामुदाहरणाना साधनिका शङ्कासमाधानं च ।	६१	२२-४७
४५ " —	सूत्रवृत्तिस्यपदव्याख्यानम् ।	५६	३३-३८	६१ त० प्र०—	सकारस्य शकारषकारविधानम् ।	६२	४-७
" "	—उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वय इत्यादि ।	५६	३८-४३	६२ " —	तवर्गस्य चवर्गभवननिषेध ।	६२	८-९
४६ सूत्रम् ।	पतदश्च व्यञ्जने ॥ १ । ३ । ४६ ॥ ५७		१	६३ " —	तवर्गसकारयोष्टवर्गषकारभवननिषेध	६२	१०-१२
" त० प्र०—	" " "	५७	२-५	६० आ०बो०—	अवृत्ति—इत्यादीनामुदाहरणाना साध- निका शङ्कासमाधान च ।	६२	१४-२५
४७ सूत्रम् ।	व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः० ॥ १ । ३ । ४७ ॥	५७	६	६१ " —	उदाहरणाना साधनिका ।	६२	२६-३३
" त० प्र०—	" " "	५७	७-१२	६२ " —	" " " " " " " " " " " "	६२	३४-३८
४६ आ०बो०—	अनमन्समासे—इत्यस्य विग्रह पर- मार्थश्च ।	५७	१३-२२	६३ " —	" " " " " " " " " " " "	६२	३९-४६
" "	—उदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि चेत्यादि ।	५७	२२-३०	६४ त० प्र०—	तवर्गस्य टवर्गभवननिषेध ।	६३	३-५
४७ " —	सूत्रवृत्तिस्यपदनिरूपण रहस्य च ।	५७	३१-३३	६५ " —	तवर्गस्य लकारविधानम् ।	६३	६-९
" "	—उदाहरणेषु सूत्रार्थसमन्वय ।	५७	३३-३८	" "	—तृतीयपादसामितिस्त्वसूत्रकलोकश्च ।	६३	१०-१३
" "	—चान्द्रशाकटायनादीनां मतप्रदर्शनं स्वसिद्धान्तसमर्थनं च ।	५७	३८-४५	६३ आ०बो०—	" प्रत्युदाहरणानि ।	६३	१४-१९
४८ त० प्र०—	धुटो वा लुग्विधानम् ।	५८	१-४	६४ " —	विभक्तिपरिणामेन सूत्रस्याऽर्थ उदाहरणानि च ।	६३	२०-२६
४९ त० प्र०—	धुटत्तृतीयविधानम् ।	५८	५-८	६५ " —	लकारद्वयस्योदाहरणे लौ—इति द्वि- वचनग्रहणे हेतुप्रदर्शनं च ।	६३	२७-३४
५० त० प्र०—	धुट प्रथमविधानम् ।	५८	९-१२	" "	—कचे—इत्यादिश्लोकस्याऽर्थस्य विल- क्षणता ।	६३	३५-३८
४८ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका शङ्कासमाधानं च ।	५८	१३-२३	" "	—आनन्दबोधिनीश्रुतिकारनामससूचन- पूर्वकं तत्तृतीयपादस्य समाप्तिः ।	६३	३९-४३
४९ " —	" " " " " " " " " " " "	५८	२४-३३				
५० " —	" " " " " " " " " " " "	५८	३४-४३				
५१ त० प्र०—	विरामे धुट प्रथमविधानम् ।	५९	१-३				
५२ " —	विरामे सर्वेषां सन्धीनामभावविधान संहितास्वरूपं च ।	५९	४-७				
५३ " —	पदान्तरेफस्य विसर्गविधानम् ।	५९	८-१४				
५४ " —	इत्यापि परे विसर्ग एवेति विधानम्	५९	१५-१७				
५१ आ०बो०—	स्वमतेऽन्यमते च विरामशब्द- स्याऽर्थः ।	५९	१८-२२				

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	पं०
<b>प्रथमाऽध्याये चतुर्थपादः ।</b>				
स्वरान्तनामप्रकरणे—अकारान्तनाम । ६४—१०६				
१ त० प्र०—	अकारस्याऽऽकारविधानम् ।	६४	३—६	
२ ,, —	भिस स्थाने ऐस् आदेशविधानम् ।	६४	७—९	
१ आ० वो०—	सूत्रस्थसमासयोर्विग्रह प्रदर्श्य सूत्रस्य स्पष्टार्थकथनमुदाहरणानां साधनिका च ।	६४	१०—२०	
१ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	६४	२०—३२	
२ ,, —	उदाहरणसाधनिका शङ्कासमाधानं 'सन्धिपात०' न्यायस्याऽनित्यत्वज्ञापनं मतान्तरप्रदर्शनं प्रत्युदाहरणानि च ।	६४	३३—४९	
३ त० प्र०—	इदमदसो भिस ऐसादेशस्य नियमः ।	६५	१२—२०	
४ ,, —	अकारस्यैकारादेशविधानम् ।	६५	५—८	
५ ,, —	ऌस्यो स्थाने इन्स्य प्रत्यययोर्विधानम् ।	६५	९—११	
३ आ० वो०—	'सिद्धे सत्वारम्भ०' इत्यनेन न्यायेनाऽऽन्न नियमप्रदर्शनमेवकारग्रहणफलप्रदर्शनं च ।	६५	२१—३१	
४ ,, —	सूत्रस्थसमासविग्रह उदाहरणप्रत्युदाहरणानां साधनिका च ।	६५	३२—४४	
५ ,, —	उदाहरणसाधनिका शङ्कासमाधानं च ।	६५	४५—४९	
५ ,, —	मतान्तरप्रदर्शनं 'सन्धिपात०' न्यायस्याऽनित्यत्वं च ।	६६	८—१३	
६ त० प्र०—	ऌस्योः स्थाने यात्प्रत्यययोर्विधानम् ।	६६	२—४	
७ ,, —	,, ,, स्मैस्मात् ,, ।	६६	५—७	
७ ,, —	उभशब्दग्रहणस्य प्रयोजनं च ।	६६	५—७	
६ आ० वो०—	उदाहरणसाधनिका मतान्तरप्रदर्शनं—मतान्तरे स्वमतसम्मत्तिसूचनं च ।	६६	१४—२२	
७ ,, —	सूत्रस्थसमासस्य शङ्कासमाधानपूर्वकं स्पष्टीकरणमादिशब्दस्याऽर्थः ।	६६	२३—४५	
७ ,, —	उदाहरणसाधनिका ।	६६	४५—४९	
७ त० प्र०—	अन्यतरग्रहणे हेतुसूत्रं मतान्तरे च ।	६७	२—५	
७ ,, —	उत्तरउत्तमप्रत्यययोर्ग्रहणे द्वे प्रयोजने ।	६७	५—७	
७ आ० वो०—	उभशब्दस्य सर्वादिगणपाठसम्बन्धिशाङ्कासमाधानम् ।	६७	८—२०	
७ ,, —	अन्यतरउत्तरउत्तमग्रहणस्य प्रयोजनप्रदर्शनं, मतान्तरस्पष्टीकरणं च ।	६७	२१—४५	
७ ,, —	उदाहरणानां साधनिका ।	६७	४५—५०	
७ त० प्र०—	सर्वादिगणस्थशब्दास्तेषामर्था, रूपाणि च ।	६८	१—८	
७ ,, —	,, ,, ,, ,, ।	६९	१—१२	
७ ,, —	,, ,, ,, ,, ।	७०	१—२	
७ ,, —	सर्वादिगणस्थशब्दानां यथान्वयस्थितगणना ।	७०	३—६	
७ आ० वो०—	सर्वादिगणस्थशब्दानामपि सर्वादित्वस्य स्पष्टीकरणं, तेषामुदाहरणानि च ।	६९	१३—२२	

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	पं०
७ आ० वो०—	येभ्य सर्वादिभ्यः स्मायादयो न सम्भवन्ति तेषामपि सर्वादिगणगणनाया प्रयोजनानि सर्वादिगणत्वात्सिद्धे शब्दैर्लेब्धफलदर्शकप्रयोगाश्च ।	६९	२२—४०	
७ ,, —	'सञ्जायां सर्वादयो न भवन्ति' इत्यस्मिन् विषये शङ्का, तस्या समाधानं च ।	६९	४०—४८	
७ ,, —	सर्वेषां सर्वादिशब्दानां निष्पत्तिप्रदर्शनम् ।	७०	३०—४७	
८ त० प्र०—	द्विप्रत्ययस्य स्थाने सिन्प्रत्ययविधानम् ।	७१	१—४	
९ ,, —	जस स्थाने इप्रत्ययविधानम् ।	७१	५—८	
१० ,, —	,, ,, वा इप्रत्ययविधानम् ।	७१	९—१५	
८ आ० वो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	७१	१६—२४	
९ ,, —	उदाहरणसाधनिका, शङ्कासमाधानं च ।	७१	२५—२९	
१० ,, —	सूत्रस्थशब्दानां परिचय, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	७१	३०—४७	
११ त० प्र०—	उत्तरेण निषेधे प्राप्ते जस स्थाने वा इप्रत्ययविधानम् ।	७२	१—४	
१२ ,, —	सर्वादिशब्दानां सर्वादित्वनिषेधः ।	७२	५—९	
१३ ,, —	पूर्वावरशब्दयोः सर्वादित्वनिषेधः ।	७२	१०—११	
११ आ० वो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	७२	१२—२२	
१२ ,, —	,, ,, ,, ,, ।	७२	२३—३२	
१३ ,, —	सूत्रस्थसमासस्य विग्रहो, रहस्य, शङ्कासमाधानं च ।	७२	३३—४७	
१४ त० प्र०—	तीयप्रत्ययान्तस्य वा सर्वादित्वविधानम् ।	७३	४—१०	
१५ ,, —	भाम्प्रत्ययस्य स्थाने साम्प्रत्ययविधानम् ।	७३	११—१२	
१३ आ० वो०—	प्रत्युदाहरणानि, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	७३	१३—२१	
१४ ,, —	हित्कार्यस्य विवेचनं, प्रत्युदाहरणसाधनिका च ।	७३	२२—३९	
१५ ,, —	भाम्ग्रहणविषये स्फुटता, द्वे उदाहरणे च ।	७३	४०—४५	
१६ त० प्र०—	इ स्मात् सिन् इति प्रत्ययत्रयस्य वा विधानम् ।	७४	४—८	
१७ ,, —	चित्तां चतुर्णां यै यास् यास् चाम् विधानम् ।	७४	९—१३	
१८ ,, —	सर्वादिचित्तां चतुर्णां यै यास् यास् चाम् ङस्पूर्वविधानम् ।	७४	१४—१५	
१५ आ० वो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका, शिष्टपालवधस्याऽपपाठवान् श्लोकश्च ।	७४	१६—२३	
१६ ,, —	सूत्रस्थप्रथमयोर्द्वयोः पदयोः प्रयोजनम् ।	७४	२४—३०	
१७ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका, पञ्चग्रहणसम्बन्धिनी प्रश्नोत्तरे च ।	७४	३१—४२	
१८ ,, —	सूत्रस्य स्फुटार्थं, उदाहरणानि च ।	७४	४३—४५	

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०	सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
१८ त० प्र०—		उदाहरणानि, शङ्कासमाधान, मतान्तरप्रदर्शन च ।	७५	१-८	२९ आ०बो०—		सूत्रार्थतन्त्र्यादिनिष्पत्तिनिर्दर्शन-मुदाहरणानि च ।	७९	३८-४७
१९ ”		—आवन्तशब्दस्य एकारान्तादेश-विधानम् ।	७५	९-१२	” त० प्र०—		पुनः छीप्रहणप्रयोजन, प्रत्युदाहरणानि च ।	८०	१-५
१८ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका, शङ्कासमाधान च ।	७५	१३-३०	३० त० प्र०—		सूत्रार्थ, उदाहरणानि, मतान्तर-निर्दर्शनं च ।	८०	६-१२
” ”		—नामप्राह मतान्तरप्रदर्शनम् ।	७५	३०-३३	२९ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानां साधनिका	८०	१३-३८
१९ ”		—उदाहरणप्रत्युदाहरणानां साधनिका ।	७५	३४-४३	३० ”		—सूत्रार्थ, उदाहरणानि, केचित्कश्चि-दित्यत्र बहुवचनस्यैकवचनस्य च तात्पर्यम् ।	८०	३९-४८
२० त० प्र०—		औता सहाऽऽवन्तस्य एकारान्ता-देशविधानम् ।	७६	१-४	३० त० प्र०—		प्रत्युदाहरणानि, अत्रिया इति निर्देशस्य निष्कर्षश्च ।	८१	१-४
२१ ”		—इदन्तोदन्तयोरौता सह ईकारोकारान्ता-देशविधानम् ।	७६	५-१०	३१ ”		—आन्प्रत्ययस्य वा नाम्प्रत्ययविधानम्	८१	५-११
२२ ”		— ” ” जैसि परे एकारौकारान्ता-देशविधानम् ।	७६	११-१३	३२ ”		— ” ” ” नित्य ” ”	८१	१२-१६
२० आ०बो०—		सूत्रार्थ, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि च	७६	१४-२१	३० आ०बो०—		शङ्कासमाधान, प्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	८१	१७-२९
२१ ”		—उदाहरणानि, शङ्कासमाधान, छि-शब्दवर्जनस्य प्रयोजन, परेणाऽपी-यादेशेन० इत्यस्य ज्ञापन च ।	७६	२२-४१	३१ ”		—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, सुधी-शब्दस्य द्विधा विप्रहृष ।	८१	३०-४०
२२ ”		—उदाहरणसाधनिका प्रत्युदाहरणे च ।	७६	४२-४५	३२ ”		—उदाहरणानि, ससाधनिकानि प्रत्यु-दाहरणानि च ।	८१	४१-४५
२३ त० प्र०—		इदन्तोदन्तयोरैकारौकारान्तादेश-विधानम् ।	७७	१-४	३३ त० प्र०—		संख्यावाचिशब्दानामां प्रत्ययस्य नाम्निविधानम् ।	८२	१-५
२४ ”		—इदन्तोदन्ताभ्यां टाप्रत्ययस्य ना-विधानम् ।	७७	५-८	३४ ”		—प्रिशब्दस्य त्रयशब्दविधानम् ।	८२	६-९
२५ ”		— ” ” छिप्रत्ययस्य द्वौविधा-नम् ।	७७	९-११	३५ ”		—उचित्तो स्थाने रैफप्रत्ययविधानम्	८२	१०-१२
२३ आ०बो०—		उदाहरणानां साधनिका, शङ्कासमा-धानं च ।	७७	१२-२४	३३ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध-निका, बहुवचनस्य फलप्रदर्शनं च	८२	१३-२७
२४ ”		— ” ” ” ”	७७	२५-३०	३४ ”		—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	८२	२८-३९
२५ ”		—उदाहरणानि, अविदित्यनुष्टौ फलप्रदर्शनं च ।	७७	३१-३९	३५ ”		—उदाहरणे, घचनभेदकारणनिर्दर्शनं च	८२	४०-४६
२६ त० प्र०—		केवलसखिपतिभ्यां द्विप्रत्ययस्य औकारविधानम् ।	७८	१-५	३६ त० प्र०—		उचित्तो स्थाने उर्प्रत्ययविधानम्	८३	१-७
२७ ”		— ” ” ” नादेशस्य एकारा-देशस्य च निषेध ।	७८	६-१२	३७ ”		— ” ” ” हुर्प्रत्यय ”	८३	८-१०
२८ ”		—जीलिङ्गदुदन्ताद् जित्तां चतुर्णां वा दैदासदासदामादेशा ।	७८	१३-१४	३६ आ०बो०—		सूत्रे यप्रहणप्रयोजनस्य स्पष्टता, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरनिर्दर्शनं च ।	८३	११-३८
२६ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणसाधनिका, इदन्तविशेषणहेतोः समर्थन, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	७८	१५-३२	३७ ”		—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	८३	३९-४३
२७ ”		—यथासंख्याभावस्य हेतोर्निर्दर्शन, चिद्विशेषणस्य प्रयोजनस्य निर्द-र्शनं मतान्तरनिर्दर्शनं च ।	७८	३३-४४	३८ त० प्र०—		ऋकारस्य स्थाने आर्विधानम् ।	८४	१-११
२८ ”		—इदुदन्तासुवर्तनस्य हेतोर्निर्दर्शनम्	७८	४५-४७	३९ ”		— ” ” ” अर्विधानम् ।	८४	१२-१३
” त० प्र०—		उदाहरणानि, मतान्तरनिर्दर्शन, प्रत्युदाहरणानि च ।	७९	१-८	३८ आ०बो०—		सूत्रस्थशब्दानां निष्पत्ति, उदा-हरणानि, उणादीनां व्युत्पत्त्याव्युत्पत्ता-पक्षद्वये सूत्रार्थस्य समन्वय, मता न्तरप्रदर्शनं च ।	८४	१४-४३
२९ ”		—नित्यजीलिङ्गाभ्यामीदृदन्ताभ्यां-जित्तां चतुर्णां दैदासदासदामादेश-विधानम्, उदाहरणानि च ।	७९	९-१४	३९ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	८४	४४-४६
२८ आ०बो०—		उदाहरणानि, शब्दानामर्थलिङ्गाव-भोधार्थं कोषाणां प्रमाणानि, मता-न्तराणां प्रदर्शनं च ।	७९	१५-३७	४० त० प्र०—		भातृशब्दस्य मातृशब्दादेशविधानं	८५	३-८
					४१ ”		—ह्रस्वान्तनाम्न सिप्रत्ययेन सह गुण-विधानम् ।	८५	९-१२
					४० आ०बो०—		भातृशब्दस्य पुत्रार्थे वर्तमानत्वं-निर्दर्शनं, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	८५	१७-३४
					४१ ”		—शङ्कासमाधान उदाहरणप्रत्युदाहरण-साधनिका च ।	८५	३५-४५

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
४२ त० प्र०—	आवन्तशब्दस्य एकारान्तादेश- विधानम् ।		८६	३-६
४३ ,, —	आमङ्ग्यविषये सिप्रत्ययेन सह ह्रस्व- विधानम् ।		८६	७-१४
४२ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।		८६	१८-२३
४३ ,, —	उदाहरणानि, शब्दानां निष्पत्ति, प्रत्युदाहरणानि च ।		८६	२४-४५
४४ त० प्र०—	अकारान्तादेशकारान्ताच्च स्वमो प्रत्यययोर्लुग्विधानम् ।		८७	१-५
४५ ,, —	द्व्यन्तावन्तव्यजनान्तेभ्यः सिप्रत्य- यलुग्विधानम् ।		८७	६-११
४४ आ० बो०—	उदाहरणानि, सिप्रहणेनैव सिद्धौ अम्प्रहणप्रयोजन, ताञ्जन्यफल- प्रदर्शनं च ।		८७	१२-२२
४५ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शब्दा- समाधान, व्यञ्जनप्रहणप्रयोजनस्य स्फुटता च ।		८७	२३-४७
४६ त० प्र०—	अम्प्रत्ययस्याऽकारस्य लुग्विधानम् ।		८८	३-६
४७ ,, —	नाम्प्रत्ययपरे पूर्वस्य समानस्य धीर्घविधानम् ।		८८	७-११
४८ ,, —	नृशब्दस्य समानस्य नाम्परं वा धीर्घविधानम् ।		८८	१२-१३
४६ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।		८८	१९-२५
४७ ,, —	,, ,, तेषां साध- निका, अथ इति प्रतिषेधो यज्ज्ञा- पयति तन्निर्देशं च ।		८८	२६-३८
४८ ,, —	उदाहरणसाधनिका, वाप्रहणस्य शब्दा समाधानं च ।		८८	३९-४३
४९ त० प्र०—	शसोऽकारेण सह समानस्य धीर्घ- विधान, तत्सन्धियोगे शस सका- रस्य पुसि नकारविधानं च ।		८९	१-७
५० ,, —	अह्रस्वशब्दस्य ङिप्रत्ययपरे वाऽह्रस्व- विधानम् ।		८९	८-१५
५१ ,, —	नीशब्दात् परस्य ङिप्रत्ययस्य स्थाने आमादेशविधानम् ।		८९	१६-१७
४९ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, लिप्तत्वलि- ङ्गवृत्तित्वशब्दयोरर्थयोः प्रस्फोटश्च		८९	१८-३१
५० ,, —	उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च ।		८९	३२-४१
५१ ,, —	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तरं च ।		८९	४२-४५
५२ त० प्र०—	अष्टनृशब्दस्य वाऽऽकारान्तादेश- विधानम् ।		९०	१-६
५३ ,, —	अष्टाशब्दात्परयोर्जश्शसो स्थाने आकारविधानम् ।		९०	७-११
५४ ,, —	जश्शसो प्रत्यययोर्लुग्विधानम् ।		९०	१२-१४
५२ आ० बो०—	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तराणि च ।		९०	१७-३२
५३ ,, —	,, ,, ,, ,, ,,		९०	३३-४३
५४ ,, —	उदाहरणानि, तिष्ठन्ति पर्येत्पुत्रप्रयो- गयोः प्रयोजनं च ।		९०	४४-४६
५५ त० प्र०—	नपुंसकस्य अस्वसोः स्थाने शिप्र- त्ययविधानम् ।		९१	४-८

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
५६ त० प्र०—	नपुंसकस्य औस्थाने ईप्रत्यय- विधानम् ।		९१	९-११
५७ ,, —	अकारान्तनपुंसकस्य स्वमो प्रत्य- ययोः अमादेशविधानम् ।		९१	१२-१३
५८ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरनिर्देशनं च ।		९१	१४-२१
५५ ,, —	नपुंसकशब्दस्य निष्पत्ति, उदा- हरण, शब्दासमाधान, मतान्तर- निर्देशनं च ।		९१	२२-३६
५६ ,, —	उदाहरणे तयोः साधनिके च ।		९१	३७-४०
५७ ,, —	अद्ग्रहणस्य प्रयोजन फलनिर्देशनं च ।		९१	४१-४५
५४ त० प्र०—	स्वमो प्रत्यययोः स्थाने दकारा- देशविधानम् ।		९२	४-१०
५९ ,, —	अकारान्ताङ्गिजनपुंसकस्य स्वमो प्रत्यययोर्लुग्विधानम् ।		९२	११-१४
५७ आ० बो०—	उदाहरण, अम्प्रत्ययस्याऽपि अम् विधानस्य प्रयोजनस्य फलस्य च निर्देशनम् ।		९२	१५-२२
५८ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका च ।		९२	२३-३४
५९ ,, —	उदाहरण, शब्दासमाधानं च ।		९२	३५-४९
६० त० प्र०—	जरसन्तनपुंसकस्य स्वमो प्रत्यययोर्वा लुम् ।		९३	१-४
६१ ,, —	नाम्यन्तनपुंसकस्य ,, ,, लुक् ।		९३	५-९
६० आ० बो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।		९३	१०-१७
,, ,, —	मतान्तरद्वयप्रदर्शनं, मतान्तरवर्ता नामानि च ।		९३	१७-२६
६१ ,, —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका, मता- न्तरनिर्देशनं लुग्विधानं च ।		९३	२७-४१
६२ त० प्र०—	अन्यतो नपुंसकस्य दादौ स्वरं वा पुत्रविधानम् ।		९४	१-१०
६३ ,, —	दभ्यादिचतुष्टयशब्दान्तस्य दादौ स्वरंऽनादेशः ।		९४	११-१५
६२ आ० बो०—	अन्यत इत्यस्य स्पर्शार्थं, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।		९४	१६-४२
६३ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि, शब्दा- त्यानं च ।		९४	४३-४८
६४ त० प्र०—	नाम्यन्तनपुंसकस्य नोऽन्त आगमः ।		९५	५-९
६३ आ० बो०—	शब्दासमाधान, उदाहरणानि ससा- धनिकानि च ।		९५	१०-२४
६४ ,, —	उदाहरणानि, शब्दासमाधानं च ।		९५	२५-४५
६५ त० प्र०—	स्वरान्तनपुंसकस्य शौ परे नोऽन्त आगमः ।		९६	३-६
६६ ,, —	पुत्रान्तानपुंसकाच्छौ परे पुत्रस्य प्राग् नोऽन्तः ।		९६	७-८
६४ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।		९६	९-१६
६५ ,, —	ससाधनिकान्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।		९६	१७-२२
६६ ,, —	,, ,, ,, ,, ,,		९६	२३-४७
६७ त० प्र०—	पुत्रान्तानपुंसकस्य शौ परे वा नोऽन्त आगमः ।		९७	३-६





सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
४२ त० प्र०—	आवन्तशब्दस्य एकारान्तादेश-			
	विधानम् ।		८६	३-६
४३ ,	—आमञ्चयविषये सिप्रत्ययेन सह ह्रस्व-			
	विधानम् ।		८६	७-१४
४२ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां			
	साधनिका च ।		८६	१८-२३
४३ ,	—उदाहरणानि, शब्दाना निष्पत्तिः,			
	प्रत्युदाहरणानि च ।		८६	२४-४५
४४ त० प्र०—	अकारान्तादेकारान्ताच्च स्यमोः			
	प्रत्यययोरुक्त्विविधानम् ।		८७	१-५
४५ ,	—द्वयन्तावन्तव्यञ्जनान्तेभ्यः सिप्रत्य-			
	यल्लुग्विधानम् ।		८७	६-११
४४ आ०बो०—	उदाहरणानि, सिप्रहणेनैव सिद्धौ			
	अम्प्रहणप्रयोजन, तन्न्यफल-			
	प्रदर्शनं च ।		८७	१२-२२
४५ ,	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्का-			
	समाधान, व्यञ्जनप्रहणप्रयोजनस्य			
	स्फुटता च ।		८७	२३-४७
४६ त० प्र०—	अम्प्रत्ययस्याऽकारस्य लुग्विधानम् ।		८८	३-६
४७ ,	—नाम्प्रत्ययपरं पूर्वस्य समानस्य			
	दीर्घविधानम् ।		८८	७-११
४८ ,	—नृशब्दस्य समानस्य नाम्परं वा			
	दीर्घविधानम् ।		८८	१२-१३
४६ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।		८८	१९-२५
४७ ,	— " " " तेषां साध-			
	निका, अप् इति प्रतिषेधो मञ्ज्ञा-			
	पयति तद्दिदर्शनं च ।		८८	२६-३८
४८ ,	—उदाहरणसाधनिका, वामहणस्य			
	शङ्का समाधानं च ।		८८	३९-४३
४९ त० प्र०—	शसोऽकारेण सह समानस्य दीर्घ-			
	विधान, तत्सन्नियोगे शास सकार-			
	रस्य पुंसि नकारविधानं च ।		८९	१-७
५० ,	—अह्वयशब्दस्य छिप्रत्ययपरं वाऽह्रन्-			
	विधानम् ।		८९	८-१५
५१ ,	—नीशब्दात् परस्य छिप्रत्ययस्य स्थाने			
	आमादेशविधानम् ।		८९	१६-१७
४९ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, लिङ्गत्वलि-			
	ङ्गशक्तित्वशब्दयोरर्थयोः प्रस्फोटश्च		८९	१८-३१
५० ,	—उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च ।		८९	३२-४१
५१ ,	—ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर-			
	णानि, मतान्तरं च ।		८९	४२-४५
५२ त० प्र०—	अष्टशब्दस्य वाऽऽकारान्तादेश-			
	विधानम् ।		९०	१-६
५३ ,	—अष्टाशब्दात्परयोरुक्तशसो- स्थाने			
	आकारविधानम् ।		९०	७-११
५४ ,	—अश्शसो प्रत्यययोरुक्त्विविधानम् ।		९०	१२-१४
५२ आ०बो०—	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर-			
	णानि, मतान्तराणि च		९०	१७-३२
५३ ,	— " " " " " " " "		९०	३३-४३
५४ ,	—उदाहरणानि, तिष्ठन्ति परदेश्यनुप्रयो-			
	गयो प्रयोजनं च ।		९०	४४-४६
५५ त० प्र०—	नपुंसकस्य अश्शसोः स्थाने शिप्र-			
	त्यविधानम् ।		९१	४-८

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
५६ त० प्र०—	नपुंसकस्य औस्थाने ईप्रत्यय-			
	विधानम् ।		९१	९-११
५७ ,	—अकारान्तनपुंसकस्य स्वमोः प्रत्य-			
	ययो अमादेशविधानम् ।		९१	१२-१३
५८ आ०बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका,			
	मतान्तरनिदर्शनं च ।		९१	१४-२१
५५ ,	—नपुंसकशब्दस्य निष्पत्तिः, उदा-			
	हरण, शङ्कासमाधान, मतान्तर-			
	निदर्शनं च ।		९१	२२-३६
५६ ,	—उदाहरणे तयो साधनिके च ।		९१	३७-४०
५७ ,	—अह्वयशब्दस्य प्रयोजनफलनिदर्शनं च, ९१			४१-४५
५४ त० प्र०—	स्वमो प्रत्यययोः स्थाने दकारा-			
	देशविधानम् ।		९२	४-१०
५९ ,	—अकारान्ताङ्घ्रिभनपुंसकस्य स्वमो			
	प्रत्यययोरुक्त्विविधानम् ।		९२	११-१४
५७ आ०बो०—	उदाहरण, अम्प्रत्ययस्याऽपि अम्			
	विधानस्य प्रयोजनस्य फलस्य च			
	निदर्शनम् ।		९२	१५-२२
५८ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध-			
	निका च ।		९२	२३-३४
५९ ,	—उदाहरण, शङ्कासमाधानं च ।		९२	३५-४९
६० त० प्र०—	जरसन्तनपुंसकस्य स्वमोः प्रत्यययोर्वा			
	लुप् ।		९३	१-४
६१ ,	—नाम्यन्तनपुंसकस्य " " " " " " " "			
	लुक् ।		९३	५-९
६० आ०बो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।		९३	१०-१७
,"	—मतान्तरद्वयप्रदर्शनं, मतान्तरवतां			
	नामानि च ।		९३	१७-२६
६१ ,	—उदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्-			
	तरनिदर्शनं लुग्लुगीर्यदन्तरं तस्य			
	प्रदर्शनं च ।		९३	२७-४१
६२ त० प्र०—	अन्यतो नपुंसकस्य ङादौ खरे वा			
	पुवद्विधानम् ।		९४	१-१०
६३ ,	—द्व्यदिचतुष्टयशब्दान्तस्य ङादौ			
	खरेऽनादेशः ।		९४	११-१५
६२ आ०बो०—	अन्यत इत्यस्य स्वरार्थं, उदाहरण-			
	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।		९४	१६-२२
६३ ,	—उदाहरणानि ससाधनिकानि, शङ्की-			
	त्यानं च ।		९४	४३-४८
६४ त० प्र०—	नाम्यन्तनपुंसकस्य नोऽन्त आगमः ।		९५	५-९
६३ आ०बो०—	शङ्कासमाधान, उदाहरणानि ससा-			
	धनिकानि च ।		९५	१०-२४
६४ ,	—उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।		९५	२५-४५
६५ त० प्र०—	खरान्तनपुंसकस्य शौ परे नोऽन्त			
	आगमः ।		९६	३-६
६६ ,	—धुन्तामपुंसकाच्छौ परे धुम्य			
	प्राग् नोऽन्तः ।		९६	७-८
६४ आ०बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।		९६	९-१६
६५ ,	—ससाधनिकान्युदाहरणानि, शङ्का-			
	समाधानं च ।		९६	१७-२७
६६ ,	— " " " " " " " "		९६	२३-४७
६७ त० प्र०—	पुन्तामपुंसकाच्छौ परे वा नो-			
	ऽन्तागमः ।		९७	३-६

सूत्रम् । घृ० ना० ।	विषयः ।	घृ०	प०	सूत्रम् । घृ० ना० ।	विषयः ।	घृ०	प०
६८ त० प्र०	—अधिकारसूत्रमिदं, तस्याऽधिकारस्य स्फुटता च ।	९७	७-८	७७ आ०बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	३२-३८
६७ आ०बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९७	२४-२७	७८ "	—पथ्यादिद्वयस्य धकारस्य न्यादेशा- विधानं, स्थानिनिर्देशप्रयोजनं च ।	१००	३९-४०
६८ "	—अधिकारसूत्रमिदमित्यस्य हेतो- निर्दर्शनम् ।	९७	२८-२९	७९ "	—उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	४१-४५
" "	—अधिकारशब्दस्य तस्याऽवधेय- परिस्फुटता ।	९७	२९-४८	८० त० प्र०	—उशन शब्दस्य वा नकारो लृक् चेलादेशद्वयविधानम् ।	१०१	३-५
६९ त० प्र०	—धुवन्ताव घातोर्घुति परे नोऽन्त आगमः ।	९८	१-३	८१ "	—अनडुहचतुरशब्दयोस्कारस्य वकारादेशविधानम् ।	१०१	६-९
७० "	—अदित उदितश्च धुवन्तस्य घुति परे नोऽन्त आगमः ।	९८	४-७	८२ "	—अनडुहचतुरशब्दयोस्कारस्य वाकारादेशविधानम् ।	१०१	१०-१४
७१ "	—युजूपीघातोर्घुवन्तस्य घुति परे नोऽन्त आगमः ।	९८	८-१२	८३ "	—सक्षिपशब्दयोस्कारस्य शोपे घुति परे ऐकारादेश विधानम् ।	१०१	१५-१६
७२ "	—धुवन्तस्याऽनडुह सौ घुति परे नोऽन्त आगमः ।	९८	१३-१५	८० आ०बो०	—उशन शब्दस्य निष्पत्तिं, उदा- हरणप्रत्युदाहरणानि च ।	१०१	२०-२४
६९ आ०बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	१६-२१	८१ "	—घुति-इत्यधिकारस्याऽऽगमनेऽपि तस्याऽनागमनस्य हेतोर्निर्दर्शनं, द्वे उदाहरणे, तयो साधनिका च ।	१०१	२५-३१
७० "	— " " " " " " " " " " " " " "	९८	२२-२९	८२ आ०बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०१	३२-३८
" "	—पृथग्योगस्य प्रयोजनं फलं च ।	९८	२९-	८४ त० प्र०	—शकारान्तादिभ्यः शोपसेर्षाविधानम् ।	१०२	५-९
७१ "	—निर्दर्शनं उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३०-३६	८५ "	—शोपघुति परे नकारात् पूर्वस्वरस्य वीर्षादेशः ।	१०२	१०-१४
७२ "	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३७-४३	८६ "	—अन्तस्य महत्तश्च स्वरस्य शोपे घुति वीर्षादेशः ।	१०२	१५-१७
७३ त० प्र०	—पुसुशब्दस्य घुति परे पुमन्सादेशा- विधानम् ।	९९	१-४	८३ आ०बो०	—शङ्कासमाधानं, प्रत्युदाहरणे, इह- हणेन न्यायद्वयस्य विद्यमानताया संसूचनं च ।	१०२	१८-२५
७४ "	—ओकारस्य घुति परे औकारादेशा- विधानम् ।	९९	५-८	८४ "	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१०२	२६-३३
७५ "	—ओकारस्य अम्शसोरकारेण सह आकारादेशविधानम् ।	९९	९-११	८५ "	— " " " " " " " " " " " " " "	१०२	३४-४१
७६ "	—पथ्यादित्रयाणां सौ परे आकारा- न्तादेशविधानम् ।	९९	१२-२४	८७ त० प्र०	—इवन्तावीनां स्वरस्य शौ शोपे सौ च वीर्षादेशः ।	१०३	४-९
७३ आ०बो०	—उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९९	१५-२१	८६ आ०बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०३	१०-२०
७४ "	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	२२-३०	८७ "	—उदाहरणानि, " " " " " " " " " " " " " "	१०३	२१-२८
७५ "	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	३१-३४	" "	—अनेन सूत्रेण यन्निधिमो जातस्त्वस्य स्फोटः ।	१०३	२८-३२
" "	—अताग्रहणामावे भविष्यमाणानिष्टत्वं निर्दर्शनम् ।	९९	३४-३६	" "	—शङ्कासमाधानं, प्रत्युदाहरणानि च ।	१०३	३२-४७
७६ "	—उदाहरणसाधनिका, प्रत्युदाहरणं, शङ्कासमाधानं च ।	९९	३७-४४	८८ त० प्र०	—अप स्वरस्य शोपे घुति वीर्षाविधानम् ।	१०४	३-५
७७ त० प्र०	—पथ्यादित्रयाणां घुति परे आकारा- देशविधानम् ।	१००	३-८	८९ "	— " " " " " " " " " " " " " "	१०४	६-८
७८ "	—पथिन्मथिन्स्यस्य घुति परे न्यादेशा- विधानम् ।	१००	९-११	९० "	—अत्वन्तस्याऽसन्तस्य च शोपे सौ वीर्षादेशः ।	१०४	९-१५
७९ "	—पथ्यादित्रयाणामिन् इत्यस्य छवि- धानम् ।	१००	१२-१३	८८ आ०बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०४	१८-२१
७६ आ०बो०	—नकारान्तनिर्देशस्य फलं, अस्कार- मतप्रदर्शनं च ।	१००	१४-१८	८९ "	— " " " " " " " " " " " " " "	१०४	२२-२८
" "	—'लि लौ' सूत्रे ल्यविति द्विवचनेन यत्प्रवृत्तं तस्याऽत्र चरितार्थता, शङ्कासमाधानं च ।	१००	१९-३१	९० "	— " " " " " " " " " " " " " "	१०४	२९-३५
९० शब्दाऽ० प्रस्तावनाः ।				९० "	—शङ्कासमाधानं, अन्वादेरिति ग्रहणेन धनिनस्मन् इत्यस्य न्यायस्य सं- सूचनं च ।	१०४	३५-४६
				९१ त० प्र०	—कुच परस्य वृनस्तृजादेश शोपे घुति पुष्टिः ।	१०५	१-५

सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०	सूत्रम् । पृ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	पं०
४२ त० प्र०—	आयन्तशब्दस्य एकारान्तादेश- विधानम् ।	८६	३-६	५६ त० प्र०—	नपुंसकस्य औस्थाने ईप्रत्यय- विधानम् ।	९१	९-११
४३ ,,	—आमप्रयविषये सिप्रत्ययेन सह ङस्- विधानम् ।	८६	७-१४	५७ ,,	—अकारान्तनपुंसकस्य स्यमो प्रत्य- ययो भमादेशविधानम् ।	९१	१२-१३
४२ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	८६	१८-२३	५८ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरनिदर्शनं च ।	९१	१४-२१
४३ ,,	—उदाहरणानि, शब्दानां निष्पत्ति, प्रत्युदाहरणानि च ।	८६	२४-४५	५५ ,,	—नपुंसकशब्दस्य निष्पत्ति, उदा- हरण, शब्दासमाधान, मतान्तर- निदर्शनं च ।	९१	२२-३६
४४ त० प्र०—	अकारान्तविकारान्तात्प स्यमो प्रत्यययोर्लुङ्विधानम् ।	८७	१-५	५६ ,,	—उदाहरणे तयो साधनिके च ।	९१	३७-४०
४५ ,,	—ङघन्तायन्तव्यञ्जनान्तेभ्य सिप्रत्य- यलुङ्विधानम् ।	८७	६-११	५७ ,,	—भद्रहणस्य प्रयोजन फलनिदर्शनं च, ९१	४१-४५	
४४ आ० बो०—	उदाहरणानि, सिप्रहणेनैव सिद्धौ अम्प्रहणप्रयोजन, तन्नन्यफल- प्रदर्शनं च ।	८७	१२-२२	५४ त० प्र०—	स्यमो प्रत्यययो स्थाने दकारा- देशविधानम् ।	९२	४-१०
४५ ,,	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शब्दा- समाधान, व्यञ्जनप्रहणप्रयोजनस्य स्फुटता च ।	८७	२३-४७	५९ ,,	—अकारान्ताङ्घ्रिघनपुसकस्य स्यमो प्रत्यययोर्लुङ्विधानम् ।	९२	११-१४
४६ त० प्र०—	अम्प्रत्ययस्याऽकारस्य लुङ्विधानम् ।	८८	३-६	५७ आ० बो०—	उदाहरण, अम्प्रत्ययस्याऽपि अम् विधानस्य प्रयोजनस्य फलस्य च निदर्शनम् ।	९२	१५-२२
४७ ,,	—नाम्प्रत्ययपरे पूर्वस्य समानस्य दीर्घविधानम् ।	८८	७-११	५८ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका च ।	९२	२३-३४
४८ ,,	—नृशब्दस्य समानस्य नाम्परे वा दीर्घविधानम् ।	८८	१२-१३	५९ ,,	—उदाहरण, शब्दासमाधानं च ।	९२	३५-४९
४६ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	८८	१९-२५	६० त० प्र०—	जरसन्तनपुसकस्य स्यमो प्रत्यययोर्वा लुङ् ।	९३	१-४
४७ ,,	— ,, ,, तेषां साध- निका, अप् इति प्रतिषेधो यञ्जा- पयति तन्निदर्शनं च ।	८८	२६-३८	६१ ,,	—नाम्यन्तनपुसकस्य ,, ,, लुङ् ।	९३	५-९
४८ ,,	—उदाहरणसाधनिका, वाग्रहणस्य शब्दा समाधानं च ।	८८	३९-४३	६० आ० बो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९३	१०-१७
४९ त० प्र०—	शसोऽकारेण सह समानस्य दीर्घ- विधान, तत्सन्धियोगे शस सका- रस्य पुसि नकारविधानं च ।	८९	१-७	,, ,,	—मतान्तरद्वयप्रदर्शन, मतान्तरवर्ता नामानि च ।	९३	१७-२६
५० ,,	—अहशब्दस्य छिप्रत्ययपरे वाऽहन्- विधानम् ।	८९	८-१५	६१ ,,	—उदाहरणानि, तेषां साधनिका, मता- न्तरनिदर्शनं छन्दोपोर्यदन्तरं तस्य प्रदर्शनं च ।	९३	२७-४१
५१ ,,	—नीशब्दात् परस्य छिप्रत्ययस्य स्थाने आमादेशविधानम् ।	८९	१६-१७	६२ त० प्र०—	अन्यतो नपुसकस्य टादौ खरे वा पुवद्विधानम् ।	९४	१-१०
४९ आ० बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, लिङ्गत्वलि- ङ्गत्वित्त्वशब्दयोरर्थयो प्ररफोटश्च	८९	१८-३१	६३ ,,	—दध्यादिचतुष्टयशब्दान्तस्य ङादौ खरेऽनादेश ।	९४	११-१५
५० ,,	—उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च ।	८९	३२-४१	६२ आ० बो०—	अन्यत इत्यस्य स्पर्धार्थ, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९४	१६-४२
५१ ,,	—ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तरं च ।	८९	४२-४५	६३ ,,	—उदाहरणानि ससाधनिकानि, शब्दो- त्थानं च ।	९४	४३-४८
५२ त० प्र०—	अष्टनशब्दस्य वाऽऽकारान्तादेश- विधानम् ।	९०	१-६	६४ त० प्र०—	नाम्यन्तनपुसकस्य नोऽन्त आगम ।	९५	५-९
५३ ,,	—अष्टाशब्दात्परयोर्बेस्वसो- स्थाने आकारविधानम् ।	९०	७-११	६३ आ० बो०—	शब्दासमाधान, उदाहरणानि ससा- धनिकानि च ।	९५	१०-२४
५४ ,,	—जस्वसो प्रत्यययोर्लुङ्विधानम् ।	९०	१२-१४	६४ ,,	—उदाहरणानि, शब्दासमाधानं च ।	९५	२५-४५
५२ आ० बो०—	ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहर- णानि, मतान्तराणि च ।	९०	१७-३२	६५ त० प्र०—	खरान्तनपुसकस्य शौ परे नोऽन्त आगम ।	९६	३-६
५३ ,,	— ,, ,, ,, ,, ,,	९०	३३-४३	६६ ,,	—पुढन्तात्तपुसकाच्छौ परे पुढ्म्य प्राग् नोऽन्त ।	९६	७-८
५४ ,,	—उदाहरणानि, तिष्ठन्ति पदयैत्यनुप्रयो- गयो प्रयोजनं च ।	९०	४४-४६	६४ आ० बो०—	प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९६	९-१६
५५ त० प्र०—	नपुंसकस्य जस्वसो स्थाने क्षिप्र- व्ययविधानम् ।	९१	४-८	६५ ,,	—ससाधनिकान्युदाहरणानि, शब्दा- समाधानं च ।	९६	१७-२२
				६६ ,,	— ,, ,, ,, ,, ,,	९६	२३-४७
				६७ त० प्र०—	पुढन्तात्तपुसकाच्छौ परे वा नो- ऽन्तागम ।	९७	३-६

सूत्रम् । घ० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०	सूत्रम् । घ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
६८ त० प्र०—	अधिकारसूत्रमिदं, तस्याऽधिकारस्य स्फुटता च ।	९७	७-८	७७ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	३२-३८
६७ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९७	२४-२७	७८ ,, —	पथ्यादिद्वयस्य थकारस्य न्यादेश-विधानं, स्थाननिर्देशप्रयोजनं च ।	१००	३९-४०
६८ ,, —	अधिकारसूत्रमिदमित्यस्य हेतोर्निर्देशनम् ।	९७	२८-२९	७९ ,, —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१००	४१-४५
,, ,, —	अधिकारशब्दस्य तस्याऽवधेयपरिस्फुटता ।	९७	२९-४८	८० त० प्र०—	उशन शब्दस्य वा नकारो लुक् चेत्यादेशद्वयविधानम् ।	१०१	३-५
६९ त० प्र०—	धुवन्ताश्च धातोर्घुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	१-३	८१ ,, —	अनदुद्घचतुर्शब्दयोर्कारस्य वकारादेशविधानम् ।	१०१	६-९
७० ,, —	ऋदित उदितश्च धुवन्तस्य घुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	४-७	८२ ,, —	अनदुद्घचतुर्शब्दयोर्कारस्य वाकारादेशविधानम् ।	१०१	१०-१४
७१ ,, —	युजूमीधातोर्घुवन्तस्य घुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	८-१२	८३ ,, —	सखिशब्दस्येकारस्य शोषे घुटि परे ऐकारादेश विधानम् ।	१०१	१५-१६
७२ ,, —	धुवन्तस्याऽनदुद्घ सौ घुटि परे नोऽन्त आगमः ।	९८	१३-१५	८० आ०बो०—	उदान शब्दस्य निष्पत्तिः, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि च ।	१०१	२०-२४
६९ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	१६-२१	८१ ,, —	घुटि-इत्यधिकारस्याऽऽगमनेऽपि तस्याऽनागमनस्य हेतोर्निर्देशनं, द्वे उदाहरणे, तयो साधनिका च ।	१०१	२५-३१
७० ,, —	,, ,, ,, ,,	९८	२२-२९	८२ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०१	३२-३८
,, ,, —	पृथग्योगस्य प्रयोजनं फलं च	९८	२९-	८४ त० प्र०—	ऋकारान्तादिभ्यः शोषसेटाविधानम् ।	१०२	५-९
७१ ,, —	निर्देशनं उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३०-३६	८५ ,, —	शोषघुटि परे नकारात् पूर्वस्वरस्य वीर्घादेशः ।	१०२	१०-१४
७२ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९८	३७-४३	८६ ,, —	स्तन्तस्य महत्तश्च स्वरस्य शोषे घुटि वीर्घादेशः ।	१०२	१५-१७
७३ त० प्र०—	पुसुशब्दस्य घुटि परे पुमन्सादेश-विधानम् ।	९९	१-४	८३ आ०बो०—	शङ्कासमाधानं, प्रत्युदाहरणे, इङ्गणेन न्यायद्वयस्य विद्यमानताया संसूचनं च ।	१०२	१८-२५
७४ ,, —	ओकारस्य घुटि परे औकारादेश-विधानम् ।	९९	५-८	८४ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१०२	२६-३३
७५ ,, —	ओकारस्य अम्शसोरकारेण सह आकारादेशविधानम् ।	९९	९-११	८५ ,, —	,, ,, ,, तेषां साधनिका च ।	१०२	३४-४१
७६ ,, —	पथ्यादित्रयाणां सौ परे आकारान्तादेशविधानम् ।	९९	१२-२४	८७ त० प्र०—	इनन्ताधीनां स्वरस्य शौ शोषे सौ च वीर्घादेशः ।	१०३	४-९
७३ आ०बो०—	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	९९	१५-२१	८६ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०३	१०-२०
७४ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	२२-३०	८७ ,, —	उदाहरणानि, ,, ,, ,,	१०३	२१-२८
७५ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	९९	३१-३४	,, ,, —	अनेन सूत्रेण यजियसो जातस्वस्य स्फोटः ।	१०३	२८-३२
,, ,, —	अताग्रहणामावे भविष्यमाणानिष्ठत्व-निर्देशनम् ।	९९	३४-३६	,, ,, —	शङ्कासमाधानं, प्रत्युदाहरणानि च ।	१०३	३२-४७
७६ ,, —	उदाहरणसाधनिका, प्रत्युदाहरणं, शङ्कासमाधानं च ।	९९	३७-४४	८८ त० प्र०—	अप स्वरस्य शोषे घुटि वीर्घाविधानम् ।	१०४	३-५
७७ त० प्र०—	पथ्यादित्रयाणां घुटि परे आकारादेशविधानम् ।	१००	३-८	८९ ,, —	,, ,, ,, नकारागमे वा ,, ,, ,,	१०४	६-८
७८ ,, —	पथिन्मथिन्स्यस्य घुटि परे न्यादेश-विधानम् ।	१००	९-११	९० ,, —	अत्वन्तस्याऽऽन्तस्य च शोषे सौ वीर्घादेशः ।	१०४	९-१५
७९ ,, —	पथ्यादित्रयाणामिन् इत्यस्य लुग्विधानम् ।	१००	१२-१३	८८ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०४	१८-२१
७६ आ०बो०—	नकारान्तनिर्देशस्य फलं, सुस्वाकर-मतप्रदर्शनं च ।	१००	१४-१८	८९ ,, —	,, ,, ,, ,, ,,	१०४	२२-२८
,, ,, —	“लि लौ” सूत्रे लापिति द्विवचनेन यत्सूचितं तस्याऽऽ चरितार्थता, शङ्कासमाधानं च ।	१००	१९-३१	९० ,, —	शङ्कासमाधानं, अन्वादेरिति ग्रहणेन अनिनसन्- इत्यस्य न्यायस्य सं-सूचनं च ।	१०४	२९-३५
१० शब्दादु० प्रस्तावना.				९१ त० प्र०—	कुश परस्य तुनस्तुजादेश शोषे घुटि		

सूत्रम् ।	श्लोकां ।	विषय ।	पृ०	प०
५२ त० प्र०—	कुश परस्य जुनस्तृजादेशो वा टादौ	खरे । १०५ ६-१०		
५३ " — " —	जुनस्तृजादेश स्रियाम्	१०५ ११-१३		
५१ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०५ १६-२५		
५२ " —	उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	१०५ २६-४१		
५३ " —	घुटि-इत्यस्य स्यादौ-इत्यस्य चाऽनुवर्तनस्याऽभावस्य स्पष्टीकरणम् ।	१०५ ४२-४६		
५३ त० प्र०—	पद्मकोट्टीमी रथैरित्यस्य साधनिका, पादसमाप्तिसूचकश्लोक ।	१०६ १-१०		
५३ आ०बो०—	निर्मितिदेशविधानस्य स्पष्टीकरण, शङ्कासमाधानं च ।	१०६ ११-२१		
" " —	श्लोकस्य सान्त्वय परमार्थ ।	१०६ २२-२५		
" " —	आनन्दबोधिनीवृत्तिकारस्य सक्षेपेण परिचय, चतुर्थपादसमाप्ति, प्रथमाध्यायसमाप्तिसिद्धि ।	१०६ २६-३०		

**द्वितीयाऽध्याये प्रथमपादः । १०७-१५५**

१ त० प्र०—	त्रिचतुरशब्दयो स्यादौ परे तिस्रचतस्रादेश ।	१०७ ३-१३
२ " —	तिस्रचतस्रशब्दयो षडकारस्य वा रकारादेश ।	१०७ १४-१५
१ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१०७ १६-२९
" " —	शङ्कानां सविस्तरसुत्तराणि ।	१०७ २९-४३
३ त० प्र०—	जराशब्दस्य खरादौ स्यादौ वा जरसादेश ।	१०७ ११-१८
२ आ०बो०—	शङ्कासमाधान, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, मतान्तरनिर्देशनं च ।	१०८ १९-३४
३ " —	जराशब्दस्य ससिद्धि, उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	१०८ ३५-४७
४ त० प्र०—	अपृशब्दस्य भकारादौ स्यादौ अदादेश ।	१०९ ३-५
५ " —	रैशब्दस्य व्यञ्जनादौ स्यादौ आकारान्तादेश ।	१०९ ६-९
६ " —	युष्मदस्मच्छब्दयोर्व्यञ्जनादौ स्यादौ आकारान्तादेश ।	१०९ १०-१४
४ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१०९ १९-२६
५ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च शङ्कासमाधानं च ।	१०९ २७-३३
६ " —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१०९ ३४-४६
७ त० प्र०—	युष्मदस्मच्छब्दयोश्चोष्टौपरि यकारान्तादेश ।	११० ३-७
८ " —	युष्मदस्मच्छब्दयोश्चोष्टौपरि लृगन्तादेश ।	११० ८-१२
९ " —	युष्मदस्मच्छब्दयोर्मकारान्तयोर्मकारस्य वा ङक् ।	११० १३-१४
७ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	११० १७-२७
८ " — " — " — " — " —		११० २८-४२

सूत्रम् ।	श्लोकां ।	विषय ।	पृ०	प०
१० त० प्र०—	युष्मदस्मदोर्मन्तयोर्वित्त्वेऽर्थे युवावादेशौ ।	१११ १०-१५		
९ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका, भिन्नभिन्नन्यायाश्रयणाज्जातानि रूपाणि, मतान्तरनिर्देशनं च ।	१११ १६-२५		
१० " —	सूत्रार्थस्पष्टीकरणमुदाहरणानि च ।	१११ २६-४५		
" त० प्र०—	उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च ।	११२ १-८		
११ " —	युष्मदस्मदोर्मकारान्तयोरेकस्मिन्त्वमादेश ।	११२ ९-१८		
१० आ०बो०—	शङ्कासमाधान, तेन जायमानानि रूपाणि च ।	११२ १९-३०		
११ " —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	११२ ३१-४४		
११ त० प्र०—	सोदाहरणस्य मतान्तरस्य निर्देशनं, बहिरङ्गात्पि लुवितिन्यायज्ञापनं च ।	११३ १-८		
१२ " —	युष्मदस्मदो सिना सह त्वमहमादेशौ ।	११३ ९-१८		
११ आ०बो०—	प्रत्युदाहरण, शङ्कासमाधानं च ।	११३ १९-३४		
१२ " —	उदाहरणे, शङ्कासमाधानं, मतान्तरवर्ता सूत्राणि च ।	११३ ३५-४५		
१३ त० प्र०—	युष्मदस्मदो जसा सह युयुवयमादेशौ ।	११४ १-५		
१४ " — " — " —	इया सह जुभ्यमहमादेशौ ।	११४ ६-१०		
१५ " — " — " —	इसा सह तवममादेशौ ।	११४ ११-१४		
१६ " —	युष्मदस्मत्परयो अम्बौप्रत्यययोर्मादेश ।	११४ १५-१७		
१७ " — " — " —	शस्प्रत्ययस्य नादेश ।	११४ १८-१९		
१३ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	११४ २०-२६		
१४ " — " — " — " — " —		११४ २७-३१		
१५ " —	उदाहरणानि, तेषां साधनिका, शङ्कासमाधानं च ।	११४ ३२-३४		
१६ " —	उदाहरणे, तयो साधनिका च ।	११४ ३५-३९		
१८ त० प्र०—	युष्मदस्मदुभ्यां परस्य चतुर्थीभ्यस्त अभ्यमादेश ।	११५ ३-६		
१९ " — " — " —	पञ्चमीभ्यसो ङ्सेष्वाऽदादेश ।	११५ ७-११		
२० " — " — " —	आम स्थाने साकमादेश ।	११५ १२-१७		
१७ आ०बो०—	उदाहरण शङ्कासमाधानं च ।	११५ १८-२१		
१८ " — " — " —	अकारादादेश-करणकारणविवरणं च ।	११५ २२-२८		
१९ " —	उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	११५ २९-३९		
२० " — " — " —	मतान्तरनिर्देशनं च ।	११५ ४०-४८		
२१ त० प्र०—	युनिवमक्त्वा सह युष्मदस्मदोर्महत्त्वे वा घञसादेशौ ।	११६ १-१४		
२१ आ०बो०—	पदयुगवाक्यशब्दानां स्पष्टार्थ ।	११६ १५-२१		
२१ " —	शङ्कासमाधान, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	११६ २२-४५		

विषयानुक्रमणिका ।

३-२३० ४-१पा० २२-४७ सूत्रे]

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०	सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
२१ आ० बो०	—बहुत्वग्रहणप्रयोजनस्य निदर्शनं च	११६	४५-४८	३५ त० प्र०	—इदं शब्दोऽन्वादेशो व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽद् स्यात् ।	१२२	१२-२०
२२ त० प्र०	—युक्तिभक्त्या सह युष्मदस्मदोक्तिवैचा वाप्रावादेशौ ।	११७	३-८	३४ आ० बो०	—मतान्तरनिदर्शनं योगविभागस्य कारणं च ।	१२२	२४ ३१
२३ ”	—केचसुभ्यां सह युष्मदस्मदोर्वा ते मे इत्येतावादेशौ ।	११७	९-१६	३५ ”	—उदाहरणं तस्य साधनिका, शङ्का-समाधानं च ।	१२२	३२-४४
२४ ”	—अम्प्रत्ययेन सह युष्मदस्मदोर्वा त्वा मा इत्येतावादेशौ ।	११७	१७-२०	३६ त० प्र०	—व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽवर्जित इदम् अङ्गवति ।	१२३	१-७
२५ ”	—युष्मदस्मदभ्यां पूर्वमामन्वयं पदमसदिव भवति ।	११७	२१-२२	३७ ”	—अवर्जितस्येदम स्थाने टायामोषि च परे अनादेश ।	१२३	८-११
२२ आ० बो०	—अनुवर्तमानानां पदानां निदर्शनं ततश्चाऽन्वय ।	११७	२७-२९	३८ ”	—सौ परे इदम स्थाने पुत्रियो अयमियमौ आदेशौ ।	१२३	१२-१७
२३ ”	—केचसा-इत्येकवचनस्य प्रयोजननिदर्शनं, शङ्कासमाधानं च ।	११७	३०-३५	३६ आ० बो०	—उदाहरणं, प्रत्युदाहरणं शङ्कासमाधानं च ।	१२३	१८-३३
२४ ”	—अनुवर्तमानपदनिदर्शनं, सर्वेषां पदानामन्वयश्च ।	११७	३६-३९	३७ ”	—उदाहरणं तस्य साधनिका च ।	१२३	३४-३६
२५ ”	—सूत्रस्य चतुर्णां पदानां स्पष्टार्थं ।	११७	४०-४३	३८ ”	—शङ्कासमाधानं मतान्तरप्रदर्शनं च	१२३	३७-४६
२६ त० प्र०	—युष्मदस्मदभ्यां पूर्वं जसन्तमामन्वयं वाऽसदिव स्यात् ।	११८	१०-१७	३९ त० प्र०	—स्यादौ परे इदमो दकारस्य मकारादेशः ।	१२४	१-३
२५ आ० बो०	—शङ्कासमाधानं, इवग्रहणस्य प्रयोजनं, प्रत्युदाहरणानि च ।	११८	१८-३४	४० ”	—स्यादौ तसादौ च परे किम कादेशः	१२४	४-९
२६ ”	—विशेष्यविशेषणयोर्व्युत्पत्त्यर्थं प्रत्युदाहरणानि च ।	११८	३५-४८	४१ ”	—द्विपर्यन्तस्य दादीनां स्यादौ तसादौ चाऽकारादेशः ।	१२४	१०-१४
२७ त० प्र०	—जसन्तादन्यदामन्वयं पदमसदिव न भवति ।	११९	१-७	३९ आ० बो०	—उदाहरणं, तस्य साधनिका, शङ्का-समाधानं च ।	१२४	१५-१९
२८ ”	—पादाद्योर्युष्मदस्मदोर्वेकसाद्यादेश-निषेधः ।	११९	८-१२	४० ”	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२४	२०-२६
२९ ”	—चादिभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वेकसाद्या-देशनिषेधः ।	११९	१३-१८	४० ”	—शङ्कोत्पादनं ततः शङ्कोन्मूलनं च ।	१२४	२६-३२
२७ आ० बो०	—उदाहरणं, शङ्कासमाधानमेकवा-क्यत्वस्य स्फोटश्च ।	११९	१९-२६	४१ ”	—उदाहरणं प्रत्युदाहरणं तयो साध-निका, शङ्कासमाधानं च ।	१२४	३३-४६
२८ ”	—पादशब्दस्यार्थं, पादाद्योरिति द्वि-वचनस्य प्रयोजनं, पान्तु-इत्यादि-श्लोकस्य टीकयार्थप्रदर्शनं च ।	११९	२७-४०	४२ त० प्र०	—द्विपर्यन्तस्य दादीनां सौ परे तकारस्य सकारादेशः ।	१२५	१-४
२९ ”	—उदाहरणानि ।	११९	४१-४४	४३ ”	—अदसो दकारस्य सौ परे सकार-सेधो भवति ।	१२५	५-१०
३० त० प्र०	—इत्यर्थैर्धातुभिर्योगे वल्लसाद्यादेश-निषेधः ।	१२०	४-१२	४४ ”	—अदस्यशब्दस्याऽङ्कि सति सौ परे वाऽङ्गुकादेशः ।	१२५	११-१२
३१ ”	—अन्वादेशे नित्यं वल्लसाद्यादेशानां विधानम् ।	१२०	१३-१८	४२ आ० बो०	—सूत्रस्य पदत्रयमनुवर्तमानपदद्वयं च सम्मित्य पक्षपथा अन्वयं, भवतीप्रत्युदाहरणहेतुदर्शनं च ।	१२५	२१-२२
२९ आ० बो०	—योगग्रहणस्य प्रयोजनस्य निदर्शनम्	१२०	१९-२४	४३ ”	—उदाहरणं, विस्वरेण शङ्कासमा-धानं च ।	१२५	२३-४१
३० ”	—इत्यर्थशब्दस्य समास प्रत्यु-दाहरणं च ।	१२०	२५-३१	४४ ”	—सूत्रस्याऽन्वय उदाहरणं च ।	१२५	४२-४३
३१ ”	—अन्वादेशशब्दस्याऽर्थो नित्यशब्द-ग्रहणस्य प्रयोजनं च ।	१२०	३२-४५	४५ त० प्र०	—अवर्णान्तस्याऽद् शब्दस्य दकारस्य मकारादेशः ।	१२६	३-७
३२ त० प्र०	—विद्यमानपूर्वपदात्प्रथमान्तादन्वादेशो युष्मदस्मदोर्वा वल्लसाद्य आदेशः	१२१	१-१२	४६ ”	—अप्रावन्ते सत्यं शब्दस्य वा दकारस्य मकारादेशः ।	१२६	८-११
३३ ”	—एतच्छब्दस्याऽन्वादेशो द्वितीयाया टायामोषि चैनदादेशविधानम् ।	१२१	१३-२२	४७ ”	—अदसो मकारात् परस्य वर्णस्यो-वर्णादेशः ।	१२६	१२-१७
३२ आ० बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१२१	२३-३१	४५ आ० बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, शङ्कासमाधानं च ।	१२६	२०-३०
३३ ”	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि अन्वादेशस्य स्पष्टार्थश्च ।	१२१	३२-४३	४६ ”	—अद शब्दस्याऽङ्किशब्दागमे सति दकारस्य वा मकारः ।	१२६	३१-३६
३४ त० प्र०	—इदं शब्दस्याऽन्वादेशो द्वितीयायां टायामोषि चैनदादेशविधानम् ।	१२२	३-११	४७ ”	—उदाहरणानि तेषां साधनिका, अनु-ग्रहणस्य फलं च ।	१२६	३७-४७

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
४८ त० प्र०—	अद शब्दस्य मात् परस्येनदेशात् प्रागेवोवर्णदेश ।	१२७	१—३
४९ ,, —	अदसो मकारात् परस्य बहुवचनस्य-कारस्य ईकारादेश ।	१२७	४—७
५० ,, —	घातोऽरिवर्णोवर्णयोः स्थाने खरादौ प्रत्यये ह्युवादेशौ ।	१२७	८—१२
४८ आ०बो०—	शङ्कासमाधानमुदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१२७	१५—२०
४९ ,, —	,, ,, मुदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२७	२१—३०
५० ,, —	,, ,, मुदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२७	३१—४५
५१ त० प्र०—	इणो घातो खरादौ प्रत्यये ह्यादेश ।	१२८	१—४
५२ ,, —	घातो सयोगात् परस्य घातोऽरिवर्णोवर्णस्य खरादौ प्रत्यये परे ह्युवादेशौ ।	१२८	५—८
५३ ,, —	भ्रूक्षोरवर्णस्य सयोगात् परस्य खरादौ प्रत्यये उवादेश ।	१२८	९—१२
५४ ,, —	खीशब्दस्येवर्णस्य खरादौ प्रत्यये ह्यादेश ।	१२८	१३—१५
५१ आ०बो०—	शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२८	१६—२३
५२ ,, —	शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२८	२४—३६
५३ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२८	३७—४१
५४ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१२८	४२—४६
५५ त० प्र०—	खीशब्दस्येवर्णस्याऽपि शक्ति चेत्यादेशो वा स्यात् ।	१२९	३—६
५६ ,, —	अनेकस्वरस्य घातोऽरिवर्णस्य खरादौ प्रत्यये यकारादेश ।	१२९	७—११
५७ ,, —	,, ,, घातोऽरिवर्णस्य खरादौ स्यादौ वकारादेश ।	१२९	१२—१४
५८ ,, —	घातोऽरिवर्णोवर्णस्य खरादौ स्यादौ यकारवकारादेशौ ।	१२९	१५—१८
५५ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि, शङ्कासमाधान च ।	१२९	२४—३१
५६ ,, —	उदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि च ।	१२९	३२—३८
५७ ,, —	,, ,, ,, ,,	१२९	३९—४२
५८ त० प्र०—	,, ,, ,, ,,	१३०	१—४
५९ ,, —	भूघातोऽरिवर्णस्य खरादौ स्यादौ परे वकारादेश ।	१३०	५—१०
६० ,, —	णत्वशास्त्रस्य षत्वशास्त्रस्य चाऽऽस्त्वविधानम् ।	१३०	११—१३
५८ आ०बो०—	उदाहरणानि शङ्कासमाधान मतान्तरनिदर्शन च ।	१३०	१४—२६
५९ ,, —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरप्रदर्शन नियमस्य निदर्शन च ।	१३०	२४—३८
६० ,, —	सूत्रस्य सुस्पष्टार्थं, शङ्कासमाधान च ।	१३०	३९—४७

सूत्रम् । वृ०ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
६० त० प्र०—	उदाहरणानि, अधिकारद्वयस्याऽवधेर्निदर्शन च ।	१३१	१—३
६१ ,, —	घकारादन्यस्मिन् क्तादेशस्याऽसत्त्वविधानम् ।	१३१	४—५
६० आ०बो०—	शङ्कासमाधानमुदाहरणानि ससाधनिकानि च ।	१३१	६—४४
६१ ,, —	सूत्रस्य सुस्पष्टार्थं ।	१३१	४५—४९
६१ त० प्र०—	उदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१३२	१—९
६२ ,, —	घकारादकारयोः सकारे परे ककारादेश ।	१३२	१०—१३
६१ आ०बो०—	उदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१३२	१४—३०
६२ ,, —	उदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१३२	३१—४२
६३ त० प्र०—	भ्वादे रेफवकारयोः परयोर्भ्वादेर्नामिनो व्यञ्जने परे वीर्घादेश ।	१३३	१—८
६४ ,, —	भ्वादे रेफवकारयोः परयोर्भ्वादेर्नामिनो पदान्ते वीर्घादेश ।	१३३	९—१०
६३ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१३३	११—४२
६५ त० प्र०—	यकारादितद्धिते परे वो परयोर्नामिनो वीर्घनिषेध ।	१३४	३—८
६६ ,, —	कुफच्छूरोर्नामिनो रेफे परे वीर्घनिषेध ।	१३४	९—१०
६४ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१३४	११—१८
६५ ,, —	,, ,, शङ्कासमाधान च ।	१३४	१९—३९
६६ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३४	४०—४४
६७ त० प्र०—	मकारान्तस्य भ्वादे पदान्ते मकारवकारयोश्च न स्यात् ।	१३५	४—८
६८ ,, —	ससाधीनां चतुर्णां पदान्ते दकारादेश ।	१३५	९—१२
६६ आ०बो०—	प्रत्युदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३५	१३—१८
६७ ,, —	उदाहरणानि तेषां साधनिका शङ्कासमाधान च ।	१३५	१९—३५
६८ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३५	३६—४४
६९ त० प्र०—	ऋत्विगाधीनां सप्तानां पदान्ते गकारादेश ।	१३६	६—१३
७० ,, —	नशघातो पदान्ते वा गकारादेश ।	१३६	१४—१६
७१ ,, —	युगाधीनां त्रयाणां नकारस्य पदान्ते ङकारादेश ।	१३६	१७—१८
६८ आ०बो०—	प्रत्युदाहरणानि ससाधनिकानि, शङ्कासमाधान च ।	१३६	१९—३२
६९ ,, —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३६	३३—३९
७० ,, —	,, ,, ,, ,,	१३६	४०—४३
७२ त० प्र०—	पदान्तसकारस्य रुकारादेश ।	१३७	४—६
७३ ,, —	सप्तव्यञ्जनस्य पदान्ते रुकारादेश ।	१३७	७—९
७४ ,, —	अहन्शब्दस्य ,, ,,	१३७	१०—१३
७५ ,, —	,, ,, ङपि सत्यां रुकारादेश ।	१३७	१४—१६

सूत्रम् । शृ०ना० ।	विषय ।	पृ० प०	सूत्रम् । शृ०ना० ।	विषय ।	पृ० प०
७१ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि शङ्का- समाधान च ।	११३७ १७-२१	८८ त०प्र०—	ध्रुति प्रत्यये पदान्ते च सयोगादि- सकारककारयोर्लुग् ।	१४४ १-१३
७२ " — " " "	उकारग्रहण- प्रयोजन च ।	१३७ २२-२५	८८ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरप्रदर्शन च ।	१४४ १४-४२
७३ " —	उदाहरण साधनिकासहितम् ।	१३७ २६-२८	८९ त०प्र०—	पदान्तसयोगस्य लुगन्तादेश ।	१४५ १—५
७४ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषा साध- निका शङ्कासमाधानं च ।	१३७ २९-३८	९० " —	पदान्ते रकारात् परस्य सकारस्यैव लुगादेश ।	१४५ ६-१४
७५ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१३७ ३९-४२	८९ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषा साध- निका शङ्कासमाधान च ।	१४५ १५-२९
७६ त० प्र०—	ध्रुवार्णानां पदान्ते तृतीयादेश ।	१३८ ३—७	९० " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषा साध- निका शङ्कासमाधान च ।	१४५ ३०-४४
७७ " —	गढदबादिचतुर्थान्तैकस्वरस्य धातो- रोदवर्णस्य चतुर्थादेश ।	१३८ ८-१२	९१ त०प्र०—	पदान्ते वर्तमानस्य नाम्नो नकारस्य लुगादेश ।	१४६ १—९
७६ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि मता- न्तरप्रदर्शनं च ।	१३८ १९-२९	९२ " —	आमर्ष्ये वर्तमानस्य नाम्नो नका- रस्य लुमिपेध ।	१४६ १०-१४
७७ " —	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३८ ३०-४८	९३ " —	आमर्ष्ये वर्तमानस्य नाम्नो नका- रस्य वा लुगादेश ।	१४६ १५-१७
७८ त० प्र०—	धागधातोश्चतुर्थान्तस्याऽऽदिदकारस्य चतुर्थदेश ।	१३९ ६-११	९१ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका शङ्कासमाधानं च ।	१४६ १८-३८
७९ " —	चतुर्थात् परयोस्त्वरकारयोर्धकारा- देश ।	१३९ १२-१६	९२ " —	उदाहरण शङ्कासमाधानं च ।	१४६ ३५-४५
७७ आ०बो०—	प्रत्युदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१३९ १७-२५	९३ " —	सूत्ररचनाया कारणनिदर्शन- मुदाहरणं च ।	१४६ ४६-४८
७८ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषा साध- निका च ।	१३९ २६-३७	९४ त०प्र०—	तद्विहितमत्रुप्रत्ययस्य भकारस्य वकारादेश ।	१४७ १—७
७९ " — " " " ,	तेषा साधनिका च ।	१३९ ३८-४७	९५ त०प्र०—	सञ्ज्ञाया मतोर्मकारस्य वकारादेश ।	१४७ ८-१०
८० त० प्र०—	रकारान्तात्त्रायन्ताच्च धातो परो- क्षया अद्यतन्या व्याशिषथ धकारस्य , ढकारादेश ।	१४० १—५	९६ " —	चर्मण्वत्यादीनां पञ्चाना शब्दाना सञ्ज्ञाया निपातनम् ।	१४७ ११-१३
८१ " —	हकारादन्तस्थायाश्च परान् अेरिटश्च परोक्षायतन्याशिषा वा धकारस्य ढकार ।	१४० ६-१३	९४ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि, द्वे प्रत्यु- दाहरणे च ।	१४७ १४-२९
८० आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषा साध- निका च ।	१४० १४-३३	९५ " — " " " ,	प्रत्युदाहरण, मतान्तरनिदर्शनं च ।	१४७ ३०-४०
८१ " — " " " ,	तेषा साधनिका च ।	१४० ३४-४४	९६ " —	चर्मण्वत्यादीनां पञ्चाना निष्पत्तिप्रद- र्शनम् ।	१४७ ४१-४४
८२ त० प्र०—	ध्रुवादौ प्रत्यये पदान्ते च हकारस्य ढकारादेश ।	१४१ १—६	९७ त०प्र०—	अब्धौ सञ्ज्ञायां चाऽनेन उदन्वा- निति निपातनम् ।	१४८ ४—७
८३ त० प्र०—	ढकारादिभ्वादिधातोर्हकारस्य घञा- रादेश ।	१४१ ७-१२	९८ " —	सुरादीनां राजन्वानिति निपातनम् ।	१४८ ८-१०
८४ " —	मुदाधीनां चतुर्णां हकारस्य वा घकारादेश ।	१४१ १३-१४	९९ " —	ऊर्ध्वादिगणान्तोर्मकारस्य वकारादेश- निषेध ।	१४८ ११-१३
८२ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१४१ १५-२३	९७ आ०बो०—	अब्धिशब्दस्य निष्पत्ति , उदाहर- णानि च ।	१४८ २०-३३
८३ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषा साधनिका शङ्कासमाधानं च ।	१४१ २४-४३	९८ " —	उदाहरणप्रत्युदाहरणनिदर्शनम् ।	१४८ ३४-३७
८५ त० प्र०—	नह् आह इत्यनयोर्हकारस्य धकार- तकारादेशौ ।	१४२ ५—९	९९ " —	ऊर्ध्वादिगणान्तशब्दानां निष्पत्ति , शब्दानां गणना बहुवचनस्य प्रयो- जनं च ।	१४८ ३८-४६
८६ " —	चकारजकारयोर्ध्रुवादिप्रत्यये पदान्ते च ककारगकारादेशौ ।	१४२ १०-१५	१०० त०प्र०—	मासादीनां त्रयाणां धसादौ स्यादौ वा श्लगादेश ।	१४९ ३—५
८४ आ०बो०—	उदाहरणानि ससाधनिकानि ।	१४२ १६-२०	१०१ " —	दन्तादीनां शसादौ स्यादौ वा ददा- दय आदेशा ।	१४९ ६-११
८५ " — " " " " ,	शङ्का- समाधानं च ।	१४२ २१-३०	१०२ " —	यकारादौ खरादौ च प्रत्यये पाद्- शब्दस्य पदादेशः ।	१४९ १२-१३
८६ " — " " " " ,	" " " " " " ,	१४२ ३१-४२	१०० आ०बो०—	मासादिशब्दाना निष्पत्ति ससाधनि- कानि रूपाणि च ।	१४९ २२-२६
८७ त० प्र०—	यजादीनामधर्मानां शकारान्तस्य च ध्रुति पदान्ते च घकारादेशः ।	१४३ १-१७			
८७ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१४३ १८-४३			



सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
१०१	आ० षो०	—शङ्कासमाधान, दन्तादिशब्द- निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरणं च	१४९	२७-४०
१०२	”	—शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रस्य स्पष्टार्थ ।	१४९	४१-४६
१०३	त० प्र०	—यकारादौ खरादौ च प्रत्यये उद- च्छन्दस्योदीचादेश ।	१५०	८-१३
१०४	”	—यकारादौ खरादौ च प्रत्यये अच्छ- न्दस्य चादेश ।	१५०	१४-१५
१०२	आ० षो०	—उदाहरणानि, तेषां साधनिका मता- न्तरप्रदर्शनं च ।	१५०	१६-३२
१०३	”	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१५०	३३-४१
१०४	”	—अनुवर्तमाने पदे सन्दर्भ्यं सूत्रस्या- ऽन्वयप्रदर्शनम् ।	१५०	४२-४४
१०५	त० प्र०	—यकारादौ खरादौ मतौ प्रत्यये च कस् उष् भवति ।	१५१	६-१०
१०६	”	—जीस्याद्युदस्वरे श्वादित्रयाणां वकार उर्भवति ।	१५१	११-१६
१०४	आ० षो०	—ससाधनिकमुदाहरणं शङ्कासमा- धानं च ।	१५१	१७-३१
१०५	”	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साध- निका शङ्कासमाधानं च ।	१५१	२२-३३
१०६	”	—त्रयाणां श्वादीनां निष्पत्ति, उदा- हरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साध- निका, शङ्कासमाधानं च ।	१५१	३४-४६
१०७	त० प्र०	—आन्निष्कारस्य जीस्याद्युदस्वरे छग् भवति ।	१५२	१-४
१०८	”	—अनोऽकारस्य जीस्याद्युदस्वरे छग् भवति ।	१५२	५-७
१०९	”	—अनोकारस्य ईकारे ङौ च परे वा छग् भवति ।	१५२	८-१०
११०	”	—षादिहृत्प्लुतराजन्शब्दानामपि प्रत्ययेऽकारस्य छक् ।	१५२	११-१३
१११	”	—वकारान्तमकारान्तयो संयोगयो- रनोऽकारस्य छग्निपेध ।	१५२	१४-१५
१०७	आ० षो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्का- समाधानं च ।	१५२	१६-२३
१०८	”	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१५२	२४-२७
१०९	”	—अनुवर्तमानपदानि सन्दर्भ्यं सूत्रा- न्वय उदाहरणं च ।	१५२	२८-३०
११०	”	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१५२	३१-३८
१११	”	—सूत्रस्य स्पष्टार्थं, अन्तप्रहणस्य प्रयोजनं च ।	१५२	३९-४२
११२	त० प्र०	—हन्वातोर्हस्य प्रादेशविधानम् ।	१५३	३-५
११३	”	—अपदादेरकारे एकारे च परेऽकार- छग्विधानम् ।	१५३	६-९
११४	”	—अन्यस्वरादिवर्णानां ङिति परे छग्विधानम् ।	१५३	१०-१३
१११	आ० षो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	१५३	१४-१६
११२	”	— ” ” तेषां साधनिका च	१५३	१७-२२
११३	”	— ” ” ” ” ।	१५३	२३-३१

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ०	प०
११४	आ० षो०	—उदाहरणानि तेषां साधनिका च ।	१५३	३२-४२
११५	त० प्र०	—अवर्णात् परस्याऽतु स्थानेऽन्ता- देशो वा स्यात् ।	१५४	१-८
११६	”	—श्यात् शवक्ष परस्याऽतु स्थाने- ऽन्तादेश स्यात् ।	१५४	९-१२
११७	”	—दिवशब्दस्याऽन्तस्य सौ परे औकारादेश ।	१५४	१३-१६
११५	आ० षो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका शङ्कोन्मूलनं च ।	१५४	१७-३५
११६	”	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका शङ्कोन्मूलनं च ।	१५४	३६-३९
११७	”	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका शङ्कोन्मूलनं च ।	१५४	४०-४७
११८	त० प्र०	—पदान्ते विनोऽन्तस्य उकारादेश स च कर्न स्यात्, पादसमाप्ति- सूचकश्लोकश्च ।	१५५	१-११
११८	आ० षो०	—उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि, तेषां साधनिका च ।	१५५	१२-२०
”	”	—पादसमाप्तिसूचकश्लोकस्य सरलार्थो व्यङ्ग्यार्थश्च ।	१५५	२१-३२
”	”	—आनन्दबोधिनीवृत्तिकारस्य संक्षे- पेण परिचय ।	१५५	३३-३७

## द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः । १५६-२१८

१	त० प्र०	—क्रियाया हेतुनां-कर्त्तव्यतां कारक- संज्ञाविधानम् ।	१५६	३-५
”	आ० षो०	—क्रियाशब्दस्य व्युत्पत्ति, हेतु- शब्दस्य प्रयोजन कारणशब्दस्य स्पष्टार्थश्च ।	१५६	६-९
”	”	—कर्त्तृकारकस्य स्वरूपदर्शकश्लोकत्रयी	१५६	१२-१४
”	”	—द्रव्यस्य शक्तिचतुष्टय्या स्वरूप प्रदर्शय तस्या एव कारकसंज्ञेति संसूचनम् ।	१५६	१८-२४
”	”	—शङ्कासमाधानपुरस्सरं सूत्रस्य विस्तरणार्थं ।	१५६	२४-४९
२	त० प्र०	—क्रियासिद्धौ यस्य कारकस्य स्वात- न्त्र्यस्य निवृत्त्या तस्य कारकस्य कर्त्त- संज्ञाविधानम् ।	१५७	३-७
१	आ० षो०	—अधिकरणस्य करणस्य चाऽपि कारकस्य स्वतन्त्रतया निवृत्त्या कारकान्तरसंज्ञाऽपि स्यादित्यादि- सुपरिस्फुटविचिनम् ।	१५७	८-३७
२	”	—स्वतन्त्रशब्दस्य स्फुटार्थं सन्दर्भ्यो- दाहरणानां निदर्शनम् ।	१५७	३८-४९
३	”	—कर्मसंज्ञा व्याप्यसंज्ञा च विधाय तस्य नवानां भेदानां विवरणं च ।	१५८	४-१०
”	आ० षो०	—सूत्रस्याऽर्थं विविच्य कर्मसंज्ञाभेदानां च क्रमेणोदाहरणानां निदर्शनम् ।	१५८	२८-४८
”	”	—विशेषोदाहरणानां ससाधनिक प्रदर्शनम् ।	१५९	११-४८
”	”	—शङ्कासमाधानमुदाहरणानि, मता- न्तरनिदर्शनं च ।	१६०	१३-४८

सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०	सूत्रम् ।	वृ०ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
४ त० प्र०—		धविवक्षितकर्मणा धातूनां कर्तुर्णौ सति वा कर्मसंज्ञा ।	१६१	१-४	१५ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, वचन-वचनस्य फलप्रदर्शनं च ।	१६६	३६-४२
५ ,, —		गत्यर्थादीनां धातूनां कर्तुर्णौ सति कर्मसंज्ञा ।	१६१	५-१०	१६ ,, —		विनिमेयस्य द्यूतपणस्य च शब्दार्थं	१६६	४३-४४
४ आ०बो०—		सूत्रस्य स्पष्टार्थं उदाहरणं शङ्का-समाधानं तथाऽविवक्षितकर्मत्व-द्योतकं श्लोकश्च ।	१६१	१४-२२	१७ त० प्र०—		उपसर्गात् परस्य दिवो व्याप्यौ वा कर्मसंज्ञौ भवत ।	१६७	४-८
५ ,, —		सूत्रस्य सान्त्वयोऽर्थं, शङ्कासमाधान-मुदाहरणे च ।	१६१	२३-४५	१८ ,, —		विनिमेयद्यूतपणौ दिवो व्याप्यौ न कर्मसंज्ञौ भवत ।	१६७	९-१४
,, त० प्र०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि मतान्तर-निदर्शनं च ।	१६२	१-१७	१९ ,, —		दिव्यते करणं कर्मसंज्ञं करणसंज्ञं च भवति ।	१६७	१५-१९
,, आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का-समाधानं च ।	१६२	१८-४७	१६ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, वचन-भेदस्य फलनिदर्शनं च ।	१६७	२०-२५
६ त० प्र०—		हिंसाथस्य भक्षेरेवाऽणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञ इति नियमः ।	१६३	१-६	१७ ,, —		द्वे उदाहरणे तयोः साधनिके च ।	१६७	२६-२९
७ त० प्र०—		बह्वेरेणिकर्ता प्रवेय एव णौ कर्म-संज्ञ इति नियमः ।	१६३	७-११	१८ ,, —		उदाहरणप्रत्युदाहरणे, कर्मसंज्ञा-भावस्य फलानि च ।	१६७	३०-३५
८ ,, —		हरते करोतेश्वाऽणिकर्ता णौ वा कर्मसंज्ञौ भवति ।	१६३	१२-१३	१९ ,, —		शङ्कासमाधानं, कर्मसंज्ञा करण-संज्ञा च समकाल एव विधाना-त्ताभ्यां द्वाभ्यां निष्पन्नानां कार्या-णां निदर्शनं च ।	१६७	३६-४५
६ आ०बो०—		शङ्कासमाधानं, सख्यस्याऽपि प्राणि-त्वे प्रमाणदर्शकश्लोकं, उदाहरण-प्रत्युदाहरणानि च ।	१६३	२०-३४	२० त० प्र०—		अधिसम्बद्धं शीघ्रादित्रयाणामाधा-रस्य कर्मसंज्ञा स्यात् ।	१६८	८-१२
७ ,, —		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का-समाधानं च ।	१६३	३५-४३	२१ ,, —		उपादिचतुर्भिः सम्बद्धस्य वसते-राधारस्य कर्मसंज्ञा स्यात् ।	१६८	१३-१७
८ ,, —		प्राप्तत्वमप्राप्तत्वं च कया रीत्या भवति तन्निदर्शनम् ।	१६३	४४-४७	२० आ०बो०—		उदाहरणानि ससाधनिकानि, प्रत्यु-दाहरणं शङ्कासमाधानं च ।	१६८	२६-३४
९ त० प्र०—		हृशेरभिवदेश्वाऽऽत्मनेपदेऽणिकर्ता णौ वा कर्मसंज्ञा ।	१६४	६-१६	२१ ,, —		उदाहरणानि ससाधनिकानि शङ्का-समाधानं च ।	१६८	३५-४६
१० ,, —		नाथतेरात्मनेपदे व्याप्य वा कर्म-संज्ञा भवति ।	१६४	१७-२१	२२ त० प्र०—		अभिनिस्म्बद्धस्य विशतेर्धातोरा-धारस्य वा कर्मसंज्ञा ।	१६९	१-५
९ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि मतान्तर-निदर्शनं च ।	१६४	२५-३७	२३ ,, —		अकर्मकधातूनां कालाद्याधारस्य वा कर्मसंज्ञा स्यात्, यदा कर्मसंज्ञा तदैवाऽकर्मसंज्ञाऽपि वा स्यात् ।	१६९	६-२०
१० ,, —		दृश्ययोगस्य फलमुदाहरणप्रत्युदा-हरणानि च ।	१६४	३८-४३	२२ आ०बो०—		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, वा श-ब्दस्य व्यवस्थितविभाषार्थश्च ।	१६९	२१-२९
११ त० प्र०—		स्मरणार्थानां द्यसेरीशब्दस्य व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६५	१-९	२३ ,, —		कालादिशब्दानां स्पष्टार्थं, उदा-हरणप्रत्युदाहरणानि मतान्तरनि-दर्शनं च ।	१६९	३०-४४
१२ ,, —		प्रतियज्ञेऽर्थे कृगो व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६५	१०-१३	२४ त० प्र०—		क्रियासिद्धौ प्रकृत्योपकारकस्य कर-णसंज्ञाविधानम् ।	१७०	३-९
१३ ,, —		उपरिसंतापिभिन्नरुजायार्थकधातो-र्व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६५	१४-१७	२५ ,, —		कर्मणा यमभिप्रेयते स कर्माभिप्रेय सम्प्रदानसंज्ञा स्यात् ।	१७०	१०-१४
११ आ०बो०—		उदाहरणं शङ्कासमाधानं जायमान-नियमप्रदर्शनं च ।	१६५	१८-३२	२४ आ०बो०—		शङ्कासमाधानं, करणशब्दोद्बोध-नाय श्लोकद्वयोद्धरणं च ।	१७०	१५-२४
१२ ,, —		ससाधनिकमुदाहरणम् ।	१६५	३३-३६	,, ,, —		तमप्रहणस्य प्रयोजनस्य फलस्य च निदर्शनम् ।	१७०	२५-३७
१३ ,, —		सूत्रस्याऽर्थं उदाहरणानि च ।	१६५	३७-४४	२५ ,, —		शङ्कासमाधानं, उदाहरणानि, सम्प्र-दानार्थदर्शकश्लोकश्च ।	१७०	३८-४६
१४ त० प्र०—		जासादीनां चतुर्णां हिंसार्थानां व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६६	४-११	२६ त० प्र०—		स्पृष्टेर्धातोर्व्याप्यस्य वा कर्मसंज्ञा भवति ।	१७१	४-७
१५ ,, —		निप्राभ्यां परस्य हिंसार्थस्य हन्ते-र्व्याप्य वा कर्म भवति ।	१६६	१२-१६	२७ ,, —		कृपाथर्थेर्धातुभिर्योगे यः प्रति कोप-स्तस्य सम्प्रदानसंज्ञा ।	१७१	८-१४
१६ ,, —		पणतेर्व्यवहरतेष्व व्याप्यौ वा कर्म-संज्ञौ भवत ।	१६६	१७-१८	२५ आ०बो०—		शङ्कासमाधानं, अभिप्रहणप्रयोज-नस्य निदर्शनं च ।	१७१	१५-२७
१४ आ०बो०—		धातुष्वाकारनिर्देशस्य प्रयोजनं, प्रत्युदाहरणप्रदर्शनं च ।	१६६	२२-३५					

सूत्रम् । घ०ना० ।	विषय ।	पृ० प०
२६ आ०बो०—	उदाहरण, सम्प्रदानसज्ञायामन्येषां फलानां दर्शन च ।	१७१ २८-३१
२७ " —	कुधादीनां धातूनामर्थानां स्पष्टता, कोपशब्दस्य स्पष्टार्थं शङ्कासमाधानं च ।	१७१ ३२-४४
२८ त० प्र०—	सोपसर्गाभ्यां कृधिद्विभ्यां योगे सम्प्रदानसज्ञानिषेध ।	१७२ ३-५
२९ " —	अपाये यदवधिभूत तस्याऽपादानसज्ञाविधानम् ।	१७२ ६-१४
२८ आ०बो०—	उदाहरण शङ्कासमाधानं च ।	१७२ १७-२५
२९ " —	सूत्रग्रहीतपदानां सम्बन्धि शङ्कासमाधान, उदाहरणसम्बन्धि शङ्कासमाधान च ।	१७२ २६-४७
" त० प्र०—	अपादानवैषयिकाणां सर्वेषां वार्तिकानां समावेश ।	१७३ १-१४
" आ०बो०—	अपादानवैषयिकाणां सर्वेषां वार्तिकानां समावेश ।	१७३ १५-४६
३० त० प्र०—	क्रियाश्रयस्य कर्तुं कर्मणश्चाऽऽचरस्याऽधिकरणसज्ञाऽयवाऽधिकरणस्याऽधारसज्ञा ।	१७४ ५-१४
" आ०बो०—	सूत्रस्थपदानामर्थं, शङ्कासमाधान, उदाहरण, अधिकरणार्थदर्शकश्लोकश्च ।	१७४ २४-३४
" " —	अधिकरणस्य भेदानां सोदाहरण तेषां स्वरूपस्य निदर्शनं च ।	१७४ ३५-४६
३१ त० प्र०—	एकत्वद्वित्वबहुत्वेऽर्थे नात्र प्रथमा विभक्तिभेदति ।	१७५ ५-७ १७६ १-१२ १७७ १-८
३१ आ०बो०—	सूत्रस्य सुपरिस्फुटार्थं शङ्कासमाधानं च ।	१७५ १४-४५
३१ " —	" " " " " "	१७६ १३-४६
३१ " —	" " " " " "	१७७ ९-४८
३२ त० प्र०—	आमन्त्र्यशब्दस्याऽर्थस्त्र प्रथमाविधानं च ।	१७८ ४-७
३३ " —	समयादिभिर्युक्तान्नो द्वितीयाविधानम् ।	१७८ ८-१५
३२ आ०बो०—	सूत्रस्य स्पष्टार्थं शङ्कासमाधानं च ।	१७८ २५-३१
३३ " —	गौणशब्दस्याऽर्थं, उदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	१७८ ३२-४६
३४ त० प्र०—	अधोऽध्युपरिशब्दानां द्वित्वे सत्येभिर्युक्तान्नो द्वितीयाविधानम् ।	१७९ ५-८
३५ " —	तद्यन्तै सर्वादिभिर्युक्तान्नो द्वितीयाविधानम् ।	१७९ ९-११
३६ " —	लक्षणादिषु वर्तमानादभिना युक्तान्नो द्वितीया ।	१७९ १२-१५
३४ आ०बो०—	बहुवचनस्य प्रयोजनमुदाहरणप्रत्युदाहरणे च ।	१७९ २५-२९
३५ " —	सूत्रार्थनिर्दर्शनम् ।	१७९ ३०-३३
३६ " —	सूत्रस्थानां लक्षणादिशब्दप्रयाणां स्पष्टार्थं ।	१७९ ३४-४२
३७ त० प्र०—	भानयादिषु चतुर्वर्षेषु प्रत्यादिभिर्युक्तान्नो द्वितीयाविधानम् ।	१८० ४-८
३८ " —	हेतुसहाय्येयोरनुना युक्तयोर्गौणान्नो द्वितीया स्यात् ।	१८० ९-१३

सूत्रम् । घ०ना० ।	विषय ।	पृ० प०
३६ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमाधानं बहुवचनस्य प्रयोजनं च ।	१८० १४-२६
३७ " —	भागिशब्दस्याऽर्थं उदाहरणं च ।	१८० २७-३१
३८ " —	शङ्कासमाधानमुदाहरणं मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१८० ३२-४८
३९ त० प्र०—	उत्कृष्टेऽर्थेऽनूपाभ्यां युक्तान्नो द्वितीया स्यात् ।	१८१ १-३
४० " —	गौणाच्चात्र कर्मणि कारके द्वितीयाविधानम् ।	१८१ ४-८
३९ आ०बो०—	उदाहरणं शङ्कासमाधानं च ।	१८१ ९-२१
४० " —	उदाहरणानि विस्तरेण शङ्कासमाधानं च ।	१८१ २२-४८
" " —	पुन पुन शङ्कोत्पादन समाधानकरणं च ।	१८२ ७-४९
" " —	पुन पुन शङ्कोत्पादन समाधानकरणं च ।	१८३ १३-४७
४१ त० प्र०—	क्रियाविशेषणाच्चात्रो द्वितीया स्यात् ।	१८४ ६-१०
" आ०बो०—	शङ्कासमाधान, उदाहरणं मतान्तरनिर्दर्शनं च ।	१८४ २४-४९
४२ त० प्र०—	व्याप्तौ शोल्यायां कालाध्ववाचि गौणान्नो द्वितीया ।	१८५ १-८
४३ " —	सिद्धौ शोल्यायां कालाध्ववाचि गौणान्नो द्वितीया ।	१८५ ९-१३
४४ " —	सूत्रस्थशब्दद्वयस्याऽर्थस्य प्रकाशः ।	१८५ १४-१५
४२ आ०बो०—	उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमाधानं मतान्तरदर्शनं च ।	१८५ १६-३२
४३ " —	शङ्कासमाधान, उदाहरणप्रत्युदाहरणं च ।	१८५ ३३-४२
४४ त० प्र०—	हेत्वाद्यर्थवतो गौणाच्चात्र स्तृतीयाविधानम् ।	१८६ १-९
४५ " —	सहाय्ये गम्यमाने गौणाच्चात्र स्तृतीयाविधानम् ।	१८६ १०-११
४४ आ०बो०—	योग्यशब्दग्रहणस्य तात्पर्यं, शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाहरणानि च ।	१८६ १२-४४
४५ " —	सूत्रस्थशब्दयो समासस्याऽर्थस्य च निदर्शनं, तथा शङ्कासमाधानं ।	१८६ ४५-४८
४६ त० प्र०—	यस्य भेदिनो भेदैर्भेदिन आख्या भवति तद्वाचिनो गौणाच्चात्रस्तृतीयाविधानम् ।	१८७ ७-११
४५ आ०बो०—	पुन पुन शङ्कानामुत्पादनं तासां सर्वासां समाधानं च ।	१८७ १२-३६
४६ " —	सूत्रस्थसमासयोर्निर्दर्शनेन सूत्रार्थसमूहनमुदाहरणानि च ।	१८७ ३७-४७
४७ त० प्र०—	निषेधार्थं कृताद्यैर्युक्तान्नो द्वितीया स्यात् ।	१८८ ४-६
४८ " —	कालवृत्तिनश्चात्रवाचिगौणाच्चात्र आधारे वा द्वितीयाविधानम् ।	१८८ ७-१०
४६ आ०बो०—	शङ्कासमाधान, प्रत्युदाहरणं भेदस्य तद्वत् आख्यायाश्च ग्रहणस्य प्रयोजनं च ।	१८८ ११-२७

सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषय ।	पृ० प०	सूत्रम् ।	वृ० ना० ।	विषयः ।	पृ० प०
४७ आ०बो०		उदाहरणं तत्रस्थितकिशब्दस्य स्फुटार्थं च ।	१८८ २८-३१	६१ त० प्र०		तुमर्थकभाववाचिप्रत्ययान्ताद्गौणा- घात्रश्वतुर्थी स्यात् ।	१९३ १४-१६
४८ "		शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाह- रणानि च ।	१८८ ३२-४४	५९ आ०बो०		उदाहरणप्रत्युदाहरणे शङ्कासमा- धानं च ।	१९३ २२-२७
४९ त० प्र०		प्रसितादिभिर्गुणैकादाधारे वर्तमाना- द्गौणान्नामस्तृतीया वा भवति ।	१८९ ४-८	६० "		उदाहरणानि मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१९३ २८-३८
५० "		व्याप्येभ्यो द्विद्वेष्टेणादिभ्यो गौणेभ्यो वीप्साया वा तृतीया ।	१८९ ९-१३	६१ "		उदाहरणं चतुर्थीविधानस्य प्रयो- जनं च ।	१९३ ३९-४३
५१ "		अस्मत्स्यस्य सजानातेर्व्याप्याद्गौणा- घात्रस्तृतीया वा ।	१८९ १४-१६	६२ त० प्र०		गम्यस्य तुमो व्याप्याद्गौणान्नामश्व- तुर्थीविधानम् ।	१९४ ५-९
४९ आ०बो०		सूत्रार्थं प्रसितशब्दवैषयिकशङ्का- समाधानं च ।	१८९ २१-२८	६३ "		भनातेर्गतेर्व्याप्ये वर्तमानगौणना- मश्वतुर्थी वा स्यात् ।	१९४ १०-१५
५० "		उदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	१८९ २९-३७	६१ आ०बो०		प्रत्युदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	१९४ १६-२१
५१ "		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि ससाध- निकानि ।	१८९ ३८-४१	६२ "		उदाहरण प्रत्युदाहरणानि च ।	१९४ २२-३१
५२ त० प्र०		सदामोऽधर्म्यसम्प्रदानात्तृतीया तत्त्वनियोगे संदाम आत्मनेपद- विधानं च ।	१९० ३-७	६३ "		गल्यर्थस्फोट, प्रत्युदाहरणानि मता- न्तराणां प्रदर्शनं च ।	१९४ ३२-४७
५३ "		सम्प्रदाने वर्तमानान्नामनामश्वतु- र्थीविधानम् ।	१९० ८-११	६४ त० प्र०		अतिक्रुत्सनेऽर्थे नावादिभिधानमन्य- तेराप्याद् गौणानाम्नां वा चतुर्थी- विधानम् ।	१९५ १-१३
५१ आ०बो०		प्रत्युदाहरणानि वाग्रहणस्य प्रयोजनं च ।	१९० १२-१८	६५ "		हितसुखाभ्यां युक्ताद्गौणाघात्रो वा चतुर्थीविधानम् ।	१९५ १४-१६
५२ "		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का- समाधानं च ।	१९० १९-३६	६६ "		हितायर्थैर्युक्ताद्गौणाघात्र आशिपि गम्यमानायां वा चतुर्थीविधानम् ।	१९५ १७-२१
५३ "		उदाहरण प्रत्युदाहरणं च ।	१९० ३७-४०	६४ आ०बो०		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमा- धानं, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१९५ २२-३८
५४ त० प्र०		तादर्थ्यं शोले गौणाघात्रश्वतुर्थी- विधानम् ।	१९१ १-३	६५ "		सूत्रार्थं आमयाविशब्दनिष्पत्ति- निर्देशनं च ।	१९५ ३९-४०
५५ "		रुच्यादिभिर्गौणे प्रेयादिष्वर्थेषु गौणाघात्रश्वतुर्थी ।	१९१ ४-१२	६६ "		सूत्रार्थो भद्रमद्रशब्दयोर्निष्पत्तिश्च ।	१९५ ४१-४४
५४ आ०बो०		तादर्थ्यशब्दस्यार्थं, उदाहरणं शङ्कासमाधानं च ।	१९१ १३-२०	६७ त० प्र०		परिक्रयणार्थोद्गौणाघात्रो वा चतु- र्थीविधानम् ।	१९६ ७-११
५५ "		शङ्कासमाधानं, वचनसाम्यस्य बहु- वचनस्य च प्रयोजनं, उदाहरण- प्रत्युदाहरणानि च ।	१९१ २१-४६	६८ "		शकार्यवपवादिभिर्गुणैकाद्गौणाघात्र- श्वतुर्थीविधानम् ।	१९६ १२-१७
५६ त० प्र०		प्रत्याहृत्यां परेण शृणोतिना युक्तादर्थिवाचिनो गौणाघात्र- श्वतुर्थीविधानम् ।	१९२ ३-६	६६ आ०बो०		कल्याणादिशब्दनिष्पत्ति, प्रत्युदा- हरणं शङ्कासमाधानं च ।	१९६ १८-२३
५७ "		प्रत्युदाहरणं परेण शृणोतिना युक्तादर्थिवाचिनो गौणा- घात्रश्वतुर्थीविधानम् ।	१९२ ७-१०	६७ "		परिक्रयणशब्दस्य विस्पष्टार्थं प्रत्यु- दाहरणं च ।	१९६ २४-२६
५८ "		यस्य वीक्ष्ये राषीक्षी भवेति तस्माद्गौ- णानामश्वतुर्थीविधानम् ।	१९२ ११-१६	६८ "		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्कासमा- धानं च ।	१९६ ३०-४३
५६ आ०बो०		संज्ञासाधैस्सष्टता सघाघनिकमुदा- हरणं च ।	१९२ २३-२९	६९ त० प्र०		अपादानकारके गौणाघात्रं पञ्चमी- विधानम् ।	१९७ ४-७
५७ "		उदाहरणस्याऽर्थं शङ्कासमाधानं च ।	१९२ ३०-३४	७० "		अवध्यर्थादात्मयुक्ताद्गौणाघात्रं पञ्चमीविधानम् ।	१९७ ८-११
५८ "		वीक्ष्यशब्दस्याऽर्थं, उदाहरणं शङ्कासमाधानं मतान्तरप्रदर्शनं च ।	१९२ ३५-४५	७१ "		वेज्योर्थाद् पर्यपाभ्यां युक्ताद्गौणा- घात्रं पञ्चमीविधानम् ।	१९७ १२-१५
५९ त० प्र०		उत्पादेन ज्ञाप्यमानेऽर्थे गौणाघात्र- श्वतुर्थीविधानम् ।	१९३ ४-८	७२ "		प्रतिनिधिप्रतिदानेऽर्थे वर्तमानात् प्रतिना योगाद्गौणाघात्रं पञ्चमी- विधानम् ।	१९७ १६-१८
६० "		रुच्यादिभिर्गुणैकाद्व्याप्ये प्रयोक्तेऽर्थे गौणानामश्वतुर्थी ।	१९३ ९-१३	६९ आ०बो०		सूत्रार्थं उदाहरणद्वयं च ।	१९७ २२-२४
११ सूत्रात्		प्रत्याहृत्यां		७० "		अवधिशब्दस्याऽर्थं, द्वे उदाहरणे, तयोच्चार्यार्थं ।	१९७ २५-२७
				७१ "		उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्का- समाधानं च ।	१९७ २९-३६
				७२ "		प्रतिनिधिप्रतिदानशब्दयोरर्थः सूत्रसाधार्थं ।	१९७ ३९-४४

सूत्रम् ।	श्लो० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
७३	त० प्र०	—आख्यातुवाचिगौणानाम् पञ्चमी स्यादुपयोगविषये ।	१९८	४-८
७४	"	—गम्यमानयप कर्माधारवाचिगौणानाम् पञ्चमी स्यात् ।	१९८	९-१३
७२	आ०बो०	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	१९८	१४-२७
७३	"	—उपयोगशब्दस्याऽर्थं प्रयोजनं च, उदाहरणं, प्रत्येक्युक्तशब्दस्याऽर्थं, शङ्कासमाधानं सूत्रतात्पर्यं च ।	१९८	२८-३९
७४	"	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	१९८	४०-४७
७५	त० प्र०	—प्रभृत्यादिभिर्बुक्तौणात्मानाम् पञ्चमीविधानम् ।	१९९	५-१३
७४	आ०बो०	—इन्द्रियाणां विषयग्राहित्वविषये मतान्तरनिदर्शनम् ।	१९९	१४-१९
७४	"	—सूत्रारम्भमैपयिक शङ्कासमाधानम् ।	१९९	१९-३२
७५	"	—दिक्शब्दस्य समासस्य शब्दग्रहणप्रयोजनस्य च निदर्शनमुदाहरणप्रत्युदाहरणानि च ।	१९९	३३-४५
७६	त० प्र०	—हेतुभूतादणवाचिगौणानाम् पञ्चमीविधानम् ।	२००	६-९
७७	"	—कीलिङ्गभिन्नाद् हेतुभूतयुगवाचिनी गौणात्मानो वा पञ्चमीविधानम् ।	२००	१०-१४
७५	आ०बो०	—शङ्कासमाधान प्रत्युदाहरणानामर्थस्य स्पष्टता च ।	२००	१५-३०
७६	"	—हेतुशब्दार्थं, प्रत्युदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	२००	३१-४०
७७	"	—सार्धान्युदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	२००	४१-४५
७८	त० प्र०	—आरादर्थं शब्दैर्युक्तौणात्मानो वा पञ्चमीविधानम् ।	२०१	४-१०
७९	"	—असत्त्ववाचिन स्तोकादिभ्यः कर्णेभ्यो वा पञ्चमीविधानम् ।	२०१	११-१७
७८	आ०बो०	—उदाहरण शङ्कासमाधानं च ।	२०१	२३-३३
७९	"	—असत्त्वशब्दस्याऽर्थं, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि च ।	२०१	३४-४६
८०	त० प्र०	—अज्ञानार्थकजानाते करणादौणात्मानं षष्ठीविधानम् ।	२०२	१-७
८१	"	—शेषशब्दार्थं, शेषे वर्तमानगौणात्मानं षष्ठीविधानम् ।	२०२	८-१२
८०	आ०बो०	—शङ्कासमाधानं, वानिबुद्धोद्देशनिदर्शनं सार्थमुदाहरणं च ।	२०२	१३-२३
८०	"	—प्रत्युदाहरणानि सूत्ररचनायां प्रयोजनं च ।	२०२	२३-२६
८१	"	—शेषशब्दस्य स्पष्टार्थं, सार्धान्युदाहरणानि च ।	२०२	२७-४७
८२	त० प्र०	—निप्रसृति अतप्रत्ययान्तैर्बुक्तौणात्मानं षष्ठीविधानम् ।	२०३	६-११
८१	आ०बो०	—बहुविधानि शङ्कासमाधानानि ।	२०३	१२-३८
८३	"	—ससाधनिकान्युदाहरणानि ।	२०३	३९-४६
८३	त० प्र०	—कृदन्तस्य कर्त्तरि गौणात्मानं षष्ठीविधानम् ।	२०४	१-७

सूत्रम् ।	श्लो० ना० ।	विषयः ।	पृ०	प०
८४	त० प्र०	—अतुप्रत्ययान्तस्य द्विष कर्मणि वा षष्ठीविधानम् ।	२०४	८-१०
८५	"	—घातोद्देश्यो कर्मणोरेकत्र वा षष्ठीविधानम् ।	२०४	११-१५
८३	आ०बो०	—ससाधनिकान्युदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	२०४	१६-२८
८४	"	—ससाधनिकमुदाहरण मतान्तरप्रदर्शनं च ।	२०४	२९-३२
८५	"	—शङ्कासमाधानमुदाहरणं, मतान्तरप्रदर्शनं च ।	२०४	३३-४३
८६	त० प्र०	—कृदन्तस्य कर्त्तरि गौणात्मानं षष्ठीविधानम् ।	२०५	१-३
८७	"	—अधिकारविहिताभ्यामकारणकारणान्यस्य कर्त्तृकर्मप्रति हेतो षष्ठ्यो कर्त्तरि षष्ठी वा स्यात् ।	२०५	४-१४
८८	"	—कृत्यस्य कर्त्तरि गौणात्मानं षष्ठी वा भवति ।	२०५	१५-१७
८६	आ०बो०	—ससाधनिकान्युदाहरणानि ।	२०५	१८-२२
८७	"	—उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमाधानं मतान्तरप्रदर्शनं च ।	२०५	२३-३६
८८	"	—सर्वेषामुदाहरणप्रत्युदाहरणस्य कृत्यानां साधनिका ।	२०५	३७-४१
८९	त० प्र०	—षष्ठीहेतो कर्त्तृकर्मणो कृत्यस्योभयो षष्ठीनिषेधः ।	२०६	१-४
९०	"	—तृष्ठीकीनां कृतां कर्मकर्त्रो षष्ठीनिषेधः ।	२०६	५-१४
९१	"	—असदाभारार्थकत्वत्वोः कर्मकर्त्रो षष्ठीनिषेधः ।	२०६	१५-१६
८९	आ०बो०	—उदाहरणस्य कृत्यानां निष्पत्तिः शङ्कासमाधानं च ।	२०६	१७-२८
९०	"	—तृष्ठादिप्रत्ययान्तानां सर्वेषामुदाहरणस्य शब्दानां निष्पत्ते प्रदर्शनम् ।	२०६	२९-४५
९२	त० प्र०	—कृते विहितस्य कृत्य कर्त्तरि वा षष्ठीनिषेधः ।	२०७	६-९
९३	"	—कर्मण्यस्यो कप्रत्ययान्तस्य कर्मणि षष्ठीनिषेधः ।	२०७	१०-१२
९४	"	—एष्यत्वर्ये ऋणे च विहितसेन कर्मणि षष्ठीनिषेधः ।	२०७	१३-१६
९१	आ०बो०	—'सतोऽन्यस्मिन्' इत्येतस्य प्रतिषेधस्य निराकरणम् ।	२०७	१७-१९
९१	"	—ससाधनिकान्युदाहरणप्रत्युदाहरणानि ।	२०७	१९-२७
९२	"	—उदाहरणं कतिपयकान्तशब्दानां पर्यायाश्च ।	२०७	२८-३१
९३	"	—वाराणसीशब्दस्य साधनिका प्रत्युदाहरणं च ।	२०७	३२-३६
९४	"	—ससाधनिकानि त्रीण्युदाहरणानि ।	२०७	३७-४३
९५	त० प्र०	—अधिकरणे कारके गौणात्मानं सप्तमीविधानम् ।	२०८	१-३
९६	"	—सुजयप्रत्ययान्तैर्बुक्तौणात्मानं षष्ठीकरणे सप्तमी वा स्यात् ।	२०८	४-९

सूत्रम् ।	वृ०	प०	विषय ।	पृ०	प०
९७ त०प्र०—			कुशलायुक्ताभ्यां युक्तादौणाक्षान्न आधारवाचिन आसेवायां धोल्यायां वा सप्तमीविधानम् ।	२०८	१०-१५
९८ ,, —			स्वाम्यादिभि सप्तभिर्युक्तादौणाक्षान्न सप्तमी वा स्यात् ।	२०८	१६-१७
९५ आ०बो०—			अधिकरणस्य षण्णां भेदानामेक- स्यैव भेदस्याऽत्रोदाहरणम् ।	२०८	१८-२०
९६ ,, —			ससाधनिकान्युदाहरणानि शङ्का- समाधान च ।	२०८	२१-३४
९७ ,, —			उदाहरणे द्वे सूत्ररचना प्रयोजनस्य फलनिर्देशन च ।	२०८	३५-३९
९८ ,, —			सूत्रार्थं स्वाम्यादिशब्दनिष्पत्तिश्च ।	२०८	४०-४२
९९ त०प्र०—			ऊप्रत्ययाथ इन् तदन्ताद् व्याप्यात् सप्तमीविधानम् ।	२०९	४-११
१०० ,, —			व्याप्येन स्युक्ताद्वेतोर्नाम्न सप्तमी- विधानम् ।	२०९	१२-१५
९८ आ०बो०—			स्वाम्यादीनां प्रयाणां समानार्थत्वे- ऽपि भेदेनोपादानस्य प्रयोजनं तेन निष्पन्नं प्रत्युदाहरण च ।	२०९	१६-१९
९९ ,, —			उदाहरणं सूत्ररचनायाः प्रयोजनस्य प्रदर्शन च ।	२०९	२०-३४
१०० ,, —			सूत्रस्य स्पष्टार्थं, तत्त्वप्रकाशिका- स्थितोदाहरणानां चतुर्णां क्लोकस्थित- कर्मवाचिशब्दानां निष्पत्तिश्च ।	२०९	३५-४६
१०१ त०प्र०—			असाधुयुक्तगौणानाम्प्रोऽप्रत्यादौ सप्तमीविधानम् ।	२१०	१-३
१०२ ,, —			साधुयुक्तगौणानाम्प्रोऽप्रत्यादौ सप्तमी- विधानम् ।	२१०	४-७
१०३ ,, —			निपुणसाधुभ्यां युक्तगौणानाम्प्रोऽप्र- त्यादौ सप्तमीविधानम् ।	२१०	८-१२
१०४ ,, —			खे ईशे च वर्तमानादधिना युक्त- क्षान्नः सप्तमीविधानम् ।	२१०	१३-१६
१०१ आ०बो०—			शङ्कानामुत्पादनं ततश्च तासां निर्मु- लनम् ।	२१०	१७-२५
१०२ ,, —			मतान्तरप्रदर्शनं शङ्कासमाधानं च ।	२१०	२६-३२
१०३ ,, —			द्वे उदाहरणे तयोरर्थश्च ।	२१०	३३-३५
१०४ ,, —			उदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	२१०	३६-४४
१०५ त०प्र०—			उपेन युक्तादधिकिवाचिगौणान्न सप्तमीविधानम् ।	२११	१-४
१०६ ,, —			यस्य क्रिययाऽन्यस्य क्रिया लक्ष्यते तस्माद्रौणाक्षान्नं सप्तमीविधानम् ।	२११	५-१४
१०५ आ०बो०—			सार्थमुदाहरणं सूत्ररचनाया प्रयो- जनं च ।	२११	१९-२४
१०६ ,, —			भावलक्षणयो शब्दयो स्पष्टार्थं, उदा- हरणं च ।	२११	२५-३२
१०६ ,, —			शङ्कासमाधानमुदाहरणप्रत्युदाहर- णानि च ।	२११	३३-४६
१०७ त०प्र०—			यस्याऽध्वनो भावेनाऽन्यस्य भावो लक्ष्यते तदध्ववाचिनोऽन्तेन सहै- कार्थ्यं वा भवति ।	२१२	१-९
१०८ ,, —			यद्भावो भावलक्षणं तत्र वर्तमाना- द्रौणाक्षान्नो वा षष्ठीविधानम् ।	२१२	१०-१३

सूत्रम् ।	वृ०	प०	विषय ।	पृ०	प०
१०९ त०प्र०—			निर्धारणे गम्यमाने गौणान्न षष्ठी सप्तमी भवति तस्मिन्निर्धारणे कथ- मिदं कथं गम्यमाने ।	२१२	१४-१६
१०७ आ०बो०—			सूत्रार्थं, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि शङ्कासमाधानं च ।	२१२	१७-३१
१०८ ,, —			वाग्रहणसम्बन्धिषाड्कोत्यादन पश्वा- दिर्मूलनं च ।	२१२	३२-३८
१०९ ,, —			निर्धारणस्य विभागस्य चार्थं, उदा- हरणं शङ्कोत्पादनं च ।	२१२	३९-४४
११० त०प्र०—			क्रिययोर्मध्येऽध्वकालवाचिनोर्नाम्नो पश्चमी तथा सप्तमी विभक्तिर्भवति ।	२१३	५-१२
१११ ,, —			अल्पीयोवाचिनाऽधिकशब्देन युक्तादौयोवाचिनो गौणान्न सप्तमीपश्चम्यौ भवत ।	२१३	१३-१६
११० आ०बो०—			सूत्रार्थं शङ्कासमाधानानि च ।	२१३	२७-४३
१११ ,, —			सूत्रार्थं उदाहरणं च ।	२१३	४४-४७
११२ त०प्र०—			भूयोवाचिनाऽधिकशब्देन युक्ताद- ल्पीयोवाचिनो गौणान्नान्नस्तृतीया- विभक्तिर्भवति ।	२१४	१-३
११३ ,, —			पृथग्मानाभ्यां युक्तादौणाक्षान्न पश्चमी तृतीया च ।	२१४	४-७
११४ ,, —			ऋतेशब्देन युक्तादौणाक्षान्नो द्वितीया पश्चमी च स्यात् ।	२१४	८-१०
११५ ,, —			विनाशब्देन युक्तादौणाक्षान्नो द्वितीया पश्चमी तृतीया च ।	२१४	११-१३
११६ ,, —			तुल्याभिर्युक्तादौणाक्षान्नस्तृतीया षष्ठी च भवति ।	२१४	१४-१९
११२ आ०बो०—			उदाहरणं तस्य सूत्रार्थेन सह समन्वयश्च ।	२१४	२०-२२
११३ ,, —			सूत्रार्थं सूत्ररचनाया प्रयोजनं च ।	२१४	२३-३६
११४ ,, —			सूत्रार्थं, उदाहरणं मतान्तर- प्रदर्शनं च ।	२१४	२७-३१
११५ ,, —			विभक्तित्रयं विदधातीदं सूत्रमिति सूत्रार्थं ।	२१४	३२-३४
११६ ,, —			अर्थग्रहणस्य प्रयोजनं, प्रत्युदाहरणं शङ्कासमाधानं च ।	२१४	३५-४२
११७ त०प्र०—			एनप्रत्ययान्तेन युक्तगौणान्नो द्वितीयाषष्ठी भवति ।	२१५	१-४
११८ ,, —			हेत्वर्थैर्युक्तादौणाक्षान्नस्तृतीयाया सर्वा भवन्ति ।	२१५	५-१०
११९ ,, —			हेत्वर्थैर्युक्तात् सर्वादेर्गौणान्नान्न सर्वा विभक्तयो भवन्ति ।	२१५	११-१७
१२० ,, —			असरववाचिन आरादर्थाक्षान्नष्टाक- सि ङि ङम् एते चत्वार एव प्रत्यया भवन्ति ।	२१५	१८-२७
११७ आ०बो०—			ससाधनिकमुदाहरणं प्रत्युदाहरणं च ।	२१५	२८-३०
११८ ,, —			सूत्रार्थं शङ्कासमाधानं च ।	२१५	३१-३५
११९ ,, —			सूत्रार्थो मतान्तरवर्ता नामानि च ।	२१५	३६-३७
१२० ,, —			उदाहरणं प्रत्युदाहरणं मतान्तर- प्रदर्शनं च ।	२१५	३८-४३
१२१ त०प्र०—			जात्याख्यायामेकस्याऽसंख्यस्य वा बहुत्वविधानम् ।	२१६	१-९

सूत्रम् । पृ०ना० ।	विषयः ।	पृ० प०	प०शि० नं० ।	परिशिष्टनाम ।	पृ० प० ।
१२२	त०प्र०—विशेषणरहितस्याऽस्यदो द्वित्वस्यैकत्वस्य च वा बहुत्वविधानम् ।	२१६ १०-१३	३	संशोधनसहायीभूतताडपत्रीयग्रन्थनामानि ।	२३२
१२१	भा०बो०—सूत्रार्थ, प्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	२१६ १६-३६	"	" " " " हस्तलिखितग्रन्थनामानि ।	२३२-२३३
१२२	" —शङ्कासमाधान प्रत्युदाहरणं च ।	२१६ ३७-४४	"	" " " " मुद्रितग्रन्थनामानि ।	२३३-२३७
१२३	त०प्र०—फल्गुनीप्रोष्ठपदनक्षत्रयोर्द्वित्वस्य वा बहुत्वम् ।	२१७ ३-८	४	साधनिकायां षट्पादस्थसूत्रतोऽधिकबोधदानैकवद्वकक्षाणां सिद्धहेमपदपादवाद्यसूत्राणामकारादिक्रम ।	२३८-२५३
१२४	" —गौरवार्हस्य शब्दस्य द्वित्वस्यैकत्वस्य च वा बहुत्वविधानम् ।	२१७ ९-१३	५	साधनिकायां साक्षीभूताऽन्यवैयाकरणसूत्राकारादिक्रम ।	२५४-२५५
१२३	भा०बो०—सूत्रार्थ, उदाहरणप्रत्युदाहरणानि, शङ्कासमाधानं च ।	२१७ १९-३८	६	साधनिकायां विषयस्पष्टीकरणार्थं समुपन्यस्तानां ग्रन्थान्तरगद्यपद्यानामकारादिक्रम ।	२५६-२५९
१२४	" —उदाहरणानि पञ्चालादिशब्दानामर्थस्पष्टता च ।	२१७ ३९-४५	७	ग्रन्थस्थितसूत्रवृत्त्युदाहरणादिस्पष्टीकरणार्थं सुगृहीतानां ग्रन्थरत्नान्तरनाम्नामकारादिक्रम ।	२६०-२६१
त०प्र०—द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादस्य समाप्ति तत्सूचकं श्लोकश्च ।	२१८ ३-६		८	ग्रन्थस्थानेकविधस्यले शेषकश्चिदादिबिरुदोपदलाञ्छितशाब्दिकनामकारादिक्रम ।	२६२-२६५
भा०बो०—शब्दोत्पादनं तस्याऽतिविस्तरैण समाधानं च ।	२१८ ९-३०		९	ग्रन्थस्थितविविधविषयव्यवस्थातात्पर्यप्रकाशनसमर्थाभूतन्यायादिग्रन्थनामानि ।	२६५-२६८
	—षष्ठपादसमाप्तिसूचकश्लोकस्याऽन्वयानुसारेण टीकाप्रदर्शनं च ।	२१८ ३१-३८	१०	बहुवचनादीनां समाधानानि फलप्रदर्शनानि च ।	२६९-२७०
	—आनन्दबोधिनीघृत्तिकारस्य सङ्क्षेपेण परिचय ।	२१८ ३९-४३	११	अकारादिक्रमेण घातूनामेकोत्तराणि त्रीणि शतानि ।	२७१-२७६
प०शि० नं० ।	परिशिष्टनाम ।	पृ० प०	१२	सूत्र-वृत्तिस्यशब्दार्थसंग्रह ।	२७६-२९२
१	सिद्धहेमपदपादसूत्राणि ।	२१९-२२५	१३	ननुनचाऽभाविपदैस्तथापितशङ्कासंग्रह ।	२९२-३२३
२	सिद्धहेमपदपादसूत्राकारादिक्रम ।	२२६-२३१	१४	शाब्दिकनामकाराद्यनुक्रमेण नामानि ।	३२४-३२९
			१५	अथ वृत्ति-रचना-प्रशस्तिः ।	३३०
			१६	साङ्केतिकशब्दानां परिस्फुटता ।	३३१
			१७	सूत्र-वृत्तिग्रन्थपरिमाणप्रदर्शक-ग्रन्थम् ।	३३२
			१८	शुद्धिग्रन्थम् ।	३३३-३३६



सकलसङ्घटचूरकेभ्यः श्रीसिद्धचक्रेभ्यो नमो नमः ।

विश्वजनमनोवाञ्छितपूरकः श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो विजयतेतमाम् ।

खोपज्ञश्रीतत्त्वप्रकाशिका—बृहद्बृत्तिसमलंकृतम् ।

श्रीआनन्दबोधिनीविद्युतिविभूषितम् ।

अनेकराजन्यवरमौलिमुकुटमालासमुद्भयमानशासनशासनप्रभावनाद्यनेकविधिविधानदक्षापरललनाप्राप्तप्रावृभावोष्टादश-  
विषयवर्त्यनन्यशासनभूमिपालकुलमण्डलमण्डनसम्राट्कुमारपालनरपालससेव्यमानक्रामाम्बुर्जनवनवोन्मेष-  
प्रज्ञाप्रतिभातिप्रचण्डपाण्डित्याभिनवयशोराशिजलराशिसमनासादितान्यविदग्धकीर्तिसखन्तीप्रवेश-  
प्रत्युत्पन्नमतिमन्त्रिवहावधारितमुखसरसिजासनोद्भवभारतीभाविलक्षणचातुरीपुर्णसमस्तवा-  
च्यविमाविमासितवदननिजसुद्धिप्रकाशप्रकर्षाधरीकृतलेखसूरिस्याद्वादप्रकाशो-  
न्मीलितज्ञानचक्षुर्विपश्चिन्मूर्धन्यमणिसकलस्वपरसिद्धान्तसिन्धुमयनमन्द-  
रायमार्णसौजन्यवारानिधिसमुत्तकनकावदातमूर्तिकलिकालसर्वज्ञ-  
विस्दोपपदलाञ्छिताऽऽचार्यश्रीहेमचन्द्रकृतसुप्रकाशम्—

# ॥ श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ॥

॥ अहं ॥

प्रणम्य परमात्मान श्रेयः शब्दानुशासनम् । आचार्यहेमचन्द्रेण स्मृत्वा किञ्चित्प्रकाशयते ॥ १ ॥

अहं ॥ १ । १ । १ ॥

अहंनम सिद्धचक्राय शाश्वतानन्ददायिने । सर्वमन्त्रेष्वय मन्त्रोऽविन्त्यविन्तामणीयते ॥ १ ॥

यत्पादजलसस्पर्शान्मन्दो वाचस्पतीयति । नम शङ्खेश्वरेशाय विश्वविभ्रविनाशिने ॥ २ ॥

चामीकरविधुन्नासिस्रवृत्तिकृते नम । सूरये हेमचन्द्राय हेमचन्द्रयशस्वते ॥ ३ ॥

जैनागमसुधादोग्रे सागरानन्दसूरये । सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय पूज्याय सुरवे नम ॥ ४ ॥

सिद्धहेमचन्द्रवृत्तिविषयस्यलजोधिनीम् । कुर्वेऽह विद्युति बालमनोज्ञाऽऽनन्दबोधिनीम् ॥ ५ ॥

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनतत्त्वप्रकाशिकापरामिधानबृहद्बृत्तिग्रन्थस्यादौ सूत्रशुक्तिरुद्भगवद्देमचन्द्रो निजपरमनोवाञ्छितसिद्धयर्थं ग्रन्थ-  
प्रतिबन्धकदुरितप्रशमय व्युरिपत्सुप्रेक्षापत्रयोजकीभूतविषयप्रयोजनसर्वन्धाधिकारिह्पाणुबन्धचतुष्टयगर्भ स्वपरेष्टदेवतासकीर्तनरूप नमस्कारा- २४  
त्मक मङ्गलमाह—प्रणम्य इत्यादिना । परमात्मानम्—परमश्चासौ आत्मा च परमात्मा तम् परमात्मानम्—अवाधितज्ञानातिशयादिविराजमान  
देवाविदेवविशेष, एतेन—आत्मनि परमत्व—अवाधितज्ञानातिशयादिविराजमानत्व सूचितम् । प्रणम्य—मनसि नत्वा, एतेन—करशिर सयो-  
गादिरूपनमस्कारार्थकनमश्चातो प्रोपसर्गयोगे मानसिकत्व नमस्कारस्य सूचितम्, यथा लीके नमस्कार उपहातेऽपि भवति, तथा नात्र इति २७  
तद्भाववर्तनमपि तेन सूच्यते । श्रेयः—अतिशयेन प्रशस्य, अनुशिष्यन्ते—व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन इति अनुशासनम्, शब्दाना लौकिकाना  
प्राकृताना च अनुशासनम् व्युत्पादन शब्दानुशासनम्—व्याकरणम् । व्याकरणेऽस्मिन्नतिशयप्राशस्त्ये “एन्द्र चान्द्र काशकृष्ण कौमारं  
शाकटायनम् । सारस्वत चापिशल शाकल्य इत्यादिना ॥” इत्यादिपूर्वप्रणीतशब्दानुशासनापेक्षया नातिविस्तीर्णतया, अतिप्रकीर्णतया, अतकी- ३०  
र्णतया च बोध्यम् । शब्दानामनुशासन शब्दानुशासनमिति पष्ठीसमासस्तु इध्यवृक्षन इत्यादिबहोव्य । “वृत्तीयायाम्” ३।१।८४। इति य कृतम-  
पेक्ष्य षष्ठी तमेव कृतमपेक्ष्य यदि वृत्तीया स्यात्तदा निषेधो भवति । अपिच “द्विहेतो ०” २।२।८७। इति षष्ठीपक्षे यत्र वृत्तीया तत्र “वृत्तीयायाम्”  
३।१।८४। इति निषेध, अत्र तु ऋजुराचार्यहेमचन्द्रस्य प्रयोजनाभावेनोभयप्राप्त्यभावात् । अत्र त्वपेक्षामेवाच्छब्दानामिति षष्ठी अनुशा- ३३  
सनापेक्षया, आचार्यहेमचन्द्रेण इति वृत्तीया प्रकाशयते इत्यपेक्षया, इति शब्दानामनुशासन शब्दानुशासन इति षष्ठीसमास सूत्रपक्ष ।  
स्मृत्वा—सर्वजनहितकाम्यया उपदेशद्वारा व्याकरणमिदं तदधीन कृत्वा । आचार्यहेमचन्द्रेण—आ सामस्येन शास्त्रार्थावर्धयन्ते—ज्ञायन्ते-  
ऽनेनेति—आचार्यं शास्त्रार्थज्ञाता । हेमचन्द्र—स्वर्णचन्द्राभ्या समो भगवान् हेमचन्द्र, आचार्यहेमचन्द्र तेन आचार्यहेमचन्द्रेण, एतद्विप्रहार्थ- ३६  
प्रदर्शनेन आचार्य इत्यस्य विशेषणत्व, तत एव च पूर्वनिपातोऽन्यथा परनिपात स्यात् सज्ञाशब्दत्वेन आचार्यशब्दस्य । एतदुक्त्या भगवता  
स्वनाम खोपज्ञशब्दानुशासनटीका च समुपदर्शिता, अर्थात् शब्दानुशासनम्, तत्त्वप्रकाशिका नाम टीका च विरच्यते । आत्मनामोच्चारणस्य  
निषेधेऽपि तद्विज्ञेऽदोष इति कृत्वा ‘आचार्यहेमचन्द्रेण’ इत्युक्ति । किञ्चित्—स्वल्पम् क्रियाविशेषणम् । प्रकाशयते—सर्वज्ञभगवत सनिधौ ३५



अर्हं इत्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं, सिद्धचक्रस्यादिवीजं, सकलागमोपनिषद्भूतमशेषविघ्नविघातनिघ्नम-  
खिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपममाशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि प्रणिधेयम् । प्रणिधानं चानेनात्मनः सर्वतः संभेदस्तदभिधेयेन  
३ चाभेदः । वयमपि चैतच्छास्त्रारम्भे प्रणिधेयमेहे । अयमेव हि तात्त्विको नमस्कार इति ॥ १ ॥

सर्वप्रकाशनमशक्यमिति मत्वा किञ्चित्प्रकाश्यते । धीघन महामहिम्नातिशयविराजिदेवाधिदेवविशेष नमस्कृत्य-हृदि निधाय सर्वजनहितकाम्यया  
शब्दानुशासनमिदं, उपदेशद्वारा परायत कृत्वा आचार्यहेमचन्द्रेण प्रकाशमानं शब्दानुशासनं सर्वविदं पुरस्तात्किञ्चित् प्रकाश्यते । शब्दानुशासन-  
४ मित्युक्त्या शब्दरूपविषयोऽभिहितं, श्रेय इति तद्विशेषणद्वारा प्रयोजनमभिहितम् । परमात्मानं प्रणम्य इत्युक्त्या सर्वसाधारणत्वाद्वाक्यकरणस्य तदनु-  
सारेणाय नमस्कारोऽभिहितः । शास्त्रविषययोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावलक्षण संबन्ध, तज्ज्ञासाधुरधिकारी इति संज्ञेयः । विस्तरस्त्वन्त्यतोऽनुसंधेयः ।

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनसूत्रग्रन्थस्य निर्विघ्न आरम्भस्थिरीकरणसमाप्त्यर्थं सूत्रकार स्नेहदेवताप्रणिधानरूपं, व्याख्यातृधोतृणानुपपन्नतो  
५ मङ्गल चकार—अर्हं—प्रणिधेयम्, इत्यन्वयः । प्रणिधेयस्य अर्हं इत्यस्य स्वरूपमविज्ञाय प्रणिधानाशक्यतया तत्स्वरूपमाचष्टे—अर्हं—इत्येत-  
दक्षरं—अक्षरं—अक्षरधीजम्, अत एव सिद्धचक्रस्यादिवीजमित्यादिभिः किं सगच्छते इति स्वरूपव्याख्यानम् । शब्दानुशासनस्य सर्वसाधारणत्वे  
अक्षरम्—न क्षरति—न चलति स्वस्तास्वरूपादक्षरतत्त्वं—ब्रह्म इति वा सर्वेयानुसारी तदर्थः । पूर्वं स्वरूपमुक्त्वा अर्हंपदाभिधेयमर्थमाह—परमे-  
१२ श्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं—परमेष्ठिनो विशेषण परमेश्वरस्येति तु “देवतानां गुरुणा च नाम नोपपद विना । उच्चरेष्वैव जायाया क्वचिन्नाम-  
नस्तथा” ॥ इति सोपपददेवतानामोच्चारणस्य विधानेन पञ्चस्वर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुसंज्ञेषु परमेष्ठिषु मध्ये अर्हंत एवात्र प्रहणाय च बोध्यम्,  
परमेश्वरस्य ईश्वरस्य परमेश्वरस्य परमेश्वरस्य—ब्रह्मविंशतिशयरूपपरमेश्वरस्यसंपन्नस्य—परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी तस्य परमेष्ठिनोऽर्हंतो वाचक  
१५ बोधक अर्हं इति अभिधेयव्याख्यानम् । अत्रार्हमित्यस्य वाचकत्वोक्तिस्तु—मन्त्रकल्पे मन्त्रवर्णानां वाचकत्वकीर्तनाभिप्रायेण, यथा—अ-सि-आ-  
उ-सा—इति वीजपञ्चमर्हदादीनाम् इत्यन्वयं विस्तरः । परमेश्वरस्य परमेष्ठिन इत्युक्त्या निरस्त्रनिखिलागादिदोषनिकर, सदा प्रसन्न, सर्वज्ञ,  
शास्त्राद्युपाधिरहितो देवाधिदेवस्तेजोमय प्रतिपाद्यते । अभिधेयव्याख्यानमुक्त्वा तत्तात्पर्यमाह—सिद्धचक्रस्यादिवीजं—सिद्धचक्रस्य—देवगुरु-  
१८ धर्मबोधकस्य—अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसौधुर्ज्ञानदर्शनचरित्रतेषु समुदायरूपस्य—स्याद्वादसिद्धान्तप्रसिद्धस्य चक्रविशेषस्य रूढोक्तिं सिद्धचक्रस्ये-  
त्यनेन । अथवा सिध्यन्ति अस्मादिति सिद्ध, सिद्धश्च तत्पञ्चमं सिद्धचक्रं तस्य सिद्धचक्रस्य, अस्माच्चक्रात्सिध्यन्ति सफलमनोरथा भवन्ति  
परमाक्षरतत्त्वमर्हमिति ध्यायन्तोऽत एव तस्मिन् चक्रे सिद्धत्वं समुपपन्नं, तस्य सिद्धचक्रस्य आदिवीजं—प्रथमं वीजं, एतेन अर्हमिति वीजसदृशं,  
२१ यथावीजं भूम्यामुत फलाङ्कुरं प्रसूते तथेदमपि पुण्यादिप्ररोहशुक्ति—मुक्तिफलजनकं बोध्यते । अस्य वीजस्यान्यसर्ववीजापेक्षया व्यापकत्वं सर्व-  
वीजमयत्वेन बोध्यम् । व्याकरणस्य सर्वसाधारण्येन अकारादारभ्य क्षयपन्थानां प्रसिद्धानां वर्णानां चक्र—समुदायस्य मुख्यं वीजमर्हमिति  
बोध्यम् । अर्हं इत्यस्य प्राधान्यमाचष्टे—सकलागमोपनिषद्भूतम्—सकल आगम—द्वादशाक्षरूपं तस्य उपनिषद्भूतं रहस्यतो प्राप्तं  
२४ तात्त्विकमिदम् । अथवा—सकलागमेषु—पूर्वपश्चिमात्रारूपेषु उपनिषद्भूतम्—परमेश्वरपरमेष्ठिवाचकमर्हमिति रहस्यभूतं, अत एव च तत्प्रणिधि-  
विषयम् । लब्धस्य रक्षणं योगं अलब्धस्य प्राप्तिं—क्षेम इति योगक्षेमशालित्वं दर्शयति—अशेषविघ्नविघातनिघ्नं—अशेषा विघ्ना—  
समप्रशुभक्रियाविनाशका—तेषां अशेषविघ्नानां विघातं विशेषेण घातं—हननं, अयं यत्रतत्रमन्त्राधिराजस्तथा विघ्नविनाशको यथा पुनस्तेषां  
२७ प्रादुर्भावो न भवति इत्यर्थः । अशेषविघ्नविघाते निघ्नम्—परवशम् इति अशेषविघ्नविघातनिघ्नम् ।

१ यथा मदान्धो दन्ती मदावेशेन परवशो वृक्षाधीनं समूलमुन्मूलयति, तथा ध्यानपरवशोऽयमपि महामन्त्रराजो विघ्नद्रुमोन्मूलने  
समर्थो भवति । इत्यनेनार्हं इत्यस्य सामर्थ्यातिशयोपवर्णनम्, योगोपदर्शनं च स्वितम् । अलब्धस्य प्राप्तिं—क्षेम इति तमुपदर्शयति—अखिल-  
३० दृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमम्—दृष्टानि—राज्यादीनि च, अदृष्टानि—स्वर्गादीनि च तानि फलानि, दृष्टादृष्टफलानि । अखि-  
लानि—सकलानि, दृष्टादृष्टफलानि—राज्यस्वर्गमोक्षसुखानि, अखिलदृष्टादृष्टफलानि—समग्राज्यस्वर्गमोक्षादिसुखानि, अखिलदृष्टादृष्टफलानां  
संकल्प-इच्छासंपादनं, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्प-सम्पूर्णराज्यादिसर्वमोक्षसुखाभिलाषसंपादनं, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पे कल्पवृक्षेण—सुर-  
३३ तरुणा, उपनीयते यत्तत्तथा—कल्पवृक्षोपमं अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमं—सम्पूर्णराज्यादिसर्वमोक्षसुखाभिलाषसंपादनं देवतारूपमिदं-  
मर्हं इत्यादिवीजम् । २ अथवा—दृष्टात्—क्रियाविशेषात्, अदृष्टात्—पुण्यादिशेषात् यत्फलं दृष्टादृष्टफलं, अखिलं दृष्टादृष्टफलं, तस्य सकल्प-  
अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्प, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पे कल्पद्रुमोपनीयते यत्तत्तथा, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपममिति । ३ अथवा—  
३६ संपूर्णा कल्पा—सकल्पा, फले सकल्पा—फलसंकल्पा, दृष्टानामदृष्टानां च फलसकल्पा, दृष्टादृष्टफलसंकल्पा, अखिला दृष्टादृष्टफलसंकल्प-  
अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पा, तेषां कल्प-अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्प, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्प एव द्वयं अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्प-  
कल्पद्रुमं, स उपनीयते—सामीप्येन परिच्छिद्यतेऽनेन इति, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमम् । एतेन अन्यसर्वेयत्रतत्रमन्त्रेभ्योऽस्य  
३९ अर्हं इत्यस्य प्रकृतसामर्थ्याशालित्वं ज्ञायते । इत्यं व्याख्यात्रणेण विस्तृतं अर्हं इत्यस्य प्रकृतोपयोगं प्रदर्शयति—आशास्त्राध्ययना-  
ध्यापनावधि—इदं प्रणिधेयमित्यत्र प्रणिधानलक्षणक्रियाविशेषणम्, क्रियाविशेषणानां कर्मत्वमित्यनुशासनेन, तस्य कर्मणिद्वितीया बोध्या,  
शास्त्रात् आ इत्याशास्त्रं, अध्ययनं च अध्यापनं च अध्ययनाध्यापने, आशास्त्रं अध्ययनाध्यापने आशास्त्राध्ययनाध्यापने, आशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि-  
४२ ध्यापने भवती यस्य तत्तथा, आशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि । अर्हं आशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि—शास्त्रमभिव्याप्य अध्ययनाध्यापनावधिक-  
प्रणिधेयम्—प्रणिधिविषयम् । कथंभूतं अर्हं? इत्यपेक्षायां पूर्वोक्तविशेषणपट्टं समुपयोज्यम् । प्रणिधेयम्—प्रणिधानविषयमिति-  
विवरणेन प्रणिधानस्वरूपं ज्ञायते तदेवानुस्य प्रणिधानं च इत्यादिना तत्स्वरूपव्याख्यानम्, अनेन—प्रणिधेयेन ‘अर्हं’ इति वीजेन,  
४५ आत्मनः—प्रणिधायकस्य, सर्वतः—सर्वेभ्यः, संभेदः—संभेदरूपः, सम्यन्धरूपश्च भेद इति, प्रणिधानस्य प्रथमो भागः । द्वितीयस्तु  
आत्मनो ध्यायकस्य तदभिधेयेन अर्हं; इतिपदाभिधेयपरमेश्वरपरमेष्ठिना सह अभेदः—एकीभाव—य एवाह स एवाऽर्हमिति, य एव  
४८ विनाशसामर्थ्यं हृदि धारयित्वा—प्रत्यङ्गताऽपि मया तदेव प्रणिधेयमित्याद्येनाह—वयमपि इत्यादिना । क्व—एकव्यक्तित्वात्पर्येणोचरितादस्य  
च्छब्दाद्देहवचनन्तु पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टस्य अर्हमित्यस्य ध्येयस्य ध्यानेन आत्मनि समुत्कृष्टत्वेन गुणग्राह्यस्य, तैरभिधतया आत्मनो यदुक्तं  
वाचकत्वाद्बोध्यम् । एतत्—अर्हमिति । शास्त्रारम्भे—शब्दानुशासनादौ, प्रणिधेयमेहे—ध्यायामः, अयमेव—प्रणिधानरूप एव, हि—यत्  
४९ तात्त्विको—यथार्थो, नमस्कारः—प्रहोभाव, एतेन प्रणिधानस्य यथार्थं नमस्कारविशेषणं स्वचितम् । प्रणिधानम् प्रणिधेयम् प्रणि-  
धायकश्च, इति त्रितयस्वरूपव्याख्यातात्पर्याद्यानमापि स्फुटमेव प्रतीयते ॥ १ ॥

## सिद्धिः स्याद्वादात् ॥ १ । १ । २ ॥

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः—नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । ततः सिद्धिर्निष्पत्तिर्निर्वा प्रकृतानां शब्दानां वेदितव्या । एकस्यैव हि ह्रस्वदीर्घादिविधयोऽनेककारकसंनिपातः, सामानाधिकरण्यं, विशेषणविशेष्यभावादयश्च स्याद्वादमन्तरेण नोपपद्यन्ते । सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शन-

शब्दानां साधुत्व लोकत एव सिद्ध, तथा सति किमर्थं शब्दानुशासन इत्यपेक्षायां शब्दानुशासन हि प्रकृतिरियमय प्रत्यय इति विभज्य शब्दान् प्रकृतिप्रत्ययार्थज्ञानद्वारा सज्ञा-परिभोषा-विधि-निर्घम-प्रेतिषेध-विकार-विकल्प-समुर्धय-अतिदेश-अनुवाद-रूपदशविधसूत्रैर्व्युत्पादयति, तेष तदैव सम्भवेत् यदा शब्दाययो सम्बन्धसिद्धिरिति ताम् दशविधसूत्रेष्वधिकारसूत्रेण ब्रवीति—सिद्धिः स्याद्वादात्—स्याद्वादशब्दात्पक्षमी “गम्ययप कर्माधारे” १।२।७। इति । इत्य च प्रासादात् प्रेक्षते इत्यादिवत्, स्याद्वादमाश्रित्य इत्यर्थं, शब्दानामित्यध्याहार शब्दानुशासनस्य प्रकान्तत्वेन बोध्य । सिद्धि—शब्दानित्यत्ववादिमतेन निष्पत्ति, शब्दानित्यत्वादिमतेन च ज्ञप्ति, इति सूत्रपदार्थं, स्याद्वादमते सम्भवाप्यदोष इति । स्याद्वादमाश्रित्य लौकिकानामार्षाण्य ( प्रकृतानां ) शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्तिवो येष्या इति सूत्रफलितार्थं । ननु चोक्तं स्याद्वादमाश्रित्य सस्कृतानामार्षाणां च शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्ति वेदितव्ये, इति तु तदैव विवृष्येत, यदि स्याद्वादपदपदार्थो बुद्धो भवेदिति तदविज्ञातस्वरूप प्रति क स्याद्वादपदार्थे इति चेदुच्यते, स्याद्रूपो वाद—स्याद्वाद १ इति समासे वादशब्दोऽनेकान्त-१२ बोधक, स्याच्छब्दस्तु अनेकान्तद्योतक । स्यादित्येतस्य वाद इति च विग्रहे २ स्यादिति स्वराद्यव्ययम्, वाचकत्वेन अनेकान्तद्योतक बोध्यम्, इति विग्रहद्वयं प्रदर्श्य स्याद्वादपदार्थो निरूपित । स्यादित्यव्ययस्य वाचकत्वे तु, तेनैव सकलार्थवोपे स्यादस्यैव इत्यादिप्रयोगेषु अस्त्येवादिप्रयोगस्यानर्थक्यं पौनरुक्त्यं वा समापदेदित्यभिप्रेत्यानेकान्तद्योतकम् इत्युक्ति । अत्रेयं विप्रतिपत्ति—स्यादित्यव्ययम्, ‘निपातानां द्योतकत्व’ १५ इति पञ्चाभिप्रायेण गुणभावेनानेकान्तस्य द्योतकमिति स्वीक्रियेत, तदा अनेकान्तवाचकपदस्य गुणभावेनैव वाचकत्व भवेत् ‘येनैव रूपेण वाचकं पदमभिधत्ते, तेनैव रूपेण निपातो द्योतयति’ इति सिद्धान्तात् । यदि च स्यादित्यव्यय केनाप्यनुक्रमेणानेकान्त द्योतयतीत्युच्येत, तर्हि तच्छब्दप्रयोगबन्धेन तदर्थविज्ञानाप्तस्य तद्वाचकत्वमेवापद्येत इति, गुणभावेन तस्यानेकान्तद्योतकत्वासंभव । एवमेव प्रधानभावेन १८ स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमित्यसमञ्जसम्, प्रधानभावेन अस्तीत्यादिशब्दैरस्तित्वाद्यर्थावगतौ स्यादित्यनेन प्रधानभावेन तदर्थद्योतननिष्फलत्वात्, यदि च तद्वास्तित्वाद्यर्थद्योतकं स्यादित्युच्येत, तर्हि न कुत्राप्यनभिहितद्योतनदर्शनं भवति । अपिच अस्तिपद प्रधानतया अस्तित्वमभिधत्ते, स्यादिति च गुणरूपेण नास्तित्वाद्यभिधत्ते, इत्यत्र समुपपन्न स्याच्छब्दस्य प्रधानगुणभावेनानेकान्तप्राकाशकत्वमित्यपि अपसिद्धान्त, २१ प्रधानभिहितनास्तित्वाद्यर्थावगति स्यादित्यनेन, तथा सर्वार्थाभिधान तेन शक्यं, नचान्ययोगव्यवच्छेदार्थकेशब्दात्सर्वार्थव्यावर्तनेन न तेषां द्योतकत्व स्यादित्यस्य, मुख्ययुक्त्या यथा एवकारेण सर्वार्थव्यावर्तनं तथा कथञ्च सर्वार्थान्तवर्तिनास्तित्वादिवाद्यवर्तनमिति समायात स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वमिति चेच्छ्रूयताम्—स्यादित्यव्ययस्यानेकान्तद्योतकत्वम्, तथाहि—यथा अस्तीत्यादिपदानि प्रधानगुणभावेनास्तित्वाद्य-२४ र्थानभिधत्ते, तथा स्याच्छब्दोऽपि प्रधानगुणभावेन तदर्थान्योतयति—अयमाशय इत्यरूपेण अस्तित्वं, पर्यायरूपेण च नास्तित्वमिति, इत्यार्थिकनयापेक्षया अस्तित्वस्य मुख्यत्व, तस्य च तद्विनाऽनवस्थितस्य नास्तित्वादिसापेक्षस्यैव संभव, इत्य नास्तित्वस्य गौणत्वं । एवमेव पर्यायार्थिकनयापेक्षया नास्तित्वस्य मुख्यत्व तस्य च तद्विनाऽनवस्थितस्य नास्तित्वसापेक्षस्यैव संभव इति । असिद्धये अस्तित्वस्य गौणत्व इति द्रव्यार्थिकपर्या-२७ यार्थिकनयापेक्षया प्रधानगुणभावेन स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्व तदितरस्य च वाचकत्व सिद्धम् । एतत्सर्वं मनसि निधायह—स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् द्योतकम्—प्रकाशकम् । ततः—स्यादित्यनेनानेकान्तत्वाभावात् । स्याद्वादोऽनेकान्तवादः—अनेकान्तस्य—न एक—अनेक, अनेकोऽन्त धर्मो यस्यासौ इति अनेकान्त, तस्य वाद—यथार्थकथन इत्यर्थं । तदैव स्पष्टयति—नित्यानित्याद्यनेकधर्म-३० शबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । अत्रादिशब्देन—सदसदात्मकत्वाभिलाष्याभिलाष्यत्व—सामान्यविशेषात्मात्मकत्व—गुणपर्यायाणां ग्रहणम् । सप्तम वस्तुजात इत्यर्थेण नित्य, पर्यायरूपेणानित्य, तथा तदैव स्वरूपेण सदन्यरूपेणासदिति, तथाश्वत्वादि सामान्यं, सकलाश्वव्यवयुगुतत्वाद्वापेक्षतासामान्यापेक्षया विशेष । शर्करादीनां माधुर्यं शब्दवाच्यत्वेनाभिलाष्य तत्तारत्तम्यस्य च शब्दावाच्यत्वेनानभिलाष्यत्व, ३१ एवमेवान्यदप्युक्तम् । नित्याक्षानित्याक्ष आदौ येषान्ते नित्यानित्यादय, अनेके ये विकृता धर्मा—नित्यानित्याद्यनेकधर्मा, तैः श्वबल—युगपत्परिणतिप्राप्त, यद् एक अद्वितीय वस्तु—अभिन्न सामान्यविशेषाधिकरण नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्तु, तस्य—अभ्युपगम—प्रमाण पुरस्कृत्य स्वीकार । ततः—नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगमरूपानेकान्तवादापरपर्यायस्याद्वादात्, सिद्धि—निष्पत्ति—शब्दानित्यत्ववादि-३४ मतेन, ज्ञप्ति—शब्दानित्यत्ववादिमतेन, इत्युपपन्नव्याख्यान मतविशेषमाश्रित्य, स्वमते तुभयथापि न दोष । स्याद्वादानुशासनेऽनुपपत्तिचतुष्टयमाह—एकस्यैव इत्यादिनारभ्य नोपपद्यन्ते इत्यन्तेन । एकस्यैव हि ह्रस्वदीर्घादिविधय स्याद्वादमन्तरेण न उपपद्यन्ते, एकस्यैव हि स्याद्वादमन्तरेण अनेककारकसंनिपातो न उपपद्यते, स्याद्वादमन्तरेण सामानाधिकरण्यं न उपपद्यते, च विशेषणविशेष्यभावादयो न उप-३५ पद्यन्ते इति द्योतकध्वनय । अत्रादिशब्दात्तान्यादेशप्रकृतिविकृतिनिमित्तनिमित्तिभावादिपरिग्रह । अनुपपत्तिचतुष्टयस्य क्रमशः तात्पर्यवर्णनम्—यदि वर्णानां नित्यत्व स्वीक्रियेत, तर्हि यस्य वर्णस्य ह्रस्वत्व विधीयते तस्यैव दीर्घत्व तत्पक्षे भवितुं नार्हति, ह्रस्वादिविधे पूर्वधर्मेनिश्चितपूर्वकत्वात्, अर्थायस्य ह्रस्वत्व तेन विधीयते, तस्य पूर्वधर्मेनिश्चितिरपि तेन ज्ञायते इति, यदि वर्णानां विनाशित्व स्वीक्रियेत, तर्हि उत्पद्यन्तरेणैव ४२ वर्णविनाशात्कस्य ह्रस्वादिविधिरिति । स्याद्वादसमाधिरे कर्णरूपतया शब्दानां नित्यत्व, ह्रस्वादिरूपतया त्वनित्यत्व इति ह्रस्वदीर्घादिविधेयोपपत्ति । एवमेव पीयमान मधु मद्यति इत्यादौ, मधुनि पीयमानापेक्षया कर्मकारकत्व, मद्यतीत्यपेक्षया कर्तृत्वं, इति एकस्यैव अनेककारकसंनिपात स्याद्वादनये सिष्पत्ति, अन्यथैकस्य नित्यत्वे एकरूपवृत्तित्वाद्वापान्तरानुपपत्तेर्न घटेत कारकसंनिपात । एवमेवानित्यत्वे—कारकप्रयोक्तृत्व-४५ रूप स्वातन्त्र्य कर्तृत्व, इद फलम्, इय क्रिया, इद करणम्, अय क्रम, अय व्यय, इदमनुपपन्न फलम्, इद मम दशा, अय मम सहाय, अयं विपक्ष, इमौ च मम प्रयतमानस्य देशकालौ, इति विमृशन् प्रेक्षापूर्वकारि प्रयतते, इत्येवमात्मक परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोक्तृत्व, प्रादुर्भावानन्तरं विनष्टस्य क्षणमात्रवस्थायिनोऽनित्यस्य न घटेत । इत्येवमप्युक्त्या नित्योऽसंभवेन, कारकसंनिपातस्य तु का कथा? इति कथाञ्चिदित्यं, ४८ कथाञ्चिदित्यमिति नित्यानित्यात्मकः स्याद्वाद एव श्रेयान् । तयैवैकान्तवादिनये भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरेकत्रार्थे द्योतकत्व—सामानाधिकरण्यं घटपटोरिव सर्वथैव भेदे भवितुं नार्हति, सर्वथाऽभेदेऽपि सामानाधिकरण्यं न घटेत्, सामानाधिकरण्यस्य भेदनिवन्धन-

समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम् । यदवोचाम स्तुतिषु—“अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः । नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते” ॥ ३० ॥ स्तुतिकारोऽप्याह—“नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहघातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः” ॥ ६५ ॥ इति ।

अथवा ‘वादाद्’-विविक्तशब्दप्रयोगात् ‘सिद्धिः’-सम्यग्ज्ञानं तद्वारेण च निःश्रेयसं ‘स्याद्’-भवेद् इति शब्दानुशासनमिदमारम्यते इत्यभिधेयप्रयोजनपरतयाऽपीदं व्याख्येयम् ॥ २ ॥

## लोकात् ॥ १ । १ । ३ ॥

उक्तातिरिक्तानां क्रियागुणद्रव्यजातिकाललिङ्गस्वाङ्गसख्यापरिमाणोपलब्धीप्राप्त्युपवर्णनां संज्ञानां परात्रित्यं

- त्वात् । यथा नीलमुत्पलम्, अत्र भेदरूपैकान्तपक्षे, अभेदरूपैकान्तपक्षे वाऽसम्भव सामानाधिकरण्यात्, प्रत्युत दोष, नीलोत्पलमित्यत्र १ उत्पलशब्दविकलता च । इति कथञ्चिद्भेद कथञ्चिदभेद इत्येवरूपो भेदाभेदरूपस्याद्वादस्वीकार एव गरीयान् । तथा विशेषणविशेष्यभावोऽपि न घटते एकान्तवादिनये, तथाहि—विशेषणविशेष्ययोर्नितान्तभेदाङ्गीकारे घटपटयोरिव विशेषणविशेष्यभावाभाव स्यादेवमेव, तयोर्नितान्तभेदाङ्गीकारे घटो घट इत्यादिवद्विशेषणविशेष्यभावाभाव स्याद्विशेषणविशेष्यभावस्य भेदाभेदनिमित्तकत्वात्, इति कथञ्चिद्विशेषणत्व कथञ्चिद्विशेष्यत्वमित्येवैव रूप स्याद्वाद समाश्रयणीय । इत्यत्र शब्दानुशासनस्य सर्वसाधारण्य स्याद्वादनये सिध्यति, न शब्दो नित्यं, शब्दोऽनित्यं इति च पक्षद्वये तयोरेकान्तरूपत्वेन सकलप्राप्त्यभावात् । अपि च विशालत्व स्याद्वादस्य कियदुच्येत—समप्रदर्शनानामपि तद्वृक्षप्रविष्टत्वमित्यादि सर्वथा निर्दुष्टत्व चेत्यादिसर्वमभिप्रेत्य वृत्तिच्छुक्ति—सर्वपार्षदत्वात् इत्यादिना अतिरमणीयम् इत्यन्तेन । सर्वपार्षदत्वात्-सर्वसाधारण्यात्, १५ पर्षदि साधु पार्षद-साधारण, सर्वेषां पार्षद सर्वपार्षद, सर्वपार्षदस्य भाव सर्वपार्षदत्व तस्मात् । चो—हेतौ । शब्दानुशासनस्य—शब्द व्युत्पत्तिजनकशास्त्रस्य, सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणं—सकलानि—समप्राणि, दर्शनानि—नया सकलदर्शनानि, सकलदर्शनानां समूह—सघात स एव आत्मा यस्य, स चासौ स्याद्वादश्च, सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वाद तस्य समाश्रयण-अङ्गीकार, सकलदर्शन- १८ समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयण—अतिरमणीयम्—नितरां निर्दोष इत्यर्थं । स्वसिद्धान्तसिद्ध तदेव स्वपदोक्तेनाह—यदवोचाम स्तुतिषु, अन्य० यो० व्य० ३० श्लोके—अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्—अयमाशय—साध्यधर्मविशिष्टधर्मिण पक्षा शब्दो नित्य एव इत्यादयः, प्रतिकूला पक्षा साध्यविरुद्धधर्मिण प्रतिपक्षा शब्दोऽनित्य एव इत्यादयः पक्षप्रतिपक्षा, अन्योन्य—परस्परं पक्षप्रतिपक्षा अन्यो- ३१ न्यपक्षप्रतिपक्षा, तेषां भाव परस्परविरुद्धधर्मोपचास, अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभाव, तस्मात्-हेतो, यथा इति दृष्टान्ते—येन प्रकारेण, परे जिनशासनबहिर्भूता, प्रवादाः—प्रकर्षेण स्वाभ्युपगनार्थप्रतिपादनशीला सिद्धान्ता, मत्सरिणः—अतिशयेनाक्षमावन्त । तथा—तेन प्रकारेण ते—तव हे भगवन् । भवत अशेषान्—सम्पूर्णान्, नयान्—नैगमसमूहव्यवहारश्रुतसूत्रशब्दसमिहूर्द्धएवभूतेति सप्त, २४ अविशेषं—समत्वेन, इच्छन्—मन्यमान, पक्षपाती—पक्ष पातयतीत्येवशील, अर्थाद्गणेण खीकृतस्य पक्षविशेषस्य विनाशेन शोभमान समयः—स्यात्पदलाञ्छित सिद्धान्त न मत्सरी मत्सराभावनाय इति, सहेतुकोक्ति श्लोकपदार्थश्च ।

स्तुतिकारोऽप्याह—श्रीसामन्तभद्राचार्यविरचितस्वयम्भूतोत्रे ६५ श्लो० तत्र—हे भगवन् । भवत स्यात्पदलाञ्छना.—स्याद्रूप लाञ्छन

- २७ येषान्ते स्यात्पदलाञ्छना—स्यात्पदविहिता । इमे—प्रसिद्धा नयाः—निरवधारणा अभिप्रायविशेषा—पूर्वोक्ता सप्त । रसोपविद्धा—रसेन-पारदेन उपविद्धा—मिश्रिता लोहघातव इव अभिप्रेतफला—अभिप्रेत फल येभ्यस्ते इति विग्रह, यथा पारदसंमिध लोहादिघातु अमीप्सितफलप्रद भवति तथा सप्त नया अपि वाञ्छितफलप्रदा इति, यतो—यस्मात् कारणाद्भवन्ति ततः—तस्माद् हेतो । हितैषिणः— ३० आत्महितेच्छव । आर्याः—मोक्षपथसमीपघाता जना भवन्तं—केवलज्ञानभास्वद्विभूतदेह, प्रणता.—प्रणन्तुमारब्धा इत्यर्थं ।

एतेन समुदितेन ग्रन्थेन युक्तत्वं स्याद्वादस्य प्रतिपादनद्वारा संस्कृतानां प्राकृतानाञ्च शब्दानां सिद्धिरपि तत् इत्यायुक्तावपि, प्रेक्षाव-

- त्प्रवृत्तिप्रयोजकीभूतानुबन्धचतुष्टयासुक्तरूपन्यूनता अथवेति पक्षान्तरेण परिहरति—अथवा इत्यादिना—अस्मिन् पक्षे वादात् सिद्धि- ३३ स्यात्, इति विमज्ज व्याख्यातव्य प्रतिष्ठात् । साधुशब्दप्रयोगद्वारा सम्यग्ज्ञानरूपसिद्धिर्भवतीत्यनेन प्रयोजनमभिहितम्, शब्दानुशासनस्य च शब्दाभिधेयत्वमपि प्रसिद्ध, इत्यं च व्याकरणात्साधुशब्दप्रयोगज्ञानं तद्वारा च परमपदप्राप्तिरिवधेयम् । एवमभिधेयप्रयोजनयोः सवन्व साध्य-साधनभावरूप, शब्दानुशासनमभिधेययोस्त्वभिधानाभिधेयत्वभाव इति सर्वमवदातम् ॥ २ ॥

- ३६ शब्दानुशासनेऽस्मिन्प्रत्याहाररूपक्लिष्टकल्पनामनपेक्ष्यास्वामिलोकप्रसिद्धवर्णमाला गृहीता, सा च द्विपद्याशदक्षरात्मिका—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ, अ अ, ई, ऊ, ऋ, क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब म य र ल व श ष स ह । एवमेव सूत्रप्रश्रयर्थं लोकप्रसिद्धन्याया अपि ग्राह्या, सर्वमिदं हृदि निधाय चकार सूत्र सूत्रकृत् लोकात् । पूर्वस्माच्छब्दात्सिद्धि- ३९ रित्यनुवर्तते, लोकात् सिद्धि इत्यन्वय । अत्र पूर्ववत्पक्षनी सर्वपदार्थपक्षकलोकमाश्रित्य, सिद्धि—ज्ञप्ति कर्तव्या इत्यर्थं । कासां केषाञ्चेति जिज्ञासायामाह—उक्तातिरिक्तानां क्रियागुण इत्यादिना न्यायानां च इत्यन्तेन । उक्तातिरिक्तानां इत्युभयान्वयि तेन उक्तातिरिक्तानां— ४२ क्रियागुण-द्रव्य-जाति-काल-लिङ्ग-स्वाङ्ग-सख्या-परिमाण-अपल-वीप्सा-लुगवर्णादीनां संज्ञानामित्येकोऽन्वय, उक्तातिरिक्तानां—परात्रित्यं

- ४२ नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाभावनवकाशा वलीय इत्यादीनां न्यायानां च इत्यपरोऽन्वय । उभयत्रान्वये विग्रहभेद, तथाहि—यदि तत् संज्ञाना-मित्यन्त्रान्वेति तदा उक्ताभ्य-स्वरादिस्वप्नाभ्य अतिरिक्ता—अधिक्य तासां वृत्त्युक्तसंज्ञानां इत्यर्थं । यदा च तत् न्यायानामित्यन्त्रान्वेति तदा उक्तातिरिक्तानां सर्वधैव अनुक्तानां अन्यै उक्तेभ्य अतिरिक्ता अधिक्य ये न्यायान्तेषां इत्यर्थो वा बोध्य । क्रमेण क्रिये ४५ त्यादि संज्ञापदार्थनिरूपणम्—क्रिया—पूर्वापरीभूतावयवा, गुणः—विशेषण, द्रव्यं—विशेष्यम्, जाति—“आकृतिग्रहणा जातिर्ज्ञानं न च सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिगोष्ठा गोत्र च चरणे सह” इति । कालः—वृत्त्यादिरूप, लिङ्गम्—स्त्यानप्रभव, तस्य पृथ्वीनपुत्रवादिरूप, स्वाङ्गम्—“अधिकारोऽत्र मूर्तं प्राणिस्थ स्वाङ्गमुच्यते । च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं प्रतिमादियु” । सख्या—एकवदित्वाद्यभिधानवृद्धिरेतु, ४८ परिमाणं—सर्वतो मानम्, अपत्यं—पुत्रपौत्रादि, वीप्सा—न्रियागुणद्रव्यैर्युगपत्प्रयोज्युक्त्यां व्युत्पत्तिः, लुक्—अदर्शनम्, अचर्ण इय सदा उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वदीर्घतानुनासिकाननुनासिकभेदविशिष्टस्य, आदिशब्दादिवर्गो वर्गोऽपिग्रह । इन्द्रगम्यहृदीहि । पूर्वोत्परं परात्रित्यं,

नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाच्चानवकाशं बलीय इत्यादीनां न्यायानां च लोकाद्-वैयाकरणसमयविदः प्रामाणिकादेश्च शास्त्रप्रवृत्तये सिद्धिर्भवतीति वेदितव्यम् वर्णसमाप्तायस्य च ॥ ३ ॥

अथ संज्ञाप्रकरणम् ।

तत्र—

औदन्ताः स्वराः ॥ १ । १ । ४ ॥

औकारावसाना वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति । तकार उच्चारणार्थः । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ । ६  
औदन्ता इति बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां पुतानां संग्रहार्थम्, तेन तेषामपि स्वरसंज्ञा । स्वरप्रदेशा  
“इवर्णादिरस्वे स्वे यवरलम्” ॥१।२।२॥ इत्यादयः ॥ ४ ॥

एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घपुताः ॥ १ । १ । ५ ॥

मात्रा कालविशेषः । एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता वर्णा यथासख्य ह्रस्वदीर्घपुतसंज्ञा भवन्ति । एकमात्रो  
ह्रस्वः—अ इ उ ऋ लृ । द्विमात्रो दीर्घः—आ ई ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ । त्रिमात्रः पुतः—आ३ ई३ ऊ३ इत्यादि । ६  
ऐदौतौ चतुर्मात्रावपीत्यन्ये । औदन्ता इत्येव—प्रतक्ष्य, अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः समुदायस्यैकमात्रत्वेऽपि ह्रस्वसंज्ञाया १२  
अभावात् तोऽन्तो न भवति । वर्णानां च ह्रस्वादिसंज्ञाविधानात् ‘तितउच्छत्रम्’ इत्यादावकारोकारलक्षणवर्णसमुदायस्य

नित्यादन्तरङ्गं, अन्तरङ्गाच्चानवकाशं, इत्यादेर्वलीयस्त्व यथास्थान तत्त्वप्रकाशिकाकृदेव वक्ष्यति, इति यथास्थान दर्शयिष्याम ।  
लोकादित्यस्य विचरण वैयाकरणसमयविदः—वैयाकरणानां शाब्दिकानां, समय—सिद्धान्तस्तं वेत्तीति—जानाति इति वैयाकरणवित्त-१५  
स्यादित्यर्थं, वा प्रामाणिकादेः—यथार्थप्रमाणपुर सरं वक्तुभ्य सकाशात् । शास्त्रप्रवृत्तये—शास्त्रस्य शब्दादनुशासनस्य, प्रवृत्तये प्रयोग-  
निष्पत्तये, सिद्धिं ज्ञानिबोध्या । सम्यग्मात्रान्यन्तेऽभ्यस्यन्ते वर्णा अस्मादिति समाप्ताय, वर्णानां अक्षराणां, समाप्ताय—पाठक्रम, तस्य वर्णसमा-  
प्तायस्य—अक्षरपाठक्रमस्य सिद्धिं, लोकात् लोकमात्रित्व बोध्या इत्यन्वयार्थं । इत्य च भगवता शब्दानुशासने स्वीये प्रसिद्धाक्षरराशिपाठक्रमस्य १८  
स्वरादिप्रसिद्धसंज्ञान्यायाश्च गृहीता ॥ ३ ॥

तत्र—वर्णपाठक्रमे, लोकप्रसिद्धे विहिते सति व्यञ्जनानां उच्चारण स्वरमन्तरा न सम्भवतीति कृत्वा तद्रूपजीव्या स्वरसंज्ञा पूर्व-  
माह—औदन्ताः स्वराः । औद्-औकार, अन्त—अन्तावयवो यस्य—अकारादिचतुर्दशवर्णसमुदायस्य स औदन्त अकारादिचतुर्दश-२१  
वर्णसमुदाय स्वरपदबोधय, किमर्थं बहुवचननिर्देश इति वृत्तिकृदेव वक्ष्यति इति समाप्तान्वयार्थप्रदर्शनम् । एतेनात्र लम्बकर्णमानयेत्यादिव-  
त्तद्गुणसविज्ञानो बहुवीहि, ननु दृष्टसागरमानयेत्यादिवदतद्गुणसविज्ञानो बहुवीहिरिति सूचितम् । औदित्यत्र तकारमनुचार्थं “आवन्ता” इति  
निर्देशो स्वरूपापरिग्रह इति समभिप्रायेण वदति तकार उच्चारणार्थः—औदित्यत्र तकार, उच्चारणार्थं—उच्चार्यते—स्वरूपेण स्वीक्रियते-२४  
ऽनेनेति उच्चारण, तदेव अर्थं प्रयोजन यस्य स, उच्चारणार्थः—स्वरूपपरिग्रहार्थं । यद्यप्यन्तग्रहणाभावे विशेषणमन्त इति, औदन्ता वर्णा  
इति काम तथापि दधिना इत्यत्र नौ इत्यस्यौदन्तत्वेन स्वरपदबोधयत्वे “इवर्णादे” इति यत्वं प्रसज्यते इति अन्तग्रहणप्रयोजनम् । के पुन  
अकारादिचतुर्दशवर्णा औकारपर्यन्ता १ इति जिज्ञासाया परिगणयति—अ आ इ ई इत्यादिना । औदन्त स्वर इति सूत्रन्यासे पुतानां २७  
संग्रहामात्रे प्राप्ते बहुवचनमौदन्ता इति, तदेवाह—औदन्ता इत्यादिना, वर्णेषु अपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां पुतानां संग्रहार्थं  
औदन्ता इति बहुवचनं इत्यन्वय । तेन—बहुवचननिर्देशेन पुतसंग्रहेण । तेषामपि—पुतानामपि स्वरसंज्ञा—स्वरपदबोधयत्व । स्वर-  
प्रदेशा—स्वरेण—स्वर इति शब्देन प्रदिश्यन्ते उच्चार्यन्तेऽत्रेति, स्वरप्रदेशा स्वरप्रयोजनस्थानानि, तदेव निर्दिशति—इवर्णादेः इति ॥४॥ ३०

सामान्यस्वरसंज्ञां निरूप्य तद्विशेषमाह—एकद्वित्रिमात्राह्रस्वदीर्घपुताः—एका च द्वे च तिस्रश्च—एकद्वित्रिसो मात्रा येषां ते  
एकद्वित्रिमात्रा, अथैकत्वं द्वित्व त्रित्वं च मात्रायां बोध्यते । मात्रा च फेल्यपेक्षायामाह—मात्रा कालविशेषः, स च निमेषोन्मेषक्रियापरिच्छिन्न, ३  
अत्रौदन्ता वर्णा इत्यनुवर्तते । तथा मात्रया विशिष्यते मात्रा च एकादिभिरित्येव क्रम । ह्रस्वदीर्घपुता ह्रस्वश्च दीर्घश्च पुतत्वेति ह्रस्वदीर्घपुता ३६  
इति द्वन्द्व, एकद्वित्रिमात्रा औदन्ता वर्णा यथासख्य ह्रस्वदीर्घपुता इत्यन्वय । मात्राकाल—यद्वर्णस्योच्चारणक्रियां परिच्छिनत्ति, स एव वर्णो विशेष्य-  
त्तेनेति कालस्याव्यवर्तकत्वाद्विशेषणसमव इति निरसम् तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता इत्यादिना—एकद्वित्रिस  
उच्चारणे मात्रा येषान्ते, इति तद्विग्रह सन्निवेशोपपन्नयेण संज्ञात्रयमिति यथासख्यलाभस्तदेवाह यथासख्यमिति क्रमपूर्वकं स्पष्टोऽर्थं । ३६  
पेदौतौ चतुर्मात्रौ अपि इति अन्ये—शेषमश्ररका । औदन्ता स्वरा इत्यस्मादनुदन्ता इत्यस्य वर्णा इत्यस्य च फलमाह—  
औदन्ता इत्येव प्रतक्ष्य इत्यादिना न भवति इत्यन्तेन । अयमाशय—प्रपूर्वात्सो—तनुकरणे इति धातो ज्वाप्रत्यये तस्य च अपि  
औदन्ता इत्यनुदन्तौ प्रतक्ष्य य अत्रे क्प् सयुक्तस्य व्यञ्जनद्वयात्मकत्वेनेकमात्रिकत्वात् यतो हि व्यञ्जनस्यार्धमात्रिकत्वेन विश्रुतत्वात्प्रवृत्ते ३९  
क्षस्य ह्रस्वसंज्ञायां “ह्रस्वस्य त पितृकृति” ४।४।११३। इति तागमप्रसक्तौ वैरूप्य स्यादिति तदनुदन्तौ तागमाभाव स्पष्ट एव, यत् क्षस्य  
ह्रस्वत्वाभावादिति । सूत्रेऽसिन्वर्णा इत्यनेन यदि वर्णसमुदायस्य ह्रस्वादिसंज्ञास्वाहं तितउच्छत्रम् अत्र अ उ इति वर्णसमूहस्य स्वरस्य प्रत्येक-  
मेकमात्रिकत्वेन दीर्घत्वे सति, “अनाह्माद्येदीर्घाच्छ” १।३।२।८। इति द्वित्वविकल्पप्रसक्तं स्यादिति, प्रत्येकमौकारपर्यन्तानां वर्णानां ह्रस्व-४२  
दीर्घपुतसंज्ञा इत्यर्थो बोध्य । इत्यच—तितउच्छत्रमित्यत्र “स्वरेभ्य” १।३।३०। इति नित्य द्वित्व सिद्धम् । अत्र व्यक्तिपसाश्रयण विवेचने-  
नेतेन सूचितम् । तदेतत्सर्वं विविच्य वदति—अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः इति अत्र—प्रतक्ष्येत्यत्र क्षकारे अर्धमात्रिकयो—अर्थं मात्राया  
अर्धमात्रा, अर्धमात्रास्त्वनयोरिति अर्धमात्रिके, तयो इति विग्रह । व्यञ्जनयो कषयो समुदायस्य—क्प् समुदायस्य क्षस्य एकमात्रत्वे ४५  
अपि ह्रस्वसंज्ञाया अभावात्, तः—“ह्रस्वस्य त” इति, अन्तः—अन्तावयव न भवति, इति अन्वय । वर्णानां च—प्रत्येक वर्णानां ह्रस्वादि-  
संज्ञायाः—ह्रस्वदीर्घपुतसंज्ञाया, विधानं—करण तस्मात्, तितउच्छत्रम्, इत्यादौ अकारोकारलक्षणः तद्रूप, वर्णसमुदाय अ उ इति

समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम् । यदवोचाम स्तुतिपु—“अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः । नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते” ॥ ३० ॥ स्तुतिकारोऽप्याह—“नयास्तव स्यात्सदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः” ॥ ६५ ॥ इति ।

अथवा ‘वादाद्’-विविक्तशब्दप्रयोगात् ‘सिद्धिः’-सम्यग्ज्ञानं तद्वारेण च निःश्रेयस ‘स्याद्’-भवेद् इति शब्दानुशासनमिदमारभ्यते इत्यभिधेयप्रयोजनपरतयाऽपीदं व्याख्येयम् ॥ २ ॥

६ लोकात् ॥ १ । १ । ३ ॥

उक्तातिरिक्तानां क्रियागुणद्रव्यजातिकाललिङ्गस्वाङ्गसख्यापरिमाणपत्यवीप्साङ्गवर्णादीनां संज्ञानां परान्तित्वात् । यथा नीलगुत्पलम्, अत्र भेदरूपकान्तपक्षे, अमेदहर्षकान्तपक्षे वाऽसम्भव सामानाधिकरण्यात्, प्रत्युत दोष, नीलोत्पलमित्यत्र

० उत्पलशब्दविफलता च । इति कथयिद्भेद कथयिद्भेद इत्येवमपि भेदाभेदरूपस्याद्वादस्वीकार एव गरीयान् । तथा विशेषणविशेष्यभावोऽपि न घटते एकान्तवादिनये, तथाहि—विशेषणविशेष्ययोर्नितान्तभेदाङ्गीकारे घटपटयोरिव विशेषणविशेष्यभावाभाव स्यादेवमेव, तयोर्नितान्तभिदाङ्गीकारे घटो घट इत्यादिविशेषणविशेष्यभावाभाव स्याद्विशेषणविशेष्यभावस्य भेदाभेदनिमित्तवत्त्वात्, इति कथयिद्द्विशेषणत्व कथयिद्द्विशेष्यत्वमित्येव रूप स्याद्वाद समाश्रयणीय । इत्यथ शब्दानुशासनस्य सर्वसाधारण्य स्याद्वादनये सिध्यति, न शब्दो नित्यं, शब्दोऽनित्यं इति च पक्षद्वये तयोरेकान्तरूपत्वेन सकलप्राप्तत्वाभावात् । अपि च विशालत्व स्याद्वादस्य कियदुच्येन—समप्रदर्शनानामपि तदङ्गप्रविष्टत्वमित्यारि सर्वथा निर्दुष्टत्व चेत्यादिसर्वमभिप्रेत्य श्रुतिक्रुक्ति—सर्वेषांपदत्वात् इत्यादिना अतिरमणीयम् इत्यन्तेन । सर्वेषांपदत्वात्-सर्वेषांघातत्वात्, १५ पदंदि साधु पापं-साधारण, सर्वेषां पापं सर्वेषांपदं, सर्वेषांपदस्य भाव सर्वेषांपदत्व तस्मात् । चो—हेतौ । शब्दानुशासनस्य—शब्दव्युत्पत्तिजनकशास्त्रस्य, सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणं—सकलानि—समप्राणि, दर्शनानि—नया सकलदर्शनानि, सकलदर्शनानां समूह—सघात स एव आत्मा यस्य, स चासौ स्याद्वादश्च, सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वाद तस्य समाश्रयण-अङ्गीकार, सकलदर्शन

१८ समूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयण—अतिरमणीयम्—नितरा निर्दोष इत्यर्थं । स्वसिद्धान्तसिद्ध तदेव स्वपदोक्त्याह—यदवोचाम स्तुतिपु, अन्य० यो० व्य० ३० श्लोके—अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्—अयमाशय—साध्यधर्मविशिष्टधर्मिण पक्षा शब्दो नित्य एव इत्यादयः, प्रतिपक्षा पक्षा साध्यविरुद्धधर्मिण प्रतिपक्षा शब्दोऽनित्य एव इत्यादयः पक्षप्रतिपक्षा, अन्योन्य—परस्परं पक्षप्रतिपक्षा अन्यो-

२१ न्यपक्षप्रतिपक्षा, तेषां भाव परस्परविरुद्धधर्मोपन्यास, अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभाव, तस्मात्-हेतो, यथा इति दृष्टान्ते—येन प्रकारेण, परे जिनशासनचर्हिर्भूता, प्रवादा—प्रकपेण स्वाभ्युपगमार्थप्रतिपादनशीला सिद्धान्ता, मत्सरिणः—अतिघयेनाक्षमावन्त । तथा—तेन प्रकारेण ते—तव हे भगवन्! भवत अशेषान्—सम्पूर्णान्, नयान्—नैगमसमग्रहव्यवहारक्रजुत्तृशब्दसमभिरुर्ध्वभूतेति सप्त,

२४ अविशेषं—समत्वेन, इच्छन्—मन्यमान, पक्षपाती—पक्ष पातयतीत्येवशील, अर्थाद्रागेण स्वीकृतस्य पक्षविशेषस्य विनाशेन शोभमान समयः—स्यात्पदलाञ्छित सिद्धान्त न मत्सरी मत्सराभाववान् इति, सहेतुकोक्ति श्लोकपदार्थश्च । स्तुतिकारोऽप्याह—श्रीसामन्तभद्राचार्यविरचितस्वयम्भूतोत्रे ६५ श्लो० तव—हे भगवन्! भवत स्यात्पदलाञ्छना—स्याद्रूप लाञ्छन

२७ येषान्ते स्यात्पदलाञ्छना—स्यात्पदविहिता । इमे—प्रसिद्धा नयाः—निरवधारणा अभिप्रायविशेषा—पूर्वोक्ता सप्त । रसोपविद्धा—रसेन-पारदेन उपविद्धा—मिश्रिता लोहधातव इव अभिप्रेतफला—अभिप्रेत फल येभ्यस्ते इति विग्रह, यथा पारदसंमिश्र लोहादिघातु अभीप्सितफलप्रद भवति तथा सप्त नया अपि वाञ्छितफलप्रदा इति, यतो—यस्मात् कारणाद्भवन्ति ततः—तस्माद् हेतो । हितैषिणः—

३० आत्महितेच्छव । आर्याः—नोक्षपथसमीपघाता जना भवन्तं—केवलज्ञानमास्त्रिभूपितदेह, प्रणता—प्रणतुमारब्धा इत्यर्थं ।

एतेन समुदितेन ग्रन्थेन युक्तत्व स्याद्वादस्य प्रतिपादनद्वारा संस्कृतानां प्राकृतानां शब्दानां सिद्धिरपि तत इत्याद्युक्तावपि, प्रेक्षाव-त्प्रवृत्तिप्रयोजकीभूतानुबन्धचतुष्टयायुक्तत्वरूपन्यूनता अवहेति पक्षान्तरेण परिहरति—अथवा इत्यादिना—अस्मिन् पक्षे वादात् सिद्धि ३३ स्यात्, इति विमज्य व्याख्यातव्य प्रतिष्ठात । साधुशब्दप्रयोगद्वारा सम्यग्ज्ञानरूपसिद्धिर्भवतीत्यनेन प्रयोजनमभिहितम्, शब्दानुशासनस्य च शब्दाभिधेयत्वमपि प्रसिद्ध, इत्य च व्याकरणसाधुशब्दप्रयोगज्ञान तद्वारा च परमपदप्राप्तिरित्यवधेयम् । एवमभिधेयप्रयोजनयोः सवन्व साध्य-साधनभावरूप, शब्दानुशासनमभिधेययोस्त्वभिधानामभिधेयत्वभाव इति सर्वमवदातम् ॥ २ ॥

३६ शब्दानुशासनेऽस्मिन्प्रत्याहाररूपकृष्टिकल्पनामनपेक्ष्यास्मामिलोक्तप्रसिद्धवर्णमाला गृहीता, सा च द्विपञ्चाशदक्षरात्मिका—अ वा इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ, अ अ, अँ, अः, ट्ठ, क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व ष ष स ह । एवमेव सूत्रप्रवृत्त्यर्थं लोकप्रसिद्धन्याया अपि प्राक्षा, सर्वसिद्धि हृदि निधाय चकार सूत्र सूत्रकृत् लोकात् । पूर्वस्याच्छात्रात्सिद्धि-

३९ रित्यनुवर्तते, लोकात् सिद्धि इत्यन्वय । अत्र पूर्ववत्पञ्चमी सर्वपदार्थप्रेक्षकलोकमाश्रित्य, सिद्धि—ज्ञप्ति कर्तव्या इत्यर्थं । कासां केषांश्चि जिज्ञासायामाह—उक्तातिरिक्तानां क्रियागुण इत्यादिना न्यायानां च इत्यन्तेन । उक्तातिरिक्तानां इत्युभयान्वयि तेन उक्तातिरिक्तानां—क्रियागुण-द्रव्य-जाति-काल-लिङ्ग-स्वाङ्ग-सख्या-परिमाण-अपत्य-वीप्सा-ङ्गवर्णादीनां संज्ञानामित्येकोऽन्वय, उक्तातिरिक्तानां—परान्तित्व

४२ नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गान्वाभावकाश वलीय इत्यादीनां न्यायानां च इत्यपरोऽन्वय । उभयत्रान्वये विग्रहभेद, तथाहि—यदि तत् संज्ञाना-मित्यत्रान्वेति तदा उक्ताभ्य-स्वरादिसंज्ञाभ्य अतिरिक्ता—अधिका तासां वृत्त्युक्तसंज्ञानां इत्यर्थं । यदा च तत् न्यायानामित्यत्रान्वेति तदा उक्तातिरिक्तानां सर्वेषु अवुक्तानां अन्यै उक्तेभ्य अतिरिक्ता अधिका ये न्यायास्तेषां इत्यर्थो वा बोध्य । क्रमेण क्रिये-

४५ स्यादि संज्ञापदार्थनिरूपणम्—क्रिया—पूर्वापरीभूतावयवा, गुणः—विशेषण, द्रव्यं—विशेष्यम्, जातिः—“आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां न च सर्वेषां । सङ्गदाख्यातनिर्माणा गोत्र च चरणे सह” इति । कालः—वृत्त्यादिरूप, लिङ्गम्—स्थानप्रसव, तस्य पुत्रीनपुंसकादिरूप, स्वाङ्गम्—“अधिकारोऽद्रव मूर्तं प्राणिस्थ स्वाङ्गमुच्यते । च्युत च प्राणिनस्वत्तन्मि च प्रतिमादिषु” । संख्या—एकत्वद्वित्वाद्यभिधानयुद्धिदेव, परिमाणं—सर्वतो मानम्, अपत्यं—पुत्रपौत्रादि, वीप्सा—क्रियागुणद्रव्यैर्युगपत्प्रयोक्तव्यमित्यङ्ग, लुक्—अदर्शनम्, अचर्णं इय सद्भा उदात्तादादासस्वरितह्रस्वधीर्गृह्णतानुनासिकाननुनासिकभेदविशिष्टस्य, आदिशब्दादिवर्णो वर्णादिपरिग्रह । इन्द्रगर्भवहुमीहि । पूर्वोत्परं परान्तित्वं,

नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाच्चानवकाशं वलीय इत्यादीनां न्यायानां च लोकाद्-वैयाकरणसमयविदः प्रामाणिकादेश्च शास्त्रप्रवृत्तये सिद्धिर्भवतीति वेदितव्यम् वर्णसमाप्तायस्य च ॥ ३ ॥

अथ संज्ञाप्रकरणम् ।

तत्र—

औदन्ताः स्वराः ॥ १ । १ । ४ ॥

औकारावसाना वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति । तकार उच्चारणार्थः । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ । ६  
औदन्ता इति बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां प्लुतानां संग्रहार्थम्, तेन तेषामपि स्वरसंज्ञा । स्वरप्रदेशा  
“इवर्णादेरेखे खरे यवरलम्” ॥१।२।२॥ इत्यादयः ॥ ४ ॥

एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः ॥ १ । १ । ५ ॥

मात्रा कालविशेषः । एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता वर्णा यथासख्य ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञा भवन्ति । एकमात्रो  
ह्रस्वः—अ इ उ ऋ ऌ । द्विमात्रो दीर्घः—आ ई ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ । त्रिमात्रः प्लुतः—आ३ ई३ ऊ३ इत्यादि ।  
पेदैतौ चतुर्मात्रावपीत्यने । औदन्ता इत्येव—प्रतक्ष्य, अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः समुदायस्यैकमात्रत्वेऽपि ह्रस्वसंज्ञाया १२  
अभावात् तोऽन्तो न भवति । वर्णानां च ह्रस्वादिसंज्ञाविधानात् ‘तितउच्छत्रम्’ इत्यादावकारोकारलक्षणवर्णसमुदायस्य

नित्यादन्तरङ्गं, अन्तरङ्गाच्चानवकाशं, इत्यादेर्वलीयस्त्व यथास्थान तत्त्वप्रकाशिकाकृदेव वक्ष्यति, इति यथास्थान दर्शयिष्याम ।  
लोकादित्यस्य विवरणं वैयाकरणसमयविदः—वैयाकरणानां शाब्दिकानां, समय—सिद्धान्तस्य वेदिति—जानाति इति वैयाकरणवित्- १५  
स्वादित्यर्थं, वा प्रामाणिकादेः—यथार्थप्रमाणपुर सरं वक्तव्यं सकाशात् । शास्त्रप्रवृत्तये—शास्त्रस्य शब्दानुशासनस्य, प्रवृत्तये प्रयोग-  
निष्पत्तये, सिद्धिं ज्ञप्तिर्बोधा । सम्यग्भाषयन्तेऽभ्यस्यन्ते वर्णा अस्मादिति समाप्ताय, वर्णानां अक्षराणां, समाप्ताय—पाठकम्, तस्य वर्णसमा-  
प्तायस्य—अक्षरपाठकमस्य सिद्धिं, लोकात् लोकमाश्रित्य बोध्या इत्यन्वयार्थं । इत्य च भगवता शब्दानुशासने स्वीये प्रसिद्धाक्षरशिपाठकमश्च १८  
स्वरादिप्रसिद्धसंज्ञान्यायाश्च गृहीता ॥ ३ ॥

तत्र—वर्णपाठकमे, लोकप्रसिद्धे विदिते सति व्यञ्जनानां उच्चारण स्वरमन्तरा न सम्भवतीति कृत्वा तदुपजीव्या स्वरसंज्ञा पूर्व-  
माह—औदन्ताः स्वराः । औत्—औकार, अन्त—अन्तावयवो यस्य—अकारादिचतुर्दशवर्णसमुदायस्य स औदन्त अक्षरादिचतुर्दश- १९  
वर्णसमुदाय स्वरपदबोध्य, किमर्थं बहुवचननिर्देश इति वृत्तिकृदेव वक्ष्यति इति समासान्वयप्रदर्शनम् । एतेनात्र लम्बकर्मणामान्येत्यादिव-  
त्तद्गुणसंज्ञानो बहुमीहि, ननु दृष्टान्तरमानयेत्यादिवदतद्गुणसंज्ञानो बहुमीहिरिति सूचितम् । औदित्यत्र तकारमनुच्चार्य “आवन्ता” इति  
निर्देशे स्वरूपपरिग्रह इति समभिप्रायेण वदति तकार उच्चारणार्थः—औदित्यत्र तकार, उच्चारणार्थं—उच्चार्यते—स्वरूपेण स्वीक्रियते- २४  
ऽनेनेति उच्चारण, तदेव अर्थं प्रयोजन यस्य स, उच्चारणार्थं—स्वरूपपरिग्रहार्थं । यद्यप्यन्तग्रहणभावे विशेषणमन्त इति, औदन्ता वर्णा  
इति लाम तथापि दधिना इत्यत्र नौ इत्यसौदन्तत्वेन स्वरपदबोध्यत्वे “इवर्णादे” इति यत् प्रसज्येत इति अन्तग्रहणप्रयोजनम् । के पुन  
अकारादिचतुर्दशवर्णा औकारपर्यन्ता २ इति जिज्ञासाया परिगणयति—अ आ इ ई इत्यादिना । औदन्त स्वर इति सूत्रन्यासे प्लुतानां २७  
सप्रश्नाभावे प्राप्ते बहुवचनमौदन्ता इति, तदेवाह—औदन्ता इत्यादिना, वर्णेषु अपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां प्लुताना संग्रहार्थं  
औदन्ता इति बहुवचनं इत्यन्वय । तेन—बहुवचननिर्देशेन प्लुतसंग्रहेण । तेषामपि—प्लुतानामपि स्वरसंज्ञा—स्वरपदबोध्यत्व । स्वर-  
प्रदेशा—स्वरेण—स्वर इति शब्देन प्रदिश्यन्ते उच्चार्यन्तेऽनेति, स्वरप्रदेशा स्वरप्रयोजनस्थानानि, तदेव निर्दिशति—इवर्णादेः इति ॥४॥ ३०

सामान्यस्वरसंज्ञा निरूप्य तद्विशेषमाह—एकद्वित्रिमात्राह्रस्वदीर्घप्लुताः—एका च द्वे च तिस्रश्च—एकद्वित्रिसो मात्रा येषां ते  
एकद्वित्रिमात्रा, अत्रैकत्वं द्वित्वं त्रित्वं च मात्रायां बोध्यते । मात्रा च कल्पयेक्षायामाह—मात्रा कालविशेषः स च निमेषोन्मेषक्रियापरिच्छिन्न  
अमौदन्ता वर्णा इत्यनुवर्तते । तच्च मात्राया विशिष्यते मात्रा च एकादिभिरित्येष क्रम । ह्रस्वदीर्घप्लुता ह्रस्वक्ष दीर्घक्ष प्लुतक्षेति ह्रस्वदीर्घप्लुता ३३  
इति द्वन्द्वं, एकद्वित्रिमात्रा औदन्ता वर्णा यथासख्य ह्रस्वदीर्घप्लुता इत्यन्वय । मात्राकाल—यद्गर्णस्योच्चारणक्रियां परिच्छिनत्ति, स एव वर्णो विशेष्य-  
स्तेनेति ङालस्याव्ययवर्तीकृत्वादिशेषणसमभव इति निरस्तम् तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह—एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता इत्यादिना—एकद्वितिस्त्र  
उच्चारणे मात्रा येषाम्ने, इति तद्विग्रह संज्ञिविशेषणत्रयेण सहाप्रत्ययमिति यथासङ्गलाभस्त्वदेवाह यथासख्यमिति क्रमपूर्वक स्पष्टोऽर्थं । ३६  
पेदैतौ चतुर्मात्रौ अपि इति अन्ये—शेषमद्वारका । औदन्ता स्वरा इत्यसादनुवृत्तौदन्ता इत्यस्य वर्णा इत्यस्य च फलमाह—  
औदन्ता इत्येव प्रतक्ष्य इत्यादिना न भवति इत्यन्वयेन । अयमाशय—प्रपूर्वोत्तरी—तनुकरणे इति पातो त्वाप्रत्यये तस्य च यदि  
औदन्ता इत्यननुवृत्तौ प्रतक्ष् य अत्र क्प् संयुक्तस्य व्यञ्जनद्वयात्सकत्वेनैकमात्रिकत्वात्ततो हि व्यञ्जनस्यार्धमात्रिकत्वेन विश्रुतत्वात्कृते ३९  
क्षस्य ह्रस्वसंज्ञायां “ह्रस्वस्य त पिच्छति” ४।४।११३। इति तागमप्रसक्तौ वैरूप्यं स्वादिति तदनुवृत्तौ तागमाभाव स्पष्ट एव, यत् क्षस्य  
ह्रस्वत्वामावादेति । सूत्रेऽस्मिन्वर्णो इत्यनेन यदि वर्णसमुदायस्य ह्रस्वादिसंज्ञास्तर्हि तितउच्छत्रम् अत्र अ उ इति वर्णसमूहस्य स्वरस्य प्रत्येक-  
मेकमात्रिकत्वेन दीर्घत्वे सति, “अनादमाजोदीर्घाच्छ” १।३।२८। इति द्वित्वविकल्पप्रसङ्गं स्वादिति, प्रत्येकमौकारपर्यन्तानां वर्णानां ह्रस्व- ४२  
दीर्घप्लुतसंज्ञा इत्यर्थो बोध्य । इत्यच—तितउच्छत्रमित्यत्र “खरेभ्य” १।३।३०। इति नित्यं द्वित्वं सिद्धम् । अत्र व्यक्तिपक्षाश्रयण विवेचने-  
नेतेन सूचितम् । तदेतत्सर्वं विविच्य वदति—अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः इति अत्र—प्रतक्ष्येत्स्वत्र क्षकारे अर्धमात्रिकयो—अर्धं मात्राया  
अर्धमात्रा, अर्धमात्रास्त्वनयोरिति अर्धमात्रिके, तयो इति विग्रह । व्यञ्जनयो कषयो समुदायस्य—क्प् समुदायस्य क्षस्य एकमात्रत्वे ४३  
अपि ह्रस्वसंज्ञाया अभावात्, तः—“ह्रस्वस्य त” इति, अन्त—अन्तावयव न भवति, इति अन्यय । वर्णानां च—प्रत्येक वर्णानां ह्रस्वादि-  
संज्ञाया—ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञाया, विधानं—करण तस्मात्, तितउच्छत्रम्, इत्यादौ अकारोकारलक्षणः तद्वप, वर्णसमुदाय अ उ इति

द्विमात्रत्वेऽपि दीर्घसंज्ञाया अभावाद्, द्वित्वविकल्पो न भवति । संध्यक्षराणां तु एकमात्रिकत्वाभावाद् ह्रस्वसंज्ञा न भवति । ह्रस्वादिप्रदेशा “ऋलृति ह्रस्वो वा” ॥१।२।२॥ इत्यादयः ॥ ५ ॥

३

**अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥**

अवर्णरहिता औदन्ता वर्णा नामिसंज्ञा भवन्ति—इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ । बहुवचनं प्लुतसंग्रहार्थम्, एवमुत्तरत्रापि । नामिप्रदेशा “नामिनस्तयोः पः” ॥२।३।८॥ इत्यादयः ॥ ६ ॥

६

**लृदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥**

लृकारावसाना वर्णाः समानसंज्ञा भवन्ति—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ । समानप्रदेशाः “समानानां तेन दीर्घः” ॥१।२।१॥ इत्यादयः ॥ ७ ॥

९

**ए ऐ ओ औ संध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥**

ए ऐ ओ औ इत्येते वर्णाः संध्यक्षरसंज्ञा भवन्ति । संध्यक्षरप्रदेशा “ऐदौत् संध्यक्षरैः” ॥१।२।१२॥ इत्यादयः ॥८॥

**अं अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥**

१२

अकाराद्युच्चारणार्थौ । ‘अं’ इति नासिक्यो वर्णः, ‘अः’ इति च कण्ठ्यः । तौ यथासंख्यमनुस्वार-विसर्गसंज्ञौ भवतः । अनुस्वारविसर्गप्रदेशा “नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुत्परे” ॥१।३।८॥ “रः पदान्ते विसर्गस्तयोः” ॥१।३।५३॥ इत्यादयः ॥ ९ ॥

१५ समूहस्वस्य द्विमात्रत्वे अपि द्वित्वविकल्पः “अनाद् माञ्जे वीर्षोद्वाच्छ” इति न भवति—अत्र हेतुमाह—वीर्षसंज्ञाया अभावाद्—अनेन सूत्रेण वीर्षसंज्ञाया अविधानात् इति अन्वयः । तितवच्छत्रमित्यत्र तु विधानसामर्थ्यादोत्वं न भवतीत्यपि बोध्यम् । ननु यथाक्रमं अ आ इत्यादौ ह्रस्वादि-संज्ञास्तथा ए ऐ इत्यादौ कथञ्च ह्रस्वादिसंज्ञा—इत्यत आह—संध्यक्षराणां इत्यादि न भवति इत्यन्तेन । संध्यक्षराणां—ए ऐ ओ औ १८ इत्येषां ह्रस्वसंज्ञा पूर्वोक्ता न भवति अनेन सूत्रेण इति शेषः, कथमित्यतो हेतुमाह—एकमात्रिकत्वाभावात्—एकमात्रिकत्वस्य अभावस्त-स्मात् इत्यर्थः । ह्रस्ववीर्षसंज्ञोपयोगमभिधत्ते—ह्रस्वादिप्रदेशाः—पूर्ववदर्थ ॥ ५ ॥

नामिसंज्ञामभिधत्ते—अनवर्णानामी—अत्रौदन्ता इत्यनुवर्तते । न विशतेऽवर्णो येषु—औदन्तेषु इत्यनवर्णा औदन्ता, नामी—नामिपद- २१ बोध्या । ननु सन्ध्यक्षरेषु अवर्णसंज्ञावात्तेषामपि नामित्वाभावोऽस्ति चेदिष्टापत्ते, सन्ध्यक्षराणां नामित्वप्रयुक्तं कार्यं तु व्याख्यानाद्भविष्यति यथा “नाम्यन्तस्था” ३।३।१५। इति षत्वविधि—देवेषु, इत्यादौ । नामिनोऽन्ते तिष्ठन्तीति नाम्यन्तस्था सन्ध्यक्षराणीति व्याख्यानात्सर्वत्र विवेकः, अन्यथा इदादिर्नामी इत्येव न्यस्येत । अत्रौदन्ता स्वरा इतिवत्संज्ञासंज्ञि समानाधिकरणत्वेन निर्देष्टव्ये सति संज्ञासंज्ञिनोराचार्यकृद्भवन- २४ भेदनिर्देशो मत्र नामिनः कार्यं विधीयते तत्र यदि क्षार्यात्क्षार्यं खरो न्यूनो भवति तदैव नामिसंज्ञा भवति इति सूचनाय, तेन ग्लायति इत्यत्र ग्ले अति इत्यवस्थायां एकारस्य नामित्वेऽपि “नामिनो गुणोऽङ्किति” ४।३।१। इति न भवति गुणः, कार्यिणो गुणापेक्षया न्यूनस्वरत्वाभावात् । तदेतदाह श्रुतिच्छ्रव—अवर्णरहिता इत्यादिना । बहुवचनं—अनवर्णा इति प्लुतसंग्रहार्थम्—प्लुतानां संग्रहायेत्यर्थः । एवम्—“अनवर्णा नामी” इति २७ सूत्रेऽनवर्णा इति बहुवचनवत्, उत्तरत्र “लृदन्ता समाना” इति सूत्रे, अपिः—समुच्चये । नामिप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थो बोध्यः ॥ ६ ॥

समानसंज्ञामाह—लृदन्ताः समानाः । लृदन्ताः समासादि अन्तःप्रहणप्रयोजनं च औदन्ता इतिवद्बोध्यं । समानाः—अवर्णादि, इति वर्णप्रहणे जातिप्रहणमिति, उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वादिसंज्ञानासिकनिरनुनासिकभेदविशिष्टस्याष्टादशप्रकारकारादे संज्ञां, अतः अष्टादशविधत्वेन ३० तुल्यपरिमाणवन्तोऽकारादिल्लुपर्यन्ता समानपदबोध्या, इति जौगिकी समानसंज्ञा फलति । समानप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थः ॥ ७ ॥

सन्ध्यक्षरसंज्ञामाह—ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम्, अत्र द्वन्द्वं जातिनिर्देशविशेषाश्रयणञ्च, तेन “वर्णाव्ययात् स्वरूपेकार” ७।२।१५६। इति न कारप्रत्ययः । सन्ध्यक्षरम्—सवौ सति अक्षरं—अर्थमश्नुते—व्याप्नोति सन्ध्यक्षरम्, इत्यन्वयसंज्ञाबलात् भवति ध्वंजनानां ३३ सा । संध्यक्षरपदबोध्या ए ऐ ओ औ इत्येते । संध्यक्षरप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थो हेयः ॥ ८ ॥

अनुस्वारविसर्गसंज्ञाद्वयमाह—अं अः अनुस्वारविसर्गौ, अकारोपरिप्लुतबिन्दोरनुस्वार इति अकारादनन्तरं बिन्दुद्वयं विसर्गं इति च संज्ञाद्वयं । अनुस्वर्यते—सलीनमनुशब्दयते इत्यनुस्वारः । विसृज्यते—विरम्यते इति विसर्गः । अकारं विना बिन्दुबिन्दुद्वयरूपानुस्वारविसर्गौ ३६ समुच्चारयितुमशक्यमिति मनसि निधायाह—अकाराद्युच्चारणार्थौ—उच्चारणार्थौ—उच्चारणमात्रप्रयोजकौ एतेनान्यस्वरूपेपरि तदनन्तरं वा तयोरुपादाने प्रयोजनान्तरोरपलब्धेस्तदन्वयस्वरणामुच्चारणार्थकत्वकथनासंभव इति अकारौ अ-अ—इत्यत्र स्थितावित्यर्थः । अनुस्वारस्य स्थान-निर्देशमाह—अ इति नासिक्यो वर्णः—नासिकाया भव इत्यर्थः । विसर्गस्य स्थाननिर्देशमाह—अ इति ऋण्य—कण्ठे भव इत्यर्थः ।

३५ अनुस्वारप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थः ॥ ९ ॥

कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥

कादिवर्णो हकारपर्यन्तो व्यञ्जनसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब म म । य र ल व । श ष स ह । व्यञ्जनप्रदेशा “नाम सिदय्यञ्जने” ॥११।२१॥ इत्यादयः ॥१०॥ ३

अपञ्चमाऽन्तस्थो धुट् ॥ १ । १ । ११ ॥

वर्गपञ्चमाऽन्तस्थावर्जितः कादिवर्णो धुट्संज्ञो भवति । क ख ग घ । च छ ज झ । ट ठ ड ढ । त थ द ध । प फ ब म । श ष स ह । २४ । धुट्प्रदेशा “धुटो धुटि खे वा” ॥११।४८॥ इत्यादयः ॥ ११ ॥ ६

पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥

कादिषु वर्णेषु यो यः पञ्चसंख्यापरिमाणो वर्णः स स वर्गसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब म म । वर्गप्रदेशाः “कवर्गैकस्वरवति” ॥२।३।७६॥ इत्यादयः ॥ १२ ॥ ९

आद्यद्वितीयशर्षसा अधोषाः ॥ १ । १ । १३ ॥

वर्गाणामाद्यद्वितीया वर्णाः शषसाश्चाधोषसंज्ञा भवन्ति । क ख । च छ । ट ठ । त थ । प फ । श ष स । १३ । बहुवचनं सर्ववर्गाणामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् । अधोषप्रदेशा “अधोषे प्रथमोऽशिष्टः” ॥१।३।५०॥ इत्यादयः ॥१३॥ १२

अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥

अधोषेभ्योऽन्यः कादिवर्णो घोषवत्संज्ञो भवति । ग घ ङ । ज झ ञ । ङ ढ ण । द ध न । च भ म । य र ल व ह । २० । घोषवत्प्रदेशा “घोषवति” ॥१।३।२१॥ इत्यादयः ॥ १४ ॥ १५

यरलवा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥

यरलवे इत्येते वर्णा अन्तस्थासंज्ञा भवन्ति । बहुवचनं सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् । अन्तस्थाप्रदेशा “अञ्ज्वर्गस्यान्तस्थातः” ॥१।३।३३॥ इत्यादयः ॥ १५ ॥ १८

स्वरसंज्ञा निरूप्य स्वरं विनाशकयोश्चरणाना व्यञ्जनानां सज्ञामाह—कादिव्यञ्जनम् । कादि क आदिरव्यवयो यस्य—कादिह-पर्यन्तवर्णसमुदायस्य स इति तद्गुणसंज्ञानो बहुव्रीहि, कस्य आदिरिति च विग्रह । एतद्विग्रहप्रदर्शनेन सामीप्यव्यवस्थाप्रकारावयवेष्टु मये अत्रादिशब्दोऽव्यवववाची गृह्यते, अन्येषामाद्यर्थानामत्रासंभवात् । कस्यादिरिति विग्रहवशाद्द्वयवस्थावाच्यादिशब्दोपादाने सति स्वरणा २१ व्यञ्जनत्वाभावपूर्वकमनुस्वारविसर्गयोश्च व्यञ्जनसंज्ञा सिध्यति । यथा सस्कर्ता अत्रानुस्वाररूपव्यञ्जनात्परस्य सस्य “धुटो धुटि खे वा” ११।४८। इत्यनेन अपरसकारे खे परे विभाषा ङकि संस्कर्ता इति सिध्यति । विसर्गस्य व्यञ्जनसंज्ञायां यथा सुपूर्वस्य डु खयते क्तिपि, णिङ्गकि सौ तद्भुकि च, सुडु ख् अत्र—सयोगान्तस्य खस्य ङक् तथा च विसर्गस्य ध्रुत्वात् “धुटस्त्वृतीय” २।१।७६। इति सूत्रेण क्वच्यत्वेन तत्सजातीयो ग २५ सिद्ध सुडुश्च । व्यञ्जनम्—व्यव्यते प्रकाशवान् कियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यन्वर्थसंज्ञा । फकारादारभ्य कादिहपर्यन्ताना विसर्गानुस्वारयोश्च व्यञ्जनपदबोधत्वमित्यर्थ । तदेवाह दृष्टिकार—कादिवर्णो इत्यादिना भवति इत्यन्तेन । परिगणयति वर्णास्त्वान्—क ख ग घ ङेत्यादिना । व्यञ्जनप्रदेशा—पूर्वदेवास्वार्थ ॥ १० ॥

व्यञ्जनसंज्ञा निरूप्य तदवान्तरसंज्ञामाह—अपञ्चमान्तस्थो धुट् । अत्र कादिरित्यनुवर्तते । पञ्चमाश्च अन्तस्थाश्च पञ्चमान्तस्था, न विच्यन्ते पञ्चमान्तस्था यत्र वर्णसमुदाये स कादिरिति विग्रह । अपञ्चमान्तस्थ कादिवर्ण धुटित्यन्वय । तदर्थमाह—वर्गपञ्चमान्तस्था इत्यादिना । परिगणयति धुट्पदबोध्यान्—क ख ग घ इत्यादिना । धुट्प्रदेशाः—पूर्ववर्णेष्वर्थोऽर्थ ॥ ११ ॥

सजातीयसमुदायो वर्ग । स चाष्टधा । अंवर्ग—कैवर्ग—चैवर्ग—टैवर्ग—तैवर्ग—पैवर्ग—यैवर्ग—शैवर्गमेदात् । वर्णसमाप्तये प्रसिद्ध । तं विहाय शास्त्रीयमाह—पञ्चको वर्गः । वर्णसमाप्तये प्रसिद्धेऽवष्टसु वर्णेषु पञ्चसंख्यापरिमाणेन व्यवस्थित एव वर्गपदबोध् । तदेवाह—कादिषु इत्यादिना । परिगणयति वर्गान्—क ख ग घ ङ इत्यादिना । वर्गप्रदेशाः—पूर्ववर्णोऽर्थम् ॥ १२ ॥

अधोषसंज्ञामाह—आद्यद्वितीयशर्षसा अधोषाः । केषामाद्या द्वितीयाश्चेत्यत आह—वर्गाणामिति । अधोषसंज्ञिन परिगण-यति—क ख च छ इत्यादिना । बहुवचन—आद्यद्वितीयशषसा इति । अधोषप्रदेशाः—पूर्वदेवास्वार्थ ॥ १३ ॥

घोषसंज्ञामाह—अन्यो घोषवान् । केभ्य इत्यपेक्षायामाह—अधोषेभ्य इति । अत्र कादिरित्यनुवर्तते । घोषवान्—घोषवत्त्वान् ३६ इत्यर्थो, जातिनिर्देशामिप्रायेण । घोषाघोषयोश्चान्वर्थत्व “गुल्यस्थानास्य०” इत्यत्र निरूपयिष्यति भगवान् प्रत्यङ्कत् । गणयति घोषसंज्ञिन—ग घ ङेत्यादिना । घोषवत्प्रदेशाः—पूर्वदेवास्वार्थ ॥ १४ ॥

अतस्यासंज्ञामाह—यरलवा अन्तस्थाः । सूत्रार्थमाह—यरलवेत्यादिना । बहुवचनं—यरलवा इति । सानुनासिकादिभेद- ३५ परिग्रहार्थम्—सानुनासिकत्व-निरनुनासिकत्वरूपभेदद्वयवचनो यवलां स्वरूपस्वीकृतये । अन्तस्थाप्रदेशाः—पूर्वदेवास्वार्थ ॥ १५ ॥



द्विमात्रत्वेऽपि दीर्घसंज्ञाया अभावाद्, द्वित्वविकल्पो न भवति । सन्ध्यक्षराणां तु एकमात्रिकत्वाभावाद् ह्रस्वसंज्ञा न भवति । ह्रस्वादिप्रदेशा “ऋलृति ह्रस्वो वा” ॥१।२।२॥ इत्यादयः ॥ ५ ॥

३

**अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥**

अवर्णरहिता औदन्ता वर्णा नामिसंज्ञा भवन्ति—इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ । बहुवचनं श्रुतसंग्रहार्थम्, एवमुत्तरत्रापि । नामिप्रदेशा “नामिनस्तयोः षः” ॥२।३।८॥ इत्यादयः ॥ ६ ॥

६

**लृदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥**

लृकारावसाना वर्णाः समानसंज्ञा भवन्ति—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ । समानप्रदेशाः “समानानां तेन दीर्घः” ॥१।२।१॥ इत्यादयः ॥ ७ ॥

९

**ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥**

ए ऐ ओ औ इत्येते वर्णाः सन्ध्यक्षरसंज्ञा भवन्ति । सन्ध्यक्षरप्रदेशा “ऐदौत् सन्ध्यक्षरैः” ॥१।२।१२॥ इत्यादयः ॥८॥

**अं अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥**

३२ अकारानुच्चारणार्थौ । ‘अं’ इति नासिक्यो वर्णः, ‘अः’ इति च कण्ठ्यः । तौ यथासंख्यमनुस्वार-विसर्गसंज्ञौ भवतः । अनुस्वारविसर्गप्रदेशा “नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुत्परे” ॥१।३।८॥ “रः पदान्ते विसर्गस्तयोः” ॥१।३।५३॥ इत्यादयः ॥ ९ ॥

२५ समूहस्वस्य द्विमात्रत्वे अपि द्वित्वविकल्प “अनाद् माठो र्दीर्घोद्वाच्छ” इति न भवति—अत्र हेतुमाह—दीर्घसंज्ञाया अभावात्—अनेन सूत्रेण दीर्घसंज्ञाया अविधानाद् इति अन्वयः । तितच्छत्रमित्यत्र तु विधानसामर्थ्यादोत्वं न भवतीत्यपि बोध्यम् । ननु यथाक्रम अ आ इत्यादौ ह्रस्वादि-संज्ञास्वया ए ऐ इत्यादौ कथञ्च ह्रस्वादि-संज्ञा-इत्यत आह—सन्ध्यक्षराणां इत्यादि न भवति इत्यन्तेन । सन्ध्यक्षराणां—ए ऐ ओ औ इत्येषां ह्रस्वसंज्ञा पूर्वोक्ता न भवति अनेन सूत्रेण इति शेषः, कथमित्यतो हेतुमाह—एकमात्रिकत्वाभावात्—एकमात्रिकत्वस्य अभावस्तस्मात् इत्यर्थः । ह्रस्वदीर्घसंज्ञोपयोगमभिधत्ते—ह्रस्वादिप्रदेशाः—पूर्ववदर्थ ॥ ५ ॥

नामिसंज्ञामभिधत्ते—अनवर्णानामी—अत्रौदन्ता इत्यनुवर्तते । न विद्यतेऽवर्णो येषु—औदन्तेषु इत्यनवर्णा औदन्ता, नामी—नामिपद-  
२१ बोध्या । ननु सन्ध्यक्षरेषु अवर्णसंज्ञावात्तेषामपि नामित्वाभावोऽस्त्विति चेदिष्टापत्ते, सन्ध्यक्षराणा नामित्वप्रयुक्तं कार्यं तु व्याख्यानाद्भविष्यति यथा “नाम्यन्तस्था” ३।३।१५। इति षस्त्वविधि—देवेषु, इत्यादौ । नामिनोऽन्ते तिष्ठन्तीति नाम्यन्तस्था सन्ध्यक्षराणीति व्याख्यानात्सर्वत्र विवेक, अन्यथा हृदादिर्नामी इत्येव न्यस्येत् । अत्रौदन्ता खर इतिवत्संज्ञासंज्ञि समानाधिकरणत्वेन निर्देष्टव्ये सति संज्ञासंज्ञिनोराचार्यकृद्भवन-  
२४ भेदनिर्देशो यत्र नामिन कार्यं विधीयते तत्र यदि कार्यात्कार्यां खरो न्यूनो भवति तदैव नामिसंज्ञा भवति इति सूचनाय, तेन ग्लायति इत्यत्र चैव अति इत्यवस्थाया ऐकारस्य नामित्वेऽपि “नामिनो गुणोऽङ्किति” ४।३।१। इति न भवति गुण, कार्यिणो गुणापेक्षया न्यूनस्वरत्वाभावात् । तदेतदाह वृत्तिहृत्—अवर्णरहिता इत्यादिना । बहुवचनं—अनवर्णा इति श्रुतसंग्रहार्थम्—इतानां संग्रहायेत्यर्थः । एवम्—“अनवर्णा नामी” इति  
२७ सूत्रेऽनवर्णा इति बहुवचनवत्, उत्तरत्र “लृदन्ता समाना” इति सूत्रे, अपिः—समुच्चये । नामिप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थो बोध्यः ॥ ६ ॥

समानसंज्ञामाह—लृदन्ताः समानाः । लृदन्ताः समासादि अन्तप्रहणप्रयोजन च औदन्ता इतिवद्बोध्यः । समानाः—अवर्णादि, इति वर्णप्रहणे जातिप्रहणमिति, उदात्तानुदात्तखरितह्रस्वादिसानुनासिकनिरनुनासिकभेदविशिष्टस्याष्टदशप्रकाराकारादे संज्ञा, अत अष्टदशवित्त्वेन  
३० तुल्यपरिमाणवन्तोऽकारादित्त्पर्यन्ता समानपदबोध्या, इति यौगिकी समानसंज्ञा फलति । समानप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थः ॥ ७ ॥

सन्ध्यक्षरसंज्ञामाह—ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम्, अत्र द्वन्द्व जातिनिर्देशविवक्षाप्रयणश्च, तेन “वर्णाव्ययात् स्वरूपेकार” ७।२।१५६। इति न कारप्रत्यय । सन्ध्यक्षरम्—संघौ सति अक्षरं—अर्थमश्रुते-व्याप्नोति सन्ध्यक्षरम्, इत्यन्वयसंज्ञाबलान् भवति व्यजनानां  
३३ सा । सन्ध्यक्षरपदबोध्या ए ऐ ओ औ इत्येते । सन्ध्यक्षरप्रदेशाः—पूर्ववदेवार्थो ज्ञेयः ॥ ८ ॥

अनुस्वारविसर्गसंज्ञाद्वयमाह—अ अः अनुस्वारविसर्गौ, अकारोपरिश्रुतमिन्दोरनुस्वार इति अकारादनन्तरं विन्दुद्वय विसर्ग इति च संज्ञाद्वय । अनुस्वर्यते—सलीनमनुशब्धेते इत्यनुस्वार । विद्युज्यते—विरम्यते इति विसर्ग । अकारं विना विन्दुविन्दुद्वयरूपाणुस्वारविसर्गौ  
३६ समुच्चारयितुमशक्याविति मनसि विधायाह—अकारानुच्चारणार्थौ—उच्चारणार्थौ—उच्चारणमात्रप्रयोजकौ एतेनान्यस्वरोपरि तदनन्तरं वा तयोरुपादाने प्रयोजनान्तरोपलब्धेस्तदन्यस्वराणामुच्चारणार्थकत्वकथनासम्भव इति अकारौ अ-अ-इत्यत्र स्थितावित्यर्थः । अनुस्वारस्य स्थान-  
निर्देशमाह—अ इति नासिक्यो वर्णः—नासिक्यायै भव इत्यर्थः । विसर्गस्य स्थाननिर्देशमाह—अ इति कण्ठ्य—कण्ठे भव इत्यर्थः ।  
३५ अनुस्वारप्रदेशा—पूर्ववदेवार्थः ॥ ९ ॥

**कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥**

कादिवर्णो हकारपर्यन्तो व्यञ्जनसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । य र ल व । श ष स ह । व्यञ्जनप्रदेशा “नाम सिदय्यञ्जने” ॥१।१।२१॥ इत्यादयः ॥१०॥ ३

**अपञ्चमाऽन्तस्थो धुट् ॥ १ । १ । ११ ॥**

वर्गपञ्चमाऽन्तस्थावर्जितः कादिवर्णो धुट्संज्ञो भवति । क ख ग घ । च छ ज झ । ट ठ ड ढ । त थ द ध । प फ ब भ म । श ष स ह । २४ । धुट्प्रदेशा “धुटो धुटि खे वा” ॥१।३।४८॥ इत्यादयः ॥ ११ ॥ ६

**पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥**

कादिषु वर्णेषु यो यः पञ्चसंख्यापरिमाणो वर्णः स स वर्गसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म । वर्गप्रदेशाः “कवर्गैकस्वरवति” ॥२।३।७६॥ इत्यादयः ॥ १२ ॥ ९

**आद्यद्वितीयशेषसा अघोषाः ॥ १ । १ । १३ ॥**

वर्गणामाद्यद्वितीया वर्णाः शषसाश्चाघोषसंज्ञा भवन्ति । क ख । च छ । ट ठ । त थ । प फ । श ष स । १३ । बहुवचनं सर्ववर्गणामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् । अघोषप्रदेशा “अघोषे प्रथमोऽशितः” ॥१।३।५०॥ इत्यादयः ॥१३॥ १२

**अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥**

अघोषेभ्योऽन्यः कादिवर्णो घोषवत्संज्ञो भवति । ग घ ङ । ज झ ञ । ङ ढ ण । द ध न । च भ म । य र ल व ह । २० । घोषवत्प्रदेशा “घोषवति” ॥१।३।२१॥ इत्यादयः ॥ १४ ॥ १५

**यरलवा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥**

यरलवे इत्येते वर्णा अन्तस्थासंज्ञा भवन्ति । बहुवचनं सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् । अन्तस्थाप्रदेशा “अञ्ज्वर्गस्यान्तस्थातः” ॥१।३।३३॥ इत्यादयः ॥ १५ ॥ १८

स्वरसंज्ञां निरूप्य स्वरं विनाशक्योच्चारणाना व्यञ्जनानां सज्ञामाह—कादिव्यञ्जनम् । कादि क आदिरवयवो यस्य—कादिह-पर्यन्तवर्णसमुदायस्य स इति तद्गुणसमिञ्चानो बहुव्रीहि, कस्य आदिरिति च विग्रह । एताद्विग्रहप्रदर्शनेन सामीप्यव्यवस्थाप्रकारावयवेषु मध्ये अत्रादिशब्दोऽवयववाची गृह्यते, अन्येषामापर्यायानामत्रासंभवात् । कस्यादिरिति विग्रहवशाद्भवस्थावाच्यादिशब्दोपादाने सति स्वरणा २१ व्यञ्जनत्वाभावपूर्वकमुच्चारणविसर्गयोश्च व्यञ्जनसज्ञा सिध्यति । यथा सस्कृता अत्रानुस्वाररूपव्यञ्जनात्परस्य सस्य “धुटो धुटि खे वा” ११३।४८। इत्यनेन अपरसकारे खे परे विभाषा लुकि सस्कृता इति सिध्यति । विसर्गस्य व्यञ्जनसंज्ञायां यथा सुपूर्वस्य दु खयते किपि, णिलुकि सौ तल्लुकि च, सुट् स्र अत्र—संयोगान्तस्य सस्य लृक् तथा च विसर्गस्य ध्रुत्वात् “धुट्स्त्वृतीय” २११।७६। इति सूत्रेण कम्प्यत्वेन तत्सजातीयो ग २४ सिद्ध सुट् । व्यञ्जनम्—व्यञ्ज्यते प्रकाशवान् कियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यन्वयसंज्ञा । ककारादारभ्य कादिहपर्यन्ताना विसर्गानुस्वारयोश्च व्यञ्जनपदबोध्यत्वमित्यर्थः । तदेवाह वृत्तिकार—कादिवर्णो इत्यादिना भवति इत्यन्तेन । परिगणयति वर्णाखान्—क ख ग घ ङेत्यादिना । व्यञ्जनप्रदेशा—पूर्ववदेवासाय ॥ १० ॥ २७

व्यञ्जनसंज्ञां निरूप्य तदवान्तरसंज्ञामाह—अपञ्चमान्तस्थो धुट् । अत्र कादिरित्यनुवर्तते । पञ्चमाश्च अन्तस्थाश्च पञ्चमान्तस्था, न वियन्ते पञ्चमान्तस्था यत्र वर्णसमुदाये स कादिरिति विग्रह । अपञ्चमान्तस्थ कादिवर्णं धुटित्यन्वयः । तदर्थमाह—वर्गपञ्चमान्तस्था इत्यादिना । परिगणयति धुट्पदबोध्यन्—क ख ग घ इत्यादिना । धुट्प्रदेशाः—पूर्ववज्ज्ञेयोऽर्थ ॥ ११ ॥ ३०

सजातीयसमुदायो वर्णः । स चाष्टधा । अंवर्य—कैवर्ग—वैवर्ग—तैवर्ग—पैवर्ग—यैवर्ग—शैवर्गभेदात् वर्णसमाम्नाये प्रसिद्धः । त विहाय शास्त्रीयमाह—पञ्चको वर्गः । वर्णसमाम्नाये प्रसिद्धेऽष्टसु वर्णेषु पञ्चसंख्यापरिमाणेन व्यवस्थित एव वर्गपदबोध्यः । तदेवाह—कादिषु इत्यादिना । परिगणयति वर्गान्—क ख ग घ ङ इत्यादिना । वर्गप्रदेशाः—पूर्ववचोऽयम् ॥ १२ ॥ ३३

अघोषसंज्ञामाह—आद्यद्वितीयशेषसा अघोषाः । केषामाद्या द्वितीयाश्चेत्यत आह—वर्गणामिति । अघोषसंज्ञिन परिगणयति—क ख च छ इत्यादिना । बहुवचनं—आद्यद्वितीयशेषसा इति । अघोषप्रदेशाः—पूर्ववदेवासाय ॥ १३ ॥

घोषसंज्ञामाह—अन्यो घोषवान् । केभ्य इत्यपेक्षामाह—अघोषेभ्य इति । अत्र कादिरित्यनुवर्तते । घोषवान्—घोषत्ववान् ३६ इत्यर्थः, जातिनिर्देशामिप्रायेण । घोषाघोषयोश्चान्वयत्वं “दुल्यस्थानासः” इत्यत्र निरूपयिष्यति भगवान् ग्रन्थकृत् । गणयति घोषसंज्ञिन—ग घ ङेत्यादिना । घोषवत्प्रदेशाः—पूर्ववदेवासाय ॥ १४ ॥

अन्तस्थासंज्ञामाह—यरलवा अन्तस्थाः । सज्ञार्थमाह—यरलवेत्यादिना । बहुवचनं—यरलवा इति । सानुनासिकादिभेद-परिग्रहार्थम्—सानुनासिकत्व-निरनुनासिकत्वरूपभेदद्वयवर्ता यवलाणां स्वरूपस्वीकृतये । अन्तस्थाप्रदेशाः—पूर्ववदेवासाय ॥ १५ ॥ ३५

## अंअःङ्कुट्ट्यर्षसाः शिद् ॥ १ । १ । १६ ॥

अनुस्वारो विसर्गो वज्राकृतिर्गजकुम्भाकृतिश्च वर्णः र्षसाश्च शिद्संज्ञा भवन्ति । अकारककारपकार उच्चारणार्थोः । बहुवचनं वर्णेष्वपठितयोरपि कुट्ट्ययोर्वर्णत्वार्थम् । शिद्प्रदेशाः “शिद्ः प्रथमद्वितीयस्य” ॥ १ । ३ । ३ ॥ इत्यादयः ॥ १६ ॥

## तुल्यस्थानाऽऽस्यप्रयत्नः स्वः ॥ १ । १ । १७ ॥

यत्र पुद्गलस्कन्धस्य वर्णभावापत्तिस्तत् स्थानं कण्ठादि । यदाहुः—“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठे शिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्तौश्च नासिकौष्ठौ च तालुं च” अस्यत्यनेन वर्णानित्यास्यम्, ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकसंज्ञकात् कण्ठमणेः । आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः—आन्तरः संरम्भः । स चतुर्धा—स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता, विवृतता, ईषद्विवृतता । तुल्यौ—वर्णान्तरेण सदृशौ स्थानाऽऽस्यप्रयत्नौ यस्य स वर्णस्त प्रति स्वसंज्ञो भवति । १ करण तु जिह्वामूलमध्याग्रोपाग्ररूप स्थानास्यप्रयत्नतुल्यत्वे सति नातुल्यं भवतीति पृथग् नोक्तम् । तत्र स्थानम्—अवर्णहविसर्गकवर्गाः कण्ठ्याः । ‘सर्वमुखस्थानमवर्णम्, हविसर्गावुरस्यौ, कवर्गो जिह्वामूल’ इत्यन्ये । इवर्णचवर्गयशास्तालव्याः । उवर्णपवर्गोपध्मानीया ओष्ठ्याः । ऋवर्णटवर्गर्षा मूर्धन्याः । ‘रेफो दन्तमूल’ इत्येके । लवर्णतवर्गर्षा दन्त्याः । ए ऐ तालव्यौ । ‘कण्ठतालव्यौ’ इत्यन्ये । ओ औ ओष्ठ्यौ । ‘कण्ठोष्ठ्यौ’ इत्यन्ये । वो दन्त्यौष्ठ्यः । ‘सकस्थानः’ इत्यन्ये । जिह्वामूलीयो जिह्व्यः । ‘कण्ठ्यः’ इत्यन्ये । नासिकयोऽनुस्वारः । ‘कण्ठ्यनासिक्यः’ इत्यन्ये । उवर्णनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः ॥ अथास्यप्रयत्नः—स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम् ।

- १५ शिद् संज्ञामाह—अथ.ङ्कुट्ट्यर्षसाः शिद् । अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयर्षसा इत्येते शिदपदनेष्या इत्यर्थे । तदेवाह वृत्तिकार—अनुस्वारो विसर्ग इत्यादिना । जिह्वामूलीयोपध्मानीययोर्देशकाललिपिभिर्भेदेऽपि स्वरूपैक्य दृष्टान्तोपन्यासपूर्वक दर्शयति—वज्राकृतिः—वज्रस्यैवाकृतिर्यस्य स, कुलिशावयवविन्याससमस्वरूप । गजकुम्भाकृतिः—गजस्य कुम्भो गजकुम्भौ, गजकुम्भ-योरिव आकृतिर्यस्य स गजकुम्भाकृति—करिकलशसनिभस्वरूप, च वर्ण—ङ्कुट्ट्यर्ष । अ थ ङ्कुट्ट्य इत्येषु पूर्वत्र द्वयोरकारयो परत्र द्वयो ककारपकारयो किं प्रयोजनमित्यपेक्षायामाह—अकारककारपकार उच्चारणार्थो इति । अ थ इत्यत्र अकारौ, ङ्कुट्ट्य इत्यत्र च ककारपकारौ इति—अ, क, प उच्चारण—विसर्गानुस्वारजिह्वामूलीयोपध्मानीयस्वरूपपरिग्रह एव अर्थे—प्रयोजन येषां ते तथा । १६ अथ ङ्कुट्ट्यर्षसा इति बहुवचनान्तम् संज्ञा शिद्धिति एकवचनान्तम् संज्ञा इति विषमोपन्यास कथमित्यत आह बहुवचनम्—अथ ङ्कुट्ट्यर्षसा इति । वर्णेषु—लोकविद्युतेषु, अपठितयोः—अनभ्यस्तयो, अपि ङ्कुट्ट्ययोर्जिह्वामूलीयोपध्मानीययो वर्णत्वार्थम्—वर्णत्वप्रयोजनाय इत्यन्वय । शिद्प्रदेशाः—पूर्ववदर्थे इति । स्वरतद्वान्तरसंज्ञानिरूपणानन्तरं व्यञ्जनव्यञ्जनावान्तरसंज्ञानिरूपणम् ॥ १६ ॥
- १७ स्वरव्यञ्जनसंज्ञा निरूप्य वर्णेषु के स्वाः इति न्याय्यां स्वसंज्ञामाह—तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः । तिष्ठन्ति वर्णा अस्मिन्निति स्थान, अस्यति—क्षिपति वर्णाननेनेत्यास्यम् । आस्ये प्रयत्न—उत्साह आस्यप्रयत्न । स्थानस्य आस्यप्रयत्नस्य स्थानास्यप्रयत्नौ, तुल्य च तुल्यस्य तुल्यौ—सदृशौ स्थानास्यप्रयत्नौ—कण्ठादिस्थानाभ्यन्तरलक्षणास्यप्रयत्नौ यस्य वर्णस्य येन—वर्णेन सह स वर्णस्त प्रति स्वसंज्ञ इत्यर्थे । स्थानं किम् ? स्थानस्य च कण्ठादे वर्णस्थानता कथं ? तस्य च कति भेदाः ? किन्नास्य ? कथास्यप्रयत्न ? कथं बाह्य ? कति च तयोर्भेदाः ? इत्यादि स्वान्यसमतिपुर सरं स्वमत प्रवीति सर्वज्ञे वृत्तिकार—यत्रेत्यादिना । यत्र—यस्मिन् । पुत—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त, गलन्तीति गला, पुद्गला, पुद्गलानां—पूर्वोक्तानां स्कन्ध—अनन्तप्रदेशालम्बक सघातस्वस्य पुद्गलस्कन्धस्य । वर्णभावापत्तिरिति—वर्णस्य भाव वर्णभाव, वर्ण-भावस्यापत्ति वर्णभावापत्ति—अक्षररूपतापरिणाम तत् स्थान । अर्थात्पुद्गलस्कन्ध प्राप्तेत्यक्षररूपतापरिणाम, यत्र तत्स्थान, अष्टविध कण्ठादि आदिपदग्रहामुर प्रभृति । एतदेव वदति—स्वान्यवचनेन यदाहु इति—पाणिनिशिक्षाकारा—पा० शि० छे० १३ । आस्यपदार्थ-माह—अस्यत्यनेन इत्यादि कण्ठमणेः इत्यन्तेन । अयमाशय—ओष्ठादारभ्य काकलकाभिधकण्ठमणि (म्रीवायामुञ्जतप्रदेश) पूर्वभागा आस्यम्, अत एवास्य मुख, तथा च स्थानग्रहणम्, अन्यथा तदुपादानस्य निष्फलत्वापत्तेः । आस्यस्य प्रयत्नेन सह सप्तमीतत्पुरुष दर्शयति—आस्ये प्रयत्न इत्यनेन । आस्यप्रयत्नपदार्थविवरणपुर सरं तद्विभजते—आन्तरः इत्यादि ईषद्विवृतता इत्यन्तेन । समुदितसूत्रपदार्थ, विग्रह-प्रदर्शनपुर सरमाविष्करोति—तुल्यौ इत्यादि भवति इत्यन्तेन । करणस्य तुल्यत्वात्तुल्यौ सूत्रे तत्तुल्यत्वात्तुल्यत्वं न्यूनत्व परिहरति—करणं इत्यादिना नोक्तम् इत्यन्तेन । करणं किं स्वरूपमित्यत आह—जिह्वामूलमध्याग्रोपाग्ररूप—जिह्वामूल, जिह्वामध्य, जिह्वाम्र, जिह्वोपाग्र इति वृत्तिस्यविरुद्धे । नातुल्य—तुल्यमेवेत्यर्थे । वर्णसमाप्त्रये समाप्त्रातानां वर्णानां स्वसंज्ञोपयोगि स्थानास्यप्रयत्नघातप्रयत्नादि क्रमशो निर-पयति केषां केषां स्थानास्यप्रयत्न के के सहतुल्यमित्याशयेन—तत्र स्थानम् इत्यादिना । ‘सर्वमुखस्थानमवर्णम् हविसर्गावु-रस्यौ, कवर्गो जिह्वामूल’ इत्यन्ये—शाकटायना “स्व स्थानालंबके”—शा० सू० १ । १ । १६ सूत्रे, पा० शि० छे० १६ पाणिनिशिक्षा-काराश्च । ‘रेफो दन्तमूल’ इत्येके प्राचीना शाकटायनादय तत्रैव सूत्रे । ए ऐ कण्ठतालव्यौ इत्यन्ये, ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ इत्यन्ये इति पा० शि० १८ छेके । वो दन्त्यौष्ठ्य, ‘सकस्थान’—ओष्ठपर्यन्त स्थान यस्य स इत्यन्ये पाणिनीया, देवनन्यादयश्च ‘जिह्वामूलीय कण्ठ-’ इत्यन्ये—पाणिनिशिक्षाकारा । अनुस्वार ‘कण्ठ्यनासिक्य’ इत्यन्ये पाणिनिशिक्षाकारा शाकटायनाश्च । व्यञ्जनमानां स्ववगप्रयुक्त तत्तत्स्थान, नासिकास्थानमधिकमपि इत्यावेदयति उवर्णनमाः इत्यादिना । इति वर्णानां स्थान निरूप्य आस्यप्रयत्नमाह—अयेत्यादिना स्वराणा इत्यन्तेन । उवर्णना च इत्यन्ये—पाणिनिशिक्षाकारा पा० शि० छे० २ । १ । १ । मूल, ताभ्यामपि एओभ्यां अपि—ऐ औ, ताभ्याम्—येओभ्यां, अपि उवर्ण । एतेन विवृततरता—विवृततमतातिविवृततमारूपप्रयत्न प्रयत्नानामाधिक्य, विवृतत्वेन तान् संगृह्य परिहरणीयम् । ‘अकार’ सच्चुत् इत्यन्ये, पाणिनिशिक्षाकृत पा० शि० छे० २० । आस्यप्रयत्नचतुष्टय निरूप्य वर्णेषु स्वरेषु प्रथमस्वावर्णस्याष्टादशभेदोपवर्णनपुर सरमष्टादशाकारबोधकस्य तस्यैव

स्पर्शा वर्ग्याः । ईषत्स्फुष्टं करणमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृतं करणमूढमणाम् । विवृतं करणं स्वराणाम् । 'ऊर्णमणां च' इत्यन्ये ।  
ऊर्णमणः शषसहाः । स्वरेषु ए ओ विवृततरौ, ताभ्यामपि ऐ औ; ताभ्यामप्यवर्णः । 'अकारः सवृतः' इत्यन्ये । तत्र  
त्रयोऽकारा उदात्तानुदात्तस्वरिताः प्रत्येकं सानुनासिकनिरनुनासिकभेदात् पद् । एव दीर्घप्लुतावित्यष्टादश भेदां अवर्णस्य, ३  
ते सर्वे कण्ठस्थाना विवृतकरणाः परस्पर स्वाः । एवमिवर्णास्तावन्तस्तालव्या विवृतकरणाः स्वाः । उवर्णा ओष्ठया विवृ-  
तकरणाः स्वाः । ऋवर्णा मूर्धन्या विवृतकरणाः स्वाः । लवर्णा दन्त्या विवृतकरणाः स्वाः । 'लृवर्णस्य दीर्घा न  
सन्तीति द्वादश' इत्यन्ये । सध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्तीति तानि प्रत्येकं द्वादशभेदानि । तत्र एकारास्तालव्या विवृत- ६  
तराः स्वाः । ऐकारास्तालव्या अतिविवृततराः स्वाः । ओकारा ओष्ठया विवृततराः स्वाः । औकारा ओष्ठया अतिविवृततराः  
स्वाः । वर्ग्याः पञ्च पञ्च परस्परं स्वाः । यलवर्णानामनुनासिकोऽनुनासिकश्च द्वौ भेदौ परस्परं स्वौ । रेफोष्मणां तुल्य- ९  
स्थानास्यप्रयत्नत्वात् स्वा न भवन्ति । आस्यग्रहणं बाह्यप्रयत्ननिवृत्त्यर्थम् । ते हि "आसन्नः" ॥७॥४॥१२०॥ इत्यत्रैवोप-  
शुज्यन्ते, न स्वसज्ञायाम् । के पुनस्ते ? विवारसवारौ श्वासनादौ घोषवर्धघोषता अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तोऽनुदात्तः  
स्वरितश्चेत्येकौदश । कथं पुनस्ते ? आस्याद्बाह्याः, स्फुष्टादयः तु आन्तराः ? उच्यते—वायुना कोष्ठेऽभिहन्यमानेऽमीषां ९  
प्रादुर्भावात् । स्फुष्टतादीनां तु कण्ठादिस्थानाभिघाते भावात् । तथा चापिशलिः शिक्षामधीते—"नाभिप्रदेशात् प्रयत्नेप्रेरितः १२  
प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरःप्रभृतीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते । स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति,  
तस्मात्-स्थानाभिघाताद्धनिरुत्पद्यते आकाशे । सा वर्णश्रुतिः, स वर्णस्यात्मलाभः । तत्र वर्णध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थान-  
करणप्रयत्नाः परस्पर स्फुरन्ति सा स्फुष्टता । यदा ईषत्स्फुरन्ति सा ईषत्स्फुष्टता । यदा सामौप्येन स्फुरन्ति सा सवृतता । १५  
दूरेण यदा स्फुरन्ति सा विवृतता । एषोऽन्तःप्रयत्नः । स इदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन् मूर्ध्नि प्रतिहतो  
निवृत्तः कोष्ठमभिहन्ति । तत्र-कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठविलस्य विवृतत्वाद् विवारः । सवृतत्वात् संवारः । तत्र यदा कण्ठ-  
विलस्य विवृतं भवति तदा श्वासो जायते, सवृते तु नादः । तावदनुप्रदानमाचक्षते । अन्ये तु ब्रुवते "अनुप्रदानमनुस्वानो १८

स्थानास्यप्रयत्नत्वेन स्वत्व प्रतिपादयति—तत्र त्रयोऽकारा इत्यादि, ते सर्वे कण्ठस्थानाविवृतकरणाः परस्परं स्वा इत्यन्तेन ।  
स्फुष्टोऽर्थः । इवर्णवर्णयो, ऋलृवर्णयोश्चावर्णवदष्टादशभेदोपवर्णनपुर सर स्थानास्यप्रयत्नो प्रदर्श्य च स्वत्व प्रतिपादयति—एवमिवर्णाः  
इत्यादि, लृवर्णादन्त्या विवृतकरणाः स्वा इत्यन्तेन । तावन्त इति पदमुवर्णा ऋवर्णा लृवर्णा इत्यत्र च सवन्धनीयम्, स्फुष्टोऽर्थः । अन्यमत- २१  
माह—लृवर्णस्य इत्यादिना । इत्यन्ये—पाणिनिशाकटायना, "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" पा०सू० १।१।९ । "स्व स्थानास्यैक्ये" शा०सू० १।१।६।  
इति सूत्रयो । ए ऐ औ औ इत्येषा ह्रस्वाभावाद्द्वादशभेदोपवर्णनपुर सरमेकारस्य एकारेण सह स्वत्व, ऐकारस्य ऐकारेण सह स्वत्व, ओकार-  
स्य ओकारेण सह स्वत्व, औकारस्य औकारेण सह च स्वत्व स्थानास्यप्रयत्नान्ताभ्यां तुल्यत्वप्रदर्शनद्वारा प्रतिपादयति—सन्ध्यक्षराणां २४  
ह्रस्वा इत्यादिना, औकारा औष्ठया अतिविवृततराः स्वाः इत्यन्तेन । पञ्चसु वर्णेषु व्यञ्जानानां स्वस्ववर्गप्रयुक्तं स्वत्वं प्रतिपादयति—  
वर्ग्याः इत्यादि, स्वाः इत्यन्तेन । यकारलकारवकाराणां भेदद्वयमनुनासिकाननुनासिकत्वेन प्रदर्श्य स्वत्वमाह—यलवर्णा इत्यादि, न भवन्ति इत्यन्तेन । आस्ये प्रयत्न-  
भास्यप्रयत्न-द्वयज्ञान- २७  
सेख्युत्पत्त्या प्रयत्न इत्युच्यमाने भास्यकल्माह—आस्यग्रहणं इत्यादि, निवृत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । बाह्यप्रयत्नानां कोपयोग, कचानुपयोग  
इति दर्शयति—ते हि इत्यादि, संज्ञायाम् इत्यन्तेन । ते-बाह्यप्रयत्ना के ? इत्याशङ्क्य विभज्यते—विवार इत्यादिना । एतेषां प्रयत्नानां  
बाह्यत्व, पूर्वोक्तानां चान्तरत्व विशदयति—कथं पुनस्ते इत्याशङ्क्य विवारादीनां बाह्यत्व, स्फुष्टतादीनां चान्तरत्व, उच्यते इत्यादि समाधान- ३०  
सुखेनाह । विवारादीनां बाह्यत्वसाधको हेतु—वायुना कोष्ठे-उदरेऽभिहन्यमाने-ताड्यमाने सति अमीषां—विवारादीनां प्रादुर्भावात्-समु-  
त्पत्ते इति । स्फुष्टतादीनां चान्तरत्वसाधको हेतु—स्फुष्टतादीनां—पूर्वोक्तचतुर्णामान्तरप्रयत्नानां, कण्ठादिस्थानाभिघाते—कण्ठादिस्था-  
नानां अभिघातस्वस्मिन् सति, भावात्-उत्पत्ते । खोकार्येऽन्यसंमतिमाह—तथाच इत्यादिना । आपिशलिः—प्राचीनाचार्य । शिक्षां-वर्णां ३३  
त्पत्तिप्रतिपादकं शास्त्रम् । स एवाचार्ये शिक्षाया, वर्णस्वरूपप्राप्तिमाह—नाभिप्रदेशात् इत्यादि, आत्मलाभ इत्यन्तेन । आक्रामन् व्यापु-  
वत्, अन्यतमस्मिन्-वेधु कस्मिंश्चित्स्थाने इत्यर्थः । प्रयोगोऽयं हेमशन्दानुशासनविरुद्ध, किन्तु मतान्तरिय । विधार्यते-विशेषेण धार्यते ।  
विधार्यमाणः स-प्राणवायु, स्थानं-कण्ठादि, अभिहन्ति-ताडयति । तस्मात् इत्यस्यैवार्थमाह-स्थानाभिघातात् । उत्पद्यते-जायते ३६  
सा-प्रसिद्धा ध्वनेरुत्पत्ति, स-ध्वनि, आत्मलाभः—आत्मन-स्वरूपस्य लाभ-प्राप्ति । वर्णस्वरूपप्राप्तिमुत्पत्त्या भास्यप्रयत्न प्रदर्शयति-  
तत्र इत्यादि, एषोऽन्तःप्रयत्न इत्यन्तेन । तत्र-आकाशे, वर्णध्वनौ-अक्षरध्वनौ, उत्पद्यमाने-जायमाने सति, यदा-यस्मिन्समये  
स्थानकरणप्रयत्नाः—स्थानं पूर्वोक्त कण्ठादि, करणं-पूर्वोक्त शिक्षामूलादि, प्रयत्न-उत्साह इति स्थानकरणप्रयत्ना, परस्परं-अन्योन्य ३९  
स्फुरन्ति तदा प्रथम स्फुष्टताख्यान्तरप्रयत्न इत्येवरीत्या कमेणान्तरप्रयत्नत्रयमपि निर्दिशति-यदा इत्यादि, विवृतता इत्यन्तेन ।  
आन्तरप्रयत्न विवृत्यं बाह्यप्रयत्न भेदपुर सरं विवृणोति—स इदानीं इत्यादि, बाह्यप्रयत्न इत्यन्तेन । प्राणो नाम वायु-इति ४२  
कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठविलस्य संवृतत्वात्-सकोचशालित्वात् संवार इति द्वितीय । तत्र-कोष्ठेऽभिहन्यमाने, यदा कण्ठविलस्य-गल-  
विवरं, विवृतं-विकस्वरं भवति तदा मुखनासिकाप्रवेशनिर्गमनाभ्यां श्वास-तन्नामको वायु, जायते-भवति इति तृतीय । तत्र यदा कण्ठ-  
विल-गलविवरं सवृतं भवति तदा नाद-तन्नामकश्चतुर्थ । श्वासनादौरेकाभिधानतया कथयति—तौ-श्वासनादौ अनुप्रदानं इति आच- ४५  
क्षते-अभिधत्ते चक्षिक्वातोर्द्विकर्मकत्वादेव तौ अनुप्रदान इति च कर्म । अन्यसंमतिमाह—अन्ये तु ब्रुवते अनुप्रदानम्-अनुपरीचते-

घण्टादिनिर्हादवद्” इति । तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते । यदा तु श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गादघोषो जायते । अल्पे वायावल्पप्राणता, महति महाप्राणता जायते । ३ महाप्राणत्वादुष्मत्वम् । यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठविलस्य चाणुत्व स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद्द्रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते । यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रसनं कण्ठविलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तमाचक्षते । उदात्तानुदात्तस्वरसनिपातात् स्वरित इत्येष ५ कृत्स्नो वाह्यः प्रयत्न इति” ॥ अथवा-विवारादयो वर्णनिष्पत्तिकालादूर्ध्वं वायुवशेनोत्पद्यन्ते, स्पृष्टतादयस्तु स्थाना-स्यप्रयत्नव्यापारेण वर्णोत्पत्तिकाल एवेति वर्णनिष्पत्तिकालभावाभावाभ्यां विवारादीनां बाह्यत्वं, स्पृष्टतादीनां चाभ्यन्तर-त्वम् । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शर्षपसर्विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयाश्च विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः । वर्गाणां १ तृतीयचतुर्थपञ्चमा अन्तःस्था हकारानुस्वारौ च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः । वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा अन्तःस्था-श्चाल्पप्राणाः, इतरे सर्वे महाप्राणाः । स्थानग्रहणं किम्? कचटतपानां तुल्यास्यप्रयत्नानामपि भिन्नस्थानानां मा भूत्, किं च स्यात्? ‘तर्सा, तर्हुम्’ इत्यत्र “धुटो धुटि स्वे वा” ॥११३४८॥ इति पकारस्य तकारे लोपः स्यात् । आस्यप्रयत्नग्रहणं १२ किम्? चवर्गयशानां तुल्यस्थानानामपि भिन्नास्यप्रयत्नानां मा भूत्, किं च स्यात्? अरूक् श्र्योतति इत्यत्र “धुटो धुटि स्वे वा” ॥११३४८॥ इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात् । स्वप्रदेशाः “इवर्णादेरस्वे स्वे यवरलम्” ॥ १ । २ । २१ ॥ इत्यादयः ॥ १७ ॥

- १५ पश्चात्प्रकर्षेण धीयते इति तस्यैवार्थमाह—अनुस्वानः इति । घण्टादिनिर्हादवत्-घण्टादेर्निर्हाद, तेन तुल्य तद्वत् । तामनुप्रदान-मित्यारभ्य अन्ये तु इत्यादि, निर्हादवद् इत्यन्तमौदन्नजेर्मतम् । द्वौ नादानुप्रदानौ इति हि तद्वचनात् । घोष कदा भवति? इत्यत आह— तत्र यदा इत्यादि, जायते इत्यन्तेन । तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे-स्थान-कण्ठादि, करण-जिह्वामूलादि, तयोरभिघात-हनन तस्मा- २८ ज्वात-स्थानकरणाभिघातज तस्मिन् ध्वनौ नाद पूर्वोक्त, अनुप्रदीयते-पश्चात् प्रकर्षेण धीयते, तदा नादध्वनिसंसर्गात्-नादाख्य-ध्वनिसंबन्धात् घोष-तत्तामको वाह्यप्रयत्न पश्यम् । यदातु-स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ इति शेष । श्वास-पूर्वोक्त, अनुप्रदीयते तदाश्वासध्वनिसंसर्गात्-श्वासाख्यध्वनिसंबन्धात् अघोषः जायते-भवति तस्मात्को वाह्यप्रयत्न षष्ठ । अल्पप्राणतामहाप्राणते २१ स्पृष्टे । उदात्त विद्युत्ते-यदा इत्यादि, आचक्षते इत्यन्तेन । यदा-यस्मिन् समये, सर्वाङ्गानुसारी-सर्वाङ्ग-प्रयत्न अनुसरतीत्येवशील, प्रयत्न-उत्साह, तीव्र-उग्र, भवति तदा गात्रस्य-शरीरस्य निग्रह-ग्रहण च कण्ठविलस्य-गलविवरस्य अणुत्वं-सूक्ष्मत्व च स्वरस्य रौक्ष्यं-पारुष्य भवति वायोः तीव्रगतित्वात् इत्यन्वय । अनुदात्त विद्युत्ते-यदातु मन्दः इति, आचक्षते २४ इत्यन्तेन । मन्दः-शनै शनै, प्रयत्न-उत्साह, स्रंसनं-शिथिलीभवन, महत्त्वं-शीर्षत्व, स्वरस्य स्निग्धता-मृच्छता भवति वायोः मन्दगतित्वात् इत्यन्वय । स्वरित विद्युत्ते-उदात्ता इत्यादिना, प्रयत्न इत्यन्तेन । उदात्तानुदात्त स्वर-संनिपातात्-उदात्तश्च, अनुदात्तश्च तौ स्वरौ-उदात्तानुदात्तस्वरौ तयो संनिपात-सन्मेलन समाहार इति यावत् तस्मात्, स्फुटोऽर्थ । २७ कृत्स्न-समग्र । विवारादीनां बाह्यत्व, स्पृष्टतादीनां चान्तरत्व व्याख्यानान्तरेण प्रतिपादयति-अथवा इत्यादिना । विवारादयः-विवारसवारश्वासानादघोषाघोषाल्पप्राणतामहाप्राणतोदात्तानुदात्तस्वरिता । वर्णनिष्पत्तिकालात्-अक्षरोत्पत्तिसमायात्, ऊर्ध्वं-पश्चात्, वायु-वशेन-समीरणबलेन, उत्पद्यन्ते इति वर्णनिष्पत्तिकालानुत्पत्तिकत्वेन विवारादीनां बाह्यत्व सिद्धम् । स्पृष्टतादयः स्पृष्टतेपस्पृष्टता चट्टता- ३० विवृतता । स्थानास्यप्रयत्नव्यापारेण-स्थान च आस्यप्रयत्नश्च तयोर्व्यापारस्तेन । वर्णोत्पत्तिकाले-अक्षराभिव्यक्तिसमये एव, उत्पद्यन्ते इति स्पृष्टतादीनां वर्णनिष्पत्तिकालोत्पत्तिकत्वेन चान्तरत्व सिद्धम् । तदेवाह-वर्णनिष्पत्तिकालभावाभावाभ्यामित्यादिना । वर्णानां निष्पत्तिकाल वर्णनिष्पत्तिकाल अभावश्च भावश्च इति भावामावौ “लघ्वक्षरा०” ३१११६०१ इत्येनेनाल्पस्वरत्वेन भावशब्दस्य पूर्वनिपात, वर्ण- ३३ निष्पत्तिकाले भावामावौ ताभ्याम् । अत्र हेतुद्वय विवारादीनां बाह्यत्वं वर्णनिष्पत्तिकालेऽभावात्-अनुत्पत्ते इत्येको हेतु, च स्पृष्टतादीनां-पूर्वोक्तानां आभ्यन्तरत्वं-चान्तरत्व वर्णनिष्पत्तिकाले-अक्षरोत्पत्तिसमये भावात्-उत्पत्ते इत्यपरो हेतु । येषां वाह्या प्रयत्ना-सम्भवन्ति तानाह-तत्र इत्यादि, महाप्राणा इत्यन्तेन । तत्र-वाह्यप्रयत्नमध्ये, वर्गाणां-कवर्गचवर्गटवर्गतवर्गपवर्गाणां, प्रथम- ३६ द्वितीया-क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, इत्येते, शषसविष्णुस्त्या । विवृतकण्ठाः-येषामुच्चारणे कण्ठो विवृतो भवति ते विवृतकण्ठा । श्वासानुप्रदानाः-श्वासलक्षणमनुप्रदान येषां ते श्वासानुप्रदाना । वर्गाणां-पूर्वोक्तानां, तृतीयचतुर्थपञ्चमाः-ग घ ङ, ज झ ञ, ङ ङ ण, द ध न, ब भ म । अन्तःस्था. य र ल व इत्येते । हकारः अनुस्वारः इत्येते संवृतकण्ठाः, येषामुच्चारणे कण्ठ ३९ चट्टतो भवति ते चट्टकण्ठा । नादानुप्रदानाः-नादलक्षण अनुप्रदान येषां ते नादानुप्रदाना । वर्गाणां-पूर्वोक्तानां, प्रथमतृतीय-पञ्चमाः-क ग ङ, च ज झ, ट ङ ण, त द न, प ब म इत्येते, अन्तःस्था-य र ल व इत्येते अल्पप्राणा । इतरे सर्वे-ख घ, छ झ, ठ ङ, थ ध, फ भ, श ष, स ह, विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुनासिका अपि इत्येते महाप्राणा । सूत्रे स्थानग्रहणाभावे केवलास्यप्र- ४२ यत्नतुल्यताया स्वत्वे सत्यनेन तर्सा, तर्हुम् इत्यत्र रेफात्परस्य धुट पस्य स्थाने तकारे परे लोपः स्यात्, स्वत्व चास्त्येव तकारस्य पतयोरस्य-एवमेव आस्यप्रयत्नग्रहणाभावे सूत्रे केवलस्थानतुल्यतायामपि अरूक् द्योतति, अत्र कात्परस्य शस्य चकारे परे लोपः “धुटो धुटि स्वे वा” इत्यनेन स्यादिति, नच वाच्य शचयो विभिन्नस्थानत्व तादृत्वेन तयोस्तुल्यत्वात्, तदेवाह आस्यप्रयत्नग्रहणं किम्? चवर्गयशाना ४५ इत्यादि, चकारे परे लोपः स्यात् इत्यन्तेन । स्वप्रदेशाः-पूर्वबद्धोऽप्यम् ॥ १७ ॥

स्यौजसमौशस्ताभ्यांभिसूडेभ्यांभ्यसूडसिभ्यांभ्यसूडसोसांडयोस्तुपां

त्रयीत्रयी प्रथमादिः ॥ १ । १ । १८ ॥

स्यादीनां प्रत्ययानां त्रयी त्रयी यथासंख्य प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तमीसंज्ञा भवति । ईर्जश्टडेपा ३ अनुबन्धाः “सौ नवेतौ” ॥१।२।३८॥ इत्यादौ विशेषणार्थाः । बहुवचनं स्याद्यादेशानामपि प्रथमादिसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रथमादिप्रदेशा “नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ” ॥ २ । २ । ३१ ॥ इत्यादयः ॥ १८ ॥

स्यादिर्विभक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥

‘स्’ इत्युत्सृष्टानुबन्धस्य सेर्ग्रहणम् । ‘ति’ इति उत्सृष्टानुबन्धस्य तिवः । आदिशब्दो व्यवस्थावाची । स्यादय- स्तिवादयश्च प्रत्ययाः सुपस्यामहिपर्यन्ता विभक्तिसंज्ञा भवन्ति । विभक्तिप्रदेशाः—“अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम” ॥ १ । १ । २७ ॥ इत्यादयः ॥ १९ ॥

तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥

स्याद्यन्तं त्याद्यन्तं च शब्दरूप पदसंज्ञं भवति । धर्मो वः स्व ददाति नः शास्त्रम् । अन्तग्रहणं पूर्वसूत्रे तदन्त- प्रतिषेधार्थम् । पदप्रदेशाः—“पदस्य” ॥ २ । १ । ८९ ॥ इत्यादयः ॥ २० ॥

नाम सिद्धयञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥

सिति प्रत्यये यकारवर्जिते व्यञ्जनादौ च परे पूर्वं नाम पदसंज्ञं भवति । भवदीयः, ऊर्णासुः, अहसुः, अहस्युः, शुभसुः, शुभस्युः । व्यञ्जने-पयोभ्याम्, पयस्सु, राजता, दक्त्वम्, राजकाम्यति । नामेति किम्? घातोर्मा भूत्- २५

“नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ” २।२।३१ इत्यादिसूत्रैः प्रथमादिशब्दैर्विधीयमानानां स्यादीनां तदादिपदबोधकवरूपा प्रथमादिसंज्ञा, प्रत्ययस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकं निरूपयति—स्यौजसमौ इत्यादिसूत्रेण । स्यार्थमाह—स्यादीनां इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । स्यादीनां प्रत्ययानां—सि औ जस् इत्यादीनां प्रत्ययान्त, त्रयी त्रयी—त्रयोऽवयवा अस्या इति, यथास्तरयं—यथाक्रमं सि औ जस् इति १८ प्रथमा, अम-औ-शस् इति द्वितीया—द्वयो पूरणी, टा भ्याम् भिस् इति तृतीया—तिरुणा पूरणी, डे भ्याम् भ्यस् चतुर्थी—चतस्रणा पूरणी, ङसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी—पञ्चानां पूरणी, ष् ओस् षाम् षष्ठी—षण्णा पूरणी, ङि ओस् सुप सप्तमी—सप्तानां पूरणी इति प्रथ- मादिसंज्ञा नापूर्वा । सि इत्यत्र इकार, जस् इत्यत्र जकार, शस् इत्यत्र शकार, टा इत्यत्र टकार, डे इत्यादिचतुष्टये ङकार, सुप इत्यत्र पकार- २१ इतीमेऽनुबन्धा सप्रयोजना यथास्थान दर्शयिष्याम । तदेवाह—अनुबन्धा इत्यादि, विशेषणार्थाः इत्यन्तेन । विशेषणार्था—विशेषण- व्यवच्छेद अर्थ—प्रयोजन येषान्ते इत्यर्थं । ‘तदादेशास्त्रद्वयवन्ति’ इति न्यायेन स्याद्यादेशानां प्रथमादिसंज्ञासिद्धौ किमर्थं बहुवचन- मिल्यत आह—बहुवचनम् इत्यादि, प्रतिपत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । बहुवचनम्—सुपा इति बहुवचन, स्याद्यादेशानामपि—यादादीनां २४ अपि, प्रथमादिसंज्ञानां प्रतिपत्तिः—ज्ञान, तदर्थमित्यर्थं । एतेन बहुवचने महती शक्तियेद्विना न्याय पूर्वोक्त साधयति । प्रथमादिप्रदेशा इत्यादि पूर्ववन्त्येयम् ॥ १८ ॥

स्यादिप्रत्ययानां प्रथमादिसंज्ञां निरूप्य स्यादित्याद्युभयबोधिका विभक्तिसंज्ञामाह—स्यादिर्विभक्तिः । स् ति प्रत्यय आदि- २७ र्थस्य—प्रत्ययसमुदायस्य स स्यादि । विभक्ति—विभज्यन्ते—विभागश प्रकाशयन्ते कर्तृकर्मादयोऽर्था धनया इति स्यादित्यादिप्रत्यय- समुदायो विभक्तिपदबोध इत्यर्थं । नन्वत्र स् इति, ति इति, कस्य ग्रहणमिति जिज्ञासायामाह—स् इत्युत्सृष्टा इत्यादि, तिव इत्यन्तेन । उत्सृष्टानुबन्धस्य—उत्सृष्ट—त्यक्त, अनुबन्ध—अनुबन्धते—कार्यसुपदिश्यते इत्यनुबन्ध—इत् यस्य सत्त्वस्य सेत्तिवश्च ग्रहणमित्यर्थं । ३० पूर्वसूत्रिव्यवस्थापितानुबन्धानामेवात्र ग्रहणमित्यभिप्रेत्याह—आदिशब्दो व्यवस्थावाची । एतेन पूर्वोक्तार्थचतुष्टयमध्ये व्यवस्थार्थक एवात्र प्राप्य । ससुदितस्यार्थमाह—स्यादय इत्यादि, भवन्ति इत्यन्तेन । विभक्तिप्रदेशा पूर्ववत् ॥ १९ ॥

विभक्तिसंज्ञां निरूप्य पदसंज्ञामाह—तदन्तं पदम् । अत्र सूत्रे तच्छब्देन पूर्वसूत्रस्थस्यादिरिति परामुश्यते, शब्दरूपमध्याहृत ३१ तेन विशिष्यते, तथाच तत्—स्यादिप्रत्यय त्यादिप्रत्ययश्च अन्तो यस्य तत् तदन्तः पदम्—पदत्वे गम्यते कारकसंज्ञोऽर्थोऽनेनेति ‘पद’ इति संज्ञा । स्याद्यन्तशब्दरूपस्य, त्याद्यन्तशब्दरूपस्य च, इत्यर्थस्तदेवाह—स्याद्यन्तं इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । धर्मो वः स्व ददाति नः शास्त्रम्—अत्र पदत्वे नञसिद्धौ । सूत्रेऽन्तग्रहणाभावे “प्रत्यय प्रकृत्यादे” , “विशेषणमन्त” इति न्यायसहकारेण शब्दरूप ३२ विशेष्यमध्याहृतान्तपदोपलब्धौ सति किमर्थमित्यत आह—अन्तग्रहणं इत्यादिना । ‘संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति’ इति व्यर्थं संज्ञापयति अन्तग्रहणं इति स्वार्थे चारितार्थं, वाक्यान्तरकल्पना, फलमन्यत्र, स्यादिविभक्तिः इत्यत्र केवलानां प्रत्ययानां सा सिध्यति । पदप्रदेशाः—पदसंज्ञाप्रयोजनस्थानानि ॥ २० ॥

३९

नाम्नः पदसंज्ञामाह—नाम सिद्धयञ्जने । अत्र पदमित्यनुवर्तते । नाम पद सिद्धयञ्जने इत्यन्वयः । स् इत् यस्य स सिद्ध इति प्रत्यय एव अन्त्यस्य सितोऽसमवेन लब्ध प्रत्यये इति साहचर्यपरिभाषया ‘अव्यञ्जने’ इत्यत्राप्यन्वेति, इत्यत्र “सप्तम्या आदिरिति” आदिपदोपस्थित्या सप्तम्यस्यार्थमाह—सिति इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । भवदीय, ऊर्णासु, अहसु, शुभसु, अत्र “भवतीरिकाण्यसौ” ६।३।३०, “ऊर्णाहशुम्- ४२ मौसुस्” ७।२।१७ इतीयस्युयो यथाक्रमं सिद्धप्रत्यययो पूर्वनाम्नः पदत्वेऽनेन, “धुटस्तृतीय” इति, “अवर्णे” इति, “तौसुनो” इति, तस्य दत्त्व, अवर्णलोपामावो, मस्य चानुस्वारानुनासिको भवत । पयोभ्यामित्याद्युदाहरणेषु, पदत्वाद्बन्धोऽवसत्त्वानि । राजता, दक्त्वम्—अत्र पदत्वे यथाक्रमं नलोपगत्वे । राजकाम्यति—राजानमित्यन्तेति “अभाव्यात्क्यन्त्” ३।४।२३ इति कान्येपरे, पूर्वनाम्नः पदत्वे नलोप । नामग्रहणप्रयोजनमाह— ४५

घण्टादिनिर्हादवद्” इति । तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते । यदा तु श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते । अल्पे वायावल्पप्राणता, महति महाप्राणता जायते । २ महाप्राणत्वाद्प्लवत्वम् । यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठविलस्य चाणुत्व स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद्द्रौक्ष्य भवति तगुदात्तमाचक्षते । यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रसनं कण्ठविलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्भन्द्रगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तमाचक्षते । उदात्तानुदात्तस्वरसनिपातात् स्वरित इत्येव कृत्वो घाच्यः प्रयत्न इति” ॥ अथवा-विवारादयो वर्णनिष्पत्तिकालाद्ध्वं वायुवशेनोत्पद्यन्ते, स्पृष्टतादयस्तु स्थानास्यप्रयत्नव्यापारेण वर्णोत्पत्तिकाल एवेति वर्णनिष्पत्तिकालभावाभावाभ्यां विवारादीनां बाह्यत्व, स्पृष्टतादीनां चाम्बन्तरत्वम् । तत्र वर्णाणां प्रथमद्वितीयाः शर्षसर्विसर्गजिहामूलीयोपध्मानीयाश्च विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः । वर्णाणां तृतीयचतुर्थपञ्चमा अन्तस्था हकारानुस्वारौ च सवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः । वर्णाणां प्रथमसूतीयपञ्चमा अन्तस्था-श्चाल्पप्राणाः, इतरे सर्वे महाप्राणाः । स्थानग्रहण किम् ? कचटतपानां तुल्यास्यप्रयत्नानामपि भिन्नस्थानानां मा भूत्, किं च स्यात् ? ‘तर्सा, तर्भुम्’ इत्यत्र “धुटो धुटि स्वे वा” ॥१३।४८॥ इति पकारस्य तकारे लोपः स्यात् । आस्यप्रयत्नग्रहणं किम् ? चवर्गयशानां तुल्यस्थानानामपि भिन्नास्यप्रयत्नानां मा भूत्, किं च स्यात् ? अरूक् श्योतति इत्यत्र “धुटो धुटि स्वे वा” ॥१३।४८॥ इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात् । स्वप्रदेशाः “इवर्णोदैरस्वे स्वेर यवरलम्” ॥ १ । २ । २१ ॥ इत्यादयः ॥ १७ ॥

२५ पश्चात्प्ररूपेण धीयते इति तस्यैवायमाह—अनुस्वानः इति । घण्टादिनिर्हादवच्-घण्टादेर्निर्हाद, तेन तुल्य तद्वत् । तावदनुप्रदानमित्यारभ्य ध्वन्ये तु इत्यादि, निर्हादवद् इत्यन्तमौदप्रजेर्मेतम् । द्वौ नादानुप्रदानौ इति हि तद्वचनात् । घोष कदा भवति ? इत्यत आह—तत्र यदा इत्यादि, जायते इत्यन्तेन । तत्र यदा स्थानकरणाभिघातजे-स्थान-कण्ठादि, करण-जिहामूलादि, तयोरभिघात-ह्रनन तस्मात् २८ ज्ञात-स्थानकरणाभिघातज तस्मिन् ध्वनौ नाद पूर्वोक्त, अनुप्रदीयते-पश्चात् प्ररूपेण धीयते, तदा नादध्वनिसंसर्गात्-नादास्यध्वनिसंघन्धात् घोष-तन्मात्रको वाद्यप्रयत्न पञ्चम । यदातु-स्थानकरणाभिघातजे ध्वनौ इति शेष । श्वास-पूर्वोक्त, अनुप्रदीयते तदाश्वासध्वनिसंसर्गात्-श्वासास्यध्वनिसंघन्धात् अघोषः जायते-भवति तन्मात्रको वाद्यप्रयत्न पष्ठ । अल्पप्राणतामहाप्राणते २१ स्पष्टे । उदात्त विद्युते-यदा इत्यादि, आचक्षते इत्यन्तेन । यदा-यस्मिन् समये, सर्वाङ्गानुसारी-सर्वाङ्ग-प्रयत्नं अनुसरतीत्येवशील, प्रयत्न-उत्साह, तीव्र-उग्र, भवति तदा गात्रस्य-शरीरस्य निग्रहः-ग्रहणं च कण्ठविलस्य-गलविवरस्य अणुत्वं-सूक्ष्मत्व च स्वरस्य रौक्ष्यं-पारुष्य भवति वायोः तीव्रगतित्वात् इत्यन्वयः । अनुदात्त विद्युते-यदातु मन्दः इति, आचक्षते २४ इत्यन्तेन । मन्द-शनै शनै, प्रयत्न-उत्साह, स्रसनं-शिथिलीभवन, महत्त्वं-धीर्घत्व, स्वरस्य स्निग्धता-मच्छणता भवति वायोः मन्दगतित्वात् इत्यन्वयः । स्वरित विद्युते-उदात्ता इत्यादिना, प्रयत्न इत्यन्तेन । उदात्तानुदात्त स्वरसंनिपातात्-उदात्तश्च, अनुदात्तश्च तौ स्वरौ-उदात्तानुदात्तस्वरौ तयो संनिपातः-सम्मेलन समाहार इति यावत् तस्मात्, स्फुटोऽर्थः । २७ कृत्व-समग्र । विवारादीनां बाह्यत्व, स्पृष्टतादीनां चाम्बन्तरत्व व्याख्यानान्तरेण प्रतिपादयति-अथवा इत्यादिना । विवारादयः-विवारसवारश्वासानादघोषाघोषाल्पप्राणतामहाप्राणतोदात्तानुदात्तस्वरिता । वर्णनिष्पत्तिकालात्-अक्षरोत्पत्तिसमयात्, ऊर्ध्वं-पश्चात्, वायुवशेन-समीरणवलेन, उत्पद्यन्ते इति वर्णनिष्पत्तिकालानुत्पत्तिकत्वेन विवारादीनां बाह्यत्व सिद्धम् । स्पृष्टतादयः स्पृष्टतेष्वस्पृष्टता सधृतता-वशेन-समीरणवलेन, उत्पद्यन्ते इति वर्णनिष्पत्तिकालानुत्पत्तिकत्वेन विवारादीनां बाह्यत्व सिद्धम् । स्पृष्टतादयः स्पृष्टतेष्वस्पृष्टता सधृतता-वशेन-समीरणवलेन, उत्पद्यन्ते इति वर्णनिष्पत्तिकालानुत्पत्तिकत्वेन विवारादीनां बाह्यत्व सिद्धम् । तदेवाह-वर्णनिष्पत्तिकालभावाभावाभ्यामित्यादिना । वर्णाणां इति स्पृष्टतादीनां वर्णनिष्पत्तिकालोत्पत्तिकत्वेन चाम्बन्तरत्व सिद्धम् । तदेवाह-वर्णनिष्पत्तिकालभावाभावाभ्यामित्यादिना । वर्णाणां निष्पत्तिकाल वर्णनिष्पत्तिकाल अभावश्च भावश्च इति भावाभावौ “लघ्वक्षरा०” ३।१।१६०। इत्यनेनाल्पस्वरत्वेन भावश्चन्दस्य पूर्वनिपात, वर्णनिष्पत्तिकाले भावाभावौ ताभ्याम् । अत्र हेतुद्वय विवारादीनां बाह्यत्वं वर्णनिष्पत्तिकालेऽभावात्-अनुत्पत्ते इत्येको हेतुः, च स्पृष्टतादीनां-पूर्वोक्तानां आभ्यन्तरत्वं-आन्तरत्व वर्णनिष्पत्तिकाले-अक्षरोत्पत्तिसमये भावात्-उत्पत्ते इत्यपरो हेतुः । येषां बाह्या प्रयत्ना-संभवन्ति तानाह-तत्र इत्यादि, महाप्राणा इत्यन्तेन । तत्र-बाह्यप्रयत्नमध्ये, वर्णाणां-ऊर्ध्ववर्गवर्णवर्णवर्णवर्णवर्णवर्णाणां, प्रथम-द्वितीया-क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, इत्येते, शषसर्विसर्गमूट्याः । विवृतकण्ठाः-येषामुच्चारणे कण्ठो विवृतो भवति ते विवृतकण्ठाः । श्वासानुप्रदाना-श्वासलक्षणमनुप्रदान येषां ते श्वासानुप्रदानाः । वर्णाणां-पूर्वोक्तानां, तृतीयचतुर्थपञ्चमाः-ग घ ङ, ज झ ञ, ढ ढ ण, द ध न, व भ म । अन्तःस्थाः य र ल व इत्येते । हकारः अनुस्वारः इत्येते संवृतकण्ठाः, येषामुच्चारणे कण्ठो ज झ ञ, ढ ढ ण, द ध न, व भ म । अन्तःस्थाः य र ल व इत्येते नादानुप्रदानाः । वर्णाणां-पूर्वोक्तानां, प्रथमतृतीय-चतुर्थो भवति ते सवृतकण्ठाः । नादानुप्रदाना-नादलक्षण अनुप्रदान येषां ते नादानुप्रदानाः । वर्णाणां-य र ल व इत्येते अल्पप्राणाः । इतरे सर्वे-ख घ, छ झ, पञ्चमाः-क ग ङ, च ज झ, ट ढ ण, त द न, प व म इत्येते, अन्तःस्थाः-य र ल व इत्येते महाप्राणाः । सूत्रे स्थानग्रहणाभावे केवलस्यप्रयत्नव्यापारिणोत्पत्तिसंघन्धात् तन्मा भूदिति स्थानग्रहणं, तदेवाह-स्थानग्रहणं किम् ? कचटतपानामपि इत्यादिना, लोपः स्यात् इत्यन्तेन । एवमेव आस्यप्रयत्नग्रहणाभावे सूत्रे केवलस्थानानुत्पत्तिसंघन्धात् तन्मा भूदिति स्थानग्रहणं, तदेवाह-स्थानग्रहणं किम् ? कचटतपानामपि इत्यादिना, लोपः स्यात् इत्यन्तेन । २४ यत्नानुत्पत्तया स्वत्वे सत्यनेन तर्सा, तर्भुम् इत्यत्र रेफात्परस्य धुट पस्य स्थाने तकारे परे लोपः स्यात्, स्वत्व चास्त्येव तकारस्य पतयोरस्य-प्रयत्नव्यापारिणोत्पत्तिसंघन्धात् तन्मा भूदिति स्थानग्रहणं, तदेवाह-स्थानग्रहणं किम् ? कचटतपानामपि इत्यादिना, लोपः स्यात् इत्यन्तेन । २५ इत्यनेन स्यादिति, नच घाच्य शचयो विभिन्नस्थानत्व तादृत्वेन तयोस्तुल्यत्वात्, तदेवाह आस्यप्रयत्नग्रहणं किम् ? चवर्गयशानां इत्यादि, चकारे परे लोपः स्यात् इत्यन्तेन । स्वप्रदेशाः-पूर्ववद्वोध्यम् ॥ १७ ॥

स्योञ्जसमौशस् टाभ्यांभिसूडेभ्यांभ्यसूडलिभ्यांभ्यसूडसोसांडयोस्सुपां

त्रयीत्रयी प्रथमादिः ॥ १ । १ । १८ ॥

स्यादीनां प्रत्ययानां त्रयी त्रयी यथासंख्यं प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तमीसंज्ञा भवति । ईर्जश्टडैपा ३ अनुबन्धा- “सौ नवेतौ” ॥१२।३८॥ इत्यादौ विशेषणार्थाः । बहुवचन स्याद्यादेशानामपि प्रथमादिसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रथमादिप्रदेशा “नाम्नः प्रथमैकद्विवहौ” ॥ २ । २ । ३१ ॥ इत्यादयः ॥ १८ ॥

स्त्यादिर्विभक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥

‘स्’ इत्युत्सृष्टानुबन्धस्य सेर्ग्रहणम् । ‘ति’ इति उत्सृष्टानुबन्धस्य तिवः । आदिशब्दो व्यवस्थावाची । स्यादय- स्तिवाद्यश्च प्रत्ययाः सुप्स्वामहिपर्यन्ता विभक्तिसंज्ञा भवन्ति । विभक्तिप्रदेशाः—“अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम” ॥ १ । १ । २७ ॥ इत्यादयः ॥ १९ ॥

तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥

स्याद्यन्तं त्याद्यन्तं च शब्दरूप पदसंज्ञं भवति । धर्मो वः स्व ददाति नः शास्त्रम् । अन्तग्रहणं पूर्वसूत्रे तदन्त- प्रतिषेधार्थम् । पदप्रदेशाः—“पदस्य” ॥ २ । १ । ८९ ॥ इत्यादयः ॥ २० ॥

नाम सिद्धव्यञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥

सिति प्रत्यये यकारवर्जिते व्यञ्जनादौ च परे पूर्वं नाम पदसंज्ञं भवति । भवदीयः, ऊर्णासुः, अहंयुः, अहंय्युः, शुभयुः, शुभय्युः । व्यञ्जने-पयोभ्याम्, पयस्सु, राजता, दृक्त्वम्, राजकाम्यति । नामेति किम्? धातोर्मा भूत्- १५

“नाम्नः प्रथमैकद्विवहौ” २।२।३१। इत्यादिसूत्रे प्रथमादिशब्दैर्विधीयमानानां स्यादीनां तदादिपदबोधकरूपं प्रथमादिसंज्ञा, प्रत्ययस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकं निरूपयति—स्योञ्जसमौ इत्यादिसूत्रेण । सूत्रार्थमाह—स्यादीनां इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । स्यादीनां प्रत्ययानां—सि औ जस् इत्यादीनां प्रत्ययानां, त्रयी त्रयी—त्रयोऽवयवा अस्या इति, यथासंख्यं—यथाक्रमं सि औ जस् इति १८ प्रथमा, अम्-औ-जस् इति द्वितीया-द्वयो पूरणी, टा भ्याम् भिस् इति तृतीया-विद्युणा पूरणी, के भ्याम् भ्यस् चतुर्थी—चतस्रणा पूरणी, ळसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी-पञ्चानां पूरणी, ङस् ओस् आम् षष्ठी-षण्णा पूरणी, ङि ओस् सुप् सप्तमी-सप्तानां पूरणी इति प्रथ- मादिसंज्ञा नापूर्वाः । सि इत्यत्र इकार, जस् इत्यत्र जकार, शस् इत्यत्र शकार, टा इत्यत्र टकार, के इत्यादिचतुष्टये ङकार, सुप् इत्यत्र पकार २१ इतीनेऽनुबन्धा सप्रयोजना यथास्थानं दर्शयिष्याम । तदेवाह—अनुबन्धा इत्यादि, विशेषणार्थाः इत्यन्तेन । विशेषणार्था—विशेषण- व्यवच्छेदार्थं—प्रयोजनं येषान्ते इत्यर्थं । ‘तदादेशास्त्रयस्य’ इति न्यायेन स्याद्यादेशानां प्रथमादिसंज्ञासिद्धौ किमर्थं बहुवचन- मिलत आह—अनुबन्धनम् इत्यादि, प्रतिपत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । बहुवचनम्—सुपा इति बहुवचनं, स्याद्यादेशानामपि—यादावीनां २४ अपि, प्रथमादिसंज्ञानां प्रतिपत्तिः—ज्ञानं, तदर्थमित्यर्थं । एतेन बहुवचने महती शक्तिर्दिना न्याय पूर्वोक्तं साधयति । प्रथमादिप्रदेशा इत्यादि पूर्ववच्छेयम् ॥ १८ ॥

स्यादिप्रत्ययानां प्रथमादिसंज्ञां निरूप्य स्यादित्याद्युभयबोधिकां विभक्तिसंज्ञामाह—स्त्यादिर्विभक्तिः । स् ति प्रत्यय आदि- २७ र्थस्य—प्रत्ययसमुदायस्य स स्त्यादि । विभक्ति—विभज्यन्ते—विभागश्च प्रकाशयन्ते कर्तृकर्मादयोऽर्था अनया इति स्यादित्यादिप्रत्यय- समुदायो विभक्तिपदबोध इत्यर्थं । नन्वत्र स् इति, ति इति, कस्य ग्रहणमिति जिज्ञासायामाह—स् इत्युत्सृष्टा इत्यादि, तिव इत्यन्तेन । उत्सृष्टानुबन्धस्य—उत्सृष्ट—त्यक्तं, अनुबन्ध—अनुबन्धते—कार्यार्थमुपदिश्यते इत्यनुबन्ध—इत् यस्य सत्त्वस्य सेस्तिवश्च ग्रहणमित्यर्थं । ३० पूर्वसूत्रव्यवस्थापितानुबन्धानामेवात्र ग्रहणमित्यभिप्रेत्याह—आदिशब्दो व्यवस्थावाची । एतेन पूर्वोक्तार्थचतुष्टयमध्ये व्यवस्थार्थक एवात्र प्राग्य । समुदितसूत्रार्थमाह—स्यादय इत्यादि, भवन्ति इत्यन्तेन । विभक्तिप्रदेशा पूर्ववत् ॥ १९ ॥

विभक्तिसंज्ञां निरूप्य पदसंज्ञामाह—तदन्तं पदम् । अत्र सूत्रे तच्छब्देन पूर्वसूत्रस्यस्त्यादिरिति परामृश्यते, शब्दरूपमप्याहृत ३३ तेन विशिष्यते, तथाच तत्—स्यादिप्रत्यय ल्यादिप्रत्ययश्च अन्तो यस्य तत् तदन्तं, पदम्—पदवत् गम्यते कारकसंसृष्टोऽर्थोऽनेनेति ‘पद’ इति संज्ञा । स्याद्यन्तशब्दरूपस्य, स्याद्यन्तशब्दरूपस्य च, इत्यर्थस्तदेवाह—स्याद्यन्तं इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । धर्मो वः स्व ददाति नः शास्त्रम्—अत्र पदवत् वक्रसादेशौ । सूत्रेऽन्तग्रहणभावे “प्रत्यय प्रकृत्यादे”, “विशेषणमन्त” इति न्यायसहकारेण शब्दरूप ३६ विशेष्यमप्याहस्यान्तपदोपलब्धौ सति किमर्थमित्यत आह—अन्तग्रहणं इत्यादिना । ‘संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति’ इति व्यर्थं संज्ञापयति अन्तग्रहणं इति सांख्ये चारितार्थं, नाक्यान्तरकल्पना, फलमप्यत्र, स्त्यादिविभक्तिः इत्यत्र केवलानां प्रत्ययानां सा सिध्यति । पदप्रदेशा—पदसंज्ञाप्रयोजनस्थानानि ॥ २० ॥

नात्र पदसंज्ञामाह—नाम सिद्धव्यञ्जने । अत्र पदमित्यनुवर्तते । नाम पदं सिद्धव्यञ्जने इत्यन्वयः । स् इत् यस्य स सिद्ध इति प्रत्यय एव अन्वयस्य सितोऽसमवेन लब्ध प्रसवे इति साहचर्यपरिभाषया ‘अव्यञ्जने’ इत्यत्राप्यन्वेति, इत्यत्र “सप्तम्या आदिरिति” आदिपदोपस्थित्या सप्तमसूत्रार्थमाह—सिति इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । भवदीयः, ऊर्णासुः, अहंयुः, शुभयुः, अत्र “भवतीरिक्णीयसौ” ६।३।३०।, “ऊर्णाह्युभ- ४२ नोयुस्” ७।२।१७। इतीयसुसौ यथाक्रमं सित्यत्यययो पूर्वनात्र पदत्वेऽनेन, “बुटस्त्वृतीय” इति, “अवर्णे” इति, “तौमुभो” इति, तस्य दत्त्वं, अवर्णलोपाभावो, मस्य चानुस्वारानुनासिको भवत । पयोभ्यामित्याद्युदाहरणेषु, पदत्वाहत्वोत्त्वत्त्वानि । राजता, दृक्त्वम्—अत्र पदत्वे अथाक्रमं नक्षेपगत्वे । राजकाम्यति—राजानमित्यति “अमान्यात्क्यन्व” ३।१।२३। इति काम्येपदे, पूर्वनात्र पदत्वे नलोपः । नामग्रहणप्रयोजनमाह— ४५



वच्मि, यज्वा । सिदय्यव्यञ्जन इति किम् ? भवन्तौ, राजानौ । यवर्जनं किम् ? वाचमिच्छति वाच्यति । अन्तर्वर्तिन्यैव विभक्त्या तदन्तस्य पदत्वे सिद्धे सिद्धहण नियमार्थम्, तेन प्रत्ययान्तरे न भवति—सौश्रुतम्, भागवतम् ॥ २१ ॥

३ नं क्ये ॥ १ । १ । २२ ॥

क्य इति उत्सृष्टानुबन्धाना क्यन्क्यङ्क्यङ्पां ग्रहणम्, नकारान्त नाम क्ये प्रत्यये परे पदसंज्ञं भवति । राजान-मिच्छति क्यन् राजीयति, राजेवाचरति क्यद् राजायते, अर्चर्म चर्म भवति क्यद् चर्मायति चर्मायते, पदत्वान्नलोपः । नमिति किम् ? वाच्यति । क्य इति किम् ? सामनि साधुः सामन्यः, एव वेमन्यः । अय् इतिप्रतिषेधात्, पूर्वणाप्राप्ते वचनम् ॥ २२ ॥

न स्तं मत्वर्थे ॥ १ । १ । २३ ॥

५ सकारान्त तकारान्त च नाम मत्वर्थे प्रत्यये परे पदसंज्ञं न भवति । यशस्वी, मतोरपि मत्वर्थाव्यभिचारात् मत्वर्थ-शब्देन ग्रहणम्—पेचुष्मान्, विदुष्मान्, यशस्वान्, तडित्त्वान्, मरुत्वान्, विद्युत्वान् । स्तमिति किम् ? तक्षवान्, राजवान् । मत्वर्थ इति किम् ? पयोभ्याम् । अव्यञ्जने इति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ॥ २३ ॥

३२ वच्मि—अत्र वचेर्घातोर्मिषि परे न पदत्व, पदत्वे सति कत्व प्रसज्येत । यज्वा—अत्र यज्घातोर्गत्व प्रसज्येत, सति नामग्रहणे न भवति । भवन्तौ, राजानौ—अत्र न भवति पदत्व, औप्रत्ययस्य सिद्धप-यकारभिन्नव्यञ्जनादिरूपप्रत्ययाभावात् । व्यञ्जने 'अयि'ति विशेषण किमर्थमित्यत आह—

३५ राजीयतीत्यादौ "नाम सिद्धिः" सूत्रेणायित्यभावे 'नाम सिद्धव्यञ्जने' इति सूत्रन्यासे व्यञ्जनमाश्रित्य पदत्वे सिद्धे "न क्ये" इति सूत्रे 'नकारान्तमेव क्यप्रत्यये' पदसंज्ञं भवति नान्यदिति नियमयति, तेन नियमेन वाच्यति इत्यत्र पदत्वाप्राप्त्या किमर्थं यवर्जनम् ? 'नान्त क्यप्रत्यय एव' पद, न प्रत्ययान्तरे इति विपरीतनियमस्वीकारे यथाप्यायित्यस्य फल वाच्यति इति सम्भवति, तथापि विपरीतनियमस्वीकृतिरशक्या तथासति—राजा सीमा इत्यादौ

३८ पदत्वनिषेध स्यात् इति चेत्, "युवा खलति" ३।१।११३। इति निर्देशेन विपरीतनियमस्यासम्भवादिति चेत्समाधत्ते—सत्सु साधु सलम्, अत्र व्यञ्जनादिप्रत्यये परे पदत्वे तस्य हत्व स्याधियमेन व्यावृत्तिरशक्या तस्य क्यप्रत्ययविपयत्वात्, अत्र तु साधौ य इति विशेष । सिद्धप्रत्यये पूर्वनात्र पदत्वविधान व्यर्थं तस्यान्तवर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य "तदन्त पदम्" इति पदत्वे सिद्धे इत्यत आह—अन्तर्वर्तिन्यैव इत्यादि । 'सिद्धे सत्यारम्भो

२१ नियमाय भवति' इति सिद्धेवेति नियमयति । नियमफल दर्शयति—तेन इत्यादिना । सौश्रुतम्—श्रुत इदम्, भागवतम्—भागवत इदम्, इत्यर्थे "तस्येदम्" ६।३।१६०। इत्यपि पदत्वाभावात्त्वाभावात् । नन्वनेन नियमेन राजता, हृत्त्वमित्यादावपि, सौश्रुतम्, भागवतम् इत्यादि-वपदत्वाभावे सति नलोपायभाव इति चेच्छ्रूयताम्—सौश्रुतम् इत्यादौ नियमधरितार्थ, पयोभ्यामित्यत्र 'अव्यञ्जने' इति चरितार्थ, द्वयोः प्राप्ति

२४ राजता हृत्त्वमित्यत्र । तत्र 'स्पर्धपरम्' इति न्यायेन 'अव्यञ्जने' इति भवति परत्वात्, अथवा तदन्त पद इत्यस्यैवानेन नियम्यत्वात्सादोष ॥२१॥

नान्तनात्र पदसंज्ञानियमसूत्रम्—नं क्ये । अत्र नाम पदमिति चानुवर्तते । क्ये इति सामान्यनिर्देशेन, 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यस्य' इति सामान्यग्रहणे क्यक्ययोर्नामानुश्रुत्याऽसग्रह इति सर्वमभिप्रेत्याह—क्य इत्यादि, ग्रहणम् इत्यन्तेन । उत्सृष्टानुबन्धानां-उत्सृष्टस्यक अनुबन्धो यत्वे तेषाम् इति विशेषण क्यन्क्यङ्क्यङ्पां इत्यस्य, नमिति नात्रो विशेषणमिति "विशेषणमन्त" इति तदन्तग्रहण, क्ये इत्यनेनासम्भवात्प्रत्यये इति च सर्वं हृदि निधाय सूत्रार्थं व्याचष्टे—नकारान्तं इत्यादि, भवति इत्यन्तेन । स्पष्टोऽर्थः । राजा-नमिच्छति—राजीयतीत्यस्य विग्रह । क्यन्—"अमाव्यादात्" इति क्यन्प्रत्यये पदत्वेऽनेन, नलोपे "क्यनि" ४।३।११२। इतीकारेऽन्ता-

३० देश—राजीयति । राजेवाचरति—राजायते इत्यस्य विग्रह । क्यद्—"क्यद्" ३।४।२६। इति सूत्रेण पदत्वे सति नलोप—राजायते । अचर्म चर्म भवति—चर्मायति चर्मायते, इत्यस्य च विग्रह । क्यद्—"क्यद्" ३।४।३०। इत्यनेन, अनेन पदत्वे सति नलोप । नमित्यस्य फलमाह—नमिति किम् ? वाच्यति—अत्र नात्रो नान्तत्वाभाव । क्ये इत्यस्य फलमाह—क्ये इति किम् ? सामनि साधुः—सामन्य इत्यस्य विग्रह । वेमन्यः—अत्र पदत्वाभावे, न नकारस्य लोप । पूर्वोक्तप्रयोगेषु "नाम सिद्ध" इति पदत्वाप्राप्तौ पदत्वविधायकमिदमित्यत आह—अय् इति ॥ २२ ॥

पदसंज्ञा निरूप्य तन्निषेधप्रकरणमुपदर्शयति—न स्तं मत्वर्थे । अत्र नाम, पदमिति चानुवर्तते । मत्वर्थे इति प्रत्यये इत्याक्षेप । "विशेषणमन्त" इति तदन्तग्रहण, तथाच सान्त तान्त न पद मत्वर्थे प्रत्यये इत्यन्वय । तदेवाह—सकारान्तं इत्यादिना । यशस्वी—यशोऽस्यास्तीति विग्रहे—

३५ "अस्तपो माया" ७।२।१७। इत्यनेन मत्वर्थे विन्, सूत्रेणानेन पदत्वनिषेधे, पदान्तत्वाभावात्सस्य रुत्वाभावः । उग्रस्य सुखमिव सुखमस्येत्सु-सुख इत्यादिवत् 'संभवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्याग्यम्' इति न्यायेन मद्रुशब्दे मत्वर्थस्यैव विज्ञाय पश्चादर्थशब्देन मद्रुमत्वर्थोऽयं समानाधिकरणो बहुव्रीहि । ननु मद्रुशब्दस्य मत्वर्थशब्देन क्यमुपादानमित्यत आह—मतोरपि इत्यादिना । मतोरपि—मद्रुशब्द-स्यापि । मत्वर्थाव्यभिचारात्—मद्रुशब्दे मत्वर्थमभिधत्ते नान्यमर्थमतो व्यभिचाराभाव स्पष्ट एव, तस्मात्—मत्वर्थनिरूपितव्यभिचाराभावात् मद्रुशब्दस्यापि मत्वर्थशब्देन ग्रहणम्—बोधनम् । पेचुष्मान् इत्यादौ—मती परे "नामसिद्ध" प्राप्ते पदत्वेऽनेन निषिद्धे रुत्वाभाव ।

४२ तडित्त्वान् इत्यादौ—तस्मिन्परे तेनैव प्राप्ते पदत्वेऽनेन निषिद्धे रुत्वाभाव । तक्षवान्, राजवान्—अयोमयत्र सान्ततान्तत्वाभावोऽतो नानेन पदत्वप्रतिषेध, किन्तु पदत्वमेव तथासति न लोप । पयोभ्याम्—अत्र भ्यासो मत्वर्थाव्यभिचारात्पदत्वनिषेधो न । प्राप्ते सत्यां निषेध इत्यस्य निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वं दर्शयति—अव्यञ्जने इत्यादिना ॥ २३ ॥

४५ १ अचर्मनान् चर्मनान् भवति खं० ता०, पु०, माण्डा० ।

मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ॥२४॥ ]

श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । २४ ॥

मनुम् नमस् अङ्गिरस् इत्येतानि नामानि वतिप्रत्यये परे पदसंज्ञानि न भवन्ति । मनुस्वित् मनुष्वत्, एवं नमस्वत्, अङ्गिरस्वत्; पदत्वाभावाद् रुर्न भवति, षत्वं तु भवति ॥ २४ ॥

वृत्त्यन्तोऽसषे ॥ १ । १ । २५ ॥

परार्थाभिधानं वृत्तिः, तद्वाञ्छ पदसमुदायः समासादिः, तस्या अन्तोऽवसान पदसंज्ञो न भवति; 'असषे' सस्य तु षत्वे पदसंज्ञैव । परमदिचौ, श्रुतिहौ, गोदुहौ, परमवाचौ, बहुदण्डिनौ, एषु पदत्वाभावादुत्कर्तृत्वकाल-लुगादीनि न भवन्ति । वृत्तिग्रहणं किम् ? चैत्रस्य कर्म । अन्तग्रहणं किम् ? राजवाक्—अत्र नलोपो भवति । 'वाक्-त्वक्-सुक्;' इति त्रयाणां वृत्तौ न ष्टयक् द्वयोर्वृत्तिरिति मध्यमस्य निषेधो न भवति । अथ वाक्त्वचमित्यत्र समासान्ते सति वृत्त्यन्तत्वाभावात् पदत्व प्राप्नोति, तथा च कत्वं स्यात् ? उच्यते—समासात् समासान्तो विधीयत इति त्वचो वृत्त्यन्तत्वम् । असप इति किम् ? सिञ्चतीति विच् सेक्, दध्नः सेक् दधिसेक्, दधिसेचौ, ईषदूनः सेक् बहुसेक्, बहुसेचौ—अत्र पदसंज्ञायां पदादित्वात् सकारस्य "नाम्यन्तस्था०" ॥२।३।१५॥ इत्यादिना पत्वाभावः सिद्धः । अन्तर्वर्तिन्या विभक्तेः स्थानिवद्भावेन

मनुर्नभो० अत्र नाम पदमिति नेति चानुवर्तते । मनुर्नभोऽङ्गिरो नाम न पद वति इत्यन्वय । एवं—मनुष्वदिव विग्रह नभ-१२ स्वत्—नम इव नमस्वत्, अङ्गिरस्वत्—अङ्गिर इव । पदत्वाभावात्—"नाम ति०" इति पदत्वस्य अभावात्—अनेन निषेधात् रुः—"सोर्" इति विहित ॥ २४ ॥

वृत्त्यन्तोऽसषे—अत्र पद न इति चानुवर्तते, वृत्त्यन्त पदं न असषे इत्यन्वय । अत्र पदानि स्वार्थं विहाय वर्तन्ते सा वृत्ति, तस्या अन्त वृत्त्यन्त । सस्य ष सष, न सष असष, तस्मिन् असषे । वृत्तिपदार्थमाह—परार्थाभिधानं—परस्य अर्थस्य—समासेऽवयवपदार्था-प्रधानाभिधायिन इति अवयवपदार्थापेक्षयातिरिक्तस्य विशिष्टार्थस्य अभिधानमित्यर्थ । वृत्ति—वर्तन, तस्यान्तत्वासम्भव इत्यत आह—तद्वाञ्छ-वृत्तिमाह । पदसमुदायः समासादिः—पूर्वं वृत्तिशब्दार्थं विवृत्य पश्चाद् वृत्तिशब्दस्य लक्ष्यार्थप्रदर्शनम् । आदिपदात्—नामधातुत्कृतवृत्ति-ग्रहणम् । तस्याः—समासादिश्रुते । अवसानं—चरमावयव पदसंज्ञो न भवति इत्यर्थनिरूपणम् । असषे—सस्य पत्वे कर्तव्ये पदसंज्ञानिषेधो न प्रवर्ततेऽर्थात्पदसंज्ञा भवत्येव, तदेवाह—असषे इत्यादिना । परमदिचौ—परमा दौ रथोरिति विग्रह । अत्रान्तर्वर्तिनी विभक्तिमाश्रित्य प्राप्तपदत्वप्रतिषेधेऽनेन "च पदान्ते०" २।१।१९।८ इति पदत्वप्रयुक्तमुत्वं न भवति । श्रुतिहौ—सीढ इति लिहौ ज्ञान लिहौ इति २१ विग्रह, अत्र पूर्ववत्प्राप्त पदत्व निषिध्यतेऽनेन, इति पदत्वप्रयुक्त "हो धुद पदान्ते०" २।१।२।८।२।८ इत्यत न भवति । गोदुहौ—दुग्ध इति दुहौ, गो दुहौ इति विग्रह, अत्र "भ्वादिर्दधिर्षे०" २।१।२।३।३ इति पूर्ववत्पदत्वप्रयुक्त षत्वं न भवति । परमवाचौ—परमा वाग् यथोरिति विग्रह, अत्र "चज कगम्" २।१।२।६।६ इति कत्व पूर्ववत्पदत्वप्रयुक्त न भवति । बहुदण्डिनौ—ईषदूनौ इति विग्रह, अत्र—"नात्रो नोऽनह" २।१।१।१।२४ इति पूर्ववत् पदत्वप्रयुक्तो न नलोपो । तदेवाह—एषु पदत्वा इत्यादिना, न भवन्ति इत्यन्तेन । लुगादीनि—अत्र आदिपदात् यथासम्भव ङत्वे सत्येव ङत्व, षत्वे सति दस्य धत्व, ङत्वे सति गत्व, लुगभावे च "ह्रस्वाङ्गणो द्वे" १।३।२।७।७ इति द्वित्वं च—श्रुतिहौ, गोदुहौ, परमवाचौ, बहुदण्डिनौ इत्येषु न भवति । चैत्रस्य कर्म—अत्र वाक्यान्तस्य कर्मणो वृत्त्यन्ताभावेन पदत्वप्रतिषेधो न भवति, तथा सति न लोपो । राजवाक्—२७ अत्र राजन्शब्दस्य वृत्तिपूर्वपदस्य वृत्त्यन्ताभावेन पदत्वप्रतिषेधो न भवतीति नलोपो, तदेवाह—अत्र नलोपो इत्यादिना । वाक् च त्वक् च सुक् च इति वाक्त्वचसुच, अत्र त्रयाणां द्वन्द्वसमासे मध्यमस्य त्वच, वागपेक्षया वृत्त्यन्तत्वात् पदत्वप्रतिषेधे सत्यनेन वाक्त्वचसुच इति भाव्यमित्यत आह—वाक्त्वचसुच इत्यादि, न भवति इत्यन्तेन । एतेन वृत्त्यन्त सुच, इत्येव यदि पूर्वं द्वयोर्द्वन्द्वं कृतं स्यात् पश्चात्तृतीयेन सह ३० द्वन्द्वो भवेत्तर्हि त्वच् इत्यस्य वृत्त्यन्तत्व भवेदिति तदेव नास्तीति न कश्चिदोष । वाक् च त्वक् चेत्यनयो समाहारो वाक्त्वचम्, अत्र "च वर्गदषह समाहारे" ७।३।१९।८।८ इति समासान्तेऽदप्रत्ययेऽकारान्तवृत्तेरन्तत्वमकारस्य न त्वच इति वृत्त्यन्ताभावेनानेन पदत्वप्रतिषेधाभावे पदत्वे सति "चज कगम्" इति कत्व भवेदित्यभिप्रायेण षङ्गते—अथ इत्यादि, स्यात् इत्यन्तेन । समासान्ते—"चवर्गदषह०" इत्यनेनात्प्र-२३ ल्यये, वृत्त्यन्तत्वाभावात्—समासचरमावयवभावात्, पदत्वं—अन्तर्वर्तिनी विभक्तिमाश्रित्य प्राप्त, कत्वं—"चज कगम्" इत्यनेन । समाधानमाह—उच्यते इत्यादिना, वृत्त्यन्तत्वम् इत्यन्तेन । अयमाशय—समासाद्विधीयमानेनात्प्रत्ययेन समासान्तत्वव्याघातो 'यस्माद्यस्य विधानेन तस्यान्तत्वव्याघात' इति नियमात्, ननु समासावयवस्य त्वच इति समुदायावयवत्वेन समासान्तविधानेन समासान्तत्वव्याघातेऽपि षट्पृथ्वन्तस्य, समुदायावयवस्य त्वचोन्तत्वविधाताभावेन पदत्वनिषेध समुदायावयवस्य अवयवावयवत्वाभावादिति । अथवा लक्ष्यातुरोधेन समासशब्द समाससमासावयवबोधक इति समासावयवतासमासान्तो विधीयते इत्यर्थस्वीकारे त्वच इति समासावयवादप्रत्ययरूपसमासान्तविधाने यद्यप्यवृत्त्यन्तत्व त्वगित्यस्य तथापि सौष्ठवम् इत्यादिवत् सिञ्चियनेन निवर्त्यते प्राप्त पदत्वम् । अथवा—समासात्पर समासान्तो विधीयते इत्यर्थोऽङ्गीकारे-३९ ऽत्प्रत्ययरूपसमासान्तस्य स्यादितिभक्ते पूर्वं त्वच परञ्च च विधानेन स्पष्टमेवावृत्त्यन्तत्व त्वगित्यस्य, तथापि तत्र पदत्वाप्राप्ति स्पष्टैव इति संक्षेप । सस्य पत्वे कर्तव्ये 'वृत्त्यन्त पद न' इति न प्रवर्तते इत्यर्थकस्य—असषे इति न, इत्यस्य प्रयोजनमाह—असषे किम् ? इत्यादिना । 'सोपपदात् विच् नेष्यते' इति सिद्धान्तमाहस्य सिञ्चतीति सेक् इति ससाध्य पश्चात् दध्न सेक्, दधि सेगिति विग्रह कार्ये, तदेव दर्शयति—सिञ्चतीति इत्यादिना । ईषदूनः सेक्—बहुसेक् इत्यस्यार्थप्रदर्शनपुरःसरं विग्रह । अथसषे इति न स्यात्तत्रे तदा, प्रदर्शितोदाहरणे पदत्वप्रतिषेधे सकारस्य पदादित्वाभावेन पदमध्यवृत्तित्वाच्च "नाम्यन्तस्था०" इत्यादिना षत्वं प्रसज्येत, तन्मा भूदित्यभिप्रायेण 'असषे' इति सत्त्वे तु पदत्व प्रतिषेधाभावात्पदादित्वेन पदमध्यवृत्ताभावाच्च न भवति, सस्य ष इति महान्तामाशय इति धारयित्वा वदति—अत्र इत्यादिना, सिद्ध इत्यन्तेन । निषे-४५ पस्य प्रातिपूर्वकत्व प्रदर्शयति—अन्तर्वर्तिन्या इत्यादिना । स्थानिवद्भावेन—'स्थानीवाऽवर्णविधौ' ७।३।१९।९।९ इत्यनेन, स्फुटोऽर्थ । अन्तर्वर्तिनी

पदत्वं प्राप्तमनेन निषिध्यते । न च 'सिल्येव' इति नियमेन तन्निवर्तयितुं शक्यम्, "प्रत्ययः प्रकृत्यादेः" ॥७४११५॥  
इति हि यस्मात् सगुदायात् प्रत्ययविधान तस्यैव पदत्वं नियमेन निवर्त्यते, नतु तदवयवस्येति ॥ २५ ॥

१

### सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥

त्याद्यन्त पदमेवाख्यातम्, साक्षात् पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहित  
प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमान वा आख्यात वाक्यसंज्ञं भवति । धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु, साधु वो रक्षतु, साधु नो रक्षतु,  
६ उच्चैर्वो वदति, उच्चैर्नो वदति, भोक्तु त्वा याचते, भोक्तु मा याचते, शालीनां ते ओदन ददाति, शालीनां मे ओदनं  
ददाति । अप्रयुज्यमानविशेषणम्—लुनीहि ३ पृथुकांश्च खाद, पुनीहि ३ सक्तूश्च पिब । अप्रयुज्यमानमाख्यातम्—शीलं  
ते स्वम्, शीलं मे स्वम्; अर्थात् प्रकरणाद्वाऽऽख्यातादेर्गतावप्रयोगः । लोकादेव वाक्यसिद्धौ ? साकाङ्क्षत्वेऽप्याख्यातभेदे  
७ वाक्यभेदार्यं वचनम् । आख्यातमित्यत्रैकत्वस्य विवक्षितत्वात् तेन ओदन पच तव भविष्यति, मम भविष्यति । पच तव  
भविष्यति मम भविष्यति, ओदन तव भविष्यति मम भविष्यतीत्यादौ श्रूयमाणे गम्यमाने वाऽऽख्यातान्तरे भिन्नवाक्यत्वाद्

निमित्ताभिव्यक्त्य पदत्वप्रतिषेध परमदिव्यादित्वादां सांश्रुतमित्यादिवत् सार्दा प्रत्यये परे सिल्येवेति नियमेन सिद्धं इति सूत्रवैयर्थ्यामाहङ्ग समा-  
१२ धते—नच इत्यादि, तदवयवस्येति इत्येतेन । सिल्येवेति नियमेन तत् पदत्व निवर्तयितुं शक्यमिति न च इत्यन्वय, तन्निवर्तयित्वाद्—  
"प्रत्यय प्रकृत्यादेः" इत्यादिना ॥ २५ ॥

पदसंज्ञां तन्निवर्तयित्वा च समाप्य, किं वाक्य लौकिकमुत शास्त्रीयम् ? इति शास्त्रीयमाह—सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ।

१५ विशिष्यते विशेष्येन तद्विशेषणम् सः विशेषणेन वर्तते—सविशेषणम् । आख्यायते स्म—साध्याभिधायितया कथ्यते सति—आख्यातम् ।  
उच्यते विशिष्टोऽर्थोऽनेनेति—वाक्यम् । सविशेषणस्य आख्यातस्य वाक्यसंज्ञा बोध्या इति मूलसूत्रार्थः । आख्याते सविशेषणलोक्त्या सर्व-  
मित् सः उच्यते भवति, आख्यातस्य विशेषणानि—अभ्ययानि, कारकाणि, कारकविशेषणानि, क्रियाविशेषणानि च तानि साक्षात्परम्परया वा स्युः ।

१८ साक्षादपि विशेषणानि समानाधिकरणानि व्यधिकरणानि च तिवादिप्रत्यये कर्तुं कर्मणश्चाभिधानानभिधानैर्बोधानि कर्तरी कर्मणि च स्थले,  
तानि साक्षात्समानाधिकरणव्यधिकरणाह्यातविशेषणानि परम्परया वा, प्रयुज्यमानानि अप्रयुज्यमानानि स्युः, तैर्विशेषणैर्विशिष्टस्य आख्या-

तस्य प्रयुज्यमानस्याप्रयुज्यमानस्य वा वाक्यसंज्ञा भवतीत्यभिप्रायेण यदति सूत्रार्थः—साक्षात्पारम्पर्येण इत्यादिना । धर्मो वो रक्षतु—

२१ इत्यादौ, धर्म इति साक्षात्समानाधिकरण प्रयुज्यमान रक्षतु इत्याख्यातविशेषणम्, व इति च कर्म साक्षात्प्रधिकरण प्रयुज्यमान विशेषण-  
माख्यातस्य तिवादिनाभिधानात्कर्मणः । पूर्वत्र च कर्तुं तिवादिनाभिधानात् धर्म इति समानाधिकरणमाख्यातस्य प्रयुज्यमान विशेषणम्,  
अत्र वाक्यत्वाद्भ्रमसादेशौ । शालीनां ते ओदनं ददाति—इत्यादौ 'ददाति' इत्याख्याते ओदनं साक्षात्प्रधिकरण विशेषण, शालीनामिति तु-

२४ तद्वारा इति परम्परया विशेषणम् इति वाक्यत्वात्ते मे इत्यादेशौ । लुनीहि ३ पृथुकांश्च खाद, पुनीहि ३ सक्तूश्च पिब—अत्र आख्यात-  
विशेषणाप्रयुज्यमानत्वेऽपि लुनीहि ३ पुनीहि ३ इत्यनयोर्वाक्यत्वात्सुत । शीलं ते स्वम्—इत्यादावस्त्रीत्वप्रयुज्यमानेऽप्याख्याते वाक्यत्वम्,  
तथा सति ते मे इत्यादेशौ भवत । नन्वप्रयुज्यमानमाख्यात तद्विशेषण चातिप्रसङ्गापादकमविशेषादनियमश्च, अपि च अप्रयुज्यमानोऽपि

२७ शब्द शब्दधीहेतु स्यात्तदा विफल सर्वत्र तत्प्रयोग इत्यत आह—अर्थात् इत्यादि । अयमाशयः—शब्दप्रयोगो हि परस्यार्थबोधनेच्छया  
भवति । बोद्धुमिरेषितोऽनवयुद्धस्यार्थं शब्देन वक्त्रा प्रतिपादनीय इति शब्दार्थावबोधे न केवलं शब्दसमुपयोग प्रस्तावप्रयोजनयो-

रपि, उक्तञ्च "प्रस्तावादयवौचित्याद्देशकालविभागयोः । शब्दाध्यायौ प्रतीयन्ते न शब्दादेव केवलम् ॥" तथाच भर्तृहरि—“सप्तमो  
३० विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थं प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥" इति शब्दप्रयोगमन्तरा यदोपायान्तरेणापि विशेषण

विशेष्य वावगम्यते तदाकाङ्क्षानिराकाङ्क्षत्वादर्थावगमाच्च न प्रयुज्यते तद्वोधक शब्द इत्यप्रयुज्यमानत्व रूपपक्षम् । अर्थात्—प्रयोजनात्,  
प्रकरणात्—प्रस्तावात्, वा—अथवा, आख्यातादेः—अत्रादिपदेन आख्यातविशेषणपरिग्रह । गतौ—बोधे सति सर्वं गत्यर्था ज्ञानार्थो

३३ इत्यभिप्रायेणार्थः । अप्रयोगः—प्रयोगमात्र । निरपेक्षपदकदम्बकस्य वाक्यत्व लोकत एव न ज्ञायते, तथाहि—“साकाङ्क्षावयवभेदे परा-  
नाकाङ्क्षशब्दकम् । क्रियाप्रधान गुणवदेकाद्यं वाक्यमुच्यते ॥" इति किमर्थं वचनमिति चेत्सत्यम् लोको हि सापेक्षितत्वे क्रियाभेदेऽपि एक-

वाक्यत्व व्यङ्गीकरोति, इह तु शास्त्रे आख्यातभेदे साकाङ्क्षत्वेऽपि वाक्यभेद इति तदभिप्रायेणाह—लोकादेव वाक्यसिद्धौ ? किमर्थं वचनमिति

३६ शेषः । [अयमभिप्रायः—लोकैः त्याद्यन्तभेदे पदानामाकाङ्क्षया भवत्येकवाक्यत्व, तदेव यदि शास्त्रे शृण्वेत् तदातिप्रसङ्गोऽतस्तल्लौकिकवाक्यत्वानुप-

युक्तत्वसूचनाया वचन, समाधत्ते—साकाङ्क्षत्वेऽप्याख्यातभेदे—इत्यादिना । तथाच सिद्ध लोकादन्वच्छास्त्रीय वाक्यत्वम् । नन्वेकसिद्धाख्याते  
सत्येकवाक्यत्व, तद्वेदे वाक्यभेद इति सूत्रे विशेषोक्त्याभावेन विवेकोऽप्य कुत इत्यत आह—आख्यातमित्यत्रैकत्वस्य विवक्षितत्वात्—अथ

३९ भावः सूत्रे आख्यातमित्येकवचनान्त, एकवचनं हि—एकवचनं वाचि इत्यन्वर्थसंज्ञा, विवक्षाभिप्रायेण च तद्व्यभवेत् । सतो हि गुणे संख्याया  
विवक्षाभाव अत्र त्याख्यातस्य विधीयमानविषयतया प्राधान्यादेकवचनस्याया विवक्षाधीनत्वम् । स्वशास्त्रसंकेतितवाक्यत्वफलमाह—तेन—

शास्त्रीयवाक्यत्वस्वीकारेण, ओदनं पच तव भविष्यति, मम भविष्यति—मम भविष्यति इत्यत्र, ओदनं पच इत्यनुवर्तते ।

४२ ओदनं पच इत्यत्र युष्मदर्थकर्तृकेण पचिना कर्मत्वेनापेक्षमाण ओदनं तव भविष्यति मम भविष्यति इत्याख्यातान्तरे युष्मदर्थत्वामिके भवति-  
ना कर्तृत्वेनापेक्ष्यते इति, साकाङ्क्षत्वेऽप्याख्यातभेदे एकवाक्यत्व लौकिक, न शास्त्रीय आख्यातभेदादिति वाक्यत्वाभावात्ते मयादेशो न भवत ।

पच तव भविष्यति मम भविष्यति, अत्रादिमित्याख्यातसाक्षात्प्रधिकरणविशेषणाप्रयुज्यमानता, त्याद्यन्तभेदादिप्रसङ्गावयवत्वादादेशा-

४५ भावः । ओदनं तव भविष्यति मम भविष्यति—अत्र पच इत्याख्याताप्रयुज्यमानता, तद्विशेषणस्य कर्मणश्चौदनस्य, प्रयुज्यमा-  
नता इति लौकिकवाक्यत्वसत्त्वेऽपि शास्त्रीयस्य तस्याभावात्ते मयादेशामात्र । तदेवाह—श्रूयमाणे गम्यमाने वा इत्यादि, भवन्ति इत्य-

वस्तुसादयो न भवन्ति, लौकिके हि वाक्येऽङ्गीक्रियमाणे आख्यातभेदेऽप्येकवाक्यत्वाद् वस्तुसादयः प्रसज्येरन्निति; कुरुकुरु नः कटमित्यादौ तु कृते द्विवचनेऽर्थभेदादेकमेवाऽऽख्यातमित्येकवाक्यत्वाद् वस्तुसादयो भवन्ति । वाक्यप्रदेशाः—“पदाद्यु-  
ग्विमक्त्यैकवाक्ये वस्तुसौ बहुत्वे” ॥ २।१।२१ ॥ इत्यादयः ॥ २६ ॥

### अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम ॥ १ । १ । २७ ॥

अर्थोऽभिधेयः स्वार्थो, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या, शक्तिरिति, द्योत्यश्च समुच्चयादिः । तद्द्रव्यरूप धातुविभक्त्यन्त-  
वाक्यवर्जित नामसंज्ञ भवति । वृक्षः, प्लक्षः, कृष्णः, डित्यः, डवित्यः, स्वः, प्रातः, धवश्च, खदिरश्च । धातु-  
विभक्तिवर्जनं किम् ? अहन्, वृक्षान्, अयजन्; अत्र नामत्वाभावे “नाम्नो नोऽनहः” ॥२।१।११॥ इति नलोपो न  
भवति । विभक्त्यन्तवर्जनाच्चादिप्रत्ययान्तानां नामसंज्ञा भवत्येव । आप्-अजा, बहुराजा । डी-गौरी, कुमारी । डायनि-  
नाम्यार्यणी, गौकक्ष्यायणी । ति-युवतिः । ऊङ्-ब्रह्मचन्धूः, करभोरूः । कृत-कारकः, कर्ता, भिनत्तीति भिद्, एव छित् । °

न्तेन । लौकिकवाक्यत्वस्वीकारेऽनुपपत्तिमाह-लौकिके हि इत्यादि, प्रसज्येरन् इत्यन्तेन । स्फुटोऽर्थ । ननु कुरु कुरु न कटमित्यादौ, व्याय-  
न्तभेदे वाक्यत्वास्वीकृत्या कथमस्मदो नसादेश इत्यत आह-कुरु कुरु न. कटमित्यादौ इत्यादि, भवन्ति इत्यन्तेन । इदमत्राकृतम्—  
कुरु कुरु इति स्थाने द्विवचनमिति स्वरूपवेदे अर्थाभेदात्-अर्थैक्यात् आख्याताभेदे, सति भिन्नवाक्यत्वाभावात्सादेश इति सक्षेप । १२  
वाक्यप्रदेशाः—पूर्ववेदेव बोध्यम् ॥ २६ ॥

वाक्ययज्ञां निरूप्य नामसंज्ञामाह—अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम । धातुश्च, विभक्तिश्च, वाक्य च इति समाहार-  
द्वन्द्व । न धातुविभक्तिवाक्यम् अधातुविभक्तिवाक्यम्, विशेषणविदमर्थवन्नित्यस्य । विभक्तौति विभक्त्यन्तबोध । तथा सति धातुभिर्ज्ञं, १५  
विभक्त्यन्तभिन्न, वाक्यभिन्न अर्थवत् (अर्थोऽस्यास्तीति विग्रह ) नामपदबोध्य भवति इति मूलसूत्रार्थ । अर्थशब्दो हि प्रयोजनवचननिश्चि-  
वचनवचनार्थभिधेयवचनरूपवद्वर्थस्वत्र कस्यात्र परिग्रह इत्यपेक्षायामाह-अर्थोऽभिधेय इति । स च द्विविध युद्धिस्वरूपलक्षणोऽन्तरात्,  
तद्विषयो बहिराह । तत्र बहिराहार्थाभिधेयस्य मन्त्र भेदान्प्रदर्शयति—१ स्वार्थः—विशेषण इति, तच्च पञ्चिध स्वरूपजातिगुणसर्ववन्धक्रिया- १८  
द्रव्यभेदात् । २ द्रव्यं—विशेष्यमिति, तन्निविध जातिगुणद्रव्यभेदात् । अत्रेद रहस्यम्—यदा शब्दस्वरूपेण जातिविशेष्या भवति तदा  
शब्दस्वरूप विशेषणत्वात्स्वार्थं, जातिस्तु विशेष्यत्वाद्द्रव्यम् । यदा जातिविशिष्टो गुणस्तदा जातिविशेषणत्वात्स्वार्थं, गुणो विशेष्यत्वाद्द्रव्यम्,  
यथा पटस्य शुद्धो गुण । यदा गुणविशिष्टद्रव्योक्तिस्तदा गुणो विशेषणत्वात्स्वार्थं, द्रव्य विशेष्यभूत द्रव्य यथा शुरु पट । यदा द्रव्य द्रव्यान्तर- २१  
विशेषणभूत तदा द्रव्यं विशेषणत्वात्स्वार्थं, द्रव्यान्तरं विशेष्यत्वाद्द्रव्यम् । क्वचित्पचन्वोऽपि स्वार्थं, यत्र तन्निमित्तक प्रत्यय यथा दण्डी, अत्र  
दण्डिना सह दण्डसंयोगरूपस्यन्ध स्वार्थं । क्वचित्क्रियापि स्वार्थं, यत्र तन्निमित्तक प्रत्यय यथा पाचक, अत्र पाकक्रिया स्वार्थं इति सक्षेप ।  
३ लिङ्गम्—गुणीनपुंसकरूपम् । ४ संख्या—एकाद्या । ५ शक्तिः—कर्मत्वकरणत्वसंप्रदानादि । समासाद्यभिधेयमान चकारादिना द्योत्योऽपि २४  
समुच्चयादिरभिधेय इत्यावायेनाह-द्योत्यश्च समुच्चयादिः, अभिधेय इति शेष । न केवल स्वार्थादिरभिधेयो द्योत्यश्च समुच्चयदिरभिधेय इति  
चार्थं । अत्रादिपदाद्वा विकल्पादौ, एवोऽवधारणे इति च बोध्यम् । तद्द्रव्यं—स्वार्थद्रव्यलिङ्गधर्मरूपाकारकद्योत्यसमुच्चयरूपाभिधेयार्थवत्, शब्द-

तद्धित-औपगवः, आक्षिपक. । वाक्यवर्जनं किम् ? साधुधर्मं वृते । अर्थवत्समुदायस्य वाक्यस्य नामसंज्ञाप्रतिषेधात् समासा-  
 देर्भवत्वेव-चित्रगुः. राजपुरुषः, ईपदपरिसमाप्तो गुडो बहुगुडो द्राक्षा । अर्थवदिति किम् ? वनम्, धनम्, नान्तस्वावधेर्मा  
 भूत्, नामत्वे हि स्याद्युत्पत्तौ पदत्वान्नलोपः स्यात् । यदाऽनुकार्यानुकरणयोः स्याद्वादाश्रयणेनाभेदविवक्षा तदाऽर्थवत्त्वा-  
 भावान्न भवति नामसंज्ञा-यथा गवित्ययमाहेति, यदा तु भेदविवक्षा तदानुकार्येणार्थेणार्थवत्त्वाद्भवत्वेव-पचतिमाह, नः  
 समुच्चये, नेर्विशः. परावेर्जेरित्यादि । नामप्रदेशः-“नाम सिदध्यञ्जने” ॥ ११।२१ ॥ इत्यादयः ॥ २७ ॥

६

शिर्षुद् ॥ १ । १ । २८ ॥

जस्रसादेशः शिर्षुद्संज्ञो भवति । पञ्चानि तिष्ठन्ति, पञ्चानि पश्य । बुद्धप्रदेशः “बुद्धि” ॥१।४।६८॥ इत्यादयः ॥२८॥

पुंस्त्रियोः स्वमौजस् ॥ १ । १ । २९ ॥

औरिति प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोरविशेषेण ग्रहणम् । सि अम् औ जस् इत्येते प्रत्ययाः पुंसि स्त्रियां च बुद्धसंज्ञा  
 भवन्ति । राजा, राजानम्, राजानौ तिष्ठतः, राजानौ पश्य, राजानः । स्त्रियाम्-सीमा, सीमानम्, सीमानौ तिष्ठतः पश्य  
 वा, सीमानः, “नि दीर्घः” ॥१।४।८५॥ इति दीर्घः । पुंस्त्रियोरिति किम् ? सामनी, वेमनी, बुद्धत्वाभावाद् दीर्घो न भवति ।

१२ वंमहणेन नामसंज्ञाविधि पयुदासस्य विधिप्राधान्यात् नाघातुरिति प्रतिषेधप्रवृत्तिः । औपगवः-उपगोरपत्यमिति विग्रहे “दन्तोऽवले” ६।१।२।  
 इत्यणि रूपम् । आक्षिपक-अक्षेण वीथ्यति इति विग्रहे, “तेनजितजयद०” ६।४।२। इतीरुणि रूपम् । एषु विभक्त्यन्तत्वाभावात्तन्मे  
 स्यादय । ननु धातुविभक्त्यन्तभिन्नस्य पदेभ्यो व्यतिरिक्तस्य पदार्थस्यपञ्चविंशतिशार्थवोधकस्य वाक्यस्यार्थवत्त्वात्तन्मात्रमिति तद्वर्जनं

१५ माह-वाक्यवर्जनं किम् ? साधुधर्मं वृते । अत्रानाक्यमिति पयुदासे न्य तस्य च सद्यप्राहित्वाद्वाक्यमिन्नवाक्यसदृशाप्यवत्पदसमु  
 दायस्य समासस्य नामसंज्ञा विध्यति तदेवाह-अर्थवत्समुदायस्य वाक्यस्य इति । पूर्वोक्तार्थवत्त्वं तदसमूहरूपवाक्यस्य । नामसंज्ञाप्रति  
 षेधात्-पयुदासमाधिल्य समासादौ विधिद्वारा वाक्यस्य निषेधात् भवत्वेव नामसंज्ञा इति शेषः । चित्रगुः-चित्रा गावो यस्य स इति

१८ बहुमीहि । राजपुरुषः-राज पुरुष इति पठितत्वरूप । ईपदपरिसमाप्तो गुड इति तु बहु गुडो द्राक्षा इत्यस्य विवरणम् । अत्र  
 “नात्र प्रार्यहुर्या” ७।३।१२। इति वही रूपम् । ननु अघातुविभक्तौत्यत्र पयुदासाश्रयणेन धात्वादिभिन्नधात्वादिदृश्याप्यवत्तामेव शब्दरूपाणां  
 समव इति किमर्थमर्थवदित्यभिप्रायेणाशङ्क्य समाधत्ते-अर्थवदिति किम् इत्यादि, मा भूत् इत्यन्तेन । नान्तस्य अवधेः-धन् इत्यस्य नन्

२१ इत्यस्य चावधेः । अयमभिप्राय-अर्थवदिति हि सन्निनिर्देश सद्यप्राहि पयुदासेऽर्थवत्त्वेन धर्मेण सादृश्यसमाश्रयणाय, न च धन वनमित्यत्र  
 प्रतिवर्णं नामत्वे निरर्थकवर्णंभ्य स्याद्युत्पत्त्यभावेनेष्टापरितिरिति वाच्यम्, अवयवसंज्ञाविधानात्स्याद्युत्पत्ते, तथा सति पदत्वान्नलोप इत्येव  
 वदति-नामत्वे हि इत्यादि, स्पष्टोऽर्थः । ननु यदा केनचिदशक्या गौ इति प्रयोक्तव्ये गो इति प्रयुक्तं तदा तद्वत्मीपवर्ती च तदुक्तमपरेण पृष्ट

२४ सन्ननुकरोति तत्र तदनुकरणे नामसंज्ञा स्याद्वा नवा इत्याशङ्क्यामाह-यदानुकार्यानुकरणयोः । यदा-यसिन्काळे, अनुकार्यानुकरणयो-  
 अशक्या प्रयुक्तो इत्यनुकार्यं, तमनुकरोतीपरपृष्टेन तत्समीपवर्तिना चोक्तमनुकरण गो इति तयोः, स्याद्वादाश्रयणेन-अनेकान्तम-  
 ताभ्युपगमेन, अभेदविवक्षा-इदमत्र रहस्यम्-अनुकार्यस्य गो इत्यस्यानुकरणस्य तदुक्तानुवाक्योचरितस्य च गो इत्यस्याभेदो विवक्ष्यते

२७ तथा सति “साधुशब्दा एवार्थवन्त” इति अनुकार्यस्यासाधारण्यवत्त्वामावेन तदभेदिनोऽनुकरणस्याप्यर्थवत्त्वाभावाच्च नामसंज्ञा ।  
 तस्थल प्रदर्शयति-यथा गवित्ययमाह । भेदविवक्षया स्थलप्रदर्शनपूर्वकमर्थवत्त्वं निर्दिशति-यदा तु-अनुकार्यानुकरणयोः स्याद्वाद्-  
 समाश्रयणेनेतिशेषः । भेदविवक्षा-पूर्वोक्तयोः, गोइत्यनुकार्योइत्यनुकरणयोर्भेदो विवक्ष्यते तदा अनुकार्येण-वर्णवत्त्वरूपेण अर्थेन-

३० अर्थादनुकरणस्यायोऽनुकार्यशब्दानुपूर्वात् तेन रूपेण तथाचार्यवत्त्वात् तदनुकरणस्य नामसंज्ञा भवत्वेव, तदेव दर्शयति-पचतिमाह,  
 “नेर्विशः” पा० १।३।१७, “परावेर्जे” ३।३।२८, “निर्विशः” ३।३।२४ स्वस्रम् इत्यादिना । नामप्रदेशः-पूर्ववदेव ॥ २७ ॥

अन्ये सि इत्यस्य सर्वनामस्थानमिति पूर्वा संज्ञा विदधति, अस्मच्छब्दानुशासने लघुभूतां बुद्धसंज्ञामाह-शिर्षुद् । शिरिति बुद्धपद-  
 ३३ धोष्य इत्यर्थः । “प्रत्ययाप्रत्यययो प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्” इत्याह-जस्रसादेश इति । पञ्चानि-पञ्चशब्दाजस्रि, शक्ति च “नपुसकस्य सि”  
 १।४।५५ इति शौ, तस्यानेन बुद्धसंज्ञायां “स्वराच्छौ” १।४।६५ इति नामने दीर्घत्वे च रूपसिद्धिः । बुद्धप्रदेशः-पूर्ववदेव ॥ २८ ॥

सि, औ, जस्, अम्, औ इत्येषा बुद्धसंज्ञाविधायकशब्दात्-पुंस्त्रियोः स्वमौ जस् । अत्र बुद्धित्यनुवर्तते । पुमांश्च औ च  
 ३६ पुंस्त्रियो, तयो पुंस्त्रियो अलौकिका अपि निर्देशा भवन्ति इत्यनेन ज्ञाप्यते, अन्यथा औपुसयोरिति भाव्यम् । पुमांश्च औ चेति कृतेऽर्थवत्त्वात्तौ  
 शब्दस्य प्राग् निपाते “त्रिया पुसो द्वन्द्वश्च” ७।३।६६ इति समासान्तविधानेन । स्वमौजस्-“स्यौजसमौ” इति निर्दिष्टेभ्ये स्वमौजसिति व्यतिक्रम-

निर्देशेन, आष्टर्या प्रथमाद्वितीयाद्विवचनभूतौकार्योरुपादानं सूच्यते । अम् च औश्च अमौ, सिश्च अमौ च, जस् चेति अम् साहचर्याद्वितीयाद्विवचन-  
 ३९ नग्रहणम् । आष्टर्या व्याख्याने औश्च जस् च औजस्, सिश्च अम् च औजस् च इति कृते जस्रसाहचर्यप्रथमाद्विवचनग्रहणम् । अथवा-औश्च,  
 औश्च, आवौ इत्येकशेषः, पश्चात् सिश्च अम् च, आवौ च जस् चेति, स्वमौजस् इत्याह-औरिति प्रथमा इत्यादिना, ग्रहणम् इत्यन्तेन ।

पुलिङ्गौलिङ्गयोर्वर्तमाना सि, औ, जस्, अम्, औ इत्येते प्रत्यया बुद्धपदव्योक्तदेवाह-सि अम् इत्यादि । बुद्धसंज्ञाया फलमाह  
 ४२ निदर्शनानि प्रदर्श्य-राजा राजानौ इत्यादिना, “नि दीर्घः” इति दीर्घ इत्यन्तेन । पुंस्त्रियोरित्यस्य प्रयोजनमाह-पुंस्त्रियोरिति किम् ?  
 सामनी, वेमनी-नपुसकप्रथमाद्वितीयाद्विवचने रूपद्वयम् । बुद्धत्वाभावात्-पुंस्त्रियोरिति सूत्रेण पूर्वोक्तप्रत्ययपदकस्य बुद्धत्वविधानात्,  
 नपुसके तद्विधानेन च तत्र प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोरैव बुद्धसंज्ञारूपपर्येषस्य समव इत्यभिप्रायेणोपाहरणप्रदर्शनम्, प्रथमाद्वितीयैक-

४५ वचने फलाभावात् बुद्धत्वाप्रवृत्तिः, जस्रसादेशस्य पूर्वसूत्रेण बुद्धत्वसिद्धिरिति । दीर्घः न भवति-“नि दीर्घः” इत्यनेन । ननु  
 कचरणामिदमती पुषायापयोमिनी व्यक्ति पुमान्, तथैव कचरणामिदमती स्वनकेशवती औ इति च स्त्रीकारे सीमा सीमानौ इत्यादौ तद-

किं पुनः पुमान् स्त्री वा ? लिङ्गम्, किं पुनस्तत् ? अयमियमिदमिति, यतस्तत् पुमान् स्त्री नपुंसकमिति लिङ्गम् ।  
तच्चार्यधर्म इत्येके, शब्दधर्म इत्यन्ये, उभयथाऽपि न दोषः ॥ २९ ॥

### स्वरादयोऽव्ययम् ॥ १ । १ । ३० ॥

स्वरादयः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । स्वः सुखयति, एहि जाये स्वा रोहाव, स्वः संजानीते, स्वः स्पृहयति, स्वरागच्छति, छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु, स्वर्वसति, अन्तर्यामि, अन्तर्वसति । अत्युच्चैसौ, अत्युच्चैस इत्यत्रोच्चैरतिक्रान्तौ यस्तदभिधायकस्य पूर्वपदार्थप्रधानस्य समासस्य सचन्धी स्यादिर्नोच्चैःशब्दस्य, तेन “अव्ययस्य” ॥ ३ । २ । ७ ॥ इति ६  
लुप् न भवति, परमोच्चैः, परमनीचैरित्यत्र तूत्तरपदार्थप्रधानत्वात् समासस्याव्ययसंबन्धेव स्यादिरिति भवत्येव । अन्वर्थ-  
संज्ञा चैयमव्ययमिति, लिङ्गकारकविभक्तिनानात्वेऽपि न नानारूपतां प्रतिपद्यत इति । यदुक्तम्—“सद्यः त्रिषु लिङ्गेषु,

क्षणस्याव्याप्तिरित्युक्तमिदमित्यभिप्रायेण पृच्छति—किं पुनः पुमान् स्त्री वा ? समाधत्ते—लिङ्गम् । ननु लिङ्गमिति हेतु, कारण, निमित्त- ९  
मित्याद्यर्थकं जगति प्रसिद्धं तदत्र ब्राह्ममित्यभिप्रायवान् पृच्छति—किं पुनस्तत् ? इदमत्राकृतम्—स्त्रीत्वादिलिङ्गं यदि गोत्वादिवदवयवस-  
स्थानव्यङ्ग्यं भवेत्तर्हि तस्य तदिव सामान्यविशेषरूपताप्रसङ्गः । अपि च भिन्नावयवसंस्थानत्वेन खट्वाशिशपादारुपुरपादीनां लिङ्गत्वाभाव  
स्यात् । यदि च तत्रोत्पादिवत्सकृदाख्यातं स्त्रीकृत्यते तदापि सुदुर्महं स्त्रीपुनपुसकेषु व्यच्यन्तरेषु तदिति । अयं स्तनकेशवत्त्वं ज्ञात्व, १२  
रोमशत्त्वं पुस्त्यं, स्त्रीपुसोर्लिङ्गवत्त्वेन सदृशत्वं च नपुंसकत्व लिङ्गम्, तथा चोक्तं—“स्तनकेशवती स्त्री स्यात्, रोमश पुरुष स्युत् । उभयोरन्तरं  
यच्च, तदभावे नपुंसकम् ॥” इति चेत्, तस्याव्याप्त्यादिव्याप्त्यादिबहुविधदोषपराहत्वात्, तथाहि—स्त्रीवैधायिणि नटेऽतिव्याप्ति स्तनकेशवत्त्वात्,  
अव्याप्तिश्च क्रुमार्यामतिशयस्तनाभावादिति । अपि च तद्गृह्णामिधायी खरकुटीशब्दस्तत्स्थमनुष्यावाच्यभेदोपचारेण यत्र तत्र खरकुटी पर्य १५  
इत्यत्र तदर्थस्य रोमशत्वेन पुस्त्यात्—“शसोऽता०” इति नत्व प्रसज्येत । किं च खट्वाट्क्षयोत्सादशस्त्रीत्वपुस्त्याभावात्सत्त्ववाचितया नपुंसकत्व  
प्रसज्येत इति बहवो दोषा इति वैयाकरणैः कश्चन स्वसिद्धान्तं समाश्रयणीय इति समाधत्ते—अयमियमिदमिति । भावतत्त्वदशा शब्दार्थेषु  
व्यवस्थितानां शिष्टानां प्रयोगाननुसरति लोकं क्वचिदयमिति प्रयुङ्क्ते—अयं घट इति न तत्रेयमिति वा, क्वचिदियमिति प्रयुङ्क्ते इयं कुटीर इति न तत्रा- २८  
यमिदमिति वा, तथा इदं कुड्यमिति प्रयुङ्क्ते न तत्रायमिति वा, तत्र यत्—उत्पादप्रलयस्थितिरूपत्वात् स्वभावादयमियमिदमिति शब्दो व्यव-  
तिष्ठते स तच्छब्दव्यवस्थाहेतु स्वभावो लिङ्गम् । तत्रोत्पाद पुस्त्यम्, प्रलय ज्ञात्वम्, स्थितिर्नपुंसकम्, तथाहि—रूपादीनां पर्यायाणां सवनं  
प्रसव पुमान्, रूपादीनां पर्यायाणामपचय स्थान स्त्री, साम्यावस्था स्थितिर्नपुंसकम्, एताधावस्था शब्दगोचरा एव, तत्र कश्चिच्छब्द केन- २९  
चिदेकेन धर्मैः, द्वान्यां धर्मोभ्यां, त्रिभिध धर्मैर्विशिष्टमर्थं नियमविकल्पान्यामाचष्टे तत्र शिष्टप्रसिद्धि प्रमाणम् । तस्माच्छिष्टलोकाङ्गिणस्य  
प्रतिपादने व्यवस्थानुमन्तव्येति । तच्च—लिङ्गम्, अर्थधर्मः—अर्थस्य धर्मं, अर्थस्य—घटादिशब्दस्यार्थं श्रावणेन विपरीकृत्यते, तस्य तदन्व-  
यव्यतिरेकाभ्यामभ्युपगतत्वान्नोऽर्थस्य धर्मः—स्वभाव । इत्येके—पाणिनीयमहाभाष्यकृन्मतानुयायिनः । ‘एकार्थं शब्दान्यत्वादृष्टं लिङ्गान्य- २४  
त्वम् अवयवान्यत्वाच्च’ इति हि भगवत्पतञ्जलिवचनात्, यथाक्रमं पुष्यस्वारका नक्षत्रम्, कुटी कुटीर इत्यादौ शब्दान्यत्वादवयवान्यत्वाच्चार्थैक्ये  
लिङ्गान्यत्व दृष्टमिति हि तदर्थं । तच्च—लिङ्गं, शब्दधर्म इत्यन्ये—प्राञ्च—अयमभिप्रायस्तेषाम्—शब्दप्रतीत्यन्वयव्यतिरेकानुगामिनी लिङ्ग-  
प्रतीतिलिङ्गस्य शब्दधर्मतां गमयति । यद्धि यत्प्रतीत्यन्वयव्यतिरेकानुगामिप्रतीतित्वत्तदर्थं इति व्याप्ते, यथा पटप्रतीत्यन्वयव्यतिरेकानुगामि- २७  
प्रतीतिं शुक्यो गुण इति । पुलिङ्गादिव्यवहारोऽपि शब्दविषय एव, पुलिङ्गोऽयं शब्दं स्त्रीलिङ्ग इत्यादि । तत्र पक्षद्वयस्यापि निर्दोषत्वाद्भयपरिग्रह  
इति स्वसिद्धान्तमाह—उभयथाऽपि न दोष इति ॥ २९ ॥

अव्ययसंज्ञां निरूपयति—स्वरादयोऽव्ययम् । स्वर् आदिर्येषान्ते इति बहुनीहि, स्वरादयोऽव्ययपदवोभ्या इत्यर्थं । स्व शब्दा- ३०  
यथायोग सप्तविभक्तौरुदाहरति—स्वः सुखयति इत्यादिना । तत्र वैयाकरणमापकदे काव्यस्य श्लोकमुदाहरणतयोपन्यस्यति वृत्तिकार —छायेव  
इत्यादि, “त्वष्टु सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसंपत्प्रसरस्य सीमा । अदृश्यतादर्शतलामलेषु छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥” शिशुपाल० ३।३५  
श्लो० । त्वष्टु-विश्वकर्मण, सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसंपत्प्रसरस्य—सदाभ्यासेन गृहीतो लब्धो य शिल्पविज्ञानसंपद प्रसर-प्रकर्षस्तस्य ३६  
सीमा—अवधि, या पू द्वारिकानगरी आदर्शतलामलेषु—दर्पणपृष्ठलच्छेषु जलधेर्जलेषु स्वः स्वर्गस्य छाया इव प्रतिविम्बिमादृश्यत इत्यर्थं ।  
इदं स्व इति छत्रपष्टीविभक्त्यन्तोदाहरणप्रदर्शनतयोपयुज्यते । स्वरादीनां तदन्तानामव्ययसंज्ञानुगामिप्रतीतित्वत्तदर्थं इत्येते, तौ च कदा  
कस्येति तद्व्यवस्थापयति—अत्युच्चैसौ इति—उच्चैरतिक्रान्तौ इति तद्विग्रह, अतिक्रान्ताद्यर्थकानिना द्वितीयान्तस्य “प्रात्यय०” ३।१।७। लच्- ३६  
शब्दस्य समासे अत्युच्चैसौ इति, अत्युच्चैरिति प्रथमैकवचनान्तेऽव्ययत्वप्रयोजनभावाद्भिवचनान्ताद्युदाहरण । अत्र स्वरादेरुच्चैरव्ययस्यार्थो गुण-  
भूत पूर्वपदार्थप्रधानसमासार्थो उच्चैरतिक्रान्तार्थे इति यत्रोपसर्जनस्वराद्यन्तो भवति, तत्रावयवोऽव्ययसंज्ञो भवति न समुदाय इत्युच्चैसावित्यत्र  
समाससंबन्धिन स्यादे बौ इत्यस्य, उच्चैरित्यव्ययसंबन्धित्वाभावेन । “अव्ययस्य” ३।२।७ इति लुप् न भवति इति अतिक्रान्तार्थकस्याति- ३७  
शब्दस्य समासावयवभूतस्य लिङ्गकारकविभक्तिसंख्याविशेषान्वयेन सत्त्ववृत्तित्वाच्चाव्ययत्वम्, एतेन पूर्वपदार्थतिक्रान्तार्थप्रधानसमासस्यैव  
सचन्धी स्यादिरिति “अव्ययस्य” इति लुप् स्यादिति निरस्तम्, वस्तुतस्तु तस्याव्ययत्वेऽपि तदर्थप्रधानसमासत्वेऽपि समुदायसंबन्धी स्या-  
दिर्नाऽव्ययसंबन्धीति संक्षेपः । तदभिधायकस्य—उच्चैरिति क्रमणकर्तृवाचकस्य, पूर्वपदार्थप्रधानस्य—समुदायार्थसुख्यस्य, समासस्य ४२  
सचन्धी स्यादिः, न उच्चैःशब्दस्य संबन्धी स्यादिरित्यन्वय, तेन—उच्चैःशब्दसंबन्धित्वाभावेन । लुप् इति । स्यादेरित्येति शेषः ।  
यत्रानुपसर्जनस्वराद्यन्तो भवति, तत्रावयवसमुदाययोः समयोरव्ययत्व भवति, समासस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् । तदेवाह—परमोच्चैः  
परमनीचैरित्यत्र तु इत्यादिना । तुशब्दोऽत्रैव पूर्वप्रदर्शितात्युच्चैसावित्यादेरत्रकश्चिद्विशेष इति बोधयति तदाह—उत्तरपदार्थ इत्यादिना । ४५  
अत्र तदन्तस्वापीय संज्ञा उच्चैरर्थस्य नीचैरर्थस्य च सुफ्यतया समुदायेनाभिधानात् समासस्योत्तरपदार्थप्रधानाङ्गिणादिविशेषानुपादानाच्चेत्यव्यय-  
संबन्धेव स्यादिरिति भवत्येव लुप् । ननु सद्ये विशेषस्याश्रयमाणत्वात्लिङ्गादिविशेषानुपादाने स्वरादयोऽव्ययसंज्ञा भवन्तीति कुतोऽवगम्यते  
इत्याह—अन्वर्थसंज्ञा इत्यादिना । अन्वर्थत्व प्रदर्शयति—लिङ्गकारकविभक्ति इति । स्त्रीपुनपुसकत्वानि सत्त्वगुणा एकत्वद्वित्वबहुत्वानि च ४८  
एतानर्थान् च येषां न वियन्ति—विविधप्रकारप्रापकान् न प्राप्नुवन्ति इति तदव्ययम् इत्यन्वर्थत्व तस्या, यदुक्तं—“तद्धितश्चासर्वविभक्ति” पा०  
१।१।३। सद्ये महाभाष्ये । ननु संज्ञाविधौ तदन्तप्रतिषेधस्य शापितत्वाद् नामग्रहणे न तदन्तविधि इति प्रतिषेधाच्च परमोच्चैरिति तदन्तस्य

सर्वास्तु च विभक्तिषु । सर्वेषु च वचनेषु यत्र व्येति तदव्ययम् ॥” अन्वर्थीश्रयणे च खराद्यव्ययमव्ययं भवतीति खरादे-  
विशेषणात्वेन तदन्तविज्ञानात् परमोच्चैः परमनीचैरित्यादावप्यव्ययसज्ञा भवति । खर् अन्तर् सनुतर् पुनर् प्रातर ५, सायम्  
१ नक्तम् अस्तम् दिवा दोषा १०, ह्यस् श्वस् कम् शम् योस् १५, मयस् विहायसा रोदसी ओम् भूस् २०, भुवस् स्वस्ति  
समया निकपा अन्तरा २५, पुरा वहिस् अवस् अधस् असांप्रतम् ३०, अद्वा ऋतम् सत्यम् इद्वा मुधा ३५, मृषा वृथा  
मिथ्या मिथो मिथु ४०, मिथम् मिथुस् मिथुनम् अनिशम् मुहुस् ४५, अभीक्ष्णम् मह्य इटिति उच्चैस् नीचस् ५०,  
६ शनैस् अवश्यम् सामि साचि विष्वक् ५५, अन्वक् ताजक् द्राक् स्राक् ऋषक् ६०, पृथक् धिक् हिक् ज्योक् मनाक्  
६५, ईपत् जोपम् ज्योपम् तूष्णीम् कामम् ७०, निकामम् प्रकामम् अरम् वरम् परम् ७५, चिरम् आरात् तिरस् मनस्  
नमस् ८०, भूयस् प्रायस् प्रवाहु प्रवाहुक् प्रवाहुकम् ८५, आर्यं हलम् आर्यहलम् स्वयम् अलम् ९०, कु वलन्त  
९ अतीव सुष्ठु दुष्ठु ९५, ऋते सपदि साक्षात् सन् प्रशान् १००, सनात् सनत् सना नाना विना १०५, क्षमा शु  
सहसा युगपत् उपांशु ११०, पुरतस् पुरस् पुरस्तात् शश्वत् कुवित् ११५, आविस् प्राहुस् ११७, इति खरादयः ।

- कथमव्ययसंज्ञा इत्याह—अन्वर्थीश्रयणे च इति । अन्वर्थसंज्ञाचलादुपस्थापितमव्यय विशेष्य सूत्रस्थाव्ययमित्यस्य, तत्र च खरादय इति विशेषण  
१२ “विशेषणमन्त” इति न्यायेन तदन्तबोध, केवलखरादेरव्ययत्व व्यपदेशिवद्भावेन तदन्तस्य परमोच्चैरित्यस्य तदन्तविज्ञानेनाव्ययत्वम्, तदेवाह—  
खराद्यव्ययं इत्यादिना, संज्ञा भवति इत्यन्तेन । परिगणयति खरादीन्—खर् इत्यादिना । खर्—खर्गं च परलोके च । अन्तर्—मये ।  
प्रातर्—प्रत्यये । पुनर्—अप्रथमे विशेषे च । सनुतर्—अन्तर्धाने मनोरमाया मतेनेदम्, हैमचूहृन्नासे तु सनुतर् कालाचीति  
१५ निर्दिष्टम् । खराद्या पर रेफान्ता । सायं—निशामुखे । नक्तं—रात्रौ । अस्तम्—विनाशे, अस्तमदर्शने इत्यभिधानचिन्तामणौ—“यथास्वगत  
सविता” । दिवा—दिवसे । दोषा—रात्रौ पुरुषिते च । ह्यस्—अतीतेऽपि । श्वस्—अनागतेऽपि । कम्—वारिर्मुद्गैर्निन्दासुखेषु अथमपि  
मनोरमाभिप्राय, है० वृ० न्या० उदकमाकाश चेति कथितम् । शम्—सुखे । योस्—विषयसुखे । मयस्—सुखे । विहायसा—अन्तरिक्षे ।  
१८ रोदसी—यावापृथिव्यो । ओम्—अङ्गीकारे ब्रह्मणि च, अभ्यादानाभिमुखीकरणयोरपि । भूर्भुवस्—यथाक्रम नागमनुष्यलोकयो, यथा  
“भूर्भुवः स्वर्ग्यीशानमिति” । स्वस्ति—कल्याणे । समया—समीपे मध्ये च । निकपा—अन्तिके । अन्तरा—विनाशे मध्ये चाधेय-  
प्रधाने २५ । पुरा—भूतभविष्यत्परीप्साचिरन्तनेषु, पुरेत्वविरते चिरातीते अभिष्यदासुखे चेति मनोरमायाम् । वहिस्—वासे वहिर्भावे  
२१ अनाघृतप्रदेशे, यथा वहियोग इत्यत्र वाद्येन योगो वहिर्भावेन योग इति । अवस्—वहिरर्थे । अधस्—सामीप्यादौ । असांप्रतम्—  
अनौचित्ये । अद्देति स्फुटावधारणयो, तत्त्वाविशययोरित्येके तथाच प्रयोग—“मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वाद्यंती सुखे न ।  
हियेव ताभ्यश्चलतीममदा पथाद्य ससर्ग्युगेन नदा” ॥ इति नैषधीये, है० वृ० न्या० तु अवधारणमत्यविशययो । ऋतम्—शुद्धौ ।  
२४ सत्यम्—प्रश्नप्रतिषेधयो । इद्वा—प्राकाशे । मुधा—व्यर्थे, है० वृ० न्या० तु निर्निमित्तप्रीतिकरणयो । मृषा, मिथ्या—इत्येतौ वितये ।  
वृथा—व्यर्थे । मिथो—ओकारान्तो रह सहाय्यो । मिथु मिथुस्—विजनवियोगेतरतार्यं । मिथो मिथस (एतौ) रह सहाय्योरिति मनो-  
रमायाम्, मिथु—स्त्राग् द्वावित्यर्थे इति मनोर० । मिथुस्—सगमे । मिथुनं—द्वीपुससंयोगे । अनिशं—नैरन्तरे । मुहुस्, अभीक्ष्णं—एतौ  
२७ पुन पुनरित्यर्थे । मंहुस्, इटिति—शीघ्रायं । उच्चैस्—महति । नीचैस्—अवकृष्टे, अल्पे इति मनोर० ५० । शनैस्—क्रियमान्ये । अवश्यं—  
निश्चये आवश्यके । सामि—अर्द्धजुगुप्सितयो । साचि—वक्रतिर्यग्र्थयो । विष्वक्—समन्तादित्यर्थं नानार्थं इत्यपि । अन्वक्—पश्चादर्थे ।  
ताजक् द्राक् स्राक्—शीघ्रायं, स्राक् एवार्थं इत्यपि । ऋषक्—विद्योगे शीघ्रान्वितसामीप्यलामेषु । ऋषक्—सुखे, वियोगशीघ्रवामीप्यलाधवे-  
३० विलन्ते इति मनोरमायाम् । पृथक्—भिन्ने, वियोगे इत्यपि । धिक्—निन्दायं । हिक्—वियोगे, “हिरण्मनापृथग्विना” इत्यभिधानचिन्तामणौ ।  
ज्योक्—कालभूयस्त्वे, प्रश्ने शीघ्रसप्रत्यययोश्च । मनाग्—ईषदप्राप्तयो, ईषद्—अप्राप्ते, हमावल्पे इति मनोर० । जोषं ज्योषं तूष्णीम्—एते  
त्रयोऽप्यभाषणे । कामं, निकामं, प्रकामं—एते त्रयोऽतिशयार्थं, काम स्वाच्छन्धे इति मनोर०, अक्षमात्सुमतौ काममित्यभिधानचिन्तामणौ ।  
३१ चर—शौघ्ये अत्यर्थेऽपि । चर—अनागिष्टे, ईषदुक्त्वं इति मनोर० । परं—केवले, किन्त्वर्थं इति मनोर० ७५ । चिर—शीर्षकाले । आरात्—दूरस-  
मीपयो । तिरस्—अन्तर्द्वयवज्ञातिर्यग्भावेषु । मनस्—नियमे । नमस्—नतो । भूयस्—पुनरर्थे आधिक्ये च । प्रायस्—बाहुल्ये ।  
३६ प्रवाहुक्—ऊर्ध्वार्थं, प्रवाहुक् प्रवाहुकम्—द्वारप्यद्वायं, प्रवाहुकमिति समकालार्थं सिद्धार्थं च, प्रवाहिकेति पाठान्तरमिति मनोरमायाम्, प्रवाहु  
प्रवाहुक् प्रवाहुकम् इति म० भ०, है० प्रका० । आर्यं—प्रीतिसन्धोषने । हलं—प्रतिषेधे विपादे च, समस्तमित्येके । आर्यहलमिति  
चलात्कारे, शाकटायनस्तु आर्येति प्रतिबन्धे, हलमिति प्रतिषेधविवादयोरित्याहेति मनोरमायाम् । स्वयम्—आत्मने इत्यर्थे । अलं—भूषण-  
पर्यातिशक्तिवारणनिषेधेषु । कु—कृत्वितेऽर्थयो, पापार्थं इति है० वृ० न्या० । वलन्त—निर्भरे, बलवदित्यतिशये इति मनोर०,  
३९ वलवस्तुषु किमुतातीव निर्भरे इत्यभिधानचिन्ता० । अतीव—अतिशये । सुष्ठु, दुष्ठु—यथाक्रम प्रशसान्दियो । ऋते—वर्जने, वर्जनेत्वतरेणै  
इति वचनात् वियोग इत्यपि । सपदि शौघ्ये, हते इति है० वृ० न्या० । साक्षात्—प्रत्यक्षतुल्ययो । सन्—परित्राणे । प्रशान्—चिरन्तने,  
समानार्थे इति मनोर० १०० । सनात्—हिंसायां । सनत्—चेदर्थे । सना—नित्ये, सना सनत् सनात् एते त्रयोऽपि नित्ये इति मनोर० ।  
४२ नाना—पृथग्भावे, अनेकविनाशयोरिति मनोर० । विना—योगप्रतिषेधे, वर्जने इति मनोर० । क्षमा—सहने । शु—पूजायाम् । सहसा—अतर्किते,  
आकस्मिकाविमर्शयोरिति मनोर० । युगपत्—क्रियासमभिहारे सहायं च । उपांशु—अप्रकाशोष्धारणरहस्ययो । पुरतस्, पुरस्—एतावप्रतोऽर्थं ।  
पुरस्तात्—प्रथमे पुरोऽर्थे च । शश्वत्—पौन पुन्ये, नित्ये सहायं च । कुवित्—योगप्रसासक्तिभावेषु, भूयर्थे इति मनोर० । आविस्  
४५ प्राहुस्—प्राक्रम्ये इति, प्राहुस् नान्यपि, इति खरादय सप्तदशोत्तरे शतमव्यया हैमचूहृद्विनिर्दिष्टा परिगणिता । “खरादय” इति सूत्रे  
महुवचनमाकृतिगणार्थं, तेनान्येषामपि यथास्वभावमव्ययसंज्ञा भवति । उपधा—भेदे । तोष—सुखे मौने च । अम्—शौघ्ये अल्पे च । आम्—आङ्कारे ।  
प्रताम्—लानो । साम्प्रत न्याये । नित्य, नित्यदा, सदा, अजल, सतत—सातत्ये । झगिति—तरसा । आशु—शौघ्ये । अक्षसा—तत्त्वशीघ्रायंयो ।  
४८ आउषक्—आनुपप्ल्यं । अन्नस्—शीघ्रसान्प्रतिकयो । स्थाने—इति युक्ते । शुदि—शुक्लपक्षे । वदि—कृष्णपक्षे । संबव—वर्षे । सत्यमित्यर्थाङ्गीकारे ।  
एवमेते द्वाविंशति । केचित्देवम् “अथाव्ययानि वक्ष्यन्ते” इत्यादिभ्योऽभिधानचिन्तामणिर्यन्तलोकेऽन्मो हेया, अर्थकथन चैवानुपलक्षण-  
मात्रम्, तथा चोक्तम्—“निपाताक्षोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रय । अनेकार्था रूढता लोके पाठल्लेयां तददीर्घम्” इति खरादयः—एव

बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेनान्येषामपि चादिषूपात्तानामनुपात्तानां च खरादिसधर्मणामव्ययसंज्ञा भवति । खरादयो हि स्वार्थस्य वाचका, न तु चादिवद् द्योतका इति । अव्ययप्रदेशाः “अव्ययस्य” ॥ ३ । २ । ७ ॥ इत्यादयः ॥ ३० ॥

### चादयोऽसत्त्वे ॥ १ । १ । ३१ ॥

सीदतोऽस्मिंलिङ्गसंख्ये इति सत्त्वं लिङ्गसङ्ख्यावद् द्रव्यम्, इदं-तदित्यादिसर्वनामव्ययपदेश्य विशेष्यमिति यावत्; ततोऽन्यत्र वर्तमानाश्चादयः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । निपाता इत्यपि पूर्वेषाम्-वृक्षश्च प्लक्षश्च । असत्त्वे इति किम् ? यत्रैषां सत्त्वरूपेऽनुकार्यादावर्थे वृत्तिस्तत्र मा भूत्-च-समुच्चये, इव-उपमायाम्, एवोऽवधारणे । च अह ह वा एव ५, एवम् नूनम् शश्वत् स्रपत् कूपत् १०, कुवित् नेत् चेत् नचेत् चण् १५, कञ्चित् यत्र नह नहि हन्त २०, माकिस् नकिस् मा माङ् न २५, नञ् वाव त्वाव न्वाव वावत् ३०, त्वावत् न्वावत् त्वै तुन्वै न्वै ३५, नुवै रै वै औषद् वौषद् ४०, वषद् वट् वाट् वेट् पाट् ४५, प्याट् फट् हुंफट् छवट् अध ५०, आत् स्वधा स्वाहा अलम् चन ५५, हि ५ अथ ओम् अथो नो ६०, नोहि भोस् भगोस् अघोस् अहो ६५, हहो हो अहो आहो उताहो ७०, हा ही हे है ह्ये ७५, अयि अये अरे अङ्गे अरे ८०, अवे ननु शुक्म् सुक्म् तुक्म् ८५, हिकम् नहिकम् ऊम् हुम् कुम् ९०, उञ्

प्रकारा. खरादयो गृह्यन्ते, नत्वेतावन्त इति, ननु परिसमाप्तावपीतिशब्दस्यवर्तमानत्वेनैतावन्त एवेत्यर्थो य इति कुतो न लभ्यते इत्याह— १२ बहुवचनमिति । एव प्रकारार्थकस्येति शब्दस्य प्रवृण खरादय इति बहुवचनाद्, अन्यथा खरादिशब्दस्य सञ्ज्ञितयाव्ययमिति सञ्ज्ञाविशेषणत्वात् संज्ञायाम्श्वेकवचनान्तात्प्राक्प्रवृण चैकवचने प्राप्ते यद्बहुवचनं तदव्ययेऽपि बहुव खरादय सन्तीति ज्ञापनार्थम्, उक्तं च—“इयन्त इति सख्यान निपाताना न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥” आकृतिगणार्थम्—आक्रियतेऽनया इत्याकृतिवर्णकाप्रकारस्वसायणस्वदर्थ- १५ सित्यर्थ । तेन—बहुवचनस्याकृतिगणार्थत्वेन तदेव स्पष्टयति—अन्येषामपि इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन च । बहुवचनेन खरादिसधर्मणोऽन्येऽपि सगृहीता इति साधर्म्यं दर्शयति—खरादयो हि इति । अयमाशय—अव्यय द्विविधं, वाचक द्योतक च, तत्र खराद्यनन्तर्भूत चादिषूपात्तानुपात्तं सलव्ययत्वे स्वार्थस्य वाचक तत्खरादौ द्रष्टव्यमित्यर्थं । अव्ययप्रदेशाः—पूर्ववदेवासाथो बोध्य, तत्स्थलप्रदर्शनम्— १८ “अव्ययस्य” इत्यादय ॥ ३० ॥

चारीनामव्ययसंज्ञां निरूपयति—चादयोऽसत्त्वे । न आदिषेषान्ते चादय, न सत्त्वं असत्त्वं तस्मिन् असत्त्वे, अव्ययमित्यनुवर्तते । असत्त्वे चादय अव्ययमित्यन्वय । किं नाम सत्त्वमित्यत आह सत्त्वपदार्थं व्युत्पत्तिप्रदर्शनद्वारा—सीदत इत्यादिना, याचदित्यन्तेन । सीदतः— २१ विशेषणभावेन अन्वित, अस्मिन्—बुद्धित्ये लिङ्गसंख्ये इति । सत्त्वं-द्रव्य, तदेवाह—लिङ्गसङ्ख्येत्यादि । तस्यैव द्रव्यस्य विवरणम्— इदं तदित्यादिना, विशेष्यमिति यावत् इत्यन्तेन च । प्रतियोगिनि प्रसिद्धौ सुतरां तदभाव प्रसिद्ध इत्यप्रसिद्धप्रतियोगिकाभावास्वीकारेण पूर्व प्रतियोगिसत्त्व प्रसिद्ध तदभाव सुग्रह इति स्पष्टयति—सत्तः—लिङ्गसख्यावत् इदं तदित्यादि सर्वनामव्ययपदेश्यविशेष्याद्वाद्यात् । अन्यत्र— २४ सत्त्वाभावे अर्थादद्रव्यवाचिन इत्यर्थं । प्रायो वैयाकरण चारीना निपात इति सञ्ज्ञामभिदधते इत्याह—निपाता इत्यपि पूर्वेषाम्—पाणि-न्यासीनाम्, तथा च तत्सूत्रम् “पाप्मीद्वाराभिपाता ” पा० ११।४।५६। ‘असत्त्वे’ इत्यस्य फल प्रच्छति—असत्त्वे इति किम् ? । ननु चादय कदा सत्त्ववृत्तय कदा चासत्त्ववृत्तय इति सत्त्ववृत्तित्वप्रदर्शनपूर्वकं तत्फलमाह—यत्रैषां इत्यादिना, मा भूत् इत्यन्तेन । तदेव दृष्टातद्वारा स्पष्ट- २७ यति-च समुच्चये इत्यादि । आदिशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थकत्वादेवा विस्तरत परिगणनमर्थकधन चैवम्—च-अन्वाचयसमाहारेतरतरयोगसमु-च्चयेषु । अह-निर्देशविनियोगकिलार्थेषु, पूजायामपि । ह-अवधारणे पादपूरणे प्रसिद्धावपि । वा-स्यादिकल्पोपमयोरेवार्यं समुच्चये । एव-अवधारणपृथक्त्वपरिमाणेषु, अनवकृतावपि । एवम्—उपमानोपदेशप्रभावधारणप्रतिज्ञानेषु, उक्तपरामर्शोऽपि । नूनं-वितर्कं अर्थनिश्चये च । ३० शश्वत्-खरादावपि पठित । स्रपत्, कूपत्-द्वावपि प्रश्रवितर्कप्रशसासु, क्वचित् खरादावपि पठित । नेत्, चेत्-द्वावपि प्रतिषेधावधारणसमुच्चयेषु, नेदिति शकायां विचारेऽपि, चेदिति यथर्थं इति मनोर० । नचेत्-निषेधे । चण्-अय चेदर्थं गित्, समुच्चयादौ त्वननुबन्ध । कञ्चित्दृष्टश्रे । यत्र-कालेऽधिकरणे, मनोरमायां तु यत्रेत्यनवकृत्यमर्थगर्हाधार्थेषु, ‘नावकल्पयामि न मर्षये गहं आक्षेपं वा, यत्र भवात् १३ शृषल याजयेत् । नह-प्रत्यारम्भविषादप्रतिविधिषु । नहि-अभावे । हन्त-श्रीतिविषादसम्प्रदानेषु, मनोरमायां हन्तेति हर्षे विषादे अनु-कम्पाया वाक्यारम्भे च । माकिस्, नकिस्-द्वावपि निषेधे वर्जने च । मा, माङ्, न, नञ्-एते सर्वेऽपि निषेधार्थी, माकि माकिं नकिरेति त्रयोऽपि वर्जने इति मनोरमायाम् । वाव-सम्बोधने । त्वाव, न्वाव, वावत्, त्वावत्, न्वावत्-एते अनुमानप्रतिज्ञाप्रेष- ३६ समासिषु । त्वै, तुवै, न्वै, नुवै-वत्वारोऽप्येते वितर्कं पादपूरणे च । रै-दाने अनादरे च, दाने कीर्त्तौ च इति है० वृ० न्या०, रै करोति ददातीत्यर्थं ‘त्वं रै किं करिष्यसि’ इति मनोरमायाम् । वै-निश्चये, स्फुटार्थं इति है० वृ० न्या० । औषद्, वौषद्, वषद्-देवहविर्दानौ । वट्, वाट्, वेट्-एते त्रयोऽपि विशेष्यपादपूरणयो । पाट्, प्याट्-द्वावपि सम्बोधने, अत्र उकार केचित् पठन्ति । फट्, हुंफट्, ३९ छंवट्-एते त्रयोऽपि निर्भर्त्सनसम्बोधनयो । अध-अधोऽर्थे । आत्-कोपपीठयो । स्वधा-पितृभ्यो हविर्दाने । स्वाहा-देवताभ्य । अलमिति खरादौ निरूपितम् । चन-अप्यर्थे पादपूरणे च । हि-हेतावधारणे च । अथ-मगलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्वाधिकारप्रतिज्ञासमु-च्चयेषु, अथ खरादिरपि तेन मगलवाचकस्य द्रव्यार्थत्वेऽपि अव्ययत्व सिद्धयति, तथा च श्रीहर्षः—“उदस कुभीरय शातकुभजाश्वतृष्कचारु- ४१ त्वपि वेदिकोदरे । यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजा पुरन्धिर्वर्ष ऋपयान्वभूव” इति, अत्र हि अथ ऋपयान्वभूवेत्यस्य मङ्गल रूपन चकारेत्यर्थं, निपातस्तु स्वरूपेणैव मङ्गल मृदङ्गश्चनिवत् इति मनोरमायाम् । ओमिति खरादौ पठितम् । अथो-अन्वादेशादौ । नो, नोहि-एतौ निषेधे । भोस्, भगोस्, अघोस्, अहो, हहो, हो, अहो, आहो, उताहो-नवाप्येते सम्बोधने । हा, ही-एतौ विषादविसर्गयो, हा विषाद- ४५ श(यो)र्कार्येषु, ही विसर्गयो इति है० वृ० न्या० । हे, है, ह्ये, अये, अयि, अरे, अङ्ग, रे, अरे, अवे-हे प्रमुखा दशाप्यनुसयसम्बो-धनयो, [ हाप्रमृति ] हादृश्येतेऽनुसयसम्बोधनयोरिति है० वृ० न्या० । ननु-विरोधोक्तौ अनन्वयादौ च । शुक्म्, सुक्म्, तुक्म्, हिकम्, नहिकम्-पद्याप्येते प्रत्याख्याने । शुक्म्-शैत्ये, शुक्मतिवाये इति मनोर० । ऊम्-प्रश्ने । हुम्-भर्त्सने । कुम्-प्रश्ने । उञ्- ४८



सुञ् कम् हम् किम् ९५, हिम् अद् कद् यद् तद् १००, इद् चिद् किद् खिद् उत १०५, वत इव तु नु यञ् ११०, कञ्चन किमुत किल किक्किल किस्वित् ११५, उदस्वित् आहोस्वित् अहह नहवै नवै १२०, नवा अन्यत् अन्यत्र श्व् १२५, अथकिम् विपु पद् पशु खलु १३०, यदिनाम यदुत प्रत्युत यदा जातु १३५, यदि यथाकथाच यथा तथा पुद् १४०, घ पुरा यावत् तावत् दिष्ट्या १४५, मर्या आम नाम स्म इतिह १५०, सह अमा समम् सत्रा साकम् १५५, सार्धम् ईम् सीम् कीम् आम् १६०, आस् इति अव अड अट १६५, बाह्या अनुपक् खोस् १६८, अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ १८२, प्र परा अप सम् अनु अव निस् दुस्-एतौ वान्तावपि १९०, वि आह् नि प्रति परि उप १९६, अधि अपि सु उद् अति अभि २०२; इति चादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ ३१ ॥

### अधणत्स्वाद्याशसः ॥ १ । १ । ३२ ॥

१ धण्वर्जितास्तस्वादयः शस्पर्यन्ता ये प्रत्ययास्तदन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञं भवति । देवा अर्जुनतोऽभवन्, अत्र षष्ठ्यन्तात् “व्याश्रये तसुः” ॥ ७ । २ । ८१ ॥ ततः, अत्र पित्तस् । तत्र, इह, क, कदा, एतर्हि, अधुना, इदानीम्, सद्यः,

रोपोऽङ्ग, अस्ति सत्त्वे रोपोऽङ्ग च । सुञ्-उपवत् इति है० वृ० न्या० । कम्-पादपूरणे, खरादौ ज्ञातव्यमिति है० वृ० न्या० । हम्-१२ रोपानुपमादौ, रोपानुकम्पादौ इति है० वृ० न्या० । किम्-प्रश्ने वितर्के च । हिम्-सप्रमभर्त्सनयो । अद्-विसये । कद्-कृत्यायाम् । यद्, तद्-हेत्वर्थवाक्योपन्यासयो । इद्-अपूर्वेषु ईपदर्थे च । चिद्-प्रश्नावधारणयो । किद्-भर्त्सनपादपूरणयो । खिद्-विमर्शप्रश्नयो । उत-वितर्के, विकल्पे इति है० वृ० न्या० । वत-खेदानुकम्पासतोपविस्मयामन्त्रणेषु । इव-उपमावधारणयो । तु-विशेषणपादपूरणयो । तु-१५ वितर्कपादपूरणयो । यच्च-वाक्यान्तरोपक्रमे । कञ्चन-कचिदर्थे । किमुत-विकल्पे । किल-सप्रश्नवार्तायो, अलीकेऽपि । किक्किल-किलार्थे । किस्वित्, उदस्वित्, आहोस्वित्-एते त्रयोऽपि प्रश्नवितर्कविकल्पेषु । अहह-अद्भुतखेदयो । नहवै, नवै-द्वावपि प्रत्याख्यानयो । नवा-विभाषायाम् । अन्यत्-अन्यार्थे । अन्यत्र-अन्याधिकरणे काले । श्व्, शप्-द्वावपि प्रतिग्रहे । अथकिम्-अङ्गीकारे । विपु-नानार्थे । १८ पद्-पाठवे । पशु-दृश्यर्थे, पशु सम्यगर्थे 'पशु मन्यमाना' इति मनोर० । खलु-निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासाजुनयेषु । यदिनाम-पक्षान्तरे । यदुत-पराशयप्रकाशनादौ । प्रत्युत-उक्तवैपरीत्ये । यदा-देशायधिकरणे । जातु-कदाचिदित्यर्थे, अवधारणपादपूरणयोरपि । यदि-पक्षान्तरे । यथाकथाच-अनादरे । यथा-योग्यतावीप्सार्थानतिश्रुतिसादृश्येषु । तथा-साम्ये । यथायथमिति मकारान्तमव्ययं, यथास्मित्यर्थे २१ इति “सामीप्येऽधोऽधुपरि” ॥ ७ । १ । ७९ । इति द्विवचनसूत्रतौ । पुद्-कृत्यायाम् । घ-हिंसाप्रातिलोम्ययो । पुरा-खरादौ पठित सत्त्वभूते काले, अत्र त्वसत्त्वभूते । यावत्, तावद्-एतौ साकल्यावधिमानावधारणेषु, साकल्ये-यावत्कार्यं तावत्कृतम्, अवधौ-यावद्गतव्य तावत्तिष्ठ, माने-यावद्गत तावद्गुफम्, अवधारणे-यावदमत्र ब्राह्मणानामन्वयस्व, मर्यादावधिपरिमाणेषु इति है० वृ० न्या० । दिष्ट्या-सम्मदे, पूर्वप्रति- २४ सेवनयो सभाजनप्रातिलोम्ययोर्वा । मर्या-सीमावन्धे । आम-पीडायाम् । नाम-प्राकादयसंभाव्यक्रोधोपगमकृतसनेषु । स्म-अतीते पादपूरणे च । इतिह-पुराश्रुतौ । सह-तुल्ययोगविद्यमानयो । अमा-सहायं समीपे च । समम्, सत्रा, साकम्, सार्धम्-एते सहायं, समम् समन्ततोऽर्थे इति है० वृ० न्या० । ईम्, कीम्, सीम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु । ईम्-अव्यक्ते, कीम्-संशयप्रश्नाजुमानेषु, सीम्- २७ अभिनवव्याहरणानर्थपादपूरणेषु इत्येके इति है० वृ० न्या० । आम्-प्रतिवचनावधारणयो । आस्-स्युतिलेखदयो, कोपे च । इति-एवमर्थे, प्रकारार्थे, ग्रन्थसमाप्तौ, शब्दप्राडुर्भावे, अर्थसमाप्तौ, पदार्थविपर्यासादौ, 'एवमर्थे, आद्यर्थे, हेत्वर्थे, प्रकारार्थे, शब्दप्राडुर्भावे, ग्रन्थसमाप्तौ, पदार्थविपर्यासादौ च' इति है० वृ० न्या० । अच, अड, अट-एते त्रयोऽपि भर्त्सने । बाह्या-निष्पत्तौ । अनुपक्-अजुमाने, केचित्तान्तं ३० केचिद्दान्तमपरे वीर्घादि च मन्यन्ते । खोस्-कृत्यायाम् । खराश्चतुर्दशापि पूरणभर्त्सनामन्त्रणनिषेधेषु । अ इति सम्बोधनेऽधिक्ये निषेधे च, आ इति वाक्यस्मरणयो, इ सम्बोधनजुष्पाविसृज्येषु, इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ सम्बोधने इति मनोरमायाम् । चादय इत्यत्र बहु- ३३ पादपूरणे इत्यर्थे च । चाडु, चडु-प्रियवाक्ये । हुं-भर्त्सने । तुमिति रुकारे, शुरु रुकृत्य । इव-सादृश्ये । अद्यत्वे-इदानीमित्यर्थे, इत्यादयो हेत्या ॥ ३१ ॥

“व्याश्रये तसु” ७ । २ । ८१ इति सूत्रादारभ्य “संख्यैकार्थद्वीप्साया शस्” ७ । २ । ९१ इति सूत्रपर्यन्तं ये तस्वादय शस्पर्यन्ता प्रत्यया- ३६ प्रतिपादिता, तेषु घण वर्जयित्वा तदन्तानामव्ययसंज्ञामाह—अधणत्स्वाद्याशसः । तस्वादयस्य प्रत्ययसमुदायस्य तत्तत्त्वादि, न घण् अघण् च तत्तत्त्वादि च अधणत्स्वादि आशसः—शसमवधीकृत्य इत्यर्थे । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, इमे प्रत्यया प्रकृत्यविनाभाविन इति प्रकृत्या- ३९ व्ययम्, शसमवधीकृत्य य घण्वर्जितं तस्वादयसमुदायस्य तदन्तमव्ययपदबोध्यं भवतीत्यर्थे, तदेवाह—घण्वर्जितास्तस्वादय इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन । तस्वादयस्य प्रत्ययान्ताजुदाहरति—देवा अर्जुनतोऽभवन्-अर्जुनकर्णयोर्विद्वदमानयोरर्जुनस्य पक्षे देवा समवहित्यर्थे षष्ठ्यन्ताद्वाप्यश्रये गम्यमाने तसुप्रत्ययविधायक सूत्रमाह—अत्र इत्यादिना “व्याश्रये तसुः” इति । तत-अत्र पित्तस्—“किमिहादिसर्वा- ४२ श्वैपुल्यबहो पित्तस्” ७ । २ । ८९ इत्यनेनेति शेषः । तत्र-तस्मिन्निति विग्रहे “सप्तम्या” ७ । २ । ९४ इति । इह, क-अस्मिन्, कस्मिन् इति विग्रहे “क कुत्रा” ७ । २ । ९३ इत्यनेन । कदा-कस्मिन् काले इति विग्रहे, किमशब्दात् कालेऽर्थे “किं यत्” ७ । २ । ९५ इति दाप्रत्यये, “किम्” २ । १ । ४० इति सूत्रेण कादेशे । एतर्हि, अधुना, इदानीम्-अस्मिन् काले इत्यर्थे निपातनात् “सदा” ७ । २ । ९६ इत्यनेन । सद्यः परेद्यवि-

विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः ॥३३॥ ] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

परेष्वि, पूर्वेषुः, उभयेषुः, परस्त्, परारि, ऐषमः, कर्हि, यथा, कथम्, पञ्चधा, एकधा, ऐक्यम्, द्वैषम्, द्वेषा, पञ्च-  
कृत्यः, द्विः, सकृत्, बहुधा, प्राक्, दक्षिणतः, पश्चात्, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्ठात्, दक्षिणा, दक्षिणाहि,  
दक्षिणेन, द्वितीया करोति क्षेत्रम्, शुक्लीकरोति, अधिसात् संपद्यते, देवत्रा करोति; बहुशः । अधणिति किम् ? पथिद्वैधानि, ३  
संशयत्रैधानि । आशसः इति किम् ? पचतिरूपम् ॥ ३२ ॥

विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः ॥ १ । १ । ३३ ॥

विभक्त्यन्तप्रतिरूपकाथमवसाना ये तसादयः प्रत्ययास्तदन्तप्रतिरूपकाश्च शब्दा अव्ययसज्ञा भवन्ति । अहंयुः, ६  
शुभंयुः, अस्तिक्षीरा ग्राहणी, कुतः, यथा, तथा; कथम् इति । अहम् शुभम् १, कृतम् पर्याप्तम् २, येन तेन चिरेण

समानेऽहि सद्य, परस्मिन्नहनि परेष्वि इति विग्रहे, अहिकालेऽर्थे “सद्यो” ७।२।१७। इत्यनेन निपात्येते । पूर्वेषुः—पूर्वस्मिन्नहनीति विग्रहे  
“पूर्वा” ७।२।१८। इति सूत्रेण अहन्यर्थे एषुस् । उभयेषुः—उभयस्मिन्नहनीति विग्रहे, “उभयाद्” ७।२।१९। इति अहन्यर्थे युस् । ९  
परस्त्, परारि, ऐषमः—एते “ऐषम” ७।२।१००। इति सूत्रेण सवत्सरेऽर्थे निपात्यन्ते, अस्मिन् सवत्सरे ऐषम, पूर्वं-परस्मिन् वा सवत्सरे  
परस्त्, पूर्वतरे परतरे वा सवत्सरे परारि । कर्हि—कस्मिन्नयतने कालेऽर्थे “अनयतने” ७।२।१०१। इति हि, “किम्” २।१।४०। इत्यनेन ।  
यथा—येन प्रकारेणेति विग्रहे, “प्रकारे था” ७।२।१०२। इति सूत्रेण यथा । कथम्—केन प्रकारेणेति विग्रहे, “कथमित्यम्” ७।२।१०३। इति १२  
प्रकारार्थे निपातनम् । पञ्चधा, एकधा—पञ्चप्रकारै एकेन प्रकारेण चेति विग्रहे, “सख्याया” ७।२।१०४। इत्यनेन वा । ऐक्यम्—एकेन  
प्रकारेणानेकमेक करोति चेति विग्रहे, एकशब्दात् “वैकाद्” ७।२।१०६। इत्यनेन प्रकारे विचाले चार्थे घ्यमणि “वृद्धि स्वरिष्वा” ७।४।१। इति  
वृद्धौ रूपम् । द्वैषम्, द्वेषा—द्वाभ्यां प्रकाराभ्या एक राशिं द्वौ करोति चेति विग्रहे, द्विशब्दात् “द्वित्रैर्ध” ७।२।१०७। इति प्रकारे विचाले १५  
चार्थे घमणि प्रत्यये वृद्धौ, एधाप्रत्यये “अवर्णे” ७।४।६८। इति इकारलोप । पञ्चकृत्यः—पञ्चवारा अधीते इति विग्रहे, वारवति धात्वर्थे “वारे  
कृत्यस्” ७।२।१०९। इत्यनेन । द्विः—द्वौ वारा अस्य द्विर्भुङ्क्ते इत्यादि विग्रहे, “द्वित्रि” ७।२।११०। इत्यनेन वारवति धात्वर्थे युच् । सकृत्—  
एकवारं भुङ्क्ते इत्यादि विग्रहे, “एकात्” ७।२।१११। इत्यनेन वारवति धात्वर्थे युचि प्रत्यये सकृत् स् इति स्थिते, “क्रिया” २।२।४१। इत्यनेन १८  
अभि परे पदत्वं, “अव्ययस्य” ३।२।७। इति तल्लुपि, “पदस्य” २।१।८९। इत्यनेन सकृत् इति सिद्धम् । बहुधा—बहव आसन्ना वारा अस्य इति  
बहुधा रक्षति इति विग्रहे, “बहोर्धाऽऽसन्ने” ७।२।११२। इत्यनेन । प्राक्—प्राची दिग् रमणीया, प्राक्देश कालो वा रमणीय प्राप्तमणीयम्,  
प्राच्या दिशि प्राचो देशात् कालाद्वा प्रागागत, प्राच्या दिशि प्राचि देशे काले वा वसति इति विग्रह, प्राक्शब्दात् “दिक्शब्दा” ७।२।११३। ११  
इति धा प्रत्यये, “कृञ्च्ये” ७।२।१२३। इत्यनेन लुपि च प्राक् । दक्षिणतः—दक्षिणा दिग्देशो वा रमणीय दक्षिणतो रमणीयम्, दक्षिणत आगतो  
वसति वा इति विग्रहे, दक्षिणाशब्दात् “दक्षिणेत्तराधात्” ७।२।११७। इति अतसि प्रत्यये अवर्णलोप । पश्चात्—विग्रहस्तु पूर्ववत्, अपरश-  
ब्दात् “अधरा” ७।२।११८। इति धात् प्रत्यये, “पञ्चो” ७।२।१२४। इति पश्चादेशे च पश्चात् । पुरः, पुरस्तात्—विग्रहस्तु पूर्ववत्, पूर्वशब्दात् २४  
“पूर्वावरा” ७।२।११५। इत्यनेन अस् अस्वात् च प्रत्यये, पुरादेशे च पुर पुरस्तात् । उपरि, उपरिष्ठात्—विग्रहस्तु पूर्ववत्, ऊर्ध्वशब्दात्  
“ऊर्ध्वा” ७।२।११४। इति रि रिष्ठात् चेति प्रत्यये उपादेशे च उपरि उपरिष्ठात् । दक्षिणा, दक्षिणाहि, दक्षिणेन—दिग्देशाद्व्यर्थे दक्षिणा-  
रमणीयम् दक्षिणा वसति, ग्रामाहूरा दक्षिणा दिग्देशो वा रमणीय दक्षिणा दक्षिणाहि, अस्मात् दक्षिणा अद्वा दिक् रमणीया देश कालो वा २७  
दक्षिणेनास्य रमणीयम् वसति वा इति विग्रह । दक्षिणाशब्दात् “वा दक्षिणात्” ७।२।११९। इति आ प्रत्यये, “आहि दूरे” ७।२।१२०। इति आ  
आहिच प्रत्यये “अदूरे एन” ७।२।१२२। एन प्रत्यये च क्रमेण सिध्यन्ति । द्वितीया करोति क्षेत्रम्—द्वितीयवारं करोति क्षेत्रम्—कृपति  
क्षेत्रमित्यर्थ, “तीयशम्ब” ७।२।१३५। इति कृषिविषये त्वानि अन्तलोपे च रूपम् । शुक्लीकरोति—न शुक्ल अशुक्ल शुक्ल करोतीति शुक्लीक- ३०  
तीति विग्रह, प्रागशुक्ल शुक्ल करोतीत्यर्थ, शुक्लशब्दात् “कृभस्विभ्यां” ७।२।१२६। इति प्रागतत्त्वे चि्व, “ईश्वारो” ४।३।१११। इतीकारश्च ।  
अग्निसात् संपद्यते—अस्या सेनाया सर्वं शस्त्रं अग्निसात्—अग्निस्वरूपेण भस्मीभूत संपद्यते इत्यर्थ, अग्निशब्दात् “जाते सम्पदा च”  
७।२।१३१। इत्यनेन । देवत्राकरोति—देवेऽधीन देय-द्रव्यं करोतीति विग्रह, देवशब्दात् “देये प्राच” ७।२।१३३। । बहुशः—ग्रामे बहव ३३  
बहुश वा ददातीति विग्रह, बहुशब्दात् “बहुल्या” इति प्शस् प्रत्यये बहुश । इमे प्रत्ययास्तद्विस्तारार्थिकप्रकरणादवगन्तव्या, तस्मादिशसन्त-  
प्रत्ययान्तानामव्ययत्वेऽव्ययकार्यस्यादिलभादिक विधेयम् । तस्मादिषु धन् पर्युदस्त स किमर्थः इत्याह—अधणिति किम् इति । पथिद्वैधानि,  
संशयत्रैधानि—द्वौ प्रकारौ येषामित्यर्थे द्विशब्दात् “तद्वति घण्” इति घणि घृद्धौ द्वैष, त्रय प्रकारा येषामित्यर्थे त्रिशब्दात् “तद्वति घण्,” ३३  
इति घणि घृद्धौ त्रैष, तत् पथो द्वैधानि पथिद्वैधानि, संशयस्य त्रैधानि संशयत्रैधानि, “षष्ठयन्नाच्छेषे” ३।१।७६। इति समाप्ते, “एकार्ये”  
३।२।८। इति षष्ठीलुपि भवत्, अत्रानेनाव्ययत्वे स्यादेर्हृप् “तृसाथ्यपूरणाव्याया” ३।१।८५। इति षष्ठीसमासप्रतिषेधश्च स्यातामित्यघण्  
इति पर्युदास । शस्यन्ततसादय इति किम् ? इत्याह—आशस इति किम् ? । पचति रूपम्—प्राशस पचतीति विग्रह, “त्यादेश ३९  
प्रशस्ते रूपम्” ७।३।१०। इत्यनेन ॥ ३२ ॥

विभक्त्यन्तप्रतिरूपकथमन्ततसाद्यान्तप्रतिरूपकशब्दानामव्ययसंज्ञामाह—विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः । तस् आदिर्घेषान्ते  
तसादय थमन्ते येषान्ते थमन्ता, थमन्ताश्च ते तसादयश्च थमन्ततसादय, विभक्त्यथ थमन्ततसादयश्च विभक्त्यथमन्ततसादय तेषा- ४२  
माभेनाभा येषान्ते तथा, इति बहुमीहिर्गर्भकर्मधारयगर्भद्वन्द्वगर्भबहुमीहि । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, विभक्तिथमन्ततसाद्याभा अव्ययमित्य-  
न्वय, तदन्तविधिरत्र पूर्ववद् बोध्या तदाह सूत्रार्थ—विभक्त्यन्त इत्यादि, भवन्ति इत्यन्तेन । अहंयुः—अहमस्यास्तीति “उर्णा”  
७।२।१७। इत्यनेन अहयु इति विग्रह, एव शुभयु । यदीद विभक्तिप्रतिरूपकमव्यय नामविष्यत्तदा विभक्त्यन्तराद्युत्पत्तौ सति “एकाथ्ये” ४५.  
पूर्वविभक्त्येर्लुपि मत्पुत्र इत्यादिबद्धैरूप्यमापत्स्यत । एवमेवास्तिक्षीरा इति बोध्यम् । कुत इत्यादय तसादिप्रतिनिभा । अहम् इति  
प्रथमैकवचनान्तप्रतिरूपकम्, शुभादयत्रयो द्वितीयान्तप्रतिरूपका, येन इत्यादयश्चत्वारस्त्वृतीयान्तसदृशा, ते प्रसृतयश्चत्वारश्चतुर्थ्यन्त-

अन्तरेण ३, ते मे चिराय अहाय ४, चिरात् अकस्मात् ५, चिरस्य अन्योन्यस्य मम ६, एकपदे अत्रे प्रगे प्राह्णे हेतौ रात्रौ वेलायां मात्रायाम् ७; एते प्रथमादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः । अस्ति नास्ति अस्मि विद्यते भवति एहि वृहि १ मन्ये शङ्के अस्तु भवतु पूर्यते स्यात् आस आह वर्तते नवर्तते याति नयाति पश्य पश्यत आदह आदङ् आतङ्क इति तिवादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः ॥ ३३ ॥

### वक्तव्याम् ॥ १ । १ । ३४ ॥

६ वर्ततेसिआम्प्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसज्ञो भवति । वक्तविसाहचर्यादामिति तद्धितस्य “कित्वाद्येऽव्यया०” ॥ ७ । ३ । ८ ॥ इत्यादिना विहितस्यामो ग्रहणम् । मुनेरहं मुनिवद् वृत्तम्, “तस्याहं क्रियायां वत्” ॥ ७ । १ । ५१ ॥ इति वत् । क्षत्रिया इव क्षत्रियवद् युष्यन्ते, “स्यादेति” ॥ ७ । १ । ५२ ॥ इति वत् । पीलुमूलेनैकदिक् पीलुमूलतो ९ विद्योतते विद्युत्, “तसिः” ॥ ६ । ३ । २११ ॥ इति तसिः । उरसा एकदिक् उरस्तः, “यश्चोरसः” ॥ ६ । ३ । २१२ ॥ इति तसिः । आम्-उच्चैस्तराम् उच्चैस्तमाम् ॥ ३४ ॥

### क्त्वातुमम् ॥ १ । १ । ३५ ॥

६३ क्त्वा तुम् अम् इत्येतत्प्रत्ययान्तं शब्दरूपमव्ययसज्ञं भवति । (क्त्वा-) कृत्वा, हृत्वा, प्रकृत्यः प्रहृत्य । तुप्-कर्तुम्, हर्तुम् । अमिति णम्-रूपमोरुत्पद्यानुबन्धयोर्ग्रहण, न द्वितीयैकवचनस्य, क्त्वातुम्साहचर्यात्, यावज्जीवमदात्, स्वादुकारं भुङ्क्ते ॥ ३५ ॥

१५ गतिः ॥ १ । १ । ३६ ॥

गतिसज्ञाः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । अदःकृत्य-अत्राव्ययत्वे “अतः कृकमिकसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽनव्ययस्य” ॥ २ । ३ । ५ ॥ इति सकारो न भवति ॥ ३६ ॥

१८ अप्रयोगीत् ॥ १ । १ । ३७ ॥

इह शास्त्रे उपदिश्यमानो वर्णस्तत्समुदायो वा यो लौकिके शब्दप्रयोगे न दृश्यते स एति-अपगच्छतीति इत्संज्ञो भवति । अप्रयोगित्वात्वादेनेत्सज्ञाविधानाच्चास्य प्रयोगाभावः सिद्धः, उपदेशस्तु-घातुर्नामप्रत्ययविकारसंभवेऽपि कार्यार्थः ।

२१ प्रतिरूपका , चिरादकस्मात् इत्येतौ पञ्चम्यन्तद्वयौ, चिरस्य इत्यादयश्च पञ्चम्यन्तनिभा, एकपदे इत्याद्यष्टौ सप्तम्यन्ताकृतयः । तिवादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकानाह-अस्ति इत्यादिना ॥ ३३ ॥

२४ च इत्येषा समाहार वक्तव्याम् अव्ययमित्यन्वय, तदन्तविधि पूर्ववद्बोधा, तदभिप्रायेणाह स्यार्थ-वक्तव्याम्प्रत्ययान्त इत्यादिना । नन्वत्राविशेषात् पश्याद्बहुवचनस्यामोऽपि ग्रहणं प्राप्नोति, इष्यते च परोक्षास्थाननिष्पन्नस्य तद्धितस्य चाम इति शङ्कायां, “सहचरिताघदचरितयो” सहचरितस्यैव ग्रहणमिति न्यायमाश्रित्य समाधत्ते-वक्तविसाहचर्यात् इत्यादि, ग्रहणम् इत्यन्तेन । पीलुमूलेनैकदिक् इति २७ विग्रह-पीलुमूलतो विद्योतते विद्युत्-पीलुमूल यस्यां दिशि तस्यां विद्योतते विद्युदित्यर्थः ॥ ३४ ॥

२७ विग्रह-क्त्वातुमम् । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, क्त्वा च तुम् च क्त्वाप्रत्ययान्तस्य, तुम्प्रत्ययान्तस्य, अम्प्रत्ययान्तस्य चाव्ययसंज्ञामाह-क्त्वातुमम् । अत्राव्ययमित्यनुवर्तते, क्त्वा च तुम् च अम् चेत्येषा समाहारो द्वन्द्व, तदन्तविधि पूर्ववद् तदाह-क्त्वा इत्यादि, भवन्ति इत्यन्तेन । यथाक्रमं तत्प्रत्ययान्तानुदाहरति-कृत्वा ३० इत्यादिना । प्रकृत्य, प्रहृत्य-अत्राव्ययत्व स्थानिवद्भावेन बोध्यम् । ननु अमिति सामान्यनिर्देशात् स्यादित्यादिर्बन्धिनात्प्यमो कथं न ग्रहणमित्यत आह-अमिति इत्यादिना । उत्सृष्टानुबन्धयोः-उत्सृष्टस्त्वणोऽनुबन्धो ययोरिति विग्रह । णम्स्थणामोः ग्रहणं अमित्यन्तेन, क्त्वातुम्साहचर्यात् द्वितीयैकवचनस्याम् ग्रहणमित्यन्वय । क्त्वातुम्साहचर्यं कृत्वेन बोध्यम् । यावज्जीवमदात्-“यावतो विन्दजीव” ५।४।५।५। ३३ इत्यनेन णम् । स्वादुकारं भुङ्क्ते-“स्वादुर्भादसीर्षाद्” ५।४।५।३। इति ऋणम्, “खिलनव्य०” ३।२।१११। इति मागमेऽनुस्वारश्च ॥ ३५ ॥

३३ इत्यनेन णम् । स्वादुकारं भुङ्क्ते-“स्वादुर्भादसीर्षाद्” ५।४।५।३। इति ऋणम्, “खिलनव्य०” ३।२।१११। इति मागमेऽनुस्वारश्च ॥ ३५ ॥ गतिसज्ञकशब्दानामव्ययसंज्ञामाह-गतिः । अव्ययमित्यत्रानुवर्तते, गतिरव्ययमित्यन्वय । “अप्रहातुं” ३।१।५। इत्यनेन गतिसज्ञा भवति । अदस् पूर्वोत् कृत्वाप्रत्ययस्य यपादेशे, “ह्रस्वस त०” ४।४।११३। इत्यनेन तागमे, अद कृत्य इति रूप, अद कृत्यैतत् ३६ करिष्यतीति-विन्त्यतीति भाव । अदःकृत्येत्त्राव्ययसंज्ञायां फलमाह-“अतः कृकमि०” इत्यादिना ॥ ३६ ॥

३६ इत्संज्ञां निरूपयति-अप्रयोगीत् । सुज्यते-सचच्यते इति योग, प्रकृतो योग सचच्य प्रयोग, न प्रयोग अप्रयोगोऽस्या-स्तीति अप्रयोगी, एतेन-यस्य शास्त्रोच्चारणे सचच्योऽस्ति, लौकिकप्रयोगे च सचच्यभावस्तस्य नया निषेध कियते । ‘सविशेषणौ हि

३९ विधिनियेषौ विशेषणेन संबध्येते’ इति नियमात् सर्वथा यस्य सचच्यभावस्तस्य तु सिद्ध एवेति नानेन निषेध, अथवा प्रयुज्यते कार्यम-नेनेति प्रयोग शास्त्रम्, ‘अल्पार्थं नञ्’ अल्पत्व च शास्त्रे एव च पठ्यते, लौकिकप्रयोगे तु न संबध्येते, तत्कार्यं दृष्टानुमीयते एव केवलम् । नन्वेव सति कृतत्वधाभाव इति चेदुच्यते-कार्यार्थं पठितस्य निष्पन्ने कार्ये तस्य निश्चये, उपायस्य चोपेयसिद्धौ परित्यागात्, इव इति सज्ञा

४२ अप्रयोगिण, तत् एव च लोप सिद्ध, तदाह-इह शास्त्रे इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन । ननु प्रमाणमन्तरेण वचनमात्रेणापगमाभावात्प्रथमे यतितव्यमित्यत आह-अप्रयोगित्वात्वादेन इत्यादिना । अप्रयोगिण सञ्ज्ञितमनूय इत्संज्ञा विधीयते, इति सञ्ज्ञितस्य स्वभाव एव प्रयोगा माचरूप स्वत सिद्ध एवेति न प्रमाणान्तरापेक्षा, चो-हेतौ समुच्ये च, अस्य-अप्रयोगिण । यतोऽप्रयोगित्वात्वात्वादेनेत्संज्ञाविधानं ततो-

४५ ऽस्य प्रयोगाभावः सिद्ध इत्यन्वय । इव इत्यनेनैव प्रयोगाभावे सिद्धेऽप्रयोगिण पुन कथनेन सुतरा तस्य प्रयोगाभाव इति दार्ढ्यवचनय स्ये अप्रयोगी इति, एतेन प्रयोगाभावे इव इति संज्ञाविधानं अप्रयोगित्वात्वात्वादेनेत्संज्ञा फलितमिति समुच्चयार्थं । अत्रेदमाकृतम्-एतेन पाणि-

नीयतन्त्रे-“उपदेशेऽजनुनासिक इत्” पा० १।३।२।, “हलन्त्यम्” पा० १।३।३।, “अदर्शनं लोप” पा० १।१।६०।, “तस्य लोप” पा० १।३।३। इति सूत्रचतुष्टयलभ्यमर्थं एकैनेव सूत्रेण तदर्थलाभो भगवता श्रुतिकारेण सूचित इति दिक् । अनुवचरूपेत्संज्ञिकोपदेशविभागेनाह-उपदेशस्तु

अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः ॥३८॥ ] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

धातौ—एधि एधते, शीङ् शेते इङित्वादात्मनेपदम् । यर्जी—यजते यजति, चिग्—चिनुते चिनोति, कण्डूग्—कण्डूयते कण्डूयति ईगित्वात् फलवत्यात्मनेपदम् । दुडुं—द्वयुः, द्वित्वाद्युः । नाम्नि—चित्रङ् आश्चर्ये, चित्रीयते । माङ्—मा भवान् कार्षीत्, अत्र “माङ्यद्यतनी” ॥ ५।४।३९ ॥ प्रत्यये—भवति । विकारे—व्याख्यातासे व्याख्यातासि । आगमे— ३ पपिथ । इत्प्रदेशः “इङितः कर्तरि” ॥ ३।३।२२ ॥ इत्यादयः ॥ ३७ ॥

अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः ॥ १।१।३८ ॥

पञ्चम्यर्थाद् विधीयमानः शब्दः प्रत्ययसंज्ञो भवति, अनन्तः—न चेदन्तशब्दोच्चारणेन विहितो भवति । “नाम्नः ६ प्रथमैकद्विवहौ” ॥ २।२।३१ ॥ वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः । “स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्डीः” ॥ २।४।१ ॥ राज्ञी, कर्त्री । “आत्” ॥ २।४।१८ ॥ खट्वा । “गुणौधूपविच्छिपणपिनेरायः” ॥ ३।४।१ ॥ गोपायति, धूपायति । “ऋवर्ण-व्यञ्जनान्ताद् घ्यण्” ॥ ५।१।१७ ॥ कार्यम्, पाक्यम् । अनन्त इति किम् ?—अन्तशब्दोच्चारणेन विहितस्यागमस्य मा भूत्, ९ यथा “उदितः स्वराञ्चोऽन्तः” ॥ ४।४।९८ ॥ इत्यादि । प्रत्ययप्रदेशः—“प्रत्यये च” ॥ १।३।२ ॥ इत्यादयः ॥ ३८ ॥

डत्यत्तु संख्यावत् ॥ १।१।३९ ॥

डतिप्रत्ययान्तमनुप्रत्ययान्तं च नाम संख्यावद्भवति, एकद्वादिका लोकप्रसिद्धा संख्या; तत्कार्यं भजत इत्यर्थः । १२ (डति—)कतिभिः क्रीतः कतिकः, “संख्याडतेश्चाश्रुतिष्ठेः कः” ॥ ६।४।१३० ॥ इति कः । कतिभिः प्रकारैः कतिधा, “संख्याया घा” ॥ ७।२।१०४ ॥ इति घा । कति वारा अस्य कतिकृत्वः, “वारे कृत्वस्” ॥ ७।२।१०९ ॥ इति कृत्वस् । एवं यतिकः, यतिधा, यतिकृत्वः । ततिकः, ततिधा, ततिकृत्वः । अतु—यावत्कः, यावद्धा, यावत्कृत्वः । तावत्कः, १५ तावद्धा, तावत्कृत्वः । कियत्कः, कियद्धा, कियत्कृत्वः ॥ ३९ ॥

इत्यादिना । धातुविषयकातुबन्धफलमाह—धातौ इत्यादिना । एधि, शीङ् इत्यत्र “इङित कर्तरि” ३।३।२२ इत्यनेन इकारश्च उकारश्च तयोस्त्वा-दात्मनेपदस्य लाम, तदाह—इङित्वा इत्यादिना । यर्जी देवपूजाश्रयं—अत्र अनुस्वारेत्करणे अनिट्फलम्, चिग्—चयने, चिग् इति म०भ०, १८ कण्डूग् अत्र त्रिषु धातुषु “ईगित” ३।३।९५ इत्यनेन ईकारश्च गकारश्च तयोरीत्करणे फलवत्यात्मनेपदस्य लाम, तदाह—ई गित्वात् इत्यादिना । दुडुं—उपतापेऽर्थे, अत्र “द्वितोयु” ५।३।२३ इत्यनेन टित्करणेऽथु प्रत्यय स्यात् । नाम्नि—नामधातुप्रकरणोपदेशफलमाह—चित्रङ् इत्यादिना, चित्रीयते—चित्र करोति—नानात्वमाळेय वा करोतीत्यर्थं, “नमो वरि०” ३।४।३७ इत्यनेनाश्रयंऽर्थे कयति प्रत्यये क्त्वादात्मने-२१ पदम् । अभ्ययरूपनाम्न्युपदेशफलमाह—माङ् चादित्वादभ्ययम्, अत्र किति माङ्कि योगेऽद्यतनीप्रत्यय स्यादपि च “अह्घातो०” ४।४।२९ इत्यनेनाटो निषेधो माङ् योगे । प्रत्ययविषयकोपदेशफलमाह—प्रत्यये—भवति, अत्र ‘भू सत्ताया’ इति धातो “वर्तमाना०” ३।३।६ इत्यनेन तिविप्रत्यये, “एता शित” ३।३।१० इत्यनेन शित्वात्, “कर्तयन्द्भ्य शव्” इत्यनेन शितिप्रत्यये परे शव् तस्य क्त्वात्, “शिदवित्” २४ ४।३।२० इत्यनेन क्त्वाभावे नामिनो गुणे कृते सति भवतीति रूप सिद्धम्, अत्रेद रहस्यम्—तिव् प्रत्ययस्य क्त्वात् शित्त्वेन शव्, तस्य चाङ्-त्वात् गुण इति प्रत्ययस्यानुबन्धफलम् । धात्वादेशरूपविकारस्य फलमाह—विकारे इत्यादिना । व्याख्यातासे व्याख्यातासि—अत्र वि-आ उपसर्गपूर्वकस्य ‘चक्षिक् व्यष्पायां वान्वि’ इति धातो “क्षस्ती०” ३।३।१४ इति द्वि० पु० एक० तासि तासे चाशितिप्रत्यये “चक्षो०” २७ ४।४।४ इति क्त्वाङ् क्त्वाङ् इत्यादेशौ भवत, तत व्याख्यातासे व्याख्यातासीति सिद्धम्, अत्रेद तत्त्वम्—धात्वादेशरूपविकारस्य ‘क्त्वाङ्’ इत्यादेशस्य अनुस्वारेत्करणे इच्छभाव, गकारस्येत्करणे उभयपदस्य लाम, तत पूर्वावस्थितस्य ‘चक्षिक्’ इत्यस्य स्थानिवद्भावेन नित्यात्मनेपदं न भवतीत्यर्थं । आगमोपदेशस्य लाममाह—आगमे—पपिथ, अत्र ‘पां पाने’ इति धातो “परोक्षा०” ३।३।१२ इत्यनेन द्वि० पु० एक-३० वचने यवि प्रत्यये, “सजिदशि०” ४।४।७८ इत्यनेनेवागमे, “इडेत्पुत्ति०” ४।३।९४ इत्यनेन पपिथेऽत्र छिदिकारस्यागमेनाकारस्य लोप । इत्प्रदेशः—पूर्ववह्वाख्येयम् ॥ ३७ ॥

प्रत्ययसंज्ञाविधानमाह—अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः । पञ्चम्या प्रत्यय अनन्त इत्यन्वय । अत्र पञ्चमीति प्रत्ययवाची, स च ३३ प्रकृतिमन्यातानुपपत्त्याक्षिपति, सा चार्थं तस्माद्विधि इत्याह—पञ्चम्यर्थाद् इत्यादिना । प्रकृत्यर्थाद्विधीयमान प्रत्ययपदबोध इत्यर्थं । शब्द इत्यनेन वर्णसंस्तमुदायो वा कथ्यते । अनन्त इत्यस्यार्थमाह—न चेदिति । अन्तशब्दमुच्चार्य विधीयमान प्रत्ययसंज्ञा न लभते, अन्यथा प्रत्ययत्वं स्यात्, सति च प्रत्ययत्वे, तस्मात्प्रत्ययोरपत्तिर्न स्यात् । प्रथमा ही आप् आय घ्यण् इत्येषां प्रत्ययानां पञ्चम्यर्थात् विधीयमान-३३ त्वेन प्रत्ययत्व यथायथ बोध्यमिति हृदि निधाय वृत्तिकारो दृष्टान्तोपन्यासपूर्वक निर्दिशति—“नाम्नः०” इत्यादिना, पाक्यम् इत्यन्तेन । अनन्त इत्यस्य प्रयोजनमाह—अनन्त इति किम् ? । यत्र योन्तशब्दमुच्चार्य विधीयते, तत्र तस्य प्रत्ययत्व न भवतीत्याह—अन्तशब्दोच्चारणेन इत्यादिना, मा भूत् इत्यन्तेन । उदाहरति—यथा “उदितः०” इत्यादिना । “हो कदावन्तौ०” १।३।१७ इत्यादि सूत्रसमुदाय आदिपदेन ३९ आद्य । प्रत्ययप्रदेशः—पूर्ववदेव व्याख्येयम् ॥ ३८ ॥

अतिदेशशास्त्रमाह—‘वत्पदघटितमतिदेशशास्त्रमिति हि वचनम्’ डत्यत्तु संख्यावत् । अत्र तदन्तविधि पूर्ववद्वोह्या तदाह—डतिप्रत्ययान्त इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन । ननु का नामसंख्या ? असति तज्ज्ञानेऽर्थभवं संख्यावद्भावस्य इत्याह—एकद्वादिका ४२ इत्यादिना । अयमर्थ—अनन्यलभ्यो हि शब्दायं इति लोकेत एव संख्या संप्रत्यये, किमर्थमत्र तत्परिचय इति भाव । किम् शब्दात् “यत्किम्” ७।१।१५० इत्यनेन संप्रत्यये मेये डतिप्रत्यये कति, का संख्या माननेषां इति विग्रह । कतिभि क्रीत इति विग्रहे कतिक । संख्यावद्भावे सति किमिलाह—“संख्याडतेश्चा०” ६।४।१३० इति । डतिप्रत्ययान्तोदाहरणानि—कतिक इत्यादीनि । अतुइति अतुप्रत्ययान्तो-४५ दाहरणानि दर्शयति—यावत्कः, यत्शब्दात् “यत्तदेतदो०” ७।१।१४९ इत्यनेन मेये ङावादिस्तुप्रत्यय, कोषेषु यथायथम् ॥ ३९ ॥

### बहुगणं भेदे ॥ १ । १ । ४० ॥

बहु गण इत्येतौ शब्दौ भेदे वर्तमानौ सख्यावद्भवतः, भेदो नानात्वम्—एकत्वप्रतियोगि । बहुकः, बहुधा, बहुकृत्यः । गणकः, गणधा, गणकृत्यः । भेद इति किम्?—वैपुल्ये संघे च सख्याकार्यं मा भूत् । बहुगणौ न नियतावधिभेदाभिधायकविति संख्याप्रसिद्धेरभावाद्वचनम्, अत एव भूर्यादिनिवृत्तिः ॥ ४० ॥

### कसमासेऽध्यर्द्धः ॥ १ । १ । ४१ ॥

अध्यर्द्धशब्दः कप्रत्यये समासे च विधातव्ये संख्यावद्भवति । अध्यर्द्धेन क्रीतम् अध्यर्धकम्, “संख्यादोत्तेश्चाशक्तिष्टेः कः” ॥ ६ । ४ । १३० ॥ इति कः । अध्यर्धेन शूर्पेण क्रीतम् अध्यर्धशूर्पम्, अत्र संख्यापूर्वत्वेन द्विगुत्वे क्रीतार्थस्येकणः “अनाश्रयद्विः षुप्” ॥ ६ । ४ । १४१ ॥ इति लुप् । कसमास इति किम्? धादिप्रत्ययविधौ न भवति ॥ ४१ ॥

### अर्द्धपूर्वपदः पूरणः ॥ १ । १ । ४२ ॥

समासावयवभूते पदे पूर्वपदमुत्तरपद चेति प्रसिद्धिः, अर्द्धपूर्वपदः पूरणप्रत्ययान्तः शब्दः कप्रत्यये समासे च विधातव्ये संख्यावद्भवति । अर्धपञ्चमकम्, अर्धपञ्चमशूर्पम् ॥ ४२ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्योपज्ञशब्दानुशासनतत्त्वप्रकाशिकायां प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

हरिरिव बलिबन्धकरस्त्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिरिव ।

कमलाश्रयश्च विधिरिव जयति श्रीमूलराजनृपः ॥ १ ॥

भेदवृत्तिबहुगणयोः संख्यावद्भावो वदति—बहुगण भेदे । अत्र संख्यावदित्यनुवर्तते, भेदे बहुगणं संख्यावदित्यन्वय, तदर्थमाह—बहुगण इत्यादिना । भेदशब्दार्थमाह—भेदो नानात्वमिति, तदेव विवृणोति—एकत्वप्रतियोगि—एकत्व प्रतियोगि यस्य तत्, एकत्वस्य प्रतियोगि वा नानात्वम् । ननु बहुगणयोः संख्यावाचकत्व लोकत एवेति सिद्ध किमर्थं संख्यावद्भाव इत्यत आह—बहुगणौ न नियतावधि इत्यादिना ॥ ४० ॥

अध्यर्धशब्द कदा संख्यावदित्यत आह—कसमासेऽध्यर्धः । अत्र संख्यावदित्यनुवर्तते, अध्यर्धः कसमासे संख्यावदित्यन्वय, तदर्थमाह—अध्यर्द्धशब्द इत्यादिना । समास उदाहरति—अध्यर्धशूर्पम्, अत्रानेन संख्यावद्भावे फलमाह—अत्र संख्यापूर्वत्वेन इत्यादिना । धादिप्रत्यय—अत्रादिपदेन कृत्वस् इति बोध्य ॥ ४१ ॥

अर्धपूर्वपदस्य पूरणप्रत्ययान्तस्य शब्दस्य संख्यावद्भावमाह—अर्धपूर्वपदः पूरणः । अत्र संख्यावदित्यनुवर्तते, ‘कसमासे’ इति च । पूर्वोत्तरपदयोः संकेत प्राहयति—समासावयवभूते इत्यादिना ॥ ४२ ॥

इतिशब्द पादस्य परिसमाप्त्यर्थं । आचार्यस्य पूर्वाभिधात श्लाघार्थोपदेष्टृत्वेन विशेषणतया आचार्यश्रीहरिमद्रवत् । सकीर्णविप्रकीर्णोतिविस्तृतशब्दानुशासनसमूहसमभ्यासकेशादु खितसिद्धराजमहाराजानाम्यथेनगारचितत्वेनासिन् तद्वशासमुत्पन्नमूलराज-महापुरुषादिपुरुषमभिष्टौति काव्यसुखेन—हरिरिव इत्यादिना । एव सर्वेष्वध्यायेषु प्रतिपादसुपवर्णनं तद्वशास्य मनोषिरिवधारणीयम् । श्रीमूलराजोत्पत्त्य हरिहरब्रह्मनि साम्यसुपवर्णयति—हरिरिव इत्यादिना । श्रीमूलराजनृपः जयति क इव<sup>१</sup> बलिबन्धकरः

हरिरिव, त्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिः इव, च कमलाश्रयः विधिः इव इत्यन्वय । इमानि त्रीणि विशेषणानि मूलराजपक्षे समुपयो-ज्यानि । यथा विष्णुर्वाहनरूपधारी, बलिनामकस्य पातालौकसो दैत्याधिराजस्य बन्धस्य कर तथायमपि मूलराज ‘बलि करो भागधेय’ इति अ० वि० का० ३ श्लो० ४०९, बले—पशुबन्धरूपस्य राजप्राणभागस्य वा बन्धकर इति तयो साम्यम् । यथा पिनाकपाणि—महेधर त्रिशक्तियुक्त—विद्युमि शक्तिभिर्युक्त, हरिहरब्रह्मणामभेदेनैकस्यापि उल्लिखितप्रत्ययान्तत्रिशक्तियुक्तत्व बोध्यम्, तथायमपि मूलराजमहीपति प्रभुमत्रोत्साहाख्यत्रिशक्तियुक्त इति तयो साम्यम् । ‘शक्त्यस्तिस्र प्रभुत्वोत्साहमत्रजा’ इति अ० वि० का० ३ श्लो० ३९९ । यथा विधि—प्रजापति, कमलाश्रय—पद्माधिकरण, तथायमपि मूलराज राजलक्ष्मीरूपकमलाया आश्रय परमास्पदमिति तयो साम्यम्, तादृश मूलराज सर्वोत्कर्षेण वर्तते इत्यर्थं ॥ १ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छामगनाहर्मणिगीतार्थसार्थमौमाऽऽगमोद्धारकशैलानादृपतिपरिपूजितपादारविन्दआगमोदयसमिति—वर्द्धमानजैनागममदि-रायनेकशासनहितवर्धकसंस्था निर्माणोपदेशकमहाराजककुलमूर्द्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वरारणां साम्राज्ये तंशरणनिजीनमानसेनानयात-नवपदपीयूषपानोद्यतभव्यभावभावोद्बोधस्योदयश्रीसिद्धचक्र—नवपदारायकसमाजादिविधिविषयसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-राघव—तीर्थोद्धारकेण पद्म्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगपीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रवृत्तित्यासरात्कारावतारिकायाऽऽनन्द-बोधिन्यां प्रथमस्याध्यायस्य संज्ञाप्रकरणं नाम प्रथम पाद ॥

॥ अहं ॥

द्वितीयः पादः ॥

समानानां तेन दीर्घः ॥ १ । २ । १ ॥

३

समानसंज्ञकानां वर्णानां तेन परेण समानेन सहितानां दीर्घो भवति, “आसन्नः” ॥ ७ । ४ । १२० ॥—दण्डाग्रम्, तवायुः, खट्वात्र, सागता, दधीदम्, दधीहते, नदीन्द्रः, नदीहते, मधूदकम्, मधूहनम्, वधूदरम्, वधूदा, पितृषमः, मातृकारः; कल्लकारः । समानानामिति किम्? वागत्र । तेनेति किम्? दधि शीतम् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेनोत्तरसूत्रेण ऋल्लतोरपि ऋल्लति ह्रस्वो भवति—कल्लऋषमः, होल्लकारः; अन्यथा “ऋस्तयोः” ॥ १ । २ । ५ ॥ इति परत्वादरेव स्यात् ॥ १ ॥

ऋल्लति ह्रस्वो वा ॥ १ । २ । २ ॥

५

समानानामृकारे लकारे च परे ह्रस्वो भवति वा—चालऋश्यः, चालर्यः; खट्टऋश्यः, खट्टर्यः; महऋषिः, महर्षिः; धूलिऋतुः, धूल्युतुः; नदिऋच्छति, नद्युच्छति; तनुऋच्छता, तन्वृच्छता; वधुऋणम्, वध्वृणम्; कर्तुऋषमः, कर्तृषमः; चालल्लकारः, चालल्लकारः; कन्यल्लकारः, कन्यल्लकारः इत्यादि । ह्रस्वकरणसामर्थ्यादेव कार्यान्तरं न भवति, अत एव १२ ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः क्रियते । समानानामित्येव? वृक्षावृच्छति । ऋल्लतीति किम्? दण्डाग्रम्, कन्याया ऋकारः कन्यर्कारः । तकार उच्चारणार्थः । कश्चित्तु ह्रस्वत्वाभावपक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति, तन्मते—खट्टाऋश्यः, नदीऋश्यः इत्याद्यपि भवति; श्राञ्छतीत्यादौ तु परत्वादरेव भवति । “ह्रस्वोऽपदे वा” ॥ १ । २ । २२ ॥ इत्येव सिद्धे, अवर्णार्थं पदार्थं स्वार्थं च १५ वचनम् ॥ २ ॥

ल्लत रृल्ल ऋल्लभ्यां वा ॥ १ । २ । ३ ॥

ल्लतः स्थाने ऋता ल्लता च परेण सहितस्य यथासंख्यं रृल्ल इत्येतावादेशौ वा भवतः—रृ इति स्वरसमुदायो वा, १८

वीर्घविधिमाह—समानानां तेन दीर्घः । समानानामिति सवन्धे षष्ठी, स च सवन्ध अव्यवहितत्वरूपः । तेनेति “सहाधे” २।१।४।५ इति तृतीया पूर्वपरसमानयोरव्यवहितयोरैवेको दीर्घः, अजाक्षीरेण सहौषध पिबेदिति वद्भवति; एतेन दण्डस्याग्रम् दण्डाग्रमित्यत्र दकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य चकारोत्तरवर्तिनाकारेण सह दीर्घः कथं नेत्याशङ्का निरस्ता । ननु सूत्रे दीर्घ इत्युक्त्या समेऽपि आ ई क इत्यादयो २१ वीर्घा प्राप्नुवन्ति, इत्यत आह—आसन्न इति । आसन्नानासन्नप्रसङ्गे आसन्न एव वीर्घस्तेन दण्डाग्रम्—अत्र पूर्वस्य समानस्याकारस्य परेण समानेन सहितस्य स्थाने आसन्न एवाकारो दीर्घः । यथाक्रममुदाहरति—तवायुः इत्यादिना । “समानस्य तेन” इति जातिनिर्देशेनैव सिद्धे कथं समानानामिति बहुवचनमित्यत आह—बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्—व्याप्ति सवन्धस्तदर्थम्, उपस्थितत्वाद्दुत्तरसूत्रस्य स्वविषये प्रवृत्तिर्यथा भवे—२४ इत्यर्थः । तेन—बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थकत्वेन, उत्तरसूत्रेण—“ऋल्लति ह्रस्वो वा” इत्यनेन, अन्यथा—बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थकत्वाभावे ह्र ऋषम इत्यादौ “ऋल्लति ह्रस्वो वा”, “ऋस्तयो” इत्यनयोर्युगपत्प्राप्तौ परत्वादरेव स्यात् ॥ १ ॥

पाक्षिकह्रस्वविधिमाह—ऋल्लति ह्रस्वो वा । अत्र समानानामित्यनुवर्तते । समानाना ऋल्लति ह्रस्व वा इत्यन्यथ, तदर्थमाह—२७ समानानाम्—इत्यादिना । चालऋश्यः—( ऋणजाति ) अत्र समानाकारस्य ऋकाराव्यवहितपूर्वस्य स्थाने ऋकारे परे आसन्नो ह्रस्वो विकल्पेन भवतीति समन्वयः, एषमन्वयापि । ननु कन्या ल्लकार इत्यादावनेन ह्रस्वत्वे सति कथं न “अवर्णस्येवर्णादि०” सूत्रे अलादिक भवतीत्यत आह—ह्रस्वकरणसामर्थ्यादेव इति । यदि दीर्घस्थाननिष्पन्नस्य ह्रस्वस्य कार्यान्तरं भवेत्तर्हि कोऽर्थोऽनेन ह्रस्वविधानेनेति तदेव बोधयति यत् विधान-३० सामर्थ्यात् कार्यान्तराभाव इति व्यर्थीभूय वाक्यान्तरकल्पना, ज्ञापनफलमाह—अत एव इति, स्वांशे चारितार्थं स्पष्टमेव । ऋल्लतीत्यत्र तकार-किमर्थं इत्यत आह—तकार उच्चारणार्थः इति । दुर्गसिंहन्यासकृतोर्मतमाह—कश्चित्तु इति । क्षोरस्वामिन्यासकृन्मत शेषेरे “इकोऽसवर्णे०” पा० ६।१।१२।७ सूत्रे प्रथमम्, तन्मते रूपत्रय बोध्यम् । ननु प्राञ्छतीत्यत्र “ऋल्लति ह्रस्वो वा” इत्यनेन कथं न ह्रस्व इत्यत आह—३३ प्राञ्छतीत्यादौ इति । नन्विद कथमारभ्यते “ह्रस्वोऽपदेवा” इत्यनेन ह्रस्वत्वमिति चेत् तस्मादस्य विषयभेद निर्दिशति—“ह्रस्वोऽपदे वा” इत्येव इत्यादिना । “ऋल्लति ह्रस्वो वा” इति सूत्र अवर्णार्थं पदार्थं स्वार्थं च । “ह्रस्वोऽपदे वा” १।२।२१ इति तु “इवर्णोदिरस्वे०” १।२।२१। इत्यनुवृत्त्या—इवर्णार्थं, अपदार्थं, अस्वार्थं च इति स्पष्ट एवानयोरिष्यभेद इति संक्षेपः ॥ २ ॥

३६

ल्लकारस्य स्थाने “ऋकारेण सहितस्य रृ” ल्लकारेण सहितस्य च ल्ल इति विधेय वर्णद्वय विदधाति—ल्लत रृल्ल ऋल्लभ्यां वा इति, तदेवाह—ल्लतः स्थाने इत्यादिना । अनेन विधीयमानस्य वर्णद्वयस्यान्यमतप्रदर्शनपूर्वकं परिचयमाह—रृ इति स्वर-समुदायो वा इत्यादिना । इदं स्वमतं शाकटायनसमतमपि “ऋशोऽस्वाच” शा० १।१।७६। इति सूत्रे अमोघाष्टमी-पृ० २० । वर्णान्तरत्वे ३५

स्वरव्यञ्जनसमुदायो वा; वर्णान्तरं वा । तदपीपत्स्पृष्टकरणं द्विरेफतुरीयमध्यर्धस्वरमात्रमित्येके, संवृततरं सकलरेफकारमर्ध-  
मात्रस्वरभक्तिकमित्यन्ये; द्विरेफश्रुतिकमध्यर्धस्वरमात्रमित्यपरे । एवं लृ इत्यपि । ऋता-ऋकारः, पक्षे-पूर्वेण ह्रस्व, उत्तरेण  
१ श्रकारश्च-ऋऋकारः, कृकारः । लृता-लृकारः, पक्षे-दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं च-लृकारः, लृलृकारः । लृवर्णस्य स्थानि-  
त्वमिच्छन्त्येके ॥ ३ ॥

ऋतो वा तौ च ॥ १ । २ । ४ ॥

६ ऋकारस्य स्थाने ऋता लृता च परेण सहितस्य यथासंख्यं वृल्ल इत्येतावादेशौ वा भवतः । 'तौ च'-ऋकारलृकारौ  
ऋता लृता च सह ऋकारस्य वा भवतः । ऋता-पितृपभः, पक्षे-पितृषभः; पितृऋषभः । लृता-होत्लृकारः, पक्षे-होत्-  
कारः; होत् लृकारः । तौ च-पितृपभः, होत्लृकारः; पक्षे यथाप्राप्तम् । अत्रापि ऋवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ॥ ४ ॥

७ ऋस्तयोः ॥ १ । २ । ५ ॥

'तयोः' पूर्वस्थानिनोर्लृकारऋकारयोः स्थाने यथासंख्यमृता लृता च परेण सहितयोर्ऋकारो द्विमात्र आदेशो भवति ।  
कृपभः, होत्कारः ॥ ५ ॥

१२ मतभेदानाह—तदपीपत्स्पृष्टकरणं द्विरेफतुरीयं अध्यक्षस्वरमात्रम् इत्येके—प्राञ्च, अस्य विधेयस्य वर्णद्वयस्य पादोन मात्राद्वय बोध्य-  
मित्याशयः । ईषत्स्पृष्ट करणमस्येति ईषत्स्पृष्टकरणं, रेफस्य तुरीयौ रेफतुरीयौ द्वौ रेफतुरीयौ अस्मिन्निति द्विरेफतुरीय, अधिकमर्धं यस्या सा  
अध्यर्धो स्वरस्य मात्रा स्वरमात्रा अध्यर्धो स्वरमात्रा अस्मिन्निति अध्यक्षस्वरमात्रमिति त्रीणि विशेषणानि विधीयमानस्यास्य बोध्यानि । संवृततर-  
१५ प्रयत्न, सकलरेफकारम्—सकल-परिपूर्णं रेफ ऋकारश्चात्र तत्तथा, अर्धमात्रस्वरभक्तिकम्—अर्धं मात्रा यस्या सा अर्धमात्रा स्वरस्य  
भक्ति स्वरभक्ति यस्य तत्तथा, अर्धमात्रस्वरभक्तिकमिदं वर्णद्वय विधेय मन्वते अन्ये—प्राञ्च । रेफस्य श्रुति रेफश्रुति, द्वे रेफश्रुती यत्र तत्तथा-  
'द्विरेफश्रुतिकम्, अध्यक्षो स्वरमात्रा अस्मिन्निति-अध्यर्धस्वरमात्रमित्यपरे—शेषादिवादा । मतानीमानि महाभाष्ये शाकटायने न्व  
१८ दृश्यन्ते, "तुल्यास्य०" इति सूत्रे पा० १११११। कृकारः-ऋ ऋकार इत्यत्रानेन लृकारस्य ऋकारेण सहितस्य स्थाने वृ इत्यादेश, पक्षे-तदभावे  
पूर्वेण—"ऋलृती"त्यनेन, उत्तरेण—"ऋस्तयो" इत्यनेन । लृकारः-लृ लृकार इत्यत्र लृकारस्य लृकारेण सहितस्य स्थाने लृकारो भवति ।  
पक्षे-तदभावे, दीर्घत्वं—"समानानां तेन दीर्घं" इत्यनेन, ह्रस्वत्वं—"ऋलृती"त्यनेन । अत्र प्राञ्च-लृता इति विहाय लृवर्णस्य स्थानितया  
२१ निर्देशो कुर्वन्ति, तथा सति 'वर्णग्रहणे जातिग्रहणमि'ति सर्वविधलृकारग्रहण बोध्यम्, तदेवाह—लृवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ॥ ३ ॥

ऋकारस्य परेण ऋकारेण सहितस्य स्थाने वृ परेण लृकारेण सहितस्य च लृ इति वर्णद्वय विदधाति—ऋतो वा तौ च इति ।  
अत्र पूर्वं सम्पूर्णं सूत्रमनुवर्तते लृता इति स्थानिन विहाय वेति च । अशद्वयमत्र—ऋतो वा इत्येकोऽश, तौ च इत्यपरस्त्र पूर्वसादृश इति,  
२४ ऋलृभ्यामिति वेति चाभिसंबन्धते । ऋत वृल्ल ऋलृभ्यां वा इति, ऋत तौ ऋलृभ्यां वा इति चान्वयः । उभयोरंशयोरर्थमाह—ऋकारस्य  
स्थाने इत्यादिना । अपराशो—तौ इत्यनेन स्थानितया प्रसिद्धावेव ऋकारलृकारौ विधेयतया गृह्येते । पितृ ऋषभः—अत्र परस्थितऋकारेण  
सहितस्य ऋकारस्य स्थाने वृ इत्यादेशो विकल्पेन भवति—पितृपभः, पक्षे "समानानां तेन दीर्घं" इत्यनेन दीर्घं-पितृपभः, "ऋलृति  
२७ ह्रस्वो वा" इत्यनेन ह्रस्वत्वे-पितृऋषभ इति । एवमन्यत्रापि । पितृ ऋषभ इत्यत्र तौ चेत्यनेन ऋकारस्य परेण ऋकारेण सहितस्य स्थाने ऋ  
इत्यादेशो पितृपभ इति । एवमन्यत्रापि । केचन मूले ऋत इति विहाय ऋवर्णस्य स्थानितया निर्देशो कुर्वन्ति, तथा सति 'वर्णग्रहणे जातिग्रहण-  
मि'ति सर्वविधऋकारग्रहण बोध्यम्, तदेवाह—अत्रापि इत्यादिना ॥ ४ ॥

४० ऋस्तयोः—अत्र ऋलृभ्या इत्यनुवर्तते, तयोरिति पूर्वसूत्रयोरुपात्तयो स्थानिनोर्ग्रहणम्, लृता इति ऋत इति च, तयो ऋलृभ्या  
ऋ इत्यन्वयः, तदेवाह-तयोः पूर्वस्थानिनोरिति । "लृता०" १।२।३। इति "ऋत०" १।२।४। इति सूत्रयोः स्थानितया निर्दिष्टयोरित्यर्थस्त-  
वाह—लृकारऋकारयोः इत्यादिना । लृकारस्य परस्थितऋकारेण सहितस्य स्थाने ऋ, ऋकारस्य परस्थितलृकारेण सहितस्य स्थाने ऋ  
४३ इत्यर्थः । कृपभः—ऋ ऋषभ इत्यत्रानेन लृकारस्य परेण ऋता सह ऋ इत्यादेश । होत्कारः—होत् लृकार इत्यत्रानेन ऋकारस्य परेण लृता  
सह ऋ इत्यादेश । नन्विद किमर्थं ऋ ऋषभ इत्यादौ लृऋतो स्वत्वेन द्विमात्रऋकार "समानानां तेन दीर्घं" इत्यनेन सेत्स्यति इति चेदुच्यते-  
"समानानां तेन०" इति द्वयोः षष्ठीतृतीयानिर्दिष्टयोः स्थानित्वमिति ऋकारस्यैव स्थानित्वे नियामकभावेन पूर्वं परं वा लृकाररूप स्थानिनमाश्रित्य  
४६ दीर्घं क्रियमाणे लृकारोऽपि स्यादिति ऋकार एव स्यादित्येतदर्थमस्यारम्भात् ॥ ५ ॥

अत्र प्रकरणे ऋकारस्य ऋकारे दीर्घत्वात् पितृषभ, ह्रस्वत्वात् पितृऋषभ, "ऋतो वा तौ च" इत्यनेन वृ ऋ इत्यादेशद्वयात् पितृषभं,  
पितृषभ इति रूपचतुष्टय सिद्धम् ॥ १ ॥ लृकारस्य लृकारे दीर्घत्वात् लृकार, ह्रस्वत्वात् लृ लृकार, "लृता वृल्ल ऋलृभ्या" वा इति लृसद्भावात्  
४९ लृकार इति रूपत्रय सिद्धम् ॥ २ ॥ ऋकारस्य ऋकारे, लृकारस्य लृकारे च दीर्घत्वह्रस्वत्वमतान्तरप्रकृतिवद्भावावैत्रीणि त्रीणि रूपाणि ॥ ३ ॥ ऋका-  
रस्य लृकारे "ऋलृति" इति ह्रस्वत्वात् विकल्पपक्षे मतान्तरेण प्रकृतिवद्भावात् "ऋतो वा तौ च" इत्यत्र मतान्तरेण ऋवर्णस्थानित्वात् वृ ऋ  
इत्यादेशद्वयात् "ऋस्तयो" इति ऋविधानाच्च रूपपञ्चकम् ॥ ५ ॥ एव लृकारस्य ऋकारे "ऋलृति" इति ह्रस्वत्वात् विकल्पपक्षे मतान्तरेण  
४२ प्रकृतिवद्भावात् लृता वृ इति रूमावात् ऋस्तयोरिति ऋभावाच्च रूपचतुष्टयम् ॥ ६ ॥ तथा ऋकारस्य लृकारे "ऋलृति०" इति ह्रस्वत्वात् "ऋतो  
वा तौ च" इत्यनेन वृ ऋ इत्यादेशद्वयात् "ऋस्तयो" इति ऋविधानाच्च रूपत्रयम् ॥ ७ ॥ तथा लृकारस्य ऋकारे ऋलृति० इति ह्रस्वत्वात्  
लृता वृ इति रूविधानात् "ऋस्तयो" इति ऋविधानाच्च रूपत्रयम् ॥ ८ ॥ एवमष्टभिविकल्पं रूपाभ्येकोनविंशत् ॥

अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् ॥ १ । २ । ६ ॥

अवर्णस्य स्थाने इवर्णलवर्णऋवर्णलवर्णैः परैः सहितस्य यथासंख्यमेत् ओत् अर् अल् इत्येते आदेशा भवन्ति । देवेन्द्रः, तवेहा, मालेयम्, सेक्षते, तवोदकम्, तवोबा, गङ्गोदकम्; सोढ । वृक्ष इन्द्र, त इन्द्रमित्यादौ च डौ जस इकारे चैकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गमेत्वमेव भवति, न तु परपदाश्रितं वहिरङ्गमिकारस्य दीर्घत्वम् । परमर्षिः, तवर्कारः, महर्षिः, सर्कारेण, तवल्कारः; सल्कारेण । त्रिमात्रादेरपि स्थानिनः स्थाने द्विमात्रावैवैदोतौ भवतः, सूत्रे तयोरेव विवक्षितत्वात् । अवर्णस्येति किम् ? दर्षादम्, मधूदकम्, पितृषसः; कल्कारः । इवर्णादिनैति किम् ? दण्डाग्रम् ॥ ६ ॥

ऋणे प्रदशांर्वसनकम्बलवत्सरवत्सतरस्यार् ॥ १ । २ । ७ ॥

प्रादीनामवर्णस्य ऋणशब्दे परे परेण ऋकारेण सहितस्सारित्ययमादेशो भवति । अरोऽपवादः । प्रगतमृणं प्रार्णम्, दशानामृणं दशार्णम्, दश ऋणान्यस्य दशार्णः क्षत्रियः, दश ऋणानि जलदुर्गाण्यास्यां दशाणां नदी, ऋणस्वावयवतया

तथा हि—					
ऋकारस्य ऋकारे पितृ ऋषम	समानाना० पितृषम	ऋलृति० पितृऋषम.	ऋतो वा (वर्णान्तरं) पितृषम	तौ च पितृषम	चदा० ४ १२
लृकारस्य लृकारे ऌ लृकार	कृकार	ऌ लृकार	लृत गृळ० (वर्णान्तरं) कृकार		३
ऋकारस्य ऋकारे कृ ऋकार	कृकार	ऋ ऋकार.	मतान्तर प्रकृ० कृ ऋकार.		२५ ३
ऌकारस्य लृकारे कृ लृकार.	कृकार	ऌ लृकार.	मतान्तर प्रकृ० कृ लृकार		३ १८
ऋकारस्य लृकारे कृ लृकार	ऋलृति०	मतान्तरप्रकृ०	ऋतो वा (मतान्तरेण ऋवर्ण०स्था०)	तौ च	ऋत्वयो. ५
ऌकारस्य ऋकारे ऌ ऋकार	ऌ ऋकार.	कृ ऋकारः	ऋकार लृत रृ लृ० (मतान्तरेण लृवर्ण०स्था०)	ऌकार.	कृकार. २१ ४
ऋकारस्य लृकारे ऌ लृकार	ऌ लृकार	ऋतो वा(वर्णान्तरं) ऌकार.	तौ च ऌकार.		कृकारः २४ ४
लृकारस्य ऋकारे ऌ ऋकार	ऌ ऋकार	लृत गृळ० (वर्णान्तरं) कृकार			२७ कृकारः ३

“समानानाम्”, “ऋलृति०”, “लृत ऋलृ०”, “ऋतो वा तौ च०”, “ऋत्वयो ०”, कश्चित् ऋत्वस्वामावपक्षे०, ऋवर्णस्येति स्थानित्वमते०, लृवर्णस्येति स्थानित्वमते० चेमानि रूपानि यथाथ्य बोध्यानि ।

अवर्णस्येवर्णादिनै इति । अवर्णस्य परेण इवर्णैत सह एव, अवर्णस्य परेण लवर्णैत सह ओत्, अवर्णस्य परेण ऋवर्णैत सह अर्, इत् वाक्यसंस्कारपक्षे—वृक्ष इन्द्र इत्यत्र औ, त इ इन्द्रमित्यत्र च जस इकारे “समानानाम्” इति दीर्घ “अवर्णस्येवर्णादिना०” इति अवर्णस्येवर्णं सह एव च प्राप्नोतीति, ‘अखिद्र वहिरङ्गप्रमन्तरङ्गे’ इति न्यायेनैत्वमेवेति समाघते—वृक्ष इन्द्र, त इन्द्रमित्यादौ चेति । एकपदा-इत् त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां कथं द्विमात्रावैदोताविसत आह—त्रिमात्रादेरपीत्यादिना । यदाह—श्रीशेषमष्टारक “एवोर्एौञ्” पा० १।१।४१ सूत्रे कस्मादेवन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति ? इत्याशङ्क्य तपरि गुणद्वयी इति समाहितवाच ॥ ६ ॥ ३९

ऋणे प्रदशांर्व इति । अत्र अवर्णस्यैवर्णादिनै । तत्र प्रादीनामवयवविभावान्वयत्वदाह—प्रादीनामवर्णस्य इति । स्थानेऽन्वयार्थ । ननु प्र ऋणमित्यादौ “अवर्णस्येवर्णादिना” इति अर् कथञ्च भवतीत्याह—अरोऽपवाद इति, निरवकाशात्वादिपवादत्वं बोध्यम् । यथेदं सूत्रमपवादत्वादिरो बाधकं तथा ह्यत्प्रयाघते न वा ? इत्यत आह—समानानामित्यादि । उक्तत्वात्—“समानानां तेन दीर्घे” इति सूत्रे ४२ तत्त्वप्रकाशिकायामिति शेष । इह—एतत्सूत्रविषये, उत्तरत्र—“ऋते एतीयासमासे” इति सूत्रविषये च बाध्यविशेषमिन्तापकाश्रयणम् । ह्रस्वः—

१ परे X ऋकारेण प्र०, स० ता० ।



संवन्धि ऋणमृणार्णम्, वसनानामृणं वसनार्णम्, एवं कम्बलार्णम्, वत्सरार्णम्; वत्सतरार्णम् । समानानामिति बहु-  
वचनस्य व्यास्यर्थत्वेनोक्तत्वादिहोत्तरत्र च ह्रस्वोऽपि भवति-प्रऋणम्, दशऋणमित्यादि । वत्सरशब्दस्यार्णं नेच्छन्त्येके ॥७॥

३

### ऋते तृतीयासमासे ॥ १ । २ । ८ ॥

ऋतशब्दे परे यदवर्णं तस्य स्थाने परेण ऋकारेण सहितस्यारित्ययमादेशो भवति, तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनावेकत्र  
तृतीयासमासे भवतः । शीतेन ऋतः शीतार्तः, दुःखेन ऋतः दुःखार्तः; ह्रस्वोऽपि भवति-शीतऋतः, दुःखऋतः । ऋत इति  
६ किम् ? सुखेतः, दुःखेतः । तृतीयाग्रहणं किम् ? परमर्तः । समास इति किम् ? दुःखेनर्तः-दुःखेन ऋतः । ऋतेन कृतः  
ऋतकृतः, परमश्चासौ ऋतकृतश्च परमर्तकृतः इत्यत्र तु निमित्तनिमित्तिनौ नैकत्र तृतीयासमास इति न भवति । अवर्ण-  
स्येत्येव ? पितृतः । कथं 'क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मांस्याकवलितान्', क्षुधशब्दस्य हि व्यञ्जनान्तात्वात् श्रुत  
९ इति प्राप्नोति ? नैवम्, आङ्पूर्वे ऋते तृतीयान्तस्यासमस्तस्यायं प्रयोगः, आ ऋत इति उत्तरेणाऽर्तः; ततः क्षुधेत्यनेन  
संवन्धः । यस्य तु व्यञ्जनान्तादप्याप्, तन्मते क्षुधया ऋत इति समस्तप्रयोग एवायम् ॥ ८ ॥

### ऋत्यारुपसर्गस्य ॥ १ । २ । ९ ॥

२२ उपसर्गसंवन्धिनोऽवर्णस्य स्थाने ऋकारादौ धातौ परे परेण ऋकारेण सहितस्यारादेशो भवति । सर्वापवादः ।  
प्राच्छति, पराच्छति, प्राप्नोति; पराप्नोति । ऋतीति किम् ? उपेतः । उपसर्गस्येति किम् ? इहच्छति, इहृच्छति ।  
येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तं प्रत्युपसर्गसंज्ञाः, तेनेह न भवति-प्रगता ऋच्छका अस्मात् प्रच्छको देशः, एवं प्रथम, प्रथम  
२५ वनम् । आरिति वर्तमाने पुनराग्रहणमारेव यथा स्यादित्येवमर्थम्, तेनेहोत्तरयोश्च ह्रस्वत्व बाध्यते ॥ ९ ॥

### नाम्नि वा ॥ १ । २ । १० ॥

उपसर्गसंवन्धिनोऽवर्णस्य स्थाने ऋकारादौ 'नाम्नि'-नामावयवे धातौ परे परेण ऋकारेण सहितस्यारादेशो वा  
१८ भवति । प्रार्थनीयति, प्रर्थनीयति । केचित्तु पक्षे ह्रस्वत्वमपि मन्यन्ते-प्रऋथनीयति । उपसर्गस्येत्येव ? इहर्थनीयति ।  
ऋतीत्येव ? उपोष्टीयति । ऋकारमिच्छति उपर्कारीयति ॥ १० ॥

"ऋच्छति०" इत्यनेनेति शेष । वत्सरशब्दस्यार्णं नेच्छन्त्येके-पाणिनिशाकटायनदेवनन्यादय, "प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणं"

२१ "एत्येवत्सु" पा० ६।१।८९। इति सूत्रे वार्तिकम्, "प्रदशाग्नचनकम्बलवत्सतरस्यर्णं" शा० १।१।९०। इति शाकटायनः ॥ ७ ॥

ऋते तृतीयासमासे । अत्रावर्णस्येत्यनुवर्तते आद् इति च, तत्र ऋते इति वैयधिकरण्येन विशेषणम्, ऋते अवर्णस्य आद्  
तृतीयासमासे इत्यन्वयः; तदर्थमाह-ऋतशब्दपरं इत्यादिना । स्थानिनिमित्तयोः समयो स्थितिस्तृतीयासमासेऽपेक्ष्यते नत्वेकतरस्येवाह-

२४ तृतीयासमासे इत्यस्यार्थ-तौ चेदिति । शीतार्तः-अत्र ऋतशब्दाव्यवहितपूर्वस्य अवर्णस्य आद् ऋकारेण सहितस्य स्थाने भवति,  
स्थानिनिमित्तयोस्तृतीयासमासस्येति स्पष्टमेव । एवमन्यत्रापि । ह्रस्वः-"ऋच्छति०" इत्यनेन । दुःखेनर्तः-अत्र समासो न । परमर्तकृत  
इत्यत्र तृतीयासमासस्येति नन्तरं कर्मवारये निमित्तस्य तृतीयासमासे वर्तमानत्वेऽपि निमित्तित्वस्य भावाभावात् भवत्याद्, तदेवाह-परमर्तकृतः

२७ इत्यत्र तु इत्यादि, न भवति इत्यन्तेन । पितृतः-अत्र ऋतशब्दाव्यवहितपूर्वोऽवर्णो नास्त्यतो न भवत्याद् । 'तृषा शुष्यत्यास्ये पिवति  
सलिलं स्वाद् सुरभि, क्षुधार्तं सन् शालीन् कवलयति मांस्याकवलितान् । प्रथीते रागाग्नौ घननिविडमाच्छिष्यति वधूं, प्रतीकारे व्याधे सुखमिति  
निपर्यस्यति जन ॥' इदं पद्यं बुद्धिमद्भिस्तु श्रम्यम्, शिखरिणीवृत्तमिदम् । अस्मिन्पद्ये क्षुधार्तं इत्यत्र ऋतशब्दाव्यवहितपूर्वस्यावर्णस्याभावादाद्

३० कथं भवति ? इत्याशाङ्कते-कथं इत्यादिना, प्राप्नोति इत्यन्तेन । समाधत्ते-नैवम् इत्यादिना, संवन्ध इत्यन्तेन । मतान्तरेण समाधान-  
माह-यस्य तु व्यञ्जनान्तादप्याप् इत्यादिना । इदं भाग्युरितम्-"वष्टिभाग्युरिरहोपमवाप्योरुपसर्गयोः । आप चैव हलन्तानां यथा वाचा  
निशा दिशा ॥" इदं वार्तिकम्, सि० कौ० अव्ययप्रकरणे । भाग्युरि-व्यञ्जनान्तादापमिच्छति तस्य मते क्षुधार्तं इति अनेनाद् भवत्येव ॥ ८ ॥

३३ ऋत्यारुपसर्गस्य । अत्रावर्णस्य आद् इति चानुवर्तते । उपसर्गस्येत्यनेन धातुरित्याक्षिप्यते उपसर्गत्वान्यथातुपपत्त्या, तत्र धातौ  
ऋति इति विशेषण, तथा सति "सप्तम्या आदि"रित्यादिपदोपस्थित्या ऋकारादौ धातावित्यर्थलाभ । अवर्णस्येत्यत्र उपसर्गस्येत्यस्येत्यवयवद्वारा,  
उपसर्गस्यावर्णस्य ऋकारादौ धातौ आद् इत्यन्वयः, तदर्थमाह-उपसर्गसंवन्धिन् इत्यादिना । अनेन स्वविषये यद्यत्प्राप्तं तत्सर्वं बाध्यते, इति

३४ बाध्यसामान्यन्विन्तापसामिप्रायेणाह-सर्वापवाद इति । प्राच्छति-अत्र ऋकारादिधात्वव्यवहितपूर्वस्य उपसर्गसंवन्धिनोऽवर्णस्य, ऋकारेण  
सहितस्य स्थाने आरादेश इति । 'ऋधृद्' वृद्धौ, प्र ऋप्नोति इति श्लेषे-प्राप्नोति । एवमन्यत्रापि । धातुभिर्योगे प्राचीनामुपसर्गत्वमित्याह न्याय-  
सुखेन-येन धातुना इत्यादिना । ननु "ऋत्यारुपसर्गस्ये"ति सूत्रे पूर्वस्मादारित्यनुवृत्तौ किमर्थमाद् इत्युपादानमित्यत आह-आरिति वर्तमाने

३५ इत्यादिना, तत्फलमाह-तेन इत्यादिना । इह-अस्मिन्सूत्रे, च उत्तरयोः-"नाम्नि वा", "लस्याल्वा" इत्युत्तरसूत्रयोरित्यर्थ ॥ ९ ॥

नाम्नि वा । अत्रावर्णस्येति समग्र पूर्वसूत्रं चानुवर्तते । उपसर्गस्यावर्णस्य नाम्नि ऋकारादौ धातौ आद् वा इत्यन्वयः । अन्यत्सर्वं  
प्राग्बद्धोप्यम् । नाम्नि इत्यवयवतया धातौ इत्यत्रान्वेति, तदर्थमाह-उपसर्गस्य इत्यादिना । नामावयवे-नाम अवयवो यस्य स इति  
३४ विग्रहः । केचित्तु-शाकटायना "सुपि वा" शा० १।१।९। अमोधावृत्तौ । उप ऋकारवयवित्यत्र धातुर्दार्ढ्यकारादित्यस्य ऋति इत्यनेनाग्रहण  
निर्दिशति-ऋकारमिच्छति इत्यादिना ॥ १० ॥

## लृत्वाल्वा ॥ १ । २ । ११ ॥

उपसर्गसंबन्धिनोऽवर्णस्य 'लृत्ति'-लृकारादौ नामावयवे धातौ परे परेण लृकारेण सहितस्य आल् वा भवति । अलोऽपवादः । उपाल्कारीयति, उपल्कारीयति । अत्रापि पक्षे ह्रस्वत्वमिच्छन्त्येके-उपल्कारीयति । उपसर्गस्येत्येव ? इहल्कारीयति । लृतीति किम् ? लृकारमिच्छति उपल्कारीयति ॥ ११ ॥

## ऐदौत् संध्यक्षरैः ॥ १ । २ । १२ ॥

अवर्णस्य स्थाने संध्यक्षरैः परैः सहितस्य ऐत् औत् इत्येतावादेशावासन्नौ भवतः, एवं चैकारैकाराम्यां सहितस्य इ एकारः, ओकारैकाराम्यां त्वौकारः । तवैषा, खट्टैषा, तवैन्द्री, सैन्द्री, तवौदनः, खट्टौदनः, तवौपगवः, खट्टौपगवः । अवर्णस्येत्येव ? दध्येतत्, दध्यैच्छत्, मध्वोदनः; साध्वौषधम् । संध्यक्षरैरित्यैत्वनिर्देशादुपसर्गस्येति निवृत्तम् ॥ १२ ॥

## ऊटा ॥ १ । २ । १३ ॥

अवर्णस्य परेणोटा सहितस्य स्थाने औकारादेशो भवति आसन्नः । धौतः, धौतवान्, लावयति पावयति इति क्विपि, णिलोपे, "अनुनासिके च क्लृः शूट्" ॥ ४ । १ । १०८ ॥ इत्युटि; लौः, पौः । ओकारापवादो योगः ॥ १३ ॥

## प्रस्यैष्योढोढ्यूहे स्वरेण ॥ १ । २ । १४ ॥

प्रशब्दसबन्धिनोऽवर्णस्य एष एष्य ऊढ ऊढि ऊह इत्येतेषु परेषु परेण स्वरेण सहितस्य स्थाने ऐदौतावादेशौ भवतः आसन्नौ । प्रैषः, प्रैष्यः, प्रौढः, प्रौढिः, प्रौहः । ऊहे नेच्छन्त्येके । प्रस्येति किम् ? अपोढः, उपोढः । एषादिष्विति किम् ? प्रेतः, प्रोतः । कथं प्रेषः, प्रेष्यः ? ईषे ईष्ये च भविष्यति, यदापि आ ईष्य एष्य इति तदापि "ओमाडि" १५ ॥ १ । २ । १८ ॥ इत्यवर्णलोपे प्रेष्य इत्येव भवति । 'यस्मिन् प्राप्ते यो विधिराम्यते स तस्य वाषको भवति' इति न्यायात् "उपसर्गस्यानिषेधेदिति" ॥ १ । २ । १९ ॥ इत्यस्यैवायं वाषको, न "ओमाडि" ॥ १ । २ । १८ ॥ इत्यस्य । अथेह कस्मान्न भवति-प्रेष्यते, प्रेष्यते, प्रोढवानिति ? 'अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्याग्रहणात्' । कथं तर्हि ऊढिशब्दस्य ण्यन्तस्य १८ सार्थकस्य प्रयोगे प्रोढयतीति ? ऊढशब्देन सार्थकेन स्याद्यन्तेन साहचर्यात्, ण्यन्ते औत्वाभावात्; प्रौढादिशब्दात्तु णौ प्रौढयतीत्यादि भवत्येव ॥ १४ ॥

लृत्वाल्वा । अत्रावर्णस्य उपसर्गस्य नास्ति इति चानुवर्तते, उपसर्गस्यावर्णस्य लृत्ति नास्ति धातौ आल् वा इत्यन्वय, तदर्थमाह—२१ उपसर्गस्य इत्यादिना । "अवर्णस्येवर्णादिने" १।२।६। इत्यनेन प्राप्तमलमपवादत्वेन बाधते, तदाह—अलोऽपवाद इति । अत्रापि पक्षे ह्रस्वत्वमिच्छन्त्येके—शाकटायना "सुपि वा" शा० १।१।९१। इति सूत्रे ॥ ११ ॥

ऐदौत्संध्यक्षरैः । अत्रावर्णस्येत्सुवर्तते । अवर्णस्य संध्यक्षरैः ऐदौत् इत्यन्वय, तदर्थमाह—अवर्णस्य स्थाने इत्यादिना । तव २४ एषा अत्र एकारसहितस्यावर्णस्य स्थाने एकार—तवैषा, एवमन्यत्रापि । त्रिमात्रचतुर्मात्रस्थानिना स्थाने द्विमात्रदेशो भवति इति बोधनार्थं सदुपसर्गस्येति निवर्तकं संध्यक्षरैरिति बहुवचनमित्यत आह—संध्यक्षरैरित्यैत्वनिर्देशात् इत्यादिना, अन्यथा 'स्थान्यासन्न' इति न्यायेन त्रिमात्रचतुर्मात्रौ प्राप्नुयाताम् इति ॥ १२ ॥

ऊटा । अत्रावर्णस्येत्सुवर्तते । "ऐदौत्" इति समुदायानुवृत्तौ 'आसन्न' इति न्यायेन औदित्येव समुपयुज्यते । अवर्णस्य ऊटा औत् इत्यन्वय, तदर्थमाह—अवर्णस्य परेण इत्यादिना । 'लौ' रित्यादेर्निष्पत्तिप्रकारमाह—लावयति, पावयति इत्यादिना । सूत्रमिदं "अवर्णस्येवर्णादिने" १।२।६। इत्यस्यापवादत्वेन बाधक, तदाह—ओकारापवादो योग इति ॥ १३ ॥

प्रस्यैष्योढोढ्यूहे स्वरेण । अत्रावर्णस्येति ऐदौदिति चानुवर्तते । प्रस्य अवर्णस्य एषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण ऐदौत् इत्यन्वय, तदर्थमाह—प्रशब्दसबन्धिनोऽवर्णस्य इत्यादिना । प्र एष इत्यत्र प्रोपसर्गसबन्धिनोऽवर्णस्य एष इत्यस्य एकारेण सहितस्य स्थाने ऐदादेशो—प्रैषः, एवमन्यत्रापि । ऊढिशब्दस्वरेण सहितस्य प्रशब्दसबन्ध्यावर्णस्य स्थाने औत् न मन्वते केचिदित्याह—ऊढे नेच्छन्त्येके—प्राप्त, कसेद मतमिति ३३ तु मयम् । यदीदं सूत्रं तर्हि ? प्रेषः, प्रेष्य इति कथम् ? इत्याशङ्कते । समाधत्ते—ईषे ईष्ये च इति, नेमौ एष एष्यो इत्याशय । ननु 'पूर्व धातूपसर्गयो कार्यमन्तरहसि'ति न्यायेन आ ईष्य एष्यस्तत् प्र इत्यनेन योगे प्रेष्य इत्यत्रानेन कथमैत्वमित्यत आह—यदापि इत्यादिना । प्र एष्य इत्यत्र "ओमाडि" इत्यस्य कषणानेन बाध इत्यत आह—यस्मिन् प्राप्ते यो विधिः इत्यादिना । सूत्रमिदं प्रोपसर्गयुक्ते एष एष्य इत्यत्र ३३ "ऐदौत्संध्यक्षरै" रित्यस्य बाधकस्य "उपसर्गस्यानिषेधेदिति" इत्यस्य बाधनार्थम्, एवमेव प्रोपसर्गयुक्ते ऊढ इत्यादौ "अवर्णस्येवर्णादिने" इत्यनेन प्राप्तस्य औत्वस्य बाधकम् इति विवेक । ननु प्रेष्यते प्रेष्यते प्रोढवानिति प्रयोगेषु "प्रस्यैष्ये" इत्यादिना ऐदौत् कथं न भवत इत्याशङ्कते—अथेह कस्मान्न इत्यादिना । तामाशङ्कान् निराकरोति—अर्थवद्ग्रहणे इत्यादिना । एतत्प्रयोगान्तर्भूतानामेवाधीनार्थवत्त्वाभावादस्य सूत्रस्याप्रवृत्ति- ३५ रित्याशय । प्रोढयतीत्यत्र ण्यन्तस्य ऊढिशब्दस्यार्थवत्त्वात् कथं न औत्वमित्यत आशङ्कते—कथं तर्हि इत्यादिना । "प्रस्यैष्योढोढ्यूहे स्वरेण" इति सूत्रेऽर्धवत् स्याद्यन्तस्य ऊढशब्दस्योपादानात्तत्साहचर्यात्सादृशसैवोद्दिष्टशब्दस्य ग्रहणाच्च प्रोढयतीत्यत्र औत्वमित्याशयेन समाधत्ते—ऊढशब्देन इत्यादिना । ननु प्रौढयतीति प्रयोगदर्शनं कृत इत्याह—प्रौढादिशब्दात्तु इत्यादिना ॥ १४ ॥

## खैरखैर्यक्षौहिण्याम् ॥ १ । २ । १५ ॥

खैर खैरिन् अक्षौहिणीत्येतेषु अवर्णस्य परेण खरेण सहितस्य ऐत् औत् इत्येतौ भवतः । खखेरः खैरः घञ्, ख ईरोऽत्रेति खैरमास्यताम्, खयमीरति ईर्ते वा खैरः—नाम्पुपान्त्यलक्षणः कः । खयमीरित् शीलमस्येति खैरी, 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति खैरिणी । अक्षाणामूहोऽस्यामस्तीति अक्षौहिणी । खैरशब्दान्मत्वर्थयिनैव इना सिद्धे, पृथक् खैरिन्ग्रहणं ताच्छीलिकादिणिन्नन्तेऽपीरिन्शब्दे ऐत्कार्यम् ॥ १५ ॥

## १ अनियोगे लुगेवे ॥ १ । २ । १६ ॥

नियोगो—नियमोऽवधारणम्, तदभावोऽनियोगोऽनवहृत्तिः; तद्विषये एवशब्दे परे अवर्णस्य लुग् लोपोऽदर्शनं भवति । इहेव तिष्ठ, अद्येव गच्छ, खेच्छावृत्तिरत्र गम्यते नावधारणम्; नियोगे तु इहैव तिष्ठ मा गाः । ये त्वनियोगेऽव्यापारणे इच्छन्ति तन्मते शास्त्रलोकप्रतीतप्रयोगविरोधः, तथा हि—“अमैवाव्ययेन” पा० ॥ २ । २ । २० ॥, “धातोस्तन्निमित्तस्यैव” पा० ॥ ६ । १ । ८० ॥, “तपस्तपःकर्मकस्यैव” पा० ॥ ३ । १ । ८८ ॥, “लडः शाकटायनस्यैव” पा० ॥ ३ । ४ । १११ ॥, येनैव हेतुना वाक्यं भवति तेनैव वृत्तिरपि प्राप्नोति, यथैव तर्हि, इहैव स्यादिति । ‘यदैव पूर्वं जनने शरीरम्’, ‘दृशैव कोपाखण्डया रिपोरुः’, ‘अद्यैवावां रणमुपगतौ’, ‘तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष’ पुरुषस्तपस्यतीति । कथं शकानामन्धुः शकन्धुः, अटतीत्यटा, कुलात् कुलस्य वाऽटा कुलटा, पततीति पतोऽङ्गळेः पतङ्गलिः, सीम्नोऽन्तः सीमन्तः—केशविन्यास एव, प्रार्थनायाध्ययन प्रध्ययनम्, हलस्य ईषा हलीषा, एव लाङ्गलीषा, मनस ईषा मनीषा, हलीषा लाङ्गलीशेत्यादि पृषोदरादित्वाद्भवति । कथं तुवै त्वै तुवै न्वै? निपातान्तरमेतत् ॥ १६ ॥

## वौष्टौतौ समासे ॥ १ । २ । १७ ॥

ओष्ठशब्दे ओतुशब्दे च परे अवर्णस्य लुग्वा भवति, तौ चेन्निमित्तनिमित्तनावेकत्र समासे भवतः । विम्बोष्ठी, विम्बोष्ठी, विम्बोष्ठा, विम्बोष्ठा, स्थूलोतुः, स्थूलोतुः । समास इति किम्? हे राजपुत्र ! ओष्ठ पश्य । हे छात्र ! ओतुस्वर शृणु । अवर्णस्येवेव ? शुच्योष्ठी ॥ १७ ॥

- खैरखैर्यक्षौहिण्याम् । अत्रावर्णस्येव लुग्वर्तते । अस्मिन्पूत्रे विहितेदौत खैरखैर्यक्षौहिणीशब्दा निर्दिष्टा, तदेव विद्वोषि—
- २१ खैरखैरिन् इत्यादिना । खैरशब्दनिष्पत्तिप्रकारमाह—खखेर इत्यादिना, क इत्यन्तेन । घञ्—“भावाऽकत्रो” ५।३।१८। इत्यनेन । नाम्पुपान्त्यलक्षणः कः—“नाम्पुपान्त्य” ५।१।५४। इत्यनेन क इत्याशय । खैरिन्शब्दस्य व्युत्पत्तिमाह—खयमीरितुं इत्यादिना । ननु सूत्रे खैरिन् इत्युपादानात् खैरिणी इति कथमित्यत आह—नामग्रहणे इत्यादिना । अक्षौहिणीशब्दस्य विग्रहमाह—अक्षाणामूह इत्यादिना ।
- २४ अह—समूहो रचना वा, उक्तच—“सावसेनाऽक्षौहिणीनामखाऽगाष्टकद्विकैर्गजैः । रयैश्चैभ्यो ह्यैत्रिंशै पश्वर्षेभ्य पदातिभिः ॥” खोपसङ्घटितसमेताऽभिधानचिन्तामणौ ३ मर्त्यकाण्डे श्लो० ४१३ । ननु खैरशब्दाद् मत्वर्थीये इति खैरिन् इति सिद्धे, किमर्थं सूत्रे खैरिन् इत्युपादानमित्याशङ्क्य समाधत्ते—खैरशब्दान्मत्वर्थयिनैव इत्यादिना, ऐत्कार्यम् इत्यन्तेन ॥ १५ ॥
- २७ अनियोगे लुगेवे । अत्रावर्णस्येव लुग्वर्तते । अनियोगे एवे अवर्णस्य उक्त् इत्यन्वय । प्रतियोगिनोऽर्थबोधे सुतरा तदभावावर्णयोध इत्याह—नियोगो—नियमोऽवधारणम् इत्यादिना । अनवहृत्तिः—अनिश्चय इत्यर्थ, सूत्रार्थमाह—तद्विषये इत्यादिना । अद्येव गच्छ इत्यत्र एवशब्दस्यानिश्चयार्थकत्वं दर्शयति—खेच्छावृत्तिरत्र इत्यादिना । नियोगे—अवधारणे, निदर्शनमाह—इहैव इत्यादिना ।
- ३० प्राग्भक्तु नियोजन नियोगो व्यापार इति व्यावृत्तये, तेषा मत प्रदर्श्य विरोधं शास्त्रप्रयोगस्य लोकप्रसिद्धप्रयोगस्य च दर्शयति—ये त्वनियोगेऽव्यापारणे इच्छन्ति इत्यादिना । ये—शिवमुख्या । तत्रादौ शास्त्रप्रतीतप्रयोगविरोधं दर्शयति—“अमैवाव्ययेन” इत्यारम्भ, इहैव स्यादित्यन्तेन । “अमैवाव्ययेन”, “धातोस्तन्निमित्तस्यैव”, “तपस्तपःकर्मकस्यैव”, “लडः शाकटायनस्यैव” इतीनामि
- ३३ पाणिनिसूत्राणि । येनैव हेतुना वाक्यं भवति तेनैव वृत्तिरपि प्राप्नोति, यथैव तर्हि, इहैव स्यादिति—पाणिनीयमहाभाष्यस्य वाक्यानीमानि संभाव्यन्ते । लौकिकप्रयोगविरोधं दर्शयति—“यदैव पूर्वं जनने शरीरं सा दक्षरोषात् ध्रुवती ससर्ज । तदाप्रमूलेव विमुक्तग पति पशुनामपरिग्रहोऽभूत् ॥ ५३ ॥” प्रथमसर्गे कुमारसम्बधस्य । “जयत्युपेन्द्र स चकार द्रुतो विभित्तया य क्षणलब्धलक्ष्यया । दृशैव
- ३६ कोपाखण्डया रिपोरुः खयमयाद्विष्मिवावपटलम् ॥” श्लो० ३ कादम्बयां मङ्गलम् । “अद्यैवावा रणमुपगतौ तातमभ्या च नत्वा घ्रातस्वाम्या शिरसि विनतोऽह व हुःशासनक्ष । तस्मिन्नाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां पार्थ पित्रोरपगतपृष्ण किन् वक्ष्यामि गत्वा ॥ १५ ॥” चतुर्थोऽङ्के वेणीसंहारे । “तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष । पुरुषस्तपस्यति । ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय ह्यत्र इव भीम- ३९ विग्रह ॥ २६ ॥” किरातार्जुनीये द्वादशसर्गे । ननु शकन्धु, कुलात् इत्यादौ कथमवर्णादिङ्गित्याशङ्कते—कथम् इत्यादिना, लाङ्गलीशा इत्यन्तेन । समाधत्ते—पृषोदरादित्वादिति । ननु तुवै इत्यस्य त्वै, तुवै इत्यस्य न्वै कथम्? इत्याशङ्कते । समाधत्ते—निपातान्तरमिति ॥ १६ ॥
- ४२ इत्यादिना । विम्बोष्ठी—विम्बमिव ओष्ठौ यस्या सा इति विग्रह, “नासिकोदरौष्ठी” २।४।२९। इत्यनेन लीर्वा । अत्रौष्ठशब्दाव्यवहितपूर्व-स्यावर्णस्य उक्त् स्थानिनिमित्तयोरेकसमासत्रो । एवमन्यत्रापि । हे राजपुत्र ! ओष्ठ—अत्र समासभावाद्दोष्ठशब्दे परे नावर्णलुक् किन्त्वा-त्वम् । हे छात्र ! ओतुस्वर—अत्र समासेऽपि निमित्तनिमित्तितोरेकत्र समासेऽवृत्त्यावर्णलुक् न । शुच्योष्ठी—अत्र निमित्तनिमित्तितो-
- ४५ रेकसमासे शृत्तित्वेऽपि स्थानिनोऽवर्णस्याभावात्कारणलुक् ॥ १७ ॥

## ओमाडि ॥ १ । २ । १८ ॥

अवर्णस्य ओमि आडादेशे च परे लुग् भवति । आडि दीर्घत्वेनैव सिद्धे लुग्विधानमनर्थकं स्यादिति आडिति आडादेशो गृह्यते—अद्योङ्कारः, सोमित्यवोचत् । आडि—आ उढा ओढा, अघ ओढा अघोढा; सा ओढा सोढा । आ ऋश्यात् अश्यात्, अघ अश्यात् अघश्यात्; खट्वा अश्यात् खट्श्यात् । आ इहि एहि, उप एहि—उपेहि, परा एहि—पेहि । एवमुपेतः । ओमाडि इति किम् ? तवौदनः । अवर्णस्येतेव ? आ ऋतोः अतोः दध्यतोः ॥ १८ ॥

## उपसर्गस्यानिणेषेदोति ॥ १ । २ । १९ ॥

उपसर्गसंबन्धिनोऽवर्णस्य इण्एधतिवर्जिते एकारादावोकारादौ च धातौ परे लुग् भवति । प्रेलयति, परेलयति, प्रोखति; परोखति । उपसर्गस्येति किम् ? प्रगता एलका अस्मात् प्रैलको देशः । अनिणेषेति किम् ? उपैति, परैति, उपैषते; परैषते । एदोतीति किम् ? उपायते, ग्लायते ॥ १९ ॥

## वा नाञ्चि ॥ १ । २ । २० ॥

नामावयवे एकारादावोकारादौ च धातौ परे उपसर्गसंबन्धिनोऽवर्णस्य लुग्वा भवति । उपेकीयति, उपैकीयति । प्रोषधीयति, प्रौषधीयति ॥ २० ॥

## इवर्णादिरस्वे स्वरे यवरलम् ॥ १ । २ । २१ ॥

इवर्णोऽवर्णः इवर्णलवर्णानामस्वे स्वरे परे यथासंख्यं य् व् इ ल् इत्येते आदेशा भवन्ति । दध्यत्र, नघेपा, मध्वत्र, वध्वासनम्, पित्रर्थः, ऋादयः, लुबुन्धः, लाकृतिः । इवर्णादिरिति किम् ? पचति । अस्व इति किम् ? १५ दधीदम् । स्वर इति किम् ? मधु पिबति । केचित्त्विवर्णादिभ्यः परान् यवरलानिच्छन्ति—दधियत्र, तिरियद्, मधुवत्र, मूवादयः, तन्मतसंग्रहार्थमिवर्णादिरिति पञ्चमी व्याख्येया ॥ २१ ॥

ओमाडि । अत्रावर्णस्य लुगिति चातुवर्तते, अवर्णस्य ओमाडि लुक् इत्यन्वय, तदर्थमाह—अवर्णस्य ओमि आडादेशे च १८ इत्यादिना । ननु सूत्रे आलोत्पुत्या धृतौ तस्याच्चादेश इत्यर्थं कथमित्यत आह—आडि दीर्घत्वेनैव इत्यादिना । अत्रायमाशय—यथा-ओल्यनेनाडादेशो न गृह्यते तर्हि केवलेन आडा सहावर्णस्य “समानाना तेन वीर्ध ” १।२।१। इति वीर्धत्वे सर्वत्राहोऽसम्भवेन तस्मिन् परेऽने-नावर्णलुक् विधान व्यर्थमिति आलोत्पुत्यानाडादेशो गृह्यते इति । अथ ओङ्कार इत्यत्र अवर्णस्य ओमि परे लुकि सति—अद्योङ्कारः । एवमन्य-२१ त्रापि । दध्यतोः—असमस्त प्रयोगोऽयम्, ततो भक्षणीय बर्जनीय वेति योग ॥ १८ ॥

उपसर्गस्यानिणेषेदोति । अत्रावर्णस्य लुगिति चातुवर्तते । प्राचीनामुपसर्गत्वान्यथानुपपत्त्याधात्वाद्भेदः । तच्च अनिणेषेदोति इत्यनेन निश्चिष्यते । इण् च एष् च इणेषु, न इणेषु अनिणेषु च (विशेषणमिद एत ओतस्त्वसम्भवादिति) एव, अनिणेषु च ओञ्च तस्मिन् वा न २४ विद्येते इणेषु यत्र स अनिणेषु, च एष्वेत्यादिप्राग्भवत् । “सप्तम्या आदि ” इत्यादिपदोपस्थितिक्ष । उपसर्गस्यावर्णस्यानिणेषेदोति लुगित्यन्वय, तदर्थमाह—उपसर्गसंबन्धि इत्यादिना । ‘इलण्’ प्रेरणे—प्रेलयति—अत्र प्रोपसर्गावर्णस्य इणेषु धर्जितकारादिधात्वेलाव्यवहितपूर्वस्य लुक् इति समन्वय । सूत्रमिदमेतौत्सप्यस्यैरिस्वस्य चाधकम् । ग्लायते—अत्र “उपसर्गस्यायौ” २।३।१००। इत्यनेन रस्य लत्वम् ॥ १९ ॥

वा नाञ्चि । अत्रोपसर्गस्य अवर्णस्य एदोति लुगिति चातुवर्तते । अवयवद्वारा नाश्रीत्युपसर्गाक्षिप्तधातावित्यत्रान्वेति, “सप्तम्या आदि ” इत्यादिपदोपस्थितिक्ष । उपसर्गस्यावर्णस्य नामावयवे एकारादावोकारादौ च धातौ लुक् वा इत्यन्वय, तदर्थमाह—नामावयवे इत्यादिना । उप एकीयति इति विच्छेपे अत्र नामावयवएकारादिएकीयत्वात्त्वव्यवहितपूर्वस्य उपोपसर्गावर्णस्य लुक्प्रकल्पेन—उपेकीयति । अत्र ३० “धुट्स्त्वौ” २।१।७६। इति पस्य बल न भवति, ‘असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्ग’ इति न्यायात् । एवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

इवर्णादिरस्वेस्वरयवरलम् । स्पष्टोऽन्वय । यवरलम् इत्यादेशचतुष्टयतिदेशेन स्थानिचतुष्टयलाभ, अन्यथा इवर्णादिरित्यादिपदादे-कारादीनामपि ग्रहण प्रसज्यत इत्याह—इवर्णोऽवर्णः इवर्ण इत्यादि । ननु द्विसप्तति स्थानिन आदेशाश्च सप्त इति कथमादेशादेशिनोर्बन्धासंख्यमिति ३३ चेन्न सूत्रे वर्णग्रहणेन जातिग्रहणावयवास्त्वोपपत्ते । दधि अत्र—अत्रेकारस्य अस्वस्वराव्यवहितपूर्वस्य यकार—दध्यत्र, एवमन्यत्रापि समन्वय । ये इवर्णादिभ्यो यवरलम् विदधाते तेषा मतमाह—केचित्त्वु इत्यादिना । देवन्यादय इति शेष, मत्तमिद “अस्वे” शा० १।१।७३। सूत्रे अमोघाटौ प्रदर्शितम् । दधि अत्र इत्यवस्थायां पथमीव्याख्यायपक्षे इकारात् परत्र यस्त्वया सति—दधियत्र । एकेनापि प्रयत्नेनोभय लभ्यमिति ३३ तन्मतमिप्रायेणाव्यस्य सूत्रस्य व्याख्यान समवतीत्याह—तन्मतसंग्रहार्थम् इत्यादिना । “इवर्णादिरस्वे स्वरे यवरलम्” इति यत्पक्षे षड्भाषि भवन्ति, तथाहि—दध्यत्र दध्यत्र दध्यत्र दध्यत्र दध्यत्र इति “अवीर्थाहिरामैकव्यञ्जने”, “ततोऽस्या”, “तृतीयस्त्वृतीयचतुर्थे” इति धावसहकारेण । पथमी व्याख्याने—दधियत्र, तकारादिरस्वे सति दधियत्र, हस्त्वपक्षे दधिअत्र, तकारादिरस्वे दधि अत्र एव दशरूपाणि ॥ २१ ॥

१ ओमि आडादेशे च परे अवर्णसं० ख० ता० । २ स्यादित्सा × × × ऋदेशो० पु०, भाष्ठा० । ३ अद्योङ्कार ख० ता०, भाष्ठा० । ४ प्रैषते पु०, × × × ख० ता०, × × × भाष्ठा०, × × × म० भ० ।

## ह्रस्वोऽपदे वा ॥ १ । २ । २२ ॥

इवर्णादीनामस्त्रे स्त्रे पर ह्रस्वो वा भवति, अपदे-न चेत् तौ निमित्तनिमित्तिनावेकत्र पदे भवतः । नदिष्वा, नद्येषा । दधिअत्र, दध्यत्र । मधुअत्र, मध्वत्र । अतिएति, अत्येति । अनुएति, अन्वेति । ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः पर्जन्यव-  
लक्षणप्रवृत्तेः, ह्रस्वविधानसामर्थ्याच्च कार्यान्तरं न भवति । कश्चित्तु पक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति-कुमारी अत्र । अपदे इति  
किम् ? नद्यौ, वध्वौ; नद्युदकम्, वध्वासनम्, नद्यर्थः, गौर्याराधः-अन्तर्वर्तिविभक्त्यपेक्षया पदभेदेऽपि समासे सत्यैक-  
पद्यम्; एवमनुव्यचलत् । अथवा अनुप्राविशदित्यादिवदखण्डमन्वयं विभक्त्यन्तत्वाच्चैकपदत्वम् । अत एवैतद्योगे  
“सपूर्वात् प्रथमान्ताद्वा” ॥ २ । १ । ३२ ॥ इति विकल्पेन वस्त्रसादयो भवन्ति-अथो अनुव्यचलद् वो देवदत्तः,  
अथो अनुव्यचलद् युष्माकं देवदत्तः, अथो अनुप्राविशद् वो जिनदत्तः, अथो अनुप्राविशद् युष्माकं जिनदत्त इत्यादि ।  
१ इवर्णादेरित्येव ? हे मुनयाचर, हे साधवाचर । स्वर इत्येव ? नदी वहति । अस्व इत्येव ? दधीदम् ॥ २२ ॥

## एदौतोऽयाय् ॥ १ । २ । २३ ॥

एकारैकारयोः स्थाने स्त्रे परे यथासंख्यमय् आय् इत्येतावादेशौ भवतः । नयनम्, नायकः । अस्व इति इवर्णादि-  
१२ संबद्ध तन्निवृत्तौ निवृत्तम्, तेन स्त्रेऽपि भवति-वृक्षयेव, रायैन्द्री । स्वर इत्येव ? जले पद्मम्, रैधृतिः ॥ २३ ॥

## ओदौतोऽवाव् ॥ १ । २ । २४ ॥

ओकारौकारयोः स्थाने स्त्रे परे यथासंख्यमय् आव् इत्येतावादेशौ भवतः । लवनम्, लावकः, पटवोतुः, गावौ ।  
१५ स्वर इत्येव ? गोशृङ्गम्, नौकाष्टम् ॥ २४ ॥

## व्यक्ये ॥ १ । २ । २५ ॥

ओकारौकारयोः स्थाने क्यवर्जिते यकारादौ प्रत्यये परे यथासंख्यमय् आव् इत्येतावादेशौ भवतः-गव्यति, गव्यते ।

२० ह्रस्वोऽपदेवा । अत्र इवर्णादे अस्त्रे स्त्रे इति चानुवर्तते, इवर्णादे अस्त्रे स्त्रे ह्रस्व वा अपदे इत्यन्वय, तदर्थमाह-इवर्णा-  
दीनामित्यादिना । नदी एषा इत्यत्र अस्त्रस्त्राव्यवहितपूर्वस्येकारस्य ह्रस्वो भिन्नपदद्वये स्थानिनिमित्तयो-नदिष्वा १, पक्षे “इवर्णादे”  
१२।२१ इति यत्-नद्येषा २, “अदीर्घादिति” द्विरचे-नद्येषा ३, “ततोऽस्या” इति द्वित्वे-नद्येषा ४, इवर्णादेरिति पञ्चमी व्याख्यानपक्षे-  
२१ नदीयेषा ५, मतान्तरप्रकृतिभावपक्षे-नदी एषा ६, इतिवत् सर्वत्रोदाहरणेषु भावनीयम्, एवमन्यत्रापि । इदं सूत्रं ‘अनु एति’ इत्यादौ  
ह्रस्वस्यापि ह्रस्वत्वं विदधाति, क्यमित्याह-पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तेः-यथा दीर्घस्थानेन ह्रस्वत्वं, तत्र पक्षे प्रकृतिभावमिच्छतोर्मतविशेष-  
सति कार्यान्तरं कथञ्च भवतीत्याह-ह्रस्वविधानसामर्थ्याच्च इत्यादिना । यत्र दीर्घस्थानेन ह्रस्वत्वं, तत्र पक्षे प्रकृतिभावमिच्छतोर्मतविशेष-  
२४ माह-कश्चित्तु इति । दुर्गासिंहन्यासकृतोर्मतं प्रागुपदर्शितम्-“ऋलृति” १२।२। इति सूत्रे । ननु नशा उदकम् नद्युदकम्, गौरीमाराधोदीति  
“कर्मणोऽण्” ५।१।७२। गौर्याराध इत्यादौ समासेऽपि अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाधिस्य स्थानिनिमित्तयोर्भिन्नपदद्वये क्यमज्ञानेन ह्रस्वत्वमित्याह-  
अन्तर्वर्तिविभक्त्यपेक्षया इत्यादिना । एवं-अन्तर्वर्तिविभक्तिं समाधिस्य पदभेदेऽपि प्रथमं वे पश्चादने समासे सत्यैकपदत्वमित्याह-  
२७ अनुव्यचलत् । अत्रमासात् सेर्लृक् । अनुव्यचलत् इति तु “स्वरादयोऽव्ययम्” १।१।३०। इति स्वरादेराकृतिगणत्वात्, “विभक्तियमन्त”  
१।१।३१। इति विभक्त्यन्तप्रतिरूपकत्वाद्वाव्ययमेकपदत्वं च विभक्त्यन्तत्वात्स्येत्यादिहृद्यन्तसमुपन्यासपुरं सरं निर्दिशति-अनुप्राविशत् इति ।  
अनुप्राविशत् इत्यादिवत् अखण्ड अव्ययम् अनुव्यचलत्-इति एकपदत्वं च विभक्त्यन्तत्वात् इत्यन्वयः । तदेकपदत्वफलमाह-अत एव इत्या-  
३० दिना । अनुव्यचलदित्यस्यैकपदत्वादेव । एतद्योगे-अनुव्यचलदित्यादियोगे, युष्माच्छब्दस्य “सपूर्वात् प्रथमान्ताद्वा” २।१।३२। इत्यनेन विकल्पेन  
वस्त्रसादयो भवन्ति । तदुदाहरति-अथो अनुव्यचलद् वो देवदत्तः इत्यादिना ॥ २२ ॥

एदौतोऽयाय् । अत्रस्त्रे इत्यनुवर्तते, एदौ स्त्रे अयाय् इत्यन्वय, तदर्थमाह-एकारैकारयोः इत्यादि । आदेशादेशिनो सम-  
३३ सख्याकृत्वेन यथासंख्यलाभस्तदाह-यथासंख्यमिति । नयनम्-अत्र स्त्राव्यवहितपूर्वस्य एकारस्य अयादेशे सति रूपनिष्पत्ति । एवमन्य-  
त्रापि । ननु यथा स्त्रे इत्यनुवर्तते तथा ‘अस्त्रे’ इति क्यञ्चानुवर्तते इत्याह-अस्व इति इवर्णादिसंबद्धं इत्यादिना । यत्रेवर्णादेरित्यस्य  
संबन्धस्तत्रास्व इति संबन्धते, तत्संबन्धस्यैव तस्यानुवृत्ते, असमस्तनिर्देशाभावात्तथास्त्रे इत्येव निर्दिशेत् इत्याशयः । तन्निवृत्तफलाह-तेन  
३६ इत्यादिना । यथा-वृक्षयेव, रायैन्द्री-इक्षे एष, रै ऐन्द्री क्रमेणात्रोमयोरेकारैकारयोश्च स्वत्वमेव, तथासति तदव्यवहितपूर्वस्य एकारस्य  
एकारस्य च अय् आय् । स्वर इति वृत्तिपदोपादानफलमाह-स्त्रे इत्येव ? इत्यादिना ॥ २३ ॥

ओदौतोऽवाव् । अत्र स्त्रे इत्यनुवर्तते । ओदौ स्त्रे अवाव् इत्यन्वय, तदर्थमाह-ओकारौकारयोरेत्यादिना । सर्वमन्वय-  
३९ प्राग्वद्दोष्यम् । लवनम्-अक्ये लो अभिलेखन स्त्राव्यवहितपूर्वस्य ओकारस्य अय् । एवमन्यत्रापि ॥ २४ ॥

व्यक्ये । अत्र “ओदौतोऽवाव्” इत्यनुवर्तते । मि अक्ये इति सूत्रस्यपदविशेष, अक्ये इत्यत्र पदुदास्यको नम् तेन च प्रत्यये इति  
लभ्यते । तत्र अक्ये मि इति च विशेषणतया अन्वितं, मि इति यकारादावित्यर्थं “सप्तम्या आदि” ७।२।११। इत्यादिपदोपस्थिते ।  
४२ ओदौत अक्ये यकारादौ प्रत्यये अवाव् इत्यन्वय, तदर्थमाह-ओकारौकारयोः स्थाने इत्यादिना । गव्यति-अत्र क्यवर्जितयकारादि-

नाव्यति, नाव्यते, लव्यम्, पच्यम्, अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्, गव्यम्; नाव्यम् । यीति किम्? गोभ्याम्, नौभ्याम् । अक्य इति किम्? उपोयते, औयत, लौयमानिः । क्यवर्जनाद्यकारादिः प्रत्ययो गृह्यते, तेनेह न भवति-गोयूतिः, नौयानम् । कथं गव्यूतिः-क्रोशद्वयम्? क्रोशयोजनादिवदव्युत्पन्नः सज्ञाशब्दोऽयम्, गवां यूतिर्गव्यूतिरिति व्युत्पत्तिपक्षे तु श्रुषोदरादित्वाद् भविष्यति । शरव्यमिति तु शरसमानार्थात् शरुशब्दादुच्यन्तलक्षणे ये, शरान् व्ययतीति वा हे भविष्यतीति ॥ २५ ॥

ऋतो रस्तद्धिते ॥ १ । २ । २६ ॥

ऋत ऋकारस्य यकारादौ तद्धिते परे रादेशो भवति । पितरि साधु पित्र्यम्, आत्र्यम् । तद्धित इति किम्? कार्यम् ॥ २६ ॥

एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् ॥ १ । २ । २७ ॥

एदोद्भ्यां पदान्ते वर्तमानाभ्यां परस्माकारस्य लुक् भवति । तेऽत्र, पटोऽत्र; यजन्तेऽत्र । एदोत इति किम्? १ दृष्यत्र । पदान्त इति किम्? नयनम्, लवनम् । असेति किम्? तयिह, पटविह ॥ २७ ॥

गोर्नाश्यवोऽक्षे ॥ १ । २ । २८ ॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्याक्षशब्दे परे नास्मि-सज्ञायां गम्यमानायामव इत्ययमादेशो भवति । गोरक्षीव- १२ अप्राण्यङ्गत्वात् समासान्तेऽति गवाक्षो-वातायनः । नास्मीति किम्? गवामक्षाणि गोऽक्षाणि, गोअक्षाणि । कश्चित्सज्ञायां गवाक्षाणीत्यपीच्छति ॥ २८ ॥

खरे वाऽनक्षे ॥ १ । २ । २९ ॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य खरे परे अव इत्ययमादेशो वा भवति, अनक्षे-स चेत् स्वरोऽक्षशब्दस्यो न

प्रत्ययक्यनव्यवहितपूर्वस्य गोरोकारस्य अव, एवमन्यत्रापि । यि इति सूत्रस्यपदोपादानफलमाह-यीति किम्? इत्यादिना । क्यं पयुदस्य स किमर्थं इत्याह-अक्य इति किम् इत्यादिना । 'किं-तन्नुसन्ताने, कर्मणि यप्रत्यये, "यजादिवचे किति" ४।१।७१। इति सप्रसारेण, "धीर्घ- २८ धिव्यक्यक्षयेषु च" ४।३।१०८। इति धीर्घे, उप ऊपते इति स्थितौ "अवर्णसे" १।२।६। इत्योत्वे-उपोयते । अत्र क्यवर्जितयकारादिप्रत्ययाभावान्नात् । 'अक्ये' इत्यत्र न च पयुदासाद्यकवेन प्रत्ययलाभ इत्याह भगवान् दृष्टिच्छेद-न्यवर्जनात् इत्यादिना । तत्फलमाह-तेनेह इत्यादिना । नन्वेव क्रोशद्वयार्थके गव्यूतिशब्दे कथमव इत्याह-कथम् इत्यादिना । समापत्ते-क्रोश इत्यादिना, संज्ञाशब्दोऽयम् इत्यन्तेन । २१ नन्वेतदव्युत्पत्तिपक्षाभिप्रायेण, यदि चेत् व्युत्पत्तिपक्षस्तदा का गतिरित्याह-गवां यूतिः इत्यादिना । शरशब्दाद्यप्रत्यये ओकाराभावादवादेशाभावे कथं शरव्यमित्याह-शरव्यमिति इत्यादिना, ये इत्यन्तेन । शरवे हितमित्यर्थे "उचर्णुगार्देर्घे" ७।१।३०। इति ये, "अस्यसु-वोऽव्" ७।४।७०। इत्यादेशो शरव्यमिति सिध्यति, अथवा शरान् इत्यादिनापि सिध्यति ॥ २५ ॥

ऋतो रस्तद्धिते । अत्र मीत्यनुवर्तते, तच्च सूत्रोपात्ते तद्धिते इत्यस्य विशेषण, तथाप्यति "सप्तम्या आदि" इत्यादि पदोपस्थिति, ऋत यादौ तद्धिते र इत्यन्वय, तदर्थमाह-ऋत ऋकारस्य इत्यादिना । पितरि साधु पित्र्यमित्यस्यार्थं, पितृ यम् इति स्थितौ यकारादि-तद्धिताव्यवहितपूर्वस्य ऋकारस्य रादेशो सति पित्र्यम्, इत्यमन्यत्र समन्वय । तद्धिते इत्यस्य फलमाह-तद्धित इति किम्? कार्यम् । २७ नन्वेद तद्धितप्रहणप्रयोजनमयुक्तं, कार्यमित्यत्र "ऋवर्णे" ५।१।१७। इति घ्यणि, तस्य गोपदेशाद्द्वेरेव प्राप्तेरिति चेदुच्यते-जाश्रयात्, इष्टयात् इत्यत्र तद्धितप्रहणमात्रे रत्वापत्ते ॥ २६ ॥

एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् । पदान्ते एदोत अस्य लुक् इत्यन्वय, तदर्थमाह-एदोद्भ्याम् इत्यादिना । अत्र यद्यपि भिन्न- १० विभक्तयन्त पदान्ते इति यथा एदोतो विशेषण तथा अस्य इत्यस्यापि प्राप्नोति, तथापि "गोर्नाश्यवोऽक्षे" इत्यस्याकारलोपापवादत्वं न सम्भवेत्, यतोऽक्षशब्दाधारस्यापदान्तत्वात् । न च एदोत इति सूत्रवैयर्थ्यात् पदान्ते इत्यस्य अस्य इत्यनेनासम्बन्ध इति वाच्यम्, तस्य तत्सूत्रादौ 'पदान्ते अस्य' इत्यत्र "नामतिदो" इति अस्य इत्यत्राकारस्य पदान्तत्वेनाकारलोपे चारितार्थात् । ते अत्र इत्यवस्थाया पदान्तस्यैकारात् ३१ परस्माकारस्य लुक् इति सम्बन्ध, एवमन्यत्र ॥ २७ ॥

गोर्नाश्यवोऽक्षे । अत्र योत पदान्ते इति चानुवर्तते, पदान्ते गो ओत अक्षे अव नास्मि इत्यन्वय, तदर्थमाह-गोरोकारस्य इत्यादिना । अत्र नास्मि इत्यनेन लौकिकी नाम उक्ता बोध्या, न तु "अघातु विभक्ति" इति शास्त्रनिहिता, तस्या अत्र व्यभिचाराभावात् इत्याह ३६ नगवान् दृष्टिकार-नास्मिर्लक्षणाया । गोरक्षीव-इति विग्रह । "अक्षोऽप्राण्यङ्गे" ७।३।८५। इति अप्राण्यङ्गत्वात् समासान्तेऽति इत्यस्यार्थं । एवमन्यत्रापि । गोऽक्षाणि-"एदोत" इति अकारलुक्, गो अक्षाणि-"वास्यसंधि" १।२।३। इत्यसंधि । कश्चित्संज्ञायां ३५ तद्भाष्यतार, भोजदेवसमत । जैनैत्रप्रक्रियाया देवनन्याचार्य "विभाषाऽन्यत्र" जै० ४।३।१०२। इति च सूत्रितवान् । शाकटायनस्य सर्वज्ञसम्बन्धो हेमचन्द्रस्य चास्मिन्विषये समान मत, तथाहि-शाकटायनसूत्र, "वातायनेऽक्षे" शा० १।१।९८। इति "अवोच्यनक्षे" शा० १।१।९६। इति च ॥ २८ ॥ ४२

खरे वाऽनक्षे । अत्र गोरोत अव इति पदान्ते इति चानुवर्तते, पदान्ते गोरोत अनक्षे खरे अव वा इत्यन्वय, तदर्थमाह-गोरोकारस्य इत्यादिना । अनक्षे इति न च प्रत्ययप्रतिषेधार्थकत्वं दर्शयति-स चेतस्वरोऽक्षशब्दस्यो इत्यादिना । पयुदासो हि मिथि-प्रधान, निपेयस्तु तत्र सामर्थ्यात् प्राप्नोति इति तत्त्वोकारे गोऽक्षशब्दात् इत्यादावक्षमिच्छाक्षशब्दात्तत्त्वस्य परे अव इत्यादेश स्यात्, ४५

भवति । गवाग्रम्, गवाजिनम्, गवोष्ट्रः, गवौदनः, गवेश्वरः; पक्षे यथाप्राप्तम्-गोऽग्रम्, गोअग्रम्, गोऽजिनम्, गोअजिनम्, गवुष्ट्रः, गवौदनः; गवीश्वरः । खर इति किम्? गोकुलम् । अनक्ष इति किम्? गोऽक्षम्, गोअक्षम् । पदान्त इत्येव? गवि । ओत इत्येव? चित्रगवर्थः । गोरित्येव? घोऽग्रम् । हे चित्रगवुदकमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वाद् गोशब्दस्य न भवति ॥ २९ ॥

इन्द्रे ॥ १ । २ । ३० ॥

६ गुरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्येन्द्रस्ये खरे परे अव इत्ययमादेशो भवति । गवेन्द्रः, गवेन्द्रयज्ञः । नित्यार्थं वचनम् ॥ ३० ॥  
वाऽत्यसंधिः ॥ १ । २ । ३१ ॥

गुरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्यात्यकारे खरे परे असंधिः-प्रकृतिभावो वा भवति । गोअग्रम्, गोअजिनम् । पक्षे यथाप्राप्तम्-गोऽग्रम्, गवाग्रम्, गोऽजिनम्; गवाजिनम् । अतीति किम्? गवेङ्गितम्, गवाननम् । गोरित्येव? घोऽग्रम् । ओत इत्येव? चित्रगवग्रम् । हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । पदान्त इत्येव? गौरिवाचरति गवति ॥ ३१ ॥

१२ हुतोऽनितौ ॥ १ । २ । ३२ ॥

इतिशब्दवर्जिते खरे परे हुतोऽसंधिर्भवति, संधिकार्यभाग न भवतीत्यर्थः । देवदत्त३ अत्र न्वसि, जिनदत्त३ इदमानय, सुश्लोक३ आगच्छ; सुमङ्गल३ इदमानय । अनिताविति किम्? सुश्लोकेति, सुमङ्गलेति । केचित्तु इतिशब्दे विकल्पमिच्छन्ति-सुश्लोक३ इति, सुश्लोकेति; सुमङ्गल३ इति, सुमङ्गलेति ॥ ३२ ॥

इ३ वा ॥ १ । २ । ३३ ॥

इ३ इति हुतः खरे परे वाऽसन्धिर्भवति, इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते उभयत्र विकल्पोऽयम् । लुनीहि३ इति, लुनी-हीति । चिनुहि३ इदम्, चिनुहीदम् । कथं वशा३ इयम्? वशेयम्?—छान्दसावेतौ ॥ ३३ ॥

प्रसज्ये तु प्रतिषेधस्य प्रधानत्वाद् अक्षादिसमुदायस्येऽप्यक्षशब्दाश्रित प्रतिषेध इत्याद्यय । गो अग्रम्-अत्र पदान्ते गुरोत स्थाने अनक्ष-शब्दावयवखराव्यवहितपूर्वस्य अव इत्यादेश-गवाग्रम्, पक्षे “वात्यसंधि” १।२।३१। इति-गोअग्रम्, उभयोरप्यभावे “एदोत ०” २।१।२।७। इति छर-गोऽग्रम्, एवमन्यत्र । खरे, अनक्षे, पदान्ते इति च क्रमेण प्रयोजनपूर्वकमुदाहरति-खर इति किम्? इत्यादिना, पदान्त इत्येव? गवि इत्यन्तेन । ओकारानुवृत्तिफलमाह-ओत इत्येव? इति । चित्रगवर्थः-चित्रा गवो यस्य स चित्रगु, चित्रग-वेऽय चित्रगवर्थे, अत्रौत इत्यननुवृत्तौ ‘एकदेशविकृतमनन्वयव’ इति न्यायेन ‘गु’ इत्यत्रैकदेशविकृतत्वेऽपि गोशब्दव्यवहारान्त्योकारस्य अव इत्यादेश स्यात्तन्मा भूदिति ‘ओत’ इत्यनुवृत्तिर्बोध्या । हे चित्रगो उदकम्-अत्र “ओदौतोऽघात्” १।२।२।४। इत्यनेन अन् एव, ननु गुरोरोतो विद्यमानत्वेन कथंनान् इत्यादेश इत्याह-हे चित्रगवुदकमित्यत्र इत्यादिना । समाधानमुखेन हेतुपूर्वक स्पष्टयति-लाक्षणिकत्वात्-लक्षण-निष्पन्नत्वात् ‘लक्षणप्रतिपदोक्तं’ इति परिभाषया गोशब्दस्य न भवति इत्यन्वय ॥ २९ ॥

३७ इन्द्रे । अत्र गुरोत, पदान्ते, अव, खरे इति चानुवर्तते । सूत्रे इन्द्रे खरे इत्यन्वयेन “सप्तम्या आवि” ७।४।१।१। इत्यादिपदोप-स्थिति, तथा सति पदान्ते गुरोत इन्द्रादी खरे अव इत्यादेश इत्यन्वय । नन्वेव गवेन्द्रयज्ञ इति सिद्धावपि गवेन्द्र इति कथमिति चेदायन्त-वद्भावेन तत्सिद्धे, तदर्थमाह-गुरोकारस्य इत्यादिना । गो इन्द्र-अत्र गुरोत इन्द्रादिशब्दखराव्यवहितपूर्वस्य नित्य अव इत्यादेशे-३० गवेन्द्रः । एव गवेन्द्रयज्ञ इत्यपि । ननु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्याह-नित्यार्थं वचनम् ॥ ३० ॥

वाऽत्यसंधिः । अत्र गुरोत, पदान्ते, खरे इति चानुवर्तते । पदान्ते गो ओत आवि खरे असंधि वा इत्यन्वय, तदर्थमाह-

गुरोकारस्य इत्यादिना । असंधिरित्यस्य पर्याय-प्रकृतिभावः । गोअग्रम्-अत्र अकाररूपखराव्यवहितपूर्वस्य गुरोत पदान्तस्यस्य ३३ प्रकृतिभाव, पक्षे यथाप्राप्तम्-“एदोत पदान्ते ०”, “खरे वाऽनक्षे” इति च । ओकारानुवृत्तिफलमाह-ओत इत्येव? चित्रगवग्रम्-चित्रगवर्थे इतिवद्बोध्यम् । ननु चित्रगो अग्रम्-अत्र गुरोरोतो विद्यमानत्वेन कथंनान्धिरित्याह-हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु इत्यादिना ॥ ३१ ॥

हुतोऽनितौ । अत्रसंधि खरे इति चानुवर्तते, अतीति नानुवर्ततेऽन्यथा इतिशब्दवर्जनवैयर्थ्यं स्यात्; तदर्थमाह-इतिशब्द-

३६ वर्जिते खरे इत्यादिना । असंधिः इत्यस्यार्थमाह-संधिकार्यभाग इत्यादिना । देवदत्त३ अत्रन्वसि-अत्र “द्वारादामश्वस्य ०” ७।४।१।१। इति हुतोऽकार । नन्वस्य वाक्यान्तत्वाभावाद् कथं हुत इति चेत्, कस्यचिद्वाक्यस्यान्तमिदं गृह्यण इति हुतोऽकार संधिकार्य दीर्घादिकं न भजते, इतिशब्दवर्जनखराव्यवहितपूर्वधेति समन्वय । एवमन्यत्र । इतिशब्दवर्जनफल दर्शयति-अनिताविति इत्यादिना,

३९ सुमङ्गलेति इत्यन्तेन । केचित्तु इतिशब्दे विकल्पमिच्छन्ति, अत्र केचित्तु-पाणिनीया । “अइतवदुपस्थिते” पा० ६।१।१।२।५।, या०-अमोषावृत्तौ-“न हुतस्यानितौ” शा० १।१।१।१। सूत्रे ‘सर्वे एव हुत साहसमनिच्छता विभाषा वक्तव्य’ इति दृश्यते, पाणिनीयभाष्येऽपि “अमी-त्वेषणे परस्य” पा० ८।२।१।२। इति सूत्रे च दृश्यते ॥ ३२ ॥

४२ इ३ वा । अत्र हुत, खरे, असन्धि इति चानुवर्तते । इ३ हुत खरे असंधिर्वा इत्यन्वय, तदर्थमाह-इ३ इति हुत इत्यादिना । प्राप्ताप्राप्तविभाषारूपसुभयत्र विकल्पविधायक शास्त्रमिदं क प्राप्ते विभाषा क चाप्राप्तविभाषा इति निर्दिशति-इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते इत्यादिना । लुनीहि३ इति-अत्रेकार हुत सन्धिकार्यं न भजते इति समन्वय । कथं वशा३ इयम्? वशेयम्? अत्र कथं हुत, कथं च ४५ प्रकृतिभाव इत्याह-छान्दसावेतौ ॥ ३३ ॥

## ईदूदेत् द्विवचनम् ॥ १ । २ । ३४ ॥

ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तं द्विवचनं खरे परेऽसधिर्भवति । ऋषुणी अत्र, मुनी इह, साधू एतौ, अमू इति, कुण्डे अत्र, माले इति, पचेते इति, पचेथे इति, पचावहे आवाम् । ईदूदेदिति किम् ? वृक्षावत्र । द्विवचनमिति किम् ? कुमार्यत्र । १  
 एषां भुतानामितावपि संधिर्न भवति—अग्नी३ इति, वायू३ इति । खर इत्येव ? तव ई—कामौ तवे, प्रत्यासत्तेः खरनिमि-  
 त्तकार्यप्रतिषेधात् इह भवत्येव; तव ई तवे आसाते । केचित्तु—‘मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम’ इति प्रयोग-  
 दर्शनात् मणी इव मणीवेत्यादावसन्धिप्रतिषेधं वर्णयन्ति, तदयुक्तम्; वाशब्देनोपमार्थेन सिद्धत्वात्, ‘मणी इवोद्धिन्नमनो- ६  
 हरत्विषौ’ इत्यादावसंधिदर्शनाच्च । अन्ये तु यथादर्शनं संधिमसधि वेच्छन्ति—मणीव, दंपतीव, रोदसीव मणी इव ॥३४॥

## अदोमुमी ॥ १ । २ । ३५ ॥

अदससंबन्धिनौ मुमी इत्येतावसंधी भवतः खरे परे । अमुमुईचा, अमी आसते, अमी अश्वाः । अदसिति १  
 किम् ? अन्यत्र ॥ ३५ ॥

ईदूदेत् द्विवचनम् । अत्र खरे असधिरिति चानुवर्तते, ईदूदेत् द्विवचनम् खरे असधि इत्यन्वय । ननु ईदूदेत् द्विवचनम् इत्यस्य  
 कोऽर्थः ? यदि ईदूदेद्रूप द्विवचनमित्यर्थस्तदा मुनी, धेनु, खट्वे इति सिद्धावपि पचेते इत्यादावसधिर्न स्यात्, तत्र द्विवचनस्यैदन्तत्वेन एद्रूपत्वाभावात् । १२  
 यदि च शब्दरूप विशेष्यमादाय “प्रत्यय प्रकृत्यादे” ७।४।११५।, “विशेषणमन्त” ७।४।११३। इति च न्यायद्वयसहकारेण ईदूदेदन्त यद्विवच-  
 नान्त शब्दरूपमित्यर्थस्तदा मुनी, धेनु, खट्वे, पचेते इत्यादिसिद्धावपि कुमार्यौ अगारं—कुमार्यगारम्, वषो अगारम्—वष्वगारं इत्यादौ ईदायन्त  
 खतो द्विवचनान्तत्वञ्च प्रत्ययलक्षणेन इति असधि सादनेन इति, तदभावे यत्र कर्तव्य इत्याशयेन तदर्थमाह भगवन्तो वृत्तिकारा—ईत् १५  
 ऊत्, एत् इत्येवमन्तं इत्यादिना । नन्वेव मुनी, साधू, खट्वे इत्यादौ ईदूदेद्रूपद्विवचनसत्त्वेन तदन्तद्विवचनाभावात् कथमसधिरिति चेदाद्यन्तव-  
 द्भावेन तत्सिद्धे । ऋषुणी अत्र इत्यादौ आद्यन्तवद्भावेन ईकारान्तद्विवचन खराव्यवहितपूर्वं सधिकार्यं न लभते इति समन्वय, एवमन्यत्र ।  
 “भूतोऽनितौ” इत्यनेन इतिशब्दवर्जिते खरे सधिकार्यप्रतिषेधं भूताना, इतिशब्दखरे तु ईदूदेता भूतानां सधिकार्यप्रतिषेधोऽनेन, व्यवस्थेयं तदा १८  
 भवेद्यदा सूत्रे तपरकरणं न स्यात्, तेन च तत्कालानां बोध इति “ईदूदेत्” इत्यत्र तपरकरणं मुख्यमुख्यमसदेहार्थमुच्चारणार्थं वा खोक्तव्य आह—  
 एषा इत्यादिना । एषाम्—ईदादीनां भूतानां, “ईदूदेत् द्विवचनम्” इति सूत्रेण सधिर्न भवति इतौ खरे परे । अपिशब्दात् सिद्ध अनितौ खरे  
 भूतानामसधि पूर्वसूत्रेण, तद्गदाहरति—अग्नी३ इति । खरे इत्यनुवृत्तिफलमाह—खर इत्येव ? इत्यादिना । “धसम्यानिर्दिष्टे पूर्वस्य” इति न्यायेन २१  
 खराव्यवहितपूर्वस्य ईदादे संधिनिषेधो, न तु पूर्वस्थिते खरे ईदादे संधिनिषेध इत्यत उदाहरति—तव ई—कामौ तवे—कामार्थक ईशब्दद्विव-  
 चन ई इति वृत्तौ प्रदर्शितम् । अत्र यदि तव इत्यत्र अकारे पूर्वस्थिते खरे ईदादे संधिनिषेधं स्यात्तर्हि तवे इति न सिद्धयेत् इति भाव । ननु  
 ‘तव ई आसाते’ इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वस्य ई इति द्विवचनस्यासधौ पूर्वेषां तव इत्यस्याकारेण सहासधि सादित्यत आह—प्रत्यासत्तेः २४  
 इत्यादिना । अयं भाव ‘यस्मिन् सति यद्भवति तत्तस्य निमित्तम्’ इति ‘तव ई आसाते’ इत्यत्र परे खरे सति “इवर्णोदे०” इति शब्द, ‘तवे आसाते’  
 इत्यत्र च परे खरे सति “एदौतोऽयात्” इति अयादेशश्च न भवति, यत्वायादेशयो खरप्रत्यासन्नत्वात् खरनिमित्तकत्वाच्च, तव ई आसाते  
 इत्यत्र “अवर्णसेवर्णादिना०” इत्येतु परखरमन्तरेणापि भवतीति, एवं न खरनिमित्तम् न तत्रत्यासन्नं चेति प्रत्यासत्तिन्यायात् खरप्रत्यासन्नस्य २७  
 खरनिमित्तकस्यैव च कार्यस्यानेन निषेधो, न खराप्रत्यासन्नस्य खरनिमित्तकस्य च कार्यस्य निषेध इति । प्रत्यासत्तेः—पूर्वप्रदर्शितप्रत्यासत्तिन्या-  
 यात्, खरनिमित्तकार्यप्रतिषेधात्—खरो निमित्तं यस्य तत्कार्यं, तस्य प्रतिषेधोऽसधिरित्यनेन सूत्रेण इति शेष तस्मात्, इह—तव ई  
 इत्यत्र भवत्येव, एवमिति शेष । काशिकाकारवामनजयादित्यमतमाह—केचित्तु इत्यादिना, वर्णयन्ति इत्यन्तेन । ‘त्रियमाणौ च तौ ३०  
 ऋषा महिस्त्रेदमन्नवीत’ इति पूर्वार्द्धे, तदनन्तरं ‘मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम’ इति महाभारतप्रयोग समर्थयन्ते—जयादिस्यादयः  
 काशिकाकारा, ‘ईदादीनां प्रशृङ्खले मणीवादीनां प्रतिषेधो वफव्य’ इति हि तद्वचनम्, नेद भाष्यकारवार्तिककारसमतम्, कल्कालसर्वज्ञ-  
 मतेन तत्प्रयोगसमाधानमाह—तदयुक्तम् इत्यादिना, सिद्धत्वात् इत्यन्तेन । वाशब्देनोपमार्थत्वेन सिद्धत्वात्—उपमार्थत्वेन वाशब्देन ३३  
 सिद्धत्वात् इत्यन्वय । ‘व वा यथा तथैवैवम्’ इत्यमर । ‘व प्रचेतसि जानीयादिवायें च तदव्ययम्’ इति मेदिनी । अन्यकविप्रयोगद्वारा तमेवासधि  
 द्रवीकरोति—मणी इवोद्धिन्न इत्यादिना, दर्शनाच्च इत्यन्तेन । इदं पद्यं विद्वद्भिस्तु स्ययम् । अन्ये तु—उत्पलादय । यथा दर्शनम्—  
 दर्शनमनतिक्रम्य वर्तते इति विग्रह ॥ ३४ ॥

३६

अदोमुमी । अत्र खरे असधि इति चानुवर्तते, अदोमुमी (अदसो मुमी इति विग्रह) असधि खरे इत्यन्वय, तदर्थमाह—अदस्  
 संबन्धिनौ इत्यादिना । अमुमुइचा—अमुमश्चतीति क्विप्, “सर्वादिबिष्वग्देवाद्भि क्तयञौ” ३।२।१२२। इति ऋद्विरागम, “हिल्यन्त्यखरादे”  
 २।१।११४। इति ङिति अन्त्यस्यपदिलोप, “अबोऽनर्चोयाम्” ४।१।४६। इति नलोप, टाविभक्तौ अददि अच् आ इत्यवस्थायाम् “अच् ३१  
 प्राग् दीर्घश्च” २।१।१०४। इति अच् च् इकारस्य च दीर्घ, अददीच् आ इति स्थिते, “वाऽदी” २।१।४६। इति उमयोर्दकारयोर्मत्वे,  
 “मादुवर्णोऽनु” २।१।४७। इति अकारस्य रेफस्य च उत्वे अमुमुइचा इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वं अदससंबन्धि सु इति संधिकार्यं न भजते इति  
 समन्वय, एवमन्यत्र । मुनी इत्यन्योरदससंबन्धिविशेषणं किमर्थमिति पृच्छति—अदसिति किम् ? इति । अन्यत्र—अमी अत्र इति ४२  
 स्थिते, ‘अम्’ घातु गत्यर्थं, भावे घञि, तत “अतोऽनेकखरात्” ७।२।६। इति इति च सति सिद्धति, अयं मी नादससंबन्धी इत्य-  
 संधिर्न भवति इति भाव ॥ ३५ ॥



भवति । गवाग्रम्, गवाजिनम्, गवोद्ग., गवोदन., गवेश्वरः, पक्षे यथाप्राप्तम्—गोऽग्रम्, गोअग्रम्, गोऽजिनम्, गोव-  
जिनम्, गवुद्ग., गवोदनः; गवीश्वरः । स्वर इति किम् ? गोकुलम् । अनक्ष इति किम् ? गोऽक्षम्, गोअक्षम् । पदान्त  
इत्येव ? गवि । ओत इत्येव ? चित्रग्वर्थ । गोरित्येव ? चोऽग्रम् । हे चित्रगवुदकमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वाद् गोशब्दस्य  
न भवति ॥ २९ ॥

इन्द्रे ॥ १ । २ । ३० ॥

५ गुरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्येन्द्रस्ये स्वरे परे अव इत्ययमादेशो भवति । गवेन्द्रः, गवेन्द्रयज्ञः । नित्यार्थं वचनम् ॥ ३० ॥  
वाऽत्यसंधिः ॥ १ । २ । ३१ ॥

गुरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्यात्यकारे स्वरे परे असंधिः—प्रकृतिभावो वा भवति । गोअग्रम्, गोअजिनम् । पक्षे  
यथाप्राप्तम्—गोऽग्रम्, गवाग्रम्, गोऽजिनम्; गवाजिनम् । अतीति किम् ? गवेक्षितम्, गवाननम् । गोरित्येव ?  
चोऽग्रम् । ओत इत्येव ? चित्रग्वग्रम् । हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । पदान्त इत्येव ?  
गौरिवाचरति गवति ॥ ३१ ॥

२२ हुतोऽनितौ ॥ १ । २ । ३२ ॥

इतिशब्दवर्जिते स्वरे परे हुतोऽसंधिर्भवति, संधिकार्यभाग् न भवतीत्यर्थः । देवदत्तरे अत्र न्वसि, जिनदत्तरे  
इदमानय, सुश्लोकरे आगच्छ; सुमङ्गलरे इदमानय । अनिताविति किम् ? सुश्लोकेति, सुमङ्गलेति । केचित्तु इतिशब्दे  
विकल्पमिच्छन्ति—सुश्लोकरे इति, सुश्लोकेति; सुमङ्गलरे इति, सुमङ्गलेति ॥ ३२ ॥

इ३ वा ॥ १ । २ । ३३ ॥

इ३ इति हुतः स्वरे परे वाऽसन्धिर्भवति, इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते उभयत्र विकल्पोऽयम् । लुनीहिरे इति, लुनी-  
हीति । चिनुहिरे इदम्, चिनुहीदम् । कथं वशादे इयम् ? वशेयम् ?—छान्दसावेतौ ॥ ३३ ॥

प्रत्यये तु प्रतिषेधस्य प्रधानत्वात् अक्षादिसमुदायस्येऽप्यक्षशब्दाश्रित प्रतिषेध इत्याशय । गो अग्रम्—अत्र पदान्ते गुरोत स्थाने अनक्ष-  
दन्दायव्यवस्यराव्यवहितपूर्वस्य अव इत्यादेश—गवाग्रम्, पक्षे “वात्यसंधि” १।२।३।१। इति—गोअग्रम्, उभयोरप्यभाव “एदोत ०”  
१।२।२।७। इति लृक्—गोऽग्रम्, एवमन्यत्र । स्वरे, अनक्षे, पदान्ते इति च क्रमेण प्रयोजनपूर्वकमुदाहरति—स्वर इति किम् ? इत्यादिना,  
पदान्त इत्येव ? गवि इत्यन्तेन । ओकारानुश्रुतिफलमाह—ओत इत्येव ? इति । चित्रग्वर्थः—चित्रा गावो यस्य स चित्रगु, चित्रग-  
वेऽय चित्रग्वर्थ, अत्रांत इत्यननुश्रुतौ “एकदेशविकृतमनन्यवत्” इति न्यायेन ‘गु’ इत्यत्रैकदेशविकृतत्वेऽपि गोशब्दव्यवहारात्सोकारस्य अव  
२४ इत्यादेश स्यात्तन्मा भूदिति ‘ओत’ इत्यनुश्रुतिर्बोध्या । हे चित्रगो उदकम्—अत्र “ओदोतोऽवात्” १।२।२।४। इत्यनेन अत् एव, ननु गुरोरोतौ  
वियमानत्वेन कथंभाव इत्यादेश इत्याह—हे चित्रगवुदकमित्यत्र इत्यादिना । समाधानमुखेन हेतु पूर्वक स्पष्टयति—लाक्षणिकत्वात्—लक्षण-  
निष्पत्तत्वात् “लक्षणप्रतिपदोक्त” इति परिभाषया गोशब्दस्य न भवति इत्यन्यत्र ॥ २५ ॥

२७ इन्द्रे । अत्र गुरोत, पदान्ते, अव, स्वरे इति चातुर्वर्तते । सूत्रे इन्द्रे स्वरे इत्यन्वयेन “सप्तम्या आदि” ७।४।१।१। इत्यादिपदोप-  
स्थिति, तथा सति पदान्ते गुरोत इन्द्रादौ स्वरे अव इत्यादेश इत्यन्यत्र । नन्वेव गवेन्द्रयज्ञ इति सिद्धावपि गवेन्द्र इति कथमिति चेदाद्यन्त-  
वद्भावेन तत्सिद्धे, तदर्थमाह—गुरोकारस्य इत्यादिना । गो इन्द्र—अत्र गुरोत इन्द्रादिशब्दस्वरव्यवहितपूर्वस्य नित्य अव इत्यादेशे-  
२० गवेन्द्रः । एव गवेन्द्रयज्ञ इत्यपि । ननु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्याह—नित्यार्थं वचनम् ॥ ३० ॥

वाऽत्यसंधिः । अत्र गुरोत, पदान्ते, स्वरे इति चातुर्वर्तते । पदान्ते गो ओत अति स्वरे असंधि वा इत्यन्वय, तदर्थमाह—  
गुरोकारस्य इत्यादिना । असंधिरित्यस्य पर्याय—प्रकृतिभावः । गोअग्रम्—अत्र अकाररूपस्वरव्यवहितपूर्वस्य गुरोत पदान्तस्यस्य  
३३ प्रकृतिभाव, पक्षे यथाप्राप्तम्—“एदोत पदान्ते”, “स्वरे वाऽनक्षे” इति च । ओकारानुश्रुतिफलमाह—ओत इत्येव ? चित्रग्वग्रम्—  
चित्रग्वर्थ इतिवद्बोध्यम् । ननु चित्रगो अग्रम्—अत्र गुरोरो वियमानत्वेन कथंवासंधिरित्याह—हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु इत्यादिना ॥ ३१ ॥

हुतोऽनितौ । अत्रासंधिः स्वरे इति चातुर्वर्तते, अतीति नातुर्वर्ततेऽन्यथा इतिशब्दवर्जनवैयर्थ्यं स्यात्; तदर्थमाह—इतिशब्द-  
३५ वर्जिते स्वरे इत्यादिना । असंधिः इत्यस्यार्थमाह—संधिकार्यभाग् इत्यादिना । देवदत्तरे अत्र न्वसि—अत्र “दूरादामक्यस्य ०”  
७।४।१।१। इति हुतोऽकार । नन्वस्य वाक्यान्तत्वाभावात् कथं हुत इति चेत्, कस्यचिद्वाक्यस्यान्तमिदं श्रुत्या इति हुतोऽकार संधिकार्य  
वीर्षादिक न भजते, इतिशब्दवर्जितस्वरव्यवहितपूर्वक्षेति समन्वय । एवमन्यत्र । इतिशब्दवर्जनफल दर्शयति—अनिताविति इत्यादिना,  
३९ सुमङ्गलेति इत्यन्तेन । केचित्तु इतिशब्दे विकल्पमिच्छन्ति, अत्र केचित्तु—पाणिनीया । “अष्टवदुपरिधे” पा० ६।१।१२।९।, शा०  
अमोघाश्रुतौ—“न हुतस्यानितौ” शा० १।१।१।१। सूत्रे ‘सर्वे एव हुत साहसमनिच्छता विभाषा षकव्य’ इति दृश्यते, पाणिनीयभाष्येऽपि “धर्मी-  
त्वेषणे परस्य” पा० ८।२।१२। इति सूत्रे च दृश्यते ॥ ३२ ॥

इ३ वा । अत्र हुत, स्वरे, असन्धि इति चातुर्वर्तते । इ३ हुत स्वरे असंधिर्वा इत्यन्वय, तदर्थमाह—इ३ इति हुत इत्यादिना ।  
प्राप्ताप्राप्तविभाषारूपमुभयत्र विकल्पविधायक शास्त्रमिदं क प्राप्ते विभाषा क प्राप्ताप्राप्तविभाषा इति निर्दिशति—इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते  
इत्यादिना । लुनीहिरे इति—अत्रेकार हुत सन्धिकार्यं न भजते इति समन्वय । कथं वशादे इयम् ? वशेयम् ? अत्र कथं हुत, कथं न  
४५ प्रकृतिभाव इत्याह—छान्दसावेतौ ॥ ३३ ॥

ईदूदेत् द्विवचनम् ॥ १ । २ । ३४ ॥

ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तं द्विवचनं खरे परेऽसधिर्भवति । ऋपुणी अत्र, मुनी इह, साधू एतौ, अमू इति, कुण्डे अत्र, माले इति, पचेते इति, पचेथे इति; पचावहे आवाम् । ईदूदेदिति किम् ? वृक्षावत्र । द्विवचनमिति किम् ? कुमार्यत्र । ३  
 एषां भ्रुतानामितावपि संधिर्न भवति—अशी३ इति, वायू३ इति । खर इत्येव ? तव ई—कामौ तवे, प्रत्यासत्तेः खरनिमित्तककार्यप्रतिषेधात् इह भवत्येव, तव ई तवे आसाते । केचित्तु—‘मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियो वत्सतरौ मम’ इति प्रयोगदर्शनात् मणी इव मणीवेत्यादावसन्धिप्रतिषेधं वर्णयन्ति, तदयुक्तम्; वाशब्देनोपमार्थेन सिद्धत्वात्, ‘मणी इवोद्भिन्नमनो- ३  
 हरत्विषौ’ इत्यादावसंधिदर्शनाच्च । अन्ये तु यथादर्शनं संधिमसधि चेच्छन्ति—मणीव, दंपतीव, रोदसीव मणी इव ॥३४॥

अदोमुमी ॥ १ । २ । ३५ ॥

अदस्यसंबन्धिनौ मुमी इत्येतावसंधी भवतः खरे परे । अमुमुईचा, अमी आसते, अमी अश्वाः । अदसिति ९  
 किम् ? अम्यत्र ॥ ३५ ॥

ईदूदेत् द्विवचनम् । अत्र खरे असधिरिति चासुवर्तते, ईदूदेत् द्विवचनम् खरे असधि इत्यन्वयः । ननु ईदूदेत् द्विवचनम् इत्यस्य कोऽर्थः ? यदि ईदूदेद्रूपं द्विवचनमित्यर्थस्तदा मुनी, धेनु, खट्वे इति सिद्धावपि पचेते इत्यादावसंधिर्न स्यात्, तत्र द्विवचनस्यैदन्तत्वेन एद्रूपत्वाभावात् । १२  
 यदि च शब्दरूप विशेष्यमादाय “प्रत्यय प्रकृत्यादे” ७।४।११५।, “विशेषणमन्त” ७।४।११३। इति च न्यायद्वयसहकारेण ईदूदेदन्तं सधिवचनान्तं शब्दरूपमित्यर्थस्तदा मुनी, धेनु, खट्वे, पचेते इत्यादिसिद्धावपि कुमार्यो अगारं-कुमार्यगारम्, वध्वो. अगारम्-वध्वगारं इत्यादौ ईदायन्तस्वतो द्विवचनान्तत्वं प्रत्ययलक्षणेन इति असधि स्यादनेन इति, तदभावे यत्र कर्तव्य इत्याशयेन तदर्थमाह भगवन्तो वृत्तिकारा—ईत् १५  
 ऊत्, एत् इत्येवमन्तं इत्यादिना । नन्वेव मुनी, साधू, खट्वे इत्यादौ ईदूदेद्रूपद्विवचनसत्त्वेन तदन्तद्विवचनभावात् कथमसधिरिति चेदाद्यन्तवद्भावेन तत्सिद्धे. । ऋपुणी अत्र इत्यादौ आयन्तवद्भावेन ईकारान्तद्विवचनं खराव्यवहितपूर्वं सधिकार्यं न लभते इति समन्वयः, एवमन्यत्र । “श्रुतोऽनितो” इत्यनेन इतिशब्दवर्जिते खरे सधिकार्यप्रतिषेधं भ्रुतानां, इतिशब्दखरे तु ईदूदेतां भ्रुतानां सधिकार्यप्रतिषेधोऽनेन, व्यवस्थेयं तदा १८  
 भवेद्यदा सूत्रे तपरकरणं न स्यात्, तेन च तत्कालाना बोध इति “ईदूदेत्” इत्यत्र तपरकरणं सुखदुःखार्थमसंदेहाथमुच्चारणार्थं वा स्वीकृत्य आह—  
 एषा इत्यादिना । एषाम्—ईदादीनां भ्रुतानां, “ईदूदेत् द्विवचनम्” इति सूत्रेण संधिर्न भवति इतौ खरे परे । अपिशब्दात्तु सिद्धं अनितौ खरे भ्रुतानामसधि पूर्वसूत्रेण, तदुदाहरति—अमी३ इति । खरे इत्युत्पत्तिफलमाह—खर इत्येव ? इत्यादिना । ‘सप्तम्यानिर्दिष्टे पूर्वस्य’ इति न्यायेन २१  
 खराव्यवहितपूर्वस्य ईदादे संधिनिषेधो, न तु पूर्वस्थिते खरे ईदादे संधिनिषेध इत्यत उदाहरति—तव ई—कामौ तवे—कामार्थकं ई’गर्भद्विवचनं ‘ई’ इति श्रुतौ प्रदर्शितम् । अत्र यदि तव इत्यत्र अकारे पूर्वस्थिते खरे ईदादे संधिनिषेध स्यात्तर्हि तवे इति न सिद्धयेत् इति भावः । ननु ‘तव ई आसाते’ इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वस्य ई इति द्विवचनस्यासौ पूर्वोणापि तव इत्यस्यकारेण सहासधि स्यादित्यत आह—प्रत्यासत्तेः २४  
 इत्यादिना । अयं भावः ‘अभिप्रुच सति यद्भवति तत्तस्य निमित्तम्’ इति ‘तव ई आसाते’ इत्यत्र परे खरे सति “इवर्णोदे” इति र्थत्वं, ‘तवे आसाते’ इत्यत्र च परे खरे सति “इद्वैतोऽयाय” इति अथादेशश्च न भवति, यत्त्वायादेशयो खरप्रत्यासत्त्वात् खरनिमित्तकत्वाच्च, तव ई आसाते इत्यत्र “अवर्णस्वेवार्थिना” इत्येव तु परखरमन्तरेणापि भवतीति, एव न खरनिमित्तम् न तत्प्रत्यासत्तं चेति प्रत्यासत्तिन्यायात् खरप्रत्यासत्तस्य २७  
 खरनिमित्तकस्यैव च कार्यस्थानेन निषेधो, न खराप्रत्यासत्तस्य खरनिमित्तकस्य च कार्यस्य निषेध इति । प्रत्यासत्तेः—पूर्वप्रदर्शितप्रत्यासत्तिन्यायात्, खरनिमित्तककार्यप्रतिषेधात्—खरो निमित्तं यस्य तत्कार्यं, तस्य प्रतिषेधोऽसधिरित्यनेन सूत्रेण इति शेष तस्मात्, इह—तव ई  
 इत्यात् महिस्त्रैदमभवोत् इति पूर्वार्थे, तदनन्तरं ‘मणीवोष्टस्य लम्बेते प्रियो वत्सतरौ मम’ इति महाभारतप्रयोगं समर्थयन्ते—जयादिस्याद्य-  
 काशिकाकारा, ‘ईदादीनां प्रकृत्येव मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य’ इति हि तद्वचनम्, नेदं भाष्यकारवार्तिककारसंमतम्, कल्किाकालसर्वज्ञ-  
 मतेन तत्रयोगसमाधानमाह—तदयुक्तम् इत्यादिना, सिद्धत्वात् इत्यन्तेन । वाशब्देनोपमार्थत्वेन सिद्धत्वात्—उपमार्थत्वेन वाशब्देन ३४  
 सिद्धत्वात् इत्यन्वयः । ‘व वा यथा तथैवम्’ इत्यमरः । ‘व प्रचेतसि जानीयादिसार्थं च तदव्ययम्’ इति मेदिनी । अन्यकविप्रयोगद्वारा तमेवासंधि  
 द्रवीकरोति—मणी इवोद्भिन्न इत्यादिना, दर्शनाच्च इत्यन्तेन । इदं पद्यं विद्वद्भिस्तु मृग्यम् । अन्ये तु—उत्पत्त्यादयः । यथा दर्शनम्-  
 दर्शनमनतिक्रम्य वर्तते इति विग्रहः ॥ ३४ ॥

अदोमुमी ।

अत्र खरे असधि इति चासुवर्तते, अदोमुमी (अदसो मुमी इति विग्रहः) असधी खरे इत्यन्वयः, तदर्थमाह—अदस्य संबन्धिनौ इत्यादिना । अमुमुईचा—अमुमश्चतीति क्तिप्, “सर्वादिविष्वग्देशाद्भ्रु इ क्यञ्चौ” २।२।१२२। इति उद्विरागम्, “द्वित्यन्त्यखरादे” २।१।११४। इति डिति अन्त्यस्यपदिलोपः, “अभोऽनर्चयाम्” ४।१।४६। इति नलोपः, टाविमफौ अदद्वि अच् आ इत्यवस्थाया “अच् ३९ प्राग् वीर्षव्” २।१।१०४। इति अच् च इकारस्य च वीर्षे, अदद्वीच् आ इति स्थिते, “वाऽद्वी” २।१।४६। इति उभयोर्दकारयोर्मते, “मादुवर्णोऽनु” २।१।४७। इति अकारस्य रेफस्य च उल्लेखे अमुमुईचा इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वं अदस्यसंबन्धिसु इति संधिकार्यं न भवते इति समन्वयः, एवमन्यत्र । मुनी इत्यनयोर्दस्यसंबन्धिविशेषणं किमर्थमिति पृच्छति—अदसिति किम् ? इति । अम्यत्र—अमी अत्र इति ४२  
 सिद्धे, ‘अम’ घातु गत्यर्थं, भावे घञि, ततः “अतोऽनेकखरात्” ७।२।६। इति इनि च सति सिद्धयति, अयं मी नादस्यबन्धी इत्य-  
 चधिर्न भवति इति भावः ॥ ३५ ॥

१ °चान्तं पु० ।

## चादिः खरोऽनाङ् ॥ १ । २ । ३६ ॥

आङ्वर्जितश्चादिरव्ययसंज्ञकः खरः खरे परेऽसंविर्भवति । अ अपेहि, आ एव किल मन्यसे ? आ एवं नु तत्, १ ई इन्द्र पश्य, ई ईदृशः ससारः, उ उत्तिष्ठ, ऊ ऊपरे धीजं वपसि, ए इतो मव; ओ ओश्रावय । चादिरिति किम् ? अ ( विष्णो ! ) आगच्छ-आगच्छ । कथं तितउः-परिपवनम् ? “तनेर्डउः” इति उउविधानवलादसंविर्भविव्यति । उत्तरान्तग्रहणादिह केवलो गृह्यते, तेनेह न भवति-चेति, इतीह, नन्विति; वेति । खर इत्येव ? जानु उ जानू । खरे परे ६ इति प्रत्यासत्तेस्तन्निमित्तकसविप्रतिषेधात्, इह दीर्घत्वलक्षणः संधिर्भवत्येव-जानु उ अस्य रुजति, जानू अस्य रुजति । केचित्तु चाद्यचादिस्थानस्याचादिरूपत्वात् खरनिमित्तकमपि संधिभिच्छन्ति-जानु उ अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति । अनाडिति किम् ? आ ईपदुष्णमोष्णम्, आ इहि एहि, आ उदकान्तात्-ओदकान्तात् प्रिय त्र्योयमनुव्रजेत्; आ ७ आर्येभ्यः-आर्येभ्यो यशो गत गौतमस्य । “ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिधिवौ च यः । एतमात जित विद्याद् वाक्य स्मरणयोरङ्गित्” ॥ ३६ ॥

## ओदन्तः ॥ १ । २ । ३७ ॥

३२ ओकारान्तश्चादिः खरे परेऽसंविर्भवति । अहो अत्र, उताहो इदम्, आहो एतत्, अथो अस्मै, हहो आगच्छ, अथो एहि; नो इन्द्रियम् । चादिरित्येव ? गवीश्वरः, अगौगौः समपद्यत गोऽभवत्; मिथोऽत्र-मिथोऽशब्दः खरादि-

चादिः खरोऽनाङ् । अत्र खरे असधिरिति चानुवर्तते, अनाद् चादि खर खरे असधिरित्यन्वय । अनाङ्गित्त्वं पर्युदासार्थक ३५ नञा आङ्भिन्नआङ्सदृशसोपादानेन “विशेषणमत” इति तदन्तवोधासम्भावाद् सामानाधिकरण्यात् अत्र चादिरिति खरविशेषणम् । तथा सति चायन्तर्गत केवल खर एवाव्ययसंज्ञक खरेऽसधिरित्वाभिप्रेक्ष्य, तदर्थमाह-आङ्वर्जितश्चादिः इत्यादिना । अ अपेहि-अत्र खराव्यवहितपूर्वं आङ्भिन्नाङ्सदृश, चादिरव्ययसंज्ञक खर अ इति सधिकार्यं न लभते इति सन्त्वय, एवमन्यत्रापि । पूर्वे ३८ चादिरित्यस्य फल पृच्छति-चादिरिति किम् ? अ (विष्णो ! ) आगच्छ-अत्र विष्णुवाचकअशब्दस्य सवोधनैकवचनान्तस्य चादित्वाभावात्सधिरिति भावः । तितउशब्दे उकारस्य चादित्वाभावाद् कथमसंधिरित्याशङ्कते-कथं तितउ-परिपवनम् ?-चालनीत्यर्थः । समाधत्ते-“तनेर्डउ.” उ० ७४८ इत्यादिना । यदि तितउरित्यत्र सधि स्यात्तर्हि उउप्रत्ययविधान किमर्थमिति तद्विधानसामर्थ्यादसधिवोधः । ३१ अत्र चादिपठित केवल एव खरो गृह्यते इत्यत्र मानान्तरमाह-उत्तरान्तग्रहणात्-इत्यादिना । उत्तरत्र-“ओदन्त” इति सूत्रे अन्तग्रहणं विनाऽपि ओदिति चादिरित्यस्य विशेषणं, तथाच “विशेषणमन्त” इति न्यायेन तदन्तबोधे सूत्रस्थमन्तग्रहणं बोधयति यत्केवल खरग्रहणं भवतीति व्यर्थंभूय बाधयान्तरकल्पना, फलमन्यत्र “चादि खरोऽनाङ्” इत्यत्र केवलखरबोधः, खरो चारितार्थ्यं “ओदन्त” ३४ इति सूत्रे, यदीदानीमन्तग्रहणं न स्यात्तर्हि केवलस्य ओकारस्य सधिप्रतिषेधं प्रसज्येत न त्वोदन्तस्येति अन्तग्रहणं चरितार्थम् । तेन-केवल खरग्रहणेन, इह-चेति इत्यादौ, न भवति-असधिरिति प्रतिषेध इति शेषः । खरे इत्यनुवृत्तिफलमाह-खर इत्येव ? जानु उ-अत्र य खराव्यवहितपूर्वं स न चादि, यथादि स न खराव्यवहितपूर्वं इति वीचं सति जानू इति भवति । ननु जानु उ अस्य रुजति इत्यत्र ३७ खराव्यवहितपूर्वंस्य चादे खरस्थानेन सधिप्रतिषेधे पूर्वेण सहाप्यसधिरित्याह-खरे परे इति प्रत्यासत्तेः इत्यादिना । अयं भाव-‘यसिन् सति यद्भवति तत्तस्य निमित्तमिति’ खरनिमित्तं बलं निदिध्यते, खरप्रत्यासत्त्वात्, खरनिमित्तकत्वाच्च, वीचं तु खरमन्तरेणापि भवति इति न तत्खरनिमित्तं, न खरप्रत्यासत्तं चेति प्रत्यासत्तिन्यायात्तन्निमित्तकस्यैव कार्यस्य प्रतिषेधो नातन्निमित्तकस्येति सुस्पष्टम् । प्रत्यासत्तेः-प्रत्या- ३० सत्तिन्यायात्, तन्निमित्तकसंधिप्रतिषेधात्-तत्-खरो निमित्तं यस्य स चासौ संधिप्रतिषेधश्च, तस्मादित्यर्थः । इह-जानु उ अस्य इत्यादौ, दीर्घत्वलक्षण-वीचंत्व-लक्षणं स्वरूपं यस्य स इति विग्रहः । संधिर्भवत्येव-“समानानां तेन०” १।२।१। इत्यनेनेति शेषः, तदुदाहरति-जानु उ अस्य रुजति-जानू अस्य रुजति इति । जानु उ जानू इत्यत्र वीचं हि चादिस्थाननिष्पन्नोचादिस्थाननिष्पन्नश्च, जानु ३३ इत्यत्र उकारस्य अचादित्वात्, उ इत्यस्य चादित्वाच्च, इत्यं च ‘उमयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशाभिगिति’ न्यायेन वीचोऽचादिरूप एवेति स्वीकुर्वतां प्राचां मतविशेषमवतारयति-केचित्तु इत्यादिना । चाद्यचादिस्थानस्य-चादिश्च अचादिश्च तौ स्थानं यस्य तस्य, अर्थाद्-चाद्यचादिस्थानजातस्येत्यर्थः, अचादिरूपत्वात्-उमयस्थानजातत्वेन अचादिरूपत्व दीर्घस्य तस्मादित्यर्थः । खरनिमित्तकम्-खरो निमित्त ३६ यस्य तम्, संधिम्-वत्वमपि, इच्छन्ति केचित्तु-प्राञ्च इत्यन्वयः । नन्वनाङ् इति पर्युदासः, स किमर्थं इति पृच्छति-अनाडिति किम् ? ईपदुष्णम्-ओष्णम्-इत्यादौ आङ्, अतो न संधिप्रतिषेधः । ननु सर्वत्र ‘आ’ इत्यस्यैव भवणं तथाच कथं बोध्यमयमाकार आङो-ऽयमनाङ् इति तदवस्थापक श्लोकं वक्ति-ईपदर्थे इत्यादिना । श्लोकसमन्वयो यथाक्रमं पूर्वोक्तोदाहरणेषु ओष्णमित्यादिषु बोध्यः ॥ ३६ ॥

३९ ओदन्तः । अत्र चादि खरे असधिरिति चानुवर्तते, ओदन्त चादिखरे असधिरित्यन्वयः, तदर्थमाह-ओकारान्त इत्यादिना । अहो अत्र इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वंस्य अहो इत्योकारान्तस्य चादे सधिप्रतिषेधः, एवमन्यत्र भाव्यः । चादिरित्यनुवृत्तिफलमाह-चादिरित्येव ? गवीश्वर इत्यादिना । गोशब्दस्य ओकारान्तस्य खराव्यवहितपूर्वंस्य चादित्वाभावेन न्वसंधिः । अगौगौः समपद्यत इति तु-गोऽभवत् ४२ इत्यस्यार्थबोधनम् । अत्रासधिरिति भवति ओदन्तत्वेऽपि चादित्वाभावात्, “अघणत्स्वाद्याशस” इत्यव्ययत्वे “गति” इति चाऽव्ययत्वे सेर्द्धिपि, “एदोत०” इत्यकारलोपः । मिथोऽत्र-अत्र मिथो इत्यस्योदन्तत्वेऽप्यसधिरिति भवति खरादिपाठेन चादित्वाभावात्, सधिसु प्राग्ग्रीष्म, तदेव दर्शयति-मिथो शब्दः खरादि इत्यादिना । तिरोऽभवत्, नमोऽकरोत्, अदोऽभवत् एषु प्रतिपदोक्तोकारान्तत्वाभावेन लक्षणनिष्पन्नोकारान्त- ४५ त्वात्, लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया “ओदन्त” इति सूत्रेण नासधिः । एवमेवैषा खरादित्वेन चादित्वाभावोऽप्यस्यभावे निमित्तम् तदाह-

१ विसर्गे इ इन्द्र० म० म०, अहो इ इन्द्र माण्डा० । २ आगच्छ इति द्वितीयपदं नास्तीति माण्डा० । ३ खरोऽङ् इति० म० म० । ४ अथो म० म० ।

र्तुं चादिः । तिरोऽभवत्, नमोऽकरोत्, अदोऽभवदित्यादिषु लाक्षणिकत्वाच्च न भवति । अहो इत्यादयोऽखण्डा-  
श्चादय इति पृथग्योगः ॥ ३७ ॥

सौ नवेतौ ॥ १ । २ । ३८ ॥

सिनिमित्तो य ओदन्तः स इतौ पेऽसंधिर्वा भवति । पटो इति, पटविति; साधो इति, साधविति । साविति किम् ?  
अहो इति । गवित्ययमाह—गौरिति वक्तव्येऽशक्त्या गो इत्युक्तमनुक्रियते, स्याद्वादाश्रयणाच्चानुकार्यानुकरणयोर्भेदविव-  
क्षायामसत्यर्थवत्त्वे विभक्तिर्न भवति । इताविति किम् ? पटोऽत्र ॥ ३८ ॥

ऊं चोञ् ॥ १ । २ । ३९ ॥

उञ्शब्दश्चादिरिति शब्दे परे वाऽसंधिर्भवति, असंधिपक्षे च उञ् ऊं इत्येवंरूपो दीर्घोऽनुनासिको वा भवति;  
तथाच सति त्रैरूप्यं सिद्धं भवति । उ इति, ऊं इति; विति । इताविलेव ? उ उत्तिष्ठ । जित्करण स्वरूपपरिग्रहार्थम्,  
तेन विकृतस्य न भवति—अह उ अहो, अहो इति; एवमुताहो इति । अथ ऊं इत्येव चादिषु पठ्यतां किमादेशेन ? नैवम्,  
तस्यानितावपि प्रयोगः प्रसज्येत तन्निषेधार्थमादेशवचनम् ॥ ३९ ॥

अञ्ज्वर्गात् खरे वोऽसन् ॥ १ । २ । ४० ॥

जकाररहितेभ्यो वर्गेभ्यः पर उञ् खरे परे वकारो वा भवति, स चासन्—अमृतवत् । कुङ्कुमास्ते, कुङ्कु आस्ते,  
किम्वावपनम्, किमु आवपनम्; किम्बुष्णम्, किमु उष्णम्, किम्बिति, किमु इति, किम्बू इति, किविति, किर्विति, जानु उ जानु

तिरोऽभवत्, नमोऽकरोत्, अदोऽभवदित्यादिषु इत्यादिना, न भवति इत्यन्तेन । लाक्षणिकत्वाच्च—अत्र च समुच्चये चादित्वा- १५  
भावात् इति समुच्चिनोति । \*अदोऽभवदित्याद्यपि\* पु० प्रती पाठस्तत्रापि शब्दात् समुच्चय, तिरस् नमस् अदस् इत्याद्यपि मियोशब्दवत्  
स्वरादिर्न चादि, परन्त्वस्मिन् पाठेऽसध्यभावे हेतुद्वयं चादित्वाभावे लाक्षणिकत्वं च न प्राप्नोति, इति पूर्वोक्ततावपनीयप्रतिपाठ समीहित  
आभातीति दिक् । यद्यपि 'अहो' इत्यादिचादिसमुदायस्यापि चादित्वात् पूर्वैण संधिप्रतिषेध प्राप्नोति, तथाप्येवामखण्डत्वात् चादि खर इति १८  
संधिप्रतिषेधो न भवति । स च प्रतिषेध एकनिपातरूपचादिखरेषु प्रवर्तत इति पृथग्योगारम्भ इत्याह—अहो इत्यादय इत्यादिना ॥ ३७ ॥

सौ नवेतौ । अत्रासंधिः ओदन्त इति चानुवर्तते, सौ ओदन्त इतौ असंधि नवा इत्यन्वय, तदर्थमाह—सिनिमित्तो य इत्या-  
दिना । पटो इति—अत्र इतिशब्दाव्यवहितपूर्वे सिप्रत्यय मत्वा जातौदन्त पटो इति विभाया संधिप्रतिषेध लभते, तदभावेऽव-पटविति, तत्र २१  
“खरे वा” इत्यनेन वस्य विभाषा लुकि पट इति भवति, एवमन्यत्र । सौ इत्यस्य फल पृच्छति—साविति किम् ? गवित्ययमाह—अत्र गो  
इत्योदन्तो न सिनिमित्त, किन्तु अनुकरण, अशक्त्योच्चारयित्वाकमन्यपृष्ठेन तत्समीपवर्तिना केनचिदनुकृत तन्निदिशति—गौरिति वक्तव्ये  
इत्यादिना । नन्वत्रानुकरणे विभक्ति कथञ्च भवति इति विज्ञाह्यं स्याद्वादाश्रयणानुकार्यानुकरणयोर्भेदाभेदविवक्षापक्षद्वयेऽभेदविवक्षायाम- २४  
र्थवत्त्वामानेन नामत्वाभावाच्च विभक्त्युत्पत्तिरित्याह—स्याद्वादाश्रयणाच्च इत्यादिना । अत्र नो हेतौ यत् स्याद्वादाश्रयणमतोऽनुकार्यानुक-  
रणयो पूर्वोक्तपक्षद्वय इत्यक्षरार्थः । अत्र नवेत्युक्तिरधिकाराय, अन्यथात्र चेत्युक्तावपि विकल्पसिद्धेस्तेन यत्र नवेत्युक्तिश्च साधिकारार्था वेदितव्या,  
यत्र तु चेति तत्र नाधिकार, रीतिरिय भगवतामाचार्याणां नवेत्युक्त्या ज्ञायते ॥ ३८ ॥

ऊं चोञ् । अत्रासंधि चादि नवा इतौ इति चानुवर्तते, चादि उञ् इतौ नवा असंधि च नवा ऊं इत्यन्वय, तदर्थमाह—उञ्  
शब्द इत्यादिना । उइति—अत्र इतिशब्दाव्यवहितपूर्वे उञ् शब्दश्चादिर्नवा असंधि, असंधिपक्षे ऊं इत्यादेशो दीर्घानुनासिकरूपो यथा-  
ऊं इति । असंधिपक्षे ऊं इत्यादेशाभावे असध्यभावे च “इवर्णादे०” १।२।१।१ इति वत्त्वे—विति इति रूपत्रयम् विकल्पद्वयेन सिध्यति । अत्र ३०  
सूत्रे उचित्यत्र अकारानुबन्ध किमर्थं ? उ इत्येवोच्यतामित्यत आह—जित्करणं स्वरूपपरिग्रहार्थम् । उञ् इत्यत्र अकारानुबन्धकरणफल  
स्वरूपस्वीकृत्यर्थम्, तत्फलमाह—तेन विकृतस्य न भवति । अयमाशय—निरनुबन्धसानुबन्धभेदेन उकारद्वय, तत्र निरनुबन्धस्योकार-  
स्योत्वं भवति, यथा अह उ—अहो इति, अत्र सूत्रमिदं न प्रवर्तते, उकारस्य चित्वाभावेन विकृतत्वात् । कृतादेशेऽस्याप्रवृत्तेरेव जानु अस्य इत्यत्र ३३  
वत् “अञ्ज्वर्गात्” इति भवति, अन्यथानेनासंधि स्यात् । अथवा—ऊंचोञ् इत्यत्र उकारप्रलेषात् उ उञ् इति उकाररूप उञ् गृह्यते, तेन  
अहो इत्यादौ उकाररूपस्य उच्योऽभावेन नानेनासंधि । नन्वत उचिति एतदर्थक अञ्ज्वर्गादित्यत्रानुवर्तते, तथा सति जानु अस्य० इत्यादौ कथ  
“अञ्ज्वर्गात्” इति वत्त्वमिति चेत्, उच्यते—तत्र जातिपक्षाश्रयणेन दीर्घानुनासिकरूपस्यापि वत्त्वसिद्धे । ननु ऊं इति, चादिगणपाठे “चादि ३६  
स्वरोऽनाच्” इत्यनेनासंधौ सति सिद्ध उ इति, उञ् इत्येतत्स्येण सिद्ध, तदभावपक्षे “इवर्णादे०” इति वत्त्वे विति इति रूपत्रयसिद्धौ ऊं च इत्या-  
देशवचन किमर्थम् ? इत्याद्यहते—अथ ऊं इत्येव चादिषु इत्यादिना । समाधत्ते—नैवम् इत्यादिना, आदेशवचनम् इत्यन्तेन । अथ भाव  
यद्युक्तीत्या चादिपाठे ऊं इत्यस्य रूपत्रयसिद्धावपि अनितौ—ऊं अत्र इत्यादिरपि प्राप्येत तन्मा भूविति ऊं च इत्यादेशवचनमिति ॥ ३९ ॥ ३९

अञ्ज्वर्गात् खरे वोऽसन् । अत्र नवा उञ् इति चानुवर्तते । अञ्ज्वर्गात् उञ् खरे व नवा, स च व असन् इत्यन्वय, न च अञ् स  
चासौ वर्गश्च अञ्ज्वर्गं तस्मात् इति अञ्ज्वर्गादित्यस्य विग्रह, तदर्थमाह—जकाररहितेभ्यो वर्गेभ्य इत्यादिना । स च—व इति, असन्—अमृतवत्,  
मुख्यार्थवाधे लक्षणाबलभ्योऽयमर्थ, अन्यथा वकारादेशोऽसंधित्युक्त्या तद्विधानवैयर्थ्यं स्यात् । अतिदेशे तु कुङ्कुमास्ते इत्यत्र स्वपव्यव- ४२  
हितपूर्वो अकाररहितवर्गटकारात् परश्च उञ् वकारो भवतीति कुङ्कुमास्ते इत्यवस्थायामनेन असिद्धवद्भावे च वकारं खरं मत्वा “ह्रस्वा-  
न्धनो द्वे” १।३।२।७ इत्यनेन वृद्धित्वम् भवति । अतिदेशाभावे तु द्वित्वं स्वरात्मावाधस्यात् । एवमन्यत्र । किम्बिति—अनेन सूत्रेण वत्त्वे  
सति भवति । किमु इति—“ऊं चोञ्” इत्यनेनासंधौ सति भवति । किम्बू इति—असंधिपक्षे दीर्घानुनासिकदेशे सति भवति । किंविति— ४५  
“इवर्णादे०” इति वत्त्वे, “तौ मुनो” १।३।१।७ इत्यनुसारे च सति भवति । किर्विति—“इवर्णादे०” इति वत्त्वे, “तौ मुनो”

जान्व्वस्य रुजति, जानू अस्य रुजति; तद्व्वस्य मतम्, तदु अस्य मतम् । वर्गादिति किम् ? स्वर उपैति, अन्तरु उपैति । अजिति किम् ? घञु एति । स्वर इति किम् ? किमु गच्छति । असत्त्वाद् द्वित्वमनुस्वारानुनासिकाभावश्च ॥ ४० ॥

१ अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः ॥ १ । २ । ४१ ॥

अवर्णस्येवर्णस्योवर्णस्यच अन्ते-विरामे वर्तमानस्यानुनासिक आदेशो वा भवति, अनीनादेः-न चेदयम् "ईद्वेत् द्विवचनम्" ॥ १ । २ । ३४ ॥ इत्यादिसूत्रसंबन्धी भवति । पदान्ताधिकारेऽन्तग्रहणं विरामप्रतिपत्त्यर्थम्, स च विरामो भवन् पदस्यान्ते भवति, केवलमुपसर्गस्य समासान्तर्वर्तिनश्च न भवति । सामँ, साम, खट्टाँ, खट्टा, दधिँ, दधि; कुमारीँ, कुमारी; मधुँ, मधु, वृक्षेणँ, वृक्षेण, नामँ अत्र, नाम अत्र, दधिँ अत्र, दधि अत्र, मधुँ अत्र, मधु अत्र, वृक्षेणँ अत्र, वृक्षेण अत्र; विरामत्वाच्च सधिर्न भवति । अइउवर्णस्येति किम् ? कर्तृ, हर्तृ । अन्त इति किम् ? दधि करोति, मधु करोति, वृक्षः । अनीनादेरिति किम् ? अग्नी, वायू, अमू, अमी, किमु । चादिसूत्रे चादे. स्वरस्य केवलस्याह्वर्जितस्य च ग्रहणादिह भवत्येव-अँ इति विष्णोः सवोधनम्, प्लक्षश्च, न्यग्रोधश्च, पाटलिपुत्रादौ ॥ ४१ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिताया श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपदेशाब्दानुशासनतत्त्वप्रका-

१२ शिकावृत्तां प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीय. पाद. समाप्त. ॥ २ ॥

पूर्वभचदारगोपीहरणस्मरणादिव ज्वलितमन्युः ।

श्रीमूलराजपुरुषोत्तमोऽवधीर्दुर्मदाभीरान् ॥ २ ॥

१५ इत्यनुनासिके च सति भवति । जान्व्वस्य रुजति-अत्र असन्नित्यत्र वा इति योजने पक्षे वस्य सत्त्वविधानात् "ततोऽस्या" १।३।३५

इत्यनेन वकारद्वित्वम् । अथवा 'नञा निर्दिष्टमनित्यम्' इति न्यायस्य "ह्रस्वान्छणो द्वे", "तौ मुमो व्यजने स्त्री" इत्यनयोरेव विषये नित्यत्वम्, अन्यत्र च तस्यानित्यत्वेन सत्त्व बोध्यमिति "ततोऽस्या" इति विषये वस्य सत्त्वेनापि द्वित्वं भवति । तद्व्वस्य मतम्-तदु अस्य मतम्

१८ इत्यवस्थायामनेन वत्वे तदस्य इत्यत्र "ततोऽस्या" इत्यनेन वकारस्य सत्त्वपक्षे द्वित्वं, नित्यत्वादिकारणेभ्य "अदीर्घाद्वि०" इति बाधित्वा प्रवर्तते । वर्गात् इत्यस्य फल समाधानमुद्येनाह-वर्गादिति किम् ? इत्यादिना, उपैति इत्यन्तेन । अन् इत्यस्य फल समाधानमुखेन पृच्छति-अजिति इत्यादिना, एति इत्यन्तेन । स्वरे परे इति श्रुतिस्यपदस्य फलमाह-स्वर इति किम् इत्यादिना । ननु कुहूह्वस्ते इत्यत्र

२१ परत्वाद्द्वेषापेक्षया पूर्व "ह्रस्वा०" इति द्वित्वे, ततोऽनेन वत्वे रूपसिद्धौ असन् इति किमर्थमिति चेदुच्यते ततोऽपि नित्यत्वात् पूर्व कत्वप्रश्लेषेति असन्नित्यभावे परत्र स्वराभावेन द्वित्वाप्राप्तिरित्याह-असत्त्वाद्वित्वम् । किम्विति इत्यादावेनेन वत्वे तस्य चासत्त्वे "तौ मुमो०" इत्यनेन परत्र व्यञ्जनाभावेन अनुस्वारानुनासिकौ न भवत इत्याह-अनुस्वारानुनासिकाभावश्च असत्त्वादिति शेष ॥ ४० ॥

२४ अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः । अत्र नञा इत्यनुवर्तते पदान्त इति च, अनीनादे अन्ते अइउवर्णस्य नञा अनुनासिक इत्यन्वय । ईद्वेद्विवचनमित्यादिसूत्राविषयाणामन्ते वर्तमानानां पदान्तानां, अइउवर्णानां नञा अनुनासिकादेश इत्यर्थमाह-अवर्णस्य इत्यादिना । ननु पदान्ते इत्यनुवृत्तौ सूत्रेऽन्तग्रहणं किमर्थमित्यत आह-पदान्ताधिकारे इत्यादिना, प्रतिपत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । अन्ते-विरामे वर्त-

२७ मानानां सर्तां पदान्तानां, अइउवर्णानाम् इत्यर्थं, तदाह-स च विरामो इत्यादिना, तदर्थफलमाह-केवलमुपसर्गस्य इत्यादिना । अयमाशय-केवल 'प्र' इत्याद्युपसर्गाणां पदान्तत्वेऽपि विरामाद्युत्तेर्न भवत्यनुनासिकोऽनेन । एवमेव समासान्तर्वर्तिनां पदान्तत्वेऽपि विरामाद्युत्तेर्न भवत्यनुनासिक इति । सामँ-अत्र विरामद्युते सत पदान्तस्वाकारस्य, "ईद्वेद्व०" इत्यादिसूत्राविषयस्यानुनासिकादेशस्त्वद्भावे-साम

३० इति भवति, एवमन्यत्र । ननु नामँ अत्र, नाम अत्र इत्यादौ अनुनासिकादेशे वा तदभावे कथं न सधिरित्याह-विरामत्वाच्च संधिर्न इत्यादिना । "न सधि" इति सूत्रेणैति शेष । सूत्रे अइउवर्णस्य इति फल पृच्छति-अइउवर्णस्येति किम् ? कर्तृ-अत्र अकारस्य अइउवर्णत्वाभावेन नानुनासिकादेश । सूत्रे अन्त इति फल पृच्छति-अन्त इति किम् ? दधि करोति-अत्र विरामाविवक्षया विरामावृत्तित्वाभावात्वा-

३३ अनुनासिक । वृक्षः-ननु वृक्ष इत्याकारस्य पदान्तत्वाभावेन सूत्राप्रवृत्ते, पदान्त इति अन्त इति च पदव्ययफलमिदं कथं भगवता श्रुतिहृत्वा अन्त इत्यस्यैव फलतया प्रदर्शितमिति चेत् वृक्षाकारस्य "कादि"रिति कस्यादिरिति विग्रहे विसर्गस्य व्यञ्जनत्वेन तस्मिन् परे "नामसिद०" इत्यनेन पदान्तत्वा-

३६ नम् "अदो मुमी" "अववर्गात्स्वरे वोऽसन्" इति सूत्रविषयत्वमतो नास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः । अनीनादेरित्युक्त्याऽस्य सूत्रस्य "चादि स्वरोऽनाह" इति सूत्रविषयेऽप्रवृत्तिः, किन्तु विष्णुवाचकभयश्चदसंबोधने तदविषयत्वमुक्त्यैतत्सूत्रप्रवृत्तौ न कश्चिद्दोषः । ननु कथं अ-विष्णो इत्यत्र चादिरिति सूत्राविषय इत्यत आह-चादिसूत्रे चादे. स्वरस्य इत्यादिना । अ-विष्णो इत्यत्र चादित्वाभावात् तदविषय स्पष्ट एव । प्लक्षश्च-

३९ इत्यादौ चस्य चादित्वेऽपि केवलस्वराभावात्तदविषय । पाटलिपुत्रादौ-अत्राहा शुकात् पाटलिपुत्रशब्दात् पश्चमी "आहवचौ" २।३।१०। इति, "चादि स्वरोऽनाह" इति सूत्रेऽनादित्युक्ते स्पष्टमेव तदविषयत्वमिति भावः, सर्वेष्वेतेषूदाहरणेष्वनेनानुनासिक इति दिक् ॥ ४१ ॥

पूर्वभचदारगोपी० । पूर्वस्मिन् भवे ये दारा-प्रमदा एव गोप्यो-विषयगामीनीन्द्रियाणि, तासां हरण तस्य स्मरण तस्मादिव, अत एव ज्वलित-प्रवीत, मन्युः-क्रोधो यस्य तथोक्तं धिया युतो मूलराजः पुरुषोत्तमः-श्रीकृष्ण इव वा तादृशो मूलराज एव पुरुषोत्तमः । दुर्मदा-दुष्टा मदादय एव आभीरास्तान् अवधीत-जघान । अथवा-पूर्वभवे दारा एव गा-इन्द्रियाणि तानि पान्तीति पूर्वभचदारगोपा वाचयमा-वधीकृतेन्द्रिया-सत्सुरास्तेषाम् ई-सपति साधुताहा तस्या हरण इत्यादि प्राग्बोध्यम् । गोपीत्यत्र हलीशावत् प्रपौदरा-

४५ दित्वादिकारकत्वं, अतएव मूलराज पुरुषोत्तमोऽन्यथा तु पुरुष एव । सत्युरथा हि स्वीयसाधुतासंपत्तिवित्तिनाशकविनाशाप्रवृत्तीना अयं तु तेषुत्तमस्तेषां स्वस्य च साधुताया अन्ते वदपरिकर एतावता स्पष्टमेव तस्य पुरुषोत्तमत्व, ज्वलितमन्युत्व च । विद्युत् जगति कस्यचन पुरुषविशेषस्य स्वधन-विनाशस्तृते प्रवीतकोपत्व । अस्य तु परमपरोपकारप्रवणत्वेनान्यधनविनाशेऽपि क्रोधो जायते इति महद्द्वेषित्यं मूलराजस्य ॥ २ ॥

४८ इति श्रीमत्तपागच्छगगनाहमंजिणीतार्थेसावैसांमाऽऽगमोद्धारकशैलानाद्युपतिपरिपूजितपादारविन्दभागमोदयसमिति-वर्द्धमानत्रैनागमदि-राशनेकशासनहितवर्धकस्थानिर्माणोपदेशकभट्टारककुलमूर्द्धन्यश्री १००८ आनंदसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तत्ररणीनीलीनसानसेनामवाता-नवपदीपयूपानोद्यतभयभावभावोद्दोषस्योदयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविधिसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठावेन श्रीसिद्धचक्रा-

५१ राधन-तीर्थोद्धारकेण पन्थासप्रवरश्रीचन्द्रसागराणीन्द्रेण विरचितया श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रवृत्तित्याहारप्रकाशकारवतारिकामामाऽऽनन्द-बोधिण्यां प्रथमस्याध्यायस्य खरसंधिप्रकरणं नाम द्वितीय पाद ॥२॥

॥ अहं ॥

तृतीयः पादः ॥

तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १ । ३ । १ ॥

वेति, पदान्त इति; अनुनासिक इति चानुवर्तते । वर्गतृतीयस्य पदान्ते वर्तमानस्य वर्गपञ्चमे परे वाञ्जुनासिको भवति, स्थान्यासन्नः । वाङ् डवते, वाग् डवते, वाङ्जकारः; वाग्जकारः; वाङ् णकारीयति, वाग् णकारीयति, वाङ् नयति, वाग् नयति, वाङ् मधुरा, वाग् मधुरा; एव पण् नयाः, पङ् नयाः; तन्नयनम्, तद्नयनम्; ककुम्णण्डलम्, ककुम्णण्डलम् । १  
 तृतीयस्येति किम्? स्वर्नयति, हल्मात्रम् । पदान्त इत्येव? विद्मः । पञ्चम इति किम्? वागत्र, पङ् गच्छन्ति । केचित्तु व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके वाऽनुनासिकमिच्छन्ति, तस्य तु “ह्रस्वान्णनो द्वे” ॥ १ । ३ । २७ ॥ इति द्वित्व च नेच्छन्ति, तन्मते—त्वङ् इति, त्वण् इति; श्लिण् इति, श्लिङ् इति; तन् इति, तद् इति, हल्मात्रम्, हल्मात्रम् । ननु पण् नया इत्यादौ १  
 “अदीर्घाद्द्विरामैकव्यञ्जने” ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इत्यनेन तृतीयस्य द्वित्वे कृतेऽनुनासिके च तृतीयस्यापि श्रुतिः प्रामोति? नैवम्, अनुनासिके कृते पश्चाद् द्वित्वस्य भावात्—तेन पण् नयाः, पङ् नयाः इत्यादि सिद्धम् ॥ १ ॥

तृतीयस्य पञ्चमे । अत्र “सो नवेतो” इत्यतो नवेति, “एदोत पदान्तेऽस्य ढृह्” इत्यत पदान्त इति, “अडडवर्गान्ना०” इति १२ अनुनासिक इति चाऽनुवर्तते, स च विधेयस्त्वस्मिन् नवेति सप्रच्यते, पदान्त इति तृतीयस्य इत्यनेनान्वेति । कस्य तृतीय? कस्य पञ्चम? इति च जिज्ञासाया वर्गस्येति लभ्यते, तथा च—पदान्ते वर्गतृतीयस्य वर्गपञ्चमे नवानुनासिक इत्यन्वयः, तत्तद्यमभिप्रेत्यान्वयार्थमाह—वेति पदान्त इत्यादिना, भवति इत्यनेन भगवन्तो वृत्तिकारः । ननु वर्या अनुनासिका पत्र उच्यतमा इति वर्गतृतीयस्य स्थाने कथमादेशपण्कमित्याह— १५  
 स्थान्यासन्न आदेश इति शेषः । यद्वर्गस्तृतीयस्वद्वर्ग एवानुनासिकादेश इत्यतो नानुनासिकपत्रकादेशापत्तिरिति भावः । चाट् डवते—वाङ् डवते इत्यवस्थायां सेर्लकि “जज०” २।१।८६। इति चस्य ऋवे, “घुटस्तृतीय” २।१।७६। इति गत्वे—चाग् डवते इति स्थिता वर्ग-पञ्चमलकाराव्यवहितपूर्वस्य पदान्तस्यस्य वर्गतृतीयकारस्य स्थाने स्थान्यासन्ने पाङ्गिकेऽनुनासिकदेशे सति सिद्ध्यति, एवमन्यत्रापि । चाट् १८  
 जकारः—वाचो जकार इति समासः । वाङ् णकारीयति—णकारमिच्छति “अमाव्ययात्०” ३।४।२३। इति ध्यनि । चाट् मधुरा—वाचा मधुरा इति तृतीया समासोऽसमासो वा । पण् नयाः—पपञ्चद्विहितजसो “उविष्ण सख्याया०” १।४।५४। इति लपि पस्य “घुटस्तृतीय” इति डत्वे पङ् नया इति स्थितेऽनेनानुनासिके णे सति सिद्ध्यति, टवर्गयोगेऽत्र “तवर्गव्य०” १।३।६०। इति नस्य णत्व “पदा- २१  
 न्तात्०” १।३।६३। इति नियेयाज भवति । तन्नयनम्—तद् नयनम् इति स्थिते, “घुटस्तृतीय” इति दस्य दत्वे, तन्मानेनानुनासिके तन् नयनम् इत्यत्र “नात्रो नोऽनह्” २।१।९।१। इति न लोपो न भवति, दस्याश्चत्वेन तत्स्थानापन्नस्य नस्याप्यस्यत्वात् । ककुम्णण्डलम्—ककुमां मण्डलमिति विग्रहः, ककुम् मण्डलम् इत्यत्र “घुटस्तृतीय” इति भस्य वत्त्वेनेन तस्यानुनासिके सति सिद्ध्यति, “तां मुमो” १।३।१४। इति २४  
 अनुस्वारस्तु पूर्वस्मादसदित्यनुवर्तते न भवति, ‘लक्षणपरिभाषया’, ‘असिद्धमिति’ न्यायेन वा । सूत्रे तृतीयस्येत्यस्य फल पृच्छति—तृतीय-स्येति किम्? इति । हल्मात्रम्—ढृवे हल्मात्रम्, क्वचित्कार्ये मात्रम् । हल् च तत् मात्र चेति ‘मात्रमवधारणे’, हल् मात्राऽस्येति वा विग्रहः, अत्र नानुनासिको षत्वस्य वर्गतृतीयत्वाभावात् । पदान्त इत्यस्य फलमाह—पदान्त इत्येव? इति । विद्मः—विदेमंसि रूपम्, अत्र न २७  
 वर्गतृतीयस्य दशानुनासिक पदान्तत्वाभावात् । पञ्चम इत्यस्य फल पृच्छति—पञ्चम इति किम्? वागत्र—अत्र वर्गपयमाव्यवहितपूर्वत्व वर्गतृतीयस्य नास्ति किन्त्वकाराव्यवहितपूर्वत्वमस्तीति भावः । व्यञ्जनस्य स्थानित्वमनुनासिकमात्रस्य तु निमित्तत्वसिच्छता पाणिनिश्राकटायनदेवतन्दि-  
 विश्रान्तविधाधराणा मतमाह—केचित्तु इत्यादिना । “शरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा” पा० ८।४।४५।, “हलोऽनुनासिकेऽनुनासिक स्व” शा० ३०  
 १।१।१०६।, “शरो षो विमापा षे” जै० ५।४।१२५। देवनन्दी इति जैनेन्द्रप्रक्रियाया । ननु येषां मते व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके परेऽनुनासिक इति तन्मते “ह्रस्वान्णनो द्वे” १।३।२७। इति द्वित्व भवति नवेत्यत आह—तस्य तु “ह्रस्वान्णनो द्वे” इत्यादिना । तस्य—अनुनासि-  
 कस्य, तु इत्यभिप्रेण सवच्यते, नेच्छन्ति पाणिन्यादय इति, तन्मते—उदाहरति त्वङ् ह्लादिषु त्रिषु च सति कृतगडदाना ङगना ३६  
 सिद्धा, असदित्यधिकांश्च “ह्रस्वात्०” इति द्वित्वाभावः । हल्मात्रम्—अत्र चतुर्थे प्रयोगे चानुनासिको लकारः, इमेऽलौकिका अत उपेक्षिता । ननु पङ् नया इत्यादौ अनुनासिकात् पूर्व ङकारद्वित्वे पङ् नया इति स्थितेऽन्यहस्यानेनानुनासिके पङ् नया इति भाव्यमित्याशङ्कते—ननु इत्या-  
 दिना, समाधत्ते—नैवम् इत्यादिना । “अदीर्घात्०” १।३।२३। इत्यत्रान्विलिखिकारात् द्वित्वात् पूर्वमनुनासिकप्रवृत्ते । तत्फलमाह—तेन इत्यादिना । ३६  
 अपि च व्यञ्जनस्य स्थानित्वेऽपि पदान्ते वर्तमानानां वर्गप्रथमद्वितीयचतुर्थाधराणां “घुटस्तृतीय” इति तृतीय । यलवानां प्रायेण पदान्ते प्रयोगाभावः, सस्य च “सोह” २।१।७२। इति रुत्वम्, शस्य च “यजसृज०” २।१।८७। इति पत्वम्, पारिशेष्यात् तृतीय एव लभ्यत, इति कृत्वा भगवता व्यञ्जनमात्रस्य स्थानित्वमुपेक्षितमनुनासिकस्य च निमित्तत्वमिति भावः ॥ १ ॥

जान्त्वस्य रुजति, जानू अस्य रुजति; तद्वचस्य मतम्, तदु अस्य मतम् । वर्गादिति किम् ? स्वर उपैति, अन्तरु उपैति । अजिति किम् ? घञु एति । स्वर इति किम् ? किमु गच्छति । असत्त्वाद् द्वित्वमनुस्वारानुनासिकाभावश्च ॥ ४० ॥

अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः ॥ १ । २ । ४१ ॥

अवर्णस्येवर्णस्योवर्णस्यच अन्ते-विरामे वर्तमानस्यानुनासिक आदेशो वा भवति, अनीनादेः-न चेदयम् "ईददेत् द्विवचनम्" ॥ १ । २ । ३४ ॥ इत्यादिसूत्रसवन्धी भवति । पदान्ताधिकारेऽन्तग्रहण विरामप्रतिपत्त्यर्थम्, स च विरामो भवन् पदस्यान्ते भवति, केवलमुपसर्गस्य समासान्तवर्तिनश्च न भवति । सामँ, साम; खट्टो, खट्टा; दधिँ, दधि; कुमारीँ, कुमारी; मधुँ, मधु, वृक्षेणँ, वृक्षेण; नामँ अत्र, नाम अत्र, दधिँ अत्र, दधि अत्र, मधुँ अत्र, मधु अत्र, वृक्षेणँ अत्र, वृक्षेण अत्र; विराम-त्वाच्च सधिर्न भवति । अइउवर्णस्येति किम् ? कर्त्तु, हर्त्तु । अन्त इति किम् ? दधि करोति, मधु करोति, वृक्षः । अनीदा-देरिति किम् ? अग्नी, वायू, अमू, अमी, किमु । चादिसूत्रे चादे. स्वरस्य केवलस्याइवर्जितस्य च ग्रहणादिह भवत्येव-अं इति विष्णोः सवोधनम्, प्लक्षश्च, न्यग्रोधश्च, पाटलिपुत्रादाँ ॥ ४१ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितया श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्योपशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-

१२

शिकावृत्तो प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥

पूर्वभवदारगोपीहरणस्मरणादिव ज्वलितमन्युः ।

श्रीमूलराजपुरोत्तमोऽवधीर्दुर्मदाभीरान् ॥ २ ॥

- १५ इत्यनुनासिके च सति भवति । जान्त्वस्य रुजति-अत्र असन्नित्यत्र वा इति योजने पक्षे वस्य सत्त्वविधानात् "ततोऽस्या" १३३३४ इत्यनेन चकारद्वित्वम् । अथवा 'नया निर्दिष्टमनित्यम्' इति न्यायस्य "ह्रस्वाऽऽनो द्वे", "तौ मुमो व्यजने सौ" इत्यनयोरेव विषये नित्यत्वम्, अन्यत्र च तस्यानित्यत्वेन सत्त्व बोध्यमिति "ततोऽस्या" इति विषये वस्य सत्त्वेनापि द्वित्वं भवति । तद्वचस्य मतम्-तदु अस्य मतम्
- १८ इत्यवस्थायामनेन वत्ये तद्वस्य इत्यत्र "ततोऽस्या" इत्यनेन चकारस्य सत्त्वपक्षे द्वित्वं, नित्यत्वादिकारणेभ्य "अदीर्घाद्वि०" इति षाधित्वा प्रवर्तते । वर्गात् इत्यस्य फल समाधानमुत्पेनाह-वर्गादिति किम् ? इत्यादिना, उपैति इत्यन्तेन । अम् इत्यस्य फल समाधानमुत्पेन पृच्छति-अजिति इत्यादिना, एति इत्यन्तेन । खरे परे इति वृत्तिस्यपदस्य फलमाह-स्वर इति किम् इत्यादिना । ननु कृद्वाहस्ते इत्यत्र
- २१ परत्वाद्दत्तापेक्षया पूर्व "ह्रस्वा०" इति द्वित्वे, ततोऽनेन वत्ये रूपसिद्धौ असत् इति किमर्थमिति चेदुच्यते ततोऽपि नित्यत्वात् पूर्व वत्वप्रश्नोरिति असन्नित्यभावे परत्र स्वराभावेन द्वित्वात्प्रतिरिह्याह-असत्त्वाद्वित्वम् । किञ्चित् इत्यादावनेन वत्ये तस्य चासत्त्वे "तौ मुमो०" इत्यनेन परत्र व्यञ्जनाभावेन अनुस्वारानुनासिकौ न भवत इत्याह-अनुस्वारानुनासिकाभावश्च असत्त्वादिति शेषः ॥ ४० ॥
- २४ अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः । अत्र नवा इत्यनुवर्तते पदान्त इति च, अनीदादे अन्ते अइउवर्णस्य नवा अनुनासिक इत्यन्वयः । ईददेद्विवचनमित्यादिसूत्राविषयाणामन्ते वर्तमानानां पदान्तानां, अइउवर्णानां नवा अनुनासिकादेश इत्यर्थमाह-अवर्णस्य इत्यादिना । ननु पदान्ते इत्यनुवृत्तौ सूत्रेऽन्तग्रहण किमर्थमित्यत आह-पदान्ताधिकारे इत्यादिना, प्रतिपत्त्यर्थम् इत्यन्तेन । अन्ते-विरामे वर्तमानानां सतो पदान्तानां, अइउवर्णानाम् इत्यर्थं, तदाह-स च विरामो इत्यादिना, तदर्थफलमाह-केवलमुपसर्गस्य इत्यादिना ।
- २७ अयमाशय-केवल 'अ' इत्याद्युपसर्गाणां पदान्तत्वेऽपि विरामाद्युत्तेर्न भवत्यनुनासिकोऽनेन । एवमेव समासान्तवर्तिनां पदान्तत्वेऽपि विरामाद्युत्तेर्न भवत्यनुनासिक इति । सामँ-अत्र विरामवृत्ते सत पदान्तस्याकारस्य, "ईददेद०" इत्यादिसूत्राविषयस्यानुनासिकादेशस्यदभावे-सामँ इति भवति, एवमन्यत्र । ननु नामँ अत्र, नाम अत्र इत्यादौ अनुनासिकादेशे वा तदभावे कथं न सधिरित्याह-विरामत्वाच्च संधिर्न इत्यादिना । "न सधि" इति सूत्रेणैति शेषः । सूत्रे अइउवर्णस्य इति फल पृच्छति-अइउवर्णस्येति किम् ? कर्त्तु-अत्र ऋकारस्य अइउवर्ण-त्वाभावेन नानुनासिकादेशः । सूत्रे अन्त इति फल पृच्छति-अन्त इति किम् ? दधि करोति-अत्र विरामाविषयस्य विरामवृत्तित्वाभावात्-इत्यादिना । वृक्ष-ननु वृक्ष इत्यत्राकारस्य पदान्तत्वाभावेन सूत्राप्रवृत्ते, पदान्त इति अन्त इति च पदद्वयफलमिदं कथं भगवता वृत्तिकृता अन्त इत्यस्यैव फलतया प्रदर्शितामिति चेदपृष्टाकारस्य "कादि"रिति कस्यादिरिति विप्रदे विसर्गस्य व्यञ्जनत्वेन तस्मिन् परे "नामसिद०" इत्यनेन पदान्तत्वाद्युक्तं फलम् । सूत्रे अनीदादेरिति फल पृच्छति-अनीदादेरिति किम् ? अग्नी, वायू, अमू, अमी, किमु-एषु यथाक्रम "ईददेत् द्विवचनम्" "अदो मुमी" "अवर्णात्खरे वोऽसन्" इति सूत्रविषयत्वमतो नास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः । अनीदादेरित्युक्त्याऽस्य सूत्रस्य "चादि खरोऽनाह" इति सूत्रविषयेऽप्रवृत्तिः, किन्तु विष्णुवाचकअशब्दसंबोधने तदविषयमवबुध्यैतत्सूत्रप्रवृत्तौ न कश्चिद्दोषः । ननु कथं अ-विष्णो इत्यत्र चादिरिति सूत्राविषय इत्यत आह-चादिसूत्रे चादेः स्वरस्य इत्यादिना । "अ-विष्णो" इत्यत्र चादित्वाभावात् तदविषय स्पष्ट एव । प्लक्षश्च-इत्यादौ चस्य चादित्वेऽपि केवलस्वराभावात्तदविषयः । पाटलिपुत्रादाँ-अत्राहा युक्त्वात् पाटलिपुत्रशब्दात् पञ्चमी "आहावधौ" २।१।१०। इति, "चादि खरोऽनाह" इति सूत्रेऽनादित्युक्ते स्पष्टमेव तदविषयत्वमिति भावः, सर्वेष्वेतेषुदाहरणेऽनेनानुनासिक इति दिक् ॥ ४१ ॥
- ४२ अत एव ज्वलित-प्रवीत, मन्युः-क्रोधो यस्य तथोक्तं श्रिया युतो मूलराजः पुरुषोत्तमः-श्रीकृष्ण इव वा तादृशो मूलराज एव पुरुषोत्तमः । दुर्मदा-दुष्टा मदादय एव आभीरास्तान् अवधीत-जघान । अथवा-पूर्वभवे दारा एव ना-इन्द्रियाणि तानि पान्तीति पूर्वभव-दारगोपा नाचयमा-वधीकृतेन्द्रिया-सत्पुरुषास्तेषाम् ई-सपति साधुतारुषा तस्या हरण इत्यादि प्राग्बोध्यम् । गोपीसूत्र हलीशावत् प्रयोदरा-दाराणां नाचयमा-वधीकृतेन्द्रिया-सत्पुरुषा एव । सत्पुरुषा हि स्वीयसाधुतासपत्तिविनाशकविनाशाप्रवीणा अथ तु वेत्तुमत्स्येषां
- ४५ दिवादेकारच्छक, अतएव मूलराज पुरुषोत्तमोऽन्यथा तु पुरुष एव । सत्पुरुषा हि स्वीयसाधुतासपत्तिविनाशकविनाशाप्रवीणा अथ तु वेत्तुमत्स्येषां स्वस्य च साधुताया अनेन चन्द्रपरिक्तर एतावता स्पष्टमेव तत् पुरुषोत्तमत्व, ज्वलितमन्युत्वं च । विश्रुतं जगति कस्यचन पुरुषविशेषस्य स्वधन-विनाशसृष्टे प्रवीतकोपत्व । अस्य तु परमपरोपकारप्रवणत्वेनान्यधनविनाशेऽपि क्रोधो जायते इति महद्बैचित्र्यं मूलराजस्य ॥ २ ॥
- ४८ इति श्रीमत्तपागच्छगगनाहमैर्गिणीतार्थसावेमौमाऽऽगमोद्धारकशैलानाद्युपतिपरिपूजितपादाराविन्दैर्वागमोदयसमिति-वर्द्धमानजैनागमदि-राथनेकशासनहितवर्धकस्यानिर्माणोपदेशकमद्भारककुलमुर्द्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तत्परिणतिवीनमानसेनानवाप्त-नवपदपीयूषपानोद्यतभव्यभावभावोद्बोधसुशोदयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविषयस्यस्यसंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा- ५१ राधन-तीर्थोद्धारकेण पद्म्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितया श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रवृत्तिसाम्राज्यकारवतारिकायामाऽऽनन्द-बोधिण्यां प्रथमस्याध्यायस्य स्वरसधिरकरणं नाम द्वितीयः पादः ॥२॥

॥ अहं ॥

तृतीयः पादः ॥

तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १ । ३ । १ ॥

३

वेति, पदान्त इति; अनुनासिक इति चानुवर्तते । वर्गतृतीयस्य पदान्ते वर्तमानस्य वर्गपञ्चमे परे वाऽनुनासिको भवति, स्थान्यासन्नः । वाङ् डवते, वाग् डवते, वाङ्जकारः, वाग्जकारः; वाङ् णकारीयति, वाग् णकारीयति; वाङ् नयति, वाग् नयति; वाङ् मधुरा, वाग् मधुरा, एव षण् नयाः, षड् नयाः; तन्नयनम्, तद्नयनम्; ककुम्भण्डलम्, ककुम्भण्डलम् । १  
तृतीयस्येति किम् ? स्वर्नयति, हल्मात्रम् । पदान्त इत्येव ? विद्मः । पञ्चम इति किम् ? वागत्र, षड् गच्छन्ति । केचित्तु व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके वाऽनुनासिकमिच्छन्ति, तस्य तु “ह्रस्वान्ङणनो द्वे” ॥ १ । ३ । २७ ॥ इति द्वित्व च नेच्छन्ति, तन्मते—त्वङ् इति, त्वङ् इति; श्र्लिङ्गं इति, श्र्लिङ्गं इति; तन् इति, तद् इति; हल्मात्रम्, हल्मात्रम् । ननु पणनया इत्यादौ २  
“अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने” ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इत्यनेन तृतीयस्य द्वित्वे कृतेऽन्तस्यानुनासिके च तृतीयस्यापि श्रुतिः प्राप्नोति ? नैवम्, अनुनासिके कृते पश्चाद् द्वित्वस्य भावात्—तेन पण्णनयाः, षड्ङनयाः इत्यादि सिद्धम् ॥ १ ॥ ३

तृतीयस्य पञ्चमे । अत्र “सौ नवेतौ” इत्यतो नवेति, “एदोत पदान्तेऽस्य लृक्” इत्यत पदान्त इति, “अडवर्गस्यां” इति १२ अनुनासिक इति चाऽनुवर्तते, स च विधेयस्तस्मिन् नवेति संबध्यते, पदान्त इति तृतीयस्य इत्यनेनान्वेति । कस्य तृतीय ? कस्य पञ्चम ? इति च जिज्ञासाया वर्गस्येति लभ्यते, तथा च—पदान्ते वर्गतृतीयस्य वर्गपञ्चमे नवाऽनुनासिक इत्यन्वय, तत्सर्वमभिप्रेत्यान्वयार्थमाह—वेति पदान्त इत्यादिना, भवति इत्यन्तेन भगवन्तो वृत्तिकारा । ननु वर्ग्या अनुनासिका पञ्चमपणनया इति वर्गतृतीयस्यैकस्य स्थाने कथमादेशपञ्चममित्याह— १५ स्थान्यासन्न आदेश इति शेष । यद्वर्ग्यस्तृतीयस्यद्वयार्थ एवानुनासिकादेश इत्यतो नानुनासिकपञ्चमकादेशापत्तिरिति भाव । वाङ् डवते—वाङ् डवते इत्यवस्थाया सेल्लिकि “नञ्” २।१।८६। इति चस्य कत्वे, “धुटस्तृतीय” २।१।७६। इति गत्वे—वाग् डवते इति स्थितौ वर्गपञ्चमलकाराव्यवहितपूर्वस्य पदान्तस्थस्य वर्गतृतीयगकारस्य स्थाने स्थान्यासने पाक्षिकेऽनुनासिकादेशे सति सिद्ध्यति, एवमन्यत्रापि । वाङ् १८ जकारः—वाचो जकार इति समास । वाङ् णकारीयति—णकारमिच्छति “अमाव्यादात्” ३।४।२३। इति क्यनि । वाङ् मधुरा—वाचा मधुरा इति तृतीया समासोऽसमासो वा । षण् नयाः—पश्चाद्वाङ्ङितजस्यो “ङतिष्ण सख्यायां” १।४।५४। इति लुपि पस्य “धुटस्तृतीय” इति ङत्वे षड् नया इति स्थितेऽनेनानुनासिके णे सति सिद्ध्यति, टवर्गयोगेऽत्र “तवर्गस्य” १।३।६०। इति नस्य णत्व “पदा- २१ न्तात्” १।३।६३। इति निषेधाच्च भवति । तन्नयनम्—तद् नयनम् इति स्थिते, “धुटस्तृतीय” इति दस्य दत्वे, तस्यानेनानुनासिके तत् नयनम् इत्यत्र “नात्रो नोऽनन्ह” २।१।९।१। इति न लोपो न भवति, दस्यासत्त्वेन तत्स्थानापञ्चस्य नस्याप्यसत्त्वात् । ककुम्भण्डलम्—ककुम्भो मण्डलमिति विग्रह, ककुम्भ मण्डलम् इत्यत्र “धुटस्तृतीय” इति भस्य वत्त्वेऽनेन तस्यानुनासिके सति सिद्ध्यति, “तौ मुनो” १।३।१४। इति २४ अनुस्वारस्तु पूर्वसमादसदित्यनुवृत्तेर्मस्य न भवति, “लक्षणपरिभाषया”, “असिद्धमिति” न्यायेन वा । सूत्रे तृतीयस्येत्यस्य फल पृच्छति—तृतीयस्येति किम् ? इति । हल्मात्रम्—ह्रस्वे हल्मात्रम्, कचित्स्वार्थे मात्रद । ह्रस्व च तद मात्र चेति “मात्रमवधारणे”, ह्रस्व मात्राऽस्येति वा विग्रह, अत्र नानुनासिको लक्षस्य वर्गतृतीयत्वाभावात् । पदान्त इत्यस्य फलमाह—पदान्त इत्येव ? इति । विद्मः—विदेमंसिरूपम्, अत्र न २७ वर्गतृतीयस्य दस्यानुनासिक पदान्तत्वाभावात् । पञ्चम इत्यस्य फल पृच्छति—पञ्चम इति किम् ? वागत्र—अत्र वर्गपञ्चमाव्यवहितपूर्वत्व वर्गतृतीयस्य नासि किन्त्वकाराव्यवहितपूर्वत्वमस्तीति भाव । व्यञ्जनस्य स्थानित्वमनुनासिकमात्रस्य तु निमित्तत्वमिच्छता पाणिनिशाकटायनदेवनन्दि-विश्रान्तविधाधरणा मतमाह—केचित्तु इत्यादिना । “यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा” पा० ८।४।४५।, “ह्रलोऽनुनासिकेऽनुनासिक स्त्र” शा० ३० १।१।१०६।, “यरो षो विभाषा छे” जै० ५।४।१२५। देवनन्दी इति जैनेन्द्रप्रक्रियाया । ननु येषा मते व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके परेऽनुनासिक इति तन्मते “ह्रस्वान्ङणनो द्वे” १।३।२७। इति द्वित्व भवति नवेत्यत आह—तस्य तु “ह्रस्वान्ङणनो द्वे” इत्यादिना । तस्य—अनुनासिकस्य, तु इत्यभिप्रेण संबध्यते, नेच्छन्ति पाणिन्यादय इति, तन्मते—उदाहरति त्वङ् इत्यादिषु त्रिषु च उचिति कृतगढदाना ङगना ३३ सिद्धा, असदित्यधिकाराच्च “ह्रस्वात्” इति द्वित्वाभाव । हल्मात्रम्—अत्र चतुर्थे प्रयोगे सानुनासिको लकार, इमेऽलौकिका अत उपेक्षिता । ननु षड्ङनया इत्यादौ अनुनासिकात् पूर्वं ङकारद्वित्वे षड्ङनया इति स्थितेऽन्यदस्यानेनानुनासिके षड्ङनया इति भावमित्याशङ्कते—ननु इत्यादिना, समाधत्ते—नैवम् इत्यादिना । “अदीर्घात्” १।३।३२। इत्यत्रानित्यधिकारात् द्वित्वात् पूर्वमनुनासिकप्रवृत्ते । तत्फलमाह—तेन इत्यादिना । ३६ अपि च व्यञ्जनस्य स्थानित्वेऽपि पदान्ते वर्तमानाना वर्गप्रथमद्वितीयचतुर्थीक्षरणा “धुटस्तृतीय” इति तृतीय । यल्लाना प्रत्येण पदान्ते प्रयोगामाह, सस्य च “षीच” २।१।७२। इति रुत्वम्, सस्य च “यञ्जस्य” २।१।८७। इति षत्वम्, पारिषोप्यात् तृतीय एव लभ्यत, इति कृत्वा भगवता व्यञ्जनमात्रस्य स्थानित्वनुपेक्षितमनुनासिकस्य च निमित्तत्वमिति भाव ॥ १ ॥

३९



## प्रत्यये च ॥ १ । ३ । २ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य तृतीयस्य स्थाने पञ्चमादौ प्रत्यये परेऽनुनासिको भवति । नित्यार्थं वचनम् । वाङ्मयम्, गुह-  
३ लिप्मान्; पण्णाम् । पदान्त इत्येव ? यज्ञः, सञ्ज । चकार उत्तरत्र विकल्पानुवृत्त्यर्थः ॥ २ ॥

## ततो हश्चतुर्थः ॥ १ । ३ । ३ ॥

पदान्ते वर्तमानात् ततस्तृतीयात् परस्य हकारस्य स्थाने प्रत्यासत्त्या पूर्वसवर्गश्चतुर्थो वा भवति । वाग्धीनः,  
६ वाग्हीनः, अज्जलौ, अज्जलौ, पड्डलानि, पड्डलानि, तद्धितम्, तद्धितम्, ककुम्भासः, ककुम्भासः । तत इति किम् ?  
प्राड् हसति, भवान् हरति ॥ ३ ॥

## प्रथमादधुटि शब्दः ॥ १ । ३ । ४ ॥

९ पदान्ते वर्तमानात् प्रथमात् परस्य शकारस्य स्थानेऽधुटि परे छकारादेशो वा भवति । वाक्शूरः, वाक्शूरः; वाक्शूरः,  
वाक्शूरः, तच्छ्वेतम्, तच्छ्वेतम्, उच्छ्वशुः, उच्छ्वशुः; तच्छ्वीलति, तच्छ्वीलति; पट्ट्यासाः, पट्ट्यासाः; त्रिष्टुपुष्टुत्तम्,  
त्रिष्टुपुष्टुत्तम् । प्रथमादिति किम् ? वाक्शूरः, भवान् शोभनः । अधुटीति किम् ? वाक्शूर्योतति ॥ ४ ॥

१२ प्रत्यये च । अत्र पदान्ते अनुनासिक तृतीयस्य पञ्चमे इति चानुवर्तते, पञ्चमे इति 'प्रत्यये' इत्यस्य विशेषण, "सप्तम्या आदि" १४।१।१४।१ इति आदिपदोपस्थित्या पञ्चमादौ प्रत्यये इत्यर्थलाभ, पदान्ते वर्गतृतीयस्य पञ्चमादौ प्रत्ययेऽनुनासिक इत्यन्वय, तदर्थमाह—पदान्ते इत्यादिना । ननु पूर्वसङ्ग्रेषेण पदान्तस्यस्य वर्गतृतीयस्य पञ्चमादौ प्रत्ययेऽनुनासिकसिद्धे किमर्थमिदमित्याह—नित्यार्थम् इत्यादिना । वाङ्मयम्-  
२५ वाच आगतमित्यर्थे विकारोऽवयवो वा इत्यर्थे, "ट्ट हेतुभ्यो" ६।३।१।५६। इत्यनेन, "एकसरात्" ६।२।४।८। इत्यनेन वा मयद्, वाक् मयम्-इत्यत्र चस्य कत्वे, तस्य च गत्वेऽनेनानुनासिक । गुडलिप्मान्—गुड लेडीतिविग्रहे, "किप्" ५।१।१।४।८। इति किपि, "होषुद्" २।१।८।२। इति ङद्वे, "धुट" इति ङत्वे, गुडलिप् अस्यातीति विग्रहे, "तदस्याऽस्त्यसि" ७।२।१। इति मत्तौ, प्रथमैकवचने गुडलिहमान्  
२८ इत्यत्र ङस्यानेन ण । पण्णाम्—पण "सख्यानां णाम्" १।४।३।३। इत्यामो नामादेशे, तृतीययत्वेऽनेन णत्वे षण् नाम् इत्यत्र 'अनाम्रग-  
रीनचते'रित्युक्त्या "पदान्तात्" १।३।६।३। इति प्रतिषेधाभावात्, "तवर्गस्य" १।३।६।०। इति नामो नस्य णत्वम् । पदान्त इत्यनुवृत्तिफलमाह—  
पदान्त इत्येवेति । यज्ञः—"यजिस्वपिरसि" ५।३।८।५। इति ने, नस्य च "तवर्गस्य" इति ङत्वे, यज्ञ न इत्यत्रापदान्तत्वाज्ज्यानेनानु-  
२१ नासिको न । "प्रत्यये च" इति सूत्रे चकार किमर्थं इत्याह—चकार इत्यादिना । चकार पूर्वसूत्रसैवास्य योगस्य शेषता प्रतिपादयन्नात्मनि  
वेत्यस्य सवन्धाभाव तदनुवृत्तेःश्राव्यवधान सूचयतीति भाव ॥ २ ॥

ततो हश्चतुर्थः । अत्र पदान्ते नवेति चानुवर्तते, पदान्ते तत ह चतुर्थं इत्यन्वय । अत्र तत इति तच्छब्दात् पूर्वप्रक्रान्तवर्गवर्तनीय  
२४ परामृश्यते । ननु तत इति किमर्थं ? यतोऽर्थवशाद्भिक्षपरिणाम' इति न्यायात् पूर्वस्मात्तृतीययत्वेऽनुवृत्त्यात्र पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामात्तृतीयादि-  
त्यर्थलाभादिति चेदुच्यते—'तृतीयस्य' इत्यनुवृत्तौ तत इत्यभावे हकारात् परस्य तृतीयस्येति सूत्रार्थं स्यात्तन्मा भूत् इति तदावयवकत्वात्, न च  
पदान्ते हकारासम्भव, भूतपूर्वगत्या तत्सम्भवात् । पञ्चम इत्यस्याननुवृत्त्यर्थं च तत इति, अन्यथा तपुत्ते, तद्वलयति इत्यादावेव चतुर्थं स्यात्तु  
२७ वाग्धीन इत्यादौ । यद्यपि हकारस्य कण्ठगत्येन तदासन्नपकारेणैव मान्य न ऋधमैरिति पूर्वग्रहण कर्तव्य, तथापि सूत्रे चतुर्थं इत्युक्त्या निमित्त-  
प्रत्यासत्तिराश्रीयते, अन्यथा हो ष इति विद्व्यात् । तदेतन्मनसि निधायाह—पदान्ते वर्तमानात् इत्यादिना । वाग्धीनः—वाचा हीन इति विग्रह ।  
अत्र चस्य कत्वे गत्वे च तस्मात् परस्य हस्य गजातीयो ष, एवमन्यत्र । अज्जलौ—अच् च हल् चेति विग्रह । 'अच्' इति प्राचा सज्ञा  
३० हल् इति च । अत्र जकारात् परस्य, हस्यानेन झ । 'अच्' इत्यत्र चस्य कत्वाभाव सज्ञाभङ्गमियाऽन्यथाक् इति समानाना अश्चक्रेत् इत्येषां  
बोध स्यादिति चस्य "धुट" इति ङत्वे सर्वेष्टसग्रह । एतेन "सिजयतन्याम्" ३।४।५।३। इत्यादिप्रयोगा व्याख्याता । पड्डलानि—  
असमस्तप्रयोग, अत्र पदान्तङात् परस्य हस्य पूर्वसवर्गश्चतुर्थो ङ । तद्धितम्—तस्यै हितमिति विग्रह, अत्र पदान्तवर्गवर्तनीयत्वात् परस्य हस्य  
३३ ष पूर्वसवर्ग । ककुम्भासः—ककुम्भा हास इति विग्रह, अत्र मस्य तृतीययत्वे तत्परस्य हस्य तत्सजातीयश्चतुर्थो ङ । सूत्रे तत इत्यस्य फल  
वृत्तयि—प्राड् हसति । प्रपूर्वकाद्भवे कौ, "अबोऽनर्चायाम्" ४।२।४।६। इति नलोपे, सर्वेष्कि "अच" १।४।६।९। इति नागमे, "पदस्य"  
२।१।८।९। इति चकारलोपे, "युजव" ३।१।७।१। इति नस्य ङकारे—प्राड् हसतीत्यत्र ङात् परस्य हस्य घो मा भूदिति तत इति ॥ ३ ॥

प्रथमादधुटि शब्दः । अत्र पदान्ते नवा इति चानुवर्तते, पदान्ते प्रथमात् श अधुटि छ नवा इत्यन्वय । अधुटि इत्यत्र  
३४ पर्युदासार्थको नच्, तेन धुडभिक्षधुदसदशा खरान्त स्थानुनासिका एव अधुट, तेषु परेषु वर्गप्रथमात् परस्य शस्य पदान्तस्यस्य 'छ' इत्या-  
देशो नवा भवतीत्यर्थमाह—पदान्ते वर्तमानात् प्रथमात् इत्यादिना । वाक्शूरः—वाचा शूर इति विग्रह । अत्र वाक् इत्यत्र चस्य कत्वे  
३९ तस्य गत्वे तत शूर इति योगे, "अधोषे प्रथमोऽधित" १।३।५।०। इति प्रथमे, वाक् शूर इति स्थिते पदान्तकृतेर्वर्गप्रथमात् कात् परस्य अधुद-  
खरोकारपरस्य च शस्य विभाषा छ इति समन्वय । वाक्शूरः—वाचा शूर इति विग्रह । अत्र कात् परस्य अधुदपरस्य च शस्य स्थाने छ ।  
तच्छ्वेतम्—अत्र "धुटस्तृतीय" इति दकारस्य दकारे तस्मात् परस्य अधुद परस्य च शस्य स्थाने छ । उच्छ्वशुः—उद्वृत्तानि श्मश्रुपि नस्य  
४२ स इति विग्रह । पट्ट्यासाः—पण्णां श्यामा । त्रिष्टुपुष्टुत्तम्—त्रिष्टुभ श्रुतम् । नन्वेतेषु तृतीयस्य प्रथमे सत्यस्य प्रवृत्तेरिति पूर्वोक्त इत्य-  
नुवृत्त्य सर्वेष्टसिद्धौ "प्रथमात्" इति किमर्थं ? न चैतत्सूत्रापेक्षया "अधोषे" इति परत्वात् पूर्वमेव प्रथमो विधास्यति, यत्तत्रत्रान्वित्यधिद्वार-  
सत्वात् इति चेदुच्यते तृतीयादनेन तदपेक्षया प्रागेव छत्वे पश्चात्प्रथमत्वानापत्तेर्विधानसामर्थ्यात्, अन्यथाय कथं तृतीयात् छो विद्व्यात् ।  
४५ वाक्शूर्योतति—वर्गप्रथमात् कात् परस्य शस्य अधुदपरकत्वाभावात् छ । पर्युदासफल द्व वाक् श इत्यत्र छत्वात् ॥ ४ ॥

रः कखफयोः क्लृत्वा ॥ १ । ३ । ५ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य कखे पफे च परे यथासङ्ख्यं क्लृप्त्वा जिह्वामूलीयोपध्मानीयावादेशौ वा भवतः, ककारपका-  
राकारा उच्चारणार्थाः । कङ्करोति, कङ्कनति, कङ्कचति, कङ्कलति, अन्तङ्करोति, अन्तङ्कलति, पक्षे "रः पदान्ते विसर्ग-  
स्तयोः" ॥ १ । ३ । ५ ॥ इत्यनेन विसर्गः-कः करोति, कः खनति, कः पचति, कः फलति, अन्तः करोति; अन्तः  
फलति । विसर्गापवादोऽयम्, एवमुत्तरावपि ॥ ५ ॥

शषसे शषसं वा ॥ १ । ३ । ६ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य शषसेषु परेषु यथासङ्ख्यं श ष स इत्येते आदेशा वा भवन्ति । कङ्करोते, कः शेते; कष्यण्डः,  
कः षण्डः; कस्तसाधुः, कः साधुः; अन्तःशेते, अन्तः शेते, मातःषण्डे, मातः षण्डे, पयस्सु, पयःसु । कथं गीर्षु, धूर्षु ?  
अरो रेफस्य सुपि रेफो वक्ष्यते । कः शकार इत्यादिषु त्वघोषे शिट्परे विसर्जनीयस्य विधानाद् रेफ एव नास्तीति न  
भवति, एवं पूर्वोत्तरयोरपि योगयोर्द्रष्टव्यम्-वासः क्षौमम्, अङ्गिः प्सातम्; असेः त्सरुः । नवाऽधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र  
विकल्पनिवृत्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

चटते सद्वितीये ॥ १ । ३ । ७ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य चटतेषु सद्वितीयेषु परेषु यथासङ्ख्यं श ष स इत्येते आदेशा भवन्ति । चलयोः शः-

रः कखफयोः क्लृप्त्वा । अत्र पदान्ते नवेति चातुवर्तते, पदान्ते र कखफयो क्लृप्त्वा इत्यन्वयः । कथं तस्य कार्यं,  
पक्ष कख फफौ, कखौ च फफौ च इति कखफफौ तयोरिति द्वन्द्वानौ द्वन्द्वः । जिह्वामूलीयोपध्मानीयो इति पूर्वोच्चारणार्थां सङ्गा, तदेतदाह—  
पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । क्लृप्त्वा इत्यत्र ककारपकाराकाराणां किं प्रयोजनमित्याह—ककारपकाराकारा इत्यादिना । कङ्करोति-  
अत्र "किम् कस्तसाधौ च" १।१।५० इति कादेशे सेस्तु "सो रु"रिति क्वे, कर् करोति इति स्थिते काव्यचहितपूर्वस्य पदान्तरेफस्य क्लृप्त्वा पक्षे  
विसर्ग "र पदान्ते" १।३।५३ इति । एवमन्यत्रापि । यद्यपि 'निरनुबन्धग्रहणे न चातुबन्धस्ये'ति न्यायादत्र सातुबन्धस्यादेशो न प्राप्नोति तथापि १८  
"अरो सुपि" १।३।५५ इति सूत्रे "र पदान्ते" इत्यनेन र इत्यनुबन्धौ स्वर्जितस्य रेफस्य रेफे परे रेफ एव सेत्स्यति किमर्थं 'अरो' इति ?  
तद्वोधयति 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्', तथा चात्र सामान्यग्रहणं भवति । "र पदान्ते विसर्गस्तयो" इत्यनेन विसर्गं प्राप्ति तदपवाद-  
भूत योगत्रयमित्याह—विसर्गापवादोऽयम् इत्यादिना । एवमुत्तरावपि—"शषसे शषसं वा", "चटते सद्वितीये" इति योगौ ॥ ५ ॥ २१

शषसे शषसं वा । अत्र पदान्ते र इति चातुवर्तते, पदान्ते र शषसे शषसं वा इत्यन्वयः । अत्र निमित्तादेशयो समाहारद्वन्द्वो  
यथासङ्ख्यलाभाय, तदाह-पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । ननु शषसमिति विहाय स इति न्यायेन 'शषसे सो वा' इत्येव सूच्यताम्, कङ्करोते  
कष्यण्ड- कस्तसाधुरिति "सस्य शषौ" १।३।६१ इत्यनेनैतद्विहितसकारस्य शषौ, कस्तसाधुरित्यत्रानेन स इति सकलामीष्टप्रयोगसिद्धे । न च "चटते २४  
सद्वितीये" इत्युत्तरार्थमिदं, तत्रापि स इत्यनुबन्धस्या तस्य-"सस्य शषौ" इत्यनेन 'शषौ' सिध्यति -कक्षरति, कष्टोक्तते इत्यादौ । नच कङ्करोते इत्यादौ  
"धुटस्तृतीय" इति तृतीयवाचनाय शषयोर्विधानमिति वाच्यम्, 'असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न्यायेन कङ्करोते इत्यादौ अन्तःशेते इत्यादौ च  
कस्यस्य शप्तस्य चासिद्धत्वेन तृतीयग्रहणोक्तिरिति चेत्, प्रथमिवाधानं शषयोस्त्वञ्चयायानित्यल्पज्ञापनार्थम् । अपि च 'शषसं' इति शषसानामेतद्विलक्षणं २०  
कार्यान्तरे न भवतीति सूचयति, तेन अन्तःशेते मातःषण्डे इत्यादौ "धुटस्तृतीय" इति जत्वचरवादि क न भवति । कङ्करोते इत्यादौ तु तृतीय-  
मानो रो परेऽस्यत्वादिपि सिध्यति । सर्वेषु इत्यादौ अनेन रेफस्य सत्त्वे "नाम्यन्तस्यां" २।३।१५। इत्यनेन प्रत्ययसस्य पक्षे, प्रकृतिसस्य  
"सस्य शषौ" इत्यनेन पयोरो षस्तु भक्तत्वेन तस्य परत्वेन विलक्षणाभावात्, विलक्षणस्य च तृतीयत्वादिकस्याभावात् स्पष्ट एव । कङ्करोते-अत्र ३०  
किम् काऽशेते, से सस्य "सो रु"रिति क्वे, कर् शेते इति स्थितौ शपरस्य पदान्तस्यस्य रेफस्य वा । एवमन्यत्र । ननु गीर्षु धूर्षु इत्यादौ "नाम-  
सिद्धं" इति पदान्तरेफस्य शपरस्य कथं न च इति शङ्कते-कथं इत्यादिना । समाधेयो-अरो रेफस्य इत्यादिना । "अरो सुपि र" १।३।५५।  
इत्यनेन रेफस्य कार्यान्तरत्वाधकारेऽपि विधानात् न भवति प । मातृधाकार पितृधाकार इत्यादिवाक्यस्यस्य वाक्यैकदेशस्य पक्ष-कः, शकार २३  
इति । कः शस्य शकार इति विमहार्थः । अत्र कर् शकार इत्यवस्थायां पदान्तस्यस्य शपरस्य रेफस्य कृतो न श इत्याद्यङ्गाया "शिव्यघोषात्"  
१।३।५५। इति शिट्परेऽघोषे पदान्तरेफस्य विसर्ग एवेति रेफाभावात् वा इति भावः, तदाह-कः शकार इत्यादिषु त्वघोषे शिट्परे  
इत्यादिना । ननु वाष्प क्षौमम्, अङ्गिः प्सातम्-अत्र पदान्तस्य "सो रु"रिति क्वे, "र कख" इति कथं न भवति ? असेर् त्सरु-अत्र पदान्त ३६  
सस्य रेफे सति "चटते सद्वितीये" इति कथं न स ? इत्याह-एवं पूर्वोत्तरयोरपि इत्यादिना । पूर्वस्मिन्-"र कख" इत्यत्र, उत्तर-  
"चटते" इत्यत्र, पूर्ववद्विसर्गविधानाद्रेफाभावात् न भवति तत्रात्र कार्यम् । ननु नवा इत्यनुबन्धित्वकारेण विकल्पघोषेऽत्र वा इति किमर्थमित्याह-  
नवाधिकारे वा ग्रहणमुत्तरत्र इत्यादिना । अथमभिप्राय-नवेति वेति च विकल्पे वर्तते, विकल्पस्य सामर्थ्यात् कार्यस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिरपि, ३९  
प्रवृत्तिनिवृत्ती च कार्यस्य नवाधिकारेणैव सिद्धे इति तत्रानर्थकं सन् वाशब्द प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रवृत्तिचय प्रवृत्तिनिवृत्ती व्यवस्थापयति  
तत्रप्रतिबद्धस्य नोत्तरत्रातुवर्तते ॥ ६ ॥

चटते सद्वितीये । अत्र पदान्ते र शषस इति चातुवर्तते, पदान्ते र सद्वितीये चटते शषसं इत्यन्वयः । चक्ष टक्ष तक्ष इति ४२  
समाहारद्वन्द्वं तस्मिन्, सह द्वितीयेन स्थानयुगाभ्यां प्रत्यासन्नं वर्तत इति सद्वितीये तस्मिन्निहितं च नियम् । नन्वत्र स्वरूपेण "चट्टटटते"  
इत्यस्येदहार्थं किन् निर्दिश्यते ? इति चेत्, सस्यम्, आदेशानिमित्तयोर्घोषासफलतायां तथा निर्देशोऽन्यथा निमित्तपङ्क्तस्य आदेशत्रयस्य च  
यथासंख्यामात्रं स्यादित्याह तदर्थ-पदान्ते इत्यादिना । नन्वेव सत्यपि चविशिष्ट छ, दविशिष्ट ठ, तविशिष्ट थ, इति यत्र ४५

१ अत्र खनति इत्यधिकं पाठं ख० ता०, पु० । २ सुत्तरापि ख० ता० ।

कश्चरति, कश्छादयति, अन्तश्चरति; अन्तश्छादयति । ट्ययोः पः-कष्टीकते, कष्टकारेण, पुनष्टीकते; पुनष्टकारेण । तथयोः सः-कस्तारति, कस्त्युडति, अन्तस्तारति; अन्तस्त्युडति ॥ ७ ॥

१ नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुदपरे ॥ १ । ३ । ८ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य प्रशान्त्वर्जितशब्दसंघन्धिर्नो नकारस्य स्थाने चटतेषु सद्द्वितीयेष्वधुदपरेषु परेषु यथासंख्यं श ष स इत्येते आदेशा भवन्ति । अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य-अनुस्वार आगमोऽनुनासिकश्चदेशः पूर्वस्य क्रमेण भवत इत्यर्थः । भवौश्चरति, भवांश्चरति, भवौश्छादयति, भवांश्छादयति, भवौष्टीकते, भवांष्टीकते, भवौष्टकारेण, भवांष्टकारेण; भवौस्तारति, भवांस्तारति; भवौस्त्युडति, भवांस्त्युडति । अप्रशान इति किम् ? प्रशान् चरति, प्रशाण् टीकते, प्रशाण् तरति । अधुदपर इति किम् ? भवान् त्सुकः । पदान्त इत्येव ? भवन्तः । विरामे प्रतिषेधस्य वक्ष्यमाणत्वादिति न भवति-मवाञ् चरति, भवान् टीकते, भवान् तरति ॥ ८ ॥

पुमोऽशिष्यघोषेऽख्यागि रः ॥ १ । ३ । ९ ॥

पुमिति पुम्तोः कृतसंयोगान्तलोपस्यानुकरणम्, अधुदपरेऽघोषे सिद्धख्याग्वर्जिते परे पुमिलेतस्य रौऽन्तादेशो भवति; अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । पुंस्कामा, पुंस्कामा; पुंस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः; पुंस्खातम्, पुंस्खातम्; पुंश्छली, पुंश्छली; पुंश्छत्रम्, पुंश्छत्रम्; पुंश्छिष्टिमः, पुंश्छिष्टिमः; पुंस्पुत्रः, पुंस्पुत्रः; पुंस्फलम्, पुंस्फलम् । अशिषीति किम् ? पुंशरः । अघोष इति किम् ? पुंदासः, पुंगवः । अधुदपरे इत्येव ? पुंशुरः, पुंशुरः । अख्यागीति किम् ? पुंख्यातः, पुंख्यातिः ॥ ९ ॥

१५ भवेत्, तत्रैवैद स्यादिति नाशङ्कनीयम्, “उदश्चर ०” इति ३।३।३१, “चरेष्ट.” ५।१।१३८। इत्यादिनिर्देशात्तदाशङ्कानिश्चते । कश्चरति-अत्र पदान्तरंफस्य चपरस्य वा । एवमन्यत्रापि ॥ ७ ॥

नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्याधुदपरे । अत्र पदान्ते चटते सद्द्वितीये शषसं इति चातुर्वर्तये, पदान्ते अप्रशान् १८ न अधुदपरे सद्द्वितीये चटते शषस्य च पूर्वस्यानुस्वारानुनासिकौ इत्यन्वयः । अत्र सूत्रे न इति भवानिच्छादिप्रयोगस्ये नकारोऽनुकृतस्य षष्ठये-कवचनम्, नास्मादादेशस्य नस्वसाध्यासि पूर्वस्यानुस्वारानुनासिकलक्षणप्रयोजनसद्भाव स्यात्, किं च प्रशान्त्वर्जिते प्राप्यमानेन तद्वर्जनवैयर्थ्यमपीत्याह-पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । ननु सूत्रेऽधुदपरेऽधुदपरे परतो यश्चटत तस्मिन् नकारस्य शादयो भविष्यन्तीति विमर्श परग्रहण इति चेत्, सत्यम्, विलिखतनाविरहेण चटते परतो योऽधुद तस्मिन्निर्वाप्यार्थापिवाक्यता परग्रहणसाफल्यात्, अल्पया भवानाचरति इत्यादायेव सूत्रप्रवृत्तिर्न तु भवौश्चरति इत्यादी, सति परग्रहणे न विद्यते धुद परो यस्मादिति बहुमीहि सूत्रपक्षः । धुदपरोऽस्मादिति धुदपर, न धुदपर अधुदपरस्तस्मिन्निश्चिते तु विग्रहे न कर्णो यत् प्रसज्यप्रतिषेधाबाह्या परत्र वर्णाभावेऽपि सूत्र प्रवर्तते, अथा भवान् वा इत्यत्र । सूत्रे पूर्व-खेलेकोपीय पक्षपेक्षामेदादिप्रचये अनुस्वारानुनासिकयोरागमावेकत्वात्, तदाह-पूर्वस्य अनुस्वार आगमो इत्यादिना । तथाहि-अनुस्वार-पेक्षया सा अत्रयवयवी अनुनासिकापेक्षया तु स्थानपठौ इति । भवौश्चरति-अत्र प्रशान्त्वर्जितशब्दस्य पदान्तस्य अकारस्युद्वार-परकचपरस्य नकारस्य शास्यपूर्वस्य चानुनासिक, अनुस्वारत्वेत्याह-भवौश्चरति । एवमन्यत्र समन्वयः । अग्रशान् इत्यस्य फल पृच्छति-अप्रशान् इति किम् ? प्रशाण् चरति । अत्र पदान्तस्य प्रशान्त्वर्जितशब्दस्यत्वत्वात् भवति अधुदपरे नकारे शक्यत्पूर्वस्य चानुस्वारानुनासिकौ, किन्तु “तवर्गस्य ०” इति नस्य अः । अधुदपरे इत्यस्य फल पृच्छति-अधुदपर इति किम् ? भवान्त्सुकः-त्सुरो कुशल-त्सुक, “कोऽस्मादे ०” ६।३।९५ इति कप्रत्ययः; अत्र नस्य न सः तस्य धुदपरकत्वेनाधुदपरकत्वाभावात् । ननु भवान् चरति इत्यादौ १० कथमस्य च प्रवृत्तिरित्याह-विरामे प्रतिषेधस्य इत्यादिना । “न सधि ” १।३।५२। इत्यनेनेति भावः ॥ ८ ॥

पुमोऽशिष्यघोषेऽख्यागिरः । अत्र अधुदपरे अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य इति चातुर्वर्तये, पुम अधुदपरे अशिषि अख्यागि अघोषे र च पूर्वस्य अनुस्वारानुनासिकौ इत्यन्वयः । पुम इति पुच इत्यस्य य सकारात् पूर्वो भागस्तस्यानुकरणे तस्मात् पठौ, ततश्च “पञ्चाऽन्त्यस्य” ६।३।१०६। इति न्यायादन्त्यस्यैवाघोष इति लभ्यते, तदेतत्सर्वमाह-पुमिति पुम्तोः इत्यादिना । पुंस्कामा-पुमांसं कामयते “श्रीलिकामि ०” ५।१।७३। इति अणपवादे षे, “क्युक् कृता” ३।१।२५। इति समासं, आषि च “पदस्य” २।१।८५। इति सकारलोपे, पुम् कामा इति स्थिते, आकाररूपाधुदपरे ख्यागनवयवे किञ्चिन्ने कख्याघोषे पुमिलेतस्य मस्य र, तस्मात् पूर्वस्य उकारस्यानुस्वारानुनासिकनिर्देशो च यस्य “पुस ” २।३।३। इति स । एष पुंस्कामा इत्यपि । एवमन्यत्र समन्वयः । पुंस्कोकिलः-पुमांसाधौ कोकिलधेयि कर्मधारय । पुंस्खातम्-पुंसं खातामेयि तल्पवष । पुंश्छली-पुमांसं चल्पयति “कर्मणोऽण्” ५।१।७२। औंस । अत्रानेन जातरंफस्य “चटते सद्द्वितीये” इत्यनेन वे परे श । पुंश्छत्रम्-पुंसं छत्रमिति मिश्रह, रेफस्य वा । पुंश्छिष्टिमः-पुमाञ् छिष्टिम इति कर्मधारय, अत्र रेफस्य ष ट् परे “चटते ०” २।३।३। इत्यनेन । अशिषि इत्यस्य फल पृच्छति-अशिषि इति किम् ? पुंशरः-पुच शर इति समास, “तौ मुने ०” १।३।१५। इत्यनुस्वारो मस्य, ननु पुमिलेतस्यानेन र शिष्यमिच्छामोऽपरत्वाभावात् । अघोषे इत्यस्य फल पृच्छति-अघोष इति किम् ? पुंदासः-अत्र योपरत्वेन न भवति पुमिलेतस्य मस्य र, किन्तु “तौ मुने ०” इत्यनुस्वार, पुमान् दास पुषो दास इति वा विग्रहः । अधुदपरे इत्यस्य फल पृच्छति-अधुदपर इत्येव ? पुंशुरः-पुच शुर इति मिश्रह, अत्र ककारस्य ध्रुवधुदपरत्वात् भवति र । पुंख्यातः-अत्र ख्यागनवयोपरत्वेन न र इति अख्यागि इति, पुत्रा ख्यात इति च विग्रहः ॥ ९ ॥

**नूनः पेषु वा ॥ १ । ३ । १० ॥**

नूनिनि शसन्तस्य नृशब्दस्यानुकरणम्, नूनः पकारे परे रोऽन्तादेशो वा भवति; अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । नूञ्वाहि, नूञ्वाहि, नूःपाहि, नूःपाहि, नूःपाहि; नूञ्जीणीहि, नूञ्जीणीहि, नूःप्रीणीहि, नूःप्रीणीहि; नून्प्रीणीहि । पेष्चिति १ किम् ? नून् योजयति । बहुवचनस्य व्यान्यर्थत्वाद्बुद्धर इति निवृत्तम् ॥ १० ॥

**द्विः कानः कानि सः ॥ १ । ३ । ११ ॥**

कानिति किमः शसन्तस्यानुकरणम्, द्विरुक्तस्य कानः कानि परे सकारान्तादेशो भवति; अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । काँस्कान्, काँस्कान् । द्विरिति किम् ? कान् कान् पश्यति, अत्रैकः किम् प्रथेऽन्यस्तु क्षेपे । कानीति किम् ? काँस्कान् पश्यति । रसाधिकारेणैव सिद्धे सविधानं रत्ववाधनार्थम् ॥ ११ ॥

**स्सटि समः ॥ १ । ३ । १२ ॥**

समित्येतस्य स्सटि परे सकारोऽन्तादेशो भवति, अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य । संस्कर्ता, संस्कर्ता, संस्कर्तुम्; संस्कर्तुम् । स्सटीति किम् ? संकृतिः । सचस्कारेण तु व्यवधानात् भवति । सम इति किम् ? उपस्कर्ता ॥ १२ ॥

**नूनः पेषु वा ।** अत्र र अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य इति चानुवर्तते, नून पेषु रो वा पूर्वस्य चानुस्वारानुनासिकौ इत्यन्वयः । १२ नून इति शसन्तशब्दानुकरणात् षष्ठी तत्तत्र "षष्ठाऽन्त्यस्य" इति अन्तस्यादेशो लभ्यते, तदेतदाह—नूनिनि इत्यादिना । अत्र सृजे पेषु इत्यनेन पकारमात्रमेव निमित्तम्, अन्यथा यदि पकाराकारा निमित्तौ स्यातान्तर्हि नृव्यचतीत्यादावेव सृजप्रशक्तिर्न तु नू पाहि इत्यादी । पकारमात्रे तु निमित्तत्वेनाधीयमाणे पकारादाविल्लेखे सृजार्थो न भवति पकारमात्रस्य भावादिति सर्वत्र सिद्धं भवति । नूञ्वाहि—नून पाहि इति १५ स्थितौ पकाराव्यवहितपूर्वस्य नूनो नस्य रपक्षेऽनुस्वार, "र कश्च०" इति रस्य पपरस्य व्यञ् इत्युपपत्तौ; तदभावे "र पदान्ते विसर्ग०" इति विसर्ग—नूःपाहि इति । एवमेव रपक्षेऽनुनासिके उपपत्तौये तदभावे च विसर्गे ह्यपद्वयम्—नूञ्वाहि, नूःपाहि इति । रत्वाभावपक्षे तत्पृष्ठ-भावितादनुस्वारानुनासिकोरप्यभावे—नूपाहि । एवमन्यत्र । सृजे पेष्चित्यस्य फलं पृच्छति—पेष्चिति किम् ? नून योजयति—१८ सृज नूनो न र पकारपरत्वाभावात् । अथाबुद्धरे इत्यनुवर्तमानात्तस्य च निमित्तविशेषत्वात् नून स्सटि इत्यादावप्रसङ्ग इत्यादाद्याभावात्—बहुवचनस्य व्यान्यर्थत्वाद् इत्यादिना । अबुद्धरे बुद्धरे च पकारमात्रेऽस्य सृजस्य प्रशक्तिर्व्याप्तिस्तदर्थत्वादित्यर्थः ॥ १० ॥

**द्विः कानः कानि सः ।** अत्र अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य इत्यनुवर्तते, द्वि कान कानि स पूर्वस्य च अनुस्वारानुनासिकौ इत्य-२१ न्वयः । द्वौ वारौ अयेति विग्रहे "द्विरुक्तद्वरः सुब्" ७।२।११०। इति सुब्, उक्तिक्रियापेक्षया क्रियाविशेषणम्, क्रियाविशेषणाना कर्मत्वमित्यनुशासनादपि "अथयस्य" इति तदुपि—द्विः । अनुकार्यानुकरणयोगेभ्यस्य विवक्षितत्वात् शसन्तकिम्बाब्दानुकरणादपि षष्ठी—कानः । तथैव अस्मयपि—कानि, तदेतदाह—द्विरुक्तस्य इत्यादिना । काँस्कान्, काँस्कान्—किम वापि कारेण "शसोऽन्ता सञ्चन मुसि" १।४।४१। इति २४ यीर्षत्वे नत्वे "वीष्णायाम्" ७।४।८०। इति द्विरुक्तवनेन चानुस्वारानुनासिकपूर्वकसादेशो सिद्धति । द्विरित्यस्य फलं पृच्छति—द्विरिति किम् ? कान् कान् पश्यति—अत्र द्विरुक्तत्वाभावात् सो भवतीत्याह—अत्रैकः किं क्षेपे इत्यादिना । तेन कुतिसितान् कान् पश्यतीत्यर्थो भवति । कानीत्यस्य फलं पृच्छति—कानीति किम् ? काँस्कान्—अत्रोत्तरस्य कानो न भवतीत्याशयः । ननु 'काँस्कान्' इत्यत्रानेन सकारे सति "सो २७ ष" इति क्तं कृतो न भवतीत्याह—रस्य इत्यादिना । अयं भाव—अद्यत्र सकारे कृते क्तविषये स्यात्तर्हि पूर्वस्माद् र इत्यधिकारेणैव सिद्धे सविधानं किमर्थं ? अपि चैव कृते प्रक्रियालाघव च भवतीत्याह—सविधानं रत्ववाधनार्थमिति । ननु कस्यादिरिति तत्पृष्ठपक्षेऽनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वेनैतत्सृजविहितस्य "पदस्ये"ति लोप कथं न भवतीति चेदुच्यते—तत्र सृजे मुख्यव्यञ्जनसंयोगस्यैवाश्रितत्वादस्य तु सामर्थ्याप्यपितत्त्वेन-३० मुख्यव्यञ्जनत्वादिति भावः ॥ ११ ॥

**स्सटि समः ।** अत्र स अनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्य इति चानुवर्तते, सम स्सटि स पूर्वस्य च अनुस्वारानुनासिकौ इत्यन्वयः । सम इति प्रादिपठितस्यैव ग्रहणं, न तु 'सम्' वैकृत्ये, इत्यस्य विनन्तस्य, "सस्कृते भक्ष्ये" ६।२।१४०। इत्यादिज्ञापकात् तत् स्थानपट्टी, "षष्ठाऽ-३२ न्यस्ये"ति न्यायेनान्तसादेश इत्याह—समित्येतस्य इत्यादिना । संस्कर्ता, संस्कर्तौत्यादि । सपूर्वात् करोते "सपरे क्ण स्सट्" ४।४।११। इति स्सटि वक्षन्त्यास्ताप्रत्यये तुम्प्रत्यये च शुणे क्रमेणानुस्वारानुनासिकपूर्वकसादेशः । अत्रानुस्वारपक्षे तस्य पूर्वोक्तौल्या व्यञ्जनत्वेन "धुतो घुटि खे वा" इति सकारलोपे संस्कर्ता इति भवति । एवमन्यत्रापि । स्सटीत्यस्य फलं पृच्छति—स्सटीति किम् ? संकृतिः—३६ सपूर्वात् क्ण कौ रूपम्, र्णादिपाठत्वात् स्सञ्जागमाभावः । संस्कारेण तु—सम्पूर्वात् क्ण स्सटि णि प्रत्यये, "द्विर्घात् ०" ४।१।१। इति द्विर्वचने, "अधोपे शिट्" ४।१।४५। इति सलोपे, "ऋतोऽत्" ४।१।३८। इत्यत्वे, "कश्चक्ष्व्" ४।१।४६। इति क्तस्य चत्वे, "नाभिर्नोऽकालि हले" ४।३।५१। इति द्वौ च सचस्कार इत्यत्र सम् स्सटोऽव्यवहितत्वाभावात् भवति ष । न चात्र सम् स्स इत्यवस्थायां प्रत्यायात् पूर्वमेव ३९ सर्वस्य निमित्तस्य सङ्गावात् "स्सटि सम" इति साधादेशप्रसङ्ग इति वाच्यम्, परत्वाविलसत्वाद्वात्तमात्राभ्रयणेनान्तरङ्गत्वात् प्रत्यये सति तत्कार्ये च स्सटो विधानेन प्रत्ययत्वत्वे पूर्व "स्सटि सम" इति साधादेशप्रसङ्गः । यद्यपि "अधोपे शिट्" ४।१।४५। इति स्वसकारस्य "स्वानीनाऽवर्णविधौ" ७।४।१०९। इति स्थानित्वे, "स्सटि सम" इति प्राप्नोति स्सटीति वर्णसमुदायाभ्रयणेनावर्णविधित्वात्तथापि सकारादि सद् ४२ स्सट् तस्मिन्निधि व्याख्यानने तस्य वर्णविधित्वात् स्थानित्वाभाव इत्याशयः । यद्यपि सचस्कार इत्यत्र द्वित्वेन समो व्यवधानात् क्ण सचभावो 'निमित्तत्वाभावे नैमित्तकस्याप्यप्यय' इति न्यायेन प्राप्नोति, तथापि 'स्वाङ्गस्यव्यवधायकमिति न्यायेन द्वित्वरूपस्य स्वाङ्गस्य क्ण प्रति व्यवधायकत्वायोगात् न सचभावः । सम इत्यस्य फलं पृच्छति—सम इति किम् ? उपस्कर्ता—उपपूर्वात् करोतेत्युक्त्वा "उपाङ्गस्यसमायप्रतियन्-४५ विकारवाक्याऽन्याहारे ४।४।९२। इति स्सटि च भवति ॥ १२ ॥

## लुक् ॥ १ । ३ । १३ ॥

समित्येतस्य स्सटि परे लुगन्तादेशो भवति । पृथग्योगादनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्येति निवृत्तम् । सस्कर्ता, सस्कर्तुम् । केचित्तु अत्राप्यनुनासिकमिच्छन्ति—सँस्कर्ता, सँस्कर्तुम् ॥ १३ ॥

## तौ मुमो व्यञ्जने स्त्रौ ॥ १ । ३ । १४ ॥

मोर्वागमस्य पदान्ते वर्तमानस्य च मकारस्य व्यञ्जने परे तस्यैव स्त्रौ तावदनुस्वारानुनासिकौ वर्णौ पर्यायेण भवतः । मग्रहणेनैव सिद्धे, मुग्रहणमपदान्तार्थम् । स्वेल्यनुनासिकस्य विशेषणं नानुस्वारस्य, असंभवात् । (मु-)चक्रम्यते, चक्रम्यते, चंचूर्यते, चञ्चूर्यते, दद्रम्यते, दन्द्रम्यते, वंभण्यते, वम्भण्यते, यंयम्यते, यँयम्यते, वंवम्यते, वँवम्यते । मँ-वहँलिहो गौः, वहँलिहो गौः, त्व करोषि, त्वङ्करोषि, त्व चरसि, त्वञ्चरसि, त्व टीकसे, त्वण्टीकसे; त्वं तरसि, त्वन्तरसि-नकारस्य लाक्षणिकत्वाद्वा “नोऽप्रशानोऽनु०” ॥ १ । ३ । ८ ॥ इत्यादिना सकारो न भवति; त्वं पचसि, त्वमपचसि, सयत, सय्यतः, अहंयुः, अहय्युः, त्व लोकाः, त्वल्लोकाः, सवत्सरः, सव्यत्सरः, कवः, कव्वः; कितराम्, किन्तराम् । पदान्ते इत्येव ? गम्यते, स्म्यते । व्यञ्जन इति किम् ? किमत्र । स्वाविति किम् ? ररम्यते, शशम्यते, त्वं रमसे, त्व शण्डः, त्वं १२ षण्डः, त्व साणुः; त्व हससि ॥ १४ ॥

लुक् । अत्र स्सटि सम इत्यनुवर्तते, सम स्सटि लुक् इत्यन्वयः, तदर्थमाह—समित्येतस्य इत्यादिना । ननु ‘स्सटि समोऽङ्क च’ इत्येव योगविन्यासे लक्ष्यसप्तस्यै कथं “लुक्” इति भिन्नयोगारम्भः, न चैकयोगे लुक्पक्षे अनुस्वारानुनासिकौ स्याताम्, सकारसंनियोगाच्च १५ ष्ट्वाद्दनुस्वारानुनासिकयोः सकारनिवृत्तावनुस्वारानुनासिकयोरपि निवृत्तिरिति चेत्, सत्यम्, अनुस्वारानुनासिकौ हि कार्यसंनियोगशिष्टौ ततश्च लुक्कार्यसंनियोगशिष्टत्वमपि तयोरिति लुक्पक्षेऽपि स्यातामित्याह—पृथग्योगात् इत्यादिना । सस्कर्ता—अत्र समो मस्य लुगन्तादेशः स्सटि परे । येषां मते लुक्पक्षेऽप्यनुस्वारानुनासिकौ तन्मतमुपन्यस्यति—केचित्तु इत्यादिना । पाणिनीयसूत्रेषु “सम सुटि” पा० ८।३।५ इति पठ्यते, १८ तत्र ‘समो वा लोपमेके’ इति भाष्येऽपि लोपपक्षेऽप्यनुस्वारानुनासिकौ भवतः । उत्पलोऽप्याह—सम सुटि लोप, लोपपूर्ववर्तिनोऽनुस्वारानुनासिकौ चेति । “समस्सटि लुक् च” शा० १।१।१५२। इति सूत्रयत् शाकटायनस्यापीदं मतम्, कार्यद्वयमप्येकेनैव सूत्रेण प्रतिपादितमिति दिक्, तन्मते उदाहरति—सँस्कर्ता इति ॥ १३ ॥

- २१ तौ मुमो व्यञ्जने स्त्रौ । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते मुम व्यञ्जने स्त्रौ तौ इत्यन्वयः । मुः ( “मुरतोऽनुनासिकस्य” १।१।५। इति विहित ) सच मध्वेल्यनयो समाहारद्वन्द्वाद् पठ्यां मुम इति भवति । पूर्ववस्तु परामृशति तच्छब्द इति तावित्यनेन अनुस्वारानुनासिकविति लभ्यते, तदेतदाह—मोर्वागमस्य इत्यादिना । ननु पूर्वस्सादनुवृत्त पदान्त इति मुमोऽथैकविभक्तिनिर्दिष्टत्वात् कथं मकारस्यैव विशेषण- २४ मुफ न म्वागमस्येत आह—मग्रहणेनैवेति । अयमाशयः—सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति” कविदापो ब्रह्ममिति वत्सम्भवात्त्रेऽपि न सम्भवाभावे क्वचिदपि, मोक्ष पदान्तेऽसम्भवाद्द्विशेषणभाव इति । यद्यपि सूत्रे तावित्यभावे स्वाविति विशेषणस्य विशेष्यत्वापेक्ष- २७ तयाधिकारादनुस्वारानुनासिकत्वावेवानुवर्त्यतस्त्रयापि तौग्रहणमवधारणार्थमवगम्यतेऽन्यथा अव्यवहितपूर्वोका लुक् पूर्वस्य इति चानुवृत्तौ मुनो- २७ ह्युपभवति पूर्वस्य चानुस्वारानुनासिकौ इति सूत्रार्थं चक्रम्यते इति सिद्धावपि चक्रम्यते इत्यनिष्टमापद्यते । शतो हि निमित्तभूतवर्णोपेक्षया ककारात् पूर्वस्य चकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यानुनासिकप्रश्रुते, तदर्थंके तस्मिन् सति द्व अनुस्वारानुनासिकयोरेवानुवृत्त्या न कश्चिदपि । पूर्ववस्तुपर- २७ मर्शित्वेऽपि तच्छब्दस्य सकारलुको स्वचासम्भवादनुनासिकस्य च समवस्तस्यैव परामर्शः, द्विवचनोपदान्तात्प्रतिवद्दानुस्वारस्य चेत्साह— २७ ख्येतीत्यादिना । मूलस्य स्त्रौ इति अनुनासिकस्य विशेषण, न अनुस्वारस्य विशेषण, असंभवात्, हेतुरस्य स्वेल्यनुस्वारविशेषणभावे । चंक्र- २७ म्यते, चक्रम्यते—कुटिल क्रामतीत्यर्थः, ‘क्रमु’पादविशेषे इति घातो “गल्यर्थात् कुटिले” ३।१।११ इति यद्धि, ते प्रत्यये, “मुरतोऽनुनासिकस्य” २१।१।५। इति द्वित्वे सति लुके च पूर्वस्य सु, “कृष्यन्” इति चस्य कत्वे, चम् क्रम्यते इति स्थिते म्वागमस्य मस्य व्यञ्जनपरस्य परस्थित- २३ व्यञ्जनसजातीयोऽनुनासिकश्चानुस्वारः । चंचूर्यते, चञ्चूर्यते—र्हित चरतीत्यर्थः, “गृह्यपदचरजपजमदश्चदहोगर्भो” ३।१।१२ इति यद्धि, आत्मनेपदे ते प्रत्यये, “सन्वृष्य” ४।१।३। इति द्वित्वे, “चरफलाम्” ४।१।५३। इति पूर्वस्यम्वागमे, “तिचोपान्स्यातोऽनुोऽनु” ४।१।५४। इति द्वितीयचकाराकारस्योत्वे, चम् जुयते इति स्थिते व्यञ्जने परे म्वागमस्य तस्यैव स्वानुस्वारानुनासिकौ “भवादेना०” २।१।६। इति दीर्घे च सिद्धयति । ३६ दंन्द्रम्यते, दन्द्रम्यते—कुटिल क्रमतीत्यर्थः, चक्रम्यते इति वत्साध्यम् । वंभण्यते, वम्भण्यते—‘मण्’ शब्दे, मृश पुन पुनर्वा नगतीत्यर्थः । यंयम्यते, यँयम्यते—‘यम्’ उपरमे, मृश पुन पुनर्वा यच्छतीत्यर्थः । वंवम्यते, वँवम्यते—‘वृवम्’ उद्विरेण, मृश पुन पुनर्वा वमतीत्यर्थः । इति म्वागमोदाहरणानि । एभ्यो घातुभ्यो यद्धि द्विवचनादौ कृते पूर्वस्य म्वागमस्य क्रमेणानुस्वारोऽनुनासिकश्च । वहँलिहो गौः, वहँलिहो ३६ गौः—वह ष्ठीत्यर्थः “वहाभ्राह्मिह” ५।१।१२३। इति खर्, “खिल्यन्वयाऽऽश्रयोऽनुोहस्य” ३।१।१११। इति मागमेऽनेन मकारस्यानुस्वारे- ३६ ऽनुनासिके च, “कस्युक् कृत” इति समाधे च भवति । त्वं करोषि, त्वङ्करोषि इत्यादयः । शुभम् “त्वमह सिना आक्वाच” २।१।१३। इति त्वमादेशेऽनेनानुस्वारेऽनुनासिके च भवन्ति । त्वन्तरचीत्यादौ एतत्सूत्रविहितनकारस्य “नोऽप्रशानोऽनु०” इति कस्माच्च भवतीत्याह—सकारस्य ३६ इत्यादिना । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षण-लिङ्ग तत् आगतौ “अध्यात्मादिभ्य इक्षन्” ६।३।७। इतीकणि, लाक्षणिकोऽनुमेव च्छ्यते, अथ च नका- ३६ यमिरमिनमिगमि०” ४।२।५। इति मलोपेऽनेनानुस्वारेऽनुनासिके च सिद्धतः । एवमुत्तरेऽपि यँल्लो सिद्धः । कच—कमस्यात्तीति विग्रहे “यमिरमिनमिगमि०” ४।२।५। इति मलोपेऽनेनानुस्वारेऽनुनासिके च सिद्धतः । एवमुत्तरेऽपि यँल्लो सिद्धः । कच—कमस्यात्तीति विग्रहे ३६ “कथभ्यां शुक्लियस्तुतवम्” ५।२।१८। इति वप्रत्ययः । सूत्रे स्वावित्यस्य फल पृच्छति—स्वाविति किम् ? ररम्यते, शशम्यते— ३६ “रमि” ऋडायाम्, ‘शाम्’ उपशमे, यद्धि द्वित्वे रेफोपणा रेफोप्यत्यतिरेकेणाऽन्ये स्वा न सन्ति, स्थानात्प्रत्ययैक्याभावात्, रेफोपणा चानुनासिकत्वाभावात्, स्वग्रहणादनुस्वार एव । स्वग्रहणमन्तरेणानुस्वारानुनासिकविधानेऽत्रापि मकारस्य एव पकारादिनिमित्तप्रत्याघट्टना ३६ प्रसज्येत इति भावः ॥ १४ ॥

**मनयवलपरे हे ॥ १ । ३ । १५ ॥**

मनयवलपरे हकारे परे पदान्ते वर्तमानस्य मकारस्य स्थानेऽनुस्वारानुनासिकौ स्त्री पर्यायेण भवतः । किं हल्यति, किम् हल्यति, किं हुते, किन्हुते, किं ह्यः, किञ्च्यः, किं हल्यति, किञ्चल्यति, किं ह्यादते, किञ्चह्यादते । मादिपर इति किम् ? किं हसति । ह इति किम् ? किं ज्वलति ॥ १५ ॥

**सम्राट् ॥ १ । ३ । १६ ॥**

समो मकारस्य राजतौ किञ्चन्ते परेऽनुस्वारामावो निपात्यते । सम्राट् भरतः, सम्राजौ; सम्राजः । साम्राज्यम् ॥ १६ ॥ ६

**ङ्गोः कटावन्तौ शिटि नवा ॥ १ । ३ । १७ ॥**

पदान्ते वर्तमानयोर्लकारणकारयोः शिटि परे यथासङ्ख्य क् ङ् इत्येतावन्तौ वा भवतः । प्राङ् शेते, प्राङ् छेते, प्राङ् शेते; प्राङ् षण्डे, प्राङ् षण्डे; प्राङ् साये, प्राङ् साये, सुगण् शेते, सुगण् छेते, सुगण् शेते, वण् षण्डे, वण् षण्डे; वण् साये, वण् साये, कुङ्कु, कुङ्कुपु; सुगण् ट्सु, सुगण् सु । ङ्गोरिति किम् ? मवाञ् शेते, महान् षण्डे । शिटिति किम् ? प्राङ्गरोषि, सुगण् चरति । पदान्ते इत्येव ? वभण्पि ॥ १७ ॥

**ङ्गः सः त्सोऽश्चः ॥ १ । ३ । १८ ॥**

पदान्ते वर्तमानाद् ङकाराङ्काराच्च परस्य सकारस्य स्थाने त्स इत्यय तकारादिः सकारादेशो वा भवति । अश्व-श्व-संयोगावयवश्चेत् सकारो न भवति । षट्सीदन्ति-ङकारनिर्देशाद्वत्त्वं न भवति, केचित्तु टत्वमपीच्छन्ति-षट्सीदन्ति । भवान्-त्साधुः, षक्षे-षट् सीदन्ति, भवान् साधुः । स इति किम् ? षट् भवन्ति, महान् षण्डः । अश्व इति किम् ? षट्श्योतन्ति, १५

मनयवलपरे हे । अत्र पदान्ते म तौ स्त्री इति चातुर्वर्त्तते, पदान्ते म मनयवलपरे हे स्त्री तौ इत्यन्वयः । ननु 'मनयवले' इति सप्तम्यन्तपाठे परशब्दाभावे च मकारादौ परे यो हकारन्तस्मिन् इत्यर्थेनाभिप्रतलक्ष्यसिद्धौ किमर्थं परप्रदणमिति चेदुच्यते-यद्यपि परशब्दाभावे विनियमकामात्रेण हकारपरं मकारादाविति विपरीतार्थविज्ञाने 'येन नाव्यवधानेन तेन व्यवहितेऽपि स्यात्' इति न्यायेन अकारादिव्यवधाने किं मह-१८ सति, किं नक्षति, किं याहि, किं वहसि, किं लिखते इत्यत्रैव सूत्रं प्रवर्त्तते ननु किं हल्यति इत्यादौ, तथापि विपरीतार्थविज्ञाने पूर्वैर्गैव 'सिद्धे सत्या-रम्भो नियमार्थे' इति न्यायेनैव मकारादौ हपर एव इति नियमयति । तथासति त्व मन्यसे इत्यादौ पूर्वैर्णापि न स्यादिति परप्रदणम्, सति च तस्मिन् मनयवला परे यस्मादिति बहुव्रीहिर्न द्वु मनयवलेभ्य परत्वसिधिति तत्पुरुष इति भावः । किम् हल्यति-अत्र मपरे हे मस्य पदा-२१ न्तस्थस्य हकारस्य स्त्री नास्तीति व्यवहितमकाराद्यपेक्षयाऽनुनासिक स्त्री मकार एवेत्याशयः, अनुस्वारे तु-किं हल्यति ॥ १५ ॥

सम्राट् । अत्र "तौ मुणो व्यञ्जने स्त्री" इति प्राप्तानुस्वारस्याभावोऽनेन निपात्यतेऽनुनासिकस्य चाप्राप्तिः स्वल्पाभावादेफस्येत्साह-समो मकारस्य इत्यादिना । 'राङ्गु'वीसौ पातो, सपूर्वात् चराजते इति क्विपि, तल्लुकि "गतिकन्य०" ३।१।४२। इति समासे, सेर्लुकि "यजसृज०" इति २४ पत्त्वे, धुट्स्त्वृतीयत्वे प्रथमत्वे च-सम्राट् । अत्रैकवचनमविवक्षितम् तेन "सम्राजौ" इत्यादावप्यनुस्वारभावस्त्वदाह-सम्राजौ इत्यादि ॥१६॥

ङ्गोः कटावन्तौ शिटि नवा । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्त्तते, पदान्ते ङ्गो शिटि नवा कटौ अन्तौ इत्यन्वयस्त्वदर्धमाह-पदान्ते चर्चमानयोः इत्यादिना । ननु अन्तप्रहणं निष्फलं ङ्गो कटौ इत्यनुक्त्या ङ्ग कटमिति समाहारद्वन्द्वं कृत्वा पञ्चम्यन्तत्वेनादेशत्वनिरावे २७ लक्ष्यसिद्धेरिति चेन्नैवम्, अन्तप्रहणावे "अनन्त पञ्चम्या प्रत्यय" इति कस्य प्रत्ययत्वे सन्धिनामकारकसमासरूपचतुष्कट्युत्तित्वेन ऐकारार्थे सति विभक्तिलोपे घुटिपरे "अच" १।४।६६। इति सूत्रेण विहितस्य नस्य "नाञ्चो नोऽनह" २।१।११। इति लोपः स्यात्, तथाच प्राङ्शेते इति न भवेदिति । अन्तप्रहणे सति प्राङ्छेते इत्यत्र ककारस्य पूर्वपदचरमावयवत्वेन पदान्तत्वात् "प्रथमादघुटि शङ्छ" इति छत्व सिद्धम् । एव ३० प्राङ्साये इत्यत्र पूर्वपद ककारस्य पदान्तत्वात् "नान्यन्तस्था०" २।३।१५। इति पदस्य अन्तर्मध्ये विधीयमानं पत्व न भवति । अन्तगहणाभावे कस्य प्रत्ययत्वे साये इति सकारस्य तेन पदादित्वविधातात् पत्व स्यात् । एव सुगण्दसु इत्यत्र "नाम सिद्दय्०" इत्यनेन टस्य पदान्तत्वेन "पदान्तात् टवर्गा०" १।३।६३। इति सूत्रेण "सस्य शषौ" १।३।६१। इति प्राप्त सकारस्य पत्व प्रतिषिध्यते, अन्यथा प्रतिषेधाभावादपदान्तत्वेन ३३ सस्य पत्व स्यादेव । प्राङ्शेतीति सधे क्विपि अनर्चाया नलोपे सेर्लुकि "अच" इति नागमे "पदस्य" इत्यन्तलोपे "युजम्कुषो०" २।१।७१। इति नस्य हकारे-प्राङ् शेते इत्यवस्थाया पदान्तस्थस्य शिट्परस्य ङकारस्य विभाषया कागमे "प्रथमाद०" इति शस्य छत्वे-प्राङ्छेते । छत्वाभावे-प्राङ् शेते । उभयोरभावे-प्राङ्शेते । एवमन्यत्र समन्वयः । महान् षण्डे-अत्र "षितवर्गस्य" १।३।६४। इति प्रतिषेधात् "तवर्गस्य०" २६ १।३।६०। इति गत्व न । चंमण्षि-अत्र सिप्रत्ययवस्य "सस्य शषौ" इति षत्वम् ॥ १७ ॥

ङ्गः सः त्सोऽश्चः । अत्र पदान्ते नवा इति चातुर्वर्त्तते, पदान्ते ङ्ग अश्च स त्सो नवा इत्यन्वयः, तदर्थमाह-पदान्तेवर्तमानात् इत्यादिना । षट्सीदन्ति-षक्षे "इति षण०" १।४।५४। इति जसो लुपि "धुट्स्त्वृतीय" इति तृतीयत्वे-षट्, सदेरन्तौ शक्ति सीदादेशे-सीदन्ति ३९ इति षट् सीदन्ति इत्यत्र पदान्तत्वात् परस्य सस्य त्सादेशे षट्सीदन्ति । अत्र "पदान्ताद्वर्गाद०" इति निषेधात्स्य "तवर्गस्य०" इति टवर्गो न भवति । ननु षट् इत्यत्र "अधोषे प्रथमोऽशिटि" इति टत्व कथं न भवतीत्याह-ङकारनिर्देशात् इति । अयमाशयः-सूत्रे षटिति प्रयोगस्यो ङकारोऽनुकृतत्वत्सादेव टत्व न भवति । अन्ते तु सूत्रे ङकारमनुकृर्वन्ति तस्य तृतीयत्वे ङ्ग इति निर्देश इति तन्मतमुपन्यस्यति-केचित्तु इति । ४२ पाणिनीया शाकटायनाथ । "उ सि धुट्" पा० ८।३।२९।, "इस्वट् सोऽश्च" शा० १।१।१४६। तद्वैकाङ्क्याम् षट्सन्तं, मधुलिद्वितीयदिति इति चोदाहृतम् । तन्मते प्रत्यङ्गदेशोदाहरति-षट्सीदन्ति । भवान्साधु-अत्र नकारस्य "नोऽप्रशानो०" इति न भवत्यनुस्वारानुनासिकपूर्वं सकारोऽधुद्वार इति वचनात्, अत्र हि धुट्परस्कार इति । षट्श्योतन्ति-रुच्युट् शरणे, "सस्य शषौ" इति शो, धन्ति प्रत्यये ४५ शक्ति, उपान्युणो च-श्योतन्तीति भवति । यद्यपि "सस्य शषौ" इत्यत्रानु इत्यधिकारेऽश्च इत्यभावे दन्त्यसकारस्य सस्य चाप्राप्ति, तथाप्युपदेशाच्च-स्यार्थो तालव्यपाठ विहाय दन्त्य पठशाचार्यो बोधयति यदन्त्यस्थाननिष्पन्नस्य तालव्यस्यापि दन्त्यापदिष्टं कार्यं भवतीति प्राप्तमिदं अश्च इत्यनेन

भवाञ् श्र्योतति । श्र्युतेः सोपदेशत्वात् शकारस्य सकारोपदिष्टं कार्यं विज्ञायते, तेन मधु श्र्योततीति क्पि, मधुश्र्युतमाचष्ट इति णावन्त्यस्वारदिलोपे, पुनः क्पि, णिलोपे, सौ, तल्लुकि च यलोपे; 'सयोगस्यादौ स्कोर्क' ३ ॥ २ । १ । ८८ ॥ इति श्लोपे चस्य कत्वे मधुगिति सिद्धम् ॥ १८ ॥

नः शिञ् ॥ १ । ३ । १९ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य नकारस्य स्थाने शि-शकारे परे ञ् इत्ययमादेशो वा भवति । अश्च-श्चसंयोगावयवश्चेच्छकरो ऽन भवति । भवाञ्छूरः, भवाञ्शूरः, पक्षे-भवाञ् शूरः, एवं कुर्वञ्छेते, कुर्वञ्छेते, कुर्वञ् शेते । आदेशबलात् कत्व न भवति । शीति किम् ? भवान् करोति । अश्च इत्येव ? भवाञ्श्र्योतति । राजा शेते इत्यत्र तु परत्वान्नलोपः ॥ १९ ॥

अतोऽति रोरुः ॥ १ । ३ । २० ॥

वेति निवृत्तम् । अतोऽकारात् परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने अति-अकारे परे उकारादेशो भवति । कोऽत्र, कोऽर्थः । अत इति किम् ? अक्षिरत्र, देवा अत्र, सुश्रोतश्चयत्र न्वसि । अतीति किम् ? क इह, सर्वज्ञ आस्ते; पय अश्च-दत्त । रोरिति किम् ? पुनरत्र ॥ २० ॥

१२ कार्यते, तदाह-श्र्युतेः इत्यादिना । शकारस्य सकारोपदिष्टं कार्यं विज्ञायतेऽत्र हेतु-श्र्युतेः सोपदेशत्वादि, अन्यथा ताल्ब्यमेवोपदिशेति भावः । तत्फलमाह-तेन इत्यादिना । मधुश्र्योततीति विग्रहे "क्पि" ५।१।१४८। इति क्पि, मधुश्र्युतमाचष्ट इति विग्रहे "णिञ्महल नाम कृणादियु" ३।४।४२। इति णौ, "न्यन्त्यस्वारादेः" ७।४।४३। इत्यन्त्यस्वारादिलोपे, ष्यन्तात् पुन क्पि, "णेरिति" ४।३।८३। इति णिलोपे, १५ "नात्र प्रथमैकद्विवहौ" २।२।३१। इति सौ, "धीर्ष्यान्यञ्चानात् से" १।४।४५। इति सिल्लुकि, "पदस्य" इति यलोपे, "सयोगस्यादौ स्कोर्क" २।१।८८। इति श्लोपे, चस्य "चञ् क्वमि"ति कत्वे-मधुक् इति भवति । यदि सकारोपदिष्टं कार्यं तत्स्थाननियमज्ञास्य न भवेत्तर्हि "संयोगस्यादौ" इति अत्र प्रयोगे श्लोपो न स्यात्तेन हि सकारस्य लोपो विधीयत इति भावः । ननु मधुक् इत्यत्र "णेरिति" इति जातस्य णिलोप-१८ रूपस्वारादेशस्य "स्वरस्य परे प्राग्विधौ ७।४।११०। इति सूत्रेण स्थानितत्वात् श्लोप "सयोगस्यादौ" इति न प्राप्नोति, "न सचिबीयैकदिधीर्षा-सद्विधावस्कुकि" ७।४।१११। इत्यत्रास्कुकीवचनात् स्थानित्वप्रतिषेधाभावादिति चेन्न-अस्कुकीत्यत्र नञ्निर्देशेन 'नञानिर्दिष्टमतिस्मि'ति न्यायात् स्थानित्वाभावः । तत्र इत्यत्र सकारस्य सकारविधाने प्रयोजनाभावेऽपि तद्विधानं तकारस्य तदवयवत्वप्रतिपत्त्यर्थम्, तत्र तदनु-२१ वादमन्तरेणाशक्यक्रिय प्रकान्तरेण सन्देशगौरवधोरापत्तेः । ननु इ इति कयम् ? ह इति "तवर्गस्य" इत्यनेन भाव्यमिति चेत्, सत्यम्, "पदान्तात्" इति निषेधाच्च भवति ण ॥ १८ ॥

नः शिञ् । अत्र पदान्ते नवा अक्ष इति चानुवर्तते, पदान्ते न अक्षे शिञ् नवा इत्यन्वयः । ननु "ङ् स त्वोऽश्च" इति सूत्रे २४ न इति पृथग्योगविधानेन 'अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम' इति न्यायेन पञ्चम्यन्तस्य तस्य षष्ठा विपरिणामेनाप्राप्तुञ्चौ स्थानित्वा भविष्यति किमर्थं सूत्रे न इत्युपादानम् ? यदि चोच्येत वृत्त्युत्पत्त्या सूत्रे शि इति षष्ठा विपरिणामे शकारस्य स्थानित्वा कस्मात् ? इति चेत्, शि इति सप्तमी-निर्देश एव तत्र मानमन्यथा षष्ठीनिर्देशमेव कुर्यादिति चेदत्रोच्यते-ततोऽनुवृत्तस्य 'न' इत्यस्यात्र षष्ठा विपरिणामेऽपि श इति षष्ठीनिर्देशो एव २७ षष्ठीसन्देशे शकारात् परस्य नस्य स्थानित्वा स्यात् तन्मा भूदिति सप्तमीनिर्देशादत्रैव विपरिणामो नान्यत्रेति तस्मात् स्थानित्वप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रे नकारकरणमिति भावः । तदाह-पदान्ते वर्तमानस्य नकारस्य इत्यादिना । कुर्वञ्छेते-करोते "शात्रानशावेष्मति तु सयौ" ५।२।२०। इत्यनेन शट्प्रत्यये, "कृतनादेरु" ३।४।८३। इत्युत्पत्त्ये गुणे, "अत शिल्लुक्" ४।२।८९। इत्युकारे, "श्रुदुदित" १।४।७०। इति ३० नागमेऽनेन पदान्तस्यस्य शपरस्य नस्य विभाषया 'श्' इत्यादेशे "प्रथमादृष्टि" इति शस्य छत्वे सिक्कति, छत्वाभावे-कुर्वञ्छेते । उभ-योरभावे "तवर्गस्य" इति सर्वत्र अकार-कुर्वञ्छेते । नन्वत्र "चञ् क्वमि" इत्यनेन क्व च क्य न भवतीत्याह-आदेशबलात् इत्यादिना । अन्यथा ककारमेव कुर्यात्, असन्नित्यधिकारादत्रासद्रूपादेशबलाद्वा क्व "चञ् क्वमि"ति न भवतीत्यर्थो वा । उपलक्षणमिदं तत "पदस्य" ३३ इति लोपोऽपि न भवति । राजा शेते-अत्र राजन्शब्दात् सौ, तल्लुकि "नि धीर्ष" १।४।८५। इति धीर्षे, राजान् शेते इत्यत्र उभय प्राप्नोति "नात्रो नोऽनह" इति "न धि श्" इति च, 'अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशयोः शास्त्रयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ परं भवति' इति नियमादाह-परत्वाच्च लोपः-"नात्रो नोऽनह" इत्यनेनेति शेषः ॥ १९ ॥

अतोऽति रोरुः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, अत पदान्ते रो अति च इत्यन्वयः । पूर्वं स्थानी निमित्तम्, कार्यमिति क्रमेण अतो रोः अति च इति निर्देशे कर्तव्ये "अतोऽति रोरु" इति निर्देशक्रमाधिक्रम कुर्वञ्चाचार्योऽधिकारातिक्रम सूचयति, तदाह-वेति निवृत्तम् । अतोऽतिनिर्देशे सूत्रकृत सूचयति 'यत्सनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य' इति न्यायोऽत्र न प्रवर्ततेऽन्यथाऽकारसनिपातं मत्वा जाय-३९ मानो रोरुकारविधि "एदोत पदान्ते" इति उक्त्वाऽकारविधाते निमित्तं न भवेत् । अपि चातोऽति रोरु इति ज्ञापकात् तत्रै अयन उदित एव रोरुप्रहणम् । किं च भो भगोऽधोभ्य परस्य पदान्तस्यस्य रोरुन्यस्यासमवादात्प्रत्ययेव रोरिल्लुक् इति सूत्रेणैव प्रहणम् । ४२ कोऽत्र-"किम्" सौ कादेशे, "सो र" इति रुत्वेऽनेन उकारे, क उ अत्र इत्यवस्थाया "अवर्गस्य" इति "इवर्णादेरु" इति च सूत्रद्वयप्राप्ते 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयो' इति न्यायादोत्पत्तिवित्त्वनिष्ठसिद्धि, "एदोत पदान्ते" इत्यकारलुक् । सुश्रोतश्च यत्रन्वसि-शोभन श्रोतोऽस्त्विति बहुमीहौ, आमङ्गयसेऽपि, सस्य रुत्वे, परत्वादान्तरङ्गत्वाच्च "दूरादामङ्गस्य" ७।४।९९। इत्युकारात् पूर्वमेव हुवे अत इति तकारस्य स्वरूप-४५ महणाथैत्वात्कारस्वरूपादानेन पश्चाद्बुल न भवति "रोरु" इति च भवतीत्यत इत्यस्येदं फलम् । पय अश्चदत्त-अत्र हस्वाकारपरत्वामावाच्य "रोरु" इति यस्य "स्वरे वा" इति छम्भवति । "सो र" इत्यनेन विहितस्य रोरुप्रहणं किमर्थमिति पृच्छति-रोरिति किम् ? पुनरत्र-अत्र ४८ रेपस्य उदित्वाभावाद्बुल न भवति ॥ २० ॥

१ णिलोपे पु०, ख० ता०, माष्ठा० । २ चयलोपे इति पाठो नास्तीति पु०, ख० ता०, माष्ठा० । ३ ङ् म० म० ।

**घोषवति ॥ १ । ३ । २१ ॥**

अतः परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने घोषवति परे उकारो भवति । को गच्छति, धर्मो जयति; अहोभ्याम् । घोषवतीति किम् ? कः करोति । अत इत्येव ? मुनिर्गच्छति, सुश्रोतश्च देहि । रोरित्येव ? स्वर्याति, पुनर्वक्ति । उत्तरेण ह लुकि प्राप्तेऽपवादोऽयम् ॥ २१ ॥

**अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसंधिः ॥ १ । ३ । २२ ॥**

अवर्णाद् भोभगोऽघोर्भ्यश्च परस्य पदान्तस्थस्य रोघोषवति परे लुग्भवति, स चासंधिः—संधेर्निमित्तं न भवति । ध्रमणा गच्छन्ति, धार्मिका जयन्ति । अकारात् परस्य रोः पूर्वेणापवादत्वादुत्वमेव । भो गच्छसि, भगो हससि; अघो यासि । भोभगोअघो इत्येते आमन्त्रणार्थाः सकारान्ता अव्ययाः । केचित्तु भवद्भगवदपवतां संबोधने सौ परतोऽचशब्द-स्यौत्वं तकारस्य च रुत्वं कृत्वा एतानि रूपाणीच्छन्ति, तेषां द्विवचनबहुवचनयोः स्त्रियां च न सिध्यन्ति—भो ब्राह्मणो, भो ब्राह्मणाः; भो ब्राह्मणि । भगो ब्राह्मणौ, भगो ब्राह्मणाः; भगो ब्राह्मणि । अघो ब्राह्मणौ, अघो ब्राह्मणाः; अघो ब्राह्मणि । घोषवतीत्येव ? कुमाराः क्रीडन्ति । असंधिरित्युत्तरार्थम् ॥ २२ ॥

**व्योः ॥ १ । ३ । २३ ॥**

१२

अवर्णात् परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्विकारयकारयोर्घोषवति परे लुग्भवति, स चासंधिः । वृक्ष वृश्चति किप्, वृक्ष-वृश्चमाचष्टे इति णान्त्यस्वरादिलोपे वृक्षवयतीति विचि सिद्धं वृक्षच्, वृक्ष गच्छति, एव माला हसति, अव्य गच्छति ।

**घोषवति ।** अत्र अत रोः पदान्ते उ इति चानुवर्तते । अति इति चानुवर्तते घोषवति इति निमित्तान्तरस्योपादानात् । अत पदान्ते रो घोषवति उ इत्यन्वयस्तदाह—अतः परस्य इत्यादिना । ननु पूर्वस्य एव घोषवद्ग्रहण क्रियतामर्थस्य समानत्वात् किं प्रयत्नयोगेन, सत्वं, घोषवतीत्येवोत्तरानुवर्तत इत्येतदर्थं प्रयत्नयोगेऽन्यथात्वेकयोगनिर्दिष्टत्वात्दीप्त्यनुवर्तत इति भावः । अहोभ्याम्—अहन्शब्दाभ्यामि “अह” ३।१।७४ इति नकारस्य रुत्वेऽनेनेत्वेऽवर्णस्योत्पत्ते च सिद्ध्यति । सुश्रोतश्च देहि—अत्र पदान्तस्थस्य रोघोषवत्यन्तेऽपि हस्कारात् परत्वात्-१८ भावात् उत्व, किन्तु “अवर्णभोभगोऽघोर्लुक्” इति रोर्लुक् । को गच्छतीत्यादौ “अवर्णभोभगोऽघोरिति” उत्तरसूत्रेण लुकि प्राप्ते तदपवादाने-नोत्व विधीयत इत्याह—उत्तरेण इत्यादिना ॥ २१ ॥

**अवर्णभोभगोऽघोर्लुगसंधिः ।** अत्र पदान्ते रो घोषवति इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते रो घोषवति लुक् स च २१ असंधिरित्यन्वय, तदर्थमाह—अवर्णभोभगोऽघोर्भ्यश्च इत्यादिना । ननु सन्धिरूपतायामसन्धिरिति प्रतिषेधो युक्त, लुक् तु अभावरूपत्वात् सन्धिरूप एव न भवतीति कथं स प्रतिषेधः ? इत्यत आह—सचासंधिः—संधेर्निमित्तं न भवतीति । अत्र सन्धिसन्धेन सन्धिसन्धिसन्धिसोपचाराद्भिधानमित्यर्थं । ध्रमणा गच्छन्ति—ध्रमणशब्दात्प्रति “अत आ स्यादौ” १।४।१। इत्याकारे, “समानाना तेन” इत्येकादेशे सस्य २४ रुत्वे तस्यानेन लोपे सति भवति । एवमन्वयः । ननु को गच्छतीत्यादौ पूर्वेणोत्व अनेन च लोप प्राप्त इत्युभयप्राती परत्वात् लोप एव स्यात्, इति चेन्न, निरवकाशत्वेनापवादत्वादुत्वमेव प्रयत्तते । नच “अवर्णभो” इति सूत्रे “अवर्ण” इत्यत्र वर्णग्रहणाज्जातिग्रहणेन सर्वविधाकारग्रहणे प्रतिलक्ष्य लक्ष्णोपग्रह इति सिद्धान्तादरे ह्रस्वकारविषयकस्याऽस्यापि निरवकाशाविति वाच्यम्, तस्योत्तरार्पत्वादिवाह—अकारात्तु इत्या-२७ दिना । भोभगोअघो इत्येषां परिचय दर्शयति—भोभगोअघो इत्येते आमन्त्रणार्थाः इत्यादि । अव्ययाः—चादेराहृतिगणत्वादिति शेषः । “विभाषा भवद्भगवदपवतामोधावस्य” इति वार्तिककृत कात्यायनस्य मतमाह—केचित्तु इत्यादिना, इच्छन्तीत्यन्वयेन । भवतु सर्वादि उकारस्येते, अवशब्दस्य ओत्वे, तकारस्य च रुत्वे सोर् । “गोचरसंघर्” ५।३।१३। इति धे मग तत “तदस्याऽत्स्य” ५।२।१। इति मत्तौ, ३० “मावर्णो” ३।१।७४ इति सत्त्वे भगवत्, अत्रावस्य ओत्वे तस्य च रुत्वे भगोर् । “अवर्ण” पापकणे इत्यस्मादिति मत्तौ वत्त्वे अघवत्, अवस्य ओत्वे तस्य च रुत्वे अघोर् । इत्येषां घोषवति परेऽनेन लुक्, तन्मतेऽनुपपत्तिमाह—तेषां इत्यादिना । तन्मतेऽनुपपत्तप्रयोगसमुदायं दर्शयति—भो ब्राह्मणौ इत्यादि । ननु सति सद्भावे प्रतिषेध उपपद्यते—अवर्णादिभ्यस्तु घोषवति रोर्लुकि सन्धिसमव एव नास्तीत्यत आह—असंधिः इत्यादि । नच “स्वरे वा” इत्यत्रैवासन्धिरिति कार्यमिति वाच्यम् असंधेर्लुक्सनियोरविष्टत्वस्य ज्ञापनार्थमत्रोपादानमिति भावः ॥२२॥

**व्योः ।** अत्र अवर्णात् पदान्ते घोषवति लुक् अर्धंधि इति चानुवर्तते, अवर्णात् पदान्ते व्यो घोषवति लुक् स च असंधिरित्यन्वय, तदर्थमाह—अवर्णात् परयोः इत्यादिना । वृक्षं वृश्चति इत्यर्थं किप्—“किप्” ५।१।१४८। इत्यनेन, वृक्षवृश्चमाचष्टे इत्यर्थं पौ—“विष्महल नाम हृगादितु” ३।४।४२। इत्यनेन, अन्त्यस्वरादिलोपे—“अन्त्यस्वरादिलोपे” ५।४।४३। इत्यनेन, वृक्षवयति इति विग्रहे विचि—“अवचनकल्पिचि कल्पिच्” ५।१।१४७। इत्यनेन । किप्प्रत्यये सति तु “अनुनासिके च च्छ्व श्च” ४।१।१०८। इत्यद् स्यादित्यत उक्तं—विचि सिद्धं इति । “स्वरस्य परे प्राग्वचौ” ५।४।११०। इति णिलुक् स्थानिवचनेन “श्चो षऽऽव्यञ्जने लुक्” ४।४।१२१। इति न वक्ष्य लुक् । “नसंधिर्लुकिः” ५।४।१११। इति स्थानिवद्भावात्प्रतिषेधस्तु किपिचौ प्रवर्ततेऽत्र तु विच्छप्रत्ययसत्त्वेन तन्निषेधानवकाशः । तथाच—वृक्षं गच्छति इत्यवस्थायां अवर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य घोषवत्यस्य च वक्ष्य स्थाने लुगनेनेति समन्वयः । एवमन्वयः । अव्य गच्छति-अव्ययतीति विग्रहे विचि किपि वा अव्यय इत्यत्र णिलुक् स्थानिवचनेन “श्चो षऽ” इति यस्य न लुक् । किपि तु यद्यपि “स्वरस्य” इति णिज स्थानिवत्त्वस्य “न सन्धिलुकिः” इति निषेधः प्राप्नोति तथाच—“व्यो षऽ” इति यस्य लुक् प्राप्तत्वापि तेन लुक् न भवति—“इथाप शासोऽङ् व्यञ्जने” ४।४।११०। इत्यनेन व्यञ्जनादत्रा किपि परे इदित्वादेशे सिद्धे “क्षौ” ४।४।१११। इति सूत्रे किपि कल्पितं व्यञ्जनकार्यमित्यामिति ज्ञापयतीति यल्लुक् न भवति । अथवा ‘संज्ञापूर्वको विधिरनेल’ इति न्यायेन “श्चोः” इति न प्रवर्तते, न चानेनापि सूत्रेण स्थानिवद्भावाद्भोगो न सन्धिवतीति वाच्यम्, सन्धिविधौ तदप्रतिषेधादिति । परे तु व्यो पदान्तनोरसंभवाद् घोषवति लोप नारभन्ते, नहि यण पदान्ता सन्धीति” हि १ चादी अ० पु० । २ सिच्यति० म० म०, माण्ड०, ख० ता० ।



घोषवतीत्येव ? वृक्षव् करोति, अव्यय् करोति । अवर्णादित्येव ? तरुव् गच्छति । पदान्त इत्येव ? भव्यम्, जय्यम् । कश्चित्त्तु स्वरजयोरनादिस्थयोर्धकारवकारयोर्घोषवत्यवर्णादन्यतोऽपि लोपमिच्छति—अध्याखूढ उम्—ईशम् अध्युः, स चासा-  
३ विन्दुश्च—अध्विन्दुः । साधोरीः—श्रीः साध्वी, तस्मा उदयः साध्युदयः इत्यादि ॥ २३ ॥

खरे वा ॥ १ । ३ । २४ ॥

अवर्णभोभगोऽघोभ्यः परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकारयकारयोः खरे परे लुगवा भवति, स चासंविः । पट इह,  
६ पटविह; अवर्णादीषत्पृष्टतरस्य विकल्पेन विधास्यमानत्वात् त्रैरूप्यम् पटविह । वृक्ष अत्र, वृक्षवत्र, वृक्षवत्र । वृक्षा इह,  
वृक्षाविह; वृक्षाविह । त आहुः, तथाहुः; तथाहुः । तस्मा इदम्, तस्मायिदम्; तस्मायिदम् । क आस्ते, कयास्ते;  
कयास्ते । देवा आहुः, देवायाहुः, देवायाहुः । भो अत्र, भोप्रभृतिभ्य उत्तरेणपत्पृष्टतरस्य नित्यं विधानाद् द्वैरूप्यम्—  
९ भोयत्र । भगो अत्र, भगोयत्र । अघो अत्र, अघोयत्र । उच्यपि द्वैरूप्यमेव—पट उ, पटवु इत्यादि । पदान्त इत्येव ?  
लवनम्, नयनम् । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मच्चत्र, दध्यत्र । खर इति किम् ? वृक्षव् करोति ॥ २४ ॥

अस्पष्टाववर्णात् त्वनुञि वा ॥ १ । ३ । २५ ॥

६२ अवर्णभोभगोऽघोभ्यः परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकारयकारयोः स्थानेऽस्पष्टावीषत्पृष्टतरौ प्रत्यासत्तेर्वकारयकारावेवा-  
दंशौ खरे परे भवतः, अवर्णात्तु परयोर्व्योःखर्वर्जिते खरे परेऽस्पष्टौ वा भवतः । पटवु, वृक्षवु, असावु, कयु, देवायु,  
भोयत्र, मोयु, भगोयत्र, भगोयु, अघोयत्र, अघोयु । अवर्णात्त्वनुञि वा—पटविह, पटविह, असाविन्दुः, असाविन्दुः;  
१५ तयिह, तयिह, तस्मायिदम्, तस्मायिदम्, कयिह, कयिह, देवायाहुः, देवायाहुः । अनुञीति किम् ? उञि  
अस्पष्टावेव यथा स्याताम्, तथा च—उदाहृतम् । केचित्तु स्थानस्य यकारस्योञि परे लोपमेवेच्छन्ति—क उ आगतः,  
भो उ एहि, भगो उ एहि, अघो उ याहि । अपरे तु भोभगोऽघोभ्यः खरे नित्यं लोपमेवेच्छन्ति—भो अत्र, भगो  
१० अत्र; अघो अत्र ॥ २५ ॥

तेषां वचनम् । भव्यम्—भवतेर्भावे ये गुणे “द्यक्ये” इति अवादेशे च सिद्ध्यति । जय्यम्—जेतु शक्यमित्यर्थे ‘जि’ अभिभवे, घातो शक्यार्थे ये  
“क्षय्यजय्यौ शक्तौ” ४।३।९० । इत्यादिदेशे च सति सिध्यति, अत्र वयोरपदान्तत्वात्त्वेदं प्रवर्तते । विश्रान्तविधाधरमतमाह—कश्चित्तु इत्यादिना ।  
२१ खरजयोः—“इवर्णदि०” इत्यादिना कृतयो खरस्थानिकयोर्नित्यर्थे । अनादिस्थयोः—आदाववर्तमानयो । अवर्णात् अन्यत अपि परयो  
खरजयो अनादिस्थयो यकारवकारयो घोषवति परे लोपम् इच्छति इत्यन्वय, स्फुटोऽर्थ । तन्मते उदाहरति—अध्विन्दुः, साध्युदयः—  
अत्र यथाक्रम यकारस्य वकारस्य च लोप, अन्यमते—अध्विन्दु, साध्युदय इति ॥ २३ ॥

२४ खरे वा । अत्र अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते व्यो लृक् अर्धचिः इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते व्यो खरे लुगवा असंवि-  
रित्यन्वयस्तदर्थमाह—अवर्णभोभगोऽघोभ्य इत्यादिना । पट इह—पटो इह इत्यवस्थायां “ओदौतोऽवाव” इत्यवदेशे पटव् इह इति  
स्थिते अवर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य खरपरस्य वक्षानेन लृक्यसंघो च सिध्यति, तदभावे “अस्पष्टाववर्णात्त्वनुञि वा” इत्यनेन अस्पष्टवकारादेशे—  
२७ पटविह, लृकि अस्पष्टवकाराभावे च—पटविह, तदाह—अवर्णात् इत्यादिना । त्रैरूप्यम्—“खरे वा” “अस्पष्टाववर्णात्त्वनुञि वा” इति विक-  
ल्पद्वयेनेति भाव । वृक्षवत्र—वृक्षव् इति तु साधितमेव । वृक्षा इह—वृक्षशब्दादौ प्रत्यये वृक्षौ इह “ओदौतो०” इति आवि वक्षानेन लृक्,  
२८ पक्षे यथाप्राप्तम् । त आहुः—तच्छब्दाज्जसि अत्वाद् “जस इ” इतीत्वे एत्वे च—ते आहुरित्यत्र अयादेशे यक्षानेन लृक् । तस्मा इदम्—  
३० तच्छब्दाच्चतुर्थ्येकवचने अत्वाद्दौ स्मायादेशे आयादेशे च यक्षानेन लृक् । भो अत्र—“सोर्” इत्यनेन जातस्य भोपरस्य पदान्तस्थस्य खर-  
परकस्य रो स्थाने यत्वे तस्य लृकि सिद्ध्यति । अत्र “अस्पष्टाववर्णात्०” इति सूत्रेण नित्यं रोर् इति जातस्य अस्य अस्पष्टविधानाद् रूपद्वय-  
मिलाह—भो प्रभृतिभ्य इत्यादिना—भो यत्र । अवर्णादिषत्पृष्टतरस्य विकल्पेन अनुञि विधानाद्द्वयमित्याह—उच्यपिद्वैरूप्यमेव—  
३३ पटउ, पटवु । अत्रावादेशे वक्षानेन लृक् “अस्पष्टाववर्णात्०” इत्यादिना पक्षे नित्यमीषत्पृष्टतरवकारस्य ॥ २४ ॥

अस्पष्टाववर्णात्त्वनुञि वा । अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते व्यो खरे इति चानुवर्तते, अवर्णभोभगोऽघो पदान्ते व्यो अस्पष्टौ खरे,  
अवर्णात् तु व्यो अनुञि खरे अस्पष्टौ वा इत्यन्वय, तदर्थमाह—अवर्णभोभगोऽघोभ्य इत्यादिना । अस्पष्टौ—ईपत्पृष्टतरौ—उच्चारणे  
३६ लघुप्रयत्नतरौ—मन्दतरप्रयत्नौ—प्रशिथिलस्थानकरणपरिस्पन्दविति यावत्, एतदुक्तं भवति—शियिलस्थानकरणभ्यां उच्चार्यमाणां वकारयकारौ  
अस्पष्टौ इति भाव । आदेशश्च तयोरदृष्टार्थं दृष्टस्य प्रयोजनाभावात् अस्पष्ट इति सामान्यशब्देनापि वकारो यकाराभिमोच्यते । व्योर्हि स्थाने  
ईपत्पृष्टतर आसन्न आदिश्यते तयोश्चासन्नो वकारो यकारश्चेत्याह—प्रत्यासत्तेरित्यादि । सूत्रे तुशब्दो भिन्नवाक्यत्वप्रतिपादनाय इत्याह—  
३९ अवर्णात्—इत्यादिना । न लृक् अनुञ् तस्मिन्ननुञीति खरे इत्यस्य विशेषणमित्याह—उञ् चर्जिते खर इति । पटवु—अत्र “खरे वा” इति  
लुगभावपक्षेऽनेनावर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य वस्य नित्यमस्पष्टो वकार । एवमन्यत्र समन्वय । पाणिन्याद्याचार्याणां मतमाह—केचित्तु इति ।  
४२ इति सूत्रे आचार्यपाणिनि, तन्मते उदाहरति—क उ आगत इत्यादि । भो भगोऽघोभ्य खरे परे नित्यं लोपमिच्छते गार्ग्यस्य मतमाह—अप-  
रेतु इत्यादिना । शाकटायनमते लघुप्रयत्नतरौ चयौ इत्याह पाणिनि—“व्योर्लघुप्रयत्नतरं शाकटायनस्य” पा० ८।३।१८। इति । गार्ग्यमते  
तु “ओतौ गार्ग्यस्य” । पा० ८।३।२०। इत्युवाच, तन्मते उदाहरति—भो अत्र, भगो अत्र; अघो अत्र ॥ २५ ॥

रोर्यः ॥ १ । ३ । २६ ॥

अवर्णभोगोऽधोभ्यः परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने खरे परे यकार आदेशो भवति । कयास्ते, देवायास्ते, मीयत्र, भगोयत्र, अधोयत्र । रोरिति किम् ? पुनरिह । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मुनिरत्र । खर इत्येव ? कः करोति, भोः ३ क्रोषि ॥ २६ ॥

ह्रस्वाद् ङण्णो द्वे ॥ १ । ३ । २७ ॥

ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानाणां ङ्ण् न् इत्येषां वर्णानां स्थाने खरे परे द्वे रूपे भवतः । कुट्टास्ते, सुगण्णिह, ६ पचन्नास्ते । कुर्वन्नास्ते, कृषन्नास्ते इत्यत्र तु वहिरङ्गस्य द्वित्वस्यासिद्धत्वात् णत्वं न भवति । ह्रस्वादिति किम् ? प्राडास्ते, वाणास्ते, भवानास्ते, राज३निह । ङ्ण् इति किम् ? त्वमत्र । खर इत्येव ? प्रत्यङ् श्ते, गच्छन् मुक्ते । पदान्त इत्येव ? वृत्रहणौ, दण्डिनौ । “उणादयः” ॥ ५ । २ । ९३ ॥ इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात्, “अनंतो” ॥ १ । ४ । ५९ ॥ इत्यादौ ० स्वनृविधानचलात् न भवति ॥ २७ ॥

अनाङ्गाङो दीर्घाद् वा छः ॥ १ । ३ । २८ ॥

अङ्गाङ्वर्जितपदसम्बन्धिनो दीर्घात् पदान्ते वर्तमानात् परस्य छकारस्य द्वे रूपे वा भवतः । कन्याच्छत्रम्, २२ कन्याछत्रम्; कुटीच्छाया, कुटीछाया; जम्बूच्छाया, जम्बूछाया, मुने छाया, मुने छाया, रैच्छाया, रैछाया, गोच्छाया,

रोर्यः । अत्र अवर्णभोगोऽधो पदान्ते खरे इति चानुवर्तते, अवर्णभोगोऽधो पदान्ते रो खरे य इत्यन्वय । रेकनात्रस्यात्र यत्विधाने प्राप्तस्यातिप्रसङ्गस्य परिहारार्थमुकारो विशेषणमाश्रयेत्, यद्यन्यत्रास्पष्टाववर्णात्वविवेकतोऽवर्णोदित्येवाव्यवहितत्वेनानुवर्तनीय, तथापि २५ भोप्रसूतिभ्यो यकारस्यास्पष्टयकारविधानाद् व्यवहितमपि अवर्णभोगोऽधोरित्येवानुवर्तत इत्याह—अवर्णभोगोऽधोभ्य इत्यादि । कयास्ते—किमुशब्दात् सौ कादेशोऽनुबन्धलोपे “सौ ङ” इति रुवेऽनेन तस्य यकार । पक्षे “खरे वा” इति कलोपे—क वास्ते । एवमन्यत्र । उदनुवन्ध-फलं पुच्छति—रोरिति किम् ? पुनरिह—अत्र उदनुवन्धो रेफो नारखतो न तस्य योऽनेनेत्याशय ॥ २६ ॥ १८

ह्रस्वाद् ङण्णो द्वे । अत्र पदान्ते खरे इति चानुवर्तते, ह्रस्वात् पदान्ते ङ्ण् खरे द्वे इत्यन्वय । ङ्ण् इति ङश्च णश्च नधेलेया समाहारद्वन्द्वत्वात् षष्ठी, द्वे इति द्विशब्दात् प्रथमाद्विचने “आद्वे” २।१।१। इत्यन्ते, रूपापेक्षया नपुंसकत्वात् “औरी” १।४।५६। इती-कारे एकादेशे भवति, तदर्थमाह—ह्रस्वात् परेषां इत्यादिना । कुट्टास्ते—अत्र ह्रस्वकारात् परस्य पदान्तस्थस्याऽऽङ्कारस्य परस्य ङस्य २१ रूपद्वयम् । एवमन्यत्र समन्वय । ननु कुर्वन्नास्ते, कृषन्नास्ते इत्यत्रानेन नस्य द्वित्वे सति द्वितीयनस्य पदान्तत्वेऽपि पूर्वस्य नस्यानन्वयस्य “रपु-वर्णानो ण०” २।३।६३। इत्यनेन णत्व कथञ्च भवतीत्याह—वहिरङ्गस्य द्वित्वस्य इत्यादि । उभयपदापेक्षत्वात्तद्विह वहिरङ्ग णत्व तु द्वित्व-शास्त्रनिमित्तान्तरभूतनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गमिति ‘असिद्ध वहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति न्यायेन न भवति । राज३निह—राजपृथग्चदादाम्भयसेर्लुकि २४ “नामभ्ये” २।१।९२। इति नलोपप्रतिषेधादन्तरङ्गत्वात् परत्वाच्च ह्रवे ह्रवे ह्रस्वाभावाद्वित्व न भवति । प्रत्यङ् श्ते—प्रतिपूर्वादेशे किं “अयो-ऽनन्तोर्याम्” इति अर्थार्थं नलोपामावात् सेर्लुकि, “पदस्य” इति चलोपे, “युज्जमकुष्ठो नो ह” २।१।१। इति ह्रकारे, तस्य द्वित्वमनेन न भवति खरपरत्वाभावात् । ननु चात्र मा भूदनेन द्वित्व “अवीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने” इत्यनेन द्वित्व भविष्यति तत्किमर्थमेतत्तत्तये खर इत्युच्यते इति २७ चेत्, सत्यम्; अथनेन द्वित्व तर्हि नित्यं स्यात्तेन तु विकल्पेनेति तदर्थं खर इत्युपावीयते । वृत्रहणौ—वृत्रपूर्वाङ्गन्ते “ब्रह्मशूण०” ५।१।९६। इति किपि, “अहन्पथमस्य०” ४।१।१०७। इति ह्रन्वर्जनादीर्घत्वाभावे स्यादुकारे “कवर्णकखरवति” २।३।७६। इति णत्व, अत्र णस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि पदान्तत्वामावात्त द्वित्वम् । दण्डिनौ—दण्डोऽस्यास्तीति “अतोऽनेकखराद्” ७।२।६। इति मत्वर्थे इति, अकारलोपादौ अनेन ३० ङस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि अपदान्तत्वाच्च भवति द्वित्वम् । ननु ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानाणां ङ्णानां अनेन द्वित्वे सति कथं “उणादयः”, “अनत” इत्यादयो निर्देशा इत्यत आह—उणादयः इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात् इत्यादि, अन्यथा तत्रैव प्रकिञ्चालापार्थं द्वित्वकारमा-देशं निदध्यादित्यर्थं ॥ २७ ॥ १९

अनाङ्गाङो दीर्घाद् वा छः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते द्वे इति च, तच्च वीर्घादित्यनेनान्वेति छेन त्वसंभवाच्चान्वय, पदान्ते द्व तस्या-ऽऽदेशेन भाव्यम्—शब्दभ्राद इति । अनाङ्गाङ् इति द्वन्द्वगर्भात्तत्पुण्यान्विति भवति, तथापि वीर्घादित्यनेनान्वेति । यद्यप्यनाङ्गिति पर्युदासस्य सदृशमिति वीर्घादित्यस्य लामस्यपि तयोरेव्यत्येन सादृश्यमहणे वीर्घादिव्यादित्यनर्थं स्यादिति वीर्घादिति । तथाच—अनाङ्गाङो १३ पदान्ते वीर्घाद् छ द्वे वा इत्यन्वयत्त्वर्यमाह—आङ्गाङ्वाङ्जितपदसंबन्धिन्यन इत्यादिना । कन्याच्छत्रम्—अत्र षष्ठीसमाचे सति अनाङ्गाङ् पदान्ते वर्तमानादीर्घाकारात् परस्य विकल्पेन छस्य द्वित्व, पक्षे—कन्याच्छत्रम् । एवमन्यत्र । मुनेच्छाया—मुने छाया इति स्थिते “खरेभ्य” इति द्वित्व “आमभ्ये” इति सिध्द प्रामोदि, तत्रान्तरङ्गत्वात् परत्वात्तित्याच्च “आमभ्ये” इति पूर्व सिद्धतो “ह्रस्वस्य गुण” ३५ १।४।९। इति सिना सह गुणेऽनेन विकल्पेन छस्य द्वित्वम् । “खरेभ्य” इति नित्य द्वित्वे प्राप्ते विकल्पार्थोऽप्यपरत्वं । अनाङ्गाङ् इत्यस्य फलं

१ मनन ख० ता०, भाष्य०, पु० ।

पोषपतीत्येव ? वृक्षं करोति, अज्यम् करोति । अवर्णादित्येव ? तस्त्वं गच्छति । पदान्त इत्येव ? भव्यम्, ज्यम् । कश्चित् सारजयोगादिग्योर्वकार्यकारयोर्पोषपत्वान्पूर्वादन्यतोऽपि लोपमिच्छति—अध्यारूढ उम्—ईशम् अच्युः, स चासा-  
१ तिन्दुष-अचिन्दुः । सापोरी-श्रीः साप्ती, तस्या उदयः साध्युदयः इत्यादि ॥ २३ ॥

खरे वा ॥ १ । ३ । २४ ॥

अवर्णभोगोऽघोम्य परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकार्यकारयोः खरे परे लुग्वा भवति, स चामंभिः । पट इह,  
५ पटविह; अवर्णादीपत्स्वष्टरस्य विद्वत्त्वेन विधासमानत्वात् द्वैरूप्यम् पटविह । वृक्ष अत्र, वृक्षवत्र; वृक्षवत्र । वृक्षा इह,  
वृक्षादिह; वृक्षादिह । त आहुः, तथाहुः; तथाहुः । तस्मा उद्गम्, तस्मायिदम्; तस्मायिदम् । क आस्ते, कयास्ते,  
कयान्ते । देवा आहु, देवायाहुः; देवायाहुः । गो अत्र, गोप्रभृतिभ्य उत्तरेणेपत्स्वष्टरस्य नित्य विधानाद् द्वैरूप्यम्-  
१० भोयत्र, भोगो अत्र, भोगोयत्र । अघो अत्र, अघोयत्र । उज्यपि द्वैरूप्यमेव—पट उ, पट्त्वं इत्यादि । पदान्त इत्येव ?  
तनम्, नयनम् । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मच्चा, दच्यत्र । खर इति किम् ? वृक्षम् करोति ॥ २४ ॥

अस्पष्टाववर्णात् त्वनुञि वा ॥ १ । ३ । २५ ॥

१२ अवर्णभोगोऽघोम्य परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकार्यकारयोः स्थानेऽस्पष्टावीपत्स्वष्टरौ प्रत्यासत्तेर्वकार्यकारावेवा-  
दंशौ खरे परे मरत, अवर्णात्तु परयोर्व्योक्तवर्जिते खरे परेऽस्पष्टौ वा भवतः । पट्त्वं, वृक्षत्वं, असात्त्वं, कयुः, देवायुः,  
भोयत्र, भोगुः, भोगोयत्र, भोगोयुः, अघोयत्र; अघोयुः । अवर्णात्त्वनुञि वा—पटविह, पटविह; असाविन्दुः, असाविन्दुः;  
१५ तविह, तविह; तस्मायिदम्, तस्मायिदम्; कयिह, कयिह, देवायाहु, देवायाहुः । अनुञीति किम् ? उञि  
अस्पष्टावेव यथा साताम्, तथा च—उदाहरतम् । केचित्तु रूखानस्य यकारस्योञि परे लोपमेवेच्छन्ति—क उ आगतः,  
भो उ एहि, भगो उ एहि; अघो उ याहि । अपरे तु भोगोऽघोम्य खरे नित्य लोपमेवेच्छन्ति—भो अत्र, भगो  
२० अत्र; अघो अत्र ॥ २५ ॥

तेषां वताम् । भव्यम्—नयतेर्नाभि से इत्थे “नयक्ये” इति आदेशे च छिज्यति । उज्यम्—जेतु शक्यमित्यर्थे “ञि” अभिभवे, घातो शक्ये ये  
“हृत्पत्रस्यो शपो” ५।३।१०। इत्यपदेशे च सति सिध्यति, एत पयोःपदान्तव्याधेः प्रवर्तते । विश्रान्तविधाधरमतमाह—कश्चित्तु इत्यादिना ।

२१ खरजयो.—“इत्थंदि” इत्यादिना इतयो मारत्याभिक्रोरित्यर्थ । अनादिस्थयोः—आदाववर्तमानयो । अवर्णात् अन्यत अपि परयो  
२५ शरजयो आगारित्ययो मकारवकारयो पोषादि परे लोपम् इच्छति इत्यन्यत्र, स्फुटोऽयं । तन्मते उदाहरति—अचिन्दुः, साध्युदयः-  
अत्र यथाका मकारस्य पकारस्य च लोप, अन्यमते—अचिन्दुः, साध्युदय इति ॥ २३ ॥

२४ खरे वा । अत्र अवर्णभोगोऽघो पदान्ते व्यो लुग् अमंभिः इति चानुवर्तते, अवर्णभोगोऽघो पदान्ते व्यो खरे लुग्वा अमंभि-  
रित्यन्यत्र उदर्यमाह—अवर्णभोगोऽघोभ्य इत्यादिना । पट इह—पटो इह इत्यमस्यायां “ओदौतोऽयाव्” इत्यवदेशे पट्त्वं इह इति  
स्थिते अवर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य सारपरस्य स्यात्ते उज्यसंघौ च सिध्यति, तदभावे “अस्पष्टाववर्णात्त्वनुञि वा” इत्यनेन अस्पष्टवकारादेशे—

२७ पटविह, इति अस्पष्टनकाराभावे च—पटविह, तदाह—अवर्णात् इत्यादिना । द्वैरूप्यम्—“खरे वा” “अस्पष्टाववर्णात्त्वनुञि वा” इति विक-  
ल्पद्वयेति भावः । वृक्षवत्र—वृक्षम् इति तु साधितमेव । वृक्षा इह—वृक्षशब्दादौ प्रत्यये वृशौ इह “ओदौतो” इति आदि वस्थानेन लुक्,

३० पक्षे यथाप्राप्तम् । त आहुः—तच्छब्दाच्चि अत्वाद् “जय इ” इतीत्वे एत्वे च—ते आहुरित्यत्र अथादेशे वस्थानेन लुक् । तस्मा इद्गम्-  
३५ तच्छब्दाच्चतुर्थ्यवचने अत्वाद् आयादेशे आगादेशे च वस्थानेन लुक् । भो अत्र—“सौह” इत्यनेन जातस्य भोपरस्य पदान्तस्थस्य खर-  
परस्य रो म्याने यत्वे तस्य लुकि सिध्यति । अत्र “अस्पष्टाववर्णात्” इति सूत्रेण नित्य रोर्व इति जातस्य यस्य अस्पष्टविधानात् रूपद्वय-  
मित्याह—भो प्रभृतिभ्य इत्यादिना—भो यत्र । अवर्णादिपत्स्वष्टरस्य विकल्पेन अनुञि विधानाद्रूपद्वयमित्याह—उज्यपिद्वैरूप्यमेव-

३३ पटउ, पट्त्वं । अत्राभादेशे वस्थानेन लुक् “अस्पष्टाववर्णात्” इत्यादिना पक्षे नित्यमीपत्स्वष्टरवकारश्च ॥ २४ ॥

अस्पष्टाववर्णात्त्वनुञि वा । अवर्णभोगोऽघो पदान्ते व्यो खरे इति चानुवर्तते, अवर्णभोगोऽघो पदान्ते व्यो अस्पष्टौ खरे,  
अवर्णात् तु व्यो अनुञि खरे अस्पष्टौ वा इत्यन्यत्र, तदर्यमाह—अवर्णभोगोऽघोभ्यः इत्यादिना । अस्पष्टौ—ईपत्स्वष्टरौ—उच्चारणे  
३८ लघुप्रयत्नतरौ—मन्दतरप्रयत्नौ—प्रसिधिलस्थानकरणपरिस्पन्दविति यावत्, एतेदुक् भवति—शियिलस्थानकरणाभ्यां उच्चार्यमाणौ वकारयकारौ  
अस्पष्टौ इति भावः । आदेशस्य तयोरेद्वयार्थे दृष्टस्य प्रयोजनाभावात् अस्पष्ट इति सामान्यशब्देनापि वकारो यकारश्चाभिधीयते । व्योर्हि स्थाने  
ईपत्स्वष्टर आसन्न आदिश्यते तयोश्चासन्नो वकारो यकारश्चेत्याह—प्रत्यासत्तेरित्यादि । सूत्रे वृक्षशब्दो भिन्नवाक्यत्वप्रतिपादनार्थ इत्याह—

३९ अवर्णात्—इत्यादिना । न उज्य अनुत् तस्मिन्ननुञिति खरे इत्यस्य विशेषणमित्याह—उज्यं वर्जिते खर इति । पट्त्वं—अत्र “खरे वा” इति  
लुगभापपक्षेऽनेनावर्णात् परस्य पदान्तस्थस्य वस्य नित्यमस्पष्टौ वकार । एवमन्यत्र समन्वय । पाणिन्याद्याचार्याणां मतमाह—केचित्तु इति ।  
रूस्थानस्य यकारस्य—“रोर्व” इत्यनेन विहितस्येत्यर्थ । लोपमेवेच्छन्ति—न ईपत्स्वष्टरमिति शेषः । “उञि च पदे” पा० ८।३।२।१।

४२ इति सूत्रे आचार्यपाणिनि, तन्मते उदाहरति—क उ आगत इत्यादि । भो भगोऽघोभ्य खरे परे नित्य लोपमिच्छते गार्ग्यस्य मतमाह—अप-  
रेतु इत्यादिना । शाकटाघनमते लघुप्रयत्नतरौ वयौ इत्याह पाणिनि—“व्योर्लघुप्रयत्नतर शाकटायनस्य” पा० ८।३।२।२। इति । गार्ग्यमते  
तु “ओतो गार्ग्यस्य” । पा० ८।३।२।०। इत्युवाच, तन्मते उदाहरति—भो अत्र, भगो अत्र; अघो अत्र ॥ २५ ॥

रोर्यः ॥ १ । ३ । २६ ॥

अवर्णमोभगोऽघोम्यः परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने स्वरे परे यकार आदेशो भवति । कयास्ते, देवायास्ते, भोग्यत्र, भगोयत्र, अघोयत्र । रोरिति किम् ? पुनरिह । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मुनिरत्र । स्वर इत्येव ? कः करोति, भोः ३ करोषि ॥ २६ ॥

ह्रस्वाद् ङण्नो द्वे ॥ १ । ३ । २७ ॥

ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां ङ्ण् च इत्येषां वर्णानां स्थाने स्वरे परे द्वे रूपे भवतः । कुडास्ते, सुगण्डिः ६ पञ्चनास्ते । कुर्वनास्ते, कृषनास्ते इत्यत्र तु बहिरङ्गस्य द्वित्वस्यासिद्धत्वात् णत्व न भवति । ह्रस्वादिति किम् ? प्राडास्ते, वाणास्ते, भवानास्ते, राजश्निह । ङ्ण् इति किम् ? त्वमत्र । स्वर इत्येव ? प्रत्यङ् श्नेते, गच्छन् सुक्ते । पदान्त इत्येव ? वृत्रहणौ, दण्डिनौ । “उणादयः” ॥ ५ । २ । ९३ ॥ इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात्, “अनतो” ॥ १ । ४ । ५९ ॥ इत्यादौ ९ स्वन्विधानबलात् न भवति ॥ २७ ॥

अनाङ्गाङो दीर्घाद् वा छः ॥ १ । ३ । २८ ॥

आङ्गाङ्वर्जितपदसम्बन्धिनो दीर्घात् पदान्ते वर्तमानात् परस्य छकारस्य द्वे रूपे वा भवतः । कन्याच्छत्रम्, १२ कन्याछत्रम् ; कुटीच्छाया, कुटीछाया, जम्बूच्छाया, जम्बूछाया, मुने च्छाया, मुने छाया, रैच्छाया, रैछाया, गोच्छाया,

रोर्यः । अत्र अवर्णमोभगोऽघो पदान्ते स्वरे इति चातुवर्तते, अवर्णमोभगोऽघो पदान्ते रो स्वरे च इत्यन्वय । रेफनात्रसात्र यत्त्वविधाने प्राप्तस्यातिप्रवहस्य परिहाराद्यनुकारो विशेषणमाश्रीयते, यद्यप्यत्रास्यप्रावर्णान्तुञ्जिविद्यतोऽवर्णादित्येवाव्यवहितत्वेनानुवर्तनीय, तथापि १५ भोग्यत्रिभ्यो यकारस्यास्यकारनिषानात् व्यवहितमपि अवर्णमोभगोऽघोरित्येवानुवर्तत इत्याह—अवर्णमोभगोऽघोभ्य इत्यादि । कयास्ते—किमुशब्दात् सौ कादेशेऽनुबन्धलोपे “सौ र्” इति कृत्वैनेन तस्य यकार । पक्षे “स्वरे वा” इति यलोपे—क आस्ते । एवमन्वय । उदतुबन्धफलं दृच्छति—रोरिति किम् ? पुनरिह—अत्र उदतुबन्धो रेफो नास्त्वतो न तस्य योऽनेनेत्याशय ॥ २६ ॥ १८

ह्रस्वाद् ङण्नो द्वे । अत्र पदान्ते स्वरे इति चातुवर्तते, ह्रस्वाद् पदान्ते ङ्ण् स्वरे द्वे इत्यन्वय । ङ्ण् इति इय ण्व नथेलेयां समाहारद्वन्द्वत्वात् षष्ठी, द्वे इति द्विशब्दात् प्रथमाद्विवचने “आद्रे” २।१।७१ इत्येव, रूपापेक्षया नपुंसकत्वात् “कीरी” १।१।५६ इतीकारे एकादेशे भवति, तदर्थमाह—ह्रस्वात् परेषा इत्यादिना । कुड्ढास्ते—अत्र ह्रस्वकारात् परस्य पदान्तस्थस्याऽऽकाररूपस्वरपरस्य छस्य २१ रूपद्वयम् । एवमन्वय समन्वय । ननु कुर्वनास्ते, कृषनास्ते इत्यत्रानेन नस्य द्वित्वे सति द्वितीयनस्य पदान्तत्वेऽपि पूर्वस्य नस्यानन्वय “एववर्णानो णो” २।३।६३ इत्यनेन णत्व कथय भवतीत्याह—बहिरङ्गस्य द्वित्वस्य इत्यादि । उभयपदापेक्षत्वादित्य बहिरात् णत्व तु द्वित्वशाखापेक्षितान्तर्भूतमित्तिष्ठत्वेनान्तरङ्गमिति “असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति न्यायेन न भवति । राजश्निह—राजशब्दादाम्बुशब्देर्छेकि २४ “नामङ्गे” २।१।५२ इति नलोपप्रतिषेधादन्तरङ्गत्वात् परत्वाच्च ह्रते कृते ह्रस्वाभावादित्य न भवति । प्रत्यङ् श्नेते—प्रतिपूर्वादशब्दे किप् “अघोऽनचोयाम्” इति अर्चोयां नलोपाभावात् सेर्छेकि, “पदस्य” इति चलोपे, “युजश्चुभो नो ष” २।१।७१ इति वकारे, तस्य द्वित्वमनेन न भवति स्वरपरत्वाभावात् । ननु चात्र मा भूदनेन द्वित्व “अदीर्घाद् विरामैक्यजने” इत्यनेन द्वित्व मविष्यति तस्मिन्मर्थमेतद्विद्यते स्वर इत्युच्यते इति २७ चेत्, सत्यम् ; यथनेन द्वित्व तार्हि नित्यं स्यानेन तु विकल्पेनेति तदर्थं स्वर इत्युपदीयते । वृत्रहणौ—शत्रुपूर्वादान्ते “ब्रह्मश्रूणो” ५।१।६१ इति किप्, “अहन्मस्य” ७।१।७७ इति हन्वर्जनादीर्घत्वाभावे स्याद्योकारे “कवर्णकस्वरवति” २।३।७६ इति णत्व, अत्र णस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि पदान्तत्वाभावाच्च द्वित्वम् । दण्डिनौ—दण्डेऽस्यास्तीति “अतोऽनेकस्वरात्” ७।२।६१ इति मत्वर्थे इनि, अकारलोपादौ अनेन १० नस्य ह्रस्वात् परत्वेऽपि अपदान्तत्वाच्च भवति द्वित्वम् । ननु ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां ङ्णान् अनेन द्वित्वे सति कथं “उणादयः”, “अनत” इत्यादयो निर्देशा इत्यत आह—उणादयः, इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात् इत्यादि, अन्यथा तत्रैव प्राकियालापवार्थं द्विकारमादेश विदध्यादित्यर्थं ॥ २७ ॥ १९

अनाङ्गाङो दीर्घाद् वा छः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते द्वे इति च, तच्च दीर्घादित्यनेनान्वेति छेन त्वसमवाचान्वय, पदान्ते तु तस्याऽऽदेशेन भाष्यम्—शब्दप्राद इति । अनाङ्गाङ् इति द्वङ्गर्मात्तत्पुष्पान्छिति भवति, तथापि दीर्घादित्यनेनान्वेति । यद्यप्यनाङिति पर्युदासस्य सदप्राहितया दीर्घादित्यस्य कामन्त्रयापि तयोरव्ययत्वेन सदस्यप्रहणे दीर्घादव्ययादित्यनर्थं स्यादिति दीर्घादिति । तथाच—जनाङ्गाङो १६ पदान्ते दीर्घात् छः द्वे वा इत्यन्वयस्य तदर्थमाह—आङ्गाङ्वर्जितपदसंबन्धिन इत्यादिना । कन्याच्छत्रम्—अत्र पञ्जीसमासे सति अनाङ्गाङ पदान्ते वर्तमानादीर्घाकारात् परस्य विकल्पेन छस्य द्वित्व, पक्षे—कन्याछत्रम् । एवमन्वय । मुनेच्छाया—मुनि छाया इति स्थिते “स्वरेभ्य” इति द्वित्व “आमङ्गे” इति सिध्य प्राप्नोति, तत्रान्तरङ्गत्वात् परत्वात्तिलत्वाच्च “आमङ्गे” इति पूर्वं सिध्यते “ह्रस्वस्य गुण” ३५ १।१।७१ इति सिना ह्र गुणेऽनेन विकल्पेन छस्य द्वित्वम् । “स्वरेभ्य” इति नित्य द्वित्वे प्राप्ते विकल्पाद्योऽभ्यासम् । अनाङ्गाङ इत्यस्य फलं

गोत्रायाः नो जाया, नोजया । अनाञ्जात् इति किम् ? आञ्जया, आच्छिनति, आ च्छायायाः, मा च्छिदत्—“स्वरेभ्यः” ॥ १ । ३ । ३० ॥ इति नित्यमेव । इच्छाणादिषु विकल्प एव—आ च्छाया मन्वसे, आ जया मन्वसे, आ च्छाया मा भूत्, आ जया मा भूत्, वाच्यस्मरणयोरवमाकार, मा च्छिन्धि, मा च्छिन्धि, प्रमाच्छन्दः, प्रमाच्छन्दः, पुत्रो मा च्छिनति, पुत्रो मा च्छिनति । आत्माहचर्येणाऽन्यस्य मातो ग्रहणादित्यापि विकल्प एव—प्रमिमीत इति प्रमाः विच्, प्रमाञ्जात्, प्रमाञ्जात् । दीर्घादिनि किम् ? धेतच्छाम्, वाकञ्जम् । पदान्त इत्येव ? हीच्छति ॥ २८ ॥

मुताद् वा ॥ १ । ३ । २९ ॥

परान्ते वर्तमानात् दीर्घस्थानात् श्रुतात् परस्य छकारस्य द्वे रूपे वा भवतः । आगच्छ भो इन्द्रभूते च्छमानय, आगच्छ भो इन्द्रभूते च्छमानय । दीर्घादित्येव ? आगच्छ भो देवदत्त च्छमानय ॥ २९ ॥

स्वरेभ्यः ॥ १ । ३ । ३० ॥

पठुवचन व्यास्यर्थम्, तेन पदान्त इति निवृत्तम्, खरात् परस्य छकारस्य पदान्तेऽपदान्ते च द्वे रूपे भवतः । इच्छति, फेच्छति, गच्छति, हीच्छति, म्हेच्छति, चाच्छापते, चोच्छ्रयते; वृक्षच्छाया । स्वरेभ्य इति किम् ? वाक्छत्रम् ॥ ३० ॥

हार्दहस्वरस्याऽनु नवा ॥ १ । ३ । ३१ ॥

स्वरेभ्यः परो यो रेफहकारौ ताभ्या परस्यार्हस्वरास्य-रेफहकारस्वरजितस्य वर्णस्य स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । अनु-यदन्वत्कार्यं प्राप्नोति तस्मिन् कृते पथादित्यर्थः । (२-) अर्कः, अर्कः, मूकलः, मूकलः, स्वर्गः, स्वर्गः, धर्मः, धर्मः, अनु-यदन्वत्कार्यं प्राप्नोति तस्मिन् कृते पथादित्यर्थः । (२-) अर्कः, अर्कः, मूकलः, मूकलः, स्वर्गः, स्वर्गः, धर्मः, धर्मः,

१५ पृच्छति—अनाञ्जात् इति किम् ? आञ्जया-रेफचर्या इति इयर्थे वर्तमानस्य भाषे चित् प्रतिषेध । आच्छिनति-क्रियानोने वर्तमानस्य भाषे चित् प्रतिषेध । आच्छायाया-अनाऽऽनर्गदाया तयोरे “आजावधौ” इति पयनी छयां परित्यज इत्यर्थं, अथिबिधौ वा छायाचक्रियानोनेत्यर्थः । अत्र गर्गादाभिभिधौ वर्तमानस्य भाषे चित् प्रतिषेध । मा च्छिदत्-अत्र प्रतिषेधार्थं वर्तमानस्य भाषे चित् प्रति-  
२८ पथे । एतेषु प्रयोगेषु विकल्पानो द्वित्वानात् “स्वरेभ्यः” १।३।३० इति नित्यमेव द्वित्वे पथात् “अधोपे प्रयमोऽशित” इति प्रथम । उपाद्—स्वरेभ्य इति । पादपरस्परत्वोर्वर्तमानात् आकारात् अचित् परस्य छस्थानेन वैकल्पिक द्वित्व, तदाह तदाहरणोपमासपुरस्-  
२१ रणेन द्वित्वम् । प्रमाच्छन्द-प्रगीयते इति “उपमार्गदाय” ५।३।११०। इत्यह प्रमा स चातो छन्दश्चेति विग्रह । अनाचितो माशब्दस्थानेन वैकल्पिक द्वित्वम् । “आञ्जयायो दीर्घात्” इति सूत्रे माह्वय एव श्रुयते, आत्साहचर्यात्, अन्यथा मात्सातोत्कारात् परस्य छस्य वैकल्पिक द्वित्व न स्यात् प्रतिषेधादिसाह—आत्साहचर्येण इत्यादिना । प्रमिमीते विधि प्रमा, प्रमाधारी छात्रधेति-प्रमाच्छात्रः, यद्यपि धाट्-  
२४ र्गजन्तु सूत्रे चाविशेषद्वयव्याप्यत्वत्वेनाव्यभिचारिणा भाषा सात्त्वयैण भाषोऽप्यन्यस्य प्रदणात् प्रतिषेधभावाद्दिकल्प ॥ २८ ॥

मुताद् वा । अत्र पदान्ते दीर्घात् छ द्वे इति चातुर्वर्त्ते, पदान्ते दीर्घात् मुताद् छ द्वे वा इत्यन्यथ । दीर्घादित्यनुवृत्तापि द्विमात्रप्रमात्रयोर्विभक्तौ रामानाभिफरम्पासभयेऽपि मया क्रोदान्तीतिवत् स्थानोपचारात्तद्व्यपदेशाद्विशेषणविशेष्यभाव । दीर्घशब्देन सुतो-  
२७ ऽभिधीचते दीर्घोऽस्यासि स्थानित्वेनाभ्यादित्वेनात्मस्ययात्, तदाह—पदान्ते वर्तमानादीर्घस्थानात् इत्यादिना । आगच्छ भो इन्द्र-भूते च्छमानय-अत्र “एवस्य गुण” इत्यामश्रयिना गुणे, “दूरादान्धयसः” इत्येकारस्य दीर्घस्य स्थाने द्वेऽनेन छकारस्य विक-  
२८ रणेन द्वित्वमिति । आगच्छ भो देवदत्त च्छमानय-अनाकारस्य सुतो न दीर्घस्थान इति दीर्घादित्यधिकारादनेनात्र विकल्पाभावे सत्यु-  
२९ ऽतरेण नित्यमेव ॥ २९ ॥

स्वरेभ्यः । अत्र छ द्वे इति चातुर्वर्त्ते, स्वरेभ्य छ द्वे इत्यन्यथ । अनु खरादित्युक्तोऽपीछस्य सिद्धत्वाद्भवचन व्यर्थमित्यत आह-  
वागुचचनम् व्यास्यर्थम्—पदान्तेऽपदान्ते चास्य प्रत्ययार्थम्, तत्फलमाह—तेन इत्यादि । पदान्त एवेति निवृत्तमित्यर्थं, तेनास्य पदान्ता-  
३१ पदान्तस्वरात् परस्य छस्य रूपद्वयं सिद्धम् । पूर्वोक्तार्थोभावे तु “गच्छति पविद्वे” ६।३।२०३। इति निर्देशादेव पदान्तनिवृत्तिमात्रस्य सिद्धत्वादि-  
त्याह—स्वरात् परस्य छकारस्य पदान्तेऽपदान्ते च इत्यादि । इच्छति—इषत् इच्छायाम्, धातो तिबि, शो, “गमिपयमशु” ४।३।१०६। इति छत्वेऽनेन द्वित्वे “अधोपे प्रयमोऽशित” इति प्रथमत्वे सति सिध्यति । चाच्छायते—छोद् वेदने, धातोर्बलि, “सन्वद्वध” ४।३।३। इति  
३२ द्वित्वे, “एख” ४।३।३। इति एखे, “अञ्जनस्याऽनावेच्छेत्” ४।३।४। इति लोपे, “द्वितीयतुर्यो पूर्वो” ४।३।४। इति छस्य चत्वे, “आयु-  
णाचन्यादे” ४।३।४। इत्याऽऽत्वेऽनेन द्वित्वे च, “अधोपे प्रयमोऽशित” इति प्रथमत्वे, तेष्वन्ये शक्ति च सिध्यति । चोच्छ्रयते—छुपत्  
स्वार्थं, धातोर्बलि द्वित्वे हस्वे लोपे छस्य चत्वे गुणेऽनेन द्वित्वे च प्रथमे तेष्वन्ये शक्ति च भवति । वृक्षच्छाया-वृक्षस्य छायेति पठौसमासो-  
३९ ऽसमासो वा, अत्र पदान्तस्यहस्वकारात् परस्य छस्थानेन द्वित्वम् । वाक् छत्रम्-अत्र अत्रनात् परस्य छस्य न द्वित्वम् ॥ ३० ॥

हार्दहस्वरस्याऽनु नवा । रथ ह्येसाविसमाहारद्वन्द्वं, तस्मान्द्वयि—हार्त् इति । रथ ह्यस्व स्वरेभ्येसा सप्राहारद्वन्द्वे सति नन्-  
तत्पुरुष, न हस्व अर्हस्वस्वस्य—अर्हस्वस्वस्य इति पूर्वदाससमाभ्रयणात् वर्णत्वेति लभ्यते । स्वरेभ्य द्वे इति चातुर्वर्त्ते, स्वरेभ्य इति च  
४२ हार्त् इत्यनेन सह व्यधिकरणविशेषणतयान्वेति । तथाच-स्वरेभ्य हार्त् अर्हस्वस्वस्य वर्णस्य द्वे नवा अनु इत्यन्यस्यस्यार्थमाह—स्वरेभ्य इत्या-  
दिना । अनुशब्द पश्चाद्धर्षे, पश्चादिति साधेन पूर्व वाऽपेक्ष्य पश्चादिति भवति, तथापेक्ष्य विशेषपरिमहभावात् सम्भवामय विज्ञापत इति त-  
द्विधौति—अनु-यदन्वत्कार्यं इत्यादिना । अर्कः-अकाररूपस्वरात् परो हि रेफस्वरात् परस्य कस्य रेफहकारस्वरमित्यनेन सर्वान्य-  
४५ कार्येभ्य पश्चादित्य विकल्पेन । मूकलः-ऊकारात् परो रेफस्वरात् परस्य कस्य द्वित्वे प्रथम । एवमन्यत्र । अर्हस्वस्वस्य इत्यस्य

१ कृच्छति इति पाठो नास्तीति म० म० ।



### अर्धवर्गस्याऽन्तस्थातः ॥ १ । ३ । ३३ ॥

अन्तस्थातः परस्य अकारवर्जितस्य वर्गस्य स्थानेऽनु द्वे रूपे वा भवतः । उत्क्रा, उल्क्रा, वल्मीकः, वल्मीकः; वृक्षन्  
१ करोति, वृक्षन् करोति । वर्गस्येति किम् ? सव्यम् । अगिति किम् ? हल्जकारौ । अन्तस्थात इति किम् ? भवान्मधुरः ॥३३॥

### ततोऽस्याः ॥ १ । ३ । ३४ ॥

ततोऽर्धवर्गात् परसा असा अन्तस्थाया. स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । दध्यत्र, दध्यत्र, मन्ध्वत्र, मध्वत्र । तत इति  
५ किम् ? मात्यम् । असा इति किम् ? वाग् जयति ॥ ३४ ॥

### शिटः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १ । ३ । ३५ ॥

शिट. परयोः प्रथमद्वितीययोः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । त्वं करोपि, त्वं करोपि, त्वं क्वनसि, त्वं खनसि, कः  
१ क्वनति, क रानति, क ष्यति, क ष्यति, कक्कनति, कक्कनति, कक्कलति, कक्कलति, कक्करति  
कक्करति, कक्कदयति, कक्कदयति; कक्कृते, कक्कृते, कक्कृकार, कक्कृकार, स्थाली, स्थाली, स्फीता, स्फीता । शिट  
इति किम् ? भवान् करोति । प्रथमद्वितीयस्येति किम् ? आस्यम् । अनुनासिकादप्यादेशरूपात् केचिदिच्छन्ति-त्वच्छात्रः,  
२ त्वच्छात्रः इत्यादि ॥ ३५ ॥

### ततः शिटः ॥ १ । ३ । ३६ ॥

तत-प्रथमद्वितीयाभ्या परस्य शिट. स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । तच्छेते, तच्छेते, पट्षण्डे, षट्षण्डे, तत्साधुः,

१५ अर्धवर्गस्यान्तस्थातः । अर्धानु द्वे नवा इति चानुवर्तते । अर्धवर्गस्य-न य् अर्ध, सचार्धा वर्गस्तस्येति स्थानपथी । अन्तस्थातः-  
श्रीशिवान्तस्थातः "आशादिभ्य" ७।२।८।४। इति संभवद्विभक्तयन्तव्यत्वं अन्तस्थात अर्धवर्गस्य अणु द्वे नवा इत्यन्वयस्यदर्थमाह-  
अन्तस्थातः परस्य इत्यादिना । उत्क्रा-रूपस्यान्तस्थात परस्य अकारवर्जितवर्गस्य कस्य विभाषया द्वित्वम् । वल्मीकः-भसानेन द्वित्व ।  
२८ सव्यम्-मुनोते "य एसात्" ५।१।२।८। इति ये, गुणे, "ध्यक्ये" १।२।२।५। इत्यादेशे यस्यानेन न द्वित्व वर्ग्यत्वाभावात् । हल्जकारौ-चात्  
परसा वल्गावर्गत्वाभावात् द्वित्वम् । भवान्मधुरः-नकारात् परस्य मस्य न द्वित्वम्, तस्य अन्तस्थात परत्वाभावात् ॥ ३३ ॥

ततोऽस्या । अणु द्वे नवा इति चानुवर्तते । तत इति तच्छब्देन "अर्धवर्गः" इति पथमीविपरिणेतोऽनुकृष्यते, अन्यापूर्वणैव

२३ सिद्धे श्रयगारम्भो निरर्थक स्यात् । अस्या इति दीर्घनिर्देशादन्तस्थाया इति पठ्यन्तस्य लाभ, तत्र च तत इत्यन्वयः । तत अस्या  
अणु द्वे नवा इत्यन्वयः, तदर्थमाह-शिटः परयोः इत्यादिना । दध्यत्र-अर्धवर्गात् धकारात् परसा अन्तस्थाया यस्यानेन विकल्पेन  
द्वित्वम् । नन्वस्मिन्नन्तरे द्वित्वे वर्तव्ये 'असिद्धे बहिरागमि'ति न्यायेन बहिरागो यायादेश कथमासिद्धो भवति ? न चास्य योगस्य वैयर्थ्यम्, न्याय-

२४ मित्वादायनादेशरूपे यादौ तस्य मायकाशत्वात् इति चेत्, सत्यम्, "न सधिलीयकिद्विरीर्षासधियावत्कृत्" ७।४।१।१। इत्युत्पत्तयस्य द्वित्वस्य  
सधिविधित्वेन स्थानिवत्प्रतिषेधे सिद्धे द्विपठणम्, 'असिद्धे बहिरागमन्तरो' इति न्यायस्य बाधनार्थमिति द्वित्वमुपपद्यते । ननु दध्यत्र इत्यादौ  
तद्धारात् परस्य रस्य फलसाक्ष द्वित्वमिति चेद्दर्शयत्यधिकारादस्य च वर्जितत्वाददोष । श्लाम्यतीत्यादौ ककारात् परस्य लस्यानेन द्वित्व भवति तस्या-

२७ वर्जनादितिभाव । घाल्यम्-यालस्य भावः कर्म वा इत्यर्थः, "पतिराजान्तगुणात्प्राजादिभ्यः कमणि च" ७।१।६।०। इति व्यञ्ज, लाट् परस्य  
यस्यानेन न द्वित्व लस्य वर्ग्यत्वाभावात् । वाग् जयति-अर्धवर्गस्याया अभावाद्वित्वज्ञानेन भवति ॥ ३४ ॥

शिटः प्रथमद्वितीयस्य । द्वे नवा इति चानुवर्तते । शिट इति पथमी, प्रथमद्वितीयस्य-समाहारद्वन्द्वान्कस्य, शिटः प्रथम-

३० द्वितीयस्य द्वे नवा इत्यन्वयः, तदर्थमाह-शिटः परयोः इत्यादिना । त्वं करोपि-अत्र त्वमो मकारस्य "तौ मुमो व्यञ्जने सौ" इत्यनुस्वारे,  
तस्याच्च शिटन्तर्गात् परस्य प्रथमस्य कस्यानेन वैकल्पिक द्वित्वम् । त्वं क्वनसि-अत्रानेन खस्य द्वित्वे "अधोषे प्रथमोऽशिटः" इति खकारस्य  
ककार । एवमन्यत्रापि । भवान् करोति-नकारस्य शिदत्वाभावेन तत परस्य कस्यानेन न द्वित्वम् । आस्यम्-अस्यत् इति ध्यणि रूपम्,  
ककार । एवमन्यत्रापि । भवान् करोति-नकारस्य शिदत्वाभावेन तत परस्य कस्यानेन न द्वित्वम् । आस्यम्-अस्यत् इति ध्यणि रूपम्,  
३३ तत्र सकारात् परस्य यस्य प्रथमद्वितीयत्वाभावेनानेन द्वित्व न भवति । यथा "तौ मुमो व्यञ्जने" इत्यनेन यत्रानुस्वारस्वसाक्ष "शिटः प्रथमद्विती-

यस्य" द्वित्व भवति, तथा तेन यत्रानुनासिकादेशस्तस्मादपि प्रथमद्वितीयस्य द्वित्वमिच्छता प्राचां मतमुपन्यस्यति-अनुनासिकादप्यादेश-  
रूपात् केचिदिच्छन्तीति । केचित्-शाकटायनादय इति लघुन्यासकार । वस्तुतस्तु-शाकटायनीये द्वित्वप्रकरणे "ख्यु ख्य हारि वा"  
३६ शा० १।१।१।१।, "शरोऽनु द्वे" शा० १।१।१।१।, "अचो मय" शा० १।१।१।१।, "अचो होऽह्व" शा० १।१।१।१।, "अधीर्षात्" शा०  
१।१।१।१। इत्येव सूत्रपाठ । पाणिनीयतन्त्रे माहेश्वरेण सूत्रेषु समात्रातानां विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमानामयोगवाह-

पदाभिधेयानामट्टस्य षर्षु च पाठस्योपसंख्यातत्वेन तेषामन्वयेन "अनचि च" पा० ८।४।४।७। इति सूत्रेण द्वित्वं संभवति "ह्यवरट्" शि० ५ । सूत्र-  
३५ भाष्यपर्यालोचनया, किन्तु अकारस्यानुनासिकस्याच्च भवितुर्भाहति । तथैव त्वच्छात्रः इत्यत्र भगवद्धेमचन्द्रशब्दानुशासनेन द्वित्वाभाव  
स्य एव । शाकटायनसूत्रेण "अधीर्षात्" इत्यनेन यदि अकारस्याच्चवे सति तत परस्य छस्य द्वित्वं विधीयते, परन्त्वच्चमेव दुर्लभमिति तन्म-

वेऽपि छस्य द्वित्वं न भवति । पाणिनीयेऽपि अनुस्वारानुनासिकानामयोगवाहानां शरि अटि च पाठः, अस्य त्वनुनासिकस्य हलि पाठः, तथाच  
३२ तन्मवेऽपि छस्य द्वित्वं न भवतीति प्राचो मतविशेषः पूर्वोक्तं संभाव्यते ॥ ३५ ॥

ततः शिटः । अत्र द्वे नवा इति चानुवर्तते । ततः शिट द्वे नवा इत्यन्वयः । ततः-ताभ्यामिति तच्छब्देन पथमीविपरिणेतौ

प्रथमद्वितीयौ अनुकृष्येते । शिट इति स्थानपथी । यद्यपि 'अर्धवर्गाद्विभक्तिपरिणाम' इति न्यायेन पूर्वसूत्रस्य शिटः पथम्यन्तस्थात् पथम्यन्तत्वेन  
३५ विपरिणामेऽपि न्यायोऽयमसर्वत्रिक इति भगवदुक्त्या प्रतीयते, तदर्थमाह-ततः प्रथमद्वितीयाभ्या इत्यादिना । तच् श्रेते-तद् श्रेते  
इति स्थिते, "धुटस्तृतीय" इति दकारस्य दकारे, ततो दकारस्य "तवर्गस्य" इति जकारे, "अधोषे प्रथमोऽशिटः" इति प्रथमत्वे, तच् श्रेते इत्य-  
वसायां वर्गप्रथमात् चात् परस्य शिटः शस्य विभाषया द्वित्वम् । पट्षण्डे-यात् परस्य कस्यानेन द्वित्वम् । तत्साधुः-तकारात् परस्य

तत्साधुः, वत्सः, वत्सः, क्धीरम्, क्षीरम्, अप्सराः, अप्सराः । तत इति किम् ? भवान् साधुः । शिट इति किम् ? मथ्याति, ख्याति ॥ ३६ ॥

न रात् खरे ॥ १ । ३ । ३७ ॥

रात् परस्य शिटः स्थाने खरे परे द्वे रूपे न भवतः । दर्शनम्, विमर्शः, कर्षति, वर्षति, वृष्या इद वासंस्म; कृस-  
राया इदं कासंस्म । रादिति किम् ? तच्छेते, पट्षण्डे; वत्सः । खर इति इति किम् ? कश्चर्यते, वर्ष्यते । शिट  
इत्येव ? अर्कः, वर्चः । “हार्दहस्वरस्या०” ॥ १ । ३ । ३१ ॥ इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः ॥ ३७ ॥

पुत्रस्याऽऽदिन्पुत्रादिन्याऽऽक्रोशे ॥ १ । ३ । ३८ ॥

आदिन्शब्दे पुत्रादिशब्दे च परे पुत्रशब्दसवन्धिनस्तकारस्याऽऽक्रोशविषये द्वे रूपे न भवतः । “अदीर्घाद् विरामैक-  
व्यञ्जने” ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः । पुत्रादिनि त्वमसि पापे, पुत्रपुत्रादिनी भव । आदिन्पुत्रादि-  
नीति किम् ? पुत्रहती, पुत्रहती; पुत्रजग्धी, पुत्रजग्धी; “अनाच्छादजात्यादेर्नवा” ॥ २ । ४ । ४७ ॥ इति वा डी. ।  
आक्रोश इति किम् ? पुत्रादिनी शिशुमारी, पुत्रादिनीति वा; पुत्रपुत्रादिनी नागी, पुत्रपुत्रादिनीति वा ॥ ३८ ॥

म्रां धुद्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते ॥ १ । ३ । ३९ ॥

अन्विति वर्तते, अपदान्ते वर्तमानानां मकारनकाराणां धुदसंज्ञके वर्गे परे प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गसैवान्त्योऽनु भवति ।  
म-गन्ता, गन्तुम्, न-शङ्किता, शङ्कितुम्, अश्विता, अश्वितुम्, कुण्ठिता, कुण्ठितुम्, नन्दिता, नन्दितुम्, कम्पिता,

सस्य द्वित्वम् । वत्सः-सस्य द्वित्व पूर्ववत् । क्धीरम्-अत्र कात् परस्य पस्य द्वित्वम्, “शिव्यायस्य०” इति खत्वे-प्रयोरमित्यपि भवति । २५  
अप्सराः-अत्र पकारात् परस्य सस्य द्वित्वम् । अप्सराः-अत्र “शिव्यायस्य द्वितीयो वा” १।३।५५। इति पकारस्य फकारे कृते द्वितीयादपि सस्य  
द्वित्वे अप्सरा इत्यपि भवति । भवान् साधुः-वर्गपथमात् नकारात् परस्य सस्य द्वित्व न, तस्य वर्गप्रथमद्वितीयत्वाभावात् । मथ्याति-  
‘मन्थश्’ विलोहने, तिथि, “क्यादे” ३।४।७५। इति श्राप्रत्यये, “नो व्यञ्जनस्यानुदित” ४।२।४५। इति नलोपे, नस्य द्वितीयात् परत्वेऽपि शिट्-  
त्वाभावाच्च द्वित्वम् ॥ ३६ ॥

न रात् खरे । शिट द्वे इति चानुवर्तते, रात् शिट् खरे न द्वे इत्यन्वय, तदाह—रात् परस्य इत्यादिना । दर्शनम्-‘दृश्’  
प्रेक्षणे, घातो करणे आधारे वाऽनटि भवति, तत्र “हार्दहस्वरस्य०” इत्यनेन खरात् परो यो रेफस्वस्मात् परस्य अर्दहस्वरस्य वर्णस्य शस्य द्वित्व प्राप्त-  
मन्थनेन रात् परस्य शस्य द्वित्व खरे परे नियिष्यते । एवमन्यत्रापि । तच्छेते-अत्र शिट् शस्य खरपरकत्वेऽपि रात् परत्वस्याभावाच्च द्वित्व-  
प्रतिषेध, किञ्च पूर्वेण द्वित्वम् । कश्चर्यते-‘कृष्’घातोर्णौ, गुणे तेष्वप्ये, “क्य शिति” ३।४।७०। इति क्ये, “शिरनिटि” ४।३।८३। इति  
गिद्धकि, अस्य द्वित्वविधौ स्थानिचद्वावप्रतिषेधे, शस्य रेफात् परत्वेऽपि खरपरकत्वाभावाच्च द्वित्वप्रतिषेध, किन्तु “हार्दहस्वरस्या०” इति द्वित्वम् । २४  
अर्कः-अत्र नानेन द्वित्वप्रतिषेध, शिद्योऽभावात् । द्वित्वप्रतिषेधस्यास्य प्रातिपूर्वकत्व दर्शयति—“हार्दहस्वरस्या०” इति विकल्पे प्राप्ते  
इत्यादि । प्रतिषेध-“न रात् खरे” इत्यनेनेति शेष ॥ ३७ ॥

पुत्रस्याऽऽदिन्पुत्रादिन्याऽऽक्रोशे । अत्र द्वे न इति चानुवर्तते, आदिन्पुत्रादिनि पुत्रस्य आक्रोशे द्वे न इत्यन्वय, तदर्थमाह—आदि-  
नशब्दे पुत्रादिशब्दे च इत्यादिना । अत्र “नाम्नोऽनोऽनह” २।१।९१। इति लक्षणेन नकारान्तताभिष्यत्तर्यं नलोपो भगवता वृत्तिकृता न  
कृत । निषेधस्य प्रातिपूर्वकत्व दर्शयति—“अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने” १।३।३२। इति । औष्वाक्रोश प्रायेण प्रवर्तत इति औलिङ्गपुत्रादरति-  
पुत्रादिनी त्वमसि पापे-पुत्रानति तच्छीला पुत्रादिनी, “अजाते शीले” ५।१।१५४। इति गिनि, “श्रियां द्यतोऽखसादेर्वा” २।४।१। इति ३०  
वीप्रस्य, हे पापे ! त्व पुत्रादिनी इत्यन्वय पुत्रघातिनीत्यर्थः । पाप विधत्ते अस्या इत्यभ्रादित्वादिति “एवाप” १।४।४२। इत्येकारे-पापे इति ।  
पापस्वभावानात्रसवोधन न तु पुत्रादिरवेनेति । पुत्र पुत्रादिनी भव-पुत्राणा पुत्रा पुत्रपुत्रास्तात् अतीति पूर्ववत् यिनि पुत्रपुत्रादिनी, सूत्रे  
आदिन्पुत्रादिनीत्युपादानेऽपि “नामग्रहणे लिङ्गनिशिष्टस्य ग्रहणम्” इति न्यायात् श्रियासुदाहृतम् । औवद् उपयोऽपि पुत्रादनेनाऽऽक्रोशसमवे ३३  
तत्रापि प्रतिषेधो भवत्येव पुत्रादी भव इति । पुत्रहती-तकारद्वित्वे रूपम्, पुत्रो हतो ययेति विग्रह । एव पुत्रजग्धी-अद्यते स्मेति के “यपि  
चादो जग्ध्” ४।४।१६। इति जग्घादेशे, “अथश्चतुर्था०” २।१।७३। इति कस्य घत्वे, “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” १।३।४५। इति घस्य तृती-  
यत्वे, तस्य च “धुयो घृष्टे खे वा” १।३।४८। इति दस्य पाक्षिके लोपे, तत पुत्रशब्देन बहुव्रीहिसमासो भवति । तत्र वीप्रस्यविधायक इह  
योगमाह—“अनाच्छाद०” इति । आक्रोशे इति किम्-आक्रोश इत्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । पुत्रादिनी शिशुमारी-अत्राऽऽक्रोशा-  
प्रतीतेर्वस्तुस्थितिकथने न द्वित्वप्रतिषेध, शिद्यत् मारयती “कर्मणोऽण्” ५।१।७२। इत्यणि, कथा शिशुमारी । नागी-“जातेरयान्त०”  
२।४।५४। इति वी ॥ ३८ ॥

म्रां धुद्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते । अतु इत्यधिक्रियते, तदाह—अन्विति वर्तते । अपदान्ते म्रां धुद्वर्गे अन्त्य अतु इत्यन्वय,  
तदर्थमाह—अपदान्ते वर्तमानाना इत्यादि । अत्र स्थानिनिमित्तयो प्रत्यासत्तेऽपि स्थानिनोर्मकारनकारयोरन्त्यत्वाभावादन्यशब्दस्य च  
सपेक्षत्वाभिहितसैवान्त्यो भग्यत इत्याह—प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गसैव इति । गन्ता, गन्तुम्-‘गन्ट्’ गती, घातोस्तृच्युत्प्रत्ययौ तत्र मकारस्या-  
पदान्तत्वात् नकार । शङ्किता, शङ्कितुम्-‘शङ्क्’ शङ्काया, घातोस्तृच्युत्प्रत्ययौ तत्र “वदित खराक्षोन्त” ४।३।९८। इति नकारागमस्या-





तत्साधुः, वत्सः, वत्सः, कर्पीरम्, क्षीरम्, अप्सराः, अप्सराः । तत इति किम्? भवान् साधुः । शिट इति किम्? मन्वाति, ख्याति ॥ ३६ ॥

न रात् खरे ॥ १ । ३ । ३७ ॥

रात् परस्य शिटः स्थाने खरे परे द्वे रूपे न भवतः । दर्शनम्, विमर्शः, कर्पति, वर्पति, वृष्या इदं वांसम्; कृस-  
राया इदं कार्सम् । रादिति किम्? तच्छेते, पट्पण्डे; वत्सः । खर इति इति किम्? कर्ष्यते, वर्ष्यते । शिट  
इत्येव? अर्कः, वर्चः । “हार्दहस्वरस्या०” ॥ १ । ३ । ३१ ॥ इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः ॥ ३७ ॥

पुत्रस्याऽऽदिन्पुत्रादिन्याऽऽक्रोशे ॥ १ । ३ । ३८ ॥

आदिन्शब्दे पुत्रादिन्शब्दे च परे पुत्रशब्दसवन्विनस्तकारस्याऽऽक्रोशविषये द्वे रूपे न भवतः । “अदीर्घाद् विरामैक-  
व्यञ्जने” ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः । पुत्रादिनि त्वमसि पापे, पुत्रपुत्रादिनी भव । आदिन्पुत्रादि-  
नीति किम्? पुत्रहती, पुत्रहती; पुत्रजग्धी, पुत्रजग्धी; “अनाच्छादजात्यादेर्नवा” ॥ २ । ४ । ४७ ॥ इति वा डी ।  
आक्रोश इति किम्? पुत्रादिनी शिशुमारी, पुत्रादिनीति वा, पुत्रपुत्रादिनी नागी, पुत्रपुत्रादिनीति वा ॥ ३८ ॥

भ्रां धुङ्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते ॥ १ । ३ । ३९ ॥

अन्विति वर्तते, अपदान्ते वर्तमानानां मकारनकाराणां धुङ्संज्ञके वर्गे परे प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गस्यैवान्त्योऽनु भवति ।  
म्-गन्ता, गन्तुम्, न्-शङ्किता, शङ्कितुम्, अञ्चिता, अञ्चितुम्, कुण्ठिता, कुण्ठितुम्, नन्दिता, नन्दितुम्, कम्पिता,

सस्य द्वित्वम् । वत्सः-सस्य द्वित्व पूर्ववत् । कर्पीरम्-अत्र कात् परस्य पस्य द्वित्वम्, “शिव्याद्यस्य०” इति खत्वे-ख्योरमिलपि भवति । १५  
अप्सराः-अत्र पकारात् परस्य सस्य द्वित्वम् । अप्सराः-अत्र “शिव्याद्यस्य द्वितीयो वा” १।३।५९। इति पकारस्य फकारे कृते द्वितीयादपि सस्य  
द्वित्वे अप्सरा इत्यपि भवति । भवान् साधुः-वर्गपञ्चमात् नकारात् परस्य सस्य द्वित्वं न, तस्य वर्गप्रथमद्वितीयत्वाभावात् । मन्वाति-  
‘मन्वश्’ विलोचने, तिवि, “भ्यादे” ३।४।७९। इति आप्रत्यये, “नो व्यञ्जनस्यानुदित” ४।२।४५। इति नलोपे, नस्य द्वितीयात् परत्वेऽपि शिट्-  
त्वाभावात् द्वित्वम् ॥ ३६ ॥

न रात् खरे । शिट द्वे इति चानुवर्तते, रात् शिट खरे न द्वे इत्यन्वय, तदाह-रात् परस्य इत्यादिना । दर्शनम्-‘दृग्’  
प्रेक्षणं, धातो करणे आधारे वाऽनटि भवति, तत्र “हार्दहस्वरस्य०” इत्यनेन खरात् परे यो रेफत्ससात् परस्य थर्हस्वरस्य वर्गस्य शस्य द्वित्वं प्रात-  
मप्यनेन रात् परस्य शस्य द्वित्वं खरे परे निषिध्यते । एवमन्वयापि । तच्चुङ्येते-अत्र शिट शस्य खरपरकत्वेऽपि रात् परत्वस्वभावात् द्वित्व-  
प्रतिषेध, किंतु पूर्वात् द्वित्वम् । कर्ष्यते-‘कृष्’ धातोर्गो, गुणे वेप्रत्यये, “क्य शिति” ३।४।७०। इति क्ये, “भिरनिटि” ४।३।८३। इति  
गिष्ठिके, अस्य द्वित्वविधौ स्थानिवद्भावप्रतिषेधे, शस्य रेफात् परत्वेऽपि खरपरकत्वाभावात् द्वित्वप्रतिषेध, किन्तु “हार्दहस्वरस्य०” इति द्वित्वम् । २४  
अर्कः-अत्र नानेन द्वित्वप्रतिषेध, शिटोऽभावात् । द्वित्वप्रतिषेधस्यास्य प्राप्तिपूर्वकत्वं दर्शयति-“हार्दहस्वरस्या०” इति विकल्पे प्राप्ते  
इत्यादि । प्रतिषेध-“न रात् खरे” इत्यनेनैति शेष ॥ ३७ ॥

पुत्रस्याऽऽदिन्पुत्रादिन्याऽऽक्रोशे । अत्र द्वे न इति चानुवर्तते, आदिन्पुत्रादिनि पुत्रस्य आक्रोशे द्वे न इत्यन्वय, तदर्थमाह-आदि-  
न्शब्दे पुत्रादिन्शब्दे च इत्यादिना । अत्र “नाञोऽनोऽनह” २।१।९। इति लक्षणं नकारान्तताभिन्नकथं नलोपो भगवता कृतिहृता न  
कृत् । निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वं दर्शयति-“अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने” १।३।३२। इति । औष्वाक्रोश प्रायेण प्रवर्तते इति क्रीडिन्मुदाहरति-  
पुत्रादिनी त्वमसि पापे-पुत्रानति तच्छीला पुत्रादिनी, “अजाते शीले” ५।१।५२। इति गिनि, “त्रिपां चतोऽन्त्यदेर्वा” २।४।१। इति ३०  
बीप्रत्यय, हे पापे ! त्व पुत्रादिनी इत्यन्वय पुत्रघातिनीत्यर्थः । पाप विद्यते अस्या इत्यत्रादित्वाद् इति “एदाप” १।४।४२। इत्येकारे-पापे इति ।  
पापस्वभावेनात्रसंभवनं न तु पुत्रादित्वेनेति । पुत्र पुत्रादिनी भव-पुत्राणां पुत्रा पुत्रपुत्रास्वाम् अतीति पूर्ववत् गिनि पुत्रपुत्रादिनी, सूत्रे  
आदिन्पुत्रादिनीत्युपादानेऽपि ‘नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम्’ इति न्यायात् त्रियामुदाहृतम् । औषत् सुलोऽपि पुत्रादनेनाऽऽक्रोशसम्भवे ३३  
तत्रापि प्रतिषेधो भवत्येव पुत्रादी भव इति । पुत्रहती-तकारद्वित्वे रूपम्, पुत्रो हतो यथेति विग्रह । एव पुत्रजग्धी-अद्यते स्मेति के “अपि  
चादो जग्” ४।४।१६। इति जग्नादेशे, “अवधनुर्था०” २।१।७९। इति कस्य घत्वे, “तृतीयस्तृतीयवतुर्थे” १।३।४९। इति घस्य तृती-  
यत्वे, तस्य च “घुटो घुटि खे वा” १।३।४८। इति दस्य पाक्षिके लोपे, तत पुत्रशब्देन बहुव्रीहिसमासो भवति । तत्र बीप्रत्ययविधाचक ३६  
योगमाह-“अनाच्छाद०” इति । आक्रोशे इति किम्-आक्रोश इत्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । पुत्रादिनी शिशुमारी-अत्राऽऽक्रोशा-  
प्रतीवर्तत्त्वात्स्थितिकथने न द्वित्वप्रतिषेध, शिश्रत् मारमती “कर्मणोऽण्” ५।१।७२। इत्यणि, ष्या शिशुमारी । नागी-“जातेरयान्त०”  
२।४।५४। इति वी ॥ ३८ ॥

भ्रां धुङ्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते । अनु इत्यधिक्रियते, तदाह-अन्विति वर्तते । अपदान्ते भ्रा धुङ्वर्गे अन्त्य अनु इत्यन्वय,  
तदर्थमाह-अपदान्ते वर्तमानानां इत्यादि । अत्र स्थानिनित्तयो प्रत्यासत्त्वेऽपि स्थानिनोर्मकारनकारभोरन्त्यत्वाभावादन्यशब्दस्य न  
सामेधत्वात्निमित्तस्यैवान्त्यो गम्यत इत्याह-प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गस्यैव इति । गन्ता, गन्तुम्-‘गम्ह’ गतो, धातोस्तुच्तुप्रत्ययौ तत्र मकारस्या-  
पदान्तत्वात् नकार । शङ्किता, शङ्कितुम्-‘शङ्’ शङ्कायां, धातोस्तुच्तुप्रत्ययौ तत्र “अदित खराभोन्त” ४।४।९८। इति नकारागमस्या-

## अञ्चवर्गस्याऽन्तस्थातः ॥ १ । ३ । ३३ ॥

अन्तस्थातः परस्य जकारवर्जितस्य वर्गस्य स्थानेऽनु द्वे रूपे वा भवतः । उल्का, उल्का, वल्मीकः, वल्मीकः; वृक्ष्व ३ करोति, वृक्ष्व करोति । वर्गस्येति किम् ? सव्यम् । अजिति किम् ? हल्ङकारौ । अन्तस्थात इति किम् ? भवान्मधुरः ॥३३॥

## ततोऽस्याः ॥ १ । ३ । ३४ ॥

ततोऽञ्चवर्गात् परस्या अस्या अन्तस्थायाः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । दध्यत्र, दध्यत्र, मध्वत्र, मध्वत्र । तत इति ५ किम् ? बाल्यम् । अस्या इति किम् ? वाग् जयति ॥ ३४ ॥

## शिटः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १ । ३ । ३५ ॥

शिटः परयोः प्रथमद्वितीययोः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । त्वं करोषि, त्वं करोषि, त्वं क्वनसि, त्वं खनसि, कः ९ क्वनति, कः खनति, कः पचति, कः पचति, कङ्क्खनति, कङ्क्खनति, कङ्कलति कङ्कलति, कश्चरति कश्चरति, कश्छादयति, कश्छादयति; कष्टीकते, कष्टीकते, कष्टकारः, कष्टकारः; स्थाली, स्थाली; स्फीता, स्फीता । शिट इति किम् ? भवान् करोति । प्रथमद्वितीयस्येति किम् ? आस्यम् । अनुनासिकादप्यादेशरूपात् केचिदिच्छन्ति-त्वञ्छात्रः, १२ त्वञ्छात्रः इत्यादि ॥ ३५ ॥

## ततः शिटः ॥ १ । ३ । ३६ ॥

ततः-प्रथमद्वितीयाभ्यां परस्य शिटः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । तच्छेते, तच्छेते, षट्पण्डे, षट्पण्डे, तत्साधुः;

- १५ अञ्चवर्गस्यान्तस्थातः । अत्रानु द्वे नवा इति चानुवर्तते । अञ्चवर्गस्य-न व् अच्, सचासौ वर्गस्तस्येति स्थानपठौ । अन्तस्थातः-ञ्जीलिज्ञान्तस्याशब्दात् “आद्यादिभ्यः” ७।२।८।४ इति सभवाद्बृविभक्त्यन्तेभ्यस्त्वच् अन्तस्थात अञ्चवर्गस्य अनु द्वे नवा इत्यन्वयस्तदर्थमाह-अन्तस्थातः परस्य इत्यादिना । उल्का-लरूपान्तस्थात परस्य जकारवर्जितवर्गस्य कस्य विभाषया द्वित्वम् । वल्मीकः-मस्थानेन द्वित्वम् । १८ सव्यम्-सुनोते “य एषात्” ५।१।२।८ इति ये, गुणे, “ध्यक्ये” १।२।२।५। इत्यवादेशे यस्यानेन न द्वित्वं वर्ग्यत्वाभावात् । हल्ङकारौ-आत् परस्य अस्याञ्चवर्गात्वाभावाच्च द्वित्वम् । भवान्मधुरः-नकारात् परस्य मस्य न द्वित्वम्, तस्य अन्तस्थात परत्वाभावात् ॥ ३३ ॥
- ततोऽस्याः । अनु द्वे नवा इति चानुवर्तते । तत इति तच्छब्देन “अञ्चवर्गः” इति पञ्चमीविपरिणतोऽनुकृष्यते, अन्यथापूर्वेणैव २१ सिद्धे पृथगारम्भो निरर्थकः स्यात् । अस्या इति जीलिज्ञानिर्देशान्तस्थाया इति षष्ठ्यन्तस्य लाभ, तत्र च तत इत्यस्यान्वयः । तत अस्या अनु द्वे नवा इत्यन्वयस्तदर्थमाह-ततोऽञ्चवर्गात् इत्यादिना । दध्यत्र-अत्राञ्चवर्गात् धकारात् परस्या अन्तस्थाया यस्यानेन विकल्पेन द्वित्वम् । नन्वस्मिन्नन्तरञ्च द्वित्वे कर्तव्ये ‘असिद्धं बहिरङ्गमिति न्यायेन बहिरङ्गो यायादेशः कथञ्चासिद्धो भवति? न चास्य योगस्य वैयर्थ्यम्, ध्यान- २४ मित्यादावनदेशरूपे यादौ तस्य सावकाशत्वात् इति चेत्, सत्यम्, “न सपिच्छीयकिद्विधीर्घासद्विधावस्त्वकि” ७।४।१।१। इत्युत्पन्नस्य द्वित्वस्य सपिधिविधित्वेन स्थानिवत्प्रतिषेधे सिद्धे द्विग्रहणम्, ‘असिद्धं बहिरङ्गमन्तरञ्च’ इति न्यायस्य वाधनार्थमिति द्वित्वमुपपद्यते । ननु दध्यत्र इत्यादौ तकारात् परस्य रस्य कस्माच्च द्वित्वमिति चेदहंस्वरस्येयधिकाराद्रस्य च वर्जितत्वाददोषः । क्लृप्त्यतीत्यादौ ककारात् परस्य लस्यानेन द्वित्वं भवति तस्या- २७ वर्जनादितिभावः । बाल्यम्-बालस्य भावः कर्म वा इत्यर्थः, “पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्मणि च” ७।१।६।० इति व्ययः, आत् परस्य यस्यानेन न द्वित्वं लस्य वर्ग्यत्वाभावात् । वाग् जयति-अत्रान्तस्थाया अभावाद्वित्वज्ञानेन भवति ॥ ३४ ॥
- शिटः प्रथमद्वितीयस्य । द्वे नवा इति चानुवर्तते । शिट इति पञ्चमी, प्रथमद्वितीयस्य-समाहारद्वन्द्वान्त्वच्, शिटः प्रथम- ३० द्वितीयस्य द्वे नवा इत्यन्वयः, तदर्थमाह-शिटः परयोः इत्यादिना । त्वं करोषि-अत्र त्वमो मकारस्य “तौ सुनो व्यञ्जने स्तौ” इत्यनुस्वारे, तस्माच्च शिबन्तर्गतात् परस्य प्रथमस्य कस्यानेन वैकल्पिकं द्वित्वम् । त्वं क्वनसि-अत्रानेन स्वस्य द्वित्वे “अघोषे प्रथमोऽशिटः” इति लकारस्य ककारः । एवमन्यत्रापि । भवान् करोति-नकारस्य शिद्धत्वाभावेन तत परस्य कस्यानेन न द्वित्वम् । आस्यम्-अस्यत इति घ्यणि रूपम्, ३३ तत्र सकारात् परस्य यस्य प्रथमद्वितीयत्वाभावेनानेन द्वित्वं न भवति । यथा “तौ सुनो व्यञ्जने” इत्यनेन यत्रानुस्वारस्वसाधु “शिटः प्रथमद्विती- ३३ यस्य” द्वित्वं भवति, तथा तेन यत्रानुनासिकादेशस्तस्मादपि प्रथमद्वितीयस्य द्वित्वमिच्छता प्राचा मतमुपन्यस्यति-अनुनासिकादप्यादेश-रूपात् केचिदिच्छन्तीति । केचित्-शाकटायनादय इति लघुन्यासकारः । वस्तुतस्तु-शाकटायनीये द्वित्वप्रकरणे “ल्यृ स्य शरि वा” ३६ शा० १।१।१।४।, “शरोऽनु द्वे” शा० १।१।१।५।, “यञ्चो मय” शा० १।१।१।६।, “अघो होऽह च” शा० १।१।१।७।, “अदीर्घात्” शा० १।१।१।८। इत्येव सूत्रपाठः । पाणिनीयतन्त्रे माहेश्वरेण सूत्रेष्वसामान्नातानां बिसर्गजिह्वामुळीयोपध्मानीयाणुस्वारनासिक्ययमानामयोगवाह- ३६ पदाभिधेयानामदस्यु शर्षु च पाठस्योपसंख्यातत्वेन तेषामन्वयेन “अनञ्चि च” पा० ८।४।४।७। इति सूत्रेण द्वित्वं सभवति “हयवरट्” शि० ५ । सूत्र- ३९ भाष्यपर्यालोचनया, किन्तु अकारस्यानुनासिकस्याच्च भवितुं नार्हति । तथैव त्वञ्छात्रः इत्यत्र भगवद्धेमचन्द्रशब्दानुशासनेन द्वित्वाभावः ३९ तेषां विधीयते, परन्त्वचवमेव दुर्लभमिति तन्म- ४२ तेषां द्वित्वं न भवति । पाणिनीयेऽपि अनुस्वारानुनासिकानामयोगवाहानां शरि अटि च पाठः, यस्य त्वानुनासिकस्य हलि पाठः, तथाच ४२ तन्मतेऽपि छस्य द्वित्वं न भवतीति प्राचो मतविशेषः पूर्वोक्तं सभाव्यते ॥ ३५ ॥
- ततः शिटः । अत्र द्वे नवा इति चानुवर्तते । ततः शिटः द्वे नवा इत्यन्वयः । ततः-ताभ्यामिति तच्छब्देन पञ्चमीविपरिणती प्रथमद्वितीयौ अनुकृष्येते । शिट इति स्थानपठौ । यद्यपि ‘अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः’ इति न्यायेन पूर्वेष्वस्यशिटः पञ्चम्यन्तस्यात्र षष्ठ्यन्तत्वेन ४५ विपरिणामेऽपि न्यायोऽयमसावैय्यिक इति भगवदुक्त्या प्रतीयते, तदर्थमाह-ततः प्रथमद्वितीयाभ्यां इत्यादिना । तच्च श्रोते-तद् श्रोते इति स्थिते, “घुटस्तृतीयः” इति दकारस्य दकारे, ततो दकारस्य “तवर्गस्य” इति जकारे, “अघोषे प्रथमोऽशिटः” इति प्रथमत्वे, तच्च श्रोते इत्य- ४५ वस्याया वर्गप्रथमात् चात् परस्य शिटः द्वस्य विभाषया द्वित्वम् । षट्पण्डे-आत् परस्य पस्यानेन द्वित्वम् । तत्साधुः-तकारात् परस्य

रो रे लृग् दीर्घश्चादिदुतः ॥ १ । ३ । ४१ ॥

अपदान्त इति नातुवर्तते, रेफस्य रेफे परे लृग् भवति; अकारोकारोकाराणां चानन्तराणां दीर्घो भवति । पुना रमते, प्राता रौति, अशी रयेन, नीरक्तम्, दूरक्तम्, पट्ट राजा, उच्चै रौति । अन्वित्येव ? अहोरूपम्—अत्र पूर्वमेव रोस्त्वे, रेफा- ३ भावाल्लुग्दीर्घाभावः सिद्धः ॥ ४१ ॥

दस्ताह्वे ॥ १ । ३ । ४२ ॥

तन्निमित्तो दस्ताह्वः, ढकारस्य तद्धे परेऽनु लृग् भवति; अकारोकारोकाराणां च दीर्घो भवति । महतेः क्तौ माहिः, ६ लीडम्, मीढम्, गूढम्, तहू इति किम् ? मधुलिङ्गं ढौकते—नाय लुघ्यमानढकारनिमित्तो ढः, एवं चक्रुद्धे, लुलुविह्वे इत्यादावपि ढकारस्य द्वित्वे सति ढकारयोर्निमित्तनिमित्तभावो नास्तीति लृग् न भवति । अदिदुत इत्येव ? आतृढम्, आतृ- ६ ढम् । अन्वित्येव ? लेढा, मोढा—अत्र गुणे कृते, पश्चात् ढलोपः, अन्यथा हि पूर्वमेव ढलोपे दीर्घे च लीडा मूढेत्यनिट रूपं स्यात् ॥ ४२ ॥

रो रे लृग् दीर्घश्चादिदुतः । रो रे लृग् च अदिदुत दीर्घ इत्यन्वयः । अत्र इय उग्र इत्येषां समाहारतन्त्रान्तरम् । नन्वत्रापदान्त इत्यनुवर्तते तदा अजर्षा अपास्या अचोक्त् अचराका अचका अपाया इत्यादिष्वेव सूत्रं प्रवर्तते न चारारज्यमित्यादी इति चेत्, सत्यं, सूत्रे १२ अदिदुत इत्यत्र इत्प्रमहणात्तदनुवृत्ते । न हीकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सभ्रवोऽस्ति यथा—अश्री रयेन, नीरक्तम् इत्यादी । अकारो काराभ्या परस्य रेफस्य हि रेफेऽपदान्ते पदान्ते च सभ्रव यथा—अजर्षा, अचोक्त्, पुना रमते, दूरक्तमित्यादी । इत्य च सर्वेऽप्यपराजिचनया पदान्तेऽपदान्ते चाविशेषात् सूत्रप्रवृत्तिमभ्युपगम्यात्—अपदान्त इति नातुवर्तते इति । अपि च सूत्रे निरन्तरानिमित्तकथनेनापि तद- २५ ननुशैतरेव बोध्या । ननु सूत्रे रो इत्यनेन सातुबन्धो निरनुबन्धो का १ जाय, तथासति अश्री रयेनेत्यादि विद्वावपि पुना रमते इत्यादि न सिद्धेव, न द्वितीयं, तथासति पुना रमते इत्यादिषुद्वावपि अश्री रयेनेत्यादि न सिद्धेव, न च लक्ष्यानुरोधेन सम्यपरिग्रहः, तस्य सर्वत्र नियामकत्वेऽतिप्रसारात् इति चेदत्र सूत्रे रौति सानुबन्धस्य रे इति निरनुबन्धस्य चैत्रयत्रेणोभयस्युच्यते निर्देशात् 'निरनुबन्धप्रदारे २८ सामान्यप्रवृत्तिं न्यायाच्च सामान्येन ग्रहणं भवतीत्याह—रेफस्य इत्यादि । अदिदुत इत्यसामंभाह—अकारोकारोकाराणां इति । अयं अश्री रयेनेत्यादी व्यवहितस्याकारस्य दीर्घ कस्यात् भवतीत्याशङ्कयामाह—अनन्तराणां इति । ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणांमेवेति कुत्रो लभ्यते इति चेत्, उच्यते—रे इत्प्रमहणात्तदनुवृत्ते लृगि च दीर्घोऽपि रेफोपीच्छस्यैव भवतीति भावः । पुना रमते—पुनर् रमते २१ इति स्थिते, रेफस्य रेफे परेऽनेन लोपे पूर्योकारस्य च दीर्घे सिध्यति । एवमन्यत्र । अहोरूपम्—अत्र अहर् रूपम् इति स्थिते नकारस्य "अह" २।१।५५ इति उच्यते, "बोधवति" "रो रे लृग्" इति सूत्रहयप्रसङ्गे परत्वात् "रो रे लृग् दीर्घश्चा" इति रेफस्य लोपो दीर्घश्च प्राप्नोतीत्याह— अन्वित्येव ? अहोरूपम् इत्यादि । अनित्यविधकारानु पूर्वमेवेत्येव रेफाभावासास्य प्रवृत्तित्वादाह—अत्र पूर्वमेव इत्यादि ॥ ४१ ॥ २४

दस्ताह्वे । अत्र अनु लृग् दीर्घश्चादिदुत इति चातुवर्तते, त तद्धे अनु लृग् च अदिदुत दीर्घ इत्यन्वयः । तद्धे—'तवर्गस्य' इति दवर्गयोगे दस्य ढ, तस्य—लृप्पान्तढकारस्य कार्यत्वेन उच्छब्दस्त्विति समासत्वादाह—तन्निमित्तो दस्ताह्व इति । अत्र ढ इति वर्णमात्र निमित्तत्वेनाभीयते, अकारात्तु मूढमुदाहृत्, अन्यथाकारनिशिधो यत्र ढकारस्तत्रैव सूत्रं प्रवर्तते । सूत्रार्थमाह—ढकारस्य इत्यदिना । माहिः—२७ 'महय' पूजाया, धातो कौ 'वेर्गहादिभ्य' १।४।२१ इति नियमादिभावे, "हो धृदृपञ्च" २।१।८२ इति हल्य उच्यते, "अपश्चक्षुर्वात्तयोर्ध" २।१।७१ इति तस्य धत्ते, "तवर्गस्य" इति धस्य ढत्वेऽनेन प्रकृतिउस्य लोपे धीर्दत्ते च सिद्धयति । लीडम्, मीढम्, गूढम्—'लिह्विक्' आस्तादने, 'सिद्ध'वेचने, 'गुह्यौ' सवरणे इत्येभ्य के पूर्ववत् ढत्वादो भवति । मधुलिङ्गं ढौकते—मधु ढौकीति विग्रहे किम्, मधुलिङ्गं इति स्थिते ३० से—'दीर्घस्याभ्यन्तरेण' इति छकि, "हो धृदृ" इति ढत्त, "ढौकृच्" गतौ, तेषाम्ये धावे च—ढौकते, मधुलिङ्गं ढौकते इति स्थिते नाय ढकार- स्त्वनिमित्त इति लोपदीर्घो न भवति । अत्र सूत्रे यदि तद्धे इति निमित्तमनुपादाय ढे इति उच्चारणस्य निमित्तत्वे तृतीय चाधिता विशेषविहित- त्वेनापवादत्वात्त्रापि तौ स्यातामित्याह—नायं लुघ्यमान इत्यादिना । लुघ्यमानो ढकारो निमित्तं यत्त स तयोको ढ इत्यर्थः । एवम्—पूर्ववत् । ३३ चक्रुद्धे, लुलुविह्वे—करोते 'कृष्ण' ङङ्गे च धातो परोक्षया च्चेप्रसये "दिर्घात्तु परोक्षान्ते प्राक्खु खरे खरविषे" १।१।१। इति द्वित्वे, "कृतोऽह्" १।१।१८। इति अत्वे, "कृष्ण्य" १।१।४६। इति चत्वे, "नाम्यन्तात्" २।१।८०। इति ढत्वे, "अवोर्वात्" १।१।३२। इति तस्य द्वित्वे, तन्निमित्तत्वाभावात्तुगमावे "तृतीयस्तृतीयचत्तुर्थे" इति तृतीयत्वे—चक्रुद्धे भवति । एष लृङ्गने इति उच्यते च सति तृतीय—लुलुविह्वे इति ३५ भवति । एतदेवाह—चक्रुद्धे, लुलुविह्वे इत्यादावपि इत्यादिना । आहृढम्, आहृढम्—आहृपूर्वात् पूर्वैर्द्वेष के "हो धृदृ" इति उच्यते, "अपश्चक्षुर्वात्" इति तस्य धत्ते, "सवर्गस्य" इति ढत्ते, "तद्धे" इति लोपे—आहृढम्, आहृढमिति रूपे, अत्रानन्तराणामकारोकारोकाराणाम- भावात् दीर्घः । लेढा, मोढा—लिह्वेर्द्वेष लृप्ति उच्यते यदाप्यापाततोऽन्वित्यभावे परत्वात् गुणे ढलोप चाधिता प्राप्नोति त्रयापि ढलोपसा- २९ त्याभ्रित्वेनान्तराणां द्वयापि पूर्वं प्रवृत्तेऽन्वित्यविधकार । नच वाच्य "हो धृदृ" इति विहितलक्षणासासत्वात् ढलोपसाध्यत्वेन गुणो भविष्यति इति, 'वागोविधि' इति न्यायेनान्तराणो ढत्वे विधेयोऽपार्थविधेर्गुणस्य बहिरप्रत्येनापिदत्त्वादिदीर्घ कार्याद्यत्प्रकारप्रत्येनोक्तम् । शास्त्रासत्त्वज्ञे कु गुणे कृते ढल भवति । अनित्यविधकारस्य फलमाह—अत्र—लिङ्गं, सूदृ वा इत्यत्र, गुणे कृते—अहृद्, मोढा इति जाते सति, ढलोपः—अनेनेति ४२ शेषः । अन्यथा—अनित्यविधकारभावे, पूर्वमेव—गुणादिति शेषः । ढलोपे, दीर्घे च—अनेनेति शेषः । तन्निमित्तं किं स्यादित्याह— लीडा, मूढेत्यनिट रूपं स्यादिति ॥ ४२ ॥

कम्पितुम् । श्रामिति बहुवचन वर्णान्तरबाधनार्थम्, तेन—कुर्वन्ति, कृपन्ति, विस्रम्भः, सरम्भः इत्यत्र नकारस्य पत्वं वाधित्वा अनेन वर्गान्त्य एव भवति । कान्त्वा, भ्रान्त्वा इत्यत्रापि नकारे कृते णत्वबाधनार्थं पुनर्नकारः । धुडिति किम् ? आहन्महे, प्रहन्मः । धुड्वर्गे इति किम् ? गम्यते, हन्यते । अपदान्त इति किम् ? भवान् करोति । अन्वित्यधिकारात् व्यक्ता, व्यङ्गमित्यत्राल्लेख्ये, कत्वे च कृते, पश्चात् कवर्गान्त्यः, अन्यथा चवर्गान्त्यः स्यात् ॥ ३९ ॥

**शिद्धहेऽनुस्वारः ॥ १ । ३ । ४० ॥**

१ अपदान्ते वर्तमानानां मां स्थाने शिटि हकारे च परे अनुस्वार आदेशोऽनु भवति । स—पुंसि, गत्यते । न—देशः, सुदिशि कुलानि, वपूषि, धनूपि, यशांसि, पयांसि, गुडलिहि, खनड्गाहि कुलानि । श्रामिति बहुवचनाद् वृहणमित्यत्र णत्व, दश इत्यादौ जत्वं च बाधित्वाऽनेनानुस्वार एव भवति, एव सर्पांसि, सुदशि । शिद्धहे इति किम् ? गम्यते, हन्यते । अपदान्त इत्येव ? भवान् साधुः, श्रेयान् हेतुः । अन्वित्येव ? पिण्डि, शिण्डि—अत्र पिष्पिषोहौ, तस्य धित्वे, षस्य ङत्वे च शिद्धभावाच्छूननकारस्थानुस्वारो न भवति ॥ ४० ॥

- पदान्तपाठ एकार । एदमन्त्र यथायथ समन्वय । ननु स्र्पे श्रामिति बहुवचन किमर्थमित्यत्र आह—श्रामिति बहुवचनमिति । अय  
 १२ भाव —‘वर्णग्रहणे जातिप्रदणमि’ति जातिनिर्देशे प्राप्तं बहुवचन व्यक्तिनिर्देशार्थम्, तेन सर्वेषु मकारनकारेष्वपदान्तेषु प्रतिव्यक्ति वैयर्थ्यं मा भूदिति प्रवर्तमानोऽनेनाग्लो कार्यान्तरबाधायै प्रभवति, तत्फलमाह—तेन इत्यादि । तेन-वर्णान्तरबाधनार्थकबहुवचनेन इत्यर्थं । कुर्वन्ति-  
 १५ पारस्योकारस्त्वस्य ण्ण कुर्वन्तीति रूपम्, अत्र “रपूर्वाणोण०” २।३।६३। इति णत्व प्राप्तमप्यनेन बाधित्वा वर्गान्त्यो न स्य न । कृपन्ति-  
 १६ ‘कृपीत्’ शिष्टेऽने, घातोरन्तौ प्रत्यये, शे वाकारात्किं प्राप्त णत्व बाधित्वा अनेन वर्गान्त्य । विस्रम्भः—विपूर्वात् ‘द्विभुब’ विश्वासे, घातोर्भाव  
 घसि, “उदित०” इति नागमे रूपम्, तत्र नस्थानेन वर्गान्त्यो णत्व बाधित्वा भवति । संरम्भः—सपूर्वात् ‘स्र्पे’ शब्दे, घातोर्भावमे घसि च  
 १८ णत्व बाधित्वा वर्गान्त्य एव । कान्त्वा, भ्रान्त्वा—‘फ्रम्’ पादविभेदे, ‘भ्रम्’ चलने इति धातुभ्यां उभ्यां “अहन्पञ्चम०” ४।१।१०।७। इति  
 दीर्घ, मस्थानेन नकारे कृते पुनर्वर्कवाचिधाग किमर्थमित्यत्र आह—णत्वबाधनार्थम् इत्यादिना । बहुवचन वर्णान्तरबाधनार्थमित्युक्त ततो  
 बहुवचनानुबन्धोरादेशस्यापि कार्यान्तराभावात्, तेन ‘बाधिता’ इत्यादौ “अदीर्घात्०” इति द्वित्वमपि न भवति, असन्निधिविश्रान्ता । एव च नका-  
 २१ रस्य पुनर्नकारो भवति । धुडिति किम्—धुडित्वस्य किं प्रयोजनमित्यर्थं । आहन्महे—अत्र मस्य वर्गत्वेऽपि पुट्टत्वाभावात् नस्यापदान्तसा-  
 २३ नेन वर्गान्त्य, “आषो यमहन०” ३।३।८६। इत्यात्मनेपदम् । गम्यते, हन्यते—गमेर्हनेष्वे तेष्वप्ये, “क्य शिति” ३।४।७०। इति क्ये रूपे  
 भवत, अत्र यकारस्य पुट्टत्वाभावाद्गर्तवाभावाद्यापदान्तस्य मस्य नस्य चानेनाऽन्त्यो न भवति । भवान् करोति—अत्र नस्यापदान्तत्वाभावाद्बेद  
 २४ प्रवर्तते । अधिष्ठितस्मान्त्वस्य फलमाह—अन्वित्यधिकारात् व्यङ्गा, व्यङ्गमित्यत्र इति । विपूर्वादेश्च्युत्तुमप्रत्ययौ, तत् “चज कगमि”ति  
 गत्वे, प्रथमत्वेऽनेन वर्गान्त्य एव । यथाऽऽन्वित्यधिकारो न स्यात्पदाऽन्तररूपात् प्रत्ययोत्पत्ते पूर्वमेव चवर्गान्त्यत्वे प्रत्यये सति तस्यैव भवथ  
 स्यादित्याह—अन्यथा चवर्गान्त्यः स्यात् इति ॥ ३९ ॥
- २७ शिद्धहेऽनुस्वारः । अपदान्ते मां अनु इति चाशुवर्तते, अपदान्ते मां शिद्धहे अनुस्वारोऽनु इत्यन्वय । शिद्धहे इति सप्ताह-  
 द्वादाद सप्तमी । धुड्वर्गे इति नातुवर्तते निमित्तान्तरोपादानात्, तदर्थमाह—अपदान्ते इत्यादिना । पुंसि—पुंसस्यब्दस्य कौ अनेनानु-  
 स्वारे रूपम् । गम्यते—गमेर्भावे कमीणि वा सत्तेप्रत्यये, अनेनानुस्वार इत्यपदान्तमकारोवाहरणे । वंशः—‘वंश’ दशने, घातो घसि रूपम्,  
 ३० अत्रानेन नस्यानुस्वार । सुदिशि कुलानि—शोभना दिशो येषां कुलानामिति बहुवीहो जसि “नपुसकस्य सि” १।४।५५। इति शौः, “धुय  
 प्राक्” १।४।६६। इति नागमेऽनेनानुस्वार । वपूषि, धनूपि, यशांसि, पयांसि—वपुष्वनुष्पयस्यस्र्पवदेभ्यो असौ “नपुस-  
 कस्य सि”मिति शौः, “धुदां प्राणि”ति नागमे, “नस्यहतो” १।४।८६। इति धीर्कत्वे, ययांसिभव कत्वेऽनेनानुस्वारो रूपाणि भवन्ति । खनड्गाहि  
 ३१ कुलानि—शोभना अनुस्वारो येषु कृण्डेषु इति बहुवीहो, तस्मात्भवति “वा लेवे” १।४।८२। इति वादेशे पूर्ववत्प्रक्रिया । श्रामिति बहुवचन-  
 ताशुदृते प्रयोजनमाह—श्रामिति इत्यादि । बहुवचनाद्—पञ्चम इति शेष । वृहणम्—वृहणेतदिति णत्वे च नकारस्थानेन “रपूर्वाणो०”  
 इति णत्व बाधित्वा अनुस्वार । वंश इत्यादौ—“तवर्गस्य०” इति नकारस्य प्राप्त णत्व बाधित्वा अनुस्वार । एवं—पूर्वोचरीत्या । सर्पांसि-  
 ३२ अत्र नागमस्य णत्व बाधित्वा अनुस्वार । सुदिशि—अत्र “तवर्गस्य०” इति जत्व न भवति, एतत्त्वमिवितिानुस्वारबाधात् । गम्यते, हन्यते—  
 अत्रापदान्तस्य मस्य शिद्धहे परेऽप्रावाधानेनानुस्वार । भवान्साधुः—पदान्तस्य नस्य सत्वाच्चापदान्तात् । अन्वित्यधिकारफलमाह—अन्वित्येव ?  
 ३३ पिण्डि, शिण्डि—‘सिष्टेषु’ सपूर्वने, ‘शिष्टेषु’ विशेषणे इत्याभ्याम् धातुभ्याम् पञ्चम्यां हौ “रवा सराच्छनो नञ्क् च” ३।४।८२। इति प्र-  
 ३४ प्रत्यये, “मास्त्योर्छि” ४।२।९०। इति अत्रप्रत्ययाऽकारलोपे, पिन्व हि, शिन्व हि इत्यत्र “हु धुदो हेर्धि” ४।२।८३। इति घौ, “रवीयस्त्वतीय-  
 चतुर्थे” इति षस्य ङत्वे, “तवर्गस्य०” इति षस्य ङत्वे, “मां धुड्वर्गे” इति णत्वे, “धुदो धुटि खे वा” इति ङलोपे सिद्धस्य । यथाश्रान्विति न  
 स्यात्पदा ङकारात् पूर्वमेव शिद्धपरकत्वसम्भवेनापदान्तस्य श्रो नकारस्थानेनानुस्वार स्यात्तदधिकारसत्त्वे ङ ङकारानन्तरं परश्र शिद्धभावाच्चापदान्त-  
 ४२ स्वारत्त्वादाह—अत्र पिष्पिषोहौ इत्यादि ॥ ४० ॥

१ धुदधि कु० ख० ता०, म० अ०, माण्डा० । २ शिटि इति० म० म० ।

रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः ॥ १ । ३ । ४१ ॥

अपदान्त इति नानुवर्तते, रेफस्य रेफे परे लुग् भवति; अकारेकारोकाराणां चानन्तराणां दीर्घो भवति । पुना रमते, प्राता रौति, अग्नी रथेन, नीरक्तम्, दूरक्तम्, पट्ट राजा; उच्चै रौति । अन्वित्येव ? अहोरूपम्—अत्र पूर्वमेव रोक्त्वे, रेफा- ३ भावाल्लुग्दीर्घाभावः सिद्धः ॥ ४१ ॥

दस्तद्धे ॥ १ । ३ । ४२ ॥

तन्निमित्तो दस्तद्धे; ढकारस्य तद्धे परेऽनु लुग् भवति; अकारेकारोकाराणां च दीर्घो भवति । महतेः क्तौ माढिः, ६ लीडम्, मीढम्, गूढम्, तद्धे इति किम् ? मधुलिङ् ढौकते—नायं लुप्यमानढकारनिमित्तो ढः, एव चक्रुद्धे, लुलुविद्धे इत्यादावपि ढकारस्य द्वित्वे सति ढकारयोर्निमित्तनिमित्तभावो नास्तीति लुग् न भवति । अदिदुत इत्येव ? आतृढम्, आशृ- ६ ढम् । अन्वित्येव ? लेढा, मोढा—अत्र गुणे कृते, पश्चात् ढलोपः, अन्यथा हि पूर्वमेव ढलोपे दीर्घे च लीडा मूढेत्यनिष्ट ९ रूपं स्यात् ॥ ४२ ॥

रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः । रो रे लुक् च अदिदुत दीर्घ इत्यन्वयः । अच इच उच इत्येपा समाहारद्वन्द्वान्त्सु । नन्वत्रापदान्त इत्यनुवर्तते तदा अजर्षा अपास्या अचोक् अचाखा अचाका अपापा इत्यादिष्वेव सूत्र प्रवर्तते न खाराज्यमित्यादौ इति चेत्, सत्य, सूत्रे २२ अदिदुत इत्यत्र ह्रस्वप्रहणात्तदननुवर्तते । न हीकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सभोऽस्ति यथा—अग्नी रथेन, नीरक्तम् इत्यादौ । अकारो- काराभ्या परस्य रेफस्य हि रेफेऽपदान्ते पदान्ते च सभव यथा—अजर्षा, अचोक्, पुना रमते, दूरक्तमित्यादौ । इत्य च सर्वेऽप्यप्यलोचनया पदान्तेऽपदान्ते चाविशेषात् सूत्रप्रवृत्तिमभ्युपगम्याह—अपदान्त इति नानुवर्तते इति । अपि च सूत्रे भिन्नस्थाननिमित्तकथनेनापि तद- २५ ननुवर्ततेरेव बोध्या । ननु सूत्रे रो इत्यनेन सानुवन्धो निरनुवन्धो वा ? नाथ, तथापि अत्रो रथेनेत्यादि सिद्धावपि पुना रमते इत्यादि न सिद्ध्यते, न द्वितीय, तथासति पुना रमते इत्यादिष्विद्धावपि अग्नी रथेनेत्यादि न सिद्ध्यते, न च लक्ष्यानुरोधेन उभयपरिग्रह, तस्य सर्वत्र नियामकत्वेऽतिप्रसङ्गात् इति चेदत्र सूत्रे रोरेति सानुवन्धस्य रे इति निरनुवन्धस्य चैकप्रयत्नेनोभयमुच्चार्य निर्देशात् 'निरनुवन्धस्यद्वये २८ सामान्यप्रहणमिति न्यायाच्च सामान्येन ग्रहणं मन्वतीत्याह—रेफस्य इत्यादि । अदिदुत इत्यस्यार्थमाह—अकारेकारोकाराणां इति । अथ अत्रो रथेनेत्यादौ व्यवहितस्कारस्य दीर्घ कसाञ्च भवतीत्याह—अनन्तराणा इति । ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणामेवेति कृतो लभ्यते इति चेत्, उच्यते—रे इत्युपलक्ष्यसमीनिर्देशात् लुगिवा दीर्घोऽपि रेकोपलिष्टस्यैव भवतीति भावः । पुना रमते—पुनर् रमते २१ इति स्थिते, रेफस्य रेफे परेऽनेन लोपे पूर्वाकारस्य च दीर्घं सिध्यति । एवमन्यत्र । अहोरूपम्—अत्र अहर् रूपम् इति स्थिते नकारस्य "अह" २।१।७४ इति तत्त्वे, "बोधयति" "रो रे लुक्" इति सूत्रद्वयप्रवृत्ते परत्वात् "रो रे लुग् दीर्घश्चा" इति रेफस्य लोपे दीर्घश्चात्प्रतीत्याह— अन्वित्येव ? अहोरूपम् इत्यादि । अन्वित्यधिकारात् पूर्वमेवोत्वे रेफाभावाच्चास्य प्रवृत्तित्वाह—अत्र पूर्वमेव इत्यादि ॥ ४१ ॥

दस्तद्धे । अत्र अनु लुग् दीर्घश्चादिदुत इति चानुवर्तते, ढ तद्धे अनु लुक् च अदिदुत दीर्घ इत्यन्वयः । तद्धे—"तवर्गस्य" इति २६ तवर्गयोगे दस्य ढ, तस्य—लुप्यमानढकारस्य कार्यत्वेन दस्तद्धेऽस्तसिञ्जिति समासस्वरदाह—तन्निमित्तो दस्तद्धे इति । अत्र ढ इति वर्णमात्र निमित्तात्वेनाश्रयिते, अकारस्य सुखमुखाय, अन्यथाकारविशिष्टो यत्र ढकारस्तत्रैव सूत्र प्रवर्तते । सूत्रार्थमाह—ढकारस्य इत्यादिना । माढिः—२७ "महण्" पूजाया, धातो क्तौ "तेर्महादिभ्य" ४।४।३३ इति नियमादिहभावे, "हो धुद्वदान्ते" २।१।८२ इति हस्य ढत्वे, "अधश्चतुर्थोत्तयोर्ध" २।१।७५ इति तस्य धत्वे, "तवर्गस्य" इति धस्य ढत्वेऽनेन प्रकृतिहस्य लोपे दीर्घत्वे च सिद्ध्यति । लीडम्, मीढम्, गूढम्—'लिहोक्' आस्त्रादने, 'सिह' संवने, 'शुहोर्' संवरणे इत्येभ्य के पूर्ववत् ढत्वादौ भवन्ति । मधुलिङ् ढौकते—मधु लेडीति विग्रहे किप्, मधुलिङ् इति स्थिते ३० के "दीर्घरथाव्यञ्जनात्" इति छके, "हो धुद्व" इति ढत्वे, "ढौकृक्" गतौ, तेष्वत्ये वाचि च—ढौकते, मधुलिङ् ढौकते इति स्थिते नाथ ढकार- लक्ष्मिणि इति लोपदीर्घो न भवत । अत्र सूत्रे यदि तद्धे इति निमित्तमनुपादाय ढे इति ढकारमात्रस्य निमित्तत्वे तृतीय वाधित्वा विशेषमिहित- ३१ त्वेनापवादत्वाद्नापि तौ स्यातामित्याह—नायं लुप्यमान इत्यादिना । लुप्यमानो ढकारो निमित्त यस्य स तथोक्तो ढ इत्यर्थः । एत्वं—पूर्ववत् । ३३ चक्रुद्धे, लुलुविद्धे—करोते 'लृक्' ढेदने च धातो परोक्षार्थं ध्वेप्रत्यये "दिर्घात् परोक्षारणे प्राक्त्वे खरे स्वरद्वये" ४।१।११ इति द्वित्वे, "ऋतोऽत्" ४।१।३६ इति ढत्वे, "कञ्चक्" ४।१।४६ इति चत्वे, "नान्यन्तात्" २।१।८० इति ढत्वे, "अधीर्घात्" १।३।२२ इति तस्य द्वित्वे, तन्निमित्तत्वाभावाद्गुणभावे "तृतीयस्त्वृतीयचतुर्थे" इति तृतीयत्वे—नक्रुद्धे भवति । एव लुलुक् इति ढत्वे जगददेशे च सति तृतीय—लुलुविद्धे इति ३६ भवति । एतदेवाह—चक्रुद्धे, लुलुविद्धे इत्यादावपि इत्यादिना । आतृढम्, आशृढम्—आहूपूर्वात् तद्धेर्द्वेष के "हो धुद्व" इति ढत्वे, "अधश्चतुर्थोत्तयोर्ध" इति तस्य धत्वे, "तवर्गस्य" इति ढत्वे, "दस्तद्धे" इति लोपे—आतृढम्, आशृढमिति रूपे, अत्रानन्तराणामकारेकारोकाराणाम- भावात् दीर्घः । लेढा, मोढा—लिहोर्द्वेष एचि ढत्वादी यद्यथापाततोऽन्वित्यभावे परत्वात् गुणो ढलोप वाधित्वा प्राप्नोति तथापि ढलोपसा- ३९ स्याधितत्वेनान्तराणामाहुणादपि पूर्वं प्रवृत्तेरित्यन्वित्यधिकारः । नच नाच्य "हो धुद्व" इति विहितढत्वस्यासत्वात् ढलोपस्याप्यसत्त्वेन गुणो भविष्यति इति, 'वर्णोविधि' इति न्यायेनान्तराणै ढत्वे विशेषेऽवर्णविधेर्गुणस्य महिरत्त्वेनासिद्धत्वादिदीर्घ कार्योत्पत्तयश्चाभिप्रायेणोक्तम् । शास्त्रासत्त्वपक्षे द्व गुणे कृते ढत्व भवति । अन्वित्यधिकारस्य फल्गमाह—अत्र—लिङ् वा, सुब् वा इत्यत्र, गुणे कृते—लेढा, मोढा इति जावे सति, ढलोपः—अनेनेति ४२ शेषः । अन्यथा—अन्वित्यधिकारामावे, पूर्वमेव—गुणादिति शेषः । ढलोपे, दीर्घे च—अनेनेति शेषः । तस्मिन्सति किं स्यादित्याह— लीडा, मूढेत्यनिष्टं रूपं स्यादिति ॥ ४२ ॥

१ चानन्तराणां दी० पु० ।

### सहिवहेरोच्चारणस्य ॥ १ । ३ । ४३ ॥

सहि वहि इत्येतयोर्दस्य तद्धे परेऽनु लुग् भवति, अवर्णस्य च ओकारो भवति । सोढा, वोढा; उदचोढाम् । अवर्ण-  
१ सेति किम् ? ऊढः ॥ ४३ ॥

### उदः स्यास्तम्भः सः ॥ १ । ३ । ४४ ॥

उदः परयोः स्यास्तम्भ इत्येतयोः सकारस्य लुग् भवति । उत्थाता, उत्थातुम्, उत्तम्भिता; उत्तम्भितुम् । उद-  
५ इति किम् ? सस्याता, सस्तम्भिता । स्यास्तम्भ इति किम् ? उत्स्रोता, उत्सकन्नः । स इति किम् ? उत्तिष्ठति, उदस्थात्,  
उदस्तम्भत्; उत्तिस्तम्भपति । प्रत्यासत्तेः स्यास्तम्भविशेषणस्यैवोदो ग्रहणादिह न भवति ऊर्ध्वं स्थानमस्योत्थानः ।  
कथमुत्कन्दतीति उत्कन्दको रोग इति प्रोदरादित्वात् भविष्यति ॥ ४४ ॥

### तदः सेः खरे पादार्था ॥ १ । ३ । ४५ ॥

तदः परस्य सेः खरे परे लुग् भवति, सा चेत् पादार्था—पादपूर्णी भवति । सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधि-  
ष्ठिरः, सौपधीरनुस्यूते । पादार्येति किम् ? स एष भरतो राजा ॥ ४५ ॥

१३ सहिवहेरोच्चारणस्य । अत्र ङ इत्यनुवर्तते, सहिवहे ङ तद्धे अनु लुग् च अवर्णस्य ओत् इत्यनुवर्तते-  
माह—सहिवह्नि इत्येतयोः इत्यादिना । सोढा, वोढा-सहिवह्निभ्यां तुष्णि ताप्रत्यये वा ङत्वादौ लोके सद् वा, वद् वा इति स्थितेऽनेन  
लोके कृतेऽवर्णस्योकार । उदचोढाम्—उत्पूर्वाद्द्वहेरपतन्यात्तामि “छिजद्यतन्याम्” ३।५।५३ इति सिद्धि, “सुबहुखाङ्गानिदस्यो” ४।३।७०।  
१५ इति तस्युपि, “व्यञ्जनामानिदि” २।३।४५ इति वृद्धौ, अनेन ङलोपेऽवर्णस्य ओत्वे च उदचोढामिति भवति । ऊढः-वहे के ङृति च अवर्णव-  
भावाधानेनौत्स्यम्, किन्तु पूर्वेण ङलोपो वीर्षय ॥ ४३ ॥

उदः स्यास्तम्भः सः । अत्र लुक् इत्यनुवर्तते, उदः स्यास्तम्भ सः लुक् इत्यन्वयः । उद इति पञ्चमी, स्यास्तम्भ इति समा-  
१८ शरद्वन्दात् पठे इति तदर्थमाह—उदः परयोः इत्यादिना । उत्थाता, उत्थातुम्—उत्पूर्वात्तुष्णि त्वचुत्प्रत्ययो अनेन सलोपे “अघोपे०” इति  
प्रथमत्वे भवति । उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम्—उत्पूर्वात् स्वप्ने सौत्राचुषि तुष्णि वाऽनेन सलोपे इवागने “नामि”ति नस्य मत्वे च तिस्सत् ।  
संस्थाता, संस्तम्भिता—उत्पूर्वात्ता तुष्णि भवति, उद परत्वाभावात्तानेन सकारलुक् । उत्स्रोता—उत्पूर्वात् ङौत्वे तुष्णि गुणे प्रथमे च रूपम्,  
२१ अत्र स्यास्तम्भोऽभावात् सलोपो न भवति । उत्सकन्नः—उदः स्कन्दे के “रदादपृच्छमद कयोर्दस्य च” ४।३।६९। इत्युभयत्र नत्वे  
उत्सकन्न इति भवति, स्यास्तम्भोऽभावात् सलोपः । उत्तिष्ठति—उत्पूर्वात्तिष्ठतेतिष्णि शानि तिष्ठानेवात्त सकाराभावात्तुष्णि प्रवर्तते । उदस्थात्-  
उत्पूर्वात् प्राधातोरेवतन्या दिप्रत्यये तिञ्जुल्लवादी उदस्थात्त सकारलोपः कस्मात् भवति ? अत्रिच प्रत्ययस्य व्यवघायकत्वमात्रेऽपि अत्र प्रत्ययस्य  
२४ व्यवघायकत्वस्य सर्वजनमिदितत्वात् । एतच्च व्यवघायकत्वमात्रेऽपि त्विज्याख्याने भवति । आहृतिव्याख्यानस्यैव तात्पर्यम्—उद इति आहृष्ट्या स्या  
स्तम्भ स इति चोमयत्र चयभ्यत्वे, तथा चायमर्थ—उद परयोः स्यास्तम्भ इत्येतयोः सकारस्य लुक् इत्येक, उद परस्यैव सस्येत्पर इति ।  
ननुदस्यादित्वाभावात्पूर्व कथं न सलोपः ? इति चेदन्वित्यकारात् । उदस्तम्भत्—उत्पूर्वात् स्वप्नेऽपि प्रत्यये “कृदित्त्स्वस्तम्भ०” ३।५।६५।  
२७ इत्येक, नलोपेऽत्रागमे तिष्णति । उत्तिस्तम्भपति—उत्तम्भितुम्तिष्णित्त्वेऽपि ङानि द्विवचनदौ च सति तिष्णति । ननु उत्स्थान इत्यत्र उद  
परत्र स्याधातोर्विद्यमानत्वात् कुतो न सलोप इत्यत आह—प्रत्यासत्तेरिति । प्रत्यासत्तित्याद्यादित्यर्थः । स्यास्तम्भविशेषणपदस्य—स्यास्त-  
म्भयोर्विशेषण तस्यैव उद इत्यन्वयः, ग्रहणादिह—अस्तिन्युद्धे इत्यर्थः, न भवति—सलोप इति शेषः । ननु उत्स्थान इत्यत्र कुतो ज्ञायते  
३० उद इत्यविशेषण स्याधातोरेति विग्रहोपदर्शनपूर्वकं तत्स्थल दर्शयति—ऊर्ध्वं स्थानमस्योत्थान इति । अत्र स्थानस्य विशेषण उदिति,  
न तु तिष्ठतीति भावः । उद स्कन्दे रोपे इति वक्ष्यम्—उद परस्य स्कन्दे सकारस्य लोपो भवति, कथमन्यथा उत्कन्दको रोग इति सिध्यतीति  
शुद्धति—कथमुत्कन्दतीति इत्यादिना । समासत्ते—प्रोदरादित्वात् इत्यादि ॥ ४४ ॥

३३ तदः सेः खरे पादार्था । अत्र लुक् इत्यनुवर्तते, तदः सेः खरे लुक् सा चेत्पादार्था इत्यन्वयः । परत्वात्पादाहारात् तद इति  
पञ्चमी च तद इत्यनेन तदादेशस्य सप्त प्रथमम्, अन्यथा व्यङ्गनात् सिलोपः सिद्ध एव । एतच्च पादार्येति ग्रहणाभ्यन्तरे, अन्यथा तदैव पादस्य पूरि-  
३५ मिति चेत्, “तदः सेः खरे०” इति सूत्रप्रणात् । पादार्था—पादात्त इय पादोऽर्थो वसामिति वा विग्रहः । पादो नाम विपतवर्णमात्रावयव-  
पिण्ड । छवैव यदि पादः पूर्णतः, यत्र छव्यल्लुपि पादपूर्णमवशिष्टं तत्र लोपाभावो यथा—सोऽयमित्यभित्वन्ने प्रत्ययविशेषणायते, अत्र लुक्पि पाद-  
पूर्ण भवति यथा—सायमित्यभित्वन्ने इत्यादि । सैष दाशरथी रामः—अत्र तद सकारात् परस्य से कृत्वे प्रत्येऽनेन छव्येकादेशो ऐकारः,  
३७ अन्यथा से “रोर्य” इति शक्ते तल्लुकि सधिसिद्धिपेयादौत्वाभावात्तदस्यैव सकारात्तत्पूर्णाभावः । सैष प्रीतो महाबलः, सैष कर्णो महालागी,  
सैष राजा युधिष्ठिरः इति सम्पूर्णं वृत्तम् । पादार्येति किम् ? स एष भरतो राजा—अत्र हि तिष्ठते सधिसिद्धिपेयादौत्वाभावात्  
पादाभावे लुगाभावः । सूत्रमिदं विशेषण सामान्यं वाचते न सामान्येन विशेषेण इति न्यायात् “रोर्य” इति सामान्यस्य इति तत्पूर्वविषये “सो र”  
४२ इत्यस्य बाधक, न, पुन खरविशेषणमित्यस्य “अतोऽति रोप” इत्यस्य विषये “सो र” इत्यस्य, तेन “सोऽह तथापि तत्र गफि०” इति प्रोमपत्त-  
मरस्यप्रयोगो व्याख्यातः ॥ ४५ ॥

**एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्रन्थमासे ॥ १ । ३ । ४६ ॥**

एतदस्तदश्च परस्य सेर्व्यञ्जने परे लुग भवति, अकि नन्समासे च सति न भवति । एष ददाति, स ददाति, परमैष करोति; परमस ददाति । एतदश्चेति किम्? को दाता, यो धन्यः । सेरित्येव? एतौ गच्छतः, तौ तिष्ठतः । अनुबन्धग्रहणा- ३  
दिह न भवति-एतेषु चरति, तेषु याति । अनग्रन्थमास इति किम्? एषकः करोति, सको याति-तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन  
गृह्यते इति साकोऽपि प्राप्तिरिति प्रतिषेधः; अनेषो गच्छति, असो याति । व्यञ्जन इति किम्? एपोऽत्र, सोऽत्र ॥४६॥

**व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा ॥ १ । ३ । ४७ ॥**

व्यञ्जनात् परस्य पञ्चमान्तस्थायाश्च सरूपे वर्णे परे लुग वा भवति । कुञ्चो इञ्चौ-कुञ्चौ, कुञ्चुइञ्चौ; अदितोरय-  
मादित्यः स देवता अस्य आदित्यः स्यात्कीपाकः आदित्य इति वा । व्यञ्जनादिति किम्? अन्नम्, भिन्नम् । सरूप इति  
किम्? वर्ण्यते, पित्र्यम् । केचित्तु पञ्चमान्तस्थायाः पञ्चमान्तस्थामात्रे लोपमिच्छन्ति, न तु सरूप एव; तन्मते-वभ्यते, ९  
वभ्यते; मभ्यते, मभ्यते इत्यादावपि भवति । अपरे तु अन्नवभ्रमभ्राणां त्रयाणां धातूनां धुटि रेफलोपं नित्यमिच्छन्ति-  
अन्नते: "तिक्रतौ नामि" ॥ ५ । १ । ७१ ॥ इति तिकि अन्विः, वभ्रमभ्रोर्यद्दुलुपि वावन्विः, मामन्विः; सिद्धान्ते तु  
अन्विः, वावन्विः, मामन्विः ॥ ४७ ॥

१२

एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्रन्थमासे । अत्र से ङक् इति चानुवर्तते । एतदश्च इति चकारेण पूर्वसूत्रस्य तद इति समुच्चयते । नन  
समासो नन्समास ङक् च नन्समासश्च अन्नग्रन्थमास, न अन्नग्रन्थमास अन्नग्रन्थमासस्तस्मिन्निति विग्रह । एतद तदश्च से. व्यञ्जने ङक् अन्-  
ग्रन्थमासे इत्यन्वयस्तदर्थमाह-एतदस्तदश्च इत्यादिना । अनमन्समासे इत्यत्र ननो भवतिक्रियाया सवन्ध दर्शयन् प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्वं १५  
एवयति-अकि नन्समासे च सति न भवतीति । पर्युदासे हि सति 'नन्द्युक्त तत्सदृशे' इति न्यायेन नन्समासादन्यत्रापि समास एव  
वर्तमानाभ्यामेतत्तच्छब्दाभ्यां षिलोप स्यात् । अपि च अनमन्समासे इत्यनेन तदन्तविधि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति न्यायश्च  
ज्ञाप्यते, अन्यथाऽक्विविशिष्टस्यैतच्छब्दाभावात्समासापत्तय च प्रात्यमावेऽनेन तन्निषेधासम्भवात् तस्य च प्राप्तिपूर्वकत्वात्, तेन परमस १८  
ददाति इत्यादौ तदन्तादपि सेर्छेद्, असो यातीत्यादौ तन्निषेधस्य प्राप्तिपूर्वक, केवलस्यैतद् तदक्षारान्तवद्भावेन सेर्छेद्, न्यायज्ञापनेन सको याति  
इत्यादौ प्राप्तिपूर्वकत्वं निषेधस्य सूपपन्नम् । ननु प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्वो ग्रहणे वाक्यभेद इति चेदस्त्वु पर्युदास, तथासति नन्समाससदृशास्यो-  
त्तरपदार्थप्राधान्यस्य समासान्तरस्य ग्रहणात् परमैष ददाति इत्यत्र भविष्यति, अकोऽसमासस्य प्रतिषेधात् केवलस्यापि भविष्यति-स ददाति २१  
इत्यादौ, इत्यस्य प्रसज्याश्रितवाक्यभेददोषोऽपि परिहृतो भवति । एष ददाति, स ददाति-एतत्तद्भावात् सौ अत्वाद् अनेन व्यञ्जने सेर्छेद् ।  
परमैष करोति-परमश्चासौ एषश्चेति विग्रह । को दाता, यो धन्यः-अत्र न लिङ्ग, एतत्तद् परत्वाभावात् । एतौ गच्छतः, तौ  
तिष्ठतः-अत्र एतत्तच्छब्दाभ्या परस्य सेरभावात् ङक् । तेरेति सातुवन्धोपादान कथमित्यत आह-अनुबन्धग्रहणात्-सेरित्यत्र इति शेष । २४  
अय भाव-व्यञ्जन इति विषयसम्भ्यामपि सेरिति इदनुबन्धग्रहणात् अन्यानुबन्धसमुदायस्य लोपाभाव-एतेषु चरतीत्यादौ । अथात्र परत्वा-  
देत्वे षत्वे च ङुते सकारस्यासमावात्तयो न भविष्यतीति चेत्, उच्यते-विशेषविहितत्वादेत्त्वत्वाभ्या पूर्वमेव लोप स्यादिति, किंच एतत्तच्छब्दा-  
तीत्यादावपि स्यात् । एषकः करोति, सको याति-एतत्तद्भावा कृत्स्नतादावकि अनेन निषेधात् न सेर्छेद् । निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वं प्रागुपद- २७  
शितं, तदाह-'तन्मध्यपतितस्तद्' इत्यादिना । अनेषो गच्छति-न एष अनेष "अन् खरे" ३।१।१२। इत्यनादेश । असो याति-  
न स अस "नचत्" ३।१।१२। इत्यकार, अत्र न सेर्छेद्, नन्समासे निषेधात्, समासग्रहणाद्वाक्ये प्रतिषेधो न भवतीति भाव । एपोऽत्रे-  
त्यादौ व्यञ्जनपरकत्वाभावात् सेर्छेद् ॥ ४६ ॥

२०

व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा । अत्र ङक् इत्यनुवर्तते, व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थाया सरूपे ङक् वा इत्यन्वय । पञ्च-  
मान्तस्थाया-समाहारद्वन्द्वात् षष्ठी, सूत्रकृषिदेशचलात् हस्ताभाव । सरूपे-समान रूप यस्य तस्मिन्निति बहुव्रीहि, "समानस्य षष्ठीविधु"  
३।१।१४९। इति समानशब्दस्य सादेश । सूत्रान्वयार्थमाह-व्यञ्जनात् परस्य इत्यादिना । उद्य उद्य ह्यौ तत्तत्सत्युपमाह-कुञ्चौ ३३  
ह्यौ, कुञ्चौ-अत्र त्रयो चकारा मध्यमस्थानेन विकल्पेन ङक्, षके-कुञ्चुइञ्चौ । अदितोरयमादित्य-अत्र "अनिदम्यणपवादे च"  
६।१।१५। इति व्ये, "वृषि खरेचादिङ्गो" ७।४।१। इति इदौ, "अवर्णवर्णस्य" ७।४।६। इतीकारलोपे रूपम्, तत आदित्यो देवता अत्येति  
विग्रहे पुनर्वर्ण, अकारलोपे ङक् चण्डिभित्वात् स्थानिवद्भावात्प्रतिषेधेऽनेन षके थलोपे-आदित्यः, लुगभावषके-आदित्यः, तदाह-स देवता ३६  
अस्य इत्यादिना । अन्नम्, भिन्नम्-अत्र सरूपे वर्णे परे व्यञ्जनात् परत्वाभावात् नकारस ङक् । वर्ण्यते, पित्र्यम्-व्यञ्जनात् परस्य पञ्चमस्य  
वचनभेदात्प्रथमस्य नास्तीत्याद्य इत्युवाच शाकटायन "ह्लो यमि यमो वा" शा० १।१।१२२। इति ह्ये, उदाहरति-तन्मते इत्यादिना । ३९  
चभ्यते, वभ्यते, मभ्यते, मभ्यते इति । 'वभ्र', 'मभ्र' गतावाभ्या तेष्वत्ये, ष्ये, षके रलोपे रूपाणि भवन्ति । पुनर्मतान्तरं दर्शयति-अपरे तु  
इत्यादिना । अपरे-शाकटायनादय, चण्डीना त्रयाणा अङ्कि रलोप केचिद्विच्छन्तीति अमोघाहृतौ तद्व्याख्यातारः । पाणिनीये न्यासे तु "ह्लो यमो  
यमि लोप" भा० ८।१।६५। इत्येव पाठ, वचनभेदेऽपि यथासक्यसूत्र प्रवर्तत इति तदीकाकृत । अन्विः-'अन्न'वातो कौ रलोपे षत्वे ४२  
तृतीय । वावन्विः, मामन्विः-वभ्रमभ्रो"गैल्यथोत् कुटिले" ३।४।११। इति षकि, तलुपि, द्वित्वान्ते, तिभि, रलोपे "अधश्चतुर्था" इति षत्वे,  
"तृतीयस्त्वृतीय" इति तृतीयत्वे लिङ्गत्वं । सिद्धान्ते दर्शयति-सिद्धान्ते तु इति । खमत् इत्यर्थ । अन्नवभ्रमभ्राणा खमत उदाहरणान्याह-  
अन्विः, वावन्विः, मामन्विः-एषु व्यञ्जनात् परमान्तस्थाया रस्य सारूपमिच्छामावाञ्छ ङक् ॥ ४७ ॥

४५



### ध्रुवो ध्रुटि स्वे वा ॥ १ । ३ । ४८ ॥

व्यञ्जनात् परस्य ध्रुवो ध्रुटि स्वे परे लुग् वा भवति । प्रत्तम्, प्रत्तम्; अवत्तम्, अवत्तम्—अत्र त्रयस्तकारा मध्य-  
२ मस्य वा लोपः, शिण्डि, शिण्डि; पिण्डि, पिण्डि; मिन्थः, मिन्थः । ध्रुट इति किम्? शार्ङ्गम्, भार्ङ्गम् । ध्रुटीति किम्? सक्शा, सक्शे । स्व इति किम्? तर्सा, दर्सा । व्यञ्जनादित्येव? वोद्धा, योद्धा ॥ ४८ ॥

### तृतीयस्तृतीयचतुर्थे ॥ १ । ३ । ४९ ॥

१ ध्रुटः स्थाने तृतीये चतुर्थे च परे स्थानिप्रत्यासन्नस्तृतीयो भवति । मज्जति, भृज्जति, दोग्धा, दोग्धुम्, पिण्डि, शिण्डि; योद्धा, योद्धुम्; लब्धा, लब्धुम् । तृतीयचतुर्थे इति किम्? लिख्यते । ध्रुट इत्येव? वत्तते । पदान्ते “ध्रुट-  
स्तृतीयः” ॥ २ । १ । ७६ ॥ इति अपदान्तार्थं वचनम् ॥ ४९ ॥

### अधोषे प्रथमोऽशिटः ॥ १ । ३ । ५० ॥

शिद्धवर्जितस्य ध्रुटः स्थानेऽधोषे परे प्रथमो भवति । वाक्पूता, देवच्छत्रम्, पट् कुर्वन्ति, दृषत्कल्पः, ककुप्सु, भेत्ता; लप्स्यते । अधोष इति किम्? मज्यते, भिद्यते । ध्रुट इत्येव? भवान् खनति, कण्ठः, कन्था । अशिट इति किम्? २२ श्र्योतति, कष्टीकते; पयस्सु ॥ ५० ॥

ध्रुवो ध्रुटि स्वे वा । अत्र व्यञ्जनात् लृक् इति चातुवर्तते, व्यञ्जनात् ध्रुट ध्रुटि स्वे लुग् वा इत्यन्वयस्यदर्थमाह—व्यञ्जनात् परस्य  
इत्यादिना । प्रत्तम्, अवत्तम्—प्रपूर्वादपूर्वाच्च ददाते “प्रादागस्त आरम्भे के” ४।४।७, “निविसन्वत्वाद्” ४।४।८ इति च तादेशो-  
२५ ऽत्र त्रयस्तकारास्ततोऽनेन पक्षे मध्यमस्य लोपः, पक्षे—प्रत्तम्, अवत्तम् । शिण्डि, पिण्डि—शिपुषिषो पक्षम्यां हौ, “र्यां खरादि०”  
इति अत्रप्रत्यये, “आस्त्वोर्लृमि” लकारलोपे, “हुध्रुवो द्वेषि” इति धौ, “तृतीयस्तृतीय०” इति तृतीयत्वे, “तवर्गस्य०” इति ढत्वे, “त्रा ध्रुवर्ग०”  
इति णत्वेऽनेन पक्षे ढलोपे सिद्धत, पक्षे—शिण्डि, पिण्डि । मिन्थः—भिदेश्यति अत्रप्रत्ययादौ “अधोषे प्रथमो०” इति प्रथमत्वे, पक्षेऽनेन  
२८ ध्रुटो लोपे सिध्यति, पक्षे—मिन्थः । शार्ङ्गम्, भार्ङ्गम्—अत्र व्यञ्जनात् परस्य ऋस्य ध्रुट्त्वाभावाद्भोपो न भवति । सक्शा, सक्शे—सक्शियशब्दा-  
पृथ्वीकवचने चतुर्थ्यैकवचने च “द्वयस्थि०” १।४।६३ । इत्यन्तस्थानि, “अनोऽस्य” २।१।१०८ । इत्यकारलोपे, ध्रुटपरत्वाभावात् थस्य लोपो न  
भवति । तर्सा, दर्सा—रूपेर्द्वेष्य घातोत्त्विति ताप्रत्यये वा रूपे, यद्यत्र स्वे इति न स्यात्तर्हि अत्रापि पकारस्य लृक्प्रत्ययः स्यात् । नन्वत्र स्थानि-  
२९ निमित्तयो समसख्यवचनत्वात् यथासख्यप्रतिपत्तौ पकारस्य पकारे एव लोपो विज्ञायेत इत्यत्र प्रत्यय एव नास्तीति किमेतद्विद्वत्प्रत्ययेन स्वे इति  
प्रहणेन? इति चेदुच्यते—स्वप्रहणादिह यथासख्य नास्तीति विज्ञायते, अत एव शिण्डीत्यादौ णकाराभावात् परस्य ङकारस्य ङकारे लुगुदाहतेति  
भावः । वोद्धा, योद्धा—‘ध्रुधिच्’ ज्ञाने, ‘ध्रुधिच्’ संप्रहारे आभ्यां वृचि, धत्वे, तृतीयत्वे व्यञ्जनात् परत्वाभावात् दस्यानेन न लृक् ॥ ४८ ॥

२४ तृतीयस्तृतीयचतुर्थे । अत्र ध्रुट इति अतुवर्तते, ध्रुट तृतीय तृतीयचतुर्थे इत्यन्वयः । पूर्वसूत्रादत्र स्थान्येवातुवर्तते, न कार्य-  
निमित्ते । अथ पृथक् निमित्तत्वेनोपस्थानात्किमिच्छति कथं नेष्यते? इति चेत्, “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” इत्यत्र निमित्तान्तरस्य प्रधानस्थानवका-  
शस्य बाधकत्वात् । तथा च तत्र तत्र प्रकृतात्प्रकर्षणाय चकारस्य क्रियमाणत्वं यथा “भो नो म्बोध” २।१।६७ । इत्यादौ, इह तु तदकारणात्  
२७ प्रकृते तदननुष्ठितिरैव इत्याह—ध्रुट इत्यादिना । मज्जति, भृज्जति—‘दृमस्त्वोत्’ ध्रुटौ, ‘अस्त्वोत्’ पाके आभ्यां “सस्य शायौ” १।३।६१ । इति  
कृतशकाराभ्यां त्रिषु, षोऽनेन शस्य स्थान्यासषो जकारः । दोग्धा, दोग्धुम्—एव ‘दृहीक्’ क्षरणे, घातोत्त्विति, द्विषि, चोपान्त्यगुणे “भवादे-  
र्द्वेषि” २।१।८३ । इति हस्य वे, “अधश्चतुर्धात्तयोर्ध” २।१।७५ । इति तकारस्य धकारेऽनेन तृतीयो गकारः । पिण्डि, शिण्डि—अत्रनेन  
३० तृतीयो ङकारः, शेष पूर्ववत् । योद्धा, योद्धुम्—अत्रनेन तृतीयो दकारः । लब्धा, लब्धुम्—अत्रनेन तृतीयो पकारः । लिख्यते—‘लिखद्’  
अक्षरविन्यासे, घातोत्त्विति प्रत्यये “क्य शिती”ति क्ये, तृतीयदिनिमित्ताभावात् खस्य ध्रुट्त्वेऽपि तृतीयो गो न भवति । चलमते—‘नल्मि’  
भोजने, घातोत्त्विति प्रत्यये, श्विति, निमित्तसङ्गावेऽपि लकारस्य ध्रुट्त्वाभावात्तृतीयामाव । अथ “ध्रुटस्तृतीय” इत्यनेन तृतीयचतुर्थेऽपि निमित्तयो-  
३१ स्तृतीयस्य सिद्धत्वात् किमर्थमिदमित्याह—पदान्ते “ध्रुटस्तृतीयः” इत्यादिना ॥ ४९ ॥

अधोषे प्रथमोऽशिटः । अत्र ध्रुट इत्यतुवर्तते, तत्र अशिट इति विशेषणतया सव्यवृत्ते, अशिटो ध्रुट अधोषे प्रथम इत्य-  
न्वयस्यदर्थमाह—शिद्धवर्जितस्य इत्यादिना । वाक्पूता—वाचा पूता इति समासोऽसमासो वा, अत्रनेन प्रथम ककारः । देवच्छत्रम्—  
३५ देव छत्रम् इति स्थिते “खरेभ्यः” इति द्वित्वे, पूर्वस्थानेन प्रथम । पट् कुर्वन्ति—पठिति पूर्ववत्साध्यम्, ततः ककारेऽधोषे परेऽनेन प्रथम ।  
दृषत्कल्पः—इषदसमासा दृषदित्यर्थः, “अतमवादेरीषदसमासे कल्पपदेऽयपदेऽरीषद्” ७।३।११ । इति कल्पपि इषद् कल्प इति स्थितेऽनेन ककारेऽधोषे  
तकारः । ककुप्सु—ककुप्सु इति स्थिते अनेन भकारस्य पकारः । भेत्ता—भिदेश्यत्वाद्दौ दकारस्थानेन तकारः । लप्स्यते—लप्ते स्वतेप्रत्यये  
३९ भकारस्थानेन पकारः । मज्यते, भिद्यते—अजेभिदेश्य वेप्रत्यये क्येऽधोषामाषात् प्रथमत्वाभावात् । भवान् खनति—अत्र नस्य इत्यन्वयात्  
धोषेऽपि परे प्रथमत्वाभावात् । कण्ठः, कन्था—पूर्ववत् णमयो प्रथमो न ध्रुट्त्वात् । श्र्योततीत्यादि पूर्ववत्, अत्र शपसौ ध्रुट्त्वेऽपि  
अशिट इत्युक्त्या अधोषे प्रथमो न भवति । यद्यपि पयस्सु इत्यत्र “शपसे शपस चा” इत्यनेन सविघानात् प्रथमत्वाभावात् अशिट इति व्यर्थ  
४२ तथापि तदभावे श्र्योतति कष्टीकते इत्यादानेन चटौ आमुत्, एवमेव अस्ति, आस्ते इत्यादिषु तकारश्च, इषु इषुप इत्यादौ कस्यादिरिति “कादि०”  
इति व्याख्येया निघर्गस्यापि “अपस्रमन्तस्यो०” इति ध्रुट्त्वादनवर्गहविसर्गकवर्यत्वेन कण्ठ्य ककारः स्यात्तन्मा भूदित्यशिट इति ॥ ५० ॥

**विरामे वा ॥ १ । ३ । ५१ ॥**

विरामे वर्तमानस्याशिष्टो धुटः स्थाने प्रथमो वा भवति । वाक्, वाग्; पद्, पद्; तत्, तद्; कुरु, कुरु ।  
विराम इति किम् ? वागत्र । धुट इत्येव ? कुड्, सुगण्, भवान्, त्वम् ॥ ५१ ॥

**न संधिः ॥ १ । ३ । ५२ ॥**

उक्तो वक्ष्यमाणश्च विरामे सन्धिर्न भवति । दधि अत्र, ते आहुः, तत् लुनाति, भवान् लुनाति, कुर्वन् शेते, वृक्षस्य  
छाया, ब्राह्मणस्य छत्रम्, भवान् छादयति, नृन् पाहि, कुण्डम् हसति, वृक्षश्च याति, कुर्वन् आस्ते । विरामादन्यत्र तु संहि- ६  
तायां सन्धिरेव सा च—“संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु, सा विवक्षामपेक्षते” ॥ ५२ ॥

**रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ॥ १ । ३ । ५३ ॥**

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य स्थाने विसर्ग आदेशो भवति, तयोर्विरामेऽधोपे च । (विरामे—) वृक्षः, पक्षः, प्रातः, ९  
पुनः, अग्निः अत्र, पटुः इह । अधोपे—कः करोति, कः खनति, पुनः पचति, पुनः फलति, कः शेते, कः पण्डे; कः साधु ।  
कश्चरति, कष्टीकते; कस्तरति इत्यादिषु तु शादय एवापवादत्वाद् भवन्ति । पदान्त इति किम् ? इत्ते, अर्कः, सूर्यः; सर्पः ।  
कथं नृपतेरपस्य नार्पणः ? नृकुट्यां भवो नार्कुटः ? तवकीरः ? प्राच्छति इत्यादि ? ‘असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे’ इति वृद्ध- १२  
रादेशशाश्रयस्य रेफसासिद्धत्वाद् विसर्गो न भवति, एव झ्झापि । अन्वित्यधिकारात् गीः, धूः, सजुःपु, आशीःपु  
इत्यादिषु दीर्घत्वे कृते पश्चाद् विसर्गः, अन्यथा हि पूर्वं विसर्गं कृते इत्सोरभावात् दीर्घो न स्यात् ॥ ५३ ॥

**ख्यागि ॥ १ । ३ । ५४ ॥**

१५

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य ख्यागि परे विसर्ग एव भवति । कः ख्यातः, नमः ख्यात्रे, पूर्वणैव सिद्धे नियमार्थमि-  
दम्, तेन जिह्वामूलीयो न भवति ॥ ५४ ॥

**विरामे वा ।** अत्र अशिष्ट धुट प्रथम इति चासुवर्तते, विरामे अशिष्टो धुट प्रथमो वा इत्यन्वयः । विरामे इति तु वेपथिकमिदम्- १८  
धिकरणम्, तथाच विरामविषये इत्यर्थो लभ्यते । विरामस्थानेन धवसानेन च पदस्य पूर्वोपर्ये न सम्भवति, तथाहि—येन वर्णेन विरम्यते स चा-  
वसान स्यात् । अथवा विरामो विरतिवर्णानासुच्चारणभावः । अन्ये तु अवसानमात्ररूपमाहुः । तदर्थमाह—विरामे वर्तमानस्य इत्यादिना ।  
वाक् इत्यादिष्वनेन विरामे विरत्येन प्रथम । चागत्र—विरामाभावात् प्रथमत्वं न भवति । कुड् इत्यादिषु विरामेऽपि घुट्वाभावात् प्रथमत्वं न २१  
भवति, अन्यथा कतमा स्य, “पदरूजविशष्टशो घृत्” ५१३१६। अत्र चकारस्य चकार स्यादिति धुट इति ॥ ५१ ॥

**न संधिः ।** संधिप्रतिषेधोऽयम्, स च प्राप्तिपूर्वक एव सम्भवति, विरामे च प्राप्ति सधेरुक्तस्य वक्ष्यमाणस्य चेत्यविशेषमितिर्द्वात् सर्वे  
प्रतिषिध्यते इत्याह—उक्त इत्यादिना । दधि अत्र इत्यादिषु सामान्येन विधानात् विरामेऽपि प्रात सन्धिर्न भवति । विरामाभावे संधिमाह— २४  
विरामादन्यत्र इति । वर्णानां पर संनिकर्षं संहिता इति तस्या विषय दर्शयति—संहितैकपदे इत्यादिना । अयमर्थ—विरामे एव संधि-  
प्रतिषेध, धातूपसर्गयोस्तु नित्यसमुदितत्वात् समासस्यापि निरन्तरानेकपदात्मकत्वात् पदधातूपसर्गसमासानां नियमैकप्रयत्नोच्चार्यत्वादिरामाभावे  
नित्यं संहितेति, वाक्ये तु सर्वत्रैकप्रयत्नोच्चार्यत्वात्नियमाद्विरामसङ्गात्वात् संहितेति ॥ ५२ ॥ २७

**रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ।** पदान्ते र विसर्गं तयो इत्यन्वयः । पदान्ते इति प्रत्यासक्तत्वात् र इत्यस्य विशेषण, तदाह—  
**पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य इति । विसर्ग इति ।** ताल्लोष्ठपुटसगृहीतस्य वायोर्विसर्जनं स च विसर्गं पार्थवार्तिविन्दुद्वयं रुढे । तयो-  
त्तच्छब्दं पूर्ववत्सु परामृशति, तथा च विरामाघोषयोरिति लभ्यते । तयोरेत्यत्रैकापि सप्तमर्थवशात् द्विधा भिद्यते, एका वैपथिकेऽधिकरणेऽप- ३०  
रात्त्वौपथिक इति भेदेन तद्दर्शयति—विरामे अधोपे च इति । वृक्षः, पक्षः इत्यादिषु “सो र”रिति यथायोगं कृत्वे कृते पदान्ते वर्त-  
मानत्वेन रेफस्य विरामेऽनेन विसर्गं । क. करोति इत्यादिषु सौ, किम् कदेशे, “सो र”रिति यथायोगं कृत्वे कृते पदान्ते वर्तमानत्वात्  
रेफस्य पुन शब्दाच्चाव्ययस्येति सिद्धपि पदान्तेरेफस्य कादावधोपे अनेन विसर्गं । क. शेते—इत्यादिषु “शपसे शपस दे”ति शपसानां वैकल्पिक- ३६  
त्वादिसर्गो भवति श्वादावधोपे । कश्चरतीत्यादिषु “चटते सद्धितीये” इति विशेषविहितत्वेनापवादत्वात् शादय एवेत्याह—कश्चरति इत्यादिना,  
भवन्ति इत्यन्वयेन । इत्ते—इत्यादिषु रेफस्य पदान्तेऽवर्तमानत्वाच्च विसर्गं । नार्पत्यो नार्कुट इत्यादिषु अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमात्रित्वात् पदान्तत्वा-  
द्रेफस्य विसर्गं कृतो न भवतीत्याहुः—कथम् इत्यादिना । समापत्ते—असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इत्यादिना । अन्तरङ्गे भव्यपदाश्रये विसर्गं इह  
कतौच्ये प्रकृत्यर्थसम्बन्धे भवादावर्थे प्रत्यये उत्पन्नाया बहिरङ्गाया इद्वेकमयवर्णश्रयत्वाद्दारादेशयोश्चासिद्धत्वात् तदाश्रयस्यापि रेफसासिद्धत्वात्  
रेफान्त पदमधोपे नार्सीति कथं विसर्गं इति भावः । वृच्चारादेशशाश्रयस्य—इति अरादेश आरादेशश्च आश्रयो यस्य तस्य रेफसासिद्धत्वात्  
इत्यन्वयः । झ्झापि—न भवान् इति शेषः । ननु गीरेत्यादौ दीर्घात् पूर्वमेव विरामाघोषयोरनेन विसर्गं निसिक्तेरेफसामाघात् कथं “पदान्ते” ३९  
२११६४। इति दीर्घ इत्यत आह—अन्वित्यधिकारात् इत्यादिना । अन्यथा—अन्वित्यधिकाराभावे । ‘पूर्व’ शब्दे, ‘पूर्व’ हिलाया च धातो  
“गुपूर्वित्पूर्वभ्यं क्तिप्” ७० ९४३। इति क्तिप्, “भ्रसा किन्तीर्” ४१४११६। इतीरादेशे च, “राहुक्” ४११११०। इति क्लोपे, सौ, तल्लुकि,  
“पदान्त” इति दीर्घेऽनेन विसर्गं—गी, धूरिति सिद्ध्यत । सजुःपु, आशीःपु-सजुषु स, आशिसु इ इति स्यते “सजुषु” २११७३। इति ४२  
“सो र”रिति च कृत्वे पूर्ववदीर्घेऽनेन विसर्गं ॥ ५३ ॥

**ख्यागि ।** अत्र र पदान्ते विसर्गं इति चासुवर्तते, पदान्ते र ख्यागि विसर्गं इत्यन्वयस्यवदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्या-  
दिना । कः ख्यातः—ख्यात इति ‘वक्षिक्’ व्यकृत्या वाचि, धातो “चक्षो वाचि क्षर्शात् ख्यागु” ४१४१४। इति ख्यातादेशे के रूपम्, नमः ४५  
ख्यात्रे—ख्यात्रे इति चक्षिक ख्यातादेशे तृचि चतुर्थ्येकनचने रूपम्, अत्रानेन पदान्तेरेफस्य ख्यागि विसर्गं । अथ किमर्थमिदं ख्यागि रेफस्य  
पदान्तत्वात् पूर्वणैव सिध्यतीति चेत्, नलम्, ‘सिद्धे सख्यारम्भो नियमाय’तित्यागात् कार्यान्तराधनार्थमित्येवत्याह—पूर्वणैवेत्यादि । अत  
एव धातो विसर्गं पदेत्युक्तम् । नियमफलमाह—तेन इत्यादिना । जिह्वामूलीयः—“र कख०” १३३५। इत्यनेनेति शेषः ॥ ५४ ॥ ४८

## शिष्यघोषात् ॥ १ । ३ । ५५ ॥

अघोषात् परे शिटि परतः पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य विसर्ग एव भवति । पुरुषः त्सरुकः, सर्पिः प्साति, सर्पिः  
२ प्सातम्, वासः क्षौमम्; अङ्गिः प्सातम् । इदमपि नियमार्थम्, तेन सत्वषत्वङ्गव्या न भवन्ति ॥ ५५ ॥

## व्यत्यये लुग् वा ॥ १ । ३ । ५६ ॥

शिटः परोऽघोष इति व्यत्ययः, तस्मिन् सति पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य लुग् वा भवति । चक्षुः श्र्योतति, पक्षे-चक्षु-  
६ श्र्योतति, चक्षुः श्र्योतति; कः षीवति, कण्ठीवति, कः षीवति, चेतः स्वलति, चेतस्स्वलति, चेतः स्वलति, चक्षुः  
स्पन्दते, चक्षुस्स्पन्दते, चक्षुः स्पन्दते; पुनः स्पन्दते, पुनस्स्पन्दते, पुनः स्पन्दते ॥ ५६ ॥

## अरोः सुपि रः ॥ १ । ३ । ५७ ॥

१ स्वर्जितस्य रेफस्य स्थाने सुपि परे रेफ एव भवति, कार्यान्तरवाधनार्थः गीर्षुं, धूर्षुं, वार्षुं, द्वार्षुं-विसर्गसंकारौ  
न भवतः । अरोरिति किम् ? पयःसु, पयस्सु; अहःसु, अहस्सु । सुपीति किम् ? गीः, धूः । र इत्येव ? महत्सु ॥५७॥

## वाहर्पत्यादयः ॥ १ । ३ । ५८ ॥

१२ अहर्पत्यादयः शब्दा यथायोगमकृतविसर्गाः कृतोत्वाभावाश्च वा निपात्यन्ते । अहर्पतिः, अहःपतिः, अहव्यतिः ।  
गीर्पतिः, गीःपतिः; गीव्यतिः । धूर्पतिः, धूःपतिः; धूव्यतिः । एषु पक्षे विसर्गाभावो निपात्यते । हे प्रचेता राजन्, हे  
प्रचेतो राजन्-अत्र पक्षे उत्वाभावो निपात्यते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ ५८ ॥

## शिष्याद्यस्य द्वितीयो वा ॥ १ । ३ । ५९ ॥

आद्यस्य-प्रथमस्य स्थाने शिटि परे द्वितीयो वा भवति । र्षीरम्, क्षीरम्; तद्दृशोभनम्, तच्चोभनम्, सम्राट्सु,

शिष्यघोषात् । अत्र पदान्ते र विसर्ग इति चाजुवर्तते, अघोषात् शिटि पदान्ते र विसर्ग इत्यन्वयस्तदर्थमाह-अघोषात्  
१८ परे शिटि इत्यादिना । ननु र पदान्ते इत्यनेन विसर्गं सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह-इदमपि इत्यादिना । नियमफलमाह-तेन इत्या-  
दिना । पुरुषः त्सरुकः-अत्रानेन नियमेन “चटते सद्वितीये” इति सत्व निषिध्यते । सर्पिः प्साति, सर्पिः प्सातम्-अत्र नियमेन “वेङ्ग-  
सोऽपेक्षायाम्” २।३।११। इति षत्व नियम्यते । वासः क्षौमम्-अत्र जिहामूलीयाभाव । अङ्गिः प्सातम्-अत्रोपस्थानीयाभाव ॥ ५५ ॥

२१ व्यत्यये लुग्वा । अत्र र पदान्ते इति चाजुवर्तते, व्यत्यये पदान्ते र लुग् वा इत्यन्वय । व्यत्ययो नाम अभिहितनिमित्तयोः पूर्वपर-  
भावविपर्यय इत्याह-शिटः परोऽघोष इति । पूर्वत्र अघोषात् शिटि इत्युक्तमत्र शिट परे योऽघोषस्तस्मिन् परे पदान्तरेफस्य लुग् वा इति  
विस्फुटमाभाति । चक्षुःश्र्योतति-इत्यादिषु पदान्तरेफस्य शपसविसर्जनीयादिषु प्रातिषु लोपोऽनेन विधीयते । पक्षे-लोपविमुक्तपक्षे शपस-  
२४ विसर्जनीयादयोऽपि भवन्तीत्युदाहरति-चक्षुःश्र्योतति इत्यादि ॥ ५६ ॥

अरोः सुपि रः । र इत्यजुवर्तते, तत्र अरोरिति विशेषणतया संवच्यते, तथा च-अरो र सुपि र इत्यन्वयस्तदर्थमाह-रुच-  
र्जितस्य इत्यादिना । ननु रेफस्य सिद्धत्वात् विधेधाप्राप्तप्रापणरूपत्वात् रेफस्य रेफविधानमनर्थकं, नत्वनर्थकं, नियमार्थत्वेन कार्यान्तरवाधनार्थ-  
२७ तादित्याह-रेफ एव इत्यादिना । गीर्षुं-इत्यादिषु “र पदान्तं” इति विसर्गं प्राप्नोति “शपसे शपसं वा” इति सकारध्वेने तौ बाधित्वा-  
ऽनेन रेफस्य रेफ एव क्रियते, तदाह-विसर्गं इत्यादिना । पयःसु, पयस्सु, अहःसु; अहस्सु-अत्र रो रेफस्य सत्वाधियमो न प्रवर्तते ।  
गीः, धूः-सुपि परेऽभावाद्नेन न रेफस्य रेफ । महत्सु-अत्र सुपि परे स्वर्जितस्य रेफस्याभावात् भवति रेफ ॥ ५७ ॥

३० वाहर्पत्यादयः । एते अहर्पत्यादय इति ज्ञान शिष्टेभ्यस्तत्र च क्वचिदेफस्य विसर्गं प्राप्तं क्वचिदुत्वं च, निपातनाश्च पक्षे तयोरभाव  
इत्याह-अहर्पत्यादय इत्यादिना । यथायोगम्-योगमनतिक्रम्येत्यर्थ । अकृतविसर्गाः-न कृतौ विसर्गो येषान्ते तयोक्ता अहर्पत्यादय  
इति भाव । कृतोत्वाभावा-कृत उत्वाभावो येषां ते तयोक्ता इति विग्रह । अहर्पतिः-अहर् पतिरिति विग्रहे “अह” २।१।७४। इति नकारस्य  
३१ कृत्वेऽनेन पक्षे विसर्गाभावे तद्विसुक्तपक्षे व्यादेशे विसर्गं च विकल्पद्वयेन रूपत्रयम् । एव गीर्पतिरित्यादिष्वपि । विसर्गाभावः-“र पदान्तं”  
इति प्राप्तस्य विसर्गस्याभाव इत्यर्थ । हे प्रचेता राजन्-प्रशान्त चेतोऽस्येति विग्रहे, “धीर्षुंवा” १।१।४५। इत्यामन्त्र्यसेङ्कि, ततो राजन्-  
शब्दे परे “सो व” इति कृत्वेऽनेनोत्वाभावे, “रो रे लुग्” इति रेफस्य लोपे धीर्षुत्वे च सिद्धति । पक्षे “षोषवति” इत्युत्वे-हे प्रचेतो  
३२ राजन् । उत्वाभावः-“घोषवति” इत्युत्वात्त्वात् इत्यर्थ । आमन्त्र्योदाहरणमात्रमिदं, संघोषनादन्यत्राप्युदाहार्यं, तद्य समासे एव अन्यत्र  
तु “अभ्वादेरत्वस्य सौ” १।४।९०। इति धीर्षुत्वे विशेषाभाव । यदुत्पल-कर्मधारयात् समासान्ते प्रचेताराज । श्वाकटायनोऽप्याह-प्रचेतस्यो  
राजा प्रचेताराज प्रचेताराज । प्रचेता राजा अस्य प्रचेताराजा प्रचेतोरजेति । ननु वृत्तिप्रदर्शितेभ्योऽप्यान्यपि सन्तीति कृत एतदुच्यते-यद्-  
३३ वचनसामर्थ्यात्, अन्यथाऽहर्पत्यादिरित्येकवचनेनैव निर्दिशेदित्याह-बहुवचनम् इत्यादिना । बहुवचनस्याऽऽकृतिगणार्थत्वेन वारि चरति इति  
विग्रहे “क्वचित्” ५।१।१७१। इति डेप्रत्यये-वाचो हस इत्यत्र “चटते” इति शत्व न भवति, उपसि बुध्यते इति विग्रहे “नान्युमान्स्य”  
इति के, “षोषवति” इत्युत्वं उपवर्षुष इत्यत्र न भवति ॥ ५८ ॥

४२ शिष्याद्यस्य द्वितीयो वा । आद्यस्य शिटि द्वितीयो वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह-आद्यस्य इत्यादिना । अत्रायत्न प्रतिवर्गपयक  
प्रथमाक्षरापेक्ष तदपेक्ष च द्वितीयत्वमिति, तेनायमर्थ-कचटतपानां क्रमेण खटथफा शिटि भवन्ति । क्रमेणोदाहरति-रूपीरमित्यादि ।  
अत्र कस्य शिटि परे द्वितीय ख । तद्दृशोभनम्-तद्दृ शोभनम् इति स्थिते “धुट्स्त्वतीय” इति तृतीयत्वे, तस्य च “तवर्गान्य” इति जकारे,  
४४ “अघोषे प्रथमो” इति प्रथमत्वेऽनेन तस्य द्वितीये रूपं सिद्धति । सम्राट्सु-सम्राज् सु इति स्थिते, “यजवचन” इति पत्वे, “धुट्स्त्वतीय”

सम्राट्सु; भवधसु, भवत्सु; अप्सु, अप्सु; अप्सराः, अप्सराः । आद्यस्येति किम् ? भवान् साधुः । शिटीति किम् ? वाक् चरति, सत्यम् ॥ ५९ ॥

तवर्गस्य श्रवणं चतुर्वर्गभ्यां योगे चतुर्वर्गौ ॥ १ । ३ । ६० ॥

तवर्गस्य स्थाने शकारचवर्गाभ्यां षकारचवर्गाभ्यां च योगे यथासंख्य चवर्गटवर्गावादेशौ भवतः, स्थान्यासत्रौ । समुदायद्वयापेक्षया यथासंख्यार्थं तृतीयाद्विवचनम्, योगग्रहणम्-स्थानित्वाऽऽशङ्कानिरासार्थं पूर्वापरभावानियमार्थं च । शक्रोण योगे-तच्च श्रेते, तच्च श्रुयोतति, भवान् श्रेते, चवर्गोण-तत्वरति, तच्चन्द्रदयति, तज्जयति, तज्ज्ज्ञापयति, तज्ज्-क्रोणे-अत्र दकारस्य जकारे "तृतीयस्य पञ्चमे" ॥ १ । ३ । १ ॥ इति जकारः, प्रशान् चरति, प्रशान् छिनत्ति, प्रशाञ्छादयति, भवान् जयति, भवान् ज्ञापयति, भवान् जकारेण, पूर्वोण चवर्गोण-याञ्जा, यज्ञः, राज्ञः, मज्जः । पूर्वोण शकारेण पोषेण च षकारेण प्रतिषेधो वक्ष्यते । पूर्वोण तु पकारेण-पेष्ठा, पेष्टुम्, पूष्णः, वृष्णः, पूष्णा, दोष्णा इत्यादि ष गत्वेनापि सिध्यति । टवर्गोण-तट्टीकते, तट्टकारेण, तट्टीनम्, तट्टीकते, तण्णकारेण, अट्ट-अट्टति, अट्टि-अट्टते,

इति क्त्वे, "अधोपे प्रथमो" इति प्रथमत्वेऽनेन द्वितीयत्वे रूपम् । एव भवधसु इत्यादय । भवान् साधुः-अत्र नस्यायत्नाभावात् द्वितीयं षिति परे । वाक् चरति, सत्यम्-अत्राद्ययो चकारतकारयो शिद्यपरत्वाभावात् द्वितीयं ॥ ५९ ॥

तवर्गस्य श्रवणं चतुर्वर्गभ्यां योगे चतुर्वर्गौ । तवर्गस्येति स्थानपट्टी । श्रवणं चतुर्वर्गभ्यां-राध चवर्गस्येति पथ टवर्गस्येति च समाहारद्वन्द्वस्य कृत्वा श्रवणं चतुर्वर्गभ्यां पुनर्द्वन्द्वे तत् समुदायद्वयापेक्षं तृतीयाद्विवचनं चरुयातासुदेशार्थमिति भगवद्भूतिकार एव वक्ष्यति-समुदायद्वयापेक्षया इत्यादिना । योगे-योग समन्वयस्मिन्, स च योग स्थानिन पूर्वत्र परत्र वा यथासंभव स्यात् श्रवणं चतुर्वर्गयो । १५ चतुर्वर्गौ-चक्ष दक्ष चटौ तयोर्वर्गौ इति तत्पुरुषे प्रथमाद्विवचनम् विधेयसमर्पकम् । तवर्गस्य शकारेण चवर्गोण च योगे चवर्ग, तवर्गस्य षकारेण टवर्गोण च योगे टवर्ग इति विवेकस्तदेतत्पर्यमाह दृष्टान्तोपन्यासपूर्वक-तवर्गस्य स्थाने इत्यादिना । श्रवणं चतुर्वर्गभ्यामिति द्विवचनं कथमित्युपपादयति-समुदायद्वयापेक्षया इत्यादि । योगग्रहणमिति । अयमाशय-सूत्रे योगग्रहणाभावे "समानाना तेन कीर्ष" इत्यादिवत् १८ श्रवणं चतुर्वर्गभ्यामिति सहायं तृतीयाया तस्य स्थानित्वात् स्यादतस्तन्मा भूदिति योगग्रहणम्, एवमेव परदिशयोगपद्यम्या तु "पद्यम्या निर्दिष्टे परस्य" इति न्यायात् परस्मैव तवर्गस्य स्यात् पूर्वस्मैलर्थमिति योगग्रहणम् । तदाह-स्थानित्वाऽऽशङ्कानिरासार्थं-स्थानित्वस्य आधाद्वा प्राक् प्रदर्शिता तस्या निरास इत्येवमर्थ, च पूर्वोपरमादानियमार्थम्-पूर्वभावस्य अपरभावस्य च योऽनियमो-नियमामावस्यदर्थमित्यर्थोऽन्यथा पूर्वोपरभावानियम २१ सादिति । तच्च श्रेते-तद् श्रेते इति स्थिते लुवीयत्वे परत्र शयौषे दस्यानेन जत्वे तस्य प्रथम । ननु तवर्गस्य कार्यत्वात्तेन च द्विसिष्टवर्ग-समुदायस्याभिधानात् तच्च श्रेते इत्यादिषु एकैकस्य तवर्गशब्दाप्रतीतौ कथं कार्यत्वमिति चेदुच्यते-समुदायकदेशस्यापि तदात्मकत्वात् समुदाय-शब्देनाभिधानं यथा-आमे वसति, गृहे वसतीति, नहि देवदादिरेवमभिधीयमानो प्राप्नोति गृहं वा व्याप्य वसति, किंतु तदेकदेशे, तत्र स एव-२४ कदेशो प्राप्नोति गृहं चोच्यते तद्वदशापीत्यदोष । तच्च श्रुयोतति-अत्र 'श्रुयोते'तिविशेषि धातो सस्य "सस्य शायौ" इति धातोऽनेन दस्य जत्वस्य प्रथम । भवान् चरति-अत्र नकारस्थानेन च । तच्चन्द्ररति-दकारस्य चवर्गोण योगेऽनेन जत्वे चति प्रथमः । तच्चन्द्रादयति-छदणं सवरणे इत्यस्य, छदणं अपवारणे इत्यस्य वा युजादे स्थायणित्वात् रूपम्, अत्र छकारेण योगे दस्यानेन जत्वे प्रथमः । तज्जयति-तद् २७ जयति इति स्थिते जकारेण योगेऽनेन दस्य ज । तज्ज्ज्ञापयति-ज्ञप् हिंसायाम्, धातो "प्रयोक्तव्यापारे णिन्" ३।१।२०। इति णिनि वृद्धौ तिवादां च-ज्ञापयति, तज्ज् ज्ञापयति इति स्थितेऽनेन दस्य ज । तज्ज्कारेण-तद् चकारेण इत्यवस्थान्या प्रक्रियामाह-अत्र दकारस्य इत्यादिना । प्रशाञ् चरति-नस्यानेन च । पूर्वापरभावानियमाय योगग्रहणाद्बुदाहरति-पूर्वोण चवर्गोण याञ्जा-"डुवावृण"धातोर्भावे ३० "स्यवेच्छायाञ्जा" ५।३।१०। इति निपातनाकारे तस्यानेन च । यज्ञः-यज्ञेर्भावे "यजिस्त्वपि" ५।३।८। इति नेऽनेन अकारः । राज्ञः-राजन्शब्दस्य षासि षसौ षसि वा "अनोऽस्य" २।१।१०। इत्यकारलोपेऽनेन नकारस्य अकारः । मज्जः-दुमत्सोर्वात् शुद्धौ, धातो "अक्षितश्चक्षीशि" ८।१।०। इति सूत्रेणाति "सस्य शायौ" ३।३।६। इति धात्वे "तृतीयमस्तुतीच" १।३।४। इति जकारे मज्जन्-३३ शब्दस्य षासि षसौ षसि वा "अनोऽस्य" २।१।१०। इत्यकारलोपेऽनेन नकारस्य अकारः, (मज्ज) "युष्टो" इति लोपपक्षे-मज्ज इति, नकार-न्तोऽयं पुंसि । मज्जा लीलिङ्गो "भिरादय" ५।३।१०। इत्यङ्क मचति, मज्जा तु क्रौञ्चिकं शुक्रकरोऽस्त्रं ज्ञेहसमवौ" इति अ० वि० ३।२९२छो०, 'सारां मज्जा मरि' इत्यमर २।१२ छो० वनौषधिवर्गे, धावन्तोऽयं सायुरिमत्वे-लज्जावद्राजवन्मज्जा भांससापस्थिसारयो" इति । ननु यथा पूर्वोण ३६ चवर्गोण योगे तवर्गस्य चवर्गे इत्युदाहृते कथं नोदाहृत पूर्वोण शकारेण इत्यत आह-पूर्वोण शकारेण इति । प्रतिषेधो वक्ष्यते इत्यन्वय -"न नात्" १।३।६२। इत्यनेनेति शेषः । ननु पूर्ववत् परत्र पकारेण योगेऽपि कथं नोदाहृतमित्यत आह-परेण पकारेण इति । प्रतिषेधो वक्ष्यते इत्यन्वय -"पि तवर्गस्य" १।३।६३। इत्यनेनेति शेषः । पेष्ठा, पेष्टुम्-पिपेस्तुनि तुमि चानेन रत्वमिति भावः । पूष्ण-पूष्ण इत्यौ, धातो ३५ "अक्षितश्चक्षीशि" इति वनि पूर्ववत् शसादावकारलोपेऽनेन गत्वम् । वृष्ण-वृष्ण-वृष्ण-वृष्ण, धातो "वृष्णुश्चिचि" ८।१।०। इति कित्वाति पूर्ववत् शसादावकारलोपेऽनेन गत्वम् । पूष्णा-पूष्णशब्दात् उपप्रत्यये रूपम् । दोष्णा-दोष्ण-उपप्रत्यये, धातो "यमिदमि होत्" ८।१।०। इति कित्वाति "दित्वात्स्यारदे" २।१।११। इत्यन्वयस्यारदिलोपे दोष्णं तत्तत्तृतीयैकवचने "दन्तपादनासिका" २।१।१०। इति ४२ दोष्णवादेशे पूर्ववत् अकारलोपादौ गत्वम् । यद्वा "रपूर्वणाञ्जो" २।३।६३। इति गत्वमित्याह-पत्वेनापि इत्यादिना । तट्टीकते-तद् टीकते इति स्थितेऽनेन दकारस्य अकारे "अधोपे प्रथमो" इति प्रथमः । एव तट्टकारेण, तट्टीनम्-तद् टीनम् इति स्थितेऽनेन अकारः । टीनमिति तु "वीहृच्" गतौ, धातो वीयते स इति विभक्ते "गत्यर्थोऽकर्मक" ५।१।१। इति ऊ, "वीयत्येदित" ०।४।१। इति इडभावे, "स्युत्सायोदित" ४।१।१०। इति तस्य गत्वे रूपम् । तण्णकारेण-तद् णकारेण इति स्थिते दस्यानेन क्त्वे तस्य "तृतीयस्य पञ्चमे"

१ क्तोति म० म० । २ णि, X X X X X त्त्वणं ख० ता० ग्रन्थे नास्ति । ३ अत्र दकारस्य इत्यादिना, भवान् चकारेण इत्यनेन, ४८ पाठो नास्ति ख० ता० ।

भवाण्डीनः, भवाण्डीकते, भवाण्णकारेण । पूर्वेण टवर्गेण-ईष्टे । तवर्गस्य चवर्गे कृते "चजः कगम्" ॥ २ । ७ । ८६ ॥ इति न भवति, 'असिद्धं चहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति । तत्र च प्रत्ययाधिकारात् मज्जतीत्यादावपि न भवति । एवमुत्तरत्रापि शकारस्य पत्वमपि न भवति ॥ ६० ॥

### सस्य शर्षौ ॥ १ । ३ । ६१ ॥

सकारस्य स्थाने श्रवर्गघटवर्गाभ्यां योगे यथासंख्य शकारषकारावादेशौ भवतः । चवर्गेण-श्र्योतति, वृश्चति, मज्जति लज्जते, भृज्जति, सज्जति । षकारेण-सर्पिष्णु, धनुष्णु, दोष्णु, अत्र सो रुत्वं, तस्य सत्वं, सुपः पत्वं; ततोऽनेन पूर्वस्य पत्वम् । टवर्गेण-पापदिष, वंमपि ॥ ६१ ॥

### न शात् ॥ १ । ३ । ६२ ॥

शकारात् परस्य तवर्गस्य स्थाने यदुक्तं तत्र भवति, किमुक्तम् ? चवर्गः । अश्नाति, अश्रुते, विश्रः; प्रश्रः ॥ ६२ ॥

### पदान्ताद्वर्गादेनामनगरीनवतेः ॥ १ । ३ । ६३ ॥

पदस्थान्ते वर्तमानाद्वर्गात् परस्य नामनगरीनवतिसवन्धिवर्जितस्य तवर्गस्य सकारस्य च यदुक्तं तत्र भवति, किमुक्तम् ? टवर्गषकारौ । पदतयम्, मधुलिद् तरति, मधुलिद् शुडति, मधुलिद् दुनोति, मधुलिद् धुनोति, षण्नयाः, मधुलिद् सीदति, मधुलिद् साये, मधुलिद् स्यात्; मधुलिट्सु । टवर्गादिति किम् ? चतुष्टयम्, सर्पिष्टम् । पदान्तादिति

इति णकार । अद्द् अद्भुति-दोषान्साद् 'अद्द्' अभियोगे, धातोस्त्विति शक्ति अनेन दकारस्य डकार । अट्टि, अट्टे- 'अट्टि' हिंसातिक्रमयो, १५ दोषान्त्वस्तोषान्त्वो वा तत्र दोषान्त्वत् वेप्रत्यये दस्यानेन डत्वे प्रथम, तोषान्त्वत्तु टकारस्तस्थानेन । भवाण्डीनः-अत्रानेन नस्य णो डकार-योगे । भवाण्डीकते-अत्रानेन नस्य णो डकारयोगे । भवाण्णकारेण-अत्रानेन णकारयोगे नस्य ण । ईष्टे- 'ईष्टिक्' स्तुतौ, धातोस्त्वेप्रत्यये-अनेन तस्य टत्वे, 'अधोषे प्रथमो' इति प्रथमश्रुतम् । अथ तच्च शैले मज्जति इत्यादौ "चज कगम्" २।१।८६ इति आदेशप्रभृतयोश्चयोगे-अनेन तस्य टत्वे, 'अधोषे प्रथमो' इति प्रथमश्रुतम् । अथ तच्च शैले मज्जति इत्यादौ "चज कगम्" २।१।८६ इति आदेशप्रभृतयोश्चयोगे-अनेन तस्य टत्वे, 'अधोषे प्रथमो' इति प्रथमश्रुतम् । अथ तच्च शैले मज्जति इत्यादौ "चज कगम्" इति पदमात्राभयत्वेनान्तरङ्गमिति २८ कर्गो कस्मात् भवति ? उच्यते-चजयोरसिद्धत्वादित्याह-तवर्गस्य इत्यादिना, 'असिद्धं चहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति इत्यन्तेन । अत्र इतिर्वसादर्थे, तथाचायमर्थो लभ्यते-यसादन्तरङ्गे पदमात्राभये चस्य कत्वे क्रियमाणे तच्च शैले तस्वरतोत्यादौ चमयाधितत्वाद्दहिरङ्गत्वमत्त कत्व न भवतीति, "तवर्गस्य" इति "अधोषे प्रथमो" इति चानयोश्चमयाधितत्वाद्दहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वं, "चज कगम्" इति पदमात्राभयत्वेनान्तरङ्गमिति २९ निवेक । ननु तच्चशैले इत्यादौ मा भूत् चस्य कत्व, मज्जति इत्यादौ जकारस्य धुडाभय भवत् कस्मात् भवति ? इत्याह-तत्र च इत्यादिना । तत्र-"चज कगम्" इति सूत्रे धुट्प्रत्ययेण गृह्यते, अत्र हि धुटि परे सत्वेऽपि तस्य प्रत्ययत्वाभावात् न भवति । प्रत्ययाधिकारात्-"नवद्वयदेय" २।१।७७ इत्यन्ताद् प्रत्यये इत्यस्याधिकारादित्यर्थः । मज्जति इत्यादावपि न भवति-तेन सूत्रेण गत्वमिति शेष । पचम्-पूर्ववत् "यज-२४ सृज" २।१।८५ इति सूत्रेऽपि प्रत्ययाधिकारादिति भाव । उत्तरत्रापि-"सस्य शर्षौ" इत्यत्रापि, शकारस्य-इक्षतीत्यादौ तद्विहितशकारत्वे-त्यर्थः । पत्वमपि न भवति-"यजत्तज" इत्यनेन धुडाभित पत्वं प्रत्ययाभावात् भवति इत्यर्थः ॥ ६० ॥

सस्य शर्षौ । सस्येति स्थाननिर्देशात्तवर्गस्येति निवृत्तम्, शर्षाविति च निर्देशात् चटवर्गमित्यपि, शेषे त्वनुवर्तते श्रवर्गघटवर्गाभ्यां २७ योग इति । अथापह्नवमपि पूर्ववद्दोषव्यमिताह-सकारस्य स्थाने इत्यादिना । श्र्योतति-श्र्युतस्त्विति, शक्ति, उषान्त्वयुगे, अनेन चवर्गयोगे सस्य श । वृश्चति-"व्रीत्रशौद" डेदने, धातोस्त्विति, शो, श्रुति सस्यानेन श । मज्जति-मज्जेस्त्विति, शोऽनेन सस्य शत्वे "तृतीयस्य" इति शस्य ज । एव लज्जते दस्यापि । सर्पिष्णु-सर्पिष्णु इति स्थिते वृत्तौ कृता रूपसिद्धिर्बोद्धव्या । अत्र सो रुत्वं-"सो र्"रित्यनेन, "नापत्तिद" ३० इत्यनेन पदान्तत्वात् । तस्य सत्वं-पदान्तरङ्गस्य "शपसे शपसं वा" इति सत्वम् । सुपः पत्वं-"नाम्यन्तस्था" २।३।१५ इत्यनेनेति शेष । ततोऽनेन-"सस्य शर्षौ" इत्यनेनेति भाव । पूर्वसस्य-सर्पिष्णु इत्यत्र सस्येत्यर्थः । एव धनुष्णु इत्यादयः । पापट्टपि, वंमपि-पदगतौ कुटिल पटसि, 'मण'शब्दे ष्टश मणसि इति चार्थ, अत्र "मण्यर्थात्" ३।४।११ इति "व्यञ्जनादे" ३।४।१ इति च यदि द्वित्वे, "आयुषा-३३ वन्यादे" २।१।४८ इति आत्वे, "मुरतोऽमुनासिकस्य" ४।१।५१ इति न्यायगे, "तौ मुमो व्यञ्जने" इत्यनेनानुसारे सस्य टवर्गयोगे प ॥ ६१ ॥

न शात् । अत्र तवर्गस्येवतुवर्गते, सस्येवचमवाच सवन्धये, शात् तवर्गस्य न इत्यन्वयः । नेति प्रतिषेधोऽयं प्रातिपूर्वक एव भवतीति शकारात् परस्य कर्षिण शकारेणैव योगे यत्कार्यं प्राप्नोति तदेव निविध्यते, तथाह-शकारात् परस्य इत्यादिना । किमु- ३३ कम्-शकारात् परस्य तवर्गस्य किं कार्यमुक्तमिति प्रश्नार्थः । समाधत्ते-चवर्ग इति । अश्नाति, अश्रुते-"अशश्व" भोजने, 'अशाटि' व्याप्तौ आभ्या त्विति, वेप्रत्यये च आश्रुप्रत्यये रूपे, भवत्, अत्रानेन शात् परस्य नस्य पूर्वेण प्राप्तवर्गो निविध्यते । विश्रः, प्रश्र- 'विच्छे' 'प्रच्छे'श्च नञि नेप्रत्यये च छश्च शत्वे च रूपे, अत्रानेन शात् परस्य नस्य प्राप्तवर्गो निविध्यते ॥ ६२ ॥

पदान्ताद्वर्गादेनामनगरीनवतेः । उत्तरत्र तवर्गस्येति मणत्वात् तवर्गस्य सस्य चेति लभ्यतेऽत्र । अनामनगरीनवते- ३५ द्वन्द्वगर्भेनस्तस्युपधात् पद्यौ । न इति अनुवर्तते, पदान्तात् टवर्गात् अनामनगरीनवते तवर्गस्य सस्य च न इत्यन्वयस्तदर्थमाह-पदस्थान्ते इत्यादिना । किमुक्तम्-पदान्तात् टवर्गात् परस्य तवर्गस्य सस्य च किं कार्यमुक्तमित्यर्थः । टवर्गादुत्तरस्य तवर्गस्य सकारस्य च टवर्गषकारावैव इत्यादिना । मधुलिट्सु-पदान्तात् टवर्गात् परस्य तवर्गस्य सस्य च किं कार्यमुक्तमित्यर्थः । पदतयम्-पदशब्दात् "अधवचात्तयम्" ७।१।५१ इति तयटि, परस्य ३२ प्राप्तु इत्याह-टवर्गषकारौ इति । पदतयम्-पद अधवचा अस्य तदित्यर्थः, पदशब्दात् "अधवचात्तयम्" ७।१।५१ इति तयटि, परस्य तृतीयत्वे, तस्य प्रथमत्वे, "तवर्गस्य" इति तकारस्य टकारोऽनेन प्रतिविध्यते । मधुलिट् तरति-मधु लेटि इति विभक्ते, किप, की हस्य इत्ये, तस्य ३४ तृतीयत्वे च तस्य प्रथमत्वेऽनेन निविध्यते । धनमन्यात्रापि । पण्नयाः-अत्र डकारस्य "तृतीयस्य" इति पत्वे सत्त्वात् परस्य नस्य पूर्वत्र टवर्गयोगे ३५ पूर्वेण प्राप्त पत्वमनेन निविध्यते । मधुलिट् सीदति-अत्र "सस्य शर्षौ" इति सकारस्य पकार प्राप्तेऽनेन प्रतिविध्यते । एव मधुलिट् साये इत्यादि । चतुष्टयम्-चत्वारोऽवयवा अस्य तदित्यर्थः, "अधवचात्तयम्" इति तयटि पदान्तरङ्गस्य "चटत्वे" इति सकारे तस्य "एवमाभावात्" ३।३।३ इति षकारत्वेन योगे तकारस्य "तवर्गस्य" इति टकार, अनेन निषेधस्तु न, टवर्गादित्युक्ते पकारात् प्रतिषेधमात्र । सर्पिष्टम्-

किम्? ईद्रे । अनामनगरीनवतेरिति किम्? पण्णाम्, षण्णगरी; पण्णवतिः । नामित्याऽऽपादेशस्य ग्रहणादिह प्रतिषेधो भवत्येव-षड्नाम ॥ ६३ ॥

षि तवर्गस्य ॥ १ । ३ । ६४ ॥

३

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने षकारे परे यदुक्तं तन्न भवति, किमुक्तम्? टवर्गः । तीर्थकृत् षोडशः शान्तिः, भवान् षण्डः । षीति किम्? तद्विकृते । तवर्गस्येति किम्? सर्षिषु ॥ ६४ ॥

लि लौ ॥ १ । ३ । ६५ ॥

६

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने लकारे परे स्थान्यासत्रावनुनासिकाननुनासिकौ लकारौ भवतः । तल्लुनाति, भवाल्लुनाति । “आसन्नः” ॥ ७ । ४ । १२० ॥ इत्येव सिद्धे द्विवचनमन्यत्राऽनुनासिकस्यापि स्थानेऽनुनासिकार्थम्, तेन “घ्राष्टन आः स्यादौ” ॥ १ । ४ । ५२ ॥ इत्यादावननुनासिक एव भवति ॥ ६५ ॥

९

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्योपशब्दाऽनुशासनतत्त्वप्रका-

शिकावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

चक्रे श्रीमूलराजेन नवः कोऽपि यशोऽर्णवः ।

१२

परकीर्त्तिस्त्रवन्तीनां न प्रवेशमदत्त यः ॥ ३ ॥

एव सर्षिषो भाव इति विग्रहे त्वे रूपम् । ईद्रे—अत्र पदान्ताद्वर्गात् परत्वाभावात्कारस्यानेन टकारनिषेधो न भवति । पण्णाम्—यप आम- “संख्यानां णाम्” १।४।३३ इति नामादेशो षकारस्य टकारे तस्यानुनासिके “तवर्गस्य०” इति नाम्नो नकारस्य णत्वम्, प्रतिषेधाभावस्तु “अना- १५ गरीनवतेरिति वचनात् । षण्णगरी—षण्णां नगराणामिति समाहार, “द्विषो समाहारात्” २।४।२२ इति ङया अनुनासिके, “तवर्गस्य०” इति णत्व, प्रतिषेधाभावात् । पण्णवतिः—पङ्क्तिरधिक नवतिरित्यर्थ, अत्र य आमादेशो नाम् तस्यैवार्थवत्त्वात् “प्रत्ययाप्रत्यययो प्रत्ययस्यैवे”ति न्यायाद्वा ग्रहणमित्याह—नामित्यामादेशस्य इत्यादिना । षड्नाम—अत्र अजन्तस्य धञन्तस्य च नमतेरवयवो नाम् इति प्रतिषेधो “पदा- २८ न्तात्०” इति भवत्येव ॥ ६३ ॥

षि तवर्गस्य । अत्र पदान्तादिलुक्त्वं ‘अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम’ इति न्यायेन पञ्चान्ततया विपरिणम्यते, न इत्यनुवर्तते, पदान्तस्य तवर्गस्य षि न इत्यन्वयस्वरुदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । षकारे परे तवर्गस्य टवर्ग एव प्राप्नोतीति प्रभपूर्वकमाह— २१ किमुक्तम् इत्यादि । समाधत्ते—टवर्ग इति । तीर्थकृत् षोडशः शान्तिः—तीर्थ करोतीति कृति, तागमे तीर्थकृत्, षोडश—“एका- दश०” ३।२।९१ इति निपातनात् भवति, अत्र तवर्गस्य टवर्गो न भवति षकारयोगेऽनेन प्रतिषेधात् । भवान् षण्डः—अत्र तवर्गस्य न टवर्गो- ऽनेन प्रतिषेधात् । तद्विकृते—अत्र तवर्गस्येति टल्लु नानेन निषिध्यते, षकारे परेऽभावात् । सर्षिषु—सर्षिषु इति स्थिते “सो ऋ” इति ऋत्वे २४ पदान्तरेकस्य “शषसे शषसं वा” इति सत्वे, “नाभ्यन्तस्या०” इति रुप पत्वे, “तवर्गस्य०” इति वचनात् प्रतिषेधाभावात् ऋकृतिषकारस्य “सस्य शषौ” इति प्रकार ॥ ६४ ॥

लि लौ । पदान्त इति तवर्गस्येति चाऽनुवर्तते, पदान्तस्य तवर्गस्य लि लौ इत्यन्वयस्वरुदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । २७ तल्लुनाति, भवाल्लुनाति—तदल्लुनाति, भवान् लुनाति इति स्थितेऽनुनासिकाननुनासिकौ लकारौ भवत । अथ किमर्थं सूत्रे लौ इति द्विवचन भवाल्लुनातीत्यादौ अनुनासिकस्य तवर्गस्य स्थानेऽनुनासिको लकारो यथा स्यादित्येवमर्थम्, यद्येव न कर्तव्यं, ल इति सामान्यमानोपादानेऽपि “आसन्न” इत्यनुनासिकस्य स्थानेऽनुनासिकेऽनुनासिकस्य चाऽनुनासिको लकारो भवित्यतीत्याह—“आसन्न” ७।४।१२० इत्येव सिद्धे ३० इत्यादिना । द्विवचनम्—लौ इति द्विवचनमिति भाव । अन्यत्र—एतद्व्यतिरिक्तस्थले । आसन्न इत्येव सिद्धे द्विवचनम् किमर्थं? इति पूर्वपक्ष । समाधत्ते—अन्यत्रानुनासिकस्यापि स्थानेऽनुनासिकार्थम्—द्विवचनमिति शेष । ज्ञापनफलमाह—तेन इत्यादि । अनुनासिक एव इति । विपरीतनिमित्तस्तु निरनुनासिकस्य सामुनासिक इति “हृदयस्य हृल्लस०” ३।२।९४ इत्यत्र हृल्लसेति करणात् भवति, अन्यथा ३४ हृल्लस इत्यनिष्ट स्यात् । प्रापिक चैतज्ज्ञापकम्, तेन “समानानां तेन वीधं” इत्यादौ “आसन्न” एव भवतीति ॥ ६५ ॥

चक्रे इत्यादि । श्रीमूलराजेन—तन्नाम्ना भूपतिना, नवः—अभिनव, कः अपि—अनिर्वचनीयोऽपि, यशोऽर्णवः—कीर्त्तिनवीपति, चक्रे—निर्ममे । मूलराजमहीपतेर्यशोऽर्णवस्यानिर्वचनीयत्वे हेतुमाह—य इत्यादि । यः—पूर्वोक्तस्य चपस्य यशोर्णव, परकीर्त्तिस्त्रवन्तीनां—वैरि- ३४ भूलाक्रीर्त्तिविन्नगानां, प्रवेशं—सगम, न अदत्त—न ददावित्यर्थ । अयभावात्—जगति निश्चुतस्य महोदधेर्नदनवीपतित्वमन्यासा नदीनां सगमेन, अस्य तु भूपतेर्यशोर्णवस्यैवैतद्विषयत्वमन्यकीर्त्तिनवीप्रवेशादानेन इति ततो महद्वैलक्ष्यमस्य यशोऽर्णवस्येति तत्त्वम् ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छयागमाहमैथिगीतायैषावैगौमाऽऽगमोद्धारकेशैलानाट्टपतिपरिपूजितपादारविन्दभागमोदयसमिति-वर्द्धमानजैनागममंदि- ३९ रायनेकशासनहितवर्धकस्यनिर्माणोपदेशकमहारककुलमूर्द्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तक्षरगणितेनमानसेमानवाप्त- चवपदीयभूपानोद्यतमव्यभावावबोद्धोवस्यौद्यश्रीसिद्धचक्र-नभपदाराधकसमाजादिविधिसंस्थासंस्थापकेन श्रीनर्द्धमानतपोतिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा- राधन-तीर्थोद्धारकेण वैयाकरणकेसरिणा पञ्चासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितयां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रवृत्तित्यासरत्नाकरावतारि- ४२ कायामाऽऽनन्दबोधिनां प्रथमस्याध्यायस्य व्यञ्जनसंधिप्रकरणे नाम तृतीय पाद ॥३॥

भवाण्डीन, भाण्डीकोते, भाण्णकारेण । पूर्वण टर्गण-इडे । तवर्गस्य चवर्गे कृते "चवः कवम्" ॥ २।७।८६ ॥  
इति न भवति, 'अग्निद्वं चदिरुमन्तरद्दे' इति । ता च प्रत्ययाधिकारात् मन्तवीत्याशयानि न भवति । एवमुत्तरत्रापि  
ऋतास्य पाठस्य न भवति ॥ ६० ॥

सस्य शयो ॥ १ । ३ । ६१ ॥

यत्तारस्य श्यते धर्गोदाग्यांश्यां योगे यनामस्य शकारपकारायादेशो भवतः । चवर्गण-श्योति, वृश्चति, मन्त्रति  
इत्यो, भुञ्चति, मञ्चति । पञ्चोण-सर्पिण्यु, भण्यु, दौष्यु, अत्र सो सस्य, तस्य सस्य, सुपः पत्व, ततोऽनेन पूर्वसस्य  
पदात् । श्योण-पापटिप, यवणि ॥ ६१ ॥

न शात् ॥ १ । ३ । ६२ ॥

शक्तास्य परस्य तवर्गस्य श्यते यदुक्तं तत्र भवति, किमुक्तम् ? चवर्गः । अश्नाति, अश्रुते, विश्रः प्रश्रः ॥ ६२ ॥

पदान्ताद्वर्गादिनामन्तगरीनवतेः ॥ १ । ३ । ६३ ॥

परम्यान्ते वर्गमानाट्यात् परस्य नाम्नागरीनामन्तगरीनवतस्य तवर्गस्य सकारस्य च यदुक्तं तत्र भवति,  
किमुक्तम् ? टर्गोपकारो । पदतयम्, मण्डित् तन्नि, मण्डित् शुभति, मण्डित् दुनोति, मण्डित् धुनोति, षन्त्याः,  
मण्डित् सीदति, मण्डित् माये, मण्डित् म्यात्; मण्डित्म् । टर्गादिति किम् ? चतुष्टयम्, सर्पिष्टम् । पदान्तादिति

इति नकार । अद्द् अद्दति-इत्याकार 'अद्द्' आगमोर्ग, प्राप्तेऽपि चपि अनेन दकारस्य उकार । अट्टि, अट्टते-अट्टि हिंसातिक्रमणे,  
१५ इति नकारेण तस्यै वा तत्र दोषात्कार्यं संप्रदाने दम्यानेन चो प्रगम, तोषान्तासु टर्गस्यसोप । भवाण्डीन-अज्ञानेन नक्ष षो डकार-  
योगे । भवाण्डीनके-अपयोगे नस्य षो टकारयोगे । भवाण्णकारेण-अत्राणो षकारयोगे नस्य ण । ईडे-इदिन् स्तुतौ, पात्रोत्प्रेषण्ये-  
उने । तस्य टा, "अणोपे प्रयोगो" इति प्रथमप्रकार । अण तच् संते भवति इत्यादौ "नञ कणम्" ३।१।८६। इति आदेशमन्तवीधयथो  
१८ एषो षण्णम भवति । टर्गो-चञ्चोर्गसिद्धादिनाह-तवर्गस्य इत्यादिना, 'असिद्धे चदिरुमन्तरद्दे' इति इत्यन्तेन । अत्र इतिर्यसादर्थे,  
तथास्यमन्तः पश्ये-मन्तगरीनापरे पदमन्तार्थे नस्य कृते किममाने तच् श्यते तथारतीत्यादौ उभयाभितत्याद्विद्विन्न चक्षमत क्लं न व-  
तीति, "अन्तर्गस्य" इति "अणोपे प्रयोगो" इति यातोऽभवात्तात्ताद्विद्विन्न चोपिद्वन्, "चञ कणम्" इति पदमाश्रयणनेनान्तरात्मिनि  
२१ तिगेक । तत्र तच् श्यते इत्यादौ मा भूत् नस्य चञ्च, मञ्चति इत्यादौ उकारस्य पुत्राश्रय गत्व कस्याप भवति ? इत्याह-तत्र च इत्यादिना ।  
तत्र-"तत्र कणम्" इति चोपे पुत्रस्योपे श्यते, अत्र हि युधि परे मायेऽपि तस्य प्रत्ययत्वामावाप भवति । प्रत्ययाधिकारात्-"गद्वचोदे" ०  
३।१।७७। इत्यात्प्र प्रत्यये इत्यासाधिकारादिसर्प । मञ्चति इत्यादावपि न भवति-वेन स्येण गत्वामिति शेष । एवम्-पूर्ववत् "अञ-  
२४ ख्यत्" ३।१।८७। इति स्योपि प्रत्ययाधिकारादिति भाव । उत्तरत्रापि-"तत्र शयो" इत्यादि, शकारस्य-इत्यतीत्यादौ तद्विहितशकारस्यै  
तस्य । पत्वस्यपि न भवति-"अञ्चञ्च" इत्यनेन पुत्राश्रित पत्न प्रत्ययाभावात् भवति इत्यर्थ ॥ ६० ॥

सस्य शयो । सस्येति ग्यातिर्दिशतापयमेति निश्चतम्, शयादिति च निदेशात् चटवर्गविसृष्टि, शेष त्वनुवर्तते ध्वर्गध्वर्गभ्या  
२७ षोम इति । यथापुत्रास्य पूर्वपदोद्वेगित्याह-सकारस्य स्याने इत्यादिना । श्योति-श्योति-श्वोति-श्वि, उषान्त्युने, अनेन चवर्गयोगे  
सस्य वा । वृश्चति-श्वीयसी' हेदो, यतोऽपि, श्ये, श्यति सस्यानेन वा । मञ्चति-मन्त्रेति, शेषेऽनेन सस्य श्यते "वृत्तीयं" इति शस्य  
ज । एव टर्गते इत्यापि । सर्पिण्यु-सर्पिण्यु श्यत् इतिस्थिते इती कृता इतिद्विद्वेत्वा । अत्र सो इत्यं-"सो ष" इत्यनेन, "नामसिद्धं"  
३० इत्यानेन पदान्तत्वात् । तस्य सस्य-पदान्तरेफस्य "शयते शयस या" इति सस्यम् । सुपः पत्व-"नामन्तास्यां" ३।१।१५। इत्यनेनेति शेष ।  
ततोऽनेन-"सस्य शयो" इत्यनेनेति भाव । पूर्वसस्य-सर्पिण्यु इत्यात्र सस्येत्यर्थ । एन धनुष्यु इत्यादय । पापटिप, वंशणिव-"पट्" श्यते  
उत्तिष्ठ पट्टि, अण्" श्यते अश भणति इति शयो, अत्र "गल्यथोत्" ३।४।११। इति "अश्रुते" ३।४।१। इति च यत्कि द्वित्वे, "आगुणा-  
३३ वन्यादे" ३।१।४८। इति श्यते, "शुतोऽनुनासिफस्य" ३।१।५१। इति म्पामने, "तौ नुमो व्यञ्जने" इत्यनेनानुसारे सस्य टवर्गयोगे प ॥ ६१ ॥

न शात् । अत्र तवर्गस्येणानुवर्तते, सस्येणसमवाप चयन्थवे, श्यात् तवर्गस्य न इत्यन्वय । नेति प्रतिषेधोऽप्य प्राप्तिपूर्वक एव  
भवतीति शकारात् परस्य धार्थेण शकारेणैव योगे यत्कार्यं प्राप्नोति तदेव निषिध्यते, तदाह-शकारात् परस्य इत्यादिना । किमु-  
३६ क्तम्-शकारात् परस्य तवर्गस्य किं कार्यमुष्फामित्यर्थ । समाधत्ते-चवर्ग इति । अश्नाति, अश्रुते-"अशय्" सोमने, 'अशोदि'  
व्यासो आभ्यां तिथि, वैप्रत्यये न आश्रुप्रत्यये ल्पे, भवताः, अज्ञानेन श्यात् परस्य नस्य पूर्वण प्राप्तश्चवर्गो निषिध्यते । विश्रः, प्रश्रः-  
'विच्छे' 'प्रच्छे' श्ये निस्रत्यये च छस्य श्यते न रूपे, अज्ञानेन श्यात् परस्य नस्य प्राप्तश्चवर्गो निषिध्यते ॥ ६२ ॥

पदान्ताद्वर्गादिनामन्तगरीनवतेः । उत्तरत्र तवर्गस्येति अणनात् तवर्गस्य सस्य चेति लभ्यतेऽत्र । अनामन्तगरीनवते-  
द्वन्द्वार्थनन्तत्पुस्त्यात् पठौ । न इति अनुवर्तते, पदान्तात् टवर्गात् आगुणगरीनवते तवर्गस्य सस्य च न इत्यन्वयस्त्वर्थमाह-पवस्यान्ते  
इत्यादिना । किमुक्तम्-पदान्तात् टवर्गात् परस्य तवर्गस्य सस्य च किं कार्यमुष्फामित्यर्थ । टवर्गोत्तरस्य तवर्गस्य सकारस्य च टवर्गशकारादेव  
४२ प्राप्तुं इत्याह-टवर्गोपकारो इति । पदतयम्-पद अवयवा अस्स तदित्यर्थ, पपुष्वदात् "अवयवात्तयम्" ७।१।५५। इति तयदि; पस्य  
ट्वीयत्वे, तस्य प्रथमत्वे, "तवर्गस्य" इति तकारस्य टकारोऽनेन प्रतिषिध्यते । मण्डित् तरति-मण्डु लेटि इति विग्रहे, किम्, सौ इत्यं इत्ये, तस्य  
ट्वीयत्वे च तस्य प्रथमत्वेऽनेन निषेध । एवमन्यत्रापि । पणन्या-अत्र ङकारस्य "वृत्तीयस्य" इति णत्वे तस्यात् परस्य नस्य पूर्वञ टवर्गयोगे  
४५ पूर्वण प्राप्त णत्वमनेन निषिध्यते । मण्डित् सीदति-अत्र "सस्य शयो" इति सकारस्य पकार प्राप्तेऽनेन प्रतिषिध्यते । एव मण्डित् साये  
इत्यादि । चतुष्टयम्-चत्वारोऽवयवा अस्स तदित्यर्थ, "अवयवात्तयम्" इति तयदि पदान्तरेफस्य "चटवे" इति तकारे तस्य "इत्यादावित्यर्थ" ।  
२।३।३। इति यकारस्येव योगे तकारस्य "तवर्गस्य" इति टकार, अनेन निषेधश्च न, टवर्गविसृष्टेः पकारात् प्रतिषेधाभावा । सर्पिष्टम्-

किम्? ईहे । अनामगरीनवतेरिति किम्? षण्णाम्, षण्णगरी; षण्णवतिः । नामित्याऽऽमादेशस्य ग्रहणादिह प्रतिषेधो भवत्येव-षड्नाम ॥ ६३ ॥

षि तवर्गस्य ॥ १ । ३ । ६४ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने पकारे परे यदुक्तं तन्न भवति, किमुक्तम्? टवर्गः । तीर्थकृत् पोडशः शान्तिः, भवान् षण्डः । षीति किम्? तट्टीकते । तवर्गस्येति किम्? सर्पिष्णु ॥ ६४ ॥

लि लौ ॥ १ । ३ । ६५ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने लकारे परे स्थान्यासन्नावनुनासिकाननुनासिकौ लकारौ भवतः । तल्लुनाति, भवान्लुनाति । “आसन्नः” ॥ ७ । ४ । १२० ॥ इत्येव सिद्धे द्विवचनमन्यत्राऽनुनासिकस्यापि स्थानेऽनुनासिकार्थम्, तेन “वाधन आः स्यादौ” ॥ १ । ४ । ५२ ॥ इत्यादावननुनासिक एव भवति ॥ ६५ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-  
शिकावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

चक्रे श्रीमूलराजेन नवः कोऽपि यशोऽर्णवः ।

परकीर्तिस्त्रवन्तीनां न प्रवेशमदत्त यः ॥ ३ ॥

एव सर्पिषो भाव इति विग्रहे त्वे रूपम् । ईहे—अत्र पदान्ताद्वर्गात् परत्वाभावात्कारस्थानेन टकारनिषेधो न भवति । षण्णाम्—षण्ण आम्-  
“सख्याना ष्याम्” १।४।३३। इति नामादेशे षकारस्य लकारे तस्यानुनासिके “तवर्गस्य०” इति नाम्नो नकारस्य णत्वम्, प्रतिषेधाभावात्सु “अना- १५  
मगरीनवतेरिति वचनात् । षण्णगरी—षण्णां नगराणामिति समाहार, “द्विगो समाहारात्” २।४।२२। इति ङया अनुनासिके, “तवर्गस्य०” इति  
णत्व, प्रतिषेधाभावात् । षण्णवति—षण्णविका नवतिरित्यर्थ, अत्र य आमादेशो नाम् तस्यैवार्थवत्त्वात् “प्रत्ययाप्रत्यययो प्रत्ययस्यैवेति  
न्यायाद्वा ग्रहणमित्याह—नामित्यामादेशस्य इत्यादिना । षड्नाम—अत्र अचन्तस्य षवन्तस्य च नमतेरवयवो नाम् इति प्रतिषेधो “पदा- १८  
न्तात्” इति भवत्येव ॥ ६३ ॥

षि तवर्गस्य । अत्र पदान्तादित्यनुवृत्त ‘अर्थवशाद्दिभक्तिपरिणाम’ इति न्यायेन षण्णन्ततया विपरिणम्यते, न इत्यनुवर्तते, पदा-  
न्तस्य तवर्गस्य षि न इत्यन्वयस्तदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । पकारे परे तवर्गस्य टवर्ग एव प्राप्नोतीति प्रश्नपूर्वकमाह— २१  
किमुक्तम् इत्यादि । समाधत्ते—टवर्ग इति । तीर्थकृत् पोडशः शान्तिः—तीर्थ करोतीति किपि, तागमे तीर्थकृत्, पोडश—“एका-  
दश०” ३।२।११। इति निपातनात् भवति, अत्र तवर्गस्य टवर्गो न भवति पकारयोगेऽनेन प्रतिषेधात् । भवान् षण्डः—अत्र तवर्गस्य न टवर्गो-  
ऽनेन प्रतिषेधात् । तट्टीकते—अत्र तवर्गस्येति टत्व नानेन निषिध्यते, षकारे परेऽभावात् । सर्पिष्णु—सर्पिस् सु इति स्थिते “सो ऋ” इति रुत्वे २४  
पदान्तरेफस्य “शषसे शषस वा” इति सत्वे, “नाभ्यन्तस्था०” इति झुप पत्वे, “तवर्गस्य०” इति वचनात् प्रतिषेधाभावात् प्रकृतिसकारस्य  
“सस्य षषौ” इति पकार ॥ ६४ ॥

लि लौ । पदान्त इति तवर्गस्येति चानुवर्तते, पदान्तस्य तवर्गस्य लि लौ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानस्य इत्यादिना । २७  
तल्लुनाति, भवान्लुनाति—तल्लुनाति, भवान् लुनाति इति स्थितेऽनुनासिकाननुनासिकौ लकारौ भवत । अथ किमर्थं सूत्रे लौ इति द्विवचन  
भवान्लुनातीत्यादौ अनुनासिकस्य तवर्गस्य स्थानेऽनुनासिको लकारो यथा स्यादित्येवमर्थम्, यथेव न कर्तव्य, ल इति सामान्यमात्रोपादानेऽपि  
“आसन्न” इत्यनुनासिकस्य स्थानेऽनुनासिकोऽनुनासिकस्य चाऽनुनासिको लकारो भविष्यतीत्याह—“आसन्नः” ७।४।१२०। इत्येव सिद्धे ३०  
इत्यादिना । द्विवचनम्—लौ इति द्विवचनमितिभाव । अन्यत्र—एतद्वातिरिक्तस्थले । आसन्न इत्येव सिद्धे द्विवचनम् किमर्थं इति  
पूर्वपक्ष । समाधत्ते—अन्यत्रानुनासिकस्यापि स्थानेऽनुनासिकार्थम्—द्विवचनमिति शेष । ज्ञापनफलमाह—तेन इत्यादि । अननुना-  
सिक एव इति । विपरीततियमस्तु निरनुनासिकस्य सानुनासिक इति “हृदयस्य हृद्भास०” ३।२।१४। इत्यत्र हृद्भासेति करणाच्च भवति, अन्यथा ३३  
हृद्भास इत्यनिष्ट स्यात् । प्रायिक चैतज्ज्ञापकम्, तेन “समानानां तेन वीर्ध” इत्यादौ “आसन्न” एव भवतीति ॥ ६५ ॥

चक्रे इत्यादि । श्रीमूलराजेन—तथात्रा भूपतिना, नवः—अभिनव, कः अपि—अनिर्वचनीयोऽपि, यशोऽर्णवः—कीर्तिनवीपति,  
चक्रे—निर्भमे । मूलराजमहीपतेर्यशोऽर्णवस्यानिर्वचनीयत्वे हेतुमाह—य इत्यादि । यः—पूर्वोक्तस्य चपस्य यशोर्णव, परकीर्तिस्त्रवन्तीनां—वैरि- ३३  
भूजलकीर्तिनिर्गमनां, प्रवेशं—संगम, न अदत्त—न ददावित्यर्थ । अयभाव—जगति विश्रुतस्य महोदधेर्नदनरीपतित्वमन्यासा नवीना संगमेन,  
अस्य तु भूपतेर्यशोर्णवैर्जलधेर्वैलधत्वमन्यकीर्तिनरीपवेशादनेन इति ततो महद्वैलक्ष्ण्यमस्य यशोऽर्णवस्येति तत्त्वम् ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्तपागच्छगगनाहर्षेणैगितीर्थसावेर्षोमाऽऽगमोद्धारकेशीलानाट्टपतिपरिपूजितपादारविन्दभाग्योदयसमिति—वर्द्धमानजैनागममदि- ३३  
राद्यनेकशसनहितवर्धकस्यैवनिर्माणेपोदेशकमहारककुलमूर्द्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तंवरणनिजीनमानसेनानवाप्त-  
नचपदपीयूषपानोद्यतमन्यभावभावोद्घोषस्यशोदयश्रीसिद्धचक्र—नवपदाराधकसमाजादिविविधसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-  
राधन—तीर्थोद्धारकेण वैशाकरणकेसरिणां पद्म्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रश्रुतिन्यासरत्नाकरावतारि- ४२  
कानामाऽऽनन्दबोधिण्या प्रथमस्याध्यायस्य व्यञ्जनसधिप्रकरण नाम तृतीय पाद ॥३॥



॥ अहं ॥

चतुर्थः पादः ॥

२ अत आः स्यादौ जस्भ्याम्ये ॥ १ । ४ । १ ॥

नामो जसि भ्यामि यत्तौ च परेऽनोऽकारस्याऽऽकारो भवति । वृक्षाः, पृक्षाः, आम्याम्, श्रमणाम्याम्, श्रमणारः, गणताय । अत इति किम्? गुणयः, गुणिम्याम् । स्यादाविति किम्? वाणाम् जसतीति किम्-वाणजः, श्रमणैः, गृक्षयोः ॥ १ ॥

भिस ऐस् ॥ १ । ४ । २ ॥

अकारात् परस्य स्यादेभिः स्थाने ऐस् इत्ययमादेशो भवति । श्रमणैः, संयतैः, अतिजैः, एसादेशेनैव निन्देणैव रूपानिपातलक्षणान्यायस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम्, तेनातिजसैरित्यपि सिद्धम् । अन्ये स्वतियैरित्येवेच्छति,

- अत आः स्यादौ जस्भ्याम्ये । अत इति परस्य एकावा ग्याः। बोधकम् । आ इति प्रथमेकवचनमादिसप्तमर्थकम् । स्यादौ-  
 २२ किमिति न च इति च प्रथमा एकवचनम् । जस्भ्याम्ये-इति चित्तपुत्रपरणम्, "ऐः।ओ।वातो" १।४।६ इति चतुर्थेकवचनदेशस्य यस्य  
 २३ च, येषु स्यादादेशान्तरं यस्यात् एकावा ग्याः। स्यादाविति परस्यम्य इत्यास्य व्यधिकरण विशेषण, न चात इत्यस्य, असम्मवात्-न हि स्वादिभ्या-  
 दकारात् एते जसादि भवन्ति । तेषामन्यत्र-स्यादौ जस्भ्याम्ये अत आ इति । तदर्थमाह-स्यादौ जसि इत्यादिना । वृक्षाः, पृक्षाः-  
 २४ इत्यस्याम्यौ जसि एतुक्त्यन्तये दुरा धम्, इत एव इति सिद्धेऽन्तात्वात् समानधीर्षत्वपायकस्य "सुगसादेस्परदे" २।१।११। इत्यस्य  
 २५ वापक्षोऽन्तात्कार, तत "समाताम्ये" १।२।१। इति धीर्षु यथात् यथात् इत्यत्र "षो ष" २।१।७२। इति पदान्तास्य ह्ये "र" पदान्ते विस्म-  
 २६ स्तो " १।१।५३। इति विवर्ण । आभ्याम्-इदमो भ्यामि "षाण्" २।१।३६। इत्यादेशो अ भ्याम् इति स्थितेऽनेन आत्वम्, अथवा 'अत'  
 २७ साताम्ये, धातो अताविति सिद्धे "कविद्" ५।१।१७। इति ये अद्यस्य भ्यामि घनेनात्वम् । श्रमणाम्याम्-श्रमणशब्दात् भ्यामि अनेना-  
 २८ तात्, अन्त "एदुस्सोधि" १।४।१। इति देवेभ्यो धीर्षु चोच्यते-ताम्यापवात् येन यथात्, अत एव तत्र सूत्रे द्वित्वविषयस्थानेनाऽऽप्राप्तत्वात् सका-  
 २९ र्शादौ भगवताम्यस्य चतुर्ण्यस्य प्रत्यासृतिव्याप्यात् सकारादेशेन विशेषण स्यात् । श्रमणाय, संयताय-भगवत्स्यताम्ये चतुर्थेक-  
 ३० वाने चतुर्थे तस्य "ऐः।ओ।वातो" १।४।६ इति सादेशेना आत्वम्, अयाऽऽकारोऽन्तात्प्रपणार्थम्, "सनिपातलक्षणे विधिरिति च द्विधा-  
 ३१ तम्" इति न्यायेनाऽऽकारोऽपि यथैव विशेषणो यकारस्य द्विधात्वात् यच्च प्रभवत्तृतीयेन वाच्य, यत्रण्यैवर्ष्यप्रज्ञात् । यत्प्रत्यय इति न्यायात्-  
 ३२ धीर्षु" इति परिभाषात्प्रणामात् "अयत्वादेशा" २।२।१५२। इत्यादिन्यायभ्यामित्यादौ व्यञ्जनस्यापि साङ्गत्तत्त्वाधिकाराय वा । मुनय-  
 ३३ मुनिशब्दात् "जन्ते" १।४।२। इत्येतेऽप्येते च क्वचित्कर्म, मुनिभ्याम्-मुनिशब्दात् भ्यामि रूपम्, अनयोर्जेति भ्यामि च  
 ३४ परेऽन्तात्प्रणामात् । नन्वाय प्रत्ययप्रत्ययान्त प्रत्ययान्त प्रत्ययान्ति न्याये स्यादाविति लब्धे किमर्थं तदिति प्रच्छति-स्यादाविति किम्? इति  
 ३५ यत्र स्यादाविति न स्यादात् "नयमनस्यरे सादिभिषो च" २।१।६। इति सूत्रात् पूर्वसिद्धत्वात् स्यादिति धात्वित्यस्य "नामो नोऽह" २।१।११।  
 ३६ इत्यन्तात्प्रणामात् "नयमनस्यरे सादिभिषो च" २।१।६। इति सूत्रात् पूर्वसिद्धत्वात् स्यादिति धात्वित्यस्य "नामो नोऽह" २।१।११।  
 ३७ इत्यन्तात्प्रणामात् "नयमनस्यरे सादिभिषो च" २।१।६। इति सूत्रात् पूर्वसिद्धत्वात् स्यादिति धात्वित्यस्य "नामो नोऽह" २।१।११।  
 ३८ इत्यन्तात्प्रणामात् "नयमनस्यरे सादिभिषो च" २।१।६। इति सूत्रात् पूर्वसिद्धत्वात् स्यादिति धात्वित्यस्य "नामो नोऽह" २।१।११।  
 ३९ इत्यन्तात्प्रणामात् "नयमनस्यरे सादिभिषो च" २।१।६। इति सूत्रात् पूर्वसिद्धत्वात् स्यादिति धात्वित्यस्य "नामो नोऽह" २।१।११।  
 ४० वाग स्यादाविति धात्वित्यस्य, अन्त्या तस्य "जित्तित्ति" १।४।२३। इत्यत्र विशेष्यतया चञ्चन्भावनेन क्षुचित्त्वात् ध्यां तेन प्रत्ययत्वा-  
 ४१ देवस्य धातो । धाणजः-जस्भु मीक्षणे, धातो किमि रूपम्, विग्रहस्तु प्रदर्शित, अत्र जस स्यादित्यन्तात्कारात् । अग्रयैः, वृक्षयोः-  
 ४२ अमि ए, यत्र ओर् इति स्थिते "जित्तित्ति" "एदुस्सोधि" इति च एत्वेऽप्येते च क्वचित्कर्म, अत्र यकारस्य स्यादित्यन्तात्कारात् ॥ १ ॥  
 ४३ भिस ऐस् । अत इत्युत्तमर्थवशात् पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यते, स्यादाविति चतुर्ण्यन्ते, तच्च विशेषणतया भिस इत्यत्र संव-  
 ४४ ष्यते । अत स्यादेभिः ऐस् इत्यन्यस्यदार्थमाह-अकारात् परस्य इत्यादिना । श्रमणैः-श्रमण भिस् इति स्थितेऽकारात् परस्य भिस  
 ४५ ऐस्त्वे "ऐः।ओ।वातो" इत्येते क्वचित्कर्म । नन्वाय "एदुस्सोधि" इति परत्वादेव क्वच्यत इति चतुर्ण्यन्ते-निरवकाशत्वात्नेन परस्यार्थेन  
 ४६ नाथात्, नच 'साप्रतिवाभावे शतपूर्वगतिरिति न्यायेन कृतेऽप्येते स्वकाशत्वमैत्त्वस्येति वाच्यम्, सम्भवति भुक्त्वे गुणकल्पनाया अयोगात् ।  
 ४७ परत्वात् पूर्वनेत्यादिनापि न वाच्यम्, उभयोरन्त्यत्र सावकाशयोरेकत्र युगपत्प्रवृत्तौ स्वैरसम्भवे परत्वसम्भवादिति, न चात्रैऽन्त्यत्र सावकाशत्वमिति,  
 ४८ अतोऽपवादत्वेर्भेदवशात्वात् चाप्य । इह कथिदविषयकारी एत्वेत्ययोक्तव्यत्वात् सावकाशत्वमैत्त्वस्येति वाच्यम्, सम्भवति भुक्त्वे गुणकल्पनाया अयोगात् ।  
 ४९ मैत्रस्यव्याघ्राय एवस्यैवाय यापक इति प्रतिपादयति, यदाह-एव भिसि परत्वात् इति एवमैत्रस्य व कथं भवेत्? कृतेऽप्येते भूतपूर्वगत्या नित्यत्व-  
 ५० नित्यमैत्रस्यमिति । संयतैः-संयतशब्दाद्भिः ऐस्त्वे ऐस्त्वे च क्वचित्कर्म । अतिजैः-जरण-जण "पितोऽह" ५।३।१०। इति भावाकार्थो-  
 ५१ ष्टियामिति, "कृत्तुर्ण्योऽसि गुण" ४।१।७। इति गुणे खल्वपि, तामतिकान्तैरित्यर्थं "प्रात्ययपरिनिर्दायः" २।१।७। इति समासे, "शोकात्-  
 ५२ २।१।६। इति इत्यन्तेऽनेन भिस ऐसादेशे "ऐदौ" इत्येते रूपम् । ननु भिस ऐस् इत्यत्र एसादेश एवास्तु किमैसादेशेन? "ऐदौ" इत्येते रूपस्य  
 ५३ विद्वान्त्वात्, उच्यते-ऐस्त्वरण सख्यत्वात्, सख्यत्वात् एसाभावे एव, ऐसाभावस्तु जरसादे एव, जरसादेशस्तु संनिपातलक्षणमित्ये-  
 ५४ एत्वेत्याह-ऐसादेशेनैव सिद्धे इत्यादिना । सनिपातलक्षणान्यायस्य-सनिपातलक्षणो विधिरिति च द्विधात्वात् इत्यस्य, अनित्यत्व-  
 ५५ क्षापनार्थम्-अनित्यत्वस्य क्षापनार्थेन । क्षापनप्रयोजनमाह-तेन इति । तस्यावस्थानित्यत्वज्ञापनेत्यर्थं । नच वाच्यमेसादेशे क्व "सगत्या-  
 ५६ पदे" २।१।११। इति अकारलोप इति, एतिसाक्षात्प्राप्तप्रवृत्ते, अन्त्या यदि देवित्यमीषा स्यात् तदा इति क्वचित् । अतिजसैः-  
 ५७ अत्र जरशब्देऽपि "एकदेशविभूतमन्यवदिति" न्यायेन जरशब्द एवेति "जराया जरस् चा" २।१।१। इति जरसादेशप्रवृत्तिः । यदि सनिपात-  
 ५८ न्यायस्य नित्यत्व खीकियेत् तर्हि कृतवत्स जरशब्दान्त नाम समाहित ऐस्त्वात् प्रवृत्तौ जरसादेशात्कारात् क्व तद्विधात्वात् निमित्त स्यात्, नचैति-  
 ५९ त्त, खरादावुच्यमाने जरसादेशेन प्रप्तोति विभक्ते खरादित्वाभावादित्यर्थं । एतद्विषये चान्तरमाह-अन्ये तु इति । श्रियेयराज । एतै-

अत इत्येव ? मुनिभिः, शालाभिः, हृषद्भिः । स्यादेरित्येव ? चैत्रमिस्ता, ओदनमिस्ता ॥ २ ॥

इदमदसोऽक्येव ॥ १ । ४ । ३ ॥

इदम् अदस् इत्येतयोरक्येव सत्यकारात् परस्य भिस् ऐस् भवति । इमकैः, अमुकैः । अक्येवेति किम् ? एभिः, ३ अमीभिः । पूर्वैणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्, एवकारस्त्विष्टावधारणार्थः ॥ ३ ॥

एद्बहुस्मोसि ॥ १ । ४ । ४ ॥

बह्वर्थविषये सकारादौ मकारादावोसि च स्यादौ परेऽकारस्य एकारादेशो भवति । एषु, एषाम्, अमीषाम्, सर्वै- ६ षाम्, एभिः, एभ्यः, वृक्षेभ्यः, श्रमणयोः, सयतयोः । वहिति किम् ? वृक्षस्य, वृक्षाभ्याम् । स्मोसीति किम् ? सर्वे । अत इत्येव ? साधुषु, साधुभ्यः, खट्वासु, खट्वाभ्यः, अद्योः, हृषदोः ॥ ४ ॥

टाडसोरिनस्यौ ॥ १ । ४ । ५ ॥

अकारात् परयोः टाडसोः स्याद्योः स्थाने ययासङ्ख्यं इन् स्य इत्येतावादेशौ भवतः । वृक्षेण, अतिजरेण, वृक्षस्य; अतिजरस्य । अत इत्येव ? अतिजरसा, अतिजरसः—अत्र परत्वात्त्रित्वाच्च प्रागेव जरसादेशे कृते अकारान्तत्वाभावात्, अन्ये

स्वयोद्दिमान्त्वविशेषादिति भावः । गोनर्दीय आह—इष्टवैतत्सगृहीत भवति, अतिजरेरिति भवितव्यम्, सत्यामेतस्या परिभाषायां 'सनिपात १२ लक्षणः' इत्यादि "जराया जरसन्त्यतरस्याम्" पा० ७।२।१०।१। इति सूत्रे भाष्ये तदुक्ते । गोनर्द(गोंडा)देशवासी स एवेति सनामम्राहमुष्णिय खेष्टत् प्वनयति । अत इत्युद्धृतिफलमाह—अत इत्येव ? मुनिभिः—अत्रेकारात् परस्य भिस् ऐस्त्वं न भवति । शालाभिः—दीर्घाकारात् परस्य भिस् ऐस्त्वं च । हृषद्भिः—व्यञ्जनात् परस्य भिस्त्वं न भवत्येत्त्वम् । स्यादेरित्यधिकारप्रयोजनमाह—स्यादेरित्येव ? चैत्रमिस्ता, ओद- १५ नमिस्तादा इति । 'प्यांक्' मङ्गणे, घातोर्भिरपूर्वात् "उपसर्गादात्" ५।३।११०। इत्यदि प्रयोदरादिवाद्भेरकारलोपे परस्य सकारे, आपि, एकत्र दागेने मिस्ता मिस्तदा इति भवतस्तत चैत्रादनयो समास, अत्र स्यादधिकारात्वात् भिस् स्यादेरिति । ननु विनापि स्यादधिकारे 'अर्थवद्बुद्धेर्नानर्थकस्य' इति न्यायात् भिस्त्वाभिस्तदाशब्दयोरेकदेशस्य भिस्त्वं न भवित्येति, सत्यम्, अविच्छेदात् स्यादधिकार स चे- १८ हासुवर्तमान 'अर्थवद्बुद्धेर्नानर्थकस्य' इत्येतन्न्यायानपेक्ष विशिष्टस्यैव भिस् ऐसादेश नियमयतीत्येतदर्थं नायमपेक्षणीय इति । अपेक्ष्यमाणश्च न्यायो गौरवमादधाति अतिलयेवेति ॥ २ ॥

इदमदसोऽक्येव । अत्र भिस् ऐस् अत इति जानुवर्तते । इदमदस इति समाहारद्वन्द्वान्वत् । इदमदसोऽक्येवतो भिस् ऐस् इत्यन्व २१ यस्तदर्थमाह—इदम्, अदस् इत्येतयोः । इत्यादिना । इमकैः, अमुकैः—इदमदसशब्दाभ्यां भिति "आद्वर" २।१।४।१। इत्यत्वे, "लुग- स्यादेत्यपदे" २।१।११।३। इत्यकारलोपे, "स्यादिसर्वादे स्तरेष्व०" ७।३।२९। इत्यदि, "दो म स्यादौ" २।१।३।९। इति "भोऽवर्णस्य" २।१।४।५। इति च दस्य मत्वे, "माद्वर्णोऽनु" २।१।४।७। इत्युत्वेऽनेन भिस् ऐस्त्वे, "ऐदौत् सन्ध्यक्षरै" १।२।१२। इत्येत्त्वम् । अक्येवेति किम् ? २४ नियमस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । एभिः—इदमो भिति "अनक्" २।१।३।६। इत्यदादेशे, "एद्बहुस्मोसि" इत्येत्त्वम्, अत्रानेन नियमेन भिस् ऐस्त्वं पूर्वेण प्राप्तं न भवति । अमीभिः—अदसशब्दादिति "आद्वर" इत्यत्वे, "भोऽवर्णस्य" इति दस्य मत्वेऽनेन नियमेन भिस् ऐस्त्वाभावे "एद्बहु- स्मोसि" इत्येत्त्वे, "बहुष्वेदी" २।१।४।९। इतीकार । पूर्वैणैव सिद्धे इत्यादि । अयमाशय—इमकैरमुकैरित्यत्र "भिस् ऐस्" इत्यनेनैस्त्वे २७ 'खिद्धे खलारम्भो नियमार्थ' इति न्यायेन सूत्रमिदमदसोऽकिं सत्येव इति नियमयति, नियमफल प्रागुपदर्शितम् । ननु तेन न्यायेनाव- धारणस्य लक्ष्यत्वात्तदर्थं एवकारोऽनर्थक इत्याह—एवकारस्तु इत्यादि । अयमर्थ—अक्येवेत्यत्रैवकारमन्तरेण इदमदस एवेत्यपि नियम स्यात् स चाभिष्ट इति, तत तत्रैवेत्येवैरित्यादि सिद्धन्वया इदमदस एव अकिं ऐस्त्वेऽत्र तदभाव स्यात् । इष्टावधारणार्थ इति । इष्टस्य ३० नियमस्य भावधारणार्थस्य ३ ॥

एद्बहुस्मोसि । सच्च भक्ष स्मौ बहुषु स्मौ बहुस्मौ च ओसु च इत्यनयो समाहारस्ततः सप्तम्या एकवचनम् । अत इति स्यादाविति चात्रुवर्तते, बहुस्मोसि स्यादौ अत एव इत्यन्वयस्वदर्थमाह—बह्वर्थविषये इत्यादि । सकारादौ इत्यर्थं "सप्तम्या" आदिरित्यादिपदो- ३३ स्थित्या । एषु, एषाम्—इदमशब्दात् सप्तमीषुहुवचने षष्ठीबहुवचने च एकत्र "अवर्णस्याम् साम्" १।४।१।५। इति नामपवादासामादेशे, "अनक्" इत्यदादेशे, "एद्बहुस्मोसि" इत्येत्त्वे, "नाम्यन्तस्था०" इति पत्वम् । अमीषाम्—अदसशब्दादिति अत्वादां सामादेशेऽनेन एत्त्वे इत्येव षत्वम् । सर्वेषाम्—सर्वशब्दादामि सामादेशेऽनेन एत्त्वे षत्वम् । एभिः—इदमो भिति अदादेशेऽनेनैत्त्वम् । एभ्यः—इदमशब्दाद्भवति अने ३६ नैत्वम् । एष वृक्षेभ्य इत्यादि । श्रमणयोः—श्रमणशब्दात् षष्ठीसप्तम्योर्द्विवचने ओसि एत्त्वे चायादेशः । एष संयतयोरित्यादि । वृक्षस्य- वृक्षशब्दात् "टाडयोः" १।४।५। इत्यनेन च स्याऽऽदेश, वृक्षाभ्याम्—एव भ्रमामि "अत वा स्यादौ०" इत्याकार, अनयोर्बह्वर्थविषय- सकारावभावादित्वाभावात् । सर्वै-सर्वशब्दाच्चिति "जस इ" १।४।९। इति जस इकारादेशे "अवर्णसेवर्णादिना०" इत्येदादेश, अत्र बह्वर्थ- ३९ विषये स्यादिसादेर्वैतमानत्वेन सकारावभावादित्वाभावात् । अत इत्यधिकारात् साधुष्वित्यादौ उकारस्य बह्वर्थविषयसकारादावप्येत्त्वं न भवति, अत आह—अत इत्येव ? साधुषु—साधुशब्दात् ऋषि षत्वोऽनेन न भवत्येत्त्वम् । साधुभ्यः—साधुशब्दात् भ्यसि बह्वर्थविषयमकारादौ स्यादौ परेऽकारभावान्नैत्त्वम् । खट्वासु—आवन्तात् खट्वाशब्दात् सप्तमीषुहुवचने सकारादौ स्यादौ परे आकारस्य एत्त्वं न भवति । एव भ्यसि- ४२ खट्वाभ्यः । अद्योः—अभिश्चब्दात् षष्ठीसप्तम्योर्द्विवचने "इवर्णोदे०" इति यत्वम्, हृषदोः—हृषदशब्दादोसि रूपम्, अनयोरोसि प्रत्यये परे इकारस्य एकत्र व्यञ्जनस्य च सत्त्वेन एत्त्वं न भवति ॥ ४ ॥

टाडसोरिनस्यौ । अत इति स्यादौ इति चात्रुवर्तते । टा च ऋस् च इत्यनयोर्द्वन्द्वत्वात् षष्ठा द्विवचनम्—टाडसोरिति । इनस्यौ इति ४५ द्वन्द्व कृत्वा तत प्रथमाद्विवचनम् । अत स्याद्यो टाडसो इनस्यौ इत्यन्वयस्वदर्थमाह—अकारात् इत्यादिना । आदेशाऽऽदेशेनो समसकस्यका- त्वेन यथासक्यलाभ इत्यत आह—यथासंख्यम् इति । वृक्षेण—वृक्षशब्दात् टायादनेन इनदेशे "अवर्णसेवे०" इति एत्त्वे च षत्वम् । एवमति- जरेण । वृक्षस्य—अत्र च स्याऽऽदेशः । एवमतिजरस्य । अत इत्युपवर्तनादाह—अत इत्येव ? इति । अतिजरसा, अतिजरस इति । ४८ अतिजरशब्दात् टाडसोरिनस्यौ कृते न भवत इत्याह—अत्र परत्वात् इत्यादिना । अयमर्थ—वृक्षेण, वृक्षस्य, जरसावित्यादौ "टाडवर्तित्तस्यौ" इति

तु प्रागेवेनाऽऽदेशं संनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वाश्रयणात् पश्चात्तरसादेशं चेच्छन्तोऽतिजरसिनेत्यपि मन्यन्ते ॥ ५ ॥  
हेङ्कटस्योर्वातो ॥ १ । ४ । ६ ॥

१ अतारात् परयोर्हे उरि इत्येतयोर्वासात्सं य आत् इत्येतावादेशौ भवतः । वृक्षाय, वृक्षात्, अतिजराय, अतिजरात् । अत इत्येव ? अतिजराय, अतिजरात् । केचित्तु प्रागेवादादेशे जरादेशगमिच्छन्तोऽतिजरासादित्यपि मन्यन्ते ॥६॥

सर्वादौः स्मैस्मात्तौ ॥ १ । ४ । ७ ॥

२ नामादेरन्तान्तास्य संयन्धिर्नोर्हेङ्कटस्योर्वासात्सं सौ स्मात् इत्येतावादेशौ भवतः । सर्वस्यै, परमसर्वस्यै; सर्वस्मात्, पृगममर्वास्मात्; अत्यर्वास्मै, अत्यर्वास्मात्; किंत्वर्वास्मै, किंत्वर्वास्मात्, एव विश्वस्मै, विश्वस्मात् । उभवाद्दस्य द्विवचन-

"अतारात् अरात्" इति नामादेरन्तान्तास्य (अतारात्) च युगपदन्त्यात् स्यदस्यभावात् पराभावात् वृत्तेऽपि प्रातिरिक्तेऽपि च प्रातिरिक्ते कृताकृतप्रथ-  
२ विभक्तौ विनात्म्ये प्रागेव जरवारंशो ह्येङ्कटान्तात्तामासादिनायादेशाभावात् इति । अत्र विभक्तौ वृत्तिरुत्प्रेक्षितं मतान्तरमाह-अन्ये तु-आवा-  
भेनानिमित्तप्रमाणेन । "आत्मोक्तिर्यौ" इति यौ ७ नाऽऽदेशविधानेनेव वृत्तेनेतादिसंघट्टित्यात् कनादेशविधानेन प्रमाणविरुद्धमित्येतदित्यत्र प्राति-  
रिक्तासादिगणानां पाठात्सर्वादोऽपि प्रसिद्धतात्, भाष्येतरजुषरतीति जकारसिद्धत्वात्प्राप्त्यां स्पष्टीकरणे, मुख्यत इदं मतं बाननखेलव  
३ अतारात् इति । परमत् इत्येतादौ "एद्वहुरभोति" इत्यत्र टागनाप्रक्षेपात् । प्रागेव-अतारादिसादेत्सादे । ननु छला चनिष्पातपरिभाषणा कृते  
दादेशो कश्चि परम् इत्यम-सन्निपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वाश्रयणात्-हेङ्कटस्येनादेशस्य पञ्चाकारसादेवाप्रज्ञा ॥ ५ ॥

उभयोर्वातो ॥ अतारा इत्युक्तं, अत ट्ण्यो यातो इत्यन्यत्रद्वयमाह-अकारात् परयोर्हेङ्कटस्योः इत्यादिता ।  
२० वृक्षाय-वृक्षात्प्राग् ऐरत्येव तस्मान्न वादेशौ "अत आ स्मादौ" इत्यात्वे च "समानानां" इति वीर्षे । वृक्षात्-एवं तत्र एव स्वे-  
न्यायेऽनेनादेशो वीर्षे । अतिजराय, अतिजरात्-आ जरादेशस्य वैकल्पिकत्वेन तदभावेऽप्यन्यत्रान्तत्वात् हेङ्कटस्योर्वातो भवत । अत  
इतिपरिष्कारनाह-अत इत्येव ? अतिजराय, अतिजरात्-अतिजराद्वाट् ट्ण्यो खरादिनेन परत्वाश्लेषात्थायादादेशात्

२१ अतारात् जरवारंशोऽप्यारात्ताभावात् । वृत्तिरुत्प्रेक्षितं मतान्तरमाह-केचित्तु-प्रातिरिक्तात्प्राक्सारेण, काशिकाकृतमित्येवमुच्यते स्पष्टीकृतम्,  
अमभिमिप्राग्छेपात्-परिष्पेय विधातव्ये आदिप्राग्व्याप्त्यात् प्रागेव जरवारंशेऽप्येव खरादिनाम्न्येव खरादित्वात्परसादेशो च अतिजरासादिति मन्यन्ते,  
अन्यादाऽऽतोऽप्येवद्युक्तं, न च अतिरिक्तं इत्येव "उभयस्यैत्येव" इति अकारलोपे वृक्षादित्वात्सिद्धौ इत्येवमाहिरसिद्धौ । तथा चादिति क्प्र-  
२२ तथा घटि र् इति भाषिणाद् अदिधानं "उभयम्" इति वाक्यमेव यदि "समानानां" इति वीर्षे वृक्षादित्वादिद्वे । तथा चादिति क्प्र-

सुखरस्यभिर्जरासादि विद्वन्नेर् मत्तान्तरे । एतेन स्रमरसंभारिपि सूचिता ॥ ६ ॥

उभयोर्वातोऽप्येव इत्येव प्रथमं च "हेङ्कटस्योर्वातो" इति प्रागे विशेषमाह-सर्वादौ स्मैस्मात्तौ । अतारा इति चेषस्योर्वाति वाऽ-

२४ सर्वादौ, सर्वादित्वात् हेङ्कटः संस्मात् इत्यन्यत्रद्वयमाह-सर्वादौ इति । सर्वशब्द आदिरस्य च सर्वादौ इति बहुमीहि । ननु बहुमीहेरन्य-  
पदार्थप्रकारत्वात् सर्वशब्दस्य च समासार्थप्रकारत्वात्पदाभावत्वात्प्रादिसिद्धत्वात्सर्वादौ सर्वादौ इत्येव च बहुमीहेरित्येव च सर्वादौ इत्येव च  
स्यात् तत्र सर्वशब्दस्य, यथा-विप्रमुखादीनामस्मिन्नेर् स्मामिन एवान्यत्र न तु यथा, न च वाच्यं यथा चित्रा गावो वा अस्येति गन् विद्योश्च तद्वत्कश्च

२० विशेषणत्वमप्यन्ये तपेदाद्ययस्येत्ये इति, तदर्थं बहुमीहेरनेयणीयत्वात्, यदा हि स्मामिन प्राधान्यं गवां विशेषणभावत्वात् बहुमीहेरित एव  
चित्रा गावो यस्य च विप्रमुखादीति गवा स्मामिन प्राधान्यं प्रदर्शयते, तस्मात् सर्वशब्दसंभारार्थं बहुमीहेरित्युक्तं प्रागेऽप्येव चित्रा  
तत्र सार्वभौम-सर्वशाखायादिस्य सर्वादौ इत्येव उपाधीयते तत्स्य प्रयोजनान्तरमस्ति । तथा च-कर्मधारय बहुमीहेरि सर्वादौ इत्येव च

२१ अतारात् सर्वादौ इत्येव प्रथमं च "हेङ्कटस्योर्वातो" इति प्रागे विशेषमाह-सर्वादौ स्मैस्मात्तौ । अतारा इति चेषस्योर्वाति वाऽ-

२२ अतारात् जरवारंशोऽप्यारात्ताभावात् । वृत्तिरुत्प्रेक्षितं मतान्तरमाह-केचित्तु-प्रातिरिक्तात्प्राक्सारेण, काशिकाकृतमित्येवमुच्यते स्पष्टीकृतम्,  
अमभिमिप्राग्छेपात्-परिष्पेय विधातव्ये आदिप्राग्व्याप्त्यात् प्रागेव जरवारंशेऽप्येव खरादिनाम्न्येव खरादित्वात्परसादेशो च अतिजरासादिति मन्यन्ते,  
अन्यादाऽऽतोऽप्येवद्युक्तं, न च अतिरिक्तं इत्येव "उभयस्यैत्येव" इति अकारलोपे वृक्षादित्वात्सिद्धौ इत्येवमाहिरसिद्धौ । तथा चादिति क्प्र-

२३ अत्र हि स्वस्वामिभावसंभारं पक्षं इति स्वामिशेषोपरलक्षितस्य स्मामिन एवान्यत्र न गवाम् । सर्वादौ इत्येव चित्रादीनाम्न्येव च सर्वादौ इत्येव च बहुमीहेरि-  
रादावयव इत्यर्थं, समवायसमवायद्वन्द्वान्तरात् ( आरोपितावयवतच्छब्दा इत्यर्थं ) समुदायस्तद्वृत्तविज्ञानस्य बहुमीहेरि, तस्य च  
समुदायस्य युगपदस्य प्रयोगाभावात् "अनर्थक्यास्तद्वन्द्वे" इति न्यायेन उदयवेधे प्रवर्तमानं सर्वादौ इत्येव चित्रादीनाम्न्येव च सर्वादौ इत्येव च बहुमीहेरि-  
२४ पुष्प तद्वृत्तविज्ञानत्वम् । यथा-देवदत्ताशालाया प्राधान्यं आनीयतामित्युक्ते देवदत्तोऽपि यदि प्राधान्यं भवति तदाशालास्येव तदा सोऽप्यानीयत  
एवेति निष्प्रयोजने एकशेषात्प्राप्ता । तस्य-अन्यप्रकारस्य, गुणा-वर्तिपदार्थरूपानि विशेषणानि, तेषां संविज्ञान-कियान्वयितया विज्ञान, यत्र स बहु-  
संविज्ञान इति व्युत्पत्ति । यत्र तु विरोधितावयवभेदं समुदायस्तद्वृत्तविज्ञानस्य बहुमीहेरिसमासार्थं यथा-लक्ष्यकणं आनीयतामित्येव, स्रयोच्यते-अव-

२५ एतेन विप्रश्च समुदाय समासार्थः । इह तत्र समवेतीति यत्र सयोगसमवायान्तरसंभारस्येनात्यपदार्थं वार्तिपदार्थान्वयस्तत्र प्रागेण तद्वृत्तवि-  
ज्ञानो बहुमीहि, प्रकृते च समुदायेऽन्यप्रकारं सर्वशब्दस्य समवायान्तर्गतारोपितावयवभावविभाज्यसमवयवसत्त्वात्तद्वृत्तविज्ञानत्वम् । स्वस्वामि-  
भावादिचक्षणान्यान्यप्रकारं वार्तिपदार्थान्वये स्वतद्वृत्तविज्ञानो बहुमीहि, यथा-विप्रमुखान्येत्सादादित्यन्यत्र विस्तरं । अत्रादिशब्दोऽवयवभावो-  
२६ नन्वेव मन्यस्यामवस्थासामिति न प्राप्नोति, गणे पाठात्मात्वात्, तस्मादस्य प्रकारार्थोऽन्यमादिशब्द । प्रकारार्थप्रदर्शनाय पश्चादिभिरुपा गणात्  
उच्यते, यथोक्त-छेषप्राप्य पठ्यते कृतादिरेकवृत्तिगण इति कृतादयश्च निर्दर्शनार्थं भगवद्वृत्तिकारं पठिता इति, नैव दोष, भयमस्यामवस्थामिति

२५ अतारात् जरवारंशोऽप्यारात्ताभावात् । वृत्तिरुत्प्रेक्षितं मतान्तरमाह-केचित्तु-प्रातिरिक्तात्प्राक्सारेण, काशिकाकृतमित्येवमुच्यते स्पष्टीकृतम्,  
अमभिमिप्राग्छेपात्-परिष्पेय विधातव्ये आदिप्राग्व्याप्त्यात् प्रागेव जरवारंशेऽप्येव खरादिनाम्न्येव खरादित्वात्परसादेशो च अतिजरासादिति मन्यन्ते,  
अन्यादाऽऽतोऽप्येवद्युक्तं, न च अतिरिक्तं इत्येव "उभयस्यैत्येव" इति अकारलोपे वृक्षादित्वात्सिद्धौ इत्येवमाहिरसिद्धौ । तथा चादिति क्प्र-

२६ अतारात् जरवारंशोऽप्यारात्ताभावात् । वृत्तिरुत्प्रेक्षितं मतान्तरमाह-केचित्तु-प्रातिरिक्तात्प्राक्सारेण, काशिकाकृतमित्येवमुच्यते स्पष्टीकृतम्,  
अमभिमिप्राग्छेपात्-परिष्पेय विधातव्ये आदिप्राग्व्याप्त्यात् प्रागेव जरवारंशेऽप्येव खरादिनाम्न्येव खरादित्वात्परसादेशो च अतिजरासादिति मन्यन्ते,  
अन्यादाऽऽतोऽप्येवद्युक्तं, न च अतिरिक्तं इत्येव "उभयस्यैत्येव" इति अकारलोपे वृक्षादित्वात्सिद्धौ इत्येवमाहिरसिद्धौ । तथा चादिति क्प्र-

स्वार्थिकप्रत्ययविवयत्वात् स्वैप्रभृतयो न भवन्ति, गणपाठस्तु हेत्वर्थप्रयोगे सर्वविभक्त्यर्थः—उभौ हेतू २, उभाभ्यां हेतुभ्याम् ३; उभयोर्हेतवोः २ । उभयसौ, उभयस्मात्; अन्यसौ, अन्यस्मात्; अन्यतरसौ, अन्यतरस्मात्, इतर-ग्रहणेनैव सिद्धेऽन्यतरग्रहणं इतमप्रत्ययान्तस्यान्यशब्दस्य सर्वादित्वनिवृत्त्यर्थम्—अन्यतमाय, अन्यतमं वक्ष्यम्, अन्य-त्मे । एके त्वाहुः—‘नायं इतरप्रत्ययान्तोऽन्यतरशब्दः, किन्त्वव्युत्पन्नस्तोत्तरपदस्तत्त्वन्तो वा’; तन्मते इतमान्तस्या-प्यन्यशब्दस्य सर्वादित्वम्—अन्यतमस्मिन् । इतरसौ, इतरस्मात्; इतरइतमौ प्रत्ययौ, तयोः स्वार्थिकत्वात् प्रकृतिद्वारेणैव सिद्धे पृथगुपादानमत्र प्रकरणेऽन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानामग्रहणार्थमन्यादिलक्षणदार्ढ्यं च—कतरसौ, कतमसौ; यतरसौ, यतमसौ; ततरसौ, ततमसौ; एकतरसौ, एकतमसौ; इह न भवति—सर्वतमाय, सर्वतमात् । त्वशब्दोऽन्यार्थः—

सर्वादिकार्यस्य “सर्वादे सौ स्मातौ”, “हे स्मिन्”, “जस इ”, “अचणंस्वामि स्याम्” इत्येतस्य बहुवैक्यविययत्वेन द्विवचनेऽभावात्, तद्वृत्ति-विषये च उभयोरेवमनुष्ठा उभयो मणि उभयपुत्र इत्यभेदविययसोभयशब्दस्यैव प्रयोगात्, उभा वाहु इत्यादे “द्विदण्णादि” ७।३।७।५। ९ इति सूत्रेण द्विदण्णादित्वेन साधुत्वात् सर्वादे व्यर्थं पाठ । अगर्वाहर्त्सि तसेह पाठ, अन्यया यद्यप्यकिं के च रूपयोरभेदस्तापि द्विवचनेऽन-न्तरे श्रूयमाणे उभयशब्देन साधुना भाव्य न ह्येति नापि व्यवहिते इति प्रतिज्ञानस्य बाध स्यात्, अकृत्स्नमप्यपतितत्वेन तु व्यवहितत्वाभावात्, के पुन सति पूर्वस्य द्विवचनस्य उल्लासादपरस्य च केन व्यवधानात् । तत्र कविपये व्यवहितद्विवचनवियय उभयशब्द साधुर्वचनीति वक्तव्य १२ स्यादिति चेत्तद्योऽपि न युक्त, कस्य स्वार्थिकत्वात् ‘स्वार्थिकाश्च प्रत्यया प्रकृतितोऽविनिष्टा भवन्ति’ इति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणात् । इतो द्विचक्रविषयत्वादित्यत्र द्विचक्रनगन्देन प्रत्ययो न शक्यते, किं तर्हि ? धर्माभिधानसमर्थं इत्यस्य विवक्षितत्वात् द्विवचनशब्देन स्वार्थिकप्रत्याग्रहणात् स्वार्थिकत्वेन चोर्भावस्याहानात् अपवादं वचनमन्तरेण द्विवचनपरताया विज्ञात्वात् । ननु यथा स्वार्थिकत्वेन परापीन-१५ मिथानात् कपरस्य साधुत्वमेव व्रतसपरसापि साधुत्वप्रसङ्ग, नैव, व्रतसाधीनां त्रिभक्त्यर्थमात्रवचनत्वेन सर्वत्रैव भेदस्य परित्यक्त्वात्साधुत्व-युग्मशब्दस्य । अत एवोच्यते पूर्वोक्तकृद्भिः “उभयोऽन्यत्र”, “सर्वादीनि सर्वनामानि” पा० १।१।२।७। इति सूत्रे भाष्ये, उभयैति य स्वार्थिको-ऽयजन्त सोऽन्यत्र प्रयुज्यते, न तु द्विवचने परत इत्यर्थं । एव तर्हि हेत्वर्थप्रयोगे “सर्वादे सर्वा” २।२।१।१। इति उभयविभक्त्यर्थं इत्याह—१८ गणपाठस्तु इत्यादि । पाणिनीयतन्त्रे त्वशब्दपाठ सर्वविभक्त्यर्थोऽपि न कर्तव्य, “निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा प्रायदर्शनीमिति वचनादित्यन्यत्र विद्वर । उभौ हेतू—उभयशब्दद्वैतशब्दाच्चोकारे “ऐतौ च अन्यस्मै” १।२।१।२। इत्यौत्वं “इदौऽपिरेकत्वं” १।१।२।१। इत्युत्वे च विद्वत । एतमन्यदापि । अन्यतरसौ—अन्यतरशब्दात् केप्रत्ययस्य सौरादेश । नन्वन्यतरशब्दस्य इतरप्रत्ययान्तत्वेन सर्वादिकार्यं गणपाठाभावेऽपि २२ भविष्यति, तत्र चरमग्रहणादिसाह—इतरग्रहणेनैव सिद्धे इत्यादि । अयं भाव—इतरग्रहणेनैवान्यतरशब्दस्य इतमग्रहणेनात्मतमशब्दसापि सर्वादित्वं सादिति, तेन—अन्यतममाय, अन्यतमं चर्त्तं, अन्यतमे इत्यादौ सौ दकार सिन्नाद्यो न भवन्ति । अन्ये तु इतरइतमविषय-प्यन्यशब्द न कश्चनित्तेषामर्थं इतरार्थं एव पाठ, अन्यतरमिति त्वस्य एवायमव्युत्पन्न इति । अपरे तु सुवन्ति—अयमन्यतरशब्दो इतरान्तो २४ न भवति निदर्शने हि स, अनिर्द्धारणेऽयमव्युत्पन्न । यद्वा तरणं तरं अन्यथातो तरमेति, अन्यत्तरोऽस्येति वा, द्वयोः प्रकृत्योऽन्य इति वाऽन्यतर, तन्मते इतमान्तसापि सर्वादित्वमस्तीत्याह—एके त्वाहुः इत्यादिना, सर्वादित्वम् इत्यन्तेन । अयं अन्यतरशब्दो न इतरप्रत्य-यान्त इत्यन्वय । ननु तर्हि स कथं साधुत्वाह—किंतु अन्युत्पन्नः—द्विदण्णादिशब्दवत्प्रकृतिप्रत्ययविनागहीन इत्यर्थं, अन्यथा तस्य २७ व्याख्यानमाह—तरोत्तरपदं—तर उत्तरपदं यस्य स इत्यर्थं । वा—अथवेति पदान्तरे, तरवन्तः—तरवन्ते अस्य स इत्यर्थं, साधुता-प्रकारविधिविधं प्रायुपदर्शितं, प्रतीकोत्थाने । तन्मते—एकेषां मते । इतमान्तसापि—इतमोऽन्ते यस्य स तयोःकसापि । अन्यशब्दस्व-अन्यतमशब्दस्येत्यर्थं । सर्वादित्वम्—तत्त्वत्वे तु तत्प्रयुक्तं कार्यं भवतीत्याशय । अन्यतमस्मिन्—मत्तान्तरेणायं साधु, स्वमते तु गणे ३० पाठाभावात्स्य न सिध्यति । ननु इतरइतमशब्दयोः क्वापि प्रयोगदर्शनात् किमर्थस्तयोः पाठ इत्यत आह—इतरइतमौ प्रत्ययौ इति । “वैकाद् द्वयोर्निधायं इतर” ७।३।५।२।, “यत्किमन्यात्” ७।३।५।३।, “बहुनां प्रथे इतमश्च वा” ७।३।५।४। इति सूत्रविहितौ, तयो-र्वैदादिभ्यो विधीयमानयोः केवल्यो प्रयोगमाभावात् इतरइतमग्रहणं तदन्तान् प्रयोजयति । एव तर्हि स्वार्थिकत्वात् प्रकृत्यविशिष्टतया यत्सादि-३३ प्रकृतिद्वारकमेव सर्वादित्वं भविष्यति किमन्योरुपादानेत्याह—तयोः स्वार्थिकत्वात् इत्यादिना । तयोः—इतरइतमयो । स्वार्थिकत्वात्-प्रकृत्यर्थं ज्ञापयन्त्वात् । प्रकृतिद्वारेणैव सिद्धे—यदादिप्रकृतिद्वारेणैव तयोः प्रयोगार्हत्वेन तत एव सर्वादित्वं हेतव्येति किमर्थं तयोर्गणे शृङ्गुपादानमित्याशयं यथाकर्तुं । समाधत्ते—पृथगुपादानम् इत्यादिना । अत्र प्रकरणे—सर्वादित्वेन । पृथगुपादानं—इतरइतमयो ३३ प्रकृतिद्वारेण सर्वादित्वे लभ्येऽपि प्रकृत्यभिन्नोपादानम् । अन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां—इतरइतमभिन्नस्वार्थिकप्रत्ययान्तानामित्यर्थं । अप्रग्रहणा-र्थम्—ग्रहणमाशयम् । अयं भाव—यदि हि इतरइतमयो पाठो गणे न क्रियेत तदेतरस्वार्थिकप्रत्ययान्तसापि सर्वादे सर्वतमयोःसादापि सर्वा-दिकार्यं सादिति । प्रयोजनान्तरे आह—अन्यादि इत्यादिना । इतरइतमान्तानां—पद्यतोऽन्यादेरेकतरस्य द” १।२।१।५। इत्यन्यादित्वेन ३९ दादेशो यथा सादित्वेवमर्थं च इतरइतमग्रहणम्, च ह्यन्यान्यतरइतरइतमेवपाठे पद्यतोऽन्यादेरेक्यमानो दादेशो लभ्येत । ननु च सत्यस्मिन् प्रयोगे कथं स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वमाशयं स्यात् ज्ञापकमेव, अन्यथा चात्रुपायमानं ज्ञापकं भवति, न च सत्यस्मिन् प्रयो-जनेऽस्यान्यपात्रुपतिरस्ति । न च दादेशार्थमात्रत्वे दादेशविधौ इतरइतमग्रहणं कर्तव्यं, गणे तु कृत्वात् स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वमाशयं ४२ मपि भवतीति वाच्यं, गणकरणसर्वज्ञायामिति विशेषणार्थं स्यात्, शुशुच अन्यान्यतरइतरइतममेत्येति निर्देशं सादित्युच्यते—यथा सौ सादावर्थमपि स्यात् सर्वादित्वात्, तथा हि—यदि स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वं स्यात्तदा सौसादादेशार्थं इतरइतमोपादानमनर्थकमत स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वमाशयं विशङ्कत इति तदुदाहरति—कतरसौ, कतमसौ—किमशब्दात् “यत्किमन्यात्” ७।३।५।३। इति ४५ “बहुनां” ७।३।५।४। इति च इतरप्रत्यये इतमप्रत्यये चान्यस्त्रादिदोषे कतरशब्दात् कतमशब्दाच्च हेप्रत्ययसामाने सायादेश । एवं यतरसौ इत्यादियोऽप्यम् । एकतरसौ, एकतमसौ—एकशब्दात् “वैकाद् द्वयोर्निधायं” ७।३।५।२। इति “वैकाद्” ७।३।५।४। इति च इतर इतमे च उच्यते—अन्यतरादिदोषे एकतरशब्दादेकतमशब्दाच्च हे इत्यस्य सायादेशः । इतरइतमभिन्नस्वार्थिकप्रत्ययान्तस्य सर्वादित्वमाभावात्तत्प्रयोजनमाह—४८ इह न भवति सर्वतमाय इत्यादि । सर्वशब्दात्तमप्रत्यये तदन्तस्य स्वार्थिकप्रत्ययान्तस्य सर्वतमशब्दस्य प्रकृतिद्वारेण प्राप्तसर्वादित्वस्य गणे इतरइतमोपादानेन तदभावाद्येवनेन तत्प्रयुज्यत कार्यं न भवति । त्वशब्दोऽन्यार्थः—अन्यशब्दस्यार्थोऽस्येत्यर्थं त्वशब्द इत्यन्वयः ।

त्वस्मै, त्वस्मात् । त्वच्छब्दः समुच्चयपर्यायः, तस्य स्मादादयो न संभवन्तीति हेत्वर्थयोगे सर्वविभक्तित्वमक्षप्रत्ययश्च प्रयो-  
जनम्-त्वन्तं हेतुम्, त्वता हेतुना चसति; अज्ञातात् त्वत्स्त्वकतः । नेयश्चोऽर्थाथः-नेमस्मै, नेयस्मात् । समसिम्भौ-  
१ सर्वाथौ, समस्मै, समस्मात्, मिगसौ, मिगस्मात्; सर्वाथत्वाभावे न भवति-समाय देशाय, समादेशाद् धावति । स्वाभि-  
धेयापेक्षे चानभिधनियमे व्यवस्थापरपर्याये गम्यमाने-पूर्वपरात्रदक्षिणोत्तराधाराणि, पूर्वस्मै, पूर्वस्मात्; परस्मै, परस्मात्;  
अपरस्मै, अपरस्मात्; दक्षिणस्मै, दक्षिणस्मात्, उत्तरस्मै, उत्तरस्मात्; अपरस्मै, अपरस्मात्; अपरस्मै, अपर-  
२ स्मात्, प्यवस्थायाम् अन्यत्र न भवति-दक्षिणाय माथकाय दद्मि, प्रवीणायैत्यर्थः; दक्षिणायै द्विजाः स्पृहयन्ति । आत्माऽऽ-  
त्मीयज्ञातिधनार्थवृत्तिः स्वशब्दः, आत्माऽऽत्मीययोः-यत्स्वस्मै रोचते तत्स्वस्मै ददाति, अदात्मने रोचते तदात्मीयस्य  
ददातीत्यर्थः, ज्ञातिधनयोस्तु न भवति-स्वाय दानुं स्वाय स्पृहयति, ज्ञातये दानुं घनाय स्पृहयतीत्यर्थः । बहिर्भावने

- १ त्वस्मै-आत्मस्य इत्यर्थः । त्वच्छब्द इति । अकारान्तावधानमेव द्युदात्तार्थं त्वच्छब्द इति निर्देशः । समुच्चयपर्याय इति । तत्रैकमर्थं प्रति  
क्यादीनां किताकारवदभ्युपगानां गुत्त्वपर्यायं अधिरोपितमभिधनपर्यायपर्यायानां आत्मरूपमेवेति चोपमानता समुच्चयत्वं पर्यायसङ्ग्राहकं  
इत्यर्थः । आत्मा तत्रात्तात्तात् स्मादेशे सर्वादिबन्धयोगादिव तदुपदानमनर्थकमित्याह-तस्य इत्यादिना, प्रयोजनम् इत्यन्तेन । तस्य-  
१२ त्वच्छब्दस्य । स्मादादयः-“सर्वादे नो स्मौ” इत्यारित्यविशिष्टा । न संभवन्ति-त्त्वच्छब्दस्य अकारान्तावधानमेव प्रागुच्यते । इति-हेतुः ।  
हेत्वर्थयोगो-निमित्तकारणहेतुश्चोद्देशोः । सर्वविभक्तित्वम्-“सर्वादे सर्वा” इति सर्वविभक्तयः स्वत्वच्छब्दादिति प्रथमं प्रयोजनम् । तस्य  
हेत्वर्थयोगे सर्वविभक्तित्वं प्रयोजनम् न तस्य अकुप्रत्ययः-“त्वादिद्योदे सः” ५१।१२।१। इति सूत्रमिहित इति द्वितीयं प्रयोजनमिति लक्षणम् ।  
१३ तदुदाहरति-त्वत्तं हेतुम् इत्यारि । त्वच्छब्दस्य तात्पर्यं-“त्वादिद्योदे सः” इत्यन्त्यात् सर्वात् पूर्वस्यैव प्राथम्येण विप्र-  
क्षेपदर्शनपूर्वकं रूपमाह-अज्ञातात् त्वकतं इति । नेमश्चोऽर्थाथ इति । अर्थश्चोद्देशोऽस्येति विप्रह । समसिम्भौ सर्वाथौ-सर्व-  
शब्दस्य तात्पर्यं कथये च समसिम्भौ सर्वादिगणे पठिताभिलष । अदाहरति-समस्मै इत्यादि । पूर्वत्वप्रक्रिया । सर्वाथत्वाभावे न भवति  
१४ इत्यनेनार्थान्तरादात्तच्छब्दे, फल दर्शयति-समाय इत्यारि । अत्रियमायेत्यर्थः । स्वाभिधेयापेक्षे इति । पूर्वादीनां शब्दानां स्वाभिधेयो  
विन्देशेन प्रत्ययान्तावोऽर्थं, तपोपेक्षेयं स स्तुभिधेयापेक्षस्यमित्यर्थः । चोऽधाराणे । अर्थविधेयमित्यर्थः-अवधिमर्मादा तस्य नियमोऽवश्यमानो-  
ऽवधिमर्मादादप्रवन्त्याह-। अन्यं भाष-दिगादीनां प्रयोगां पूर्वादिशब्दाभिधेयानां यत्पूर्वादिभ्यः तत् नियमेन क्विद्वधिमर्मादा सपचते नत्वन्-  
१५ यिनिरपेक्षम्, तपार्थि-पूर्वस्य देशस्य यत्पूर्वत्वं तत्परं देशमवधिमर्मादा भवति, परस्मादि यत्परत्वं तत्पूर्वदेशमपेक्षं भवति, तस्मात् पूर्वा-  
दिशब्दाच्चापेक्षेऽपद्य केनचिद्वधिमर्मादा भाव्यम्, तत्र तस्यैवापेक्षेयं पूर्वदिशब्दाभिधेयापेक्षेऽवधिमर्मादा ऐकान्तिकं स नियमो व्यवस्थापर-  
पर्यायः । तस्मात् गम्यमाने पूर्वादीनां शब्दानां स्वाभिधेय एव धर्ममानानां सर्वाधिकार्यं न तु वाच्ये । नो हि पूर्वादिशब्दाभिधेयापेक्षादर्थान्यत्वाव-  
१६ धिमर्मादा नियमं स क्रमं पूर्वादिशब्दाद्यो भविष्यतीत्यन्ताराधितान्तरिण्यक्तया गम्यमाने पूर्वे परं अवरं दक्षिणं उत्तरं अपरं अवरं इत्ये-  
तानि चान्तराद्यरूपाणि सर्वादीनि भवन्ति । अर्थविधेयि दिगादिशब्दे पर्यायानि पूर्वादीनि सर्वादीनि भवन्ति इत्यादाहरति-पूर्वस्मै इत्यादि ।  
अधाराणि इति । शब्दत्वपेक्षया तदुपकल्पिते नो नार्थापेक्षया, तेन त्रीपुनपुसकेषु सर्वेष्वप्येयं सर्वादित्यिति । व्यवस्थापरपर्याय इत्यस्य  
१७ व्यवच्छेदय दर्शयति-व्यवस्थाया इत्यादिना । दक्षिणाय-प्रवीणायैत्यर्थः, अपरं हि प्रावीण्यमात्रेण निमित्तेनावधिमर्मादा एव दक्षिणश्चो  
सर्वे इति व्यवस्था न गम्यते । केचित्तु यावद्भवमाथिनी व्यवसेवाहः, तेषां पूर्वस्मै पुरुषापेक्षादि न भवति, नहि दिग्भोगलक्षणे पूर्वत्वादि पुरुषे  
यावद्भवमाथीति । दक्षिणायै द्विजाः स्पृहयन्ति इति । यत्कर्मकृतां वैतवदानं दक्षिणा, तस्यै दक्षिणायै इति चतुर्थैक्यवचनम् “स्पृहयन्ति” इत्य-  
१८ वा” २।२।२६। इत्यनेन । आत्माऽऽत्मीयवृत्तिधनार्थवृत्तिः स्वशब्दः-आत्मा च आत्मीयस्य ज्ञातिधनं न तान्त्रेयार्थत्वात् श्रुतियैत्येति शेषः ।  
विप्रह, “स्वाय सिधोभो” ७।२।१५ इति मित्रप्रत्ययविधेये त्वेधर्मात् । आत्माऽऽत्मीययोः-स्वशब्द आत्माऽऽत्मीययोः सर्वादिर्हितेति शेषः ।  
यत्स्वस्मै रोचते तत्स्वस्मै ददाति-अत्रात्माऽऽत्मीययोरर्थयोगेवैतान्तरात् स्वशब्दस्य “सर्वादे ०” इत्यादिसूत्रे । स्मादादेशे भवन्ति, तस्यार्थं  
१९ व्याचष्टे-अदात्मन इत्यादिना । अत्र शब्दान्तरान्तरपरं स्वशब्दो ज्ञातिधने स्वरूपेणाप्ये तत्राद्यै चत्वारूपेण तयोर्वैतैते इति तत्र न भवति  
इत्याह-ज्ञातिधनयोस्तु इत्यादिना । कथं पुनरयमर्थो यावता से पुत्रा इति ज्ञात्यर्थो गम्यते से गाव इति घनाथः, नैतत्सि, पुत्रयोश्च-  
योरेव सतिघनानेभ्यो गम्यते, स्वशब्दात्प्रात्तमीयत्वमात्रं प्रतीयते । ननु यदि शब्दान्तरान्तरपरं एव स्वशब्दो ज्ञातिधनयोर्वैतैते कथं तर्हि  
२० “धूमान्यन्त इच्छादि प्रवृत्तन्तीन् संहता । उल्लुकादीन् भेज्जी स्वा ज्ञातयो भक्तये ॥” इत्यादौ ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः ? नैष दोषः, अत्र हि  
शब्दोऽपेक्षार्थं भवति सन्दिग्धाद्यो वा तत्र तदर्थस्य व्यर्थीकरणे पर्यायशब्दस्यानुप्रयोगो न विकल्पते, यथा मेपाद्यर्थक्यस्य वराहशब्दस्य प्रयोगः ।  
तथा स्वशब्दस्य यमनेकार्थस्य अनुप्रयोगो किं विषयोऽयं प्रयुक्त इति सदेहः । स्यादतस्माच्चिराच्चार्थानुप्रयोगे ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः । एवं घन-  
२१ शब्दस्यापि प्रवृत्त्यम् । स्वाय दानुं स्वाय स्पृहयति-अत्र स्वशब्दस्य ज्ञातिधनवृत्तित्वात् सर्वादित्वाभावात् इत्यर्थः । चतुर्थैक्यवचनं तु स्वाय  
ज्ञातिधेयि दाघात्वपेक्षया स्पृहात्त्वपेक्षया च बोध्यम्, तस्यार्थं व्याचष्टे-ज्ञातये दानुं घनाय इत्यादिना । अन्तरे भविष्योगोपसंभोगानिति वक्ष्यति,  
२२ च भवति, यथा-अन्तरस्मै यदाय-नगरवाहायैत्यादि । अगरे हि चतुष्पतोलीपुष्पाकारावृत्तच्छब्दे, यदाह-“नगरपुष्पवृत्तानुप्रयोगे-  
सात्विति” । तत्र प्राकारावृत्तयोः चण्डालादिवृत्तस्योच्चिखादत्तावृत्तप्रदेशेन योगो गम्यत इति, यदा तु बहिः शब्देन बाह्यं वृत्ते यदा बाह्येना-  
नादृत्तदेशमुक्तेन चण्डालादिवृत्तयोगे आन्तरस्य, अथाभ्यन्तरस्य बहिर्भावनेन सिद्धत्वात् इत्यर्थः, अर्थभेदोऽपि स्वस्य समानत्वात् प्रथक्  
२३ प्रयोगो न, उक्तोऽर्थभेदस्तु अगरेषु सिकरेणोपेक्षे दक्षिणैस्त्रिषुषुषुकाय वा नगराभ्यन्तरयुद्धानेत्यर्थः इत्यनेन । उपसंभोगशब्द-  
कर्मकरणार्थभेदादिप्रार्थं, यदोपसंभोगे यदिति विप्रहयदा “अभिप्रादादिभ्यः कर्मापदाने” ५।२।१२।८ इति कर्मभ्यश्च, यदा उपसंभोगे-  
ऽनेनेति तदा “कर्मणाऽऽचारे” ५।२।१२।९ इति करणेऽनर्द्धं, इत्यस्य कर्मसंभोगतया कर्मजनकतया च स्फुटमेव निगार्थत्वम्; तदाह-

वाक्षेन वा योगे उपसंख्यान उपसंवीयमाने चार्थे वर्तमानो अन्तरशब्दः, न चेद् बहिर्योगेऽपि पुरि वर्तते; अन्तरस्मै  
 गृह्य-नगरबाह्याय चाण्डालादिगृह्यायेत्यर्थः; चण्डालादिगृह्युक्ताय वा नगराम्यन्तरगृह्यायेत्यर्थः; अन्तरस्मै पटाय-पटच-  
 तुष्टये तृतीयाय चतुर्थाय वेत्यर्थः; प्रथमद्वितीययोर्बहिर्योगेणैव सिद्धत्वात्; पुरि तु न भवति-अन्तरायै पुरे क्लृप्यति- १  
 चण्डालादिपुर्यै इत्यर्थः; बहिर्योगोपसंख्यानान्तरन्यत्र तु न भवति-अयमनयोर्ग्रामयोर्न्तरात् तापस आयातः-मध्यादित्यर्थः ।  
 लस्यै, तस्मै, यस्यै, अमुष्मै, अस्मै, एतस्मै, एकस्मै; द्वियुष्मद्भवत्वस्मादां स्मायादयो न समवन्तीति सर्वविभ-  
 त्त्यादयः प्रयोजनम् (द्वौ हेतू २), द्वाभ्यां हेतुभ्याम् ३, द्वयोर्हेत्वोः २; अज्ञाते द्वे द्वके स्त्रियौ कुले वा, द्वौ पुरुषौ । ६  
 युवाभ्यां हेतुभ्याम् ३, युवयोर्हेत्वोः २, युवकाम्याम्, युष्माद्भ्यः । भवद्भ्यां हेतुभ्याम् ३, भवतोर्हेत्वोः २; भव-  
 कान्, भवाद्भ्यः; स च भवांश्च भवन्तौ, अत्र ल्यदादित्वात् परत्वाच्च भवच्छेषः; भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्रः-अत्र सर्वा-  
 दित्वात् पूर्वनिपातः; भवतोऽपत्यं भावतायनिः-अत्र ल्यदादित्वादायनिष्, भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्रः-अत्र सर्वादित्वात् पुंव- १  
 द्भावः; भवन्तमश्नुतीति किपि, भवद्भ्यः-अत्र "सर्वादिविष्वक्देवाद्भ्यः क्यञ्चौ" ॥ ३ । २ । १२२ ॥ इति द्रव्यागमः;  
 उकारो ङ्चर्थो नामार्थो दीर्घार्थश्च-भवती, भवान् । आवाभ्यां हेतुभ्याम् ३, आवयोर्हेत्वोः २, आवकाम्याम्, अस्मा-  
 द्भ्यः, कस्मै, कस्मात् । सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति, तेनेह न भवति-सर्वो नाम कश्चित् सर्वाय, १२

उपसंख्याने इति । न चेद्बहिर्योगेऽपि पुरि वर्तते इति । पुरि इति शब्दप्रधानो निर्देश, यदा अन्तरशब्दस्य पुर व्यञ्जानान्तो वाच्यो भवति  
 तदा सर्वादित्वस्य निषेध, यदा अकारान्त ईकारान्तो वा पुरं पुरी द्वाद्भ्यश्च वाच्या भवन्ति तदा सर्वादित्वमस्त्वैव । ननु कर्माधरणाधिभेदा-  
 द्विलक्षणाप्युपसंख्यानशब्दस्य प्रथमपर्ययकम्, सर्वत्र बहिर्योगेण सिद्धत्वादिति चेदुच्यते-समानप्रमाणे शाटकयुगे परिदिवे इदं न ज्ञायते किमुत्- २५  
 रीयं किमन्तरीयमिति तदर्थमेतद्बहिष्यतीति वक्तुं न शक्य, यतस्तत्र यथा प्रेक्षापूर्वकारी भाविबुद्धोपसंख्यानत्व व्यवस्थापयति तथा बहिर्योग-  
 मपीत्यर्थ, उच्यते-पटचतुष्टयायम्, तत्र शाटकानां त्रये चतुष्टये वा प्रथमद्वितीययोर्बहिर्योगेणैव सिद्धत्वात् तृतीयचतुर्थयोर्बहिर्योगमावात्  
 उपसंख्यानप्रवृत्तं कर्तव्यमित्याह-अन्तरस्मै पटाय इत्यादि । पुरि तु न भवति इति । अपुरीति प्रतिषेधादिति शेष, तेन अन्तरायै १८  
 पुरे क्लृप्यति इत्यत्र "सर्वोर्हेत्वोः" १।१।१८। इति ङ् न भवति, पू कश्चित्देशे प्राकाराम्यन्तरे क्रियते, कश्चित्प्राकारद्वहिरित्यस्ति पुरो  
 बहिर्योग । पूर्वोक्तस्यान्तरायै पुरे इत्यस्यार्थमाह-चाण्डालादीति । बहिर्योगोपसंख्यानयोर्वर्तमानस्यान्तरशब्दस्य सर्वादित्वाभावमाह-  
 बहिर्योगोपसंख्यानान्तरन्यत्र इत्यादिना । अयमनयोर्ग्रामयोर्न्तरात्तापस आयातः-अत्रान्तरशब्दस्य मध्यव्यवहारात् सर्वादित्वा- २१  
 भाव इत्यर्थ, तदाह-मध्यादित्यर्थ इति । त्यस्यै इत्यादि । पूर्वबद्धोध्यम् । वाचीनामनकारान्तत्वात् स्मायादे सर्वादिकार्यस्यासमवेऽपि  
 प्रयोजनान्तरमस्तीति तदाह-द्वियुष्मद्भवत्वस्मादमित्यादि । स्मादयो न संभवन्तीति-तेषामकारान्तत्वाभावादिति हेतोरिति शेष ।  
 सर्वविभक्त्यादय इति । "सर्वादे सर्वा" इति हेतुप्रयोगे सर्वविभक्तय इत्याशय । आदिशब्दाद्यधोगमेकशेषपूर्वनिपातपुत्रवद्भवद्विधात् २४  
 व्यायनिष्कमयत्कश्च प्रयोजनानि ज्ञायन्त इति । सर्वविभक्त्यायैऽनुदाहरति षादिशब्देभ्य -द्वौ हेतू इत्यादिना । द्विशब्दद्वेषुशब्दात्कारे  
 "आदरे" २।१।४१। इत्यन्ते, "ऐदौत् सन्त्यक्षरैरित्स्वीत्त्वे, "इदौत्स्वेरीवृत्" इत्युत्त्वे च सिध्यत । द्वाभ्याम् इति । "सर्वादे सर्वा" इत्यत्र  
 अतद्व्याभिप्रायेण प्रथमाद्वितीयावर्जनात् तृतीयां प्रारभ्यात्रोदाहरणानि दर्शितानि, समते द्वौ हेतू इत्यादि भवत्येव, तदुक्तं धृतिहता तत्सूत्रे २७  
 प्रथमा नेच्छन्त्येके, द्वितीयापररे इति । द्विशब्दस्याज्ञातार्थे "स्वादिसर्वादे खरेष्वन्त्यात् पूर्वोऽङ्" इत्यन्त्यात् खरात् पूर्वमकिं खीनपुसकयो  
 प्रथमाद्वितीयादिवचने विग्रहोपन्यासपूर्वक रूपमाह-अज्ञाते द्वे द्वके स्त्रियौ कुले वा इति । पुत्तवे चाह-द्वकौ पुरुषौ-अत्र द्विशब्दात्  
 प्रथमाद्वितीयादिवचनेऽन्त्यात् खरात् पूर्वमक् । एवमन्यदपि । युष्माद्भ्यः "लदाद्यन्य०" ५।१।१५२। इति टकि, अत्र "अन्यत्वादरे" इत्या- ३०  
 कारान्तादेशश्च । भवकान्-भवच्छब्दस्यान्त्यात् खरात् पूर्वोऽङ् । भवाद्भ्यः-अत्र टकि सत्याकारान्तादेश । स च भवांश्च भवन्तौ इति ।  
 अत्र "अदादि" ३।१।१२०। इति सूत्रेण ल्यदादित्वात् भवच्छेषः । ननु तच्छब्दमवच्छन्दयोस्त्यदादित्वाविशेषात् कस्य शेष इत्यत आह-पर-  
 त्वाच्चेति । "सर्धे" परमिति ल्यदादीनां मिथ सद्गोचौ यद्यत् पाठे परं तत्तदेवैकं शिष्यत इत्याशय । भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्र इति । ३३  
 "विशेषण घञोदिसंख्यं बहुमीहो" ३।१।१५०। इति सर्वादित्वाद्भवच्छब्दस्य पूर्वनिपातत्वादाह-अत्र सर्वादित्वादिति । भवतोऽपत्यं  
 भावतायनिः-अत्र "लदादि" ६।१।७। इति ल्यदादित्वाद्भवच्छब्दस्य दुसंज्ञायां "अद्वाहोर्नवा" ६।१।११०। इत्यायनिष्, तदाह-  
 अत्र ल्यदादित्वादायनिष् इति । भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्र इति । "सर्वादयोऽस्मादौ" ३।२।६१। इति पुत्रवद्भाव, तदाह-अत्र ३३  
 सर्वादित्वात् पुत्रवद्भाव इति । भवन्तमश्नुतीति किपि भवद्भ्यः-अत्र द्रव्यागम केनेत्यत आह-"सर्वादिविष्वक्" इत्यादिना ।  
 भवत्पु इत्यत्र किमर्थ उकार इत्यत आह-उकारो ङ्चर्थ इत्यादिना । "अधार्हदित" २।१।२। इति षीप्रत्ययार्थ उकार इति भाव । एवं  
 नामार्थ उकार इति । "ऋदुदित" १।१।७०। इत्यनेनेति शेष । एवं दीर्घार्थश्च उकार इति "अभ्नादेस्त्वत्त सौ" इत्यनेनेति शेष, ३५  
 तदुदाहरति-भवती, भवान् इति । आवाभ्याम् हेतुभ्याम् ३ इत्यादि पूर्वबद्धोध्यम् । ननु सत्ये विशेषस्थानिर्देशात् सज्ञायामपि सर्वादीनां  
 सर्वादिसंज्ञप्रसङ्ग, नैष दोष; तत्र गणपाठात् पयुदास द्वाद्भ्यान्वेव हि गणे सर्वादीनि सक्विष्टानि न संज्ञाभूतानि, तेन अस्मान्मन्य स्मायादि  
 कार्यं यच्च विशिष्ट "पबतोऽन्यादेनेऽत्तरक्षर दः", "आदरे" इति तत्सर्वं गणपाठोपलक्षितानामेव । यत्तु कार्यं "असौ म" २।१।१६। इत्यादि- ४२  
 स्वरूपमात्राश्रय न सविशेषात्, तद्विशेषेण भवति, तत्र हि न गणपठितयोर्बुद्धसदोर्निर्देशोऽपि लौगादिकयो । अथवा सर्वादिविशेषणार्थम-  
 सज्ञायामिति गणे साक्षात्पठनीयमित्याह-सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति इति । ननु संज्ञायां गौणत्वादेव न भविष्यति-  
 सर्वाय देहीति, प्रसिद्धिदशात् सम्भवत्येव "गौणमुष्मन्त्याय" इति किमसंज्ञायामिति विशेषणेन १ नैव, पदकार्येणैवाय न्याय उपतिष्ठते न नामकार्ये इति, ४५  
 तथाहि-स्वायं शृताञ्चान् उत्पन्नायां विमकौ तत्तत्कार्येषु शब्दान्तरसंनिधानात् गौणत्व प्रतीयते, अथा-नां वाहीकमानवेति पूर्व क्रियाभिसम्बन्धा-  
 पेक्षया विमकाहोपज्ञाया वाक्यीयाभ्यायात् ( आकाङ्क्षादिनूलकसत्त्वात् ) सामानाधिकरण्याद्गौणार्थप्रादुर्भावो भवतीति । तस्य तु स्वार्थस्य मुख्य-  
 व्यपदेशो नास्ति, गौणापेक्षया सम्बन्धिष्यत्वात्त्वात् मुख्यव्यपदेशस्य गौणत्वात्त्वात्, न चैवं शब्दान्तरात् सज्ञाप्रतीतिरिति । यदि वा गुणादा- ४८

त्वस्मै, त्वस्मात् । त्वच्छब्दः समुच्चयपर्यायः, तस्य स्मायादयो न संभवन्तीति हेत्वर्थयोगे सर्वविभक्तित्वमकृत्ययश्च प्रयोजनम्—त्वतं हेतुम्, त्वता हेतुना वसति, अज्ञातात् त्वतस्त्वकतः । नेमशब्दोऽर्थाथः—नेमस्मै, नेमस्मात् । समसिमौ—सर्वाथौ, समस्मै, समस्मात्, सिमस्मै, सिमस्मात्, सर्वार्थत्वाभावे न भवति—समाय देशाय, समादेशाद् धावति । स्वाभिधेयापेक्षे चावधिनियमे व्यवस्थापरपर्याये गम्यमाने—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि, पूर्वस्मै, पूर्वस्मात्; परस्मै, परस्मात्, अवरस्मै, अवरस्मात्; दक्षिणस्मै, दक्षिणस्मात्; उत्तरस्मै, उत्तरस्मात्; अपरस्मै, अपरस्मात्; अधरस्मै, अधरस्मात्; व्यवस्थाया अन्यत्र न भवति—दक्षिणाय गायकाय देहि, प्रवीणायेत्यर्थः, दक्षिणायै द्विजाः स्पृहयन्ति । आत्माऽऽत्मीयज्ञातिधनार्थवृत्तिः स्वशब्दः, आत्माऽऽत्मीययोः—यत्स्वस्मै रोचते तत्स्वस्मै ददाति, यदात्मने रोचते तदात्मीयाय ददातीत्यर्थः, ज्ञातिधनयोस्तु न भवति—स्वाय दातुं स्वाय स्पृहयति, ज्ञातये दातुं घनाय स्पृहयतीत्यर्थः । बहिर्भावेन

- १ त्वस्मै—अन्त्यस्यै इत्यर्थ । त्वच्छब्द इति । अकारान्तत्वशब्दस्येह व्युदासार्थं त्वच्छब्द इति निर्देश । समुच्चयपर्याय इति । तत्रैकमर्थं प्रति ह्याधीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यवचनानां ध्वितोधिनामनियतक्रमयौगपयानां धातुरूपभेदेन चीयमानता समुच्चयस्तस्य पर्यायत्वत्वावक इत्यर्थ । अथास्य तकारान्तत्वात् स्मायादे सर्वादिकार्यस्यायोगादिह तदुपादानमनर्थकमित्याह—तस्य इत्यादिना, प्रयोजनम् इत्यन्तेन । तस्य-  
२ त्वच्छब्दस्य । स्मायादयः—“सर्वादि सै स्वाती” इत्याविसूत्रविहिता । न संभवन्ति—त्वच्छब्दस्याकारान्तत्वाभावाच्च प्राप्तवन्ति । इति—हेतो । हेत्वर्थयोगे—निमित्तकारणहेतुशब्दयोगे । सर्वविभक्तित्वम्—“सर्वादि सर्वा” इति सर्वविभक्तयः स्युस्त्वच्छब्दादिति प्रथम प्रयोजनम् । तस्य हेत्वर्थयोगे सर्वविभक्तित्व प्रयोजनम् च तस्य अकृत्ययः—“स्वादिसर्वादि स्व” ७।३।२९। इति सूत्रमिहित इति द्वितीय प्रयोजनमित्यन्वय ।  
३ तदुदाहरति—त्वतं हेतुम् इत्यादि । त्वच्छब्दस्याज्ञातार्थं—“स्वादिसर्वादि स्वरेष्वन्यात् पूर्वोऽक्” इत्यन्यात् स्वरात् पूर्वमक्षि पञ्चम्येकवचने विप्रहोपदर्शनपूर्वक रूपमाह—अज्ञातात् त्वकत इति । नेमशब्दोऽर्थाथे इति । अर्थशब्दस्यायोऽस्येति विग्रह । समसिमौ सर्वाथौ—सर्वशब्दसमानार्थकत्वेन समसिमशब्दो सर्वादिगणे पठितावित्यर्थ । उदाहरति—समस्मै इत्यादि । पूर्वकप्रक्रिया । सर्वाथैत्वाभावे न भवति  
४ इत्यनेनार्थान्तरवृत्तित्यवच्छेद, फल दर्शयति—समाय इत्यादि । अविपमायेत्यर्थ । स्वाभिधेयापेक्षे इति । पूर्वाधीना शब्दानां स्वाभिधेयो दिग्देशकालस्वभावोऽर्थ, तमपेक्षते यः स स्वाभिधेयापेक्षस्वस्मिन् । चोऽवधारणे । अवधिनियमे—अवधिमर्थोदा तस्य नियमोऽवश्यभावोऽवधिभावादप्रप्रस्वस्मिन् । अयं भाव—दिगाधीनां धारणां पूर्वादिशब्दाभिधेयानां यत्पूर्वोदितं तत् नियमेन कच्चिदवधिमपेक्ष सपयते नत्वव-  
५ धिनिरपेक्षम्, तथाहि—पूर्वस्य देशस्य यत्पूर्वं तत्परं देशमवधिमपेक्ष भवति, परस्यापि यत्परत्वं तत्पूर्वंदेशमपेक्ष भवति, तस्मात् पूर्वादिशब्दाव्यापेक्षणेऽवश्य केनचिदवधिना भाव्यम्, तत्र तस्यैवावधेयं पूर्वादिशब्दाभिधेयापेक्षोऽवधिभाव एकान्तिक स नियमो व्यवस्थापरपर्याय । तस्मिन् गम्यमाने पूर्वाधीनां शब्दानां स्वाभिधेय एव वर्तमानानां सर्वादिकार्यं न तु वाच्ये । यो हि पूर्वादिशब्दाभिधेयादर्थादन्वयाव-  
६ धिभूतस्य नियम स कथं पूर्वादिशब्दाव्याप्यो अभिव्यतीत्यतस्त्रिभ्रान्तरौयकतया गम्यमाने पूर्वं परं अवरं दक्षिणं उत्तरं अपरं अधरं इत्येतानि सप्तशब्दरूपाणि सर्वाधीनि भवन्ति । अधिमिति दिगादिलक्षणे वर्तमानानि पूर्वाधीनि सर्वाधीनि भवन्ति इत्युदाहरति—पूर्वस्मै इत्यादि । अधराणि इति । शब्दरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशो नार्थपेक्षया, तेन औपुनपुसकेषु सर्वेष्वन्येषु सर्वादित्वमिति । व्यवस्थापरपर्याय इत्यस्य  
७ व्यवच्छेदय दर्शयति—व्यवस्थाया इत्यादिना । दक्षिणाय—प्रवीणायेत्यर्थ, अत्र हि प्राचीन्यमात्रेण निमित्तेनावधिनिरपेक्ष एव दक्षिणशब्दो वर्तते इति व्यवस्था न गम्यते । केचित्तु यावद्भव्यभाविनी व्यवस्थेत्याहुः, तेषां पूर्वस्मै पुरुषायेत्यादि न भवति, नहि विरयोगलक्षणं पूर्वत्वादि पुरुषे यावद्भव्यभावीति । दक्षिणायै द्विजाः स्पृहयन्ति इति । अज्ञातकर्तृतां वेतनदानं दक्षिणाय, तस्यै दक्षिणायै इति चतुर्थ्येकवचनम्—“स्पृह्येभ्योऽप्य-  
८ वा” २।२।२६। इत्यनेन । आत्माऽऽत्मीयज्ञातिधनार्थवृत्तिः स्वशब्दः—आत्मा च आत्मीयश्च ज्ञातिश्च धनं च तान्येवार्थस्वप्न धृतिर्यस्येति विग्रह, “स्वात् सिञ्जीशे” ७।२।४५। इति सिञ्जित्यविषये त्वैश्वर्यवाची । आत्माऽऽत्मीययोः—स्वशब्द आत्माऽऽत्मीययोः सर्वादिरिति शेष । यत्स्वस्मै रोचते तत्स्वस्मै ददाति—अत्रात्माऽऽत्मीययोरर्थयोर्वर्तमानत्वात् स्वशब्दस्य “सर्वादे” इत्यादिसूत्रे स्मायादयो भवन्ति, तस्यार्थ  
९ व्याचष्टे—यदात्मन इत्यादिना । यत्र शब्दान्तरनिरपेक्ष स्वशब्दो ज्ञातिघने स्वरूपेणाचष्टे तत्रापी संज्ञारूपेण तयोर्वर्तते इति तत्र न भवति इत्याह—ज्ञातिघनयोस्तु इत्यादिना । कथं पुनरयमर्थो यावता खे पुत्रा इति ज्ञास्यो गम्यते खे गाव इति घनार्थ, नैतदस्ति, पुत्रगोशब्द-  
१० योरिह सञ्ज्ञानेनोभय गम्यते, स्वशब्दात्वात्मीयत्वमात्रं प्रतीयते । ननु यदि शब्दान्तरनिरपेक्ष एव स्वशब्दो ज्ञातिघनयोर्वर्तते कथं तर्हि  
११ “धूमयन्त इवाक्लिष्टा प्रज्वलन्तीव सहता । उल्लुकादीव मेऽस्मीं स्वा ज्ञातयो भरतर्षभ ॥” इत्यादौ ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः ? नैव दोषः, यत्र हि शब्दोऽनेकार्थो भवति सन्दिग्धार्थो वा तत्र तदर्थस्य व्यक्तीकरणे पर्यायशब्दस्यानुप्रयोगो न विरुध्यते, यथा नेषाद्यर्थकस्य वराहशब्दस्य प्रयोगः । तथा स्वशब्दस्यायमनेकार्थसत्त्वात्सत्यनुप्रयोगे किं विषयोऽयं प्रयुक्त इति संदेहः सादतस्वस्मिन्नासार्थमुपपद्यते ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः । एवं घन-  
१२ शब्दस्यापि द्रष्टव्यम् । स्वाय दातुं स्वाय स्पृहयति—अत्र स्वशब्दस्य ज्ञातिघनवृत्तित्वात् सर्वादित्वाभाव इत्यर्थ । चतुर्थ्येकवचनद्वयं तु स्वाय स्वायेति दाषात्वपेक्षया स्पृहयात्वपेक्षया च बोध्यम्, तस्यार्थं व्याचष्टे—ज्ञातये दातुं घनाय इत्यादिना । अन्तरं बहियोगोपचयान्नोरिति वक्ष्यति, तदर्थं व्यक्तीकृत्युदाहरति—बहिर्भावेन इत्यादिना । यहिरित्यनाश्रुतो देश उच्यते, तस्य भावः स एव वा भावत्वेन योगः स च बाह्यस्यावाप्तस्य  
१३ च भवति, यथा—अन्तरस्मै शृणाय—नगरवाह्यायेत्यादि । नगरं हि चतुष्प्रतोलीयुष्काकाराश्रुतमुच्यते, यदाह—“नगरसुरचतुर्गोपुरेऽङ्गि-  
१४ सालमिति” । तत्र प्राकाराश्रुतदेशे चण्डालादिश्वस्वानोचित्यादनाश्रुतदेशेन योगो गम्यत इति, यदा तु बहिः शब्देन बाह्य उच्यते तदा बाह्येना-  
१५ नाश्रुतदेशमुक्तेन चण्डालादिश्वस्वानोचित्यादनाश्रुतदेशेन योगो गम्यत इति, यदा तु बहिः शब्देन बाह्य उच्यते तदा बाह्येना-  
१६ प्रयोगो न, चणोऽर्थभेदस्तु भगवद्भक्तिकारेणामे दक्षिणतश्चण्डालादिगृह्युक्ताय वा नगराभ्यन्तरगृहायेत्यर्थ इत्यनेन । उपसंव्यानशब्द-  
१७ कर्मकरणार्थभेदाङ्गिषार्थ, यदोपसंवीयते यदिति विग्रहस्तदा “भुजिपलादिभ्यः कर्मापादाने” ५।३।१२। इति कर्मण्यनद, यदा उपसंवीयते-  
१८ ऽनेनेति तदा “कर्णाऽऽधारे” ५।३।१२। इति करणेऽनद, इत्यस्य कर्मसाधनतया करणसाधनतया वा स्फुटमेव सिद्धार्थत्वम्; तदाह—

वाद्येन वा योगे उपसंख्येने उपसंख्येयमाने चार्थे वर्तमानो अन्तरशब्दः, न चेद् वह्नियोगेऽपि पुरि वर्तते; अन्तरस्यै गृह्य-नगरवाद्याय चाण्डालादिगृह्यायेत्यर्थः, चण्डालादिगृह्ययुक्ताय वा नगराभ्यन्तरगृह्यायेत्यर्थः; अन्तरस्यै पटाय-पटच-तुष्टये तृतीयाय चतुर्थाय वेत्यर्थः, प्रथमद्वितीययोर्वह्नियोगेणैव सिद्धत्वात्, पुरि तु न भवति-अन्तरायै पुरे कुप्यति- ३ चण्डालादिपुर्यै इत्यर्थः, वह्नियोगोपसंख्यानोदेरन्ध्र तु न भवति-अयमनयोर्ग्रामयोरन्तरात् तापस आयातः-मध्यादित्यर्थः । त्यस्यै, तस्यै, यस्यै, अमुष्यै, अस्यै, एतस्यै, एकस्यै; द्वियुष्मद्भवत्वस्मदां स्मायादयो न संभवन्तीति सर्वविम-त्त्यादयः प्रयोजनम् (द्वौ हेतु २), द्वाभ्यां हेतुभ्याम् ३, द्वयोर्हेत्वोः २; अज्ञाते द्वे द्वके स्त्रियौ कुले वा, द्वौ पुरुषौ । १ सुवाभ्यां हेतुभ्याम् ३, सुवयोर्हेत्वोः २; युवकाभ्याम्, युष्माद्दशः । भवद्भ्यां हेतुभ्याम् ३, भवतोर्हेत्वोः २; भव-कान्, भवादृशः; स च भवांश्च भवन्तौ, अत्र त्यदादित्वात् परत्वाच्च भवच्छेषः, भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्रः-अत्र सर्वा-दित्वात् पूर्वनिपातः, भवतोऽपत्यं भावतायनिः-अत्र त्यदादित्वादायनिञ्, भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्रः-अत्र सर्वादित्वात् पुंव-द्भावः, भवन्तमश्नतीति क्विपि, भवद्दृह्-अत्र "सर्वादिविष्वक्देवाद्भिः क्वञ्चौ" ॥ ३ । २ । १२२ ॥ इति द्रव्यागमः; उकारो ङ्यर्थो नागमार्यो दीर्घार्थश्च-भवती, भवान् । आवाभ्यां हेतुभ्याम् ३, आवयोर्हेत्वोः २, आवकाभ्याम्, अस्मा-दृशः, कस्यै, कस्मात् । सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति, तेनेह न भवति-सर्वो नाम कश्चित् सर्वाय, १२

उपसंख्येने इति । न चेद्द्वह्नियोगेऽपि पुरि वर्तते इति । पुरि इति शब्दप्रधानो निर्देश, यदा अन्तरशब्दस्य पुर व्यञ्जनात् नो वाच्यो भवति तदा सर्वादित्यस्य निषेध, यदा अकारान्त ईकारान्तो वा पुरं पुरी इत्यादयश्च वाच्या भवन्ति तदा सर्वादित्यमस्येव । ननु कर्मार्थकरणार्थदेवा-द्विजलाप्युपसंख्यानशब्दस्य प्रथमनर्थकम्, सर्वत्र वह्नियोगेण सिद्धत्वादिति चेदुच्यते-समानप्रमाणे शाटकुणे परिहिते इदं न ज्ञायते किमुत्- २५ चीं किमन्तरीयमिति तदर्थमेतद्भवतितीति वक्तुं न शक्य, यतस्तत्र यथा प्रेक्षापूर्वकारो भावियुक्तोपसंख्यानत्व व्यवस्थापयति तथा वह्नियोग-मपीत्यर्थ, उच्यते-पटचतुष्टयायम्, तत्र शाटकाना ज्ञेयं चतुष्टये वा प्रथमद्वितीययोर्वह्नियोगेणैव सिद्धत्वात् तृतीयचतुर्थयोर्वह्नियोगान्नावात् उपसंख्यानग्रहणं कर्तव्यमित्याह-अन्तरस्यै पटाय इत्यादि । पुरि तु न भवति इति । अपुरिति प्रतिषेधादिति शेष, तेन अन्तरायै १८ पुरे कुप्यति इत्यत्र "सर्वोर्देस्त्वौ" १।१।१८। इति ङ्स् न भवति, पू कस्मिंश्चिदेशे प्राकाराभ्यन्तरे क्रियते, कश्चित्प्राकाराद्द्विहरेत्यस्ति पुरो वह्नियोगे । पूर्वोक्तस्मान्तरायै पुरे इत्यस्यार्थमाह-चाण्डालादिति । वह्नियोगोपसंख्यानयोरवर्तमानस्मान्तरशब्दस्य सर्वादित्वाभावमाह-यह्नियोगोपसंख्यानोदेरन्ध्र इत्यादिना । अयमनयोर्ग्रामयोरन्तरात्तापस आयातः-अन्तरशब्दस्य मध्यवाचित्वात् सर्वादित्वा- २१ भाव इत्यर्थ, तदाह-मध्यादित्यर्थ इति । त्यस्यै इत्यादि । पूर्ववह्नोऽयम् । धावीनामनकारान्तत्वात् स्मायादे सर्वादिकार्यस्यासमवेऽपि प्रयोजनान्तरमस्तीति तदाह-द्वियुष्मद्भवत्वस्मदांमित्यादि । स्मादयो न संभवन्तीति-तेषामकारान्तत्वान्नावाविति हेतोरिति शेष । सर्वविमत्त्यादय इति । "सर्वादे सर्वा" इति हेतुप्रयोगे सर्वविमत्तय इत्याशय । आदिशब्दाद्यथोपगमेकशेषपूर्वनिपातपुत्रद्भावद्विभात् २४ व्यायनिष्पद्यत्कश्च प्रयोजनानि ज्ञायन्त इति । सर्वविमत्त्यादीनुदाहरति धादिशब्देभ्य-द्वौ हेतु इत्यादिना । द्विशब्दद्वितुशब्दाधीकारे "आदेर" २।१।४१ इत्यन्ते, "एतौ च सन्त्यकैर" तिलौत्वे, "इदोऽङ्गेरीदृत्" इत्युत्त्वे च सिध्यत । द्वाभ्याम् इति । "सर्वादे सर्वा" इत्यत्र भतद्व्याभिप्रायेण प्रथमाद्वितीयावर्णनात् तृतीयां प्रारम्भान्नोदाहरणानि दर्शितानि, स्वमते द्वौ हेतु इत्यादि भवत्वेव, तदुक्तं श्रुतिकृता तत्त्वैरे २७ प्रथमां नेच्छन्त्येके, द्वितीयापरं इति । द्विशब्दस्याज्ञातार्थं "त्यादिसर्वादे स्वरेष्वन्यात् पूर्वोऽङ्" इत्यन्यात् स्वरात् पूर्वमफि स्त्रीनपुंसकयोः प्रथमाद्वितीयादिवचने विमहोपन्यासपूर्वकं रूपमाह-अज्ञाते द्वे द्वके स्त्रियौ कुले वा इति । पुत्त्वे चाह-द्वौ पुरुषौ-अत्र द्विशब्दात् प्रथमाद्वितीयादिवचनेऽन्यात् स्वरात् पूर्वम् । एवमन्यदपि । युष्माद्दशः-त्यदायन्यं ५।१।१५२। इति टकि, अत्र "कन्यत्सदादेरा" इत्या- ३० कारान्तादेर्यश्च । भवकान्-भवच्छब्दस्यान्यात् स्वरात् पूर्वोऽङ् । भवादृशः-अत्र टकि सत्याकारान्तादेश । स च भवांश्च भवन्तौ इति । अत्र "सदादि" ३।१।२२। इति सूत्रेण त्यदादित्वात् भवच्छेष । ननु तच्छब्दमवच्छेदयोस्त्यदादित्वाविशेषात् कस्य शेष इत्यत आह-पर-त्वाच्चेति । "स्ये" परमिति त्यदादीनां मिय सहोक्तौ यदात् पाठे परं ततदेवैकं शिष्यत इत्याशय । भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्र इति । ३३ "विशेषणं सर्वादिसंख्यं बहुमीहौ" ३।१।१५। इति सर्वादित्वाद्भवच्छब्दस्य पूर्वनिपातत्वदाह-अत्र सर्वादित्वादिति । भवतोऽपत्यं भावतायनिः-अत्र "त्यादि" ६।१।७। इति त्यदादित्वाद्भवच्छब्दस्य दुसज्ञार्थं "अष्टद्वारोनेवा" ६।१।११। इत्यायनिञ्, तदाह-अत्र त्यदादित्वादायनिञ् इति । भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्र इति । "सर्वादयोऽस्यादी" ३।२।६१। इति पुत्रद्भाव, तदाह-अत्र ३३ सर्वादित्वात् पुत्रद्भाव इति । भवन्तमश्नतीति क्विपि भवद्दृह्-अत्र द्रव्यागम केनेत्यत आह-"सर्वादिविष्वक्" इत्यादिना । भवत् इत्यत्र किमर्थं उकार इत्यत आह-उकारो ङ्यर्थ इत्यादिना । "अघातृदित" २।१।२। इति धीप्रत्ययार्थ उकार इति भाव । एव नागमार्य उकार इति । "श्रुदृदित" १।१।७०। इत्यनेनेति शेष । एवं दीर्घार्थश्च उकार इति "अभवादेस्त्वस सौ" इत्यनेनेति शेष, ३९ तदुदाहरति-भवती, भवान् इति । आवाभ्याम् हेतुभ्याम् ३ इत्यादि पूर्ववह्नोऽयम् । ननु सूत्रे विशेषणानिर्देशात् सज्ञायामपि सर्वादीनां सर्वादिकार्यप्रसङ्ग, नैव दोष, तत्र गणपाठात् पशुदास शब्दान्त्वे हि गणे सर्वादीनि सञ्चितानि न सज्ञाभूतानि, तेन यस्मान्मान्य स्मायादि कार्यं यच्च विशिष्ट "पशतोऽन्यादेरनेकतस्य ह", "आदेर" इति तत्सर्वं गणपाठोपलक्षितानामेव । यत्तु कार्यं "असौ म" २।१।१६। इत्यादि- ४२ स्वरूपमात्राभ्रय न सञ्चितेषामेव, तद्विशेषेण भवति, तत्र हि न गणपठितयोर्दुष्मदसदोर्निर्देशोऽपि लौगादिकयो । अथवा सर्वादिविशेषणार्थम-सज्ञायामिति गणे साक्षात्पठनीयमित्याह-सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति इति । ननु संज्ञायां गौणत्वादेव न भविष्यति-सर्वाय देहीति, प्रसिद्धिवात्, समभवेव "गौणव्युत्पन्न्याम्" इति किमसज्ञायामिति विशेषणं ? नैव, पदकार्येभ्योनाय न्याय उपतिष्ठते न नामकार्ये इति, ४५ त्पाहि-स्यार्थे इत्यादिनाय विमहो तत्तत्कार्येषु शब्दान्तरसन्निधानात् । गौणत्व प्रतीयते, यथा-नां वाहीकमानयेति पूर्वं क्रियाभिसम्बन्धा-पेक्षया विभक्तानुबन्धायां नाकवीयाभ्यायात् ( साकाङ्क्षादिमूलकवाच्या ) सामानाधिकरण्याद्गौणार्थमादुर्भावो भवतीति । तस्य तु स्यात्स्य मुख्य-व्यपदेशो नास्ति, गौणपेक्षया सम्बन्धिष्यत्त्वात् मुख्यव्यपदेशस्य गौणत्वात्सम्बन्धात्; न चैवं शब्दान्तरात् सज्ञाप्रतीतिरस्ति । यदि वा गुणादा- ४८



सर्वात्, उत्तराय कुरुवे स्पृहयति । अत इत्येव ? भवते, भवतः । सर्वादेरिति पट्टिनिर्देशेन तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—  
प्रियाः सर्वे यस्य तस्मै प्रियसर्वाय, सर्वानतिक्रान्तायातिसर्वाय, द्वावन्वावस्यं ह्यन्याय, अन्य्याय; प्रियपूर्वाय । सर्वं, विश्व,  
३ उभ, उभयद्, अन्य, अन्यतर, इतर, डतर, डतम, त्व, त्वत्, नेम, समसिमौ—सर्वाथौ, पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि—  
व्यवस्थायाम्, स्वमज्ञातिपनाख्यायाम्, अन्तरं—वहिर्योगोपसव्यानयोरपुरि, त्यद, तद्, यद्, अदस्, इदम्, एतद्, एक,  
द्वि, युष्मद्, भवतु, अस्मद्, किम्; इत्यसंज्ञायां सर्वादिः । उभयडिति टैकारो डचर्यः—उभयी दृष्टिः ॥ ७ ॥

- ६ गतो गौण, यथा—गोशब्दस्य जात्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीक, मुसामिष प्रधानत्वाद् मुख्य । तत्र 'स्व रूप' इत्यत्र रूपग्रहणेनार्थपरिग्रहणस्य  
ज्ञापितत्वादर्थवत् कार्येण भवितव्यम् । स चार्थं प्राथम्यान्मुख्य एव गृह्यते । गौणे एष्यं शब्द प्रवर्तमानो मुख्यार्थोपैणैव प्रवर्तते । अनि-  
यतश्च गौणोऽर्थः । न च सज्ञाशब्दो गुणद्वारेण प्रवर्तते, येन प्रसिद्धप्रसिद्धिवशाद्गौणत्व तस्य संभवति । ननु मा भूत्सर्वो नाम कथितसर्वोपेत्यादौ  
९ असज्ञायामिति विशेषणात् सर्वादिकार्यं प्रिया सर्वे यस्य सर्वानतिक्रान्तो य इत्युपसर्जनस्य प्राप्नोति इत्याह—सर्वादेरित्यादि । अयमर्थ—  
पक्षा यदुच्यते तद्गृह्यमाणविभक्तैर्भवति, यथेव परमसर्वेसं इत्यादौ स्यादिति न प्राप्नोति, न पत्र गृह्यमाणत्वात् सर्वादेर्विहित्वा विभक्तिरपि तु समासा-  
दिति चेत्, न, गृह्यमाणस्य सर्वादेर्यद्वारेण संबन्धिनी या विभक्तिस्तद्वर्गगतसंख्याकर्मादिवाचिनी तस्या सर्वादिकार्यमित्यर्थोऽत्र विवक्षित, सर्वादि-  
१२ सख्याप्रधानवैष्य समास इति । अथवा—सर्वेसादीयते गृह्यतेऽभिधेयत्वेन येनेत्यन्वर्थान्प्रथमत्वात् सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वाधीनि । संज्ञोपस-  
र्जने च विशेषेऽवतिष्ठते, तथाहि—यदा सर्वशब्द सज्ञात्वेन विनियुज्यते, तदा प्रसिद्धप्रसिद्धिनिमित्तपरित्यागेन स्वरूपमात्रोपकारी प्रवर्तते इति विशेष  
एवावतिष्ठते । उपसर्जनमपि जहत्स्वार्थमजहद्वाऽतिक्रान्तार्थविशेषणतामापन्नमतिक्रान्तार्थवृत्ति भवत्यतिसर्वाथेत्तत्र । एव बहुमीशवपि प्रियसर्वाय ।  
१५ द्वावन्वावस्येत्यादावन्व्यपदार्थसकृमात् विशेषार्थवृत्तिवाक्ये त्वसंछिष्टार्थत्वात् स्वार्थमात्र प्रतिपादयतो न विशेषेऽवस्थानमिति स्यात् सर्वादित्वम् ।  
यथेवं सकलकृत्तजगदादेरपि प्राप्नोति, एतेषामपि शब्दानामेकैकस्य स स विषयत्वस्मिन्स्मिन् विषये यो य शब्दो वर्तते, तस्य तस्य तस्मि-  
न्स्मिन् वर्तमानस्य सर्वादिकार्यं प्राप्नोति, ततश्च सर्वस्मिन्सौन्देने इत्योदनशब्दस्यापि सिद्धादिप्रसङ्ग सामानाधिकरण्यादनयो । ननु प्रतिनियत-  
१८ भागाभिनिवेशित्वाच्छब्दानां सर्वत्वमोदनशब्देन नाभिहितम्, ओदनत्वमपि सर्वशब्देनेति कुतोऽय प्रसङ्ग ? तत्रेदं दर्शनं—सर्वशब्दोऽप्यो-  
दनार्थावग्रहणे प्रयुक्त, ओदनशब्दोऽपि सर्वावग्रहणे, प्रतिपत्ता तु केवलात् सर्वशब्दात् विशेषेण प्रतिपद्यते रूपसादृश्यात्, नाप्योदनशब्दादिति  
तत्रप्रतिपत्त्यर्थमुपयोपपादानम्, तत्रैकस्य सर्वादिकार्यं भवति नापरस्येति प्रमाणाभावात्प्रसङ्ग उद्भावित । एव तद्भुवमयनेन कियते—पाठवैव  
२१ विशेष्यते विधिश्च, क्य पुनरेकेन यजेनोभय सम्भवे ? तन्नेषाद्यत्स्या वा सर्वेषां यानि प्रतिपादानानि तानि सर्वाधीनि तेभ्य, संज्ञोपसर्जने च  
विशेषेऽवतिष्ठते । एव च सर्वाधीनां विशिष्टधर्मोऽनुमीयते—नूनमेवान्वर्थप्रवृत्तिनिमित्तेन सर्वाभिधेयत्वेन युक्तानि सर्वाधीनि, अत सर्वादिकार्यमन्त-  
र्गणकार्यं च सर्वाभिधेयत्वयुक्तानामेव भवति न संज्ञोपसर्जनानामिति सिद्धम् । अथाप्यो भूतपूर्वो मयूरव्यसकादित्वात् समासे आष्यपूर्वत्सै  
२३ षाड्यपूर्वो वेहीत्यत्र क्य सर्वादिकार्यं न भवति ? न च व्यवस्थाया अभाव, पूर्वमाप्यो न च संप्रतीति व्यवस्था प्रतीयते, उच्यते—अत्र हि पूर्वत्व-  
माप्यत्वस्य विशेषणम्, यथाऽतिपूर्वायेति पूर्वार्थोऽतिक्रान्तस्येत्युपसर्जनत्वात् पूर्वार्थस्य सायादिर्न भवति । ननु अहक पिता यस्य मकत्पितृक,  
२४ पदार्थविशेषणाऽन्यपदार्थविवक्षायां वहिरम्रेण बहुमीहिणेत्युपसर्जनत्वात् प्राप्नोति । मत्कपितृक त्वकपितृक द्विकपुत्र इति चेप्यते इति तदर्थं  
बहुमीहैरप्रयोगसमवायि यत्रकियायां वाक्य तत्राय प्रतिषेधो न लौकिके वाक्ये प्रयोगानर्हे तस्याकप्रयुक्तस्यैव प्रयोगात्, तत्र, तत्राप्यकप्रयोग  
एवेष्ट । यदाह गोनर्दाय—अकच्छरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यक्ष मुकसशायौ । मकत्पितृक त्वकपितृक इति । न चान्तरज्ञानपि विधीनं बहिरज्ञो  
२६ विधिर्वाचते इति वक्तुं वाक्यम्, जगिष्यवत्ये एव तस्य ज्ञापितत्वात् । सर्वेः—“लुटिखटि०” उ० ५०५१ इति 'ख' गतौ धातोर्व । विश्वः—  
“निघृषीष्युषि०” उ० ५१११ इति 'विश्व' प्रवेशने, धातोर्व कित् । उभ—उम्मत् पूरणेऽतो “नाम्युपान्त्य०” इति क । उभयद्—उम्मते-  
स्वरपूर्वाच्चे “आतोडोऽङ्गावाम ” ५११७६ इति डे, निपातनात् टित्वम् । अन्य—अनक् प्राणने, धातो “स्याछामा०” उ० ३५७ । इति य ।  
२७ अन्यतर—अन्यशब्दात् डतर । इतर—इणपूर्वा कित्” उ० ४३८१ इति 'इष्' गतौ, धातो कित् तर प्रत्यय । डतरडतम—इति प्रत्य-  
यातुकरणम् । त्व—भित्तिरिप् संभ्रमे धातो “कृन्वि” इति डे सिध्यति । त्वत्—अस्यैव धातो “संशद्रेहत्साक्षादादय” ८८२१ इति  
निपातनाद् भवति । नेम—नयते “अतोरिस्तु०” । उ० ३३८१ इति म । समसिमौ इति । 'यम' वैकृत्ये, धातोर्त्प्रत्यय, सिम इति अत्र  
२८ “सेरी च वा” उ० ३४३१ इति किन्म । पूर्व—पूरणेऽत उपायकारो वा 'पूश्' पालनपूरणयोरतो “निघृषीष्युषि०” उ० ५१११ इति किति वे  
“ओष्वाद्दुर्” ४१४११७ इत्युत्तरे, “भ्वादेर्नामिनो०” २११६३१ इति वीर्ष । पर—पृट् प्रीतौ, अत औणादिकाकारप्रत्यय । अवर—अव' रक्षणदावतः  
“अवैर्षे च वा” उ० ३९८१ इत्यप्रत्यय । दक्षिण—'दक्षि' शौच्ये चेत्यस्मात् “इहृष्टहिदक्षिभ्य इण ” उ० १९४१ इतीण प्रत्यय । उचर-  
२९ उत्पूर्वोत्तरतेरि औणादिकेऽकारे वा भवति । अपर—नन्पूर्वात् घृणातेरकार । अघर—अवते “अवैर्षे च वा” इत्यरे धादेशश्च । स्व—अस्यतेः  
“प्रहाहापा०” उ० ५१४१ इति निपातनाद्भवति । अन्तरं—अनक् प्राणनेऽत “अनिकाभ्यां तर ” उ० ४३७१ इति तर । त्यद्, तद्, यद्—  
'स्वज' हानौ, 'तनूयी' विस्तारे, 'यजी' देवपूजासगतकरणदानेभ्येभ्य “तनिलजिजिभ्यो डद्” उ० ८९५१ इति विदद् प्रत्ययेऽन्यस्वरदिलोपे  
३३ सति भवन्ति । अदस्—अदक् भक्षणैः “अदेरन्ध च वा” उ० ९६३, इत्यप्रत्यय । इदम्—प्रत्यक्षनिर्देशे “इणो दमक्” उ० ९३८१ इति  
'इष्' गतावित्यस्मात् दमक् । एतद्—समीपवाची शब्द, तत एव धातो “इणस्तद्” उ० ८९६१ इति तद् प्रत्यय । एक—एकत्वसंख्यायाम्,  
तत एव धातो “भीणश्लिवलि०” उ० २११ इति क । द्वि—द्वित्वे “उभत् पूरणेऽत, “उभेर्द्वौ च” उ० ६१५१ इतीकारे धादेशः ।  
३५ युष्मद्—प्रत्यक्षवचन, 'युषे' सेषायाम्, सौत्रात् “युष्मसिभ्या वमद्” उ० ८९९१ इति कमद् प्रत्यय । भवतु—परोक्षवचन, 'भाक्' धीसावतो  
“भातेर्भवतु ” उ० ८८६१ इति ववतु । अस्मद्—प्रत्यात्मवचन “अस्त्वं” क्षेपणे, धातो “युष्मि०” इति कमद्प्रत्यय । किम्—प्रश्ने क्षेपे च,  
“कोर्दिम्” उ० ९३९१ इति 'कृह' शब्दे इत्यस्मात् चिदम्प्रत्यय ॥ ७ ॥

हेः सिन् ॥ १ । ४ । ८ ॥

सर्वादेकारान्तस्य संबन्धिनः सप्तम्येकवचनस्य हेः स्थाने सिन् इत्ययमादेशो भवति—सर्वसिन्, विश्वसिन् । अत इत्येव ? भवति । सर्वोदेरित्येव ? सर्वो नाम कश्चित्—सर्वे, समे देशे धावति । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियसर्वे, अतिविश्वे ॥ ८ ॥

जस इः ॥ १ । ४ । ९ ॥

सर्वादेकारान्तस्य संबन्धिनो जसः स्थाने इकार आदेशो भवति, एकवर्णोऽपि “प्रत्ययस्य” ॥ ७ । ४ । १०८ ॥ ९ इति सर्वस्य भवति । सर्वे, विश्वे, उभये; ते । अत इत्येव ? भवन्तः, सर्वाः । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रिय-सर्वाः पुमांसः । सर्वाणि कुलानि इत्यत्र तु परत्वान्नपुंसके शिरिव ॥ ९ ॥

नेमाऽर्धप्रथमचरमतयाऽयाऽल्पकतिपयस्य वा ॥ १ । ४ । १० ॥

नेमादीनि नामानि, तयायौ प्रत्ययौ, तेषामकारान्तानां संबन्धिनो जसः स्थाने इर्वा भवति । नेमस्य प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते विभाषा । नेमे, नेमाः; अर्धे, अर्धाः; प्रथमे, प्रथमाः; चरमे, चरमाः; द्वितये, द्वितयाः; त्रितये, त्रितयाः; द्वये, द्वयाः; त्रये, त्रयाः; उभयदशब्दस्य त्वयदप्रत्ययरहितस्याखण्डस्य सर्वादी पाठात् पूर्वेण नित्यमेवेत्वं भवति—उभये । अल्पे, अल्पाः; १२ कतिपये, कतिपयाः; परमेनेमे, परमेनेमाः इत्यादि । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियेनेमाः, अतिनेमाः । स्वार्थिक-प्रत्ययान्ताग्रहणादिह न भवति—अर्धकाः । सर्वादेरित्येव ? नेमा नाम केचित् । व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादर्धादीनामपि संज्ञायां न भवति—अर्धा नाम केचित् । अत इत्येव ? नेमाः स्त्रियः ॥ १० ॥

हेः सिन् । अत्र पूर्वस्मात् सर्वादेरत इति चाशुवर्तते । अत इत्यस्य विशेषणत्वात्तदन्तविधि । हेरिति स्थानपट्टी । सर्वादे अकारान्तस्य हे सिन्निन्वयस्यदर्थमाह—सर्वादेरकारान्तस्य इत्यादि । संबन्धिनः—सर्वादे शब्दरूपस्य च स्यन्धी रिस्तस्यैलर्धं, तत्संबन्धित्वं तु तदर्थगतसंख्यादौ विधानादर्थद्वारकमेव द्रष्टव्यम् । सर्वसिन्, विश्वसिन् इति । सर्वविश्वशब्दाभ्यां हे सिन्प्रादेश । अत इत्यधिकार-१८ फलमाह—अत इत्येव ? भवति—भवच्छब्दस्य सर्वादित्येऽपि व्यञ्जानान्तत्वेनाकारान्तत्वाभावाच्च हे सिन्प्रादेश । सर्वादेरित्यनुवृत्तस्य फलमाह—सर्वादित्येव इति । अय भाव—सर्वादेरित्यस्य असंज्ञायामिति विशेषणात् अर्थविज्ञेये च सर्वादित्वात् संज्ञायामर्थविशेषाभावे च न सर्वादित्वमित्यर्थः । तदाह—सर्वो नाम कश्चित्—सर्वे इति । सर्वे इ इति स्थिते “अवर्णस्येवर्णादिना०” इत्येत्त्वम् । समे देशे इति । अविपस २१ इत्यर्थः । सर्वादेरकारान्तस्य संबन्धिनं हेरित्युच्यते तदसंबन्धिनो हे सिन्प्रादेशाभावमाचष्टे—तत्संबन्धिविज्ञानादिह न इत्यादि । प्रिय-सर्वे, अतिविश्वे—प्रियसर्वे इ, अतिविश्वे इ इति स्थिते “अवर्णस्ये०” इत्येत्त्वम् । अत्र सूत्रे हेरिति सप्तम्येकवचनस्य परिग्रहस्तु “तदस्या-स्त्यसिन्नि०” इति ज्ञापकात् ॥ ८ ॥

जस इः । “सर्वादे सौ स्नातो” इत्यत सर्वादेरिति, “अत आ स्या०” इत्यत अत इति चाशुवर्तते, सर्वादेरकारान्तस्य जस इ इत्य-न्वयस्यदर्थमाह—सर्वादेरकारान्तस्य इत्यादिना । सर्वशब्दात् प्रथमावहुवचने “जस इ” “अनेकवर्ण सर्वस्य” ७।४।१०७ इति परिभाषाया अपठतां सर्वस्य कथं भवतीत्याह—एकवर्णोऽपि इत्यादिना । सर्वे इ इति स्थिते “अवर्णस्ये०” इत्येत्त्वे रूपम् । एवमन्यत्रापि । अथ नपुंसके १७ सर्वशब्दात् ‘नामग्रहणे क्षिरविशिष्टस्यापि प्रहणात्’ जस स्थाने इकारादेश कस्मान् भवति ? उच्यते—परत्वान्छिरादेश एव भवति वाद्यक इत्याह—सर्वाणि इत्यादि ॥ ९ ॥

नेमार्धप्रथमचरमतयायाऽल्पकतिपयस्य वा । “जस इ” इत्यशुवर्तते, नेमार्धप्रथमचरमतयायाऽल्पकतिपयस्य जस इर्वा १० इत्यन्वय । अत्र नेमादीनां समाहारद्वन्द्वात् षष्ठी । नेमादीना परिचयमाह—नेमादीनि नामानि इति । तयाययोर्यामत्वाभावात्—तयायौ-प्रत्ययौ—“अवयवात्तयद्” ७।१।१५१, “द्वित्रिभ्यामयद् वा” ७।१।१५२ इति सूत्रविहितौ । सूत्रार्थमाह—तेषामकारान्तानाम् इत्यादिना । प्राप्ते—सर्वादित्वात् पूर्वेण इति शेष । इतरेषाम्—नेमशब्दव्यतिरिक्तानां अर्धादिसंख्यानाम् । अप्राप्ते—सर्वादित्वाभावात् पूर्वेण इति इह शेष । नेमे इत्यादि पूर्ववत् सप्तम्यम् । ‘तयि’ रक्षणे च, ‘अर्थि’ गताविसाभ्यामन्वि तयायौ शब्दावपि स्त, परं व्याख्यानात् तयायौ प्रत्ययौ शुद्धौ, तयोश्च केवल्योरसंभवात् तदन्तस्य कार्यं दर्शयति—द्वितये इत्यादि । द्वित्रिशब्दाभ्यामवयवात्तयदि “द्वित्रिभ्यामयद् वा” इत्ययदि च ततो जसोऽनेन विकल्पेन इकारादेश, व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तयदसाहचर्यात् अयस्य तद्विहितस्य प्रहणम्, न तु “गयद्दया०” ७०३७०। इत्यौणादिकस्य । इह उभयदशब्दस्य जस इकारादेशो विकल्पेन कस्मान् भवतीत्याह—उभयदशब्दस्य इत्यादि । प्रागेव निर्णोतम् । अयदप्रत्ययरहितस्य अखण्डस्य उभयदशब्दस्य तु सर्वादी पाठात् पूर्वेण “जस इ” रिखनेन नित्यमेव इत्वमित्यन्वय । उभये इत्यादि पूर्ववद्भोष्यम् । तत्संबन्धिविज्ञानात्—जसो नेमादिसंबन्धिविज्ञानादिसर्वं । इह न भवतीति तस्यलमाह—प्रियेनेमा इत्यादि । स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् इत्यादि । ११ अय भाव—“सर्वादे सौ स्नातो” सूत्रे सर्वादेरिति इतरद्वयमग्रहणेनान्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां प्रहणमत्र प्रकरणे नेति पूर्वं ज्ञापितत्वादिति । इह न भवति अर्धका इति । कुसिता अर्धा कस्मात् वा अर्धा इत्यर्थं कप्रत्यय स्वार्थिक । नेमशब्दस्य सर्वादित्वात् सर्वादेशासंज्ञायामिति विशेषणात् नान्ना संज्ञया नाम प्रसिद्धायां वा । नन्वसंज्ञायामित्यस्य सर्वादेशविशेषणत्वेनासर्वादीनामर्धादीनां संज्ञायामनेन विकल्पेन जस इकारादेश कथञ्च भवतीत्याह—व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् इत्यादि । अर्धादीनामपि व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् संज्ञायां न भवति विकल्पेन जस इकारादेश कथञ्च देश इति शेष । व्यवस्थित-मर्यादागतिशान्त प्रयोगजात विशेषेण भाष्ये इति व्यवस्थितविभाषा तस्या विज्ञान तस्मादित्यर्थः । अर्धादीनामपि ५५ इत्यप्रापि शब्दात् नेमशब्दस्य सर्वादेरित्यत्रासंज्ञायामिति विशेषणात् संज्ञायां विकल्पेन जस इकारादेशाभावसमुच्चय । अत इत्यधिकारफल-माह—अत इत्येव ? नेमाः स्त्रियः—अत्राऽकारान्तत्वाभावाच्च भवति विकल्पेन जस इकारादेश ॥ १० ॥

द्वन्द्वे वा ॥ १ । ४ । ११ ॥

द्वन्द्वे समासे वर्तमानस्याकारान्तस्य सर्वादेः सवन्धिनो जसः स्थाने इर्वा भवति । पूर्वोत्तरे, पूर्वोत्तराः, कतरकतमे, कतरकतमाः, दन्तकतमे, दन्तकतमाः; परमकतरकतमे, परमकतरकतमाः । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियकतरकतमाः, वक्षान्तरवसनान्तराः । उत्तरेण निषेधे प्राप्ते प्रतिप्रसवार्थो योगः ॥ ११ ॥

न सर्वादिः ॥ १ । ४ । १२ ॥

द्वन्द्वे समासे सर्वादिः सर्वादिर्न भवति, सर्वं सर्वादिकार्यं न भवतीत्यर्थः । पूर्वापराय, पूर्वापरात्, पूर्वापरे, कतरकतमानाम्, दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्—अत्र “सर्वादयोऽस्यादौ” ॥ ३ । २ । ६१ ॥ इति पुंवङ्गावो भवत्येव, तत्र भूतपूर्वस्यापि सर्वादेर्महणात्, कतरकतमकाः—अत्र सर्वादित्वनिषेधादकप्रत्ययामावे कप्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणाद् “द्वन्द्वे वा” ॥ १ । ४ । ११ ॥ इति जस इर्न भवति ॥ १२ ॥

तृतीयान्तात् पूर्वावरं योगे ॥ १ । ४ । १३ ॥

पूर्वं अवर इत्येतौ सर्वादी तृतीयान्तात् पदात् परौ योगे सवन्धे सति सर्वादी न भवतः । मासेन पूर्वाय,

२२ द्वन्द्वे वा । सर्वादेरत इति “जस इ”रिति च सपथ्यते, द्वन्द्वे अकारान्तस्य सर्वादेर्जस इर्वा इत्यन्वयस्त्वर्थमाह—द्वन्द्वे समासे इत्यादिना । पूर्वेषु नेम प्रति व्यभिचाराभावात् विशेषणार्थक्यात् इतरान्प्रत्यसंबन्धाच्च सर्वादेरित्यनेन संबन्धो न दर्शित, इह तु सम्भवव्यभिचारयोर्भावात् प्रदर्शित इत्याह—सर्वादिः सवन्धिनो जस इति । पूर्वोत्तरे इति । पूर्वोत्तरेण द्वन्द्वद्विकल्पेन जस इ । पक्षे रूपमाह—पूर्वोत्तराः । कतरकतमे—कतरे च कतमे चेति द्वन्द्वस्ततो विभाषा जस इत्यदमावे चाह—कतरकतमाः । एव दन्तकतमे इत्यादयो बोध्या । सर्वादे संबन्धिनो जस इत्युक्तिप्रयोजनमाह—तत्सवन्धिविज्ञानात् इत्यादि । प्रियकतरकतमाः—प्रिया कतरकतमे कतरकतमा वा येषामिति विग्रह । वक्षान्तरवसनान्तराः—वक्षान्तरं येषां ते वक्षान्तरा इति विग्रह, सर्वादित्वादन्तरशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजदन्तादि-  
२८ त्वाद्द्वन्द्वस्य पूर्वनिपात, एव वसनान्तरं येषान्ते वसनान्तरा, ततो वक्षान्तराद्य वसनान्तराश्चेति कृते समानार्थत्वादिकशेष प्राप्नोति, नैवम्, अत्र वसनशब्दो गृहपर्याय इति न समानार्थत्वम् । यद्वा एकोऽन्तरशब्दो व्यवधानार्थो अन्यस्तु विशेषार्थः । ननु चान्तरशब्दो बहुव्रीहौ वर्तते न द्वन्द्वे इति कथमद प्रत्युदाहरणम्, न, तदवयवको बहुव्रीहिर्द्वन्द्व इति सोऽपि द्वन्द्व इति प्रत्युदाह्रियते, अत्र द्वन्द्वाधिकरणत्वेऽपि वक्षान्तरवसनान्तर-  
२९ शब्दोऽप्येवमन्वियजस सर्वादिसवन्धित्वाभावाच्च भवति विकल्पेन इ । उत्तरेण इत्यादि । अयं भाव—द्वन्द्वस्य शब्दप्रधानत्वाद्गुणरूपद्वयस्य सर्वादे सर्वादित्वात् “जस इ”रिति प्राप्तस्य “न सर्वादि”रित्युत्तरस्त्रेण निषेधात्प्राप्तस्य च जस इकारस्थानेन पुन पक्षे विधि क्रियते इति ॥११॥  
न सर्वादिः । सर्वसर्वादिकार्यविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् सर्वत्र सर्वादे सर्वादित्वनिषेधयोगायोगादनन्तरं द्वन्द्व इत्यनुवर्तनीयमित्याह—द्वन्द्वे इत्यादि । निषेधविषयमर्थात् सर्वादिरिति प्रकरणाच्च प्राप्तमाह—सर्वमित्यादि । पूर्वापराय, पूर्वापरात्, पूर्वापरे इति । पूर्वं चापरं चेति समाहारद्वन्द्वात् सर्वादित्वनिषेधायादे स्मयार्थिर्न भवति । कतरकतमानाम् इति । कतरे च कतमे चेति द्वन्द्वात् सर्वादित्वनिषेधात् आमः “अवर्णस्याम साम्” इति साम् न भवति । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् इति । दक्षिणा च उत्तरा न पूर्वा चेति द्वन्द्व । ननु सर्वस्य सर्वादिकार्यस्य  
२७ निषेधात् कथमत्र “सर्वादयोऽस्यादौ” इति पुवङ्गावो ? उच्यते—सर्वादय इत्यत्र बहुवचनस्य व्यात्यर्थत्वाद् भूतपूर्वस्यापि सर्वादेर्महणात् पुवङ्गावो भवतीत्यर्थः । बहुवचनलभ्यमेवार्थं दर्शयन्नाह—अत्र इत्यादि । कतरकतमकाः । ननु कतरे च कतमे चेति द्वन्द्वे सर्वादिकार्यस्य निषेधाद्-  
ज्ञातार्थेऽक प्रत्ययामावेऽपि कप्रत्यये सति स्वार्थिकत्वेन प्रकृत्यर्थविशिष्टत्वात् कतरकतमका इति “द्वन्द्वे वा” इति “जस इ” कस्याच भवति अत  
३० आह—अत्र सर्वादित्वनिषेधादित्यादि । उत्तररुतमग्रहणं इत् तत्रेतरस्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणार्थमुक्तमित्यर्थः, उत्तररुतमौ च प्रकृतेरन्ते समा-  
गच्छतस्ततोऽन्योऽपि स्वार्थिक प्रत्ययो योऽन्ते धमभ्येति तदन्तस्यैवाग्रहणम्, तेन अकप्रत्यये सति एतत्प्रकरणविहित कार्यं भवत्येव । तत-  
सर्वेके इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

३३ तृतीयान्तात् पूर्वावरं योगे । न सर्वादिरित्यनुवर्तते, पूर्वावरं तृतीयान्तात् योगे न सर्वादीत्यन्वयः । पूर्वावरम्—“अश्ववडव”

३।१।१३।१। इति पूर्वशब्दस्वापरेण स्वेन समाहृतिर्भणियते इति सूत्रत्वात् समाहार । कर्मधारयो वा पूर्वोवयवयोगादिति । योगे इति । योग एकार्थोभावो व्यपेक्षा चोभय शृण्वते । तृतीयान्तात्—अत्रान्तग्रहणं समासमेदप्रतिपत्त्यर्थम्, अनेकविमकिधात्र समास, तत्रैकार्थोभावे तृती-

३४ याया अन्तो विनाशोऽस्त्वस्येत्यर्थः । स च समासे भवति । तत्र जहत्स्वार्थोयामजहत्स्वार्थो वा कृतौ उपसर्जनपदानि प्रधानार्थपदानि व्यर्थानि ह्यर्थानि वा सन्त्येकार्थानि भवन्ति । तृतीयान्तात् परं पूर्वावरं सर्वादि न भवतीत्यत्र पक्षे परदेश्योगलक्षणा पञ्चमीति । यदा व्यपेक्षायां योगश-  
ब्दस्त्वा तृतीया अन्ते यस्येति उद्गातवयवत्वाद्बहुव्रीहेस्तृतीयाया समुदायेऽन्तर्भावात् कार्यं व्यापारात् “गम्ययप कर्मधारः” इति कर्मणि पञ्चमी

३५ विधानात् अर्थद्वारेण तृतीयान्त पदमाश्रित्य विशेषणविशेष्यमावे सति लौकिके प्रयोगार्हवाक्ये—पूर्वावरं वर्तमान सर्वादि न भवति । अथवा बहु-  
व्रीहिरेव, तृतीयाया अन्तो—विनाशो यत्र तृतीया अन्ते यस्येति वा, पूर्ववत्सम्भ्रम्यार्थद्वयलाभः । यदि वा “प्रत्यय प्रकृत्यादे” ७।१।१३।५।  
इत्यन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणं द्वन्द्वार्थम्—तृतीया च अन्तश्चेति तृतीयान्त तदाश्रित्येति योगे सतीत्येवमपि पूर्वोक्तार्थद्वयपरिग्रह स्थित्यतीति ।

३६ “प्रत्यय प्रकृत्यादे”रित्यन्तलाभात्तदभाववाक्यमेवैक सङ्गृहीतं स्यात् न समास । ‘तृतीयासमास’ इत्यपि कृते समास एक सङ्गृहीतो भवति न  
वाक्यम् । ननु लाघवार्थं तृतीयासमासे इति सूत्रकरणेऽन्यस्यापि सर्वादे सर्वादिकार्यप्रतिषेधप्रसङ्ग इति वाच्यम्, “कनार्थपूर्वार्थे” ३।१।१६।७।  
इति साक्षात्प्रतिपादितस्य प्रतिपदोक्तस्य सर्वादिसु पूर्वावरशब्दसम्बन्धिन एव तृतीयासमासस्य ग्रहणात् इति । अथैव सति वाक्यस्य परिग्रहाभाव

३७ इति चेत् एकस्तृतीयासमास प्राथमकल्पिको यस्मिन्नैकपय एकविमकिकृत्य चोच्यत इति । अन्यस्तु तृतीयासमासार्थानि पदानि तृतीयासमास इति  
तादर्थ्यात् कटवीरणवत् ताच्छब्दस्य लभते तस्य ग्रहणे वाक्यस्यापि ग्रहणं भवतीति । सत्य भवेदेव केवलमलौकिकमप्रयोगसमवायिवाक्य सङ्गृहीत  
स्यात्सत्यैव तदर्थत्वात् । लौकिकस्य तु निषेधार्थात् मुह्यार्थसंभवे गौणपरिग्रहाभावाद्वाक्यस्यापरिग्रह इति । तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह तदर्थम्—पूर्व

३८ अवर इत्येतौ इत्यादि । व्यपेक्षायामुदाहरति—मासेन पूर्वाय इति । अत्र तृतीयान्तात् मासेन इत्यस्मात् परत्र विद्यमानस्य पूर्वस्य सर्वादित्व-

मासपूर्वयः; संवत्सरेणावराय, संवत्सरावराय; मासेनाऽवराः, मासावराः । तृतीयान्तादिति किम् ? ग्रामात् पूर्वस्यै, पूर्वस्यै मासेन; अवरस्यै पक्षेण । पूर्वावरा इति किम् ? मासपरस्यै । योगे इति किम् ? यास्यति चैत्रो मासेन पूर्वस्यै दीयतां कम्बलः ॥ १३ ॥

**तीयं द्वित्कार्ये वा ॥ १ । ४ । १४ ॥**

तीयप्रत्ययान्तं शब्दरूपं द्वितां-डेडसिडसूडीनां कार्ये कर्तव्ये वा सर्वादि भवति । द्वितीयस्यै, द्वितीयाय; द्वितीयस्यै, द्वितीयायै; द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्; द्वितीयस्याः, द्वितीयाया आगतः; द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः स्वम्; द्वितीयस्मिन्, द्वितीये; द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम्; एव तृतीयस्यै, तृतीयाय इत्यादि । द्वित्कार्ये इति किम् ? तत्रैव सर्वादित्वं यथा स्यात्, नान्यत्र, तेनाक् न भवति । तथा च-कप्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् स्यैप्रभृतयो न भवन्ति-द्वितीयकाय, तृतीयकाय; द्वितीयिकायै, तृतीयिकायै इत्यादि । अर्थवतः प्रतिपदोक्तस्य च ग्रहणादिह न भवति-पट्टजातीयाय, ९ मुखतो भवो मुखतीया; गहादिपाठादीयः, मुखतीयाय; एवं पार्श्वतीयाय ॥ १४ ॥

**अवर्णस्यामः साम् ॥ १ । ४ । १५ ॥**

अवर्णान्तस्य सर्वादेः संबन्धिनः षष्ठीबहुवचनस्यामः स्थाने साम् इत्ययमादेशो भवति । सर्वेषाम्, विश्वेषाम् १२

निषेधे न स्थायादेशः । एकार्षीभावे बोदाहरति-मासपूर्वायेति । “ऊनार्यपूर्वायै” इति समास । एवमन्यदपि । तृतीयान्तादिति किम् ? तृतीयान्तमाश्रित्येति कियर्थम् । ग्रामात् पूर्वस्यै-अत्र तृतीयाया अभावाच्च भवति प्रतिषेधः । पूर्वस्यै मासेन-अस्ति एवमयोगमात्रं न तु तृतीयान्तमाश्रित्य, तथा हि-अत्रायमर्थ-“दीयता कम्बल पूर्वस्यै मासेन गतश्चैत्र” इति । ननु योगग्रहणेनैव व्यावर्तितमिदं, नैव, तृतीयान्तमाश्रित्येति १५ लभ्यत्वाद्विशिष्टयोगस्य । मासपरस्यै-अत्र पूर्वं अवरा इत्येतयोरभावाच्च सर्वादित्वप्रतिषेधः । यास्यति चैत्रो मासेन पूर्वस्यै दीयतां कम्बल इति । अत्र व्यपेक्षया एकार्षीभावस्य च योगस्याभावाच्च भवति प्रतिषेधः, यतो हि ‘यास्यति चैत्रो मासेन’ इत्येक वाक्यम्, ‘पूर्वस्यै दीयतां कम्बल’ इत्यन्यत्, तत्र मासेनेत्यस्य पूर्वस्यै इत्यप्राप्त्याभावाद्योगाभाव इत्याशयः । ननु यास्यति चैत्रो मासेन पूर्वस्यै इत्यत्र योगग्रहणं विनापि “समर्थ १८ पदविधि” इति न्यायेन भविष्यति निषेधः किं योगग्रहणेन ? उच्यते-योगग्रहणादन्यदपि सिद्धम्, अपरैः सामान्येन तृतीयान्तेन योगे प्रतिषेधः कृतो न तृतीयान्तात्, तेषां मते पूर्वाय मासेनेत्यपि भवति तन्मतस्यप्रहार्यं तु पूर्वदिग्योगेऽपि पश्चमी व्याख्याया, तेन तृतीयान्तात् पदात् पूर्वं पूर्वं अवरा इत्येतावप्यर्थो बोध्यः ॥ १३ ॥

**तीयं द्वित्कार्ये वा ।**

सर्वादिरेत्यत्रानुवर्तते, तीय द्वित्कार्ये वा सर्वादिरेत्यन्वयः । तीयमिति अविनाभावात् प्रत्ययेन प्रकृतेराक्षे-पात्तात्स्थयात्तत्समुदायस्य तस्य च तीयमिति विशेषणाद्विशेषणे च तदन्तविषेकपस्थानादित्याह-तीयप्रत्ययान्तं शब्दरूपमिति । द्वित्कार्ये इत्यस्य समासमुखेनाऽऽहोऽर्थ-द्वितां-डेडसिडसूडीनामित्यादि । कार्ये कर्तव्ये इत्यर्थेऽस्तु सर्वादिस्तत्फलत्वेन फलवत्त्वादित्याशयः, अन्यथा २४ तदन्यद्वित्कार्ये कृते सर्वादित्वविधाने फलाभावः । तथा च द्वित्कार्ये इति द्वित्यादिके स्यैभावाद्दो द्विदाश्रये च “सर्वादेर्देसपूर्वो” १।४।१८ इति वसागमेऽयं विकल्प इति, वसागमेऽपि हि आपो भवन् क्वि एव भवति न तु क्वि परे, तेन सर्वादेरन्त्यात् स्वरात् पूर्वाऽङ्गं न भवति, न ह्यक् द्वित्कार्यम् । तत्रागभावे कप्रत्यये स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् इतरद्वतमग्रहणेन पूर्वं ज्ञापितत्वात् स्थायादीनामभावस्तदाह-द्वित्कार्ये किम् २७ इत्यादिना, न भवन्ति इत्यन्तेन । तत्रैव-द्वित्कार्ये स्यैभावाद्दो कर्तव्य एवेत्यर्थः । नान्यत्र-तस्मात् अन्यस्मिन्कार्ये कर्तव्ये तीयप्रत्ययान्तं न सर्वादि । तत्फलमाह-तेनाक् न भवति-अत्रो द्वित्कार्यत्वाभावादित्यर्थः । ननु तीयप्रत्ययान्तात् स्वार्थे कप्रत्यये तस्य स्वार्थिकत्वात् प्रकृतितो-विशिष्टतया कथञ्च स्थायादय इत्याह-तथा च कप्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् इत्यादि । इतरद्वतमग्रहणेन ज्ञापि-३० तत्वादिति भावः । द्वितीयकाय-अत्राकप्रत्यये कर्तव्येऽनेन सर्वादित्वं न भवति, द्वित्कार्ये एव तेन विभाषा सर्वादित्वविधानात्, के तु सति प्रकृतितोऽविशिष्टतया द्वित्कार्ये कर्तव्ये प्राप्तमपि सर्वादित्वं इतरद्वतमग्रहणज्ञापितान्यस्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणेन निषिध्यते । द्वितीयिकायै-“स्वज्ञानमन्त्रां” २।४।१०८ इति आप इ, यत्र तु इत्यं न इत्यते तत्र “हृषादीदृश के” २।४।१०४ इति ह्यस्त्वम् । अर्थवतः प्रतिप-३३ दोक्तस्य च ग्रहणात् इति । ‘अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थक्येति’ ‘लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव’ ग्रहणमिति च न्यायेनार्थवत् प्रतिपदोक्तस्य च “द्वितीय” ७।१।१६५ इति, “त्रैत्त्वं च” ७।१।१६६ इति च विहितस्य तीयप्रत्ययस्य ग्रहणदित्यर्थः । इह न भवति-अनेन पाक्षिक सर्वादित्वमिति शेषः । उच्येत आह-पट्टजातीयाय इति । पट्ट प्रकारोऽस्येति विग्रहे “प्रकारे जातीयम्” ७।२।७५ इति जातीयरे तस्मा-१६ चतुर्व्येकवचने रूपम् । गहादिपाठादीयः-“गहादिभ्य” ६।३।६३ इत्यनेन । पट्टजातीयेत्यादौ जातीयस्य ईवेत्यस्य चार्थवत्त्वात्जातीय इत्येतदेकदेशस्य मुखतीया इत्यत्र चागवचनस्यैव ग्रहणमित्याह-पट्टीबहुवचनस्याम इति । सर्वेषाम्, विश्वेषाम् इति । सर्वविश्वशब्दाभ्यामनेन सामा-४५ देशे “पट्टह्यस्योक्ति” इत्येते “नाम्यन्तसां” इत्यनेन षत्वम् । अथात्रावर्णचंनिपातेन जात सामादेश कथं तद्विघातहेतोरस्त्वस्य निमित्तं सादि-

**अवर्णस्यामः साम् ।**

अवर्णान्तस्य सर्वादेः संबन्धिनः षष्ठीबहुवचनस्यामः स्थाने साम् इत्ययमादेशो भवति । सर्वेषाम्, विश्वेषाम् १२ स्वद्वयमाह-अवर्णान्तस्य इत्यादिना । अम सन्ति बहुवचनया हि-“आपो द्वितां” १।४।१७ इति यामेकदेशः, तत्र यामेकदेशस्यास्यो-ऽनर्थकत्वाद्ग्रहणम् । “परस्परान्योन्येतरत्साम्” ३।२।११ इत्याम सामादेशे तत्रैव सामेवोच्येत, न ह्यामादेशे कृत्वा साम्वचने किंचित्त्वयो-४२ जनमस्ति, प्रक्रियागौरव च परिहृतं भवति । परोक्षदेष्टव्यं धाम् धातोर्विधीयमानं सर्वादेर्न समबलेव, “कर्तुं क्वि” ३।४।२५ इति किप्र-त्ययान्ततायां समत्रेऽपि सादिरेत्याधिकारादप्यासवे । “द्विया द्वितां” १।४।२८ इति यामेकदेशस्तु अवर्णान्तस्य सर्वादेर्न समबलेव इति पारिशेष्यात् षष्ठीबहुवचनस्यैव ग्रहणमित्याह-पट्टीबहुवचनस्याम इति । सर्वेषाम्, विश्वेषाम् इति । सर्वविश्वशब्दाभ्यामनेन सामा-४५ देशे “पट्टह्यस्योक्ति” इत्येते “नाम्यन्तसां” इत्यनेन षत्वम् । अथात्रावर्णचंनिपातेन जात सामादेश कथं तद्विघातहेतोरस्त्वस्य निमित्तं सादि-

‘संनिपातलक्षण०’ न्यायस्यानित्यत्वादेत्त्वम् । सर्वासाम्, विश्वासाम्, परमसर्वेषाम्; परमसर्वासाम् । सर्वादेरित्येव । द्वयानाम्, द्वितयानाम् । कथं ? ‘व्यथां द्वयेपामपि भेदिनीभृताम्’ इति, अपपाठ एषः । तत्सवन्धिविज्ञानादिह न भवति—  
३ प्रियसर्वाणाम् । अवर्णसेति किम् ? भवताम्, भवतीनाम् ॥ १५ ॥

नवभ्यः पूर्वैभ्य इस्मात्स्मिन् वा ॥ १ । ४ । १६ ॥

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो यथास्थानं ये इ स्मात् स्मिन् आदेशा उक्तास्ते वा भवन्ति । पूर्वे, पूर्वाः; पूर्वस्मात्, पूर्वात्; पूर्वस्मिन्, पूर्वे; परे, पराः; परस्मात्, परात्; परस्मिन्, परे । नवभ्य इति किम् ? ले, ल्यस्मात्; ल्यस्मिन् । पूर्वैभ्य इति किम् ? सर्वे, सर्वस्मात्; सर्वस्मिन् । पूर्वे, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व; अन्तर इति पूर्वादयो नव ॥ १६ ॥

९ आपो ङितां यैयास्यास्याम् ॥ १ । ४ । १७ ॥

आवन्तसवन्धिनां स्यादेङितां—डेङसिङसङ्गीनां स्थाने यथासंख्यं यै यास् यास् याम् इत्येते आदेशा भवन्ति । खट्वायै, खट्वायाः, खट्वायाः, खट्वायाम्; बहुराजायै, बहुराजायाः, बहुराजायाः, बहुराजायाम्, कारीषगन्ध्यायै, कारीषगन्ध्यायाः, कारीषगन्ध्यायाः, कारीषगन्ध्यायाम् । आप इति पकारः किम् ? कीलालपे । तत्सवन्धिविज्ञानादिह न भवति—बहुखट्वाय पुरुषाय, इह तु भवति—बहुखट्वायै विष्टराय इत्यादि ॥ १७ ॥

सर्वादेर्ङस्पूर्वाः ॥ १ । ४ । १८ ॥

१५ सर्वादेरावन्तस्य सवन्धिनां ङितां यैयास्यास्यामस्ते ङस्पूर्वा भवन्ति । सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याः, सर्वस्याम्;

ल्यत आह—संनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वादेत्त्वम् इति । सर्वासाम्, विश्वासाम् इति । सर्वविश्वशब्दाभ्यां “आत्” इत्यापि सामादेशः । द्वयानाम् इति । द्विशब्दात् “द्वित्रिभ्यामयद्” इत्ययदि, सर्वादित्वाभावादाम सामभावे, “ह्रस्वापध्” १।४।२। इति नामादेशः । द्वितयानाम् इति । द्विशब्दात् “अवयवात्तयद्” ७।१।१५।१। इति तयटि धामि सर्वादित्वाभावात् नामादेशः । कथम् ? इत्याशङ्कते, यथा यथादिप्रत्ययान्तस्य सर्वादित्वं नास्ति, तत्कथं द्वयेपामित्यत्र तत्कार्यमित्याशङ्क्यार्थं, परिहरति—अपपाठ एषः । शिष्टुपालवधे—१२ सर्गे, १३ श्लोक-स्तथा हि—“समूर्च्छदुच्छृङ्खलशङ्कनि स्वन स्वन प्रयाते पटहस्य शाङ्गिणि । सर्वाणि निन्ने नितरां महान्त्यपि व्यथां द्वयेपामपि भेदिनी-भृताम्” ॥१३॥ ऋणस्य पटहश्रवणाद् राज्ञां बलान्यभिभवशाङ्क्यां व्यधितान्यासन्, तथा गिरिस्थिता सिंहादयो जन्तवश्च किमिदमिति ससाध्वसा आसन्नित्यर्थः । प्रियसर्वाणाम्—अत्राम सर्वादिसवन्धित्वाभावात् न सामादेशः । भवताम्—भवच्छब्दस्यावर्णान्तत्वाभावात् सर्वादित्वेऽपि नाऽऽन साम् । एव भवतीनाम् ॥ १५ ॥

२४ नवभ्यः पूर्वैभ्य इस्मात्स्मिन् वा । पूर्वैभ्यो नवभ्य इस्मात्स्मिन् वा इत्यन्वयः । नवभ्य पूर्वैभ्य इति बहुवचनात् पूर्वादयो विज्ञायन्त इत्याह—पूर्वादिभ्य इति । पूर्वशब्दमादि कृत्वा नवप्रहणादन्तरशब्दपर्यन्तेभ्य इत्यर्थः । पूर्वादयश्च इस्मात्स्मिन् इति कार्यानुवादा-द्ब्रह्मणस्यैव च प्रस्तुतत्वाद् गणसङ्घिविष्ट एव गृह्यन्ते न सङ्गोपसर्जनीभूता इत्याह—यथास्थानमित्यादि । पूर्वशब्दात् जसृषिणीनामित्यादिनामो विभाषया भवन्तीति पूर्वे, पूर्वा इत्याद्युदाहृतम् । एवमन्यत्रापि । नवभ्य इति किम् इति । पूर्वैभ्य इत्याद्येव सृज्यता, तावतैव पूर्वं पूर्वा इत्यादिसिद्धेरिति प्रश्नः । ले, ल्यस्मात्, ल्यस्मिन्—त्यद्शब्दात् जसृषिण्यु अत्वादौ कृते नवभ्य इति वचनात् विकल्पाभावे नित्यमित्यादिषु कृतेषु सिध्यन्ति । पूर्वैभ्य इति किम् ? यदि पूर्वैभ्य इति नोच्येत तदा पूर्वादय एव नवेति न स्यादिति सर्वादावपि विकल्प स्यात्, तर्हिर्दि-  
३० शक्ति—सर्वे इत्यादि । नव पूर्वादीन् परिगणयति—पूर्वे, पर इत्यादिना ॥ १६ ॥

आपो ङिता यैयास्यास्याम् । पूर्वेषु सर्वादेरव्यभिचारेऽपि उत्तरसूत्रे सर्वादिप्रहणात् इह सामान्यमवगम्यत इत्याह—  
आवन्तसवन्धिनामिति । यैप्रत्यादेशानां चतुर्धात् ङिच्छब्दपरिग्रहीतानां चतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तम्येकवचनानामादेशिनामपि तावत्संख्यत्वात्  
३३ यथासंख्येन वृत्तिरित्याह—ङितां—डेङसिङसङ्गीनां स्थाने यथासंख्यमिति । खट्वायै, खट्वाया, खट्वायाः, खट्वायाम् इति । खट्वाशब्दात् डेङसिङसङ्गीनां स्थानेऽनेन यायाद्यादेशा । बहुराजायै इत्यादि । एव महवो राजानो यस्यामित्यादिविग्रहे “ताभ्यां वाप् ङिव” २।४।१५। इति ङिदापि “ङित्यन्त्यस्वरादे” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे पूर्ववत् ङितां यायाद्यादेशा । कारीषगन्ध्यायै इत्यादि । करीषस्येव गन्धो  
३६ यस्य स करीषगन्ध तस्यापत्य वृद्ध ऋतिविग्रहे “अत इन्” ६।१।३।१। इति इति, तस्य “अनार्षे वृद्धे” २।४।७।८। इति ध्यादेशे, “आत्” इत्यापि पूर्ववद्यैप्रत्यादेशा । आप इति पकारः किम् ? इति । सूत्रे आप इत्यत्र पकार किमर्थ इति प्रश्नः । कीलालपे इति । “कील”वधे, धातो “ऋच्छृष्टतानि” ८० ४७। इत्यालप्रत्यये कीलाल—मथ—जलमसृक् च तत्पूर्वात् पिबते “मन्वन्” ५।१।१४। इति  
३९ विधि, चतुर्थ्येकवचने पकारकरणाद्यादेशाभावे “ङ्गातोऽनाप” २।१।१०। इत्याकारलोपे रूपमेतत् । बहुखट्वाय पुरुषाय इति । बहव खट्वा यस्येति विग्रह “नोश्चान्वे” २।४।१६। इति ह्रस्वत्वे तस्य स्थानिवद्भावेऽपि चतुर्थ्येकवचनस्य तत्सवन्धित्वाभावाद्यादेशाभावः । बहुखट्वायै विष्टराय इति । ईषदसमासा खट्वायै “नात्र प्राग्बहुवो” ७।३।१२। इति प्राग्बहुवो ङेस्तत्सवन्धित्वात् यायादेशः । विष्टराय इति  
४२ तु विपूर्वात् स्तृणातेरन्वि गुणे “वे ङ” २।३।२३। इति पत्वे, “तवर्गस्य” इति टत्वे, विष्टरस्तत्सवन्धित्वात्पिबते भवति ॥ १७ ॥

सर्वादेर्ङस्पूर्वाः । आपो ङिता यैयास्यास्याम् इति समग्र सूत्रमत्रानुवर्तते । सर्वादेरापो ङितां यैयास्यास्यामो ङस्पूर्वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—सर्वादेरित्यादि । आवन्तस्येत्यापोऽर्थस्तु “प्रत्यय प्रकृत्यादे” इति विशेषणत्वात् अन्तपदलाभात् । ङस्पूर्वा इति । ङस्पूर्वा भ्येभ्यो इत्यर्थः, उकारो ङित्कार्यः । सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याः, सर्वस्याम् इति । सर्वशब्दादापि ङेऽसिद्धन्तीनां स्थाने पूर्वग

परमसर्वस्यै, परमसर्वस्याः, परमसर्वस्याम्; अस्यै, अस्याः, अस्याः; अस्याम्—अत्र परत्वात् पूर्वमदादेशे पश्चाद्भस् । तीयस्य विकल्पेन द्वित्कार्ये सर्वादित्वात्—द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । सर्वादिरिति किम्? सर्वा नाम काचित् सर्वायै । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियसर्वायै, अतिसर्वायै । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा दक्षिण-<sup>३</sup> पूर्वा दिक्—दक्षिणपूर्वायै, दक्षिणपूर्वायाः, दक्षिणपूर्वायाः, दक्षिणपूर्वायाम्; एषु बहुव्रीह्यादेरन्यपदार्थादिप्रधानत्वात् सर्वादित्वाभावात् । यद्येवं कथं दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वस्याम् इति? दक्षिणा चासौ पूर्वा चेति कर्मधारये भविष्यति । अथ च बहुव्रीह्यादेः सर्वादित्वाभावे कथं त्वकल्पितृकः, मकल्पितृकः, द्वकल्पितृकः, ककिसमग्रहचारी ?<sup>६</sup> इत्यादावकप्रत्ययः, उच्यते—अन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवाक् भविष्यति, अन्ये तु बहुव्रीह्यान्तरङ्गस्याप्यकः प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते कप्रत्यय एव त्वकल्पितृको मत्कल्पितृकः ॥ १८ ॥

दोस्येत् ॥ १ । ४ । १९ ॥

आद्यन्तस्य संबन्धिनोऽसौः परयोरेकारोऽन्तादेशो भवति । खट्वया, खट्वयोः; बहुराजया, बहुराजयोः; कारीपगन्ध्यया, कारीपगन्ध्ययोः । आप इत्येव ? कीलालपा ब्राह्मणेन । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—बहुखट्वेन पुरुषेण, इह तु भवति—ईषदपरिसमासा खट्वया, बहुखट्वया विष्टरेण ॥ १९ ॥

१२

सैप्रसूत्यादेशेऽनेन हस्पूर्वत्वे, अन्यस्वरादिलोपे चेमानि रूपाणि सिद्ध्यन्ति । एव परमसर्वस्यै इत्यादि । अस्मै, अस्याः, अस्याम्, अस्याम् इति । इदमशब्दाच्चतुर्थकवचनादौ “आदेर” इत्यवे, “लुगस्यादेत्यपदे” इत्यकारलोपे, “आत्” इत्यापि, “आपो क्तिमा” इति यायाधादेशे, “अनक्” इत्यदादेशेऽनेन हस्पूर्वत्वे “द्विन्यस्वरादे” इत्यकारलोपे भवन्ति । अथात्र यायाधादेशे कृते सर्वादित्वेन तत्पृष्ठभावितात् ङिति कृते १५ व्यञ्जनादित्वाभावात् कथमदादेश इत्याह—अत्र परत्वात् पूर्वमदादेशे पश्चाद्भस् इति । द्वितीयस्यै, द्वितीयायै इत्यादिरूपद्वयनिष्पत्तौ हेतुमाह—तीयस्य विकल्पेन द्वित्कार्ये सर्वादित्वात् इति । “तीयस्य द्वित्कार्ये वा” इत्यनेनेति शेष । प्रियसर्वायै इति । प्रिया सर्वा यस्या इति विग्रह, सर्वशब्दस्य प्राग्निपाते प्राप्ते “प्रिय” ३।१।१५७ इति प्रियस्य प्राग्निपात । अतिसर्वायै इति । सर्वा अतिक्रान्ता या १८ तस्यै इत्यर्थ, अत्र हेतुत्वसंबन्धित्वाभावात् नानेन हस्पूर्वो यायादेश, किन्तु “सर्वादयोऽस्यादी” ३।२।६१ इति यथासमय पूर्वस्य पुनरावे चतुर्थकवचनादे पूर्वेण सैप्रसूत्यादेश । दक्षिणपूर्वायै इत्यादेर्विग्रहमाह—दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्चेत्यादिना । दक्षिणपूर्वायै इत्यादि । पूर्वोक्तविग्रहे “दिशो रूढान्तराले” ३।१।२५ इति समासेऽन्यत् पुनरावादि कार्यं प्राग्बोध्यम् । एतेषु क्वचित्पदार्थप्रधानत्वात् क्वचित्पूर्वपदार्थप्रधानत्वात् २१ उपसर्जनत्वेन सर्वादित्वात्संबन्धित्वाभावात्सैप्रसूतीनां तत्पूर्वो हस् न भवतीत्याह—एषु बहुव्रीह्यादेरन्यपदार्थादिप्रधानत्वात् सर्वादित्वाभाव इति । एषु—प्रियसर्वायै, अतिसर्वायै, दक्षिणपूर्वायै इत्यादिषु । बहुव्रीह्यादेः—अत्रादिपदेन अतिसर्वायै इत्यत्र “प्रासव” ३।१।४७ इति विहिततत्पुरुषस्य ग्रहणम् । सर्वादित्वाभावात् इत्यत्र हेतुमाह—अन्यपदार्थादिप्रधानत्वात् इति । आदिशब्देन अतिसर्वायै इत्यत्र पूर्वप-२४ दार्थप्रधानत्वस्य ग्रहणम् । यद्येवम् इति । यद्युपसर्जनत्वेन सर्वादित्वात्संबन्धित्वाभावात्सदा दक्षिणपूर्वस्यै इत्यादावप्यन्यपदार्थप्रधानत्वेन सर्वादिसम्बन्धित्वाभावात् कथं हस्पूर्वोऽसा इति प्रश्नाथं । रामापत्ते—दक्षिणा चासौ इत्यादि । पुन पृच्छति—अथ च बहुव्रीह्यादेरिति । परेण बहुव्रीह्यादेरिति प्रागभिदधे तदेव अनुदितम्, अत आदे फल न निरीक्ष्यम् । त्वक पितास्य, अहक पितास्य, द्वको पुत्रावस्य, कको सम्राज्ञाचारिणे-२७ ऽस्येत्यादि विशिष्टा स्वदावेर्बहुव्रीह्यानुपसर्जनत्वेऽप्रधानत्वात् कथं “त्यादिसर्वादे ०” इत्यक् । समापत्ते—अन्तरङ्गत्वादित्यादि । अयमर्थ—अन्तरङ्गत्वात् सर्वायैभिधानमितिनाका तावद्भाव्य, पश्चात् पदान्तरसंनिधाने वर्तिपदार्थविशेषणान्यपदार्थविचक्षयां बहुव्रीहियेऽनुपसर्जनत्वात् प्राप्तेः सन्धिसन्धौ । अन्येऽपि इति । उत्पलादय, सूत्रकृत पाणिनेरपि “न बहुव्रीहौ” पा० १।१।२९। इति सूत्राक्षरैरयमेवार्थं प्रकाशते, परन्तु ३० तस्मिन्नेव सूत्रे गोनदीय आह—“अकच्छरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्ग मुकशशयो” इति भाष्यकृतुक्त्या त्वकल्पितृकस्यैवत्वमवधारयति । पाणिनेरपि च तदेव सम्मतम् “ययोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यात्” इति दिक् । आचार्यपाणिनि उत्पलादयश्च “न बहुव्रीहौ” इति सूत्रमारम्भ तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् बहुव्रीहिविषयभूते वाक्येऽपि सर्वादिकार्यस्याक प्रतिषेधमिच्छन्तः कप्रत्ययमेवेच्छन्ति, तन्मते—त्वकल्पितृको मत्कल्पितृक इति स्यात् ॥ १८ ॥

३३

दोस्येत् । दोसि एव इति पदच्छेद ।

दोसि—दाश्च ओश्च दोस्सिभिवि, समाहारे च कार्यायोगात् समाहारारेण समाहारौ निमित्तत्वेन नामविशेषणस्य आप इत्यनुवर्तमानस्य आदेशिनो विशेष्यत्वेन च लक्ष्यते इत्याह—आद्यन्तस्य संबन्धिनोऽसौरिति । “षष्ठा अन्तस्य” ७।४।१०६ इति न्यायादावन्तसमुदायान्यस्यैव भवतीत्युक्तमेकारोऽन्तादेश इति । खट्वया—अत्र र्धापनाद एत्त्वम्, ततोऽन्या-६६ दोसोरेत्त्वेऽयादेशे च भवति । कारीपगन्ध्यया, कारीपगन्ध्ययोः इति । कारीपगन्ध्याशब्दात् दोसो पूर्ववेदेत्त्वाद् विद्यते । आप इत्यनुवर्तमानस्य फलमाह—आप इत्येव ? कीलालपा ब्राह्मणेन इति । कीलाल पितृतीति विग्रहे विच कीलालपास्तस्माद्वायां “लुगातो ३२ नाम” इत्याकारलोपे संयोगे च भवति । बहुखट्वेन पुरुषेण इति । बहव खट्वा यस्येति विशिष्ट “गोबान्ते” इति हस्त्वे तस्य स्थानिचद्वा-वेऽपि टायास्तसंबन्धित्वाभावात्सैप्रसूत्यादेशाभावात् । बहुखट्वया विष्टरेण इति । ईषदपरिसमासा खट्वेस्य “नाम प्राग्बहुवौ” इति प्राग्बहुवौ दोसो परयो पूर्व आदिशा इति सन्देश स्यात् ॥ १९ ॥

४२

औता ॥ १ । ४ । २० ॥

आवन्तस्य संवन्धिना औता प्रथमाद्वितीयाद्विचनेनौकारेण सहावन्तस्यैवैकारोऽन्तादेशो भवति । माले तिष्ठतः, माले पश्य, एवं घहुराजे नगयौ; फारीपगन्धे कन्धे । आप इत्येव ? कीलालपौ पुरुषौ । तत्संवन्धिविज्ञानादिह न भवति- बहुखट्टौ पुरुषौ, इह तु भवति-ईपदपरिसमाप्ते खट्टे, बहुखट्टे मञ्चकौ ॥ २० ॥

इदुतोऽखेरीदूत् ॥ १ । ४ । २१ ॥

७ क्षिशब्दवर्जितस्येदन्तस्योदन्तस्य च औता सह यथासंख्यमीत् ऊत् इत्येतावन्तादेशौ भवतः । मुनी तिष्ठतः, मुनी पश्य; साधू तिष्ठतः, साधू पश्य । इदुत् इति किम् ? वृद्धौ, नद्यौ, वृद्धौ । औता इत्येव ? मुनिः, साधुः । सख्यौ, पत्यौ इत्यत्र तु विधानसामर्थ्यात् न भवति । अखेरिति किम् ? अतिस्त्रियौ पुरुषौ । कथं शस्त्रीमतिक्रान्तौ अतिशस्त्री पुरुषौ ? 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इति प्रतिषेधामावात् । इदमेव चाक्षिग्रहणं ज्ञापकम् 'परेणापीयादेशेनेदुत्कार्यं न चाप्यते' इति तेन-अतिस्त्रियः, सहस्रयस्तिष्ठन्ति, अतिस्त्रिये, अतिस्त्रेः, अतिस्त्रीणाम्, अतिस्त्रौ निषेहीत्यादि सिद्धम् ॥२१॥

जस्येदोत् ॥ १ । ४ । २२ ॥

१२ इदन्तस्योदन्तस्य च जसि परे यथासंख्यमेत् ओत् इत्येतावन्तादेशौ भवतः । मुनयः, साधवः, बुद्धयः, धेनवः; अतिस्त्रियः । जसीति किम् ? मुनिः, साधुः ॥ २२ ॥

औता । आप इत्यनुवर्तते एदिति च । आप इत्यस्य नामविशेषणतया आवन्तस्येत्यर्थः । औता-सूत्रे विशेषस्यानिर्देशात् सामान्येन प्रथमाद्वितीयाद्विचनेनौकारेणेत्याह श्रुतौ । आवन्तस्येत्येकापि षष्ठी द्विचार्थवशाद् भिद्यते सवन्धेन स्थानितया चेत्युक्तं श्रुतौ-आवन्तस्य संवन्धिना औता सह आवन्तस्यैव स्थाने एकारोऽन्तादेश इति । नन्वेकेन सवन्धेन चरितार्थत्वात् स्थानसवन्धो न पठते, एकारस्यादेशत्वात्तस्य च स्थानमन्तरेणासमवात् प्रत्यासत्तेश्चस्यैव स्थानित्वं परिकल्प्यते इत्यदोषः । एव पूर्वसूत्रेऽपि द्रष्टव्यम् । माले तिष्ठतः, माले पश्य इति । माला औ इत्यत्र औकारेण सहावन्तस्थानेनैत्वम् । तिष्ठतः, पश्य इत्यनुप्रयोगो प्रथमाद्वितीयाद्विचनेनो क्रमेणाभिव्यक्त्यर्थः । एवं घहुराजे इत्यादि बोध्यम् । कीलालपौ पुरुषौ इति । आवन्तत्वाभावादनौकारेण सह नैत्वम् । बहुखट्टौ पुरुषौ इति । आवन्तसंवन्धित्वाभावादाकारस्य न भवत्यावन्तस्य स्थानिवद्भावेनैत्वम् । बहुखट्टे मञ्चकौ इति । अत्रौकारस्य आवन्तसंवन्धि-त्वात्तेन सहावन्तस्यैव भवति ॥ २० ॥

इदुतोऽखेरीदूत् । औता इत्यनुवर्तते । अखेरिदुत् औता ईदुत् इत्यन्वयः । अखेरित्यस्यार्थमाह-क्षिशब्दवर्जितस्य इति । त्रिशब्दस्यावयवो यथासाक्षिकारो न भवति ततस्तस्य भवतीत्यर्थः । इदुत् इति समाहारबन्धात् षष्ठी, तस्य च नामविशेषणतया इदन्तस्योदन्तस्य चेत्यर्थत्वादाह-इदन्तस्येत्यादि । अखेरितीदन्तस्येत्यस्य विशेषण, नोदन्तस्येत्यस्य, असमवात् । आदेशादेशिनो समसंख्याकत्वेनाह-यथासंख्यमित्येति । "पठया अन्तस्य" इति न्यायादिदन्तोदन्तसमुदायान्तस्यैव भवत इत्युक्तमीत् ऊत् इत्येतावन्तौ आवेशौ इति । मुनी इति । मुनिशब्दात् प्रथमाद्वितीयाद्विचनेनौकारेणोदन्तस्य मुनिशब्दस्थान्येकारस्य स्थाने परेणौता सह ईदन्तादेशः । साधू इति । साधुशब्दान्योकारस्य पूर्ववदौता सह ऊदन्तादेशः । इदुत् इति किम् ? इति । अखेरीदूत् इत्येव सूत्र्यतां तावतैव मुनी साधू इत्यादिसिद्धेरिति प्रश्नः । वृद्धौ, नद्यौ, वृद्धौ इति । अकारान्तवीर्षकारान्तवीर्षकारान्तानामेषामन्तस्य ईदुत् औतादेशो मा भूतामितीदुत् इति । मुनिः, साधुः-अत्र सिप्रत्ययेन सहोदन्तोदन्तयोरेत्यस्य मा भूतामीत् ऊत् इत्येतावन्तादेशौ इति औता इति । सख्यौ, पत्यौ इति । अत्र सखिपतिशब्दाभ्यां सप्तम्येकवचनस्य "केवलसखिपतेरौ" १।४।२६ । इत्यौकारे ईकारात् पर औकारो भस्ति इति कथं तेन सह ईकारादेशो न भवतीत्याह-अत्र तु विधानसामर्थ्यादित्यादि । अयमर्थः-यथार्थोकारे कृतेऽपि सखिपतिशब्दाभ्यामनेन ईकार स्यात् तदा प्रक्रियालाघवार्थं तत्रैव ईकारं विदध्यात्, आवहित्तयेति ज्ञायते न भवति विधानसामर्थ्याधीकारः । अखेरिति किम् ? सूत्रेऽखेरित्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । अतिस्त्रियौ इति । स्त्रियम-तिक्रान्तावित्यर्थः, "गोशान्ते०" इति ह्रस्वत्वे जिवर्जनावीकाराभावे "जिया" २।१।५४ । इतीयादेशो रूपम् । आशङ्कते-कथमिति । शस्त्री-मतिक्रान्तौ अतिशस्त्री पुरुषौ इति । अत्र शीलस्य सत्त्वेनानेन कथमीकार इति प्रश्नकर्तुराशयः । समाधत्ते-अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इति प्रतिषेधामावात् इति । शस्त्रीशब्दस्यार्थवत्त्वात्तदेकदेशस्य क्षिशब्दस्थानार्थकत्वादाखेरिति प्रतिषेधामाव इत्यर्थः । नन्वखेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः, परत्वादाखेरित्यवित्यत्रेयादेशेनैव भाव्यमत आह-इदमेव चेत्यादि । ज्ञापकविषये वैयर्थ्यं प्रागुपपादितमिदानीं वाक्यान्तरकल्पनामाह-परेणापीयादेशेनेदुत्कार्यं न चाप्यते इति । परेण अपि इयादेशेन-सूत्रपाठे परित्यजेनापि "जिया" इत्यनेन । इदुत्कार्ये-इदुतोऽखेरीदूत्, "जस्येदोत्", "जस्येदिति", "इ पुंसि ना", "जिहो" इत्यादिविहितम् । ननु ज्ञापकमस्तु ज्ञापकं मास्तु इति चेदुच्यते-यदि सूत्रेऽखेरिति न स्यात्तर्हि अतिस्त्रियावित्यत्रानेन ईकार स्यात्, सति च तस्मिन् क्षिशब्दवर्जनापीरत्व न भवति इत्यखेरित्यस्य सारौ चारितार्थम् । ज्ञापनफलमाह-तेन अतिस्त्रियः, सहस्रयः, अतिस्त्रिये, अतिस्त्रेः, अतिस्त्रीणाम्, अतिस्त्रौ इत्यादौ "जस्येदोत्" इत्यादि कार्यं भवत्येव न विधादेशः ॥ २१ ॥

४२ जस्येदोत् । इदुत् इत्यनुवर्तते । नामविशेषणतया च तदन्तमिति । इदन्तस्योदन्तस्य च जसि एदोत् इत्यन्वयसदर्थमाह-इदन्तस्येत्यादि । यथासंख्यमन्त्रसंख्यात् "आसन्न" इति वा इकारस्यैकार उकारस्यैकार इति विवेकः । इमौ एदोत् "इवर्णदिरस्ते खरे०" इत्यस्यपादतया आधक्ये, तेनैतयो कृतमोरव्यवायेनौ भवतः । मुनयः-मुनिशब्दाभ्यासि परस्वेऽनेनायादेशो च स्तवित्यर्थः । एव साधव इत्यादि । ४५ मुनिः, साधुः इति । इदन्तोदन्तयो शब्दयो ली नैदोत्, जसीत्युक्ते ॥ २२ ॥

**द्वितीयः ॥ १ । ४ । २३ ॥**

अदिति इति स्यादौ परे इदन्तस्योदन्तस्य च यथासंख्यमेदोतावन्तादेशौ भवतः । मुनये, साधवे, अतिस्रये, मुनेः, साधोः, अतिस्रेः आगतं खं वा, बुद्धये, धेनवे; बुद्धेः, धेनोः आगतं ख वा । द्वितीति किम् ? मुनिः, साधुः । अदिति ३ किम् ? बुद्धैः, धेनैः; बुद्ध्याः, धेन्वाः आगतं खं वा; बुद्ध्याम्, धेन्वाम् । स्यादावित्येव ? शुची, पट्टी ॥ २३ ॥

**टः पुंसि ना ॥ १ । ४ । २४ ॥**

इदुदन्तात् परस्य पुंसि पुंविषयस्य द्दन्तुतीयैकवचनस्य स्थाने ना इत्ययमादेशो भवति । मुनिना, साधुना, अति- ३ स्त्रिणा; अमुना-अत्र "प्रागिनात्" ॥ २ । १ । ४८ ॥ इति वचनात् पूर्वसुत्व पश्चात् नाम्नात् । पुंसि इति किम् ? बुद्ध्या, धेन्वा । कथममुना कुलेन ? "अनाम्सरे नोऽन्तः" ॥ १ । ४ । ६४ ॥ इति मविष्यति ॥ २४ ॥

**डिडौ ॥ १ । ४ । २५ ॥**

इदुदन्तात् परो डिः सप्तम्येकवचनं लौर्भवति, अभेदनिर्देशश्चतुर्थ्येकवचनशङ्कानिरासार्थः; ङकारोऽन्यस्वरादि- लोपार्थः । मुनौ, साधौ, बुद्धौ, धेनौ, अतिस्रौ; विशतौ । अदिदित्येव ? बुद्ध्याम्, धेन्वाम् ॥ २५ ॥

द्वितीयः । अत्र इदुत् इति एदोदिति चानुवर्तते । इदुतोऽदिति इति एदोदित्यन्वयः । न दिव् अदित् तस्मिन्नदिति । दितो १२ क्तिस्तु वक्ष्यते "त्रिणा ङितां वा दैदासदासदा" इत्यनेन । सूत्रार्थमाह—अदिति इति इत्यादिना । मुनये, साधवे, अतिस्रये इत्यादि । मुनिसाधुअतिस्रयेभ्योऽदिति इति स्यादौ केल्लिङ्गस्तु परेषु यथासंभवमेदोतोऽन्तादेशोर्यथादेशयोश्च "एदोद्भ्या ङसिडसो र" १।४।३५ इति रादेशे विसर्गे च सिध्यन्ति । आगतं खं वा—अनुप्रयोगानिमौ पद्यम्या पद्यार्थैकवचनयो क्रमेणाभिव्यक्तयर्थौ इति पुंशो-१५ दाहरणानीमानि । बुद्धये, धेनवे इत्यादि लोल्लोदाहरणम् । नपुसके त्वसंभित्वात् न दर्शितम्, तत्र हि "अनाम्सरे" १।४।६४ इति नान्तेन भाव्यम् । बुद्ध्यै इत्यादि । अत्रादिति प्रतिषेधाद्दैदासादिषु एदोतौ न भवतः । नन्विकारोकारमात्रापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवदोतो म्याताम् न दायादेशा, तेषां स्त्रीत्वविशिष्टेकारोकारापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्, कृतयोरप्येदोतोरिकारोकाराभावात् वर्णविधित्वाच्च स्थानिवत्त्वाभावात् दैदा- १८ साद्यादेशाभावात् प्रतिषेधो न युक्तः । न च तदन्तादादेशविधानात् अवर्णविधित्वात् स्थानिवत्त्वम्, अप्रधानेऽपि वर्णविधिप्रतिषेधात् । एव तर्हि अनवकाशत्वात् पूर्वैर्द्वैप्रसृत्य आदेशा प्रवर्तन्ते पश्चाददिति प्रतिषेध, तथापि इदुत्सनिपातेन जायमानत्वात् दैदासाद्यादेशेनैव एदो- द्वाधो भविष्यति इत्यादिति प्रतिषेधो व्यर्थः । यद्येव यत्त्वमपि न प्राप्नोति, तस्माददिति प्रतिषेधो वर्णविधायक न्यायो नोपतिष्ठते इति ज्ञाप- २१ नार्थः, तेन दैदासादिषु कृतेषु एदोतौ न भवतः, यत् त्वं भवति । स्यादाविधिकारफलमाह—स्यादावित्येव ? शुची, पट्टी इति । शुक्तिपट्टशब्दाभ्याम् "इतोऽन्त्यार्थात्" २।४।३२, "स्वरादुतो गुणादस्वरो" २।४।३५ इति च ङप्रत्यये स्यादधिकारात् क्तिन्वेऽप्येदोदभावे वैर्षत्वे वत्ते च सिध्यत ॥ २३ ॥ २४

टः पुंसि ना । इदुत् इत्यनुवर्तते । इदुत् पुंसि ट ना इत्यन्वयः । अत्र ट इति तृतीयेकवचनस्य स्थानित्वेनोपादानादिदुत् इति षष्ठान्तमपि "अर्थवशाद्धिभक्तिपरिणाम" इति न्यायेन षष्ठम्यन्तमित्याह—इदुदन्तादिति । मुनिना इति । मुनीति इदन्तात् परस्य टो नाऽऽदेशो भवति । एव साधुनेसादि । अमुना इति । अदसृशब्दाद्यात्त्वामत्वेऽकारस्य ङक्ति "मोऽवर्णस्य" २।१।४५ इति मत्वे उक्ते चानेन नाऽऽदेशः । २७ अथात्रात्वादौ कृते "सादुवर्णोऽनु" २।१।४७ इति सूत्रेऽन्विति वचनात् पूर्वमिनादेशेन भाव्यमित्यत आह—अत्र प्रागिनात् इत्यादि । बुद्ध्या धेन्वा इति । पुंसि वचनादत्र न भवति । कथमिति । अदसृशब्दात्तृतीयेकवचनेऽत्वादौ पुंसि वचनात् नपुसके नादेशाभावे कथममुना कुलेनेति शकार्थः । समाधत्ते—"अनाम्सरे" इत्यादि ॥ २४ ॥ ३०

डिडौ । इदुत् इत्यनुवर्तते अदिदिति च । इदुतो डिडौ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—इदुदन्तादित्यादि । अथ कस्मात् "डिडौ" इत्ययम- भेदनिर्देशो यावत् स्थानिन एकवर्णत्वादन्याभावात् स्थानबध्ना भेदनिर्देशेऽपि न किञ्चिद्विनश्यति, नैव, भेदनिर्देशो हि ङेरिति रूपस्य साम्या- षतुर्थ्येकवचनस्यापि प्रतिषेधे स्यादित्याह—अभेदनिर्देश इत्यादि । ङकारस्याप्रयोगिणः प्रयोजनमाह—ङकारोऽन्यस्वरादिलोपार्थः ३३ इति । "द्वितीयस्वरादे" इत्यनेनेति माव । मुनौ इति । मुनिशब्दात् ङं तस्य स्थाने डौ च मुनिशब्दान्तेकारलोपे सयोगे च भवति । एव साधावित्यादि । अदित्यनुवर्तनफलमाह—अदिदित्येव ? बुद्ध्याम्, धेन्वाम् इति । यथात्रादिति नानुवर्तते तदा दामादेशस्य स्थानिवत्त्वेन तदन्तरिकत्वात्तत्रापि स्यादित्यर्थः । ननु दाम्करणसामर्थ्यादेव ङीर्न स्यात् किं व्याश्रुतावदिति दर्शनेन ? न, "द्वितीयः" इत्येवनिषेधकत्वेन तस्य इह चरितार्थत्वात् वा स्यात् इति व्याश्रुतिः सफला, यथा "इश्च स्यात्" ४।३।४१ इत्यत्र सिचुलोपविधायकत्वेन हस्यकरणस्य चरितार्थत्वे गुण- वाचक क्लृप्त्यणम् । किं च यथासंख्यार्थं "त्रिणा ङितां" इत्यत्र दाम्प्रहण कार्यम्, अन्यथा इदं सूत्रमन्यथा उत्तरं चान्यथा कार्यं स्यात्, तथा च गरीयसी रचना स्यादिति । यद्वा अभेदनिर्देशस्याविह्वार्यत्वात् भिन्नतस्य केन भवति ॥ २५ ॥ ३५



## केवलसखिपतेरौ ॥ १ । ४ । २६ ॥

केवलसखिपतिभ्यामिदन्ताभ्यां परो ङिरौर्भवति । सख्यौ, पत्यौ; पताविति कश्चित् । इत इत्येव ? सखायमि-  
रच्छति क्यनि दीर्घत्वे, सखीयतीति किपि, यलोपे सखीः, सख्यि; एवं पत्यि । केवलग्रहणं किम् ? प्रियसखौ, नरपतौ ।  
पूजितः सखा सुसखा, तस्मिन् सुसखौ; एवमति सखौ । ईपद्भूः सखा बहुसखा, बहुसखौ, एवं बहुपतौ; एषु पूर्वेण  
डौरैव । अन्ये तु बहुप्रत्ययपूर्वादिपि पतिशब्दादौकारमेवेच्छन्ति, तन्मते-बहुपत्यौ ॥ २६ ॥

## न ना ङिदेत् ॥ १ । ४ । २७ ॥

केवलसखिपतेः परस्य टावचनस्य नाऽऽदेशो ङिति परे एकारश्च य उक्तः स न भवति । सख्या, पत्या; सख्ये, पत्ये,  
सख्युः, पत्युः आगतं ख वा; सख्यौ, पत्यौ । ङिदिति विशेषण किम् ? जस्येद् भवत्येव-पतयः । केवलादित्येव ? प्रियस-  
खिना, सुसखिना, बहुसखिना, साधुपतिना, बहुपतिना; प्रियसख्ये, नरपतये, प्रियसखे; नरपतेः आगतं खं वा । बहु-  
प्रत्ययपूर्वादिपि पतिशब्दात् प्रतिषेध केचिदिच्छन्ति-बहुपत्या, बहुपत्ये, बहुपत्युः आगतं खं वा । अन्ये तु सख्यन्तादिपि  
प्रतिषेध पूर्वेण डेरौत्वं चेच्छन्ति-बहवः सखायो यस्य तेन बहुसख्या, एव बहुसख्ये, बहुसख्युरागतं खं वा, बहुसख्यौ  
२२ निषेहि ॥ २७ ॥

## स्त्रिया ङितां वा दैदासदासदाम् ॥ १ । ४ । २८ ॥

स्त्रियाः स्त्रीलिङ्गादिदुदन्तात् शब्दात् परेषां तत्संबन्धिनामन्यसंबन्धिनां वा स्यादेङितां-डेङिसिङसङ्गीनां स्थाने यथा-

- १५ केवलसखिपतेरौ । केवलसखिपतेरिति समाहारद्वन्द्वात् ङिति । अत्र ङिरित्यनुवर्तते । इदुत इत्यनुवृत्तावप्येतयोस्कारान्तत्वा-  
शोभादिदेव विशेषणमित्याह-इदन्ताभ्यामिति । सख्यौ, पत्यौ इति । सखिपतिशब्दाभ्यां परस्यानेन डेरौकारे यत्वे च रूपे, पूर्वस्य  
“ङिङौ” इत्यस्यापवादोऽनेन डेरौकार । ननु पतिशब्दात् केवलादिपि डेरौरपि भवति, प्रयुज्यते व्यक्तावेव पठ्यते पताविति तत्कथमेतदि-  
१८ त्याह-पताविति कश्चित् इति । कश्चिदित्येकवचननिर्देशोऽवधारण इति, कश्चिदित्यनेन दुर्गासिंहश्रुतपालादिग्रहणम् । नन्वनयोस्कारान्तत्वेन  
व्यभिचाराभावादिदन्ताभ्यामिति विशेषण न सार्थकं, यत्रापि क्यषादौ ङीर्षोऽस्ति तत्रापि स्वरूपान्यथात्वात् न भविष्यति, नैव, तत्रैकदेशविकृ-  
तस्य तद्भङ्गात्वात् स्यादित्याह-इत इत्येव इत्यादि । सखायमिच्छति इति विग्रहे । क्यनि इति । “अमाव्ययात् क्यन् च” ३।४।२३। इत्य-  
२१ नेनेति शेष । दीर्घत्वे इति । “दीर्घान्वयस्य क्यन्चे च” ४।३।१०८। इत्यनेनेति भाव । सखीयति इति विग्रहे । किपि इति । “किप्”  
इत्यनेनेति शेष । यलोपे इति । “य्वो ष्व्यञ्जने ङक्” ४।४।१२१। इत्यनेनेति भाव । सखीरिति । ङीर्षेकारान्तसखीशब्दात् सौ अनुबन्ध-  
२४ याऽनुवर्णविधौ” इति न्यायात् किपि स्थानित्वे सति “य्वो ष्व्यञ्जने” इति यलोप कस्माज् भवति ? “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति न्यायात्-  
अन्तरङ्गे किवाश्रिते कार्ये यत्वमसिद्धं द्रष्टव्यम् । एवं-पूर्ववत् । पतिमिच्छतीति विग्रहे क्यनि ङीर्षत्वे पतीयतीति किपि यलोपे पतीस्त्वत्त्वात्  
सप्तम्येकवचने रूपमाह-पत्यि इति । तत एव ङौ यत्वे च रूपम् । केवलग्रहणं किम् इति । सखिपतिशब्दात् पूर्वेषु ङौभावे “सिख्यन्त्यस्वरादे” इत्य-  
२७ मिति प्रश्नकर्तुराशय । प्रियसखौ इत्यादि । एतेष्वनयो केवलग्रहणादन्यसहितयोरनेनोकाराभावात् पूर्वेषु ङौभावे “सिख्यन्त्यस्वरादे” इत्य-  
न्यस्वरादिलोप । पूजितः सखा सुसखा इति । “सु पूजायाम्” ३।१।४४। इति समास । “राजन् सखे” ७।३।१०६। इति अद् द्वु न  
भवति, “पूजास्त्वत्वे प्राक्यात्” ७।३।७२। इति निषेधात्, “ऋदुशनस्युक्त्वाऽनेहसख सेर्वा” १।४।८४। इति से स्थाने वादेशे सिध्यति । नन्वेषु  
३० ङीकाराभावे किं स्यादत आह-एषु पूर्वेण डेरैव इति । अन्ये त्विति । आचार्यपाणिनिप्रच्यतय, ते हि पिचज्ञापस्त्रावे “पति समास  
एव” पा० १।४।८। इति नियम्य बहुप्रत्ययपूर्वस्य पतिशब्दस्य समासाभावे पिचज्ञाया अभावात्पतो विधीयमानो ङौ इत्यदेशो न भवतीति बहुपत्या-  
वित्येव स्यात् इत्याह-तन्मते इति ॥ २६ ॥
- ३३ न ना ङिदेत् । प्रतिषेधस्य प्रातिपूर्वकत्वात् सर्वत्र प्रतिषेधे तद्विधानवैयर्थ्यप्रसङ्गादन्यस्य निष्प्राणिकत्वादानन्तरोक्तस्य केवलसखि-  
पतेरित्यस्यैव ग्रहणमित्याह-केवलसखिपतेरिति । ना इत्यस्य परिचयमाह-टावचनस्य नाऽऽदेश इति । “उ एषि ना” इति विहित ।  
ङिदेदित्यस्यार्थमाह-ङिति परे एकारश्च इत्यादि । सखिपतेर्गाङ्गिदेता सह न यथासंख्यम्, “सखितीर्षीती” १।४।३६। इति सूत्रे खिग्रहणात्,  
३६ “सख्युरितोऽशावैत्” १।४।८३। इति निर्देशाद् वा । सख्या, पत्या इत्यादि । सखिपतिशब्दाभ्यां टायां ङिति वाऽनेन नादेशस्य ङिदेकारस्य च  
प्रतिषेधे यत्वाद् भवति । आगतं खं वेति । पञ्चमीपञ्चमेकवचनयो रूपस्य समानत्वादमित्यन्वयार्थमनुप्रयोग । सख्यौ इति । अत्राऽऽदेशे ङित्वे  
“सिख्यदिति” इति प्राप्तेति न द्वु पूर्वम्, यतस्त्वद्वाचक “ङिङौ” ततोऽपि “केवलसखि” इति औत्सव्यं, ततस्त्वादेशोति न्यामात् स्यादित्ये सति  
३९ एवं प्राप्त निषिद्धम् । ङिदित्येतो विशेषणाभावे उर्वप्रत्ययेऽप्येकारस्य प्रतिषेध स्याद्विशेषाभावादित्याशयेन प्रश्नपूर्वकं समाधत्ते-ङिदिति  
विशेषणं किम् ? इत्यादि, जस्येद्भवत्येव पतय इत्यन्तेन । प्रियसखिना इत्यादि । सखिपतिशब्दात् केनकेति विशेषणेषु नाऽऽदेशो  
ङिदेदादेशश्च भवति । मतान्तरसुपन्यस्यति-बहुप्रत्ययपूर्वादिपि इत्यादि । केचित् इति । आचार्यपाणिनिप्रच्यतय । तन्मते उवाहरति-  
४२ बहुपत्या इत्यादि । अत्रत्य तत्त्वं सि० कौ० तत्त्वबोधिन्यां “पति समास एव” इति सूत्रे स्पष्टमिति तत एव विभावनीयम् । मतान्तरमाह-  
अन्ये तु इत्यादि । इदं त्वपाणिनीयमपि मतं कस्यचन प्राच संभाव्यते । प्रतिषेधं-“न ना ङिदेत्” इत्येतम् । पूर्वेषु ङेनैत्वमिति । “केवल-  
सखिपतेरौ” इत्यनेनेति भाव, तन्मते विश्वोदाहरति-बहवः सखायो यस्येत्यादि ॥ २७ ॥
- ४५ स्त्रिया ङितां वा दैदासदासदाम् । “पत्युर्ना” २।४।४८। इति निर्देशात् सखिपती नावुवर्तते । स्त्रिया इति विशेषणस्य  
विशेष्यसापेक्षत्वात् सखिपतिभ्यां परेषां ङितां ङितां इत्येवमादिविशेष्यविधिनिराप्रातत्वात् दिक्करणस्य द्वु प्रयोजनत्वात्  
सामान्यमिदुदन्तामधिकृतं निमित्तं गम्यत इत्याह-इदुदन्ताच्छब्दादिति । इह षष्ठीमन्तरेण तत्त्वबन्धिशिष्यानामावात् सामान्यमवगम्यत

सङ्घं दै दास् दास् दाम् इत्येते आदेशा वा भवन्ति, दकारो "द्वित्यदिति" ॥ १ । ४ । २३ ॥ इति विशेषणार्थः ।  
 बुद्धौ, बुद्धये, बुद्ध्याः, बुद्धेः आगतं स्वं वा, बुद्ध्याम्, बुद्ध्यै, धेन्वै, धेनवे, धेन्वाः, धेनोः, धेन्वाम्, धेनौ, एवं मुष्ट्यै,  
 मुष्ट्ये, इष्ट्यै, इष्टवे, शुच्यै, शुचये; पट्यै, पट्ये, पल्यै, पत्ये, जीवपत्यै, जीवपत्ये स्त्रियै; कन्या पतिर्यस्य यस्या वा कन्या-  
 ३ पत्यै, कन्यापत्ये, एव प्रियबुद्ध्यै, प्रियबुद्धये; प्रियधेन्वै, प्रियधेनवे, प्रियाशान्ये, प्रियाशनये, अतिशकट्यै, अतिशकट्ये  
 स्त्रियै पुरुषाय वा, एषु समासार्थस्य पुरुषत्वेऽपि पत्यादिशब्दानां स्त्रीत्वमस्ति । अन्ये तु पुरुषस्य समासार्थत्वे सति  
 नेच्छन्ति, तन्मते-प्रियबुद्धये, प्रियधेनवे पुरुषापत्येव भवति । अन्यस्तु पुरुषस्यैव समासार्थत्वे सति इच्छति न स्त्रियाः,  
 ६ तन्मते-अतिशकट्यै, प्रियधेन्वै पुरुषाय इत्यत्रैव भवति, न त्वतिशकट्ये, प्रियधेनवे स्त्रियै इत्यत्र । स्त्रिया इति किम् ?  
 सुनये, साधवे । इदुत इत्येव ? गवे, नावे ॥ २८ ॥

श्रीदूतः ॥ १ । ४ । २९ ॥

निल्लीख्णादीकारान्तादकारान्ताच्च शब्दात् परेषां तत्सवन्धिनामन्यसंवन्धिनां वा स्यादेर्हितां स्थाने यथासङ्घं  
 दै दास् दास् दाम् इत्येते आदेशा भवन्ति । नद्यै, नद्याः, नद्याः, नद्याम्, लक्ष्यै, लक्ष्याः, लक्ष्याः, लक्ष्याम्, कुरो-  
 १२ रपसं स्त्री "दुनादि०" ॥ ६ । १ । ११८ ॥ इत्यादिना ञ्यः, तस्य "कुरोर्वा" ॥ ६ । १ । १२२ ॥ इति लुपि,  
 "उतोऽप्राणिनश्चा०" ॥ २ । ४ । ७३ ॥ इत्यादिना ऊङि-ऊरुः कुर्वै, कुर्वीः, कुर्वीः, कुर्वीः, कुर्वीः, वध्वै, वध्वाः, वध्वाः;  
 वध्वाम् । एवं ब्रह्मबन्ध्वै, ब्रह्मबन्ध्वाः, ब्रह्मबन्ध्वाम्, वर्षाभ्यै, वर्षाभ्याः, अतिलक्ष्यै, अतितत्त्वै, अतिवध्वै स्त्रियै पुरुषाय

इत्युक्तं—तत्संवन्धिनामन्यसंवन्धिना वेति । दकारस्याप्रयोगेण प्रयोजनमाह—दकारो इत्यादिना । बुद्ध्यै, बुद्धये इत्यादि । बुद्धि- १५  
 शब्दात्तुर्थीपश्चमीपश्चीसप्तम्येकत्रचनानां दायाद्यादेशो यत्वे पक्षे "द्वित्यदिति" इत्येदादेशोऽयादेशश्च । आगतं स्वं वा इत्युपप्रयोग पश्चमीपक्षेक-  
 वचनयोरभिव्यक्त्यर्थं । धेन्वै इत्यादि । धेनुशब्दात् द्विता दायाद्यादेशो यत्वे पक्षे "द्वित्यदिति" इत्येदादेशश्चादेशश्च । मुष्ट्यै, मुष्टये इति । 'सपि-  
 १६ भित्ताहृल्लि पाणिर्मुष्टि' इति श्रीदेम, पुत्रालिङ्गोऽयम्, स्त्रिया वृत्तोऽङ्गिद्विजम् इत्येदादेशश्चादेशश्च । मुष्ट्यै, मुष्टये इति । 'पात्रके ङुचि मास-  
 १७ र्मासि चात्पुषे पुंसि मेधे सिते त्रिषु' इत्यमरात्रिलिङ्गत्वे मेध्यसिन्तार्थकङ्गुचिवाच्यस्य । पट्यै, पट्ये इति । 'कठे तु ङुच्छगदमे दक्षमन्दागदेषु तु ।  
 पट्टे द्वौ वाच्यलिङ्गौ च' इत्यमराद्वाच्यलिङ्गत्वेन पट्टशब्दस्य स्त्रियां वर्तमानत्वम् । पत्यै, पत्ये इति । 'पतिर्धेव ना त्रिधोरो' इति विश्व, ईशार्थ- २१  
 कपतिशब्दस्य त्रिलिङ्गत्वेन क्रीत्व बोध्यम्, अत्र दायादेशाभावपक्षे पत्ये इति तु "न ना ङित्वे" इति निषेधाद्बोध्यम्, तेन "द्वित्यदिति" इति न  
 प्रवर्तते । जीवपत्ये इति । जीवस्य पतिरिति विग्रहः । अनेन दायादेशाभावे "द्वित्यदिति" इत्येकारान्तादेशो रूपमाह—जीवपत्ये इति ।  
 "न ना ङित्वे" इति निषेधस्तु न प्रवर्तते, केवलसंक्षिप्तैरित्युच्यते । कन्यापत्यै इत्यस्य विग्रहमाह—कन्यापतिर्यस्येत्यादि । कन्याया पति- २५  
 रिति विग्रहो जीवस्य पतिरितिपक्ष कार्यः । तत्र तत्कारणे तु पतिशब्दस्येदन्तस्य जीवामावाहायादेशाभावात् स्यात्, न वाच्यमेवन्तर्हि जीवपत्ये  
 इत्यत्र पूर्ववत् पतिशब्दस्य क्रीत्वामावात् कथं दायादेशः इति, यतो हि तत्र तस्मिन्विग्रहे स्त्रिया पतित्वे समवदुक्तिकं, पुत्रवर्जीवस्य पतित्वे स्त्रिया  
 सप्तमवात्, किन्तु कन्याया पतित्वे स्त्रियां नितरा न संभवतीति पुरुष एव समवेन तदन्तवैरतिपतिशब्दस्य बहुव्रीहौ विना क्रीत्वान्तवैरिति २७  
 संक्षेपः । एवं प्रियबुद्ध्यै इति । प्रिया बुद्धिर्यस्य यस्या वेति विग्रहः, पूर्ववदन्यत्सर्वं बोध्यम्, पक्षे यथा प्राप्तम् । एव प्रियधेन्वै इत्यादि  
 ३० बोध्यम् । प्रियाशान्ये इति । 'दम्पोलिरशनिर्द्वयो' इत्यमरात् पुंसि स्त्रिया च वर्तमानत्वमशनिशब्दस्य । अतिशकट्यै इति । शकटवाची शक-  
 टिशब्द स्त्रियां वर्तते, तामालिकान्तोऽतिक्रान्ता वेति विग्रहेऽतिशकटित्वात्सर्वं इत्यर्थः । एषु समासार्थस्येत्यादि । अथमर्थ-इदुदन्तानां समा- ३०  
 चावयवतां पत्यादिशब्दानां दैदासादिकार्यमित्तितां त्रीत्वमस्तीति श्रीदुदन्तादादेशा इति । केचित्तु पूर्व पथादपि जीवचन एवेच्छन्ति इत्याह—  
 अन्ये सिखादि । अन्ये-श्रीशेषमद्वारका । "यूक्त्याख्यां नदी" पा० १।४।३ इति सूत्रे "द्विच्छेद्युन्त्यानप्रवृत्तौ च जीवचने" इति वार्तिके  
 माय्यैवमयो स्पष्टमैतद्विन्यत्र विस्तरः । अत्र अन्ये इति बहुवचनाच्छास्त्रकारुपि कालिकालसर्वविद् सम्मतम् । कथं तद्विन्यतीति चेत्, ३२  
 उच्यते—'श्रीदूत' इति बहुवचनस्यैव स्त्रीत्वोच्चेदात् । ततोऽयमर्थ-इदुदन्तात् स्त्रियां वर्तमानादादेशा भवन्ति स्त्री चेदाभिधेया भवति । स्त्रिया  
 इत्यर्थान्तरसंक्रान्ते पूर्व क्रीत्व, जीवोच्चेदात् । अन्ये त्वक्रीवचन संक्रान्ते पश्चादिति भावः । अन्ये त्वक्रीवचन एवेच्छन्ति, तन्मतस्य भाष्यकृदादिनिबद्धतयाऽसास-  
 ३५ त्वादिकवचनेन निर्दिष्टमि—अन्यस्त्विति । क्षीरस्थानी । स्त्रिया इति किम् ? इति । स्त्रियासिद्धि विभोषणमित्युत इत्यस्य कथमिति प्रश्नार्थं । ३२  
 मुनय इति । पुंसि स्त्रियायास्य वर्तमानत्वेऽपि पुस्त्वस्येव विवक्षितत्वादिद फलम् । नद्ये इत्यादि । इदुदन्तात्त्वाभावेनेद न प्रवर्तते ॥ २८ ॥

श्रीदूतः । अत्र पूर्वसाधेयप्रहाय स्त्रिया इति च, कितो दैदासात्स्वदमित्युत्तवर्तते । क्रीदुतो कितो दै दास् दास् दामित्यन्वयः ।  
 इच्च ऊच ईदद स्त्रियागीवद् श्रीदूत ततो कति । यथैव क्वद्विजां वातुजियां वा न सिष्यति-तथै, लक्ष्यै, त्रियै, भुवै इति, न हि तयोरी- २९  
 कारोकारो स्त्रियां निहितौ यथा-स्यणिति । तथा हि-तस्त्रिण् कृद्धस्यधारणे, धातो "तुस्त्वन्तिप्रपञ्चमिभ्य इ" ङ० ७।१। इतीप्रत्यये-तस्त्री,  
 'लघीण'दर्शनाह्नोरीस्त्वात् "लक्ष्योऽन्ताश्च" ङ०७।१। इति ईप्रत्यये, आगमे च लक्ष्मी, 'त्रिण्' सेवाम्याम्, धातो "द्वित्यदिति" ङ० ५।२। ३।  
 इति निपातनात् क्विपि वीर्धत्वे श्री, 'त्र्यम्' भववस्थाने, धातो "प्रमियागि०" ङ० ८।३। इति द्वित्युकारे ध्रु । अथैतत्पक्षोक्तोपपरिजिही- ५२  
 पैया स्त्रियावीर्यौ यस्य तत्क्रीद्वेदिति बहुव्रीहि, अत्रापि स एव दोषः समुदायस्यैव स्वार्थत्वाभावावयवस्येति, उच्यते-उभयथाप्यदोषः । तत्र पूर्वमिम् पक्षे  
 ईकारान्तात् ककारान्तात् स्त्रिया वर्तमानादित्युच्यमाने तस्यादिशब्दस्योऽपि कृद्वाचीकारान्ताकारान्तेभ्य स्त्रियां वर्तमानत्वात् प्रागोवीति । द्विती-  
 येऽपि पक्षे समुदायधर्मस्यावयवेषुऽप्यारीपात् कृत्स्नया अपि सिष्यतीत्युदाहरति—लक्ष्यै इत्यादि । कुरूपशब्दस्य तिष्यतिप्रकारमाह—कुरोरपस्य ४५  
 स्त्रीत्यादि । कुर्वै इत्यादि । कुरुशब्दात्तुदन्ताप्रियास्त्रीत्यात् द्विता दैदासादिषु कृत्वेषु कत्वमिति भावः । एव वध्वै इत्यादि । एवं ब्रह्मबन्ध्वै ४५  
 इति । यद्वा ऋद्धुरस्या इति विग्रहः, "उतोऽप्राणिनस्या०" ३।४।३। इत्युक्त्वात्, ततोऽनेन दायाद्यादेशा इति । वर्षाभ्यै इत्यादि । वर्णिते मेधा-

१ निल ख० हा०, पु० । २ न्ये ख० हा०, पु० । ४८

वा । कुमारीभिच्छतीति क्यनन्तात् कुमारीवाचरतीति क्विन्तात् वा कर्तरि क्विप्, कुमारी तस्मै कुमार्यै ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा, खरकुटीव खरकुटी तस्मै खरकुट्यै ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा; स्त्रिया इत्यनुवर्तमाने पुनः स्त्रीग्रहणं नित्यस्त्रीविषयार्थे तेनेह न भवति—ग्रामण्ये, खलवे स्त्रियै । ईदूत इति किम् ? मात्रे, दुहिते, बुद्धये; धेनेव । आमलक्याः फलाय आमलकाय, अतिकुरवे, अतिकुमारये इत्येदूत इति वर्णविधित्वेन स्थानिवद्भावाभावादीकारोकारान्ता नास्तीति न भवति । ङितामित्येव ? नद्यः, वध्वः ॥ २९ ॥

वेयुवोऽस्त्रियाः ॥ १ । ४ । ३० ॥

इयुवोः संवन्धिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्तात् शब्दात् परेषां तत्सवन्धिनामन्यसंवन्धिनां वा स्यादेङित्तां स्थाने यथासख्य दै दास् दास् दाम् इत्येते आदेशा वा भवन्ति, अस्त्रियाः— स्त्रीशब्द वर्जयित्वा । श्रियै, श्रिये, श्रियाः, श्रियाः; श्रियाः, श्रियाम्, श्रियि, श्रुवै, श्रुवे; श्रुवाः, श्रुवः, श्रुवाः, श्रुवः, श्रुवाम्, श्रुवि । श्रियमतिक्रान्ताय—अतिश्रियै, अतिश्रिये, ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा, एवमतिश्रुवै, अतिश्रुवे, पृथुः श्रीर्वस्य तस्मै पृथुश्रियै, पृथुश्रिये पुरुषाय स्त्रियै वा, एव पृथुश्रुवै, पृथुश्रुवे । केचित्तु समासार्थस्य स्त्रीत्व एवेच्छन्ति न पुस्त्वे, तन्मते—अतिश्रियै, अतिश्रिये स्त्रियै इत्यत्र भवति, इह न भवति—अतिश्रिये, अतिश्रुवे पुरुषाय; पूर्वेण नित्यमपि न भवति । कश्चित्तु पूर्वमतविपर्ययमेवेच्छति—अतिश्रियै, अतिश्रिये

आस्त्रिति भिदादित्वादङि आपि च वर्णाः तासु भवन्तीति भवते क्विपि वर्णभू, स च भेकजातौ द्विलिङ्ग, 'भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्णामूर्द्ध्वरे पुमात्' इति यादव । दूर्द्ध्वो भेक । 'शिली गण्डूषी भेकी वर्णाम्बी कम्ठी डङि' इत्यमरकोषे वर्णाभूशब्दस्य भेकजातौ त्रिलिङ्गमात्रावपमात्सिल-  
 २५ स्त्रीविषयत्वम्, ततो ङितां दाययादेशे "दन्पुनर्वर्णकारैर्भुव" २।१।५२। इति वत्वम् । अथ धातुत्वमापने कुमारीशब्दे अतिलक्ष्म्ये इत्यादिशब्देभ्यो वैलक्षण्य दर्शयितुमाह—कुमारीभिच्छतीत्यादिना । क्यनन्तात् इति । कुमारीभिच्छतीत्यर्थे "अमाव्ययात् क्यन् च" ३।४।३। इति क्यच्, कनावितौ, "क्रियायौ धातु" इति धातुत्वम् क्यनन्तस्य, "ऐकाभ्ये" इत्यमो लुप्, "क्विप्" इति कर्तरि क्विप्, कपवा इत्, इकार उच्चारणार्थं, ३८ "अत्" ४।३।८२। इत्यकारलोप, "ध्नो ष्यष्पञ्चने०" इति यलोपे—कुमारीति रूपम् । क्विचन्तादिति । कुमारीवाचरतीति अर्थे "कर्तुं क्विच्०" इति क्विप्, कपवा इत्, "क्रियायौ०" इति धातुत्वात् कर्तरि क्विप्, तस्य च पूर्ववत्कृत्कालोप—कुमारीति रूपम् । तदाह—कुमारी तस्मै कुमार्यै इति । "योऽनेकस्वरस" २।१।५६। इति दाययादेशे ङ्वे यत्वम् । अमेदोपचारे ससुदाहरति—खरकुटीव खरकुटी तस्मै खरकुट्यै इति । खरकुटी—नापितशाला । स्त्रिया इत्यनुवर्तमाने इति । अयमाशयस्तथा हि—पूर्वसात् स्त्रिया इत्यनुवृत्त्या स्त्रीविषयार्थत्वे लब्धे पुनस्तदर्थं स्त्रीग्रहणं स्त्रीविषयानेव यौ स्त्रीदूतौ ततो दाययादेशा इत्यर्थम्, तेन ग्रामण्ये सेवान्ये खलवे स्त्रिये इत्यत्र न भवति, तदाह—तेनेह न भवतीत्यादिना । ग्रामण्यादिशब्दो हि क्रियाशब्दत्वात् त्रिलिङ्गत्वात्स्त्रियास्त्रीविषयो न भवतीति क्रियानापि वर्तमानादादेशाभावात् ।  
 २४ पूर्वसुते इत्यत्रानिप्रवृत्तीनामनेकलिङ्गानां पद्धानीनां च गुणवचनत्वात् सर्वलिङ्गानां स्त्रीविषयत्वाभावात् स्त्रियां ङितौ कार्यं प्रवर्तत इति, न हि तत्र द्वितीय स्त्रीग्रहणमस्ति । ननु आधीप्रधीशब्दौ क्रियाशब्दत्वात् सर्वलिङ्गत्वात् ग्रामण्यादिशब्दवत् न नित्यस्त्रीविषयविति चिन्त्यमेतत्, चिन्तावीज तु आभ्यायतीति विग्रहे क्विपि सति ग्रामण्यादिशब्दवन्नित्यस्त्रीविषयभावात्, परन्तु धा—ईपत्प्रकृषा वा धीर्वस्या इति विग्रहे सुतरां तयोर्नित्यस्त्रीविषयत्व-  
 २७ मिति विषयो दृष्टान्तोपन्यास । प्रथमग्रहणं च कर्तव्यम्, तथा हि—य शब्द प्रथम स्त्रीत्वनिशिष्टार्थमाह, पश्चात् प्रकरान्तरेणार्थान्तरं लिङ्गान्तर-  
 ३० पीति, समासो यथा—अतितभ्रमं ब्राह्मणायेत्यादि । न विधेयमन्यवस्त्रीविषयत्वेन सिद्धत्वात्, तत्र धन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेव प्रवृत्त स्त्रीत्वमवयवस्य पश्चा-  
 दुपजायमानेन लिङ्गान्तरसंबन्धेन न निवर्तते । अथेवग्रामलकाय अतिकुरवे, अतिकुमारयेऽत्रापि प्राप्नोति, अवयवस्य पूर्वं जीवित्वात्, तथा हि—आमलकीशब्दात् पञ्चनन्तात् आमलक्या फल विकारोऽवयवो वेति "दोरप्राणिन" ६।२।४९। इति मयद्, तस्य "फले" ६।२।५८। इति  
 ३३ लुप्, ततो "छयादेर्गोपल०" २।१।५५। इति ङीलुक् ततश्चतुर्थी । आमलक्या फलायेति तु प्रक्रिया दर्शितेति, अत्रामलकीलक्षणरुषयोऽस्ति । तथा कुर्मतिक्रान्त्या कुमारीमतिक्रान्तायेति प्रादिसमासे "गोश्चान्ते०" इति हलत्व ततश्चतुर्थी, अत्रापि पूर्ववत् ऋयर्थोऽस्ति । अथोच्यते सत्यपि ऋयर्थेव ईकारोकारान्तत्वाभाव इति चेत्, तत्र लुक्हलस्थानिवद्भावे सतीदृशन्ता भविष्यतीत्याह—अत्रेदूत इति वर्णविधित्वेन इत्यादि ।  
 ३६ वर्णविधित्वेन इति । हेतुरयं स्थानिवद्भावाभावादित्यत्र, यतो हि "स्थानीवाऽवर्णविधौ" इत्यत्र अवर्णविधायित्युक्ते, अत्रेकारोफारौ वर्णौ तदाभिता दाययादय इति स्पष्टमस्य वर्णविधित्वम् । स्थानिवद्भावाभावात् इति । "स्थानीवा०" इति सूत्रेण स्थानिवद्भावस्याभावस्तसादेर्गो-  
 रित्यर्थः । ईकारोकारान्ता नास्तीति इति । आमलकायेत्याधीनामिति शेष ॥ २९ ॥

३९ वेयुवोऽस्त्रियाः । अत्र पूर्वसात् स्त्रीदूत इति ङितां दैदासदासुदाम् इति चानुवर्तते । इयुव स्त्रीदूत ङिता दैदासदासुदाम् वा इत्यन्वय । इय् च उव् च इयुव् ततो ऋ । तत्र स्त्रीदूत इति प्रकृतस्य इयुवरूपतासुपपत्तोरियुव इति षष्ठी स्त्रीदूत इति षष्ठ्या भेदे-  
 ४२ नाभिर्चव्यते इत्याह—इयुवोः संवन्धिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्तादिति । पूर्वेण नित्यं दैप्रम्युदादेश प्रातोऽनेन विकल्प्यत इति प्रास-  
 ४२ विकल्पोऽवगन्तव्य इति । अस्त्रिया इत्यत्र स्त्रीशब्दप्रधानो निर्देश इत्याह—अस्त्रियाः—स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा इति । श्रियै—अत्र श्रीशब्दात् क्रियामनेन षष्ठे दाययादेशे "सद्योमात्" २।१।५२। इतीयादेश । एव श्रुवै इत्यादि । भूशब्दात् ङिता षष्ठेऽनेन दाययादेशे "भूमो" २।१।५३। इत्युवादेश । अतिश्रियै इत्यादि । समासावयवानामीदृशन्त्यां श्रयादिशब्दानां दाययादेशकार्यनिमित्तानां नित्यस्त्रीविषयत्वादुदा-  
 ४५ हरणम् । केचित्चयान्तरसंक्रान्ते पूर्व पश्चादपि स्त्रीवचन एवेच्छन्तीत्याह—केचित्तु इति । पाणिनितस्त्रानुसारेण । ननु "वेयुवोऽस्त्रिया" इति मासुत् परंतु पूर्वशास्त्रस्य "स्त्रीदूत" इत्यस्य प्रवृत्तौ किं नाशकमत आह—पूर्वेण नित्यमपीति । तेषां मते पूर्वशास्त्रस्यापि समासार्थस्य स्त्रीत्व एव प्रवृत्तेर्न पुस्त्वे इत्यायान्त्र विस्तर । इह केचित्तु इति मत खसमत बहुवचननिर्देशात् । केचन त्वस्त्रीवचन एवेच्छन्ति, तन्मतस्य ४८ भाष्यकृदादिविपद्यताऽपासत्त्वादेकवचनेन निर्दिधति—कश्चित्तु इति । शीरस्वामी । पूर्वमतविपर्ययमेव इति । पुस्त्वे एवेत्यर्थः ।

पुरुषाय, इह न भवति—अतिश्रिये स्त्रियै । इयुव इति किम् ? आद्यै, प्रद्यै, वर्षाभ्यै, पुनर्भ्यै पूर्वेण नित्यमेव । अस्त्रिया इति किम् ? स्त्रियै, स्त्रियाः, स्त्रियाम्; परमस्त्रियै, परमस्त्रियाः, परमस्त्रियाः, परमस्त्रियाम्; अत्रापि पूर्वेण नित्यमेव । स्त्रीदूत इत्येव ? यवक्रिये, कटप्रुवे स्त्रियै । अस्त्रिया इति निर्देशात् परादपि इयुव्यत्वादिकार्यात् प्रागेव स्त्रीदूदाश्रितं कार्यं भवति, तेन—स्त्रियै, स्त्रीणाम्, भ्रूणाम्, आद्यै इत्यादि सिद्धम् ॥ ३० ॥

### आमो नाम् वा ॥ १ । ४ । ३१ ॥

इयुवोः संबन्धिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्तात् शब्दात् परस्य तत्संबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वा आमः षष्ठीवहुवचनस्य स्थाने नामित्ययमादेशो वा भवति, अस्त्रियाः—स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । श्रीणाम्, श्रियाम्; भ्रूणाम्, भ्रुवाम्; अतिश्रीणाम्, अतिश्रियाम्; पृथुश्रीणाम्, पृथुश्रियाम्, अतिभ्रूणाम्, अतिभ्रुवाम्; पृथुभ्रूणाम्, पृथुभ्रुवाम् स्त्रीणां पुरुषाणां वा । शोभना धीरेषां सुधीनाम्, सुधियाम् । इयुव इत्येव ? प्रधीनाम्, वर्षामूणाम् । स्त्रीदूत इत्येव ? यवक्रियाम्, कटप्रुवाम्, सुधु ध्यायन्तीति सुधियाम् । अस्त्रिया इत्येव ? स्त्रीणाम्, परमस्त्रीणाम्, उत्तरेण नित्यमेव, नपुसकेऽपि ह्रस्वत्वेन भाव्यमित्युत्तरेण नित्यमेव—अतिश्रीणाम्, अतिभ्रूणां कुलानामिति ॥ ३१ ॥

### ह्रस्वापश्च ॥ १ । ४ । ३२ ॥

ह्रस्वान्तादाबन्तात् स्त्रीदूदन्ताच्च शब्दात् परस्याऽऽमः स्थाने नाम् इत्ययमादेशो भवति । ह्रस्व—श्रमणानाम्, संयतानाम्, वनानाम्, धनानाम्, सुनीनाम्, साधूनाम्, बुद्धीनाम्, धेनूनाम्, पितृणाम्; मातृणाम् । आप्—खट्वानाम्, बहुराजानाम्, स्त्रीदूतः—नदीनाम्, वधूनाम्, स्त्रीणाम्, लक्ष्मीणाम् । स्त्रीशब्दवर्जितयोरियुवादेशसंबन्धिनोः स्त्रीदूतोः पूर्वेण विकल्प एव—श्रीणाम्, श्रियाम्; भ्रूणाम्, भ्रुवाम् । ह्रस्वापश्चेति किम् ? सोमपाम्, सेनान्याम् ॥ ३२ ॥

इयुव इति किम् ? इति । वा अस्त्रिया इत्येव सून्यताम् तेनैव सर्वेऽसिद्धेरिति प्रश्न । आद्यै, प्रद्यै इत्यादि । एतेषु “घातोऽरिवर्णोवर्णस्य०” इति इयुवपवादो “किञ्चिन्तेरसुधियस्त्वौ” २।१।५८। इति “दन्मुनर्वेषांकारैर्भुव” २।१।५९। इति च यकारवकारौ भवत इति नेयुवसंबन्धनावीदृता-१८ विति पूर्वेण नित्यमेव कार्यमिति । न च वाच्यमाधीप्रधीशब्दयो क्रियाशब्दत्वेन सर्वलिङ्गत्वात् नित्यस्त्रीविषयत्वाभावात् पूर्वेणापि कथं दाययादेशा इति ? आध्यायति, प्रध्यायति, आदधाति, प्रदधाति इत्येवशीलया बुद्धेर्वाचकत्वात्तयोर्वर्षाभूवत् नित्यस्त्रीलिङ्गत्वाद् वा पूर्ववद्बहुव्रीहि । ननु चाद्यै प्रद्यै इति यथापि यकारेण इयादेशो बाध्यते तथापि धियौ धिय इत्यादावियुवावादिष्वसंबन्धो ईकार इति शक्यं व्यपदेश्यम् ? उच्यते—भेदाश्रयणाद्-२१ दोषः । यदाऽस्य स्थाने इयादिर्भवति तदासावियुवादेरीदादि, न चान्यस्मिन् भवत्यसावियुवादेरीदादिस्तयोरभेदप्रसङ्गात् इति विकल्पो न भवति । अस्त्रिया इति किम् ? सूत्रेऽस्त्रिया इत्यस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । तत्कल्माह—स्त्रियै, स्त्रियाः, परमस्त्रियै इत्यादि । सूत्रे स्त्रीशब्दवर्जनात्ततो जित्तां दाययादेशा पूर्वेण नित्यमेव भवन्ति । यवक्रिये, कटप्रुवे इति । यवान् क्रीणातीति विग्रहे किपि, कटेन प्रवत इति च विग्रहे २४ “दिशुद्दृष्ट०” ५।२।८३। इति किपि निपातनात् यवक्री कटप्रुस्ततश्चतुर्थ्यैकवचने “सयोगात्” २।१।५२। इतीयुवादेशो स्त्रीदूत इति वचनाद् दैदासावभावे सिध्यत । ननु स्त्रियै इत्यादौ असत्यप्यनेन विकल्पे कथं पूर्वेण नित्यमादेशो यत् परत्वादियुवादिमावावीदृदन्तत्वाभावाद्प्रवृत्तिरेत्याह—अस्त्रिया इत्यादि । अयं भाव—यदि पूर्वं परत्वादियुवादयस्ताहौ अस्त्रिया इति शास्त्रकृषिर्देश कथं ? तदेव बोधयति—यत्परदापि २७ इयुव्यत्वादिकार्यात् स्त्रीदूदाश्रितं कार्यं पूर्वं भवति । ज्ञापनफलमाह—तेन स्त्रियै, स्त्रीणाम्, भ्रूणाम्, आद्यै इत्यादि सिद्धमिति । अन्यथा एषु परत्वादियुवादिषु कृतेषु ईदृदन्तत्वाभावात् न भवेद्युदैनामादेशा ॥ ३० ॥

आमो नाम् वा । “नेयुवोऽस्त्रिया” इति वावर्जमनुवर्तते स्त्रीदूत इति च । इयुव स्त्रीदूत आमो नाम् वा अस्त्रिया इत्यन्य-३० स्वदाह—इयुवोः संबन्धिनौ इत्यादि । अत्र विस्थानिकस्य सातुबन्धत्वादपरस्य चासंबन्धात् स्याद्यधिकाराच्च षष्ठीवहुवचनस्यैवामो ग्रहणमित्याह—षष्ठीवहुवचनस्येति । श्रीणाम्, श्रियाम् इत्यादि । श्रीशब्दादामोऽनेन नामादेशे पक्षे च “सयोगात्” इतीयादेशः । भ्रूणाम्, भ्रुवाम् इति । पूर्ववदामो नामादेशे पक्षे “भ्रूणो” इत्युवादेशः । एवमन्यदपि । शोभना धीरेषां सुधीनाम्, सुधियामिति । एत-३३ द्विग्रहपक्षे सुधीशब्दस्य श्रीवद्रूपाणि, तत् एव नित्यस्त्रीलिङ्गत्वादिति भावः । इयुव इत्यनुवृत्तिफलमाह—इयुव इत्येव ? प्रधीनाम्, वर्षाभ्रूणाम् इति । अनयोरीदृशो नेयुवसंबन्धनामिति “ह्रस्वापश्च” इति नित्यमेवामो नामादेशः । स्त्रीदूत इत्यधिकारफलमाह—स्त्रीदूत इत्येव ? यवक्रियाम्, कटप्रुवाम्, सुधु ध्यायन्तीति सुधियस्तेवाम् सुधीयाम् इति । एषु यथाक्रमं “सयोगात्” इति, “घातोऽरिवर्णो-३६ वर्णस्य०” इति च इयुवो, अनेनामो वैकल्पिको नाम् न भवति, ईकारान्तोकारान्तत्वेऽपि क्रियाशब्दत्वेन सर्वलिङ्गत्वात् नित्यस्त्रीविषयत्वाभावादत् एव चोत्तरसूत्रेणापि नित्यमामो न नाम् । स्त्रीणाम्, परमस्त्रीणाम् इति । अत्र स्त्रीशब्दवर्जनाद् वैकल्पिक आमो न नाम् । एवन्तर्ह्यत्र केनामो नामित्यत आह—उत्तरेण नित्यमेव इति । “ह्रस्वापश्च” इत्यनेनेति भावः । ननु श्रियमतिकान्तानि कुलानि तेषामतिश्रीणामित्यादौ “स्त्रीने” ३५ २।१।९७ इति ह्रस्वत्वे सति कथमामो नामित्यत आह—नपुंसकेऽपि ह्रस्वत्वेन भाव्यमित्यादि ॥ ३१ ॥

ह्रस्वापश्च । आमो नाम् इति अनुवर्तते । चकारात् स्त्रीदूत इति गम्यते । ह्रस्वाप स्त्रीदूतश्चामो नामित्यन्यस्वदाह—ह्रस्वान्तादित्यादि । क्रमेणोदाहरति—श्रमणानामित्यादि । श्रमणादिशब्देभ्य आमोऽनेन नामादेशो “धीर्षो नाम्य०” १।४।४७। इति धीर्षे सति ४२ भवति । एवमन्यदपि । अयं श्रीणाम्, श्रियामित्यत्राप्यनेन परत्वात् नित्यं नामादेशः कृतो न भवतीत्याह—स्त्रीशब्दवर्जितयोरित्यादि । विशेष-विहितत्वेनापवादत्वादिति शेषः । सोमपाम्, सेनान्याम् इति । सोम पिबतीति विग्रहे विष्णि, सेनां नयतीति किपि, तत् षष्ठ्यामासि “ह्रस्वापश्च” इति वचनात् नामादेशाभावे “लुगातोऽनाप” इति “किञ्चिन्तेर०” इति च कृते सिध्यत ॥ ३२ ॥

### संख्यानां षष्ठीम् ॥ १ । ४ । ३३ ॥

रेफपकारनकारान्तानां संख्यावाचिनां शब्दानां संवन्धिन आमः स्थाने नाम् इत्ययमादेशो भवति । चतुर्णाम्, षष्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, परमचतुर्णाम्, परमषष्णाम्; परमपञ्चानाम् । तत्संवन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियचतुराम्, प्रियपषष्णाम्, प्रियपञ्चाम् । संख्यानामिति किम्? गिराम्, विपुषाम्; यतिनाम् । षष्ठीमिति किम्? त्रिंशताम्, पञ्चाशताम् । बहुवचन व्याप्त्यर्थम्, तेन भूतपूर्वनान्ताया अपि-अष्टानाम्, परमाष्टानाम् ॥ ३३ ॥

६

### त्रेह्रयः ॥ १ । ४ । ३४ ॥

आमः संवन्धिनश्चिदशब्दस्य त्रयादेशो भवति । त्रयाणाम्, परमत्रयाणाम् । आमसंवन्धिविज्ञानादिह न भवति-अतित्रीणाम्, प्रियत्रीणाम् । अतत्संवन्धिनोऽपि भवतीत्येके-अतित्रयाणाम्, प्रियत्रयाणाम् । स्त्रियां तु परत्वात् तिस्रामो ९ भवति-तिस्रणाम् ॥ ३४ ॥

### एदोञ्चां ङसिङसो रः ॥ १ । ४ । ३५ ॥

एदोञ्चां परयोर्ङसिङसोः स्थाने रेफो भवति, अकार उच्चारणार्थः । मुनेः, मुनेः, साधोः, साधोः, गोः, गोः, घोः, १२ घोः; परमश्चासाविश्व परमेः, परमेः, नयतीति विच्-नेः, नेः, एव लोः, लोः । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ॥ ३५ ॥

संख्याना षष्ठीम् । आमो नामिल्लतुर्त्तते । षष्ठीम् संख्यानामामो नामिल्लन्वच । इ च ए च न च वेधा षष्ठीम् । "तवर्गस्य०" इति णत्वम् । "रपृषणा०" इति लु च, एकपदत्वभावात् । "वोत्तरपदान्त०" २।३।७५। इत्यपि न, यत् पकारो न पूर्वपदस्य किन्तु मध्यपदस्य, १५ तर्हि रेफ पूर्वपदस्थोऽस्ति तदपेक्षया णत्व भवद्वा, न, "पदेऽन्तरे०" २।३।९३। इति निषेधात् । षष्ठीमिति शब्दनिर्देश, संख्यानामिति त्वर्थ-निर्देश, संख्या चेर्हृक्त्वादिर्दर्थ । तत्र शब्दार्थयो सामानाधिकरण्याभावादुपचारात् संख्यायां शब्दा संख्याशब्देनाभिधीयन्ते । अथवा संख्या-यते आभिरिति "उपसर्गादात्" ५।३।११०। इति, "करणाऽऽधारे" ५।३।१२९। इति परमप्यनट् वाधित्वा बहुवचनदङि अपि च संख्याशब्दे- १८ नैकादय शब्दा एवोच्यन्त इत्याह—संख्यावाचिना शब्दानामिति । चतुर्णाम् इति । चतुरशब्दादनेनामो नामादेशे "रपृषणा०" इति-णत्वम् । "ह्रादह्रस्वरसा०" इति च द्वित्वपक्षे चतुर्णामित्यपि । पण्णाम् इति । षष् नामिति स्थिते "पुटस्तृतीय" इति ङकारे, तस्य "प्रत्य-ये च" इति णवारे, "तवर्गस्य०" इति टवर्गयोगात् नकारस्य णकार । एव षष्चरसप्तशब्दयोरामो नामादेशे "क्षीर्यो नान्य०" इति क्षीर्यत्वे २१ नत्वोपे-पञ्चानां, सप्तानामिति । तदन्तानुदाहरति—परमचतुर्णामित्यादि । प्रियचतुरामित्यादि । प्रियाशब्दत्वोरो देवास्त्वित्यादि विरुद्ध षष्ठीमिति पञ्चाशत्संवन्धिमि विज्ञानादन्यपदार्थवचनित्वादासो नामादेशामाव । प्रियपञ्चाम् इत्यत्र तु आमि "अनोऽस्य" इत्यकारलोपे, "तवर्गस्य" इति नकारस्य नकार । गिरामित्यादि । एतेषां रेफपकारनकारान्तयोऽपि संख्यावाचित्वाभावादासो न नाम् । त्रिंशतामित्यादि । २४ संख्यावाचिनामेयां रेफपकारनकारान्तत्वाभावात् नामो नाम् । ननु च त्रिंशदादयः शब्दा संख्येयैष्वपि वर्तमाना "विंशत्याया शतात् द्वन्द्वे" इति वचनत्वात् एकत्र एव वर्तन्ते इत्यत्रैकवचनान्ता एव भवितुमर्हन्ति कथं बहुवचनम्? सत्यम्, एकशेषात्, त्रिंशच्च त्रिंशच्च त्रिंशच्च त्रिंशच्च । अथा-दृशब्दादामि परत्वात् "वाएन०" इत्याकारे नान्तत्वाभावात् कथं नाम्भावोऽत आह—बहुवचनम्-ष्ठीमिति । तेन-ष्ठीमिति बहुवचनस्य २७ व्याप्त्यर्थत्वेनेति भाव । भूतपूर्वनान्ताया अपि इति । अष्टशब्दस्येदानीं नकारान्तत्वाभावेऽपि पूर्व नान्तत्वमाश्रित्यस्य प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ ३३ ॥

त्रेह्रयः । अत्राम इत्यनुवर्त्तते, तदत्र त्रेरिति स्थानिनो विशेषणम् । आम त्रे अत्र इत्यन्वयत्वादाह—आमः संवन्धिन इति । संबन्धयोभयनिष्ठत्वेनाम संवन्धिन इत्यपि युक्तम् । आम संवन्धित्व च त्रेरर्थद्वारकम् । यस्मादान संबन्धी त्रेरर्थस्तत् स आम इत्युच्यते । १० आम संबन्धीति कार्यकारणभावे षष्ठी । त्रिशब्द कारणाम् च कार्यम्, यत्त्रिशब्दबहुत्वे आम् । अनेकवर्णत्वात् सर्वविधोऽनेन त्रिशब्दस्याभि-प्रय आम इत्यवस्थायां "ह्रस्वापच" इति नामि णत्वे च, तदाह—अत्रयाणामिति । परमत्रयाणामिति तु विशेषणसमासे षष्ठी भवति । अतित्रीणाम् इति । प्रादिसमास, अत्राम संवन्धिन त्रिशब्दस्याभावात् न त्रयादेश । प्रियत्रीणाम् इति । प्रियाशब्दो यस्तेति प्रियत्रिशब्दो बहुव्रीहि, तस्यान्यपदार्थप्रधानत्वादेकद्विवचनानि सन्ति, अतो मुनिषत्तस्य रूपाणि । अतत्संवन्धिनोऽपि भवतीत्येके इति । पाणि-नीयैकदेशिन, तथा चोर्ध्व-वस्तुत्सु प्रियत्रयाणाम् इति सि० कौ० "त्रेह्रय" पा० ७।१।५३। सूत्रे भगोजिबीहितेन, अत्रत्य मत तेन केचि-दित्युचया ध्वनितम्, केचित् इति प्रसादकारादय इति तद्गीकाकृतो वदन्ति । केचिदिलास्यायमाशय—त्रे संवन्धिन्यामीति विज्ञानाद् गौण-त्वेऽपि त्रयादेशो न भवतीति । मतमिदमाचार्यैरेमचन्द्रसंमतम् । "वस्तुत्सु" इत्यस्यायमर्थः—अर्थप्राधान्यनोपकस्य बहुवचनत्वाभावाद् गौण-त्वेऽपि त्रयादेशो न्यायः । एके इति बहुवचननिर्देशेन शास्त्रकर्तुरपीद संमतम् । एकेषां मतेनोदाहरति—अतित्रयाणाम् इत्यादि । अथ त्रियाणामिति त्रीलिङ्गोऽपि त्रयादेशसाम्या विद्यमानत्वात् त्रयादेश कस्मात् न भवतीत्याह—स्त्रियां तु परत्वात्सिद्धमाव इति । "त्रिचतु- १९ रसि०" २।१।१। इत्यनेनेति शेष ॥ ३४ ॥

एदोञ्चां ङसिङसो रः । व्याख्यानाद् "ह्रस्वाद्" २।१।९९। इति शपकाद् वा चतुर्ष्यां वाक्कार्यस्याघटनामृतीयावभावलिङ्घने पञ्चम्येदोञ्चामित्याह—एदोञ्चां परयोरेति । अत्र तकार. स्वरूपप्रणयार्थ, तेन लाक्षणिकयोरप्येदोतो परिग्रह । अथ र इत्यत्राकार किमर्थं ४२ इत्यत आह—अकार उच्चारणार्थ इति । मुनेरिति । मुनिशब्दात् "क्लियदिति" इत्येदन्तादेशात्तदवयवमूलादेशेऽप्येतात् परयोर्ङसिङसो- "प्रत्ययस्य" इति सर्वविधो रेफोऽनेन भवति । एवमन्यवपि । परमेरिति । "आतो नेन्द्रवरुणस्य" ७।४।१९। इति शपकाद् पूर्व चतुर्ष्यां पूर्वोत्तरपदयो- कार्यम् तत् संधिकार्यम्, अत परमेरिति प्राप्नोति, नैवम्; शपकज्ञापिता विषयो ह्यनित्या इति । ननु बचनभेदार्थमुपमत्र समाहारेत्तरेतरयोर्गो- ४५ कस्मात् न कृतौ, न अद्यति प्रयोजने वचनभेदो युक्त इत्याह—वचनभेद इत्यादि । अन्यथा निमित्तनिमित्तिनो. समानत्वात् एकरात् ऋतेरकाराच्च ऋतो रेफ इति यथासंख्यं स्यादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

**खितिखीतीय उर् ॥ १ । ४ । ३६ ॥**

खितिखीतीसंबन्धिन इवर्णस्थानाधकारात् परयोर्दसिडसोः स्थाने उर् आदेशो भवति । खि-सख्युः, सख्युः; ति-पत्युः, पत्युः, खी, ती-सह खेन वर्तते सखः, सखं सखायं वेच्छति इति क्यनि, किपि, सखीः; पततीति पतः, पतं पतिं ३ वेच्छतीति क्यनि, किपि, पतीः; सख्युः, पत्युः । तथा सुखमिच्छति, सातमिच्छति क्यनि, सुख्युः, सात्युः; लूनं, पूनं चेच्छतः-लून्युः, पून्युः; “क्तादेशोऽपि” ॥ २ । १ । ६१ ॥ इति नत्वस्यासत्त्वात् तीरूपत्वम् । य इति किम् ? यत्र यत्वादेशस्तत्र यथा स्यात्, इह मा भूत्-अतिसखेः, अधिपतेः । खितिखीतीति किम् ? मुख्यमपत्यं चाचष्टे णिच्, विच्- ६ मुख्यः, अपत्यः आगतं खं वा । अदितं इत्येव ? सख्याः, पत्याः ॥ ३६ ॥

**ऋतो डुर ॥ १ । ४ । ३७ ॥**

ऋकारात् परयोर्दसिडसोः स्थाने डुर इत्ययमादेशो भवति । पितुः, पितुः, मातुः, मातुः । डसिडस इत्येव ? १ पितृन् । ऋत इति किम् ? अः ॥ ३७ ॥

खितिखीतीय उर् । डसिडस इत्यनुवर्तते । खितिखीतीयो डसिडस उर् इत्यन्वय । खितिखीत्या यो यकार इति द्वन्द्वगर्भतत्पुरुषात् पञ्चम्या रूप-खितिखीतीय इति । एतेभ्य परस्य यकारस्य डसिडसो परतोऽसम्भवाद् “इवर्णोदे०” इति विहितस्यैव यकारस्य ग्रहणमित्याह- १२ खितिखीतीसम्बन्धिन इवर्णस्थानादिति । न च सज्जाय यातीत्यप्रयोगिणि प्रत्यये कृते “लुगातोऽनाप ” २।१।१०७। इत्याकारलोपे सम्भ-वतीति वाच्यम्, प्रयुक्तानामन्वास्थानातोषा च प्रयोगासम्भवात्तदभाव । खीतीभ्यां तु कल्पनानिर्मितस्यासम्भवं एव । यथेव लाघवार्थं “ख्यस्य उर्” इत्येव किञ्च कृतं १ एव च सति खिखीशब्दयोस्तिखीशब्दयोर्लघुस्यष्टप्रतिपत्तिर्भवतीति, नैवम्, एव सति सुतरा सन्देह स्यात्, तथाहि- मुख्यस्य १५ गार्हपत्यपौरोहित्यसत्यापत्यादीनां च यौ ख्यस्यशब्दौ तयोर्ग्रहण कस्माच्च विज्ञायते ? “सख्युरितोऽशवैत्” १।४।८३।, “पत्युर्न ” २।४।४८। इति ज्ञापकात् न भविष्यतीति चेत्-सौत्रावेतौ निर्देशौ इति मन्दधीर्मन्यते, गरीयासश्च ज्ञापकोपन्यासा । सख्युः, पत्युः इति । सखिपतिशब्दाभ्यां डसिडसोस्त्वत्र खितिशब्दयोरेकारस्य यत्वे तस्माच्च खितिशब्दसंबन्धिन इवर्णस्थानात् परयोर्दसिडसोस्त्वं च विसर्ग । खीशब्दस्तीशब्दश्च द्विविध - १८ कौचित् खितिशब्दयोरीकारे कृते, कौचित् खतशब्दयो । तत्र पूर्वयोरेकदेशविकृतमन्यवदिति खितिग्रहणेनैव ग्रहणात् तत्र खीतीग्रहण नार्थवत्, किं तर्हि ? उत्तरयोरत आह-सह खेन वर्तते इत्यादि । खने “कचिद्” ५।१।१७१। इति डे ख, सह खेन वर्तते इति विग्रहे “सहस्य सोऽन्यायै” ३।२।१४३। इति समावे, तमिच्छवीत्यर्थे “अभाव्यादात्” ३।४।२३। इति क्यनि, “क्यनि” ४।३।११२। इति ईत्वेऽन्यत्र “वीर्षीश्चि०” २।१ इति वीर्षे, किपि, “अत ” इत्यकारलोपे, “य्यो ष्वयञ्जने०” इति यलोपे-सखी, एव पती, “योऽनेकस्वरस्य” २।१।५६। इति यत्वेऽनेन उल्लेच-सख्युः, पत्युः इति षष्ठां पञ्चम्यां च साधारण रूपम् । तथेत्यादि । सखिपतिशब्दयोरेव केचिदिच्छन्ति, तन्मते-सख्यु, पत्युरि-त्वेतावन्मात्रमेवास्य सूत्रस्य लक्ष्य, न चूर्णिकारोपवर्णितमपि लून्युरित्यादि लक्ष्यानन्तरम् । तथान्येनाप्युक्तं क्रीतप्रीतश्रीतपूतादीनां क्यच्चादिषु तीशब्द २४ श्रूयमाण एव संभवति, तस्मात्तु कृतयादेशादुत्त्वं कस्मादुदाहृतं क्रीत्युरागच्छति क्रीत्यु खमिति । केचिदाहु-तत्र नेष्यते त्यादुत्तरस्योत्त्वमिति, क्रीस्य आगच्छति, क्रीस्य खमिति हि तत्र भवितव्यम् । अन्ये त्वाहु-पूर्वागमेषु तीशब्दस्य लनीशब्दावयवस्य कृतयत्वादेशस्योदाहरण दर्शयति, न च सामान्येन सूत्रनिर्देशे विशेषाभ्युपगमो युक्त इति सर्वमुदाहरणम् । उद्गैमस्य चेतसि परिभाष्य तथेत्यनेनाभ्युपगम दर्शयति । सुख्युः, २७ सात्युरित्यादि । ‘सुखदु खण्’ तत्किंयाम्, धातोर्णिव्यणि च मुखम्, सनोते के “आ खनिसनिजन ” ४।२।६०। इत्यात्वे सातम्, लुनाते, पुनातेष के “ऋत्वादे०” ४।२।६८। इति, “पूदिव्यभे०” ४।२।७२। इति च कस्य नत्वे लूनं, पूनं, शेषं क्यच्चादि पूर्ववत् । नन्वत्र नत्वे सति वीरूपत्ताभावात् कथमनेनोर्त्वमित्यत आह-“क्तादेशोऽपि” इति नत्वस्येत्यादि । य इति किम् ? यकारं विहायैव सूत्र्यतामिति १० प्रश्नकर्तुरायय । समाधत्ते-यत्र यत्वादेशस्तत्रेत्यादि । तथा च क मा भूदित्याह-अतिसखेः, अधिपतेरिति । अतिसखित सखा इति अधिक पतिरिति च प्रादिसमास, “पूजास्वते ०” ७।३।७२। इति समासान्ताभावे, डसिडसो “खित्यदिति” इत्येत्वे, “एदोभ्याम्०” इति रत्वे विसर्ग । मुख्यः, अपत्यः आगतं खं वेति । ‘मह पूजायामतो “महेरुचास्य वा” ८० ८९। इति खप्रत्ययेऽन्तलोपेऽस्य उत्वे तत्र भव १३ इत्यर्थे “दिगादिदेशांशाद्य ” ६।३।१२४। इति ये, “अवर्णवर्णस्य” इत्यन्तलोपे मुख्य, न पतन्तीति येन जातेन पूर्वजास्वदपत्य “ननो हलिपते ” ८० ३५८। इति य, ततो णिचि, विचि, डसिडसो-मुख्य, अपत्य । अस्ति ह्यत्र यकार, खितिखीतीसबन्धी तु न भवति, तदभावाद्दुर्त्वाभाव । आगतमिति पञ्चम्यभिग्यक्त्यर्थं, खमिति षष्ठाभिग्यक्त्यर्थमेवमन्यत्रापि । सख्याः, पत्याः इति । “नारीसखीपभूध्रू” २।४।७६। इति ष्यन्तात् १६ सखीशब्दात् पतिशब्दाच्च “ब्रौह्म” इति, “स्त्रिया क्तिता वा०” इति दासायादेशे यद्यपि खीतिसंबन्धी यशब्दोऽस्ति तथाप्यदित्यनुवृत्तेरुत्त्वाभाव, डसिडसो रूपाभावाद् वेति ॥ ३६ ॥

ऋतो डुर । डसिडस इत्यनुवर्तते । ऋत डसिडसो डुर इत्यन्वयस्तदाह-ऋकारादित्यादि । डुर इत्यत्र ङकारो “दित्यन्त्यस्वरादे ” १९ इति विशेषणार्थं । पितुरिति । पितृशब्दावयवकारात् परयोर्दसिडसोर्दसिडसो “दित्यन्त्य०” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे विसर्गं च सिध्यति । एवमन्य-दपि । पितृन् इति । अत्र डसिडसोरभावेन न डुर, किन्तु “शसोऽता०” इति वीर्षो नत्व च । अः-अत्र ह्रस्वकाराभावेन न डुर, गुणातेरनु-करणात् पञ्चम्यां रेफे अ इति रूपम् । ऋकारलकारयोरेकत्वप्रतिज्ञानात् लकारादपि डुरादेशो भवति, तस्य च ऋफिडादिपाठात् लत्वम्-कुल्ल ४२ ङकार, यदाह तत्त्ववीपिकायामुपाध्याय -आप्ठ इत्येतस्मात् षष्ठायापुल्ल इत्येव भवति ॥ ३७ ॥

१ अदिति न० अ० । २ ऋन्तात् पु० ।



मातौ २, मातरः । औ चेति किम् ? पित्रा, मात्रा । कर्तृणि कुले, कर्तृणि कुलानीत्यत्र तु परत्वात् पूर्वं न एव, तस्मिन् सति व्यवधानात् न भवति । ऋत इत्येव ? अि ॥ ३९ ॥

**मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमच्ये ॥ १ । ४ । ४० ॥**

३

मातृशब्दस्याऽऽमच्ये पुत्रे वर्तमानस्य सामर्थ्याद् बहुव्रीहौ समासे सिना सह मात इत्यकारान्त आदेशो भवति, अर्हे-मातृद्वारेण पुत्रप्रशंसायां गन्धमानायाम् । कचोऽपवादः । गार्गी माता यस्य तस्याऽऽमच्ये हे गार्गीमात !, एवं हे वात्सी-मात !; अत्र पुत्रः संभावितोत्कर्षया श्लाघ्यया मात्रा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतया प्रशस्यते । मातुरिति किम् ? हे गार्गीपितृक ! । पुत्र इति किम् ? हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! । अर्हे इति किम् ? अरे गार्गीमातृक ! । आमच्य इति किम् ? गार्गीमातृकः । सिनेति किम् ? हे गार्गीमातृकौ ॥ ४० ॥

**ह्रस्वस्य गुणः ॥ १ । ४ । ४१ ॥**

९

आमच्येऽर्थे वर्तमानस्य ह्रस्वान्तस्य सिना सह श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भवति, "आसन्नः" । हे पितरः !, हे मातः !, हे कर्ताः !, हे स्वसा !, हे मुने !, हे साधो !, हे बुद्धे !; हे धेनो ! । सिनेत्येव ? हे कर्तृ कुल !, हे वारि !, हे त्रपु !; अत्र परत्वात् पूर्वं सेलुपि सेरसावात् न भवति; "नामिनो लुग् वा" ॥ १ । ४ । ६१ ॥ इति लुकि तु स्थानिवद्भावाद् ॥ १२

पितरि वारियेत्यादायुभयो सावकाशत्वेन परत्वात्, नागमे ऋकारान्तत्वाभावात् न भवतीत्याह—कर्तृणि इत्यादि । पूर्वं न पठेति । कर्तृणि कुले इत्यत्र "अनाम्बरं०" इत्यनेन, कर्तृणि कुलानीत्यत्र च "स्वराच्छौ" इत्यनेनेति शेषः । ननु चागमे सति कथमद् न ? व्यवधायकत्वाभावा-दागमस्येत्याह—तस्मिन् व्यवधानादित्यादि । यस्य योऽन्यत्रान्तस्य व्यवधानं न, किन्तु अवयवेनावयवस्य ऋकारान्तस्य व्यवधानं भवतीति १५ भावः । अि इति । अत्र दीर्घकारस्य सत्त्वेन तत्स्थानेऽद् न भवति ॥ ३९ ॥

**मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमच्ये ।** आमच्य इत्यनेन पुत्र इति विशेष्यते, तेन च मातुरित्याह—मातृशब्दस्येत्यादि । ननु

कथं मातृशब्दस्य पुत्रार्थे श्रुतिर्न ह्यसौ पुत्रार्थे वर्तमानः क्वचिद्बुद्धः, सत्यम्, केवलेन वर्तते बहुव्रीहौ तु तात्पर्याद् वर्तते इत्याह—सामर्थ्या-१८ इत्यादि । अयमर्थ-न ध्वन्यत्र वर्तमानः शब्दः साक्षादन्वयमर्थं प्रतिपादयति, बहुव्रीहिसमासे त्वन्यपदार्थोपसर्जनतश्चाऽर्थान्तरं प्रतिपादयत्येव । अर्हे-प्रशंसायामित्यर्थं, प्रशंसा च प्रधानत्वात् पुत्रस्यैव न मातुः, अर्हेसमवेऽपि तदर्थत्वादित्याह—मातृद्वारेणेत्यादि । बहुव्रीहौ हि मातृशब्दस्य ऋकारान्तत्वाद्बुद्धेः कचं प्राप्तं, विशेषविहितत्वात्तदपवादोऽयमित्याह—कचोऽपवाद् इति । "ऋजिस्यदित" ७।३।१७। इत्येतद्विहितस्येति २२ शेषः । गर्गसापत्यं बृहं औ "गर्गादेवेव्" ६।१।४२। इति यन्नि, "बृहदि स्वरेष्वादे०" ७।४।१। इति बृहदौ, "अवर्णवर्णस्य" इत्यकारलोपे, "अत्रो वामन् च वा" २।४।६। इति ज्या, "अस्य दृषो लुक्" २।४।८। इति अकारलोपे, "व्यञ्जनात्तदितस्य" २।४।८। इति यलोपे—गार्गी, एव वात्सी । गार्गी माता यस्येति वात्सी माता यस्येति च विग्रहे "परतः स्त्री पुत्रवत्" ३।२।४५। इति प्राप्तस्य पुत्रवत्त्वस्य "स्वाज्ञात् २४ लौर्जातिश्चा०" ३।२।५६। इति प्रतिषेधात्त्वेन सिना सह मातरेः—हे गार्गीमात !, एवं हे वात्सीमात ! इति । अत्र यो गार्गी मात्रा व्यपदेशेन प्रशंसामर्हेति स आश, तत्रैव स्पष्टयति—अत्रेत्यादि । अत्र मात्रा पुत्रः प्रशस्यते, कथंभूतया संभावितोत्कर्षया पुनश्च श्लाघ्यया केन करणेन हेतुना वा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतयेति खण्डान्वयः । अत्र-गार्गीमात इति बहुव्रीहौ । संभावितोत्कर्षया-समा-२७ वित उक्त्यां यस्या सकृदात्मैस्य । श्लाघ्यया-श्लाघानर्हया । प्रशस्यते-लोके विश्रुतो भवति । कस्मादेतोरत आह—तत्पुत्रव्यपदेश-योग्यतया-तत्पुत्र इति व्यपदेश-कथनं, तस्य योग्यत्वस्य भावत्वात् तथा इत्यर्थः । हे गार्गीपितृक इति । गार्गी पितरः यस्येति "ऋजुष्ण०" इति कथि भवति, अत्र मातृशब्दस्य पुत्रेऽवर्तमानत्वात्तदपवादोऽयमिति । हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! इति । अत्रैकत्र मात्रार्थे वर्तमानत्वात् १० अपरत्र च पुत्रार्थे वर्तमानत्वात्, मातृशब्दस्य न माताऽऽदेशः, पुत्रेऽवर्तमानत्वात् इति भावः । अरे गार्गीमातृक ! इति । अज्ञातपितृकत्वे-नानेकपितृकत्वेन चात्र निन्धया मात्रा तद्व्यपदेशयोग्यतया विद्युण पुत्रो निन्धते इति अर्हे इति वचनात् न भवतीति । आमच्य इति किम् ? आमच्येति पुत्र इत्यस्य विशेषणं किमर्थमिति प्रश्नः । गार्गीमातृक इति । अत्र पुत्रेऽर्थे वर्तमानत्वात्पि मातृशब्दस्यामच्यपुत्रार्थश्रुति- १३ त्वाभावात् न मातादेशः । हे गार्गीमातृकौ-अत्र सेरभावात् नेद् भवतीति ॥ ४० ॥

**ह्रस्वस्य गुणः ।** अत्र पूर्वसात् सिनाऽऽमच्य इत्यनुवर्तते । आमच्ये ह्रस्वस्य सिना गुण इत्यन्वयः । अथिहृतस्य नाम्नो विशेषणत्वं विशेषेण तदन्तविधिसंभवादाह—ह्रस्वान्तस्येति । ह्रस्वस्येव ह्रस्वान्तस्येत्यर्थकत्वे कस्य गुणो ह्रस्वान्तस्य त्वसंभवादिति नैव, ससाम्, श्रुतो १६ ह्रस्वो ह्रस्वान्तत्वमनुमितमिति "श्रुतात्त्वमिथोश्च ध्रौतो विधिर्वीज्यात्" इति न्यायेन श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भविष्यतीत्याह—श्रुतत्वादिति । "आसन्नः" ७।४।२०। इति ऋकारान्तस्य तत्त्वत्वात्सोऽर्, इकारस्य एकार, उकारस्य लोकार, अकारस्य "अदेत समोऽर्हः" १।४।४। इति वचनात् सेरभावात् गुणो न भवति । अथ प्रमाणऽऽसत्त्वा इकारोकारशोरन्परादेशः कस्मात् न भवति ? मात्रिकस्य हि द्विमात्रादप्यर्धमात्रिक १५ भास्यो भवति, न चैव सति गुणप्रहणमनर्थकं स्थानाऽऽप्यस्या सोऽपि सात्, उच्यते-यथादर्शनं व्यवस्थाऽऽधीयते, तत्र "गुणोऽरेदोत्" ३।३।२। इति गुणप्रहणाय "नामिनो गुणोऽर्हिति" ७।३।१। इत्यादिभिः ऋवर्णसंभवारपदेशो दृष्टो नेवर्णोवर्णयोः । दृष्टकर्मणां विहाय को नामादृष्ट कथयति, कर्तृ कुलेत्यादौ ह्रस्वत्वादात्मध्यसिना सह गुण कस्मात् न भवति इत्याह—अत्र परत्वादित्यादि । "अनतो ह्यर्" १।४।५। इति सेलुपि "ह्रस्व-यत्नेनव" ७।४।११। इति प्रत्ययलोपकथनस्य प्रतिषेधादित्यर्थः । ह्रस्वस्ये लुक् स्थानिवद्भावाद् भवत्येवेत्याह—नामिन इत्यादि । नामिन इति ह्रस्वस्ये गुणे हे कर्त इति, "अनतो ह्यर्" इति इति हे कर्तृ इति च भवति । एवमेव हे वारि, हे वारि, हे त्रपु, हे त्रपु इत्यादि बोध्यम् । ४५



## तृखस्त्नसृनेष्टृत्वष्टृक्षत्होष्टपोष्टप्रशास्त्रो घुट्यार् ॥ १ । ४ । ३८ ॥

तृचृत्तृन्प्रत्ययान्तस्य स्वस्त्रादिशब्दानां च संबन्धिषु ऋकारस्य स्थाने तत्संबन्धिष्वन्यसंबन्धिषु वा घुटि परे आर्  
 ३ इत्ययमादेशो भवति । कर्तारम्, कर्तारौ, कर्तारौ, कर्तारः कटस्य, वदितारम्, वदितारौ, वदितारौ, वदितारः जनाप-  
 वादान्; स्वसारम्, स्वसारौ, स्वसारौ, स्वसारः; नसारम्, नसारौ, नसारौ, नसारः; नेष्टारम्, नेष्टारौ, नेष्टारौ, नेष्टारः;  
 त्वष्टारम्, त्वष्टारौ, त्वष्टारौ, त्वष्टारः; क्षत्तारम्, क्षत्तारौ, क्षत्तारौ, क्षत्तारः; होतारम्, होतारौ, होतारौ, होतारः; पोता-  
 ४ रम्, पोतारौ, पोतारौ, पोतारः; प्रशास्त्रारम्, प्रशास्त्रारौ, प्रशास्त्रारौ, प्रशास्त्रारः; अतिकर्तारम्, अतिकर्तारौ, अतिकर्तारौ,  
 अतिकर्तारः । घुटीति किम् ? कर्तृ कुलं पश्य । सौ तु परत्वात् डागुणौ-कर्ता, हे कर्तः । तृशब्दस्यार्थवतो ग्रहणेन  
 ५ प्रत्ययग्रहणात् नप्त्रादीनामव्युत्पन्नानां सज्ञाशब्दानां तृशब्दस्य ग्रहणं न भवतीति तेषां पृथगुपादानम्, इदमेव च  
 ६ ज्ञापकम् 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणं भवति', इति व्युत्पत्तिपक्षे तु तृग्रहणेनैव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं नियमार्थम्, तेना-  
 न्येषामौणादिकानां न भवति-पितरौ, भ्रातरौ, मातरौ, जामातरौ । केचित्तु प्रस्तोतृउन्नेतृउद्गातृप्रतिहर्तृप्रतिस्थातृशब्दानामौ-  
 णादिकानामप्यार मन्यन्ते-प्रस्तोतारम्, प्रस्तोतारौ, प्रस्तोतारौ, प्रस्तोतारः इत्यादि ॥ ३८ ॥

१२

## अर्हौ च ॥ १ । ४ । ३९ ॥

ऋकारस्य स्थाने ङौ घुटि च परे अर् इत्ययमादेशो भवति । पितरि, पितरम्, पितरौ २, पितरः, मातरि, मातरम्,

तृखस्त्नसृनेष्टृत्वष्टृक्षत्होष्टपोष्टप्रशास्त्रो घुट्यार् । ऋत इत्यधिक्रियते । त्र्याशीना समाहारद्वन्द्वात् षष्ठां सौत्रे निर्देश ।  
 १५ अथवा सूत्रे साक्षाद्कारो निर्दिश्यते, ततश्च तृखस्त्नसृनेष्टृत्वष्टृक्षत्होष्टपोष्टप्रशास्त्रौ य ऋकारस्त्वस्य समानधीर्त्वे षष्ठा रत्वे रूपम् । ऋकारोपा-  
 दानस्य चेद फलं तु इति प्रत्ययस्य ग्रहणमन्यथा यत्वे -"यतिन०" उ० ८५६। इति ऋप्रत्यये तृरूपस्य समवाचस्यापि ग्रहणप्रसङ्गं, अत  
 २८ मात्रस्यात्र ग्रहणादिति । अत एव वक्ष्यति-तृशब्दस्यार्थवत् इत्यादि । 'ङ्ङुग' करणे, धातो करोतीति विग्रहे "णकटुर्वा" ५।१।४८। इति  
 तृचि गुणे अम्रौजस्सु अनेनाऽऽरादेशे-कर्तारमित्यादि । औकारप्रत्यासन्नताभिव्यक्त्यर्थं प्रथम द्वितीयोदाहरणे, तत प्रथमोदाहरणे । तृच-  
 २९ शीलघर्मासाद्युषु" ५।२।२७। इति तृनि, "स्वायशितोऽन्नोणादे०" ४।४।३२। इतीति पूर्ववत् । जनापवादानिति । तृचभिव्यक्त्यर्थं, "तृशुदन्ता०"  
 २।२।९०। इति षष्ठीप्रतिषेधाद्वितीया । सुपूर्वादसूत्रेणोऽत "सोरसे" उणा० ८५३। इति ऋप्रत्यये खसृ(भगिनी)भतोऽम्रौजस्सु अनेनाऽऽरा-  
 २४ देये-स्वसारमित्यादि । एषसुत्तरत्रापि । नसारम् इति । 'णम'ग्रहत्वेऽतो "नमे प च" उणा० ८६२। इति पादेशे तृप्रत्यय । नेष्टारम्  
 इति । 'णीन्' प्रापणेऽतो "निय पादि" उणा० ८६४। इति षकारादिस्तृप्रत्यय ऋत्विव्यभिधेये । त्वष्टारमिति । क्षत्तारमिति । 'त्विषी'  
 २५ शीतौ, अत 'क्षद'खदने, सौत्राच्च "त्वष्टृक्षत्तुदुहिमादय" उणा० ८६५। इति तृप्रत्यये ङकारस्याऽकार एकत्र दकारस्य "अधोपेप्रथमोऽक्षित" इति  
 प्रथमत्वे भवत् । होतारम्, पोतारम् इति । जुहोवैश्व पवते पुनातेर्वा "हुपुग्" उणा० ८६३। इति तृप्रत्यये गुणे स्थित्यत् । प्रशा-  
 २६ स्त्रारम् इति । अपूर्वात् 'शासृक्' अतुशिष्टौ, अत "शासिपासि०" उणा० ८५७। इति तृप्रत्यय । अन्ये तु त्वष्टृक्षत्होष्टपोष्टत्वाच्छीत्यादिषु  
 निपातयन्ति, अत्र इडभावात्स्वस्त्रादेव निपातनात् । अतस्त्वबन्धिष्वनुदाहरति-अतिकर्तारमित्यादि । कर्तारमतिकान्त इति "प्रायव०"  
 २७ इत्यादिना तत्पुष्य, अतिकान्त कर्ता येनेति बहुव्रीहिर्न विधेय, "ऋञ्जित्यदि" ७।३।१७। इति कञ्प्रसङ्गात् तेन च व्यवधानात् अनेन  
 २८ प्राप्यभावात् । नन्वत्र सूत्रे शौ निमित्ते किं न दर्शितम् ? "स्वराच्छौ" १।४।६५। इति नागमेन व्यवधानात् न प्राप्नोतीति चेन्न, नागमं प्रकृते-  
 २९ रेवांश्च इति, सत्यम्, अवयवेनावयवस्य ऋक्षणस्य व्यवधानं भवतीति न दर्शितम् । कर्तृ कुलं इति । अत्र नपुंसकपेष्टृत्वाभावात् नात् ।  
 ३० कर्तृशब्दात् सौ उभय प्राप्नोति, अनेनारादेश "ऋदुशनस०" १।४।८४। इति ङादेशश्च, सावकाशं च तदुभय-कर्तारौ पितेति, अत्रोभयप्राप्नो-  
 ३१ परत्वात् ङादेशे न भवति आर्, आधितत्वात्, एवमेव संतुद्धौ सौ कर्तृशब्दस्य ह्रस्वान्तस्य सिना सह "ह्रस्वस्य गुण" इति गुण, तदाह-सौ तु  
 परत्वात् डागुणौ कर्ता, हे कर्तः इति । अथ नप्त्रादयं किं पृथगुपाधीयन्ते ? तत्र तु इत्येव सिद्धमित्याह-तृशब्दस्येत्यादि । अयमर्थ-  
 ३२ तृशब्दस्य ऋकारान्तत्वाव्यभिचारात् पुनर्ऋकार इति यद्विशेषणं तदकारान्त एव य इति स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थं, यत्स्वधिकारापन्नं स स्थानिप्रत्या-  
 ३३ सत्त्यर्थोऽन्यथाऽनेकवर्णसत्त्वात् सर्वस्य स्यात् । व्याकरणे च शब्दस्य रूपवदर्थोऽप्याश्रीयतेऽन्यथा च नप्त्रादिग्रहणमनर्थकं स्यात्, तेनार्थवतो ग्रहणे  
 संभवति अनर्थकस्य ग्रहणं न भवति, च नार्थवान् प्रत्यय एवेति । यत्र त्वर्थो न संभवति तत्र वचनप्रामाण्यदानर्थकस्यापि ग्रहणं भवति । अत एव  
 ३४ नप्त्रादीनामव्युत्पन्नानां प्रत्ययितावयवार्थानां सज्ञाशब्दानां सम्बन्धिष्वनुदाहरति तृशब्दस्य तृग्रहणेनानर्थकत्वात् तृग्रहणं न भवतीति तेषां पृथगुपादानं क्रियते ।  
 ३५ ननु नप्त्रादयोऽपि व्युत्पाद्यन्ते इति तत्कथमुच्यतेऽव्युत्पन्नानामिति ? अत्रोच्यते-उणादिसु दर्शनद्वयं, केचिन्मन्यन्ते 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि  
 इति, अपरे व्युत्पन्नानिति' । लक्ष्यसिद्धयर्थं चेह क्वचित्किञ्चिद्दर्शनमाश्रीयते । तत्र यदा व्युत्पत्तिपक्ष आश्रीयते तदा नियमार्थं नप्त्रादिग्रहणमौ-  
 णादिकानां सज्ञाशब्दानां नप्त्रादीनामेव न पित्रादीनामित्याह-व्युत्पत्तिपक्षे त्वित्यादि । केचित्त्विति-भोजप्रमृतय । प्रपूर्वात् त्वैतेऽपूर्वा-  
 ३६ ऋयतेर्नायित्वेऽथ प्रतिपूर्वात् हरतेऽस्तिष्ठते "हुपुगोर्जाप्रस्तुप्रतिहर्तृप्रतिस्थाभ्य ऋत्विवि" उणा० ८६३। इति तृप्रत्ययेऽनेनाऽऽरादेशं मन्यन्ते,  
 ताच्छीलिकवृत्तान्तत्वादेवामारादेशसिद्धि ॥ ३८ ॥

अर्हौ च । ऋत इत्यनुवर्तते । तदाह-ऋकारस्य स्थाने इति । अत्र निमित्तात् पर श्रूयमाणश्चकारो निमित्तान्तरसव्यपेक्षं प्रत्या-

४५ सत्तेरनन्तरसुष्टोपात्तमेव निमित्तमुपस्थापयतीत्याह-ङौ घुटि चेति । पितरि इति । पितृ इति स्थितेऽनेन ऋकारस्य ङौ परे अरादेश ।  
 एव पितरमित्यादि । पित्रा इत्यादि । अत्र टायामरनेन न भवति, किन्तु यत्वमिति भावः । नपुंसके ऋकारान्तस्य ङौ नित्यत्वात् इयदेशे च

मातरौ २, मातरः । औ चेति किम् ? पित्रा, मात्रा । कर्तृणि कुले, कर्तृणि कुलानीत्यत्र तु परत्वात् पूर्वं न एव, तस्मिंस्तु सति व्यवधानात् न भवति । ऋत इत्येव ? ग्रि ॥ ३९ ॥

मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमत्र्ये ॥ १ । ४ । ४० ॥

मातृशब्दस्याऽऽमत्र्ये पुत्रे वर्तमानस्य सामर्थ्याद् बहुव्रीहौ समासे सिना सह मात इत्यकारान्त आदेशो भवति, अर्हे-मातृद्वारेण पुत्रप्रशंसायां गम्यमानायाम् । कचोऽपवादः । गार्गी माता यस्य तस्याऽऽमत्र्यं हे गार्गीमात !, एवं हे वात्सी-मात !; अत्र पुत्रः संभावितोत्कर्षया श्लाघ्यया मात्रा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतया प्रशस्यते । मातुरिति किम् ? हे गार्ग्यपि-तृक ! । पुत्र इति किम् ? हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! । अर्हे इति किम् ? अरे गार्गीमातृक ! । आमत्र्य इति किम् ? गार्गीमातृकः । सिनेति किम् ? हे गार्गीमातृकौ ॥ ४० ॥

ह्रस्वस्य गुणः ॥ १ । ४ । ४१ ॥

आमत्र्येऽर्थे वर्तमानस्य ह्रस्वान्तस्य सिना सह श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भवति, “आसन्नः” । हे पितः !, हे मातः !, हे कर्ता !, हे स्वसः !, हे मुने !, हे साधो !, हे बुद्धे !, हे धेनो ! । सिनेत्येव ? हे कर्तु कुल !, हे वारि !, हे त्रपु !; अत्र परत्वात् पूर्वं सेर्लपि सेरभावात् न भवति; “नामिनो लुग् वा” ॥ १ । ४ । ६१ ॥ इति लुकि तु स्थानिवद्भावाद् १२

पितरि वारिणेत्यादावुभयो सावकाशत्वेन परत्वात् नागमे ऋकारान्तत्वाभावात् न भवतीत्याह—कर्तृणि इत्यादि । पूर्वं न एवेति । कर्तृणि कुले इत्यत्र “अनाम्सरे०” इत्यनेन, कर्तृणि कुलानीत्यत्र च “स्वराच्छौ” इत्यनेनेति शेष । ननु नागमे सति कथमर् न ? व्यवधायकत्वाभावा-दागमत्वेत्याह—तस्मिंस्तु व्यवधानादित्यादि । यस्य योऽवयवत्वेन तस्य व्यवधानं न, किन्तु अवयवेनावयवस्य ऋक्षणस्य व्यवधानं भवतीति १५ भाव । ङि इति । अत्र दीर्घकारस्य सत्त्वेन तत्स्थानेऽर् न भवति ॥ ३९ ॥

मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमत्र्ये । आमत्र्य इत्यनेन पुत्र इति विशेष्यते, तेन च मातुरिति त्याह—मातृशब्दस्येत्यादि । ननु कथं मातृशब्दस्य पुत्रार्थे वृत्तिर्न क्वचित् पुत्रार्थे वर्तमान क्विद्वृष्ट, सत्यम्, केवलो न वर्तते बहुव्रीहौ तु तात्पर्याद् वर्तत इत्याह—सामर्थ्या-१८ दित्यादि । अयमर्थ—न ह्यन्यत्र वर्तमान शब्द साक्षादन्यमर्थं प्रतिपादयति, बहुव्रीहिसमासे त्वन्यपदार्थोपसर्जनतयाऽर्थान्तरं प्रतिपादयत्येव । अर्हे—प्रशंसायामित्यर्थ, प्रशंसा च प्रधानत्वात् पुत्रस्यैव न मातु, अर्हेसमवेऽपि तदर्थत्वादित्याह—मातृद्वारेणेत्यादि । बहुव्रीहौ हि मातृशब्दस्य ऋकारान्तत्वाद् ऋक्षण, कच प्राप्त, विशेषविहितत्वात्तदपवादोऽयमित्याह—कचोऽपवाद इति । “ऋचिस्तदित” ७।३।१७।१ इत्येतद्विहितस्येति २१ शेष । गर्गसायस्य वृद्धं स्त्री “गर्गोदर्यम्” ६।१।४२।२ इति यमि, “वृद्धि स्तरेष्वदि०” ७।४।१।१ इति वृद्धौ, “अवर्णवर्णस्य” इत्यकारलोपे, “अधो ज्ञान् च वा” २।४।६७।० इति व्हा, “अस्य दृषां लृक्” २।४।८६।० इति अकारलोपे, “व्यञ्जनात्तद्वितस्य” २।४।८८।० इति यलोपे—गार्गी, एव वात्सी । गार्गी माता यस्येति वात्सी माता यस्येति च विग्रहे “परत स्त्री पुवत्” ३।२।४५।० इति प्राप्तस्य पुवद्भावस्य “ध्वाज्ञात् २४ जीर्जातिश्वा०” ३।२।५६।० इति प्रतिषेधादनेन सिना सह मातादेशे—हे गार्गीमात !, एवं हे वात्सीमात ! इति । अत्र यो गार्ग्यो मात्रा व्यपदेशेन प्रशंसामर्हति स ग्राह्य, तदेव स्पष्टयति—अत्रेत्यादि । अत्र मात्रा पुत्रः प्रशस्यते, कथंभूतया संभावितोत्कर्षया पुनश्च श्लाघ्यया केन कारणेन हेतुना वा तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतयैति खण्डनव्य । अत्र—गार्गीमात इति बहुव्रीहौ । संभावितोत्कर्षया—समा-२७ वित उत्कर्षो यस्या सकाशात्तयेत्यर्थ । श्लाघ्यया—श्लाघामर्हया । प्रशस्यते—लोके विश्रुतो भवति । कस्माद्धेतोरत आह—तत्पुत्रव्यपदेश-योग्यतया—तत्पुत्र इति व्यपदेश—कथं, तस्य योग्यत्वस्य भावस्वत्ता तथा इत्यर्थ । हे गार्ग्यपितृक इति । गार्ग्य पिता यस्येति “ऋक्षण०” इति क्वचि भवति, अत्र मातृशब्दस्य पुत्रेऽवर्तमानत्वादस्याप्रवृत्ति । हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! इति । अत्रैकत्र मात्रार्थे वर्तमानत्वात् ३० अपरत्र च पुत्र्यर्थे वर्तमानत्वात् मातृशब्दस्य न माताऽऽदेश, पुत्रेऽवर्तमानत्वात् इति भाव । अरे गार्गीमातृक ! इति । अज्ञातपितृकत्वे-नानेकपितृकत्वेन चात्र निन्द्याया मात्रा तस्य व्यपदेशयोग्यतया विगुण पुत्रो निन्द्यते इति अर्हे इति वचनात् न भवतीति । आमत्र्य इति किम् ? आमत्र्येति पुत्र इत्यस्य विशेषण किमर्थमिति प्रश्न । गार्गीमातृक इति । अत्र पुत्रेऽर्थे वर्तमानत्वेऽपि मातृशब्दस्यामत्र्यपुत्रार्थवृत्ति-३३ त्वाभावात् न मातादेश । हे गार्गीमातृकौ—अत्र सेरभावात् नेद प्रवर्तते ॥ ४० ॥

ह्रस्वस्य गुणः । अत्र पूर्वसात् सिनाऽऽमत्र्य इत्यनुवर्तते । आमत्र्ये ह्रस्वस्य सिना गुण इत्यन्वय । अपिकृतस्य नाम्नो विशेषणात् विशेष-पणेन च तदन्तविधिसमवादाह—ह्रस्वान्तस्येति । ह्रस्वस्येत्यस्य ह्रस्वान्तस्येत्यर्थकत्वे कस्य गुणो ह्रस्वान्तस्य त्वसमवादिति चेत्, सत्यम्, श्रुतो ३६ हसो ह्रस्वान्तत्वमनुमितेति तस्मिन् “श्रुताश्रुतयोश्च श्रौतो विधिर्विधीयान्” इति न्यायेन श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भविष्यतीत्याह—श्रुतत्वादिति । “आसन्नः” ७।४।१२।० इति ज्ञापकाकारस्य तत्प्रत्यासन्नोऽर्, इकारस्य एकार, उकारस्य ओकार, अकारस्य “अदेत स्मोर्लृक्” १।४।४।४ इति वचनात् सेरभावात् गुणो न भवति । अथ प्रमाणाऽऽसत्त्वा इकारोकारयोर्परदेश कस्मात् न भवति ? मात्रिकस्य हि द्विमात्रादध्यर्कमात्रिक ३५ आसन्नो भवति, न चैव सति गुणग्रहणमनर्थकं स्थानाऽऽसत्त्वा सोऽपि सात्, उच्यते—यथादर्शनं व्यवस्थाऽऽश्रीयते, तत्र “गुणोऽरेदोत्” ३।३।२।० इति गुणसज्ञाया “नामिनो गुणोऽङ्किति” ४।३।१।० इत्यादिभि ऋवर्णस्यैवारादेशो दृष्टो नेवर्णवर्णयो । दृष्टरूपानां विहाय को नामादृष्ट कल्पयति, न चैव किञ्चिद्वाच्यत इत्युदाहरति—हे पितरित्यादि । पितृशब्दादामत्र्यस्यौ तेन सह ह्रस्वकारस्य गुणेऽपि पितरिति । एवमन्यत्रापि । अथ हे ४२ कर्तु कुलेत्यादौ ह्रस्वत्वादामत्र्यसिना सह गुण कस्मात् न भवति इत्याह—अत्र परत्वादित्यादि । “अनतो लृक्” १।४।५।१ इति सेर्लपि “लृप्य-य्छेनत्” ७।४।१।१ इति प्रत्ययलोपलक्षणस्य प्रतिषेधादित्यर्थ । लृप्येते ङ लृक्, स्थानिवद्भावाद् भवत्येवेत्याह—नामिन इत्यादि । नामिन इति लृक्पक्षे गुणे हे कर्तु इति, “अनतो लृक्” इति लृपि हे कर्तु इति च भवत । एवमेव हे वारि, हे वारि, हे त्रपु, हे त्रपु इत्यादि बोध्यम् । ४५

भवत्येव—हे कर्तः कुल! हे वारे! हे त्रपो! । आमन्त्र्य इत्येव? पिता, मुनिः, साधुः । ह्रस्वस्येति किम्? हे श्रीः! हे भूः! हे नदि! हे वधु! इत्यत्र तु ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् सेरभावात् च न भवति ॥ ४१ ॥

३ एदापः ॥ १ । ४ । ४२ ॥

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्यावन्तस्य सिना सह एकारान्तादेशो भवति । हे खट्वे! हे बहुराजे! हे बहुखट्वे! विष्टर । आ आप इत्याकारप्रश्लेषादिह न भवति—हे प्रियखट्वे! आप इति किम्? हे कीलालपाः! आमन्त्र्य इत्येव? खट्वा ॥ ४२ ॥

नित्यदिद्द्विस्वराऽम्बार्थस्य ह्रस्वः ॥ १ । ४ । ४३ ॥

नित्यं दित् दैदास्दासदाम्लक्षण आदेशो येभ्यस्तेषां द्विस्वराभ्यर्थानां चावन्तानामन्त्र्येऽर्थे वर्तमानानां सिना सह ह्रस्वान्तादेशो भवति । नित्यदित्—हे स्त्रि! हे गोरि! हे शार्ङ्गरवि! हे अस्त्रि! हे लक्ष्मि! हे तन्त्रि! हे ब्रह्मबन्धु! हे करभोरु! हे श्वश्रु! हे वधु! हे कर्कन्धु! हे अलाबु! हे वर्षासु! हे पुनर्मु! हे अतिलक्ष्मि! । द्विस्वराभ्यर्थ—हे अम्ब! हे अक्क! हे अत्त! हे अल! हे अनम्ब! हे परामम्ब! हे प्रियाम्ब! । नित्यदिदिति किम्? हे वातप्रमीः! हे ह्रह्रः! हे ग्रामणीः! हे खलपूर्वधृटि! । नित्यग्रहणादिह न भवति—हे श्रीः! हे ह्रीः! हे भूः! । कथं हे सुसु! हे भीरु! स्त्रीपर्यायत्वाद्धि कृते भविष्यति । अम्बार्थानां द्विस्वरविशेषण किम्? हे अम्बाडे! हे अम्बाले! हे अम्बिके! । आप इत्येव? हे मातः! ॥ ४३ ॥

१५ ननु हे नदि इत्यादौ ह्रस्वत्वसत्त्वात् गुणोऽनेन कथं न भवतीत्याह—ह्रस्वविधानसामर्थ्यादिति । ‘उभयो स्थाने य’ इति न्यायेन यदा सिव्यपदेशस्तदा सिर्ह्रस्वश्चास्ति अतो—विधानसामर्थ्यात् इति । यत्र पूर्वोफरीत्या ‘ह्रस्वस्य गुण’ एवेष्टस्वर्हि ‘ह्रस्वस्य गुण’ इत्यत्रैव ‘नित्यदिद्’ इति ग्रहणं कुर्यात्, ह्रस्वविधानादपि गुणस्य भावादिति । यदा तु ह्रस्वव्यपदेशस्तदा सेरभावात् न भवतीत्याह—सेरभावादिति ॥४१॥

१८ एदापः । सिनाऽऽमन्त्र्ये इत्यनुवर्तते । आमन्त्र्ये आप सिना एव इत्यन्वयस्तदाह—आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्येत्यादि । हे खट्वे इति । खट्वाशब्दादामन्त्र्यसिना सहकारान्तादेशो भवति । हे बहुराजे इति । बहवो राजानो यस्यामिति विग्रह, ‘ताभ्यां वाप् ङिट्’ २।४।१५। इति ङिदापि तस्मादावन्तादामन्त्र्यसिना सहानेन एकारान्तादेशः । हे बहुखट्वे विष्टर इति । एवमीपदूना खट्वा इति विग्रहे खट्वाशब्दाद् ‘नात्र- २१ प्राचबहुवच’ इति चर्हा अनेन एत्वम् । अथ प्रिया खट्वा यस्येति विग्रहे ‘गोश्वान्तो’ इति ह्रस्वत्वे ‘एकदेशविद्धतस्यानन्यत्वात्’ आप खट्वावात् आमन्त्र्यसिना एव कस्मात् न भवति? उच्यते—सूत्रे आ आप इत्याकारप्रश्लेषादाकारभावादेत्वाभावोऽत आह—आ आप इतीति । हे कीलालपा इति । धात्ववयवाकारस्याच्चाभावात् नेद प्रवर्तते । खट्वा इति । प्रथमाया सित्तस्य ‘शीर्षक्याच्’ इति लोपः ॥ ४२ ॥

२४ नित्यदिद्द्विस्वराभ्यर्थस्य ह्रस्वः । आप इति सिनाऽऽमन्त्र्ये इति चानुवर्तते । अनुवृत्तमाप इति द्विस्वराभ्यर्थस्येत्यनेनान्वेति न नित्यदिदित्यनेन, असम्भवात्, तदाह—नित्यं दित् दैदास् इत्यादि । ‘जीद्वत्’ इति येषां नित्यं दायथादेशा भवन्ति तेषामामन्त्र्यवृत्तीनां सिना सह ह्रस्वान्तादेश इति फलितार्थः । आवन्तानामामन्त्र्येऽर्थे वर्तमानानां च द्वौ स्वरौ येषान्ते अम्बार्थवाचिनस्तेषां सिना सह ह्रस्वान्तादेश

२७ इत्याह—द्विस्वराभ्यर्थानामित्यादि । हे स्त्रि इति । ‘जी’ उ० ४५०। इति षट् टित्वात् ङ्या तत सिना सह ह्रस्व । हे गौरि इति । ‘गौरादिभ्यो सुक्याद् ङी’ २।४।१५। इति ङ्या ह्रस्व । हे शार्ङ्गरवि इति । ‘शृ’ गृणाति शृङ्गर्हृद्विस्वस्यापत्यं शार्ङ्गरी, यद्वा णोतीति ‘शिमुगेहनमेर्वाद्य’ इति निपातनाद् रौ अन्तस्य चाङ्गिदेशे शार्ङ्ग, यदा तु अनेनैव शृङ्गरीति निपात्यते तदाऽणि ङ्यां च शार्ङ्गरी । अथवा—

३० शार्ङ्गवत् रवो यस्या इति गौरादित्वात् ङ्यां शार्ङ्गरी, तत आमन्त्र्यवृत्तेस्त्वस्य सिना सह ह्रस्व । शेषास्तु व्युत्पादिता व्युत्पादयिष्यन्ते च । हे कर्कन्धु इति । कर्कन्धुर्धृदपीकोलीत्यमर, तत आमन्त्र्यवृत्ते सिना सह ह्रस्व, कण्ठक द्वातीत्यर्थः । हे अलाबु इति । न लम्बतेऽलाबु काक्काऽत्र नध्, नपूर्वाङ्गम्बते ‘नथो लम्बनेर्लुक् च’ उणा० ८३८। इत्युर्णत्, तुम्ब्यलाबु इति हैम, लौङ्गीबलिङ्गोऽयम्, तत सिना सह

३३ ह्रस्वत्वम् । हे अम्ब इत्यादि । माताऽम्बा इति हैम, अमति वारधत्य गच्छति अम्बा, ‘अम’ गतावत् ‘शम्यमेर्णिद्वा’ उ० ३१८। इति वे आपि च भवति । ‘अक्’ कृटिलायां गती, इत्यस्य ‘निष्कतुरक्को’ उणा० २६। इत्यादिनिपातनात् कप्रत्यये अक्का । अतते ‘पुतपित्त’ उणा० २०४। इति निपातनादस्तेति । ‘अली’ भूषणादावत् ‘मिहाच्छ’ उणा० ४६४। इति ले अल्ला इति, ततोऽनेन सिना सह ह्रस्वत्वम् । तदन्ते

३६ ससुदाहरति—हे अनम्ब इत्यादि । हे वातप्रमीः इति । वात प्रमिमीते ‘वातात् प्रम किट्’ इति ईप्रत्यये नित्यदिदित्वाभावात् ह्रस्वो न भवति । हे ह्रह्रः इति । जहाते पृषोदरादित्वाद्प्रत्यये द्विवचनदौ नित्यदिदित्वाभावाद् ह्रस्वत्वाभावः । एव हे ग्रामणीः इत्यादि । द्विति नित्यमित्ति विशेषणस्य प्रयोजनमाह—नित्येत्यादि । हे श्रीरित्यादौ ‘वैयुवोऽस्त्रिया’ इति दिता विकल्पितत्वादित्यर्थः । नन्वेव नित्यग्रहणात् कथं हे सुसु, हे

३९ भीरु इति आशङ्कते—कथमिति । समाधत्ते—स्त्रीपर्यायत्वादित्यादि । ‘शिमुगेहनमेर्वाद्य’ उणा० ८११। इति ‘केवयुमुरप्यवर्षु’ उणा० ७४६। इति वा निपातनात् आमन्त्र्येर्मु, शोमन भु अमण यस्या—‘उतोऽप्राणिनो’ २।४।७३। इत्युक्प्रत्यये समानधीर्धत्वेऽनेन ह्रस्वत्वे च हे सुसु! । एव विभेते ‘भियो रुरुकृकम्’ ५।२।७६। इति किति इप्रत्यये, शेष पूर्ववत् । अम्बार्थानां द्विस्वरविशेषणं किम्? इति । तद्वि-

४२ शेषण विहाय अम्बार्थवाचिनां ह्रस्व इत्युक्ते को दोष इत्यभिप्रायः प्रश्नकर्तुः । हे अम्बाडे इति । अम्बावदतीति ङिहादित्वाद्, अत्राम्बार्थस्याम्बाशब्दस्य द्विस्वरत्वाभावेन न ह्रस्व । एवमुत्तरत्र हे अम्बाळे इति । अम्बां लातीति ‘आतो जोऽङ्गावाम’ ५।१।७६। इति इप्रत्ययः । हे अम्बिके इति । अम्बे ‘णकृचौ’ ५।१।४८। इति णकप्रत्यये, ‘आत्’ इत्यापि, ‘अस्यायत्तिसिपकाधीनाम्’ २।४।१११। इतीकारः ।

४५ मातः इति । अस्य द्विस्वराभ्यर्थत्वेऽपि आबन्तत्वाभावात् नेद प्रवर्तते ॥ ४३ ॥

अदेतः समोर्लुक् ॥ १ । ४ । ४४ ॥

अकारान्तादेकारान्तात् चाऽऽमध्येऽर्थे वर्तमानात् परस्य सेस्तदादेशस्याऽऽमश्च लुग् भवति । (सि-)हे श्रमण !, हे संयत !, अस्-हे वन !, हे धन !, हे उपकुम्भ !, हे अतिहे !, परमश्वासाविश्च हे परमे !, हे से ! । अदेत इति किम् ? हे शौ !, हे नौ !, हे परशौ ! । स्यादेशत्वेनैवाऽमोऽपि लुचि सिद्ध्याय पृथग्वचनमन्यस्याऽऽदेशस्य लुगभावार्यम्, तेन-हे कतरद् ! इत्यादौ लुग् न भवति ॥ ४४ ॥

दीर्घड्याव्यञ्जनात् सेः ॥ १ । ४ । ४५ ॥

दीर्घान्यां ड्याभ्यां व्यञ्जनात् च परस्य सेर्लुग् भवति । डी-गौरी, कुमारी, वह्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी चैत्रः, एवं बहुश्रेयसी; खरकुटीय खरकुटी ब्राह्मणः, कुमारीवाचरति किप्, लुक्, किप्-कुमारी ब्राह्मणः । आप्-खट्वा, बहुराजा । व्यञ्जन-राजा, तक्षा, हे राजन् ! । एभ्य इति किम् ? वृक्षः । ड्यावग्रहणं किम् ? लक्ष्मीः, तच्चीः, ग्रामणीः; कीलालपाः । दीर्घग्रहणं किम् ? निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वाः । नपुंसकेषु परत्वात् "अनतो लुप्" ॥ १ । ४ । ५९ ॥ इति लुचेन, तेन-यत्कुलं तत्कुलमिति सिद्धम्, "पदस्य" ॥ २ । १ । ८९ ॥ इति सिद्धे व्यञ्जनग्रहणं राजेत्यादौ सिलोपार्थम्,

अदेतः समोर्लुक् । आमश्च इत्यनुवर्तते, तच्चादेत इत्यनेन विशेषणतयान्वेति, अदेत इति नामविशेषणतया तदन्तवोधक, तदाह— १२ अकारान्तादेकारान्ताच्चेत्यादि । आमश्चोऽमोऽसभवात् तत्र च स्यादेश एवम् सभवतीत्याह—तदादेशस्यामश्चेति । हे श्रमण ! इति । आमश्चोऽमोऽसभवात् अमणशब्दात् सेर्लुक् । एव हे संयत ! इत्यपि । हे वन ! इति । वनशब्दात् "अत समोऽम्" १।४।५७ इति स्यादेशस्यामोऽनेन लुक् । हे उपकुम्भ ! इति । कुम्भस्य समीपमिति आमश्चोऽमोऽसभवात् स्यादेशस्यामो लुक् । हे अतिहे ! इति । हिमतिकान्त १५ कुल, तदामश्च "हस्यस्य गुण" इति गुणे एकारान्तात् सेरनेन लुक् । हे परमे ! इति । अत्र परमश्वासाविधेति "सन्महत्" ३।१।१०७ इति विशेषणसमास । परम इ इति स्थिते अन्तरङ्गत्वादिभक्त्युत्पत्ते पूवनेन "अवर्णसे" इत्येत्त्वम्, तत एकारान्तादनेन सेर्लुक् । एव हे से ! इति । सह इना वर्तते इति "सहस्रेण" ३।१।२४ इति बहुव्रीहि, "सहस्य" ३।२।१४३ इति सभाव । नन्वमो लुग्वचन किमर्थम् ? स्यादेशत्वात् १८ सिद्ध्यनेन प्रहणाद्गु भविष्यतीत्याह—स्यादेशत्वेनेत्यादि । अथ भाव—"अदेत समोर्लुक्" इति सूत्रे केवल सेर्लुमित्युक्त्याऽमस्तदादेशत्वात् लुक् सिद्धावपि पुनस्तच्चाऽम इति पृथग्वचनम् अन्यस्य आदेशस्य-अमतिरिक्तस्य स्यादेशस्य लुगभावार्यमिति । एतेन पूर्वं वैयर्थ्यमुपपाद्य वाक्यान्तरकल्पना, स्वार्थो चारितार्थं स्पष्टमेव । ज्ञापनफलमाह—तेन हे कतरदित्यादि । अत्र "पद्यतोऽन्यादे" १।४।५८ इति स्यादे-२१ शस्यनेन लुग् न भवति ॥ ४४ ॥

दीर्घड्याव्यञ्जनात् सेः । अत्र डगित्यनुवर्तते । धीषेति विशेषणं ज्ञापार्थं व्यञ्जनस्यासभवात्, तदाह—दीर्घान्यामित्यादि । गौरी इति । गौरादित्वात् ड्या तत् सेर्लुक् । कुमारी इति । "वयसनत्वे" २।४।२१ इति ज्ञां तत् परस्य सेर्लुक् । एवं बहु श्रेयसी इति । २४ त्रियशब्दस्य "गुणाङ्गात्" ७।३।९ इति यत्सि, "त्रियस्थिर" ७।४।३८ इति प्रादेशे, "अथात्तुहति" २।४।२१ इति ज्ञां श्रेयसी, शेष पूर्ववत् । खरकुटी ब्राह्मण इति । कृदिशब्दात् "इतोक्त्यात्" २।४।३२ इति ज्ञाया मथात्समास खरशब्देन, शेष पूर्ववत् । एव कुमारी ब्राह्मण इति । प्रकियास्य पूर्व दर्शिता । खट्वा इति । खट्वाशब्दात् सौ तस्य चाप परस्यानेन लुक् । एवमेव बहवो राजानो यस्यामिति—बहुराजा । २७ राजा इति । राजपशब्दात् सौ "नि दीर्घ" १।४।८५ इति धीषे, व्यञ्जनात् परस्य च सेरनेन लुक् "नात्रो" २।१।९१ इति नलोप । एवमेव तक्षा इत्यपि । हे राजन् इति । तत् एवामश्चसौ शेषपुद्गलभावादीर्घान्यावनेन सेर्लुक् "नाऽऽमश्च" २।१।९२ इति प्रतिषेधात् "नात्रो नो" इति नलोपो न भवति । एभ्य इति किम् ? इति । ड्याव्यञ्जनेभ्य परस्य सेर्लुक् इति क्य ? सामान्यत एव सेरित्युच्यताम् ३० लुगनुवृत्त्या सेर्लुग् भविष्यतीति प्रसार्थं । वृद्धः इति । सेर्लुमित्युच्यमानेऽत्रापि लुक् स्यादिति धीर्घड्याव्यञ्जनाविति । ननु व्यञ्जनादित्युक्त्या वृक्ष इत्यादावदोषे ड्याव्यग्रहणं किमर्थमित्याशयेन पृच्छति—ड्याव्यग्रहणं किमिति । सूत्रे ड्याव्यग्रहणाभावे धीर्घात् व्यञ्जनात् च परस्य सेर्लुगिति सूत्रार्थं लक्ष्म्यादिशब्देभ्य सेर्लुगात् परत्वेन लुक् स्यादतो ड्याव्यग्रहणमिति, तदाह—लक्ष्मीरित्यादि । एषु से पदान्तस्य लत्वविशर्गा । ३३ ननु ड्यापोदीर्घयोरेव सत्त्वेन तथोर्दीर्घत्वविशेषण नेतरव्यावर्तकमित्याशयेन पृच्छति—दीर्घग्रहणं किमिति । निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वा इति । प्रादिसमासे "गोश्वान्ते" इति ह्य । अनयो 'एकदेशविकृतमनन्यवद्' इति ज्ञायात्वेऽपि तयोर्लुक्त्वेन धीर्घाभावात्तत् परस्य न सेर्लुक् । ननु यत्कुलमित्यादी अन्यत्रान्यत्रल-न्यावकाशयो "दीर्घड्याम्" इति "अनतो लुप्" इति चानयोर्गुणप्रसार्थो व्यवस्थामाह—नपुंसकेषु परत्वा- ३६ इत्यादि । अथ "पदस्य" इति सयोगान्तलोपेन सेर्लोपस्य सिद्धत्वात् व्यञ्जनग्रहणमिति चिन्त्यते १ न च राजा तक्षेत्र नलोपे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वेन नान्तत्वाभावे "नात्रो नो" इति प्राच्यभाव इति वाच्यम्, "नाऽऽमश्च" इति प्रतिषेधात्तस्य सिद्धत्वज्ञापनाद्, अन्यथा निषेधस्य पूर्वोक्तरीत्या नलोपप्राप्त्याऽप्राप्तिपूर्वकत्वात्सगतत्वापत्ते । नन्वेव ज्ञापिते सति पचन् यजन्तित्यप्रापि नलोपप्रसङ्ग, ज्ञापनात् पूर्वं तु सयोगान्त- ३९ रेण व्यवहित इति दोषाभावात् । ननु चात्र तत्कारलोप एव न प्राप्नोति सिलोपस्यासिद्धत्वात्, नैव दोष, पूर्वस्य परेऽसिद्धत्वमुच्यते । ततश्च संयोगान्तलोपे संयोगान्तलोपस्य सिद्धत्वाद् भवत्येव तलोप । तस्य त्वसिद्धत्वात् नलोपभाव । ननु तथापि "नाम सिद्धव्यञ्जने" इति सावपि पदत्वात् ४२ राजेति नलोप सिध्यति, कृते तु नलोपे संयोगान्तत्वाभावात् पदत्वेति सेर्लोपो न सिध्यति । तथा उखात्रं पर्णचदित्यादौ दस्य कथञ्च, तथाहि—उखात्स्य स् इति स्थिते संयोगान्तलोपमभावादत्वाद् वाधित्वा संयोगादिलोप प्राप्नोति, पूर्वां ज्ञापनाद् वचनप्रामाण्यादुत्तमं कर्तव्ये नाऽसिद्धो भवति, चाप्रतद्विहितवत् । कृते च संयोगादिलोपे संयोगाभावात् संयोगान्तलोपभावः । ततो विभक्तिसकार संसर्तरेवयवो न भवतीति दत्तासिद्धि- ४५ त्याह—"पदस्य" इति सिद्धे व्यञ्जनग्रहणं सिलोपार्थमिति । संयोगान्तलोपसत्त्वेन पूर्वं सौ "नाम सिद्ध" इति पदत्वेन नान्तत्वात् न लोपे व्यञ्जनग्रहणेनेन सिलोपो भवति । "पदस्य" इति तु न प्रवर्तते, चाप्रत से सस्य संयोगान्तत्वाभावात् । व्यञ्जनग्रहणाभावे परे नलोपेऽस्य-

अन्यथा सावपि पदत्वात् “पदस्य” इति च परेऽसत्त्वात् पूर्वं नलोपे सेर्लुप्, उखासदित्यादौ संयोगस्यादौ स्कोर्लुकि दत्त्वं च न स्यात् ॥ ४५ ॥

३

समानादमोऽतः ॥ १ । ४ । ४६ ॥

समानात् परस्यामोऽकारस्य लुग्भवति । वृक्षम्, खट्वाम्, मुनिम्, साधुम्, बुद्धिम्, वेनुम्, नदीम्, वधुम् । पितरमित्यादिषु विशेषविधानात् प्रथममेवाद् । समानादिति किम् ? रायम्, नावम् । अम इति किम् ? नवः । स्यादेरिति १ किम् ? अचिनवम् ॥ ४६ ॥

दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषूः ॥ १ । ४ । ४७ ॥

तिसृचतसृषकाररेफान्तवर्जितशब्दसंबन्धिनः पूर्वस्य समानस्यामादेशे नामि परे दीर्घो भवति । श्रमणानाम्, मुनी-  
नाम्, साधूनाम्, बुद्धीनाम्, धेनूनाम्, वारीणाम्, त्रपूणाम्, पितृणाम्, मातृणाम्; कर्दणाम् । अतिसृचतसृषू इति  
किम् ? तिसृणाम्, चतसृणाम्, षण्णाम्, चतुर्णाम् । अषू इति प्रतिषेधेन नकारेण व्यवहितेऽपि नामि दीर्घो ज्ञाप्यते-  
पञ्चानाम्, सप्तानाम् । नामीति किम् ? चर्मणाम् । स्यादावित्येव ? दधिनाम, चर्मनाम; अनर्थकत्वाद् वा ॥ ४७ ॥

३२

नुर्वा ॥ १ । ४ । ४८ ॥

नृशब्दसंबन्धिनः समानस्य नामि परे दीर्घो वा भवति । नृणाम्, नृणाम्, अतिनृणाम्, अतिनृणाम् ॥ ४८ ॥

त्वात् पूर्वं संयोगान्तलोपाभाव, कृते तु संयोगाभावादप्राप्तिरित्याह—अन्यथा इत्यादि । अन्यथा—व्यजनग्रहणाभावे । सावपि पदत्वादिति ।  
१५ “नाम सिद्धं” इत्यनेन से सत्य व्यपदेशिवद्भावेन व्यञ्जनादिप्रत्ययत्वात् पूर्वस्य नाम्न पदत्वमिति भाव । “पदस्य” इति च परेऽसत्त्वा-  
दिति । “रात्” इति यावदसत्पर इत्यधिकृत्या तन्मध्यपतिते “पदस्य” इत्यत्रासत्परे इत्यधिकारे “नाश्रो नो” इति परे पूर्वस्य “पदस्य”  
इत्यस्यासत्त्वमिति भाव । पूर्व—असत् संयोगान्तलोपात् पूर्वमिति भाव । सेर्लुप् इति । न स्यादित्यभिप्रेयान्नेति । दत्त्वं चेति । सौ परे लृक्  
१८ पूर्व दत्त्व प्राप्नोतीति न वाच्यम्, परे लृकि “संलृप्सु” ३।१।६८। इति सूत्रस्यासिद्धत्वात् ॥ ४५ ॥

समानादमोऽतः । अत्र लृगित्यनुवर्तते । समानादमोऽतो लृगित्यन्वय । समानात् इति द्विगोमलक्षणा पञ्चमी । अम इति अव-  
यवावयविभावे षष्ठी, तच्च अत इत्यस्य विशेषणमित्याह—समानात् परस्यामोऽकारस्येत्यादि । यथाक्रममुदाहरति—वृष्टामित्यादि ।  
२१ वृक्षशब्दाद् द्वितीयैकवचनेऽपि अनेन तदवयवाकारस्य समानात् परस्य लृक् । एवमन्यदपि । अथ ऋकारस्य समानत्वात् परस्यामोऽकारस्य  
लोप क्त्वात् न भवतीत्याह—पितरमित्यादाविति । विशेषविधानात् प्रथममेवाद् इति । अपवादत्वात् “अर्धौ च” १।४।३१। इत्यनेनेति  
शेष । रायम् इति । अत्राम् समानात् परत्वात् न लृक् । एवमन्यत्र । नद्यः इति । समानात् परत्वेऽप्यत्रामोऽभावात्सोऽकारस्य न लृक् ।  
२४ विनोतेर्लृक्सन्त्या अन्वि “खादि श्रु” ३।४।७। इति श्रुत्यस्य “उश्रो” ४।३।२। इति गुणेश्वादेशे, इडागमे, स्वाथधिकारादमोऽकारलोपाभावे—  
अचिनवमिति । न च वाच्य परत्वात् नित्यत्वात् च गुणेन आब्यमिति, प्राप्तौ सत्यां परत्वं नित्यत्वं च चिन्त्यते इति ॥ ४६ ॥

दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषूः । समानादित्यनुवर्तते, तच्च “अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम” इति न्यायेन समानस्येति विपरिणम्यते, तत्र  
२७ अतिसृचतसृष इति विशेषणतया सवप्यते, तदाह—तिसृचतसृषकारेत्यादि । अत्र स्वाथधिकारादामादेश एव नाम् शृषते इत्याह—  
आमादेशे नामीति । श्रमणानामित्यादि । श्रमणशब्दात् षष्ठीषड्वचने आमप्रत्यये तस्य “ह्रस्वापद्य” इति नामादेशे तत्पूर्वस्य समानाकार-  
स्यानेन दीर्घे । एवमन्यदपि । तिसृणाम्, चतसृणाम् इति । त्रिचतुरोरामि परत्वात् “त्रिचतुरो” इति तिसृचतसृषादेशे “ह्रस्वापद्य” इति  
३० नामादेश । षण्णाम्, चतुर्णाम् इति । “संख्याना षण्णाम्” इत्यामो नामादेश । ननु नाम्न समानस्य नाम्बुध्यमानो दीर्घ प्राप्नोति, पकार-  
रेफान्त्यां तस्य व्यवधानात्, तयोश्चासमानत्वात् सप्तम्या निर्दिष्टे च उपलक्षितस्यैव कार्यभावात्, सलम्, अथमेव प्रतिषेधो ज्ञापयति यदुत व्य-  
हितेऽपि नामि दीर्घो भवतीत्याह—अत्र इत्यादि । नकारेण इति । अन्यव्यजनेन तु अस्मिन् इति नकारेणेत्युक्ति । पूर्वमप्रेति प्रतिषेधो व्यर्थ सन्  
३२ पूर्वोक्तं वाक्यान्तरे कल्पयति । तथा चेदानीमत्र इति न स्यात्तदा षण्णामित्यादौ प्राप्तौ दीर्घत्वान्निवृत्तये अत्र इति प्रतिषेधः सांशे चरितार्थत्वात्प्र-  
योजनजिज्ञासायामाह—पञ्चानाम्, सप्तानाम् इति । अत्रानेन नकारव्यवहितेऽपि दीर्घे सिद्धे । चर्मणाम् इति । अत्रामि परेऽनेन न  
नकारव्यवहितेऽपि दीर्घे । वृधिनमित्यादां स्वाथधिकारात् नामन् इत्येकदेशानर्थकत्वाद् वा दीर्घो न भवतीत्याह—स्यादावित्येवेत्यादि ।  
३३ यद्येवमिह तर्हि प्राप्नोति—दण्डस्य नामो दण्डनाम इति, अत्र हि “नम्” धातोर्धमि नाम इति भवति, तदेकदेशो नाम् इत्यर्थवानिति चेदुच्यते—  
तत्रापि ससुदाय एवार्थवान् अवयवानां तु काल्पनिकमर्थवत्त्वं, अन्यव्यवहितेरिकाभ्यां कल्पितत्वात्, अथ तु नाम इति, आमादेश एव प्रतिषेधोक्त  
इति न भवति ॥ ४७ ॥

३५ नुर्वा । अत्र दीर्घो नामीत्यनुवर्तते, समानादिति चादुष्टं पञ्चमन्ततया विपरिणम्यते, तत्र त्रिरित्यस्यान्वय, तु समानस्य नामि दीर्घो  
वा इत्यन्यव्यवदर्थमाह—नृशब्दसंबन्धिन इत्यादि । नृणाम् इति । नृशब्दादामि “ह्रस्वापद्य” इति नामादेशेऽनेन पाक्षिको दीर्घ, पक्षे—  
नृणामित्यपि । नन्वत्र वाग्रहणमन्तरेणापि नित्य दीर्घविधि पूर्वपैव सिद्धत्वात् दृश्यवचनाद् विकल्पोऽवशीयते, अतिसृचतसृष इत्यत्र ऋकार-  
३२ कृपात् प्रतिषेधाशंकाऽपि न विधेया, तिसृचतसृषप्रतिषेधाकारान्तस्य दृशब्दस्यैवेति नियमोऽपि ज्ञानादनीय इति, किञ्च स्यात्? युक्तं चैवमय  
विधिर्नित्य इति द्विवचनात् “द्विवचं सुबद्ध भवति” अतो वाग्रहणादय विधिर्विकल्पित पूर्वो नित्य इति विज्ञायते ॥ ४८ ॥

शसोऽता सश्च नः पुंसि ॥४९॥ ] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

## शसोऽता सश्च नः पुंसि ॥ १ । ४ । ४९ ॥

शसः संबन्धिनोऽकारेण सह समानस्य प्रधानस्थान्यासन्नो दीर्घो भवति, तत्संनियोगे च पुल्लिङ्गविषये शसः सकारस्य नकारो भवति । श्रमणान्, मुनीन्, साधून्, वातप्रमीन्, दृहन्; पितृन् । पुल्लिङ्गाभावे तु दीर्घत्वमेव—शाळाः, ३ बुद्धीः, नदीः, धेनूः, वधूः; मातृः । चञ्चाः, खरकुटीः, यष्टीः पुरुषान् पश्य—इत्यत्र चञ्चादयः शब्दाः पुरुषे वर्तमाना अपि स्त्रीलिङ्गत्वं नोच्छन्तीति नकारो न भवति । यदा तु शब्दस्य पुल्लिङ्गत्व तदा वस्तुनः स्त्रीत्वे नपुंसकत्वे वा नकारो भवत्येव—दारान्, धुकुंसान् स्त्रीः पश्य, षण्ढान् षण्डकान् पश्य । दीर्घसंनियोगविज्ञानादिह नो न भवति—एतान् गाः पश्य । ६ समानस्येत्येव ? रायः, नावः पश्य । वनानि पश्य—इत्यत्र परत्वात् शिरेव ॥ ४९ ॥

## संख्यासायवेरहस्याहन् डौ वा ॥ १ । ४ । ५० ॥

संख्यावाचिभ्यः सायशब्दाद् विशब्दात् च परस्याहंशब्दस्य डौ परेऽहन् इत्ययमादेशो वा भवति । द्वयोरहोर्भेव १ इति विग्रह “भवे” ॥ ६ । ३ । १२३ ॥ इत्यण्विषये, “सर्वाश” ॥ ७ । ३ । ११८ ॥ इत्यादिनाऽट् अह्लादेशश्च, ततो “द्विगोरनपत्ये” ॥ ६ । १ । २४ ॥ इत्यादिनाऽणो लुपि ब्यहस्तस्मिन् ब्यह्नि, ब्यह्नि, ब्यह्ने; एवं त्र्यह्नि, त्र्यहनि, त्र्यह्ने; यावदह्नि, यावदहनि, यावदह्ने, तावदह्नि, तावदहनि, तावदह्ने; सायमहः सायाहस्तस्मिन् सायाह्नि, सायाहनि, १२ सायाह्ने; अत एव सूत्रनिर्देशात् सायंशब्दस्य मकारलोपः, सायत्यकारान्तो वा; विगतमहो ब्यहस्तस्मिन् व्यह्नि, व्यहनि; व्यह्ने । संख्यासायवेरिति किम् ? मध्याह्नि । अहस्येति किम् ? द्वयोरहोः समाहारो ब्यहस्तस्मिन् ब्यह्ने । डौविति किम् ? ब्यहः ॥ ५० ॥ १५

## निय आम् ॥ १ । ४ । ५१ ॥

नियः परस्य डेः स्थाने आम् इत्ययमादेशो भवति । नियाम्, ग्रामण्याम् ॥ ५१ ॥

शसोऽता सश्च नः पुंसि । समानस्येति दीर्घ इति चातुर्वर्तते, शसोऽता समानस्य दीर्घे च पुंसि न इत्यन्वयस्त्वदाह—शासः १८ संबन्धिन इत्यादि । अत्र यद्यपि समानस्य शसोऽकारस्य च स्थानित्वम् तथापि ‘प्रधानानुयायिनो व्यवहारा भवन्ति’ इति प्रधानस्थान्यासन्न एव दीर्घो भवति । प्रधानत्व च षष्ठीनिर्दिष्टस्य समानस्यैवेत्याह—समानस्य प्रधानस्थान्यासन्नो दीर्घ इति । चकाराद् भिन्नार्थं वाक्यद्वयमित्याह—तत्सन्नियोगे चेत्यादि । श्रमणान् इति । श्रमणशब्दाच्छेष संबन्धिनोऽकारेण सह तत्पूर्वस्य समानस्याकारस्य दीर्घे तत्सन्नियोग- २१ शिष्टस्त्वस्य सकारस्य पुस्तवे नकार । एवमन्यदपि । ननु पुस्तविषयाभावे शस किं भवतीत्याह—पुल्लिङ्गाभावे दीर्घत्वमेव इति । दीर्घसन्नियोगशिष्टत्व नकारस्य, न नकारसन्नियोगशिष्टत्व दीर्घस्य इति, यत्र दीर्घो न भवति तत्र नकारोऽपि न भवति, नत्वाभावे दीर्घस्तु भवत्येवेति भावः । तदुदाहरति—शाळा इत्यादि । पुस्तव तत्र वैयाकरणप्रसिद्ध लिङ्ग यत्रायमिति प्रत्ययोऽनुवर्तते नेदमियमिति वा, न तु लौकिक प्रज- २४ ननाद्यमित्येक प्राणिधर्मः । तत्र हि अक्रुत्तान् पश्य इति स्त्रियोऽपि हि यदा पुरुषवेषधारिण्यो अक्रुत्ता उच्यन्ते तदा स्त्रीवृत्तिरय न पृच्छति । तथा षण्ढान् पश्य, षण्डकान् पश्येति नपुंसकेऽपि न सिध्यति । तथा चञ्चे चञ्चा पुरुषान् पश्येत्यत्रापि पुरुषवृत्तित्वाद् प्राप्नोति । नन्वस्तु वैयाकरणप्रसिद्धस्य पुस्तवस्य ग्रहण, तथापि चञ्चाः, खरकुटीः, यष्टीः पुरुषान् पश्येत्यादौ प्राप्नोति, अत्र हि चञ्चादय शब्दा साहस्यत्वात् पुरुषेषु २७ वर्तमानास्तुल्यसुपाददते तेन पुल्लिङ्गविषये शसित्याह—अत्रेत्यादि । अयमर्थ—अभेदोपचारेण हि शब्दोऽर्थान्तरे वर्तमान शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् स्त्रिलिङ्गपरित्यजनेन वर्तते इति । यदा त्विति । लौकिकस्य पुस्तवसाग्रहणादयमिति प्रत्ययस्य तत्रानुवृत्तिरिति शेषः । एतान् गाः पश्येति । दीर्घसन्नियोगेन नकारस्य विधीयमानत्वात् ‘सन्नियोगशिष्टानामेकाराभायेऽन्यतरस्याप्यपाय’ इति न्यायाद् दीर्घत्वाभावे नकारस्याप्यभावः ३० इत्यर्थः । शाळा पश्य हन्वीत्यादौ उभयोर्दीर्घत्वस्यादेशयो सावकाशात्वाद्, वनानीत्यादास्तुभयप्राप्तौ परत्वात् शिरेवेत्याह—वनानीत्यादि ॥४९॥

संख्यासायवेरहस्याहन् डौ वा । संख्या च सायश्च विश्व इति समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी—संख्यासायवेरिति । अहस्येति । ब्यह इत्यादाववस्थितस्याह इत्येकदेशानुकरणात् षष्ठी । संख्यासायवे अहस्य डौ अहन् वा इत्यन्वयस्त्वदाह—संख्यावाचिभ्य इत्यादि । द्वयो- ३३ रहोर्भेव इति । समासप्रत्ययविधौ तदन्तविधेरनिष्ठत्वात् “वर्षाकालेभ्य” ६।३।८०। इतीकणोऽसमवात् भाविन्यणि, “सख्या समाहारे” ३।१।९९। इति द्विगुणमासे, “सर्वात्रसंख्याऽव्ययात्” ७।३।१९८। इत्यटि अह्लादेशे, “भवे” इत्यणि, “द्विगो” इति तच्छुपि च ऋवनेन अह्लाह्लादेशे “इहो वा” २।१।९०। इति विकल्पेनाकारलोपे—ब्यह्नि, ब्यहनि, ब्यह्ने इति, एवं त्र्यह्नि, त्र्यहनीत्यादि । त्रिषु यावत् तावत्सु ३६ नाऽहस्तु भव इति शेष पूर्ववत्, यावत्तावच्छब्दयो “बस्यत् सख्यावद्” इति सख्यावदतिदेशात् सख्याकार्यभाक्त्वम्, संख्यापूर्वस्य तद्वित एवोदाहरणम्, समाहारेऽह्लादेशस्याभावविति । सायपूर्वमुदाहरति—सायमह इति । “सायाहादय” ३।१।५३। इति समासे “सर्वाश” इति अटि अह्लादेशे शेष पूर्ववत् । ननु सायमित्यस्य मान्तत्वात्तल्लोप केनेत्यत आह—अत एवेत्यादि । तस्यामान्तत्व स्त्रीहत्याह—साय्येत्यादि । ३५ विपूर्वमुदाहरति—विगतमिति । प्रादिसमास, शेष पूर्ववत् । मध्याह्नि इति । सख्यादिपरत्वाभावादहशब्दस्य नाहन् इत्यादेशः । ब्यह्ने इति । “द्विगोरजहो” ७।३।९९। इति सूत्रे अहन्ग्रहणात् श्लोकात् “सर्वाश” इति परमप्यट् बाधित्वा तेन अट्, ततोऽह्लाभावः ॥ ५० ॥

निय आम् । प्रयुक्तानामन्त्याख्यानादामिति प्रयोगदर्शनात् निय इति पञ्चमी । पूर्वसादशुद्धतस्य डौ इत्यस्य पञ्चा विपरिणामे स्थानि- ४२ त्वमित्याह—नियः परस्य डेः स्थाने इति । नयते क्विपि डौ तस्यानेनामादेशे “धातोरिवर्णोपसंख” इतीयादेशे—नियाम् इति । ग्रामण्यामिति । ग्रामपूर्वात् नयते क्विपि डौ तस्यामि “क्विन्तैरश्रुधियस्त्रौ” इति यत्वम्, अत्र तु “आमो नाम् वा” इति “ह्रस्वापश्च” इति च नामादेशो न भवति, तत्र निय डौदूत इत्यधिकृतत्वात् । ननु ग्रामण्यामित्यत्र नौ साक्षात्स्त्रिं किं तु णी इत्यामो न प्राप्ति, सत्यम्, “णमस” इति ४५

### वाऽष्टन आः स्यादौ ॥ १ । ४ । ५२ ॥

अष्टनशब्दस्य तत्संबन्धिन्यसंबन्धिनि वा स्यादौ परे आकारोऽन्तादेशो वा भवति । अष्टमिः, अष्टमिः;  
२ अष्टाम्यः, अष्टम्यः; अष्टासु, अष्टसु; प्रियाष्टाः, प्रियाष्टा; प्रियाष्टौ, प्रियाष्टानौ; प्रियाष्टाः, प्रियाष्टानः; प्रियाष्टाम्, प्रियाष्टानम्;  
प्रियाष्टौ, प्रियाष्टानौ; प्रियाष्टः, प्रियाष्टनः; प्रियाष्टामिः, प्रियाष्टमिः; हे प्रियाष्टाः, हे प्रियाष्टन् । अन्यसंबन्धिनोर्जसृशसोर्नो-  
च्छत्येके, तन्मते-प्रियाष्टानस्तिष्ठन्ति, प्रियाष्टनः पश्य इत्येव भवति । स्यादाविति किम् ? अष्टकः संघः, अष्टता, अष्टत्वम्;  
३ अष्टपुष्पी । केचित्तु सकारमकारादावेव स्यादाविच्छन्ति ॥ ५२ ॥

### अष्ट और्जसृशसोः ॥ १ । ४ । ५३ ॥

अष्ट इति कृतात्वस्याऽष्टनशब्दस्य निर्देशः, अष्टाशब्दसंबन्धिनोर्जसृशसोः स्थाने औकारादेशो भवति । अष्टौ तिष्ठन्ति,  
१ अष्टौ पश्य; परमाष्टौ, अनष्टौ । कृतात्वस्य निर्देशादिह न भवति-अष्ट तिष्ठन्ति, अष्ट पश्य, परमाष्ट, अनष्ट । तत्संबन्धि-  
विज्ञानादिह न भवति-प्रियाष्टास्तिष्ठन्ति, प्रियाष्टः पश्य । अतत्संबन्धिनोरपीच्छत्येके-प्रियाष्टौ तिष्ठन्ति, प्रियाष्टौ पश्य ।  
केचित्तु अष्टावाचक्षत इति णिचि, किपि, अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्येतीच्छन्ति, तदप्यष्ट इति तत्रेण संगृहीतम् ॥ ५३ ॥

३२

### डतिष्णः संख्याया लुप् ॥ १ । ४ । ५४ ॥

डतिष्कारनकारान्तायाः संख्यायाः संबन्धिनोर्जसृशसोर्लुप् भवति । कति तिष्ठन्ति, कति पश्य; यति तिष्ठन्ति,  
यति पश्य; तति तिष्ठन्ति, तति पश्य; षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य; पञ्च तिष्ठन्ति, पञ्च पश्य, एवं सप्त, नव, दश;

१५ पूर्वस्मिन् स्यादिविधौ णत्वस्यासिद्धत्वाददोष । नन्वेकदेशविक्रमेति ह्येवेऽपि प्राप्तिरस्ति इति चेत्, न, निय ई नी इतीकारप्रक्षेपात् निनि ग्राम-  
णिनि कृत्वे इत्येव भवति । भोजेन तु भूतपूर्वन्यायेन नपुसकेऽपि नियामित्युक्तम् ॥ ५१ ॥

वाऽष्टन आः स्यादौ । अष्टन स्यादौ आ वा इत्यन्वयस्तदाह-अष्टनशब्दस्येत्यादि । स्यादाविति परत्वमात्रेण कार्यस्य विशेषण-

३८ मित्याह-तत्संबन्धिनीत्यादि । “षष्ठाऽन्त्यस्य” इति न्यायेनाह-अन्तादेश इति । अष्टामिभिरिति । अष्टनशब्दाद् भिसि तस्याकारान्तादेशो

“समानानाम्” इति धीर्ष । पक्षे “नामसिदम्” इति पदत्वात् “नाम्नो नोऽनह” इति नलोपेऽष्टमिभिरिति । एवमन्यदपि । प्रिया अष्टौ यथेति

२१ बहुव्रीहौ प्रियाष्टनशब्दो विशेष्यनिम्न एकद्विवहृत्वचनान्तस्तस्योदाहरणान्याह-प्रियाष्टाः, प्रियाष्टा इत्यादि । प्रियाष्टनशब्दस्य सावनेनात्वम्

२१ कृत्विसर्गौ, तदभावे “निधीर्ष” इति धीर्षे, “धीर्षक्यावम्” इति सिद्धकि, “नाम्नो नो” इति नलोप । आत्वपक्षे-प्रियाष्टौ, तदभावे-

प्रियाष्टानौ इत्यादि बोध्यम् । प्रियाष्ट इति । अत्राल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद् घहिरङ्गसाल्लोपस्यासिद्धत्वाद् वा “तवर्गस्यम्” इति णत्वम् न । अस्य

२४ एकै-विभ्रान्तविधाधरा पाणिनिस्त्रानुसारिण उत्पलादयश्च । पाणिनीया “अष्टन आ विभ्रौ” पा० ७।२।८४ इति सूत्रे हृत्वीत्यपकृषन्ति,

२७ नोऽनह” इति नलोपः, अत्र ‘अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा लुप् प्रवर्तते’ इति स्यादेरभाषादात्त न भवति । एव अष्टानां भाव-अष्टता,

अष्टत्वम्; अष्टपुष्पी इति । अष्टानां पुष्पाणां समाहार इति विग्रह, “द्विगो ०” २।४।२२ इति ङी । सकारमकारादौ स्यादावात्वमिच्छता

मतमाह-केचित्त्विति । विभ्रान्तविधाधरा पाणिनिदेवनन्यादयश्च । पाणिनितत्त्वे “अष्टन ०” पा० ७।२।८४ इत्यत्र हृत्वीत्यपकृषमुक्त्वा इला-

३० दाचेव विभ्रान्तात्वमिति प्रियाष्टौ इत्यादि न भवति तन्मते । स्वमते तुपदाशितम् । वस्तुतस्तु-“ष्णान्ता पद” पा० १।१।२४ इति सूत्रे ‘अथालक्षणम-

प्रयुक्ते’ इति भाष्यकृदुक्त्वा नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते, ‘प्रयुक्तानामेवान्वाख्यानात्’ इति कैयटोक्त्या चैवामनभिधानमेवोचितम् । विशेषजिज्ञा-

सुमि “अष्टन ०” इति पा० सूत्रे मनोरमाशब्देन्दुशेखरौ द्रष्टव्यौ ॥ ५२ ॥

३३ अष्ट और्जसृशसोः । अष्ट जसृशसो औ इत्यन्वय । अष्टाखिलेकदेशस्याष्टनशब्दस्य षष्णन्तमनुकरणमित्याह-अष्ट इति कृतात्वे-

त्यादि । तच्च विशेषण जसृशसोरित्याह-अष्टाशब्दसंबन्धिनोरित्यादि । अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्य इति । अष्टनशब्दाब्जसि शक्ति च

३४ “वाऽष्टन ०” इति आकारेऽनेन जसृशसोरौकारे एकत्र “ऐदौत्सन्व्यकारे” इति अन्यत्र “लुगातोऽनाप” इति चोत्चल्येव भवत । अष्ट इत्याधिकृत-

इति च विशेषणतत्पुरुषसमासौ । कृतात्वनिर्देशस्य फलमाह-अष्ट इति । अष्टनशब्दाब्जस्योरात्वाभावादौत्वाभावे “डतिष्ण संख्याया लुप्”

३५ १।४।५४ इति लुप् । प्रियाष्टाः, प्रियाष्ट इति । अत्र प्रियाष्टौ येषामिति बहुव्रीहौ नाष्टनशब्दसंबन्धिनौ जसृशसोः स्यात्त्वे सत्यपि औत्वाभाव ।

३६ एतद्विषये मतान्तरमाह-अतत्संबन्धिनोरपीच्छत्येके इति । एकै-काशिकाकारा वामनादय । उक्तव्य “अष्टन आ” पा० ७।२।८४ इति

सूत्रे प्रियाष्टान, प्रियाष्टौ इति काशिकायाम् । सूत्रे ‘अष्ट’ इति मतान्तरसप्रहार्यन्तदाह-केचित्त्वित्यादिना । केचित्त्विति-शाकटायनदेव-

नन्दिचन्द्रादय । “अष्ट और्ज” शा० १।२।१५३ इति सूत्रे अमोघावृत्तौ स्पष्टमिदम् । तदप्यष्ट इति तत्रेण संगृहीतम् इति । निर्देशस्य

४२ लुप्तत्वादिति भाव । एकस्य शब्दस्थानेकार्यपरत्वे तत्रव्यवहार । एतेन “वाष्टन ०” इति सूत्रे डेरननुवृत्तये स्याद्विग्रहणभावेऽपि अष्ट इति ज्ञाप-

कात् डेरनुवृत्तिर्न भविष्यतीति वदन्त परास्ता ॥ ५३ ॥

डतिष्णः संख्याया लुप् । जसृशसोरित्यनुवर्तते । डतिष्ण संख्याया जसृशसोर्लुप् इत्यन्वय । डतिष्ण इति संख्याया प्रकृ-

४५ णात् षष्णन्ताया विशेषण, तत्र च तदन्तविधिरित्याह-डतिष्कारनकारान्ताया इत्यादि । कतीत्यादि । किम् यत् तत् इत्येतेभ्यो “यत्-

तत्किम्” ७।१।१५० इति डतिप्रत्यये, जसृशसोरनेन लुपि कति, यति, तति इति भवन्ति । तिष्ठन्ति पश्येत्प्रयोगो जसृशसोरभिव्यक्तयर्थ ।

परमषट्, परमपञ्च । डतिष्ण इति किम् ? त्रयः, चत्वारः; तावन्तः । शतानि, सहस्राणीत्यत्र संनिपातलक्षणत्वात् नान्तस्य न भवति । संख्याया इति किम् ? विपुषः, राजानः । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियकतयस्तिष्ठन्ति, प्रियकतीन् पश्य, प्रियषषः, प्रियषषः; प्रियपञ्चानः, प्रियपञ्चैः । केचित्तु डत्यन्तात् कतिशब्दादेवेच्छन्ति ॥ ५४ ॥ ३

नपुंसकस्य शिः ॥ १ । ४ । ५५ ॥

नपुंसकस्य संबन्धिनोर्जस्रशसोः स्थाने शिर्भवति । कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य; एवं दधीनि, मधूनि, कर्तृणि, पयांसि; यशांसि । स्वाधिकांरादिह न भवति—कुण्डशो ददाति । नपुंसकस्येति किम् ? वृक्षाः, वृक्षान् । ३ तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियकुण्डाः, प्रियकुण्डान्, इह तु भवति—परमकुण्डानि । शकारः “शौ वा” ॥ ४ । २ । ९५ ॥ इत्यादौ विशेषणार्थः ॥ ५५ ॥

औरी ॥ १ । ४ । ५६ ॥

नपुंसकस्य संबन्धी औकार ईकारो भवति । कुण्डे तिष्ठतः, कुण्डे पश्य, एवं दधिनी, मधुनी, कर्तृणी; पयसी । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियकुण्डौ पुरुषौ, इह तु भवति—परमकुण्डे ॥ ५६ ॥

अतः स्यमोऽम् ॥ १ । ४ । ५७ ॥

अकारान्तस्य नपुंसकलिङ्गस्य संबन्धिनोः स्यमोरमित्ययमादेशो भवति । कुण्ड तिष्ठति, कुण्ड पश्य, कीलालपम्,

षप् इति षन्ता, षन् इति षन्ता सख्या ततो जस्रशसोर्लपि “धुटस्तृतीय” इति यथासभव तृतीयत्वे प्रथमत्वे च “नात्रो नो” इति नलोपे च—षट् पञ्च इति । एव परमषट् इति । परमाश्च वै षट् चेति विग्रहे “सन्महत्परमो” इति सख्याप्रधानत्वात् समासस्य तत्संबन्धनावेव १५ जस्रशसामिति लृप् । त्रय इत्यादि । डतिष्ण इति वचनादिह न भवति । तन्मानमेधामिति “यत्तदेतदो ज्वादि” ७।१।१४९। इति अतौ—तावन्त इति । अथ शतादिभ्य शौ नागमे नान्तात्वेऽपि सख्याया लृप् कस्मान्न भवतीत्याह—शतानीत्यादि । संनिपातलक्षणत्वादिति । संनिपातति कार्यमस्मिन् संनिपातो निमित्तं शिलक्षणं स लक्षणं चिह्नं यस्य नस्य तस्य भावस्त्वत् तस्मात् नान्तस्य न भवतीत्यन्वयः । प्रियकतय इत्यादि । १८ प्रिया कति येषामिति समासस्यान्यपदार्थप्रधानत्वात् जस्रशसोर्लप्यान्तसख्यासंबन्धाभावात् लृप् न भवति । प्रियपञ्चजः इति । “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे रूपम् । केचित्त्विति । वामनादयः । तन्मते इदं न सिध्यति—“यति ते नागशीर्षाणि तति ते नागवेदना । न सन्ति नागशीर्षाणि न सन्ति नागवेदना” इति भगवन्तो लघुन्यासकारा ॥ ५४ ॥

नपुंसकस्य शिः । अत्र जस्रशसोरित्यनुवर्तते । नपुंसकस्य जस्रशसो शिरित्यन्वयः । स्त्री च पुमाश्च स्त्रीपुंसौ “त्रिया पुंसो” ७।३।९६। इति समासान्ते सति न स्त्रीपुंसौ नपुंसकं नखादित्वात्तज्जोऽदादेशाभावे स्त्रीपुंसशब्दस्य षुषोदरादित्वात् पुंसक आदेशः । विरिति कार्यपदं, तच्च कार्यि-सापेक्ष, तत्रान्यस्यासम्भवादिभ्रूतयोर्जस्रशसोरेव कार्यत्वमित्याह—जस्रशसोरित्यादि । कुण्डानि इति । कुण्डशब्दात् शसोऽनेन शानादेशे २४ “स्वराच्छै” इति नागमे, “निदीर्घ” इति दीर्घः । एवमन्यत्रापि । अथेह कस्मान्न भवति कुण्ड कुण्ड ददाति कुण्डा इति ? “संख्यैकार्यात्” ७।२।१५१। इति शब्द अत्राप्यस्तीति आह—स्याद्यधिकारात् इत्यादि । अथ परिहारो यदार्थप्रकरणादिवशाद्भावनावेकस्यार्थाभिधायक एव । शखिषौ हि वृत्तिस्था एकार्थताश्रीयते न तु वाक्यस्य । अर्थप्रकरणादिरहितश्च कुण्डादिशब्दो वृत्तौ एकार्यो न भवतीति ज्ञानेन २७ भवितव्यमेव । कस्मात् पुन कुण्डादिशब्दो वैकार्यो न भवतीति ? उच्यते—जातिशब्दात् । जातिशब्दा हि नैकस्यामेव जात्याधारभूताया व्यप्यौ वर्तन्ते, किन्तुनेकस्यानपि । एव च यत् “संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्” पा० ५।४।४३। इति सूत्रे शसुविधायके जयादित्यप्रवृत्तिभिः प्रत्युदाहरणमुपन्यस्त काशिकायां संख्यैकवचनादिति किम् ? षट् षट् ददातीति तदप्युपपद्यते, यथार्थप्रकरणादिरहितो जातिशब्दो वृत्तावेकार्यो ३० न भवतीति । स्पष्टश्चैतद्द्वामनजयादित्ययोर्वैमल्य तत्रैव सूत्रे तत्त्वबोधिण्या इति मुधियो विभावयन्तु । शकारस्याप्रयोगिण प्रयोजनमाह—

शकार इत्यादि । इह नपुंसकशब्देन नपुंसकाभिधायकस्य शब्दस्य वा ग्रहणं स्यादर्थस्य वेति द्वौ पक्षौ । तत्रापेक्षे नपुंसकाभिधायकेन स्यादाक्षितं नाम विशिष्यते, नपुंसकाभिधायकशब्दान्तात् नात्र इति, नात्रा च नपुंसकाभिधायकमिति । तत्र पूर्वस्मिन्पक्षे बहुनि त्रपूणि येषां ३३ प्राद्वृणानां तां बहुत्रपूर, तथाऽतिक्रान्तं त्रपु यैस्त्वान् अतित्रपूनिस्त्रातिप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे तु नास्त्यतिप्रसङ्गः । अर्थग्रहणेऽपि न दोषः । अर्थेन हि नामैव विशेषितव्यम्, अर्थस्याप्रस्तुतत्वाद्दशशब्दित्वाच्च । एव त्रिषु पक्षेषु सम्भवस्तु दत्तपक्षनिराकरणेन द्वावितरपक्षावाश्रित्योक्तं—नपुंसकस्य संबन्धिनोरित्यादि । स्पष्टश्चैतत् “स्वमोर्नपुंसकात्” पा० ७।१।२३। सूत्रे भाष्ये ॥ ५५ ॥

औरी । नपुंसकस्येत्यनुवर्तते, नपुंसकस्य औ ई इत्यन्वयस्तदाह—नपुंसकस्य संबन्धीत्यादि । औ ई इति कार्यकारिणोरभेद-निर्देश सर्वोदेशार्थः, अन्यथा पृष्ठा अन्यस्येति न्यायात् विधिष्टावर्णत्वादौकारपरभागस्योवर्णस्य स्यात्, यत् अ औ इति प्रकृतौ “ऐदौसन्ध्य-क्षर” इत्यनेन औकारो निष्पादितः । नपुंसकस्येत्यत्रापि पूर्ववद्भाष्येयम् । कुण्डे इति । कुण्डशब्दाद् द्विवचनौकारस्य ईकारः । एवमन्यत्रापि ३९ परमकुण्डे इति । परमे च ते कुण्डे चेति “सन्महत्” इति विशेषणसमासस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् तत्संबन्धित्वाद्भवत्येव ॥ ५६ ॥

अतः स्यमोऽम् । नपुंसकस्येति वर्तते, अत इति नपुंसकस्येत्यस्य विशेषणमतस्वदन्तप्रतिपत्तिर्भवतीत्याह—अकारान्तस्येति । तकार श्रुतिषुकार्थः । नन्वत्राद्ग्रहणं किमर्थम् ? न च वाच्यमद्ग्रहणाभावे दधीत्यत्राप्यमादेशः स्यात्, यत् “अनतो ल्व” इति सूत्रं वाचकं विद्यते ४२ इति । ननु अनत इत्यत्र पर्युदासे प्रसज्यो वा नन्वृष्यते इति सदेहः, न च वाच्यं पर्युदासे हि ‘नाम्निनो ल्व’ इति सूत्रं कुर्यात् तस्मात् प्रसज्य एवेति, कुत—काष्ठा परं प्रकर्षमथापक इत्यत्र क्रियाविशेषणत्वेन आकारादप्यमो ल्व् दृश्यतेऽतोऽनत इति कर्तव्यमेव । अत संदेहस्वद-वस्य एवेत्यतोऽतः प्रहृणैः ज्ञाप्यते प्रसज्य एव गृह्यते, तथा च—पय इत्यादौ ल्व् सिद्धं न त्वमादेशः । कीलालपम् इति । “ह्रीवे” १।४।५। ४५



अतिखट्टं कुलम्; हे कुण्ड!—अत्रामादेशे सति “अदेतः स्यमोर्लुक्” ॥ १ । ४ । ४४ ॥ इत्यमो लुक् । नपुंसकस्ये-  
त्येव ? वृक्षः । अत इति किम् ? दधि तिष्ठति, दधि पश्य । तत्सवन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियकुण्डः पुरुषः । अमो-  
ऽकारोच्चारण जरसादेशार्थम्, तेनातिजरस कुलं तिष्ठतीति सिद्धम् ॥ ५७ ॥

पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १ । ४ । ५८ ॥

नपुंसकानामन्यादीनां सर्वाद्यन्तर्वर्तिनां पञ्चपरिमाणानां संवन्धिनोः स्यमोः स्थाने द इत्ययमादेशो भवति, एकतर-  
श्चब्दं वर्जयित्वा, अकार उच्चारणार्थः । अन्यत्तिष्ठति, अन्यत् पश्य; एवमन्यतरत्, इतरत्, कतरत् तिष्ठति, कतरत्  
पश्य; एवं यतरत्, ततरत् । कतमत्तिष्ठति, कतमत् पश्य, एवं यतमत्, ततमत्, एकतमत्; हे अन्यत्!, हे अन्य-  
तरत्!, हे इतरत्!, हे कतरत्!, हे कतमत्!, हे एकतमत्! । अनेकतरस्येति किम् ? एकतरं तिष्ठति, एकतर पश्य ।  
पञ्चत इति किम् ? नेम तिष्ठति, नेम पश्य । नपुंसकस्येत्येव ? अन्यः पुरुषः, अन्या स्त्री । अन्यादिसंवन्धिनोः स्यमोर्ग्रहणा-  
दिह न भवति—प्रियान्यम्, अत्यन्यं कुलम्, इह तु भवति—परमान्यत् तिष्ठति, परमान्यत् पश्य; अनन्यत् ॥ ५८ ॥

अनतो लुप् ॥ १ । ४ । ५९ ॥

अनकारान्तस्य नपुंसकस्य संवन्धिनोः स्यमोर्लुक् भवति । दधि तिष्ठति पश्य वा, एवं मधु, कर्तुं, पयः; उद-  
श्वित् । अनत इति किम् ? कुण्डं तिष्ठति पश्य वा । लुकमकृत्वा लुप्करणं स्यमोः स्थानिवद्भावेन यत्कार्यं तस्य प्रतिषे-  
धार्थम् । यत्, तत्—अत्र त्यदाद्यत् न भवति ॥ ५९ ॥

१५ इति ह्रस्वत्वे सति अकारान्तकीलालपशब्दसवन्धिनो स्यमोरमादेशे “समानाद०” इति अमोऽकारस्य लुक् । एवमन्यदपि । अतिखट्टं कुलमिति ।  
खट्टामतिक्रान्तमित्यर्थं, “गोश्वान्ते०” इति ह्रस्वत्वे सत्यकारान्तत्वमिति भाव । ननु हे कुण्ड इत्यत्रानेन जातोऽम् क गत इत्यत आह—  
अत्रामादेशे सतीत्यादि । अथाकारकरण किमर्थम् ? न चामा सर्वोदेशार्थमिति वाच्यम्, “प्रलयस्य” इति सर्वोदेशस्य सिद्धत्वात् । किञ्च अन्ता-  
१८ देशेऽपि “समानादमोऽत” इत्यकारलोपे विशेषामावादित्यत आह—अम् इत्यादि । जरामतिक्रान्तमिति समासे ह्रस्वे च सति तत सेरमादेशेऽति-  
जरसं कुल तिष्ठतीति प्रथमयोदाहृतम् । द्वितीया तु नोदाहृता, तत्र परत्वात् नित्यत्वाच्च पूर्वं जरसादेशेन भाव्यम् । मकारविधानेऽपि दोषाभावः,  
समानन्यायेन तु लाघवायार्थममोऽप्यम् करणम् । ननु च ‘सनिपातलक्षणविधिरनिमित्तम्’ इति न्यायादकाराश्रितत्वाद्मादेशस्य कथं तद्विधातुं-  
२१ जरसादेश ? उच्यते—अत एव अम्प्रदायात् अनित्योऽयमिति विज्ञायते, अन्यथा मकारेणैव कृतत्वाद्मसप्रदायोऽनर्थक इति, अपरे तु  
जरसादेशे मन्वन्त इति । स्यम इति अम्प्रहणमुत्तरार्थम्, तेन ‘अन्यत्’ पश्य इत्यत्राम् “पञ्चतो०” १।४।५८ इति दत्त सिद्धम् ॥ ५७ ॥

पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः । अत्र नपुंसकस्य इति स्यम इति चात्रवर्तते । पञ्चत इति । पञ्चपरिमाणमस्येति निग्रहः । “पञ्च-  
२४ शब्दो वा” ६।४।१७५। इति उच्यते, तदन्तात् षष्ठी पञ्चत इति । नपुंसकस्येति पञ्चत इति च विशेषणमन्यादेस्तथाधिकृतयो स्यमोर्-  
त्याह—नपुंसकानामित्यादि । अयमर्थोऽधिकृतस्य नपुंसकस्येत्यस्य वचनविपरिणामात् । अन्यादि पृथग्गणपठितो नास्त्यत कश्चिन्मुखा-  
दित्युक्त—सर्वाद्यन्तर्वर्तिनामिति । उत्तरान्तस्यान्यादित्वात् प्रत्ययद्वारेण प्राप्तमेकतरशब्दस्य दत्त तत्रानिष्ठतया वर्जनमाह—एकतरशब्द-  
२७ मिति । सूत्रे द इत्यत्राकारस्य लक्ष्येऽश्रूयमाणतयोच्चारणार्थकत्वमभिप्रेत्याह—अकार इत्यादि । सर्वोदावयमन्यादि पञ्चते—अन्य अन्यतर इतर  
उतर उतम इति । तत्रान्यादयस्त्रिस्र प्रकृतयः, उतरउतमौ प्रलयौ, प्रलयप्रहणे तु “प्रलय प्रकृत्यादे” इति यस्मात् तौ विहितौ तदादेस्वदन्तस्य  
कतरकतमादेशेऽग्रहणमित्युदाहरति—अन्यत्तिष्ठतीत्यादि । अन्यादिशब्देभ्यः स्यमोरनेन दत्त्वे “विरामे वा” इति पाक्षिक तत्वम् । एकतर  
३० तिष्ठति इति । अनेकतरस्यान्यादेरित्युक्त्या दत्त्वाभावे “अत स्यमोऽम्” इत्यमादेशः । नेमं तिष्ठति इति । पञ्चपरिमाणेषु अन्यादिष्वस्या-  
भावात् न दत्वम् । अन्यः पुरुष इत्यादि । नपुंसकानामन्यादीनामित्युक्त्याऽत्र न भवति । अनेकतरस्येति समानाधिकरणविशेषणादन्यादेरिति षष्ठी,  
तथा च सवन्धिविज्ञानम्, अतोऽन्यादिसवन्धिनो स्यमोर्दो भवतीत्याह—अन्यादीत्यादि । प्रियान्यं इति । प्रियमन्यस्य तत्कुलमिति भाव ।  
३१ अत्यन्यमिति । अन्यदतिक्रान्त कुलमित्यर्थं । परमान्यदित्यादौ “सन्महत्०” इति विशेषणसमासस्योत्तरपदार्थपधानत्वात् तत्सवन्धि-  
त्वात् स्यमोर्दत्व भवति ॥ ५८ ॥

अनतो लुप् । नपुंसकस्येति वर्तते स्यम इति च । अनत इति नपुंसकस्येत्यनेनान्वेति विशेषणतया च तदन्तविधिरित्याह—अनकारान्त-  
३६ स्येत्यादि । दधि इति । अनकारान्तस्य नपुंसकस्य दधिशब्दस्य सवन्धिनो स्यमोरनेन लुप् । एवमन्यत्रापि । ननु अनत इति किमर्थम् ? न च वाच्यम्  
कुण्डमित्यत्रापि स्यात्, “अत स्यमोऽम्” इति बाधकात्, अत्रोच्यते—अनत इत्यस्याभावे “पञ्चतोऽन्यादे०” इत्यतोऽन्यादेरित्यागच्छेत् । न च वाच्यम्  
अन्याद्यमीदृ हि एकमेव योग कुर्यात्, पूर्वमेकतरवर्जितस्यान्यादेर्ग्रहणम्, इह तु एकतरस्यापीति पृथग्योगस्य साफल्यत्वात् । हे कर्तुं इत्यादौ  
३९ परत्वात् प्रथम सेलेंपे प्रत्ययलोपलक्षणन्यायेन “ह्रस्वस्य०” इति गुण कस्मात् न भवतीत्याह—लुकमकृत्वेत्यादि । तेन हे कर्तुं इत्यत्रानेन सेलेंपे  
तस्य स्थानिवत्त्वाभावात् “ह्रस्वस्य०” इति न प्रवर्तते । “नामिनो लुगना” इति लुक्पक्षे तु स्थानिवद्भावात् तेन गुणे हे वर्त इत्यपि भवति । अथ  
यत्कुल तत्कुलमिति परत्वादत्वसत्वप्रसङ्गः, तस्यावृत्तये ‘त्यदादिभ्यश्च’ इति लुक्पक्षे न च नित्या लुप् अत्यसत्त्वे तु लुपि कृते “लुप्यथ्यल्लेनत्” इति  
४२ स्थानिवत्त्वाभावात् प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधाद् विभक्त्यभावात् न प्राप्तु इत्यनित्ये इति वाच्यम्, पूर्वं लुप्यसत्त्वात् सति अपवादत्वात् लुप बाधित्वा  
“अत स्यमोऽम्” इत्यम् सद्भावात् “अनतो०” इत्यनुवादकम् । अनुवादकत्वाभावे तु नित्यत्वावकाश एव नास्ति । ‘यस्य तु लक्षणान्तरेण निमित्त  
विहिन्यते न तदनित्यम्’ इत्येतत्तु पाक्षिकम् । यदा द्वयोल्लेखणयो चप्रधारण क्रियते तदा यद्भक्षणप्रवृत्तावपि यस्य द्वितीयस्य लक्षणस्य प्रवृत्तित्वा-  
४५ घातो नास्ति तदप्रति न तस्य दौर्बल्यं, लक्षणान्तरेण चैतत्प्रवृत्तिनिवारणात् । यथा वालिजुग्रीवयोर्दुर्दे रामेण वालिनो वधेऽपि न जुग्रीवापेक्ष दौर्बल्य-  
मभिदधति शरमानिन । एतदन्यदर्शनसंश्रयेणोच्यते—यस्य तु लक्षणान्तरेणेति । यदा त्वेप न्याय आधीयते—‘लक्षणान्तरेण प्रवृत्तिनिमित्तमुपसहर-  
लक्षणं नलक्ष्यन्नवति’ इतरत्तु तदुपसहृत्तनिमित्तलक्षणान्तरोपपादितप्रवृत्तिविधात् दुर्बलमेव । तथा च वाजुदेवसहायत्वात् पाण्डया वलिनो दुर्बलान्धा-  
४८ तरोपान्नि विजिम्भरे तदा नास्त्येव—यस्य तु लक्षणान्तरेणेति । उच्यते—अन्तरज्ञानपि विधीनं बहिरज्ञं लुक्पक्षे इति’ अत्रापिग्रहणात् नित्यानां च  
परेषां च लुपा बाधनमिति त्यदाद्यत् लुपा बाध्यते इत्याह—अत्र त्यदाद्यत्वमित्यादि । तथा चोच्यते ‘ध्वंविधिभ्यो लोपविधिर्बलवान्’ इति ॥५९॥

## जरसो वा ॥ १ । ४ । ६० ॥

जरसन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिनोः स्वमोर्लुब् वा भवति । अतिजरः, अतिजरसं कुलं तिष्ठति पश्य वा । अन्ये तु द्वितीयैकवचनस्यैवामो योऽमादेशस्तस्यैव लुब्बिकल्पमिच्छन्ति न स्यादेशस्य, तन्मते—अतिजरसं कुलं तिष्ठतीत्येव भवति । ३ केचिन्नरसः स्वमोर्लोपं नेच्छन्ति, तन्मते—अतिजरसं तिष्ठति पश्य वेत्येव भवति ॥ ६० ॥

## नामिनो लुग् वा ॥ १ । ४ । ६१ ॥

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिनोः स्वमोर्लुग् वा भवति । हे वारे !, हे त्रपो !, हे कर्तः कुल !, प्रियतिष्ठ कुलं तिष्ठति ६ पश्य वा; पक्षे—लुबेव हे वारि !, हे त्रपु !, हे कर्तृ !; हे प्रियत्रि कुलं तिष्ठति पश्य वा । अमो लुक्ं नेच्छन्त्येके, तन्मते—प्रियत्रि कुल पश्य इत्येव भवति । नामिन इति किम् ? यद्, तद्, प्रियचतुष्कुलम् । चतुःशब्दस्यापि लुक्विकल्पमिच्छन्त्यन्ये—प्रियचतस्र कुलम्, प्रियचतुष्कुलम् । लुपैव सिद्धे लुग्वचनं स्थानिवद्भावार्थम् ॥ ६१ ॥ ९

जरसो वा । नपुंसकस्येति स्वमोरिति लुबिति चानुवर्तते, जरसो नपुंसकस्य स्वमोर्लुब् वा इत्यन्वय । “जराया जरस् वा” इति जरा-स्थाननिष्पन्नस्य जरसो नपुंसकत्वेऽवृत्तेस्तदन्तस्यैव वृत्त्या आह—जरसन्तस्येति । पूर्वेण प्राप्ते विभाषा । नपुंसकस्येत्यस्य विशेषणतया तदन्तप्रति-पत्ति । अतिजर इत्यादि । जरागतिकान्त कुलमित्यर्थे प्रादिसमाप्त । “क्रीवे” इति ह्रस्वत्वम् । अतिजर स् अमिति च स्थिते प्रथमैकवचने १२ से “अत स्वमोऽम्” इत्यमि संनिपातपरिभाषाया अनित्यत्वमाश्रित्य जरस्, द्वितीयैकवचनेऽमस्तु “अत स्वमो” इति अमोऽमादेश परत्वाद् वाच्यते जरसादेशेन “जराया जरस् वा” इत्यस्य तदन्ते अवृत्तिस्तु नाम्न इत्यधिकृतत्वेन । “निर्दिश्यमानस्यादेशा” इति ‘एकदेशविकृतं’ इति न्यायेन च अतिजर इत्यन्तवर्तिजरइत्यस्य जरस् । उभयोरपि स्वमोरनेन विभाषा लुपि—अतिजरः इति । लुबभा-१५ वपक्षे—अतिजरसमिति । अनयो प्रथमाद्वितीयैकवचनानिभ्यक्त्यर्थं नपुंसकत्वाभिर्व्यक्त्यर्थं च कुल तिष्ठति पश्येत्यनुप्रयोगा । जरसभावे—अतिजरमित्यपि, तेन प्रथमैकवचने द्वितीयैकवचने च त्रीणि त्रीणि रूपाणि विकल्पद्वयात् । केचन संनिपातपरिभाषाया नित्यत्वमाश्रित्य स्यादेशस्यामो लुप नेच्छन्ति, तेषां मत समुपन्यस्यति—अन्येतु इति । उत्पलादय । एतेषां मते प्रथमैकवचने समुदाहरति—अतिजरसं कुलं तिष्ठतीत्येव १८ इति । एवकाराद् अतिजर इत्यस्य व्यवच्छेद । ‘सनिपातं’ इति न्यायनित्यत्वमभ्युपगम्य स्वमोर्लोपमिच्छतां मतमाह—केचिदित्यादि । केचित्—गोनर्दीयमताननुयायिनः पाणिनीया । अतिजरसं कुलं तिष्ठति पश्य वेत्येव इति । एवकारात् प्रथमाद्वितीयैकवचने अतिजर इति तेषां मते न भवति, किन्तुअयत्र अतिजरसम्, अतिजरम् प्र०ए०, अतिजरसम्, अतिजरम् द्वि०ए०इति । गोनर्दीयानां मते अतिजरम् प्र० २१ ए०, अतिजरसम्, अतिजरम् द्वि० ए० इति । एते तु ‘सनिपातं’ इति न्याय स्वीकृत्य स्वमोर्लोपं नेच्छन्ति । स्वमोर्लोपानङ्गीकारे उभयो साम्यम् । आचार्यपाणिनिना नारब्धो नपुंसकस्य जरसन्तस्य स्वमोर्लोपविषये पाक्षिको लुब्विधि । “स्वमोर्नपुंसकात्” पा० ७।१।२३। इति हि तत् सूत्र अतिजरमिति प्रथमैकवचने “अतोऽम्” पा० ७।१।२४। इति अनेन नाधितं भवत्यतोऽम्, तस्मिन् सति संनिपातपरिभाषया न जरस्; २५ द्वितीयैकवचने अतिजरसम्, अतिजरमिति । अत्र “स्वमो” इति सूत्रेणामो न लुक् संनिपातपरिभाषया । जरस् तु अस्मि अम्भावात् लुगपवादात् परत्वाद् भवति इति खान्यमतविचार ॥ ६० ॥

नामिनो लुग् वा । नपुंसकस्येति स्वमोरिति च वर्तते। नामिनो नपुंसकस्य स्वमोर्लुग् वा इत्यन्वय । नामिन इत्यधिकृतस्य नपुंसकस्य २७ विशेषण, तथाच तदन्तविधिरित्याह—नाम्यन्तस्येत्यादि । हे वारे इत्यादि । वारिशब्दसंबन्धिन आमक्यसेरनेन लुबि तस्य स्थानिवद्भावार्थं कृतत्वेन स्थानिवत्त्वे सति तेन सह “ह्रस्वस्य गुण ” इति गुणे रूपम् । एवमन्यत्रापि । प्रियतिष्ठ कुलमिति । प्रियास्त्रिभ्योऽस्य कुलस्येति विग्रह, अत्र प्रियत्रिभ्यन्दात् स्वमो “नामिनो लुग् वा” इति लुकि सति स्थानिवद्भावाद् “त्रिचतुरं” २।१।१। इत्यनेन स्त्रीलिङ्गे वर्तमानस्य त्रिषाब्दस्य अन्य- १० संबन्धिनो स्यादौ परे तिष्ठ इत्यादेश । प्रियतिष्ठ कुलमित्यत्र “ऋजित्यदित” ७।३।१७। इति समासान्त कच् न भवति, विभक्त्याश्रयत्वेन चहिरङ्गलक्षणस्य तिस्रादेशस्यासिद्धत्वात् । नन्वनेन लुबोऽभावपक्षे किंभवतीत्याह—पक्षे लुबेवेत्यादि । “अनतो” इत्यनेनेति भाव, तेन हे चारि इत्याद्युदाहृतम् । प्रियत्रि कुलं तिष्ठति, पश्य वेति । प्रियास्त्रिभ्य इत्यादि विग्रह, अत्र स्वमोर्लुगा लुगत्वेन स्थानिवद्भावाभावात् न तिस्रा- ३३ ऽऽदेश । नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिन सेरेव विभाषा लुबमिच्छतां मतमाह—अमो लुक्ं नेच्छन्त्येके इति । एके—देवनन्द्यादय । उदा-हरति—प्रियत्रि कुलं पश्येत्वेवेति । तेषां मते प्रथमैकवचने प्रियतिष्ठ प्रियत्रि इति, द्वितीयैकवचने प्रियत्रीत्येव भवति । एवकारात् प्रियतिष्ठ इत्यस्य व्यवच्छेद । प्रियचतुष्कुलमिति । अत्र रस षत्वम् “निर्दुर्बहि” २।३।२। इत्यनेन, प्रियाश्चतस्रोऽस्य कुलस्येति विग्रह, अत्र रेफस्य १६ नामित्वाभावात्तदन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिन सेरमक्ष पूर्वेण “अनतो” इत्यनेन लुप्, तयोश्च स्थानिवत्वाभावात् न चतस्राऽऽदेश । अनाम्य-न्तस्यापि चतु शब्दस्य लुग्विकल्पमिच्छता मतमाह—चतुःशब्दस्यापीत्यादि । इच्छन्त्यन्ये इति । उत्पलादयश्च पाणिनीया । पाणिनित्तरे “न ह्यमताप्तस्य” पा० १।१।६३। इति निषेधस्यानित्यत्वात् पक्षे—प्रियचतस्र कुलमिति भवति । अथातुवर्तनेन लुप् सिद्धा, किमर्थं लुक्प्रहण- ३९ मित्याह—लुपैवेत्यादि । तेन लुक्पक्षे “लुप्यच्छेनत्” ७।४।११२। इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधभावे स्थानिवद्भावे “ह्रस्वस्य गुण ” इत्यादि भवति, तथैवोदाहृतम् ॥ ६१ ॥

### वाऽन्यतः पुमांष्टादौ स्खरे ॥ १ । ४ । ६२ ॥

यो नाम्यन्तः शब्दोऽन्यतो विशेष्यवशात् नपुसकः स टादौ स्खरे परे पुंवद् वा भवति, यथा पुंसि नाऽऽगमहस्त्वौ न भवतस्तथाऽत्रापि न भवत इत्यर्थः । ग्रामण्या, ग्रामणिना कुलेन, ग्रामण्ये, ग्रामणिने कुलाय, ग्रामण्यः, ग्रामणिनः कुलात्; ग्रामण्यः ग्रामणिनः कुलस्य; ग्रामण्योः, ग्रामणिनोः कुलोः, ग्रामण्यां, ग्रामणीनां कुलानाम्, ग्रामण्यां, ग्रामणिनि कुले; एवं कर्त्रा, कर्तृणा; कर्त्रे, कर्तृणे; कर्तुः, कर्तृणः; कर्त्रोः, कर्तृणोः; कर्तृणाम्, कर्तृणाम्, कर्तरि, कर्तृणि, शुचये, शुचिने; शुचेः, शुचिनः, शुच्योः, शुचिनोः, शुचौ, शुचिनि, मृदवे, मृदुने; मृदोः, मृदुनः, मृदोः, मृदुनोः, मृदौ, मृदुनि, चित्रगवे, चित्रगुणे; अतिराया, अतिरिणा; अतिनावा, अतिनुना, अहयवे, अहयुने, कुमारीवाचरतीति किप्, कुमारी वेच्छतीति क्यन्, किप्-कुमार्यै, कुमारेणि कुलाय । अन्यत् इति किम्? ऋणुणे, जतुने, पीलुने फलाय । टादाविति किम्? ग्रामणिनी शुचिनी कुले । स्वर इति किम्? ग्रामणिभ्यां कुलाम्याम्, ग्रामणिभिः कुलैः । नामिन इत्येव? कीलालपेन कुलेन । नपुसक इत्येव? कल्याण्यै ब्राह्मण्यै ॥ ६२ ॥

### दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १ । ४ । ६३ ॥

१२ दधि अस्थि सक्थि अक्षि इत्येतेषां नपुसकानां नाम्यन्तानामन्तस्य तत्संबन्धिन्यसम्बन्धिनि वा टादौ स्खरे परे अन् इत्ययमादेशो भवति । दग्धा, दग्धि, दधनि, अस्त्रा, अस्त्रे, अस्त्रि, अस्थनि; सक्त्रा, सक्त्रे, सक्त्रि, सक्त्रनि; अक्ष्णा, अक्ष्णे, अक्ष्णि, अक्ष्णि; परमदग्धा, परमास्त्रा, परमसक्त्रा, परमाक्ष्णा, अतिदग्धा, अत्यस्त्रा, अति-  
१५ सक्त्रा, अत्यक्ष्णा । प्रियदग्धा—समासान्तविधेरनित्यत्वात् कच् न भवति, प्रियास्त्रा शुना, दृढसक्त्रा शकटेन, स्थूलाक्ष्णा

वाऽन्यत पुमांष्टादौ स्खरे । नामिन इति वर्तते, तद्यथा नपुसकस्य विशेषण तथा अन्यत इत्यपि, तच्च षष्ठ्यन्तमप्यर्थवशात् प्रथमान्ततया विपरिणम्यते इत्याह—यो नाम्यन्त इत्यादि । अन्यत इति व्याचष्टे—विशेष्यवशादिति । अन्यत इति सामान्याभिधानेऽपि तदन्य-  
१८ द्विशेष्यमेव विज्ञायते, विशेष्यादन्यत्र लिङ्गाभावात् । अयमभिप्राय—इह हि द्विविधलिङ्गव्यवस्था । केषाचित् स्वत एव लिङ्गम्, यथा दधिमप्या-  
दिजातिशब्दानाम् । केषाच्चिदन्यतो विशेष्यात्, यथा गुणक्रियाद्वयसंबन्धनिमित्तानां पद्मादिशब्दानाम्, ते हि विशेष्यलिङ्गमुपाददते न तेषां स्वतो व्यवस्थित किञ्चिद्विभक्त्यति । तथा हि—पद्म पुमान्, पद्मी स्त्री, पद्म कुलमिति विशेष्यत एव लिङ्ग दध्यते न स्वत इति । अतोऽन्यत इति  
२१ क्रियागुणद्वयसंबन्धप्रवृत्तिनिमित्ता शब्दा अभिधीयन्ते इति । अन्यतो नपुसक इत्युच्यमानेऽपि नपुसकोपादायिना शब्देन तदेव पुस्तुकोपादा-  
नाभाव । अथ विशेषणलक्षणपदोपक्षीणत्वात् कार्ये सञ्चिधानाभावात् स्त्रियामपि पुमाव स्यादिति चेन्न 'परार्थे प्रयुज्यमान शब्दो वतिमन्तरे-  
णापिबल्यर्थे गमयत्येव' यथा—अन्नदत्तत्त ब्रह्मदत्त इति । अत्र हि निर्ज्ञातेऽथ ऋटिति ब्रह्मदत्ते परार्थे कवेःशभूताख्यसंबन्धात् क्रियागुणस्यानुपलभ्य-  
२३ एष ब्रह्मदत्त इत्युच्यते । समुदायपदार्थैर्वादिनो ह्यचयवेऽपि शब्दप्रवृत्ति । एषभूतस्तु अनिर्देश इति नोपपद्यते, न हि नपुसकस्य स्वतो लिङ्ग-  
धर्मा केचित्प्रसिद्धा सन्तीति । अस्ति तु लोके भाविनो धर्मान् भूतवदुपादाय व्यपदेश एव ब्रह्मदत्त इति लभ्यतामय प्रतिपद्यतामय ब्रह्मदत्तधर्मा-  
निति भूतवदुपादाय सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन तत्प्रतिफलम् । एवमिहापि भाविनो नागमाभावात् पुल्लिङ्गाभ्यान् धर्मादुपादाय वतिमन्तरेणापि  
२७ नपुसके तच्छब्दस्य प्रवृत्तिरित्याह—पुंवद्वा भवतीति । पुस्वादिदेशेन साध्यमर्थं दर्शयति—यथा पुंसि इत्यादि । नागमहस्त्वौ इति । "अनाम्  
स्खरे नोऽन्त " इति नागम, "क्षीवे" इत्यादि हस्त्वत् च न भवतीत्ययमर्थं पुवद्भवतीत्यनेन साध्यते । पुमनुवादेन चात्र न किञ्चित्कार्यं शास्त्र-  
विहितमस्तीति पुस्यदृष्टस्य नपुसककार्यत्वेन नागमहस्त्वलक्षणस्य पुमावैनाभाव प्रयोजनत्वेनोच्यते, न च स्त्रियां तत्संभवतीति । ग्रामण्यादि ।  
३० ग्रामणीशब्दाद् टादौ स्खरे पक्षेऽनेन पुवद्भावात् हस्त्वनागमाभावे यथासम्भव "निय आम्" इति डेरामादेशे "किञ्चिद्विभक्त्यर्थे" इति यत्वम्,  
तद्विमुक्तपक्षे हस्त्वत् नागमश्चेति । एवं कर्त्रा कर्तृण्येत्यादि । कर्तृणाम्, कर्तृणामिति । द्वयोरपि "हस्त्वापद्य" इति नाम्, न त्वपुस्तुत्वपक्षे  
अनाम् इति नोन्त, तत्रामो वर्जितत्वात् । द्वितीयप्रयोगो रूपनिर्णयार्थं दर्शित, न तु तस्य किञ्चिदत्रान्यत्फलम् । चित्रगवे इति । चित्रा गवो यस्तेति  
३३ विप्रह, अत्र क्षीवे हस्त्वत्वम्, तपुस्तुत्वे सति निवर्तते, ततश्च "नोश्चान्ते" इत्यर्थे, ततश्च "किञ्चिदिति" इत्योत्त्वम् । टाया क्षीवे पुस्तुत्वे च चित्रगुणा  
इति रूपाविशेषात् चतुर्थ्या उदाहरणप्रदर्शनम् । पुवत्त्वाभावपक्षे रूपमाह—चित्रगुणे इति । एव चित्रगो चित्रगुण इत्यादि रूपाणि पुवत्त्वे तद-  
३६ भावे रूपमाह—अतिरिणा इति । अत्र नागमहस्त्वौ । एव अतिराये अतिरिणे इत्यादि बोध्यम् । अतिनावा, अतिनुना इति । नावमतिकान्-  
न्तेन कुलेनेत्यर्थं । पूर्वं रूप पुवत्त्वे, परं तु तदभावे इति विशेष । एव अतिनावे अतिनुने इत्यादिवोध्यम् । अतिरि अतिनी इत्यनयो "क्षीवे"  
इति हस्त्वत्वे इकार उकारश्च बोध्य इति । नामिन इत्यनुवृत्तिरत्र कर्मप्राप्ता, वस्तुतस्तत्र ए ए ओ औ इत्येवा हस्त्वत्वेन इडद्वपत्वादाविशेष ।  
३९ कुमार्यै इति । अत्र यद्यपि कुमारीशब्द पुवत् तथापि नित्यस्त्रीविषयत्वादीकारस्य "स्त्रीद्व" इति दै । ऋणुणे, जतुने इति । ऋणुजत्वादि-  
शब्दानां जातिशब्दत्वात् न विशेष्यनिबन्धन नपुसकत्वमित्यन्त्यत इति वचनात् पुमावो न भवति । ग्रामणिनी इति । अत्र स्वरत्वेऽपि टादि-  
त्वाभावात् न पुवत्वम् । ग्रामणिभ्याम् इत्यादि । अत्र टादित्वेऽपि स्वरत्वाभाव । कीलालपेन इति । नाम्यन्तत्वाभावात् न पुवत्वम् ॥ ६२ ॥

४२ कल्याण्यै ब्राह्मण्यै इति । अत्र नपुसकोपादायिनाशब्दानाभावात् न पुवत्वम् ॥ ६२ ॥  
दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् । नपुसकत्वेति टादौ स्खरे इति नामिन इति च वर्तते । दध्यस्थिसकथ्यक्ष्ण इत्यन्तस्य कार्यणो-  
विशेषणम्, अतथादौ स्खरे इत्यस्य परत्वमात्र विज्ञायते न तत्संबन्धित्वमेवेत्याह—तत्संबन्धिनीत्यादि । दग्धा इति । दधिशब्दान्तस्य टादौ  
४५ स्खरेऽनेनानादेशे "अनोऽस्य" इत्यकारलोपे रूपम् । दग्धि, दधनि इति । "इकौ वा" इति विकल्पेनाकारलक्ष् । एवमन्यदपि । अत्र नपुसकार्य-  
विशेष्येऽप्येवादिभि स्यात्सकथि नाम विशेष्यते, तेन दध्यस्थान्तस्यापि नात्रोऽन्तस्यान् भवतीत्युदाहरति—परमदग्धा इत्यादि । प्रियदग्धा इत्यत्र  
"द्वयु ०" ७।३।१५२। इति कच् कथ न भवतीत्याह—समासान्तविधेरित्यादि । "अक्ष्णोऽप्राप्ये" ७।३।८५। इत्यपि अतिसत्वात् न । ननु  
४८ सत्यपि तदन्तविधौ दध्यस्थान्तस्यानपुसकस्य प्रहण नोपपद्यते नपुसकत्वेत्यनुवृत्ते, नैप दोष, नात्र नपुसकत्वेत्यनेन प्रहृतं नाम विशेष्यवेऽपि तु

इक्षुणा-अस्वाङ्गत्वात् “सकथ्यक्ष्णः स्वाङ्गे” ॥ ७ । ३ । १२६ ॥ इति समासान्तो न भवति । अतिदध्या स्त्रिया, प्रिया-  
स्थ्यै शुन्यै-अत्रानादेशे सति नान्तत्वात् ङीः । यदावित्येव ? दधिनी, दधीनि । स्वर इत्येव ? दधिम्याम्, दधिभिः ।  
नपुंसकस्येत्येव ? दघातीत्येवं शीलो दधिः, दधिनामा वा, दधिना, दधये । दध्ना, अतिदध्ना कुलेनेत्यादौ विशेषविधानात् ३  
परमपि नागमनादेशो बाधते ॥ ६३ ॥

अनाम्बरे नोऽन्तः ॥ १ । ४ । ६४ ॥

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संचन्विन्याम्वर्जिते स्यादौ स्त्रे परे नोऽन्तो भवति । वारिणी २, वारिणा, वारिणे, ६  
वारिणः २, वारिणोः २, वारिणि, त्रपुणी २, त्रपुणा, त्रपुणे, त्रपुणः २, त्रपुणोः २, त्रपुणिः, कर्तृणी २ कुले,  
कर्तृणा, कर्तृणे, कर्तृणः २, कर्तृणोः २, कर्तृणि, प्रियगुरुणे, प्रियतिसृणः २-अत्र परत्वात् तिस्रादेशे सति नोऽन्तः ।  
अनामिति किम् ? वारीणाम्, त्रपूणाम्, कर्तृणाम् एषु नागमाभावे नामि सति “दीर्घो नाम्यतिसृ०” ॥ १ । ४ । ४७ ॥ ९

श्रुतत्वाद्दध्यादय एव । तदन्तानां त्वेषा दध्यादीना लिङ्गान्तरेऽपि वर्तमानाना नपुंसकत्वमस्त्येव, तेन नपुंसके ये वर्तन्ते दध्यादयस्तदन्तस्य  
नात्रोऽनपुंसकेऽपि वर्तमानस्य ग्रहणमुपपन्नं भवतीत्युदाहरति-प्रियास्त्रा शुना इत्यादि । यदि तर्हि तदन्तस्य ग्रहणं केवलाना न सिध्यति,  
अयमप्यदोष, व्यपदेशिवद्भावात् केवलानामपि भविष्यति । ‘व्यपदेशिवद्भावोऽनात्रा’ इति च न्याय प्रत्ययविधिविषय एवेति नोपतिष्ठते । १२  
ननु दडस्यभा शकटैः, स्थूलाक्ष्णा इक्षुणा इत्यत्र “सकथ्यक्ष्ण” इति समासान्तं प्रत्यय कथं न भवतीत्याह-अस्वाङ्गत्वात् इत्यादि ।  
अतिदध्या स्त्रिया इति । यदात्र “इतोऽस्यार्थात्” इत्यनेन ङीस्त्वात् तद्व्यवधानादनेनादेशाभावे अतिदध्या इत्येव भवति । यदा तु दध्यात्क्रान्त  
यथा इति बहुव्रीहिसदा “दधुर ०” इत्यनेन कचा भाव्यम्, तस्माद् दध्यात्क्रान्तया इति न्याये तत्पुरुषसमास एव कृते वृत्तीयैकवचनेऽनेनादेशे १५  
‘संनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वात्’ ‘स्त्रियां वृत्तो ०’ इति ङीप्रत्यये, “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे, “इवर्णादि ०” इति यत्वे भवति । प्रियास्त्र्यै  
शून्यै इति । प्रियाणि अस्थीनि यस्यास्त्र्यै इत्यर्थं, अत्र पूर्ववद्भवत्या । नन्वत्रानेनानादेशे सति ‘संनिपात ०’ इति न्यायसत्त्वे कथं ‘स्त्रिया वृत्तो ०’  
इति ङीरित्याह-अत्रानादेशे सतीत्यादि । पूर्वोक्तन्यायानित्यत्वसमाश्रयणेन ङीरत्र बोध्यं । दध्यादीनां स्वभावेनैव नपुंसकत्वाद् व्यभिचारा- २८  
भावात् तद्विशेषणमनर्थकम्, उच्यते-यदा ते यदच्छाशब्दा वा सन्तो लिङ्गान्तरे वर्तन्ते, तदाऽस्ति व्यभिचार इति तद्व्यवच्छेदार्थं तद्विशेषणमित्याह-  
नपुंसकस्येत्येवेत्यादि । अतिदध्ना ब्राह्मणेन वारिणीत्यादौ अनागमयो सावकाशत्वात् दध्ना इत्यादाद्युभयप्रतीते “स्पर्द्धे” परमिति परत्वाद्-  
संवाधितत्वात् नागम एव प्राप्नोति, उच्यते-परशब्दस्येवाचित्वात् स्पर्द्धे यदिह तद्व्यवतीति व्याख्यानात् पूर्वविप्रतिषेधेन नागम बाधित्वा अनादेश २१  
एव भवति । यदाऽस्य योगस्योत्तरत्राजुषे ‘अनाम्बरे नोऽन्त’ ‘दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् यदाविति’ तत्र चाक्यमेदेन ‘अनाम्बरे’ इति  
सामान्येन नोन्तोभवति, दध्यादीनां तु दादौ स्त्रे अन् भवतीति विशेषविधानात् त बाधित्वाऽनेन भवतीत्याह-विशेषविधानादित्यादि । परत्वं  
तु यथावस्थितसूत्रापेक्षया नागमस्योक्तमिति ॥ ६३ ॥

अनाम्बरे नोऽन्तः । नामिन इति नपुंसकस्येति चानुवर्तते । नपुंसकस्येति स्यादावित्यधिकृतस्य विशेषण, तेन नपुंसकस्य संचन्वि-  
न्येव स्यादावित्याह-नपुंसकस्येत्यादि । वारिणी इति । वारिशब्दादौप्रत्यये अगवकाशत्वात् “इवर्णादे ०” इति यत्वं परत्वात् “इदुतोऽङ्घेरी-  
दूत्” इतीत्वं “औरी” इति च बाधित्वाऽनेन नागमे “औरी” इति ईत्वे “रपुवर्णा ०” इति णत्वे रूपम् । एव त्रपुणी इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । २७  
प्रियास्त्रियो यस्य कुलस्येति प्रियशिशुब्दात् षष्ठीवचनेऽपि नित्यत्वात् नागमे कथं तिस्रादेश इति ? नैव, स्थानान्तरप्रवृत्त्या न नागमो नित्य इति  
द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् पूर्वं तिस्रादेशे कृते पश्चात् नागम इत्याह-प्रियतिसृण इत्यादि । अथ किमर्थमावर्जनम् ? नामि नागमे च  
रूपस्य समानत्वात्, नैवम्, नागमे सति दीर्घत्वाभावाद् वारीणामित्यादयो न सिच्येयुरित्याह-अनामिति किम् इत्यादिना । अथ किमर्थं स्वर- ३०  
ग्रहणम् ? न च वाच्यं त्रपुम्भां त्रपुभिरित्यादौ व्यञ्जनेऽपि नोऽन्त स्यादिति तथ्यावृत्त्यर्थमिति, कृतेऽपि नागमे “नात्रो नोऽन्त” इति नलोप-  
भावात्, इह तर्हि अतिराभ्याम् अतिराभि इति नागमे सति समुदायमक्त्वाद्भवयवस्य रैशब्देन तेन व्यवधानात् स्यादितिचौ च नलोपस्या-  
सिद्धत्वात् “आ रायो व्यञ्जने” २।१।५। इत्यात्व न भवति । अथ स्यावाक्षिसाया प्रकृते रैशब्देन विशेषणात् रैशब्दान्तयो प्रकृतेरात्व विधीयत ३१  
इति नास्ति नागमेन प्रकृतेर्व्यवधानं, तथापि नकारस्यात्वात् प्राप्नोति तस्मिन् पूर्वस्य यत्वे सति अतिराभ्यामित्यत्र रूपमापद्यते । नैष दोष । पर-  
त्वात् पूर्वमात्वमेव भविष्यति, द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वादिति । इह तर्हि प्रियतिसृम्भां प्रियतिसृभिरिति नित्यत्वात् पूर्वं नागमे सति तिसृम्भावो न  
प्राप्नोति, नैव, अत्राप्युभयोरनित्यत्वात् परत्वात् पूर्वं तिसृम्भावः । तथाहि-शब्दान्तरप्राप्त्या नागमोऽनित्यस्तिरुभावस्तु नागमेन व्यवधानात् न प्राप्नो- ३६  
तीत्यनित्य । स हि यद्यपि त्रिशब्दान्तनात्रो विधीयते, तद्व्यवच्छेदनागमोऽव्यवधायकत्वथापि ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा मवन्ति’ इति त्रेव तिसृम्भावेन  
भाव्यम्, स च व्यवहित इति तिसृम्भासप्राप्तिः । तिसृम्भावे च कृते ‘पुन प्रसङ्गविज्ञानात्’ अपि न भवति, ‘सकृदतो विप्रतिषेधे यद्बाधित तद्वा-  
धितमेव’ इति न्यायात् । एव तर्हि नामादेशे कृते नागमो मा भूदित्येवमर्थं, तेन त्रपूणा जदनामिति “दीर्घो नाम्य ०” इति दीर्घं सिध्यति । ३९  
असति तु स्वरग्रहणे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नागमे सति ह्रस्वाभावात् नामादेशाभावे दीर्घो न स्यादिति । अथ तत्र विहितविशेषणात् कृतेऽपि नागमे  
नाम् भविष्यति । यदा ‘अनाम्’ इत्याम्प्रतिषेधात् पूर्वं नामादेशे तस्य च स्थानिवद्भावभावात् नागमाभावे न काचित् क्षतिरिति । एव तर्हि स्वरादौ  
यथा स्यादित् मा भूत्-त्रपु, जतु प्रत्ययलोपलक्षणेन स्यादिसद्भावात् । अथ “उप्ययृद्धेनद” इति प्रतिषेधात् स्यादेरभावात् न भविष्यति, सत्यम्, ४२  
अत एव स्वरग्रहणात् क्वचित्प्रत्ययलक्षणं भवतीति विशायते । तेन हे त्रपो !, प्रियतिसृ कुल, प्रियचतस्र कुलमिति सिद्धम् । अत एव च “नामिनो-  
ऽन्तम्” इति तदनुवादं कृतं । द्विविधं हि विभक्त्यस्ति, मुख्यमौपचारिकं च । तत्र मुख्यं श्रूयमाणायाम् इतरपुं छत्रायास्तकार्यस्य हि अस्तित्वा-  
दिमक्तिरुपचारेणास्तीति, उच्यते-तद्यथा अस्त्वतीतं कर्म इति । अत्र हि अतीतेन कर्मणा यदाहितं फलदानसामर्थ्यं तस्यास्तित्वात् कर्माऽप्य- ४५

## वाऽन्यतः पुमांष्टादौ स्वरैः ॥ १ । ४ । ६२ ॥

यो नाम्यन्तः शब्दोऽन्यतो विशेष्यवशात् नपुसकः स दादौ स्वरैः परे पुंवद् वा भवति, यथा पुंसि नाऽऽगमहस्रौ न भवतस्तथाऽत्रापि न भवत इत्यर्थः । ग्रामण्या, ग्रामणिना कुलेन; ग्रामण्ये, ग्रामणिने कुलाय, ग्रामण्यः, ग्रामणिनः कुलात्; ग्रामण्य. ग्रामणिनः कुलस्य; ग्रामण्योः, ग्रामणिनोः कुलयोः, ग्रामण्यां, ग्रामणीनां कुलानाम्, ग्रामण्यां, ग्रामणिनि कुले; एवं कर्त्वा, कर्त्वणा; कर्त्वे, कर्त्वणे, कर्त्तुः, कर्त्वणः, कर्त्वेः, कर्त्वणोः; कर्त्वणाम्, कर्त्वणाम्; कर्त्तरि, कर्त्वणि, शुचये, शुचिने; शुचेः, शुचिने, शुच्योः, शुचिने, शुचौ, शुचिनि, मृदये, मृदुने; मृदोः, मृदुनः; मृदोः, मृदुनोः; मृदौ, मृदुनि, चित्रगवे, चित्रगुणे, अतिराया, अतिरिणा, अतिनावा, अतिनुना; अहयवे, अहयुने, कुमारीवाचरतीति किप्, कुमारी वेच्छतीति क्यन्, किप्-कुमार्ये, कुमारिणे कुलाय । अन्यत् इति किम्? त्रपुणे, जतुने, पीलुने फलाय । दादाविति किम्? ग्रामणिनी शुचिनी कुले । स्वर इति किम्? ग्रामणिभ्यां कुलाभ्याम्, ग्रामणिभिः कुलैः । नामिन इत्येव? कीलालेन कुलेन । नपुसक इत्येव? कल्याण्यै ब्राह्मण्यै ॥ ६२ ॥

## दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १ । ४ । ६३ ॥

१२ दधि अस्थि सक्थि अक्षि इत्येतेषां नपुंसकानां नाम्यन्तानामन्तस्य तत्सवन्धिन्यन्यसम्बन्धनि वा दादौ स्वरैः परे अन् इत्ययमादेशो भवति । दध्ना, दध्नि, दधनि, अस्थ्या, अस्थे, अस्थि, अस्थनि; सक्त्रा, सक्त्रे, सक्त्रि, सक्त्रिनि; अक्ष्णा, अक्ष्णे, अक्षिण, अक्षणि; परमदध्ना, परमास्थ्या, परमसक्त्रा, परमाक्ष्णा, अतिदध्ना, अत्यस्थ्या, अति-  
१५ सक्त्रा, अत्यक्ष्णा । प्रियदध्ना—समासान्तविधेरनित्यत्वात् कच् न भवति, प्रियास्थ्या शुना, दृढसक्त्रा शकटेन, स्थूलाक्ष्णा

वान्यतः पुमांष्टादौ स्वरैः । नामिन इति वर्तते, तद्यथा नपुंसकस्य विशेषण तथा अन्यत इत्यपि, तच्च पञ्चमन्तमप्यर्थवशात् प्रथमान्तसया विपरिणाम्यत्वे इत्याह—यो नाम्यन्त इत्यादि । अन्यत इति व्याचष्टे—विशेष्यवशादिति । अन्यत इति सामान्याभिधानेऽपि तदन्य-  
२८ विशेष्यमेव विज्ञायते, विशेष्यादन्यत्र लिङ्गाभावात् । अयमभिप्राय—इह हि द्विविधलिङ्गव्यवस्था । केषांचित् स्वत एव लिङ्गम्, यथा दधिमाच-दिजाविशब्दानाम् । केषांचिदन्यतो विशेष्यात्, यथा गुणक्रियाद्वयस्यवन्धनमितानां पद्मादिशब्दानाम्, ते हि विशेष्यलिङ्गमुपादत्ते न तेषां स्वतो व्यवस्थित किमपिग्रामस्तीति । तथा हि—पद्व पुमात्, पद्वी स्त्री, पद्व कुलमिति विशेष्यत एव लिङ्ग इत्येते न स्वत इति । अतोऽन्यत इति  
२९ क्रियागुणद्वयस्यवन्धप्रवृत्तिनिमित्ता शब्दाः अभिधीयन्ते इति । अन्यतो नपुंसक इत्यन्यमानेऽपि नपुंसकोपादायिना शब्देन तदैव पुस्तलोपादानाभावः । अयं विदोषणलक्षणपदोपक्षीणत्वात् कार्ये सधिधानाभावात् खियामपि पुमाव श्यादिति चेन्न 'परार्थे प्रयुज्यमाने शब्दो वतिमन्तरेणापि नपुंसकत्वेऽपि गम्यत्येव' यथा—अमदत्तं दत्तं दत्त इति । एवं हि निर्शातेऽथ इति त्रयदत्ते पदार्थकदेशभूताः स्वयन्वन्धान् क्रियागुणस्यानुपलभ्य  
२४ एव मद्रदत्त इत्युच्यते । समुदायपरदार्थ्यादिनो ण्ययत्वेऽपि शब्दप्रवृत्ति । एवभूतस्तु अनिर्देश इति नोपपद्यते, न हि नपुंसकस्य स्वतो लिङ्गधर्मा केचित्प्रसिद्धा सन्तीति । अस्ति तु लोके भाविनो धर्मान् भूतवदुपादाय व्यपदेश एव मद्रदत्त इति लभतामय प्रतिपद्यतामय मद्रदत्तधर्मानिति भूतवदुपादाय शोऽयमित्यसम्बन्धेन तत्प्रवृत्तिलम्भः । एवमिहापि भाविनो नागमाभावादीन् पुलिङ्गाध्यायन् धर्मानुपादाय वतिमन्तरेणापि  
२७ नपुंसके तच्छब्दस्य प्रवृत्तिरित्याह—पुंवद्वा भवतीति । पुस्तवादिदेशेन साध्यमर्थं दर्शयति—यथा पुंसि इत्यादि । नागमहस्रौ इति । "अनाम् स्वरैः नोऽन्तः" इति नागम, "ह्रीवे" इत्यादि ह्रस्वत्वं च न भवतीत्ययमर्थं पुंवद्भवतीत्यनेन साध्यते । पुमनुवादेन चात्र न किंचित्कार्यं शास्त्र-विहितमस्तीति पुस्तवदस्य नपुंसककार्यस्यैव नागमह्रस्वलक्षणस्य उपावेनाभाव प्रयोजनत्वेनोच्यते, न च खियां तत्त्वंभवतीति । ग्रामण्यादि ।  
३० ग्रामणीशब्दाद् दादौ स्वरैः पक्षेऽनेन पुंवद्वाचाद् ह्रस्वनागमाभावे यथासंभव "निम आम्" इति डेरामादेशे "किञ्चोत्तरुधियस्त्री" इति यत्वम्, तद्विमुक्तपक्षे ह्रस्वत्वं नागमथेति । एते कर्त्वा कर्त्वणेत्यादि । कर्त्वणाम्, कर्त्वणामिति । द्वयोरपि "ह्रस्वापठ" इति नाम्, न त्वपुस्तवपक्षे अनाम् इति नोऽन्तः, तत्रामो वञ्जितत्वात् । द्वितीयप्रयोगो रूपनिर्णयार्थं दर्शितः, न तु तस्य किञ्चिदत्रान्यत्फलम् । चित्रगवे इति । चित्रा गावो यस्येति  
३१ विग्रहः, अत्र ह्रीवे ह्रस्वत्वम्, तपुस्तवे सति निवर्तते, तत्र "नोश्चान्ते" इत्यत्र, तत्र "ह्रस्वादिति" इत्योक्तम् । यथा ह्रीवे पुवत्त्वे च चित्रगुणा इति रूपाविशेषात् चतुर्थ्या उदाहरणप्रदर्शनम् । पुवत्त्वाभावपक्षे रूपमाह—चित्रगुणे इति । एव चित्रगो चित्रगुण इत्यादि रूपाणि पुवत्त्वे तदभावे ह्रीवे च बोध्यानि । अतिराया इति । रायमतिक्रान्तेन कुलेनेत्यर्थः । पुवत्त्वे सति दादौ खरादौ विभक्तौ नागमह्रस्वत्वाभावः । पुवत्त्वाभावे ह्रस्वत्वे इत्युच्यते । अतिरिणा इति । अत्र नागमह्रस्वत्वात् । एव अतिराये अतिरिणे इत्यादि बोध्यम् । अतिनावा, अतिनुना इति । नावमतिक्रान्तेन कुलेनेत्यर्थः । पूर्व रूप पुवत्त्वे, परंतु तदभावे इति विशेषः । एव अतिनावे अतिसुने इत्यादिबोध्यम् । अतिरि अतिनी इत्यनयो "ह्रीवे" इति ह्रस्वत्वे इकार उकारश्च बोध्यः इति । नामिन इत्यनुवृत्तिरत्र कमप्राया, वस्तुतस्त्वत्र ए ऐ ओ औ इत्येवा ह्रस्वत्वेन इद्वद्वत्त्वाद्बिधौषः ।  
३२ कुमार्ये इति । अत्र यद्यपि कुमारीशब्दः पुंवद् तथापि नित्यस्त्रीविपर्ययत्वादीकारस्य "क्रीदत्" इति दै । त्रपुणे, जतुने इति । त्रपुजत्वादि-शब्दात्तां जातिशब्दत्वात् न विशेष्यनिबन्धन नपुंसकत्वमित्यन्यत इति वचनात् पुमावो न भवति । ग्रामणिनी इति । अत्र स्वरत्वेऽपि दादि-त्वाभावात् न पुवत्वम् । ग्रामणिभ्याम् इत्यादि । अत्र दादित्वेऽपि स्वरत्वाभावः, कीलालेन इति । नाम्यन्तत्वाभावात् न पुवत्वम् ।  
३३ कल्याण्यै ब्राह्मण्यै इति । अत्र नपुंसकोपादाविशब्दानाभावात् न पुवत्वम् ॥ ६३ ॥

दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् । नपुंसकस्येति दादौ स्वरैः इति नामिन इति च वर्तते । दध्यस्थिसकथ्यक्ष्ण इत्यन्तस्य कार्यिणो-विशेषणम्, अतएदादौ स्वरैः इत्यस्य परत्वमात्रं विज्ञायते न तत्संबन्धित्वमेवेत्याह—तत्संबन्धिन्यनीत्यादि । दध्ना इति । दधिशब्दस्यान्तस्य दादौ स्वरैऽनेनाजदेस्ते "अनोऽस्य" इत्यकारलोपे रूपम् । दध्नि, दधनि इति । "इहो वा" इति विकल्पेनाकाररुद्धः । एवमन्यदपि । अत्र नपुंसकार्य-विशिष्टदध्यैदिसि स्यादाक्षि नाम विशेष्यते, तेन दध्याद्यन्तस्यापि नाजोऽन्तस्यान् भवतीत्युदाहरति—परमदध्ना इत्यादि । प्रियदध्ना इत्यत्र "दध्यु ०" ७३।१७२। इति कच् कथं न भवतीत्याह—समासान्तविधेरित्यादि । "अक्ष्णोऽप्राप्ये" ७३।८५। इत्यपि अनित्यत्वात् न । नपु-  
३४ सत्यपि तदन्तविधौ दध्याद्यन्तस्यानपुंसकस्य म्रहण नोपपद्यते नपुंसकत्वेत्युच्यते, नैष दोषः, नात्र नपुंसकत्वेत्यनेन प्रकृतं नाम विशेष्यत्वेऽपि तु

अनाम्बरे नोऽन्तः ॥ ६४ ॥ ] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

शुष्णुणा-अस्वाङ्गत्वात् “सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे” ॥ ७ । ३ । १२६ ॥ इति समासान्तो न भवति । अतिदध्या स्त्रिया, प्रिया-  
स्थ्यै शुन्यै-अत्रानादेशे सति नान्तत्वात् ङीः । टादावित्येव ? दधिनी, दधीनि । स्वर इत्येव ? दधिभ्याम्, दधिभिः ।  
नपुंसकस्येत्येव ? दधातीत्येवं शीलो दधिः, दधिनामा वा, दधिना, दधये । दधा, अतिदधा कुलेनेत्यादौ विशेषविधानात् ३  
परमपि नागमनादेशो बाधते ॥ ६३ ॥

अनाम्बरे नोऽन्तः ॥ १ । ४ । ६४ ॥

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिन्याम्वर्जिते स्यादौ खरे परे नोऽन्तो भवति । वारिणी २, वारिणा, वारिणे, ६  
वारिणः २, वारिणोः २, वारिणिः, त्रपुणी २, त्रपुणा, त्रपुणे, त्रपुणः २, त्रपुणोः २, त्रपुणि, कर्तृणी २ कुले,  
कर्तृणा, कर्तृणे, कर्तृणः २, कर्तृणोः २, कर्तृणि, प्रियगुरुणे, प्रियतिसृणः २-अत्र परत्वात् तिस्रादेशे सति नोऽन्तः ।  
अनामिति किम् ? वारीणाम्, त्रपूणाम्, कर्तृणाम् एषु नागमाभावे नामि सति “दीर्घो नाम्यतिसृ०” ॥ १ । ४ । ४७ ॥ ९

श्रुतत्वाद्दध्यादय एव । तदन्ताना त्वेषा दध्यादीना लिङ्गान्तरेऽपि वर्तमानाना नपुंसकत्वमस्येव, तेन नपुंसके ये वर्तन्ते दध्यादयस्तदन्तस्य  
नाम्नोऽनपुंसकेऽपि वर्तमानस्य प्रहणमुपपन्न भवतीत्युदाहरति—प्रियास्त्रा शुना इत्यादि । यदि तर्हि तदन्तस्य प्रहणं केवलाना न सिध्यति,  
अयमप्यदोष, व्यपदेशिवद्भावात् केवलानामपि भविष्यति । ‘व्यपदेशिवद्भावोऽनाम्ना’ इति च न्याय प्रत्ययविधिविषय एवेति नोपतिष्ठते । १२  
ननु दृढसकृपा शकटेन, स्थूलाक्ष्या इक्षुणा इत्यत्र “सक्थ्यक्ष्ण” इति समासान्त टप्रत्यय कथं न भवतीत्याह—अस्वाङ्गत्वात् इत्यादि ।  
अतिदध्या स्त्रिया इति । यदात्र “इतोऽक्त्यर्थात्” इत्यनेन ङीस्त्वदा तद्भवधानादनेनादेशाभावे अतिदध्या इत्येव भवति । यदा तु दध्यतिक्रान्त  
यया इति बहुवीहिस्त्वदा “दध्युर०” इत्यनेन कच्चा भाव्यम्, तस्माद् दध्यतिक्रान्तया इति न्याय्ये तत्पुरुषसमास एव कृते तृतीयैकवचनेऽनेनादेशे १५  
‘सनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वात्’ “स्त्रियां चृतो०” इति चीप्रत्यये, “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे, “इवर्णादे०” इति यत्वे भवति । प्रियास्थ्यै  
शून्यै इति । प्रियाणि अस्थीनि यस्यास्तस्यै इत्यर्थं, अत्र पूर्ववद्भवस्था । नन्वत्रनेनानादेशे सति ‘सनिपात०’ इति न्यायसत्त्वे कथं “स्त्रियां चृतो०”  
इति चीरित्याह—अत्रानादेशे सतीत्यादि । पूर्वोक्तन्यायानित्यत्वसमाश्रयणेन चीरत्र बोध्यं । दध्यादीनां स्वभावेनैव नपुंसकत्वाद् व्यभिचार- १८  
भावात् तद्विशेषणमनर्थकम्, उच्यते—यदा ते यदृच्छाशब्दा वा सन्तो लिङ्गान्तरे वर्तन्ते, तदाऽस्ति व्यभिचार इति तद्भवच्छेदार्थं तद्विशेषणमित्याह—  
नपुंसकस्येत्येवेत्यादि । अतिदधा ब्राह्मणेन वारिणीत्यादौ अत्रनागमयो सावकाशत्वाद् दधा इत्यादाशुभयप्रप्तौ “स्पद्धे” परमिति परत्वाद्-  
सबाधितत्वात् नागम एव प्राप्नोति, उच्यते—परशब्दलेखधाचित्वात् स्पद्धे यदिह तद्भवतीति व्याख्यानात् पूर्वविप्रतिषेधेन नागम बाधित्वा अनादेश २१  
एव भवति । यदाऽस्य योगस्योत्तरत्राजुह्वते ‘अनाम्बरे नोऽन्त’ ‘दध्यस्थिसक्थ्यक्ष्णोऽन्तस्यात् टादाविति’ तत्र वाक्यभेदेन ‘अनाम्बरे’ इति  
सामान्येन नोन्तोभवति, दध्यादीना तु टादौ खरे अन् भवतीति विशेषविधानात् त बाधित्वाऽनेन भवतीत्याह—विशेषविधानादित्यादि । परत्वं  
तु यथावस्थितसूत्रापेक्षया नागमस्योक्तमिति ॥ ६३ ॥ २४

अनाम्बरे नोऽन्तः । नामिन इति नपुंसकस्येति चानुवर्तते । नपुंसकस्येति स्यादावित्यधिकृतस्य विशेषण, तेन नपुंसकस्य संबन्ध-  
न्येव स्यादावित्याह—नपुंसकस्येत्यादि । वारिणी इति । वारिशब्दादौप्रत्यये अनवकाशत्वात् “इवर्णादे०” इति यत्वं परत्वात् “इदुतोऽङ्घ्रेरी-  
धूत्” इतीत् “औरी” इति च बाधित्वाऽनेन नामने “औरी” इति इत्वे “रपुवर्णा०” इति यत्वं रूपम् । एवं त्रपुणी इत्यादावपि ब्रह्मव्यम् । २७  
प्रियास्त्रिस्रो यस्य कुलस्येति प्रियत्रिशब्दात् षष्ठीकवचनेऽपि नित्यत्वात् नागमे कथं तिस्रादेश इति ? नैव, स्थानान्तरप्रवृत्त्या न नागमो नित्य इति  
द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् पूर्वं तिस्रादेशे कृते पश्चात् नागम इत्याह—प्रियतिसृण इत्यादि । अथ किमर्थमाम्बर्जनम् ? नामि नागमे च  
रूपस्य समानत्वात्, नैवम्, नागमे सति धीर्घत्वाभावाद् वारीणामित्यादयो न सिष्येयुरित्याह—अनामिति किम् इत्यादिना । अथ किमर्थं स्वर- ३०  
प्रहणम् ? न च वाक्य त्रपुभ्यां त्रपुभिरित्यादौ व्यञ्जनेऽपि नोऽन्त स्यादिति तस्यादृत्त्यर्थमिति, कृतेऽपि नागमे “नाम्नो नोऽनह” इति नलोप-  
भावात्, इह तर्हि अतिराम्याम् अतिरामि इति नागमे सति समुदायभक्तत्वादवयवस्य रैशब्दस्य तेन व्यवधानात् स्यादिविधौ च नलोपस्या-  
सिद्धत्वात् “आ रायो व्यञ्जने” २।१।५। इत्यात्वं न भवति । अथ स्याद्याक्षिप्राया प्रकृते रैशब्देन विशेषणात् रैशब्दान्तयो प्रकृतेरात्वं विधीयत ३३  
इति नास्ति नागमेन प्रकृतेर्व्यवधानं, तथापि नकारस्यात्वं प्राप्नोति तस्मिन् पूर्वस्य यत्वे सति अतिराम्यामित्यनिष्ट रूपमापद्यते । नैष दोष । पर-  
त्वात् पूर्वमात्त्वमेव भविष्यति, द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वादिति । इह तर्हि प्रियतिसृभ्या प्रियतिसृभिरिति नित्यत्वात् पूर्वं नागमे सति तिसृभावो न  
प्राप्नोति, नैव, अत्राप्युभयोरनित्यत्वात् परत्वात् पूर्वं तिसृभाव । तथाहि—शब्दान्तरप्राप्त्या नागमोऽनित्यस्त्वित्यभावस्तु नागमेन व्यवधानात् न प्राप्नो- ३६  
तीत्यनित्य । स हि यथपि त्रिशब्दान्तनाम्नो विधीयते, तद्भक्तत्वाच्च नागमोऽव्यवधायकस्तथापि ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति’ इति त्रेरेव तिसृभावेन  
भाव्यम्, स च व्यवहित इति तिसृभावस्याप्राप्तिः । तिसृभावे च कृते ‘पुन प्रसङ्गविज्ञानात्’ अपि न भवति, ‘सङ्कटौ विप्रतिषेधे यद्वाधित तद्वा-  
धितमेव’ इति न्यायात् । एव तर्हि नामादेशे कृते नागमो मा भूदित्येवमर्थं, तेन त्रपुणा जट्टनामिति “दीर्घो नाम्य०” इति दीर्घं सिष्यति । ३९  
गसति तु स्वरप्रहणे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नागमे सति इस्वामावात् नामादेशाभावे दीर्घो न स्यादिति । अथ तत्र विहितविशेषणात् कृतेऽपि नागमे  
नाम् भविष्यति । यदा ‘अनाम्’ इत्याम्प्रतिषेधात् पूर्वं नामादेशे तस्य च स्थानिवद्भावाभावात् नागमाभावे न क्वचित् क्षतिरिति । एव तर्हि स्वरादौ  
यथा स्यादिह मा भूत्-त्रपु, जट्ट प्रत्ययलोपलक्षणेन स्यादिसद्भावात् । अथ “छप्यच्छेनत्” इति प्रतिषेधात् स्यादेरभावात् न गविष्यति, सत्यम्, ४२  
अत एव स्वरप्रहणात् क्वचित्प्रत्ययलक्षणं भवतीति विज्ञायते । तेन हे त्रपो !, प्रियतिसृ कुल, प्रियचतस्र कुलमिति सिद्धम् । अत एव च “नामिनो-  
ऽम्बरे” इति तदनुवाद कृत । द्विविध हि विभक्तोरस्त्वित्, मुख्यमौपचारिक च । तत्र मुख्यं श्रयमाणया इतरतु छप्यास्तत्कार्यस्य हि अस्त्वित्वा-  
दिभक्तिरप्युपचारेणास्तीति, उच्यते—तयथा अस्त्वित् कर्म इति । अत्र हि अतीतेन कर्मणा यदाहितं फलदानसामर्थ्यं तस्यास्तित्वात् कर्माऽप्य- ४५

इत्यादिना दीर्घः सिद्धः । खरे इति किम् ? हे वारे !, हे त्रपो ! । स्यादावित्येव ? तौम्बुरवं चूर्णम् । नामिन इत्येव ? काण्डे, कुण्डे । नपुसकस्येत्येव ? मुनी, साधू । तत्संबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियवारये पुसे, प्रियमधोः पुंसः ॥ ६४ ॥

३

खराच्छौ ॥ १ । ४ । ६५ ॥

जस्रसादेशे शौ परे खरान्तात् नपुसकात् परो नोऽन्तो भवति । कुण्डानि, वनानि, प्रियवृक्षाणि, कुलानि, वारीणि, त्रपूणि; कर्तृणि । खरादिति किम् ? चत्वारि, अहानि, विमलदिवि; सुगणि । अत इत्येव सिद्धे खर-  
६ ग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ ६५ ॥

धुटां प्राक् ॥ १ । ४ । ६६ ॥

खरात् परा या धुड्जातिस्वदन्तस्य नपुसकस्य धुड्म्य एव प्राक् शौ परे नोऽन्तो भवति । पर्यासि तिष्ठति,

- ९ स्तीत्युक्त्वा । तत्र स्यो “नामिनो लुक्वा” इति लुक्त्वात् मुख्य तावदस्त्विति नास्ति, लुक्पक्षे प्रत्ययलोपक्षणादुपचरितमस्तीत्याह—खरे इत्यादि । पूर्वसूत्रे च खरग्रहण टादिस्यद्धमेवेति नेदानुवर्तनीयमिति । कथं “मर्यादाभिधौ च य ” इति समाहारत्वे नपुसकत्वात् खरे नागमो न भवतीति ? उच्यते—समाहारोऽत्र समुदाय सानयवधर्मेणाभि विध्यवयवात्साभि विधिमर्यादावयवत्वात् मर्यादिति व्यपदेश्यते, ततो विशेषणसमाहारेन सिद्धम् ।  
१२ तौम्बुरवं चूर्णम् इति । तुम्बुरणो वृक्षस्य विकारोऽवयवधूर्णं “प्राणापधिचूर्णेभ्यो” ६।१।३।१ इत्यणि “वृद्धि खरे” इति वृद्धौ स्याद्यमा-  
वात् नागमाभावे “अखयभुवोऽब्” ७।४।१०। इत्यवदेशे तौम्बुरवम् इति सिध्यति । नामिन इत्येव ? काण्डे, कुण्डे इति । अत्राकारान्तत्वेन नाम्यन्तत्वाभावाच्च नागम । कुलयोरित्यत्र कुले भोस् इत्यवस्थाया नाम्यन्तत्वेऽपि न नागम, क्लीबे नाम्यन्तस्य सत्त्वे स्यादौ विज्ञानात् ।  
१५ द्वयोरित्यत्र नागमात् पूर्वं परत्वादान्तरप्रत्वाच्च “आहरे” इत्यत्त्वे, पश्चात् एत्त्वे कृते ‘सकृद्गति’ इति न्यायात् न नागम । मुनी, साधू इति । अत्र नपुसकत्वाभावात् नोऽन्तो न । प्रियवारये इत्यादि । अत्र स्यादेनैपुसकसंबन्धित्वाभावात् नेद प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

खराच्छौ । अत्र नोन्त इति नपुसकस्य इति चानुवर्तते । इह स्याद्यधिकारादन्यस्य शेरसम्भवाज्जसादेश एव शिर्यंशते इत्याह—

- १८ जस्त्रसादेशे इत्यादि । कुण्डशब्दात् जस्त्रसो “नपुसकस्य सि ” इति श्यादेशे, अनेन नागमे, “निदीर्घ ” इति दीर्घत्वे—कुण्डानि । एवमन्य-  
दपि । चतुराहन्शब्दाभ्याम् पूर्ववत् श्यादेशे खरादिति वचनात् नागमाभावे “वा शेपे” इति वादेशे “निदीर्घ” इति दीर्घत्वे च—चत्वारि,  
अहानि इति । एव विमला यौथेयवदस्य इति बहुव्रीहौ पूर्ववत् श्यादेशादौ—विमलदिवि इत्यादि । ननु इवर्णादे “अनाम्खरे नोऽन्त ”  
२१ इति शौ नागम सिद्ध एव, आकारान्तस्य तु अन्यस्य नपुसके ङखविधानात् स्थितिरिव नास्ति इति अत इत्येव युज्यते किं खरग्रहणेन ? अत  
आह—अत इत्येवेत्यादि । उत्तरार्थमिति । उत्तरसूत्रे खरग्रहण प्रयोजनवदित्यर्थं ॥ ६५ ॥

धुटां प्राक् । अत्र खरात् शौ इति नपुसकस्येति नोऽन्त इति चानुवर्तते । इह धुटां इत्यधिकृतस्य नपुसकस्येत्यस्य विशेषणम्, तत्र

- २४ तु तदन्तविज्ञानमित्याह—तदन्तस्य नपुसकस्येति । प्राक् इति दिक्शब्दत्वात्तद्योगे पञ्चमीविज्ञानादन्यस्यासंबन्धाद् एव विज्ञायते इत्याह—  
धुड्म्य एव प्रागिति । पयश्शब्दात् जतो “नपुसकस्य सि ” इति श्यादेशे सकारात् पूर्वमनेन नागमे “न्सहृतो ” १।४।८६। इति दीर्घत्वे  
“शिद्धहेऽनुस्वारः” इत्यनुस्वारे—पर्यासि इति । एव यशांसीत्यापि द्रष्टव्यम् । ननु भ्रैयोसि भूयांसि इति ध्रुवलक्षणे नागमे कृते ‘पुन प्रसङ्ग-  
२७ विज्ञानात्’ ऋदुदिलक्षण प्राप्नोतीति, तस्य प्रतिषेधो वफव्य, न च ऋदुदिलक्षणमय बाधिष्यत् इति वाच्यम्, व्यञ्चौ पदार्थे ‘सकृद्गतो विप्रतिषेधे  
यद्वाधित तद्वाधितमेव’ इति न्याय प्रवर्तते, आकृतौ तु नाश्रीयते इत्युभयोर्नागमयो प्रसङ्गे परस्परप्रतिषेधात्प्रतिपत्तौ प्राप्ताया “स्पद्धे” पर-  
३० नात् सिध्यतीति । अनागमस्य पूर्वा विधीयते सनागमस्य तु पर इति स्यादेतत्—अन्यस्याप्युच्यमान कार्यमन्यस्य बाधक भवति, उच्यते—असति  
खल्पपि संभवे बाधन भवति, अस्ति च सभवे यदुभय स्यात्—क्रमेण च नागमयोर्विधानादन्यात् खरात् परत्वमपि सभवति, यथा पचतीति  
धात्वपेक्ष तिक्शब्दो । भवतु को दोष ? द्वयोर्नकारयो श्रवण प्रसज्येत, नैव, व्यञ्जनपरसैकस्य वाऽनेकस्य वा श्रवण प्रति विशेषाभावात् । ननु  
३३ चैकस्यैको नकार परस्य द्वावित्येकत्वप्रतिज्ञाभेद । श्रुतिभेदेऽसति किं प्रतिज्ञाभेद करिष्यति ? कथं पुन श्रुतिभेदाभावो यावताऽनेकव्यञ्जनो-  
धारणेनाधिककालो व्याप्यते एकव्यञ्जनोधारणेन त्वल्पकाल इति, उच्यते—खरकालव्यतिरेकेण व्यञ्जनाणि कालान्तरं नाक्षिपन्तीति दर्शनाश्रयेणैतद्-  
३६ वानादरात् श्रुत्यभेद उच्यते । अन्ये तु व्यञ्जनानां कालभेदसिद्धत्वेन । अनेकोधारणे हि प्रयत्नस्य गौरव भवति । लौकिके तु प्रयोगे शुक्लाध-  
प्राप्नोति । अनुस्वारस्य खरत्वाभ्युपगम औदन्ता इत्यत्र औकारस्यान्ता इति समासपरिग्रहात् ते चानुस्वारविसर्गादय श्रुत्या एवेति स्पष्ट एव नकारानु-  
स्वारयोस्तत्र श्रुतिभेद । ननु ‘वर्णग्रहणे जातिग्रहणमिति द्वयोर्नकारयोरेकोऽनुस्वार आदेशो विधास्यते, नैतदस्ति, जाते कार्यासम्भवात् तदाधा-  
३९ राया व्यञ्चौ कार्यसम्भवात्, स्थानिभेदादनुस्वारादेशादयप्रसङ्गात् । किं च भ्रामिनि बहुवचनस्यान्यार्थत्वात् गुणत्वादेकत्वसङ्ख्याया विवक्षितत्वादेकस्यैव  
नकारस्यानुस्वार स्यात् न तु द्वयो । एव तर्हि व्यक्तिपदार्थाश्रयपूर्वविप्रतिषेधात् ध्रुवन्तलक्षणे नागम उदिलक्षण बाधते, सुवामित्यत्र “भूमौ म ”  
२।१।१६। इति भादेश “औरी” इतीत्ववदिति, पुन प्रसङ्गविज्ञान च जातिपक्षानभ्युपगमादत्र न भवति । यदप्युक्त्वा—अधति संभवे बाधनमिति,  
४२ तदपि न, सत्यपि सम्भवे बाधनोपपत्ते, यथा—दधि ब्राह्मणेभ्यो वीयताम् तत्र कौण्डिन्यायेति सत्यपि दधिदानस्य सभवे तत्र निवर्तक भवति, एव-  
मत्रापि । यद्यपि दृष्टान्ते सामान्यविशेषभावो बाधहेतुर्दाष्टान्तिके तु स्पष्टं परमेवेति नियमस्तथापि विनापि विरोधेन दृष्ट बाधकत्वमिति प्रदर्शनाय  
दृष्टान्तोपन्यास । यदप्युक्त्वा—श्रुतिकृतोऽपि भेदोऽस्ति, तत्र पूर्वनकारस्य श्रवण, सोऽप्यदोष—अयोग्यताहानामपि विशेषेणोपदेशात् शिदत्वात्  
४५ पूर्वस्याप्यनुस्वारो भवति । ततो द्वयोरनुस्वारयो श्रुति प्रति विशेषाभाव । कृपन्तीत्यत्रापि भ्रामिनि बहुवचनस्य व्यात्यर्थत्वात् पूर्वनकारस्य वर्गान्त्ये  
कृतेऽपरस्यापि वर्गान्त्य । नैव-वा उदिलक्षण प्राप्नोति, खरात् पर इति धुटां प्रागिति च तत्राश्रयते । न च द्वयोर्नकारयोरेकत्वपेक्ष परत्वं  
सभवति । पचति इत्यत्र तु शिति परत शब्दविधानाद् विकरणव्यवधानमाश्रितमेव । अथवा—इष्टसिद्धर्थे इति पूर्वविप्रतिषेधाश्रयणम् । इह च तदा-

पयांसि पश्य, उदक्षिन्ति, सर्पांसि, घनूंषि; अतिजरांसि कुलानि । धुटामिति बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थम्, तेन काष्ठतद्धि, गोरह्नि कुलानीति सिद्धम् । खरादित्येव ? गोमन्ति कुलानि । श्रावित्येव ? उदक्षिता ॥ ६६ ॥

लौ वा ॥ १ । ४ । ६७ ॥

रेफलकाराभ्यां परा या धुडजातिस्तदन्तस्य नपुंसकस्य धुटः प्राग् नोऽन्तो वा भवति, शौ परे । बहूर्जि, बहूर्जि; सर्जि, सर्जि; सुवल्कि, सुवल्कि । लं इति किम् ? काष्ठतद्धि, पूर्वेण नित्यमेव । धुटामित्येव ? सुफुलि वनानि । श्रावित्येव ? बहूर्जा कुलेन ॥ ६७ ॥

धुटि ॥ १ । ४ । ६८ ॥

अधिकारोऽयम्, निमित्तविशेषोपादानमन्तरेणाऽऽपादपरिसमाप्त्यैर्कार्यं वक्ष्यते, तद् धुटि वेदितव्यम् ॥ ६८ ॥

श्रयणादिनिष्ठापत्ते परविप्रतिषेधाद्दुदिलक्षण एव भवति । अतिजरांसि इति । जरागतिक्रान्तानि कुलानीति “क्लोवे” इति ह्रस्वत्वे, “नपुमकस्य श्रि” इति जस शसो वा श्यादेशे जरसा कुण्डानीत्यत्र तयो सावकाशत्वाद्भुजप्रसौ नौगम चाधित्वा परत्वात् जरस् भवति, अत्र हि अतिजर इ इति स्थिते यदि पूर्व नागम स्यात् स च प्रकृतिमज इति प्रकृतिमेव न व्यवध्यात्, अथवयस्य तु जराशब्दस्य व्यवधायक इति निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति स्यात्साक्षिनामाधिकारे सत्यपि तदन्तग्रहणे जरान्ताया प्रकृतेर्योऽवयवो जराशब्दस्वस्य विभक्तौ जरसादेशो विधीयमानो १२ न प्राप्नोति । अथापि स्वात्तयापि सकारात् परस्य नकारस्य श्रवणं स्यात्, तस्मात् परत्वात् पूर्व जरसादेश एष्टव्य, तस्मिन्कृते धुडन्तलक्षणो नाऽऽगम । अथेह लृक् कस्मात् न भवति ? अतिजरस्य पश्येति, अतिजर अम् इति स्थिते ‘एकदेशविक्रान्तस्यानन्त्यत्वात्’ जरशब्दस्य जरसि कृते “अनतो लृप्” इति लृप्प्राप्नोति । ननु अतिजरशब्दस्यादन्तत्वात् “अत स्योऽम्” इत्यम्यावेन लृक्वाधिता कथं प्राप्नोति ? अनत इत्यनुवाद- १५ कमित्युक्त्वात्, नैतदस्ति, नात्राम्भाव प्रवृत्त परत्वात् नित्यत्वाच्च जरसादेशेन वाधितत्वाच्चरसादेशे च कृतेऽनकारान्तत्वाद्भावप्रसङ्गात् लृप्प्राप्तिश्चोच्यते । ननु किमर्थम एव लृप् चोच्यते ? न हि सेर्जेरभाव प्राप्नोति, खर इत्युक्तेरिति । या पूर्व लृक्प्राप्ति सापवादेन वाधयते, कृते तु जरस्वावे संनिपातपरिभाषया, तथाहि—खरादिसंनिपातेन जरस्वाभो निष्पन्नो नोरसहते खराद्यानन्तर्षे विहन्तुम् । यथेवमतिजरसमतिजरसैरिति १८ अप्राप्ति, अतिजरमतिजररिति भाव्यम्, तथाहि—सेर्मसथाकारान्तसंनिपातेन खरादिरादेशोऽकारान्तविधातिन जरसादेश प्रत्यनिमित्त स्यात् संनिपातपरिभाषयात् । अतिजरस्य पश्येत्तु नानकारान्तसंनिपातकृत खरादित्वमिति भवत्येव जरसादेश, स च खरादिसंनिपातनिमित्तत्वाद्-मोक्ष्य प्रति अनिमित्तमिति लृभभाव उच्यते । युक्तमेवैतत्, यद्वाच्यम्—‘इष्टमेवैतत् गोवर्दीयस्येति’ तदा तु “जरसो वा” इति सूत्रं नारच्यव्यमेवेति । २१ धुडजातिराश्रीयते न व्यतिरिक्ति किं सम्प्रदायनात्रसुत किञ्चिन्नियन्धनमस्तीत्याह—धुटामित्यादि । काष्ठपूर्वात्तद्गणोते किपि जस शसो वा श्यादेशेऽनेन नागमे “त्रां०” इति वर्गान्ये—काष्ठतद्धि इत्यादि । गोमन्ति इति । “ऋदुदित ” इति परत्वात् नागमेऽनेन नोन्तो न भवति ॥ ६६ ॥

लौ वा । धुटा प्राक् इति नपुंसकस्येति नोऽन्त इति चानुवर्तते । सामान्यनिर्देशेऽपि पञ्चम्येव विज्ञायत इत्याह—रेफलकाराभ्यां- २४ मिति । बहूर्जि, बहूर्जि इति । बहव उर्जां येष्विति जस शसो वा “नपुंसकस्य०” इति श्यादेशेऽनेन रेफात् नाऽऽगमे “त्रां०” इति वर्गान्य । सुधु वलन्तीति किपि पूर्वैव—सुवल्कि, सुवल्कि इति । बहूर्जिरेवेच्छन्त्येन । काष्ठतद्धि इति । लौ इति वचनात् पाक्षिकनागमाभावे केन नोऽन्त इत्याह—पूर्वेणेत्यादि । सुफुलि इति । अन्तस्थालकारस्य धुटत्वाभावादेन न पाक्षिको नाऽऽगम ॥ ६७ ॥ २७

धुटि । नपुंसकस्य धुटि परतो नोऽन्तो भवति इति विधिवेव कस्मात् न भवति ? उच्यते—नपुंसकस्य शिमन्तरेणान्यस्य धुटत्वाभावात्, तत्र च “खराच्छौ” इत्यादिभिर्नागमस्य विहितत्वात् पारिशेष्यादधिकारोऽयमित्याह—अधिकारोऽयमित्यादि । आपादपरिसमाप्तेरिति । पादपरिसमाप्तिं श्रावित्यर्थ, अत्र हेतुमाह—निमित्तविशेषोपादानमन्तरेणेति । अधिकारप्रहणं कर्तव्यम्, अधिकारान्दक्ष कर्तव्याधनो ३० भावसाधनो वा, विनियोगो हि लोकेऽधिकार उच्यते स एवैह गृह्यते, अधिकार कियते प्रतियोग तस्यानिर्देशार्थं—योगे योगे तस्य प्रहणं मा कार्यमिति एतदर्थम् । किमयमर्थोऽधिकारश्चन्देन परिग्रहीत ? परिग्रहीत इति ब्रूम, कुत ? लोकत, लोके अधिकृतोऽसौ प्राप्तेऽधिकृतोऽसौ नचरे इत्युच्यते यो यत्र व्यापारं गच्छति । शब्देन चाप्यधिकृतेन कोऽन्यो व्यापार शक्योऽवगन्तुमन्यदतो योगे योग उपस्थानात्, न हि परिस्पन्द- ३३ रूप शब्दस्य व्यापारोऽस्ति । न कर्तव्यम्, वचनरहितात् लोकव्यवहारोदेव एतत्साध्यस्यार्थस्य सिद्धत्वात् । लोके हि निर्दिश्यमानमधिकृत गम्यते, तथाया—देवदत्ताय गौर्दीयतां यत्तदत्ताय विष्णुमित्रायेति गौरिति गम्यते, अत्र हि सम्प्रदानविभक्त्या सञ्ज्ञिता गोकर्माद्वा ददाति क्रियापे-श्यते, अश्रुतकल्पनाया श्रुताऽपेक्षणस्य ज्ञापनात् । एवमिहापि “अच ” धुटि इति “ऋदुदित ” इत्यादावाकाङ्क्षादिवशात् प्रकृतस्य सम्बन्धो ३६ भविष्यति नाऽऽप्रकृतस्य, उच्यते—अन्यनिर्देशो निवर्तकस्त्रसादधिकार । लोके अन्त्यस्य निर्देशो निवर्तको भवति, तथाया—देवदत्ताय गौर्दीयताम्, यत्तदत्ताय कम्बलो विष्णुमित्राय चेति कम्बलो गोर्निवर्तको भवति । ऋग्मिहापि “अनद्धह सौ” इति सिद्धेो निवर्तक स्यादिति अधिकारवचनम् । ननु तत्रापि अधिकारे परिमाणेन ज्ञायते कियन्तमवधिमधिकाराऽनुवर्तत इति, तस्मादनुवन्धोऽपि कश्चिदासजनीय । यावत्तयोऽनुवन्ध- ३९ स्वावतो योगानिति वक्ष्यम्, यावत्तयो वर्णोऽनुवन्ध्यते तावतो योगानधिकारोऽनुवर्तत इति । अथेदानीं यत्रालपीयांसो वर्णा भूयांसश्च योगा-स्त्रत्र किं कर्तव्यम् ? भूयसि प्राग्वचनं कर्तव्यम् प्रागमुत इति । एतदपि न वक्ष्यम्, सन्देहमात्रमेतद्भवति, सर्वेऽन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते—व्याख्या-नतो विशेषप्रतिपत्तौर्हि सन्देहादलक्षणमिति प्रागमुत इति व्याख्यास्याम । अथेव नार्थोऽनेन, केनेदानीमधिकारो भविष्यति ? लौकिकोऽधि- ४२ कार इति । ननु चोक्तम्, अन्यनिर्देशो निवर्तक इति । सन्देहमात्रमेतद्भवति, सन्देहे च व्याख्यास्याम—दृष्टानुवृत्तिकत्वात् धुडनुवर्तते न सिरिति । किं चाचार्याचार्याच गौरीयमाचार्यस्य यत्र पृथगधिकारस्त्रत्र त करोति । तत्र विशेषेऽधिकार सम्बन्धते, पदान्तं चानुवर्तते, यथाऽयमेव धुटित्यधिकार इति । यत्र तूर्थमप्यनुवर्तते तत्रावधि निर्दिशति, यथा “प्राग्जिनादप्य” ६।१।१३ । यस्तु सर्वत्रानुवर्तते तत्र पृथगिर्निर्दिशति, ४५ “एतेन पदान्तेऽस्य लृक्” इति पदान्ताधिकार इति, तत्र निश्चयौ यतते “खरेभ्य” इति, अत्र बहुवचनस्य व्यास्यर्थत्वाद्दुसरत्रानुवर्तते । “सो नवैतां” इति सत्यपि “शषसे शषसं ना” इति वा प्रहणम्, “वायात्” ६।१।११ इति सत्यपि “नित्य चथिनोऽण्” ७।३।५८ इति नित्यप्रहणम् इति ॥ ६८ ॥



अचः ॥ १ । ४ । ६९ ॥

अश्वतेर्धातोर्धुडन्तस्य तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा घुटि परे घुटः प्राप्नोऽन्तो भवति । प्राङ्, अतिप्राङ्, प्राश्चौ, २ प्राश्चः, प्राश्चम्; प्राश्चि कुलानि । घुटीत्येव ? प्राचः पश्य ॥ ६९ ॥

ऋदुदितः ॥ १ । ४ । ७० ॥

ऋदित उदितश्च धुडन्तस्य तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा घुटि परे घुटः प्राक् खरात् परो नोऽन्तो भवति । (ऋदितः-) ६ कुर्वन्, अधीयन्, महान्; सुदन् षालः । उदितः-चक्रिवान्, विद्वान्, गोमान्; श्रेयान् । घुटीत्येव ? गोमता । धृग्ययोगो भ्वादिभ्युदासार्थः-समाद् ॥ ७० ॥

युज्जोऽसमासे ॥ १ । ४ । ७१ ॥

५ 'युज्जुपी योगे, इत्यस्यासमासे धुडन्तस्य घुटः प्राक् घुटि परे नोऽन्तो भवति । युङ्, युञ्चौ, युञ्जः, युञ्जम्, युञ्जि कुलानि, ईपदपरिसमाप्तौ युङ्-बहुयुङ्, बहुयुञ्चौ, बहुयुञ्जः । असमास इति किम् ? अश्वयुक्, अश्वयुजौ, अश्वयुजः । ऋदिन्निर्देशः किम् ? 'युजिच्' समाधावित्यस्य भा भूत्-युजमापन्ना मुनयः, समाधि प्राप्ता इत्यर्थः । घुटीत्येव ? युजः पश्य, १२ युजी कुले ॥ ७१ ॥

अनडुहः सौ ॥ १ । ४ । ७२ ॥

अनडुहश्चब्दस्य धुडन्तस्य तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा सौ परे घुटः प्राक् नोऽन्तो भवति । अनड्वान्, प्रियान- १५ ड्वान्, हे अनड्वन् !, हे प्रियानड्वन् ! । साविति किम् ? अनड्वहौ ॥ ७२ ॥

अचः । अत्र खरात् इति घुटां प्राक् इति नोऽन्त इति चानुवर्तते । घुटीत्यधिक्यते । अचो घुटो घुटि घुटः प्राप्नोऽन्त इत्यन्वयः । खरादिति घुटां प्रागिति चानुवर्तनात् सनकारस्यायत्ते प्राप्तेरभावात् लपनकारस्य निर्देश इत्याह-अञ्चतेरिति । अच इति नोऽन्त इत्यस्य विशेष- १८ णात् घुट परत्वमात्रमेव विज्ञायते इत्याह-तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि चेति । प्राचतीति विग्रहे तस्मात् किपि, "अचोऽनर्चोयाम्" ४।२।४६। इति नलोपे, "क्षीर्षणाम्" इति सिलोपेऽनेन नागमे, "पदस्य" इति चकारलोपे, "युजश्चक्रुभो नो ङ" २।१।७१। इति ङकारे-प्राङ् इति । अन्यसंबन्धिनि घुटि उदाहरति-अतिप्राङ् इति । प्राश्चि कुलानीति । शेषुदत्त्वादेतद्गुदाहरणप्रदर्शनम् । प्राचः पश्येति । शसो घुदत्त्वा- २१ भावादानेन नोऽन्तो न भवति ॥ ६९ ॥

ऋदुदितः । खरात् इति घुटां प्राक् इति नोऽन्त इति घुटीति च वर्तते । इत इति द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रत्येक संबन्धये, तदाह-ऋदित उदितश्चेति । ऋद्व इव येयान्त इति, उद्व इव येयान्त इति चार्थः । ऋदित उदाहरति-कुर्वन्भित्यादिना । सुदन् षाल इति । गोमना दन्ता असेति "वयसि दन्तस्य दत्" ७।३।१५। इति दन्त्रादेशस्य ऋदित्वादानेन नागमे संयोगान्तलोपे सति रूपम् । चक्रिवान् इति । फरोते क्वचोऽदित्त्वात् द्विवचनान्तौ कृते सावनेन नाऽऽगमः । एवमन्यदपि । गोमता इति । अत्रोदित्त्वेऽपि घुदपरत्वाभावात् नोऽन्तो न भवति । अथ उदितो घातो "उदित खरात्" इत्युपदेशावस्थायामेव नाऽऽगमविधानात् कृते च नाऽऽगमे "घुटां प्राक्" इत्यनुवर्तनादानेन २७ नाऽऽगमाभावः, ऋदितस्तु कस्मात् न भवतीत्याह-पृथग्योग इत्यादि । अयमभिप्रायः-"उदित खरात्नोऽन्त" इत्यत्र षालधिकारात् भ्वादेरुदित "उदित खरात्नोऽन्त" इत्यनेनैव सिद्धत्वात्, अत्र उदित पृथगारम्भादुदितोऽभ्वादेरेव तस्याहर्चार्थदितोऽपि भ्वादेरेवेति नियमात् समाद इत्यादौ न भवति ॥ ७० ॥

३० युज्जोऽसमासे । घुटां प्राक् इति नोऽन्त इति घुटीति च वर्तते, युज्जो घुटां घुटि घुट प्राक् नोऽन्त इत्यन्वयः । युञ्ज इत्यस्यार्थ- माह-"युज्जुपीयोगे, इत्यस्येति । युञ्ज इत्यनेन स्थायाक्षिप्तस्य नाम्नो विशेषणात्तत्र च तदन्तविधेर्भावात् समासेऽपि प्राप्तेरित्यसमास इति प्रतिषेधोऽर्थवानिति, अयमेव च समासप्रतिषेधो ज्ञापयत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरस्तीति । युङ् इति । युनक्तं किपि, सौ, तल्लोपेऽनेन नाऽऽगमे, ३१ संयोगान्तलोपे तस्य "युजश्च" इति ङकारे रूपम् । अश्वयुजिति । अश्व युनज्जीति किपि "ङ्स्युकम्" ३।१।७१। इति समास, अत्रासमास इति वचनात् न भवति । युञ्ज इति ऋकारोऽनुबन्ध किमर्थ ? युजोऽसमासे इत्युच्यमाने सिद्धत्वेवेत्याह-ऋदिदित्यादि । युजमापन्ना मुनय इति । युजे "कृत्संपदादिभ्यः किप्" ५।३।१५। इति किप् । युजः पश्येति । अत्र शस घुदत्वाभावात् तस्मिन् परे नोऽन्तो न भवति । ३२ युजी कुले इति । ऋदि जत्सासादेशस्य शोरेव घुदत्त्वात्तत्र प्रथमाद्वितीयाद्विचचनौकारे नोऽन्तो न भवति ॥ ७१ ॥

अनडुहः सौ । अत्र घुटां प्राक् इति नोऽन्त इति चानुवर्तते । साविति निमित्तविशेषणोपादानात् घुटीति नाधिक्यते । अनडुह घुट- ३३ सौ घुट एव नोऽन्त इत्यन्वयस्तदाह-अनडुहश्चब्दस्येत्यादि । अनड्वान् इति । "अनसो घट्टे" ८० १००६। इति किपि सकारस्य ङकारे, "अजादिवचः" इति य्कृति, सौ, तल्लुकि, "वा शोपे" इति वाऽऽदेशेऽनेन नागमे, "पदस्य" इति संयोगान्तलोपः । प्रियानड्वान् इति । प्रिया अनड्वहो यस्येतेकत्वे "पुननड्वहौ" ७।३।१५। इति कच्चप्रसङ्गात् षड्दत्त्वेन विग्रहे पूर्ववत् स्यादौ रूपमेतत् । हे अनड्वन् ! इति । आश्वयसौ "उतोऽनडुहचरो वः" १।४।८। इति षत्वे शेष पूर्ववत् । अनड्वहौ इति । अत्र सौ परेऽभावात् न नोऽन्त । नन्वनडुहो इत्यत्र "नामप्रदेषे ३४ किञ्चिद्विशिष्टस्यापीति भ्यामेनात्र क्रीत्वविशिष्टस्यापि तस्य प्रदण्णात् नाऽऽगम कथं न भवति ? इति चेन्न, घुट इत्यनुवर्तनात् घुदन्तत्वाभावेन नाऽऽगमाभावात् । अनड्वान् इत्यत्र "असृष्टसंस्कृतसङ्ग्रहो" ३।१।६८। इति ङकारस्तु प्राप्नो विधानसामर्थ्यात् न भवति ॥ ७२ ॥

पुंसोः पुमन् ॥ १ । ४ । ७३ ॥

पुंसु इत्येतस्योदितस्तत्संबन्धिन्वयसंबन्धिनि वा घुटि परे पुमन् इत्ययमादेशो भवति । पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः, पुमांसम्; ईषदूनः पुमान् बहुपुमान्, प्रियपुमान्, प्रियपुमांसि कुलानि, हे पुमन् । घुटीत्येव ? पुंसः पश्य, बहुपुंसी ४ कुले । पुंसोरुदित्वात् प्रियपुंस्तरा, प्रियपुंस्तरा, प्रियपुंसीतरेत्यादौ ङीहस्वपुंवद्विकल्पश्च भवति ॥ ७३ ॥

ओत औः ॥ १ । ४ । ७४ ॥

ओकारस्य ओत एव विहिते घुटि परे ओकार आदेशो भवति । गौः, गावौ, गावः; घौः, घावौ, घावः; ४ लुनातीति विच्-लौः, शोभनो गौः सुगौः; एवमतिगौः, प्रियघावौ, अतिघावौ; हे गौः ! हे घौः ! किगौः, अगौः । ओत इति किम् ? चित्रा गौर्यस्य चित्रगुः, चित्रगू, विहितविशेषणादिह न भवति-हे चित्रगवः । घुटीत्येव ? गवा, घवा ॥ ७४ ॥

आ अमशसोऽता ॥ १ । ४ । ७५ ॥

ओकारस्यामशसोरकारेण सह आकारो भवति । गाम्, सुगाम्, गाः, सुगाः पश्य; घाम्, अतिघाम्, घाः, सुघाः पश्य । स्यादावित्येव ? अचिनवम् ॥ ७५ ॥

पथिन्मथिन्नुभक्षः सौ ॥ १ । ४ । ७६ ॥

पथिन् मथिन् ऋमुक्षिन् इत्येतेषां नकारान्तानामन्तस्य सौ परे आकारो भवति । पन्थाः, हे पन्थाः !, मन्याः, हे मन्याः ! । ऋमुक्षाः, हे ऋमुक्षाः !, अमन्थाः, सुमन्थाः, बहुऋमुक्षाः । साविति किम् ? पन्थानौ । कथं हे सुपथिन् !, १२

पुंसोः पुमन् । अत्र घुटीत्यधिक्रियते । पुंसो घुटि पुमन् इत्यन्वयस्तदाह—पुंसु इत्येतस्येत्यादि । पुमान् इति । “पाते-१५ इन्मु ” उणा० १००२। इति इन्मु अन्त्यस्वरादिलोपे सावनेन पुमन् आदेशे “न्सहतो” इति वीर्षत्वे “पदस्य” इति संयोगान्तलोप । बहुपुमान् इति । “नात्र प्राप्तबहुर्वो” इति बहु । एकत्वे “पुमनङ्गौ” इति कच्प्रसङ्गात् प्रिया. पुमासो यस्येति बहुत्वेन विग्रहे-प्रिय-पुमानित्यादि । हे पुमन् ! इति । अत्रानेन पुमन् आदेशे संयोगान्तलोपादौ आपन्नस्य शेषघुदत्वाभावात् “नि वीर्ष” इति वीर्षो न भवति । १८ पुंसः पश्येत्यादि । शसो नपुसकप्रथमाद्वितीयाद्विचनस्य च घुदत्वाभावादादेशो न भवति । प्रकृतेरुदित्वात् प्रिया पुमासो यस्या इति “अधा-तुदित” २।४।२। इति धी, सैव च प्रकृष्टा इति “द्वयोर्विभज्ये च तरप्” ७।३।६। इति तरप्यापि च “ऋदुदित्तरतम” ३।२।६। इति हस्व-पुंवद्विकल्पो भवतीत्याह—पुंसोरुदित्वादित्यादि । ङीहस्वपुंवद्विकल्पश्चेति । श्रीरिण्य हस्वत्त्वपुवत्वयोश्च विकल्प इति भावः ॥ ७३ ॥ २१

ओत औः । घुटीति वर्तते । ओतो घुटि औरिण्यन्वयस्तदाह—ओकारस्येत्यादि । गौः इति । गोशब्दोकारस्योकारान्तात् तस्माद्वि-हिते घुटि सौ अनेन ओकार, क्वविद्यमानिति भावः । गावौ, गावः इति । गो औ इति, गो अस् इत्यवस्थायामनेनोकारे आवादेशो यथाचमवं सत्विसर्गौ । एवमन्यदपि । सुगौः, अतिगौः इति । “सु पूजायाम्” ३।१।४। इति “अतिरतिक्रमे च ३।१।४। इति च समास । २४ “गोस्त्वस्युक्त्वात्” ७।३।१०। इति प्राप्त समासान्तो न, “पूजा स्वते ०” ७।३।७। इति निषेधात् । किंगौः, अगौः इति । कुत्सितो गौरिति “किं क्षेपे” ३।१।११०। इति समास, तेन सूत्रेण समासान्तस्तु “न किम् क्षेपे” ७।३।७०। इति निषेधात् न भवति । एव न गौरगौरित्यत्र “नन्-तस्युक्त्वात्” ७।३।७। इति निषेधात् न भवति । चित्रगुरिति । अत्र परत्वात् पूर्व ह्रस्वत्वे कृते पश्चाद् घुटि ओकारभावात् ओत इति वचनादौ-२७ कारो न भवति, वर्णविधित्वाच्च स्थानिवद्भावे नास्ति । विहितविशेषणादिति । ओकाराद् विहिते घुटीत्येवमोत इत्येतद्विहितविशेषणसमाश्रय-णादित्यर्थः । हे चित्रगव ! इति । अत्र “जस्येदोत्” इत्योत्त्वे विहितविशेषणादौकारविधानसामर्थ्यात् चोत्त्वाभावादवादेशः । हे चित्रगो ! इत्यत्र ओकारस्य विद्यमानत्वेऽपि सेरभावात् लक्षणिकत्वात् वा न भवति ॥ ७४ ॥ ३०

आ अमशसोऽता । ओत इत्यनुवर्तते, ओत अमशस अता आकार इत्यन्वयः । अमशस इति षष्ठ्यन्तमता इत्यस्य विशेषणमि-त्याह—अमशसोरकारेणेति । गाम् इति । गोशब्दस्योकारस्यामोऽकारेण सहानेनाऽऽकारः । एवमन्यत्रापि । स्याद्यधिकारात् स्यादिसम्बन्धिन् एवामो प्रहणत् स्यामो प्रहण न भवतीत्याह—स्यादावित्येवेत्यादि । अचिनवम् इति । अत्र आदौ “समानादमोत” इत्यमोऽकारस्यापि इह लुप्त भवति, तत्रापि स्याद्यधिकारात् । नन्वत्र अता इत्यभावे “समानानाम्” इति वीर्षणैव गा इत्यादिसिद्धावपि तद्विना पुङ्क्तिं बीळिङ्गे च “शसोऽता” इति “लुगता” इति च प्रवर्तयताम्, ततश्च गान्, ग इत्याद्यनिष्ठ स्यात् । तत्सत्त्वे तु “शसोऽता” इति वीर्षचनियोग एव नकारस्य विधीयमानत्वाददोषः ॥ ७५ ॥

पथिन्मथिन्नुभक्षः सौ । अत्र वा इत्यनुवर्तते, पथिन्मथिन्नुभक्ष सौ वा इत्यन्वयः । समाहारद्वन्द्वात् षष्ठीति समाहारेण समाहार्युप-लक्षणमित्याह—पथिन्मथिन् इत्यादि । पथिन् इत्यादीनां नकारान्तानां सूत्रे समुपादानात् “षष्ठा अन्त्यस्य” इति न्यायाच्चाह—नकारान्ता-नामन्तस्येति । पन्थाः इत्यादि । “पथे” गतो, “मन्थश्” विलोढने इत्याभ्यां “पथिन्मथिन्भ्याम्” उणा० १२६। इति क्तिन्प्रत्यये-पथिन्, ६९ मथिन्, “अतेशुंक्षिन्” उणा० १२८। इति “ऋक्” गतो, घातोर्गुक्षिन्कि-ऋमुक्षिन् । एभ्य सौ “थो न्यु” इति न्याऽऽदेशे, “ए” इतीकार-स्याकारेऽनेन नकारस्याकारे, “समानानाम्” इति वीर्षादेशे च सिध्यति । बहुऋमुक्षा इति । “ऋद्विति ह्रस्वो वा” इति ० ह्रस्व, श्रीत्वाभावात् “इन् कच्” ७।३।१००। इति कच् न भवति । पन्थानौ इति । अत्र सेरभावात् नाऽऽत्वम् । कथमिति । हे सुपथिन् ! इत्यादौ “नामज्ये” इति नलो-४२ पस्य प्रतिषेधात् ऋत्वे च “ऋत्वे वा” इत्यनेन पाक्षिकत्वात् नकारान्तत्वाद्नेनाऽऽकार कलाञ्ज भवतीति षड्द्वयम् । समापत्ते—अत्रेत्यादि । अयमर्थः—कृताकृतप्रसङ्गित्वेन “अनतो ल्यु” इति आकारात् पूर्व सेल्लेभत्वात् “ल्युप्यप्युल्लेनत्” ७।३।११२। इति स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधात् सेर-

हे सुपथि कुल !, हे सुमथिन् !, हे सुमथि कुल !-अत्र नित्यत्वात् न पुंसकलक्षणयाः सेर्लुपि सेरभावात् न भवति । नकारान्तनिर्देशादिह न भवति-पन्थानमिच्छति क्यनि, नलोपे, क्विपि च-पथीः, एवं मथीः, ऋमुक्षीः ॥ ७६ ॥

एः ॥ १ । ४ । ७७ ॥

पथ्यादीनां नकारान्तानामिकारस्य घुटि परे आकारो भवति । पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ; मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ; ऋमुक्षाः, ऋमुक्षाणौ, ऋमुक्षाणः, ऋमुक्षाणम्, ऋमुक्षाणौ; सुपन्थानि वनानि-“पूजास्वतेः प्राक् टात्” ॥ ७ । ३ । ७२ ॥ इति समासान्तप्रतिषेधः, बहुमन्थानि कुलानि, अनुमुक्षाणि वलानि, सुपन्थानौ, परमन्थानौ । नकारान्तनिर्देशादेरभावात् चेह न भवति-पन्थानमिच्छति क्यन्, क्विप्-पथ्यौ, पथ्यः, पथ्यम् । घुटीत्येव ? सुपथी वने, पथिम्याम्, सुमथी कुले, मथिम्याम् ॥ ७७ ॥

थो न्थ् ॥ १ । ४ । ७८ ॥

पथिन् मथिन् इत्येतयोर्नकारान्तयोश्चकारस्य स्थाने घुटि परे न्थ् इत्ययमादेशो भवति । तथैवोदाहृतम् । घुटी-त्येव ? सुपथी, बहुपथी कुले, पथः पथ्य ॥ ७८ ॥

इन् डीस्वरे लुक् ॥ १ । ४ । ७९ ॥

पथ्यादीनां नकारान्तानां डीप्रत्यये अघुदस्वरादौ च स्यादौ परे इन् अवयवो लुक् भवति । सुपथी स्त्री कुले वा,

भावात् सौ विधीयमान आकारो न भवति । नकारान्तनिर्देशादिति । पन्थानमिच्छति “अमाव्याया०” इति क्यनि नलोपे धीर्धले पथीयते क्विपि, १५ “अत” ४।३।८२। इत्यलोपे, “ध्वो ष्व्य०” इति यलोपे-पथी, नकारान्तनिर्देशादनकारान्तत्वात् नेह भवतीत्यर्थः । सुखाकरस्तु अकारलोपस्य स्थानियद्भावाद् व्यवधानादनर्थकत्वात् न भवतीति मन्यते । येन ध्येनार्थवान् पथिशब्दो लोके न तेन पथी । व्याकरणे “रूपं रूपवर्धोऽप्यङ्गीक्रियते” इति स्व रूपमित्यत्र रूपावधारणसमये परिमदीप्यते । न च तस्य क्यप्रथं चमवी, पथिन् इत्येतस्यातदर्थत्वात् । अत एवोच्यते-अर्थान्तरसकमितो- १८ ऽनर्थकानभिधो । तदा तु नकारान्तनिर्देशात् पथिन्शब्दस्यार्थवतो प्रहणानदनकारान्तस्य पथीत्येतस्य तदर्थभावेऽनर्थकत्वात् न भवतीति व्याख्यायते । पन्था इत्यादौ सानुनासिकस्याप्यादेशो भवन् “लि लौ” इत्यत्र द्विवचनेनैव शापितत्वात् शुद्धस्योच्चारणात् वा निरनुनासिक एव भवति । पथीरित्यत्र “धीर्घञि०” इति परे कार्ये “नान्नो नो०” इत्यसत्त्वं न वाच्यम्, “रात् स” इति यावदसत्पर इत्यधिकृतत्वेन तस्मात् परत्र वर्तमाने “नान्नो नो०” २१ इत्यत्र तदनधिकाराददोषः । नन्वेन आत्वरूपे स्यादिविधौ विधातव्ये नलोपस्यासिद्धत्वात् नान्तत्वमस्ति, न च वाच्यम् “अत” इत्यल्लुक् “स्वरस्य परे०” इति स्थानियद्भावेन नान्तत्वानुपपत्तिरिति, यत -प्रत्यासत्तोर्यमित्यो लुक् विधिरपि यदि तन्निमित्तो भवतीति व्याख्यानात् । अत्र तु अस्य लुक् क्विपि, आत्वं तु सौ प्रत्यये प्राप्नोतीति कृत्वात्र नान्तत्वमस्त्विति प्राप्नोत्यात्वम्, घल्यम्, नान्तेति व्यावृत्तिबलादेव न भवति, अन्यथा यत्र २४ कुत्रापि नलोपस्तत्र सर्वत्राप्यमीषा पथ्यादीनामनेनात्वलक्षणं स्यादिविधौ कर्तव्ये “णवमसत् परे०” इति न्यायेन नलोपस्यासिद्धत्वे नान्तत्वसद्भावादेनेनाऽऽत्व भवेदेवेति अत्र सूत्रे नान्तनिर्देशोऽनर्थकः स्यात् । तस्मात्तत्र साक्षात्नान्तत्वमनीषां भवति तत्रैव प्रवर्ततेऽन्यत्र तु व्यावृत्तिरिति धर्षं समीचीनम् । एव तर्हि “धीर्घञ्यात्०” इति सूत्रेण सेर्लुक् कस्मात् न भवति ? यतोऽयमपि स्यादिविधिः, स्यादिविधौ च नलोपोऽसत् भवतीति, २७ सत्यम्, “धीर्घञ्यात्०” इत्यत्र सावधारण व्याख्येयम्-व्यञ्जानन्तादेव यदि सिर्भवतीति, विहितविशेषणाद् वा, -यत्र एभ्य पर सिर्षिहितो भवति तत्र लृप् भवति, अत्र त्वीकारान्ताद् विहितो न व्यञ्जानन्तात् इति । एव तर्हि या सा इत्येषमादिषु च सेर्लुक् न प्राप्नोति, सत्यम्, यत्रैतेषां मध्यादेकस्माद् विहितो भवति, कार्यान्तरेषु च कृतेष्वेतषामेव मध्येऽन्यतमस्मात् परो भवति तत्रापि भवति, तेनानयो प्रयोगयोर्व्यञ्जानन्तात् परो ३० विहित कार्यान्तरेषु च सत्सु विद्यते आबन्तादिति सेर्लुक् भवत्येव । य स इत्यनयोस्तु व्यञ्जानन्तात् विहितोऽस्ति परे “आद्वे.” इत्यादिकार्येषु कृतेषु सत्सु पश्चादमीषां मध्यादेकस्मादपि परो नास्तीति न सेर्लुक् ॥ ७६ ॥

एः । अत्र पथिन्मथिन्मुक्ष इति आ इति चानुवर्तते, घुटीत्यधिक्रियते, पथिन्मथिन्मुक्ष ए घुटि आ इत्यन्वयस्त्वादाह-पथ्यादीना-

३३ मिति । पथ्यादीनामेकारस्यसंभवात् एरिति इकारात् पथीत्याह-इकारस्येति । पन्थानौ इत्यादि । पथिन् औ इति स्थितेऽनेनात्वे न्यादेशे “नि धीर्घे” इति धीर्घे च रूपम् । एव पन्थान इत्यादि । सुपन्थानि वनानि इति । सु-शोभन पन्था येष्विति विग्रहे जसि रूपम्, अत्र “ऋक्पू०” इति समासान्तो न भवतीत्याह-“पूजास्वते.” इत्यादि । बहुमन्थानि-बहुवो मन्थानो येषु तानीति विग्रहः । अनुमुक्षाणि ३४ बलानीति । अविशमान ऋमुक्षा स्वामी येषु तानीत्यर्थः । पथ्यौ इत्यादिषु इकारस्यत्वमनेन कथ न भवतीत्याह-नकारान्तनिर्देशा-देरभावादिति । सुपथी वने इति । सु-शोभन पन्था अनयोमिति विग्रहः । घुटीति वचनात् नपुंसकप्रथमाद्वितीयद्विवचने न भवत्यनेनकार-स्याऽऽकार । पथिम्याम् इति । नलोपे रूपम् ॥ ७७ ॥

३५ थो न्थ् । घुटि इत्यधिक्रियते । अकारस्याभावाद्दुष्प्रवृत्तौ पथिन्मथिन्मुक्षे भावादाह-पथिन् मथिन् इत्येतयोरित्यादि । अनेकवर्णत्वात् सर्वस्य प्राप्नो य इति स्थानियद्विशेषार्थमुभयनियुक्त्यर्थं च । उदाहरण तु पूर्वसुकमेवेत्याह-तथैवोदाहृतमिति ॥ ७८ ॥

इन् डीस्वरे लुक् । अत्र पथिन्मथिन्मुक्ष इत्यनुवर्तते, पथिन्मथिन्मुक्ष इन् लुक् डीस्वरे इत्यन्वयस्त्वादाह-पथ्यादीनामित्यादि । ४२ धीसाहचर्यात् अघुटीति स्वरे इत्यस्य विशेषण ज्ञेयम्, तर्हि स्यादन्तरेणापि प्राप्नोतीति न वाच्यम्, स्याधिकाराभ्रयणात् धीप्रहणस्य वैयर्थ्यप्रस-ङ्गात् । निमित्तविशेषानुपादाने घुटीत्यधिकारस्य निर्णोतत्वात् स्वर इति निमित्तविशेषोपादानात् घुटि च पथ्यादीनामिनो विशेषविधिविपयत्वाद्दुदस्वर एवेत्यवसीयते इत्याह-अघुदस्वरादाविति । धीप्रत्यये समुदाहरति-सुपथी स्त्री कुले वा इति । सु-शोभन पन्था यस्या ययोर्वेति विग्रहः । ४५ “ऋक्पू० पथ्योऽत्” ७।३।७६। इति समासान्तस्य “पूजास्वते०” इति प्रतिषेधात्, सणादीनामनुपपन्नस्यसाध्रयणादिघनत्वाभावात् “इन्

पयः, पथा, पथे, पथः २, पथोः २, पथाम्, पथि, एवं सुमथी स्त्री कुले वा, मथः, मथा; अनृमुक्षी सेना कुले वा, ऋमुक्षः, ऋमुक्षा । अमेदनिर्देशः सर्वाऽऽदेशार्थः ॥ ७९ ॥

**वोशनसो नश्चामन्त्रे सौ ॥ १ । ४ । ८० ॥**

३

आमन्त्रेऽर्थे वर्तमानस्योशनसशब्दस्य सौ परे नकारो लुक् चान्तादेशौ वा भवतः । हे उशनन् !, हे उशन !; पक्षे-हे उशनः !, आमन्त्र्य इति किम् ? उशना । साविति किम् ? हे उशनसौ ! ॥ ८० ॥

**उतोऽनडुच्चतुरो वः ॥ १ । ४ । ८१ ॥**

६

अनडुह् चतुर इत्येतयोरामन्त्रेऽर्थे वर्तमानयोस्कारस्य सौ परे व इति सस्वरवकाराऽऽदेशो भवति । हे अनडुन् !, हे प्रियानडुन् !, हे अतिचत्वः !, हे प्रियचत्वः ! । आमन्त्र्य इत्येव ? अनडुन्, प्रियचत्वाः । सावित्येव ? हे अनडुहौ !, हे प्रियचत्वारः ! ॥ ८१ ॥

९

**वाः शेषे ॥ १ । ४ । ८२ ॥**

आमन्त्र्यार्थविहितात् सेरन्यो घुद् ईह शेषः, तस्मिन् परेऽनडुह्चतुरित्येतयोस्कारस्य वा इत्याकारान्तो वकार आदेशो भवति । अनडुन्, अनडुहौ, अनडुहः, अनडुहम्, अनडुहौ, प्रियानडुहौ कुलानि, प्रियचत्वाः, प्रियचत्वारौ, प्रियचत्वारः, १२ प्रियचत्वारम्, प्रियचत्वारौ; चत्वारि, चत्वारः । शेष इति किम् ? हे प्रियानडुन् !, हे प्रियचत्वः ! । घुटीत्येव ? अनडुहः पश्य, चतुरः पश्य । प्रियानडुही कुले, प्रियचतुरी कुले, इह शेषे घुटि वाऽऽदेशविधानात् पूर्वत्रामन्त्रे साविति सम्बध्यते ॥ ८२ ॥

**सख्युरितोऽशावैत् ॥ १ । ३ । ८३ ॥**

१५

सखिशब्दस्येकारान्तस्य तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा शिवर्जिते शेषे घुटि परे ऐकारान्तादेशो भवति । सखायौ,

कच्” ३।३।१७०। इत्यस्याप्यप्रभुत्वेर्नान्तत्वात् “स्त्रियां तृतो०” इति ष्या कुलविशेषणत्वे नपुंसकत्वात् “औरी” १।४।५६। इति ईकारे वाऽनेन श्नो लृक् । एव सुमथीत्यादावपि । मथ इत्यादि । मथिन्शब्दस्याघुदस्वरादौ स्यादौ ह्नोऽनेन लृक् । अनृमुक्षी सेनाकुले वा इति । १८ अविद्यमान ऋमुक्षा यस्या ययोर्वेति विग्रह । अमेदनिर्देश इति । भेदनिर्देशे हि “षष्ठा अन्त्यस्य” इति नलोप स्यादित्यर्थः ॥ ७९ ॥

वोशनसो नश्चामन्त्रे । आमन्त्र्ये उशनस सौ नकार च लृक् वा इत्यन्वयस्वदाह—आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्येत्यादि । नकारादादेशात् श्रुतशकारोऽन्यस्यासम्भवात् पूर्वसूत्रोपात्तं लृक्लक्षणमादेशान्तरं समुच्चिनोति इत्याह—नकार इत्यादि । ‘वशक्’ कान्तावित्यस्मात् “वधे २१ कनस्” उणा० ९.८५ । इति कनसि “वशेरयसि” ४।१।८३ । इति ष्टिति—उशनस्, तत्र आमन्त्र्यसावनेनान्तस्य नकारलोपयो कृतयो “धीर्घञ्याच्” इति “अदेत स्यमो०” इति च सेलेंपे, तद्विसृष्टपक्षे च सिलोपस्वादादी रूपत्रयम् । तद्दर्शयति—हे उशनन् ! इत्यादि । उशना इति । अत्र सेरामन्त्र्याभावात् न नकारलोपो । हे उशनसौ ! इति । अत्र सेरभावात् न नकारलोपो ॥ ८० ॥

२४

उतोऽनडुच्चतुरो वः । आमन्त्र्ये सौ इत्यनुवर्तते । आमन्त्र्ये अनडुह्चतुर उत सौ व इत्यन्वयस्वदाह—अनडुह्चतुर इत्येतयो-रित्यादि । यद्यपि निमित्तविशेषानुपादाने घुटीलक्षिक्रियते, तथाप्युत्तरत्र शेषप्रहणादामन्त्र्यसिरेवानुवर्तते । सूत्रे सस्वरस्य निर्देशादुत्तरत्र वाऽऽदेशस्य सस्वरस्य विधानात् तत्रस्त्वावात् सस्वर एव भवतीत्याह—च इति सस्वरैत्यादि । हे प्रियानडुन् ! इति । प्रिया अनडुहौ यस्येत्येकत्वे कच्प्रस-२७ ज्ञाद् बहुत्वेन विग्रह । चतु शब्दस्यार्थप्राधान्येन एकामन्त्रणासम्भवे चतु शब्द उपसर्जनसमास एवोदाह्रियते । बहुव्रीहौ चतु शब्द प्रियशब्दा-देवोत्तर सम्भवति, “प्रिय” ३।१।१५७। इति पूर्वनिपातारम्भात् । अन्यत्र तु “विशेषण सर्वादिसंख्य०” ३।१।१५०। इति चतु शब्दस्यैव पूर्वनिपात सम्भवतीत्युदाहरति—हे प्रियचत्वः ! इति । सत्यपि ‘नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य’ इति हे अनडुहीत्यत्र गौरादिनिपातनाद् वत्त्वाभाव । ३० एवमुत्तरत्रापि ॥ ८१ ॥

वाः शेषे । उतोऽनडुह्चतुर इत्यनुवर्तते । शेषे अनडुह्चतुर उतो वा इत्यन्वय । उपयुक्तान्य शेष उच्यते । उपयुक्तत्वं पूर्वसूत्रे आमन्त्र्य सिरेव अत आह—आमन्त्र्यार्थविहितादित्यादि । अनडुन् इति । अनडुह् स इति स्थिते वादेश, नागम, सिल्लक्, संयोगान्तलोपश्च । ३३ अनडुहौ इति । शेषघुदत्वाद् वाऽऽदेश, नागमस्त न, तस्य सावेव विधानात् । एवमन्यदपि । प्रियानडुहौ इति । प्रिया अनडुहौ येषां कुलानामिति विग्रहे घुटि सौ रूपम् । प्रियचत्वाः इति । प्रियाश्चत्वारो यस्येति विग्रहेऽनेन वादेशे सिल्लकि कत्वविसर्गयोश्च रूपम् । हे प्रियानडुन् ! इति । आमन्त्र्यसे शेषघुदत्वाभावात् पूर्वेण वत्त्वे नागमे सिलोप । अनडुह् इति । शसादौ खरे अविष्कृत एव अनडुह्शब्द इति ३३ भाव । एव चतुर इत्यपि । पूर्वसूत्रे आमन्त्र्यसाविति संबन्धे हेतुमाह—इह शेषे घुटीत्यादि । अत्र सूत्रे शेषस्य घुट आग्रातत्वात् एतत्सूत्रसंयुक्त-प्राक्तनसूत्रविषय इति भाव ॥ ८२ ॥

सख्युरितोऽशावैत् । अत्र शेषे घुटीलक्षिक्रियते । सख्यु, इत अशौ शेषे घुटि ऐच् इत्यन्वय । इत इति सख्युरित्यस्य स्थानि-३९ त्वेन विशेषणमित्याह—सखिशब्दस्येत्यादि । सखिशब्दात् प्रथमाया द्विवचनादौ घुटि अनेन ऐकारे आयादेशे च—सखायावित्यादि । प्रथमै-

सखायः, सखायम्, सखायौ, हे सखायौ!, हे सखायः!, सुसखायौ, प्रियसखायः। अशाविति किम्? अतिसखीनि कुलानि, प्रियसखीनि कुलानि तिष्ठन्ति, पश्य वा । इत इति किम्? इमे सख्यौ । सखीयतीति क्यनि, क्विप्-सख्यौ, सख्यः । घृटीत्येव? सखीन्, सख्या । शेष इत्येव? हे सखे! । इदमेवेद्ग्रहणं ज्ञापयति—‘नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्’ ‘एकदेशविकृतमनन्यवद्’ इति च ॥ ८३ ॥

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डा ॥ १ । ४ । ८४ ॥

६ ऋकारान्तात् उशनस् पुरुदशस् अनेहस् इत्येतेभ्यः सख्युरितश्च परस्य शेषस्य सेः स्थाने डा इत्ययमादेशो भवति । पिता, अतिपिता, कर्ता, उशना, पुरुदशा, अनेहा, सखा, अत्युशना, प्रियपुरुदशा, अत्यनेहा, किंसखा, सुसखा, प्रियसखा । सख्युरित इत्येव? इय सखी, सखीयतेः क्विप्-सखीः । सेरिति किम्? उशनसौ सखायौ । शेषस्येत्येव? हे कर्ता!, हे उशनन्!, हे उशन!, हे उशनः!, हे पुरुदशः!, हे अनेहः!; हे सखे! ॥ ८४ ॥

नि दीर्घः ॥ १ । ४ । ८५ ॥

शेषे घृटि परे यो नकारस्तस्मिन् परे पूर्वस्य स्वरस्य दीर्घो भवति । राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ; १२ सीमा, सीमानौ, सीमानः, सीमानम्, सीमानौ; सामानि, दामानि, लोमानि, वनानि, धनानि, दधीनि, मधूनि, कर्द्वेणि; हर्द्वेणि । नीति किम्? दृषद्, दृषदौ, दृषदः । ‘स्वरस्य ह्रस्वदीर्घभ्रुताः’ इति सुग्नयतेः क्विप्-सुक्, सुग्, सुग्झौ, सुग्भः-इत्यत्र घकारस्य दीर्घो न भवति । घृटीत्येव? चर्मणा, वारिणी, मधुनी । शेष इत्येव? हे राजन्!, हे सीमन्! ॥ ८५ ॥

न्समहतोः ॥ १ । ४ । ८६ ॥

१५ न्सन्तस्य महच्छब्दस्य च संबन्धिनः स्वरस्य शेषे घृटि परे दीर्घो भवति । श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः, श्रेयांसम्, श्रेयांसौ, परमश्रेयान्, अतिश्रेयान्, प्रियश्रेयान्; श्रेयांसि, यज्ञांसि, सर्पांसि, धनूंसि, प्रियपुमांसि कुलानि; महान्,

१८ कवचने “ऋदुशनस्पुरुदशो” इति विशेषेण ङादेशविधानात् नोदाहृतम् । अशाविति किम्? सूत्रेऽशावित्यस्य किम्प्रयोजनमित्यर्थः । अयं शो सति ‘आदेशादागम’ इति-न्यायात् ऐत्वात् प्रथममेव नागमेन भाव्यम्, ततस्तेन व्यवधानादैकारो न भविष्यतीति । न च द्वयोरप्यन्यत्र साव-काशात्वादैकार स्यादिति धाच्यम्, कृतेऽप्येकारे “क्षीवे” २।१।१७। इति ह्रस्वत्वे ततो नागमे दीर्घत्वे न कश्चिद्दोषः, नैवम्, ‘असिद्ध बहिरप्रम्’ २। इति बुद्धिमित्तस्यैकारस्य बहिरप्रत्वात् ह्रस्वत्वे कर्तव्येऽसिद्धत्वात् । ननु भवत्वेव तथापि कृताकृतप्रसक्तित्वेन नित्यत्वात् पूर्वं नागम इति बुद्ध-व्यवधायको भविष्यति, नैवम्, कृतेऽपि नागमे प्रकृतिभक्तत्वेनाव्यवधायकत्वात् ऐकारोऽपि नित्य इति द्वयोर्नित्ययोः परत्वादैकार एव स्यादिति विश्रुतिपेक्ष । अतिसखीनि इति । पूजित सखा येषु कृतेऽपि विग्रहः, अशाविति वचनात् न भवत्यैत्त्वम् । सख्याविति । “नारीसखी- २४ पंगुत्वं” इति निपातनात् सखी, ततो द्विवचनम्, सत्यपि ‘नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्येति’ एकदेशविकृतमनन्यवत्त्वेऽपि इति च इत इति वचनात् न भवति । अनयोश्च न्याययोरस्त्वित्पे शपकमुपदेशयति—इदमेवेत्यादि ॥ ८३ ॥

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डा । ऋदुशनस्पुरुदशोऽनेहस इति समाहारद्वन्द्वात् पदम् । अनेहसोऽनन्तरं श्रूयमाणेन चका- २७ रेण पूर्वस्योपात्त सख्युरित इति संनिहितत्वात् समुचीयते । सेरित्यत्रानुशत शेषे इति ध्वञ्जन्ततया विपरिणम्याभिसंबध्यते । ऋकारान्तस्य “अर्द्धे च” इति अरि प्राप्ते, उशनस्पुरुदशोऽनेहसा “दीर्घभ्याव्” इति तिलोपे, “अभ्यादे” इति दीर्घत्वे, “सो ऋ” इति रुत्वे, विसर्गे च प्राप्ते, सखि-शब्दस्य तु ऐत्वे प्राप्ते ङाऽऽऽऽम् । हकारो “डिल्यन्त्यस्वरादे” इति विशेषणार्थः । सूत्रार्थमाह—ऋकारान्तादित्यादिना । पिता इति । पितृ-शब्दात् सेरनेन ङादेशोऽन्यस्वरादिलोप । एवमन्यत्रापि । उशनसाथन्तसुदाहरति—अत्युशना इत्यादि । किंसखा इति । कुत्सित सखा इति विग्रहः । सुसखा इति । पूजित सखेति प्रादिसमास । सखी इति । ह्रस्वेकारात् परत्वाभावाद्देने सेर्डा न भवति । एवं सखी-रित्यत्रापि । उशनसावित्यादि । अत्र सेरत्वावाद्देने ङादेशो न । सेरित्यत्र शेषस्येति विशेषणात् हे कर्तुं इत्यादौ ङाऽऽदेशाभाव इत्याह— ३३ शेषस्येत्येव इत्यादि ॥ ८४ ॥

नि दीर्घः । शेषे घृटीत्यधिक्रियते । नीति सप्तम्या पूर्वस्य इत्युपतिष्ठते “सप्तम्या पूर्वस्य” इति न्यायात् । दीर्घे इति श्रुत्या ‘स्वरस्य ह्रस्व-दीर्घभ्रुता’ इति न्यायेन स्वरस्येत्युपतिष्ठति । शेषे घृटि निपूर्वस्य स्वरस्य दीर्घे इत्यन्वयस्त्वाद्वाह—शेषे घृटि इत्यादिना । घृटि इति नीत्यस्यधार ३३ इत्याह—घृटि परे यो नकारस्तस्मिन्निति । राजा इति । राजन् इ इति स्थिते स्यादित्येव कर्तव्ये नलोपस्यासत्त्वात् प्रथमं सुग्नमावे दीर्घं सति सिलोपादि । एवमन्यत्रापि । दामानि इत्यादि । अस्वासादेशस्य शेषुर्द्धत्वात् तत्परं नकारे पूर्वस्य स्वरस्य दीर्घः । स्वरस्येति । अयमभिप्राय—“एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घभ्रुता” इति खरा इत्यनेन संहितायां षष्ठ्यं प्रथमाव्याख्यानात् ‘ह्रस्वदीर्घभ्रुता खराना स्थाने भवन्तीति’ परिभाषा- ३९ विज्ञानात् ‘अवर्णकवर्गाद्विसर्गा कष्या’ इति ह्रस्व इत्यत्र सत्यपि घकारकण्ठ्यत्वे दीर्घो न भवतीति । सुग्नयतेः क्विप् इति । सुच हन्तीति “अचित्ते टच्” ५।१।८३। इति टकि, “ममहनजन” ४।२।४४ इत्यकारलोपे, “ह्नो क्षो ष” २।१।११। इति प्रादेशे—सुप्रत्ययाचष्टे “गिञ् बहुलम्” इति गिञन्तात् क्विप्, तत सौ, तद्युकि, नलोपे, पदस्येति घलोपे च प्रथमतः तदाह—सुक, सुग् इति ॥ ८५ ॥

४२ न्समहतोः । शेषे घृटि इत्यधिक्रियते । दीर्घे इत्यनुवर्णिते, तथा च स्वरस्येत्युपतिष्ठते । न्समहतो स्वरस्य शेषे घृटि दीर्घे इत्यन्वयः । न् इत्यत्र स्वरस्यासम्भवात् घृटा प्रत्ययेन स्यादित्वादाक्षिप्तं नाम विशिष्यते, विशेषणात् तदन्तविधिः । महच्छब्दस्य च खरोऽन्वयेन, न तत्र विशेषणात् तदन्तविधिरित्याह—न्सन्तस्येत्यादि । महच्छब्दस्त्वौपादिको घ्युत्पन्नोऽन्युत्पन्नो वा “हृदिहृदिमहि” इति कर्त्तृप्रत्ययान्तो गाथा । घान्तस्य तु

महान्तौ, महान्तः, महान्तम्, महान्तौ; परममहान्, अतिमहान्, प्रियमहान्, महान्ति । महत्साहचर्यात् शुद्धधातोः क्विबन्तस्य न भवति—सुहिसौ, सुहिसः; सुकंसौ, सुकंसः । नामधातोस्तु भवत्येव—श्रेयस्यति, महत्यतीति क्विपि—श्रेयात्, महान् । घृटीत्येव ? श्रेयसः, महतः पश्य; श्रेयसी, महती कुले । शेष इत्येव ? हे श्रेयन् ! हे महन् ! ॥ ८६ ॥

**इन्हन्पूर्वार्थम्णः शिष्योः ॥ १ । ४ । ८७ ॥**

इनन्तस्य हनादीनां च संबन्धिनः स्वरस्य शौ शेषे सौ च परे दीर्घो भवति । दण्डीनि, स्रग्वीणि, वाग्मीनि कुलानि; दण्डी, स्रग्वी, वाग्मी, भ्रूणहानि, बहुवृत्रहाणि; भ्रूणहा, वृत्रहा; बहुपूषाणि, पूषा, स्वर्यमाणि, अर्यमा; “नि दीर्घः” ॥ १ । ४ । ८५ ॥ इति सिद्धे नियमार्थं वचनम्, एषां शिष्योरेव यथा स्यात् नान्यत्र—दण्डिनौ, दण्डिनः, दण्डिनम्; वृत्रहणौ, वृत्रहणः, वृत्रहणम्; पूषणौ, पूषणः, पूषणम्; अर्यमणौ, अर्यमणः, अर्यमणम् । शेष इत्येव ? हे दण्डिन् !, हे वृत्रहन् !, हे पूषन् !, हे अर्यमन् ! । ‘अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य’ इति षीहानौ, षीहानः षीहानमित्यत्र

महतोऽनेन दीर्घो ‘लक्षणप्रतिपदोक्तयो’ इति न्यायात् न भवति । यत् घातुप्रत्ययान्त महदिति रूपं लाक्षणिकं, कर्तृप्रत्ययान्त तु प्रतिपदोक्तम् । एतच्च वत्सश्रमभाववृत्तः । श्रेयात् इत्यादि । श्रेयसशब्दात् शेषे घुटि “ऋदुदित” इति नागमे श्रेयन् इति न्यन्तस्य संबन्धिन स्वरस्यानेन शेषे घुटि दीर्घः । एवमन्यत्रापि । नपुसके जस्सासादेशे शावुदाहरति—श्रेयांसि, यशांसि इति । दीर्घे सति “शिद्देऽनुस्वार” इत्यनुस्वारः । १२ सर्पांसि इति । अत्र “न्यस्रहते” इत्यनेन दीर्घलक्षणे स्यादिविधौ विधातव्ये “णभसद् परे” इत्यनेन पत्वत्सासरे सति न्यन्तत्वादानेन दीर्घः, अन्यथा न्यन्तत्वाद् दीर्घो न स्यात् । महच्छब्दस्योदाहरणान्याह—महान् इत्यादि । महच्छब्दच्छेषे घुटि नागमे सति स्वाङ्गस्याव्यवधायकत्वात् अनेन दीर्घे सिलोपे पदस्येति तकारलोपः । ‘हिष्ठु’ हिंसायाम्, उदित्वाघागम, सुपूर्वात् क्विप्, “शिद्दे” इत्यनुस्वार सुहिसशब्दात् सोर्लुक्, १५ सकारस्य संयोगान्तलोपः । तस्यासत्त्वात्तलोपो न । निमित्तापायादनुस्वारनिवृत्तिः । सुहिन् इति रूपं सौ भवति, सुष्ठु हिनस्तीत्यर्थः । एव सुहिसौ इत्यादि । एवं सुष्ठु कंले इति सुकन् सुकंसौ, सुकंसः इत्यादि भवति । अत्र न्यन्तत्वादीर्घः कथं न भवतीत्याह—महत्साहचर्यादिति । महदिति शुद्धो घातु क्विबन्तो न भवति, तत्साहचर्यादन्यस्यापि शुद्धधातो क्विबन्तस्य न भवति । नामधातुस्तु महदपि क्विबन्तः भवति, अतो-१८ ऽन्यस्यापि घातो क्विबन्तस्य भवति । महच्छब्दस्वावजातत्वं न व्यभिचरति, तत्संयोगशिष्टस्य न्यन्तस्यापि नामत्वाव्यभिचारिण एव ग्रहणम् । महती कुले इति । श्रेयसः पश्य, श्रेयसी कुले इति न दर्शये, न्यन्तत्वामावेन ब्राह्मविकल्पात् ॥ ८६ ॥

**इन्हन्पूर्वार्थम्णः शिष्योः ।** दीर्घ इत्यनुपूर्वादे, तत्पदश्रुत्या स्वरस्येत्पतिष्ठते । शेषे इत्यधिकृतं साविष्येनान्वेति न सौ इत्यनेन, २१ व्यभिचाराभावात् । इन्हन्पूर्वार्थम्णः स्वरस्य शौ शेषे सौ च दीर्घ इत्यन्वयः । इन प्रत्ययत्वेन केवलस्यासम्भवेन तदन्तस्य ग्रहणमित्याह—इन्नन्तस्येति । दण्डीनि इति । दण्डोऽस्त्येषामिति “अतोऽनेकखरात्” ७।२।६। इतीनि, जस्सासौ शौ, अनेन दीर्घत्वे रूपम् । स्रग्वीणि इति । स्रज्यते पुषैरिति विग्रहे “कुत्संपदादिभ्यः क्विप्” ५।३।११४। इति क्विपि “ऋत्विज्दिशु” २।१।६९। इति स्रजपाठाद् ऋतो रत्वे स्रज्, साऽस्ति २४ येषामिति “अस्तपोमायामेषास्रजो निम्” ७।२।४७। इति निनि पूर्ववत् जसादौ रूपम् । वाग्मीनि इति । प्रशस्ता वागेषामस्तीति “गिन्म्” ७।२।२५। इति गिमिनि, शेष पूर्ववत् । सूत्रे हन् इति हन्ते क्विबन्तस्येदं ग्रहणम् । न च हन्ते केवलस्य क्विप् इत्येते इति तदन्तमुदाहरति—भ्रूणहानि इत्यादि । भ्रूणपूर्वादान्ते “ब्रह्मभ्रूणवृत्रात्” ५।१।१६९। इति क्विप् पूर्ववत् जसादि । बहुवृत्रहाणि इति । महतो वृत्रहणे येषु कुलेषु २७ इति बहुव्रीहिः । पूर्वार्थम्णे स्वप्रधानायां घृता शेरसंभवात् तौ समासे उपसर्जनभूतावुदाहरति—बहुपूषाणीत्यादि । ननु इघादीनां नान्तत्वात् शिष्योर्बुद्धत्वात् “नि दीर्घः” इत्यनेन दीर्घः सिध्यति किमेनेनेति, उच्यते—‘सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय’ इति नियमार्थत्वादित्याह—“नि दीर्घः” इति सिद्धे इत्यादिना । नियमस्येह द्विधा संभवति—इन्हन्पूर्वार्थम्णां शिष्योरेव, इन्हन्पूर्वार्थम्णामेव शिष्योरिति । तत्र पाश्चात्ये नियमे शिष्योरिति-३० कादिभ्योऽन्येषां दीर्घनिवृत्तिरिजादीनां पुन सर्वत्र दीर्घप्रवृत्तिरिति । “नि वा” अभ्यादिरत्वस्य सौ इति च इत्यादिभ्योऽन्यस्य शिष्योर्दीर्घारम्भोऽनर्थकः स्यात्, तस्मात् पूर्वकथित एव नियम इत्याह—एषामित्यादि । यथेषां शिष्योरेव दीर्घ इति नियमसामर्थ्यादेव दीर्घो न भविव्यति तर्हि किमर्थम् “अहन्पश्चमस” ४।१।१०७। इत्यत्र हन्वर्जनिम् ? न च बुद्धप्रकरणत्वात् बुद्धेव दीर्घस्य नियमेन निवृत्त्या नान्यत्रेति वृत्रहणीति सप्त-३३ म्येकवचने “इँडौ वा” इत्यहोपाभावपक्षे “अहन्पश्चमस्य किञ्चित्” इति दीर्घप्रसङ्ग इति वाच्यम्, योगविभागात्—“इन्हन्पूर्वार्थम्णः” इत्येको योगः, शिष्योरिति द्वितीयः । तत्र पूर्वोक्तं योगेन घुटीत्यनुवर्तनात् इजादीनां “नि दीर्घः” इति “अहन्पश्चमस” इति च दीर्घत्व प्राप्तं, बुद्धेव दीर्घो भवतीति नियमात् वृत्रहणीत्यादौ सप्तम्या दीर्घो निवर्तते, द्वितीयेन तु, वृत्रहणावित्यादौ बुद्धलक्षणः । एकयोगेऽप्यदोषः—अनाभितबुद्धविशेषे ३३ प्रत्ययत्वमात्राश्रयेण शिष्योर्नियमकरणत्वात् । यथेष वृत्रहेवाचरतीति वृत्रहायते दण्डीभूत इति “दीर्घश्चियक्यक्ये च” इति दीर्घत्व न प्राप्नोति, नैवम्, प्रकरणादुपान्तस्यैव दीर्घस्य व्यावृत्तिर्न खरान्तलक्षणस्य । किं च एकस्मिन्पि योगे बुद्धनिवृत्तावपि दोषः, यतो द्विविधो बुद्ध-भि-स्यमौजसंक्षेपः । तत्र शिर्नपुसकस्य, अन्ये तु स्त्रीपुसयोरिति । तत्र द्वल्यजातीयपक्षे नियमे समाश्रयीमाणे व्यवच्छेद्याभावादनर्थक एव नियमः स्यादिति ३५ नियमविधानसामर्थ्यात् सर्वस्य दीर्घस्य नियमेन व्यावृत्तिरित्यर्थः । यदाह—श्रीकैयट यदि तुल्यजातीयपक्षे नियम आश्रियते तदा शोर्नपुसकलिङ्गसंबन्धित्वं बुद्धत्वं चास्तीति तदाश्रये नियमे विज्ञायमानेऽयमर्थः स्यात्—इजादीनां नपुसकानां शास्त्रे बुद्धि दीर्घो भवति न बुद्धन्तरे इति । न च तेषां नपुसकानामन्यो बुद्धस्तीति नियमविधानसामर्थ्यात् प्रकरणात्पक्षे बुद्धत्वं सामर्थ्यप्राप्तिसंनिधानं च नपुसकत्वमुभयमप्यविशेषादनपेक्षं प्रत्यय-४२ मात्रे स्त्रीपुसकसंबन्धित्वेन दीर्घत्वव्यावृत्तिः कियत् इति सर्वमिदं सिद्धम् इति, “अहन्पश्चमस” इत्यत्राहन्ग्रहणं न्यायात्पदादकम् इति । अन्यत्रोदाहरति—दण्डिनोऽवित्यादि । अत्र नियमात् नानेन दीर्घः । वृत्रहणौ इति । सप्तम्यां “पूर्वपदस्या” २।३।६४। इत्यनेन, अवज्ञायां तु “कवौकस्वरवति” २।३।७६। इति पत्वम् । अर्थवदिति । ‘सिद्धि’गतावत् “श्वन्मातरिश्वन्” उणा० ९०२। इति अनि निपातनादीर्घत्वे-४५ शीहन् इति । अत्र हनोऽर्थवतो ग्रहणात् तत्रैव तदन्तविधित्वे तस्यैव च प्रत्ययाक्षरे नियमेन दीर्घत्वव्यावृत्तिः । षीहन्तिलेकदेशान्तरार्थकस्य ग्रहणाभावे नियमाभावात् दीर्घत्वव्यावृत्त्यभाव इत्यर्थः । ननु भवत्वत्र प्रकरणे तदन्तविधिस्यपि इत्थिति प्रत्ययग्रहणं भवतीति दण्डिनीत्यत्रैव दीर्घत्वेन

नियमो न भवति । वाग्मिनौ, वाग्मिन इत्यादौ तु 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति' इति न्यायाद् भवति ॥ ८७ ॥

३ अपः ॥ १ । ४ । ८८ ॥

अपः खरस्य शेषे घुटि परे दीर्घो भवति । आपः, शोमना आपो यत्र स खाप्, खापम्, खापौ, खापः । बहुषा इत्यत्र तु समासान्तेन व्यवधानात् न भवति । घुटीत्येव ? अपः पश्य । शेष इत्येव ? हे खप् ! ॥ ८८ ॥

४ नि वा ॥ १ । ४ । ८९ ॥

अपः खरस्य नागमे सति घुटि परे वा दीर्घो भवति । स्वाम्पि, स्वम्पि; अत्याम्पि, अत्यम्पि । समासान्तविधेर-  
नित्यत्वात् बह्वाम्पि, बह्वम्पि ॥ ८९ ॥

५ अम्वादेरत्वसः सौ ॥ १ । ४ । ९० ॥

अत्वन्तस्यासन्तस्य च भ्वादिवर्जितस्य संबन्धिनः खरस्य शेषे सौ परे दीर्घो भवति । अतु-भवान्, कृतवान्, गोमान्, यवमान्, एतावान्; अस्-अप्सराः, अङ्गिराः, चन्द्रमाः, स्थूलशिराः, सुमनाः । अम्वादेरिति किम् ? पिण्ड ३२ असते पिण्डग्रः, चर्म वस्ते चर्मवः । 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इत्येव सिद्धे अम्वादेरिति वचनम्, 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थ-  
वता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति' इति न्यायज्ञापनार्थम्; तेनात्रापि भवति-खरणाः, खुरणाः । अघातोरित्य-  
कृत्वाऽम्वादेरिति करण भ्वादीनामेव वर्जनार्थम्, तेनेह भवति-गोमन्तमिच्छति क्यन्, क्तिप्-गोमान्, एव स्थूलशिराः ।  
३५ शेष इत्येव ? हे भवन् !, हे सुमनः ! । अतु इति उदित्करणद्वितो न भवति-पचन्, जरन् ॥ ९० ॥

भवितव्य, न तु बहवो दण्डिनो वेपामिति बहुदण्डीत्यत्र, नैतदस्ति, यत्र हि प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्, अन्यथा वाग्मी इत्यत्रापि दीर्घत्वाभाव स्यात् ।  
ननु मा भूत्त्रापि दीर्घत्व का नो हानिरित्याह-अनिनस्मन्नित्यादि ॥ ८७ ॥

३८ अपः । शेषे घुटीति दीर्घ इति चानुवर्तते । अप शेषे घुटि दीर्घ इत्यन्वयस्तदाह-अप. खरस्येत्यादि । आपः इति । अप्शब्दा-  
ज्जति दीर्घ, अप्शब्दस्य बहुवचनचित्वात् द्विवचनैकवचनयोर्न सभव इति बहुवचन एवोदाहरणमुपन्यस्तम् । एव शोमना आपो यस्य यत्र वा  
तदन्तविधेरिच्छत्वात् सावनेन दीर्घत्वे-खाप् इति । एवमन्यदपि । बह्वय आपो येष्विति "ऋक्पू ष्यपो०" ७।३।७६। इति समासान्तेऽति तेन  
३९ घुटो व्यवधानात् न भवतीत्याह-बहुषा इत्यादि ॥ ८८ ॥

नि वा । अत्र अप घुटि दीर्घ इति चानुवर्तते । अपो नि घुटि वा दीर्घ इत्यन्वयस्तदाह-अप. खरस्येत्यादि । स्वाम्पि, स्वम्पि  
इति । शोमना आपो येष्विति "पूजास्वते प्राक् टात्" इति समासान्तनिषेधात् जस घासो वा इयदिशे "धुटा प्राक्" इति नागमेऽनेन पक्षे दीर्घ-  
३४ त्वम् । एवमत्याम्पि । समासान्तविधेरिति । "ऋक्पू ष्यपोऽत्" इत्यस्येत्थं । ननु नीति विषयसप्तम्येव घटते कथमुक्त्वा नागमे सतीति ?  
यतो "धुटा प्राक्" इति नागमो विधीयते, स च नपुंसके, नपुंसक चार्थे, अर्थे च शब्दानुशासनेऽस्मिन्कार्यासमवादात् नपुंसकाभिधायी शब्दो नागम  
विधातुमाश्रयणीय । स च शब्द प्रयोगादुच्यते इति नागमो बहिरङ्ग । अथ तु दीर्घः साक्षादपशब्दमुच्चार्य विधीयमानोऽल्पाश्रयत्वादनन्तरम्  
३७ इति पूर्वं प्रवर्तते पश्चात्तु नागम इति, नैवम्, निग्रहणादेव पूर्वं नागम एव भवति । अन्यथा नागमे विधेये पूर्वं दीर्घं त्वच्छ्रुतत्वात् पश्चाद्नागमो न  
स्यादिति निग्रहणमनर्थक स्यात् ॥ ८९ ॥

अम्वादेरत्वसः सौ । अत्र दीर्घ इति शेषे इति चानुवर्तते । अम्वादे अत्वस शेषे सौ दीर्घ इत्यन्वय । अत्वसोरवयवत्वात्  
३० समुदायविशेषणत्वात् "विशेषणमन्त" इति तदन्तस्य ग्रहणमित्याह-अत्वन्तस्येत्यादि । भवान् इत्यादि । एतेषां सौ दीर्घत्वे नागमे "पदस्य"  
इत्यन्तलोप । आप्रोते 'आपोऽपासाप्सराब्जश्व' उणा० ९६।४। इत्यसि अप्सरादेशे च-अप्सरस् । 'अगु' गतावस्य 'विहायस्सुमन-  
स्फुक्दशस्फुक्करोऽङ्गिरस' उणा० ९७६ । इत्यसि इरोऽन्ते च-अङ्गिरस् । 'चन्दो रमत्' उणा० ९८६। इति रमसि-चन्द्रमस् ।  
३३ शणाते 'मिथिरङ्गुपि०" उणा० ९७९। इति कित्यसि-शिरस्, तत स्थूलशब्देन बहुव्रीहि-स्थूलशिरा इति । एतेषामसन्तत्वात् सौ दीर्घ ।  
अम्वादेरिति किम् ? इति । अम्वादेरिति विशेषणस्य किं प्रयोजनमित्यर्थं । पिण्डग्रः इति । अत्रासन्तत्वेऽपि 'प्रसुङ्' धातोर्भ्वादिवात्  
न दीर्घ । एव चर्मव इत्यादि । नन्वसोऽर्थवतो ग्रहणात् पिण्डग्र इत्यादौ भ्वात्कदेशस्यानर्थकत्वाद् दीर्घो न भविष्यति किं भ्वादिवर्जनेनेत्याह-'अर्थ-  
३६ वद्ग्रहणे०' इत्यादि । अम्वादेरिति वचनम् इति । किमर्थमिति शेष । समापत्ते-अनिनस्मन्नित्यादि । 'रात्र' इत्यत्र अन् अर्थवान्, दात्र  
इत्यत्र तु अनर्थक । 'घात्री'त्यत्र इन् अर्थवान्, 'यशस्वी'त्यत्र तु अनर्थक । सुपया इत्यत्राऽप्यर्थवान्, 'सुजोता' इत्यत्र तु अनर्थक । तेन-  
पूर्वोक्तन्यायज्ञापनेन । खरणा इत्यादि । खरपूर्वस्य खरपूर्वस्य च नासिकाशब्दस्य 'खरखुराशासिकाया नस्' ७।३।१६०। इति नसादेशेऽनर्थ-  
३९ कस्यापि तदन्तविधित्वेन दीर्घ सिद्ध इति । नन्वनिनस्मन्नित्यत्र अतोरनिर्दिष्टत्वादनर्थकेन तदन्तविधेरप्रयोगात् 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति'  
न्यायात् कियानित्यत्रैव दीर्घ प्राप्नोति न गोमानित्यादौ इति, नैष दोष, प्राप्नोति-अतुरनर्थकोऽपि तदन्तविधि प्रयोजयति, मत्वाहीनायुकाराण-  
४२ नुबन्धो यस्यासौ तदनुबन्धक, स चान्यथाऽनुबन्धो यस्य सोऽतदनुबन्धक इति न्यायात् 'यत्तदेतदो ङावादेर्ग्रहणाप्रसङ्ग', फवतोरपि कका-  
राणुबन्धसद्भावात् ग्रहणाभाव, नैष दोष, आनन्तर्यलक्षणेऽनुबन्धानुबन्धवतो संबन्धेऽभावत्फवत्शब्दस्य ङकारककाराणुबन्धौ न त्वनुबन्धस्य ।  
अथवा-ङकारककाराणुबन्धौ प्रत्ययस्य न तु तदेकदेशस्य । ततश्च प्रत्ययैकदेशग्रहणादव्यापार एव पूर्वोक्तन्यायस्येति । एव तर्हि गोमन्तमिच्छ-  
४५ तीति क्यनि, क्तिप्, तदन्तस्य च चातुर्वाहाने कथं दीर्घ इत्याह-अघातोरित्यादि । अन्यथाऽम्वादेरित्यपनीय अघातोरित्येव कुर्यात्, न च  
कृतमतो भ्वादिपठितानामेव वर्जनमित्यर्थं । अतु इत्यत्र ङकाराणुबन्धस्य प्रयोजनमाह-अतु इत्यादि । पचति । पचतीति पच- 'घात्रा-

कुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ १ । ४ । ९१ ॥

कुशः परो यस्तुन तस्य शेषे घुटि परे तृजादेशो भवति, पुंसि-पुंलिङ्गविषये । क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ; अतिक्रोष्टा, प्रियक्रोष्टा, बहुव्रीहौ 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति ऋदिलक्षणः कच् न भवति । पुंसीत्येव ? कुशक्रोष्टूनि वनानि । घुटीत्येव ? क्रोष्टून् । शेष इत्येव ? हे क्रोष्टो । 'क्रोष्टोः क्रोष्टृ' इत्यकृत्वा तुज्वचनं तृस्वत्त्वादिसूत्रेणाऽऽर्थम् ॥ ९१ ॥

टादौ खरे वा ॥ १ । ४ । ९२ ॥

टादौ खरादौ परे कुशः परस्य तुनस्तृजादेशो वा भवति, पुंसि । क्रोष्टा, क्रोष्टुना; क्रोष्टे, क्रोष्टवे, क्रोष्टुः, क्रोष्टोः; क्रोष्टोः, क्रोष्टोः; क्रोष्टारि, क्रोष्टौ; क्रोष्टूनामित्यत्र तु नित्यत्वात् पूर्वं नामादेशे खराभावात् न भवति । टादाविति किम् ? क्रोष्टून् । क्रोष्टूनित्यपीति कश्चित् । खर इति किम् ? क्रोष्टुम्याम्, क्रोष्टुमिः । पुंसीत्येव ? कुशक्रोष्टुने वनाय । यद्यपि तृप्रत्ययान्तो मृगवाची स्यात्, तथापि प्रयोगनियमो दुर्विज्ञान इत्यादेशवचनम् ॥ ९२ ॥

स्त्रियाम् ॥ १ । ४ । ९३ ॥

घुटीति न संबध्यते, कुशस्तुनस्तृच् पुंसि स्त्रियां चेत्येकयोगाकरणात्; स्त्रियां वर्तमानस्य कुशः परस्य तुनस्तृजा-देशो भवति, निर्निमित्त एव । क्रोष्टी-अत्र प्रागेव तृजादेशे ऋदन्तत्वात् ङीः, क्रोष्टृचौ, क्रोष्टृचः, क्रोष्ट्रीम्, क्रोष्टृचा,

नशाचे०" ५।२।२०। इति शक्ति, "कर्त्तर्यनञ्" इति शक्ति, "लुगत्यादेत्यपदे" इत्यकारलोपे, सिलोपे, प्रवर्गवचने चदित्करणेन ऋदित्वात् धीर्घाभावे नामने "पदस्य" इत्यन्तलोपे । एव जरञ्जिति । "जुषोऽट्" ५।१।१७३। इत्यट् ॥ ९० ॥

कुशस्तुनस्तृच् पुंसि । शेषे घुटीत्यनुवर्तते । कुशं तुन शेषे घुटि तृच् पुसीत्यन्वय । कुश इति तुन इत्यस्य तृच् कार्येण पञ्चम्यन्तं विशेषणमित्याह—कुश इत्यादि । 'कुश' आह्वानरोदनयोरत् "कृसिकृम्यमिममि०" उणा० ७७३। इति तुनि, गुणे, "यजसृज०" इति पत्वे, "तवर्गस्य धवर्ग०" इति टत्वे, स्यादौ घुटि अनेन तुनस्तृजादेशे "ऋदुशनस्" इति सेर्वादेशेऽन्यत्र "तृस्वट्०" इत्यादादेशे—क्रोष्टा इत्यादि । क्रोष्टारमतिक्रान्त इति तत्पुरुषे—अतिक्रोष्टा इति । प्रियक्रोष्टा इति । अथात्र बहुव्रीहौ तृजादेशे सति ऋदन्तत्वात् "ऋदित्वा-दित्" ७।३।१७१। इति ऋदिलक्षण समासान्त कच् क्रस्वात् न भवतीत्याह—बहुव्रीहामित्यादि । अथमर्थ—तृज्भावो हि समासाद् बाह्यं घुटमपेक्ष्य भवन् बहिरङ्गस्वदनपेक्ष्य पुन समासान्त कच् समासादेव भवन् अन्तरङ्ग इति 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषया बहिरङ्गस्य २१ तृज्भावस्यासिद्धत्वात् ऋकारान्तत्वाभावात् कच् न भवतीति । कुशक्रोष्टूनीति । कृष्टा क्रोष्टरो यैचित् बहुव्रीहौ जष शसो वा श्यादेशे पुस्त्वाभावात् तृजादेशाभाव, घृष्टे पुसीति वचनमन्तरेण च द्वयोरन्यत्र सावकाशात्वात् परत्वात् तृज्भाव स्यादिति । क्रोष्टून् इति । घुटि इत्यधिकारबलात् तृजादेशाभाव, शसो बुद्धत्वाभावात् । हे क्रोष्टो ! इति । आमन्त्र्यसे शेषत्वाभावात् न तृच् । अथ लाघवार्थं 'क्रोष्टोः क्रोष्टृ पुंसि' इति २४ किमिति न कृत ? एवमपि कृते न काचिच्छ्रयक्षतिरिति चेत्, न, तृज्बन्धस्य विधीयमान आरादेश क्रोष्टृशब्दस्य न स्यादित्याह—क्रोष्टोरित्यादि ॥९१॥

टादौ खरे वा । कुशस्तुनस्तृच् पुसीत्यनुवर्तते । टादौ खरे कुशं तुन तृच् वा पुसीत्यन्वय । खर इति सप्तमी, तत्र च "सप्तम्या आदि" इत्यादिपदोपलब्धिरित्याह—टादौ खरादाविति । क्रोष्टृशब्दात् टादौ खरादौ पक्षेऽनेन तृज्भावे यथायोगं "इवर्गोदे०" इत्यादिना २७ रत्नादौ "ट् पुंसि ना" इत्यादिना नादौ च—क्रोष्ट्रा इत्यादि । क्रोष्टूनामिति । अत्र क्रोष्टृशब्दात् षष्ठीबहुवचने कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् पूर्वं नामादेशे कृते खरादित्वाभावात् तृजादेशो न भवतीत्याह—अत्रेत्यादि । क्रोष्टून् इति । अत्र शस्यपि तुनस्तृजादेश कश्चिन्मन्यते, तन्मतसंप्रदायं टादौ इत्युच्यते, अन्यथा खर इति निमित्तविशेषोपादानात् घुटीत्यधिकाराभावात् टादिसप्रत्ययो भवत्येव, तेन टाया आदिघादिरिति ३० शसोऽपि संप्रह सिद्ध इति । ननु कुरोस्तृच्प्रत्ययेनैव सिद्धे किमर्थोऽयं तुनस्तृजादेश ? न च तृप्रत्ययान्त क्रियाशब्दो न मृगवचन, तुनप्रत्ययान्त पुनर्घो ऋदन्तत्वात् तृप्रत्ययान्तेनापि मृगाभिधान यथा स्यादित्येवमर्थं आदेश इति वाच्यम् । तुनप्रत्ययान्तवत् तृप्रत्ययान्तस्यापि रूढ्या मृगा-र्थबोधकत्वात् । नन्वेव सत्यविशेषोपदेशादुभयोरविशेषेण प्रयोग स्यात्किञ्चित्पर्यं आदेश इत्यपि न वाच्यम्, अविशेषोपदेशोऽपि हि विशेषणैव ३३ प्रयोगदर्शनात्, यथा घर्तरिविशेषोपादिश्यते—'घृ' सेचने इति । अथ च विशेषणैव प्रयुज्यते—घृत्, घृणा, घर्म इति । यत् प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यान न तस्मात्पूर्वशब्दप्रतिपत्तिरिति विशेषविषयत्व भविष्यति, अनेनैव न्यायेन "अस्तिश्रुवोर्भूवचावशिति" ४।१।१। इत्यादीन्वपि प्रत्याख्येयानीत्याह—यद्यपीत्यादि । अथमर्थ—आदेशविषयादन्यत्र क्रोष्टृशब्द प्रयुज्यमान क्रोष्टृभ्यामित्यादौ क्रियाभेवोपादानो दृश्यते । अन्वाख्यान तु यतो दृष्ट- ३६ सैव, तत्रासत्यादेशवचने क्रोष्टृइत्यस्य मृगवाचित्वे दुर्विज्ञेयम्, मृगे प्रयुज्यमानमप्यप्रयोग मन्यते । अथ कथञ्चित्प्रत्ययान्तो मृगवाचित्वेन प्रतिपन्नस्तथापि प्रयोगनियमो दुर्विज्ञानस्तृप्रत्ययान्त एव मृगवाची पुंसि घुटि स्त्रियां च टादौ खरे चोभय, अन्यत्र क्रोष्टृशब्द एव मृगवाची । अमृगवाची पुन क्रोष्टृशब्द सर्वत्रेत्ययं निश्चितप्रयोगनियममनुसृत्य प्रतिपत्तुं दुष्कर, शान्नानुसारेण विशेषणैव प्रतिपद्यते । एव "अस्तिश्रुवोर्भूवचा- ३९ वशिति" इत्यादयोऽपि अशिदादिविषयेऽस्त्वादीनां प्रयोगो मा भूदिति प्रयोगनियमार्थो एव विज्ञायन्ते । अमुषवोधनार्थं तु किञ्चिद्वचनेन प्रतिपाद्यते । न्यायव्युत्पादनार्थं तु सूत्रकृत किञ्चित्प्रत्याचक्षते । न ह्यत्रैक पन्था समाश्रयत इति ॥ ९२ ॥

स्त्रियाम् । निमित्तविशेषोपादानेऽपि 'कुशस्तुनस्तृच् पुंसि स्त्रिया च' इत्येकयोगाकरणात् घुटीति न संबध्यत इत्याह—घुटी- ४२ स्यादि । अत्र पूर्वसूत्रात् कुशस्तुनस्तृच् इत्यनुवर्तते । स्त्रियां कुशस्तुनस्तृच् इत्यन्वयस्तदाह—स्त्रियां वर्तमानस्येत्यादि । ननु घुटीत्यस्याननु-श्रुतावपि स्यादधिकारस्यानुश्रुतिरस्तु, "टादौ खरे वा" इत्यत्राप्यादिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वाद्वादि स्यादितरेव गृह्यत इति चेन्नैवम्, स्याद्यनुवृत्तौ क्रोष्ट्री मक्तिरस्येति 'क्रोष्ट्रीमक्ति' इति न सिद्ध्यति, आदेशाभावात् 'अन्तरज्ञानपि विधीन् बहिरङ्ग लृप् बाधते' इति लृपि सत्यां "लृप्यलृष्टेनत्" इति स्थानिवत्त्वप्रतिषेधात् प्रत्ययलक्षणाभावात् "त्रिचतुरास्त्रिचतसृ०" इति पुन स्यादौ विधानाच्च नानुवर्तते स्यादधिकार इत्याह—अत्रेत्यादि ।



क्रोष्टीम्याम्, हे क्रोष्टि !; पञ्चभिः क्रोष्टीभिः क्रीतैरिति विगृह्य “मूल्यैः क्रीते” ॥ ६ । ४ । १५० ॥ इतीकण्, तस्य  
 “अनाम्यद्विः षुप्” ॥ ६ । ४ । १४१ ॥ इति लुपि, “छादेर्गौणस्या०” ॥ २ । ४ । ९५ ॥ इत्यादिना ङीनिवृत्तौ पञ्च-  
 १ क्रोष्टृभी रथैः—अत्र निर्निमित्तत्वादादेशस्य ङीनिवृत्तावपि निवृत्तिर्न भवति, अत एव च “क्यञ्चानि पित्तद्धिते” ॥३।२।  
 ५० ॥ इति पुंवद्भावो न भवति, पुंवद्भावेनापि हि आदेश एव निवर्तनीयः; स च निमित्तत्वाश्रयणेन ङीनिवृत्तावपि  
 निवर्तते एव ॥ ९३ ॥

१ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपपन्नशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-  
 शिकावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥

सोत्कण्ठमङ्गलगतैः कचकर्षणैश्च वक्राञ्जसुम्बननखक्षतकर्मभिश्च ।

१ श्रीमूलराजहृतभूपतिभिर्विलेसुः संख्येऽपि खेऽपि च शिवाश्च सुरस्त्रियश्च ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ननु खियाभीकारस्यावश्यंभावित्वादीकार एवममादेशो भविष्यति, कचमुक्त्वा निर्निमित्त इति ? न वाच्यम्, ईकारानिर्देशात् । ननु प्रच्छिद्येर्देशात्  
 १२ विर्दिष्ट एव, ङी ई ङीति—खिया ई ङीत्वस्य योतक ईकार इत्यर्थः । अर्थगत च ङीत्वमीकारे आरोप्य “ङीकृत” इति दाम् । तत्रेतरैतराश्रय  
 भवति—आदेशनिमित्त ईकारत्वदाश्रयत्वादादेश इति इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते । एव तर्हि असादेव ज्ञापकाङ्गवस्यत्रेकारो यदयमीकारे  
 आदेशा शक्तिः । तथापि पञ्चभिः क्रोष्टीभिः क्रीत इति पञ्चक्रोष्टीशब्दादिकण “अनाम्यद्वि०” इति ङुपि “क्यादेर्गौणस्या०” इति ङीनिवृत्तौ प्रत्य-  
 १५ यलोपलक्षणप्रतिषेधादीकारनिमित्तस्तृजादेशो न प्राप्नोति । अन्तरङ्गाणां च विधीना लुपा वाचनात् पूर्वमेव तृजादेशो न लभ्यते, पुवद्भावाद् वा ।  
 तस्मात्निमित्त एवायमादेशः । नन्वेवं सत्यपि इकणि “जातिश्च णि०” ३।२।५१। इति पुवद्भावः प्राप्नोति, तस्मिन् सति ङीत्वामावापुजादेशो न  
 स्यात्, नैवम्, “प्रत्यय प्रकृत्यादे” इति हि यस्मादिकण् विधीयते तदादेरेव पुस्त्वनिमित्त क्यञ्, न दूनाधिकस्य । अत्र हि समासादिकण् विहितः  
 १८ स कचमृतस्य क्रोष्टीत्वस्य पुवद्भावः प्रवर्तयितुं पारयति । अन्तरङ्गाणां च विधीनां लुपा वाचनाद् वा पुवद्भावानवकाशः । ननु तथापि इकण् ङुप  
 पित्तस्य पुवद्भावफलत्वात् “क्यञ्चानि०” ३।२।५०। इति पुवद्भावेन ङीत्वनिवृत्त्या तस्मिन्निमित्तस्य तृजादेशस्यापि निवृत्तिः प्राप्नोति, सत्यमेव,  
 निर्निमित्तत्वादाशादिनादेव पुवद्भावो नाप्यते । अन्यथाऽसम्भित्तादेशविधाने तन्निवृत्तौ आदेशस्य निवृत्तिः स्यात्तत्त्वमित्तादेशोऽपि समानमेव  
 २१ किं निर्निमित्तत्वादाशादिनादेव पुवद्भावो नाप्यते । अन्यथाऽसम्भित्तादेशविधाने तन्निवृत्तौ आदेशस्य निवृत्तिः स्यात्तत्त्वमित्तादेशोऽपि समानमेव

२१ किं निर्निमित्तत्वादाशादिनादेव पुवद्भावो नाप्यते । अन्यथाऽसम्भित्तादेशविधाने तन्निवृत्तौ आदेशस्य निवृत्तिः स्यात्तत्त्वमित्तादेशोऽपि समानमेव  
 सोत्कण्ठेति । उत्कण्ठया सहित यथा स्यात्तथा मङ्गलमुत्सवं गतानि प्राप्तानि तै, कचकर्षणैः—केशोन्नर्दने—केशप्रहैरिति  
 यावत् च वक्रं—मुखमेवाञ्जं—कमल, तस्मिन् सुम्बनमन्योन्यवकसंयोगस्तस्मिन् ऊचादिषु वा ये नखक्षतास्त एव कर्माणि तै करणभूतैश्च  
 २४ संख्ये—युद्धे, शिवा.—जम्बूकाश, खे—वियति, सुरस्त्रियः—खर्गिष्वक्ष, श्रिया युवेन मूलराजेन हृता—रणे विष्वक्त्वा ये भूपतयो  
 वैरिराजानस्तैः साक विलेसुर्विलास चक्रुः—रेमिरे इत्यर्थः ॥ ४ ॥ समाप्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्पागच्छगगनाहर्षेणगीतार्थसावैर्भासाऽऽगमोद्धारकशैलानाट्यतिपरिपूजितपादारविन्दंआगमोदयसमिते—वर्द्धमानजैनागममंदि-  
 २७ रायनेकशासनहितवर्धकसंस्थाविर्माणोपदेशकमहारकङ्कलमूर्द्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तंवरणनिनीनमानसेनानवाप्त-  
 नवपदपीयूषपानोद्यतभयभावभावोद्बोधस्योदयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविधिसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-  
 राषन-दीर्घोद्धारकेण वैयाकरणकेसरिणा पद्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रश्रुतित्यासरजाकरावतारि-  
 ३० कायामाऽऽनन्दबोधिन्या प्रथमस्याध्यायस्य खरातप्रकरण नाम चतुर्थं पादः ॥४॥ तत्परिसमाप्तौ समाप्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

॥ अहं ॥

द्वितीयाऽध्याये प्रथमपादः ॥

त्रिचतुरस्तिस्त्रचतस्र स्यादौ ॥ २ । १ । १ ॥

३

स्त्रियामित्यनुवर्तते । त्रि चतुर इत्येतयोः स्त्रीलिङ्गे वर्तमानयोस्तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा स्यादौ विभक्तौ तिस्र चतस्र इत्येतावादेशौ यथासंख्यं भवतः । तिस्रस्तिष्ठन्ति, तिस्रः पश्य; चतस्रस्तिष्ठन्ति, चतस्रः पश्य; तिस्रभिः, चतस्रभिः; तिस्रस्यः, चतस्रस्यः; तिस्रणाम्, चतस्रणाम्; तिस्रषु, चतस्रषु; प्रियास्तिस्रोऽस्येति प्रियतिसा पुरुषः, प्रियतिस्रौ, प्रियतिस्रः; एवं प्रियचतसा, प्रियचतस्रौ, प्रियचतस्रः; प्रियास्तिस्रोऽस्य कुलस्य प्रियतिस्र कुलम्, प्रियतिस्रणी, प्रियतिस्रणि, एवं प्रियचतस्रणी, प्रियचतस्रणि; एषु विभक्त्याश्रयत्वेन बहिरङ्गक्षणस्य तिस्रचतसादेशस्यासिद्धत्वात् समासान्तः कर्तुं न भवति, परत्वात् च तिस्रादेशे कृते पश्चात् नाऽऽगमः । स्यादाविति किम् ? प्रियत्रिकः, प्रियचतुष्कः; तिस्रणां प्रियस्त्रिप्रियः, चतुष्प्रियः; प्रियत्रि कुलम्, प्रियचतुष्कुलम् । कथं तर्हि प्रियतिस्र कुलम् ? “नामिनो लुग् वा” ॥ १ । ४ । ६ ॥ इति लुकि सति स्थानिवद्भावाद् भविष्यति, यथा—हे त्रयो ! स्त्रियामित्येव ? त्रयः, चत्वारः; त्रीणि, चत्वारि, प्रियास्त्रयः त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिः, प्रियत्री, प्रियत्रयः; एवं प्रियचत्वारः, प्रियचत्वारौ, प्रियचत्वारः; अत्र त्रिचतुरावस्त्रियां समास एव तु स्त्रियामित्यादेशौ न भवतः । कथं तिस्रका नाम ग्रामः ? संज्ञाशब्दोऽयम् ॥ १ ॥

ऋतो रः खरेऽनि ॥ २ । १ । २ ॥

तिस्रचतस्रसंबन्धिन ऋकारस्य स्थाने तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा खरादौ स्यादौ परतो रादेशो भवति, अनि-१५

त्रिचतुरस्तिस्त्रचतस्र स्यादौ । स्त्रियामिति । पूर्वतत्रादिति शेष । तच्चानुवर्तमान श्रुतत्वात् त्रिचतुर इत्यस्य विशेषण, यत्-त्रिचतुर्युष्मदस्मद्ग्रहणेष्वर्थग्रहणमेव विशेषणम् । स्त्रियां द्वयोरेकस्मिन्निति येषां निर्दिष्टस्ते श्रूयमाणानामेव शब्दानां विशेषणानि न तु ससु-दायसेत्याह—त्रि चतुर इत्येतयोरित्यादि । ‘गुण कृतात्मघस्कार’ इति न्यायात् प्राप्तविशेषणसंबन्धे त्रिचतुर्युष्मदस्मद्विष्य स्यात्वाक्षित नाम विशेषो-१८ व्यते । तत्र ‘नामाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य ग्रहण भवतीति’ केवलयोस्तदन्तस्य चाऽऽदेशप्रवृत्तिः । ते च ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति’ त्रिशब्दादीनामेव भवतीति । तिस्रः, चतस्र इति । त्रिचतुर्भ्यां जशशोरनेन तिस्रचतसादेशो “अर्चौ च” इति “शसोऽता०” इति च बाधित्वा “ऋतो र०” इति रत्वम् । तिष्ठन्ति पश्येत्यनुप्रयोगौ प्रथमाद्वितीयाबहुवचनभिव्यच्यर्थौ । तिस्रणाम् इत्यादि । अत्रानेन तिस्रादेशे “ह्रस्वा-२१ पश्” इति नाम्, दीर्घस्तु न भवति ‘अतिस्रचतस्र’ इत्युक्ते । एवमन्यदपि । यद्यपि समास पुत्रि नपुसके वा वर्तते त्रिचतुरौ च स्त्रिया वर्तते, तथापि भवत्येव तिस्रचतस्रभाव इत्यादाहरति—प्रियास्तिस्रोऽस्येत्यादि । प्रियतिसा इति । अत्रानेन तिस्रादेशे सति “ऋदुशानस्फुरदशो” इति ङाऽऽदेशः । एव प्रियचतसा इत्यत्रापि । प्रियतिस्रौ इत्यादि । अत्र “ऋतो र खरे०” इति रत्वम् । नपुसके वर्तमानस्य समासस्योदाह-२४ रणान्याह—प्रियास्तिस्रोऽस्य कुलस्येत्यादि । अत्र “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गा लुग्वाघते” इत्यादेशात् प्रथममेव समासाऽवयवस्य स्यादेः “ऐकार्ये” इति लुपि प्रियत्रि, प्रियचतुर इति स्थिताभ्यां परत्वमात्रविज्ञानादन्यपदार्थसंबन्धिन्यपि स्यादौ “त्रिचतुर०” इति तिस्रादेशे च बहुव्रीहेच्यमान समासान्त “ऋञ्जित्वादि” इति कच् कस्मात् न भवतीत्याह—एदिवत्यादि । समासाद् भवन् समासान्तस्तावत् न विभक्ति-२७ मपेक्षत इत्यन्तरङ्ग, विभक्तिमपेक्षमाण पुनस्त्रिस्रादेशो बहिरङ्ग, तत्रान्तरङ्गे कचि कर्तव्ये बहिरङ्गस्तिस्त्रचतसादेशोऽसिद्ध इति ऋङ्क्षण कच् ऋदन्तत्वाभावात् न भवतीत्यर्थः । ननु प्रियतिस्रणीत्यादौ स्यादौ खरे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् “अनाम् खरे नोऽन्त” इति पूर्व नागमे कृते पश्चात्तेन व्यवधानात् कथं तिस्रादेश इति चेत् न, तिस्रादेशे कृते शब्दान्तरप्राप्त्या नागमस्यानित्यत्वात् सनिपातपरिभाषया नागमस्याप्र-३० त्तेष, द्वयोरन्यत्र सावकाशात्वात् परत्वात् पूर्वं तिस्रादेश एवेत्याह—परत्वादित्यादि । किञ्च “ऋतो र खरेऽनि” इत्यत्र अनीतिवचनमनर्थकं स्यात्, खरादौ पूर्वं नकारे तिस्रायादेशाभावात् रत्वप्रसङ्ग एव नास्तीत्यनीतिवचनात् नागमादे पूर्वं तिस्रायादेश इति विज्ञायत इति । प्रिय-त्रिक इत्यादि । प्रियास्तिस्रो यसेत्यादिविग्रहे ‘अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गा लुग् वाघते’ इति, “ऐकार्ये” इति समासावयवविभक्त्युक्तिः, ३३ “शेषाद्वा” ७।३।१७। इति क्विप्, तेन स्यादेव्यवधानात् तिस्रायादेशाभावः । एव त्रिप्रिय इत्यादावपि । प्रियत्रि कुलमित्यादि । अत्र “अनतो लुप्” इति स्यादेरभावात् तिस्रायादेशः । कथमिति । प्रियतिस्र कुलम् इत्यादौ प्रियत्रिशब्दात् “अनतो लुप्” इति अन्तरङ्गमपि तिस्रादेशं पूर्वोक्तन्यायेन बाधित्वा लुपि कृतायां “लुप्पश्च्येनत्” इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् स्यादेरभावात् कथं तिस्रादेश इति प्रश्नार्थः । समाधत्ते— ३६ “नामिनो लुग् वा” इत्यादि । लुक्पक्षे “लुप्पश्च्येनत्” इत्यनुपस्थानादित्यर्थः । स्पष्टब्रूते “अनतो लुप्” इति सृजे तत्त्वप्रकाशिकायामानन्द-बोधिन्या च । हे त्रयो ! इति । अत्र “नामिनो०” इति लुकि सति तस्य स्थानिवद्भावात् “ह्रस्वस्य गुण” इति सिना सह गुण सिद्ध इति । त्रयः इत्यादि । अत्र त्रिचतुरो स्त्रियामवर्तमानत्वात् न तिस्रायादेशः । यदा हि समास स्त्रियां वर्तते त्रिचतुरौ तु पुनपुसकयोस्तदादेशाभावः, ३९ स्त्रियामिति विशेषणस्य त्रिचतुरोरेव निर्णोतत्वादित्याह—अत्रेत्यादि । कथमिति । त्रिशब्दात् संज्ञायां के आपि बहुवचने च स्यादेव्यवधानात् कथं तिस्रभाव इति प्रष्टुरभिप्रायः । समाधत्ते—संज्ञाशब्दोऽयमिति । स्त्रीलिङ्गबहुवचनविषय चेद नामोच्यते नात्र त्रिशब्दार्थोऽस्तीति । पृषोदरा-दिदर्शनाद्वाऽत्र त्रिशब्दस्य तिस्रभावः ॥ १ ॥

ऋतो रः खरेऽनि । र इति विधेयम् । खर इति निमित्त, अनोति च तस्य विशेषणम् । ऋत इति षष्ठ्यन्तेन स्थानी ऋकारः प्रतिनिर्दिश्यते, स च त्रिचतुर इत्यनेन विशेष्यते, तत्र त्रिचतुरोर्ऋकाराभावात्तदादेशप्रतिषेधित्वाह—तिस्रचतस्रसंबन्धिन इत्यादि । खरादौ स्यादौ इति ।

४२

४५

नकारविषयादन्यत्र; समानदीर्घत्वाद्दुरामपवादः । तिस्रः चतस्रस्तिष्ठन्ति, पश्य वा; प्रियतिस्रौ, प्रियचतस्रौ; प्रियति-  
 स्रम्, प्रियचतस्रम्; प्रियतिस्रः, प्रियचतस्रः आगतं स्वं वा; प्रियतिस्रि, प्रियचतस्रि निधेहि । खर इति किम् ? तिस्रिभिः,  
 १ चतस्रिभिः । अनीति किम् ? प्रियतिस्रिणी, प्रियचतस्रिणी; प्रियतिस्रिणि; प्रियचतस्रिणि; तिस्रिणाम्, चतस्रिणाम् । ऋत  
 इति तिस्रचतस्रौः प्रतिपर्यर्थम्, इतरथा हि तदपवादस्त्रिचतुरोरेवायमादेशो विज्ञायेत । अन्ये तूपसर्जनयोस्त्रिस्र-  
 चतस्रगद्दयोर्दौं शुटि चानि खरादौ रत्वविकल्पमिच्छन्ति, तन्मते-प्रियतिस्रि, प्रियतिसरि; प्रियचतस्रि, प्रियचतसरि;  
 २ प्रियतिस्रौ, प्रियतिसरौ, प्रियचतस्रौ, प्रियचतसरौ; प्रियतिस्रः, प्रियतिसरः; प्रियचतस्रः, प्रियचतसरः; प्रियतिस्रम्,  
 प्रियतिसरम्; प्रियचतस्रम्, प्रियचतसरम्; प्रधानस्य तु नित्यमेव रत्वम्-तिस्रः, परमतिस्रः; चतस्रः, परमचतस्रः ।  
 अपरे त्वनि खरे सर्वत्र विकल्पं जस्यसोस्तु नित्यं मन्यन्ते, तन्मते-प्रियतिस्रौ, प्रियतिसरौ; प्रियचतस्रौ, प्रियचतसरौ;  
 ३ प्रियतिस्रः, प्रियतिस्रुः; प्रियचतस्रः, प्रियचतस्रुः आगतं स्वं वा इत्यादि । जस्यसोस्तु-तिस्रः, चतस्रः; परमतिस्रः,  
 परमचतस्रः; प्रियतिस्रः, प्रियचतस्रः तिष्ठन्ति पश्य वेति नित्यमेव रत्वम् ॥ २ ॥

### जराया जरस् वा ॥ २ । १ । ३ ॥

१२ जराशब्दस्य स्वसंबन्धिन्वयसंबन्धिनि वा खरादौ स्यादौ परतो जरस् इत्ययमादेशो वा भवति । जरसौ, जरसः;  
 जरसम्, जरसौ, जरसः; जरसा, जरसे, जरसः; जरसः जरसोः, जरसाम्, जरसि, जरसोः; पक्षे-जरे, जराः; जाराम्,  
 जरे, जराः; जरया, जरयै, जरायाः २, जरयोः २, जराणाम्, जरायाम्, एकदेशविकृतसानन्यत्वात् अतिजरसौ;  
 १५ अतिजरौ, अतिजरसः, अतिजराः; अतिजरसम्, अतिजरम्, अतिजरसः, अतिजरात्; अतिजरसा, अतिजरेण; अतिजरसैः,  
 अतिजरैः; अतिजरसे, अतिजरायः; अतिजरसः, अतिजरात्; अतिजरसः, अतिजरस्य, अतिजरसोः, अतिजरयोः २, अति-  
 जरसाम्, अतिजराणाम्, अतिजरसि, अतिजरे । नपुसके स्यमोरम्भावे-अतिजरसम्, अतिजरम्; "जरसो वा" ॥ १ ।  
 १८ ४।६०॥ इति लुपि-अतिजरः, अतिजरसी, अतिजरे तिष्ठतः पश्य वा; शौ परत्वात् जरसादेशस्ततो नाऽऽगमः-अतिजरांसि,

पूर्वसूत्रादनुष्ठेन स्यादौ इत्यनेन खर इति संबन्धे "सप्तम्या आदिः" इति आदिसप्रत्यय इति भाव । ननु खरादौ तिष्ठाद्यादेशे परत्वात् नागमा  
 पानेन रत्वप्रभृते ऋ अनीत्युपपुज्यत इति चेदुच्यते, अनीति विषयसप्तमी, तेन नकारविषये रत्वस्य व्याहृतिरित्याह-नकारविषयादित्यादि । ननु  
 २१ खरादौ स्यादौ तिष्ठाद्यादेशे "इवर्णोदे०" इति रत्व सिद्धमित्यत आह-समानदीर्घत्वेत्यादि । "इवर्णोदे०" इति रत्व बाधित्वा परत्वात् "शसो-  
 ऽता०" इति दीर्घत्वस्य, "अर्णोच" इति अर, "ऋतो ड्रु" इति ड्रुश्च रत्वमपवाद इत्यर्थ । तिस्र इत्यादि । त्रिचतुर्भ्यां जस्यसो रूपम् । तत्र जति  
 "अर्णो च" इत्यरो रत्वमपवाद । शक्ति तु "शसोऽता०" इति समानदीर्घत्वस्य रत्वमपवाद । प्रियतिस्रान्वित्यादि । अरं बाधित्वा रत्वम् । प्रिय-  
 २४ तिस्रमित्यादि । अस्मि "समानादमोऽत" इत्यकारलुक् अरं च बाधित्वा रत्वम् । "समानदीर्घत्वाद्दुरामपवादः" इति अकारलुकोऽप्युपलक्ष-  
 णम् । षट्चित्तो-प्रियतिस्रः, प्रियचतस्र इति । "ऋतो ड्रु" इति ड्रुर् बाधित्वा रत्वम् । आगतं स्वं वेत्युपयोगो षष्ठीपञ्चम्येकवचननाभिव्यक्त्यर्थो ।  
 जौ-प्रियतिस्रि इत्यादि । अरं बाधित्वा रत्वम् । तिस्रमितित्यादि । भिद्य खरादिसादित्वाभावादत्व न । प्रियतिस्रिणी इत्यादि । अत्र खरा-  
 २७ दिस्यादे सत्त्वेऽपि नकारविषयसत्त्वात्त्वाभाव । तिस्रिणाम् इति । अत्रामो नामादेशे नकारविषयत्वं धोष्यम् । ननु ऋत इति किमर्थम् ?  
 यावता पूर्वसूत्रात्तिस्रचतस्र इत्येतयोरनुष्ठेयो तयोश्च यथान्ततया विपरिणामेन कार्यप्रतिपत्तौ "पक्षा अन्यस्य" इति तदन्तस्य विधिर्भवत् ऋकारस्यैव  
 भविष्यतीत्याह-ऋत इत्यादि । अयमर्थ-तिस्रचतस्र इति प्राग्विधेयतया प्रतिपत्तौ न कार्ययोगितया, कार्ययोगे तु त्रिचतुर इत्यस्यैव कार्ययोगि-  
 ३० तया प्रतिपत्तस्य कार्ययोगात् इहाऽनुष्ठेयविज्ञायेत । तत्राय विधिस्त्रिचतस्रौ प्रात्योस्त्रिचतुरोरभ्यन्तस्यदपवादः स्यात् तदन्तस्य, ऋत इत्युच्य-  
 माने तु तिस्रचतस्रावन्तरेण त्रिचतुरोर्ऋकाराभावात्तयोरेवायमादेशो विज्ञायत इति तदपवादो रेफो मा भूदिति ऋकारस्य इत्युच्यते । इतरथा इति ।  
 तिस्रचतस्रौ प्रतिपत्त्यर्थं ऋत इत्यभावे इत्यर्थ । तदपवाद इति । व्यञ्जनादौ स्यादौ पूर्वयोग सावकाश खरादौ तु अयमेव स्यादिति भाव ।  
 ३३ आचार्यशाकटायनादयस्तु तिष्ठाद्यादेशस्य शौ शुटि चानि खरादौ रत्वविकल्पमिच्छन्तीत्याह-अन्ये त्वित्यादि । ललितस्वभावस्तु प्रधानेऽप्रधाने  
 च जस्यसोरेव नित्यं रत्वं मन्यते, अन्यत्र तु विकल्पमित्याह-अपरे त्वित्यादि । वार्तिककारस्तु जस्यसोरेव रेफमिच्छति नान्यत्र ॥ २ ॥

जराया जरस् वा । पूर्वसूत्रात् स्यादौ खरे इति चानुवर्तते । खरे इति खरादामित्यर्थक "सप्तम्या आदिः" इति आदिपदोपस्थिते ।

२३ जराया खरादौ स्यादौ जरस् वा इत्यन्वयस्यदर्थमाह-जराशब्दस्य इत्यादिना । 'जूर्' षयोहानौ, अत "वितोऽर्" ५।३।१०७। इत्यङ्,  
 "ऋवर्णोदशोऽङ्" ४।३।१०। इति गुणे, "आत्" इत्यापि-जरा, तत खरादौ स्यादौ अनेकवर्णत्वात् सर्वस्य पक्षे जरसादेशे समुदाहरति-जरसा-  
 वित्यादि । पक्षे-जरासादेशाभावपक्षे इत्यर्थ । उदाहरति-जरे इत्यादि । ननु जरास्यन्तान्तादित्यादि विग्रहे "गोधान्ते०" इति ह्रस्वत्वे जरा-  
 २९ शाब्दस्याभावात् कथं जरसादेश इत्याह-"एकदेशविकृतस्य०" इत्यादि । छिन्नेऽपि पुच्छे श्च श्वे, न चाथो न च गर्दम इति न्यायादिति भाव ।  
 ननु जरसा दन्ता शीर्यन्ते, जरसे त्वा परिदधुरिति तृतीयाचतुर्थ्येकवचनयोरेव बाहुल्येन प्रयोगदर्शनात् कथं सर्वत्रोदाहृतम् ? उच्यते-खरादौ  
 सामान्येन विधानात् विशिष्टखरप्रहणे प्रमाणाभावादिति । अत्र च स्याद्याक्षिप्तनामाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च प्रहणात् यथा केवलस्य भवति तथा  
 २४ तदन्तस्यापि । तत्र यदा नपुसक जराशब्दान्तनामाभिधेय अतिजरांसि प्राध्याणकुलानीति तदा नपुसकाश्रये ह्रस्वत्वे कृते "एकदेशविकृतसानन्य-  
 त्वेन" जराशब्दान्तनाम भवति, ततो जस्यसो शावनेन जरसादेशश्च प्राप्नोति खरान्तलक्षणनागमश्च । तत्र जरसा कुण्डलीत्यत्र द्वयो सावका-  
 शात्त्वात् परत्वात् जरसादेश एवेत्याह-शौ परत्वादित्यादि । ननु पूर्वमपि नागमे कृते सनागमासादेशे पुनश्चिदन्तलक्षणे नागमे रूपस्य सिद्धत्वात्  
 २५ किं परत्वविन्तया इति चेत् ? न, यदि पूर्व नागम स्यात् स च पूर्वप्रवृत्तिभक्त प्रकृतिमेव न व्यवदस्यात्, अवयवस्य तु जरशब्दस्य व्यवधायक  
 इति "निर्दिश्यमानस्याऽऽदेशा भवन्तीति" नामाधिकारे सत्यपि तदुत्तरपदग्रहणे जरान्ताया प्रकृतेर्योऽवयवो जरशब्दस्यस्य विभक्तौ जरसादेशो  
 २६ विधीयमानो न प्राप्नोति । अद्यापि स्यात्तथापि अकारात् परस्य नागमस्य श्रवणं स्यात् । तस्मात् परत्वात् पूर्व जरसादेश एवैष्टव्य । तत्र कृते पुन-

अतिजराणि तिष्ठन्ति पश्य वा । स्त्रियां तु विभक्तेरापा व्यवधानात् न भवति । स्वर इत्येव ? जरा, जराभ्याम्; जराभिः । सादावित्येव ? जराग्रम्, जारः; जारेयः ॥ ३ ॥

अपोऽद् भे ॥ २ । १ । ४ ॥

अप् इत्येतस्य स्वसंबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा भकारादौ स्यादौ परतोऽद् इत्ययमादेशो भवति । अद्भिः, अद्भ्यः, अद्भ्याम्; अत्यद्भ्याम् । म इति किम् ? आपस्तिष्ठन्ति, अपः पश्य, अपाम्; अप्सु । सादावित्येव ? अन्भक्षः ॥ ४ ॥

आ रायो व्यञ्जने ॥ २ । १ । ५ ॥

स्वसंबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा व्यञ्जनादौ स्यादौ परे रैशब्दस्याऽऽकारोऽन्तादेशो भवति । राः, हे राः !, अतिराः, राम्याम्, राभिः, राम्यः; रासु । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् अतिराम्यां कुलाभ्याम्, अतिरासु कुलेषु । व्यञ्जन इति किम् ? रायौ, रायः । सादावित्येव ? रैसूत्रम्, रैमयम् । स्मीत्येव सिद्धे व्यञ्जनग्रहणमुत्तरार्थम् ॥ ५ ॥

युष्मदस्मदोः ॥ २ । १ । ६ ॥

युष्मदस्मदित्येतयोः शब्दयोः स्वसंबन्धिनि अन्यसंबन्धिनि वा व्यञ्जनादौ स्यादौ परे आकारोऽन्तादेशो भवति । त्वाम्, माम्; अतित्वाम्, अतिमाम्; युवाम्, आवाम्; अतियुवाम्, अत्यावाम्; युष्मान्, अस्मान्, अतियुष्मान्, अत्यस्मान्, युवाम्याम्, आवाम्याम्; अतियुवाम्याम्, अत्यावाम्याम्; युष्माभिः, अस्माभिः; अतियुष्माभिः, अत्यस्माभिः; युष्मासु, अस्मासु; अतियुष्मासु, अत्यस्मासु । युष्मयतेरस्मयतेश्च क्तिप्-युष्म्, अस्म्; अनयोरमौभ्यांसु परत्वात्

न्तलक्षणेनागम । अत एव अतिजरा ज्ञिय इत्यादौ "गोशान्ते" इति हस्तत्वे, "आत्" इत्यापि, तेन विभक्तिस्वरस्य व्यवधानात् जरसादेशो १५ न भवतीत्याह—स्त्रियां त्वित्यादि । जरा, जराभ्यामित्यादि । सिभ्याम्भिसां खरादित्वाभावात् जरस् । जराग्रमित्यादि । जराया अग्रमिति समास, अग्रमासो वा । एषु स्यादित्परकत्वाभावात् जरस् । जारः इति । जराया अग्रमिति विग्रहे "तस्येदम्" इत्यण् । जारेय इति । जराया अपत्यमिति "द्विस्वरादनया" ६।१।७१ इत्येण् ॥ ३ ॥

अपोऽद्भे । अत्र सादावित्यनुवर्तते । तच्च भे इति सप्तम्यन्तेन विशेष्यते, तथा च सप्तम्या आदिरिति तदादिभिर्ज्ञानम् । अप मादौ स्यादौ अद् इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—अप् इत्येतस्य इत्यादि । अत्र नामाधिकारात्तस्य च तदन्तस्य ग्रहणेऽप्येकवर्णत्वात् "षष्ठा अन्त्यस्य" इति पकारसाय दकार आदेश । अथवा—अदित्ययमादेशस्तत्रापि प्रागप्यकारस्य विद्यमानत्वादनुवादकत्वाद्दकारमात्रस्यात्रादेशत्वम् । अथवा—समुदाय उपदेयस्त्वदर्थमवयोपादानम्, तत्र यदर्थं प्रयास च एव साक्षादुपाधीयते इति विद्यमानस्याप्यकारस्य पुनरुपादानम् । अपृशब्दस्य केवलस्य बहुवचनविषयत्वात् बहुवचनेनोदाहरति—अद्भिः इत्यादि । शोभना अतिशयिता वा आपो ययोरिति विग्रहे "पृजात्वे प्राक् टात्" इति समासान्तप्रतिषेधे खप्, अत्यप् इति स्थिताङ्गामि सत्यपि तदन्तग्रहणे "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इति अप एवादेशे—स्वद्भ्याम्, अत्यद्भ्याम् इति । आपस्तिष्ठन्ति इत्यादि । एषु भादिस्यादित्वाभावात् नादादेश । अन्भक्ष इति । "शीलिकाभिः" ५।१।७३ इति ण । अत्र सादावित्यनुवर्तनात् नाद् ॥ ४ ॥

आ रायो व्यञ्जने । राय इति रैशब्दस्य षष्ठ्यन्तम् । पूर्वस्मात् सादावित्यधिक्रियते । व्यञ्जने इत्यनेन सादाविति विशेष्यते, तत्त्वत्वाद्-२७ दिवोष । व्यञ्जनादौ स्यादौ राय आ इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—स्वसंबन्धिनीत्यादि । "षष्ठा अन्त्यस्य" इति न्यायेन आकारादेशो रैशब्दान्तादेशैव भवतीत्याह—आकारोऽन्तादेश इति । राः इति । रैशब्दात् सौ अनेनाऽऽत्वे कत्वविसर्गौ । एव रायमतिक्रान्त इति विग्रहे—अतिरा इति । ननु सत्यपि तदन्तग्रहणे रैशब्दान्तस्य नपुंसकवृत्तौ "ह्रीवे" इति हस्तत्वे ततो भ्यामादौ रैशब्दस्योच्यमानमात्व रैशब्दात्मावात्तदन्तस्यादिस्यते ३० चेत्याह—एकदेशविकृतस्य इत्यादि । रायौ इत्यादि । व्यञ्जनादिस्यादेरभावात् खरादौ सादावायादेश । ननु सकारभकारावन्तरेण रैशब्दात् सादेरन्यस्य व्यञ्जनसाम्भवात्साधनार्थं च ह्रीत्येवोच्यतां किं व्यञ्जनग्रहणेनेत्याह—स्मीत्यादि । यद्युत्तरार्थं व्यञ्जनग्रहणन्तर्हि तत्रैव क्रियता किमत्रोपादानमिति चेदुच्यते, अत्रघानात् रैशब्दादामो नामादेशोऽप्यस्ति तत्रापि यदि प्रयोगस्त्वदा तस्मिन्नपि भवितव्यमित्येतदर्थमिहोपादानम् ॥५॥ ३३

युष्मदस्मदोः । अत्राविषयितार्थयोरप्रायोगिकयोरेतावनुकरणे इति ल्यदादिकार्यमेकशेषो युष्मदस्मदादिकार्यं "टाच्योसि य" इत्यनेन यत्वादि च न प्रवर्तते । पूर्वस्मात् सूत्राद् अत्र इति व्यञ्जने इति चानुवर्तते । तथाच पूर्ववत् युष्मदस्मदोर्व्यञ्जनादौ स्यादौ आ इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—युष्मदस्मदित्येतयोरित्यादि । युष्मदस्मदशब्दात् अम परत्वात् "अमौ म" २।१।१६ इति मादेशे, "त्वमौ प्रत्ययोरुत्तरपदे चैकस्मिन्" २।१।११ इति इति मान्तावयवस्य त्व इत्यादेशोऽनेनाकारान्तादेशे च "समानानाम्" इति धीर्धत्वे—त्वाम्, माम् इति । एव नामाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य ग्रहणात्तदन्तप्रतिषेधो तदन्तमुदाहरति—अतित्वाम् इति । त्वामतिक्रान्तमित्यर्थं । एवमतिक्रान्तमित्यर्थं । युवाम्, आवामिति । युष्मदस्मदो प्रथमाद्वितीयाद्विचनौप्रत्यययो "अमौ म" इति मादेशे, "मन्तस्य युवावौ द्वयो" २।१।१० इति युवावादेशे चानेनान्तस्यात्वे "समा- ३९ नानाम्" इति धीर्ध । अतियुवाम्, अत्यावाम् इति । युवाम् आवा वा अतिक्रान्तमित्यर्थं । युष्मान्, अस्मान् इति । युष्मद्व्यञ्जनात् शब्दाभ्या परस्य शस "शसौ न" २।१।१७ इति न इत्यादेशे सति व्यञ्जनादिस्यादित्वाद्नेनाऽऽत्वेनम् । अतियुष्मान्, अत्यस्मान् इति । युष्मान् अस्मान् वाऽतिक्रान्तमित्यर्थं । युवाभ्याम्, आवाम्भ्याम् इति । युष्मदस्मदोभ्यामि "मन्तस्य" इति युवावादेशोऽनेनात्वम् । अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम् इति । युवाम् आवाम् वाऽतिक्रान्ताभ्यामिति विग्रह । युष्माभिः, अस्माभिः इति । अत्र भित्ति व्यञ्जनादौ स्वरान्तेनात्वम् । एवमतिक्रान्तमित्यर्थं । युष्मयतेरस्मयतेश्च । युवामावा वा युष्मान्सांनऽऽत्वे इति विग्रहे युष्मयति, अस्मयति इति च रूपद्वयम् । क्तिप् इति । "क्तिप्" इति सूत्रेणेति भाव । किञ्चन्तात् युष्मदस्मदशब्दात् अमौभ्यांश्च परत्वात् अमौकारयोश्च मादेशे व्यञ्ज-४५ नादित्वात् नित्यत्वात् प्रकृतिमकारस्यात्वे मान्तत्वाभावात् त्वमायादेशमावे-त्वाम्, सांम्, युवाम्, आवाम् इत्यादयो न तिच्येयुरित्यन्ते

त्वमाधादेशे कृते पश्चादात्वम्-त्वाम्, माम्, युवाम्, आवाम्; युवाम्याम्, आवाम्याम् । व्यञ्जन इत्येव ? युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् ॥ ६ ॥

१

टाड्योसि यः ॥ २ । १ । ७ ॥

युष्मदस्मदित्येतयोः स्वसंबन्धिषु अन्यसंबन्धिषु वा टा ङि ओस् इत्येतेषु स्याद्विषु परेषु यकारोऽन्तादेशो भवति (टा-) त्वया, मया; अतित्वया, अतिमया; अतियुवया, अत्यावया; अतियुष्मया, अत्यस्मया; (ङि-) त्वयि, मयि; अति- १ त्वयि, अतिमयि; प्रिययुवयि, प्रियावयि, प्रिययुष्मयि, प्रियास्मयि; (ओस्-) युवयोः, आवयोः; अतियुवयोः, अत्यावयोः; अतित्वयोः, अतिमयोः; अतियुष्मयोः, अत्यस्मयोः । टाड्योसीति किम् ? त्वत्, मत् । लुगपवादौ योगौ ॥ ७ ॥

शेषे लृक् ॥ २ । १ । ८ ॥

१ यस्मिन् प्रत्यये आत्वयकारौ विहितौ ततोऽन्यः शेषस्तस्मिन् स्यादौ परे युष्मदस्मदोरन्तस्य लृक् भवति । युष्म- १ भ्यम्, अस्मभ्यम्; अतियुष्मभ्यम्, अत्यस्मभ्यम्; त्वद्, मद्; अतित्वद्, अतिमद्, युष्मद्, अस्मद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद्; युष्माकम्, अस्माकम्; अतियुष्माकम्, अत्यस्माकम् । अङ्गिष्ठे युष्मदस्मदी इति अन्तलोपे स्त्रियामाप् न २२ भवति । शेष इति किम् ? त्वयि, मयि ॥ ८ ॥

मोर्वा ॥ २ । १ । ९ ॥

युष्मदस्मदित्येतयोर्मकारान्तयोः स्वसंबन्धिनि अन्यसंबन्धिनि वा शेषे स्यादौ परे मकारस्य लृक् वा भवति । युवां

१५ चेत्याह—अनयोरित्यादि । अय भाव—उभयोरन्यत्र सावकाशत्वात् शब्दान्तरप्राप्त्या चाभित्यत्वात् पूर्वं त्वमाधादेश इति, अन्यथा पूर्वमात्वे मन्तत्वाभावात् त्वमाधादेशाभाव स्यात् ॥ ६ ॥

टाड्योसि यः । ओष ओष ओषौ, टाड ङि ओसौ चेति समाहारद्वन्द्वात् घटमी । युष्मदस्मदोरिति वर्तते । युष्मदस्मदोः टाड्योसि य

१८ इत्यन्वयस्यदर्शनाह—युष्मदस्मदित्येतयोरित्यादि । त्वया, मया इति । युष्मद् वा अस्मद् वा, इति स्थिते परत्वात् “त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे०” इति मन्तस्य त्वमादेशे “शेषे लृक्” इत्यस्यापवादोऽनेन यकारोऽन्तादेश । अतित्वया, अतिमया इति । त्वां मां वाऽतिक्रान्तेनेति विग्रह । अतियुवया, अत्यावया इति । अत्र युष्मदस्मदोर्द्विवचनवृत्तित्वात् त्वमादेशाभावः, युवां आवाम् वाऽतिक्रान्तेनेति विग्रह । अतियुष्मया,

२१ अत्यस्मया इति । अत्र बहुवचनवृत्तित्वात् त्वमादेशयुवावादेशाभावः, युष्मानस्मान् वाऽतिक्रान्तेनेत्यर्थः । एषु सर्वत्रानेन यत्वम् । ञ्बुदाहरति-

त्वयि, मयि इति । युष्मद् इ, अस्मद् इ इतिस्थिते परत्वात् “त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे०” इति त्वमादेशो दस्यानेन यत्वम् । उपसर्जने चोदाहरति—

अतित्वयि इत्यादि । पूर्ववद्विग्रह । युवयोः, आवयोः इति । युष्मद् ओषु, अस्मद् ओस् इति स्थिते “मन्तस्य युवायौ द्वयो” इति परत्वा-

२४ युवावादेशो दस्यानेन यत्वे रूपद्वयम् । नन्वोसि यत्ववचनं किमर्थम् ? विनाप्योत्तरग्रहण “शेषे लृक्” इत्यन्तस्य लोपे “एद्गुह्मोसि” इत्येत्वेऽयादेशे च युवयोरित्यादौ यत्वं सिध्यति, सत्यम्, गिच्यन्त्यस्त्रादिलोपे अकारस्याभावात् युष्मोरित्यादौ यत्वं न चिष्मतीति ओसि यत्ववचनम् । एवमति-

युवयोरित्यादि बोध्यम् । त्वत्, मत् इति । अत्र टाङ्गिष्ठोत्परत्वाभावात् यत्वं न । लुगपवादौ योगाविति । “युष्मदस्मदो” “टाड्योसि ३७ य” इति योगद्वय “शेषे लृक्” इत्यस्यापवादत्वेन बाधकमित्यर्थः ॥ ७ ॥

शेषे लृक् । युष्मदस्मदोरिति स्यादाविति चानुवर्तते । शेषे स्यादौ युष्मदस्मदोर्लृक् इत्यन्वयः । उपयुक्तान्य शेषः, कथोपयुक्तः ?

यस्मिन्नात्वयकारौ च उपयुक्त इत्याह—यस्मिन्नित्यारभ्य ततोऽन्य इत्यन्तेन । एतेन शेषपदार्थविज्ञानम् । शेष इति स्यादावित्यस्य विशेषण-

२० मित्याह—तस्मिन् स्यादाविति । “पश्चा अन्त्यस्य” इति न्यायबलेन लभ्यमर्थमाह—युष्मदस्मदोरन्तसेति । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् इति । युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस् इति स्थिते परत्वात् “अभ्यम् भ्यस” २।१।१८। इति अभ्यमादेशे “शेषे लृक्” इति अन्तस्य दकारस्य लोपे

“लुगस्यादेत्यपदे” इति अकारलोपे रूपद्वयम् । अतियुष्मभ्यम्, अत्यस्मभ्यमिति । युष्मानस्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्य इति विग्रह । पूर्ववद्रूप-

२३ सिद्धि । त्वदित्यादि । युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इति स्थिते “उसेच्चाद्” २।१।१९। इति उषेरदादेशे “त्वमौ प्रत्ययो” इति त्वमादेशयो-

कृतयो “शेषे लृक्” इत्यन्तलोपे च “लुगस्यादेत्यपदे” इत्यकारलोपः । अतित्वद्, अतिमद् इति । त्वां मां वाऽतिक्रान्तादतिक्रान्तेभ्यो चेति विग्रह । अनेन दस्य लृक्, शेष पूर्ववत् । युष्मद्, अस्मद् इति । युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस् इति स्थिते “उसेच्चाद्” इति चकारात्

२६ तत्त्वहचरितस्य पञ्चम्या बहुवचनस्य भ्यस स्थानेऽदादेशः । शेषे लृक् च । एष युष्मानस्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्य इति विग्रहे—अतियुष्मद्, अत्यस्मद् इति । युष्माकम्, अस्माकम् इति । युष्मद् भाम्, अस्मद् भाम् इति स्थिते परत्वात् “आम आकम्” २।१।२०। इत्याकर्मि

शेषे ङिति लृक् दीर्घः । एवमेव युष्मानस्मान्वाऽतिक्रान्तानामिति विग्रहे—अतियुष्माकम्, अत्यस्माकमिति । आमोऽन्यसम्बन्धित्व-

२९ विज्ञानादाकम् । ननु त्व ब्राह्मणीत्यादौ सामानाधिकरण्यात् सत्त्ववृत्तित्वात् संभाव्यमानलिङ्गयोगित्वात् युष्मभ्यमित्यादौ “पश्चा अन्त्यस्य” इति न्यायेन दकारमात्रलोपेऽकारान्तत्वात् स्त्रियामाप् प्राप्नोति । तत्त्वानिष्ठरूपतापत्तिरतस्त्वानिष्ठस्यर्थमन्त्यस्त्रादेरिति वक्तव्यं, न च वक्तव्यमित्याह—

अङ्गिष्ठे इत्यादि । अभिधेयस्याङ्गित्वात् शब्दशक्तिभावात् ताभ्यां लिङ्गरहित एवार्थोऽभिधीयत इति भावः । त्वयि, मयि इति । शेषग्रह-

३२ णामावेऽत्रापि परत्वात् लृक् प्रवर्तते ॥ ८ ॥

मोर्वा । अत्र युष्मदस्मदोरिति शेषे लृक् स्यादाविति च वर्तते । युष्मदस्मदोर्मौ शेषे स्यादौ लुगा इत्यन्वयः । नाति युष्मदस्मद्गर्भा

सामानाधिकरण्यं, तेन तत्रामान्तयोरपि युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य रूपस्य कार्यं भविष्यति इति हेतोः सामानाधिकरण्येनाह—युष्मदस्मदित्येतयो-

३५ मकारान्तयोरिति । “विशेषणान्त” इति न्यायेनात्र तदन्तत्वविज्ञानम् । मकारान्तयोर्युष्मदस्मदो “पश्चा अन्त्यस्य” इति न्यायात् मकारस्यैव कार्यं भविष्यतीत्याह—मकारस्य लुगा इति । यथा च मान्तत्वं तयोदाहरति—युवामित्यादि । युष्म भ्यस्, अस्म भ्यस् इति स्थिते

युष्मान् वा आवामस्मान् वाऽऽचष्टे णिचि, किपि, तल्लुकि च—युष्म्, अस्म् इति मान्तत्वम्; युष्मभ्यम्, युष्भ्यम्; अस्मभ्यम्, अस्मभ्यम्; युष्मद्, युष्द; अस्मद्, असद्; युष्माकम्, युष्माकम्; अस्माकम्, असाकम् । शेष इत्येव । युवान्, असान्; युषाभिः, असाभिः; युषासु, असासु; एषु पूर्वेण मकारस्याऽऽत्वम् । टाड्योसि नित्यत्वात् त्वमादि- ३ कार्येभ्यः प्रथममेव पूर्वेण मकारस्य यत्वे—युष्या, अस्या; युष्यि, अस्यि; युष्योः, अस्योः । अथ शब्दान्तरप्राप्त्या यत्वमप्यनित्यमित्याश्रीयते तदा परत्वात् पूर्वं त्वमाद्यादेशे अकारस्य यत्वे—त्या, म्या; त्व्य, म्यि; युच्योः, आच्योः । अथ 'सकृद्गते स्पद्धे यद्वाधित तद्वाधितमेव' इत्याश्रीयते तदा यत्वाभावे—त्वेन, मेन; युवयोः, आवयोः; त्वे, मे । अत्रासर्वादिस्वन्धित्वात् डेः स्मिन्नादेशो न भवति । अथ 'किवर्थं प्रकृतिरेवाह' इति सर्वादिसवन्धित्वम् तदा भवत्येव स्मिन्नादेशः । सिजसूद्धेऽप्रत्यये तु परत्वात् त्वमहमादय एवादेशा भवन्ति—त्वम्, अहम्; यूयम्, वयम्, तुभ्यम्, मह्यम्; तव, मम । एके तु मन्तयोर्युष्मदस्मदोरादेशात् नेच्छन्ति ॥ ९ ॥ ३

मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २ । १ । १० ॥

द्वित्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मन्तस्य मकारावसानस्यावयवस्य तत्संबन्धिनि अन्यसंबन्धिनि वा स्यादौ परे यथासंख्यं युव आव इत्येतावादेशौ भवतः । युवाम्, आवाम्; युवाभ्याम्, आवाम्भ्याम्; युवयोः, आवयोः; अतिक्रान्तौ १२ युवाम् आवां वा अतियुवाम्, अत्यावाम्; अतिक्रान्तं युवाम् आवां वा अतियुवाम्, अत्यावां पश्य; अतिक्रान्तौ युवाम् आवां वा अतियुवाम्, अत्यावां पश्य; एवम् अतियुवान्, अत्यावान्; अतियुवया, अत्यावया; अतियुवाभ्याम्, अत्यावाम्भ्याम्; अतियुवामिः, अत्यावामिः; अतियुवाभ्याम्, अत्यावाम्भ्याम्; अतियुवत्, अत्यावत्, अतियुवाम्याम्, अत्यावाम्याम् आगतम् । १५

चतुर्थावहुवचनस्याभ्यमादेशे पक्षे मकारलोपे च—युष्मभ्यम्, युष्भ्यमित्यादि । तथा पश्चम्या भ्यतो "छत्वेष्वाद्" इत्यदादेशे पक्षे मकारलोपे च—युष्मदित्यादि । शसि भिसि ऋपि तु शेष इति वचनात् पूर्वेणात्वमेवेत्याह—एचिवित्यादि । पूर्वेण—“युष्मदस्मदो” इत्यनेनेति भाव । अथ युष्म् अस्म् इति स्थितस्य टायां ङानोसि च यत् प्रप्नोति त्वमाद्यादेशश्च, ततो नित्यत्वात् मकारस्य यत्वे मपर्यन्तत्वाभावात् पश्चात् त्वमाद्यादेश- २० भाव इत्याह—टाड्योसीत्यादि । तदुदाहरति—युष्या इत्यादि । अथ शब्दान्तरप्रवृत्त्या यत्वस्थानित्यत्वे द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् त्वमाद्यादेशस्त्वदापि 'पुन प्रसङ्गविज्ञानाद्' अकारस्य यत् प्रप्नोतीत्याह—अथेत्यादि । तदुदाहरति—त्या इत्यादि । अथ सामान्याश्रयत्वात् पुन प्रसङ्गविज्ञानाभावात् 'सकृद्गते' इत्याश्रयात्त्वाभावात् एवेत्याह—अथ सकृद्गते इत्यादि । तथा चोदाहरति—त्वेन इत्यादि । ननु त्वे २१ मे इत्यत्र अकारान्तत्वात् सिन्नादेश कथं न भवतीत्याह—अत्रासर्वादीत्यादि । अथ किवर्थमिति । अथ भाव—दध्यादिशब्दस्य स्मो- लोपेऽपि तदर्थाभिधायकत्ववत् प्रकृतेरेव किवर्थाभिधायकत्वम्, अन्यव्यतिरेकाभ्यामवस्थितस्यैव तदर्थाभिधायकत्वात् सर्वादिस्वन्धित्वात् भवति सिन्नादेश । परत्वादिति । द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वेनेति शेष । मकारान्तयोर्युष्मदस्मदोरादेशाभावमिच्छता मतमुपन्यस्यति—एके त्वि- २४ त्यादि । एकेषां मते मकारस्य लृग् भवत्येव । स्पष्टेद 'मपर्यन्तस्य' पा० ७।२।११। भाष्यकैयटयो ॥ ९ ॥

मन्तस्य युवावौ द्वयोः । युष्मदस्मदोरिति स्यादामिति चातुर्वर्तते । द्वयोर्युष्मदस्मदोर्मन्तस्य स्यादौ युवावौ इत्यन्वय । द्वयोरित्यनेन द्रव्यप्रधानत्वात् सामान्यावचिनाऽपि युष्मदस्मदर्थ एव द्वित्वविशिष्टो निर्दिश्यतेऽर्थान्तरे तयोर्द्वैत्यभावात् । स्यादिविशेषणत्वे तु गुणाभिधायित्वात् २७ स्यादुर्गुणप्रधानतया द्वित्व इति निर्दिश्येत, यथा "द्वित्वे वात्रौ" इत्याह—द्वित्वविशिष्टे इत्यादि । अर्थे इति । स्वाभिधेय इत्यर्थ । "मोर्वा" इति युष्मदस्मदुत्पत्त्यस्य निर्देशात् सामानाधिकरण्याकाङ्क्षादिह वैयधिकरण्येनाऽह—युष्मदस्मदोर्मन्तस्येत्यादि । यदि मन्तयोर्युष्मदस्मदोरिति सामानाधिकरण्यं विश्रायते तदा णिजन्तात् किप्येव विधि स्यात्, न दकारान्तयोरिति । ननु "शेषे लृक्" इत्यादौ स्वयं कार्ययोगित्वेन विज्ञातयो- ३० युष्मदस्मदो कथमिह मन्तस्येत्येतद्विशेषणत्वमिति चेत् १ सत्यम्, भवतु तत्र कार्ययोगित्वेन विशेष्यत्वम्, इहातुष्टतयोस्तु विशेषणतैव विज्ञातये । शब्दो हि यत्र सन्निधीयते तत्र तदुपकारयोग्यतया परिणतिमासादयति । यदि चात्रापि युष्मदस्मदावेव कार्ययोगिणौ तदाऽन्तप्रहणमनर्थक, भोरित्येवोच्येत, पूर्वसूत्रोक्तं चातुर्वर्त्येदिति । वैयधिकरण्ये तु 'म' इत्युच्यमाने मकारस्यैव कार्ययोगित्वं स्यादिति तदन्तस्य कार्ययोगित्वात्थमन्त- ३२ प्रहणमर्थवदिति । नन्वत्रान्तभूतान्तार्थपरिग्रहार्थं परिग्रहण विधेयम्, अन्यथा युष्, अस् इत्येतयोरैव आदेशा स्युर्न युष्मदस्मदित्येतयो, नैष दोष, अन्तशब्दस्यावयववचित्वादन्यत्वेन विरुद्धमागत्वात् समुदायस्य समातार्थत्वादन्यपदार्थोऽवयवमन्तार्थात् इति । न च नयन्त क्षेत्र- मित्यन्तान्तशब्दसद्भावेऽपि नया क्षेत्रेऽननुप्रवेशात् कथमेवमुच्यते इति वाच्यम्, तत्रावयवार्थाऽसमवादादन्तशब्दस्य समीपवचनत्वात् । यत्र ३३ त्ववयवत्व सामीप्यं च समर्थति तत्रावयवत्वमेवाश्रीयते, अन्तशब्दस्यावयववचित्वेन प्रसिद्धतरत्वात्, ततश्च मपर्यन्तस्यादेशलाभाच्चार्थं परि- प्रहणेन । एव तर्थाभिधायित्वार्थं परिग्रहणं कर्तव्यम्, यदि युष्मदस्मदी मान्ते अथाप्यमान्ते सर्वस्याप्यादेशाः स्युरिति, अन्यथा मन्तस्येत्युच्यमाने यत्रैव मान्तयुष्मदस्मदी तत्रैवादेशा स्यु, तथाच सति सामानाधिकरण्येन विशेषणविशेष्यभाव स्यात् । अथापि तस्य प्रयोजुरायत्तत्वाद्द्वैविधि- ३५ करण्यमाश्रीयते—युष्मदस्मदोरवयवस्य मन्तस्य इति, तथापि—यत्र मान्ते युष्मदस्मदी तत्र भेदाभावादादेशा न स्यु । न च व्यपदेशिवद्भावोऽस्ति, 'अनात्रा' इति प्रतिषेधात् । परिग्रहे तु तदुपादानसामर्थ्याद्युष्मदस्मदवयवेषु युष्मदस्मदच्छब्दो वर्तते इति सर्वत्रैवादेशसिद्धिः । वैयधिकरण्येन वा संबन्धे परिग्रहोपादानसामर्थ्याद् 'अनात्रा' इति प्रतिषेधाप्रवृत्त्या मान्तयोरपि तयोरादेशसिद्धिः । न कर्तव्यम्, "विशेषणमन्त" इति अत्रा- ४२ न्तत्वे लृक्चे पुनरन्तप्रहणात्तदर्थलाभादिति । युवाम्, आवामिति । अत्र प्रक्रियोका । एव युवाभ्यामित्यापि पूर्ववत् । उपसर्जनयोर्युष्मद- स्मदोर्द्वैविध्यात्त्वे उदाहरति—अतिक्रान्तौ युवामित्यादि । एवमत्यावामित्यत्रापि दृश्यम् । अतियुवाम्, अत्यावाम् पश्येति । पश्ये- स्युप्रयोगो द्वितीयैकवचनसप्रत्ययाय । द्वितीयाद्विवचने च रूप दर्शयति—अतिक्रान्तौ युवामित्यादि । गदुवचने च—अतियुवान् इत्यादि । ४५

१-२-१ X X इति प्रतिलिखे पाठो नास्तीति पु० । ४० न्यां देहि अतियुवभ्यम् अत्यावभ्यम् पु० ।

अतियुवत्, अत्यावत्, अतियुवयोः, अत्यावयोः स्वम्; अतियुवाकम्, अत्यावाकम्; अतियुवयि, अत्यावयि; अतियुवयोः, अत्यावयोः, अतियुवासु, अत्यावासु । सि जस् डे डस् इत्येतेषु पुनः परत्वात् त्वमहमादयः । मन्तस्येति किम् ? मकारावघ्ने-  
१ र्थेया स्यात् न तु सर्वस्य, तेन युवकाम्यामावकाम्यामित्यत्राक्श्रुतिः, युवयोरावयोरित्यत्र तु दकारस्य यत्वं सिद्धम्;  
अन्यथा युव्योराव्योरित्यनिष्टं स्यात् । द्वयोरिति किम् ? युष्मान्, अस्मान्, युष्मामिः, अस्मामिः; युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्;  
युष्मत्, अस्मत्; युष्माकम्, अस्माकम्; युष्मासु, अस्मासु । द्वयोरपि युष्मदस्मद्विशेषणं किम् ? युष्मानस्मानतिक्रान्तौ;  
२ अतियुष्माम्, अत्यस्माम्; अतियुष्माम्याम्, अत्यस्माम्याम्; अतियुष्मयोः, अत्यस्मयोः; अत्र समास एव द्वित्वविशिष्टेषु  
वर्तते, न युष्मदस्मदी; इति युवावादेशौ न भवतः । सादावित्त्वेव ? युवयोः पुनः युष्मत्पुत्रः, आवयोः पुनः अस्-  
त्पुत्रः, युवयोरिदम् युष्मदीयम्, आवयोरिदम् अस्मदीयम् ॥ १० ॥

१ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् ॥ २ । १ । ११ ॥

एकत्वविशिष्टेषु वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मकारान्तस्यावयवस्य स्वसंबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा स्यादौ परे प्रत्ययो-  
त्तरपदयोश्च परयोर्वयासंख्यं त्व म इत्येतावादेशौ भवतः । त्वाम्, माम्; त्वया, मया; त्वद्, मद्; त्वयि, मयि, अति-  
२ क्रान्तौ त्वामतित्वाम्, अतिमाम् तिष्ठतः; अतिक्रान्त त्वां मां वा अतित्वाम्, अतिमां परय; अतित्वान्, अतिमान्;  
अतित्वया, अतिमया; अतित्वाम्याम्, अतिमाम्याम्; अतित्वामिः, अतिमामिः; अतित्वाम्याम्, अतिमाम्यां देहि; अति-  
त्वम्यम्, अतिमम्यम्; अतित्वत्, अतिमत्; अतित्वाम्याम्, अतिमाम्याम् आगतम्; अतित्वद्, अतिमद्; अतित्वयोः,  
३ अतिमयोः स्वम्; अतित्वाकम्, अतिमाकम्; अतित्वयि, अतिमयि, अतित्वयोः; अतिमयोः, अतित्वासु, अतिमासु । सिज-  
सूडेडसु पुनः परत्वात् त्वमहमादयो भवन्ति । प्रत्ययोत्तरपदयोः खत्वपि-तवायं त्वदीयः, मदीयः, त्वन्मयम्, मन्मयम्;  
त्वामिच्छति त्वद्यति, मद्यति, त्वमिवाचरति त्वद्यते, मद्यते, त्वया कृतं, मया कृतं-त्वत्कृतम्, मत्कृतम्, त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः;  
४ त्वद्धितम्, मद्धितम्; त्वत्प्रधानः, मत्प्रधानः । त्वामाचष्टे त्वदयति, मदयतीत्यत्र नित्यत्वादन्यस्वरादिलोपात् प्रागेव

अत्र “शसो न” इति नत्वम् । एवमन्यदपि । स्वमिति । षष्ठीप्रत्ययाय । ननु सिजसूडेडसुऽतिक्रम्य कथमुदाहृतम्, किन्त्वत्र युवावौ न भवतः ।  
ओमित्याह-सिजसूडे इत्यादि । परत्वात् त्वमहमादय इति । यदि परत्वेन त्वमहमादय स्युर्त्वाहं “परादन्तरङ्ग वलीय” इति न्यायात् युवा-  
२ वादय प्राप्नुवन्ति इति चेद्, उच्यते-परत्वात्-विशेषमिहितत्वेन प्रकृष्टत्वादिसर्थं । मन्तस्येति किम् इति । युष्मदस्मदो समस्वयोरैव युवा-  
वादेशयो कृतयोरपि आत्वे मत्वे च युवाम्, आवाम् इत्यादिसिद्धेरिति प्रश्नः । समाचष्टे-मकारावघ्नेरित्यादि । तेन-मकारावघ्नेपदेशार्थं  
मन्तस्येति सत्त्वेन । युवकाम्यामावकाम्यामकृश्रुतिरिति । अस्मिन् मन्तस्येति वचने “युष्मदस्मदोऽसौमादिस्यादे” ॥ ३।३।३० इति भ्यामि  
२ अन्त्यस्वरात् पूर्वमकि कृते ‘तन्मध्यपठितस्य तद्ग्रहणेन प्रहणात्’ सर्वस्यादेशोऽकृषणं न स्यात्, तथा युवयोरावयोरित्यत्र सर्वदेशामावे दकारस्य  
यत्वम् । यदि सर्वदेश स्यात् किमत्रानिति स्यात्, यतस्त्रापि “एद्ग्रहणोसि” इत्येत्त्वे सिध्यत्येव युवयोरावयोरिति १ सत्व, यद्येत्त्वं लभ्येत, तस्य  
न लभ्य, “टाह्वोषि य” इति तदपवादस्य यत्वस्य प्रवृत्तौ युव्योराव्योरित्यनिष्टं स्यात् । युष्मान् इत्यादि । अत्र षडर्थं युष्मदस्मदी न ह्यर्थं इति  
३ द्वयोरिति वचनाद्युवावौ न भवतः । द्वयोरपीति । यदि द्वयोरिति युष्मदस्मदी न विशेष्येयात् किन्तु स्याद्विशेष्येत् तदाऽत्रापि समासस्य ह्यर्थ-  
वृत्तित्वात्संबन्धिनि द्वित्वाभिधायिनि स्यादौ धादेशौ स्यातामिति द्वयोरिति विशेषणम्, तयोश्च षडर्थवृत्तित्वाद्युवावौ न भवत इति । युष्मत्पुत्र  
इत्यादि । अत्र प्रत्ययस्य स्यादे “ऐकार्ये” इति छपि, युष्मदस्मदोद्वर्धयत्वात् सादावित्यधिकारमन्तरेणापि युवावौ प्राप्नुतः; सादावित्यधिकार-  
४ माणे “छप्यथ्येनत्” इति स्थानिवत्प्रतिषेधात् स्याद्यभावात् भवत इति ॥ १० ॥

त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् । युष्मदस्मदोरिति चकारात् स्यादाविति मन्तस्येति चानुवर्तते । एकस्मिन् युष्मदस्मदोर्मन्तस्य  
स्यादौ प्रत्ययोत्तरपदे च त्वमौ इत्यन्वयः । उत्तरं च तत् पद चेति “दिगधिक” ३।१।१८ इति फर्णधारयस्वर्गं प्रत्ययेन समाहारद्वन्द्वं ।  
१ सूत्रार्थमाह-एकत्वविशिष्टेषु इत्यादि । पूर्ववद्विवेचनीयम् । त्वाम्, मामित्यादि । पूर्वं साधितं पुनर्विस्तरभयात् न साध्यते । उपसर्जनयो-  
र्युष्मदस्मदोरेकार्यवान्त्वे उदाहरति-अतिक्रान्तौ त्वामतित्वाम् इत्यादि । तिष्ठत इत्यनुप्रयोग प्रथमाद्विवेचनाभिव्यक्त्यर्थं । पद्वय-  
२ इत्यादेशे शेषे छक् । एवमन्यदपि । आगतं, स्वमिति च षष्ठीप्रकृतीप्रत्ययाय । अतित्वाकम्, अतिमाकमिति । अत्र “आम  
आकम्” इत्याकम् । सिजसूडेडसु उपसर्जनयोर्युष्मदस्मदो रूपव्यवस्थामाह-सीत्यादि । सादावुदाहृत्य प्रत्यये उत्तरपदे चोदाहरति-  
त्वदीयो मदीय इत्यादि । तत्राय समासमिति विग्रहे “द्वोरिय” ६।३।३१ इतीयप्रत्ययः । त्वन्मयं, मन्मयमिति । “द्वोरप्रागिन्” ६।२।४८।  
३ इति मयद् । त्वद्यति, मद्यतीति । “अमान्ययात्” इति कथञ्च । त्वद्यते, मद्यते इति । “कथञ्” ३।१।२६ इति कथञ् । त्वत्कृतम्,  
मत्कृतमिति । त्वया कृतं, मया कृतमिति “कारक कृता” ३।१।६८ इति वृत्तियात्पुरुषः । त्वत्पुत्रः, मत्पुत्र इति । त्व पुत्रो मम पुत्र इति  
विग्रहे षष्ठीसमासः, बहुव्रीहिर्भावः । त्वद्धितम्, मद्धितम् इति । उभयं हितम्, मद्य हितम् इति “हितादिभि” ३।१।७१ इति चतुर्थीत्-  
४ र्पुरुषः । त्व प्रधानमस्य, अह प्रधानमस्येति बहुव्रीहौ-त्वत्प्रधानो मत्प्रधान इति । एषु “ऐकार्ये” इति स्यादेत्थपि प्रत्ययोत्तरपद-  
प्रहणायुष्मदस्मदोर्मकारान्तावयवस्य यथासंख्यं त्वमादेशौ । ननु त्वदयति, मदयतीत्यत्रोभयोरन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशत्वादन्यस्वरादिलोप  
कस्मात् भवतीत्याह-अत्र नित्यत्वादिनादि । कृताकृतप्रसङ्गादिदिति शेषः । नन्वत्रान्यस्वरादिलोपात् प्रागेव नित्यत्वात् त्वमादेशो कृते पश्चा-

त्वमादेशौ । कश्चित् पूर्वमन्त्यस्वरादिलोपे त्वमादेशे अकारस्य वृद्धौ, प्वागमे-त्वापयति, मापयति; क्विपि तु-त्वाप्, माप् इत्याह । एकस्मिन्निति किम् ? युष्माकम्, अस्माकम् । एकत्वेन युष्मदस्मदोर्विशेषणादिह न भवतीति-अतिक्रान्तं युष्मान्-अतियुष्माम्, अत्यस्माम्; अतियुष्मया, अत्यस्मया, अतियुष्मद्, अत्यस्मद्; अतियुष्मयि, अत्यस्मयि । प्रत्य- ३ योत्तरपदे चेति किम् ? त्वय्यधि, मय्यधि अधियुष्मद्, अय्यस्मद्, अन्तरङ्गत्वात् स्याद्विद्वेषणैव त्वमादेशे सिद्धे प्रत्य- योत्तरपदग्रहणं 'वहिरङ्गाऽपि लुप् अन्तरङ्गान् विधीन् बाधते' इति न्यायज्ञापनार्थम्, तेन-यद् तद् इत्यादावन्तरङ्गमपि खंदाद्यत्वादि न भवति । एके तु निमित्तनिरपेक्षमेकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोस्त्वमादेशाविच्छन्ति, तन्मते-अधित्वत्, ६ अधिमत् । मन्तस्येत्येव ? त्वक पिताऽस्य त्वकत्पितृकः, अत्राक् सहितस्य मा भूत्; प्रत्ययग्रहणेनैव सिद्धे स्यादावित्युत्तरा- र्थमनुवर्तते ॥ ११ ॥

त्वमहं सिना प्राक् चाकः ॥ २ । १ । १२ ॥

युष्मदस्मदोः खलंबन्धिनाऽन्यसंबन्धिना वा सिना सह यथासंख्यं त्वम् अहम् इत्येतावादेशौ भवतः, तौ चाकप्र- त्ययप्रसङ्गेऽकः प्रागेव भवतः । त्वम्, अहम्; अतिक्रान्तस्त्वाम् अतित्वम्, अत्यहम्, अतिक्रान्तौ युवाम् अतित्वम्, अत्यहम्, अतिक्रान्तौ युष्मान् अतित्वम्, अत्यहम्; प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूयं वा यस्य स प्रियत्वम्, प्रियाहम्; १२ एषु परत्वात्वमौ युवावौ च बाधित्वा त्वमहमावेव भवतः । सिनेति किम् ? युष्माभिः, अस्माभिः । सिलुपि च "लुप्य- च्छ्लेनत्" ॥ ७ । २ । ११२ ॥ इति निषेधात् न भवति । त्वं पुत्रोऽस्य त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः; एवमुत्तरेष्वपि । प्राक् चाक इति किम् ? त्वकमहकमित्यत्राकः श्रुतिर्यथा स्यात्, अन्यथा पूर्वमकि सति 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति १५ न्यायात् साकोरप्यादेशः स्यात् । केचित्तु त्वां मां चाचष्टे इति पौ त्वमादेशे वृद्धौ क्विपि मन्तयोरेव त्वाहादेशविधानात् सौ त्वाम् माम् इति, धातोरेव वृद्धिरिति मते त्वं मम् इत्येव च भवतीति मन्यन्ते । ते हि प्रकृतिमात्रस्याऽऽदेशान् डेजस्- सीनाममादेश ङसस्त्वकारं चेच्छन्ति ॥ १२ ॥

दपि अन्त्यस्वरादिलोप कस्मात् भवति इति चेत्, सत्यम्, 'लोपाद् स्वरदेश' इति न्यायात् "लुप्याः" इत्येव प्रवृत्ते । तत्प्रवृत्तावप्यन्त्यस्व- रादिलोपो न, 'नैकस्वरस्य' ७।४।४। इति निषेधात् । "क्विपि" इत्यनेन वृद्धिरपि नाशङ्का, धातुत्वाभावात् । कश्चित्त्विति । उत्पल । शब्दा- न्तरप्रवृत्त्योभयोरप्यनित्यत्वादन्यत्र लब्धावकाशत्वात् परत्वादन्त्यस्वरादिलोप इत्यर्थः । युष्माकमित्यादि । यत्रैकस्मिन्निति न स्यात् तदा द्वयो- २१ र्बहुषु वर्तमानयोरपि युष्मदस्मदोस्त्वमादेशौ प्रामुतत्तदर्थमिहेकस्मिन्निति कथ्यते । युष्मदस्मदोर्विशेषणतापक्षस्यैकस्मिन्नित्यस्य प्रयोजनमाह— एकत्वेनेत्यादि । अतियुष्माभित्वादेवैकस्मिन्निति विशेषणात् समासाद्यैकत्वेऽपि तयोरेकत्वाभावात् त्वमादेशौ न भवत । अधियुष्मद्, अय्यस्मदिति । त्वयि अधि, मयि अधीति विग्रह "विमकिसमीप" ३।१।२९। इत्यव्ययीमाव । "अनतो लुप्" इति सेर्छेपि "लुप्यच्छ्लेनत्" २४ इति स्थानिवत्त्वप्रतिषेधेन 'प्रत्ययोत्तरपदे च' इति वचनात् त्वमौ न भवत । ननु प्रत्ययोत्तरपदग्रहण किमर्थं ? स्यादावित्येव सिद्धत्वात् । परत्वा- नित्यत्वाद्वा "ऐकार्थ्ये" इति स्यादेर्छेपि प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् स्यादेरन्वाव इति न वाच्यम् । ऐकार्थ्ये लुबुच्यते, ऐकार्थ्ये च प्रकृतिप्रत्ययौ पूर्वो- त्तरपदापेक्ष समास चाश्रित्य भवतीति तस्य वहिरङ्गत्वात्तदाश्रया लुबपि वहिरङ्गा । विमकिसमीपस्यादेशयोर्विधानात् अन्तरङ्गत्वम् । तत् "असिद्धे २७ वहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति न्यायादित्यादन्यन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् त्वमादेशयो कर्तव्ययो लुपोऽसिद्धत्वात्ताभ्यामेव पूर्वं प्रवर्तितव्यं ततो लुभिति न किञ्चिदनिष्टमिति । तथा चोक्तम्—'परनित्यान्तरङ्गप्रतिपदविषयो विरोधिसंज्ञिपाते तेषां मिय प्रसङ्गे परबलीयस्त्वम्' इति, उच्यते-एव सिद्धे- सति प्रत्ययोत्तरपदग्रहण ज्ञापयति यत् 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा वहिरङ्गा लुभवति' इत्याह—अन्तरङ्गत्वादित्यादि । ज्ञापनप्रयोजनं च यत्- १० तदित्यादौ अन्तरङ्गमपि स्यादावत्वादि क बाधित्वा लुप्रवर्तत इति । एके त्विति । चन्द्रादय । प्रत्ययोत्तरपदस्यादिलक्षणनिमित्तनिरपेक्षत्वेऽप्ये- कत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोर्लुभदस्मदोर्मन्तावयवस्य 'अधित्वद्' इत्यादौ त्वमादेशाविति कश्चिन्मन्यते, तदत्यन्तापास्यत्वात् प्रमाणत्वेन नादरणीय- मिति । मन्तस्येत्येवेति । सर्वादेशे हि त्वकत्पितृक इत्यादौ अकृषहितयोरपि स्यादित्यर्थः । ननु स्यादेरपि प्रत्ययत्वात्तत्रापि प्रत्ययग्रहणेनैव ११ भविष्यति इत्यत आह—प्रत्ययग्रहणेनैवेत्यादि । स्यादावित्यनुवर्तनमुत्तरसूत्रे प्रयोजनवदित्यर्थः ॥ ११ ॥

त्वमहं सिना प्राक् चाकः । युष्मदस्मदोरित्येव वर्तते, न मन्तस्येति वा नैकस्मिन्निति वा । युष्मदस्मदो सिना त्वमहं च अक प्राक् इत्यन्वयत्तदर्थमाह—युष्मदस्मदोरित्यादि । त्वम्, अहम् इत्यादि । अत्र "त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे" इति "मन्तस्य युवावौ" इति १३ च त्वमाहादेशश्च प्रागेति, किन्तु त्वमहमादेशः । तत्र त्वा युवमित्यादौ त्वमाहादेश सावकाश, अतिक्रान्तौ युष्मानस्मान् वा अतित्वम् इत्यादौ त्वमहमादेशश्च, तत्रान्यत्र द्वयो सावकाशत्वाद्ब्रह्मप्राप्तौ परत्वात्त्वमहमादेश एवेत्याह—एष्वित्यादि । ननु त्व पुत्रोऽस्य त्वत्पुत्र इत्यादौ 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा वहिरङ्गा लुप् प्रवर्तत' इति न्यायात्, "ऐकार्थ्ये" इति सेर्छेपि प्रत्ययलोपलक्षणेन स्थानिवत्त्वात् त्वमहमादेशः १५ कस्मात् न भवतीत्याह—सिलुपि चेत्यादि । एवमुत्तरेष्वपि । "यूय वय जवा" इत्यादिवित्यर्थः । त्वकमित्यादि । अत्र प्राक् चाक इति वचनात् परमप्यक बाधित्वा त्वमहमादेशे पश्चात् "युष्मदस्मदोऽस्मोमादि" इत्यक्, अन्यथा 'तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात्' साकोरपि युष्मदस्मदोरादेशे अकृष्रवण न स्यादित्याह—अन्यथेत्यादि । केचित्त्विति । पाणिन्यादय । ननु तन्मते त्वम्, अहम्, यूय, वयमित्या- ४२ दय क्य सिध्यन्तीत्याह—ते हीति । प्रकृतिमात्रस्य-युष्मदस्मदप्रपदस्य । आदेशान्—'दुभ्यमसौ ङसि' पा० ७।२।९५, "यूयवयौ ङसि" पा० ७।२।९३, "त्वाहौ सौ" पा० ७।२।९४। इति तुभ्यावीन्, डेजस्सीना "डेप्रथमयोरम्" पा० ७।१।२८। इत्यमादेश ङसस्तु "युष्मदस्मभ्या उचोऽश्" पा० ७।१।२। इत्यकारं चेच्छन्तीत्यर्थः । खमते तु त्वमहमित्येव भवति ॥ १२ ॥

१ खलम् म० म० । २ × × × × इति पाठो नास्तीति पु० । ३ × × × इति पाठो नास्तीति म० म० । ४ स्यादादित्यादि० पु० । ५ एक मकत्पितृक० पु० । ६ × नास्तीति पु० । ७ वाचष्टे० पु० । ८ णि किं म० पु० । ९



## यूयं वयं जसा ॥ २ । १ । १३ ॥

युष्मदस्मदोः स्वसंबन्धिनाऽन्यसंबन्धिना वा जसा सह यथासंख्यं यूयं वयमित्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । यूयम्, वयम्; परमयूयम्, परमवयम्; प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूयं च येषां ते प्रिययूयम्, प्रियवयम्; अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा अतियूयम्, अतिवयम् । जसेति किम् ? यूय पुत्रा अस्य युष्मत्पुत्रः, अस्मत्पुत्रः । प्राक् चाक इत्येव ? यूयकम्, वयकम् ॥ १३ ॥

## तुभ्यं मद्यं डया ॥ २ । १ । १४ ॥

युष्मदस्मदोः स्वसंबन्धिनाऽन्यसंबन्धिना वा डेप्रत्ययेन सह यथासंख्यं तुभ्यम् मद्यम् इत्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । तुभ्यम्, मद्यम्; परमंतुभ्यम्, परममद्यम्, प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूयं वा यस्य तस्मै-प्रियतुभ्यम्, प्रियमद्यम्; अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् वा तस्मै-अतितुभ्यम्, अतिमद्यम् । डयेति किम् ? तुभ्यं हितं त्वद्धितम्, मद्धितम् । प्राक् चाक इत्येव ? तुभ्यकम्, मद्यकम् ॥ १४ ॥

## तव मम डसा ॥ २ । १ । १५ ॥

१२ युष्मदस्मदोः स्वसंबन्धिनाऽन्यसंबन्धिना वा डस्प्रत्ययेन सह यथासंख्यं तव मम इत्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । तव, मम; प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूयं वा यस्य तस्य-प्रियतव, प्रियमम, अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् वा तस्य-अतितव, अतिमम । डसेति किम् ? तव प्रियस्त्वप्रियः, मत्प्रियः । प्राक् चाक इत्येव ? तवक, ममक ॥ १५ ॥

## १५ अमौ मः ॥ २ । १ । १६ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परयोस्तत्संबन्धिनोरन्यसंबन्धिनोर्वा अम् औ इत्येतयोर्म इत्ययमादेशो भवति, अकार उच्चारणार्थः । त्वाम्, माम्; अतित्वाम्, अतिमाम्; युवाम्, आवाम्; अतियुवाम्, अत्यावाम् तिष्ठतः पश्य वा ॥ १६ ॥

## १८ शसो नः ॥ २ । १ । १७ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य तत्संबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वा शसः स्थाने न इत्ययमादेशो भवति, अकार उच्चारणार्थः ।

यूयं वयं जसा । युष्मदस्मदोरिति प्राक् चाक इति च वर्तते । युष्मदस्मदोर्जसा यूय वयम् च अकः प्रागित्यन्वयस्त्वदर्थमाह—युष्म-

२१ दस्मदोरित्यादि । यूयं वयमिति । युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इत्यवस्थायामनेन जसा सह यूय वयमित्यादेशौ । तदन्तमुदाहरति—परमयूय-

२२ मित्यादि । पूर्ववत् । प्रिययूयमित्यस्य विग्रहवाक्यमाह—प्रियस्त्वमित्यादि । प्रिययूयम्, प्रियवयमिति । प्रियोऽहम्, प्रियावावां, प्रिया वयं येषान्ते इति विग्रहः । अत्रैकत्वद्वित्रिवार्योर्लुष्मदस्मदोर्वर्तमानत्वात् “त्वमी प्रत्ययोरपरपदे चै०” इति, “मन्तस्य युवावौ०” इति च त्वमाद्या-

२३ देशान् अन्यत्र सावकाशान् बाधित्वा यूय वयमित्यत्र सावकाशो यूय वयमादेशो परत्वादुभयप्राप्तौ भवतः । युष्मत्पुत्रः, अस्मत्पुत्र इति । यूयं पुत्रा अस्येत्यादि विग्रहः, “ऐकार्ये” इति जसो ह्यपि “लुष्मद्व्येनत्” इति स्थानिवत्प्रतिषेधात् जसोऽभावात् जसेति वचनादादेशो न भवतः । यूयकं, वयकमिति । पूर्ववत् ॥ १३ ॥

२७ तुभ्यं मद्यं डया । डयेति डेशब्दस्य टृतीयैकवचनम् । युष्मदस्मदोरिति प्राक् चाक इति चानुवर्तते । युष्मदस्मदोर्जसा तुभ्यं मद्यं अकद्य प्राक् इत्यन्वयस्त्वदाह—युष्मदस्मदोरित्यादि । तुभ्यं, मद्यम् इति । युष्मद् ए अस्मद् ए इत्यवस्थायामनेन परत्वात्त्वमौ प्रवाच्य जपा सह तुभ्यं मद्यमित्यादेशौ । तदन्तमुदाहरति—परमंतुभ्यमित्यादि । उपसर्जनयोर्लुष्मदस्मदोरेकत्वद्वित्रिवार्योर्वर्तमानत्वेऽपि परत्वात्त्वमाद्यादेशान्

३० बाधित्वा तुभ्यं मद्यमित्यादेशावित्युदाहरति—प्रियतुभ्यमित्यादि । त्वद्धितमित्यादि । डयेति वचनादत्र न तुभ्यमाद्यादेशः । तुभ्यकम् मद्यकम् इति । पूर्ववत् ॥ १४ ॥

तव मम डसा । युष्मदस्मदोरिति प्राक् चाक इति च वर्तते । युष्मदस्मदोर्जसा तव मम अकद्य प्राक् इत्यन्वयः । तव, मम इति ।

३३ युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इति स्थिते ङसा सह युष्मदस्मदोस्त्वच मम इत्येतावादेशौ । उपसर्जनयोर्लुष्मदस्मदोरेकत्वाद्दाहरणान्याह—प्रियस्त्वमित्यादि । ननु कथं तवता, ममता, तवाभितम्, ममाभितम् ? सत्यम्, उच्यते—साद्यन्तप्रतिरूपकाप्येतान्यव्ययानीति शब्दान्तरत्वात् सिद्धम् ॥ १५ ॥

अमौ मः । युष्मदस्मदोरित्यनुवृत्त ‘अर्थवशाद्विक्रमिणाम्’ इति न्यायेन पञ्चमीद्विवचनान्ततया विपरिणम्यते । अमौ इति ह्यपधी-

३६ द्विवचनम् । युष्मदस्मद्भ्यां अमौ म इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—युष्मदस्मद्भ्यां परयोरित्यादि । अकार उच्चारणार्थ इति । अकारमन्वरेण व्यञ्जनोच्चारणमसुकरमिति मादेशोऽक्षर उच्चारणार्थमुपाधीयते । म् इत्येकवर्णत्वेऽपि “प्रत्ययस्य” इति न्यायादम सर्वस्यापि भवति । त्वाम्, माममित्यादीं मादेशस्य व्यञ्जनावित्त्वात् “युष्मदस्मदो” इत्याकारं सिध्यति । एते विशेषस्यानिर्देशात् औ इति रूपस्य समानत्वात् प्रथमा-

३९ द्वितीयाद्विवचनयोरपि ग्रहणम्, अत एव तद्भूयोनार्थं तिष्ठतः परयं वा इत्यनुप्रयोगो वृत्तानुदाहृत इति ॥ १६ ॥

शसो नः । युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तमान पञ्चम्या विपरिणम्यते । युष्मदस्मद्भ्यां शसो न इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—युष्मदस्मद्भ्यां परस्येत्यादि । अकार उच्चारणार्थ इति । “शसोऽता सश्च न पुंसि” इतिवदत्रापि नकारस्याकार उच्चारणप्रयोजनं, व्यञ्जनान्तादिप्रस्तावात् ।

युष्मान्, अस्मान्; प्रिययुष्मान्, प्रियास्मान्; प्रियस्त्वं येषां तान् प्रियत्वान्, प्रियमान्; प्रियौ युवां येषां तान् प्रिययुवान्, प्रियावान् ॥ १७ ॥

अभ्यम् भ्यसः ॥ २ । १ । १८ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसंबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वा भ्यसश्चतुर्थीवहुवचनस्य स्थानेऽभ्यमादेशो भवति । युष्म-  
म्यम्, अस्मभ्यम् दीयते; प्रिययुष्मभ्यम्, प्रियास्मभ्यम्; त्वामतिक्रान्तेभ्यः-अतित्वभ्यम्, अतिमभ्यम्, युवामति-  
क्रान्तेभ्यः-अतियुवभ्यम्, अत्यावभ्यम् । अकारादिकरणमात्ववाधनार्थम् ॥ १८ ॥

इसेश्चाद् ॥ २ । १ । १९ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसंबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वा इसेश्चकारात् तत्सहचरितस्य भ्यसः स्थानेऽद् इत्यभ्यमादेशो  
भवति । त्वद्, मद्, त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तात् अतित्वद्, अतिमद्; अतियुवद्, अत्यावद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद् ।  
भ्यस्-युष्मद्, अस्मद्; त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्यः अतित्वद्, अतिमद्, अतियुवद्, अत्यावद्, अतियुष्मद्, अत्य-  
स्मद् । पञ्चमीभ्यसो ग्रहणाच्चतुर्थीभ्यसो न भवति-युष्यभ्यम्, अस्मभ्यम् ॥ १९ ॥

आम आकम् ॥ २ । १ । २० ॥

युष्मदस्मादित्येताभ्यां परस्य तत्संबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वाऽऽमः स्थाने आकमित्यादेशो भवति । युष्माकम्,  
अस्माकम्; प्रिययुष्माकम्, प्रियास्माकम्, त्वा युवां युष्मान् वा अतिक्रान्तानाम्-अतित्वाकम्, अतिमाकम्; अति-  
युवाकम्, अत्यावाकम्; अतियुष्माकम्, अत्यस्माकम्, आकमित्याकारो ण्यन्तार्थम्-युष्मानाचक्षाणानां णौ, किपि, १५  
युष्माकम्, अस्माकम् । केचित्तु तत्संबन्धिन एवाऽऽम आकमादेशमिच्छन्ति, तथाऽऽमप्रत्यये दकारस्य यत्वमपीच्छन्ति,  
तन्मते-प्रिया यूयं येषां तेषां प्रिययुष्मयाम्, प्रियास्मयाम्, एवमतियुष्मयाम्, अत्यस्मयाम् ॥ २० ॥

अत एवैकवर्णत्वेऽपि अस्य समस्तादिशत्वसिद्धिः, "प्रत्ययस्य" इति न्यायात् । युष्मान् इत्यादि । पूर्वं साधितमेतत् । ननु युष्मानित्याद्य द्वय १८  
प्राप्नोति, "क्षेपे" इत्यन्तलोपोऽनेन नकारस्य, तत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नकारस्य नित्यत्वाद्गोपस्य च कृते नकारे शेषत्वाभावादप्रसङ्गित्वेनानित्यत्वात्  
पूर्वं नकार एव भवति । अथेव किमनेन ? "शसोऽता०" इत्यनेनैव सिद्धत्वात्, उच्यते-अलिङ्ग युष्मदस्मदी इति पुस्तुत्वाभावात् नकारो न सिध्यतीति  
वचनात् । अन्युपगमे वा लिङ्गस्य स्त्रीनपुंसकार्थे युष्मान् ब्राह्मणी, युष्मान् कुलानीत्यादि । अतत्संबन्धिन्युदाहरति-प्रिययुष्मान् इत्यादि ॥ १७ ॥ २१

अभ्यम् भ्यसः । युष्मदस्मदोरिति वर्तते । पूर्ववद्विभक्तिपरिणाम । युष्मदस्मद्भ्यां भ्यस अभ्यम् इत्यन्वयस्तदर्थमाह-युष्म-  
दस्मद्भ्यां परस्येत्यादि । युष्मभ्यमित्यादि । साधितं पूर्वमेतत् । कार्यिणो भ्यस प्रथममुपादाने कर्तव्ये कार्यस्याभ्यम पूर्वमुपादानं प्रत्यासत्ति-  
सूचनार्थम्, पाठापेक्षया च चतुर्थ्येव प्रत्यासत्ता तस्या एव चादेश इत्याह-चतुर्थीवहुवचनस्येति । ननु पारिशेष्यादप्यस्यार्थस्य सिद्धे, २४  
तथाहि-"क्षेपे" इत्यत्र चकारेण भ्यसोऽनुवृत्तिः, स च ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीषवचनस्येव गृह्यते इति परिशिष्टस्यतुर्थीभ्यसेव समवतीति ।  
एवन्तद्वादिशाभिव्यक्त्यर्थम्, अन्यथा 'भ्यसो भ्यम्' इति निर्देशे व्यञ्जनादिरप्यादेश इति सिद्धयेत । नन्वेवमस्तु प्रक्रियागौरव परिहृतं भविष्यति,  
कृते तस्मिन् "ङ्गास्मादित्यपदे" इति लुक्त्वा भावमित्यत आह-अकारादिकरणमिति । अन्यथा व्यञ्जनादिस्यादित्वात् "युष्मदस्मदो" २७  
इत्यात्वप्रसङ्गः । णिचि च युष्मभ्यमस्मभ्यमिति यथा स्यात् ॥ १८ ॥

इसेश्चाद् । युष्मदस्मदोरिति वर्तमानं पञ्चम्या विपरिणम्यते । चकारेणत्र भ्यसनुकृष्यते । युष्मदस्मद्भ्यां इसे भ्यसद्य अद्  
इत्यन्वयः । चकारेण भ्यसोऽनुकृष्येऽपि छसे भ्यसश्चैकवचनान्तनिर्देशेन द्विवचनान्तनिर्दिष्टाभ्यां युष्मदस्मद्भ्यां सह वैपण्याद्यस्यस्वभावः ३०  
इत्याह-युष्मदस्मद्भ्यामित्यादि । त्वद्, मद् इति । अत्रोक्ता प्रक्रिया । अतत्संबन्धिन्युदाहरति-त्वा, युवामित्यादि । एव मामावागमा-  
न्वाऽतिक्रान्तादिति विग्रहोऽतिमदित्यादौ सविहेयः । पञ्चम्या भ्यस्यपीमानि रूपाणि, किन्तु विग्रहे विशेष इत्याह-त्वां युवां युष्मान्वाऽतिक्रान्-  
न्तेभ्य इति । एवमतिमदित्यादावपि मामावागमान्वाऽतिक्रान्तेभ्य इति विग्रहः । ननु भवत्वत्र ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीभ्यसो ग्रहणेन चतुर्थी- ३३  
भ्यस आदेशाभावः । अभ्यमादेशस्तु पञ्चमीभ्यस कस्मान्न भवति ? न चादेशेनापीदित्वादिति वाच्यम्, तत्पुत्रस्य व्यक्तिपक्षाश्रयणेन पञ्चमी-  
भ्यस प्रत्यचरितार्थत्वेन पाक्षिकी प्रवृत्तिः स्यात्, अन्यथा अत्रानुवृत्तिरेव न स्यात् । न हि गोधा सर्पणादहिर्भवति, एव चतुर्थीभ्यसनुवर्तनात्  
पञ्चमीभ्यस् भवति । तस्मात् पूर्वसूत्रे पञ्चमीभ्यसपि ग्राह्य इति तस्याप्यभ्यमादेशेन भाव्यम् इति चेत्, मैवम्, जातौ तत्सुत्र प्रवृत्तं, जातिश्च ३६  
सकृद्भ्ये प्रवृत्ता सती पुनः प्रवृत्तौ तदपवादेनादादेशेन वाधितत्वादाभ्यमादेशोऽस्य न प्रवर्ततेऽत आह-पञ्चमीत्यादि । नन्वनुवर्तनादर्थेषु  
अन्यथात्व मा भूत्, शब्देषु तु दर्शनाद् भवतु तर्हि आहृत्या एव व्याख्यायते-पञ्चमीभ्यसस्तत्र सूत्रे ग्रहणाभावाच्चतुर्थीभ्यसस्तु युष्मभ्यम्,  
अस्मभ्यम्, पञ्चमीभ्यसोऽभ्यमादेशाभाव इति ॥ १९ ॥

आम आकम् । युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते । युष्मदस्मद्भ्यां आम आकम् इत्यन्वयस्तदर्थमाह-युष्मदस्मादित्येताभ्यामित्यादि ।  
युष्माकमित्यादि । पूर्ववत् । अतत्संबन्धिन्युदाहरति-प्रिययुष्माकमित्यादि । अत्र बहुव्रीहे सुत्रान्तात्तदप्रदर्शनेनातिशब्देन विग्रह  
दर्शयति-त्वा युवामित्यादि । एवमत्रापि ज्ञेयम् । नन्वाम कमिति न्यासे "युष्मदस्मदो" इत्यात्वे युष्माकमित्यादिसिद्धौ किमर्थमाकारकरण- ४२  
मित्याह-आकमित्याकार इत्यादि । यथाकारो नोपाधीयत तदा ष्यन्ते आकारो न श्रूयत इति भावः । केचित्त्विति । पाणिनिसुत्रानुसाराणः ।  
ते हि "साम आकम्" पा० ७।१।३३ इति पठन्त कृतसामादेशस्याम आकमिच्छन्ति । साम् च "अवर्णस्याम साम्" इति सूत्रेणानुपसर्जनस्यैव,  
वर्जैव चासौ तत्संबन्धी भवतीति णिचि सति न भवति । उपसर्जनादेव "टाङ्गोसि०" इति यत्त्वं चेच्छन्ति इति तत्रासौऽप्यनुपवेशादित्यर्थः । ४५  
तदेतत्पूर्वं केचित्तु इति मतमाह-तत्संबन्धिन एवाम इत्यारभ्य, यत्त्वमपीच्छन्तीत्यन्तेन । वस्तुतस्तु पाणिनीयसूत्रव्याख्यातृविषये  
प्राङ्गुयमतिविभेदात् प्रिययुष्मयाम् प्रियास्मयाम् अतित्वयाम् अतिमयाम् प्रिययुष्माकम् प्रियास्माकम् अतित्वाकम् अतिमाकमित्यादि रूपाणि भवन्ति,  
स्पष्टे तत्सर्वं सि० को० तत्त्वबोधिन्यां युष्मदस्मत्प्रकरणे । तत्र प्राचा मत अपोषय नव्ये खमत व्यवस्थापितम् ॥ २० ॥

## यूपं वयं जसा ॥ २ । १ । १३ ॥

युष्मदस्मदोः स्वसंबन्धिनाऽन्यसंबन्धिना वा जसा सह यथासंख्यं यूपं वयमित्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । ३ यूपम्, वयम्; परमयूपम्, परमवयम्; प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूपं च येषां ते प्रिययूपम्, प्रियवयम्, अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा अतियूपम्, अतिवयम् । जसेति किम् ? यूप पुत्रा अस्य युष्मत्पुत्रः, अस्मत्पुत्रः । प्राक् चाक इत्येव ? यूपकम्, वयकम् ॥ १३ ॥

## तुभ्यं मह्यं डया ॥ २ । १ । १४ ॥

युष्मदस्मदोः स्वसंबन्धिनाऽन्यसंबन्धिना वा डेप्रत्ययेन सह यथासंख्यं तुभ्यम् मह्यम् इत्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । तुभ्यम्, मह्यम्, परमंतुभ्यम्, परममह्यम्, प्रियस्त्व प्रियौ युवां प्रिया यूपं वा यस्य तस्मै-प्रियतुभ्यम्, प्रिय-मह्यम्; अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् वा तस्मै-अतितुभ्यम्, अतिमह्यम् । ड्येति किम् ? तुभ्यं हितं त्वद्धितम्, मद्धितम् । प्राक् चाक इत्येव ? तुभ्यकम्, मह्यकम् ॥ १४ ॥

## तव मम डसा ॥ २ । १ । १५ ॥

१२ युष्मदस्मदोः स्वसंबन्धिनाऽन्यसंबन्धिना वा डसप्रत्ययेन सह यथासंख्यं तव मम इत्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । तव, मम; प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूपं वा यस्य तस्य-प्रियतव, प्रियमम, अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् वा तस्य-अतितव, अतिमम । डसेति किम् ? तव प्रियस्त्वप्रियः, मत्प्रियः । प्राक् चाक इत्येव ? तवक, ममक ॥ १५ ॥

## १५ अमौ मः ॥ २ । १ । १६ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परयोस्तत्संबन्धिनोरन्यसंबन्धिनोर्वा अम् औ इत्येतयोर्म इत्ययमादेशो भवति, अकार उच्चारणार्थः । त्वाम्, माम्; अतित्वाम्, अतिमाम्; युवाम्, आवाम्; अतियुवाम्, अलावाम् तिष्ठतः पश्य वा ॥ १६ ॥

## १८ शसो नः ॥ २ । १ । १७ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य तत्संबन्धिनोऽन्यसंबन्धिनो वा शसः स्थाने न इत्ययमादेशो भवति, अकार उच्चारणार्थः ।

यूपं वयं जसा । युष्मदस्मदोरिति प्राक् चाक इति च वर्तते । युष्मदस्मदोर्जसा यूप वयम् च अक प्रागित्यन्वयस्वदर्थमाह—युष्म-  
२१ दस्मदोरित्यादि । यूपं वयमिति । युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इत्यवस्थायामनेन जसा सह यूप वयमित्यादेशौ । तदन्तमुदाहरति—परमयूप-  
मित्यादि । पूर्ववत् । प्रिययूपमित्यस्य विग्रहवाक्यमाह—प्रियस्त्वमित्यादि । प्रिययूपम्, प्रियवयमिति । प्रियोऽहम्, प्रियाबावां, प्रिया  
२४ देशान् अन्यत्र सावकाशात् बाधित्वा यूप वयमित्यत्र सावकाशो यूप वयमादेशौ परत्वाद्बुभयप्रती भवत । युष्मत्पुत्रः, अस्मत्पुत्र इति ।  
यूपं पुत्रा अस्येत्यादि विग्रह, “ऐकाग्र्ये” इति जसो ङपि “ङुप्यङ्गनेन” इति स्थानिवत्प्रतिषेधात् जसोऽभावात् जसेति वचनादादेशौ न  
भवत । यूपकं, वयकमिति । पूर्ववत् ॥ १३ ॥

२७ तुभ्यं मह्यं डया । ड्येति डेशब्दस्य लृतीयैकवचनम् । युष्मदस्मदोरिति प्राक् चाक इति चातुर्वर्तते । युष्मदस्मदोर्जसा तुभ्यं मह्यं  
अकश्च प्राक् इत्यन्वयस्तदाह—युष्मदस्मदोरित्यादि । तुभ्यं, मह्यम् इति । युष्मद् ए अस्मद् ए इत्यवस्थायामनेन परत्वात्त्वमौ प्रवाच्य त्वा  
सह तुभ्यं मह्यमित्यादेशौ । तदन्तमुदाहरति—परमतुभ्यमित्यादि । उपसर्जनयोर्युष्मदस्मदोरेकत्वद्वित्त्वार्ययोर्वर्तमानत्वेऽपि परत्वात्त्वमाद्यादेशात्  
३० बाधित्वा तुभ्यं मह्यमित्यादेशावित्युदाहरति—प्रियतुभ्यमित्यादि । त्वद्धितमित्यादि । ड्येति वचनादत्र न तुभ्यमाद्यादेश । तुभ्यकम्  
मह्यकम् इति । पूर्ववत् ॥ १४ ॥

तव मम डसा । युष्मदस्मदोरिति प्राक् चाक इति च वर्तते । युष्मदस्मदोर्जसा तव मम अकश्च प्राक् इत्यन्वय । तव, मम इति ।  
३३ युष्मद् अस्, अस्मद् अस् इति स्थिते ङसा सह युष्मदस्मदोस्त्व मम इत्येतावादेशौ । उपसर्जनयोर्युष्मदस्मदोऽहदाहरणान्याह—प्रियस्त्वमि-  
त्यादि । ननु कथं तवता, ममता, तवामितम्, ममापितम् ? सत्यम्, वच्यते—साद्यन्तप्रतिरूपकाभ्येतान्यव्यायानीति शब्दान्तरत्वात् सिद्धम् ॥ १५ ॥

अमौ मः । युष्मदस्मदोरित्युदाहरति “अर्थवद्वादिभक्तिपणिमाण” इति न्यायेन पञ्चमीद्विवचनान्ततया विपरिणम्यते । अमौ इति ङपि पृथी-  
३६ द्विवचनम् । युष्मदस्मद्भ्यां अमौ म इत्यन्वयस्तदर्थमाह—युष्मदस्मद्भ्यां परयोरित्यादि । अकार उच्चारणार्थ इति । अकारमन्तरेण  
व्यञ्जनोच्चारणमङ्गकमिति मादेशोऽकार उच्चारणार्थमुपाकीयते । म् इत्येकवर्णत्वेऽपि “प्रलयस्य” इति न्यायादत्र सर्वस्यापि भवति । त्वाम्,  
मामित्यादौ मादेशस्य व्यञ्जनादित्वात् “युष्मदस्मदो” इत्याकार सिध्यति । सन्ने विशेषस्यानिर्देशात् औ इति रूपस्य समानत्वात् प्रथमा-  
३९ द्वितीयादिवचनयोरपि ग्रहणम्, अत एव तद्दशोतार्थं तिष्ठत पश्य वा इत्युपयोगो वृत्तानुदाहृत इति ॥ १६ ॥

शसो नः । युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तमान पञ्चम्या विपरिणम्यते । युष्मदस्मद्भ्यां शसो न इत्यन्वयस्वदर्थमाह—युष्मदस्मद्भ्यां परस्ये-  
त्यादि । अकार उच्चारणार्थ इति । “शसोऽता सद्य न पुंसि” इतिवदत्रापि नञ्परस्याकार उच्चारणप्रयोजन, व्यञ्जनान्तादिशुभ्रत्वात् ।

युष्मान्, अस्मान्; प्रिययुष्मान्, प्रियास्मान्, प्रियस्त्व येषां तान् प्रियत्वान्, प्रियमान्; प्रियो युवां येषां तान् प्रिययुवान्, प्रियावान् ॥ १७ ॥

अभ्यम् भ्यसः ॥ २ । १ । १८ ॥

३

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसंवन्धिनोऽन्यसंवन्धिनो वा भ्यसश्चतुर्थीबहुवचनस्य स्थानेऽभ्यमादेशो भवति । युष्म-  
भ्यम्, अस्मभ्यम् दीयते, प्रिययुष्मभ्यम्, प्रियास्मभ्यम्, त्वामतिक्रान्तेभ्यः—अतित्वभ्यम्, अतिमभ्यम्, युवामति-  
क्रान्तेभ्यः—अतियुवभ्यम्, अत्यावभ्यम् । अकारादिकरणमात्ववाधनार्थम् ॥ १८ ॥

६

ङसेश्चाद् ॥ २ । १ । १९ ॥

९

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसंवन्धिनोऽन्यसंवन्धिनो वा ङसेश्चकारात् तत्सहचरितस्य भ्यसः स्थानेऽद् इत्ययमादेशो  
भवति । त्वद्, मद्, त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तात् अतित्वद्, अतिमद्, अतियुवद्, अत्यावद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद् ।  
भ्यस्—युष्मद्, अस्मद्; त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्यः अतित्वद्, अतिमद्, अतियुवद्, अत्यावद्, अतियुष्मद्, अत्य-  
स्मद् । पञ्चमीभ्यसो ग्रहणाच्चतुर्थीभ्यसो न भवति—युष्यभ्यम्, अस्मभ्यम् ॥ १९ ॥

आम आकम् ॥ २ । १ । २० ॥

१२

युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य तत्सवन्धिनोऽन्यसवन्धिनो वाऽऽमः स्थाने आकमित्यादेशो भवति । युष्माकम्,  
अस्माकम्; प्रिययुष्माकम्, प्रियास्माकम्, त्वा युवां युष्मान् वा अतिक्रान्तानाम्—अतित्वाकम्, अतिमाकम्, अति-  
युवाकम्, अत्यावाकम्; अतियुष्माकम्, अत्यस्माकम्, आकमित्याकारो ण्यन्तार्थम्—युष्मानाचक्षणानां णौ, किपि, १५  
युष्माकम्, अस्माकम् । केचित्तु तत्सवन्धिन एवाऽऽम आकमादेशमिच्छन्ति, तथाऽऽमप्रत्यये दकारस्य यत्वमपीच्छन्ति,  
तन्मते—प्रिया यूयं येषां तेषां प्रिययुष्मयाम्, प्रियास्मयाम्, एवमतियुष्मयाम्, अत्यस्मयाम् ॥ २० ॥

१५

अत एवैकवर्णत्वेऽपि अस्य समस्तादेशत्वसिद्धिः, “प्रत्ययस्य” इति न्यायात् । युष्मान् इत्यादि । पूर्वं साधितमेतत् । ननु युष्मानित्याग द्वय १८  
प्राप्नोति, “ङेभ्ये” इत्यन्तलोपोऽनेन नकारश्च, तत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नकारस्य नित्यत्वाद्भोपस्य च कृते नकारे शेषत्वाभावाद्प्रसङ्गित्वेनानित्यत्वाद्  
पूर्वं नकार एव भवति । यथेव किमनेन ? “शसोऽता०” इत्यनेनैव सिद्धत्वात्, उच्यते—अलिङ्ग युष्मदस्मदी इति पुस्तकाभावात् नकारो न सिध्यतीति  
वचनात् । अभ्युपगमे वा लिङ्गस्य स्त्रीनपुंसकार्थं युष्मान् ब्राह्मणी, युष्मान् कुलानीत्यादि । अतत्सवन्धिन्युदाहरति—प्रिययुष्मान् इत्यादि ॥१७॥ २१

अभ्यम् भ्यसः । युष्मदस्मदोरिति वर्तते । पूर्ववद्विभक्तिविपरिणाम । युष्मदस्मद्भ्यां भ्यस अभ्यम् इत्यन्वयस्तदर्थमाह—युष्म-  
दस्मद्भ्यां परस्येत्यादि । युष्मभ्यमित्यादि । साधित पूर्वमेतत् । कार्यिणो भ्यस प्रथममुपादाने कर्तव्ये कार्यसाभ्यम पूर्वमुपादानं प्रत्यासत्ति-  
सूचनार्थम्, पाठापेक्षया च चतुर्थ्यैव प्रत्यासत्ता तस्या एव चादेश इत्याह—चतुर्थीबहुवचनस्येति । ननु पारिशेष्यादप्यसार्थस्य सिद्धे, २४  
तथाहि—“ङ्सेश्चाद्” इत्यत्र चकारेण भ्यसोऽनुवृत्तिः, स च ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीसचन्येव षष्ठ्ये इति परिशिष्टतुर्थीभ्यसेव सभवतीति ।  
एवन्तद्वादेशाभिन्नव्यक्त्यर्थम्, अन्यथा ‘भ्यसो भ्यम्’ इति निर्देशे व्यञ्जनादिरप्यादेश इति सदित्येत । नन्वेवमस्तु प्रक्रियागौरव परिदत्त भविष्यति,  
कृते तस्मिन् “ङ्गस्यादेत्यपदे” इति ङ्का भाव्यमित्यत आह—अकारादिकरणमिति । अन्यथा व्यञ्जनादित्यादित्वात् “युष्मदस्मदो” २७  
इत्यात्वप्रसङ्ग । णिचि च युष्मभ्यमस्मभ्यमिति यथा स्यात् ॥ १८ ॥

ङ्सेश्चाद् । युष्मदस्मदोरिति वर्तमानं पञ्चम्या विपरिणम्यते । चकारेणात्र भ्यसतुरुच्यते । युष्मदस्मद्भ्यां ङसे भ्यसस्य अद्  
इत्यन्वयः । चकारेण भ्यसोऽनुकर्षणेऽपि ङसे भ्यसस्यैकवचनान्तनिर्देशेन द्विवचनान्तनिर्देशाभ्यां युष्मदस्मद्भ्यां सह वैपण्याद्यथासख्याभाव ३०  
इत्याह—युष्मदस्मद्भ्यामित्यादि । त्वद्, मद् इति । अत्रोक्ता प्रक्रिया । अतत्सवन्धिन्युदाहरति—त्वा, युवामित्यादि । एव मामावामस्मा-  
न्वाऽतिक्रान्तादिति विग्रहोऽतिमदित्यादौ सविज्ञेय । पञ्चम्या भ्यसपीमानि रूपाणि, किन्तु विग्रहे विशेष इत्याह—त्वां युवां युष्मान्वाऽतिक्रा-  
न्तेभ्य इति । एवमतिमदित्यादावपि मामावामस्मान्वाऽतिक्रान्तेभ्य इति विग्रहः । ननु भवत्वत्र ङसिसाहचर्यात् पञ्चमीभ्यसो ग्रहणेन चतुर्थी- ३३  
भ्यस आदेशाभावः । अभ्यमादेशस्तु पञ्चमीभ्यस कस्मात् भवति ? न चादेशेनापीदित्वादिति वाच्यम्, तत्स्यस्य व्यक्तिपक्षाश्रयणेन पञ्चमी-  
भ्यस प्रत्यचरितार्थत्वेन पाक्षिकी प्रवृत्तिः स्यात्, अन्यथा अत्रानुवृत्तिरेव न स्यात् । न हि गोधा सर्षणादहिर्भवति, एव चतुर्थीभ्यसनुवर्तनात्  
पञ्चमीभ्यस् भवति । तस्मात् पूर्ववद्वे पञ्चमीभ्यसपि प्राक् इति तस्याभ्यमादेशेन भाव्यम् इति चेत्, मंभम्, जातौ तत्स्य प्रवृत्त, जातिश्च ३६  
सकृद्भ्ये प्रवृत्ता सती पुनः प्रवृत्तौ तदपवादेनादादेशेन बाधितत्वाद्भ्यमादेशोऽस्य न प्रवर्ततेऽत आह—पञ्चमीत्यादि । नन्वनुवर्तनादर्थेषु  
अन्यथात्व मा भूत्, शब्देषु तु दर्शनाद् भवतु तर्हि आहृत्या एव व्याख्यायते—पञ्चमीभ्यसस्त्र सृत्रे ग्रहणाभावाच्चतुर्थीभ्यसस्तु युष्मभ्यम्,  
अस्मभ्यम्, पञ्चमीभ्यसोऽभ्यमादेशाभाव इति ॥ १९ ॥

३९

आम आकम् । युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते । युष्मदस्मद्भ्यां आम आकम् इत्यन्वयस्तदर्थमाह—युष्मदस्मदित्येताभ्यामित्यादि ।  
युष्माकमित्यादि । पूर्ववत् । अतत्सवन्धिन्युदाहरति—प्रिययुष्माकमित्यादि । अत्र बहुव्रीहे सुज्ञानत्वात्तदप्रदर्शनेनातिशब्देन विग्रह  
दर्शयति—त्वा युवामित्यादि । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । नन्वाम कमिति न्यासे “युष्मदस्मदो” इत्यात्वे युष्माकमित्यादिसिद्धौ किमर्थमाकारकरण- ४२  
मित्याह—आकमित्याकार इत्यादि । यथाकारो नोपावीयेत तदा ष्यन्ते आकारो न श्रूयेत इति भावः । केचित्त्विति । पाणिनिसूत्रानुवृत्तिः ।  
ते हि “साम आकम्” पा० ७।१।३३ इति पठन्त कृतधामादेशस्याम आकमिच्छन्ति । साम् च “अवर्णस्याम साम्” इति सूत्रेणानुपसर्जनस्यैव,  
तत्रैव चासौ तत्सवन्धी भवतीति णिचि सति न भवति । उपसर्जनादेव “टाङ्योसि०” इति यत्त्वं चेच्छन्ति इति तत्रामोऽप्यनुप्रवेशादित्यर्थः । ४५  
तत्रैतत्सर्वं केचित्तु इति मतमाह—तत्संवन्धिन एवाम इत्याभ्य, यत्वमपीच्छन्तीत्यन्वयेन । नस्तुतस्तु पाणिनीयसूत्रव्याख्यातृविषये  
प्राह्वयमतविभेदात् प्रिययुष्मयाम् प्रियास्मयाम् अतित्वयाम् अतिमयाम् प्रिययुष्माकम् प्रियास्माकम् अतित्वाकम् अतिमाकमित्यादि रूपाणि भवन्ति,  
स्पष्टयेतत्सर्वं सि० कौ० तत्त्वबोधिन्यां युष्मदस्मत्प्रकरणे । तत्र प्राचा मत अपोष नयै स्वमत व्यवस्थापितम् ॥ २० ॥

४८

## पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वक्षसौ बहुत्वे ॥ २ । १ । २१ ॥

द्वितीया चतुर्थी षष्ठी च युग्विभक्तिः, तया बहुत्वविषयया सह पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्थथासंख्यं वक्षस् इत्येतावा-  
 ३ देशौ वा भवतः, तत्रेतदं यष्मदस्मदी चैकवाक्ये भवतः; अन्वादेशे नित्यं विधास्यमानत्वादिह विकल्पो लभ्यते, एवमुत्तर-  
 सूत्रत्रयेऽपि । धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु; धर्मो युष्मान् रक्षतु, धर्मोऽस्मान् रक्षतु; तपो वो दीयते, तपो नो दीयते;  
 तपो युष्मभ्यं दीयते, तपोऽस्मभ्यं दीयते; शील वः स्वम्, शील नः स्वम्; शील युष्माकं स्वम्, शीलमस्माकं स्वम् । पदा-  
 ६ दिति किम् ? युष्मान् धर्मो रक्षतु, अस्मान् धर्मो रक्षतु । युग्विभक्त्येति किम् ? ज्ञाने यूय तिष्ठत, शीले वयं स्यासामः;  
 ज्ञाने युष्माभिः स्थितम्, शीलेऽस्माभिः स्थितम्, ज्ञान युष्मदागतम्, शीलमस्मदागतम्, ज्ञान युष्मासु तिष्ठति, शीलम-  
 स्मास्वायते; ग्रामे युष्मत्पुत्रः, नगरेऽस्मत्पुत्रः; इति युष्मदुपाध्यायो वृत्ते, इत्यस्मदाचार्योऽनुशास्ति । एकवाक्य इति  
 ९ किम् ? एकस्मिन् पदे निमित्तनिमित्तनोर्भावे मा भूत्—अतियुष्मान् पश्यति, अत्यस्मान् पश्यति; वाक्यान्तरे च मा भूत्—  
 ओदनं पचत युष्माकं भविष्यति, पटं वयत अस्माकं भविष्यति । ननु च वाक्यान्तरस्थात् पदात् परयोर्युष्मदस्मदोः सामर्थ्या-  
 भावादेव वक्षसादयो न भविष्यन्ति, किमेकवाक्यग्रहणेन ? नैव शङ्काम्, युक्तयुक्तादपि पदादसमर्थत्वात् न प्राप्नुवन्ति—  
 १२ इति स्म नः पिता कथयति, इति वः श्रेयसी ब्रवीमि, इति मे माताऽवोचत्, शालीनां ते ओदनं दास्यामि, अत्र हि  
 युष्मदस्मदी पित्रादिभिर्युक्ते न पित्रादियुक्तैरितिस्मादिभिरिति वक्षसादयो न स्युः, अतः पारपर्येणापि युक्तादेकवा-  
 क्यस्यात् पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्वसादयो भवन्त्वित्येकवाक्यग्रहणमर्थवत् । बहुत्व इति किम् ? धर्मो युवां रक्षतु,

- १५ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वक्षसौ बहुत्वे । अत्र युष्मदस्मदोरिति वर्तते । बहुत्वे इति युग्विभक्त्या इत्यस्य विशेषणम् । तथा च  
 बहुत्वे वर्तमानया युग्विभक्त्या पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्वक्षसौ वा एकवाक्ये इत्यन्वयः । पदादिति । पद्यते गम्यते कर्तृकम्मोदिविशिष्टोऽने-  
 नेति पदं स्याद्यन्तं तस्मादित्यर्थः । योजनं युक्तं सममविषयं सरुयास्थानं युगमिति यत्सख्यायते तेन परिच्छिन्नं वस्त्वपि युगित्युच्यते । अत्र च  
 १६ प्रस्तावाद् युग्मा विभक्तिर्द्वितीयाचतुर्थीषष्ठीरूपा गृह्यतेऽत आह—द्वितीयेत्यादि । कार्यकार्यिणोस्तुल्यत्वाद्यथासंख्यमत आह—युष्मदस्मदो-  
 रिति । द्विविधं वाक्यं लौकिकं शास्त्रीयं च । तत्र लौकिकम् “अर्थैक्यादेकं वाक्यं साक्षाद्बोधेद्विभागे स्यात्” इति । अत्रानेकमपि ल्यायन्तं समवति-  
 पश्य मृगो धावति, पचति भवति इत्यादि ह्येतदेकार्थं साक्षात् च विभागे पश्य, किम् ? मृगो धावतीत्येतदिति । तत्र “कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे  
 २१ कार्यसंप्रत्यय” इति “सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्” इति परिभाषितं ल्यायन्तभेदे वाक्यभेदार्यं शास्त्रीयं वाक्यं गृह्यत इत्याह—एकवाक्यं इति ।  
 एकस्मिन्—अभिज्ञे आधारभूते वाक्ये इत्यर्थः । अभिज्ञत्वात् चानेकाध्यायेपेक्षया । तत्र युष्मदस्मदो कार्यिणो श्रुतत्वात् पदादित्यस्य तद्विशेषणस्य  
 च यथाभिज्ञं वाक्यमाधार इत्यमुमेवार्थं स्फुटयिष्याह—तत्रैतदमित्यादि । ननु च प्रयोगे वक्षसादीनां विकल्पेन प्रयुज्यमानत्वात् सूत्रे च तदर्थस्य  
 २४ वाग्रहणदेर्नैवेत्याधिकारस्य चाभावात् कथं विकल्पो लभ्यत इत्याह—अन्वादेश इत्यादि । पक्षे कार्यस्यसंभवतायां नित्यग्रहणमर्थवद्भवति,  
 व्यभिचारे विशेषणस्थायैवत्वात् तदभावे तु तत्र नित्यग्रहणमानर्थक्यमशुवीत्यर्थः । एवमुत्तरसूत्रत्रयेऽपीति । एतत्सूत्रवत् “द्वित्वे वाजौ,”  
 “केहस्ता ते मे,” “अमा त्वा मा” इत्यत्रापि विकल्पलाभः । धर्मो वो रक्षतु इत्यादि । अत्र युष्मदस्मदोर्वसादयो पदादियु “शसो न,” “शेषे  
 २७ छक्” इत्यादीनि बाधित्वा नित्यत्वादनवकाशत्वात् च वक्षसादेव भवतः । रक्षतु इत्यादयोऽनुप्रयोगा द्वितीयादिविभक्त्यभिष्यञ्चयार्थः । युष्मान्  
 धर्मो रक्षतु इत्यादि । सूत्रे पदादिति वचनादत्र युष्मदस्मदो पदात् परत्वाभावात् न वक्षसौ । इति युष्मदुपाध्यायो वृत्ते इति । अत्रेति-  
 पाद एवमर्थकः । युष्माकमुपाध्याय इति विशुद्ध षष्ठीसमासः । अत्र युग्विभक्त्या इति “समानानां तेन” इत्यादिवत् पक्ष्ये तृतीयाविधानात्  
 ३० त्रिविधमिहोपपत्तिः कार्यत्वात् “अन्तरज्ञानमपि विधीर्चाधित्वा छुप्रवर्तते” इति तस्या पूर्व लोपात्, “छप्यच्छेनत्” इति स्थानिवद्भावप्रति-  
 पेधात् कार्यविभक्तोरभावादादेशाभावात् इत्यर्थः । परार्थं शब्दप्रयोगाद् वाक्यस्यैवार्थप्रत्यायकत्वात् केवलस्य प्रयोगाभावात् पदादित्युक्तेऽपि वाक्यं  
 गम्यत एव, तत्तत्सत्यस्यैव तस्य प्रयोगात् । यत्रापि केवलस्य प्रयोगस्तत्रापि तदाक्षिप्तपदान्तरसम्बन्धाद् वाक्यादेवार्थप्रत्यय इति वाक्यस्य ला-  
 ३३ भात् तद्ग्रहणं कथमिति विशेष्यस्याभावात्तत्त्ववस्तुविशेषणस्याप्येकशब्दसाभाव इति पृच्छति—एकवाक्यं इत्यादि । समाधत्ते—एकस्मिन्नि-  
 वन्तवर्तिविभक्तिसमाश्रयेण पदात् परत्वेऽपि समासस्यैकपदे वक्षसौ न भवतः । एकस्मिन् एव वाक्ये इत्यनेन च वाक्यान्तरे व्यवच्छिद्यते । तथा-  
 ३६ वधारणमुपात्तयोरेव विशेषणविशेष्ययोः सम्भक्तिं न सामर्थ्यलक्षयोरिति । ओदनं पचतेत्यत्राख्यातभेदाद्वाक्यभेदः । ननु चेति । पदादिति  
 लिङ्गात् समर्थपरिभाषोपस्थापनात् किं द्वितीयावधारणार्थेन एकवाक्यग्रहणेनेत्यर्थः । सामर्थ्याभावादेवेति । परस्परव्यपेक्षालक्षणसंबन्धाभावा-  
 देवेत्यर्थः । ननु वाक्ये व्यपेक्षालक्षणस्य सामर्थ्यस्याङ्गीकृतत्वात् तस्मात् सद्भावात्, कथमत्र व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यासद्भाव इति चेदुच्यते, तथाहि—युष्म-  
 ३९ दस्मच्छब्दवाच्यो योऽर्थस्तत्साधनेन पाकेन युष्मत्स्वामिको ओदनो भविष्यत्येवभूता पाकस्य युष्मदस्मदोरपेक्षाऽस्त्येव, नैवम्, विशिष्टापेक्षा व्यपेक्षा,  
 सा च यैव रूपेणार्थेन वा वाक्ये पदसुपात् साक्षात् तेनैव, न रूपान्तरेण अर्थान्तरेण वा । अत्र तु प्रकारान्तरेण, तथाहि—ओदनं पचतेत्यत्र  
 युष्मदस्मदर्थकर्तृकेण पचिना कर्मत्वेनापेक्ष्यमाणं ओदनो युष्माकं भविष्यतीति—युष्मदर्थस्वामिको भवतिना कर्तृकत्वेन अपेक्ष्यत इति विशिष्टा  
 ४२ पेक्षाभावात् सामर्थ्याभावः । नैवं शङ्कयमिति । अत्रायमभिप्रायः—एकवाक्यग्रहणमन्तरेण वाक्यान्तरे सामर्थ्याभावादादेशाभावात् यत्रैकवा-  
 क्येऽपि सामर्थ्यं न स्यात्तत्र वक्षसादयो न स्युर्न—इति स्म नः पिता कथयतीत्यादि इति सेत्यादि पदं यथावस्थितयुष्मदादिना साक्षात्-  
 पेक्ष्यते, किन्तहिं ? पित्रादिकम्, तेन च तत् इत्येकवाक्यग्रहणात् सामर्थ्याभावादेऽप्येकवाक्ये पदात् परस्य युष्मदादेरादेशसिद्धिरिति । इतिशब्द  
 ४५ एवमर्थ एव कथितवानित्यर्थः । बहुत्व इति किमिति । ननु द्विवचनैकवचनयोरादेशान्तरविधानाद्बहुत्व एव वक्षसौ पित्रायेते, तथाहि—“द्वित्वे-  
 वाजौ” उच्यते, एकत्वे तु ते मे, त्वा मा उक्ता इति पारिशेष्याद्बहुत्वमवसीयते, न चैतद्विषयेऽप्यनयो प्रवृत्तिः स्यादिति वाक्यं यतोऽपवादविषयपरि-  
 ४८ वारणेऽस्मिन् प्रवर्तते “पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्तमो” इति “प्रकल्प्य चापवादाविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते” इति चेत्, सत्यम्,  
 अत्र न्यायानुवादकत्वात् । किञ्च यथा द्यविविधे “कृत्रिमिजि०” ५।१।४२। इति प्रारम्भनाणोऽपवादोऽपि क्वयं पक्षे व्यगं प्रवृत्तिं न

धर्मस्त्वां रक्षतु । स्याद्यधिकारे विभक्तिग्रहणं युक्त्यादिवचननिवृत्त्यर्थम्, तेन-ज्ञाने युवां तिष्ठतः, शीले आवां तिष्ठाव इत्यत्रोत्तरेण वाम्नावादेशौ न भवतः ॥ २१ ॥

द्वित्वे वाम्नौ ॥ २ । १ । २२ ॥

पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्द्वित्वविषयया युग्विभक्त्या सह यथासख्यं वाम्नावित्येतावादेशौ वा भवतः, तच्चेत्पदं युष्मदस्मदी चैकवाक्ये भवतः । धर्मो वां रक्षतु, धर्मो नौ रक्षतु, धर्मो युवां रक्षतु, धर्म आवां रक्षतु, शीलं वां दीयते, शीलं नौ दीयते, शीलं युवाभ्यां दीयते, शीलमावाभ्यां दीयते; ज्ञानं वां स्वम्, ज्ञानं नौ स्वम्, ज्ञानं युवयोः स्वम्, ज्ञानमावयोः स्वम् । युग्विभक्त्येव ? ग्रामे युष्मत्पुत्रः, नगरेऽस्मत् पुत्रः । पदादित्येव ? युवां धर्मो रक्षतु, आवां धर्मो रक्षतु । एकवाक्य इत्येव ? ओदनं पचत युवयोर्भविष्यति आवयोर्भविष्यति ॥ २२ ॥

डेङ्सा तेमे ॥ २ । १ । २३ ॥

तेमे इति लुप्तद्विवचनान्तं पदम्, पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्देङ् इत्येताभ्यां सह ते मे इत्येतावादेशौ वा भवत एकवाक्ये, डेङ्सेत्येकवचन स्थानिभ्यामादेशाभ्यां च यथासख्यनिवृत्त्यर्थम् । धर्मस्ते दीयते, धर्मस्तुभ्य दीयते; धर्मो मे दीयते, धर्मो मद्द दीयते; शीलं ते स्वम्, शीलं तव स्वम्, शीलं मे स्वम्, शीलं मम स्वम्; धर्मस्ते स्वम्, धर्मो मे स्वम्, धर्मस्तव स्वम्, धर्मो मम स्वम् । पदादित्येव ? तुभ्यं धर्मो दीयते, मद्द धर्मो दीयते, तव शीलं स्वम्, मम शीलं स्वम् । एकवाक्य इत्येव ? ओदनं पच तव भविष्यति मम भविष्यति, त्वां युवा युष्मान् वाऽतिक्रान्ताय अतितुभ्यम् । डेङ्सेति किम् ? पटस्त्वया क्रियते, धर्मो मया क्रियते । कथं 'न मे श्रुता नापि च दृष्टपूर्वा'-न मे न मयेति ह्यत्रार्थः; असाधुरेवायम्, स्यादिप्रतिरूपकमव्ययं वा ॥ २३ ॥

अमा त्वामा ॥ २ । १ । २४ ॥

पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरमा द्वितीयैकवचनेन सह त्वा मा इत्येतावादेशौ यथासख्यं वा भवत एकवाक्ये । धर्म-स्त्वा रक्षतु, धर्मो मा रक्षतु, धर्मस्त्वा रक्षतु, धर्मो मां रक्षतु । पदादित्येव ? त्वामीक्षते, मामीक्षते । एकवाक्य इत्येव ? अतित्वां पश्यतु, अतिमां पश्यतु ॥ २४ ॥

असदिवाऽऽमञ्चं पूर्वम् ॥ २ । १ । २५ ॥

आमञ्चयते यत्तदामञ्चयम्, तद्वाचि पदं युष्मदस्मञ्चां पूर्वमसदिवाविद्यमानमिव भवति, सति तस्मिन् यत्कार्यं तत्र

विहन्ति । एवमत्रापि वामादय पक्षे न वल्लसो प्रवृत्तिसुपहन्तु । अत एव "डेङ्गा ते मे" इत्यत्र चेच्छोरुपादानं कृतम्, अन्यथा द्वित्ववहुत्व-योर्वेत्तसादिभिरागतत्वादेकत्वमवसीयते । तत्रापि द्वितीयैकवचनस्य त्वामादेशविधानात् टेङ्साचेव परिशिष्येते किं तदुपादानेन ? तदुपादानं तु 'अपवादविषये पक्षे क्वचिदुत्सर्गं प्रवर्तत' इति । इह स्याद्यधिकारात् स्यादेव विभक्तित्वाद्भक्तिग्रहणमन्तरेणापि विभक्तौ लघ्वाया विभक्तिग्रहणं युक्त्यादिवचननिवृत्त्यर्थमित्याह—स्याद्यधिकारे इत्यादि ॥ २१ ॥

द्वित्वे वाम्नौ । अत्र युष्मदस्मदोरिति पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये इति चातुर्वर्तते । पदात् युष्मदस्मदोर्द्वित्वे युग्विभक्त्या वाम्नौ वा एक-वाक्ये इत्यन्वयः । द्वित्व इति भावप्रत्ययान्तेन संख्या निर्दिश्यते, सख्यायां च विभक्तिवर्तते न युष्मदस्मदी द्रव्यवृत्तित्वात्तयोरिति द्वित्व इति विभक्तेरेव विशेषणमित्याह—द्वित्वविषयया इत्यादि । अत्रोदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि च पूर्वानुसारेण सुज्ञानानीति ॥ २२ ॥

डेङ्सा तेमे । युष्मदस्मदोरिति पदादिति एकवाक्ये इति च वर्तते । पदात् युष्मदस्मदोर्देङ्सा तेमे वा एकवाक्ये इत्यन्वयः । तेमे इति लक्षणस्य लक्ष्यानुसारित्वाद्युष्मदस्मदो कार्यिणोर्द्विवचनान्तत्वाद्वाख्यानाद्यथासख्यार्थं तेमे इति लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तं कार्यपदमित्याह—तेमे इत्यादि । ननु देङ्सादेङ्सासंख्याविषयत्वात् किमर्थमेकवचनम् ? उच्यते—कार्यिणो कार्ययोश्च द्विवचनान्तत्वादनयोरपि द्विवचनान्तत्वे यथासख्यं स्यात्तद्विषयमेकवचनमित्याह—डेङ्सेत्यादि । कथमिति । अस्मदस्तृतीयैकवचनेन कथं मे इत्ययमादेश इत्यर्थः । समाधत्ते—असाधुरेवेत्यादि । योऽयं तृतीयैकवचनेन मे इत्ययमादेश सोऽसाधुरेङ्साभ्यां सहैव विधानादिति । ननु साधुत्व शिष्टप्रयुक्ते, इति चेत्, तदा स्यादिप्रतिरूपकमेवमर्थमित्याह—स्यादीत्यादि ॥ २३ ॥

अमा त्वामा । युष्मदस्मदोरिति पदादिति एकवाक्ये इति चातुर्वर्तते । पदात् युष्मदस्मदो अमा त्वामा वा एकवाक्ये इत्यन्वयस्त-२३ दर्शमाह—पदात् परयोरित्यादि । अम् यथाप्यनेकप्रकारोऽस्ति, तथाहि—एक "अत स्योऽम्", द्वितीयोऽमव्ययीभावस्येति, तृतीय आख्यात-विभक्ते 'अम्बम्' इति तथापि युष्मदस्मदामन्यस्यासमवाद्द्वितीयैकवचनमेव गृह्यत इत्याह—अमा द्वितीयैकवचनेनेति । त्वामा इति लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तं यथासख्यार्थं विशेष्यमित्याह—यथासंख्यमिति ॥ २४ ॥

असदिवामञ्चं पूर्वम् । पूर्वं आमञ्चय असद् इव इत्यन्वयः । आमञ्चयमिति कर्मणि य, योऽर्थं खेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मान्तरसवन्ध प्रत्यभिमुखीक्रियते स आमञ्चय, यथा—देवदत्तो देवदत्तत्वेन प्रसिद्धो धर्मान्तरेऽभिमुखीक्रियते—देवदत्त ! भुङ्क्व, अधीष्वा इति । तत्रार्थे कार्या-सम्भवाद्गुणचारादामञ्चयिष्यपदमामञ्चय निश्चयत इत्याह—आमञ्चयते यत्तदामञ्चयम्, तद्वाचि पदमिति । प्रथमान्तमित्यर्थः । पूर्वमिति परापेक्ष, तच्च प्रकृतत्वाद्युष्मदस्मदपेक्षमेवेत्याह—युष्मदस्मदञ्चा पूर्वमिति । असदिवेति स्पष्टयति—अविद्यमानमित्येत्यादि । श्रमणा

भवति असति यत्तद्भवतीत्यर्थः । श्रमणा युष्मान् रक्षतु धर्मः, श्रमणा अस्मान् रक्षतु धर्मः, श्रमणा युष्मभ्य दीयते, श्रमणा अस्मभ्य दीयते; श्रमणा युष्माकं शीलम्, श्रमणा अस्माकं शीलम्; श्रमणौ युवां रक्षतु धर्मः, श्रमणौ आवां रक्षतु धर्मः; श्रमणौ युवाभ्यां दीयते, आवाभ्यां दीयते; श्रमणौ युवयोः स्वभावयोः स्वम्, श्रमण त्वां रक्षतु तपः, मां रक्षतु तपः; श्रमण तुभ्यं दीयते, ममं दीयते; श्रमण तव शीलम्, मम शीलम्, एष्वामङ्ग्यस्यासत्त्वाद् वक्षसादयो न भवन्ति । ग्रामाश्चैत्र ते स्वमथो इत्यादौ चैत्रपदस्यामङ्ग्यस्यासत्त्वाद् ग्रामपदापेक्षयाऽन्वादेशे नित्यं तेमथादिविधिः, न तु "सपूर्वात् प्रथमप्रान्ताद्वा" ॥ २ । १ । ३२ ॥ इति विकल्पः । इवकरणं किम् ? श्रवणं यथा स्यात् । आमङ्ग्यमिति किम् ? धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु । पूर्वमिति किम् ? 'मयैतत्सर्वमाख्यात युष्माकं मुनिपुङ्गवाः' परस्य ह्यसद्वत्त्वे पादादिलक्षणः प्रतिषेधो न स्यात्, व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दो वर्तते, तेन—'चैत्र धर्मो वोऽथो रक्षतु, चैत्र धर्मो नोऽथो रक्षतु' अत्र "सपूर्वात् प्रथमप्रान्ताद्वा" ॥ २ । १ । ३२ ॥ इति विकल्पो न भवति ॥ २५ ॥

### जस्विशेष्यं वाऽऽमङ्ग्ये ॥ २ । १ । २६ ॥

तदतद्विषय विशेष्यम्, तस्य व्यवच्छेदकं विशेषणम्, युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसन्तमामङ्ग्य पदं विशेष्यमामङ्ग्ये पदे २२ सामर्थ्यात्तद्विशेषणभूते परेऽसदिव वा भवति; पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः । जिनाः शरण्या युष्मान् शरणं प्रपद्ये, जिनाः शरण्या वः शरणं प्रपद्ये, जिनाः शरण्या अस्मान् रक्षत, जिनाः शरण्या नो रक्षत, सिद्धाः शरण्या युष्मानथो शरणं प्रपद्ये, सिद्धाः शरण्या वोऽथो शरणं प्रपद्ये, सिद्धाः शरण्या अस्मानथो रक्षत, सिद्धाः शरण्या नोऽथो रक्षत । जसिति किम् ? २५ साधो सुविहित वोऽथो शरणं प्रपद्ये, साधो सुविहित नोऽथो रक्ष । विशेष्यमिति किम् ? शरण्याः साधवो युष्मान् शरणं प्रपद्ये, शरण्याः साधवोऽस्मान् रक्षत । आमङ्ग्य इति किम् ? आचार्या युष्मान् शरण्याः शरणं प्रपद्ये, अत्रामङ्ग्यं विशेषणं व्यवहितत्वात् न परमिति न भवति । सामर्थ्यात्तद्विशेषणभूत इति किम् ? आचार्या उपाध्याया युष्मान् शरणं प्रपद्ये ॥२६॥

१८ युष्मान् रक्षतु धर्म इत्यादि । अत्र श्रमणा इत्यामङ्ग्यस्याविद्यमानवत्त्वे युष्मदस्मदो पदात् परत्वाभावात् वक्षसादयो न भवन्तीत्याह—एष्वित्यादि । ननु पूर्वस्यामङ्ग्यस्याविद्यमानवद्भावात् कथं 'ग्रामाश्चैत्र ते स्वमथो' इत्यादौ पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरुच्यमानस्तेमथायादेश इत्याह—ग्रामाश्चैत्र इत्यादि । तथा आमङ्ग्यस्याविद्यमानत्वात् सपूर्वत्वाभावात् "सपूर्वात्प्र०" इति विकल्पाभाव । इवकरणं किमिति । असदामङ्ग्य पूर्वमित्युक्ते- २१ ऽप्यसत्त्वसिद्धे किमर्थमिवकरणमिति प्रश्नार्थं । समाधत्ते—श्रवणं यथा स्यादिति । इवकरणमन्तरेणासदित्युच्यमाने युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वमामङ्ग्यस्य प्रयोगाभाव एव स्यादत प्रयोगनिवृत्तिर्मा भूत् तद्विहितककार्याभाव एव यथा स्यादित्येवमर्थम् इवप्रहणम् । ननु च परार्थे प्रयुज्यमाना शब्दा अतिदेश गमयन्ति, यथा—गौर्वादीक इति । तत्र च विद्यमानस्यासदिति वचनादतिदेशो गम्यते । अतिदेशधर्मस्य स्वाश्रया निवृत्तिरिति नार्थे इव २५ प्रहणेन, सत्यम्, एवन्तु मन्थते—इवप्रहणमन्तरेण प्रयोगाव्यवस्थार्थमिदं स्यात् ततश्च कृतञ्चित् पूर्वमामङ्ग्यं न भवति, तथाच सति पूर्वस्यामङ्ग्यस्य परेणामङ्ग्येण सह निरन्तरता न स्यात् । आमङ्ग्यप्रहणप्रयोजनं पृच्छति—आमङ्ग्यमिति किमिति । धर्मो वो रक्षतु इत्यादि । अत्र युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वस्य धर्मपदस्यामङ्ग्यव्यवहितत्वाभावात्सत्त्वाभावेन "पदाद्यु०" इति वक्षसादेश । पूर्वमिति किम् इति । यदि पूर्वमिति नोच्येत २७ 'तदा मयैतत्सर्वमाख्यात युष्माकं मुनिपुङ्गवा' इत्यत्र युष्मच्छब्दात् परं मुनिपुङ्गवा इत्येतत्, पादस्यादि युष्माकमिति, तत्र परस्याविद्यमानवत्त्वे पादाभावात् युष्माकमित्यस्य पादादित्वाभावात् "पादाद्यो" इति प्रतिषेधस्याप्यभावात् पदात् परत्वेन आदेश प्रसज्येत इति भावः । ननु प्रत्या- सत्ते अव्यवहितस्यैव पूर्वस्याविद्यमानवद्भावः, तत चैत्र धर्मो नोऽथो रक्षत्वित्यादौ व्यवहितस्यामङ्ग्यस्य चैत्रादेरविद्यमानवद्भावाभावात् "सपूर्वात्प्र०" ३० इति विकल्पप्रसङ्ग इति चेत्, मैत्रम्, व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दस्य दर्शनात्, यथा—मधुरामा पूर्वं पाटलिपुत्रमिति, मधुरावाद्यानेकप्रामनगरान्तरीतेऽपि पाटलिपुत्रे पूर्वशब्द इत्याह—व्यवहितेऽपीत्यादि । अयमर्थ—यथाव्यवहितस्यैव पूर्वस्याविद्यमानवद्भावो न व्यवहितस्य तदा पूर्वप्रहणमपनीय 'असदिवामङ्ग्यात्' इत्येवोच्येत, यत पूर्वस्याप्यविद्यमानवद्भावे युष्मदस्मदोर्वक्षसाद्यभाव प्रयोजनं तदित्यमपि सिध्यति किं पूर्वप्रहणेन ? तथोत्- ३३ रत्नेऽप्येतदानुगुण्येन 'जस्विशेष्यात्' इत्येव कियेत, अत पूर्वप्रहणाद्भवहितस्यापि पूर्वस्याविद्यमानवद्भाव इति । तेनेत्यादि । व्यवहितस्याविद्य- मानवद्भावे सिद्धं प्रयोजनं दर्शितमिति ॥ २५ ॥

जस्विशेष्यं वाऽऽमङ्ग्ये । असदिवामङ्ग्यं पूर्वमित्यनुवर्तते । युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जस्विशेष्यं आमङ्ग्यं आमङ्ग्ये असदिव वा इत्यन्वयः ।

३६ विशिष्यते—विद्यते—व्याचर्यते इति विशेष्यम्, तत् विशेषणेन हि विशिष्यते इति विशेष्यं व्याचक्षणस्तदतद्विषयमित्यादिना सविशेषणं व्याचष्टे । यथा नीलमुपलम्ब इत्यत्र नील र्क च तौ विषयोऽस्येति तदतद्विषयमुत्पल तद्विशेष्यम् । तस्य व्यवच्छेदकं—भेदान्तराद्भेदाव्यवर्तकम् । विशेषणम्—विशिष्यतेऽनेनेति कृत्वा नीलमुच्यते । विशेष्यमित्यस्य विशेष्यं पूर्वानुष्ठितमामङ्ग्यमित्याह । आमङ्ग्यं पदमित्यादि । विशेष्यं— ३९ विशेष्याभिधायि पदमित्यर्थः । विशेष्यस्य विशेषणकाङ्क्षिण एकवाक्ययोपात्तत्वेन सामर्थ्यात् सनिहितत्वाद्विशेष्यत्वनिमित्तम् 'आमङ्ग्ये' इत्येतदेव विशेषणं विज्ञायत इत्याह—तद्विशेषणभूत इति । पूर्वेण व्यवहितस्याप्यविद्यमानवद्भावे नित्यं प्राप्ते पक्षेऽनेन विद्यमानवद्भावः सन् निवर्तनेन विधीयते इत्याह—पूर्वेणेत्यादि । जिनाः शरण्या युष्मान् शरणं प्रपद्ये इति । अत्र जसन्त विशेष्यं, जिना हि व्याचर्यत्वेन विवक्ष्यन्ते, ४२ यतो रागादिजयाजिना । रागादिजयस्य क्षयोपशमभेदाद्भेदा, तत्रोपशमरूपे जये तत्प्रादुर्भावात् कदाचिदशरण्यत्वमपि । शरण्या इति व्याचर्य- क्त्वेन विशेषणम् । तद्विशेषणभूते तस्मिन्नामङ्ग्ये पदे परे जिना इत्यस्याविद्यमानवद्भावो विभाषा भवति । साधो सुविहितेत्यादि । अत्राम- मङ्ग्यस्य विशेष्यस्य आमङ्ग्ये तद्विशेषणभूतेऽपि जसिति वचनाच्चसन्तत्वाभावादिकल्पामावे उत्तरेण नित्यं प्रतिषेध इति । शरण्याः साधवो ४५ युष्मान् शरणं प्रपद्ये इति । अत्र शरण्या इति विशेषणम्, साधव इति विशेष्यम्, तत्रामङ्ग्ये परे जसन्तविशेष्यस्य विकल्पेनाविद्यमानव- द्भावविधानाद्विशेषणस्य न भवतीत्यर्थः । नाप्युत्तरेण निषेध इति पूर्वेण नित्यमविद्यमानवद्भाव एव । आचार्या युष्मान् इत्यादि । अत्रामङ्ग्यस्य विशेष्यस्य व्यवहितत्वेन परत्रोपक्षेपाभावात् न भवति । आचार्या उपाध्याया इत्यादि । अत्र भिन्नाधिकरणयोः पदयोर्न पूर्वं विशेष्यं न परं ४८ विशेषणमिति सामर्थ्यात्तद्विशेषणभूते आमङ्ग्य इति वचनात् न भवति ॥ २६ ॥

## नान्यत् ॥ २ । १ । २७ ॥

युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसन्तादन्यदामन्न्यं पदं विशेष्यमामन्न्ये पदे तद्विशेषणभूते परेऽसदिव न भवति । साधो सुविहित त्वा शरणं प्रपद्ये, साधू सुविहितौ वां शरणं प्रपद्ये, साधो सुविहित मा रक्ष, साधू सुविहितौ नौ रक्षतम्, साधो सुविहित ते ज्ञानं दीयते, मे ज्ञानं दीयताम्, साधू सुविहितो वां ज्ञानं दीयते, नौ ज्ञानं दीयताम्, साधो सुविहित ते शीलं स्वम्, मे शीलं स्वम्; साधू सुविहितौ वां शीलं स्वम्, नौ शीलं स्वम्, अत्र परस्य “असदिव्वाऽऽमन्न्यं पूर्वम्” ॥ २ । १ । २५ ॥ इत्यसत्त्वेऽपि पूर्वविशेष्यपदाश्रया युष्मदस्मदादेशा भवन्ति । विशेष्यमित्येव ? सुविहित साधो तव शीलं मम शीलम् ॥ २७ ॥

## पादाद्योः ॥ २ । १ । २८ ॥

नियतपरिमाणमात्राक्षरपिण्डः पादः, पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वक्षसादि तत्पादस्यादिभूतयोर्न भवति । “वीरो विश्वेश्वरो देवो युष्माक कुलदेवता । स एव नाथो भगवानस्माक पापनाशनः” ॥१॥ पादाद्योरिति द्विवचनं युष्मदस्मदोरभिसंबन्धार्थम्, पादादाविति ह्युच्यमाने आमन्न्यमभिसंबन्धयेत । पादाद्योरिति किम् ? “पान्तु वो देशनाकाले जैनेन्द्रा दशनांशवः । भवकूपपतज्जन्तुजातोद्धरणरज्जवः” ॥ १ ॥ ॥ २८ ॥

## चाहहवैवयोगे ॥ २ । १ । २९ ॥

च अह ह वा एव इत्येतैर्योगे संबन्धे पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वक्षसादि तत्र भवति । ज्ञान युष्मांश्च रक्षतु, अस्मांश्च रक्षतु; ज्ञान युष्मानह रक्षतु, अस्मानह रक्षतु; ज्ञान युष्मान् ह रक्षतु, अस्मान् ह रक्षतु, ज्ञान युष्मान् वा रक्षतु, अस्मान् वा रक्षतु; ज्ञान युष्मानेव रक्षतु, अस्मानेव रक्षतु, ज्ञानं युष्मभ्य च दीयते, अस्मभ्य च दीयते; ज्ञान युष्माक च स्वम्, अस्माक च स्वम्; ज्ञान युवां च रक्षतु, ज्ञानमावां च रक्षतु, ज्ञान युवाभ्यां च दीयते, आवाभ्या च दीयते, ज्ञान युवयोश्च स्वम्, आवयोश्च स्वम्; ज्ञान त्वां च रक्षतु, मां च रक्षतु, ज्ञान तुभ्य च दीयते, मया च दीयते, ज्ञानं

नान्यत् । अत्र “असदिवामन्न्यं पूर्वम्” इति “जस्त्रिशेष्य वाऽऽमन्न्ये” इति चानुवर्तते । तथा च युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसोऽन्यदामन्न्यं विशेष्य आमन्न्ये असदिव न इत्यन्वयः । जस्त्रिशेष्यमित्यस्य प्रधानतयाऽन्यदिति संबन्धात्तस्य च निषेधार्थात् सविशेषणे च विधिनिषेधयोर्विशेषण एव पर्यवसितत्वाज्जसोऽन्यदभ्यन्ते इत्याह—जसन्तादन्यदिति । साधो सुविहित त्वा शरणं प्रपद्ये इत्यादि । अत्र परस्या २१ मन्न्यस्याविद्यमानवद्भावेऽपि पूर्वस्याविद्यमानवद्भावाभावात् त्वामादय आदेशा भवन्ति । प्रत्युदाहरणं पूर्वसूत्रानुसारेण षोडश्याम् । ननु विशेष्यस्यासत्त्वप्राप्तौ तद्विशेषणपदे परतः सत्त्वमनेन विधीयते, परपदस्य च “असदिवामन्न्यम्” इत्यसत्त्वात् परत्त्वाभावः, सत्यम्, असत्त्वं हि पूर्वस्य परभूतयुष्मदादिकार्यापेक्षया आधीयते न तु विशेषणात् पूर्वकार्यापेक्षया । ननु चामन्न्यपद अभिसुखीभव इति क्रियान्तरभाषिपद्माक्यान्तरमेव, ततश्च भाष्यभेदादेवादेशाभावः सिद्धः किमनेन इति चेत्? मैवम्, अत एवारम्भाद्वाक्यभेदो नाश्रीयते, तेन साधो सुविहितेत्यादौ एकाक्यत्वादादेशा सिद्धा ॥ २७ ॥

पादाद्योः । पादस्यापि पादाधी तयो पादाद्योरिति । पादलक्षणमाह—नियतेत्यादि । मात्राश्च अक्षराणि च मात्राक्षराणि नियत २७ निश्चित परिमाण इत्यन्ता येषान्तानि तद्योक्तानि नियतपरिमाणानि च तानि मात्राक्षराणि च तेषां पिण्डं समूहं पाद इत्युच्यते । पादाद्योरिति द्विवचनेन “असदिवामन्न्यम्” इत्यादौ युष्मदस्मदो षष्ठ्यन्ततया संबन्धविकल्पोरपीह न्यस्य प्रकान्तस्य द्वित्ववन्नो भावात् षष्ठ्यन्ततयैवावृत्तिरिति प्रदर्शयते । ते च पदादिति विशेषणसम्बन्धे एवानुवर्तते । षष्ठ्यन्तस्य च साक्षात् नया संबन्धोऽस्ति किन्तु तदुक्तकार्यस्य तेन संबन्ध इत्याह—पदात् परयोरित्यादि । यदुक्तमिति । सामान्येन सकलकार्यपरिग्रहार्थं विशेषणं दर्शयति—वक्षसादीति । “शेषे लुक्” इत्यादि तु न पदात् परयोरुक्तमिति तन्नाश्रीयते । पादस्यादिभूतयोरिति । पादस्यादित्वं प्राप्तयोरित्यर्थः । वीर इत्यादि । स्पष्टोऽर्थः । अत्र देव इति पदात् परस्य युष्माकमित्यस्य भगवानित्यतः परस्य अस्माकमित्यस्य च पादादेर्वैवसावादेशौ प्राप्तौ न भवतः । ननु किमर्थं ? पादाद्योरिति द्विवचननिर्देशः, २९ पादादावित्युच्यमाने पादस्य प्रथमावयवत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोरिति विज्ञायमाने सिष्यलेखेष्टम्, सत्यम्, सिष्यति यथेवमभिसम्बन्धो लभ्यते स दुर्लभ इत्याह—पादाद्योरिति त्वेत्यादि । पादाद्योर्युष्मदस्मदोरिति षष्ठ्यन्तयोस्तयोरभिसम्बन्धो यथा स्यादित्येवमर्थं क्रियते । पादादावित्युच्यमाने तत् दुर्लभमित्याह—पादादाविति ह्युच्यमाने इत्यादि । द्विर्यस्मादर्थं तेनायमर्थः—यस्मात् पादादावित्युच्यमानेऽस्यामन्न्य इत्यनेनापि सम्बन्धो इत्युच्यते, अनुवृत्तौ तस्यैवानन्तरत्वाद्युष्मदादेशे विप्रकृष्टत्वात् अतः पादाद्योरिति द्विवचनं युष्मदस्मदोरभिसंबन्धार्थम् । पादाद्योरित्यस्य फलं घृच्छति—पादाद्योरिति किमिति । पान्तु इति । देशनाकाले—उपदेशसमये, भव—संसार एव कूप—अन्धु, तस्मिन् पतत्—पतनशील, जन्तुजात—भूतनिचय, तस्य रद्धरणे रज्जव—रज्जुसंनिभा, जैनेन्द्रा—जिनेन्द्रस्येने, दशनांशव—दन्तमयूखा, व—युष्मान्, पान्तु—रक्षन्तु इत्यन्वयार्थः । अत्र वसादेशो युष्मद पादादित्वाभावादिति भावः ॥ २८ ॥

चाहहवैवयोगे । चाहहवैवयोगे पदात् युष्मदस्मदोर्यदुक्तं तत्र इत्यन्वयः । चक्ष अहश्च हश्च वाश्च एवश्च चाहहवैवा, तैर्योगस्तस्मिन्निति विग्रहस्तदाह—च अहेत्यादि । योगे संबन्धे इति । चादिद्योत्यसमुच्चयाथर्थस्य साक्षाद्युष्मदस्मदर्थसंबन्धे इत्यर्थः । ज्ञानं युष्मांश्च रक्षतु इत्यादि । अत्र ज्ञानन्तयोश्चादियोगे साकल्येनोदाहृतम् । जसोऽन्यत्राप्येवमुदाहृत्यम् । एतेषु द्वितीया चतुर्थी पठिता बहुवचने वक्षसो न भवतः । ज्ञानं युवां च रक्षतु इत्यादि । अत्र द्विवचने मात्रावौ न भवतः । ज्ञानं त्वां च रक्षत्वित्यादि । एतेष्वेकवचने त्वा मा ते मे



तव च स्वम्, मम च स्वम् । योगग्रहणं किम् ? ज्ञानं च शीलं च वो रक्षतु, नो रक्षतु, ज्ञानं च शीलं च वां दीयते, नो दीयते, ज्ञानं च शीलं च ते स्वम्, मे स्वम्; ज्ञानं च शीलं च त्वा रक्षतु, मा रक्षतु, ज्ञानं च ते स्वम्, ज्ञानं च मे स्वम्; नैतेषु चशब्देन युष्मदस्मदोर्योगोऽपि तु ज्ञानशीलयोः । 'चाहहवैवैः' इत्येव सिद्धे योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थम् ॥२९॥

### दृश्यर्थैश्चिन्तायाम् ॥ २ । १ । ३० ॥

दृशिना समानार्थी दृश्यार्थाः, तैर्धातुभिश्चिन्तायां वर्तमानैर्योगे युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वस्तुसादि तत्र भवति । जनो १ युष्मान् सदृश्यागतः, जनोऽस्मान् सदृश्यागतः, जनो युवां समीक्ष्यागतः, जनं आवां समीक्ष्यागतः, जनस्त्वामपेक्षते, जनो मामपेक्षते; ज्ञानं युष्मभ्य दीयमानमुत्पश्यति, ज्ञानमस्मभ्य दीयमानमुत्पश्यति, ज्ञानं युवाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानं मावाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानं तुभ्य दीयमानं निध्यायति, ज्ञानं मद्भ्य दीयमानं निध्यायति, जनो युष्माकं चित्तमुप २ लक्षयति, जनोऽस्माकं चित्तमुपलक्षयति; जनो युवयोः कार्यं संपश्यति, जनं आवयोः कार्यं सपश्यति, गुरुस्त्व कार्यमा- लोचयति; गुरुर्मम कार्यमालोचयति, सर्वत्र मनसा चिन्तितं दृश्यर्थानामर्थः । दृश्यर्थैरिति किम् ? जनो वो मन्यते, जनो नो मन्यते । चिन्तायामिति किम् ? जनो वः पश्यति, जनो नः पश्यति, जनो वामीक्षते, जनो नावीक्षते, जनस्त्वालोक- ३ यति, जनो मालोकयति, सर्वत्र चक्षुषा पश्यतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

### नित्यमन्वादेशे ॥ २ । १ । ३१ ॥

कथितानुकथनमन्वादेशः, कस्यचिद्वस्तुनः किञ्चित्क्रियादिकं विधातु कथितस्य तेनान्येन वा शब्देन पुनर- ३५ न्यद्विधातुं कथनमित्यर्थः; तस्मिन् विषये पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वस्तुसादि तन्नित्यं भवति, यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति, वयं विनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति, युवां शीलवन्तौ तद्वां गुरवो मानयन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति, त्वं विद्वानथो ते क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते, अहं विद्वानथो मे क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते; धनवांस्त्वमथो त्वा ३८ लोको मानयति, धनवानहमथो मा लोको मानयति ॥ ३१ ॥

इत्यादेशा न भवन्ति । ज्ञानं च शीलं चेत्यादौ युष्मदस्मदोर्योगाभावाद्योगग्रहणात् प्रतिषेधो न भवतीत्याह—नैतेष्वित्यादि । ननु किमर्थं योग- २१ ग्रहणं ? 'चाहहवैवै' इति तृतीयानिर्देशस्य सापेक्षत्वात् तृतीयैव युष्मदभ्याहरिष्यति, यथा "गोपातुं समया०" २।२।३। इत्यादौ इत्याह—चाह- २१ हवैवैरित्यादि । योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थमिति । यदा चादिभिर्युष्मदस्मदोर्यस्यैव समुच्चयविकल्पद्वयं द्योत्यते तदा चादिभिः साक्षाद्यु- ष्मदस्मदोर्योगः । यदा च तत्संबन्धिनः शीलादेस्त्वदा व्यवधानेन चादिभिर्युष्मदस्मदोर्योगः । तत्र साक्षाद्योगे प्रतिषेधो यथा स्याद्व्यवधानेन योगे मा भूदित्येवमर्थं योगग्रहणम् । ननु सञ्चिच्छेदे साक्षाद्योगे प्रतिषेधस्य चरितार्थत्वात् न व्यवहिते विप्रकृष्टयोगे प्रवर्तिष्यते इति किं योगग्रहणेन ? २४ इति चेत्, एतदेव योगग्रहणं ज्ञापयति यद्युक्त्युक्तेऽप्यस्मिन् प्रकरणे कार्यं भवतीति ॥ २९ ॥

दृश्यर्थैश्चिन्तायाम् । चिन्तायां वर्तमाने दृश्यर्थे योगे युष्मदस्मदोर्यदुक्तं तत्र इत्यन्वयः । दृश्यर्थैरिति । "इकिञ्चित्०" ५।३।१३। इति धातोः स्वरूपे चार्थेऽभिषेधे इङ्प्रत्ययो विधीयते । तत्र स्वरूपे विधीयमाने "दृश्यर्थो येषामिति" व्यधिकरणवद्गुनीहिप्रसङ्गात् तस्य च २७ प्रायेणाणिष्ठत्वात् । अर्थे प्रत्ययस्ततो दृश्यर्थो दर्शनमालोचनमर्थो येषामित्यन्वयपदार्थत्वेन धातव एव विज्ञायन्ते । युञ्जिक्रियाकर्तृत्वान्तृतीया । युञ्जिक्रियायाश्च सञ्चिधानं तृतीयया योपार्थस्याक्षेपात् । प्रोक्तमस्य च योगग्रहणस्यानुष्ठौ दृश्यर्थे साक्षाद्युक्तोरिव युष्मदस्मदो प्रतिषेधं स्यात्, अत्र तु युक्त्युक्तेऽपि प्रतिषेध इष्यते तत्र च पूर्वमेव युक्तिरुक्ता । जनो युष्मान्चदृश्यागत इत्यादौ सर्वेषां च दृश्येत्यादौ मनोवृत्तिरूपा ३० चिन्ता दृश्यर्थे इति वक्षसाद्यो न भवतीत्याह—सर्वत्रेत्यादि । जनो वो मन्यत इति । नायं दृश्यर्थः । दृश्यर्थो नाम यद्यत्तु साधने विज्ञाने वर्ततेऽतो न निषेध इति ॥ ३० ॥

नित्यमन्वादेशे । अन्वादेशे पदाद्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं तन्नित्यम् इत्यन्वयः । अनुशब्दः पश्चाद्भावे, पश्चाद्भावश्च पूर्वभावापेक्ष, पूर्व- ३३ भावश्च प्रत्यासत्तेरुत्तरपदार्थभूतस्यादेशस्यैव, अनुकथनं च प्रत्यासत्ते कथितस्यैव, अन्यथा तदन्यस्य कथनमेव स्यात् नानु- कथनमिति समानाधिकरणविषय इत्याह—कथितानुकथनमन्वादेश इति । कस्यचिद्वस्तुनः इत्यादिना । कथितानुकथनमित्येतदेवाभि- नक्ति । कस्यचिद्व्यवस्य कञ्चित् क्रियां जालिं शुण इष्य वा प्रतिपादयितुं कथितस्य कार्यभूतेन तदितरेण वा शब्देन पौनरुक्त्यं मा भूदिति विशेषा- ३६ न्तरं प्रतिपादयितुं पुन कथनमन्वादेश इति यावत् । यदुक्तं वक्षसादि तन्नित्यं भवतीति नित्यतामात्रमनेन विधीयते नापूर्वं किञ्चिदिति । यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति इत्यादि, यूयं विनीता इत्यत्र प्रथमादेश उत्तरस्थान्वादेशात्पश्चात्पश्चात् । विनीता इति विनीतत्वम् प्रति पादयितुं यूयमिति प्रतिपादितम् । तदित्यव्ययं तस्मादित्यर्थः । तद्वो गुरवो मानयन्तीत्ययमन्वादेशः । अत्र यूयमिति यत्प्रथममुक्तं तस्यैव च गुरवो ३९ मानयन्तीति प्रतिपादयितुं द्वितीयं कथनं, तत्र नित्यं वक्षसादेशः । एव सर्वत्र । नन्विदं किमर्थम् ? सामान्येन वक्षसादीनां विधानादन्वादेशोऽपि सिद्धत्वात्, नित्यार्थमित्यपि न चाप्यम्, तत्र विकल्पभावाज्जित्वात्स्यापि सिद्धत्वात् । न चागन्वादेशे विकल्पार्थमिति वाच्यम्, 'अन्वादेशे' इत्यारम्भेऽप्यन्वादेशे विकल्पोऽनन्वादेशे वेति नियुक्तमवयव- ४२ त्वात्प्र नित्यग्रहणं नित्यत्वार्थमिति । न च "सपूर्वात्०" इत्यन्वादेशे विकल्पविधानात् नित्यग्रहणमन्तरेणाप्यन्वादेशे एव विकल्प इति वाच्यम्, यतोऽन्वादेशे विकल्पे सति "सपूर्वात्०" इत्यस्य नियमार्थता स्यात्, "सपूर्वात् प्रथमान्तादेवान्वादेशे विकल्पो न द्वितीयायन्तात्" तथा "सपूर्वादि- प्रथमान्तादिकन्वो न केवलात्" तत्र अवधारणद्वयव्यावर्त्ये च विषये "पदाद्युग्०" इत्यादिभिर्नित्य एव विधि स्यात् इति । तस्मादन्वादेशो एव ४५ नित्यो विधिरन्यत्र तु विकल्प इति प्रतिपादनार्थं नित्यग्रहणम् ॥ ३१ ॥

## सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २ । १ । ३२ ॥

विद्यमानपूर्वपदात् प्रथमान्तात् पदात् परयोर्धुष्मदस्मदोरन्वादेशे वस्त्रसादय आदेशा वा भवन्ति । यूयं विनीतास्त-  
द्वुरवो वो मानयन्ति, तद्वुरवो युष्मान् मानयन्ति, वयं विनीतास्तद्वुरवो नो मानयन्ति, तद्वुरवोऽस्मान् मानयन्ति; युवां सुशीलौ १  
तज्ज्ञानं वां दीयते, तज्ज्ञानं युवाभ्यां दीयते, आवां सुशीलौ तज्ज्ञानं नो दीयते, तज्ज्ञानमावाभ्यां दीयते; सुशीलस्त्व-  
मथो क्षमाश्रमणास्ते ज्ञानं प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणास्तुभ्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति, सुशीलोऽहमथो क्षमाश्रमणा मे ज्ञानं  
प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणा मद्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति, वनवानसि अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलस्तव ६  
स्वम्, धनवानहमथो ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलो मम स्वम्; धनवास्त्व तल्लोकस्त्वा पूजयति, तल्लोक-  
स्त्वां पूजयति, धनवानहं तल्लोको मा पूजयति, तल्लोको मां पूजयति । गम्येऽप्यन्वादेशे भवति—ग्रामे कम्बलो वः स्वमथो ९  
ग्रामे कम्बलो युष्माकं स्वमथो इत्यादि । सपूर्वादिति किम् ? पटो युष्माकं स्वम्, अथो वः कम्बल, स्वम् । प्रथमान्ता- ९  
दिति किम् ? पटो नगरे युष्माकं स्वम्, अथो कम्बलो ग्रामे वः स्वम् । 'माणवकं जटिलकं ते स्वमथो' इत्यादौ तु  
विशेषणपदस्य "असदिवामन्त्र्य पूर्वम्" ॥ २ । १ । २५ ॥ इत्यसद्वद्वावात् नास्ति सपूर्वप्रथमान्तमिति न भवत्येव  
विकल्पः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥ ३२ ॥ १२

## त्यदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्यवृत्त्यन्ते ॥ २ । १ । ३३ ॥

त्यदादीनां संवन्धि न एतदित्यस्य द्वितीयायां टायामोसि च परेऽन्वादेशे एनद् इत्ययमादेशो भवति, अवृत्त्यन्ते—न  
चेदयमेतच्छब्दो वृत्तेरन्ते भवति । द्वितीया—उद्दिष्टमेतदध्ययनमथो एनदनुजानीत, एतकं साधुमावश्यकमध्यापयथो एन- १५  
मेव सूत्राणि, अत्र साकोऽप्यादेशः; सुशीलावेतौ तदेनौ गुरवो मानयन्ति, सुस्थिता एते तदेनान् देवा अपि नमस्यन्ति, टा-  
एतेन रात्रिरधीता अथो एतेनाहरप्यधीतम् । ओस्—एतयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्महती कीर्तिः, सर्वाणि शास्त्राणि  
ज्ञातवन्तावेतौ अथो एनयोस्तिष्ठतोर्नान्यः पूजार्हः । त्यदामिति किम् ? एतदं सगृहाण अथो एतदमध्यापय, सज्ञायाम- १८  
सर्वादित्वादित्यदादिः । अवृत्त्यन्ते इति किम् ? अथो परमेतं पश्य । अन्तग्रहणं किम् ? एनच्छ्रुतकः, अत्रार्थात् प्रकरणाद्  
वाऽपेक्ष्ये निर्ज्ञाते सति समासोऽन्वादेशश्च । द्वितीयाटौसीति किम् ? एते मेधाविनो विनीता अथो एते शास्त्रस्य पात्रम्,  
एताभ्यां रात्रिरधीता अथो एताभ्यामहरप्यधीतम्, एतस्मै सूत्रं देहि अथो एतस्मै अनुयोगमपि देहि, अम्युदयनिःश्रेयस- २१  
अदमेतच्छासनमथो एतस्मै नमो भगवते । अन्वादेश इत्येव ? जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तम्, न पश्चात् कथनमात्रम-

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा । सपूर्वात् प्रथमान्ताद् पदाद्युष्मदस्मदोरन्वादेशे वस्त्रसादयो वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—विद्यमान-  
पूर्वपदादित्यादि । सपूर्वादिति । सहशब्दो विद्यमानवचन, पूर्वशब्दो व्यवस्थार्थं । सह—विद्यमानं पूर्वं यस्मादिति पशम्यर्थं बहुमीदृ २४  
“सहस्य सोः” ३।२।१४३। इति समाव । प्रथमान्तादिति । प्रथमाया प्रत्ययत्वात् “प्रत्यय प्रकृत्यादेः” इत्यादिना अन्तस्य लघत्वात् अन्त-  
ग्रहणं न्यायानुवादकमिति । यूयं विनीतास्तद्वुरवो वो मानयन्तीत्यादि । एतेषु पक्षे वस्त्रसादय । अथो इत्यादेशोत्कत्वादनवादेशस्येत्यत  
आह—गम्येऽप्यन्वादेश इत्यादि । पटो युष्माकं स्वमित्यादि । अत्र प्रथमान्तत्वेऽपि सपूर्वत्वाभावात् सपूर्वादिति वचनात् न भवति २७  
पाक्षिको वसादेश । पटो नगरे युष्माकमित्यादि । अत्र 'ग्रामे' इत्यस्य प्रथमान्तत्वाभावात् नानेन विभाषादेशः । माणवकं जटिलकं ते  
स्वमथो इत्यादाविति । अत्र “असदिवामन्त्र्य पूर्वम्” इति जटिलकपदस्य असद्वद्वावे सपूर्वप्रथमान्तत्वाभावात्तत्पूर्वस्य च माणवक-  
पदस्य “नान्यत्” इति निषेधेन सद्वद्वावात् पदात् परत्वे पूर्वेण नित्यं तेमयादय । अस्य प्राप्तविभाषात्वं दर्शयति—पूर्वेणेति । “नित्यमन्वादेशे” ३०  
इत्यनेनेति भावः ॥ ३२ ॥

त्यदामेनदेतदो द्वितीयाटौस्यवृत्त्यन्ते । अन्वादेशे इति वर्तते । त्यदा एतदः द्वितीयाटौसि अन्वादेशे एनद् अवृत्त्यन्ते इत्यन्वयः ।  
त्यच्छब्दस्य तत्प्रकारेणैव वर्तनात् एकशेषात् त्यदामिति बहुवचनारयदादीनामिति विज्ञायते, तेन चैतद् इति विशिष्यते इत्याह—त्यदादीनां ३६  
संवन्धि न एतदित्यस्येति । उद्दिष्टमेतदध्ययनमिति प्रथमादेशः । अथो एनदनुजानीतेत्ययमन्वादेशः । अत्रैतद् एनदादेशः प्राप्नोति  
“अनतो लृप्” इति लृष्णा, तत्र परस्मादप्येनदो नित्यत्वात् ‘अन्तरङ्गानपि विधीनं बाधित्वा’ इति च लृप्ति सजातायां “लृप्यच्छ्लेनत्” इत्येनद्वर्ज-  
नात् स्थानिषद्वावप्रतिषेधाभावादेनदादेशः । एतकमिति । अनुकम्पयायामकं, अनेन साकं आदेशः । एतदं सगृहाण अथो एतदम- ३६  
ध्यापयेत्यस्य एतदं अत्यदादित्वात् नाऽऽदेश इति । अत्यदादित्वं च प्रतिपादयितुमाह—संज्ञायामिति । असंज्ञायामिति गणे पाठात् संज्ञाया  
सर्वोद्वेगणाद् नहिर्भाव, त्यदादिश्च सर्वोद्यन्तर्गणोऽतः संज्ञायामं न त्यदादीत्यर्थः । परमेतं पश्येति । अत्रैतच्छब्दस्य वृत्त्यन्तत्वाद् वृत्त्यन्ते इति वच-  
नाद्वितीयैकवचने न भवत्येनदादेशः । ‘अवृत्त्यन्ते’ इत्यत्रान्तग्रहणं पृच्छति—अन्तग्रहणं किमिति । एनच्छ्रुतक इति । एनं श्रित इति ३९  
द्वितीयात्पुरुष “श्रितादिभिः” ३।१।६२। इत्यनेन, कृत्सितादौ कप् । प्रथमादेशसापेक्षत्वादनवादेशस्य तत्रासामर्थ्यात् शब्दस्य राजं पुरुष  
इत्यादिवत् समासाभावः, सामर्थ्यात् समासत्वेत्पूर्वकथनसापेक्षत्वादनवादेशस्याभाव इति परस्परविरोधात्तुभ्याभावादादेशाभाव इत्याह—अर्थात्  
प्रकरणपदेत्यादि । अर्थो वा तादृशो भवति प्रकरणं वा येन ताभ्यामेवापेक्ष्यस्य प्रथमादेशस्य निश्चितत्वाद्वात्तावेनान्तर्भावोऽपि सापेक्षत्वात् समासो भवति, ४२  
यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति । जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तमिति । नहि पश्चाद्वाच्यमात्रमन्वादेशः किन्तर्हि ? एकस्यैवाभिधेयस्य

तव च स्वम्, मम च स्वम् । योगग्रहण किम् ? ज्ञानं च शीलं च वो रक्षतु, नो रक्षतु, ज्ञानं च शीलं च वां दीयते, नो दीयते; ज्ञानं च शीलं च ते स्वम्, मे स्वम्; ज्ञानं च शीलं च त्वा रक्षतु, मा रक्षतु, ज्ञानं च ते स्वम्, ज्ञानं च मे स्वम्; नैतेषु चशब्देन युष्मदस्मदोयोगोऽपि तु ज्ञानशीलयोः । 'चाहहवैवै.' इत्येव सिद्धे योगग्रहण साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थम् ॥२९॥

### दृश्यैश्चिन्तायाम् ॥ २ । १ । ३० ॥

दृशिना समानार्था दृश्यार्थाः, तैर्धातुभिश्चिन्ताया वर्तमानैर्योगे युष्मदस्मदोर्दुक्तं वस्तुसादि तन्न भवति । जनो युष्मान् सदृश्यागतः, जनोऽस्मान् सदृश्यागतः, जनो युवां समीक्ष्यागतः, जनं आवां समीक्ष्यागतः, जनस्त्वामपेक्षते, जनो मामपेक्षते; ज्ञानं युष्मभ्य दीयमानमुत्पश्यति, ज्ञानमस्मभ्य दीयमानमुत्पश्यति; ज्ञानं युवाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानं मावाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानं तुभ्यं दीयमानं निध्यायति, ज्ञानं मह्यं दीयमानं निध्यायति; जनो युष्माकं चित्तुषु लक्षयति, जनोऽस्माकं चित्तुषुलक्षयति; जनो युवयोः कार्यं संपश्यति, जन आवयोः कार्यं सपश्यति; गुरुस्तव कार्यमालोचयति; गुरुर्मम कार्यमालोचयति; सर्वत्र मनसा चिन्तित दृश्यार्थानामर्थः । दृश्यैरिति किम् ? जनो वो मन्यते, जनो नो मन्यते । चिन्तायामिति किम् ? जनो वः पश्यति, जनो नः पश्यति, जनो वामीक्षते, जनो नावीक्षते, जनस्त्वामलोकयति, जनो मालोकयति; सर्वत्र चक्षुषा पश्यतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

### नित्यमन्वादेशे ॥ २ । १ । ३१ ॥

कथितानुकथनमन्वादेशः, कस्यचिद्वस्तुनः किञ्चित्क्रियादिकं विधातुं कथितस्य तेनान्येन वा शब्देन पुनरन्यद्विधातुं कथनमित्यर्थः; तस्मिन् विषये यदात् परयोयुष्मदस्मदोर्दुक्तं वस्तुसादि तन्नित्यं भवति, यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति, वयं विनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति, युवां शीलवन्तौ तद्वां गुरवो मानयन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति, त्वं विद्वानथो ते क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते, अहं विद्वानथो मे क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते; धनवांस्त्वमयो त्वा लोको मानयति, धनवानहमयो मा लोको मानयति ॥ ३१ ॥

इत्यादेशः न भवन्ति । ज्ञानं च शीलं चेत्यादौ युष्मदस्मदोयोगाभावाद्योगग्रहणादत्र प्रतिषेधो न भवतीत्याह—नैतेष्वित्यादि । ननु किमर्थं योगग्रहणं ? 'चाहहवैवै' इति तृतीयानिर्देशस्य सापेक्षत्वात् तृतीयैव युष्मदभ्याहरिष्यति, यथा "गोणात् समया०" २।२।३३ इत्यादौ इत्याह—चाहहवैवैरित्यादि । योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थमिति । यदा चादिभिर्दुष्मदस्मदोर्दुक्तं वस्तुसादि तन्नित्यं भवति, यदा चादिभिः साक्षाद्युष्मदस्मदोयोगं । यदा च तत्तत्तन्निधेन शीलदेस्तदा व्यवधानेन चादिभिर्दुष्मदस्मदोयोगं । तत्र साक्षाद्योगे प्रतिषेधो यथा साक्षाद्योगेन योगे मा भूदित्येवमर्थं योगग्रहणम् । ननु संक्षिप्ते साक्षाद्योगे प्रतिषेधस्य चरितार्थत्वात् न व्यवहिते विप्रकृष्टयोगे प्रवर्तिष्यते इति किं योगग्रहणेन ? २४ इति चेद्, एतदेन योगग्रहणं ज्ञापयति यद्युक्त्युक्तेऽप्यस्मिन् प्रकरणे कार्यं भवतीति ॥ २५ ॥

दृश्यैश्चिन्तायाम् । चिन्ताया वर्तमाने दृश्यैर् योगे युष्मदस्मदोर्दुक्तं तन्न इत्यन्वयः । दृश्यैरिति । "इकिञ्चित्" ५।३।१३८।

इति वातो स्वरूपे चार्थेऽभिधेये इह प्रत्ययो विधीयते । तत्र स्वरूपे विधीयमाने 'दृश्यैर् येषामिति' व्यधिकरणबहुव्रीहिप्रसङ्गात् तस्य च प्रायेणानिष्टत्वात् । अर्थे प्रत्ययस्ततो दृश्यैर् दर्शनमालोचनमर्थो येषामित्यन्वयपदार्थत्वेन घातव एव विज्ञायन्ते । युजिक्रियाकर्तृत्वात्तृतीया युजिक्रियायाश्च सन्निधानं तृतीयया योगार्थसाक्षेपात् । प्रोक्तमस्य च योगग्रहणस्यानुष्ठौ दृश्यैर् साक्षाद्युष्मदोरेव युष्मदस्मदो प्रतिषेधः स्यात्, अत्र तु युक्त्युक्तेऽपि प्रतिषेध इत्येते तत्र च पूर्वमेव युक्तिरुक्ता । जनो युष्मान् सदृश्यागतः इत्यादौ सर्ववान्ये सदृश्यादौ मनोऽतिरूपा ३० चिन्ता दृश्यैर् इति वस्तुसादयो न भवन्तीत्याह—सर्वत्रेत्यादि । जनो वो मन्यते इति । नायं दृश्यर्थः । दृश्यार्थो नाम यद्युक्त्युक्ते साधने विज्ञाने वर्ततेऽतो न निषेध इति ॥ ३० ॥

नित्यमन्वादेशे । अन्वादेशे पदायुष्मदस्मदोर्दुक्तं तन्नित्यम् इत्यन्वयः । अनुष्ठानं पक्षाद्वाचे, पक्षाद्वाच्यं पूर्वभावापेक्ष, पूर्वभावश्च प्रत्यासत्तेरुत्तरपदार्थभूतस्यादेशस्यैव । आदेशश्च कथनम्, अनुकथनं च प्रत्यासत्ते कथितस्यैव, अन्यथा तदन्वयस्य कथनमेव स्यात् नातुकथनमिति समानाधिकरणविषय इत्याह—कथितानुकथनमन्वादेश इति । कस्यचिद्वस्तुनः इत्यादिना । कथितानुकथनमित्येतेनैवाभिव्यक्तं । कस्यचिद्व्यत्यस्य कान्चित् क्रिया जातिं गुणं द्रव्यं वा प्रतिपादयितुं कथितस्य कार्यभूतेन तदितरेण वा शब्देन पौनस्त्यं मा भूदिति विशेषात् ३३ नन्तरं प्रतिपादयितुं पुनः कथनमन्वादेश इति यावत् । यद्युक्तं वस्तुसादि तन्नित्यं भवतीति नित्यतामात्रमनेन विधीयते नापूर्वं किञ्चिदिति । यूयं विनीतास्तद्वो गुरवो मानयन्ति इत्यादि, यूयं विनीता इत्ययं प्रथमादेश उत्तरस्थान्वादेशात्साक्षात्प्राप्तार्थम् । विनीता इति विनीतत्वम् प्रतिपादयितुं यूयमिति प्रतिपादितम् । तद्विलम्ब्य तस्मादित्यर्थः । तद्वो गुरवो मानयन्तीत्ययमन्वादेशः । अत्र यूयमिति तत्रप्रथममुक्तं तस्यैव च गुरवो मानयन्तीति प्रतिपादयितुं द्वितीयं कथनं, तत्र नित्यं वस्तुसादेशः । एव सर्वत्र । नन्विदं किमर्थम् ? सामान्येन वस्तुसादीनां विधानान्वादेशोऽपि सिद्धत्वात्, नित्यार्थमित्यपि न चाप्यम्, तत्र विकल्पाभावात्तन्नित्यत्वापि सिद्धत्वात् । न चानन्वादेशो विकल्पाद्यर्थमिति वाच्यम्, 'अन्वादेशो' इत्यारम्भसामर्थ्यादनन्वादेशो विकल्पस्य सिद्धत्वादिति चेत्, भैवम्; 'अन्वादेशो' इत्यारम्भेऽप्यन्वादेशो विकल्पोऽनन्वादेशो वेति तिथेस्तुमथाप्यन्वादेशो नित्यमग्रहणं नित्यत्वार्थमिति । न च "सपूर्वात्" इत्यन्वादेशो विकल्पविधानात् नित्यमग्रहणमन्तरेणान्वादेश एव विकल्प इति वाच्यम्, यतोऽन्वादेशो विकल्पे षति "सपूर्वात्" इत्यस्य नियमार्थता स्यात्, 'सपूर्वात् प्रथमान्वादेशान्वादेशो विकल्पो न द्वितीयान्वादेशो' तथा 'सपूर्वादेव प्रथमान्वादेशो विकल्पो न केवलात्' तत्र अन्वादेशोऽप्यन्वादेशो न विषये "पदाद्युक्तं" इत्यादिनिर्णय एव विधिः स्यात् इति । तस्मान्वादेशो एव ४५ नित्यो विधिरन्यत्र तु विकल्प इति प्रतिपादनार्थं नित्यमग्रहणम् ॥ ३१ ॥

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ ३२ ॥] श्रीतत्त्वप्रकाशिकाश्रीआनन्दबोधिनीविभूषितम् ।

## सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २ । १ । ३२ ॥

विद्यमानपूर्वपदात् प्रथमान्तात् पदात् परयोर्बुध्मदस्मदोरन्वादेशे वस्त्रसादय आदेशा वा भवन्ति । यूर्यं विनीतास्त-  
दुरवो वो मानयन्ति, तदुरवो युष्मान् मानयन्ति, वय विनीतास्तदुरवो नो मानयन्ति, तदुरवोऽस्मान् मानयन्ति; युवा सुशीलौ १  
तज्ज्ञानं वां दीयते, तज्ज्ञानं युवाभ्यां दीयते, आवां सुशीलौ तज्ज्ञानं नौ दीयते, तज्ज्ञानमावाभ्यां दीयते; सुशीलस्त्व-  
मथो क्षमाश्रमणास्ते ज्ञानं प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणास्तुभ्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति, सुशीलोऽहमथो क्षमाश्रमणा मे ज्ञानं २  
प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणा मह्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति, धनवानसि अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलस्तव ३  
स्वम्, धनवानहमथो ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलो मम स्वम्; वनवास्त्व तल्लोकस्त्वा पूजयति, तल्लोक-  
स्त्वां पूजयति, धनवानहं तल्लोको मा पूजयति, तल्लोको मां पूजयति । गम्येऽप्यन्वादेशे भवति—ग्रामे कम्बलो वः स्वमथो ४  
ग्रामे कम्बलो युष्माकं स्वमथो इत्यादि । सपूर्वादिति किम्? पटो युष्माकं स्वम्, अथो वः कम्बलः स्वम् । प्रथमान्ता- ५  
दिति किम्? पटो नगरे युष्माकं स्वम्, अथो कम्बलो ग्रामे वः स्वम् । 'माणवकं जटिलकं ते स्वमथो' इत्यादौ तु  
विशेषणपदस्य "असदिवामन्त्र्यं पूर्वम्" ॥ २ । १ । २५ ॥ इत्यसद्वद्भावात् नास्ति सपूर्वप्रथमान्तमिति न भवत्येव  
विकल्पः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥ ३२ ॥ १२

## त्यदाभेनदेतदो द्वितीयाद्यौस्यवृत्त्यन्ते ॥ २ । १ । ३३ ॥

त्यदादीनां संवन्धिन एतदित्यस्य द्वितीयायां टायामोसि च परेऽन्वादेशे एनद् इत्ययमादेशो भवति, अवृत्त्यन्ते—न  
चेदयमेतच्छब्दो वृत्तेरन्ते भवति । द्वितीया—उद्दिष्टमेतदध्ययनमथो एनदनुजानीत, एतकं साधुमावश्यकमव्यापयाथो एन- १५  
मेव सूत्राणि, अत्र साकोऽप्यादेशः; सुशीलावेतौ तदेनौ गुरवो मानयन्ति, सुस्थिता एते तदेनान् देवा अपि नमस्यन्ति, टा-  
एतेन रात्रिरधीता अथो एनेनाहरप्यधीतम् । ओस्—एतयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्महती कीर्तिः, सर्वाणि शास्त्राणि  
ज्ञातवन्तावेतौ अथो एनयोस्तिष्ठतोर्नान्यः पूजार्हः । त्यदामिति किम्? एतद् संगृहाण अथो एतदमध्यापय, सज्ञायाम- १८  
सर्वादित्वादित्यदादिः । अवृत्त्यन्त इति किम्? अथो परमैतं पश्य । अन्तग्रहणं किम्? एनच्छ्रितकः, अत्रार्थात् प्रकरणाद्  
वाऽपेक्ष्ये निर्ज्ञाते सति समासोऽन्वादेशश्च । द्वितीयाद्यौसीति किम्? एते मेधाविनो विनीता अथो एते शास्त्रस्य पात्रम्,  
एताभ्यां रात्रिरधीता अथो एताभ्यामहरप्यधीतम्, एतस्मै सूत्रं देहि अथो एतस्मै अनुयोगमपि देहि; अम्युदयनिःश्रेयस- २१  
ऋदमेतच्छासनमथो एतस्मै नमो भगवते । अन्वादेश इत्येव? जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तम्, न पश्चात् कथनमात्रम-

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा । सपूर्वात् प्रथमान्तात् पदाद्युस्मदस्मदोरन्वादेशे वस्त्रसादयो वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—विद्यमान-  
पूर्वपदादित्यादि । सपूर्वादिति । सहशब्दो विद्यमानवचन, पूर्वशब्दो व्यवस्थार्थं । सह—विद्यमानं पूर्वं यस्मादिति पदमर्थं बहुव्रीहौ २४  
"सहस्य सो" ३।२।१४३। इति समाव । प्रथमान्तादिति । प्रथमाया प्रत्ययत्वात् "प्रत्ययं प्रकृत्यादे" इत्यादिना अन्तस्य लघत्वात् अन्त-  
ग्रहणं न्यायानुवादकमिति । यूर्यं विनीतास्तदुरवो वो मानयन्तीत्यादि । एतेषु पक्षे वस्त्रसादय । अथो इत्यादेशोत्कत्वाद्वाद्वादेशस्येत्यत  
आह—गम्येऽप्यन्वादेश इत्यादि । पटो युष्माकं स्वमित्यादि । अत्र प्रथमान्तत्वेऽपि सपूर्वत्वाभावात् सपूर्वादिति वचनात् न भवति २७  
पाक्षिन्ने वसादेश । पटो नगरे युष्माकमित्यादि । अत्र 'ग्रामे' इत्यस्य प्रथमान्तत्वाभावात् नानेन विभापादेश । माणवकं जटिलकं ते  
स्वमथो इत्यादाविति । अत्र "असदिवामन्त्र्यं पूर्वम्" इति जटिलकपदस्य असद्वद्भावे सपूर्वप्रथमान्तत्वाभावाद्दिकल्पाभावात्तत्पूर्वस्य च माणवक-  
पदस्य "नान्यत्" इति निषेधेन सद्वद्भावात् पदात् परत्वे पूर्वेण नित्यं तेमयादय । अस्य प्राप्तविभापात् दर्शयति—पूर्वेणेति । "नित्यमन्वादेशो" १०  
इत्यनेनेति भावः ॥ ३२ ॥

त्यदाभेनदेतदो द्वितीयाद्यौस्यवृत्त्यन्ते । अन्वादेशो इति वर्तते । त्यदा एतद् द्वितीयाद्यौसि अन्वादेशो एनद् अवृत्त्यन्ते इत्यन्वयः ।  
त्यच्छब्दस्य तत्प्रकारेणैव वर्तनात् एकशेषात् त्यदामिति बहुवचनारण्यदादीनामिति विज्ञायते, तेन चैतद् इति विशिष्यते इत्याह—त्यदादीनां ३३  
संवन्धिन एतदित्यस्येति । उद्दिष्टमेतदध्ययनमिति प्रथमादेशः । अथो एनदनुजानीतेत्ययमन्वादेशः । अत्रैतद् एतदादेशः प्राप्नोति  
"अनतो लृप्" इति लृष्वा, तत्र परस्मादप्येनदो नित्यत्वात् 'अन्तरज्ञानपि विधीत् वाधित्वा' इति च लृपि सजातायां "लृप्यञ्छ्लेनत्" इत्येवद्वर्ज-  
नात् स्थानिबद्भावात्प्रतिषेधाभावादेनदादेशः । एतकमिति । अनुकन्यायामकं, अनेन साकं आदेशः । एतद् संगृहाण अथो एतदम- ३६  
ध्यापयेत्यस्य एतद् अत्यदादित्वात् नाऽऽदेश इति । अत्यदादित्यं च प्रतिपादयित्वाह—संज्ञायामिति । असंज्ञायामिति गणे पाठान् सज्ञायाम्  
संज्ञादीर्घाद् बहिर्भावः, त्यदादित्यं सर्वान्तर्गणोऽतः सज्ञायाम् न त्यदादीत्यर्थः । परमैतं पश्येति । अत्रैतच्छब्दस्य वृत्त्यन्तत्वाद्वाद्वाद्यन्ते इति वच-  
नाद्वितीयैकवचने न भवत्येनदादेशः । 'अवृत्त्यन्ते' इत्यत्रान्तग्रहणं प्रच्छति—अन्तग्रहणं किमिति । एनच्छ्रितक इति । एन श्रित इति ३५  
द्वितीयात्पुरुष "अत्रादिभि" ३।१।६२। इत्यनेन, कृतिसितादौ कप् । प्रथमादेशसापेक्षत्वाद्वाद्वादेशस्य तत्रासामर्थ्यात् षडस्य राज्ञः पुरुष  
इत्यादिवत् समासाम्भावः, सामर्थ्यात् समासधेत्वपूर्वकथनसापेक्षस्यान्वादेशस्याभावः इति परस्परविरोधाद्भावाभावादादेशाम्भावः इत्याह—अर्थात्  
प्रकरणेऽदित्यादि । अर्थो वा तादृशो भवति प्रकरणं वा येन ताभ्यामेवापेक्षस्य प्रथमादेशस्य निश्चितत्वाद्वात्तावेवात्तर्भावाच्चिरपेक्षत्वात् समासो भवति, ४२  
यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति । जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तमिति । नहि पश्चाद्वाच्येणमात्रमन्वादेशः किन्तर्हि? एकस्यैवाभिधेयस्य

न्वादेशः । यत्रापि वस्तुमात्रनिर्देशं कृत्वा विधानं क्रियते तत्रापि न भवति—“ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिषिधौ च यः । एतमातं क्तिं विधात्” ॥ ३३ ॥

इदमः ॥ २ । १ । ३४ ॥

त्यदादीनां संवन्धिन इदमित्यस्य द्वितीयायां टायामोसि च परेऽन्वादेशे एनद् इत्ययमादेशो भवति, अवृत्यन्ते । उद्दिष्टमिदमध्ययनमथो एनदनुजानीत, इमकं साधुभावशयकमध्यापय अथो एनमेव सूत्राणि, अत्र साकोऽप्यादेशः, सुशी-  
लाविमौ तदेनौ गुरवो मानयन्ति, सुस्थिता इमे तदेनान् देवा अपि नमस्यन्ति, अनेन रात्रिरधीता अथो एनेनाहरप्यधीतम्,  
अनयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्मेहती कीर्तिः, सर्वाणि शास्त्राणि ज्ञातवन्ताविमौ अथो एनयोस्तिष्ठतोर्नान्यः पूजार्हः ।  
द्वितीयाटौसीत्येव ? मत्पुत्रकौ शीलवन्ताविमौ तिष्ठतः । अवृत्यन्त इत्येव ? अथो परमेम पश्य, वृत्त्यादौ तु भवत्येव-  
एनमेनां वा श्रित एनच्छित्तकः । अन्वादेश इत्येव ? चैत्रमध्यापय इमं च भैत्रम्, यत्रापि वस्तुमात्रनिर्देशं कृत्वा किञ्चि-  
द्विधीयते तत्रापि न भवति—अयं दण्डो हरानेन फलानि । केचित्त्विदम आदेशमेनम् इति मकारान्तं द्वितीयैकवचने आहुः,  
तन्मते—इदं कुण्डमानयाथो एनं परिवर्तयेत्येव भवति । योगविभाग उत्तरार्थः ॥ ३४ ॥

३२

अद्यञ्जने ॥ २ । १ । ३५ ॥

इदम इति षष्ठ्यन्तमपि सर्वादेशार्थं प्रथमान्ततयेह विपरिणम्यते, त्यदादिसंवन्धीदम्शब्दो व्यञ्जनादौ स्यादौ  
परेऽन्वादेशे गम्यमानेऽद् भवति; अवृत्यन्ते । तकार उच्चारणार्थः । इमकाभ्यां शैक्षकाभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्याम-  
हरप्यधीतम्, इमकैः शैक्षकै रात्रिरधीता अथो एमिरहरप्यधीतम्, एवमिमकस्मै अथो अस्यै, इमिकस्यै अथो अस्यै,  
इमकस्मादथो अस्मात्, इमकस्याथो अस्य, इमकेषामथो एषाम्, इमकस्मिन् अथो अस्मिन्, इमिकस्यामथो अस्याम्,  
इमकेषु अथो एषु; इमिकासु अथो आसु । सौ तु परत्वादयमाद्यादेशः—अथो अयं शीलवान् । केचिदेतदोऽपीच्छन्ति—  
एताभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्यामहरप्यधीतम्, एवमेतैः, एभिः, एतस्मै, अस्यै इत्यादि । अन्वादेश  
इत्येव ? इमकस्मै देहि । अवृत्यन्त इत्येव ? अथो परमेमकाभ्यां रात्रिरधीता । व्यञ्जने इति किम् ? अथो इमके तिष्ठन्ति ।  
उत्तरत्र “अनक्” ॥ २ । १ । ३६ ॥ इति वचनादिह साक एव विधिः ॥ ३५ ॥

३१ पूर्व शब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीय प्रतिपादनमन्वादेशस्तेनेह न भवतीत्यर्थं । यथेव “ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिषिधौ च यः । एतमातं क्तिं  
विधात्” इति, अयं दण्डोहरानेनेत्यत्र प्राप्नोति, नैवम्, यत्र किञ्चिद्विधाय वाक्यान्तरे पुनरुपदिश्यते सोऽन्वादेशः । अत्र तु वस्तुमात्रानुवादेन वेदन-  
क्रिया प्रति आकाशस्य कर्मभावो दण्डस्य तु हर्णक्रियां प्रति करणत्वं विधीयते इत्येकमेव विधानं न विधानान्तरमस्तीत्याह—यत्रापि इत्यादि ॥३३॥

३२ इदमः । “द्वैत्येन ” २।१।३७, “दो म स्यादौ” २।१।३९। इति च प्राप्तेऽयमारम्भ । अत्र अन्वादेशो इति त्यदादेनद् द्वितीयाटौ-  
स्यवृत्यन्ते इति चानुवर्तते । त्यदादिदमो द्वितीयाटौसि अन्वादेशे एनद् अवृत्यन्ते इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदादीनामित्यादि । अत्रोदाहरणानि  
अत्युदाहरणानि च पूर्वानुसारेण बोद्धव्यानि । केचिन्निवृत्ति । अस्य च मतस्य सर्वसम्पत्तेरभावात्पेक्षणीयत्वमित्युक्तम्—तन्मते इति । तस्यैव  
मतेनान्यस्येत्यर्थं । केचिन्निवृत्ति—पाणिनिप्रसृतय इत्युक्तं लघुन्यासे । वस्तुतस्तत्त्वापातत एव “द्वितीयाटौस्तेन ” पा० २।४।३४। सूत्रपालोचनया  
पाणिनिमतप्रतीतावपि एनदिति नपुंसकेकवचने वक्ष्यमिति अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्य इति च भाष्यवार्तिकविचारणया तन्मतेन अन्यस्य  
मतमिदं सभाव्यते । ननु ‘त्यदादेनदेतदिदमो द्वितीयाटौस्यवृत्यन्ते’ इत्येकयोगेनैव सिद्धत्वात् योगविभाग किमर्थं इत्याह—योगविभाग  
उत्तरार्थे इति । उत्तरसूत्रेणैवम एवानुवृत्तिर्यथा स्यात्, न त्वेतद् इत्येवमर्थं । एतदिदम इति ह्युच्यमाने षष्ठ्यगमिधानं नास्तीत्यु-  
भयोरप्यनुवृत्ति स्यात् ॥ ३४ ॥

अद्यञ्जने । ननु पूर्वसूत्रे इदम षष्ठ्यन्तत्वात् “षष्ठा अन्वसस्य” इति न्यायादन्वस्यैव प्राप्नोति कथं सर्वस्यायमादेश इति ? न च  
अदित्यकारकरणात् सर्वस्यायमादेशोऽन्यथा “आद्विरे.” इत्यकारे “लुगस्मादेत्यपदे” इति पूर्वस्य लुकि अकारस्याकारकरणमनर्थकं स्यादिति वाच्यम्,  
यथा “समाद्” इत्यत्रानुस्वारलक्षणकार्यान्तरवाचनार्थं मकारस्य मकारकरणं तथाऽत्रापि आभ्यामित्यादौ धीर्धत्वादिकार्यान्तरवाचनार्थमकारस्या-  
कारकरणमिति वेदाह—इदम इत्यादि । अत एव कार्यां निमित्त कार्यमिति निर्देशकमे प्राप्ते निमित्तात् पूर्वं कार्यनिर्देश । अथवा “अनक्” इत्युत्तर-  
सूत्रे प्रथमान्तविशेषणोपादानादिदम प्रथमान्ततया विपरिणामोऽवशीर्यते । त्यदाद् इति इदम इति अन्वादेशे इति अवृत्यन्ते इति चानुवर्तते ।  
त्यादादित्यधिकृत व्यञ्जने इत्यनेन विशिष्यते, तथा च “सप्तम्या आदि ” इत्यादिप्रत्यय । त्यदादिदम् व्यञ्जनादौ स्यादौ अन्वादेशो अद् अवृत्यन्ते  
इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदादिसंवन्धीदम्शब्द इत्यादि । तकार उच्चारणार्थं इति । तकारमन्तरेणाकारस्य प्रथमायां सौ “सो व” इत्यादौ  
इत्येव ओ इति वैरूप्यात् स्वरूपेणोच्चारयितुमशक्यत्वात् तकार उच्चारणार्थं भवति । इमकाभ्यां शैक्षकाभ्यां रात्रिरधीता इत्यादि ।  
शिक्षायाम् भवौ इत्यणि, तौ अनुकम्पितौ इति कवि-शैक्षकौ, अथवा-शिक्षामधीयाते “पदकमशिक्षा०” ६।२।१२६। इति के, शिक्षकावेवेति  
प्रशादित्वादिणु श्चौ-शैक्षकौ, ताभ्या ययासंभव क्रियां पुंषि नपुंसके च दण्डोऽयमादेश । ननु सेरपि व्यञ्जनादित्वात्सिन् कथं नायमादेश  
इत्याह—सौ त्वित्यादि । अयमाद्यादेश इति । “अयमिम०” २।१।३८। इत्यनेनेति शेष । केचिदिति । चान्द्रभोजशीरस्वामिप्रसृतय ।  
एतदोऽपीच्छन्तीति । अदादेशमितिशेष । ननिन्द किमर्थं ? यावतोत्तरसूत्रेणान्वादेशोऽनन्वादेशोऽन्यदादिश सिद्ध इत्याह—उत्तरसूत्रेणादि ।  
अनमिति वचनादक्षद्वितस्य तेनादेशाभावादित्यर्थं ॥ ३५ ॥

## अनक् ॥ २ । १ । ३६ ॥

अन्वादेश इति निवृत्तम्, पृथग्योगात् । ल्यदादिसंवन्धिनि व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽनवर्जित इदम् अद् भवति ।  
आम्याम्, एभिः, आभिः, अस्मै, अस्यै; अस्मात्, अस्या; अस्य, अस्याः; एयाम्, आसाम्, अस्मिन्, अस्याम्; ३  
एषु, आसु । अनगिति किम् ? इमकाम्याम्, इमकेभ्यः, इमकस्मै, इमिकस्यै, इमकेषाम्, तत्सवन्धिविज्ञानादिह न  
भवति—अतीदम्याम्, अतीदंसु, प्रियेदम्याम्; प्रियेदंसु; इह तु भवति—परमाम्याम्, परमैभिः, परमैभ्यः, परमास्मै,  
परमास्यै, परमास्मात्, परमास्याः; अत्र पूर्वोत्तरयोः पदयोः पूर्वं कार्ये कृते पश्चात् सधिकायम्, एतच्च “आतो नेन्द्रवरु- ६  
णस्य” ॥ ७ । ४ । २९ ॥ इत्यत्र ज्ञापयिष्यते । अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः ॥ ३६ ॥

## टौस्यनः ॥ २ । १ । ३७ ॥

त्यदादिसंवन्धिनि टायामोसि च परेऽनवर्जितस्येदमः स्थाने अन इत्ययमादेशो भवति । अनेन, अनया; अनयोः ९  
स्वम्, अनयोर्निषेहि, परमानेन, परमानयोः । ल्यदादिसवन्धिविज्ञानादिह न भवति—अतीदमा, अतीदमोः, प्रियेदमा,  
प्रियेदमोः । अनक् इत्येव ? इमकेन, इमिकया; इमकयोः, इमिकयोः ॥ ३७ ॥

## अयमियं पुंस्त्रियोः सौ ॥ २ । १ । ३८ ॥

त्यदां संवन्धिनि सौ परे पुंलिङ्गस्त्रीलिङ्गयोरिदमः स्थाने यथासंख्यमयम् इयमित्येतावादेशौ भवतः । अयं पुमान्,  
इयं स्त्री, परमायम्, अनयम्, परमेयम्, अनियम् । साविति किम् ? इमौ, इमे । ल्यदादिसंवन्धिविज्ञानादिह न  
भवति—अतीदम् पुमान् स्त्री वा, एवं प्रियेदम् । पुस्त्रियोरिति किम् ? पुसि इयम्, स्त्रियामयम् मा भूत् । नपुंसके तु १५  
नित्यत्वात् प्रथममेव सेर्लुपि इदं कुण्डमित्यत्र प्रसङ्ग एव नास्ति । साकोऽप्ययमियमादेशौ भवतः—अयम्, इयम्, अन्ये  
त्वादेशे कृते पश्चादकमिच्छन्ति—अयकम्, इयकम् ॥ ३८ ॥

अनक् । अन्वादेश इति निवृत्तम्, पृथग्योगात् इति । पृथक् सूत्रारम्भादिति भावः, अन्यथा साकोऽनकोऽप्यन्वादेशो १८  
पूर्वसूत्रेणैव सामान्यविधानेन सिद्धत्वात् सूत्रारम्भवेयमिति । ल्यदामिति व्यञ्जने इति स्यादाविति अद् इति इदम् इति चानुवर्तते । ल्यदामिति  
व्यञ्जनादौ स्यादावित्यनेनाभिचवध्यते, अनक् इति इदम् इत्यनेन प्रथमान्ततया विपरिणतेन । ल्यदाम् व्यञ्जनादौ स्यादौ अनक् इदम् अदित्यन्वयस्त-  
दर्थमाह—त्यदादिसंवन्धिनीत्यादि । आभ्यामित्यादि । एतेषु भ्यामि भिसि चतुर्थ्येकवचनस्य स्यायादेशे च व्यञ्जनादित्वादेनेनादेशः । ‘नामप्रहणे २१  
लिङ्गविशिष्टस्यापि प्रहणम्’ इत्याबन्तस्यापि प्राप्तिरित्यापि कृते क्तितां यायायादेशोऽनेनादादेशे सर्वादित्वात् ङसि अन्त्यस्वरदिलोपे च—अस्यै  
इत्यादि । इमकाम्यामित्यादि । अत्र कृत्सितादावर्थे परत्वात् अन्त्यस्वरात् पूर्वमक इदकम् इति स्थिते “अनक्” इति वचनादन्वादेशाभावे  
“आद्वे” इति मकारस्यात्वे “ङ्गस्यादेत्यपदे” इति पूर्वस्य ङकि “दो म ०” इति दकारस्य मत्वे यथासंभवमात्ममेत्त्व च । नन्विदम् इत्यधिकारा- ३४  
दिदमरूपस्य विधिसत्राकि कृते इदमरूपस्याभावादेव न भविष्यति किं प्रतिषेधेन इति चेत्, सत्यम्, ‘तन्मध्यपतितस्य तद्गहणेन प्रहणाद्’ इति  
न्यायेन प्राप्नोतीति प्रतिषेध उच्यते । तत्संवन्धिचिह्नानादिति । अतीदम्यामित्यादौ “प्रात्यखपरिनिरादयो” ३।१।४।७। इति समासे इदम्-  
षाब्दार्थस्याप्रधानत्वात् स्यादेत्संवन्धित्वाभावात् न भवत्यदादेशः । परमाभ्यामित्यादौ तु विशेषणसमासे इदमशब्दायैव विशेष्यतया २७  
श्राधान्यात्सवन्धित्वमिति स्यादेवादेश इति । ननु परमाभ्यामित्यादौ परादप्यदादेशात् सति समासे स्याद्युत्पत्तिसापेक्षत्वेन चहिरादन्तरग्रे  
“अवर्णसे” इत्येदादेशे कृते पश्चादिदमरूपाभावाददादेशाभावः प्राप्नोतीत्याह—अत्र पूर्वोत्तरयोः पदयोरित्यादि । एतच्चेति । आमेन्द्रम्  
सूक्तमित्यत्र “आतो नेन्द्रवरुणस्य” ७।४।२९। इति अवर्णन्तात् पूर्वपदात् परस्य इन्द्र इत्यस्योत्तरपदस्य “देवतानामात्वादौ” ७।४।२।८। इति प्राप्ताया १०  
श्रुदे प्रतिषेध आरभ्यते, तत्र यथन्तरङ्गत्वात् “अवर्णसे” इत्येकादेश एकार स्यात् तदाऽवर्णवर्णयोरभावाद्द्वयसम्भवादिन्द्रप्रतिषेधोऽनर्थक  
स्यादिति भावः । ननु अनगिति इदम् पूर्वत्र यञ्जन्तनिर्दिष्टस्य विशेषणत्वात् कथं कार्येणाभेदनिर्देश इत्याह—अभेदनिर्देश इति । अनक् इदम्  
इति अद् इति च कार्यकार्यणोरेकविभक्तिनिर्देश इति भावः । सर्वादेशार्थ इति । अनवर्जितस्य सर्वस्येदम स्थानेऽदादेशो यथा स्यादित्येवमर्थः ॥ ३६ ॥ ३३

टौस्यनः । अत्र ल्यदामिति अनगिति इदम् इति चानुवर्तते । ल्यदां टौसि अनक् इदम् अन इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदादिसंवन्धि-  
नीत्यादि । अनेनेत्यादि । एतेषु इदमोऽनादेशे टाया इनादेशे औस्येत्वं च, त्रियां तु अनादेशे टायामोसि च “टौस्येत्” १।४।१९। इति एत्त्वम् ।  
शेष पूर्वोत्तराणं बोद्धव्यम् ॥ ३७ ॥

अयमियं पुंस्त्रियोः सौ । अत्र ल्यदामिति इदम् इति चानुवर्तते । ल्यदा सौ पुस्त्रियोरिदमोऽयमियमित्यन्वयः । अयमियमिति छह-  
प्रथमाद्विवचनान्तं पदम् । पुस्त्रियोरिति “पुस्त्रियोः स्यमौज्ज्व” इतिवदलौकिको निर्देशः । अन्वयार्थमाह—त्यदां सवन्धिनि सावित्यादि ।  
अयमित्यादि । एतेषु इदमर्थप्राधान्यात्प्रत्ययविभक्तिनि सावनेन यथासंख्यं पुसि अयमादेशे त्रियाभेयमादेशे सति “शेषद्वयाव्यञ्जनात्” इति ३९  
सिलोप । नन्वत्रादेशे कृतेऽन्यमकारस्य “आद्वे” इत्यत्व कथं न भवतीति चेत्, सत्यम्, अनेकवर्णत्वात् सर्वस्यादेशौ इत्यादेशावयवमकारस्य  
विधानसामर्थ्यात् “आद्वे” इत्यत्व न भवति । ननु पुस्त्रियोरिति किमर्थम् ? नपुंसके नित्यत्वात् “अनतोऽप्य” इति सेर्लुपि “ङ्गप्यङ्गनेनत्” इति  
स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् सेरभावादादेशप्राप्तेरसम्भवात् पुस्त्रीलिङ्गयोरैवैतावादेशौ भविष्यत इत्याह—पुस्त्रियोरिति किमित्यादि । अयमर्थः—४२  
पुस्त्रियोरित्युपादानमन्तरेणानियमेन द्वयोरपि लिङ्गयोर्द्वैवप्यादेशौ प्राप्नुत इति । नपुंसके त्विति । तुशब्दो यस्यादर्थः । अन्ये त्विति । आचार्य-  
पाणिनिप्रसूतयः । ते हि पुसि इदम् इदवयवस्यायादेशे त्रियां च दस्य यत्त्वं च विदधति, ततोऽङ्गु, यदाह—मद्रोजिहीक्षितः सि० कौ० हलन्तपुं-  
प्रकरणे—ककारयोगे तु अयकमिति । पश्चादकमिच्छन्तीति । “ल्यदिसर्वादे ०” ७।३।२९। इति “अयस्ये” इति च द्वयोर्नित्यत्वात् परत्वा- ४५  
भावादपश्चादत्वात् अयमियमिति चादेशे कृते पश्चादकिं सेरभावात् पुनरादेशाभावेऽङ्गवर्णमिच्छन्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

## दो मः स्यादौ ॥ २ । १ । ३९ ॥

त्यदां संवन्धिनि स्यादौ परत इदमो दकारस्य मकारादेशो भवति । इमौ, परमेमौ, इमे, इमम्, इमौ, इमान्, इमकौ, इमकेन, इमकाम्याम् । त्यदादिसवन्धिविज्ञानादिह न भवति—अतीदमौ, प्रियेदमौ ॥ ३९ ॥

## किमः कस्तसादौ च ॥ २ । १ । ४० ॥

त्यदादिसवन्धिनि स्यादौ तसादौ च प्रत्यये परे किमशब्दस्य स्थाने क इत्यकारान्त आदेशो भवति । कः, कौ, कैः, कम्, कौ, कान्, केन, काम्याम्, कैः । स्त्रियाम्—का, के, काः; काम्, के, काः । नपुंसके—किम्, के, कानि; परमकः, परमकौ, अकः, अकौ, साकोऽपि—कः, कौ; तसादौ—कदा, कर्हि । तसादौ चेति किम्? किं तिष्ठति, कि पश्य, कितराम् । त्यदादिसवन्धिविज्ञानादिह न भवति—अतिकिम्, अतिकिमौ, अतिकिमः, प्रियकिम्, प्रियकिमौ, प्रियकिमः । आदिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वात्तसादयस्थमवसाना ग्राह्याः ॥ ४० ॥

## आ द्वेरेः ॥ २ । १ । ४१ ॥

द्विशब्दमभिव्याप्य त्यदादीनामन्तस्य तत्संवन्धिनि स्यादौ तसादौ च प्रत्यये परेऽकार आदेशो भवति । स्यः, लौ, १२ ल्ये; सः, तौ, ते, यः, यौ, ये, अम्, अमी, इमौ, इमे, एपः, एतौ, एते, एकः, एव द्वौ, त्यकौ, परमलौ, स्त्रियां—स्या, ल्ये, त्याः; द्वे । नपुंसके—ल्ये, ल्यानि, द्वे । तसादौ—ततः, तत्र, तथा, तर्हि, यतः, यत्र, यदा, यथा । त्यदादिसवन्धिविज्ञानादिह न भवति—अतितद्, अतितदौ, अतितदः, प्रियतद्, प्रियतदौ, प्रियतदः । आ द्वेरिति किम्? भवान् ॥ ४१ ॥

१५ दोमः स्यादौ । अत्र त्यदामिति इदम् इति चानुवर्तते । त्यदां स्यादौ इदमो दो म इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदां संवन्धिनीत्यादि । स्यावधिकारे स्यादावित्युपादानात् स्यादिरेवानुवर्तते न किञ्चित्द्विशेषणमित्याह—स्यादाविति । इमावित्यादि । इदम्—औ इति स्थिते “आदरे ” इति मस्याखरे “लुगस्यादेत्यपदे” इति पूर्वोकारलुकि दस्यानेन मत्वे चौरत्वम् । एवमन्यदपि । ननु मकारस्य मकारकरणवैयर्थ्यात् “आदरे ” इत्य- १८ त्वप्रश्लेषे व्यञ्जनत्वेन खरस्यानासन्नत्वादेकवर्णत्वेनान्तस्य भवन्नपि सामर्थ्यादुपात्तस्य दकारस्यैव भविष्यति किं द इति श्रद्धणम्? इति चेत्, उच्यते—कार्यान्तरवाधनार्थं सप्त्रादित्यादिवत्, अथवा मकारस्याभेदनिर्देशेन “अषाञ्जने” इतिवत् सर्वस्यापि स्यादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३९ ॥

किमः कस्तसादौ च । अत्र त्यदामिति स्यादाविति चानुवर्तते । त्यदा स्यादौ तसादौ च किम क इत्यन्वयस्तदर्थमाह—त्यदादि २१ संवन्धिनीत्यादि । क इत्यस्य कार्यत्वाभिहितत्वात्प्रश्नादिदेशे प्राप्ते पूर्ववर्जिदेशे “किम क स्यादौ तसादौ च” इति तत्र भेदज्ञापनार्थं, तेन खस्यान एव चकारसंबन्ध इत्याह—स्यादौ, तसादौ चेति । तेन प्राधान्याद् द्वयोश्चरत्रानुवृत्ति । क्रमेण स्यादौ लिङ्गत्रयेऽप्युदाहरति—क इत्यादि । तदन्तस्यापि स्वसम्बन्धिन्युदाहरति—परमक इत्यादि । ‘तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात्’ आह—साकोऽपीति । किम क इति शेष । २४ अज्ञात क इति विग्रहे “त्यादि सर्वादौ ०” इत्यकि—क इत्यादि । कस्मिन् काळ इति विग्रहे “क्रियत्तत्सर्वकान्यात् ०” ७।२।९।५। इति दाप्रत्यये—कदा इति । अत्र तसादौ प्रत्ययेऽनेन किम क । एव “अन्यतने हिं ” ७।२।१०।१। इति हौ—कर्हि । इदमनयो प्रकृत किमिति “द्वयोर्विमज्जे च तरप्” ७।२।६। इति तरपि, “क्रियायेऽव्यादासृष्टये तयोरन्तस्याम्” ७।३।८। इत्यादि स्यादेत्ससादेश्वाभावादेशाभावे—कितरामिति । ननु “किम क” २७ इति गुरुकरण किमर्थः? “आदरेस्वसादौ च” इति कृत्वा ‘इम’ इत्येव सन्न्यताम्, न चैव सति ‘तिम’ ‘तीमच्’, ‘टिम’ ‘ठीमच्’ आर्द्राभावे इत्यस्य किमन्तस्य स्यादौ प्रसङ्ग इति वाच्यम्, त्यदादिविशेषणात् त्यदादीनां य इमिति व्याख्यानेनादौपात्, नापि “दो म ०” इति दस्य मत्वे कृते इदम् इममिमावित्यत्र प्रसज्यते, ‘लक्षणप्रतिपदोक्तं ०’ परिभाषाश्रयणात् । न चैकवर्णत्वादेन्त्यस्य स्यादिति वाच्यम्, ‘नानधके तदन्तविधि’ इत्याश्रय- ३० णादिति । यद्वाऽभेदनिर्देशात् सर्वस्यापीमोऽकारादेशे न कश्चिद्दोष इति चेत्, नैवम्, साकोऽपि यथा स्यादित्येवमर्थं गुरुकरणम् । आदिशब्दस्येति । तसादावित्यत्र कृतोपादानस्यादिशब्दस्येति भावः । व्यवस्थावाचित्वादिति । व्यवस्था—भयादा, सा च शाब्दे पूर्वोच्चार्यकृतो नियमस्तेन धमवसानपरिग्रहात् कितरामित्यादौ तद्गुत्तरेषु न भवति ॥ ४० ॥

३३ आदरेः । अत्र त्यदामिति स्यादौ तसादौ चेति वर्तते । आदरेस्त्वदा तसादौ च अ इत्यन्वयः । आदरेरित्यवधौ पश्चमी, अवधिधाभि- व्याप्तिरित्याह—द्विशब्दमभिव्याप्येति । स्य इत्यादि । एतेष्वन्त्यसाकारे द्वयोरकारयो “लुगस्यादेत्यपदे” इति यथासम्भव पूर्वस्य लुकि “त सौ स ” इति सौ तकारस्य सत्वम् । त्यदामित्यनुवर्तनात्तस्य च स्यादावित्यस्य विशेषणत्वात्संवन्धिविज्ञानात् अतिसंवन्धिनि स्यादौ न ३६ भवतीत्याह—त्यदादीत्यादि । भवानिति । उचित्वात् “श्रद्धुदित ” इति नागमे “अभ्यादे ०” इति वीर्यत्वे “पदस्य” इति तकारलोपः । ननु आदरेरिति किमर्थम्? असदन्तानां मवदन्तानां वा मा भूदिति । केषांचिद्युष्मद्भवत् अस्मादिति पाठः, केषांचित् युष्मदस्यद्भवत्तिति पाठस्तदपेक्ष- र्थैतद्गुरुम्, किमशब्दस्य तु कादेशविधानात् प्रसङ्ग एव नास्ति । केचित्तु द्विशब्दात् पूर्वं किशब्दमधीयते, तेन “किमश्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहो ३९ पित्तम्” ७।२।८। इति किमशब्दोपादानं न विधेयम् । तत्र सत्यापि द्विशब्दात् परत शब्दचतुष्टयस्य पाठे भवच्छब्दस्यैवात्वात्प्रापित्दोषो न किं युष्मदस्वदात्, किम कादेशेन युष्मदस्वदोरात्वयत्वलोपैरत्वस्य वाधितत्वात् । नैपोऽस्ति दोष—यद्य त्यदादीनामत्वे सिद्धे “शेषे लुक्” शास्त्रि- तज्ज्ञापयति नेत प्रागकार इति, नैवम्, उपसर्जनार्थत्वात्तस्य ज्ञापने सामर्थ्याभावात् । तत्र हुपसर्जनानां त्यदाद्यत्वाभावाद्दुपसर्जनयुष्मदस्वदयो- ४२ लोप स्यात्—त्वामतिश्रान्ता मानतिश्रान्ता ये तेभ्योऽतित्वभ्य, अतिमभ्यमिति । किं चाऽत्वे सत्याप्रसङ्गात्तदाभावात् “शेषे लुगिति” अन्त्यस्वरादि- लोपो बोद्धव्यः । नन्वेव तर्धन्तस्वरादिलोपो वक्ष्यन्ते, न चात्वेन सिद्धत्वाद्ब्रचनादेवान्त्यस्वरादिलोपो भविष्यतीति वाच्यम्, उपसर्जनस्यात्प्रापित्दो- रुपसर्जनार्थत्वात्तस्येति चेत्, न वक्ष्यन्ते, शेषग्रहणादेवासायस्य लब्धत्वात् । तथाहि—लोपमुत्सर्गं विधाय व्यञ्जनादावात् एतदप्योपि च यत्त्वम- ४५ पनादो विधास्यत इति शेषग्रहणमनर्थकं तत् क्रियमाण लोपस्य विषयार्थं स्यात्, तेन मान्ताद्योऽन्य स शेष स चान्ताद्योऽन्य एतदप्योपि च यत्त्वम- शेषे इति लोपस्य स्थानं विषयसप्तम्या निर्दिष्टम् । एव तर्हि “किम कस्त ०” इति ज्ञापकादिपर्यन्तानामेव ग्रहणं भविष्यति, तथाहि—“किमश्यादि-

तः सौ सः ॥ २ । १ । ४२ ॥

आद्वेस्त्यदादीनां संबन्धिनि सौ परे तकारस्य सकारादेशो भवति । स्यः, स्या, स्यकः, परमस्यः; सः, सा, सकः, परमसः; एषः, एषा, एषकः, परमैषः, हे स!, हे परमस!, हे परमैष! । त इ इति किम्? यः । साविति किम्? त्यद्, ३ तद्, तौ, तौ । त्यदादिसंबन्धिविज्ञानादिह न भवति—प्रियत्यद्, प्रियैतत् पुमान् । आ द्वेरित्येव? भवती ॥ ४२ ॥

अदसो दः सेस्तु डौ ॥ २ । १ । ४३ ॥

त्यदादिसंबन्धिनि सौ परेऽदसो दकारस्य सकारादेशो भवति, सेस्तु डौः । असौ, असकौ; हे असौ, हे असकौ ५ विद्वन्; असौ, असकौ स्त्री, हे असौ!, हे असकौ स्त्रि । सावित्येव? अदः, अम् । त्यदादिसंबन्धिविज्ञानादिह न भवति—अत्यदाः । डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम्, तेन—“औता” ॥ १ । ४ । २० ॥, “एदापः” ॥ १ । ४ । ४२ ॥, “दीर्घञ्चाव्यञ्जानत् सेः” ॥ १ । ४ । ४५ ॥, “अस्यायत्क्षिपकादीनाम्” ॥ २ । ४ । ११० ॥ इति कार्याणि न ५ भवन्ति, अन्यथा सेस्त्वैरित्येव क्रियेत ॥ ४३ ॥

असुको वाऽकि ॥ २ । १ । ४४ ॥

त्यदादिसंबन्धिनि सौ परेऽदसोऽकि सत्यसुक इति दस्य सः सकारात् परस्याकारस्योकारः सेश्च डौत्वाभावो १२

सर्वादीति” किम्शब्दस्य भेदेनोपादानाद्विशब्दात्पर किम्शब्द सर्वादी पठ्यत इति निर्णय । यदि च द्विशब्दात् परेपामत्वं स्यात् किम् क न विद-  
ध्यात्, किन्तु “आद्वे ” इत्यनन्तरं “किम्” इत्येव ऋयात् । पूर्वसप्तदकारस्यानुवृत्त्या पूर्वणान्त्यस्यात्वे तत्रोफानुवादोपात् ‘अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशा-  
स्यापि ग्रहणात्’ अनेन त्विकारस्य न तु ककारस्येति द्वयोरकारयो “लुगस्यादेश्यपदे” इति पूर्वस्य लुकि क इति सिद्धमित्यादेशविधान प्रकृतार्थज्ञाप- १५  
नाय भवति । ननु तथापि कृत एतज्ज्ञापक, किम् इत्येवोच्यमानेऽन्त्यस्य सकारस्य पूर्वेणाकारे तस्यैव पुनरनेनापि स्यात्, न चोफानुवादोपा-  
दन्त्यस्य न भविष्यतीति वाच्यम्, काभ्यां केभ्य इति विच्यन्तरवाधनार्थत्वादिति क्य द्विपर्यन्तानां भविष्यति न पुनरस्मदन्ताना भवदन्ताना वा ।  
किंचाऽवश्य कादेश सागर्थोऽपि वच्य, तेनाऽज्ञातार्थविवक्षायां क इत्येव भवति, न तु कक इति भवति । न च ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भव- १८  
न्तीति’ साक कादेशो न प्राप्नोतीति वाच्यम्, “किम् क” इति वचनसामर्थ्याद् भविष्यति, तस्माद्विपर्यन्तानां यथा स्यादित्येवमर्थ “आद्वेरिति”  
वचनं स्थितम् ॥ ४१ ॥

त. सौ सः । आद्वेरिति त्यदामिति चानुवर्त्तते । आद्वेस्त्यदा सौ तः स इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—आद्वेस्त्यदादीनामित्यादि । भवती २१  
इति । पुसि तकारस्य सकारे “पदस्य” इति लोपे विशेषाभावात् जियासुदाहृतम् ॥ ४२ ॥

अदसो दः सेस्तु डौः । अत्र त्यदामिति साविति च इति च वर्त्तते । त्यदां सौ अदसो द स , सेस्तु डौरित्यन्वयस्त्वदर्थमाह—  
त्यदादीत्यादि । द इति षष्ठ्यन्त कार्यपद, अदस इति तद्विशेषणमित्याह—अदसो दकारस्येति । अदस् स इति स्थितेऽनेन दस्य सत्त्वे से- २५  
डौवादेशे च “दित्यन्त्यस्वरादे ” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे—असौ । असकाविति । अदसश्चब्दात् “त्यादिसर्वादे ०” इत्यकि अदकस् स् इति  
स्थितेऽनेन दस्य सत्त्वे सेर्वादेशे चान्त्यस्वरादिलोपे रूपम् । नन्वदस इति किमर्थम्? पारिशेष्यात् अदस एव दकारस्य सकारो भविष्यति ।  
अथै हि त्यदादयस्त्र चतुर्णामन्त्यो दकार , त्रयाणा त्वनन्त्यस्त्र “सास्य पौर्णमासी” ६।२।९८, “सोऽस्य मृतिवक्त्राशम्” ६।४।१६८ इत्यादि— २७  
ज्ञापकादन्यदकारस्य न भविष्यति । किं चान्त्यदकारस्य सकारेऽपि “दित्यन्त्यस्वरादे ” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे विशेषाभावात् सकारकरणमनर्थक  
स्यात् । न चानन्त्यस्य भवच्चिदमोऽपि स्यादिति वाच्यम्, “अयमिय पुत्रियो सौ” इत्यशेषस्य विधानादयमियमोस्त्र वाधकत्वात् । द्विशब्दस्य च  
द्वित्वार्थविषयत्वात् सेरभावादप्रसङ्ग इति चेत्, न, ज्ञापकोपन्यासस्य तद्विषयस्यैव दर्शनात्तस्य च स्वविषय एव चरितार्थत्वात् सर्वोद्देशेनाप्रवृत्तेः । ३०  
तस्मात्पद्यद्दत्तदत्तदामन्त्यदकारस्य सकार स्यात्, अदस एव यथा स्यादन्यस्य मा भूदित्येतदर्थमदसप्रहणम् । नन्वेव यद्यदस एव दस्य सत्य



वा निपात्यते । असुकः, असकौ; हे असुक !, हे असकौ !; असुका, असकौ स्त्री । केचित्तु असुकसिति सान्तं सिना सह निपात्यन्ति ॥ ४४ ॥

३ मोऽवर्णस्य ॥ २ । १ । ४५ ॥

अवर्णान्तस्य लदादिसंवन्धिनोऽदसो दकारस्य मकार आदेशो भवति । अमू नरौ, स्त्रियौ, कुले वा, अमी नराः, अमूः स्त्रियः, अमूनि कुलानि, अमु नरम्, अमूं स्त्रियम्, अमूः स्त्रीः, अमून् नरान्, अमूनि कुलानि, अमुकौ नरौ, अमुके स्त्रियौ कुले वा, परमासुम्, अमूदक्, अमूदशः; अमूदक्षः । अत्र “अन्यत्वदादेराः” इत्यात्वे सत्यवर्णान्तत्वम् । अवर्णस्येति किम् ? अदः कुलम्, अदस्याति ॥ ४५ ॥

वाऽद्रौ ॥ २ । १ । ४६ ॥

१ अदसोऽद्रावन्ते सति दकारस्य मकारो वा भवति, द्वावत्र दकारौ तत्र विकल्पे सति चातूरूप्यं भवति—अदसुयद्, अमुयद्, अमुसुयद्, अदयद्; तदाह—“परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः” ॥ १ ॥ ४६ ॥

मादुवर्णोऽनु ॥ २ । १ । ४७ ॥

२ अदसः सवन्धिनो मकारात् परस्य वर्णमात्रस्योवर्ण आदेशो भवति, अनु—पश्चात्कार्यान्तरेभ्यः, आसन्नत्वात् मात्रिकस्य स्थाने मात्रिकः, द्विमात्रस्य द्विमात्रः; त्रिमात्रस्य त्रिमात्रः । अंमुम्, अमू, अमूरे इति; “प्रश्ने च प्रतिपदम्” १५ ॥ ७ । ४ । ९८ ॥ इति सुतः । अमुसुयद्, अमुसुईचः, अदसुईचः, अदसुईचा, “अदो मुमी” ॥ १ । २ । ३५ ॥ इति सधिप्रतिषेधः । अन्विति किमर्थम् ? अमुष्मै, अमुष्मात्, अमुष्य, अमुष्मिन्, अमूषाम्, अमुया, अमुयोः, इत्यादिषु स्मैप्रभृतिकार्येषु कृतेष्ववर्णो यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥ ४७ ॥

३८ असुक इति । “अदेत समोर्छक्” इति सेलौप । हे असकाविति । पुस्युदाहतम् । असुका, असकौ इति । जियामामन्त्रे तु हे अशुके इति श्रृष्टव्यम् । केचिद्विवि । सिना सह निपातनस्य च “अन्नादेरत्वस ” इति धीर्धत्वाभाव फल्म् ॥ ४४ ॥

मोऽवर्णस्य । लयामदसो इति चासुवर्तते । अवर्णस्येत्यदसो विशेषणात्तदन्तविज्ञानम् । अवर्णान्तस्य लयामदसो दो म इत्यन्वय-  
२१ स्तदर्थमाह—अवर्णान्तस्येत्यादि । अमू नरौ इति । अदस् औ इति स्थिते “आद्वे” इत्यत्वे “ङ्गस्यादेत्यपदे” इत्यकारलोपेऽवर्णान्तत्वात्-  
नेन दस्य मत्वे “ऐदौत्सन्त्यक्षरे” इत्योत्त्वे “मादुवर्णोऽनु” इत्युत्त्वे सिध्यति । अमू स्त्रियौ इति । अदस् औ इत्यवस्थायां लदाद्यत्वेऽकारल्लि-  
२४ षापि दस्य मत्वे “औता” इत्यौकारेण सहैकारान्तादेशे “मादुवर्णोऽनु” इत्युत्त्वम् । अमू कुले इति । अत्रात्वेऽकारल्लि “औरी” इतीकारेऽनेन  
इतीत्वे, “अवर्णस्ये” इत्येत्त्वे “मादुवर्णोऽनु” इत्युत्त्वे रूपम् । अमी नरा इति । अदस्शब्दाच्च सि लदाद्यत्वेऽकारल्लि दस्य मत्वे, “जघ इ”  
इतीत्वे, “अवर्णस्ये” इत्येत्त्वे, “बहुत्वेरी” २।१।४९। इति तस्येत्वम् । एवमन्यदपि । ननु असाविच इत्यत इत्यदस परतो इच्छे “लदा-  
२७ दान्यसमानादुपमानाद्” ५।१।१५२। इति क्तिपि टक् सिक् च सायभावाद्दत्ताभावे कर्ष्यं “अमूदगि”त्यादौ मत्वमित्याह—अत्र “अन्यत्वदा-  
देराः” इत्यादि । अदः कुलमिति । नपुसकात् सेलौपि “ल्यप्यच्छेनद” इति स्थानिवद्भाषप्रतिषेधात् स्यादेरभावादत्ताभावेऽवर्णभाव । ननु  
अद कुलमिच्छतीत्यस्मिन् वाक्ये अदस्शब्दाच्चपुसकादमी ङापि “सो रु” इति क्त्वे “रोर्ष” इति क्त्वे “क्षरे वा” इति यलोपेऽवर्णान्तत्वान्-  
न्मत्वप्रसङ्ग इति चेद्, उच्यते—पदान्तरापेक्षत्वेन यलोपस्य बहिरङ्गत्वात्पदानपेक्षत्वेन मत्वविधेरन्तरङ्गत्वाद् ‘असिद्ध बहिरङ्गम्’ इति लोपस्यासिद्ध-  
३० त्वेऽनवर्णान्तत्वात् मकाराभाव ॥ ४५ ॥

वाऽद्रौ । अदसो दो म इति चासुवर्तते । अदसोऽद्रौ दो मो वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह—अदसो इत्यादि । अदसोऽवयवस्याद्यागमस्य  
तद्ग्रहणेन प्रहणात् तस्मिन् सति अदस इकारान्तत्वादवर्णान्तत्वाभावादप्राप्ते उभयत्र विकल्पे चातूरूप्य संपद्यतेऽत आह—द्वावत्रेत्यादि । अयमर्थ-  
३१ विकल्पोऽत्रानेकधा संभवति, सामान्याभ्रयणाच्च समुचितसर्वविकल्पपरिग्रह । विशेषे हि विशेषान्तरं परिहिद्येते न सामान्ये, सर्वात्मकत्वात् सामा-  
न्यस्येति । अद-पूर्वादन्वते अदोऽधतीति क्तिपि, “सर्वादिविच्छन्देवाङ्गि” ०” १।२।१२२। इति ङ्यागमे, “अभिरनर्चायाम्” ४।२।४६। इति  
नलोपे, सौ, “अव” १।४।६९। इति नागमे, “पदस्य” इत्यन्तलोपे, “युजश्च” २।१।७१। इति नस्य च्कारेऽनेन परस्य पूर्वसोमयोव  
३६ क्रमेण मकारे रूपाणि—अदसुयद्, अमुयद्, अमुसुयद्, अदयद् इति । एतदेव तदाहेत्यनेन दर्शयति—“परतः” इत्यादि ॥ ४६ ॥

मादुवर्णोऽनु । अदस इत्यधिक्रियते । अदसो मात् उवर्णोऽनु इत्यन्वयस्तदर्थमाह—अदसः संवन्धिन इत्यादि । अत्र कार्य-  
विशेषस्यानिर्देशाद् वर्णमात्रपरिग्रह इत्याह—वर्णमात्रस्येति । अत्र कार्यस्य विधेयतया प्राधान्यादनुशब्दस्य च पश्चादर्थस्य तद्विशेषणत्वात्  
३९ सजातीयकार्यान्तरापेक्षयैव पश्चाद्भाव समवतीत्याह—पश्चात्कार्यान्तरेभ्य इति । वर्णमात्रस्य कार्येण परिग्रहादासन्नत्वात् मात्रिकदे स्थाने  
मात्रिकादिरादेशः, यत्र चार्थमात्रस्थानी तत्रापि द्विमात्रत्रिमात्रयोरिति विप्रकृष्टत्वात्, मात्रिकस्य तु अक्षरविप्रकृष्टत्वादासन्नत्वात् स एव भवती-  
त्याह—आसन्नत्वात् मात्रिकस्येत्यादि । समुदाये प्रवृत्ता अपि शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते इति मात्राशब्दोऽर्थमात्रायामपि द्रष्टव्य, तेन  
४२ अमुसुयद् इत्यत्र अर्धमात्रिकस्य र स्थाने एकमात्रिक उकारादेशो भवति । अद शब्दादस्मि औकारे च लदाद्यत्वे, “ङ्गस्या” इत्यकारलोपे  
“मोऽवर्णस्य” इति मत्वे, “समानादमोऽत” इत्यकारलोपे, “ऐदौत्सन्त्यक्षरे” इत्येकादेशे, “प्रश्ने च प्रतिपदम्” ७।४।९८। इत्येकत्र द्वित्यनेन  
मात्रिकाद्युवर्णदेशे—अमुम्, अमू, अमूरे इति । अमुसुयद् इत्यादि । अत्र सति ङितिसोष्टाया च “अव प्रादीर्घब” २।१।१०४।  
४५ इत्यकारागमे इकारस्य धीर्धत्वम् । नन्वत्र “इवर्णदि” इति वकार कस्मात् न भवतीत्याह—“अदो मुमी” इत्यादि । ननु मत्वे कृते पूर्व  
पश्चाद् उवर्णदेशे अमुमित्यादीनां सिद्धत्वाद्नुग्रहण किमर्थमिति पृच्छति—अन्वित्यादि । अत्र हि अमुष्मैप्रवृत्तिप परत्वात्तिलत्वात् मकारात्  
परस्याकारस्य उवर्णदेशेऽकारान्तत्वाभावात् स्मैप्रवृत्तीनामभाव स्यादिति भावः । एतेषु “भित्तयदिति” इत्योत्त्वं न भवति, अदित्यत्र नभ-

प्रागिनात् ॥ २ । १ । ४८ ॥

अदसो मात् परस्य वर्णमात्रस्येनादेशात् प्रागुवर्णो भवति, अन्वित्यस्यापवादोऽयम् । अमुना पुंसा कुलेन वा । इनादिति किम् ? अमुया स्त्रिया ॥ ४८ ॥

बहुष्वेरीः ॥ २ । १ । ४९ ॥

बहुष्वर्थेषु वर्तमानस्यादसो मकारात् परस्यैकारस्य स्थाने ईकार आदेशो भवति । अमी, अमीभिः, अमीभ्यः २ । अमीषाम्, अमीषु । बहुष्विति किम् ? अमू कन्ये, अमू कुले । एरिति किम् ? अमूः कन्याः, अमून् नरान् । मादि- ३  
त्ये ? अमुके, अमुकेभ्यः ॥ ४९ ॥

धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये ॥ २ । १ । ५० ॥

धातुसंबन्धिन इवर्णस्योवर्णस्य स्थाने स्वरादौ प्रत्यये परे यथासंख्यमिद्य् उव् इत्येतावादेशौ भवतः । नियौ, नियः; ९  
लुवौ, लुवः, अधीयाते, अधीयते; लुलुवतुः, लुलुवुः, स्वमिच्छति क्यन्, क्तिप्-स्त्रीः, स्त्रियौ, स्त्रियः; एवं स्त्रियौ, स्त्रियः,  
अधीयन् । धातोरिति किम् ? लक्ष्म्याः । इवर्णोवर्णस्येति किम् ? म्लायति, वाचः । स्वर इति किम् ? नीः, लूः । प्रत्यय  
इति किम् ? न्यर्थः, ल्वर्थः । इयुव्स्मां गुणवृद्धी परत्वाद् भवतः-नयनम्, लवनम्, नायकः, लावकः ॥ ५० ॥ १२

पयुदासाश्रयणात् । पयुदासो हि सदग्माही, ततो यत्र साक्षात् स्वरोऽप्रे भवति तत्रैव पूर्वस्योकारस्य ओकारत्वनादिति साक्षात् स्वरवर्जनात् ।  
अथवा-अदितीलस्य विषयसप्तम्या प्रकृतेरपि विशेषणत्वाददोष ॥ ४७ ॥

प्रागिनात् । अदसो मादुवर्ण इति चानुवर्तते । अदसो मादिनात् प्रागुवर्ण इत्यन्वयस्वदर्थमाह-अदसो मात् परस्येत्यादि । १५  
प्रागुयोगे "प्रमृल्यार्थान्यायैदिकशब्दः" २।२।७५। इति इनात् पवमीत्याह-इनादेशात् प्रागिति । ननु परत्वात् नित्यत्वादिनादेशात् पूर्वमुवर्ण  
सिद्ध एव किमनेनेति चेत्, मैवम्, अनुग्रहणादिनादेशात् पश्चात् स्यात्, तदपवादोऽयमुच्यते इत्याह-अन्वितीत्यादि । अमुना पुंसा कुलेन  
चेति । अदसशब्दात् टायां ल्यदायत्वे मत्वे क्त्वे "ट पुसि ना" १।४।२४। इति नादेशे नपुषके च "अनामस्वरे नोऽन्त" १।४।६४। १८  
इति नागमे सिध्यति । अमुयेति । अत्र ल्यदायत्वे स्त्रियामापि अकारान्तत्वाभावादिनादेशासाधभावात् "टांश्चेत्" इत्येत्वे मत्वेऽयादेशे च  
पश्चादुत्त्वमिति भाव ॥ ४८ ॥

बहुष्वेरीः । अदसो मादिति चानुवर्तते । बहुषु अदसो माद् एरी इत्यन्वयस्वदर्थमाह-बहुष्वर्थेषु वर्तमानस्येत्यादि । नन्वि- २१  
कारस्य षष्ठाभेरुपस्य समानत्वात् तत्तद्वादेशोऽद्यागमे कृते तदवयवस्येकारस्य यत्त्वाधित्वा इत्य् स्यात् इति कथमेकारस्येत्युक्तिमिति चेत्, मैवम्,  
अदसोऽवयवस्येकारस्य सभवात् "वात्री" इत्यनन्तरमेवेद कुर्यात्, इकारपरिग्रहे वाऽनेकप्रयोगसिद्धेर्व्याप्तित्याये सभवत्येकप्रयोग प्रति योगाना-  
रम्भाच्च । किंच "अदो मुनी" १।२।३५। इत्यत्र मीति निर्देशात् न हीकारपरिग्रहेऽदसो मीरुपसभनोऽस्तीति तस्मात् सूकमेकारस्येति । अमी इति । २४  
अदसशब्दाच्च लि ल्यदायत्वादौ "जस इ" इतीकारे "अवर्णस्ये" इत्येत्त्वेऽनेनेत्वम् । अमीभिरित्यादि । एषु भिसि भ्यसि आभि सुपि च ल्यदा-  
यत्वादौ आभ सामादेशे च "एद्दुहोस्ति" इति सर्वत्र एत्त्वमनेनेत्व च । अमू कन्ये इति । अत्र अदस औकारे ल्यदायत्वे आवादा "औता"  
इत्येत्त्वे बहुष्विति वचनादत्र द्विवे च वर्तमानत्वादीत्य न भवति । एवममू कुले इत्यत्रापि । अमूः कन्या इति । अदस शसि ल्यदायत्वादौ "शसो- २७  
ऽता" इति धीर्षत्वे "मादुवर्णोऽयु" इत्याकारस्य ऊकारे "सो व" इति क्त्वे "र पदान्तः" इति विसर्गः । अमूनिति । "शसोऽता" इति  
पुसि सकारस्य नकार, शेष पूर्ववत् । अमुके, अमुकेभ्य इति । अत्राकलन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन प्रथमेषुपि मादिति वचनादुकारेण  
व्यवधानादनेन ईत्वाभाव ॥ ४९ ॥

धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये । नन्विवर्णोवर्णस्येति धातोरित्यस्य विशेषणत्वात्तदन्तसप्रत्यये धातोरिवर्णोवर्णान्तस्येति समा- ३०  
नाधिकरणषष्ठां सभन्न्यां व्यधिकरणषष्ठा प्रतिपत्तिगौरवात् परिग्रहायोगात् कथमेवमुच्यते इति १ न च समानाधिकरणषष्ठांमनेकवर्णत्वात्सर्वो-  
देशप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यतो 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति' इवर्णोवर्णयोरेवेयुवौ भविष्यत इति चेत्, सत्यम्, एतदर्थस्यैव स्पष्टीकरणायैवमुक्ताम् । ३३  
अत एव सूत्रे इवर्णोवर्णस्येति विशेष्यमिति । स्वर इति प्रत्ययस्य विशेषणात्तत्र च "सप्तम्या आदि" इत्यादिप्रत्यये स्वरादावित्यर्थकम् । तथा  
चायमन्वय-धातो इवर्णोवर्णस्य स्वरादौ प्रत्यये इयुव् इति । तदर्थमाह-धातुसंबन्धिन इत्यादि । नयतेर्छानातेष्व क्तिपि तदुक्ति च औकारे  
जसि च 'क्विन्ता धातुत्वं न जहती'ति धातुत्वमेवात्र वेदितव्यमित्यनेनेयुवो कृतयो-नियौ, नियः, लुवौ, लुव इति । अधीयाते, ३६  
अधीयते इति । अधिपूर्वात् 'इक्' अथयने, इत्यतो वर्तमानायां आते अन्ते च प्रत्यये "अनतोऽन्तोऽदात्मने" ४।२।११४। इत्यदादेशे स्वरा-  
दित्वादिनादेशः । लुलुवतुः, लुलुवुरिति । छनात्ते परोक्षया अतुसि ससि च "द्विर्वातु" इति द्विवचने "हस्व" इति द्विरुक्तस्य हस्वत्वे  
स्वरादित्वाद्वादेशः । एवमिति । स्त्री इतिवत् स्त्रीशब्दादपि क्यनन्तात् क्तिपि धातुत्वाद्नेनेयादेशो न तु "स्त्रिया" इति । तदुदाहरति- ३९  
स्त्रियौ, स्त्रिय इति । अधीयन् इति । अधिपूर्वात् 'इक्' स्वरणे इत्यत शतरि अनेनेयादेशः । लक्ष्म्या इति । औणादिकत्वाद्वातुत्वाभावा  
इत्यर्थः, स च पूर्व साधित एव । 'अं' गात्रविनामे इत्यतो वर्तमानाया ति वि शवि आयादेशे-म्लायति । वचे वचोति विग्रहे "दियुद्द्वज्जग-  
ज्जूहवाक्" ५।२।८३। इति क्तिपि निपातगात् वाच्, ततो जसि-चाच इति । इवर्णादिप्रग्रहणमन्तरेणैयुवावत्रापि स्यातामिति भावः । न्यर्थः, ४२  
इति कर्तरे णके च इवर्णोवर्णान्तत्वादियुवो कस्माच्च भवत इत्याह-इयुव्भ्यामित्यादि । नियौ, लुवौ इत्यादौ अस्य विधे सावकाशत्वात् कर्ण  
कारक श्लाघौ तु गुणवृद्धयो, नयनमित्यादौ तृभ्यो प्राप्तौ इयुवौ बाधित्वा गुणवृद्धी स्यातामित्यर्थः ॥ ५० ॥

१ स च साने पु० । २ ननुषु ननुषु० इति पाठः पु० । ३ स्त्री पु० । ४ स्त्री पु० । ५ स्त्री पु० । ६ स्त्री पु० । ७ स्त्री पु० । ८ स्त्री पु० । ९ स्त्री पु० । १० स्त्री पु० । ११ स्त्री पु० । १२ स्त्री पु० । १३ स्त्री पु० । १४ स्त्री पु० । १५ स्त्री पु० । १६ स्त्री पु० । १७ स्त्री पु० । १८ स्त्री पु० । १९ स्त्री पु० । २० स्त्री पु० । २१ स्त्री पु० । २२ स्त्री पु० । २३ स्त्री पु० । २४ स्त्री पु० । २५ स्त्री पु० । २६ स्त्री पु० । २७ स्त्री पु० । २८ स्त्री पु० । २९ स्त्री पु० । ३० स्त्री पु० । ३१ स्त्री पु० । ३२ स्त्री पु० । ३३ स्त्री पु० । ३४ स्त्री पु० । ३५ स्त्री पु० । ३६ स्त्री पु० । ३७ स्त्री पु० । ३८ स्त्री पु० । ३९ स्त्री पु० । ४० स्त्री पु० । ४१ स्त्री पु० । ४२ स्त्री पु० । ४३ स्त्री पु० । ४४ स्त्री पु० । ४५ स्त्री पु० । ४६ स्त्री पु० । ४७ स्त्री पु० । ४८ स्त्री पु० । ४९ स्त्री पु० । ५० स्त्री पु० । ५१ स्त्री पु० । ५२ स्त्री पु० । ५३ स्त्री पु० । ५४ स्त्री पु० । ५५ स्त्री पु० । ५६ स्त्री पु० । ५७ स्त्री पु० । ५८ स्त्री पु० । ५९ स्त्री पु० । ६० स्त्री पु० । ६१ स्त्री पु० । ६२ स्त्री पु० । ६३ स्त्री पु० । ६४ स्त्री पु० । ६५ स्त्री पु० । ६६ स्त्री पु० । ६७ स्त्री पु० । ६८ स्त्री पु० । ६९ स्त्री पु० । ७० स्त्री पु० । ७१ स्त्री पु० । ७२ स्त्री पु० । ७३ स्त्री पु० । ७४ स्त्री पु० । ७५ स्त्री पु० । ७६ स्त्री पु० । ७७ स्त्री पु० । ७८ स्त्री पु० । ७९ स्त्री पु० । ८० स्त्री पु० । ८१ स्त्री पु० । ८२ स्त्री पु० । ८३ स्त्री पु० । ८४ स्त्री पु० । ८५ स्त्री पु० । ८६ स्त्री पु० । ८७ स्त्री पु० । ८८ स्त्री पु० । ८९ स्त्री पु० । ९० स्त्री पु० । ९१ स्त्री पु० । ९२ स्त्री पु० । ९३ स्त्री पु० । ९४ स्त्री पु० । ९५ स्त्री पु० । ९६ स्त्री पु० । ९७ स्त्री पु० । ९८ स्त्री पु० । ९९ स्त्री पु० । १०० स्त्री पु० ।

इणः ॥ २ । १ । ५१ ॥

इणो धातोः खरादौ प्रत्यये परे इय् इत्ययमादेशो भवति, यत्पापवादः । ईयतुः, ईयुः । कथं यन्ति, यन्तु ? परत्वेन “हिणोरप्विति व्यौ” ॥ ४ । ३ । १५ ॥ इति यत्वस्यैव भावात् । अयनम्, आयक इत्यत्रापि परत्वाद् गुणवृद्धी एव ॥ ५१ ॥

संयोगात् ॥ २ । १ । ५२ ॥

६ धातुसवन्धिन् ईवर्णस्योर्वणस्य च धातुसवन्धिन् एव संयोगात् परस्य खरादौ प्रत्यये परे इयुवादेशौ खोरपवादौ भवतः । यवक्रियौ, यवक्रियः; कट्पुवौ, कट्पुवः; शिश्रियतुः, शिश्रियुः । धातुना संयोगस्य विशेषणादिह न भवति—उच्यौ, उच्यः; सकृह्वौ, सकृह्वः ॥ ५२ ॥

९ भ्रूश्रोः ॥ २ । १ । ५३ ॥

भ्रूश्रु इत्येतयोर्वर्णस्य संयोगात् परस्य खरादौ प्रत्यये परे उवादेशो भवति । भ्रूवौ, भ्रुवः, क्यन्क्विवन्तस्य “धातोरिवर्णोर्वर्णस्य ०” इत्यादिनैवोवादेशः; आमुवन्ति, राधुवन्ति, तक्षुवन्ति । संयोगादित्येव ? सुन्वन्ति, चिन्वन्ति । १२ खर इत्येव ? भ्रूः, आमुतः । प्रत्यय इत्येव ? भ्रुवम् ॥ ५३ ॥

स्त्रियाः ॥ २ । १ । ५४ ॥

स्त्रीशब्दसवन्धिन् इवर्णस्य खरादौ प्रत्यये परे इयादेशो भवति । स्त्रियौ, स्त्रियः, स्त्रियाम्, परमस्त्रियौ, अतिस्त्रियौ १५ नरौ । स्त्रीशब्दसवन्धिन्स्त्वनर्थकत्वात् न भवति । खर इत्येव ? स्त्रीभिः । प्रत्यय इत्येव ? रुयर्थः । कथम् अतिस्त्रियः, अति-

इणः । धातोरिति खर इति प्रत्यय इति इय् इति चातुवर्तते । इणो धातो खरे प्रत्यये इय् इत्यन्वय । इणो धातुत्वाव्यभिचारेऽपि धातोरित्युत्तरार्थमनुवर्तनीयत्वेनेष्विशेषोपयितव्यो विशेषणविशेष्यभाव प्रति कामचारादित्याह—इणो धातोरिति । इण उवर्णस्याभावात् इयित्ययमेव १८ सवन्धत इत्याह—इयित्ययमादेश इति । नन्विणो धातुत्वात् खरादौ प्रत्यये पूर्वणैवेयादेशो भविष्यतीति चेत्, उच्यते—इण परोक्षदौ कृतद्विवचनस्यानेकखरत्वात् “योऽनेकखरस्य” २।१।५६। इति यत् स्यादतस्तदपवादोऽयमुच्यत इत्याह—यत्पापवाद इति । ईयतुः, ईयु-रिति । ‘इष्क्’ गतौ, धातो परोक्षया अतुस्ति उस्ति च “द्विधातु ०” इति द्विवचनेऽनेकखरत्वादन्यस्येयादेशो पूर्वस्य समानधीर्धत्वमिति भाव । २१ शङ्खते—कथमिति । इणधातोर्वर्तमानाया अन्तिप्रत्यये पश्चम्या अन्तुप्रत्यये च खरादित्वात् “इण” इतीयादेश कस्मात् भवति ? इति प्रश्नार्थः । समाधत्ते—परत्वेनेत्यादि । नन्वस्तु यन्ति यन्तिवत्यत्र परत्वात् “हिणो ०” इति यत्वम्, परन्तु इणधातोरनटि णके च खरादौ प्रत्ययेऽनेनेयादेश कस्मात् भवतीत्याह—अत्रापीत्यादि । अयमर्थ—“पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” इति परत्वाद्गुणवृद्धी भवत ॥ ५१ ॥ २४ संयोगात् । “किवृत्ते ०” २।१।५८। इति यकारवकारयो प्राप्तयोस्तदपवादार्थोऽयमारंभ । पूर्वस्माद्घातोरिवर्णोर्वर्णस्येयुव् खरे इत्यनुवर्तते । धातोरिवर्णोर्वर्णस्य धातो संयोगात् खरे प्रत्यये इयुव् इत्यन्वय । धातोरित्यनुवर्तमानेन संयोगादिति विशिष्यत इत्याह—धातुसवन्धिन् एव संयोगादिति । ननु धातोरिति विशेषण कार्यतया प्राधान्यादिवर्णोर्वर्णयोरेव युज्यते न संयोगस्य, तस्य तद्विशेषणत्वेनाप्राधान्यात्, २७ प्रधानासमवे हि विशेषण गौणे युज्यत इति । न च तस्य प्रधानान्वये व्यावर्त्याभाव इति वाच्यम्, धातोरैवावयवो य इवर्णो उवर्णश्च संयोगात् परस्त्वोरियुवाविति विशेषणविशेष्यभावाद्वा धात्ववयवस्य व्यावर्त्याभावात् । न च तत्र “इवर्णोदे ०” इति यकारवकारयो संभवाद्वाव्यवर्त्यत्वमिति शङ्काम्, यत्र समानधीर्धत्व धाधकमस्ति तत्र व्यभिचारादर्थवदिवर्णोर्वर्णयोर्धातोरिति विशेषणमिति प्रधानगामिति संभवति विशेषणे गुणस्य तेन ३० संबन्धो न न्याय्य इति चेत्, उच्यते—खोरपवादावियुवौ विधीयेते, तौ च धातोरैवेवर्णोर्वर्णयोर्भवत इति व्यभिचाराभावाद्घातुप्रकरण एवास्यारंभात्तयोर्धातुविशेषणमनर्थकमिति प्रधानस्य धातुना संबन्धो निष्प्रयोजनत्वदीयस्य संयोगलक्षणस्य गुणस्य तेन संबन्ध क्रियत इति सम्ययुक्त—धातुसवन्धिन् इवर्णस्येत्यादि । पूर्वोत्ससिद्धार्थाद्वादाश्च धातोरित्यस्यप्राधान्यप्रदर्शनार्थं न तु व्यवच्छेदार्थमिति भाव । यवक्रियावित्यादि । ३१ भवपूर्वात् क्रीणाते किपि कटपूर्वात् प्रवत्से “दिशुहृत् ०” ५।२।८३ इति किपि धीर्घ, “भिन्” सेवयामित्यत परोक्षया अतुस्ति उस्ति च “द्विधातु ०” इति द्विवचने “व्यञ्जनस्यानादे ०” ४।१।४४। इति रेफस्य लोप । एतेषु धातुसंयोगपूर्वं इवर्णो उवर्णश्चेति तयो खरादावियुवाविति । धातुना संयोगस्य विशेषणे फलमाह—धातुनेत्यादि । अन्यथा यवक्रियावित्यादिवद्घातुसंयोगादिवान्यसंयोगादपि परयोरिवर्णोर्वर्णोरुभयावित्या- ३३ दावपि त्र्यौ बाधित्वा इत्युक्तौ स्यातामिति ॥ ५२ ॥

भ्रूश्रोः । उवर्णस्य उव् खरे प्रत्यये संयोगात् इति चातुवर्तते । भ्रूश्रोवर्णस्य संयोगात् परस्य खरे प्रत्यये उव् इत्यन्वय, तदर्थ-माह—भ्रूश्रु इत्येतयोरित्यादि । भ्रूश्रुन्द औणादिकस्त्वादाकारे जस्ति चानेनोवादेशे—भ्रूवौ, भ्रुव इति । क्विवन्तस्य तु भ्रूश्रुन्दस्य वातु- ३९ त्वाहाने पूर्वणैव सिद्ध इत्याह—क्यन्क्विवन्तस्येत्यादि । ‘आच्छद्’ व्याप्तिव्यतयो वर्तमानाया अन्तिप्रत्यये “खादे ०” ३।४।७५। इति भ्रुप्रत्यये धातुसंयोगात् परस्य श्रुप्रत्ययस्योर्वर्णोर्वर्णोर्वादेशे—आमुवन्ति । एव राधुवन्ति, तक्षुवन्तीत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । भ्रुवमिति । भ्रुवोऽप्रमिति षष्ठीसमास ॥ ५३ ॥

४२ स्त्रियाः । इवर्णस्य खरे प्रत्यये इय् इति चातुवर्तते, स्त्रिया इवर्णस्य खरे प्रत्यये इय् इत्यन्वय, तदर्थमाह—स्त्रीशब्दसवन्धिन् इत्यादि । स्त्रियौ, स्त्रिय इत्यादि । यत्र स्त्रीति स्त्यायतोऽस्यं शुकशोणिते इत्यर्थे स्त्रीति निपातनात् हृदप्रत्ययात् ष्यां भवति, तत औप्रत्यये जस्ति समन्येकवचनस्य च “स्त्रीदत्” १।४।२९। इत्यामि नाय धातुरिति पूर्वणाप्राप्त इत्यनेनेयादेश । खरादिप्रत्ययेन प्रकृतेरुक्तेपात् स्त्रिया इति ४५ तस्य विशेषणत्वात्तदन्तत्प्रत्ययात्तदन्तस्याप्युदाहरति—परमस्त्रियौ इति । परमे च ते स्त्रियौ चेति विशेषणसमासः । अतिस्त्रियौ इति । स्त्रियमतिक्रान्ताविति प्रादिसमासः, “गोश्वान्ते ०” २।४।५६। इति हस्तत् तत स्याथौकारे ‘एकदेशविकृतस्मानन्त्वात्’ खरमात्रे च खरादि-

१ इवर्णोर्वर्णस्य ० पु० । २ खर इ० पु० । ३ भ्रुवम् म० म० ।

स्त्रिणा, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः २; अतिस्त्रौ ? “इदुतोऽखेरीदूत्” ॥ १ । ४ । २१ ॥ इत्यत्र स्त्रिशब्दवर्जनात् परोऽपीयादेशो बाध्यते । स्त्रीणामित्यत्र तु प्रागेव नाम्, एतच्च “वेयुवोऽस्त्रियाः” ॥१।४।३०॥ इत्यत्रोक्तम्; पृथग्योग उक्तार्थः ॥ ५४ ॥

वाऽमृशसि ॥ २ । १ । ५५ ॥

स्त्रीशब्दसंबन्धिन इवर्णस्यामि शसि च परे इयादेशो वा भवति । स्त्रियम्, स्त्रीम्; स्त्रियः, स्त्रीः, परमस्त्रियम्, परमस्त्रियः; परमस्त्रियाः, परमस्त्रीः । अतिस्त्रियम्, अतिस्त्रियम् नरम्, अतिस्त्रियः, अतिस्त्रीन् नरान् । क्यनाद्यन्तस्य तु धातुत्वात् “धातो-रिवर्णो” ॥२।१।५०॥ इत्यादिना नित्यमियादेशः—स्त्रीमिच्छति, स्त्रीवाचरति वा स्त्री ब्राह्मणः, तं स्त्रियम्; तान् स्त्रियः ॥५५॥

योऽनेकस्वरस्य ॥ २ । १ । ५६ ॥

धातोरित्यनुवर्तते । अनेकस्वरस्य धातोः संबन्धिनः प्रत्यासत्तेरिवर्णस्य स्थाने खरादौ प्रत्यये परे यकारादेशो भवति । चिच्यतुः, चिच्युः; निन्यतुः, निन्युः । सखायमिच्छति क्यन्, किप्—सखीः, सख्युः, एव पत्युः; सखिय, पत्यि । ९ अनेकस्वरस्येति किम् ? नियौ, नियः; परमनियौ, परमनियः । ‘रि’, ‘पित्’ गतौ—रियति, पियति । इवर्णस्येत्येव ? लुलुवतुः, लुलुवुः ॥ ५६ ॥

स्यादौ वः ॥ २ । १ । ५७ ॥

अनेकस्वरस्य धातोः संबन्धिनः प्रत्यासत्तेस्वर्णस्य स्थाने खरादौ स्यादौ प्रत्यये परे वकारादेशो भवति । वसुमि-च्छति क्यन्, किप्—वसुः, वसुः; वसुः । स्यादाविति किम् ? लुलुवुः ॥ ५७ ॥

किञ्चवृत्तेरसुधियस्तौ ॥ २ । १ । ५८ ॥

किञ्चन्तेनैव या वृत्तिः—समासस्तस्या असुधियः—सुधीशब्दवर्जितायाः संबन्धिनो धातोरिवर्णोवर्णस्य स्थाने खरादौ स्यादौ प्रत्यये परे तौ—यकारवकारादेशौ भवतः । उच्यौ, उच्यः; सुत्वौ, सुत्वः; तिरोच्यौ, तिरोच्यः; तिरोत्वौ, तिरोत्वः; ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः; खल्वचौ, खल्वचः, एषु स्याद्युत्पत्तेः प्रागेव किञ्चन्तेन समासः । एव नयनशीलो नीः, सेनां नेता १८

प्रत्यये विधानाद्प्रापीयादेश । न च तदन्तप्रहणात् शस्त्रीशब्दस्यापि क्यन्स्यत्वात् इयादेशप्रसङ्ग इति वाच्यम्, तदेकदेशस्थानर्थकत्वादित्याह—शस्त्रीत्यादि । इयर्थ इति । स्त्रिया अर्थ इति पट्टीसमास । नन्वतिस्त्रिशब्दाज्जसि टाया ङेटसिष्मृच्छि चानेनेयादेश कस्मात् भवतीति शङ्कते—कथमिति । समासते—“इदुतोऽखेरीदूत्” इत्यत्रेत्यादि । अथ चार्थस्त्रैव सूत्रे व्याख्यातत्वाद्देह व्याख्यायते । ननु स्त्रीशब्दा-२१ यामि प्राप्त इयादेश कस्माच्च भवतीत्याह—स्त्रीणामित्यत्रेत्यादि । पृथग्योग इति । “वाऽमृशसि” इत्यत्र स्त्रीशब्दाद्युत्पत्ति प्रयोजनमस्य योग-स्येत्यर्थ, अन्यथा “ब्रौभूक्षो” इति पूर्वोक्तयोगमेव कुर्यादिति भाव ॥ ५४ ॥

वाऽमृशसि । स्त्रिया इति इवर्णस्येति इय् इति चानुवर्तते, स्त्रिया इवर्णस्य अमृशसि इय् वा इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—स्त्रीशब्दसंब- २४ न्धिन इवर्णस्येत्यादि । षष्ठीबहुवचनस्य नाभिवचनस्येन खरादित्वाभावात् शसुसाहचर्याद्य धाम्शसीति तुल्यायामपि संहितायां द्वितीयैकवचनस्यैव प्रहणम् । स्त्रीशब्दस्य सख्यैकार्थत्वाभावात् तद्विदितशसोऽनुवृत्ते संख्यैकार्थत्वयोगादुत्पत्तौ वा खरादित्वाभावात् द्वितीयावबहुवचनस्यैव शसो प्रह-णात्तस्य चाव्यभिचारात्तेन साहचर्यम् । स्त्रियमित्यादि । स्त्रीशब्दादमि शसि चानेन पाक्षिकेयादेशे—स्त्रियम्, स्त्रिय इति, पक्षे “समानादमोऽत ” २७ इति “शसोऽता०” इति सूत्राभ्यां यथासम्भवममोऽकारलुकि धीधे च—स्त्रीम्, स्त्रीरिति । एवमतिप्रियमित्यादि द्रष्टव्यम् । क्यनाद्यन्तस्येति । ननु धातुरूपस्यैव स्त्रीशब्दस्य विकल्पार्थमिदं कस्माच्च भवति कथमुक्त “धातोरिवर्णोवर्णो” इत्यादिना नित्यमियादेश इति ? उच्यते—“स्त्रिया ” इत्यारम्भाद्धातोरेव स्त्रीशब्दस्य प्रहणम्; स एव चानुवर्तते, न चानुवर्तमानस्यान्यथात्व भवति, यदाह श्रीशेखराज—न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणाद्-३० हिर्भवति इति युक्तमुक्त “धातोरिवर्णो” इत्यादिना ॥ ५५ ॥

योऽनेकस्वरस्य । “इवर्णादेरखे०” इत्यनेनैव यत्वस्य सिद्धत्वादियुवाधकमिदम् । इय् धातोरिवर्णस्यैव विधीयतेऽत सामर्थ्यात्तस्यानु-वर्तनमित्याह—धातोरित्यनुवर्तते इति । अन्यस्यासंभवादानेकस्वरस्येति विशेषणीभूतस्यापि धातोरित्यस्य विशेषणमित्याह—अनेकस्वरस्य ३३ धातोरिति । इवर्णोवर्णयो स्थानिनोरनुवृत्तावपि कार्यस्य तालव्यत्वात् “आसच्च ” इति परिभाषासामर्थ्यात् इवर्णस्यैव स्थानित्वमित्याह—प्रत्या-सत्तेरित्यादि । चिनोसेरद्विसि उसि च द्विवचने धातोरेकस्वरत्वात् यत्वम्—चिच्यतुः, चिच्युरिति । एव निन्यतुरित्यादि । किञ्चन्ताना धातु-त्वाहानेस्त्वदन्तमुदाहरति—सखायमिच्छतीत्यादि । नयते किपि तल्लुकि च औकारे जसि चानेकस्वरत्वाभावात् यत्त्वाभावे “धातोरिवर्णो ३३ णस्य०” इतीयादेशे—नियौ, निय इति । एव परमनियामित्यादावपि समासस्थानेकस्वरत्व न धातोरिति । लुलुवतुः, लुलुवुरिति । प्रत्या-सत्तेरिवर्णस्यैव स्थानित्वाद्युवर्णस्य यत्न न भवति ॥ ५६ ॥

स्यादौ वः । अनेकस्वरस्येति धातोरिति उवर्णस्येति खरे प्रत्यये इति चानुवर्तमान पूर्ववचथासंभवात्सामर्थ्यात् । अनेकस्वरस्य ३९ धातोरेवर्णस्य खरादौ स्यादौ प्रत्यये व इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—अनेकस्वरस्य धातोः संबन्धिन इत्यादि । वसति रवाविति वसु किरणा-र्थक, “सुसुवृत्तारि०” उणा० ७१६ इत्यु, तत पुस्त्युदाहरति—वसुमिति । तस्य क्यनन्तस्य धीधेत्वे किञ्चुकि च—वसुरिति प्रकृति । वसुः, वसु इत्युदाहरणे ॥ ५७ ॥

किञ्चवृत्तेरसुधियस्तौ । धातोरिवर्णोवर्णस्येति खरे स्यादाविति च वर्तते । असुधिय किञ्चते धातो इवर्णोवर्णस्य खरे स्यादौ तौ इत्यन्वय । किपा वृत्ति किञ्चतिसुत्तुतीयात्पुरुष, वृत्तित्यस्य धातो कार्यविधानात्तस्य च केवलस्य इत्यसंभवाद्द्विप्रहणादेव किपि लब्धे किप्-प्रहणमवधारणार्थम्, अत एवावधारणस्य शब्दाश्रयत्वाद्सामर्थ्यमपि नास्तीत्याह—किञ्चन्तेनैवेत्यादि । अनन्तरस्यैव वकारस्यानुवृत्तिर्भा भूदित्यु- ४५ भयानुवृत्त्यर्थं तावित्युक्तमित्याह—तौ यकारवकारादेशाविति । उत्पूर्वावयते सुपूर्वाङ्गनाते किपि तल्लुकि औजसोरनेन यकारवकारयोः

सेनानीः, सेनान्यौ, सेनान्यः; यद्वा नयतीति नीः पश्चात्साधनेन योगः । परमस्य नेता परमनीः, परमन्यौ, परमन्यः—  
किञ्चग्रहणादिह न भवति, परमश्चासौ नीश्च परमनीः, परमनियौ, परमनियः; स्याद्यन्तेनात्र विशेषणसमासो न तु किञ्चन्तेन ।  
१ वृत्तिग्रहणादिह न भवति—ब्राह्मणस्य नियौ । असुधिय इति किम् ? सुधु ध्यायति दधाति वा सुधीः—“दियुद०” ॥ ५ ।  
२ । ८३ ॥ इत्यादिना किप् धीभावश्च सुधियौ, सुधियः । सुपूर्वस्यैव वर्जनादिह भवत्येव—प्रधयौ, आधयौ, उद्धयौ ॥५८॥

### हनुपुनर्वर्षाकारैर्भुवः ॥ २ । १ । ५९ ॥

६ हन् पुनर् वर्षा कार इत्येतैः सह या किञ्चुत्तिस्तत्संबन्धिनो भुवो धातोरुवर्णस्य खरादौ स्यादौ प्रत्यये परे वकारा-  
देशो भवति । हन्—हिसन् भवतीति हन्मूः—सविषः कीटविशेषः, हन्म्वौ; हन्वः । पुनर्भूः—पुनरूढा स्त्री, पुनर्भ्वौ;  
पुनर्भ्वः । वर्षाभूरोषधीविशेषो दर्दुरश्च, वर्षाभ्वौ; वर्षाभ्वः । कारे कारेण वा भवति—कारभूः, कारभ्वौ; कारभ्वः । क-  
७ शब्देनापीच्छन्त्यैके—करभ्वौ, करभ्वः । काराशब्देनाप्यन्ये—काराभ्वौ, काराभ्वः । हनादिभिरिति किम् ? स्वयंभुवौ, प्रति-  
भुवौ, मित्रभुवौ, विशुवौ; आत्मभुवौ । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्—एतैरेव भुवो नान्यैरिति ॥ ५९ ॥

### णषमसत्परे स्यादिविधौ च ॥ २ । १ । ६० ॥

१२ इतः सूत्रादारभ्य यत्पर कार्यं विधास्यते तस्मिन्पूर्वस्मिंश्च स्याद्यधिकारविहिते विधौ कर्तव्ये णत्वं षत्वं चासद-  
सिद्ध द्रष्टव्यम् । एतत्सूत्रनिर्दिष्टयोश्च णत्वषत्वयोः परे षत्वे णत्वमसद्रष्टव्यम् । णषशास्त्रं वा परे स्यादिविधौ च शास्त्रे

- उद्धयौ, उद्धयः, सुद्धौ, सुद्ध इत्यादि । एवमन्यदपि । एष्विति । “उस्युक् कृता” ३।१।४९ इत्यनेनेति भावः । सेनानीशब्दस्यैवार्थक्य-  
१५ नम्—नयनशील इत्यादि । सेनां नयत इति किपि मत्वमनेन—सेनायौ । यदापि नयतीति नीः पश्चात् कर्मषञ्चन्तेन सेनाशब्देन कारकत्वात्  
विभक्त्युत्पत्ते पूर्वं किञ्चन्तेन समासत्वादापि यत्त्वे सेनान्यामिति भवतीत्याह—यद्वा नयतीति नीः पश्चात् साधनेन योग इति । अर्थमेदा-  
भावात् प्रक्रियामेदमात्रमुपदर्शितम्, परमार्थतस्तु सोपपदादेव किप् । नन्वेवमनेन न्यायेन परमन्यामिति भाव्यमित्येव च परमन्यामिति  
१८ तत्कथमिति चेत्, उच्यते—किञ्चन्तेन वृत्तेरभावात् परमशब्दस्य च कारकत्वाभावात्, तथा हि—यदा परमश्चासौ नीश्चेति “घन्महत्वं” इति विशेषणस-  
मासत्त्वात् नीशब्देन किञ्चन्तेन कर्तृशक्त्युपसर्जनं द्रव्यमाख्यायतेऽतस्तद्द्विद्वेषणं परमशब्देन कारकभिधायां, यदापि षष्ठीसमासत्वादापि संबन्ध-  
विवक्षायां तिरोहिता भवति समासहेतुभूतकारकत्वविवक्षा, यदापि परमं शास्त्रं नयतीति नयनक्रियाकर्मणः शास्त्रादेर्विशेषणं परमशब्दत्वात् सत्यपि  
२१ कर्मत्वे शास्त्रायपेक्षत्वात् सामर्थ्याभावात् ऋद्धस्य राजं पुरुष इतिवद् वाऽन्तर्भावः, तस्मात् परमन्यामित्येव भवतीत्याह—परमस्य नेता पर-  
मनीरित्यादि । परमन्य इत्यनन्तरमितिशब्देऽप्यहार्थः, न भवतीत्यनन्तरं तु दृष्टान्तार्थं यथाशब्दः, तेनायमर्थो—यथा परमश्चासौ नीश्च  
परमनीः परमनियौ, परमनिय इति । परमशब्दस्याकारकत्वात् किञ्चन्तेन समासाभावात् किपग्रहणादिह षत्वं न भवति, एव तत एव  
२४ परमन्यौ परमन्य इति यत्त्वान् प्रयोगो न भवतीति तात्पर्यार्थः । विश्रान्तविधाधरस्त्वत्रापि मन्यते । ब्राह्मणस्य नियामिति । किञ्चन्तेन सह  
वृत्तेरभावात्त्वाभावे “धातोरिवर्णो” इतीयादेशः । सुधीशब्दं व्युत्पादयति—सुधु ध्यायतीत्यादि । सुधियौ, सुधिय इति । अत्र “असुधिय”  
इति प्रतिषेधादनेन यत्त्वाभावे “धातोरिवर्णो” इतीयादेशः । प्रध्यावित्यादि । सुपूर्वस्यैव धियो यत्त्वप्रतिषेधादन्यपूर्वस्य भवत्येव ॥ ५८ ॥
- २७ हनुपुनर्वर्षाकारैर्भुवः । किञ्चुत्तेरिति धातोरिति उवर्णस्येति खरे स्यादाविति व इति च वर्तते । हनुपुनर्वर्षाकारैरिति वृत्तियानिर्दे-  
शात् किञ्चुत्तेरिति प्रकरणादेतैः सह किञ्चुत्तिसिद्धिर्भावयेत्, तथा चायमन्यव्य—हनुपुनर्वर्षाकारैः किञ्चुत्तेर्भुवो धातोरुवर्णस्य खरे स्यादौ व इति, तदर्थ-  
माह—हन् पुनरित्यादि । “हृ” वृद्धावत् चदित्वाजागमे, किपि, तलोपे, सिलोपे च “पदस्य” इति हलोपे—हन् इति रूपम् । धातुत्वानेकार्थत्वात्  
३० हिंसापि प्रतीयत इत्याह—हन्—हिंसन् इति । हन्मूलाब्दस्यार्थमाह—सविष इत्यादि । एव पुनः पूर्वाद्भवते किपि—पुनर्भूः—पुनरूढा  
स्त्री । अक्षता च क्षता चैव पुनर्भू संस्कृता पुनरिति वचनात् । वर्षन्तीत्यन्वि, आपि—वर्षा, तासु भवतीति—वर्षाभूः, तदर्थमुवाच—  
औषधीविशेषो दर्दुरश्चेति । क्रियत इति कार—वणिग्मि कर्षकैः पशुपालैश्च रक्षार्थं देयो राजभाग इति तत्पूर्वाद्भवते किपि—कारभू-  
३१ रिति प्रकृति । मतान्तरमुपन्यस्यति—करशब्देनेत्यादि । एके—शाकटायनादयः । ते हि करशब्दं पठित्वा करकारशब्दयोरेकार्थत्वादेक-  
देशविकृतं तदेवेति कारशब्देनापीच्छन्ति, तथा कार इति च पाठान्तरं मन्यन्ते । देवन्धी तु कारशब्दमेव पठति । स्वयंभुवावित्यादि । स्वयं  
भवत, प्रतिभवत, मित्रे मित्राद्वा भवत, विभवत, आत्मनो भवत इति क्त्विप्यौकारे उवाचेशः । ननु भुव किञ्चन्तस्य दृष्टादिभिर्भुवौ पूर्वेण  
३३ सिद्धत्वात् किमर्थमिदमित्याशङ्क्याह—पूर्वेणेत्यादि । अथवा स्वयंभुवावित्यादौ मा भूदनेन पूर्वेण कस्माच्च भवतीत्याशङ्क्याह—पूर्वेणेत्यादि । तत्र  
चान्यत्र च प्राप्तस्य कार्यस्य ततोऽन्यतो व्यावर्त्ये तस्मिन्नेवविधोऽन्यत्र कार्यस्याभावकलो नियमः, स चात्र द्वेषा संभवति—दृष्टादिभिर्भुव एव  
नान्यस्य धातोरिति, भुवो दृष्टादिभिरेव नान्यै स्वयमादिभिरिति च । तत्रेष्ट नियमं दर्शयति—एतैरेवेत्यादि ॥ ५९ ॥
- ३५ णषमसत्परे स्यादिविधौ च । णपमिति । णो विशेषत्वेन एष्वस्तीति “अत्रादिभ्य” ७।२।४६ इति मत्वर्थानेऽकारे णशब्देन  
णत्वविधायकानि सूत्राण्युच्यन्ते, एव षशब्देनापि णत्वविधायकानि, षश्च पश्चेति समाहारद्वन्द्वः । अत्र साक्षात्तानि न पठ्यन्ते, अन्यत्र तत्पा-  
ठस्य सुस्मार्थत्वादिति भावः । परे च स्यादिविधौ णषम् असदित्यन्यत्र । परशब्दस्यावधिसापेक्षत्वादन्यस्यावधेरश्रूयमाणस्याप्राप्त्यापि कृत्वात्स्यैव  
४२ तत्रावधित्वमित्याह—इतः सूत्रादित्यादि । परस्यादिविधेरसम्भवात् संभवे वा परमग्रहेणैव गतार्थत्वात्—पूर्वस्मिन्निति विशेषणमुक्तं  
स्यादिविधावित्यस्य । णषशब्देन तद्विधायकशास्त्राभिधानेऽपि कार्यसंपादनयः शास्त्रस्य प्रशस्तत्वात्प्रधानत्वात् कार्यस्यैव प्राधान्यमिति तस्यैवा-  
सत्त्वं दर्शयतीत्याह—णत्वं षत्वं चेत्यादि । ननु णषशब्देन णत्वपत्वविधायकशास्त्राभिधानात् तत्र च पत्वशास्त्रस्य पूर्वमावित्यात् पूर्वनिर्देशो  
४५ प्राप्ते परनिर्देशः किमर्थं ? इति चेत्, उच्यते—तथा निर्देशस्य पत्वे परे णत्वमसिद्धं भवतीति ज्ञापनार्थत्वादित्याह—एतत्सूत्रनिर्दिष्टयोः  
ल्यादि । ण इति विपर्ययनिर्देशो तु अभिपुणोतीत्यादि न सिध्यति, परे णत्वे षत्वस्यासत्त्वात् । तथा च “पर्यवर्णो” इत्यनेन पकारात् विधीयमान  
णत्व न स्यादिति भावः । एतावता ग्रन्थेन भगवता कार्यासिद्धत्वपक्षो ध्वनितः । इदानीं युक्तत्वं शास्त्रासिद्धत्वपक्षस्य न्यन्या आह—णषशास्त्रं

प्रवर्तमानेऽसद्ब्रह्मव्यम् । पूष्णः, तक्ष्णः; अत्र गत्वस्यासत्त्वादनोऽकारलोपो भवति । पिपठीः—अत्र पत्वस्यासत्त्वात्सकारस्य रुर्भवति । स्यादिविधौ च—अर्वाणौ, सर्षीपि; अत्र गत्वपत्वयोरसिद्धत्वादुपान्त्यदीर्घत्वं सिद्धम् । असत्पर इत्यधिकारो “रात्सः” ॥ २ । १ । ९० ॥ इति यावत्, स्यादिविधौ चेति तु “नोर्म्यादिभ्यः” ॥ २ । १ । ९९ ॥ इति यावत् ॥ ६० ॥ ३

### काऽऽदेशोऽपि ॥ २ । १ । ६१ ॥

ककारेण उपलक्षितस्य तकारस्य स्थाने य आदेशः स पकारादन्यस्मिन् परे कार्ये स्यादिविधौ च कर्तव्येऽसन्

वेति । अयमाशय—शास्त्रस्यैवासिद्धत्व न्याय्यम्, कार्यासिद्धत्वस्वीकारे यथा देवदत्तस्य हन्तारि हृतेऽपि न पुनर्देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति तथा ६ कार्येऽसिद्धत्वात्सोऽपि न पुनः प्रकृते प्रत्यागमनं भवति, तस्मात् पूष्ण इत्यत्र गत्वासत्त्वेऽपि पुनर्नकारस्य प्रत्यागमनाभावात्तदन्तः प्रकृतिरिति तन्निवन्धनोऽनोऽकारलोपो न भवति । शास्त्रासिद्धत्वाङ्गीकारे तु “अनोऽस्य” इत्येव तावत् प्रवर्तते न गत्वशास्त्रमिति न भवत्येव दोषः । अपि च पौर्वापर्यं शास्त्रयोरेव मुख्यं, कार्ययोस्तु गौणं पूर्वेण परेण वा शास्त्रेण विधीयमानत्वादिति । मुख्यं तु तयो पौर्वापर्यं नास्ति, लक्ष्ये कार्याणां व्यव- ० स्थानात् । लक्ष्यस्य च क्रमेण सन्निवेशाभावात् तद्वत्कार्यस्यापि क्रमेण सन्निवेशाभाव इति सम्यक् इत्येव गौणप्रहङ्गमन्यायमिति शास्त्रस्यैवासिद्धत्व युज्यते इति । ननु सिद्धस्य षष्ठाशब्दस्य तत्कार्यस्य च कथमनेन वचनमात्रेणासत्त्वमारोपयितुं शक्यम्? इति चेत्, उच्यते—परार्थे प्रयुज्यमाने शब्दो वतिमन्तरेणाप्यतिदेश गमयति, यथाऽब्रह्मदत्ते ब्रह्मदत्तोऽयमिति ब्रह्मदत्तवदयं भवति । तद्विहायि असत्—असदिव, यथाऽसत् कार्यं २२ न करोत्येव यत् सदपि सत्कार्यं न करोतीत्यर्थः । तदसत्त्वाधर्म्यादसदित्युच्यते, तदेतदसत्त्ववचनमादेशनिमित्तकानां कार्याणां प्रतिषेधार्थं स्थानि- निमित्तकानां च प्राप्त्यर्थमिति भावः । पूष्णः, तक्ष्ण इति । अत्र पूष्णतत्त्वशब्दाभ्यां शक्ति पृष्ठीपदम्येकवचने वा “रपूर्वाणो” इति “अनो- ० ऽस्य” इति चोभयोः प्राप्तिं “स्पद्धं परम्” इति न्यायेन परत्वादनोऽकारलोपं वाधित्वा गत्व प्राप्त तस्यासद्वचनेन प्रत्ययभावादन्तत्वात् “अनो- १५ ऽस्य” इत्यकारलोपो भवति । पिपठीरिति । पठे पठितुमिच्छतीति “तुमर्हादि०” ३।४।२।१ इति सनि, “स्वायशितो० ४।४।३।२। इतीटि, “सन्त्यहश्च” ४।१।३। इति द्वित्वे, “व्यञ्जनस्थानादे०” ४।१।४।४ इत्यादिलोपे, “सन्त्यस्य” ४।१।५।१ इतीत्वे, “नान्मन्तस्था०” इति पत्वे, पिपठिषतीति क्तिपि “अत” ४।३।८।२। इत्यकारलोपे, क्तिप्लोपे च सौ “दीर्घटयाव्०” इति पत्वकार्यस्यासत्त्वाश्रयणात् कार्यासत्त्वे च प्रयोजना- १८ न्तराभावात् प्रकृतिप्रत्यापत्ते “सो रु” इति रुत्वे “पदान्ते” २।१।६।४ इति दीर्घे च “र पदान्ते०” इति विसर्गे । स्यादिविधौ चेति । अर्वाणौ शब्दादौकारे परत्वेन प्रवर्तमानमपि गत्व वाधित्वा असद्वचनात् स्यादधिकारविहितत्वात् “नि दीर्घ” इत्युपान्त्यदीर्घत्वे—अर्वाणौ । एव सर्षि शब्दात् “नपुसकस्य०” इति जस शसो वा इयादेशे “स्वराच्छौ” इति नागने पत्वस्यासत्त्वात् “न्तमहतो” इत्युपान्त्यदीर्घत्वे—सर्षिपि । २१ तदेव घटयति—अत्रेत्यादि । असत्पर इति स्यादिविधौ च इत्युत्तरत्रानुवर्तते इत्याह—असत्पर इत्यादि । अधिकार इति । अधि—उपरि क्रियते—अनुवर्त्यते इत्यधिकारः । अधिकारस्यावधि निर्दिशति—रात्स इत्यादि । नन्वेव तर्हि “पदस्य”, “रात्स” इत्यादौ पठ्निर्देशानां परस्या “षष्ठा अन्त्यस्य” इति परिभाषायामसिद्धत्वात् सा तेषु व्यवस्थापिका न स्यात्, प्रत्युत तस्या षष्ठा समीपयोगत्वरूपेण पदान्ते वर्तमानस्य २४ सयोगस्य समीपे यत्स्य लोपः स्यादित्यर्थापत्तेः । एव “हो धुदपदान्ते” इत्यादौ सप्तमीनिर्देशस्यासिद्धत्वात् “सप्तम्या पूर्वस्य” इति परिभाषायाः उप- स्थितौ पूर्वस्यैवानन्तरे भवितव्यमित्यस्य नियमस्याभावात् सामान्येन पूर्वस्य परस्य वाऽनन्तरे घृष्टि च कार्यं स्यात्, तथा “अथधत्तुर्धात्०” इत्यादौ “पञ्चम्या निर्दिष्टे परसे”त्यनुपस्थित्या परयोर्व्यवहितयोश्च तकारयकारयोः कार्यं स्यात्, इति चेत्, उच्यते—गौणस्यापि कार्यस्यासिद्धत्वात् २७ यणात् तदुपायभूतस्य पठ्निर्देशादेरसिद्धत्वाभावः, शास्त्रासिद्धत्वपक्षे शास्त्रस्यासिद्धत्व विभक्तिनिर्देशश्च न शास्त्र तदन्तत्वेऽपि तस्याप्राधान्यादसिद्धत्वा- भावः, विभक्तिनिर्देशसामर्थ्याद्वा, अन्यथा विभक्तिविशेषोपादानमनर्थकं स्यात्तस्मात् “षष्ठा अन्त्यस्य” इत्यादिपरिभाषासु तत्तन्निर्देशा नास्ति इति । अथवा—असिद्धत्वाङ्गीकारेऽपि परिभाषासु दोषाभावः, तथा हि—सज्ञापरिभाषाशास्त्रविषये पक्षद्वयं, तत्र केचन सज्ञापरिभाषाणां कार्यकालता मन्यन्ते, २० यद्यपि कार्येभ्यो बहिर्भूतत्वेन निर्दिष्टा सज्ञापरिभाषास्तथापि गुणभूतानां तासां प्रधानानुरोधित्वेन कार्याभिन्नदेशता स्वीकर्तव्या, न चैव तर्हि देश- मेदेन निर्देशस्तासां कथमिति वाच्यम्, तस्य सकलप्रधानोपकारार्थत्वात्, किञ्च प्रधानदेशे तासामुपदेशे यत्सैव प्रधानस्य समीपे उपदिष्टास्त्वदेव ता उपकर्तुर्न प्रधानान्तरम् । एव च पाठक्रमेण यद्यपि प्रधानेभ्यो भिन्नदेशा संज्ञापरिभाषास्तथाप्यर्थेन क्रमेण तद्देशा एव ता इति परत्वं प्रधाना- ३३ पेक्षया तासां नास्तीति न तासु तान्यसिद्धानीति तेष्वपि पठिता व्यवस्थापिका एवेति । केचित्तु तासां यथोद्देशतामेव ( यत्रैवोपदेशस्तद्देशतामेव ) युक्ता मन्यन्ते, तेषामयमभिप्रायः—किञ्चिदेव प्रधानं कार्यमभिसंधाय ता उपदिश्यमाना यत्रैवोपदिष्टास्त्वद्देशा एव ता इति प्रधानं पूर्वं ताश्च परा इति तासु तस्यासिद्धत्वमस्येव किन्तु यथा इष्टसिद्धये क्वचित्जाति पदार्थ आश्रीयते क्वचिद्व्यक्तिरित्येवमेतयोः पक्षयोरिष्टसिद्धयर्थं क्वचित्कस्यचिदाश्रयणमिति ३६ न कश्चिदोषः । ननु यदि कार्यकाले संज्ञापरिभाषे इति स्वीक्रियेत तदा निपूर्वस्य स्फुरेरवपूर्वस्य गुरेश “अत्रणव्यञ्जनात्०” ५।१।१७। इति व्यणि वातीरनयोः कृतादिपठे सत्यपि “कृतादिर्द्विद्विष्णवत्” ४।३।१।३। इति अङ्गित्प्रत्ययस्य द्वित्वेऽत्र तु भित्तौ क्तिवाभावात् “स्पद्धं” इति परिभाषा- याश्च सत्त्वे “लोपोरुपान्त्यस्य” ४।३।४। इत्युपान्त्यगुणाप्रश्रुतौ “भवादेर्नामिनो” २।१।६।३। इति दीर्घत्वेऽनिरूप्यपत्तेः, इष्टस्य च गुणस्याभावेन ३९ विस्फोर्यमवगोर्यमिति रूपानापत्तेः । ननु “स्पद्धं” इति परिभाषयोपान्त्यगुणो भवत्विति चेत्, तत्र, अङ्गवैकल्यात्तस्या अत्रानवसरस्तथा हि—पूर्वपरयोः शास्त्रयोरेकस्मिन् विषये विरोधे आपतितेऽप्रश्रुतौ क्रमेण च प्राप्तिं “स्पद्धं” इति परं व्यवस्थाप्यते, इह तु परस्मिन् लक्षणे कर्तव्ये पूर्वस्यासिद्ध- त्वादेकत्र पूर्वपरयोस्तुल्यबलयोरप्राप्ते “स्पद्धं” इत्यस्या अङ्गवैकल्यात्त्वावस्थापकत्वं नास्तीति पूर्वस्यैव दीर्घत्वलक्षणस्य प्रश्रुतिर्नोत्तरस्येति चेत्, सत्यम्, ४२ मा भूत् परिभाषा सामर्थ्यादुत्तरस्य प्रश्रुतिर्मविष्यतीत्यदोषः । एव पूर्वस्याप्यपवादस्य परस्मिन्नन्तर्गते कर्तव्ये नासिद्धत्वम्, अपवादवचनस्य निर्विप- यत्वेन वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । वचनप्राप्त्यात् क्रमेण तयोः प्रश्रुतिरित्यपि न वाच्यम्, एव सति तत्र वेति निर्दिशेत् ॥ ६० ॥

### कादेशोऽपि

अत्र असत् परे स्यादिविधौ च इत्यनुवर्तते । कादेशः अधि परे च स्यादिविधौ असन् इत्यन्वयः । कस्येत्यनुवादात् ४५ तस्य च समुदायरूपस्य कार्यानिर्देशात् ककार इतिह प्राञ्च न त्ववयव इत्याह—ककारेणेत्यादि । ककारेण उपलक्षितं त क तस्यादेश इति षष्ठीसमासः, स च ककवत्तुच्चाणौन् प्रयोजयति । पूर्वस्मात् पर इत्यनुवृत्तौ परत्वमेतत्सुप्रापेक्षं प्राञ्च न कादेशविधिविधापेक्षम्, किं मानमिति चेदुच्यते—अधीति प्रतिषेध एवात्र मानः, तथा हि—“यजस्रज०” इति पत्वरूपं परं कार्यमभिप्रेत्याऽस्य योगस्य प्रश्रुतिस्तदा योगस्येन ‘अधीति प्रतिषेध- ४८ संबन्ध’ यदि च कादेशविध्यपेक्षया परत्वविज्ञाने पत्वकार्यस्य तत् परत्वाभावादनुपपन्नत्वेन संबन्ध पत्वे कर्तव्ये कादेशस्यासत्त्वाभावात् ।

द्रष्टव्यः । क्षामिमान्-अत्र “क्षैशुषिपचो मकवम्” ॥ ४ । २ । ७८ ॥ इति क्तादेशस्य मकारस्यासत्त्वात् “भावर्णान्तो”  
इत्यादिना मतोर्मो वो न भवति, शुष्किका-अत्र ककारस्यासत्त्वात् “स्वज्ञाज०” इत्यादिनेत्वविकल्पो न भवति, “असा-  
यत्तक्षिपकादीनाम्” ॥ २ । ४ । १११ ॥ इति तु नित्यमेव इत्वम् भवति, पक्वम्-अत्र वत्वस्यासत्त्वाद्दुटि कत्वं  
भवति; बुद्ध्वा, दग्ध्वा-अत्र क्तादेशस्य धकारस्यासत्त्वात् “गडदवादेश्च०” इत्यादिना आदेश्चतुर्थो न भवति । स्यादि-  
विधौ च-लुन्युः, पुन्युः; अत्र क्तादेशस्य नत्वस्यासत्त्वात्प्राश्रित उरु भवति । अधीति किम् ? वृक्णः, वृक्णवान्;  
अत्र क्तादेशस्य नत्वस्य सत्त्वात् “यजसृज०” ॥ २ । १ । ८७ ॥ इत्यादिना धुणिमित्तः षो न भवति, कत्वे  
त्वसत्त्वात्तद्भवत्येव । परे स्यादिवधौ चेत्येव ? लग्नः, मग्नः; अत्रास्यादिविधौ पूर्वसूत्रकार्ये “अधोषे प्रथमोऽसितः”  
॥ १ । ३ । ५० ॥ इति प्रथमत्वे नत्वस्यासत्त्वाभावादधोषनिमित्तः प्रथमो न भवत्येव, एव क्षामेण शुष्केणेत्यादौ  
पूर्वं णत्वं प्रति मत्वकत्वयोः सत्त्वात्कारेण व्यवधानं नास्तीति णत्वं भवति ॥ ६१ ॥

षटोः कः सि ॥ २ । १ । ६२ ॥

षकारढकारयोः स्थाने सकारे परे ककार आदेशो भवति । (घ-)पिष्-पेक्ष्यति, पिपिक्षति; दृश्-अद्राक्षीत्, सृज्-  
अस्राक्षीत्, यज्-अयाक्षीत् । ढ-लिह्-लेक्ष्यति, लिलिक्षति; वह्-वक्ष्यति, गुह्यै-निघोक्ष्यति । सीति किम् ? पिनष्टि ।  
असत्परे इत्यधिकारात् निघोक्ष्यतीत्यत्र ढस्थानस्य ककारस्यासत्त्वात् चतुर्थान्तलक्षण आदेश्चतुर्थो भवति ॥ ६२ ॥

क्षामिमानिति । ‘क्षै’क्षये, इत्यत “भात्तन्व्यक्षरस्य” ४।२।१। इति कृताकारात् “गल्यार्थकर्मक०” ५।१।१। इति कर्तरी विहितस्य फस्य  
१५ “क्षैशुषिपचो मकवम्” इति मकारे क्षामस्यापत्य “अत इष्” ६।१।३। इतीनि-क्षामि, सोऽस्यास्तीति मतौ-क्षामिमान्, अथवा-क्षामो-  
ऽस्यास्तीति क्षामि “अतोऽनेकखरात्” इतीनि क्षामिणोऽत्र सन्तीति भिन्नवृत्तित्वात् असरूपत्वाद्वा तदन्तादपि मत्वर्थीयो न विरुध्यत इति “तद-  
स्याऽस्त्यस्मिभिति” मती-क्षामिमान् । अत्र च क्तादेशस्य मकारस्यासत्त्वात् “भावर्णान्तोपान्त०” इति मतोर्मकारस्य षकारो न भवतीत्याह-अत्रे-  
१८ त्यादि । शुष्किकेति । शुष्यति सेति विग्रहे शुषे “गल्यार्थकर्मक०” इत्यकर्मकलक्षण कर्तरी क्त, “क्षैशुषि०” इति क्तकारस्य ककारे, तत  
“आत्” इत्यापि च-शुष्का, अज्ञातादेर्विवक्षाया कपि “व्याशीदृज् ०” २।४।१००। इति ह्रस्वत्वे पुन ककारादापि ककारस्यासत्त्वात् “स्वज्ञाज०”  
२।४।१००। इति विकल्पस्याभावात् “असायत्तक्षिपकादीनाम्” इति नित्यमित्वम् । पक्वमिति । पच्यते सेति फप्रत्यये “क्षैशुषि०” इति  
२१ “चज कगमि”ति च क्तकारस्य घातुचकारस्य च वत्वकत्वयो प्राप्तौ परत्वाद्भवे तस्यासत्त्वात् “चज ०” इति धुटि कत्व सिद्धम् । बुद्ध्वा,  
दग्ध्वा-बुधेर्दृष्टे च बोधन पूर्व दह्न पूर्वमिति “प्राक्काटे” ५।४।४। इति सत्त्वाप्रत्यये “भ्वादेर्दादेर्व” २।१।८३। इति ह्रस्व षत्वे “अधध्व  
र्थात् ०” २।१।७९। इति तकारस्य धकारे तस्यासिद्धत्वात् “गडदवादेश्च०” २।१।७७। इति सूत्रेणादिचतुर्थ्याभावे “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” १।३।४९।  
२४ इति तृतीय । स्यादिविधौ चेति । ढनीपुत्री शब्दौ “खितिखीतीय०” इति सूत्रोक्तदिक्षा ससाध्य ततो षसिञ्चो क्तादेशस्य नत्वस्यासत्त्वा-  
त्प्राश्रिते “खितिखीतीय उरु” इत्युरि कृत्वे-लुन्युः, पुन्युरिति । अधीतिप्रतिषेधप्रयोजन वृच्छति-अधीति किम् ? वृक्णः, वृक्णवानिति ।  
वृक्षते कर्मकर्त्रो कृत्वत्प्रत्यययो “सस्य घाषौ” इति घातुसस्य षत्वे ओदित्वात् क्तकारस्य नकारे अधीतिवचनात् तस्यासत्त्वाभावात् “यज-  
२७ सृज०” इति धुटिमित्तस्य षत्वस्याभावे कत्वस्य च भावे संयोगादिलोपे “रबृवर्णात् ०” इति णत्वम् । लग्नः, मग्न इति । “औलत्नैति”त्रीशायाम्,  
‘सुदमस्त्वोत्’ शुद्धौ, आभ्यां क्तकारस्य “सृजलाघोषित” ४।२।७०। इति तकारस्य नकारे संयोगादिलोपे च “चज कगम” इति नत्वस्यासत्त्वात्  
गकार, अत्र परे स्यादिविधौ चेति वचनात् “अधोषे प्रथमोऽसित” इति पूर्वसूत्रकार्ये नत्वस्यासत्त्वाभाव इति । पूर्व णत्वमिति । एतत्सूत्रा-  
३० पेक्षया “णपमसत्परे०” इत्यत्र निर्दिष्टस्य णत्वस्य पूर्वत्व बोध्यमित्याशय ॥ ६१ ॥

षटोः कः सि । स्पष्टोऽन्वय । षट् ढक्षेति षटौ तयो षटोरिति षष्ठा द्विवचन स्थाननिर्देशार्थमित्याह-षकारढकारयोः स्थाने

इति । ‘पिष्पु’ संचूर्णनेऽतो भविष्यन्त्या स्यतौप्रत्यये “एकखरादनुस्वारेत्” ४।४।५६। इतीद्रप्रतिषेधे “लघोऽपान्त्यस्य” ४।३।४। इति शुणेऽनेन  
३३ षस्य कत्वे “नाम्यन्तत्थाकवर्णात् ०” इति सस्य षत्वे-पेक्ष्यति । पिपिक्षति-पिषे सनि, द्विवचनादौ च रूपम् । ‘दृश्’ प्रेक्षणे, घातोत्तरतन्या  
दौ, “सिजयत्तन्याम्” ३।४।३। इति सिचि, “स सिजस्तेर्दिस्यो” ४।३।६५। इतीति, परत्वाद्भेदे प्रागेव “अ सजिह्वोऽसिति” ४।१।१।  
इत्यकारागमे, “व्यञ्जानानामिति” ४।३।४। इत्यकारस्य शृद्धौ “यजसृज०” इति षस्य षत्वे तस्यानेन कत्वे “नाम्यन्तस्या०” इति सस्य षत्वे-  
३४ अद्राक्षीत् । एव ‘सृजत्’ विसर्ग-अस्राक्षीत् । ‘यजी’ देवपूजादौ-अयाक्षीत् । ‘लिह्’ आखादाने, घातो स्यतौ वपान्त्यशुणे “हो  
धुदपदान्ते” इति ह्रस्व ढत्वेऽनेन कत्वे सकारस्य षत्वे-लेक्ष्यति । एव लिह् सनि “उपान्त्ये” ४।३।३। इति सन क्त्वात् शुणमावे दिव्ये-  
३५ कादेशस्य परेऽसत्त्वात् “गडदवादेश्च०” इति चतुर्थत्वे ततोऽनेन कत्वे निघोक्ष्यतीत्याह-असत्पर इत्यधिकारादित्यादि । ढस्थानस्येति ।  
ढकार स्थान यस्य तस्येत्यर्थ । ककारस्यासत्त्वादिति । स्थानशब्दस्य निश्चितवचनत्वात् ककारो विधेयतया अत्यस्मिभिति “अत्रादिभ्य”  
इत्यकारे ककारशब्देन सत्त्वात्तस्याभिधानात् ढनिवर्तकस्य ककाराशब्दात्तस्यासत्त्वादित्यर्थ । शास्त्रेपि सौ विकल्पेन ककारमिच्छति कथित, वन्मदे-  
४२ शाक्षि, शास्त्रीति ॥ ६२ ॥

## भवादेर्नामिनो दीर्घो वॉर्व्यञ्जने ॥ २ । १ । ६३ ॥

भवादेर्धातोरेवयवभूतौ यौ रेफवकारौ तयोः परयोस्तस्यैव भवादेर्नामिनो दीर्घो भवति, व्यञ्जने—ताभ्यां चेतपरं व्यञ्जनं भवति । हुर्छां, हूर्छिता, मूर्छां, मूर्छिता, आस्तीर्णम्, प्रस्तीर्णम्, पूर्तम्, अवगूर्णम्, कूर्दते, ऊर्दिदिपते, चिकीर्षति, बुवूर्षति, बुमूर्षति, दीव्यति, सीव्यति, दीव्यात्; सीव्यात् । असद्विधौ खरादेशस्य लोपस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्—प्रतिदीप्ता, प्रतिदिप्ते । भवादेरिति किम्? चतुर्थिः, चतुर्थः, कुर्कुरमिच्छति—कुर्कुरीयति, एवं चतुर्थति; दिव्यति । नामिन इति किम्? स्मर्यते, भव्यम् । वॉरिति किम्? बुध्यते । व्यञ्जन इति किम्? विकिरति । वॉर्भादिसंबन्धिविशेषणं किम्? दीव्यते; कनिपि, वकारलोपे—दिवन्, दिप्ता; दिप्ते । नामिनो भवादिसंबन्धिविशेषणं किम्? दधिब्रज्या, प्रत्यासत्त्या तस्यैवेति विशेषण किम्? ग्रामणिब्रज्या ॥ ६३ ॥

## पदान्ते ॥ २ । १ । ६४ ॥

पदान्ते वर्तमानयोर्भादिसंबन्धिनो रेफवकारयोः परयोस्तस्यैव भवादेर्नामिनो दीर्घो भवति । गीः, गीर्भ्याम्, गीर्षु,

भवादेर्नामिनो दीर्घो वॉर्व्यञ्जने । भवादे वॉ भवादेरेव नामिन दीर्घ व्यञ्जने इत्यन्वय । भवादेरिति भवयवसंबन्धपद्यन्तमेकमपि तत्रेणाद्वैत्यैकशेषेण वा द्विधा भेदात् नामिन इत्यनेन वॉरित्यनेन च विशेष्यद्वयेन प्राधान्यात् सवन्धमनुभवतीत्याह—भवादेर्धातोरेवयव-१२ भूतौ यौ रेफवकारौ, भवादेर्नामिन इति । यदि तु तन्प्रादिना भेदद्वयं न स्वीक्रियेत तदा एकस्यैकसंबन्धिनैव आकाङ्क्षाया शान्तत्वात् योग्यतायां सत्त्वेऽप्यनाकाङ्क्षतत्संबन्धेऽतिप्रसङ्गात् नेतरेण संबन्ध स्यादिति भाव । भवादेरिति विशेषणविशिष्टेन वॉरिति सप्तम्यन्तेन व्यञ्जने इति व्यधिकरणतया विशेष्यत इत्याह—ताभ्यां चेत् परं व्यञ्जनमिति । व्यञ्जनस्य भवादेरित्यनेन सवन्धाभावात् तस्य प्रत्ययस्य च व्यञ्जने साधा-१५ रण्येनोदाहरति—हुर्छां इत्यादि । 'हुर्छां' कौटिल्ये, 'मुर्छां' मोहसमुच्चययोरत "भिदादय" ५।३।१०८। इत्यङि, आपि, अन्यत्र तुनि, इटि, अनेन दीर्घत्वे "होर्दहस्वरसां" इति द्वित्वे, "अघोषे प्रथमोऽशित" इति प्रथमश्चकार । आणपूर्वात् प्रपूर्वात् स्तृणात्वे के, "शृणा-क्षितीर्" ४।४।११६। इतीरादेशे, "रदादमूर्च्छमद कपोर्दस्य च" ४।४।१६९। इति कतकारस्य नत्वे, अनेन दीर्घत्वे, "रपुवर्णात्" इति णत्वे १८ च—आस्तीर्णम्, प्रस्तीर्णमिति । 'पृषा' पालनपूरणयोरित्यत के "ओष्ठाद्दुर" ४।४।११७। इत्युरादेशे, अनेन दीर्घत्वे च—पूर्तमिति । अवपूर्वात् 'गुर्व' 'उयमे' इत्यत के—अवगूर्णम् । 'कूर्दि' क्रीडायामित्यतो वर्तमानायास्तेप्रत्यये शवि दीर्घत्वे—कूर्दते । 'ऊर्दि' मानक्रीडयोश्च अत सनि, इटि, "अयि र" ४।१।६। इति रेफस्य द्वित्वाभावात् "सन्त्युश्च" इति धीति द्विवचनेऽनेन धातोर्कारस्य रेफे दीर्घत्वे—ऊर्दि-२१ दिषते । करोतेर्धृणोत्थे "खरहनगमो सनि धुटि" ४।१।१०४। सनि दीर्घत्वे, इरादेशे उरादेशे च ततो द्विवचनादौ—चिकीर्षति, बुवूर्षति । 'दीवृच्' क्रीडादौ, 'थिवृच्' उत्तौ आभ्या वर्तमानयोस्तिवि, श्ये, अनेन दीर्घत्वे—दीव्यति, सीव्यति । एवमाशिप क्वाति—दीव्यात्, सीव्यात् । ननु प्रतिपूर्वात् दिवे "क्षुपूयुष्णि" उणा० ९०१। इति कित्वाणि तृतीयैकवचने चतुर्थ्यैकवचने च "अनोऽस्य" इत्य-२४ कारलोपे तस्य "खरस्य परे प्राग्बधौ" इति स्थानिवद्भावे व्यञ्जनाभावात् प्रतिधीप्ता, प्रतिधीमेति कथं दीर्घत्वमित्याह—असद्विधावित्यादि । चतुर्भिरिति । चतुर भिस इत्यवस्थायाम् रुत्वविसर्गौ । चतुर्थे इति । चतुर्णां पूरण इति विग्रहे "चतुर" ७।१।१६३। इति यदप्रत्यय । कुर्कुरी-यतीति । करोते "श्वश्रुञ्जुञ्जुर" उणा० ४२६। इति निपातनात् कुर्कुरस्त्वमिच्छतीति विग्रहे क्यनि इत्येवेति वादादौ रूपम् । एव चतुर इच्छति २७ क्यनि—चतुर्थति । एव दिवमिच्छति—दिव्यति । एतेषु भवादिग्रहणात् भवादेरेव धातोरेवयवयो रेफवकारयोर्धातोरेव नामिनो दीर्घो भवतीति विज्ञानात् नामधातोर्न भवति । स्मर्यते इति । 'स्य' चिन्तायामतत्त्वे प्रत्यये, "क्य शिति" ३।४।७०। इति क्ये, "क्ययडाशीर्ये" ४।३।१०। इति श्रुणे रूपम् । भव्यमिति । अस्ते "अस्तिश्रुवोर्भूवचावगिति" ४।४।१। इति भवादेशे "य एचात्" ५।१।२८। इति ये, "ध्यक्ये" ३० इत्यवादेशे भवति । अत्र नामिन इति ग्रहणादीर्घो न भवति । बुध्यते इति । 'बुधिच्' ज्ञानेऽतो वर्तमानायास्तेप्रत्यये "दिवादे श्य" इति श्ये भवति । अत्र वॉरभावात् भवति । विकिरतीति । विपूर्वात् 'कृत्'विक्षेपे, इत्यतस्तिवि "तुदादे श" इति शो इरादेशे च रूपम् । वॉरित्यप्रा-वृत्तभवादिधात्ववयवत्वविज्ञानस्य किं प्रयोजनम्? इति पृच्छति—वॉर्भादिसंबन्धिविशेषणं किमिति । दीव्यते. कनिपीति । दिवे ३३ "मन्वन्कनिपून्विच् कचिच्" ५।१।१४७। इत्यनेन कनिपूप्रत्यय इति शेष । वकारलोप इति । "य्वो प्व्यञ्जने लृक्" ४।४।१२१। इत्यनेनेति शेष । दिप्ता, दिप्ते इति । अत्र प्रत्ययवकारत्वादीर्घत्वाभाव, नन्वत्र पिति कृति "हस्वस्य त ०" ४।४।११३। इति तागम कस्मात् न? इति चेत्, "मन्वन्कनिपून्" इति सूत्रे कचिद्ब्रह्मणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् कचिदय स्वरूपेण न भवति कचिच् पित् न भवतीति तागमा-३६ भाव । नामिन इत्यत्र भवादिसंबन्धित्वविज्ञानस्य फल पृच्छति—नामिनो भवादिसंबन्धिविशेषणं किमिति । दधिब्रज्येति । ब्रजे-र्भावे "आस्यटिब्रज्य क्यप्" ५।३।९७। इति क्यपि, दधिधारणे धातो "पदि पठि०" उणा० ६०७। इति सूत्रे मण्यादित्वात् इप्रत्यये, दधो ब्रज्या दधिब्रज्येति भवति, अत्र धातोर्काराभावादीर्घत्वाभाव । नन्वेव ग्राम नयतीति क्तिपि, 'ग्रामाप्रा०" २।३।७१। इति णत्वे, "वेदूतो-३९ नव्ययवृद्धीचुडीयुव पदे" २।४।९८। इति हस्वत्वे, ग्रामणिनो ब्रज्या ग्रामणिब्रज्या इत्यत्र धात्विकारसद्भावादीर्घत्वप्रसङ्ग इति चेत्, उच्यते—भवादे-र्भादेरित्यनुपचा आह्वलैकत्वेनोपादानस्यैतदेव प्रयोजन यथेकस्यैव धातोर्द्वयं भवति, अत्र तु भेदादीर्घत्वाभाव एतदेवाह—प्रत्यासत्येति । अत्रै-केन प्रयत्नेन द्वयोरुपादान प्रत्यासत्ति, शब्दान्तरं प्रतीत्य शब्दान्तरस्यासत्तेरिति व्युत्पत्ते ॥ ६३ ॥

पदान्ते । अत्र भवादेर्नामिनो दीर्घो वॉरित्यनुवर्षते, पदान्ते भवादेर्वा ( तस्यैव भवादे ) नामिन दीर्घ इत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—पदान्ते वर्तमानयोरित्यादि । शेष प्राग्बधौष्यम् । गीरिति । गिरते क्तिपि "ऋता क्षितीर्" इतीरादेशे सौ तल्लुकि पदान्तेऽनेन दीर्घत्वे च



गीस्तरा, गीरर्थः, धूः, धूर्मान्, आशीः, आशीर्भिः, सजूः, सजूःषु, पिपठीः, पिपठीर्भ्यः । पदान्त इति किम् ? गिरौ, गिरः, लुवौ, लुवः । नामिन इत्येव ? अजागः । वोरित्येव ? मधुलिङ् । भ्वादेरित्येव ? अग्निः, वायुः; चतुर्भिः ॥ ६४ ॥

न यि तद्धिते ॥ २ । १ । ६५ ॥

यकारादौ तद्धिते परे यौ वौ तयोः परयोर्नामिनो दीर्घो न भवति । धुरं वहति-धुर्यः, गिरि साधुः-गिर्यः, वकारान्तो धातुर्नाम्युपान्त्यस्तद्धिते न संभवति । यीति किम् ? गीर्वत्, धूर्वत् । तद्धित इति किम् ? गिरमिच्छति-गीर्यति, धूर्यति, गीरिवाचरति-गीर्यते, एवं धूर्यते; क्ये-कीर्यते, गीर्यते, दीव्यति, सीव्यति, कीर्यात्, गीर्यात्, दीव्यात्; सीव्यात् । केचिच्च क्यन्क्यञोरपि प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते-गिर्यति, गिर्यते; धुर्यति, धुर्यते इत्येव भवति । इह कस्मात् न भवति ? पुर्याम्, गिर्योः, किर्योः; बहिरङ्गलक्षणस्य यत्त्वस्यासिद्धत्वेन व्यञ्जनस्याभावात् ॥ ६५ ॥

कुरुच्छुरः ॥ २ । १ । ६६ ॥

कुरुच्छुरोः संवन्धिनो नामिनो रेफे परे दीर्घो न भवति । कुर्यात्, कुर्वः, कुर्मः, छुर्यात्; छुर्यते । कुर्वित्यु-

सिध्यति । “नाम सिद्धव्यञ्जने” इति पदत्वे उदाहरति—गीर्भ्यामित्यादि । गीर्भित्ति । “अरो जुपि र” इति रेफस्य रत्वे पत्वे च भवति ।  
२२ गीस्तरिति । प्रकृष्टा गीरिति विग्रहे “द्वयोर्विमज्ये च तरप्” ७।३।६। इति तरपि धीर्धे च रेफस्य सत्त्वे रूपम् । अन्तर्वर्तिविभक्त्यपेक्षया पदत्वे बहुव्रीहौ तत्पुरुषे वा—गीरर्थं इति । धूर्धे किपि “राळुक्” ४।१।११०। इति बलोपे सौ पदत्वे धीर्धत्वे च—धूरिति । धूर्धवते यत्नेति विग्रहे “तदस्याऽस्त्वस्मिभिति०” मतौ—धूर्मान् । आङ् “शाङ्गुकि” इच्छायामात् “कुत्संपदादिभ्यः किप्” ५।३।११४। इति किपि इषादेशे सौ  
२५ तल्लुकि रत्वे धीर्धत्वे च—आशीरिति । ‘जुषेति’ श्रुतिसेवनयोरत सह जुषत इति किपि “अप्युक् कृता०” इति समासे “सजुप” इति निर्देशात् सहस्य समावे सौ तल्लुकि “सजुप” २।१।७३। इति रत्वे धीर्धत्वे—सजूः । पिपठीरित्यादावुक्ता प्रकिया । जागतेर्भ्रस्त्रान्यां दिशि “नामिनो गुणो०” इति गुणे “व्यञ्जनादेः सक्ष द” ४।३।७८। इति दिवो लुकि “अह् धातोरादिह्यस्त्रान्यां चामाङ्” ४।४।२९। इत्यङ्गामे—  
२८ अजागः । अत्र नामित्वाभावात् धीर्धे । अग्निरित्यादि । अग्निशब्दात् सौ रत्वे भ्वादिः संवन्धिनो रेफस्याभावात् भवति धीर्धे ॥ ६५ ॥

न यि तद्धिते । अत्र नामिनो धीर्धे वोरित्यनुवर्तते, यि तद्धिते वौ नामिन न धीर्धे इत्यन्वयः । “सप्तम्या आदि” इत्यादिसं-  
ख्यादाह—यकारादौ तद्धित इति । धुर्यः, गिर्य इति । इत्तौ प्रदर्शिते विग्रहे यथाक्रमं “धुरो यैयण्” ७।१।३। इति “तत्र सार्धौ”  
२१ ७।१।१५। इति च यप्रत्ययेऽनेन “भ्वादेर्नामिन०” इति प्राप्तधीर्धत्वस्य प्रतिषेधः । नन्वत्र वोरित्यनुवर्तनायकारादितद्धितपरकरके नामिनो धीर्धे  
इत्यस्य धुर्यं इत्याद्युदाहरणदानात्तादृशकारे तददानाम्पूयतेत्यत आह—वकारान्तो धातुर्नाम्युपान्त्य इत्यादि । अयमाव—अन्तर्दिक् इत्यादि  
२४ धातो क्त्वादावप्रयोगिणि वकारस्य “अनुनासिके च ऋङ् ङङ्” ४।१।१०८। इत्युटि सति वकारान्तत्वाभावः, किञ्च तु गुणे कृते  
धीर्धेरूपस्य भावात् पुनर्दीर्घकरणवैयर्थ्यम्, यद्यपि दिव्यमित्यत्र संभवति वान्तो नाम्युपान्त्यस्य धातुस्त्वयापि तत्र दिव्प्रत्ययान्तस्य  
ऽङ्गीणादिकत्वात् दिवो न धातुत्वमिति वान्तानाम्युपान्त्यधातोर्संभव इति । गीर्धेदिति । गीरिव इति विग्रहे “स्यादेरिवे” ७।१।५२। इति धिति  
“नामसिद्धे” इति पदत्वे, यकाराभावात् प्रतिषेधामावे “पदान्ते” इति धीर्धत्वे रूपम् । “अभाव्यादात्” इति क्यनि—गीर्यति,  
२७ धूर्यतीति । अत्र यकारादिवरत्वात्तस्य च तद्धिताभावात् प्रतिषेधामावः । क्यञि—गीर्यते, धूर्यते । ‘कृत्’ विक्षेपे, ‘गृत्’ निगरणे, अनयो  
“क्य धिति” ३।४।७०। इति क्ये, “श्रुतां क्तिता” इतीरादेशे—कीर्यते, गीर्यते । ‘दिवृत्’ क्रीडादौ, ‘पिवृत्’ उतौ, अनयो इये—दीव्यति,  
सीव्यति । आशी कयाति—कीर्यादित्यादि । मतान्तरमुपन्यस्यति—केचिच्च इत्यादिना । ‘पृश्’ पाठनपूरणयो, ‘गृत्’ निगरणे, ‘कृत्’ विक्षेपे  
३० इत्येभ्यो “नाम्युपान्त्यकृद्गृद्गुपृब्भ्य क्ति” उणा० ६०५। इति किति इप्रत्यये, पुरिशब्दात् “त्रिय्या क्तिता वा०” इति डेर्दीमादेशे क्तिरिगिरी-  
भ्यामोसि यत्वे च व्यञ्जनसङ्गाभावात् धीर्धत्व कस्मात् भवति ? उच्यते—प्रकृतिमात्राश्रितत्वेनान्तरङ्गे धीर्धत्वे प्रत्ययाश्रितत्वेन यत्त्वस्य बहिरङ्गत्वेना-  
सिद्धत्वात् न भवतीत्याह—इह कस्मादित्यादि । अथवा—उणादयोऽप्युत्पन्नानि नामानि इति सिद्धान्तादरेऽप्युत्पन्नत्वाद्युणादीनां भ्वादिः संवन्धि-  
३३ त्वाभावाद्दीर्धत्वाभावः । नन्वेतत्पक्षाङ्गीकारे “प्रतिषीत्ता” इत्यत्रापि धीर्धत्व न सिध्यति, तस्याप्यौणादिकत्वादिति । अयं चैतदर्थं “उणादयो व्युत्पन्नानि  
“नामानि”ति स्वीक्रियते चेसदा न वाच्यम् ‘उणादयोऽप्युत्पन्नानीति’, न ह्येकस्मिन् सूत्रे व्युत्पत्तिपक्षोऽप्युत्पत्तिपक्षयोभयमाश्रयितुं युक्तम् । यस्यापि  
भवे प्रतिषेधवशाद् “ननुवन्कृत्तन्विन् क्वचित्” इति क्तिप्रत्ययान्तत्वात्तस्यपि धीर्धत्व न सिध्यति, “ज्यो प्व्यञ्जने०” इति बलोपे भ्वादिः संवन्धि-  
३६ रान्तत्वाभावादिति स्यविर. क्रियतेऽत्र प्रयञ्जत्वादि—व्यक्ति पदार्थ इत्येतदर्थेनमाश्रीयते, दर्शनेऽस्मिन् प्रतिलक्ष्य लक्षणभेदो भवतीति यावन्ति  
लक्ष्यापि तावन्ति लक्षणानि भवन्तीति । तत्र भिन्नेषु लक्ष्येषु लक्ष्याङ्गोधात् क्वचित्प्रतिषीत्तेत्यादौ व्युत्पत्तिपक्ष आश्रीयते क्वचित्पुनर्दीपे पुर्यामि-  
त्यादौ भव्युत्पत्तिपक्ष इति सर्वं समाहितम् । नन्वकारलोपस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—इह कस्मादित्यादि । उणा इति तु  
३९ अन्वित्वात्तस्या परिभाषाया अत्राप्रवृत्तेरिति ॥ ६५ ॥

कुरुच्छुरः । पूर्वस्माच्चामिनो धीर्धे इति न इति चानुवर्तते, कुरुच्छुरोर्वकाराभावात् र इत्येव सप्तम्यन्तमत्रानुवर्तते, तथा चाय-  
न्वय—कुरुच्छुरो नामिन रेफे धीर्धे न इति । तदाह—कुरुच्छुरोः संवन्धिन इत्यादि । कुर्यादित्यादि । कृष् सप्तम्यां याति यत्-  
४२ मानाया वसि मसि च “कृन्तनादेरु” ३।४।८३। इत्युत्पत्त्ये, “नामिनो गुणोऽङ्किति” इति गुणे, “अत चित्युत्” ४।१।८९। इति उकारे, “कृणो  
यि च” ४।२।८८। इत्युत्कारलोपेऽनेन धीर्धत्वप्रतिषेधे भवति । छुर्यात्, छुर्यते । ‘छुरत्’ छेदनेऽत आशी कयाति “क्य धिति” इति क्ये  
भवति । कुर्वित्युत्कारनिर्देशात् ‘छुरत्’ शब्दे इत्यस्य न भवति, अन्यथा प्रतिषेधोक्तत्वात्तस्य प्रहण स्यात्त आह—कुर्यादित्यादि । उणा इति तु

कारः किम् ? 'कुरत्' शब्दे, कुर्यात्, कूर्यते । केचिदस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति । अथ द्विर्वचने पूर्वस्य कस्माद् दीर्घो न भवति ? रीः रिर्वा-रिर्व्यतुः, रिर्व्युः; वीः-विव्यतुः, विव्युः; वहिरङ्गलक्षणस्य यत्वस्यासिद्धत्वेन व्यञ्जनस्याभावात् । सवि-  
व्याय, विव्याधेत्यादौ तु नामिनोऽसिद्धत्वात् ॥ ६६ ॥

मो नो म्वोश्च ॥ २ । १ । ६७ ॥

मकारान्तस्य भ्वादेरन्तस्य पदान्ते वर्तमानस्य मकारवकारयोश्च परयोर्नकारादेशो भवति, स चासन् परे । प्रशान्, प्रतान्, प्रदान्, परिक्रान्; प्रशान्भ्याम्, प्रतान्भ्याम्, प्रदान्भ्याम्, परिक्रान्भ्याम्; नत्वस्यासत्त्वात् नलोपाभावः । म्वोः खल्वपि-जगन्मि, जंगन्वः; जंगन्मः, जगन्वान्; ननन्मि, ननन्वः, ननन्मः । म्वोश्चेति किम् ? प्रशामौ, प्रतामौ । म इति किम् ? छित्, भित् । भ्वादेरित्येव ? इदम्, किम् ॥ ६७ ॥

स्नन्स्वन्स्क्वस्सनडुहो दः ॥ २ । १ । ६८ ॥

स्नन्स्वन्सोः कस्प्रत्ययान्तस्य सकारान्तस्थानडुहशब्दस्य च योऽन्त्यस्तस्य पदान्ते वर्तमानस्य दकारो भवति । उखासत्, उखासद्; पर्णध्वत्, पर्णध्वद्; विद्वद्, विद्वत् कुलम्; उपसेदिवद्, उपसेदिवत्कुलम्; स्वनडुद्, स्वन-  
डुकुलम्; उखासद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः, विद्वत्सु, विद्वता, उपसेदिवत्तमः; अनडुभ्याम् । कस्सिति द्विसकारपाठः किम् ? १२

नोच्यते विक्रीषतीत्यत्र उप्रत्ययाभावेऽपि प्रतिषेधप्रसङ्गादिति । मतान्तरमाह—केचिदित्यादि । शाकटायना अपीद समुच्छिरु "धातोर्माक्" १।२।१। सूत्रे अमोघावृत्तौ । ननु 'रीश्' गतिरेपणयो, 'रि'गती, 'वीक्' प्रजनकान्वयसनखादनेपु एभ्योऽनुसि उचि च द्विरवे "योऽनेकस्वरस्य" इति यत्वे दीर्घत्व कस्मात् न सम्भवति ? उच्यते—प्रत्ययाश्रितत्वेन वहिरङ्गस्य यत्वस्य प्रकृतिमात्राश्रितत्वेनान्तररो दीर्घत्वेऽसिद्धत्वाद्गणनाभावात् दीर्घ-  
त्वाभाव इत्याह—अथ द्विर्वचन इत्यादि । 'व्येग्' स्वरणे, 'व्यधम' ताडने आभ्यां परोक्षान्वि "व्यथवृणवि" ४।२।३। इति प्रतिषेधादात्वा-  
भावे "द्विर्घात्" इति द्वित्वेऽनादिव्यञ्जनलोपे "व्याव्येव्यधिव्यन्विभ्यधेरे" ४।१।७।१। इति पूर्वस्येकारे तस्य पूर्वापेक्षत्वाद्द्विरत्वेनासिद्धत्वात् नामिनोऽभावात् दीर्घत्वाभावे "नामिनोऽकलिहले" इति षट्ठी आयादेश इत्याह—संविव्यायेत्यादि ॥ ६६ ॥

मो नो म्वोश्च । अत्र भ्वादेरिति पदान्त इति चालुवर्तते, म पदान्ते भ्वादे न च म्वोरित्यन्वय । अणुवर्तमानस्य भ्वादेरित्यस्य म इति विशेषणमत आह—मकारान्तस्य भ्वादेरिति । भ्वादेयोऽवयवो मकारस्तस्येति विशेष्यमाणे गम्यते, जगम्यते इति "अधीर्घादि०" इति द्वित्वादावपि मकारस्य प्रसज्येत । ननु पूर्वत्रायवपपञ्चन्त भ्वादेरिति विशेषण कथमत्र मकारस्य विशेष्य भवितुमर्हति ? न हि 'गोघा सर्पन्ती २१ सर्पणादहिर्भवती'ति न्यायादिति चेत्, मैवम्, द्रव्येष्वय न्यायो यदनुवर्तनाद्रव्य द्रव्यान्तरं न भवति, शब्देषु तु द्वैत भवतीति नित्यदर्शने स एव शब्दोऽनुवर्तत इति, उच्यते—अथर्वशी शब्द इति दर्शने तु तत्सदृश शब्दान्तरमुत्तरत्रोपतिष्ठत इति तत्त्वेनाप्यवसानाच्च स एवेत्युच्यत इति भ्वादे शब्दान्तरत्वाद्युक्ता तस्य विशेष्यता, अन्यथा न ह्युपायेरुपाधिर्भवतीति ( विशेषणस्य वा विशेषणमितीति ) कथं तस्य विशेषणीभूतस्य मकारो विशेषण स्यादिति युक्तमुक्त मकारान्तस्य भ्वादेरिति । "षष्ठा अन्त्यस्य" इत्यन्तलाभात्तस्य च कार्यत्वेन प्राधान्यात् पदान्त इति विशेषणमत आह—अन्त्यस्य पदान्ते वर्तमानस्येति । तस्य धातुविशेषणत्वे तु प्रशान्, प्रतान् इत्यादावेव स्यात्, उपपदसहित एव हि धातु पदान्ते सम्भवति निरुपपदे तु धातुरेव पद स्यात् पदान्ते, तत्र च व्यपदेशिवद्भाव आश्रयणीय स्यादित्युक्तमन्त्यस्य पदान्त इति—पदान्ते वर्तमानस्यान्त्यस्ये-  
त्यर्थ । स एव चान्तो मकारवकाराभ्यां विशेष्यत इति म इति कार्यो, न इत्यकारस्योच्चारणार्थत्वात् न इति प्रथमान्त कार्य, व्यतिक्रमस्तु नाशङ्कनीय—कार्यो निमित्त कार्यमित्येष हि निर्देशक्रम इति । 'शम्' 'दम्' उपशमे, 'तम्' काङ्क्षायाम्, 'कम्' ग्लानौ, प्रशाम्यतीत्यादिविग्रहे क्विपि "अहन्मन्मस्य०" ४।१।१०।७। इति दीर्घत्वे सेर्द्धेऽपि अनेन नत्वे नकारस्य चासत्त्वात् । नलोपाभाव इत्याह—नत्वस्येत्यादि । विधानसामर्थ्यात् नलोपाभाव इति त्ववाच्यम्, विधानस्य भवयोश्चारिताध्यात् । 'गम्ल' गतावतो "गम्ल्यात् इटिळे" ३।४।१।१। इति यच्च द्वित्वे अनादिलोपे, "गहोर्जे" ४।१।४।०। इति जकारे, "मुरतो०" ४।१।५।१। इति म्वागमे, "तौ सुमो०" इति वर्मान्त्ये, "बहुल लुप" ३।४।१।४। इति यको लुपि, मिवस्यपि अनेन नकारे—जङ्गन्मीत्यादि । अस्यैव घातो "तत्र कसुकानौ तद्वत्" ५।२।२। इति कसौ द्वित्वे सौ उदित्वात् नोऽन्ते "न्तम-  
हतो" इति दीर्घत्वे "पदस्य" इति सलोपे—जगन्वान् इति । 'णम' प्रह्वत्वे, घातोः "व्यञ्जनादेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ये यच् वा" ३।४।१। इति यच्च शेष पूर्ववदिति—चनन्मीत्यादि ॥ ६७ ॥

स्नन्स्वन्स्क्वस्सनडुहो दः । पदान्ते इति वर्तते, पदान्ते स्नन्स्वन्स्क्वस्सनडुह द इत्यन्वय । कस स इति षष्ठीतत्पुरुष-  
गर्भात् स्नन् च ध्वन् च कस्त् च अनडुह चेत्येषां समाहारद्वन्द्वत् पञ्चा निर्देश—स्नन्स्वन्स्क्वस्सनडुह इति । सत्यपि समवे स्नन्स्वन्सौ सका-  
रेण न विशेष्येते, व्यभिचाराभावात्, कसश्च प्रत्ययत्वात् तदन्तसंप्रत्ययोऽत आह—कस्प्रत्ययान्तस्य च सकारान्तस्येति । "षष्ठा अन्त्यस्य" इति विधेयत्वेन अन्त्यस्य कार्यत्वात् तद्विशेषण पदान्त इत्याह—योऽन्त्यस्तस्य पदान्ते वर्तमानस्येति । "स्वसृद्" अवससने, ३९ 'स्वसृद्' गती च, "उषे किल्लुक् च" उणा० ८।८। इति किति खे आपि च—उखा, 'पृश्' पालनपूरणयोरत "इणुर्विशावेणिपू०" उणा० १८।२। इति षे-पर्णम् । उखया ससते इति पर्णानि ध्वसत इति च विग्रहे कौ "नो व्यञ्जनस्या०" ४।२।४।५। इति नलोपे सौ तल्लुक्कयनेन दत्वे "विरामे वा" इत्येकत्र तकार, तकारे तु विधीयमाने परेऽसदिति वचनात् "धुटस्त्वतीय" इति दत्त्वाभावात् दकारश्रवण न स्यादिति सूत्रे दकारो विहित—उखासदित्यादि । विद्वदिति । विदे "वा वेत्ते कसु" ५।२।२।२। इति कसौ, "अनतो०" इति सेर्द्धेऽपि अनेन दत्वे भवति । उप-  
सेदिवदिति । उपपूर्वात् 'षड्' विशरण्यादौ, इत्यत पूर्ववत् कसौ "अनादेशादे०" ४।१।२।४। इत्येते "वसेकस्वरात्" ४।४।८। इतीति

सान्तस्यैव यथा स्यात्, इह मा भूत्-विद्वान्, हे विद्वन्, उपसेदिवान्, हे उपसेदिवन्; सकारस्य “पदस्य” ॥२१॥८९॥ इति लोपेन निवर्तितत्वात् । एवं तर्हि अनङ्गान्, हे अनङ्गन् । इत्यत्र नकारस्यापि प्राप्नोति, तत्र विशेषणाभावात्, नैवम्, नकारविधानसामर्थ्यात् न भविष्यति । एतच्च दत्त्वं ‘येन नाप्राप्ते’ इति न्यायात् रुत्वढत्वयोरेव बाधकम्, संयोगान्तलोपे पुनः प्राप्ते चाऽप्राप्ते चारभ्यत इति तस्य बाधकं न भवति । पदान्त इत्येव ? उखास्रसौ, पर्णध्वसौ, विद्वांसौ; अनङ्गाहौ ॥ ६८ ॥

६ ऋत्विज्दिशद्दृशस्प्रृशस्त्रज्दधृषुष्णिहो गः ॥ २ । १ । ६९ ॥

एषां पदान्ते वर्तमानानां गोऽन्तादेशो भवति । ऋतुर्म्, ऋतौ, ऋतवे, ऋतुप्रयोजनो वा धजते-ऋत्विक्, ऋत्विग्, दिश्यते इति-दिक्, दिग्; पश्यति दर्शन वा-दृक्, दृग्, अन्य इव दृश्यते-अन्यादृक्, अन्यादृक्; एवं यादृग्, यादृक्, तादृग्, तादृक्; घृत स्पृशति-घृतस्पृग्, घृतस्पृक्, मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृग्, मन्त्रस्पृक्; सृज्यत इति कुंभसपदादित्वात् किप्, अत एव निर्देशात् ऋतो रत्व च, ‘सृ’ गतावित्यस्य वा कज्-स्रग्, स्रक्; धृष्णोतीति दधृष्, अत एव निर्देशाद् द्वित्वम्-दधृग्, दधृक्, ऊर्ध्वं स्निह्यति नह्यति वा, अत एव निर्देशात् उदो दकारस्य लोपे सस्य पत्व, नर्हेनकारस्य च णिरादेशः-उष्णिग्, उष्णिक्, ऋत्विग्भ्याम्, दिग्भ्याम्, दृग्भ्याम्, घृतस्पृग्भ्याम्, स्रग्भ्याम्, दधृग्भ्याम्, उष्णिग्भ्याम् । पदान्त इत्येव ? ऋत्विजौ, दिशौ, दृशौ, घृतस्पृशौ, स्रजौ, दधृषौ; उष्णिहौ ॥ ६९ ॥

नशो वा ॥ २ । १ । ७० ॥

७ नशोः पदान्ते गोऽन्तादेशो वा भवति । जीवस्य नशनम्-जीवनग्, जीवनक्; पक्षे-जीवनद्, जीवनद्, जीवनग्भ्याम्, जीवनद्भ्याम् । पदान्त इत्येव ? जीवनशौ ॥ ७० ॥

युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः ॥ २ । १ । ७१ ॥

८ युजञ्चक्रुञ्चां नकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य ङकार आदेशो भवति । युनक्तेः क्विपि, घुटि नागमे, संयोगान्तलोपे-

नपुंसके सेङ्गिपि दत्वे च रूपम् । खनङ्गुदिति । एकत्वे कच्चप्रसङ्गात् शोभना अनङ्गाहो यस्य कुलस्येति विग्रह, शेष पूर्ववत् । “नाम सिद्व्यञ्जने” इति पदान्तत्वादुदाहरति-उखास्रस्रामित्यादि । विद्वत्तेति । विदुषो भावो विद्वत्ता “भावे त्वत्त्वं” ७११५५। उपसेदिवत्तम् २१ इति । बह्वना मध्ये प्रकृष्ट उपसेदिवान् इति विग्रहे “प्रकृष्टे तमप्” ७१३५। इति तमप् । यञ्ज्वन्ताभ्यां स्रसिध्विभ्यां किप् न दृश्यते । कसौ ककारो ‘वसं’निवासे ‘वसिक्’ आच्छादने अनयोर्व्युदासार्य, तेन वसे क्विपि यजादित्वात् घृति दीर्घत्वे-क, क्षौम वस्ते क्विपि क्षौमव । ननु वसतिवस्त्यो सकारान्तत्वाव्यभिचारात् व्यभिचारे च विशेषणस्यार्थवत्त्वात् व्यभिचारिण कस एव प्रहण भविष्यति, वसिधति सकारोपदानात्, २४ इति किमर्थ ? कस्तेत्यत्र ककारकरणमिति चेद्, उच्यते-तदमावेऽन्यथाऽपि प्रतीती यञ्ज्वन्तयोरेतयोरेव ह्यस्तनीसिध्वन्तयोर्विशेषविहितत्वेन “से स्त्वां च रुर्वा” ४१३।७५। इति सिन्लोपाभावे वस्सिति रूपाद्ग्रहणं स्यात् इतीह मा भूत् इति ककारकरणम् । विद्वान्, विद्वन्धित्यादि । विद्वत्-शब्दात् सौ, उदित्वात् नागमे, “न्यमहत ” इत्यनाममध्ये सौ दीर्घत्वे, “पदस्य” इति प्रकृतिसकारलोपे, सकारान्तत्वाभावात् नकारस्य दत्वाभाव । २७ ननु अनङ्गुशब्दात् “अनङ्गह सौ” ११४।०२। इति नागमे “पदस्य” इति हलोपे दत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, यदि कृतस्यापि नकारस्य दत्व स्यात् तद्विधानमनर्थकं स्यादत आह-एवं तर्हीत्यादि । व्याख्यातमेतद्दृती । ननु यदि नकारविधानसामर्थ्यात् प्राप्नुवन् विधिर्न भवति तर्हि अनङ्गस्त्रेत्यादौ “नोऽप्रशानो” इति सकारोऽपि न प्राप्नोतीति चेत्, न, ‘य विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकं स विधिर्वाच्यते’ इति न्यायात् दत्व प्रति ३० नकारोपदेशोऽनर्थको न सत्व प्रति, तस्य तस्मिन्निवृत्त्यादिति भाव । त्रयाणां सकारान्तत्वात् अनङ्गहस्य हकारान्तत्वात् “सो रु”, “हो धुट्” इत्येतद्विषय एव अक्षररम्भात् अपवादात्वात्तयोर्बाधक, विद्वन्धिरित्यादौ संयोगान्तलोपाप्रवृत्तौ अस्य चरितार्थत्वात् अवाधकत्वात् विद्वानित्यत्र तूभय-प्राप्तौ दत्वस्य परेऽसत्त्वात् स एव प्रवर्तते इत्याह-एतच्च दत्वमित्यादि ॥ ६८ ॥

२१ ऋत्विज्दिशद्दृशस्प्रृशस्त्रज्दधृषुष्णिहो गः । अत्र पदान्त इत्यनुवर्तते, पदान्ते ऋत्विज्दिशद्दृशस्प्रृशस्त्रज्दधृषुष्णिहो ग इत्यन्वयस्यदर्थमाह-एषामित्यादि । “षष्ठा अन्वयस्य” इति परिभाषायलभ्यमर्थमाह-अन्तादेश इति । ऋत्विगादिशब्दार्थं व्युत्पत्तिप्रदर्शन-पुर सरमाह-ऋतुमित्यादि । ‘यजौ’ देवपूजादौ, ‘दिशौ’ अतिसर्जने, ‘दृश’ प्रेक्षणे, ‘स्पृशात्’ विसर्गे, ‘जिष्पात्’ प्रागल्भ्ये, ‘ष्णिहौ’ प्रीती, २१ ‘णर्हौ’ वन्दने, इत्येषां क्विपि अन्ययत्तदां “अन्ययत्तदादेरा” ३।२।१५२। इत्यात्वे, सिलोपेऽनेन गत्वे, पक्षे “विरामे” इति प्रथमत्वे-ऋत्विगादयः । स्रज व्युत्पादयति-सृज्यत इत्यादि । ननु स्रजघातो क्विपि ऋकारस्य रत्व कथमित्याह-अत एवेत्यादि । तमेव प्रकारान्तरेण साधयति-‘सृ’ गतावित्यस्येत्यादि । ननु दृशद् इत्यत्र द्विरुक्ति कस्मादित्याह-अत एव निर्देशादित्यादि । उष्णिहश्चदप्रक्रियामाह- २१ ऊर्ध्वं स्निह्यतीत्यादि । “नाम सिद्व्यञ्जने” इति पदान्तत्वादुदाहरति-ऋत्विग्भ्यामित्यादि ॥ ६९ ॥

नशो वा । अत्र पदान्त इति ग इति चानुवर्तते, नशो पदान्ते ग वा इत्यन्वयस्यदर्थमाह-नशोरित्यादि । ‘जीव’प्राणधारणेऽतो जीव-तीति विग्रहे “नाम्पुपान्त्यं” ५।१।५४। इति के-जीव, नशो क्रुधादित्वात्किष्कयोगे कर्तृपट्टीसमासे, सिलोपेऽनेन गत्वे, “विरामे” इति प्रथमत्वे-जीवनग्, जीवनक् इति । पक्षे-नात्वाभावपक्षे “यजञ्जञ्” इति पत्वे, “घुट्स्तीय ” इति दत्वे, प्रथमत्वे-जीवनद्, जीवनद् इति । एव “नाम सिद्व्यञ्जने” इति पदान्तत्वात्-जीवनग्भ्यामित्यादि ॥ ७० ॥

युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते युजञ्चक्रुञ्चो न ङ इत्यन्वयस्यदर्थमाह-युजञ्चक्रुञ्चामित्यादि । ४५ युनक्तेः क्विपीति । ‘युज्जी’ योगे, इति घातो क्विप् इत्यर्थ । ‘घुटि नागमे इति । “अव ” इत्यनेनेति शेष । संयोगान्तलोपे इति ।

युङ्; अञ्चतेरनर्चायां नलोपे, घुटि नागमे, अर्चायां तु नलोपाभावे-प्राङ्, प्राङ्म्याम्, प्राङ्पु, प्राङ्क्षु; कुञ्चरेत एव निर्देशात् “नो व्यञ्जनस्यानुदितः” ॥ ४ । २ । ४५ ॥ इति नलोपाभावे-कुङ्, कुङ्म्याम्, कुङ्पु; कुङ्क्षु । पदान्त इत्येव ? युञ्जौ, युञ्जः; प्राञ्चौ, प्राञ्चः; कुञ्चौ, कुञ्चः ॥ ७१ ॥

सो रुः ॥ २ । १ । ७२ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य सकारस्य रुादेशो भवति । मित्रशीः, आशीः, अमित्रत्र, वायुरत्र, अमिर्गच्छति, पयः, पयो-  
म्याम्; पयोवत् । उकारः “अरोः सुपि रः” ॥ १ । ३ । ५७ ॥ इत्यत्र विशेषणार्थः ॥ ७२ ॥

सजुषः ॥ २ । १ । ७३ ॥

सजुष् इत्येतस्य पदान्ते वर्तमानस्य रुन्तादेशो भवति । सजूर्देवैः, सजूर्केपिभिः, सहपूर्वस्य जुपेः किपि, सहस्य  
सभावे रूपमेतत् । सजूर्भ्याम्, सजूर्वत् । पदान्त इत्येव ? सजुषौ ॥ ७३ ॥

अहः ॥ २ । १ । ७४ ॥

अहनश्चन्दस्य पदान्ते रुरित्ययमादेशो भवति, स चासन् परे स्यादिविधौ च । दीर्घाण्यहान्यस्मिन् हे दीर्घाहो  
निदाघ !, दीर्घाहा निदाघः; अत्र रुत्वस्यासत्त्वात् नान्तलक्षणो दीर्घो भवति । कश्चित्तु दीर्घत्व नेच्छति, तन्मते-दीर्घाहो १२  
निदाघः । अहोभ्याम्, अहस्सु । अहनश्चन्द्रमित्यत्राहनश्चन्दस्य त्याघन्तस्य लाक्षणिकत्वात् न भवति ॥ ७४ ॥

रो लुप्यरि ॥ २ । १ । ७५ ॥

अहनश्चन्दस्य लुपि सत्यामरेफे परे पदान्ते रोऽन्तादेशो भवति, रोरपवादः । अहरधीते, अहरेति, अहर्ददाति, १५  
अहर्षुङ्के, दीर्घाहाश्चासौ मासश्च दीर्घाहर्मासः, अहःकाम्यति, अहर्वां । लुपीति किम् ? हे दीर्घाहोऽत्र । अरीति किम् ?

“पदस्य” इत्यनेनेति भाव । अनेन नस्य रुत्वे-युङ् इति । प्रपूर्वात् ‘अच्’ गतौ घातो कर्तरि किपि “अयोऽनर्चायाम्” ४।२।४६ इति नलोपे  
“अच्” इति घुटि नोऽन्ते सिलोपे सयोगान्तलोपे चानेन नस्य उकार -प्राङ्, अर्चायां तु नलोपाभाव एव विशेषस्तदाह-अञ्चतेरित्यादि । ननु १८  
“कुञ्च” गतौ, इत्यस्मात् किपि, “नो व्यञ्जनस्यानुदित” ४।२।४५ इति नलोपे सति नकाराभावाद्नेन कय नस्य उ इत्यत आह-कुञ्चरेत एवे-  
त्यादि । प्राङ्क्षु इति । “ङ्णो कय” इति वा कोऽन्तस्तत् पत्वे कपयो क्ष “शिय्याचस” इति वैकल्पिके द्वितीये प्राङ्क्षु इत्यपि । एष  
कुङ्क्षिवत्प्रापि बोध्यम् ॥ ७१ ॥

सो रुः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते स रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-पदान्ते वर्तमानस्येत्यादि । ‘शासूक्’ अनुशिष्टावित्यतो  
मीत्र शास्तीति किपि इसादेशे सिलोपेऽनेन रुत्वे दीर्घत्वे-मित्रशीः । आशीः पूर्ववत् । उकार इति । उकारमन्तरेण तत्र सूत्रे ‘अर’  
इत्युक्ते एव सूत्रविहितस्य रेफस्य वचनवैयर्थ्यं मा भूदिति पयः इत्यादौ रेफ, गीर्षु इत्यादौ तु अर इति प्रतिषेधाद् विसर्ग इति विपर्यय- २४  
प्रवीति स्यादित्यर्थं ॥ ७२ ॥

सजुषः । पदान्ते इति रुरिति चानुवर्तते, पदान्ते सजुष् रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-सजुष् इत्येतस्येत्यादि । सह जुपत इति किपि,  
अतएव निर्देशात् सभावे परे कार्येऽस्यासत्त्वादपि “घुटस्तुवीय” इति परस्मिन्नुत्सर्गं कर्तव्ये पूर्वस्यापवादभूतस्यास्यासत्त्वाभावाद्नेन रुत्वे २७  
“पदान्ते” इति दीर्घे च-सजूर्देवैरिति । देवैरित्युक्त्या सर्वज्ञवचनोऽयम् । सजूर्केपिभिरिति । मुनिवचनोऽयम्, ऋषिभिरित्युक्ते ॥ ७३ ॥

अहः । अत्र पदान्त इति रुरिति चानुवर्तते, अह पदान्ते रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-अहनश्चन्दस्येत्यादि । असत्परे इति स्यादि-  
विधाविति चाधिकृतत्वादाह-स चासन्नित्यादि । हे दीर्घाह इति । हेऽन्त आमन्त्रयथोतनार्थं, अनामन्त्रये तु “नि दीर्घ” इति दीर्घत्वे ३०  
“अवर्गभोगोऽधो” इति रुलोपे-दीर्घाहा निदाघ इति । नन्वत्र सिलोपे परत्वात् नकारस्य रुत्वे नकाराभावात् कय दीर्घ इति चेत्,  
न, सायधिकारविहितत्वात्, दीर्घं कर्तव्ये रुत्वस्यासिद्धत्वादित्याह-अत्र रुत्वस्यासत्त्वादित्यादि । मतान्तरमाह-कश्चित्तु इति । दुर्गसिंह ।  
अहोभ्याम्, अहस्सु-अत्र “नानसिदय” इति पदत्वाच्चकारस्य रुत्वम् । ननु हनेर्धत्तस्या दिवि सिनि वा “अधातो” इत्यङ्गमे, ३३  
“व्यञ्जनाद् सध द” ४।३।७८ इति “से रुदां च रुवा” ४।३।७९ इति च दिव्सिलोपे अहन इत्येतस्य पदत्वात् नस्य रुत्व कस्मात् भवति ?  
प्रतिपदोक्ते हि सति लाक्षणिकं ‘लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया’ निराक्रियते, न च प्रतिपदोक्तस्य सभावो नाम तथाहि-अहश्च “श्चनमातरिश्चन”  
उणा० ९०२। इत्यनि निपातने कय प्रतिपदोक्त स्यात् ? तस्मादातोरह संजातपदसङ्गकामत्रश्च रुत्वेन भवितव्यमिति यो वदति त प्रत्याह- ३६  
अहनश्चन्द्रमित्यत्रेत्यादि । अयमाशय-“उणादयोऽन्युत्पन्नानि नामानि” इत्यस्मिन् पक्षे नाम्न प्रतिपदोक्तस्य सभावात् लाक्षणिकस्य न ग्रहण-  
मिति । न्युत्पत्तिपक्षस्तु नेहाश्रित इति ॥ ७४ ॥

रो लुप्यरि । अह इति पदान्त इति चानुवर्तते, अह लुपि अरि पदान्ते र इत्यन्वयस्तदर्थमाह-अहनश्चन्दस्येत्यादि । अहन- ३९  
चन्दस्य रेफान्वयस्मिन् परे “अतोऽति रोह” इत्यादिना उक्त मा भूदिति “अह” इति सूत्रविहितरोरपवादोऽयमुच्यत इत्याह-रोरपवाद  
इति । अहरधीते इत्यादौ “कालाध्वनोर्व्याती” २।२।४२। इति द्वितीयैकवचनस्य “अनतो लुप” इति लुप । “ऐकार्थे” इति लुपि-दीर्घा-  
हर्मास इत्यादय । हे दीर्घाहोऽत्र इति । अत्र समासान्तवर्तिविभक्त्येऽपि दीर्घाहनश्चन्द्रादुत्पन्नविभक्त्यङ्गपक्षे पदत्व लुपीति प्रत्यासत्त्या ४२

सान्तस्यैव यथा स्यात्, इह मा भूत्-विद्वान्, हे विद्वन्, उपसेदिवान्, हे उपसेदिवन्; सकारस्य "पदस्य" ॥२११८९॥ इति लोपेन निवर्तितत्वात् । एवं तर्हि अनङ्गान्, हे अनङ्गान् । इत्यत्र नकारस्यापि प्राप्नोति, तत्र विशेषणामावात्, नैवम्; नकारविधानसामर्थ्यात् न भविष्यति । एतच्च दत्त्वं 'येन नाप्राप्ते' इति न्यायात् रत्वदत्वयोरेव बाधकम्, संयो गान्तलोपे पुनः प्राप्ते चाऽप्राप्ते चारभ्यत इति तस्य बाधकं न भवति । पदान्त इत्येव ? उखास्रसौ, पर्णध्वसौ, विद्वांसौ; अनङ्गाहौ ॥ ६८ ॥

६ ऋत्विज्दिशद्दृशस्पृशस्त्रजृदधृषुष्णिहो गः ॥ २ । १ । ६९ ॥

एषां पदान्ते वर्तमानानां गोऽन्तादेशो भवति । ऋतुर्म, ऋतौ, ऋतवे, ऋतुप्रयोजनो वा धृजते-ऋत्विक्, ऋत्विग्, दिश्यते इति-दिक्, दिग्; पश्यति दर्शनं वा-दृक्, दृग्, अन्य इव दृश्यते-अन्यादृक्, अन्यादृक्, एवं यादृग्, यादृक्; १ तादृग्, तादृक्; घृतं स्पृशति-घृतस्पृग्, घृतस्पृक्; मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृग्, मन्त्रस्पृक्; सृज्यत इति कृष्संपदादित्वात् किप्, अत एव निर्देशात् ऋतो रत्व च, 'सृं' गतावित्यस्य वा कज्-स्रग्, स्रक्; धृष्णोतीति दधृष्, अत एव निर्देशाद् द्वित्वम्-दधृग्, दधृक्, ऊर्ध्वं स्निहति नहति वा, अत एव निर्देशात् उदो दकारस्य लोपे सस्य पत्व, नहेनकारस्य च २२ णिरादेशः-उष्णिग्, उष्णिक्, ऋत्विग्भ्याम्, दिग्भ्याम्, दग्भ्याम्, घृतस्पृग्भ्याम्, स्रग्भ्याम्, दधृग्भ्याम्, उष्णिग्भ्याम् । पदान्त इत्येव ? ऋत्विजौ, दिशौ, दृशौ, घृतस्पृशौ, स्रजौ, दधृषौ; उष्णिहौ ॥ ६९ ॥

नशो वा ॥ २ । १ । ७० ॥

२५ नशेः पदान्ते गोऽन्तादेशो वा भवति । जीवस्य नशनम्-जीवनग्, जीवनक्; पक्षे-जीवनद्, जीवनद्, जीवनग्भ्याम्, जीवनद्भ्याम् । पदान्त इत्येव ? जीवनशौ ॥ ७० ॥

युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः ॥ २ । १ । ७१ ॥

२८ युजञ्चक्रुञ्चां नकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य ङकार आदेशो भवति । युनक्तेः क्विपि, घुटि नागमे, संयोगान्तलोपे-

नपुसके सेर्लपि दत्वे च रूपम् । स्वन्ङुदिति । एकत्वे कच्चप्रसङ्गात् शोभना अनङ्गाहो यस्य कुलसेति विग्रह, शेष पूर्ववत् । "नाम सिद्व्यब्धने" इति पदान्तत्वाद्गुदाहरति-उखास्रङ्गामित्यादि । विद्वत्तेति । विद्वधो भावो विद्वत्ता "भावे त्वतब्द" ७।१।५५। उपसेदिवत्तम् इति । बहूनां मध्ये प्रकृष्ट उपसेदिवान् इति विग्रहे "प्रकृष्टे तमप्" ७।३।५। इति तमप् । यच्चल्वन्ताभ्यां सप्तिसप्तभ्यां किप् न दृश्यते । कसो ककारो 'वस'निवासे 'वसिक' आच्छादने अनयोर्व्युदासार्थं, तेन वसे क्विपि यजादित्वात् यदृति दीर्घत्वे-ङ, क्षौम वस्ते क्विपि क्षौमव । ननु वसतिवत्स्यो सकारान्तत्वाव्यभिचारात् व्यभिचारे च विशेषणस्यार्थत्वात् व्यभिचारिण कस एव ग्रहण भविष्यति, घटिघति सकारोपादानात्, २४ इति किमर्थं ? कस्सेत्यत्र ककारकरणमिति चेद्, सच्यते-तदभावेऽन्यथाऽपि प्रतीतौ यच्चल्वन्तयोरेतयोरेव हास्तनीसिचन्तयोर्विशेषविहितत्वेन "से स्त्रां च र्वा" ४।३।७९। इति सिचलोपाभावे वस्सिति रूपाद्ग्रहणं स्यात् इतीह मा भूत् इति ककारकरणम् । विद्वान्, विद्वन्त्रित्यादि । विद्वत्-शब्दात् सौ, उदित्वात् नागमे, "न्समहत्" इत्यनामञ्च्ये सौ दीर्घत्वे, "पदस्य" इति प्रकृतिस्कारलोपे, सकारान्तत्वाभावात् नकारस्य दत्त्वाभावं । २७ ननु अनङ्गदृशब्दात् "अनङ्गह सौ" १।४।७२। इति नागमे "पदस्य" इति हलोपे दत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैघम्, यदि कृतस्यापि नकारस्य दत्व स्यात् तद्विधानमनर्थकं स्यादत आह-एषं तर्हीत्यादि । व्याख्यातमेतद्वृत्तौ । ननु यदि नकारविधानसामर्थ्यात् प्राप्नुवन् विधिर्न भवति तर्हि अनङ्गांस्त्रेत्यादौ "नोऽप्रधानो" इति सकारोऽपि न प्राप्नोतीति चेत्, न, "य विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकं स विधिर्भाष्यते" इति न्यायात् दत्व प्रति ३० नकारोपदेशोऽनर्थको न सत्व प्रति, तस्य तन्निमित्तत्वादिति भावः । त्रयाणां सकारान्तत्वात् अनङ्गदृश इकारान्तत्वात् "सो रु", "हो धृ०" इत्येतद्विषय एव अक्षरान्मात् अपवादत्वात्तयोर्बाधकं, विद्वन्त्रित्यादौ संयोगान्तलोपाप्रवृत्तौ अस्य चरितार्थत्वात् अबाधकत्वात् विद्वानित्यत्र तूभय-प्राप्तौ दत्वस्य परेऽसत्त्वात् स एव प्रवर्तत इत्याह-एतच्च दत्वमित्यादि ॥ ६८ ॥

३३ ऋत्विज्दिशद्दृशस्पृशस्त्रजृदधृषुष्णिहो गः । अत्र पदान्त इत्यनुवर्तते, पदान्ते ऋत्विज्दिशद्दृशस्पृशस्त्रजृदधृषुष्णिह ग इत्यन्वयस्तदर्थमाह-एषामित्यादि । "षष्ठा अन्वयस्य" इति परिभाषाबलमभ्यमर्थमाह-अन्तादेश इति । ऋत्विगादिशब्दार्थं व्युत्पत्तिप्रदर्शन-पुर सरमाह-ऋतुमित्यादि । 'यजी' देवपूजादौ, 'दिशीत्' अतिसर्जने, 'दृश' प्रेक्षणे, 'स्पृशत्' विसर्गे, 'मिष्टवाद्' प्रागल्भ्ये, 'णिहौचू' श्रौतौ, ३४ 'णहौचू' बन्धने, इत्येषां क्विपि अन्ययत्तवां "अन्यत्यदादेरा" ३।२।१५२। इत्यात्वे, सिलोपेऽनेन गत्वे, पक्षे "विरामे०" इति प्रथमत्वे-ऋत्वि-गादयः । स्रज व्युत्पादयति-सृज्यत इत्यादि । ननु सृज्यातो क्विपि ऋकारस्य रत्व कथमित्याह-अत एवेत्यादि । तमेव प्रकारान्तरेण साधयति-"सृं" गतावित्यस्येत्यादि । ननु दधृष् इत्यत्र द्विरक्षि कसादित्याह-अत एव निर्देशादित्यादि । उष्णिहशब्दप्रक्रियामाह- ३५ ऊर्ध्वं स्निहतीत्यादि । "नाम सिद्व्य" इति पदान्तत्वाद्गुदाहरति-ऋत्विग्भ्यामित्यादि ॥ ६९ ॥

नशो वा । अत्र पदान्त इति ग इति चानुवर्तते, नश पदान्ते ग वा इत्यन्वयस्तदर्थमाह-नशेरित्यादि । 'जीव'प्राणधारणेऽपि जीव-तीति विग्रहे "नाम्नुपान्त्य०" ५।१।५४। इति के-जीव, नशे कुधादित्वात्किष्कयोगे कर्तृपट्टीसमासे, सिलोपेऽनेन गत्वे, "विरामे०" इति ३४ प्रथमत्वे-जीवनग्, जीवनक् इति । पक्षे-गत्वाभावपक्षे "यजस्रज०" इति पत्वे, "धृत्स्वृतीय" इति उक्त्वे, प्रथमत्वे-जीवनद्, जीवनद् इति । एव "नाम सिद्व्य०" इति पदान्तत्वात्-जीवनग्भ्यामित्यादि ॥ ७० ॥

युजञ्चक्रुञ्चो नो ङः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते युजञ्चक्रुञ्च न ङ इत्यन्वयस्तदर्थमाह-युजञ्चक्रुञ्चामित्यादि । ४५ युनक्तेः क्विपि । 'युजुपी' योगे, इति घातो किप् इत्यर्थः । घुटि नागमे इति । "अच" इत्यनेनेति शेषः । संयोगान्तलोपे इति ।

युङ्; अञ्चतेरनर्चायां नलोपे, घुटि नागमे, अर्चायां तु नलोपाभावे-प्राड्, प्राड्म्याम्, प्राड्पु, प्राड्क्षु; कुञ्चरेत एव निर्देशात् “नो व्यञ्जनस्यानुदितः” ॥ ४ । २ । ४५ ॥ इति नलोपाभावे-कुड्, कुड्म्याम्, कुड्पु; कुड्क्षु । पदान्त इत्येव ? युञ्चौ, युञ्जः; प्राञ्चौ, प्राञ्जः; कुञ्चौ, कुञ्जः ॥ ७१ ॥

सो रुः ॥ २ । १ । ७२ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य सकारस्य रुरादेशो भवति । मिञ्चशीः, आशीः, अशिरत्र, वायुरत्र, अग्निर्गच्छति, पयः, पयो-  
म्याम्; पयोवत् । उकारः “अरोः सुपि रः” ॥ १ । ३ । ५७ ॥ इत्यत्र विशेषणार्थः ॥ ७२ ॥

सजुपः ॥ २ । १ । ७३ ॥

सजुप् इत्येतस्य पदान्ते वर्तमानस्य रुरन्तादेशो भवति । सजूर्देवैः, सजूर्कृपिभिः; सहपूर्वस्य जुपेः क्विपि, सहस्य  
समावे रूपमेतत् । सजूर्म्याम्, सजूर्वत् । पदान्त इत्येव ? सजुषौ ॥ ७३ ॥

अहः ॥ २ । १ । ७४ ॥

अहनशब्दस्य पदान्ते रुरित्ययमादेशो भवति, स चासन् परे स्यादिविधौ च । दीर्घाण्यहान्यस्मिन् हे दीर्घाहो  
निदाघ !, दीर्घाहा निदाघः; अत्र रुत्वस्यासत्त्वात् नान्तलक्षणो दीर्घो भवति । कश्चित्तु दीर्घत्वं नेच्छति, तन्मते-दीर्घाहो १२  
निदाघः । अहोम्याम्, अहस्सु । अहन शत्रुमित्यत्राहनशब्दस्य त्याघन्तस्य लाक्षणिकत्वात् न भवति ॥ ७४ ॥

रो लुप्यरि ॥ २ । १ । ७५ ॥

अहनशब्दस्य लुपि सत्यामरेफे परे पदान्ते रोऽन्तादेशो भवति, रोरपवादः । अहरधीते, अहरेति, अहर्ददाति, १५  
अहर्भुङ्क्ते, दीर्घाहाश्चासौ मासश्च दीर्घाहर्मासः, अहःकाम्यति, अहर्वाच । लुपीति किम् ? हे दीर्घाहोऽत्र । अरीति किम् ?

“पदस्य” इत्यनेनेति भाव । अनेन नस्य ङत्वे-युङ् इति । प्रपूर्वात् ‘अच्’ गतौ धातो कर्तरि क्विपि “अबोऽनर्चायाम्” ४।२।४६ इति नलोपे  
“अच्” इति घुटि नोऽन्ते सिलोपे सयोगान्तलोपे चानेन नस्य ङकार -प्राट्, अर्चायां तु नलोपाभाव एव विशेषस्तदाह-अञ्चतेरित्यादि । ननु १८  
‘कुञ्च’ गतौ, इत्यस्मात् क्विपि, “नो व्यञ्जनस्यानुदितः” ४।२।४५ इति नलोपे सति नकाराभावादानेन कय नस्य ङ इत्यत आह-कुञ्चरेत एवे-  
त्यादि । प्राड्क्षु इति । “ङ्णो कटा०” इति वा कोऽन्तस्तत् पत्वे कपयो क्ष “शित्याचस्य०” इति वैकल्पिके द्वितीये प्राड्पु इत्यपि । एवं  
कुञ्क्षिच्यत्रापि बोध्यम् ॥ ७१ ॥

सो रुः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते स रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-पदान्ते वर्तमानस्येत्यादि । ‘शासूक्’ अनुशिष्टावित्यतो  
मेत्र शास्त्रीति क्विपि इसादेशे सिलोपेऽनेन रुत्वे दीर्घत्वे-मिञ्चशीः । आशीः पूर्ववत् । उकार इति । उकारमन्तरेण तत्र सूत्रे ‘अर’  
इत्युक्ते एव सञ्जविहितस्य रेफस्य वचनवैयर्थ्यं मा भूदिति पयञ्च इत्यादौ रेफ, गीर्षु इत्यादौ तु अर इति प्रतिषेधाद् विसर्ग इति विपर्यय- २४  
प्रतीति स्यादित्यर्थं ॥ ७२ ॥

सजुपः । पदान्ते इति रुरिति चानुवर्तते, पदान्ते सजुप रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-सजुप् इत्येतस्येत्यादि । सह जुपत इति क्विपि,  
अतएव निर्देशात् समावे परे कार्येऽस्यासत्त्वादपि “घुटस्तृतीय” इति परस्मिष्टुत्सर्गे कर्तव्ये पूर्वस्यापवादभूतस्यासत्त्वाभावादानेन रुत्वे २७  
“पदान्ते” इति दीर्घे च-सजूर्देवैरिति । देवैरित्युक्त्या सर्वज्ञवचनोऽयम् । सजूर्कृपिभिरिति । मुनिवचनोऽयम्, ऋषिभिरित्युक्ते ॥ ७३ ॥

अहः । अत्र पदान्त इति रुरिति चानुवर्तते, अह पदान्ते रुरित्यन्वयस्तदर्थमाह-अहनशब्दस्येत्यादि । असत्परे इति स्यादि-  
विधायित्वादि-चाधिभूतत्वादाह-स चासन्नित्यादि । हे दीर्घाह इति । हेऽहो आमश्रयद्योतनार्थं, अनामश्रये तु “नि दीर्घे” इति दीर्घत्वे ३०  
“अचर्णभोगोऽधो०” इति सिलोपे-दीर्घाहा निदाघ इति । नन्वत्र सिलोपे परत्वात् नकारस्य रुत्वे नकाराभावात् कथं दीर्घ इति चेत्,  
न, स्याथधिकारविहितत्वात् दीर्घे कर्तव्ये रुत्वस्यासिद्धत्वादित्याह-अत्र रुत्वस्यासत्त्वादित्यादि । मतान्तरमाह-कश्चित्तु इति । दुर्गसिंह ।  
अहोम्याम्, अहस्सु-अत्र “नामसिदय०” इति पदत्वाच्चकारस्य रुत्वम् । ननु हनेर्द्यस्त्वान्या दिवि सिवि वा “अहधातो०” इत्यङ्गमे, ३३  
“व्यञ्जनादे सध द” ४।३।७८ इति “से रुद्धा च र्वी” ४।३।७९ इति च दिव्सिबोर्लोपे अहन् इत्येतस्य पदत्वात् नस्य रुत्व कस्मान्न भवति ?  
प्रतिपदोक्ते हि सति लाक्षणिक ‘लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया’ निराक्रियते, न च प्रतिपदोक्तस्य सभनो नाम तथाहि-अहश्च “श्वन्मातरिश्चन्०”  
उणा० ९०.२। इत्यनि निपातने कथं प्रतिपदोक्त स्यात् ? तस्माद्धातोर्ह संज्ञातपदसंज्ञकानाश्च रुत्वेन भवितव्यमिति यो वदति त प्रत्याह- ३६  
अहन शत्रुमित्येत्यादि । अयमाशय-“ङ्णोदयोऽन्युत्पन्नानि नामानि” इत्यस्मिन् पक्षे नात्र प्रतिपदोक्तस्य सभवात् लाक्षणिकस्य न ग्रहण-  
मिति । व्युत्पत्तिपक्षस्तु नेहाश्रित इति ॥ ७४ ॥

रो लुप्यरि । अह इति पदान्त इति चानुवर्तते, अह लुपि अरि पदान्ते र इत्यन्वयस्तदर्थमाह-अहनशब्दस्येत्यादि । अहन- ३५  
शब्दस्य रेफान्यस्मिन् परे “अतोऽति रोक्” इत्यादिना उक्तं मा भूदिति “अह” इति सञ्जविहितरोरपवादोऽयमुच्यत इत्याह-रोरपवाद  
इति । अहरधीते इत्यादौ “कालाचनोर्व्याती” २।२।४२ इति द्वितीयैकवचनस्य “अनतो लृप्” इति लृप् । “ऐकाच्ये” इति लुपि-दीर्घा-  
हर्मास इत्यादय । हे दीर्घाहोऽत्र इति । अत्र समासान्तवर्तिविभक्त्येऽपि दीर्घाहनशब्दाद्भुत्पञ्चविभक्तिक्षणपेश पदत्व लुपीति प्रत्यासत्त्या ४२

अहोरूपम्, अहोरात्रः; गतमहो रात्रिरागता, कृत्स्नमहो रथन्तरं गायति; सर्वमहो रमयस्व, यातं शनैः सर्वमहो रथेन । अन्ये तु रात्रिरूपरथन्तरेष्वेव रेफादिषु परेषु रेफप्रतिषेधमिच्छन्ति ॥ ७५ ॥

३

धुटस्तृतीयः ॥ २ । १ । ७६ ॥

धुटां पदान्ते वर्तमानानां तृतीयो भवति । वाग्, वाग्भिः, अज्, अज्भिः, षड्, षड्भिः; विद्युद्, विद्युद्भिः; ककुब्, ककुब्भिः; विद्, विद्भिः । केचित्तु विसर्गजिह्वामूलीययोरप्यलाक्षणिकयोस्तृतीयत्व गत्वमिच्छन्तीति, तन्मते—सुपूर्वात् दुःख-यतेर्दुःखयतेर्वा किपि सयोगान्तलोपे—सुदुग्, सुदुग्भ्याम् इति सिद्धम् । पदान्त इत्येव ? वाचौ । कश्चरति, कष्टीकते, कस्तरतीत्यादिष्वादेशविधानसामर्थ्यात् न भवति, षष्ठ इत्यत्र तु 'षष्ठी' इति निर्देशात् न भवति ॥ ७६ ॥

गडद्वादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थः स्वोश्च प्रत्यये ॥ २ । १ । ७७ ॥

१ गडद्वादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्य धातुरूपावयवस्यादेश्चतुर्थ आसन्नो भवति, पदान्ते सकारादौ ध्वशब्दादौ च प्रत्यये परे । ( पदान्ते—) पर्णशुद्, पर्णशुद्भ्याम्, पर्णशुद्त्वम्; तुण्डिममाचष्टे णौ किपि—तुण्डिप्, तुण्डिभ्याम्, तुण्डिपत्वम्; गोधुक्, गोधुग्भ्याम्, गोधुक्त्वम्, गर्दभमाचष्टे णौ किपि—गर्धप्, गर्धभ्याम्, गर्धपत्वम्; धर्मशुत्, धर्मशुद्भ्याम्; धर्म-  
२ सुत्त्वम् । स्वोः—'गुहौ' निघोक्ष्यते, न्यघूढम्; 'दुह्' घोक्ष्यते, अघुग्ध्वम्; 'बुध्'—मोत्स्यते, बुभुत्सते; अघुद्भम् । गडद्वादे-

तत्रास्त्रीकारात् रोऽन्तादेश, न च तस्य स्थापेक्ष पदत्वम्, "वृत्त्यन्तोऽसधे" इति निषेधात् । अहोरूपमिति । अहो रूपमिति षष्ठीसमास । अहोरात्र इति । अहश्च रात्रिश्चेति द्वन्द्वे "ऋक्सामगर्ग्ये" ७।३।१५।७ इति निपातनाद् भवति । गतमह इति । "अनत " इति सेर्ज्ज् । रथन्तरतीति ३५ विग्रहे "शृङ्गि" ५।१।११।२ इति खे उपपदसमासे "खिल्यनव्याऽरयो मोऽन्तो ह्रस्वश्च" ३।२।११।१ इति भागमे "तौ मुमो" इत्यनु-  
३५ सारानुनासिकयो अहोरूपमिति वत् समासेऽसमासे वा—अहो रथन्तरमिति । सर्वमह इत्यादां अहश्चब्दाद्वितीयप्रथमयोरेकवचनम् । अन्ये तु—वार्तिककारा इत्यर्थः । 'रुपरात्रिरथन्तरेषु क्व वाच्यम्' इति हि तेषा वचनम्, व्याख्यातारस्तु नेद परिगणनमिलाहुरिति सर्वमहो-  
३८ रमयस्वैत्यन्यात्राप्युदाहृतम् ॥ ७५ ॥

धुटस्तृतीयः । अत्र पदान्ते इत्यनुवर्तते, पदान्ते धुट तृतीय इत्यन्वयस्तदर्थमाह—धुटामित्यादि । बहुवचनन्तु व्यक्त्वित्वात्-  
पेक्षया बोध्यम् । वाग् इति । ब्रूते वचीति वा विग्रहे "दिद्युद्द्वज्जगद्भू" ५।२।८३। इति किपि, धीर्षत्वे, सिद्धकि, "चज कगम्" इति  
२१ कत्वे तस्यानेन तृतीयत्वे भवति । भिषि—वाग्भिरिति । अज् इति । सत्राशब्दत्वात् कत्वाभावेऽनेन जकारे रूपम् । एव भिषि—अज्भि-  
रिति । षड्भिति । षपशब्दात् "डतिष्ण ०" इति जश्चसोर्लक्षि मुद्देन्यस्य षकारस्य "भासन्न" इति तृतीये डकारे सिद्धति । एव भिषि—षड्भि-  
रिति । विद्युदिति । विपूर्वात् श्रुते किपि सिलोपेऽनेन तृतीयत्वे च भवति । एव भिषि—विद्युद्भिः । ककुयिति । क वायु स्फुभ्राति—विस्वारयति  
२४ ककुप्, "ककुप्त्रिष्टुभन्तुभ" उणा०६।३।२। इति किबन्तो निपात्यते, पश्चादनेन तृतीय । एव भिषि—ककुब्भिः । विडिति । विशदीति  
किपि, कित्वात् गुणप्रतिषेधे, सिलोपे, "यजस्ज ०" इति शस्य षत्वेऽनेन तृतीये डकारे भवति । एवं भिषि—विद्भिः । केचित्त्विति । आचार्य-  
शाकटायनाः । अलाक्षणिकयोरिति । प्रतिपदोक्तयोरित्यर्थः । 'दु खप्' तत्कियायाम्—अत्र दु खेति खकारात् पूर्वं कैश्चिद्विर्गः पठ्यते, कैश्च-  
२७ जिह्वामूलीयस्त्रोभयत्रापि किपि, णिलोपे, प्रकृतिषकारस्य सयोगान्तस्य "पदस्य" इति लोपे, व्यञ्जनत्वात् कण्यत्वाद्दनेन तृतीयो गकार इत्युदाह-  
रति—सुपूर्वादिस्वादि । ननु कश्चरतीत्यादां रेफादेशस्य शकारादेश्चत्वादासन्नत्वात् तृतीयो जकारादि कस्माच्च भवति ? यद्यपि सो क्वत्स्य परे-  
ऽसत्त्वात् तृतीयस्याप्राप्तिस्तथापि मातश्चरतीत्यादिषु प्राप्नोतीत्याह—कश्चरतीत्यादि ॥ ७६ ॥

३० गडद्वादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थः स्वोश्च प्रत्यये । स च ध्व च स्वो तयोरिति स्वो, चकारेण पदान्त इति  
ससुधीयते स्वोरिति प्रत्यये इत्यस्य विशेषणम् । तत्र च ध्वस्यादिप्रत्ययस्त्वदेकविमकिनिर्दिष्टत्वेन सकारोऽपि त्यादिरैव । तौ च धातोरैव संम-  
वतस्त्वत्साहचर्यात्स्यैवेति तदाक्षितौ धातुरवयवित्वेनावयवस्य विशेषण, रूपशब्दस्तु धृतौ भ्वायभ्नादिधातुमात्रपरिग्रहाय । गध उध दध वधे-  
३३ खेत आदिर्यस्य तस्य—गडद्वादेरिति, चतुर्थोऽन्ते यस्य तस्य—चतुर्थान्तस्येति, एक स्वरो यस्य तस्य—एकस्वरस्येति च त्रीण्यपि  
अन्यपदार्थाक्षिप्तसावयवस्य समानाधिकरणानि विशेषणानि । स च अवयवत्वेन आदेरित्यस्य स्थानषष्ठ्यन्तस्य कार्यणो विशेषणम्, तस्य च स्थाने  
चतुर्थो भवन् "भासन्न" इति न्यायेन गडदधस्थाने षष्ठमरुप एव भवति । तत्र पदान्त इति विषयित्वेन विशेषणम्, प्रत्यय इति तु परत्वेन ।  
३६ तथा च—गडद्वादे चतुर्थान्तस्य एकस्वरस्य धातुरूपावयवस्य आदे चतुर्थ आसन्न, पदान्तविषये स्वो च प्रत्यये इत्यन्वयस्तदाह—गडद्-  
वादेरित्यादि । तत्र पदान्तविषये उदाहरति—पर्णशुडित्यादि । 'गुहौ' चवरणेऽत पर्णानि गूहतीति किपि, सिलोपे, पदान्तत्वात् "हो धुद्-  
पदान्ते" इति षत्वेऽनेनादेश्चतुर्थत्वे भवति । एवमन्यदपि । ननु धातोरवयवस्येत्युच्यते, अत्र त्ववयवातिरिक्तस्य तुण्डिप् इत्यादिबन्ध धातोरभावात्  
३९ कथं प्राप्ति ? इति चेदुच्यते—धातुरूपावयवस्येत्यत्र धृतौ समस्तनिर्देश उभयपरिग्रहाय, तेन यदा धातुरूपोऽवयव इति विग्रहस्तदा धातुरवयव  
समुदायस्त्ववयवीति सिध्यति—पर्णशुद् । यदा तु धातुरूपस्यावयव इति विग्रहस्तदा तुण्डिभ् इत्यत्र ङिभ् इत्यवयवस्त्वदतिरिक्तस्य धातुरवयवीति  
लक्ष्यसिद्धार्थं क्वचित्किञ्चिदाधीयते । अथवा—यत्र तदतिरिक्तो धातुर्नास्ति तत्र व्यपदेशिवद्भावात् सिद्धिरिति सर्व समञ्जसम् । शब्दरूपावयवस्येति  
४२ वा धृतौ पठनीयम्, तत्र च गूह किम् इत्येव रूप शब्दोऽवयवो गडद्वादिचतुर्थान्त एकस्वर इति न कश्चिदपि । कृण्डमुम्मतीत्यादीनां तु किञ्च  
नास्तीति कि ? तद्व्यावृत्त्यर्थेन धातुप्रयोगेनेति । तुण्डिभिति । 'तुडुब्' तोडनेऽस्य "चदित खराशोऽन्त" इति नागमे, "किलिपिस्तिपि-  
शिनिटिबुटिश्चुण्डिभुण्डि" उणा०६।०।८। इति इप्रत्यये साऽस्यास्तीति "बलिबटितुण्डेर्भ" इति भे सिध्यति, ततोऽपि प्राक्किपामाह—तुण्डिममा-  
४५ चष्टे इत्यादि । गोधुगित्यादि । गां दोग्धीति किपि सिलोपे "अदेर्दोर्धे" २।१।८३। इति घेऽनेनादिचतुर्थत्वे "विरामे वा" इति क्त्वे  
सिध्यति । 'गर्द'शब्देऽत "कृशुगुंश्लिकलि" उणा०३।२।५। इत्यनेन गर्दमत्त्वत आह—गर्दममित्यादि । णोपे पूर्ववत् । 'बुधिव्' शाने  
घर्मं बुध्यत इति किपि—घर्ममुदित्यादि । सकारादौ ध्वशब्दादौ च प्रत्यये उदाहरति—निघोक्ष्यते इति । विपूर्वात् युद्देर्भिव्यन्त्या सत्वे-  
४८ प्रत्यये, उपान्त्यगुणे, षत्वेऽनेन षत्वे क्त्वे पत्वे च भवति । न्यघूढमिति । अद्यतन्या ध्वभि, "ह्रिक्ते नाम्नुपान्त्या" ३।४।५। इति षकि,

रिति किम् ? कुत्, क्रोत्सति, जभेर्यङ्लुपि-अजङ्गप् । चतुर्थान्तस्येति किम् ? सुगण्, दास्यति । एकस्वरस्येति किम् ? दाम  
लेडि किप्, दामलिहमिच्छति क्यन्, दामलिह्यति किप्-दामलिट् । स्वोश्चेति किम् ? धर्मबुधौ, बोद्धा । वर्णविधित्वेन  
स्थानिवद्भावो नास्तीति अबुद्ध, अबुद्धाः इत्यत्र सिञ्जुकि न भवति । धकारस्य वकारोपश्लिष्टस्य ग्रहणं किम् ? 'दधि' १  
धारणे, इत्यस्य यङ्लुपि, हौ धिभावे-दादद्धि । प्रत्यय इति किम् ? धाग् वस् द्वित्वम्, "श्रथाऽऽत्" ॥ ४ । २ । ९६ ॥  
इत्याकारलोपे, "अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने" ॥ १ । ३ । ३२ ॥ इति धकारस्य द्विर्भावे-दङ्घः, दङ्घहे ॥ ७७ ॥

धागस्तयोश्च ॥ २ । १ । ७८ ॥

दधातेश्चतुर्थान्तस्य दकारादेरादेर्दकारस्य तथयोः स्ध्वोश्च प्रत्यययोः परयोश्चतुर्थो भवति । धत्तः, धत्ते, धत्थः, धत्थ्य, धत्से,  
धत्स्व, धत्से, धत्सुम्; अत्रासद्विधित्वाद् वचनसामर्थ्याद् वाऽऽतो लोपस्य खरादेशत्वेऽपि स्थानिवद्भावो न भवति । गकार-  
किम् ? धयतेर्मा भूत्, धेर्यङ्लुपि-दात्तः, दात्थः; दधातेरपि यङ्लुचन्तस्य मा भूत्, "तिवा शवाऽनुवन्धेन निर्दिष्ट यद्गणेन  
च । एकस्वरनिमित्तं च पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥" इति न्यायात्-दात्तः, दात्थः । केचित्तु यङ्लुचन्तस्यापीच्छन्ति-  
धात्तः, धात्थः, धात्थ्य । तथोश्चेति किम् ? दध्वः, दध्मः । चतुर्थान्तस्येत्येव ? दधाति, दधासि ॥ ७८ ॥

अधश्चतुर्थान्तस्य तथोर्धः ॥ २ । १ । ७९ ॥

चतुर्थान्तस्य परयोस्तकारयकारयोर्धारूपवर्जितात् धातोर्विहितयोः स्थाने धकार आदेशो भवति । दोग्धा, दोग्धुम्;  
अदुग्घ, अदुग्घाः, लेढा, लेढुम्, अलीढ, अलीढाः, वोद्धा, वोद्धुम्, अबुद्ध, अबुद्धाः, लन्धा, लन्धुम्, अलन्ध, अलन्धा ।  
अध इति किम् ? दधातेर्यङ्लुचन्तधयतेश्च मा भूत्-धत्तः, धत्थः, दात्तः, दात्थः । केचित्तु यङ्लुचन्तधयतेरपीच्छन्ति-  
दाद्धः, दाद्ध । विहितविशेषण किम् ? ज्ञानभुत्वम्-अत्र नामविहिते त्वे मा भूत् ॥ ७९ ॥

"दुहृदिहृदिहृ०" ४।१।७४। इति तस्य छकि, "अद्धातोरादि०" ४।१।२९। इत्यदि, "हो धुदपदान्ते" इति दत्त्वे, आदिचतुर्थत्वे, "तवर्गस्य०"  
इति घस्य दत्त्वे, "दस्त्रे" इति दीर्घत्वे ढलोपे च रूपमिदम् । एव धोक्षयत् इत्याद्यपि । "कुषच्" कोपेऽत "कुवस्यदादिभ्यः" इति किपि, १८  
सिञ्जिपि-कुत् इति । "जमुब्" गात्रविनामे, अतो गहितं जम्भते इति विप्रदे यत्ति, तल्लुपि, द्वित्वेऽनादिव्यञ्जनलोपे, "जपजमददृश०"  
४।१।५२। इति म्वागमे, "व्यञ्जनादे सक्ष द" इति षस्यन्या दिवो ल्यप्तागमे च-अजङ्गप् इति । अत्र गडदवादेरभावात् न भवत्यादेश-  
तुर्यं । एव सुगण्, दास्यतीत्यत्र चतुर्थान्तत्वाभावाद्दादेशतुर्यं । "दुदाङ्क्" दाने, अत "मन्" लण० ९।१। इति मनि-दामन्, त लेडोति २१  
किपि-दामलिट्, तपिच्छतीति "अमाव्यात्०" इति क्यनि, किपि, अलोपे यलोपे च सौ-दामलिट् । अत्र दादिधतुर्थान्त एकसरो नास्ती-  
त्यादेशतुर्यो न भवति । यदा तु धातुरूपावयवस्येति विहाय शब्दरूपावयवस्येति पठ्यते तदा दाम लेडोति किप्येव दामलिट् इति प्रत्युदाहरणम् ।  
ननु बुधेरथतन्यास्त्रप्रत्यये सिचो ल्यप्तागमे सिच स्थानिवद्भावाद्दादेशतुर्यं कस्मात् भवति ? इत्याह-वर्णविधित्वेनेत्यादि । दङ्घ इति । २४  
अत्र धकारद्विर्भावे प्रत्ययग्रहणात् वकारोपश्लिष्टधकारस्य प्रत्ययत्वाभावाद्दादेशतुर्यान्तस्य एकस्वरसावयवस्यदादेशतुर्यो न भवति ॥ ७७ ॥

धागस्तयोश्च । तक्ष थ च तथौ तयो तथो, चकारेण स्वोरित्यनुकृष्यते, पूर्वस्मात् चतुर्थान्तस्येति आदेरिति चातुर्वर्तते । आदे-  
रित्यत्रातुर्वर्तमाने पूर्वस्थितगडवादीनामन्वयासभवात् दादेरेव समवात् दादिमात्रमेव सचप्यते । तथा च-धाग चतुर्थान्तस्य दादेरादे तयो २७  
स्वोश्च चतुर्थं इत्यन्वयस्त्रदाह-दधातेरित्यादि । घत्त इत्यादि 'दुधाक्' धारणे, अत तस्, ते, यस्, थ, से, स्व, ध्वे धम्, इत्येतेषु  
"हृ षाति" ४।१।१२। इति द्वित्वे, "हृस्व" ४।१।३९। इति हृस्वत्वे, "द्वितीयतुर्ययो पूर्वा" ४।१।४२ इति दत्त्वे, "श्रथाऽऽत्" ४।१।९६। इति  
आकारलोपेऽनेनादेशतुर्यत्वे, "अधोपे प्रथमोऽशिट" इति प्रथमत्वे, "तृतीयस्तृतीयचतुर्थे" इति दत्त्वे च सिच्यति । नन्वत्राऽऽकारलोपस्य ३०  
खरादेशत्वेन "स्वस्य परे प्रातिवर्धौ" ७।४।१०। इति स्थानिवद्भावात् चतुर्थान्तत्वाभावात् क्यमादेशतुर्यं इत्याह-अत्रासद्विधित्वादि-  
त्यादि । असद्विधौ "न सधिजीयक्किदि०" ७।४।११। इति प्रतिषेधादिति भाव । असद्विधौ स्थानिवद्भावप्रतिषेधस्य केषाचिदसमतत्वात् तन्मतेऽपि  
सिच्येदित्येतदर्थमाह-वचनसामर्थ्याद्वेति । चतुर्थान्तस्येति विशेषणस्याधिकारापक्षस्यापि तत्रैकदेशत्वेन वचनत्वात् तत्त्वामर्थ्याथ स्थानिव- ३३  
द्भावाभावात् चतुर्थान्तोऽयमित्यर्थं । 'दधे' पाने, 'दुधाक्' धारणे वाऽतोऽस्यर्थं पुन पुनर्धयति दधाति वा "व्यञ्जनादेरेकस्वरादु०" ३।४।९। इति  
यत्ति, तस्य "चहुल छप्" इति छपि, "सन्ध्वश्च" इति द्वित्वे, हृस्वत्वे, "द्वितीयतुर्ययो" इति दत्त्वे, "भा गुणावन्त्यादे" ४।१।४८। इति आत्वे,  
ततस्तस्ति यत्ति च "श्रथाऽऽत्" इत्याकारलोपे धाग इति वचनादादिचतुर्थत्वाभावात् प्रथमत्वे-दात्तः, दात्थ इति । असुमेवार्थं पूर्वाचार्योक्तेन ३६  
द्रढयति-तिवेत्यादि । केचित्त्विति । देवनन्याचार्या इत्यर्थं ॥ ७८ ॥

अधश्चतुर्थान्तस्य तथोर्धः । पूर्वस्ये निमित्तत्वेनोपादानात् इह तथोरित्यस्य पुनरुपादानं कार्यत्वार्थं, तथा चायमन्वय-चतुर्थान्तस्य तयो  
अध धातोर्विहितयो स्थाने थ इति । तदाह-चतुर्थान्तस्येति । दुहेस्तृचि तुमि धत्त्वे गुणेऽनेन धत्त्वे तृतीयत्वे-दोग्धा, दोग्धुमिति । ३९  
तस्मादेव अथतन्यास्त्रासोर्धत्त्वेऽनेन धत्त्वे तृतीयत्वेऽपि सको छकि च-अदुग्घ, अदुग्घा इति । लिहेस्तृचि तुमि दत्त्वे गुणेऽनेन धत्त्वे तस्य  
"तवर्गस्य०" इति दत्त्वे तस्य "दस्त्रे" इति ढलोपे च-लेढा, लेढुमिति । तस्मादेव अथतन्यास्त्रयाधो ढत्त्वेऽनेन धत्त्वे तस्य "तवर्गस्य०" इति  
दत्त्वे "दस्त्रे" इति ढलोपदीर्घयोश्च सको छकि अटि च-अलीढ, अलीढा इति । एव बुधेर्लभेश्च तुचि तुमि चैकत्रगुणे, अथतन्यास्त्रया ४२  
सोश्च सिच "धुहृहृस्त्रागुणितस्तयो" ४।३।७०। इति छक्यटि चानेन धत्त्वे तृतीय-बोद्धा, वोद्धुम्; अबुद्ध, अबुद्धा इत्यादि । धागो  
रूपाणि-घत्तः, धत्थः, दात्तः, दात्थ इति । अन्यस्य रूपद्वय यङ्लुचन्तधयतेरपि बोध्यम् । यङ्लुचन्तधयतिविषये धत्वमिच्छतां मतमुप-  
न्यस्यति-केचित्त्विति । देवनन्याचार्या । यङ्लुचन्तधयतेरस्येव वा तसि यसि पञ्चमीते चानेन धत्त्वे-दाद्ध इत्यादय । ज्ञानभुत्वमिति । ४५  
ज्ञानं धुप्यत इति किपि, ज्ञानबुधो "भावे" इति त्वे "गडदवादे०" इति आदिचतुर्थत्वे धातोर्विहितयोस्वयोरिति विहितविशेषणात् नात्रो विहितस्य  
धकारो न भवति ॥ ७९ ॥



## नाम्यन्तात् परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ङः ॥ २ । १ । ८० ॥

रेफान्तात् नाम्यन्ताच्च धातोः परासां परोक्षाद्यतन्याशिषां विभक्तीनां यो धकारस्तस्य ढकार आदेशो भवति । (२-)  
१ अतीर्द्धम्, तीर्पीर्द्धम्; तुष्टुद्दे, चकृद्दे, अदिद्धम्, अधिद्धम्, अचेद्धम्, अन्योद्धम्, अकृद्धम्, चेपीद्धम्, कृषीद्धम् । नाम्य-  
न्तादिति किम् ? अपगध्वम्, पक्षीध्वम् । नाम्यन्तादिति धातोर्विशेषणं किम् ? ववसिध्वे, आसिध्वम्, आसिपीध्वम् ।  
परोक्षाद्यतन्याशिष इति किम् ? स्तुध्वे, स्तुध्वम्, अस्तुध्वम् ॥ ८० ॥

६

## हान्तस्थाञ् जीड्भ्यां वा ॥ २ । १ । ८१ ॥

हकारादन्तस्थायाश्च पराञ् जेरिटश्च परासां परोक्षाद्यतन्याशिषां सवन्धिनो धकारस्य ढकारो वा भवति । वचनभेदो  
यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः । (३ः) अग्राहिद्धम्, अग्राहिध्वम्; ग्राहिपीद्धम्, ग्राहिपीध्वम्, अनाधिद्धम्, अनाधिध्वम्, नाधिपी-  
१ ढम्, नाधिपीध्वम्; अकारिद्धम्, अकारिध्वम्; कारिपीद्धम्, कारिपीध्वम्, अलाविद्धम्, अलाविध्वम्; लाविपीद्धम्, लावि-  
पीध्वम्; परोक्षायां जिर्न संभवतीति नोदाहृतः । इटः-जगृहिद्धे, जगृहिध्वे; अग्रहीद्धम्, अग्रहीध्वम्, ग्रहीपीद्धम्, ग्रहीपी-  
ध्वम्, उपदिदीयिद्धे, उपदिदीयिध्वे; आयिद्धम्, आयिध्वम्, अयिपीद्धम्, अयिपीध्वम्, तत्वरिद्धे, तत्वरिध्वे, अत्वरिद्धम्,  
२ अत्वरिध्वम्, त्वरिपीद्धम्, त्वरिपीध्वम्, ववलिद्धे, ववलिध्वे; अवलिद्धम्, अवलिध्वम्, सवलिपीद्धम्, संवलिपीध्वम्, लुलुविद्धे,  
लुलुविध्वे, अलविद्धम्, अलविध्वम्; लविपीद्धम्, लविपीध्वम् । हान्तस्थादिति किम् ? घानिपीध्वम्, आसिपीध्वम् ॥ ८१ ॥

नाम्यन्तात् परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ङः । परोक्षाद्यतन्याशिषां धातोर्भावाद् धातोरिति लभ्यते, तत्र च नाम्यन्तादिति  
२५ विशेषणम्, “विशेषणमन्त ” इति विशेषणत्वात् नाम्यन्तादित्यत्र धातुविशेषणतापत्ते तदन्तबोधेऽन्तग्रहण स्पष्टप्रतिपत्तये । नाम्यन्ताद्भातोरिति  
परोक्षादीनां विशेषणम् । ताद्य तेन विशेषिता धकारस्य कार्येणो विशेषणम्, तथा च-रेफान्तात् नाम्यन्ताच्च धातो परोक्षाद्यतन्याशिषां च ङ  
इत्यन्वयस्तदाह-रेफान्तादित्यादि । ननु धकारस्य कार्यभाक्त्वात् परोक्षादिभिष विशिष्यमाणत्वात् प्राधान्यम्, परोक्षादीनां तु निरर्थाद्गुण-  
२८ त्वम्, गुणप्रधानसंनिधौ च प्रधानस्यैव धकारस्य नाम्यन्तेन धातुना संबन्धो न्याय्य इति चेत्, उच्यते-नाम्यन्तधातुना धकारे विशिष्यमाणे चकृद्दे  
अचेद्धमित्यत्रैव स्यात्, चेपीद्धमित्यादौ न स्यात्, सीशब्देन नामिनो व्यवधानात् । यद्यपि तत्र “येन नाव्यवधानेन तेन व्यवहितेऽपि स्याद्” इति  
न्यायेन सीशब्दव्यवधानेऽपि मूर्द्धन्य कर्तुं शक्यते, तथापि वचनसामर्थ्यादर्थप्रतिपत्तौ मन्दविषय प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । स च विशेषणे  
२९ परोक्षादिभिस्तु विशिष्यमाणे सर्वत्र सिध्यति । अत्र हि विशेषणकृत तावदुपकारमनुभवति पश्चात्प्रधानेन संबन्धे, अन्तर्धस्योपकारकत्वाद्योगात्,  
यथोक्त-“गुण कृताङ्गसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते” इति । तथाच कृतविशेषणसंबन्धेरेतैर्धकारस्य विशेषणे चेपीद्धमित्यादावङ्गिष्ठयैव कल्पनया  
इत्यसिद्धे प्रधानस्य महादुपकार इति सर्वं समञ्जसम् । अतीर्द्धमिति । तरवरेद्यतन्या ध्वमि, “सो धि वा” ४।३।७२। सिचो लुकि, “अता  
३४ किञ्चिद्” ४।४।११६। इतीरादेशे, “श्वादेर्नामिनो” इति धीर्धत्वे, “अद् धातो” इत्यङ्गमेऽनेन घस्य ढत्वे रूपम् । आशिपि सीध्वमि-  
तीर्पीर्द्धमिति । रेफात् परोक्षाधकारो न संभवतीति नोदाहृतः । ‘डुग्’ स्तुती, ‘डुग्’ कर्णे आभ्यां परोक्षात् “इन्व्यसंयोगात् परोक्षा किद्धव”  
३५।३।२१। इति कित्वाद्गुणभाव-तुष्टुद्दे, चकृद्दे इति । षोष पूर्ववत् । अदिद्धम्, अधिद्धम् इति । ददाति दधात्वौ “इष स्यात्”  
३७।३।४१। इतीकारे ध्वमि सर्वत्र “सो धि वा” इति सिचो लोपे भवत । अचेद्धम्, अन्योद्धमिति । निनोतिच्यबसो “नामिनो गुणो”  
इति गुणेऽन्यत्सर्वं प्रावद्वोध्यम् । अकृद्धम्, कृषीर्द्धमिति । “अवर्णात्” इति कित्वाद्गुणभाव-“पत्ते” “वज कनाम्” इति कत्वे, “तृतीय-  
३८ तृतीयचतुर्थी” इति गत्वे-अपगध्वमिति । “सो धि वा” इति विकल्पेन सिचो लोपप्रवृत्त्या पक्षे “अपगध्वम्” इत्यत्राद्यतन्या ध्वमि सिचि कत्वे  
३९ पत्ते ढत्वे “तवरीस्य” इति ध्वनो घस्य ढत्वे च सिद्धिः । अस्यैव सीध्वमि-पक्षीध्वमिति । “वसिक्” आच्छादने धातो परोक्षाध्वे प्रत्यये  
“स्कृत्तृ” ४।४।८१। इतीट प्रत्ययग्रहणेन ग्रहणात् धातो नाम्यन्ताभावात् ढत्वाभावे-ववसिध्वे इति । एव “आसिक्” उपवेशने धातो-  
रद्यतन्या ध्वमि सिचि इति “सो धि वा” इति सिचो लुकि-आसिध्वमिति । आशिप सीध्वमि-आसिपीध्वमिति । स्तौतेर्वैतमानायां च  
३३ पक्षमीश्वस्त्वोर्ध्वमि च “शिदवित्” ४।३।२०। इति कित्वात् गुणाभावे-स्तुध्वे इत्यादि ॥ ८० ॥

हान्तस्थाञ् जीड्भ्यां वा । अत्र परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ङ इत्यनुवर्ते । हान्तस्थादिति समाहारद्वन्द्वात् पक्षनी । मिष इद्च  
इति इतरेतरयोगात् यथासंख्याभावार्थं पक्षमीध्ववचन-जीड्भ्यामिति । हान्तस्थात् जीड्भ्यां परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ङो वा इत्यन्वयस्तदर्थ-  
३६ माह-हकारादित्यादि । अग्राहिद्धवमित्यादि । ‘ग्रहीश्’ उपादाने, ‘गीर्’ प्रापणे, ‘डुग्’ कर्णे, ‘डुग्’ छेदने एभ्य परोक्षायां यिटोऽ-  
सम्भावात् अद्यतन्याशिषोर्ध्वमि सीध्वनो “स्वरप्रहृद्यहन्त्य स्याजिशीश्चतन्यां निद वा” ३।४।६९। इति जिति, “भ्रिणिति” ४।३।५०। इति  
“नामिनोऽकलिहृष्टे” ४।३।५१। इति च वृद्धौ, “सो धि वा” इति सिचो लुकि, अनेन ढत्वे सिध्यति । जगृहिद्धे इत्यादि । ग्रहे परोक्षायां ध्वे,  
३७ “स्कृत्तृ” इति इटि, “ग्रहज्वभ्रत्प्रच्छ” ४।१।८४। इति ध्वति, द्विवचनादावनेन ढत्वे भवति । उपदिदीयिद्धे इत्यादि । ‘रीक्’  
कथे, ‘अयि’ गतौ, “खित्तिरिध्” संप्राये, ‘वलि’ संवर्णे, ‘व्रग’ छेदने इत्येभ्यो ध्वेध्वमि सीध्वम् “स्कृत्तृ” इति “स्वाशितोऽश्रोणादेरिद”  
४।४।३२। इति च यथासंभवमिति सिद्धं च, “अद् धातो” इत्यङ्गमे, “स्वरादेस्तासु” ४।४।३१। इति वृद्धौ “धीय् षीट किटति त्वरे”  
४३।३।३३। इति धीषो धीयादेशेऽनेन ढत्वे भवति । घानिपीध्वम्, आसिपीध्वमिति । इतरेरस्यैव सीध्वमि “स्वरप्रहृद्यह” इति जिति,  
“भ्रिणिति ध्व” ४।३।१०१। इति घनादेशे, “भ्रिणिति” इति वृद्धौ च सिध्यत । “एकानुषधमहणे न ह्यनुषधकस्य” इति न्यायज्ञापनार्थं भिप्रदणम् ।  
इदं स्वतन्त्रत्वात् इटस्तु प्रत्ययावयवत्वेन प्रत्ययत्वात् धातोर्नाम्यन्ताभावात् पूर्वेण न आमोटीत्यत्रो विभाषेयमिति ॥ ८१ ॥

हो धुट्पदान्ते ॥ २ । १ । ८२ ॥

हकारस्य धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च ढकारादेशो भवति । (धुटि-)लेढा, लेक्ष्यति, वोढा, वक्ष्यति । पदान्ते-मधुलिट्, मधुलिङ्म्याम्, मधुलिङ्मिः, मधुलिङ्त्वम्, मधुलिङ्घत्, मधुलिङ्कल्पः । धुट्पदान्त इति किम् ? मधुलिङ्घौ ३ असत्पर इत्येव ? गुडलिङ्मान्-अत्र ढत्वतृतीयत्वयोरसत्त्वात् “मावर्णां०” ॥ २ । १ । ९४ ॥ इत्यादिना मतोर्मो वत्त्व न भवति । ऊढमाख्यत् औजढत्-अत्र ढत्वधत्वयोरसत्त्वादन्त्यस्वरादिलोपस्य च द्वित्वे स्थानिवत्त्वादकारेण सह हेतेति द्विर्वचनम् । केचित्त्वन्त्यस्वरादिलोपस्य स्थानित्व(वत्व)मनिच्छन्तो हतीति द्वित्वे ऊढमूढि<sup>३</sup> वाख्यत् औजिढदिति मन्यन्ते ॥८२॥ ३

भ्वादेर्दादेर्धः ॥ २ । १ । ८३ ॥

भ्वादेर्घातोर्घो ढकारादिरवयवस्तदवयवस्य हकारस्य धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च घकारादेशो भवति, ढस्यापवादः । (धुटि-) दग्धा, दग्धुम्, धक्ष्यति, दोग्धा, दोग्धुम्, धोक्ष्यति, एषु व्यपदेशिवद्भावाद् धातोर्वयवस्य दादित्वम् ९ अघाक्षीत् । पदान्ते-अधोर्गं, गोधुक्, काष्ठधक्, गोधुग्म्याम्, काष्ठधग्म्याम्, गोधुक्षु, काष्ठधक्षु । भ्वादेरिति किम् ? दामलिङ्मिच्छति क्यन्, किप्-दामलिट्, एव ढपदधुट् । दादेरिति किम् ? सोढा, मधुलिट् । ह इत्येव ? अदात् । धुट्पदान्त इत्येव ? गोदुहौ, गोदुहः ॥ ८३ ॥ १२

मुहद्गुहस्तुहस्त्रिहो वा ॥ २ । १ । ८४ ॥

एषां संबन्धिनो हकारस्य धुटि प्रत्यये पदान्ते च घकारादेशो वा भवति, द्रुहः प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विकल्पः । मुह-

हो धुट्पदान्ते । अत्र ढ इत्यनुवर्तते, हो धुट्पदान्ते ढ इत्यन्वयस्तदर्थमाह-हकारस्येत्यादि । धुटि प्रत्यये उदाहरति-लेढा १५ इत्यादि । उक्ता प्रक्रिया । वोढा इति । ‘वर्हो प्राणणे’, धातोस्तुत्वि, अनेन ढत्वे, “सहिवहेरोच्चावर्णस्य” इति ढलोपे भोत्वे च रूपमेतत् । मधुलिङ्घदिति । मधुलिङ्घि इति विग्रहे “स्यादेरिवे” इति वृत्ति भवति । मधुलिङ्कल्प इति । ईपदपरिसमाप्तो मधुलिङ्घ इति “अनमवादे-रीषद०” ७।३।१।१ इति कल्पमि भवति । ननु गुडलिङ्घि विद्यतेऽस्येति “तदस्यास्त्यसिधिति मनु” ७।३।१।१ इति मतोर्भो ढत्वे तृतीयत्वे च १८ “मावर्णांतोपान्त०” इति वकार कस्मान्न भवतीत्याह-अत्र ढत्वतृतीयत्वयोरित्यादि । ऊढमारयदिति । वहे के “यजादि०” ४।१।७।१ इति व्युत्ति, हस्य ढत्वे, “अघक्षतुर्थात्०” इति ढत्वे, “तवर्गस्य०” इति ढत्वे, “ढस्त्वट्टे” इति ढलोपे रीषत्वे च-ऊढ, तमाख्यदिति विग्रहे णिन्वि, “त्रन्त्यस्वरादे” ७।४।४।३ इत्यकारलोपे, दौ, ढत्वादीनां परेऽसत्त्वात् णिङ्कृतस्य स्थानित्त्वात् हत इति द्वित्वे, अनादिव्यञ्जनलोपे, “गहोर्ज” २१ इति जत्वे, समानस्य लसत्त्वात् सन्वद्भावाभावे “स्वरादेस्ता०” इति वृद्धौ-औजढत्, लयन्तस्य च औजिढत् इति । केचित्त्विति । चन्द्रगो-सिदेवनन्दिप्रसृतय । ते हि णेरिष्टवद्भाव विधाय “इष्टे” इत्यन्त्यस्वरादिलोपमिच्छन्ति, णौ कृतस्य च स्थानिवद्भावो न त्विङ्कृतस्येति भावः ॥ ८२ ॥

भ्वादेर्दादेर्धः । अत्र धुट्पदान्ते इति ह इति चानुवर्तते । अधोगित्यादिसिद्धयर्थं भ्वादेरिति दादेरित्यस्य व्यधिकरण विशेषण, तस्य २४ धुट्पदान्त इति च हकारस्येत्यस्य, तथाचायमन्वय-भ्वादे दादे ह धुट्पदान्ते ष इति । तदर्थमाह-भ्वादेर्घातोर्घो ढकारादिरित्यादि । ढकारस्य लेढेत्यादौ धत्वानवष्टम्पस्य विषयस्य सद्भावात्, धत्वस्य तु तदतिरिक्तस्य विषयस्याभावात् तदपवादात् धत्वमित्यत आह-ढस्यापवाद इति । यद्वा परेऽसत्त्वात् ढत्वमनेनापोष्यत इत्यर्थं । दग्धेत्यादि । ‘दह’ मस्वीकरणे, ‘दुर्होक्’ क्षरणे, आभ्या पूर्ववत्पूर्वादां व्यपदेशिव-२७ द्भावाद्दादित्वादेनेन धत्वे चतुर्थत्वकत्वपत्वादिषु भवति । अघाक्षीदिति । ‘दह’ मस्वीकरणेऽन्तो दौ, “स तिजस्तोर्दस्यो” ४।३।६।५ इतीति, अनुस्वारेत्त्वात् “एकस्वारदनुस्वारेत्” ४।४।५।६ इतीडभावे, “व्यञ्जनानामनिटि” ४।३।४।५ इति वृद्धौ, धत्वकत्वपत्वादिषु च भवति । अधो-गिति । इहेर्धस्येत्यादि दिवो लृक्, अडागमे, रपान्यगुणे, धत्वे धत्वे कत्वे च रूपम् । गोधुगित्यादि । गां दोगिध, काष्ठ दहतीति किप्, १० सिम्भासुष्ठु पूर्ववत् यथासमव धत्वधत्वकत्वपत्वादिषु सिद्धयति । ननु लक्ष्ये घकारस्य स्वरूपेणावस्थानाभावात् “धुट्स्त्वतीय” इति गकारेण भाव्यमिति स एव उच्यतामिति चेत्, मैवम्, घकाराभावे चतुर्थान्तत्वाभावात् अधोगित्यादौ “गढद्वादेश्च०” इत्यादिना आदेश्वृत्तौ न स्यात् तदर्थ-मुपादानम् । भ्वादेरिति किमिति । ननु किमर्थं भ्वादेरित्युपाधीयते ? “भ्वादेर्नामिनो०” इत्यत एव तदनुष्टेत्स्वत एव तत्ताध्यायसिद्धे, यथा ११ “गढद्वादेश्च०” इत्यत्र, न च “स्रस्वस्रस्सन्डहो द”, “सो रु”, “अह”, “रो लृप्यरि”, “धुट्स्त्वतीय” “हो धुट्पदान्ते” इत्यादावनुवर्तनादोप इति वाच्यम्, सन्वत्स्यनुवर्तनात् स्वसंबन्धैर्नैवाऽकाङ्क्षानिष्ठतेस्त्वेष्वप्रवृत्तेर्दोषाभावादिति “गढद्वादेश्च०” इत्यत्र नामिनो वोरित्यादीनामनाकाङ्क्षणा निवृत्तेर्भ्वादेरित्यवयवषष्ठ्यन्तस्य गढद्वादिना आकाङ्क्षा पूर्ववत्, एवमन्यत्रापि तदनुवर्तनादिनेति । एव तर्हि “गढद्वादेश्च०” इत्यत्र यथाऽनुवर्तनात् १६ धातुमात्रार्थं तद्भवति न तु पठितधात्वर्थं, अन्यथा तुण्डिक् गढ्द्विल्लाघसिद्धे, न च कृण्डमुम्भतीति कृण्डोवित्यादि व्याट्त्त्यर्थं, लोके प्रयुज्यमानानां शब्दानामन्वाख्यायकं शास्त्रं तत्तत्स्यत्वादकं, न चैतत्किञ्चिन्ता प्रयुज्यन्त इति । एवमत्रापि धातुमात्रपरिग्रहे क्यञ्चन्तदामलिङ्गित्यादिप्रसङ्ग, अस्ति ह्यत्र दादिर्घातुर्होन्वथेति तस्मात् विशिष्टसंबन्धिप्रतिपत्त्यर्थं भ्वादेरित्युपाधीयतेऽन्यथा संबन्धिमात्रप्रतीतेरत्रापि स्यादिति भावः । नन्वेव ३९ यदि विशिष्टसंबन्धिप्रतिपत्त्यर्थं भ्वादेरित्युपाधीयते तर्हि भ्वादेर्दादेरित्येतत्समानाधिकरण विशेषण भवतु-ढकारादेर्घातोरेति, तथाच दामलिङ्घिति भवत्यस्य दादिर्न तु भ्वादि, समुदायस्य धातुष्वपाठत्वात् । अधोगित्यापि दादिप्रहणेन तद्भक्तत्वाददो प्रहणात् धत्व भविष्यति पाठे षस्य दादि-त्वादिति चेत्, सत्यम्, अधोगित्यादौ पाठे दादित्वेऽपि प्रयोगे तददर्शनात् मन्दमतिर्धत्वाभावमाशङ्कते, अनेनैवाशयेन धृत्तावयवस्येति व्यावृत्तिर्नो-४२ पातेति । सहेत्त्विति सोढेत्यादौ दादित्वाभावात् धत्वाभावः ॥ ८३ ॥

मुहद्गुहस्तुहस्त्रिहो वा । अत्र धुट्पदान्ते इति ह इति च इति चानुवर्तते, मुहद्गुहस्तुहस्त्रिहो ह धुट्पदान्ते ष वा इत्यन्वयस्तदर्थ-माह-एषामित्यादि । ‘मुहोच्’ वैचित्त्ये, ‘होश्च’ जिर्घासायाम्, ‘षुहोच्’ उद्विरणे, ‘णिहोच्’ श्रौते, एषु हहे’ पूर्वण प्राप्तेऽनेन धत्वं विधौ-४५

१ स्थानित्वाद् ० पु० । २ इति दि० पु० । ३ िदि चा० पु० । ४ ञ्क पु० । ५ धुग्म्याम् पु० । ६ धुष्ठु पु० । ७ षि० पु० ।

मोग्धा, मोढा, उन्मुक्, उन्मुद्, उन्मुग्भ्याम्, उन्मुङ्भ्याम्, द्रुह्-द्रोग्धा, द्रोढा; मित्रध्रुक्, मित्रध्रुद्, मित्रध्रुग्भ्याम्, मित्रध्रुङ्भ्याम्, स्नुह्-स्रोग्धा, स्रोढा, उत्स्रुक्, उत्स्रुद्, उत्स्रुग्भ्याम्, उत्स्रुङ्भ्याम्, स्निह्-स्नेग्धा, स्नेढा, चेलस्रिक्, चेलस्रिद्, चेलस्रिग्भ्याम्, चेलस्रिङ्भ्याम् । ध्रुद्पदान्त इत्येव ? उन्मुहौ, उन्मुहः । मुहादेरिति गणनिर्देशमकृत्वा धातुपरिगणन यद्भ्रुप्यपि विध्यर्थम्-मोमोग्धि, मोमोढि, दोद्रोग्धि; दोद्रोढि ॥ ८४ ॥

### नहाहोर्धतौ ॥ २ । १ । ८५ ॥

६ नहेर्द्रस्थानाहश्च धातोः सवन्धि नो हकारस्य ध्रुटि प्रत्यये पदान्ते च यथासंख्यं धकारतकारावादेशौ भवतः । (नहि-) नद्धा, नत्स्यति, उपानत्, परीणत्, उपानञ्याम्, उपानत्कल्पः; आह्-आत्थ, आहेर्नियतविषयत्वात् पदान्तता नास्ति । ध्रुद्-पदान्त इत्येव ? उपनहति, उपानहौ; उपानहः । आह, आहतुः, आहुः, आहोरादेशान्तरकरणम् “अधश्चतुर्थान्तयोर्धः” १ ॥ २ । १ । ७९ ॥ इति धकारस्य घत्वनिवृत्त्यर्थम् ॥ ८५ ॥

### चजः कगम् ॥ २ । १ । ८६ ॥

चकारजकारयोर्ध्रुटि प्रत्यये परे पदान्ते च ककारगकारावादेशौ भवतः । (चः-) चक्ता, चक्तुम्, चक्ष्यति, ओद-  
१२ नपक्, त्वक्, वाक्, वाग्भिः, वाक्त्वम्; जः-त्यक्ता, त्यक्तुम्, त्यक्ष्यति, अर्धभाग्, स्वभग्, तृष्णक् । ध्रुद्पदान्त इत्येव ?  
वच्मि, वाचौ, वाचः । प्रत्यय इत्येव ? इच्छति, मज्जति । कथ तच्चञ्चुः ?, तच्चणः ?, तच्चरति ?, उच्यते-अत्र दस्य परत्वात्  
तृतीयत्वे पश्चाच्चवर्गत्वे प्रथमत्वम्, ततस्तृतीयस्य “चजः कगम्” ॥ २ । १ । ८६ ॥ इति परेऽसत्त्वेन चजयोरमा-  
१५ वात् कत्वगत्वे न भवतः, अञ्जलावित्यत्र तु सज्ञाशब्दत्वात् न भवति ॥ ८६ ॥

यतेऽत आह—द्रुह् इत्यादि । एषा “स्ताथशितो” ४।४।३२। इति निलमिति प्राप्ते “ध्रुगौदित ” ४।४।३८। इतीडमावपक्षे—मोग्धेत्वादीन्मुदाहरणानि । मित्रध्रुगिति । मित्राय द्रुहातीति किपि भवति । चेलस्रिगिति । चेलेन स्रिष्यतीति किपि रूपम् । ननु किमेते मुहादय स्वरूपेणोपा-  
१८ धीयन्ते ? मुहादेरित्येवोच्यता, न चाधिकानां प्रसङ्ग, तदनन्तरं श्रुत्करणत्, तद्धि पुषादिपरिसमाप्त्यर्थमपि भविष्यतीति चेत्, उच्यते-गणनिर्देशे  
‘तिवा शवाऽनुवन्धेन निर्दिष्ट यद्गणेन च’ इति घचनात् यद्भ्रुपे न स्यात् अत आह—मुहादेरितीत्यादि । ननु बोभवीतीत्यादय एव नियता  
यद्भ्रुवन्ता लोके प्रयुज्यन्त इत्येषां प्रयोगो न भविष्यति, एव तर्हि स्पष्टार्थं पाठ ॥ ८४ ॥

२१ नहाऽऽहोर्धतौ । अत्र ह इति ध्रुद्पदान्त इति चाऽनुवर्तते, नहाऽऽहो ह ध्रुद्पदान्ते घतौ इत्यन्वयस्तदर्थमाह—नहेरित्यादि ।  
“भ्रूग पश्चानां पद्माहश्च” ४।२।११। इति विहित आह श्रुत्वेऽन्यस्यासंभवादत् आह—भ्रूस्थानाहश्चेति । “णर्हीच्” बन्धने, ‘भ्रूगक्’ व्यकार्या  
वाचि, एतौ हकारस्येत्वन्यधिकरणविशेषणतया भन्वित । नहाहोर्धताविति कार्यकारिणोरुभयोर्द्वित्वनिर्देशो यथासंख्यार्थ । ध्रुयुदाहरति—नद्धे-  
२४ त्यादि । पदान्ते उदाहरति—उपानदित्यादि । उपनहति परिणह्यतीति किपि, “गतिकारकस्य नहिश्चित्तुविष्यधिकृत्तिसहितनौ कौ” ३।२।८५।  
इति धीर्धत्वे, “अध्रुवरुपवर्णान्तरो णहिरुमीनाने” ३।३।७७। इति णत्वे सौ च भवति । आत्येति । भ्रूगो वर्तमानासिवस्थधादेशेऽनेन हकारस्य  
तकारे रूपम्, नियतविषयत्वादस्य पदान्ते नोदाहृतम् । उपनह्यतीति । उपपूर्वाणहेस्त्विति “दिवादे इय” ३।४।७२। इति इये भवति ।  
२७ आह्येत्यादि । भ्रूगस्त्वित्तुसन्धनीनां स्थाने णव्भ्रुत्सुसत्सु कृतेषु आहादेशे च सिद्ध्यति । नन्वाहेरपि घकारे “अधोपे प्रथमो” इति तकारे  
सति आत्येति सिध्यतीत्युभयोर्धकार एवोच्यताम् किन्तकारकरणेनेति चेत्, नैवम्, घकारे सति धकारस्य घत्वप्रसङ्ग इत्याह—आह्येत्यादि ।  
न च सिवस्थवविधानसामर्थ्यादेव घत्व न भविष्यति, अन्यथा सिवो घत्वमेव विदध्यादिति वाच्यम्, लाघवार्थं तत्स्यादन्यथा “भ्रूग पश्चानां”  
३० इत्यत्र सिवो घ इति सूत्रान्तरे कृते गौरव स्यात्स्मात् सूक्—घत्वनिवृत्त्यर्थमिति ॥ ८५ ॥

चजः कगम् । अत्र ध्रुद्पदान्ते इत्यनुवर्तते, चज ध्रुद्पदान्ते कगमित्यन्वयस्तदर्थमाह—चकारजकारयोरित्यादि । चक्ता  
इत्यादि । वचेर्भ्रूगो वा तृजादिषु अनेन कत्वे भवति । पदान्ते उदाहरति—ओदनपगिति । ओदन पचतीति किपि सौ तल्लक्ष्यनेन कत्वम् ।  
३३ त्वक् इति । ‘त्वचद्’ सवन्धेऽत किपि, ‘तन्मि’ निस्तारे, अतो वा “तनेर्ह्वक्” उणा०८७२ । इति ह्वचि भवति । जकारस्योदाहरति—त्यक्ता  
इत्यादि । ‘त्यज’ हानौ, अतस्तृजादिष्वनेन गत्वे प्रथमत्वे सिद्ध्यति । अर्द्धभागिति । “भजौ” सेवायामित्यत “भजो विष्” ५।१।१४६। इति  
विणि रूपमेतत् । स्वभ्रूक्, तृष्णगिति । ‘भ्रूगक्’ शये, ‘भ्रूग्वच्’ पिपासायाम्, आभ्यां “तृषिष्ठविस्वो नजिह्व” ५।२।८०। इति नजिह्वि  
३६ भवति । वच्मीति । वचेर्भिवि भवति । इच्छतीति । ‘इषद्’ इच्छायाम्, तिषि, षे, “गमिषयमश्च” ४।२।१०६। इति छत्वे प्रथमत्वे च  
रूपम् । मज्जति । ‘दृमस्त्रावत्’ श्रुद्धावत् “सस्य शौष” इति सकारस्य घत्वे, तस्य “तृतीयस्तृतीयचतुर्थे” इति जकारे भवति । “वेन वित्त”  
३९ कस्माच्च भवति ? नैवम्, परेऽसदिति परे गत्वे कत्वे च पूर्वस्य दक्करस्यासत्त्वे न तत्स्थानयोश्चयोरप्यभावात् कगयोरभाव इत्याह—कथमि-  
त्यादि । अच् च ह्यच् च अञ्जलावित्यत्र चकारस्य सत्त्वेऽपि सज्ञाव्याघातप्रसङ्गात् कत्व न भवति, अच् इति पूर्वं स्वरा सज्ञायन्ते कत्वे समान-  
चञ्ज्ञा स्यादित्याह—अञ्जलावित्यत्रेत्यादि । नन्वत्र सूत्रे किमर्थमादेशद्वयविधानम् ? यावता कविधान गविधान वा क्रियताम्, ययालक्षण  
४२ कस्य गत्वे गस्य कत्वे च सर्वसाध्यसिद्धेरिति चेत्, सत्य, गामावे लमादय, फामावे पक्तादयो न सिद्धेयुरिति कगमद्वयम् ॥ ८६ ॥

यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राजः शः पः ॥ २ । १ । ८७ ॥

यजादीनां धातूनां चजः शकारस्य च ध्रुटि प्रत्यये परे पदान्ते च पकार आदेशो भवति । यज्-यष्टा, यष्टुम्, देवेद्, उपयद्, उपयड्भ्याम्; सृज्-स्रष्टा, स्रष्टुम्, तीर्थसृद्, तीर्थसृड्भ्याम्; मृज्-मार्था, मार्ष्टुम्, कंसपरिमृद्, कंसपरिमृड्भ्याम्, राज्-सम्राद्, सम्राड्भ्याम्; भ्राज्-विभ्राद्, विभ्राड्भ्याम्, राजभ्राजोः क्तिरेव ध्रुद्, अन्यस्तु इय व्यवधीयते-राष्टिः, आष्टिः; केचित्तु क्ति नेच्छन्ति । भ्रस्ज्-भ्रष्टा, भ्रष्टुम्, भर्था, भर्ष्टुम्, धानाभृद्, धानाभृड्भ्याम्; व्रथ्-व्रथ, व्रथुम्, मूलवृद्, मूलवृड्भ्याम्, परिव्राज्-परिव्राड्, परिव्राड्भ्याम्; “दिद्युद्दद्” इत्यादिना क्विन्तस्यैव निपातनात् ध्रुव्यसंभवात् नोदाहृतम् । शकारान्तलिश-लेष्टा, लेष्टुम्, लिद्, लिड्भ्याम्, आदेशोऽपि शकारो गृह्यते-प्रष्टा, प्रष्टुम्, शब्दप्राड्, शब्दप्राड्भ्याम्, राजिसहचरितस्य भ्राजेर्ग्रहणात् ‘एजृद्, भ्रैजृद्’, ‘भ्राजि’, दीप्तावित्यस्य गत्वमेव-विभ्राक्, विभ्राग्भ्याम्, अत एव भ्राजेरात्मनेपदिनोऽपि ‘राजृग्’, ‘दुभ्राजृग्’; दीप्तावित्युमयपदिषु पुनः पाठः साहचर्यार्थम् । ध्रुदंपदान्त इत्येव ? देवेजौ, देवेजः, रजुसृजौ, कंसपरिमृजौ, सम्राजौ, विभ्राजौ, धानाभृजौ, मूलवृथौ, परिव्राजौ, शब्दप्रागौ, ‘उच्छै’-समुशौ । यजादिधातुसाहचर्यात् शकारस्यापि धातोः सचन्विन एव ग्रहणादिह न भवति-निशाशब्दस्यान्तलोपे “ध्रुट्स्त्वृतीयः” ॥ २ । १ । ७६ ॥ इति जकारे-निज्भ्याम्, सुपि तु जकारस्य प्रथमत्वे “सस्य शपौ” ॥ १ । ३।६१ ॥ इति सुपः सकारस्य शत्वे, “प्रथमादध्रुटि शञ्छः” ॥ १ । ३ । ४ ॥ इति छत्वे-निञ्छु, जकारस्य तु परे गत्वेऽसत्त्वात् “चजः कगम्” ॥ २ । १ । ८६ ॥ इति गत्वं न भवति । चज इत्येव ? वृक्षवृक्षमाचष्टे णौ, विचि-वृक्षव्, अत्र चकारस्य मा भूत् । कथमसृग् ? असृग्भ्याम् ? रजुसृग् ? रजुसृग्भ्याम् ? असृज्-रजुसृज्-शब्दयोरौणादिकयोर्भविष्यति । कश्चित्तु “अनुनासिके च च्छ्वः शृद्” ॥ ४ । १ । १०८ ॥ इति शत्वविधेरनित्यत्वज्ञापनार्थं छकारस्यापि पत्वमिच्छति, तन्मते-पथिप्राच्छौ, पथिप्राच्छः, शब्दप्राच्छौ, शब्दप्राच्छः । ‘उच्छैत्’ विवासे-समुच्छौ, समुच्छः ॥ ८७ ॥

यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्जव्रश्चपरिव्राजः शः पः । अत्र चज इति ध्रुदंपदान्त इति चासुवर्तते, यजसृजमृजराजभ्राज- १८  
 भ्रस्जव्रश्चपरिव्राज चज शब्ध ध्रुदंपदान्ते ष इत्यन्यवस्त्वदर्थमाह-यजादीनामित्यादि । ‘यजौ’ देवपूजादौ, ‘सृजत्’ विरगौ, ‘मृजौक्’ शुद्धौ, ‘राजृग्’ ‘दुभ्राजि’ शीतो, ‘भ्रस्जौक्’ पाके, ‘व्रथश्चौत्’ छेदने, परिपूर्वो ‘व्रज’ ‘गता’, कृतवीथं क्विन्त इत्येतेषामित्यर्थं । यष्टेत्यादि । यजेत्सृजादौ “एकस्वरा०” इति इडभावेऽनेन पत्वे “तवर्गस्य०” इति टत्वे सिध्यति । पदान्ते दर्शयति-देवेडिति । देवेभ्यो देवान् वा यजतीति क्विपि गृह्णीति २१  
 भवति । एवमुपयष्टित्यादि । स्रष्टेत्यादि । सृजेत्सृजादौ “अ सृजिद्दशोऽकिति” ४।४।१११ इति अकारे सिञ्चति । तीर्थसृडिति । तीर्थ सृजतीति क्विपि रूपमेतत् । मार्था, मार्ष्टुमिति । मृजेत्सृजादौ, “ध्रुगौदित” इतीडभावे, उपात्त्यणुने, “मृजोऽस्य शृडि” ४।३।४२। इति २४  
 द्वौ भवत । कंसपरिमृडिति । कथ परिमार्थति क्विपि रूपम् । सम्राद् इत्यादि । संराजते विभ्राजत इति क्विपि सिञ्चति । राजभ्राजोरित्यादि । “विर्षहादिभ्य” ४।४।३३ इति नियमाद्राजभ्राजोरमहादित्वात् ज्ञाविडभाव इत्यर्थं । राष्टिः, आष्टिरिति । राजन भ्राजनमित्यर्थं, “श्रादिभ्य” ५।१।१२। इति क्वि । केचित्त्विति । अनयो ज्यन्तयो प्रयोगाभावात् प्रयुक्तानामन्वाख्यानारम्भात् “यथालक्षणमप्रयुक्ते” इति २५  
 वचनात् अप्रयुक्ते लक्षणमेव न प्रयोक्तव्यमित्यभिप्राय, यदाह साधारण-किन्तप्यनयोरनभिधानाच्च भवति । भ्रष्टेत्यादि । भ्रस्जेत्सृजादौ भवति, “मृजो मर्जु” ४।४।६। इति पक्षे मर्जोदेशे-भर्था इत्यादि । धानाभृडिति । धाना मृजतीति क्विपि रूपम् । व्रथेत्यादि । व्रथेत्सृजादौ “ध्रुगौदित” इति पक्षे इडभावः । मूलवृडिति । मूल वृथतीति क्विपि भवति । परिव्राडिति । परिपूर्वङ्गजे “दिद्युद्दद्जग०” ५।२।८३। इति ३०  
 क्विपि धीर्धत्वे च सिध्यते । लेष्टेत्यादि । ‘लिशद्’ गतौ, अतस्त्वृजादौ “एकस्वरा०” इतीडभावे भवत । लिडिति । लिशतीति क्विपि रूपम् । इ०  
 केचित् “अनुनासिके च च्छ्वः शृद्” इति च्छिञ्चलुवर्त्यं तृजादौ शत्वमनिच्छन्तोऽत्र सृजे छप्रहणं कृत्वा छकारस्य पत्वमिच्छन्ति, अस्माक तु ३१  
 तृजादावपि शत्वस्येष्टत्वात् तद्भारेणैव पत्वसिद्धिरित्याह-आदेशोऽपीत्यादि । प्रष्टा, प्रष्टुमिति । ‘प्रच्छव्’ ङीप्सायाम्, ‘खरेभ्य’ इति द्वित्वे पूर्वस्य “अघोषे प्रथमो०” इति चत्वेऽनेन पत्वे भवत । शब्दप्राडिति । शब्द पृच्छतीति “दिद्युद्दद्” इति क्विपि धीर्धत्वे रूपम् । ननु ३३  
 विपूर्वस्य भ्राजे क्विन्तस्य गत्वे विभ्रागिति प्रयोगदर्शनात् कथ तत्सिद्धिरित्याह-राजिसहचरितस्येत्यादि । समुशाविति । ‘उच्छैत्’ विवासे, अत क्विपि शत्वे भवति । ननु श इति सामान्येनोपादानात् “मासनिशासनस्य०” २।१।१००। इति निशाशब्दस्यान्तलोपे शस्य पत्व ३४  
 कस्याश्च प्राप्नोति ? उच्यते-यजादयो धातवस्त्वात्साहचर्यात् शकारोऽपि धातोरेवेत्याह-यजादीत्यादि । सुपि तु जकारस्य प्रथमत्वे इति । इ०  
 “अघोषे प्रथमोऽशित” इति प्रथमत्वे इत्यर्थं । ननु परत्वात् प्रथम बाधित्वा “चज कगम्” इति जस्य गत्व कस्याश्च भवतीत्याह-जकारस्य ३५  
 तु इत्यादि । एव जकारस्य परेऽसत्त्वात् कारणाभावेन कार्योभावस्य सुलभत्वात् तत्स्यानिनधकारस्याप्यसत्त्वात् कत्वाप्रवृत्तिरिति । चज इत्येवेति । चज इत्याधिकारो वक्ररस्य कत्वादिर्मा भूदित्येतदर्थं । कथमिति । ननुपूर्वस्य क्विन्तस्य सृजे पत्वेन भाग्य तत्कथ गत्वमित्यर्थं । समाधत्ते- ३६  
 औणादिकयोरिति । अस्य इति न सञ्च्यत इति वा “ऋषिष्टुथि०” उणा० ८७४। इति किदञ्जि, बाहुलकादेकत्र धकारस्य ऋत्वेऽन्यत्र जकारा-  
 कारयोर्लौपि-असृगिति सिध्यति । पन्थान पृच्छत इति क्विपि शत्वविधेरनित्यत्वात् छकारान्तादौजसो-पथिप्राच्छावित्यादि । तन्मतस्य चापा-  
 सत्त्वात् कश्चित्दित्येकवचनेन निर्देश । स्वमतेऽन्यमते च ध्रुटि प्रत्यये पदान्ते च पूर्वाण्येवोदाहरणानि, विशेषस्त्वनयोरैकत्र पथिप्राच्छानि- ४२  
 त्यादि स्वमते च पथिप्राशावित्यादीति । एव समुच्छावित्यादानपि विशेष स्वमते-समुशावित्यादि ॥ ८७ ॥

## संयोगस्यादौ स्कोल्लुक् ॥ २ । १ । ८८ ॥

धुटि प्रत्यये पदान्ते च यः संयोगस्तस्यादौ वर्तमानयोः सकारककारयोर्लुग् भवति । ओलस्त्रैति-लम्नः, लम्नवान्, ३ साधुलुग्, साधुलम्न्याम्; मस्ज-साधुमक्, साधुमग्न्याम्; ओव्रश्चौत्-वृक्णः, वृक्णवान्, मूलवृद्, मूलवृड्म्याम्; अस्ज-मृष्टः, मृष्टवान्, यवमृद्, यवमृड्म्याम्; क्-तक्षौ, तष्टः, तष्टवान्, काष्ठतड्, काष्ठतड्म्याम्; अक्षौ-अष्टः, अष्टवान्, तृणाट्, तृणाड्म्याम्, तृणाटकल्पः; चक्षि-आचष्टे । ननु स्कोल्लुक्ः परस्मिन्नसत्त्वात् “पदस्य” ॥ २ । १ । ८९ ॥ इति संयोगान्तस्य लोपः स्यात्, नैवम्; स्कोः पदान्ते लुको विधानादसत्त्वाभावः, अन्यथा हि समुदायस्यैव लोपं विदध्यात् । संयोगान्तस्येति किम् ? साता, कृतम् । आदाविति किम् ? शङ्खेर्वङ्गश्च यद्भ्रूलुपि-शाशङ्कि, वावङ्कि । स्कोरिति किम् ? नर्नति । ‘अदद्’ अभियोगे, ‘अदद्’ हिसातिक्रमयोः, अनयोः किपि उत्तरसूत्रेण डकारटकारयोर्लुकि दकारस्य च प्रथमत्वे-क्षेत्रप्रात्, गृहप्रात् । अन्ये तु अङ्गि तोपान्त्यं पठन्ति, तन्मते-किपि अत्, अद् । अन्यस्त्वद्भतेः संयोगादेर्दकारस्यापि लोपमिच्छति, तन्मते-अद्, अड्म्याम्, तथा ‘अष्ट’ अतिक्रमहिंसयोरिति पठन् संयोगादेष्टकारस्यापि लोपमिच्छति-अद्, अड्म्याम् । धुट्पदान्त इत्येव ? साधुमजौ, काष्ठतक्षौ । प्रत्यय इत्येव ? पृथक्स्थाता । वास्यर्थम्, वाक्यर्थ- १२ मित्यत्र तु यत्वस्य वहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात् संयोगादित्वे सत्यनेनादेरुत्तरेण चान्तस्य लुग् न भवति । कथं मांसं पिपक्षति किप्-मांसपिपक् ?, वचो विवक्षते-वचोविवक् ?; कत्वस्य परस्मिन्लोपेऽसिद्धत्वात् न भवति ॥ ८८ ॥

संयोगस्यादौ स्कोल्लुक् । अत्र धुट्पदान्ते इत्यनुवर्तते, धुट्पदान्ते संयोगस्य आदौ स्को लुक् इत्यन्वयः । संयुज्जन्ते वर्षा

- १५ अस्मिन्निति “व्यञ्जनाद् घञ्” ५।३।१३२। इति घञि-संयोग, स च वैयाकरणसप्रदायाद् व्यञ्जननैरन्तर्यमुच्यते इति, धुटीत्यनेन च संयोगो विशिष्यते न स्कोरिति, सकारककारयोः संयोगादिभूतयोः पदान्तत्वस्य धुट्पदत्वस्य चाऽसंभवादित्याह-धुटिप्रत्यये पदान्ते च य इत्यादि । सकारककारयोरैकविभक्तिनिर्दिष्टयोरपि प्रत्येक लुका सवन्ध उभयोरैकत्र संयोगादित्वासंभवात् । लम्नः, लम्नवानिति । ‘ओलस्त्रैति’ ब्रौडे, अत १८ क्तकत्वो “हीयङ्ग्यैदित्त क्यो” ४।४।६१। इतीट्प्रतिषेधे, आदिसकारलोपे “चज कगम्” इति गत्वे, “स्यत्याद्योदित” ४।२।७०। इति क्तकारस्य नत्वे सिद्धवत् । साधुलुग् इति । साधु लज्जत इति किपि रूपम् । साधुमग्नित्यादि । मस्जे पूर्ववत् किपि भवति । वृक्णः, वृक्णवानिति । ब्रध्वे कादौ “प्रह्वथ” ४।१।८४। इति य्यति, दन्त्योपदेशसामर्थ्यात् “सस्य शशौ” इति कृततालम्यस्यापि लोपे, वस्य कृत्वे, २१ औदित्वात्कारस्य नत्वे, “रपुवर्णो” इति गत्वे भवत । मूलवृद्धिति । मूल वृक्षतीति किपि रूपम् । एव अस्त्रेय्युति सलोपे “यजसृज” इति पत्वे-मृष्टः, मृष्टवान्; यवमृडित्यादि । तष्ट इत्यादि । ‘तक्षौ’ तन्नूरणेऽत कादौ “धूर्गोदित” इतीहप्रतिषेधे संयोगादिककारलोपे “तवर्गस्य” इति टत्वे काष्ठ तक्षतीति किपि च सिद्धवति । ‘अक्षौ’ व्याप्तौ इत्यत पूर्ववत्-अष्ट, अष्टवानिति । तृणपूर्वाद्दस्मादेव किपि-तृणाट् २४ इति । “अतमवादे” ५।३।११। इति कल्पपि-तृणाट्कल्प इति । आरुपूर्वात् “चक्षिक्” व्यक्यायां वाचीत्यस्तु प्रत्यये-आचष्टे इति । नन्विति । अयं भावः-पूर्वं संयोगान्तलोपे सकारककारयोः संयोगादित्वाभावात् पश्चात् लुम प्राप्नोतीत्याक्षेपार्थः । परिहरति-नैवमिति । यदि हि पदान्ते संयोगाद्यो सकारककारयोर्लोपश्चात्सत्त्वात् “पदस्य” इति संयोगान्तलोप स्यात् तदा निर्विषयत्वात् स्कोल्लुगिविधानमनर्थक २७ स्यात् । ननु स्कोल्लुकि तु लुगिनेष्वरितार्थत्वात् कार्यासत्त्वपक्षमाश्रित्य “पदस्य” इति अत्र लोपप्रसङ्ग इति चेन्न, एव सति सकारककारादिसमुदायस्यैव पदान्तसंयोगो लोपं विदध्यादित्याह-अन्यथा हीत्यादि । अत्रेय वाचो युक्ति-संयोगेति प्रथम, पदस्येति द्वितीय, अन्ते चेति तृतीयं सूत्रं कुर्वीत, तत्राद्यस्यार्थ-धुटि प्रत्यये संयोगादित्ययोः सकारककारयोर्लुग् भवति, द्वितीयस्यार्थ-पदान्ते वर्तमानस्य सकारककारादिसंयोगस्य ३० सकल्पस्यापि लुक्, तृतीयस्यार्थ-“पदस्य” इत्यतः पदान्ते इत्यनुवर्त्य पदान्ते संयोगसंबन्धिनोऽन्तस्य लुग् भवतीत्यकरणत्वात् लुक् स्थानित्वं न भवति । ‘घोञ्’ अन्तकर्मणि, अस्मात् “आत्सन्ध्यक्षरस्य” इत्यात्वे वृत्ति-साता इति । करोते के-कृतमिति । शाशङ्कीत्यादि । ‘शकुब्’ शङ्कायां, वक्रुर् शङ्कायामत “उदित खराणोऽन्त” इति नागने, “व्यञ्जनादेकलर” इति यञि, तस्य “वहुल लुप्” इति लुपि, “सन्त्यब्ध” ३३ इति द्विवचनेऽनादिव्यञ्जनलोपे, “आ गुणावन्त्यादे” इत्यात्वे, “त्रां वृहवर्गे” इति परवर्गान्त्यत्वे, ति वि, आदिप्रहणात् ककारस्य संयोगान्तस्य लोपाभावे सिद्धवति । एव त्र्यस्यैर्वङ्गुपि-नर्नति इति । क्षेत्रप्रात्, गृहप्रात् इति । क्षेत्र प्राड्वि, गृह प्राड्वि इत्युभयोर्दोषान्त्ययोः किपि भवति । अन्ये त्विति । भीमसेनादयः, तन्मत्वस्वमतयोः किप्यविशेष, किन्तु “न यदन” इत्यत्र विशेष-अट्टिपिपत् इति । ३५ स्कोरिव संयोगादिदकारस्य लोपमिच्छतो मत स्वानभिमतमित्येकवचनेन निर्दिशति-अन्यस्त्विति । तस्यैव मते पूर्ववत् संयोगादेष्टकारस्यापि लोप इत्याह-तथेत्यादि । पृथक्स्थातेति । पृथगित्यव्ययपूर्वात् तिष्ठतेऽत्त्व, अस्ति ह्यत्र ककार सकारश्च संयोगादि, प्रत्ययामावात् लोपामाव । वास्यै इदं वाक्यै इदमित्यस्वपदेन विग्रहे “इवर्णो” इत्युभयपदाभितस्य यत्वस्यासिद्धत्वादेकपदाभितोऽन्तरात् संयोगाद्यो स्कोर्लोपं “पदस्य” ३९ इति संयोगान्तलोपश्च न भवतीत्याह-वास्यर्थमित्यादि । अनेनादेरिति । “संयोगस्यादौ” इत्यनेनोभयत्रादे सस्य कस्य च लुम भवतीति भावः । उत्तरेण चान्तस्येति । “पदस्य” इत्यनेनान्तस्य यस्य लुम भवतीत्यर्थः । लुगभावे हेतुस्तु-यत्वस्य वहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वादिति । कथमिति । पञ्चैर्वचस्य सति “सन्त्यब्ध” इति द्वित्वेऽनादिव्यञ्जनलोपे, “सन्त्यस्य” इतीकारे, “चज कगम्” इति ककारस्य “संयोगस्यादौ” ४२ इति लोपे प्राप्ते तस्यासत्त्वात् लोपामाव इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

१ लुक् पु० । २ अस्त्रेय्यु पु० । ३ तद् पु० । ४ सातम् म० म० । ५ अदक् पु० । ६ अट्टि पु० । ७ अट्ट पु० । ८ कृत् पु० ।

९ अस्मां पु० । १० चान्त० म० म० ।

## पदस्य ॥ २ । १ । ८९ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य लुगन्तादेशो भवति, स च परे स्यादिविधौ च पूर्वस्मिन्नसन् द्रष्टव्यः । पुमान्, पुम्याम्, पुंमिः, पुंभ्यः, पुंसु, पुंवात्, पुंरूप्यः, पुंमयः, पुंजातीयः; एवं गोमान्, अनड्वात्, महान्, मूयान्, कुर्वन्, श्रेया-<sup>३</sup> नित्यादौ संयोगान्तलोपस्य परंकार्येऽसत्त्वाद्दुत्तरसूत्रेण नलोपो न भवति, स्यादिविधौ चासत्त्वात् अत्वादिलक्षणो दीर्घो भवति । पदस्येति किम् ? स्कन्त्वा, स्यन्त्वा, भवाञ्छेते इत्यादौ तु आदेशविधानसामर्थ्यात् न भवति ॥ ८९ ॥

## रात्सः ॥ २ । १ । ९० ॥

पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य संवन्धिनो रेफात् परस्य सकारस्यैव लुग् भवति । चिकीः, चिकीर्म्याम्, चिकीर्षुः; अत्र चिकीर्षतीति क्विपि, “अतः” ॥ ४ । ३ । ८२ ॥ इत्यकारलोपे पत्वस्य परेऽसत्त्वात् सकारस्यैव लोपः, एवं जिहीः, जिहीर्म्याम्, जिहीर्षुः; कटचिकीः, पटजिहीः । पूर्वैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्, तेन रात् परस्य संयोगान्तस्य सस्यैव<sup>९</sup> लोपो नान्यस्य-ऊर्क, ऊर्म्याम्, न्यमार्दः; ‘गृधेः’, ‘स्पधेः’श्च यद्भुलिपि, द्वित्वे, “रिरो च लुपि” ॥ ४ । १ । ५६ ॥ इति पूर्वस्य रागमे, “आगुणावन्यादेः” ॥ ४ । १ । ४८ ॥ इति दीर्घत्वे च, ह्यस्तन्याः सिवि, आदेश्वतुर्थत्वे, “लघोरु-<sup>९</sup> पान्त्यस्य” इति गुणे, “सेः रद्धां च रुवी” इति सिव्लुकि, धकारस्य च रत्वे, “रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः” इति रलोपे,<sup>१२</sup> पूर्वस्य दीर्घत्वे अडागमे च सिद्धम्-अजर्घाः, अपास्याः । रादेव सस्येति तु विपरीतनियमो न भवति-“पुवत्कर्मधारये” इत्यत्र पुवदिति निर्देशात् ॥ ९० ॥

**पदस्य ।** अत्र संयोगस्येति लुगिति चानुवर्तते, संयोगस्येति च समानाधिकरण विशेषण पदस्येति स्थानपठन्तस्य, ततश्च “विशेषण-<sup>१५</sup> मन्त” इति संयोगान्तस्य पदस्येति लभ्यते “षष्ठा अन्यस्य” इत्युपस्थानाचान्यस्येति लभ्यते । तथा च-संयोगान्तस्य पदस्य योऽन्त्योऽवयव-<sup>१८</sup> खस्य लुगित्यन्वयस्वदाह-पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्येति । पुमानिति । पुम्वशब्दात् सिभ्याम्भिस्भ्यसुपुप. सौ “पुंसो पुमन्” १।४।७३। इति पुमन्तादेशो, व्यञ्जानान्तत्वात् सेलोपे, “न्समदतो” इति धीर्घत्वे, “धुट्स्त्वतीय” इत्येतदपवादस्य “सो ऋ” इत्येतस्य परस्मिन्-<sup>१८</sup> सत्त्वात् परत्वात् “पदस्य” इति सर्वत्र सकारलोपे भवति । पुंवदिति । पुमानिवेति विग्रहे “स्यादेरिवे” ७।१।५२। इति वति रूपम् । पुंरूप्यः, पुंमय इति । “गृधेःभ्यो रूप्यमयदौ षा” इति सिद्धत्वात् । पुंजातीय इति । “प्रकारे जातीयर्” ७।२।५५। इति जातीयरूपम् । एवमिति । गावो विद्यन्तेऽस्येति मत्तो, सौ, “ऋदुदितः” इति नागमे-गोमान् । “अनड्वात् सौ” इति नागमे-जनघ्नान् । महानिति । २।१. “ऋदुदितः” इति नागमे, “न्समदतो” इति धीर्घत्वे । भूयानिति । गहोरीयसौ “भूल्लेक् चवणस्य” ७।४।१। इति भूमावेवणल्लको-<sup>२२</sup> सिद्धत्वात् । करोते शतरे-कुर्वन् इति । श्रेयानिति । प्रशस्यशब्दस्येयसौ “प्रशस्यस्य श्र” ७।४।३। इति आदेशो भवति । ननु पुमानित्यादौ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपे नकारलोपः कस्मात् भवतीत्याह-संयोगान्तलोपस्येत्यादि । उत्तरसूत्रेण नलोप इति । “नात्रो नोऽनह” २।४ इत्यनेनेति भाव । स्यादिविधौ चेति । गोमानित्यादौ संयोगान्तलोपस्येति शेष । अत्वादिलक्षणो दीर्घ इति । “अभ्वादेरत्वञ्च सौ” इति विहित इति भाव । स्कन्त्वा, स्यन्त्वेति । “स्कन्दू” गतिशोपणयो, ‘स्यन्दाहू’ प्रसवणे, आभ्यां “प्राक्काळे” इति त्वायां, “एकस्वरादो” इति “ध्रुवीदित” इति चेडभावे रूपद्वयम् । अत्र पदान्ते संयोगान्तस्य लुगभवतीत्युच्यमानेऽपि संयोगान्तस्य पदस्यैव लोप इत्यर्थस्य सिद्धत्वात्<sup>२७</sup> पदस्येति वचन पदान्तस्य यद्भुदनिष्टस्यैवम् । ननु भवाञ्छेते इत्यत्र नकारस्य आदेशो संयोगान्तलोपः कस्मात् भवतीत्याह-भवाञ्छेते इत्यादि । अन्यथा प्रक्रियालाघवाय अकारमेव विदध्यादित्यर्थं ॥ ८९ ॥

**रात्सः ।** अत्र संयोगस्येति पदस्येति लुगिति चानुवर्तते, अनुवर्तमानं संयोगस्य पदस्येति रादित्यस्य विशेषणं, तच्च स इत्यस्य षष्पन्त्यस्य, १० तथा च-संयोगान्तस्य पदस्यावयवो यो रेफस्तस्माद्दुत्तरस्य सकारस्यैव लुगित्यन्वयस्वदाह-पदान्ते वर्तमानस्येत्यादि । चिकीरित्यादि । “डुङ्गर्” करणे, घातो कर्तुमिच्छतीति सनि, “खरहनगमो सनि षुटि” ४।१।१०। इति धीर्घत्वे, “ऋतां छितीर्” इतीरादेशे, “सन्त्यश्च” इति द्विवचनेऽनादिव्यञ्जनलोपे, “कृत्थश्च” इति चत्वे, क्विपि, अकारलोपेऽनेन सकारलोपे सिद्धत्वात् । नन्वत्र रेफात् परत्वात् पदान्तकृतस्य ३३ सस्य षत्वेन भवितव्यं, क्य लोप इत्याह-अत्रेत्यादि । पत्वस्येति । एतत्सूत्रापेक्षया “गणमसत् परे” इति पत्वस्य पूर्वत्वादिति भाव । परेऽसत्त्वादिति । “रात्स” इति परे कार्ये कर्तव्ये “गणमो” इति सूत्रापेक्षया पूर्वस्य पत्वस्यासिद्धत्वादित्यर्थं । एवमिति । हरते पूर्ववत् सञ्जादौ-जिहीरित्यादि । पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य संवन्धिनो रेफात् परस्य सकारस्य “पदस्य” इत्यनेन लोपसिद्धौ नियमार्थमिदमित्याह-<sup>३६</sup> पूर्वैवैत्यादि । नियमफल दर्शयति-ऊर्गित्यादि । ‘ऊर्गण’ बलप्राणनयोश्चरादित्वात् गिन्वि, क्विपि, गिलोपे, पदत्वे, रात् सस्यैवेति नियमात् “पदस्य” इति जकारलोपो न भवति । निपूर्वात् ‘मृजौक्’ शुद्धावतो ह्यस्तन्या दिवि, उपान्त्यगुणे, “मृजोऽस्यो” इति वृद्धौ, “अद्घातो” इत्यडागमे, “यज्जज्ज” इति षत्वे, वृत्तीयत्वे, प्रथमत्वे च-न्यमार्दः, ‘गृधृच्’ अनिकाह्याम्-अजर्घाः, ‘स्पध्’ संहर्षे-अपास्याः । रादेव<sup>३९</sup> सस्येति त्विति । “पुवत्कर्मधारये” इत्यत्र पुवदिति कृतसंयोगान्तसकारलोपस्य पुम्वशब्दस्य पाठात् विपरीतनियमो न भवति, अत्र हि संयो-<sup>४२</sup> गान्तसकारलोपो न स्यात्, यथैव निभर्तेर्जागत्सैव ह्यस्तन्या दिवि, “हृ शिति” इति मृगो द्वित्वे, “ऋतोऽद्” इत्यत्वे, “पृष्टमाहाहामि” ४।१।५८। इतीत्वे, “द्वितीयद्वुर्यो” इति षत्वे, गुणे च नियमात् लोपो न प्राप्नोति, नैष दोष, अकरणत्वात् पूर्वसूत्रविहितस्यैवाय नियमो न<sup>४२</sup> “व्यञ्जनादे” इत्युत्तरसूत्रविहितस्य । यदा “रात्स” इति द्वितकारनिर्देशात् । नन्वेव तर्हि कीर्तयतेरप्रत्यये कीरिति प्राप्नोति कीर्त् इति चेत्वे, अत्र भाष्यम्-“यथा लक्षणमप्रयुक्ते” लोके प्रयुक्तानामेवेदमन्वाप्त्यान् इत्यप्रयुक्ते लक्षणानामप्रवृत्तिलक्षणमित्यर्थस्तत्रास्य प्रयोगाभावात् न दोष इति ॥९०॥

नाम्नो नोऽनहः ॥ २। १। ११ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य नाम्नो नकारस्य लुग् भवति, अनहः-स चेदहश्चब्दसंघन्धी न भवति, स चासन् स्यादि-  
 विधौ; पर इति निवृत्तम् । राजा, वृत्रहा, दण्डी, चाग्मी, राजपुरुषः, राजकाम्यति, राजकल्पः । स्यादिविधावसत्त्वात्  
 राजभ्याम्, राजभिः, राजसु इत्यादौ दीर्घत्वैस्त्वैत्वन्यकारान्तत्वाभावात् न सर्वन्ति । अनह इति किम् ? अहरेति, अहृषीति,  
 अहोरूपम् । दीर्घाहा निदाघः-अत्र परविधौ रेफरत्वयोरसत्त्वान्नलोपः स्यात्, सावकाशं च तदुभयं संबोधने-हे अहः !  
 हे दीर्घाहः । पदस्थेत्वेव ? राजानौ । स्यादिविधावित्त्वेव ? राजायते, चर्मायते, -अत्र क्यविधौ सत्त्वात् "दीर्घिश्च्यङ्य-  
 क्येषु च" ॥ ४। ३। १०८ ॥ इति क्येऽन्त्याकारदीर्घः सिद्धः । नाम्न इति किम् ? अहन्नहितम्, कुर्वारन्, सर्वस्मिन्,  
 वृक्षान् । वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिरित्यत्र तु 'असिद्ध वहिरङ्गमन्तारङ्गे' इति नलोपस्यासिद्धत्वात् "ह्रस्वस्य तः प्रिकृति"  
 १॥ ४। ४। ११३ ॥ इति तोऽन्तो न भवति ॥ ११ ॥

नामञ्चये ॥ २। १। १२ ॥

आमञ्चयेऽर्थे वर्तमानस्य नाम्नः संप्रन्धिप्रो नकारस्य लुग् न भवति । हे राजन् !, हे तक्षन् !, हे सीमन् !, हे बहु-  
 १२ राजन् !, एतदेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्, सिलुकः स्थानिवद्भावेन "अधातुविभक्तिः" ॥ १। १। २७ ॥ इति नाम-  
 सज्ञाप्रतिषेधो न भवति इति । हे राजवृन्दारक ! इत्यत्र समुदायार्थं आमञ्च्यो नावयवार्थं इति नलोपप्रतिषेधो न भवति,  
 अ्वयवार्थस्य त्वामञ्च्यत्वेऽसामर्थ्यात् समास एव न स्यात् ॥ १२ ॥

क्लीबे वा ॥ २। १। १३ ॥

आमञ्च्यविषयस्य नाम्नः क्लीबे नपुंसकलिङ्गे वर्तमानस्य नस्य लुग् वा भवति । हे चर्म !, हे चर्मन् !, हे  
 दाम !, हे दामन् ! ॥ १३ ॥

१८ नाम्नो नोऽनहः । अत्र पदस्थेति लुगिति चानुवर्तते । पदस्थेति नाम्न इत्यवयवपञ्चम्यन्तश्च न इत्यस्य विशेषणम्, तथा च-नाभाववयस्य  
 नकारस्य पदचरभाववयस्य लुगित्यन्वयत्वदाह-पदान्ते वर्तमानस्येत्यादि । पर इतीत्यादि । अधिकाराणामिष्टार्थत्वेन प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थत्वात्  
 पूर्वं "णयम०" इति सूत्रेण, 'असत्परे' इत्यधिकारो "रात्स" इति यावदिति स्मारयति । राज्ञेति । राजन्शब्दात् सेव्येवनाहोपे, शीर्षत्वे,  
 २१ सिलुकः स्थानिवद्भावात् "तदन्तम्०" इति पदान्तत्वेन नलोपः । "मङ्गलूणवृत्रहा०" ५। १। १६१ इति कृिपि-वृत्रहा, पञ्च पुवष इति  
 विग्रहे-राजपुरुषः, राजानमिच्छति-राजकाम्यति; ईषदसमाप्तो राजा-राजकल्प इत्येव साम्प्रत्येऽन्तर्वर्तिनी विभक्तिमाधिल पदत्वम् ।  
 स्यादिविधाविति । राजभ्यामित्यादौ "नाम सिद्धव्यञ्जने" इति पदत्वात् नलोपे स्यादिविधौ तस्यासत्त्वात् अकारान्तत्वाभावात् "अत आ  
 २४ स्यादौ०" इति, "भिस ऐच्" इति, "एहृत्सोसि" इति दीर्घत्वादीनि न भवन्तीति भावः । अहरेतीत्यादि । "अनतो०" इत्यसो लुग् ।  
 अहोरूपमिति । प्रशस्त्रमहरिति "लादेश्य प्रशस्त्रे रूपम्" ५। २। १०। इति रूपम् । दीर्घाहा निदाघ इति । शीघोप्यहानि अस्मिन्निति षट्शुद्धिः ।  
 नन्वत्र "रो लुष्परि" इति, "अह" इति च विशेषविहितत्वेनापवादत्वात् नलोपमगोच्य रेफरत्वे भविष्यत् किमनह इति प्रतिषेधेन ? उच्यते-  
 २७ रेफरत्वयो परेऽसत्त्वात् नलोपः स्यादित्याह-अत्रेत्यादि । नच रेफरत्वयोरनवकाशत्वमिति वाच्यम्, हे अह !, हे दीर्घाह ! इत्यादौ संबोधने  
 तयो सावकाशात्वात्त्याह-सावकाशं चेत्यादि । राजानमिति । अश्रीकारान्त पद न नकारान्तमिति न लोपयति । स्यादिविधावित्ये-  
 वेति । राजेवाचरतीत्यादिवाक्ये क्यञि नलोपेऽस्यादिविधित्वेन नलोपस्यासत्त्वाभावात् स्वरान्तत्वात् "शीर्षिश्च्यङ्य०" इति शीर्षत्वे-राजायते, चर्मा-  
 ३० यत्ते सिलुकमित्याह-अत्र क्यविधावित्यादि । अहन्नहितमिति । सिपुमवयीदित्यर्थं, हन्तेर्शस्त्राया दिवो लोपेऽङ्गागमेऽहन् इति भवति,  
 करोते सप्तम्या ईरनि "कृतनावेच" इत्युत्प्रत्यये, "नामिनो०" इति युगे, "अत शित्युत्०" इत्युत्वे षट्त्वे-कुर्वारन्, "हे स्मिन्" इति स्मिनि-  
 सर्वस्मिन्, वृक्षानिति "शसोऽता सध नः पुस्ति" इति भवति, अत्र नाम्न इति विशेषणात् यातोर्विभक्त्यानासो नकारस्य लोपो न भवति ।  
 ३१ नन्वत्र परेऽसत् इत्यधिकृतस्य निवृत्तत्वात् "ह्रस्वस्य तः०" इति तोऽन्तो वृत्रहभ्यामित्यादौ क्य न भवति, अत आह-वृत्रहभ्यामित्यादि ।  
 धातुमात्राभित्त्वेन तोऽन्तोऽन्तरङ्गो वाष्पस्यावयवेषत्त्वात् नलोपो वहिरङ्ग ॥ ११ ॥

नामञ्चये । अत्र नाम्नो नो लुगिति चानुवर्तते, आमञ्चये इत्यामञ्च्ये तसिञ्चामञ्चये इति विषयतया नाम्नो विशेषणम्, तथा च-आमञ्चये

३३ नाम्नो नो लुग् नैलन्वयत्वदर्थमाह-आमञ्चयेऽर्थे वर्तमानस्येत्यादि । पूर्वेण प्राप्ते प्रतिषेधार्थमिदम् । हे राजञ्चित्यादि । अत्र सेलेप । ननु हे  
 राजञ्चित्यादौ सिलुकः स्थानिवद्भावेन "अधातुविभक्तिः" इति नामसज्ञाप्रतिषेधे पूर्वेण लोप एव न प्राप्नोति क्यमनेन प्रतिषिध्यत् इत्याह-एत-  
 ३४ हेत्वेत्यादि । अन्यथा प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य पूर्वेणाप्राप्त्याविदमनर्थकं स्यादित्यर्थः । नन्वामञ्चये नलोपप्रतिषेधात् राजन् वृन्दारकेलनयोराम-  
 ३५ ञ्च्यार्थयो "वृन्दारकनागकुक्षरे" ३। १। १०८। इति समाप्ते राजन् वृन्दारकेति भाव्यम्, नैप दोष, यदि पूर्वपदार्थोत्तरपदार्थसम्बन्धोपपन्नपूर्वकं  
 समुदायार्थसम्बन्धोपन प्रतीयत तदा स्यादानञ्चयेऽर्थेऽनयोर्विशेषणसमाध, न चैवम्, पूर्वपदार्थोत्तरपदार्थो बोऽसात्तरपदार्थं समासेनाभिधीयते  
 तस्यैव सम्बन्धमानताऽवगम्यते इति नामञ्चयार्थप्रथमान्तयो । ततश्च समासे ह्ये समुदायात् सम्बोधनविभक्तित्वात् "अदित् स्मोर्द्ध्व"  
 ३६ इति लुकि-हे राजवृन्दारकेति प्रयोग उपपन्नो भवति । वाक्ये हि एकार्थीभावाभावादवयवार्थसंबोधन गम्यते, समासे तु तद्विपर्ययात् समुदायार्थ-  
 संबोधनमिति वाक्यसमासयोर्विभक्त्यात्वात् सामर्थ्याभावात् समासामाच स्यात्, तथा चोक्त-विग्रहवाक्यायोर्विधाने य समर्थं स अर्थयोर्वेदितव्य  
 इत्याह-अत्रेत्यादि । अत्र सूत्रे आमञ्चये इति सामान्याभिधानेऽपि औजसोर्नकारस्य पदान्तत्वाभावात् द्रव्यस्यैव संबोधनार्हत्वात् चरुयायाद्याचरु-  
 ३७ रूपत्वात् परिक्षिप्त विरेच लम्पत्वे, स्रक्लयेऽपि वर्तमानाया चरुयाया आमञ्चयादर्शनात् दर्शने तु आमञ्चये इत्येकत्वस्य विवक्षितत्वाददोषः ॥ १२ ॥  
 क्लीबे वा । अत्र आमञ्चये नाम्नो लुगिति चानुवर्तते, आमञ्चये इति क्लीबे इति च नाम्नो व्याधिकरणे विशेषणे तथावयवपञ्चम्यन्त  
 नकारस्य, तथा च-आमञ्चये क्लीबे नाम्नो नो लुग् नैलन्वयत्वदर्थमाह-आमञ्च्यविषयस्येत्यादि । "नाम्नो नो०" इति प्रातस्य, "नामञ्चये" इति प्रति-  
 ३८ विदस्य नलोपस्य प्रतिप्रवचार्थो योषः । हे चर्मैति । चरैरिति भवति ॥ १३ ॥

राजा; कक्ष्याशब्दस्य कक्षीभावः—कक्षीवान् नाम ऋषिः, लवणस्य रूमण्भावः—रूमण्वान्नाम पर्वतः । अन्ये त्वाहुः—रूमन्निति श्रुकृत्यन्तरमस्ति तस्यैतन्निपातनम् नकारलोपाभावार्थम् णत्वार्थं च, वत्त्वं(त्वं) तु यथायोगमस्येव । नाम्नीत्येव ? चर्मवती, अस्थिमान्, चक्रवान्, कक्ष्यावान्, लवणवान् ॥ ९६ ॥

### उदन्वानब्धौ च ॥ २ । १ । ९७ ॥

आपो धीयन्तेऽस्मिन्नित्यन्धिः,—अब्धौ नाम्नि चोदन्वानिति उदकशब्दस्य मतावुदन्भावो निपात्यते । ( अब्धौ—) उदन्वान् घटः, उदन्वान्मेघः, यस्मिन्नुदकं धीयते स एवमुच्यते, नाम्नि—उदन्वान् समुद्रः, उदन्वान्नाम ऋषिः, यस्योदन्वतः पुत्रः; उदन्वान्नाम आश्रमः । अब्धौ चेति किम् ? उदकवान् घटः—अत्र घटस्योदकसवन्वमात्रं विवक्षितं न दघातीत्यर्थः ॥९७॥

### राजन्वान् सुराज्ञि ॥ २ । १ । ९८ ॥

शोभनो राजा यस्य तस्मिन् अभिधेये राजन्वानिति मतौ नलोपाभावो निपात्यते । राजन्वान् देशः, राजन्वती पृथ्वी, राजन्वत्यः प्रजाः । सुराज्ञीति किम् ? राजवान् देशः ॥ ९८ ॥

### नोर्म्यादिभ्यः ॥ २ । १ । ९९ ॥

१२ ऊर्मि इत्येवमादिभ्यो नामभ्यः परस्य मतोर्मकारस्य वकारादेशो न भवति । ऊर्मिमान्, दल्मिमान्, मूर्मिमान्, तिमिमान्, क्रिमिमान्, एभ्यो मोपान्त्यत्वात् प्राप्ते, यवमान्, कुञ्चमान्, द्राक्षामान्, भ्राह्मामान्, वासामान्, एभ्योऽवर्णान्तत्वात् प्राप्ते, हरित्मान्, गरुत्मान्, ध्वजित्मान्, ककुब्जान्, एभ्योऽपञ्चमवर्गादिति प्राप्ते; ज्योतिष्मती, महिष्मान्, १५ गोमती, कान्तिमती, शिम्बीमती, हरिमती, वासमती, इक्षुमती, बन्धुमती, मधुमती, बिन्दुमती, इन्दुमती, द्रुमती, वसुमती, अंशुमती, श्रुमती, हनूमान्, सासुमती; एभ्यो “नाम्नि” ॥ २ । ४ । १२ ॥ इति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । ऊर्मि, दल्मि, मूर्मि, तिमि, क्रुमि, यव, कुञ्चा, द्राक्षा; भ्राह्मा, वासा, हरित्, गरुत्, ध्वजित्, ककुब्ज, ज्योतिस्, महिष्, गो, कान्ति,

१८ निपात्यनिपयमाह—चर्मन्शब्दस्य नलोपाभावो णत्व चेत्यादि । मतान्तरमाह—अन्ये त्विति । प्राप्ति इत्यर्थः । तेषां मते निपात्यमाह—नकारलोपाभावार्थमित्यादि । संज्ञाया अभावे ऋमवदिलेख भवति ॥ ९६ ॥

उदन्वानब्धौ च । चेन नाम्नीत्युक्त्यन्धे, अब्धौ नाम्नि च उदन्वान् इत्यन्वयः । आपो धीयन्तेऽस्मिन्निति । “आप्पादाधारे”

२१ ५।३।८। इति किप्रत्यये—अन्धि, लोकाधीनावधारणार्थत्वात् शब्दार्थसम्बन्धस्य यौगिकत्वेऽपि तदागादावप्रवृत्ते समुद्रस्यैवाय यौगिको व्यपदेशः ; न हि लोकोऽन्धिशब्दात् जलाधारमावापन्नपि घटादिकमवस्यति । यदा त्ववयवार्थो न विवक्ष्यते तदा “नाम्नि” इत्यनेनेव सिध्यति, तस्मिन् मतौ उदन्भावो निपात्यते न तु वत्त्वं तस्यावर्णान्तत्वादेव सिद्धे । नलोपाभावोऽप्युदन्मावसामभ्योदेव, अन्ययोवभाव एव निपात्येत; सूत्रे च

२४ “उदन्वानब्धौ च” इत्युच्यते । उदन्वान् घट इति, उदन्वान् मेघ इति । अत्रोदन्वानिति निपातन समुद्र एव, घटमेघयोस्तु तजलाधारत्वादिनिमित्तात् समुद्रं कृष्णिकेतिवत् तच्छब्देन व्यपदिश्यते, यदाह—उदधिर्घट इत्युपमानात् अब्धावेष निशिष्टावयवार्थसन्धिर्न उदन्वानिति निपात्यते । अन्धिग्रहणं ह्यसंज्ञायमत आह—यस्मिन्नित्यादि । संज्ञायार्थं त्ववयवार्थेभ्यस्तस्य एव प्रत्यस्तमितवयवार्थतया संज्ञया ऋष्याश्रमा-

२७ वपुस्त्वैते इत्याह—उदन्वान्नाम ऋषिरित्यादि । उदन्वतोऽप्रसिद्धत्वात् प्रसिद्धेन औदन्वताख्येन पुत्रेण तस्य समुद्र एव, घटमेघयोस्तु तजला- विना वत्सङ्गावभावात् । उदकवान् घट इति । समुद्रस्योदकधारणनिमित्तोऽन्धिव्यपदेशो न सर्वस्योदकाधारस्यापि घटादेरिति तयोदन्वानिति न भवति, अत एवाह—अत्र घटस्येत्यादि । समुद्रे प्रवर्तमानस्य अन्धिव्यपदेशस्य यो दघात्यर्थो निमित्त तस्य घटादावसम्भवात् विवक्षा नास्तीति

३० तत्रान्धिशब्दस्यासम्भवात् अब्धौ साधुत्वे विधीयमान उदन्वानिति तत्र न भवति, अत एव चन्द्रगोमिदेवनन्दिललितस्वभावादिभिरन्धिग्रहणन- कृत्वा संज्ञामात्र एव उदन्वानिति निपातनं कृतम्; “उदन्वावुदचौ च” पा० ८।२।१३। इति सूत्रयत्ताचार्यपाणिनिना सूत्रधिग्रहणं कृतम् । तयो- त्पलसाधारणादिभिरित्यमेव व्याख्यातम् । एतदनुसारेणान्धिशब्दो भगवद्विद्वत्स्यैव व्याख्यातोऽन्यथा तु लोकरतीतिविरोध एव स्यादिति । अत्रत्य

३३ विशेषतस्त्वत्त्वं “उदकस्योद-पेषधिवाचवाहने” ३।२।१०। इत्यत्र स्फुटीभविष्यति ॥ ९७ ॥

राजन्वान् सुराज्ञि । सुराज्ञीति बहुव्रीहि, न तु तत्पुरुषस्यस्याऽप्रायोगादित्याह—शोभनो राजा यस्येत्यादि । राजन्वानित्यत्र

निपात्यमाह—मतौ नलोपाभावो निपात्यत इति । अक्षरार्थान्तत्वात् वत्त्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । शोभनो राजाऽस्याऽस्मिन् वाऽस्तीति— ३६ राजन्वान् देश इति । शोभनत्व च राज्ञो नलोपाभावेन गम्यते । राजन्वानित्यत्र छिन्नचनयोरविभक्तित्वाद्युदाहरति—राजन्वतीत्यादि ।

राजवान् देश इति । अत्र राजसत्तासम्बन्धमात्रं विवक्षितं, न तु राजं शोभनत्व निन्दितत्वं चेति सुशब्दार्थभावात् नलोपो भवत्येव ॥ ९८ ॥

नोर्म्यादिभ्यः । ऊर्म्यादिभ्यो मोपान्तत्वात्, यवादिभ्योऽवर्णान्तत्वात् हरिदादिभ्योऽपञ्चमवर्णान्तत्वात् ज्योतिरादिभ्यश्च संज्ञा

३९ विषयत्वात् वत्त्वे प्राप्ते प्रतिषेधोऽयमारभ्यते इत्याह—ऊर्मिमानित्यादि । “ऊर्मिमान्” उ० ६८५। इति मिप्रत्यये- कृतपुणस्याकारस्य उकारे च—ऊर्मि, ‘दळ’ विसरणेऽतो “नीसाहू” उ० ६८५। इति मिप्रत्यये—दल्मि, भवते. “कुरुभ्यां क्तिव्” उ० ६९०। इति किन्मिप्रत्यये—मूर्मि, ‘तमूव्’ काष्ठापामव. “क्रमितमि” उ० ६९४। इति इप्रत्यये अकारस्य चेकारे—तिमि, एव च्योटे-

४२ “कुरुभ्यां” इति मिप्रत्यये—कृमि, योते “युवर्ण” ५।३।२८। इत्यन्धि—यव, कृत्रे किपि अजादित्वादापि—कुञ्चा, रसेर्भजेव “लासा- द्राक्षा” उ० ५९५। इति निपातनात्—द्राक्षा, भ्राह्मा; याते “मावावय” उ० ५६४। इति सकारे—वास, हरते “हयरहि” उ० ८८। इति इति—हरित्, ‘भृव्’ निगारे, इत्यतो “भोमादिर्वा” उणा० ८९०। इति उति—गरुत्, अचानं जयतीति किप्र एयोदरादि—

४५ ध्वजित्, कफतेर्बहुलकाडुप्रत्यये—ककुब्ज, दकारो मतौ “प्रत्यये च” इत्यनुनासिकवाधनार्थं, घृते “घृतेरुदेव च” उ० ९९१। इति इति आदेशेकारे च—ज्योतिष्, “महाविभ्या टिट्” उणा० ५४५। इति टितीये—महिष्, गमेर्होप्रत्यये—गो, कमे त्वं “अहन्वमस” इति



शिम्बी, चारु, इक्षु, वन्धु, मधु, विन्दु, इन्दु, द्रु, वसु, अंशु, शु, हनु, सानु; मानु इत्यूर्म्यादिः । चहुवचनमाकृति-  
गणार्थम्, तेन यस्य सति निमित्ते मतोर्वत्वं(त्वं) न दृश्यते स ऊर्म्यादिषु द्रष्टव्यः ॥ ९९ ॥

**मासनिशासनस्य शसादौ लुग् वा ॥ २ । १ । १०० ॥**

एषां शसादौ सादौ परे लुगन्तादेशो वा भवति । मासः, मासान्, मासि, मासे; निशः, निशाः, निशि, निशायाम्,  
निज्म्याम्, निशाम्याम्, निच्छु, निशासु; आसनि, आसने । शसादाविति किम् ? मासौ, मासाः; मासरूप्यः ॥ १०० ॥

**दन्तपादनासिकाहृदयासृग्मूषोदकदोर्यकृच्छकृतो दत्पन्नसहृदसन्मूपनुदन्-**

**दोषन्यकञ्शकन् वा ॥ २ । १ । १०१ ॥**

दन्तादीनां यथासंख्यं शसादौ सादौ परे दत् इत्येवमादय आदेशा वा भवन्ति । दन्त-दतः, दन्तान् पश्य, दता,  
दन्तेन, दन्त्याम् ३, दन्ताभ्याम् ३; दङ्गिः, दन्तैः; दत्सु, दन्तेषु, पाद-पदः, पादान्; पदा, पादेन, नासिका-नसः,  
नासिकाः, नसा, नासिकया, हृदय-हृदि, हृदये; असृज्-अस्ना, असृजा, यूप-यूष्णा, यूषेण, उदक-उद्गा, उदकेन; दोस्-  
दोष्णा, दोषा; यकृत्-यक्ता, यकृता; शकृत्-शक्ता, शकृता; शक्ति, शकनि, शकृति । शसादावित्येव ? दन्तौ, दन्तकल्पः ॥ १०१ ॥

**यस्वरे पादः पदणिक्यद्युटि ॥ २ । १ । १०२ ॥**

पादिति पादशब्दस्य लुताऽकारस्य पादयतेर्वा कृतणिलोपस्य निर्देशः, पादन्तस्य नाम्नो णिक्यद्युटिर्जिते यकारादौ

धीर्धत्वे—कान्तिः, 'शद्युद्' शब्दकुरसायाम्, अतो "हीनीबन्धि०" उ० ३२५। टिदिम्ने, गौरादिह्यां—शिम्बी, एग "स्वरेभ्य०" उ० ६०६।  
इतीप्रत्यये—हरि, चरे "मिवहि०" उ० ७२६। इति वा णिदुप्रत्यये—चारु, इषे "मस्त्रीप्यशिभ्यः सुक्" उ० ८२६। इति मुक्—इक्षु, २५  
'बन्धश्' बन्धनेऽस्मात् "सृमृत०" उ० ७१६। इत्युप्रत्यये—वन्धु, 'मनिच्' शानेऽतो "मनिजनिभ्या०" उ० ७२१। इत्युप्रत्यये गस्य घत्वे  
च—मधु, 'विदु' अवयवे, 'इदु' परमैश्वर्ये, धाम्ना "सृमृत०" इत्युप्रत्यये—विन्दु, इन्दु, 'ह' गतावतो "सृष्टभ्याम्" उणा० ७४४। इति  
विदुप्रत्यये—द्रु, 'वसं' निवासे, अत "सृमृत०" इत्युप्रत्यये—वसु, अथे "अशोराशोऽन्ताश्" उ० ७११। इत्युप्रत्यये नागमे च—अशु, १८  
शृणोते क्विपि 'आगमशासनमनित्यम्' इति तागमाभावे—शु, इन्वे "कृहने०" उ० ७९१। इति रुकि याहुलकात् नलुकि—हनु, सनोतेः  
'कृवापा०" उ० १। इत्युणि—सानु, 'मांक्' दीप्तावतो "दाभाभ्यां नु" उ० ७८६। इति नुप्रत्यये—मानु, चहुवचनात् अट्टवर्णान्ताकृति-  
गणोऽय, तामेवाकृतिं दर्शयति—तेनेत्यादिना ॥ ९९ ॥

**मासनिशासनस्य शसादौ लुग्वा ।** 'मांक्' माने, घातो "मावावयमि०" उ० ५६४। इति से—मासः, निशे "नाम्यु-  
पान्त्य०" ५।१।५४। इति के आपि—निशा, आस्यतेऽस्मिन्निति "करणधारे" ५।३।१२९। इत्यनटि—आसनम्; एभ्य शसादौ पक्षेऽन्त-  
लोपे—मास इत्यादि । निज्म्यामिति । ततो भ्याम्यन्तलोपे "धुटस्तृतीय" इति शस्य जत्वे परेऽसत्त्वात् जस्य गत्व न भवति । निच्छु २४  
इति । तस्मात् झुप्यन्तलोपे तृतीयत्वे, "अघोषे प्रथमो०" इति प्रथमत्वे, "सस्य शपौ" इति शत्वे, "प्रथमादद्युटि०" इति छत्वे भवति ।  
रुप्यपि—मासरूप्य इति ॥ १०० ॥

दन्तपादनासिकाहृदयासृग्मूषोदकदोर्यकृच्छकृतो दत्पन्नसहृदसन्मूपनुदन्दोपन्यकञ्शकन् वा । आदेशिनामा- २७  
देशानां च दुत्यसंख्यत्वात् यथासंख्यमत्र संबध्यत इत्याह—दन्तादीनां यथासंख्यमिति । ननु ददायादेशवत् पूर्वसूत्रेऽपि मास इत्यादि  
समसादेश फर्तुमुचितस्तथा च सति प्रकरणभेदोऽपि न स्यात्, अत एव पूर्वं "पद्भोमासहृदिशासन्युपन्दोपन्यकञ्छकनुदशासन्०" पा०  
६।१।६३। इति कृतम्, प्रकृतिस्तु तत्रानुमितेति चेत्, सत्यम्, तत्रोपलक्षणभूतेन लृकृशब्देन व्यापवार्थं लुगन्त आदेश उच्यते, अत एव घृता-३०  
लुके लुगन्तादेश इति—लुगन्तश्चावादेशेति तत्र प्रत्येतव्यम्, अन्तलोपे सति यादृशमेपां रूप भवति तादृशा मासनिशासन् इत्येव रूपा  
आदेशात्त्वेन विधीयन्ते न लुगिति । ननु पूर्वैर्दन्तोविषयत्वमेवामुक्तं, न च छान्दसा भवद्विभ्रुत्वान्यन्ते इति "मासनिशा०" इत्यादि स्वद्वय-  
मनर्थकम्; नैवम्—"अपो मि" पा० ७।४।४८। इत्यत्र सूत्रे वार्तिककारेणोक्तं मासश्छन्दस्युपसंख्यानं कर्तव्यमिति, माङ्गिरिष्ठा इन्दो घृत्रहा । ३३  
"पद्भोमास०" पा० इति सूत्रे मासशब्दस्य मासादेशस्य छन्दस्येव विधानात् मासश्छन्दसीति छन्दोग्रहणं न कर्तव्यम्, तत्क्रियते आपायामपि  
क्वचित् पदादय प्रयुज्यन्त इति ज्ञापनार्थम्, अत एव प्रविरलप्रयोगविषयत्वात् सर्वोऽपि विभक्तिषु नोदाहियन्ते । 'दमूच्' उपशमेऽतो "दम्यमि०"  
उणा० २०० । इति ते—दन्त, 'पदिच्' गतावत् पयते इति "पदरुजिवासासृष्ठा०" इति घनि—पाद्, 'णसि' कौटिल्येऽतो "नसिचसि०" ३६  
उणा० ४०। इति णिक्ये—नासिका, हस्ते "गयहृदया०" उणा० ३७० । इत्येव निपातनात् दागमे च—हृदय । असृज् शब्दो व्युत्पादित ।  
शौते "शेरुच वा" उणा० ५४१ । इति मे ऊकारे च—यूप, 'उन्दैप्' छेदनेऽतो "धुघृन्दि०" उणा० २९ । इति क्दिके—उदक, दाम्यते-  
'यमिदमिभ्या ङोस्' इति ङोस्—दोस्, यजे "यजे क च" उणा० ८९२। इति ऋत्प्रत्यये कादेशे च—यकृत्, शके "शकेर्कत्" उणा० ३६  
८९१। इति ऋति—शकृत्, एषा शसादौ सादौ पक्षे ददायादेशे—दत् इत्यादि । "अतमनादे०" इति कल्पपि—दन्तकल्प इति ॥ १०१ ॥

यस्वरे पादः पदणिक्यद्युटि । पाद् इति सुपात्, द्विपदिकां ददातीत्यादिप्रयोगस्थपात्शब्दानुकरणात् घटी । ननु द्विधा पाच्छ-  
न्दस्य समव, तथाहि—“पात्पादसाहस्र्यादे” ७।३।१४८। इत्यादिभि कृतपादादेशस्य तथा पादयते किञ्चन्तस्य णिलुकि तत्कस्येह ग्रहणम् ३, ४२  
उच्यते—शास्त्रस्यानुवादकत्वेनाकारकत्वात् पादयतेष्व किञ्चन्तस्य लोके प्रयोगाभावादादेशस्यैव ग्रहणमत आह—पादिति पादशब्दस्येत्यादि ।  
पादयतेर्वा इत्यत्र वाशब्द इत्यर्थो दृष्टान्तार्थतया चायमर्थ—यथा पादयते किञ्चन्तस्य प्रयोगाभावेन लुतरूपस्य नष्टरूपस्य स्वीकार एव पादस्य  
पादिसादेशेन लुताकारस्य निर्देश । तत्र च पादशब्दस्य समास एवादिषो विधीयते, न सामर्थ्यात् तदन्तस्य कार्यं विशायते इत्याह—पाद्-४५  
न्तस्य नाम्न इत्यादि । यदि तु पादयते किञ्चन्तस्य प्रयोग स्यात्, ततश्च तस्मिन् कैवले मुख्ये सति तदन्तस्य न स्यादिति । नन्वेवमनेकवर्ण-

स्वरादौ च प्रत्यये परे पदित्ययमादेशो भवति; स च निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति पाच्छब्दस्यैव भवति न तदन्तस्य सर्वस्य । व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्, तस्यापत्यं-वैयाघ्रपद्यः; द्वौ पादावस्य द्विपात्-द्विपदः पश्य, द्विपदा, द्विपदे, त्रिपदी १ गाथा, व्याघ्रपदी स्त्री कुले वा, द्वौ द्वौ पादौ ददाति-द्विपदिकां ददाति, द्विपदे हितम्-द्विपदीयम् । पादमाचष्टे पद्यमानं प्रयुक्ते वेति पादयते: किपि-पाद्, पदः पश्य, पदा, पदे, पदी कुले; अत्र व्यपदेशिवद्भावेन पादन्तत्वम् । यस्वर इति किम् ? द्विपाद्भ्याम्, द्विपाङ्किः, द्विपात्काम्यति । अणिक्यघुटीति किम् ? पादमाचष्टे-पादयति, क्येति क्यन्क्य- २ डोरविशेषेण ग्रहणम् । व्याघ्रपादमिच्छति स इवाचरतीति च-व्याघ्रपाद्यति, व्याघ्रपाद्यते, द्विपादौ, द्विपादः, द्विपादि कुलानि । नाम्न इत्येव ? उपपद्यते इत्येवंशील उपपादुकः । पादयते: कि्वन्तस्य प्रयोगो नास्तीति कश्चित् ॥ १०२ ॥

### उदच उदीच ॥ २ । १ । १०३ ॥

२ उदचिति उत्पूर्वस्याश्चते: कृतनलोपस्य निर्देशः, उदचो नाम्नोऽणिक्यघुटि यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे उदीच इत्ययमादेशो भवति । ( य- ) उदीच्यः, ( स्वर- ) उदीचः । पश्य, उदीची स्त्री कुले वा, उदीचा, उदीचे । यस्वर इत्येव ? उदग्भ्याम्, उदक्काम्यति । अणिक्यघुटीत्येव ? उदञ्चमाचष्टे उदयति, उदञ्चमिच्छति उदच्यति, उदगिवा- ३ चरति-उदच्यते, उदञ्चौ, उदञ्चः, उदञ्चि कुलानि । अच इति लुप्तनकारस्याश्चतेर्निर्देशात्-उदञ्चा, उदञ्चे, किय्यर्चायां निषेधात् नलोपामावः ॥ १०३ ॥

### अच्च प्राग्दीर्घश्च ॥ २ । १ । १०४ ॥

२५ अचिति अनकारस्याश्चेर्निर्देशः, अचिति नाम णिक्यघुड्वर्जिते यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे चकारमात्रं भवति,

त्वात् सर्वस्य पादन्तस्य प्राप्नोति केवलस्य च इत्यते, तस्मात् पाद पदादेशमपास्य पादो ह्रस्व इति कर्तव्यमिति य शङ्कते त प्रत्याह-स च निर्दिश्यमानस्येति । अयमर्थ -यत्तूने षष्ठा निर्दिश्यते तस्यादेशेन संबन्धो न तु यत्नेन प्रत्याप्यते तस्य । इह च पाद इति निर्दिश्यते तेन तु २६ तदन्त व्याघ्रपात् द्विपादित्यादि प्रत्याप्यते इति न तस्यादेश, तथाहि-क्त्वे यवादेशो निर्दिश्यमानस्य त्व एव प्रवर्तते न तु तेन प्रत्याप्यमानस्य समुदायस्येति । व्याघ्रपूर्वात् जिघ्रते "व्याघ्राप्रो०" ५।१।५७ इति डे-व्याघ्र, तस्येव पादावस्येति "पात्पादा०" इति पाङ्गवे तस्यापत्य वृद्ध- मिति गार्गादित्वात् वृद्धेऽपत्ये यत्किं "ध्व पदान्तात् प्राग्देवै" ७।४।५। इत्येकारागमेऽनेन पदादेशो-वैयाघ्रपद्य इति । द्विपद इत्यादि । २७ द्वौ पादावस्येति विग्रहे द्विपूर्वस्य पादशब्दस्य "सुसंख्यात्" ७।३।१५०। इति पाङ्गवे-द्विपात्, तत् स्वरादौ प्रत्ययेऽनेन पदादेशो सिध्यति । "वा पाद्." २।४।६। इति ढर्षा-त्रिपदी गायेति । गायेत्यनुप्रयोग आत्वाभिव्यक्त्यर्थः । स्त्री कुले वेत्यनुप्रयोगौ स्त्रीत्वनपुंसकत्वाभिव्यक्त्यर्थौ । द्विपदिकां ददातीति । "संख्या समाहारे च०" ३।१।९९। इति समास, "संख्यादे पादादिभ्यो दानदण्डे चाकल् लृक् च" ७।२।१५२। २४ इत्यकल्, अन्तस्य च लृक्, तत् आप्, "अस्यायत्त०" इतीत्वम् ततोऽस्मि भवतिः । द्विपदीयमिति । द्विपदे हितमिति विग्रह "तस्मै हिते" इतीत्य । कि्वन्तस्य प्रयोगाभाव इत्यति-पादमाचष्टे इत्यादिना । अत्रेति । एषु पादयते कि्वन्तप्रयोगेषु, पादन्तत्वम्-पाच्छब्दस्या- न्तत्व-विनाशवत्वमिति भावः । एते पूर्वोक्ता प्रयोगा लोके न प्रयुज्यन्तेऽत्र हेतुमाह-व्यपदेशिवद्भावेनेति । अपदेशो-व्याजच्छब्द, विशिष्टो २७ व्याज एषामस्तीति-व्यपदेशी स एव एषां सत्ता, युक्त्वैवेते कल्पन्ते न तु लोके प्रयुज्यन्ते इत्यभियुक्तैरेषां व्याजवती सत्ता कथ्यते । अभियुक्ता हि स्वविरचन्नेत्वलदेवनाडिसाधारणमाभ्यकारप्रभृतय पादयते किप् न ह्रस्वत इति वदन्त एषा व्याजवती सत्ता व्यपदिशन्ति । सूत्रेऽपि केचन समासान्तग्रहणं कुर्वन्ति । व्याजमेव दर्शयति-पादमाचष्टे इत्यादिना । पूर्वोक्तेष्वर्थमभियुक्तस्यैवा इत्यति-पादयते. कि्वन्तस्य ३० प्रयोगो नास्तीति कश्चिदिति । अस्य कि्वन्तस्य प्रविरलप्रयोगविषयोऽपि प्रयोगो न कश्चिदस्तीति संबन्ध इति । अन्ये तु अभियुक्तस्यतिमन- भिनन्दयन्त कि्वन्तस्य प्रयोग प्रतिजानन्ते, अत एवानभिश्चित्वादेशे पक्ष पादयतेर्नेत्यादिना पादमाचष्टे इत्यादिना च वाक्यद्वयेन शिष्टोक्त्या वृत्तौ दर्शित । तत्र दोषशब्दमध्याह्नस्यैव व्याख्या-पादयते कि्वन्तस्य प्रयोगोऽस्तीति न कश्चिदोष इति ॥ १०२ ॥

३३ उदच उदीच । अत्र अणिक्यघुटीत्यनुवर्तते यस्वर इति च । उदच इति उदघावित्यादिप्रयोगप्रकृतेरनुकरणमित्याह-उदचित्ती- त्यादि । तस्य च नाम्न इत्यभिहितं चातुर्व्यवच्छेदार्थं समानाधिकरण विशेषण, तथा चायमन्वय-उदचो नाम्नोऽणिक्यघुटियस्वर उदीच इति, तदाह-उदचो नाम्न इति । उदचतीति किपि, "अथोऽनर्चायाम्" इति नलोपे, "तत्र सार्धौ" इति, "भवे" इति वा ये, षादि च-उदीच्य., ३४ उदीच इति । जियां "अन्व " २।४।३। इति ढर्षां नपुंसके तु "जीरी" इतीत्ये-उदीची स्त्री कुले वेति । स्त्री कुले इत्यनुप्रयोगौ लिङ्गाभि- व्यक्त्यर्थौ, ततो भ्यामि "चज फगम्" इति कत्वे, वृतीयत्ये-उदग्भ्याम् इति । उदचमिच्छति इति विग्रहे "द्वितीयाया काय्य " ३।४।२३। इति काय्ये-उदक्काम्यति । उदयतीति । णिचि अन्वस्वरादिलोप । उदच्यति इति । "अमाव्यात् क्यन् च" ३।४।२३। इति क्यन् । "क्यद्" ३।४।२६। इति क्यन्-उदच्यते इति । उदञ्चावित्यादि । "अच " इति नागम । एतेषु अणिक्यघुटि इति वचनात् ३५ उदीचादेशो न भवति । ननु उदघेलादौ अघुदस्वर आदेशे कस्माच्च भवतीत्याह-अच्च इतीत्यादि । किप्यर्चायामिति । "अथोऽनर्चायाम्" इत्यत्र अनर्चायामिति वचनादिति शेष ॥ १०३ ॥

३२ अच्च प्राग्दीर्घश्च । अत्र अणिक्यघुटि इति यस्वर इति चानुवर्तते । अचिति अनकारस्याश्चे क्यर्थागो निर्देश, च् इति क्यर्- निर्देश, कार्यकार्यिणोरभेदनिर्देशश्च समस्तादेशार्थं, तथा च-अचिति नाम अणिक्यघुटि यस्वर च् प्राक् च दीर्घ इत्यन्वयतदाह-अचिति नामेत्यादि । प्रागिति पूर्वत्वं चादेशापेक्षया, तत्रापि सञ्चितपरित्यागे व्यवहितपरिग्रहे कारणाभावादनन्तर एव यद्यत् इत्याह-प्राक्

प्राक्-पूर्वोऽनन्तरस्वरश्च दीर्घो भवति । ( य- ) प्राच्यः, प्रतीच्यः, ( स्वर- ) प्राचः, प्राचा, दधीचः, दधीचा, मधूचः, मधूचा, पिटूचः, पिटूचा, प्राची; प्रतीची स्त्री कुले वा । अन्वाचयशिष्टत्वाद् दीर्घत्वस्य तदभावेऽपि चादेशो भवति—  
दृषवा, दृषवे, अत्र “स्वरस्य ह्रस्वदीर्घभुताः” इति न्यायाद् दृषदो दीर्घो न भवति । यस्वर इत्येव ? प्रत्यग्न्याम्, मध्वग्न्याम् । १  
अणिक्यघुटीत्येव ? दध्यञ्चमाचष्टे दध्ययति, दध्यच्यति, दध्यच्यते, दध्यञ्चौ, दध्यञ्चः, दध्यञ्चि कुलानि । अच् इति  
लुप्तनकारस्याञ्चतेर्ग्रहणादिह न भवति—साध्वञ्चः पश्य, साध्वञ्चा, साध्वञ्चे ॥ १०४ ॥

कसुप्मतौ च ॥ २ । १ । १०५ ॥

णिक्यघुड्वर्जिते यकारादौ स्वरादौ मतौ च प्रत्यये परे कस् उप् भवति । विदुषि साधुः—विदुष्यः, पेषुषि साधुः—  
पेषुष्यः; विदुषः, विदुषा, विदुषे, विदुषी स्त्री कुले वा, विदुष इदं वैदुषम्; पेषुषः, पेषुषा, पेषुषे, पेषुषी स्त्री कुले वा,  
पेषुष इदं पेषुषम्, विदुष्मान्, पेषुष्मान् । मतौ चेति किम् ? विद्वद्भिः, पेषिवद्भिः, विद्वत्काम्यति । अणिक्यघुटीत्येव ? १  
विद्वांसमाचष्टे—विद्वयति, विद्वसति, विद्वसते, विद्वांसौ, विद्वांसः, विद्वासि कुलानि ॥ १०५ ॥

श्वन्युवन्मघोनो ङीस्याद्यघुटस्वरे व उः ॥ २ । १ । १०६ ॥

श्वन् युवन् मघवन्नित्येतेषां सस्वरो वकारो ङीस्याद्यघुटस्वरे परे उर्भवति । शुनी स्त्री, प्रियशुनी कुले, शुनः, शुना, १२  
शुने, अतियुनी स्त्री, प्रिययुनी कुले, यूनः, यूना, यूने, मघोनी, अतिमघोनी स्त्री, प्रियमघोनी कुले, मघोनः, मघोना  
मघोने । ङीस्याद्यघुटस्वर इति किम् ? शौवनम्, यौवनम्, माघवनम् । अघुटिति किम् ? श्वानौ, युवानौ, मघवानौ,  
अतिश्वानि, अतियुवानि, अतिमघवानि कुलानि । स्वरे इति किम् ? श्वम्याम् । नकारान्तनिर्देशादिह न भवति—गोष्ठश्चेन, १५  
युवतीः पश्य, युवत्या, मघवतः पश्य, मघवता । अर्थवद्ग्रहणादिह न भवति—तत्त्वदृशना, मातरिश्वना ॥ १०६ ॥

पूर्वोऽनन्तरस्वरश्चेति । प्राचतीति क्विपि पूर्वव्यादौ अनेन चादेशो दीर्घत्वे च—प्राच्य इत्यादि । ननु दृषदमवतीति क्विपि दृषदामनन्तर-  
पूर्वस्वराभावे दीर्घत्वाभावादेकयोगनिर्दिष्टत्वादादेशस्याप्यभावात् कथं दृषत्वेत्यादि सिध्यतीत्याह—अन्वाचयशिष्टत्वादित्यादि । दीर्घश्चेति १०  
चकारसमुच्चितत्वेनाऽप्रधानत्वादिसर्थः । प्रधानवाक्यनिर्दिष्टत्वात् वाऽवश्यविधेयत्व, यथा—एधानादतुं अरण्यं गच्छ शाक्यमन्येप्यतीति  
एवाहरणस्येतिवत् । नन्वत्र दकारस्य दन्त्यत्वात् लृङ्गरो दीर्घ आसन्नत्वात् कस्मान् भवतीत्याह—अत्र “स्वरस्य०” इत्यादि । शेषं पूर्वेण  
द्वल्यगमम् ॥ १०४ ॥

कसुप्मतौ च । अत्र अणिक्यघुटि इति यस्वरे इति चात्रवर्तते, अणिक्यघुटि यस्वरे मतौ च कस् उप् इत्यन्वयस्तदाह—णिक्य-  
घुड्वर्जिते इत्यादि । वेत्ते पचेश “वा वेत्ते कसु ” ५।२।२। इति “तत्र कसुकानौ तद्वत्” ५।२।२। इति च कसावन्यत्र “अनादेशादेरेक-  
व्यञ्जनमध्येऽत ” ४।१।२। इत्येत्वे, द्विवचनाभावे, पूर्वव्यादौ—विदुष्यः, पेषुष्य इत्यादि । विदुषीति । “अभावात्” २।४।२। इति २४  
त्रिधां धीप्रत्यय, नपुंसके तु “औरी” इतीत्वम् । “तसेदम्” इत्यणि—पेषुषमिति । विद्वांसोऽस्य सन्तीति “तदस्यास्त्वस्मिन्निति०” मतां  
उपादेशे च—विदुष्मान् इति । एव पेषुष्मानित्यपि । ननु च पपुष, तिन्युप इत्यादौ यस्वरादाद्युच्यमानस्योपादेशस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात्  
तदपेक्षया अन्तरङ्गाणि आकारलोपादीनि न प्राप्नुवन्ति, नैष दोष, न हि वस्त्वन्तरानपेक्ष अन्तरङ्ग बहिरङ्ग वा स्वाभाविक किञ्चिदस्ति, परस्पर- २७  
पेक्षया युगपत् प्राप्ता तयोरेव स्थानात् यथा—स्योन इत्यत्र यत्पुण्ययो । पपुष इत्यादौ तु युगपत्प्राप्तिनास्ति, उपादेशकाले आकारलोपादीना  
निमित्ताभावाद्प्रसङ्गात्, आलोपादिप्राप्तिकाले च निर्गृह्यत उपादेश इति तेषां निमित्तमेवेति नास्ति परिभाषोपस्थानम् । यदाह भाष्य—अन्तरङ्गबहिर-  
ङ्गमिति प्रसिद्धस्वभाविनवेतावर्षौ, न चात्रान्तरङ्गबहिरङ्गयोर्गुणपदवस्थानमस्तीति । ‘न स्वरानन्तर्ग’ इति प्रतिषेधाद्वा न चात्रान्तरङ्गत्वादित्या भाव्य- ३०  
मिति वाच्यम्, नित्यत्वादित् बाधित्वा उप् भवति । ननु वर्णविधित्वाभावात् स्थानिवत्त्वेन भवतीट प्रसङ्ग इति चेदस्तु चा पूर्वमिदं वसवयवत्वात्  
केदूत्स्य वसोऽपादेशो भविष्यति । उचिति पकारो “नाम्यन्तस्था०” इति सिद्धस्य प्रक्रियालाघवाच्चोऽयमनुवाद, परमार्थतस्तु उचिति सकारान्त  
एवायमादेश इति । विद्वत्काम्यतीत्यादि । पूर्ववत्काम्यादि ॥ १०५ ॥

श्वन्युवन्मघोनो ङीस्याद्यघुटस्वरे व उः । श्वन्युवन्मघोनो च ङीस्याद्यघुटस्वरे उरित्यन्वयस्तदाह—श्वन् इत्यादि ।  
सस्वरो वकार इति । सस्वरत्व च वकारस्य कार्यिणो मघोन इति निर्देशात्, अन्यथा व्यञ्जनमात्रस्योत्वे सूत्रे मघोन इति निर्देशो नोपपद्येत ।  
श्वयतेर्महेश्व “श्वनमातरिश्वन्०” उणा० १०२ । इत्यनि श्वयतेर्लुकि अन्यत्र नलोपेऽवन्ते च—श्वन्, मघवन्, यौते “दृषुघुषि०” उणा० ३४  
१०१ । इति क्विपि उपादेशे च—युवन्, एभ्य “त्रियां चतो०” इति उपां स्याद्यघुटस्वरे च परे वस्योत्वे—शुनीत्यादि । प्रियशुनी कुले  
इति । प्रियश्वा यथो कुलयोरिति बहुव्रीहि, तत “औरी” इतीत्वम् । युवानमतिक्रान्तेति समाधात् धी—अतियुनी स्त्री इति । प्रिययुनी  
कुले इति । पूर्ववतीत्वम् । मघवानमतिक्रान्तेति विग्रहे—अतिमघोनी स्त्री इति । शुन इदमिति विग्रहे “तसेदम्” इत्यणि “द्वारादि” ३९  
७।२।६। इत्यौकारागमे—शौवनम् इति । यौवनमिति । यूना भाव कर्म वा “युवादेरण्” ७।१।६। इत्यण, “अणि” ७।२।५। इत्यन्व-  
स्वरादिलोपप्रतिषेध । मघोन इदं “तसेदम्” इत्यणि—माघवनमिति । श्वानावित्यादि । “नि दीर्घ” इति वृटि दीर्घत्वम् । ननु श्वधित्यादौ  
नकारान्तनिर्देश किमर्थं इत्यत आह—नकारान्तनिर्देशादिति । गोष्ठे श्वा इति विग्रह “गोष्ठते शुन ” ७।३।११०। इत्यदि, “नोऽपदस्य ४२  
तद्विते” ७।४।६। इति नकारलोपे, यथा इनदिशे—गोष्ठश्चेन इति । “यूनस्मि,” २।४।७। इति त्रिप्रत्यये श्वादाँ—युवतीरित्यादि । अत्र  
नकारान्तनिर्देशमन्तरेण “विशेषणमन्तरेण” इति “नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” इति च न्यायाभ्यां तदन्ते त्रियां च वर्तमानस्य श्वनशब्दस्य  
युवन्शब्दस्य च प्राप्ति स्यादिति भावः । मघवत इत्यादौ तु मत्तुप्रत्ययसत्त्वात् तन्मन्तरेण प्राप्तिवोध्येति संक्षेपः । ननु निपातनाद्यादायुत्व कस्मात् ४५  
भवतीत्याह—अर्थवद्ग्रहणादित्यादि । अत्रोभयत्रापि श्वधित्यन्वयकम् ॥ १०६ ॥

### लुगातोऽनापः ॥ २ । १ । १०७ ॥

आपूर्वजितस्याकारस्य ङीसाद्यष्टद्वारे परे लुग् भवति । कीलालपः, कीलालपा, कीलालपै, शुभंयः, शुभंया, १ शुभंये, क्त्वः, श्रेः हाहे देहि । आत इति किम् ? नदीः । अनाप इति किम् ? खट्वाः, शालाः; मालाः पयः । ङीसाद्यष्टद्वार इत्येव ? कीलालपास्तिष्ठन्ति, कीलालपां परयः; कीलालपाम्याम् ॥ १०७ ॥

### अनोऽस्य ॥ २ । १ । १०८ ॥

अनोऽकारस्य ङीसाद्यष्टद्वारे परे लुग् भवति । राज्ञी, राज्ञः, राज्ञा, राज्ञे; तक्ष्णः, तक्ष्णा, तक्ष्णे । ङीसाद्यष्टद्वार इत्येव ? राजानौ, राजानः, सुराजानि कुलानि; राजभ्याम् ॥ १०८ ॥

### ईडौ वा ॥ २ । १ । १०९ ॥

अनोऽकारस्येकारे डौ च परे लुग् वा भवति । साम्नी, सामनी; दाम्नी, दामनी, सुराज्ञी, सुराजनी कुले; राज्ञि, राजनि; दधि, दधनि ॥ १०९ ॥

### पादिहन्धृतराज्ञोऽणि ॥ २ । १ । ११० ॥

षकारादेरनो हन्धृतराजन्नित्येतयोश्चाकारस्याणि प्रत्यये परे लुग् भवति । औक्ष्णः, ताक्ष्णः; भौणम्नः, चार्त्तम्नः; चार्त्तराज्ञः । पादीनामिति किम् ? सामनः, वैमनः । अणीति किम् ? ताक्ष्ण्यः ॥ ११० ॥

### न वमन्तसंयोगात् ॥ २ । १ । १११ ॥

वकारान्तात् मकारान्ताच्च संयोगात् परस्यानोऽकारस्य लुग् न भवति । पर्वणा, पर्वणे; तत्त्वदक्षना, तत्त्वदक्षने;

लुगातोऽनापः । अत्र ङीसाद्यष्टद्वारे इत्यनुवर्तते, अनाप आत ङीसाद्यष्टद्वारे लुगित्यन्वयस्त्वदाह—आपूर्वजितस्येत्यादि । अत्रा-

समवेऽप्युत्तरार्थं ङीत्यनुवर्तते । कीलालप इत्यादि । कीलाल पिचतीति किम् विच् वा तत् शसादाबनेनाकारस्य लोप । एव शुभ पाटीति—

२८ शुभंय इत्यादि । क्त्वः, श्रे इति । क्त्वाभ्याप्रत्यययोरनुकरणमिदम् । अनुकरणे हि शब्दा अपि लक्षणं प्रयोजयन्ति, यथा—“अव्यक्तानुकरणा-

दनेकस्वरात् कृम्यस्तिनामिति द्विध” ७।२।१४५। इति । यथैव चान्ये अर्थपरा देवदत्तादिभि शब्दै व्यवहरन्ति, एव वैयाकरणा अपि प्रकृति-  
प्रत्यायादीन् प्रत्याययन्तस्त्वदनुकरणैरिभिव्यवहारमारभन्ते । ननु क्त्वार्था टायामिलेवमपि वैयाकरणा व्यवहरन्ति तत्कथमिति चेत्, उच्यते—  
२९ श्रीलिङ्ग भानन्तोऽनुकरणशब्दो य उदाहृत सोऽनावन्त उभयथा दर्शनात् उभय व्यवस्थाप्यते इति । हाहे इति । अत्रानुकरणस्याकारलोप ।  
देहीति । “हौ द ” ४।१।३१। इत्येत्वम् । नदीरिति । अत्र शक्ति आकारस्याभावो न भवति । खट्वा इत्यादि । एतेषु “आद्” इत्याद्,  
ततः शस्, अनाप इति वचनात् लुगभाव । कीलालपा इत्यादि । जस्रभ्रमभ्याम्भ्यु रूपाणि ॥ १०७ ॥

२४ अनोऽस्य । अत्र ङीसाद्यष्टद्वारे इति लुगिति चाऽनुवर्तते, अनः अस्य ङीसाद्यष्टद्वारे लुगित्यन्वयः । अन इत्यवयवसम्बन्धयथ्यन्तम्  
अस्येत्यस्य कार्त्तिको विशेषणमित्याह—अनोऽकारस्येति । राज्ञी—“स्त्रिया चतो” इति ङी, ततोऽनोऽकारलोपः । एव अष्टद्वारेऽपि । ‘तसौ’  
तनुकरणेऽत “उक्षितक्ष्यक्षी” उणा० १०० । इत्यनि शसादौ अनोऽकारलोपे—तक्ष्ण इत्यादि । शोमनो राजा येषां कुलानामिति “नपुलकस्य  
२७ शि ” इति अस शवो वा शौ “नि दीर्घ ” इति दीर्घत्वे—सुराजानि ॥ १०८ ॥

ईडौ वा । अत्र अन इति अस्येति लुगिति चाऽनुवर्तते, अनोऽस्य ईडौ लुगित्यन्वयस्त्वदाह—अनोऽकारस्येत्यादि । साम्नीत्यादौ  
“जौरी” इतीत्वम्, तत्र पूर्वेण नित्ये प्राप्ते पक्षे तदभावार्थोऽयं विकल्पः । तस्य भावाभावोभयार्थकत्वात् तत्र भावविद्धौ अभावफलो विकल्पविधि-  
२८ रभावसिद्धौ भावफल उभयसिद्धावुभयफल । अत्र भावस्य पूर्वेण सिद्धत्वाद्भावफल इति ॥ १०९ ॥

पादिहन्धृतराज्ञोऽणि । हन् इति । श्रूणहन् इत्यादिप्रयोगस्यस्य हनोऽनुकरणम् । धृतराजन्निति प्रायोगिकस्य धृतराज-  
शब्दस्यानुकरणम् । अत्र अनोऽस्येति लुगिति चाऽनुवर्तते, पादिहन्धृतराज्ञोऽनोऽस्य अणि लुगित्यन्वयस्त्वदाह—पकारादेरित्यादि । उष्णोऽपत्य-  
२९ मिति “बसोऽपत्ये” ६।१।२८। इत्यणि हृदो अनपत्ये इत्याधिकृत्य “उष्णो लुक्” ७।४।५६। इति लुगिध्वानादपत्ये नलोपाभावादेवान सद्भावोऽपि  
अण स्याद्यष्टद्वारत्वाभावात् पूर्वेणप्राप्तावनेनाकारलोपे नस्य णत्वे—औक्ष्ण इति । एवं तक्ष्णोऽपत्यमिति “शिवदेरण्” इत्यणि—ताक्ष्ण इति ।  
कारलक्षणस्तु इत् कुर्वादिभ्येन बाधनात् पक्षे न भवति । श्रूण हतवान् इति किमपि श्रूणह्, श्रूणोऽपत्यमित्यणि, अनोऽकारलोपे, “हनो हौ घ ”  
३० इति प्रादेशे—स्रौणम्न इति । एव हृत् हतवानिति किमपि—चार्त्तम्न इति । धृता राजानो येन तस्यापत्यमिति विद्यन्त पूर्वेवदणादौ अनोऽकारलोपे  
“तवर्गस्य” इति नकारस्य अकारे—घार्त्तराज्ञ इति । सामन, वैमन इति । “देवता” इत्यण् । तक्ष्णोऽपत्यमिति “कुर्वादेव्ये”  
इति व्ये—ताक्ष्ण्य इति ॥ ११० ॥

३१ न वमन्तसंयोगात् । अत्र अनोऽस्येति लुगिति चाऽनुवर्तते, वमन्तसंयोगात् अनोऽस्य लुग् नित्यन्वयस्त्वदाह—वकारान्तादि-  
त्यादि । वकारमकारयो संयोगविशेषणत्वेन “विशेषणमन्त” इति न्यायेनाण तदन्तत्वे लब्धेऽन्तग्रहण स्पष्टार्थम्, अन्यथा वमसंयोगादिति समस-  
निर्देशे तयोरेव संयोगादित्यादाह स्यात्, वम संयोगादिति व्यञ्जितनिर्देशोऽपि वकारमकारभ्यां परो यः संयोगलक्षणमित्यपि प्रतीयेतेति । ‘पृथ’  
३२ पालनपूरणयोरत “स्वामिदि” उणा० १०४ । इति वनि, गुणे, टादौ “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे प्राप्ते वकारान्तस्योपयोगपरत्वाद्नेन निषेधे—पयणे-

कर्मणा, कर्मणे; भस्मना, भस्मने; अश्मना, अश्मने; पर्वणी; कर्मणी; पर्वणि, कर्मणि । संयोगादिति किम् ? प्रतिदीप्ता, साम्ना । व्रमन्तेति किम् ? तक्षणा, मूर्धा ॥ १११ ॥

हृनो ह्ये षः ॥ २ । १ । ११२ ॥

हन्तेर्ह इत्येवंरूपस्य ष इत्ययमादेशो भवति । भ्रूणघ्नी स्त्री, भ्रूणघ्ना, भ्रूणघ्ने, भ्रूणघ्नी कुले, भ्रूणघ्नि, घ्नन्, घ्नन्ति; अघ्नन् । हन इति किम् ? ग्रीहः, अहः, अही, अहि । ह इति किम् ? वृत्रहणौ, वृत्रहयति ॥ ११२ ॥

लुगस्यादेत्यपदे ॥ २ । १ । ११३ ॥

अपदेऽपदादावकारे एकारे च परोऽकारस्य लुग् भवति । सः, तौ, ते, युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्, पचन्ति, पठन्ति, विवक्षन्, पचे; यजे । असेति किम् ? अदन्ति, आसे । अदेतीति किम् ? श्रमणे, संयते । अपद इति किम् ? दण्डाग्रम्, तवैषा ॥ ११३ ॥

डित्यन्त्यस्वरादेः ॥ २ । १ । ११४ ॥

स्वराणां संनिविष्टानां योऽन्त्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्य डिति परो लुग् भवति । मुनौ, साधौ, पितुः, मातुः; पिता, माता; एषु व्यपदेशिवद्भावादन्त्यस्वरादित्त्वम् । महत्याः करः—महाकरः, महाघासः, उपसरजः, मन्दुरजः, १२ त्रिंशता क्रीतम्—त्रिंशकम् । आसन्नाश्वत्वारो येषामासन्नचताः, अदूरचताः । डिति किम् ? दृषदौ, दृषदः ॥ ११४ ॥

त्यादि । एव तत्त्वदृश्वनेत्यादि । 'भसे' सौत्रात्, 'अशौटि' व्याप्तवित्यतश्च "मन्" उ० १११ । इति मनि टायां—भस्मनेत्यादि । पर्वणी-त्यादि । अत्र "इहौ वा" इति विकल्पः प्राप्तः प्रतिषिध्यते । प्रतिदीप्ता, साम्नेति । अत्र वकारमकाराभ्यामेव परोऽन् न तु तत्त्वयोगादिति १५ प्रतिषेधो न भवति । तक्षणा, मूर्धा इति । अत्र संयोगमात्रात् परो न तु घमन्तात् इत्यनोऽस्य इति लुग्भवति ॥ १११ ॥

हृनो ह्ये षः । हृनो ह्य इति समानाधिकरणे षष्ठी इत्याह—हन्तेरित्यादि । भ्रूणपूर्वात् हन्ते किपि, "नना शोणादे" २।४।३१। इति व्या, "अनोऽस्य" इति ततोऽकारलोपेऽनेन ह इत्यस्य प्राऽऽदेशे—भ्रूणघ्नी । एव नपुसके औकारस्येत्वे "इहौ वा" इत्यकारलोपेऽनेन १८ प्रादेशे—भ्रूणघ्नी कुले इति । नपुसकत्वामिव्यक्तयोःऽनुप्रयोग । मञ्जिति । "शत्रानघावे०" ५।२।२० । इति शतृप्रत्यय, "गमहनजन०" ४।२।४४। इत्यकारलोप । एव घ्नन्तीत्यादि । 'हिहेरहे'श्च "श्वन्मातरिश्वन्०" उणा० १०२ । इति निपातनादनि—ग्रीहन्, अहन् इति स्थितस्य ऋसादावकारलोपे—ग्रीह इत्यादि । अत्र हन इति हन्तेरनुकरणात् 'अर्थवद्ग्रहणे०' इति न्यायात् वाऽत्रान्यस्य न भवति । वृत्रहणमाचष्टे इति २१ णिचि अन्त्यस्वरादिलोपे—वृत्रहयति ॥ ११२ ॥

लुगस्यादेत्यपदे । अदेति—अथ एषेति समाहारद्वन्द्वात् सप्तमी, अपद इत्यस्य विशेषणम् । अपदे अदेति अस्य लुगित्यन्वय-स्वदाह—अपदेऽपदादावित्यादि । 'सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति न्यायेन अपदादिभूताकारैकाराव्यवहितपूर्वस्य अकारस्य लुगित्यर्थ । स इति । २२ तद् सौ "आह्वे" इत्यत्वे, "लुगस्यादेत्यपदे" इति अपवादत्वात् समानदीर्घत्व धाधित्वाऽकारलोपः, "त सौ स" इति तकारस्य सकारः । एवमौकारे जसि चाल्वादौ—तावित्यादि । ताविति लोपामात्रेऽपि सिध्यति परमेकवचनबहुवचने उदाहरता मन्वर्वात्प्रसङ्गलिखितमुदाहरणम् । "अभ्यम् भ्यस" इति कृत्वे—युष्मभ्यमित्यादि । पचन्ति, पठन्तीति । पचे पठेश्च अन्तिप्रत्यये, "कर्तर्यनङ्गप०" इति शब् । बहुमिच्छ- २७ चीति "भूमर्होत्०" इति सनि, द्विवचनेऽनादिव्यञ्जनलोपे, "सन्त्यस्य" इतीत्वे, चस्य कत्वे पत्वे च विवक्षतीति "शत्रानघावे०" इति शतृप्रत्यये, शवि, सन्शधोरकारलोपे, सिलोपे, "ऋदुदितः" इति नागमे, संयोगान्तलोपे—विवक्षन् इति । एव पचेर्यजेश्च वर्तमानाया एप्रत्यये, "कर्तर्य०" इति शवि, अकारलोपे—यजे, पचे इति । 'अदक्' मक्षणेऽतोऽन्तौ—अदन्ति इति । 'आसिक्' उपवेशनेऽत एप्रत्यये—आसे इति । ३० श्रमणे, संयते इति । सप्तमेकवचन जी । दण्डस्यात्र दण्डाग्रमिति षष्ठीसमासो दण्डेति संबोधनपद वा ॥ ११३ ॥

डित्यन्त्यस्वरादेः । अत्र लुगित्यनुवर्तते, अन्त्यस्वरादेः डिति लुगित्यन्वयः । सति यस्मिन् यस्मात् पूर्वमस्ति परं नास्ति सोऽन्तस्त्वत्र भवोऽन्त्य, अन्त्यस्वर आदिरेत्यस्य शब्दरूपस्येति बहुव्रीहि, तत्र यदि स्वरस्यान्त्यत्वं स्वरव्यञ्जनसमुदायापेक्ष्य न तदा तदादिरन्त्य संभवतीत्यादि- ३३ प्रहणमनर्थकं स्यात्, अतस्त्यलज्जातीयापेक्षेभवात्स्यात्वं विज्ञायत इत्याह—स्वराणामिति । तत्रापि न सन्निवेशानपेक्ष्यमन्त्यत्वमित्याह—सन्नि- त्रिष्टानामिति । एव विशिष्टेनान्त्येन स्वरेण विशिष्टः समासार्थः समुदायलोपमाह—योऽन्त्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्येति । डिति—डकार इत्- अत्रयोगी यस्य तस्मिन् परे लुग्भवतीति । मुनौ, साधाविति । "डिहौ" इति द्वौ, अन्त्यस्वरादेर्लुक् । पितुः, मातुरिति । "ऋतो ह्य" इति ३३ द्विर् ऋकारस्य लोपः । पिता, माता इति । "ऋदुदानस्युदशो०" इति सेहोऽऽदेशः । अत्र सर्वत्र "इवर्णोदेरखे०" इति प्राप्ते परत्वात् डित्त्व- स्यानवकाशत्वाच्च लुगेव । अयान्त्यस्वर एव, न तत्र तदादि कश्चिदस्ति इत्याह—एष्वित्यादि । महाकर इत्यादि । महत्या कर इत्यादि षष्ठी- संमासे "महत करघासविशिष्टे वा" ३।२।६८। इत्यधिकारे "क्षियाम्" ३।२।६९। इतीकारस्य ऋदेशेऽनुपस्य लृक् । उपसरे जात इति मन्दुरायां ३६ जात इति च विग्रहे "सप्तम्या" ५।१।१६९। इति डे, अशिलस्य लोपे, "ह्यापो बहुलं नाश्नि" २।४।९९। इति यथासंभवं इत्यत्वे—उपसरजः, मन्दुरज इति । त्रिंशकमिति । "त्रिंशद्विशतेर्कोऽसंज्ञायामार्हदये" ६।४।१२९। इति डक । आसन्नचताः, अदूरचता इति । "आसन्ना- दुराधिकाभ्यर्षाधिपूर्णां द्वितीयायान्यार्थे" इति बहुव्रीहि, "प्रसाणीचंस्यात्" ७।३।१२८ इति डत्वतो जस् ॥ ११४ ॥

### लुगातोऽनापः ॥ २ । १ । १०७ ॥

आपूर्वजितसाकारस्य ङीसाद्यघुदस्वरे परे लुग् भवति । कीलालपः, कीलालपा, कीलालपै, शुभंयः, शुभंया, शुभंये, क्तवः, श्रे, हादे देदि । आत इति किम् ? नदीः । अनाप इति किम् ? खट्वाः, शालाः; मालाः पयः । ङीसाद्य-  
घुदस्वर इत्येव ? कीलालपारित्तित्तन्ति, कीलालपां पयः; कीलालपाभ्याम् ॥ १०७ ॥

### अनोऽस्य ॥ २ । १ । १०८ ॥

अनोऽकारस्य ङीसाद्यघुदस्वरे परे लुग् भवति । राज्ञी, राज्ञः, राज्ञा, राज्ञे; तक्ष्णः, तक्ष्णा, तक्ष्णे । ङीसाद्यघुद-  
स्वर इत्येव ? राजानौ, राजानः, सुराजानि कुलानि; राजभ्याम् ॥ १०८ ॥

### ईडौ वा ॥ २ । १ । १०९ ॥

अनोऽकारस्येकारे डौ च परे लुग् वा भवति । सामी, सामनी; दासी, दामनी, सुराज्ञी, सुराजनी कुले; राज्ञि, राज्ञि-  
दधि, दधनि ॥ १०९ ॥

### पादिहन्धृतराज्ञोऽणि ॥ २ । १ । ११० ॥

पकारादेरनो हन्धृतराजन्नित्येतयोश्चाकारस्याणि प्रत्यये परे लुग् भवति । औक्ष्यः, ताक्ष्यः; भौषण्यः, वार्त्तमः;  
धार्तराज्ञः । पादीनामिति किम् ? सामनः, वैमनः । अणीति किम् ? ताक्ष्यः ॥ ११० ॥

### न वमन्तसंयोगात् ॥ २ । १ । १११ ॥

वकारान्तात् वकारान्ताच्च संयोगात् परस्यानोऽकारस्य लुग् न भवति । पर्वणा, पर्वणे; तत्त्वदक्षना, तत्त्वदक्षने;

लुगातोऽनापः । अत्र ङीसाद्यघुदस्वरे इत्यनुवर्तते, अनाप आतः ङीसाद्यघुदस्वरे लुगित्यन्वयस्तदाह—आपूर्वजितस्येत्यादि । अत्र-  
सम्भवेऽप्युत्तरार्थं हीलानुवर्तते । कीलालप इत्यादि । कीलाल विचतीति किम् विच वा तत घञादायनेनाकारस्य लोपः । एव शुभ यादीति—  
१८ शुभंय इत्यादि । क्तवः, श्रे इति । क्तवाभ्यामप्रत्यययोरेतुःकरणमिदम् । अनुकरणे हि घञ्दा अपि लक्षणं प्रयोजयन्ति, यथा—“अन्वयात्तुकरणा-  
दनेकस्वरत्वं कृत्वस्तिनामिति सिध्” ७।२।१४५। इति । यथैव चान्ये अर्थपरा देवदत्तादिभि शब्दैः व्यवहरन्ति, एव वैयाकरणा अपि प्रकृति-  
प्रत्ययादीन् प्रत्याययन्तस्तदनुकरणैरेभिर्व्यवहारमारभन्ते । ननु क्तवायां टायामित्येवमपि वैयाकरणा व्यवहरति तत्कथमिति चेत्, उच्यते—  
१९ ङीलिङ्ग भावन्तोऽनुकरणस्यो य उदाहृत सोऽनायन्त उभयया दर्शनात् उभय व्यवस्थाप्यते इति । हाह्ये इति । अत्रानुकरणस्याकारलोपः ।  
देहीति । “हो द ” ४।१।३१। इत्येत्वम् । नदीरिति । अत्र शक्ति आकारस्याभावोपो न भवति । खट्वा इत्यादि । एतेषु “आत्” इत्याप,  
तत शस्य, अनाप इति वचनात् लुगभावः । कीलालपा इत्यादि । जम्भम्भ्याम्सु रूपाणि ॥ १०७ ॥

अनोऽस्य । अत्र ङीसाद्यघुदस्वरे इति लुगिति चातुवर्तते, अनः अस्य ङीसाद्यघुदस्वरे लुगित्यन्वयः । अत्र इत्यवयवसम्बन्धप्रभन्तम्  
अस्मैत्यस्य यार्थिणे विशेषणमित्याह—अनोऽकारस्येति । राज्ञी—“तिमा चतो” इति ङी, ततोऽनोऽकारलोपः । एव अष्टदस्वरेऽपि । ‘तसौ’  
तनुकरणेऽत “उक्षितक्ष्णधी” उणा० १०० । इत्यनि दासादौ अनोऽकारलोपे—तक्ष्ण इत्यादि । शोमनो राज्ञ येषा कुलानामिति “न्युपकल्प  
२० शि ” इति जस्र शक्वी वा शो “नि शीर्षं” इति शीर्षत्वे—सुराजानि ॥ १०८ ॥

ईडौ वा । अत्र अन इति अस्मेति लुगिति चातुवर्तते, अनोऽस्य ईडौ लुगित्यन्वयस्तदाह—अनोऽकारस्येत्यादि । साङ्गीत्यादौ  
“आरी” इतीत्वम्, तत्र पूर्वोण नित्ये प्राप्ते पक्षे तदभावार्थोऽयं विकल्पः । तस्य भावामावोभयार्थकत्वात् तत्र भावविद्धौ अभावफलो विकल्पविधि-  
२० रभावविद्धौ भावफल उभयविद्धावुभयफल । अत्र भावस्य पूर्वोण सिद्धत्वादभावफल इति ॥ १०९ ॥

पादिहन्धृतराज्ञोऽणि । हन् इति । भ्रूणहन् इत्यादिप्रयोगस्य हनोऽनुकरणम् । धृतराज्ञिति प्रायोगिकस्य धृतराज्ञ  
शब्दस्यानुकरणम् । अत्र अनोऽस्येति लुगिति चातुवर्तते, पादिहन्धृतराज्ञोऽनोऽस्य अणि लुगित्यन्वयस्तदाह—पकारादेरित्यादि । तक्ष्णोऽपत्य-  
२१ मिति “उसोऽपत्ये” ६।१।२८। इत्यणि वृद्धौ अन्तपत्ये इत्यधिकृत्य “उक्ष्णो लुक्” ७।४।५६। इति त्रिविधानादपत्ये नलोपाभावादेवान सद्भावेऽपि  
अण स्याद्यघुदस्वरत्वाभावात् पूर्वोणाप्राप्तवनेनाकारलोपे नस्य पत्ये—औक्ष्य इति । एव तक्ष्णोऽपत्यमिति “शिवदेरण्” इत्यणि—ताक्ष्य इति ।  
कारुलक्षणस्तु इम् कुर्वादिभ्यो न नाथनात् पक्षे न भवति । भ्रूण हतवान् इति किपि भ्रूणह्, भ्रूणोऽपत्यमित्यणि, अनोऽकारलोपे, “हनो हो ङ”  
२३ इति प्रादेशे—भौषण्य इति । एव घृत् हतवानिति किपि—वार्त्तम इति । धृता राजानो येन तस्यापत्यमिति विरुद्धा पूर्ववदगादौ अनोऽकारलोपे  
“तवर्गस्य” इति नकारस्य नकारे—धार्तराज्ञ इति । सामनः, वैमन इति । “देवता” इत्यण् । तक्ष्णोऽपत्यमिति “कुर्वादेव्यं”  
इति व्ये—ताक्ष्य इति ॥ ११० ॥

न वमन्तसंयोगात् । अत्र अनोऽस्येति लुगिति चातुवर्तते, वमन्तसंयोगात् अनोऽस्य लुग् नैत्यन्वयस्तदाह—वकारान्तादि-  
त्यादि । वकारमकारयो संयोगविशेषणत्वेन “विशेषणमन्त” इति न्यायेनात्र तदन्तत्वे लब्धेऽन्तग्रहण स्पष्टार्थम्, अन्यथा वमसंयोगादिति समस्त-  
निर्देशे तयोरेव संयोगादित्याशङ्क्या स्यात्, वम संयोगादिति व्यस्तनिर्देशेऽपि वकारमकाराभ्यां परो य संयोगस्तस्यापिपि प्रतीयेतेति । ‘पुष्ट’  
२४ पालनपूरणयोरेत “सामदि” उणा० १०४ । इति वनि, शुभे, दादौ “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे प्रातौ वकारान्तसंयोगपरत्वादनेन निवेचे—पूर्वोणे-

कर्मणा, कर्मणे; मस्मना, मस्मने; अश्मना, अश्मने; पर्वणी, कर्मणी; पर्वणि, कर्मणि । संयोगादिति किम् ? प्रतिदीप्ता, साक्षा । वमन्तेति किम् ? तक्षणा, मूर्धा ॥ १११ ॥

हनों हों ङः ॥ २ । १ । ११२ ॥

हन्तेर्ह इत्येवरूपस्य ङ इत्ययमादेशो भवति । भ्रूणघ्नी स्त्री, भ्रूणघ्ना, भ्रूणघ्ने, भ्रूणघ्नी कुले, भ्रूणघ्नि, घ्नन्, घन्ति; अघ्नन् । हन इति किम् ? ग्रीहः, अहः, अही, अहि । ह इति किम् ? वृत्रहणौ, वृत्रहयति ॥ ११२ ॥

लुगस्यादेत्यपदे ॥ २ । १ । ११३ ॥

अपदेऽपदादावकारे एकारे च परेऽकारस्य लुग् भवति । सः, तौ, ते; युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्; पचन्ति, पठन्ति, विवक्षन्, पचे; यजे । असेति किम् ? अदन्ति, आसे । अदेतीति किम् ? श्रमणे, संयते । अपद इति किम् ? दण्डाग्रम्, तवैषा ॥ ११३ ॥

दित्यन्त्यस्वरादेः ॥ २ । १ । ११४ ॥

स्वराणां संनिविष्टानां योऽन्त्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्य डिति परे लुग् भवति । मुनौ, साधौ, पितुः, मातुः; पिता, माता; एषु व्यपदेशिवद्भावादन्त्यस्वरादित्वम् । महत्याः करः-महाकरः, महाघासः, उपसरजः, मन्दुरजः, १२ त्रिंशता क्रीतम्-त्रिंशकम् । आसन्नाश्वत्वारो शेषामासन्नचताः, अदूरचताः । डिति किम् ? दृषदौ, दृषदः ॥ ११४ ॥

सादि । एव तत्त्वदृशनेत्यादि । 'भसे' सौत्रात्, 'अशौटि' व्यातावित्यतश्च "मग्" उ० १११ । इति मनि टायां-भस्मनेत्यादि । पर्वणी-त्यादि । अत्र "ईहौ वा" इति विकल्पः प्राप्तः प्रतिविध्यते । प्रतिदीप्ता, सास्त्रेति । अत्र वकारमकाराभ्यामेव परोऽन् न तु तत्संयोगादिति १५ प्रतिषेधो न भवति । तद्व्या, मूर्धा इति । अत्र संयोगमात्रात् परो न तु वमन्तात् इत्यनोऽस्य इति लुगभवति ॥ १११ ॥

हनों हों ङः । हनों ह इति समानाधिकरणे षष्ठी इत्याह-हन्तेरित्यादि । भ्रूणपूर्वात् हन्ते किपि, "नना शोणदे" २।१।११। इति व्या, "अनोऽस्य" इति ततोऽकारलोपेऽनेन ह इत्यस्य आऽऽदेशो-भ्रूणघ्नी । एव नपुंसके औकारस्येते "ईहौ वा" इत्यकारलोपेऽनेन इत्-आदेशो-भ्रूणघ्नी कुले इति । नपुंसकत्वामित्युक्तयोऽनुप्रयोग । प्रचिन्ति । "ज्ञानशावे०" ५।२।२० । इति शतृप्रत्यय, "गमहनजन०" ४।२।४४। इत्यकारलोप । एव घन्तीत्यादि । "हिदेरेहे"श्च "घ्नमातरिश्चन०" उणा० १०२ । इति निपातनादनि-हीहन्, अहन् इति स्थितस्य उपादावकारलोपे-ग्रीह इत्यादि । अत्र हन इति हन्तेरनुकरणत्वात् 'अर्थवद्ग्रहणे०' इति न्यायाद् वाऽज्ञान्यस्य न भवति । वृत्रहणमाचरे इति २१ णिचि अन्त्यस्वरादिलोपे-वृत्रहयति ॥ ११२ ॥

लुगस्यादेत्यपदे । अदेति-अच् एषेति समाहारद्वन्द्वात् सप्तमी, अपद इत्यस्य विशेषणम् । अपदे अदेति अस्य लुगित्यन्वय-स्वदाह-अपदेऽपदादावित्यादि । 'सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति न्यायेन अपदादिभूताकारैकाराव्यवहितपूर्वस्य अकारस्य लुगित्यर्थः । स इति । २४ तद सौ "आदेर" इत्यत्वे, "लुगस्यादेत्यपदे" इति अपवादत्वात् समानदीर्घत्व बाधित्वाऽकारलोपः, "त सौ स" इति तकारस्य सकारः । एवमौकारे जश्चि चाल्वादे-तावित्यादि । ताविति लोपाभावेऽपि सिध्यति परमेकवचनबहुवचने उदाहरता मन्व्यवर्तिप्रसङ्गलिखितमुदाहरणम् । "अभ्यम् भ्यस" इति कृते-युष्मभ्यमित्यादि । पचन्ति, पठन्तीति । पचे पठेश्च अन्तिप्रत्यये, "कर्तर्येनङ्प्र०" इति शब् । षक्तुमिच्छ-२७ तीति "वृमहोद०" इति सनि, द्विवचनेऽनादिव्यञ्जनलोपे, "चन्यस्य" इतीत्वे, चस्य कृत्वे षत्वे च विवक्षतीति "ज्ञानशावे०" इति शतृप्रत्यये, शवि, सन्शवीरकारलोपे, सिलोपे, "श्रुद्वित" इति नागमे, संयोगान्तलोपे-विवक्षन् इति । एवं पचेर्यजेश्च वर्तमानाया एप्रत्यये, "कर्तर्ये०" इति शवि, अकारलोपे-यजे, पचे इति । 'अप्रक्' मक्षणेऽतोऽन्तौ-अदन्ति इति । 'आसिक्' उपवेशनेऽत एप्रत्यये-आसे इति । ३० श्रमणे, संयते इति । सप्तम्येकवचनं ही । दण्डस्याग्र दण्डाग्रमिति षष्ठीसमासो दण्डेति संज्ञोपपद वा ॥ ११३ ॥

दित्यन्त्यस्वरादेः । अत्र लुगित्यनुवर्तिते, अन्त्यस्वरादे इति लुगित्यन्वयः । सति यस्मिन् गस्यात् पूर्वमस्ति परं नास्ति सोऽन्तस्त्वत्र मनोऽन्त्य, अन्त्यस्वर आदिर्यस्य शब्दरूपस्येति बहुमीहि, तत्र यदि स्वरस्यान्त्यत्वं स्वरव्यञ्जनसमुदायापेक्ष्य न तदा तदादिरन्त्य संभवतीत्यादि-१४ प्रहणमनर्थकं स्यात्, अतस्तुल्यजातीयापेक्षमेवान्त्यत्वं विज्ञायत इत्याह-स्वराणांमिति । तत्रापि न सन्निवेशानपेक्ष्यमन्त्यत्वमित्याह-सन्नि-विष्टानामिति । एव विधिनेान्त्येन स्वरेण विशिष्टं समासार्थं समुदायलोपमाह-योऽन्त्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्येति । डिति-अकार इद-अप्रयोगी यस्य तस्मिन् परे लुगभवतीति । मुनौ, साधाविति । "किंौ" इति हौ, अन्त्यस्वरादेर्लुक् । पितुः, मातुरिति । "श्रुतो ह्र" इति ३४ इति ऋकारस्य लोपः । पिता, माता इति । "श्रुदुशनस्युदशो०" इति सेढोऽऽदेशः । अत्र सर्वत्र "श्वर्णविरखे०" इति प्राप्ते परत्वात् दित्य-स्यानवकाशत्वात् लुगेव । अयान्त्यस्वर एव, न तत्र तदादि कश्चिदस्ति इत्याह-यच्चित्यादि । महाकर इत्यादि । महत्या कर इत्यादि षष्ठी-समासे "महत् करवासविशिष्टे वा" ३।२।६८। इत्यधिकारे "त्रियाम्" ३।२।६९। इतीकारस्य आदेशोऽङ्प्रत्यय लुक् । उपसरे जात इति मन्दुरायां ३५ जात इति च विग्रहे "सप्तम्या" ५।१।१६९। इति ङे, अशित्यस्य लोपे, "व्यापो बहुल नास्ति" २।१।६९। इति व्याघ्रमेव हसत्वे-उपसरजः, मन्दुरज इति । त्रिंशकमिति । "त्रिंशद्विंशतेर्लुकोऽचज्ञायामार्हदर्थे" ६।१।१२९। इति ङक । आसन्नचताः, अदूरचता इति । "आसन्ना-दुराधिकार्यार्थादिपूरणं द्वितीयाद्यन्यार्थे" इति बहुमीहि, "प्रमाणीसंख्याइ." ७।३।१२८ इति स्वतो जत् ॥ ११४ ॥

## अवर्णादश्रोऽन्तो वाऽतुरीडयोः ॥ २ । १ । ११५ ॥

श्रावर्जितादवर्णात् परस्तात्. स्थानेऽन्त इत्यादेशो वा भवति, ईडयोः—औकारस्थाने ईप्रत्यये डीप्रत्यये च परे । तुदन्ती, ३ तुदती कुले, तुदन्ती, तुदती स्त्री; करिष्यन्ती, करिष्यती कुले, करिष्यन्ती, करिष्यती स्त्री; भान्ती, भाती कुले; भान्ती, भाती स्त्री; प्सान्ती, प्साती कुले; प्सान्ती, प्साती स्त्री । अवर्णादिति किम् ? अदती, सुन्वती, रुन्वती, तन्वती स्त्री कुले वा; एषु शतृः । अधीयती स्त्री कुले वा, अत्रातृश्, जरती स्त्री कुले वा—अत्रातृः । अथ इति किं ? क्रीणती स्त्री, लुनती स्त्री कुले वा । ईडयोरिति किम् ? तुदता कुलेन । अवर्णादिति विशेषणादथ इति प्रतिषेधाच्च लोपदीर्घाभ्यां पूर्ववचानेनान्तः, भूतपूर्वतया वा पश्चात् । ददती स्त्री ददती कुले इत्यत्र तु कृतेऽप्यन्तादेशे “अन्तो नो लुक्” ॥ ४ । २ । १४ ॥ इति नलोपः ॥ ११५ ॥

९

## इयशवः ॥ २ । १ । ११६ ॥

इयात् शवश्च परस्तातुरीडयोः परतोऽन्त इत्यादेशो भवति । दीव्यन्ती, सीव्यन्ती स्त्री कुले वा; भवन्ती, चौर्यन्ती स्त्री कुले वा; धारयन्ती शार स्त्री कुले वा । इयशव इति किम् ? जरती स्त्री कुले वा । ईडयोरित्येव ? दीव्यता, २३ भवता ॥ ११६ ॥

## दिव औः सौ ॥ २ । १ । ११७ ॥

दिवोऽन्तस्य सौ परे और्भवति । द्यौः, प्रियद्यौः, हे द्यौः !; हे अतिद्यौः ! । ‘निरनुबन्धग्रहणे न सातुबन्धस्य’ इति २५ धातोर्न भवति—अक्षैर्दीव्यति, किप्, ऊद—अक्षयूः । साविति किम् ? दिव पश्य । धामिति तु घोशब्दस्य “आ अम्-शसोऽन्ता” इत्याकारे रूपम् ॥ ११७ ॥

अवर्णादश्रोऽन्तो वाऽतुरीडयोः । अत्र अवर्णात् अतु अन्त वा इणोरित्यन्वयः । श्रावर्जितादवर्णादिति । श्राशब्देन ३८ श्रान्तसमुदाय उच्यते, अवर्णादित्यप्यवर्णात्, न ह्यवर्णात् पर घाताऽस्ति न च तत्राश्र इति प्रतिषेधो युक्तः, तेनायमर्थः—श्रान्तवर्जितादवर्णात् परस्वेति । अथवा—अवर्णादिति समुदायैरुद्देशोऽवर्णे एवोच्यते, श्राशब्देन तु श्राशब्दसम्बन्धवर्ण इति, तत्राऽयमर्थः—श्रावर्जितात् श्राप्रत्ययावयवो यो न भवति तस्मादवर्णात् परस्वेत्यर्थः । तुदन्ती, तुदती कुले इत्यादि । ‘तुदात्’ व्ययने, इत्यतः “श्रान्तवावे” इति शतृप्रत्ययः, तुदादि- ३९ त्वात् घ, औकारस्य “औरी” इतीत्वम्, “प्रियां नृती” इति ययासंमर्षं दीप्रत्ययः, पक्षेऽनेन अन्तादेशः, ततो “लुगस्यादेत्यपदे” इत्यस्य उक् । एव करोते “श्रान्तवावे” इति स्वसहिते शतृप्रत्यये, “हृत्त सत्य” ४।४।४९। इतीटि, “नाम्यन्तास्या” इति पत्त्वे, पूर्ववचीत्वाद्— करिष्यन्तीत्यादि । एव ‘भाक्’ धीतो, ‘प्साङ्’ मक्षणे—भान्ती इत्यादि । ‘अदङ्’ मक्षणे, ‘पुगट्’ अमिषवे, ‘रूपी’ आवरणे, ‘तन्मि’ विलारे, २४ ऽत शतृप्रत्यये ययासंमर्षं “खादे गु”, “रुष स्यात्” इति “हृत्तनादेर” इति च “श्रास्योर्लुक्” इति श्रयाकारलोपे, अवर्णादिति वचनादन्तादेशामाये—अदतीत्यादि । अधिपूर्णात् ‘ईङ्’ अप्ययनेऽतः “घारीणेऽङ्छेऽतृश्” ५।२।२५। इत्यद्वि, “घातोरिवर्णोवर्णस्य” इती- २७ चादेशे, द्यां औकारस्येकारे वा—अधीयती इति । जरती इति । औयते “जृपोऽट्” ५।१।७३। इति अट् । क्रीणती, लुनतीति । क्रीणाते- ३० र्जनादेशे घातरे “त्रयादे” इति श्राप्रत्यये, “श्रयात्” ४।२।१६। इति आकारलोपः । तुदता इति । अत्र द्यां ईडयोरिति वचनात् न भवति । ननु तुदन्ती भान्तीत्यादिभूलादाहरणे ईडयोरनपेक्षत्वेन वर्णमात्राश्रयत्वेन चान्तरत्वात् “लुगस्यादेत्यपदे” इति “धमानानां” इति चाकार- ३१ लोपदीर्घत्वयो हृतयोरवर्णात् परत्वं शतृप्रत्ययस्य न सम्भवति तत्कथमकारावर्णशतृप्रत्ययस्यैवावापेक्षत्वेन बहिरश्रोऽन्त इत्यादेश इत्याह—अव- ३२ र्णादिति । यदि प्रागेवान्तादेशात् लोपदीर्घो स्यात् तदाऽवर्णात् परस्तात् स्थानेऽन्त इति वचनसम्भवदर्शमनर्थकं स्यात्, तथा लोपेन प्रागेवाकारनिष्ठे प्राप्यमावादश्च इति प्रतिषेधोऽप्यनर्थक इति अतोऽन्तरावपि लोपदीर्घावसिद्धि विषयेऽन्तादेशात् पश्चाद्भवतोऽन्यथा तदनुप- ३३ पत्तेरिति । अथवा—अन्तरत्वात् लोपदीर्घयो हृतयोरपि वचनसामर्थ्यात् भूतपूर्वतया पश्चादप्यन्तादेश इत्याह—भूतपूर्वतया चेति । ‘वर्णात् ३४ प्राकृत वलीय’ इति तु नेहोपविष्टे भिन्नकालत्वात्, तथाहि—ईडयो सङ्गावेऽन्तादेशः प्राप्नोति, लोपदीर्घो तु तत् प्रापेव, यत्र हि वर्णप्राकृतयो- र्युगपत्प्राप्ति कारक इत्यादौ तत्रेदमुपविष्टत इति । नन्वेवं तर्हि ददतीत्यादौ आकारलोपेऽपि भूतपूर्वतया शतृरन्तादेशो नकारावणप्रसङ्ग इत्याह— ३५ अत्रेत्यादि ॥ ११५ ॥

इयशवः । अत्र अतुरीडयोरिति अन्त इति चातुरीडयोः इयशव अतुरीडयो अन्त इत्यन्वयस्येदाह—इयात् शवश्चेत्यादि । दीव्यन्ती, सीव्यन्ती स्त्री कुले चेति । ‘दिवृत्’ क्रीडायाम्, ‘दिवृत्’ सती, आम्नां शतृप्रत्यये “दिवारे इय” इति इयस्य पूर्ववचीत्पोर- ३६ तादेशः । भवन्तीत्यादि । ‘भृ’ सत्तायाम्, ‘पुरण्’ स्त्रेये, ‘हृक्’ धारणे, एभ्यः शतृप्रत्यये ययासंमर्षे णिचि घञि च पूर्ववचीत्पोरन्तादेशः । ३७ जरती—“जृपोऽट्” इत्यट् । ननु ईडयो पूर्वणैव शतृरन्तादेशः सिद्धः किमर्थमिदं, नैष दोषः, नित्यार्थत्वादस्य ॥ ११६ ॥

दिव औः सौ । दिव सौ औरित्यन्वयः । दिव इति स्थानव्यञ्जितः, ततश्च “धम्या अन्त्यस्य” इत्युपविष्टे इत्याह—दिवोऽन्तस्येति । द्यौरिति । अत्र “उः पदान्ते” इति प्राप्तेऽप्यन्तरितार्थत्वात् साविति विशेषविधानाद् वा औरेवानेन न तु उकारः । दिव औकारेण संबन्धात् ३८ से, परत्वमात्रविज्ञानात् तत्त्वन्वित्यन्त्यस्यन्वित्युदाहरति—द्यौः, प्रियद्यौरित्यादि । दिव्यते “दिवेर्दिन्” उ० ५४९। इति ङिचि-दिङ् औगा- दिकस्यत चावनेन वकारस्यैत्वम्, से क्त्वादि, प्रिया द्यौरित्येति “परत औ पुवत्” ३।२।४९। इति पुवद्भावः, अतिक्रान्तो दिवमिति प्रादिस- ३९ मास—अतिद्यौः । ननु अक्षपूर्वात् वीव्यते किप्युटि कृते “एकदेशविकृतस्यान्यत्वात्” औत्व कस्मात् भवति ? न ह्यभातोरित्यस्तीत्याह— ४० निरनुबन्धग्रहणे नेत्यादि । सचे हि निरनुबन्धोपादानादप्युत्पन्नमनुबन्धक विधिति नाम गृह्यते, ष्युत्पत्तिपक्षेऽप्यवयवानां सातुबन्धकत्वं न नाम्न इति । ननु दिवो वकारस्य अम्प्राप्तौ आकारो विभाषया वक्ष्य, अन्यथा दिवमित्याद्येव स्यात् तु धामिस्यौरीत्याह—धामिस्येति । ‘घुक्’ ४१ अक्षिगमे, अतः “धुगमिभ्यां षोः” उ० ६६७। इति ङोस्त्वोऽम् ॥ ११७ ॥



उः पदान्तेऽनूत् ॥ २ । १ । ११८ ॥

पदान्ते वर्तमानस्य दिवोऽन्तस्य उकारादेशो भवति; स चानूत्-तस्य तूकारस्य दीर्घत्वं न भवतीत्यर्थः । द्युम्याम्, द्युमिः, द्युम्यः, द्युषु, अतिद्युम्याम्, परमद्युम्याम्, द्युगतः, द्युकामः, द्युत्वम्, द्युकल्पः, विमलद्यु दिनम् । पदान्त इति किम् ? दिव्यति, दिव्यम्, दिवौ; दिवम्, दिवि । अनूदिति किम् ? अद्यौद्यौर्भवति-द्युभवतीत्यत्र “दीर्घ-श्रिवयङ्ग्यव्येषु च” ॥ ४ । ३ । १०८ ॥ इत्यनेन च्चौ दीर्घत्व न भवति । उकारस्य प्रतिषेधाद् वृद्धिर्भवत्येव-द्युकामस्यापत्वं द्यौकामिः । दिवाश्रयः, दिवौकस इति तु षुपोदरादित्वादकारागमे भविष्यति, वृत्तिविषये वाऽकारान्तो दिव-शब्दोऽस्ति ॥ ११८ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपशब्दानुशासनतत्त्वप्रका-  
शिकायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ २ । १ ॥

प्रावृद्धजातेति हे भूपाः !, मा स्म त्यजत काननम् ।

हरिः शोतेऽत्र न त्वेष; मूलराजमहीपतिः ॥ २।१।११ ॥

उः पदान्तेऽनूत् । अत्र दिव इत्यनुवर्तते, अनुवृत्तस्य तस्य पृथगन्तयान्तपदोपस्थित्या पदान्ते दिवोऽन्तस्य उ, स च अनूदित्यन्वय-स्वदाह—पदान्ते वर्तमानस्य दिवोऽन्तस्येत्यादि । द्यु-भ्यामित्यादि । “नाम सिद्धञ्जने” इति पदत्वे तदन्तत्वाद्द्वयानेनोकारे यत्वम्, एवं अतिक्रान्तौ दिवमिति निग्रहे—अतिद्युभ्यामिति, परमे च ते दिवौ च—परमद्युभ्यामिति, दिवं गत इति—द्युगत इति, दिव कामयते इति “श्रीलिकामिमद्याचरीक्षित्वाणे ण” ५।१।७३। इति णे—द्युकाम इति, दिवो भाव—द्युत्वम् इति, इपदपरिसमाप्ता द्यौ—द्युकल्प इति, १५ विमला द्यौर्यसिद्धिति निग्रहे—विमलद्यु दिनमिति, एतेषु सर्वत्रानेन वस्योत्वम् । दिव्यति, दिव्यमिति । दिवमिच्छतीति क्यन्, दिवि भव-मिति “द्युप्रागपायुदकप्रतीचो य” ६।३।८। इति य, तत्राच्यञ्जने इति वचनादत्रापदत्वाद्दनेन वस्य नोकारादेश । एव दिवाचित्यादि । ननु द्युभ्यामित्यादौ दीर्घप्रसङ्ग एव नास्ति कथमुच्यते अनूदितित्याह—अद्यौद्यौरित्यादि । द्यौकामिरित्यत्र तु ऊकारमात्रप्रतिषेधादिभि वृद्धिर्भवत्येव-त्याह—उकारस्य प्रतिषेधादित्यादि । ननु दिवाश्रय इत्यादावन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वेऽनेनोत्वे क्य दिवाश्रय इत्यादीत्यत आह—षुपोदरादित्वादित्यादि ॥ ११८ ॥

वर्षेतीर्थुद्बकालत्वाभावात् पूर्वं पराजिता ये राजानो विहितारण्यवासोऽस्मिन् काले मूलराजराजेश्वरो युद्धकालीनसामभ्या असन्नत्वात् २१ शयान इवास्त्व इति मनसि संप्रधायोभिद्रवणमिच्छन्ति तान् अनवबुद्धान् सुबोधायोकिरियम्—प्रावृद्धजातेत्यादि । प्रावृद्धजाता-वर्षाकाल-समनुप्राप्त, इति-हेतो, हे भूपाः !-हे मूलराजमहीपतिविरोधिराजानः !, काननं-अरण्य, मा स्म त्यजत-वन त्यज्वा तन्नगरं रोद्धु मा स्म गच्छतेत्यर्थ, वनात्यागे हेतुमाह—हरिः शोते इत्यादि । अत्र कानने, वृष्टिभयात् हरिः-वनराज, शोते-आलस्याधिरुधम आस्त्व इत्यर्थ । २४ नु-परन्तु, एष-जगति लब्धयथा, मूलराजमहीपति, न शोते-जने निर्जने च सर्वत्र सदैव च जागर्ति बहुभि कृतवैरत्वाद् निरलसत्वादत् एव तस्य लब्धयथास्त्वमित्यर्थ । अथवा-ये समूलराजास्त्वसामन्ता नृपतयो हरिमक्षा निदाधकाले तापापनोदाय विद्वर्तुमधिष्ठितकान्तारस्योपवना भगवच्छयनस्य वर्षेतीं भावाद् तद्दर्शनाभावभिया चिकीर्षितनगरगमनास्वान् प्रति अत्रैव वने हरिशयनकाले हरिदर्शन मूलराजमहीपता-२७ वारोप्य हरित्वमपहृत्य च मूलराजमहीपतित्व तद्दर्शयति—प्रावृद्धजातेत्यादि । प्रावृद्धजाता-वृष्टिकाल सपथमान, इति-हेतो, काननं-वनस्योपवनम्, मा स्म त्यजत-तत्त्यज्वा नगरं मा स्म गच्छतेत्यर्थ । ननु गमने निषिद्धे तेषां कथं स्वामिप्रेतार्थसिद्धिरित्याह—हरिः शोते इत्यादि । अत्र हरिः शोते-अत्रैव भवतां मध्ये ज्ञातोऽप्यज्ञातो भवद्विर्भगवान् हरिरेव सुतो वर्तत इत्यर्थ । नन्वस्माक मध्ये स्थितस्तु मूलराज इति कथं हरित्वेन बोधयसीति चेदाह—न त्वेष मूलराजमहीपतिः-भवन्मध्ये कुतमेन मूलराजमहीपतिं हरित्वेन वित्त न तु मूलराजमही-पतित्वेन तत्त्वदशकलगुणगौरवादिति भाव । पथस्याऽस्य प्रतिभासमाना अपि बहवोऽर्था ग्रन्थगौरवमयाश्लोच्छिख्यन्त इति ॥ २।१।११ ॥

इति श्रीमतपागच्छमागनाहर्षिणीतार्थसार्धभौमाऽऽगमोद्धारकशैलानाटपतिपरिपूजितपादारविन्दभागमोदयसमिति-वर्द्धमानजैनागममंदि-राधनेकशासनहितवर्धकसंस्था निर्माणोपदेशकमद्धारककुलभूदस्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तन्श्वरणनिलीनमानसेनानासा-नवपदमीयूषपाणोयतमभ्यसावभावोद्बोधसूर्योदयश्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाजादिविधिसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्णातेन श्रीसिद्धचक्रा-राधन-तीर्थोद्धारकेण वैयाकरणकेसरिणा पथ्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रवृत्तित्यासरत्नाकरावतारि-कायामाऽऽनन्दबोधिन्यां द्वितीयाध्यायस्य नामप्रकरणं नाम प्रथम पाद ॥ २।१ ॥

॥ अहं ॥

## द्वितीयाऽध्याये द्वितीयः पादः ॥

३

क्रियाहेतुः कारकम् ॥ २ । २ । १ ॥

क्रियाया हेतुः—कारणं कर्त्रादि कारकसंज्ञं भवति, तच्च द्रव्याणां स्वपराश्रयसमेवतक्रियानिर्वर्तकं सामर्थ्यं—शक्ति-  
रित्याचक्षते, शक्तिश्च सहभूर्भावद्रव्यभाविनी च क्रियाकाल एवामिव्यज्यते । करोतीति कारकमिति अन्वयसंज्ञासमाश्रय-

- ६ क्रियाहेतुः फारकम् । क्रियत इति क्रियेति यदा भावकर्मणो “ह्यु घा च वा” ५।३।१००। इति शक्तदा मध्ये “क्य घिति” ३।५।७०। इति क्य, “रि षफयासीर्ये” ४।३।११०। इति रिरादेशश्च, यदा त्वपादानादीं शक्तदा कयो नास्तीति रेरिकारस्येयादेशः । क्रियाया कारकमित्युक्ते क्रियायां यत्सुख्यत्वात्तस्यैव कारकत्वं स्यात्, “गौणमुपययोर्मुल्ये कार्यसप्रत्यय” इति न्यायात् । हेतुः कारणं कारकमित्युक्ते तु द्रव्यस्य सुख्यत्वात्तदेतोरेव फट करोतीत्यादीं कारकत्वं स्यात्, न तु यंत्रो मातीत्यादीं । हेतुपदाभिधेयमाह—कारणमिति । निर्वर्तकमिति यावत् । क्रिया स्वरूपं च “क्रियायां धातु” ३।३।३। इत्यत्र निर्णय्याम् । कारकमिति संज्ञाया भाव्यमानत्वात् भूतविभक्त्यनुपपत्त्या भाव्यमानविभक्त्या प्रथमया निर्देशः । कारकशब्द कर्तृमात्रपर्याय, कर्त्रासीत्यत्र कर्तृशब्दस्तु कर्तृविशेषवचनं, तेन—कर्त्रादि कारकसंज्ञामिति विशेषणविशेष्य-  
७ भाव उपपन्न इति अन्यथा वृक्षो वृक्षसंज्ञ इतिवदनुपपन्नं स्यात् । उक्तञ्च ‘स्वभापारे तु कर्तृत्व सर्वत्रैवास्ति कारके । व्यापारभेदापेक्षया करणत्वादि-संभव ॥ १ ॥ फलार्थी य स्वतन्त्र स फलाकारमेव क्रियाम् । नियोजा परतन्त्राणां स कर्ता नाम कारकम् ॥ २ ॥ प्रवृत्तो च निवृत्तो च कारकाणां य ईश्वर । अप्रयुक्तं प्रयुक्तो वा स कर्ता फलसाधक ॥ ३ ॥ अर्थस्याभेदादिति कारकशब्दाभिधेयं निर्वर्तकं—तच्छेत्वादि । च पुनरर्थे,  
८ तत्पुनरित्यर्थः । क्रिया हि द्विविधा कर्तृस्था कर्मस्था चेति । तत्र कर्तृस्था कर्तृसमायिनी यथा—आसनगमनादिका, कर्मस्था कर्मसमायिनी यथा—पादादिक, कर्तृकर्मणी च क्वचित् स्वाश्रयसमवेतक्रियाया निर्वर्तकं क्वचित् पराश्रयसमवेतक्रियाया शेषाणि तु कारकाणि पराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्तकान्येव । द्रव्याणां सामर्थ्यं कारकमिति सचन्य । द्रव्यस्य तु कारकत्वे प्रतिपन्नकर्मत्रादिसंनिधानाच्चनिधानाभ्यां दहनदेदांहादिक्रियोत्पत्त्य-  
९ नुपपत्ती न स्याताम्, द्रव्यस्वरूपस्य चर्षदा विद्यमानताद्वयत्तिरेव स्यात्, तस्माच्छक्तिरेव कारकमित्यास्थेयम् । शक्तिर्हि द्रव्यस्य धर्मत्वस्य चतुष्टयी गति—कश्चित् सहभूर्भावद्रव्यभावी च यथा—स्फटिकशंफल्यम् १ कश्चित् सहभूर्भावद्रव्यभावी यथा—अपक्वघटस्य श्यामिका २ कश्चित्सहभूर्भाव-द्रव्यभावी च यथा—तस्यैव घटस्य वाकजा रूपादय ३ कश्चित्सहभूर्भावद्रव्यभावी यथा—नेपथो संयोग ४ तत्र प्राफिलक्षणस्य धर्मस्य स्वरूपमाह—  
१० शक्तिश्चेत्वादि । न चैव सर्वदा क्रियोत्पत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, अभिव्यक्त्या एव तस्या क्रियाकारणात्, यथा—केतक्यादिजलानां वर्षादिभूतस्य गन्धस्य तरुणतरुणिकरणसपकाभिभक्तस्य गन्धोपलम्भक्रियाहेतुत्वम् । न चैतावता तस्मात्तत्त्व, उत्तरकालमभिव्यज्यमानत्वात् । न च तदैव तस्योत्पत्तिरित्यपि वाच्यम्, रविकरस्पर्शस्य गन्धोपलम्भौ सामर्थ्यान्वयकारणात्, सामर्थ्यं वा जलान्तरेऽपि तथा गन्धोपलम्भं स्यात्, तस्मात् क्रिया-  
११ कालाभिव्यक्त्या शक्ति कारकमिति स्थितम् । ननु संज्ञा इति प्रकृत्य कारकादय शब्दा पठितव्या, अन्यथा कारकादय संज्ञा इत्येव सप्रत्ययो न स्यात्, अतः संज्ञाधिकार इति एकत्रयम् । तथा क्रियमाणोऽपि संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्य, कथमन्यथा कारकशब्द संज्ञा क्रियाहेतु संज्ञीति न पुनर्व्यस्य इति । अत्रोच्यते—यत्तावत्संज्ञासंप्रत्ययार्थं संज्ञाधिकार कर्तव्य, तत्र, आचार्याचार्यात् संज्ञासिद्धेः । तद्यथा—लोके मातापितरौ जातस्य  
१२ पुत्रस्य संपृतेऽवकाशे नाम कुरुते देवदत्तो यज्ञदत्त इति तयोराचार्यादन्वेऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति । एवमिहाऽपि केचिद्वाचक्षणा आहुः—कारकशब्द संज्ञा क्रियाहेतु संज्ञीति, अपरे कारकमित्युक्त्या कर्त्रासीत्युदाहरन्ति, तेन मन्यामहे यथा प्रत्याप्यन्ते वा संज्ञा एव प्रतीयन्ते ते संज्ञिन इति । यदपि संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्य इत्युक्तं, तदपि न, आचार्यव्यवहारदेव तस्य सिद्धत्वात् । कारकशब्दस्य हि प्रत्यायनशक्ति-  
१३ व्युत्थानेन प्रकाशयते, यथा अकारासीनां धर्णत्वमिति । अनाहृति संज्ञा आहृतिमन्त संज्ञिन इति, लोकेऽपि ग्राह्यतिमतो मांसपिण्डस्था देव-दत्त इति संज्ञा क्रियते । आहृत्या हि साहचर्यात् भेदो वा लक्ष्यते, तेन अयमर्थ—कारकशब्द एकत्वात् संज्ञा क्रियाहेतुशब्देन प्रत्यामितानां बहुत्वात् संज्ञित्वम् लाघवार्थत्वात् संज्ञाकरणस्य । तथा भावार्तिन्य-संज्ञा भवन्ति, कारकशब्दव्यावर्तते न क्रियाहेतुशब्दस्तथा—देवदत्तशब्द व्यावर्तते न  
१४ मांसपिण्ड इति । अथवा सतः कश्चिन् कार्येण भाव्यम् इति पूर्वोच्चारित संज्ञी परोच्चारिता सहेति । किंवाऽस्थानोऽयं यत्र क्रियते, न हीदं लोकाद्गच्छते, यदीदं लोकाद्गच्छते ततो यत्राहं स्यात् । यथा—अगोशाय कश्चिन्नं सकथनि-कर्णं वा गृहीत्वोपदिशति—अथ गौरिति, न चास्मायाचष्टे इयमस्य संज्ञेति, भवति चास्य संज्ञासंप्रत्ययस्त्वस्मादन्तरेणापि संज्ञाशब्दप्रयोगं लोकव्यवहारवदत्र संज्ञासंज्ञिबन्धं सिध्यतीति । अथ संज्ञिनिर्देश-  
१५ किमर्थं ? अकारकस्य भा भूदित्यर्थं, अन्यथा ग्रामस्य समीपादागच्छति इत्यकारकस्यापि ग्रामस्यापादानसंज्ञा प्रसज्येत, तथाहि—यो वृक्षराद्याया पतत्वस्यो वृक्षादपि पतति, एव यो ग्रामसमीपादागच्छति ग्रामस्यापादानसंज्ञा प्रसज्येत, तथाहि—यो वृक्षराद्याया विशेषणत्वेनोपात्तत्वादिति । अथ नाऽत्र ग्रामोऽपाययुक्तं किं तर्हि ? सनीप, तस्य विशेषणत्वेनोपादानादिति । अपायो हि संश्लेषपूर्वक, संश्लेषश्च विशेषणत्वेनोपात्तत्वादिति । अथ नाऽत्र ग्रामोऽपाययुक्तो भवति तदाऽपादानसंज्ञा, यथा—ग्रामादागच्छतीति ।  
१६ एव तर्हि वृक्षस्य पत्र पततीत्यत्राप्यापादानसंज्ञा प्राप्नोति, ग्रामस्य समीपादित्यत्राप्यापादानसंज्ञा प्राप्नोति, तदाऽपादानसंज्ञा, यथा—ग्रामादागच्छतीति । इह त्वर्थान्तरस्यानिर्देशात् वृक्षस्यैवापाययुक्तत्वमिति, नैतदस्ति—नात्राऽपायो विवक्षित, कस्तर्हि ? सम्बन्ध, पर्णविशेषणत्वेन वृक्षस्य विवक्षितत्वात् । न चैव  
१७ पततीति प्रयोगानुपपत्ति, वृक्षमजहत्यपि पर्णे शाखास्थे भूमिं स्पृशति, वृक्षस्य पत्र पततीति प्रयोगस्य दर्शनात् । सति ह्यवधौ गतिरप्यायो भवति,  
१८ नान्यथा, गतिविशेषणत्वादापायस्य । यदा चापायो विवक्षितो भवति, भवति तदाऽपादानसंज्ञा, यथा वृक्षात् पर्णं पततीति । सम्बन्धश्च तदा न विशेष-  
१९ दय एव संज्ञिनो लप्स्यन्ते, सत्यम्, तथापि विशिष्ट संज्ञी निर्देष्टव्यो यत् क्रियाया निर्वर्तकं साधकं तत् कारकसंज्ञं भवतीति । ननु तथापि संज्ञि-  
२० शेषस्यानिर्देशात् क्रियानिमित्तमात्रस्यापि हेत्वादे प्रसङ्ग इत्याह—करोतीत्यादि । चकारोऽवधारणे, अयमर्थः—कारक इति महती संज्ञाऽन्वयां विश्वायते, करोतीति कारकमिति साध्यत्वेन च क्रियैव शब्दात् प्रतीयते । क्रियानिर्वर्तकस्यैव कारकमित्याभीयते तदा स्वतन्त्रस्यैव कर्तृसंज्ञावत्  
२१ कारकसंज्ञापि प्राप्नोति, न तु करणादीनां, परतन्त्रत्वेन अकर्तृकत्वात् । ततश्च करणं कारकं अधिकरणं कारकमिति न स्यात्, नैष दोष, प्रतिकारकं पचा-  
२२ दीनां क्रियाभेदात् करणाधिकरणयो कर्तृभाव । तथा हि—अधिकरणोदकसेचनतण्डुलावपनेषोऽपकर्षणादिक्रिया कुर्वन् देवदत्त पचतीत्युच्यते, तत्र

णात् चानाश्रितव्यापारस्य निमित्तत्वमात्रेण हेत्वादेः कारकसंज्ञा न भवति । कारकप्रदेशाः—“कारकं कृता” ॥ ३ । १ ।  
६८ ॥ इत्येवमादयः ॥ १ ॥

**स्वतन्त्रः कर्ता ॥ २ । २ । २ ॥**

क्रियाहेतुभूतो यः क्रियासिद्धावपरायत्ततया प्राधान्येन विवक्ष्यते, स कारकविशेषः कर्तृसंज्ञो भवति । देवदत्तः पचति, जिनदत्तेन कृतम्, स्थाली पचति, चौरस्य रुजति रोगः, प्रेषितः करोति; अस्य च कर्तुरधिश्रयणादयः प्रचिक्रियायामवान्तरव्यापारा भवन्ति, एतान् कुर्वन् देवदत्तः पचतीत्युच्यते । प्रयोजकोऽपि कर्तैव—पचन्तं देवदत्तं प्रयुक्ते देवदत्तेन पाचयति चैत्रः । अत्र स्वशब्द आत्मवचनः, तन्नशब्दः प्रधानार्थः; स्वं तन्नमस्य स्वतन्त्र आत्मप्रधानः ।

तदा पचिवर्तते, एतत् प्रधानस्य कर्तुं कर्तृत्वम् । स्थाली द्रोण पचति आढकं पचति, इति ग्रहणक्रिया स्थिरत्वादाक्रियासमातेस्त्वण्डलाना धारणक्रिया च कुर्वती स्थाली पचतीत्युच्यते, अत्र तदा पचिवर्तते, एतदधिकरणस्य कर्तृत्वम् । एषा मस्यन्ति—आ विक्रितेज्वलिष्यन्तीति ज्वलनक्रिया कुर्वन्ति काष्ठानि पचन्तीत्युच्यन्ते, तत्र तदा पचिवर्तते, एतत् करणस्य कर्तृत्वम् । अनेकार्थत्वाद्वातूना तादर्थ्याद्वा तद्रूपासद्भात् करणादिव्यापारे पचेरुत्तिर्दृष्ट्या । एवमन्यत्रापि सर्वेषां स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात् तदनुष्ठानद्वारेण प्रधानक्रियायामुपयोगात् कर्तृसंज्ञावपि स्वव्यापारस्यानिवर्तनात् पारतन्त्र्यावस्थायामप्यनिवृत्त कारकत्वमित्यर्थः । ननु च यथा करणाधिकरणयोः कर्तृत्वं निदर्शितं न तथाऽपदानादीना निदर्शयते, न ह्यपदाने प्राप्ते प्राप्ते भागच्छतीति प्रयोयोऽस्ति, उच्यते—सर्वत्रैवात्र स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्यं च विवक्षितं, तयोश्च स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययो पर्यायेण वचनम्, वचनाश्रया च सज्ञा भविष्यति । यथा—बलाहकात् विद्योतते विद्युत्, बलाहके विद्योतते, बलाहको विद्योतत इति । तथा हि—बलाहकादिति नि सरणाङ्गे द्योतने द्युतिवर्तते, मृद्यग्भावश्च विवक्षित इत्यपदानत्वम् । बलाहके इत्यत्र तु स्थित्यङ्गे द्योतने द्युतिवर्तते, बलाहके स्थित्वा ज्योतीरूपा विद्युद्विद्योतत इत्यर्थः । बलाहक इति च विद्युतो बलाहकस्य चाऽभेदविवक्षायां प्रयोगः । प्राप्ते भागच्छतीत्यर्थान्तरावगमादपदानव्यापारानवस्थायात् प्रयोगाभावः । एव ब्राह्मणाय ददातीत्यर्थं ब्राह्मणो ददातीति प्रयोगाभावः । शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चापदानसम्प्रदानव्यापारे धातुर्न वर्तते । नस्तुतस्त्वपदानस्यावधिभावेनाऽवस्थानं व्यापारोऽस्ति, संप्रदानस्याप्यनुमननादिलक्षण प्रतीयमानोऽपि च व्यापार कारकत्वपदेशनिवन्धनम्, यथा ‘प्रविश पिण्डी’मिति, स्वव्यापारमन्तरेण १८ प्रधानक्रियायामुपयोगाभावात् । ननु सर्वत्रात्र स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्यं चास्ति, तत्र प्रधानत्वात् कर्तृसंज्ञैव प्राप्नोति । अथ परत्वात्पदानादयः, तथा हि अपदानादीनामवकाशो यदा स्वातन्त्र्य नास्ति, कर्तृसंज्ञाया अवकाशो—देवदत्त पचतीत्युच्यते—चापदानादयः, तत्र सर्वत्र स्वातन्त्र्यस्य सद्भावनास्ति कर्तृसंज्ञाविनिर्मुक्तोऽपदानादिसंज्ञानामवकाशः । अत्रोच्यते—उद्भूतस्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृसंज्ञा, यथा—स्थाली पचतीति । उद्भूतपारतन्त्र्यविवक्षायां १९ तु न्यग्भावात् सदपि स्वातन्त्र्य स्वकार्यं न प्रयुक्ते, यथा राजसन्निधौ तदनुपयोगि स्वकार्यममात्सा नारभन्ते । तस्मात् सर्वत्र स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यसद्भावेऽपि मर्यायेणैव वचनम्, तदाश्रया च संज्ञेयत्वात् । ननु समवनक्रियां धारणक्रियां च कुर्वती स्थाली स्वतन्त्रेत्युच्यते, केदानीं परतन्त्रा २ न च प्रक्षालने परिवर्तने च पारतन्त्र्यमिति वाच्यम्; न हि प्रक्षालनपरिवर्तने करिष्यतीति स्थाल्युपादीयते किन्तु समवनधारणक्रिये करिष्यतीति प्रक्षालनाय- २४ भावेऽपि पाकनिष्पादात् तेषां तत्राऽनङ्गत्वात् । एव तर्हि स्थालीस्ये यत्रे कथ्यमाने स्थाली स्वतन्त्रा, कर्तृस्ये यत्रे परतन्त्रेति । ननु च भो कर्तृस्थे- ३पि यत्रे कथ्यमाने स्थाली समवनधारणक्रिये करोति तत्र स्वतन्त्रा केदानीं परतन्त्रेति । एव तर्हि प्रधानेन समवाये स्थाली परतन्त्रा व्यावाये स्वतन्त्रा, तथया—अमात्याना राज्ञा सह समवाये पारतन्त्र्यं व्यावाये स्वातन्त्र्यम् । ननु सामग्रीत क्रियोत्पादात् सर्वेषां च तत्र सामान्याज कस्यचित्त्वा- २७ धान्य समावयाम इति कथं ज्ञायते कर्ता प्रधानमिति २ उच्यते—सर्वेषु साधनेषु सञ्चिद्विद्येषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति, तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तित्वात् करणादीना, तस्य च प्रागन्यत शकिलाभात् प्रतिनिध्यदर्शनात् करणधर्मावेऽपि भास्वे शेते इत्यादौ केवलस्य कर्तृदर्शनात् कर्तृरहिताना करणादीना- ३० मदर्शनात् प्राधान्य कर्तृरिति । यद्वा सर्वेषां धारणक्रियाया कर्तृत्वं, अवान्तरव्यापारविवक्षाया तु करणादिरूपत्वम् । यथा मातापित्रोरपत्योत्पादने ३० कर्तृत्वम्, तदविवक्षायां तु अयमस्यामित्यमस्माद्वा जनयतीत्यधिकरणत्वमपदानत्व च व्यवतिष्ठते । एव च स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययोश्च विरोधाभावात् करण कारकमित्यादिविशेषणविशेषणभावोऽपि । कर्तृसंज्ञा तु करणत्वाद्यवस्थायां न भवति १ “स्वतन्त्र कर्ता” इत्यत्र कारकत्वादेव स्वातन्त्र्ये लब्धे पुन स्वतन्त्रश्रुतिर्निर्णयार्था, तेन स्वत स्वातन्त्र्यमेव यस्य तस्य कर्तृसंज्ञा, न तु पारतन्त्र्यसहितस्वातन्त्र्ययुक्तस्य । कारकसंज्ञा तु वस्तुस्थित्या विद्यमान- ३३ मुद्भूतत्वेनाविवक्षितमपि स्वातन्त्र्यमाश्रित्य करणादीना विधानसामर्थ्यात् प्रवर्तते । यत्र च शक्तीनां निमित्तनिमित्तिभावेन युगपद्विवक्षा तत्र सशानां विप्रतिषेध उच्यते, यथा—घनुषा विष्यतीति, विनाऽपयाविवक्षया घनुष साधकतमत्वाभावात् संज्ञाद्वयसंज्ञे “स्पर्धे पर”मित्यत्र परग्रहणस्येष्टत्वात् क्वचित् पूर्वमिति करणसंज्ञा । अस्तिश्चिन्तति इति सत्येव साधकतमत्वे स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् कर्तृसंज्ञा, तदा तु तैक्षण्यादीना करणत्व, तैक्षण्यादीना ३६ तु कर्तृत्वविवक्षायामात्मन करणत्वम् । तैक्षण्यादेव हि वस्तुस्थित्यैकमपि विवक्षावशात् द्वेषावतिष्ठते इति कर्तृत्व करणत्वसाधकमिति ॥ १ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता । कारकसंज्ञासहित बोधयति—क्रियाहेतुभूतो य इति । स्वतन्त्रपदाभिधेयमाचष्टे—क्रियासिद्धावपरायत्त- तया प्राधान्येन विवक्ष्यते स इति । यः स इत्युच्यते सर्वनामपदोपदानेन यस्यैव क्रियाहेतुत्व तस्यैव क्रियासिद्धावपरायत्तत्वप्राधान्यविव- ३९ हेति ज्ञायते इति भावः । कारकमित्यधिकृताया सामान्यसंज्ञाया एतद्विहितविशेषसंज्ञायाश्च कर्तुं सामान्यविशेषयोर्भेद इत्याह—कारक- विशेषः कर्तृसंज्ञ इति । देवदत्तः पचतीत्यादि । देवदत्तोऽत्र कर्तृत्वात् कर्तृप्रत्ययेन तिबोध्यत इति प्रथमा, कृत्प्रत्ययेन कर्तुरन्विधानात् जिनदत्तात् वृतीया—जिनदत्तेनेति, अधिकरणरूपाया स्थाल्या स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् कर्तृत्वम्—स्थालीति, चौरस्येत्यत्र रोगलक्षणस्य ४२ भावस्य कर्तृत्वात् “रूपायैव्याज्यरिसंतापे” इति कर्मणो विकल्पितत्वात् चौरात् षष्ठी, प्रयोज्यावस्थायामपि स्वातन्त्र्यस्याहाने कर्तृत्वम्—प्रेषित इति । अस्य च कर्तृरिति । एतेषु तदा पचिवर्तते इति भावः । प्रयोजकोऽपीति । स्वतन्त्रत्वादिति शेषः । अस्ति स्वशब्द आत्मीयवचन आत्मवचनश्च, तन्नशब्दोऽपि विवक्षिततन्त्रवचनो वितता हि तन्तवस्तन्न आत्मीयं तन्नम् प्रोक्त तन्नमिति गम्यते प्रधानार्थश्च, तत्र स्वामात्मीयान्तदा ४५ तन्नुवायेऽपि प्राप्नोति । यद्यपि तन्नुवायो न्यति युक्ते इत्यादौ तन्नुवायस्य कर्तृसंज्ञेऽप्येव तथापि विशेषविहितत्वात्पदानादिसंज्ञाविषयेऽपि स्यात्, सुनिरर्थते इत्यादौ च मुन्यादेर्न स्यात् इत्यव्याप्यतिव्याप्तिभ्यां द्वितीय एव पक्ष आधीयते इत्याह—अत्र स्वशब्द इत्यादि । आत्मप्रधान इति । स्वतन्त्र इत्यस्य पर्यायो यस्यागुणभावेन धातुना व्यापार उच्यते सर्वोऽप्यो स्वतन्त्र इति, अयमर्थ—स्वतन्त्रशब्दो रुढिवचन समासप्रतिरूपकः ४८ प्रधानार्थः । स्वशब्द आत्मवचन इत्याद्यवयवार्थकयत्वं तु घटनामात्रार्थमिति, तेन युद्धव्येऽप्रधानमपेक्ष्य प्रधान भवतीति यत्राऽधिकरणा-

किं पुनः कारकान्तरेभ्यः कर्तुः प्राधान्यम्? यत् करणादीनि प्रयुक्ते न तैः प्रयुज्यते, तानि न्यत्करोति न तैर्न्यत्क्रियते, तानि निर्वर्तयति न तैर्निर्वर्त्यते, तानि प्रतिनिधयते न तैः प्रतिनिधीयते, तेभ्यः स प्रथममात्मठामं लभते च तानि तस्मात्; स तैर्विनाऽपि दृश्यते न तानि तेनेति । कर्तुप्रदेशः—“इच्छिता कर्तरि” ॥ ३ । ३ । २२ ॥ इत्यादयः ॥ २ ॥

कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ २ । २ । ३ ॥

कर्त्रा क्रियया यद्विशेषेणामुमिष्यते तद्व्याप्यं तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति, प्रसिद्धस्यानुवादेनाप्रसिद्धस्य विधानं लक्ष-  
णार्थः; तेन यत् कर्म यत्कर्त्रा क्रियते तद्व्याप्यसंज्ञं भवतीत्यपि सूत्रार्थः । तत्रेधा—निर्वर्त्यम् १, विकार्यम् २; प्राप्य ३ च ।  
तत्र यदसज्जायते जन्मना वा प्रकाश्यते तत्रिर्वर्त्यम्—कटं करोति, पुत्रं प्रसूते; प्रकृत्युच्छेदेन गुणान्तराधानेन वा यद्विकृति-  
मापाद्यते तद् विकार्यम्—काष्ठं दहति, काण्डं लुनाति; यत्र तु क्रियाकृतौ विशेषो नास्ति तद्व्याप्यम्—आदित्यं पश्यति,  
ग्रामं गच्छति । अस्य तु त्रिविधस्यापि यथाक्रमवान्तरव्यापारः—निर्वर्तते, विक्रुते, आभासमुपगच्छतीत्यादयः । त्रिविध-  
मप्येतत्पुनश्चिद्विधम्—इष्टम् १, अनिष्टम् २; अनुभव ३ च । यदवाहु क्रियाऽऽरभ्यते तदिष्टम्—कटादि, यद्विष्टं प्राप्यते तदनिष्टम्—

- वीच्यपराम्पप्रधानानि कारकाणि सन्ति—देवदत्त स्यात्वां पाष्ठरोदन पचतीत्यादीं तत्रैव स्यात्, यत्र तु वेपामविवक्षा आख्ये शोवे इत्यादां तत्र न  
१२ स्यादिति तदपि प्रत्युक्तम् । प्राधान्यं पृच्छति—किं पुनरिति । क्रियाया अनेककारकसाध्यत्वात् तां प्रति सर्वेषां प्रधानत्वादित्यर्थः । समाधते—  
यत्करणादीनीत्यादि । एतस्य प्रसङ्गात् कारकसूत्रे निर्णयमिति नेह प्रतन्वते । यथेव पाचयत्योदन देवदत्तो यद्दत्तेनेति कर्तृसंज्ञा न प्रप्राप्ति,  
असत्प्रवृत्त्वात् । यथा कर्तृसंनिधौ करणादीनां स्वातन्त्र्यमावस्थाया प्रयोजकसन्निधौ प्रयोज्यस्मापीति पारतन्त्र्यादकर्तृत्वात् यद्दत्तेनेति कर्तृत्वतीया न  
१५ प्राप्नोति, नैप दोषः, प्रयोजकसन्निधानेऽपि प्रयोज्यस्य करणादिकारकपिनियोगादिना स्वातन्त्र्यस्य क्रियासिद्धौ सङ्गावात् । यदि तु प्रयोज्यस्य स्वातन्त्र्य  
न स्यात्तदासां साधनान्तरविनियोगादिना क्रिया कुर्यात्, तथा चाऽऽहुर्वैत्यपि प्रयोज्ये प्रयोजकं कारयतीति व्यपदिश्यते, न चाऽऽहुर्वैत्यपि तस्मिन्  
कारयतीत्येतद्रवतीति प्राधान्यात् छिद्रमस्य फर्तव्यम् । यदुक्तं—“य क्रियां कर्मफर्तव्यां फरते मुख्यमावत । अत्रयुक्तं प्रयुक्तो वा स कर्ता नाम  
२० फरकम्” ॥ किं च योऽपि मन्वते—प्रयोज्यस्य स्वातन्त्र्येण स्वव्यापारे प्रत्यप्रवर्तनात् किल कर्तृसंज्ञोपसख्येयेति, तेनाऽपि चेदमवश्यमभ्युपेयम्—यः  
फरोति स स्वतन्त्रो नत्वुच्यतेति । एव चेत्प्रयोजकसन्निधानेऽपि स्वार्थदर्शनात् प्रयोज्यं करोति नान्यथेति तस्य स्वातन्त्र्यमस्तीत्यकामेनाप्यप्रीकार्यम् ।  
तथा चोक्तं भाष्यकृता—न हि कश्चिद् परोऽनु प्रहीतव्य इति प्रवर्तते, सर्वे इमे स्वभूत्सर्वं यतन्ते इति त्रेपितोऽप्यसौ स्वार्थदर्शनादिच्छाया सत्यां क्रियां  
२१ करोति तददर्शनात् करोतीति स्वतन्त्र एवेति । ननु प्रैपाद्यर्थं प्रयोज्यस्य स्वव्यापारे प्रवर्तनात् स्वातन्त्र्यमिति सिध्यति तृतीया, प्रैपाकले तु कर्मं तत्र  
स्वव्यापाराप्रवर्तनात् प्रकृतौ च प्रैपाद्यर्थ्यात् स्वातन्त्र्य नास्तीत्यसत्प्रत्ययस्य च प्रयोजकं “प्रयोक्तुः” ३।४।२० इति तद्व्यापारे गिग्नं स्यात्, नैप दोषः;  
तस्य स्वतन्त्रत्वात् दृष्टसामर्थ्यं सम्भावितसामर्थ्यां वा क्रियायां स्वातन्त्र्येण समाहित एव नियोज्यशब्देनोच्यते । नन्वेकस्य स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च  
२४ विप्रतिषिद्धं, प्रयोजकसंनिधौ पारतन्त्र्येण स्वातन्त्र्यस्य विरस्कृतत्वात् योग्यपद्यानुपपत्ति, उच्यते—एकापेक्षया विरोधोऽत्र च प्रैपापेक्षया पारतन्त्र्यं  
करणायपेक्षया च स्वातन्त्र्यमित्यविरोधः । यथेव नदीपूत्रं पततीत्यादीं स्वातन्त्र्यमावात् कर्तृत्वाभाव, तथा हि—स्वातन्त्र्यं नाम परिदृष्टसामर्थ्यकारक-  
प्रयोक्तृत्वं चेतनव्यापारो नाचेतनस्य फूलादेः सम्भवति, उच्यते—सामान्येन कर्तृव्यापारेण पदं निष्पाद्य तत्पथात् पदान्तरयोग, न शब्दन्तरं पदसंस्कारं  
२७ बहिरङ्गः पदान्तरसम्बन्धो माघत इति ॥ २ ॥

कर्तुर्व्याप्यं कर्म । कर्तुरिति “कृत्यस्य वा” २।२।८। इति कर्तरि षष्ठी, स च सवन्निधशब्दत्वादनुपात्तामपि कर्तृसन्निधौ क्रियामुप

स्थापयतीत्याह—कर्त्रा क्रिययेत्यादि । कर्त्रा च क्रियया विना न किंचिदाहु शक्नोति इति सामर्थ्यात् क्रिया करणभावनाऽवतिष्ठते, ततोऽप्यमर्थ—

- ३० पच्यादिकृतया क्रियया यद्विशेषेणामुमिष्यते कर्त्रा तत् कारकं कर्मेति । एषणाङ्गे च प्रापणे आगोतिर्वर्तते इति प्रकृतिप्रत्ययार्थं वितत्य व्याचष्टे—  
आमुमिष्यते इति । किमर्थं क्रियया तदाऽमुमिष्यते? निर्वर्तयितुं गुणान्तराध्यापादयितुं विपयीकर्तुं वा, अत एव निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति  
त्रेधा तदुच्यते । नामपदैः परिनिष्ठितस्वार्थस्य सत्यमित्यभिधाने घस्तुष्टेन द्रव्यस्य निर्वर्त्यत्वं क्रियागुणान्तरद्वारेण न विरुध्यते, क्रिया चैव हि भाव्यते,  
३३ स्वभावसिद्धं द्रव्यमिति तु उच्यते तन्नामपदानामभिधानशक्तिसाभाव्यसमाश्रयणेन । व्याप्यशब्दस्य संश्रावनेनाऽनुपात्तत्वात् कथं “व्याप्ये केन”  
२।२।९९। इत्यादौ व्याप्यशब्देन व्यवहारः २ उच्यते—कस्यचिद्वाप्यं प्रसिद्धं कस्यचिद् कर्मेति, तत्र यथस्य प्रसिद्धं तस्य तदनुवादेनाप्रसिद्धं लक्षण्येन  
विधीयते इत्याह—प्रसिद्धस्येत्यादि । सामान्येनोक्तस्य कर्मणो विभागमाह—तत्रेधेत्यादि । निर्द्वैतद्वेषा—केचिदसत् जल्पति निर्द्वैतिमाचक्षते, सत्  
३६ एवाऽभिव्यक्तिमन्त्र्ये, व्याकरणस्य चार्थावस्थायामव्यापारात् शब्दव्युत्पादन एव प्रवृत्तत्वाद् अनुभवमप्याह—तत्र यदसज्जायते इत्यादि । सतो  
अवनायोगादसदेव भवतीत्यर्थं, असतः शाश्वतविषयस्यैव सतो गगनस्यैव निर्वर्तनायोगात् प्रकाश एव जन्म, अत्रोदाहरणमाह—कटं करोति,  
पुत्रं प्रसूत इति । कटगतनिष्पत्तिमनुविष्टं कटं निर्वर्तयतीत्यर्थं । विकृतिमापाद्यत इति । यद्गच्छसत्कत् तदुत्तरमवस्थान्तरं नीयते तद्वि-  
३९ कार्यमित्यर्थं । विकार्यते—विकारं नयत इति व्युत्पत्त्या तद्विधिमम्, प्रकृत्युच्छेदेन यथा—काष्ठं दहति, न ह्यत्र काष्ठमसदेव अन्यत्वे तस्य  
कारणान्तरेभ्यः प्रागेवोत्पन्नत्वात् उत्पन्नं तु केवलं नत्साख्यामवस्थामपयत इति । प्रकृत्युच्छेदमन्तरेणापि गुणान्तराधानेन च यथा—काष्ठं  
लुनाति, अत्र काष्ठशब्देन तत्कारणभूता वीरणा उच्यन्ते, वीरणशब्दप्रकृतिनिमित्तस्य वीरणत्वरूपस्य काष्ठलक्षणविकारावस्थायामपि भावात्  
४२ काष्ठलक्षणविकारोत्पादनेन वीरणादिकरोतीत्यर्थं । क्रियाकृत इति । क्रियाया जनिता इत्यर्थं । विशेष इति । निर्द्वैतविकारलक्षण इत्यर्थं ।  
न हि दृष्टिमिक्रियाभ्यां व्याप्यमानयोरदित्यप्रामयोः प्राप्तेरन्यं कश्चिद्विशेषो रुन्वते इति प्राप्यमेतत् । अधान्तरव्यापारव्याख्येन एव कारक-  
त्वम्, यथा—कर्तुः छिदिक्रियायां दृष्टमुष्टिनिधीहनादिः, न ह्यनपेक्षितदृष्टमुष्टिनिधीहनात् आत्मकरणपत्रोदेरं छुट्टयपि कठोरचारः कठारः प्रति-  
४५ तिष्ठति अनिष्टुरस्यापि काष्ठस्य छिदायै । तत्रास्य कर्मणं कीदृशोऽधान्तरव्यापार इत्याह—अस्य तु त्रिविधस्यापीत्यादि । न ह्यनिर्वर्तमानं  
शक्यमित्युक्तमवन्तरव्यापार, तथा आभासाद्योभ्यस्य परमनिष्टुरपरमाप्यादेरिवामास्यत्वविरहात् व्याप्यस्यामासगमनमवन्तरव्यापारः । त्रिवि-  
४८ दस्यपि पुनरिष्टद्वेषेदेन त्रैविध्यमस्तीत्याह—त्रिविधमप्येतदित्यादि । इष्टादिस्यरूपमाचष्टे—यदवाहुमित्यादि । कट्यादेः पूर्वमसिद्धे-

अहिं लङ्घयति, विषं भक्षयति, कण्टकान् मृदाति, चौरान् पश्यति; यत्र नेच्छा न च द्वेषस्तदनुभयम्—ग्रामं गच्छन् वृक्ष-  
मूलान्युपसर्पति, वृक्षच्छायां लङ्घयति । पुनस्तत्कर्म द्विविधम् प्रधानेतरप्रभेदात्, तच्च द्विकर्मकेषु धातुषु दुहिभिक्षिरुधिप्र-  
च्छिचिगृह्णाशास्त्रेयेषु याचिजयतिप्रभृतिषु च भवति । दुद्धर्थः—गां दोग्धि पयः, गां स्त्रायति पयः, गां क्षारयति पयः; ३  
भिक्षुर्थः(थः)—पौरवं गां भिक्षते, पौरवं गां याचते, चैत्रं शतं मृगयते, चैत्रं शतं प्रार्थयते; एवं गामवरुणद्धि व्रजम्, छात्रं  
पन्थानं पृच्छति, छात्रं वाक्यं चोदयति; वृक्षमवचिनोति फलानि, शिष्यं धर्मं ब्रूते, शिष्यं धर्ममनुशास्ति; कुद्धं याचते  
शमावस्थाम्, अविनीतं याचते विनयम्, याचिरिहानुनयार्थः, तेन भिक्षार्थोद्धेदः; गर्गान् शतं जयति, गर्गान् शतं दण्ड- ५  
यति, ग्रामं शाखां कर्षति, काशान् कटं करोति, अमृतमम्बुनिधि मश्नाति, अजां ग्रामं नयति, ग्रामं भारं हरति, उपसरज-  
मशं मुष्णाति, ग्रामं भारं वहति, शतानीकं शतं गृह्णाति, तण्डुलानोदनं पचति; अत्र यदर्थं क्रियारभ्यते तत्पयःप्रभृति  
प्रधानं कर्म, तत्सिद्धये तु यदन्यक्रियया व्याप्यते गवादि तदप्रधानम्; यदा तु पयोऽर्था प्रवृत्तिरविवक्षिता तदा प्रधान- ९  
स्यासंनिधानाद् गवादेरेव प्राधान्यम्, यथा—आश्वर्यो गवां दोह इति । तत्र दुहादीनामप्रधाने कर्मणि कर्मजः

त्वात् इष्टत्वम् । अहिंप्रभृतेस्तु प्रतिकूलत्वात् अनिष्टत्वम्, तत्रानिष्टसुवाहरति—अहिं लङ्घयतीत्यादि । अहे “अभिमङ्गुष्ठो” उ० ११४ ।  
इति इप्रत्यये नलोपे च अहिस्ततोऽम्—अहिं, ‘लघुद्’ गतावत् “प्रयोक्तृव्यापारे०” इति णिणि विभावौ—लङ्घयति । ‘विष्फुकी’ व्याप्तावत् १२  
“दुहादिभिवि०” उ० ५ । इति क्लियकारे—विषम्, भक्षणं अदनेऽतः—भक्षयति । ‘कट्’ गतावतो ‘ङ्कुनु०’ उ० २७ । इत्यक —  
कण्टकः, मृदम् शोदेऽतः “क्र्यादे” इति श्रा—मृदाति । वृक्षमूलादीनि न तावदिष्टानि पूर्वमनभिसहितत्वात्, नाप्यनिष्टानि  
अप्रतिकूलत्वात् किन्तु गमनक्रियायामारभ्यमाणायामन्तरालस्थत्वेन नान्तरीयकृतया उपसृप्यमाणत्वात् । वृक्षच्छायां लङ्घयतीत्यत्रापि १५  
ग्रामं गच्छति संबन्धनीयम् । गुणमुख्यभेदात् पुनरस्य द्वैविध्यमस्तीत्याह—पुनस्तदिति । तद्विविधं येषु धातुषु भवति तान् दर्शयति—  
तत्रेत्यादि । गामिति । गोशब्दादभि “आ अम् शसोऽता” इत्याकर । ‘दुहीक्’ क्षरणेऽतः—दोग्धीति । ‘च’ गतौ, ‘क्षर’ संचलने, आभ्या, “प्रयोक्तृ-  
व्यापारे०” इति णिणि—स्त्रायति, क्षारयति इति । ‘भिक्षि’ यात्रायां, ‘डुयाचूग्’ यात्रायां, ‘मृगणि’ अन्वेषणे, प्रपूर्वं ‘अर्थणि’ उपयाचने, १८  
‘वृषुपी’ आवरणे, “रघां खरा०” इति श्र, धत्वत्तृतीयत्वे, ‘प्रच्छव्’ शीप्सायां, “प्रह्वक्षमस्त्रप्रच्छ” इति ध्वत्, ‘दुदण्’ सचोदने, अवपूर्वं  
‘विष्ट’ चयने, ‘ब्रूक्’ व्यक्त्यां घाचि, अनुपूर्वं ‘शासृक्’ अनुशिक्षे, एभ्य—भिक्षते, याचते, मृगयते, प्रार्थयते, अवरुणद्धि,  
पृच्छति, नोदयति, अवचिनोति, ब्रूते, अनुशास्तीति भवन्ति । ननु भिक्षियान्योरेकार्यत्वाद् कथं द्वयोःपदानमित्याह—याचिरिहा- २१  
नुनयार्थं इति । याचिरिहा याज्ञायामनुनये च वर्तते, भिक्षिस्तु याज्ञायामेवेत्यनुनयेर्भेदः । नन्वेवमपि याचिरिवोपादातव्यत्वेनैव याज्ञानुनयोरभि-  
धानात्, अस्त्येत्तत्, किन्त्वेव यथा याज्ञार्थां घातवो गृह्णन्ते एवमनुनयार्था अपि गृह्येरन् । अत्र पुनर्भिक्षिप्रहणात् यात्रार्थानां सर्वेषां प्रहणम्,  
याचिप्रहणात् तस्यैवानुनयार्थस्येति । कुद्धं याचते शमावस्थाम्, अविनीतं याचते विनयमित्येतस्य प्रयोजनम् । ‘जि’ जये, ‘दण्डण्’ २४  
दण्डनिपातने, ‘ह्वं’ विलेखने, ‘ङ्कुण्’ क्षरणे, ‘नन्यश्’ विलोढने, ‘णीग्’ प्रापणे, ‘हृग्’ हरणे, ‘मुषश्’ स्त्रेये, ‘वही’ प्रापणे, ‘प्रहीश्’ उपादाने,  
‘दुपचिष्’ पाके, एभ्य—जयति, दण्डयति, कर्षति, करोति, मश्नाति, नयति, हरति, मुष्णाति, वहति, गृह्णाति, पच-  
तीति भवन्ति । एषु प्रधानाप्रधानकर्मणि भेदेन कथयति—अत्र यदर्थंमिलादि । पयः प्रभृतेरुपयुज्यमानत्वविशेषेणाप्यत्वाद् प्राधान्य, गोप्र- २७  
भृतेस्तु तदर्थमुपादानाद् प्राधान्यमित्यर्थः । नयत्यादीनां च प्रापणार्थत्वाद् प्रापणार्थाश्चान्तर्भूतप्राप्तिकत्वात् तत्र प्राप्तिरजामारव्यापारस्य गुणभूतस्य  
कर्म, देवदत्तव्यापारस्य प्रधानस्य अजाभारक्ष कर्माभूत प्रधानं कर्म, सर्वमिदं कर्तुर्व्याप्यत्वात् कर्मसि । यथेवं गवादे परार्थत्वात् क्रियायोगाभावा-  
दव्याप्यत्वात् कर्मसंज्ञा न सिध्यति, गां दोग्धि पय इत्यत्राऽपादानसज्ञा प्राप्नोति, गो पय आदत्ते इत्यर्थावसायात् । एव क्षारयति स्त्रायती- ३०  
त्यत्रापि द्रष्टव्यम् । एव पौरवं गां भिक्षते इत्यादावपि पौरवं गां जिष्टकृत इत्यर्थसंप्रत्ययात् । न याचित्वादेवापायो भवति, याचितोऽतौ यदि  
ददाति ततोऽपायेन युज्यते । यतो याचितोऽपि याचनाकालेनाध्यवसायि, नूनमस्मादिदं वस्तु निर्गलं मां प्राप्नोतीति । एवं गामवरुणद्धि व्रज-  
मिति अजे गां स्त्रायतीति संप्रत्ययाद्भ्रजस्य स्थानक्रियापेक्षया आधारत्वम् । छात्रं पन्थानं पृच्छतीत्यादावपि पन्थानं वाक्यं वाऽऽचिख्यापयि- ३३  
षति छात्रमित्यर्थेत्त्रापि छात्रान्मागोपदेशं वाक्योपदेशं च जिष्टकृत इत्यर्थसंप्रत्ययादपादानत्वम् । वृक्षमवचिनोति फलानि—वृक्षेण फलानि  
व्याजयतीत्यर्थं, अत्रापि वृक्षात् फलान्यादत्त इत्यर्थविसायादपादानत्वम् । शिष्यं धर्मं ब्रूते इत्यादौ तु धर्मणं वचनानुशासनकर्मणा शिष्य-  
स्याभिप्रेयमाणत्वात् संप्रदानसंज्ञा प्राप्नोति । एव गर्गान् शतं जयतीत्यादावपि गर्गभ्यः शतं ब्रामाभ्यः शाखां गृह्णातीत्यर्थसंप्रत्ययादप्यापादानत्वम् । ३६  
तस्माद्यन्तर्गतं कर्तव्यम्, नैतदस्ति, अवधिक्त्वाच्चविचक्षया क्रियानिमित्तभावमात्रेण च व्याप्यत्वस्य विवक्षितत्वात् “कर्तुर्व्याप्यं कर्म” इत्यनेन  
सिद्धत्वात् । आश्वर्यो गवां दोह, गां दोग्धि पय, पौरवं याचत इत्यादौ तु क्षीराद्यर्थप्रवृत्तेरविवक्षायो गवादेर्दोहादिनां विशेषेणाप्यत्वदर्शनात्  
क्रियाव्याप्तिरस्तीति गम्यत इत्याह—यदा त्वित्यादि । गवादेरेव प्राधान्यमिति । तत् क्रियाव्याप्तिर्गम्यत इति शेषः । अवधित्वादिविव- ३९  
क्षायो तु मत्वत्वेव गोदोग्धि पय इत्यादि । ननु गां दोग्धि पय इत्यस्यायमर्थो—गौ पयस्त्यजति, देवदत्तो गवा पयस्त्याजयति, तत्र प्रयोक्तृव्यापा-  
रेणाऽऽप्यमानत्वात् गो कर्मत्वे न तु दोहादिनेति । नैतदस्ति, यथा षण्ठेषु क्रियाविष्ट प्रयुज्यत इति प्रतीति, नैवमिह, निष्क्रियस्यापि गवादेर्दो-  
हनादिषु विनियोगात् । इहोदनं पचतीति लोके प्रयुज्यमानत्वात् शास्त्रेऽप्युदाहियमाणत्वात् तत्रोदनं पच्येतेति ब्रह्मान्तरमभिनिरुत्तैत्यर्थं स्यात्, ४२  
ओदनशब्दस्य तण्डुलविकारविशेषवचनत्वात् पचेश्च विकृत्युपसर्जनविक्लेदनवचनत्वात् निर्घृतस्योदनस्य विक्लेदानन्तरकरणात् । न चेत्थं लोकप्रती-  
तिरस्ति, नैष दोषः, तादर्थ्यात् ताच्छब्धे भविष्यति । ओदनार्थोऽस्मद्भ्रूल ओदन इति गौणार्थश्रयणेनैव सर्वलोकस्य प्रयोगदर्शनादिदमत्र न जोद-  
नीयम्, मुख्यत्वेन त्वोदनस्य पुनर्विकृतिकरणे कस्मादयं प्रयोगो न भवतीति । ओदनविकारविशेषप्रतिपादानाय च गौणार्थपरिग्रहः । तण्डुलान् ४५  
पचतीत्युक्तेऽपि विकारान्तरमपि प्रतीयते । अयं कथं भवितव्यं तण्डुलानोदनं पचति ?, आहोस्वित् तण्डुलानामोदनं पचतीति १, उभयथा प्रयोग-  
दर्शनात् । प्रकृतिविकृत्यो साक्षादुपादानात् तादर्थ्यात्ताच्छब्दानुपपत्त्या, विक्लेदनवचने तु पचौ तण्डुलानामोदनं पचतीति प्रयोगाऽयोगात्  
ब्रह्मान्तरनिर्घृतिप्रत्ययप्रसङ्गाच्च, निर्घृतनवचने नु पचौ तण्डुलानां कर्ममाथाऽघटनात् तण्डुलानोदनं पचतीति प्रयोगाभावप्रसङ्गात् इति चेदुच्यते— ४८

प्रत्ययो भवति-गौर्दुष्टते दुग्धा दोषा वा पयो मैत्रेण, याच्यते पौरवः कम्बलम्, अवक्ष्यते गां व्रजः, पृच्छते धर्म-  
माचार्यः, भिक्ष्यते गां चैत्रः, अवचीयते वृक्षः फालानि, उच्यते शिष्यो धर्मम्, शिष्यते शिष्यो धर्मम्, जीयते शतं चैत्रः,  
३ गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्; देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्मन्ये इत्यादि । नीचहृहरतिप्रभृतीनां तु प्रधाने कर्मणि-नीयते  
नीता नेतव्या वा ग्राममजा, उच्यते भारो ग्रामम्, ह्रियते कुम्भो ग्रामम्, कृष्यते ग्रामं शाखेति । गत्यर्थानामकर्मणां  
च णिगन्तानां प्रधान एव कर्मणि-गमयति मैत्रं ग्रामम्, गम्यते गमितो गम्यो वा मैत्रो ग्रामम् चैत्रेण; आसयति  
६ मासं मैत्रम्, आस्यते मासं भैत्रश्चैत्रेण । अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति-गम्यते मैत्रं ग्रामश्चैत्रेण, आस्यते मासो मैत्रं चैत्रेण ।  
बोधाहारार्थशब्दकर्मकाणां तु णिगन्तानामुभयत्र-बोधयति शिष्यं धर्मम्, बोध्यते शिष्यो धर्मम्, बोध्यते  
शिष्यं धर्मं इति वा; भोजयत्यतिथिमोदनम्, भोज्यतेऽतिथिमोदनम्, भोज्यतेऽतिथिमोदन इति वा; पाठयति शिष्यं  
९ ग्रन्थम्, पाठ्यते शिष्यो ग्रन्थम्, पाठ्यते शिष्यं ग्रन्थं इति वा, सर्वत्र चोक्ते कर्मणि द्वितीया न भवतीति वक्ष्यते ।  
कर्तुरिति किम् ? मापेप्वश्च वध्नाति, अश्वेन कर्मणा भक्षणक्रियया स्पर्शनक्रियया वा मापाणां व्याप्यानां कर्मणां कर्मसंज्ञा  
मा भूत् । वीति किम् ? पयसा ओदनं भुङ्के-अत्र करणस्य मा भूत् । कर्मव्याप्यप्रदेशाः-“कर्मणोऽण्” ॥ ५ । १ । ७२ ॥  
१२ “व्याप्याच्चेवात्” ॥ ५ । ४ । ७१ ॥ इत्यादयः ॥ ३ ॥

उभयथाऽपि भवितव्यम्, इह तावत् तण्डुलानोदनं पचतीति, द्वयं पचिस्तण्डुलान् पचनोदनं निर्वर्तयति । अत्र हि विकृदनुपसर्जने निर्वर्तने  
पचिर्वर्तते, तण्डुलान् विकृदयनोदनं निर्वर्तयति, तत्रोपसर्जनविकृदयनक्रियापेक्षं तण्डुलानां कर्मत्व प्रधानभूतनिर्वर्तनापेक्षं त्वोदनस्य । तण्डुलाना-  
१५ नोदनं पचतीत्यत्रापि द्वयं पचि, विकारयोगे च पष्टी, तण्डुलविकारमोदनं निर्वर्तयतीति, अत्र तण्डुलानां संवन्धिनां विकारविशेषमोदनं विकृत्या  
निर्वर्तयतीत्यर्थः । सा च विकृतिः सामर्थ्यात् तण्डुलानामेव विशायत इत्युभयमपि समजसम् । अथ द्विकर्मकेषु दुहादिधातुषु कर्मणि तिवाद्य  
उत्पद्यमाना प्राधान्याप्राधान्याभ्यां भिन्नकक्षमनेकं कर्म युगपदभिधातुसमर्थाः किं प्रधानकर्मण्युत्पद्यन्ते अथ गुणकर्मणीति ? तत्र प्रधानप्रधान-  
१८ सन्धिषो प्रधानाभिधानस्य न्याय्यत्वमिति केचित् । तदयुक्तं, अप्रधानकर्मण्येव लादिकृत्यकखलर्था इति गौर्दुष्टते दुग्धा दोषा वा पय इत्याह-  
तत्र दुहादीनामित्यादि । अथमर्थ-यतः पयोऽर्थां प्रथमं गवि प्रवर्तते ततोऽन्तरात्त्वात् दुहादिषु गुणकर्मणि तिवाद्यो भवन्ति । उक्तं च-  
“गुणकर्मणि लादिविधि पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगः । सुप्तं कर्म प्रेष्युंसाह्नयेव यतते प्राक्” ॥ १ ॥ “तस्माच्छुद्धस्य दुहेर्भवति गवा पूर्वमेव  
२१ संयन्धः । गोदुहिना पयसस्तु प्राक् तस्मात्प्रादयस्त्वस्मिन्” ॥ २ ॥ इति । गौर्दुष्टते-दुहे “तस्मात्पानाप्या” इति कर्मण्यत्वनेपदेन “अथ  
शिति” इति अथसहितेन गुणकर्मणोऽभिहितत्वात् प्रथमा । देवासुरैरित्यादि । “येनापविद्वसठिल स्फुटनागसया, देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्मन्ये ।  
व्यावर्तेनैरद्विपतेरयमाहिताङ्गः स व्यालिलसन्निव विभाति स मन्दरादि” ॥ ३० ॥ किराता० पयससर्गे । नीचहृहरतिप्रभृतीनामिति । तु  
२४ शब्द-पुनरर्थे, प्रधाने कर्मणि-कर्मजं प्रत्ययो भवतीति संयन्धः, अजादे प्राधान्यात् नेतृत्व तत्रैव पूर्व क्रियाप्रवर्तनादन्तरात्त्वाच्च तत्रैव  
प्रधाने कर्मज इति । केचिदाहु-न अमी नयत्यादयो द्विकर्मका, अन्यकर्मत्वात्, तथाहि-अजां नयति ग्रामम्-अजां गृहीत्वा ग्रामं यातीति  
क्षत्रार्थः । नयतिस्तु प्रातिमात्रवाची । गम्यमानक्रियापेक्षयाऽपि कर्मत्वं दृश्यते, यथा-प्रविष्टा पिप्पीमिति, भक्षणक्रियापेक्षयेति । एतच्चायुक्तं-अजा  
२७ नीयते ग्राममित्यत्र कर्मण्युत्पद्यमानेनाऽत्मनेपदेन अजाकर्मणोऽभिधानं न प्राप्नोति, यतो गृह्णातेरजा कर्म न नयतेरिति । तस्मादत्यकर्मत्वप्रशया  
नेष्टव्यमिति । गत्यर्थानामिति । प्रधान एव कर्मणि-कर्तृकर्मणि, कर्मजं प्रत्ययो भवतीति संयन्धः । प्राधान्यं च तस्य “गतिबोधाहारार्थं”  
इति कर्मसंज्ञाया विधीयमानत्वेन श्रुतिमत्त्वात् कर्तुं प्रथमश्रुतिविपयत्वाद्वा । प्रधान एवेत्येवकारस्तु “अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति” मतान्तरव्यवच्छेदा-  
३० र्थत्वेनैव मतान्तरं दर्शयति-अन्यस्त्वित्यादि । अत्राप्रधान्यं चात्र प्रामादे प्राधान्याया क्रियया व्याप्यत्वात् । बोधाहारार्थशब्दकर्मकाणा-  
मिति । उभयत्र-प्रधानेऽप्रधाने च कर्मजं प्रत्ययो भवतीत्यर्थः । अथमत्राशय-शिष्यं धर्मं ज्ञेते, बोधयति शिष्यं धर्ममित्यादावित्यतो  
गुणप्रधानभावः, तथाहि-वाक्यस्य धर्मप्रतिपादनपरत्वे धर्मस्य प्राधान्यं शिष्यादेर्गुणभावः, शिष्यादिसंस्कारपरयां तु प्रवृत्ती शिष्यादे प्राधान्यं  
३१ धर्मस्य गुणभावः । तथा धर्मस्य शब्देन प्रतिपाद्यत्वात् शब्दस्य प्राधान्यं प्रमाणयन्तोऽभिधातुपारेण(शब्देन)प्रयोक्तव्यापारस्य प्राधान्यात् प्रयो-  
ज्यस्यैव कर्मणः प्राधान्यम्, गुणभूतप्रयोज्यव्यापारकर्मणस्तु गुणभावः । शब्दस्यार्थपरत्वादर्थस्यैव प्राधान्यं समर्थयन्त आर्थेन तु न्यायेन प्रयोज्यव्या-  
पारस्य प्राधान्यं तदर्थत्वात् प्रयोजकव्यापारस्य, तत्राप्रधान्याच्च तत्कर्मणोऽपि प्राधान्यमिति वदन्ते आचार्याः, सृष्टिरियं न स्वमविपरिकल्पनाऽत्र  
३६ ज्यायसीत्युभयत्र पर्यायेण सिद्धं कर्मजः प्रत्यय इति । कर्मजप्रत्ययेनैव कर्मणोऽभिहितत्वात् सर्वत्र कर्मणि द्वितीया न भवतीत्याह-सर्वत्र  
चेत्यादि । अथमर्थ-यत्र तिवादिभिः कर्मादय उच्यन्ते तत्र गवादिशब्दं खार्थाऽव्यतिरेकेऽर्थमात्र एवेति प्रथमेव ततो युक्ता, न द्वितीयादयः,  
कर्मादीं वृत्त्यभावाविति । चस्त्वन्तरे विशेषेणाऽपु कर्तृवैच्छति नान्यत्तदधीन करणादिकमिति मन्यमानं पृच्छति-कर्तुरिति किमिति । कर्मणाऽपि  
३९ नियमेन यदाऽपि मित्यते तस्यापि कर्मसंज्ञा स्यादिति मन्यमानं प्रत्याचष्टे-मापेप्वित्यादि । अत्र वध्नातिक्रिययाऽथ कर्ता विशेषेण यथा आमु-  
मित्यते तथा भक्षणक्रियया प्रतीयमानया अश्वेन माष इत्यसति कर्तृग्रहणे नान्यत्तदधीन करणादिकमिति मन्यमानं पृच्छति-कर्तुरिति किमिति । कर्मणाऽपि  
४२ तस्य कर्मसंज्ञा न स्यात्, नैष दोषः, कारकान्तरव्याप्यस्य कर्मसंज्ञाप्रसङ्गनिवारणपरत्वात् शास्त्रस्य च लक्ष्यसंस्कारकत्वात् कर्तृगुणस्यापि संख्या न  
विवक्ष्यते । संख्याया अविषयत्वाच्च प्रधानस्थानियमेन विस्फारः, चपेह कट, कटौ, कटान् करोतीति कर्मसंज्ञा भवति, तथेहापि भवति कट कृत्-  
कटं कुर्वन्तीति । व्याप्यं च कर्मसंज्ञाया संश्रीयमाणत्वात् प्रधानमिति तस्य संख्या न विवक्ष्यते, प्रधानसंख्या न विवक्ष्यते इत्येतस्य चार्थस्य शाप-  
४५ कमेकशेषस्यै एकग्रहणम् । वीति किमिति । कर्तुं साध्यत्वात् क्रिया पूर्वमागुमिष्टा, कर्म तु तत्फक्त्वेन, ततश्च क्रियाया आगुमिष्टया विशेषेण  
फलम् । पयसा ओदनं भुङ्के इत्यत्र तु पयस संस्कारकत्वादोदनस्य संस्कार्यस्यैव विशेषेणागुमित्वमिति तस्यैव कर्मत्वं न पयसं करणस्य ।  
४८ इयमाण आह-वध्ना खल्लं मुञ्जीच, पयसा खल्लं मुञ्जीय । अत्र चान्वयव्यतिरेकाभ्यां दधिपयसोरेव विशेषेणाऽव्यक्त्वात् कर्मसंज्ञा प्राप्नोति नत्वोद-

वाऽकर्मणामणिकर्ता णौ ॥ २ । २ । ४ ॥

अविवक्षितकर्माणोऽकर्मण उत्तरत्र नित्यग्रहणात्, तेषामणिगवस्थायां यः कर्ता स णौ णिगि सति कर्मसंज्ञो वा भवति । पचति चैत्रः, पाचयति चैत्रं चैत्रेण वा; लिखति मैत्रः, लेखयति मैत्रं मैत्रेण वा । गत्यर्थादीनां तु परत्वात् नित्य एव विधिः—गच्छति चैत्रः, गमयति चैत्रम् इत्यादि; किं करोतीति व्यापारमात्रविवक्षायां चाऽविवक्षितकर्माणो भवन्ति ॥४॥

गतिबोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणामनीखाद्यदिहाशब्दाय-

ऋन्दाम् ॥ २ । २ । ५ ॥

गतिर्देशान्तरप्राप्तिः, बोधो ज्ञानमात्रम् तद्विशेषश्च, शब्दः कर्म क्रिया व्याप्यं च येषां ते शब्दकर्मणः, नित्याऽकर्मणः सर्वथाऽविद्यमानव्याप्याः; गत्यर्थबोधार्थाऽऽहारार्थानां शब्दकर्मणां नित्याऽकर्मणां च धातूनां नीखाद्यदिह्यतिशब्दाय-तिक्रन्दवर्जितानामणिगवस्थायां यः कर्ता स णौ सति कर्मसंज्ञो भवति । गत्यर्थः—गच्छति मैत्रो ग्रामम्, गमयति मैत्रं ग्रामम्; याति मैत्रो ग्रामम्, यापयति मैत्रं ग्रामम्, देशान्तरप्राप्तेरन्यत्र न भवति—स्त्रियं गमयति मैत्रेण चैत्रः, भजनार्थो-

नस्येति चेत्, उच्यते—तस्याप्योदन एवामुमिष्ट, दधिपयसोस्तु संस्कारकत्वात् करणभाव । गुणेषु गुणकारकेषु केवलेषु नादर, किं तर्हि? तत्संस्कृते ओदनादौ । तद्यथा—भुञ्जीयाहमोदन यदि ऋदु विशद स्यादिति । यद्यत्र मार्दवमात्रे आदर स्यात् पद्ममपि भक्षयेत्, वैशद्यमात्राऽऽदरे तु १२ सिकता अपि । एवमिहापि दध्यादिगुणमोदन भुञ्जीयेत्यदोष ॥ ३ ॥

वाऽकर्मणामणिकर्ता णौ । कर्म इत्यनुवर्तते, अकर्मणां अणिकर्ता णौ कर्म वेत्यन्वय । अणिकर्तेति । न वियते णिग् येषां ते अणिग-स्तेषा कतेति विग्रह । न स्वकर्माण सकर्मणोऽप्यविवक्षितकर्माण सर्वथाऽवियमानकर्माणश्चोच्यन्ते, तत्केषामिह ग्रहणमित्याह—अविवक्षितकर्माण १५ इत्यादि । अत्रोपपत्ति—उत्तरत्र नित्यग्रहणादिति । अयमर्थो ये हि सर्वथाऽवियमानव्याप्यास्तेषामणिकर्तुं “गतिबोधाऽऽहारार्थं” इति सूत्रेणा-पवादतया नित्य कर्मसंज्ञाविधानात् इहाऽविवक्षितकर्माण एवाऽकर्मणो गृह्यन्त इति । तानेवोदाहरति—पचति चैत्र इत्यादि । नन्वेव तर्हि गत्यर्थादीनामप्यविवक्षितकर्मत्वेन विकल्प प्राप्नोति, नित्यश्च विधिरिष्यत् इत्याह—गत्यर्थादीनामित्यादि । पाचयति चैत्रं चैत्रेण वा गमयति ग्राममित्यादौ १८ द्वयो सावकाशत्वात् गमयति चैत्रमित्यादौ त्वविवक्षितकर्मत्वेन युगपदुभयप्राप्ती परत्वात् “गतिबोधाऽऽहारार्थं” इति नित्य एव विधि । नन्वोदन पचतीत्यादिप्रयोगदर्शनात् कथं पचादीनामविवक्षितकर्मत्वमित्याह—किं करोतीत्यादि । अयमर्थ—शब्दप्रयोगस्य परार्थत्वात् परेण च किं करोतीति व्यापारमात्रस्य जिज्ञासितत्वात्, अन्यथा उन्मत्तत्वप्रसङ्गात् प्रतिपादयितुं स्तावन्मात्रस्यैव विवक्षितत्वात् औदासीन्यमात्रनिवृत्तिपरतया प्रयोगात् २१ शब्देन कर्मणोऽसर्मणोऽदविवक्षितकर्मत्वम् । यदाह—“धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धोत्वर्थेनोपसप्रहात् । प्रसिद्धैरविवक्षात् कर्मणोऽकर्मिणा क्रिया” ॥ ४ ॥

गतिबोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणामनीखाद्यदिहाशब्दायऋन्दाम् । अत्र अणिकर्ता णौ कर्म इत्यनुवर्तते । अनीखाद्यदिहाशब्दायऋन्दा गतिबोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणां अणिकर्ता णौ कर्म इत्यन्वय । गतिः—गमन, बोधः—बोधन, आहारः—२४ आहरण, तेषां येषामिति बहुव्रीहौ—गतिबोधाऽऽहारार्था इति । अत्र गत्याद्यर्थो गत्यादिशब्देनोच्यत इति अर्थशब्दस्य प्रत्येकमभिसवन्ध । शब्द कर्म—क्रिया, व्याप्यं च येषामिति बहुव्रीहौ—शब्दकर्मण इति । न वियते कर्म येषां तेषां कर्मणः, नित्य अकर्मणः—नित्याऽकर्मण इति । विस्पष्टपदवत् समास, ततो गतिबोधाऽऽहारार्थाश्च शब्दकर्मणश्च नित्याकर्मणश्च इति द्वन्द्वत् पृष्ठीवहुवचनम्—गतिबोधाऽऽहारार्थ-२७ शब्दकर्मनित्याऽकर्मणामिति । तस्यैव अनीखाद्यदीत्यादिविशेषणम्, तथापि द्वन्द्वगर्भनन्तत्पुरुष । आहारस्य सुप्रसिद्धत्वात् गतिबोधयो स्वरूपमाह—गतिरित्यादि । शब्द-कर्म—क्रिया व्याप्यं चेति । नन्वेकेन प्रयत्नेन उभयाग्रहणात् वाक्यभेदप्रसङ्गात् कथमुभयपरिग्रह उच्यते—ह्ययत्यादीनां त्रयाणां शब्दक्रियत्वेन प्राप्त्यभावात् प्रतिषेधवैयर्थ्यप्रसङ्गात् कर्मशब्दस्य क्रियावचनता । ह्ययत्यादयो हि धातव साध्यमाना-३० वस्य क्रियारूप शब्दमभिदधतीति शब्दक्रियत्वादिप्रसङ्गे सति प्रतिषेधो विधीयते । शब्दायतेषु शब्द करोतीति “शब्दादे कृतौ वा” ३।४।३५। इति क्यञ्चि शब्दक्रियालक्षणस्य कर्मणोऽन्तर्भावत्वात् कर्मान्तरायोगात्कर्मकत्वादपि सज्ञाप्रसङ्ग इति । एव च जल्पतिविलपलाभापतीना जल्प-यति देवदत्तमित्यादौ शब्दनक्रियावृत्तीना क्रियाग्रहणे सिध्यति, देवदत्त जल्पतीत्यादौ शब्दकर्मत्वाभावात् । एवं च कर्मग्रहणाऽऽनर्थक्य, “गति-३३ बोधाऽऽहारशब्दार्थं” इति कृते सिध्यतीति कर्मग्रहण साधनकर्मपरिग्रहार्थं, तेन शृणोति विजानाति उपलभते इत्येषामपि सिध्यति । शृणोत्या-दयो हि उपलब्धिरूपेऽर्थे वर्तमाना शब्दक्रिया न भवन्ति, शब्दसाधनकर्माणस्तु भवन्ति, तद्विषयत्वेनैव प्रयोगात् । एव जल्पत्यादीनामपि श्लोकादिप्रत्ययविशेषशब्दकर्मणा साधनकर्मपरिग्रहादेव सिद्धि । न चैषां बुद्ध्यर्थता, बोधशब्देन बोधसामान्याऽऽभ्रयणपक्षे वेत्यादयो हि ज्ञानमात्र-३४ चचना, बुद्ध्यर्थवापि जानाति उपलभते इत्येतौ यथप्युपलब्धिमात्रवचनौ तथापि प्रयोजकव्यापारविवक्षायां प्रकरणादिवशात् यदा शब्द-विषयामेवोपलब्धि प्रत्याययतस्वदा साधनकर्मवचनात् सिध्यति न त्वन्यथा इत्युभयांशोऽत्र कर्मशब्द । न च वाक्यभेद, श्वेतो धावतीतिवत् । स्थविरोत्पलौ तु साधनवचनमेव कर्म व्याचक्षते, यदाहोत्पल—यथैव जल्पिविलप्याभाषीणा शब्दव्यतिरिक्तकर्मणां अणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञो न ३९ स्यात्, पुत्र जल्पति देवदत्त, जल्पयति पुत्र देवदत्तम् । चौर्यं विलपति देवदत्त, चौर्यं विलापयति देवदत्तम् । आभाषतेऽपराध देवदत्त, आभाषयति देवदत्तमपराधम्, नैष दोष, जल्पनविलपनाभाषणांशे बोधने जल्पिप्रभृतयो वर्तन्त इति । नित्याऽकर्मणामि-त्यत्र तु साधनवचन एव कर्मशब्द, द्वितीयार्थग्रहणे प्रमाणाभावात् साधनवचनस्यैव पूर्वं बुद्ध्यानुपरोहात् । किं च क्रियार्थप्रतिषेधे धर्मिण ४२ एवाभावात्, न हि क्रियार्थभावे धातो सम्भवोऽस्तीति । गमयतीत्यादि । ‘गम्य’ गतौ, अतः “प्रयोक्तव्यापारे” इति णिग् । ‘याक्’ प्राप्णे, अतो णिगि “अतिरीचीहो” ४।२।२१। इति पुरत्वे—यापयति इति । देशान्तरप्राप्तेरिति । अत एव गतिर्देशान्तरप्राप्तिरिति पूर्वमेतत्प्रसङ्गो निवर्तित, तथाहि—गच्छतीत्युक्ते सयोगार्थं प्रतीयते, प्राप्त्यन्तरे तु प्राप्तिसामान्यादुपचारेण वृत्तिरतो “गौणमुत्थयोरुत्थये सप्रत्यय” इति ४५

उत्र गमिः । सामान्यबोधार्थः—बुध्यते शिष्यो धर्मम्, बोधयति गुरुः शिष्यं धर्मम्; जानाति शिष्यो धर्मम्, ज्ञापयति गुरुः शिष्यं धर्मम्; एवमुपलम्भयति, अवगमयतीत्यादि । विशेषबोधार्थः—प्रयति रूपतर्कः कार्पापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्पापणं वणिक्; एव प्रापयति मैत्रमुत्पलम्, स्पर्शयति मैत्रं वल्लम्, श्रावयति शिष्यं धर्मम्, स्मारयति शिष्यं धर्मम्, ध्यापयति शिष्यं शास्त्रम्; अन्ये तु बोधविशेषार्थस्य दृशेरेवेच्छन्ति नाऽन्येषाम्, तन्मते—जिघ्रस्युत्पलं चैत्रः, प्रापयत्युत्पलं चैत्रेण मैत्रः; एव स्पर्शयति चैत्रेण वल्लम्, श्रावयति धर्मं शिष्येणेत्यादौ प्रयोज्यकर्तारि तृतीयैव भवति । आहारार्थः—मुक्ते वटुरोदनम्, भोजयति वटुओदनम्; अश्राति वटुभक्तम्, आशयति वटु भक्तम् । शब्दक्रिय—जल्पति मैत्रो द्रव्यम्, जल्पयति मैत्रं द्रव्यम्; एवमालापयति मित्रं मैत्रम्, संभाषयति मैत्रं भार्याम्; शब्दव्याप्य—शृणोति शब्दं मैत्रः, श्रावयति शब्दं मैत्रम्; अधीते वटुवेदम्, अध्यापयति वटु वेदम्; एव जल्पयति मित्रं वाक्यम्, विज्ञापयति गुरुं वाक्यम्, उपलम्भयति शिष्यं विद्याम् । नित्याऽकर्मकः—आस्ते मैत्रः, आसयति मैत्रं चैत्रः; शेते मैत्रः, शाययति मैत्रं चैत्रः । नित्यग्रहणं पूर्वत्राऽविवक्षितकर्मकपरिग्रहार्थम्, अन्यथा विभागो न ज्ञायते । कालाऽध्वभावदेशैश्च सर्वेऽपि घातवः सकर्मका एवेत्यन्यकर्माऽपेक्षया नित्याऽकर्मका वेदितव्याः । गत्यर्थादीनामिति किम् ? पचत्योदनं चैत्रः, पाचयत्योदनं चैत्रेण मैत्रः । अणिकृतेत्येव ? गमयति चैत्रो मैत्रम्, तमपरः प्रयुक्ते—गमयति चैत्रेण मैत्रं जिनदत्तः । नयत्यादिवर्जनं किम् ? नयतेः प्रापणोपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वेन गत्यर्थत्वात्, खाद्यघोराहारार्थत्वात्, हाशब्दायक्रन्दां च शब्दकर्मकत्वात् कर्मत्वे प्राप्ते प्रतिपेधार्थम्;—नयति भारं चैत्रः, नाययति भारं चैत्रेण, खादयत्युत्पलं चैत्रेण, आदयति ओदनं चैत्रेण, हाययति चैत्रं चैत्रेण, शब्दाययति चैत्रं चैत्रेण, क्रन्दयति मित्रं चैत्रेण; कर्मसंज्ञाप्रतिपेधात् स्वव्यापाराऽऽश्रय कर्तृत्वमेव । प्रेषणाऽध्येषणादिना प्रयोजकव्यापारेण णिगन्तवाच्येनाऽणिकर्तृव्याप्यत्वात् कर्मसंज्ञा सिद्धैव, नियमार्थं तु वचनम्, प्रयोजकव्यापारेण व्याप्यमानस्य गत्यर्थादिसंबन्धिन एव प्रयोज्यस्य कर्तुः कर्मसंज्ञा भवति, तेनाऽन्यधातुसंबन्धिनः कर्तृत्वमेव भवति ॥ ५ ॥

१८ सोऽपि न शक्यते । स्त्रियं गमयति चैत्रेणेति । अत्र भजनलक्षणप्राप्ती न भवति । बोधयतीत्यादि । 'बुधिच' ज्ञाने, अतो णिगि नान्युपा-  
न्त्यगुण, 'शाश' अथबोधने, उपपूर्वा 'डुलभिप्' प्राप्ती, अथपूर्वा 'गन्त्' गती इत्येभ्यो भवति, अत्र बुद्ध्यादय चक्षुरादीन्द्रियसाधनज्ञानविशेष-  
पस्याप्रतिपादनात् सामान्यबोध एव वर्तन्त इत्यर्थः । 'दृश' प्रेक्षणे, घातो—दर्शयतीति । रूप तर्कयतीति "कर्मणोऽण" इत्यणि—रूपतर्क-  
२१ इति । रजतकार्पापणादिपरीक्षक इत्यर्थः । कर्षेण आप्यत इति "मुजिपत्वादिभ्य ः" इति कर्मण्यनटि प्रज्ञादित्वात् स्वांशेऽणि—कार्पापण इति ।  
एव 'प्रा' गन्धोपादाने, 'दृष्टव' संस्पर्शे, 'श्रुद' श्रवणे, 'स्त्र' चिन्तायाम्, 'धै' चिन्तायाम्, एभ्य पूर्ववत् णिगादौ—प्रापयतीत्यादयः ।  
अत्र दृश्यादीनां चक्षुरादिसाधनजनितज्ञानविशेषपृच्छीनां विशेषबोधार्थत्वेत्यर्थः । अन्ये त्विति । आचार्यपर्याणितत्राजुधारिण, ते हि गत्यादिसूत्रे  
२४ दृशिग्रहणमुपादाय बोधार्थत्वेनैव सिद्धे दृशिग्रहणात् दृशेरेव विशेषबोधार्थस्य परिग्रहो नान्येषामित्याचक्षते, तन्मते प्रयोज्ये कर्तृकर्मसंज्ञाया  
अभावात् तृतीयैव भवति । आहारार्थं इति । आहारो—निगरण, सोऽर्थोऽस्येत्यर्थः । तदुदाहरति—भोजयतीत्यादि । 'भुज्' अभ्यवहारार्थं,  
'अशश' भोजने, आभ्यां पूर्ववत् णिगादि । कर्मग्रहणस्य क्रियाव्याप्ययोर्वचकत्वात् शब्दक्रियान् शब्दव्याप्योश्च कर्मणोदाहरति—जल्पयति  
२७ मैत्रमित्यादि । उपलम्भयतीति । "लभ" ४।४।१०३ इति नाऽऽगम । अत्र शृणोत्यादित्वावच्छब्दविषयमेवोपलब्धिमाचष्ट इति शब्द-  
कर्मकं, जानातिरुपलब्धिश्च यद्यपि सामान्येन सर्वविषयामुपलब्धिमाद्भुत्स्यपि यदा सोपलब्धिं कृतश्चिच्छब्दविषया भवति तदा शब्दकर्म-  
काविति प्रयोज्यस्य कर्तुं कर्मता । वाक्यं, विद्यामिति च शब्दविषयो दर्शयते । अस्ययतीत्यादि । अथ नित्यग्रहणमन्तरेणापि अकर्म-  
३० कग्रहणेनैव कर्मसत्तामात्रप्रतिपेधेनैवेष्टार्थां लभ्यत इति किमर्थं नित्यग्रहणमित्याह—नित्यग्रहणमित्यादि । असति नित्यग्रहणे उभयत्राऽकर्मग्रहणे  
इति विज्ञायत इत्यर्थः । ननु च कालाध्वभावदेशा आधारा अकर्मणामपि कर्म भवन्ति, नोदोहमास्ते, मासमास्ते इत्यादौ, तत्र नित्याऽकर्मणाम्-  
३३ समव एवेत्याह—कालाऽध्वभावदेशैरित्यादि । वचनप्रामाण्यात् कालादिभ्योऽन्येन कर्मणा नित्याऽकर्मकं वेदितव्या, येषां कालादिभ्योऽन्यत्  
कर्म वस्तुतो नैवास्तीति वेऽकर्मणः । अथैव किञ्च ज्ञायते कालादिभ्योऽन्येन कर्मणा सकर्मका अपि येषां कालादिकर्म नैवाऽस्ति ते नित्याऽकर्मणः, यथा  
कालादिभिः सकर्मका अपि अन्यकर्मापेक्षया अकर्मका इति । नैतदस्ति, ते सर्वेषां सकर्मकत्वात् । न हि ते धातवः सन्ति येषां कालादयः कर्म  
३६ न भवति, सकर्मकणामप्यविवक्षितकर्मकत्वोपपत्तेः । पाचयत्योदनं चैत्रेण मैत्रं इति । 'डुपचो' पाके, अतो णिगि, अकारस्य वृद्धि, गत्या-  
यर्थानां पचिरन्तर्गतो न भवतीत्यस्य प्रयोज्ये कर्तारि तृतीयैव न द्वितीया, गत्यायर्थवचनेन निश्चितित्वात् । गमयति चैत्रेण मैत्रं जिनदत्त  
इति । अत्र गमयतेचैत्रं प्रयोजक कर्ता, तमपरः प्रयुक्ते इति तमित्यनेन चैत्रस्य कर्तुरभिसंबन्ध, अपर इति कश्चिज्जिनदत्तादि । अत्र च  
३९ अणिकर्ता इत्यनुवर्तनात् णिकर्तुं कर्मसंज्ञा न भवतीति । नयत्यादिवर्जनं किमिति । प्रतिपेधस्य प्रातिपूर्वकत्वात् नयत्यादेश प्रापणार्थत्वेना-  
ऽगत्यायर्थत्वात् प्राप्त्यभावात् किं प्रतिपेधेनेति प्रश्नार्थः । उत्तरयति—नयतेरित्यादि । प्रापण—प्राप्ती प्रयुक्ति, तत्र गुणीभूता प्राप्तिरपि प्रतीयते,  
सा च गतिरिति नयतेर्गत्वर्थत्वेति । ननु नयत्यादीनां णावणिकर्तुं कर्मसंज्ञाप्रतिपेधात् तद्वाधिता कर्तृसंज्ञाऽपि न प्राप्तीत्याह—कर्मसंज्ञा-  
४२ प्रतिपेधादित्यादि । अयमर्थः—कर्मसंज्ञा हि कर्तृत्वस्य प्रतिबन्धिका, तन्निवृत्तौ च प्रतिबन्धाईस्य प्रतिबन्धकमन्त्रादिनिवृत्तौ चोद्देशकत्वमेव कर्तुं  
कर्तृत्व व्यवतिष्ठत एवेत्यर्थः । ननु कर्मसंज्ञाधिकारे गत्यादिसूत्रं, तत्र च प्रयोजकव्यापारेण प्रेषणाऽध्येषणादिलक्षणेन प्रयोज्यस्य कर्तृव्याप्यमानत्वात्  
कर्मसंज्ञा सिध्यत्येव, न च तस्य स्वतन्त्रत्वात् कर्तृसंज्ञाऽपि प्राप्तीतीति वाच्यं, प्रत्ययार्थप्राधान्यात् तत्प्रयुक्त्या कर्मसंज्ञयैव प्रवर्तितव्यं, गुणप्रधान-  
४५ सनिधौ च प्रधानस्य प्रयोजकत्वे सम्भवति पृथग्गुणं तद्विच्छेद स्वकार्यं न प्रयुक्ते इति किमर्थमेतदिति ? उच्यते—प्रयोज्यस्य कर्मसंज्ञायां सिद्धायां  
गत्यायर्थानामेव णिगन्तानामणिकर्तुं कर्मसंज्ञा नान्येषामिति नियमार्थमेतदित्याह—प्रेषणाऽध्येषणादिनेत्यादि । नियमकल दर्शयति—तेने-  
त्यादि । नन्वेवमपि गत्यायर्थानां अणिकर्तृव्येषां कर्मसंज्ञा तथा अणिकर्तुरप्यन्यस्मिन् णौ सा प्रसज्यते, यथा—गमयति चैत्रो मैत्रं त जिनदत्त



भक्षेर्हिंसायाम् ॥ २ । २ । ६ ॥

भक्षेः स्वार्थिकण्यन्तस्य हिंसार्थस्याणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञो भवति । भक्षयन्ति सस्यं वलीवर्दाः, तान् प्रयुङ्क्ते-भक्षयति सस्यं वलीवर्दान् मैत्रः । उक्ते च कर्मणि-भक्षयन्ते यवं वलीवर्दाः, भक्षयते यवो वलीवर्दान् मैत्रेणेति वा । वनस्पतीनां प्रसवप्ररोहदृष्ट्यादिमत्त्वेन चेतनत्वात् तद्विशेषस्य सस्यस्य प्राणवियोगस्तद्भक्षणान्त् स्वाम्युपघातो वाऽत्र हिंसेति भक्षेर्हिंसार्थता । हिंसायामिति किम् ? भक्षयति पिण्डीं शिशुः, तं प्रयुङ्क्ते-भक्षयति पिण्डीं शिशुना; भक्षयति राजद्रव्यं नियुक्तेन, भक्षयति पुत्रान् गार्ग्याः; भक्षयतिरत्राऽऽक्रोशे । आहारार्थत्वात् प्राप्ते नियमार्थं वचनम् ॥ ६ ॥

वहेः प्रवेयः ॥ २ । २ । ७ ॥

प्रवीयते प्राजतिक्रियया व्याप्यते यः स प्रवेयः, वहेरणिकर्ता प्रवेयो णौ कर्मसंज्ञो भवति । वहन्ति वलीवर्दा भारम्, तान् प्रयुङ्क्ते-नियोक्ता वाहयति भारं वलीवर्दान्; वाहयिता भारस्य वलीवर्दान्, वाहयिता वलीवर्दानां भारम्; वाहन्ते भारं वलीवर्दाः । प्रवेय इति किम् ? वाहयति भारं मैत्रेण, नाऽत्र मैत्रो वलीवर्दादिवत् प्रवेयः । प्राप्त्यर्थस्य प्राणपार्थस्य च वहेरर्थत्वात् अकर्मकस्य च नित्याऽकर्मकत्वात् पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमविवक्षितकर्मकस्य तु पक्षे विध्यर्थं चेदम् ॥ ७ ॥

हृक्रोर्नवा ॥ २ । २ । ८ ॥

हरतेः करोतिश्चाणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञो वा भवति, प्राप्ते चाऽप्राप्ते चाऽयं विकल्पः । प्राप्ते-विहरति देशमाचार्यः,

प्रयुङ्क्ते इति, नैवम्, एतेषामणिकर्तैव कर्मसंज्ञो नान्य इत्यपि नियम प्रत्येतव्य इति । न चैकेन लक्षणनियमद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वादस्मिन् सति प्राचनस्यासत्त्वात् कथं नियमद्वयलाभ इति वाच्यम्, अणिग्रहणात् । अन्यथा कर्ता णावित्येवोच्येत, एवमपि णौ कर्मसंज्ञाविधानादणिकर्तृलाभ १५ स्यात्, णिगवस्थायां हि तस्य कर्मसंज्ञा विधीयते तत्कथं तत्रासौ कर्ता स्यादित्यतिरिच्यमानमणिग्रहणं नियमार्थमिति नियमद्वयलाभ । द्वयोरपि च नियमयोर्वैलिङ्घता व्यावृत्तिर्दर्शिता, गमयतेरगलार्थत्वादिपि प्रयोजककर्तुं प्रयोज्यत्वेऽपि कर्मसंज्ञाया अप्रवृत्तिरिति स्पष्टतया द्वितीयो नियमो न दर्शितः । सर्वत्र च प्रधानप्रयुक्तसंज्ञाया अभावे गुणक्रियानिमित्ता कर्तृसंज्ञा प्रवर्तते इति तत्र वृत्तीयेति । 'घत दापित सूरसेन', 'परुष व्याजितः' १८ इति, 'मुक्ताजाल चिरपरिचित व्याजित' इत्येवमादि कथिप्रवाहो यदि समतस्त्वा बहुवचनादनुसन्धेय ॥ ५ ॥

भक्षेर्हिंसायाम् । अत्र अणिकर्ता णौ कर्म इत्यनुवर्तते । हिंसायां भक्षे अणिकर्ता णौ कर्म इत्यन्वयः । भक्षिधुरादित्वात् स्वार्थिकणिजन्तं, ततः कर्ता हि अस्वार्थिकणिकपेक्षयाऽणिकर्ता भवतीत्याह-भक्षे. स्वार्थिकण्यन्तस्येत्यादि । भक्षयति सस्यमित्यादि । अत्र स्वार्थ-२१ कस्य णेरन्यस्मिन् णौ 'णेरनिटि' इति लृक् । ननु हिंसा हि प्राणव्यपरोपलक्षणा, सा च प्राणित्येव सचेतने समवति कथमचेतने सस्ये, न हि तत्रायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासलक्षणा रसमलघादानां परिणतिहेतव प्राणा घन्तीति अत आह-वनस्पतीनामित्यादि । न ह्यभावेऽनुपलम्भमात्रादेव सिध्यति, भूतलच्छन्नमूलकीलकजलादीनामभावप्रसङ्गात्, किन्तु योग्यानुपलम्भ । उपलम्भयोग्यता च देशकालस्वरूपा विप्रकृष्टस्यैवाऽर्थस्य । २४ प्राणाश्च चैतन्याविनाभावानि स्वरूपविप्रकृष्टत्वेन सर्वत्रानुमानप्राप्त्या एव । तथा च सति अन्तर्गर्भमूर्च्छितेष्वपि प्राणवत्त्व सिध्यतीति । तस्मात् प्रसूतिमन्त्रीवत् प्रवृद्धिमदारकवदा प्रसवप्ररोहादिदर्शनात् सस्येऽपि शक्यत एव प्राणानुमानं कर्तुमिति । जैनाऽऽगमश्चात्र प्रमाणम्, यथा-"मृत्युत्वन्तिलानिनिद्राप्रबोधैर्धृष्टिहासत्रासरोगादिभिश्च । लिङ्गैश्चैव जीवतैकेन्द्रियाणां जैनात् सूत्रात् 'प्राणवक्षिष्यलाना'मिति" ॥ ११ ॥ ततः समवति तत्र प्राणवियोग-२७ लक्षणा हिंसेति । प्रकारान्तरेण हिंसायाह-तद्भक्षणादित्यादि । यस्य तत् सस्य तस्य स आजीव इति तद्भक्षणात् स तत्सामी हिंसितो भवतीति हिंसानुबन्धि भक्षणमपि हिंसेति । भक्षयति पिण्डीं शिशुनेति । पिण्डी अप्राणित्वात् न भक्षणं हिंसाम्, नापि तदनुबन्धीति न भवति कर्मसंज्ञेति । एव भक्षयति राजद्रव्यमित्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ननु पुत्रभक्षणस्य हिंसात्मकत्वाद् भक्षयति पुत्रान् गार्ग्येति कथं कर्मत्वाभावः ३० इत्यत आह-भक्षयतिरत्राऽऽक्रोशे इति । न ह्यत्र गार्गा स्वयं पुत्रान् भक्षयति, न च तामन्यस्त्रं प्रयुङ्क्तेऽपि त्वेवमाक्रोशति भक्षय पुत्रानिति भक्षिर्न हिंसाविषयः । ननु भक्षयति पिण्डीं शिशुनेत्यादौ मा भूदनेन कर्मत्व भक्षयतेराहारार्थत्वात् पूर्वेण कस्मान् भवतीत्याह-आहारार्थत्वादि-त्यादि । भक्षिरयमाहारार्थो न ह्यस्यान्योऽर्थोऽस्ति, अन्यत्र तु सर्वभक्ष कृतान्त इत्यादौ तद्व्यापारारोपा वृत्तिः । तत्रास्य पूर्वेण प्राप्नोतीति चेदं ३३ विध्यर्थमपि तु 'सिद्धे सत्यारम्भ' इति नियमार्थं, विधिनिषेधव्यतिरेकेण शब्दव्यापारभावात् ॥ ६ ॥

वहेः प्रवेयः । अत्र अणिकर्ता णौ कर्म इत्यनुवर्तते । वहेरणिकर्ता प्रवेयो णौ कर्म इत्यन्वयः । प्रपूर्वादेशेर्भावे कर्मणि यप्रत्यये रूपमित्याह-प्रवीयते-प्राजतिक्रियया व्याप्यते यः प्रवेय इति । नियन्तु सारथे प्रयोजयितुर्व्यापारस्य कर्मत्वार्थं । वाहयिता भारस्य-३५ वलीवर्दानिति । अत्र वलीवर्दशब्दात् "वैकत्र द्वयो" २।२।८।५ इति प्रातषष्ठीविकल्पात् द्वितीया, तद्विकल्पपक्षे भारस्येत्त्र "कर्मणि कृत" २।२।८।३ इत्यनेन षष्ठीति वाहयिता भारस्य वलीवर्दान् इति । द्वितीयप्रयोगस्तद्विपरीतः । "वैकत्र द्वयो" इति षष्ठीप्रवृत्त्युदाहरणं तु वाहयिता भारस्य वलीवर्दानामिति ज्ञेयम् । वाहयति भारं मैत्रेणेति । नाऽत्र मैत्रो वलीवर्दादिवत् प्रवेय इति कर्मभावो न भवतीति शेषः । ३५ सूत्रतारपर्यभावाच्चे-प्राप्त्यर्थस्य प्राणपार्थस्य चेत्सादिना । तत्र वहति प्राप्त्यर्थो यथा-वहन्ति वलीवर्दा-देशान्तरं प्रामुवन्तीति, प्राणपार्थो यथा-ग्रामं भारं वहति वलीवर्दं-ग्रामं प्राणयतीति, अत्रापि प्राणोपसर्जनं प्राप्तिरस्त्येव, अकर्मको यथा-वहति नदी-स्यन्दत इत्यर्थं, अत्र प्राप्तेर्गतिरूपत्वाभावात् प्राप्त्यर्थस्याकर्मकस्य च गत्यादिसूत्रेणैव सिद्धत्वात् । नियमार्थं वचनमिति वहे प्रवेय एव कर्ता णौ कर्म भवति नान्य इति । ४२ अविवाक्षितकर्मकस्य त्वित्यादि । वहेरिति शेषः । नन्वेव विधौ सति नियमो नोपपद्यते, उच्यते-आहृत्या उभयार्थपरिग्रहः ॥ ७ ॥

हृक्रोर्नवा । हा च का च हृक्रौ, तयोरिति विग्रहः । अणिकर्ता णौ कर्मत्वानुवर्तते । हृक्रोरणिकर्ता णौ कर्म नवेत्यन्वयः । हृसाह-चर्यात् कृषात्तोरपि भ्वादेशेव ग्रहः, तेन 'कृत' विक्रमे, 'कृगू' हिंसायामित्यनयोर्व्यवच्छेदः । यदा हरतिर्गता वर्ततेऽभ्यवहारे वा करोतिश्च वत्प-४५ नादावकर्मकं शब्दकर्मकं तदा पूर्वेण प्राप्ते, यदा तु हरति स्त्रेयादौ वर्तते करोतिश्च सकर्मको भवति तदाऽप्राप्त इति विशेषानुपादानादुभयत्र विकल्पोऽयमित्याह-प्राप्ते चाऽप्राप्ते चेत्त्यादि । तत्र प्राप्ते दर्शयति-विहारयति देशमाचार्यमाचार्येण वेत्यादि । अत्र गत्यर्थं आहारार्थ-

विहारयति देशमाचार्यमाचार्येण वा; एवमाहारयत्योदनं चालकं चालकेन वा । विकुर्वते सैन्धवाः, विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा; विकुरुते स्वरं क्रोष्ट, विकारयति स्वरं क्रोष्टारम् क्रोष्टना वा; अत्र गत्यर्थोऽऽहारार्थनित्याऽऽकर्मकशब्दकर्मकत्वेन यथासंख्यं प्राप्तिः । अप्राप्ते-हरति द्रव्यं मैत्रः, हारयति द्रव्यं मैत्रेण मैत्र वा, करोति कटं चैत्रः, कारयति कटं चैत्रं चैत्रेण वा, अत्र हरतिश्रौर्यार्थो न प्रापणार्थ इत्यप्राप्तिः, प्रापणार्थत्वे तु प्राप्ते विभाषा । कारयिता कटस्य देवदत्तं देवदत्तेन वा, कारयिता कटं देवदत्तस्य देवदत्तेन वा ॥ ८ ॥

६ दृश्यभिवदोरात्मने ॥ २ । २ । ९ ॥

दृशेरभिपूर्वस्य वदतेश्चाऽऽत्मनेपदविषयेऽणिकर्ता णौ कर्मसंज्ञो वा भवति । पश्यन्ति भृत्या राजानम्, तान् राजैवानुकूलाचरणेन प्रयुङ्क्ते-दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा; अभिवदति गुरुं शिष्यः, अभिवादयते गुरुः शिष्य शिष्येण वा, अथवा-अभिवदति गुरु शिष्यः, तं मैत्रः प्रयुङ्क्ते-अभिवादयते गुरुं शिष्य शिष्येण वा मैत्रः; एवं दर्शयमानो राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा, अभिवादयमानो गुरुः शिष्यं शिष्येण वा, अथवा-अभिवादयमानो गुरुं शिष्य शिष्येण वा मैत्रः । आत्मन इति किम् ? पश्यति रूपतर्कः कार्पापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्पापणम्, अभिवदति गुरु शिष्यः, अभिवादयति गुरुं शिष्येण । दृशेर्वोधार्यत्वेन नित्य कर्मत्वे प्राप्ते अभिवदेस्तु नित्यमप्राप्ते विकल्पः । यदा तु अभिवदिर्न प्रणामार्थः, किंतु शब्दक्रियस्तदा अभिवादयति गुरु शिष्यं मैत्र इति नित्य प्राप्ते विभाषेति । णिजन्तस्यापि वदेर्णिगीच्छत्येके । अभिवादयति गुरुर्देवदत्तम्-तस्मिन्नाशिप प्रयुङ्क्त इत्यर्थः, अभिवादयते गुरु देवदत्तो गुरुणेति वा, आत्मन्याशिप प्रयोजयतीत्यर्थः । णिगन्तस्यापीति कश्चित्-अभिवदति गुरुः स्वयमाशिपम्, तं शिष्यः प्रयुङ्क्ते-अभिवादयति गुरुमाशिपं शिष्यः; तं मैत्रः प्रयुङ्क्ते-अभिवादयते गुरुमाशिप शिष्य शिष्येण वा मैत्रः । नामघातोरभिवादयतेरपीच्छत्यन्यः ॥ ९ ॥

नाथः ॥ २ । २ । १० ॥

१८ अणिकर्ता णाविति निवृत्तं, पृथग्योगात् । आत्मनेपदविषयस्य नाथतेर्व्याप्यं कर्म वा भवति, आत्मनेपदविषयत्वं चास्याऽऽशिष्येवेति तत्रैवायं विधिः । सर्पिपो नाथते, सर्पिर्नाथते, सर्पिर्मे भूयादित्याशास्त इत्यर्थः । सर्पिपो नाथमानः, सर्पिर्नाथमानः; सर्पिपो नाथिष्यमाणः, सर्पिर्नाथिष्यमाणः; सर्पिपो नाथ्यते, सर्पिर्नाथ्यते । आत्मन इत्येव ? पुत्रयुपनायति २१ पाठाय, उपयाचते इत्यर्थः ॥ १० ॥

येति प्राप्ति । विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैरिति । नित्याऽऽकर्मिति प्राप्ति । सैन्धवा-अन्धा, विकुर्वते-वल्गन्तीति शकर्मकं करोत्यर्थं । विकारयति स्वरं क्रोष्टारं क्रोष्टना वेल्लत्र शब्दकर्मिति प्राप्तिरिति विवेकेन दर्शयति-अत्रेत्यादि । हारयति द्रव्यं मैत्रेण मैत्रं वेत्यादौ २४ तु चौर्थायां हरति करोतिश्रोतादनार्थं इत्यप्राप्ति ॥ ८ ॥

दृश्यभिवदोरात्मने । अत्र अणिकर्ता णौ कर्म नवा इत्यनुवर्तते । दृश्यभिवदो आत्मने अणिकर्ता णौ कर्म नवेत्यन्यत्र । आत्मन इत्यनुवर्तमानस्य णावित्यस्य विषयतया विशेषणमित्याह-आत्मनेपदविषये इति । दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा इत्यादि । 'दृष्ट' २७ प्रेक्षणे, अभिपूर्वो 'वद' ल्यक्कया वाचि, आभ्यां "प्रयोक्तृव्यापारे णिन्" इति णिति, "अणिकर्मणिकर्तृकात्" ३।३।८। इत्यात्मनेपदम् । अथ-वेति । अन्यस्यास्यापि प्रयोजकत्वे विभाषया प्रयोज्यस्य कर्मत्वम् । तत्रोभयत्रापि "ङ्गित" ३।३।९। इत्यनेन फलवत्कर्तृत्वात्मानेपदम् । एव-मिति । "पराणि कानानशौ चाऽऽत्मनेपदम्" ३।३।२०। इति आनशोऽप्यात्मनेपदत्वात् तद्विषये णावणिकर्ता पक्षे कर्म भवतीत्यतिदेशार्थं । ३० दर्शयति रूपतर्कं कार्पापणमित्यादि । न श्येती विवक्षितफलवत्कर्तृकौ नापि अणिकर्मणिकर्तृकौ इत्यनात्मनेपदविषयत्वात् विकल्पो न भवति । ननु विकल्पो हि प्राप्ते कार्ये पक्षे निवृत्तिफल, अप्राप्ते च प्रवृत्तिफलत्वात् प्राप्ते च स्यादप्राप्ते वेत्यत आह-दृशेरित्यादि । अभिवदे-स्त्विति । प्रणामार्थत्वेनेति शेष इति प्राप्ताप्राप्तविकल्पोऽयमित्यर्थं । यदा त्विति । शब्दक्रियत्वे गत्यादिसूत्रेणोभयत्र नित्यकर्मत्वे प्राप्ते प्राप्त एव ३३ विभाषेति भाव । णिजन्तस्यापीति । एके-इति शाकटायनाचार्यो, 'वदिष्' भाषणे, इति युजादित्यात् "युजादेर्नवा" इति णिच्, तत्रेकारो णिजभावपक्षे आत्मनेपदार्थत्वात् अभिवादयति-आशास्ते इत्यभिवादयतिरयमाशी प्रयोगे वर्तते इत्याह-तस्मिन्नित्यादि । अभिवादयते गुरुं देवदत्त इति । अत्र अभिवादीति णिजन्तात् णिग्, तत्र गुरु प्रयोज्यो देवदत्त प्रयोक्ता तद्दर्शयति-आत्मनीत्यादि । णिगन्त-स्यापीति । तदाभिवदतिराशी प्रयोगे वर्तते इति शेष पूर्ववत् । कश्चिदिति । दुर्गसिंहमतम् । अन्य इति । रत्नमतिस्वभा च स आह-सुप्र-धातुनोमघातुरित्यर्थं ॥ ९ ॥

नाथः । अणिकर्ता णाविति निवृत्तमिति । अत्र हेतु-पृथग्योगादिति । अथमर्थ-अणिकर्ता णौ इत्यनुवृत्तौ हि पूर्वेण समान- ३९ विषयत्वादेक्योगमेव कुर्यादिति भाव । अत्रात्मने व्याप्य कर्म नवेति च संघट्यते । आत्मने नाथो व्याप्य कर्म नवेत्यन्यत्रदाह-आत्मनेपद-विषयस्त्वेत्यादि । नाथतेक्षोपतापैक्षर्याऽऽशीर्वाचनलक्षणार्थचतुष्टये वर्तमानस्याप्याशीरर्थसैवात्मनेपदविषयत्वमित्याह-आत्मने इत्यादि । अन्यत्र नात्मनेपद नाप्येव विकल्प इत्यर्थं । 'नाथुच्' उपतापादौ, तस्यार्थविशेष दर्शयति-सर्पिर्मे भूयादित्यादि । नाथमान इति । "शात्रानशा" ४२ इति आनश, ण्यति तु स्वसहित । नाथ्यत इति । "तत्साप्यानाप्या" इति कर्मण्यत्मानेपदम् । उपनाथतीति । अत्रोपयाचनार्थस्य "धाशिपि नाथ" इत्यात्मनेपदाभावात् कर्मविकल्पो न भवतीति ॥ १० ॥



पीडयति, चौरं पीडयति रोगः । रुजार्यस्येति किम् ? एति जीवन्तमानन्दः । ज्वरिसंतापिवर्जनं किम् ? आद्यूनं ज्वरयति । अत्याशिनं संतापयति । कर्तरीति किम् ? चैत्र रुजत्यत्यशने वातः । भाव इति किम् ? मैत्रं रुजति श्लेष्मा, अत्र श्लेष्मा ३ द्रव्यं, न भावः । रोगो व्याधिरामयः शिरोऽर्तिरित्यादयो भावरूपाः कर्तार इति ॥ १३ ॥

### जासनाटकाथपिपो हिंसायाम् ॥ २ । २ । १४ ॥

एषां हिंसायां वर्तमानानां व्याप्यं वा कर्म भवति । 'भूसपिसजसवर्हण्' हिंसायाम्, 'जसण्' ताडने इति चुरादी गृह्येते, न 'जसूच्' मोक्षणे इति दैवादिकः; तस्याऽर्हिसार्थत्वात् । चौरस्योजासयति, चौसुजासयति; चौरस्योजास्यते, चौर उजास्यते चैत्रेण । तथा 'नटण्' अवस्यन्दने इति, अयमपि चुरादिर्न तु 'णट्' नृत्ताविति भ्वादिः । चौरस्योन्नाटयति, चौसुन्नाटयति; एवं काथिर्घटादिः—चौरस्योत्क्राययति, चौरमुत्क्राययति; चौरस्य पिनष्टि, चौरं पिनष्टि । जासनाटकाथानामाकारोपान्त्यनिर्देशो यत्राऽऽकारश्रुतिस्तत्र यथा स्यादित्येवमर्थः; तेनेह न भवति—दस्युमुदजीजसत्, चौरमनीनयत्, दस्युमुदचिक्रयत् । अत एव च काथेः कर्मसज्ञाप्रतिषेधपक्षे ह्रस्वत्वाभावः, कर्मत्वे तु ह्रस्वत्वमेव । हिंसायामिति किम् ? चौर वन्धनात् जासयति—मोचयतीत्यर्थः, नटं नाटयति—नर्तयतीत्यर्थः । अभावकर्तृकार्यं वचनम् ॥ १४ ॥

### २२ निप्रेभ्यो घ्नः ॥ २ । २ । १५ ॥

निप्राभ्यां परस्य हिंसायां वर्तमानस्य हन्तेर्व्याप्यं वा कर्म भवति । बहुवचनं समस्तव्यस्तविपर्यस्तसंप्रहार्थम् । चौरस्य निप्रहन्ति, चौरं निप्रहन्ति, चौरस्य चौरं वा निहन्ति, चौरस्य चौरं वा प्रहन्ति, चौरस्य चौरं वा प्रणिहन्ति, चौराणां निप्रहण्यते; चौरा निप्रहण्यन्ते राज्ञा । निप्रेभ्य इति किम् ? चौरं हन्ति, चौरमाहन्ति । हिंसायामित्येव ? रागादीन् निहन्ति ॥ १५ ॥

### विनिमेयद्यूतपणं पणव्यवहोः ॥ २ । २ । १६ ॥

२८ विनिमेयः—क्रेयविक्रेयोऽर्थः, द्यूतपणो द्यूतजेयम्, पणतेर्व्यवपूर्वस्य च हर्तेर्व्याप्यौ विनिमेयद्यूतपणौ वा कर्मसज्ञौ

एभ्यो भवति । 'एति जीवन्तमानन्द' इति विष्णुपुराणे । जीवते "इहिनन्दि०" उ० २२०। इत्यन्तप्रत्यये घातृप्रत्यये वा भवति । आद्यूनं ज्वरयतीत्यादि । ज्वरिसंतापिप्रतिषेधादिह न भवति । चैत्रं रुजत्यत्यशने वात इति । अत्र योऽत्यशनरूपो भावो न स कर्ता यस्तु वात- २१ रूप कर्ता स इयं न भावः । श्रेष्मेति । शिष्यतेर्मन् । अयं रुजार्यस्य धातोर्भावरूपा के कर्तार इत्यत आह—रोग इत्यादि ॥ १३ ॥

जासनाटकाथपिपो हिंसायाम् । अत्र व्याप्यं कर्म नवेति वर्तते । हिंसायां जासनाटकाथपिपो व्याप्यं कर्म नवेत्यन्वयस्तदाह— २४ एषां हिंसायामित्यादि । न 'जसूच्' मोक्षणे, इति दैवादिक इति । अत्रोपपत्ति—तस्यार्हिसार्थत्वादिति । हिंसायामिति वचनात् हिंसायां इति घटादी, 'पिप्लृप्' संचूर्णने । ननु च जसनटकथेति धातव पठ्यन्ते तत्र निर्देशे तथैव निर्देष्टव्यमित्यत आह—जासनाटकाथानामित्यादि । आकारेण न जस्यादिधातुमात्रं निर्देश्यतेऽपि तु यदेपामाकारवद्रूपं तदुच्यते—जासनाटकाथेति, तेन यत्र प्रयोगे एषां धातूनामाकारस्त्वैवाऽयं विधिर्नान्यत्र । तेनेह न भवति—दस्युमुदजीजसदित्यादि । जनेनेषे चुरादित्वात् णिच् । उत्क्रायति कश्चित् तमन्य प्रयुक्त इति "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" इति णिग्, "भ्रिणिति" इत्यस्य शुद्धिस्ततो द्विवचनादि, अत्र जासेत्यादि नाकारवद्रूपमस्तीति नाय विकल्पः । ननु चौरस्योत्क्राययतीति कथमाकारो घटादित्वात् घटादिह्रस्वेनैव भवितव्यमिति काथेतिरूपाभावे तदनुकरणमपि चात्राऽनुपपन्नमित्यत आह—अत एव चेत्यादि । सूत्रे काथेति उपादानात् ह्रस्वत्वाभावात् विज्ञायत इति भावः । सत्यपि घटादित्वे अस्ति णिणि कथेराकारोऽन्यथाऽस्यानुपपत्ते, न च णिगं विनाऽस्य कर्मास्ति अकर्मकत्वात्, स च यदि सर्वत्र स्यादस्य घटादित्वमनर्थकमिति कर्माभाव एव न भवतीत्याह— २७ कर्मत्वे तु ह्रस्वत्वमेवेति । चौरं वन्धनात् जासयतीति । चौरो वन्धनात् जसयतीति तमन्य प्रयुक्त इति णिग्, हिंसायामिति वचनात् २८ भवति । एव नटं नाटयतीत्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ननु हिंसायां रुजारूपत्वात् "रुजार्यस्या०" इत्यनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति किमर्थमिदम् ? यदि जासनाटकाथेत्याकारार्थं—यत्राऽऽकारस्त्वैव यथा स्यादिति तथापि पिप्रहणमनर्थकमित्याह—अभावकर्तृकार्यं वचनमिति । तत्र हि भावे कर्तारि विधिरिष्यते, अत्र तु चौरस्योजासयति देवदत्त इत्यभावेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥ १४ ॥

२६ निप्रेभ्यो घ्नः । अत्र हिंसायामिति व्याप्यं कर्म नवेत्यनुवर्तते । हिंसायां निप्रेभ्यो घ्नो व्याप्यं कर्म नवेत्यन्वयस्तदाह—निप्राभ्यामित्यादि । बहुवचनमित्यादि । अयं भाव—निना सहित प्रो निप्र, अनेन समासेन सघातस्य ग्रहणं यथाश्रुतस्य विपर्यस्तस्याऽप्युभयत्र निनासहितस्य प्रत्यावगते, निश्च प्रश्च निप्रमिति समाहारद्वन्द्वे कृते "क्लृबमन्येनैक च वा" ३।१।१२।८। इति कर्मधारयनिवृत्तौ द्वन्द्वस्य शेषे द्वन्द्वेन च विगृहीतो व्यस्तो निप्रौ प्रतिपाद्येते इत्ययमधिकोऽर्थो बहुवचनात्प्रभव्यते । सर्वत्र च बहुवचनमधिकार्थसूचनायमित्येव न्यायोऽत्र व्याकरणे द्रष्टव्य इति क्रमेणोदाहरति—चौरस्य निप्रहन्तीत्यादि । निप्रहण्यत इति भावे, निप्रहण्यन्त इति कर्मणि "तत्साध्यानाप्या०" इत्युभयत्रात्मनेपदम् । रागादीन् निहन्तीति । अत्र हिंसायामित्यनुवर्तनात् रागादीनामचेतनया प्राणव्यपरोपणलक्षणाया हिंसायां अमा- २७ वाचं भवतीत्यर्थं ॥ १५ ॥

विनिमेयद्यूतपणं पणव्यवहोः । अत्र व्याप्यं कर्म नवेति वर्तते । पणव्यवहोर्व्याप्यं विनिमेयद्यूतपणं कर्म नवेत्यन्वयः । विनिमेयं व्याचष्टे—क्रेयविक्रेयोऽर्थः इति । क्रेयो य आत्मना प्राप्तो विक्रेयो यो देय इति । द्यूतस्य पणो द्यूतपणस्तदाह—द्यूतपणो द्यूतजेयमिति ।

भवतः । शतस्य पणायति, शतं पणायति; सहस्रस्य सहस्रं वा पणायति,—क्रयविक्रये द्यूतपणत्वे वा तद्विनियुक्ते इत्यर्थः; एवं दशानां व्यवहरति, दश व्यवहरति; पञ्चानां पञ्च वा व्यवहरति । विनिमेयद्यूतपणमिति किम् ? साधून् पणायति—स्तौतीत्यर्थः, शलाकां व्यवहरति—विगणयन् गोपायति इत्यर्थः । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ॥ १६ ॥

### उपसर्गादिवः ॥ २ । २ । १७ ॥

उपसर्गात् परस्य दिवो व्याप्यौ विनिमेयद्यूतपणौ वा कर्मसंज्ञौ भवतः । शतस्य प्रदीव्यति, शत प्रदीव्यति, शतस्य प्रदीव्यते, शतं प्रदीव्यते, शतस्य प्रद्यूतम्, शतं प्रद्यूतम्; शतस्य प्रदेवितव्यम्, शतं प्रदेवितव्यम्; शतस्य सुप्रदेवम् ५ शतं सुप्रदेवम् । विनिमेयद्यूतपणमित्येव ? शलाकां प्रतिदीव्यति—विगणयन्नपहरतीत्यर्थः । उपसर्गादिति किम् ? शतस्य दीव्यति ॥ १७ ॥

### न ॥ २ । २ । १८ ॥

विनिमेयद्यूतपणौ दिवो व्याप्यौ कर्मसंज्ञौ न भवतः, उपसर्गपूर्वस्य विकल्पविधानानुपसर्गस्यायं निषेधः । शतस्य दीव्यति, सहस्रस्य दीव्यति, निषिद्धे च कर्मणि षष्ठ्येव भवति, शतस्य दीव्यते, शतस्य द्यूतम्, शतस्य देवितव्यम्, शतस्य सुदेवम् इत्यादौ भावे आत्मनेपदक्तकृत्यखलः सिद्धाः, शतस्य द्यूतो मैत्र इत्यत्र च कर्तरि क्तः । विनिमेयद्यूतपणमित्येव ? १२ जिनं दीव्यति—स्तौतीत्यर्थः, भूमिं दीव्यति—संधिना विजिगीषते इत्यर्थः, संधिपणोऽत्र न द्यूतपणः; द्यूतं दीव्यति, अक्षान् दीव्यति, अत्र क्रिया तत्साधनं च व्याप्यं न तु पणः ॥ १८ ॥

### करणं च ॥ २ । २ । १९ ॥

दीव्यतेः करणं कर्मसंज्ञं चकारात् करणसंज्ञं च भवति, कर्मकरणसंज्ञे युगपद्भजतीत्यर्थः । अक्षान् दीव्यति, अक्षाणां देवनम्, अक्षा दीव्यन्ते, अक्षा देवितव्याः, अक्षाः सुदेवाः, अक्षदेवः, अक्षा द्यूताश्चैत्रेण,—एषु कर्मत्वे द्वितीयापठ्यात्मनेपदतव्यखलपुक्तप्रत्ययास्तन्निमित्ताः सिद्धाः । अक्षैर्दीव्यति, अक्षैर्देवनम्, अक्षैर्दीव्यते, अक्षैर्देवितव्यम्, अक्षैः सुदेवं १८ मैत्रेण, अक्षैर्द्यूतं चैत्रेण, अक्षा देवनाः,—एषु करणत्वे तृतीयाऽनटौ, भावे आत्मनेपदादयश्च सिद्धाः । आत्मनेपदादिभि-

द्यूते द्यूतेन वा जित्वा यत् स्वीकर्तव्यमिति । तदुभय विनिमेयो द्यूतपणश्च पणव्यवहोर्धात्वोर्ब्याप्यं कर्म वर्तते तस्य पक्षे कर्मत्वप्रतिषेधः । शतस्य-पणायतीत्यादि । 'पणि' व्यवहारस्तुल्यो रतो "गुणैर्द्यूतविच्छिन्नपणपणे" इत्याय, तिव् च । क्रयविक्रये द्यूतपणत्वे वा तद्विनियुक्ते २१ इत्यर्थः इति । अनेन शतसहस्रयोर्विनिमेयद्यूतपणत्वे कर्मता च दर्शयते । एवमिति । पूर्ववदित्यर्थः । साधून् पणायतीति । अत्र स्तुत्यर्थत्वात् विनिमेयत्वाभावात् भवतीत्यर्थः । शलाकां व्यवहरतीति । अत्राऽनेकार्थत्वात् धातूनां विगणनपूर्वके गोपने व्यवहरतिवर्तते इति न निधिः । ननु पणव्यवहोरित्यत्र विनिमेयद्यूतपणवत् समाहारद्वन्द्वदाकेवचनं किमिति वचनभेदाभावात् नोपायीयत इत्याह—वचनभेद इत्यादि । असति २४ हि तस्मिंस्तुल्यत्वात् यथासख्यं स्यात् ॥ १६ ॥

उपसर्गादिवः । अत्र विनिमेयद्यूतपण व्याप्यं कर्म नवेत्यनुवर्तते । उपसर्गात् दिव व्याप्य विनिमेयद्यूतपण नवा कर्मैत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—उपसर्गात् परस्येत्यादि । प्रपूर्वात् दिवेस्त्विति श्ये "आदेर्नामिनो" इति वीर्षत्वे—शतस्य प्रदीव्यतीत्यादि । एषु कर्मसंज्ञापक्षे २७ कर्मणि द्वितीयाऽऽत्मनेपदका कृत्यखलार्थाश्च भवन्ति, कर्मत्वाभावपक्षे "शेषे" इति षष्ठी भावे चाऽऽत्मनेपदादय इति । प्रद्यूतमिति । अत्र "अनुनासिके च्छ्व श्च" इत्युद ॥ १७ ॥

न । अत्र विनिमेयद्यूतपणमिति दिव इति व्याप्यं कर्मैति वाऽनुवर्तते । दिवो व्याप्य विनिमेयद्यूतपण न कर्मैत्यन्वयस्त्वदर्थमाह—विनि- ३० मेयद्यूतपणावित्यादि । उपसर्गपूर्वस्येति । सञ्ज्ञे विशेषानुपादानेऽपीति शेषः । शतस्य दीव्यतीत्यादि । कर्मसंज्ञाया प्रतिषेधात् अकर्मकत्वात् सर्वत्र षष्ठी, भावे चाऽऽत्मनेपदादय कर्तरि च क्त इति । स्तौतीत्यर्थः इत्यर्थकथनेन विनिमेयत्वद्यूतपणत्वाभाव उच्यते, यदि हि धातुर्व्यवहारे विजिगीषायां च वर्तते तदा तत्कर्म विनिमेयो द्यूतपणश्च स्यान्नान्यत्र । द्यूतप्रहणानुवृत्ते सन्धिपणस्य प्रतिषेधो न भवतीत्याह—भूमिं ३३ दीव्यतीत्यादि । क्रिया तत्साधनं चेति । अयमर्थः—यदि द्यूतमिति द्यूतक्रियामात्र गृह्यते ततो द्यूत दीव्यतीत्यत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति, अथ द्यूतविषय साधनमुपचारात् गृह्यते तदा अक्षान् दीव्यतीत्यत्र प्राप्नोति न पण एवेति तदर्थं द्यूतपण इत्यनुवर्तते इति ॥ १८ ॥

करणं च । अत्र दिव इत्यनुवर्तते कर्म इति च । दिव करणं कर्म करणं चेत्यन्वयः । दिव इत्यनुवर्तमानं करणमित्यस्य विशेषण- ३३ मित्याह—दीव्यतेः करणमिति । चकारस्यान्वयः समुच्चैतव्यं नास्तीति तदेव प्रतीयते, असति चकारे तच्चिदुत्तरित्याह—चकारात् करणमिति न वचनादसत् सम्भवति । अथ करणत्वयुक्तं भवतीति विज्ञायते तदा सर्वद्वयानां सर्वकारकशक्तियुक्तात्वात् प्रव्यान्तरवदस्य कर्मत्वात् वच- ३५ नमिदमनर्थकमिति चेत्, उच्यते—कर्मशाब्दावच्यं च युगपत् भवतीत्याह—कर्मकरणसंज्ञे इत्यादि । अक्षान् दीव्यतीत्यादि । "करणऽऽधारे" ५।३।१२९। इत्यनटि—देवनम्, दीव्यतीति विग्रहे "कर्मगोऽण्" इत्यणि—अक्षदेवः । अत्र कर्मसंज्ञाया कार्यं दर्शयति—एष्वित्यादि । "कर्मणि" इति द्वितीया, "कर्मणि कृत" इति षष्ठी, "तत्साध्यानाप्या" इत्यात्मनेपदादयः । अक्षैर्दीव्यतीत्यादि । "हेतुकर्तृकरणे" इति तृतीया । ४२ देवना इति । "करणऽऽधारे" इति करणेऽनट् । करणत्वस्य कार्यं दर्शयति—एष्वित्यादि । ननु अक्षा दीव्यन्ते इत्यादौ द्वितीयादयः कथं न भवन्ति ? इत्याह—आत्मनेपदादिभिश्चेति । अनुक्तयोः कर्मकरणयोस्तासां विधानादित्यर्थः । करणं चेत्येवेति । कर्मैत्यनुवृत्तौ करणं कर्म वा भवतीति सूत्रार्थं न युगपत् सञ्ज्ञाद्वयसमावेशः स्यात्, विकल्पस्य पाक्षिकप्रवृत्तिनिवृत्तिफलकत्वात् इत्यर्थः । समावेशस्य प्रयोजनं दर्शयति— ४५

श्रोक्तयोः कर्मकरणयोः द्वितीयापृथ्वीया यथायोगं न भवन्ति । करणं वेत्येव सिद्धे, चकारः ? संज्ञाद्वयसमावेशार्थः, तेनाक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेणेत्यत्र करणत्वात् तृतीया भवति; कर्मत्वाच्च गत्यादिस्त्रेण नित्याऽकर्मकलक्षणमणिकर्तुः कर्मत्वम्, ३ देवयतेश्च “अणिनि प्राणि०” इत्यादिना अकर्मकलक्षण परस्मैपदं न भवति । अथाऽक्षान् दीव्यतीत्यत्र सत्यपि संज्ञाद्वयसमावेशे परत्वात् करणत्वनिमित्तया तृतीययैव भवितव्यम् ? नैवम्, स्पर्धे हि परः कार्यः, समानविषययोश्च स्पर्धः । न च द्वितीयातृतीययोः प्रतिनियतकर्मकरणशक्यभिधायिन्योः समानविषयत्वमस्तीति द्वितीयाऽपि भवत्येव, ‘प्रतिकार्यं संज्ञा मिधन्ते’ ५ इति वा दर्शनेऽनवकाशत्वात् संज्ञाद्वयस्य विभक्त्योः पर्यायेण प्रवृत्तिरविरुद्धा । दिव इत्येव ? दात्रेण लुनाति । कारणमिति किम् ? गृहे दीव्यति ॥ १९ ॥

अधेः शीङ्स्याऽऽस आधारः ॥ २ । २ । २० ॥

९ अँधिसवद्धानां शीङ् स्या आस् इत्येतेषां य आधारस्तत्कारक कर्मसंज्ञं भवति । ग्राममधिशेते, ग्रामस्याधिश्यनम्, ग्रामोऽधिश्यते, ग्रामोऽधिश्यितः, ग्राममधितिष्ठति, ग्राममध्यास्ते । अधेरिति किम् ? श्यने शेते, गृहे तिष्ठति, कटे आस्ते । आधार इति किम् ? ग्रामोऽधिश्यितो मैत्रेण, पौरुषेणाऽधितिष्ठति; कर्तृकरणे न भवतः । अकर्मका अपि हि घातवः सोप- २२ सर्गा. सकर्मका भवन्तीति सिद्धं सकर्मकत्वम् । आधारवाचनार्थं तु वचनम् ॥ २० ॥

उपान्वध्याङ्वसः ॥ २ । २ । २१ ॥

उपअनुअधिआह्मिर्विशिष्टस्य वसतेर्ये आधारः स कर्मसंज्ञो भवति । ग्राममुपवसति, ग्राम उपोष्यते, ग्रामस्यो- २५ पवसनम्, ग्राम उपोष्यते, पर्वतमनुवसति, पुरमधिवसति, आवसयमावसति । अन्वादिसाहचर्यादुपस्य स्थानार्थकस्यैव ग्रहणं, नाऽज्ञाननिवृत्त्यर्थस्य; तेन-ग्रामे उपवसति, भोजननिवृत्तिं करोतीत्यत्र न भवति । ‘अदाघनदाघोरनदादेव ग्रहणम्’ इति वस्तेर्न भवति ॥ २१ ॥

१८ तेनेत्यादि । अत्र वाक्ये करणत्वाद्द्वैरिति तृतीया भवति । कर्मत्वाच्च तेषामक्षणाणामणिकर्तुं प्रयोज्यस्य चैत्रस्य कर्मत्व न भवति, असति तु कर्मत्वे गत्यादिस्त्रेण नित्याकर्मकलक्षण तस्य कर्मत्व स्यात्, ततश्च ततो द्वितीया प्रसज्येत न तृतीया, कर्मत्वाभावात् कर्त्राध्या तृतीयैवेति । तथाऽक्षणां कर्मत्वात् दिवे एककर्मकत्वे देवयते “अणिनि प्राणिकर्तृकानाप्याणिणम्” ३।३।१०५ इति अनाप्यङ्गलक्षण परस्मैपदं च न भवतीति २१ संसन्ध । नन्वेवमक्षा धीव्यन्त इत्यत्रापि अकर्मकत्वपदेश्यादृष्टयर्थत्वात् कर्मसंज्ञा सावकाशा, अक्षा देवना इत्यत्र च अनर्थत्वात् करणसंज्ञा, अक्षान् धीव्यतीत्यत्र तु कर्मकरणत्वसमावात्वात्तदक्षैर्द्वितीयातृतीयाप्राप्तौ स्पर्धत्वात् परत्वात्तृतीयैव प्राप्नोतीत्याक्षिपति-अश्वेत्यादि । परिहरति-नैचमित्यादि । अयमर्थ-द्वयोरैकविषयसनिपाते स्पर्धे उच्यते, न च तृतीया कर्मकरणशक्तीं द्योतयितुं प्रभवतीति विषयभेदात् कृत स्पर्धे इति । २४ यद्वा ‘प्रतिकार्यं संज्ञा मिधन्ते’ इति पक्षोऽत्राधीन्ये, तेन “कर्मणि” इत्यत्र कार्यं यत्कर्मसंज्ञाया उपस्थान तदनवकाशमिति द्वितीयापि पर्यायेण द्वयोः प्रशुभिरैकान्तासभवादिति परिहापन्तरमाह-प्रतिकार्यमित्यादि ॥ १९ ॥

अधेः शीङ्स्याऽऽस आधारः । अत्र कर्ममिति वर्तते । अधे शीङ्स्यास आधार कर्मत्वन्वय । अधेरिति षष्ठ्यन्तेन शीङ्स्यास २७ इति षष्ठ्यन्त विशेष्ये, तेन चाऽऽधार इत्याह-अधेः संवद्धानामित्यादि । ग्राममधिशेते इत्यादि । प्रत्यये कुण्डेरिति “प्रसिद्धान्भ्यो प्राजिहौ च” उ० ३३९ । इति मे-ग्रामः, अधिपूर्वे “शीङ्” स्त्रे, ततस्त्वे प्रत्यय, “शीङ् ए षिति” ४।३।१०४ इत्येकार, अधिशीङ्कर्मत्वात् ग्रामाद्वितीया, कृतप्रयोगे “कर्मणि कृत” इति कर्मणि पष्ठो आत्मनेपदादयश्च । अधितिष्ठतीति ‘घा’ गतिनिष्ठौ, तत्त्वित्, शब्, “श्रौतिकृबुधितु०” ४।३। ३० १०८ इति तिष्ठोदेश । ‘आसिक्’ उपवेशने इत्यध्यास्ते । ग्रामोऽधिश्यितो मैत्रेणेत्यादि । अत्र यो मैत्रादि कर्तृकरणरूप स कर्म न भवति, कर्मभावे हि यथा आधारे सप्तमी बाधित्वा द्वितीया भवति, तथा तृतीयामपि बाधित्वा द्वितीया स्यात् । अधे किमर्थमिदमारभ्यते ? यावता अकर्मका अपि घातवः सोपसर्गा सकर्मका भवन्ति, यथा-गुरुमधिशेते, गुरुमुपतिष्ठते इति तथात्राऽपि ग्रामोऽधिश्यनादिना व्याप्यत इति नाऽऽधा- ३४ र्याऽऽधारभाव इत्यत आह-अकर्मका अपीत्यादि । अयमभिप्राय-सिद्धमेव कर्मत्व परमेधा आधारभावचाधनार्थं वचनं यथा-अन्येषामाधार आधाररूपेणोच्यते, यथा-अयं लोको गुरुमठे शेते तथैषामाधार कर्मभावेनैवोच्यते नाधाररूपतयेत्येतदर्थं वचनमित्यर्थः ॥ २० ॥

उपान्वध्याङ्वसः । अत्राऽऽधार कर्मत्वानुवर्तते । उपान्वध्याङ्वस आधार कर्मत्वन्वय । उपादिभिर्द्वन्द्वे कृत्वा ततस्ते पूर्वे यस्मात् ३६ स चासौ षष्ठ्यतिथेति बहुमीहिगर्भो विशेषणसमासो मयूरव्यसकादित्वात् पूर्वशब्दलोपधेत्याह-उपान्वध्याङ्वस । उपपूर्वात् ‘घसं’ निवास- ३८ त कर्मणि के, “क्षुधवसत्येयाम्” ४।४।४३ । इतीति, “यजादिवचे ऋति” इति ऋति, “घसस” इति पत्वे-उपोषित इति । भावेऽनिति-उपवसनमिति । ग्राम उपोष्यत इति । आत्मनेपदेनोक्तत्वात् कर्मणो ग्रामात् प्रथमा । ननु स्थानार्थस्यैव वसेर्ग्रहणमित्येते, तेन ग्रामे तिष्ठ- ३९ तीत्यत्रार्थं ग्राममुपवसतीति प्रयोग, अस्थानार्थत्वे तु ग्रामे उपवसतीति तदेतत्कथम् ? उच्यते-नाऽत्रोपपूर्वस्य वसेर्ग्रामोऽधिकरण क्त्वनुपवसस्य, ग्रामेऽसौ वसनं त्रिरात्रमुपवसतीति, विशिष्टाऽऽधारावस्थितत्वेन निश्चिते देवदत्ते भोजननिवृत्तिविशिष्टकाला प्रत्याययितुमिदं प्रयुज्यते ग्राम उपवस- ४० तीति । तत्राऽन्तरङ्गत्वात् प्रतीयमानवसिक्रियापेक्षो ग्रामस्याधिकरणभावः । उपवसनं तु स्वरूपेणैव कालमपेक्षत इति कालेनैवास्याऽन्तरा- ४२ सम्बन्धो ग्रामादिना तु बहिरङ्ग इति । अत्र कश्चिदाह-स चेत्, सिद्धं यदा वसतिर्विशिष्टं । अदा उपवसतिरेव तदा ग्रामोति, न चोपवसेराधार- ४४ भाव प्रति ग्रामादिरयोग्य एव यदन्यापेक्ष एवास्याधारभाव कल्प्यते, तस्माद्यतितव्यमेवाऽत्र । अत्रोच्यते-साहचर्यात् स्थानार्थस्यैव परिग्रह, अन्वादिपूर्वो वसतिः स्थानार्थमात्रेण, शब्दशक्तिरत्र प्रमाण, तत्साहचर्यादुपपूर्वस्यापि स्थानार्थस्य परिग्रहो न तु भोजननिवृत्तिवचनस्येत्यत ४५ आह-अन्वादिसाहचर्यादिति । स्थानार्थयोक्तत्वादुपशब्दोऽपि स्थानार्थ इत्युक्त-स्थानार्थकस्यैवेति । अदाघनदाघोरिति । पूर्वा- ५५ ऽऽचार्यस्यतिरियमित्यर्थः ॥ २१ ॥

वाऽभिनिविशः ॥ २ । २ । २२ ॥

अभिनिनोपसर्गसमुदायेन विशिष्टस्य विशेषाधारः कर्मसंज्ञो वा भवति । ग्राममभिनिविशते, पर्वतमभिनिविशते, ग्रामोऽभिनिविश्यते; ग्रामोऽभिनिविष्टः । व्यवस्थितविभाषेयं, तेन क्वचित् कर्मसंज्ञैव क्वचिदाधारसंज्ञैव भवति—कल्याणेऽभिनिविशते, या या संज्ञा यस्मिन् यस्मिन् संज्ञिन्यभिनिविशते, एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्, अर्थेऽभिनिविष्टः ॥ २२ ॥

कालाऽध्वभावदेशं वाऽकर्म चाऽकर्मणाम् ॥ २ । २ । २३ ॥

कालो मुहूर्तादिः, अध्वा गन्तव्य क्षेत्रं क्रोशादि, भावः—क्रिया गोदोहादिः, देशो जनपदग्रामनदीपर्वतादिः । अकर्मकाणां घातूनां प्रयोगे कालादिराधारः कर्मसंज्ञो वा भवति, अकर्म च—यत्रापि पक्षे कर्मसंज्ञा तत्राऽकर्मसंज्ञापि वा भवतीत्यर्थः । कालः—मासमास्ते, मास आस्यते; सवत्सरं स्वपिति, संवत्सरः सुप्यते, दिवस शेते, दिवसः शय्यते, अध्वा-क्रोशं स्वपिति, क्रोशः सुप्यते; योजनमास्ते, योजनमास्यते; भावः—गोदोहमास्ते, गोदोह आस्यते, ओदनपाकं शेते, ओदनपाकः शय्यते, देशः—कुरून् आस्ते, कुरव आस्यन्ते; ग्रामं वसति, ग्राम उष्यते । अविवक्षितकर्माणः सकर्मका अप्य-कर्मकाः—मास पचति, मासः पच्यते; क्रोशमधीते, क्रोशोऽधीयते, ओदनपाकं पठति, ओदनपाकः पठ्यते; कुरून् पठति, १२ कुरवः पठ्यन्ते, पक्षे—रात्रौ सुप्यते, रात्रौ नृत् च द्रक्ष्यसि, क्रोशे सुप्यते, गोदोहे आस्ते, ओदनपाके स्वपिति, पञ्चालेषु वसति, ग्रामे वसति, ग्रामे वासः, ग्रामे वासी, तथा रात्रावधीतम्, दिवसे भुक्तम् । कालाऽध्वभावदेशमिति किम् ? प्रासादे आस्ते, शय्यायां शेते । अकर्म चेति किम् ? मासमास्यते, क्रोश सुप्यते, गोदोहमासितः, इदं गोदोहमासितम्, १५ गोदोहमास्यते, कुरून् सुप्यते, एषु “तत्साप्याऽनाप्या०” इति, “गल्यर्थाऽकर्मकपिचभुजेः”, “अद्यर्थांचाऽऽधारे” इति भावे कर्त-र्याधारे च यथायथमात्मनेपदत्तौ सिद्धौ । अकर्मणामिति किम् ? रात्राहुदेशोऽधीतः, अहन्यध्ययनमधीतम् । कथं पचत्योदनं मासम्, भक्षयति धानाः क्रोशम्, पिवति पयो गोदोहम्, भजति सुखं कुरून्?; द्विकर्मकत्वात् “कर्तुर्व्याप्य कर्म” इत्येव १८ भविष्यति । अन्ये तु सकर्मकाणामकर्मकाणां च प्रयोगे कालाऽध्वभावानामत्यन्तसंयोगे सति नित्यं कर्मत्वमिच्छन्ति—मास-मास्ते, दिवसं पचत्योदनम्, क्रोश स्वपिति, क्रोश पठति वेदम्, गोदोहमास्ते, गोदोह पचत्योदनम् । अनेन कर्मसंज्ञायां

चाऽभिनिविशः । अत्राऽऽधार कर्मैत्यनुवर्तते । अभिनिविश आधार कर्म वेत्यन्वय । अभि पूर्वो यस्मादसावभिपूर्व, अभिपूर्व-२१ आसौ निश्च अभिनि, तस्य पूर्वशब्देन बहुव्रीहिं कृत्वा पुनर्विंशा कर्मधारयात् पष्ठी, उभयत्र भयूरव्यसकृदित्वात् पूर्वशब्दलोप । द्वन्द्वे हि अभि-निशब्दयो प्रत्येकमभिसवन्ध स्यात्, यथा “उपान्वध्याद्वास” इत्यत्रेत्याह—अभिनिनोपसर्गोत्यादि । पर्यवे—पर्यते शिलाभि —पर्वत इति “दृपृवृ०” ङणो ७०४। इत्यते सिध्यति । अभिनिपूर्वात् ‘विशव’ प्रवेशनेऽत “निविश” ३।३।२४। इति आत्मनेपदे ते शे च—अभि-२५ निविशते इति । व्यवस्थितविभाषेयमिति । नाऽत्र वाशब्दो विकल्पाभौ येन समकक्ष्यतया द्वितीयासप्तम्यौ, किं तर्हि ? प्रयोगव्यवस्थेयि । तत्रेयं व्यवस्था—अभिनिपूर्वस्य विशेषितं समुदायार्थोऽवयवार्थश्च । तत्र यत्राऽवयवानुगमस्वत्र कर्मभाव—ग्राममाभिमुख्येन निविशते इति प्रतीयते । यत्र तु समुदायार्थवचनोऽवयवार्थस्तत्राऽधिकरणभाव, यथा—कल्याणेऽभिनिविशते, अर्थेऽभिनिविष्ट इति । अत्र हि घातूपसर्गसमुदा-२७ येन मनस एकाप्रता तात्पर्यमुच्यते । यथा—ग्रामे उपवसतीति भोजनत्याग । या या संज्ञा यस्मिन् यस्मिन् संज्ञिन्यभिनिविशते इत्यत्र च सन्नानां विशेषणाऽव्यभिचार । एतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानामिति । पा० समर्थस्त्वे भाष्यप्रयोगोऽयम् ॥ २२ ॥

कालाऽध्वभावदेशं वाऽकर्म चाऽकर्मणाम् । अत्राऽऽधार कर्मैति चानुवर्तते । अकर्मणां कालाऽध्वभावदेश आधार कर्म वा, अकर्म ३० चेत्यन्वय । अनिर्ज्ञातपरिमाणया क्रियाया परिच्छेदिका निर्ज्ञातपरिमाणा क्रिया—काल, स च मुहूर्तादिसरूप इत्याह—कालो मुहूर्तादिरिति । गन्तव्यमिति । गमनाहं, तेनाऽध्वशब्दाभिधेयस्याऽध्वन कर्मसंज्ञा न भवति, न ह्यघावचविशेषक्रोशयोजनादिवद्गमनमहैति । भावः-क्रियेति । घनादिवाच्या सिद्धताऽऽख्या न साध्यमानतेत्यर्थ । पर्वतादिरिति । आदिशब्देन खेटकर्वेटमहन्वादिर्गृह्यते । मास आस्यते इति । ३३ आत्मनेपदेन कर्मणोऽभिहितत्वात् मासात् प्रथमा, तत्राऽपि गौणाधिकारात् “कालाऽध्वनो०” इत्यनेनापि द्वितीया न भवति । एव सर्वत्र । शय्यत इति । ‘शीब्क्’ स्वप्ने, तत् क्ये रूपम् । गोदोहमास्ते, ओदनपाकं शेते इति । अत्र गोदोहनपाकादीनां सत्यपि क्रियारूपत्वेन फालत्वे मासादय एव तद्वाचित्वेन लोके प्रतिष्ठा न तु गोदोहादय इति भावस्य पृथगुपादानम् । अकर्मणामिति नित्याऽकर्मणामविवक्षितकर्मणां च सामा-३५ न्येन प्रहणमित्यविवक्षितकर्मकाऽनुदाहरति—मासं पचतीत्यादि । अकर्म चेति किम् ? इति । अस्मिन्नपि मासमास्यते, क्रोशं सुप्यत इति भावे आत्मनेपद न स्यात् सकर्मकत्वादिति, कर्मण्यात्मनेपदे तु तेनैवाभिहितत्वात् कर्मणो द्वितीया न स्यात्, न चाऽभिहिते कर्मणि व्यासावपि द्वितीयेष्वेते । एव गोदोहमासितः, इदं गोदोहमासितमिति कर्तर्याधारे च सकर्मकत्वात्कर्मकलक्षण को न स्यादित्याह—एष्वित्यादि । ३५ कथमिति । अकर्मणां प्रयोगे कर्मसंज्ञाविधानात् पच्यतीनां सकर्मकत्वात् कथं मासादे कर्मत्वमिति प्रश्नार्थ । समाधत्ते—द्विकर्मकत्वादि-त्यादि । पूर्वोक्त सिद्धत्वात् नाऽनेन कर्मसहोत्तर्यं । अन्ये त्विति । विश्रान्तविशाघरादय । तत्र येषां चाध्मोदनादिक नास्ति ते तदातो स्वमर्थमा-इत्यन्तराऽपेक्षया कर्मोऽपि धरणभावेनाऽऽसकक्षते ते सकर्मका इत्युच्यन्ते, येषां बाधं कर्म नास्ति न तदर्थं करणमातो तेऽकर्मका इत्युच्यन्ते । तथा ४२ सर्वत्र कर्मसंज्ञायां कर्मण्यात्मनेपदादयोऽपि तन्मते सिध्यन्तीत्याह—अनेनेत्यादि । नन्वेवमनेन व्याप्ती कर्मसंज्ञायां “कर्मणि” इति द्वितीयाया सिद्धौ “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति सूत्र किमर्थमित्याशङ्कां तन्मतेनैव परिहरति—कालाऽध्वनोरित्यादि । अत्राऽऽसनादिक्रियायोगो न तु गुणद्रव्ययोग

कर्मणि त्याघादयोऽपि—आस्यते मासः, सुप्यते क्रोशः, आसितो मासः; शयितः क्रोश इत्यादि । “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति च गुणद्रव्ययोगे एवेच्छन्ति, न तु क्रियायोगे; अत्यन्तसंयोगादन्यत्र तु रात्रौ शेते, अध्वनि स्थित इत्यादावाधारत्वमेव ॥२३॥

### साधकतमं करणम् ॥ २ । २ । २४ ॥

क्रियासिद्धौ यत् प्रकृतोपकारकत्वेनाऽव्यवधानेन विवक्षितं तत् साधकतमं कारकं करणसंज्ञं भवति । काष्ठैः श्याल्यां पचति, दात्रेण लुनाति, दानेन भोगानाप्नोति; अस्य पाकादिक्रियासु ज्वलनादयोऽवान्तरव्यापाराः, विवक्षया च प्रकृतोपकारकत्वात् साधकतमत्वम् । तमग्रहणमपादानादिसंज्ञाविधौ तरतमयोगो नास्तीति ज्ञापनार्थम्, तेन—कुशलात् पचति, गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति व्यवहितोपचरितयोरपि अपादानत्वमधिकरणत्व च भवति । अस्य च कारकान्तराऽपेक्षया प्रकर्षो, न स्वकक्षायाम्; तेनैकस्यां क्रियायामनेकमपि करणं भवति—नावा नदीस्रोतसा व्रजति, रथेन पथा दीपिकया याति, सूपेन सर्पिणा लवणेन पाणिनौदनं भुङ्क्ते । करणप्रदेशाः—“करणं च” इत्यादयः ॥ २४ ॥

### कर्माऽभिप्रेयः संप्रदानम् ॥ २ । २ । २५ ॥

कर्मेणा—व्याप्येन क्रियया वा करणभूतेन यमभिप्रेयते—श्रद्धानुग्रहादिकाम्यया यमभिसंबन्धात् स कर्माऽभिप्रेयः कारकं संप्रदानसंज्ञं भवति । देवाय वलिं ददाति, द्विजाय गामुत्सृजति, याचकायार्थं प्रयच्छति, शिष्याय धर्ममुपदिशति, राज्ञे कार्यमावेदयति; अस्याऽवान्तरव्यापारा अनिराकरणम्, प्रेरणम्, अनुमतिश्च, तान् कुर्वन्त्यागादौ कारकत्व लभते । क्रियाऽभिप्रेयः खल्वपि—पत्ये शेते, श्राद्धाय निर्गल्हते, युद्धाय सन्नहते, देवेभ्यो नमति, प्रणम्य शितिकण्ठाय, निवेद्यतां

१५ इत्यर्थं । अत्र कुरप्रयोगे कर्मणि पठौ नेप्यते । केचिदिच्छन्ति—मासस्य आसनेति । यदुत्पल—कालाऽध्वनोर्लक्ष्यफलर्यार्थो संज्ञा, द्वितीया तु “कालाऽध्वनो” इत्यनेनैव सिद्धा, इतरयोस्तु द्वितीयार्थमपि ॥ २३ ॥

साधकतमं करणम् । “सिष्यतेरज्ञाने” ४।२।११। इति सिष्यतेर्णिज्येवाऽऽत्वे, “णकतृचौ” इति णके तमपि च—साधकतमं, क्रियते-ऽनेनेति—करणम् । प्रकृतोपकारकत्वेनेति । प्रकर्ष—प्रकृत, तेनोपकारकम् । अपवा—प्रकृत्यते स्म—प्रकृतस्तस्योपकारकशब्देन कर्मधारय । ननु सामग्रीत क्रियासिद्धिस्तत्र कथं किञ्चित् सातिशयोपकारकं किञ्चिद्विपरीतम्? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि सर्वेषां सामान्यमवगम्यते तस्मात् क्रियासिद्धौ साधकतमस्य समबो नास्तीति संभव कल्पनया दर्शयति—अव्यवधानेन विवक्षितमिति । वस्तुवृत्तेन साधकतमस्य समबो नास्ति ।

२१ यद्वापाराऽऽनन्तर्येण तु क्रियासिद्धिर्विवक्षते तस्य कल्पनया साधकतमस्येय संज्ञा, युक्त चैतत्, एव हि नैयत्येन न किञ्चित् करणम् । तथाहि—काष्ठै-पचतीति, कदाचित् काष्ठानि करणं काष्ठस्यन्धिज्ञानलक्षणव्यापाराऽऽनन्तर्येण क्वचित् क्रियासिद्धेर्विवक्षितत्वात्, कदाचित् स्यात्या पचतीत्यत्र स्थाली-व्यापारसम्भवनधारणलक्षणसामनन्तर्येण पनिक्रियासिद्धौ विवक्षितायां स्थाली करणम् । उक्तञ्च—“क्रियाया फलनिष्पत्तिर्यद्वापारादन्तरम् ।

२४ विवक्षते यदा यत्र करणं तदा स्मृतम्” ॥ १ ॥, “वस्तुतत्त्वदिनेदं न हि वस्तु व्यवस्थितम् । स्यात्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यत्” ॥ २ ॥ । दात्रेण लुनातीत्यादि । दात्रशब्दात् “हेतुकर्तृकरणे” इति तृतीया, लुनातेष आश्रयस्ये व्याधित्वात् इत्थं । अस्त्विति । करण-स्येत्यर्थं, अवान्तरव्यापाराद्यालिन एव कारकत्वे विशेषसहेति तात्पर्यम्, ज्वलनरूप उत्पातनिपातरूप पुण्यरूपश्च यथाक्रम प्रयोगत्रयेऽप्यवान्तर-

२७ व्यापार । विवक्षया चेति । व्याख्यातत्रायम् । कारकाऽधिकारात् साधकत्वे लक्ष्ये पुन साधकश्रुति प्रकर्षमवगममिष्यति, यथा—अभिरूपाय कन्या देयेति लौकिके वाक्येऽभिरूपग्रहणं प्रकर्षपरिमहार्थम्, तत् किमर्थं तमग्रहणमित्याह—तमग्रहणमित्यादि । अयमभिप्राय—तमग्रहणं ज्ञापनार्थम्, एतदनेन ज्ञाप्यते—अस्मिन् कारकाऽधिकारे सामान्यशब्द सूत्रोपाकृतो यत्नमन्तरेण न विशेषे वर्तते, तेन “अपायेऽवधिरपादानम्”

३० “क्रियाऽऽश्रयस्याऽऽधारोऽधिकरणम्” इत्यवधिना व्यवहितस्याऽऽधारमात्रस्य चापादानसंज्ञाऽधिकरणसंज्ञा च सिद्धा भवति । अन्यथा वृक्षात् पर्णं पतति, दग्नि सर्पिरत्यादावव्यवहितस्याऽऽव्यवहितस्यैव च स्यात्, वृक्षाऽऽव्यवधानेनाऽवधित्वादाधारऽऽधेययोश्च साक्षात् संबन्धादिति । न हि कुश-लस्याऽव्यवधानेनाऽवधित्वमस्ति, कुशलादि सूर्यादिनोद्धृत्य तत् पचतीति सूर्यादिरेवाऽव्यवहिताऽवधिभावः, तथा गङ्गायां घोष इत्यत्र घोषगङ्गाकूल-

३३ भ्यामाधाराऽऽधेयाभ्यां य संयुक्तो देशस्तेन गङ्गायोगो न तु घोषगङ्गाकूलाभ्यामेव । एव च विप्रकृतोऽत्र गङ्गाया आधारभाव इत्यधिकरणसंज्ञा च स्यात् । ननु तरतमयोगो नास्तीति कथं केवल्यो प्रत्यययो प्रयोगः? उच्यते—प्रत्ययानुकरणत्वात् तयो, अनुकरणभ्यां चाऽनुकार्यौ प्रत्ययौ प्रतीयेते, ताभ्यामपि साहचर्यात् तदर्थः प्रकर्षो लक्ष्यत इति तमश्रुतिरेतत् ज्ञापयति—प्रकर्षप्रत्ययग्रहणमन्तरेणैव प्रकरणे सामर्थ्यगम्य प्रकर्षो न प्राप्नोति इति । कारकान्तरापेक्षश्च करणस्याऽतिशयो न स्वस्थाने इत्याह—अस्य चेत्यादि । नावा नदीस्रोतसा व्रजतीत्यादौ सर्वेषां क्रियानिष्पत्तौ संनिपत्योपकारकत्वात् करणं सिद्धमित्यर्थं “करणं च” २।२।११। ॥ २४ ॥

कर्माऽभिप्रेयः संप्रदानम् । करणभूतेनेति । ननु कथं कर्मणं करणत्वम्?, उच्यते—क्रियाभेदात्, ददातिना ह्यामुमित्वात् ३१ वल्वादिरर्थं कर्म तेन देवादिरभिसंबन्धत इत्यभिसंबन्धेन साधकतमत्वात् करणम्, यथा—निपीयमानेन मधुना मत्त इति । देवाय वलिं ददा-तीत्यादि । अत्र देवो बलिकर्मक दानमनिराकुर्वन् द्विजश्च गोकर्मक दान अनुभव्यमानो याचकादिश्चाऽर्थादिकर्मके दानादौ प्रेरणां कुर्वन्तत्र निमित्त-मित्याह—अस्येत्यादि । अवान्तरव्यापारवत् एव कारकत्वे विशेषसंज्ञाविषयत्वात्, उक्तञ्च—“अनिराकरणात् कर्तृत्वात् कर्मणि स्थितम् । प्रेरणाऽ-

३२ मतिभ्या वा लभते संप्रदानताम्” ॥ क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्, इहापि यथा स्यात्—पत्ये शेते इत्युपसर्पणोद्देशेन “स्त्रीङ्” धातुवर्तते । आऽङ्गाय निर्गल्हते इति । श्राद्ध निन्दति, नास्तिक्त्वात् । युद्धाय सन्नहते—युद्धविषय सन्नहनपूर्वकं निश्चयं करोतीत्यर्थं । न कर्तव्यम्, अनेनैव सिद्धत्वात्, क्रियां हि नाम लोके कर्मेत्युपचरन्ति—का क्रियां करिष्यसि?, किं कर्म करिष्यसीति । एवमपि “कृत्रिमाऽऽश्रिमयो कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीति न प्राप्नोति, नेवम्, क्रियाऽपि हि कृत्रिम कर्म । तथापि न सिष्यति, पत्ये शेते इत्यादौ क्रियान्तराऽनुपादानादिकस्या एव क्रियाया कर्मकर-णभावस्येकदा तदात्मन्येव विरोधात् । किं च “कर्तृर्ज्याप्य कर्म” इत्युच्यते कथं च नाम क्रिया क्रियाया व्याप्या स्यादिति चेत्, अत्रोच्यते—



महाराजाय सुग्रीवाय । अभिग्रहणादिह न भवति—धृतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददाति, राज्ञो दण्डं ददाति; इह च भवति—वाताय चक्षुर्ददाति, छात्राय चपेटां प्रयच्छति । संप्रदानप्रदेशाः—“दामः संप्रदानेऽधर्म्य आत्मने च” इत्यादयः ॥ २५ ॥

**स्पृहेर्व्याप्यं वा ॥ २ । २ । २६ ॥**

स्पृहयतेर्धातोर्व्याप्यं वा संप्रदानसंज्ञं भवति । पुष्पेभ्यः पुष्पाणि वा स्पृहयति । व्याप्यमिति किम् ? पुष्पेभ्यः स्पृहयति वने, आधारस्य मा भूत् । संप्रदानसंज्ञापक्षे धातोरकर्मकत्वम्, तेन पुष्पेभ्यः स्पृहयते भैत्रेण, पुष्पेभ्यः स्पृहयितव्यम्, ६ पुष्पेभ्यः सुस्पृहम्, पुष्पेभ्यः स्पृहितो भैत्रः; एषु भावे आत्मनेपदत्वव्यखलः कर्तरि च क्तः सिद्धः ॥ २६ ॥

**कुद्द्रुहेर्व्याऽसूयार्थैर्यं प्रति कोपः ॥ २ । २ । २७ ॥**

अमर्षः—क्रोधः, अपचिकीर्षा—द्रोहः, ईर्ष्या—परसंपत्तौ चेतसो व्यारोपः, गुणेषु दोषाऽऽविष्करणमसूया, एतदर्थैर्धातुभिर्योगे १ यं प्रति कोपस्तत्कारकं संप्रदानसज्ञं भवति । मैत्राय कुध्यति, मैत्राय कुप्यति, मैत्राय रुप्यति, मैत्राय द्रुह्यति, मैत्रायाऽपचिकीर्षति, मैत्रायाऽपकरोति, मैत्रायेर्ष्यति, मैत्रायेर्ष्यति, मैत्राय सूह्यति, चैत्रायाऽसूयति । यं प्रति इति किम् ? मनसा कुध्यति, मनसा द्रुह्यति, मनसेर्ष्यति, मनसाऽसूयति, कणस्य मा भूत् । प्रतिग्रहणं किम् ? यस्मिन्नित्युच्यमाने कर्तुरपि स्यात्—मैत्रेण १२ कुध्यते । कोप इति किम् ? शिष्यस्य कुप्यति विनयाऽर्थम्, धनिनो द्रुह्यति धनाऽर्थी, भार्यामीर्ष्यति—मैनामन्योऽद्राक्षीदिति, चैत्रमसूयति लिप्सया । संप्रदानसंज्ञया कर्मसंज्ञाया चाधितत्वात् भावे आत्मनेपदादयः कर्तरि च क्तः सिद्धः—मैत्रायेर्ष्य-

क्रियापि सन्दर्शनप्रार्थनाऽध्यवसायादिभिरवश्य पूर्वभाविनीभिराहुमिष्टत्वात् कर्म भवति । तथाहि—य एव मनुष्य प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या १५ तावत् कचिदर्थं संपश्यति, सट्टे प्रार्थना, प्रार्थनायामध्यवसाय, अध्यवसाये आरंभ, आरंभे च निर्वृति, निर्वृती च फलाऽनाप्ति, इत्येव क्रियापि कृत्रिम कर्मेति प्रतीयमानक्रियाऽपेक्षस्यापि प्रविश पिण्डीमित्यादाविव कारकभावस्य भावादित्याह—क्रियाभिप्रयः खल्वपीति । यथेव ग्राम गच्छतीत्यादौ प्रामादेरपि क्रियाऽभिसंबन्धमानस्य संप्रदानसंज्ञाप्रसङ्ग, नैष दोष, यदा संदर्शनादयो धात्वर्थ्यात् भेदेन विवक्ष्यन्ते तदा तेषां प्राप्त- १८ कर्मभावया क्रियाया यदभिसंबन्धयते तस्यै संप्रदानसंज्ञा, अत्र तु भेदस्याऽविवक्षितत्वात् गम्यर्थत्वात् सददर्शनादीनां गम्यवाच्यत्वैव । गमन ह्यत्रानन्तर्भूतसददर्शनादिक विवक्षित तत्कथमात्मन एवाऽऽत्मना व्याप्यमानता स्यात् । सा च भेदाऽभेदविवक्षा प्रयोगदर्शनवशेन नियतविपर्ययैवाऽऽश्रीयते इति प्रयोगस्याऽसङ्कर इति । ननु धृत पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादौ धीयमानपृष्ठवस्त्रलक्षणेन कर्मणा धृतो रजकस्य च व्याप्यमान- २१ त्वात् संप्रदानसंज्ञा कुतो न भवतीत्याह—अभिग्रहणादित्यादि । अभिरभिमताथं, प्र धारभार्थं, केवलस्य हि इयतेर्गमन वाच्य नाऽभिसंबन्ध । ततोऽभिग्रहण विशिष्टसंबन्धप्रतिपत्त्यर्थम् । विशिष्टसंबन्धं कर्तुं श्रद्धानुग्रहाऽपत्याऽपगमकामनाजनित । स चाऽत्र नास्तीति कर्मण संबन्धमात्रेण हि संप्रदानत्वेऽभिग्रहणमनर्थकं स्यादित्यर्थं । वाताय चक्षुर्ददाति, छात्राय चपेटा प्रयच्छतीत्यत्र तु श्रद्धानजनितसंबन्धस्य विद्यमानत्वात् भवत्ये- २४ वेत्याह—इह च भवतीति । कैथिदन्वर्थसंज्ञाविधानात् ददातिक्रियाविपर्ययैव संप्रदानसंज्ञेत्यभ्युपगतम् । दानं च खल्वनिवृत्तं परखत्वाऽऽपत्ति-पर्यन्तमिति प्रत्यज्ञायि । तदुभयमपि न युक्तम्, अन्यत्राऽपि भाष्यकारेण संज्ञाया अभ्युपगमात् । तथा खल्वनिवृत्त्यभावेऽपि च ददाते प्रयोगस्य दर्शनात्, यथा—अनभिज्ञाय मतिं दद्यात्, खण्डितोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददातीति “दामः” २।२।५२। ॥ २५ ॥ २७

स्पृहेर्व्याप्यं वा । अत्र संप्रदानमित्यनुवर्तते । स्पृहेर्व्याप्यं वा संप्रदानमित्यन्वयस्तदर्थनाह—स्पृहयतेरित्यादि । पुष्पेभ्यः स्पृहयतीत्यादि । अत्राऽदन्तत्वात् स्पृहेरकारलोपस्य “खरस्य परे” इति स्थानिवद्भावात् लघूपान्त्यगुणाभाव, अत्र हि पुष्पादे कर्तुं क्रिया-व्याप्यत्वात् नित्य कर्मसंज्ञायां प्राप्तायां पक्षे संप्रदानसंज्ञा विधीयत इति । तस्या च धातोरकर्मकत्वात् भावे आत्मनेपदादय कर्तरि च क्त सिध्य- ३० तीत्याह—संप्रदानसंज्ञापक्षे इत्यादि ॥ २६ ॥

कुद्द्रुहेर्व्याऽसूयार्थैर्यं प्रति कोपः । यं प्रति कोप इति । यच्छब्दात् प्रतियोगे “भागिनि च०” २।२।३७। इति द्वितीया । कुधादिधातूनामर्थं व्याचष्टे—अमर्षः—क्रोध इत्यादिना । पूर्वात् संप्रदानमित्यनुवृत्त्या कुद्द्रुहेर्व्याऽसूयार्थैर्यं प्रति कोपस्तत् संप्रदानमित्यन्वय । ३३ अपचिकीर्षा—अपकर्तुमिच्छा स एव क्रोध । अन्ये ‘त्वपकार एव क्रोध’ इत्याहु, तथा ह्यपकर्तुं स्वामिनमभिद्रुह्यतीत्यभिधीयते, तेषामपचिकीर्षेत्यपकारेच्छया तत्पूर्वकपकारोपलक्षणादपकार एवोक्तो भवतीति वेदितव्य । एतदर्थैरिति । एतेऽर्था येषां तैर्धातुभिरिति धातुव्यतिरेकेणान्येषामेतदर्थानामभावादिति । अत्रेदं विचार्यते—कोपाद्रोहादयो भिन्नस्वभावा व्याख्याता, तत्कथं तदर्थानां यं प्रति कोप इति सामान्येनैतद्विशेषण- ३६ सुपपद्यते ? तेषां हि यं प्रति क्रोधो यं प्रतीर्ष्या यं प्रत्यसूयेत्येव घटते, नैष दोष, क्रोधस्तावत् कोप एव, द्रोहादयोऽपि द्विप्रकारा—केचित् कोप-हेतुका केचिद्वस्त्वन्तरहेतुकाश्च । तत्रेह पूर्वेषां प्रहणं यथा स्यादुत्तरेषां मा भूदित्येवमर्थं यं प्रति कोप इति विशेषण सामान्येनोपास्यम्, अन्यथा-ऽव्यभिचारादिदमनुपादेयं स्यात् । कोपशब्दोऽपि द्विप्रकारोऽत्र परिग्रहीतो मुख्यार्थो गौणार्थश्च । गौणार्थत्वं च तस्य कार्यं कर्णोपचारात् कोप- ३९ कार्यद्रोहाद्यर्थवृत्तित्वात् । कोप इति सामान्यविवक्षया चैकवचनम् । एवं च भार्यामीर्ष्यतीति कोपकारणिकाया ईर्ष्यायां भार्यायामसम्भवात् न प्रवर्तते संप्रदानसंज्ञा । अत्र हि परकर्तृकदर्शनमित्येता भार्यायामीर्ष्या, यदाह—मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । तथा शिष्यस्य कुप्यतीत्यादिषु पूर्वोत्तरोदाहरणेषु क्रोधद्रोहाऽसूयानामकोपप्रभवत्वात् संप्रदानत्वात्माव । ननु कोप- क्रोध एवेति भेदाभावात् कथं पौर्वापर्यम् ? उच्यते—प्रथमामनु- ४२ श्रुतां कोपावस्थां द्वितीयां चोद्भूतां विस्तृताकाशव्यापाराज्जमीयमानामाश्रित्य नाऽऽकृपितं कुप्यतीत्येतदुच्यते इत्यदोष । ‘कुप्यन्’ कोपे, ‘द्रुह्यन्’-ऽनु-जिपासायाम्, अनयोरकर्मकत्वात् तदर्थानां यं प्रति कोपस्तत्र यथां प्राप्ताया तदपवाद संप्रदानसंज्ञा । ‘सूह्यं’, ‘हर्ष्यं’, ‘ईर्ष्यं’, ‘ईर्ष्या’, ‘असूयेति

ते, मैत्रायाऽसूयते, मैत्रायैर्व्यितव्यम्, मैत्रायाऽसूयितव्यम्, मैत्राय दुरीर्यम्, मैत्राय दुरस्यम्, मैत्राय ईष्यितः चैत्रः, मैत्रायाऽसूयितः । कथं चौरस्य द्विपत् ? योऽस्मिन् द्रष्टे य च वयं द्विपत् ? इति, द्विपेरप्रतीत्यर्थात्वात् न भविष्यति ॥२७॥

### नोपसर्गात् क्रुद्द्रुहा ॥ २ । २ । २८ ॥

उपसर्गात् पराभ्यां क्रुधिदृहिभ्यां योगे य प्रति कोपस्तत्कारक संप्रदानसंज्ञ न भवति । मैत्रमभिक्रुष्यति, मैत्रमभिक्रुषति, क्रुधिदृही सोपसर्गां सकर्मकाविति द्वितीया । उपसर्गादिति किम् ? मैत्राय क्रुष्यति, मैत्राय दृष्टति ॥ २८ ॥

### अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २ । २ । २९ ॥

सावधिकं गमनमपायः, तत्र यदवधिभूतमपायेनाऽनधिष्ठितं तत्कारकमपादानसज्ञ भवति । ग्रामादागच्छति, पर्वतादवरोहति, सार्यांस्त्रीनः, वृक्षात् पर्णं पतति, धावतोऽश्वात् पतितः, पततो देवदत्ताद् धावत्यश्वः, मेघात् मेघोऽपसर्पति । १ तदेतत् त्रिभिधम्—निर्दिष्टविषयम्, उपात्तविषयम्; अपेक्षितक्रियं च । यत्र धातुनाऽपायलक्षणो विषयो निर्दिष्टस्तन्निर्दिष्टविषयम्, यथा—ग्रामादागच्छति । यत्र तु धातुर्धात्वन्तराऽर्थाङ्गं स्वार्थमाह तदुपात्तविषयम्, यथा—बलाहकाद् विद्योत्ते विद्युत्—अत्र हि नि.सरणाङ्गे विद्योत्ते विद्युतिर्वर्तते, यथा वा—कुशलात् पचति—अत्राप्यादानाऽङ्गे पाके पचिर्वर्तते इति । २ यत्र तु क्रियावाचि पद न श्रूयते केवलं क्रिया प्रतीयते तदपेक्षितक्रियम्, यथा—सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति । अपायश्च कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वको वा विभाग उच्यते, तेन—“बुद्ध्या समीहितैकत्वान् पञ्चालान् कुरुभिर्यदा । बुद्ध्या विमजते वक्ता तदाऽपायः प्रतीयते ॥” इति अत्राऽपादानत्वं भवति । एवम् अधर्मात् जुगुप्सते, अधर्मा-

१५ कर्त्तादियगन्त, अनयोस्तु सफमेकत्वात् कर्मसंज्ञायां प्राप्तायां संप्रदानसंज्ञा । कथमिति । द्विपे कुषाचर्यत्वात् कथं चौरादे संप्रदानसंज्ञा न भवतीति प्रश्नार्थं । समाधत्ते—द्विपेरित्यादि । अत्राऽनभिनन्दने द्विपिर्वर्तते, यथा—औपध द्वेष्टे इति ॥ २७ ॥

नोपसर्गात् क्रुद्द्रुहा । संप्रदानमित्यत्राऽनुवर्तते यं प्रति कोप इति च । उपसर्गात् क्रुद्द्रुहा य प्रति कोपस्तत्र संप्रदानमित्यन्वय । कुषश्च

२८ दृष्टयेति समाहारद्वन्द्वात् तृतीया । मैत्रमभिक्रुष्यतीति । अत्र संप्रदानसंज्ञाया प्रतिषेधात् चतुर्थ्यभावात् द्वितीया । ननु केनाऽत्र द्वितीया ? यदि “लक्षणदीप्येत्यभूतेष्वभिना” २।२।२६ इति सूत्रेण चेत्, नेह चतुर्थ्याप्राप्तिरस्ति, क्रुधिदृहिभ्यां सवन्धाऽभावात् अनुपसर्गात्वात् उपसर्गात् परत्वस्य चाऽसम्भवात् प्रतिषेधोऽनर्थक स्यात् । तथा मैत्रस्याभिक्रुषा मैत्रस्याभिद्वेषा इति कर्मणि षष्ठी न स्यात्, आत्मनेपदादयश्च न स्फुरिति ।

२९ अत इह कर्मत्वमेतिष्य, तथाप्योरकर्मकत्वात् न लभ्यते इत्याह—क्रुधिदृही सोपसर्गादित्यादि । यद्यप्येतावदुपसर्गावचर्मकौ तथापि सोपसर्गां सकर्मकौ भवतः । मैत्रमभिक्रुष्यति—मैत्रमभिगम्याभिमुखीकृत्य वा क्रुष्यतीति, अकर्मकं अपि हि धातव सोपसर्गां सकर्मका भवन्तीत्युक्तत्वात्; अत “कर्मणि” इत्येवाऽत्र द्वितीया । अप यदा मैत्रादिलेखणाचर्येनाऽभिना योगस्तदा कुषादीनामुपसर्गपरत्वाभावात् प्रतिषेधाम्रष्टे

२७ संप्रदानाच्च “लक्षणदीप्ये” इति द्वितीया वा स्यात् संप्रदानचतुर्थी वेति चेदुच्यते—श्रुतमभि, मैत्राय क्रुष्यतीत्यादौ द्वयो सावकाशत्वात् इहोभयप्राप्ती परत्वात् चतुर्थ्यामुत्पन्नार्थं मैत्रायभिक्रुष्यति इत्येव स्यादिति ॥ २८ ॥

अपायेऽवधिरपादानम् । अपाऽवधिग्रहण किमर्थम् ?, न च “ग्रामादागच्छति शक्यते” इत्यपाये शक्यस्यापि साधनत्वात्पादान-

२७ संज्ञा प्राप्नोतीति वाच्यम्, “धनुषा विष्यति” इतिवत् करणसंज्ञया साधनत्वात् । तथा “ग्रामादागच्छत् कषपाभ्यां पाणिनौदनं सुञ्जे” इत्यत्राप्यधिकरणसंज्ञा बाधिका भविष्यति । नन्वागमने कसपात्री साधनमेव न भवति, भुजिक्रियाया तु साधनमवधिभूता व्यापारमूला च, तत्र च परत्वात्पादिकरणसंज्ञेति, नैवम्, वस्तुस्थित्याऽत्राऽऽगमन प्रधानम्, तदग्रन्तु भोजनम् । शब्दान्तु विपरिती युष्णप्रधानभाव प्रतीयते, तदुक्तं हरिणा—

३० “चक्रम्यमानोऽधीप्यात्र जपश्चक्रमण कुष । तादर्थ्यस्याविशेषेऽपि शब्दाद्भेद प्रतीयते ॥” तत्र कसपात्री सुजेः साधनत्वात् तन्नारेणाऽऽगमनस्यापि भवत्येव साधनमिति । इदं तर्हि “श्रुतस्य पर्णं पतति” इत्यादौ स्यात्, अपायस्य विद्यमानत्वात् । नन्वत्रापि कारकत्वाभावात् संज्ञा न भविष्यति, अपायभावाच्च, सत्येवावधिरपादानमिति प्रतीयते पूर्वमुक्तत्वादिति चेत्, उच्यते—सतीहावधिरपादाने विशिष्टोऽपायो लभ्यते, अन्यथा पातमात्रस्य लोके-

३१ ऽपायत्वेन प्रसिद्धत्वात् तस्यैव ग्रहणं स्यादित्याह—सावधिकं गमनमपाय इति । अवधिश्व नैवविधस्य गमनसाधिष्ठानमित्याह—अपायेनाऽनधिष्ठितमिति । सकलक्षणेन गमनेनाऽनाविष्ट इत्यर्थं । नन्वेव तर्हि गतियुक्तं ‘धावतोऽश्वात् पतित’ इत्यादिषु अपादानत्वं न स्यात्, ‘ग्रामादागच्छति’, पर्वतादवरोहतीत्यादिष्वेव स्यात्; अत्र हि धावत्यश्वात् पातस्य निमित्तं, धावनं च गमनमेवेति नास्त्यश्वस्याऽपायेनाऽनधिष्ठितत्वम् ।

३२ नैष दोषः । न हि गमनमात्रमपायः, किं तर्हि ? सावधिकं गमनं, तत्र देवदत्तकर्तृकं पातरूपं, तेन च धावतोऽप्यश्वस्याऽपेक्षाभावात् न तिरुच्यते-ऽपादानसंज्ञेति । एव तर्हि ‘ग्रामादागच्छति’ इत्यत्र कथमपादानसंज्ञा ?, सकलस्य गमनसामावात्, यस्यां हि सत्यामपादानसंज्ञा स्यात् प्रतिषिध्यतेऽत्र साऽऽगमनक्रिया, नैव दोषः, अत्र ह्यपादानसंज्ञायामुपजातार्थं पश्चात् प्रतिषेधेन सवन्धः, अन्यथा प्रतिषेधस्य विषयो न प्रतिपादित स्यात् ।

३३ तथाहि—अपादानसाधनाऽऽगमनक्रिया प्रतिषेद्धमिष्टा, यदि चाऽऽपायव प्रतिषेधस्य स्यादागमनाऽभावात् तदसंबन्धस्य ग्रामस्याऽपादानसंज्ञा न स्यात्, ततश्च या प्रतिषेध्याऽपादानसाधनाऽऽगमनक्रिया प्रतिषेधस्य विषय सा न शक्यते प्रदर्शयितुं, न चाऽऽपद्रशितविषय प्रतिषेधो युज्यते, तस्मात् पूर्वमपादानसंज्ञा भवतीति । ननु कुशलात् पचतीति कथं कुशलात्पादानसंज्ञा ? न हि पचनमपायो येनाऽपायेऽवधि स्यादित्याह—चद्वैतत्

३४ त्रिविधमिति । निर्दिष्टविषयमित्यादिना त्रैविध्यमेव स्वरूपोदाहरणान्भ्यामावच्छेदः । अत्र हि नि.सरणाङ्ग इति । नि.सरणं चाऽपायरूपमिति भावः । सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति । अत्र सांकाश्यके पाटलिपुत्रकाणा समगुणत्वात् य साम्यज्ञानाच्च स प्रकर्षाऽऽश्रयेण पुनर्बुद्ध्या प्रथकत्वात् धावय प्रयुञ्जे इति सिद्धाऽपादानसंज्ञेति । ननु कायसंसर्गपूर्वको विभागो सुक्तो बुद्धिपरिकरितस्तु गौणं, ततश्च गौणमुख्ययोर्मुख्यस्यैव परिग्रहात् सांकाश्यकेभ्यः इत्यादौ कारकत्वेत्वात् षष्ठी प्राप्नोति, नैवम्, “साधकतम करणम्” इत्यत्र तमग्रहणेन गौणग्रहण-

३५ स्यापि ज्ञापितत्वाद्गुणरूपसाध्यपायस्य परिग्रह इत्याह—अपायश्चेत्यादि । तेनेत्यादिना गौणपरिग्रहफल दर्शयति । तेन “जुगुप्साविशमप्रमादाधर्मानां प्रयोगेऽपादानसंज्ञायां” न यत्नान्तरमन्वेष्ट्यं, तत्रापि बुद्धिहताऽपायस्य विद्यमानत्वेनाऽनेनैव सिद्धत्वादित्याह—एवमित्यादि । यथा चाऽत्र बुद्धिपरि-

द्विरमति, धर्मात् प्रमाद्यति; अत्र यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स दुःखहेतुमधर्मं बुद्ध्या प्राप्य नाऽनेन कृत्यमस्तीति ततो निवर्तते, नास्तिकस्तु बुद्ध्या धर्मं प्राप्य नैनं करिष्यामीति ततो निवर्तते इति निवृत्त्यङ्गेषु जुगुप्साविरामप्रमादेऽन्वेते धातवो वर्तन्त इति बुद्धिसंसर्गपूर्वकोऽपायः । तथा चौरैभ्यो विभेति, चौरैभ्य उद्विजते, चौरैभ्यस्त्रायते, चौरैभ्यो रक्षति;—अत्र ३ बुद्धिमान् वधबन्धपरिक्षेपकारिणश्चौरान् बुद्ध्या प्राप्य तेभ्यो निवर्तते, चौरैभ्यस्त्रायते इत्यत्रापि कश्चित्सुहृद्यदीम चौराः पश्येयुर्नूनमस्य धनमपहरेयुरिति बुद्ध्या तं चौरैः संयोज्य तेभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव । अध्ययनात् पराजयते, भोजनात् पराजयते;—अत्राऽपि अध्ययनं भोजनं वाऽसहमानस्ततो निवर्तते इत्यपाय एव । यवेभ्यो गां रक्षति, यवेभ्यो गां निषेधयति, कृपादानं वारयति, इहाऽपि गवादेर्यवादिसंपर्कं बुद्ध्या समीक्ष्याऽन्यतरस्य विनाशं पश्यन् गवादीन् यवादिभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव । उपाध्यायादान्तर्धत्ते, उपाध्यायात् निलीयते; मा मामुपाध्यायोऽद्राक्षीदिति तिरोभवति इत्यत्राऽप्यपायः । शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद्दृश्विको जायते, गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायते, वीजादङ्कुरो जायते,—अत्र ५ शृङ्गादिभ्यः शरादयो निष्कामन्तीति स्फुट एवापायः । यदि निष्कामन्ति किं नाऽत्यन्ताय निष्कामन्ति ? संततत्वादन्याऽन्यप्रादुर्भावाद् वा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति, महाहिमवतो रोहिता प्रभवति;—अत्राऽप्यापः संक्रामन्तीत्यपायोऽस्ति । यद्यपक्रामन्ति किं नात्यन्तमपक्रामन्ति ? संततत्वादन्याऽन्यप्रादुर्भावाद्वा । वलभ्याः शत्रुजयः पद् योजनानि षट्सु वा योजनेषु १२ भवति,—अत्र वलभ्याः निःसृत्य गतानि योजनानि, गतेषु वा तेषु भवतीत्यर्थः, कार्तिक्या आग्रहायणी मासे, ततः प्रभृति मासे गते भवतीत्यर्थः; उभयत्राऽपायः प्रतीयते । चैत्रात् भैत्रः षट्, अयमस्मादधिकः, अयमस्माद्दूः, माधुराः

कल्पितोऽपायस्सभवति तथा दर्शयति—अत्र य इत्यादि । निवृत्त्यङ्गेष्विति । निवृत्तिश्चाऽपायोपायरूपेत्यर्थः । तथेति । बुद्धिकृताऽपायस्य विधे- १५ मानत्वात् ‘भीत्रार्थानां धातुना भयहेतुरपादानम्’ इत्यपि न वक्तव्यमित्यर्थः । ‘चुरण’ स्त्रेये, “चुरादिभ्यं ०” इति णिचोऽनिलत्वात् तदभावे भिदादिवादादि, अपि च—चुरा, सा शीलमस्थेति विग्रहे “अहस्याच्छत्रादेरन्” इत्यपि शृद्धौ भ्यसि च—चौरैभ्य इति । मयमाकुरीभाव, प्राणमनर्थप्रतिघात इति तेभ्यो निवर्तते इति निवृत्त्यङ्गेषु भये विभेत्यादयो वर्तन्त इत्युपात्तविषयमेतदपादानमित्यर्थः । अत्रापि इति । अध्ययनात् १८ पराजयते, भोजनात् पराजयते इत्यत्र दुःखमन्ययन, ‘दुर्धरं च, गुरवश्च दुष्पचारा’ भोजनमपि व्याधितस्यात्तुर्मुक्त्वतो वा विरसत्वादिना दुःखमिति द्वयं बुद्ध्या प्राप्याऽसहमानस्ततो निवर्तते इति पूर्ववदपादानसहेति ‘पराजेरसोढेऽर्षेऽपादानं’ न वक्तव्यम् । तत्राऽसोढग्रहणात् पराजिन्युनीभाव(शक्तिवैकल्य)दृष्टिर्गृह्यते न तु शत्रुन् पराजयते इतिवदभिभवदृष्टिः । अथ यवेभ्यो गां रक्षतीत्यादावपादानसङ्गर्धं ‘वारणा- २१ र्थानानीप्सित’ इति वक्तव्यम् । ननु यस्याऽऽत्मीया गावस्त्वस्य कथं यथा ईप्सिता ? ईप्सितशब्दस्याऽभिप्रेतपर्यायस्य लोके हठत्वात् इति चेदुच्यते—यस्यापि परकीया यवास्तस्यापि ते ईप्सिता, यत ईप्सितशब्द क्रियाशब्द आधीयते न रूढिशब्दः । तत्र वारणक्रियया परकीया अपि यवा वारयितुरासुमिष्टा भवन्ति, मा नशभेते इत्येतेभ्योऽसौ गा वारयति । यवेव कृपादानं वारयतीत्यत्र न प्राप्नोति, न हि तस्य कृप एवेरिषतो वारण- २५ क्रियया आमुमिष्टत्वात्, स हि अपश्यन्नपि गन्तव्यं जिगमिषति, अन्यथा न क्वचित्तस्य प्रवृत्तिः सादिति । अत्राऽपि न यत्नान्तरं विधेयमित्याह—इहाऽपीत्यादि । अथ हि पश्यति गवादेर्यवादिसंपर्कं नूनमन्यतरस्य विनाशेन मान्यं, ततश्चाऽधर्मराजभयादिस्ततो निवर्तयतीति सिद्धमपादानमिति । उपाध्यायादान्तर्धत्ते इत्यादि । अत्राऽपि पश्यत्ययं यदि मामुपाध्यायं पश्यति, ध्रुव मे प्रेषणमुपालम्भो वेति स बुद्ध्या प्राप्य ततो २७ निवर्तते इति येनाऽदर्शनक्रियाकर्त्रा उपाध्यायेनाऽऽत्मनो व्यवधाननिमित्तमदर्शनमिच्छति तस्यापि कर्तुरपायेऽवधित्वस्य सिद्धत्वात् ‘अन्तर्वां येनादर्शनमिच्छति’ इत्यपि न वक्तव्यमित्याह—मामुपाध्यायो इत्यादि । तथा जन्यर्थस्य जायमानस्तस्य प्रकृतिरुपादानसहकारिलक्षण कारणमपादानमित्यपि न वक्तव्यम् । शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद्दृश्विको जायते इत्यादि कथमित्याद्यङ्गायामाह—अत्र शृङ्गादिभ्य इति । पुन पृच्छति—यदि ३० निष्कामतीति । अयमर्थो—यदि यतोऽपक्रामति तत्पुनस्तत्र न दृश्यत इति प्रसिद्धम्, इह तु तत्राऽस्ति दर्शनमिति । समाधत्ते—सन्ततत्वादित्यादि । यथा चित्वात् धीर्धमोगो भोगी निष्कामक्षयविच्छेदात् तत्रोपलभ्यते तथा शरादयोऽपीति सिद्धा अपादानसङ्गा, लोकप्रतिज्ञाऽऽध्रयेण- ३३ तदुच्यते, लोके हि यद्यस्याज्जायते तत्तस्माभिर्गच्छतीत्युच्यते । तर्काश्रयास्तु प्रक्रिया भिद्यन्ते, वैशेषिकदर्शने परमाण्वादिसमवेत कारणेभ्योऽपृथग्देश कार्यमुत्पद्यत इति नास्ति कार्यसाऽपक्रम । साख्यदर्शनेऽप्याभिर्भावतिरोभावलक्षणजन्मनाशरूपपरिणामाऽभ्युपगमात् नास्त्यपक्रम । अथवा—अन्याऽन्यप्रादुर्भावादिलेनेन अन्ये चाऽन्ये च भवन्ति इत्यर्थकेन क्षणिकपक्ष द्वयान्तराऽऽरम्भपक्ष वा परिणामपक्ष वाऽऽभिलैतदुच्यते । ननु सतो जन्मा- ३६ ऽधोगादसत्तत्त्वं कर्तृत्वासम्भवात् कथं शृङ्गाच्छरो जायते इत्यादिप्रयोगः ? नैष दोषः, बुद्धिद्वयस्थितार्थस्य क्रियायां कारकरूपोपगमात् । एव ३६ ‘ध्रुव कर्तुं प्रभवोऽपादानम्’ इत्यपि न वक्तव्यम् । हिमवतो गङ्गा प्रभवति—प्रथमत उपलभ्यत इत्यर्थः । अयमर्थो धातुनामेकार्थत्वाद्देदित्य । जन्यर्थस्तु न सम्भवत्येव, न हि हिमवान् गङ्गाया कारण, सा ह्यन्येभ्य एव कारणेभ्य उत्पद्येति । यथा च न वक्तव्यं तथा दर्शयति—अत्राऽपीत्यादि । यद्यपक्रामन्तीत्यादिना पूर्ववत् प्रश्नपरिहारो व्याचष्टे । तथा—वलभ्याः शत्रुजयः पद् योजनानि षट्सु वा योज- ३९ नेष्विति । वल्वे “कृशूगु” उणा० ३२९। इत्यर्थे ततो गौरादित्वात् ष्या—वल्लमी, अत्र प्रतीयमानमाह—अत्र वल्लभ्या इत्यादि । नि सख्येत्तदपेक्षया वल्लभ्युपात्तविषयमपादानमित्यतः पश्चमी । पद् योजनानीति । अत्र पद् योजनरूपस्याध्वन शत्रुजय इत्यनेनाऽध्वनोऽन्तेन सह “गते गन्त्येऽध्वनो” इति सूत्रेण सामानाधिकरण्यात् तस्मात् शत्रुजय इत्यस्मात् वा प्रथमाविभक्ति सा योजनानीत्यत्राऽपीति । गतानीति । चैत्रेण ४२ कर्षा षट् योजनानि गतानि—अतिक्रान्तानि इति योजनाना कर्मत्वम्, उपचारात् योजनस्थनरगताऽपेक्षया योजनान्यपि गतशब्देनोच्यन्त इति तेषां कर्तृत्वं वा । गतेषु भवतीत्येतदपेक्षया षट्सु योजनेष्विति “यद्भावो भावलक्षणम्” इति सप्तमी । एव कार्तिक्या आग्रहायणी मासे- ४५ ततः प्रभृति मासे गते भवतीति प्रतीते पूर्ववत् पश्चमीसप्तम्यावित्यर्थ इत्याह—उभयत्रेत्यादि । ततो ‘यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पश्चमी’ इति न ४५ वक्तव्यम् । कृत्तिकानिधन्युका पौर्णमासी “चन्द्रयुजात् काले” इत्यणि कथं च—कार्तिकी, एवमग्रहायणेन मृगशिरसा चन्द्रोपेतेन युक्ता पौर्ण-



निमित्तमेव नैमित्तिकम्—युद्धे संनद्धते, शरदि पुष्पन्ति सप्तच्छदाः, आतपे क्लाम्यति; छायायामाश्रयति । उपचारे भवमौ-  
पचारिकम्—अङ्गुल्यग्रे करिशतमास्ते, स मे मुष्टिमध्ये तिष्ठति, यो यस्य द्वेष्यः स तस्याऽक्ष्णोः प्रतिवसति; यो यस्य प्रियः स  
तस्य हृदये वसति । अधिकरणाऽऽधारप्रदेशाः—“सप्तम्यधिकरणे” ॥ २ । २ । १५ ॥, “अद्यर्थाच्चाऽऽधारे” ॥ ५ । १ । १२ ॥ ३  
इत्यादयः ॥ ३० ॥

## नाम्नः प्रथमैकद्विवहौ ॥ २ । २ । ३१ ॥

एकत्वद्वित्वबहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् नाम्नः परा यथासंख्यं सिञ्चौजसलक्षणा प्रथमा विभक्तिर्भवति । कर्मादि- ६  
शक्तिषु द्वितीयादिविभक्तीनां विधास्यमानत्वादिह विशेषाऽनभिधानाच्च परिशिष्टेऽर्थमात्रे प्रथमेति विज्ञायते । तत्र द्वितीया-

इति । नैमित्तिकमिति । विनयादित्वात् स्वार्थिक इकण् । युद्धे सन्नह्यत इत्यादि । अत्र हि सन्नहनादीना युद्धादिनिमित्ताना विवक्षितत्वात् युद्धा-  
देर्नैमित्तिक एवाऽऽधार । सन्नहनादयस्त्वन्वयाऽपि केनचिन्निमित्तेन सभवन्तीति न युद्धादिवैपयिक । अन्यत्राऽवस्थितस्यान्यत्राऽप्यारोप उपचारसत्र ९  
भव—औपचारिकमिति । अध्यात्मादित्वादिकण् । अङ्गुल्यग्रे करिशतमित्यादि । अत्र हि करिशतादीनामन्यत्राऽवस्थिताना केनाऽपि  
प्रयोजनादिनाऽङ्गुल्यग्रादावप्यारोप्यमाणानामङ्गुल्यग्रादिरौपशेषिकाभिन्न औपचारिक आधार उच्यते । यदा त्वद्वित्वप्रादिशब्देनोपचारादाधे-  
याऽधिष्ठितो देश एवोच्यते तदा औपशेषिक एव आधार । अत एवाहु—“आधारस्त्रिविधो हेय कदाऽऽकाशतिलादिषु । औपशेषिको वैपयिको- १२  
ऽभिव्यापक एव च” ॥ ३० ॥

नाम्नः प्रथमैकद्विवहौ । एकद्विवहौ नाम्नः प्रथमा इत्यन्वय । ‘मर्यादाभिविधौ’ इतिवत् ‘एकद्विवहौ’ इति कर्मधारयात् सप्तमी ।  
अर्थवच्छब्दरूप नाम । अर्थश्च द्विविधो—जातिर्द्रव्य च । तत्र जातेर्नामार्थत्वे तस्या एकत्वात् द्वित्वबहुत्वाऽसम्भवात् तत्सहचरितद्रव्यात् द्वित्वं १५  
बहुत्वं चाश्रयणीयम् । ततश्च वृक्ष इत्यत्राप्यवयवगतबहुत्वसद्भावात् बहुवचनप्रसङ्ग । अस्तु तर्हि द्रव्य नामार्थं, तत्राभिधेयगतमेव बहुत्वमाश्रीयते ।  
वृक्षान्नद्रव्य त्ववयवी वाच्यो न त्ववयवा इति बहुत्वाऽप्रसङ्ग । आकृतिपक्षेऽप्यदोष, प्रत्यासत्त्या तदाधारद्रव्यात् द्वित्वं बहुत्व चाऽश्रीयते न  
त्ववयवगत, जातेरवयवेष्वनाश्रितत्वात् । दारा इत्यादौ त्ववयवाऽवयविनोर्भेदविवक्षया बहुत्वमाकृत्याधारगतमेव बहुवचनवाच्यम् । ननु द्रव्येऽपि १८  
नामार्थं विशेषाभावादर्थशब्दस्य वस्तुपर्यायस्यापि संभवात् ‘वृक्ष’, ‘लक्ष’ इत्यत्राऽपि बहुवचनप्रसङ्ग, वद्वत्तेऽर्था—मूल स्कन्ध पलाशमिति । एवं  
तर्हि येष्वर्थेषु स्यादयो विधीयन्ते तेषु, केषु च स्यादयो विधीयन्ते ? एकत्वादेषु, न च स्कन्धशाखाफलपलाशादिरूपेणानेकत्वेऽपि वृक्षादिशब्द-  
रूप तथाऽऽच्छेद इति न तस्य सा सख्या इति बहुवचन न भवतीति मनस्यनुसंधायाऽऽह—एकत्वद्वित्वबहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमाना- २१  
दिति । यथेव ‘एकद्विवहौ’ इति प्रकृत्यर्थविशेषणत्वात् क प्रत्ययार्थं ? त एवेति ब्रूम, ‘अनिर्दिष्टार्था प्रत्यया स्वार्थे भवन्ति’ इति । तथाहि—  
पञ्चको नामार्थं । दधि पदय, पय पयो जरयति, वासो वासच्छादयतीत्यादौ विभक्तिश्रवणमन्तरेणापि पवाप्यर्था स्वार्थादय प्रतीयन्ते, विभक्त-  
यस्तु क्वचित् शोतकत्वेनापेक्ष्यन्ते । तत्सिद्धमेतत् कर्माधिकार्यसमवेत एवैकत्वादौ एकवचनद्विवचनबहुवचनानि भवन्ति न त्ववयवगते । यथेव स २४  
तर्हि तथा निर्देश कर्तव्य, न छान्तरेण भावप्रत्यय गुणप्रधानो निर्देशो भवति । तत्खेलेके मन्यन्ते, तदेके मन्यन्ते इत्यत्रैकवचन प्राप्नोति, यतो  
नामार्थं एकत्वमप्यत्रास्ति बहुत्व च, एकद्विवहोवित्यत्र च विशेषातुपादानात् वैपुल्यरूपस्यापि बहुत्वस्य प्रहणात् परत्वात् बहुवचनप्रसङ्गो—बहु-  
रोदन, बहु सूप इति । नैष दोष । अन्तरेणापि भावप्रत्ययात् गुणस्य गुणिविशेषकत्वेन उपादानात् गुणगुणिनोर्भेदोपचारात् सामानाधि- २७  
करण्यात् गुणप्रधाननिर्देशस्य संभवात्, यथा—पट शुक्र, इति । यदा तु गुणिना गुणो व्यपदिश्यते—पटस्य शुक्र इति, तदा स्वप्रधानो गुणो भवतीति  
द्रव्ये व्यतिरेकविभक्ति षष्ठी । गुणिनो ह्याधारत्वविवक्षायां सप्तम्यपि, यथा—कर्मणि या संख्येति । कर्मादिभिरैकत्वादीनां विशेषणात् विनापि  
भावप्रत्यय गुणप्रधाननिर्देशप्रतीतिरिति । यथेव बहुत्वस्यैकत्वात् सर्वदा बहाविति भाव्य कथं बहुषु बहुवचनमिति प्रयोग ? उच्यते—आश्रयगतं बहुत्वं ३०  
बहुत्वे गुणे आरोप्य निर्देशाददोष । तथा ‘इत्येके मन्यन्ते’ इत्यत्राऽन्यार्थवृत्तिप्रहणादेकवचनप्रसङ्गोऽपि न वाच्य, एकशब्दस्य अन्याऽसहाय-  
सख्याप्रथमाऽल्पप्रधानसाधारणार्थवृत्तित्वेन अनेकार्थत्वात् । तथाहि—सधमादो घृन्न एकास्ता । एका—अन्या इत्यन्यार्थवृत्ति । एकव्यञ्जनम्, एका-  
क्तिभिः सुद्वैकैर्जितमित्यादावसहायवृत्ति । एको द्वौ बहव इति संख्यावृत्तिरित्यादि । तथा विपुलाऽर्थेतरपि बहुशब्दस्य नाम्नः प्रहणम्, एकद्विवहा- ३३  
वित्यत्र सख्यार्थवृत्तिना द्विशब्देन साहचर्यात् एकबहुशब्दावपि तदर्थवृत्ती गृह्येते । प्रसिद्धा च सख्येयार्थत्वमेकार्थानामाद्यादशान्तानामुच्यते,  
‘आदशम्य संख्या सख्येये वर्तते’ इति । अन्यथा “स्वेकयोर्द्विवचनैकवचने” इति समुदायस्य उच्यत्वात् बहुवचनप्रसङ्ग, द्वित्वैकत्ववृत्तित्वे त्वेक-  
दिशब्दोर्द्विवचनसुपपन्न भवति । ननु लौकिकादेव प्रयोगादेकत्वादेषु एकवचनादीनां व्यवस्था भविष्यति किमर्थमेकद्विवहाविति ? उच्यते— ३५  
सामान्येन विधानात् दृष्टविकल्पप्रयोगाच्च नियमार्थमिदं, तथाहि—संख्यानिर्देशमन्तरेण सामान्येन नाममात्रात् स्यादयो विधीयन्ते, घातुमात्राणा  
त्यादय । अथ शास्त्रेऽनुपातोऽप्यर्थं प्रयोगादेव व्यवस्थाप्यते, यत स्यादयस्त्वावत् स्वार्थं विधीयमाना पञ्चको नामार्थं इति दर्शने सख्याया  
सिद्धा, सख्याविशेषावगतिस्तु लोकात् सिद्धा । त्यादयोऽपि कर्तृकर्मणोर्भिन्नीयमाना स्वभावत्वं संख्यायुक्तयोरेव तयोर्बौचका भविष्यन्ति, सख्या- ३९  
विशेषश्च प्रयोगदर्शनादवगम्यते । एतदप्यसाधीय, दृश्यते खल्वपि लोके विप्रयोगः । तद्यथा—‘अक्षीणि मे दर्शनीयानि’, ‘पादा मे सुकुमारा’  
इति द्वित्वेऽपि लोके बहुवचन दृश्यते इति व्यतिकरः प्राप्नोति, अव्यतिकरधेयते, तच्चान्तरेण यत्र न स्तिव्यतीति नियमार्थमिदम् । अत एवाऽप्रे  
वक्ष्यते—एकद्विवहाविति च संकरनिवृत्त्यर्थमिति । न चैव ब्राह्मणा संघ इत्यत्र ब्राह्मणसंघरूपस्यार्थस्य ब्राह्मणरूपेण बहुत्वात् संघ- ४२  
रूपेण चैकत्वात् सख्याद्वययोगात् वचनव्यतिकरप्रसङ्ग इति वाच्य, भिन्नपदवाच्यत्वेन भिन्नार्थत्वात् तयो । न हि ब्राह्मणरूपेण संघपद तमर्थ-  
माचष्टे, संघरूपेण वा ब्राह्मणपदम् । भिन्न एव पदार्थं, तदेकत्वं पदद्वयगम्य वाक्यार्थं इति शब्दार्थमेदात् नेतरसंख्येति न वचनव्यतिकर ।  
एकद्विवहाविति नाम्नो विशेषणत्वादविशेषेण प्रथमाया विधानात् कर्माधिकार्येऽपि प्रसङ्ग इत्यत आह—कर्मादिशक्तिष्विति । परिशिष्टे इति । ४५

दिविनिर्मुक्तः स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याशक्तिलक्षणोऽसमग्रः समग्रो वा पञ्चको नामार्थोऽर्थमात्रम्, तेषु शब्दस्यार्थे प्रवृत्तिनिमित्तं स्वरूपजातिगुणक्रियाद्रव्यसंघनादिरूपं त्वतलादिप्रत्ययाऽभिधेयं स्वार्थः; स च भावो विशेषणं गुण इति चाऽऽख्यायते—  
३ छित्थः, उविस्थः, गौः, अधः, शुक्लः, कृष्णः, कारकः, पाचकः, दण्डी, विपाणी, राजपुरुषः, औपगवः, गर्गाः, पञ्चालः ।  
यत् पुनरिदं तदित्यादिना वस्तूपलक्षणेन सर्वनाम्ना व्यपदिश्यते, स्वार्थस्य व्यवच्छेदं लिङ्गसङ्ख्याशक्त्याद्याश्रयः सत्त्वभूत-  
तद्रव्यं—विशेष्यमिति चाऽऽख्यायते—इयं जातिः, अयं गुणः; इदं कर्मेति । यदर्थं सदसद्वा शब्दत एवाऽत्रसीयते तत्  
४ उद्यावादिसंस्कारहेतुः—स्त्री, पुमान्, नपुंसकमिति लिङ्गम्; स्त्री, पुमान्, नपुंसकम्, पट्वी, खट्वा, युवतिः । यसा-  
मेकवचनद्विवचनचहुवचनानि भवन्ति सा भेदप्रतिपत्तिहेतुरेकत्वादिका सख्या—एकः, द्वौ, चहवः; वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः ।  
“निमित्तमेक इत्यत्र विभक्त्या नाऽभिधीयते । तद्वत्स्तु यदेकत्वं विभक्तिस्तत्र वर्तते” ॥ १ ॥ यस्यां त्यादिभिरभिहितार्थां  
५ द्वितीयाद्या व्यतिरेकविभक्तयः पृथी च भवति, सा स्वपराऽऽश्रयाऽऽश्रितक्रियोत्पत्तिहेतुः कारकरूपा तत्पूर्वकसवन्वरूपा च  
शक्तिः, सा चाऽभिहिताऽर्थमात्रम्—क्रियते कटः, कृतः कटः, पचति चैत्रः, खानीय चूर्णम्, दानीयो ब्राह्मणः, गोभ्रोऽतिथिः,  
प्रसवणो गिरिः, भयानको व्याघ्रः, स्थानीय नगरम्, गोदोहनी पारी, गोमान् मैत्रः; चित्रगुश्चैत्रः । अर्थमात्रं चोपचरित-  
३२ मपि, यथा साहचर्यात्—कुन्ताः प्रविशन्ति, छत्रिणो गच्छन्ति, स्थानात्—मञ्चाः क्रोशन्ति, गिरिर्दह्यते, तादर्थ्यात्—इन्द्रः

उच्यते इत्यर्थः । तदेव परिशिष्टमर्थं व्याचष्टे—तत्र द्वितीयादिविनिर्मुक्त इत्यादि । तत्र पञ्चकस्य नामार्थोक्तस्य क्रमेण लक्षणमाचष्टे—  
तेष्विह्यादि । प्रवृत्तिनिमित्तमिति । यत् शब्दस्य प्रवृत्तिलुच्यते । स्वार्थ इति । स्वस्यैवार्थं स्वार्थो विशेषणमाधारणोऽर्थः । यदा हि  
३५ स्वरूपान्तरानुपादानं शब्दं स्वाऽभिधेये प्रवर्तते, तदा सोऽयमित्यभिधेयवन्नेन शब्दस्वरूपविशिष्टस्यैवार्थस्य प्रतीते शब्दस्वरूपमेव स्वार्थो विशे-  
ष्यन्तु इत्यर्थः, यथा—छित्थ इत्यादि । जातिरनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः, यथा—गौरित्यादि । शुक्ल इति । अत्र तद्विशिष्टस्य द्रव्यस्य प्रतीतेः स्वार्थः ।  
कारक इत्यादौ तु क्रियाविशिष्टद्रव्याऽवभासमानात् क्रिया स्वार्थः, क्रियाविशिष्टसंघनो वा । द्रव्यमपि यदा द्रव्यान्तरस्य विशेषणभूतं भवति  
२८ यदौ. प्रवेशय, कुन्तान् प्रवेशयेति तदा यथादिद्रव्यं विशेषणभावाऽऽपन्नं स्वार्थो द्रव्यान्तरं विशेष्यभावाऽऽपन्नं पुरुषादि तु द्रव्यं । क्वचित् संघ-  
नोऽपि स्वार्थः, यत्र संघन्यमित्तं प्रत्ययो यथा—दण्डी, विपाणी । अत्र हि दण्डविपाणयो संघन्य स्वार्थः । आदिशब्दात् राजपुरुष इत्या-  
दावप्युपेयमित्युदाहरति—राजपुरुष इत्यादि । गर्गाः, पञ्चाला इति । एतावानेवान् विशेष्यो यथाद्यौ उपचारात् द्रव्यान्तरप्रतीतिरत्र तु प्रथम-  
२९ ह्युपेति । स्वार्थं शास्त्रान्तरं भाव इति विशेषणमिति गुण इति चोच्यते इत्युक्तं—स चेत्यादि । द्रव्यं व्याचष्टे—यत् पुनरित्यादि । वस्तूप-  
लक्षणेनेति । इदन्तदित्यादिच्छिन्नं वस्तु ज्ञायत इत्यर्थः । स्वार्थस्य व्यवच्छेदमिति । स्वरूपादिलक्षणस्य स्वार्थस्य विशेषणत्वात् तस्य च  
व्यवच्छेदकत्वाद्देनेन कर्तृभूतेन व्यघच्छिद्यत इत्यर्थः । लिङ्गसंख्याशक्त्याद्याश्रय इति । लिङ्गसंख्याशक्तयो वक्ष्यमाणलक्षणा, आदिशब्दात्  
३४ स्वरूपादि, तद्वन्तत्वात् तेषां द्रव्यमाश्रयो भवति । लिङ्गं व्याचष्टे—यदर्थं इत्यादि । अर्थे—शब्दाभिधेये इत्यर्थः । उद्यावादिसंस्कारहेतु-  
रिति । तेन हेतुभूतेन व्यावादिना शब्दस्य संस्कार क्रियत इत्यर्थः । संख्यामाह—यस्यामित्यादि । भेदप्रतिपत्तिहेतुरिति । भेदो  
विशेषणानुत्पत्तिरूप, तथा हि पदार्थानां भेदः प्रतीयते, भेद परिगणनं संख्येति लक्षणत्वात् तस्या । ननु नामाऽर्थव्यतिरेकेणाऽऽश्रयात्केत्वादीना  
२७ विशेषणीभूतानामावादेक इत्यादौ प्रथमाया अभावः, अश्रोच्यते—एकत्वादिष्वपि व्यतिरेका एकत्वादयः सन्ति, एतदेवाह—निमित्तमेक  
इत्यादि । यथा शतमित्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तं शतसङ्ख्याऽन्या, अन्या च विभक्तिवाच्या नामार्थगतैकत्वसंख्या, तथैक इत्यत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तविभक्ति-  
वाच्ये हे एकत्वे, तत्र तदभिधानाय प्रथमा भविष्यति । एव शब्दशक्त्याश्रयैकत्वादिभेदेन प्रथमोका । अथेदेऽपि दोषाऽभावः, यत् उभयवचना  
३० वेते द्रव्यं चाऽऽहर्गुणं च । तत्र गुणोपसर्जनं द्रव्यमभिधीयते नाम्ना, द्रव्योपसर्जनंस्तु गुणो विभक्त्या । यथा शौकल्यमिति गुणोपसर्जनद्रव्याऽभिधासिन  
शुक्लशब्दात् द्रव्योपसर्जने तस्मिन्नेन गुणे भावप्रत्ययः । एतदेव यस्मिन् द्रव्ये स्थित एकत्वादिगुणस्य द्रव्यस्यानुका एकत्वादयः प्राधान्येन तद-  
भिधानाय प्रथमा भविष्यति । अथवा—सख्या नामेय परप्रधाना, संख्येयमनया विशेष्यम् । यदि चात्र प्रथमा न स्यात् सख्येयमिशेषितं स्यात्,  
३१ केवलस्य नाम्नः प्रयोगाऽभावात् प्रथमाया अभावे एकादिशब्दानुच्चारणात् । अथवा—प्रत्ययपरैव प्रकृतिः प्रयोग्या न केवला इत्येवमरूपात् समयात्  
भविष्यति । अन्या अपि कस्मात् भवन्तीति न चाच्य, कर्माधीनात्मभावात् ‘कर्मण्येव द्वितीया’ इत्येव द्वितीयाधीना नियतत्वात् । एव तर्हि पृथी  
प्राप्नोति, कर्माद्यभावो हि श्रेयः, अशेषत्वात् न भविष्यति, उपयुक्तादन्यो हि श्रेयो नामार्थस्य च प्रथमाविधातुपयोगात् तस्य चाऽव्यतिरेकस्येह  
३६ संज्ञात्वात् । वचनव्यतिरेकप्रसङ्गेऽपि नाम्नि सामर्थ्यात् व्यवस्थासिद्धे । एक इत्यत्र एकमेवैकत्वं, तच्च नामार्थेनाऽभिहितमित्युक्ता प्रथमा समभवसेन  
प्राप्यते । तत्र यथा समयश्च पालितो भवति एकत्वानुगुणं चाऽन्यत्र तदभिधाने दृष्टव्यमर्थं वचनं भवति, तथा कर्तव्यमिति । शक्तिस्वरूप लक्षयति—  
यस्यामित्यादि । त्यादिभिरिति । तिष्ठन्नेन तिवाद्य आख्यातप्रत्यया आदिशब्देन च कृतद्वित्वमाया उच्यन्ते, तैरनभिहितार्थां—अनुका-  
३९ यामित्यर्थः । व्यतिरेकविभक्तय इति । व्यतिरेक्यत इति व्यतिरेकस्यैव व्यतिरेके नामार्थव्यतिरेके—आधिक्ये द्वितीयाद्या विभक्तयो विशेष-  
विभक्तय इत्यर्थः । स्वपराऽश्रयेति । तत्र कर्तृकर्मणोः स्वाश्रयगतक्रियोत्पत्तिहेतुभूते अपि, अन्यास्तु करणादिशक्तयः पराश्रयगतक्रियोत्पत्ति-  
हेतुभूता एव । तत्पूर्वकेति । क्रियाकारकपूर्वकेत्यर्थः । सा च अभिहिता—निर्दिष्टा उक्ता इति यावत् । क्रियते कट इत्यादि । अत्राऽऽत्मने-  
४२ पदादिभिः कर्मादिशब्दानामभिहितत्वात् अर्थमात्रत्वात्, तत्र धर्त्तव प्रथमेति । खानीयमित्यादि । बहुलवचनात् करणस्यप्रदानयोरनीय, तत्-  
संप्रदाने टकि—गोशः । प्रसवण इति । प्रसवत्यस्यादिति “शुभ्रित्यादिभ्यम्” इत्युपादानेऽनन्द । विभेत्स्यादिति विग्रहे “श्रीमीराजे-  
श्वानक” उपा० ७१ । इत्यानके—भयानकः । स्थानीयमिति । बहुलवचनादधिकरणेऽनीय । एव गावो दुग्धन्तेऽस्यामिति—गोदोहनी ।  
४५ गोमानिलस्य तु संघन्यरूपायां शक्तौ मद्गु । चित्रगुरित्यत्र ममात् । उपचरितमिति । अभ्यारोपितमित्यर्थः, अभ्यारोपश्च अतस्मिन् तदिति  
प्रत्ययः, स च सहचरण्यादितिमिहानुक्तत्वात् भिद्यते । यदाह—सहचरणस्थानतादर्थ्येनानुक्तत्वात्पञ्चमीत्यगोवाऽभिप्रेत्यो ब्राह्मणप्रसङ्गः

स्थूणा, प्रदीपो मल्लिका; वृत्तात्-यमोऽयं राजा, कुबेरोऽयं राजा; मानात्-प्रस्थो व्रीहिः, खारी सुद्धा; धरणात्-तुला चन्दनम्, सामीप्यात्-गङ्गातटे गङ्गा, योगात्-रक्तः कम्बलः, साधनात्-अन्न प्राणाः, आयुर्वृतम्; आधिपत्यात्-ग्रामा-  
 ऽधिपतिर्ग्रामः । अलिङ्गमपि-त्वम्, अहम्, पञ्च, षट्, कति, अलिङ्गसङ्घमपि-उच्चैः, नीचैः, स्वः, प्रातः; शक्तिप्रधानमपि- ३  
 यतः, यत्र, यथा, यदा; द्योत्यमपि-प्रपचति, प्रतिष्ठते, प्रतीक्षते, प्रतिपालयति; स्वरूपमात्रमपि-अध्यागच्छति, पर्या-  
 गच्छति, प्रलम्बते; निषिञ्चति । तदयं वस्तुसक्षेपस्त्याद्यन्तपदसामानाधिकरण्ये प्रथमेति । यत्राऽपि त्याद्यन्त पदं न श्रूयते-  
 वृक्षः, वृक्ष इति तत्राऽपि गम्यते । यदाह—'यत्राऽन्यत् क्रियापदं न श्रूयते, तत्राऽस्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते' इति । नाम्न ६  
 इति किम् ? निरर्थकाद् वर्णाद् घातुवाक्याभ्यां च मा भूत् । एकद्विवहविति च सकरनिवृत्त्यर्थम् । ननु चाऽन्येभ्य  
 एकत्वाद्यभावादेन प्रथमा न प्राप्नोति, सत्यम्, लुक्विधानात् विभक्तीनां विधिविज्ञायते तदन्तर्गतत्वाच्च प्रथमाया अपि,

राजसङ्घचन्दनगङ्गाघाटकाणुपुष्पेवत्त्वेऽपि तद्द्रुपचार । क्रमेणोदाहरति—साहचर्यादित्यादिना । अहम्, पञ्च, कति इत्येषामलिङ्गत्व, १  
 'नन्ता संख्या वृत्तिर्युष्मदस्य च स्युरलिङ्गक' इत्यनुशासनात् । अलिङ्गसंख्यमपीति । सर्वलिङ्गसंख्यात्वेकरूपत्वात् उच्चैः प्रभृतीनामर्थमात्र  
 विशिष्टलिङ्गसंख्याभ्यामयोगादलिङ्गसंख्यमित्यर्थः । तसादिभ्योऽपानादादिशक्तीना प्रतीयमानत्वात् यत् इत्यादेरर्थमात्र शक्तिप्रधानं भवतीत्याह—  
 शक्तिप्रधानमपीत्यादि । द्योत्यमपीति । प्राद्युपसर्गाणा क्रियार्थोक्तत्वात् अन्यथोपसर्गात्त्वाभावात् तदर्थमात्र बोध्यमेवेति । स्वरूपमात्रम्- १३  
 पीति । सोपसर्गोपसर्गोधात्वर्थस्याध्यादिभिर्यथाऽऽप्रतीते आगच्छतीत्यादिक्रियापदार्थ एव तदर्थ इत्यर्थः । नन्वर्थमात्रे प्रथमा इत्युक्तत्वात्  
 मात्रप्रद्वयस्य नाधिकार्यव्यवच्छेदकत्वात् वीर पुरुष इत्यादौ सामानाधिकरण्यात् विशेषणविशेष्यभावस्याधिकस्य प्रतीते प्रथमा न प्राप्नोति । समास-  
 विधानमपि प्रथमोत्पत्तेरिति न भवति, वीरं पुरुषमानयेति द्वितीयाद्यन्तानामपि समाससंभवादिति प्रथमा विधेया, नैव दोष, आधिक्यस्य १५  
 वाक्यायत्त्वात् वीरनामोऽनपेक्षितशब्दान्तरार्थसमर्पणपहितविशेषणभावात् स्वार्थमात्रनिष्ठात् प्रथमा विधीयते । एव पुरुषशब्दादपि । पथात्त्वा-  
 काङ्क्षादिबन्धेन विशेषणविशेष्यभाववगतिरुपजायमानवहिरङ्गत्वाद्यन्तरङ्ग पदसंस्कारं पूर्वप्रभृत वाधिषु न शक्नोतीति सिद्धा प्रथमेति । अथवा-त्यादि-  
 कृतद्वितसमासैरभिहिताना कर्त्रादिशकौ प्रथमेत्युक्तं, ततश्च वीरः पुरुष इत्यत्राऽर्थ्याधिक्येऽप्यभिहितत्वमात्राध्याया प्रथमेति । यथेव प्रासादे आस्ते १८  
 इत्यत्रापि सदिक्रियाऽऽसिक्तियाद्वयसाधनाधिकरणशक्तिद्वयसङ्गावादासिप्रत्ययेनानभिहितेऽप्यधिकरणे एकस्या शक्तेरभिहितत्वात् तदाध्याया प्रथमा  
 प्राप्नोति, उच्यते-गुणक्रियया अधिकरणशक्तेरभिहितत्वेऽपि प्रधानक्रियाऽनभिहिताऽधिकरणशक्त्युपेक्षया प्रधानानुयायित्वात् व्यवहाराणा समन्वेव  
 भवति । तस्मात् स्थितमेतत् 'सादिघमानाधिकरणे प्रथमा' इत्यमुमर्थं हृदि निधित्याह—तदयं वस्तुसंक्षेप इत्यादि । भवन्तीशब्देन पूर्वा- २१  
 चार्थसंस्थित्वा वर्तमानाऽभिधीयते । ननु वर्णस्य निरर्थकत्वात् घातुवाक्यार्थयोश्चासत्त्वरूपत्वात् संख्याया सत्त्वधर्मरूपत्वेन तद्व्यवहारात् सत्त्ववाचिनो  
 नाम्न एष प्रथमा भविष्यति किं नाम्न इत्यनेन १, उच्यते-यथा घातोरसत्त्ववाचित्वेऽपि साधनाश्रयमेकत्वादिसंख्यामाश्रित्य तिवादीनामेकवचनादीनि  
 प्रवर्तन्ते, तथा स्वादीनामपि प्रवर्तन्ते, एव वाक्यादप्यवयवगता वर्णाच्च निरर्थकत्वात् संख्यामाश्रित्य प्रथमा सादित्याह—निरर्थ- २४  
 कादित्यादि । एकद्विवहविति च सकरनिवृत्त्यर्थं भावात् नाऽन्येभ्य प्रथमा प्राप्नोतीत्याक्षिपति—ननु चेत्यादि । समाधत्ते—सत्यमित्यादि ।  
 यदि द्व्यभ्येभ्यो विभक्तयो न स्युर्न ततो 'अव्ययस्य' इति विभक्तीना लुबुपपद्यते । यद्वा व्याकरणान्तरसूत्रेषु पदसंहिताक्रमभेदात् त्रिधा पाठो  
 भवति । तत्र पदपाठ पदशुद्धयर्थः । संहितापाठो ग्रन्थाऽवधारणार्थः । क्रमपाठ पदशुद्धयर्थोऽर्थविशेषार्थश्च । तत्र क्रमपाठमाश्रित्य वाक्यस्य नानात्वे २७  
 'नाम्न प्रथमा' इति वाक्यात् अव्ययेभ्योऽपि सिद्धा प्रथमेति । तस्य चेत्यादिना विभक्तिविषे फल दर्शयति । पदसंज्ञा चेति । फलमिति  
 सव्यथेत् । एकद्विवहविति । विभक्तिविधानं यावत् एकद्विवहवित्वादिभिकारो द्रष्टव्यः । स्वार्थद्वयलिङ्गसंख्याकर्मोदिसमुदायो विभक्त्यन्तात् नाम्न  
 प्रतीयते । तत्र स्वार्थं-प्रवृत्तिनिमित्त विशेषण जातिगुणक्रियास्वरूपादिलक्षण, तदाधारो द्रव्य-विशेष्य, एतावर्थौ नाम विभक्तिमन्तरेणापि प्रतीतेर्न १०  
 व्यभिचरतीत्युपोद्घाते नाम्न क्रियमाणेऽविप्रतिपत्तिरेतयोर्नोन्माथत्वे । लिङ्ग तु किञ्चिद्वा एव प्रतीयते-शरत्, दरत्, मधु, हे देवदत् १ इति ।  
 किञ्चित् प्रत्ययाभिन्न्यङ्ग-कुमारी, प्रष्टी इति । किञ्चिद्विभक्तिसंधान एव गृह्यते-तट, तटी, तटमिति । संख्याकर्मोदयोऽपि कदाचित् नाम्न एव  
 प्रतीयन्ते-पयतिष्ठति, पय पश्यति, मधु तिष्ठति, मधु पश्यति इति । भतोऽवश्यमत्राऽऽचरोऽभ्युपगन्तव्यो व्याख्याकाराणां-कश्चित् संख्या- १६  
 कर्मोदीन् विभक्तिवाच्यान् अभ्युपगच्छति त्रिको नामार्थं इति, कश्चित् संख्यैव विभक्तिवाच्या चतुष्को नामार्थं इति; कश्चित् पुन पञ्चाऽप्यर्था  
 नामवाच्या, विभक्तयस्तु द्योतिका संख्याकर्मोदीना स्त्रीप्रत्ययाश्च लिङ्गस्येति प्रतिपन्न । न चात्र काकदन्तपरीक्षायामादर, किमत्र युक्त दर्शनम् १,  
 यत् सर्वस्यैवापोद्धारिकस्वार्थस्य परिकल्पनारूपत्वात् । यदाह—'द्योतिका वाचिका वा स्युर्द्विवादीनां विभक्तयः । साह्या संख्यावतोऽर्थस्य समुदा- १६  
 योऽभिधायक' ॥ १ ॥ इति । तत्र वार्तिककारश्लोकवार्तिककारयो पञ्चक एव नामार्थं इति दर्शनं उभाभ्या नियमार्थत्वस्योपगमात् । भाष्यकारो-  
 ऽप्यनेकदर्शनेनोपसारेऽपि पञ्चक एव नामार्थं इति दर्शनं उभाभ्या नियमार्थत्वस्यैव व्यवहरति । यदाह-पञ्चक एव नामार्थोऽनेनाश्रित इति । युक्ति-  
 रस्यामेव कल्पनायां दृश्यते-संख्याकर्मोदयो हि नामवाच्यास्य द्रव्यस्य धर्मा, स्वार्थोपसर्जनश्च शब्दो द्रव्य एव वर्तते, द्रव्येणैवानयनयनयनादिव्यव- १९  
 हार, तत्र द्रव्यवाचिना शब्देन द्रव्यधर्मोणाभ्यन्तरीकरणमिति नाऽयुक्तेतत् नामार्थत्वेन पञ्चानामभिसंधान । विभक्तय स्त्रीप्रत्ययाश्च द्योतिका  
 विशेषशक्तिवत्येति । यदा त्वय न्यायोऽश्रीकियते 'संख्याकर्मोदयो विभक्तिवाच्या स्त्रिया वाऽभिधेयाया स्त्रीप्रत्यय' तदा विभक्तिमन्तरेण स्त्रीप्रत्ययेन  
 च विना कथ संख्यादिप्रतिपत्ति स्यात् १, पय पयो जरयति, शरदागतेति । न हि षभु, मण्डु, क्रमक इति प्रत्ययमन्तरेणाप्यर्थे वर्तते । ननु च ४२  
 प्रत्ययमन्तरेणापि वर्तन्ते-गर्गा, वत्सा, विदा, र्वर्वा इति, तत्र यदि संख्याकर्मोदयो विभक्त्यभिधेयाऽपि प्रतीतेर्नोन्माथं इति व्यवस्थाप्यते  
 अपत्यार्थोऽपि तर्हि कदाचित् प्रकृतिमात्रादेव प्रतीयत इति सोऽपि प्रकृत्यर्थ एव स्यात्, ततश्च सर्व एव स्वार्थिका प्रत्ययाः प्रसक्ता विषय उप-  
 न्यास । प्रकृत्यर्थस्त्वाद्यप्रकृतिवाच्यात् पितुरर्थान्तरभूतोऽप्यर्थो पुत्रादिवाच्यो न पितुरेवाचो संख्यावद्गुण, तत्राद्यप्रकृतिशब्दा गर्गादयो विभक्त्य- ४५  
 प्रत्ययैरन्तन्निधार्थमिधादिनो बहुवचनविषया नित्यमनपसा बहुत्व एव वर्तन्ते तेषां उभाश्रीनामिदं सोऽयमित्यभिधेयानपत्यार्थेऽश्रुतीनाम-  
 साधत्वे प्रसक्ते लुपा साधुत्वमनुगम्यते 'प्रत्ययमन्तरेणाप्येतेऽप्यर्थो साधवः' । सोऽयमित्यभिधेयमात्रेण त्वपत्यप्रत्ययेन विना उभावाद्यो यथाप्यपत्ये  
 प्रयुज्येरन्, नाऽवदमपत्य एव नियमो भवेद्, अनेकनिसित्त्वात् शब्दस्य । क्वचित् वत्सत्वात्-मन्ना क्रोशन्ति, गिरिद्वेषते । क्वचित् तात्कर्मोदिव ४८

१ ०वरीतिपर ३० ।  
 २३

तस्य च फलम्—अथो स्वस्ते गृहम्, अथो स्वस्तव गृहमित्यादिषु “सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा” ॥ २ । १ । ३२ ॥ इति विभाषया ते मे आदेशौ, पदसंज्ञा च “अव्ययस्य” ॥ ३ । २ । ७ ॥ इत्यत्र वक्ष्यते । एकद्विवहावित्या विभक्ति-  
विधानादिति ॥ ३१ ॥

### आमञ्चे ॥ २ । २ । ३२ ॥

प्रसिद्धतत्संबन्धस्य किमप्याख्यातुमभिसुखीकरणमामञ्चणम्, तद्विषय आमञ्च्यः; तस्मिन्नर्थे वर्तमानात् नाम्न एकद्विवहौ यथासंख्य प्रथमा विभक्तिर्भवति । हे देवदत्त !, हे देवदत्तौ !, हे देवदत्ताः !; हे पचन् !, हे पचमान ! । आमञ्च्य इति किम् ? राजा भव—अत्र राजा नाऽऽमञ्च्यः, किं तु स एव विधीयत इति पूर्वणैव प्रथमा । पष्ठीप्राप्तौ वचनम् ॥ ३२ ॥

### गौणात् समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणाऽतियेनतेनैर्द्वितीया ॥ २ । २ । ३३ ॥

आख्यातपदेनाऽसमानाधिकरणं गौणम्, गौणात् नाम्नः समयादिभिर्निर्पातैर्युक्तादेकद्विवहौ यथासंख्यम् अमौशस्त्रा द्वितीया विभक्तिर्भवति; पृथग्वचनः । समया पर्वत नदी, निकषा पर्वत वनम्, हा देवदत्तं वर्धते व्याधिः, धिग् जाल्मस्य, अन्तरा निपध नील च विदेहाः, अन्तरेण गन्धमादनं माल्यवन्तं चोत्तराः कुरवः, अन्तरेण धर्मं सुखं न भवति, अति वृद्ध २२ कुरून् महद्वलम्, कुर्वतिक्रमेण वृद्धमित्यर्थः; येन पश्चिमां गतः, तेन पश्चिमां नीतः । अन्तराऽन्तरेणशब्दौ साहचर्यात् निर्पातौ गृह्येते, तथाऽन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानमाचष्टे, अन्तरेणशब्दस्तच्च विनार्थं च; तेनेह न भवति—राजधान्या अन्तरायां पुरि वसति, किं ते केशवाऽर्जुनयोरन्तरेण गतेनेति ? । हा तात !, धिग् जाल्म !; हा सुभ्रु ! इत्यादावामञ्च्यतया विवक्षा न २५ हादियुक्तत्वेनेति न भवति । हा कृतं चैत्रस्य, धिक् कृतं भैत्रस्येत्यत्र च हाधिकृशब्दान्यां कृतशब्दे न्यग्भूतत्वात् न

—अत्रमदत्तं ब्रह्मदत्त इति तत्क्रियाचरणात् । क्वचित् तत्सामीप्यात्—गङ्गायां घोष, कूपे गर्गकूलम् । क्वचित् तत्साहचर्यात्—यष्टी प्रवेशय, कुन्तात् प्रवेशयेति । उक्तं च भाष्ये चतुर्भि—प्रकारैरतस्मिन् तद् इति भवतीति । यथा प्रष्टोऽयमित्यभिसवन्धे लिङ्गस्य स्त्रीप्रत्ययेनोपव्यक्तिमन्तरेण प्रष्टादिषु प्रसक्त्ये न नियमेन जायैव प्रतीयते, तस्मात्तु गर्गादय सोऽयमित्यभिसवन्धेन प्रष्टता अपि तु स एवैवामयो बहुवचनविषयाणामुपान्वाख्यायते । यदाह—“विनैव प्रत्यय धृतौ ये भिन्नार्थाभिधायिन । गर्गादयो लुका तेषां साधुत्वमनुगम्यते” ॥ १ ॥ “सोऽयमित्यभिसवन्धात् प्रत्ययेन विना यदि वञ्चादय प्रयुज्येरत्नापले नियमो भवेत्” ॥ २ ॥ “सोऽयमित्यभिसवन्धे लिङ्गोपव्यञ्जनादृते । प्रष्टादिषु न जायैव नियमेन प्रतीयते” ॥ ३ ॥ एवं यथाऽपत्यार्थं सति प्रत्यये प्रत्ययस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्ट इति प्रत्ययार्थं उपगम्यते, क्वचित् प्रत्ययमन्तरेणापि नियमेन प्रतीयते प्रकृतिविशेष-वाच्योऽपीत्यभ्युपेयते, तथा पयसी पयासि पयसा पयस इति प्रतीयन्ते । भवन्तु तत्र विभक्त्यर्थो यत्र तु तामन्तरेणापि दृश्यन्ते—पय पयो जर-यतीत्यादौ तत्र नामविशेषस्यापि सख्याकर्मादयोऽर्था इति त्रिको नामार्थं संख्याकर्मादयश्च विभक्तिवाच्या एवेति प्रतिज्ञा हीयते । पश्चेत्तु नामार्थे २४ विभक्तिमर्थविशेषस्य धोतिका सहायमात्रमपेक्षन्ते कदाचिज्जाम । यथा धातुरर्थविशेषे वर्तित्तुमुपसर्गमिति न कश्चिदुपगतविरोधो दृश्यते ॥ ३१ ॥

आमञ्चे । अत्र नाम्न प्रथमैकद्विवहौ इत्यनुवर्तते । आमञ्चे नाम्न एकद्विवहौ प्रथमैत्यन्वय । क्रमेण कर्मप्रयोजनस्वरूपैरामञ्च्य व्याचष्टे—  
प्रसिद्धेत्यादि । तथा हि—अभिसुखीकरणक्रियाविषयत्वात् प्रसिद्धतत्संबन्धस्येति कर्म, इष्टत्वात् किमप्याख्यातुमिति प्रयोजनम्, अव्यभि-  
२७ चारात् अभिसुखीकरणं स्वरूपम् । प्रसिद्धत्वेन आमञ्चणे शब्देन सह वाच्यवाचकभावलक्षण संबन्धो यस्त्वं तत्तत्तत्संबन्धे शेष सुबो-  
धम् । नन्वामञ्चणविषयस्य देवदत्तादे सत्त्वभूतस्यामञ्च्यस्यैकत्वादिस्वरूपायोगात् तद्वाचिनो नाम्न पूर्वणैव प्रथमा भविष्यति किमर्थमिदमारभ्यत इत्याह—पष्ठीप्राप्तौ वचनमिति । आमञ्च्यपद हि क्रियाया विशेषण भवति—हे देवदत्त ! ब्रजाम्यहमिति, अत्राभिसुखीकृतदेवदत्तविशिष्टा ३० ब्रज्या प्रतीयते । यदाह हरि—“आमञ्चितपद यश्च तत् क्रियाया विशेषकम् । ब्रजामि देवदत्तेति निघातोऽत्र प्रतीयते” ॥ १ ॥ ततश्च देवदत्तादेः क्रियाविशेषणात् कर्माद्यतिरिक्ताऽऽमञ्चणसंबन्धे शेषरूपे वर्तमानात् गौणात् प्रथमाऽपवाद पष्ठी प्राप्नोति, तद्वाचनार्थमिदमुच्यते ॥ ३२ ॥

गौणात् समयानिकषाहाधिगन्तरान्तरेणाऽतियेनतेनैर्द्वितीया । अत्र नाम्न इति एकद्विवहाविति च वर्तते । समयानिकषा-  
३३ हाधिगन्तरान्तरेणाऽतियेनतेनैर्युक्ताद् गौणात् नाम्न एकद्विवहौ द्वितीयेत्यन्वय । प्रधानमुपकार्यं यदर्थमन्यदुपादीयते यस्याऽऽख्यातपदेन सामाना-  
धिकरण्यमिति, ततोऽन्यत् तस्योपकारकं यत् तदर्थं तद्विशेषणं यस्याऽऽख्यातपदेनाऽसामानाधिकरण्यं तद्गौणमित्याह—आख्यातपदेनैत्यादि । सर्वत्र सवन्धपक्षां प्राप्तायां द्वितीयाविधानम् । युक्तादित्येव समयसिद्धत्वात् तृतीया । युक्तत्वं च प्रकृतेरेव विज्ञायते न यस्य कस्यचिदि-  
३६ त्याह—गौणादित्यादि । समया पर्वतं नदीत्यादि । अत्र समयेत्यादे समीपवचनस्य पर्वतादिविशेषणं नद्यादिविशेष्यमित्युभयोरपि युक्तत्वं तत्र विशेषमस्तीत्याद्याख्यातपदेनासमानाधिकरणं गौणमिति गौणादिति वचनात् ततो द्वितीया । हा देवदत्तमिति । अत्र शोच्यता देवदत्तात् हाशब्देन शोचते, यस्य तच्छोच्यत्वं स तेन युक्तत्वं निसिक्तमित्याह—वर्द्धते व्याधिरिति । धिग् जाल्ममिति । अत्र जाल्मस्य निन्यता ।  
३९ अन्तरा निपधं नीलं च विदेहा इति । निपधनीलयोर्मध्ये इत्यर्थः । एवमन्तरेण गन्धमादनं माल्यवन्तं चेति । अन्तरेण धर्म-विना धर्मणेत्यर्थः । ननु अन्तराशब्दं क्रियाभावन्तोऽप्यस्ति अव्ययं च, एवमन्तरेणेत्यपि अन्तरशब्दात् तृतीययां भवत्यन्वय च, तत्र विशेष-  
४२ त्वादेतावपि निर्पातवित्यर्थः । तथा अन्तराशब्द इति । अधीयत इत्याधेय “य एषात” इति य एत्त्वब, मन्थयच्चस्य सप्तम्यन्तस्य गृहणो-  
अन्तराशब्दस्यापीति सद्गुताधारशक्तिसोऽयमित्यर्थः । अन्तरेणशब्दस्य त्वेको दर्थितोऽर्थाऽपरो विनार्थेत्येत्याह—अन्तरेणेत्यादि । राजधान्या  
अन्तरायामित्यादि । बाह्यायामभ्यन्तरायां चेत्यर्थः । किं ते इत्यादि । अत्रान्तरशब्दो विशेषवाची, गमिन्नार्थः, विशेषेण ज्ञातेन किं प्रयो-  
४५ जनमित्यर्थः । यदा तु सामान्येन कथादौ हाशब्दादिकं प्रयुज्य कश्चिदावमञ्चयते हा तातेत्यादि तदा न हाशब्दादिना तातादिर्युक्त इति प्रथमैव भवति,  
यतस्तृतीयया तैर्युक्तत्वादिप्यत इत्याह—हा तातेत्यादि । पदान्तरप्रयोगानपेक्षितयाऽन्तान्तरत्वादावामञ्च्यविभक्ते प्रथमाया एव न्याय्य-



चैत्रादेः साक्षाद्योगः, किं तर्हि ?; तद्विशिष्टेन कृतवाब्देन । बहुवचनादन्येनाऽपि युक्ताद् भवति—न देवदत्तं प्रति भाति, किञ्चित्, बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्, 'वृणीष्व भद्रे प्रतिभाति यस्त्वाम्', 'गोऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्', 'घातु-संबद्धोऽत्र प्रतिस्तेन "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" ॥ २ । २ । ३७ ॥ इति न सिध्यति । गौणादिति किम् ? अन्तरा ३ गार्हपत्यामाहवनीयं च वेदिः,—अत्र प्रधानाद् वेदिशब्दात् न भवति ॥ ३३ ॥

**द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ २ । २ । ३४ ॥**

अधमूलधियुपरिभिर्युक्ताद् गौणात् नाम्न एषामेव द्वित्वे सति द्वितीया भवति, षष्ठ्यपवादः । बहुवचनमेकद्विवहविति ६ यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् । अधोऽधो ग्रामं ग्रामाः, अध्यधि ग्रामं क्षेत्राणि, उपर्युपरि ग्राम ग्रामाः । द्वित्व इति किम् ? अधः प्रासादस्य, हर्म्यस्योपरि प्रासादः; असामीप्यात् च द्वित्व न भवति ॥ ३४ ॥

**सर्वोभयाऽभिपरिणा तसा ॥ २ । २ । ३५ ॥**

सर्वादिभिस्तसन्तैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति, षष्ठ्यपवादः । सर्वतो ग्राम वनानि, उभयतो ग्रामं वनानि, अभितो ग्राम क्षेत्राणि; परितो ग्रामं क्षेत्राणि ॥ ३५ ॥

**लक्षणवीप्येत्यंभूतेष्वभिना ॥ २ । २ । ३६ ॥**

लक्ष्यते—दर्शयते येन तल्लक्षणं—चिह्नम्, अवयवशः समुदायस्य क्रियादिना साकल्येन प्राप्तीच्छा—वीप्सा तत्कर्म वीप्यम्, केनचिद् विवक्षितेन विशेषेण भाव इत्यभावस्तद्विषय इत्यभूतः; एष्वर्थेषु वर्तमानादभिना युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्—अत्र वृक्षो लक्षणम्, विद्योतमाना विद्युलक्ष्यम्, अनयोश्च लक्ष्यलक्षण-१५

त्वमिति । न्यग्भूतत्वादिति । तत्संबन्ध एवेषोपकीर्णशक्तित्वादिति भाव । सर्वत्र बहुवचनमधिकार्यमिति परिभाषितत्वात् शिष्टप्रयोगाच्च विशेष-भावसायात् तल्लभ्यमर्थं दर्शयति—न देवदत्तमित्यादि । बुभुक्षा सजाता अत्येति "तदस्य सजात०" इति ईत्ते—बुभुक्षित, न प्रतिभाति—न रोचते इत्यत्र प्रतिभातिक्रियाविशेषण न तस्य देवदत्तादिना योग इति "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" इत्यतो द्वितीया न सिध्यतीति । यदा तु १८ देवदत्तादिना योगस्तदा तेनैव सिध्यति । नन्वन्तराऽन्तरेणशब्दाभिधेयस्य मध्यस्य अधिसव्यपेक्षत्वात् गार्हपत्याऽऽहवनीययोर्मध्यस्य चाऽऽधार-त्राक्षिप्राधान्यस्य मध्यस्य ताभ्यामभिधेयत्वात् तस्य च प्रधानभूताऽऽधेयाधीनत्वात् तत्र यथा मध्यावच्छेदकाभ्या पृष्ठीमपोय द्वितीया विधीयते तथा मध्येनाऽवच्छिद्यमानादाधेयादपि कृतो न विधीयत इत्याह—गौणादिति किमित्यादि । यद्यप्यवधिराधेयश्चाऽन्तरार्थेन युक्तौ तथापि २१ गौणादिति वचनाद्प्रधानादवधिभूतात् गार्हपत्यादेर्द्वितीया न प्रधानादिति । अत एव द्वयोर्न्तरा कश्चित्पुरुष इत्यादौ द्विशब्दादेर्द्वितीयस्या अभाव । अत्र ह्यनिश्चितावधिक मध्य प्रतीयते, द्वयोः सवन्धी कश्चिन्मध्य इत्येतावदर्थप्रतीते, मध्यन्तु द्विशब्दार्थोवधिक उताऽन्या-ऽवधिकमिति सशय एव ॥ ३३ ॥

**द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः** । अत्र गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चाऽनुवर्तते । अधोऽध्युपरिभिर्युक्ताद् गौणात् नाम्न एषामेव द्वित्वे द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—अधश् इत्यादि । अध प्रभृतय कृतद्विवचना समीपवचना एव, अन्यत्र द्वित्वस्याभावात्, यस्य तत्सामीप्य प्रामा-देस्तत् संबन्धे षष्ठां प्रासायां अयमारभ्यत इत्याह—षष्ठ्यपवाद इति । बहुवचनमिति । अन्यथा समानसख्यत्वात् यथासंख्य स्यादित्यर्थः । २७ अधोऽधो ग्राममित्यादि । "सामीप्येऽधोऽध्युपरि" इति सर्वत्र द्विवचनम् । अधः प्रासादस्येति । औत्तराधर्ममात्रमत्र विवक्षित न सामीप्यमिति दिव्याभाव इत्याह—असामीप्यादित्यादि ॥ ३४ ॥

**सर्वोभयाऽभिपरिणा तसा** । गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चानुवर्तते । सर्वोभयाभिपरिणा तसा युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्य- ३० न्वय । सर्वादिविशेषणत्वात् "विशेषणमन्त" इति न्यायात् तदन्तप्रतिपत्तिरित्याह—सर्वादिभिस्तसन्तैरिति । सप्तम्यन्तात् "आद्या-दिभ्य" इति तस्य, अभिपरिशब्दाभ्या च "पर्यमे ०" इति तस्य । आभिमुख्यवृत्तिरपि तसन्तप्रतिरूपको निपातोऽभित शब्दोऽस्ति सोऽपीह शब्दे, तद्योगेऽपि षष्ठी प्राप्नोति ॥ ३५ ॥

**लक्षणवीप्येत्यंभूतेष्वभिना** । गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चानुवर्तते । लक्षणवीप्येत्यंभूतेषु अभिना गौणात् नाम्नो द्वितीये- ३१ त्यन्वय । 'लक्ष्णी' दर्शने, करणेऽनदित्याह—लक्ष्यते—दर्शयते येनेति । तत्पर्यायान्तरेणाऽवच्छे—चिह्नमिति । विपूर्वादाप्ते सनि ततो यप्रत्यये वीप्य, विपूर्वशामोतिराभिविशेषमाह, व्याप्तिश्च द्विधा क्रिया न विना व्याप्यव्यापक च भवतीत्युभयमाक्षिपतीत्युक्—समुदायस्य क्रियादि- ३६ नेति । अत्र क्रियादिनेति व्यापक, आदिशब्देन जातिगुणद्रव्यस्वरूपपरिग्रह । समुदायस्येति व्याप्य, समुदायश्च वृक्षादिपदवाच्यार्थसार्थं उच्यते, निर्भेदस्यार्थस्य व्याप्यार्थभावात् । गगनमात्र व्याप्नोतीत्यादावपि गगनस्य कल्पितप्रदेशभेदपुर सरव्याप्तिप्रतीतेरनेकार्थमन समुदायस्यैव व्याप्ति समवतीति । समुदायस्य च साकल्येन द्विधा भवति—अवयवश स्वतश्च, यथा—कोश कुटिला नदी, मास शुद्धाना इति । तत्र सन्प्रत्ययसनिपाते- ३७ ऽवयवशो व्याप्तिरित्युक्तमवयवश इति । समुदायस्य प्रत्येकमवयवा वृक्षादयोऽनवयवनेन पृथक् सेकादिना संबन्धन्त इतीयमत्र व्याप्ति, तस्या या इच्छा सा वीप्सा, तत्कर्म वीप्यमिति । अनेन प्रकारेण—इत्य भवति स्वाऽस्मिन्निति "अर्थार्थाः" इत्यधिकरणे क । अनेनेति कश्चिद्विवक्षित प्रकारश्च सामान्यस्य भेदको धर्मो विशेष इत्याह—केनचिदित्यादि । लक्ष्यलक्षणभावः संबन्ध इति । वृक्ष प्राप्य विद्योतत इति प्राप्ति- ४२

भावः संबन्धोऽभिना द्योत्यते; वृक्षवृक्षमभि सेकः—एकैकस्य वृक्षस्य सेक इत्यर्थः, साधुर्देवदत्तो मातरमभि—मातृ-  
विषये साधुत्वप्रकारं प्राप्त इत्यर्थः । लक्षणादिष्विति किम् ? यदत्र ममाऽभि स्यात् तदीयताम्, अत्राऽभिना भागसंबन्धो  
३ द्योत्यते—योऽत्र मम भागः स्यादित्यर्थः । अत्राऽपि बहुवचनं यथासख्याऽभावार्थम्, एवमुत्तरत्र ॥ ३६ ॥

### भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः ॥ २ । २ । ३७ ॥

स्वीक्रियमाणोऽशो भागः तत्स्वामी भागी, तत्र लक्षणादिषु चाऽर्थेषु वर्तमानात् प्रतिपर्यनुभिर्युक्तात् गौणात् नाम्नो  
१ द्वितीया भवति । भागिनि—यदत्र मां प्रति मां परि मामनु स्यात्, योऽत्र मम भाग आभवति स दीयतामित्यर्थः; लक्षणे-  
वृक्षं प्रति वृक्षं परि वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्, वीप्ये—वृक्षवृक्षं प्रति वृक्षं वृक्ष परि वृक्षवृक्षमनु सेचनम्; इत्यंभूते-  
साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति मातरं परि मातरमनु । एतेष्विति किम् ? अनु वनस्याऽऽनिर्गता, समीप इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

१

### हेतुसहार्थेऽनुना ॥ २ । २ । ३८ ॥

हेतुर्जनकः, सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च तद्विषयोऽपि सहार्थ उपचारात्, तयोर्वर्तमानादनुना युक्ताद्  
गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन् सुराः, देवेन्द्रोपपाताऽध्ययनमन्वागच्छद्देवेन्द्रः, तेन हेतुनेत्यर्थः ।  
२२ पर्वतमन्ववसिता सेना, नदीमन्ववसिता पुरी, पर्वतनदीभ्यां सह सवद्देत्यर्थः । अन्ये तु तृतीयाऽर्थमात्र इच्छन्ति—पर्वत-  
मन्ववसिता सेना, पर्वतेन कर्त्ता करणेन वा कृतान्तेत्यर्थः । तृतीयाऽपवादो योगः ॥ ३८ ॥

क्रियाजनित इति शेष, अत्र संबन्धस्योभयाधिष्ठानतया विद्युतोऽभिना योगेऽपि गौणादिति वचनात् प्रधानत्वात् ततो न द्वितीया । वृक्षं वृक्ष-  
२५ मभि सेक इति । सेक इति भावे घञन्त, अत्र वृक्षस्य वृक्षस्य सेक इति सेकेन वृक्षाणां वीप्यमानानां सेक प्रति यत्सेषां साध्यसाधनभावलक्षण-  
संबन्ध सोऽभिना द्योत्यते, वीप्या तु द्विवचनद्योत्येति । अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति—वीप्यावीप्यमानयो संबन्धो द्विवचनेनैव द्योत्यते न त्वभिना  
इति संबन्धमद्योतयतापि तेन योगे वचनात् द्वितीयेति । साधुर्देवदत्तो मातरमभि—अत्र साधुर्देवदत्तस्य साधुभाव प्रति विषयता, इत्थं प्रकार  
२८ साधुर्विषये प्राप्त इत्यर्थः, योऽसौ साधुरित्यप्राप्त्या विषयविषयिभावलक्षण संबन्ध सोऽभिना द्योत्यते इति । यदत्र ममाभि स्यात्तदीयतामिति ।  
अत्र ममेति न लक्षणादिरिति ततो द्वितीया न भवति, तदभावे गौणात् प्रथमापवाद “क्षेपे” २।२।८१। इति षष्ठी । नन्वभ्यादय संबन्ध-  
द्योतका, तत् कस्मिन्न संबन्धेऽभिरित्याह—अभिनेत्यादि । आगेन य संबन्धोऽस्त्वदर्थस्य भागिभाव स द्योत्यते, तेन ममेति षष्ठन्त संबन्ध-  
२१ मात्रेऽपि संबन्धविशेषो भागसंबन्ध प्रतीयते, तद्व्यफमाह—योऽत्र मम भागः स्यादित्यर्थ इति । अथ कथं यदत्र मामभिष्यात् इत्यत्र  
द्वितीयाप्रयोगे १, अत्राऽभिरस्तिना युक्त उपसर्गोऽत एव “प्रादुरुपसर्गो” २।३।५८। इत्यस्ते षत्वम्, उच्यते—अभियुक्तोऽस्तिरामजतीत्यसिषार्थे  
वर्तते, तत्र “कर्मणि” इति द्वितीया । पूर्वत्र तु वृक्षादिघर्मं सेकाद्यपेक्षया विषयभावसंबन्धमभियोतयति न क्रियाघर्ममिति चातुसवन्वाभावाद-  
२४ उपसर्गत्वाच्च तत् षत्वमिति । ननु “लक्षणवीप्येत्यभूतेषु” इति बहुवचन किमर्थं १, लाघवाभेदेकवचनमेव निर्दिश्यतामितीत्याह—अत्राऽपीत्यादि ।  
यदेकवचनेन निर्दिश्यते तदैकद्विषयत्वावित्यस्यैकवचनान्तत्वेन समसंख्यत्वात् यथासख्यत्वात्, ततश्च लक्षणे एकसिषार्थे वीप्ये द्वयोर्द्वित्यभूते  
बहुषु द्वितीयेत्यर्थं स्यात्, बहुवचन तु सद्युभाभेदोपादानार्थमिति । एवमुत्तरत्रेऽपि द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

२७ भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः । भजन्ति तमिति भागस्त्वार्थनाह—स्वीक्रियमाणोऽशो इति । यस्त्वस्वीक्रियमाणोऽप्यशो भाग-  
शब्द- प्रयुज्यते—‘नगरस्य भागः’, ‘भियन्नोर्भाग’ इति स स्वीक्रियमाणोऽशोऽस्यादिति भागस्त्वेष्वो यमसाचाभजति, स भागोऽस्यास्वीति भागी तस्य  
स्वान्मुच्यते । चकारेण अनन्तरा लक्षणादयोऽर्था अनुकृष्यन्ते, गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चातुवर्तते । तथा च ‘भागिनि च लक्षणवीप्येत्य-  
३० भूतेषु वर्तमानात् प्रतिपर्यनुभिर्युक्तात् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्यस्तदाह—तत्र लक्षणादिषु चाऽर्थेष्विति । यदत्र मा प्रतीत्यादि । योऽत्र मम  
भाग स्यादित्यर्थः । समीप इत्यर्थ इति । अनेन घनस्य समीपिभाव इति वीप्यादिभावाभाष उक्त ॥ ३७ ॥

हेतुसहार्थेऽनुना । गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चाऽत्र वर्तते । हेतुसहार्थे वर्तमानात् अनुना युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्य-  
३३ न्वय । हेतुद्विविधो जनको ज्ञापकश्च, तत्र ज्ञापकस्य लक्षणत्वात् तत्र पूर्वसूत्रेणैव द्वितीया सिद्धेति जनक एव शब्दत इत्याह—हेतुर्जनक इति ।  
सहार्थ इत्यादि । ननु तुल्ययोगाद्योऽसौ विषय आश्रय पर्वतादिरर्थं सोऽप्युपचारात् सहार्थशब्दवाच्य इत्यदोष । जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन्  
सहार्थस्य तुल्ययोगादेशोऽसौ विषय आश्रय पर्वतादिरर्थं सोऽप्युपचारात् सहार्थशब्दवाच्य इत्यदोष । जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन्  
३४ सुरा इति । अत्र जिनजन्मोत्सवो हेतु सुरागमन हेतुमत्, तत्र जिनजन्मोत्सवस्य हेतुभाव सुराऽऽगमनापेक्ष सोऽनुना द्योत्यते, तस्मात् तद्यु-  
क्ताद् गौणात् द्वितीयेति । एव देवेन्द्रोपपातस्य आगमविशेषस्य परावर्तनमपि देवेन्द्रागमस्य हेतुरित्याह—तेन हेतुनेत्यर्थ इति । अत्र “हेतु-  
वर्तुकरणेत्यभूतलक्षणे” २।२।४४। इति प्राप्तां तृतीयां बाधित्वा द्वितीया भवतीति । पर्वतमन्ववसिता सेनेति । अत्र पूर्वस्य सिनेते कर्मणि  
३५ कस्त्वर्थमाह—पर्वतनदीभ्यामित्यादि । पर्वतादिना सह य सहभाव सोऽनुना द्योत्यते इति । अत्र यथा साकप्रत्यतिभि सहार्थवाचकै-  
योमे तृतीया भवति तयाऽनुनाऽपि सहार्थेन स्यात्, सा द्वितीययाऽनुना बाध्यत इति । अन्ये त्विति । कर्तृता करणत्वावो वा तृतीयाय इत्याह—  
पर्वतेन कर्त्तृत्यादि कृतान्तेत्यर्थ इति । अत्र पक्षेऽवसितेति अत्र पूर्वस्य स्यते के रूपम् । ननु हेतोरपि लक्षणत्वात् तत्र पूर्वणैव द्वितीया  
३६ गविष्यति किं हेतुप्रहणेन १, नैव, जनकस्य लक्षणत्वाभावात्, येन पुन पुनर्लक्ष्यते तल्लक्षणम् । पौन पुन्येन साहचर्याऽवगमे हि लक्ष्यलक्षणभावो  
भवति, सङ्गच्छति जिनजन्मोत्सव निशम्य देवा आगच्छन्तीत्यन्वयतिरेकान्मां जिनजन्मोत्सवस्य कारणत्वावगमात् । ननु लक्षणेन हेतुव्याप्तौ  
हेत्वहेतुविषयत्वात् लक्षणस्य नावदय तदेव लक्षणं येन पुन पुनर्लक्ष्यते, किं तर्हि १, यत्सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षण भवति । कायो-  
३५ त्पत्तिनिमित्तमपि तद्विशेषावगतिहेतुत्वात् लक्षणमेव, यथा—अपि भवान् कर्मण्डलुना धानमद्रासीदिति, सङ्गदेवासौ कर्मण्डलुपाणि धानो दृष्टस्तस्य  
लक्षण तर्हि द्वितीयाय भविष्यति । ननु द्वितीया सिद्धा, न सिष्यति, परत्वात् हेत्वाश्रया तृतीया बाधिका स्यात् । येन नाऽप्राप्ते १ इति न्यायेन  
अन्वादिभिर्बुके द्वितीया षष्ठा एव बाधिका । तां तु परत्वात् तृतीया बाधेतेति पुनर्विधान स्थानान्तरप्राप्तामपि तृतीयां द्वितीया बाधत इत्याह—  
४८ तृतीयापवादा योग इति ॥ ३८ ॥

उत्कृष्टेऽनूपेन ॥ २ । २ । ३९ ॥

उत्कृष्टेऽर्थे वर्तमानात् अनूपाम्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । अनु सिद्धसेनं कवयः, अनु मल्लनादिनां तार्किकाः, उपोमास्वाति संग्रहीतारः, उप जिनभद्रक्षमाश्रमणं व्याख्यातारः; तस्मादन्ये हीना इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

कर्मणि ॥ २ । २ । ४० ॥

गौणात् नाम्नः कर्मणि कारके द्वितीया भवति । कटं करोति, ओदनं पचति, आदित्यं पश्यति, अहिं लह्यति-ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति, अजां नयति ग्रामम्; गां दोग्धि पयः । अथेह कस्मात् न भवति-क्रियते कटः ? , कृतः कटः ? , शतेन क्रीतः-शत्यः पटः ? , आरूढो वानरो यं स आरूढवानरो वृक्ष इति ? ; त्यादिकृत्तद्धितसमासैरभिहितत्वात् लोकशास्त्रयोश्चाऽभिहितेऽर्थे शब्दप्रयोगाऽयोगात् । यद्येव कटं करोति भीष्मसुदार दर्शनीयमिति भीष्मादिविशेषणवि-

उत्कृष्टेऽनूपेन । अत्र गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चाऽनुवर्तते । उत्कृष्टे अनूपेन गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—उत्कृष्टे-  
 ५  
 ५र्थे इत्यादि । उत्कृष्टशब्दो हीनापेक्ष, तेन हीनोत्कृष्टसम्बन्धेऽनुना बोधे द्वितीयाऽनेन विधीयते । उत्पूर्वात् कृपते कर्मणि के “यद्भावो” इति सप्तम्यां-उत्कृष्टे इति । अनु सिद्धसेनं कवय इति । सिद्धसेनकविभिष्य हीनोत्कृष्टसम्बन्धस्य अपेक्षणाक्रियानितत्वमनुना ख्याप्यते । यथाऽत्र सिद्धसेनमुत्कृष्टमनूय कवीनां हीनत्वविधाने दत्तमुदाहरण, तथा कवीन् हीनाननूय सिद्धसेनस्योत्कृष्टत्वेऽप्युदाहरण द्रष्टव्यम्, यथा-अनु १२ कवीन् सिद्धसेन इति । पूर्ववदिदमुदाहरण कवीन् हीनाननूय सिद्धसेनस्योत्कृष्टत्वेन बोध्यम् । एवमुपोमेति । संग्रहीतार इति । समग्रविधातार इति, समग्रह्य शास्त्रेषु विवृतस्य प्रकीर्णस्य चाऽर्थस्य संक्षेपेणैकत्र सम्यग्रहणमिति । तदाह—तस्मादन्ये हीना इत्यर्थे इति । ननु “लक्षण-  
 १५  
 वीप्से” इत्यादिसूत्रचतुष्टयी किमर्थमारभ्यते ? , यतोऽप्रयुज्यमानां काचित् सकर्मिकां क्रियामाश्रित्य “कर्मणि” इत्यनेनैव द्वितीया भविष्यति, यथा- १५ प्रादेश प्रादेश विपरिलिखतीति । नाऽत्र वेर्लिखि प्रति क्रियायोग, किन्त्वप्रयुज्यमानं घातु प्रति, न हि प्रादेशो लिख्यते । प्रादेशे च योनया क्रिया चेराक्षेप्येति विमानक्रियाया आक्षेप, तदपेक्षया च द्वितीया-प्रादेश प्रादेश विपरिलिखतीति । अत्र केचिदाहु —अन्वाद्यो गम्यादिक्रियाजनिते नामार्थव्यतिरेके विषयमावादावर्तन्ते, यथा-राज्ञ पुरुष इत्यत्र भरणदिक्रियानितव्यतिरेके पुरुषसम्बन्धे पठ्यते; न हि क्रियामन्तरेण अय - १८ शलाकाकल्पानां नामार्थाना कश्चित् सम्बन्ध । तत्राऽन्तर्भावोऽपि क्रियया न क्रियासम्बन्ध उच्यते, अपि तु स्वेन स्वामिन सम्बन्ध एव, तद्वदत्राऽपि विषयमावादिरूपसम्बन्धो न तु कर्मतेतीद द्वितीयाविधानम् । प्रादेश प्रादेश विपरिलिखतीत्यत्र तु अप्रयुज्यमानमाक्षेप्यया कर्मतेबोध्यते न त्वन्यत् किञ्चित्, यथा-प्रविश पिण्डीमिति भक्षयेति प्रतीयमानापेक्षया । ईदृशी शब्दशक्ति, न ऐकरूपा एव भावा भवन्ति ॥ ३९ ॥

कर्मणि । अत्र गौणादिति नाम्न इति द्वितीयेति चाऽनुवर्तते । गौणात् नाम्न कर्मणि कारके द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—गौणात् नाम्न  
 इत्यादि । निर्वर्त्यादिभेदेन त्रिविधस्याऽपि कर्मणोऽत्र विशेषानुपादानात् प्रहणमिति त्रिविधेऽप्युदाहरति—कटं करोतीति । निर्वर्त्ये । ओदनं  
 पचतीति । विकार्ये, अत्र हि ओदनशब्दस्तण्डुलवृत्ति, अतस्तण्डुलान् पचतीत्यर्थ । आदित्यं पश्यतीति । प्राप्ये । सख्यादिकर्मादिशब्दा  
 २४  
 विमक्तिवाच्ये तत्रेति त्यादिकृत्तद्धितसमासैरभिहितकर्माश्रयेष्वेकत्वादित्यु द्वितीयाया विभक्तयो यथा स्युरिति “अनभिहिते” इति प्रकृत्य द्वितीयादीनां  
 विधानमुचित, तच्चेह न कृतमिति त्यादिकृत्तद्धितसमासाभिहितकर्माश्रयेष्वेकत्वादित्यु द्वितीयादय प्रामुवन्तीत्याशङ्क्याह—अथेह कस्मात्-  
 भवतीत्यादि । क्रियत इति । कर्मण्यत्सनेपदम् । कृत इति । कर्मणि क । शत्य इति । शतेन क्रीत इति “घातात् केवलादतस्मिन् येको” २७  
 ३।४।१३।१ इति यत्रत्यय । परिहरति—त्यादिकृत्तद्धितेत्यादिना । अयमर्थ —अभिपूर्वत्वात् दधातिर्वन्धनोच्चारणप्रतिपादनेषु वर्तते ।  
 ‘अश्वामिधानीमादसे’ इत्यत्र वन्धनवृत्ति । ‘अभिहित श्लोक’ इत्युच्चारणवृत्ति । ‘अभिहितोऽर्थ’ इति प्रतिपादनवृत्ति । हिनेतेरपि गतिवृद्धयर्थस्य  
 ‘अभिहित’मिति भवति, तत्र वक्ष्यमाणाना कर्मार्थाना वन्धनार्थचतुष्टयाऽसम्भवात् प्रतिपादनवचन एवाऽभिहितशब्द आश्रयणीय । याव-३०  
 युक्तं भवत्यनुक्तनिर्दिष्टे इति तावदनभिहिते इति, ततोऽन्यत्र त्यादिभिरभिहिते कर्मादौ प्रयोजनाभावात् द्वितीयादीनामप्रवृत्तेरन्तर्कोऽयमनभि-  
 हिताधिकार इति खोक्तमेव युक्त्यन्तरेण द्रष्टव्यम्—लोकशास्त्रयोश्चेत्यादिना । अयमाशय —अर्थप्रत्यायनाय लोके शब्द प्रयुज्यते, स चाऽर्थो  
 यदा शब्दान्तरेण प्रतिपादित स्यात् तदा प्रयोजनाभावात् शब्दान्तरप्रयोगेण न भाव्यम् । अक्षिनिकोचादिभिरप्यवगतेऽर्थे शब्दो न प्रयुज्यते, इह  
 ३६  
 ३६ पुन शब्दान्तरप्रतिपादितेऽर्थे । यथा-चित्रगु, शबलगुरित्वात् बहुव्रीहिणोक्तत्वात् मत्वर्थयो न भवति । गर्गा, वत्सा, विदा, उर्वा इति यव-  
 न्तेनाजन्तेन चोक्तत्वात्पलायंस्य यवशोर्लोपे विरोधाभावाद्बहुव्रीह्याश्रयेणैवाऽणोऽनुत्पत्ति । एव सप्तपर्णोऽष्टपद इति वीप्सायां विषये द्विवचन-  
 मुच्यते, अस्ति चेह वीप्सा-सप्त सप्त पर्णान्यस्येति, समासेन तु शब्दशक्तिस्त्वाभावात् वीप्साया गमितत्वात् द्विवचनाभाव । ननु दर्शितेषु नोक्ता- ३६  
 ३६ र्थत्वेन मत्वर्थोयाद्यभाव, किन्त्वन्यथा, तथा हि-अस्तिसामानाधिकरण्ये मत्वर्थोयो विधीयते, न चाऽत्राऽस्तिसामानाधिकरण्यमस्ति, वर्तिपदार्थयो-  
 रन्यपदार्थोपसङ्गान्तत्वात्स्यर्थस्य तत्रैवाऽन्तर्भूतत्वात् स्वार्थस्य सप्तत्वात् । यदाऽप्यन्यपदार्थेन तद्वत्ता प्रतिपादयिषिता भवति तदा भवत्येव  
 चित्रगुमानिति । तथा “घाऽऽयात्” इत्यधिकारादपत्यवद्वान्विन षष्ठान्तात् प्रत्ययेन भाव्य, न त्वपत्यवान्विनो द्वितीयमर्थमुपक्रान्तात्, यन्मथोऽथ ३९  
 ३९ रूपि कृते प्रकृतिरेवापत्यार्थाभिघायिनीत्यण् न भवति । तथा वीप्स्यमानार्थाभिघायिन पदस्य द्विवचन विधीयते, पर्वार्थस्य वीप्सायोग, न चाऽत्र  
 पर्वशब्दस्य प्रयोगोऽस्ति । पर्वणि पर्वणि सप्तपर्णान्यस्येति, पङ्क्तौ पङ्क्तावष्टौ पदानीति हि वीप्सायुक्त पद न प्रयुज्यते । एवं तर्हि श्रवणकृत्प्रत्ययेषूक्ता-  
 ४२  
 ४२ र्थत्वेनाश्रयणीय, तथा हि-छिनतीति श्रेनोक्तत्वात् कर्तृत्वस्य कर्तरी शब्द न भवति, ‘भावकर्मकर्तारो विकरणार्था’ इति पूर्वोच्चार्यसमयात् । बहुवृत्तं ४२  
 ४२ बहुवृत्तमितीषदन्त्वस्य बहुवृत्तत्वात् कल्पवादयो न भवन्ति । उष्वै नोचकैरिति कुत्सनादीनामकेव शोतितत्वात् कप् न भवति इति । न चात्रा-  
 प्यवदत्त्वात् आदय शवादीनां वाचका इत्यन्यथासिद्धत्वाद्बहुवृत्तस्य दृष्टान्ताभावाद्देवत्वमिति वाच्यम्, समानदेशो उत्सर्गणामपवादार्थानात्  
 नानादेशत्वात् तदप्राप्तेरनन्यथासिद्धत्वाद्बहुवृत्तस्य दृष्टान्तभावात् हेतुत्वमिति । अत्राऽनभिहिताधिकारवादी प्रत्यवतिष्ठते-किमिहाऽकर्तव्योऽनभिहिता- ४५  
 ४५ धिकार क्रियते, आहोस्त्रिदृशो द्वै इत्यभिहितेऽपि प्रत्ययेन द्वित्वे द्विशब्दप्रयोगदर्शनात् आदिभिरभिहिते शवादिनिवृत्त्यर्थोऽन्यत्र कर्तव्य सच क्रियत  
 इति, उच्यते-इहाऽकर्तव्य क्रियते, अपूपौ द्वाविति तु गतार्थस्यापि द्विशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात् । अन्यस्य गतार्थस्याऽप्रयोग प्रयोजनाभावात्  
 सिद्ध एवेत्यभिहिते विहित न भविष्यति । अत्र स एव पुन प्रत्यवतिष्ठते-नन्वनभिहितो विभक्त्यर्थ, सोऽभिहिते कर्मादौ मा भूदित्येवमर्थमनभिहित- ४८

शिष्टस्य कटस्य करोतिक्रियया व्याप्यत्वात् कर्मत्वम्, तच्च कटशब्दादेवोत्पन्नया द्वितीययाऽभिहितमिति भीष्मादिव्यो द्वितीया न प्राप्नोति, यथा कृतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय इति करोतेः क्तप्रत्ययेनेति; नैवम्-भीष्मत्वादियुक्तस्य कटस्य संबन्धि कर्मत्वं प्रतिपाद्यम्, न च जातिशब्दाः संबन्धिनोऽपि गुणान् प्रतिपादयितुं समर्था इति तत्प्रतिपादनाय यथा भीष्मादि-शब्दप्रयोगो भवति तथा द्वितीयापि तेभ्यो भविष्यति; न हि सामान्यवाचिनः कटशब्दादुत्पद्यमाना द्वितीया भीष्मादी नामनियताऽऽधाराणां गुणानां कर्मत्वमभिधातुं शक्नोति । यदि वा कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि, यथैव ह्ययं कटं करोत्येव तद्वन्तान् भीष्मादीनामपि; तत्र यद्यत् करोतिना व्यापुमिष्ट तत्सर्वं द्रव्यं गुणश्च कर्मोति सर्वेषां पृथक्कर्मत्वे प्रत्येकं द्वितीया,

- वचनम् । एकत्वादयश्च विभक्त्यर्थो, तत्र हि-"कर्मणि" इत्यत्र 'एकद्विवही' इत्येकवाक्यतापत्तां यदेकवाचीनि विशेषणानि, कर्मोदीनि विशेष्याणि, एकस्य मत्वम् तत्र द्वितीयावचनमिति, तदा कर्म द्वितीयाया अर्थं संपद्यते । तच्च यदा स्यादभिहितमिदं भवति तदा गतार्थत्वात् द्वितीयाया प्राप्ति
- २२ रेव नास्तीति भाऽर्थोऽनभिहितवचनेन । यदा तु कर्मोदीनां विशेषणत्व, एकत्वादीनां विशेष्यत्व, कर्मणो यदेकत्वादि तत्र द्वितीयायति, तदेकत्वादयो विभक्त्यर्थो संपद्यन्ते । ते चाऽभिहितेष्वपि त्यायादिभिः कर्मोदिष्वनभिहिता इति तदभिधानाय कर्मणोऽनभिहिताधिकार इति । न च "कर्मणि" इत्यादौ कर्मोदीनां श्रुतत्वात् तेषामेव विभक्त्यर्थदेवेन भाव्यमिति वाच्यम्, कर्मणीति सप्तमीनिर्देशस्यैकवाच्यपक्षत्वादभिधेयत्वाप्रतिपत्ते, कर्मणि यदेक
- २३ त्वादि तत्र द्वितीयेति प्रतिपत्ति । यद्य मन्त्यते-कर्मोदयो विभक्त्यर्थोऽनभिहितेषु विभक्तौ नामसुप्रतिरिति नार्थोऽनभिहिताधिकारणेति, तस्य वृद्ध, ह्यस्य इत्यादौ प्रथमा न प्राप्नोति, नामार्थस्यापि प्रथमार्थत्वे नार्थोक्तत्वात् तदभिधानाय प्रथमाया अप्रवृत्तेरिति । नैव दोष । न ह्यन्विताभाऽऽश्लेषो नामार्थत्वेन "नात्र प्रथमैः" इति वचनसामर्थ्यात् भविष्यति । द्वितीयाद्यस्त्वनभिहिते कर्मोदौ सावकाशात्त्वादभिहिते न भविष्यन्तीति । अनभि-
- २४ हिताधिकारवादिन एवाय दोषो-यस्य ते एकत्वादयो विभक्त्यर्थो इति, पचलोदन देवदत्त इति एकत्वस्य स्यादितोक्तत्वात् प्रथमाया अभाव । अनभिहितैकत्वायभिधानाय तव विभक्तिविधानम् । पचतीति च कर्तुरेकत्वत्वात् तदभिधानाय प्रथमाया अप्रवृत्तेरिति । नैव दोष । न ह्यन्विताभाऽनभिहितत्वमेकत्वादीनामिति वचनसामर्थ्यात् भविष्यति । न च वृद्ध ह्यस्य इत्यादावन्भिहिते सावकाशात्त्वात् कथं वचनसामर्थ्यमिति वाच्यम्, तत्राप्यप्रबुद्धमान
- २५ स्यात्स्तीत्यस्य गम्यमानत्वात् अभिधानात् सूक्त वचनसामर्थ्यादिति । ननु च यदि कर्मोदयो विभक्त्यर्थोऽस्तदा यथोक्त-कृतं कटो भीष्म इत्यादौ केन कर्मणोऽभिहितत्वात् द्वितीया न भवति, एव कटं करोति भीष्ममित्यादौ भीष्मादिविशेषणविशिष्टत्वात् कटादुत्पन्नया द्वितीयाश्लेषत्वात् भीष्मादिभ्यः कर्मणि द्वितीयस्य अप्रसङ्ग इत्येक सभितसतोऽन्यत् प्रच्यवत इति । अनभिहिताधिकारपक्षे तु स्यादिकृतत्वात्तत्सामसैरभिहित इति परिगणनाद्दोषामात्र
- २६ इति चेत्सि निर्घोर्थाऽऽक्षिपति-यद्येवमित्यादि । परिहरति च-नैवमित्यादि । अयमर्थ-भीष्मत्वादियुक्तकटस्य कर्मत्व प्रतिपाद्य, तत्र च यथा कटशब्देन जातिशब्दत्वात् भीष्मत्वादिगुणानामभिधानात् तदभिधानाय भीष्मादिशब्दप्रयोगस्तथा द्वितीयाऽपि तेभ्यो भविष्यति, न ह्यन्यथा भीष्मादिगुणानामनियताधारत्वात् तद्विशिष्टत्व कटस्य प्रत्यामयितुं शक्यते इति । अथवा-यद्यत् करोतिक्रिययाऽऽमुष्मियते तत्सर्वं गुणश्च द्रव्यं कर्म
- २७ भवति । न ह्यसौ कृतमालेय संतुष्यति । तत्र करोतिक्रियायां पृथक्सर्वेषां व्याप्यतया कर्मत्वे द्वितीयोत्पत्ति, पश्चात्तदेकवाक्यतया विशेषणविशेष्यभाव इत्यादौ-यदि त्रेत्यादि । ननु यद्यपि गुणद्रव्ययोः करोतिना सचन्धस्तथापि व्याप्यमित्यत्र विचन्दश्रुत्या प्रकषेत्साऽऽभिहितत्वात् द्रव्यस्यैव क्रियान्तरे संपत्तोऽप्येवमागत्वात् व्याप्यत्वात् कर्मत्व न गुणस्येति कथं भीष्मादिभ्यो द्वितीया ? उच्यते-भवत्तु कट एव कर्म, तथापि तत्सामानाधि-
- २८ कटस्यात् तदेकयोगक्षेमत्वात् केवलाना च नाम्ना प्रयोगाऽऽर्हत्वात् भीष्मादीनां स्वयमकर्मत्वेषु विशेष्यसंबन्धिष्वपि विभक्त्या भाव्यम् । यथा ईश्वरसुहृद् स्वयं निर्धना अपि तवीधेन धनेन तत्फलमात्र एव गुणा अपि । अत्रि खन्वपि कप्रत्ययद्वितीययोर्वैधर्म्यम्, करोतेरुत्पद्यमानं च साकल्येन भीष्मादिगुणगतमपि कर्मोऽभिधत्ते, कटशब्दात् पुनरुत्पद्यमानया द्वितीयया कटस्य यत्कर्मत्वं तच्छक्यमभिधातुं न तु भीष्मादिगुणगत
- २९ विशेषकर्मत्वं, तथा च नामार्थगताया एव कर्मत्वकैर्वाचिका द्वितीयेत्यत आह-यदि वा द्रव्यस्येत्यादि । किंच 'यस्यैकत्वादयो विभक्त्यर्थो' तस्याय दोष 'अभिहिते प्रथमाया अभाव'-एक द्वौ बहुव इति । अनभिहितैकत्वायभिधानाय तव विभक्तिविधानम्, तापि कैकादिभिरेकानोति प्रथमाया अप्राप्ति । ननु यस्यापि 'कर्मोदयो विभक्त्यर्थो' तस्याप्ययं दोषो यत्स्तेनाऽपि 'कर्मणि' इत्यादीनामेकद्विवह्यवित्यनेनेकवाक्यताऽऽभ्यु-
- ३० पगन्तव्या । गुणप्रधानभाव एव तस्य तु विपरित । तत्र नामार्थत्वात्तदेकत्वादिविशिष्टे कर्मणि द्वितीया इत्येवमादिर्वाच्यार्थस्य संपद्यते । एवं कैकत्वादिविशिष्टस्य कर्मणो वाचिका द्वितीया, तच्च नाम्नाऽभिहितम्, नामार्थत्वतिरेकेणाऽन्येषामेकत्वादीनां विशेषणीभूतानामभावादेक इत्यादौ भवतोऽपि प्रथमाया अभाव इति । अत्रोच्यते-एकत्वादिष्वपि व्यतिरेका एकत्वादयं सन्ति, तदुक्त हरिणा-"निमित्तमेक इत्यत्र विभक्त्या
- ३१ नामिधीयते । तद्वन्तस्तु यदेकत्व विभक्तिस्य वर्तते" ॥ इति, यथा-शतमित्यत्र प्रशक्तिनिमित्त शतसंख्याऽऽप्या, अन्त्या च विभक्त्याऽप्य नामार्थ-शतैकत्वसंख्या, तथा एक इत्यत्राऽपि प्रशक्तिनिमित्तविभक्तिसंख्ये द्वे एकत्वे इति । यथैव ममापि तेभ्यनभिहितेषु प्रथमा भविष्यति । किं कैकादय सम्यक्वचना इत्यत्र चाऽऽहुगुणं च । तत्र नाम्ना गुणोपसर्जनं द्रव्यमभिधीयते, द्रव्योपसर्जनस्तु गुणो विभक्त्या । यथा शौक्यमिति गुणोपसर्जनद्रव्या-
- ३२ मिधापिनि शुकशब्दात् द्रव्योपसर्जने तस्मिन्नेव गुणे भावप्रत्यय । तदेव यस्मिन् द्रव्ये स्थित एकत्वादिगुणस्य द्रव्यस्याऽप्युक्ता एकत्वाद्यस्त्वदभिधानाय प्रथमा भविष्यति । अथवा-संख्या नामेय परप्रचाला, संख्येयमनया विशेष्यम् । यदि चाऽत्र प्रथमा न स्यात् केवलस्य नाम प्रयोगामावात् प्रथमाया अभावे एकादिशब्दात्प्रचारात् । अथवा-प्रत्ययपरैव प्रकृति प्रयोक्तव्या न केवला इत्येवकपात् समयाद्भवियति । अन्या अपि
- ३३ कस्यात्र भवति ? कर्मोदीनामभावात्, कर्मण्येव द्वितीयेत्येव द्वितीयादीना नियतत्वात् । तर्हि पृष्ठी प्राप्नोति, कर्माद्यभावस्य शेषरूपत्वात्, नैव-अश्लेषत्वात् न भविष्यति, उपपुष्पादयो हि शेष, नामार्थस्य च प्रथमाविधावुपयोगात्स्य चाऽव्यतिरिक्तस्य सङ्गात् । वचनव्यतिकरप्रसक्तोऽपि नास्ति, सामर्थ्याद्भवत्सिद्धि । एक इत्यत्रैकमेवैकत्व, तच्च नाम्नाऽभिहितमित्यादिप्राप्ताऽपि प्रथमा समयवशेन प्राप्यते । तत्र यथा समयश्च प्राकृति
- ३४ भवति, एकत्वात्तु गुण चाऽन्यत्र तदभिधाने दृष्टसामर्थ्यं वचनं भवतीति 'सद्व्याविभक्त्यर्थस्तत्राऽनभिहिताधिकार परिगणनं च स्यादिकृतत्वात्-समासैरिति युक्तम्-क्रियते कटं, कृतं कटं, औपगव, चित्रगुरेत्यादौ कर्मोपलयावत्स्वस्वामिसंबन्धानां स्यादिकृतत्वात्तत्सामसैरिति युक्तम्-क्रियते कटं, कृतं कटं, औपगव, चित्रगुरेत्यादौ कर्मोपलयावत्स्वस्वामिसंबन्धानां स्यादिकृतत्वात्तत्सामसैरिति युक्तम्-क्रियते कटं, कृतं कटं, औपगव, चित्रगुरेत्यादौ कर्मोपलयावत्स्वस्वामिसंबन्धानां स्यादिकृतत्वात्तत्सामसैरिति युक्तम्-क्रियते कटं, कृतं कटं, औपगव, चित्रगुरेत्यादौ कर्मोपलयावत्स्वस्वामिसंबन्धानां स्यादिकृतत्वात्
- ३५ द्वितीयादयो न भवन्ति । तथाऽनभिहितमिति सामान्येन विधीयमाने यत्र वदूनि नामानि समानाभिहरणानि तत्रैकयोगक्षेमत्वादेकत्वप्रत्यय
- ३६ द्वितीयाया सर्वनामार्थगत कर्मत्वमभिहितमित्यनेभ्यो द्वितीया न प्राप्नोति का तर्हि स्यात् ?, पृष्ठी, कर्मोदीनामभावाद्वाद्यत्वात् तितान्त न प्राप्नुवन्ति । समयश्च कृतं -न केवला प्रकृति प्रयोक्तव्या न च केवल प्रत्यय' इति । न चाऽऽप्या उच्यमाना सामानाधिकरण्यसंबन्धमुत्तरेव बहुमिति द्वितीया

पश्चात्त्वेकवाक्यतया विशेषणविशेष्यभाव इति । यदि वा द्रव्यस्य क्रियासु साक्षादुपयोगादस्तु कटस्यैव कर्मत्वम्, मीष्मादीनां तु 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या' इति नियमात् अविभक्तिकानामप्रयोगार्हत्वादेकविभक्तिमन्तरेण च सामानाधिकरण्यविशेषणत्वाऽयोगात्; यथा ईश्वरसुहृदां स्वयं निर्धनत्वेऽपि तदेकयोगक्षेमत्वात् तद्धनेनैव फलभाक्त्वं भवत्येवमकर्मणामपि कटकर्मत्वेनैव द्वितीया भविष्यति । कृतः कटो मीष्म उदारो दर्शनीय ईत्यादौ तु करोतेरुत्पद्यमानः क्तो यस्य यस्य तया क्रियया संबन्धस्तस्य तस्य साकल्येन कर्मत्वमभिदधातीति क्वचिदपि द्वितीया न भवति । कथं तर्हि कृतं पश्य ? आहृत-माहूर ? कर्त्रा क्रियते ? दात्रेण लुनाति ? दानीयाय ददाति ? भीमाद् विभेति ? प्रासादे प्रसीदति ? शयने शेते ? इत्यादिषु क्तादिभिरभिहितेषु कर्मादिषु द्वितीयादयो भवन्ति ? उच्यते—कर्मादिसामान्य कृद्भिरभिहितम्, तत्राऽप्यभिहितः सोऽर्थोऽन्तर्भूतो नामाऽर्थः सपन्न इति कर्मादिशक्तियुक्तं द्रव्यमेव तदन्तैः शब्दैरभिधीयते, यथेदं कर्म, इदं करणमिति । तत्र याऽसौ स्वरूप-कालमिन्नायां क्रियायां सव्यापारतया कर्मादिरूपता तदभिधानाय यथायथं द्वितीयादयो भवन्ति । यत्र पुनरेकद्रव्याऽऽधारा प्रधानाऽप्रधानक्रियाविषयाऽनेका शक्तिर्भवति तत्र प्रधानक्रियाविषयायां शक्तौ प्रत्ययैरभिहितायामप्रधानक्रियाविषया शक्तिः प्रधानशक्त्यनुरोधादभिहितवत्प्रकाशमाना विभक्त्युत्पत्तौ निमित्त न भवति । यथौदनः पक्त्वा भुज्यते देवदत्तेनेति भावाऽभिधा-यिना क्त्वाप्रत्ययेनौदनाऽधिकरणाऽप्रधानपचिक्रियाविषया कर्मशक्तिरनभिहिताऽपि प्रधानभुजिक्रियाविषयाऽऽत्मनेपदेनाऽभि-

भविष्यति इति, सस्य, अस्तु सख्याऽपि विभक्त्यर्थत्वमपि न कर्तव्योऽनभिहिताधिकार । स हि क्रियते कट इत्यादौ द्वितीयादिनिवारणाय क्रियते । यदि चाऽत्र द्वितीयादयः स्युस्ततः प्रथमा निरवकाशैव स्यात् तस्मादनवकाशात्वात् प्रथमैव द्वितीयादीनां वाधिका भविष्यति नार्थोऽन-भिहिताधिकारेण । अथ अकारके-वृक्ष, वृक्ष इत्यादौ क्रियापदमात्रस्याप्यश्रवणादिभक्त्यन्तराप्ते सावकाशा प्रथमेति चेत्, न, अत्रापि 'अस्तिर्भ-वन्तीपर. प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽस्ति, वृक्ष इत्युक्तेऽस्ति इति गम्यते । यतो ज्ञात वस्तु परं प्रतिपादयितुं शब्दं प्रयुज्यते, ज्ञानं च सत इति यत्र क्रियापदान्तरस्याऽप्रयोगस्तत्रोत्सर्गत् सत्ताप्रतीतिरित्यस्तीति क्रियापदाऽनुपज्ञात् कर्तरि तृतीयाप्रसङ्गादनवकाशा प्रथमेति । यवमिहिते कर्मा-दानववकाशात्वात् प्रथमैव प्रामोतीत्युच्यते तर्हि द्वयोः क्रियोरन्यतरकारकेऽभिहिते द्वितीयादिविभक्तिर्न प्राप्नोति—कृतं पश्य, अत्र करोतिक्रियाया-पश्यतिक्रियायाश्चैकमेव कटादिकं कर्म, तच्चाऽन्यतरेण करोतिप्रत्ययेन केनाऽभिहितमिति द्वितीया न प्राप्नोति । यत्राऽपि सैव सा क्रिया, यथा—कर्त्रा क्रियते, अत्र सत्त्वेकैव करणक्रिया तस्याश्च कर्ता तृचप्रत्ययेनाभिहित इति तृतीयाया अप्राप्तिः । एव दात्रेण लुनातीत्यादावपि द्रष्टव्यम् । द्रव्यं च कारकं, तद्व्यतिरेकेण शक्तिसद्भावे प्रमाणाऽभावात् । न तावत् प्रत्यक्षं द्रव्यव्यतिरेकस्वरूपपरिच्छेदि ससुपजायते, द्रव्यस्वरूपाऽतिरेकेण शक्तिरु-पानुपलम्भात् । प्रत्यक्षाऽप्रवृत्तौ च तत्पूर्वकस्याऽनुमानस्याऽपि शक्तिसद्भावावेदने नास्ति प्रवृत्तिः । कार्यं च द्रव्यस्वरूपायत्तमेवेति कार्यव्यतिरेकादपि नास्ति शक्तिसद्भाववगमः । द्रव्यस्य चैकत्वात् युगपदभिहितत्वानभिहितत्वाऽसम्भवं इत्याशङ्क्यं पृच्छति—कथमित्यादि । समाधत्ते—उच्यते इत्यादि । कर्मादिसामान्यमिति । करणादिक्रियामात्रयोग्यमित्यर्थः । तत्राऽपि—अभिधाने सत्यपीत्यर्थः । अभिहित इति । प्रथमोत्पत्ति-निमित्तकथनम् । अनुद्भूतोऽपि कर्मादिरर्थो गुणभावेन कृदभिधेयत्वादभिहित इत्युच्यते । तत्राऽभिहितोऽपि कथिन्नान्तर्भवति, यथा—राज्ञं पुरुषं इत्यत्र वाक्ये षष्ठा संबन्धोऽभिधीयते न तु क्वचिदन्तर्भावमुपयातीति द्वयोरुपादानम् । तदन्तैरिति । कृदन्तैरित्यर्थः । तत्रेति । कर्मादिशक्ति-युक्ते द्रव्ये इत्यर्थः । स्वरूपकालमिन्नायामिति । तत्र स्वरूपकालमिन्ना यथा—कृतं पश्येति, अत्र हि करोतिक्रियाया अतीतकालप्रत्ययोक्त्या-पश्येतिवर्तमानकाला क्रिया स्वरूपतः कालतश्च भिद्यत इति । आहृतमाहूरेत्यत्र त्वाहूरेतिक्रिया कालत एव भिद्यते । एव कर्त्रा क्रियते इत्यादावपि भिषपदप्रत्याय्ये भिषे एव करणक्रिये, एकपदोपात्ते हि क्रियासाधनसंबन्धे अनेन विभक्त्यो निवार्यन्ते न तु वाक्योपात्ते । तथाहि—शय्यतेऽस्मि-क्षिति शयनमुच्यते । यदि च शयनक्रिया शेते सतिधीयते ततस्तदपेक्षया तच्छयनमुच्यते । एव सामर्थ्याच्छेदे शेति कर्त्रा भवति, सर्वकालश्च प्रत्यय, अनत सामान्येन विधानात् । अपरस्य बाह्य देवदत्तादिसाधन, वर्तमानकालश्च प्रत्यय । एव कर्त्रा क्रियत इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । तदयमर्थः—यदा नामार्थस्य स्वरूपकालमिन्नाक्रियाऽऽवेशनिवक्ष्याया कर्मादिशक्तिलक्षणार्थातिरेको भवति तदा नामार्थता शक्त्यो न प्रतिपद्यन्ते इति व्यभिचारात् द्वितीयादिविभक्तिनिमित्तं भवन्ति । यदा तु अपरोपकारित्वेन खनिष्ठतया नामार्थो विवक्ष्यते तदा व्यभिचाराभावात् ता शक्तय कर्मादिसहामेव प्राप्ता न विभक्त्युत्पत्तिं प्रयोजयन्ति । तदुक्तम्—स्वशब्दैरभिधानेऽपि स धर्मो नाभिधीयते । विभक्त्यादिभिरेवाद्यानुपकारं प्रतीयते । तत्राऽप्य वस्तुसक्षेप-कर्मकरणसप्रदानापादानादिशब्दै करणादिक्रियामात्रयोग्यंस्तुमात्रमनुद्भूतशक्तिकमभिधीयते । तत्र क्रियान्तरापेक्षोद्भूतशक्ति-प्रतिपादनाय विभक्तिरवशोत्पाद्येति । ननु द्रव्यस्य कारकत्वात् तस्य चैकत्वात् युगपदुद्भूतत्वादिविरुद्धधर्माऽसंभवस्योक्तत्वात् कथमेव परिहार इति ? उच्यते—शक्तेः कारकत्वात् तस्याश्च भेदादभिहितत्वानभिहितत्वसंभवात् भवत्येव परिहार इति । कथं पुनर्जायते शक्ति कारक न द्रव्यमिति श्चेत्, उच्यते—एव हि कश्चित् कश्चित् पृच्छति—क देवदत्त इति । स तस्मात्वाच्ये—वृक्षेऽसाविति । कस्मिन् ? य पुरस्तिष्ठतीति । स वृक्षोऽधिकरणं भूत्वाऽन्येन शब्देनाऽभिसंबन्धमानं कर्ता सपद्यते । द्रव्ये तु साधने यदधिकरणमधिकरणमेव स्यात् । अयमभिप्रायः—यदि द्रव्यं साधनं स्यात् तदा तस्यैकरूपत्वात् तच्चिबन्धनाऽबाधितप्रत्यभिज्ञाविषयत्वात् नानार्थक्रियानिबन्धनो व्यपदेशभेदो न स्यात्, इत्यते चाऽसाविति नानाशक्ति-सद्भावावगमं सिद्धं इति । नन्वेकस्यापि द्रव्यस्य स्वरूपादिभिषक्त्याया व्यापारवत्तयाऽनेककर्मादिशक्त्यभिधानत्वात् तदभिधानाय च द्वितीयादिप्रवृत्तेः प्रतिपादितत्वादौदनं पचवा भुज्यत इति भुजिप्रत्ययेन कर्मशक्तिरभिहितत्वेऽपि पचिप्रत्ययेनाऽनभिहितादौदनात् द्वितीया कस्मात् भवतीत्यत आह—यत्र पुनरित्यादि । एकस्मिन् वाक्ये युगपदनेकप्रधानक्रियाणामसंभवात् प्रधानाऽप्रधानक्रियाविषयैवानेका शक्तिरिति तदक्रियापेक्षया शक्तिरपि गुणप्रधानभावो भवतीत्यत प्रधानशक्त्यभिधाने गुणशक्तिरभिहितवद् प्रकाशते, तस्यास्त्वदनुबन्धित्वादित्युक्तं—प्रधानशक्त्यनुरोधादित्यादि । अत्रेवोदाहरणान्तरं दर्शयति—यथा च प्रामो गन्तुमिष्यत इति । स्पष्टोऽर्थः । ननु गौणात् नाम कर्मणि द्वितीयेल्युक्तम्, अजां नयति प्राम-मित्यादौ तु प्रामाद्यपेक्षया अजादे प्रधानत्वात् न ततो द्वितीया प्राप्नोतीत्याह—इह च गौणत्वमित्यादि । ननु यदि त्यादिकृतद्वितसमासैरभिहितत्वात् कर्मादिषु द्वितीयादयो न भवन्तीत्युच्यते, तदा कृतपूर्वा कटमित्यादौ कृतादिशब्देनैककटादिकर्मणोऽभिहितत्वात् कथं द्वितीयेति ? उच्यते—योऽसौ

हितेति तद्व्यकाशमाना द्वितीयोत्पत्तौ निमित्तं न भवति, यथा च ग्रामो गन्तुमिष्यते देवदत्तेनेति ग्रामस्य प्रधानेषिक्रिया-  
विषयां कर्मशक्तिमात्मनेपदेनाऽभिदधताऽप्रधानगमिक्रियाविषयाऽपि कर्मशक्तिरुपभुक्तेति तदभिधानाय द्वितीयाचतुर्थी न  
भवत इति । इह च गौणत्वं क्रियाऽपेक्षं, तेनाऽजां नयति ग्राममित्यादौ ग्रामाद्यपेक्षयाऽजादेः प्रधानत्वेऽपि गौणत्वं न विहन्यत  
इति । इह तु कृतपूर्वी कट, भुक्तपूर्वी ओदनम्, व्याकरणं सूत्रयतीत्यादौ यः कृतादिभिः कटादेरभिसंबन्धः स प्रत्ययेऽर्था-  
न्तराऽभिधायिन्युत्पन्ने कृतादीनामुपसर्जनत्वात् निवर्तते, क्रियया तु सह संबन्धोऽस्तीति व्याप्यत्वाद् द्वितीया भवति ॥४०॥

### क्रियाविशेषणात् ॥ २ । २ । ४१ ॥

क्रियाया यद्विशेषण तद्वचिनो गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । मृदु पचति, स्तोकं पचति, मन्दं गच्छति, सुख  
शेते, दुःखं जीवति, सयुक्तिकं भाषते, अयो पचति शोभन ते भार्या;—अत्र “सपूर्वात् प्रथमान्तात् वा” ॥ २ । १ । ३२ ॥  
इति विकल्पो न भवति । द्वितीयार्थं च वचनं न कर्मसंज्ञार्थम्, तेन कृद्योगे कर्मनिमित्ता षष्ठी न भवति; ओदनस्य  
शोभनं पक्ता, सुखं स्थाता, कष्टं स्थाता, चिरमासिता, तथा मन्दं गन्ता ग्रामायेत्यादौ चतुर्थी न भवति ॥ ४१ ॥

कृतादिभि कटादेरभिसंबन्ध स वृत्ते परार्थाभिधायित्वेन कृतादीनामुपसर्जनत्वाद्दुत्पन्ने प्रत्ययेऽर्थांतराभिधायित्वात् निवर्तते । अस्ति च करोतेरभि-  
संबन्ध कटादिनेति कृत्वा द्वितीया भविष्यति । न च प्रत्ययामावोऽसामर्थ्यात्, यतो नेद गुणपदुभय भवति—वाक्य च प्रत्ययश्च । यदा वाक्य, न तदा  
प्रत्यय । यदा प्रत्यय, सामान्येन तदा वृत्ति । तत्राऽवश्य विशेषार्थिना विशेषोऽनुप्रयोक्तव्य—कृतपूर्वी, किम् ? कटमिति । भुक्तपूर्वी, किम् ? ओदन-  
मिति । एवमन्यत्रापित्याह—इह त्वित्यादि । अत्राऽय तात्पर्यायं—कृत कट पूर्वमनेनेति वाक्ये कृतकटयो सामानाधिकरण्यम् । अस्तिश्चार्थे-  
विशेषे वृत्त्या न भाव्य, तस्या सामान्यविषयत्वात् । सामान्येन च व्यवहारयोगात् तस्मात् कर्मसामान्ये भावे वा क चपपद्यते । तत्र कृत पूर्वमनेनेत्य-  
स्मिन्नर्थे कृतपूर्विशब्दो वर्तते, तेन पूर्व कृतवानित्यर्थं संपद्यते । तत्र करोतिवाच्यक्रियापेक्षमस्ति कटादे कर्मत्वम् । तथाऽऽह हरि—“विशेषकर्मसंबन्धे  
निर्भुक्तोऽपि कटादिभि । विशेषनिरपेक्षोऽन्य कृतशब्द प्रवर्तते” ॥१॥ “अकर्मकत्वे सत्येव कान्ते भावाभिधायिनि । तत् क्रियावता कर्त्रा योगो  
भवति कर्मणात्” ॥२॥ “अविप्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभि । क्रिया सवच्यते तद्वत् कृतपूर्वादिषु स्थिता” ॥३॥ व्याकरणं सूत्रयतीत्यत्रापि  
लक्ष्ये लक्ष्यलक्षणसमुदाये वा व्याकरणशब्दो वर्तते, तत्र व्याकरणस्य सूत्र करोतीति वाक्ये भेदनिबन्धना षष्ठी । यदा तु लक्षण एव व्याकरणसूत्र-  
शब्दो वर्तते तदा व्यपदेशिवद्भावनिमित्ता षष्ठी । उत्पन्ने तु प्रत्यये योऽसौ सूत्रव्याकरणयोरभिसंबन्ध स निवर्तते । अपि च करोतेर्व्याकरणे-  
नाऽभिसंबन्ध इति द्वितीया भवति । तदयमर्थः—वाक्ये द्रव्यरूपं सूत्र शब्देनाऽभिधीयते । णिचि रूपेण सत्त्वभावातिवर्तनात् करोत्यर्था-  
भिधायी सूत्रशब्द-संपद्यते, परार्थाभिधायित्वाद्दुत्पेति । प्रक्रियागतविभागाऽऽभ्रयणेन चेदमुच्यते । परमार्थतश्च धात्वन्तरं सूत्रि—“सूत्रण”  
क्रियावचन इति ॥ ४० ॥

क्रियाविशेषणात् । गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यनुवर्तते । क्रियाविशेषणात् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्वय । करोतेर्भावे कर्मणि वाऽत्र  
अप्रत्यये—क्रिया, विपूर्वात् ‘शिष्णु’ विशेषणे, इत्यतो विशिष्यते—अवच्छिद्यतेऽनेनेति करणेऽनटि—विशेषणम्, धात्वर्थं—क्रिया परिणामपरिस्प-  
न्दवर्तनालक्षणा त्रिधा, तस्या यद्विशेषणमवच्छेदक तत् इत्याह—क्रियाया यद्विशेषणमिति । ननु रूपाद्युपाधिष्व क्रिया द्रव्यस्यैवोपाधि,  
न चोपाधेरुपाध्यन्तरसंभव, ‘निर्गुणा गुणा क्रिया च’ इति वचनात् । तत्कथं क्रियाया विशेषणसंभव ? सत्यमेतत्—किन्तु सजातीयस्य द्रव्योपा-  
धेरपेक्षयोत्कर्षो दृश्यते, यथा—शुक्र, शुक्रतर, शुक्रतम इति रूपरसादीनां कला इति प्रविभागप्रचयापचयाभ्यामुत्कर्षापरकषट्वृत्तित्व भवति, तदु-  
पाध्यन्तरयोगात् । तदाहुस्तद्विद—“भवेद् द्विगुणमाधुर्यमनन्तगुणकालकम् । द्रव्यं चतुर्गुणोद्भूतगन्धमात्रफलादिकम्” ॥ १ ॥ यथा च रूपादीनां  
तथा क्रियाणामपि परस्परापेक्षया विशेषसंभवे शोभन पचतीत्येव विशेषणयोग स्यात्, कथमन्यथा पापच्यते पचतितरामित्यादौ तासामेकरूप-  
त्वात् यत्प्रतिप्रत्ययविधि स्यात् । ननु चासत्त्वभूता क्रिया, तदुपाधित्तु सुतरामसत्त्वभूत, तत्कथं सत्त्वाभिधायिना नाम्ना प्रतिपाद्यत इति ?  
उच्यते—धातुप्रकृतिवाच्याऽसत्त्वभूतैव क्रिया यथा क्रियाशब्देन नामरूपेण सत्त्वरूपापत्ता प्रतिपाद्यते, तयोपाधिरपि सत्त्वरूपापत्तः । शोभनादि-  
शब्देनेत्यदोष । क्रय पुनरसत्त्वभूतोऽर्थ सत्त्वरूपेण प्रकाशयत इति चेत् ? स्ववाचकप्रकाशशब्दादिति ब्रूम, स्वशक्तिरिय वाचकानां यदसत्त्वं  
सत्त्वरूपतया प्रकाशयन्ति, पदार्थस्य वा स्वरूपमिदमीदृश यद्विशिष्टेन वाचकेनाऽभिधीयमानोऽसत्त्वरूप सरवरूपतया प्रकाशते । तदुक्त—“व्यपदेशे  
पदार्थानामन्या सत्तोपचारिकी । सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपनिदर्शनी” ॥१॥ “स्फटिकादि यथा द्रव्य भिन्नरूपैरुपाश्रयैः । स्वशक्तियोगात् सवदं  
ताद्रूप्येणैव गम्यते ॥ २ ॥ इति । उदाहरण—मृदु पचतीत्यादि । ननु “क्रियाऽव्ययविशेषणे” इति लिङ्गाङ्कारिकावचनात् नपुंसकत्वमेकत्व च  
क्रियाविशेषणानामभिहित, तत्र “नात्र प्रथमैः” इति सूत्रेण यथा प्रथमा विहिता समेभ्योऽव्ययेभ्यस्तथा क्रियाविशेषणादपि प्रथमा । अन्ये त्वाहु—  
मीप्सादिशब्देभ्यो द्वितीया तथा मन्दं पचति साधु गच्छतीत्यादौ कर्मत्वात् क्रियाविशेषणादपि स्यात् किमनेनेत्याशङ्काऽऽह—द्वितीयार्थमित्यादि ।  
तत्फल दर्शयति—तेनेत्यादि । अयमर्थ—यथा ओदनस्य पकेत्यादौ कृदन्तकर्मत्वादोदनादिशब्दात् कर्मणि षष्ठी, एव शोभनं पकेत्यादौ शोभनशब्दा-  
दपि स्यात्, न चात्राभिध, शिष्टाऽसंमतत्वात् । तथा मन्दं गन्ता ग्रामायेत्यादौ चतुर्थी चाऽनिष्टा स्यात् । ननु शोभन पकेत्यादौ “कर्मणि कृत”  
इत्यनेन कर्मणि षष्ठ्युच्यते, शोभनमिति क्रियाविशेषणत्वेन कृदन्तस्य कर्म, तद्वि कृदन्तधातुवाच्याया क्रियाया विशेषण, न च सा क्रिया आत्मन  
एव कर्माऽपि तु करोतीति क्रियान्तरस्य, सा यस्या क्रियाया कर्म तस्या एवेदमपि कर्म तस्मान्नाधिकरण्याद्भ्रस्य कर्मत्वमिति क्रियाविशेषणे  
षष्ठी न भवति । नैवम्—नाऽत्र पचतीत्यादिक्रियाया कर्मत्व, न ह्यत्र क्रियान्तरमस्ति, यदपेक्षया धात्वर्थस्य कर्मता स्यात् । तथा हि—धातुविहि-  
दार्थं देवदत्तादिव्यापारं क्रियामात्रे प्रत्ययश्च साधन, त च व्यापारं दर्शयता विक्रिदार्थं पाकशब्दसुपादाय पाकं करोतीत्युच्यते, न त्वत्र धातुपा-  
ताया विक्रिदसाधनदेवदत्तादिव्यापारलक्षणाया क्रियाया कर्मत्वापत्तौ क्रियान्तरं प्रतीयते येनेदं कर्म स्यात् । अत क्रियाविशेषणात् प्रथमैव भवति  
न विभक्त्यन्तरस्य प्राप्तिरस्तीति । नन्वस्तु प्रथमा, प्रथमाद्वितीयैकवचनयो रूप प्रत्ययविशेष इत्युक्तत्वात् दोषाभावात्, नैवम्—प्रथमाविधाने यद्यो  
पचति शोभनं ते भार्या इत्यादौ तेमे विधान “सपूर्वात् प्रथमान्तात् वा” इत्यन्वादेशे विकल्पित स्यात् तिलं चैव्यत इति प्रथमाविधिर्न  
इति द्वितीयार्थमिदमुच्यत इति ॥ ४१ ॥

कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ ॥ २ । २ । ४२ ॥

स्वेन संवन्धिना द्रव्यगुणक्रियारूपेण कात्स्वयेन संवन्धो व्याप्तिः, अत्यन्तसंयोग इति यावत्; तस्यां घोलायां कालेऽध्वनि च वर्तमानाद् गौणात् नाम्नो द्वितीया भवति । मासं गुडधानाः, मासं कल्याणी, मासमधीते, क्रोशं पर्वतः, क्रोशं कुटिला नदी; क्रोशमधीते । कालाऽध्वनोरिति किम्?, स्थाल्यां पचति । व्याप्ताविति किम्?, मासस्य मासे वा अहं गुडधानाः, मासस्य मासे वा एकरात्रं कल्याणी, मासस्य मासे वा द्विरधीते; क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे पर्वतः, क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे कुटिला नदी; क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशेऽधीते । षष्ठ्याः सप्तम्या वा अयमपवादः, तेन मासमधीते, क्रोशमधीते इत्यकर्मकत्वे इदमुदाहरणम्; कर्मत्वे “कर्मणि” ॥ २ । २ । ४० ॥ इत्येव द्वितीया सिद्धा । भावादपीच्छन्त्यन्ये—गोदोहं वक्रः, गोदोहं बुद्धुदाः ॥ ४२ ॥

सिद्धौ तृतीया ॥ २ । २ । ४३ ॥

सिद्धौ—क्रियाफलनिष्पत्तौ घोलायां कालाऽध्ववाचिनो गौणात् नाम्नः टाभ्याम्भिस्लक्षणा यथासख्यमेकद्विवहौ तृतीया विभक्तिर्भवति; व्याप्तौ गम्यायाम् । मासेन मासाभ्यां मासैर्वाऽऽवश्यकमधीतम्, क्रोशेन क्रोशाभ्यां क्रोशैर्वा प्राभृतमधीतम् । सिद्धाविति किम्?, मासमधीतं आचारो न चाऽनेन गृहीतः, अत्र व्याप्तिमात्रं गम्यते न सिद्धिः । भावादपीच्छन्त्यन्ये—गोदोहेन कृतः कटः । द्वितीयाऽपवादो योगः ॥ ४३ ॥

हेतुकर्तृकरणेत्यंभूतलक्षणे ॥ २ । २ । ४४ ॥

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः, इमं कंचित्प्रकारं भूत—आपन्न इत्यंभूतः स लक्ष्यते येन स इत्यंभूतलक्षणः; १५

कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ । व्याप्तिं व्याचष्टे—स्वेन संवन्धिनेत्यादिना । स्वेन संवन्धिनेत्यत्र “द्विहेतोः” इत्यनेन विकल्पेन पृष्ठीविधानात् कर्तारं तृतीया । स्ववन्धिने दशेयति—द्रव्यगुणक्रियारूपेणेति । कात्स्वयेनेति । सहाद्यं तृतीया । संवन्ध इति । अत्र कालाऽध्वनो कर्मतापन्नयोरिति गम्यम् । अत्यन्तसंयोग इति । तत्र संयोगस्याविच्छेद इत्यर्थः । गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यनुवर्तते । अनुवर्तमानं गौणादिति कालाध्वनोरित्यनेन विशिष्यते, तेन चानुवर्तमानं नाम्न इति । तथा च कालाध्वनोर्वर्तमानात् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्वयस्तदाह—कालेऽध्वनि च वर्तमानादित्यादि । कालाध्वनो प्रत्येकं द्रव्यगुणक्रियाऽत्यन्तसंयोगे क्रमेण द्वितीयामुदाहरति—मासं गुडधाना इत्यादि । गुडं धाना गुडधाना इति द्रव्येण जातिरूपेण वा व्याप्तिं कालस्य, मासे निरन्तरं गुडधाना सन्तीत्यर्थः । क्रोशं पर्वत इत्यध्वनो द्रव्येण जात्या वा व्याप्तिः, क्रोशपर्यन्तं निरन्तरं पर्वतो वर्तते नान्यत् किमपि । मासं कल्याणी, क्रोशं कुटिला नदीति । कालाध्वनोरुणेन व्याप्तिः, मासेऽविच्छिन्नमङ्गलवात् इति क्रोशपर्यन्तं कौटिल्यवती नदीति चार्थः । मासमधीते, क्रोशमधीत इति । कालाध्वनो क्रियया व्याप्तिः, त्रिंशद्दिनात्मके मासे निरन्तरमधीते इति क्रोशपर्यन्तं निरन्तरमधीत इति चार्थः । स्थाल्या पचतीति । पाकेन स्थाल्यां व्याप्तायामपि कालाध्वनोरिति वचनादत्र द्वितीया न भवति, तदभावे “सप्तम्यधिकरणे” इति सप्तमी । द्वयोरङ्गोः समाहार इति “द्विगोरङ्गोऽट्” इत्यादि—द्वयहमिति । द्वौ वारावस्येति विग्रहे “द्वित्रिचतुः” इति सुवि—द्विरिति । अत्र गुडधानादिना मासस्य क्रोशस्य वा कात्स्वयेन सवन्धाभावात् षष्ठी सप्तमी वा भवतीति । एव क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे पर्वत इत्यादावपि व्याप्तेरभावे द्रष्टव्य इति । अत्र कालाऽध्वनो सम्बन्धमात्रविवक्षाया षष्ठी, आधारविवक्षाया तु सप्तमी । अत्रैकदेशशब्दाद्व्याप्ते समवेऽपि अध्वनोऽभावाद्देन द्वितीया न । इयं च द्वितीया षष्ठीसप्तम्योरुक्तेन प्रकारेण बाधिकेत्याह—षष्ठ्याः सप्तम्या वाऽयमपवाद इति । न च कालाध्वनो कर्मत्वेन द्वितीययैव भाष्य किमर्थमेतदिति वाच्यम्, “कालाऽध्वभावदेशं वाऽकर्मं चाऽकर्मणाम्” इत्यकर्मकषातुसंवन्धिनेनाधारस्य कर्मसंज्ञाविधानात् सकर्मकषातुसंवन्धिनेऽनयोर्कृतेन प्रकारेण षष्ठी सप्तमी वा स्यात् न कर्मत्वमित्याह—तेनेत्यादि । १० कालाध्वनोरिव भावादपीच्छतां मतसुपन्थस्यति—भावादपीच्छन्त्यन्ये इति । प्राञ्च, अपिशब्दापेयां मते कालाऽध्वनो समुच्चयः, तन्मतेनोदाहरति—गोदोहमित्यादि ॥ ४२ ॥

सिद्धौ तृतीया । अत्र “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति गौणात् नाम्न इति चानुवर्तते । सिद्धौ व्याप्तौ कालाऽध्वनोर्वर्तमानात् गौणात् नाम्नो द्वितीयेत्यन्वयः । यद्यपि त्रिप्रकारा व्याप्तिः प्रस्तुता तथापि सामर्थ्यात् क्रियाव्याप्तेरेव सिद्धाविति विशेषणम् । यस्य सारम्भस्वस्य सिद्धिः, द्रव्यगुणयोश्च सिद्धरूपयो शब्देनाप्रतिपादनाच्च तावाराभ्येते, नापि निष्पद्येते इति न ताभ्यां व्याप्ते सिद्ध्या सवन्धः । ननु यदि क्रिया सिद्धिं व्यभिचरेत्तदा युज्येत एतद्विशेषणं क्रियाव्याप्ते, न च काचित् क्रियाऽपरिसमाप्ताऽस्ति । सत्यमेतत्—किंतु काचित् फल सपाद्यं समाप्यते, काचिदन्वया, तत्र निशेषणोपादानसामर्थ्यादधिगतफला या समाप्यते तद्भासौ द्वितीयाबाधिका तृतीयेत्याह—सिद्धौ—क्रियाफलनिष्पत्तावित्यादि । सिद्धि—क्रियाफलनिष्पत्तिस्तत्त्वः क्रियाव्याप्तावेवोदाहरति—मासेन मासाभ्यां मासैर्वाऽऽवश्यकमिति । अत्रैकदेशं नामाऽध्ययनविशेषः । अर्थात्तमिति । सिद्धं गृहीतं शिक्षितमिति यदर्थमभ्ययनं तत्फलनिष्पत्तिर्गम्यते । तदभावे प्रत्युदाहरणे द्वितीयेनेत्युदाहरति—मासमधीतं आचारो न चाऽनेन गृहीत इति । अत्र व्याप्तिमात्रं गम्यते न सिद्धिरिति सिद्ध्याविवक्षामात्रेण तृतीयाया अभावः । अत्रापि कालाध्वनोर्व्याप्तिर्विद्यमानत्वात् पूर्वेण द्वितीयायां प्राप्तायां तद्गुणार्थो योगः, तेन अनुवर्तते कैश्चित्—मासेनानुवाकोऽधीतः, क्रोशेनानुवाकोऽधीत इति करण एव तृतीया इतीदं नाऽऽरम्भणीयमिति तदसम्भमित्याह—द्वितीयापवादा योग इति ॥ ४३ ॥

हेतुकर्तृकरणेत्यंभूतलक्षणे । गौणादिति नाम्न इति तृतीयेति चाऽनुवर्तते । हेतुकर्तृकरणेत्यंभूतलक्षणे गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यन्वयः । कर्तृप्रयोजकस्यापि शास्त्रज्ञां हेतुत्वेन व्यवहारादुभयगतत्वेऽपि लौकिक एव हेतुरिव गृह्यते, कर्तुं प्रयोजके हि कर्तृत्वात् कर्तृद्वारेणैव तृतीयासिद्धेत्याह—फलसाधनयोग्य इत्यादि । फल—कार्यं, तस्य साधन—निष्पादनं करणमिति यावत्, तत्र योग्य—सामान्यतो सृष्टसामर्थ्यः । १५

हेत्वादिष्वर्थेषु वर्तमानाद् गौणात् नास्त्वृतीया भवति । हेतौ-धनेन कुलम्, अत्रेन वसति, विद्यया यशः, कन्यया शोकः, तीक्ष्णेन परशुना छिनत्ति; कर्तारि-चैत्रेण कृतम्, मैत्रेण भुज्यते, करणे-दात्रेण लुनाति, मनसा मेरु गच्छति, समेन धावति-समेन पथा ग्रामं धावतीत्यर्थः, एव विषमेण धावति, आकाशेन याति, आधारविवक्षायां तु सप्तम्यपि-समे धावति, विषमे धावति, आकाशे याति; इत्थंभूतलक्षणे-अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्, चूलया परित्राजकमद्राक्षीत्; छात्रत्वादिकं प्रकारमापन्नस्य मनुष्यस्य कमण्डलुत्वादि लक्षणम् । इत्थंभूतग्रहणं किम्?, वृक्षं प्रति विद्योतनम् । अपि भवान् कमण्डलुपाणि छात्रमद्राक्षीदित्यत्र तु लक्ष्यप्रधानो निर्देशो न लक्षणप्रधान इति न भवति । “सहाय्ये” इत्येव तृतीया सिध्यति, लक्ष्यलक्षणभावे तु षष्ठी मा भूदिति त्यभूतलक्षणम् । तथा धान्येनाऽर्थः धान्येनाऽर्थी, मासेन पूर्वः, मासेनाऽवरः, असिना कलहः, वाचा निपुणः, गुडेन मिश्रः, आचारेण श्लक्ष्णः, माषेणोनः, माषेण न्यूनः, मासेन विकलः, पुंसानुजः, शङ्कलया खण्डः; गिरिणा काण इत्यादौ हेतौ कृतभवत्यादिगम्यमानक्रियाऽपेक्षया कर्तारि करणे वा तृतीयेति ॥४४॥

### सहाय्ये ॥ २ । २ । ४५ ॥

सहाय्यस्तुल्ययोगो विद्यमानता च, तस्मिन् शब्दादर्थाद् वा गम्यमाने गौणात् नास्त्वृतीया भवति । पुत्रेण

- १२ योग्यग्रहणमन्तरेण फलसाधन इत्युच्यमाने यः फल साधयति क्रियाविष्टस्तत्र प्रतिपत्ति स्यात्, योग्यग्रहणेन तु योग्यतामात्रप्रतिपत्तावकुर्वन्नपि तत्फल हेतुरिति हेतुत्वं फलसाधनयोग्यत्वम् । तेन रूपेण पदार्थो हेतुरिति हेतुत्वृतीयया तत्र तस्य योग्यतामात्र बोधते । तथा च घनादीनि कुलादिक न कुर्वन्त्यपि योग्यतामात्रेण तृतीयामुत्पादयन्ति । यत्रापि क्रिया दृश्यते-अत्रेन वसतीति, तत्रापि क्रियायामन्नादेर्योग्यतामात्रविवक्षयैव
- १५ हेतुत्वृतीया । प्रकृत्यमाणव्यापारविवक्षायां तु करणे तृतीया स्यादिति । ननु योग्यस्य हेतुत्वे सर्वमेव कारक हेतुरेव स्यात् अयोग्यस्याकारकत्वात्, तत्र कर्तृकरणयोस्तृतीयविधानमनर्थक, “हेतु” इत्येव गतत्वात् । कर्मादौ च यद्यपि विभक्त्यन्तरं विहित तथापि यत्र कारकत्वमेव भवति न कर्मादिविशिष्टरूपता तत्राऽपवादभावात् तृतीया प्राप्नोति-नटस्य श्योति, ग्रन्थिकस्य श्योतीति, उच्यते-न हेतुमात्र कारकत्वमपि तु विशिष्टरूप
- १८ क्रियाया निर्वर्तकं नाम । तत्रापि कर्मादिभावो विशिष्टस्तस्य विशिष्टस्य रूपस्य कर्तृकरणयोर्विधान, अन्यथा तत्र षष्ठी स्यात् । नटस्य श्योतीत्यत्रापि योग्यता न विवक्षिताऽपि तु क्रियायामप्रधानतामात्रमिति न भवति, तद्विवक्षायां तु तत्रापि तृतीया भवत्येव-नटेन श्योतीति । इममिति । प्रत्यक्षीक्रियमाणस्य प्रकृत्यर्थत्वानवधारणात् तमाह-कंचिदिति । विवक्षितमित्यर्थ । प्रकारमिति । यमप्रत्ययार्थ । आपन्न इति । भूतार्थ, २१ मूळ प्राप्त्यर्थस्य प्रयोगात् । स लक्ष्यते येनेत्यादितात्पर्यकथनम् । क्रमेणोदाहरति-धनेन कुलमित्यादि । कुलकरणे धनस्य योग्यता परिदृष्टा तत्प्रत्यक्ष कुर्वन्पि तत्र हेतुरिति व्यपदिश्यते । अत्रेन वसतीति । वसनक्रियालक्षणस्य फलस्य साधनयोग्यत्वाद्दष्ट हेतु । एव विद्याकन्यातीक्ष्णानामपि तयोग्यत्वात् हेतुत्व प्रकृत्यम् । ननु यूपाय दार्वित्यादौ तादर्थ्यलक्षणे संबन्धे हेतुहेतुमद्भावस्य प्रकारभूते प्रतिपाद्ये कारणो हेतोस्तृतीया
- २५ कस्मात् भवति?, उच्यते-हेतुमतो यूपादेस्तादर्थ्यचतुर्थ्योत्पद्यमानया द्विष्टस्य संबन्धस्याभिहितत्वाद्गौणत्वाच्च संबन्धमिधाधिन्यास्तृतीयस्या अप्रवृत्ति, एव तृतीययाऽर्थाभिहिते चतुर्थ्या इति । चैत्रेण कृतं, मैत्रेण भुज्यते इति । अत्र चैत्रादि करणदिक्रियायाः कर्तृति तत्तत्तृतीयेति । दात्रेण लुनातीत्यादीनि । अत्र दात्रादिना देवदत्तादि कर्ता लवनादिक्रियां करोतीति साधकतमत्वात् दात्रादि करणमिति तत्तत्तृतीया । छात्रत्वादि कमित्यादिनेत्यभूतलक्षणार्थमुदाहरणे योजयति, अङ्गमत्वात् । सामान्यस्य भेदको धर्म-प्रकार इति मनुष्य इति सामान्यस्य भेदक-श्छात्रत्वादिको धर्म प्रकार इत्यर्थ । आदिशब्देन कुमारत्वादपिग्रह । तमापन्नस्य-प्राप्त्येत्यर्थ । कमण्डलुत्वादि-अत्राऽऽदिशब्देनाऽऽवदातवर्णोदपिग्रह । तत्र लक्षण, तेन हि स इत्यभूतो दर्शयते इति तत्तत्तृतीया । ननु कमण्डलुत्वादि लक्षणस्य हेतुत्वमप्यस्तीति तद्वारेणैव
- ३० भवित्यपि, उच्यते-न तावत् छात्रादिस्वरूप लक्षणाधीनमिति न तस्य लक्षण हेतु । छात्रादिप्रतीतेस्तु तद्वेत्तु, न चेत् तत्प्रतीति केनचिदभिधीयते । सूत्रेण त्वनेन तृतीया विधीयमाना लक्षणत्वमवयवोत्पत्तीति युक्तोऽस्याऽऽरम्भ इति । वृक्षं प्रति विद्योतनम्-अत्र विद्योतन नाम प्रकारस्तमापन्नस्य कस्यचिन्न वृक्षो लक्षणम्, “लक्षणवीप्त्येत्यभूते” इत्यादिना प्रत्यादियोगे लक्षणे द्वितीयस्या अपवादरूपाया विद्यमानत्वात् कथं
- ३३ प्रत्युदाहरणमिति चेत्, सत्यमेवैतत् जातो पदार्थ, व्यक्ती तु पर्याय स्यादिति प्रत्युदाहियते । अथवा-वृक्षं प्रतीति वृक्षस्य लक्षणत्वप्रदर्शनपरमेतत्, प्राप्तिस्त्वत्रेत्यभूतग्रहणाभावे वृक्षेण विद्योतनमिति तृतीयाप्रसक्ते प्रत्यभाष एव विज्ञायत इत्यदोष । अथेत्यभूतलक्षणे लक्ष्यवाचिशब्दस्ये प्रतिषेधो वफ्य, अन्यथा ‘कमण्डलुपाणि छात्रमद्राक्षीद्’ इति बहुव्रीहौ कृते कमण्डलुशब्दात् तृतीया
- ३६ स्यात् । न च प्रत्ययलक्षणेन “अधातुविभक्तिः” इति नामसज्ञाप्रतिषेध, “नाऽऽपद्ये” इति नलोपप्रतिषेधभाषकात् । न च तृतीयस्या लुप् प्राप्नोति समासनामावयवत्वात्, कृते समासे तस्या उत्पादात्, नैष दोष-इत्यभूतस्य लक्षणेनाप्यत्रभावात् तत्तत्तृतीया न भवति । यत्रेत्यभूतस्य लक्षण प्रथमभूत तत्र तृतीया भवति, न चात्रेत्यभूतस्य लक्षण प्रथमभूत, तथा ह्यम प्राधान्येन लक्षण निर्दिशति-इत्यभूतस्य लक्षण-
- ३९ मिति । षष्ठीतत्पुरुषस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् इत्यभूतस्य यन्नस्य प्रधान अप्राप्तोपसर्जनभाव तत्र तृतीया, यथा-कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीदिति । बहुव्रीहौ तु स्थाय्योपसर्जनान्यपदार्थमिधाधित्वात् वर्तिपदानां नास्ति लक्षणस्य प्राधान्य, अन्यपदार्थे लक्ष्यस्यैव प्राधान्यादित्याह-लक्ष्यप्रधान इत्यादि । ननु कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीदित्यादौ कमण्डलुना सह छात्रमद्राक्षीदिति सहाय्ययोगोपपत्ते “सहाय्ये” इति तृतीया सिध्यति, ४२ तदर्थमनर्थकमित्यभूतग्रहणमित्याह-सहाय्ये इत्येवेत्यादि । अयमर्थ-अत्र सहाय्ययोग समवति, तद्विवक्षाया च तृतीया सिध्यति, लक्ष्यलक्षणभावधेहाऽधिकोऽस्ति इति तत्र षष्ठीवाचयाऽनेन तृतीया विधीयत इति । ननु धान्येनार्थो धान्येनार्थीत्यादौ क्रियापदाश्रयणात् कर्तृकरणयोरभावात् षष्ठी प्राप्नोतीत्याह-हेतावित्यादि । गम्यमानक्रियापेक्षयापि कर्मादिभावदर्शनात्, यथा-प्रविश पिप्पलीमिति ॥ ४४ ॥
- ४५ सहाय्ये । अत्र गौणात् नास्त्वृतीयेति वर्तते । सहाय्ये गौणात् नास्त्वृतीयेत्यन्वय । सहस्य-सहशब्दस्यार्थो बोध-सहाय्य-तुन्य साधारणोऽप्रधानस्य प्रधानेन क्रियादिना यं संबन्ध स-तुल्ययोगः । विद्यमानता-सत्ता । ननु च विद्यमानतायामपि तुल्ययोगोऽस्त्येव, सत्ता सहीभयो-संबन्धात्, तथाहि-सहैव दशभिः पुत्रैर्मोरं वहति गर्दमीति सहैव दशभिः पुत्रैः षष्ठीति शक्य प्रतिपत्तुं, तत्र विद्यमानता चेति तुल्ययोगात् किं प्रथमप्राधीयते?, उच्यते-विवक्षितयोगाभावात् सहैव दशभिरित्यत्र वहनमात्र विवक्षितं तद्वर्तमाना एव न तस्यप्राणात्,



सहाऽऽगतः, पुत्रेण सह स्थूलः, पुत्रेण सह गोमान्, शिष्येण सह ब्राह्मणः, तिलैः सह माषान् वपति; सहैव दशभिः पुत्रै-  
 शीरं वहति गर्दभी । अर्थग्रहणात्-पुत्रेण साकम्, पुत्रेण समम्, पुत्रेण सार्धं, पुत्रेणामा, पुत्रेण युगपद्; अर्थाद्भ्रम्यमाने-  
 पुत्रेणाऽऽगतः, वृद्धो यूना, न्यक्षेण करोति; एवं काल्प्येन, साकल्येन, अनवयवेनेत्यादावपि सहार्थोऽस्ति । सुखेनास्ते, ३  
 दुःखेन जीवति, कष्टेन क्रामति, अनायासेन करोति इत्यादावास्यादिक्रियाभिः सह सुखादेः सहार्थोऽस्ति । क्रियाविशेषण-  
 त्वविवक्षायां तु द्वितीयैव-सुखमास्ते, दुःखं जीवति, कष्टं क्रामति; अनायासं करोति इत्यादि । गौणादित्येव १, सहोभौ  
 चरतो धर्मम्, चैत्रमैत्राभ्यां सह कृतमिति तु कर्तव्यं तृतीया ॥ ४५ ॥ ६

यद्भेदैस्तद्दाख्या ॥ २ । २ । ४६ ॥

यस्य-भेदिनः-प्रकारवतोऽर्थस्य भेदैः-प्रकारैर्विशेषैस्तद्गतः-तत्प्रकारवदर्थयुक्तस्याऽऽख्या-निर्देशो भवति, तद्वाचिनो  
 गौणात् नाम्नस्तृतीया भवति । अक्षणा काणः, पादेन खञ्जः, हस्तेन कुणिः, शिरसा खल्वाटः, प्रकृत्या दर्शनीयः, प्रायेण ९  
 वैयाकरणः, गोत्रेण काश्यपः, जात्या ब्राह्मणः, जात्या सुशीलः, स्वभावेनोदारः, निसर्गेण प्राज्ञः, वर्णेन गौरः, स्वर्णेन  
 शीतः, वचनेन मृदुः, रसेन स्वादुः, मुखेन सुरूपः, उरसा विशालः, बाहुभ्यां दृढः; सर्वत्र पुरुषस्तद्वान् संवध्यते ।

यथा-पुत्रेण सहाऽऽगत इत्यागमनमुभयोरपीति तुल्ययोगात् विद्यमानता पृथग्गुणाधीयते । तुल्ययोगोऽपि केनचित् क्रियादिना भवति-तत्र पुत्रेण १२  
 सहाऽऽगत इत्यत्रागमनक्रियाया पितापुत्रयोस्तुल्ययोग, पुत्रेण सह स्थूल इत्यत्र स्यात्वेन गुणेन, पुत्रेण सह गोमानित्यत्र च गोभिर्द्रव्येण, शिष्येण  
 सह ब्राह्मण इत्यत्र ब्राह्मणेन जालेति । सर्वत्राऽत्र यद्यप्युभयो क्रियादियोगस्तथाप्यागत इत्यादिशब्देनाभिधीयमान क्रियादियुक्त पित्रादिरभि-  
 धाया प्रधानमितरदप्रधानं, तत्र षष्ठां प्राप्तायां तृतीया । ननु पुत्रेण सहाऽऽगत इत्यत्र प्रधानकर्तारि कस्य विधानात् तत्रैकेन शब्देन भिन्नकक्ष- १५  
 त्वात् गुणप्रधानयो कर्तारभिधानासंभवात् प्रधाने कार्यसंप्रत्ययात् प्रधानस्यैवाभिधान न्याय्यमित्यप्रधानस्य प्रतीयमानगमिक्रियापेशकर्तृत्वाश्रयेण  
 सिद्धा तृतीया । एवं तर्हि पुत्रेण सह स्थूल इत्यादौ गुणसंबन्धप्रतिपादनपरत्वाद्दत्र क्रियाया अभावात् पुत्रस्य कर्तृत्वाभावात् तृतीया न सिध्यती-  
 त्येवमर्थम् । किंच पुत्रेण सहाऽऽगमन देवदत्तस्येत्यनया कर्तुरनभिहितत्वाद्भुवयत्र षष्ठी मा भूदप्रधाने तु तृतीया यथा स्यादित्येवमर्थं तृतीयाविधानम् । १८  
 ननु प्रधानयोरेव कर्तृकर्मणो षष्ठीत्यप्रधाने कर्तारि तृतीयैव भविष्यति, नैवम्, कृतप्रयोगे प्रधानाप्रधानकर्तारो षष्ठीदर्शनात्, यथा-भेदिका देवदत्तस्य  
 यज्ञदत्तस्य काष्ठानामित्यप्रधाने षष्ठीबाधनार्थं तृतीयाविधानम् । अथवा तिलैः सह माषान् वपतीत्यत्रोप्यमानत्वात् माषा प्रधान कर्म, तिलास्तु तथा-  
 युक्ततया वृक्षमूलानीवोपसर्पणेऽप्रधानमित्यप्रधाने कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां तृतीया विधीयते । ननु तिलैर्मिश्रीकृत्य माषा उप्यन्त इत्यन्तरत्वात् २१  
 पूर्वं मिश्रणक्रियायां तिलानां करणत्वात् पश्चाद्गणनक्रियाया कर्मत्वात् तत्र करण इत्यनेन सिद्धा तृतीया, सत्यम्, सिध्यत्येवं-यदि मिश्रीकृत्य वपति,  
 यदा तु न मिश्रणं केवलमेककालता तिलवापकाल एव माषान् वपति तदा मिश्रीकरणभावेन तिलानां करणत्वाभावाद्दत्र न सिध्यति तृतीयेति ।  
 यदा कश्चित् माषधीजाऽऽवप उपस्थितस्तदर्थं च क्षेत्रसुपार्जित, तत्राऽन्यदपि किंचिदुच्यते-यदि भविष्यति भविष्यतीति एकक्षेत्रे च षापात् सह- २४  
 योग कालभेदेऽप्यविरुद्ध इति । सहैव दशभिः पुत्रैरिति । विद्यमानतायामुदाहरणम् । अत्रापि प्रतियोगिनो नानाविभक्तियोगे तृतीयाविधान  
 द्रष्टव्यम् । ननुदाहृते सहेत्यनेनापि सिध्यति किमर्थमर्थग्रहणमित्याह-अर्थग्रहणादिति । सहशब्देन लक्षितो योऽर्थस्तस्मिन्नपि यथा स्यादित्येव-  
 मर्थमित्यर्थः । तेन सहशब्दस्याप्रयोगेऽपि तदर्थस्य सद्भावे भवति, अन्यथा सहेनेत्युच्यमाने तच्छब्दप्रयोग एव विज्ञायेत । तदप्रयोगे तदर्थसद्भावो २७  
 द्विधा भवति, पर्यायशब्दप्रयोगादर्थप्रकरणदेशे तदर्थप्रतिपत्तेर्वैयुदाहरति-पुत्रेण साकमित्यादि । अत्र पर्यायशब्दप्रयोगात् पुत्रेण आगत  
 इत्यादावर्थात् सार्थसत्तेति । सुखेनाऽऽस्त इति । अत्रापि सहार्थ एव तृतीयेत्याह-आस्यादिक्रियाभिरित्यादि । यदा तु विशेषणत्व-  
 निवन्ता तदा "क्रियाविशेषणात्" इति द्वितीयेत्याह-क्रियाविशेषणत्वेत्यादि । गौणादित्येवेति । असति गौणाधिकारे प्रधानादपि स्यादिति ३०  
 ल्यर्थः । ननु 'उपपदविभक्ते कारकविभक्तिर्बलीयस्ति' इति यथा गा खामी व्रजति-अत्र व्रजिक्रियायां गवां कर्मत्वात् तक्षिणन्धना द्वितीया "खामी-  
 श्रारो" इति प्राप्ते उपपदविभक्ते षष्ठीसप्तम्यौ बाधित्वा प्रवर्तते, तथा उभ्राधित्यत्र तृतीयासुपपदविभक्ति बाधित्वा कारकविभक्ति प्रथमा भवि-  
 ष्यति । अथ शिष्येणोपाध्यायस्य गौरित्यत्र गवापेक्षया शिष्योपाध्यायौ द्वावपि शुणौ, उपाध्यायापेक्षया तु शिष्यो गुणः, उपाध्यायस्य शब्देन गवा ३३  
 संबन्धात् शिष्यस्य तु सहयोगान्ध्यायानुपपत्त्या, तत्राऽसति गौणादिलिखिकारे उभाम्यामपि शिष्योपाध्यायान्मां षष्ठीं बाधित्वा तृतीया स्यादिति,  
 नैवम्, अत्राप्युपाध्यायस्य गवा संबन्धोऽन्तरत्वात् इत्युपाध्यायात् षष्ठीव भविष्यति, सत्यम्, अत्रानुवादाद्यं गौणादिलिखिकृत्ये इति । चैत्रमैत्रा-  
 भ्यामिति । कप्रत्ययेन कर्तुरनुक्तत्वादिति शेषः ॥ ४५ ॥

यद्भेदैस्तद्दाख्या । गौणात् नाम्नस्तृतीयायैल्लुवर्तते । यस्य भेदैरिति षष्ठीसमास, यस्सेत्यनेन च यस्य ते भेदा स भेदी निर्दिश्यते ३६  
 इत्याह-यस्य भेदिन इति । तमेवार्थं स्पष्टयति-प्रकारवतोऽर्थस्येति । भेदशब्द प्रकारवचन इत्याह-भेदैः प्रकारैरिति । पुन स्पष्ट-  
 यति-विशेषैरिति । जातौ बहुवचन, यद्भेदैर्भेदेनेत्यर्थः । तद्दाख्यायैत्यपि षष्ठीसमास इत्याह-तद्गत इति । यद्भेदैरिति यच्छब्देन निर्दिष्टो ३९  
 भेदी 'अक्षणा काण' इत्यक्षयादिरर्थस्त्वच्छब्देन निर्दिश्यते, सोऽस्यास्तीति तद्वानिति यस्य सोऽक्षयादिरर्थं स देवदत्तादिरुच्यते इत्याह-तत्प्रकार-  
 वदर्थयुक्तस्येति । स प्रकारवान् अक्षयादिरर्थं, तेन युक्तस्य देवदत्तादिरित्यर्थः । अक्षणा काण इति । अक्षि काण चाकाण च भवतीति इति  
 तद्भेदेन काण इत्यक्षिमान् देवदत्त आख्यायते, अवयवधर्मेण हि समुदायो व्यपदिश्यते यथा-आज्यमिदं नगरमित्यक्षिशब्दात् तृतीया । एव ४२  
 पादेन खञ्जः, हस्तेन कुणिरित्यादावपि द्रष्टव्यम् । 'कृष्' शब्देऽत "कृष्त्सुकृष्" उणा० ६३५ । इति किति गे-कुणि । खलन्त्यपगच्छन्ति  
 केषा अस्मादिति "कषाटविराटो" उणा० १४८ । इत्याटे निपातनात्-शिरसा खल्वाट इति । प्रकृत्या दर्शनीय इति । प्रकृति-स्वभाव,  
 स्वभावे हि दर्शनीयत्वमदर्शनीयत्व च भवति; तद्भेदेन दर्शनीय इति प्रकृतिमानाख्यायते । प्रायेण वैयाकरण इति । प्रैतीति "तन्व्यधि" ४५  
 इति गे-प्रायः, तद्भेदो वैयाकरणत्व ताकिंरुत्व च, तद्भेदेन वैयाकरण इति तद्वान् निर्दिश्यते । गोत्रेण काश्यप इति । काश्यपो माठर इति च  
 गोत्रभेदः, तेन च भेदेन गोत्रमानाख्यायते-काश्यप इति । जात्या ब्राह्मण इति । अत्राऽपि जातिभेदेन ब्राह्मणेन तद्वानिति प्रकृत्यादिभ्य-

यद्ग्रहणं प्रकृतिनिर्देशार्थम्, तत इत्याक्षेपात् । भेदग्रहणं किम्?, यष्टीः प्रवेशय, कुन्तात् प्रवेशय । तद्ग्रहणं किम्?, अक्षि काणं पश्य । आख्याग्रहणं प्रसिद्धिपरिग्रहार्थम्, तेनाऽक्ष्या दीर्घ इति न भवति । कृतभवत्यादिक्रियाऽध्याहारेण कर्तृकरणयोस्तृतीया सिद्धैव संबन्धषष्ठीनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् ॥ ४६ ॥

कृताद्यैः ॥ २ । २ । ४७ ॥

कृत इत्येवंप्रकारैर्निषेधार्थैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नस्तृतीया भवति । कृतं तेन, भवतु तेन, अलमतिप्रसङ्गेन; किं गतेन । कृतं, कृतम्, भवतु, अलम्, किम्, एवंप्रकाराः कृतादयः ॥ ४७ ॥

काले भात् नवाऽऽधारे ॥ २ । २ । ४८ ॥

काले वर्तमानात् नक्षत्रवाचिनो गौणात् नाम्न आधारे तृतीया वा भवति । पुष्येण पायसमश्रीयात्, पुष्ये पायस-  
मश्रीयात्; मघाभिः पल्लौदनम्, मघासु पल्लौदनम् । काल इति किम्?, पुष्येऽर्कः, मघासु ग्रहः, -अध्वनि मा भूत् । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्यां-चित्रायामास्ते-अत्र माणविकायां मा भूत् । भादिति किम्?, तिलपुष्पेषु यत्क्षीर,

स्तृतीयत्याह—सर्वत्रेत्यादि । ननु च प्रकृत्या दर्शनीय । प्रायेण वैयाकरण इति युक्त प्रयोग, दर्शनीयत्व हि प्राकृतं वैकृतं चास्ति वैयाकरणत्व  
२२ प्रायिकमन्यच्च, तत्रेतरव्युदासार्थं प्रकृत्या प्रायेणेति चार्थवत् । काण इत्यादिप्रयोगे तु अक्ष्येत्यादिरव्यभिचारेण प्रतीतेरयुक्त प्रयोगोऽर्थस्य गत-  
त्वात्, सच्यते—लोकोऽत्र पर्यनुयोक्तव्यो योऽर्थवतोऽनर्थकतामनपेक्ष्य प्रतीतेऽपि शब्दात् प्रयुक्ते, लोके च न सर्व एव सूक्ष्मेक्षिकयां शब्दात्  
प्रयुक्ते । यस्त्वेवं समीक्षते स न प्रयुक्ते तत्रापि चोपचरितार्थनिवृत्तिरक्ष्येत्यादिप्रयोगप्रयोजनम्, सत्यमय काणो न तूपचारेणेति । यद्ग्रहण-  
२५ मिति । अयमर्थ—यच्छब्देन तत इत्याक्षिप्यते, ततस्त्वसादिति च प्रकृतिनिर्दिश्यते—यद्भेदेऽस्त्रेदाख्या भवति ततस्तृतीया भवतीति यद्ग्रहण  
प्रकृतिनिर्देशार्थं, असति तु यदित्यास्मिन् प्रकाराद्ग्रहणप्रकृतित्वं विज्ञायते । यष्टीः प्रवेशयेति । यदि भेदग्रहण न कियते तदा येन तद्दाख्येत्यु-  
च्यमानेऽत्रापि स्यात्, अत्र हि यष्ट्यादिना तद्दानुपचारेणाख्यायते । अक्ष्या काण इत्यादौ च न स्यात्, न ह्यत्राक्ष्यादिशब्देन तद्दानु निर्दिश्यते  
२८ इतीष्टानिष्टयो लिङ्गलिङ्गर्थं भेदग्रहणम् । अक्षि काणं पश्येति । यदि तद्भेदिति नोपाधीयते तदाऽत्रापि स्यात्, काणशब्देन हि अक्षिभेदेनाक्षि  
आख्यायते, तद्ग्रहणे तु काणशब्देन नेहाऽक्षिमात् आख्यायते इति न भवति । अक्षि काणमिति द्वितीयान्तं विज्ञायते, न च गौणादिलिङ्गकारा-  
दिह न भवतीत्याशङ्कनीयम् । आख्याग्रहणमिति । यद्भेदेऽस्त्रेदाख्या यत्र लोक आचष्टे तत्र यथा स्यादिति प्रसिद्धपरिग्रहार्थं, तेन लौकिकप्रयोगा-  
२१ मानात् भवति । तद्दर्शयति—अक्ष्या दीर्घ इति न भवतीति । दीर्घ इति लोक. कायेनाचष्टे न त्वक्ष्येत्यर्थः । ननु किमर्थमिदमारभ्यते?,  
यावता 'अक्ष्या काण' इत्यादौ कृतभवत्यादिक्रियाऽध्याहारेण अक्षिग्रहणादिभ्यः कर्तृकरणलक्षणैव तृतीया भविष्यतीत्याह—कृतभवत्यादीत्यादि ।  
यद्यप्यधुना क्रियां कल्पयित्वा तदाश्रयेण करणादिकल्पनायां सिष्यत्वेन तृतीया तथापि यदा नामार्थसंबन्धो विषयव्यते क्रियामकल्पयित्वा तदा  
२४ षष्ठी मा भूत्तृतीयैव यथा स्यादित्येवमर्थः । ननु मा भूत् कर्त्रादौ तृतीया, इत्यभूतलक्षणत्वाद्भेदादेर्भविष्यति, यदाह—'इत्यभूतस्य काणस्य लक्षण  
व्यक्षि बुध्यते । ततस्तृतीया तेनैव तत्र सूत्रेण सिध्यति" ॥१॥ अत्रोच्यते—अक्ष्यादेरित्यभूतस्य काणादिलक्ष्यस्य भेदाभावात् लक्षणत्वानुपपत्तिः । यदाह  
उद्द्योतकर—'लक्षणलक्षणभावो हि भेदे सत्युपपद्यते । यथा छात्रकमण्डलोऽन्नोपाध्याययोर्था" ॥१॥, 'लक्षणादातपत्रादेस्त्र लक्ष्य तु मियते ।  
२७ इह त्वेवमसंभाव्यमभेदादक्षिकणयो" ॥२॥, 'यत्तत्काण तदेवाक्षि लक्ष्यते तत्र तेन किम् । तत्काण पुरुष इत्येतत् कथं तूपचारेत्" ॥३॥ ॥४६॥  
कृताद्यैः । गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यनुवर्तते । कृताद्यैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यन्वयः । कृतादयो न गर्गोदिगणवत् सन्निविष्ट एव  
केचन, किं तर्हि?, कृतप्रकारा शक्तितोऽवचेया इत्याह—कृत इत्येवंप्रकारैरिति । निषेधार्थशक्तित्वं च कृतादीनामनेकार्थत्वात् लक्षणतातो वा  
३० स्यात् । किं गतेनेति । नाय प्रश्ने किञ्चिद्, किं तर्हि?, निषेधे । यदा प्रश्नार्थशक्तिरेवाय, प्रकृमात्तु निषेधप्रतीति सामर्थ्याक्षिसलक्षणया न तु  
शब्दादिति युक्ततर प्रश्न ॥ ४७ ॥

काले भात् नवाऽऽधारे । अत्र गौणात् नाम्नस्तृतीयेति वर्तते । काले भात् गौणात् नाम्न आधारे तृतीया नवेत्यन्वयस्तदाह—काले

३३ वर्तमानादित्यादि । अशब्दो नक्षत्रवाचीत्याह—नक्षत्रवाचिन इति । ननु यदि नक्षत्रवाचिन इति शब्दो लक्षणत्वात् न तदानीमसौ नक्षत्र  
वक्ति, नक्षत्रोपाधिक काल, रूपसामान्याच्च तत्त्वाध्ववसाय । पुष्येण पायसमश्रीयादिति । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्त काल इति विग्रहे  
"चन्द्रयुक्ताद् काले लक्ष्यप्रयुक्ते" ६।२।६। इत्यादि, तत्रत्यापराशेन 'लक्ष्यप्रयुक्ते' इत्यनेन ह्यपि पुष्यशब्दो नक्षत्रवाची काले वर्तते; तत् आधारे  
३६ तृतीया । तद्विपुष्पक्षे सप्तमी—पुष्ये पायसमिति । एव मघासु पल्लौदनमित्याद्यपि । 'स्वार्थिकप्रत्यया नातिवर्तन्ते प्रकृतिलिङ्गवचनानि' इति  
कालेऽपि नक्षत्रशब्दो नक्षत्रलिङ्गस्य एव । अत्राप्यश्रीयादिति योज्यम् । पुष्येऽर्कः, मघासु ग्रह इति । अत्र विशिष्टतारकाय-  
च्छिन्ने क्षेत्रे पुष्यमघाशब्दौ वर्तते न काले इति तद्ग्रहणान्न भवति । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्यां-चित्रायामास्ते  
३९ इति । अत्र चित्राभिश्चन्द्रयुक्तामिर्युक्त काल इति पूर्ववदण् तद्ग्रहणम्, ततश्चित्रासु जाता इति विग्रहे "मर्तुष्यदेरण्" ६।३।८९।  
इत्यण् "चित्रारेववीरोद्विष्या क्रियाम्" ६।३।१०८। इति तद्ग्रहणम् । "अथादेर्गौणस्याकिपस्तदित्तद्ग्रहणयोगीस्यो" इत्याकारनिष्ठतां पुन  
"कात्" इत्याप् । इदानीं यद्यपि चित्राशब्दो माणविकाया वर्तमान कालमनुपाधित्वेनान्यत् तत्र बाष्प श्रुते समाव्यते, तथापि काल  
४२ इति सप्तम्या शब्दप्रवृत्तेराधारत्वेन कालो निर्दिश्यते । इह च चित्रायामास्ते इति तत्कालजातायां माणविकायां नक्षत्रशब्दस्य श्रुतिर्न  
तु काले । यद्यपि च विशेषणत्वेन प्रतीयमानत्वात् कालेऽपि श्रुति समाव्यते तथापि तत्र कालस्य गौणत्वात् "गौणस्ययोगेण सुभ्ये चार्थ-  
सप्रत्ययात्" न भवति । तिलपुष्पेषु यत्क्षीर तिलच्छेदेषु यद्ग्रह इति । अत्र तिलपुष्पविलच्छेदशब्दानुपचारेण यत्र विला पुष्पन्ति

तिलच्छेदेषु यद्दधि;—अत्र तिलपुष्पतिलच्छेदशब्दौ स्वाऽवच्छिन्ने काले वर्तते इति प्राप्नोति । आधार इति किम् ? अद्य पुष्यं विद्धि । स्थाल्या पच्यते इत्यादिवत् आधारस्य करणविवक्षायां तृतीया सिध्यति, संबन्धविवक्षायां तु षष्ठी मा भूदिति वचनम् ॥ ४८ ॥

### प्रसितोत्सुकावबद्धैः ॥ २ । २ । ४९ ॥

एतैर्युक्तादाधारे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया वा भवति । केशैः प्रसितः, केशेषु प्रसितः;—प्रकर्षेण सितो बद्धः प्रसितः, नित्यप्रसक्त इत्यर्थः; गृहेणोत्सुकः, गृहे उत्सुकः, केशैरवबद्धः, केशेष्ववबद्धः । आधार इत्येव ? मनसा प्रसितः, मनसोत्सुकः, मनसाऽवबद्धः; करणतृतीयाया विकल्पो मा भूत् । अवबद्धोत्सुकशब्दसाहचर्यात्तदर्थ एव प्रसितशब्दोऽत्र गृह्यते । पूर्ववत् षष्ठीबाधनार्थं वचनम् । बहुवचनमेकद्विवहाविति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥ ४९ ॥

### व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् ॥ २ । २ । ५० ॥

व्याप्ये वर्तमानेभ्यो द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया वा भवति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति, द्विद्रोणं द्विद्रोण क्रीणाति;—तृतीया वीप्सायां विहितेति तृतीयान्तस्य पदस्य द्विर्वचन न भवति, द्वितीया तु कर्मणि विहिता न वीप्सायामतस्तदन्यस्य द्विर्वचनं भवति । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणाति, पञ्चकं पञ्चकं क्रीणाति, सहस्रेणाऽश्वान् १२ क्रीणाति, सहस्रं सहस्रं क्रीणाति । द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्याः ॥ ५० ॥

### समो ज्ञोऽस्मृतौ वा ॥ २ । २ । ५१ ॥

अस्मृतौ वर्तमानस्य सपूर्वस्य जानातेर्यद्वाप्यं तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया वा भवति । मात्रा संजानीते, मातरं १५ संजानीते । सम इति किम् ? मातर जानाति । ज्ञ इति किम् ? मातरं संवेत्ति । अस्मृताविति किम् ? मातरं संजानाति,

छिद्यन्ते वा तस्मिन् काले वर्तते, न तु नक्षत्रशब्दाविति भादिति वचनात् न भवति । अद्य पुष्यं विद्धि—अत्र नक्षत्रवाचिन शब्दस्य काले वर्तमानत्वेऽप्यधार इति वचनात् कर्मणस्तृतीया न भवति । स्थाल्या पच्यत इत्यादिवदिति । आधारस्य करणविवक्षा यथा—स्थाल्या पच्यत १८ इति, आधारो हि स्थाली पाकस्य करणभावेनापि निर्दिश्यते, वस्तुनोऽनेकशक्तियुक्तत्वात् किमर्थमेतदारभ्यते इत्याक्षेपार्थं । यथैवाऽऽधारस्य करणविवक्षाऽस्ति, तथा सचन्धविवक्षाऽपि । यथा—शृङ्गे शाखा, वृक्षस्य शाखेति । तत्रेह षष्ठी मा भूत् तृतीया यथा स्यादित्येवमर्थं वचनमिति ॥४८॥

प्रसितोत्सुकावबद्धैः । अत्र आधारे इति नवेति गोणात्तस्तृतीयेति चाजुवर्तते । प्रसितोत्सुकावबद्धैर्युक्तादाधारे गौणात् नाम्नस्तृतीया २१ नवेत्यन्वयस्वदाह—एतैर्युक्तादित्यादि । प्रसितशब्दोऽयं गुणवचनोऽप्यस्ति—प्रकृष्टं सितं शुक्रं इति । क्रियावचनोऽप्यस्ति—य स्यते. सिनोतेर्वा भवतीति । तत्रोत्सुकावबद्धशब्दसाहचर्यात् तदर्थं सिनोतिरेव क्तान्तो गृह्यते इति । प्रकर्षेण सितो बद्ध इति कथैवमुच्यत इत्याह—नित्यप्रसक्त इत्यर्थे इति । मुख्यस्य व्यतिषङ्गरूपस्य बन्धनस्याभावात् सादृश्यात् गौणार्थपरिग्रहात् य केशसकारे सक्तं स तत्र बद्ध इव भवति । यो हि २४ यत्र प्रसक्तं स तत्र बद्ध इव भवति । प्रसितत्वमुत्सुकत्वमवबद्धत्वं च केशविषयमिति सप्तम्यधिकरण एव सिद्धां पक्षे तृतीयाविधानार्थं वचनम् । विकल्पो मा भूदिति । अत्रापि करणविवक्षया तृतीयासिद्धौ पूर्ववत् समाधातव्यम् । ननु प्रसितशब्दस्य गुणवचनस्य क्रियार्थस्य च समवायुभयार्थसापि प्रहणप्रसङ्गं, न च गुणवचनस्य तृतीयेष्यते, न च नियानकमस्तीत्याह—अवबद्धेत्यादि । उत्सुकशब्दोऽवबद्धार्थश्रुतिरिति । पूर्ववदि- २७ त्यादि । गतार्थमिति । ननु समाहारद्वन्द्वमात्रिण्य 'प्रसितोत्सुकावबद्धेन' इति निर्दिष्टव्ये किमर्थं बहुवचननिर्देश इत्याह—बहुवचनमित्यादि ॥४९॥

व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् । तृतीयेति नवेति गौणात् नाम्न इति च अर्थवशात् वचनविपरिणतं वर्तते । व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया नवेत्यन्वयस्वदाह—व्याप्ये वर्तमानेभ्य इत्यादि । द्विद्रोणेनेति । इवते "द्रोर्वा" उणा० ८४ । इति ३० गे—द्रोण, द्वयोर्द्रोणयो समाहारो द्विद्रोण पात्रादित्वात् स्त्रीत्वाभावः ; अत्र द्रोणो व्रीहिराठको व्रीहिरिति वत् द्विद्रोणशब्दो मेयवृत्तित्वेन धान्यस्य समानाधिकरणो द्विद्रोणशब्दः । द्रोणद्वयसघातं धान्यं क्रीणातीत्यर्थः । अत्र श्रूयमाणक्रीणातिक्रियाव्याप्यत्वात् द्रोणादर्धान्याद्विशेषणत्वात् द्वितीयायां प्राप्तायां तृतीयाविधिः । ननु वीप्सायां तृतीयाविधानं, न च वीप्सा तृतीयान्तस्य दृश्यते, तत्कथमिदमित्याह—तृतीया वीप्सायामि- ३३ त्यादि । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणातीति । पञ्च मानमस्य "संख्याया संघसूत्रपाठे" ६।४।१७१। इति यथाविहितं "सख्याब्देत्वाशसिष्टे क." इति क, पञ्चकं पञ्चकं संघं पशून् क्रीणातीत्यर्थः । पञ्चकं पञ्चकमित्यत्र पञ्चसामानाधिकरण्येऽपि पञ्चकशब्दाद् ब्राह्मणा संघ इतिवत् एकवचनम् । एव सहस्रेणाश्वान् क्रीणातीत्यादिपि । आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् येभ्यो वीप्सायां प्रयोगे तृतीया दृश्यते ते द्विद्रोणादयः, न तु गर्गादिवत् ३६ सन्नविष्टा इत्याह—द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्या इति ॥ ५० ॥

समो ज्ञोऽस्मृतौ वा । व्याप्ये इति गोणात्तस्तृतीयेति चाजुवर्तते । अस्मृतौ सम ज्ञो यद्वाप्यं तत्र गौणात् नाम्नस्तृतीया नवेत्यन्वयस्वदाह—अस्मृतौ वर्तमानस्य सपूर्वस्य जानातेरिति । मात्रा संजानीते इति । 'ज्ञांश्' अवबोधने—संपूर्वं, "संप्रतेरस्मृतौ" ३२ ३।२।१५। इत्यात्मनेपदम्, ज्यादित्वात् श्राप्रत्यय, "जा ज्ञानोऽज्यादौ" ४।२।१०४। इति आदेश, "एषामीर्व्यञ्जनेऽद्" ४।२।१७। इतीत्वं च । मातरं जानाति—प्रतिपद्यत इत्यर्थः, सम इति वचनात् स्मृतौ तृतीयाया अभावात् "स्मृत्यर्थदयेशः" इति पाक्षिके कर्मत्वे कर्मणि द्वितीया,

यद्ग्रहणं प्रकृतिनिर्देशार्थम्, तत् इत्याक्षेपात् । भेदग्रहणं किम्?, यष्टीः प्रवेशाय, कुन्तान् प्रवेशय । तद्द्वहणं किम्?, अक्षि काणं पश्य । आख्याग्रहणं प्रसिद्धिपरिग्रहार्थम्, तेनाऽक्ष्या दीर्घ इति न भवति । कृतमवत्यादिक्रियाऽध्याहारोऽप्यकर्तृकरणयोस्तृतीया सिद्धैव संचन्वपष्टीनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् ॥ ४६ ॥

कृताद्यैः ॥ २ । २ । ४७ ॥

कृत इत्येवप्रसौरनिषेधार्थंयुक्ताद् गौणात् नामस्तृतीया भवति । कृत तेन, भवतु तेन; अलमतिप्रसङ्गेन; किं गतेन । कृतम्, कृतम्, भवतु, अलम्, किम्; एवप्रकाराः कृतादयः ॥ ४७ ॥

काले भात् नवाऽऽधारे ॥ २ । २ । ४८ ॥

काले वर्तमानात् नक्षत्रवाचिनो गौणात् नाम आभारे तृतीया वा भवति । पुष्येण पायसमश्रीयात्, पुष्ये पायसमश्रीयात्; मघाभि. पल्लौदनम्, मघासु पल्लौदनम् । काल इति किम्?, पुष्येऽर्कः, मघासु ग्रहः—अध्वनि मा भूत् । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्या—चित्रायामास्ते—अत्र माणविकायां मा भूत् । मादिति किम्?, तिलपुष्येषु यत्कीर,

स्तृतीयत्वाद्—सर्घेत्वेत्यारि । ननु च प्रकृता दर्शनीयः प्रायेण चैवाकरण इति युक्त प्रयोग, दर्शनीयत्वं हि प्राकृत वैकृतं चास्ति वैयाकरणत्व २२ प्रायिरमन्यस्य, तथैतरव्युदासार्थं प्रकृता प्रायेणेति चार्थवत् । काण इत्यादिप्रयोगे तु अक्षेपादिरव्यभिचारेण प्रतीतेरयुक्त प्रयोगोऽप्यस्य गतत्वात्, उच्यते—लोकोऽत्र पर्ययुक्तयो योऽर्थवतोऽनर्थकतामनपेक्ष्य प्रतीतेऽपि घान्दान् प्रयुक्ते, लोके च न सर्व एव सूक्ष्मेक्षिकयां शब्दान् प्रयुक्ते । यस्त्वेव समीक्षते स न प्रयुक्ते तत्रापि चोपचरितार्थनिवृत्तिरक्षेपादिप्रयोगप्रयोजनम्, सत्यमय काणो न रूपचारेणेति । यद्ग्रहण- २५ मिति । धयमर्थ—यच्छब्देन तत् इत्याक्षिप्यते, तत्तत्स्वसादिति च प्रकृतिनिर्दिश्यते—यद्भेदैस्त्वद्भेदाख्या भवति तत्तत्तृतीया भवतीति यद्ग्रहणं प्रकृतिनिर्देशार्थं; अस्ति तु यदित्यास्ति प्रकराद्गणनप्रकृतित्वं विज्ञायेत । यष्टीः प्रवेशयेति । यदि भेदग्रहणं न क्रियते तदा येन तद्ग्रहणेत्युच्यमानेऽत्रापि स्यात्, अत्र हि यथादिना तद्ग्रहणचारेणख्यायते । अक्ष्या काण इत्यादौ च न स्यात्, न यथाख्यादिशब्देन तद्ग्रहणं निर्दिश्यते २८ तृतीयानिष्ठयो विद्यारविद्यार्थं भेदग्रहणम् । अक्षि काणं पश्येति । यदि तद्ग्रहणं नोपादीयते तदाऽत्रापि स्यात्, काणशब्देन हि अक्षिभेदेनाक्षि आख्यायते, तद्ग्रहणं तु काणशब्देन नेहाऽक्षिमात् आख्यायते इति न भवति । अक्षि काणमिति द्वितीयान्तं विज्ञायते, न च गौणादित्यधिकारादि न भवतीत्याशङ्कनीयम् । आख्याग्रहणमिति । यद्भेदैस्त्वद्भेदं यत्र लोक आचष्टे तत्र यथा स्यादिति प्रसिद्धपरिग्रहार्थं, तेन लोकिकप्रयोगा- २२ भावात् भवति । तद्दर्शयति—अक्ष्या दीर्घ इति न भवतीति । दीर्घ इति लोक कायेनाचष्टे न त्वक्षेपार्थं । ननु किमर्थमिदमारभ्यते?, यापता 'अक्ष्या काण' इत्यादौ कृतमवत्यादिक्रियाऽध्याहारेण अक्षिष्यन्दादिभ्य कर्तृकरणलक्षणैव तृतीया भविष्यतीत्याह—कृतमवत्यादीत्यादि । यद्यप्युच्यतां क्रियां फलपयित्वा तदाश्रयेण करणादिकल्पनायां सिध्यत्येव तृतीया तथापि यदा नामार्थसंबन्धो विवक्ष्यते क्रियामकल्पयित्वा तदा २४ पष्टी मा भूत्तृतीयैव यथा स्यादित्येवमर्थः । ननु मा भूत् कर्त्रादौ तृतीया, इत्यभूत्लक्षणत्वाद्दक्ष्यादेर्भविष्यति, यदाह—'इत्यभूत्स काणस्य लक्षणं ष्यति बुध्यते । तत्तत्तृतीया तेनैव तत्र सूत्रेण सिध्यति' ॥१॥ अत्रोच्यते—अक्ष्यादेरित्यभूत्स काणादिलक्ष्यस्य भेदाभावात् लक्षणत्वानुपपत्तिः । यदाह उद्घोषोत्तर—'लक्ष्यलक्षणभावो हि भेदे सत्युपपद्यते । यथा छात्रकमण्डलोद्घोषोपाध्याययोर्थया' ॥१॥, 'लक्षणादात्तपत्रादेस्त्र लक्ष्यं बुमिद्यते । २७ इह त्वेवमसमाव्यमभेदादक्षिकाणयो' ॥२॥, 'यत्तत्काणं तदेवाक्षि लक्ष्यते तत्र तेन किम् । तत्काणं पुत्र इत्येतत् कथं रूपचारत' ॥३॥ ॥४६॥

कृताद्यैः । गौणात् नामस्तृतीयैत्यनुवर्तते । कृताद्यैर्युक्ताद् गौणात् नामस्तृतीयैत्यन्वयः । कृतादयो न गर्गादिगणवत् सन्निविष्टा एव केचन, किं तर्हि?, कृतप्रकारा शक्तितोऽवसेया इत्याह—कृत इत्येवंप्रकारैरिति । निषेधार्थंश्रुतित्वं च कृताधीनामनेकार्थत्वात् लक्षणतो वा ३० स्यात् । किं गतेनेति । नायं प्रश्ने किंशब्द, किं तर्हि?, निषेधे । यद्वा प्रश्नार्थंश्रुतेरेवाय, प्रकृमात्तु निषेधप्रतीति सामर्थ्याक्षितलक्षणया न तु शब्दादिति युक्ततर प्रश्न ॥ ४७ ॥

काले भात् नवाऽऽधारे । अत्र गौणात् नामस्तृतीयैति वर्तते । काले भात् गौणात् नाम आधारे तृतीया नवेत्यन्वयस्त्वदाह—काले

३३ वर्तमानादित्यादि । मशब्दो नक्षत्रवाचीत्याह—नक्षत्रवाचिन इति । ननु यदि नक्षत्रवाचिन इति शब्दो लक्षणत्वात् न तदानीमसौ नक्षत्रं वक्ति, नक्षत्रोपाधिक काल, रूपसामान्याद्य तत्त्वाप्यवसाय । पुष्येण पायसमश्रीयादिति । पुष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्त काल इति विग्रहे 'चन्द्रयुक्तात् काले छन्दप्रयुक्ते' ६।२।६। इत्यणि, तत्रत्यापाराशेन 'छन्दप्रयुक्ते' इत्यनेन छपि पुष्यशब्दो नक्षत्रवाची काले वर्तते, तत् आधारे ३६ तृतीया । तद्वियुक्तपक्षे सप्तमी—पुष्ये पायसमिति । एव मघासु पल्लौदनमित्याद्यपि । 'स्वार्थिकप्रत्यया नातिवर्तन्ते प्रकृतिलिङ्गवचनानि' इति कालेऽपि नक्षत्रशब्दो नक्षत्रलिङ्गसंख्य एव । अत्राप्यश्रीयादिति योज्यम् । पुष्येऽर्कः, मघासु ग्रह इति । अत्र विशिष्टतारकावच्छिद्ये क्षेत्रे पुष्यमघाशब्दौ वर्तते न काले इति तद्ग्रहणाद्य भवति । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्या—चित्रायामास्ते ३९ इति । अत्र चित्राभिश्चन्द्रयुक्तानिर्गुक्त काल इति पूर्ववत् तद्ग्रहणं, तत्तत्तद्ग्रहणं जाता इति विग्रहे 'मर्त्यसंप्यादेरप्य' ६।३।८९। इत्यण् 'चित्रारेवतीरोहिण्या त्रियाम्' ६।३।१०८। इति तद्ग्रहणं । 'कथादेर्गौणस्याकिपस्त्वदित्छक्यगोणीस्यो' इत्याकारनिष्ठौ पुन- 'आत्' इत्याप् ॥ इदानीं यद्यपि चित्राशब्दो माणविकायां वर्तमान कालमप्युपाधित्वेनादत्ते तत्र चास्य श्रुतिः समाव्यते, तथापि काल ३९ इति सप्तम्या शब्दप्रकृतेराधारत्वेन कालो निर्दिश्यते । इह च चित्रायामास्ते इति तत्कालजातायां माणविकायां नक्षत्रशब्दस्य श्रुतिर्न तु काले । यद्यपि च विशेषणत्वेन प्रतीयमानत्वात् कालेऽपि श्रुतिः समाव्यते तथापि तत्र कालस्य गौणत्वात् 'गौणमुख्ययोश्च मुख्ये कार्य-समप्रत्ययात्' न भवति । तिलपुष्येषु यत्कीर तिलच्छेदेषु यद्दधि इति । अत्र तिलपुष्यतिलच्छेदशब्दानुपचारेण यत्र तिला पुष्यन्ति

तिलच्छेदेषु ग्रहधिः—अत्र तिलपुष्पतिलच्छेदशब्दौ स्वाऽवच्छिन्ने काले वर्तेते इति प्राप्नोति । आधार इति किम् ? अद्य पुष्यं विद्धि । स्थाल्या पच्यते इत्यादिवत् आधारस्य करणविवक्षायां तृतीया सिध्यति, संबन्धविवक्षायां तु षष्ठी मा भूदिति वचनम् ॥ ४८ ॥

### प्रसितोत्सुकावबद्धैः ॥ २ । २ । ४९ ॥

एतैर्युक्तादाधारे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया वा भवति । केशैः प्रसितः, केशेषु प्रसितः—प्रकर्षेण सितो बद्धः प्रसितः, नित्यप्रसक्त इत्यर्थः; गृहेणोत्सुकः, गृहे उत्सुकः; केशैरवबद्धः, केशेष्ववबद्धः । आधार इत्येव ? मनसा प्रसितः, मनसोत्सुकः, मनसाऽवबद्धः; करणतृतीयाया विकल्पो मा भूत् । अवबद्धोत्सुकशब्दसाहचर्यात्तदर्थ एव प्रसितशब्दोऽत्र गृह्यते । पूर्ववत् षष्ठीवाचनार्थं वचनम् । बहुवचनमेकद्विवहाविति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥ ४९ ॥

### व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् ॥ २ । २ । ५० ॥

व्याप्ये वर्तमानेभ्यो द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया वा भवति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति, द्विद्रोणं द्विद्रोण क्रीणाति—तृतीया वीप्सायां विहितेति तृतीयान्तस्य पदस्य द्विवचनं न भवति, द्वितीया तु कर्मणि विहिता न वीप्सायामतस्तदन्यस्य द्विवचनं भवति । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणाति, पञ्चकं पञ्चकं क्रीणाति, सहस्रेणाऽश्वान् १२ क्रीणाति, सहस्रं सहस्रं क्रीणाति । द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्याः ॥ ५० ॥

### समो शोऽस्मृतौ वा ॥ २ । २ । ५१ ॥

अस्मृतौ वर्तमानस्य संपूर्वस्य जानातेर्यद्वाप्यं तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया वा भवति । मात्रा संजानीते, मातर १५ संजानीते । सम इति किम् ? मातरं जानाति । ज्ञ इति किम् ? मातरं सवेति । अस्मृताविति किम् ? मातरं संजानाति,

छिद्यन्ते वा तस्मिन् काले वर्तेते, न तु नक्षत्रशब्दाविति मादिति वचनात् न भवति । अद्य पुष्यं विद्धि—अत्र नक्षत्रवाचिन शब्दस्य काले वर्तमानत्वेऽप्याधार इति वचनात् कर्मणस्तृतीया न भवति । स्थाल्या पच्यते इत्यादिवदिति । आधारस्य करणविवक्षा यथा—स्थाल्या पच्यते १८ इति, आधारो हि स्थाली पाकस्य करणभावेनापि निर्दिश्यते, वस्तुनोऽनेकशक्तियुक्त्वात् किमर्थमेतदारभ्यते इत्याक्षेपार्थः । यथैवाऽऽधारस्य करणविवक्षाऽस्ति, तथा संबन्धविवक्षाऽपि । यथा—वृक्षे शाखा, वृक्षस्य शाखेति । तत्रेह षष्ठी मा भूत् तृतीया यथा स्यादित्येवमर्थं वचनमिति ॥४८॥

प्रसितोत्सुकावबद्धैः । अत्र आधारे इति नवेति गौणात्तस्तृतीयेति चानुवर्तते । प्रसितोत्सुकावबद्धैर्युक्तादाधारे गौणात् नाम्नस्तृतीया २१ नवेत्यन्वयस्त्वदाह—एतैर्युक्तादित्यादि । प्रसितशब्दोऽयं गुणवचनोऽप्यस्ति—प्रकृष्ट- सित शुक्ल इति । क्रियावचनोऽप्यस्ति—य. स्यते. सिनोतेर्वा भवतीति । तत्रोत्सुकावबद्धशब्दसाहचर्यात् तदर्थं सिनोतिरेव कान्तो गृह्यते इति । प्रकर्षेण सितो बद्ध इति कथैवमुच्यत इत्याह—नित्यप्रसक्त इत्यर्थे इति । मुख्यस्य व्यतिपन्नरूपस्य बन्धनस्याभावात् सादृश्यात् गौणार्थपरिग्रहात् च केशसंस्कारे सक्तं स तत्र बद्ध इव भवति । यो हि २४ यत्र प्रसक्तं स तत्र बद्ध इव भवति । प्रसितत्वमुत्सुकत्वमवबद्धत्वं च केशविषयमिति सामान्यधिकरण एव सिद्धा पक्षे तृतीयाविधानार्थं वचनम् । विकल्पो मा भूदिति । आज्ञापि करणविवक्षया तृतीयासिद्धौ पूर्ववद् समाधातव्यम् । ननु प्रसितशब्दस्य गुणवचनस्य क्रियार्थस्य च समवाहुम-यार्थस्यापि ग्रहणप्रसङ्गं, न च गुणवचनस्य तृतीयेष्यते, न च नियामकमस्तीत्याह—अवबद्धेत्यादि । उत्सुकशब्दोऽवबद्धार्थवृत्तिरिति । पूर्ववदि- २७ त्यादि । गतार्थमिति । ननु समाहारद्वन्द्वमाश्रित्य 'प्रसितोत्सुकावबद्धेन' इति निर्देश्ये किमर्थो बहुवचननिर्देश इत्याह—बहुवचनमित्यादि ॥४९॥

व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् । तृतीयेति नवेति गौणात् नाम्नस्तृतीया इति च अर्थवशात् वचनविपरिणतं वर्तते । व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया नवेत्यन्वयस्त्वदाह—व्याप्ये वर्तमानेभ्य इत्यादि । द्विद्रोणेनेति । इवते "द्रोणी" णा० ८४ । इति ३० णे-द्रोण, द्वयोर्द्रोणयो समाहारो द्विद्रोण याम्नादित्वात् क्रीत्वाभावः ; अत्र द्रोणे क्रीदिरादको क्रीदिरितिवत् द्विद्रोणशब्दो भेद्यवृत्तिस्तेन धान्यस्य समानाधिकरणो द्विद्रोणशब्दः । द्रोणद्वयसघातं धान्यं क्रीणातीत्यर्थः । अत्र श्रूयमाणक्रीणातिक्रियाव्याप्यत्वात् द्रोणादेर्धान्यादिविशेषणत्वात् द्वितीयाया प्राप्त्या तृतीयाविधिः । ननु वीप्सायां तृतीयाविधानं, न च वीप्सा तृतीयान्तस्य दृश्यते, तत्कथमिदमित्याह—तृतीया वीप्सायामि- ३३ त्यादि । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणातीति । पञ्च मानसस्य "सख्याया सघसूत्रपाठे" ६।४।१७१। इति यथाविहितं "सख्याधत्तेक्षाशक्तिष्ठे क" इति क, पञ्चकं पञ्चकं सघं पञ्चकं क्रीणातीत्यर्थः । पञ्चकं पञ्चकमित्यत्र पशुसामानाधिकरण्येऽपि पञ्चकशब्दाद् ब्राह्मणा सघ इतिवत् एकवचनम् । एव सहस्रेणाश्वान् क्रीणातीत्यापि । आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वात् येभ्यो वीप्सायां प्रयोगे तृतीया दृश्यते ते द्विद्रोणादयः, न तु गगादिवत् ३६ सञ्जिविष्टा इत्याह—द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्या इति ॥ ५० ॥

समो शोऽस्मृतौ वा । व्याप्ये इति गौणात्तस्तृतीयेति चानुवर्तते । अस्मृतौ सम शो यक्ष्याप्यं तत्र गौणात् नाम्नस्तृतीया वेत्यन्वयस्त्वदाह—अस्मृतौ वर्तमानस्य संपूर्वस्य जानातेरिति । मात्रा संजानीते इति, 'ज्ञाश्' अवबोधने-सपूर्व, "संप्रतेरस्मृतौ" ३५ ३।३।६। इत्यात्मनेपदम्, क्र्यादित्वात् श्रापत्यय, "जा ज्ञाजोऽत्यादौ" ४।२।१०४। इति जादेश, "एषामीर्ष्यन्नेऽद्" ४।२।७। इतीत्वं च । मातरं जानाति—प्रतिपद्यत इत्यर्थः, सम इति वचनात् स्मृतौ तृतीयाया अभावात् "स्मृत्यर्थदेशः" इति पाक्षिके कर्मत्वे कर्मणि द्वितीया,

मातुः संजानाति; स्मरतीत्यर्थः । व्याप्य इत्येव ? मातरं स्वरेण संजानीते,—करणे विकल्पो न भवति । मातुः संज्ञातेति कृति परत्वात् पृष्ठी । नवाऽधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र तन्निवृत्त्यर्थम् ॥ ५१ ॥

३

दामः संप्रदानेऽधर्म्य आत्मने च ॥ २ । २ । ५२ ॥

संपूर्वस्य दामः संप्रदानेऽधर्म्यरूपे वर्तमानात् नाम्नस्तृतीया भवति, तत्संनियोगे च दाम आत्मनेपदं भवति । दास्या संप्रयच्छते, वृपत्या संप्रयच्छते;—कामुकः सन् द्रव्य दास्यै ददातीत्यर्थः । दाम इति किम् ? दास्यै संददाति । संप्रदान इति किम् ? द्रव्यं वृपत्या संप्रयच्छते, कर्मणि मा भूत् । अधर्म्य इति किम् ? पत्न्यै संप्रयच्छति । सम इत्येव ? दास्यै प्रयच्छति । इह संपूर्वस्य दामः प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाऽभावात् तद्व्यवधानेऽपि भवति ॥ ५२ ॥

चतुर्थी ॥ २ । २ । ५३ ॥

१ संप्रदाने वर्तमानाद् गौणात् नाम्नो देभ्याम्यसृक्षणैकद्विवहौ ययासंख्यं चतुर्थी विभक्तिर्भवति । द्विजाय गां ददाति, शिष्याभ्यां धर्ममुपदिशति, मुनिभ्यो भिक्षां ददाति, पसे शेते, राज्ञे विज्ञपयति, राज्ञे दण्डं दैदाति । संप्रदान इत्येव ? अजां नयति ग्रामम् ॥ ५३ ॥

१२ अन्यत्र पृष्ठी । स्मरतीत्यर्थं इत्यनेन अस्मृतावित्यास्य व्यवच्छेदां स्मृत्यर्थतां दर्शयति । मातर स्वरेण संजानीते—नन्वत्र मातरमिति व्याप्य-मत्स्येव, तत्कथमिदं व्याप्य इत्यस्मानुवर्तमानस्य स्यात् प्रत्युदाहरणमिति ? अथ स्वरेणेत्यत्र न भवतीति चेन्न—अत्र तृतीयाया सिद्धत्वादित्याह—करणे विकल्पो न भवतीति । यद्यत्र व्याप्य इति नानुवर्तते तदाऽनेन विधीयमानस्तृतीयाविकल्प सामान्यविहितत्वात् करणेऽपि स्यात् ।  
१५ मातुः संज्ञातेति । अत्र कृत्ययोगे इय तृतीया च प्राप्नोति “कर्मणि कृत ” इति पृष्ठी च, उभय चान्यत्र सावकाशं, तत्रोभयप्राप्ती परत्वात् पञ्चमे भवतीत्याह—कृतीत्यादि । नवाऽधिकार इति । नवाधिकारेणैव विकल्पस्य लब्धत्वात् तदर्थं वाग्रहणमुत्तरत्र नवाधिकारनिवृत्त्यर्थमिति, वेनोत्तरो नित्य एव विधिरित्यर्थं । कर्मण करणविवक्षायां पक्षे तृतीयाया द्वितीयायाश्च सिद्धत्वात् सूत्रारम्भवैभक्त्यात् प्रत्युदाहरणेषु कृत्ययोगे  
१८ चैवं तृतीया स्यादत कर्मणि तद्विवक्षान्युदाधर्मय पक्षिकस्तृतीयारंभ ॥ ५१ ॥

दामः संप्रदानेऽधर्म्य आत्मने च । नाम्नस्तृतीयेत्यनुवर्तते । सम इत्यनुवर्तमानेन दाम इति विशिष्यते, तथा चायमन्वय—समो दाम संप्रदाने अधर्म्यं वर्तमानात् नाम्नस्तृतीया, दाम आत्मने चेति । तदाह—संपूर्वस्येत्यादि । अधर्म्यरूप इति । अधर्म—शास्त्रविषिद्ध  
१३ इत्यर्थं । आत्मनेपदस्य दामप्रकृतिर्विज्ञायत इत्याह—तत्संनियोगे च दाम आत्मनेपदमिति । दास्या संप्रयच्छते इति । दावी दान-क्रियाकर्मणाऽप्राप्तिरित्येति तत्तस्तृतीया, संप्रयच्छत इति सम्प्र इत्युपसर्गपूर्वात् ‘दाम’दाने, इत्यतोऽनेन वर्तमानाऽऽत्मनेपदं दे, मन्थे घञ्, “श्रौति-कृत्वुषिबु०” ४।२।१०।८। इति दामो यच्छादेना । कामुकः सन्नित्यादिना घात्वर्थस्याचमतां दर्शयति । दास्यै संददातीति वृ “डदांङ्”  
२५ दाने, संपूर्वस्येत्येति, “द्वः शिति” ४।१।१२। इति द्विवचन, नाऽय दामिति नाऽत्र तृतीया नाप्यात्मनेपदमिति । द्रव्यं वृपत्या संप्रयच्छते इति । अत्राऽऽसति संप्रदाने इति व्याप्य इत्यनुवृत्ते क्रियाव्याप्यत्वात् द्रव्यात् तृतीया प्रसज्येतेत्याह—कर्मणि मा भूदिति । पत्न्यै संप्रयच्छति—पत्न्यै दान नाधर्म्यं इत्यत्र न भवति । दास्यै प्रयच्छतीति । सम इत्यनुवृत्तेरत्र न भवति । ननु सम इति परदिग्योगलक्षणा  
२७ पञ्चमी, तत्तच्च “पञ्चम्या निदिष्टे परस्य” तन्धानन्तरस्येति “समो षोऽस्तृती” इत्यत्र व्यवधाने सति न भवति तत्कथं संप्रयच्छत इति प्रश्नान्धेन व्यन-धाने विधिरित्याह—इह संपूर्वस्येत्यादि । इहाऽसिन् सृजे प्रशब्देन समो व्यवधानेऽपि विधिरभवति, कृत—प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाभा-वात् । न हि तद्व्यवधानमन्तरेण संपूर्वस्य दाम संयच्छतीति प्रयोग, यत्र त्वत्किं तत्र यमेरेव । एवं च ‘येन नाऽव्यवधाने तेन व्यदहितेऽपि’  
२० इति वचनप्राप्ताप्यात् प्रशब्देन व्यवधानमाश्रीयत इति । यद्वा सम इति पूर्वत्र पञ्चम्यन्तमपीह लक्ष्यवशात् प्रश्नान्धेन विज्ञायते, तत्र व्यवधानेऽपि समा बोध्यमानार्थत्वात् दाम सकन्धोपपत्तेर्भवेत्येव विधि । ननु अनेन ब्राह्मणेन दानं प्रकृतमित्यादिवत् संप्रदानस्य करणत्वविवक्षायां ‘दास्या संप्रयच्छते’ इत्यादौ तृतीयोपपत्ते क्रिमर्थमिदमारभ्यते ? यद्वा सहाय्ये इय तृतीया, तथाहि—दास्यै स्वयं धनं ददाति साप्यात्मानं तस्यै ददातीति  
३३ दानपूर्वके वा संभोगे दाम् वर्तते—दत्त्वा दास्या सह संयुक्ते इति । एवं चात्र क्रियाव्यतिहारोपपत्तेस्तद्द्वारेणैव आत्मनेपदम् । अत्रोच्यते—एवं हि आत्मनेपदेऽपि विनाऽपि सम्प्रसर्गोणाऽधर्म्यत्वाभावेऽपि घात्वर्थस्य प्रत्युदाहरणेऽप्युक्तविवक्षोपपत्तेस्तृतीया प्राप्नोति । द्रव्यं वृपत्या संप्रयच्छते इत्यप्रापि संप्रदानविवक्षायां चतुर्थी स्यादत इह चतुर्थी प्रत्युदाहरणेषु च तृतीया मा भूदित्येवमर्थमिदं वक्तव्यमिति विशिष्ट एव निश्चये लोकास्य  
३४ विवक्षेति लोकविवधानियमो विना वचनेन दुरभिगम इति इदमारभ्यत इति ॥ ५२ ॥

चतुर्थी । संप्रदान इति गौणात् नाम्न इति एकद्विवहविति चानुवर्तते । संप्रदाने गौणात् नाम्न एकद्विवहवौ चतुर्थीत्यन्यत्पदाह—संप्रदाने घर्तमानादित्यादि । द्विजाय गां ददातीत्यादि । गवादिना कर्मणा द्विजादेराप्यमानतया विवक्षितत्वात् संप्रदानत्वात् ततो चतुर्थी ।  
३२ अजां नयति ग्राममिति । अत्राऽजां देववत् स्वव्यापारेणाऽऽप्नोति, अजा च ग्रामश्च तौ व्याप्यरूपौ, व्याप्येन षाऽऽप्यमानस्य संप्रदानत्वा-दिह च तदभावात् चतुर्थी न भवतीति ॥ ५३ ॥

## तादर्थ्ये ॥ २ । २ । ५४ ॥

किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थम्, तस्य भावे तादर्थ्ये-संबन्धविशेषे द्योत्ये गौणात् नाम्नः षष्ठ्यपवादा-  
श्रुतीर्था भवति । यूपाय दारु, कुण्डलाय हिरण्यम्, रन्धनाय स्थाली, अवहननायोत्खलम् ॥ ५४ ॥

## रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु ॥ २ । २ । ५५ ॥

रुच्यर्थैः कृप्यर्थैर्धारिणा च धातुना योगे यथाक्रमं प्रेये विकारे उत्तमर्णे च वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति,  
वचनसाम्यं यथासंबन्धार्थम्; बहुवचनं तु एकद्विवहाविति यथासख्याऽभावार्थम् । रुच्यर्थैः प्रेये-प्रीयमाणे,—जिनदत्ताय  
रोचते धर्मः, गुरुदत्ताय स्वदत्ते दधि, तस्याऽभिलाषमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रेय इति किम्?, चैत्राय रोचते मोदको माधुर्येण,  
माधुर्यशब्दात् न भवति । प्रेयसंबन्धादभिलाषकरणार्थस्य रुचेर्ग्रहणम्, तेनेह न भवति-सर्वेषामेतद्रोचते कथं वा तवेति-  
प्रतिभातीत्यर्थः । कथं रोचते मम घृतं सह मुद्गैः शालयो दधिशरं कुंकुरार्थं?, घृतमेव ममापि रोचते घृतशीतं च  
सशर्करं पयः?,-संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव भविष्यति । कृप्यर्थैर्विकारे-मूत्राय कल्पते यवागूः, उच्चाराय संपद्यते यवाऽ-  
न्नम्, श्लेष्माणे जायते दधि; तद्विकाररूपमापद्यत इत्यर्थः । विकार इति किम्?, चैत्रस्य कल्पन्ते घनानि, संपद्यन्ते  
शालयः । गौणादित्येव?, मूत्रमिदं संपद्यते यवागूः, उच्चारोऽयं संपद्यते यवाऽन्नम्, शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद् वृश्चिकः १२

तादर्थ्ये । गौणात् नाम्न इति चतुर्थी इति च वर्तते । तादर्थ्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । तच्छब्देन कार्यं निर्दिश्यते । तस्मादिदं  
तादर्थ्यमिति समासेन विशिष्टकार्यप्रयोजनं कारणमभिधीयत इत्याह—किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थमिति । तदर्थस्य भावस्वा-  
दर्थ्यमिति कार्यकारणसंबन्ध उच्यते, समासकृतद्विषु भावप्रत्ययेन संबन्धाभिधानमिति वचनात्, तत्र च संबन्धस्य द्विषत्वेऽपि गौणादित्य- १५  
धिकारात् अग्रधानाद्विशेषणादेव चतुर्थी भवति । तत् उत्पथमानैवाऽसौ वस्तुन्तरार्यता गमयितुं शक्नोतीति ज्ञान्यात्स्वित्वाह—तस्य भावे  
इत्यादि । यूपाय दार्विति । अत्र यूपादिहेतुभूतस्य दार्वदिहेतुहेतुमद्भावस्य चतुर्थ्यैव गमितत्वात् नामार्थव्यतिरेके च हेतुवृत्तीयाभिधानादिह च  
नामार्थव्यतिरेकभावात् “हेतु” इति तृतीया न भवति । ननु तस्मै इदं तदर्थमिति सत्यां चतुर्थ्यां समास, सति च समासे तदनुवादेन चतुर्थीवि- १८  
धानमितीतरेतराश्रयादप्रसिद्धिर्निर्देशस्येति, उच्यते—आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यर्थशब्दयोगेन चतुर्थीति यदयं “तदर्थोऽयं” इत्यर्थशब्देन समासं  
शास्त्रिः । षष्ठीसमासो वा, संबन्धसामान्यविवक्षायामस्त्येव षष्ठी, यथा गुरोरिदं गुर्वर्थमिति । ऊर्ध्वं च विल वाऽस्येति षष्ठोदरादित्वाद्दुत्खलम् ॥ ५४ ॥

रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु वर्तमा- २१  
नात् गौणात् नाम्न चतुर्थीत्यन्वय । रुचिशब्दो रुच्यर्थे वर्तते, रुचिस्थान्यकर्तृकोऽभिलाष । कृपिश्च विकृतितकृप्यर्थे वर्तते । रुचिश्च कृपिश्च  
रुचिकृपी तावथौ येषान्ते रुचिकृप्यर्था, रुचिकृपिवाच्योऽर्थोऽन्येषां न समवतीति सामर्थ्यादिवायर्थलोपो द्रष्टव्य, रुचिकृप्यर्थ इवाथौ येषां ते तयोका  
इत्यर्थः । अत्र रुचिकृप्यर्थेत्यर्थशब्द प्रत्येकमभिसंबन्धयते न समुदायेन, तथैव व्यवस्थिते । यदि खलु प्रत्यासत्त्या कृपिनैव संबन्धेत तदा २४  
धारिवत् रुचिरप्यर्थशब्दात् पर एव क्रियेत, तथा सति किं रुचिना संबन्धयते उत नेति सन्देहोऽपि न स्यात् । धारेश्च परिनिपातेन लक्षणव्यभि-  
चारो न कृत स्यात्, रुचिधारी समस्य कृप्यर्थेन समासात्, अन्यथा धारेरल्पखरत्वात् पूर्वनिपाताईस्य परिनिपातेन लक्षणं व्यभिचरितं स्यादि-  
त्याह—रुच्यर्थैः कृप्यर्थैरिति । रुचिकृपिसमानार्थैरित्यर्थः । रुचिकृप्यर्थधारिभिरिति बहुवचनान्तस्य प्रेयविकारोत्तमर्णेष्विति बहुवचनान्तेन २७  
यथासंबन्धमभिसंबन्ध इत्याह—वचनसाम्यं यथासंबन्धार्थमिति । ननुभयत्रैकवचननिर्देशोऽपि साम्यात् यथासख्य भविष्यति किं बहु-  
वचनेनेत्याह—बहुवचनं त्वित्यादि । मिश्रवचनत्वादिति शेष । एकद्विवहावित्यस्य तु हेभ्याभ्यसित्यनेनैव यथासख्यमिति । रुच्यर्थैः प्रेय  
इत्यादिना भेदेनोदाहरति । प्रेय इति श्रीणाते “य एषात्” इति कर्मणि यप्रत्यये रूपमित्याह—प्रीयमाण इति । रोचते इति । ‘रुचि’ ३०  
अभिप्रीत्यां चेत्यतो वर्तमानायास्तेप्रत्यये भवति । तस्याभिलाषमित्यादिना रुच्यर्थतां दर्शयति । किं पुनरत्र प्राप्तं?, केचिदाहु—देवदत्तो रोचयति  
मोदकमिति प्राप्नोति, देवदत्त हि प्राप्य मोदको रुचिविषयो न सर्वमेव, भिन्नेच्छत्वात् प्राणिनाम् । केचिदाहु—कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां  
प्रीयमाणं देवदत्तं प्रीणयति मोदक इति । अन्ये आहु—कारकशेषत्वे षष्ठी प्राप्ता नटस्य हृणोतीति यथा, सर्वथा तु कारकस्याविवक्षायां न भवति— ३३  
‘देवदत्तस्य रोचते घृतं न यज्ञदत्तस्येति,’ संबन्धपरत्वविवक्षाया । यथोदाहृतं भर्तृहरिणा—यद्यपि पाणिनेरभिरुचिता नित्यताऽनित्यता चेति,  
तदाह—‘हेतुत्वे धर्मसंज्ञायां शेषत्वेनापि कारकम् । रुच्यर्थादिषु श्राद्धेण चतुर्थी संप्रकीर्तिता’ ॥ ११ ॥ चैत्राय रोचते—तस्याभिलाषं करोतीति तत्र  
प्रेयो नाम अभिलाषकरण एव संबन्धति, यो हि यमभिलषति तस्याभिलाषस्य कर्ता त प्रीणातीति तेन स प्रीयते इति नार्यान्तरेऽस्ति प्रेय इति ३६  
तदन्वयात्पपत्याभिलाषकरणार्थस्य रुचेर्ग्रहणात् । सर्वेषामेतद्रोचते इत्यादौ प्रतिभानार्थप्रयोगे प्रेयाभावात् चतुर्थी न भवतीति । यथैवं  
रोचते मम घृतं सह मुद्गैरित्यादावभिलाषकरणार्थस्य रुचे प्रेयस्य सद्भावात् तत् कृतो न चतुर्थीति पृच्छति—कथमित्यादि । समाधत्ते—  
संबन्धमात्रविवक्षायामिति । अत्र सत्यपि प्रेयत्वे प्रेयता न विवक्षिता, अपि तु तत्क्रियासंबन्धमात्रमिति न चतुर्थीति षष्ठ्येव भवति । ३९  
मूत्राय कल्पते यवागूरिति । यवागू कर्त्री संपद्यते, किं संपद्यते?, मूत्र-मूत्ररूपमित्यर्थः । ननु मूत्रयवागूशब्दयोर्द्वयोरपि संपद्यते  
इति क्रियया सह संबन्धात् गौणत्वाभावात् कश्च मूत्रशब्दात् चतुर्थी?, उच्यते—एतत्पुत्रसामर्थ्यादेवात्र गौणमुत्पथभावेन क्रियासंबन्धात्  
मूत्रस्य गौणत्व, तथा हि-प्रथमं यवागूवा सह क्रियाया संबन्धः पश्चान्मूत्रस्येति । गौणादिति व्याहृत्युदाहरणे तु मूत्रादेर्विशेषार्थं ४२  
मूत्रादिक प्रथमं क्रियया संबन्धनीयम् । यद्वा मूत्रायेति कोऽर्थः?, मूत्ररूपविक्षरसंबन्धित्वेन संपद्यत इत्यर्थः । ‘कृपोच्’ सामर्थ्यं,  
इत्यस्य कल्पत इति । सपूर्वं ‘पदिच’ गतो इत्यस्य संपद्यत इति । ‘जनैवि’ प्रादुर्भावे, इत्यस्य—जायते इति । तद्विकाररूपमापद्यत  
इत्यर्थे इत्यनेन मूत्रयवागूवादीनां विकारविकारिभाव दर्शयति । चैत्रस्य कल्पन्ते घनानीति । अत्र चैत्रो घनानीनां स्वामी न ४५  
विकार इति न भवति । मूत्रमिदं संपद्यते यवागूरित्यादि । अत्र विकारविकारिणोर्भेदविवक्षया विकार प्रधानमिति गौणादिति अधि-

मातुः संजानीति; स्मरतीत्यर्थः । व्याप्य इत्येव ? मातरं स्वरेण संजानीति,—करणे विकल्पो न भवति । मातुः संज्ञातेति कृति परत्वात् षष्ठी । नवाऽधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र तच्चिवृत्त्यर्थम् ॥ ५१ ॥

३ दामः संप्रदानेऽधर्म्यं आत्मने च ॥ २ । २ । ५२ ॥

संपूर्वस्य दामः संप्रदानेऽधर्म्यरूपे वर्तमानात् नामस्तृतीया भवति, तत्संनियोगे च दाम आत्मनेपदं भवति । दास्या संप्रयच्छते, वृषल्या संप्रयच्छते,—कामुकः सन् द्रव्यं दास्यै ददातीत्यर्थः । दाम इति किम् ? दास्यै संददाति । संप्रदान इति किम् ? द्रव्यं वृषल्या संप्रयच्छते, कर्मणि मा भूत् । अधर्म्यं इति किम् ? पत्न्यै संप्रयच्छति । सम इत्येव ? दास्यै प्रयच्छति । इह संपूर्वस्य दामः प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाऽभावात् तद्व्यवधानेऽपि भवति ॥ ५२ ॥

चतुर्थी ॥ २ । २ । ५३ ॥

५ संप्रदाने वर्तमानाद् गौणात् नाम्नो षेभ्याम्यसूलक्षणैकद्विवहौ यथासंख्यं चतुर्थी विभक्तिर्भवति । द्विजाय गां ददाति, शिष्याभ्यां धर्ममुपदिशति, मुनिभ्यो भिक्षां ददाति, पत्ने शेते, राज्ञे विज्ञपयति, राज्ञे दण्डं ददाति । संप्रदान इत्येव ? अजां नयति ग्रामम् ॥ ५३ ॥

१२ अन्यत्र षष्ठी । स्मरतीत्यर्थं इत्यनेन अस्मृतावित्यस्य व्यवच्छेद्यां स्मृत्यर्थतां दर्शयति । मातरं स्वरेण संजानीते—नन्वत्र मातरमिति व्याप्य-मस्त्येव, तत्कथमिदं व्याप्य इत्यस्यानुवर्तमानस्य स्यात् प्रत्युदाहरणमिति ? अथ स्वरेणेत्यत्र न भवतीति चेन्न—अत्र तृतीयाया सिद्धत्वादित्याह—करणे विकल्पो न भवतीति । यद्यत्र व्याप्य इति नानुवर्तते तदाऽनेन विधीयमानस्तृतीयाविकल्प सामान्यविहितत्वात् करणेऽपि स्यात् ।  
१५ मातुः संज्ञातेति । अत्र कृतप्रयोगे इय तृतीया च प्राप्नोति “कर्मणि कृत ” इति षष्ठी च, समयं चान्यत्र सावकाशं, तत्रोभयप्राप्ती परत्वात् पश्येव भवतीत्याह—कृतीत्यादि । नवाऽधिकार इति । नवाधिकारेणैव विकल्पस्य लब्धत्वात् तदर्थं वाग्रहणमुत्तरत्र नवाधिकारनिश्चयर्थमिति, तेनोत्तरो नित्य एव विधिरित्यर्थः । कर्मणं करणविवक्षायां षष्ठे तृतीयाया द्वितीयायाश्च सिद्धत्वात् सूत्रारम्भवैयर्थ्यात् प्रत्युदाहरणेषु कृतप्रयोगे  
१८ चैवं तृतीया स्यादत कर्मणि तद्विवक्षान्युदासार्थमय पाक्षिकस्तृतीयारंभ ॥ ५१ ॥

दामः संप्रदानेऽधर्म्यं आत्मने च । नाम्नस्तृतीयेत्यनुवर्तते । सम इत्यनुवर्तमानेन दाम इति विशिष्यते, तथा चायमन्वय—समो दाम संप्रदाने अधर्म्यं वर्तमानात् नाम्नस्तृतीया, दाम आत्मने चेति । तदाह—संपूर्वस्येत्यादि । अधर्म्यरूप इति । अधर्म—शास्त्रनिषिद्ध  
२१ इत्यर्थः । आत्मनेपदस्य दामप्रकृतिर्विज्ञात इत्याह—तत्संनियोगे च दाम आत्मनेपदमिति । दास्या संप्रयच्छते इति । दासी दान-क्रियाकर्मणाऽत्राभिप्रेयेति तत्तृतीया, संप्रयच्छत इति सम्प्र इत्युपसर्गपूर्वात् ‘दाम’दाने, इत्यतोऽनेन धर्तमानाऽऽत्मनेपदं ते, मध्ये शब्द, “श्रौति-कृतुषिवु०” ४।१।१०।८ इति दामो यच्छेदोऽह । कामुकः सन्नित्यादिना धात्वर्थस्याधर्मतां दर्शयति । दास्यै संददातीति वृ “डदांग्”  
२४ दाने, संपूर्वस्वतस्त्विवृ, “हव शिति” ४।१।१२। इति द्विवचन, नाऽय दामिति नाऽत्र तृतीया नाप्यात्मनेपदमिति । द्रव्यं वृषल्या संप्रय-च्छते इति । अत्राऽसति संप्रदाने इति व्याप्य इत्यनुवृत्ते क्रियाव्याप्यत्वात् द्रव्यात् तृतीया प्रसज्येत्येत्याह—कर्मणि मा भूदिति । पत्न्यै संप्रयच्छति—पत्न्यै दानं नाधर्म्यं इत्यत्र न भवति । दास्यै प्रयच्छतीति । सम इत्यनुवृत्तेरत्र न भवति । ननु सम इति परदिग्गोपलक्षणा  
२७ षष्ठमी, सतश्च “षष्ठम्या निर्दिष्टे परस्य” तन्वानन्तरस्येति “समो ज्ञोऽस्मृती” इत्यत्र व्यवधाने सति न भवति तत्कथं संप्रयच्छत इति प्रशब्देन व्यव-धाने विधिरित्याह—इह संपूर्वस्येत्यादि । इहाऽस्मिन् सूत्रे प्रशब्देन समो व्यवधानेऽपि विधिर्भवति, कृत—प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाभा-वात् । न हि तद्व्यवधानमन्तरेण संपूर्वस्य दामः संप्रयच्छतीति प्रयोगः, यत्र त्वस्ति तत्र यमेरेव । एवं च ‘येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि’  
३० इति वचनप्रामाण्यात् प्रशब्देन व्यवधानमाधीयत इति । यद्वा सम इति पूर्वत्र षष्ठम्यन्तमपीह लक्ष्यवशात् षष्ठ्यन्तं विशायते, तत्र व्यवधानेऽपि समा शोष्यमानार्थत्वात् दाम संबन्धोपपत्तेर्भवत्येव विधिः । ननु अनेन ब्राह्मणेन दानं प्रवृत्तमित्यादिवत् संप्रदानस्य करणत्वविवक्षाया ‘दास्या संप्रयच्छते’ इत्यादौ तृतीयोपपत्ते किमर्थमिदमारभ्यते ? यद्वा सहाय्यं इय तृतीया, तथाहि—दास्यै स्वयं घनं ददाति साप्यात्मानं तस्यै ददातीति  
३३ दानपूर्वके वा संभोगे दामं वर्तते—दत्त्वा दास्या सह संभुक्ते इति । एवं चात्र क्रियान्वतिहारोपपत्तेस्त्वेद्वारेणैव आत्मनेपदम् । अत्रोच्यते—एवं हि धात्वन्तरेऽपि विनाऽपि समुपसर्गोणाऽधर्म्यत्वाभावेऽपि धात्वर्थस्य प्रत्युदाहरणेऽप्युक्तविवक्षोपपत्तेस्तृतीया प्राप्नोति । द्रव्यं वृषल्या संप्रयच्छते इत्यत्रापि संप्रदानविवक्षायां चतुर्थी स्यादत इह चतुर्थी प्रत्युदाहरणेषु च तृतीया मा भूदित्येवमर्थमिदं वक्तव्यमिति विशिष्ट एव विषये लोकरस्य  
३६ विषयेति लोकविवक्षानियमो विना वचनेन दुरधिगम इति इदमारभ्यत इति ॥ ५२ ॥

चतुर्थी । संप्रदान इति गौणात् नाम्न इति एकद्विवहामिति चानुवर्तते । संप्रदाने गौणात् नाम्न एकद्विवहौ चतुर्थीत्यन्वयस्यदाह—संप्रदाने वर्तमानादित्यादि । द्विजाय गां ददातीत्यादि । गवादिना कर्मणा द्विजादेराप्यमानतया विवक्षितत्वात् संप्रदानत्वात् ततो चतुर्थी ।  
३९ अजां नयति ग्राममिति । अत्राऽजां देवदत्त स्वख्यापारेणाऽऽप्नोति, अजा च ग्रामश्च तौ व्याप्यरूपौ, व्याप्येन वाऽऽप्यमानस्य संप्रदानत्वा-दिह च तदभावात् चतुर्थी न भवतीति ॥ ५३ ॥



तादर्थ्ये ॥ २ । २ । ५४ ॥

किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थम्, तस्य भावे तादर्थ्ये-संबन्धविशेषे द्योत्ये गौणात् नाम्नः षष्ठ्यपवादा-  
श्रुतीर्था भवति । यूपाय दास्य, कुण्डलाय हिरण्यम्, रन्धनाय खाली, अवहननायोल्खलम् ॥ ५४ ॥

रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु ॥ २ । २ । ५५ ॥

रुच्यर्थैः कृप्यर्थैर्धारिणा च धातुना योगे यथाक्रमं प्रेये विकारे उत्तमर्णे च वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति,  
वचनसाम्यं यथासंख्यार्थम्; बहुवचनं तु एकद्विवहाविति यथासंख्याऽभावार्थम् । रुच्यर्थैः प्रेये-प्रीयमाणे,-जिनदत्ताय  
रोचते धर्मः, गुरुदत्ताय स्वदत्ते दधि; तस्याऽभिलाषमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रेय इति किम्?, चैत्राय रोचते मोदको माधुर्येण,  
माधुर्यशब्दात् न भवति । प्रेयसंबन्धादभिलाषकरणार्थस्य रुचेर्ग्रहणम्, तेनेह न भवति-सर्वेषामेतद्रोचते कथं वा त्वेति-  
प्रतिभातीत्यर्थः । कथं रोचते मम घृतं सह मुद्गैः शालयो दधिशरं कुकुरार्थं?, घृतमेव ममापि रोचते घृतशीतं च  
सशर्करं पयः?,-संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव भविष्यति । कृप्यर्थैर्विकारे-मूत्राय कल्पते यवागूः, उच्चाराय संपद्यते यवाऽ-  
न्नम्, श्लेष्माणे जायते दधि; तद्विकाररूपमापद्यत इत्यर्थः । विकार इति किम्?, चैत्रस्य कल्पन्ते घनानि, संपद्यन्ते  
शालयः । गौणादित्येव?, मूत्रमिदं संपद्यते यवागूः, उच्चारोऽयं संपद्यते यवाऽन्नम्, शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद् वृश्चिकः १२

तादर्थ्ये । गौणात् नाम्न इति चतुर्थी इति च वर्तते । तादर्थ्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । तच्छब्देन कार्यं निर्दिश्यते । तस्मादिदं  
तदर्थमिति समासेन विशिष्टकार्यप्रयोजनं कारणमभिधीयत इत्याह-किञ्चिद्वस्तु संपादयितुं यत्प्रवृत्तं तत्तदर्थमिति । तदर्थस्य भावस्त्वा-  
दर्थ्यमिति कार्यकारणसंबन्ध उच्यते, समासकृतद्वितेषु भावप्रत्ययेन संबन्धाभिधानमिति वचनात्, तत्र च संबन्धस्य द्विष्टत्वेऽपि गौणादित्य-  
धिकारात् अग्रधानाद्विशेषणादेव चतुर्थी भवति । तत उत्पद्यमानैवाऽसौ वस्त्वन्तरार्थतां गमयितुं शक्नोतीति नान्याखित्याह-तस्य भावे  
इत्यादि । यूपाय दास्यति । अत्र यूपादिहेतुभूतस्य दास्यदिहेतुहेतुमद्भावस्य चतुर्थ्येव गमितत्वात् नामार्थव्यतिरेके च हेतुतृतीयाविधानादिह च  
नामार्थव्यतिरेकभावात् "हेतु"इति तृतीया न भवति । ननु तस्मै इदं तदर्थमिति सत्यां चतुर्थ्यां समास, सति च समासे तदनुवादेन चतुर्थी-  
धानमितीतेतराभ्यादादप्रसिद्धिर्निर्देशस्येति, उच्यते-आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यर्थशब्दयोगेन चतुर्थीति यदयं "तदर्थोऽयं" इत्यर्थशब्देन समासं  
शास्त्रिः । षष्ठीसमासो वा, संबन्धसामान्यविवक्षायामस्त्वेष षष्ठी, यथा सुरोदिदं गुर्वर्थमिति । ऊर्ध्वं खं बिलं वाऽस्येति प्रयोदरादित्वाद्बुद्धवल् ॥५४॥

रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्तमर्णेषु वर्तमाना-  
नात् गौणात् नाम्न चतुर्थीत्यन्वयः । रुचिशब्दो रुच्यर्थे वर्तते, रुचिश्चान्यकर्तृकोऽभिलाष । कृपिश्च विवृतिमत्कृप्यर्थे वर्तते । रुचिश्च कृपिश्च  
रुचिकृपौ तावर्थी येषान्ते रुचिकृप्यर्था, रुचिकृपिवाच्योऽर्थोन्वेषां न समवतीति सामर्थ्यादिनार्थलोपो द्रष्टव्य, रुचिकृप्यर्थे ह्यर्था येषां ते तयोफा  
इत्यर्थः । अत्र रुचिकृप्यर्थस्यशब्द प्रत्येकमभिसंबन्ध्यते न समुदायेन, तथैव व्यवस्थिते । यदि खलु प्रत्यासत्त्या कृपिनेव सच्येत तदा  
धारिवत् रुचिरप्यर्थशब्दात् पर एव क्रियेत, तथा सति किं रुचिना संबन्ध्यते उत नेति सन्देहोऽपि न स्यात् । धारेश्च परनिपातेन लक्षणव्यभि-  
चारो न कृत स्यात्, रुचिधारी समस्य कृप्यर्थेन समासात्, अन्यथा धारेरल्पस्वरत्वात् पूर्वनिपातार्हस्य परनिपातेन लक्षणं व्यभिचरितं स्यादि-  
त्याह-रुच्यर्थैः कृप्यर्थैरिति । रुचिकृपिसमानार्थैरित्यर्थः । रुचिकृप्यर्थधारिभिरिति बहुवचनान्तस्य प्रेयविकारोत्तमर्णेष्विति बहुवचनान्तेन  
यथासंख्यमभिसंबन्ध इत्याह-वचनसाम्यं यथासंख्यार्थमिति । ननुभयत्रैकवचननिर्देशेऽपि साम्यात् यथासंख्यं भविष्यति किं बहु-  
वचनेनेत्याह-बहुवचनं त्वित्यादि । भिन्नवचनत्वादिति शेषः । एकद्विवहावित्यस्य तु छेन्नाभ्यसित्यनेनैव यथासंख्यमिति । रुच्यर्थैः प्रेय  
इत्यादिना भेदेनोदाहरति । प्रेय इति प्रीणते "य एषात." इति कर्मणि यप्रत्यये रूपमित्याह-प्रीयमाण इति । रोचते इति । "रुचि" इ-  
षमिप्रीत्यां केल्यतो वर्तमानावास्तेप्रत्यये भवति । तस्याभिलाषमित्यादिना रुच्यर्थतां दर्शयति । किं पुनरत्र प्राप्तः?, केचिदाहु-  
मोदकमिति प्राप्नोति, देवदत्त हि प्राप्य मोदको रुचिविषयो न सर्वमेव, भिन्नेच्छत्वात् प्राणिनाम् । केचिदाहु-  
प्रीयमाण देवदत्त प्रीणयति मोदक इति । अन्ये आहु-कारकशेषत्वे षष्ठी प्राप्ता नदस्य शृणोतीति यथा, सर्वथा तु कारकस्याविवक्षायां न भवति-  
देवदत्तस्य रोचते घृतं न रंजदत्तस्येति, संबन्धपरत्वविवक्षाया । यथोदाहृतं भर्तृहरिणा-यद्यपि पाणिनेरभिहित्वा नित्यताऽनित्यता चेति,  
तदाह-"हेतुत्वे धर्मवज्ञाया शेषत्वेनापि कारकम् । रुच्यर्थादिषु शास्त्रेण चतुर्थी संप्रकीर्तिता" ॥१॥ चैत्राय रोचते-तस्याभिलाषं करोतीति तत्र  
प्रेयो नाम अभिलाषकरण एव संबन्धति, यो हि यमभिलषति तस्याभिलाषस्य कर्ता तं प्रीणातीति तेन च प्रीयते इति नार्थान्तरेऽस्ति प्रेय इति इह  
तदन्ययानुपपत्त्याभिलाषकरणार्थस्य रुचेर्ग्रहणात् । सर्वेषामेतद्रोचते इत्यादौ प्रतिभाणार्थप्रयोगे प्रेयाभावात् चतुर्थी न भवतीति । यथेव  
रोचते मम घृतं सह मुद्गैरित्यादावभिलाषकरणार्थस्य रुचे प्रेयस्य सद्भावात् तत कृतो न चतुर्थीति पृच्छति-कथमित्यादि । समाधत्ते-  
संबन्धमात्रविवक्षायामिति । अत्र सत्यपि प्रेयत्वे प्रेयता न विवक्षिता, अपि तु तत्क्रियासंबन्धमात्रमिति न चतुर्थीति पश्येव भवति । इ-  
मूत्राय कल्पते यवागूरिति । यवागूः कर्त्रां संपद्यते, किं संपद्यते?, मूत्रं-मूत्ररूपमित्यर्थः । ननु मूत्रयवागूरुत्पद्यतेयोरपि संपद्यते  
इति क्रियया सह संबन्धात् गौणत्वाभावात् कथं मूत्रशब्दात् चतुर्थी?, उच्यते-एतत्सूत्रसामर्थ्यादेवात्र गौणसूत्र्यभावेन क्रियासंबन्धात्  
मूत्रस्य गौणत्व, तथा हि-प्रथमं यवागवा सह क्रियाया संबन्ध पश्चान्मूत्रस्येति । गौणादिति व्याहृत्पुदाहरणे तु मूत्रादेर्विशेष्यार्थं  
मूत्रादिकं प्रथमं क्रियया संबन्धनीयम् । यदा मूत्रायेति कोऽर्थः?, मूत्ररूपविकारसंबन्धत्वेन संपद्यत इत्यर्थः । "कृपौच्" सामर्थ्यं,  
इत्यस्य कल्पत इति । संपूर्वं 'पदिच्' गतो इत्यस्य संपद्यत इति । 'जनैन्वि' प्रादुर्भावे, इत्यस्य-जायते इति । तद्विकाररूपमापद्यत  
इत्यर्थे इत्यनेन मूत्रयवागवीनां विकारविकारिभाव दर्शयति । चैत्रस्य कल्पन्ते घनानीति । अत्र चैत्रो घनानीनां स्वामी न  
विकार इति न भवति । मूत्रमिदं संपद्यते यवागूरित्यादि । अत्र विकारविकारिणोरभेदविवक्षया विकार प्रधानमिति गौणादिति अधि-

१ कुकुराश्च पु० । २ रोचते कविकयाह विवित्रात् हेमरतनाश्च युवल्, इ० पु० ।

प्रभवति, मूत्रं संपद्यते यवाग्वाः; यवाग्वा इति च पञ्चमी अपायविवक्षायाम् । धारिणोत्तमर्णे—चैत्राय शतं धारयति ।  
उत्तमर्ण इति किम्?, शतशब्दात् न भवति, उत्तमर्णो घनिकः ॥ ५५ ॥

प्रत्याहः शुवार्थिनि ॥ २ । २ । ५६ ॥

प्रत्याहस्यां परेण शृणोतिना युक्तादर्थिन्यभिलाषुके वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । द्विजाय गां प्रतिशृणोति,  
द्विजाय गामाशृणोति; याचितोऽयाचितो वा प्रतिजानीते इत्यर्थः । प्रत्याह इति किम्?, चैत्रस्य शृणोति । अर्थिनीति  
६ किम्?, द्विजाय गां प्रतिशृणोतीत्यत्र गवि मा भूत् ॥ ५६ ॥

प्रत्यनोर्युणाऽऽख्यातरि ॥ २ । २ । ५७ ॥

प्रत्यनुभ्यां परेण गृणातिना योगे आख्यातरि वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । आचार्याय प्रतिगृणाति,  
० आचार्यायानुगृणाति;—आचार्योक्तमनुवदति, प्रशसन्तं वा श्रोत्साहयतीत्यर्थः । प्रत्यनोरिति किम्?, आचार्यं गृणाति ।  
आख्यातरीति किम्?, आचार्याय मनसा प्रतिगृणातीत्यत्र मनसि मा भूत् ॥ ५७ ॥

यद्वीक्ष्ये राधीक्षी ॥ २ । २ । ५८ ॥

२२ वीक्ष्यं—विमतिपूर्वकं निरूपणीयम्,—विप्रश्रविषय इति यावत्, तद्विषया क्रियापि वीक्ष्यम्; यत्संबन्धिनि वीक्ष्ये  
राध्यतिरीक्षतिश्च वर्तते तस्मिन् वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सामर्थ्याद् राधीक्ष्यामेव युक्तात् चतुर्थी भवति । मैत्राय राध्यति,  
मैत्रायैक्षते;—तस्य दैव पर्यालोचयतीत्यर्थः । स्त्रीभ्य ईक्षते—स्त्रीणामभिप्रायः कीदृश इति विमतिपूर्वकं निरूपयतीत्यर्थः ।  
२५ ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः स्वधर्मो रक्षसामयम्, परस्त्रीणामभिप्राये यत्सदेहादीक्षितव्यम्—निरूपयितव्यम्; किमेव करोषि नवेति  
तद्रक्षसां कुलधर्मो न दोषः । दैवे एवेक्ष्ये इच्छन्त्येके । राधीक्ष्यर्थधातुयोगेऽपि इच्छन्त्येके—मैत्राय राध्यति, साध्यति,

काराजं भवति । मूत्रं संपद्यते यवाग्वा इत्यत्र मूत्रविकारस्य प्राधान्यात् मा भूत् ततश्चतुर्थी, यवाग्वा इत्यत्र तु पञ्चमी कथमित्याह—यवाग्वा  
३८ इत्यादि । ततो यवाग्वा अपगच्छदिदं मूत्रं संपद्यत इत्यपायोऽत्र विवक्षित, तत्र “पञ्चम्यपादाने” इति पञ्चमी भवति । चैत्राय शतं धार-  
यतीति । “धृष्ट” अवस्थाने, ध्रियते तिष्ठति स्वरूपात्र प्रच्यवत इत्यर्थ, ततो ध्रियमाण प्रयुङ्क्ते इति गिग् ततस्त्रिवादि । शतशब्दात् न भव-  
तीति । शतं धारयतीत्यत्र धार्यमाणे शते कर्मण्युत्तमर्णत्वाभावात् भवतीत्यर्थ । उत्तमर्णं व्याचष्टे—उत्तमर्णो घनिक इति । यो हि घन  
२२ प्रयुङ्क्ते स लोके उत्तमत्वेन प्रसिद्धो यस्तु गृणाति सोऽधमत्वेन । उत्तमाधमभ्यां संघट्टमृणमपि तथैव व्यपदेश्यमित्युत्तमर्णं यत्सेति बहुव्रीहिणो-  
त्तमर्णशब्देन घनिकोऽभिधीयत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

प्रत्याहः शुवाऽर्थिनि । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यनुवर्तते । प्रत्याहः शुवा अर्थिनि गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । अर्थेयत इत्यर्थी-  
२४ अभिलाषुक, “अर्थिण” उपयाचने, इति हि पाठात् । प्रत्याह इति पञ्चमी न तु पृष्ठी, षष्ठा हि “प्रत्याश्रुवेति लाघवात् समस्येत, अस्ति हि  
तत्र समास “पृथग्विज्ञात्” इति । न च तत्र समुदायानुकरण स्यादिति वाच्य, उकारानर्थक्यप्रसङ्गात्, तदा हि प्रत्याश्रुवेति निर्दिश्येत । अत एव च  
प्रत्येकमभिसवन्धो न समुदायेनेति द्विवचनेनाह—प्रत्याहस्यां परेणेति । एवमुत्तरत्रापि । प्रतिशृणोतीति । ‘श्रुद्’ धवणे, प्रतिपूर्वस्वत-  
२७ त्विच्, “स्वादि श्रु” इति श्रु, “श्रौतिष्ठ” इति श्रुच, इदमेव त्वया कर्तव्यमिति याचमाने महत्त्वाद्याचमानेऽपि केनाप्याकारादिना  
स्वामिलाष समर्पयति द्विजादी ओमिति तस्य प्रतिपद्यते अभ्युपगच्छतीति यावदित्यर्थ । गवि मा भूदिति । असत्यर्थिनीत्यसिन् कर्मद्वितीयामन्यत्र  
सावकाशा परत्वात् चतुर्थी बाधेतेत्यर्थिग्रहणम् ॥ ५६ ॥

३० प्रत्यनोर्युणाऽऽख्यातरि । गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । प्रत्यनो गृणा आख्यातरि गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । गृणेति गृणा-  
तेस्त्रिवन्तल्यैकदेशोऽनुक्रियत इत्याह—गृणातिना योग इति । आचार्योक्तमित्यादिना । आचार्यास्याऽऽख्यातृत्वमाख्यातृसुदाहरणार्थमाचष्टे ।  
आचार्यं गृणातीति । आचष्टे इत्यर्थ, अत्राऽऽचार्यमाचक्षानमिति प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा ह्यप्रतिपत्तव्यं स्यादिति । ननु ‘शुवाऽर्थिनि’, ‘गृणा-  
३३ नोश्चाऽऽख्यातृति’ इत्येव किं न विन्यस्यते?, एव हि विन्यस्यमाने प्रतेरिति पूर्वोत्तरेण वाऽनुश्रुत्याऽभिसवन्धात् हि प्रतिग्रहणं न कर्तव्यं भवति,  
वर्णेन चैकेन लाघवमिति, नैव, अक्षराधिक्यादि योगविभागश्चकाराकाङ्क्षा च गरीय इति ॥ ५७ ॥

यद्वीक्ष्ये राधीक्षी । गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । यद्वीक्ष्ये राधीक्षी गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । वीक्ष्य व्याचष्टे—वीक्ष्यमित्या-  
३६ दिना । विविधा विशेषानुपलम्भादेकस्मिन् वस्तुनि सादृश्यादिनिमित्तादनेकपक्षालम्बनाऽनवधारणात्मिका मतिर्विमति—संदेहज्ञानमिति यावत्, तत्प-  
र्वकं निरूपणीयमदृष्टमिष्टानिष्टफल पुण्यपापरूपमप्रत्यक्षे परामिप्रायदिकं वा, तस्यैव निरूपणार्हत्वात् । पुन स्पष्टयति—विप्रश्रविषय इति ।  
विशिष्ट पक्षो विप्रश्रोऽभिमानोन्मादादिप्रयुक्त पूर्वपक्ष, तस्य विषय आश्रयोऽविज्ञाततदवसद्विगोऽर्थः । नि सद्विषये विप्रश्रवणाभावात् धातोश्च  
३९ क्रियावचनत्वात् तत्र वृत्त्यभावात् वीक्ष्यविषय क्रियैवोपचारात् वीक्ष्यशब्दाभिधेयेत्याह—तद्विषयेत्यादि । ‘राधच्’ वृद्धौ, तिव्, दिवादित्वात्  
इये—राध्यतीति । तस्य दैवं पर्यालोचयतीत्यर्थ इति । केनचित् पृष्टो नैमित्तक इति श्लेष, शुभाशुभं तत्कृतं फलं वा सुखदुःखालम्ब-  
दैवम् । स्त्रीभ्य ईक्षते इत्यस्यार्थं स्त्रीणामभिप्राय इत्यादिना व्याचष्टे । ननु राधीक्ष्योऽर्थिनिदर्शनयोर्वैतमानत्वात् कथं दैवादिनिरूपणे ऋतिः?,  
४२ उच्यते—वृद्धिदर्शनविषय निरूपणमत्र वृद्धिदर्शनशब्दाभिधेयमिति न कश्चिदोष इति । विमतिपूर्वकामिप्राज्ञानिरूपणे लोपात् चतुर्थीमन्ये मान्या-  
स्त्रीभ्य ईक्षत इत्यादौ न मन्यन्ते इत्याह—दैवे एवेत्यादि । एके शाकटायना । अन्ये तु राधीक्षी इत्यर्थनिर्देशमाहुः, यस्य साक्षात् वीक्ष्य  
विषयता उपपद्यते सोऽर्थो राधीक्षी इति निर्दिष्ट, ततश्च तदर्थसर्वधातुयोगे चतुर्थी भवतीत्याह—राधीक्ष्यर्थधातुयोगेऽपि इच्छन्त्येक  
४५ इति । एके—चान्त्रा । साम्नोति राम्नोति च दैव तत्प्रयुक्त इति गिग्—राध्यति, साध्यतीति । ननु यद्ग्रहणात् मा भूत् शुभाशुभात् चतुर्थी,

पश्यति, जानीत इति चोदाहरन्ति । यद्ग्रहणं किम्?, मैत्रस्य शुभाशुभमीक्षते—शुभाऽशुभात् मा भूत्, मैत्रात् राधीक्षिभ्यां योगाभावादेव न भवति । वीक्ष्यग्रहणं किम्?, मैत्रमीक्षते । राधीक्ष्यर्थविषयात् विप्रष्टव्यादिच्छत्यन्यः—लाभाय राध्यति, लाभाय राधयति, लाभाय साधयति, लाभायेक्षते, लाभाय पश्यति ॥ ५८ ॥

### उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ २ । २ । ५९ ॥

उत्पात—आकस्मिकं निमित्तम्, तेन ज्ञाप्ये—ज्ञाप्यमानेऽर्थे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्था भवति । “वाताय कपिला विद्युदातपायाऽतिलोहिनी । पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्मिक्षाय सिता भवेत् ॥ १ ॥” वातादयः स्वकारणेभ्य एवो- ४  
त्पद्यन्ते, विद्युता तु ज्ञाप्यन्त इति तादर्थ्यं नास्ति । उत्पातेनेति किम्?, राज्ञ इदं छत्रमायातं विद्धि राजानम् । पथ्य-  
पवादो योगः ॥ ५९ ॥

### श्लाघहृत्स्थांशपा प्रयोज्ये ॥ २ । २ । ६० ॥

ज्ञाप्य इत्यनुवर्तते, श्लाघादिभिर्धातुमिर्युक्ताद् ज्ञाप्ये प्रयोज्येऽर्थे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । मैत्राय १  
श्लाघते, मैत्राय हुते, मैत्राय तिष्ठते, मैत्राय शपते, श्लाघाहृत्स्थानंशपयान् कुर्वाण आत्मानं परं वा ज्ञाप्यं जानन्त मैत्रं २  
प्रयोजयतीत्यर्थः । प्रयोज्य इति किम्?, मैत्रायाऽऽत्मानं श्लाघते, मैत्राय शत हुते,—आत्मादौ मा भूत् । केचित्त्वप्रयोज्यो १२  
यो ज्ञाप्यो य आख्यायते तत्रैवेच्छन्ति ॥ ६० ॥

### तुमोऽर्थे भाववचनात् ॥ २ । २ । ६१ ॥

क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुम् वक्ष्यते, तस्याऽर्थे ये भाववाचिनो घनादयः प्रत्यया विधास्यन्ते; तदन्ताद् गौणात् १५  
नाम्नः स्वार्थे चतुर्थी भवति । पाकाय व्रजति, पक्तये व्रजति, पचनाय व्रजति, इज्यायै व्रजति; पक्तुं यष्टुं वा व्रजतीत्यर्थः ।

यस्य तदैव ततो मैत्रात् कस्मात् न भवति?, भवति ह्यत्र मैत्रो दैववान्, उच्यते—सामर्थ्यात् राधीक्षिभ्यामेव युक्तात् चतुर्थीति व्याख्यानात् । २  
मैत्रस्य त्वत्र शुभाशुभमचवन्धिधतयैव विवक्षितत्वात् राधीक्षिभ्या योगाभावात् न भवतीत्याह—मैत्रात्त्वित्यादि । मैत्रमीक्षत इति । अत्र १८  
मैत्रविषय एवेक्षतिर्न तद्दीक्ष्यविषय इति वीक्ष्यग्रहणात् न भवति । राधीक्ष्यर्थविषयादिति । विविध प्रष्टव्यो विप्रष्टव्य, किं भविष्यति न  
भविष्यति कथं भविष्यतीति स यदा राधीक्ष्यर्थविषयो भवति तदा ततश्चतुर्थीति न दैववत्येनाऽपि तु दैवेऽपीति । अन्य इति । रत्नमतिबौद्ध ।  
तन्मत्तमुदाहरति—लाभाय राध्यतीत्यादि ॥ ५८ ॥ २१

उत्पातेन ज्ञाप्ये । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यनुवर्तते । उत्पातेन ज्ञाप्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । उत्पात इत्यादिना उत्पात २४  
व्याचष्टे । वाताय कपिलेति । ननु कपिलादिविद्युता वातादीनां जन्यमानत्वात् तेष्वस्वादर्थे एव भविष्यतीति चेत्, न, तादर्थ्याभावात् ।  
तादर्थ्याभावमेव दर्शयति—वातादय इत्यादि । राज्ञ इदं छत्रमायातं विद्धि राजानमिति । अत्रानेन छत्रेण आगच्छद्राजा ज्ञाप्यत २४  
इति ज्ञाप्यतामाचष्टे ह्यङ्गविकलतां परिहर्तुमिति । नाऽत्र छत्रमुत्पात, उत्पातो हि नाम शुभाशुभसूचक कादाचित्को महाभूतपरिणाम  
उच्यते । न चैव छत्रमिति, तेन ज्ञाप्ये न भवति । वाताय कपिलेत्यादौ ज्ञाप्यज्ञापकसचन्धिविवक्षार्थां षष्ठीं प्राप्तायां तदपवादश्चतुर्थीत्याह—  
षष्ठ्यपवादो योग इति ॥ ५९ ॥ २७

श्लाघहृत्स्थांशपा प्रयोज्ये । ज्ञाप्ये इति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यनुवर्तते । श्लाघहृत्स्थांशपा ज्ञाप्ये प्रयोज्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्य- २८  
न्वयस्त्वादाह—श्लाघादिभिरित्यादि । जानातेरङ्गिकप्रकृत्यै कर्मभूत सोऽपि ज्ञाप्य इत्युच्यते, यथा “उत्पातेन ज्ञाप्ये” इत्यत्र, यश्च जानाते-  
कर्ता षिग कर्म सोऽपि, यथा ज्ञाप्यो धर्म देवदत्त इति । श्लाघिप्रष्टतयोऽप्यत्र विषये नयत्यादिवत् द्विकर्मका, तत्र जानाते कर्तृभूत ज्ञाप्य १०  
परिग्रहीतु प्रयोज्य इत्युच्यते । स च प्रयोज्य—प्रवर्त्य क्व भवतीत्याह—अर्थे इति । प्रकृत्यर्थ इत्यर्थः । ‘श्लाघ्’ कथने, ‘हुक्’ अपनयने,  
‘ष्ठा’ गतिनिवृत्तौ, अत्र “ज्ञीप्सास्थेये” ३।३।६५ इत्यात्मनेपदम् । ‘शपो’ आक्रोशे, “शप उपलम्भने” ३।३।६५ इत्यात्मनेपदम् । मैत्राया-  
ऽऽत्मानं परं वा श्लाघ्य कथयतीति योऽर्थः स—मैत्राय श्लाघते इत्यस्य । एव मैत्राय हुते—होतव्य किञ्चिन्मैत्रं साधयतीत्यर्थः । मैत्राय १६  
तिष्ठत इति । स्थानेनाऽऽत्मानं ज्ञापयति—प्रकाशयतीत्यर्थः । मैत्राय शपते—वावा मात्रादिशरीरस्पर्शनेन नाऽह जाने न मया कृतमिति मैत्रं २९  
ज्ञापयतीति । अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—श्लाघेत्यादि । मैत्रायाऽऽत्मानं श्लाघत इत्यादौ त्वात्मादिज्ञाप्य प्रयोज्यो न भवति, जानातेः कर्म-  
त्वादिति प्रयोज्यग्रहणात् ततो न चतुर्थीत्याह—आत्मादौ मा भूदिति । दर्शानन्तरे प्रयोज्यग्रहणं प्रत्याचष्टे—केचित्त्वित्यादि । भोजशाक्या- १७  
यना । यस्तु मैत्रादिर्जानन् ज्ञाप्यते तत्र न भवतीति, तथा चाऽन्येषां ग्रन्थे द्विकर्मकोऽयं ज्ञापि, केचित्त्वस्य आख्यायते त ज्ञाप्य सप्रदानत्वेन  
प्रतिपन्ना । केचित् आख्यायते तमिति तन्मते मैत्रमात्मने श्लाघत इत्युदाहरणम् ॥ ६० ॥

तुमोऽर्थे भाववचनात् । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । तुमोऽर्थे भाववचनात् गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वयः । यत्र हि तुम् १९  
विधीयते स तुमोऽर्थः, कुत्र च तुम् विधीयत इत्याह—क्रियायामित्यादि । भवनं भाव, प्रवीतीति वचन, भावस्य वचनो भाववचन ।  
स च घनादिप्रत्यय, ततश्च केवलद्विभक्तिरसम्भवात् नाम्नो विशेषणत्वात् तदन्तत्वात् इत्याह—तदन्ताद् गौणात् नाम्न इति । पाकाय व्रज-  
तीत्यादि । पक्तुं—पाकायेत्यादि विगृह्य “भाववचना” ५।३।१५। इति घनादयः, अत्र व्रजतिक्रियाया पथ्याद्यर्थव भाववचनेनैव प्रतिपादित- ४९  
मिति तादर्थ्यं चतुर्थी न प्राप्नोति शेषत्वात् षष्ठी स्यात्, व्रजतिक्रियाया हेतुसम्भवात् पाकस्य च हेतुत्वात् हेतुलक्षणं वा चतुर्थीया स्यादित्याह—ताद-

तादर्थ्यस्य प्रत्ययेनैवोक्तत्वात् चतुर्थी न प्राप्नोतीति शेषपष्ठी हेतुहेतुमद्भावविवक्षायां वा हेतुतृतीया स्यादिति चतुर्थ्यर्थं वचनम् । तुमोऽर्थे इति किम्?, पाकस्य, त्यागस्य, पाकेन वर्तते, त्यागेन वर्तते, अध्ययनेन वसति; नाऽत्र क्रियायां क्रिया-  
१ र्थायामुपपदे प्रत्ययो विहितः, किं तर्हि?, भावमात्रे,—पश्चात्तु क्रिययाऽभिसंबन्ध इति हेतौ तृतीयैव भवति । भाववचना-  
दिति किम्?, पश्यतीति गां दास्यतीति च पाचकस्य ब्रज्या, गोदायस्य परिसर्या । तुम इति व्यस्तनिर्देश उत्तरार्थः ॥ ६१ ॥

**गम्यस्याऽऽप्ये ॥ २ । २ । ६२ ॥**

६ यस्वार्थो गम्यते न च शब्दः प्रयुज्यते स गम्यः, तस्य तुमो यदाप्यं—व्याप्यं तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । द्वितीयाऽपवादः । एधेभ्यो व्रजति, फलेभ्यो व्रजति; एधान् फलानि चाऽऽहर्तुं व्रजतीत्यर्थः । गम्यस्येति किम्?, एधानाहर्तुं व्रजति । आप्य इति किम्?, एधेभ्यो व्रजति शकटेन, करणात् मा भूत् । तुम इत्येव?, प्रविशं पिण्डीं द्वारम्,  
९ अत्र भक्षयेति पिधेहीति च गम्यम् ॥ ६२ ॥

**गतेर्नवाऽनाप्ते ॥ २ । २ । ६३ ॥**

गतिः—पादविहरण, तस्या गतेराप्येऽनाप्तेऽसंप्राप्ते वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । ग्रामं गच्छति, ग्रामाय  
१२ गच्छति; नगरं व्रजति, नगराय व्रजति; विप्रनष्टः पन्थानं गच्छति, पथे गच्छति, उत्पथेन पन्थान पथे वा गच्छति ।  
गतेरिति किम्?, आदित्यं पश्यति, मेरुं शृणोति, स्त्रियं गच्छति; मनसा मेरु गच्छतीत्यत्र ज्ञानार्थो गमिः । आप्य इत्येव?,  
ग्रामादागच्छति । अनाप्त इति किम्?, पन्थानं गच्छति । कुद्योगे तु परत्वात् षष्ठ्यव भवति—ग्रामस्य गन्ता । द्वितीयै-  
१५ वेत्यन्ये—ग्राम गन्ता । चतुर्थी चेत्यन्ये—ग्रामं गन्ता, ग्रामाय गन्तेति ॥ ६३ ॥

थ्यस्येत्यादि । पाकस्य, त्यागस्येति । नाऽत्र तुमोऽर्थे—क्रियाया क्रियार्थायामुपपदे प्रत्यय इत्यतश्चतुर्थी न भवति । यथेव पाकेन इत्यादौ  
क्रियायां क्रियार्थाया उपपदभूताया विद्यमानत्वाद् प्रत्ययस्य च भाववचनत्वाद् तत कुतो न चतुर्थी?, सत्यम्, अत्र भावमात्रे प्रत्ययमुत्पाद्य  
१८ पश्चात् तदन्त क्रिययाऽभिसंबन्ध इति न तुमोऽर्थे भाववचनप्रत्ययोऽतो हेतोस्तृतीयैव च न चतुर्थीत्याह—नाऽऽप्येत्यादि । पश्यतीति गां  
दास्यतीति च पाचकस्य ब्रज्येत्यत्र ब्रजिक्रियाया भविष्यत्पचनादिक्रियार्थाया उपपदत्वेऽपि कर्तारि णको विहित इति भाववचनग्रहणाद् न  
ततश्चतुर्थीति । ननु च तुमर्थे इति समासनिर्देशो मात्रालापवार्थं कुतो न कृत इत्याह—तुम इत्यादि । उत्तरार्थे इति । उत्तरस्ये  
२१ सप्रयोजनोऽयमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

**गम्यस्याऽऽप्ये** । अत्र तुम इति गौणात् नाम्नश्चतुर्थी इति चानुवर्तते । गम्यस्य तुम आप्ये गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । शब्दो  
व्यर्थवानपि प्रयुज्यमानश्च भवति, अप्रयुज्यमानश्च । अर्थप्रकरणशब्दान्तरसंनिधाने प्रतीयमानार्थं स च गम्य इत्युच्यत इत्याह—यस्वार्थं  
२४ इत्यादि । अर्थप्रकरणादिनेति शेष । द्वितीयाऽपवाद इति । एधेभ्यो व्रजतीत्यत्र ब्रज्याया एधाहरणार्थता गम्यते न त्वेषार्थता, तेन  
तादर्थ्यचतुर्थ्या सूत्राऽऽरम्भमन्तरेण एधादिभ्यश्चतुर्थी सिध्यतीति न चतुः शक्य, आहृतेरप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थव्रजतिक्रियोपपदस्य तुमन्तस्य  
एधानां कर्मत्वाद् । तत्राऽनेन द्वितीयाऽपवादश्चतुर्थी विधीयत इति । अत्र व्ययमर्थो गम्यते, एधानाहर्तुं व्रजतीत्याह—एधान् फलानि  
२७ चेत्यादि । एधानाहर्तुं व्रजतीति । अत्र तुमन्तस्य प्रयुज्यमानत्वाद् गम्यस्येति वचनात् तत्कर्मणि द्वितीयैव । आप्य इति किमर्थ?, एधेभ्यो  
व्रजति शकटेनेति करणे मा भूदित्याह—आप्य इति किमित्यादि । प्रविशं पिण्डीं द्वारमिति । इह प्रविशं यद्, पिण्डीं भक्षय,  
द्वारं पिधेहीति वाक्येषु, वाक्यैकदेशा अप्यर्थतः प्रकरणात् शब्दान्तरसंनिवेशोऽवगमिततदर्था साधव इत्यन्ते । यदुक्त—वाक्येषु वाक्यैकदेशा  
३० वर्तन्ते पदेषु च पदैकदेशा इति । तत्र प्रविशेर्यद् कर्म, पिण्डीद्वारे तु भक्षयतिपिदद्यालोऽप्रयुक्तोरर्थोद्गम्यमानयोरित्यस्यत्र भक्षयेति  
पिधेहीति च गम्यमानस्याप्यं न तु तुमन्तस्येति तयोर्व्याप्ये न भवति ॥ ६२ ॥

**गतेर्नवाऽनाप्ते** । गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति आप्य इति च वर्तते । गतेराप्येऽनाप्ते गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । गतिशब्दस्य ज्ञानार्थत्वे-  
३३ ऽप्यनाप्त इति वचनात् पादविहरणरूपैव गतिर्युच्यते, ज्ञानादिव्याप्यस्यानाप्तत्वासम्बाधित्याह—गतिः—पादविहरणमिति । अनाप्त इत्यस्यार्थ-  
माह—असंप्राप्त इति । अनाप्तान्त इत्यर्थ । गत्यर्था हि ज्ञानार्था भवन्ति, न च ज्ञानात्मिका गतिरिह युच्यत इत्यादित्यं पश्यतीत्यादौ न  
भवति । स्त्रियं गच्छतीत्यत्र गमिमैथुनार्थो न गत्यर्थ इति न भवति । ग्रामादागच्छति—अत्राऽसत्यामाप्य इत्यनुवृत्तौ ग्रामादित्यत्राऽप्यय  
३५ विधि प्रसज्येतेति । पन्थानं गच्छतीत्यत्र त्वनाप्त इति वचनात् न भवति । अनाप्तेऽसंप्राप्ते कर्मणि चतुर्थी, असंप्राप्त तु तद्वस्तु यद्गमनेन संप्रा-  
प्यते, तस्मिन् कर्मणि चतुर्थी पन्थास्तु संप्राप्त इति चतुर्थ्यभाव । कुद्योग इति । अयमर्थ—ग्रामाय गच्छतीत्यादौ चतुर्थी सावकाशा, अपां सधेति  
पष्ठी, ग्रामस्य गन्तेत्युभयप्राप्तौ परत्वात् षष्ठ्येव भवतीति । द्वितीयैचेत्यन्य इति । सारसप्रहकारादय, ये हि “गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यां”  
३९ इति सूत्रेण कर्मणि द्वितीयायां संप्रवादे वैकल्पिकी चतुर्थ्यारभ्यते इति पक्षे द्वितीया सिद्धेवेति द्वितीयाग्रहणात् ग्राम गन्तेत्यत्र कृत कर्मणि  
क्षपवाद्भूतामपि षष्ठी बाधित्वा द्वितीयैव भवति, चतुर्थी तु षष्ठा परत्वात् वाच्यत एवेति मन्वते । चतुर्थी चेत्यन्ये इति । उत्पल इत्यर्थ,  
स श्वेव मन्वते—द्वितीयाविषय इयं वैकल्पिकी चतुर्थ्यारभ्यते, द्वितीयस्याश्वात्राऽपवादाद् कुतोऽपि विषय उपनत इति तद्विषये पक्षे चतुर्थी प्रवर्तत  
४२ एव—ग्रामं गन्ता, ग्रामाय गन्तेति । एतेषु वाच्यमसदभिमत षष्ठीपक्ष श्रीशेषस्येष्टारकस्यापि संमत इति तदभिप्राय साधारणभागाकारोऽपि  
हरिणा अंकीर्णके संप्रदानोद्देशे निर्णोतमाह—यथा कुद्योगलक्षणा पष्ठी न भवतीति तत्कथनमतिसाहस्यं च । कथं हि शब्दानां साधुत्व युक्तिवत्त्वेन  
शक्य व्यवस्थापयितुं, यत्र तुल्यपदार्थे उष्णं च तदुदकं च उष्णोदकमिति साधु, उष्णं च तत्पानीयं च उष्णपानीयमिति कालदृष्टोऽपशब्द ।  
४५ तापसश्चाय कुमारश्च तापसकुमार इति साधु, तापसी चेत्य कुमारी च तापसकुमारीति अचिकित्सोऽपशब्द । पानीयोष्णम्, कुमारतापसीति च  
साधुरेव । एवप्रकारेषु स्थितिसमधिगम्यसाधुत्वेषु कथं बुक्त्या निश्चय इति, तत्राऽयं भाष्यकार सूत्रकार इव व्याकरणे प्रमाणभूत सर्ववृद्धाना-  
मेतन्मतमवमल्य अन्यस्य कस्य किं प्राद्यमिति न प्रेक्षापूर्वकारितेति ॥ ६३ ॥

**मन्यस्याऽनावादिभ्योऽतिकृत्सने ॥ २ । २ । ६४ ॥**

अतीव कुत्स्यतेऽनेनेत्यतिकृत्सनम्, तस्मिन् मन्यतेराप्ये वर्तमानात् नावादिगणवर्जितात् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । न त्वा तृणाय मन्ये, न त्वा तृणं मन्ये; न त्वा बुसाय मन्ये, न त्वा बुसं मन्ये; न त्वा लोष्टाय मन्ये, न त्वा लोष्टं मन्ये; न त्वा शुने मन्ये, न त्वा श्वानं मन्ये;—तृणाद्यपि न मन्ये तृणादेरपि निकृष्टं मन्य इति कुत्सयते । मन्ये-स्येति किम्?, न त्वा तृणं चिन्तयामि । श्यनिर्देशः किम्?, न त्वा तृणं मन्ये । अनावादिभ्य इति किम्?, न त्वा नाव मन्ये, न त्वा अन्नं मन्ये; न त्वा शुकं मन्ये, न त्वा शृगालं मन्ये, न त्वा काकं मन्ये;—नावन्नयोरपि परप्रणयेयता-ऽनायासोच्छेद्यतादिभिरतिकृत्सनत्वं भवति । कुत्सन इति किम्?, न त्वा रत्नं मन्ये, न ते मुखं चन्द्र मन्ये, न ते मुखं पद्मं मन्ये,—रत्नादिभ्योऽपि त्वदादीन् अधिकान् मन्ये इति प्रशसा । कुत्स्यते अनेनेति करणाऽऽश्रयणं किम्?, न त्वा तृणाय मन्ये इति शुष्मदो न भवति । अतिग्रहणं किम्?, त्वां तृणं मन्ये, सुवर्णं तृण मन्ये;—अत्र नञ्प्रयोगाऽभावे साम्यमात्रं प्रतीयते न त्वतिकृत्सा । कुत्सामात्रेऽपीच्छन्त्येके—तृणाय त्वां मन्ये, तृणाय मन्यमानः सर्वान्; हरिमपि अमंसत तृणा-येति । न त्वा तृणस्य मन्तेति कृद्योगे परत्वात् षष्ठी । चतुर्थ्यपीति कश्चित्—न तव बुसाय मन्ता, न तव बुसस्य मन्ता; न चैत्रस्य शुने मन्ता, न चैत्रस्य शुने मन्तेति । उक्तकर्मणि तु—न त्वं बुसो मन्यसे मया, न चैत्रः श्वा मन्यते मया; नाऽह बुसो मन्ये वृषलेनेत्यतिकृत्सनात् प्रथमेति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥ ६४ ॥

**हितसुखाभ्याम् ॥ २ । २ । ६५ ॥**

हितसुखाभ्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । आतुराय आतुरस्य वा हितम्, आमयाविने आमयाविनो वा हितम्; चैत्राय चैत्रस्य वा सुखम् ॥ ६५ ॥

**तद्भद्राऽऽयुष्यक्षेमाऽर्थाऽर्थेनाऽऽशिषि ॥ २ । २ । ६६ ॥**

तदिति हितसुखयोः परामर्शः, अर्थशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते; हिताद्यर्थैर्युक्ताद् गौणात् नाम्न आशिषि गम्यमानायां चतुर्थी वा भवति । हितार्थे—हित जीवेभ्यो भूयात्, हित जीवानां भूयात्; पथ्यं मैत्राय भूयात्, पथ्यं मैत्रस्य भूयात्; सुखार्थे—सुखं प्रजाभ्यो भूयात्, सुख प्रजानां भूयात्; शं प्रजाभ्यो भूयात्, शं प्रजानां भूयात्; शर्म भवताद् भव्येभ्यः, शर्म भवताद् भव्यानाम्, भद्रार्थे—भद्रमस्तु जिनशासनाय, भद्रमस्तु जिनशासनस्य; भद्रमस्तु जिनशासनाय, भद्रमस्तु

मन्यस्याऽनावादिभ्योऽतिकृत्सने । अत्र नवेति आप्य इति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । अतिकृत्सने मन्यस्य आप्ये अनावादिभ्यो गौणात् नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । अतिकृत्सनशब्दस्याऽन्वयमाह—अतीवेत्यादि । तेन अतिकृत्सन—प्रकृत्य कृत्सनमित्यर्थ । यद्वाचिनश्चतुर्थी विधीयते तत्प्रकर्षेण चेतुकृत्सान् प्रतिपद्यते तदा चतुर्थी भवति न तु साम्यविवक्षायाम्, तेन प्रतिषेधयुक्तायां कृत्सायां चतुर्थीविधानम् । मन्यस्येति मन्यत इत्यत्र यद्विकरणपर्यन्त रूपं तस्यानुकरणं, ततश्च मन्यतिपरिग्रह इत्याह—मन्यतेरिति । न त्वा तृणायेत्यादि । तर्त्वे “भ्रूणतृणगुण०” इति णे—तृणम्, ‘बुसच्’ उत्सर्गे, इत्यतो नाम्युपान्तत्वात् के—बुस । तृणायापीत्यपिशब्दार्थो द्वष्टव्य इत्याह—तृणाद्यपि न मन्ये इति । एतदेव व्याचष्टे—तृणादेरपीत्यादि । न त्वा तृणं चिन्तयामि—तृणमपि न चिन्तयामीत्यर्थ, अत्र मन्यस्येति वचनात् भवति । न त्वा तृणं मन्ये इति । ‘मनुषि’ बोधने, वर्तमानाया एप्रत्यय, तत “कृतनादेर्”, इयनिर्देशेन दिवादिपरिग्रहात् तनादे कर्मणि न भवति । न त्वा नावं मन्ये इति । नावादयो लक्ष्यदर्शनेनानुसर्तव्या । “सर्वे गोऽन्तश्च” इत्यालप्रत्यये गकारागमे च—सृगाल इति । ननु नावन्नयोरत्यन्तोपकारकत्वात् कथमतिकृत्सनत्व गम्यत इत्याह—नावन्नयोरपीत्यादि । परेण स्वेच्छया प्रकर्षेण नीयतेऽभिमत स्थान—परोधीनप्रवृत्तिरिति यावत् । अनाया- सोच्छेद्यताऽऽदिभिरित्यादिशब्दादचेतनत्वविनश्वरत्वादिपरिग्रह । न त्वां रत्नं मन्ये इत्यादि । अत्र कुत्सन इति वचनात् प्रशसाया न भवति । यथा च प्रशसा गम्यते तथाऽऽह—रत्नादिभ्योऽपीत्यादि । न त्वा तृणाय मन्ये इत्यादौ शुष्मदोऽपि मन्यव्याप्यत्वात् पक्षे चतुर्थी प्राप्नोतीत्याह—कुत्स्यत इत्यादि । करणाऽऽश्रयणेन हि येन कुत्स्यते तत एव तृणादेश्चतुर्थीत्यर्थ । त्वां तृणं मन्ये इति । अत्र नञो योगा-ऽभावात् सातिशयकृत्साया अप्रतीयमानत्वात् साम्यमात्रविवक्षया न भवत्येवेत्याह—अत्र नञ्प्रयोगाऽभावात् इत्यादि । कुत्सामात्रेऽपी-च्छन्त्येके इति । पाणिनिद्वयव्याख्यातार एव साधारणभागरप्रसृतय । परत्वादिति । उभयोरन्यत्र चरितार्थत्वादित्यर्थ । चतुर्थ्यपीति कश्चिदिति । अजितयशोव्रद्धीत्यर्थ । उक्तकर्मणि त्विति । मन्यस्याऽऽप्ये कर्मद्वितीयाया विषये पक्षे चतुर्थी विधीयते, यत्र तु कर्मण्युक्तत्वात् इति द्वितीयाया अप्रवृत्तिसत्र चतुर्थ्येपि न प्रवर्तते, उक्तकर्मणस्तु नामार्थत्वादिति कुत्सनात् प्रथमेवेत्यर्थ । अथ ‘अनावादे’ इत्येकवचनेऽपि सिध्यति बहुवचन किमर्थमित्याह—बहुवचनमित्यादि ॥ ६४ ॥

हितसुखाभ्याम् । अत्र नवेति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति च वर्तते । हितसुखाभ्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी नवेत्यन्वय । योगसपन्ध- लक्षणा षष्ठी सिद्धेति पक्षे चतुर्थ्येपि यथा स्यादिति वचनम् । आमीनातीत्यञि—आमय, तत “आमयादीर्ष्व” इति विनि, दीर्षत्वे—आमयावी ॥ ६५ ॥

तद्भद्राऽऽयुष्यक्षेमाऽर्थाऽर्थेनाऽऽशिषि । अत्र नवेति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति च वर्तते । तद्भद्राऽऽयुष्यक्षेमाऽर्थाऽर्थेनाऽऽशिषि गौणात् नाम्नश्चतुर्थी नवेत्यन्वय । तद्वितीति । तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शात्वादिति शेष । अर्थशब्द इति । अन्त्य इति शेष । भवतादिति । ‘भू’ सत्तायाम्, तत पञ्चम्या हि, “कर्त्तर्येनद्भ्य शच्” इति शच्, “आशिषि द्व्योस्वात्” इति तात्तच् । ‘भद्रुच्’ सुखकल्याणयोस्तत “भन्देवी” उ० ३९१ । इति रत्नत्ये—भद्रम् । ‘भदेच्’ ह्रस्वतो “मीवृषि” उ० ३८७ इति रत्नत्ये—भद्रम् । कले “कल्याणपर्याणादय” उ० १९३ । इत्याणप्रत्यये

जिनशासनस्य; कल्याणमस्तु जिनशासनाय, कल्याणमस्तु जिनशासनस्य; आयुष्यार्थे-आयुष्यमस्तु चैत्राय, आयुष्य-  
मस्तु चैत्रस्य; दीर्घमायुरस्तु मैत्राय, दीर्घमायुरस्तु मैत्रस्य; चिरजीवितमस्तु मैत्राय, चिरजीवितमस्तु मैत्रस्य; क्षेमार्थे-  
क्षेमं भूयात् संधाय, क्षेमं भूयात् संधस्य; कुशल भूयात् संधाय, कुशल भूयात् संधस्य; निरामय भूयात् साधुभ्यः,  
निरामयं भूयात् साधूनाम्; अर्थार्थे-अर्थो भूयात् मैत्राय, अर्थो भूयात् मैत्रस्य; प्रयोजनं भूयात् मैत्राय, प्रयोजनं भूयात्  
मैत्रस्य, कार्यं भूयात् मैत्राय, कार्यं भूयात् मैत्रस्य । आशिपीति किम्?, आयुष्य प्राणिनां घृतम्,-तत्त्वाख्याने न भवति ।  
६ हितसुखशब्दाभ्यां पूर्वेण विकल्पः सिद्ध एव, तदर्थार्थं तु तद्ग्रहणम् ॥ ६६ ॥

### परिक्रयणे ॥ २ । २ । ६७ ॥

परिक्रियते-नियतकालं स्वीक्रियते येन तत् परिक्रयणं-वेतनादि, तस्मिन् वर्तमानाद् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी वा भवति ।  
९ शताय परिक्रीतः, शतेन परिक्रीतः;-संभोगाय परिक्रीता कर्तोऽस्मि तव नाऽप्रियम्, संभोगेन वा;-शतादिना नियतकालं  
स्वीकृत इत्यर्थः । परीति किम्?, शतेन क्रीणाति,-क्रयस्याऽत्र करणं न परिक्रयस्य । करणाऽऽश्रयणं किम्?, शताय  
परिक्रीतो मासम्,-मासात् मा भूत् ॥ ६७ ॥

### २२ शक्तार्थवषड्भ्रमः स्वस्तिस्वाहास्वधाभिः ॥ २ । २ । ६८ ॥

शक्तार्थवषडादिभिश्च शब्दैर्युक्तात् गौणात् नाम्नश्चतुर्थी भवति । प्रथमयोगादेति निवृत्तम् । शक्तो मैत्रश्चैत्राय,  
शक्नोति मैत्रश्चैत्राय, प्रभवति मैत्रश्चैत्राय, अलं मल्लो मल्लाय, समर्थो मल्लो मल्लाय, प्रभुर्मल्लो मल्लाय; वषट्-वषड्भ्रमे,  
२५ वषडिन्द्राय; नमस्-नमोऽर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः; स्वस्ति-स्वस्ति प्रजाभ्यः, स्वस्ति संधाय; स्वाहा-इन्द्राय स्वाहा,  
अग्नये स्वाहा; स्वधा-पितृभ्यः स्वधा । स्वस्तिशब्दः क्षेमार्थः, तद्योगे आशिष्यपि परत्वात् नित्यमेव-स्वस्ति संधाय भूयात्,  
स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात् । तृतीयया योगाऽभिधानादिह न भवति-नमो जिनाऽऽयतनेभ्यः,-नाऽत्र जिनानां नमसा योगः,

२८ याऽऽगमे च-कल्याणम् । 'इष्' गतावत् "इणो णित्" च ० १९८। इति णित्युक्ति प्रत्यये वृद्धौ च आयु, तत् आयु प्रयोजनमस्येति "स्वर्ग-  
स्वस्तिपाचनादिभ्यो मल्लो" ६।४।१२३। इति यप्रत्यये-आयुष्यम् । 'क्षित्' निवासगलोरत् "अतीरि०" च ० ३३८। इति मे-क्षेमम् ।  
'कुशाच्' श्लेषेण, इत्यत "तृपिवपिक्पिक्कुशि०" च ० ४६८। इति क्दिङे-कुशलम् । आयुष्यं प्राणिनां घृतमिति । तत्त्वाख्याने-  
२१ तत्, नाऽत्राऽऽशीरिति न भवति । ननु हितसुखाभ्यां योगे पूर्वेण चतुर्थीविकल्प सिद्ध किं पुनस्त्वयं न तद्ग्रहणेनेत्याह-हितसुखशब्दा-  
भ्यामित्यादि । अयमर्थ- "हितसुखाभ्याम्" इति पूर्वसूत्रेण पक्षे चतुर्थी विधीयत एवेति न तत्प्राणार्थमिदम्, किन्तु तत्र शब्दग्रहणमिह त्र  
तदर्थार्थं पुनरुपादानमिति ॥ ६६ ॥

२४ परिक्रयणे । अत्र नवेति गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति च वर्तते । परिक्रयणे गौणात् नाम्नश्चतुर्थी नवेत्यन्वय । नियतकालमिति । स्तोत्रं  
कालमित्यर्थं । स्वीकारो घ्रातसात्करणं परिक्रय उच्यते, परिशब्दोऽत्र प्रत्याघाति योतयति, यथा-परिसहसा गाव इति सहस्रप्रत्यासन्ना गाव  
उच्यन्ते । एवमत्रापि क्रयप्रत्यासन्नोऽल्पकालो वेतनादिना स्वीकारः परिक्रय उच्यते । तत्र यत्करणं परिक्रयक्रियायां साधकतम वेतनादि तत्क-  
२७ रणव्युत्पत्त्या परिक्रयणमुच्यते । वेतनादीत्यादिशब्दात् भाटकादिपरिग्रह । शतायैत्यादि व्याचष्टे-शतादिनेत्यादि । शतेन क्रीणाति-  
अत्र क्रय एव, न परिक्रयोऽस्तस्वस्य करणे पक्षे न चतुर्थीति । शताय परिक्रीतो मासमिति । यदि परिक्रयण इति प्रकृत्यर्थविषयतया निर्दि-  
श्यते परिक्रयणे-परिक्रये यदर्थं परिक्रयविषयत्वतश्चतुर्थीति मासादेरपि प्राप्नोति, करणाश्रयणत्वे न भवतीत्याह-मासान् मा भूदिति ॥ ६७ ॥

३० शक्तार्थवषड्भ्रमः स्वस्तिस्वाहास्वधाभिः । अत्र गौणात् नाम्नश्चतुर्थीति वर्तते । शक्तार्थवषड्भ्रमः स्वस्तिस्वाहास्वधाभिर्गौणात्  
नाम्नश्चतुर्थीत्यन्वय । पृथग्योगादिति । "हितसुखाभ्याम्" इत्यत स्वस्तिशब्दस्य प्रत्यक्षरणादित्यर्थं, अन्यथाऽनाशयायां "हितसुखस्वस्तिभिः"  
इति कृतेऽनेन विकल्प आशयायां तु "तद्ग्रहा०" इत्यनेनेति । "परिक्रयणे" इत्यनेन त्वेकयोगत्व न व्याख्येय, अर्थस्यासङ्गते । तत्र हि परि-  
३३ क्रयणे वर्तमानानाम्नाश्च इत्युक्तं, अनेन त्वेकयोगे वषडादिवत् परिक्रयणशब्दस्वरूपपरिग्रहः स्यादिति । शक्तो मैत्रश्चैत्रायेति । शक्नोतेरकर्मक-  
लक्षणं कर्त्तरि क्, शक्तार्थे इति नाम्नश्चतुर्थी विवक्षित किन्तु प्रकृतिमात्र, अन्यथा अलं मल्लो मल्लायेत्यत्र न स्यात् । न ह्यत्र कर्त्ता  
प्रत्ययार्थोऽस्ति, तस्याऽवत्त्ववान्त्वित्वेन सामर्थ्यमात्रयोतकत्वात् । मल्ल इति तु प्रथमा, अलं भवतीति सामानाधिकरण्यात्, तेन शक्यते मल्लेन  
३५ मल्लयेत्यपि द्रष्टव्यम् । एव वषड्भ्रमे इत्यादि । स्वस्तिशब्दः क्षेमार्थे इत्यनेन विकल्पप्राप्तिं दर्शयति । परत्वाश्रित्यमेवेति । स्वस्तिचतुर्थ्या  
अवकाश-स्वस्ति जाल्माय, तत्त्वाख्यानेमिदं जाल्मत्वादाशीरभावात् । क्षेमार्थचतुर्थ्या अवकाश-कुशल भूयात् संधाय । इहोभयं प्राप्नोति-  
स्वस्ति प्रजाभ्य इति, तत्र परत्वादाशिष्यपि नित्यं स्वस्तिचतुर्थी भवतीत्यर्थः । तृतीयया योगाभिधानादिति । शक्तार्थादिभिर्युक्तात् चतुर्थी-  
३६ त्यार्थवसायात् तैर्युक्ताश्च भवतीत्यर्थः । नमस्यति जिनामिति । अत्रापि नमसा योगाभावात् जिनामित्यत्र चतुर्थीभाव, यत्र नम शब्द-  
३७ किरपि क्रियापदापेक्षिणीति कथमन्तरात् स्यात्?, नैप दोष, कारकस्य क्रियामात्रसंबन्धात्स्वस्तिचतुर्थी सापेक्षेति । विशिष्टक्रिया-  
पदश्रवणेन तु सैवापेक्षा नियम्यत इति । उपपदार्थापेक्षा उपपदविभक्तिप्रकृतेर्नाम्नो न स्वाभिधेयान्तरगता इत्यनुमेयार्थं चेतसि निघायं वृच्छति-

नमस्यति जिनानित्यत्राऽपि नमस्यधातुना/योगो न नमसा । यद्येवं कथं स्वयंभुवे नमस्कृत्येति ? नाऽनेनाऽत्र चतुर्थी, किंतु नमस्कृतिलक्षणया क्रिययाऽभिप्रेयमाणत्वात् संप्रदानत्वे “चतुर्थी” ॥ २ । २ । ५३ ॥ इत्यनेनैव, स्वयंभुवं नमस्कृत्येत्यत्र तु क्रियाऽभिप्रेयत्वाऽविवक्षायां द्वितीयैव ॥ ६८ ॥

**पञ्चम्यपादाने ॥ २ । २ । ६९ ॥**

अपादाने कारके गौणात् नाम्नो यथासख्यमेकद्विहौ ङसिभ्याम्यसूलक्षणा पञ्चमी विभक्तिर्भवति । ग्रामादागच्छति, पर्वतादवरोहति, गोदाम्यामागच्छति; यवेभ्यो गां वारयति, कुसुलात् पचति, बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्; चौराद् विभेति ॥ ६९ ॥

**आडावधौ ॥ २ । २ । ७० ॥**

अवधर्मर्यादा, अमिविधिरपि तद्विशेष एवेति तस्याऽपि ग्रहणम्; अवधौ वर्तमानात् आडा युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः—पाटलिपुत्रमवधीकृत्य तद्याप्याऽव्याप्य वा वृष्ट इत्यर्थः, आ कुमारेभ्यो यशो गतं गौतमस्य ॥ ७० ॥

**पर्यपाभ्यां वज्र्ये ॥ २ । २ । ७१ ॥**

वज्र्ये—वर्जनीयेऽर्थे वर्तमानात् पर्यपाभ्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, परि परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः; अप पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः,—पाटलिपुत्र वर्जयित्वेत्यर्थः । वज्र्य इति किम् ?, अपशब्दो मैत्रस्य ॥ ७१ ॥

**यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना ॥ २ । २ । ७२ ॥**

प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिमुख्यस्य सदृशोऽर्थः, प्रतिदानं—गृहीतस्य प्रत्यर्पणम्—विशोधनमिति यावत्; प्रतिना योगे यतः प्रतिनिधिर्यतश्च प्रतिदानम् तद्वाचिनो गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति, अभयकुमारः १८

यद्येवं कथमित्यादि । कारकविभक्त्या द्वितीयया बाप्यमाना कथमत्र चतुर्थीति प्रश्नार्थं । परिहरति—नाऽनेनाऽत्र चतुर्थीत्यादि । यदि नमस्कृतिलक्षणक्रियाभिप्रेयमाणतया संप्रदानत्वं, कथं तर्हि स्वयंभुव नमस्कृत्येत्यत्र तच्च भवतीति यदि कस्याप्याशङ्का स्यात्तदा तन्निरुत्तर्यमाह—स्वयंभुवमित्यादि । बहुवचनमसन्देहार्थम् ॥ ६८ ॥

**पञ्चम्यपादाने ।** अत्र गौणात् नाम्न इति वर्तते । अपादाने गौणात् नाम्न पञ्चमीत्यन्वयस्त्वदाह—अपादाने कारके इत्यादि । ग्रामादागच्छतीति पदस्य योऽर्थ आगमनक्रियालक्षणस्तस्यावधिभावेन ग्रामो निवक्षित इति “अपायेऽवधिरपादानम्” इत्यस्याऽपादानत्वात् पञ्चमी । एवं पर्वतादवरोहतीत्यादानपि द्रष्टव्यम् ॥ ६९ ॥

**आडावधौ ।** गौणात् नाम्न पञ्चमीति वर्तते । अवधौ आडा गौणात् नाम्न पञ्चमीत्यन्वय । अवधिश्चन्दस्य पर्यायेणार्थमाह—अवधि-र्मर्यादेति । प्रष्टव्यस्य यत्र निरोध स मर्यादा, तद्विशेष एवेति मर्यादाविशेषोऽभिविधिरिति मर्यादाभूतमेव यदा क्रियया व्याप्यते तदाऽभिविधिरित्यवधिशब्देनैव मर्यादार्येण तस्यैव सामान्येन ग्रहणमित्यर्थं । आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघ इति । अत्र वर्षस्य पाटलिपुत्रमवधिराज च युक्त-मतस्ततः पञ्चमी । पाटलिपुत्रमवधीकृत्यैतान्वानर्थ आडा धोत्यते । अवधि पुनरव्याप्तिरिति च विशेषो न गम्यते, प्रमाणान्तरेण तु गम्यत इत्याह—तद्द्व्याप्याऽव्याप्य वेति । आकुमारेभ्यो यशो गतं गौतमस्येति । समन्ततो विसर्पणेऽपि आपाटलिपुत्रादिति पाटलिपुत्रवत् कुमारा अवधित्वेन प्रतीयन्ते ॥ ७० ॥

**पर्यपाभ्यां वज्र्ये ।** अत्र गौणात् नाम्न पञ्चमीति वर्तते । वज्र्ये पर्यपाभ्यां गौणात् नाम्न पञ्चमीत्यन्वय । परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो देव इत्यादौ वज्र्यवर्जकसवन्ध पर्यपाभ्या धोत्यत इति तत्र तद्युक्तात् वर्जनीयात् सवन्धषष्ठां प्राप्तायां पञ्चमी विधीयते इति । परि परि पाटलिपुत्रादिति । “वाक्यस्य परिवर्जने” ७।४।८।८ इति द्विवचनम् । पाटलिपुत्रं वर्जयित्वेत्यर्थं इत्यनेन पाटलिपुत्रस्य वज्र्यत्वं दर्शयति । १३ पर्येषो द्व पाटलिपुत्रस्य वृष्टया वर्ज्यमानतां धोत्यत । अपशब्दो मैत्रस्येति । अपगतं शब्दादपशब्द इति पूर्वपदप्रधान समासः, अत्र अपेन युक्तो मैत्रो न वज्र्य इति वज्र्य इति वचनात् न भवति । नन्वपेन साहचर्यात् परेरपि वर्जनार्थस्य ग्रहणात् वर्जनाभ्यां पर्यपाभ्यां युक्तात् पञ्चमी-त्यर्थवसायात् कर्तुर्येदर्थं क्रियारंभस्तत्रधानमिति व्याप्यस्य वर्ज्यमानस्य प्राधान्यात् ताभ्यां युक्त्वात् पाटलिपुत्रादे क्रियाव्याप्ये द्वितीयायाः प्रसङ्गे सचन्धिष्वपतया वाऽपेक्षिते षष्ठां प्राप्तायां वर्जनीयादेव पञ्चमी भविष्यति किं वज्र्यप्रहणेन ?, सत्यम्, एवं सति प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । किं च न हि साहचर्यं प्रमाणमस्ति, अर्थप्रकरणादिभिलोके सहचरितस्य ग्रहणात् सव्यभिचारत्वात् चेत्यदोष ॥ ७१ ॥

**यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना ।** अत्र गौणात् नाम्न पञ्चमीति वर्तते । प्रतिना यत प्रतिनिधिप्रतिदाने तद्वाचिनो गौणात् नाम्न पञ्चमीत्यन्वय । प्रतिनिधीयत इति—मुख्यस्यासभवे कार्ये विनियुज्यते, इति मुख्यसदृशोऽर्थ इत्याह—प्रतिनिधिरित्यादि । मुख्यो य-कचित् कार्ये कृत्सवन्धो यथा—अर्जुन शत्रुजये, तस्यासन्धिधाने यस्तत्कार्ये तद्बुद्ध्या विनियुज्यते स प्रतिनिधिरित्यर्थं । प्रतिदानमिति । गृहीतस्य पूर्वदत्तस्य तिलादेः प्रत्यर्पण—निर्यातनं मुख्यजातीयेनाऽनुत्पन्नातीयेन वेति शेष । पुन प्रत्यर्पण स्पष्टयति—विशोधनमिति । यतः प्रति-निधिर्यतश्च प्रतिदानमिति । यत इत्यत्र यच्छब्दात् मुख्यपूर्वदत्तप्रतिपादकात् “गम्ययप कर्माऽऽधारे” इति कर्मणि पञ्चमी, यमपेक्ष्य प्रति-निधिप्रतिदाने भवतस्ततः पञ्चमीति ह्यर्थो गम्यते, मुख्यपूर्वदत्ते चापेक्षिते भवतः संबन्धिष्वान्दत्तादिति । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति इति ।

श्रेणिकतः प्रति,—सदृश इत्यर्थः; तिलेभ्यः प्रति मापानस्यै प्रयच्छति,—तिलान् गृहीत्वा मापान् ददातीत्यर्थः, एवं सर्पिषो-  
ऽस्यै तैलं प्रति सिञ्चति, सर्पिषोऽस्यै तैलं प्रति सिक्त्वा व्रजति । यत इति किम् ?, तिलेभ्यः प्रति मापान् प्रयच्छति  
इत्यत्र मापशब्दात् मा भूत् । प्रतिनिधिप्रतिदान इति किम् ?, वृक्ष प्रति विद्योतते विद्युत् ॥ ७२ ॥

### आख्यातयुपयोगे ॥ २ । २ । ७३ ॥

आख्याता—प्रतिपादयिता, तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति; उपयोगे—नियमपूर्वकविद्याग्रहणविषये । उपा-  
ध्यायादधीते, आचार्यादागमयति, श्रावकात् शृणोति; प्रत्येकबुद्धादधिगच्छति । आख्यातरीतिः किम् ?, उपाध्यायात् शास्त्र-  
मागमयति,—अत्र शास्त्रात् मा भूत् । उपयोग इति किम् ?, नटस्य शृणोति, उपयोगविवक्षायां तत्राऽपि भवति—नटाद्  
भारतं शृणोति । अपादानत्वेनैव सिद्धे उपयोग एव यथा स्यादित्येवमर्थं वचनम् ॥ ७३ ॥

### गम्ययपः कर्माऽऽधारे ॥ २ । २ । ७४ ॥

गम्यस्याऽप्रयुज्यमानस्य यपो—यवन्तस्य यत्कर्म आधारश्च तत्र वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । द्वितीयासप्तम्यो-  
रपवादः । प्रासादात् प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षते, प्रासादमारुह्याऽऽसने चोपविश्य प्रेक्षते इत्यर्थः । गम्यग्रहणं किम् ?, प्रासादमारुह्य  
शेते, आसने उपविश्य भुङ्क्ते,—न ह्यत्र यवन्तस्याऽप्रयोगे तदर्थः प्रतीयते । य्वग्रहणं किम् ?, प्रविश पिण्डीम्, प्रविश तर्प-  
णम्, वृक्षे शाखा, ग्रामे चैत्र,—अत्र हि भक्ष्यकुर्यात् आस्तेवसतीनां गम्यता न तु यपः । ननु यथा कुर्यादादाय पचति—कुर्या-

प्रयुनस्य बाह्यदेवप्रतिनिधित्वात् बाह्यदेवात् पञ्चमी । युपूर्वात् 'माक्'मानशब्दयोरित्यत "युप्रतिभ्यो माक्वे डित्" उ० २६६ । इति डिति ने—युत्र,  
३५ पश्चात् प्रेण बहुमीही—प्रयुत्र । एव अमयकुमारस्य धेणिकप्रतिनिधित्वात् धेणिकात् पञ्चमी, "प्रतिना पञ्चम्या" ७।२।८७। इति तस्य । तिलेभ्यः  
प्रति मापानस्यै प्रयच्छति—ये तिला मापार्थं पूर्वं गृहीतास्तेभ्यो मापाणा प्रतिदानमिति तिलशब्दात् पञ्चमी इत्यस्योदाहरणस्यार्थं स्पष्टयति—  
तिलान् गृहीत्वत्यादिना । एव सर्पिषोऽस्यै तैलं प्रति सिञ्चतीत्यादावपि द्रष्टव्यम् । अत्र यद्यपि मुख्यप्रतिनिध्योर्गृहीतप्रतिदानयोश्च प्रतिना

३८ योगस्त्वयापि यत इति निर्देशात् मुख्यात् गृहीताय तद्युक्तात् पञ्चमी विधीयते, तत एव च तथा उत्पद्यमानया उभयगतसंबन्धस्य प्रतिपादितत्वात् ।  
इतराभ्यां तद्युक्ताभ्यामपि पञ्चम्या अप्रवृत्तिरितीत्याह—यत इति किमित्यादि । ननु प्रतिनिधिप्रतिदानयो स्तेन प्रतियोगिना प्रतिनिधिप्रतिदानवता  
सवन्धमभिव्यक्तु प्रति प्रयुज्यते, तत्र द्विष्टत्वात् संबन्धस्य प्रतिनिधिप्रतिदानयो प्रतिनिधिप्रतिदानवतोश्च तुल्येऽपि प्रतिना योगे प्रतिनिधिप्रतिदानाभ्यां

२१ कारकविभक्तिविषयाभ्यां नोपपदविभक्ति पञ्चमी भविष्यति किं तदर्थेन यत इत्यनेन ?, उपपदविभक्तयो हि पक्षपवाद, पृथी च सवन्धस्येदभाव-  
लक्षणे; कारकभावस्य च संबन्धकारणभूतस्य विवक्षायामस्येदमित्येव रूपस्य सवन्धस्य फलभूतस्य प्रागभावादेव उपपदविभक्तौ नामनुपजातमितितान-  
स्यत एवाभाव सिद्ध । अयमेव चार्थं पूर्वाचार्थं परिभाषारूपेणानेन च वचनेन पठ्यते 'उपपदविभक्ते कारकविभक्तिर्बलीयसी'ति । तत्र यथा

२५ प्रद्युम्नाययो. कारकयोरसति प्रतिना संबन्धे 'बाह्यदेवस्य प्रतिनिधिरय प्रद्युम्नसिलानां प्रतिदान मापान् प्रयच्छतीति' कारकविभक्ति प्रधानप्रधा-  
नाश्च पृथी, तथा प्रतिनाऽपि योगे त सवन्धमभिधातु पञ्चम्युत्पद्यमाना तत एव च प्रतियोगिन पृथीयुक्तादुत्पत्त्येव न तु प्रतिनिधिप्रतिदानाभ्या-  
मिति न्यायादेव सिद्ध, इत्यम्, इमामेव नियतविषयामुत्पत्तिं यत इत्यनेन दर्शयतीत्यदोष । वृक्षं प्रति विद्योतते इति । अत्र वृक्षस्य प्रतिना  
२७ योगेऽपि प्रतिनिधिप्रतिदानयोरभावात् मुख्यगृहीतासम्भवात् न तत पञ्चमीति "भागिति च प्रतिपर्यनुमि" इति द्वितीयैव ॥ ७२ ॥ ।

आख्यातयुपयोगे । अत्र गौणात् नाम्नः पञ्चमीति वर्तते । आख्यातरि गौणात् नाम्नः पञ्चमी उपयोगे इत्यन्वयः । अत्र उपपूर्वो  
युजिष्यारामात्रेऽप्यस्ति, यथा—अयमस्यदर्थ—उपयुज्यते—व्याप्रियत इति । स यदि विज्ञायेत, नटस्य शृणोतीत्यत्रापि स्यात्, आख्यातुक्षेत्रोत्राख्यात-  
३० श्रवणलक्षणस्य व्यापारस्य विद्यमानत्वात् । तद्योपाह्वाने—स्त्रीकारेऽप्यस्ति, यथा पञ्चान्येतानि फलानि एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तफलवदिति—उपात्त-  
फलवदिति गम्यते । यद्यप्ययमत्रार्थं स्यात् 'तथापि नटस्य शृणोति' इत्यत्रापि स्यात्, अत्रापि हि उपाध्यायोच्चारितशब्दवत् नटोच्चारितशब्द-  
श्रोतुमि श्रोत्रपदमुपगम्यते—उपाधीयते । तत्र न केवलमुपयोगग्रहणमनर्थकं सूत्रमेवानर्थकं स्यात् तस्मिन्वृत्त्यर्थत्वात् सूत्रस्य, अतो नाऽयमर्थोऽपि

३३ त्वयमित्याह—उपयोग इत्यादि । नियमो विद्याग्रहणार्थं गुरुश्रुपादिकां शिष्यश्रुतिमाख्यायते । प्रत्येकबुद्धादधिगच्छति—किञ्चिद्विहितमा-  
साद्याभ्यासपद्धमहाव्रतप्राप्यजन्मसंस्कारोद्बुद्धतकलशास्त्रसृष्टि प्रत्येकबुद्ध । ननु यदा नटादेर्मरतशास्त्रादिकमात्मसात्कर्तुंकाम शृणोति तदा कथं  
पञ्चमीत्याह—उपयोगविवक्षायां त्वित्यादि । अयमर्थ—अत्रापि तदनुसूतोऽस्ति कश्चिन्नियम, न ह्यत्र प्रेक्षणवत् यथाकथञ्चिदनियमेनोपरोधेन

३५ वा श्रवणात् । नियमपूर्वकविद्याग्रहणमित्यनेन वा प्रत्येकव्यर्थस्य चैदपर्येण परिग्रह एवोच्यते, स तत्राप्यस्तीति भावः । विद्याग्रहणमित्येतावति  
दृश्यमाने प्रेक्षणकेऽपि शृण्वत किमप्यस्ति विद्याग्रहणं, तस्मिन्वच्छेदार्थं नियमपूर्वकमित्युपाधीयते । ननु ग्राह्यायादेरस्ति विद्यापरिग्रहेऽप्यायेऽवधि-  
भूतत्वं, ततो हि विद्या श्रोतारमुपैति, सततत्वात् नात्यन्ताय ततोऽपक्रामतीति "पञ्चम्यपादाने" इति सिद्धा पञ्चमी किमनेनेति ?, उच्यते—उपयोग  
३९ एव यथा स्यात् तदभावे मा भूदित्येवमर्थसिद्धमिति सूत्रात्पर्यमाह—अपादानत्वेनैवेत्यादि ॥ ७३ ॥

गम्ययपः कर्माऽऽधारे । अत्र गौणात् नाम्नः पञ्चमीति वर्तते । गम्ययपः कर्माऽऽधारे गौणात् नाम्नः पञ्चमीत्यन्वयः । यद्यपि यवन्त  
शृण्वते केवलस्य प्रयोगाभावादित्याह—यपो यवन्तस्येति । तत्र यवन्तस्य कर्मणि द्वितीया प्राप्नोति, आधारे च सप्तमीति तयोरपवादः पञ्-  
४२ मीयमित्याह—द्वितीयेत्यादि । प्रासादात् प्रेक्षते इत्यादिप्रयोगार्थं कथयन् गम्ययवन्त दर्शयति । तथा च गम्यग्रहणं किमिति प्रत्यु-  
दाहियते—प्रासादमारुह्य शेते, आसने उपविश्य भुङ्क्ते इति । तदर्थं इति । आरुह्येत्यादियवन्तार्थं इत्यर्थः । प्रविश पिण्डीमि-  
त्यादी अर्थात्प्रकरणान्ना भक्षयेत्यादि गम्यमपेक्ष्य, तत्र न यवन्तमिति पञ्चमी न भवति । ननु किमर्थमिदं सूत्रमारभ्यते ?, प्रासादात् प्रेक्षते,  
४५ आसनात् प्रेक्षत इति ततो हृद्विरपैतीति प्रासादादेरप्यायेऽवधिभूतत्वात्पादाने पञ्चमी सिद्धे । तथाहि—इह तावदेकेषां दर्शनं 'अधिग्रहणदेशात्  
नान्यन्त्याय निर्गच्छत बहिरिन्द्रिय विषय परिच्छिनति' यथा जलौकसा पूर्वदेशाऽपरित्यागेनाऽपरदेशप्राप्ति, 'तद्येन्द्रियाणामपि अधिष्ठानापरि-  
त्यागेन विषयप्राप्तिरिति नाऽनिन्द्रियमधिष्ठानमिति, ततोऽपक्रान्त्या च स्पष्टोऽवधिभावः । येषां तु क्षणिकानिन्द्रियाणि प्राप्यकारिणि वेति दर्शनं



लात् पचतीत्यत्राऽदानाऽङ्गे पाके षं चर्वतमानादुपात्तविषयमेतदपादानमिति पञ्चमी भवति, एवमिहाऽपि अपक्रमणाऽङ्गे दर्शने  
दशेर्वर्तनाद् भविष्यति, तथा हि—तत्तोऽपक्रामति अनपक्रामद्धि न विषयं गृह्णीयात्, सत्यम्; किं तु आरुह्य उप-  
विश्येति यवन्तार्थोऽपि गम्यते, ततो यथा यवन्ते प्रयुज्यमाने कर्माऽधिकरणयोर्द्वितीयासप्तम्यौ भवतस्तद्वदप्रयुज्यमानेऽपि ६  
तदर्थप्रतीतिस्ते प्रसज्जेयातामिति सूत्रमारभ्यते ॥ ७४ ॥

**प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दवहिरारादितरैः ॥ २ । २ । ७५ ॥**

प्रभृत्यर्थैः अन्यार्थैः दिक्शब्दैर्बहिस् आरात् इतर इत्येतैश्च शब्दैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । प्रभृत्यर्थः— ६  
ततः प्रभृति, कार्तिक्याः प्रभृति, आरभ्य ग्रीष्मात्, ग्रीष्मादारभ्य । अन्यार्थैः—अन्यो भैत्रात्, भिन्नश्चैत्रात्, अर्थान्तरं  
घटात्, व्यतिरिक्तः पटात्, विलक्षणोऽश्वात्, पृथग् गजात्; हिरुग् गांर्यात् । दिक्शब्द—ग्रामात् पूर्वस्यां दिशि वसति,  
ग्रामादुत्तरस्यां दिशि वसति; दिशि दृष्टाः शब्दा दिक्शब्दा इति देशकालादिवृत्तिनापि भवति—पूर्वं उज्जयिन्या गोनर्दः, ९  
उत्तरो विन्ध्यात् पारियात्रः, पूर्वा ग्रीष्माद् वसन्तः, पश्चिमो रामाद् युधिष्ठिरः, एतदर्थमेव च शब्दशब्दोपादानम्; गम्य-  
मानेनाऽपि च दिक्शब्देन भवति—क्रोशात् लक्ष्यं विध्यति—परेणेति गम्यते, “कमेर्णिङ्” ॥ ३ । ४ । २ ॥ परो भवतीति  
गम्यते; प्राग् ग्रामात्, प्रत्यग् ग्रामात्, उदग् ग्रामात्, प्राचीन ग्रामादात्राः, दक्षिणाहि ग्रामात्, उत्तराहि ग्रामात्, दक्षिणा १२  
ग्रामात्, उत्तरा ग्रामात्; न्यग् भैत्रस्याऽवस्थित इत्युपसर्जनत्वात् न दिक्शब्दता । वहिस्—वहिरात्, वहिष्पुरात्;

तेषामपीन्द्रियक्षण एकस्मिन् विषये गच्छति अन्य इन्द्रियक्षणोऽधिष्ठानदेशे प्रादुर्भवतीत्यन्योन्यप्रादुर्भावात् न निरिन्द्रियाधिष्ठानदोष इति ततो-  
ऽपक्रमेण योतितमवधित्वम् । येषां पुनरप्राप्यकारीणीन्द्रियाणि तेषामपि प्रेक्षणक्रियायास्ततोऽभावात् प्रासादादेरनुपहतोऽवधिभाव इति । अपि १५  
चेमानीन्द्रियाणि प्राप्यकारीण्येवेति केषांचिद्दर्शनं, यदि हि तानि तथा न स्युस्तदा दूरवर्तिनो व्यवहितमपि पदार्थमुपलभेरन्, ततोऽनुमिति-  
मिमामाहु ‘यद्दुत सत्यस्मिन् नयनयुगले विततसुखा रम्यो ये विषयमासाद्य गृह्णन्तीति’ । एव च सर्वं उत्प्रेक्षत इत्यस्यायमर्थ—नयनधीधि-  
तयोऽस्य नि सत्य विषय गृह्णन्तीति भवति प्रासादोऽवधित्वात्पादानमिति ततोऽनपक्रामन्न चेन्द्रिय विषय परिच्छिनतीति सिद्धाऽपादानपञ्चमीत्य- १८  
सुमेवार्थं संप्रचार्योदाहरणे प्रदर्शनपुर सरमाक्षिपति—नन्वित्यादि । परिहरति—सत्यमित्यादि । अयमर्थ—सत्य सिध्यति पञ्चमी, किन्तु  
प्रतीयमानयवन्तक्रियापेक्षया कर्मभावस्याधारभावस्य च विद्यमानत्वात् द्वितीयासप्तम्यावपि स्यातां तदर्थमिदमारभ्यते । तद्विवक्षा इह नास्तीति  
लोकात् प्रतिपत्तो तत इद वचन लघु मन्यत इति । किं च न भवदुधीरित प्रेक्षतेरर्थश्चक्षुरिन्द्रियकरणिकायामुपलब्धौ सम्भवति, प्रेक्षते देवदत्त २१  
चक्षुरिन्द्रियेण करणभूतेन पदार्थमुपलभत इति देवदत्तस्य कर्तृत्वमुपलभ्यते न चक्षुरिन्द्रियस्य । यश्च चाक्षुषो व्यापारो नि सरणात्तो विषयग्रहण-  
लक्षण स न शब्दोपात्त, केवलं नयनधीधितीना विषयग्रहणाऽन्ययानुपपत्त्या व्यापारोऽनुमीयते । न चानुमानसमधिगम्योऽर्थं शब्दार्थो  
भवितुमर्हतीति प्रेक्षत इति—नायनरश्मयोऽस्य नि सत्य विषय गृह्णन्तीति अशब्दार्थोऽयमिति कथं ग्रामादागच्छतीति शब्दोपात्तक्रियापेक्षे कारक- २४  
भावे सत्यनुमितक्रियापेक्षया साक्षादशब्दोपात्तव्यापारं कारकभावसुररीकृत्य पञ्चमीं समर्थयामहे १, तस्मात् प्रासादात् प्रेक्षत इत्यत्र चक्षुषो न कर्तृत्व  
नापि तद्वर्गमेरियारब्धव्यमेवेदमिति । अपि चास्तां तावत् शब्दार्थताप्रयास, नयनरश्मयोऽस्य नि सत्य विषयं गृह्णन्तीति अयमेव प्रेक्षतेर्भवत्वर्थः  
प्रासादस्य तु तत्क्रियापेक्षयाऽपादानादन्यत्व ब्रूमः । न तावत् प्रासादरश्मय प्रसरन्ति किन्तु चक्षुरश्मय इति प्रत्युत प्रासादो देवदत्तस्याधार २७  
इति । सादेतत्—पारम्पर्येण प्रासादस्यावधिभाव, प्रासादस्यात् चक्षुषो यतो निर्यान्त्यत पारम्पर्येण प्रासादादेव ते निर्यान्तीति तदिदमति-  
सुमाषितम् । एव हि मुख्यस्यापादानत्व स्यात्, ततश्च मुख्यत्वात् प्रेक्षत इत्यपि प्रसज्येत । को हि विशेष पारम्पर्येणावधिभावात्, मुख्यस्य  
वाऽप्यपादानत्वमस्तु प्रासादस्येवेति । अपि च केषांचिदेव दर्शनं यत्रायना रश्मयो विषय गृह्णन्तीति । अन्येषां तायागतादीनां गोलकस्यैवविधा ३०  
कान्चिच्छक्तिरिति यथा विषय प्रतीप्सति, तथाहि—घातुदोषोपलिप्तकृष्णसारं पश्यदन्धमिदमिदधति जना इति तेषां दर्शनेन प्रति वा काऽत्र  
गति १, न च विशेषोपेक्षया शब्दस्थिति, अनवस्थाप्रसङ्गादिति युक्तमिदमारभ्यत इति ॥ ७४ ॥

१ प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दवहिरारादितरैः । गौणात् नाम्नः पञ्चमीति वर्तते । प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्दवहिरारादितरैर्गौणात् नाम्नः पञ्चमी- ३३  
त्यन्वय । अर्थशब्द प्रभृत्यन्यशब्दाभ्यां प्रत्येकमभिसंबन्धयत इत्याह—प्रभृत्यर्थैरिति । अत एव च पर्यायप्रयोगेऽप्युदाहरति—आरभ्येत्यादि ।  
दिक्शब्दैरिति । दिशा शब्दा दिक्शब्दा इति षष्ठीसमास । के च दिशां शब्दा १, ये दिक्षु वर्तन्ते, अतद्वृत्तेरपि तच्छब्दत्वेऽतिप्रसङ्गात् ।  
न च वर्तमाननिमित्तसमवे कालान्तरे ष्टिपरिग्रहो युक्त, तत्र दिश्येव प्रयोगे पञ्चमी स्यात् नान्यत्र देशादावित्याह—दिशि दृष्टा इत्यादि । ३६  
दिशि ये वाचकत्वेन दृष्टा शब्दास्त इह दिक्शब्दा इति विज्ञायन्ते न तु दिशि वर्तमाना एव, तेन दिशो वाचकत्वेन दृष्टस्य शब्दस्य देशे काळे  
व्यादिशब्दात् भावे ब्रुव्ये च वृत्तावपि तथोगे पञ्चमी, यथा—पूर्वं उज्जयिन्या गोनर्द इति । अत्र कथमिदं विज्ञायते दिशि दृष्टा एव शब्दा  
दिक्शब्दा न दिशि वर्तमाना इत्याह—एतदर्थमेव चेत्यादि । नो हेतौ, यस्मात् दिक्शब्देति शब्दस्योपादानं तस्मात् दिशि दृष्टा शब्दा दिक्- ३९  
शब्दा इति । नन्वेतदेव कथं विज्ञायते १, एतदर्थमेव शब्दोपादानमिति, उच्यते—अन्यथा शब्दशब्दोपादानानर्थक्यात्, यदि हि दिशि वर्तमानस्यैव  
प्रयोगे पञ्चमी स्यात् शब्दशब्दोपादानमनर्थकं स्यात् । तत्र दृष्टस्य तस्यैव व्यपदिश्यते, यथा क्वचिद्गामे दृष्टो मनुष्योऽन्यत्रापि दृश्यमानस्तस्य प्राप्त-  
स्याय मनुष्य इति व्यपदिश्यते । गम्यमानेनाऽपीति । अप्रयुज्यमानेनेत्यर्थ । प्राग् ग्रामादिति । प्रपूर्वादवृत्ते क्त्वात्, तत प्राची दिक् प्राद् ४२  
देशे कालो वेति “दिक्शब्दादिदेशकालेषु प्रथमापञ्चमीसप्तम्या ” ७१।११३। इति धाप्रत्यय, “अवृत्ते एव ” ७१।१२२। इत्येनप्रत्ययो वा  
तस्य “द्ववृत्ते ” ७१।१२३ इति लोप, तथोगे ग्रामादिति पञ्चमी । एव प्रत्यग् ग्रामादित्यादावपि दृष्टव्यम् । दक्षिणाहि ग्रामात्—“आहि दरे”  
७१।१२०। इत्यादि प्रत्यय । एवमुत्तराहीत्यत्रापि । दक्षिणा ग्रामादिति । “वा दक्षिणात्” ७१।११५। इत्याप्रत्यय । न्यग् भैत्रस्येति । ४५

१ ०नेवर्षना० म० स० । २ प्रभृत्यर्थं पु० । ३ अन्यार्थं पु० । ४ गणात् पु० । ५ उज्जयिन्या पु० । ६ ०नर्दं पु० । ७ वहि पु० पु० ।

आरादित्यव्ययं दूरसमीपयोर्वाचकम्, तेन तद्योगे वक्ष्यमाणस्य “आरादर्थैः” ॥ २ । २ । ७८ ॥ इति विकल्पस्याऽपवादो-  
ऽयम्—आराद् ग्रामात् क्षेत्रम्, आरात् मैत्रात् पीठम्; इतरशब्दो द्वयोरुपलक्षितयोरन्यतरवचनस्तेनाऽन्यार्थाद् मिद्यते—इतरश्चै-  
त्रात्, तस्य द्वितीयो मैत्रादिरित्यर्थः । अथ जिनदत्तादन्योऽयं मैत्रस्य, जिनदत्तादितरोऽयं चैत्रस्य, छात्राणां पूर्वमामत्रयस्य,  
कायस्य पूर्वमित्यादौ मैत्रचैत्रच्छात्रकायशब्देभ्यः कथं न भवति?, उच्यते—प्रत्यासत्तेर्यस्यैवाऽन्यत्वादिधर्मनिमित्तोऽन्यशब्दा-  
दिना योगस्तत एव जिनदत्तादेः पञ्चमी भवति न मैत्रादेरिति ॥ ७५ ॥

४

ऋणाद्धेतोः ॥ २ । २ । ७६ ॥

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः, हेतुभूतं यद् ऋणं तद्वाचिनो गौणात् नाम्नः पञ्चमी भवति । तृतीयाऽपवादः । शताद्  
वद्धः, सहस्राद् वद्धः । हेतोरिति किम्?, शतेन वद्धः, शतेन वन्धितः, शतेन चैत्रेण वन्धितः,—कर्त्तरि प्रयोज्ये प्रयोजके  
च कर्तृलक्षणा तृतीया भवति, हेतुर्हि फलसाधनयोग्यः पदार्थः कर्त्तादिभ्योऽन्य उच्यते इति कथं कर्तुर्हेतुत्वम् ॥ ७६ ॥

गुणादस्त्रियां नवा ॥ २ । २ । ७७ ॥

अस्त्रियां वर्तमानात् हेतुभूतगुणवाचिनो गौणात् नाम्नः पञ्चमी वा भवति । जाड्याद् वद्धः, जाड्येन वद्धः; पारि-  
२२ ख्यात्यात् मुक्तः, पारिख्यात्वेन मुक्तः, मोहाद् वद्धः, मोहेन वद्धः, ज्ञानात् मुक्तः, ज्ञानेन मुक्तः । गुणादिति किम्?,  
धनेन कुलम् । हेतोरित्येव?, जाड्यस्यैतद्रूपम् । अस्त्रियामिति किम्?, बुद्ध्या मुक्तः, प्रज्ञया मुक्तः; विद्यया यशः । अस्त्य-  
त्राऽग्निधूमात्, नाऽस्तीह घटोऽनुपलब्धेः, सर्वमनेकान्तात्मकम् सत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेरित्यादौ नाऽभ्यादेर्धूमादिहेतुः, कस्य

- १५ अयं क्रियाविशेषणत्वादुपसर्जनवचनो न दिक्शब्द इति मैत्रस्येत्यत्र षष्ठी भवति न पञ्चमीति । अयं दूरान्तिकार्थमारादित्यव्ययं सूत्रेऽनुक्रियते,  
तद्योगे च “आरादर्थैः” इत्यनेनैव षष्ठी सिद्धा किमिहोपादानेन?, सत्यम्, सिध्यति परं विकल्पेन, इह तु आराच्छब्दयोगे नित्यं तदपवादः पञ्च-  
मीति तदाह—“आरादर्थैः” २।२।७८ इति विकल्पस्येत्यादि । इतरशब्दवाच्येऽयं शब्दस्यापि प्रवृत्ते सूक्ष्ममन्तरमप्रतिपद्यमान इतर-  
१८ शब्दमन्यार्थमेव यो मन्यते तं प्रति भिन्नार्थतां दर्शयति—इतरशब्द इत्यादि । अयमर्थ—अन्य इति प्रकृतिसिलक्षणोऽयं उच्यते, इतर इति च  
दृश्यमानप्रतियोगीत्यर्थः । अथ जिनदत्तादन्योऽयं मैत्रस्येति । अयमर्थ—यथा जिनदत्तस्य अन्यत्वादिभिधेयनाऽर्धेन योगः, तथा मैत्रस्यापि,  
तद्योगापेक्षा ह्यत्र षष्ठी—मैत्रस्येति । एतावांस्तु विशेष—जिनदत्तापेक्षं अयमिति शब्दाभिधेयमन्यत्वमिति अन्यत्वेन योगो जिनदत्तस्य, मैत्रस्य तु स  
२१ पुत्रः पिता भृत्यो वेति पुत्रत्वादिविशिष्टेनाऽन्यार्थेनेति । अनेकधर्माभिधानं हि द्रव्यं भवति, तत्र योगाविशेषात् यथा अन्यत्वेन युक्ते जिनदत्ते  
पञ्चमी, तथा स्वभावान्तरेण युक्ते मैत्रेऽपि स्यादिति । एव छात्राणां पूर्वमामत्रयत्वेत्यादावपि षष्ठी प्राप्नोति, पूर्वेण दिक्शब्देन छात्रादीनां  
अन्येन मैत्रवत् योगादित्याद्यङ्गं परिहरति—उच्यते इत्यादि । अत्रान्यत्वादि विशेषणमात्रं शब्देनाभिधीयते न द्रव्यं, विशेषणेऽयं शब्दार्थ एव  
२४ शब्दभिहितद्विशेषणात् प्रतीयत इति पञ्चमीप्रतिपत्तावन्यत्वादिना विशेषणेन योगः । द्रव्येण योगोऽपि सोऽन्याद्ययोग इति पञ्चम्यप्रसङ्गः,  
अत्रोपपत्ति—प्रत्यासत्तेरिति । येन स्वभावभेदेन तद्द्रव्यमन्यादिव्यपदेश लभते तेनैव योगो विज्ञायते । स्वभावान्तरेण तु योगे नासावन्यादि-  
योगः, न हि तद्द्रव्यं यत् नान्यादि भवति । अन्यत्वादिभावमात्रेण अन्यादिप्रतिपत्ते स्वभावान्तरयोगेऽपि षष्ठीप्रतिपत्तौ नान्यत्वादिधर्मेशून्यं  
२७ किञ्चिदस्तीति व्यवच्छेद्याभावादन्यादिप्रहणमनर्थकं स्यादिति । मैत्रस्येत्यत्र तु पुत्रत्वादिना योगोऽन्यत्वेन जिनदत्तादित्यत्र । छात्राणां पूर्व-  
मित्यत्र पूर्वत्व छात्रान्तरापेक्षं न छात्राणामिति समुदायापेक्षं, समुदायस्य हि एकदेशं स न तस्य समुदायापेक्षं पूर्वत्व । तत्र पूर्वत्वेन योगच्छात्रा-  
न्तरस्य, समुदायस्य तु एकदेशत्वेनेति न भवति । तथा कायस्य पूर्वमित्यत्रापि पूर्वत्व नाभ्यायवयवान्तरापेक्षया, कायस्य तु अवयवत्वेन तत्  
३० संबन्धीति न भवति । एवमन्यत्रापि । बहुवचन लाघवार्थम् ॥ ७५ ॥

ऋणाद्धेतोः । गौणात् नाम्नः पञ्चमीति वर्तते । हेतो ऋणात् गौणात् नाम्नः पञ्चमीत्यन्वयः । तृतीयाऽपवाद इति । अत्र शताद् वद्ध  
इत्यादौ उत्तमर्णेन धार्यमाण ऋण शतसहस्रे बन्धनस्यानाविष्टव्यापारतया निमित्तभूते लौकिकौ हेतुः, ततस्तृतीयाबाधिकाऽनेन षष्ठी विधीयते ।  
३३ कर्त्तरि प्रयोज्ये प्रयोजके चेति । कर्त्तरिति तृतीयानिमिषं शेषयोरपि योजनीयम्, प्रयोज्ये कर्त्तरि प्रयोजके च कर्त्तरीत्यर्थः । शतेन  
वद्ध इति । शतशृणु बन्धकत्वेन कर्त्तृ विवक्षितमतस्तत्र “हेतुर्कर्त्तृकरणे” इति कर्त्तरि तृतीया । शतेन वन्धित इति । अत्र तु शत बन्ध-  
कमन्यस्य णिभिरुपाकर्त्तुं प्रयोज्यत्वेन विवक्षितमिति प्रयोज्ये कर्त्तरि तृतीया । शतेन चैत्रेण वन्धित इति । शत णिगर्भकर्त्तृत्वेन विवक्षितं चैत्रस्य  
३४ प्रकृतिर्कर्तुं प्रयोजकमिति प्रयोजके कर्त्तरि तृतीयेति । ननु यत्रातिर्वन्धवृत्तिर्न गत्यर्थादिष्वन्तर्भवति इति कथं प्रयोज्यस्य यत्कर्म तस्मिन्नप्यमिति  
कर्त्तृत्वेन विवक्षितस्य न हेतुभाव इत्याह—हेतुर्हीत्यादि । हिर्यस्मादर्थे, यस्माद्धेतुर्नाम फलप्राप्तनयोग्यं पदार्थं फलयोग्यत्वमात्रेण विनाऽपि  
३५ क्रियां हेतुराख्यायते, कर्त्तादि च कारक क्रियाया निर्वर्तकं न क्रियामन्तरेण भवितुमर्हतीति न तत्र हेतुकार्यम् । अत एव च कर्त्तादिभ्यो विल-  
क्षणो हेतुरिति सकाराभिव्यक्त्यर्थं फलसाधनयोग्य इत्यादिना हेतुस्वरूपं पुनरुक्तम् । प्राबो हि कर्त्तृविशेषमपि हेतुशब्देनाचक्षते । यतश्च  
“हेतुर्कर्त्तृकरणे” इत्यत्र हेतुप्रहणं कृत्वा कर्त्तृकरणप्रहणं कृत्वा हेतुर्कर्त्तृकरणप्रहणं कृतमतो विज्ञायते कर्त्तादिभ्यो विलक्षणो हेतुरिति ॥ ७६ ॥

गुणादस्त्रियां नवा । अत्र हेतोरिति गौणात् नाम्नः पञ्चमीत्यनुवर्तते । अस्त्रियां हेतुर्गुणात् गौणात् नाम्नः पञ्चमी नवेत्यन्वयः । अनु-  
३२ वर्तमान हेतोरिति गुणादित्यस्य विशेषणमित्याह—हेतुभूतगुणवाचिन इति । द्रव्याभित् पर्यायो गुणः । जाड्याद् वद्ध इति । यदयं जडस्वसा-  
दयं वद्ध इत्यर्थः । एव यदयं परित्यक्तातस्त्वस्मान्मुक्त इत्याद्यपि व्याख्येयम् । जडस्य भावः, परित्यक्तातस्य भाव इति विष्टम् “पतिराजान्तं”  
७।१।६०। इति व्युत्पत्तिः । पञ्चम्यभावपक्षे तु “हेतुर्कर्त्तृकरणे” इति हेतो तृतीया, तस्यां प्राप्तायामयं विकल्प इति । धनेन कुलमिति । धनं द्रव्यं  
३५ न गुण इत्यत्र न भवति । नाऽभ्यादेर्धूमादिहेतुरिति । ज्ञापकस्य हेतोर्धूमादेर्नाऽभ्यादि फलं, तस्य तेनाजन्वत्वादिति भावः । हेतानेव षष्ठीति

तर्हि ? तज्ज्ञानस्य, कथं तर्हि पञ्चमी ? , “गम्ययपः कर्माऽऽधारे” ॥ २ । २ । ७४ ॥ इति भविष्यति, धूमादिकमुप-  
लभ्याऽभ्यादिः प्रतिपत्तव्य इति ह्यत्राऽर्थः । ज्ञानहेतुत्वविवक्षायां तु हेतुलक्षणा तृतीया भवति—धूमेनाऽग्निः, अनुपलब्ध्या  
घटाऽभावः, सत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या, सर्वमनेकान्तात्मकं प्रतिपत्तव्यमिति ॥ ७७ ॥

आरादर्थैः ॥ २ । २ । ७८ ॥

आराद्—दूराऽन्तिकयोः, तन्नेणोमयग्रहणम्, दूराथैरन्तिकार्थैश्च शब्दैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी वा भवति । दूर  
ग्रामात्, दूरं ग्रामस्य; विप्रकृष्टं ग्रामात्, विप्रकृष्टं ग्रामस्य; अन्तिक ग्रामात्, अन्तिकं ग्रामस्य; अम्यांशं ग्रामात्, अम्यांशं  
ग्रामस्य; सनिकृष्टं ग्रामात्, सनिकृष्टं ग्रामस्य । आरात्शब्दयोगे तु प्रभृत्यादिसूत्रेण नित्यमेव पञ्चमी । अथ दूर हितं  
ग्रामात्, दूर हितं ग्रामस्य भूयादित्यादौ हितादियोगे पञ्चम्यभावपक्षे “हितसुखाम्याम्” ॥ २ । २ । ६५ ॥ इति चतुर्थी  
कस्मात् न भवति ? उच्यते—हितसुखादियोगे सा चतुर्थी, इह तु दूरान्तिकादिनैव योगो न तद्विशेषणेन हितादिनैति न  
भवति, यदा तु हितादिना विशेष्यतया योगस्तदा चतुर्थी भवत्येव । अन्ये त्वसत्त्वचनैरेवाऽऽरादर्थैरिच्छन्ति ॥ ७८ ॥

स्तोकाऽल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे करणे ॥ २ । २ । ७९ ॥

यतो द्रव्ये शब्दप्रवृत्तिः स पर्यायो गुणोऽसत्त्वात्, तेनैव वा रूपेणाऽभिधीयमानं द्रव्यादिः तस्मिन् करणे वर्तमा-  
नेभ्यः स्तोकादिभ्यः पञ्चमी वा भवति । स्तोकात् मुक्तः, स्तोकेन मुक्तः; अल्पात् मुक्तः, अल्पेन मुक्तः; कृच्छ्रात् मुक्तः,  
कृच्छ्रेण मुक्तः; कतिपयात् मुक्तः, कतिपयेन मुक्तः । असत्त्व इति किम् ? , स्तोकेन विषेण हतः, अल्पेन मधुना मत्तः,  
कृच्छ्रेण भोजनेन निर्विण्णः—विषादिद्रव्यसामानाधिकरण्यात् अत्र सत्त्ववृत्तिता । करण इति किम् ? , क्रियाविशेषणे मा-  
मूत्—स्तोकं चलति, इह च स्तोकादीनामसत्त्ववाचित्वात् द्वित्वबहुत्वाऽसभवे एकवचनमेव । “स्तोकस्य चाऽभिनिर्वृत्तेर-  
निर्वृत्तेश्च तस्य वा । प्रसिद्धिं करणत्वस्य स्तोकादीनां प्रचक्षते” ॥ १ ॥ ७९ ॥

मन्यमानं पृच्छति—कस्य तर्हीति । धूमादिहेतुरिति शेष । समाधत्ते—तज्ज्ञानस्येति । पुनः पृच्छति—कथमिति । अयमर्थ—भवतु १८  
वहन्यादिज्ञानस्य धूमादिहेतुत्वापि धूमादेः पञ्चमी न प्राप्नोति, वाक्येऽभ्रयमाणवहन्यादिप्रत्ययहेतुत्वाद्गुणत्वात् स्त्रीलक्षत्वाच्चेति । न चायमप्रयोगः,  
सर्वशिष्टैरभिमानेन प्रयुज्यमानत्वादित्यत आह—“गम्ययपः” इत्यादि । उदाहरणार्थं दर्शयन् पञ्चमीनिमित्तं दर्शयति—धूमादिकमित्यादि ।  
यदा तु धूमादेरभ्यादिज्ञानहेतुत्व विवक्ष्यते तदा “हेतुकर्तृकरणे” इति हेतौ तृतीयैव भवति इत्याह—ज्ञानहेतुत्वविवक्षायां त्वित्यादि । ११  
धूमेनाऽग्निरित्यादावपि प्रतिपत्तव्य इति योजनायम् ॥ ७७ ॥

आरादर्थैः । अत्र नवेति गौणात् नाम्नः पञ्चमीति च सवध्यते । आरादर्थैः गौणात् नाम्नः पञ्चमी नवेत्यन्वयः । आराद्—दूराऽन्तिकयोः,  
तन्नेणोमयग्रहणमिति । आराच्छब्दो दूरमित्यस्मिन्नर्थेऽन्तिकमित्यस्मिन्नर्थे तन्नेण—साधारण्येन वर्तते, आराच्छब्दो ह्यर्थद्वयस्यापि साधारण इत्यर्थ- २४  
शब्दोपनिधानेन चेहार्थपरिग्रहः क्रियते, आरात्—आराच्छब्दवाच्योऽर्थो येषामिति तत उभयस्यापि परिग्रहः, ततश्चायमर्थो भवतीत्याह—दूरा-  
थैरन्तिकार्थैश्चेति । दूर ग्रामादिति । अत्र कारकशेषत्वात् षष्ठां प्राप्तायामियं पञ्चमीति तद्विमुक्तपक्षे षष्ठी । “आरादर्थैः” इत्युच्यमाने आरा-  
च्छब्दोऽप्यारादर्थ इति तयोरेऽप्ययं विधिः प्राप्नोति, यथा “न स्त मत्वर्थे” इति न तावपीति यः शक्यते त प्रत्याह—आराच्छब्देत्यादि । २७  
“प्रमल्ल्याद्यर्थदिकृशब्दवहिरारादि” इत्याराच्छब्दयोगे नित्यं पञ्चमी भवति, तत्र ह्याराद्ग्रहणमस्य विकल्पस्यापवाद इति । ननु दूर हितं ग्राम-  
स्येत्यादौ पञ्चम्यभावपक्षे ग्रामस्य हितेन दूरेण च योगात् हितयोगे “हितसुखाम्याम्” इति चतुर्थ्यापि प्राप्नोतीत्यारादर्थयोगे षष्ठीपञ्चम्यावेव यथा  
स्यातां न त्वन्या विभक्तिरिति तद्वाधनार्थं “आरादर्थैः षष्ठी च” इति षष्ठीग्रहणं कर्तव्यमन्यथाऽत्र चतुर्थी स्यादिति पृच्छति—अथेत्यादि । समा- १०  
धत्ते—उच्यते इत्यादि । अयमर्थ—वस्तुतः उभययोगेऽपि शब्दो नोभययोगः प्राधान्येन साक्षाद्गुणादौ किन्त्वन्वयतरयोगमेव, इतरेण तु तद्विशो-  
षणभावापत्तेन योगः प्रकरणेन पारम्पर्येण प्रतीयते इत्यारादर्थैर्विशेष्यतया योगे विवक्षिते चतुर्थीप्रसङ्ग एव नास्ति । यदा तु हितादिना योगः  
प्राधान्येन विवक्ष्यते आरादर्थैश्च तद्विशेषणतया तदा चतुर्थी भवत्येव । अन्ये त्विति । ललितस्वभाव इत्यर्थः ॥ ७८ ॥ १३

स्तोकाऽल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे करणे । अत्र पञ्चमीति नवेति च वर्तते । असत्त्वे करणे स्तोकाऽल्पकृच्छ्रकतिपयात् पञ्चमी  
नवेत्यन्वयः । स्तोकादयः शब्दा अत्र सामानाधिकरण्यमनुभवन्ति स्तोकाधनमिति तद्व्यम्यं सीदन्त्यस्मिन् गुणादय इति व्युत्पत्त्या सत्त्वमुच्यते । न  
सत्त्वमसत्त्व, सत्त्वादन्यदसत्त्व किं तदित्याह—यत् इत्यादि । अनन्तपर्यायारम्भे हि द्रव्ये प्रवर्तमानं शब्दं कश्चिदेव स्वभावामुपादाय प्रवर्तते, १६  
तत्र योऽसौ द्रव्ये स्तोकादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतः पर्यायभेदः स गुणो द्रव्ये परार्थतया प्रतीयमानत्वादसत्त्वम् । अथ स्तोकात् मुक्तः, स्तोकेन  
मुक्त इति द्रव्याद्येव तद्व्याप्येन करणतया प्रतीयते तत्कथमित्याह—तेनैव वेत्यादि । अयमर्थ—तिरोहितघनादिविशेषस्वभावान्तरं स्तोकादिरूपेणैव  
सामान्याऽऽत्मनाऽभिधीयमानं घनादिरूपव्यावृत्तं स्तोकादिरूपाऽऽपन्नं द्रव्यं गुणः क्रिया वा यदा प्रतीयते तदा द्रव्याद्यसत्त्वमिति । स्तोकात् १९  
मुक्त इति । पञ्चम्यभावपक्षे “हेतुकर्तृकरणे” इति करणे तृतीया । स्तोकेण विषेण इति । अत्र स्तोकादयः शब्दाः स्तोकात्वादिकं धर्मं  
प्रवृत्तिनिमित्तमुपादाय तद्वति विषादौ द्रव्ये सत्त्वे सामानाधिकरण्येन वर्तन्त इति नासत्त्ववृत्तयः इत्याह—विषादीत्यादि । स्तोके चलतीति ।  
आख्यातेनोच्यमानस्य स्तोकरूपस्य चलनस्य स्तोकरूपेण सामानाधिकरण्यतया विशेषणं, स्तोकात्त्व च क्रियाविशेषणत्वात् क्रियायाश्चासत्त्वभूतत्वात् स्तोका- २२  
गुणान्वितेऽपि चलने वृत्तस्य स्तोकाशब्दस्यासत्त्ववृत्तितैवेति असति करण इति क्रियाविशेषणादपि पञ्चमी स्यादिति करण इत्युच्यते । एकार्थत्वेऽपि  
स्तोकादीनां भेदेनोपादानं पर्यायनिवृत्त्यर्थमितीह न भवति—मात्रया मुक्त इति । इह चेति । सत्त्वस्यैव विशेषसंख्यायोगित्वादिति शेषः । स्तोकात्त्वा-  
ऽभिनिर्वृत्तेरिति । स्तोकात्त्वाऽभिनिर्वृत्तत्वादिदं प्रयुज्यते—स्तोकेन मुक्तः, स्तोकेन मुक्तो निष्पन्न इत्यर्थः । अनिर्वृत्तेश्चेति । स्तोकात्त्वाऽभिनिष्प- २५  
त्वात् तेन मुक्त इत्यस्यां विवक्षायां करणत्वमाह ॥ ७९ ॥

१ ० वां हेतुलक्षणां म० भ० । २ ० न्यासं पु० । ३ सति पु० ।

## अज्ञाने ज्ञः षष्ठी ॥ २ । २ । ८० ॥

अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य जानातेः सवन्धिनि करणे वर्तमानाद् गौणात् नाम्न एकद्विवहौ यथासख्यं ह्यसोसामूलक्षणा षष्ठी विभक्तिर्भवति । वेति निवृत्तम् । सर्पिषो जानीते, -सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्तत इत्यर्थः, प्रवृत्तिरत्र जानातेरर्थः; एव सर्पिषोर्जानीते, सर्पिषां जानीते; अथवा-सर्पिषि रक्तो विरक्तो वा चित्तभ्रान्त्या सर्वमेवोदकादि सर्पिरूपेण प्रतिपद्यत इति मिथ्याज्ञानवचनोऽत्र जानातिः, मिथ्याज्ञान चाऽज्ञानमेव भवति । अज्ञान इति किम्?, स्वरेण पुत्र जानाति । करण इत्येव?, तैलं सर्पिषो जानाति-तैलं सर्पिरूपेण प्रतिपद्यत इत्यर्थः,-अत्र तैलात् कर्मणो मा भूत्, सर्पिषस्तु करणत्वाद् भवत्येव । तृतीयाऽपवादो योगः ॥ ८० ॥

## शेषे ॥ २ । २ । ८१ ॥

१ कर्मादिभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः कर्माद्यविवक्षालक्षणोऽश्रूयमाणक्रियः श्रूयमाणक्रियो वाऽस्येदंमावरूपः-स्वस्वामिमावादिः संबन्धविशेषः-शेषः, तत्र गौणात् नाम्नः षष्ठी भवति । राज्ञः पुरुषः, उपगोरपत्यम्, पशोः पादः, वृक्षस्य शाखा, क्षीरस्य विकारः, गवां समूहः, कुम्भस्य समीपम्, पृथिव्याः स्वामीति, नै माषाणामक्षीयात्, सुभाषितस्य शिक्षते, २२ न ते सुखस्य जानते, न तस्य सायमश्रीयात्, अन्नस्य नो देहि, अक्षाणां दीव्यति, घृतः पृष्ठ ददाति, नटस्य शृणोति,

अज्ञाने ज्ञः षष्ठी । करणे इति गौणात् नाम्न एकद्विवहविति च वर्तते । अज्ञाने ज्ञ करणे गौणात् नाम्न एकद्विवहौ षष्ठीत्यन्वय । ननु ज्ञानमिति भावेऽनटि रूप, ततश्च तदेव ज्ञान नाम यो जानातेरर्थ, तत्र जानातिर्वर्तते तत्कथमिदमुच्यते अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य जानाते- १५ रिति?, उच्यते-ज्ञानमिति रूढिशब्दोऽयमवबोधे प्रमेये निश्चये च वर्तते न जानात्यर्थमात्रे, अनेकार्थत्व च घातुलामिल्यज्ञानेऽवबोधघादन्यत्रार्थे वर्तमानस्येत्यमर्थ इत्यदोष । वेति निवृत्तमिति । भिन्नप्रकरणत्वादिति शेष । सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्तत इत्यर्थ इति । सर्पिषो जानीत इत्यत्र सर्पिषो जानाते करणत्व जानातेक्षाज्ञानार्थत्वं षष्ठीनिमित्त दर्शयितुं वाक्यार्थ उक्त । तत्र निष्कल्याणज्ञानरूप- १८ जानात्यर्थमाह-प्रवृत्तिरित्यादि । अनेकार्थत्वात् धातूनां प्रवृत्तौ जानातिरत्र वर्तत इत्यर्थ, तत्र च सर्पिषादि साधकतम भोजनादिस्तु तस्य विषय, अत एव 'कर्मण्यसति' इत्यधिकृत्य अकर्मकत्वाद् "ज्ञ" ३।३।८१ इत्यात्मनेपदम् । अथवा-जानातेर्ज्ञानलक्षणेनार्थेन अव्यभिचाराद् सर्वत्रैव तत्प्रतीतेष्वेदमुच्यते 'अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य' इति, तत्र गौणमुख्यन्यायेन सम्यग्ज्ञानमविपरीतविषयपरिच्छेदकमज्ञानार्थस्य प्रतिषिध्यते १८ मिथ्याज्ञानवृत्तेस्तु तस्य करणे षष्ठी विधीयत इत्याह-अथवेत्यादि । यद्यपि च मिथ्याज्ञानतया लोके प्रसिद्ध तथापीह सूत्रार्थपर्यालोचनया तज्ज्ञानरूपतया न गृह्यते इत्युपसंहारद्वारेणाह-मिथ्याज्ञानं चेत्यादि । ज्ञानकार्याकरणत्वात् ज्ञानरूपतया नैवेह तद्गृह्यत इत्यर्थ, ज्ञानकार्याकरण तत सम्यग्ज्ञानवदर्थक्रियानवाप्तिरिति । स्वरेण पुत्रं जानाति-अत्राऽवबोधार्थत्वात् जानातेरज्ञान इति वचनात् न भवति । तैलं सर्पिरूपेण २५ प्रतिपद्यत इत्यर्थ इत्यनेन तैलं सर्पिषो जानाति इत्यत्र तैलं कर्म न करणमिति दर्शयति, ततश्च करण इति वचनात् तैलात् न भवति सर्पिषस्तु भवतीति । इह सर्पिषो जानीते इत्यत्र करणस्य सवन्धिरूपविवक्षायां षष्ठी सिध्यतीति किमर्थोऽयं योग इत्याह-तृतीयाऽपवादो योग इति । अयमर्थ-सिध्यति षष्ठी किंतु करणविवक्षायां तृतीया मा भूदित्यस्य योग ॥ ८० ॥

२७ शेषे । गौणात् नाम्न षष्ठीति वर्तते । शेषे गौणात् नाम्न षष्ठीत्यन्वय । नन्वनेकार्थं शेषशब्द, तत्र न तावदप्रधानवचनो गौणाधिका- र्थैव तदर्थलाभात् शेषप्रहणानर्थक्यप्रसङ्गात् । तथा सति सर्वेषां कारकाणां क्रियार्थत्वेनाप्रधान्यात् सर्वेभ्य एव कारकेभ्य षष्ठी स्यात्, वचन- प्रामाण्याच्च द्वितीयादिभि समावेशेन न बाध्यबाधकत्वात् इति । अपि च अत्रघाने षष्ठीत्येवमर्थं जाते नीलमुत्पलमित्यादौ नीलशब्दाद्विशेष्यसमा-

३० नाधिकरणादपि विशेषणत्वाद्प्राधान्याद्गुणलमित्यत्र कृतावकाशां प्रथमां चाधित्वा षष्ठेव स्यात् । नाऽपि नागएववचन, तथा हि-राज्ञं पुरुष इत्यत्र संबन्धे षष्ठी न स्यात् । अपि च शेषशब्दात् तृतीयादिविभक्तीनामनया षष्ठा बाधितत्वात् शेषेण ध्रियते भूमिरित्यादिप्रयोगराशिर्न स्यात्, तस्मात् केषुचिदर्थेषु सत्सु शेषशब्द उपाधीयमान उपयुक्तेरवचन एव भवतीत्याह-कर्मादिभ्योऽन्य इत्यादि । ते हि पूर्वमुपयुक्ता नामार्थस्य

३३ प्रथमानुविषयत्वात् कर्मादिभ्योऽन्य संबन्ध एव तिष्ठत इति सामर्थ्यात् संबन्धे षष्ठी भवति । नीलोत्पलमित्यत्र तु नीलमिति नामार्थादप्रच्युत विशेष्यसामानाधिकरण्येन प्रयोगात्तत् प्रथमैव भवति न षष्ठी, विशेषणविशेष्यभावस्य नामार्थव्यतिरिक्तस्य बाधकार्यत्वात् । यदुक्त भाष्ये-आधि- क्यस्य बाधकार्यत्वादिति । यथेव राज्ञं पुरुष इत्यत्रापि संबन्धस्य बाधकार्यत्वात् षष्ठी न प्राप्नोति, नैप दोष, राज्ञ इति पद सवन्धित्वेन विव-

३६ क्षितत्वात् प्रयुक्तमित्यत संबन्धषष्ठी कृता । एतच्च भाष्य एव निर्णायकमित्यास्ताम् । स्यादेतदत्र द्वयी कल्पना नामार्थस्य, कदाचित्प्रयुक्तविवक्षया क्रियाभिसंबन्ध कदाचित् स्वनिष्ठ एव । यदा तावत् क्रियाभिसंबन्धस्तदा कर्मादिशक्तीनामुद्भवो यथा वृक्ष पश्यति दक्षिणक्रियाविशेषात् कर्मत्वम् । यदा तु स्वनिष्ठोऽव्यतिरिक्त एव तदा प्रथमाविषय, न चाऽपरो नामार्थोऽस्ति, यत्र कर्मादिविशेष्यव्यतिरिक्तत्वमिति च शेषो नामान्वतिष्ठते य एव

३९ षष्ठी स्यादित्याशङ्क्याह-क्रियाकारकपूर्वक इति । अयमर्थ-राज्ञं पुरुष इत्यत्र योऽयं राजपुरुषयो संबन्धो नाय कारणान्तरनैरपेक्ष्येण अक- स्मादुपाजायते, अपि तु अन्तर्भूतक्रियाकारकसंबन्धनिबन्धनो यत् पुरुषो योगक्षेमकामो राजानमुपसर्पति राजाऽपि तमभिलषितघनादिना विभर्ति क्रियान्तरं वा प्रकल्पनीय ततो राज्ञोऽसौ संबन्धीभूत इति राज्ञः पुरुष इति । उपगोरपत्यमित्यत्रापि जनिक्रियाजनित संबन्ध, उपगुरपत्य

४२ जनयति तदपि ततो जायत इत्युपगोरपत्यमिति । पशो पाद इत्यत्राप्यवस्थितिक्रियालम्बित संबन्धो यत् पशो पादोऽवस्थितोऽत पशोः पाद इति । एव वृक्षस्य शाखेत्यादावपि अवस्थितिक्रियाजनितत्व संबन्धस्येति । एतच्च बाहुल्याभिप्रायेण न त्वैकान्तिकम्, यत् करणण्य कर्मादीनामविवक्षया सामान्यकारकविवक्षायामेव केवलयां संबन्धस्य प्रादुर्भावात् कारकशेष इति व्यवहियते इत्याह-कर्माद्यविवक्षालक्षण ४५ इति । कर्मादिभ्योऽन्य इति तु विशेषेभ्योऽन्यत्व विवक्षितुं न तु सामान्यादनाश्रितविशेषात् कारकादपि । तदुक्तम्-"संबन्ध कारकेभ्योऽन्य क्रिया- कारकपूर्वक । शुजायामश्रुताया वा क्रियाया सोऽभिधीयते" ॥१॥ इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तत्र राज्ञं पुरुष इत्यादौ क्रियाकारकपूर्वकोऽश्रूयमाणक्रिय स्वस्वामिमावादि संबन्ध । न माषाणामक्षीयादित्यादौ तु श्रूयमाणक्रियत्वे सत्यपि कर्मत्वाद्यविवक्षितत्वात् विशेषणविशेष्यभाव एव प्रतिपाद्यते

वृक्षस्य पर्णं पतति; महतां विमाषते । कथं पुनः कर्मादीनां सतामप्यविवक्षा ? यथा—अनुदरा कन्या, अलोमिका एडकेति । गौणादित्येव ? राज्ञः पुरुषः—अत्र संबन्धस्य द्विष्टत्वेऽपि प्रधानात् पुरुषात् न भवति, प्राधान्यं चाऽस्याऽऽख्यातपदसामानाधिकरण्यम्, तेन ततः प्रथमैव भवति । यदा तु पुरुषो राजानं प्रति गुणत्वं प्रतिपद्यते, तदा पुरुषस्य राजेति भवत्येव । कथं राज्ञः पुरुषस्य कम्बल इति ? राजाऽपेक्षया पुरुषस्य प्राधान्येऽपि कम्बलाऽपेक्षया गौणत्वात् भवति । प्रथमाऽपवादो योगः ॥ ८१ ॥

रिरीष्टात्स्तादस्तादसतसाता ॥ २ । २ । ८२ ॥

रिरीष्टात्स्तादस्तादसतसातात्प्रत्ययान्तरैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नः षष्ठी विभक्तिर्भवति । रि—उपरि ग्रामस्य, रिष्टात्—उपरिष्टात् ग्रामस्य, स्तात्—परस्ताद् ग्रामस्य, अवरस्ताद् ग्रामस्य; अस्तात्—पुरस्तात् ग्रामस्य, अवस्ताद् ग्रामस्य; अधस्तात् ग्रामस्य; अस्—पुरो ग्रामस्य, अवो ग्रामस्य, अधो ग्रामस्य; अतस्—दक्षिणतो ग्रामस्य, उत्तरतो ग्रामस्य, परतो ग्रामस्य, अवरतो ग्रामस्य, आत्—अधराद् ग्रामस्य, दक्षिणात् ग्रामस्य, उत्तरात् ग्रामस्य, पश्चात् ग्रामस्य, दक्षिणपश्चात् ग्रामस्य । पञ्चम्यपवादो योगः ॥ ८२ ॥

माषसंवन्यशनमिति । स्वस्वामिभावादिरिति । आदिशब्दाज्जन्यजनकभावादयो गृह्यन्ते । प्रनु क्रियामन्तरेण सचन्धाऽभावात् सर्वत्र तस्या १२ अवश्यं भावात् तन्निमित्तस्य च कर्मादि सत्त्वात् कथं तस्याविवक्षेत्याक्षिपति—कथं पुनरित्यादि । समाधत्ते—यथाऽनुदरेत्यादि । ननु शेषशब्देन स्वस्वामिभावादे संबन्धस्याभिधानात् तस्य च द्विष्टत्वात् राज्ञः पुरुष इत्यत्र तु पुरुषशब्दादपि षष्ठी प्राप्नोति, तत्र प्रथमा वक्तव्या, प्रतिषिद्धायामपि षष्ठां नामार्थमात्रे विधीयमानाया प्रथमाया संबन्धसाधिकस्य भावादप्रसङ्ग इति, नैष दोषः, गौणाधिकारादप्रधानादेव भवती- १५ त्याह—गौणादित्येवेत्यादि । प्रधानान्तु प्रथमाया अप्रसङ्गो न वाच्यः, आधिक्यस्य वाक्यार्थत्वादित्युक्तत्वादिति । 'राज्ञः' इत्येतत्पदसनिधाने पुरुषस्य संबन्धित्वं प्रतीयते नाऽन्यथा, पुरुषनाम तु स्वार्थमात्रे वर्तते इति प्रथमा सिध्यति । यथैव पुरुषपदसनिधान एव राज्ञः संबन्धित्वावगमो नान्यथेति राजशब्दादपि प्रथमाप्रसङ्गः, नैष दोषः, 'राज्ञः' इति केवलेऽपि पदे उच्चार्यमाणे संबन्धित्वमनियतप्रतियोगि राज्ञो गम्यते । यस्माद्राजा १८ परोपकारित्वेन विवक्षितो न खनिष्ठत्वेन । पुरुषस्य तु राजशब्दमन्तरेण सोऽर्थो न प्रतीयते इति वाक्यार्थः । अस्त्यत्र कारण, राजशब्दाद्धि भवान् षष्ठीसुधारयति । अहम् ! हि पुरुषशब्दादुच्चारितात् गत्यते सोऽर्थः इति । ननु नैदेनैव भवितव्यम्, न हि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य आवाभावौ क्रियेते । किं तर्हि ? अर्थस्य प्रतिपिपादयिषया विषयीकरणाऽकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावौ । तत्र परोपकारित्वेन २१ राज्ञो विवक्षितत्वात् षष्ठी भवति, पुरुषस्य तु कार्यतया खनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात् प्रथमा । तदुक्त हरिणा—'द्विष्टोऽप्यसौ परार्थत्वाद्गुणे व्यतिरिच्यते । तत्राऽभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते' ॥ १ ॥ तस्मादर्थरूपमेवैतदेव जातीयक येनाऽत्रान्तरेणापि पुरुषशब्दस्य प्रयोग राजनि सोऽर्थो गम्यत इति । किं पुनस्तत् ? स्वास्मित्वम्, 'समासकृतद्वितेषु सम्बन्धाभिधानमिति' वचनात् स्वस्वामिसंबन्ध इत्यर्थः । किं कृत पुनस्तत् ? स्वक- २५ तम्, ततश्चाऽनियत स्वमपेक्ष्य राज्ञः सचन्धाश्रया षष्ठी उत्पाद्यते । पुरुषशब्दसंसिद्धौ तु स्वविशेषप्रतिपत्ति । यथा नामार्थानां क्रियाकृता विशेषाशक्तयः प्रतीयन्ते शक्तिकृताश्च कर्माशक्त्या प्रादुर्भवन्ति । ताश्च पुनर्विभक्ती कदाचिन्निमित्तत्वेनोपाधीयन्ते, यदा क्रियां प्रति व्यापारावेशविवक्षा भवति—दात्रेण लुनातीति । कदाचिच्च, यदा योग्यतामात्रविवक्षा भवति तदा 'दात्र लवने करण'मिति । अयमर्थः—यदा नामार्थस्य क्रियावेशविव- २७ क्षाया शक्तिरक्षणार्थातिरेको भवति तदा नामार्थता शक्तयो न प्रतिपद्यन्ते इति व्यभिचाराद्विमर्कनिमित्तं भवन्ति । यदा तु अपरोपकारित्वेन खनिष्ठतया नामार्थो विवक्ष्यते तदा व्यभिचाराभावात् ता शक्तयः कर्मकरणसंज्ञामेव प्राप्ता न विभक्त्युत्पत्तिं प्रयोजयन्ति । तदुक्तम्—'स्वशब्दैरभिधानेऽपि स धर्मो नाऽभिधीयते । विभक्त्यादिभिरेवाऽसावुपकारः प्रतीयते' ॥ १ ॥ तदेव यथा क्रियाऽपेक्षया दात्रेणेति भवति तथा राज्ञः इति ३० खापेक्षया । यथा च खनिष्ठत्वाऽऽश्रयेण दात्र करणं तथा राजा स्वामीत्युक्तं भवति । यथैव तर्हि राजनि स्वकृत स्वामित्वं तत्र षष्ठी भवत्येव पुरुषेऽपि राजकृतं स्वत्वं ततः षष्ठी प्राप्नोति, उच्यते—राज्ञः पुरुष इति गुणप्रधानभावेनाऽर्थद्वयमवस्थितं, तत्र संबन्धो गुणे पदं न्यस्य द्विष्टत्वात् प्रधानमपि ससृष्टवति । गुणश्च प्रधानोपकाराय प्रवृत्तो रूपान्तरमाश्रयति, प्रधानं तु खनिष्ठमेव न तु रूपान्तरं भजत इति पुरुषशब्दात् न षष्ठी । अथ राज्ञः ३३ पुरुष इत्यत्र द्वयोरपि संबन्धः प्रति साधारण्यात् किं तत् पुरुषस्य प्राधान्यमित्याह—प्राधान्यं चेत्यादि । तेनेत्यादिना प्राधान्यफलं दर्शयति । यदा त्विति । यदा तु पुरुषस्य गुणभावो राज्ञस्तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यं तदा पुरुषस्य राजेति भवत्येव । कथमिति । एकस्य गुणप्रधानभावो विवक्ष्यत इत्याशङ्कार्थः । समाधत्ते—राजाऽपेक्षयेत्यादि । एकस्यापि मिश्रविषयो गुणप्रधानभावो न विवक्ष्यत इत्यर्थः । स्वगुणे राजनि प्राधान्य- ३५ मनुभूय पुनः प्रधानकम्बलाऽपेक्षया पुरुषः शेषतामनुभवतीति । प्रथमाऽपवादो योगः इति । एकद्विवहविति संख्यामात्रमुपादाय नाम्नः प्रधानादप्रधानाश्च सामान्येन प्रथमा विधीयते, तत्राऽपि षष्ठीविधिगौणादिति विशेषमुपादाय प्रवर्तमानस्वदपवादो भवति ॥ ८१ ॥

रिरीष्टात्स्तादस्तादसतसाता । गौणात् नाम्नः षष्ठी विवर्तते । रि—रिष्टात्—स्तात्—अस्तात्—अवस्—अतस्—भाता गौणात् नाम्नः ३९ षष्ठीलन्वयस्वदाह—रिरीष्टादित्यादि । उपरीत्यादिप्रयोगस्थितानां "ऊर्ध्वारिरीष्टातात्पुष्पास्य" ७।२।११४। इति, "परावरात् स्तात्" ७।२।११६। इति, "पूर्वावराधरेभ्योऽसस्त्रातौ पुखवशैषाम्" ७।२।११५। इति, "दक्षिणोतराभात्स" ७।२।११७। इति, "अधरापराष्वात्" ७।२।११८। इत्यादिभिर्विहितानां प्रत्ययानामनुकरणम्, ततस्तृतीया । उपरि ग्रामस्येति । ऊर्ध्वशब्दस्य दिग्देशकालार्थस्य "ऊर्ध्वात्" इत्यनेनैवोपभावः । ४२ एव पूर्ववराधराणां "पूर्वावराधरेभ्यो" इति यथाक्रमं पुरं अत् अद् इत्येते भवन्ति । एव पुरो ग्रामस्येत्यादावपि । पश्चात् ग्रामस्येति । "पथोऽपरस्य" ७।२।१२४। इति पश्चादेशः । अथ पूर्वणवेद सिध्यति किमर्थोऽयं योग इत्याह—पञ्चम्यपवादो योगः इति । रिप्रसृतयः प्रत्यया स्वार्थिका दिक्शब्देभ्यो विधीयन्तेऽतस्तदन्ता अपि दिक्शब्दा एव इति "ज्ञेये" इत्यस्याऽपवादः, "प्रमूलन्यार्थो" इति पञ्चमी विधीयते, ४५ अत एव दक्षिणा प्रामादमणीय, दक्षिणाहि प्रामादमणीयमिति "आहि दूरे" इति प्रत्ययद्वययोगे षष्ठी न लभ्यत इति पञ्चमीनाधनार्थोऽयमिति ॥ ८२ ॥

## कर्मणि कृतः ॥ २ । २ । ८३ ॥

कृतः—कृदन्तस्य संबन्धिनि कर्मणि गौणात् नाम्नः षष्ठी भवति । द्वितीयाऽपवादः । अपां स्रष्टा, पुरां भेत्ता, वर्ष-  
शतस्य पूरकः, पुत्रपौत्राणां दर्शकः, यवानां लवकः, ओदनस्य भोजकः, विश्वस्य ज्ञाता, तीर्थस्य कर्ता, उदकस्य पिबः,  
ग्रामस्य गमनम्; गवां दोहः । कर्मणीति किम् ? शस्त्रेण भेत्ता । क्रियाविशेषणस्याऽपि कर्मत्वाऽभावात् न भवति—साधु-  
पक्ता, स्त्रोकं पक्ता । कृत इति किम् ? कटं करोति, कृतपूर्वी कट्, भुक्तपूर्वी ओदनम्; स्यादितद्वितीयोः कर्मणि  
१ भा भूत् । कथम् अर्थस्य त्यागी ? सुखस्य भोगी ? विषयाणां जयी ? वीराणां प्रसविनीति ?—अत्र ताच्छीलिकयोर्वि-  
निनोः कर्मैति भवति ॥ ८३ ॥

## द्विषो वाऽतृशः ॥ २ । २ । ८४ ॥

१ अतृशप्रत्ययान्तस्य द्विषः कर्मणि गौणात् नाम्नः षष्ठी वा भवति । चौरस्य द्विषन्, चौर द्विषन्; “तृहु०” आदि-  
सूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥ ८४ ॥

## वैकत्र द्वयोः ॥ २ । २ । ८५ ॥

१२ द्विकर्मकेषु धातुषु द्वयोः कर्मणोरेकत्रैकतरस्मिन् वा षष्ठी भवति । अन्यत्र पूर्वेण नित्यमेव । अजाया नेता सुभ्रम्,  
अजाया नेता सुभ्रस्य; अथवा—अजां नेता सुभ्रस्य, अजाया नेता सुभ्रस्य; पयसो दोहको गाम्, पयसो दोहको गोः  
यदि वा गोर्दोहकः पयः, गोर्दोहकः पयसः । अन्ये तु नीवह्यादीनां द्विकर्मकाणां गौणे कर्मणि, दुहादीनां तु प्रधाने  
१५ विकल्पमिच्छन्ति, उभयत्राऽपि नित्यमेवेत्यन्ये ॥ ८५ ॥

कर्मणि कृतः । गौणात् नाम्नः षष्ठीति वर्तते । कृत कर्मणि गौणात् नाम्नः षष्ठीत्यन्वयत्वादह—कृतः—कृदन्तस्येत्यादि । “कर्मणि”  
इति सामान्येन द्वितीयाविधानात् कृदन्तकर्मण्यपि द्वितीयाप्राप्तौ तदपवादस्वर षष्ठीत्याह—द्वितीयाऽपवाद इति । अपां स्रष्टेत्यादीनि । एतेषु  
१८ “गकृतचौ” इति वृत्तचक्रं । “पा” पाने इत्यतः “प्राप्तापादधेदश च ” ५।१।५८। इति श्लो, “श्रौतिकृतुषिवु०” ४।२।१०८। इति पिवादेशे—  
पिब । गमेमादिऽनटि—गमनम् । एव दुर्धर्षेण लघूपन्त्यगुणे—दोहः । कृत इति किमिति । एव मन्यते—कर्म कारक, तत्र क्रिया-  
मन्तरेण न सम्भवति, क्रियाया हि कारक भवति । सा च वाचक धातु प्रत्ययसहितमाक्षिपति, धातोश्च द्वये प्रत्यया विधीयन्ते स्यादय कृतश्च ।  
२१ तत्र “तद्वैत्यधीते” इति ज्ञापकात् स्यादिप्रयोगे द्वितीयाविधानात् कृतप्रयोग एव षष्ठी भविष्यतीति व्यावर्त्यासंमचादिदानार्थकं कृद्ग्रहणम्, नैवम्,  
कृद्ग्रहणमन्तरेण तद्विद्यप्रयोगेऽपि यत्कर्म तत्र षष्ठी स्यात् तत्र च मा भूदित्येवमर्थं कृद्ग्रहणमित्युदाहरति—कृतपूर्वीत्यादि । सति त्वेवमर्थं कृद्-  
ग्रहणे स्यादिव्याहृतिरपि प्रयोजनम् । कृत पूर्वमनेन मुक्त्वं पूर्वमनेनेति च “पूर्वमनेन सारदेशेन” ७।१।१६७। इत्यनेन कर्तर्यर्थे इन्प्रत्यय, देन  
२४ कृतपूर्वीति पूर्वं कृतवानित्यर्थं । तत्र यथा चित्रगुरित्यादौ बहुव्रीहिणा स्वामिसामान्येऽभिहिते विशेषाभिधानाय चैत्रादि प्रयुज्यते, तथाऽत्रापि  
सामान्यकर्मण्यभिहिते विशिष्टकर्माऽभिधानाय कटादे केनाऽनभिहितस्य प्रयोग, सामान्येन व्यवहाराऽसम्भवात् विशेषेणाऽवश्य निर्वाह कार्य ।  
एतद्विषयस्तु विचार “कर्मणि” इत्यत्र सूत्रे कृत इति नेह प्रतन्यते । कथमिति । साग्रादिभ्यस्त्वागोऽस्यास्तीति तद्विद्यप्रयोगेऽर्थस्येत्यादि  
२७ कर्मणि षष्ठी न प्राप्नोतीत्याशङ्कार्थं । परिहरति—अत्र ताच्छीलिकयोरित्यादि । स्वजतीत्येवंप्रील इत्यादिविग्रहेषु “युज्युजमजत्यज०” ५।२।  
५०। इति चिनणि—त्यागी, भोगी । “जीणदक्षि०” ५।२।७२। इति, “प्रात्सजोरित्” ५।२।७१। इति, चोने—जयी, प्रसविनी ॥ ८३ ॥

द्विषो वाऽतृशः । कर्मणीति गौणात् नाम्नः षष्ठीति च वर्तते । अतृशो द्विष कर्मणि गौणात् नाम्नः षष्ठी वेत्यन्वयत्वादह—अतृश-  
३० प्रत्ययान्तस्येत्यादि । चौरस्य द्विषन्ति । “द्विषीक्” अतीतावित्यतः “द्विषादिषार्ह सत्रिशृत्सुत्ये” ५।२।२६। इत्यतृश, तद्योगे च कर्मणि  
षष्ठीप्रतिषेधादनेन विकल्पो विधीयत इत्याह—“तृहु०” आदि सूत्रेणेत्यादि । अन्ये सचन्वविषयान्येनेव षष्ठीति प्रतिशन्तः सूत्र नाऽऽ-  
मन्ते । एव “वा ह्निने” इत्यपि ॥ ८४ ॥

२३ वैकत्र द्वयोः । कर्मणीति षष्ठीति च वर्तते । द्वयोः कर्मणोरेकत्र षष्ठी वेत्यन्वय । विशेषणसामर्थ्यात् कर्मणीत्यनुवर्तमान विशेष्य  
सप्तम्येकवचनान्तमपि द्विवचनान्तमिह संभन्ध्यत इत्याह—द्वयोः कर्मणोरिति । ते च द्वे कर्मणी द्विकर्मकेषु धातुञ्चिति । अय कृत इत्य-  
स्यैव षष्ठीन्तस्य द्वयोरिति विशेषण कस्मात् न क्रियते ? तत्रापि हि द्वयोः कृदन्तयोरेक यत्कर्म तत्र षष्ठी वा भवतीत्ययमर्थं सपद्यते । तथा च  
३६ सति अपां स्रष्टा भेत्ता च मैत्र इत्यादानेव विकल्पः स्यादिति, नैवम्, एव सति “कर्मणि कृतो द्वयोश्च वा” इत्येकमेव योग कुर्यात् । तस्मिन्नपि हि  
सकलार्थस्य तिङ्गत्वात् । तस्मात् पृथग्योगात् कर्मण एव विशेषण न कृत इति । एकत्रेति सामान्येन निर्देशात् प्रधानाऽप्रधानकर्मणोरविशेषेण प्रथम-  
मित्युभयत्रैवोदाहरति—अजाया नेता सुभ्रमित्यादि । अन्ये त्विति । वार्तिककृत, “गुणकर्मणि वेच्यते” इति वचनात् किन्त्येव विशेषेण  
३९ सन्मते—प्रधाने तु नित्यैव षष्ठीति एकदेशाऽनुभवत्वात् तन्मतोपन्यास । उभयत्रापि नित्यमेवेत्यन्ये इति । आचार्यपाणिनि । ननु “कर्मणि”  
इत्यधिकृतत्वादेकशब्दस्य च द्वितीयसव्यपेक्षात्वात् एकस्मिन् कर्मणीत्युक्तेऽपि द्वयोः कर्मणोरेकतरस्मिन्निति गम्यत एव हि द्वयोरित्यनेन ? उच्यते—  
द्विकर्मकेषु धातुवेकस्मिन् कर्मणि षष्ठीविकल्प इत्युच्यमाने “प्रधानाऽप्रधानसनिधौ प्रधाने कार्यसप्रत्यय” इति न्यायात् प्रधान एव कर्मणि स्यात् ।  
४२ यदा गौणादित्यधिकारात् कर्माऽपेक्षयाऽपि गुणकर्मण्येव स्यात्, अत एव आचार्यशाकटाचन “कर्मणि गुण” इति पठति, तस्माद् द्वयोरपि  
प्रधानाऽप्रधानकर्मणोः पर्यायेण षष्ठीविकल्प इत्येतदर्थं द्वयोरित्युपादानमित्यदोष ॥ ८५ ॥

## कर्तरि ॥ २ । २ । ८६ ॥

कृदन्तस्य कर्तरि गौणात् नाम्नः षष्ठी भवति । तृतीयाऽपवादः । भवत आसिका, भवतः शायिका, भवतः स्वापः, भवत आसना; भवतोऽग्रगामिका । कर्तरीति किम् ? गृहे शायिका । कृत इत्येव ? त्वया शय्यते ॥ ८६ ॥

## द्विहेतोरुच्यणकस्य वा ॥ २ । २ । ८७ ॥

रूपधिकारविहिताभ्यामकारणकाभ्यामन्यस्य द्वयोः कर्तृकर्मषष्ठ्योः प्राप्तिहेतोः कृतः कर्तरि षष्ठी वा भवति । नित्यं प्राप्ते विभाषेयम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्याऽऽचार्येण वा, साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याऽऽचार्येण वा, साध्वी संग्रहण्याः कृतिः क्षमाश्रमणस्य क्षमाश्रमणेन वा, आश्रय्यो गवां दोहोऽगोपालकस्य अगोपालकेन वा, साधु खलु पयसः पानं मैत्रस्य मैत्रेण वा, साध्वी खल्वनेकान्तजयपताकायाः कृतिराचार्यहरिभद्रस्याऽऽचार्यहरिमद्रेण वा । गम्यमानेऽपि कर्मणि भवति—अन्तर्द्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति, यस्याऽदर्शनमिच्छतीति वा,—अत्राऽऽत्मन ईति कर्म गम्यते । द्विहेतोरित्येकवचननिर्देशः किम् ? आश्रय्यमोदनस्य नाम पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भाव इति भिन्नकृतोः कर्तृकर्मषष्ठीहेतुत्वमत्रेति न भवति । अरुच्यणकस्येति किम् ? चिकीर्षा मैत्रस्य कैथा काव्यानाम्, भेदिका चैत्रस्य काष्ठानाम्; णिगंतभिदेस्तु भेदिका चैत्रस्य मैत्रस्य काष्ठानाम् । कर्तरीत्येव ? साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याऽऽचार्येण वेत्यत्र शब्दशब्दात् कर्मणि विकल्पो न भवति । अन्ये तु घञलप्रत्यययोर्द्विहेत्वोः कर्मण्येव षष्ठीमिच्छन्ति न कर्तरि—आश्रय्यो गवां दोहोऽगोपालकेन, आश्रय्ये इन्द्रियाणां जयो यूना ॥ ८७ ॥

## कृत्यस्य वा ॥ २ । २ । ८८ ॥

कृत्यस्य कर्तरि गौणात् नाम्नः षष्ठी वा भवति । भवतः कार्यः कटः, भवता कैर्यः कटः; कर्तव्यः, करणीयः, देयः; कृत्यो वा कटः । कर्तरीत्येव ? गेयो माणवको गाथानाम्, प्रवचनीयो गुरुर्द्धादशाऽङ्गस्य ॥ ८८ ॥

कर्तरि । कृत इति गौणात् नाम्न षष्ठीति च वर्तते । कृत कर्तरि गौणात् नाम्न षष्ठीत्यन्वयस्तदाह—कृदन्तस्येत्यादि । तृतीयाऽपवाद इति । कृदन्तप्रयोगकर्तृवाचिन शब्दात् “हेतुकर्तृकरणे” इति तृतीयायां प्राप्तायां तदपवाद षष्ठीत्यर्थः । भवत आसिका, भवतः शायिकेति । ‘आसिक’ उपवेशने, ‘शायि’ स्वप्ने, आभ्यां “पर्यायाऽर्हणोत्पत्तौ च णक ” ५।३।१२०। इति णक । आसितु शयितु च भवत क्रम इत्यर्थः । स्वाप इति । “भावाऽकर्त्रौ ” ५।३।१८। इति घञ् । आसनेति । “णित्त्वासाश्रय्यघट्टवन्देन ” ५।३।१११। इत्यन । भव-२१ तोऽग्रगामिकेति । पूर्ववणक । शय्यत इति । “छिति यि शय् ” ४।३।१०५। इति शयादेशः ॥ ८६ ॥

द्विहेतोरुच्यणकस्य वा । कृत इति कर्तरीति षष्ठीति च वर्तते । अरुच्यणकस्य द्विहेतो कृत कर्तरि षष्ठी वेत्यन्वयः । द्वयोर्हेतुरिति षष्ठीतत्पुरुष, तच्च कृत इत्यनुवर्तमानस्य विशेषणमित्याह—द्वयोः—कर्तृकर्मषष्ठ्योः प्राप्तिहेतोः कृत इति । नित्यं प्राप्ते इति । “कर्तरि” इति सूत्रेणेति शेषः । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्याऽऽचार्येण वेति । अत्र कृतिरिति “क्षियां कि ” इति भावे कि, अस्याश्च कृते सूत्र कर्म आचार्य कर्ता, उभयत्र च “कर्मणि कृत ” इति, “कर्तरि” इति च द्वयो षष्ठ्यो प्राप्तिरिति द्विहेतुरय कृतः । एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । अनुशासनमिति । भावे करणाऽऽधारे वाऽनद । अन्तर्द्धौ येनाऽदर्शनमिच्छतीति । पश्वीविधायक पाणिनिः सूत्रमिदम्, अस्य वाऽयमर्थः—अन्तर्द्धौ—अन्तर्द्धौ विषये आत्मन कर्मतापन्नस्य येन—उपाध्यायादिना कर्तृभूतेन यददर्शनं तदिच्छतीत्यर्थः । आश्रय्यमोदनस्य पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भाव इतीति । अत्र पाक इत्येतदपेक्षया ओदनस्येति न तदपेक्षयमतिथीनामिति कर्तृत्वेन च ध्यतिष्य पकार किन्तु प्रादुर्भविता इति कृतोभिश्चत्वात् न भवति । ननु कथमिदमुच्यते ? घञ एकत्वादिति, नैवम्, धातुभेदात् तस्याऽपि भेद इत्यदोषः । चिकीर्षेति । करोते सन्नन्तात् “शसिप्रत्ययात्” ५।३।१०५। इति अप्रत्यये आपि च रूपम् । भेदिकेति । पर्यायेण भेदनमिति “पर्यायाऽर्हणो” इति णक । णिगन्तभिदेस्त्विति । भिदेर्णन्तात् पर्यायादिषु णक । अथ कथं चैत्रस्य मैत्रस्येत्युभयत्र कर्तरि षष्ठी, यतोऽत्र प्रयोजककर्ता णिगर्थस्य प्राधान्यात् प्रधान, प्रयोज्यकर्ता तु प्रकृत्यर्थस्याऽप्राधान्यात्प्रधान, तत्र प्रधानाऽप्रधानसन्निधौ प्रधानादेव षष्ठी नाऽप्रधानादिति चेत्, सत्यम्, तृतीयावत् कर्तृमात्रे षष्ठीत्याश्रयणात् भिन्नशब्दवाच्ययोः प्रधानाऽप्रधानयोः कर्त्रैरेकशब्दवाच्यताया अभावात् विरोधाभावात् षष्ठी सिध्यतीत्यदोषः । अन्य इति । ललितस्वभाव इत्यर्थः । काशिकाकारस्तु रूपधिकारविहितयोरणकयोः प्रतिषेधादन्यस्मिन्नपि जीप्रत्यय एव षष्ठीमिच्छति । अपरे त्वकाकारयोर्भावाभिधायकयोः कृतोपयोगात् ताभ्यामन्यस्मिन्नपि भावाभिधायक एव षष्ठीमिच्छन्ति ॥ ८७ ॥

कृत्यस्य वा । कर्तरीति गौणात् नाम्न षष्ठीति च वर्तते । कृत्यस्य कर्तरि गौणात् नाम्न षष्ठी वेत्यन्वयस्तदाह—कृत्यस्येत्यादि । कार्य इति । “श्रवणव्यञ्जनाद् घ्यण् ” ५।१।१७। इति घ्यण् । कर्तव्यः, करणीय इति । “तव्यानीयो” ५।१।२७। इति तव्यानीयो । देय इति । “य एच्चात् ” इति यप्रत्यये आकारस्य च एत्वम् । कृत्य इति । “कृत्यपिमृजि०” ५।१।४२। इति घ्यप्, “ह्रस्वस्य त पित्कृति” ४।४। ११३। इति तोऽन्तः । गेयो माणवको गाथानामिति । गायतीति ये—गेय “मव्यगेयजन्व०” ५।१।७। इति कर्तरी निपात्, गीयमानत्वाच्च गायानां कर्मत्वमत कर्तरीत्यनुवर्तमानात् कर्मणि षष्ठीविकल्पो न भवति । एव प्रवचनीय इत्यत्राऽपि ब्रह्म्यम् ॥ ८८ ॥

## कर्मणि कृतः ॥ २ । २ । ८३ ॥

कृतः—कृदन्तस्य संबन्धिनि कर्मणि गौणात् नाम्नः पठ्ठी भवति । द्वितीयाऽपवादः । अपां स्रष्ट, पुरां भेत्ता, वर्ष-  
शतस्य पूरकः, पुत्रपौत्राणां दर्शकः, यवानां लावकः, ओदनस्य भोजकः, विश्वस्य ज्ञाता, तीर्थस्य कर्ता, उदकस्य पिब, १  
ग्रामस्य गमनम्; गवां दोहः । कर्मणीति किम् ?, शब्देण भेत्ता । क्रियाविशेषणस्याऽपि कर्मत्वाऽभावात् न भवति—साधु  
पक्ता, स्तोक पक्ता । कृत इति किम् ?, कट करोति, कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम्; त्यादितद्धितयोः कर्मणि  
४ मा भूत् । कथम् अर्थस्य त्यागी ?, सुखस्य भोगी ?, विषयाणां जयी ?, वीराणां प्रसविनीति ?,—अत्र ताच्छीलिकयोर्धिन्-  
णिनोः कर्मेति भवति ॥ ८३ ॥

## द्विपो वाऽट्टशः ॥ २ । २ । ८४ ॥

१ अतृशप्रत्ययान्तस्य द्विपः कर्मणि गौणात् नाम्नः पठ्ठी वा भवति । चौरस्य द्विपन्, चौर द्विपन्; “तृशु०” आदि-  
सूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥ ८४ ॥

## वैकत्र द्वयोः ॥ २ । २ । ८५ ॥

- १२ द्विकर्मकेषु धातुषु द्वयोः कर्मणोरेकत्रैकतरस्मिन् वा पठ्ठी भवति । अन्यत्र पूर्वेण नित्यमेव । अजाया नेता सुधम्,  
अजाया नेता सुधस्य; अथवा—अजां नेता सुधस्य, अजाया नेता सुधस्य; पयसो दोहको गाम्, पयसो दोहको गोः;  
यदि वा गोर्दोहकः पयः, गोर्दोहकः पयसः । अन्ये तु नीवह्यादीनां द्विकर्मकाणां गौणे कर्मणि, दुहादीनां तु प्रवाने  
१५ विकल्पमिच्छन्ति, उभयत्राऽपि नित्यमेवेत्यन्ये ॥ ८५ ॥

- कर्मणि कृतः । गौणात् नाम्नः पठ्ठीति वर्तते । कृत कर्मणि गौणात् नाम्नः पठ्ठीत्यन्वयस्तदाह—कृतः—कृदन्तस्येत्यादि । “कर्मणि”  
इति सामान्येन द्वितीयाविधानात् कृदन्तकर्मण्यपि द्वितीयाप्राप्तौ तदपवादस्त्वत्र पठ्ठीत्याह—द्वितीयाऽपवाद इति । अपां स्रष्टेत्यादीनि । एतेषु  
१८ “णकलृचौ” इति तृचणञ् । ‘पां’ पाने इत्यत “प्राप्मापादधेदश श ” ५।१।५८। इति शो, “श्रौतिकृषुभिषु०” ५।२।१०८। इति पिवादेशे—  
पिबः । गमेर्भावेऽनटि—गमनम् । एव दुहेर्षन्नि लघूपान्यगुणे—दोहः । कृत इति किमिति । एव मन्यते—कर्म कारक, तच्च क्रिया-  
मन्तरेण न संभवति, क्रियाया हि कारक भवति । सा च वाचक धातु प्रत्ययसहितमाक्षिपति, धातोश्च द्वये प्रत्यया विधीयन्ते त्यादय कृतश्च ।  
२१ तत्र “तद्वेत्त्यधीते” इति ज्ञापकात् त्यादिप्रयोगे द्वितीयाविधानात् कृतप्रयोग एव पठ्ठी भविष्यतीति व्यावर्त्यासमवादिहानर्थकं कृद्ग्रहणम्, नैवम्;  
कृद्ग्रहणमन्तरेण तद्धितप्रयोगेऽपि यत्कर्म तत्र पठ्ठी स्यात् तत्र च मा भूदिलेवमर्थं कृद्ग्रहणमित्युदाहरति—कृतपूर्वीत्यादि । सति त्वेवमर्थं कृद्-  
ग्रहणे त्यादिव्याप्तृतिरपि प्रयोजनम् । कृत पूर्वमनेन भुक् पूर्वमनेनेति च “पूर्वमनेन सादेधेन्” ५।१।१६७। इत्यनेन कर्तृर्थे इत्प्रत्यय, तेन  
२४ कृतपूर्वाति पूर्वं कृतवानित्यर्थः । तत्र यथा चित्रग्रुरित्यादौ बहुमीहिणा स्वामिसामान्येऽभिहिते विशेषाभिधानाय चैत्रादि प्रयुज्यते, तथाऽत्रापि  
सामान्यकर्मण्यभिहिते विशिष्टकर्माऽभिधानाय कदादे केनाऽनभिहितस्य प्रयोग, सामान्येन व्यवहाराऽसंभवात् विशेषेणाऽवश्य निर्वाहः कार्यः ।  
एतद्विषयस्तु विचार “कर्मणि” इत्यत्र सूत्रे कृत इति नेह प्रतन्यते । कथमिति । त्यागादिभ्यस्त्वागोऽत्यास्तीतीनि तद्धितप्रयोगेऽप्येत्यादि  
२७ कर्मणि पठ्ठी न प्राप्नोतीत्याशङ्क्यार्थः । परिहरति—अत्र ताच्छीलिकयोरित्यादि । त्यजतीत्येवशील इत्यादिविग्रहेषु “युजमुजमजत्यज०” ५।२।  
५०। इति धिनणि—त्यागी, भोगी । “जीगृहसि०” ५।२।७२। इति, “प्रात्सृजोरिन्” ५।२।७१। इति, चेनि—जयी, प्रसविनी ॥ ८३ ॥

- द्विपो वाऽट्टशः । कर्मणीति गौणात् नाम्नः पठ्ठीति च वर्तते । अतृशो द्विप कर्मणि गौणात् नाम्नः पठ्ठी वेत्यन्वयस्तदाह—अतृश-  
३० प्रत्ययान्तस्येत्यादि । चौरस्य द्विपन्निति । ‘द्विपीङ्’ अप्रोतावित्यत “शुग्द्विपार्ह सत्रिश्चतुस्तुले” ५।२।२६। इत्यतृष्, तयोरे च कर्मणि  
पठ्ठीप्रतिषेधादनेन विकल्पो विधीयत इत्याह—“तृशु०” आदि सूत्रेणेत्यादि । अन्ये संबन्धविवशायामेवेय पठ्ठीति प्रतियन्त सूत्र नाऽऽर-  
भन्ते । एव “वा क्लीये” इत्यपि ॥ ८४ ॥

- ३३ वैकत्र द्वयोः । कर्मणीति पठ्ठीति च वर्तते । द्वयोः कर्मणोरेकत्र पठ्ठी वेत्यन्वय । विशेषणसामर्थ्यात् कर्मणीत्यनुवर्तमान विशेष्य  
सप्तम्येकवचनान्तमपि द्विवचनान्तमिह सप्तम्यत इत्याह—द्वयोः कर्मणोरिति । ते च द्वे कर्मणी द्विकर्मकेषु धातुग्विति । अय कृत इत्य-  
स्यैव पठ्ठन्तस्य द्वयोरिति विशेषण कस्मात् न क्रियते ?, तत्रापि हि द्वयोः कृदन्तयोरेक यत्कर्म तत्र पठ्ठी वा भवतीत्ययमर्थः सपश्यते । तथा च  
३६ सति वपा स्रष्टा भेत्ता च मैत्र इत्यादावेव विकल्प स्यादिति, नैवम्, एव सति ‘कर्मणि कृतो द्वयोश्च वा’ इत्येकमेव योग कुर्यात् । तस्मिन्नपि हि  
सकलार्थस्य सिद्धत्वात् । तस्मात् पृथग्योगात् कर्मण एव विशेषण न कृत इति । एकत्रैति सामान्येन निर्देशात् प्रधानाऽप्रधानकर्मणोरविशेषण ग्रहण-  
मित्युभयत्रैकोदाहरति—अजाया नेता सुधमित्यादि । अन्ये त्विति । वार्तिककृत, ‘गुणकर्मणि वेत्यते’ इति वचनात् किन्त्वय विशेषण-  
३९ सन्मते—प्रधाने तु निलैव पठ्ठीति एकदेशाऽनुमत्या तन्मतोपन्यास । उभयत्रापि नित्यमेवेत्यन्ये इति । आचार्यपाणिनि । ननु ‘कर्मणि’  
इत्यधिकृतत्वादेकशब्दस्य च द्वितीयसव्यपेक्षत्वात् एकस्मिन् कर्मणीत्युक्तेऽपि द्वयोः कर्मणोरेकतरस्मिन्निति गम्यत एव किं द्वयोरित्यनेन ?, उच्यते—  
द्विकर्मकेषु धातुष्वेकस्मिन् कर्मणि पठ्ठीविकल्प इत्युच्यमाने ‘प्रधानाऽप्रधानसनिधौ प्रधाने कार्यसंप्रत्यय’ इति न्यायात् प्रधान एव कर्मणि स्यात् ।  
४२ यद्वा गौणादित्यधिकारात् कर्माऽपेक्षयाऽपि गुणकर्मण्येव स्यात्, अत एव आचार्यशाकटायन “कर्मणि गुण” इति पठति, तस्माद् द्वयोरपि  
प्रधानाऽप्रधानकर्मणो पर्यायेण पठ्ठीविकल्प इत्येतदर्थं द्वयोरित्युपादानमित्यदोष ॥ ८५ ॥



## कर्तरि ॥ २ । २ । ८६ ॥

कृदन्तस्य कर्तरि गौणात् नाम्नः षष्ठी भवति । तृतीयाऽपवादः । भवत आसिका, भवतः शायिका, भवतः स्वापः, भवत आसना, भवतोऽग्रगामिका । कर्तरीति किम् ? गृहे शायिका । कृत इत्येव ? त्वया शय्यते ॥ ८६ ॥

## द्विहेतोरुच्यणकस्य वा ॥ २ । २ । ८७ ॥

रुच्यधिकारविहिताभ्यामकारणकभ्यामन्यस्य द्वयोः कर्तृकर्मषष्ठ्योः प्राप्तिहेतोः कृतः कर्तरि षष्ठी वा भवति । नित्यं प्राप्ते विभाषेयम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्याऽऽचार्येण वा, साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याऽऽचार्येण वा, साध्वी संग्रहण्याः कृतिः क्षमाश्रमणस्य क्षमाश्रमणेन वा, आश्वर्यो गवां दोहोऽगोपालकस्य अगोपालकेन वा, साधु खलु पयसः पान मैत्रस्य मैत्रेण वा, साध्वी खल्वनेकान्तजयपताकायाः कृतिराचार्यहरिभद्रस्याऽऽचार्यहरिभद्रेण वा । गम्यमानेऽपि कर्मणि भवति—अन्तर्द्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति, यस्याऽदर्शनमिच्छतीति वा,—अत्राऽऽत्मन ईति कर्म गम्यते । द्विहेतोरित्येकवचननिर्देशः किम् ? आश्वर्यमोदनस्य नाम पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भाव इति भिन्नकृतोः कर्तृकर्मषष्ठीहेतुत्वमत्रेति न भवति । अरुच्यणकस्येति किम् ? चिकीर्षां मैत्रस्य कैथा काव्यानाम्, भेदिका चैत्रस्य काष्ठानाम्; णिगंतमिदेस्तु भेदिका चैत्रस्य मैत्रस्य काष्ठानाम् । कर्तरीत्येव ? साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याऽऽचार्येण वेत्यत्र शब्दशब्दात् कर्मणि विकल्पो न भवति । अन्ये तु घञलप्रत्यययोर्द्विहेत्वोः कर्मण्येव षष्ठीमिच्छन्ति न कर्तरि—आश्वर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन, आश्वर्ये इन्द्रियाणां जयो यूना ॥ ८७ ॥

## कृत्यस्य वा ॥ २ । २ । ८८ ॥

कृत्यस्य कर्तरि गौणात् नाम्नः षष्ठी वा भवति । भवतः कार्यः कटः, भवता कार्यः कटः, कर्तव्यः, करणीयः, देयः, कृत्यो वा कटः । कर्तरीत्येव ? गेयो माणवको गायानाम्, प्रवचनीयो गुरुर्द्वादशाङ्गस्य ॥ ८८ ॥

कर्तरि । कृत इति गौणात् नाम्नः षष्ठीति च वर्तते । कृत कर्तरि गौणात् नाम्नः षष्ठीत्यन्वयस्तदाह—कृदन्तस्येत्यादि । तृतीयाऽपवाद इति । कृदन्तप्रयोगकर्तृवाचिनः शब्दात् “हेतुकर्तृकरणे” इति तृतीयायां प्राप्तायां तदपवादः षष्ठीत्यर्थः । भवत आसिका, भवतः शायिकेति । ‘आसिक्’ उपवेशने, ‘श्रीङ्’ स्वप्ने, आभ्यां “पर्यायाऽर्हणोत्पत्तौ च णक ” ५।३।१२०। इति णक । आसितु शयितु च भवत क्रम इत्यर्थः । स्वाप इति । “भावाऽकर्त्रो ” ५।३।१८। इति षष् । आसनेति । “णिवेत्त्यासश्रन्थघट्टवन्देन ” ५।३।१११। इत्यन । भव-२३ तोऽग्रगामिकेति । पूर्ववण्णक । शय्यत इति । “इति यि शय् ” ४।३।१०५। इति शयादेशः ॥ ८६ ॥

द्विहेतोरुच्यणकस्य वा । कृत इति कर्तरीति षष्ठीति च वर्तते । अरुच्यणकस्य द्विहेतो कृत कर्तरि षष्ठी वेत्यन्वयः । द्वयोर्द्वुरिति षष्ठीतत्पुरुष, तच्च कृत इत्यनुवर्तमानस्य विशेषणमित्याह—द्वयोः—कर्तृकर्मषष्ठ्योः प्राप्तिहेतोः कृत इति । नित्यं प्राप्ते इति । “कर्तरि” इति सूत्रेणैति शेषः । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्याऽऽचार्येण वेति । अत्र कृतिरिति “भ्रियां णि ” इति भावे णि, अस्याश्च कृते-सूत्र कर्म आचार्य कर्ता, उभयत्र च “कर्मणि कृत ” इति, “कर्तरि” इति च द्वयोः षष्ठ्योः प्राप्तिरिति द्विहेतुरयं कृतः । एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । अनुशासनमिति । भावे करणाऽऽधारे वाऽनदः । अन्तर्द्धौ येनाऽदर्शनमिच्छतीति । पञ्चमीविधायक पाणिनिसूत्रमिदम्, अस्य चाऽयमर्थः—अन्तर्द्धौ—अन्तर्द्धिविषये आत्मनः कर्मतापक्षस्य येन—उपाध्यायादिना कर्तृभूतेन यददर्शनं तदिच्छतीत्यर्थः । आश्वर्यमोदनस्य पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भाव इतीति । अत्र पाक इत्येतदपेक्षया ओदनस्येति न तदपेक्ष्यमतिथीनामिति कर्तृत्वेन न ह्यतिथयः पक्षार किन्तु प्रादुर्भवेवितार इति कृतोभियत्त्वात् न भवति । ननु कथमिदमुच्यते ? घञ एकत्वादिति, नैवम्, धातुभेदात् तस्याऽपि भेद इत्यदोषः । चिकीर्षेति । करोते सधन्तात् “शसिप्रत्ययात्” ५।३।१०५। इति अप्रत्यये आपि च रूपम् । भेदिकेति । पर्यायेण भेदनमिति “पर्यायाऽर्हणो” इति णक । णिगन्तमिद्वे-स्त्विति । मिदेष्यन्तात् पर्यायादिषु णक । अथ कथं चैत्रस्य मैत्रस्येत्युभयत्र कर्तरि षष्ठी, यतोऽत्र प्रयोजककर्ता णिगर्भस्य प्राधान्यात् प्रधानः, प्रयोज्यकर्ता तु प्रकृत्यर्थस्याऽप्राधान्यात्प्रधानः, तत्र प्रधानाऽप्रधानसंनिधौ प्रधानादेव षष्ठी नाऽप्रधानादिति चेत्, सत्यम्, तृतीयावत् कर्तृमात्रे षष्ठीत्याश्रयणात् भिन्नशब्दवाच्ययोः प्रधानाऽप्रधानयोः कर्त्रोरेकशब्दवाच्यताया अभावात् विरोधाभावात् षष्ठी सिध्यतीत्यदोषः । अन्य इति । ललितस्वभाव इत्यर्थः । काशिकाकारस्तु रुच्यधिकारविहितयोरणकयोः प्रतिषेधादन्यस्मिन्नपि स्त्रीप्रत्यय एव षष्ठीमिच्छति । अपरे त्वकाकारयोर्भावाभिधायकयोः कृतोरुच्यणकात् ताभ्यामन्यस्मिन्नपि भावाभिधायक एव षष्ठीमिच्छन्ति ॥ ८७ ॥

कृत्यस्य वा । कर्तरीति गौणात् नाम्नः षष्ठीति च वर्तते । कृत्यस्य कर्तरि गौणात् नाम्नः षष्ठी वेत्यन्वयस्तदाह—कृत्यस्येत्यादि । कार्य इति । “श्रवणं व्यञ्जनात् घ्यण्” ५।१।१७। इति घ्यण् । कर्तव्यः, करणीय इति । “तव्यानीयो” ५।१।२७। इति तव्यानीयो । देय इति । “य एच्चात् ” इति यप्रत्यये आकारस्य च एत्वम् । कृत्य इति । “कृष्टयिष्णिजि” ५।१।४२। इति क्यप्, “ह्रस्वस्य त षिक्त्विति” ४।४। ११३। इति तोऽन्तः । गेयो माणवको गायानामिति । गायतीति ये-गेय “भव्यगेयजन्य” ५।१।७। इति कर्तरि निपातः, गीयमानत्वाच्च गायाना कर्मत्वमन्त कर्तरीत्यनुवर्तमानात् कर्मणि षष्ठीविकल्पो न भवति । एव प्रवचनीय इत्यत्राऽपि द्रष्टव्यम् ॥ ८८ ॥

## नोभयोर्हेतोः ॥ २ । २ । ८९ ॥

उभयोः कर्तृकर्मणोः पृष्ठीहेतोः कृत्यस्य संवन्धिनोरुभयोरेव पृष्ठी न भवति । नेतव्या ग्राममजा मैत्रेण, ऋष्टव्या  
१ ग्रामं शाखा चैत्रेण; जेतव्यः शत मैत्रश्रैत्रेण । उभयोर्हेतोरिति किम्?, एकैकहेतोर्मा भूत-उपस्थानीयः पुत्रः पितुः,  
उपस्थानीयः पिता पुत्रस्य ॥ ८९ ॥

## तृद्भुदन्ताऽव्ययकस्वानाऽतृशृशृटिणकचूर्खलर्थस्य ॥ २ । २ । ९० ॥

६ तृनः उदन्तस्य अव्ययस्य कसोः आनस्य अतृशः शतुः डेः णकचः खलर्थस्य च कृतः संवन्धिनोः कर्मकर्त्रोः पृष्ठी  
न भवति । तृन्-चदिता जनाऽपवादान्, उदन्त-कन्यामलकरिण्युः, रिप्त् जिण्युः, शरान् क्षिण्युः, ओदन वुसुक्षुः, देवान्  
वन्दारुः, धारुर्वत्सो मातरम्, श्रद्धारुस्तत्त्वम्, अव्यय-कट कृत्वा, पयः पायपाय व्रजति, ओदनं भोक्तुं व्रजति; कसु-  
९ ओदन पेचिवान्, तत्त्व विद्वान्; आनेति उत्पद्यऽनुवन्धनिर्देशात् कानशानाऽऽनशां ग्रहणम्, (कान-कट चक्राणः,  
वचनमनूचानः; शानः-मलय पवमानः, कतीह कवचमुद्रहमाना, कतीह शत्रून् निघानाः; कतीह वपुर्भूषयमाणाः;  
आनश्-ओदनं पचमानः, चैत्रेण पच्यमानः; कट करिष्यमाणः; अतृश्-अधीयस्तत्त्वार्थम्, धारयन्नाचाराङ्गम्, शतु-कटं  
१२ कुर्वन्, कटं करिष्यन्, डि-परीपहान् सासहिः, कट चक्रिः, दधिश्चितम्, णकच-एषानाहारको व्रजति, कटं कारको  
व्रजति; चिन्निर्देशात् णकस्य न भवति-वर्षशतस्य पूरकः, पुत्रपौत्रस्य दर्शकः; खलर्थः-ईपत्कारः कटो भवता, सुज्ञानं  
तत्त्व भवता ॥ ९० ॥

१५

## कयोरसदाधारे ॥ २ । २ । ९१ ॥

सतो वर्तमानादाधाराच्चान्यस्मिन्नर्थे विहितौ यौ क्तौ-क्तवत् तत्संवन्धिनोः कर्मकर्त्रोः पृष्ठी न भवति । कटः

नोभयोर्हेतोः । कृत्यस्येति पृष्ठीति च वर्तते । उभयोर्हेतो कृत्यस्य उभयोरेव पृष्ठी नेत्यन्वय । उभयोरिति सप्तमीदिवचनान्तं प्रकृ-  
१८ तयो कर्तृकर्मणोर्विशेषणमित्याह-उभयोः कर्तृकर्मणोरिति । प्रात्ययानुवादेन प्रतिषेधविषय दर्शयति-उभयोरेवेति । द्विकर्मकप्रयोगेऽयं  
प्रतिषेधो दृष्टव्य, तत्रैवोभयप्रतिषेधमात्रम् । नेतव्या, ऋष्टव्या, जेतव्य इति । नयते कर्तृतेर्जयतेषु "तन्वानीयो" इति प्रधानकर्मणि तव्य ।  
ननु द्विकर्मकेषु धातुत्व्य प्रतिषेध, तत्र प्रधानकर्मणि कृत्येनैवाऽभिहितत्वात् कर्तृतेर्व प्रतिषेधो न्याय्य इत्युभयग्रहणमितिच्यते, नैवम्, द्वितीया  
२१ धाधिका द्वि कृत्ययोगे पृष्ठी विधीयते द्वितीया चाऽप्रधानादस्तीति तत्र पृष्ठी स्यात् । न च 'प्रधानकर्मण्यार्येणैव स्वीचीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इत्यत्रादिग्रन्थेन  
पृष्ठीपि श्रूयत इति वाच्यम्, तस्य व्यवस्थावाचित्वात् कृत्यकखलर्थानामेव प्राहकत्वादिति । किं च 'द्विकर्मणां धातूनां प्रधानकर्मणि विवादय  
उत्पद्यन्ते' इति न्यायोऽयं, यतो हेकेन धन्देनाजामलक्षणयोर्द्वयो कर्मणो सतिपातितयोरुत्तरकर्माभिधानीय न तु हे अपि कर्मणो, अजावत्  
२४ ग्रामस्यानिनीयित्वात् तथाप्रतीत्यभावात् । न ह्यजा ग्रामो नीयते इत्युक्ते अजा ग्राम नीयते इतिवद्गुणमुक्त्यभावेन प्रतीतिरस्ति किन्तु तौ द्वावपि  
किमप्यन्यत्र भीषते इत्यर्थान्तरं प्रदीयत इति तदत्र कतरत् कर्मानेनोच्यतामिति विरोधात् प्रधानकर्मणि स्वादय उत्पद्यन्त इत्युच्यते, तेनोक्तं 'प्रधा-  
नकर्मण्यार्येणैव स्वीचीनाहुर्द्विकर्मणामि'ति । पृष्ठी तु मिथ्याभ्यामभ्या कर्मवाचिभ्यामुत्पद्यमाना मिथैवोच्यत इति विरोधाभावात् कथमसौ प्रधानादेश  
२७ स्वाध्याप्रधानादित्यविशेषणवानयत्तत्त्वम् । तत्रापि तत्र भवद्भुजगविसुना पृष्ठीविधावेव 'प्रधानादि पृष्ठीप्यते' इतीष्टितारन्वा । यथैव कथयन्-  
दुद्धानामप्रधाने कर्मणि विवादय इति, तत्रापि पूर्व प्रश्रुतिविषयत्वेनान्तरत्वाद् गवादेरेव प्राधान्य व्यवहारपेक्षया तु पय प्रश्रुतेरिति ॥८९॥

तृद्भुदन्ताऽव्ययकस्वानाऽतृशृशृटिणकचूर्खलर्थस्य । अत्र नेति उभयोरिति पृष्ठीति च वर्तते । तृद्भुदन्ताऽव्ययकस्वानाऽतृ-  
३० शृशृशृटिणकचूर्खलर्थस्य कृत उभयो पृष्ठी नेत्यन्वय । "कर्मणि कृत" इति, "कर्त्तरि" इति च प्राप्ताया पञ्चा प्रतिषेधार्थमिदम् । वदे "तृन्  
शीलवर्मसाधुषु" ५।२।२० इति तृनि-चदिता । अलपूर्वात् करोते "त्राज्यलङ्गु" ५।२।२८ इतीष्णी-अलंकरिण्युः । जयते- "मूले  
प्युक्" इति णक्-जिण्युः । क्षिपते "त्रक्षिपिधृषि" ५।२।२३ इति कौ गत्वे च-क्षिण्युः । वुसुक्षेः "सन्मिशाशसेर" ५।२।३३।  
३१ इत्युत्पद्यते-वुसुक्षुः । वन्दे "शृवन्देराक" ५।२।२५ इत्यारौ-वन्दारकः । घयते "दाधेतिपादसदो क" ५।२।३६ इति रौ-घारुः ।  
अदपूर्वात् दधाते "श्रीश्चक्ष्मा" ५।२।३० इत्यालौ-श्रद्धारुः । कृतेति "प्राक्काले" इति च्याप्रत्यय । पिषते "खणम् चाऽऽमीक्ष्ये"  
५।२।४८ इति खणमि द्वित्वे-पार्थपायमिति । शुजे "क्रियार्था क्रियार्थायां" ५।२।१३ इति तुमि-भोक्तुम् । पचे "तत्र कङ्कानौ  
३२ तद्वत्" ५।२।२। इति कसौ, "अनादेशादे" इत्येत्वे द्वित्वाभावे "घसेकखरात कसौ" ४।१।८२ इति इदि-पेचिवान् । कानाथीनां सर्वेषा-  
मनुवन्धवतामप्यनेति प्रयोगोपयोगिखरूपनिर्देशात् सर्वेऽपि तद्रूपा श्रूयन्त इत्याह-आनेतीत्यादि । करोते "तत्र कङ्कानौ" इति कान-  
प्रत्यये द्वित्वाद्यै-चक्राणः । अतृपूर्वात् वचे "वेथिवदनाश्चदन्वानम्" ५।२।३। इति निपातनात्-अनूचानः । पवते "पूथ्यज घान"  
३३ ५।२।२३ इति शाने-पवमानः । उत्पद्यते वहे "वध शक्तिशीले" ५।२।२४ इति शाने-उद्ग्रहमानाः । एव निघ्नानाः, भूपय-  
माणा इत्यपि । पचमान इति । "शत्रानशा" ५।२।२० इत्यानश्, करिष्यमाण इति-एष्यति तु ससौ इति स्वसहित । व्यपिपूर्वा-  
३४ दिधो धारयतेषु "धातीकोऽकृच्छेऽतृश्" ५।२।२५ इत्यतृष्ठी-अधीयन्, धारयन्निति । कुर्वन्, करिष्यन् इति । "शत्रानशा" इति  
शतृप्रत्ययो यथायोग स्वसहितश्च । सासद्यते "कौ सासहिनावहि" ५।२।३८ इति कौ-सासहिः । एव करोतेर्दधातेषु "वसिचक्रिदधिजसि-  
नेमि" ५।२।३६ इति-चक्रिः, दधिः । आहपूर्वात् हरते "क्रियार्था क्रियार्थायां" इति णके-आहारकः । एव कारकः । चिन्निर्दे-  
शादिति । वर्षशतस्य पूरक इति "णकचूर्वौ" इति णक, णकजितिनिर्देशात् पृष्ठीप्रतिषेधो न भवति । ईपत्कार इति । "हु खीपत्" ०

३५ ५।२।१३९ इति खल् । सुज्ञानमिति । "शासुषुषि" ५।२।१४१ इत्यन ॥ ९० ॥

कयोरसदाधारे । उभयोरिति पृष्ठीति नेति च वर्तते । अद्यथाधारे कयोरुभयोः पृष्ठी नेत्यन्वय । सत इत्यस्य पर्यायोऽयं-वर्तमा-  
नादिति । ननु सत् धात्वर्थ, तत्र धादरेव वर्तते, कृतप्रत्ययस्य "कर्त्तरि" इत्यादिना कारकं भावे च विधीयते । तत्र घति प्रत्ययविधरेव नास्ति

कृतो मैत्रेण, कट कृतवान्; गतो ग्रामं चैत्रः, ग्रामं गतवान् । असदाधार इति किम्?, राज्ञां ज्ञातः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां मतः, राज्ञामिष्टः, राज्ञां पूजितः, कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम्; “ज्ञानेच्छा०” ॥५१२१२॥ इत्यादिसूत्रेण सत्यत्र क्तः । कथं शीलितो मैत्रेण?, रक्षितश्चैत्रेण?, भूतेऽयं क्तः, वर्तमानताप्रतीतिस्तु प्रकरणादिनेति । अन्ये तु ज्ञानेच्छार्चार्थजी- ३  
च्छील्यादिभ्योऽतीते क्त नेच्छन्ति, तन्मते-अपशब्दावेतौ । आधारे-इदमोदनस्य भुक्तम्, इद सक्नुनां पीतम्, इदमहेः  
सप्तम्, इदमेधामासितम्; “अद्यर्थाच्चाऽऽधारे” ॥ ५ । १ । १२ ॥ इति क्तः ॥ ९१ ॥

वा ह्रीवे ॥ २ । २ । ९२ ॥

३

ह्रीवे यो विहितः क्तस्तस्य कर्तरि षष्ठी वा न भवति । छात्रस्य हसितम्, छात्रेण हसितम्; मयूरस्य नृतम्, मयूरेण नृतम्; कोकिलस्य व्याहृतम्, कोकिलेन व्याहृतम्; इहादेः सप्तम्, इहाऽहिना सप्तम् । ह्रीव इति किम्?, चैत्रेण कृतम्-“क्तकवत्” इति भावे क्तः । पूर्वेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ॥ ९२ ॥

९

अकमेरुकस्य ॥ २ । २ । ९३ ॥

कमेरन्यस्योक्तप्रत्ययान्तस्य कर्मणि षष्ठी न भवति । आगामुक्तं वाराणसीं रक्ष आहुः, भोगानभिलाषुकः । अकमे-  
रिति किम्?, दास्याः कामुकः ॥ ९३ ॥

१२

एष्यदृणेनः ॥ २ । २ । ९४ ॥

एष्यत्यर्थे ऋणे च विहितस्येनः कर्मणि षष्ठी न भवति । इन् इति इन्णिनोर्ग्रहणम् । ग्रामं गमी-औणादिक इन्, ग्राममागामी-औणादिको णिन्; शतं दायी, सहस्रं दायी, कारी मेऽसि कटम्, हारी मेऽसि भारम्,-एष्वाधमर्ण्ये १५  
णिन् । एष्यदृणेति किम्?, अवश्यंकारी कटस्य, साधुदायी वित्तस्य ॥ ९४ ॥

कथ प्रतिषेध ?-स्ततोऽन्यस्मिन्नर्थे इति?, नैष दोषः, सदर्थसहचारी प्रत्ययार्थोऽपि सञ्चित्युच्यते । यदा धात्वर्थोऽपि सञ्चिति प्रत्ययत एव विज्ञा-  
यते, न हि धातुत क्रियालक्षणो धात्वर्थो भूतो भवन् भविष्यति वा ज्ञातु शक्य, धातुर्हि क्रियामात्रमाह न त्वसु विशेषम् । स तु प्रत्ययादेव १८  
प्रतीयत इति कर्त्रादिकरकृत्तरि प्रत्यय सतीति विज्ञायते । क्रियते स्मेति कर्मणि के-कृतः । करोति स्मेति कर्तरि क्तवतौ-कृतवान् । गत  
इति । गच्छति स्मेति “गत्यर्थोऽकर्मक०” इति कर्तरि क्त । राज्ञां ज्ञात इत्यादि । कर्तरि षष्ठीयं, “ज्ञानेच्छाऽर्चार्थजीच्छील्यादिभ्य क्त” ५१२।  
९२। इति वर्तमाने क्त । अथ केन सूत्रेण क्तो भवतीत्याह-ज्ञानेच्छेत्यादि । भूतकालविहितस्य च कस्य वर्तमानकाले विहित क्त सामान्य-२१  
भावेन वाचक इति स्थितम् । फलमिति । शीलितो मैत्रेणेत्यादावपि “ज्ञानेच्छाऽर्चा०” इत्यनेन क्त, तथा च वर्तमानप्रतीतिरत्र कस्यात् न  
भवतीति शाङ्कार्थं । परिहरति-भूतेऽयं क्त इति । अयमर्थ-वर्तमानायामपि क्रियायां केचित् क्रियाभागा गता भवन्ति, तत्र “क्तकवत्”  
इति भूतेऽय क्त । यथैव कथमत्र वर्तमानताप्रतीति?, अद्यापि शील्यत इत्याह-वर्तमानतेत्यादि । आदिशब्दादर्थप्रकरणशब्दान्तरसञ्चिद्यादि-२२  
परिग्रह । अन्ये इति । पूर्वे इत्यर्थं । इदमोदनस्य भुक्तमित्यादि । “अद्यर्थाच्चाऽऽधारे” ५१११२। इति के ओदनस्येति, सक्नुनामिति  
च “कर्मणि क्तः” इति कर्मणि षष्ठी । अहरेषामिति च कर्तरि षष्ठी । सदाधारादन्यत्र चातु शक्य भवति, यदा कर्तरि क्तस्तदा ‘इमहि सप्तो  
देश’ यदा कर्मणि तदा ‘अयमहिना सप्तो देश’ भावे तु “वा ह्रीवे” वा षष्ठांमहे सप्तम् अहिना सप्तमिति ॥ ९१ ॥

२७

वा ह्रीवे । कसेति कर्तरीति चैकदेशे नेति षष्ठीति च वर्तते । ह्रीवे कस्य कर्तरी षष्ठी वा नेत्यन्यस्त्वदाह-ह्रीवे य इत्यादि ।  
‘भावे’ इत्यधिकृत्य “ह्रीवे क्त” इत्यनेन य कालसामान्यावच्छिन्नधात्वर्थोभिधायकत्वाद्वातोक्त्यन्तस्त्र योगे षष्ठीविकल्पोऽयमित्युदाहरति-  
छात्रस्य हसितमित्यादि । हसन-हसितं, नतन-नृतम्; व्याहरण-व्याहृतम् । भावे क्त इति । “तत्साप्यानाप्यात्०” इत्यनेनेति ३०  
शेष । पूर्वेणेति । “क्योरसदाधारे” इत्यनेनेत्यर्थं ॥ ९२ ॥

अकमेरुकस्य । कर्मणीति षष्ठीति नेति च वर्तते । अकमे उक्तस्य कर्मणि षष्ठी नेत्यन्यस्त्वदाह-कमेरन्यस्येत्यादि । आगा-  
मुकमिति । “शुकमगम०” ५१२।४० इति ताच्छीलक उक्तम्, आहुरित्येतदपेक्षया कर्मणि द्वितीया । एव रक्षः शब्दादपि । वाराणसीश-३१  
ब्दात्तु गमिक्रियाकर्मणोऽनेन षष्ठी प्रतिषिध्यते । वरणा च अस्ति च वरणासी नयो ते विधेते यस्यां “अहरादिभ्योऽञ्” इत्यत्रि पृषोदरादित्वात्  
ह्रस्ववर्धव्यत्ययोऽन्तत्वात् षष्ठा-वाराणसी । आहुःशब्दो “ब्रूग पमानां०” इति व्युत्पायते । दास्याः कामुक इति । दासशब्दात्  
दयां-दासी, तत्र प्रतिषेधस्य प्रतिषेधात् षष्ठेव भवति ॥ ९३ ॥

३६

एष्यदृणेनः । कर्मणीति षष्ठीति नेति चाऽनुवर्तते । एष्यदृणेन कर्मणि षष्ठी न इत्यन्यस्त्वदाह-एष्यत्यर्थे इत्यादि । एष्यत्  
ऋणश्च एष्यदृणे तयोरिन् एष्यदृणेत् तसेति विग्रह । एष्यता ऋणेन च प्रलेकमिन् विशिष्यत इति । इन् इति खरूपनिर्देशात् निरनुबन्धस्य च  
तस्य ऋणेऽसम्भावात् ऋणग्रहणात् साधुबन्धस्य ग्रहणमित्याह-इन् इति इन्णिनोर्ग्रहणमिति । ग्रामं गमीति । “वत्स्यति गम्यादि” ३९  
५।३।१। इति वचनात् “गमेरिन्” इति भविष्यति इन् । एव “आञ्च णित्” इति णिनि-ग्राममागामी । येषां तु “गतेर्नवाऽनाप्ते” इत्यस्य  
स्थाने “गत्यर्थकर्मणि०” इत्यत्र द्वितीयायां सिद्धायां द्वितीयाग्रहणमपवादाविषयेऽपि षष्ठीचाधनार्थं तेषामत्र षष्ठीप्राप्तेरभावात् ‘ग्राम गमी, गाम-  
मागामीत्युदाहरणानुपपत्ति, प्रतिषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वादिति । शतं दायीति । ददाते “णिन् चाऽऽवयवकावमर्ण्ये” इति णिनि “धात ए  
क्यौ” ४।३।५३। इति एत्वमायादेशश्च ॥ ९४ ॥

४२

## सप्तम्यधिकरणे ॥ २ । २ । ९५ ॥

गौणात् नाम्न एकद्विवहावधिकरणे कारके डिओसुसुपलक्षणा यथासंख्यं सप्तमी विभक्तिर्भवति । दिवि देवाः, १ पर्यङ्के आस्ते, तिलेषु तैलम्, गुरौ वसति, युद्धे संनद्धते, अहुल्यग्रे करिशतम् ॥ ९५ ॥

## नवा सुजर्थैः काले ॥ २ । २ । ९६ ॥

सुचोऽर्थो वारलक्षणो येषां प्रत्ययानां तदन्तैर्युक्तात् कालेऽधिकरणे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी वा भवति । ६ द्विरहि भुक्ते, पक्षे शेषे पष्ठी-द्विरहो भुक्ते; मासे पञ्चकृत्वो भुक्ते, मासस्य पञ्चकृत्वो भुक्ते; बहुधाऽहि भुक्ते, बहुधाहो भुक्ते । सुजर्थैरिति किम् ? अहि भुक्ते, रात्रौ शेते । बहुव्रीह्याश्रयण किम् ? सुजर्थप्रत्ययस्याऽप्रयोगे गम्यमाने तदर्थे मा भूत् । काल इति किम् ? द्विः कांस्यपात्र्यां भुक्ते । अधिकरणे इत्येव ? द्विरहा भुक्ते । आधारस्याऽऽधारत्वाऽविवक्षायां पक्षे ० शैपिकी पष्ठी सिद्धैव, नियमार्थं तु वचनम्, तेन प्रत्युदाहरणेषु शेषे पष्ठी न भवत्येव ॥ ९६ ॥

## कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ २ । २ । ९७ ॥

कुशलो निपुणः, आयुक्तो व्यापृतः, आभ्यां युक्तादाधारे वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी वा भवति, आसेवायां- १२ तात्पर्यं गम्यमाने । कुशलो विद्याग्रहणे, आयुक्तस्तपश्चरणे, पक्षे-अधिकरणाऽविवक्षाया शेषपष्ठी-कुशलो विद्याग्रहणस्य, आयुक्तस्तपश्चरणस्य । आसेवायामिति किम् ? कुशलश्चित्रकर्मणि, न च करोति, आयुक्तो गौः शकटे-आकृष्य युक्त इत्यर्थः, अधिकरणे इत्येव नित्यं सप्तमी । पक्षे आधारस्याऽविवक्षायां विकल्पे सिद्धेऽनासेवायामाधाराऽविवक्षानिवृत्त्यर्थं १५ वचनम् ॥ ९७ ॥

## स्वामीश्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः ॥ २ । २ । ९८ ॥

एभिर्युक्ताद् गौणात् नाम्नः सप्तमी वा भवति, पक्षे-शेषपष्ठी । गोपु स्वामी, गवां स्वामी, गोष्ठीश्वरः, गवामीश्वरः;

१८ सप्तम्यधिकरणे । गौणात् नाम्न इति एकद्विवहाविति चाऽनुवर्तते । गौणात् नाम्न एकद्विवहावधिकरणे सप्तमीलन्वयस्तदाह-गौणा-दित्यादि । क्रियाऽऽश्रयस्य कर्तुं कर्मणो वा य आधारस्त्वधिकरणमिति प्राशुक, तस्य चोक्तप्रकारेणैव पद् भेदा भवन्तीति क्रमेणोदाहरति-दिवि देवा इत्यादि ॥ ९५ ॥

२१ नवा सुजर्थैः काले । गौणात् नाम्न इति सप्तम्यधिकरणे इति च वर्तते । सुजर्थे कालेऽधिकरणे गौणात् नाम्न सप्तमी नवेत्यन्वयः । सुचोऽर्थं सुजिति उपचारात्, तेन सुजर्थो येषामिति बहुव्रीहि । एतच्च बहुवचनाद् विज्ञायते, अन्यपदार्थस्याऽनेकत्वाद् बहुत्वोपपत्तेः । तत्पुरुषे तु अर्थस्यैकत्वादेकवचनमेव स्यात्, यथा "सहाये" इति इत्यवधार्याऽऽह-सुचोऽर्थे इत्यादि । सुचोऽर्थोपचार-क्रियाभ्याद्युक्तिः, च चार्थं २४ प्रत्ययानामेवेत्याह-प्रत्ययानामिति । तदन्तैरिति । ते च प्रत्यया केवला न प्रयुज्यन्ते इत्येतदुच्यत इत्यर्थः । काल इत्यधिकरण इत्यस्याऽनुवर्तमानस्य विशेषणमित्याह-कालेऽधिकरणे इति । द्विरहि भुक्ते-द्वौ वारावस्येति "द्वित्रिवर ०" ७।२।११० इति सूत्रं । तद्विसृष्टपक्षे त्वधिकरणस्य शेषविवक्षा "शेषे" इत्यनेन पष्ठीत्याह-पक्ष इत्यादि । पञ्चकृत्व इति । पञ्च वारा भव्येति "वारे कृत्वस्" ७।२।१०९ इति २७ कृत्वस् । बहुचेति । बहुव आसन्ना धारा भव्येति "बहोर्धाऽऽसन्ने" इति घा, यद्यप्यत्राऽऽसन्तिरप्यस्ति तथापि सुचोऽर्थोऽस्तीति विकल्पो भवत्येव । बहुव्रीह्याश्रयणं किमिति । बहुव्रीहौ हि शब्दप्रधानो निर्देशः, तत्र तदर्थं शब्दैर्युक्तादिति युक्तत्वं यद्यपि नामार्थं एव तथापि तत्प्रयोग एव भवति, अन्यथा बहुव्रीहेरानर्थक्यात् तदभावे तु अर्थप्रधाने निर्देशोऽर्थादिना यदाऽहि भुक्ते इति द्वित्रिवेति प्रतीयेत तदाऽपि स्यात्, तदा ३० मा भूदित्येतदर्थं तदाऽऽश्रयणमित्यर्थः । द्विरहा भुक्ते इति । अहरधिकरणमपि अत्राऽऽशने करणविवक्षामनुभवति, तत्राधिकरण इत्यधिकारात् सप्तम्यभावात् तृतीयैव भवति । अधिकरणमाधार इति पर्यायशब्दौ "क्रियाऽऽश्रयस्या ०" इत्यत्र दर्शिताविति तत्पर्यायेणैवाऽऽह-आधारस्ये-त्यादि । अत्राऽऽश्रयमर्थ-आधारस्य चवन्धविवक्षाया अप्युपपत्तेः षष्ठीसप्तमीसिद्धावपि नियमार्थो योग इत्यर्थः । सूत्रदर्शितविषय एव आधारस्य ३१ संवन्धविवक्षाऽऽश्रयणं मा भूदित्येवमर्थ इत्यर्थनियमो व्यवच्छेदफल इत्याह-तेनेत्यादि । सुजर्थैरेव योगे काले सप्तमी वा भवतीति नियमात् प्रत्युदाहरणेषु आधारसप्तम्येव न पष्ठीति ॥ ९६ ॥

कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् । सप्तम्यधिकरणे इति नवेति गौणात् नाम्न इति च वर्तते । कुशलाऽऽयुक्तेनाऽधिकरणे गौणात् नाम्न ३६ सप्तमी नवेत्यन्वयः । कुशलाऽऽयुक्तशब्दौ निपुणव्याप्तपर्यायवित्याह-कुशलो निपुण इत्यादि । आसेवायामित्यस्य पर्यायमाह-तात्पर्यं इति । कुशलो विद्याग्रहण इति । तत्परो निपुण इत्यर्थः । आयुक्तस्तपश्चरणे इति । तात्पर्येण व्यापृत इत्यर्थः । न च करोती-त्यासेवायात्वात्पर्यरूपाया अभावमाह । आकृष्य युक्त इत्यर्थे इत्यनेनाऽऽप्यर्थोभिधानेन तात्पर्याऽऽभाव एवाभिधीयते । पक्षे आधारस्येति । ३७ पूर्ववद्विभक्तिद्वयसिद्धिः, अनासेवायां विभक्त्यन्तरनिश्चितिरेव सूत्रस्य फलमित्यर्थः ॥ ९७ ॥

स्वामीश्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैः । गौणात् नाम्न इति नवेति सप्तमीति च वर्तते । स्वामीश्वराऽधिपतिदायादसा-क्षिप्रतिभूप्रसूतैर्गौणात् नाम्न सप्तमी नवेत्यन्वयस्तदाह-एभिरित्यादि । स्वामीति । स्वशब्दात् "स्वान्मिषीशे" इति शिच षीर्धत्वं च । इष्टे- ४२ "स्वेषामासपिचकषो वर" ५।२।८१ इति वरे-ईश्वर इति । दायमादत्त इति "दस्वाह" ५।१।७८ इति ङप्रत्यये, दायमतीत्यदेर्वाऽणि-

गोष्वधिपतिः, गवामधिपतिः; गोषु दायादः, गवां दायादः; गोषु साक्षी, गवां साक्षी; गोषु प्रतिभूः, गवां प्रतिभूः, गोषु प्रसूतः, गवां प्रसूतः । “स्वामीश्वराऽधिपतिः” इति पर्यायोपादानात् पर्यायान्तरयोगे न भवति—ग्रामस्य राजा, ग्रामस्य पतिः, षष्ठ्येव भवति । सप्तम्यर्थं वचनम् ॥ १८ ॥

### व्याप्ये केनः ॥ २ । २ । १९ ॥

इष्टादिभ्यः क्तान्तेभ्य इष्टमनेनेत्याद्यर्थे तद्धित इन् वक्ष्यते, क्तप्रत्ययान्ताद् य इन् तदन्तस्य व्याप्ये वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति । वेति निवृत्तम् । अधीतं व्याकरणमनेनेति वाक्याऽवस्थायामभिधायऽधीतीति वृत्तौ केनाऽनभिहिते कर्मणि प्रत्ययार्थकतुकेण च धात्वर्थेन व्याप्यमाने कृतपूर्वी कटमित्यादाविव द्वितीयायां प्राप्तायां तदपवादोऽयम् । अधीतं व्याकरणमनेनाऽधीती व्याकरणे, आम्नातं द्वादशाङ्गमनेनाऽऽम्नाती द्वादशाङ्गे, परिगणित ज्योतिरनेन परिगणिती ज्योतिषि, इष्टो यज्ञोऽनेनेष्टी यज्ञे । केन इति किम् ?, कटं करोति । क्तग्रहण किम् ?, कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम् । इन्ग्रहण किम् ?, उपश्लिष्टो गुरुन् मैत्रः । व्याप्य इति किम् ?, मासमधीती व्याकरणे—अत्र मासात् मा भूत्, मासस्य हि न कर्मत्वम्, द्वितीया तु “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” ॥ २ । २ । ४२ ॥ इत्यनेन ॥ १९ ॥

### तद्युक्ते हेतौ ॥ २ । २ । १०० ॥

हेतुर्निमित्तं—कारणम्, तेन व्याप्येन युक्ते संयुक्ते हेतौ वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति । हेतुतृतीयाऽपवादः । “चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्पलको हतः” ॥१॥ तद्युक्त इति किम् ?, वेतनेन धान्यं लुनाति—नाऽत्र वेतन धान्येन सयुक्तम्, धनेन वसति । हेताविति किम् ?, देवस्य पादौ स्पृशति ॥१००॥ १५

दायाद् इति । स्वामीश्वराऽधिपतीनामेकार्थत्वेऽपि भेदेनोपादानं पर्यायान्तरनिष्ठरथर्मित्याह—स्वामीत्यादि । तदुदाहरति—ग्रामस्य राज्ञेति । स्वाम्यर्थग्रहणात् अत्राऽपि स्यात्, तदर्थ्युक्तित्वादिति । षष्ठीसप्तम्यौ द्वेऽपि प्राप्तेऽनेन विधीयते उत अन्यतराप्राप्तेत्याशङ्काह—सप्तम्यर्थं वचनमिति । स्वाम्यादीनां गवादिसबन्धित्वं, तन्निवृत्तौ हि तेषां स्वाम्यादिभावाभावः, तत्राऽस्त्येव षष्ठी, सप्तमी तु नास्ति क्रियाप्रतीत्यभा-१८ वादिति षष्ठे सप्तमीप्रापणार्थं वचनमिति ॥ १८ ॥

व्याप्ये केन. गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । केनो व्याप्ये गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयः । काद् येन सूत्रेण यस्मिंश्चास्यर्थे इन् भवति तदाह—इष्टादिभ्य इत्यादि । कादिन् केन् तस्य केन इत्याद्याऽयमर्थ इत्याह—क्तप्रत्ययान्ताद् य इत्यादि । वेति निवृत्तमिति । पृथगयोगा-२१ दिति शेषः । अथ यस्मात् कृतप्रत्ययादिन् विधीयते तस्य यत्कर्म तत्राऽधिकरणविवक्षया सप्तमी सिध्यति किमर्थमिदमित्याशङ्काह—अधीतमित्यादि । अधीतं व्याकरणमनेनेति वाक्याऽवस्थायां केन सामान्यकर्म अभिधाय अधीतीति वृत्तौ केनाऽनभिहिते कर्मणि—विशेषकर्मणि, तदभिधानाय द्वितीया प्राप्नोति, गतो ग्राममितिवत् प्रत्ययार्थकर्तृकेण ( प्रत्ययस्यार्थं प्रत्ययार्थं, प्रत्ययार्थं कर्ता यस्य धात्वर्थस्य २४ अध्ययनलक्षणस्य तेनेत्यर्थं ) धात्वर्थेन व्याप्यमानत्वात् । सामान्यस्य विशेषमन्तरेणाऽनवस्थानमित्यर्थप्रदर्शनाय व्याकरणशब्दोपादानमिति वृत्तेरर्थः । इदमत्र तात्पर्यं—यथैव हि “अधीती व्याकरणे” इत्यत्र कर्मणोऽधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात् सप्तमी प्रवर्तते तथा कृतपूर्वी कटमित्यादावपि प्रवर्तते । तस्माद् विवक्षाप्रविभागायेदमारभ्यत इति केनकर्मविषयेऽधिकरणविवक्षा नाऽन्यत्रेति । अध्ययनमधीतं—अविवक्षितकर्मकत्वादिको भावे २७ क्तप्रत्ययः, तत् इष्टादित्वादिन् । एवमितरत्रापि । कर्मणि वा क्त, तत्रापि हि उत्पद्यमानं क्त कर्मसामान्यमाचष्टे न विशिष्टम् । इन्प्रकृतिर्हि क्तान्तोऽनेनेति कर्त्रा प्रत्ययार्थेनेकार्थाभावप्राप्तमानो विशेषेण व्याकरणादिकर्मणा सबन्ध नाऽर्हति । अथर्हत्तत् प्रत्ययो नोत्पद्येत, सापेक्षत्वाद्दामार्थ्यात् समर्थोऽव तद्धितस्य विधानादिति । तस्माद्योऽसौ विशेषकर्मणा क्तान्तं सबन्धमुपगच्छति तस्मादयमिन्प्रकृतिभूतं क्तान्तप्रत्ययार्थोऽत्यन्त-१० स्तलीनतामापाद्यमानो विशेषेण सबन्धगमनाक्षमोऽन्य एवेति । अत एव “अधीतमनेनेत्यादि” इन् उत्पत्तौ विग्रहो न त्वधीतं व्याकरणमनेनेति, तस्मात् प्रागविवक्षितमपि विशिष्टकर्मकर्त्रा पश्चात् सबन्धमुपैतीति सामान्येन व्यवहाराऽसम्भवात् । तदुक्तं—“निर्देशेन सामान्यं भवेच्छब्दविघ्राणवत्” इति । तथैवमप्युक्तं—“तत् क्रियावता कर्त्रा योगो भवति कर्मणः” इति । अधीतं व्याकरणमनेनेत्यादिवाक्यचतुष्टयं तु नेन्निरुत्तर्यर्थं १३ किन्त्वर्थकथनार्थं वृत्तौ दर्शितमिति ॥ १९ ॥

तद्युक्ते हेतौ । गौणात् नाम्नः इति सप्तमीति च वर्तते । तद्युक्ते हेतौ गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयः । हेतुर्निमित्तं—कारणमिति । नानादेशजविनेयाऽनुप्रदार्थं पर्यायकथनम् । हेतुशब्दोपादानात्विह विशिष्टमेव निमित्तमभिप्रेतं न निमित्तमात्रं, अन्यथा ‘तद्युक्ते निमित्ते’ इति कृते १३ दात्रेण धान्यं लुनातीति निमित्तमात्रवाचिनो दात्रादपि स्यात् । न च ‘उपपदविभक्तौ कारकविभक्तिर्वलीयसी’ इति न भविष्यतीति वाच्यम्, यत् कारकश्रुत्या कर्त्तृकरणयोस्त्वृतीयावत् कारकेण कर्मणा सबन्धे विधीयमानत्वादस्या अपि कारकविभक्तित्वम् । सा ह्युपपदविभक्तिर्वत्र कारकगन्धोऽपि नास्ति, यथा—शक्तार्थवपदादिभिर्योगे चतुर्थीति । तस्माद्देतुशब्दाऽभिधेयं विशिष्टमेव निमित्तं यत्क्रियाया प्रयोजनं यदर्थं क्रियाऽऽरम्भो न च १९ दात्रार्थो लवनक्रियेति “हेतुर्कर्त्तृकरणे” इति तृतीया प्राप्नोतीत्याह—हेतुतृतीयेति । चर्मणीत्यादि । अत्र द्वीपिवधे चर्मं निमित्तं—हेतु, चर्मार्थं हन्ता हन्ति, तस्य च कर्मणा साधनेन द्वीपिनमित्यनेन युक्तत्वं योग—संबन्धस्तस्य तन्वर्तते । एव कुञ्जरहननस्य दन्तौ, चमरीहननस्य केशा, पुष्पलकलक्षणवस्तुहननस्य सीमेति । द्विधा गता आपोऽस्मिन्निति “श्रवणं पश्यपोऽत्” ७।३।७६। इत्यति, “ह्यन्तरनवर्णोपसर्गादप ४२ ईप्” ३।२।१०९। इतीपादेशे, मत्वर्थेये इनि—द्वीपी । “मध्यादिभ्यो र” इति रे—कुञ्जरः । क्लिष्टे “क्लिष्ट के च” उणा० ५।३०। इति शे के चाऽऽदेशे—केशः । चमे “ऋच्छिचटि०” उणा० ३।९। इत्यरे जाति द्व्याद्य—चमरी । पुष्प लातीति “आतो षो०” इति षे, अज्ञा-तार्थविषयवाचकं—पुष्पलकः । कर्मसयोगाऽभावे तु तृतीयेवेत्याह—वेतनेनेत्यादि । देवस्येति । अस्त्यत्र पादलक्षणेन कर्मणा देवस्य ४५ सयोगो हेतुत्व तु नास्ति ॥ १०० ॥

### अप्रत्यादावसाधुना ॥ २ । २ । १०१ ॥

असाधुशब्देन युक्ताद् गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ-प्रत्यादिप्रयोगाऽभावे सप्तमी भवति । असाधुमैत्रो मातरि ।  
१ अप्रत्यादाविति किम्?, असाधुमैत्रो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु; मातरमभि ॥ १०१ ॥

### साधुना ॥ २ । २ । १०२ ॥

साधुशब्देन युक्ताद् गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमी भवति । साधुमैत्रो राजनि, साधुर्मातरि । अप्रत्यादावित्येव ?,  
६ साधुमैत्रो राजानं प्रति, राजानं परि, राजानमनु, राजानमभि । उत्तरत्राऽर्चायां विधानात् अनर्चायां तु व्यावृत्तेस्तत्त्वाख्याने  
विधिरयम् । कथं तर्हि साधुर्भृत्यो राज इति ?, भृत्याऽपेक्षाऽत्र पृष्ठी न साध्वपेक्षा, साध्वपेक्षायां तु सप्तम्येव भवति ॥१०२॥

### निपुणेन चाऽर्चयाम् ॥ २ । २ । १०३ ॥

१ निपुणशब्देन साधुशब्देन च युक्ताद् गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमी भवति, अर्चायां गम्यमानायाम् । षष्ठ्य-  
पवादः । मातरि निपुणः, पितरि साधुः । अर्चयामिति किम् ?, निपुणो मैत्रो मातुः, साधुमैत्रः पितुः; मातैवैव निपुणं  
मन्यते पितैव साधुमित्यनर्चायां न भवति । अप्रत्यादावित्येव ?, निपुणो मैत्रो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु, मातर-  
१२ मभि ॥ १०३ ॥

### स्वेशेऽधिना ॥ २ । २ । १०४ ॥

स्व-ईशितव्ये ईशे च स्वामिनि वर्तमानादधिना युक्ताद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति, अधिः-स्वस्वामिसंबन्धं  
१५ धोतयति, तत्र स्वस्वामिवाचिनोर्यद् गौणत्वेन विवक्ष्यते ततो भवति । स्व-अधि मगधेषु श्रेणिकः; अध्यवन्तिषु प्रद्योतः;  
ईशे-अधि श्रेणिके मगधाः, अधि प्रद्योतेऽवन्त्यः; पृष्ठीवाधनार्थो योगः ॥ १०४ ॥

अप्रत्यादावसाधुना । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । असाधुना गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमीत्यन्वयस्त्वदाह-असाधुशब्देन  
१८ युक्तादित्यादि । अप्रत्यादाविति । अप्रत्यादावित्यस्य व्यवस्थावाचित्वात् प्रति परि वानु अभि इत्येत एव अप्रत्यादावित्यनेन प्राप्ता । चतु साधु-  
शब्देन सदाचार उच्यते, आचरण च क्रियाविषयमिति मातृशब्देन तस्या परिचर्यादिक्रिया उच्यते इति मातृपरिचरणादिक्रियाणां सम्यगाचरिता  
मातरि साधुरित्युच्यते, तद्वैपरीत्येनाऽसाधुर्मातरितीति । यदि तु साधुशब्दो भक्तिप्रधाने सकल्पविशेषे वर्तते तद्वैपरीत्ये चाऽसाधुशब्दस्तदा मातुर्वै  
१९ विषयभावसंबन्धात् सिद्धेन सप्तमी नैतदुपयुज्यते इति । यथेवमसाधुमैत्रो मातरितीति भातृविषयस्य साधुत्वस्य निषेधात् प्रथमं मात्रा साधोर्भोगाद-  
न्तरत्वाद्दुत्तरेणैव सिद्धा सप्तमी किमनेन ?, नैवम्, पदान्तरसंबन्धादेकपदवर्तित्वेन नञ्संबन्धस्थान्तरत्वादसमर्पणसमाप्तस्य च नियतविषय-  
त्वादर्थान्तराऽभिधायिना नञ्समासेनैव मातुः संबन्धो युक्तोऽन्तर्गमनमानयेत्यादिवत् इति "साधुना" इत्युत्तरेण न सिध्यतीति वचनम् । नन्वभियोगे  
२० "लक्षणवीक्ष्ये" इत्यनेन प्रत्यादियोगे तु "भागिनि०" इत्यनेन च द्वितीयायां विशेषविधानात् सप्तमी न भविष्यति किमप्रत्यादावित्यनेन ?,  
सत्यम्, असाधुशब्दाभावेऽपि द्वितीया चरितार्था इति प्रत्यादियोगे सप्तमी स्यात् ॥ १०१ ॥

साधुना । गौणात् नाम्नः सप्तमीति अप्रत्यादाविति च वर्तते । साधुना गौणात् नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमीत्यन्वयस्त्वदाह-साधुशब्देने-  
२० त्यादि । सामान्येन विधानेऽप्युपपत्त्या विषयविशेष दर्शयति-उत्तरत्रेत्यादि । पूर्वं त्वर्चोमहणमुत्तरत्र निपुणविशेषणार्थमेव प्रतियन्त- सर्वत्र  
साधुशब्दयोगे सप्तमी प्रतियन्ति । यदुत्पल-एव चाऽर्चोमहण निपुणविशेषणार्थं सपद्यत इति । उद्योतकरोऽपि निपुणविशेषणार्थमेवाऽर्चोमह-  
णस्य चरितार्थत्वादित्युवाच । साधुर्भृत्यो राज इत्यत्रापि तत्त्वाख्यानास्य सद्भावत् साधुयोगे सप्तमी प्राप्नोतीत्याशङ्क्यार्थं । परिहरति-भृत्याऽपे-  
३० क्षेत्यादि । अत्र पराऽभिप्रायेण सप्तमीमाशङ्क्य तत्परिहारार्थं स्वगुरुमतमुपदर्शयत्युच्यते आह-यथाऽत्र भवानस्मदुपाध्यायो व्याकरणरत्नाकर-  
पूर्णचन्द्रमा कैच्यटाल्य सिध्यसाधुमिदमत्रोचत् 'भृत्याऽपेक्षयाऽत्र पृष्ठी कृता न साध्वपेक्षया' । अयमर्थ-योऽयं भृत्यो राज सुसाधुर्युगवानिति ।  
यदा तु साधुनैवाभिमुच्येन संबन्धस्तदा वाढ सप्तम्यैव भवितव्यम्, यथा राजनि साधुरिति ॥ १०२ ॥

३३ निपुणेन चाऽर्चयाम् । गौणात् नाम्नः सप्तमीति अप्रत्यादाविति चकारात् साधुनेति च वर्तते । निपुणेन साधुना च गौणात् नाम्नो-  
ऽप्रत्यादौ सप्तमी, अर्चयामित्यन्वयस्त्वदाह-निपुणशब्देनेत्यादि । मातरि निपुण इति । अत्र मातरि सुष्ठु वर्तत इति, मैत्रादिः प्रशसा  
गम्यत इति तद्योगे मातृशब्दात् सप्तमीति । एव पितरि साधुरित्यप्राऽपि ॥ १०३ ॥

३६ स्वेशेऽधिना । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । स्वेशेऽधिना गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयस्त्वदाह-स्व-ईशितव्ये इत्यादि । अधे-  
रपरिभाषस्वस्वामिसंबन्धयोर्धोतकत्वेऽपि स्वेशे इति वचनान्न स्वस्वामिसंबन्धयोती रथत इत्याह-अधिरित्यादि । संबन्धसोभयनिष्ठत्वे युगप-  
दुभयत्र सप्तमी स्यादित्याशङ्क्यामाह-तत्र स्वस्वामिवाचिनोरित्यादि । सर्वत्र च संबन्धे किंचिदन्यत्वे किंचिदाख्यायते, यत्प्रसिद्धं तदन्यत्वे  
३९ यदप्रसिद्धं तदाख्यायते-विधीयते-ज्ञाप्यते । तत्र यद्विधीयते-तत्प्रधानमितरदप्रधानम् । तत्र यदप्रधानतया विवक्ष्यते तत्र सप्तमी नेतरत्रैत्यु-  
भयत्र पर्यायेण सप्तमी भवति न यौगपथ्येनेति । अधि मगधेषु श्रेणिक इति । मगधानामीश श्रेणिक इत्यर्थं । एवमध्यवन्तिषु प्रद्योत  
इति । अधि श्रेणिके मगधा इति । श्रेणिकस्य ईशितव्या मगधा इत्यर्थं । एवमधि प्रद्योतेऽवन्त्य इति । नन्वत्र क्रमेण परस्परसाधा-  
४२ राऽऽपेक्षयाविवक्षया पर्यायेणाऽप्रधानात् "सप्तम्यधिकरणे" इत्यधिकरण एव सप्तमी भविष्यति किमनेनेति ?, उच्यते-संबन्धविवक्षायां पदमपि  
स्यादित्याह-पृष्ठीवाधनार्थो योग इति । ननु "विभक्तिरसप्तमी०" ३।१।३९। इत्यादिना विभक्त्यर्थं यदव्ययं तद्विभक्त्यन्तेन सह समस्यते स  
चाऽव्ययीभावः, यथा अधिनीति, एवमत्रापि कस्यात् न भवति ?, तथा सति नित्यं समास इति वाक्यं निवर्तते । अथैव सति वचनसिद्धमनर्थकं

उपेनाऽधिकिनि ॥ २ । २ । १०५ ॥

उपेन युक्तादधिकिनि वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति, उपेत्यधिकाऽधिकिसंबन्धं द्योतयति । उप खार्या द्रोणः, द्रोणोऽधिकः खार्या इत्यर्थः । उप निष्के कार्षापणः, कार्षापणोऽधिको निष्कसेत्यर्थः । उपेनेति किम् ? खार्या ३ उपरि द्रोणः । अधिकिनीति किम् ? अधिके मा भूत्, तेनोप द्रोणे खारीति न भवति ॥ १०५ ॥

यद्भावो भावलक्षणम् ॥ २ । २ । १०६ ॥

भावः—क्रिया, प्रसिद्धं लक्षणमप्रसिद्धं लक्ष्यम्; यस्य संबन्धिना भावेन क्रियया भावोऽपरि क्रिया लक्ष्यते, ४ तस्मिन् वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः सप्तमी भवति । गोषु दुह्यमानासु गतः, दुग्धास्वागतः;—अत्र कालतः प्रसिद्धेन गवां दोहेन भावेनाऽन्यस्य गमनमप्रसिद्धं लक्ष्यते, एवं देवाऽर्चनायां क्रियमाणायाम् गतः कृत्यायामागतः । गम्यमानेनाऽपि भावेन भावलक्षणे भवति—आग्नेषु कलायमाग्नेषु गतः, पक्षेषु आगतः; अत्र जातेष्विति गम्यते । गम्यमानमपि हि विभक्तेर्निमित्तं ५ भवति, यथा—वृक्षे शाखा, ग्रामे चैत्रः;—अत्र भवति, वसति चेत्याधारनिमित्तं गम्यते । यत्र क्रियाऽर्हाणां कारकत्वं तद्विपर्ययो वा, यथा—ऋद्धेषु भुज्जानेषु दरिद्रा आसते, ऋद्धेष्व्वासीनेषु दरिद्रा भुज्जते । यत्र क्रियानर्हाणामकारकत्वं तद्विपर्ययो वा, यथा—दरिद्रेष्व्वासीनेषु ऋद्धा भुज्जते, दरिद्रेषु भुज्जानेषु ऋद्धा आसते, तत्राऽपि भावो भावस्य लक्षणं भवतीत्यनेनैव सप्तमी । १२ यद्ग्रहणं प्रकृत्यर्थम् । भाव इति किम् ? यो जटाभिस्तस्य भोजनम् । भावलक्षणमिति किम् ? यस्य भोजनं स मैत्रः । तृतीयाऽपवादो योगः ॥ १०६ ॥

स्यात्, न च "सप्तम्या वा" ३।२।४। इत्यम्भावाभावपक्षे सप्तमीश्रवण फलमिति वाच्यम्, वर्तिपदसप्तमीलोपात्, समाससप्तम्या हि स विकल्प । १५ किं च षष्ठीवाधनाथोऽयं योग इत्युक्तत्वात्, न चाऽप्यव्ययीभावे षष्ठीभावाऽभावयोर्विशेषोऽस्ति । न चाऽत्राऽधिर्विभक्त्यर्थोऽस्ति, क्व तर्हि ? स्वस्वामि-भावे, तस्य च विषयभाव सप्तमी द्योतयति, एतद्विषयमस्य स्वत्व स्वामित्व चेति । अधिस्त्रीत्यादौ त्वान्तर सप्तम्यर्थ एवाऽधेरर्थ । यदा तु सप्त-म्यर्थ एवाऽधिश्चदस्त्वदाऽत्राऽप्यव्ययीभाव एव अच्यवन्ति प्रचोत इति ॥ १०४ ॥ १८

उपेनाऽधिकिनि । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । उपेन अधिकिनि गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयस्तदाह—उपेन युक्तादित्यादि । अधिकिनीति । तत्कर्म कर्ता बोधयमपि भवति । तत्रेहाऽधिकमिति कर्ताऽभिधीयते—यदध्यारोहति, तत "अतोऽनेकखारात्" इतीति—अधिकि-नीति कर्माऽभिधीयते—यदध्यारोहति । तयोर्थे सबन्धोऽध्यारोहणक्रियाजनितस्त्वमुपशब्दो द्योतयतीत्याह—उपेत्यधिकेत्यादि । अधिकसंबन्ध च २१ द्योतयितुं अधिकिनीति मत्वर्थीयेन निर्देशः । द्रोणोऽधिकः खार्या इत्यर्थे इति । उप खार्या द्रोण इत्यत्र खारी विशेषणं द्रोणो विशेष्य इति तयैवार्थाऽभिधानमिदमित्यर्थः । अधिके मा भूदिति । अथारूढवति मा भूदित्यर्थः । तद्भावपर्यमाह—तेन उप द्रोणे खारीति न भव-तीति । अत्राऽप्यधारविवक्षया सप्तमी सिद्धा, अधिकमप्यारूढ हि तत्रोपच्छिन्नं भवति, परं पूर्ववद्विभक्त्यन्तरवाधनार्थं वचनमिति ॥ १०५ ॥ २४

यद्भावो भावलक्षणम् । गौणात् नाम्नः सप्तमीति वर्तते । यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन् गौणात् नाम्नः सप्तमीत्यन्वयः । यद्यपि भाव-क्रियोरन्यत्राऽपरिस्वन्दमानसाधनसाध्यता परिस्वन्दमानसाधनसाध्यता चेति विशेषः प्रतिपादितस्वयापीह यत्तत्संबन्ध सामान्यानुभयरूप तदा-श्रित्य तयोरभेदेनेहाऽश्रयणमिति दर्शयितुमाह—भावः—क्रियेति । उभयत्राऽपि भावशब्द क्रियावचन इत्यर्थः । तत्र यद्भाव इति भाव-२७ शब्देन लक्षणभावोऽभिधीयते, भावलक्षणमिति लक्ष्यभावः, लक्षणस्य लक्ष्याऽपेक्षितत्वात् । अविज्ञातस्वरूपस्य च वस्तुनो हानमुपादानं वा कर्तुं न शक्यत इति तयो स्वरूपमाह—प्रसिद्धमित्यादि । प्रकरणं ज्ञाता या क्रिया सैवेतरस्या अपरिच्छिन्नस्वरूपाया क्रियाया लक्षणं, अन्यथा तां प्रति लक्षणत्वाऽनुपपत्तेः । गोषु दुह्यमानासु गत इति । दुहे कर्मणि आनय, "क्य शिति" इति क्य, "अतो म आने" इति माऽऽगम, ३० गमे 'गच्छति स्म ग्राम' इति गत्यर्थत्वात् कर्तारं क्व । दुग्धास्वित्त्र गोष्विति संबन्धनीयम् । अत्र दोहनक्रियाविशिष्टकालसमाश्रयणेन सर्वलोकैरनुमीयमानतया प्रसिद्धत्वात् मैत्रादिगमनक्रियाया कालतोऽप्रसिद्धाया लक्षणमित्याह—अत्र कालत इत्यादि । लक्षणवत्त्व गो सप्तमी । नन्वाग्नेषु कलायमाग्नेषु गत इति लक्षणभूतक्रियाया अभावात् कथं तद्वत् सप्तमीत्याह—गम्यमानेनाऽपीत्यादि । अत्र जाते- ३३ ष्विति गम्यत इति । जननलक्षणगम्यमाना क्रिया गमनस्य लक्षणमिति न दोषः । गम्यमानं विभक्तिनिमित्तं नेति कश्चिन्मन्यते इति तन्नि-मित्तभाव दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेण द्रवयति—गम्यमानमपि हीत्यादि । अयमर्थः—वृक्षे शाखेत्यादौ गम्यमानक्रियैव कारकविभक्तेर्निमित्तं, क्रियाप्रतिपत्तिमन्तरेण कारकविभक्तेरप्रवृत्तेरिति । अथ ऋद्धेषु भुज्जानेषु दरिद्रा आसते इत्यादौ यत्र क्रियार्हाणां कारकत्वं, क्रियानर्हाणामकार- ३४ कत्वं, तद्विपर्ययो वा गम्यते तत्र कथमित्यं सप्तमी ? अत्र ऋद्धा भुज्जते, दरिद्रा आसते इत्येतावन्मात्रप्रतीतेर्भावयोर्लक्ष्यलक्षणभावाभावादित्या-शङ्क्याऽऽह—यत्र क्रियाऽर्हाणामित्यादि । अनुष्ठानरूपमौचित्यमर्हन्तीति क्रियार्हा । तद्विपर्यय इति । तच्छब्देन कारकत्वं परामृश्यते, क्रिया-र्हाणामपि कुतश्चिन्निमित्तात् कारकत्वविपर्ययो वेत्यर्थः । ऋद्ध्यन्तीति—ऋद्धा, भुज्जानेषु—भुज्जाना । दरिद्रीत्यन्ति—दरिद्रा । अत्र ऋद्धा भुज्जि- ३५ क्रियामर्हन्तीति तेषां भुज्जत इति क्रियार्हाणां कारकत्वम् । ऋद्धेष्व्वासीनेषु दरिद्रा भुज्जत इति । ऋद्धाना भोजनक्रियार्हाणामपि भुक्त्वात् न ते पुनस्तत्रति कर्तृत्वं भजन्त इत्यकारकत्वम् । दरिद्रेष्व्वासीनेषु ऋद्धा भुज्जत इति । दरिद्रा न भोजनर्हा इति तेषां भुज्जत इति क्रिया-नर्हाणामकारकत्वम् । तद्विपर्ययं च दरिद्रेषु भुज्जानेषु ऋद्धा आसते इत्युदाहरणं द्रष्टव्यम् । अत्राऽप्येव लक्ष्यलक्षणभावस्य विवक्षितत्वात्ने- ४२ नैव सप्तमी । यद्ग्रहणं प्रकृत्यर्थमिति । यस्य भावो भावस्य लक्षणं ततो भाववत् सप्तमीभ्यते, यद्ग्रहणमन्तरेण चैतन्न लभ्यते, यद्ग्रहणे तु यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन्निमित्तात् लभ्यत इति प्रकृत्यर्थं यद्ग्रहणम् । यो जटाभिस्तस्य भोजनमित्यत्र जटा भोजनस्य भावस्य लक्षणं न तु भाव इति तत् सप्तमी न भवति । यस्य भोजनं स मैत्र इति । अत्र भोजनेन भावेन मैत्रो द्रव्यं लक्ष्यते न भाव इति यत्सेव्यतो भाववत् सप्तमी ४५ न भवति । तृतीयाऽपवादो योग इति । असति ह्यस्मिन् सूत्रे "हेतुकर्तृकरणेत्यभूतलक्षणे" तृतीया प्राप्ताऽतस्त्वदपवादोऽयमित्यर्थः ॥ १०६ ॥

१ नि कस ० पु० । २ X X ० पु० । ३ ० पराकिं पु० । ४ ० भिन् भाववति व ० पु० । ५ ० भुज्जते पु० । ६ ० यत्र च किं पु० ।

## गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्यं वा ॥ २ । २ । १०७ ॥

कुतश्चिदवधेर्विवक्षितस्याऽध्वनोऽवसानमन्तः, यद्भावो भावलक्षणं तस्याऽध्वनोऽध्ववाचिशब्दस्याऽध्वन एवाऽन्तेनाऽन्तवा-  
३ चिना सहैकार्थ्यं सामानाधिकरण्यं वा भवति, तद्विभक्तिस्तस्माद्भवतीत्यर्थः; गते गम्ये—गतशब्देऽप्रयुज्यमाने इत्यर्थः । गवी-  
धुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि,—चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवतीत्यर्थः; एव लोकमध्यात् लोकान्तमुपर्यधश्च सप्त रज्जुनाम-  
नन्ति, पक्षे—पूर्वेण सप्तमी; गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु, गतेष्विति गम्यते । गत इति किम् ? , दग्धेषु लुप्तेष्विति  
६ वा प्रतीतौ मा भूत् । गम्य इति किम् ? , गतशब्दप्रयोगे मा भूत्—गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवति, अत्रै-  
कार्थ्यं न भवति, सप्तमी तु पूर्वेण नित्यं भवति । अध्वन इति किम् ? , कार्तिक्या आग्रहायणी मासे—अत्राऽयैकार्थ्याभावे  
पूर्वेण नित्यं सप्तमी । अन्तेनेति किम् ? , अद्य नश्चतुर्षु गन्त्युतेषु भोजनम्, भोजनं हि भोक्तृधर्मो नाऽध्वनोऽन्त इति पूर्ववत्  
९ सप्तम्येव । नन्वन्तेन सहाऽध्वनोऽभेदोपचारात् सिद्धमेवैकार्थ्यं किमनेन ? , सत्यम्, कालेऽप्येव मा भूदिति वचनम् ॥ १०७ ॥

## षष्ठी वाऽनादरे ॥ २ । २ । १०८ ॥

यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन् भाववति वर्तमानाद् गौणात् नाम्नोऽनादरे गम्यमाने षष्ठी वा भवति, पक्षे पूर्वेण  
१२ सप्तमी । रुदतो लोकस्य प्राजाजीत्, रुदति लोके प्राजाजीत्; क्रोशतो वन्धुवर्गस्य प्राजाजीत्, क्रोशति वन्धुवर्गं प्राजा-  
जीत्;—रुदन्त क्रोशन्तं वाऽनादृत्य प्राजाजीदित्यर्थः ॥ १०८ ॥

## सप्तमी चाऽविभागे निर्धारणे ॥ २ । २ । १०९ ॥

१५ जातिगुणक्रियादिभिः समुदायादेकदेशस्य बुद्ध्या पृथक्करणं निर्धारणम्, तस्मिन् गम्यमाने गौणात् नाम्नः षष्ठी  
सप्तमी च भवति; अविभागे—निर्धार्यमाणस्यैकदेशस्य समुदायेन सह कथंचिदैक्ये शब्दाद् गम्यमाने । क्षत्रियः पुरुषाणां

गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्यं वा । यद्भावो भावलक्षणमिति वर्तते । यद्भावो भावलक्षणं तस्य अध्वन एव अन्तेन ऐकार्थ्यं वा,  
१८ गते गम्ये इत्यन्वयः । कुतश्चिदिति । गवीधुमदादे । अवधेरिति । व्यवस्थाया । विवक्षितस्त्येति । इयत्तापरिच्छेदाशोपात्तसेत्यर्थः, यदि-  
त्यभूत् एवाऽध्या अन्तेनैकार्थ्यमनुभवति । यद्भाव इति । यस्याऽध्वनश्चतुर्षुयोजनरूपस्य भावेन गमनरूपेणाऽपरो भावः साकाश्यभवनरूपो लक्ष्यते  
इति तस्येत्यर्थः इति सूत्रार्थमाह—तस्येति । यच्छब्दोद्दिष्ट प्रतिनिर्दिश्यते । ऐकार्थ्यमिति विधेयकथनम् । एकोऽयं द्रव्यमनेकमेदाधिष्ठानं यस्य  
२१ स एकार्थस्त्वद्भाव ऐकार्थ्यं, तदाह—सामानाधिकरण्यमिति । एव चैतद्विज्ञायत इत्याह—तद्विभक्तिरित्यादि । अन्यैकविभक्तिमन्तरेण  
सामानाधिकरण्यं न घटेत् इति भावः । गवीधुमतः साकाश्यं चत्वारि योजनानि । गवीधुमन्नाम नगरं, तत आरभ्य साकाश्यं चतु-  
र्भिर्योजने प्राप्यत इत्यर्थः । गवीधुमच्छब्दोऽप्युत्पन्नः । सकाशाद्भावात् “सुपन्ध्यादेर्ष्य” ६।१।८।४ इति ष्ये—साकाश्यं । युजे कप्येऽनटि-  
२४ योजनं । गतेषु—अतिक्रान्तेषु, भवतीत्यर्थः इत्यनेन लक्षणमुदाहरणाय योजयति । एव लोकमध्यादित्यादावपि सप्तसु रज्जुषु गतासु लोकान्त-  
मामनन्तीति पक्षे सप्तमी द्रष्टव्या । गम्यत इति । न प्रयुज्यत इत्यर्थः । दग्धेषु लुप्तेष्विति वेल्यनेन भाषान्तरप्रदर्शनेन गतशब्दाभाव दर्श-  
यति । प्रतीतामिति । प्रकरणादेरिति शेषः । गवीधुमतः साकाश्यं चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवतीति । अत्र गतेष्विति प्रयुज्यमानं न  
२७ गम्य, गम्यं हि प्रतीयमानार्थमप्रयुज्यमानमुच्यते इति गम्य इति वचनादिह न भवति । पूर्वेणेति । यद्भावो भावलक्षणमित्यनेनेत्यर्थः ।  
कार्तिक्या आग्रहायणी मास इति । अत्र मासे गते इति गतं गम्यमस्ति, पर मास कालो नाऽध्वेति तस्याऽन्तेनाऽऽग्रहायण्या ऐकार्थ्यं न  
३० सप्तम्येव भवतीत्याह—भोजनं हीत्यादि । नन्वन्तेनेति । अध्वाऽन्तयोऽभेदोपचारादेवैकार्थ्यं सिद्धं किं तत्र वचनेनेत्याक्षेपायं । परिहरति—सत्य-  
मित्यादिना । अभेदोपचारे हि कालेऽपि स्यात्, अध्वनोऽन्यत्र काले एवमुपचारात् मा भूदध्वन्येव यथा स्यादित्येवमर्थमिदं वचनमित्यर्थः ॥ १०७ ॥

षष्ठी वाऽनादरे । यद्भावो भावलक्षणमिति वर्तते गौणात् नाम्न इति च । यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन् गौणात् नाम्नोऽनादरे षष्ठी वेल-

३३ न्वयस्तदाह—यद्भाव इत्यादि । वा शब्द पक्षे सप्तमीप्राप्त्यर्थं इत्याह—पक्षे पूर्वेण सप्तमीति । वाशब्दमन्तरेणाऽनादरे षष्ठाऽपवादात्तया  
सप्तमी वाच्यते । ननु “यद्भावो” इति भावलक्षणं सामान्ये सप्तमी, तत्राऽनादरे इति विशेषे षष्ठी, सप्तम्यामनादरप्रतीतिरर्थप्रकरणदेरित्यर्थ-  
भेदाच्च वाध्यावाधकभावोऽस्तीति किं पक्षे सप्तम्यर्थेन वाशब्देनेति ? , उच्यते—यथाऽनादरादन्यत्र साम्यतः सप्तम्यस्ति, एव “क्षेपे” इत्यनेन  
३६ पक्ष्यपि, तत्रोभयत्रापि प्रव्रजन् रुदतापि लोकेन निचर्त्मानस्त्रोदनमनाहृत्य प्राजाजीदित्यनादरं प्रकरणादे प्रतीयत इति सामान्येऽपि षष्ठी  
सप्तमी वाधेतेति पक्षे तदर्थं वा वचनमिति । प्राजाजीदिति । “नृज”गतावित्यतोऽद्यतन्यादि, “सिञ्जयतन्याम्” इति सिञ्, “स सिञ्जतेर्दिस्यो”  
४।३।६५। इतीत्, “स्तायशितो” इतीत्, “वदन्नजल ” इति वृद्धि, “इत् इति” इति सिचो लृक्, “अद् घातो” इत्यङ्गागम ॥ १०८ ॥

३९ सप्तमी चाऽविभागे निर्धारणे । चकारात् षष्ठीति गौणात् नाम्न इति च वर्तते । निर्धारणे गौणात् नाम्न षष्ठी सप्तमी च अविभागे  
इत्यन्वयः । निरपूर्वात् धारयतेर्भावेऽनटि—निर्धारणं, तच्च समुदायमात्रापक्षस्यैकदेशस्य केनचिद्धर्मेण पृथक्करणं, धर्मश्च जाल्यादिरित्याह—जाति-  
गुणेत्यादि । निरपूर्वाद्भजेर्भावे षष्ठी—विभागे भेदस्तत्प्रतिषेधोऽविभाग—केनचिद्धर्मेण ऐक्यम्, तच्च सामर्थ्यात् निर्धार्यमाणस्य समुदायेन सह-  
४२ त्याह—निर्धार्यमाणेत्यादि । क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुषेषु वेत्यादि । अत्र क्षत्रियत्वशालित्वजाल्या कृष्णत्वगुणेन धावनक्रियया आदि-  
शब्दात् शुभिक्षिरप्रभृतिस्त्रया च निर्धारणं द्रष्टव्यम् । ननु निर्धार्यमाणस्याऽवयवस्य समुदायाभ्यन्तरत्वात् समुदायस्य चाधिकरणविवक्षार्थां वृद्धे-  
शास्त्रेतिवत् सप्तम्या सिद्धत्वात् सप्तम्यविवक्षायां त्ववयवस्य वृक्षस्य शास्त्रेतिवत् षष्ठा अपि सिद्धत्वात् किमनेनेति ? , नैव, विभागे प्रतिषेधार्थ-



पुरुषेषु वा शूरतमः, शालयः शूकधान्यानां शूकधान्येषु वा पथ्यतमाः, कृष्णा गवां गोषु वा संपन्नक्षीरतमा, धावन्तो गच्छतां गच्छत्सु वा शीघ्रतमाः; युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणां कुरुषु वा । अविभाग इति किम् ? माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः, पञ्चालाः कुरुभ्यः संपन्नतराः, मैत्रश्वैत्रात् पट्टः, अयमस्मादधिकः,—अत्र हि शब्दात् भेद एव प्रतीयते, न तु कर्चिद्वैक्यमिति न भवति । पञ्चमीवाधनार्थं वचनम्, अन्ये तु पञ्चमीमपीच्छन्ति गोभ्यः कृष्णा संपन्नक्षीरतमा ॥१०९॥

### क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च ॥ २ । २ । ११० ॥

क्रिययोर्मध्ये योऽध्वा कालश्च तस्मिन् वर्तमानाद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी, चकारात् सप्तमी च भवति । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशात् लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे वा लक्ष्यं विध्यति,—इह धानुष्काऽवस्थानमिषुमोक्षो वैका क्रिया लक्ष्यव्यधश्च द्वितीया तन्मध्ये क्रोशोऽध्वा; अद्य भुक्त्वा मुनिर्द्वाहात् भोक्ता, द्वाहे वा भोक्ता,—अत्र द्वयोर्भुक्तिक्रिययोर्मध्ये द्वाहः कालः । ननु च क्रोशे स्थितं लक्ष्यं विध्यति, द्वाहे पूर्णं भुङ्क्ते इत्यधिकरण एव सप्तमी, क्रोशात् निःसृत्य स्थित लक्ष्यं विध्यति, द्वाहमतिक्रम्याऽर्जुं भुङ्क्ते इत्यपादाने “गम्ययपः कर्माऽऽधारे” ॥२।२।७४ ॥ इति पञ्चमी सिद्धैव, सत्यम्; यदा त्वस्यैव क्रियाकारकसंबन्धस्य फलभूता शेषसंबन्धलक्षणोत्तरावस्था विवक्ष्यते, यथा—द्विरहो भुङ्क्ते, योजनस्य शृणोतीति तदाऽपि क्रियामध्ये षष्ठी मा भूदिति वचनम् ॥ ११० ॥

### अधिकेन भूयसस्ते ॥ २ । २ । १११ ॥

अधिरूढ इत्यर्थेऽधिकशब्दो निपात्यते, अधिरूढ इति कर्तरि कर्मणि च क्तो भवति, तत्र यदा कर्तरि तदाऽधिक इत्येनेनाऽल्पीयानुच्यते; यदा तु कर्मणि तदा भूयान्, तत्र सामर्थ्यादल्पीयो वाचिनाऽधिकशब्देन युक्ताद् भूयसो भूयो-वाचिनो गौणात् नाम्नस्ते सप्तमीपञ्चम्यौ भवतः । अधिको द्रोणः खार्याम्, अधिको द्रोणः खार्याः ॥ १११ ॥

त्वाद्येत्याह—अविभाग इति किमिति । अयमभिप्राय—सर्वत्रैव निर्धारणस्य विभागरूपत्वेनाऽविभागपूर्वकत्वात् सूत्रस्य निर्विषयत्वात् अविभागग्रहणसामर्थ्यादवधारण समाश्रयते—अविभागो यत्र शब्दत एव प्रतीयते, तत्र निर्धारणे सप्तमीपञ्चाविति । गोषु कृष्णत्वेन निर्धाय-माणस्याऽवयवस्य गोत्वेनाऽन्तर्भूतत्वात् गोषु कृष्णेत्यादावेव सप्तमी षष्ठी च युज्यते, इह तु माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इति न केनचित् प्रकारेण माथुराणां पाटलिपुत्रकेभ्यविभागो न हि पाटलिपुत्रका माथुरा नाप्याढ्यतरा इति वाक्याद् भेद एव प्रतीयत इत्याह—अत्र हि शब्दादित्यादि । गवां कृष्णेत्यादौ तु विभज्यमाना गौर्गोत्वेन समुदायादविभक्ता काष्ण्येन तु विभक्ता, तस्माद् विभज्यमानस्यैकदेशस्य विभागा-ऽऽध्रयस्य च समुदायस्य यत्र विभागाऽविभागौ स एवाऽनयोर्विषय । यत्र तु तयोर्विभाग एव न कथंविद्वैक्यं तत्र पञ्चम्येव भवति, अत एवाऽऽह—पञ्चमीवाधनार्थमिति । अयमर्थः—निर्धारणस्य विभागरूपत्वात् यस्य हि यतो विभागस्तस्य तदपेक्षयाऽवधिरूपत्वात् अपादानत्वात् पञ्चम्या प्राप्ताया यत्राऽविभागोऽपि तत्र तदपवादो योग इत्यर्थः । यद्येव सर्वथा समुदायभावानापने निर्धारणमेव न युज्यते, समुदायाद्धि एकदेशस्य पृथ-करण निर्धारणमित्युक्तत्वात्, सत्यमेतत्, बुद्ध्या हि केनचिद्धर्मेण कल्पितेन माथुरा पाटलिपुत्रकाश्च समुदायभावमापद्यन्त इति सिध्यति निर्धारणमित्यदोष । अन्य इति । अभयनन्वाचार्या ॥ १०९ ॥

क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च । गौणात् नाम्न इति चकारात् सप्तमीति च वर्तते । क्रियामध्ये अध्वकाले गौणात् नाम्न पञ्चमी सप्तमी चेत्यन्वयः । क्रियाया मध्य क्रियामध्यमिति षष्ठीतत्पुरुष, न च विग्रहवाक्यार्थप्रतिपादने य शक्त स समर्थ इति समासे च द्वित्वार्थाऽनवगतेरसामर्थ्यात् समासामाव इति वाच्यम्, मध्यस्य द्वित्वत्वात् क्रियार्थगतस्य द्वित्वस्याऽवगमादित्याह—क्रिययोर्मध्य इति । इह धानुष्कावस्थानमित्यादिना उदाहृतोदाहरणे लक्षणं योजयति । नन्विष्वास इति धनुश्च्यते, यथाऽश्वराजो महेश्वास इति । धनुश्च व्यधने करणं कर्ता तु मैत्रादिसत्कथमुक्तमिष्वासो विध्यतीति ? उच्यते—इष्वास इति क्रियाशब्दोऽयम्, इधूनस्यति—क्षिपति इति मैत्रादिरैवोच्यते । रुढिशब्दत्वेऽपि करणस्य स्वातन्त्र्यविवक्षार्था इष्वासो विध्यतीत्युपपद्यत एव । इहस्थोऽयमिष्वास इति प्रत्येक प्रतिपत्त्य, वाक्यभेदात् । ननु चेहस्थोऽयमिष्वास इत्यादि क्रियाभेदात् युक्तमुदाहरणं, इदं त्वयुक्तं, अद्य भुक्त्वा मुनिर्द्वाहाद्भोकेति, मुजिक्रियाया एकत्वात्, सत्यम्, मुजिक्रियाया एकस्या अपि कालभेदाद् भेदस्य सिद्धत्वादाधारोऽपि तस्या भिद्यते इत्याह—अत्र द्वयोरित्यादि । ननु चेति । क्रियामध्यव्यवस्थितस्याऽध्वनोऽधिकरणत्वात् सप्तमी सिद्धा, क्रोशैकदेशस्याऽधिकरणत्वात् क्रोशोऽप्यधिकरणत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् । एव कालादपि द्वाहे पूर्णं यदुपश्लिष्टमहस्त्वत्र भोक्तृत्वार्थावसायादौपश्लेषिकी सप्तमी सिद्धा । पञ्चमी त्वध्वनोऽपादानत्वात् क्रोशाभिर्गच्छद्भिः शरैर्लक्ष्यं विध्यतीत्यर्थाऽवगमात् । कालान्तु “गम्ययप ०” इति द्वाहमतिक्रम्य भोक्तृत्वप्रतीति किमर्थोऽयं योग इत्याक्षेपार्थः । यद्यपि शरनिर्गमनस्य धनुःपादानं न क्रोशस्तथापि क्रोशस्थमेव धनुःत्र क्रोशशब्देनाऽभिधीयते, यथा “मन्त्रा क्रोशन्ति” इति मन्त्रस्या पुरुषा मन्त्रशब्देनेति । परिहरति—सत्यमित्यादिना । अस्यैवेति । अपादानस्याऽऽधारस्य वेत्यर्थः । फलभूतेति । क्रियाकारकसंबन्धो हि कटं करोतीत्यादावप्यस्ति, तद्व्यवच्छिन्नस्यै शेषसंबन्धलक्षणा फलभूता—कार्यभूतोत्तरावस्था इत्युक्तम् । अयमर्थः—यदा भोजनध्वन्यादौ कालाऽध्वनो क्रियाकारकजन्य शेषसंबन्धत्वमेव केवलं विवक्ष्यते न त्वपादानाऽधिकरणत्वे तदा ताभ्या पञ्चमेव स्यादिति सूत्रारंभः । किं न यदा द्वाहक्रोशशब्दौ द्वाहक्रोशविषयावेव न तदेकदेशविषयो तदानाऽपायो नाप्याधारतेति षष्ठी प्राप्नोति । क्रोश बाहयित्वा विध्यति, द्वाह बाहयित्वा भोकेति वा प्रतीतिद्वितीया प्राप्नोति तद्वाधनार्थोऽयं योग आरभ्यते । इतौ तु षष्ठी मा भूदिति षष्ठीग्रहणमुपलक्षणार्थं, तेन द्वितीयाऽपि मा भूदित्यर्थं सिद्धो भवति ॥ ११० ॥

अधिकेन भूयसस्ते । गौणात् नाम्न इति वर्तते । अधिकेन भूयसो गौणात् नाम्नस्ते इत्यन्वयः । तत्र यदेति । अध्वारोऽस्तीति शेषः । भूयस इत्युपादानादधिकशब्देनाऽल्पीयानेवोच्यते इत्याह—तत्र सामर्थ्यादित्यादि । अधिको द्रोणः खार्यामिति । अत्राऽधिकाऽधिकसंबन्धस्य विद्यमानत्वात् खारीशब्दात् “शेषे” इत्यनेन षष्ठी प्राप्नोति, तथा अधिकशब्दस्य कर्तृसाधनाऽप्यारूढार्थत्वात् “कर्मणि” इति द्वितीया च, अतस्त्वयोर्धाधिके सप्तमीपञ्चम्यावनेन विधीयते ॥ १११ ॥

### तृतीयाऽल्पीयसः ॥ २ । २ । ११२ ॥

अधिकशब्देन सामर्थ्याद् भूयोवाचिना युक्तादल्पीयो वाचकाद् गौणात् नाम्नस्तृतीया भवति । अधिका खारी द्रोणेन ॥ ११२ ॥

### पृथग्नाना पञ्चमी च ॥ २ । २ । ११३ ॥

पृथग्नानाशब्दाभ्यां युक्ताद् गौणात् नाम्नः पञ्चमी तृतीया च भवति । पृथग् मैत्रात्, पृथग् मैत्रेण; नाना चैत्रात्, नाना चैत्रेण । यदा पृथग्नानाशब्दावन्यार्थौ तदा प्रभृत्यादिसूत्रेण पञ्चमी सिद्धैव तृतीयैवाऽनेन विधीयते, यदा त्वसहायार्थौ तदा पञ्चमीविधानार्थमपीदम् । अन्ये तु द्वितीयामपीच्छन्ति ॥ ११३ ॥

### ऋते द्वितीया च ॥ २ । २ । ११४ ॥

१ ऋते इत्येतदव्ययं वर्जनार्थम्, तेन युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीया पञ्चमी च भवति । चित्रं यथाश्रयसृते, न ह्यङ्गं विक्रियते रागसृते, ऋते धर्मात् कुतः सुखम् । द्वितीयां नेच्छन्त्येके ॥ ११४ ॥

### विना ते तृतीया च ॥ २ । २ । ११५ ॥

१२ विनाशब्देन युक्ताद् गौणात् नाम्नस्ते द्वितीयापञ्चम्यौ तृतीया च भवति । विना वातम्, विना वर्षम्, न विना शब्दभावनाम्, याञ्जां विना विद्धि; विना वातात्, विना वातेन । द्वितीयां नेच्छन्त्येके ॥ ११५ ॥

### तुल्यार्थैस्तृतीयाषष्ठ्यौ ॥ २ । २ । ११६ ॥

१५ तुल्यार्थैर्युक्ताद् गौणात् नाम्नस्तृतीयाषष्ठ्यौ भवतः । मात्रा तुल्यः, मातुस्तुल्यः; पित्रा समानः, पितुः समानः; गुरुणा समः, गुरोः समः; चैत्रेण सदृशः, चैत्रस्य सदृशः । अर्थग्रहणं पर्यायार्थम् । उपमा नास्ति कृष्णस्य, तुला नास्ति सनत्कुमारस्येत्यादौ उपमादयो न तुल्यार्था इति न भवति । गौणाधिकाराच्च गौरिव गवयः, यथा गौस्तथा गवय इत्यादौ १८ न भवति । तृतीयामविकल्प्य षष्ठीविधानं सप्तमीवाधनार्थम्, तेन—गवां तुल्यः स्वामी, गोभिस्तुल्यः स्वामीत्यत्र “स्वामीश्वरा०” इत्यादिना सप्तमी न भवति ॥ ११६ ॥

तृतीयाऽल्पीयसः । अधिकेनेति गौणात् नाम्न इति च वर्तते । अधिकेन अल्पीयसो गौणात् नाम्नस्तृतीयेत्यन्वयः । अल्पीयस इत्यु-  
२१ पादानात् कर्मसाधनो भूयोऽर्थोऽधिकशब्द प्रतिपत्तव्य इत्याह—सामर्थ्याद् भूयोवाचिनेति । अधिका खारी द्रोणेनेति । भूयोवाचि-  
नाऽधिकशब्देन युक्तादल्पीयोवाचकाद् गौणात् नाम्नो द्रोणात् तृतीयेति ॥ ११२ ॥

पृथग्नाना पञ्चमी च । गौणात् नाम्न इति चकारात् तृतीयेति च वर्तते । पृथग्नाना गौणात् नाम्न पञ्चमी तृतीया चेत्यन्वयः ।  
२४ पृथग्नानेति तृतीयान्तमित्याह—पृथग्नानाशब्दाभ्यां युक्तादिति । तृतीयैवाऽनेन भवतीति, पञ्चमी तु सिद्धैव परत्वाद् विशेषविहित-  
त्वाच्च तृतीया न बाधते तामित्यनुवृत्ते इत्यर्थः । यदा त्विति । विशेषाऽऽनुपादानादुभयार्थयोरपि पृथग्नानाशब्दयोर्ग्रहणादसहायार्थपक्षे  
पञ्चमी न सिध्यतीति तद्विधानार्थमपीदमुपपद्यत एवेति ॥ ११३ ॥

२७ ऋते द्वितीया च । गौणात् नाम्न इति चकारात् पञ्चमीति च वर्तते । ऋते गौणात् नाम्नो द्वितीया पञ्चमी चेत्यन्वयः । ऋते इत्य-  
तोऽव्ययाद् वर्जनार्थादनुकार्याऽनुकरणयोरभेदविवक्षितत्वात् “अव्ययस्य” इति युक्त्वाऽपेक्षयोलक्ष्यस्य तृतीयैकवचनस्य ह्यवित्याह—ऋते इत्यादि ।  
चकारेणाऽनन्तरोक्ता पञ्चमी समुचीयते इत्याह—द्वितीया पञ्चमी चेति । यद्यपि प्राणिन्यादिभिर्ऋतेशब्देन योगे द्वितीया नोक्ता तथापि शिष्टैः  
३० प्रयुज्यत इति शिष्टप्रयोगमेवोदाहरति—चित्रं यथाश्रयसृते इत्यादि । द्वितीया नेच्छन्त्येके इति । एक इति प्राणिन्यादयः, तेषामपि मते  
'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति व्याख्याकारवचनाद् द्वितीया सिध्यति ॥ ११४ ॥

विना ते तृतीया च । गौणात् नाम्न इति वर्तते । विना गौणात् नाम्नस्ते तृतीया चेत्यन्वयः । विनेत्यपि तृतीयान्तमेवा-  
३३ ऽव्ययमित्याह—विनाशब्देनेति । तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वात्ते इत्यनेनाऽनन्तरोक्ते द्वितीयापञ्चम्यौ परामृश्येते इत्याह—ते-द्विती-  
यापञ्चम्याविति ॥ ११५ ॥

तुल्यार्थैस्तृतीया षष्ठ्यौ । गौणात् नाम्न इति वर्तते । तुल्यार्थैर्गौणात् नाम्नस्तृतीयाषष्ठ्यावित्यन्वयः । तुल्यार्थैर्युक्तादिति । तुल्य-  
३६ सदृशोऽर्थोऽभिधेयो येषां ते तुल्यार्थास्तेर्युक्तादिति तुल्यशब्दस्योपमेयार्थत्वात्तैर्युक्तादुपमानादित्यर्थः । अर्थग्रहणं पर्यायार्थमिति । तुल्यशब्दा-  
र्थोभिधासिन शब्दान्तरस्यापि परिग्रहार्थमित्यर्थः । असत्यर्थग्रहणे तुल्यशब्देन रूपतोऽर्थतो वा समाने शब्दैर्योग इति विज्ञायेत, अर्थग्रहणे तु  
प्रत्यासत्तेस्वरपर्याया विज्ञायन्त इति इहोपमा नास्ति कृष्णस्येत्यादौ सादृश्यप्रतीतेरुपमादयः शब्दास्तुल्यार्था इति तद्युक्तात् कृष्णादेस्तृतीया  
३९ स्यादिति यः कश्चिदाशङ्कते त प्रत्याह—उपमा नास्तीत्यादि । तुल्यशब्दस्योपमेयवचनत्वादुपमादयस्तुल्यपर्याया न भवन्तीत्यर्थः । गौणाधि-  
काराच्चेति । गौरिव गवय इत्यादौ प्रधानाद् गोशब्दात् न भवतीत्यर्थः । तुल्यार्थताऽपि नास्तीति चकारेण परिहारान्तरं समुचीयत इति  
शेषः । नन्वनन्तरात् पूर्वसूत्रात् तृतीयाऽनुवर्तते, तत् ‘तुल्यार्थैर्’ इति तद्विकल्पे कृते “ज्ञेये” इत्यनेन पक्षे श्लेषलक्षणा षष्ठी सिद्धैव किमर्थं  
४२ तद्विधानमित्याह—तृतीयामविकल्प्येत्यादि । षष्ठीविधानस्य फल दर्शयति—तेनेत्यादि ॥ ११६ ॥

**द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनाऽनञ्चैः ॥ २ । २ । ११७ ॥**

एनप्रत्ययान्तेन युक्ताद् गौणात् नाम्नो द्वितीयाषष्ठ्यौ विभक्ती भवतः, न चेत् सोऽञ्चैः परो विहितो भवति । पूर्वेण ग्रामम्, पूर्वेण ग्रामस्य; अपरेण ग्रामम्, अपरेण ग्रामस्य, दक्षिणेन विजयार्द्धम्, दक्षिणेन विजयार्द्धस्य; उत्तरेण हिम- ३ वन्तम्, उत्तरेण हिमवतः । अनञ्चैरिति किम् ? प्राग्ग्रामात्, प्रत्यग्ग्रामात्; उदग्ग्रामात् ॥ ११७ ॥

**हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ॥ २ । २ । ११८ ॥**

हेतुर्निमित्तं—कारणमिति पर्यायाः, एतदर्थैः शब्दैर्युक्तात् प्रत्यासत्तैरेव समानाधिकरणात् गौणाद् नाम्नस्तृतीया- ६ द्यास्तृतीयाचतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तम्यो भवन्ति । धनेन हेतुना वसति, धनाय हेतवे वसति, धनाद् हेतोर्वसति, धनस्य हेतोर्वसति, धने हेतौ वसति; एव धनेन निमित्तेन, धनेन कारणेन, धनेनाऽपदेशेन; धनेन प्रयोजनेनेत्यादयोऽपि । तत्सामानाधिकरण्याच्च हेत्वर्थैभ्योऽपि ता एव भवन्ति । प्रत्यासत्तैरेव समानाधिकरणादिति किम् ?, अत्रस्य हेतुः । अन्ये तु हेत्व- ९ र्थशब्दयोगे नेच्छन्ति—हेतुशब्दप्रयोगे तु षष्ठीभेवेच्छन्ति । असर्वाद्यर्थमिदम् ॥ ११८ ॥

**सर्वादेः सर्वाः ॥ २ । २ । ११९ ॥**

हेत्वर्थैर्युक्तात् प्रत्यासत्तैस्तत् समानाधिकरणात् सर्वादेर्गौणात् नाम्नः सर्वा विभक्तयो भवन्ति । को हेतुर्वसति चैत्रः, १२ कं हेतुं वसति, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद् हेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ, एवं यो हेतुः, यं हेतुम्, येन हेतुना, यस्मै हेतवे, यस्माद् हेतोः, यस्य हेतोः, यस्मिन् हेतौ; स हेतुः, तं हेतुम्, तेन हेतुना, तस्मै हेतवे, तस्माद् हेतोः, तस्य हेतोः, तस्मिन् हेतौ; सर्वा हेतुः, सर्वं हेतुम्, भवान् हेतुः, भवन्त हेतुम्, भवता हेतुना; उभौ हेतू, उभाम्यां हेतुभ्याम् १५ इत्यादि; एवं किं कारणं?, किं निमित्तं?; किं प्रयोजनमित्यादि । तत्समानाधिकरणादित्येव?, कस्य हेतुः । प्रथमां नेच्छन्त्येके । द्वितीयामपरे ॥ ११९ ॥

**असत्त्वारादर्थात् टाडसिद्धयम् ॥ २ । २ । १२० ॥**

सत्त्वं—द्रव्यं ततोऽन्यदसत्त्वम्, आराद्—दूराऽन्तिकयोः, तन्नेपोभयोर्ग्रहणम्, असत्त्ववाचिनो दूरार्थादन्तिकार्थाच्च टा ६ ङसि ङि अम् इत्येते प्रत्यया भवन्ति, गौणादिति निवृत्तम् । (दूरार्थः—)दूरेण ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूराद् ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूरे ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूर ग्रामस्य ग्रामाद् वा वसति; एव विप्रकृष्टेन, विप्रकृष्टात्, विप्रकृष्टे, विप्रकृष्टं ग्रामस्य २१ ग्रामाद् वा तिष्ठति; अन्तिकार्थः—अन्तिकेन, अन्तिकात्, अन्तिके, अन्तिक ग्रामस्य ग्रामाद् वा वसति; एवमभ्याशेन, अभ्याशात्, अभ्याशे, अभ्याशं ग्रामस्य ग्रामाद् वा । केचिदारार्थैः पञ्चम्यन्तैर्युक्तात् पञ्चमीं नेच्छन्ति, तेन—दूराद् ग्रामस्य, अन्तिकाद् ग्रामस्येत्येव भवति, न तत्सर्वसमतम्; पञ्चम्या अपि दर्शनात्—“दूरादावसथात् मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् । २४ दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपिताद् गुरोः” ॥ १ ॥ इति । असत्त्वेति किम्?, दूरः पन्थाः, अन्तिकः पन्थाः, दूराय पथे देहि, अन्तिकाय पथे देहि, दूरस्य पथः, अन्तिकस्य पथः स्वम् । कथं चिरं?, चिरेण?, चिराय?, चिरात्?, चिरस्येति?; विभक्तिप्रतिरूपका निपाता एते, यथा—परस्परम्, परस्परेण, परस्परस्येत्यादयः ॥ १२० ॥ २७

द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनाऽनञ्चैः । गौणात् नाम्न इति वर्तते । एनेन गौणात् नाम्नो द्वितीयाषष्ठ्यां, अनञ्चैरित्यन्वय । पूर्वेण ग्राममिति । ग्रामाद्दूरा पूर्वा इति “अदूरे एन ” ७।२।१२२। इति एन प्रत्यय । प्राग्ग्रामादिति । छबञ्चै ” ७।२।१२३। इति एनप्रत्ययस्य छप्, अनञ्चैरिति प्रतिषेधात् द्वितीयाषष्ठ्योरभावात् “प्रभृत्सन्ध्यार्थे” इति ग्रामात् पञ्चमी ॥ ११७ ॥ २०

हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः । गौणात् नाम्न इति वर्तते । हेत्वर्थैर्गौणात् नाम्नस्तृतीयाद्या इत्यन्वय । प्रत्यासत्तैरेव समानाधिकरणादिति । हेत्वर्थैस्तु व्यधिकरणाद् हेतुसमन्धे षष्ठ्येवाऽस्ति न तृतीयाद्या इति सामर्थ्याद् हेत्वर्थै समानाधिकरणाद् हेतोरेव तृतीयाद्या भवन्तीति । अत्र च हेतोस्तृतीयाद्या “ऋणोद्देशे”, “गुणादस्त्रिया नवा” इति पञ्चम्यां प्राप्तायामय विधिरारभ्यत इति । ननु ततोऽप्युत्तरसूत्रेण सर्वा ३३ विभक्तय इति सर्वविभक्त्यन्तर्गतत्वात् तृतीयाद्या अपि सिद्धा किमर्थमिदमित्याह—असर्वाद्यर्थमिदमिति । उत्तरसूत्रेण हि हेत्वर्थैर्युक्तात् सर्वादेरेव सर्वा विभक्तय उच्यन्ते, अनेन त्वसर्वादेरेवेत्यर्थ ॥ ११८ ॥

सर्वादेः सर्वाः । हेत्वर्थैरिति वर्तते गौणात् नाम्न इति च । हेत्वर्थै सर्वादेर्गौणात् नाम्न सर्वा इत्यन्वय । शेष पूर्वेण गताथमिति । ३४ एके इति, अपरे इति च वार्तिक्याख्यातात् ॥ ११९ ॥

असत्त्वारादर्थात् टाडसिद्धयम् । स्पष्टोऽन्वय । गौणादिति निवृत्तमिति । अयमर्थ—असत्त्ववचनाद् दूरान्तिकार्थात् टादीनां विधानात् तस्य च यथास्य प्रधानतया गौणत्वाऽभावात् प्रधानादेव तत्तद्यदय इति । दूरेण ग्रामस्य ग्रामाद्देति । इददिति सर्वनामप्रत्ययमर्शयो- ३५ म्यार्थाऽभिधायकत्वेऽप्येतेषां धर्ममात्रेण प्रयोगादसत्त्वरूपार्थाऽभिधायकत्व न विरुध्यते, चतसृणां विभक्त्यानां तृतीयापञ्चमीसप्तमीद्वितीयानां विधानात् तद्व्यतिरिक्ता प्रथमाचतुर्थीषष्ठ्ये स्त्रे स्त्रे विषये एताभिरवाधनात् प्रवर्तन्त इति । ग्रामस्य ग्रामादेति “आरादर्थे” इति विकल्पेन पञ्चमी, तद्वि- सुफपक्षे च “क्षेपे” इति षष्ठी । केचिदारार्थैरित्यादिना मतान्तरमुच्यन्त्यस्य दूरादावसथात् मूत्रमित्यादिना शिष्टप्रयुक्तोदाहरणप्रदर्शनेन ४२ पृष्यति । दूरः पन्था इति । अत्र सत्त्ववाचित्वाद् दूरान्तिकार्थादपि टादयो न भवन्ति, किन्तु यथाशास्त्र प्रथमादय इति । कथमिति । चिर-

## जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत् ॥ २ । २ । १२१ ॥

जातेरेकत्वादेकवचन एव प्राप्ते, पक्षे—बहुवचनार्थं बहुवद् भाव उच्यते, जातेराख्याऽभिधानं जात्याख्या; तस्यामेकोऽर्थो  
 १ जातिलक्षणोऽसंख्यः सख्यावाचिविशेषणरहितो बहुवद् वा भवति । सपन्नो यवः, सपन्ना यवाः, संपन्नो व्रीहिः, संपन्ना  
 व्रीहयः; जात्यर्थस्य बहुवद्भावात् तद्विशेषणानामपि बहुवद्भावः, तथा चोभयवाचिभ्यो बहुवचनम् । जातिग्रहणं किम् ?  
 चैत्र, मैत्रः । आख्याग्रहणं किम् ? काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः,—भवत्ययं जातिशब्दो न त्वनेन जातिराख्यायते, किं  
 २ तर्हि ? प्रतिकृति । एक इति किम् ? सपन्नौ व्रीहियवौ । मगधेषु स्तनौ पीनौ, कलिङ्गेष्वक्षिणी शुभे इत्यादावपि सव्ये-  
 तरत्वलक्षणाऽवान्तरजातिद्वयोपाधियोगादेकत्वं नास्तीति बहुवद्भावो न भवति, जातिमात्रविवक्षायां तु भवत्येव—मगधेषु  
 स्तनाः पीनाः, स्तनः पीनः, कलिङ्गेष्वक्षिणी शुमानि, अक्षि शुभमिति । असख्य इति किम् ? एको व्रीहिः संपन्नः  
 ३ सुभिक्षं करोति—अत्र विशेषणभूतसख्याप्रयोगोऽस्तीति एके व्रीहयः सपन्नाः सुभिक्षं कुर्वन्ति इति न भवति ॥ १२१ ॥

## अविशेषणे द्वौ चाऽस्मदः ॥ २ । २ । १२२ ॥

अस्मदो द्वावेकश्चाऽर्थो वा बहुवद्भवति, अविशेषणे—न चेत्तस्य विशेषणं प्रयुज्यते । आवां ब्रूवः, वयं ब्रूमः, अहं  
 १२ ब्रवीमि, वयं ब्रूमः । अविशेषण इति किम् ? आवां गार्ग्यौ ब्रूवः, अहं पण्डितो ब्रवीमि, अहं चैत्रो ब्रवीमि । कथं नाट्ये  
 च दक्षा वयम् ? त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाऽभिमानोन्नताः ? सा बाला वयमप्रगल्भमनसः ? इत्यादि, दक्षत्वादीनां

शब्दाद् द्वितीयादीनां विभक्त्या दर्शनात् तदर्थं यन्वान्तरमारभ्यमित्याशङ्क्यार्थं । परिहरति—विभक्तिप्रतिरूपका इति । खोकमेव यथा पर-  
 १५ स्परमित्यादि दृष्टान्तप्रदर्शनेन द्रष्टव्यम् ॥ १२० ॥

जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत् । जात्याख्यायामेकोऽसंख्यो बहुवत् नवैकसंख्ये । जायेतेऽनया भिन्नेष्वभिन्नाऽभिधानप्रख-  
 याविति—जाति । आख्यायाम् चाऽऽख्या, तथा पृथीसमाप्ते जातेराख्या इति । तदनन्तरं वैपयिकेऽधिकरणे सप्तमी निमित्तसप्तमी वा—जात्या-  
 १६ ख्यायामिति । जातिर्नामाऽयमेकोऽर्थः, तदभिधाने एकवचनमेव प्राप्तमत इदमारभ्यते, तदेतत्सर्वमाह—जातेरेकत्वादित्यादि । एकोऽर्थः  
 इति । एकसख्याक इत्यर्थं, लौकिक्या भेदपरिगणनरूपाया सख्याया जातिलक्षणोऽर्थोऽसाविको न तु वैशेषिकसिद्धान्तप्रसिद्धाया गुणपदार्थसंग्रही-  
 ताया, सा हि द्रव्य एव समवेता न पदार्थान्तरे इत्येतावता जात्यर्थस्य बहुवदित्यतिदेशो बहुवद्भावेन बहुत्वाऽऽश्रयकार्यप्रतिपत्त्यर्थो न जाति-  
 १७ शब्दस्य बहुवचनविधानार्थः इति । तथा सति सपन्ना यवा इति यवशब्दादेव जातिशब्दाद् बहुवचन स्यात् न संपन्नशब्दात्तद्विशेषणभूतादिति ।  
 जात्यर्थस्य तु बहुवद्भावे सपन्नादिविशेषणान्यपि सामानाधिकरण्याद् यवादिशब्दोपात्ते जात्यर्थे वर्तन्त इति तेभ्योऽपि बहुत्वाऽऽश्रय बहुवचनमुप-  
 पन्नमित्याह—जात्यर्थस्येत्यादि । चैत्र, मैत्र इति । नेह जातिरभिधेया यदृच्छाशब्दत्वादनयोरिति । जातिर्हि सामान्यमुच्यते, यच्छबलया-  
 १८ बलेयवबलधावलेयाद्यनेकव्यक्तिभेदेऽपि गौर्गौरित्याद्युत्तरप्रत्ययकारणमिति । यदि च बालकुमारादिभेदेऽनुवर्तमानमभिन्न रूप जातिरुच्येत तदा च  
 जाति कश्चिच्छब्दार्थोऽस्ति इति जातिग्रहणमनर्थकं स्यात्, तस्मात् सादृश्यसामान्यमिह जातिर्न खरूपसामान्यमिति । काश्यप इति । कश्यप-  
 १९ स्याऽपत्यमिति विग्रहे “विदादेर्यस्ते” ६।१।४१। इत्यञि—काश्यप, अयम् काश्यपप्रतिकृतौ तच्चुल्येऽर्थे वर्तते इति । काश्यपप्रतिकृतिरित्यनेन  
 २० दृश्यते । भवत्ययं जातिशब्द इति । गोत्राभिधायकत्वादिति शेष, न त्वनेन प्राधान्येन जातिराख्यायत इत्यभिप्रायः । जातिविशिष्टा  
 हि प्रतिकृतिरत्र प्रतिपत्तव्या, आख्याग्रहणाच्च प्राधान्येन जातावभिधेयार्थं बहुवद्भाव इति विशायते । व्रीहियवाविति । द्वयोरत्र जाल्योराख्या  
 न त्वेकस्या इति एकग्रहणाद् बहुवद्भावो न भवति । मगधेषु स्तनौ पीनाः इत्यादि न भवितव्यमित्याह—जातिमात्रविवक्षायामित्यादि । अयमर्थः—  
 २१ भवति । एवमक्षिणी शुभे इत्यत्रापि । एव तर्हि पीनाः स्तना इत्यादि न भवितव्यमित्याह—जातिमात्रविवक्षायामित्यादि । अयमर्थः—  
 केचित् पदार्था प्रत्येक रमणीया न च तेषां संनिपातो रमणीयो, यथाऽञ्जनसनिपात, तत्र कलिङ्गेष्वक्षिणी शुभे इत्यत्र नैतद्विवक्षितं शुभमक्षि-  
 २२ कलिङ्गेष्विति, किं तर्हि ? तुल्यलक्षणत्वाद्दक्षो संनिपात शुभ इति । इयं च निवृत्ता न द्वित्वोपादानमन्तरेण सिध्यतीत्युपात्तयो सव्येतरगो-  
 २३ र्शणोर्न बहुवद्भाव इति । यदा त्वक्षणं शोभनत्वं विवक्षितं न संनिपातशोभा तदा सव्येतरभेदोपादानेन नार्थ इति भवितव्यमेव पक्षे बहुवद्भावेन ।  
 अथेह कस्मान्न भवति ? एको व्रीहिः संपन्नः सुभिक्षं करोति, अस्ति हात्र एको जातिलक्षणोऽर्थ इत्याह—असंख्य इत्यादि । नन्वेक  
 इति सख्याशब्द प्रयुज्यमान स्वतः सदेकत्वमुद्गावयति, तेन चैकत्वेन विरुद्धं बहुत्वमिति बहुवदतिदेशो न भविष्यति किमसख्य इति विशेष-  
 २४ णेन ? सख्यम्, अस्यैवार्थस्याऽनुवादात्तदित्यल्लोष ॥ १२१ ॥

अविशेषणे द्वौ चाऽस्मदः । चकारात् एक इति बहुवदिति नवेति च वर्तते । अस्मदो द्वावेकश्च वा बहुवत्, अविशेषणे इत्यन्वयः ।  
 अस्मद् इत्यत्र अनुकरणत्वात्सच्छब्दकार्याप्रवृत्तिः । द्वावेकश्चाऽर्थः इति । नन्वेकसंख्याकप्रत्यात्मवचनत्वात्सद कथं द्वावर्थौ स्यातामिति ?  
 २५ नैष दोषः, आत्मत्वं यदा परत्रोपचर्यते ‘अयं मे द्वितीय आत्मा’ अथमेव वाऽयमिति, त्वं चाऽहं च आवामित्येकशेषो वा तदा परस्याऽप्यस्मदर्थोप-  
 पत्तेरुपपन्नमस्मदर्थस्य द्वित्वमिति । अविशेषण इति । यद्यत्र पुरुषदाय स्याद्विशेषणादन्यस्मिन्निति तदा विशेषणे न विभिर्नाऽपि प्रतिषेधो विशेष-  
 णादन्यस्मिन् प्रयुज्यमाने निधिरिति सख्यप्यस्मदर्थस्य विशेषणे ततोऽन्यस्मिन् प्रयुज्यमाने स्यात्, अहं मैत्रो ब्रवीमीति, सिवन्तस्य विशेष्यस्य  
 २६ भावात् । अतोऽविशेषण इति विशेषणस्याऽऽभाव इत्ययमर्थो विज्ञायत इत्याह—न चेत्तस्येत्यादि । आवां गार्ग्यविति । अत्र गोत्र धर्मान्तरं  
 सहा चाऽस्मदर्थस्य भेदकत्वेनोपादीयत इत्यविशेषण इत्यतो न भवति । कथमिति । नाट्ये च दक्षा वयम्, त्वं राजा वयमित्यादी कथं  
 सविशेषणस्य बहुवद्भावो दृश्यत इति प्रश्नार्थः । समाधत्ते—दक्षत्वादीनामित्यादीना आदिशब्दात् उपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नतत्वात्प्रगल्भमन-

विधेयत्वेनाऽविशेषणत्वात् भविष्यति, यदन्वयमानमवच्छेदकं तद्विशेषणम् इति । एकाऽनेकस्वभावस्याऽऽत्मनोऽनेकस्वभाव-  
विवक्षायां बहुवचनं सिद्धमेव सविशेषणप्रतिषेधार्थं तु वचनम् ॥ १२२ ॥

### फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे ॥ २ । २ । १२३ ॥

फल्गुनीशब्दस्य प्रोष्ठपदाशब्दस्य च भे-नक्षत्रे वर्तमानस्य द्वावर्थौ बहुवद् वा भवतः । कदा पूर्वं फल्गुन्यौ, कदा  
पूर्वाः फल्गुन्यः, कदा पूर्वं प्रोष्ठपदे, कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः; उदिते पूर्वं फल्गुन्यौ, उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः, उदिते पूर्वं  
प्रोष्ठपदे, उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः । म इति किम् ?, फल्गुनीषु जाते फल्गुन्यौ माणविके । द्वावित्येव ?, तेनैकस्मिन्  
ज्योतिषि न भवति-इत्यते फल्गुनी । एकवचनान्तः प्रयोग एव नास्तीत्यन्ये । फल्गुनीप्रोष्ठपदस्येति शब्दपरो निर्देशः  
किम् ?, तत्पर्यायस्य मा भूत्-अद्य पूर्वं भद्रपदे ॥ १२३ ॥

### गुरावेकश्च ॥ २ । २ । १२४ ॥

गुरौ-गौरवार्हेऽर्थे वर्तमानस्य शब्दस्य द्वावेकश्चाऽर्थो बहुवद् वा भवति । त्वं गुरुः, यूयं गुरवः, युवां गुरु, यूयं  
गुरवः, स कारुणिक उपाध्यायः, ते कारुणिका उपाध्यायाः; तौ कारुणिकावुपाध्यायौ, ते कारुणिका उपाध्यायाः; एष मे  
पिता, एते मे पितरः; अयं तपस्वी, इमे तपस्विनः, गुरुशिष्यौ, गुरुशिष्याः, इह भवानाह, इह भवन्तस्त्वाहुः । आपः, १२  
दाराः, गृहाः, वर्षाः, पञ्चालाः जनपदः, गोदौ ग्रामः, खलतिकं वनानि, हरीतक्यः फलानि, पञ्चालमथुरे; चञ्चाऽभिरूपो

स्त्वादिप्रहणम् । यदन्वयमानमवच्छेदकं तद्विशेषणमिति । दक्षत्वादिकं च विधीयमानं नाऽन्वयमानमिति नैवविधो विषय प्रतिषेधस्य ।  
एकाऽनेकस्वभावस्येति । अयमर्थ-एकोऽप्यात्मा यथैकत्वेनाऽनुभूयते तथा द्रष्टा श्रोता मन्त्रत्वादि नानात्वेनापि, न ह्येकान्तेनैकत्वेनाऽनेकत्वेन १५  
वेतरविनिर्मुक्तं प्रतिपत्तिरस्ति, तत्र यथैकत्वेन द्वित्वेन च तस्मिन् विवक्षिते एकवचनं द्विवचनञ्च तथा बहुत्वस्याऽप्युपपत्तेर्बहुत्वविवक्षायां  
बहुवचनं सिद्धम् । एवं तर्हि किमर्थमिदमित्याह-सविशेषणेत्यादि । यथा युष्मदर्थे गुरौ चैकस्मिन्पि बहुवचनं प्रयुज्यते-यूयं नूय, भवन्तो  
श्रुवन्तीति तथाऽस्मदर्थस्याऽपि बहुवचने सिद्धे सविशेषणे तस्मिन् विवक्षिते द्वयोरैकत्र च बहुवद्भावप्रतिषेधार्थमिदं वचनमिति ॥ १२२ ॥ १८

फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे । अत्र बहुवदिति नवेति द्वाविति च वर्तते । भे फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य द्वौ बहुवद्भवत्येवम् । फल्गुनी च  
प्रोष्ठपदा चेति फल्गुनीप्रोष्ठपदमिति शब्दपरो निर्देश, अतोऽर्थसंघट्टने षष्ठी-फल्गुनीप्रोष्ठपदस्येति । फल्गुनीशब्दस्य प्रोष्ठपदाशब्दस्य च  
नक्षत्रे वर्तमानस्य यदभिधेयस्तस्य च द्वावित्यनुवर्तमानं विशेषण, एतावता फल्गुनीप्रोष्ठपदाशब्दो नक्षत्रशब्दावित्यर्थः । नक्षत्रशब्दश्चेद्द्वयोऽर्थगत २१  
स्वभाव प्रवृत्तिनिमित्तौक्यं यदि न वर्तते तर्हि यावान् कश्चिन्नक्षत्रलभ्योऽर्थं स सर्वो न लभ्येत । नक्षत्रशब्दश्चेद्द्वयोऽर्थगत २१  
ज्योतिरवस्थायां प्रयुज्यते । तथा च चन्द्रोपेतं ज्योतिर्विशेषमुपलभ्य ज्योतिर्विदो वदन्ति-अद्य नक्षत्रं पूर्वा फल्गुन्य इत्यादि । विनाऽपि  
चन्द्रेण तदुपलक्षिते ज्योतिषि किमिदं नक्षत्र-फल्गुन्य प्रोष्ठपदा वेति, विनाऽपि चन्द्रेण ज्योतिर्विशेषनादयं नक्षत्रव्यवहारः । काले च २४  
“चन्द्रयुक्ताद् काले” इति प्रत्ययस्य “ल्लवप्रत्यये” इति लुपि-पूर्वाख्य फल्गुनीषु गत, पूर्वाख्य प्रोष्ठपदाषु गत इति, नाऽत्र सर्वत्रैक-  
मनुवृत्तमतस्मात्तत्तत् वस्तुरूपमुपलभ्यते । शब्दस्तु तस्याऽर्थस्य साधारणस्वरूपभेदादतस्तेनाऽऽसावर्थो लक्षणीयः । एवमर्थ एव च ‘फल्गुनी-  
प्रोष्ठपदस्य’ इति अर्थाह्यावृत्त षष्ठा शब्दपरो निर्देशोऽन्यथा ‘फल्गुनीप्रोष्ठपदं म’ इत्यभेदेन निर्दिश्येतेत्याह-फल्गुनीशब्दस्येत्यादि । २७  
कदा पूर्वं फल्गुन्याविति । चन्द्रोपेते ज्योतिषी तद्युक्तौ वा कालोऽत्रार्थं, तस्य भावानां प्रवृत्तिविशेषत्वात् तत्त्वाप्यवसायात् फल्गुन्या-  
दिरूपत्वाद् द्विरुपता । उदिते पूर्वं फल्गुन्यौ इत्यादाविति । ज्योतिरत्रार्थः । फल्गुनीषु जात इति । जातेऽर्थे “फल्गुन्याष्ट” ६।३।१०६।  
इति टप्रत्यये, “अवर्णेषणस्य” इतीकारलोपे, टित्त्वाद् ङ्या-फल्गुन्यौ माणविके इति । म इति वचनादत्र न भवति, माणविके ३०  
इत्यनेन नक्षत्रार्थाऽवृत्तिता दर्शिता । एकस्मिन् ज्योतिषि न भवतीति । ननु फल्गुनीप्रोष्ठपदाशब्दो नक्षत्रवाचित्वात् द्वित्वाऽव्यभिचारिणौ  
यतश्चन्द्रमसायोगे नक्षत्रता, तेन च द्वयोरैव नैकैकस्य, तद्वि तारमेव तारकं नक्षत्रमुच्यते इति किमर्थं तस्य द्वाविति विशेषणमनुवर्त्यते इति ?, नैष  
दोषः, भद्रहणेनाऽत्र ज्योतिष्युपलक्षितत्वात् तस्य च द्वयोरैकैकस्य चाऽविशिष्टत्वादत्रापि स्यात्-इत्यते फल्गुनीति । अन्ये इति । शाक- ३३  
टापना । अद्य पूर्वं भद्रपदे इति । अर्थपरे हि निर्देशोऽत्रापि तदर्थस्य विद्यमानत्वात् बहुवद्भावः स्यादिति । अद्य किमर्थमिदम् ?, न हि बहुव-  
चनात् द्वित्वप्रतीतिरस्ति, बहुत्वस्य ततः प्रतीते । बहुत्व च तत्र यथाकथञ्चित् संपाद्य, चन्द्रोपेते हि ज्योतिषी इति बहुत्वं सिद्धम् । फल्गुनीप्रो-  
ष्ठपदाशब्दयोश्च चन्द्रमसि वृत्तिरूपचारात्, मुख्योपचरितयोश्चाऽर्थयोर्युगपदुपादानात् कालोऽपि तद्रूपाचारोपात् चन्द्रस्याऽऽसन्निति तत्त्वेऽप्युदिताः २६  
पूर्वाः फल्गुन्य इति पूर्वदृष्टसमुदायरूपेणैवाऽभिधानात् । द्विवचनं च चन्द्राविवक्षायां तयोरैव ज्योतिर्बोभवति । न चैव तित्थपुण्यादावति-  
प्रसङ्गः, तत्र बहुत्वसंप्रत्ययाऽभावात् नियतविवक्षित्वाद्युपचरकल्पनाया अभावात् अर्थात् प्रतीयमानायाश्च गरीयस्त्वादितिदुश्च्यते ॥ १२३ ॥

गुरावेकश्च । अत्र बहुवदिति नवेति द्वाविति च वर्तते । गुरौ द्वावेकश्च बहुवद् भवेत्येवम् । गुराविति धर्मिप्रधानो निर्देश इत्याह- ३५  
गुरौ-गौरवार्ह इति । त्वं गुरुः, यूयं गुरवः इति । अत्रैकस्याऽर्थस्य पाक्षिके बहुवत्त्वे प्रयोगद्वयम् । एव द्वयोरर्थयोरपि पाक्षिके बहुवत्त्वे-  
युवां गुरु, यूयं गुरव इति । एवं सकारुणिक उपाध्याय इत्यादावपि बोध्यम् । इह भवान्-अयं सवाच “भवत्वायुष्मदी”  
७।२।१। इत्यधिकारात्, “त्रप् च” ७।२।१२। इति त्रप्, “कञ्जान्” ७।२।१३। इति षष्ठाभिप्रायते । इह भवन्त-इमे भवन्त । पञ्च-४२  
लानां देशोऽप्युपचारात्-पञ्चाला इति । गोदौ-हृदी, तत्समीपप्रामोऽपि-गोदौ । खलतिकं वनानीति । खलतीति “कृशिक” इत्या-  
दिना निपात्यते इत्यात्राय, यद्वा खलान् तिकोति “मूलविशुजादय” क, खलतिकाऽऽख्यपर्वतसमीपवर्तिनानामपि खलतिकं इत्याख्या । हरति  
रोगानिति “इहहि” इति ईतके-हरीतकी । पञ्चालाश्च मथुरा च-पञ्चालमथुरे । चीयते-उपचीयते तृणैरिति-चञ्चा, “चिमेर्नोच-४५

मनुष्य इति । सर्वलिङ्गसंख्ये वस्तुनि स्याद्वादमनुपपत्ति मुख्योपचरितार्थाऽनुपातिनि च शब्दाऽऽत्मनि रूढितस्तत्तल्लिङ्ग-  
संख्योपादानव्यवस्थाऽनुसर्तव्या ॥ १२४ ॥

३ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्योपशब्दानुशासनवृहद्दृष्टौ  
(तत्त्वप्रकाशिकाया) द्वितीयस्याऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ । २ ॥

मूलार्कः श्रूयते शास्त्रे, सर्वकल्याणकारणम् ।

६ अधुना मूलराजस्तु; चित्रं लोकेषु गीयते ॥ २।२।२ ॥

७ "अभिमत रूप यस्य अभिमत रूप्यते वा—अभिरूपो मनुष्यश्चञ्चैव, अकिञ्चित्करत्वात् । नन्वाप इत्येकस्यामपि जलकणिकायां  
बहुवचनान्तोऽप्यशब्द प्रयुज्यते, दारशब्दश्चैकस्यामपि योपिति पुल्लिङ्गे बहुवचनान्त, एव गृहशब्दोऽप्येकस्मिन्नपि गृहे, एव वर्षा इत्येकस्मिन्नपि  
९ ऋतो । एव पञ्चाला इति बहुवचनान्तेनैकोऽर्थ उच्यते—जनपद, तत्र बहुत्वाऽभावाद् बहुवचनयोग । यथसौ बहुत्वसंख्यायोगि स्यात् तदैकवचना-  
नुपपत्तिर्जनपद इति, एकत्वाऽभावात् । न हेकोऽर्थ एको भवति अनेकश्च, विरोधात् । कथञ्चित्ताभावे त्मभयमप्युभयसंख्यायोगि स्यात्, न  
चैतदिष्यत इति । एव गोदौ ग्राम इति द्वित्वैकत्वनियमाऽयोग । एव खलतिक वनानीत्येकवचनान्तेन बहुभिधानमनुपपन्नम् । तथा हरीतक्य  
१२ फलानीति स्त्रीनपुंसकयोर्लिङ्गयोरयोग । तथा पञ्चालमथुरे इत्यनुत्तरपदस्य देशशृतेर्बहुविषयस्य बहुवद्भावप्रतिषेधाऽनुपपत्ति । एव चम्पामिष्य  
इत्यादावपि चम्पादिलिङ्गता स्यादित्यत्र यत्न कर्तव्य, येन सर्व समञ्जस स्यादित्याशङ्कयामाह—सर्वलिङ्गसंख्ये वस्तुनीत्यादि । सर्वाणि-  
त्रीप्यपि लिङ्गानि, सर्वाथ एकत्वद्वित्वबहुत्वलक्षणा संख्या एकस्मिन्नेव वस्तुनि सन्ति, तथाहि—वत्सवर्षो मात्रेति शब्द सर्वत्र वस्तुतरुवे घट-  
१५ वस्तु घटार्थो घटमात्रेति प्रवर्तन्त इति लिङ्गानि दृश्यन्ते । गुणगुणिन्द्रव्यपर्यायाऽवयवाऽवयविरूपे वस्तुनि घट इत्यभेदविवक्षायामेकत्वसंख्या । गुण-  
गुणिर्नो द्रव्यपर्यायो अवयवाऽवयवितो घटौ नैकैकमात्र इति द्वित्वसंख्या । गुणपर्यायाऽवयवानां बहुत्वात् तद्भेदविवक्षायाम् गुणाश्च गुणी च गुणगुणिर्नो  
घटा इति बहुत्वसंख्या । न चैतदेकस्मिन् वस्तुनि स्याद्वादानुपातिनि विरुद्धं स्यात्, यत् कथञ्चित् वाद—साद्वाद, तथाहि—स एवाऽय मैत्र  
१८ इत्याजन्ममरणमविच्छेद प्रतीयते तत्र भेदमात्र वस्तु । बालोऽय न युवा, युवाऽय न बाल, सुप्तोऽय न उत्थित, उत्थितोऽय न सुप्त इति  
विच्छेदश्च प्रतीयते तत्राऽभेदमात्रम् । न च तयोर्भेद एव, मैत्रो बालो मैत्रो युवेत्येकत्वेन प्रतिभासनात्, गौरश्वेतिर्वद्भेदप्रतिभासाऽभावात् ।  
एकान्तेन भेदेऽन्यतरविलोप, तथा च भेदाभेदप्रतिभासायोग । न चाऽन्यतरस्य मिथ्यात्व, इतराविशेषात् । तस्मादन्तरालाऽवस्थ वस्तु तदेतत्  
२१ स्याद्वादानुपातीति नाऽत्राऽनेकरूपता विरुध्यते । तदेव क्रमाक्रमभाव्यनेकभेदात्मके वस्तुनि सर्वमुपपद्यते । तत्रापि इति नैकस्यां व्यक्तौ प्रवर्तते, अपि  
तु बहुव्यक्तिविषय एव । एव दारादयोऽपि पुल्लिङ्गा । यथा द्वौ त्रय इति भेदविषया एव नैकैकविषया इत्येव एकद्रव्यविषया अपि गुणपर्यायाऽव-  
यवभेदोपादानाद् वस्तुसामर्थ्याद् बहुत्वोपपत्ति । एव पञ्चाला इति वस्तुशक्तिसामाख्यादवयवद्वारेण प्रवर्तते जनपद इति समुदायद्वारेण । एव गोदौ  
२४ ग्राम इत्यादावप्येकानेकसंख्योपपत्ति । हरीतक्य फलानीति लिङ्गभेदश्च सर्वलिङ्गत्वाद् वस्तुन । पञ्चालमथुरे इति पञ्चालादीनां बहुत्वविषयाणां  
समासे उत्तरपदादन्वय समुदायाऽभिधान न त्ववयवमभिधानमिति बहुत्वाभाव । नियतविषयाश्च शब्दशक्तयो भवन्ति, यथा—राज्ञ पुत्र इति  
वाक्ये राजशब्दो विशेषणदियोगिनमर्थमाचष्टे, शृती तु तद्विलक्षण राजपुत्र इति । चम्पामिष्यो मनुष्य इति सादृश्याद् मनुष्यशृतेश्च तद्रूप, यत्र  
२७ विशेषणयोगि । पञ्चालादिशब्दानां च क्षत्रियाद्यर्थशृतीनामपि सोऽयमित्यभिसंघर्षोऽनुपचारात् जनपदाद्यर्थोऽपि शृतिरित्युक्तं—मुख्योपचरिता-  
र्थानुपातिनि इत्यादि । अत्र च रूढिः प्रमाणम्, यतो वृद्धव्यवहाराच्छब्दानां व्युत्पत्तेरित्युच्यते—रूढित इति । रूढि शिष्टव्यवहारे प्रसिद्धि ।  
तत्तल्लिङ्गसंख्योपादानव्यवस्थेति । लिङ्गानि च सख्याश्च लिङ्गसंख्या, ताश्च ताश्च लिङ्गसंख्याश्च तत्तल्लिङ्गसंख्या, तासांनुपादान तस्य  
१० व्यवस्था साऽनुसर्तव्येति भाव ॥ १२४ ॥

मूलार्क इत्यादि । मूलार्कः—मूलनक्षत्रे स्थितो रवि, शास्त्रे—ज्योति शास्त्रे, सर्वकल्याणकारणम्—सकलमङ्गलमूलमिति, श्रूयते—  
श्रवणजन्यना प्रत्यक्षेण विषयीक्रियते, तु—किन्तु, अधुना—चांप्रत मूलराजशासनकाले, लोकेषु—जनेषु, मूलराजः—तन्नामा दृपति, गीयते—  
११ गानाऽऽत्मना सकलमङ्गलमूलत्वात् कथ्यत इति, चित्रं—महदाश्चर्यं शास्त्रलोकयोर्भेदादिति पदार्थ । अय भाव—आश्रयभाऽपि रूढ एव भाव सर्व-  
जनसमप्रभद्रकर इति ज्योतिर्विस्मयमे प्रसिद्धि; लोके तु मूलराजमहीपतिस्माज्ज्ये तस्य राज सर्वविषयेयोनिदानत्वात् नामैकदेशसामान्यात् मूलार्क-  
मूलराजयोरभेदोपचारात् सैव शास्त्रश्रुतिविषयीभूता गानाऽऽत्मना परिणतिमुपयाति । एतेन शास्त्रीय सकलमङ्गलमूलत्व मूलार्कस्य तदानीमकिञ्चि-  
१३ त्करत्वात् श्रवणविषयतया विज्ञायते, अत एव श्रूयत इत्युक्ति । मूलराजस्य तु तत्प्रत्यक्षेणोपलभ्यमान तत्काले सदैव इति गानाऽऽत्मना बुध्यते,  
अत एव गीयत इत्युक्तिरिति परमार्थ । एतेन 'न हीद शास्त्र लोकाद् भिद्यत' इति पूर्वोऽऽचार्यप्रसिद्धि बहुमन्वानास्तयोर्भेदप्रतिपादकत्वेनाऽस्य  
पद्यस्यायुक्तत्वमाशङ्कमाना परात्सा इत्यस्मन्मतेऽपि तयोर्भेदस्य घटनादिति ॥ २ । २ । २ ॥

१५ इति श्रीमत्पागच्छगगनाहमोर्णिगीतीतार्थसार्धमौमाऽऽगमोद्धारकेशैलानादृपतिपरिपूजितपादारविन्दभागमोदयसमिति—वर्द्धमानजैनागममन्दि-  
राथनेकशासनहितवर्धकसंस्थानिर्माणोपदेशकभट्टारककुलमूर्द्धन्यश्री १००८ आनन्दसागरसूरीश्वराणां साम्राज्ये तच्चरणनिजीनमानसेनाऽनवात्-  
नवपदपीयूषपानोद्यतभयभावभावोद्घोषसूयोदयश्रीसिद्धचक्र—नवपदाराधकसमाजादिविषयसंस्थासंस्थापकेन श्रीवर्द्धमानतपोनिष्ठातेन श्रीसिद्धचक्रा-  
१८ राधन—तीर्थोद्धारकेण वैयाकरणकेसरिणा पश्यात्सप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रेण विरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्रसूत्रश्रुतिन्यासरत्नाकरावतारि-  
कायामानन्दबोधिच्या द्वितीयाऽध्यायस्य कारकप्रकरण नाम द्वितीय पाद ॥ २।२ ॥ तत्परिसमाप्तौ परिसमाप्तोऽयं प्रथमो विभागः ॥ १ ॥



# ॥ परिशिष्टानि ॥

## १ परिशिष्टम् ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राऽऽचार्यविरचितानि—  
श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनसूत्राणि ।

पृष्ठाङ्कः

प्रथमाऽध्याये प्रथमः पादः ।

- १ अर्हं ॥ १ । १ । १ ॥  
 ३ सिद्धिः स्याद्वादात् ॥ १ । १ । २ ॥  
 ४ लोकात् ॥ १ । १ । ३ ॥  
 ५ औदन्ताः खराः ॥ १ । १ । ४ ॥  
 ५ एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घद्विताः ॥ १ । १ । ५ ॥  
 ६ अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥  
 ६ लृदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥  
 ६ एऐओऔ संध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥  
 ६ अं-अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ १ । १ । ९ ॥  
 ७ कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥  
 ७ अपञ्चमाऽन्तस्थो घुट् ॥ १ । १ । ११ ॥  
 ७ पञ्चको वर्गः ॥ १ । १ । १२ ॥  
 ७ आद्यद्वितीयशर्षसा अघोषाः ॥ १ । १ । १३ ॥  
 ७ अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥  
 ७ यरलर्वा अन्तस्थाः ॥ १ । १ । १५ ॥  
 ८ अंअः०पशर्षसाः शिद् ॥ १ । १ । १६ ॥  
 ८ तुल्यस्थानाऽऽस्यप्रयत्नः खः ॥ १ । १ । १७ ॥  
 ११ स्यौजसमौशसदाभ्यांमिसूडेभ्यांभ्यसूड-  
 सिभ्यांभ्यसूडसोसांद्भ्योस्तुपां त्रयी-  
 त्रयी प्रथमादिः ॥ १ । १ । १८ ॥  
 ११ स्त्यादिर्विभक्तिः ॥ १ । १ । १९ ॥  
 ११ तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥  
 ११ नाम सिद्धख्यञ्जने ॥ १ । १ । २१ ॥  
 १२ नं क्ये ॥ १ । १ । २२ ॥  
 १२ न स्तं मत्वर्थे ॥ १ । १ । २३ ॥  
 १३ मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ॥ १ । १ । २४ ॥  
 १३ वृत्त्यन्तोऽस्ये ॥ १ । १ । २५ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १४ सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥  
 १५ अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम ॥ १ । १ । २७ ॥  
 १६ शिर्षुट् ॥ १ । १ । २८ ॥  
 १६ पुंस्त्रियोः स्यमौजस् ॥ १ । १ । २९ ॥  
 १७ खरादयोऽव्ययम् ॥ १ । १ । ३० ॥  
 १९ चादयोऽसत्त्वे ॥ १ । १ । ३१ ॥  
 २० अधणूतखाद्या शसः ॥ १ । १ । ३२ ॥  
 २१ विभक्तिमन्ततसाद्याभाः ॥ १ । १ । ३३ ॥  
 २२ वत्तस्याम् ॥ १ । १ । ३४ ॥  
 २२ कर्त्वातुमम् ॥ १ । १ । ३५ ॥  
 २२ गतिः ॥ १ । १ । ३६ ॥  
 २२ अप्रयोगीत् ॥ १ । १ । ३७ ॥  
 २३ अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः ॥ १ । १ । ३८ ॥  
 २३ डत्यतु संख्यावत् ॥ १ । १ । ३९ ॥  
 २४ बहुगणं भेदे ॥ १ । १ । ४० ॥  
 २४ कसमासेऽध्यर्द्धः ॥ १ । १ । ४१ ॥  
 २४ अर्द्धपूर्वपदः पूरणः ॥ १ । १ । ४२ ॥

प्रथमाऽध्याये द्वितीयः पादः ।

- २५ समानानां तेन दीर्घः ॥ १ । २ । १ ॥  
 २५ ऋलृति ह्रस्वो वा ॥ १ । २ । २ ॥  
 २५ लृत् वृलृ ऋलृभ्यां वा ॥ १ । २ । ३ ॥  
 २६ ऋतो वा तौ च ॥ १ । २ । ४ ॥  
 २६ ऋस्तयोः । १ । २ । ५ ॥  
 २७ अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् ॥ १ । २ । ६ ॥  
 २७ ऋणे प्रदर्शाणर्वसनकम्बलवत्सर-  
 वत्सतरस्यात् ॥ १ । २ । ७ ॥

पृष्ठाङ्कः

- २८ ऋते तृतीयासमासे ॥ १।२।८ ॥  
 २८ ऋत्यारूपसर्गस्य ॥ १।२।९ ॥  
 २८ नाम्नि वा ॥ १।२।१० ॥  
 २९ लृत्याल्वा ॥ १।२।११ ॥  
 २९ ऐदौत् संध्यक्षरैः ॥ १।२।१२ ॥  
 २९ जटा ॥ १।२।१३ ॥  
 २९ प्रस्यैषैष्योढोढ्युहे खरेण ॥ १।२।१४ ॥  
 ३० खैरखैर्यक्षौहिण्याम् ॥ १।२।१५ ॥  
 ३० अनियोगे लुगेवे ॥ १।२।१६ ॥  
 ३० वौष्ठौतौ समासे ॥ १।२।१७ ॥  
 ३१ ओमाडि ॥ १।२।१८ ॥  
 ३१ उपसर्गस्यानिणोषेदोति ॥ १।२।१९ ॥  
 ३१ वा नाम्नि ॥ १।२।२० ॥  
 ३१ इवर्णादिरखे खरे यवरलम् ॥ १।२।२१ ॥  
 ३२ ह्रस्वोऽपदे वा ॥ १।२।२२ ॥  
 ३२ एदौतोऽयात् ॥ १।२।२३ ॥  
 ३२ ओदौतोऽवात् ॥ १।२।२४ ॥  
 ३२ व्यक्ये ॥ १।२।२५ ॥  
 ३३ ऋतो रस्ताद्धिते ॥ १।२।२६ ॥  
 ३३ एदौतः पदान्तेऽस्य लृक् ॥ १।२।२७ ॥  
 ३३ गोर्नाङ्ग्यवोऽक्षे ॥ १।२।२८ ॥  
 ३३ खरे वाज्जक्षे ॥ १।२।२९ ॥  
 ३४ इन्द्रे ॥ १।२।३० ॥  
 ३४ वाऽस्यसन्धिः ॥ १।२।३१ ॥  
 ३४ पुतोऽनितौ ॥ १।२।३२ ॥  
 ३४ इइ वा ॥ १।२।३३ ॥  
 ३५ ईदूदेद् द्विवचनम् ॥ १।२।३४ ॥  
 ३५ अदौ सुमी ॥ १।२।३५ ॥  
 ३६ चादिः खरोऽनाड् ॥ १।२।३६ ॥  
 ३६ ओदन्तः ॥ १।२।३७ ॥  
 ३७ सौ नवेतौ ॥ १।२।३८ ॥  
 ३७ ऊं चोञ् ॥ १।२।३९ ॥  
 ३७ अञ्चवर्गात् खरे वोऽसन् ॥ १।२।४० ॥  
 ३८ अइउवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनी-  
 दादिः ॥ १।२।४१ ॥

प्रथमाऽध्याये तृतीयः पादः ।

- ३९ तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १।३।१ ॥  
 ४० प्रत्यये च ॥ १।३।२ ॥  
 ४० ततो हश्चतुर्यः ॥ १।३।३ ॥  
 ४० प्रथमादधुटि शश्छः ॥ १।३।४ ॥

पृष्ठाङ्कः

- ४१ रः कखपफयोः ऋणौ ॥ १।३।५ ॥  
 ४१ शषसे शपसं वा ॥ १।३।६ ॥  
 ४१ चयते सद्वितीये ॥ १।३।७ ॥  
 ४२ नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्या-  
 ऽधुट्परि ॥ १।३।८ ॥  
 ४२ पुमोऽशिद्व्यघोषेऽख्यागि रः ॥ १।३।९ ॥  
 ४३ नूनः पेषु वा ॥ १।३।१० ॥  
 ४३ द्विः कानः कानि सः ॥ १।३।११ ॥  
 ४३ स्सटि समः ॥ १।३।१२ ॥  
 ४४ लृक् ॥ १।३।१३ ॥  
 ४४ तौ सुमो व्यञ्जने खौ ॥ १।३।१४ ॥  
 ४५ मनयवलपरे हे ॥ १।३।१५ ॥  
 ४५ सम्राट् ॥ १।३।१६ ॥  
 ४५ ङोः कटावन्तौ शिटि नवा ॥ १।३।१७ ॥  
 ४५ ङ्ङः सः त्सोऽश्च ॥ १।३।१८ ॥  
 ४६ नः शिञ् ॥ १।३।१९ ॥  
 ४६ अतोऽति रोरुः ॥ १।३।२० ॥  
 ४७ घोषवति ॥ १।३।२१ ॥  
 ४७ अवर्णभोभगोऽधोर्लृगसन्धिः ॥ १।३।२२ ॥  
 ४७ व्योः ॥ १।३।२३ ॥  
 ४८ खरे वा ॥ १।३।२४ ॥  
 ४८ अस्पष्टाववर्णात् त्वनुभि वा ॥ १।३।२५ ॥  
 ४९ रोर्यः ॥ १।३।२६ ॥  
 ४९ ह्रस्वाद् इणनो द्वे ॥ १।३।२७ ॥  
 ४९ अनाङ्गाडो दीर्घाद् वा छः ॥ १।३।२८ ॥  
 ५० पुताद् वा ॥ १।३।२९ ॥  
 ५० खरेभ्यः ॥ १।३।३० ॥  
 ५० हार्दह्रस्वस्याऽनु नवा ॥ १।३।३१ ॥  
 ५१ अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने ॥ १।३।३२ ॥  
 ५२ अञ्चवर्गस्याऽन्तस्थातः ॥ १।३।३३ ॥  
 ५२ ततोऽस्याः ॥ १।३।३४ ॥  
 ५२ शिटः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १।३।३५ ॥  
 ५२ ततः शिटः ॥ १।३।३६ ॥  
 ५३ न रात् खरे ॥ १।३।३७ ॥  
 ५३ पुत्रस्याऽऽदिनपुत्रादिन्याऽऽक्रोशे ॥ १।३।३८ ॥  
 ५३ आं धुइवर्गेऽन्त्योऽपदान्ते ॥ १।३।३९ ॥  
 ५४ शिइहेऽनुस्वारः ॥ १।३।४० ॥  
 ५५ रो रे लृग् दीर्घश्चादिदुतः ॥ १।३।४१ ॥  
 ५५ ढस्तहे ॥ १।३।४२ ॥  
 ५६ सहिवहेरोच्चाऽवर्णस्य ॥ १।३।४३ ॥  
 ५६ उदः स्यास्तम्भः सः ॥ १।३।४४ ॥



पृष्ठाङ्कः

- ५६ तदः सेः खरे प्रादार्था ॥ १ । ३ । ४५ ॥  
 ५७ एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्रन्थसमासे ॥ १३४६ ॥  
 ५७ व्यञ्जनात् प्रश्नमान्तस्थायाः सरूपे वा  
 ॥ १ । ३ । ४७ ॥  
 ५८ धुटो धुटि खे वा ॥ १ । ३ । ४८ ॥  
 ५८ तृतीयस्तृतीयचतुर्थे ॥ १ । ३ । ४९ ॥  
 ५८ अघोषे प्रथमोऽशिटः ॥ १ । ३ । ५० ॥  
 ५९ विरामे वा ॥ १ । ३ । ५१ ॥  
 ५९ न सन्धिः ॥ १ । ३ । ५२ ॥  
 ५९ रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ॥ १ । ३ । ५३ ॥  
 ५९ ख्यागि ॥ १ । ३ । ५४ ॥  
 ६० शिष्यघोषात् ॥ १ । ३ । ५५ ॥  
 ६० व्यत्यये लृग् वा ॥ १ । ३ । ५६ ॥  
 ६० अरोः सुपि रः ॥ १ । ३ । ५७ ॥  
 ६० बाहर्पल्यादयः ॥ १ । ३ । ५८ ॥  
 ६० शिष्याद्यस्य द्वितीयो वा ॥ १ । ३ । ५९ ॥  
 ६१ तवर्गस्य श्रवर्गघृवर्गाभ्यां योगे चटवर्गो  
 ॥ १ । ३ । ६० ॥  
 ६२ सस्य शषौ ॥ १ । ३ । ६१ ॥  
 ६२ न शात् ॥ १ । ३ । ६२ ॥  
 ६२ पदान्ताद्द्ववर्गादनामूनगरीनवतेः ॥ १ । ३ । ६३ ॥  
 ६३ षि तवर्गस्य ॥ १ । ३ । ६४ ॥  
 ६३ लि लौ ॥ १ । ३ । ६५ ॥

प्रथमाऽध्याये चतुर्थः पादः ।

- ६४ अत आः स्यादौ जसूभ्याम्भ्ये ॥ १ । ४ । १ ॥  
 ६४ भिस ऐस् ॥ १ । ४ । २ ॥  
 ६५ इदमदसोऽक्थेव ॥ १ । ४ । ३ ॥  
 ६५ एद्दहुस्भोसि ॥ १ । ४ । ४ ॥  
 ६५ टाडसोरिनस्यौ ॥ १ । ४ । ५ ॥  
 ६६ डेडस्योर्यातौ ॥ १ । ४ । ६ ॥  
 ६६ सर्वादः सैस्मातौ ॥ १ । ४ । ७ ॥  
 ७१ डेः स्मिन् ॥ १ । ४ । ८ ॥  
 ७१ जस इः ॥ १ । ४ । ९ ॥  
 ७१ नेमाऽर्धप्रथमचरमतयाऽर्थाऽल्पकति-  
 पयस्य वा ॥ १ । ४ । १० ॥  
 ७२ द्रन्द्रे वा ॥ १ । ४ । ११ ॥  
 ७२ न सर्वादिः ॥ १ । ४ । १२ ॥  
 ७२ तृतीयान्तात् पूर्ववरं योगे ॥ १ । ४ । १३ ॥  
 ७३ तीयं डित्कार्ये वा । १ । ४ । १४ ॥  
 ७३ अवर्णस्यामः साम् ॥ १ । ४ । १५ ॥

पृष्ठाङ्कः

- ७४ नवभ्यः पूर्वेभ्य इस्मात्स्मिन् वा ॥ १ । ४ । १६ ॥  
 ७४ आपो डितां यैयास्यास्याम् ॥ १ । ४ । १७ ॥  
 ७४ सर्वादर्डस्पृर्वाः ॥ १ । ४ । १८ ॥  
 ७५ दौस्येत् ॥ १ । ४ । १९ ॥  
 ७६ औता ॥ १ । ४ । २० ॥  
 ७६ इदुतोऽखेरीदूत् ॥ १ । ४ । २१ ॥  
 ७६ जस्येदोत् ॥ १ । ४ । २२ ॥  
 ७७ डित्यदिति ॥ १ । ४ । २३ ॥  
 ७७ टः पुंसि ना ॥ १ । ४ । २४ ॥  
 ७७ डिडौ ॥ १ । ४ । २५ ॥  
 ७८ केवलसखिपतेरौ ॥ १ । ४ । २६ ॥  
 ७८ न ना डिदेत् ॥ १ । ४ । २७ ॥  
 ७८ स्त्रिया डितां वा दैदासूदास्-  
 दाम् ॥ १ । ४ । २८ ॥  
 ७९ स्त्रीदूतः ॥ १ । ४ । २९ ॥  
 ८० वेयुवोऽस्त्रियाः ॥ १ । ४ । ३० ॥  
 ८१ आमो नाम् वा ॥ १ । ४ । ३१ ॥  
 ८१ हखापश्च ॥ १ । ४ । ३२ ॥  
 ८२ संख्यानां षर्णाम् ॥ १ । ४ । ३३ ॥  
 ८२ त्रेस्त्रयः । १ । ४ । ३४ ॥  
 ८२ एदोऽर्थां डसिडसो रः ॥ १ । ४ । ३५ ॥  
 ८३ खितिखितीय उद् ॥ १ । ४ । ३६ ॥  
 ८३ ऋतो डुर ॥ १ । ४ । ३७ ॥  
 ८४ तृखसूनृनेष्टृत्वष्टृक्षचृहोतृपोतृप्रशाखो  
 चुट्याद् ॥ १ । ४ । ३८ ॥  
 ८४ अडौ च ॥ १ । ४ । ३९ ॥  
 ८५ मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽम्भ्ये ॥ १ । ४ । ४० ॥  
 ८५ ह्रस्वस्य गुणः ॥ १ । ४ । ४१ ॥  
 ८६ एदापः ॥ १ । ४ । ४२ ॥  
 ८६ नित्यदिदुद्विस्वराऽम्बार्थस्य ह्रस्वः ॥ १ । ४ । ४३ ॥  
 ८७ अदेतः स्यमोर्लृक् ॥ १ । ४ । ४४ ॥  
 ८७ दीर्घडयाव्यञ्जनात् सेः ॥ १ । ४ । ४५ ॥  
 ८८ समानादमोऽतः ॥ १ । ४ । ४६ ॥  
 ८८ दीर्घो नाम्यतिसृचतसृषूः ॥ १ । ४ । ४७ ॥  
 ८८ नुर्वा ॥ १ । ४ । ४८ ॥  
 ८९ शसोऽता सश्च नः पुंसि ॥ १ । ४ । ४९ ॥  
 ८९ संख्यासायवेरहस्याहन् डौ वा । १ । ४ । ५० ॥  
 ८९ निघ आम् ॥ १ । ४ । ५१ ॥  
 ९० वाऽष्टन आः स्यादौ ॥ १ । ४ । ५२ ॥  
 ९० अष्ट और्जसृशसोः ॥ १ । ४ । ५३ ॥  
 ९० डतिष्णः संख्याया लृप् ॥ १ । ४ । ५४ ॥

पृष्ठाङ्कः

- ९१ नपुंसकस्य शिः ॥ १।४।५५ ॥  
 ९१ औरीः ॥ १।४।५६ ॥  
 ९१ अतः स्यमोऽम् ॥ १।४।५७ ॥  
 ९२ पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १।४।५८ ॥  
 ९२ अनतो लृप् ॥ १।४।५९ ॥  
 ९३ जरसो वा ॥ १।४।६० ॥  
 ९३ नामिनो लृप् वा ॥ १।४।६१ ॥  
 ९४ वाऽन्यतः पुमांष्टादौ खरे ॥ १।४।६२ ॥  
 ९४ दध्यस्थिसक्थयक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १।४।६३ ॥  
 ९५ अनास्खरे नोऽन्तः ॥ १।४।६४ ॥  
 ९६ खराच्छौ ॥ १।४।६५ ॥  
 ९६ धुटां प्राक् ॥ १।४।६६ ॥  
 ९७ लीं वा ॥ १।४।६७ ॥  
 ९७ बुटि ॥ १।४।६८ ॥  
 ९८ अचः ॥ १।४।६९ ॥  
 ९८ ऋदुदितः ॥ १।४।७० ॥  
 ९८ युज्रोऽसमासे ॥ १।४।७१ ॥  
 ९८ अनड्डहः सौ ॥ १।४।७२ ॥  
 ९९ पुंसोः पुमन्स् ॥ १।४।७३ ॥  
 ९९ औत औः ॥ १।४।७४ ॥  
 ९९ आ अम्शसोऽन्ता ॥ १।४।७५ ॥  
 ९९ पथिन्मथिन्मुक्षः सौ ॥ १।४।७६ ॥  
 १०० एः ॥ १।४।७७ ॥  
 १०० थो न्थ् ॥ १।४।७८ ॥  
 १०० इन् डीखरे लृक् ॥ १।४।७९ ॥  
 १०१ वोशनसो नश्चामन्त्र्ये सौ ॥ १।४।८० ॥  
 १०१ उतोऽनड्डचतुरो वः ॥ १।४।८१ ॥  
 १०१ वाः शेषे ॥ १।४।८२ ॥  
 १०१ सख्युरितोऽशावैत् ॥ १।४।८३ ॥  
 १०२ ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः  
 ॥ १।४।८४ ॥  
 १०२ नि दीर्घः ॥ १।४।८५ ॥  
 १०२ न्सहतोः ॥ १।४।८६ ॥  
 १०३ इन्हन्पूर्वार्थमणः शिस्योः ॥ १।४।८७ ॥  
 १०४ अपः ॥ १।४।८८ ॥  
 १०४ नि वा ॥ १।४।८९ ॥  
 १०४ अभ्वादेरत्वसः सौ ॥ १।४।९० ॥  
 १०५ कुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ १।४।९१ ॥  
 १०५ टादौ खरे वा ॥ १।४।९२ ॥  
 १०५ स्त्रियाम् ॥ १।४।९३ ॥

पृष्ठाङ्कः

द्वितीयाऽध्याये प्रथमः पादः ।

- १०७ त्रिचतुरस्तिस्त्वचतस्त्वा स्यादौ ॥ २।१।११ ॥  
 १०७ ऋतो रः खरेऽनि ॥ २।१।१२ ॥  
 १०८ जराया जरस् वा ॥ २।१।१३ ॥  
 १०९ अपोऽद् भे ॥ २।१।१४ ॥  
 १०९ आ रायो व्यञ्जने ॥ २।१।१५ ॥  
 १०९ युष्मदस्मदोः ॥ २।१।१६ ॥  
 ११० टाड्योसि यः ॥ २।१।१७ ॥  
 ११० शेषे लृक् ॥ २।१।१८ ॥  
 ११० मोर्वा ॥ २।१।१९ ॥  
 १११ मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २।१।२० ॥  
 ११२ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्  
 ॥ २।१।२१ ॥  
 ११३ त्वमहं सिना प्राक् चाक् ॥ २।१।२२ ॥  
 ११४ यूयं वयं जसा ॥ २।१।२३ ॥  
 ११४ तुभ्यं मर्ह्यं डया ॥ २।१।२४ ॥  
 ११४ तव मम डसा ॥ २।१।२५ ॥  
 ११४ अमौ मः ॥ २।१।२६ ॥  
 ११४ शसो नः ॥ २।१।२७ ॥  
 ११५ अभ्यम् भ्यसः ॥ २।१।२८ ॥  
 ११५ डसेश्चाद् ॥ २।१।२९ ॥  
 ११५ आम आकम् ॥ २।१।३० ॥  
 ११६ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्तसौ  
 बहुत्वे ॥ २।१।३१ ॥  
 ११७ द्वित्वे वाग्नौ ॥ २।१।३२ ॥  
 ११७ डेडसा तेमे ॥ २।१।३३ ॥  
 ११७ अमा त्वामा ॥ २।१।३४ ॥  
 ११७ असदिवाऽऽमन्न्यं पूर्वम् ॥ २।१।३५ ॥  
 ११८ जस्विशेष्यं वाऽऽमन्न्ये ॥ २।१।३६ ॥  
 ११९ नान्यत् ॥ २।१।३७ ॥  
 ११९ पादाद्योः ॥ २।१।३८ ॥  
 ११९ चाहह्वैवयोगे ॥ २।१।३९ ॥  
 १२० दृश्यर्थेऽधिन्तायाम् ॥ २।१।४० ॥  
 १२० नित्यमन्वादेशे ॥ २।१।४१ ॥  
 १२१ सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २।१।४२ ॥  
 १२१ त्यदामेनदेतदो द्वितीयादौस्य-  
 वृत्त्यन्ते ॥ २।१।४३ ॥  
 १२२ इदमः ॥ २।१।४४ ॥  
 १२२ अद्भ्यञ्जने ॥ २।१।४५ ॥  
 १२३ अनक् ॥ २।१।४६ ॥  
 १२३ दौस्यनः ॥ २।१।४७ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १२३ अयमियं पुंस्त्रियोः सौ ॥ २।१।३८ ॥  
 १२४ दो मः स्यादौ ॥ २।१।३९ ॥  
 १२४ किमः कस्तसादौ च ॥ २।१।४० ॥  
 १२४ आ द्वेरः ॥ २।१।४१ ॥  
 १२५ तः सौ सः ॥ २।१।४२ ॥  
 १२५ अदसो दः सेस्तु ङौ ॥ २।१।४३ ॥  
 १२५ असुको वाऽकि ॥ २।१।४४ ॥  
 १२६ मोऽवर्णस्य ॥ २।१।४५ ॥  
 १२६ वाऽद्रौ ॥ २।१।४६ ॥  
 १२६ मादुवर्णोऽनु ॥ २।१।४७ ॥  
 १२७ प्रागिनात् ॥ २।१।४८ ॥  
 १२७ बहुष्वेरीः ॥ २।१।४९ ॥  
 १२७ धातोरिवर्णोवर्णस्येयुच् खरे  
 प्रत्यये ॥ २।१।५० ॥  
 १२८ हृणः ॥ २।१।५१ ॥  
 १२८ संयोगात् ॥ २।१।५२ ॥  
 १२८ भ्रूश्रोः ॥ २।१।५३ ॥  
 १२८ स्त्रियाः ॥ २।१।५४ ॥  
 १२९ वाऽमृशसि ॥ २।१।५५ ॥  
 १२९ योजनेकखरस्य ॥ २।१।५६ ॥  
 १२९ स्यादौ वः ॥ २।१।५७ ॥  
 १२९ किञ्चूत्तेरसुधियस्तौ ॥ २।१।५८ ॥  
 १३० हन्पुनर्वर्षाकारैर्मुवः ॥ २।१।५९ ॥  
 १३० णषमसत्परे स्यादिविधौ च ॥ २।१।६० ॥  
 १३१ क्ताऽऽदेशोऽपि ॥ २।१।६१ ॥  
 १३२ षढोः कः सि ॥ २।१।६२ ॥  
 १३३ भ्वादेर्नामिनो दीर्घो वीर्व्यञ्जने ॥ २।१।६३ ॥  
 १३३ पदान्ते ॥ २।१।६४ ॥  
 १३४ न यि तद्धिते ॥ २।१।६५ ॥  
 १३४ कुरुच्छुरः ॥ २।१।६६ ॥  
 १३५ मो नो म्वोश्च ॥ २।१।६७ ॥  
 १३५ सन्स्वन्स्क्रस्सनङ्गुहो दः ॥ २।१।६८ ॥  
 १३६ ऋत्विज्दिशद्दशस्पृश्लज्जदधृषु-  
 षिणहो गः ॥ २।१।६९ ॥  
 १३६ नशो वा ॥ २।१।७० ॥  
 १३६ युजञ्चकुञ्चो नो ङः ॥ २।१।७१ ॥  
 १३७ सो रुः ॥ २।१।७२ ॥  
 १३७ सजुषः ॥ २।१।७३ ॥  
 १३७ अहः ॥ २।१।७४ ॥  
 १३७ रो लुप्यरि ॥ २।१।७५ ॥  
 १३८ धुदस्तृतीयः ॥ २।१।७६ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १३८ गडदवादेश्चतुर्थान्तस्यैकखरस्यादेश्चतुर्थः  
 स्वोश्च प्रत्यये ॥ २।१।७७ ॥  
 १३९ धागस्तथोश्च ॥ २।१।७८ ॥  
 १३९ अधश्चतुर्थ्यात् तथोर्धः ॥ २।१।७९ ॥  
 १४० नीम्यन्तात् परोक्षायतन्याशिषो  
 षोः ङः ॥ २।१।८० ॥  
 १४० हान्तस्याञ् जीङ्भ्यां वा ॥ २।१।८१ ॥  
 १४१ हो धुदपदान्ते ॥ २।१।८२ ॥  
 १४१ भ्वादेर्दीर्घः ॥ २।१।८३ ॥  
 १४१ मुहद्मुहस्मुहस्मिहो वा ॥ २।१।८४ ॥  
 १४२ नहाहोर्धतौ ॥ २।१।८५ ॥  
 १४२ चजः कगम् ॥ २।१।८६ ॥  
 १४३ यजसृजमृजराजभ्राजभ्रसृजव्रश्चपरिव्राजः  
 शः षः ॥ २।१।८७ ॥  
 १४४ संयोगस्यादौ स्कोर्लृक् ॥ २।१।८८ ॥  
 १४५ पदस्य ॥ २।१।८९ ॥  
 १४५ रात्सः ॥ २।१।९० ॥  
 १४६ नाम्नो नोऽनहः ॥ २।१।९१ ॥  
 १४६ नाऽऽमद्ये ॥ २।१।९२ ॥  
 १४६ ङीवे वा ॥ २।१।९३ ॥  
 १४७ मावर्णान्तोपान्ताऽपश्चमवर्गान्मतो-  
 मोवः ॥ २।१।९४ ॥  
 १४७ नाम्नि ॥ २।१।९५ ॥  
 १४७ चर्मण्वल्यष्टीवञ्चक्रीवत्कक्षीवद्दु-  
 मण्वत् ॥ २।१।९६ ॥  
 १४८ उदन्वानवधौ च ॥ २।१।९७ ॥  
 १४८ राजन्वान् सुरान्नि ॥ २।१।९८ ॥  
 १४८ नोर्म्यादिभ्यः ॥ २।१।९९ ॥  
 १४९ मासनिशासनस्य शसादौ लृग्  
 वा ॥ २।१।१०० ॥  
 १४९ दन्तपादनासिकाहृदयासृग्युषोदकदोर्य-  
 कृच्छकृतो दत्पन्नसहृदसन्यूषन्नुदनदोष-  
 न्यकञ्शकन् वा ॥ २।१।१०१ ॥  
 १४९ यखरे पादः पदणिक्यञ्चुटि ॥ २।१।१०२ ॥  
 १५० उदच उदीच् ॥ २।१।१०३ ॥  
 १५० अच् प्राग्दीर्घश्च ॥ २।१।१०४ ॥  
 १५१ कसुप्मतौ च ॥ २।१।१०५ ॥  
 १५१ श्वन् युवन्मघोनो डीस्यायञ्चुदखरे  
 व डः ॥ २।१।१०६ ॥  
 १५२ लुगातोऽनापः ॥ २।१।१०७ ॥  
 १५२ अनोऽस्य ॥ २।१।१०८ ॥

पृष्ठादः

- ९१ नपुंसकस्य शिः ॥ १।४।५५ ॥  
 ९१ औसीः ॥ १।४।५६ ॥  
 ९१ अतः स्यमोऽम् ॥ १।४।५७ ॥  
 ९२ पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १।४।५८ ॥  
 ९२ अनतो लृप् ॥ १।४।५९ ॥  
 ९३ जग्मो वा ॥ १।४।६० ॥  
 ९३ नामिनो लृप् वा ॥ १।४।६१ ॥  
 ९४ वाऽन्यतः पुमांश्चादौ स्वरे ॥ १।४।६२ ॥  
 ९४ दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यान् ॥ १।४।६३ ॥  
 ९५ अनाम्बरे नोऽन्तः ॥ १।४।६४ ॥  
 ९६ पराच्चौ ॥ १।४।६५ ॥  
 ९६ धुदां प्राक् ॥ १।४।६६ ॥  
 ९७ लो वा ॥ १।४।६७ ॥  
 ९७ छुटि ॥ १।४।६८ ॥  
 ९८ अचः ॥ १।४।६९ ॥  
 ९८ ऋदुदितः ॥ १।४।७० ॥  
 ९८ युजोऽममासे ॥ १।४।७१ ॥  
 ९८ अनद्दहः सौ ॥ १।४।७२ ॥  
 ९९ पुंसोः पुमन्त् ॥ १।४।७३ ॥  
 ९९ औत औः ॥ १।४।७४ ॥  
 ९९ आ अमृशसोऽता ॥ १।४।७५ ॥  
 ९९ पथिन्मथिन्मुक्षः सौ ॥ १।४।७६ ॥  
 १०० ऋः ॥ १।४।७७ ॥  
 १०० धो न्य् ॥ १।४।७८ ॥  
 १०० इन् डीस्वरे लृक् ॥ १।४।७९ ॥  
 १०१ वोगनसो नधामश्च्ये सौ ॥ १।४।८० ॥  
 १०१ उतोऽनद्दुचतुरो वः ॥ १।४।८१ ॥  
 १०१ वाः शेषे ॥ १।४।८२ ॥  
 १०१ सग्युरितोऽञ्चावैत् ॥ १।४।८३ ॥  
 १०२ ऋदुगनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः  
 ॥ १।४।८४ ॥  
 १०२ नि दीर्घः ॥ १।४।८५ ॥  
 १०२ न्स्सहतोः ॥ १।४।८६ ॥  
 १०३ इन्हन्पूर्पार्यम्णः शिस्योः ॥ १।४।८७ ॥  
 १०४ अपः ॥ १।४।८८ ॥  
 १०४ नि वा ॥ १।४।८९ ॥  
 १०४ अभ्वादेरत्वसः सौ ॥ १।४।९० ॥  
 १०५ कुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ १।४।९१ ॥  
 १०५ टादौ स्वरे वा ॥ १।४।९२ ॥  
 १०५ स्त्रियाम् ॥ १।४।९३ ॥

पृष्ठाद

द्वितीयाऽध्याये प्रथमः पादः ।

- १०७ त्रिचतुरस्तिस्त्र्यतस्य स्यादौ ॥ २।१।११ ॥  
 १०७ ऋतो रः ग्यरेऽनि ॥ २।१।१२ ॥  
 १०८ जराया जरस् वा ॥ २।१।१३ ॥  
 १०९ अपोऽद् भे ॥ २।१।१४ ॥  
 १०९ आ रायो व्यञ्जने ॥ २।१।१५ ॥  
 १०९ युष्मद्भ्यमदोः ॥ २।१।१६ ॥  
 ११० टाडयोसि यः ॥ २।१।१७ ॥  
 ११० शेषे लृक् ॥ २।१।१८ ॥  
 ११० मोर्वा ॥ २।१।१९ ॥  
 १११ मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २।१।२० ॥  
 ११२ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्  
 ॥ २।१।२१ ॥  
 ११३ त्वमं सिना प्राक् चाक् ॥ २।१।२२ ॥  
 ११४ यूयं वयं जसा ॥ २।१।२३ ॥  
 ११४ तुभ्यं मयं डया ॥ २।१।२४ ॥  
 ११४ तव मम उसा ॥ २।१।२५ ॥  
 ११४ अमौ मः ॥ २।१।२६ ॥  
 ११४ शसो नः ॥ २।१।२७ ॥  
 ११५ अभ्यम् भ्यसः ॥ २।१।२८ ॥  
 ११६ उसेश्चाद् ॥ २।१।२९ ॥  
 ११६ आम आकम् ॥ २।१।३० ॥  
 ११६ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वल्सौ  
 यहृत्वे ॥ २।१।३१ ॥  
 ११७ द्वित्वे चाम्नौ ॥ २।१।३२ ॥  
 ११७ डेडसा तेमे ॥ २।१।३३ ॥  
 ११७ अमा त्वामा ॥ २।१।३४ ॥  
 ११७ असदिवाऽऽमृष्यं पूर्वम् ॥ २।१।३५ ॥  
 ११८ जस्विशेष्यं वाऽऽमृष्ये ॥ २।१।३६ ॥  
 ११९ नान्यत् ॥ २।१।३७ ॥  
 ११९ पादाद्योः ॥ २।१।३८ ॥  
 ११९ चाहृवैवयोगे ॥ २।१।३९ ॥  
 १२० इयर्थेऽश्विन्तायाम् ॥ २।१।४० ॥  
 १२० नित्यमन्वादेशे ॥ २।१।४१ ॥  
 १२१ सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २।१।४२ ॥  
 १२१ त्यदामेनदेतदो द्वितीयादौस्य-  
 वृत्त्यन्ते ॥ २।१।४३ ॥  
 १२२ इदमः ॥ २।१।४४ ॥  
 १२२ अद्भ्यञ्जने ॥ २।१।४५ ॥  
 १२३ अनक् ॥ २।१।४६ ॥  
 १२३ टौस्यनः ॥ २।१।४७ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १२३ अयमित्यं पुंस्त्रियोः सौ ॥ २।१।३८ ॥  
 १२४ दो मः स्यादौ ॥ २।१।३९ ॥  
 १२४ किमः कस्तसादौ च ॥ २।१।४० ॥  
 १२४ आ द्वेरः ॥ २।१।४१ ॥  
 १२५ तः सौ सः ॥ २।१।४२ ॥  
 १२५ अदसो दः सेस्तु डौ ॥ २।१।४३ ॥  
 १२५ असुको वाजकि ॥ २।१।४४ ॥  
 १२६ मोऽवर्णस्य ॥ २।१।४५ ॥  
 १२६ वाज्द्रौ ॥ २।१।४६ ॥  
 १२६ मादुवर्णोऽनु ॥ २।१।४७ ॥  
 १२७ प्राणिनात् ॥ २।१।४८ ॥  
 १२७ बहुष्वेरीः ॥ २।१।४९ ॥  
 १२७ धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे  
 प्रत्यये ॥ २।१।५० ॥  
 १२८ हणः ॥ २।१।५१ ॥  
 १२८ संयोगात् ॥ २।१।५२ ॥  
 १२८ भ्रूश्रोः ॥ २।१।५३ ॥  
 १२८ स्त्रियाः ॥ २।१।५४ ॥  
 १२९ वाऽमशसि ॥ २।१।५५ ॥  
 १२९ योऽनेकस्वरस्य ॥ २।१।५६ ॥  
 १२९ स्यादौ वः ॥ २।१।५७ ॥  
 १२९ किञ्चुत्तेरसुधियस्तौ ॥ २।१।५८ ॥  
 १३० हन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः ॥ २।१।५९ ॥  
 १३० णषमसत्परे स्यादिविधौ च ॥ २।१।६० ॥  
 १३१ क्ताऽऽदेशोऽपि ॥ २।१।६१ ॥  
 १३२ षढोः कः सि ॥ २।१।६२ ॥  
 १३३ भ्वादेर्नामिनो दीर्घो वीर्ण्यञ्जने ॥ २।१।६३ ॥  
 १३३ पदान्ते ॥ २।१।६४ ॥  
 १३४ न वि तद्धिते ॥ २।१।६५ ॥  
 १३४ कुरुच्छरः ॥ २।१।६६ ॥  
 १३५ मो नो म्बोश्च ॥ २।१।६७ ॥  
 १३५ स्रन्मध्वन्स्रक्स्सनडुहो दः ॥ २।१।६८ ॥  
 १३६ ऋत्विज्जृदिशहशस्त्रृग्लज्जदधृषु-  
 ष्णिहो गः ॥ २।१।६९ ॥  
 १३६ नशो वा ॥ २।१।७० ॥  
 १३६ युजञ्चकुञ्चो नो ऊः ॥ २।१।७१ ॥  
 १३७ सौ रुः ॥ २।१।७२ ॥  
 १३७ सजुषः ॥ २।१।७३ ॥  
 १३७ अहः ॥ २।१।७४ ॥  
 १३७ रो लुप्यरि ॥ २।१।७५ ॥  
 १३८ बुदस्तृतीयः ॥ २।१।७६ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १३८ गडदवादेश्वतुर्यान्तस्यैकस्वरस्यादेश्वतुर्यः  
 स्वोश्च प्रत्यये ॥ २।१।७७ ॥  
 १३९ धागस्तथोश्च ॥ २।१।७८ ॥  
 १३९ अधश्चतुर्यात् तथोर्धः ॥ २।१।७९ ॥  
 १४० नार्म्यन्तात् परोक्षायतन्याशिपो  
 धोः डः ॥ २।१।८० ॥  
 १४० हान्तस्यान् जीड्भ्यां वा ॥ २।१।८१ ॥  
 १४१ हो धुदपदान्ते ॥ २।१।८२ ॥  
 १४१ भ्वादेर्दोर्धः ॥ २।१।८३ ॥  
 १४१ मुहद्मुह्मुह्लिहो वा ॥ २।१।८४ ॥  
 १४२ नहाहोर्धतौ ॥ २।१।८५ ॥  
 १४२ चजः कगम् ॥ २।१।८६ ॥  
 १४३ यजसृजमृजराजभ्राजभ्रसृज्रश्चपरिव्राजः  
 शः पः ॥ २।१।८७ ॥  
 १४४ संयोगस्यादौ स्कोर्लृक् ॥ २।१।८८ ॥  
 १४५ पदस्य ॥ २।१।८९ ॥  
 १४५ रात्सः ॥ २।१।९० ॥  
 १४६ नाप्नो नोऽनहः ॥ २।१।९१ ॥  
 १४६ नाऽऽमन्त्रे ॥ २।१।९२ ॥  
 १४६ क्लीवे वा ॥ २।१।९३ ॥  
 १४७ मावर्णान्तोपान्ताऽपश्चमवर्णान्मतो-  
 र्मोवः ॥ २।१।९४ ॥  
 १४७ नाम्नि ॥ २।१।९५ ॥  
 १४७ चर्मण्वत्यष्टीवश्चकीवत्कक्षीवदु-  
 मणवत् ॥ २।१।९६ ॥  
 १४८ उदन्वानब्धौ च ॥ २।१।९७ ॥  
 १४८ राजन्वान् सुराणि ॥ २।१।९८ ॥  
 १४८ नोर्म्यादिभ्यः ॥ २।१।९९ ॥  
 १४९ मासनिशासनस्य शसादौ लृग्  
 वा ॥ २।१।१०० ॥  
 १४९ दन्तपादनासिकाहृदयासृग्यूपोदकदोर्य-  
 कृच्छकृतो दत्पन्नसृहृदसन्धूपनुदन्दोष-  
 नयकञ्जशकन् वा ॥ २।१।१०१ ॥  
 १४९ यस्वरे पादः पदणिक्यष्टि ॥ २।१।१०२ ॥  
 १५० उदच उदीच् ॥ २।१।१०३ ॥  
 १५० अच् प्राग्दीर्घश्च ॥ २।१।१०४ ॥  
 १५१ कसुष्मतौ च ॥ २।१।१०५ ॥  
 १५१ श्वन्युवन्मघोनो डीस्यायष्टुदस्वरे  
 व उः ॥ २।१।१०६ ॥  
 १५२ लृगातोऽनापः ॥ २।१।१०७ ॥  
 १५२ अनोऽस्य ॥ २।१।१०८ ॥

पृष्ठदः

- ११ नपुंसकस्य ङिः ॥ १।४।५५ ॥  
 ११ औरीः ॥ १।४।५६ ॥  
 ११ अतः स्यमोऽम् ॥ १।४।५७ ॥  
 १२ पञ्चतोऽग्न्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १।४।५८ ॥  
 १२ अनतो लृप् ॥ १।४।५९ ॥  
 १३ जरसो वा ॥ १।४।६० ॥  
 १३ नामिनो लृग वा ॥ १।४।६१ ॥  
 १४ वाऽन्यतः पुमांश्चादौ खरे ॥ १।४।६२ ॥  
 १४ दध्यग्निसक्यव्यक्ष्णोऽन्तत्यान् ॥ १।४।६३ ॥  
 १५ अनाम्खरे नोऽन्तः ॥ १।४।६४ ॥  
 १६ खराच्छौ ॥ १।४।६५ ॥  
 १६ धुदां प्राक् ॥ १।४।६६ ॥  
 १७ लीं वा ॥ १।४।६७ ॥  
 १७ घुटि ॥ १।४।६८ ॥  
 १८ अचः ॥ १।४।६९ ॥  
 १८ ऋदुदितः ॥ १।४।७० ॥  
 १८ युजोऽज्ममासे ॥ १।४।७१ ॥  
 १८ अनदृष्टः सौ ॥ १।४।७२ ॥  
 १९ पुंसोः पुमन्त् ॥ १।४।७३ ॥  
 १९ औत औः ॥ १।४।७४ ॥  
 १९ आ अमृशमोऽजा ॥ १।४।७५ ॥  
 १९ पथिन्मथिन्मुक्षः सौ ॥ १।४।७६ ॥  
 १०० णः ॥ १।४।७७ ॥  
 १०० धो न् ॥ १।४।७८ ॥  
 १०० इन् डीखरे लृक् ॥ १।४।७९ ॥  
 १०१ वोऽशनसो नश्चामन्त्र्ये सौ ॥ १।४।८० ॥  
 १०१ उतोऽनदृष्टतुरो वः ॥ १।४।८१ ॥  
 १०१ वाः शेषे ॥ १।४।८२ ॥  
 १०१ सन्धुरितोऽगावैत् ॥ १।४।८३ ॥  
 १०२ ऋदुऽशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्ताः  
 ॥ १।४।८४ ॥  
 १०२ नि दीर्घः ॥ १।४।८५ ॥  
 १०२ न्साहृतोः ॥ १।४।८६ ॥  
 १०३ हन्हन्पूर्पार्यम्णः शिष्योः ॥ १।४।८७ ॥  
 १०४ अपः ॥ १।४।८८ ॥  
 १०४ नि वा ॥ १।४।८९ ॥  
 १०४ अम्वादेरत्वसः सौ ॥ १।४।९० ॥  
 १०५ कुशस्तुनस्तृच् पुंसि ॥ १।४।९१ ॥  
 १०५ दादौ खरे वा ॥ १।४।९२ ॥  
 १०५ खिंयाम् ॥ १।४।९३ ॥

पृष्ठदः

द्वितीयाऽप्याये प्रथमः पादः ।

- १०७ त्रिचतुरस्तिमृचतस्र स्यादौ ॥ २।१।११ ॥  
 १०७ ऋतो रः खरेऽग्नि ॥ २।१।१२ ॥  
 १०८ जराया जरस् वा ॥ २।१।१३ ॥  
 १०९ अपोऽद् मे ॥ २।१।१४ ॥  
 १०९ आ रायो व्यञ्जने ॥ २।१।१५ ॥  
 १०९ युष्मदस्मदोः ॥ २।१।१६ ॥  
 ११० दाडयोसि वः ॥ २।१।१७ ॥  
 ११० शेषे लृक् ॥ २।१।१८ ॥  
 ११० मोर्वा ॥ २।१।१९ ॥  
 १११ मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २।१।१० ॥  
 ११२ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन्  
 ॥ २।१।११ ॥  
 ११३ त्वमहं सिना प्राक् चाक् ॥ २।१।१२ ॥  
 ११४ यूयं वयं जसा ॥ २।१।१३ ॥  
 ११४ तुभ्यं मत्तं डया ॥ २।१।१४ ॥  
 ११४ तव मम डमा ॥ २।१।१५ ॥  
 ११४ अमौ मः ॥ २।१।१६ ॥  
 ११४ शसो नः ॥ २।१।१७ ॥  
 ११५ अभ्यम् भ्यसः ॥ २।१।१८ ॥  
 ११५ डसेश्चाद् ॥ २।१।१९ ॥  
 ११५ आम आकम् ॥ २।१।२० ॥  
 ११६ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वल्लसौ  
 बहुत्वे ॥ २।१।२१ ॥  
 ११७ द्वित्वे वाङ्मौ ॥ २।१।२२ ॥  
 ११७ डेडसा तेमे ॥ २।१।२३ ॥  
 ११७ अमा त्वामा ॥ २।१।२४ ॥  
 ११७ असदिवाऽऽमन्त्र्यं पूर्वम् ॥ २।१।२५ ॥  
 ११८ जस्विशेष्यं वाऽऽमन्त्र्ये ॥ २।१।२६ ॥  
 ११९ नान्यत् ॥ २।१।२७ ॥  
 ११९ पादाद्योः ॥ २।१।२८ ॥  
 ११९ चाहहवैवयोगे ॥ २।१।२९ ॥  
 १२० इत्यर्थैश्चिन्तायाम् ॥ २।१।३० ॥  
 १२० नित्यमन्वादेशे ॥ २।१।३१ ॥  
 १२१ सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २।१।३२ ॥  
 १२१ त्यदामेनदेतदो द्वितीयादौस्य-  
 वृत्त्यन्ते ॥ २।१।३३ ॥  
 १२२ इदमः ॥ २।१।३४ ॥  
 १२२ अद्वाञ्जने ॥ २।१।३५ ॥  
 १२३ अनक् ॥ २।१।३६ ॥  
 १२३ टौस्यनः ॥ २।१।३७ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १२३ अयमिद्यं पुंस्त्रियोः सौ ॥ २।१।३८ ॥  
 १२४ दो मः स्यादौ ॥ २।१।३९ ॥  
 १२४ किमः कस्तसादौ च ॥ २।१।४० ॥  
 १२४ आ द्वेरः ॥ २।१।४१ ॥  
 १२५ तः सौ सः ॥ २।१।४२ ॥  
 १२५ अदसो दः सेस्तु डौ ॥ २।१।४३ ॥  
 १२५ असुको वाजकि ॥ २।१।४४ ॥  
 १२६ मौज्वर्णस्य ॥ २।१।४५ ॥  
 १२६ वाज्द्रौ ॥ २।१।४६ ॥  
 १२६ माडुवर्णोऽनु ॥ २।१।४७ ॥  
 १२७ प्रागिनात् ॥ २।१।४८ ॥  
 १२७ बहुष्वेरीः ॥ २।१।४९ ॥  
 १२७ घातोरिवर्णोऽवर्णस्येयुव् स्वरे  
 प्रत्यये ॥ २।१।५० ॥  
 १२८ इणः ॥ २।१।५१ ॥  
 १२८ संयोगात् ॥ २।१।५२ ॥  
 १२८ भ्रुश्रोः ॥ २।१।५३ ॥  
 १२८ स्त्रियाः ॥ २।१।५४ ॥  
 १२९ वाऽमृशसि ॥ २।१।५५ ॥  
 १२९ योजनेकस्वरस्य ॥ २।१।५६ ॥  
 १२९ स्यादौ वः ॥ २।१।५७ ॥  
 १२९ किवृत्तेरसुधियस्तौ ॥ २।१।५८ ॥  
 १३० हन्पुनर्वर्षाकारैर्मुवः ॥ २।१।५९ ॥  
 १३० णषमसत्परे स्यादिविधौ च ॥ २।१।६० ॥  
 १३१ क्ताऽऽदेशोऽपि ॥ २।१।६१ ॥  
 १३२ षढोः कः सि ॥ २।१।६२ ॥  
 १३३ भ्वादेर्नामिनो दीर्घो वोर्व्यञ्जने ॥ २।१।६३ ॥  
 १३३ पदान्ते ॥ २।१।६४ ॥  
 १३४ न यि तद्धिते ॥ २।१।६५ ॥  
 १३४ कुरुच्छुरः ॥ २।१।६६ ॥  
 १३५ मो नो म्वोश्च ॥ २।१।६७ ॥  
 १३५ खन्स्वन्स्क्रस्सनडुहो दः ॥ २।१।६८ ॥  
 १३६ कृत्विज्जिदिशहृशृषृस्त्रज्जदधृषु-  
 षिणहो गः ॥ २।१।६९ ॥  
 १३६ नशो वा ॥ २।१।७० ॥  
 १३६ युजञ्चक्रुञ्चो नो डः ॥ २।१।७१ ॥  
 १३७ सो रुः ॥ २।१।७२ ॥  
 १३७ सजुषः ॥ २।१।७३ ॥  
 १३७ अहः ॥ २।१।७४ ॥  
 १३७ रो लृप्यरि ॥ २।१।७५ ॥  
 १३८ धुदस्तृतीयः ॥ २।१।७६ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १३८ गडदवादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्यादेश्चतुर्थः  
 स्वोश्च प्रत्यये ॥ २।१।७७ ॥  
 १३९ धागस्तथोश्च ॥ २।१।७८ ॥  
 १३९ अधश्चतुर्थ्यात् तथोर्यः ॥ २।१।७९ ॥  
 १४० नोम्यन्तात् परोक्षायतन्याशिपो  
 षोः डः ॥ २।१।८० ॥  
 १४० हान्तस्याञ् जीड्भ्यां वा ॥ २।१।८१ ॥  
 १४१ हो धुट्पदान्ते ॥ २।१।८२ ॥  
 १४१ भ्वादेर्दादेर्घः ॥ २।१।८३ ॥  
 १४१ मुहृद्बृहृस्त्रुहृस्त्रिहो वा ॥ २।१।८४ ॥  
 १४२ नहाहोर्धत्तौ ॥ २।१।८५ ॥  
 १४२ चजः कगम् ॥ २।१।८६ ॥  
 १४३ यजसृजमृजराजभ्राजभ्रस्त्रज्रश्चपरित्राजः  
 शः षः ॥ २।१।८७ ॥  
 १४४ संयोगस्यादौ स्कोर्लुक् ॥ २।१।८८ ॥  
 १४५ पदस्य ॥ २।१।८९ ॥  
 १४५ रात्सः ॥ २।१।९० ॥  
 १४६ नात्रो नोजहः ॥ २।१।९१ ॥  
 १४६ नाऽऽमृये ॥ २।१।९२ ॥  
 १४६ ह्रीवे वा ॥ २।१।९३ ॥  
 १४७ मावर्णान्तोपान्ताऽपश्चमवर्गान्मतो-  
 र्मोवः ॥ २।१।९४ ॥  
 १४७ नान्नि ॥ २।१।९५ ॥  
 १४७ चर्मण्वल्यष्टीवश्चक्रीवत्कक्षीवद्दु-  
 मण्वत् ॥ २।१।९६ ॥  
 १४८ उदन्वानव्यौ च ॥ २।१।९७ ॥  
 १४८ राजन्वान् सुराङ्गि ॥ २।१।९८ ॥  
 १४८ नोर्म्यादिभ्यः ॥ २।१।९९ ॥  
 १४९ मासनिशासनस्य शसादौ लृग्  
 वा ॥ २।१।१०० ॥  
 १४९ दन्तपादनासिकाहृदयासृग्यूषोदकदोर्य-  
 कृच्छकृतो दत्पन्नसहृदसन्यूषनुदनदोष-  
 न्यकञ्शकन् वा ॥ २।१।१०१ ॥  
 १४९ यस्वरे पादः पदणिक्यष्टि ॥ २।१।१०२ ॥  
 १५० उदच उदीच् ॥ २।१।१०३ ॥  
 १५० अच् प्राग्दीर्घश्च ॥ २।१।१०४ ॥  
 १५१ कसृष्मत्तौ च ॥ २।१।१०५ ॥  
 १५१ श्वन् युवन्मघोनो डीस्याद्यष्टुस्वरे  
 व उः ॥ २।१।१०६ ॥  
 १५२ लुगातोऽनापः ॥ २।१।१०७ ॥  
 १५२ अनोऽस्य ॥ २।१।१०८ ॥

पृष्ठाद्.

- १५२ ईडौ वा ॥ २।१।१०९।  
 १५२ पादिह्नभृतराजोऽणि ॥ २।१।११० ॥  
 १५२ न वमन्तसंयोगात् ॥ २।१।१११ ॥  
 १५३ हनो ह्यो ङः ॥ २।१।११२ ॥  
 १५३ लुगस्यादेत्यपदे ॥ २।१।११३ ॥  
 १५३ डित्यन्त्यम्बरादेः ॥ २।१।११४ ॥  
 १५४ अवर्णादक्षोऽन्तो वाऽनु-  
 रीटयोः ॥ २।१।११५ ॥  
 १५४ श्यञवः ॥ २।१।११६ ॥  
 १५४ दिव औः सौ ॥ २।१।११७ ॥  
 १५५ उः पदान्तेऽर्जत् ॥ २।१।११८ ॥

द्वितीयाऽध्याये द्वितीयः पादः ।

- १५६ क्रियाहेतुः कारकम् ॥ २।२।१ ॥  
 १५७ स्वतन्त्रः कर्ता ॥ २।२।२ ॥  
 १५८ कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ २।२।३ ॥  
 १६१ वाऽकर्मणामणिकर्ता णौ ॥ २।२।४ ॥  
 १६१ गतिबोधाऽऽहारार्थञ्चकर्मनित्या-  
 ऽकर्मणामनीग्याद्यदिहाञ्चन्दाय-  
 क्रन्दाम् ॥ २।२।५ ॥  
 १६३ भक्षेर्हिसायाम् ॥ २।२।६ ॥  
 १६३ बहेः प्रवेयः ॥ २।२।७ ॥  
 १६३ हृकोर्नवा ॥ २।२।८ ॥  
 १६४ दृश्यभिवदोरात्मने ॥ २।२।९ ॥  
 १६४ नायः ॥ २।२।१० ॥  
 १६५ स्मृत्यर्थद्वयेऽः ॥ २।२।११ ॥  
 १६५ कृगः प्रतियोगे ॥ २।२।१२ ॥  
 १६६ रुजार्थस्याऽऽवरिसन्तापेर्भावे  
 कर्तरि ॥ २।२।१३ ॥  
 १६६ जासनादक्राथपिपो हिसायाम् ॥ २।२।१४ ॥  
 १६६ निप्रेभ्यो ङः ॥ २।२।१५ ॥  
 १६६ विनिमेयभूतपणं पणव्यवहोः ॥ २।२।१६ ॥  
 १६७ उपसर्गाद्विवः ॥ २।२।१७ ॥  
 १६७ न ॥ २।२।१८ ॥  
 १६७ करणं च ॥ २।२।१९ ॥  
 १६८ अधेः शीङ्स्याऽऽस आधारः ॥ २।२।२० ॥  
 १६८ उपान्वध्वाद्भवसः ॥ २।२।२१ ॥  
 १६९ वाऽभिनिविशः ॥ २।२।२२ ॥  
 १६९ कालाऽध्वभावदेशं वाऽकर्म चाऽक-  
 र्माणाम् ॥ २।२।२३ ॥

पृष्ठाद्.

- १७० साधकतमं करणम् ॥ २।२।२४ ॥  
 १७० कर्मोऽभिप्रेयः संप्रदानम् ॥ २।२।२५ ॥  
 १७१ स्पृहेर्व्याप्यं वा ॥ २।२।२६ ॥  
 १७१ कुद्दृष्टेर्व्याऽस्त्यार्थं प्रति  
 कोपः ॥ २।२।२७ ॥  
 १७२ नोपसर्गात् कुद्दृष्टा ॥ २।२।२८ ॥  
 १७२ अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २।२।२९ ॥  
 १७४ क्रियाऽऽश्रयस्याऽऽधारोऽधि-  
 करणम् ॥ २।२।३० ॥  
 १७५ नाम्नः प्रथमैकद्विवहौ ॥ २।२।३१ ॥  
 १७८ आमन्त्रये ॥ २।२।३२ ॥  
 १७८ गौणात् समयानिकपाहाधिगन्तरान्तरे-  
 णाऽजित्येनतेनैद्वितीया ॥ २।२।३३ ॥  
 १७९ द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ २।२।३४ ॥  
 १७९ सर्वोभयाऽभिपरिणा तसा ॥ २।२।३५ ॥  
 १७९ लक्षणवीप्स्येत्यंभूतेष्वभिना ॥ २।२।३६ ॥  
 १८० भागिनि च प्रतिपर्यन्तुभिः ॥ २।२।३७ ॥  
 १८० हेतुसहार्थेऽनुना ॥ २।२।३८ ॥  
 १८१ उत्कृष्टेऽनुपेन ॥ २।२।३९ ॥  
 १८१ कर्मणि ॥ २।२।४० ॥  
 १८४ मिन्याविशोपणात् ॥ २।२।४१ ॥  
 १८५ कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ ॥ २।२।४२ ॥  
 १८५ सिद्धौ तृतीया ॥ २।२।४३ ॥  
 १८५ हेतुकर्तृकरणेत्यंभूतलक्षणे ॥ २।२।४४ ॥  
 १८६ सहार्थे ॥ २।२।४५ ॥  
 १८७ यद्देस्तद्वदाख्या ॥ २।२।४६ ॥  
 १८८ कृताद्यैः ॥ २।२।४७ ॥  
 १८८ काले भान्नावाऽऽधारे ॥ २।२।४८ ॥  
 १८९ प्रसितोत्सुकावबद्धैः ॥ २।२।४९ ॥  
 १८९ व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सा-  
 याम् ॥ २।२।५० ॥  
 १८९ समो ज्ञोऽस्मृतौ वा ॥ २।२।५१ ॥  
 १९० दामः संप्रदानेऽधर्म्य आत्मने  
 च ॥ २।२।५२ ॥  
 १९० चतुर्थी ॥ २।२।५३ ॥  
 १९१ तादर्थ्ये ॥ २।२।५४ ॥  
 १९१ रुचिकूप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारो-  
 त्तमर्णेषु ॥ २।२।५५ ॥  
 १९२ प्रत्याडः शुवार्थिनि ॥ २।२।५६ ॥  
 १९२ प्रत्यनोर्गृणाऽऽख्यातरि ॥ २।२।५७ ॥  
 १९२ यद्दीक्ष्वे राधीक्षी ॥ २।२।५८ ॥  
 १९३ उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ २।२।५९ ॥



पृष्ठाङ्कः

- १९३ श्रावहोस्याशपा प्रयोज्ये ॥ २।२।६० ॥  
 १९३ तुमोऽर्थे भाववचनात् ॥ २।२।६१ ॥  
 १९४ गम्यस्याऽऽप्ये ॥ २।२।६२ ॥  
 १९४ गतेर्नवाऽनाप्ते ॥ २।२।६३ ॥  
 १९५ मन्यस्याऽनावादिभ्योऽति-  
 क्तत्सने ॥ २।२।६४ ॥  
 १९५ हितसुखाभ्याम् ॥ २।२।६५ ॥  
 १९५ तद्भद्राऽऽयुष्यक्षेमार्थाऽर्थेना-  
 ऽऽशिषि ॥ २।२।६६ ॥  
 १९६ परिक्रयणे ॥ २।२।६७ ॥  
 १९६ शक्तार्थवषड्मः स्वस्तिस्वाहा-  
 स्वधामिः ॥ २।२।६८ ॥  
 १९७ पञ्चम्यपादाने ॥ २।२।६९ ॥  
 १९७ आडावधौ ॥ २।२।७० ॥  
 १९७ पर्यपाभ्यां वज्र्ये ॥ २।२।७१ ॥  
 १९७ यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने  
 प्रतिना ॥ २।२।७२ ॥  
 १९८ आख्यातर्युपयोगे ॥ २।२।७३ ॥  
 १९८ गम्ययपः कर्माऽऽधारे ॥ २।२।७४ ॥  
 १९९ प्रभृत्यन्यार्थदिकृशब्दवहिरा-  
 रादितरैः ॥ २।२।७५ ॥  
 २०० ऋणाद्धेतोः ॥ २।२।७६ ॥  
 २०० गुणादस्त्रियां नवा ॥ २।२।७७ ॥  
 २०१ आरादर्थैः ॥ २।२।७८ ॥  
 २०१ स्तोकाऽल्पकृच्छ्रकतिपयादसत्त्वे  
 करणे ॥ २।२।७९ ॥  
 २०२ अज्ञाने ज्ञः षष्ठी ॥ २।२।८० ॥  
 २०२ शेषे ॥ २।२।८१ ॥  
 २०३ रिरिष्टात्स्तादस्तादसंतसाता ॥ २।२।८२ ॥  
 २०४ कर्मणि कृतः ॥ २।२।८३ ॥  
 २०४ द्विषो वाऽतृशः ॥ २।२।८४ ॥  
 २०४ वैकत्र द्वयोः ॥ २।२।८५ ॥  
 २०५ कर्तरि ॥ २।२।८६ ॥  
 २०५ द्विहेतोरुच्यणकस्य वा ॥ २।२।८७ ॥  
 २०५ कृत्यस्य वा ॥ २।२।८८ ॥  
 २०६ नोभयोर्हेतोः ॥ २।२।८९ ॥  
 २०६ तृन्नुदन्ताऽन्ययकस्मानाऽतृश्रातृडिण-  
 कचूर्वलर्यस्य ॥ २।२।९० ॥  
 २०६ क्योरसदाधारे ॥ २।२।९१ ॥

पृष्ठाङ्कः

- २०७ वा क्लीवे ॥ २।२।९२ ॥  
 २०७ अकमेरुकस्य ॥ २।२।९३ ॥  
 २०७ एष्यहणेनः ॥ २।२।९४ ॥  
 २०८ सप्तम्यधिकरणे ॥ २।२।९५ ॥  
 २०८ नवा सुजर्थैः काले ॥ २।२।९६ ॥  
 २०८ कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ २।२।९७ ॥  
 २०८ स्वामीश्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रति-  
 भूपसूतैः ॥ २।२।९८ ॥  
 २०९ व्याप्ये क्तेनः ॥ २।२।९९ ॥  
 २०९ तद्युक्ते हेतौ ॥ २।२।१०० ॥  
 २१० अप्रत्यादावसाधुना ॥ २।२।१०१ ॥  
 २१० साधुना ॥ २।२।१०२ ॥  
 २१० निपुणेन चाऽर्च्यायाम् ॥ २।२।१०३ ॥  
 २१० खेशोऽधिना ॥ २।२।१०४ ॥  
 २११ उपेनाऽधिकिनि ॥ २।२।१०५ ॥  
 २११ यद्भावो भावलक्षणम् ॥ २।२।१०६ ॥  
 २१२ गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्यं  
 वा ॥ २।२।१०७ ॥  
 २१२ षष्ठी वाऽनादरे ॥ २।२।१०८ ॥  
 २१२ सप्तमी चाऽविभागे निर्धारणे ॥ २।२।१०९ ॥  
 २१३ क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी  
 च ॥ २।२।११० ॥  
 २१३ अधिकेन भूयसस्ते ॥ २।२।१११ ॥  
 २१४ तृतीयाऽल्पीयसः ॥ २।२।११२ ॥  
 २१४ पृथगनाना पञ्चमी च ॥ २।२।११३ ॥  
 २१४ ऋते द्वितीया च ॥ २।२।११४ ॥  
 २१४ विना ते तृतीया च ॥ २।२।११५ ॥  
 २१४ तुल्यार्थैस्तृतीयाषष्ठ्यौ ॥ २।२।११६ ॥  
 २१५ द्वितीयाषष्ठ्यावेनेनाऽनञ्चैः ॥ २।२।११७ ॥  
 २१५ हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ॥ २।२।११८ ॥  
 २१५ सर्वादेः सर्वाः ॥ २।२।११९ ॥  
 २१५ असत्त्वावादार्थात् टाङ्-  
 सिद्धयम् ॥ २।२।१२० ॥  
 २१६ जाल्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो  
 बहुवत् ॥ २।२।१२१ ॥  
 २१६ अविशेषणे द्वौ चाऽऽसदः ॥ २।२।१२२ ॥  
 २१७ फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे ॥ २।२।१२३ ॥  
 २१७ गुरावेकश्च ॥ २।२।१२४ ॥  
 ॥ द्वितीयाऽध्याये द्वितीयः पादः ॥

## २ परिशिष्टम् ।

कलिकालसर्वज्ञविरचितफारकपर्यन्तसूत्राणां

अकाराद्यनुक्रमणिका ।

पृष्ठाद्.

अ.

- ३८ अक्षवर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीवादेः ॥ १ । २ । ४१ ॥  
 ६ अ-अः अनुस्वारयिगर्गो ॥ १ । १ । ९ ॥  
 ८ अम मृष्यदापसा. दिष्ट ॥ १ । १ । २६ ॥  
 २०७ अफमेरुफस्य । २ । २ । ९३ ॥  
 ५८ अघोषे प्रथमोऽक्षितः ॥ १ । ३ । ५० ॥  
 ९८ अचः ॥ १ । ४ । ६९ ॥  
 १५० अच्च प्राग्दीर्घश्च ॥ २ । १ । १०४ ॥  
 २०२ अमाने णः पृष्ठी ॥ २ । २ । ८० ॥  
 ५२ अच्युर्गस्याऽन्तस्यातः ॥ १ । ३ । ३३ ॥  
 ३७ अच्युर्गत् स्वरे योऽसन् ॥ १ । २ । ४० ॥  
 ९१ अत स्वमोऽम् ॥ १ । ४ । ५७ ॥  
 ६४ अत आ' म्यादी जसभ्याम्ये ॥ १ । ४ । १ ॥  
 ४६ अतोऽति रोरुः ॥ १ । ३ । २० ॥  
 १२५ अदसो वः सेस्तु टां ॥ २ । १ । ४३ ॥  
 ५१ अदीर्घाद् विरामकव्यञ्जने ॥ १ । ३ । ३२ ॥  
 ८७ अदेत. स्वमोर्लुङ् ॥ १ । ४ । ४४ ॥  
 ३५ अदो मुमी ॥ १ । २ । ३५ ॥  
 १२२ अह्वञ्जने ॥ २ । १ । ३५ ॥  
 २० अधणतस्वाद्या शसः ॥ १ । १ । ३२ ॥  
 १३९ अधञ्चतुर्थात् तयोर्धः ॥ २ । १ । ७९ ॥  
 १५ अधातुविभक्तिधाप्यमर्षवन्नाम ॥ १ । १ । २७ ॥  
 २१३ अधिकेन भूयसस्ते ॥ २ । २ । १११ ॥  
 १६८ अधे. शीट्स्वाऽऽस आघार. ॥ २ । २ । २० ॥  
 १२३ अनक् ॥ २ । १ । ३६ ॥  
 ९८ अनङ्गुहः सां ॥ १ । ४ । ७२ ॥  
 ९२ अनतो लुप् ॥ १ । ४ । ५९ ॥  
 २३ अनन्त पञ्चम्या प्रत्ययः ॥ १ । १ । ३८ ॥  
 ६ अनवर्णा नामी ॥ १ । १ । ६ ॥  
 ४९ अनाह्रमाहो दीर्घाद् वा ङः ॥ १ । ३ । २८ ॥  
 ९५ अनामस्वरे नोऽन्तः ॥ १ । ४ । ६४ ॥  
 ३० अनियोगे लुगेवे ॥ १ । २ । १६ ॥  
 १५२ अनोऽस्य ॥ २ । १ । १०८ ॥  
 ७ अन्यो घोषवान् ॥ १ । १ । १४ ॥  
 १०४ अपः ॥ १ । ४ । ८८ ॥  
 ७ अपञ्चमान्तस्यो धुट् ॥ १ । १ । ११ ॥  
 १७२ अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २ । २ । २९ ॥  
 १०९ अपोऽद् भे ॥ २ । १ । ४ ॥  
 २१० अपत्यादावसाधुना ॥ २ । २ । १०१ ॥  
 २२ अपयोगीत् ॥ १ । १ । ३७ ॥  
 ११५ अभ्यम् म्यसः ॥ २ । १ । १८ ॥

पृष्ठाद्.

- १०४ अभ्वादेस्तसः सौ ॥ १ । ४ । ९० ॥  
 ११७ अमा त्वामा ॥ २ । १ । २४ ॥  
 ११४ अमा मः ॥ २ । १ । १६ ॥  
 १२३ अयमित्यं पुण्ड्रियोः सौ ॥ २ । १ । ३८ ॥  
 ६० अरोः सुपि रः ॥ १ । ३ । ५७ ॥  
 ८८ अर्टां च ॥ १ । ४ । ३९ ॥  
 २४ अर्द्धपूर्वपद पूरण ॥ १ । १ । ४२ ॥  
 १ अर्द्ध ॥ १ । १ । १ ॥  
 ४७ अवर्णमोभगोऽथोर्लुङ्गसन्धि ॥ १ । ३ । २२ ॥  
 ७३ अवर्णस्यामः साम् ॥ १ । ४ । १५ ॥  
 २७ अवर्णम्येवर्णादिर्नैदोदरल् ॥ १ । २ । ६ ॥  
 १५४ अवर्णादत्रोऽन्तो वाऽनुदीर्घयोः ॥ २ । १ । ११५ ॥  
 २१६ अविधोषणे द्वौ वाऽस्वदः ॥ २ । २ । १२२ ॥  
 ९० अष्ट और्जस्रशमोः ॥ १ । ४ । ५३ ॥  
 २१५ असत्त्वारार्थोद्वाहसिद्धयम् ॥ २ । २ । १२० ॥  
 ११७ असदिवाऽऽमन्त्र्य पूर्वम् ॥ २ । १ । २५ ॥  
 १२५ असुको वाऽकि ॥ २ । १ । ४४ ॥  
 ४८ अस्पष्टावर्णात् त्वनुञ्जि वा ॥ १ । ३ । २५ ॥  
 १३७ अङ्गः ॥ २ । १ । ७४ ॥

आ.

- ९९ आ अमृशसोऽन्त ॥ १ । ४ । ७५ ॥  
 १९८ आर्यातर्युपयोगे ॥ २ । २ । ७३ ॥  
 १९७ आडावधौ ॥ २ । २ । ७० ॥  
 ७ आद्यद्वितीयशपसा अघोषाः ॥ १ । १ । १३ ॥  
 १२४ आ ह्रेरः ॥ २ । १ । ४१ ॥  
 ७४ आपो हिता यैयास्यास्याम् ॥ १ । ४ । १७ ॥  
 ११५ आम आकम् ॥ २ । १ । २० ॥  
 १७८ आमन्त्र्ये ॥ २ । २ । ३२ ॥  
 ८१ आमो नाम् वा ॥ १ । ४ । ३१ ॥  
 २०१ आराद्धैः ॥ २ । २ । ७८ ॥  
 १०९ आ रायो व्यञ्जने ॥ २ । १ । ५ ॥

इ.

- १२८ इणः ॥ २ । १ । ५१ ॥  
 १२२ इदमः ॥ २ । १ । ३४ ॥  
 ६५ इदमदसोऽप्येच ॥ १ । ४ । ३ ॥  
 ७६ इदुतोऽलेरीद्वृ ॥ १ । ४ । २१ ॥  
 १०० इन् ङीस्वरे लुङ् ॥ १ । ४ । ७९ ॥  
 ३४ इन्द्रे ॥ १ । २ । ३० ॥  
 १०३ इन्द्रन्पूर्वार्थमः शिस्तोः ॥ १ । ४ । ८७ ॥  
 ३१ इवर्णादित्से स्वरे यवरकम् ॥ १ । २ । २१ ॥

पृष्ठाङ्कः

इ.

- १५२ ईडौ वा ॥ २ । १ । १०९ ॥  
३५ ईदूदेद् द्विवचनम् ॥ १ । २ । ३४ ॥  
३४ इरे वा ॥ १ । २ । ३३ ॥

उ.

- १५५ उः पदान्तेऽनूत् ॥ २ । १ । ११८ ॥  
१०१ उतोऽनडुच्चतुरो वः ॥ १ । ४ । ८१ ॥  
१८१ उत्कृष्टेऽनूपेन ॥ २ । २ । ३९ ॥  
१९३ उत्पातेन घ्राप्ये ॥ २ । २ । ५९ ॥  
५६ उदः स्थास्तम्भः सः ॥ १ । ३ । ४४ ॥  
१५० उदच उदीच ॥ २ । १ । १०३ ॥  
१४८ उद्वानव्यौ च ॥ २ । १ । ९७ ॥  
३१ उपसर्गस्यानिघेदोति ॥ १ । २ । १९ ॥  
१६७ उपसर्गाद्विवः ॥ २ । २ । १७ ॥  
१६८ उपान्वध्याहुवसः ॥ २ । २ । २१ ॥  
२११ उपेनाऽघिकिनि ॥ २ । २ । १०५ ॥

ऊ.

- ३७ ऊँ चोञ् ॥ १ । २ । ३९ ॥  
२९ ऊटा ॥ १ । २ । १३ ॥

ऋ.

- २५ ऋलृति ह्रस्वो वा ॥ १ । २ । २ ॥  
२०० ऋणाद्धेतोः ॥ १ । २ । ७६ ॥  
२७ ऋणे प्रदशार्णवसनकम्बलवत्सरवत्सर-  
स्याद् ॥ १ । २ । ७ ॥  
२८ ऋते तृतीयासमासे ॥ १ । २ । ८ ॥  
२१४ ऋते द्वितीया च ॥ २ । २ । ११४ ॥  
८३ ऋतो डुद् ॥ १ । ४ । ३७ ॥  
१०७ ऋतो रः स्वरेऽनि ॥ २ । १ । २ ॥  
३३ ऋतो रस्तद्धिते ॥ १ । २ । २६ ॥  
२६ ऋतो वा तौ च ॥ १ । २ । ४ ॥  
२८ ऋत्यारुपसर्गस्य ॥ १ । २ । ९ ॥  
१३६ ऋत्विज्दिशद्दशसृश्रज्जदधृपुष्णिहो  
गः ॥ २ । १ । ६९ ॥  
९८ ऋदुदितः ॥ १ । ४ । ७० ॥  
१०२ ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसस्र्ख सेर्डाः ॥ १ । ४ । ८४ ॥

ऌ.

- २६ ऋस्तयो. ॥ १ । २ । ५ ॥

ॠ.

- २५ ॠत ॠलृ ऋलृभ्या वा ॥ १ । २ । ३ ॥  
२९ ॠत्याल्वा ॥ १ । २ । ११ ॥

ॡ.

- ६ ॡदन्ताः समानाः ॥ १ । १ । ७ ॥

ए.

- ६ ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षरम् ॥ १ । १ । ८ ॥  
१०० एः ॥ १ । ४ । ७७ ॥  
५ एकद्वित्रिमात्र ह्रस्वदीर्घभृताः ॥ १ । १ । ५ ॥  
५७ एतदक्ष व्यञ्जनेऽनञ्प्रसमासे ॥ १ । ३ । ४६ ॥  
८६ एदापः ॥ १ । ४ । ४२ ॥  
३२ एदेतोऽयाय् ॥ १ । २ । २३ ॥

पृष्ठाङ्कः

- ३३ एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् ॥ १ । २ । २७ ॥  
८२ एदोद्भ्यां डसिडसो रः ॥ १ । ४ । ३५ ॥  
६५ एदुहृस्मोसि ॥ १ । ४ । ४ ॥  
२०७ एष्यहणेनः ॥ २ । २ । ९४ ॥

ऐ.

- २९ ऐदौव् सन्ध्यक्षरैः ॥ १ । २ । १२ ॥

ओ.

- ९९ ओत औ. ॥ १ । ४ । ७४ ॥  
३६ ओदन्त ॥ १ । २ । ३७ ॥  
३२ ओदोतोऽवाय् ॥ १ । २ । २४ ॥  
३१ ओमाडि ॥ १ । २ । १८ ॥

औ.

- ७६ औता ॥ १ । ४ । २० ॥  
५ औदन्ताः खरा. ॥ १ । १ । ४ ॥  
९१ औरीः ॥ १ । ४ । ५६ ॥

क.

- १६७ करणं च ॥ २ । २ । १९ ॥  
२०५ कर्तरि ॥ २ । २ । ८६ ॥  
१५८ कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ २ । २ । ३ ॥  
१८१ कर्मणि ॥ २ । २ । ४० ॥  
२०४ कर्मणि कृत. ॥ २ । २ । ८३ ॥  
१७० कर्माऽभिप्रेय. संप्रदानम् ॥ २ । २ । २५ ॥  
२४ कसमासेऽप्यर्द्ध ॥ १ । १ । ४१ ॥  
७ कादिव्यञ्जनम् ॥ १ । १ । १० ॥  
१८५ कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ ॥ २ । २ । ४२ ॥  
१६९ कालाऽध्वभावदेशं वाऽकर्म चाऽकर्म-  
णाम् ॥ २ । २ । ३ ॥  
१८८ काले भाग्नवाऽऽचारे ॥ २ । २ । ४८ ॥  
१२४ किम. कस्तसादौ च ॥ २ । १ । ४० ॥  
१३४ कुरुच्छुर. ॥ २ । १ । ६६ ॥  
२०८ कुशलाऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ २ । २ । ९७ ॥  
१६५ कृग. प्रतियत्ने ॥ २ । २ । १२ ॥  
१८८ कृताद्यैः ॥ २ । २ । ४७ ॥  
२०५ कृत्यस्य वा ॥ २ । २ । ८८ ॥  
७८ केवलसखिपतेरौ ॥ १ । ४ । २६ ॥  
२०६ कयोरसदाघारे ॥ २ । २ । ९१ ॥  
१३१ काऽऽदेशोऽपि ॥ २ । १ । ६१ ॥  
२२ कत्वानुमम् ॥ १ । १ । ३५ ॥  
२१३ क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च ॥ २ । २ । ११० ॥  
१८४ क्रियाविशेषणात् ॥ २ । २ । ४१ ॥  
१७४ क्रियाऽऽश्रयस्याऽऽघारोऽधिकरणम् ॥ २ । २ । ३० ॥  
१५६ क्रियाहेतुः कारकम् ॥ २ । २ । १ ॥  
१७१ कुद्द्रुहेर्ष्याऽस्यार्थैर्य प्रति कोपः ॥ २ । २ । २७ ॥  
१०५ कुशस्तनस्वच् पुसि ॥ १ । ४ । ९१ ॥  
१४६ क्लीबे वा ॥ २ । १ । ९३ ॥  
१५१ कसृष्मतो च ॥ २ । १ । १०५ ॥  
१२९ किञ्चुत्तेरसृधियस्ती ॥ २ । १ । ५८ ॥

ख.

- ८३ खितिस्त्रीतीय उद् ॥ १ । ४ । ३६ ॥  
५९ ख्याति ॥ १ । ३ । ५४ ॥

पृष्ठाङ्कः

ग.

- १३८ गद्ववादेऽनुर्भान्तस्यैकगारस्यादेऽनुर्ध-  
स्त्वोच्च प्रत्यये ॥ २ । १ । ७७ ॥  
२२ गतिः ॥ १ । १ । ३६ ॥  
१६१ गतिबोधोऽऽहारार्थशब्दकर्मनित्याऽकर्मणा-  
मनीमापदिताशब्दायकन्ताम् ॥ २ । २ । ५ ॥  
२१२ गते गम्यऽघानोऽन्तेर्नकार्यं वा ॥ २ । २ । १०७ ॥  
१९४ गतेर्नवाऽनामे ॥ २ । २ । ६३ ॥  
१९८ गम्ययप. कर्माऽऽघारे ॥ २ । २ । ७४ ॥  
१९४ गम्यस्याऽऽप्ये ॥ २ । २ । ६२ ॥  
२०० गुणादखिया नवा ॥ २ । २ । ७७ ॥  
२१७ गुराचैकः ॥ २ । २ । १२४ ॥  
३३ गोर्नाञ्च्यचोऽङ्गे ॥ १ । २ । २८ ॥  
१७८ गौणात् समयानिकयादाधिगन्तरान्तरेणाऽति-  
येनतेर्नैर्द्वितीया ॥ २ । २ । ३३ ॥

घ.

- ९७ घुष्टि ॥ १ । ४ । ६८ ॥  
४७ घोषवति ॥ १ । ३ । २१ ॥

ङ.

- ११५ ङलेष्वाद् ॥ २ । १ । १९ ॥  
७७ ङिर्ङी ॥ १ । ४ । २५ ॥  
७७ ङित्यदिति ॥ १ । ४ । २३ ॥  
११७ ङेऽसा तेमे ॥ २ । १ । २३ ॥  
६६ ङेऽस्योर्याती ॥ १ । ४ । ६ ॥  
७१ ङेः सिन् ॥ १ । ४ । ८ ॥  
४५ ङो. फटावन्ती सिटि नवा ॥ १ । ३ । १७ ॥

च.

- १४२ चजः कगम् ॥ २ । १ । ८६ ॥  
४१ चटते सद्धितीये ॥ १ । ३ । ७ ॥  
२९० चतुर्यी ॥ २ । २ । ५३ ॥  
१४७ चर्मण्वत्यष्टीवघञीवत्कक्षीवद्गुमण्वत् ॥ २ । १ । ९६ ॥  
१९ चादयोऽसत्त्वे ॥ १ । १ । ३१ ॥  
३६ चादि. स्वराऽनाद् ॥ १ । २ । ३६ ॥  
११९ चाहहवैवयोगे ॥ २ । १ । २९ ॥

ज.

- ९३ जरसो वा ॥ १ । ४ । ६० ॥  
१०८ जराया जरस् वा ॥ २ । १ । ३ ॥  
७१ जस हः ॥ १ । ४ । ९ ॥  
७६ जस्येदोत् ॥ १ । ४ । २२ ॥  
११८ जसविशेष्यं वाऽऽमन्त्र्ये ॥ २ । १ । २६ ॥  
२१६ जात्याऽयाया नवैकोऽसंख्यो बहुवत् ॥ २ । १ । २१ ॥  
१६६ जासनाटक्राथपिपो हिंसायाम् ॥ २ । २ । १४ ॥

ट.

- ७७ टः पुंसि ना ॥ १ । ४ । २४ ॥  
६५ टाडसोरिनस्यौ ॥ १ । ४ । ५ ॥  
११० टाड्योसि य. ॥ २ । १ । ७ ॥  
१०५ टावौ स्वरे वा ॥ १ । ४ । ९२ ॥  
१२३ टौस्यनः ॥ २ । १ । ३७ ॥  
७५ टौत्येत् ॥ १ । ४ । १९ ॥

पृष्ठाङ्कः

ट.

- ९० टतिष्ण. संख्याया लुप् ॥ १ । ४ । ५४ ॥  
२३ टत्यत् सख्यात् ॥ १ । १ । ३९ ॥  
१५३ टित्वन्त्यस्वरादे. ॥ २ । १ । ११४ ॥  
४५ ङ. सः त्सोऽश्च ॥ १ । ३ । १८ ॥

ढ.

- ५५ ढस्नटे ॥ १ । ३ । ४२ ॥

ण.

- १३० णप्रमस्तपरे स्यादिनिर्घो च ॥ २ । १ । ६० ॥

त.

- १२५ त. सां स. ॥ २ । १ । ४२ ॥  
५२ तत शिटः ॥ १ । ३ । ३६ ॥  
५२ ततोऽप्या. ॥ १ । ३ । ३४ ॥  
४० ततो द्धतुर्थ. ॥ १ । ३ । ३ ॥  
५६ तद. सेः सरे पादार्या ॥ १ । ३ । ४५ ॥  
११ तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २० ॥  
१९५ तद्ग्राऽऽयुष्यक्षेमाऽर्धाऽर्थेना-  
ऽऽशिपि ॥ २ । २ । ६६ ॥  
२०९ तगुक्ते हेतौ ॥ २ । २ । १०० ॥  
११४ तव मम टसा ॥ २ । १ । १५ ॥  
६१ तवर्गस्य श्ववर्गेष्ववर्गाभ्यां योगे चट-  
घर्गां ॥ १ । ३ । ६० ॥  
१९१ तादर्थ्यं ॥ २ । २ । ५४ ॥  
७३ तीयं द्विकार्यं वा ॥ १ । ४ । १४ ॥  
११४ तुभ्यं मया द्या ॥ २ । १ । १४ ॥  
१९३ तुमोऽर्थे भाववचनात् ॥ २ । २ । ६१ ॥  
८ तुल्यस्थानाऽऽस्य प्रयत्न. स्वः ॥ १ । १ । १७ ॥  
२१४ तुल्यार्थेऽस्त्वतीयापद्यौ ॥ २ । २ । ११६ ॥  
५८ तृतीयस्त्वृतीयचतुर्थे ॥ १ । ३ । ४९ ॥  
३९ तृतीयस्य पञ्चमे ॥ १ । ३ । १ ॥  
७२ तृतीयान्तात् पूर्वोवर योगे ॥ १ । ४ । १३ ॥  
२१४ तृतीयाऽल्पीयस ॥ २ । २ । ११२ ॥  
२०६ तृत्तुदन्ताऽव्ययकखानाऽतृत्तुशतद्विण-  
कचुखलर्थस्य ॥ २ । २ । ९० ॥  
८४ तृत्तुखनमृनेऽृत्वपृक्षन्तृत्तुपोत्प्रशाखो  
शुट्याद् ॥ १ । ४ । ३८ ॥  
४४ तौ मुमो व्यञ्जने स्त्रौ ॥ १ । ३ । १४ ॥  
१२१ त्यदासेनदेतदो द्वितीयादौस्य-  
वृत्त्यन्ते ॥ २ । १ । ३३ ॥  
१०७ त्रिचतुरस्तिस्त्वृत्तत्त्वाद् ॥ २ । १ । १ ॥  
८२ त्रेस्त्रयः ॥ १ । ४ । ३४ ॥  
११३ त्वमह सिना प्राक् चाकः ॥ २ । १ । १२ ॥  
११२ त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकसिन् ॥ २ । १ । ११ ॥

थ.

- १०० थो न्थ ॥ १ । ४ । ७८ ॥

द.

- ९४ दध्यस्थिसकथ्यक्ष्णोऽन्तस्यात् ॥ १ । ४ । ६३ ॥  
१४९ दन्तपादनासिकाहृदयास्युगोदकदोर्य-  
कृच्छकृतो दन्तसहृदसन्पुषुदन्तदोपन्-  
यकन्शकन् वा ॥ २ । १ । १०१ ॥

पृष्ठाङ्कः

- १९० दामः संप्रदानेऽघर्म्य आत्मने च ॥ २।२।५२ ॥  
 १५४ दिव भौः सौ ॥ २।१।११७ ॥  
 ८७ दीर्घद्वयाप्यञ्जनात् सेः ॥ १।४।४५ ॥  
 ८८ दीर्घो नाम्यत्सिचतसृपूः ॥ १।४।४७ ॥  
 १३० ह्यनुवर्णकारैर्भुवः ॥ २।१।५९ ॥  
 १६४ दृश्यभिवदोरात्मने ॥ २।२।९ ॥  
 १२० दृश्यैश्चिन्तायाम् ॥ २।१।३० ॥  
 १२४ दो मः स्यादौ ॥ २।१।३९ ॥  
 ७२ ह्यन्त्रे वा ॥ १।४।११ ॥  
 ४३ द्विः कानः कानि स ॥ १।३।११ ॥  
 २१५ द्वितीयाप्यञ्जनेनाऽनञ्जेः ॥ २।२।११७ ॥  
 १७९ द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ २।२।३४ ॥  
 ११७ द्वित्वे वासौ ॥ २।१।२२ ॥  
 २०४ द्विपो वाऽवृशः ॥ २।२।८४ ॥  
 २०५ द्विहेतोर्ऋयणकस्य वा ॥ २।२।८७ ॥

घ.

- १३९ घागस्तथोश्च ॥ २।१।७८ ॥  
 १२७ घातोऽरिषणोवर्णस्येयुष् स्वरे प्रत्यये ॥ २।१।५० ॥  
 १३८ घुटस्त्वृतीयः ॥ २।१।७६ ॥  
 ९६ घुटां प्राक् ॥ १।४।६६ ॥  
 ५८ घुटो घुटि स्वे वा ॥ १।३।४८ ॥

न.

- १६७ न ॥ २।२।१८ ॥  
 १२ नं क्ये ॥ १।१।२२ ॥  
 ४६ नः शि ङ् ॥ १।३।१९ ॥  
 ७८ न ना द्विदेत् ॥ १।४।२७ ॥  
 ९१ नपुंसकस्य शिः ॥ १।४।५५ ॥  
 १३४ न यि तद्धिते ॥ २।१।६५ ॥  
 ५३ न रात् स्वरे ॥ १।३।३७ ॥  
 ७४ नवम्यः पूर्वम्य इस्मात्स्मिन् वा ॥ १।४।१६ ॥  
 १५२ न वमन्तसंयोगात् ॥ २।१।१११ ॥  
 २०८ नवा सुजर्थैः काले ॥ २।२।९६ ॥  
 ६२ न शात् ॥ १।३।६२ ॥  
 १३६ नशो वा ॥ २।१।७० ॥  
 ५९ न सन्धिः ॥ १।३।५२ ॥  
 ७२ न सर्वादिः ॥ १।४।१२ ॥  
 १२ न स्तं मत्वर्थे ॥ १।१।२३ ॥  
 १४२ नहाहोर्घती ॥ २।१।८५ ॥  
 १६४ नाथः ॥ २।२।१० ॥  
 ११९ नाऽन्यत् ॥ २।१।२७ ॥  
 १४६ नाऽऽमक्ये ॥ २।१।९२ ॥  
 ११ नाम सिद्व्यञ्जने ॥ १।१।२१ ॥  
 ९३ नामिनो लुग् वा ॥ १।४।६१ ॥  
 १७५ नास्रः प्रथमेकद्विवहौ ॥ २।२।३१ ॥  
 १४७ नास्त्रि ॥ २।१।९५ ॥  
 २८ नास्त्रि वा ॥ १।२।१० ॥  
 १४६ नास्रो नोऽनहः ॥ २।१।९१ ॥  
 ८६ नित्यदिद्विस्रराऽम्भार्यस्य ह्रस्वः ॥ १।४।४३ ॥  
 १२० नित्यमन्वादेशे ॥ २।१।३१ ॥  
 १०२ नि दीर्घः ॥ १।४।८५ ॥

पृष्ठाङ्कः

- २१० निपुणेन चाऽर्चायाम् ॥ २।२।१०३ ॥  
 १६६ निप्रेभ्यो घ्नः ॥ २।२।१५ ॥  
 ८९ निय आम् ॥ १।४।५१ ॥  
 १०४ नि वा ॥ १।४।८९ ॥  
 ८८ नुर्वा ॥ १।४।४८ ॥  
 ४३ नूनः पेषु वा ॥ १।३।१० ॥  
 ७१ नेमाऽर्धप्रथमचरमतयाऽयाऽल्पकति-  
 पयस्य वा ॥ १।४।१० ॥  
 १७२ नोषसर्गात् कुद्द्रुहा ॥ २।२।२८ ॥  
 ४२ नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च  
 पूर्वस्याऽधुत्परि ॥ १।३।८ ॥  
 २०६ नोभयोर्हेतोः ॥ २।२।८९ ॥  
 १४८ नोर्म्यादिभ्यः ॥ २।१।९९ ॥  
 १०२ न्स्महतोः ॥ १।४।८६ ॥

प.

- ७ पञ्चको वर्गः ॥ १।१।१२ ॥  
 ९२ पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ॥ १।४।५८ ॥  
 १९७ पञ्चम्यपादाने ॥ २।२।६९ ॥  
 ९९ पथिन्मथिन्नुभुक्ष सौ ॥ १।४।७६ ॥  
 १४५ पदस्य ॥ २।१।८९ ॥  
 ११६ पदाद्युग्विभक्त्यैकवाक्ये वन्नसो  
 बहुत्वे ॥ २।१।२१ ॥  
 ६२ पदान्ताट्टवर्गादनामूनगरीनवते. ॥ १।३।६३ ॥  
 १३३ पदान्ते ॥ २।१।६४ ॥  
 १९६ परिक्रयणे ॥ २।२।६७ ॥  
 १९७ पर्यपाभ्यां वर्ज्ये ॥ २।२।७१ ॥  
 ११९ पादाद्योः ॥ २।१।२८ ॥  
 ९९ पुंसो. पुमन्त् ॥ १।४।७३ ॥  
 १६ पुंलियोः स्यमौजस् ॥ १।१।२९ ॥  
 ४२ पुमोऽश्लिष्यघोषेऽर्यागिर. ॥ १।३।९ ॥  
 ५३ पुत्रस्याऽऽदिनपुत्रादिन्याक्रोशे ॥ १।३।३८ ॥  
 २१४ पृथग्नाना पञ्चमी च ॥ २।२।११३ ॥  
 १९२ प्रत्यनोर्गुणाऽऽर्यातरि ॥ २।२।५७ ॥  
 ४० प्रत्यये च ॥ १।३।२ ॥  
 १९२ प्रत्याह. श्रुवार्थिनि ॥ २।२।५६ ॥  
 ४० प्रथमादघुटि शब्दः ॥ १।३।४ ॥  
 १९९ प्रभृत्यन्यार्थदिक्रान्दवहिरारादि-  
 तरे. ॥ २।२।७५ ॥  
 १८९ प्रसितोत्सुकावचदैः ॥ २।२।४९ ॥  
 २९ प्रस्यैष्योढोढ्यूहे स्वरेण ॥ १।२।१४ ॥  
 १२७ प्रागिनात् ॥ २।१।४८ ॥  
 ५० मुताद् वा ॥ १।३।२९ ॥  
 ३४ मुतोऽनितौ ॥ १।२।३२ ॥

फ.

- २१७ फल्गुनीप्रोष्टपदस्य भे ॥ २।२।१२३ ॥

ब.

- २४ बहुगर्ण भेदे ॥ १।१।४० ॥  
 १२७ बहुध्वेरीः ॥ २।१।४९ ॥

भ.

- १२८ भृशोः ॥ २।१।५३ ॥  
 १६३ भक्षोर्हिसायाम् ॥ २।२।६ ॥

पृष्ठाङ्कः

१८० भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः ॥ २।२।३७ ॥  
 ६४ भिस पेस ॥ १।४।२ ॥  
 १४१ भ्वादेर्दादेर्घः ॥ २।१।८३ ॥  
 १३३ भ्वादेर्नामिनो दीर्घोर्धोर्न्यजने ॥ २।१।६३ ॥

म.

४५ मनयचलपरे हे ॥ १।३।१५ ॥  
 १३ मनुर्गभोऽदित्योयति ॥ १।१।२४ ॥  
 १११ मन्तस्य युवावौ द्वयोः ॥ २।१।१० ॥  
 १९५ मन्यन्त्याऽनावादिभ्योऽतिकुत्मने ॥ २।२।६३ ॥  
 ८५ मातुर्मातः पुत्रेऽर्धे सिनाऽऽमनये ॥ १।४।२० ॥  
 १२५ मादुवर्णोऽनु ॥ २।१।४७ ॥  
 १४७ मावर्णान्तोपान्तापञ्चमवर्णान्मतोर्मो  
 चः ॥ २।१।९४ ॥  
 १४९ मासनिशासनस्य शमादो लुग वा ॥ २।१।१०० ॥  
 १४१ मुद्गद्वह्नुमिहो वा ॥ २।१।८४ ॥  
 १३५ मो नो म्योद्य ॥ २।१।६७ ॥  
 ११० मोर्वा ॥ २।१।९ ॥  
 १२९ मोऽवर्णस्य ॥ २।१।४५ ॥  
 ५३ सां धुद्वर्गोऽन्योऽपदान्ते ॥ १।३।३० ॥

य.

१४३ यजस्जमृजराजभ्राजभ्रस्जमव्यपरित्राज  
 शः प ॥ २।१।८७ ॥  
 १९७ यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना ॥ २।२।७२ ॥  
 २११ यद्भावो भावलक्षणम् ॥ २।२।१०६ ॥  
 १८७ यद्वेदस्तद्वदार्था ॥ २।२।४६ ॥  
 १९२ यदीदये राधीक्षी ॥ २।२।५८ ॥  
 ७ यरलवा भन्तस्याः ॥ १।१।१५ ॥  
 १४९ यस्वरे पाद्. पङ्गिण्यद्युष्टि ॥ २।१।१०२ ॥  
 १३६ युजञ्जुञ्चो नोडः ॥ २।१।७१ ॥  
 ९८ युञ्जोऽसमासे ॥ १।४।७१ ॥  
 १०९ युष्मदस्मदोः ॥ २।१।६ ॥  
 ११४ यूय वय जसा ॥ २।१।१३ ॥  
 १२९ योऽनेकस्वरस्य ॥ २।१।५६ ॥  
 ३२ व्यक्ये ॥ १।२।२५ ॥

र.

४१ रः कलपफयोः क्लृपौ ॥ १।३।५ ॥  
 ५९ रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ॥ १।३।५३ ॥  
 १४८ राजन्वान् सुराक्षि ॥ २।१।९८ ॥  
 १४५ रात्स. ॥ २।१।९० ॥  
 २०३ रिरिष्टात्स्तादस्तादसतसाता ॥ २।२।८२ ॥  
 १९१ रुचिकृप्यर्थधारिभिः प्रेयविकारोत्त-  
 मर्णेषु ॥ २।२।५५ ॥  
 १६५ रुजार्यस्याऽज्वरिसंतापेर्भावे कर्तरि ॥ २।२।१३ ॥  
 ५५ रो रे लुग दीर्घश्चादिदुत्. ॥ १।३।४१ ॥  
 ४९ रोर्घ. ॥ १।३।२६ ॥  
 १३७ रो लुप्परि ॥ २।१।७५ ॥  
 १४० नोम्यन्तात् परोक्षाद्यतन्याधिपो  
 घो ङः ॥ २।१।८० ॥

पृष्ठाङ्कः

ल.

९७ लो वा ॥ १।४।६७ ॥  
 ५० लोर्घस्वरस्याऽनु नञ् ॥ १।३।३१ ॥  
 १७९ लक्षणवीप्प्येत्यभूत्स्वमिना ॥ २।२।३६ ॥  
 ६३ लि लौ ॥ १।३।६५ ॥  
 ४४ लुक् ॥ १।३।१३ ॥  
 १५३ लुगस्यादेत्यपदे ॥ २।१।११३ ॥  
 १५२ लुगातोऽनापः ॥ २।१।१०७ ॥  
 ४ लोफात् ॥ १।१।३ ॥

व.

२२ वत्तस्याम् ॥ १।१।३४ ॥  
 १६३ वहेः प्रयेय ॥ २।२।७ ॥  
 १०१ वा. शेषे ॥ १।४।८२ ॥  
 १६१ वाऽकर्मणामणिकर्ता णो ॥ २।२।४ ॥  
 २०७ वा लृत्रे ॥ २।२।९२ ॥  
 ३४ वाऽत्यसन्धि. ॥ १।२।३१ ॥  
 १२६ वाऽदौ ॥ २।१।४६ ॥  
 ३१ वा नास्ति ॥ १।२।२० ॥  
 ९४ वाऽन्यत. पुमाष्टादी स्वरे ॥ १।४।६२ ॥  
 १६९ वाऽभिनिविश ॥ २।२।२२ ॥  
 १२९ वाऽम् शसि ॥ २।१।५५ ॥  
 ९० वाऽएन था. स्यादो ॥ १।४।५२ ॥  
 ६० वाऽहर्पत्यादय. ॥ १।३।५८ ॥  
 २१४ विना ते तृतीया ॥ २।२।११५ ॥  
 १६६ विनिमेषद्युतपण पणव्यवहोः ॥ २।२।१६ ॥  
 २१ विभक्तिथमन्ततसावाभाः ॥ १।१।३३ ॥  
 ५९ विरामे वा ॥ १।३।५१ ॥  
 १३ घृत्त्यन्तोऽसपे ॥ १।१।२५ ॥  
 ८० वेयुवोऽस्त्रिया ॥ १।४।३० ॥  
 २०४ वैकत्र द्वयोः ॥ २।२।८५ ॥  
 १०१ वोशनसो नश्चामनये सौ ॥ १।४।८० ॥  
 ३० वौष्ठौतौ समासे ॥ १।२।१७ ॥  
 ५७ व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थाया. सरूपे  
 वा ॥ १।३।४७ ॥  
 ६० व्यत्यये लुग वा ॥ १।३।५६ ॥  
 २०९ व्याप्ये क्तेनः ॥ २।२।९९ ॥  
 १८९ व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् ॥ २।२।५० ॥  
 ४७ व्योः ॥ १।३।२३ ॥

श.

१९६ शकार्थवपहनमः स्वस्तिस्वाहास्व-  
 धामिः ॥ २।२।६८ ॥  
 ४१ शपसे शपसं वा ॥ १।३।६ ॥  
 ८९ शसोऽता सश्च न. पुंसि ॥ १।४।४९ ॥  
 ११४ शसो नः ॥ २।१।१७ ॥  
 ५२ शिष्टः प्रथमद्वितीयस्य ॥ १।३।३५ ॥  
 ६० शिष्ट्यधोपात् ॥ १।३।५५ ॥  
 ६० शिष्ट्याद्यस्य द्वितीयो वा ॥ १।३।५९ ॥  
 ५४ शिबहेऽनुस्वारः ॥ १।३।४० ॥  
 १६ शिर्षुद् ॥ १।१।२८ ॥  
 २०२ शेषे ॥ २।२।८१ ॥

**श्लोकः**

- ११० शेषे लुक् ॥ २।१।८ ॥  
 १५४ ह्यशवः ॥ २।१।११६ ॥  
 १९३ नञाद्यद्गुस्यादापा प्रयोज्ये ॥ २।२।६० ॥  
 १५१ भवन् युवन्मघोनो ङीस्याद्यघुदखरे च  
 उः ॥ २।१।१०६ ॥  
**ष**  
 १३२ षढोः कः सि ॥ २।१।६२ ॥  
 २१२ षष्ठी वाऽनादरे ॥ २।२।१०८ ॥  
 १५२ षादिहन् घृतराक्षोऽणि ॥ २।१।११० ॥  
 ६३ षि तवर्गस्य ॥ १।३।६४ ॥  
**स**  
 ८२ संख्यानां ष्णाम् ॥ १।४।३३ ॥  
 ८९ संख्यासायवेरद्गस्याहन् ङौ वा ॥ १।४।५० ॥  
 १४४ संयोगस्यादी स्कोल्लुक् ॥ २।१।८८ ॥  
 १२८ संयोगात् ॥ २।१।५२ ॥  
 १०१ सख्युरितोऽशावेत् ॥ १।३।८३ ॥  
 १३७ सजुपः ॥ २।१।७३ ॥  
 १२१ सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ॥ २।१।३२ ॥  
 २१२ सप्तमी चाविभागे निर्द्धारणे ॥ २।२।१०९ ॥  
 २०८ सप्तम्यधिकरणे ॥ २।२।९५ ॥  
 ८८ समानादमोऽतः ॥ १।४।४६ ॥  
 २५ समानाना तेन दीर्घः ॥ १।२।११ ॥  
 १८९ समो ह्योऽस्तृती वा ॥ २।२।५१ ॥  
 ४६ सम्राट् ॥ १।३।१६ ॥  
 ७४ सर्वादेर्द्वेपूर्वाः ॥ १।४।१८ ॥  
 २१५ सर्वादेः सर्वाः ॥ २।२।११९ ॥  
 ६६ सर्वादेः सैस्मात् ॥ १।४।७ ॥  
 १७९ सर्वोभयाऽभिपरिणा तसा ॥ २।२।३५ ॥  
 १४ सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ॥ १।१।२६ ॥  
 ६२ सस्य शर्षो ॥ १।३।६१ ॥  
 १८६ सहाय्ये ॥ २।२।४५ ॥  
 ५६ सहिवहेरोच्चाऽचर्णस्य ॥ १।३।४३ ॥  
 १७० साधकतमं करणम् ॥ २।२।२४ ॥  
 २१० साधुना ॥ २।२।१०२ ॥  
 ३ सिद्धिः स्याद्वादात् ॥ १।१।२ ॥  
 १८५ सिद्धौ तृतीया ॥ २।२।४३ ॥  
 १३७ सो कः ॥ २।१।७२ ॥  
 ३७ सौ नवेतौ ॥ १।२।३८ ॥

**पृष्ठाङ्कः**

- २०१ स्तोकाऽल्पकच्छ्रकतिपयादसत्त्वे  
 करणे ॥ २।२।७९ ॥  
 ११ स्यादिर्धिभक्तिः ॥ १।१।१९ ॥  
 १२८ स्त्रियाः ॥ २।१।५४ ॥  
 ७८ स्त्रिया ङितां वा देवादासादाम् ॥ १।४।२८ ॥  
 १०५ स्त्रियाम् ॥ १।४।९३ ॥  
 ७९ स्त्रीद्वतः ॥ १।४।२९ ॥  
 १७१ स्पृहेर्व्याप्यं वा ॥ २।२।२६ ॥  
 १६५ स्मृत्यर्थदयेशः ॥ २।२।११ ॥  
 १२२ स्यादौ चः ॥ २।१।५७ ॥  
 ११ स्यौजसमीदासदाभ्यांभिस् लेभ्यां-  
 भ्यस्लुसिभ्याभ्यस्लुसोसाम्द्वयोस्-  
 सुपा त्रयीत्रयी प्रथमाऽऽदिः ॥ १।१।१८ ॥  
 १३५ सन्स्ध्वन्स्कस्सनदुहो दः ॥ २।१।६८ ॥  
 १५७ स्वतन्त्रः कर्ता ॥ २।२।२ ॥  
 ९६ स्वराच्छौ ॥ १।४।६५ ॥  
 १७ स्वरादयोऽच्ययम् ॥ १।१।३० ॥  
 ५० स्वरेभ्यः ॥ १।३।३० ॥  
 ४८ स्वरे वा ॥ १।३।२४ ॥  
 ३३ स्वरे वाऽनक्षे ॥ १।२।२९ ॥  
 २०८ स्वामीभ्वराऽधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभू-  
 प्रसृते ॥ २।२।९८ ॥  
 २१० स्वशेऽधिना ॥ २।२।१०४ ॥  
 ३० स्वैरस्वैर्यक्षाहिण्याम् ॥ १।२।१५ ॥  
 ४३ स्वसृष्टि समः ॥ १।३।१२ ॥  
**ह**  
 १५३ हनो ह्यो ह्नः ॥ २।१।११२ ॥  
 १४० हान्तस्याच्छ्र जीह्व्यां वा ॥ २।१।८१ ॥  
 १९५ हितसुखाभ्याम् ॥ २।२।६५ ॥  
 १६३ ह्यक्रोनेवा ॥ २।२।८ ॥  
 १८५ हेतुकर्तृकरणेत्यभूतलक्षणे ॥ २।२।४४ ॥  
 १८० हेतुसहार्थेऽनुना ॥ २।२।३८ ॥  
 २१५ हेत्वर्थेऽस्तृतीयाद्याः ॥ २।२।११८ ॥  
 १४१ ह्यो धुद्रपदान्ते ॥ २।१।८२ ॥  
 १७० ह्यस्य गुणः ॥ १।४।४१ ॥  
 ४९ ह्यसाद् ह्यणतो द्वे ॥ १।३।२७ ॥  
 ८१ ह्यस्वापञ्च ॥ १।४।३२ ॥  
 ३२ ह्यस्वोऽपदे वा ॥ १।२।२२ ॥



## ३ परिशिष्टम् ।

॥ ग्रन्थसंशोधनाव्यवसरेऽतिसहायीभूतग्रन्थावलिः ॥

हस्तलिखितताडपत्रीयग्रन्थविभागः ।

क्रमांक	ग्रन्थनाम	पत्रसंख्या	दिपि.	स्थान
१	सिद्धहेमशब्दानुशासन- तत्त्वप्रकाशिकायुतम्	२०८	संस्कृत पडिमात्रा.	संभात-ताडपत्रीयज्ञानभण्डार. डा० ६५६ ३३३१ थी ४४४८१ सुधी.
२	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनरुद्रतृत्ति- पाद ३	३००	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानभण्डार. डा० १०७११.
३	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन- अवचूर्णिका ९ पाद पूरा [श्रीजयानंदसूरिदिप्य श्रीभ्रमरचन्द्र० रचना लेखन संवत् १२६४ श्रावण शु० ३ रविवार.]	२०९	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानभण्डार. डा० ११५५.
४	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन- ७ अध्याय मूल तथा धातुपाठ.	१२१	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानभण्डार. डा० ११७११.
५	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन मूल- सूत्र अने धातुपाठ.	११३	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानभण्डार. डा० ११७३३.
६	सिद्धहेमशब्दानुशासनवृद्धृत्ति पा० ७ थी १० सुधी	२२८	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानभण्डार. ११८११
७	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन- वृ० वृ० प्रथमोऽध्याय	३५५	,,	संभात-ताडपत्रीयज्ञानभण्डार. डा० ११९१२.

हस्तलिखितपत्राकारग्रन्थविभागः ।

८	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन वृ० वृत्ति नं १४०८ सं १८८७-९१			भाण्डारकर ओ० इ० पूना
९	वाक्यपदीप प्रथमकाण्ड नं २८१९ सं १९३५			भाण्डारकर ओ० इ० पूना
१०	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन मूल नं. २३४ सं १८९२-९५.			भाण्डारकर ओ० इ० पूना
११	सिद्धहेमशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका-महार्णव वृ० न्यास. प्र० अ० १ पाद संपूर्ण पत्र ४०			ली० ज्ञानभण्डार नं० २८७८
१२	सिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिका-महार्णवन्यास अ० १ पा० ३, अ० २ पा० १ सुधी पत्र ६८			ली० ज्ञानभण्डार. नं० २८७९
१३	सिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिका-महार्णवन्यास अ० २ पा० १-२ सुधी पत्र ४९.			ली० ज्ञानभण्डार नं० २८८०
१४	सिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिका-महार्णव-बृहन्न्यास पत्र ५२ अ० २ पा० ३-४			ली० ज्ञानभण्डार. नं० २८८१
१५	सिद्धहेमतत्त्वप्रकाशिका-महार्णवन्यास अ० ३ चोथा पाद सुधी पत्र २८			ली० ज्ञानभण्डार. नं० २८८२.
१६	सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहन्न्यास-सारोद्धार टिप्पणक पत्र १०१ थी १७९			ली० ज्ञानभण्डार. नं. २८८३
१७	सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहन्न्यास-सटिप्पणक अ० ३ श्री सप्तमाध्यायपर्यंत पत्र २८६			ली० ज्ञानभण्डार. नं० २८८४.



१८	सिद्धहेमशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका-वृहद्वृत्ति पत्र ६३९ ।	मुनि-श्रीपुण्यविजयजी। हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
१९	सिद्धहेमशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका-महार्णवव्यास	
२०	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका- महार्णव वृहन्न्यास पाद १. पत्र ३७ नं. ६६१० डा० १६८.	हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
२१	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन तत्त्वप्रकाशिका वृ० वृ० महार्णवव्यास-पा० ३-४-५ पत्र ६३ नं० ६६११ डा० १६८.	हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
२२	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका वृ०वृ०महार्णवव्यास पा० ६-७-८-१२-२७ पत्र १५६. नं० ६६१२ डा० १६८.	हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
२३	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका वृ० वृ० महार्णवव्यास पा० २७ पत्र ३६ नं० २२७७ डा० ९६.	हे० जै० ज्ञानभण्डार. पाटण.
२४	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-तत्त्वप्रकाशिका-वृहद्वृत्ति महार्णवव्यास ।	श्रीचन्द्रप्रदीपज्ञानकोष. मुंबई.
२५	शाकटायन-अमोघावृत्ति पृ० ६२३ नं० क १६४ श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैनसरस्वती-भवन. मुंबई.	

### मुद्रितग्रन्थविभागः ।

क्रमाङ्क	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशनसंवत् अ.	प्रकाशक-नाम	भाषा
२६	अभिधानचिन्तामणिसटीक-भा. १.	वि सं. १९७१	श्रीयशोविजयजी-जैनग्रन्थमाला, भावनगर.	संस्कृत
२७	अभिधानचिन्तामणिशब्दकोश.	" १९७६	" "	" "
२८	अभिधानसंग्रहः भा. १ [अमरकोश-त्रिकाण्ड-द्वारावली- एकाक्षर-द्विरूपादयः]	शाके १८११	निर्णयसागर प्रेस, वन्वई.	"
२९	अभिधानसंग्रह भा. २ [अभिधानचिन्तामणि-अनेकार्थ- संग्रह-निघण्टु-लिङ्गानुशासन- शिलोच्छादयः]	" १८१८	" "	"
३०	अमरकोशसटीक-हिन्दीव्याख्यासमेत.	वि.सं. १९७१	निर्णयसागर प्रेस. वन्वई.	संस्कृत-हिन्दी
३१	अर्थसंग्रहः	इ. का. १९३०	" "	"
		आ.		
३२	आत्मानन्द जैनसभानी लायब्रेरीनुं पुस्तक ( सूचिपत्र. )	वि.सं. १९८३	श्रीआत्मानन्द-जैनसभा, भावनगर.	गुजराती
३३	आपणो धर्म ले० आनन्दशङ्कर वापुभाई धुव.	" १९७६ उ.	जी० पम० जागुटे, अमदावाद.	"
३४	उत्तररामचरित्र-नाटक.		कलकत्ता.	संस्कृत-हिन्दी
३५	उत्तरहिन्दुस्तानमा जैनधर्म.			गुजराती
३६	उणादिवृत्ति. भाग २.		रोयल एशियाटिक सोसायटी. मुंबई.	
		ऐ.		
३७	पेतिहासिक-संशोधन. ले० दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री	वि सं. १९९८	गुजराती साहित्य परिषद ग्रं. १ भारतीयविद्याभवन.	गुजराती
		क.		
३८	कादम्बरी-सटीक	इ. का. १९३२	निर्णयसागर प्रेस, वन्वई.	संस्कृत
३९	काव्यप्रकाशः	" १९२९	आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना.	"
४०	काव्यानुशासनम्	" १९३४	निर्णयसागर प्रेस, वन्वई.	"
४१	काशिका-वामनजयादित्यः	वि.सं. १९८७	चोखम्बा संस्कृत सिरिह ३७, व्याकरण सि० ६, बनारस.	"
४२	काशिका विवरण-पञ्जिका भा. १	इ. का. १९२४	वीरेन्द्र रिचर्स सोसायटी, बनारस.	"
४३	" " " भा. २	" "	" " " " "	संस्कृत
	३०			"

क्रमाद्	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशनसंवत्	प्रकाशक-नाम	भाषा
४४	किरातार्जुनीयः सटीकः	इ. क्र. १९२९	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.	संस्कृत
४५	कुमालपाल-प्रतियोध-अनुवादः		आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर	गुजराती
४६	कुमारसंभवः सटीकः	इ. क्र. १९३० ख.	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.	संस्कृत
४७	श्रीरामात, शा० प्रा० ताडपथीय जैन ज्ञानभण्डारतुं सूचिपत्र	वि. सं. १९०९ ग.	मन्त्री मोहनलाल दीपचन्द चोकशी. गुज०	
४८	गुजरातनो-अर्वाचीन-इतिहास	वि. सं १९५५	गु० चर्नाफ्युलर सोसायटी, अमदावाद. गुज०	
४९	गुजरातना पेटिहासिकलेखो भा. ३	" १९९८	फार्चस गुजराती सभा, बम्बई.	संस्कृत
५०	गुजरातनो प्राचीन-इतिहास	" १९७७	गुजरात चर्नाफ्युलर सोसायटी.	गुजराती
५१	गुजरातनो मध्यकालीन राज० इतिहास भा १	वि. सं. १९९३	" "	"
५२	गुजरातनो मध्यकालीन राज० इतिहास भा. २	" १९९५	" "	"
५३	गुजरात चर्ना० सोसायटीनी लायब्रेरीना पुस्तकनी यादि भा. १	" १९९२	हिरालाल श्रीमोहन पारेख.	"
५४	गुजराती साहित्यपरिपद् (१३ अधिवेशन-अहेवाल-निबंध-संग्रहः)	" १९९८	गुजराती साहित्यपरि०	"
५५	गुजराती साहित्यपरिपद् (१४ अधिवेशन-अहेवाल- निबंधसंग्रहः)	" २०००		
५६	गुर्जरदेश भा० १	वि. सं. १९९९ (इ. क्र. १९४३) च.	भारतीयविद्याभवन, बम्बई	इंग्लीश
५७	चन्द्रप्रभाव्याकरणम्	वि. सं. १९८४	श्रीजैन श्रेयस्कर मण्डल, मेसाणा.	संस्कृत
५८	चान्द्रव्याकरणम्	इ. क्र. १९०२ ज.	डॉ० वीन्डश जर्मनी.	"
५९	जिनरत्नकोशः भा. १	इ. क्र. १९४४	राजकीय प्राच्य ग्रन्थश्रेणि, (भाण्डारकर ओ० री० इ०) 'सी. १४' सं. इंग्लीश गायकवाड ऑ० सीरीझ, बडोदरा. सं-गुजराती	
६०	जैसलमेर जैनभण्डार-ग्रन्थसूचि	वि. सं. १९२३	जैन श्वे० कॉन्फरन्स, बम्बई सं-गुजराती	
६१	जैनग्रन्थावली ह० लि० ग्रन्थसूचि	" १९६५	रॉयल एशियाटिक सो० मुंबई संस्कृत	
६२	जैनग्रन्थसूचि	" १९९१	सिन्धी जैनग्रन्थमाला.	"
६३	जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रहः भा. १	" १९९९	श्रीजैन सत्यप्रकाश कार्यालय, अमदावाद. गुज.	
६४	जैन सत्यप्रकाशना अको	" १९९५	" "	
६५	" "	" २०००	" "	
६६	जैनसाहित्य और इतिहास	" १९९८	हिन्दीग्रन्थरत्न कार्यालय, नाथुराम प्रेमी हिन्दी	
६७	जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास	" १९८९	जैन श्वे० कॉन्फरन्स, मोहनलाल द० वेसाई गु०	
६८	जैनसिद्धान्तकौमुदीसटीकः रत्नचन्द्रकृतः		महेरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहोर संस्कृत	
६९	जैनेन्द्र-प्रक्रिया		श्रीमहावीर जैन विद्यालय, मुंबई, "	
७०	जैनेन्द्रव्याकरण-महावृत्ति अ. २	इ. क्र. १९१८	गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज, धनारस. "	
७१	" " " अ ३ना पाद १-२	" "	" " " " "	
७२	" " " अ ३ना ६० सूत्रो	" "	" " " " "	
७३	ज्ञानदीपिका ( महाभारत-आदिपर्व ) तात्पर्यटीकायुता देवबोधकृता	वि सं १९९७ त.	भाण्डारकर ओ० सी० "	
७४	तर्कसंग्रह-सर्वस्वः	इ. क्र. १९२४ घ.	कुरुगण्ट रामशास्त्री. मद्रास. "	
७५	घातुपारायणः क०स०श्रीहेमचन्द्राचार्यकृतः,	१९०१	प्रो० ज्जोन क्रीस्टें, जर्मनी. संस्कृत-इंग्लीश	
७६	घातुरत्नाकरः भा १	वि. सं. १९९५	जैनग्रन्थ-प्रकाशक-सभा, अमदावाद संस्कृत	
७७	" भा २	" "	" " " " "	

क्रमाङ्क.	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशनसमय	प्रकाशक-नाम	भाषा
७८	धातु-रत्नाकरः भा. ३	वि. सं. १९९५	जैनग्रन्थ-प्रकाशक-समा.	संस्कृत
७९	" " भा. ४	" "	" "	"
८०	" " भा. ५	" "	" "	"
८१	" " भा. ६	" १९९६	" "	"
८२	" " भा. ७	" १९९७	" "	"
८३	ध्वन्यालोकविवृतिः	" १९९४	चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़.	"
		न		
८४	नागेशोक्तिप्रकाशः (लघुशब्देन्दु- शेखरटीका) खूदीक्षाकृतः			संस्कृत
८५	निरुक्त-निघण्टु.	वि. सं १९८२	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबई.	"
८६	नैपथीयचरितम्	इ का १९३३	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.	"
८७	न्यायसंग्रह-न्यायार्थमञ्जूपाटीका	वि. सं. १९६७	श्रीयशोविजयजी-जैन-ग्रन्थमाला.	"
		प.		
८८	पद्मचन्द्रकोपः	इ का १९२५	मधेरचन्द्र लक्ष्मण, लाहोर.	संस्कृत-हिन्दी
८९	परमलघुमञ्जूपा-टिप्पण	" १९३५	चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़, बनारस.	संस्कृत
९०	परिपद प्रमुखना भाषणो परि. अ. २	वि. सं १९९८	भारतीय विद्या भवन.	गुजराती
९१	परिभाषेन्दुशेखरः विजयाटीकासमेतः	इ.का. १९४२	श्रीकृष्णमिश्र, बनारस.	संस्कृत
९२	पाटण प्राच्य जैन ज्ञानभण्डार- ताडपत्रीय-ग्रन्थसूचि भाग. १	" १९२३	गायकवाड ऑ सीरीज़.	"
९३	पाणिनिव्याकरणम् ( अष्टाध्याययुतम् )	" १९३७	चौखम्बा-सं. सीरीज़.	"
९४	" " काशिकावृत्तियुतम्	वि सं. १९८७	" " "	"
९५	" " शिक्षापत्रिकायुतम्	इ का १९२७	" " "	"
९६	पारिभाषिक-पदार्थसंग्रहः	" १९४०	कुरुगण्डिरामशास्त्री, मद्रास.	"
९७	पुरातत्त्वत्रिमासिक. वर्ष २	वि सं १९८०	गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर.	गुजराती-संस्कृत
९८	" " वर्ष ४	" १९८२	" " "	"
९९	पुरातनप्रबन्धसंग्रहः	" १९९२	सिन्धी जैन ग्रन्थमाला २	संस्कृत
१००	प्रबन्धकोश	" १९९१	" " ६	"
१०१	प्रबन्धचिन्तामणि	" १९८९	" " १	"
१०२	प्रभावक चरित्र	" १९९७	" " १३	"
१०३	" "	" १९८७	आत्मानन्द जैन समा, भावनगर.	गुजराती
१०४	प्रमाणमीमांसा	इ का १९३९	सिन्धी जैन-ग्रन्थमाला.	संस्कृत
१०५	प्राकृतव्याकरणम् प्रकाशिकावृत्तियुतम्		भाण्डारकर ओ री. इ. पूना.	प्राकृत-संस्कृत
१०६	" " मूल	वि सं १९९१	आत्मानन्द जैन शताब्दि.सी.	प्राकृत
१०७	प्राकृतभाषानी उपयोगिता			
१०८	प्राचीन लेखसंग्रह भा. २	"	आत्मानन्द जैन समा, भावनगर.	संस्कृत
१०९	प्रौढमनोरमा लघुशब्दरत्नव्याख्या भा १	वि सं १९९२	चौखम्बा-सं. सीरीज़, बनारस.	"
		फ.		
११०	फक्किारत्तमञ्जूपा भा २	इ.का १९२२	हरिकृष्ण-निबन्धभवन, बनारस	"
		भ		
१११	भगवद्गीता भाष्ययुता	" १९३१	ऑरीएण्टल-बुक-एजन्सी.	"
११२	भारतीयविद्या वर्ष १ अंक १ ३ ४	" १९४१	भारतीयविद्याभवन मुंबई.	हिन्दी-संस्कृत
११३	" " २ " ३ ४	वि सं. १९९९	" "	" "
		म.		
११४	मध्यमसिद्धप्रभा व्याकरणम् आगमो- द्धारककृतम्	वि सं १९८६	जैनामृतसमिति-उदुपुर.	संस्कृत
११५	महाभाष्य अध्याय १ पाद १	इ का १९३८	राजस्थान संस्कृत कॉलेजग्रन्थमाला, बनारस.	"
११६	" " १ पाद २ ३ ४	" १९३८	" "	"
११७	" " २ " १ २ ३ ४	" १९३८	" "	"
११८	" " ३ " १ २ ३ ४	" "	" "	"
११९	" " ४ " १ २ ३ ४.	" "	" "	"

क्रमांक	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशनसंवत्	प्रकाशक-नाम	भाषा
१२०	महाभाष्य अर्थाय ५ पाद	१२३४ इ. प्रा. १९३८	राजस्थान संस्कृतकॉलेजग्रन्थमाला, पटना०	संस्कृत
१२१	" " ६ "	१२३४ " "	" " " "	"
१२२	" " ७ "	१२३४ " "	" " " "	"
१२३	" " ८ "	१२३४ " "	" " " "	"
१२४	महाभाष्य-शब्दकोषः	१२३४ " १९२७	भाण्डारकरप्राच्यविद्या संशोधनमन्दिर, पूना	"
१२५	माघवीया धातुवृत्तिः	वि. सं. १९९१	चौखम्बा-सं. सीरीस, बनारस.	"
१२६	मुद्राराक्षस-नाटक	इ. प्रा. १९१५	फलकचा	संस्कृत-प्राकृत
१२७	मृच्छकटिक-नाटक	" १९१८	फलकचा.	" "
१२८	यास्क-निरुक्तम्			
१२९	रसगंगाधर. सटीक.	इ. प्रा. १९३९	निर्णयसागर प्रेस, मुंबवाई	संस्कृत
१३०	रूपसिद्धिः शाकटायन वृत्तियुता	" १९३६	रावजी सखाराम दोसी, सोलापुर	"
१३१	लघुशब्देन्दुशेखर-टीका-टीप्पन	वि. सं. १९९२	राजस्थान संस्कृत कॉलेज, बनारस	"
१३२	लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य जर्मन-वीन्टरनीस परधी इंग्लीश अनुवाद	" १९९२	सिंधी जैन ग्रन्थमाला ११	इंग्लीश
१३३	लीवली-जैन ज्ञानमण्डार-सूचि	इ. प्रा. १९२८	आगमोदय समिति, सुरत. गुजराती-बालबोध	
१३४	चाक्यपदीय प्रथमकाण्ड	वि सं १९९१	रामकपूर-लाहोर.	संस्कृत
१३५	" द्वितीयकाण्ड	" "	" "	"
१३६	विक्रमोर्धशी-नाटक	इ. प्रा. १९२५	फलकचा	"
१३७	विभक्त्यर्थनिर्णय.	वि. सं. १९५८	चौखम्बा सं. सीरीस, बनारस.	"
१३८	विविधतीर्थकल्पः	" १९९०	सिन्धी जैन ग्रन्थमाला १०	"
१३९	विश्वलोचन-कोष	इ. प्रा. १९१२	नाथारंग गान्धी	"
१४०	वीतराग-महादेवस्तोत्रम्	वि सं १९९१	आत्मानन्द-जैन शताब्दिः सीरीस.	"
१४१	वेणीसंहार-नाटक	इ. प्रा. १९३०	निर्णयसागर प्रेस, मुंबवाई	"
१४२	वेदान्तसार.	वि सं १९९३	संस्कृत डिपो, बनारस	"
१४३	वैयाकरण-भूषणसार-टीका-व्याख्या समेतम्	" १९९६	चौखम्बा सं. सीरीस, बनारस	"
१४४	" सिद्धांतलघुमञ्जूपा टीकाटिप्पण०	" १९८६	गिरिजाप्रसादशर्मा	"
१४५	व्याप्तिपञ्चकार्सिंहव्याघ्रलक्षणयुतम्	" १९८२	ठकुर पं० कनकलाल शर्मा.	"
१४६	मैथिलश्रीगणेशोपाध्यायकृतम्	" १९८२	चौखम्बा सं. सीरीस	"
१४६	व्यक्तिविवेकः	इ. प्रा. १९३६	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबवाई	"
१४७	व्युत्पत्तिवाद-व्याख्या	वि. सं. १९७०	"	"
१४८	शक्तिवादाऽऽदर्श.	वि. सं १९७०	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबवाई.	"
१४९	शब्दरत्नमहोदधिः भा. १	इ. प्रा. १९३७	हेमचन्द्राचार्य-जैन ग्रन्थमाला, अमदावाद गुज.	"
१५०	" " भा. २	" १९४१	" " " "	"
१५१	शब्दशक्तिप्रकाशिका	वि. सं १९९१	चौखम्बा सं. सीरीस, बनारस.	"
१५२	शब्दाऽऽदर्शकोष. भा. १	" १९८६	शाही गिरिजा शंकर.	"
१५३	" " भा. २	" "	" " " "	"
१५४	शब्दार्थवचन्द्रिका-जैनेन्द्रव्या. लघुवृत्तियुता	" "	सनातन जैन ग्रन्थमाला मुंबई.	संस्कृत
१५५	शब्दार्थरत्नावली	इ. प्रा. १९३५	उमेशशर्मा मिश्र.	"
१५६	शब्देन्दुशेखरः	" "	मैरवमिश्र काशिकायशालय	"
१५७	शाकटायनचिन्तामणिवृत्तियुतम्	" "	मुधालाल जैन.	"
१५८	शाकटायनप्रक्रिया ( उत्तरार्धः )	" "	" "	"
१५९	" व्याकरणम्	" "	महावीर जैन विद्यालय-मुंबई.	"
१६०	शाश्वतकोश.	इ. प्रा. १९२९	ओरीण्टल बुक पब्लिशी, पूना	"
१६१	शाश्वतकोशवली	" "	" "	"

क्रमाङ्क	ग्रन्थ-नाम.	प्रकाशनसंवत्	प्रकाशक-नाम	भाषा
१६२	शिशुपालवधः सटीकः	इ. फा १९४०	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.	"
१६३	श्रुतयोधः	" १९२८ स.	" " "	"
१६४	सन्मतिप्रकरणानुवादः	इ. फा १९३२	पंजाभाई-रा. जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद. गुजराती	
१६५	सर्वदर्शन संग्रहः	" १९२४	भाण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर, पूना. संस्कृत	
१६६	सर्वलक्षण संग्रहः	वि. सं. १९८९	भिक्षु गौरिशङ्कर.	"
१६७	सांख्यकारिका	शाके १८५६	के ना डांगे	"
१६८	सांख्यतत्त्वकौमुदी	वि. सं. १९८९	चौपम्बा सं. सीरीज़, बनारस.	"
१६९	साहित्यदर्पणं सटीकम्	इ. फा १९३६	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.	"
१७०	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्			
१७१	महाणवबृहन्न्यासयुतम् अ १पाद १	वि. सं १९७७	हेमचन्द्राचार्य जै० ग्रन्थावली, पाटण.	"
१७२	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्			
१७३	लघुवृत्तियुतम्	" १९९१	आणंदजी कल्याणजीनी पेढी, अहमदाबाद.	"
१७४	सिद्धान्तकौमुदी	इ. फा १९१४	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबई	"
१७५	" " पूर्वार्द्ध	वि सं १९९७	सीताराम शास्त्री बनारस.	"
१७६	" " उत्तरार्द्ध	" "	" " "	"
१७७	स्याद्वादमंजरी	इ. फा	आनंद शंकर वा धुव	"
१७८	सुभाषितरत्नभाण्डागार.	वि सं १९८५	निर्णयसागर प्रेस, मुंबई.	"
१७९	स्वयम्भूस्तोत्रं सटीकम्	" १९७६ ह.	सखाराम नेमचन्द्र	"
१८०	हेमसमीक्षा	वि सं १९९८	मधुसूदन चि. मोदी आ. जैन शताब्दि ग्रन्थमाला. गुजराती	
१८१	हेमचन्द्रकृतिकुसुमावली	" १९९९	ऋषभदेवजी छ नी पेढी, उज्जैन. संस्कृत	
१८२	हेमचन्द्रवचनामृतम्	" १९९३	विजयधर्मसूरि जैन ग्रन्थमाला.	"
१८३	हेमचन्द्राचार्यः-वे. जी दोशी	" १९९२	सयाजि० वाल-ज्ञानमाला. गुजराती	
१८४	" मो नि कापडीया	" १९९०	जैनपत्रनी भेट, भावनगर.	"
१८५	डॉ बुल्लहरजर्मन लेखनं अवतरण			
१८६	हेमचन्द्राचार्यः-धूमकेतु	" १९९९	आत्मानंद जैनशताब्दि ग्रन्थमाला.	"
१८७	" ईश्वरलाल जैन स्नातक	" १९९८	चान्दराम जैन आदर्श ग्रन्थमाला.	"
१८८	हेमप्रकाशव्याकरण-पूर्वार्द्धः	" १९९४	हीरालाल सोमचन्द्र, मुंबई.	संस्कृत
१८९	हेमसमीक्षा	" १९९८	आत्मानंद जै शताब्दि स्ना०	गुजराती
१९०	हेमकौमुदी चन्द्रप्रभाटीकायुता	इ. फा १९२८	जैन धेयस्कर मंडल, भद्रेशाणा	संस्कृत
१९१	हेमछन्दानुशासनम्	वि सं. १९६८	देवकरण मूलजी, मुंबई.	"
१९२	हेमघातुपारायणसंक्षेप.	वि सं १९९६	ऋषभदेवजीनी पेढी, झगडीया	"
१९३	हेम घातुमाला	" १९८३	नगीनदास करमचंद-पाटण	"
१९४	हेमघातुमाला		जैन ग्रन्थ-प्रका० सभा	"
१९५	हेमबृहत्प्रक्रिया	" १९८७	हेमचन्द्राचार्यजैनग्रन्थमाला.	"
१९६	हेमलिङ्गानुशासनविवरणम्	" १९९६	हिरालाल सोमचन्द्र, मुंबई.	"
१९७	हेमशब्दचन्द्रिका	" १९९६	चापशी खेतशी	"
१९८	हेमसारस्वतसत्रनिबन्धसंग्रहः	इ.फा १९४१	गुजराती साहित्यपरिषद्.	गुजराती



## ४ परिशिष्टम् ।

साधनिकायवसरे पदपादस्यसूत्रतोऽधिकबोधदानैकवद्वकक्षाणि यास्यानि कलिकालसर्वज्ञ-  
श्रीहेमचन्द्राऽऽचार्यविरचितान्यकारायनुक्रमेण सूत्राणि ।

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	<b>अ</b>				
१	अः सृजितशोऽकिति ॥४४१११॥	॥१३२३४॥	१७	अतः शित्युत् ॥४२१८९॥	॥४६२९॥
	”	॥१४३३२२॥		”	॥५४१४॥
२	अक्षणोऽप्राण्यते ॥७३३८५॥	॥३३३३७॥		”	॥१३४४२२॥
	”	॥९४४४७॥		”	॥१४५३११॥
३	अग्रहानु० ॥३११५॥	॥२२३३४॥	१८	अत इव् ॥६१३३१॥	॥७४३६॥
४	अघोपे शिटः ॥४११४५॥	॥४३३३८॥		”	॥१३२१५॥
	”	॥४३३४१॥	१९	अतमवादेरीपदसमाते० ॥७३१११॥	॥५८३७॥
५	अहस्याच्छत्रादेरन् ॥६१४६०॥	॥१६५४०॥		”	॥१४११८॥
	”	॥१७३३१७॥		”	॥१४४२४॥
६	अचिचे टक् ॥५११८३॥	॥१०२३४०॥		”	॥१४९१२४॥
७	अजातेः शीले ॥५१११५४॥	॥५३३३०॥	२०	अतिरतिक्रमे च ॥३११४५॥	॥२९१२४॥
	”	॥१६५४४२॥	२१	अतोऽनेकस्वरात् ॥७३१६॥	॥३५४३॥
८	अजादेः ॥२१४१६॥	॥१५३३८॥		”	॥४९३३०॥
९	अञ्जः ॥२१४३॥	॥१५०३६॥		”	॥१०३३२३॥
१०	अञ्जोऽनर्चायाम् ॥४२१४६॥	॥९८११८॥		”	॥१३२१६॥
	”	॥३५३२९॥		”	॥२११२०॥
	”	॥४०३३३॥	२२	अतो म आने ॥४४१११४॥	॥२११३०॥
	”	॥१२६३३३॥	२३	अदुरुपसर्गान्तरो णहितुमीनानेः ॥२३३७७॥	॥१४२३५॥
	”	॥१३७३७३॥	२४	अदूरे एनः ॥७२१२२॥	॥२१२९॥
	”	॥१५०३५॥		”	॥१९९१४३॥
	”	॥१५०४०॥		”	॥२१५२९॥
११	अहघातो० ॥४४१२९॥	॥१४०२४॥	२५	अदेरन्ध च वा ॥ उ० ९६३॥	॥७०४२॥
	”	॥२३३२२॥	२६	अद्यर्थाच्चाऽऽघारे ॥५१११२॥	॥१७५३३॥
	”	॥१३४१७॥		”	॥१६९१६॥
	”	॥१३७३३३॥		”	॥१७९१४१॥
	”	॥१३९१७॥		”	॥२०७५॥
	”	॥१४०४१॥		”	॥२०७२५॥
	”	॥१४५३८॥	२७	अघणतस्वाद्या शसः ॥११३३२॥	॥३६४२॥
	”	॥२१२३८॥	२८	अघरापराच्चाऽऽव् ॥७२१११८॥	॥२१२४॥
१२	अणि ॥७४५२॥	॥१५१४०॥		”	॥२०३४१॥
१३	अणिकर्मणिक्कृत्कात् ॥३३३८८॥	॥१६४२७॥	२९	अघातूहदितः ॥२४४२॥	॥९९११९॥
१४	अणिगिप्राणि० ॥३३३१०७॥	॥१६८३३॥		”	॥८७२५॥
	”	॥१६८२०॥		”	॥१४७३५॥
१५	अतः ॥४३३८२॥	॥८०१८॥		”	॥१५१२४॥
	”	॥८३२२॥	३०	अघ्यात्मादिभ्य इकण् ॥६३३७८॥	॥४४४४२॥
	”	॥१००२१॥		”	॥१७४३६॥
	”	॥१००१५॥	३१	अनजिरादि० ॥३३३७८॥	॥१४७३५॥
	”	॥१३३११८॥		”	॥१४७३८॥
	”	॥१४५४८॥	३२	अनतोऽन्तोऽवात्मने ॥४२१११४॥	॥१२७३५॥
१६	अतः कृकमिंस० ॥२३३५॥	॥२२१६॥	३३	अनघतने हिः ॥७२११०१॥	॥२१२४२५॥
	”	॥२२३६॥		”	॥२१११॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
३४	अनसो वहेः० ॥ उ० १००६॥	॥९८३८॥		अवर्णवर्णस्य ॥७४४६८॥	॥८५२२॥
३५	अनाच्छादजात्यादेर्नवा ॥२१४४७॥	॥५३१०॥		"	॥२१७३०॥
३६	अनादेशादे० ॥४११२४॥	॥१३५४४॥	५५	अवृद्धाहोर्नवा ॥६१११०॥	॥६९३५॥
"	"	॥१५१२३॥	५६	अवेर्धु च वा ॥ उ० ३९८ ॥	॥७०३८॥
"	"	॥२०६३६॥	५७	अव्यक्तानुकरणादनेकस्वरात् ॥७२१४५॥	॥१५२१८॥
३७	अनास्यद्विः सुप् ॥६१४१४१॥	॥२४८॥	५८	अव्ययस्य ॥३१२१॥	॥१७६॥
"	"	॥१०६१२॥	"	"	॥१७३३९॥
"	"	॥१०६१४॥	"	"	॥१७४४१॥
३८	अनार्षे वृद्धे० ॥२१४४७८॥	॥७४३६॥	"	"	॥१९२१॥
३९	अनिकाम्यां तरः ॥ उ० ४३७॥	॥७०४०॥	"	"	॥२११९९॥
४०	अनिदम्यणपवादे च० ॥६१११५॥	॥५७३४॥	"	"	॥४३२३३॥
४१	अनुनासिके च च्छुः शूद्र ॥४१११०८॥	॥१३४२३॥	"	"	॥१७७२६॥
"	"	॥२९१११॥	"	"	॥१७८२१॥
"	"	॥४७३८॥	"	"	॥२१४२८॥
"	"	॥१४३११६॥	५९	अशेराघोऽन्तश्च ॥उ० ७१९॥	॥१४९११८॥
"	"	॥१४३१३१॥	६०	अश्ववडव० ॥३१११३१॥	॥७२३३३॥
"	"	॥१६७२९॥	६१	अस्तपोमाया० ॥७२१४७॥	॥१२३३७॥
४२	अनेकवर्णः सर्वस्य ॥७४४१०७॥	॥७१२६॥	"	"	॥१०३२५॥
४३	अन्तो नो लुक् ॥४२१९४॥	॥१५४७॥	६२	अस्तिहवोर्भूवचावशिति ॥४४४१॥	॥१०५३३५॥
४४	अन्यत्वदादेराः ॥३१२१५२॥	॥६४२४॥	"	"	॥१०५३३९॥
"	"	॥६९३०॥	"	"	॥१३३३३०॥
"	"	॥१२६२६॥	६३	अस्य ह्यां लुक् ॥२१४८६॥	॥८५२३३॥
"	"	॥१३६३६॥	६४	अस्यायत्तक्षिपकादीनाम् ॥२१४१११॥	॥१२५३३८॥
४५	अन् खरे ॥३१२१२९॥	॥५७२८॥	"	"	॥८६४४४॥
४६	अभ्रादिभ्यः ॥७२१४६॥	॥१३०३९॥	"	"	॥१२५१९॥
"	"	॥१३३१४०॥	"	"	॥१३३२२॥
४७	अमाव्ययात् क्यन् च ॥३१४२३॥	॥११४५॥	"	"	॥१३३२२०॥
"	"	॥१२११४॥	"	"	॥१५०१२४॥
"	"	॥१२२२९॥	"	"	॥१३३२२०॥
"	"	॥३९११९॥	"	"	॥१५०१२४॥
"	"	॥७८२०॥	६५	अस्वर्यंभुवोऽव् ॥७४४७०॥	॥३३३२३॥
"	"	॥८०११६॥	"	"	॥९६१३३॥
"	"	॥१००११४॥	६६	अहन्पञ्चमस्य० ॥४१११०७॥	॥१०३३३३॥
"	"	॥८३२१॥	"	"	॥४९२२९॥
"	"	॥११२३९॥	"	"	॥५४११८॥
"	"	॥१३४२६॥	"	"	॥१०३३३४॥
"	"	॥१५०३८॥	"	"	॥१०३३३५॥
४८	अम्मिकुण्डि० ॥ उ० ६१४॥	॥१४७३३३॥	"	"	॥१०३३३६॥
"	"	॥१५९१११॥	"	"	॥१३३३३०॥
४९	अयि रः ॥४११६॥	॥१३३२२१॥	"	"	॥१४८१४६॥
५०	अर्तिरीन्वीही० ॥४२२२१॥	॥१६१४४॥	"	"	॥२०७३३४॥
५१	अर्तीरिस्तु० ॥ उ० ३३८॥	॥७०३३५॥	६७	अहरादिभ्योऽव् ॥६२१८७॥	॥२०७३३४॥
"	"	॥१९६११९॥			
५२	अर्तेभुक्षिनक् ॥ उ० ९२८ ॥	॥९९४४०॥		आ.	
५३	अवयवात्तयद् ॥७१११५१॥	॥६२४४२॥	६८	आः खनिसनिजनः ॥४२१६०॥	॥८३२८॥
"	"	॥६२४४६॥	६९	आगुणावन्वादेः ॥४११४८॥	॥५०३३६॥
"	"	॥७१३२१॥	"	"	॥६२३३२॥
"	"	॥७४१८॥	"	"	॥१३९३५॥
५४	अवर्णवर्णस्य ॥७४४६८॥	॥८३३४॥	"	"	॥१४४३३३॥
"	"	॥११४४३॥	"	"	॥१४५१११॥
"	"	॥२१११६॥	७०	आडश्च णित् ॥उ० ९२०॥	॥२०७३४०॥
"	"	॥५७३५॥	७१	आडो यमहनः० ॥३३३८६॥	॥५४२२॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
७२	आत् ॥२॥१८॥	॥२३८॥	९५	इतोऽन्त्यर्थात् ॥२॥३२॥	॥७७२३॥
"	"	॥७७३६॥	"	"	॥८७२६॥
"	"	॥७५१४॥	"	"	॥९५१४॥
"	"	॥८६४४॥	९६	इनः कच् ॥७३१७०॥	॥९०॥४१॥
"	"	॥१०८३७॥	"	"	॥१००॥४५॥
"	"	॥१०९१५॥	९७	इन्ध्यसंयोगात् परोक्षा किद्धत् ॥४३२१॥	॥१४०२५॥
"	"	॥१३२१९॥	९८	इच्च स्यादः ॥४३२४१॥	॥७७३७॥
"	"	॥१५२१२२॥	"	"	॥१४०२६॥
"	"	॥१८८४४॥	९९	इत्सासः शालोऽङ्गव्यक्षने ॥४३१९८॥	॥७७४४॥
७३	आत् पे. कृञ्जौ ॥४३१५३॥	२०७४४२॥			
७४	आतो डोऽत्तावामः ॥५११७६॥	॥७०३३२॥	१००	ईगितः ॥३३१५५॥	॥२३१९॥
"	"	॥८६४४३॥	"	"	॥१६४२८॥
"	"	२०९४४४॥	१०१	ईक्ष्वाव० ॥४३११११॥	॥२१३१॥
७५	आतो नेन्द्रचरणस्य ॥७४२९॥	॥१२३६॥			
"	"	॥१२३३०॥	१०२	उक्षितक्ष्यक्षीशि० ॥उणा०२००॥	॥६१६३॥
७६	आत्सन्ध्यक्षरस्य ॥४२११॥	॥१३२१४॥	"	"	॥६१४०॥
"	"	॥१४४३३॥	"	"	॥१५२१६॥
७७	आद्यादिभ्यः ॥७२१८४॥	५२१६॥	१०३	उक्ष्णो लुक् ॥७४५६॥	॥१५२३३॥
"	"	॥१७९३१॥	१०४	उणादयः ॥५२१९३॥	॥४९१९॥
७८	आपोऽपाप्ताप्तराज्जाञ्च ॥ उ० ९६४॥	॥१०४३३॥	"	"	॥४९३३॥
७९	आमयादीर्घञ्च ॥७२१४८॥	॥१९५४०॥	१०५	उतोऽप्राणिनः० ॥२१४७३॥	॥१५४२२॥
८०	आशिपि तुह्योस्तातङ् ॥४२११९॥	॥१९५४३॥	"	"	॥७२१३३॥
८१	आशिपि नाथः ॥३३३३६॥	॥१६४४३॥	"	"	॥७२१४७॥
८२	आसन्नः ॥७४१२०॥	॥१९९॥	"	"	॥८६४०॥
"	"	॥२५४॥	१०६	उदकस्योदः पेपंधिवासवाहने ॥३२११०४॥	॥१४८३३॥
"	"	॥२९२८॥	१०७	उदञ्चरः० ॥३३३३३॥	॥४२१५॥
"	"	॥६३८॥	१०८	उदितः स्वरात्रोऽन्तः ॥४३१९८॥	॥९८२७॥
"	"	॥६३३०॥	"	"	॥९८२८॥
"	"	॥७६४३॥	"	"	॥२३१०॥
"	"	॥८५१०॥	"	"	॥५३४३॥
"	"	॥८५३८॥	"	"	॥५४१७॥
"	"	॥१२९३४॥	"	"	॥१३८४३॥
"	"	॥१३८२२॥	"	"	॥१४४३२॥
"	"	॥१३८३५॥	१०९	उपमान० ॥२१४७५॥	॥१५४३३॥
८३	आसन्नादूराधिकाध्यर्धाधिपूरणं ॥१५१२०॥	॥१५३४४॥	११०	उपसर्गस्यायौ ॥२३११००॥	॥३३१२७॥
८४	आस्यटिब्रज्यजः क्यप् ॥५३१९७॥	॥२१२८॥	१११	उपसर्गादातः ॥५३११०॥	॥५०२१॥
८५	आही वृत्ते ॥७२१२०॥	॥१९९४४॥	"	"	॥६५१६॥
"	"		"	"	॥८२१७॥
			११२	उपाद्भूषासमवायप्रतियत्नविकार० ॥४३१९३॥	॥४३४५॥
८६	इकिश्चित् ॥५३१३८॥	॥१२०२५॥	"	"	॥१६५३५॥
८७	इडितः कर्तरि ॥३३३२२॥	॥२३४॥	११३	उपान्त्ये ॥४३३३४॥	॥१३२३७॥
"	"	॥२३१७॥	११४	उभयाद् ॥७२१९९॥	॥२११९॥
"	"	॥१५८३॥	११५	उमेर्द्धौ च ॥ उ० ६१५॥	॥७०४४॥
८८	इट ईति ॥४३३७१॥	॥२२१३८॥	११६	उवर्णयुगादेर्यः ॥७३३३०॥	॥३३३२३॥
८९	इडेल्लुसि० ॥४३३९४॥	॥२३३३३॥	११७	उपेः किल्लुक् च ॥ उ० ८८ ॥	॥१३५४०॥
९०	इणस्तद् ॥ उ० ८९६॥	॥७०४३॥	११८	उञ्जोः ॥४३३२॥	॥५४१३॥
९१	इणुर्विशावेणिपू० ॥ उ० १८२ ॥	॥१३५४०॥	"	"	॥८८२४॥
९२	इणो गित् ॥ उ० ९९८॥	॥१९६१८॥			
९३	इणो दमक् ॥ उ० ९३८॥	॥७०४३॥			
९४	इणपूर्यां कित् ॥ उ० ४३८ ॥	॥७०३३॥			



क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	<b>ज.</b>				
११९	ऊनार्थपूर्वाद्यैः ॥३११६॥	॥७२४२॥	१३९	एकात् ॥७२१११॥	॥२११८॥
१२०	ऊर्णाहंशुभमो युत् ॥७२१७॥	॥७३१३॥	१४०	एकादशं ॥३२१९१॥	॥६३२२॥
१२१	ऊर्णाहंशुभमो युत् ॥७२१७॥	॥११४२॥	१४१	एताः क्षितः ॥३३११०॥	॥२३२४॥
१२२	ऊर्णाहंशुभमो युत् ॥७२१७॥	॥२१४४॥	१४२	एतामीर्व्यजनेऽदः ॥३२१९॥	॥१८९१४०॥
१२३	ऊर्णाहंशुभमो युत् ॥७२१७॥	॥२१२६॥		<b>ऐ.</b>	
१२४	ऊर्णाहंशुभमो युत् ॥७२१७॥	॥२०३४०॥	१४३	येकार्ये ॥३२१८॥	॥२१३७॥
१२५	ऊर्णाहंशुभमो युत् ॥७२१७॥	॥२०३४२॥			॥२१४५॥
	<b>क.</b>				॥८०१७॥
१२६	ककृमृवृत्तनि० ॥ उ० ४७५॥	॥७४३३८॥			॥१०७३३॥
१२७	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१००३५॥			॥११२२९॥
१२८	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१००४५॥			॥११२४२॥
१२९	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१००४२०॥			॥११३२६॥
१३०	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१००४२४॥			॥११३४२५॥
१३१	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥२०९४२॥	१४४	पेपमः ॥७२११००॥	॥२११०॥
१३२	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१३८१४॥		<b>ओ.</b>	
१३३	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥२०९४४॥	१४५	ओघ्यादुर ॥४१११७॥	॥७०३७॥
१३४	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥४३३३८॥			॥१३३१९॥
१३५	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥५५३५॥		<b>क.</b>	
१३६	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४५४३॥	१४६	कंशंभ्यां युस्तियस्तुतवभम् ॥७२११८॥	॥४४४५॥
१३७	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥९९२०॥	१४७	ककुपूमिष्टुवनुष्टुमः ॥ उ० ९३२॥	॥३३८२४॥
१३८	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४३३४०॥	१४८	कडम्बजू ॥४११४६॥	॥४३३८॥
१३९	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥९३३३॥			॥४४३२॥
१४०	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥८४२९॥			॥५५३५॥
१४१	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥८५२१॥			॥१४५३३॥
१४२	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥८५२९॥	१४९	कथमित्थम् ॥७२११०३॥	॥२११२॥
१४३	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१०५१९॥	१५०	कपाटविराटं ॥ उ० १४८॥	॥१८७४४॥
१४४	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१०७२७॥	१५१	कमेर्णिह् ॥३१४२॥	॥१९९१११॥
१४५	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥६४४४॥	१५२	करणाऽऽघारे ॥५३१२९॥	॥६८४७॥
१४६	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१०८३७॥			॥८२१७॥
१४७	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥२३३९॥			॥१२७४४३॥
१४८	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥३३३८॥			॥१४२५२३॥
१४९	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१३१३७॥			॥१६७४०॥
१५०	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥२०५३८॥			॥१६७४३३॥
१५१	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४०२८॥	१५३	कर्तृपनदुभ्य. शक् ॥३१४७१॥	॥१५३२७॥
१५२	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४०२८॥			॥३३२४॥
	<b>कृ.</b>				॥१०५१४॥
१५३	कृतां कृतीर् ॥४१४११६॥	॥५९४४१॥			॥१५३२९॥
१५४	कृतां कृतीर् ॥४१४११६॥	॥१३३१७॥			॥१५५४३॥
१५५	कृतां कृतीर् ॥४१४११६॥	॥१३३४४॥			॥१५३२५॥
१५६	कृतां कृतीर् ॥४१४११६॥	॥१३३४२८॥			॥१५५४३३॥
१५७	कृतां कृतीर् ॥४१४११६॥	॥१४०२३॥	१५४	कर्तुः क्तिप् ॥३१४२५॥	॥७३४३॥
१५८	कृतां कृतीर् ॥४१४११६॥	॥१४५३३॥			॥८०१८॥
१५९	कृतां कृतीर् ॥४१४११६॥	॥५६२६॥	१५५	कर्मणोऽण् ॥५११७२॥	॥३२२५॥
१६०	कृतां कृतीर् ॥४१४११६॥	॥८३२९॥			॥४२३७॥
	<b>क.</b>				॥५३३८॥
१६१	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥४०१५॥			॥१६०११॥
१६२	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४१२९॥			॥१६२२०॥
१६३	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१३२३२॥			॥१६७४४॥
१६४	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४३२१॥	१५६	कल्याणपर्याणादयः ॥ उ० १९३॥	॥१९५४४॥
१६५	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४३३३०॥	१५७	कवर्गैकस्वरवति ॥५३१७६॥	॥७९१॥
१६६	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४५२६॥			॥४९२२९॥
	<b>ख.</b>				॥१०३४५॥
१६७	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥४०१५॥			
१६८	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४१२९॥			
१६९	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१३२३२॥			
१७०	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४३२१॥			
१७१	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४३३३०॥			
१७२	ककृपूःपथ्यपोऽत् ॥७३१७६॥	॥१४५२६॥			

क्र०	श्लोकाणि ।	पृ० प०	क्र०	श्लोकाणि ।	पृ० प०
१५८	कारकं कृता ॥३११६८॥	॥१२२१४०॥	१८७	क्यद् ॥३११६९॥	॥१२२३०॥
"	"	॥१५७११॥	"	"	॥१२२३१॥
१५९	किं क्षेत्रे ॥३११६९॥	॥१९९२६॥	"	"	॥१२५०३९॥
१६०	कित्याद्येऽध्याय० ॥३११७०॥	॥२२२१७॥	१८८	क्यद्गानिपिचिद्धिते ॥३११७०॥	॥१०६३३०॥
"	"	॥१२२४२६॥	१८९	क्यनि ॥३११७१॥	॥१२२२९॥
१६१	कियत्तत्सर्वकान्यात् ॥३११७१॥	॥१२२४२७॥	"	"	॥८३२२१॥
"	"	॥२०१४३॥	१९०	न्ययत्वादीर्ये ॥३११७१॥	॥१२३३२९॥
१६२	किम् ॥३११७२॥	॥२०१४४॥	१९१	कमितमि० ॥ उ० ६१३ ॥	॥१४८१४१॥
"	"	॥२०१४५॥	१९२	क्रियायां क्रियार्यायां ॥३११७३॥	॥२०६३५॥
१६३	किमह्यादित्त्वा० ॥३११७३॥	॥२०१४६॥	१९३	क्रियार्यो घातुः ॥३११७३॥	॥८०११७॥
१६४	किलिपिलिपि शिचिडिडुडिडुण्डि- डुण्डि० ॥ उ० ६०८॥	॥१३३८३३॥	"	"	॥८०११९॥
१६५	कुटावेर्दिद्वदन्निवत् ॥३११७३॥	॥१३३८३४॥	१९४	क्रियाविशेषणात् ॥३११७३॥	॥२२१६८॥
१६६	कुटोर्वा ॥३११७३॥	॥७२१६२॥	१९५	कुत्सम्पदादिभ्यः क्विप् ॥३११७३॥	॥१०३२४४॥
१६७	कुर्वादेर्भ्यः ॥३११७३॥	॥१५२३३७॥	"	"	॥१९८३५॥
१६८	कुशिक० ॥ उ० ४५ ॥	॥२१७४३३॥	"	"	॥१३३४१४॥
१६९	कृगः श च वा ॥३११७३॥	॥१५६६६॥	"	"	॥१३३५१८॥
१७०	कृगो द्वे च ॥ उ० ७॥	॥१४७४३२॥	१९६	क्रयादेः ॥३११७३॥	॥१५४३४३॥
१७१	कृगो पि च ॥३११७३॥	॥१३३४३२॥	"	"	॥५३३६८॥
१७२	कृगनादेवः ॥३११७३॥	॥४६३२९॥	"	"	॥१५५११४॥
"	"	॥५४११४॥	१९७	कृविमन्त्येनैकं च वा ॥३११७३॥	॥१६६३६८॥
"	"	॥१३३४३२॥	१९८	कृवि ॥३११७३॥	॥८११३९॥
"	"	॥१३६३३१॥	"	"	॥९११४५॥
"	"	॥१५४३२४॥	"	"	॥९३३१२॥
"	"	॥१९५२८॥	"	"	॥९४३३७॥
१७३	कृभूम्यां क्वि ॥ उ० ६९० ॥	॥१४८३४०॥	"	"	॥९४३३७॥
"	"	॥१४८३४२॥	"	"	॥१०२३२०॥
१७४	कृभ्वस्तिभ्यां ॥३११७३॥	॥२१३३१॥	"	"	॥१०२३३०॥
१७५	कृवापा० ॥ उ० १॥	॥१४५९२०॥	१९९	कृवि क० ॥३११७३॥	॥१६६५४३॥
१७६	कृवृपिमृजि० ॥३११७३॥	॥१११६३८॥	"	"	॥२०७२९॥
"	"	॥२०५३३९॥	२००	कृविः के च ॥ उ० ५३० ॥	॥२०७५४३॥
१७७	कृसिकस्यमिगमि० ॥ उ० ७७३॥	॥१०५११७॥	२०१	कृकुत्रा० ॥३११७३॥	॥२०७४३॥
१७८	कृहने० ॥ उ० ७९१ ॥	॥१४५९१९॥	"	"	॥२१७४३२॥
१७९	कृशृगृशलिकलि० ॥ उ० ३२९॥	॥१३३८४६॥	"	"	॥६०४०॥
"	"	॥१७३३०॥	"	"	॥६४१७॥
१८०	केवयुभुरण्यध्वर्यु० ॥ उ० ७४६ ॥	॥८६३३९॥	"	"	॥७०३३५॥
१८१	कोऽभ्यादेः ॥३११७३॥	॥४४२२९॥	"	"	॥८३२०॥
१८२	कोर्दिम् ॥ उ० ९३९ ॥	॥७०१४७॥	२०३	क्विप् ॥३११७३॥	॥४४३३६॥
१८३	कृति पि शय ॥३११७३॥	॥२०५२२॥	"	"	॥१५४३४॥
१८४	ककवत् ॥३११७३॥	॥२०७९॥	"	"	॥४०१६॥
"	"	॥२०७९३॥	"	"	॥४६३३३॥
१८५	केऽनित्त्वा० ॥३११७३॥	॥१६५४३॥	"	"	॥७७२२१॥
१८६	क्यः शिति ॥३११७३॥	॥५३२३॥	"	"	॥८०१७॥
"	"	॥५४२२॥	"	"	॥१०२३५॥
"	"	॥५८३३॥	२०४	कौ ॥३११७३॥	॥४४३४॥
"	"	॥१३३२९॥	२०५	कृयज्यौ शकौ ॥३११७३॥	॥४८२०॥
"	"	॥१३३२८॥	२०६	कृधवसस्तेषाम् ॥३११७३॥	॥१६८३७॥
"	"	॥१३३४३॥	२०७	कृधुपिपचो मकवम् ॥३११७३॥	॥१३२११॥
"	"	॥१५६६६॥	"	"	॥१३२१५॥
"	"	॥१६०२१॥	"	"	॥१३२१८॥
"	"	॥२१३३०॥	"	"	॥१३२२०॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
२०८	स्वरसुरान्नासिकाया नस् ॥७३११६०॥	॥१०४३८॥	२३२	गोस्तत्पुरुषात् ॥७३११०५॥	॥९९१२५॥
२०९	खित्पनव्याऽरूपो ॥३१२१११॥	॥ २२३३॥	२३३	गौरादिभ्यः० ॥२१४१९॥	॥१५१३९॥
"	"	॥४४३९॥	"	"	॥८६१२८॥
"	"	॥१३८१५॥	२३४	ग्मिन् ॥७३२२५॥	॥१०३१२५॥
२१०	खण्म् चाऽऽभीक्ष्ये ॥५१४४८॥	॥२०६३३॥	२३५	त्रसिहान्भ्यां प्राजिहौ च ॥ उ०३३९॥	॥१६८१२७॥
"	ग.		२३६	ब्रह्मश्च० ॥४१८४॥	॥१४०३९॥
२११	गच्छति पथिद्रुते ॥६३२०३॥	॥५०३३३॥	"	"	॥१४४२०॥
२१२	गति कारकस्य नहिवृति० ॥३१२८५॥	॥१४२२४॥	"	"	॥१५११९॥
२१३	गत्तिकन्य० ॥३११४२॥	॥४५२४॥	२३७	ग्रामात्रा० ॥२३१७१॥	॥१३३३९॥
२१४	गत्यर्थाऽकर्मक० ॥५११११॥	॥६१४५॥	२३८	ग्रोमादिर्वा ॥ उ० ८९०॥	॥१४८१४४॥
"	"	॥१३२१४॥	घ.		
"	"	॥१३२१८॥	२३९	घसेकस्वरात्. वसो. ॥४१४८२॥	॥२०६३६॥
"	"	॥१६९११६॥	"	"	॥१३५४४॥
"	"	॥२०७२०॥	२४०	घस्वसः ॥२३३३६॥	॥१६८३७॥
२१५	गत्यर्थात् कुटिले ॥३१४११॥	॥४४३३॥	२४१	ब्राह्मापाट्टघेटश. शः ॥५११५८॥	॥२०४१८॥
"	"	॥५७४३॥	ङ.		
"	"	॥६२३२॥	२४२	ङसोऽपत्ये ॥६११२८॥	॥१६१२२॥
"	"	॥१३५३३॥	"	"	॥१५२३३३॥
२१६	गन्धनावक्षेपसेवासाहसप्रतियत्न०		२४३	ङस्युक्तं कृता ॥३११४९॥	॥४२३४॥
	॥३१३१७६॥	॥१६५३६॥	"	"	॥४४४०॥
२१७	गमहनजन० ॥४२१४४॥	॥१०२१४०॥	"	"	॥९८३३३॥
"	"	॥१५३३१९॥	"	"	॥१३०१४४॥
२१८	गमिषद्यमश्छः ॥४२११०६॥	॥५०३३३॥	२४४	ङौ सासहिवावहि० ॥५२३२८॥	॥२०६४२२॥
"	"	॥१४२३३६॥	२४५	ङ्यादीदूत. के ॥२१४१०४॥	॥७३३३३॥
२१९	गमेरिन् ॥ उ० ९१९॥	॥२०७४०॥	"	"	॥१३२११९॥
२२०	गयहृदया० ॥ उ० ३७०॥	॥१४९३७॥	२४६	ङ्यादेर्गोणस्या० ॥२१४१९५॥	॥८०३३३॥
"	"	॥७१३३७॥	"	"	॥१०६२२॥
२२१	गर्गाद्व्यञ्ज ॥६११४२॥	॥८५२२॥	"	"	॥१०६१४४॥
२२२	गहादिभ्यः ॥६३३६३॥	॥७३३७॥	"	"	॥१८८१४०॥
२२३	गहोर्जः ॥४११४०॥	॥१३५३३३॥	२४७	ङ्यापो बहुलं नाञ्चि ॥२१४१९९॥	॥१५३४०॥
"	"	॥१४२१२१॥	च.		
२२४	गुणाङ्गात् ॥७३३१॥	॥८७२५॥	२४८	चक्षो वाचि कशाग्र० ॥४१४४॥	॥२३२७॥
२२५	गुणोऽरेदौ ॥३३३२॥	॥८५४०॥	"	"	॥५९१४५॥
२२६	गुपौधूपविच्छिपणिनैरायः ॥३१४११॥	॥२३८॥	२४९	चतुर. ॥७३११६३॥	॥१३३३२६॥
"	"	॥१६७२१॥	२५०	चन्द्रो रमस् ॥ उ० ९८६॥	॥१०४३२२॥
२२७	गृपुदुर्विधुर्विभ्य. क्पि ॥ उ० ९४३॥	॥५९१४१॥	२५१	चन्द्रयुक्ताकाले० ॥६२१६॥	॥१८८३५॥
२२८	गृपुपसदचर० ॥३१४१२॥	॥४४३३३॥	"	"	॥२१७२५॥
२२९	गोचरसंचर० ॥५१३१३३॥	॥४७३३०॥	२५२	चरफलाम् ॥४११५३॥	॥४४३३४॥
२३०	गोश्चाऽन्ते० ॥२१४१९६॥	॥६४४१॥	२५३	चरेष्टः ॥५११३८॥	॥४२१५॥
"	"	॥७४४०॥	२५४	चवर्गदपहः समाहारे ॥७३१९८॥	॥१३३३१॥
"	"	॥७६३३३॥	"	"	॥१३३३३॥
"	"	॥८०३३३॥	२५५	चित्रारेवतीरोहिण्याः स्त्रियाम्	
"	"	॥८६२१॥		६३१०८॥	॥१८८१४०॥
"	"	॥८७३५॥	२५६	चिमेर्होचङ्गौ ॥ उ० १२२॥	॥२१७४४५॥
"	"	॥९२१६॥	२५७	चुरादिभ्यः० ॥३१४१७॥	॥१७३१६॥
"	"	॥९४३३३॥	ज.		
"	"	॥१०८३८॥	२५८	जपजमदहृदश० ॥४११५२॥	॥१३९१९॥
"	"	॥१०९१५॥	२५९	जा बाजनोऽत्यादौ ॥४१२१०४॥	॥१८९१४०॥
"	"	॥१२२८४६॥			
२३१	गोष्ठातेः शुनः ॥७३१२१०॥	॥१५१४३॥			

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
२६०	जातेः सम्पदा च ॥७१२१३३॥	॥२१३३॥	२८२	तत्साप्यानाप्या० ॥३३३२१॥	॥१६०२१॥
२६१	जातेर्यान्त० ॥२१४५४॥	॥५३३३॥	"	"	॥१६४४२॥
२६२	जीणहृक्षि० ॥५२१७२॥	॥२०४२८॥	"	"	॥१६५१९॥
२६३	जृपोऽवृः ॥५११७३॥	॥१०५१९५॥	"	"	॥१६५४४॥
"	"	॥१५४२६॥	"	"	॥१६६१४०॥
"	"	॥१५४३९॥	"	"	॥१६७४४२॥
२६४	घः ॥३३३८२॥	॥२०२१९॥	"	"	॥१६९११६॥
२६५	घानेच्छार्चार्थजीच्छी० ॥५२१९२॥	॥२०७२१॥	"	"	॥२०७३३०॥
"	"	॥२०७२०॥	२८३	तदर्थायन ॥३११७२॥	॥१९९११९॥
२६६	घीप्सास्थये ॥३३३६४॥	॥१९३३३२॥	२८४	तदस्य सञ्जातं ॥७११३८॥	॥१७७९१७॥
२६७	न्याव्येव्यघिव्यचिव्यथेरि० ॥५११७१॥	॥१३५१७॥	२८५	तदस्याऽस्त्यस्मि० ॥७२११॥	॥४०१७॥
	ञ.		"	"	॥४७३३०॥
२६८	झिणवि घन् ॥४३१०१॥	॥१४०१४३॥	"	"	॥७१२३३॥
२६९	झिणति ॥४३१५०॥	॥११३२०॥	"	"	॥१३२१२६॥
"	"	॥१४०३७॥	"	"	॥१३४११८॥
"	"	॥१४०४३॥	"	"	॥१४७२४॥
"	"	॥१६६२८॥	"	"	॥१५१२५॥
	ट.		२८६	तद्वति घण् ॥७२१०८॥	॥२१३६॥
२७०	द्वितोऽधुः ॥५३३८३॥	॥२३२०॥	२८७	तनित्यजियजिभ्यो ङद् ॥७०८९५॥	॥७०४४१॥
	ड.		२८८	तनेर्डउः ॥ उ० ७४८॥	॥३६४४॥
२७१	डाच् लोहितादिभ्यः पित् ॥३३४३०॥	॥१२२३१॥	"	"	॥३६२०॥
२७२	डित्यन्त्यस्वरादेः ॥५१११४॥	॥७४३५॥	२८९	तनेर्बुच् ॥उ० ८७२॥	॥१४२३३॥
"	"	॥७५१५॥	२९०	तन्व्यघि० ॥५११६४॥	॥१८७४५॥
२७३	डीनीयन्धि० ॥ उ० ३२५॥	॥१४९१४॥	२९१	तव्यानीयौ ॥५१२७॥	॥२०५३८॥
२७४	डीयश्चैदित० ॥४४४६१॥	॥६१४५॥	"	"	॥२०६१९॥
"	"	॥१४४१८॥	२९२	तस्मि० ॥६३२११॥	॥२२१५॥
	ण.		२९३	तस्मै योगादेः शक्ते ॥६४१५४॥	॥१७४३६॥
२७५	णकवृचौ ॥५११४८॥	॥१५४३॥	२९४	तस्मै हिते ॥७१३५॥	॥१५०२४॥
"	"	॥८४१८॥	२९५	तस्याहो० ॥७१५१॥	॥२२१६॥
"	"	॥८६४४॥	२९६	तस्येदम् ॥६३१६०॥	॥१२२२२॥
"	"	॥१२७४३॥	"	"	॥१०९१७॥
"	"	॥१७०१७॥	"	"	॥१५१२५॥
"	"	॥२०४१८॥	"	"	॥१५१३३॥
२७६	णिज्वहुलं नास्त्रः कृगादिषु ॥३३४४२॥	॥४६१३॥	"	"	॥१५१४१॥
"	"	॥४७३७॥	२९७	ताभ्यां ॥२१४१५॥	॥१५३३॥
"	"	॥१०२४०॥	"	"	॥७४३६॥
२७७	णिन् चाऽऽवश्यकाधमर्ण्ये ॥५१४३६॥	॥२०७४२॥	"	"	॥८६१९॥
२७८	णिवेत्यासश्चन्यघृष्ट० ॥५३११०॥	॥२०५२१॥	२९८	तिक्कृतौ नास्ति ॥५११७१॥	॥५७११॥
२७९	णेरनिटि ॥४३३८३॥	॥४६१४॥	२९९	ति चोपान्त्यातोऽनोद्दुः ॥४११५४॥	॥४४३६॥
"	"	॥४६१७॥	३००	तीयशम्ब० ॥७२१३५॥	॥२१३३०॥
"	"	॥५३१३३॥	३०१	तुदादिविषि० ॥उ० ५॥	॥१५९१३॥
"	"	॥१६३२२॥	३०२	तुदादेः घाः ॥३३४८१॥	॥१३३३३२॥
	त्.		३०३	तुमर्हात् ॥३३४२१॥	॥१५३३२८॥
२८०	तत्र कसुकानौ तद्वत् ॥५२१२४॥	॥१३५३३॥	"	"	॥१३३११६॥
"	"	॥१५१२३॥	३०४	तृतीयायाम् ॥३११८४॥	॥१३३२॥
"	"	॥२०६३५॥	"	"	॥१३३२॥
"	"	॥२०६३७॥	३०५	तन् शीलघर्मसाधुषु ॥५२१२७॥	॥८४२०॥
२८१	तत्र साधौ ॥७११२५॥	॥१३४२०॥	"	"	॥२०६३०॥
"	"	॥१५०३५॥	३०६	तृपिचपिकुपिकुशि० ॥उ० ४६८॥	॥१९६२०॥
			३०७	तृप्तार्थपूरणाव्यया० ॥३११८५॥	॥२१३८॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
३०८	तृषिधृषिस्वपो नजिङ् ॥५१२८०॥	॥१४२३५॥	३३२	दिवादेः झ्यः ॥३१४७२॥	॥१३३३३॥
३०९	तृस्त्वृत्तन्द्रितक्यविभ्य ई ॥ उ० ७११॥	॥७९१४०॥		"	॥१४२३२६॥
३१०	तेन जितजयद् ॥६१४२॥	॥१६१३३॥		"	॥१५४३७॥
३११	तेर्ग्रहादिभ्यः ॥४१४३३॥	॥५५१२८॥	३३३	दिवेडिब् ॥उ० ९४९॥	॥१५४३४२॥
	"	॥१४३३२५॥	३३४	दिशो रूढयान्तराले ॥३११२५॥	॥७५१२१॥
३१२	त्यदादिः ॥३१११२०॥	॥६९१३२॥	३३५	दीय दीङ् किति स्वरे ॥४१३१९३॥	॥१४०१४१॥
	"	॥६९१३५॥	३३६	दीर्घश्चिद्यह्यकृत्येषु च ॥४३३१०८॥	॥३३११८॥
३१३	त्यदादन्य० ॥५१११५२॥	॥६९१३०॥		"	॥७८१२१॥
३१४	त्यादिसर्वादिः स्वरेष्व० ॥७३३२९॥	॥६५१३३॥		"	॥८३३२१॥
	"	॥६८११४॥		"	॥१००१२०॥
	"	॥६८११५॥		"	॥१४६१६॥
	"	॥६९१२८॥		"	॥१४६१२९॥
	"	॥७५१२८॥		"	॥१५५१४॥
	"	॥१२३३४५॥	३३७	दुनादि० ॥६११११८॥	॥७९११२॥
	"	॥१२४३२४॥	३३८	दुहदिहलिह० ॥४३३७४॥	॥१३२११७॥
	"	॥१२५१२५॥	३३९	दूरादामञ्जस्य० ॥७३३९९॥	॥३३३३६॥
३१५	त्यादेश्च प्रशस्ते रूपप् ॥७३३१०॥	॥२१३३९॥		"	॥४६१४४॥
	"	॥१४६१२५॥		"	॥४६१४६॥
३१६	न्नत्यस्वरादेः ॥७३३४३॥	॥१४३१२१॥		"	॥५०१२८॥
	"	॥४६११४॥		"	॥१६९१२४॥
	"	॥४७३३७॥	३४१	दृक्फृ० ॥ उ० २०७॥	॥१५९१३३॥
३१७	त्रप् च ॥७३३९२॥	॥२१७३४२॥	३४२	द्वेये वा च ॥७३३१३३॥	॥२१३३३॥
३१८	त्रसिगृधिधृषि० ॥५१३३२॥	॥२०६३३२॥	३४३	देवता ॥६१३०१॥	॥१५२३३७॥
३१९	त्रिंशद्विंशतेर्दकोऽसंज्ञायामार्हदर्थे ॥६१३३२९॥	॥१५३३४१॥	३४४	देवतानामात्वाद्वा ॥७३३२८॥	॥१२३३३०॥
३२०	त्रेस्तु च ॥७३३१६६॥	॥७३३३५॥	३४५	दो डिमः ॥ उ० ३५५॥	॥१४७३२६॥
३२१	त्वष्टृक्षन्तृदुहिनादयः ॥उ० ८६५॥	॥८४३२५॥	३४६	दोरप्राणिनः ॥६१३४९॥	॥८०३३२॥
	द.			"	॥११२३३८॥
३२२	दक्षिणोत्तराच्चात्स ॥७३३११७॥	॥२१३३३॥	३४७	दोरीयः ॥६१३३३॥	॥११२३३८॥
	"	॥२०३३४१॥	३४८	द्युगमिभ्यां डोः ॥ उ० ८६७॥	॥१५४३७७॥
३२३	दृच्युरः ॥७३३१७२॥	॥९५३४७॥	३४९	द्युतेरादेश्च जः ॥ उ० ९९१॥	॥१४८३४५॥
	"	॥९५१२५॥	३५०	द्युद्भ्याम् ॥ उ० ७४४॥	॥१४९११७॥
३२४	दृम्यमि० ॥ उ० २००॥	॥१४९१३५॥	३५१	द्युमागपागुदकृप्रतीचो यः ॥६१३३८॥	॥१५५११७॥
३२५	दृञ्चाऽऽङः ॥५१३३७८॥	॥२०८३४२॥	३५२	द्युसुनिभ्यो माङो डित् ॥ उ० २६६॥	॥१९८३१४॥
३२६	दाघेसिश्दसदो रु० ॥५१३३६॥	॥२०६३३३॥	३५३	दुहिद्विहिमहि० ॥ उ० ८८४॥	॥१०२३४४॥
३२७	दामाभ्यां लुः ॥उ० ७८६॥	॥१४९१२०॥	३५४	दुहद्विहिवक्षिभ्य हण० ॥ उ० १९४॥	॥७०३३८॥
३२८	दिकृशब्दा० ॥७३३११३॥	॥२१३२१॥	३५५	द्रोर्वा ॥ उ० १८४॥	॥१८९३३०॥
	"	॥१९९३४३॥	३५६	द्वन्तरनवर्णोपसर्गादिप ईप् ॥३१३१०९॥	॥२०९३४२॥
३२९	दिगधिकं ॥३१३१९८॥	॥११३३३२॥	३५७	द्वयोर्विभज्ये च तरप् ॥७३३६॥	॥९९१२०॥
३३०	दिगादिदेहांशाद्यः ॥६१३३२४॥	॥८३३३४॥		"	॥१२४३२५॥
	"	॥१४७३४३॥		"	॥१३४३२२॥
३३१	द्विद्युद्दृज्जगज्जूह्वाक् ॥५१३३३॥	॥७९३४१॥	३५८	द्वारादेः ॥७३३६॥	॥१५१३३९॥
	"	॥८१३२५॥	३५९	द्विगोः समाहारात् ॥२३३२२॥	॥६३३१६॥
	"	॥१२७३४१॥		"	॥९०१२८॥
	"	॥१२८३३३॥	३६०	द्विगोरनपत्ये० ॥६१३३४॥	॥८९३११॥
	"	॥१३०३३॥		"	॥८९३३५॥
	"	॥१३८३२०॥	३६१	द्विगोरन्नदोऽट् ॥७३३९९॥	॥८९३४१॥
	"	॥१४३३६॥		"	॥१८५३२५॥
	"	॥१४३३२९॥	३६२	द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ ॥४३३४२४॥	॥५०३३६॥
	"	॥१४३३३३॥		"	॥१३९३२९॥
				"	॥१३९३३५॥
				"	॥१४५३४२॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
३६३	द्वितीयाया. काम्य. ॥३१४२२॥	॥१५०३७॥	३६९	नामिनस्तयोः षः ॥२३१८॥	॥६५॥
३६४	द्वित्रिचतु० ॥७२११०॥	॥२१११७॥	३७०	नामिनोऽकलिहलेः ॥४३१५१॥	॥४३३८॥
"	"	॥४३१२२॥	"	"	॥१३५१८॥
"	"	॥१८५१२६॥	"	"	॥१४०३८॥
"	"	॥२०८१२५॥	३९१	नामिनो गुणोऽकृति ॥४३११॥	॥६२५॥
३६५	द्विभिभ्यामयद्वा ॥७१११५०॥	॥७१३२॥	"	"	॥८५१४१॥
"	"	॥७१३५॥	"	"	॥१३४१६॥
"	"	॥७४१७॥	"	"	॥१३४४२॥
३६६	द्वित्रैर्घ० ॥७२११०॥	॥२२११५॥	"	"	॥१४०१२७॥
३६७	द्विदण्ड्यादिः ॥७३३७५॥	॥६७५॥	"	"	॥१४६३३१॥
३६८	द्विर्घातुः परोक्षाडे० ॥४१११॥	॥४३३३७॥	३९२	नामः प्राग्वदुर्वा ॥७३१२॥	॥१६१९॥
"	"	॥५५३३४॥	"	"	॥७४४४१॥
"	"	॥१२७३८॥	"	"	॥७५४४१॥
"	"	॥१२८१२०॥	"	"	॥८६१२०॥
"	"	॥१२८३३॥	"	"	॥९९११७॥
"	"	॥१३५१७॥	३९३	नाम्यन्तस्था० ॥२३३१५॥	॥६६२॥
३६९	द्विस्वरादनद्याः ॥६११७१॥	॥१०९१८॥	"	"	॥१३१११॥
३७०	द्वेस्तीयः ॥७१११६५॥	॥७३३५॥	"	"	॥१३३४४॥
	ध.		"	"	॥४११२९॥
३७१	घारीडोऽरुच्छेऽरुश् ॥५१२२५॥	॥१५४२५॥	"	"	॥४५३३१॥
"	"	॥२०६१४१॥	"	"	॥६२३३०॥
३७२	धुद्धस्वाह्वगनितस्तयोः ॥४३३७०॥	॥५६१४१॥	"	"	॥६३२५॥
"	"	॥१३९१४३॥	"	"	॥६५३३५॥
३७३	धुरो यैयण् ॥७१३१॥	॥१३४१०॥	"	"	॥७३३४६॥
३७४	धूमौदित्त. ॥४१४३८॥	॥१४२११६॥	"	"	॥१३११७॥
"	"	॥१४३३२३॥	"	"	॥१३३२३३॥
"	"	॥१४३३२९॥	"	"	॥१३३३३५॥
"	"	॥१४४३२२॥	"	"	॥१५१३३२॥
"	"	॥१४५१२७॥	"	"	॥१५४३२२॥
३७५	ध्रुध्रुन्दि० ॥ उ० २९॥	॥१४५३३८॥	३९४	नाम्युपान्त्यकृ० ॥ उ० ६०९॥	॥१३३३३०॥
	न.		"	"	॥१४७३३४॥
३७६	न किम. क्षेपे ॥७३३७०॥	॥९९१२६॥	३९५	नाम्युपान्त्य० ॥५११५४॥	॥३०१२२॥
३७७	नञ् ॥३११५१॥	॥९०३३६॥	"	"	॥६०४०॥
३७८	नञत् ॥३२१२२५॥	॥५७३२९॥	"	"	॥७०३३१॥
३७९	नञो लम्बेर्न लुक च ॥ उ० ८३८॥	॥८६३३२॥	"	"	॥१३३४४१॥
३८०	नञो हलिपतेः ॥ उ० ३५८॥	॥८३३३४॥	"	"	॥१४९१२२॥
३८१	नञत्तपुरुपात् ॥७३३७१॥	॥९९१२६॥	३९६	नासीसखीपङ्कथ्व० ॥२१४७६॥	॥८३३३६॥
३८२	नद्या मत्तु. ॥६१२३२॥	॥१४७३१०॥	"	"	॥१०२३३॥
"	"	॥१४७३३५॥	३९७	नासिकोदरीष्ट० ॥२१४३९॥	॥३०४४२॥
३८३	न चदन्तं ॥४११५॥	॥१४४३३५॥	३९८	निवृपीष्युषि० ॥ उ० ५११॥	॥७०३३१॥
३८४	नमोः ष च ॥ उ० ८६२॥	॥८४३२३॥	"	"	॥७०३३६॥
३८५	नमो वरि० ॥३१४३७॥	॥२३३२१॥	३९९	नित्यं मजिनोऽण् ॥७३३५८॥	॥९७४४७॥
३८६	नवा शोणादे. ॥२१४३३१॥	॥१५३३१७॥	४००	नियः वादिः ॥ उ० ८६४॥	॥८४३२४॥
३८७	नसिबसि० ॥ उ० ४०॥	॥१४९३३६॥	४०१	निर्दुर्बहि० ॥२१३९॥	॥९३३३६॥
३८८	न सन्धिहीयक्किद्धि० ॥७३३१११॥	॥४६१८॥	४०२	निविशः ॥३१३२४॥	॥१६३३१॥
"	"	॥४७३४०॥	"	"	॥१६९१२४॥
"	"	॥४७३४३॥	४०३	निविस्वन्ववात् ॥४१४८॥	॥५८१४३॥
"	"	॥५२३२४॥	४०४	निष्कतुक्फो० ॥ उ० २६॥	॥८६३३४॥
"	"	॥१३९३२॥	४०५	नीदांश्चासू० ॥५२१८८॥	॥१६५३३६॥
			४०६	नीसावृ० ॥ उ० ६८७॥	॥१४८३४०॥
			४०७	नृहेतुभ्यो० ॥६३३१५६॥	॥४०११५॥
			"	"	॥१४५२०॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४०८	नैकस्वरस्य ॥७४४४४॥	॥११३१२०॥		पूजास्वतेः० ॥७३१७२॥	॥१०४१२३॥
४०९	नोऽपदस्य तद्धिते ॥७४४६१॥	॥१५११४२॥		"	॥१०९१२३॥
४१०	नो व्यञ्जनस्यानुदितः ॥४१२४५॥	॥५३११८॥	४३९	पृदिव्यञ्जे० ॥४१२४७२॥	॥८३१२९॥
"	"	॥१३५४१॥	४४०	पूर्वपदस्या० ॥२३३६४॥	॥१०३१४४॥
"	"	॥१३७२॥	४४१	पूर्वमनेन सादेञ्चन् ॥७१११६७॥	॥२०४१२३॥
"	"	॥१३७१९॥	४४२	पूर्वाऽपराधरोत्त० ॥७१२९८॥	॥२११९॥
४११	न्यायावाया० ॥५३१३३४॥	॥१७४२६॥	४४३	पूर्वावराधरेभ्यो० ॥७१२११५॥	॥२११२५॥
४१२	पञ्चदशद्वर्गे वा ॥६४११७५॥	॥९२१२३॥	"	"	॥२०३१४१॥
४१३	पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य ॥७४१०४॥	॥६१११९॥	"	"	॥२०३१४३॥
"	"	॥१३११२७॥	४४४	पुषोदरादयः ॥३१२१५५॥	॥८६१३७॥
"	"	॥१९०१२७॥	४४५	पृथुमाहात्मिः ॥४११५८॥	॥१४५१४१॥
४१४	पतिराजान्तगुणा० ॥७११६०॥	॥५२१२७॥	४४६	प्रकारे जातीयद् ॥७१२४७॥	॥७३१३६॥
"	"	॥२००१४३॥	"	"	॥१४५१२०॥
४१५	पत्युर्न ॥२१४४८॥	॥७८१४५॥	४४७	प्रकारे था ॥७१२१०२॥	॥२११२२॥
"	"	॥८३११६॥	४४८	प्रकृष्टे तमप् ॥७३१५॥	॥१३६१२१॥
४१६	पथिमन्धिभ्याम् ॥ उ० ९२६॥	॥९९१३९॥	४४९	प्रतिना पञ्चम्याः ॥७१२४७॥	॥१९८१६५॥
४१७	पदक्रमशिक्षा० ॥६१२१२६॥	॥१२२१४०॥	४५०	प्रत्यय प्रकृत्यादेः ॥७४११२५॥	॥११३३६॥
४१८	पदरूजविशस्वृशो घञ् ॥५३११६॥	॥५९१२२॥	"	"	॥१४११॥
"	"	॥१४९१३६॥	"	"	॥१४१३३॥
"	"	॥१६५१४१॥	"	"	॥३५१३३॥
४१९	पदस्य ॥२११८९॥	॥२१११९॥	"	"	॥७२१४०॥
४२०	पदिपठि० ॥उ० ६०७॥	॥१३३३३८॥	"	"	॥७२१४२॥
"	"	॥१४७१३४॥	"	"	॥७४१४४॥
४२१	पदेऽन्तरे० ॥२३१९३॥	॥८२११५॥	"	"	॥९२१२८॥
४२२	परत्. स्त्री पुंवत्० ॥३१२४९॥	॥८५१२४॥	"	"	॥१०६११७॥
"	"	॥१५४१४३॥	४५१	प्रत्ययस्य ॥७४११०८॥	॥८२१४३॥
४२३	परूपरान्योन्येत्तरेतरस्याम् ॥३१२१॥	॥७३१४२॥	"	"	॥११४१३१॥
४२४	पराणि कानानशौ० ॥३३३२०॥	॥१६४१२९॥	"	"	॥११५११८॥
४२५	परावरात्तात् ॥७१२११६॥	॥२०३१४०॥	"	"	॥१४७११९॥
४२६	परावर्जेः ॥३३३२८॥	॥१६३३१॥	४५२	प्रत्यये च ॥११३३२॥	॥२३११०॥
४२७	परोक्षो० ॥३३३१२॥	॥२३३३०॥	४५३	प्रमाणीसंख्याद् ॥७३१२८॥	॥१५३१४२॥
४२८	पर्यभेः० ॥७१२४३॥	॥१७९१३२॥	४५४	प्रयोक्तृव्यापारे० ॥३३४२०॥	॥६११२८॥
४२९	पर्यायार्हणोत्पत्तौ च णकः ॥५३११२०॥	॥२०५१२०॥	"	"	॥१५८१२२॥
"	"	॥२०५१३१॥	"	"	॥१५९११२॥
४३०	पञ्चोऽपरस्य० ॥७१२१२४॥	॥२११२४॥	"	"	॥१५९११७॥
"	"	॥२०३१४४॥	"	"	॥१६११४३॥
४३१	पातेर्हुम्सुः ॥ उ० १००२ ॥	॥९९११५॥	"	"	॥१६६१२७॥
४३२	पात्यादस्या० ॥७३११४८॥	॥१५०११९॥	"	"	॥१६६१२८॥
४३३	पुंवत्कर्मधारये ॥३३२५७॥	॥१४५१३३॥	४५५	प्रशस्यस्य श्रः ॥७४१३४॥	॥१४५१२३॥
"	"	॥१४५१४०॥	४५६	प्रश्ने च प्रतिपदम् ॥७४१९८॥	॥१२६११४॥
४३४	पुंसः ॥२३३३॥	॥४२३३५॥	"	"	॥१२६१४३॥
४३५	पुतपिच० ॥ उ० २०४॥	॥८६३३४॥	४५७	प्रहाहाय० ॥उ० ५१४॥	॥७०१४०॥
४३६	पुमनङ्गौ० ॥७३११७३॥	॥९८१४०॥	४५८	प्राक्काले० ॥५४१४७॥	॥१३३१२२॥
"	"	॥९९११७॥	"	"	॥१४५१२६॥
४३७	पृह्यजः शानः ॥५२१२३॥	॥२०६३३८॥	"	"	॥२०६३३४॥
४३८	पूजास्वतेः० ॥७३१७२॥	॥७८१२९॥	४५९	प्राग्जितादण् ॥६१११३॥	॥९७४५५॥
"	"	॥८३३३२॥	४६०	प्राण्यौषधिबुद्धेभ्यो० ॥६१२३३॥	॥९६११२॥
"	"	॥९९१२५॥	४६१	प्रात्यवपरिनिरादयो० ॥३३११४७॥	॥१४३३६॥
"	"	॥१००१६॥	"	"	॥६४४११॥
"	"	॥१००१३५॥	"	"	॥७५१२३॥
"	"	॥१००१४५॥	"	"	॥८४१२८॥
"	"		"	"	॥१२६१२६॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४६२	प्रात्सूजोरिन् ॥५२॥७१॥	॥२०४२८॥
४६३	प्रादुरूपसर्गां ॥२३॥५८॥	॥१८०२२॥
४६४	प्रादु दागस्त धारम्भे पते ॥४१॥७॥	॥५१३७॥
	"	॥५८१४॥
४६५	मियस्विरं ॥७१॥३८॥	॥७५१८॥
	"	॥८७२५॥
	"	॥१०१२९॥
<b>फ.</b>		
४६७	फले ॥६२॥५८॥	॥८०३२॥
४६५	फल्गुन्यासः ॥६३॥१०६॥	॥२१७२९॥
<b>व.</b>		
४६८	चहुलम् ॥५१॥२॥	॥१७४१३॥
४६९	चहुलं लुप् ॥३१॥१४॥	॥१३५३२॥
	"	॥१३९३५॥
	"	॥१४४३२॥
४७०	चहूनां प्रश्ने षतमश्च वा ॥७३॥५४॥	॥६७३२॥
	"	॥६७४६॥
४७१	चहोर्घाऽऽसन्ने ॥७२॥११२॥	॥२१२०॥
	"	॥२०८२७॥
४७२	चहृत्पार्थात् ॥७२॥१५०॥	॥२१३३॥
४७३	चिदादेर्घृद्धे ॥६१॥४१॥	॥२१६२६॥
४७४	चहृत्प्रभूणवृत्तात् ॥५१॥१६१॥	॥४९२८॥
	"	॥१०३२७॥
	"	॥१४६२१॥
४७५	चूगः पञ्चानां ॥४२॥११८॥	॥१४२२२॥
	"	॥२०७३५॥
<b>भ.</b>		
४७६	भजो विण् ॥५१॥१४६॥	॥१४२३४॥
४७७	भन्देर्घा ॥ उ० ३९१॥	॥१९५४३॥
४७८	भर्तुसन्ध्यादेरण ॥६३॥८९॥	॥१८८३९॥
४७९	भवतोरिकणीयसौ ॥६३॥३३०॥	॥११४२२॥
४८०	भवत्यानुम्भदी ॥७२॥९१॥	॥२१७४१॥
४८१	भवे ॥६३॥२२३॥	॥८९१०॥
	"	॥८९३५॥
	"	॥१५०३५॥
४८२	भव्यगोयजन्यं ॥५१॥१७॥	॥२०५४०॥
४८३	भातेर्घ्वतुः ॥ उ० ८८६॥	॥७०४६॥
४८४	भाववचनाः ॥५३॥१५॥	॥१९३४२॥
४८५	भावाऽकर्जोः ॥५३॥१८॥	॥३०२१॥
	"	॥२०५२१॥
४८६	भावे ॥५३॥२२२॥	॥१३९४६॥
	"	॥२०७२९॥
४८७	भावे त्वतल् ॥७३॥५५॥	॥१३६२०॥
४८८	मिदाद्वयः ॥५३॥१०८॥	॥६१३५॥
	"	॥१३३१६॥
	"	॥८६४१॥
४८९	मियो रुक्कलुकम् ॥५२॥७६॥	॥८६३५॥
४९०	मिह्लाच्छं ॥ उ० ४६४॥	॥८६३५॥
४९१	मीणशलिबलिं ॥ उ० २१॥	॥७०४४॥
४९२	मीवृषिं ॥ उ० ३८७॥	॥१९५४४॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४९३	भुजिपत्यादिभ्यां ॥५३॥१२८॥	॥६८४६॥
	"	॥१६२२२॥
	"	॥१७६४३॥
४९४	भूजेः ण्युक् ॥५२॥३०॥	॥२०६३१॥
४९५	भूर्लुक् चवर्णस्य ॥७३॥४१॥	॥१४५२२॥
४९६	भूभ्यवोऽल् ॥५३॥२३॥	॥१७४२४॥
४९७	भृजो भर्त् ॥४१॥६॥	॥१४३२८॥
४९८	भृमृत् ॥ उ० ७१६॥	॥१२९१४१॥
	"	॥१६४१६६॥
	"	॥१४२१७७॥
	"	॥१४४१८॥
४९९	भृवृजिं ॥५३॥११२॥	॥१३८१५॥
५००	भोगवद्भौरिमतोर्नाम्नि ॥३३॥६५॥	॥१४७१७॥
५०१	भ्रमिगमिं ॥ उ० ८४३॥	॥७९४२॥
५०२	भ्राज्यलंङ्ग्यं ॥५३॥२८॥	॥२०६३१॥
५०३	भ्रूणवृणुणं ॥ उ० १८६॥	॥१९५२५॥
<b>म.</b>		
५०४	मध्वादिभ्यो रः ॥७२॥२६॥	॥२०९४३॥
५०५	मन् ॥ उ० ९११॥	॥१४४४३॥
	"	॥१५३१४॥
५०६	मनिजनिभ्यां ॥ उ० ७२१॥	॥१४२९१६॥
५०७	मनेरुदेतौ चाऽस्य वा ॥ उ० ६१२॥	॥१४४३३॥
५०८	मन्वन्कनिपूर्विच् क्वचित् ॥५३॥१४४॥	॥४७३३८॥
	"	॥७४३८॥
	"	॥१३३३३४॥
	"	॥१३३३३६॥
५०९	मयूरव्यंसकेत्यादयः ॥३३॥११६॥	॥७०१०३॥
(मयूरव्यंसकादित्वात् )		
५१०	मस्जीप्यशिभ्यः सुक् ॥ उ० ८२६॥	॥१४२११५॥
५११	महतः करघासविशिष्टे ङाः ॥३३॥१६८॥	॥१५३३३९॥
५१२	महेरुच्चाऽस्य वा ॥ उ० ८९॥	॥८३३३३॥
५१३	मह्यविभ्यां टिच् ॥ उ० ५४७॥	॥१४४४४६॥
५१४	माह्वयघतनी ॥५३॥३९॥	॥२३९॥
५१५	मावावघं ॥ उ० ५६४॥	॥१४४४४२॥
	"	॥१४४४४३॥
	"	॥१४४४४४॥
५१६	मियिरङ्गुषिं ॥ उ० ९७१॥	॥१०४३३३॥
५१७	मिवहिं ॥ उ० ७२६॥	॥१४४४४५॥
५१८	मुरतोऽनुनासिकस्य ॥४३॥५१॥	॥४४४२१॥
	"	॥४४४३१॥
	"	॥६२३३॥
	"	॥१३५३२॥
५१९	मूलविमुजादयः ॥५३॥१४४॥	॥२१७४४॥
५२०	मूल्यैः क्रीते ॥६३॥१५०॥	॥१०६३१॥
५२१	मृगयेच्छायाघ्नं ॥५३॥१०१॥	॥६३३३१॥
५२२	मृजोऽस्यं ॥४३॥४२॥	॥१४४३२३॥
	"	॥१४४५३८॥



क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	च.			र.	
५२३	य पचातः ॥५११२८॥	॥५२११८॥	५४८	रदादमूच्छमदः कयोर्दस्य च ॥४१२१६९॥	॥५६२११॥
"	"	॥१३३३३०॥	"	"	॥१३३११८॥
"	"	॥१७८१४२॥	५४९	रघृवर्णान्नोणं ॥२१३१६३॥	॥४९१२२॥
"	"	॥१९९१३०॥	"	"	॥५४१२५॥
"	"	॥२०५१३९॥	"	"	॥५४३३४॥
५२४	यजादिवचेः किति ॥४११७९॥	॥३३११८॥	"	"	॥६११४३॥
"	"	॥९८३३९॥	"	"	॥८२११४॥
"	"	॥१४११९९॥	"	"	॥८२११८॥
"	"	॥१६८३३७॥	"	"	॥९५१२७॥
५२५	यजिस्वपिरक्षिं ॥५१३१८५॥	॥४०२०॥	"	"	॥१३०१४६॥
"	"	॥६१३३१॥	"	"	॥१३११४४॥
५२६	यजेः क च ॥३० ८९२॥	॥१४९१३९॥	"	"	॥१३२१२७॥
५२७	यजो डायन् च वा ॥२१४१६७॥	॥१५१४०॥	"	"	॥१३३११८॥
"	"	॥८५१२३॥	"	"	॥१४४१२१॥
५२८	यतिनं ॥ उ० ८५६॥	॥८४११६॥	"	"	॥१६५१४४॥
५२९	यत्तत्किमः ॥७१११५०॥	॥२३१४४॥	५५०	राजनस्सखेः ॥७३११०६॥	॥७८१२८॥
"	"	॥९०१४५॥	५५१	राळु ॥४११११०॥	॥५९१५१॥
५३०	यत्तत्किमन्यात् ॥७३१५३॥	॥६७३२२॥	"	"	॥१३३१३३॥
"	"	॥६७३४५॥	५५२	रि. शक्याशीयं ॥४३१११०॥	॥१५६१७॥
५३१	यत्तदेतदो ॥७१११४९॥	॥२३१४६॥	५५३	रिचौ च लुपि ॥४११५६॥	॥१४५११०॥
"	"	॥९१११६॥	५५४	रुघा स्वराच्छूनो नलुकू च ॥३१४१८२॥	॥५४३८॥
५३२	यपि चादो जग् ॥४१४१६॥	॥५३३३३॥	"	"	॥५८११५॥
५३३	यमिदमिभ्यां डोस् ॥ उ० १००५॥	॥६११४१॥	"	"	॥१५४१२४॥
"	"	॥१४९१३९॥	"	"	॥१५९१२९॥
५३४	यमिरमिनमिगमिं ॥४१२१५५॥	॥४४१४४॥	५५५	रुहिनन्दिं ॥ उ० २२०॥	॥१६६११९॥
५३५	यश्चोरसः ॥६३३१२१॥	॥२२१२॥		ल.	
५३६	यावतो विन्दजीवः ॥५१४१५५॥	॥२२१३२॥	५५६	रुक्षेर्माँऽन्तश्च ॥ उ० ७१५॥	॥७९१४१॥
५३७	युजमुजमजत्यजं ॥५१२१५०॥	॥२०४१२७॥	"	"	॥१४७१२६॥
५३८	युजादेर्वा ॥३१४१८॥	॥१६४३३३॥	५५७	रुघोरुपान्त्यस्य ॥४३३१४॥	॥१३३१३९॥
५३९	युवर्णं ॥५१३१२८॥	॥१४८१४२॥	"	"	॥१३३१३३॥
५४०	युवा खलति ॥३११११३३॥	॥१२११८॥	"	"	॥१४५१११॥
५४१	युवादेरण् ॥७१११६७॥	॥१५११४०॥	५५८	रुच्चक्षरां ॥३१११६०॥	॥१०३३३॥
५४२	युष्मदसदोऽसोमादिं ॥७३३३०॥	॥१११२१२३॥	५५९	रुटिखटिं ॥ उ० ५०५॥	॥७०३३०॥
"	"	॥११३३४१॥	५६०	रुमः ॥४३३१०३॥	॥१६२१२७॥
५४३	युष्यसिभ्यां कमद् ॥ उ० ८९९॥	॥७०१४५॥	५६१	रुक्षाद्राक्षां ॥ उ० ५९७॥	॥१४८१४२॥
"	"	॥७०१४६॥	५६२	रुप्यवृद्धेनत् ॥७३३११२॥	॥८५१४३॥
५४४	यूनस्तिः ॥२१४१७७॥	॥१५१४१॥	"	"	॥९२१४११॥
"	"	॥१५१४३॥	"	"	॥९३१४०॥
५४५	योरुघ च ॥ उ० ५४१॥	॥१४९१३८॥	"	"	॥९५१४२॥
५४६	य्वः पदान्तात् प्रागैदौत् ॥७३३१५॥	॥१५०१२०॥	"	"	॥९९१४४॥
५४७	य्वो. प्वय्यजनैः ॥४३३१२१॥	॥४७३३९॥	"	"	॥१०५१४५॥
"	"	॥४७३४२॥	"	"	॥१०७३३६॥
"	"	॥४७३४३॥	"	"	॥१०७३३७॥
"	"	॥४७३४५॥	"	"	॥११३३३०॥
"	"	॥७८१२२॥	"	"	॥११३३१४॥
"	"	॥७८१२४॥	"	"	॥११३३२४॥
"	"	॥८०११८॥	"	"	॥११३३२५॥
"	"	॥८३१२२॥	"	"	॥११३३३०॥
"	"	॥१००११५॥	"	"	॥१२२१३५॥
"	"	॥१३३३३४॥	"	"	॥१२३३४१॥
"	"	॥१३३३३५॥	"	"	॥१२३३४२॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४६२	प्रात्सुजोरिन् ॥५२॥७१॥	॥२०४२८॥
४६३	प्रादुरूपसर्गा० ॥२३॥५८॥	॥१८०१२२॥
४६४	प्राद् दागस्त आरम्भे फले ॥४१॥४७॥	॥५१३७॥
४६५	प्रियस्विर० ॥७१॥३८॥	॥५८१४॥
४६६	फ.	॥७५१८॥
४६७	फले ॥६२॥५८॥	॥८०३२॥
४६८	फल्गुन्याएः ॥६३॥१०६॥	॥२१७२९॥
४६९	व.	
४७०	वहलम् ॥५१॥२॥	॥१७४१३॥
४७१	वहल लुप् ॥३१॥१४॥	॥१३५३२॥
४७२	वहनां प्रभे उतमश्च वा ॥७३॥५४॥	॥१४४३२॥
४७३	वहोर्घाऽऽसन्ने ॥७२॥११२॥	॥६७४४६॥
४७४	वह्लपार्थात् ॥७२॥१५०॥	॥२१२०॥
४७५	विदादेवृद्धे ॥६१॥४१॥	॥२०८१२७॥
४७६	ब्रह्मभूणवृत्रात् ॥५१॥१६१॥	॥२१३४॥
४७७	ब्रूगः पञ्चानां ॥४२॥११८॥	॥१०३२७॥
४७८	भजो विष्णु ॥५१॥१४६॥	॥१४६२१॥
४७९	भन्देर्वा ॥ उ० ३९१॥	॥१०७३५॥
४८०	भर्तुसन्ध्यावेरण् ॥६३॥८९॥	॥१४२३३॥
४८१	भवतोरिकणीयसौ ॥६३॥३०॥	॥१११४२॥
४८२	भवत्वायुष्मद्दी० ॥७२॥९१॥	॥२१७४४१॥
४८३	भवे ॥६३॥१२३॥	॥८९१०॥
४८४	भव्यगेयजन्य० ॥५१॥१७॥	॥८९३५॥
४८५	भातेर्डवतुः ॥ उ० ८८६॥	॥२०५४०॥
४८६	भाववचनाः ॥५३॥१५॥	॥७०४४६॥
४८७	भावाऽकर्त्रोः ॥५३॥१८॥	॥१९३४४२॥
४८८	भावे ॥५३॥१२२॥	॥३०२१॥
४८९	भावे त्वतल् ॥७१॥५५॥	॥२०५२१॥
४९०	मिदादयः ॥५३॥१०८॥	॥१३२९४६॥
४९१	मियो रुक्कलुकम् ॥५२॥७६॥	॥१३३१६॥
४९२	मिल्लाच्छ० ॥ उ० ४६४॥	॥८६४४१॥
४९३	भीष्मालिवलि० ॥ उ० २१॥	॥८६३५॥
४९४	मीवृधि० ॥ उ० ३८७॥	॥७०४४४॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४९५	भुजिपत्यादिभ्यः० ॥५३॥१२८॥	॥६८४४६॥
४९६	भृजेः ण्यक् ॥५२॥३०॥	॥१६२२२१॥
४९७	भृलुक् चवर्णस्य ॥७३॥४४१॥	॥१७८४४३॥
४९८	भृष्यदोऽल् ॥५३॥२३॥	॥२०६३३१॥
४९९	भृजो भर्त् ॥४१॥४६॥	॥१४४२२८॥
५००	भृमृत् ॥ उ० ७१६॥	॥१२२९४४१॥
५०१	भोगवद्भौरिमतोर्नाम्नि ॥३२॥६५॥	॥१४४३१६॥
५०२	भ्रमिगमि० ॥ उ० ८४३॥	॥१४४३१७॥
५०३	भ्राज्यलंकरणं ॥५२॥२८॥	॥१४४३१८॥
५०४	भ्रूणतृणगुण० ॥ उ० १८६॥	॥१२३८१५॥
५०५	म.	
५०६	मध्वादिभ्यो रः ॥७२॥२६॥	॥१२३७४४१॥
५०७	मन् ॥ उ० ९११॥	॥१५३१४४॥
५०८	मनिजनिभ्यां० ॥ उ० ७२१॥	॥१४४३१९॥
५०९	मनेरुदेतौ चाऽस्य वा ॥ उ० ६१२॥	॥१४४३२०॥
५१०	मन्वन्कनिप्रविच् क्वचित् ॥५३॥१४४॥	॥४७४३३॥
५११	मयूरव्यंसकेत्यादयः ॥३१॥११६॥	॥१४४३३४॥
५१२	(मयूरव्यंसकादित्वात् )	॥७०२३॥
५१३	मस्तीष्यशिभ्यः सुक् ॥ उ० ८२६॥	॥१४४३१५॥
५१४	महतः करघासविशिष्टे डाः ॥३२॥६८॥	॥१५३३३९॥
५१५	महेरुच्चाऽस्य वा ॥ उ० ८९॥	॥८३३३३॥
५१६	महाविभ्यां टित् ॥ उ० ५४७॥	॥१४४८४६॥
५१७	माह्वयघतनी ॥५३॥३९॥	॥२३३९॥
५१८	मावावद्य० ॥ उ० ५६४॥	॥१४४७४४॥
५१९	मिथिरङ्गयुषि० ॥ उ० ९७१॥	॥१४४८४३॥
५२०	मिचहि० ॥ उ० ७२६॥	॥१४४९१५॥
५२१	मुरतोऽनुनासिकस्य ॥४१॥५१॥	॥४४४२१॥
५२२	मूलविभुजादयः ॥५३॥१४४॥	॥४४४३१॥
५२३	मूल्यैः कीते ॥६३॥१५०॥	॥६२३३३॥
५२४	मृगयेच्छायाघ्ना० ॥५३॥१०१॥	॥१४४५३३॥
५२५	मृजोऽस्य० ॥४३॥४४२॥	॥१४४५३८॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	य.			र.	
५२३	य पञ्चातः ॥५११२८॥	॥५२१२८॥	५४८	रदादमूच्छमद. कयोर्दस्य चा॥४२१६९॥	॥५६२११॥
"	"	॥१३३३३०॥	"	"	॥१३३३१८॥
"	"	॥१७८१४२॥	५४९	रपृवर्णाज्ञोण० ॥२३३६३॥	॥४९२२२॥
"	"	॥१९९१३३०॥	"	"	॥५४१२५॥
"	"	॥२०५३३९॥	"	"	॥५४३३४॥
५२४	यजादिवचेः किति ॥४११७९॥	॥३३३१८॥	"	"	॥६१४३३॥
"	"	॥९८३३९॥	"	"	॥८२११४॥
"	"	॥१४११९९॥	"	"	॥८२१८॥
"	"	॥१६८३३७॥	"	"	॥९५२७॥
५२५	यजिस्वपिरक्षि० ॥५३३८५॥	॥४०२०॥	"	"	॥१३०४६॥
"	"	॥६१३३१॥	"	"	॥१३३११४॥
५२६	यजेः क च ॥उ० ८९२॥	॥१४९३३९॥	"	"	॥१३३३१८॥
५२७	यजो डायन् च वा ॥२१४६७॥	॥१५४०॥	"	"	॥१४४२१॥
"	"	॥८५२३॥	"	"	॥१६५४४॥
५२८	यतिन० ॥ उ० ८५६॥	॥८४१६॥	५५०	राजनसखे. ॥७३११०६॥	॥७८२८॥
५२९	यत्तत्किमः ॥७१११५०॥	॥२३३४४॥	५५१	राङ्गु ॥४११११०॥	॥५९५११॥
"	"	॥९०४५॥	"	"	॥२३४१३॥
५३०	यत्तत्किमन्यात् ॥७३३५३॥	॥६७३२॥	५५२	रि. शक्याशीयं ॥४३३११०॥	॥१५६१७॥
"	"	॥६७४५॥	५५३	रिचै च लुपि ॥४११५६॥	॥१४५११०॥
५३१	यत्तदेतदो० ॥७१११४९॥	॥२३३४६॥	५५४	रघा खराच्छूनो नलुकु च ॥३३३८२॥	॥५४३८॥
"	"	॥९११६॥	"	"	॥५८१२५॥
५३२	यपि चादो जग् ॥४४१६॥	॥५३३३४॥	"	"	॥१५४२४॥
५३३	यमिदमिम्यां होस् ॥ उ० १००५॥	॥६१४३१॥	"	"	॥१५२२९॥
"	"	॥१४९३३९॥	५५५	रुहिनन्दि० ॥ उ० २२०॥	॥१६६१९॥
५३४	यमिरमिनमिगमि० ॥४२१५५॥	॥४४४४४॥		ल.	
५३५	यश्चोरसः ॥६३३२१२॥	॥२२१९॥	५५६	लक्ष्मोऽन्तश्च ॥उ० ७१५॥	॥७९१४१॥
५३६	यावतो विन्दजीवः ॥५४४५५॥	॥२२३३२॥	"	"	॥४४७२६॥
५३७	युजमुजमजत्यज० ॥५२१५०॥	॥२०४२७॥	५५७	लघोरुपान्त्यस्य ॥४३३४॥	॥१३३३३९॥
५३८	युजादेर्नवा ॥३३३१८॥	॥१६४३३३॥	"	"	॥१३३३३२॥
५३९	युवर्ण० ॥५३३२८॥	॥१४८३४२॥	"	"	॥१४५१११॥
५४०	युवा खलति ॥३३३११३॥	॥१२३१८॥	"	"	॥१०३३२॥
५४१	युवादेरण् ॥७११६७॥	॥१५१४०॥	५५८	लघ्वक्षरा० ॥३३३११६०॥	॥१०३३२॥
५४२	युष्मदसदोऽस्तोमादि० ॥७३३३०॥	॥११२२३३॥	५५९	लटिखटि० ॥ उ० ५०५॥	॥७०३३०॥
"	"	॥११३३४३॥	५६०	लमः ॥४४३१०३॥	॥१६२२७॥
५४३	युष्यसिम्यां कमद् ॥उ० ८९९॥	॥७०४५॥	५६१	लाक्षाद्राक्षा० ॥उ० ५९७॥	॥१४८३४२॥
"	"	॥७०४६॥	५६२	लुप्यच्छ्लिनत् ॥७४३११२॥	॥८५४३३॥
५४४	यूनस्तिः ॥२४३७७॥	॥१५४३॥	"	"	॥९२३४३॥
"	"	॥१५१४३॥	"	"	॥९३४०॥
५४५	योरुच्च चा ॥उ० ५४१॥	॥१४९३३८॥	"	"	॥९५४४२॥
५४६	य्वः पदान्तात् प्रागैदीव् ॥७४४५॥	॥१५०२०॥	"	"	॥९९४४४॥
५४७	य्वोः प्वय्यञ्जने० ॥४४३२२॥	॥४७३३९॥	"	"	॥१०५४५॥
"	"	॥४७४४२॥	"	"	॥१०७३३६॥
"	"	॥४७४४३॥	"	"	॥१०७३३७॥
"	"	॥४७४४५॥	"	"	॥११३३३०॥
"	"	॥७८२२२॥	"	"	॥११३३३४॥
"	"	॥७८२२४॥	"	"	॥११३३३४॥
"	"	॥८०११८॥	"	"	॥११३३३५॥
"	"	॥८३३२२॥	"	"	॥११३३३०॥
"	"	॥१००११५॥	"	"	॥१२२३३५॥
"	"	॥१३३३३४॥	"	"	॥१२३३३४॥
"	"	॥१३३३३५॥	"	"	॥१२३३३४॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४६२	प्रात्सूजोऽस्मिन् ॥५२॥७१॥	॥२०४२८॥
४६३	प्रादुक्पसर्गा० ॥२३॥५८॥	॥१८०१२२॥
४६४	प्राद् दागस्त आरम्भे फत्ते ॥४३॥४७॥	॥५१॥३७॥
	"	॥५८॥१४॥
४६५	प्रियस्थिर० ॥७३॥३८॥	॥७५॥१८॥
	"	॥८७॥२५॥
	"	॥१०१॥२९॥
<b>फ.</b>		
४६७	फले ॥६२॥५८॥	॥८०॥३२॥
४६५	फल्गुन्याष्टः ॥६३॥१०६॥	॥२१॥७२९॥
<b>च.</b>		
४६८	चहुलम् ॥५१॥२॥	॥१७४॥१३॥
४६९	चहुल लुष् ॥३३॥४१४॥	॥१३५॥३२॥
	"	॥१३९॥३५॥
	"	॥१४४॥३२॥
४७०	चहूर्नां प्रश्ने इतमश्च वा ॥७३॥५४॥	॥६७॥३२॥
	"	॥६७॥४६॥
४७१	चहोर्घाऽऽसन्ने ॥७२॥११२॥	॥२१॥२०॥
	"	॥२०८॥२७॥
४७२	चहृत्पार्थात् ॥७२॥१५०॥	॥२१॥३४॥
४७३	विदादेर्घुद्धे ॥६३॥१४१॥	॥२१॥६२६॥
४७४	ब्रह्मसूणवृत्रात् ॥५१॥१६१॥	॥४२॥२८॥
	"	॥१०३॥२७॥
	"	॥१४६॥२१॥
४७५	चूगः पञ्चानां० ॥४२॥११८॥	॥१४२॥२२॥
	"	॥२०७॥३५॥
<b>भ.</b>		
४७६	भजो विष्णु ॥५१॥१४६॥	॥१४२॥३४॥
४७७	भन्देर्वा० ॥ उ० ३९१॥	॥१९५॥४३॥
४७८	भन्तुसन्ध्यादेरण् ॥६३॥२८९॥	॥१८८॥३९॥
४७९	भवतोरिकणीयसौ ॥६३॥३३०॥	॥११॥४२॥
४८०	भवत्वायुष्मही० ॥७२॥२९१॥	॥२१॥४४१॥
४८१	भवे ॥६३॥१२३॥	॥८९॥१०॥
	"	॥८९॥३५॥
	"	॥१५०॥३५॥
४८२	भव्यनोयजन्य० ॥५१॥१७॥	॥२०५॥४०॥
४८३	भालेर्द्धवतुः ॥ उ० ८८६॥	॥७०॥४६॥
४८४	भाववचना० ॥५३॥१५॥	॥१९३॥४२॥
४८५	भावाऽकर्षो० ॥५३॥१८॥	॥३०॥२१॥
	"	॥२०५॥२१॥
४८६	भावे ॥५३॥१२२॥	॥१३९॥४६॥
	"	॥२०७॥२९॥
४८७	भावे त्वत्तल् ॥७३॥१५॥	॥१३६॥२०॥
४८८	भिदादयः ॥५३॥१०८॥	॥६१॥३५॥
	"	॥१३३॥१६॥
४८९	भियो रुक्कलुकम् ॥५२॥७६॥	॥८६॥४१॥
४९०	भिल्लाच्छ० ॥ उ० ४६४॥	॥८६॥३५॥
४९१	भीष्मशलिबलि० ॥ उ० २१॥	॥७०॥४४॥
४९२	भीष्मिणि० ॥ उ० ३८७॥	॥१९५॥४४॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
४९३	भुजिपत्यादिभ्यः० ॥५३॥१२८॥	॥६८॥४६॥
	"	॥१६२॥२१॥
	"	॥१७६॥४३॥
४९४	भुजेः ण्युक् ॥५२॥३०॥	॥२०६॥३१॥
४९५	भूर्लुक् चेषणस्य ॥७३॥४१॥	॥१४५॥२२॥
४९६	भूर्लुक् चेषणस्य ॥५३॥२३॥	॥१७४॥२४॥
४९७	भृजो मर्च् ॥४३॥४६॥	॥१४३॥२८॥
४९८	भृमृत् ॥ उ० ७१६॥	॥१२९॥४१॥
	"	॥१४९॥१६॥
	"	॥१४९॥१७॥
	"	॥१४९॥१८॥
४९९	भृवृजि० ॥५३॥११२॥	॥१३८॥१५॥
५००	भोगवद्भौरिमतोर्नास्ति ॥३३॥२६५॥	॥१४७॥१७॥
५०१	असिगमि० ॥ उ० ८४३॥	॥७९॥४२॥
५०२	आज्यलंकरण् ॥५२॥२८॥	॥२०६॥३३॥
५०३	अणत्तण्गुण० ॥ उ० १८६॥	॥१९५॥२५॥
<b>म.</b>		
५०४	मध्वादिभ्यो रः ॥७२॥२६॥	॥२०९॥४३॥
५०५	मन् ॥ उ० ९११॥	॥१४७॥४३॥
	"	॥१५३॥१४॥
५०६	मनिजनिभ्यां० ॥ उ० ७२१॥	॥१४९॥१६॥
५०७	मनेरुदेतौ चाऽस्य वा ॥ उ० ६१२॥	॥१४७॥३४॥
५०८	मन्वनकनिर्पविच् क्वचित् ॥५३॥१४४॥	॥४७॥३८॥
	"	॥७४॥३८॥
	"	॥१३३॥३४॥
	"	॥१३३॥३६॥
५०९	मयूरव्यंसकेत्यादयः ॥३३॥१११६॥	॥७०॥२३॥
(मयूरव्यंसकादित्वात्)		
५१०	मस्तीष्यशिभ्यः सुक् ॥ उ० ८२६॥	॥१४९॥१५॥
५११	महतः करघासविशिष्टे डाः ॥३३॥२६८॥	॥१५३॥३९॥
५१२	महेरुष्वाऽस्य वा ॥ उ० ८९॥	॥८३॥३३॥
५१३	मह्यविभ्यां टित् ॥ उ० ५४७॥	॥१४८॥४६॥
५१४	माह्वयघतनी ॥५३॥३९॥	॥२३९॥
५१५	मावावद्य० ॥ उ० ५६४॥	॥१४७॥४२॥
	"	॥१४८॥४३॥
	"	॥१४९॥२२॥
५१६	मिथिरङ्ग्युषि० ॥ उ० ९७१॥	॥१०४॥३३॥
५१७	सिवहि० ॥ उ० ७२६॥	॥१४९॥१५॥
५१८	मुरतोऽनुनासिकस्य ॥४३॥५१॥	॥४४॥२१॥
	"	॥४४॥३१॥
	"	॥६२॥३३॥
	"	॥१३५॥३२॥
५१९	मूलविभुजादयः ॥५३॥१४४॥	॥२१७॥४४॥
५२०	मूल्यैः क्रीते ॥६३॥१५०॥	॥१०६॥१६॥
५२१	मृगयेच्छायाघ्नो ॥५३॥१०१॥	॥६१॥३३॥
५२२	मृजोऽस्य० ॥४३॥४४॥	॥१४३॥२३॥
	"	॥१४५॥३८॥

क्र०	सूत्राणि । य.	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि । र.	पृ० प०
५२३	य पद्यातः ॥५११२८॥	॥५२११८॥	५४८	रदादमूर्च्छमद. कयोर्दस्य च ॥५१२१९॥	॥५६२११॥
"	"	॥१३३३०॥	"	"	॥१३३११८॥
"	"	॥१७८१४२॥	५४९	रपृवर्णात्रोण० ॥२१३६३॥	॥४९१२२॥
"	"	॥१९१३०॥	"	"	॥५४११५॥
"	"	॥२०५३९॥	"	"	॥५४३३४॥
५२४	यजादिवचेः किति ॥५११७९॥	॥३३११८॥	"	"	॥६१४३३॥
"	"	॥९८३९॥	"	"	॥८२११४॥
"	"	॥१४११९॥	"	"	॥८२११८॥
"	"	॥१६८३७॥	"	"	॥९५२७॥
५२५	यजिस्वपिरक्षि० ॥५३३८५॥	॥४०२०॥	"	"	॥१३०४६॥
"	"	॥६१३३१॥	"	"	॥१३११४॥
५२६	यजेः क च ॥३० ८९२॥	॥१४९३९॥	"	"	॥१३२२७॥
५२७	यत्रो डायन् च वा ॥२१४६७॥	॥१५१४०॥	"	"	॥१३३११८॥
"	"	॥८५२३॥	"	"	॥१४४२१॥
५२८	यत्तिन० ॥ उ० ८५६॥	॥८४१६॥	"	"	॥१६५४४॥
५२९	यत्तत्किमः ॥७१११५०॥	॥२३१४४॥	५५०	राजनस्सखेः ॥७३११०६॥	॥७८१२८॥
"	"	॥९०४५॥	५५१	राल्लुक ॥४११११०॥	॥५९५११॥
५३०	यत्तत्किमन्यात् ॥७३१५३॥	॥६७३२३॥	"	"	॥१३३४१३॥
"	"	॥६७४४५॥	५५२	रिः शक्याशीयं ॥४३१११०॥	॥१५६१७॥
५३१	यत्तदेतदो ॥७१११४९॥	॥२३१४६॥	५५३	रिरौ च लुपि ॥४११५६॥	॥१४५११०॥
"	"	॥९१११६॥	५५४	रघां स्वरच्छ्नो नल्लुक च ॥३१४८२॥	॥५४३३८॥
५३२	यपि चादो जग्ध् ॥४१४१६॥	॥५३३३४॥	"	"	॥५८११५॥
५३३	यमिदमिभ्या डोस् ॥ उ० १००५॥	॥६१४४१॥	"	"	॥१५४२४॥
"	"	॥१४२३२९॥	"	"	॥१५९१२९॥
५३४	यमिरमिनमिगमि० ॥४२१५५॥	॥४४४४४॥	५५५	रुहिनन्दि० ॥ उ० २२०॥	॥१६६११९॥
५३५	यश्चोरसः ॥६३१२१२॥	॥२२१९॥			
५३६	यावतो विन्दजीवः ॥५१४५५॥	॥२२३३२॥			
५३७	युजभुजमजत्यज० ॥५१२५०॥	॥२०४२७॥			
५३८	युजादेर्नवा ॥३१४१८॥	॥१६४३३३॥			
५३९	युवर्ण० ॥५३३२८॥	॥१४८१४२॥			
५४०	युवा खलति० ॥३११११३॥	॥१२११८॥			
५४१	युवादेरण् ॥७११६७॥	॥१५११४०॥			
५४२	युष्मदस्सदोऽसोमादि० ॥७३३३०॥	॥११२३२३॥			
"	"	॥११३३४१॥			
५४३	युष्यसिभ्यां फमद् ॥ उ० ८९९॥	॥७०४५॥			
"	"	॥७०४६॥			
५४४	यूनस्तिः ॥२१४७७॥	॥१५४११॥			
"	"	॥१५१४३३॥			
५४५	योरुच्च वा ॥ उ० ५४१॥	॥१४२३८॥			
५४६	य्वः पदान्तात् प्रागैदौत् ॥७१४५॥	॥१५०२०॥			
५४७	य्वोः ष्वय्यञ्जने० ॥४१४१२१॥	॥४७३३९॥			
"	"	॥४७४४२॥			
"	"	॥४७४४३॥			
"	"	॥४७४४५॥			
"	"	॥७८१२२॥			
"	"	॥७८१२४॥			
"	"	॥८०११८॥			
"	"	॥८३१२२॥			
"	"	॥१००११५॥			
"	"	॥१३३३३४॥			
"	"	॥१३४३५॥			
३२	"				



क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
६१५	शप उपलम्भने ॥३३३३५॥	॥१९३३३२॥
६१६	शब्दादेः कृतौ वा ॥३३३३५॥	॥१६१३३१॥
६१७	शस्यमेर्णिद्धा ॥ उ० ३१८॥	॥८६३३३॥
६१८	शासिंशंसि० ॥ उ० ८५७॥	॥८४३३३॥
६१९	शिशुगोरुनमेर्वादयः ॥ उ० ८११॥	॥८६३३३॥
६२०	शिववित् ॥४३३३३॥	॥२३३३३३॥
"	"	॥१४०३३३॥
६२१	शिवादेरण् ॥६३३३३॥	॥१५३३३३॥
६२२	शीट् पः शिति ॥४३३३३३॥	॥१६८३३३॥
६२३	शीङ्गभ्रद्धा० ॥५३३३३३॥	॥२०६३३३॥
६२४	शीमीराजेश्वानकः ॥ उ० ७१॥	॥१७६३३३॥
६२५	शीलिकामिमक्ष्याचरी० ॥५३३३३३॥	॥४३३३३३॥
"	"	॥१०९३३३३॥
"	"	॥१५५३३३३॥
६२६	शुकमगम० ॥५३३३३३॥	॥२०७३३३३॥
६२७	शुवन्देराकः ॥५३३३३३॥	॥२०६३३३३॥
६२८	शेषाद्वा ॥७३३३३३३॥	॥१०७३३३३॥
६२९	श्रद्धाऽऽतः ॥४३३३३३३॥	॥१३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३॥
"	"	॥१५३३३३३३॥
६३०	श्रास्त्योर्लुक् ॥४३३३३३३॥	॥५३३३३३३॥
"	"	॥५८३३३३३३॥
"	"	॥१५३३३३३३॥
६३१	श्रितादिभिः ॥३३३३३३३॥	॥१२३३३३३३॥
६३२	श्रौतिह्रस्वधिवु० ॥४३३३३३३३॥	॥१६८३३३३३॥
"	"	॥१९०३३३३३॥
"	"	॥१९२३३३३३॥
"	"	॥२०४३३३३३॥
६३३	श्रवादिभ्यः ॥५३३३३३३३॥	॥१४३३३३३३॥
६३४	श्रवन्मातरिश्वन्० ॥उ० ९०२॥	॥१०३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३॥
"	"	॥१५३३३३३३॥
"	"	॥१५३३३३३३॥
६३५	श्रुश्रुक्कुन्दुर० ॥उ० ४२६॥	॥१३३३३३३३॥
६३६	श्रवस्तनी० ॥३३३३३३३॥	॥२३३३३३३३॥

ष.

६३७	षष्ठयत्ताच्छेपे ॥३३३३३३३॥	॥२३३३३३३॥
"	"	॥१६५३३३३॥
"	"	॥१६५३३३३३॥
६३८	षष्ठ्याऽन्त्यस्य ॥७३३३३३३३॥	॥१९२३३३३३॥
"	"	॥४३३३३३३३॥
"	"	॥४३३३३३३३॥
"	"	॥७५३३३३३३॥
"	"	॥७६३३३३३३॥
"	"	॥९०३३३३३३॥
"	"	॥९९३३३३३३॥
"	"	॥१०१३३३३३३॥
"	"	॥१०९३३३३३३॥
"	"	॥१०९३३३३३३॥
"	"	॥११०३३३३३३॥
"	"	॥११०३३३३३३॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	षष्ठ्याऽन्त्यस्य ॥७३३३३३३॥	॥१३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३॥
६३९	पावटाद्वा ॥२३३३३३३॥	॥२३३३३३३३॥
६४०	पितोऽह् ॥५३३३३३३३॥	॥६३३३३३३३॥
"	"	॥१०८३३३३३३॥

**स.**

६४१	संत्याडतेश्चाशक्तिष्टे. कः ॥६३३३३३३॥	॥२३३३३३३३॥
"	"	॥२३३३३३३३॥
"	"	॥२३३३३३३३॥
"	"	॥१८९३३३३३३॥
६४२	संत्यादे. पादादिभ्यो० ॥७३३३३३३३॥	॥१५०३३३३३३॥
६४३	संत्याया. सहस्रसूत्रपाठे ॥६३३३३३३३॥	॥९०३३३३३३३॥
"	"	॥१८९३३३३३३३॥
६४४	सत्याया घा ॥७३३३३३३३॥	॥२३३३३३३३३॥
"	"	॥२३३३३३३३३॥
६४५	संत्या समाहारे च० ॥३३३३३३३३॥	॥८९३३३३३३३॥
"	"	॥१५०३३३३३३३॥
६४६	संत्यैकार्यात्० ॥७३३३३३३३३॥	॥२०३३३३३३३॥
"	"	॥९३३३३३३३३॥
६४७	संपरेः कृगः रसद् ॥४३३३३३३३॥	॥४३३३३३३३३॥
६४८	संप्रतेरस्मृतौ ॥३३३३३३३३॥	॥१८९३३३३३३३॥
६४९	संश्रद्धेहत्साक्षादादय. ॥ उ० ८८२॥	॥७०३३३३३३३॥
६५०	संस्कृते भक्ष्ये ॥६३३३३३३३॥	॥४३३३३३३३३॥
६५१	सः सिजस्तेर्दिस्योः ॥४३३३३३३३॥	॥१३३३३३३३३॥
"	"	॥१४३३३३३३३३॥
"	"	॥२३३३३३३३३॥
६५२	सकथ्यक्ष्णः स्वाङ्गे ॥७३३३३३३३॥	॥९५३३३३३३३॥
"	"	॥९५३३३३३३३॥
६५३	सदाऽधुनेदानीं० ॥७३३३३३३३॥	॥२०३३३३३३३॥
६५४	सद्योऽद्यपरेद्यव्यहि ॥७३३३३३३३॥	॥२३३३३३३३३॥
६५५	सन्मिक्षाशंसैरु. ॥५३३३३३३३॥	॥२०६३३३३३३॥
६५६	सन्महत्परमो० ॥३३३३३३३३॥	॥८७३३३३३३३॥
"	"	॥९०३३३३३३३॥
"	"	॥९१३३३३३३३॥
"	"	॥९१३३३३३३३॥
"	"	॥९२३३३३३३३॥
"	"	॥९३३३३३३३३॥
६५७	सन्यडश्च ॥४३३३३३३३॥	॥४३३३३३३३३॥
"	"	॥५०३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३३॥
"	"	॥१३३३३३३३३॥
"	"	॥१४३३३३३३३॥
"	"	॥१४३३३३३३३॥
"	"	॥१४३३३३३३३॥

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
६५८	सन्न्यस्य ॥३१॥५९॥	॥१३११७॥	६७६	सुः पूजायाम् ॥३१॥४४॥	॥७८२८॥
"	"	॥१४४४४१॥	"	"	॥९२१२४॥
६५९	सप्तम्याः ॥५१॥१६९॥	॥१५३१२८॥	६७७	सुगिह्यार्हः सत्रिशत्रुस्तुत्ये ॥५१॥२६॥	५२०४३०॥
६६०	सप्तम्याः ॥७१॥१९४॥	॥१५३१४०॥	६७८	सुपन्थ्यादेर्ज्यः ॥६१॥१८४॥	॥२१२१२३॥
६६१	सप्तम्या आदिः ॥७४॥११४॥	॥२०॥४२॥	६७९	सुसंख्यात् ॥७१॥१५०॥	॥१५०१२१॥
"	"	॥११॥४१॥	६८०	स्यत्याद्योदितः ॥४१॥७०॥	॥६१४४५॥
"	"	॥२८॥१४॥	"	"	॥१३२१२८॥
"	"	॥२८॥३४॥	"	"	॥१४४११८॥
"	"	॥३१॥२५॥	"	"	॥१६५४४३॥
"	"	॥३१॥२८॥	६८१	सृजिह्वसि० ॥४१॥७८॥	॥२३१३१॥
"	"	॥३२॥४१॥	६८२	सेः स्त्रां च स्त्रां ॥४१॥७५॥	॥१३६१२४॥
"	"	॥३३॥२५॥	"	"	॥१३७१३४॥
"	"	॥३४॥२७॥	"	"	॥१४५११२॥
"	"	॥४०॥१२॥	६८३	सेरी च वा ॥ उ० ३४३॥	॥७०१३६॥
"	"	॥१०॥५१२६॥	६८४	सो धि वा ॥४१॥७२॥	॥१४०१२१॥
"	"	॥१०८॥१९॥	"	"	॥१४०१२७॥
"	"	॥१०८॥३५॥	"	"	॥१४०१२९॥
"	"	॥१०९॥१९॥	"	"	॥१४०१३२॥
"	"	॥१२२१३७॥	"	"	॥१४०१३८॥
"	"	॥१२७॥३४॥	६८५	सोरस्तेः ॥ उ० ८५३॥	॥८४१२२॥
"	"	॥१३३४१२९॥	६८६	सोऽस्यमृतिवक्रांशम् ॥६१॥१६८॥	॥१२५१२७॥
६६२	सप्तम्या पूर्वस्य ॥७४॥१०५॥	॥१३०२१३४॥	६८७	स्कसृष्टु० ॥४१॥८१॥	॥१४०१३१॥
"	"	॥१३३१२५॥	"	"	॥१४०१३९॥
"	"	॥१५३१२४॥	"	"	॥१४०१४०॥
६६३	समर्थः पदविधिः ॥७४॥१२२॥	॥७३११८॥	"	"	॥१४०१४०॥
६६४	समानस्य घर्मादिषु ॥३१॥१४९॥	॥५७१३२॥	६८८	स्ताद्यशितो० ॥४१॥३२॥	॥८४१२१॥
६६५	सर्तोगोऽन्तश्च ॥ उ० ४७८॥	॥१९५१२९॥	"	"	॥१३३११६॥
६६६	सर्वादयोऽस्यादौ ॥३१॥६१॥	॥६९१३६॥	"	"	॥१४०१४०॥
"	"	॥७२१७॥	"	"	॥१४२११३८॥
"	"	॥७५११९॥	६८९	स्त्रियाः पुंसो० ॥७१॥१६॥	॥१६१३७॥
६६७	सर्वादिबिष्वन्देवाद्भिः० ॥३१॥१२२॥	॥३५१३८॥	"	"	॥९११२२॥
"	"	॥६९११०॥	६९०	स्त्रियां क्तिः ॥५१॥११॥	॥२०५१२५॥
"	"	॥१२६१३४॥	६९१	स्त्रियां नृतोऽस्वस्त्रादेर्दोः ॥३१॥११॥	॥२३१७॥
६६८	सर्वाशसंख्याव्यात् ॥७॥३११८॥	॥८९११०॥	"	"	॥५३१३०॥
"	"	॥८९१३५॥	"	"	॥९५११६॥
"	"	॥८९१३८॥	"	"	॥९५११७॥
"	"	॥८९१४१॥	"	"	॥१०१११७॥
६६९	सहस्रेण ॥३१॥२४॥	॥८७११८॥	"	"	॥१५१२२५॥
६७०	सहस्यं ॥३१॥२४३॥	॥८३१२०॥	"	"	॥१५४१२१॥
"	"	॥८७११८॥	"	"	॥१५३१३९॥
"	"	॥१२११२५॥	६९२	स्त्रियाम् ॥३१॥६९॥	॥८६१२७॥
६७१	साम्नीप्येऽघोऽप्यपरि ॥७१॥७९॥	॥२०१२१॥	६९३	स्त्री ॥ उ० ४५० ॥	॥७०१३२॥
"	"	॥१७९१२८॥	६९४	स्त्राणामा० ॥ उ० ३५७ ॥	॥७०१३२॥
६७२	सायाह्लादयः ॥३१॥५३॥	॥८९१३८॥	६९५	स्यानीघाऽवर्णविधौ ॥७१॥१०९॥	॥१३१४६॥
६७३	साऽस्य पौर्णमासी ॥६१॥१९८॥	॥१२५१२७॥	"	"	॥४३१४२॥
६७४	सिजघतन्याम् ॥३१॥५३॥	॥४०१३१॥	"	"	॥७८१२३॥
"	"	॥५६११४॥	"	"	॥८०१३६॥
"	"	॥१३३२३४॥	"	"	॥८०१३७॥
"	"	॥२११२३७॥	६९६	स्त्रामदि० ॥ उ० ९०४ ॥	॥१५२१४२॥
६७५	सिध्यतेरक्षाने ॥४१॥११॥	॥१७०११७॥	६९७	स्येशमासपिसकतो वरः ॥५१॥८१॥	॥२०८१४२॥



क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
६९८	स्पर्धे ॥७४११९॥	॥१२२४॥	७१०	स्वादेः श्नुः ॥३४७५॥	॥८८२४॥
"	"	॥६९३३॥	"	"	॥१२८३९॥
"	"	॥९६२८॥	"	"	॥१५४२४॥
"	"	॥१३११५॥	"	"	॥१९२२७॥
"	"	॥१३१३८॥	७११	स्वादर्थोददीर्घाद् ॥५४५३॥	॥२२३३३॥
"	"	॥१३१४०॥	७१२	स्वान्मिमीशे ॥७२४९॥	॥६८३३॥
"	"	॥१३१४१॥	"	"	॥२०८४१॥
"	"	॥१३१४२॥		ह.	
६९९	स्यादेरिवे ॥७४१५२॥	॥२२८॥	७१३	हनुतः स्वस्य ॥४४४४९॥	॥१५४२२॥
"	"	॥१३४२५॥	७१४	हृशितो नाम्युपान्व्या० ॥३४५५॥	॥१३८४८॥
"	"	॥१४५१९॥	७१५	हितादिभिः ॥३१७१॥	॥११२४१॥
७००	स्रतेरूष्वाऽतः ॥ उ० ६८९॥	॥१४८३९॥	७१६	हुघुटो हेर्घिः ॥४२८३॥	॥५४३९॥
७०१	स्वहाजभस्त्रा० ॥२४१०८॥	॥७३३३॥	"	"	॥५८१६॥
"	"	॥६३२२॥	७१७	हुपूगोत्रीप्रस्तुप्रति० ॥ उ० ८६३॥	॥८४२६॥
"	"	॥१३२२१९॥	"	"	॥८४४२॥
७०२	स्वरग्रहद्वन्द्वभ्यः० ॥३४६९॥	॥१४०३७॥	७१८	दृदयस्य ह्रस्वस्य ॥३२१९४॥	॥६३३३॥
"	"	॥१४०४४॥	७१९	दृरहि० ॥ उ० ७९॥	॥१४८४३॥
७०३	स्वरस्य परे प्राग्विधौ ॥७४११०॥	॥४६१८॥	"	"	॥२१७४५॥
"	"	॥४७३९॥	७२०	हौ दः ॥४१३३॥	॥१५२२२॥
"	"	॥४७४२॥	७२१	द्वस्वः ॥४१३९॥	॥५०३६॥
"	"	॥१००२१॥	"	"	॥१२२३८॥
"	"	॥१३३२५॥	"	"	॥१३९२९॥
"	"	॥१३३३१॥	७२२	द्वस्वस्य त. पितृति ॥४४११३॥	॥५४०॥
"	"	॥१३७१२९॥	"	"	॥५४६॥
७०४	स्वरहनगमोः सनि धुटि ॥४११०४॥	॥१३३२२॥	"	"	॥२२३५॥
"	"	॥१४५३२॥	"	"	॥१३३३५॥
७०५	स्वरादुतो गुणादखरोः ॥२४३५॥	॥७७२३॥	"	"	॥१४६८॥
७०६	स्वरादेस्तासु ॥४४३३॥	॥१४०४१॥	"	"	॥१४६३३॥
"	"	॥१४१२२॥	"	"	॥२०५३९॥
७०७	स्वरेभ्य द्वाः ॥ उ० ६०६॥	॥१४२१४॥	७२३	ह्रस्वाजाम्नास्ति ॥२३३३॥	॥६२४७॥
७०८	स्वर्गस्वस्तिवाचनादिभ्यो० ॥६४१२३॥	॥१९६१९॥	७२४	द्वः शिति ॥४११२॥	॥१३९२९॥
७०९	स्वाङ्गान्डीर्जातिश्चा० ॥३२५६॥	॥८५२४॥	"	"	॥१४५४१॥
			"	"	॥१९०२४॥
			७२५	द्विणोरप्विति व्यौ ॥४३१५॥	॥६२८३॥
			"	"	॥१२८२२॥



## ५ परिशिष्टम् ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितशब्दानुशासने सञ्ज्ञासन्धिनामकारकसनाथे  
प्रथमे विभागे साधनिकाद्यवसरेऽनेकविधविषयप्रसंगेऽकाराद्यनुक्रमेण गौरव-  
लाघवाद्यनेकविधभावप्रकटीकरणैकसमर्थसाक्षीभूतानि भगवच्छा-  
कटायनाद्यनेकचैयाकरणविरचितानि सूत्राणि ।

क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०	क्र०	सूत्राणि ।	पृ० प०
	<b>अ.</b>			<b>ग.</b>	
१	अशीत्प्रोषणे परस्य च ॥ पा० ॥ ८।२।२२ ॥	॥३४।४०॥	२६	गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाच्चतुर्थ्यौ ॥ ॥ पा० ॥ २।३।१२ ॥	॥१९४।३८॥
२	अचो ह्योऽह्वचः ॥ शा० ॥ १।१।११ ॥	॥५२।३६॥	२७	गुणकर्मणि वेप्यते ॥ पा० ॥ वार्तिकम् ॥	॥२०४।३८॥
३	अतोऽम् ॥ पा० ॥ ७।१।२४ ॥	॥९३।२४॥		<b>ङ.</b>	
४	अदर्शनं लोपः ॥ पा० ॥ १।१।६० ॥	॥२२।४७॥	२८	ङे प्रथमयोरम् ॥ पा० ॥ ७।१।२८ ॥	॥११३।४४॥
५	अदीर्घात् ॥ शा० ॥ १।१।११८ ॥	॥५२।३६॥		<b>ज.</b>	
	"	॥५२।४०॥	२९	जराया जरसन्यत्तरं ॥ पा० ॥ ७।२।१०१ ॥	॥६५।१३॥
६	अनचि च ॥ पा० ॥ ८।४।४७ ॥	॥५२।३८॥	३०	जुगुप्साविरामप्रमाणं ॥ पा० ॥ वार्तिकं ॥	॥१७२।४६॥
७	अन्तर्घो येनाऽदर्शनमिच्छति ॥ पा० ॥ १।४।२८ ॥	॥१७३।२८॥		<b>झ.</b>	
	"	॥२०५।२७॥	३१	ङः सि धुट् ॥ पा० ॥ ८।३।२९ ॥	॥४५।४३॥
८	अपो मि ॥ पा० ॥ ७।४।४८ ॥	॥१४९।३३॥	३२	ङ्स्तद् सोऽश्चः ॥ शा० ॥ १।१।१४६ ॥	॥४५।४३॥
९	अमुत्तवदुपस्थिते ॥ पा० ॥ ६।१।१२९ ॥	॥३४।३९॥		<b>ण.</b>	
१०	अमैवाव्ययेन ॥ पा० ॥ २।२।२० ॥	॥३०।९॥	३३	तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः ॥ पा० ॥ १।१।३८ ॥	॥१७।४९॥
११	अवङ् स्फोटायनस्य ॥ पा० ॥ ६।१।१२३ ॥	॥३३।४०॥	३४	तपस्तपःकर्मकस्यैव ॥ पा० ॥ ३।१।८८ ॥	॥३०।१०॥
१२	अवोच्यनक्षे ॥ शा० ॥ १।१।९६ ॥	॥३३।४२॥	३५	तस्य लोपः ॥ पा० ॥ १।१।३९ ॥	॥२२।४७॥
१३	अष्ट औश् ॥ शा० ॥ १।२।१५३ ॥	॥९०।४१॥	३६	तुभ्यमहौ ङयि ॥ पा० ॥ ७।२।९५ ॥	॥११३।४३॥
१४	अष्टन आ विभक्तौ ॥ पा० ॥ ७।२।८४ ॥	॥९०।२४॥	३७	तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम् ॥ पा० ॥ १।१।९ ॥	॥९।२२॥
	"	॥९०।२९॥		"	॥२६।१८॥
	"	॥९०।३२॥	३८	त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥ पा० ॥ ८।४।५० ॥	॥५१।३५॥
	"	॥९०।३९॥	३९	त्रेक्षयः ॥ पा० ॥ ७।१।५३ ॥	॥८२।३४॥
१५	अस्वे ॥ शा० ॥ १।१।७३ ॥	॥३१।३५॥	४०	त्वाहौ सौ ॥ पा० ॥ ७।२।९४ ॥	॥११३।४४॥
	<b>इ.</b>			<b>द.</b>	
१६	इकोऽसवर्णे ॥ पा० ॥ ६।१।१२७ ॥	॥२५।३२॥	४१	द्वितीयादौस्तेनः ॥ पा० ॥ २।४।३४ ॥	॥१२।२७॥
	<b>उ.</b>			<b>घ.</b>	
१७	उमि च पदे ॥ पा० ॥ ८।३।२१ ॥	॥४८।४१॥	४२	घातोर्मैकं ॥ शा० ॥ १।२।६८ ॥	॥१३५।१३॥
१८	उदन्वानुदघौ च ॥ पा० ॥ ८।२।१३ ॥	॥१४८।३१॥	४३	घातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥ पा० ॥ ६।१।८० ॥	॥३०।९॥
१९	उपदेशेऽजनुनासिक इत् ॥ पा० ॥ १।३।२ ॥	॥२२।४७॥		<b>न.</b>	
	<b>ऋ.</b>		४४	न हृतस्यानितो ॥ शा० ॥ १।१।९९ ॥	॥३४।४०॥
२०	ऋश्चोस्सा चः ॥ शा० ॥ १।१।७६ ॥	॥२५।३९॥	४५	न बहुव्रीहौ ॥ पा० ॥ १।१।२९ ॥	॥७५।३०॥
	<b>ए.</b>			"	॥७५।३२॥
२१	एओह्, ऐओच् ॥ शि० ॥ ३.४ ॥	॥२७।३८॥	४६	न लुमताऽङ्गस्य ॥ पा० ॥ १।१।६३ ॥	॥९३।३९॥
२२	एत्येघत्पृहस्तु ॥ पा० ॥ ६।१।८९ ॥	॥२८।२१॥	४७	न संयोगे ॥ शा० ॥ १।१।११९ ॥	॥५१।३६॥
	<b>ओ.</b>		४८	नेर्विशः ॥ पा० ॥ १।३।१७ ॥	॥१६।३१॥
२३	ओतो गार्ग्यस्य ॥ पा० ॥ ८।३।२० ॥	॥४८।४४॥		<b>प.</b>	
	<b>क.</b>		४९	पञ्चमी विभक्ते ॥ पा० ॥ २।३।४२ ॥	॥१७४।१५॥
२४	कर्मणि गुणे ॥ शा० ॥ १।३।१६९ ॥	॥२०४।४२॥	५०	पतिः समास पच ॥ पा० ॥ १।४।८ ॥	॥७८।३०॥
	<b>ख.</b>			"	॥७८।४२॥
२५	खय् खयः शरि वा ॥ शा० ॥ १।१।११४ ॥	॥५२।३५॥	५१	पद्मोमासं ॥ पा० ॥ ६।१।६३ ॥	॥१४९।२२॥
				"	॥१४९।३८॥



## ६ परिशिष्टम् ।

—\*—\*—\*—\*—\*—

अस्मिन्नेव शब्दानुशासनस्य प्रथमविभागे साधनिकाद्यवसरेऽनेकविधविषयस्पष्टीकरणार्थं  
समुपन्यस्तानि व्याकरणकोषकाव्यनाटकसाहित्याद्यनेकशास्त्रसृष्टिस्रष्टृसंहव-  
महत्त्वोपेतगम्भीरमननीयान्यकराद्यनुक्रमेण गद्यपद्यानि ।

क्र०	अ.	पृ० प०
१	अकचस्वरौ तु कर्तव्यौ, प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ ।	॥७५॥३१॥
२	अकर्मकत्वे सत्येवं, कान्ते भावाभिघाथिनि । ततः क्रियावता कर्त्रा, योगो भवति कर्मणाम् ॥२॥	॥१८४॥१७॥
३	अक्षता च क्षता चैव, पुनर्भूः संस्कृता पुनः ।	॥१३०॥३१॥
४	अद्यैवावां रणमुपगतौ तातमम्बां च नत्वा व्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुःशासनश्च । तस्मिन्वाले प्रसममरिणा प्रापिते तामवस्थां पार्श्वं पित्रोरपगतघृणः किञ्चु वक्ष्यामि गत्वा ॥१५॥	॥३०॥३६॥
५	अनिराकरणात् कर्तुंस्त्यागाङ्गं कर्मेणि स्थितम् । प्रेरणानुमतिभ्यां वा, लभते सम्प्रदानताम् ॥ १ ॥	॥१७०॥४१॥
६	अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः । नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥	॥४१॥१॥
७	अविकारोऽद्रवं मूर्तं, प्राणिस्यं स्वाङ्गमुच्यते । ज्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निर्मं च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥	॥४१॥७७॥
८	अविग्रहा गतादिस्था, यथा ग्रामादिकर्मभिः । क्रिया सम्बध्यते तद्वत्, कृतपूर्व्यादिषु स्थिता ॥ ३ ॥	॥१८४॥१८॥
९	अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठःशिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥ १ ॥	॥८५॥१॥
<b>आ.</b>		
१०	आकृतिग्रहणाज्जातिर्लिङ्गानां न च सर्वेभाक् । सङ्घदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह ॥ १ ॥	॥४१॥४५॥
११	आधारस्त्रिविधो ज्ञेयः, कटाऽऽकाशतिलादिषु । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापक एव च ॥ १ ॥	॥१७५॥१२॥
१२	आमन्त्रितपदं यच्च, तत्क्रियाया विशेषकम् । अजामि देवदचेति, निघातोऽत्र प्रतीयते ॥ १ ॥	॥१७८॥३०॥
<b>इ.</b>		
१३	इत्थम्भूतस्य काणस्य, लक्षणं ह्यस्ति बुध्यते । ततस्तृतीया तेनैव, तत्र सूत्रेण सिध्यति ॥ १ ॥	॥१८८॥२४॥
१४	इयन्त इति संख्यानं, निपातानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते, निपालन्ते पदे पदे ॥ १ ॥	॥१९१॥१४॥
<b>ई.</b>		
१५	ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः, स्वधर्मो रक्षसामयम् ।	॥१९२॥१५॥
१६	ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादाभिर्विधौ च यः । एतमातं हितं विद्याद्, वाक्यस्मरणयोरङ्गि ॥ १ ॥	॥३६१॥१॥
१७	उदस्य कुम्भीरथ शान्तकुम्भजाश्चतुष्कचाकृत्विपि वेदिकोदरे । यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्निर्भवर्गः जपयाम्बभूव ॥ १ ॥	॥१९१॥४२॥
<b>ए.</b>		
१८	ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्त्रं, कौमारं शाकटायनम् । सारस्वतं चाऽऽपिशलं, शाकलं पाणिनीयकम् ॥ १ ॥	॥११२९॥
<b>ओ.</b>		
१९	अंनमः सिद्धचक्राय, शाश्वताऽऽनन्ददायिने । सर्वमन्त्रेष्वयं मन्त्रोऽचिन्त्यचिन्तामणीयते ॥ १ ॥	॥१११८॥
<b>क.</b>		
२०	कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत् क्रियाम् । उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ, शालेऽधिकरणं स्मृतम् ॥ १ ॥	॥१७४॥३३॥
२१	कष्टे तु कृच्छ्रगद्दने, दक्षामन्दागदेषु तु । पदुर्ध्वं वाच्यलिङ्गौ च,	॥७५॥२०॥
२२	कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम् ।	॥२०७॥२१॥
२३	क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् । विवक्ष्यते यदा यत्र, करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ १ ॥	॥१७०॥२३॥
२४	क्षुधातः सन् शालीन् कबलयति मांस्पाकवलितान् ।	॥२८८॥
<b>ग.</b>		
२५	गुणकर्मणि त्यादिविधिः, पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगः । मुख्यं कर्म प्रेष्युर्यस्माद्भवेव यतते प्राक् ॥१॥	॥१६०॥२०॥
२६	गुणः कृताङ्गसंस्कारः, प्रधानं प्रतिपद्यते ।	॥१४०॥२२॥
<b>घ.</b>		
२७	घृतमेव ममाऽपि रोचते, घृतशीतं च सशर्करं पयः ।	॥१९९॥१९॥

क्र०

पृ० प०

च.

२८	चक्रे श्रीमूलराजेन, नवः कोऽपि यशोर्णवः । परकीर्त्तिस्रवन्तीनां, न प्रवेशमदत्त यः ॥ ३ ॥	॥६३।१२॥
२९	चङ्कम्यमाणोऽधीष्वाऽत्र, जपञ्चक्रमणं कुरु । तादर्थ्यस्याऽविशेषेऽपि, शब्दान्नेदः प्रतीयते ॥ १ ॥	॥१७२।३०॥
३०	चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चमरीं हन्ति, सीमिन्नि पुष्पलको हतः ॥ १ ॥	॥२०९।१४॥
३१	चामीकरविधूद्वासिसूत्रवृत्तिरुते नमः । सुरये हेमचन्द्राय हेमचन्द्रयशस्वते ॥३॥	॥१।२०॥

ज.

३२	जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो विभित्सया यः क्षणलब्धलक्ष्यया । दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्त्रपाटलम् ॥३॥	॥३०।३५॥
३३	जैनागमसुधादोग्धे, सागरानन्दसुरये । सर्वैतन्नखतन्त्राय, पूज्याय गुरवे नमः ॥४॥	॥१।२१॥

त.

३४	ततः क्रियावता कर्त्रां, योगो भवति कर्मणा ।	॥२०९।३३॥
३५	तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष ! पुरुषस्तपस्यति । ज्योतिरमलवपुपोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः ॥२६॥	॥३०।३८॥
३६	तस्माच्छुद्धस्य दुहेर्भवति गवा पूर्वमेव सम्बन्धः । गोदुहिना पयसस्तु, प्राकस्मात्यादयस्तस्मिन् ॥२॥	॥१६०।२०॥
३७	तिलपुष्पेषु यत्क्षीरं, तिलच्छेदेषु यद्दधि ।	॥१८८।१०॥
३८	तिवा शवाऽनुबन्धेन, निर्दिष्टं यद्गणेन च । एकस्वरनिमित्तं च, पञ्चैतानि न यद्दुषि ॥ १ ॥	॥१३९।९॥

”

३९	वृषा शुष्यत्यास्ये पिवति सलिलं खादु सुरभि, क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मांस्पाकवलितान् । प्रदीप्ते रागाशौ घननिविडमाश्लिष्यति वधूं, प्रतीकारे व्याधे. सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥१॥	॥२८।२७॥
४०	त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविशानसंपत्प्रसरस्य सीमा । अदृश्यताऽऽदर्शतलामलेषु छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥३।३५॥	॥१७।३३॥

द

४१	दम्भोलिरशनिर्द्वयोः ।	॥७९।२९॥
४२	दूरादावसथान्मूर्त्रं, दूरात्पादावसेचनम् । दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो, दूराच्च कुपिताद् गुरोः ॥ १ ॥	॥२१५।२४॥
४३	देवतानां गुरुणां च, नाम नोपपदं विना । उच्चरेन्नैव जायायाः, कथंचिन्नात्मनस्तथा ॥ १ ॥	॥२।१२॥
४४	देवासुरैरमृतममृतुनिधिर्ममध्ये ।	॥१६०।३॥
४५	द्योतिका वाचिका वा स्युद्वित्वादीना विभक्तयः । स्याद्वा संख्यावतोऽर्थस्य, समुदायोऽभिधायकः ॥१॥	॥१७७।३६॥
४६	द्विष्टोऽप्यसौ परार्थत्वाद्, गुणेषु व्यतिरिच्यते । तत्राऽभिधीयमानश्च, प्रधानेऽप्युपयुज्यते ॥१॥	॥२०३।२२॥

घ.

४७	घातोरर्थान्तरे वृत्तेर्घात्वर्थेनोपसंग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः, कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥ १ ॥	॥१६१।२२॥
४८	धूमायन्त इवाऽऽश्लिष्टाः, प्रज्वलन्तीव संहताः । उल्मुकानीव मेऽमी स्वा, ज्ञातयो भरतर्षभः ! ॥१॥	॥६८।३६॥

न.

४९	‘नगरमुच्चतुर्गोपुरोद्गासि सालम्’	॥६८।४२॥
५०	न देवदत्तं प्रतिभाति किञ्चिद्, बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चिद् । वृणीष्व मद्दे ! प्रतिभाति यस्त्वाम्,	॥१७९।१॥
५१	नन्तासंख्याडतिर्युष्मदस्मच्च स्युरलिङ्गकाः ।	॥१७७।१०॥
५२	न मे श्रुता नाऽपि च दृष्टपूर्वा ।	॥१७७।१५॥
५३	नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहघातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमायां प्रणता हितैषिणः ॥६५॥	॥४।२॥
५४	नावकल्पयामि न मर्षये, गहै आश्रयै वा, यत्र भवान् वृषलं याजयेत् ।	॥१९।३३॥
५५	निपाताश्चोपसर्गाश्च, घातवश्चेति त्रै त्रयः । अनेकार्थाः स्मृता लोके, पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥ १ ॥	॥१८।५०॥
५६	निमित्तमेक इत्यत्र, विभक्त्या नाभिधीयते । तद्भवस्तु यदेकत्वं, विभक्तिस्तत्र वर्तते ॥ १ ॥	॥१७६।८॥
५७	” निर्विशेषं न सामान्यं, भवेच्छशविषाणवत् ।	॥१८२।३५॥

प.

५८	पतिर्धेव ना त्रिष्वीशे ।	॥७९।२१॥
५९	परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः ॥ १ ॥	॥१२६।१०॥
६०	परुषं व्याजितः ।	॥१६३।१८॥
६१	पान्तु वो देशनाकाले, जैनेन्द्रा दशनांशवः । भवकूपपतजन्तुजातोद्धरणरज्जवः ॥ १ ॥	॥१९९।११॥

## ६ परिशिष्टम् ।

—१००११००१—

असिद्धेव शब्दानुशासनस्य प्रथमविभागे साधनिकाद्यवसरेऽनेकविधविषयस्पष्टीकरणार्थं  
समुपन्यस्तानि व्याकरणकोपकाव्यनाटकसाहित्याद्यनेकशास्त्रसृष्टिस्रष्टृसंहन्ध-  
महत्त्वोपेतगम्भीरमननीयान्यकरायनुक्रमेण गद्यपद्यानि ।

क्र०		पृ० प०
	<b>अ.</b>	
१	अकचूस्वरौ तु कर्णव्यौ, प्रत्यङ्गं मुक्तमंशयी ।	॥७५३१॥
२	अकर्मकाल्ये सत्येयं, कान्ते भाषाभिधायिनि । ततः क्रियायता कर्मा, योगो भवति कर्मणाम् ॥२॥	॥१८७१७॥
३	अक्षता च क्षता ध्रुव, पुनर्भूः संस्कृता पुनः ।	॥१३०३१॥
४	अधेयाया रणमुपगतौ तातमग्ना च नत्वा घातस्ताभ्यां शिरसि यिनतौऽहं च दुःशासनश्च । तस्मिन्वाले प्रसन्नमरिणा प्रापिते तामचम्यां पार्श्वं पित्रोरुपगतपृणः किमु वक्ष्यामि मत्वा ॥१५॥	॥३०३६॥
५	अनिराकारणात् कर्तुस्त्यागाङ्ग कर्मणि स्थितम् । प्रेरणानुमतिभ्या वा, लभते सम्प्रदानताम् ॥ १ ॥	॥१७०४१॥
६	अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभाषाद् यथा परे मत्परिण प्रवादा । नयानशेषानविशेषमिच्छन्न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥	॥४११॥
७	अविफारोऽत्रयं मूर्तं, प्राणित्यं स्वात्तमुच्यते । द्युत च प्राणिनस्तत्प्रिमं च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥	॥४१४७॥
८	अविग्रहा गतादिस्था, यथा प्रामादिकर्मभिः । क्रिया सम्प्रध्यते तद्वत्, कृतपूर्वादिषु स्थिता ॥ ३ ॥	॥१८५१८॥
९	अष्टौ स्थानानि वर्णानामुत्. फण्ट. शिरस्तथा । जिहामूलं च दन्ताश्च नासिकाष्ठौ च तालु च ॥ १ ॥	॥८५१॥
	<b>आ.</b>	
१०	आकृतिग्रहणाज्जातिलिङ्गानां न च सप्रेमाङ्ग । सद्यदाग्यातनिर्प्राणा, गोत्रं च वरणे सह ॥ १ ॥	॥४१४५॥
११	आधारत्रिषिधो द्वेषा, फटाऽऽकाशतिलादिषु । औपर्येष्टिफो चपयिफोऽभिव्यापक एव च ॥ १ ॥	॥१७५१२॥
१२	आमन्त्रितपदं यद्य, तत्क्रियाया विशेषकम् । यजामि देवदचेति, निघातोऽत्र प्रतीयते ॥ १ ॥	॥१७८३०॥
	<b>इ.</b>	
१३	इत्यम्भूतस्य काणम्य, लक्षणं एद्वि बुध्यते । ततस्तृतीया तेनेव, तत्र सूत्रेण सिध्यति ॥ १ ॥	॥१८८२४॥
१४	इयन्त इति संख्यानां, निपातानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते, निपात्यन्ते पदे पदे ॥ १ ॥	॥१९१४४॥
	<b>ई.</b>	
१५	ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः, सधर्मां रक्षसामयम् ।	॥१९२११५॥
१६	ईपद्वे क्रियायोगे, मर्यादाभिधायौ च य. । पतमातं टितं विधाद्, वाक्यसरणयोरडित् ॥ १ ॥	॥३६१९॥
"	" " " " "	॥१२२११॥
	<b>उ.</b>	
१७	उदस्य कुम्भीरद्य शान्तकुम्भजाश्चतुष्कारुत्विवि वेदिकोदरे । यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्धिर्धर्ग. ऊपयाम्यभूव ॥ १ ॥	॥१९१४२॥
	<b>ए.</b>	
१८	ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं, कौमारं शाकटायनम् । सारस्वतं चाऽऽपिशलं, शाकलं पाणिनीयकम् ॥ १ ॥	॥११२९॥
	<b>ओ.</b>	
१९	ऑनम. सिद्धचक्राय, शाश्वताऽऽनन्ददायिने । सर्वमन्त्रेष्वयं मन्त्रोऽचिन्त्यचिन्तामणीयते ॥ १ ॥	॥१११८॥
	<b>क.</b>	
२०	कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत् क्रियाम् । उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ, शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥ १ ॥	॥१७७३३॥
२१	कष्टे तु रुच्छ्रगहने, दक्षामन्दागदेसु तु । पदुर्ध्वं वाच्यलिङ्गौ च,	॥७९१२०॥
२२	कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम् ।	॥२०७३२॥
२३	क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् । विवक्ष्यते यदा यत्र, करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ १ ॥	॥१७०२३॥
२४	क्षुधातेः सन्न शालीन्न कबलयति मांस्पाकबलितान् ।	॥२८१८॥
	<b>ग.</b>	
२५	गुणकर्मणि त्यादिविधिः, पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगः । मुत्तयं कर्म प्रेष्युर्यंसाद्भव्येव यतते प्राक् ॥१॥	॥१६०२०॥
२६	गुणः कृताङ्गसंस्कारः, प्रधानं प्रतिपद्यते ।	॥१४०१२२॥
	<b>घ.</b>	
२७	घृतमेव ममाऽपि रोचते, घृतशीतं च सशर्करं पयः ।	॥१९११९॥

क्र०		पृ० प०
	<b>च.</b>	
२८	चक्रे श्रीमूलराजेन, नवः कोऽपि यशोर्णवः । परकीर्त्तिंस्त्रवन्तीनां, न प्रवेशमदत्त यः ॥ ३ ॥	॥६३।१२॥
२९	चङ्गस्यमाणोऽधीष्वाऽन्न, जपंश्चङ्गमणं कुरु । तादर्थ्यस्याऽविशेषेऽपि, शब्दाद्भेदः प्रतीयते ॥ १ ॥	॥१७२।३०॥
३०	चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चर्मरं हन्ति, सीम्नि पुण्ड्रको हतः ॥ १ ॥	॥२०९।१४॥
३१	चामीकरविधूद्भासिसूत्रवृत्तिकृते नमः । सूरये हेमचन्द्राय हेमचन्द्रयशस्वते ॥३॥	॥१।२०॥
	<b>ज.</b>	
३२	जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो विभित्तया यः क्षणलब्धलक्ष्यया । हृशैव कोपारुणया रिपोरुरः स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्त्रपाटलम् ॥३॥	॥३०।३५॥
३३	जैनागमसुधादोग्ध्रे, सागरानन्दसूरये । सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय, पूज्याय गुरवे नमः ॥४॥	॥१।२१॥
	<b>त.</b>	
३४	ततः क्रियावता कर्त्रा, योगो भवति कर्मणा ।	॥२०९।३३॥
३५	तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष ! पुरुषस्तपस्यति । ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः ॥२६॥	॥३०।३८॥
३६	तस्माच्छुद्धस्य दुहेर्भवति गवा पूर्वमेव सम्बन्धः । गोदुहिना पयसस्तु, प्राक्तस्मात्पादयस्तस्मिन् ॥२॥	॥१६०।२०॥
३७	तिलपुष्पेषु यत्क्षीरं, तिलच्छेदेषु यद्दधि ।	॥१८८।१०॥
३८	तिवा शवाऽनुबन्धेन, निर्दिष्टं यद्गणेन च । एकस्वरनिमित्तं च, पञ्चैतानि न यद्लुपि ॥ १ ॥	॥१३९।९॥
		॥१४२।१९॥
३९	” तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वाद्दु सुरभि, धुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मांस्पाकवलिताम् । प्रदीप्ते रागाशौ घननिविडमाश्लिष्यति वधूं, प्रतीकारे व्याधे. सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥१॥	॥२८।२७॥
४०	त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविद्वानसंपत्प्रसरस्य सीमा । अदृश्यताऽऽदर्शतलामलेषु च्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥३।३५॥	॥१७।३३॥
	<b>द</b>	
४१	दम्भोलिरशनिर्द्वयोः ।	॥७९।२९॥
४२	दूरादावसथान्मूर्जं, दूरात्पादावसेचनम् । दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो, दूराच्च कुपिताद् गुरोः ॥ १ ॥	॥२।५।२४॥
४३	देवतानां गुरुणां च, नाम नोपपदं विना । उच्चरेन्नैव जायायाः, कथंचिन्नात्मनस्तथा ॥ १ ॥	॥२।१२॥
४४	देवासुरैरस्मृतमम्बुनिधिर्ममन्थे ।	॥१६०।३॥
४५	द्योतिका वाचिका वा स्युर्दित्वादीना विभक्तयः । स्याद्वा संख्यावतोऽर्थस्य, समुदायोऽभिधायकः ॥१॥	॥१७७।३६॥
४६	द्विष्टोऽप्यसौ परार्थत्वाद्, गुणेषु व्यतिरिच्यते । तत्राऽभिधीयमानश्च, प्रधानेऽप्युपयुज्यते ॥१॥	॥२०३।२२॥
	<b>घ.</b>	
४७	धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः, कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥ १ ॥	॥१६१।२२॥
४८	धूमायन्त इवाऽऽश्लिष्टाः, प्रज्वलन्तीव संहताः । उल्मुकानीव मेऽमी स्वा, क्षातयो भरतर्षभः ! ॥१॥	॥६८।३६॥
	<b>न.</b>	
४९	’नगरमुरुचतुर्गोपुरोद्भासि सालम्’	॥६८।४२॥
५०	न देवदत्तं प्रतिभाति किञ्चिद्, वृषुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चिद् । वृषीष्व मद्दे ! प्रतिभाति यस्त्वावाम्,	॥१७९।१॥
५१	नन्तासंख्याडतिर्युष्मदसञ्च स्युरलिङ्गकाः ।	॥१७७।१०॥
५२	न मे श्रुता नाऽपि च दृष्टपूर्वा ।	॥११७।१५॥
५३	नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्या. प्रणता हितैषिणः ॥६५॥	॥४।२॥
५४	नावकल्पयामि न मर्षये, गर्हो आश्रयं वा; यत्र भवान् वृषलं याजयेत् ।	॥१९।३३॥
५५	निपाताश्चोपसर्गाश्च, घातवश्चेति ते त्रयः । अनेकार्थाः स्मृता लोके, पाठस्तेषां निदर्शनम् ॥ १ ॥	॥१८।५०॥
५६	निमित्तमेक इत्यत्र, विभक्त्या नामिधीयते । तद्वत्स्तु यदेकत्वं, विभक्तिस्तत्र वर्तते ॥ १ ॥	॥१७६।८॥
		॥१८२।३५॥
५७	” निर्विशेषं न सामान्यं, भवेच्छशविषाणवत् ।	॥२०९।३२॥
	<b>प.</b>	
५८	पतिर्धवे ना त्रिष्वीशे ।	॥७९।२१॥
५९	परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः ॥ १ ॥	॥१२६।१०॥
६०	परुषं व्याजितः ।	॥१६३।१८॥
६१	पान्त्व वो देशनाकाले, जैनेन्द्रा दशनांशवः । भवकूपपतज्जन्तुजातोद्धरणरज्जवः ॥ १ ॥	॥११९।११॥

- ५० पावये शुचिः । मास्यमात्ये चात्युपघे, पुंति मेघे सिते त्रियु । ५० प०  
६२ पूर्वमवदारगोपीहरणसरणादिव ज्वलितमन्युः । धीमूलराजपुरयोत्तमोऽवधीर्मुदाभीरान् ॥ २ ॥ ॥७२।१९॥  
६३ प्रणम्य परमात्मानं, धेयं शब्दानुशासनम् । णाचार्यैर्मचन्द्रेण, स्मृत्या किञ्चित्प्रकाश्यते ॥ ॥३८।१३॥  
६४ प्रधानकर्मण्यारपेये, त्यादीनामुर्ध्वकर्मणाम् । ॥२०६।२१॥  
६६ प्रयुक्तौ च निरुक्तौ च, फारफाणा य ईश्वरः । अग्रयुक्तः प्रयुक्तो वा, स कर्ता फलसाधकः ॥ ३ ॥ ॥१५६।१३॥  
६७ प्रस्तापादघघौचित्याद्देशफालविभागयोः । शब्दाद्यार्याः प्रतीयन्ते न शब्दादेव केवलात् ॥ १ ॥ ॥१४।२९॥  
६८ त्रियुक्तौ राजपत्सर्पं, हाहावथाऽपर एलि ॥ ॥९०।२५॥
- फ.
- ६९ फलार्थी यः स्वतन्त्रं सन्, फलायाऽऽरभते त्रियाम् । नियोक्ता परतन्त्राणां, स कर्ता नाम कारकम् ॥२॥ ॥१५६।१३॥
- घ.
- ७० फलिः करो भागधेयः । ॥२४।३०॥  
७१ सुख्या समीहितेकत्वान्, पञ्चालान् कुरभिर्यथा । सुख्या विभजते घका, तदाऽपायः प्रतीयते ॥ १ ॥ ॥१७।१३॥
- भ.
- ७२ भवेद्विगुणमाधुर्यमनन्तगुणफालकम् । द्रव्यं चतुर्गुणोद्भूतगन्धमात्रफालादिकम् ॥ १ ॥ ॥१८४।२९॥  
७३ मूर्धुय सखयीशानम् । ॥१८।१९॥  
७४ भेष्यां पुनर्नवाया धी, चर्पाभूर्देहुरे पुमान् । ॥८०।१३॥
- म.
- ७५ मजा तु फौशिकः शुष्ककरोऽरुध्नः स्नेहसम्भवौ । ॥६१।३५॥  
७६ मणी इवोद्दिष्टमनोहरतिवपौ । ॥३।६॥  
७७ मणीवोद्गस्य लम्बेते, त्रियौ घत्सतरौ मम । ॥३।५।५॥  
७८ मध्ये श्रुतीतां प्रतिवेशिनीनां सरस्यती यासवती मुखे नः ।  
हियेव ताभ्यश्चलतीयमदा पथाप्त संसर्गगुणेन नदा ॥ १ ॥ ॥१८।२२॥  
७९ मयैतत्सर्पेमाख्यातं युष्माकं मुनिपुङ्गवाः ॥११८।७॥ ॥११८।२७॥  
८० मर्यादाविधौ च यः । ॥९६।१०॥  
८१ मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितः । ॥१६३।१९॥  
८२ मृत्युत्पत्तिग्लानिनिवृत्ताप्रयोधैर्बुद्धिहासप्रासरोगादिभिश्च ।  
लिङ्गैर्षया जीवतैकेन्द्रियाणां, जैनात्सम्प्राप्त्याणवभिश्चलानाम् ॥१॥ ॥१६३।२६॥  
८३ त्रियमाणो च तौ एष्टा, मद्रिस्तभेदमववीत् । मणीवोद्गस्य लम्बेते, त्रियौ घत्सतरौ मम ॥ १ ॥ ॥३।५।३०॥
- य.
- ८४ यः क्रियां कर्मकर्तृस्थां, कुरुते मुख्यभावतः । अग्रयुक्तः प्रयुक्तो वा, स कर्ता नाम कारकम् ॥ ॥१५८।१७॥  
८५ यति ते नाग ! शीर्षाणि, तति ते नाग ! वेदना । न सन्ति नाग ! शीर्षाणि, न सन्ति नाग ! वेदना ॥१॥ ॥९१।२०॥  
८६ यत्तत्कारणं तदेवाक्षि, लक्ष्यते तत्र तेन किम् ? । तत्कारणः पुरुष इत्येतत्कथं वृत्तचारतः ॥ ३ ॥ ॥१८८।२७॥  
८७ यत्पादजलसंस्पर्शान्मन्दो वाचस्पतीयति । नमः शङ्खेश्वरेष्वाय विश्वविप्रविनाशिने ॥२॥ ॥१।१९॥  
८८ यदैव पूर्वं जनने शरीरं, सा दक्षरोपात् सुदती ससर्ज ।  
तदा प्रभृत्येव विमुक्तसंगः, पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥५३॥ ॥२०।३४॥  
८९ येनाऽपविद्धसलिलः स्फुटनागससा, देवास्तुरैरमृतमभुनिधिर्मन्त्रे ।  
व्यावर्तनैरहितैरयमाहिताङ्गः, खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥३०॥ ॥१६०।९२॥  
किराता० पञ्चमसर्गं । ॥१७।२१॥
- ९० योऽक्षपादमूर्ध्नि न्यायः, प्रत्यभाह्वता वरम् । ॥१७।२१॥
- र.
- ९१ रोचते मम घृतं सह मुद्गैः, शालयो वृधिशरं कुकुराश्च । ॥१९।१९॥
- ल.
- ९२ लक्ष्यलक्षणभावो हि, भेदे सत्युपपद्यते । यथा छात्रकमण्डल्वोऽच्छत्रोपाध्याययोर्यथा ॥१॥ ॥१८८।२६॥  
९३ लक्षणादातपत्रादेस्तत्र लक्ष्यं तु मिद्यते । इह त्वेमसम्भाव्यमभेदादक्षिकाणयोः ॥ २ ॥ ॥१८८।२६॥  
९४ लजावद्राजवन्मजा, मांससारास्थिसारयोः । ॥६१।३६॥  
९५ यं प्रचेतसि जानीयादिवार्थं च तदव्ययम् । ॥३।५।३४॥
- व.
- ९६ व वा यथा तथैवैवम् । ॥३।५।३४॥



क्र०		श्लो० प०
९७	वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरूपसर्गयोः । आपं चैव हलन्तानां, यथा वाचा निशा दिशा ॥ १ ॥	॥२८१३१॥
९८	वस्तुतस्तदनिर्देश्यं, न हि वस्तु व्यवस्थितम् । स्थाल्या पच्यत इत्येषा, विवक्षा दृश्यते यतः ॥ २ ॥	॥१७०१२४॥
९९	वाताय कपिला विद्युदातपायाऽतिलोहिनी । पीता वर्पाय विज्ञेया, दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥ १ ॥	॥१९३१५॥
१००	विनैव प्रत्ययं वृत्तौ, ये भिन्नार्थाभिधायिनः । गर्गादयो लुका तेषां, साधुत्वमनुगम्यते ॥ १ ॥	॥१७८१२९॥
१०१	विशत्याद्याः शताद्वन्द्वे ।	॥८२१२४॥
१०२	विशेषकर्मसम्बन्धे, निर्भुकेऽपि कटादिभिः । विशेषनिरपेक्षोऽन्यः, कृतशब्दः प्रवर्तते ॥ १ ॥	॥१८४११६॥
१०३	वीरो विश्वेश्वरो देवो, युष्माकं कुलदेवता । स एव नाथो भगवानस्माकं पापनाशनः ॥ १ ॥	॥११९११०॥
१०४	व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम् ॥	॥७४१२१॥
१०५	व्यपदेशे पदार्थानामन्या सत्तौपचारिकी । सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपनिर्दिशिनी ॥ १ ॥	॥१८४३३४॥
<b>श.</b>		
१०६	शक्यस्तिन्नः, प्रभुत्वोत्साहमन्त्रजाः ।	॥२४३३३॥
१०७	शतं दापितः सूरसेनः ॥	॥१६३१८८॥
१०८	शिली गण्डूपदी भेकी, वर्षाभ्वी कमठी डुलिः ॥	॥८०११४॥
<b>स.</b>		
१०९	संसर्गो विप्रयोगश्च, सादृचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं, शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥ १ ॥	॥१४१२९॥
११०	संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु, सा विवक्षामपेक्षते ॥ १ ॥	॥५९१७॥
१११	स एष भरतो राजा,	॥५६१११॥
११२	सदशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । सर्वेषु च वचनेषु, यत्र व्येति तद्व्ययम् ॥ १ ॥	॥१७८८॥
११३	सम्पिण्डताङ्गुलिः पाणिर्मुष्टिः ।	॥७९११७॥
११४	सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः, क्रियाकारकपूर्वकः । श्रुतायामश्रुतायां वा, क्रियायां सोऽभिधीयते ॥११॥	॥२०२४५॥
११५	सम्भोगाय परिकीता, कर्ताऽस्ति तव नाऽप्रियम् ।	॥१९६१९॥
११६	संमूर्च्छदुच्छृङ्खलशङ्खनिःस्वनः, स्वनः प्रयाते पटहस्य शार्ङ्गिणि । सत्त्वानि निन्द्ये नितरा महान्त्यपि, व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम् ॥१३॥	॥७४१२०॥
११७	सर्वभक्षः कृतान्तः ।	॥१६३३३॥
११८	सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ।	॥१८६४७॥
११९	साकाङ्क्षावयवभेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम् । क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमुच्यते ॥ १ ॥	॥१४३३३॥
१२०	सिद्धहेमवृद्धवृत्तिविषमस्थलबोधिनीम् । कुर्वेऽहं विवृतिं चालमनोक्षाऽऽनन्दबोधिनीम् ॥ ५ ॥	॥११२२॥
१२१	सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः । सौषधीरनुरुध्यते,	॥५६११०॥
१२२	सैष दाशरथी रामः, सैष भीमो महाबलः । सैष कर्णो महात्यागी, सैष राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥	॥५६३८॥
१२३	— सैष भीमो महाबलः, सैष कर्णो महात्यागी । सैष राजा युधिष्ठिरः ॥१॥	॥५६३९॥
१२४	सोयमित्यभिसम्बन्धात्, प्रत्ययेन विना यदि । वञ्चादयः प्रयुज्येरन्, नाऽपत्ये नियमो भवेत् ॥२॥	॥१७८१२९॥
१२५	सोऽयमित्यभिसम्बन्धे, प्रत्यभिद्धोपजायते ।	॥५६३७॥
१२६	सोऽयमित्यभिसम्बन्धे, लिङ्गोपव्यञ्जनादृते । प्रष्टादिषु न जायैव, नियमेन प्रतीयते ॥ ३ ॥	॥१७८१२०॥
१२७	सोऽहं तथापि तव भक्तिं	॥५६४२॥
१२८	स्तनकेशवती स्त्री स्याद्, रोमशः पुरुषः स्मृतः । उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम् ॥१॥	॥१७१३३॥
१२९	स्तोकस्य चाऽभिनिर्वृत्तेरनिर्वृत्तेश्च तस्य वा । प्रसिद्धिः करणत्वस्य, स्तोकादीनां प्रवक्षते ॥ १ ॥	॥२०११६॥
१३०	स्फटिकादि यथा द्रव्यं, भिन्नरूपैरुपाश्रयैः । स्वशक्तियोगात् सम्बद्धं, तान्द्रूप्येणैव गम्यते ॥ २ ॥	॥१८४३५॥
१३१	स्यात् सेनाऽक्षौहिणी नाम खाऽगाष्टैकद्विकैर्गजे । रथैश्चैभ्यो हयैस्त्रिभैः पञ्चभैश्च पदातिभिः ॥ १ ॥	॥३०१२४॥
१३२	खव्यापारे तु कर्तृत्वं, सर्वत्रैवाऽस्ति कारके । व्यापारभेदापेक्षायां, करणत्वादिसम्भवः ॥ १ ॥	॥१५६१२१॥
१३३	खशब्दैरभिधानेऽपि, स धर्मो नाऽभिधीयते । विभक्त्यादिभिरेवाऽसानुपकारः प्रतीयते ॥ १ ॥	॥२०३१२९॥
<b>ह.</b>		
१३४	हरिरिव बलिवन्धकरस्त्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिरिव । कमलाश्रयश्च विधिरिव जयति श्रीमूलराजनृपः ॥ १ ॥	॥२४११४॥
१३५	हेतुत्वे कर्मसंज्ञायां, शेषत्वेनाऽपि कारकम् । रुच्यर्थादिषु शास्त्रेण, चतुर्यां सम्प्रकीर्तिता ॥ १ ॥	॥१९११३५॥



## ७ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने प्रथमविभागे तत्त्वानि प्रकाशयतीति यथार्थनामशालिश्रीतत्त्वप्रका-  
शिकासुप्रकाशनकालेऽमन्दाऽऽनन्दसुबोधदानैकवद्धकक्षीभूताऽऽनन्दबोधिन्यारम्भकाले च  
ग्रन्थस्थितसूत्रवृत्त्युदाहरणविषयविभागादिस्पष्टीकरणार्थं स्थलनिर्देशार्थं चाकारायनु-  
क्रमेण सुगृहीतानि महापुरुषगुम्फितानि ग्रन्थरत्नानामानि ।

क्र०	ग्रन्थानामानि ।	पृ० प०	क्र०	ग्रन्थानामानि ।	पृ० प०
	<b>अ.</b>			<b>त.</b>	
१	अन्य० यो० व्य० ३० । श्लोके ॥	॥४१९॥	१४	तत्त्वदीपिका ॥	॥८३।४३॥
२	अभिवानचिन्तामणौ ॥	॥१८।१५॥	१५	तत्त्वप्रकाशिका ॥	॥१।३८॥
	"	॥१८।३०॥	१६	तत्त्वबोधिनी ॥	॥९।१३१॥
	"	॥१८।३२॥		<b>न.</b>	
	"	॥१८।३९॥	१७	नैषधीये ॥	॥१८।२३॥
	"	॥२४।३१॥		<b>प.</b>	
	फा० ३-श्लो० ४०९	॥२४।३३॥	१८	पाणिनीयैकदेशिन. ॥	॥८२।३३॥
	" " ३९९	॥३०।२५॥	१९	पाणिनीयशिक्षा-श्लो० १३ ॥	॥८।३१॥
	" " ४१३	॥६१।३५॥	"	" १६ ॥	॥८।३९॥
	" " २९२	॥३५।३४॥	"	" १८ ॥	॥८।४०॥
३	अमरकोषः ॥ का० २ श्लो० १२	॥६९।३६॥	"	" २१ ॥	॥८।४४॥
	" —	॥७२।२०॥	"	" २० ॥	॥८।४६॥
	" —	॥७२।२१॥	२०	पाणिनीयकम् ॥	॥१।३०॥
	" —	॥७९।२९॥	२१	पाणिनीयतन्त्रे ॥	॥२२।४६॥
	" —	॥८०।१४॥	"	"	॥५२।३७॥
	" —	॥८६।३१॥	"	"	॥६७।१९॥
	" —	॥२५।३९॥	"	"	॥९०।२९॥
४	अमोघावृत्तौ ॥	॥२८।४२॥	"	"	॥९३।३८॥
	"	॥३१।३६॥	२२	पाणिनीयमहाभाष्ये ॥	॥३०।३३॥
	"	॥३४।४०॥	"	"	॥३४।४०॥
	"	॥५७।४०॥	२३	पाणिनीयसूत्रेषु ॥	॥४४।४७॥
	"	॥९०।४१॥	"	"	॥१९५।३५॥
	"	॥१३५।१४॥	२४	पाणिनीये न्यासे ॥	॥५२।४१॥
			२५	प्रकीर्णके सम्प्रदानोद्देशे ॥	॥५७।४१॥
	<b>आ.</b>			<b>म.</b>	
५	आपिशलम् ॥	॥१।३०॥	२६	अक्तामर० ॥	॥५६।४२॥
	<b>ऐ.</b>		२७	भाष्यम् (पातञ्जलम्) ॥	॥१७।५०॥
६	ऐन्द्रम् ॥	॥१।२९॥	"	"	॥२६।१७॥
	<b>क.</b>		"	"	॥४४।१८॥
७	कादम्बर्यां श्लो० ३	॥३०।३६॥	"	"	॥५२।३९॥
८	काशिका ॥	॥९०।४०॥	"	"	॥६५।१३॥
	"	॥९१।३०॥	"	"	॥६६।११॥
९	किरातार्जुनीये द्वादशसर्गे	॥३०।३९॥	"	"	॥६७।१७॥
	"	॥१६०।२३॥	"	"	॥९१।३६॥
१०	कुमारसंभवस्य प्रथमसर्गे	॥३०।३५॥	"	"	॥९७।२१॥
११	कौमारम् ( व्या० ) ॥	॥१।२९॥	"	"	॥१२२।२८॥
	<b>च.</b>		"	"	॥१५१।२९॥
१२	चान्द्रम् ॥	॥१।२९॥	"	"	॥१७८।१७॥
	<b>ज.</b>		"	"	॥२०२।३४॥
१३	जैनेन्द्रप्रक्रियायाम् ॥	॥३३।४१॥	"	"	॥२०२।३६॥
	"	॥३९।३१॥	"	"	

क्र०	अन्यनामालि ।	पृ० प०	क्र०	अन्यनामालि ।	पृ० प०
२८	मतोरमा ॥	॥१८१४॥	४२	द्राकलम् ॥	॥१३०॥
"	"	॥१८१७॥	४३	शिक्षामधीते (आपिशलि०) ॥	॥९१२॥
"	"	॥१८२०॥	"	"	॥९१३३॥
"	"	॥१८२५॥	४४	शिशुपालवधः ॥	॥१७३२॥
"	"	॥१८२७॥	"	"	॥७४१९॥
"	"	॥१८३०॥	४५	शेखरे ॥	॥२५३२॥
"	"	॥१८३१॥		स.	
"	"	॥१८३३॥	४६	सांख्यदर्शनम् ॥	॥१७३३३॥
"	"	॥१८३५॥	४७	सारस्वतम् ॥	॥१३०॥
"	"	॥१८३७॥	४८	सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनसूत्रग्रन्थ० ॥	॥२१८॥
"	"	॥१८३८॥	४९	सिद्धान्तकौमुदी ॥	॥२८३२॥
"	"	॥१८४१॥	"	"	॥७८४२॥
"	"	॥१८४२॥	"	"	॥८२३३॥
"	"	॥१८४२॥	"	"	॥९०२५॥
"	"	॥१८४३॥	"	"	॥११५४८॥
"	"	॥१८४४॥	"	"	॥१२३३४॥
"	"	॥१९३३॥	५०	सिद्धान्ते (स्याद्वादनये)	॥५७४४॥
"	"	॥१९३२॥	५१	स्तुतिषु (अ० व्य०)	॥४१८॥
"	"	॥१९३३॥	५२	स्वमते (क० सर्वज्ञनये) ॥	॥५७४४॥
"	"	॥१९३६॥	५३	स्वयम्भुस्तोत्रे ६५ श्लोके ॥	॥४२६॥
"	"	॥१९३८॥		ह.	
"	"	॥१९४४॥	५४	हैमः ॥ (अ० चि०)	॥७९१८॥
"	"	॥२०१८॥	"	"	॥८६३२॥
"	"	॥२०३१॥	"	"	॥८६३३॥
"	"	॥२०३२॥	५५	हैमप्रकाशे ॥	॥१८३६॥
"	"	॥१८३६॥	५६	हैमबृहन्न्यासे ॥	॥१८३४॥
२९	म० अ० (सुद्रि० शब्दा०)	॥३५३३॥	"	"	॥१८३७॥
३०	सहभारत० ॥	॥३५३३॥	"	"	॥१८३३॥
३१	सेदिनी ॥	॥३५३३॥	"	"	॥१८३४॥
	य.		"	"	॥१८३८॥
३२	यादवः ॥	॥८०१४॥	"	"	॥१८३८॥
	रु.		"	"	॥१८४०॥
३३	लघुन्यासः ॥	॥९१२१॥	"	"	॥१९३७॥
"	"	॥१२२२७॥	"	"	॥१९३८॥
	व.		"	"	॥१९४६॥
३४	वार्त्तिकम् ॥	॥१२२२८॥	"	"	॥१९४७॥
३५	विश्वकोषः ॥	॥७९२१॥	"	"	॥१९४७॥
३६	त्रिष्णुपुराणम् ॥	॥१६६१९॥	"	"	॥२०११॥
३७	वेणीसंहारे चतुर्थाङ्के ॥	॥३०३८॥	"	"	॥२०११॥
३८	वैशेषिकदर्शनम् ॥	॥१७३३३॥	"	"	॥२०१२॥
	श.		"	"	॥२०१४॥
३९	शब्दानुशासने (क०स०श्रीहृम०) ॥	॥५२३९॥	"	"	॥२०१३॥
४०	शब्देन्दुशेखरः ॥	॥९०३२॥	"	"	॥२०१६॥
४१	शाकटायने ॥	॥१३०॥	"	"	॥२०१७॥
"	"	॥२६१७॥	"	"	॥२०२९॥
"	"	॥३३४२॥	"	"	॥१८४५॥
"	"	॥५२३५॥	५७	हैमबृहद्वृत्तिः ॥	
"	"	॥५२४०॥			

# ८ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारक-सनाथे प्रथमविभागे ग्रन्थस्यविषय-  
विभागस्थितसूत्रवृत्त्युदाहरणप्रत्युदाहरणाद्यनेकविधस्थले स्वपरमतप्रतिपादनैक-  
तत्परप्रतिपादनशीलशालिनां प्रामाणिकाप्रामाणिकमतमतान्तरीयमा-  
न्यताकल्पनाकल्पनानाथानां स्वमताऽऽविष्करणैकबद्धकक्षाणां  
शेषकश्चिदन्यापरपरैकादिविरुद्धोपपदलाञ्छितशाब्दिका-  
नामकाराद्यनुक्रमेण नामधेयानि ।

क्र०	नाम ।	पृ० प०	क्र०	नाम ।	पृ० प०
	<b>अ.</b>		१३	कैयटः ।	॥७९।३३॥
१	अजितयशोवादी ।	॥१९५।३६॥	"	"	॥९०।३१॥
२	अभयनन्दाचार्याः ।	॥२१३।२६॥	"	"	॥१०३।४०॥
	<b>आ.</b>		"	"	॥१११।२५॥
३	आपिशलिः प्राचीनाचार्यः ।	॥९।१२॥	१४	क्षीरस्वामी ।	॥७९।३६॥
"	"	॥९।३३॥	"	"	॥८०।४८॥
	<b>उ.</b>		१५	क्षीरस्वामिप्रभृतयः ।	॥१२२।४२॥
४	उत्पलः ।	॥४४।१८॥		<b>ग.</b>	
"	"	॥६०।३७॥	१६	गोनर्दीयः ।	॥६५।१२॥
"	"	॥६१।४६॥	"	"	॥६५।१३॥
"	"	॥११३।२०॥	"	"	॥७०।२९॥
"	"	॥१४८।३१॥	"	"	॥७५।३१॥
"	"	॥१५०।२८॥	१७	गोनर्दीयमतानुयायिनः ।	॥९३।२०॥
"	"	॥१६१।३९॥		<b>च.</b>	
"	"	॥१७०।१५॥	१८	चन्द्रगोमिः ।	॥१४८।३०॥
"	"	॥१९४।४०॥	"	"	॥१५०।२८॥
"	"	॥२१०।२८॥	१९	चन्द्रगोमिदेवनन्दिप्रभृतयः ।	॥१४१।२२॥
"	"	॥३५।३५॥	२०	चान्द्रभोजक्षीरस्वामिप्रभृतयः ।	॥१२२।४२॥
५	उत्पलादयः ।	॥७५।३०॥	२१	चान्द्रप्रभृतयः ।	॥५७।३८॥
"	"	॥७५।३२॥	"	"	॥९०।४१॥
"	"	॥९०।२४॥	"	"	॥११३।३१॥
"	"	॥९३।१८॥	"	"	॥१९२।४५॥
"	"	॥९३।३८॥	२२	चूर्णिकारः ।	॥८३।२४॥
६	उद्द्योतकरः ।	॥१८८।२६॥		<b>ज.</b>	
"	"	॥२१०।२८॥	२३	जयादित्यः ।	॥३५।३०॥
"	"	॥२१०।३०॥	"	"	॥३५।३१॥
"	"	॥८३।४३॥	"	"	॥९१।३१॥
७	उपाध्यायः ।	॥८३।४३॥	२४	जयादित्यप्रभृतयः ।	॥९१।२९॥
	<b>क.</b>		२५	जयादित्यहरदत्ताभ्यां स्पष्टीकृतं च, मुख्यत इदं मतं वामनस्य ।	॥६६।११॥
८	ऋषभः ।	॥१०३।११॥	२६	जिनदत्तादिः ।	॥१६२।३८॥
	<b>औ.</b>			<b>त.</b>	
९	औदमजिः ।	॥१०।१६॥	२७	तट्टीकाकृतः (पाणिनीय व्या० टीका०) ।	॥५७।४२॥
	<b>क.</b>			<b>द.</b>	
१०	कलिकालसर्वज्ञमतेन ।	॥३५।३२॥	२८	दुर्गसिंहः ।	॥७८।१८॥
११	काशिकाकारः ।	॥३५।३०॥	"	"	॥१३७।३२॥
"	"	॥३५।३२॥	"	"	॥१६४।३६॥
"	"	॥२०५।३५॥	२९	दुर्गसिंहन्यासकृतौ ।	॥२५।३२॥
१२	काशिकाकारा वामनादयः ।	॥९०।३९॥	"	"	॥३२।२४॥

क्र०	नाम ।	पृ० प०	क्र०	नाम ।	पृ० प०
३०	देवनन्द्याचार्यः ।	॥३३।४१॥	४४	पाणिनिशिक्षाकाराः ।	॥८।३१॥
"	"	॥३९।२९॥	"	"	॥८।३९॥
"	"	॥३९।३१॥	"	"	॥८।४२॥
"	"	॥९०।४०॥	"	"	॥८।४४॥
"	"	॥१३०।३४॥	"	"	॥८।४५॥
"	"	॥१३९।३१॥	"	"	॥८।४६॥
"	"	॥१३९।४५॥	४५	पाणिनिशिक्षाकाराः शाकटायनाक्ष ।	॥८।४२॥
"	"	॥१४८।३०॥	४६	पाणिनीयमहाभाष्यकृन्मतानुयायिनः ।	॥१७।२४॥
"	"	॥१५०।२८॥	४७	पाणिनीयाः ।	॥८।४१॥
३१	देवनन्द्यादयः ।	॥८।४१॥	"	"	॥३४।३९॥
"	"	॥२८।२०॥	"	"	॥४५।४३॥
"	"	॥३१।३५॥	"	"	॥९३।२०॥
"	"	॥९०।२९॥	"	"	॥९३।३८॥
"	"	॥९३।३४॥	४८	पाणिन्यायाचार्याः ।	॥१९।२५॥
	<b>न.</b>		"	"	॥३८।४०॥
३२	नागराज ।	॥२०२।३०॥	"	"	॥३९।३३॥
	<b>प.</b>		"	"	॥५१।३६॥
३३	पतञ्जलिः ।	॥१७।२५॥	"	"	॥११३।४२॥
३४	परे-जिनशासनयहिर्भूताः ।	॥४।२१॥	"	"	॥२१४।३०॥
३५	पाणिनिः ।	॥९।२२॥	४९	पूर्व-आचार्याः ।	॥२०७।२५॥
"	"	॥२८।२०॥	५०	प्रसादकारादयः ।	॥८२।३५॥
"	"	॥३३।४०॥	५१	प्राचीनाः ।	॥८।४०॥
"	"	॥४८।४२॥	५२	प्राञ्चः ।	॥१७।२६॥
"	"	॥४८।४३॥	"	"	॥२६।१२॥
"	"	॥५१।३५॥	"	"	॥२६।१६॥
"	"	॥७५।३०॥	"	"	॥२९।३३॥
"	"	॥७५।३१॥	"	"	॥३०।३०॥
"	"	॥७५।३२॥	"	"	॥३६।३६॥
"	"	॥९३।२३॥	"	"	॥१४८।१८॥
"	"	॥१२२।२८॥	"	"	॥१८५।३१॥
"	"	॥१४८।३१॥	"	"	॥२००।३९॥
"	"	॥१९१।३४॥		<b>भ.</b>	
"	"	॥२०४।३९॥	५३	भगवता ( कलिकालसर्वज्ञेन ) ।	॥३९।३९॥
"	"	॥२०५।२७॥	५४	भगवन्तो वृत्तिकाराः ।	॥३९।१५॥
३६	पाणिनितन्त्रानुसारिणः ।	॥१६२।२३॥	"	"	॥६१।१४॥
३७	( अन्ये ) पाणिनीयाः, देवनन्द्यादयश्च ।	॥८।४१॥	५५	भट्टोजिदीक्षितः ।	॥८२।३४॥
३८	पाणिनीप्रभृतयः ।	॥७८।३०॥	"	"	॥९०।२५॥
"	"	॥७८।४१॥	"	"	॥१२३।४४॥
"	"	॥१२२।२७॥	५६	भर्तृहरिः ।	॥१४।२९॥
"	"	॥१२३।४३॥	"	"	॥१९।३३॥
३९	पाणिनिस्त्राजानुसारिणः ।	॥६६।९॥	५७	भवद्भुजगविमुः ।	॥२०।२७॥
"	"	॥९०।२४॥	५८	भागुरिः ।	॥२८।३२॥
"	"	॥११५।४३॥	"	"	॥६१।३६॥
४०	पा०सू०काशिकाकृष्णां नामनजयादि० ।	॥६६।१०॥	५९	भाष्यकारः ।	॥३५।३२॥
"	"	॥६६।१८॥	"	"	॥७५।३१॥
४१	पाणिनि शाकटायनाः ।	॥९।२२॥	"	"	॥७९।३३॥
"	"	॥४५।४२॥	"	"	॥९०।३१॥
४२	पाणिनिशाकटायनदेवनन्द्यादयः ।	॥२८।२०॥	"	"	॥१११।२५॥
४३	पाणिनिशाकटायनदेवनन्दिमिश्रा० ।	॥३९।२९॥	"	"	॥१५८।२०॥
			"	"	॥१७७।३७॥
			"	"	॥१९४।४६॥

क्र०	नाम ।	पृ० प०	क्र०	नाम ।	पृ० प०
६०	भाष्यरुदादयः ।	॥७९।३५॥		शाकटायनाः ।	॥२८।२०॥
"	"	॥८०।४८॥	"	"	॥२८।२१॥
"	"	॥१५०।२८॥	"	"	॥२८।४२॥
६१	भीमसेनादयः ।	॥१४४।३५॥	"	"	॥२९।२३॥
६२	भोजदेवसंमतम् ।	॥३३।४१॥	"	"	॥३३।४१॥
"	"	॥९०।१६॥	"	"	॥३९।२९॥
"	"	॥१२२।४२॥	"	"	॥४४।१९॥
६३	भोजप्रभृतयः ।	॥८४।४१॥	"	"	॥४५।४३॥
६४	भोजशाकटायनाः ।	॥१९३।३६॥	"	"	॥४८।४३॥
	<b>म.</b>		"	"	॥५१।३६॥
६५	माघकवेः ।	॥१७।३१॥	"	"	॥५७।३९॥
६६	माहेश्वरेषु ।	॥५२।३७॥	"	"	॥६०।३७॥
	<b>र.</b>		"	"	॥१३५।१३॥
६७	रत्नमतिः ।	॥१६४।३६॥	"	"	॥१३८।२५॥
"	"	॥१९३।२०॥	"	"	॥१६४।३३॥
	<b>ल.</b>		"	"	॥१९२।४३॥
६८	लघुन्यासकारः ।	॥५२।३५॥	"	"	॥१९३।३६॥
"	"	॥९१।२१॥	"	"	॥२०४।४२॥
६९	ललितस्वभावः ।	॥१०८।३३॥	"	"	॥२१७।३३॥
"	"	॥२०१।३३॥		८० शाकटायनादयः ।	॥८।४०॥
"	"	॥२०५।३४॥	"	"	॥५२।३५॥
७०	ललितस्वभावादयः ।	॥१४८।३०॥	"	"	॥५७।४१॥
	<b>व.</b>		"	"	॥१०८।३३॥
७१	वत्सः ।	१०३।११॥	"	"	॥१३०।३३॥
७२	वामनः ।	॥३५।३०॥	८१	शाकटायनदेवनन्दिचन्द्रादयः ।	॥९०।४०॥
"	"	॥९१।३१॥	८२	शिवमुख्याः ।	॥३०।३१॥
७३	वामनादयः ।	॥९१।२०॥	८३	शेषमट्टारकाः ।	॥५।३७॥
७४	वार्त्तिककारः ।	॥३५।३२॥	"	"	॥२६।१७॥
"	"	॥४७।२९॥	"	"	॥२७।३८॥
"	"	॥६७।१७॥	"	"	॥६४।४९॥
"	"	॥७९।३२॥	"	"	॥७९।३२॥
"	"	॥१०८।३४॥	"	"	॥१२९।३०॥
"	"	॥१३८।१७॥	"	"	॥१९४।४२॥
"	"	॥१४९।३३॥	८४	श्रुतपालादिः ।	॥७८।१८॥
"	"	॥१७७।३७॥	८५	श्लोकवार्त्तिककारः ।	॥१७७।३७॥
"	"	॥२०४।३८॥		<b>स.</b>	
७५	वार्त्तिकव्याख्यातारः ।	॥२१५।३७॥	८६	साधारणभागकारः ।	॥१५०।२८॥
७६	विश्रान्तविद्याधरः ।	॥३९।३०॥	"	"	॥१५०।२८॥
"	"	॥४८।२०॥	"	"	॥१९४।४७॥
"	"	॥९०।२४॥	८७	साधारणादयः ।	॥१४८।३२॥
"	"	॥९०।२९॥	"	"	॥१९५।३५॥
"	"	॥१३०।२४॥	८८	सामन्तभद्राचार्यः ।	॥८।२६॥
७७	विश्रान्तविद्याधरादयः ।	॥१६९।४१॥	८९	सारसंग्रहकारादयः ।	॥१९४।३८॥
७८	व्याख्यातारः ।	॥१३८।१७॥	९०	सुखाकरः ।	॥१००।१५॥
	<b>श.</b>		९१	सूत्रकारः ( पाणिनि. ) ।	॥१९४।४६॥
७९	शाकटायनाः ।	॥८।२९॥	९२	स्यविरः ।	॥१६१।३९॥
"	"	॥८।४२॥	९३	स्यविरचन्द्रोत्पलदेवनन्दिसाधारण- भाष्यकारप्रभृतयः ।	॥१५०।२८॥
"	"	॥९।२२॥			
"	"	॥१८।३७॥			

## ९ परिशिष्टम् ।

—••••—

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारकसनाथे प्रथमविभागे विधिनियमविकल्प-प्रतिषेधाऽधिकाराद्यनेकविधसूत्राणां तद्रचनानां च विविधव्यवस्थातात्पर्यप्रकाशनार्थं, ग्रन्थ-विषयविभागस्थितवृत्त्युदाहरणप्रत्युदाहरणेषु स्थितशक्त्यशक्तिस्पष्टीकरणार्थं, 'नीचते सन्दि-ग्धोऽर्थो निर्णयमेभिरिति न्यायाः' इति जलधरदिनकरसुधाकरवदुपकारिणां तूरीश्वराणा-मुक्तिरहस्यबलेन तद्रहस्यं स्वीकृत्य न्यायसमर्पणकाले शास्त्रादिविहितन्यायसमर्पणार्थं च प्रद-र्शितान्यकाराद्यनुक्रमेण न्यायादिगद्य-पद्यानि ।

क्र०	गद्यपद्यन्या०	पृ० प०	क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
	<b>अ</b>				
१	अकर्मका अपि हि घातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति ।	॥१६८।११॥	१५	अपचाद्विषये पक्षे कचिदुत्सर्गः प्रवर्तते ।	॥११७।२५॥
२	अदाद्यनदाघोरनदादेरेव ग्रहणम् ।	॥१६८।१६॥	१६	अभिहिते प्रथमाया अभावः ।	॥१८२।३१॥
३	अनिनस्मनग्रहणान्यर्थवता चाऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ।	॥१०४।११॥ ॥१०४।१२॥	१७	अर्थवतो ग्रहणे सम्भवति अनर्थकस्य ग्रहणं न भवति ।	॥८४।३६॥
४	अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति ।	॥१७५।२२॥	१८	अर्थवद्ग्रहणे० ।	॥१५३।२१॥
५	अनेकवर्णत्वात् सर्वादेशोऽनेन ।	॥८२।३०॥	१९	अर्थवद्ग्रहणेऽनर्थकस्याऽग्रहणात् ।	॥२९।१८॥
६	अनेकोच्चारणे हि प्रयत्नस्य गौरवं भवति ।	॥९६।३५॥	२०	अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य ।	॥६५।१८॥
७	अन्तरङ्गवहिरङ्गयोः० ।	॥४६।४३॥		"	॥६५।१९॥
८	अन्तरङ्गानपि विधीन् वहिरङ्गा लुब् वाधते ।	॥९२।४८॥		"	॥७३।३४॥
	"	॥१०५।४५॥		"	॥७६।२४॥
	"	॥१०७।२५॥		"	॥१०३।२५॥
	"	॥१०७।३३॥		"	॥१०४।१२॥
९	अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा ।	॥१२१।३५॥	२१	अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य ग्रहणं भवति ।	॥८४।२५॥
१०	अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा लुप् प्रवर्तते ।	॥९०।२७॥ ॥११६।३०॥	२२	अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः ।	॥५२।४४॥
११	अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा वहिरङ्गा लुब्भवति ।	॥११३।३०॥		"	॥६३।२०॥
१२	अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्यापि ग्रहणात्	॥१२५।१४॥		"	॥७७।२६॥
१३	अन्यत्राऽन्यत्र लब्धावकाशयोः शास्त्रयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ पर भवति ।	॥४६।३४॥		"	॥८८।२६॥
१४	अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कल्पितत्वात् ।	॥८८।३७॥		"	॥११४।३५॥
			२३	अर्थक्यादेकं वाक्यं साकाहं चेद्विभागे०	॥११६।१९॥
			२४	असिद्धमिति ।	॥३९।२५॥
			२५	असिद्धं वहिरङ्गं० ।	॥५२।२३॥
				"	॥१०२।२०॥
			२६	असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे ।	॥२७।३६॥
				"	॥३१।३१॥
				"	॥४१।२६॥
				"	॥४९।२४॥

क्र०	शा० नाम० ।	पृ० प०	क्र०	शा० नाम० ।	पृ० प०
	<b>इ.</b>				
९४	हरिः ।	॥१७२।२९॥	९६	हेमचन्द्रः ।	॥१।३३॥
"	"	॥१७८।३०॥	"	"	॥१।३४॥
"	"	॥१८२।३५॥	"	"	॥१।३५॥
"	"	॥१८४।१६॥	"	"	॥१।३६॥
"	"	॥१९४।४३॥	"	"	॥१।३९॥
"	"	॥२०३।२२॥	"	"	॥२।५॥
९५	हर्षः ।	॥१९।४२॥	"	"	॥३३।४२॥
			"	"	॥५२।३९॥

क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
	असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ।	॥५२।२५॥
	"	॥५९।१२॥
	"	॥५९।३६॥
	"	॥६२।२॥
	"	॥६२।१८॥
	"	॥७८।२४॥
	"	॥१०५।३॥
	"	॥१०५।२१॥
	"	॥११३।२७॥
	"	॥१४६।८॥
<b>आ.</b>		
२७	आगमशासनमनित्यम् ।	॥१४९।१९॥
२८	आदशभ्यः संख्या संख्येये वर्तते ।	॥१७५।३५॥
२९	आदेशादागमः ।	॥१०२।१९॥
३०	आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ।	॥६६।३५॥
३१	आसन्नः ।	॥२९।२८॥
३२	आसन्नाऽनासन्नप्रसङ्गे आसन्न एव दीर्घः ।	॥२५।२२॥
<b>इ.</b>		
३३	इडिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः ।	॥१६५।२०॥
<b>उ.</b>		
३४	उणादयोऽप्युत्पन्नानि नामानि ।	॥१३४।३२॥
	"	॥१३४।३३॥
	"	॥१३७।३७॥
३५	उणादीनामप्युत्पन्नपक्षस्याऽऽश्रयणात्	॥१००।४५॥
३६	उदितोऽभ्वादेरेव तत्साहचर्यादुदितो- ऽप्यभ्वादेरेव ।	॥९८।२८॥
३७	उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी	॥१८७।३१॥
	"	॥१९६।४१॥
	"	॥१९८।३३॥
	"	॥२०९।३७॥
३८	उभयस्थाननिष्पन्नोऽन्यतरव्यपदेशमाकृ ।	॥३६।३३॥
३९	उभयोः स्थाने यः ।	॥८६।१५॥
<b>ए.</b>		
४०	एकदेशविकृत० ।	॥९३।१५॥
४१	एकदेशविकृतमनन्यवत् ।	॥३४।२३॥
	"	॥६४।४७॥
	"	॥८३।१९॥
	"	॥८७।३५॥
	"	॥१०२।४॥
	"	॥१०२।२४॥
	"	॥७८।१९॥
४२	एकदेशविकृतस्य० ।	॥१०८।३९॥
	"	॥१०९।३१॥
	"	॥८६।२१॥
४३	एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वेन० ।	॥९७।१४॥
	"	॥१०८।४२॥
	"	॥१०९।८॥
	"	॥१२८।४६॥
	"	॥१५४।४४॥

क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
४४	एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य ।	॥१४०।४३॥
४५	एवम्भूतस्तु अनिर्देशः ।	॥९४।२४॥
<b>क.</b>		
४६	कार्यकार्यिणोरेकविभक्तिनिर्देशः ।	॥१२३।३३॥
४७	कार्यकार्यिणोस्तुल्यत्वाद्यथासंबन्धम् ।	॥११६।१८॥
४८	कृताऽकृतप्रसङ्गित्वात् ।	॥१२।४४॥
४९	कृताऽकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वाच्च ।	॥६६।८॥
५०	कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्र- त्ययः ।	॥११६।२०॥
५१	क्रियन्ता धातुत्वं न जहति ।	॥१५।४५॥
	"	॥१२७।३६॥
५२	क्रियर्थं प्रकृतिरेवाऽऽह ।	॥१११।७॥
<b>ग.</b>		
५३	गत्यर्था हि ज्ञानार्था भवन्ति ।	॥१९४।३४॥
५४	गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः ।	॥१६१।४५॥
५५	गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ।	॥१५६।८॥
५६	गौणमुख्ययोश्च मुख्ये कार्य- सम्प्रत्ययात् ।	॥१८८।४३॥
५७	ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ।	॥६६।४७॥
५८	ज्ञापकज्ञापिता विधयो ह्यनित्याः ।	॥८२।४४॥
<b>त.</b>		
५९	तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तस्य कार्यस्य ततोऽन्यतो व्यावर्त्य तस्मिन्नेवं विधो- ऽन्यत्र कार्यस्याऽभावफलो नियमः ।	॥१३०।३६॥
६०	तदादेशास्तद्भवन्ति ।	॥११२।२३॥
६१	तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ।	॥५७।४॥
	"	॥५७।१७॥
	"	॥११३।१५॥
६२	तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात् ।	॥११२।२४॥
	"	॥११३।४१॥
	"	॥१२३।२५॥
	"	॥१२४।२३॥
६३	तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणेऽपि	॥१२७।२९॥
६४	तिवा शवाऽनुबन्धेन, निर्दिष्टं यद्ग्रहणेन च० ।	॥१४२।१९॥
६५	त्यादिसमानाधिकरणे प्रथमा ।	॥१७७।२१॥
<b>द.</b>		
६६	दन्त्यस्थाननिष्पन्नस्य तालव्यस्याऽपि दन्त्यापदिष्टं कार्यं भवति ।	॥४५।४७॥
६७	दृष्टकल्पना विहाय को नामाऽदृष्टं कल्पयति ।	॥८५।४१॥
६८	द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रत्येकं सम्बध्यते ।	॥९८।२२॥
६९	द्विर्वचं सुवचं भवति ।	॥८८।४३॥
<b>न.</b>		
७०	न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या ।	॥१८३।२॥
७१	न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः ।	॥१८३।४९॥
७२	नञा निर्दिष्टमनित्यम् ।	॥१८३।१६॥
	"	॥१८३।१९॥
७३	नञ्युक्तं तत्सदृशे ।	॥५७।१६॥
७४	न स्वरानन्तर्ये ।	॥१५५।३०॥



क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
७५	न हि गोघ्ना सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति ॥१३५।२१॥	
७६	नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य० । ॥१०१।३०॥	
	" ॥१०२।२४॥	
७७	नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम् । ॥५३।३३॥	
७८	नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् । ॥३०।३३॥	
	" ॥७१।२८॥	
	" ॥१०२।३३॥	
	" ॥१२३।२१॥	
	" ॥१५१।४४॥	
७९	नामाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य ग्रहणं भवति । ॥१०७।१९॥	
८०	निपातानां द्योतकत्वम् । ॥३।१५॥	
८१	निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा प्रायो दर्शनम् ॥६७।१९॥	
८२	निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यभावः । ॥४३।४४॥	
८३	निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य । ॥४१।१८॥	
	" ॥१५४।१४॥	
८४	निरनुबन्धग्रहणेन सानुबन्धकस्य न भविष्यति । ॥१२५।३६॥	
८५	निरनुबन्धग्रहणे सामान्यस्य । ॥१२।२५॥	
८६	निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम् । ॥४१।२०॥	
	" ॥५५।१८॥	
८७	निर्गुणा गुणाः क्रिया च । ॥१८४।२७॥	
८८	निर्दिश्यमानस्याऽऽदेशा० । ॥९३।१४॥	
८९	निर्दिश्यमानस्याऽऽदेशा भवन्ति । ॥९५।३७॥	
	" ॥२७।११॥	
	" ॥१०७।१९॥	
	" ॥१०८।४६॥	
	" ॥१०९।२४॥	
	" ॥१२५।१८॥	
	" ॥१५०।११॥	
<b>प.</b>		
९०	परत्वात्० । ॥७१।८॥	
९१	(अत्र) 'परत्वान्नित्यत्वाच्च' प्रागेव जरसादेशे कृतेऽकारान्तत्वाभावः । ॥६५।११॥	
९२	परम् । ॥६९।३३॥	
९३	परनित्यान्तरङ्गप्रतिपदविधयो विरोधिसंज्ञिपाते तेषां स्थिः प्रसङ्गे परबलीयस्त्वम् । ॥११३।२९॥	
९४	परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वृत्तिमन्तरेणाऽपि चत्थं गमयत्येव । ॥९४।२२॥	
९५	परान्तरङ्गं बलीयः । ॥११२।२०॥	
९६	परान्नित्यं नित्यादन्तरङ्गमन्तरङ्गाच्चाऽनवकाशं बलीयः । ॥४।७॥	
९७	परेणापीयादेशेनेदुत्कार्यं न बाध्यते । ॥७६।९॥	
	" ॥७६।३७॥	
९८	पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तेः । ॥३।३३॥	
९९	पर्युदासो हि सदग्रही । ॥१२७।१३॥	
१००	पुनः प्रसङ्गविधानात् सिध्यति । ॥९६।२८॥	
१०१	पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पञ्चादुत्सर्गाः । ॥११६।४७॥	
१०२	पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाध्यन्ते नोत्तरान् । ॥१२८।२३॥	

क्र०	गद्यपद्यन्या०	पृ० प०
१०३	प्रकल्प्य चाऽपवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते । ॥११६।४७॥	
१०४	प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते । ॥१६८।५॥	
	" ॥१६८।२४॥	
१०५	प्रत्ययपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न देववत् ॥१८२।४१॥	
१०६	प्रत्ययमन्तरेणाऽप्येतेऽप्यर्थे स्नाध्वः । ॥१७७।४७॥	
१०७	प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव । ॥६३।१७॥	
१०८	प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव अर्हणं । ॥१६।३३॥	
	" ॥६४।२६॥	
१०९	प्रत्यासत्तिन्यायात् । ॥५६।२८॥	
११०	प्रत्यासत्तेः । ॥५६।७॥	
१११	प्रधानानुयायिनो व्ययहारा भवन्ति । ॥८९।१९॥	
११२	प्रधानाऽप्रधानसन्निधौ प्रधाने वार्यसम्प्रत्ययः । ॥२०४।४१॥	
११३	प्रयुक्तानामन्वाख्यानात् । ॥८९।४२॥	
११४	प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानम् । ॥१०५।३४॥	
११५	प्रयुक्तानामेवाऽन्वाख्यानानात् । ॥९०।३३॥	
<b>व.</b>		
११६	बहिरङ्गाऽपि लुवन्तरङ्गान् विधीन् बाध्यते ॥११३।५॥	
<b>भ.</b>		
११७	भूतपूर्वगत्या । ॥४०।२६॥	
११८	भूयसि प्राग्वचनं कर्तव्यम् । ॥९७।४१॥	
११९	भावकर्मकर्तारो विकरणार्थाः । ॥१८१।४२॥	
<b>य.</b>		
१२०	यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्वाच्यते । ॥१३६।२९॥	
१२१	यत्राऽन्यत्क्रियापदं न श्रूयते तत्राऽस्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते । ॥१७७।६॥	
१२२	यथालक्षणमप्रयुक्ते । ॥९०।३०॥	
	" ॥१२५।३३॥	
	" ॥१४३।२६॥	
	" ॥१४५।४४॥	
१२३	यस्माद्यस्य विधानं तेन तस्याऽन्तत्वव्याघातः । ॥१३३।३५॥	
१२४	यस्मिन् सति यद्भवति तत्तस्य निमित्तम् ॥३५।२५॥	
	" ॥३६।२७॥	
१२५	यस्मिन् प्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति । ॥२९।१६॥	
१२६	यस्य तु लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् । ॥९१।४३॥	
१२७	यस्यैकत्वाद्दयो विभक्त्यर्थाः । ॥१८२।३०॥	
१२८	येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तं प्रत्युपसर्गसंज्ञाः । ॥२।१४॥	
१२९	येन नाऽप्राप्तेः । ॥१३६।३३॥	
	" ॥१८०।४६॥	
१३०	येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि । ॥१९०।२९॥	
१३१	येन नाऽव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात् । ॥४५।१८॥	
	" ॥१४०।१९॥	
<b>र.</b>		
१३२	रूपं रूपवदर्थोऽप्यङ्गीक्रियते । ॥१००।१६॥	

क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०	क्र०	गद्यपद्यन्या० ।	पृ० प०
	ल.				
१३३	लक्षणपरिभाषया ।	॥३९।२५॥	१६३	सन्निपातलक्षणन्यायस्याऽनित्यत्वात् ।	॥९५।१६॥
१३४	लक्षणप्रतिपदोक्त० ।	॥३४।२६॥	१६४	सन्निपातलक्षणविधिरनिमित्तम् ।	॥९२।२०॥
	"	॥१२।२९॥	१६५	सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य ।	॥६४।२०॥
१३५	लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया ।	॥३६।४५॥		"	॥६४।४४॥
	"	॥१३।७।३५॥		"	॥४६।३८॥
१३६	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः० ।	॥१०३।१०॥	१६६	सन्निपातपरिभाषया ।	॥९७।१८॥
१३७	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ।	॥४४।४३॥	१६७	सन्नियोगशिष्टानामेकापायेऽन्यतरस्या- ऽप्यपायः ।	॥८९।३०॥
	"	॥७३।३४॥	१६८	सन्निहितपरित्यागे व्यवहितपरिग्रहे कारणाभावादनन्तर एव गृह्यते ।	॥१५०।४४॥
१३८	लक्षणान्तरप्रवृत्तिनिमित्तमुपसंहरलक्षणं बलवद्भवति ।	॥९२।४६॥	१६९	समासकृच्छ्रितेषु सम्बन्धाभिधानम् ।	॥२०३।२४॥
१३९	लक्ष्यसिद्धयर्थं चेह क्वचित्किञ्चिदर्शन- माश्रीयते ।	॥८४।४०॥	१७०	समासान्तविधेरनित्यत्वात् ।	॥१०४।७॥
१४०	लोपात् खरादेशः ।	॥११३।१९॥	१७१	सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधि- करण्यमन्याय्यम् ।	॥१२।३८॥
	व.		१७२	सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति	॥४४।२४॥
१४१	वचनप्रामाण्यादनर्थकस्यापि ग्रहणं भवति	॥८४।३७॥	१७३	सर्वत्र बहुवचनमधिकार्यम् ।	॥१७९।१६॥
१४२	यत्पदघटितमतिदेशशास्त्रम् ।	॥२३।४१॥	१७४	सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्वलवान् ।	॥९२।४९॥
१४३	वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ।	॥६।२९॥	१७५	सविशेषणौ हि विधिनिषेधौ विशेषणेन सम्बध्यते ।	॥२२।३८॥
	"	॥२६।२१॥	१७६	सहचरिताऽसहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ।	॥२२।२५॥
१४४	वाक्येषु वाक्यैकदेशा वर्तन्ते पदेषु च पदैकदेशाः ।	॥१९४।२९॥	१७७	साधुशब्दा एवाऽर्थवन्तः ।	॥१६।२७॥
१४५	वाणान् प्राकृतं बलीयः ।	॥१२५।३७॥	१७८	सामान्याभिधानेऽपि तदन्यद्विशेष्यमेव विज्ञायते, विशेष्यादन्यत्र लिङ्गभावात् ।	॥९४।१७॥
	"	॥१५४।३२॥	१७९	साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः ।	॥६४।३६॥
१४६	वाणो विधिः ।	॥५५।४१॥	१८०	सिद्धे सत्यारम्भ० ।	॥१६३।३४॥
१४७	विशेषेण सामान्यं बाध्यते न सामान्येन विशेषः ।	॥५६।४१॥	१८१	सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ।	॥४५।१९॥
१४८	व्यपदेशिवद्भावोऽनाम्ना ।	॥९५।१२॥		"	॥६५।२८॥
१४९	व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् ।	॥९७।४१॥	१८२	सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय ।	॥५९।४७॥
	श.		१८३	सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय भवति ।	॥१२।२०॥
१५०	शब्दार्थानुकरणे हि प्रकृतिवदनुकरणम्	॥५६।३५॥	१८४	सोपपदाद्विच्चु नेष्यते ।	॥१३।४१॥
१५१	श्रुतानुमितयोश्च श्रौतो विधिर्वलीयान् ।	॥८५।३७॥	१८५	स्थान्यासन्नः ।	॥२९।२६॥
	स.		१८६	स्पर्धे परम् ।	॥१३।१५॥
१५२	सकृद्गति० ।	॥९६।१५॥		"	॥१५७।३५॥
१५३	सकृद्गते० ।	॥११।२११॥	१८७	स्वरस्य ह्रस्वदीर्घभृताः ।	॥६४।२३॥
१५४	सकृद्गते स्पर्धे यद्वाधितं तद्वाधितमेव ।	॥११।१५॥		"	॥१०२।१३॥
१५५	सकृद्गते विप्रतिषेधे यद्वाधितं तद्वाधि०	॥९५।३८॥		"	॥१०२।३४॥
१५६	संख्याकर्मादयो विभक्तिवाच्याः स्त्रियां वाऽभिधेयाया स्त्रीप्रत्ययः ।	॥१७७।४१॥		"	॥१५१।३॥
१५७	संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ।	॥४७।४५॥	१८८	स्वरस्य ह्रस्वदीर्घभृता इति परिभाषानुप- स्थानात् ।	॥६४।२३॥
१५८	संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्० ।	॥११।३७॥	१८९	स्वं रूपं० ।	॥७०।६॥
१५९	सन्निपात० ।	॥९३।१९॥	१९०	स्वाङ्गमव्यवधायकम् ।	॥४३।४४॥
	"	॥९३।२२॥	१९१	स्वार्थिकप्रत्यया नाऽतिवर्तन्ते प्रकृति- लिङ्गवचनानि ।	॥१८।३६॥
१६०	सन्निपातलक्षण० ।	॥६५।१२॥	१९२	स्वार्थिकाश्च प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्ति ।	॥६७।१३॥
	"	॥७४।११॥		ह	
१६१	सन्निपातलक्षणत्वात् ।	॥९।११॥	१९३	ह्रस्वदीर्घभृताः खराणां स्थाने भवन्ति ।	॥१०२।३८॥
१६२	सन्निपातलक्षणन्यायस्याऽनित्यत्वज्ञापनार्थम्	॥६४।९॥			

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारकसनायीकृते प्रथमविभागे सूत्रस्थपदानां बहुवचनं किमर्थम् ? , तथैवेत्संज्ञिकाऽकाराऽऽकारककारतकारदकारपकारडकाराद्यक्षराणां निवेशनं च किमर्थम् ? ; इत्यादि शङ्कानिरासनार्थमकाराद्यनुक्रमेण समाधानानि फलप्रदर्शनानि च ।

क्र०	समा० फल०	पृ० प०	क्र०	समा० फल०	पृ० प०
<b>अ.</b>			<b>ऐ.</b>		
१	अकार उच्चारणार्थः ।	॥८२।११॥	२३	(सन्ध्यक्षरैरिति) ऐत्वनिर्देशादुपसर्ग- स्येति निवृत्तम् ।	॥२९।८॥
"	"	॥८२।४२॥	२४	(एसादेशेनैव सिद्धे) ऐस्करणं सन्निपात- लक्षणन्यायस्याऽनित्यत्वज्ञापनार्थम् ।	॥६४।८॥
"	"	॥९२।६॥	<b>ओ.</b>		
"	"	॥११४।१६॥	२५	ओकारापवादो योगः ।	॥२९।११॥
"	"	॥११४।१९॥	<b>क</b>		
२	अकारककारपकारा उच्चारणार्थाः ।	॥८।२॥	२६	(कसो.) ककारो 'वसं' निवासे, 'वसिक्' आच्छादने, अनयोर्व्युदासार्थः ।	॥१३६।२१॥
३	अकारादिकरणं-आत्ववाधनार्थम् ।	॥११५।६॥	२७	कश्चिदित्येकवचननिर्देशोऽवद्यार्थ इति ।	॥७८।१८॥
४	अकारौ-उच्चारणार्थौ ।	॥६।१२॥	<b>च</b>		
५	अन्तग्रहणं-पूर्वसूत्रे तदन्तप्रतिषेधार्थम् ।	॥११।११॥	२८	चकार उत्तरत्र विकल्पानुवृत्त्यर्थः ।	॥८०।३॥
६	अभेदनिर्देशश्चतुर्थ्येकवचनशङ्कानिरासनार्थः ।	॥७७।१०॥	२९	चकारेण भ्यसोऽनुकर्षणेऽपि डसेर्भ्य- सश्चैकवचनान्तनिर्देशेन द्विवचना- न्तनिर्दिष्टाभ्या युष्मदसद्भ्यां सह वैषम्याद्यथासंख्याभाव इत्याह-	॥११५।३०॥
७	अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः ।	॥१२३।७॥	३०	चित्करणं स्वरूपपरिग्रहार्थम् ।	॥३७।९॥
८	अर्थग्रहणं पर्यायार्थम् ।	॥२१४।१६॥	<b>ड.</b>		
९	असर्वाद्यर्थमिदम् ।	॥२१५।१०॥	३१	डकारो डित्कार्यार्थः ।	॥७४।४५॥
<b>आ.</b>			३२	डकारो 'डित्यन्त्यस्वरादे.' इति विशेषणा॥	॥८३।३९॥
१०	(आकमिति) आकारोप्यन्तार्थम् ।	॥११५।१५॥	"	"	॥१०२।२९॥
११	आदिपदान्त-नामधातुतद्धितवृत्तिग्रहणम् ।	॥१३।१८॥	३३	डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ।	॥७७।१०॥
१२	(अत्र) आदिशब्दात् स्थान्यादेशप्रकृतिवि- कृतिनिमित्तनिमित्तिभावादिपरिग्रहः ।	॥३।४०॥	३४	डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ।	॥१२५।८॥
१३	आदिशब्दादर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निध्या- दिपरिग्रहः ।	॥२०७।२४॥	<b>त.</b>		
१४	आदिशब्दादिवर्णवर्णादिपरिग्रहः ।	॥४।४९॥	३५	तकारः स्वरूपग्रहणार्थः ।	॥८२।४१॥
१५	(अत्र) आदिशब्देन-सदसदात्मकत्वाभि- लाप्यानभिलाप्यत्वसामान्यविशेषात्म- कत्वगुणपर्यायाणां ग्रहणम् ।	॥३।३१॥	३६	तृतीयाऽपवादः ।	॥२०५।२॥
१६	आधारवाधनार्थं तु वचनम् ।	॥१६८।१२॥	३७	तृतीयाऽपवादो योगः ।	॥२०२।७॥
<b>इ.</b>			"	"	॥२११।१४॥
१७	इकार उच्चारणार्थः ।	॥८०।१७॥	३८	तकार उच्चारणार्थः ।	॥५।६॥
<b>उ.</b>			"	"	॥२५।१४॥
१८	(अपादानत्वेनैव सिद्धे) उपयोग एव यथा स्यादित्येवमर्थं वचनम् ।	॥१९८।८॥	"	"	॥१२२।३८॥
<b>ए.</b>			३९	तकार-श्रुतिसुखार्थः ।	॥९१।४२॥
१९	एकद्विवहागिति संख्यामात्रमुपादाय नाम्नः प्रधानाद्ग्रधानाच्च सामान्येन प्रथमा विधीयते, तत्राऽयं पृष्टीविधि- गौणादिति विशेषमुपादाय प्रवर्तमान- स्तदपवादो भवति ।	॥२०३।३७॥	४०	तृज्वचनं तृस्त्रादिसूत्रेणाऽऽर्यम् ।	॥१०५।४॥
२०	एवकारस्तु-‘अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति’ मतान्तरव्यवच्छेदार्थः ।	॥१६०।२९॥	<b>द</b>		
२१	एवकारादतिजर इत्यस्य व्यवच्छेदः ।	॥९३।१९॥	४१	दकारो 'दित्यदिति' ॥१।४।२३॥ इति विशेषे०	॥७९।१॥
२२	एवकारात् प्रियतिसृ इत्यस्य व्यवच्छेदः ।	॥९३।३५॥	४२	द्वितीयाऽपवादः ।	॥२०४।२॥
			४३	द्वितीयाऽपवादो योगः ।	॥१८५।१३॥
			४४	द्विवचनमन्यत्राऽनुनासिकस्याऽपि स्थानेऽननुनासिकार्थम् ।	॥६३।८॥

क्र०	समा० फल०	पृ० प०
	<b>प.</b>	
४५	पञ्चमीवाधनार्थं वचनम् ।	॥२१३४॥
४६	पञ्चम्यपवादो योगः ।	॥२०३११॥
४७	पृथग्योग उत्तरार्थः ।	॥१२९।२॥
४८	(खैरशब्दान्मत्वर्थयिनैव इना सिद्धे) पृथक् खैरिन्ग्रहणं ताच्छीलिकादि- णिन्नन्तेऽपीरिन्शब्दे ऐत्वार्थम् ।	॥३०।४॥
	<b>ब.</b>	
४९	बहुवचनात्-अन्येनाऽपि युक्ताद् भवति ।	॥१७९।१॥
५०	बहुवचनं-असन्देहार्थम् ।	॥१९७।२१॥
५१	बहुवचनं-आकृतिगणार्थम् ।	॥१८।४६॥
	"	॥२०।७॥
	"	॥६०।१४॥
	"	॥१४९।११॥
	"	॥१९५।१३॥
५२	( भुटामिति ) बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थम् ॥	१७।१॥
५३	बहुवचनं-सुतसंग्रहार्थम् ।	॥६।४॥
५४	बहुवचनं (पुरुद्विवहाविति) यथासंख्य- निवृत्त्यर्थम् ।	॥१७९।६॥
	"	॥१८९।८॥
५५	बहुवचनं(तु)एकद्विवहाविति यथासंख्या- भावार्थम् ।	॥१९९।६॥
५६	(अत्राऽपि) बहुवचनं-यथासंख्या- भावार्थम् ।	॥१८०।३॥
	"	॥१९९।६॥
५७	बहुवचनं-लाघवार्थम् ।	॥२००।३०॥
५८	(स्नामिति) बहुवचनं वर्णान्तरवाधनार्थम् ॥	५४।१॥
५९	बहुवचनं-वर्णेष्वपठितयोरपि क्लृप्प्रयोर्वर्ण- त्वार्थम् ।	॥८।३॥
६०	बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपल- क्षितानां घृतानां संग्रहार्थम् ।	॥५।७॥

क्र०	समा० फल०	पृ० प०
६१	बहुवचनं व्याप्त्यर्थम् ।	॥२५।६॥
	"	॥५०।१०॥
	"	॥८२।५॥
६२	बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थत्वाद् ध्रुत्पर इति निवृत्तौ ॥	४३।४॥
६३	बहुवचनं समस्तव्यस्तविपर्यस्तसंग्रहार्थम् ॥	१६।१३॥
६४	बहुवचनं-सर्ववर्णानामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् ॥	७।१२॥
६५	बहुवचनं-सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् ।	॥७।१७॥
६६	बहुवचनं-स्याधादेशानामपि प्रथमादि- संज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् ।	॥११।४॥
	<b>ख.</b>	
६७	योगविभाग उत्तरार्थः ।	॥१२२।११॥
	<b>ब.</b>	
६८	वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।	॥८२।१२॥
	"	॥१६७।३॥
६९	वचनसाम्यं यथासंख्यार्थम् ।	॥१९९।६॥
७०	(नवाधिकारे) वाग्रहणमुत्तरत्र विकल्प- निवृत्त्यर्थम् ।	॥४१।१०॥
७१	(तुम इति) व्यस्तनिर्देश उत्तरार्थः ।	॥१९४।४॥
	<b>श.</b>	
७२	शकारः 'शौ वा' धारा९५ इत्यादौ विशेषः ॥	१९।७॥
	<b>ष.</b>	
७३	षष्ठीवाधनार्थो योगः ।	॥२१०।६६॥
७४	षष्ठ्यपवादो योगः ।	॥१९३।७॥
	<b>स.</b>	
७५	(बहुगणौ न नियतावधिभेदाभिधायका- विति) संख्याप्रसिद्धेरभावाद् वचनम् ।	॥२।३॥
७६	(इह च) स्तोकादीनामसत्त्ववाचित्वाद्वित्व- बहुत्वासम्भवे एकवचनमेव ।	॥२०१।६६॥
७७	सप्तम्यर्थं वचनम् ।	॥२०९।३॥
७८	(रस्याऽधिकारेणैव सिद्धे) सविधानं स्त्ववाधनार्थम् ।	॥४३।८॥



असिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारक-सनाथीकृते प्रथमविभागे साधनिकाव्यवसरे सूत्रवृत्तिस्थशब्दप्रयोगाणां सिद्ध्यर्थं गृहीतान्यकाराद्यनुक्रमेण धातूनामेकोत्तराणि त्रीणि शतानि ।

क्र०	धातव ।	पृ० प०	क्र०	धातव ।	पृ० प०
	<b>अ.</b>				
१	अक्-कुटिलाया गतौ ।	॥८६।३४॥	२५	इङ्क्-अध्ययने ।	॥१२७।३७॥
२	अक्षौ-व्याप्तौ च ।	॥१४४।२३॥		"	॥१५४।२५॥
३	अगु-गतौ ।	॥१०४।३१॥		"	॥२०६।४१॥
४	अघण्-पापकरणे ।	॥४७।३१॥	२६	इण्क्-गतौ ।	॥७०।३३॥
५	अञ्ज-गतौ च ।	॥१३७।१७॥		"	॥७०।४३॥
६	अट्टि-हिंसायाम् ।	॥६२।१४॥		"	॥१२८।२०॥
७	अत-सातत्यगमने ।	॥६४।१६॥	२७	इदु-परमैश्वर्ये ।	॥१४९।१७॥
८	अदक्-भक्षणे ।	॥७०।४२॥	२८	इलण्-प्रेरणे ।	॥३१।२६॥
	"	॥१५३।३०॥	२९	इपत्-इच्छायाम् ।	॥१४२।३६॥
	"	॥१५४।२३॥			
९	अदृद्-हिंसातिक्रमयोः ।	॥१४४।८॥	३०	ईडिक्-स्तुतौ ।	॥६२।१६॥
१०	अदृह्-अभियोगे ।	॥६२।१४॥	३१	ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थे ।	॥१७१।४४॥
	"	॥१४४।८॥	३२	ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थे ।	॥१७१।४४॥
११	अनक्-प्राणने ।	॥७०।३२॥	३३	ईशिक्-पेश्वर्ये ।	॥१६५।२१॥
	"	॥७०।४०॥		"	॥२०८।४१॥
१२	अम-गतौ ।	॥८६।३३॥	३४	ईपत्-इच्छायाम् ।	॥५०।३४॥
१३	अमण्-रोगे ।	॥१६५।४४॥			
१४	अयि-गतौ ।	॥७१।३४॥			
	"	॥१४०।४०॥	३५	उच्छैत्-विवासे ।	॥१४३।१७॥
१५	अर्थणि-उपयाचने ।	॥१५९।१८॥			॥१४३।३४॥
	"	॥१९२।२४॥	३६	उन्द्रेप्-हृदने ।	॥१४९।३८॥
१६	अली-भूषणादौ ।	॥८६।३५॥	३७	उम्भत्-पूरणे ।	॥७०।३१॥
१७	अव-रक्षणादौ ।	॥७०।३७॥		"	॥७०।४४॥
१८	अशाश्-भोजने ।	॥६२।३६॥	३८	उर्दि-मानकीडयोश्च ।	॥१३३।२०॥
	"	॥१६२।२६॥			
१९	अशौटि-व्याप्तौ ।	॥६२।३६॥	३९	ऊर्जण्-वलप्राणनयोः ।	॥१४५।३७॥
	"	॥१५३।१४॥	४०	ऊर्णुगक्-आच्छादने ।	॥५१।१९॥
२०	असृञ्-क्षेपणे ।	॥७०।४६॥			
	"	॥८४।२२॥	४१	ऋक्-गतौ ।	॥९९।४०॥
२१	अहुङ्-गतौ ।	॥१४७।३३॥		"	॥१४८।३९॥
	"	॥१५३।२०॥	४२	ऋधुद्-वृद्धौ ।	॥२८।३७॥
			४३	ऋषैत्-गतौ ।	॥१४७।३४॥
	<b>आ.</b>				
२२	आप्ठद्-व्याप्तौ ।	॥१२८।३९॥			
२३	आसिक्-उपवेशने ।	॥१४०।३१॥			
	"	॥१५३।३०॥	४४	एजृह्-दीप्तौ ।	॥१४३।८॥
	"	॥१६८।३०॥			
	"	॥२०५।२०॥	४५	ओलस्जैति-व्रीडायाम् ।	॥१३२।२७॥
					॥१४४।१७॥
२४	इक्-स्मरणे ।	॥१२७।४०॥	४६	ओवञ्चौत्-हृदने ।	॥६२।२८॥
	"	॥१६५।२०॥		"	॥१४३।२०॥

क्र०	समा० फल०	पृ० प०	क्र०	समा० फल०	पृ० प०
	<b>प.</b>				
४५	पञ्चमीवाधनार्थं वचनम् ।	॥२१३।४॥	६१	बहुवचनं व्यास्यर्थम् ।	॥२।५६॥
४६	पञ्चम्यपवादो योगः ।	॥२०३।११॥	”	”	॥५०।१०॥
४७	पृथग्योग उत्तरार्थः ।	॥१२९।२॥	”	”	॥८२।५॥
४८	(खैरशब्दान्मत्वर्थीयेनैव इना सिद्धे) पृथक् खैरिन्ग्रहणं ताच्छीलिकादि- णिन्नन्तेऽपीरिन्ग्रहणे त्वार्थम् ।	॥३०।४॥	६२	बहुवचनस्य व्यास्यर्थत्वाद् 'धुद्रपर इति निवृ०॥४३।४॥	॥४३।४॥
	<b>च</b>		६३	बहुवचनं समस्तव्यस्तविपर्यस्तसंग्रहार्थम् ॥१६६।१३॥	॥१६६।१३॥
४९	बहुवचनात्-अन्येनाऽपि युक्ताद् भवति ।	॥१७९।१॥	६४	बहुवचनं-सर्ववर्गाणामाद्यद्वितीयपरिग्रहार्थम् ॥७।१२॥	॥७।१२॥
५०	बहुवचनं-असन्देहार्थम् ।	॥१९७।२१॥	६५	बहुवचनं-सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम् ।	॥७।१७॥
५१	बहुवचनं-आकृतिगणार्थम् ।	॥१८।४६॥	६६	बहुवचनं-स्याद्यादेशानामपि प्रथमादि- सप्ताप्रतिपत्त्यर्थम् ।	॥११।२॥
”	”	॥२०।७॥		<b>य.</b>	
”	”	॥६०।१४॥	६७	योगविभाग उत्तरार्थः ।	॥१२२।११॥
”	”	॥१४९।१॥		<b>व.</b>	
”	”	॥१९५।१३॥	६८	वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।	॥८२।१२॥
५२ ( धुटासिति ) बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थम् ॥९७।१॥	॥९७।१॥	६९	वचनसाम्यं यथासंख्यार्थम् ।	॥१६७।३॥	
५३ बहुवचनं-सुतसंग्रहार्थम् ।	॥६।४॥	७०	(नवाधिफारे) चाग्रहणमुत्तरत्र विकल्प- निवृत्त्यर्थम् ।	॥४१।१०॥	
५४ बहुवचनं (पुरुद्विवहाविति) यथासंख्य- निवृत्त्यर्थम् ।	॥१७९।६॥	७१ (तुम इति) व्यस्तनिर्देश उत्तरार्थः ।	॥१९४।४॥		
”	”	॥१८९।८॥		<b>श.</b>	
५५ बहुवचनं(तु)एकद्विवहाविति यथासंख्या- भावार्थम् ।	॥१९१।६॥	७२ शकारः 'शौ वा' धारा९५ इत्यादौ विशेषण ॥९१।७॥			
५६ (अत्राऽपि) बहुवचनं-यथासंख्या- भावार्थम् ।	॥१८०।३॥		<b>ष.</b>		
”	॥१९१।६॥	७३ पृष्ठीवाधनार्थो योगः ।	॥२१०।६६॥		
५७ बहुवचनं-लाघवार्थम् ।	॥२००।३०॥	७४ पष्ठपवादो योगः ।	॥१९३।७॥		
५८ (ज्ञासिति) बहुवचनं वर्णान्तरवाधनार्थम् ॥ ५४।१ ॥	॥ ५४।१ ॥		<b>स</b>		
५९ बहुवचनं-वर्णेष्वपठितयोरपि क्लृप्त्तयोर्वर्ण- त्वार्थम् ।	॥८।३॥	७५ (बहुगणौ न नियतावधिभेदाभिधायका- विति) संख्याप्रसिद्धेरभावाद्बचनम् ।	॥२४।३॥		
६० बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपल- क्षितानां सुतानां संग्रहार्थम् ।	॥५।७॥	७६ (इह च) स्तोकादीनामसत्त्ववाचित्वाद्द्वित्व बहुत्वासम्भवे एकवचनमेव ।	॥२०१।१६॥		
		७७ सप्तम्यर्थं वचनम् ।	॥२०९।३॥		
		७८ (रस्याऽधिकारेणैव सिद्धे) सविधानं स्त्ववाधनार्थम् ।	॥४३।८॥		



अस्मिन्नेव शब्दानुशासने संज्ञा-सन्धि-नाम-कारक-सनाधीकृते प्रथमविभागे साधनिकाद्यवसरे सूत्रवृत्तिस्थशब्दप्रयोगाणां सिद्धयर्थं गृहीतान्यकाराद्यनुक्रमेण धातूनामेकोत्तराणि त्रीणि शतानि ।

क्र०	धातव ।	पृ० प०	क्र०	धातव ।	पृ० प०
	<b>अ.</b>				
१	अक्-कुटिलायां गतौ ।	॥८६३४॥	२५	इङ्क्-अध्ययने ।	॥१२७३७॥
२	अक्षौ-व्याप्तौ च ।	॥१४४२३॥		"	॥१५४२५॥
३	अगु-गतौ ।	॥१०४३१॥		"	॥२०६१४१॥
४	अघण्-पापकरणे ।	॥४७३१॥	२६	इण्क्-गतौ ।	॥७०३३॥
५	अञ्जु-गतौ च ।	॥१३७१७॥		"	॥७०४३॥
६	अट्टि-हिसायाम् ।	॥६२१४॥		"	॥१२८१२०॥
७	अत-सातत्यगमने ।	॥६४१६॥	२७	इदु-परमैश्वर्ये ।	॥१९६१८॥
८	अदंक्-भक्षणे ।	॥७०४२॥	२८	इलण्-प्रेरणे ।	॥३१२६॥
	"	॥१५३३०॥	२९	इपत्-इच्छायाम् ।	॥१४२३६॥
	"	॥१५४२३॥		<b>ई.</b>	
९	अद्द्-हिंसातिक्रमयोः ।	॥१४४८॥	३०	ईडिक्-स्तुतौ ।	॥६२१६॥
१०	अद्द्-अभियोगे ।	॥६२१४॥	३१	ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थे ।	॥१७१४४॥
	"	॥१४४८॥	३२	ईर्ष्य-ईर्ष्यार्थे ।	॥१७१४४॥
११	अनक्-प्राणने ।	॥७०३२॥	३३	ईशिक्-ऐश्वर्ये ।	॥१६५२१॥
	"	॥७०४०॥		"	॥२०८४१॥
१२	अम-गतौ ।	॥८६३३॥	३४	ईपत्-इच्छायाम् ।	॥५०३३॥
१३	अमण्-रोगे ।	॥१६५१४॥		<b>उ.</b>	
१४	अयि-गतौ ।	॥७१३४॥	३५	उच्छैत्-विवासे ।	॥१४३१७॥
	"	॥१४०४०॥		"	॥१४३३४॥
१५	अर्थणि-उपयाचने ।	॥१५९१८॥	३६	उन्दैप्-क्लेदने ।	॥१४९३८॥
	"	॥१९२२४॥	३७	उम्भत्-पूरणे ।	॥७०३३॥
१६	अली-भूषणादौ ।	॥८६३५॥		"	॥७०४४॥
१७	अव-रक्षणादौ ।	॥७०३७॥	३८	उर्दि-मानकीडयोश्च ।	॥१३३२०॥
१८	अशाश्-भोजने ।	॥६२३६॥		<b>ऊ.</b>	
	"	॥१६२२६॥	३९	ऊर्जण-बलप्राणनयोः ।	॥१४५३७॥
१९	अशौटि-व्याप्तौ ।	॥६२३६॥	४०	ऊर्णुगक्-आच्छादने ।	॥५११९॥
	"	॥१५३१४॥		<b>ऋ.</b>	
२०	असृच्-क्षेपणे ।	॥७०४६॥	४१	ऋक्-गतौ ।	॥२९४०॥
	"	॥८४२२॥		"	॥१४८३९॥
२१	अहुङ्-गतौ ।	॥१४७३३॥	४२	ऋधुद्-वृद्धौ ।	॥२८३७॥
	"	॥१५३२०॥	४३	ऋवैत्-गतौ ।	॥१४७३४॥
	<b>आ.</b>			<b>ए.</b>	
२२	आप्लुद्-व्याप्तौ ।	॥१२८३९॥	४४	एजृह्-दीप्तौ ।	॥१४३८॥
२३	आसिक्-उपवेशने ।	॥१४०३१॥		<b>ओ.</b>	
	"	॥१५३३०॥	४५	ओलस्जैति-व्रीडायाम् ।	॥१३२२७॥
	"	॥१६८३०॥		"	॥१४४१७॥
	"	॥२०५२०॥	४६	ओम्रञ्चैत्-छेदने ।	॥६२२८॥
२४	इक्-स्मरणे ।	॥१२७४०॥		"	॥१४३२०॥
	"	॥१६५२०॥			

क्र०	धातवः । क.	पृ० प०	क्र०	धातव । च.	पृ० प०
४७	कटु-गतौ ।	॥१५९।१३॥	८१	चक्षिक्-व्यकायां वाचि ।	॥२३।२७॥
४८	कटुङ्-शोके ।	॥१६५।२१॥	"	"	॥५९।४५॥
४९	कपुङ्-चलने ।	॥१४७।३३॥	८२	चिगद्-चयने ।	॥१४४।२४॥
५०	कील-यन्वे ।	॥७४।३८॥	"	"	॥२३।१८॥
५१	कुङ्क-शब्दे ।	॥१८७।४३॥	८३	"	॥१५९।२०॥
५२	कुङ्-शब्दे ।	॥७०।४७॥	८४	सुदण्-संचोदने ।	॥१५९।१९॥
५३	कुरत्-शब्दे ।	॥१३४।४४॥	८५	सुरण्-स्तेये ।	॥१५४।३८॥
	"	॥१३५।१॥	"	"	॥१६५।४०॥
५४	कुर्दि-क्रीडायाम् ।	॥१३३।२०॥	"	"	॥१७३।१६॥
५५	कुशच्-श्लेषणे ।	॥१९६।२०॥			
५६	कुङ्गद्-हिंसायाम् ।	॥१६३।४५॥			
५७	कूपौङ्-सामर्थ्ये ।	॥१९१।४३॥			
५८	कृपं-विलेखने ।	॥१५९।२५॥			
५९	कृपीत्-विलेखने ।	॥५४।१६॥			
६०	कृत्-विक्षेपे ।	॥१३३।३२॥			
	"	॥१३४।२९॥			
	"	॥१६३।४५॥			
६१	कमू-पादविक्षेपे ।	॥४४।३१॥	९०	जनैचि-प्रादुर्भावे ।	॥१९१।४४॥
	"	॥५४।१८॥	९१	जमुद्-गात्रविनामे ।	॥१३९।१९॥
६२	कुञ्च-गतौ ।	॥१३७।१९॥	९२	जसण्-ताडने ।	॥१६६।५॥
६३	कुर्धच्-कोपे ।	॥१३९।१८॥	९३	जसण्-हिंसायाम् ।	॥१६६।५॥
	"	॥१७१।४३॥	९४	जसृच्-मोक्षणे ।	॥६४।३१॥
६४	कुशं-आह्वानरोदनयोः ।	॥१०५।१७॥	"	"	॥१६६।६॥
६५	कूमूच्-ग्लानौ ।	॥१३५।२९॥	"	"	॥१६६।२३॥
६६	क्षद-खदने ।	॥८४।२५॥	९५	जि-अभिभवे ।	॥४८।१९॥
६७	क्षर-संचलने ।	॥१५९।१७॥	९६	जि-जये ।	॥१५९।२४॥
६८	क्षित्-निवासगत्योः ।	॥१९६।१९॥	"	"	॥२०६।३१॥
६९	क्षिपीत्-प्रेरणे ।	॥२०६।३२॥	९७	जीव-प्राणधारणे ।	॥१३६।४०॥
७०	क्षै-क्षये ।	॥१३२।१४॥	९८	जुपैति-प्रीतिसेवनयोः ।	॥१३४।१५॥
			९९	जृप्-वयोहानौ ।	॥१०८।३६॥
			१००	ज्ञाश्-अवबोधने ।	॥१६२।१९॥
			"	"	॥१८९।३९॥
७१	गम्लं-गतौ ।	॥५३।४२॥			
	"	॥१३५।३१॥			
	"	॥१६१।४३॥	१०१	ज्ञप्-हिंसायाम् ।	॥६१।२८॥
	"	॥१६२।१९॥			
७२	गर्द-शब्दे ।	॥१३८।४६॥	१०२	अितृषच्-पिपासायाम् ।	॥१४२।३५॥
७३	गुर्व-उद्यमे ।	॥१३३।२०॥	१०३	अित्वरिष्-सम्भ्रमे ।	॥७०।३४॥
७४	गुहौम्-संचरणे ।	॥५५।३०॥	"	"	॥१४०।४०॥
	"	॥१३२।३८॥	१०४	निवृषाद्-प्रागल्भ्ये ।	॥१३६।३५॥
	"	॥१३८।३७॥	१०५	निष्वपंक्-शये ।	॥१४२।३५॥
७५	गृध्णूच्-अभिकाङ्क्षायाम् ।	॥१४५।३९॥			
७६	गृत्-निगरणे ।	॥१३४।२७॥			
	"	॥१३४।२९॥	१०६	डुडुं-उपतापे ।	॥२३।२०॥
	"	॥१४४।४४॥	१०७	डुभ्राजि-दीप्तौ ।	॥१४३।२०॥
७७	गृश्र-शब्दे ।	॥५९।४०॥	१०८	डुभ्राजिग्-दीप्तौ ।	॥१४३।१९॥
७८	ग्रहीश्-उपादाने ।	॥१४०।३६॥	१०९	डुमस्जोत्-शुद्धौ ।	॥५८।२७॥
	"	॥१५९।२५॥	"	"	॥६१।३२॥
			"	"	॥१३२।२८॥
			"	"	॥१४२।३७॥
			११०	डुवमू-उद्गिरणे ।	॥४४।३७॥
७९	घृं-सेचने ।	॥१०५।३४॥	१११	दृष-पाने ।	॥१३९।३४॥
८०	घ्रां-गन्धोपादाने ।	॥१६२।२२॥	"	"	॥२०६।३३॥



## घातूनामनुक्रमणिका ।

परि०-११]

क्र०	घातकः ।	पृ० प०	क्र०	घातकः ।	पृ० प०
११२	डीङ्क्-गतौ ।	॥६१।४५॥	१३३	त्वचत्-संवरणे ।	॥१४२।३३॥
११३	डुङ्ग-करणे ।	॥५४।१४॥	१३४	त्यजं-हानौ ।	॥७०।४१॥
"	"	॥८४।१८॥	१३५	त्विर्पा-दीप्तौ ।	॥१४२।३४॥
"	"	॥१४०।२५॥			
"	"	॥१४०।३६॥	१३६	दंशं-दशने ।	॥५४।२९॥
"	"	॥१४५।३२॥	१३७	दक्षि-शैष्ये ।	॥७०।३८॥
"	"	॥१५९।२५॥	१३८	दण्डण-दण्डनिपातने ।	॥१५९।२४॥
"	"	॥२०६।३१॥	१३९	दधि-धारणे ।	॥१३३।३८॥
"	"	॥२०६।३७॥	१४०	दमूच्-उपशमे ।	॥६१।४१॥
"	"	॥२०६।४२॥	"	"	॥१३५।२९॥
११४	डुदांगक्-दाने ।	॥१९०।२३॥	१४१	दधि-दानादौ ।	॥१४९।३५॥
"	"	॥२०७।४२॥	१४२	दरिद्राक्-दुर्गतौ ।	॥१६५।२१॥
११५	डुदांगक्-धारणे च ।	॥१३९।२८॥	१४३	दल-विशरणे ।	॥२११।३९॥
"	"	॥१३९।३४॥	१४४	दहं-भस्मीकरणे ।	॥१४८।४०॥
"	"	॥२०६।३४॥	"	"	॥१४१।२७॥
"	"	॥२०६।४२॥	१४५	दाम्-दाने ।	॥१४१।२८॥
११६	दुपर्वीप्-पाके ।	॥१५३।२७॥	१४६	दाम्-दाने ।	॥१९०।२२॥
"	"	॥१५९।२६॥	१४६	दिवूच्-क्रीडादौ ।	॥१३३।२३॥
"	"	॥१६२।३६॥	"	"	॥१३४।२८॥
"	"	॥२०६।३५॥	"	"	॥१५४।३७॥
११७	डुयाचृग्-याच्ञायाम् ।	॥६१।३०॥	१४७	दिशीत्-मतिसर्जने ।	॥१३६।३५॥
"	"	॥१५९।१८॥	१४८	दीङ्क्-क्षये ।	॥१४०।३९॥
११८	डुलामिष्-प्राप्तौ ।	॥१६२।१९॥	१४९	दुःखण्-तत्क्रियायाम् ।	॥८३।२८॥
"	"		१५०	डुहीक्-क्षरणे ।	॥१३८।२६॥
११९	ढौङ्क्-गतौ ।	॥५५।३१॥	"	"	॥५८।२८॥
"	"		"	"	॥१४१।२७॥
१२०	णट-नृत्तौ ।	॥१६६।७॥	"	"	॥१५९।१७॥
"	"	॥१६६।२४॥	"	"	॥२०४।१९॥
१२१	णमं-प्रह्वत्वे ।	॥८४।२३॥	"	"	॥२११।३०॥
"	"	॥१३५।३४॥	१५१	दृशं-प्रेक्षणे ।	॥५३।२०॥
१२२	णसि-कौटिल्ये ।	॥१४९।३६॥	"	"	॥१३२।३३॥
१२३	णहीन्-बन्धने ।	॥१३६।३६॥	"	"	॥१३६।३५॥
"	"	॥१४२।२२॥	"	"	॥१६२।२०॥
१२४	णीग्-प्रापणे ।	॥८४।२४॥	"	"	॥१६४।२६॥
"	"	॥१४०।३६॥	"	"	॥१३०।२९॥
"	"	॥१५९।२५॥	१५२	दुहु-वृद्धौ ।	॥१४५।४६॥
१२५	तक्षौ-तनूकरणे ।	॥५।३८॥	१५३	दुङ्क्-अभिगमने ।	॥१४५।४६॥
"	"	॥१४४।२२॥	१५४	दुङ्-गतौ ।	॥१४२।१७॥
"	"	॥१५२।२५॥	१५५	दुहौच्-जिघांसायाम् ।	॥१४१।४५॥
१२६	तनूयी-विस्तारे ।	॥७०।४१॥	१५६	दुहौच्-अनुजिघांसायाम् ।	॥१७१।४३॥
"	"	॥१४२।३३॥	१५७	द्विर्पाक्-अप्रीतौ ।	॥२०४।३०॥
"	"	॥१४४।२३॥			
१२७	तन्निण्-कुटुम्बधारणे ।	॥७९।४०॥	१५८	धंसङ्-गतौ च ।	॥३३५।४०॥
१२८	तमूच्-काङ्क्षायाम् ।	॥१३५।२९॥	१५९	घारि-धारणेच्छायाम् ।	॥२०६।४१॥
"	"	॥१४८।४१॥	१६०	धुवै-हिंसायाम् ।	॥५९।४०॥
१२९	तधि-रक्षणे च ।	॥७१।३४॥	१६१	धृङ्-धारणे ।	॥१५४।३८॥
१३०	तिम-तीमच्-आर्द्राभावे ।	॥१२४।२७॥	१६२	धृङ्क्-अवस्थाने ।	॥१९२।३९॥
१३१	तुङ्क्-तोडने ।	॥१३८।४३॥	१६३	ध्यै-चिन्तायाम् ।	॥१६२।२२॥
१३२	तुर्वीक्-व्यथने ।	॥१५४।२०॥	"	"	॥१६५।२१॥

क्र०	धातवः । न.	पृ० प०	क्र०	धातवः ।	पृ० प०
१६४	नटण-भवस्यन्दने ।	॥१६६३॥	१९४	भटुङ्-सुसक्त्याणयोः ।	॥१९५४३॥
१६५	नायृङ्-उपतापादौ । प.	॥१६६४३॥	१९५	भस्-[सौत्रोऽयम्] ।	॥१९५४३॥
१६६	पट-गतौ ।	॥६२३३॥	१९६	भाक्-दीप्तौ ।	॥१९५४३॥
१६७	पठ-व्यकायां वाचि ।	॥१५३१२७॥	"	"	॥१५५१२८॥
१६८	पणि-व्यवहारस्तुत्योः ।	॥१६७२२॥	१९७	भिक्षि-याच्यायाम् ।	॥१६२१२५॥
१६९	पथे-गतौ ।	॥१९१३९॥	१९८	भुजंप-पालनाऽभ्यवहारयोः ।	॥२०६३५॥
१७०	पदिच्-गतौ ।	॥१९१४४॥	"	"	॥२०६३५॥
१७१	"	॥२३३०॥	१९९	भृ-सत्तायाम् ।	॥२३५४२॥
"	पा-पाने ।	॥२०४११८॥	"	"	॥१५५३८॥
"	"	॥२०६३३॥	२००	भ्रमूच्-भनवस्थाने ।	॥७९४२२॥
१७२	पित्-गतौ ।	॥१२२११०॥	२०१	भ्रमू-चलने ।	॥५४१८॥
१७३	पिप्लंप-संचूर्णने ।	॥५४३८॥	२०२	भ्रर्जीत्-पाके ।	॥५८२७॥
"	"	॥१३२३२॥	"	"	॥१४३२०॥
"	"	॥१६६२५॥	२०३	भ्राजि-दीप्तौ ।	॥१४३८॥
१७४	पिसण-हिंसायाम् ।	॥१६६५५॥	२०४	भ्रेजृङ्-दीप्तौ ।	॥१४३८॥
१७५	पीडण-गहने ।	॥१६५४४॥		म.	
१७६	पूङ्-पचने ।	॥२०६३८॥	२०५	मदैच्-हर्षे ।	॥१९५४४॥
१७७	पूप-चूर्णौ ।	॥६१३९॥	२०६	मर्निच्-ज्ञाने ।	॥१९५४८॥
१७८	पृट्-प्रीतौ ।	॥७०३७॥	२०७	मनूयि-वीघने ।	॥५३१८॥
१७९	पृश्-पालनपूरणयोः ।	॥७०३६॥	२०८	मन्यश्-विलोडने ।	॥१९१३९॥
"	"	॥१३३१९॥	"	"	॥१५९१२५॥
"	"	॥१३४२९॥	२०९	मन्न-गतौ ।	॥५७४०॥
"	"	॥१३५४०॥	२१०	महण-पूजायाम् ।	॥५५२८॥
"	"	॥१५२४४॥	"	"	॥८३३३॥
१८०	प्रच्छंव-श्रीप्सायाम् ।	॥१४३३२॥	२११	माक्-माने ।	॥१४९१२२॥
१८१	प्लिहि-गतौ ।	॥१५९१९॥	२१२	माहृक्-मानशब्दयोः ।	॥१९८१४॥
"	"	॥२०३४५॥	२१३	मिहं-सेचने ।	॥५५३०॥
१८२	प्ताक्-भक्षणे ।	॥१५३२०॥	२१४	मुच्छा-मोहसमुच्छ्राययोः ।	॥१३३१६॥
"	"	॥६५१६॥	२१५	मुपश्-स्तेये ।	॥१५९१२५॥
"	"	॥१५४२३॥	२१६	मुहौच्-वैचित्ये ।	॥१५९१२८॥
१८३	बन्धश्-बन्धने ।	॥१४९१६॥	२१७	मृगणि-भन्वेषणे ।	॥१४३१९॥
१८४	वर्हण-हिंसायाम् ।	॥१६६५॥	२१८	मृजौक्-शुद्धौ ।	॥१४५१२८॥
१८५	विडु-भवयवे ।	॥१४९१७॥	"	"	॥१५९१२४॥
१८६	वुधिच्-ज्ञाने ।	॥५८२३॥	२१९	मृवश्-सौदे ।	॥१२७४१॥
"	"	॥१३३३३॥	२२०	स्ले-गात्रविनासे ।	
"	"	॥१६२१८॥		य.	
१८७	बुसुक्षि-भोक्तृमिच्छायाम् ।	॥२०६३२॥	२२१	यर्जी-देवपूजासंगतिकरणदानेषु ।	॥२३१२८॥
१८८	बुसच्-उत्सर्गे ।	॥१९५२६॥	"	"	॥७०४१॥
१८९	बुसपिसजसवर्हण-हिंसायाम् ।	॥१६६५॥	"	"	॥१३२३६॥
१९०	बृंगक्-व्यकायां वाचि ।	॥१५९१२०॥	"	"	॥१४३३९॥
"	"	॥१५९१२३॥	२२२	यम्-उपरसे ।	॥४४३७॥
१९१	भक्षण-अदने ।	॥१५९१२३॥	२२३	याक्-प्रापणे ।	॥६६१४३॥
१९२	भर्जी-सेवायाम् ।	॥४४३६॥	२२४	युजिच्-समाधौ ।	॥९८११॥
१९३	भण-शब्दे ।	॥६२३२॥	२२५	युजिच्-समाधौ ।	॥९८११॥
"	"		"	युजिच्-योने ।	॥९८३१॥
"	"		"	"	॥१३६४५॥
"	"		"	"	॥२१२४२३॥

## घातूनामनुक्रमणिका ।

परि० ११]

क्र०	घातवः ।	पृ० प०	क्र०	घातवः ।	पृ० प०
२२६	युधिच्-सम्प्रहारे ।	॥५८।२३॥	२५६	वीक्-प्रजनकान्त्यसनखादनेषु ।	॥१३५।१४॥
२२७	युधि-सेवायां ।	॥७०।४५॥	२५७	वृप्-सेचने ।	॥६१।४०॥
	र.		२५८	वैग्-तन्तुसन्ताने ।	॥३३।१८॥
२२८	रभुङ्-शन्दे ।	॥५४।१७॥	२५९	व्यधिश्-भयचलनयोः ।	॥१६५।४४॥
२२९	रमि-कीडायाम् ।	॥४४।४६॥	२६०	व्यघञ्-ताडने ।	॥१३५।१६॥
२३०	राजूग्-दीप्तौ ।	॥४५।२४॥	२६१	व्येग्-संवरणे ।	॥१४३।२०॥
	"	॥१४३।२९॥	२६२	व्रज-गतौ ।	॥२१२।३७॥
	"	॥१४३।२०॥		"	
२३१	राषञ्च-वृद्धौ ।	॥१२९।३९॥		श.	
२३२	रि-गतौ ।	॥१२९।१०॥	२६३	शकुङ्-शङ्कायाम् ।	॥५३।४३॥
	"	॥१३५।१४॥		"	॥१४४।३१॥
२३३	रीश्-गतिरेपणयोः ।	॥१३५।१४॥	२६४	शर्पी-भाक्रोशे ।	॥१९३।३२॥
२३४	रुचि-अभिप्रीत्यां च ।	॥१२९।३०॥	२६५	शमूच्-उपशमे ।	॥४४।४६॥
२३५	रुजात्-भङ्गे ।	॥१६५।३८॥		"	॥१३५।२९॥
२३६	रुघृपी-आवरणे ।	॥१५४।२३॥	२६६	शासूक्-अनुशिष्टौ ।	॥८४।२७॥
	"	॥१५९।१९॥		"	॥१३७।२२॥
	ल.			"	॥१५९।२०॥
२३७	लक्षीण-दर्शनाऽङ्कनयोः ।	॥७९।४१॥	२६७	(आल्) शासूकि-इच्छायाम् ।	॥१३४।१४॥
	"	॥१७९।३५॥	२६८	शीङ्क्-स्वप्ने ।	॥१६८।२८॥
२३८	लघुङ्-गतौ ।	॥१५९।१२॥		"	॥१६९।३५॥
२३९	लिखत्-मक्षरविन्यासे ।	॥५८।३०॥		"	॥१७०।४२॥
२४०	लिशत्-गतौ ।	॥१४३।३०॥	२६९	शिप्लृप्-विशेषणे ।	॥५४।३८॥
२४१	लिहीक्-आखादने ।	॥५५।२९॥		"	॥१४४।२५॥
	"	॥१३२।३६॥	२७०	शुधुङ्-शब्दकुत्सायाम् ।	॥४४।४५॥
२४२	लृग्-छेदने ।	॥५५।३४॥	२७१	श्युत्-क्षरणे ।	॥७९।४१॥
	"	॥१४०।३६॥	२७२	थिग्-सेवायाम् ।	॥१२८।३३॥
	"	॥१४०।४०॥		"	॥१६२।२२॥
	व.		२७३	थुंद्-श्रवणे ।	॥१९२।२६॥
२४३	वकुङ्-शङ्कायाम् ।	॥१४४।३२॥		"	॥१९३।३१॥
२४४	वद्-व्यक्तयां वाचि ।	॥८४।२०॥	२७४	श्लाघृङ्-कथने ।	
	"	॥१६४।२७॥		ष.	
	"	॥२०६।३०॥	२७५	थुंग्-अभिषवे ।	॥१५४।२३॥
२४५	वदिण-भाषणे ।	॥१६४।३३॥	२७६	षद्ल-विशरणादौ ।	॥४३।३३॥
२४६	वदुङ्-स्तुत्यभिवादनयोः ।	॥२०६।३३॥	२७७	पस्-वैकुण्ठे ।	॥७०।३५॥
२४७	वध्र-गतौ ।	॥५७।४०॥		"	॥१३३।२३॥
२४८	वलि-संवरणे ।	॥१४०।४०॥	२७८	षिवूच्-ऊतौ ।	॥१३४।२८॥
२४९	वल्मि-भोजने ।	॥५८।३१॥		"	॥१५४।३७॥
२५०	वशक्-कान्ती ।	॥१०१।२१॥	२७९	पौच्-अन्तकर्मणि ।	॥१४४।३१॥
२५१	वसं-निवासे ।	॥१३६।२२॥	२८०	ष्टिम-ष्टीमन्-आर्द्रभावे ।	॥१२४।२७॥
	"	॥१४९।१८॥	२८१	ष्टुक्-स्तुतौ ।	॥१४०।२५॥
	"	॥१६८।३६॥	२८२	ष्टां-गतिनिवृत्तौ ।	॥१६८।२९॥
२५२	वसिक्-आच्छादने ।	॥१३६।२२॥		"	॥१९३।३२॥
	"	॥१४०।३०॥	२८३	ष्णिहौच्-प्रीतौ ।	॥१४६।३५॥
२५३	वहीं-प्रापणे ।	॥१३२।३८॥		"	॥१४१।४५॥
	"	॥१४१।१६॥	२८४	ष्णुहौच्-उद्गिरणे ।	॥१४१।४५॥
	"	॥१५९।२५॥		स.	
	"	॥२०६।३९॥	२८५	सुखदु-खण-तत्क्रियायाम् ।	॥८३।२८॥
२५४	विशत्-प्रवेशने ।	॥७०।३१॥	२८६	सुअण-क्रियावचने ।	॥१८४।२२॥
	"	॥१६९।३४॥	२८७	सुस्य-सुस्यार्थः ।	१७१।४४॥
२५५	विप्लकी-व्याप्तौ ।	॥१५९।१२॥			

# १२ परिशिष्टम् ।

असिन्नेव शब्दानुशासने तत्त्वप्रकाशिकाऽऽनन्दबोधिनीवृत्तिविभूषिते संज्ञा-सन्धि-नाम-कारकसनाथीकृते प्रथमविभागेऽर्थज्ञापनकाले सूत्रवृत्तिस्य शब्दानामर्थज्ञानसौकर्यार्थं बोधनेच्छा-परिपूर्णार्थं च तत्पर्यायवाचकशब्दप्रयोगाणामकाराद्यनुक्रमेण शब्दार्थसंग्रहः ।

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
	अ.				
१	अ'-विणो ! ।	॥३६।१८॥	१६	अचादिरूपत्वात्-उभयस्थानजातत्वे- नाऽचादिरूपत्वं दीर्घस्य तस्मात् ।	॥३६।३५॥
	"	॥३८।३८॥	१७	अजस्रम्-सातत्ये ।	॥१८।४७॥
२	अ-सम्बोधनेऽधिक्षेपे निषेधे च, इति मनोरमायाम् ।	॥२०।३०॥	१८	अज्जलौ-अच् च हल् चेति प्राचां संज्ञा ।	॥४०।२८॥
३	अकार उच्चारणार्थः-अकारमन्तरेण व्यञ्जनोच्चारणामसुकरमिति मादे- शोऽकार उच्चारणार्थमुपादीयते	॥११।४।३६॥	१९	अज्ञसा-तत्त्वशीघ्रार्थयोः ।	॥१८।४७॥
४	अक्षरं-न क्षरति-न चलति स्वस्मात् स्वरूपादक्षरतत्त्वं-ब्रह्म ।	॥२।११॥	२०	अट-भर्त्सने ।	॥२०।२९॥
५	अक्षणागमूहोऽस्यामस्तीति-अक्षौहिणी ।	॥३०।४॥	२१	अटतीत्यटा, कुलात्कुलस्य वाऽटा- कुलटा ।	॥३०।१३॥
६	अखिलानि-सकलानि ।	॥२।३०॥	२२	अड-भर्त्सने ।	॥२०।२९॥
७	अखिलदृष्टादृष्टफलसङ्कल्पकल्पद्रुमोपमं- सम्पूर्णराज्यादिस्वर्गमोक्षसुखाभिला- पसम्पादनदेवतरूपमम् ।	॥२।३३॥	२३	अणुत्वं-सूक्ष्मत्वम् ।	॥१०।२२॥
८	अखिलदृष्टादृष्टफलसङ्कल्पः-सम्पूर्णराज्या- दिस्वर्गमोक्षसुखाभिलापसम्पादनम् ।	॥२।३२॥	२४	अतिरमणीयं-नितरां निर्दोषः ।	॥४।१८॥
९	अखिलदृष्टादृष्टफलानि-समग्रराज्यस्वर्ग- मोक्षादिस्तुलानि ।	॥२।३१॥	२५	अतिरिक्ताः-अधिकाः ।	॥४।४३॥
१०	अत्रिसात्-अशिसवरूपेण भस्मीभूतम् ।	॥२।१।३२॥	२६	अतीव-अतिशये ।	॥१८।३९॥
११	अग्रहणार्थं-ब्रह्मणाभावाय ।	॥६।७।३७॥	२७	अतीव कुत्स्यतेऽनेनेति-अतिकुत्सनम् ।	॥१९।५२॥
१२	अघोषः-जायते-भवति तन्नामको बाह्यप्रयत्नः पृष्ठः ।	॥१०।२०॥	२८	अत्युच्चैसौ इति-उच्चैरतिक्रान्तौ इति ।	॥१७।३६॥
१३	अघोस-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥	२९	अत्र प्रकरणे-सर्वादिगणे ।	॥६।७।३६॥
१४	अङ्ग-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९।४६॥	३०	अत्र हरिः शोते-अत्रैव भवतां मध्ये क्षातोऽप्यक्षातो भवद्भिर्भगवान् हरिरेव सुतो वर्तते ।	॥१५।५।३०॥
१५	अङ्गो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥	३१	अथ-मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्कर्त्या- धिकारप्रतिज्ञासमुच्चयेषु, अर्थ स्वरादिरपि तेन मङ्गलवाचकस्य द्रव्यार्थत्वेऽपि अव्ययत्वं सिध्यति ।	॥१९।४१॥

क्र०	धातवः ।	पृ० प०	क्र०	धातवः ।	पृ० प०
२८८	सं-गतौ ।	॥७०।३०॥	२९४	स्यन्दौङ्-प्रस्रवणे ।	॥१४।५।२६॥
	"	॥१३६।१०॥	२९५	स्यक्नथक्रथक्लथ-हिंसार्थाः ।	॥१३६।२४॥
	"	॥१३६।३८॥	२९६	स्यमुङ्-विश्वासे ।	॥५।४।१६॥
	"	॥१५९।१७॥	२९७	संसङ्-अवलंसने ।	॥१३।५।३९॥
२८९	सृजंत्-विसर्गे ।	॥१३३।३६॥		ह.	
	"	॥१४।३।१९॥	२९८	हिसु-हिंसायाम् ।	॥२०।३।१५॥
२९०	स्कन्दं-गतिशोषणयोः ।	॥१४।५।२६॥	२९९	हृच्छा-कौटिल्ये ।	॥१३।३।१६॥
२९१	स्पर्द्धि-संगर्षे ।	॥१४।५।३९॥	३००	हृङ्-हरणे ।	॥१५।९।२५॥
२९२	स्पृशंत्-संस्पर्शे ।	॥१३६।३५॥		"	॥२०।६।४३॥
	"	॥१६।२।२२॥	३०१	धनुङ्क-अपनयने ।	॥१९।३।३१॥
२९३	स्मृ-चिन्तायाम् ।	॥१३३।२९॥		"	
	"	॥१६।२।२२॥			

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
३६	अहृष्टानि-स्वर्गादीनि ।	॥२।३०॥
३७	अद्वा इति-स्फुटाऽवधारणयोः, तत्त्वानि- शययोरित्येके ।	॥१८।२२॥
३८	अद्यत्वे-इदानीमित्यर्थे ।	॥२०।३३॥
३९	अघ-अघोऽर्थे ।	॥१९।४०॥
४०	अघर्षः-शास्त्रनिषिद्धः ।	॥१९०।२०॥
४१	अघस्-सामीप्यादौ ।	॥१८।२१॥
४२	अधुना-अस्मिन् काले ।	॥२०।४४॥
४३	अधुना-साम्प्रतं-मूलराजशासनकाले	॥२१।३२॥
४४	अध्वा-गन्तव्यं क्षेत्रं क्रोशादि ।	॥१६९।७॥
४५	अनन्यत्र भावो विषयस्तस्मै प्रभवति- वैषयिकम् ।	॥१७४।१०॥
४६	अनवच्छ्रुतिः-अनिश्चयः ।	॥३०।२८॥
४७	अनादिस्थयोः-आदाववर्तमानयोः ।	॥४८।२१॥
४८	अनिशं-नैरन्तर्ये ।	॥१८।२६॥
४९	अनुकम्-वितर्के ।	॥२०।३१॥
५०	अनुकार्यानुकरणयोः-अशक्त्या प्रयुक्तगो इत्यनुकार्यः, तमनुकुर्यताऽपरपृष्टेन तत्समीपवर्तिना चोक्तमनुकरणं गो इति तयोः ।	॥१६।२४॥
५१	अनुकार्येण-वर्णावलिरूपेण ।	॥१६।२९॥
५२	अनु-पश्चात्कार्यान्तरेभ्यः ।	॥१२६।१३॥
५३	अनुप्रदानं-अनुप्रदीयते-पश्चात् प्रकर्षेण दीयते ।	॥१।४६॥
५४	अनुबन्धः-अनुबध्यते कार्याद्यमुपदि- श्यत इत्यनुबन्धः ।	॥११।३०॥
५५	अनुशब्दः-पश्चादर्थे ।	॥५०।४३॥
५६	अनुशिष्यन्ते-व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अने- नेति-अनुशासनम् ।	॥१।२८॥
५७	अनुषङ्ग-अनुमाने । केचिच्चान्तं केचिद्वा- न्तमपरे दीर्घादि च ग्रन्थन्ते ।	॥२०।२९॥
५८	अनुस्वर्यते-सलीनमनुशब्द्यत इति- अनुस्वारः ।	॥६।३५॥
५९	अनेन-प्रणिधेयेन ।	॥२।४४॥
६०	अनेकान्तवादः-अनेकान्तस्य-न एको- ऽनेकः, अनेकोऽन्तो धर्मो यस्याऽसौ इति अनेकान्तः तस्य वादः,-यथार्थ- कथनमित्यर्थः ।	॥३।२९॥
६१	अन्तः-अवसानम् ।	॥१३।५॥
६२	अन्तर्-मध्ये ।	॥१८।३३॥
६३	अन्तरा-विनार्ये मध्ये चाऽऽधेयप्रधाने	॥१८।१९॥
६४	अन्ते-विरामे ।	॥३।८४॥
६५	अन्यः-उत्पलः ।	॥१९४।४०॥
६६	अन्यः-रत्नमतिवैद्विः ।	॥१९३।२०॥
६७	अन्यत्-अन्यार्थे ।	॥२०।१७॥
६८	अन्यतमस्मिन्-तेषु कस्मिंश्चित्स्थाने ।	॥९।३५॥
६९	अन्यत्र-अन्याधिकरणे काले ।	॥२०।१७॥
७०	अन्यत्र-एतद्व्यतिरिक्तस्थले ।	॥६३।३१॥
७१	अन्यत्र-सत्त्वाभावे, अर्थादद्रव्यावाचिन इत्यर्थः ।	॥१९।२४॥
७२	अन्यशब्दस्य-अन्यतमशब्दस्येत्यर्थः ।	॥६७।२९॥
७३	अन्यथादेशस्य-अमतिरिक्तस्य स्यादेशस्य॥८७।२०॥	॥८७।२०॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
७४	अन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां-उत्तरउत्तम- भिन्नस्वार्थिकप्रत्ययान्तानामित्यर्थः ।	॥६७।३७॥
७५	अन्ये-अभयनन्धाचार्याः ।	॥२१३।२६॥
७६	अन्ये-उत्पलादयः पाणिनीयाश्च ।	॥९३।३८॥
७७	अन्ये-पाणिनिशिक्षाकाराः ।	॥८।४२॥
	"	॥८।४४॥
७८	अन्ये-पाणिनिशिक्षाकाराः शाकटायनाश्च ।	
७९	अन्ये-प्राज्ञः ।	॥२६।१६॥
	"	॥२८।५।३१॥
८०	अन्ये-शाकटायनाः ।	॥८।३९॥
	"	॥२१७।३३॥
८१	अन्ये-शेषभट्टारकाः ।	॥५।३७॥
८२	अन्ये-सारसंग्रहकारादयः ।	॥१९४।३८॥
८३	अन्ये इति-आचार्यपाणिनिः इति ।	॥२०४।३९॥
८४	अन्ये तु-आचार्यपाणिनितन्त्रानुसारिणः	॥१६२।२३॥
८५	अन्ये तु-आचार्यपाणिनिप्रभृतयः ।	॥१२३।३३॥
८६	अन्ये तु-उत्पलादयः ।	॥३।५।३५॥
८७	अन्ये तु-औद्वज्जिः, औद्वज्जयः ।	॥१०।१६॥
८८	अन्ये तु-भीमसेनादयः ।	॥१४४।३५॥
८९	अन्ये तु-ललितस्वभावः ।	॥२०।१।३३॥
	"	॥२०।५।३४॥
९०	अन्ये तु-चार्तिककाराः ।	॥१३८।१७॥
	"	॥२०४।३८॥
९१	अन्ये तु-चार्तिककृतः ।	॥२०४।३८॥
९२	अन्ये तु-विश्रान्तविधाधरादयः ।	॥१६९।४१॥
९३	अन्ये तु-श्रीशेपराजः ।	॥६५।४९॥
९४	अन्ये त्विति-उत्पलादयः ।	॥९३।१८॥
९५	अन्योन्यं-परस्परम् ।	॥४।२०॥
९६	अन्वक्-पश्चादर्थे ।	॥१८।२८॥
९७	अपचिकीर्षा-अपकर्तुमिच्छा ।	॥१७९।३४॥
९८	अपचिकीर्षा-द्रोहः ।	॥१७९।१९॥
९९	अपठितयोः-अनभ्यस्तयोः ।	॥८।२२॥
१००	अपत्यं-पुत्रपौत्रादि ।	॥४।४८॥
१०१	अपरे-वार्तिकव्याख्यातारः ।	॥२१५।३७॥
१०२	अपरे-शाकटायनादयः ।	॥५७।४१॥
१०३	अपरे-शेषाहिपादाः ।	॥२६।१७॥
१०४	अपि-सूत्रयोजिह्वामूलीयोपध्मानीययोः ।	॥८।२२॥
१०५	अपिः-समुच्चये ।	॥६।२७॥
१०६	अप्रयोगः-प्रयोगाभावः ।	॥१४।३३॥
१०७	अप्रसिद्धं-लक्ष्यम् ।	॥२११।६॥
१०८	अर्जं-कमलम् ।	॥१०६।२३॥
१०९	अभिघातः-हननम् ।	॥१०।१७॥
११०	अभियुक्ता हि-स्थविरचन्द्रोत्पलदेवनन्दि- साधारणभाष्यकारप्रभृतयः ।	॥१५०।२७॥
१११	अभिहन्ति-ताडयति ।	॥९।३६॥
११२	अभिहन्यमाने-ताड्यमाने ।	॥९।३१॥
११३	अभिहिता-निर्दिष्टा, उक्ता इति यावत्	॥१७६।४१॥
११४	अभीक्षणम्-पुनः पुनः ।	॥१८।२६॥
११५	अमेदः-पकीभावः ।	॥२।४६॥
११६	अभ्युपगमः-प्रमाणं पुरस्कृत्य स्वीकारः ।	॥३।३५॥
११७	अम्-शैब्ये अल्पे च ।	॥१८।४६॥



क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१९३	आनुषङ्ग-आनुपूर्व्ये ।	॥१८४८॥
१९४	आपन्नस्य-प्राप्तस्य ।	॥१८६।२८॥
१९५	आपादपरिसमाप्तेः-पादपरिसमाप्तिं यावत् ।	॥९७।२९॥
१९६	आप्यं-व्याप्यम् ।	॥१९४।६॥
१९७	आवादिप्रत्ययान्तानां-आप् आदि-येषां ते प्रत्यया आवादिप्रत्यया अन्ते येषां ते आवादिप्रत्ययान्ताः, तेषां आवादिप्रत्ययान्तानाम् ।	॥१५।३६॥
१९८	आभ्यन्तरत्वं-आन्तरत्वम् ।	॥१०।३४॥
१९९	आम्-आङ्गीकारे ।	॥१८।४६॥
२००	आम्-प्रतिवचनाऽवधारणयोः ।	॥२०।२७॥
२०१	आम-पीडायाम् ।	॥२०।२४॥
२०२	आयुक्तो-व्यापृतः ।	॥२०।११॥
२०३	आरात्-दूरसमीपयोः ।	॥१८।३३॥
	”	॥२०।१५॥
२०४	आराद्-दूरान्तिकयोः ।	॥२०।१५॥
२०५	आरादित्यव्ययं-दूरसमीपयोर्वाचकम् ।	॥२००।१॥
२०६	आर्य-प्रीतिसम्बोधने ।	॥१८।३६॥
२०७	आर्यहलम्-बलात्कारे ।	॥१८।३६॥
२०८	आर्या-मोक्षपथसमीपयाता जनाः ।	॥४।३०॥
२०९	आविस्-प्राकाश्ये ।	॥१८।४४॥
२१०	आशु-शैघ्र्ये ।	॥१८।४७॥
२११	आश्रीयत इति-आश्रयः ।	॥१७४।२४॥
२१२	आस्-स्मृतिखेदयोः, कोपे च ।	॥२०।२७॥
२१३	आसेवायां-चात्पर्ये ।	॥२०।११॥
२१४	आस्यं-मुखम् ।	॥८।३३॥
२१५	आस्ये प्रयत्नः-आस्यप्रयत्नः-आन्तरः संरम्भः ।	॥८।७॥
२१६	आहारो-नगरणम् ।	॥१६२।२५॥
२१७	आहो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
२१८	आहोस्विद्-प्रश्रवितर्कविकल्पेषु ।	॥२०।१६॥
	इ-	
२१९	इ-सम्बोधनजुगुप्साविसर्गेषु, इति मनोरमायाम् ।	॥२०।३१॥
२२०	इ ई उ ऋ ए ओ औ-सम्बोधने इति मनोरमायाम् ।	॥२०।३१॥
२२१	इच्छन्-मन्यमानः ।	॥४।२४॥
२२२	इतरेषां-नेमशब्दव्यतिरिक्तानामर्धादि-शब्दानां ।	॥७१।३३॥
२२३	इति-एवमर्थे, आद्यर्थे, हेत्वर्थे, प्रकारार्थे, शब्दप्रादुर्भावे, ग्रन्थसमाप्तौ, पदार्थविपर्यासादौ चेति है० वृ० न्या० ।	॥२०।२७॥
२२४	इति-एवमर्थे, प्रकारार्थे, ग्रन्थसमाप्तौ, शब्दप्रादुर्भावे, अर्थसमाप्तौ, पदार्थ-विपर्यासादौ ।	॥२०।२७॥
२२५	इति-यसादर्थे ।	॥६२।१८॥
२२६	इति शब्द-एवमर्थः ।	॥११६।४४॥
२२७	इति शब्दः-पादस्य परिसमाप्त्यर्थः ।	॥२४।२५॥
२२८	इतिह-पुराश्रुतौ ।	॥२०।२५॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
२२९	इति-हेतोः ।	॥६८।१२॥
	”	॥१५।५।२३॥
	”	॥१५।५।२८॥
२३०	इद्-अपूर्वेऽर्थे इपदर्थे च ।	॥२०।१३॥
२३१	इदम्-प्रत्यक्षनिर्देशे ।	॥७०।४२॥
२३२	इदानीम्-अस्मिन् काले ।	॥२०।४४॥
२३३	इदुत्कार्यं-“इदुतोऽखेरीदुत्”, “जस्येदोत्”, “डित्यदिति”, “ः पुंसिना”, “डिडौ” इत्यादिविहितम् ।	॥७६।३७॥
२३४	इद्वा-प्राकाश्ये ।	॥१८।२४॥
२३५	इमं कञ्चित्प्रकारं भूत आपन्न इत्यम्भूतः, स लक्ष्यते येन स इत्यम्भूतलक्षणः ।	॥१८।५।१५॥
२३६	इमे-प्रसिद्धाः ।	॥४।२७॥
२३७	इव-उपमाऽवधारणयोः ।	॥२०।१४॥
२३८	इव-सादृश्ये ।	॥२०।३३॥
२३९	इष्टावधारणार्थं इति-इष्टस्य नियमस्य अवधारणायेत्यर्थः ।	॥६५।३०॥
२४०	इह-अस्मिन् ।	॥२०।४२॥
२४१	इह-अस्मिन् सूत्रे ।	॥२८।३९॥
	ई-	
२४२	ईः-सम्पत्तिः-साधुतारूपा ।	॥३८।४४॥
२४३	ईक्षितव्यं-निरूपयितव्यम् ।	॥१९२।१५॥
२४४	ईम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु, अव्यक्ते इत्येके इति है. वृ. न्या. ।	॥२०।२६॥
२४५	ईर्ष्या-परसम्पत्तौ चेतसो व्यारोपः ।	॥१७।१९॥
२४६	ईषद्-अप्राप्ते ।	
	अल्पे इति मनोरमायाम् ।	॥१८।३१॥
	उ-	
२४७	उक्ताभ्यः-स्वरादिसंज्ञाभ्यः ।	॥४।४३॥
२४८	उच्चारणार्थः-स्वरूपपरिग्रहार्थः ।	॥५।२५॥
२४९	उच्चैस्-महति ।	॥१८।२७॥
२५०	उच्यते विशिष्टोऽर्थोऽनेनेति वाक्यम् ।	॥१४।१६॥
२५१	उच्चइमश्रुः-उद्गतानि इमश्रुणि यस्य सः ।	॥४०।४१॥
२५२	उन्-रोषोक्तौ ।	॥१९।४८॥
२५३	उत-वितर्कं, उत-विकल्पे इति है० वृ० न्या० ।	॥२०।१४॥
२५४	उताहो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
२५५	उत्तमर्णो-घनिकः ।	॥१९२।२१॥
२५६	उत्तरत्र-“लदन्ता. समानाः” इति सूत्रे ।	॥६।२७॥
२५७	उत्तरयोः-“नान्नि घा”, “लत्याल्वा” इत्युत्तरसूत्रयोरित्यर्थः ।	॥२८।३९॥
२५८	उत्तरार्थः-उत्तरसूत्रे सप्रयोजनोऽयमित्यर्थः ।	॥१९४।२०॥
२५९	उत्तरार्थमिति-उत्तरसूत्रे स्वरग्रहणं प्रयोजनवदित्यर्थः ।	॥९६।२२॥
२६०	उत्पद्यते-जायते ।	॥९।३६॥
२६१	उत्पद्यमाने-जायमाने ।	॥९।३८॥
२६२	उत्पातः-आकस्मिकं निमित्तम् ।	॥१९३।५॥
२६३	उत्पातो हि नाम-शुभाशुभसूचकः कादाचित्तो महाभूतपरिणामः ।	॥१९३।२५॥
२६४	उत्पद्य-त्यक्तः ।	॥१९।३०॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
२६५	उत्सृष्टानुबन्धयोः- उत्सृष्टस्यकोऽनुबन्धो ययोरिति ।	॥२२।३१॥
२६६	उत्सृष्टानुबन्धानां-उत्सृष्टस्यकोऽनुबन्धो यैस्ते, तेषाम् ।	॥१२।२६॥
२६७	उदस्विद्-प्रश्नवितर्कविकल्पेषु ।	॥२०।१६॥
२६८	उपचरितं-अध्यारोपितम् ।	॥१७६।४५॥
२६९	उपचारे भवम्-औपचारिकम् ।	॥१७५।११॥
२७०	उपधा-भेदे ।	॥१८।४६॥
२७१	उपनिषद्भूतं-परमेश्वरपरमेष्ठिवाचकमहं- मिति रहस्यभूतम् ।	॥२।२४॥
२७२	उपनिषद्भूतं-रहस्यतां प्राप्तम् ।	॥२।२३॥
२७३	उपयोगे-नियमपूर्वकविद्याग्रहणविषये ।	॥१९८।५॥
२७४	उपरि-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१।२५॥
२७५	उपरिष्ठात्-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१।२५॥
२७६	उपविद्धा-मिश्रिताः ।	॥४।२८॥
२७७	उपांशु-अप्रकाशोच्चारणरहस्ययोः ।	॥१८।४३॥
२७८	उभयत्र-प्रधानेऽप्रधाने च ।	॥१६०।३१॥
२७९	उभयद्युः-उभयसिन्नहनि ।	॥२९।९॥
<b>ऊ.</b>		
२८०	ऊम्-प्रश्ने ।	॥१९।४८॥
२८१	ऊर्ध्व-पश्चात् ।	॥१०।२८॥
२८२	ऊष्माणः-शपसहाः ।	॥९।२॥
२८३	ऊहः-समूहो रचना वा ।	॥३०।२४॥
<b>ऋ.</b>		
२८४	ऋणस्याऽवयवतया सम्बन्धि ऋणं- ऋणार्णम् ।	॥२७।९॥
२८५	ऋतम्-शुद्धौ ।	॥१८।२३॥
२८६	ऋते-वर्जने, 'वर्जने त्वन्तरेणत्तं' इति वचनात्, वियोगे इत्यपि ।	॥१८।३९॥
२८७	ऋधक्-वियोगे, शीघ्रान्वितसामीप्य- लामेषु ।	॥१८।२९॥
२८८	ऋधक्-सत्ये, वियोगे शीघ्रसामीप्यलाघवेषु इत्यन्ये इति मनोरमायाम् ।	॥१८।२९॥
<b>ए.</b>		
२८९	एक-एकत्वसंख्यायाम् ।	॥७०।४३॥
२९०	एकत्वप्रतियोगि-एकत्वं प्रतियोगि यस्य तत्, एकत्वस्य प्रतियोगि वा नानात्वम् ।	॥२४।१७॥
२९१	एकदेशमात्रसंयोग उपश्लेषस्तत्र भवं-औपश्लेषिकम् ।	॥१७४।११॥
२९२	एकधा-एकेन प्रकारेण ।	॥२१।१३॥
२९३	एकस्य शब्दस्याऽनेकार्थपरत्वे तत्रव्यवहारः ।	॥९०।४२॥
२९४	एके-काशिकाकारा वामनादयः ।	॥९०।३९॥
२९५	एके-चान्द्राः ।	॥१९२।४५॥
२९६	एके तु-चन्द्रादयः ।	॥११३।३१॥
२९७	एके-देवनन्द्यादयः ।	॥९३।३४॥
२९८	एके-पाणिनीयमहाभाष्यकृन्मता- नुयायिनः ।	॥१७।२४॥
२९९	एके-पाणिनिसुब्रह्मव्याख्यातार प्रवृ- त्ताधारणभागप्रभृतयः ।	॥१९५।३५॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
३००	एके-पाणिन्यादयः ।	॥५१।३६॥
	"	॥२१।३०॥
३०१	एके-प्राचीनाः शाकटायनादयः ।	॥८।४०॥
३०२	एके-प्राञ्चः ।	॥२६।१२॥
	"	॥२९।३३॥
३०३	एके-वार्तिकव्याख्यातारः ।	॥२१।५।३७॥
३०४	एके-विश्रान्तविद्याधराः ।	॥९०।२४॥
३०५	एके-शाकटायनाः ।	॥२९।२३॥
	"	॥१९२।४३॥
३०६	एके-शाकटायनाचार्याः ।	॥१६।४।३३॥
३०७	एके-शाकटायनादयः ।	॥१३०।३३॥
३०८	एतत्-अहम् ।	॥१।५०॥
३०९	एतद्-समीपवाची शब्दः ।	॥७०।४३॥
३१०	एतर्हि-अस्मिन् काले ।	॥२०।४४॥
३११	एव-अवधारणपृथक्त्वपरिमाणेषु, अनवहृत्तावपि ।	॥१९।२९॥
३१२	एवं-"अनवर्णा नामी" इति सूत्रेऽनवर्णा इति बहुवचनवत् ।	॥६।२६॥
३१३	एवम्-उपमानोपदेशप्रभावधारण- प्रतिज्ञानेषु, उक्तपरामर्शेऽपि ।	॥१९।३०॥
३१४	एवं-पूर्ववत् ।	॥७८।२५॥
३१५	एवं-पूर्वात्करीत्या ।	॥५४।३५॥
३१६	एवं-मनुष्यदिव ।	॥१३।१२॥
३१७	एषः-जगति लघ्वपशाः, मूलराज- महीपतिः ।	॥१५।२५॥
३१८	एषु-प्रियसर्वायै, अतिसर्वायै, दक्षिणपूर्वायै इत्यादिषु ।	॥७।२३॥
<b>ऐ.</b>		
३१९	ऐक्यम्-एकेन प्रकारेणाऽनेकमेकं करोति च ।	॥२१।३३॥
३२०	ऐषमः-अस्मिन् संवत्सरे ।	॥२१।१०॥
<b>ओ.</b>		
३२१	ओम्-अङ्गीकारे ब्रह्मणि च अभ्यादानाभि- मुखीकरणयोरपि ।	॥१८।१८॥
३२२	ओम्-इति खरादी पठितम् ।	॥१९।४४॥
<b>औ.</b>		
३२३	औपगवः-उपगोरपत्यम् ।	॥१६।१२॥
<b>क.</b>		
३२४	कः अपि-अनिर्वचनीयोऽपि ।	॥६३।३५॥
३२५	ककुब्भासः-ककुभां हासः ।	॥४०।३३॥
३२६	कचकर्षणैः-केशोन्मर्दनैः-केशप्रहैरिति यावत् ।	॥१०६।२२॥
३२७	कच्चन-कश्चिदर्थे ।	॥२०।१५॥
३२८	कश्चित्-इष्टप्रश्ने ।	॥१९।३३॥
३२९	कण्ठविलं-गलविवरम् ।	॥१।४३॥
३३०	कण्ठविलस्य-गलविवरस्य ।	॥१।४२॥
	"	॥१०।२२॥
३३१	कण्ठादिस्थानाभिधाते-कण्ठादिस्थाना- नामभिधातस्तस्मिन् सति ।	॥९।३२॥
३३२	कण्ठ्य-कण्ठे भव इत्यर्थः ।	॥६।३८॥
३३३	कतिभिः-क्रीता-कतिकः ।	॥२३।१३॥



क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
३३४	कतिभिः प्रकारैः-कतिधा ।	॥२३।१३॥
३३५	कतिवारा अस्य-कतिकृत्वः ।	॥२३।१४॥
३३६	कथम्-केन प्रकारेण ।	॥२३।१५॥
३३७	कथितानुकथनम्-अन्वादेशः ।	॥२३।१६॥
३३८	कद्-कुत्सायाम् ।	॥२०।१२॥
३३९	कदा-कस्मिन् काले ।	॥२०।१३॥
३४०	कम्-पादपूरणे, खरादौ ज्ञातव्यमिति है० वृ० न्या० ।	॥२०।१४॥
३४१	कम्-वारिर्मूर्धनिन्दासुखेषु ।	॥१८।१६॥
३४२	कमलाऽऽश्रयः-पञ्चाऽधिकरणः ।	॥२४।३४॥
३४३	करणं-पूर्वोक्तं जिह्वामूलादि ।	॥१९।३९॥
३४४	करणं तु-जिह्वामूलमध्याग्रेपात्ररूपम् ।	॥८।९॥
३४५	करभोरुः-करभ वदूरु यस्याः सा ।	॥१५।४२॥
३४६	कर्कन्धूः-वद्री ।	॥८६।३१॥
३४७	कर्ता-करोतीति पूर्ववत् ।	॥१५।४४॥
३४८	कर्मणा-व्याप्येन, क्रियया वा करण-भूतेन ।	॥१७।११॥
३४९	कर्मादिभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः कर्माद्यविवक्षालक्षणोऽश्रयमाणक्रियः श्रयमाणक्रियो वाऽस्येदम्भावरूपः-स्व-स्वामिभावादिः सम्बन्धविशेषः-शेषः ॥२०।२९॥	॥२०।२९॥
३५०	कर्हि-कस्मिन्नघतने काले ।	॥२१।११॥
३५१	कल्पवृक्षेण-सुरतरुणा ।	॥२।३२॥
३५२	कश्चित्-अजितयशोवादी ।	॥१९।३६॥
३५३	कश्चित्तु-उत्पलः ।	॥११।३२०॥
३५४	कश्चित्तु-दुर्गासिंहः ।	॥१३।३२२॥
३५५	कश्चित्तु-दुर्गासिंहन्यासहृतौ ।	॥३२।२४॥
३५६	कश्चित्तु-विश्रान्तविद्याघरः ।	॥४।२०॥
३५७	काननम्-अरण्यम् ।	॥१५।५२३॥
३५८	काननम्-वनस्थोपवनम् ।	॥१५।५२८॥
३५९	कामम्-अतिशयार्थं । स्वाच्छन्द्ये इति मनोरमा० ।	॥१८।३२॥
३६०	कारः-वणिग्भिः कर्षकैः पशुपालैश्च रक्षार्थं देवो राजभागः ।	॥१३०।३२॥
३६१	कारकः-करोतीति ।	॥१५।४३॥
३६२	कालः-त्रुट्यादिरूपः ।	॥४।४६॥
३६३	कालो-मुहूर्त्तादिः ।	॥१६९।७॥
३६४	काशिकाकारवामनजयादित्याः-केचित्तु ॥३५।३०॥	॥३५।३०॥
३६५	किंस्विद्-प्रज्ञवितर्कविकल्पेषु ।	॥२०।१६॥
३६६	किङ्किल-किलार्थे ।	॥२०।१५॥
३६७	किञ्चित्-स्वल्पं-क्रियाविशेषणम् ।	॥१।३९॥
३६८	किञ्चिन्निमित्तमासाद्याऽव्याप्तपञ्चम-महाव्रतप्राच्यजन्मसंस्कारोद्बद्धस-कलशास्त्रस्मृतिः-प्रत्येकबुद्धः ।	॥१९।३३॥
३६९	किम्-प्रश्ने शेषे च ।	॥७०।४६॥
३७०	किम्-प्रश्ने वितर्के च ।	॥२०।१२॥
३७१	किमुत-विकल्पे ।	॥२०।१५॥
३७२	किल-सम्प्रश्नवार्तयोः, अलीकेऽपि ।	॥२०।१५॥
३७३	कीम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु । संशयप्रश्नानुमावेदु इत्येके इति है. वृ. न्या. ।	॥२०।२६॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
३७४	कीलालं-मद्यं जलमखकू च ।	॥७४।३८॥
३७५	कु-कुत्सितेपदर्थयोः, पापार्थे इति है० वृ० न्या० ।	॥१८।३८॥
३७६	कुम्-प्रश्ने ।	॥१९।४८॥
३७७	कुवित्-योगप्रशंसाऽस्ति भावेषु, भूर्यर्थे इति मनोर० ।	॥१८।४४॥
३७८	कुशलो-निपुणः ।	॥२०।११॥
३७९	कूपः-अन्धुः ।	॥११।३८॥
३८०	कूपत्-प्रभ्रवितर्कप्रशंसासु, क्वचित्स्वरा-दावपि पठितः ।	॥१९।३१॥
३८१	कृत्स्नः-समग्रः ।	॥१०।२७॥
३८२	केचित्-प्राञ्जः ।	॥३६।३६॥
३८३	केचित्-शाकटायनादयः ।	॥५२।३५॥
३८४	केचित्तु-चन्द्रगोमिदेचनन्दिप्रभृतयः ।	॥१४।१२२॥
३८५	केचित्तु-चान्द्रप्रभृतयः ।	॥५।७३८॥
३८६	केचित्तु-देवनन्द्याचार्याः ।	॥१३९।३७॥
	"	॥१३९।४५॥
३८७	केचित्तु-देवनन्द्यादयः ।	॥३१।३५॥
३८८	केचित्तु-पाणिनिप्रभृतयः ।	॥१२।२।७॥
३८९	केचित्तु-पाणिनिशाकटायनदेवनन्दि-विश्रान्तविद्याघराः ।	॥३९।२९॥
३९०	केचित्तु-पाणिनिस्त्रज्ञानुसारिणः ।	॥११।५।४३॥
३९१	केचित्तु-पाणिनीयाः ।	॥३४।३९॥
३९२	केचित्तु-पाणिन्यादयः ।	॥११।३।४२॥
३९३	केचित्तु-भोजशाकटायनाः ।	॥१९।३।३६॥
३९४	केचित्तु-शाकटायनाः ।	॥२।८।४२॥
	"	॥१३।८।५॥
३९५	केचित्त्विति-चामनादयः ।	॥९।१।२०॥
३९६	केचित्त्विति-विश्रान्तविद्याघराः ।	॥९०।२९॥
३९७	केचिद्-गोनर्दीयमतानुयायिनः पाणिनीयाः ।	॥९।३।२०॥
३९८	केचिदिति-चान्द्रभोजक्षीरस्वामि-प्रभृतयः ।	॥१२।२।४२॥
३९९	केचिदिति-शाकटायनदेवनन्दि-चन्द्रादयः ।	॥९०।४०॥
४००	केनचिद्विद्वक्षितेन विशेषेण भाव इत्यम्भावस्तद्विषय-इत्यम्भूतः ।	॥१७९।१४॥
४०१	कोष्ठे-उदरे ।	॥९।३१॥
	"	॥९।४२॥
४०२	क्रिया-पूर्वापरीभूतावयवा ।	॥४।४५॥
४०३	क्रियाया क्रियायांयामुपपदे-तुम् ।	॥१९।३।१५॥
४०४	क्रियाश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वा य आचारः-तदधिकरणम् ।	॥२०।१।१९॥
४०५	क्रयः-य आत्मना ग्राहः ।	॥१६६।४४॥
४०६	क्-कस्मिन् ।	॥२०।४२॥
४०७	क्चित्क्रियाऽपि-स्वार्थः ।	॥१५।२३॥
४०८	क्चित्सम्बन्धोऽपि-स्वार्थः ।	॥१५।२२॥
४०९	किद्-भर्त्सनपादपूरणयोः ।	॥२०।१३॥
	ख.	
४१०	खरकुटी-नापितशाला ।	॥८०।२१॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
४११	खलु-निषेधवाक्याऽलङ्कारजिज्ञासाऽनु- नयेषु ।	॥२०१८॥	४४८	चित्रं-महदाश्चर्यं शास्त्रलोकयोर्भेदादिति पदार्थः ।	॥२१८३३॥
४१२	खे-वियति ।	॥१०६२३॥	४४९	चित्रगुः-चित्रा गावो यस्य सः ।	॥१६११७॥
४१३	खोस्-कुत्सायाम् । ग.	॥२०३०॥	४५०	चित्रा गावो यस्य स-चित्रगुः ।	॥३४२२॥
४१४	गजकुम्भाऽऽकृतिः-गजस्य कुम्भौ गजकुम्भौ, गजकुम्भयोरेवाऽऽकृतिर्यस्य स गज- कुम्भाऽऽकृतिः-करिकलशसन्निभस्वरूपः॥८१७॥	॥८१७॥	४५१	चिद्-प्रश्नाऽवधारणयोः ।	॥२०१३॥
४१५	गतिः-देशान्तरप्राप्तिः ।	॥१६११७॥	४५२	चिरम्-दीर्घकाले ।	॥१८३२॥
४१६	गतिः-पादविहरणम् ।	॥१९४११॥	४५३	चुम्बनं-अन्योन्यवक्तृसंयोगः ।	॥१०६२३॥
४१७	गतौ-घोघे सति ।	॥१४३२॥	४५४	चेत्-प्रतिषेधाऽवधारणसमुच्चयेषु, चेदिति यद्यर्थे इति मनोर० ।	॥१९१३१॥
४१८	गम्यस्य-अप्रयुज्यमानस्य ।	॥१९८१०॥	४५५	चो-हेतौ ।	॥४१९५॥
४१९	गलन्तीति-गलाः ।	॥८१२८॥	४५६	” ” ” चो हेतौ समुच्चये च ।	॥१९३६॥ ॥३७२५॥ ॥२२४४॥
४२०	गवां व्युतिर्गव्युतिः ।	॥३३३३॥		छ.	
४२१	गवाक्षौ-वातायनः ।	॥३३१३॥	४५७	छन्द-निर्भर्त्सनसम्बोधनयोः ।	॥१९१४०॥
४२२	गाः-इन्द्रियाणि ।	॥३८४३॥	४५८	छाया इव-प्रतिविम्बमिव ।	॥१७३४॥
४२३	गात्रस्य-शरीरस्य ।	॥१०२२॥	४५९	छित्-छिनचीति ।	॥१५४४॥
४२४	गार्ग्यायणी-गर्गस्याऽपत्यं वृद्धं स्त्री ।	॥१५४०॥		ज.	
४२५	गीयते-गानात्मना सकलमङ्गलमूल- त्वात् कथ्यते ।	॥२१८३२॥	४६०	जन्तुजातं-भूतनिचयः ।	॥१९९३९॥
४२६	गुणः-विशेषणम् ।	॥४४५५॥	४६१	जातिः-आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्गोहा, गोत्रं च चरणैः सह ॥ १ ॥	॥४४५॥
४२७	गुणेषु दोषाऽऽविष्करणं-असूया ।	॥१७११९॥	४६२	जातिगुणक्रियादिभिः समुदायादेक- देशस्य वृद्ध्या पृथक्करणं-निर्धारणम् ॥२१२१५॥	॥२१२१५॥
४२८	गोप्यो-विषयगामिनीन्द्रियाणि ।	॥३८४३॥	४६३	जातु-कदाचिदित्यर्थे, अवधारणपाद- पूर्णयोरपि ।	॥२०१९॥
४२९	गोकक्ष्यायणी गौरिव कक्षोऽस्येति गोकक्षः गोकक्षस्याऽपत्यं वृद्धं स्त्री ।	॥१५४०॥	४६४	जिह्वामूलमध्यात्रोपाग्ररूपं-जिह्वामूलं, जिह्वामध्यं, जिह्वामंत्रं, जिह्वोपाग्रमिति वृत्तिस्थविक्षेपः ।	॥८३६॥
४३०	ग्रहणं-बोधनम् ।	॥१२४३॥	४६५	जैनेन्द्राः-जिनेन्द्रस्येमे ।	॥१९९३९॥
	घ.		४६६	जोषम्-अभाषणे ।	॥१८३३॥
४३१	घोषः-तत्रामको बाह्यप्रयत्नः पञ्चमः ।	॥१०१९॥	४६७	ज्ञाप्ये-ज्ञाप्यमानेऽर्थे ।	॥१९३५॥
४३२	घोषवान्-घोषत्ववान् ।	॥७३६॥	४६८	ज्योक्-कालभूयस्त्वे, प्रश्ने शीघ्रसम्प्र- त्यर्थयोश्च ।	॥१८३३॥
	ङ.		४६९	ज्योषम्-अभाषणे ।	॥१८३३॥
४३३	ङितां-डेङसिङसुडीनाम् ।	॥७८१४॥	४७०	ज्वलितः-प्रदीप्तः ।	॥३८४२॥
	च.			झ.	
४३४	च-अन्वाचयसमाहारेतेरयोगसमु- च्चयेषु ।	॥१९२८॥	४७१	झगिति-तरसा ।	॥१८४४॥
४३५	चः-अवधारणे ।	॥६८१९॥	४७२	झटिति-शीघ्रायै ।	॥१८२७॥
४३६	च.-पुनरर्थे ।	॥१५६१४॥		ञ.	
४३७	चः-समुच्चये ।	॥३७१५॥	४७३	ङतमान्तस्याधि-ङतमोऽन्ते यस्य स तथोक्तस्यापि ।	॥६७२९॥
४३८	चकारः-अवधारणे ।	॥१५६४६॥		त.	
४३९	चक्रे-निर्ममे ।	॥६३३६॥	४७४	तच्च-लिङ्गम् ।	॥१७२३॥
४४०	चटु-प्रियवाक्ये ।	॥२०३३॥	४७५	ततः-तस्माद् हेतोः ।	॥४२९॥
४४१	चण्-चेदर्थे ।	॥१९३२॥	४७६	ततः-नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैक- वस्त्वभ्युपगमरूपानेकान्तवादापरपर्या- यस्याह्वादात् ।	॥३३६॥
४४२	चतुर्थी-चतसृणां पूरणी ।	॥१११९॥	४७७	ततः-लिङ्गसंख्यावतः ।	॥१९१२४॥
४४३	चन-अप्यर्थे पादपूरणे च ।	॥१९४३॥	४७८	ततः-स्यादित्यनेनाऽनेकान्तलाभात् ।	॥३२९॥
४४४	च पूर्वापरभावनियमार्थं-पूर्वभावस्या- ऽपरभावस्य च योऽनियमो-नियमा- भावस्तदर्थमित्यर्थोऽन्यथा पूर्वपर- भावनियमः स्यादिति ।	॥६१२१॥			
४४५	चर्यन्ते-क्षायन्ते ।	॥१३५॥			
४४६	चाटु-प्रियवाक्ये ।	॥२०३३॥			
४४७	चाद्यचादिस्थानस्य-चादिश्च अचादिश्च तौ स्थानं यस्य तस्य, अर्थात्-चाद्य- चादिस्थानजातस्य ।	॥३६३४॥			

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
४७९	ततो(लक्षणत्) आगतो लाक्षणिकः- अनुमेयः ।	॥४४।४२॥
४८०	तत्र-तस्मिन् ।	॥२०।४२॥
४८१	तत्र-बाह्यप्रयत्नमध्ये ।	॥१०।३५॥
४८२	तथा-तेन प्रकारेण ।	॥४।२२॥
४८३	तथा-साम्ये ।	॥२०।२०॥
४८४	तद्-हेत्वर्थवाक्योपन्यासयोः ।	॥२०।१३॥
४८५	तद्धितं-तस्मै हितम् ।	॥४०।३२॥
४८६	तद्वत्-स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकद्योत्य- समुच्चयरूपाभिधेयार्थवत् ।	॥१५।२६॥
४८७	तद्वतः-तत्प्रकारवदर्थयुक्तस्य ।	॥१८।७।८॥
४८८	तन्मते-एकेषां मते ।	॥६७।२९॥
४८९	तयोः-उत्तरद्वययोः ।	॥६७।३४॥
४९०	तरवन्तः-तरवन्ते यस्य स इत्यर्थः ।	॥६७।२८॥
४९१	तरोत्तरपदः-तर उत्तरपदं यस्य स इत्यर्थः ।	॥६७।२८॥
४९२	तव-हे भगवन्! भवतः ।	॥४।२६॥
४९३	तस्य-त्वच्छब्दस्य ।	॥६८।११॥
४९४	तितउः-परिपवनं, चालनीत्यर्थः ।	॥३६।१९॥
४९५	तिरस्-अन्तर्ध्ववशातिर्यग्भावेण ।	॥१८।३४॥
४९६	तिष्ठन्ति वर्णा अस्मिन्निति-स्थानम् ।	॥८।२४॥
४९७	ताजक-शीघ्रार्थे ।	॥१८।२९॥
४९८	तात्त्विकः-यथार्थः ।	॥२।५१॥
४९९	ताभ्यां-पेञ्चौभ्याम् ।	॥८।४४॥
५००	ताभ्यामपि-पञ्चौभ्यामपि ।	॥८।४४॥
५०१	ताल्लोष्ठपुष्टसंगृहीतस्य चायोर्विसर्जनं, स च विसर्गः पाश्चात्तिविन्दुद्वयं रुढेः॥५९।२९॥	
५०२	तावत्-साकल्याऽवधिमानाऽवधारणेषु । मर्यादाऽवधिपरिमाणेषु इति है.बृ.न्या ॥२०।२२॥	
५०३	तीव्रः-उग्रः ।	॥१०।२२॥
५०४	तु-किन्तु ।	॥२१।३२॥
५०५	तु-परन्तु ।	॥१५।५।२५॥
५०६	तु-विशेषणपादपूरणयोः ।	॥२०।१४॥
५०७	तुम्-तुंकारे ।	॥२०।३३॥
५०८	तुल्य-साधारणोऽप्रधानस्य प्रधानेन क्रियादिना य. सवन्धः स-तुल्ययोगः ॥१८।४५॥	
५०९	तुल्यौ-सदृशौ ।	॥८।२६॥
५१०	तुवै-वितर्कं पादपूरणे च ।	॥१९।३७॥
५११	तुशब्दः-पुनरर्थे ।	॥१६।०।२३॥
५१२	तुशब्दो-यस्मादर्थे ।	॥१२।४३॥
५१३	तृष्णीम्-अमाषणे ।	॥१८।३१॥
५१४	तृतीया-तिसृष्ट्यां पूरणी ।	॥११।१९॥
५१५	तृतीयाऽपवाद इति-कृदन्तप्रयोगकर्तृ- वाचिनः शब्दात् "हेतुकर्तृकरणे०" तृतीयायां प्राप्तायां तदपवादः षष्ठी- त्यर्थः ।	॥२०।१।१८॥
५१६	ते-तव-हे भगवन्! भवतः ।	॥४।२३॥
५१७	तेन-बहुवचननिर्देशेन स्रुतसंग्रहेण ।	॥५।२९॥
५१८	तोषम्-सुखे मौने च ।	॥१८।४६॥
५१९	तौम्बुरवं-चूर्णम् ।	॥९६।१॥
५२०	त्याद्यन्तं पदं-आख्यातम् ।	॥१४।४॥

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
५२१	त्रयी त्रयी-त्रयोऽवयवा अस्या इति ।	॥११।१८॥
५२२	त्राणं-अनर्थप्रतिवातः ।	॥१७।३।१८॥
५२३	त्रिशक्तियुक्तः-तिसृभिः शक्तिभिर्युक्तः, हरिहरब्रह्मणाऽभेदेनैकस्याऽपि सृष्टि- स्थितिप्रलयात्मकत्रिशक्तियुक्तत्वं बोध्यम् ।	॥२४।३२॥
५२४	त्रिष्टुप्लुतं-त्रिष्टुभः श्रुतम् ।	॥४०।४२॥
५२५	त्वच्छब्दः-समुच्चयपर्यायः ।	॥६८।१॥
५२६	त्वशब्दोऽन्यार्थः-अन्यशब्दस्यार्थोऽस्ये- त्यन्यार्थः, त्वशब्द इत्यन्वयः ।	॥६७।५०॥
५२७	त्वष्टु-विश्वकर्मणः ।	॥१७।३३॥
५२८	त्वाव-अनुमानप्रतिज्ञापैसमाप्तिषु ।	॥१९।३६॥
५२९	त्वावत्-अनुमानप्रतिज्ञापैसमाप्तिषु ।	॥१९।३६॥
५३०	त्वै-वितर्कं पादपूरणे च ।	॥१९।३७॥
५३१	त्सरुकः-त्सरौ कुशलः ।	॥४२।२८॥

द.

५३२	दकारस्य-अप्रयोगिणः ।	॥७९।१५॥
५३३	दक्षिणतः-दक्षिणा दिग्देशो वा रमणीयो दक्षिणतो रमणीयम्, दक्षिणत आगतो वसति वा ।	॥२३।२२॥
५३४	दक्षिणा-दिग्देशवृत्त्यर्थे, (पूर्ववद्वि- ग्रहः) ।	॥२३।२६॥
५३५	दक्षिणाहि-दिग्देशवृत्त्यर्थे, (पूर्ववद्वि- ग्रहः) ।	॥२३।२६॥
५३६	दक्षिणेन-दिग्देशवृत्त्यर्थे, (पूर्ववद्वि- ग्रहः) ।	॥२३।२६॥
५३७	दुर्दुरो-भेकः ।	॥८०।१४॥
५३८	दशानानि-नयाः ।	॥४।१६॥
५३९	दशक्रणान्यस्य दशार्णः-क्षत्रियः ।	॥२६।९॥
५४०	दशक्रणानि जलदुर्गाण्यसां दशार्णां नदी ॥२७।९॥	
५४१	दशनांशवः-दन्तमयूखाः ।	॥११।३३९॥
५४२	दशनामृगं-दशार्णम् ।	॥२७।९॥
५४३	दारा-प्रमदाः ।	॥३८।४१॥
५४४	दिवा-दिचसे ।	॥१८।१६॥
५४५	दिष्ट्या-सम्पदे, पूर्वप्रीतिसेवनयोः, समाजनप्राप्तिलोभ्ययोर्वा ।	॥२०।२३॥
५४६	दुःखेन ऋतः-दुःखार्तः ।	॥२८।५॥
५४७	दुर्मदाः-दुष्टा मदादयः ।	॥३८।४३॥
५४८	दुष्टु-निन्दायाम् ।	॥१८।३९॥
५४९	दन्मूः-सविषः कीटविशेषः ।	॥३०।७॥
५५०	दक्षिणा समाप्तार्था-इत्यर्थः ।	॥१२।०।५॥
५५१	दृष्टात्-क्रियाविशेषात् ।	॥२।३४॥
५५२	दृष्टाऽदृष्टफलानि-राज्यस्वर्गमोक्षसुखानि ॥२।३१॥	
५५३	दृष्टानि-राज्यादीनि ।	॥२।३०॥
५५४	देवत्रा करोति-देवेऽधीनं देयं-द्रव्यं करोति ।	॥२१।३३॥
५५५	देवा अर्जुनतोऽभवन्-अर्जुनकर्णयोर्वि- चदमानयोरर्जुनस्य पक्षे देवा अत्र- न्नित्यर्थः ।	॥२०।१०॥
५५६	देशनाकाले-उपदेशसमये ।	॥२१।३३॥

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
५५७	देशो-जनपदग्रामनदीपर्वतादिः ।	॥१६९।७॥
५५८	दोषा-रात्रौ पर्युषिते च ।	॥१८।१६॥
५५९	द्य-हिंसाप्रातिलोम्ययोः ।	॥२०।२१॥
५६०	द्यूतपणः-द्यूतजेषम् ।	॥१६६।१८॥
५६१	द्योतकं-प्रकाशकम् ।	॥३।२९॥
५६२	द्रव्यं-विशेष्यम् ।	॥४।४५॥
	”	॥१५।१९॥
५६३	द्रव्याश्रितः पर्यायो-गुणः ।	॥२००।४२॥
५६४	द्राक्-शीघ्रायै ।	॥१८।२९॥
५६५	द्विः-द्वौ वारौ अस्य ।	॥२१।१७॥
५६६	द्विः-द्वित्वे ।	॥७०।४४॥
५६७	द्वितीया-द्वयोः पूरणी ।	॥११।१९॥
५६८	द्वितीया-द्वितीयवारम् ।	॥२१।२९॥
५६९	द्वेषा-द्व्याभ्यां प्रकाराभ्यामेकं राशिं द्वौ करोति ।	॥२१।१५॥
५७०	द्वेषम्-द्व्याभ्या प्रकाराभ्यामेकं राशिं द्वौ करोति ।	॥२१।१५॥
	ध.	
५७१	धर्मः-स्वभावः ।	॥१७।२४॥
५७२	धिक्-निन्दायै ।	॥१८।३०॥
	न.	
५७३	न-नहि शेते, जने निर्जने च सर्वत्र सदैव च जागर्ति, बहुभिः कृतवैरत्वान्निरल-सत्त्वात्, अत एव तस्य लब्धयश-स्त्वम् ।	॥१५५।२५॥
५७४	न-निषेधार्थः ।	॥१९।३५॥
५७५	न अदत्त-न ददौ ।	॥६३।३७॥
५७६	नञ्-निषेधार्थः ।	॥१९।३५॥
५७७	नक्सि-निषेधे वर्जने च ।	॥१९।३५॥
५७८	नकं-रात्रौ ।	॥१८।१५॥
५७९	नचेत्-निषेधे ।	॥१९।३२॥
५८०	न त्वेष मूलराजमहीपतिः-भवन्मध्ये सुतमेनं मूलराजमहीपतिं हरित्वेन विच न तु मूलराजमहीपतित्वेन, तत्सदृश-सकलगुणगौरवादिति भावः ।	॥१५५।३१॥
५८१	ननु-विरोधोक्तौ, अनन्वयादौ च ।	॥३९।४७॥
५८२	न प्रयोगः अप्रयोगोऽस्याऽस्तीति-अप्र-योगी ।	॥२२।३७॥
५८३	नमस्-नतौ ।	॥१८।३४॥
५८४	नमस्कारः-प्रह्लीभावः ।	॥२।५१॥
५८५	नयाः-निरवधारणा अभिप्रायविशेषा-पूर्वोक्ताः सप्त ।	॥४।२७॥
५८६	नयान्-नैगमसंग्रहव्यवहारः क्रजुसूत्र-शब्दसमभिरूढपवम्भूतेति सप्त ।	॥४।२३॥
५८७	नवः-अभिनवः ।	॥६३।३५॥
५८८	नवा-विभाषायाम् ।	॥२०।१६॥
५८९	न विद्यन्ति-विधिप्रकारप्रापकान् न प्राप्नुवन्ति ।	॥१७।४९॥
५९०	नवै-प्रत्याख्याने ।	॥२०।१६॥

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
५९१	न सम्भवन्ति-त्वच्छब्दस्याऽकारान्तत्वा-भावात् प्राप्नुवन्ति ।	॥६८।१२॥
५९२	नह-प्रत्यारम्भविषादप्रतिविधिषु ।	॥१९।३४॥
५९३	नहवै-प्रत्याख्याने ।	॥२०।१६॥
५९४	नहि-अभावे ।	॥१९।३४॥
५९५	नहिकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९।४८॥
५९६	ना-टावचनस्य नादेश इति ।	॥७८।३४॥
५९७	नाऽतुल्यं-तुल्यमेवेत्यर्थः ।	॥८।३७॥
५९८	नादः-तन्नामकश्चतुर्थः ।	॥९।४५॥
५९९	नादानुप्रदानाः-नादलक्षणमनुप्रदानं येषां ते नादानुप्रदानाः ।	॥१०।३९॥
६००	नाना-पृथग्भावे, अनेकविनार्थयोरिति मनोरमायाम् ।	॥१८।४२॥
६०१	नाऽन्यत्र-तस्मादन्यस्मिन् कार्ये कर्तव्ये-तीयप्रत्ययान्तं न सर्वादि ।	॥७३।२८॥
६०२	नाम-प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्स-नेषु ।	॥२०।२४॥
६०३	नाम्नि-संज्ञायाम् ।	॥३३।१२॥
६०४	नासिक्यो वर्णः-नासिकायां भव इत्यर्थः ।	॥६।३८॥
६०५	निकपा-अन्तिके ।	॥१८।२९॥
६०६	निकामम्-अतिशयार्थे ।	॥१८।३२॥
६०७	निग्रहः-ग्रहणम् ।	॥१०।२२॥
६०८	निग्रं-परवशम् ।	॥२।२७॥
६०९	नित्यदा-सातत्ये ।	॥१८।४७॥
६१०	नित्यम्-सातत्ये ।	॥१८।४७॥
६११	निमिचमेव-नैमित्तिकम् ।	॥१७।५१॥
६१२	नियतपरिमाणमात्राऽक्षरपिण्डः-पादः ।	॥११।१९॥
६१३	नियोगे-अवधारणे ।	॥३०।२९॥
६१४	नियोगो-नियमोऽवधारणम्, तदभावो-ऽनियोगोऽनवकृतिः ।	॥३०।७॥
६१५	नियोजनं-नियोगो व्यापारः ।	॥३०।३०॥
६१६	नीचिस्-अवकृष्टे, अल्पे इति मनोरमा०	॥१८।२७॥
६१७	नु-वितर्कपादपूरणयोः ।	॥२०।१४॥
६१८	नुकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९।४७॥
६१९	नुवै-वितर्के पादपूरणे च ।	॥१९।३७॥
६२०	नूनम्-वितर्के, अर्थनिश्चये च ।	॥१९।३०॥
६२१	नेत्-प्रतिषेधाऽवधारणसमुच्चयेषु, शङ्कायां विचारेऽपि ।	॥१९।३१॥
६२२	नेमशब्दः-अर्घार्थः ।	॥६८।२१॥
६२३	नो-निषेधे ।	॥१९।४४॥
६२४	नोहि-निषेधे ।	॥१९।४४॥
६२५	न्वाव-अनुमानप्रतिज्ञाप्रेषसमाप्तिषु ।	॥१९।३६॥
६२६	न्वावत्-अनुमानप्रतिज्ञाप्रेषसमाप्तिषु ।	॥१९।३६॥
६२७	न्वै-वितर्के पादपूरणे च ।	॥१९।३७॥
	प.	
६२८	पक्षपाती-पक्षं पातयतीत्येवंशीलः ।	॥४।२४॥
६२९	पक्षे-जरसादेशाभावपक्षे ।	॥१०।३८॥
६३०	पचतिरूपम्-प्रशस्तं पचति ।	॥२१।३९॥
६३१	पञ्चत्व-पञ्चवारा अचीते ।	॥२१।१३॥
६३२	पञ्चधा-पञ्चप्रकारैः ।	॥२१।२०॥
६३३	पञ्चमी-पञ्चानां पूरणी ।	॥२१।२०॥

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
६३४	पट्-पाटवे ।	॥२०११८॥	६७०	पुंश्चली-पुमांसं चलयति (या सा) ।	॥४२३३॥
६३५	पतत्-पतनशीलम् ।	॥११९३८॥	६७१	पुंश्छत्रं-पुंसः छत्रम् ।	॥४२३८॥
६३६	पततीति पतोऽञ्जलेः-पतञ्जलिः ।	॥३०१३॥	६७२	पुंष्टिभ-पुमान् टिष्टिभ ।	॥४२३८॥
६३७	पथिद्वैधानि-द्वौ प्रकारौ येषाम्-पथो द्वैधानि, पथिद्वैधानि ।	॥२१३५॥	६७३	पुंसि-पुलिङ्गविषये ।	॥१०५१२॥
६३८	पदं-पद्यते-गम्यते कारकसंस्तुष्टोऽर्थो- ऽनेनेति पदम् ।	॥११३३॥	६७४	पुंस्कामा-पुमांसं कामयते (या सा) ।	॥४२३३॥
६३९	पदप्रदेशः-पदसंज्ञाप्रयोजनस्थानानि ।	॥११३९॥	६७५	पुंस्कोकिलः-पुमांश्चासौ कोकिलश्च ।	॥४२३६॥
६४०	पदात्-पद्यते गम्यते कर्तृकर्मादिविशि- ष्टोऽर्थोऽनेनेति पदं स्याद्यन्तं तस्माद् ॥११६१६॥	॥११६१६॥	६७६	पुंस्खातं-पुंसः खातम् ।	॥४२३६॥
६४१	परकीर्त्तिस्त्वन्तीना-वैरिभूपालकीर्त्ति- निम्नगानाम् ।	॥६३३६॥	६७७	पुद्गुरः-पुंसः श्वुरः ।	॥४२३४२॥
६४२	परत्वात्-विशेषविहितत्वेन प्रकृष्टत्वात् ॥११२१२॥	॥११२१२॥	६७८	पुद्गात-पुंसा र्यातः ।	॥४२३४२॥
६४३	परम्-केवले, किन्त्वर्थे इति मनोरमा० ॥१८३३॥	॥१८३३॥	६७९	पुतः-स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः ।	॥८१२८॥
६४४	परमत्वं-अवाधितज्ञानाऽतिशयादिविराज- मानत्वम् ।	॥११२६॥	६८०	पुद्-कृत्सायाम् ।	॥२०१२१॥
६४५	परमश्चासौ ईश्वरः-परमेश्वरः ।	॥२११४॥	६८१	पुनर्-अग्रयमे विशेषे च ।	॥१८११४॥
६४६	परमात्मानं-परमश्चाऽसौ आत्मा च परमात्मा, तं परमात्मानम्-अवाधित- ज्ञानातिशयादिविराजमानं देवाधिदेव- विशेषम् ।	॥११२५॥	६८२	पुनर्भूः-पुनरूढा स्त्री ।	॥१३०७॥
६४७	परमे पदे तिष्ठतीति-परमेष्ठी ।	॥२११४॥	६८३	पुनर्थतः-प्रतियत्नः, सतो गुणाधानाया- ऽपायपरिहाराय वा समीहा ।	॥१६५११॥
६४८	परमेश्वरस्य-चतुर्लिंगशक्तिशयरूपपरमै- श्वर्यसम्पन्नस्य ।	॥२११४॥	६८४	पुर-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१२४॥
६४९	परमेश्वरस्य-परमेष्ठिनः ।	॥२१११॥	६८५	पुरतस्-अग्रतोऽर्थे ।	॥१८४३॥
६५०	परमेष्ठिनः-अर्हतः ।	॥२११४॥	६८६	पुरस्-अग्रतोऽर्थे ।	॥१८४३॥
६५१	परस्पर-अन्योन्यम् ।	॥९३९॥	६८७	पुरस्तात्-प्रथमे पुरोऽर्थे च ।	॥१८४४॥
६५२	परारि-पूर्वतरे परतरे वा संवत्सरे ।	॥२१११॥	६८८	पुरस्तात्-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१२४॥
६५३	परार्थभिधानं वृत्तिः, तद्वाश्च पदसमु- दायः समासादिः ।	॥१३५॥	६८९	पुरा-भूतभविष्यत्परीप्साच्चिरन्तनेपु, पुरेत्यविरते चिरातीते भविष्यदासन्ने चेति, मनोरमायाम् ।	॥१८२०॥
६५४	परिक्रीयते-नियतकालं स्वीक्रियते येन परिक्रयणं-वेतनादि ।	॥१९६८॥	६९०	पुरा-स्वरादौ पठितं सत्त्वभूते काले, अत्र त्वसत्त्वभूते ।	॥२०१२१॥
६५५	परिमाणं-सर्वतो मानम् ।	॥४४८॥	६९१	पुरपोत्तम-श्रीरुष्णः ।	॥३८४२॥
६५६	परुत्-पूर्वस्मिन् परस्मिन् वा संवत्सरे	॥२११०॥	६९२	(या) पूः द्वारिकानगरी ।	॥१७३३॥
६५७	परेद्यवि-परस्मिन्नहनि ।	॥२०४४॥	६९३	पूर्व-असतः संयोगान्तलोपात् पूर्वम् ।	॥८८१७॥
६५८	पशुदासो हि विधिप्रधानः ।	॥३३४४॥	६९४	पूर्वेण-"नित्यमन्वादेशे" इत्यनेन ।	॥१२१३०॥
६५९	पर्वते-पर्वते शिलाभिः-पर्वतः ।	॥१६९२३॥	६९५	पूर्वेण-"युष्मदसदो" इत्यनेन ।	॥१११७॥
६६०	पशु-दृश्यर्थे । पशु-सम्यग्रर्थे, 'पशु मन्यमानाः' इति मनोर० ।	॥२०११८॥	६९६	पूर्वेणति-"कयोरसदाधारे" इत्यनेने- त्यर्थः ।	॥२०७३३॥
६६१	पश्चात्-विग्रहस्तु पूर्ववत् ।	॥२१२३॥	६९७	पूर्वेद्युः-पूर्वस्मिन्नहनि ।	॥२१८॥
६६२	पाट्-सम्बोधने, अत्र केचिद् डकार पठन्ति ।	॥१९३९॥	६९८	पूर्वेपां-पाणिण्यादीनाम् ।	॥१९२५॥
६६३	पादाथो-पाददपूरणी ।	॥५६१०॥	६९९	पृथक्-भिन्ने वियोगे इत्यपि ।	॥१८३०॥
६६४	पादाथो-पादाय इयं पादोऽर्थो यस्यामिति वा ।	॥५६३६॥	७००	पृथगुपादानं-उत्तरद्वययोः प्रकृति- द्वारेण सर्वादित्वे लब्धेऽपि प्रकृते- र्मिन्नोपादानम् ।	॥६७३६॥
६६५	पादो नाम-नियतवर्णमात्राऽवयवपिण्डः ॥५६३६॥	॥५६३६॥	७०१	प्याट्-सम्बोधने, अत्र केचिद् डकारं पठन्ति ।	॥१९३९॥
६६६	पान्तु-रक्षन्तु ।	॥११९३९॥	७०२	प्रकरणात्-प्रस्तावात् ।	॥१४३२॥
६६७	पिनाकपाणिः-महेश्वरः ।	॥२४३३॥	७०३	प्रकर्ष-प्रकृष्टम् ।	॥१७०१८॥
६६८	पीलुमूलतो विद्योतते विद्युत्-पीलुमूलं यस्या दिशि तस्यां विद्योतते विद्यु- दित्यर्थः ।	॥२२३७॥	७०४	प्रकर्षेण सितो बद्धः-प्रसितः ।	॥१८९५॥
६६९	पुंशर-पुंसः शरः ।	॥४२३९॥	७०५	प्रकामम्-अतिशयाथे ।	॥१८३२॥
			७०६	प्रकृति-स्वभावः ।	॥१८७४४॥
			७०७	प्रकृतिमात्रस्य-युष्मदसद्रूपपदस्य ।	॥११३४३॥
			७०८	प्रकृष्टो योगः सम्बन्धः-प्रयोगः ।	॥२२३७॥
			७०९	प्रगतमृणं-प्राणम् ।	॥२७८॥
			७१०	प्रगता पलका अस्मात्-प्रेलको देशः ।	॥३१८॥
			७११	प्रगता-प्रणन्तुमारब्धाः ।	॥४३०॥
			७१२	प्रणम्य-मनसि नत्वा ।	॥१२६॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
७१३	प्रणिदध्महे-ध्यायामः ।	॥२।५०॥
७१४	प्रणिधेयं-प्रणिधिविषयम् ।	॥२।४३॥
७१५	प्रताम्-ग्लानौ ।	॥१८।४७॥
७१६	प्रतिदानं-गृहीतस्य प्रत्यर्पणं-विशोधन- मिति यावत् ।	॥१९७।१७॥
७१७	प्रतिनिधीयत इति-प्रतिनिधिः, मुख्यस्य सदृशोऽर्थः ।	॥१९७।१७॥
७१८	प्रतिपत्तिः-ज्ञानम् ।	॥११।२५॥
७१९	प्रत्यर्पणं-निर्यातनम् ।	॥१९७।४२॥
७२०	प्रत्यासत्तेः-प्रत्यासत्तिन्यायात् ।	॥३६।२९॥
७२१	प्रत्यासत्तेः-पूर्वप्रदर्शितप्रत्यासत्ति- न्यायात् ।	॥३५।२८॥
७२२	प्रत्युत्-उक्तवैपरीत्ये ।	॥२०।२९॥
७२३	प्रवाहु-ऊर्ध्वार्थे ।	॥१८।३५॥
७२४	प्रवाहुक्-अर्द्धार्थे ।	॥१८।३५॥
७२५	प्रवाहुकम्-अर्द्धार्थे ।	॥१८।३५॥
७२६	प्रवाहुकम्-समकालार्थे, सिद्धार्थे च । प्रवाहिका-इति पाठान्तरमिति मनोरमा०	॥१८।३५॥
७२७	प्रयत्नः-उत्साहः ।	॥८।२५॥
	”	॥९।३९॥
	”	॥१०।२२॥
७२८	प्रवादाः-प्रकर्षेण स्वाभ्युपगतार्थप्रति- पादनशीलाः सिद्धान्ताः ।	॥४।२२॥
७२९	प्रवेयः-प्रवीयते प्राजतिक्रियया व्याप्यते यः स प्रवेयः ।	॥१६३।८॥
७३०	प्रवेशं-संगमम् ।	॥६३।३७॥
७३१	प्रशस्यते-लोके विश्रुतो भवति ।	॥८५।२८॥
७३२	प्रशान्-चिरन्तने, समानार्थे इति मनोरमायाम् ।	॥१८।४०॥
७३३	प्रसरः-प्रकर्षः ।	॥१७।३३॥
७३४	प्रसिद्धतत्सम्बन्धस्य किमप्याख्यानुम- भिसुखीकरणं-आमन्त्रणम् ।	॥१७।८।५॥
७३५	प्रसिद्धं-लक्षणम् ।	॥२११।६॥
७३६	प्राक्-प्राची दिग्मणीया, प्राग्देशः कालो वा रमणीयः, प्राग्मणीयम् । प्राच्या दिशः प्राचो देशात् कालाद्वा प्रागागतः । प्राच्यां दिशि प्राचि देशे काले वा वसति ।	॥२१।२०॥
७३७	प्रातस्-प्रत्यूषे ।	॥१८।१४॥
७३८	प्रादुस्-प्राकाश्ये, नाश्यपि ।	॥१८।४५॥
७३९	प्रामाणिकादेः-यथार्थप्रमाणपुरस्सरं वक्तुभ्यः सकाशात् ।	॥५।१६॥
७४०	प्रायस्-बाहुल्ये ।	॥१८।३४॥
७४१	प्रार्थनायाऽध्ययनं-प्रव्ययनम् ।	॥३०।१४॥
७४२	प्रावृद्धजाता-वर्षाकालः समनुप्राप्तः ।	॥१५५।२२॥
७४३	प्रावृद्धजाता-धृष्टिकालः सम्पद्यमानः	॥१५५।२८॥
७४४	सुतसंग्रहार्थं-सुतानां संग्रहाय ।	॥६।२६॥
	फ.	
७४५	फट्-निर्भर्त्सनसम्बोधनयोः ।	॥१९।३९॥
७४६	फलं-कार्यम् ।	॥१८५।४५॥
७४७	फलसाधनयोग्यः पदार्थः-हेतुः ।	॥१८५।१५॥
	”	॥२००।७॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
	व.	
७४८	वत-खेदानुकम्पासन्तोपविस्सया- ऽऽमन्त्रणेपु ।	॥२०।१४॥
७४९	वलवत्-निभरे । वलवदित्यतिशये इति मनो० ।	॥१८।३८॥
७५०	वलेः-पशुवधरूपस्य राजग्राह्यभागस्य चा ।	॥२४।३१॥
७५१	वहिस-वाह्ये वहिर्भावे, अनावृतप्रदेशे	॥१८।२०॥
७५२	वहुगुडो-द्राक्षा ।	॥१६।१८॥
७५३	वहुधा-वहव आसन्ना वारा अस्य ।	॥२१।१९॥
७५४	वहुराजा-वहवो राजानो यस्या सा ।	॥१५।३८॥
७५५	वहुशः-वहवो बहुशो वा ददाति ।	॥२१।३३॥
७५६	वालकृश्यः-सृगजातिः ।	॥२५।२८॥
७५७	वाह्या-निष्पत्तौ ।	॥२०।२९॥
७५८	विम्बोष्ठी-विम्बमिव ओष्ठौ यस्या, सा	॥३०।२२॥
७५९	वोधः-ज्ञानमार्गं, वद्विशेषश्च ।	॥१६।१७॥
७६०	ववीतीति-वचनः ।	॥१९।३।४०॥
७६१	ब्रह्मबन्धुः-ब्रह्मा बन्धुरस्याः ।	॥१५।४२॥
	भ.	
७६२	भगोस्-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
७६३	भजति तमिति-प्राग. ।	॥१८।२७॥
७६४	भयं-आकुलीभावः ।	॥१७३।१७॥
७६५	भवः-संसारः ।	॥१९९।३८॥
७६६	भवतु-परोक्षवचनः ।	॥७०।४५॥
७६७	भवनं-भावः ।	॥१९३।४०॥
७६८	भवन्तं-केवलज्ञानभास्वद्विभूषितदेहम् ।	॥४।३०॥
७६९	भावः-क्रिया ।	॥२१।१६॥
७७०	भावः-क्रिया गोदोहादि. ।	॥१६९।७॥
	”	॥२१।१६॥
७७१	भावः-परस्परविरुद्धधर्मोपन्यास. ।	॥४।२१॥
७७२	भावात्-उत्पत्तेः ।	॥९।३३॥
	”	॥१०।३४॥
७७३	भित्-मिनचीति ।	॥१५।४४॥
७७४	भुवस्-मनुष्यलोके ।	॥१८।१८॥
७७५	भूपतयः-चैरिराजानः ।	॥१०।४।२४॥
७७६	भूयस्-पुनरर्थे, आधिक्ये च ।	॥१८।३४॥
७७७	भूस्-जागलिके ।	॥१८।१८॥
७७८	भेदिनः-प्रकारवतोऽर्थस्य ।	॥१८।७।८॥
७७९	भेदैः-प्रकारविशेषैः ।	॥२४।२॥
७८०	भेदो-नानात्वं-पक्षत्वप्रतियोगी ।	
७८१	भोगोभयो इत्येते-आमन्त्रणार्थं. सकारान्ता अख्यायाः ।	॥४।८।८॥
७८२	भोस्-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
	म.	
७८३	मङ्गु-शीघ्रार्थे ।	॥१८।२७॥
७८४	मङ्गलं-उत्सवम् ।	॥१०।६।२२॥
७८५	मत्सरिणः-अतिशयेनाऽक्षमावन्त. ।	॥४।२२॥
७८६	मनस्-नियमे ।	॥१८।३४॥
७८७	मनाक्-ईपदप्राप्तयोः । अल्पे इति मनो०	॥१८।३३॥
७८८	मन्दः-शनैः शनैः ।	॥१०।२४॥
७८९	मन्युः-क्रोधः ।	॥३८।४२॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
७९०	मयस्-सुखे ।	॥१८१७॥
७९१	मर्या-सीमावन्धे ।	॥२०१२४॥
७९२	महत्त्वं-दीर्घत्वम् ।	॥१०१२४॥
७९३	मा-निषेधार्थः ।	॥१९१३५॥
७९४	माकिः, मार्कि, नकिः-इति त्रयोऽपि वर्जने, इति मनोरमायाम् ।	॥१९१३५॥
७९५	माकिस्-निषेधे वर्जने च ।	॥१९१३५॥
७९६	माह्-निषेधार्थः ।	॥१९१३५॥
७९७	मात्रं-अवधारणे ।	॥३९१२६॥
७९८	मात्रा-कालविशेषः ।	॥५११०॥
७९९	मा स त्यजत-तत्त्यक्त्वा नगरं मा स गच्छत ।	॥१५५१२३॥
	”	॥१५५१२९॥
८००	मा स त्यजत-वनं त्यक्त्वा तन्नगरं रोद्धुं मा स गच्छत ।	॥१५५१२३॥
८०१	मिथस्-विजनवियोगेतरैतरार्थे ।	॥१२१२५॥
८०२	मिथु-विजनवियोगेतरैतरार्थे ।	॥१८१२५॥
८०३	मिथु-स्वाङ्गे द्वावित्यर्थे इति मनोरमा०	॥१८१२६॥
८०४	मिथुनम्-स्त्रीपुंससंयोगे ।	॥१८१२६॥
८०५	मिथुस्-संगमे ।	॥१८१२६॥
८०६	मिथो शोकारान्तो-रहः सहार्थयोः ।	॥१८१२५॥
८०७	मिथो मिथस् (पतौ) रहःसहार्थयोः इति मनोरमायाम् ।	॥१८१२५॥
८०८	मिथ्या-वितथे ।	॥१८१२४॥
८०९	मुधा-व्यर्थे ।	॥१८१२४॥
८१०	मुहुस्-पुनः पुनः ।	॥१८१२६॥
८११	मूलराजः-तन्नामा नृपतिः ।	॥२१८३२॥
८१२	मूलार्कः-मूलनक्षत्रे स्थितो रविः ।	॥२१८३१॥
८१३	मृषा-वितथे ।	॥१८१२४॥
<b>य.</b>		
८१४	यः-पूर्वोक्तस्तस्य नृपस्य यशोर्णवः ।	॥६३३३६॥
८१५	यच्च-वाक्यान्तरोपक्रमे ।	॥२०११५॥
८१६	यतस्ततः-हेतौ ।	॥२०३२२॥
८१७	यतो-यस्मात् कारणात् ।	॥४१२९॥
८१८	यत्त-हेतौ ।	॥२०३२२॥
८१९	यत्र-कालेऽधिकरणे, मनोरमायां तु यत्रेत्यनवकृत्यमर्षगर्हाऽऽश्चर्येषु ।	॥१९१३३॥
८२०	यत्र-यस्मिन् ।	॥८१२८॥
८२१	यत्र-वर्णसमुदाये ।	॥७१२९॥
८२२	यत्र पुद्गलस्कन्धस्य वर्षभावापत्तिस्तत्-स्थानं कण्ठादि ।	॥८१५॥
८२३	यथा-दृष्टान्ते येन प्रकारेण ।	॥४१२१॥
८२४	यथा-येन प्रकारेण ।	॥२११६२॥
८२५	यथा-योग्यतावीप्सार्थाऽनतिवृत्ति-सादृश्येषु ।	॥२०१२०॥
८२६	यथाकथाच-अनादरे ।	॥२०१२०॥
८२७	यथादर्शनं-दर्शनमनतिक्रम्य वर्तत इति	॥३५१३५॥
८२८	यथायथम्-यथास्वमित्यर्थे ।	॥२०१२०॥
८२९	यथायोगं-योगमनतिक्रम्य ।	॥६०३३॥
८३०	यथासंख्यं-यथाक्रमं सिञ्जीञ् इति प्रथमा ।	॥१११२८॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
८३१	यद्-हेत्वर्थवाक्योपन्यासयोः ।	॥२०११२॥
८३२	यदा-देशाद्यधिकरणे ।	॥२०११९॥
८३३	यदा-यस्मिन् काले ।	॥१६१२४॥
८३४	यदा-यस्मिन् समये ।	॥९१३८॥
	”	॥१६१२४॥
८३५	यदाधैयसन्निधिमात्रेण क्रियाहेतु-स्तत्-सामीप्यकम् ।	॥१७४१६४॥
८३६	यदि-पक्षान्तरे ।	॥२०११९॥
८३७	यदिनाम-पक्षान्तरे ।	॥२०११८॥
	”	॥२०११९॥
८३८	यदुत-पराशयप्रकाशनादौ ।	॥२०११९॥
८३९	यशोऽर्णवः-कीर्तिनदीपतिः ।	॥६३३३५॥
८४०	यस्याऽऽधेयेन समस्ताऽवयवसंयोग-स्तद्-अभिव्यापकम् ।	॥१७४१२२॥
८४१	यस्याऽर्थो गम्यते न च शब्दः प्रयु-ज्यते स-गम्यः ।	॥१९४६॥
८४२	यावत्-साकल्याऽवधिमानाऽवधारणेषु । मर्यादाऽवधिपरिमाणेषु इति है० वृ० न्या० ।	॥२०१२२॥
८४३	युगपत्-क्रियासमभिहारे सहार्थे च ।	॥१८४३॥
८४४	युज्यते-सम्बन्धत इति योगः ।	॥२२१३७॥
८४५	युष्मद्-प्रत्यक्षवचनः ।	॥७०४५॥
८४६	योगे-योगः-सम्बन्धस्तस्मिन् ।	॥६११५॥
८४७	योग्यः-सामान्यतो दृष्टसामर्थ्यः ।	॥१८५४५॥
८४८	योजनं-युक् सममविषयं संख्यास्थानं युगमिति यत्संख्यायते तेन परिच्छिन्नं वत्त्वपि युगित्युच्यते ।	॥११६११७॥
८४९	योस्-विषयसुखे ।	॥१८११७॥
<b>र.</b>		
८५०	रज्जवः-रज्जुसन्निभाः ।	॥१९१३९॥
८५१	रसेन-पारदेन ।	॥४१२७॥
८५२	राजपुरुष-राज्ञः पुरुषः ।	॥१६१८॥
८५३	रुचिः-अन्यकर्तृकोऽभिलाषः ।	॥१९११२२॥
८५४	राजासन्दी-सोमासनम् ।	॥१४७४३९॥
८५५	रजा-पीडा ।	॥१६५१५॥
८५६	रूपं-आनुपूर्वी ।	॥१५१२७॥
८५७	रूपतर्कः-रजतकार्षापणादिपरीक्षकः ।	॥१६२२११॥
८५८	रै-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥
८५९	रै-दाने अनादरे च ।	॥१९१३९॥
८६०	रै-दाने अनादरे चेति है० वृ० न्या०, रै करोति ददातीत्यर्थः, 'त्वं रै किं करिष्यसि ?' इति मनोरमायाम् ।	॥१९१३७॥
८६१	रोदसी-द्यावापृथिव्योः ।	॥१८११८॥
८६२	रौक्ष्यं-पारुष्यम् ।	॥१०१२३॥
<b>ल.</b>		
८६३	लक्षणं-स्वरूपम् ।	॥३६३३॥
८६४	लक्ष्यते दृश्यते येन तल्लक्षणं-चिह्नम् ।	॥७७११३॥
८६५	लक्ष्यतेऽऽनेनेति लक्षणं-लिङ्गम् ।	॥४४४४२॥
८६६	लघुप्रयत्नतरौ-मन्दतरप्रयत्नौ ।	॥४८३३६॥
८६७	लब्धस्य रक्षणं-योगः ।	॥२१२५॥
८६८	लिङ्गं-पुंस्त्रीपुंसकरूपम् ।	॥१५३३॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
८६९	लिङ्ग-स्त्यानप्रसवः, तच्च पुंस्त्रीनपुंस- कादिरूपम् ।	॥४१४६॥	९०७	विघातः-विशेषेण घातो-हननम् ।	॥२१२६॥
८७०	लुक्-अदर्शनम् ।	॥४१४८॥	९०८	विधमानता-सत्ता ।	॥१८६१४६॥
८७१	लुग्-लोपोऽदर्शनम् ।	॥४१४८॥	९०९	विधायते-विशेषेण धार्यते ।	॥२१३५॥
		॥३०१७॥	९१०	विधिः-प्रजापतिः ।	॥२४३३३॥
८७२	लोकात्-वैयाकरणसमयविदः, प्रामा- णिकादेश्च ।	॥५११॥	९११	विना-योगप्रतिषेधे, वर्जने इति मनोर- मायाम् ।	॥१८४२२॥
८७३	लोकेषु-जनेषु ।	॥२१८३३२॥	९१२	विनिमेयः-क्रेयविक्रेयोऽर्थः ।	॥१६६११८॥
	व.		९१३	विभक्तिः-विभज्यन्ते-विभागशः प्रका- श्यन्ते कर्तृकर्मादयोऽर्था अनया इति । ॥११२८॥	
८७४	व-पादपूरणे इचार्ये च ।	॥२०१३२॥	९१४	विरामश्च-अवसानम् ।	॥५९११९॥
८७५	वः-युष्मान् ।	॥११९१३९॥	९१५	विरामैकव्यञ्जने-विरामेऽसंयुक्तव्यञ्जने चा॥५११४॥	
८७६	वक्त्रं-मुखम् ।	॥१०६१२३॥	९१६	विरामो-विरतिः-वर्णानामुच्चारणाभावः॥५९१२०॥	
८७७	वज्राकृतिः-वज्रस्येवाऽऽकृतिर्यस्य सः, कुलिशाऽवयवविन्याससमस्वरूपः ।	॥८११७॥	९१७	विलेसुः-विलासं चक्रे रेमिर इत्यर्थः ॥१०६१२५॥	
८७८	वट्-वियोगपादपूरणयोः ।	॥११९३९॥	९१८	विचारः-तन्नामको बाह्यप्रयत्नः प्रथमः । ॥९१४२॥	
८७९	वदि-कृष्णपक्षे ।	॥१८४८॥	९१९	विचारादयः-विचारसंचारश्चासनाद्बो- षाऽघोषाऽल्पप्राणतामहाप्राणतोदात्ता- नुदात्तस्वरिताः ।	॥१०१२७॥
८८०	वयं-एकव्यक्तितात्पर्येणोच्चरितादस- च्छब्दाद्बहुवचनं तु पूर्वोक्तविशेषण- विशिष्टस्य अर्हमित्यस्य ध्येयस्य ध्याने- नाऽऽत्मनि समुत्कृष्टत्वेन गुणवाहुल्यं, तैरभिमतयाऽऽत्मनो बहुत्ववाचकत्वा- द्बोध्यम् ।	॥२१४८॥	९२०	विविधं प्रष्टव्यो-विप्रष्टव्यः ।	॥१९३१९९॥
८८१	वरम्-मनागिष्टे, ईषदुत्कर्षे इति मनोरमा०	॥१८३३३॥	९२१	विविधा विशेषानुपलम्भादेकस्मिन् वस्तुनि सादृश्यादिनिमित्तादनेक- पक्षालम्बनाऽनवधारणाऽऽत्मिका मतिः-विमतिः-सन्देहज्ञानमिति यावत् ।	॥१९२३३६॥
८८२	वर्गाणां-कवर्गचवर्गटवर्गतवर्गपवर्गा- णाम् ।	॥१०३५॥	९२२	विवृतं-विकस्वरम् ।	॥९१४४॥
८८३	वर्ज्ये-वर्जनीये ।	॥१९७१३३॥	९२३	विवृतकण्ठा-येषामुच्चारणे कण्ठो विवृतो भवति ते विवृतकण्ठाः ।	॥१०३६॥
८८४	वर्णत्वार्थं-वर्णत्वप्रयोजनाय ।	॥८१२२॥	९२४	विवृतत्वात्-विकासित्वात् ।	॥९१४२॥
८८५	वर्णध्वनौ-अक्षरध्वनौ ।	॥९१३८॥	९२५	विशिष्टः प्रश्नो-विप्रश्नोऽभिमानोन्मा- दादिप्रयुक्तः पूर्वपक्षः ।	॥१९२३३८॥
८८६	वर्णनिष्पत्तिकालात्-अक्षरोत्पत्ति- समयात् ।	॥१०१२८॥	९२६	विशिष्यते विशेष्यं येन तद्-विशेषणम् ॥१४१५॥	
८८७	वर्णभावापत्तिः-अक्षररूपतापरिणामः । ॥८३३०॥		९२७	विशेषणं-व्यवच्छेदः ।	॥११२२२॥
८८८	वर्णेषु-लोकविश्रुतेषु ।	॥८१२२॥	९२८	विषयः-आश्रयोऽविज्ञाततत्त्व- सन्दिग्धोऽर्थः ।	॥१९२३३७॥
८८९	वर्णोत्पत्तिकाले-अक्षराभिव्यक्तिसमये । ॥१०३०॥		९२९	विषु-नानाऽर्थे ।	॥२०१७॥
८९०	वर्षाभूः-ओषधिविशेषो दूर्धुरश्च ।	॥१३०८॥	९३०	विष्वक्-समन्तादित्यर्थे नानार्थे इत्यपि ॥१८१८॥	
८९१	वषट्-देवहविर्दानादौ ।	॥१९३८॥	९३१	विसृज्यते-विरम्यत इति विसर्गः ।	॥६३५॥
८९२	वसनानामृणं-वसनार्णम् ।	॥२८११॥	९३२	विहायसा-अन्तरिक्षे ।	॥१८१७॥
८९३	वा-अथवा ।	॥१४३२॥	९३३	वीक्ष्यं-विमतिपूर्वकं निरूपणीयम्- विप्रश्नविषय इति यावत् ।	॥१९२३२२॥
८९४	वा-अथवेति पक्षान्तरे ।	॥६७२८॥	९३४	वीप्सा-क्रियागुणद्रव्यैर्युगपत् प्रयोक्त- व्याप्तिसिद्ध्या ।	॥४१४८॥
८९५	वाक्छूर-वाचा शूरः ।	॥४०३८॥	९३५	वृत्तिः-वर्तनम् ।	॥१३३१७॥
८९६	वाक्छृक्ष्णः-वाचा शृक्ष्णः ।	॥४०४०॥	९३६	वृत्त्यन्तत्वाभावात्-समासचरमा- वयवाभावात् ।	॥१३३३४॥
८९७	वाग्धीनः-वाचा हीनः ।	॥४०२८॥	९३७	वृथा-व्यर्थे ।	॥१८२२५॥
८९८	वाचकं-बोधकम् ।	॥२११४॥	९३८	वेट्-वियोगपादपूरणयोः ।	॥१९३३९॥
८९९	वाच्यमा-वशीकृतेन्द्रियाः-सत्पुरुषाः ॥३८४४॥		९३९	वेत्तीति-जानातीति ।	॥५१५५॥
९००	वाट्-वियोगपादपूरणयोः ।	॥१९३९॥	९४०	वै-निश्चये । स्फुटार्थे इति हे० वृ० न्या० ।	॥१९३३८॥
९०१	वादात्-विविक्तशब्दप्रयोगात् ।	॥४१४॥	९४१	वैयाकरणानां-शाब्दिकानाम् ।	॥५१५५॥
९०२	वायुवशेन-समीरणवलेन ।	॥१०१२८॥	९४२	वौषट्-देवहविर्दानादौ ।	॥१९३३८॥
९०३	वाव-सम्बोधने ।	॥१९३६॥			
९०४	वावत्-अनुमानप्रतिज्ञामैषसमाप्तिषु । ॥१९३६॥				
९०५	वा-स्याद्विकरपोपमयोरेवार्थे समुच्चये । ॥१९३९॥				
९०६	विक्रयः-यो देयः ।	॥१६६४४॥			



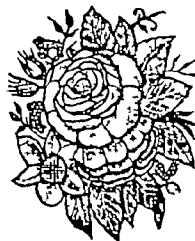
क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
९४३	व्यञ्जनं-व्यज्यते प्रकाशवान् क्रियतेऽ थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यन्वर्थसंज्ञा ।	॥७१२५॥
९४४	व्यपदेशः-कथनम् ।	॥८५१२९॥
९४५	व्यवस्था-मर्यादा ।	॥१२४३१॥
९४६	व्यवस्थितं-मर्यादानतिक्रान्तम् ।	॥७११४४॥
९४७	व्याप्त्यर्थ-व्याप्तिः-सम्बन्धस्तदर्थम् ।	॥२५१२४॥
<b>ज्ञ.</b>		
९४८	शंवद्-अन्तःकरणे आभिमुख्ये च ।	॥२०१३२॥
९४९	शकानामन्धुः-शकन्धुः ।	॥३०१३३॥
९५०	शक्तिः-कर्मत्वकरणत्वसम्प्रदानादिः ।	॥१५१२४॥
९५१	शनैस्-क्रियामान्धे ।	॥१८१२७॥
९५२	शप्-प्रतिग्रहे ।	॥२०१३७॥
९५३	शब्दानां लौकिकानां प्राकृतानां च अनु- शासनं-व्युत्पादनं-शब्दानुशासनं- व्याकरणम् ।	॥११२८॥
९५४	शब्दानुशासनस्य-शब्दव्युत्पत्ति- जनकशास्त्रस्य ।	॥४११५॥
९५५	शम्-सुखे ।	॥१८१३७॥
९५६	शब्-प्रतिग्रहे ।	॥२०१३७॥
९५७	शश्वत्-पौनःपुन्ये, नित्ये सहाय्ये च ।	॥१८१४४॥
९५८	शश्वत्-खरादावपि पठितः ।	॥१९१३१॥
९५९	शाङ्करवी-शं गृणाति शङ्करकपिस्त- स्याऽपत्यं शाङ्करवी ।	॥८६१२८॥
९६०	शास्त्रप्रवृत्तये-शास्त्रस्य-शब्दानुशासनस्य प्रवृत्तये प्रयोगनिष्पत्तये ।	॥५११६॥
९६१	शास्त्रारम्भे-शब्दानुशासनादौ ।	॥२१५०॥
९६२	शास्त्रे-ज्योतिःशास्त्रे ।	॥२१८१३१॥
९६३	शिक्षा-वर्णोत्पत्तिपादकं शास्त्रम् ।	॥१३१३॥
९६४	शिटः-परोऽद्योष इति-व्यत्ययः ।	॥६०१५॥
९६५	शिवाः-जम्बूकाः ।	॥१०६१२४॥
९६६	शीतने ऋत-शीतार्तः ।	॥२८१५॥
९६७	शुः-पूजायाम् ।	॥१८१४२॥
९६८	शुकम्-प्रत्यास्थाने शैत्ये च । शुकम्- अतिशये इति मनोर० ।	॥१९१४७॥
९६९	शुक्लीकरोति-न शुक्लं-अशुक्लं शुक्लं करोतीति-शुक्ली करोति ।	॥२११३०॥
९७०	शुदि-शुक्लपक्षे ।	॥१८१४८॥
९७१	शुभाशुभं तत्कृतं फलं वा सुखदुःखा- त्मकं-दैवम् ।	॥१९२१४०॥
९७२	शेते-आलस्याभिरुचम आत्ते ।	॥१५५१२४॥
९७३	श्रूयते-श्रवणजन्मना प्रत्यक्षेण विषयीक्रियते ।	॥२१८१३१॥
९७४	श्रेयः-अतिशयेन प्रशस्यम् ।	॥११२८॥
९७५	श्रौषट्-देवहविर्दानादौ ।	॥१९१३८॥
९७६	श्लाघ्यया-श्लाघामर्हया ।	॥८५१२८॥
९७७	श्वस्-अनागतोऽङ्गि ।	॥१८११६॥
९७८	श्वासः-तन्नामको वायुः ।	॥११४४॥
९७९	श्वसानुप्रदानाः-श्वसलक्षणमनुप्रदानं येषां ते श्वसानुप्रदानाः ।	॥१०१३७॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
	<b>ष.</b>	
९८०	पट्टश्यामाः-पण्णां श्यामाः ।	॥४०१४२॥
९८१	पट्टो-पण्णां पूरणी ।	॥१११२०॥
	<b>स.</b>	
९८२	संवत्-वर्षे ।	॥१८१४८॥
९८३	संवृतकण्ठाः-येषामुच्चारणे कण्ठः संवृतो भवति ते-संवृतकण्ठाः ।	॥१०१३८॥
९८४	संवृतत्वात्-संकोचशालित्वात् ।	॥९१४३॥
९८५	संशयत्रैधानि-त्रयः प्रकारा येषाम्, संशयस्य त्रैधानि-संशयत्रैधानि ।	॥२११३६॥
९८६	सकलः-परिपूर्णः ।	॥२६११५॥
९८७	सकलागमेषु-पूर्वपश्चिमान्नायरूपेषु ।	॥२१२४॥
९८८	सकलानि-समग्राणि ।	॥४११६॥
९८९	सकृत्-एकवार भुङ्क्ते ।	॥२११३७॥
९९०	सङ्कल्पः-इच्छासम्पादनम् ।	॥२१३२॥
९९१	संख्या-एकत्वद्वित्वाद्यभिधानबुद्धिहेतुः ।	॥४४४७॥
९९२	संख्याः-एकाद्याः ।	॥१५१२४॥
९९३	संख्ये-युद्धे ।	॥१०६१२४॥
९९४	सततम्-सातत्ये ।	॥२८१४७॥
९९५	सत्यम्-अर्घोद्गीकारे ।	॥१८१४८॥
९९६	सत्यं-प्रश्नप्रतिषेधयोः ।	॥१८१२४॥
९९७	सत्रा-सहाय्ये ।	॥२०१२५॥
९९८	सत्त्वं-द्रव्यम् ।	॥१९१२२॥
९९९	सत्त्वं-द्रव्यं, ततोऽन्यदसत्त्वम् ।	॥१९१२२॥
	”	॥२१५११९॥
१०००	सदा-सातत्ये ।	॥१८१४७॥
१००१	सद्यः-समानेऽङ्गि ।	॥२०१४४॥
१००२	सन्-परित्राणे ।	॥१८१४०॥
१००३	सनत्-चेदर्थे ।	॥१८१४१॥
१००४	सना-नित्ये । सना, सनत्, सनात् ; एते त्रयोऽपि नित्ये इति मनोरमा०	॥१८१४१॥
१००५	सनात्-हिंसायाम् ।	॥१८१४१॥
१००६	सन्ध्यक्षर-सन्धौ सत्यक्षरं-अर्थमश्रुते- व्याप्नोति-सन्ध्यक्षरम् ।	॥६१३३॥
१००७	सन्निधिः-अदूरदेशावस्थितिः ।	॥१७४१४१॥
१००८	सन्निपातः-सम्मेलनं समाहार इति यावत् ।	॥१०१२६॥
१००९	सन्निपातलक्षणत्वात्-सन्निपातति कार्य- मसिन् सन्निपातो निमित्तं शिलक्षणं, स लक्षणं चिह्नं यस्य तस्य भाव- स्तत्त्वं तस्मात् ।	॥९१११७॥
१०१०	सनुत्-कालवाचि ।	॥१८११४॥
१०११	सपदि-शैत्ये, हृते इति है० वृ० न्या०	॥१८१४०॥
१०१२	सप्तमी-सप्तानां पूरणी ।	॥१११२०॥
१०१३	सप्तम्-सहाय्ये, सप्तम्-समन्ततोऽर्थे इति है० वृ० न्या० ।	॥२०१२५॥
१०१४	समयः-सिद्धान्तः ।	॥४१११५॥
	”	॥४१११५॥
१०१५	समयः-स्यात्पदलान्छितः सिद्धान्तः ।	॥४१२५॥
१०१६	समया-समीपे मध्ये च ।	॥१८११९॥
१०१७	समसिन्धौ-सर्वार्थौ ।	॥६८१२॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१०१८	समाज्ञायः-पाठक्रमः ।	॥५११७॥
१०१९	समाय-अविपमाय ।	॥६८११८॥
१०२०	समाश्रयणं-अङ्गीकारः ।	॥४११७॥
१०२१	समासान्तविधेः-“ऋकूप्ःपय्यपोऽत्” इत्यस्य ।	॥१०४१२४॥
१०२२	समुच्चयपर्याय इति-तत्रैकमर्थं प्रति द्वयादीना क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यबलानां अविरोधिनामनियत- क्रमयौगपद्यानां आत्मरूपभेदेन चीय- मानता समुच्चयस्तस्य पर्यायस्तद्वाचक इत्यर्थः ।	॥६८११॥
१०२३	समूहः-संघातः ।	॥४११७॥
१०२४	समे देशे इति-अविपमे इत्यर्थः ।	॥७०१२१॥
१०२५	सम्भावितोत्कर्षया-सम्भावित उत्कर्षो यस्याः सकाशात्तथैत्यर्थः ।	॥८५१२७॥
१०२६	सम्भेदः-संश्लेषरूपः सम्बन्धरूपश्च भेदः ।	॥२१४५॥
१०२७	सरूपे-समानं रूपं यस्य तस्मिन् ।	॥५७१३२॥
१०२८	सर्वकल्याणकारणं-सकलमङ्गल- मूलम् ।	॥२१८१३१॥
१०२९	सर्वतः-सर्वेभ्यः ।	॥२१४५॥
१०३०	सर्वपार्षदत्वात्-सर्वसाधारण्यात् ।	॥४११४॥
१०३१	सर्वाङ्गानुसारी-सर्वाङ्गं-प्रत्यङ्गं अनुसर- तीत्येवंशीलः ।	॥१०१२१॥
१०३२	सह-तुल्ययोगविद्यमानयोः ।	॥२०१२५॥
१०३३	सहविशेषणेन वर्तते-सविशेषणम् ।	॥१४११५॥
१०३४	सहसा-अतर्किते, आकस्मिकाविम- र्शयोरिति मनोर० ।	॥१८१४२॥
१०३५	सहस्य-सहस्रद्वयार्थो द्योत्यः- सहार्थः ।	॥१८६१४५॥
१०३६	सहार्थः-तुल्ययोगो विद्यमानता च ”	॥१८६१११॥
१०३७	साकम्-सहार्थे ।	॥२०१२५॥
१०३८	साकल्ये-यावत्कार्यं तावत्कृतम् ।	॥२०१२२॥
१०३९	साक्षात्-प्रत्यक्षतुल्ययोः ।	॥१८१४०॥
१०४०	साच्चि-चक्रतियैर्गर्थयोः ।	॥१८१२८॥
१०४१	साधनं-निष्पादनम्, करणमिति यावत् ।	॥१८५१४५॥
१०४२	सामनि साधुः-सामन्यः ।	॥१२३३३॥
१०४३	सामर्थ्यं-शक्तिः ।	॥१५६१४॥
१०४४	सामर्थ्याभावादेव-परस्परव्यपेक्षा- लक्षणसम्बन्धाभावादेव ।	॥११६३७॥
१०४५	सामान्यस्य भेदकोधर्म-प्रकारः ।	॥१८६१२७॥
१०४६	सामि-अर्धजुगुप्सितयोः ।	॥१८१२८॥
१०४७	साम्प्रतम्-न्याये ।	॥१८१४७॥
१०४८	सायं-निशामुखे ।	॥१८११५॥
१०४९	सार्धम्-सहार्थे ।	॥२०१२५॥
१०५०	सावधिकं गमनं-अपायः ।	॥१७३१७॥
१०५१	सिद्धं-गृहीतं शिक्षितमिति ।	॥१८५१३९॥
१०५२	सिद्धं च तन्मङ्गलं च-सिद्धचक्रम् ।	॥३११९॥

क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१०५३	सिद्धचक्रस्य-देवगुरुधर्मबोधकस्य अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुज्ञानद- र्शनचारित्रतप-समुदायरूपस्य-स्याद्वाद- सिद्धान्तप्रसिद्धस्य चक्रविशेषस्य ।	॥२१२७॥
१०५४	सिद्धिः-श्रुतिः ।	॥५११७॥
१०५५	सिद्धिः-निष्पत्तिर्ज्ञेयत्वात् ।	॥३१३॥
”	”	॥५११७॥
१०५६	सिद्धिः-सम्यग्ज्ञानं तद्द्वारेण च निःश्रेयसम् ॥४१४॥	॥४१४॥
१०५७	सिद्धौ-क्रियाफलनिष्पत्तौ ।	॥१८५११०॥
१०५८	सीदतः-विशेषणभावेनाऽन्वितः ।	॥१९१२१॥
१०५९	सीदतोऽस्मिच्छिङ्गसंख्ये इति सत्त्वम्- लिङ्गसंख्यावद्भव्यम्, इदं तदित्यादि- सर्वनामव्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत् ॥१९१४॥	॥१९१४॥
१०६०	सीम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु । सीम्-अभिनवव्याहरणामर्षपादपूरणेषु इत्येके इति है०वृ०न्या० ।	॥२०१२६॥
१०६१	सीमा-अवधिः ।	॥१७१३४॥
१०६२	सीम्नोऽन्तःसीमन्तः-केशविन्यास एषा ॥३०१४॥	॥३०१४॥
१०६३	सुः-शोभनः ।	॥१००१३४॥
१०६४	सुकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९१४७॥
१०६५	सुञ्ज-उञ्जवत्, इति है०वृ०न्या० ।	॥२०१११॥
१०६६	सुनुतर्-अन्तर्धाने ।	॥१८१४४॥
१०६७	सुरस्त्रिय-स्वर्गिब्रह्म ।	॥१०६१२४॥
१०६८	सुपु-प्रशंसायाम् ।	॥१८३३९॥
१०६९	सूपत्-प्रश्रवितकंप्रशंसासु, कचित्स- रादावपि पठितः ।	॥१९१३३॥
१०७०	सृक्स्थानः-ओष्ठपर्यन्तः स्थानं यस्य सः ।	॥८१४१॥
१०७१	स्कन्धः-अनन्तप्रदेशात्मकः संघातः ।	॥८१२९॥
१०७२	स्थानं-कण्ठादि ।	॥९१३६॥
१०७३	स्थानित्वाशङ्कानिरासार्थं-स्थानित्वस्या- ऽऽशङ्का प्राक् प्रदर्शिता तस्या निरास इत्येवमर्थम् ।	॥६११२०॥
१०७४	स्थाने-इति युके ।	॥१८१४८॥
१०७५	स्निग्धता-मसृणता ।	॥१०१२४॥
१०७६	स्पर्शा-वर्णयोः ।	॥९११॥
१०७७	स्पृष्टतादयः-स्पृष्टतेषुस्पृष्टतासंयुतता- विवृतताः ।	॥१०१२९॥
१०७८	स-अतीते पादपूरणे च ।	॥२०१२४॥
१०७९	स्मृत्वा-सर्वजनहितकाम्यया उपदेश- द्वारा व्याकरणमिदं तदर्थोक्तं कृत्वा ।	॥११३५॥
१०८०	स्यात्पदलाञ्छनाः-स्याद्रूप लाञ्छनं येषां ते स्यात्पदलाञ्छनाः-स्यात्पद- चिह्निताः ।	॥४१२६॥
१०८१	स्याद्-इत्यव्ययं-अनेकान्तद्योतकम् ।	॥३१२॥
१०८२	स्याद्-भवेद् ।	॥४१४॥
१०८३	स्यादीना-प्रत्ययानां-सिमीजस इत्यादीना प्रत्ययानाम् ।	॥६११७॥
१०८४	स्याद्वादः-अनेकान्तवादः ।	॥३१२॥
”	”	॥३१२९॥
१०८५	स्याद्वादः-अनेकान्तवादः-नित्यानित्याद्य- नेकधर्मशब्दलैक्यस्त्वस्युपगम इति यावत् ॥३१२॥	॥३१२॥

क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्थः ।	पृ० प०
१०८६	स्याद्वादाश्रयणेन-अनेकान्तमताभ्युप- गमेन ।	॥१६२५॥	१११०	हन्त-प्रीतिविपादसम्प्रदानेषु, मनो- रमायां हन्तेति हर्षे, विपादे, अनु- कम्पायां, वाक्यारम्भे च ।	॥१९१३॥
१०८७	संसर्ग-शिथिलीभवनम् ।	॥१०२४॥	११११	हम्-रोषानुपमादौ, हम्-रोषानुक- म्पादौ, इति है० वृ० न्या० ।	॥२०११॥
१०८८	झाक्-शीघ्राथे, पवाथे इत्यपि ।	॥१८२९॥	१११२	हये-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥
१०८९	स्वः-स्वर्गस्य ।	॥१७३४॥	१११३	हरिः-वनराजः ।	॥१५५२४॥
१०९०	स्वतन्त्र-आत्मप्रधानः ।	॥१५७७॥	१११४	हलम्-प्रतिषेधे विपादे च । समस्तं (आर्यहलम्) इत्येके ।	॥१८३६॥
१०९१	स्वघा-पितृभ्यो हविर्दाने ।	॥१९१४०॥	१११५	हा-विपादविस्मये, हा-विपादशू(शो)- कार्त्तिसु, अनुशयसम्बोधनयोश्च, इति है० वृ० न्या० ।	॥१९१४५॥
१०९२	स्वयम्-आत्मने इत्यर्थे ।	॥१८३७॥	१११६	हिं-यतः ।	॥२१५०॥
१०९३	स्वयमीरितुं शीलमस्येति-स्वैरी ।	॥३०३॥	१११७	हि-हेतावधारणे च ।	॥१९१४१॥
१०९४	स्वर्-स्वर्गे च परलोके च ।	॥१८३३॥	१११८	हिकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९१४८॥
१०९५	स्वरजयो-“इवर्णादे०” इत्यादिना कृतयोः स्वरस्थानिकयोः ।	॥४८२१॥	१११९	हितैपिणः-आत्महितेच्छवः ।	॥४२२९॥
१०९६	स्वरप्रदेशाः-स्वरेण-स्वर इति शब्देन प्रदिश्यन्ते उच्चार्यन्तेऽत्रेति स्वरप्रदेशाः- स्वरप्रयोजनस्थानानि ।	॥५२९॥	११२०	हिम्-सम्भ्रमभर्त्सनयोः ।	॥२०१२॥
१०९७	स्वराश्चतुर्दशाऽपि-पूरणभर्त्सनाऽऽमन्त्रण- निषेधेषु ।	॥२०३०॥	११२१	हिरुक-वियोगे । ‘हिरुग्नानापृथग्निना’ इत्यभिधानचि० ।	॥१८३०॥
१०९८	स्वशब्दः-आत्मा च आत्मीयश्च ज्ञातिश्च- घनं च तान्येवार्थस्तत्र वृत्तिर्यस्येति विग्रहः ।	॥६८३०॥	११२२	ही-विपादविस्मये, ही-विस्मये, अनुशय- सम्बोधनयोश्च, इति है० वृ० न्या० ।	॥१९१४५॥
१०९९	स्वशब्दः-आत्माऽऽत्मीययोः ।	॥६८७॥	११२३	हुं-भर्त्सने ।	॥२०३३॥
११००	स्वस्ति-कल्याणं ।	॥१८१९॥	११२४	हुम्-भर्त्सने ।	॥१९१४८॥
११०१	स्वाङ्ग-अविकारोऽद्भवं मूर्तं, प्राणिस्यं स्वाङ्गमुच्यते । च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥	॥४४७॥	११२५	हुम्फट्-निर्भर्त्सनसम्बोधनयोः ।	॥१९१३९॥
११०२	स्वार्थ-विशेषणमिति ।	॥१५१८॥	११२६	हे-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥
११०३	स्वाहा-देवताभ्यः (हविर्दाने) ।	॥१९१४०॥	११२७	हेतुः-कारणम् ।	॥१५६१४॥
११०४	स्विद्-विमर्शप्रश्नयोः ।	॥२०१३॥	११२८	हेतुः-कारणम् ।	॥१५६१८॥
११०५	स्वीक्रियमाणोऽशो-भागस्तस्वामी- भागी ।	॥१८०५॥	११२९	हेतुः-जनकः ।	॥२०९१३॥
११०६	स्वेन सबन्धिना द्रव्यगुण-क्रियारूपेण कात्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिः, अत्यन्त- संयोग इति यावत् ।	॥१८५२॥	११३०	हेतुः-निमित्तं-कारणम् ।	॥२०९१३॥
	ह.		११३१	हेत्वर्थयोगे-निमित्तकारणहेतुशब्द- योगे ।	॥६८१३॥
११०७	ह-अवधारणे पादपूरणे प्रसिद्धावपि ।	॥१९१२९॥	११३२	हे भूपाः-हे मूलराजमहीपतिविरोधि- राजानः (जाः) ।	॥१५५२३॥
११०८	हंहो-सम्बोधने ।	॥१९१४५॥	११३३	हेमचन्द्र-स्वर्णचन्द्राभ्यां समो भगवान् हेमचन्द्रः ।	॥१३६॥
११०९	हताः-रणे विध्वस्ताः ।	॥१०६२४॥	११३४	हेशब्द-आमन्वयद्योतनार्थः ।	॥१३७३०॥
			११३५	है-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९१४६॥
			११३६	हो-सम्बोधने ।	॥१९१४५॥
			११३६	ह्यस्-अतीतेऽङि ।	॥१८१६॥



क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्थाः ।	पृ० प०
१०१८	समाज्ञाय-पाठक्रमः ।	॥५११७॥	१०५३	सिद्धचक्रस्य-देवगुरुधर्मबोधकस्य	॥३०३॥
१०१९	समाय-अविषमाय ।	॥६८१८॥		अहेतिसिद्धाचार्योपाध्यायसाधुज्ञानद-	
१०२०	समाध्वयण-अङ्गीकारः ।	॥४११७॥		शनचारित्रतप-समुदायरूपस्य-स्याद्वाद-	
१०२१	समासान्तविधेः-“ऋकूपूःपथ्यपोऽत्” इत्यस्य ।	॥१०४१२४॥	१०५४	सिद्धान्तप्रसिद्धस्य चक्रविशेषस्य ।	॥२१२७॥
१०२२	समुच्चयपर्याय इति-तत्रैकमर्थं प्रति द्व्यादीनां क्रियाकारकद्रव्यगुणानां तुल्यबलानां अविरोधिनामनियत- क्रमयोगपद्यानां आत्मरूपभेदेन चीय- मानता समुच्चयस्तस्य पर्यायस्तद्वाचक इत्यर्थः ।	॥६८१९॥	१०५५	सिद्धिः-ज्ञप्तिः ।	॥५११७॥
१०२३	समूहः-संघातः ।	॥४११७॥		”	॥५११७॥
१०२४	समे देशे इति-अविषमे इत्यर्थः ।	॥७०१२१॥	१०५६	सिद्धिः-सम्यग्ज्ञानं तद्द्वारेण च निःश्रेयसम् ॥४११७॥	
१०२५	सम्भावितोत्कर्षया-सम्भावित उत्कर्षो यस्याः सकाशात्तथैत्यर्थः ।	॥८५१२७॥	१०५७	सिद्धौ-क्रियाफलनिष्पत्तौ ।	॥१८५१०॥
१०२६	सम्भेद-संश्लेषरूपः सम्बन्धरूपश्च भेदः ।	॥२१४५॥	१०५८	सीदतः-विशेषणभावेनाऽन्वितः ।	॥१९१२१॥
१०२७	सरूपे-समानं रूपं यस्य तस्मिन् ।	॥५७१३२॥	१०५९	सीदतोऽस्मिद्धिसंख्ये इति सत्त्वम- लिङ्गसंख्यावद्भव्यम्, इदं तदित्यादि- सर्वनामव्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत् ॥१९१४॥	
१०२८	सर्वकल्याणकारणं-सकलमङ्गल- मूलम् ।	॥२१८१३१॥	१०६०	सीम्-निर्देशनिवेदनवाक्यपादपूरणेषु । सीम्-अभिनवव्याहरणामर्षपादपूरणेषु इत्येके इति है०बृ०न्या० ।	॥२०१२६॥
१०२९	सर्वत-सर्वेभ्यः ।	॥२१४५॥	१०६१	सीमा-अवधिः ।	॥१७३४॥
१०३०	सर्वपार्षदत्वात्-सर्वसाधारण्यात् ।	॥४११४॥	१०६२	सीम्नोऽन्तः सीमन्तः-केशविन्यास एव ॥३०१४॥	
१०३१	सर्वाङ्गानुसारी-सर्वाङ्ग-प्रत्यङ्ग अनुसर- तीत्येवंशीलः ।	॥१०१२१॥	१०६३	सु-शोभनः ।	॥१००३४॥
१०३२	सह-तुल्ययोगविद्यमानयोः ।	॥२०१२५॥	१०६४	सुकम्-प्रत्याख्यानं ।	॥१९१४७॥
१०३३	सहविशेषणेन वर्तते-सविशेषणम् ।	॥१४११५॥	१०६५	सुव-उव्वत्, इति है०बृ०न्या० ।	॥२०१११॥
१०३४	सहसा-अतर्किते, आकस्मिकाविम- र्शयोरिति मनोर० ।	॥१८१४२॥	१०६६	सुनुत-अन्तर्धानं ।	॥१८११४॥
१०३५	सहस्य-सहशब्दस्यार्थो द्योत्यः- सहार्थः ।	॥१८६१४५॥	१०६७	सुरस्त्रिय-स्वर्गिभ्यः ।	॥१०६१२०॥
१०३६	सहार्थः-तुल्ययोगो विद्यमानता च ”	॥१८०११०॥	१०६८	सुप्तु-प्रशंसायाम् ।	॥१८३९॥
१०३७	साकम्-सहार्थं ।	॥२०१२५॥	१०६९	सूपत्-प्रश्रवितर्कप्रशंसासु, क्वचित्स- रादावपि पठितः ।	॥१९१३१॥
१०३८	साकल्ये-यावत्कार्यं तावत्कृतम् ।	॥२०१२२॥	१०७०	सृकस्थानः-ओष्ठपर्यन्त-स्थानं यस्य सः । ॥८४१॥	
१०३९	साक्षात्-प्रत्यक्षतुल्ययोः ।	॥१८१४०॥	१०७१	स्कन्धः-अनन्तप्रदेशात्मकः संघातः । ॥८२९॥	
१०४०	साचि-वक्रतिर्यगर्थयोः ।	॥१८१२८॥	१०७२	स्थानं-कण्ठादि ।	॥९१३६॥
१०४१	साघनं-निष्पादनम्, करणमिति यावत् ।	॥१८५१४५॥	१०७३	स्थानित्वाशङ्कनिरासार्थं-स्थानित्वस्या- ऽऽशङ्का प्राक् प्रदर्शिता तस्या निरास इत्येवमर्थम् ।	॥६१२०॥
१०४२	सामानि साधुः-सामन्यः ।	॥१२१३३॥	१०७४	स्थाने-इति युक्ते ।	॥१८१४८॥
१०४३	सामर्थ्यं-शक्तिः ।	॥१५६१४॥	१०७५	स्निग्धता-मृणुता ।	॥१०१२४॥
१०४४	सामर्थ्याभावादेव-परस्परव्यपेक्षा- लक्षणसम्बन्धाभावादेव ।	॥११६१३७॥	१०७६	स्पर्शा-चर्माः ।	॥९११॥
१०४५	सामान्यस्य भेदकोधर्मः-प्रकारः ।	॥१८६१२७॥	१०७७	स्पृष्टतादय-स्पृष्टतेषुस्पृष्टतासंवृत्तता- विवृत्तताः ।	॥१०१२९॥
१०४६	सामि-अर्धजुगुप्सितयोः ।	॥१८१२८॥	१०७८	स्व-अतीते पादपूरणे च ।	॥२०१२४॥
१०४७	साम्प्रतम्-न्याये ।	॥१८१४७॥	१०७९	स्मृत्वा-सर्वजनहितकाम्यया उपदेश- द्वारा व्याकरणमिदं तदधीनं कृत्वा ।	॥११३५॥
१०४८	सायं-निशामुखे ।	॥१८११५॥	१०८०	स्यात्पदलाञ्छना-स्याद्रूप लाञ्छनं येषां ते स्यात्पदलाञ्छनाः-स्यात्पद- चिह्निताः ।	॥४१२६॥
१०४९	सार्धम्-सहार्थं ।	॥२०१२५॥	१०८१	स्याद्-इत्यव्ययं-अनेकान्तद्योतकम् ।	॥३१२॥
१०५०	सावधिकं गमनं-अपायः ।	॥१७३१७॥	१०८२	स्याद्-भवेद् ।	॥४१४॥
१०५१	सिद्धं-गृहीतं शिक्षितमिति ।	॥१८५१३९॥	१०८३	स्यादीना-प्रत्ययानां-सिञ्जस इत्यादीनां प्रत्ययानाम् ।	॥१६११७॥
१०५२	सिद्धं च तच्चकं च-सिद्धचक्रम् ।	॥३११९॥	१०८४	स्याद्वादः-अनेकान्तवादः ।	॥३१२१॥
			१०८५	” स्याद्वादः-अनेकान्तवादः-नित्यानित्याद्य- नेकधर्मशब्दैकवस्त्वस्त्युपगम इति यावत् ॥३१२॥	

क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०	क्र०	शब्दार्था ।	पृ० प०
१०८६	स्याद्वादाश्रयणेन-अनेकान्तमताभ्युप- गमेन ।	॥१६।२५॥	१११०	हन्त-प्रीतिविपादसम्प्रदानेषु, मनो- रमायां हन्तेति हर्षे, विपादे, अनु- कम्पायां, वाक्यारम्भे च ।	॥१९।३४॥
१०८७	संसर्ग-शिशिलीभवनम् ।	॥१०।२४॥	११११	हम्-रोपानुपमादौ, हम्-रोपानुक- म्पादौ, इति है० वृ० न्या० ।	॥२०।११॥
१०८८	झाङ्-शीघ्रायै, एवार्थे इत्यपि ।	॥१८।२९॥	१११२	हये-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९।४६॥
१०८९	स्वः-स्वर्गस्य ।	॥१७।३४॥	१११३	हरिः-वनराजः ।	॥१५।२४॥
१०९०	स्वतन्त्र-आत्मप्रधानः ।	॥१५।७।७॥	१११४	हलम्-प्रतिषेधे विपादे च । समस्तं (आर्यहलम्) इत्येके ।	॥१८।३६॥
१०९१	स्वधा-पितृभ्यो हविर्दाने ।	॥१९।४०॥	१११५	हा-विपादविषये, हा-विपाद्शू(शो)- कार्त्तियु, अनुशयसम्बोधनयोश्च, इति है० वृ० न्या० ।	॥१९।४५॥
१०९२	स्वयम्-आत्मने इत्यर्थे ।	॥१८।३७॥	१११६	हिं-यतः ।	॥२।५०॥
१०९३	स्वयमीरितुं शीलमस्येति-स्वैरी ।	॥३०।३॥	१११७	हि-हेतावचधारणे च ।	॥१९।४१॥
१०९४	स्वर्-स्वर्गे च परलोके च ।	॥१८।१३॥	१११८	हिकम्-प्रत्याख्याने ।	॥१९।४८॥
१०९५	स्वरजयो-“इवर्णादे०” इत्यादिना कृतयोः स्वरस्थानिकयोः ।	॥४८।२१॥	१११९	हितैपिण-आत्महितेच्छवः ।	॥४।२९॥
१०९६	स्वरप्रदेशाः-स्वरेण-स्वर इति शब्देन प्रदिश्यन्ते उच्चार्यन्तेऽत्रेति स्वरप्रदेशाः- स्वरप्रयोजनस्थानानि ।	॥५।२९॥	११२०	हिम्-सम्भ्रमभर्त्सनयोः ।	॥२०।१२॥
१०९७	खराश्चतुर्दशाऽपि-पूरणभर्त्सनाऽऽमन्त्रण- निषेधेषु ।	॥२०।३०॥	११२१	हिसक्-वियोगे । ‘हिरुग्नानापृथग्विना’ इत्यभिधानच्चि० ।	॥१८।३०॥
१०९८	खशब्दः-आत्मा च आत्मीयश्च ज्ञातिश्च- धनं च तान्येवार्थस्तत्र वृत्तिर्यस्येति विग्रहः ।	॥६८।३०॥	११२२	ही-विपादविषये, ही-विषये, अनुशय- सम्बोधनयोश्च, इति है० वृ० न्या० ।	॥१९।४५॥
१०९९	खशब्दः-आत्माऽऽत्मीययोः ।	॥६८।७॥	११२३	हुं-भर्त्सने ।	॥२०।३३॥
११००	खस्ति-कल्याणं ।	॥१८।१९॥	११२४	हुम्-भर्त्सने ।	॥१९।४८॥
११०१	खाङ्ग-अविकारोऽद्भवं मूर्तं, प्राणिख्यं खाङ्गमुच्यते । च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥	॥४।४७॥	”	हुम्-भर्त्सने ।	॥२०।३३॥
११०२	खार्थः-विशेषणमिति ।	॥१५।१८॥	११२५	हुम्फट्-निर्भर्त्सनसम्बोधनयोः ।	॥१९।३९॥
११०३	खाहा-देवताभ्यः (हविर्दाने) ।	॥१९।४०॥	११२६	हे-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९।४६॥
११०४	खिद्-विमर्शप्रश्नयोः ।	॥२०।१३॥	११२७	हेतुः-कारणम् ।	॥१५।४४॥
११०५	खीक्रियमाणोऽशो-भागस्तत्स्वामी- भागी ।	॥१८।०।५॥	”	हेतुः-कारणम् ।	॥१५।४८॥
११०६	खेन सबन्धिना द्रव्यगुण-क्रियारूपेण कात्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिः, अत्यन्त- संयोग इति यावत् ।	॥१८।५।२॥	”	हेतुः-जनकः ।	॥२०।१३३॥
	ह-		११२८	हेतुः-निमित्तं-कारणम् ।	॥१८।०।१०॥
११०७	ह-अवधारणे पादपूरणे प्रसिद्धावपि ।	॥१९।२९॥	११२९	हेतुः-निमित्तं-कारणम् ।	॥२०।१३३॥
११०८	हहो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥	११३०	हेत्वर्थयोगे-निमित्तकारणहेतुशब्द- योगे ।	॥६८।१३॥
११०९	हताः-रणे विध्वस्ताः ।	॥१०।६।२४॥	११३१	हे भूपाः-हे मूलराजमहीपतिविरोधि- राजानः (जाः) ।	॥१५।२३॥
			११३२	हेमचन्द्र-स्वर्णचन्द्राभ्यां समो भगवान् हेमचन्द्रः ।	॥१।३६॥
			११३३	हेशब्द-आमन्त्र्यद्योतनार्थः ।	॥१३।७।३०॥
			११३४	है-अनुशयसम्बोधनयोः ।	॥१९।४६॥
			११३५	हो-सम्बोधने ।	॥१९।४५॥
			११३६	ह्यस्-अतीतेऽङ्गि ।	॥१८।१६॥



## १३ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने तत्त्वप्रकाशिकाऽऽनन्दबोधिनीविभूषितसंज्ञा-सन्धि-नाम-कारक-  
सनाथीकृते प्रथमे विभागे सूत्रवृत्त्यनुवृत्तिस्थपदोदाहरणप्रत्युदाहरणादिस्पष्टीकरणार्थं  
खसिद्धान्तमतान्तरादिविशदीकरणार्थं च सूचितसूत्रानुक्रमेण ननु  
न चाऽथादिपदैरुत्थापितशङ्कानां संग्रहः ।

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
१	“सिद्धिः०”—ननु चोक्तं ‘स्याद्वादमाश्रित्य संस्कृतानामार्षाणां च शब्दानां निष्पत्तिश्रुती वेदितव्ये’ इति तु तदैव विबुध्येत यदि स्याद्वादपदपदार्थो बुद्धो भवेदिति, तद्विज्ञातस्वरूपं प्रति कः स्याद्वादपदार्थ इति चेत्?,—उच्यते—		॥११११॥
२	“अनवर्णा०”—ननु सन्ध्यक्षरेषु अवर्णसद्भावात्तेषामपि नामित्वाभावोऽस्त्विति चेत्?,—इष्टापत्तेः ।		॥६१२१॥
३	“तुल्यस्थाना०”—के पुनस्ते?,—		॥१११०॥
४	“—कथं पुनरेते आस्याद्वाद्वाः?, सृष्टतादयस्तु आन्तराः?,—उच्यते—		॥११११॥
५	“स्त्यादि०”—नन्वत्र स इति, ति इति, कस्य ग्रहणम्?, इति जिज्ञासायामाह—		॥१११२९॥
६	“नाम सिद्ध०”—नन्वनेन नियमेन राजता इत्यवमित्यादावपि सौश्रुतं, भागवतमित्यादिवत् पदत्वाभावे सति नलोपाद्यभाव इति चेत्?, श्रूयताम्—		॥११२२१॥
७	“न स्तं०”—ननु मनुशब्दस्य मत्वर्थशब्देन कथमुपादानम्?, इत्यत आह—		॥११२३९॥
८	“वृत्त्यन्तो०”—अथ वाक्त्वचमित्यत्र समासान्ते सति वृत्त्यन्तत्वाभावात् पदत्वं प्राप्नोति, तथा च कत्वं स्यात्?, उच्यते—		॥११३८॥
९	“सविशेष०”—नन्वप्रयुज्यमानमाख्यातं तद्विशेषणं चाऽतिप्रसङ्गापादकमविशेषादनियमश्च, अपि चाऽप्रयुज्यमानोऽपि शब्दः शाब्दधीहेतुः स्यात् तदा विफलः सर्वत्र तत्प्रयोगः?, इत्यत आह—		॥११४२६॥
१०	“—नन्वेकस्मिन्नाख्याते सत्येकवाक्यत्वं, तद्भेदे वाक्यभेद इति सूत्रे विशेषोक्त्यभावेन विवेकोऽयं कुतः?, इत्यत आह—		॥११४३७॥
११	“—ननु कुरु कुरु नः कटमित्यादौ त्याघन्तभेदे वाक्यत्वास्वीकृत्या कथमसदो नसादेशः?, इत्यत आह—		॥११५१०॥
१२	“अघातु०”—नन्वत्र ‘किवन्ता घातुत्वं न जहति’ इत्यघातुरिति प्रतिषेधो भविष्यति चेत्?, उच्यते—		॥११५१७॥
१३	“—ननु घातुविभक्त्यन्तमिन्नस्य पदेभ्यो व्यतिरिक्तस्य पदार्थसम्बन्धरूपविशिष्टार्थबोधकस्य वाक्यस्याऽर्थवत्त्वाभामत्वप्राप्तौ तद्दर्जनमाह—वाक्यवर्जनं किम्?,		॥११६१४॥
१४	“—ननु अघातुविभक्तौत्यत्र पर्युदासाऽऽश्रयणेन धात्वादिभिन्नधात्वादिसदृशार्थवतामेव शब्दरूपाणां सम्भव इति किमर्थमर्थवद्?, इत्यभिप्रायेणाऽऽशङ्क्य समाधत्ते—		॥११६१९॥
१५	“—ननु यदा केनचिदशक्त्या गौः इति प्रयोक्तव्ये गो इति प्रयुक्तं तदा तत्समीपवर्ती च तदुक्तमपरेण पृष्टं सन्ननुकरोति तत्र तदनुकरणे नामसंज्ञा स्याद्वा नवा?, इत्याशङ्कयामाह—		॥११६२३॥
१६	“पुंस्त्रियोः”—ननु लिङ्गमिति हेतुः, कारणं, निमित्तमित्याद्यर्थकं जगति प्रसिद्धं तदत्र ग्राह्यमित्यभिप्रायवान् पृच्छति—किं पुनस्तत्?,—		॥११७१॥
१७	“स्वरादयो०”—ननु सूत्रे विशेषस्याऽश्रूयमाणत्वाल्लिङ्गादिविशेषानुपादाने स्वरादयोऽव्ययसंज्ञा भवन्तीति कुतोऽवगम्यते?, इत्याह—		॥११७४७॥
१८	“—ननु संज्ञाविधौ तदन्तप्रतिषेधस्य क्षापितत्वाद् ‘नामग्रहणे न तदन्तविधिः’ इति प्रतिषेधाच्च परमोच्चैरिति तदन्तस्य कथमव्ययसंज्ञा?, इत्याह—		॥११७५०॥
१९	“—ननु परिसमाप्तावपीतिशब्दस्य वर्तमानत्वेनैतावन्त एवेत्यर्थो य इति कुतो न लभ्यते?, इत्याह—		॥११९१२॥
२०	“चादयो०”—ननु चादयः कदा सत्यवृत्तयः, कदा चाऽसत्त्ववृत्तय इति?,—		॥११९१०॥
२१	“वत्तस्याम्”—नन्वत्राऽविशेषात् पृथिव्यवचनस्याऽऽमोऽपि ग्रहणं प्राप्नोति, इत्यते च पराक्षास्याननिष्पन्नस्य तद्वितस्य चाऽऽम इति शङ्काया ‘सहचरिताऽसहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणमिति’ न्यायमाश्रित्य समाधत्ते—		॥२२२५॥
२२	“क्त्वातुमम्”—ननु अमिति सामान्यनिर्देशात् स्यादित्यादिसम्बन्धिनोरप्यमोः कथं न ग्रहणम्?, इत्यत आह—		॥२२३०॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
२३	“अप्रयोगीत्”—अथवा-प्रयुज्यते कार्यमनेनेति प्रयोगः शास्त्रं, ‘अल्पार्थे नञ्’ अल्पत्वं च शास्त्रे एव यः पठ्यते लौकिकप्रयोगे तु न सम्बध्यते, तत्कार्यं दृष्ट्वाऽनुमीयत एव केवलम् ।		॥२२३९॥
२४	” —नन्वेवं सति कुतस्तथाभाव इति चेत् ?,—उच्यते—		॥२२३९॥
२५	” —ननु प्रमाणमन्तरेण वचनमात्रेणाऽपगमाभावादपगमे यतितव्यम् ? , इत्यत आह—		॥२२३९॥
२६	“द्व्यनु०”—ननु का नाम संख्या ? , असति तज्ज्ञानेऽसम्भवः संख्यावद्भावस्य ? , इत्याह—		॥२३४२॥
२७	“बहुगण०”—ननु बहुगणयोः संख्यावाचकत्वं लोकात् एवेति सिद्धं किमर्थं संख्यावद्भावः ? , इत्यत आह—		॥२३४१॥
२८	“समानानां०”—ननु सूत्रे दीर्घ इत्युच्यते समेऽपि आ ई ऊ इत्यादयो दीर्घाः प्राप्नुवन्ति ? , इत्यत आह—		॥२५२१॥
२९	“ऋलृति०”—ननु कन्या लृकार इत्यादावनेन ह्रस्वत्वे सति कथं न “अवर्णस्येवर्णादि०” सूत्रैः अला- दिकं भवति ? , इत्यत आह—		॥२५२९॥
३०	” —ननु प्राच्छेतीत्यत्र “ऋलृति ह्रस्वो वा” इत्यनेन कथं न ह्रस्वः ? , इत्यत आह—		॥२५३३॥
३१	” —नन्विदं कथमारभ्यते ? , “ह्रस्वोऽपदे वा” इत्यनेन ह्रस्वत्वमिति चेत् ?,—		॥२५३४॥
३२	“ऋस्तयोः”—नन्विदं किमर्थं ऋ ऋषभ इत्यादौ लृकृतोः स्वत्वेन द्विमात्र ऋकारः “समानाना तेन दीर्घः” इत्यनेन सेत्स्यतीति चेत् ? , उच्यते—		॥२६३४॥
३३	“अवर्णस्ये०”—ननु रमा इन्द्रः, खट्वा ईश इत्यादौ त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां कथं द्विमात्रा- वेदोती ?,—इत्यत आह—		॥२७३७॥
३४	“ऋणे प्रद०”—ननु प्र ऋणमित्यादौ “अवर्णस्येवर्णादिना०” इति अइ कथं न भवति ? , इत्याह—		॥२७४१॥
३५	” —यथेदं सूत्रमपवादत्वादरो बाधकं तथा ह्रस्वं प्रवादते न वा ? , इत्यत आह—		॥२७४२॥
३६	“ऋते लृती०”—कथं ‘क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मास्पाकवलितान्’ क्षुधशब्दस्य हि व्यञ्जना- न्तत्वात् क्षुधत इति प्राप्नोति ? , नैवम्;—		॥२८८॥
३७	” —अस्मिन् पद्ये क्षुधार्त इत्यत्र ऋतशब्दाव्यवहितपूर्वस्याऽवर्णस्याऽभावादाइ कथं भ- वति ? , इत्याशङ्कते ।		॥२८२९॥
३८	“ऋत्यारूप०”—ननु “ऋत्यारूपसर्गस्य” इति सूत्रे पूर्वस्मादारित्यनुवृत्तौ किमर्थमाइ इत्युपादानम् ? , इत्यत आह—		॥२८३८॥
३९	“प्रस्यैवै०”—कथं प्रेषः, प्रेष्यः ? , ईपे, ईप्ये च भविष्यति ।		॥२९१५॥
४०	” —अथेह कस्मान्न भवति-प्रेषते, प्रेष्यते, प्रोढवानिति ? , ‘अर्थवद् ग्रहणेऽनर्थकस्याऽग्रहणात्’		॥२९१८॥
४१	” —कथं तर्हि ऊढिशब्दस्य ण्यन्तस्य सार्थकस्य प्रयोगे प्रोढयतीति ?,—		॥२९१८॥
४२	” —यदीदं सूत्रं तर्हि-प्रेषः, प्रेष्य इति कथम् ? , इत्याशङ्कते;		॥२९३४॥
४३	” —ननु ‘पूर्वं घातृपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्’ इति न्यायेन आ ईभ्य-एष्यस्ततः प्र इत्यनेन योगे प्रेष्य इत्यत्राऽनेन कथं नैत्वम् ? , इत्यत आह—		॥२९३४॥
४४	” —प्र एष्य इत्यत्र “ओमाडि” इत्यस्य कथं नाऽनेन बाधः ? , इत्यत आह—		॥२९३५॥
४५	” —ननु प्रेषते, प्रेष्यते, प्रोढवानिति प्रयोगेषु “प्रस्यैवै०” इत्यादिना ऐदोती कथं न भवतः ? , इत्याशङ्कते;		॥२९३८॥
४६	” —प्रोढयतीत्यत्र ण्यन्तस्य ऊढिशब्दस्याऽर्थवत्त्वात् कथं न औत्त्वम् ? , इत्यत आशङ्कते,		॥२९४०॥
४७	” —ननु प्रोढयतीति प्रयोगदर्शनं कुतः ? , इत्याह—		॥२९४२॥
४८	“अनियोगे०”—कथं तुवै, त्वै, नु, वै, न्वै ? , निपातान्तरमेतत् ।		॥३०१५॥
४९	“खैरखैर्ये०”—ननु सूत्रे खैरिन् इत्युपादानात् खैरिणी इति कथम् ? , इत्यत आह—		॥३०२२॥
५०	” —ननु खैरशब्दान्मत्वर्थीयि इनि खैरिन् इति सिद्धे किमर्थं सूत्रे खैरिन् इत्युपादानम् ? , इत्याशङ्क्य समाधत्ते ।		॥३०२५॥
५१	“अनियोगे०”—ननु शकन्तुः, कुलटा इत्यादौ कथमवर्णादिलुग् ? , इत्याशङ्कते ।		॥३०३९॥
५२	” —ननु तुवै इत्यस्य त्वै, तुवै इत्यस्य न्वै कथम् ? , इत्याशङ्कते ।		॥३०४०॥
५३	“ओमाडि”—ननु सूत्रे आडोतीत्युक्त्या वृत्तौ तस्याऽऽङ्गादेश इत्यर्थः कथम् ? , इत्यत आह—		॥३११९॥
५४	“इवर्णादि०”—ननु द्विसप्तति-स्थानिन आदेशाश्च सप्त इति कथमादेशादेशिनोर्थथासंख्यं ? , इति चेत्, न,		॥३१३३॥
५५	“ह्रस्वोऽपदे वा”—नन्वेवं सति कार्यान्तरं कथं न भवति ? , इत्याह—		॥३२२२॥
५६	” —ननु नद्या उदकं-नद्युदकं, गौरीमाराधोतीति “कर्मणोऽण्” ॥५११७॥ गौर्याराध इत्यादौ समासेऽप्यन्तर्वर्तिनी विभक्तिमाश्रित्य स्थानिनिमित्तयोर्भिन्नपदवृत्तेः कथं नाऽनेन ह्रस्वत्वम् ? , इत्याह—		॥३२२४॥
५७	“एदोती०”—ननु यथा खरे इत्यनुवर्तते तथा ‘अस्वे’ इति कथं नाऽनुवर्तते ? , इत्याह—		॥३२३४॥
५८	“व्यक्ये”—कथं गव्युति-क्रीशद्वयम् ? ,		॥३३३३॥
५९	” —नन्वेवं क्रीशद्वयार्थके गव्युतिशब्दे कथमव ? , इत्याशङ्कते ।		॥३३२१॥
६०	” —नन्वेतदव्युत्पत्तिपक्षमिभ्यायेण, यदि चेद् व्युत्पत्तिपक्षस्तदा का गतिः ? , इत्याह—		॥३३२२॥
६१	” —शरशब्दाद्यप्रत्यये ओकाराभावादवादेशाभावे कथं शरव्यम् ? , इत्याशङ्क्याऽऽह—		॥३३२२॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ६२ “क्रतो रस्तं०”—नन्विदं तद्धितग्रहणप्रयोजनमयुक्तं, कार्यमित्यत्र “ऋवर्णं०” ॥५१॥१७॥ इति व्यणि  
तस्य णोपदेशाद् वृद्धेरेव प्राप्तेः ? इति चेत्, उच्यते— ॥३१२८॥
- ६३ “पदोतः०”—न च एदोत इति सूत्रवैयर्थ्यात् पदान्ते इत्यस्य अस्य इत्यनेनाऽसम्बन्ध इति वाच्यम् । ॥३३३२॥
- ६४ “खरे वा”—ननु गोरौतो विद्यमानत्वेन कथं नाऽव इत्यादेशः ? इत्याह— ॥३४२४॥
- ६५ “इन्द्रे”—नन्वेव गवेन्द्रयज्ञ इति सिद्धावपि गवेन्द्र इति कथमिति चेत् ? ॥३४२८॥
- ६६ ” —ननु पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदम् ? इत्याह— ॥३४३०॥
- ६७ “वाऽत्यसन्धिः”—ननु चित्रगो अग्रं,—अत्र गोरौतो विद्यमानत्वेन कथं नाऽसन्धिः ? इत्याह— ॥३४३४॥
- ६८ “धृतोऽनितौ”—नन्वस्य वाक्यान्तत्वाभावात् कथं धृतः ? इति चेत्, ॥३४३७॥
- ६९ “ईदूदे०”—ननु ईदूदेद्विवचनमित्यस्य कोऽर्थः ?,— ॥३५११॥
- ७० ” —नन्वेवं मुनी, साधूः खड्गे इत्यादौ ईदूदेद्रूपद्विवचनसत्त्वेन तदन्तद्विवचनाभावात् कथमस-  
न्धिरिति चेत् ?,— ॥३५१६॥
- ७१ ” —ननु ‘तव ईं आसाते’ इत्यत्र खराव्यवहितस्य ईं इति द्विवचनस्याऽसन्धौ पूर्वेणाऽपि  
तव इत्यस्याऽकारेण सहाऽसन्धिः स्यात् ? इत्यत आह— ॥३५२३॥
- ७२ “चादिः खरो०”—तितउशब्दे उकारस्य चादित्वाभावात् कथमसन्धिः ? इत्याशङ्कते । ॥३६१९॥
- ७३ ” —ननु जानु उ अस्य रुजति इत्यत्र खराव्यवहितपूर्वस्य चादेः खरस्याऽनेन सन्धि-  
प्रतिषेधे पूर्वेण सहाऽप्यसन्धिः ? इत्याह— ॥३६२६॥
- ७४ ” —नन्वनाडिति पर्युदासः, स किमर्थः ? इति पृच्छति । ॥३६२६॥
- ७५ ” —ननु सर्वत्र ‘आ’ इत्यस्यैव श्रवणं तथा च कथं बोध्यमयमाकार आडोऽयमनाड इति ? ॥३६३७॥
- ७६ “ऊं चोव्”—अथ ऊं इत्येव चादिषु पठ्यता किमादेशेन ? नैवम् ; ॥३७१०॥
- ७७ “सौ नवेतो”—नन्वत्राऽनुकरणे विभक्तिः कथं न भवतीति विशङ्क्य स्याद्वादसमाश्रयणेन अनुकार्या-  
नुकरणयोर्भेदाभेदविवक्षापक्षद्वयेऽभेदविवक्षायामर्थवत्त्वाभावेन नामत्वाभावात् विभ-  
क्त्युत्पत्तिः ? इत्याह— ॥३७२४॥
- ७८ “ऊं चोव्”—नन्वत उभिति एतदर्थकं अञ्जर्गादित्यत्राऽनुवर्तते, तथा सति जानु अस्य० इत्यादौ  
कथं “अञ्जर्गात्०” इति वत्वमिति चेत् ? उच्यते— ॥३७३५॥
- ७९ ” —ननु ऊं इति चादिगणपाठे “चादिः खरोऽनाह” इत्यनेनाऽसन्धौ सति सिद्धं, उ इति  
उञ् इत्येतत्सूत्रेण सिद्धं, तदभावपक्षे “इवर्णादे०” इति वत्त्वे विति, इति रूपत्रयसिद्धौ  
ऊं च इत्यादेशवचनं किमर्थम् ? इत्याशङ्कते । ॥३७३६॥
- ८० “अञ्जर्गात्०”—ननु कुङ्कुहास्ते इत्यत्र परत्वाद्वत्वापेक्षया पूर्वं “ह्रस्वा०” इति द्वित्वे, ततोऽनेन वत्त्वे  
रूपसिद्धौ असन् इति किमर्थमिति चेत् ? उच्यते— ॥३८२०॥
- ८१ “अइउव०”—ननु पदान्ते इत्यनुवृत्तौ सूत्रेऽन्तग्रहणं किमर्थम् ? इत्यत आह— ॥३८२६॥
- ८२ ” —ननु नामे अत्र, नाम अत्र, इत्यादौ अनुनासिकादेशे वा तदभावे कथं न सन्धिः ? इत्याह— ॥३८३०॥
- ८३ ” —ननु वृक्ष इत्यत्राऽकारस्य पदान्तत्वाभावेन सूत्राप्रवृत्तेः पदान्त इति अन्त इति च  
पदद्वयफलमिदं कथं भगवता वृत्तिकृता अन्त इत्यस्यैव फलतया प्रदर्शितमिति चेत् ?,— ॥३८३३॥
- ८४ ” —ननु कथं अ !,—विष्णो !, इत्यत्र चादिरिति सूत्राऽविषयः ? इत्यत आह— ॥३८३७॥
- ८५ “तृतीयस्य०”—ननु षण्णया इत्यादौ “अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने” ॥१३३३॥ इत्यनेन तृतीयस्य द्वित्वे  
कृतेऽन्तस्याऽनुनासिके च तृतीयस्याऽपि श्रुतिः प्राप्नोति ? नैवम्, ॥३९१९॥
- ८६ ” —ननु वर्गा अनुनासिकाः पञ्च ङञ्जनमा इति वर्गतृतीयस्यैकस्य स्थाने कथमादेश-  
पञ्चकम् ? इत्याह— ॥३९१५॥
- ८७ ” —ननु येषां मते व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके परेऽनुनासिक इति तन्मते “ह्रस्वाद्  
ङणनो द्वे” ॥१३१२७॥ इति द्वित्वं भवति नवा ? इत्यत आह— ॥३९३१॥
- ८८ ” —ननु षण्णया इत्यादौ अनुनासिकात् पूर्वं ङकारद्वित्वे षड् नया इति स्थितेऽन्यदस्याऽने-  
नाऽनुनासिके षड् नया इति भाव्यम् ? इत्याशङ्कते । ॥३९३५॥
- ८९ “प्रत्यये च”—ननु पूर्वसूत्रेणैव पदान्तस्थस्य वर्गतृतीयस्य पञ्चमादौ प्रत्ययेऽनुनासिके सिद्धे किमर्थ-  
मिदम् ? इत्याह— ॥४०११॥
- ९० “ततो ह०”—ननु तत इति किमर्थम् ? यतोऽर्थवशाद्भिभक्तिपरिणाम’ इति न्यायात् पूर्वसाचृतीयस्ये-  
त्यनुवृत्त्याऽत्र पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामाचृतीयादित्यर्थलाभादिति चेत् ? उच्यते— ॥४०२४॥
- ९१ ” —न च पदान्ते हकारासम्भवः ? भूतपूर्वगत्या तत्सम्भवात् । ॥४०२५॥
- ९२ ” —यद्यपि हकारस्य कण्ठ्यत्वेन तदासन्नघकारेणैव भाव्यं न शब्दघमैरिति पूर्वग्रहणकर्तव्यं  
तथापि सूत्रे चतुर्थं इत्युक्त्या निमित्तप्रत्यासत्तिराश्रीयते, अन्यथा हो घ इति विदध्यात् ॥४०२७॥
- ९३ “प्रथमा०”—नन्वेतेषु तृतीयस्य प्रथमे सत्यस्य प्रवृत्तेरिति पूर्वात्तत इत्यनुवृत्त्य सर्वेष्टसिद्धौ प्रथमा-  
दिति किमर्थम् ?,— ॥४०३२॥





क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
१२०	“नः शिं झ्”-नन्वत्र “चजः कगम्” इत्यनेन कत्वं कथं न भवति ?, इत्याह—		॥४६३१॥
१२१	“घोषवति”-ननु पूर्वसूत्र एव घोषवद्ग्रहणं क्रियतामर्थस्य समानत्वात् किं पृथग्योगेन ?,—सत्यम् ;		॥४७१६॥
१२२	“अवर्णभो०”-ननु सन्धिरूपतायामसन्धिरिति प्रतिषेधो युक्तः, लुक् अभावरूपत्वात् सन्धिरूप एव न भवतीति कथं स प्रतिषेधः ?, इत्यत आह—		॥४७२२॥
१२३	” —ननु को गच्छतीत्यादौ पूर्वणोत्वं अनेन च लोपः प्राप्त इत्युभयप्राप्तौ परत्वाल्लोप एव स्यादिति चेत् ?,—न,		॥४७२५॥
१२४	” —न च “अवर्णभो०” इति सूत्रे ‘अवर्ण’ इत्यत्र वर्णग्रहणाज्जातिग्रहणेन सर्वविधाकारग्रहणे ‘प्रतिलक्ष्यं लक्षणोपप्लव’ इति सिद्धान्तादरे ह्रस्वाकारविषयकस्याऽस्याऽपि निरवकाशत्वमिति वाच्यम् ।		॥४७२६॥
१२५	” —ननु सति सद्भावे प्रतिषेध उपपद्यते, अवर्णादिभ्यस्तु घोषवति रोर्लुकि सन्धि-सम्भव एव नास्ति ?, इत्यत आह—		॥४७३३॥
१२६	“ह्रस्वाद्०”-ननु कुर्वन्नास्ते, कृपन्नास्ते इत्यत्राऽनेन नस्य द्वित्वे सति द्वितीयनस्य पदान्तत्वेऽपि पूर्वस्य नस्याऽनन्त्यस्य “रपूर्वर्णान्नोण०” ॥२१३६३॥ इत्यनेन णत्वं कथं न भवति ?,—इत्याह—		॥४९१२२॥
१२७	” —ननु चाऽत्र मा भूदनेन द्वित्वं “अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने” इत्यनेन द्वित्वं भविष्यति तत्कि-मर्थमेतन्नित्युच्ये खर इत्युच्यत इति चेत् ?, सत्यम् ;		॥४९१२७॥
१२८	” —ननु ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां ङ्णानां अनेन द्वित्वे सति कथं “उणादयः”, “अनतो०” इत्यादयो निर्देशाः ?, इत्यत आह—		॥४९३१॥
१२९	“खरेभ्यः”-ननु खरादित्युक्तेऽपीष्टस्य सिद्धत्वाद्बहुवचनं व्यर्थं ?, इत्यत आह—		॥५०३१॥
१३०	“हार्दार्द०”-ननु द्वित्वं कृतमपि ‘निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यपाय’ इति न्यायेन निवर्त्यति किमनुग्रहणेन ?, इति चेत्, न ;		॥५१२१॥
१३१	“अदीर्घाद्०”-ननु त्वक् इत्यादौ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपः कथं न भवति ?, इत्याह—		॥५१३९॥
१३२	” —यद्यपि त्वक् इत्यत्र “पदस्य” इति संयोगान्तलोपस्याऽऽदेश्यलाभावेऽपि “संयोग-स्यादौ स्कोर्लुक्” इति लोपः पूर्वकारस्य प्राप्तस्तथापि ककारादन्यत्र द्वित्वश्रुतेश्चा-रितार्थेऽपि सूत्रे पूर्वसादृशस्वरस्येत्यनुवृत्त्या तत्र रेफहकाररूपव्यक्त्युपादानात् ‘व्यक्तिः पदार्थ आधीयते’ तत्र च ककारविषयस्य द्वित्वस्याऽऽनर्थक्यं मा भूदिति न भवति ।		॥५१४२॥
१३३	“ततोऽस्याः”-नन्वसिद्धन्तरङ्गे द्वित्वे कर्तव्ये ‘असिद्धं बहिरङ्गम्’ इति न्यायेन बहिरङ्गो याद्यादेशः कथं नाऽसिद्धो भवति ?,—		॥५२२३॥
१३४	” —न चाऽस्य योगस्य वैयर्थ्यं ?,—ध्यानमित्यादावनादेशरूपे यादौ तस्य सावकाशत्वा-दिति चेत् ?, सत्यम् ;		॥५२२३॥
१३५	” —ननु दध्यत्र इत्यादौ तकारात् परस्य रस्य कस्मान्न द्वित्वमिति चेत् ?,		॥५२२५॥
१३६	“झां धुह०”-ननु सूत्रे झामिति बहुवचनं किमर्थं ?, इत्यत आह—		॥५४११॥
१३७	“रो रे लुग्०”-नन्वत्राऽपदान्त इत्यनुवर्तेत तदा अजर्घाः, अपास्पाः, अचोक्कः, अचाखाः, अचाकाः, अपापाः इत्यादिष्वेव सूत्रं प्रवर्तेत न खाराज्यमित्यादौ इति चेत् ?, सत्यम् ;		॥५५११॥
१३८	” —न हीकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सम्भवोऽस्ति यथा अग्नी रथेन, नीरक्तमित्यादौ		॥५५१३॥
१३९	” —अकारोकाराभ्यां परस्य रेफस्य हि रेफेऽपदान्ते पदान्ते च सम्भवो यथा-अजर्घाः, अचोक्कः, पुना रमते, दूरकमित्यादौ ।		॥५५१३॥
१४०	” —अपि च सूत्रे भिन्नस्थानि-निमित्तकथनेनाऽपि तदननुवृत्तिरेव बोध्या ।		॥५५१५॥
१४१	” —ननु सूत्रे रो इत्यनेन सानुवन्धो निरनुवन्धो वा ?, नाऽऽद्यः, तथा सति अग्नी रथे-नेत्यादि सिद्धावपि पुना रमते इत्यादि न सिध्येत्, न द्वितीयस्तथा सति पुना रमते इत्यादि सिद्धावपि अग्नी रथेनेत्यादि न सिध्येत् ।		॥५५१६॥
१४२	” —न च लक्ष्यानुरोधेनोभयपरिग्रहः, तस्य सर्वत्र नियामकत्वेऽतिप्रसंगादिति चेत् ?,—		॥५५१७॥
१४३	” —अथ अग्नी रथेनेत्यादौ व्यवहितस्याऽकारस्य दीर्घः कस्मान्न भवति ?, इत्याशङ्कयामाह—		॥५५२०॥
१४४	” —ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणामेवेति कुतो लभ्यत इति चेत् ?, उच्यते—		॥५५२०॥
१४५	“उदः स्या०”-कथमुत्स्कन्दतीति उत्कन्दको रोग इति ?, पृषोदरादित्वात् ।		॥५६१८॥
१४६	” —उत्पूर्वात् ‘घा’ घातोर्घतन्या दिप्रत्यये सिज्जुवादौ उदस्यादत्र सकारलोपः कस्मान्न भवति ?,		॥५६१३॥
१४७	” —ननुदस्यादित्यत्राऽङ्गागमात् पूर्व कथं न सलोपः ?, इति चेत् ;		॥५६२६॥
१४८	” —ननु उत्स्थान इत्यत्र उदः परत्र स्थाधातोर्विद्यमानत्वात् कुतो न सलोपः ?, इत्यत आह—		॥५६२७॥
१४९	” —ननु उत्स्थान इत्यत्र कुतो शायते उद इत्यविशेषणं स्याधातोरिति ?,—		॥५६२९॥
१५०	” —‘उदः स्कन्दे रोगे’ इति वक्तव्यं, उदः परस्य स्कन्दे. सकारस्य लोपो भवति; कथ-मन्यथा उत्कन्दको रोग इति सिध्यतीति पृच्छति ।		॥५६३१॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
१५१	“एतदश्च०”—अपि च ‘अनग्रन्थसमासे’ इत्यनेन तदन्तविधिः ‘तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते’ इति न्यायश्च ज्ञाप्यते ।		॥५७।१७॥
१५२	” —ननु प्रसज्यप्रतिपेधार्थकनञो ग्रहणे वाक्यभेद इति चेत्?,—		॥५७।२०॥
१५३	” —सेरिति सानुबन्धोपादानं कथम्?, इत्यत आह—		॥५७।२३॥
१५४	” —अथाऽत्र परत्वादेत्वे पत्वे च कृते सकारस्याऽभावाद्भोपो न भविष्यतीति चेत्?, उच्यते—		॥५७।२५॥
१५५	“धुटो धुटि०”—नन्वत्र स्थानिनिमित्तयोः समसंख्यावचनत्वात् यथासख्यप्रतिपत्तौ पकारस्य पकारे एव लोपो विश्रायेत, इत्यत्र प्रसङ्ग एव नाऽस्तीति किमेतन्नित्यर्थेन खे इति ग्रहणेनेति चेत्?, उच्यते—		॥५८।२०॥
१५६	“तृतीयस्तृ०”—अथ पृथग्विहितत्वेनोपस्थानान्निमित्तानुवृत्तिः कथं नेष्यते?, इति चेत्,—		॥५८।२५॥
१५७	” —तथा च तत्र तत्र प्रकृतानुप्रकर्षणाय चकारस्य क्रियमाणत्वं यथा “मो नो भ्वोश्च” इत्यादौ, इह तु तदकरणात् प्रकृते तदननुवृत्तिरेव, इत्याह—		॥५८।२६॥
१५८	“रः पदान्ते०”—कथं नृपतेरपत्यं नार्पत्य?, नृकुट्यां भवो नार्कुट?, तवर्कारः?, प्राच्छति?, इत्यादि,		॥५९।१२॥
१५९	” ननु गीरित्यादौ दीर्घात् पूर्वमेव विरामाधोपयोरनेन विसर्गे निमित्तरेफस्याऽभावात् कथं “पदान्ते” ॥२।१।६३॥ इति दीर्घः?, इत्यत आह—		॥५९।३९॥
१६०	“ख्यागि”—अथ किमर्थमिदं ख्यागि रेफस्य पदान्तत्वात् पूर्वणैव सिध्यतीति चेत्?, सत्यम्;		॥५९।४६॥
१६१	“शिष्यघो०” ननु “रः पदान्ते०” इत्यनेन विसर्गे सिद्धे किमर्थमिदम्?, इत्यत आह—		॥६०।१८॥
१६२	“अरो. सुपि०”—ननु रेफस्य सिद्धत्वात् विधेश्चाऽप्राप्तप्राणरूपत्वाद्देफस्य रेफविधानमनर्थकं?, न त्वनर्थक, नियमार्थत्वेन कार्यान्तरवाधनार्थत्वात्?, इत्याह—		॥६०।२६॥
१६३	“वाऽहर्पत्या०”—ननु वृत्तिप्रदर्शितेभ्योऽन्यान्यपि सन्तीति कुत पतत्?, उच्यते—		॥६०।३८॥
१६४	“तवर्गस्य०”—ननु तवर्गस्य कार्यित्वात् तेन च विशिष्टवर्णसमुदायस्याऽभिधानात्तच्च शेते इत्यादिपु एकैकस्य तवर्गशब्दाप्रतीतौ कथं कार्यित्वम्?, इति चेत्, उच्यते—		॥६१।२२॥
१६५	” —ननु यथा पूर्वण चवर्गेण योगे तवर्गस्य चवर्ग इत्युदाहृते कथं नोदाहृतं पूर्वण शकारेण?, इत्यत आह—		॥६१।३६॥
१६६	” —ननु पूर्ववत् परत्र पकारेण योगेऽपि कथं नोदाहृतम्?, इत्यत आह—		॥६१।३८॥
१६७	” —अथ तच्च शेते, मज्जतीत्यादौ “चज. कगम्” ॥२।१।८६॥ इति आदेशभूतयोश्चजयोः कगौ कस्मान्न भवत.?, उच्यते—		॥६२।१७॥
१६८	” —ननु तच्च शेते इत्यादौ मा भूत् चस्य कत्वं, मज्जति इत्यादौ जकारस्य धुडाश्रयं गत्वं कस्मान्न भवति?, इत्याह—		॥६२।२१॥
१६९	“लि लौ”—अथ किमर्थं सूत्रे लौ इति द्विवचनम्?,		॥६३।२८॥
१७०	“अत आः०”—नन्वत्र “पद्दहुस्भोसि” ॥१।१।४॥ इत्येत्वं कथं नेति चेत्?,—उच्यते—		॥६४।१८॥
१७१	” अत्राऽऽकारोऽप्राप्तप्राणार्थं, ‘सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य’ इति न्यायेनाऽकारसंनिपातेन विधीयमानो यकारस्तद्विघाताय कथं प्रभवतीति न वाच्यं, यत्रहणवैयर्थ्यप्रसंगात् ।		॥६४।२०॥
१७२	” —यद्यप्यासन्न इति न्यायादाकारः कण्ठ्यादिधर्मत्वेन तत्सदृशस्यैव स्थानिनो भवन्नकारस्यैव भविष्यति, तथाप्यवर्णादिक्रमेण कार्याणामत्र कार्यविधानात्तन्मन्तरेण च सर्वमुखस्थानमवर्णादेरपि स्यादित्यत आह—		॥६४।२१॥
१७३	” —नन्वत्र ‘प्रत्ययाप्रत्यययो. प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्’ इति न्यायेन स्यादाविति लब्धे किमर्थं तद्?, इति पृच्छति ।		॥६४।२६॥
१७४	” —न चाऽऽशङ्क्यम् “त्रिचतुरः०” ॥२।१।१॥ इति स्यादावित्यस्य तत्र ग्रहणं, यतस्तत्र तद्ग्रहणस्य निष्फलत्वात् ।		॥६४।२९॥
१७५	” —अपि चाऽत्र स्यादावित्यधिकारार्थं, अन्यथा तस्य “डित्यदिति” ॥१।४।२३॥ इत्यत्र विशेष्यतया सम्बन्धाभावेन शुचिशब्दाद् डयां तेन प्रत्ययत्वादेत्वस्य प्राप्तेः—		॥६४।२९॥
१७६	“भिस पेस्”—नन्वत्र “पद्दहुस्भोसि” इति परत्वादेत्वं कथं न भवतीति चेत्?,—उच्यते—		॥६४।३५॥
१७७	” —न च ‘साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगति.’ इति न्यायेन कृतेऽप्येत्वे सावकाशत्वमैस्त्वस्येति वाच्यं, सम्भवति मुख्ये गुणकल्पनाया अयोगात् ।		॥६४।३६॥
१७८	” —परत्वात् पूर्वमेत्त्वमित्यपि न वाच्यं, उभयोरन्यत्र सावकाशयोरेकत्र युगपत्प्रवृत्तौ स्पष्टसम्भवे परत्वसम्भवादिति ।		॥६४।३७॥
१७९	” —न चाऽत्रैसोऽन्यत्र सावकाशत्वमस्ति, अतोऽपवादेत्वेनैवैस्त्वस्याऽयं वाचकः ।		॥६४।३७॥
१८०	” —इह कश्चिद्विमुद्ध्यकारी एत्त्वैस्त्वयोक्तसर्गापवादभावमपहृत्य परत्वादेत्वप्रवृत्तिं कथयन् भूतपूर्वगत्या नित्यत्वमैस्त्वस्याऽऽचक्ष्वाण एत्त्वस्यैवाऽयं वाचक इति प्रतिपादयति, यदाह—		॥६४।३८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शब्दा ।	पृ० प०
१२०	“नः षि ङ्” —नन्वत्र “चजः कगम्” इत्यनेन कत्वं कथं न भवति ? इत्याह—		॥४६३१॥
१२१	“घोपवति” —ननु पूर्वसूत्र एव घोपवद्ग्रहणं क्रियतामर्थस्य समानत्वात् किं पृथग्योगेन ? —सत्यम् ;		॥४७१६॥
१२२	“अवर्णभो०” —ननु सन्धिरूपतायामसन्धिरिति प्रतिषेधो युक्तः, लुक् अभावरूपत्वात् सन्धिरूप एव न भवतीति कथं स प्रतिषेधः ? इत्यत आह—		॥४७२२॥
१२३	” —ननु को गच्छतीत्यादौ पूर्वणोत्वं अनेन च लोपः प्राप्त इत्युभयप्राप्तौ परत्वाल्लोप एव स्यादिति चेत् ? —न,		॥४७२५॥
१२४	” —न च “अवर्णभो०” इति सूत्रे ‘अवर्ण’ इत्यत्र वर्णग्रहणाज्जातिग्रहणेन सर्वविधा-कारग्रहणे ‘प्रतिलक्ष्यं लक्षणोपप्लव’ इति सिद्धान्तादरे ह्रस्वाकारविषयकस्याऽ-स्याऽपि निरवकाशत्वमिति वाच्यम् ।		॥४७२६॥
१२५	” —ननु सति सद्भावे प्रतिषेध उपपद्यते, अवर्णादिभ्यस्तु घोपवति रोर्लुकि सन्धि-सम्भव एव नास्ति ? इत्यत आह—		॥४७३३॥
१२६	“ह्रस्वाद्” —ननु कुर्वन्नास्ते, कृपन्नास्ते इत्यत्राऽनेन नस्य द्वित्वे सति द्वितीयनस्य पदान्तत्वेऽपि पूर्वस्य नस्याऽनन्त्यस्य “रपूर्वर्णात्रोण०” ॥२३३६३॥ इत्यनेन णत्वं कथं न भवति ? —इत्याह—		॥४९१२२॥
१२७	” —ननु चाऽत्र मा भूदनेन द्वित्वं “अदीर्घाद्विरामैकव्यञ्जने” इत्यनेन द्वित्वं भविष्यति तत्कि-मर्थमेतन्नित्युत्तये स्वर इत्युच्यत इति चेत् ? —सत्यम् ;		॥४९१२७॥
१२८	” —ननु ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां ङ्णानां अनेन द्वित्वे सति कथं “उणादयः”, “अनतो०” इत्यादयो निर्देशाः ? इत्यत आह—		॥४९१३१॥
१२९	“स्वरेभ्यः” —ननु स्वरादित्युक्तेऽपीष्टस्य सिद्धत्वाद्बहुवचनं व्यर्थं ? इत्यत आह—		॥५०३२१॥
१३०	“हार्दार्द०” —ननु द्वित्वं कृतमपि ‘निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याऽप्यपाय’ इति न्यायेन निवर्त्यति किमनुग्रहणेन ? इति चेत्, न ;		॥५१२२१॥
१३१	“अदीर्घाद्” —ननु त्वक् इत्यादौ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपः कथं न भवति ? इत्याह—		॥५१३२९॥
१३२	” —यद्यपि त्वक् इत्यत्र “पदस्य” इति संयोगान्तलोपस्याऽऽदेशवलादभावेऽपि “संयोग-स्यादौ स्कोर्लुक्” इति लोपः पूर्वकारस्य प्राप्तस्तथापि ककारादन्यत्र द्वित्वश्रुतेश्चा-रितार्थेऽपि सूत्रे पूर्वसादर्हस्वरस्येत्यनुवृत्त्या तत्र रेफकाररूपव्यक्त्युपादानात् ‘व्यक्तिः पदार्थ आधीयते’ तत्र च ककारविषयस्य द्वित्वस्याऽऽनर्थक्यं मा भूदिति न भवति ।		॥५१४२१॥
१३३	“ततोऽस्याः” —नन्वस्मिन्नन्तरङ्गे द्वित्वे कर्तव्ये ‘असिद्धं बहिरङ्गम्’ इति न्यायेन बहिरङ्गो याद्यादेशः कथं नाऽसिद्धो भवति ? —		॥५२२२३॥
१३४	” —न चाऽस्य योगस्य वैयर्थ्यं ? —ध्यानमित्यादावनादेशरूपे यादौ तस्य सावकाशत्वा-दिति चेत् ? —सत्यम् ;		॥५२२२३॥
१३५	” —ननु दध्यत्र इत्यादौ तकारात् परस्य रस्य कस्मान्न द्वित्वमिति चेत् ? —		॥५२२२५॥
१३६	“ज्ञां धुङ्” —ननु सूत्रे ज्ञामिति बहुवचनं किमर्थं ? इत्यत आह—		॥५४१११॥
१३७	“रो रे लुङ्” —नन्वत्राऽपदान्त इत्यनुवर्तते तदा अजर्घाः, अपास्याः, अचोक्कः, अचाखाः, अचाकाः, अपापाः इत्यादिष्वेव सूत्रं प्रवर्तते न स्वाराज्यमित्यादौ इति चेत् ? —सत्यम् ;		॥५५१११॥
१३८	” —न हीकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते सम्भवोऽस्ति यथा अशी रथेन, नीरक्तमित्यादौ		॥५५११३॥
१३९	” —अकारोकाराभ्यां परस्य रेफस्य हि रेफेऽपदान्ते पदान्ते च सम्भवो यथा—अजर्घाः, अचोक्कः, पुना रमते; दूरक्तमित्यादौ ।		॥५५११३॥
१४०	” —अपि च सूत्रे भिन्नस्थानि—निमित्तकथनेनाऽपि तदननुवृत्तिरेव बोध्या ।		॥५५११५॥
१४१	” —ननु सूत्रे रो इत्यनेन सानुबन्धो निरनुबन्धो वा ? —नाऽऽद्यः, तथा सति अशी रथे-नेत्यादि सिद्धावपि पुना रमते इत्यादि न सिध्येत्, न द्वितीयस्तथा सति पुना रमते इत्यादि सिद्धावपि अशी रथेनेत्यादि न सिध्येत् ।		॥५५११६॥
१४२	” —न च लक्ष्यानुरोधेनोभयपरिग्रहः, तस्य सर्वत्र नियामकत्वेऽतिप्रसंगादिति चेत् ? —		॥५५११७॥
१४३	” —अथ अशी रथेनेत्यादौ व्यवहितस्याऽकारस्य दीर्घः कस्मान्न भवति ? इत्याशङ्क्यामाह—		॥५५१२०॥
१४४	” —ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणामेवेति कुतो लभ्यत इति चेत् ? —उच्यते—		॥५५१२०॥
१४५	“उदः स्था०” —कथमुत्स्कन्दतीति उत्कन्दको रोग इति ? —पृषोदरादित्वात् ।		॥५६१८॥
१४६	” —उत्पूर्वात् ‘घ्रा’ घातोरद्यतन्या दिप्रत्यये सिञ्जुनादौ उदस्यादत्र सकारलोपः कस्मान्न भवति ? —		॥५६१२३॥
१४७	” —ननु उदस्यादित्यत्राऽङ्गागमात् पूर्व कथं न सलोपः ? इति चेत् ;		॥५६१२६॥
१४८	” —ननु उत्स्थान इत्यत्र उदः परत्र स्थाघातोर्विद्यमानत्वात् कुतो न सलोपः ? इत्यत आह—		॥५६१२७॥
१४९	” —ननु उत्स्थान इत्यत्र कुतो शायते उद इत्यविशेषणं स्थाघातोरिति ? —		॥५६१२९॥
१५०	” —‘उदः स्कन्दे रोगे’ इति वक्तव्यं, उदः परस्य स्कन्देः सकारस्य लोपो भवति; कथ-मन्यथा उत्कन्दको रोग इति सिध्यतीति पृच्छति ।		॥५६१३१॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
१५१	“एतदश्च०”—अपि च ‘अनग्रन्थसमासे’ इत्यनेन तदन्तविधिः ‘तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते’ इति न्यायश्च ज्ञाप्यते ।		॥५७१७॥
१५२	” —ननु प्रसज्यप्रतिषेधार्थकनञो ग्रहणे वाक्यभेद इति चेत् ?,—		॥५७१२०॥
१५३	” —सेरिति सानुबन्धोपादानं कथम् ? , इत्यत आह—		॥५७१२४॥
१५४	” —अथाऽत्र परत्वादेत्वे पत्वे च कृते सकारस्याऽभावाल्लोपो न भविष्यतीति चेत् ? , उच्यते—		॥५७१२५॥
१५५	“धुटो धुटि०”—नन्वत्र स्थानिनिमित्तयोः समसंख्यावचनत्वात् यथासंख्यप्रतिपत्तौ पकारस्य पकारे एव लोपो विहायेत, इत्यत्र प्रसङ्ग एव नाऽस्तीति किमेतन्निवृत्त्यर्थेन खे इति ग्रहणे-नेति चेत् ? , उच्यते—		॥५८१२०॥
१५६	“तृतीयस्तु०”—अथ पृथग्विहितत्वेनोपस्थानान्निमित्तानुवृत्तिः कथं नेष्यते ? , इति चेत्,—		॥५८१२५॥
१५७	” —तथा च तत्र तत्र प्रकृतानुप्रकर्षणाय चकारस्य क्रियमाणत्वं यथा “मो नो म्वोश्च” इत्यादौ, इह तु तदकरणात् प्रकृते तदननुवृत्तिरेव, इत्याह—		॥५८१२६॥
१५८	“रः पदान्ते०”—कथं नृपतेरपत्यं नार्पत्यः ? , नृकुट्यां भवो नार्कुटः ? , तवकारः ? , प्राच्छति ? , इत्यादि, ॥५९१२२॥		॥५९१२२॥
१५९	” ननु गीरित्यादौ दीर्घात् पूर्वमेव विरामाधोपयोरनेन विसर्गे निमित्तररेफस्याऽभावात् कथं “पदान्ते” ॥२११६॥ इति दीर्घः ? , इत्यत आह—		॥५९१३९॥
१६०	“ख्यागि”—अथ किमर्थमिदं ख्यागि रेफस्य पदान्तत्वात् पूर्वैणैव सिध्यतीति चेत् ? , सत्यम् ;		॥५९१४६॥
१६१	“शिव्वधो०” ननु “रः पदान्ते०” इत्यनेन विसर्गे सिद्धे किमर्थमिदम् ? , इत्यत आह—		॥६०१२८॥
१६२	“अरोः सुपि०”—ननु रेफस्य सिद्धत्वात् विधेश्चाऽप्राप्तप्राणरूपत्वाद्देफस्य रेफविधानमनर्थकं ? , न त्वनर्थकं, नियमार्थत्वेन कार्यान्तरवाधनार्थत्वात् ? , इत्याह—		॥६०१२६॥
१६३	“वाऽहर्पत्या०”—ननु वृत्तिप्रदर्शितेभ्योऽन्यान्यपि सन्तीति कुत एतत् ? , उच्यते—		॥६०१३८॥
१६४	“तवर्गस्य०”—ननु तवर्गस्य कारित्वात् तेन च विशिष्टवर्णसमुदायस्याऽभिधानात्तच्च शोते इत्यादिपु एकैकस्य तवर्गशब्दाप्रतीतौ कथं कारित्वम् ? , इति चेत्, उच्यते—		॥६११२२॥
१६५	” —ननु यथा पूर्वैण चवर्गेण योगे तवर्गस्य चवर्ग इत्युदाहृते कथं नोदाहृतं पूर्वैण शकारेण ? , इत्यत आह—		॥६११३६॥
१६६	” —ननु पूर्ववत् परत्र पकारेण योगेऽपि कथं नोदाहृतम् ? , इत्यत आह—		॥६११२८॥
१६७	” —अथ तच्च शोते, मज्जतीत्यादौ “चज. कगम्” ॥२११८६॥ इति आदेशभूतयोश्चजयोः कगौ कस्मान्न भवतः ? , उच्यते—		॥६२११७॥
१६८	” —ननु तच्च शोते इत्यादौ मा भूत् चस्य कत्वं, मज्जति इत्यादौ जकारस्य भुडाभ्यं गत्वं कस्मान्न भवति ? , इत्याह—		॥६२१२१॥
१६९	“लि लौ”—अथ किमर्थं सूत्रे लौ इति द्विवचनम् ? ,		॥६३१२८॥
१७०	“अत आः०”—नन्वत्र “एद्दहस्मोसि” ॥११४॥ इत्येत्त्वं कथं नेति चेत् ? , उच्यते—		॥६४११८॥
१७१	” अत्राऽऽकारोऽप्राप्तप्राणार्थः, ‘सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य’ इति न्यायेनाऽकारसंनिपातेन विधीयमानो यकारस्तद्विधाताय कथं प्रभवतीति न वाच्यं, यद्ग्रहणवैयर्थ्यप्रसंगात् ।		॥६४१२०॥
१७२	” —यद्यप्यासन्न इति न्यायादाकारः कण्ठ्यादिधर्मत्वेन तत्सदृशस्यैव स्थानिनो भवन्न-कारस्यैव भविष्यति, तथाप्यवर्णादिक्रमेण कार्याणामत्र कार्यविधानात्तन्मन्तरेण च सर्वमुखस्थानमवर्णादेरपि स्यादित्यत आह—		॥६४१२१॥
१७३	” —नन्वत्र ‘प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्’ इति न्यायेन स्यादाविति लब्धे किमर्थं तद् ? , इति पृच्छति ।		॥६४१२६॥
१७४	” —न चाऽऽशङ्क्यम् “त्रिचतुर०” ॥२१११॥ इति स्यादावित्यस्य तत्र ग्रहणं, यतस्तत्र तद्ग्रहणस्य निष्फलत्वात् ।		॥६४१२९॥
१७५	” —अपि चाऽत्र स्यादावित्यधिकारार्थं, अन्यथा तस्य “डिलदिति” ॥११४२३॥ इत्यत्र विशेष्यतया सम्बन्धाभावेन शुचिशब्दाद् ड्यां तेन प्रत्ययत्वादेत्वस्य प्राप्तेः—		॥६४१२९॥
१७६	“मिस पेस्”—नन्वत्र “एद्दहस्मोसि” इति परत्वादेत्त्वं कथं न भवतीति चेत् ? , उच्यते—		॥६४१३५॥
१७७	” —न च ‘साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः’ इति न्यायेन कृतेऽप्येत्वे सावकाशत्वमैस्त्व-स्येति वाच्यं, सम्भवति मुख्ये गुणकल्पनाया अयोगात् ।		॥६४१३६॥
१७८	” —परत्वात् पूर्वमेत्वमित्यपि न वाच्यं, उभयोरन्यत्र सावकाशयोरेकत्र युगपत्प्रवृत्तौ स्पष्टैस्त्वमैवे परत्वसम्भवादिति ।		॥६४१३७॥
१७९	” —न चाऽत्रैसोऽन्यत्र सावकाशत्वमस्ति, अतोऽपवादेत्वेनैवेत्वस्याऽयं बाधकः ।		॥६४१३७॥
१८०	” —इह कश्चिदविमृश्यकारी एत्वेस्त्वयोरुत्सर्गापवादभावमपहृत्य परत्वादेत्त्वप्रवृत्ति-कथयन् भूतपूर्वगत्या नित्यत्वमैस्त्वस्याऽऽचक्ष्ण एत्त्वस्यैवाऽयं बाधक इति प्रतिपादयति, यदाह—		॥६४१३८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शब्दा ।	पृ० प०
१८१	“भिस पेस्” — ननु भिस पेस् इत्यत्र एसादेश एवाऽस्तु किमैसादेशेन ?, “पेदौ” इत्यैत्वे रूपस्य सिद्धत्वात्, — उच्यते—		॥६४४२॥
१८२	” — न च वाच्यमेसादेशे कृते “लुगस्यादेत्यपदे” ॥२।१।११३॥ इति अकारलोप इति, एखि- धानसामर्थ्यात् तस्याऽप्रवृत्तेः, अन्यथा यदि देवेरित्यभीष्टं स्यात्तदा इति कुर्यात् ।		॥६४४५॥
१८३	” — यदि सन्निपातन्यायस्य नित्यत्वं स्वीक्रियेत तर्हि कृतद्वयं जरशब्दान्तं नाम समाधित्य पेस्भावः प्रवृत्तौ जरसादेशद्वारा कथं तद्विघातस्य निमित्तं स्यात् ?, —		॥६४४७॥
१८४	” — ननु विनाऽपि स्याद्यधिकार ‘अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य’ इति न्यायाद् भिस्साभिस्स- टाशब्दयोरेकदेशस्य भिसोऽनर्थकत्वादस्य न भविष्यति ?, सत्यं, अविच्छेदार्थं स्याद्य- धिकारं स चेहाऽनुवर्तमानं. ‘अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य’ इत्येतन्न्यायानपेक्षं विशिष्ट- स्यैव भिस पेसादेशं नियमयतीत्येतदर्थं नाऽयमपेक्षणीय इति ।		॥६५।१७॥
१८५	“इदमदो” — ननु तेन न्यायेनाऽवधारणस्य लब्धत्वात् तदर्थं एवकारोऽनर्थकः ?, इत्याह—		॥६५।२८॥
१८६	“टाडसो” — ननु सत्यां सन्निपातपरिभाषाया कृते इनादेशे कथं जरस् ? इत्याह—		॥६६।१२॥
१८७	“डेडस्यो” — न च अदिति करणे “लुगस्यादेत्यपदे” इत्यकारलोपे वृक्षादित्याद्यसिद्धौ कथमाद्वि- धानमतिजरसादित्यर्थमिति वाच्यम् ।		॥६६।२०॥
१८८	“सर्वादिः०” — ननु बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वात् सर्वशब्दस्य च समासवर्तिपदार्थत्वादन्यपदार्थत्वा- भावाद्द्विधादिशब्दानामेव सर्वादिशब्देन बहुव्रीहिणाऽवगमात् सर्वादिकार्यं स्यान्न तु सर्वशब्दस्य, यथा— चित्रगुरानीयतामित्युक्ते स्वामिन एवाऽऽनयनं न तु गवां ।		॥६६।२४॥
१८९	” — न च वाच्यं यथा चित्रा गावो या अस्येति गवा विशेष्यत्वं तद्वत्तत्र विशेषणत्वमव- गम्यते तथेहाऽप्यवगम्यते इति ।		॥६६।२६॥
१९०	” — अथवा— सर्वादिरित्यस्यावृत्त्या समीहितलाभ इति चेत्, सत्यं, संयोगसमवायलक्षण- सम्बन्धे यदा बहुव्रीहिस्तदा तद्ग्रहणसंविधानं भवति— शुक्लवासाः, लम्बकर्ण इति ।		॥६६।३०॥
१९१	” — नन्वेवं मध्यमस्यामवमस्यामिति न प्राप्नोति ?, गणे पाठाभावात्, तस्मादस्तु प्रकारार्थो- ऽयमादिशब्दः ।		॥६६।४३॥
१९२	” — वृत्तौ द्विवचनविषयत्वादित्यत्र द्विवचनशब्देन प्रत्ययो न गृह्यते, किं तर्हि ?, द्व्यर्था- भिधानसमर्थ इत्यर्थस्य विवक्षितत्वाद्विवचनशब्देन स्यादिप्रत्ययाग्रहणात् स्वार्थिक- त्वेन चोभार्थस्याहानात् आप्वद्वचनमन्तरेण द्विवचनपरताया. सिद्धत्वात् ।		॥६७।१४॥
१९३	” — ननु यथा स्वार्थिकत्वेन परार्थानभिधानात् कप्परस्य साधुत्वमेवं त्रतस्परस्यापि साधुत्व- प्रसङ्गः ?, नैवं, त्रतसादीना विभक्त्यर्थमात्रवचनत्वेन सर्वस्यैव भेदस्य परित्यक्तत्वाद्- साधुत्वमुभशब्दस्य ।		॥६७।१५॥
१९४	” — नन्वन्यतरशब्दस्य डतरप्रत्ययान्तत्वेन सर्वादिकार्यं गणपाठाभावेऽपि भविष्यति ?, तत्र डतरग्रहणादित्याह—		॥६७।२१॥
१९५	” — ननु तर्हि स कथं साधुरित्याह—		॥६७।२७॥
१९६	” — ननु डतरडतमशब्दयोः क्वापि प्रयोगादर्शनात् किमर्थस्तयोः पाठ इत्यत आह—		॥६७।३१॥
१९७	” — ननु च सत्यस्मिन् प्रयोजने कथं स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वाभावाथं स्याज्ज्ञापक- मिदम्, अन्यथा चाऽनुपपद्यमानं ज्ञापकं भवति ।		॥६७।४०॥
१९८	” — न च सत्यस्मिन् प्रयोजनेऽस्याऽन्यथानुपपत्तिरस्ति ।		॥६७।४१॥
१९९	” — न च दादेशार्थमात्रत्वे दादेशविधौ डतरडतमग्रहणं कर्त्तव्यं, गणे तु करणात् स्वार्थिक- प्रत्ययान्तानां सर्वादित्वाभावाथंमपि भवतीति वाच्यं ।		॥६७।४२॥
२००	” — कथं पुनरयमर्थो यावता स्वे पुत्रा इति ज्ञात्यर्थो गम्यते, स्वे गाव इति धनार्थः ?, नैत- दस्ति; पुत्रगोशब्दयोरिह सन्निधानेनोभयं गम्यते, स्वशब्दात्त्वात्मीयत्वमात्रं प्रतीयते ।		॥६८।३४॥
२०१	” — ननु यदि शब्दान्तरनिरपेक्ष एव स्वशब्दो ज्ञातिधनयोर्वर्त्तते ?, कथं तर्हि ?— “धूमयान्त इवाऽऽश्लिष्टाः, प्रज्वलन्तीव संहताः । उल्मुकानीव मेऽमी स्वा, ज्ञातयो भरतर्षभ ! ॥” इत्यादौ ज्ञातिशब्दस्याऽनुप्रयोगः ?, —		॥६८।३५॥
२०२	” — ननु कर्मार्थकरणार्थमेवाद्भिन्नस्याऽप्युपसंव्यानशब्दस्य ग्रहणमनर्थकं, सर्वत्र वहि- योगेण सिद्धत्वादिति चेत् ?, उच्यते;—		॥६९।१४॥
२०३	” — ननु तच्छब्दभवच्छब्दयोस्त्यदादित्वाविशेषात् कस्य शेष इत्यत आह—		॥६९।३२॥
२०४	” — ननु सूत्रे विशेषस्याऽनिर्देशात् संज्ञायामपि सर्वादीनां सर्वादिकार्यप्रसङ्गः ?, नैप दोषः, तत्र गणपाठात् पर्युदासः शुद्धान्येव हि गणे सर्वादीनि सन्निविष्टानि न संज्ञाभूतानि ।		॥६९।४०॥
२०५	” — ननु संज्ञाया गौणत्वादेव न भविष्यति— सर्वाय देहीति, प्रसिद्धिवशात् सम्भवत्येव ‘गौण- मुख्यन्याय’ इति किमसंज्ञायामिति विशेषणम् ?, नैवं, पदकार्येष्वेवाऽयं न्याय उप- तिष्ठते न नामकार्यं इति ।		॥६९।४४॥
२०६	” — न चैवं शब्दान्तराद् संज्ञाप्रतीतिरस्ति ।		॥६९।४८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
२०७	“सर्वादिः०”—न च संज्ञाशब्दो गुणद्वारेण प्रवर्तते, येन प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिवशाद्गौणत्वं तस्य सम्भवति ॥७०१८॥		
२०८	” —ननु मा भूत्सर्वो नाम कश्चित्सर्वायेत्यादौ असंज्ञायामिति विशेषणात् सर्वादिकार्यं, प्रियाः सर्वे यस्य सर्वानतिक्रान्तो य इत्युपसर्जनस्य प्राप्नोति ?, इत्याह— ॥७०१८॥		
२०९	” —न ह्यत्र गृह्यमाणात् सर्वादेर्विहिता विभक्तिरपि तु समासादिति चेत्, न; गृह्यमाणस्य सर्वादेरर्थद्वारेण सम्यन्धिनी या विभक्तिस्तदर्थगतसंख्याकर्मादिवाचिनी तस्याः सर्वादिकार्यमित्यर्थोऽत्र विवक्षितः । ॥७०१९॥		
२१०	” —ननु प्रतिनियतभागाभिनिवेशित्वाच्छब्दानां सर्वत्वमोदनशब्देन नाभिहितं, ओदनत्वमपि सर्वशब्देनेति कुतोऽयं प्रसङ्गः ?, तत्रेदं दर्शनं— ॥७०१९॥		
२११	” —एवं तर्ह्यभयमनेन क्रियते, पाठश्चैव विशेष्यते विधिश्च, कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यते ?,— ॥७०२०॥		
२१२	” —अथाऽऽद्यो भूतपूर्वो मयूरव्यंसकादित्वात् समासे आढ्यपूर्वस्तस्यै आढ्यपूर्वाय देहीत्यत्र कथं सर्वादिकार्यं न भवति ?, न च व्यवस्थाया अभावः, पूर्वमाढ्यो न च सम्प्रतीति व्यवस्था प्रतीयते । ॥७०२३॥		
२१३	” —ननु अहकं पिता यस्य मकत्पितृकः, त्वकं पिता यस्य त्वकत्पितृकः, द्वकौ पुत्रौ यस्य द्वकपुत्र इति ?, अन्तरङ्गत्वात् सर्वाभिधाननिमित्तेनाऽका तावद्भाव्यम्— ॥७०२५॥		
२१४	” —न चाऽन्तरङ्गानपि विधीन् वहिरङ्गो विधिर्वाघते इति वक्तुं शक्यं, लुग्विषयत्वे एव तस्य ज्ञापितत्वात् । ॥७०२९॥		
२१५	“जस इः”—अथ नपुंसके सर्वशब्दात् नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् जसः स्थाने इकारादेशः कस्मान्न भवति ?, उच्यते— ॥७१२७॥		
२१६	“नेमार्ध०”—नन्वसंज्ञायामित्यस्य सर्वादेर्विशेषणत्वेनाऽसर्वादीनामर्धादीना संज्ञायामनेन विकल्पेन जस इकारादेशः कथन्न भवतीत्याह— ॥७१४३॥		
२१७	“द्वन्द्वे वा”—ननु चान्तरशब्दो बहुव्रीहौ वर्तते न द्वन्द्वे इति कथमदः प्रत्युदाहरणं ?, न, तदवयवको बहुव्रीहिर्द्वन्द्व इति सोऽपि द्वन्द्व इति प्रत्युदाह्रियते । ॥७२१९॥		
२१८	“न सर्वादिः”—ननु सर्वस्य सर्वादिकार्यस्य निषेधात् कथमत्र “सर्वादयोऽस्यादौ” इति पुंवद्भावः?, उच्यते— ॥७२२६॥		
२१९	” —ननु कतरे च कतमे चेति द्वन्द्वे सर्वादिकार्यस्य निषेधाद्ज्ञाताद्यर्थेऽकृप्रत्ययाभावेऽपि कप्रत्यये सति स्वार्थिकत्वेन प्रकृत्यर्थाविशिष्टत्वात् कतरकतमका इति “द्वन्द्वे वा” इति “जस इः” कस्मान्न भवति ?, अत आह— ॥७२२८॥		
२२०	“तृतीयान्ता०”—अथवा बहुव्रीहिरिव, तृतीयाया अन्तो विनाशो यत्र, तृतीया अन्ते यस्येति वा । ॥७२३९॥		
२२१	” —ननु लाघवार्थं “तृतीयासमासे” इति सूत्रकरणेऽन्यस्यापि सर्वादेः सर्वादिकार्यप्रतिषेधप्रसङ्ग इति वाच्यम् । ॥७२४३॥		
२२२	” —अथैवं सति वाक्यस्य परिग्रहाभाव इति चेत्, एकस्तृतीयासमासः प्राथमकल्पिको यस्मिन्नेकपदं एकविभक्तिकत्वं चोच्यत इति । ॥७२४४॥		
२२३	” —ननु योगग्रहणेनैव व्यावर्तितमिदम् ?, नैवं, तृतीयान्तमाश्रित्येति लभ्यत्वाद्विशिष्टयोगस्य । ॥७३१५॥		
२२४	” —ननु यास्यति चैत्रो मासेन पूर्वस्यै इत्यत्र योगग्रहणं विनापि “समर्थं पदविधि.” इति न्यायेन भविष्यति निषेधः किं योगग्रहणेन ?, उच्यते— ॥७३१८॥		
२२५	“तीयं ङित्०”—तथाहि-जातीयसमुदायेन वा तस्य लाक्षणिकत्वं बोध्यमित्यर्थः । ॥७३३८॥		
२२६	“सर्वादेः०”—यद्येवं, कथं दक्षिणपूर्वस्यै ?,—दक्षिणा चासौ पूर्वा चेति कर्मधारये भविष्यति । ॥७५१५॥		
२२७	” —अथ च बहुव्रीह्यादेः सर्वादित्वाभावे कथं त्वकत्पितृकः ?, मकत्पितृकः ?, द्वकपुत्रः ?, कक्सिन्त्रमचारी ?, इत्यादावकृत्युत्थयः—उच्यते, अन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवाऽकृ भविष्यति । ॥७५१६॥		
२२८	“इदुतो०”—कथं शस्त्रीमतिक्रान्तौ अतिशस्त्रीपुरुषौ ?, “अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य” इति प्रतिषेधाभावात् ॥७६८॥		
२२९	“औता”—नन्वेकेन सम्बन्धेन चरितार्थत्वात् स्थानसम्बन्धो न घटते ?, एकारस्यादेशत्वात्तस्य च स्थानमन्तरेणासम्भवात् प्रत्यासत्तेस्तस्यैव स्थानित्वं परिकल्प्यत इत्यदोषः । ॥७६१६॥		
२३०	“इदुतो०”—नन्वखेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः, परत्वात्तिल्लियावित्यत्रेयादेशेनैव भाव्यमत आह— ॥७६३५॥		
२३१	” —ननु ज्ञाप्यमस्तु ज्ञापकं माऽस्तु इति चेत्, उच्यते— ॥७६३८॥		
२३२	“द्वित्यदिति”—नन्विकारोकारमात्रापेक्षत्वेनाऽन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवैदोतौ स्यातां न दायाद्यादेशाः, तेषा स्त्रीत्वविशिष्टेकारोकारापेक्षत्वेन वहिरङ्गत्वात्, कृतयोरप्येदोतोरिकारोकाराभावात् वर्णविधित्वाच्च स्थानिवत्त्वाभावात् देदासाद्यादेशाभावात् प्रतिषेधो न युक्तः?, ॥७७१७॥		
२३३	” —न च तदन्तादादेशविधानात् अवर्णविधित्वात् स्थानिवत्त्वं, अप्रधानेऽपि वर्णविधिप्रतिषेधात् । ॥७७१९॥		

- क्र० सूत्रम् । शब्दा ।
- २३४ "डिडौं"—अथ कस्मात् "डिडौं" इत्ययमभेदनिर्देशो यावता स्थानिन एकवर्णत्वादन्त्याभावात् स्थान-  
पृथ्वा भेदनिर्देशोऽपि न किञ्चिद्विनक्ष्यति, नैवं, भेदनिर्देशो हि डेरिति रूपस्य साम्याच्च-  
तुर्थ्यैकवचनस्यापि प्रतिपत्तिः स्यादित्याह— ॥७७।३१॥
- २३५ " —ननु दाम्करणसामर्थ्यादेव डौर्न स्यात्किं व्यावृत्तावदिति दर्शनेन ? ॥७७।३६॥
- २३६ " —किञ्च यथासंख्यार्थं "स्त्रिया डिता०" इत्यत्र दाम्ग्रहणं कार्यं, अन्यथा इदं सूत्रमन्यथा  
उत्तर चान्यथा कार्यं स्यात्, तथा च गरीयसी रचना स्यादिति । ॥७७।३८॥
- २३७ "केवल०"—ननु पतिशब्दात् केवलादपि डेडौंरपि भवति, प्रयुज्यते व्यक्तावेव पठ्यते पताविति  
तत्कथमेतदित्याह— ॥७८।१७॥
- २३८ " —नन्वनयोरिकारान्तत्वेन व्यभिचाराभावाद्विदन्ताभ्यामिति विशेषणं न सार्थकं यत्रापि  
क्यन्नादौ दीर्घोऽस्ति तत्रापि स्वरूपान्यथात्वान्न भविष्यति ?, नैवं, ॥७८।१८॥
- २३९ " —नन्वत्र "स्थानीवाऽवर्णविधौ" इति न्यायात् किप. स्थानित्वे सति "चोः ष्व्यञ्जने०"  
इति यलोप. कस्मान्न भवति ?, ॥७८।२३॥
- २४० " —नन्वेपु औकाराभावे किं स्यादत आह— ॥७८।२९॥
- २४१ "स्त्रिया डिता०"—कथं तद्विध्यतीति चेत्, उच्यते—"स्त्रीदूतः" इति वक्ष्यमाणसूत्रात् स्त्रीविच्छेदात् ॥७९।३३॥
- २४२ "स्त्रीदूतः"—अथैतत्पक्षोक्तदोषपरिजिहीर्षया स्त्रियावीदृतौ यस्य तत्स्त्रीदूदिति बहुव्रीहिः, अत्रापि  
स एव दोषः, समुदायस्यैव क्यर्थत्वाच्चावयवस्येति, ॥७९।४२॥
- २४३ " —ननु आधीप्रधीशब्दौ क्रियाशब्दत्वात् सर्वलिङ्गत्वात् ग्रामण्यादिशब्दवन्न नित्यस्त्रीवि-  
पयाविति चिन्त्यमेतत् । ॥८०।२५॥
- २४४ " —अथोच्यते-सत्यपि क्यर्थत्वे ईकारोकारान्तत्वाभाव इति चेत्, तत्र लुगङ्गस्वस्थानिव-  
द्भावे सतीदूदन्तता भविष्यतीत्याह— ॥८०।३४॥
- २४५ "वेयुचो०"—ननु "वेयुचोऽस्त्रिया." इति माऽस्तु, परन्तु पूर्वशास्त्रस्य "स्त्रीदूतः" इत्यस्य प्रवृत्तौ किं  
बाधकम् ?, अत आह— ॥८०।४५॥
- २४६ " —न च वाच्यमाधीप्रधीशब्दयो. क्रियाशब्दत्वेन सर्वलिङ्गत्वात् नित्यस्त्रीविषयत्वाभावात्  
पूर्वेणाऽपि कथं दयाद्यादेशा इति । ॥८१।१९॥
- २४७ " —ननु चाध्वे प्रध्वे इति यद्यपि यकारेणेषादेशो बाध्यते, तथापि घियौ, घिय इत्यादाविद्य-  
भावादियसम्बन्धी ईकार इति शक्यं व्यपदेश्यम् ?, ॥८१।२०॥
- २४८ " —यदाऽस्य स्थाने इयादिर्भवति तदाऽसावियादेरीदादि, न चान्यस्मिन् भवत्यसाविया-  
देरीदादिस्तयोरभेदप्रसङ्गादिति विकल्पो न भवति । ॥८१।२२॥
- २४९ " —ननु स्त्रियै इत्यादौ असत्यप्यनेन विकल्पे कथं पूर्वेण नित्यमादेशो यतः परत्वादियुवा-  
दिभावादीदूदन्तत्वाभावादप्रवृत्तिरेवेत्याह— ॥८१।२६॥
- २५० "आमो नाम्वा"—ननु त्रियमतिक्रान्तानि कुलानि तेषामतिश्रीणामित्यादौ "क्लीवे" ॥२।४।९७॥ इति  
ह्रस्वत्वे सति कथमामो नामित्यत आह— ॥८१।३९॥
- २५१ "संख्यानां०"—ननु च त्रिंशदादय. शब्दाः सत्येयेष्वपि वर्तमानाः "विंशत्याद्याः शताङ्गन्वे" इति  
वचनादेकत्व एव वर्तन्ते इत्यत्रैकवचनान्ता एव भवितुमर्हन्ति कथं बहुवचनम् ?,  
सत्यं, एकशेषात् । ॥८२।२४॥
- २५२ " —अथाऽऽनशब्दादामि परत्वात् "वाऽऽन०" इत्याकारे नान्तत्वाभावात् कथं नाम्भावे ?,  
अत आह— ॥८२।२५॥
- २५३ "एदोद्भ्या०"—"आतो नेन्द्रवरुणस्य" ॥७।४।२९॥ इति ज्ञापकात् पूर्वं पूर्वोत्तरपदयोः कार्यं, ततः  
सन्धिकार्यं; अतः परमैरिति प्राप्नोति ?, नैवं, ॥८२।४३॥
- २५४ " —ननु वचनाभेदार्थमुभयत्र समाहारेतरेतरयोगौ कस्मान्न कृतौ, न ह्यसति प्रयोजने  
वचनभेदो युक्त इत्याह— ॥८२।४४॥
- २५५ "खितिस्त्री०"—न च सखायं यातीत्यप्रयोगिणि प्रत्यये कृते "लुगातोऽनापः" ॥२।१।१०७॥ इत्याकार-  
लोपे सम्भवतीति वाच्यं, प्रयुक्तानामन्वाख्यानात्तेषां च प्रयोगासम्भवात्तद्भावः । ॥८३।१३॥
- २५६ " —स्त्रीतीभ्या तु कल्पनानिर्मितस्याऽसम्भव एव । ॥८३।१४॥
- २५७ " —नन्वत्र नत्वे सति तीरूपत्वाभावात् कथमनेनोर्त्वेमित्यत आह— ॥८३।२९॥
- २५८ "ह्रस्वसृ०"—नन्वत्र सूत्रे शौ निमित्ते किं न दर्शितम् ?, "खराच्छौ" ॥१।४।६५॥ इति नागमेन व्यवधा-  
नान्न प्राप्नोतीति चेत्, न, नागमः प्रकृतेरेवांश इति । ॥८४।३०॥
- २५९ " —ननु नप्रादादयोऽपि व्युत्पाद्यन्त इति तत्कथमुच्यतेऽव्युत्पन्नानामिति ?, ॥८४।३९॥
- २६० "अडौं च"—ननु नागमे सति कथमर्न ?, व्यवधायकत्वाभावादागमस्येत्याह— ॥८५।१४॥
- २६१ "ह्रस्वस्य०"—ह्रस्वस्येत्यस्य ह्रस्वान्तस्येत्यर्थकत्वे कस्य गुणो ह्रस्वान्तस्य त्वसम्भवादिति चेत्, सत्यम्; ॥८५।३६॥
- २६२ " —अथ प्रमाणाऽसत्या इकारोकारयोरप्यरादेश. कस्मान्न भवति ?, मात्रिकस्य हि द्विमा-  
त्रादध्यर्थमात्रिक आसन्नो भवति । ॥८५।३९॥



क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
२६३	“ह्रस्वस्य०”—न चैवं सति गुणग्रहणमनर्थकं स्थानाऽऽसत्या सोऽपि स्यात् ।		॥८५।४०॥
२६४	” —अथ हे कर्तृ कुलेत्यादौ ह्रस्वत्वादामन्वयसिना सह गुणः कस्मान्न भवति ? इत्याह—		॥८५।४२॥
२६५	“पद्मापः”—अथ प्रिया खड्गा यस्येति विग्रहे “गोश्चान्ते०” इति ह्रस्वत्वे ‘एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात्’ आपः सद्भावात् आमन्वयसिना एत्वं कस्मान्न भवति ?		॥८६।२१॥
२६६	“नित्यदि०”—नन्वेवं नित्यग्रहणात् कथं हे सुभ्रु ? हे भीरु ? इत्याह—		॥८६।३८॥
२६७	“अदेतः०”—नन्वमो लुग्वचनं किमर्थम् ? स्यादेशत्वात् सिग्रहणेनेव ग्रहणालुग्भविष्यतीत्याह—		॥८७।१८॥
२६८	“दीर्घङ्घा०”—ननु व्यञ्जनादित्युक्त्या वृक्ष इत्यादावदोषे डघाग्रहणं किमर्थम् ?		॥८७।३१॥
२६९	” —ननु डघापोर्दीर्घयोरेव सत्त्वेन तयोर्दीर्घत्वविशेषणं नेतरव्यावर्तकम् ?		॥८७।३३॥
२७०	” —ननु यत्कुलमित्यादौ अन्यत्राऽन्यत्र लघ्यावकाशयोः “दीर्घङ्घाय०” इति, “अनतो लुप्” इति चानयोर्युगपत्प्राप्तौ व्यवस्थामाह—नपुंसकेषु परत्वादिति ।		॥८७।३६॥
२७१	” —अथ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपेन सेलौपस्य सिद्धत्वात् व्यञ्जनग्रहणमतिरिच्यते ?		॥८७।३७॥
२७२	” —न च राजा तक्षेत्र नलोपे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वेन नान्तत्वाभावे “नाम्नो नो०” प्राप्त्यभाव इति वाच्यम् ।		॥८७।३७॥
२७३	” —नन्वेवं क्षापिते सति पचन्, यजन् इत्यत्रापि नलोपप्रसङ्गः, क्षापनात् पूर्वं तु संयोगा- न्तलोपस्याऽसिद्धत्वात् नलोपाभावस्तान्तत्वादिति चेत्,		॥८७।३९॥
२७४	” —ननु चाऽत्र तकारलोप एव न प्राप्नोति सिलोपस्याऽसिद्धत्वात् ? नैप दोषः, पूर्वस्य परेऽसिद्धत्वमुच्यते ।		॥८७।४१॥
२७५	” —ननु तथापि “नामसिदयव्यञ्जने” इति सावपि पदत्वाद्वाजेति नलोपः सिध्यति, कृते तु नलोपे संयोगान्तत्वाभावात् “पदस्य” इति सेलौपो न सिध्यति ।		॥८७।४२॥
२७६	“दीर्घो नाम्य०”—ननु नाऽत्र समानस्य नाम्युच्यमानो दीर्घः प्राप्नोति, पकाररेफाम्भ्यां तस्य व्यवघा- नात् तयोश्चाऽसमानत्वात्, सप्तम्या निर्दिष्टे चोपनिष्ठस्यैव कार्यभावात् ।		॥८८।३०॥
२७७	” —यद्येवमिह तर्हि प्राप्नोति—दण्डस्य नामो दण्डनामेति ।		॥८८।३६॥
२७८	“जुर्वा”—नन्वत्र चाग्रहणमन्तरेणाऽपि नित्यं दीर्घविधिः पूर्वणैव सिद्धत्वात् पृथग्वचनाद्विकल्पो- ऽवसीयते ।		॥८८।४१॥
२७९	“शसोऽता०”—ननु पुंस्त्वविपयाभावे शसः किं भवति ? इत्याह—		॥८९।२२॥
२८०	” —नन्वस्तु वैयाकरणप्रसिद्धस्य पुंस्त्वस्य ग्रहणं, तथापि चञ्चाः, खरकुटीः, यष्टीः पुरुषान् पश्येत्यादौ प्राप्नोति ।		॥८९।२६॥
२८१	“संख्यासाय०”—ननु सायमित्यस्य मान्तत्वात् तल्लोपः केन ? इत्याह—		॥८९।३९॥
२८२	“निय आम्”—ननु ग्रामण्यामित्यत्र नी साक्षान्नास्ति किन्तु णी इत्यामो न प्राप्तिः ?—		॥८९।४५॥
२८३	” —ननु ‘एकदेशविकृत०’ इति क्लीबेऽपि प्राप्तिरस्ति इति चेत्, न, निय ई नी इतीकार- प्रश्लेषात् निनि ग्रामणिनि कुले इत्येव भवति ।		॥९०।१५॥
२८४	“नपुंसक०”—अथेह कस्मान्न भवति, कुण्डं कुण्डं ददाति कुण्डश इति, “संख्यैकार्थात्०” ॥७।२।१५१॥ इति शस् अत्राऽप्यस्ति ? इत्याह—		॥९१।२५॥
२८५	” —अर्थप्रकरणादिरहितश्च कुण्डादिशब्दो वृत्तान्तेकार्थो न भवतीति शसा न भवितव्यमेव ।		॥९१।२७॥
२८६	“अतः स्य०”—ननु अनत इत्यत्र पर्युदासः प्रसज्यो वा नञ् गृह्यते इति सन्देशः ।		॥९१।४३॥
२८७	” —न च वाच्यं पर्युदासे हि ‘नामिनो लुप्’ इति सूत्रं कुर्यात्, तस्मात् प्रसज्य एवेति ।		॥९१।४३॥
२८८	” —ननु हे कुण्ड !, इत्यत्राऽनेन जातोऽम् क गतः ? इत्यत आह—		॥९२।१६॥
२८९	” —अथाऽकारग्रहणं किमर्थम् ? न चाऽमा सर्वादेशार्थमिति वाच्यं, “प्रत्ययस्य” इति सर्वादेशस्य सिद्धत्वात् ।		॥९२।१७॥
२९०	” —किञ्चाऽन्तादेशेऽपि “समानादमोऽतः” इत्यकारलोपे विशेषाभावात्, इत्यत आह—		॥९२।१७॥
२९१	” —ननु च ‘सन्निपातलक्षणविधिरनिमित्तम्०’ इति न्यायादकाराश्रितत्वाद्मादेशस्य कथं तद्विघातकृज्जरसादेशः ?—		॥९२।२०॥
२९२	“अनतो०”—ननु अनत इति किमर्थम् ? न च वाच्यं कुण्डमित्यत्रापि स्यात्, “अतः स्यमोऽम्” इति वाधकात् ।		॥९२।३६॥
२९३	” —न च वाच्यं अन्याद्यभीष्टौ हि एकमेव योगं कुर्यात्, पूर्वमेकतरवर्जितस्याऽन्यादेशर्हणं, इह तु एकतरस्याऽपीति पृथग्योगस्य साफल्यात् ।		॥९२।३७॥
२९४	” —अथ यत्कुलं तत्कुलमिति परत्वादत्वसत्वप्रसङ्गः तद्व्यावृत्तये ‘त्यदादिभ्यश्च’ इति लुग्वक्तव्या ।		॥९२।४०॥
२९५	” —न च नित्या लुप् अत्वसत्त्वे तु लुपि कृते “लुप्यञ्चूलेनत्” इति स्थानिवत्त्वाभावात् प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् विभक्त्यभावात् प्राप्नुत इत्यनित्ये इति वाच्यम् ।		॥९२।४१॥
२९६	” —यदात्वेप न्याय आश्रीयते—‘लक्षणान्तरप्रवृत्तिनिमित्तमुपसंहरलक्षणं वलवद्भवति’		॥९२।४६॥
२९७	“नामिनो०”—नन्वनेन लुचोऽभावपक्षे किं भवतीत्याह—पक्षे लुबेव ।		॥९३।३२॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
२९८	“वाऽन्यतः०”—अथ विशेषणलक्षणपदोपक्षीणत्वात् कार्यं सन्निधानाभावात् खियामपि पुंभावः स्यादिति चेत्, न,—		॥९४२२॥
२९९	“दध्यस्थि०”—ननु सत्यपि तदन्तविधौ दध्याद्यन्तस्याऽनपुंसकस्य ग्रहणं नोपपद्यते नपुंसकस्येत्यनुवृत्तेः ?,—		॥९४४७॥
३००	” —यदि तर्हि तदन्तस्य ग्रहणं केवलानां न सिध्यति ?, अयमप्यदोषः, व्यपदेशिवद्भावात् केवलानामपि भविष्यति ।		॥९५११॥
३०१	” —ननु दृढसकथना शकटेन, स्थूलाक्षणा इभ्रुणा इत्यत्र “सकथ्यक्षणः०” इति समासान्तः टप्रत्ययः कथं न भवति ?, इत्याह—		॥९५१३॥
३०२	” —नन्वत्राऽनेनाऽनादेशे सति ‘सन्निपात०’ इति न्यायसत्त्वे कथं “खिया नृतो०” इति डी. ?, इत्याह—		॥९५१७॥
३०३	” —दध्यादीनां स्वभावेनैव नपुंसकत्वाद् व्यभिचाराभावात् तद्विशेषणमनर्थकम् ?,—		॥९५१८॥
३०४	” —अतिदध्ना ब्राह्मणेन चारिणीत्यादौ अन्नागमयोः सावकाशत्वाद्दध्ना इत्यादाबुभयप्राप्तौ “स्पर्धे” परमिति परत्वाद्सम्बाधितत्वाच्चागम एव प्राप्नोति ?,—		॥९५२०॥
३०५	” —यदाऽस्य योगस्योत्तरत्रानुवृत्तेः “अनाम्सरे नोऽन्तः” “दध्यस्थिसकथ्यक्षणोऽन्तस्याऽन्तटादाविति” तत्र वाक्यभेदेन “अनाम्सरे०” इति सामान्येन नोऽन्तो भवति, दध्यादीनां तु टादौ स्वरं अन् भवतीति ।		॥९५२२॥
३०६	“अनाम्सरे०”—प्रियास्तिस्रो यस्य कुलस्येति प्रियत्रिशब्दात् पष्ठ्येकवचनेऽपि नित्यत्वान्नागमे कथं तिच्चादेश इति ?,—		॥९५२८॥
३०७	” —अथ किमर्थमात्मवर्जनं नामि नागमे च रूपस्य समानत्वात् ?,—		॥९५२९॥
३०८	” —अथ किमर्थं स्वरग्रहणं ?, न च वाच्यं त्रपुभ्या त्रपुभिरित्यादौ व्यञ्जनेऽपि नोऽन्तः स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमिति, कृतेऽपि नागमे “नाम्नो नोऽनह्.” इति नलोपभावात् ।		॥९५३०॥
३०९	” —अथ स्याद्याक्षिप्तायाः प्रकृते रेशब्देन विशेषणाद् रेशब्दान्तयोः प्रकृतेरात्वं विधीयत इति नाऽस्ति नागमेन प्रकृतेर्व्यवधानम् ।		॥९५३३॥
३१०	” —इह तर्हि प्रियतिस्रभ्यां, प्रियतिस्रभिरिति नित्यत्वात् पूर्वं नागमे सति तिस्रभावो न प्राप्नोति ?,—		॥९५३५॥
३११	” —अथ तत्र विहितविशेषणात् कृतेऽपि नागमे नाम्भविष्यति ?,—		॥९५४०॥
३१२	” —यद्वा “अनाम्” इत्याम्प्रतिषेधात् पूर्वं नामादेशे तस्य च स्थानिवद्भावाच्चागमाभावे न काचित् क्षतिरिति ।		॥९५४१॥
३१३	” —एवं तर्हि खरादौ यथा स्यादिह मा भूत्—त्रपु, जतु; प्रत्ययलोपलक्षणेन स्यादिसद्भावात् ।		॥९५४१॥
३१४	” —अथ “लुप्यन्वृत्तेनत्” इति प्रतिषेधात् स्यादेरभावान्न भविष्यति ।		॥९५४२॥
३१५	” —द्विविधं हि विभक्तेरस्तित्वं, मुख्यमौपचारिकं च; तत्र मुख्यं श्रयमाणया इतरनु लुप्तायास्तत्कार्यस्य हि अस्तित्वाद्विभक्तिरप्युपचारेणाऽस्तीति ।		॥९५४४॥
३१६	” —कथं ‘मर्यादाभिविधौ च य.’ इति समाह्वारत्वे नपुंसकत्वाद् स्वरं नागमो न भवतीति ?,—		॥९६१०॥
३१७	“खराच्छौ”—ननु इवर्णादेः “अनाम्सरे नोऽन्तः.” इति शौ नागमः सिद्ध एव, आकारान्तस्य तु अन्त्यस्य नपुंसके ह्रस्वविधानात् स्थितिरेव नाऽस्तीति अत इत्येव युज्यते किं स्वरग्रहणेन ?,—		॥९६२०॥
३१८	“धुटां प्राक्”—ननु श्रेयासि भूयासीति धुह्लक्षणे नागमे कृते ‘पुन प्रसङ्गविज्ञानात्०’ ऋदुदिल्लक्षणः प्राप्नोतीति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ?,—		॥९६२६॥
३१९	” —न च ऋदुदिल्लक्षणमयं वाधिष्यत इति वाच्यं, व्यक्तौ पदार्थे ‘सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्वाधितं तद्वाधितमेव’ इति न्यायः प्रवर्तते ।		॥९६२७॥
३२०	” —अनागमस्य पूर्वो विधीयते सनागमस्य तु पर इति स्यादेतत्, अन्यस्याऽप्युच्यमानं कार्यमन्यस्य वाधकं भवति ।		॥९६३०॥
३२१	” —भवतु, को दोषः ?, द्वयोर्नकारयोः श्रवणं प्रसज्येत ।		॥९६३२॥
३२२	” —ननु वैकस्यैको नकारः परस्य द्वावित्येकत्वप्रतिज्ञाभेदः ?,		॥९६३२॥
३२३	” —श्रुतिभेदेऽसति किं प्रतिज्ञाभेदः करिष्यति ?, कथं पुनः श्रुतिभेदाभावो यावताऽनेकव्यञ्जनोच्चारणेनाऽधिककालो व्याप्यते, एकव्यञ्जनोच्चारणेन त्वल्पकाल इति ।		॥९६३३॥
३२४	” —तथा च श्रेयासीत्यादौ परस्य नकारस्याऽनुस्वारे पूर्वस्य नकारस्य श्रवणं प्राप्नोति ।		॥९६३६॥
३२५	” —ननु ‘वर्णग्रहणे जातिग्रहणं’ इति द्वयोर्नकारयोरेकोऽनुस्वार आदेशो विधास्यते, नैतदस्ति; जाते. कार्यासम्भवात् तदाधाराया व्यक्तौ कार्यसम्भवात्, स्थानिभेदाद्-नुस्वारादेशद्वयप्रसङ्गात् ।		॥९६३८॥
३२६	” —यदप्युक्तं ‘असति सम्भवे वाधनं’ इति, तदपि न; सत्यपि सम्भवे वाधनोपपत्तेः ।		॥९६४१॥
३२७	” —यदप्युक्तं—श्रुतिकृतोऽपि भेदोऽस्ति, तत्र पूर्वैककारस्य श्रवणम् ।		॥९६४४॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
३२८	“धुटां प्राक्”—न च द्वयोर्नकारयोरेकस्वरापेक्षं परत्वं सम्भवति, पचतीत्यत्र तु शिति परतः । शब्धिधानात् विकरणव्यवधानमाश्रितमेव ।		॥९६४६॥
३२९	” —अथापि स्यात्तथापि सकारात् परस्य नकारस्य श्रवणं स्यात्, तस्मात् परत्वात् पूर्वं जरसादेश एष्टव्यः ।		॥९७१३॥
३३०	” —अथेह लुक्स्मान्न भवति ?, अतिजरसं पश्येति ।		॥९७१४॥
३३१	” —ननु अतिजरशब्दस्याऽऽन्तत्वात् “अतः स्योऽम्” इत्यम्भावेन लुव्याधिता कथं प्राप्नोति ?,		॥९७१५॥
३३२	” —ननु किमर्थमम एव लुप् चोद्यते ?, न हि सेर्जरस्मावः प्राप्नोति स्वर इत्युक्तेरिति ।		॥९७१७॥
३३३	” —तथाहि—स्वरादिसन्निपातेन जरस्मावो निष्पन्नो नोत्सहते स्वराद्यानन्तर्यं विहन्तुम् ।		॥९७१८॥
३३४	” —यद्येवमतिजरसमतिजरसैरिति अप्राप्तिः, अतिजरमतिजरैरिति भाव्यम् ।		॥९७१८॥
३३५	” —तथाहि—सेर्भिसञ्चाकारान्तसन्निपातेन स्वरादिरादेशोऽकारान्तविधातिनं जरसादेशं प्रत्यनिमित्तं स्यात् सन्निपातपरिभाषावशात् ।		॥९७१९॥
३३६	“घुटि”—नपुंसकस्य घुटि परतो नोऽन्तो भवतीति विधिरेव कस्मान्न भवति ?,		॥९७२८॥
३३७	” —अथेदानीं यत्राऽल्पीयांसो वर्णा भूयांसश्च योगास्तत्र किं कर्तव्यम् ?,		॥९७४०॥
३३८	” —यद्येवं नाऽर्थोऽनेन, केनेदानीमधिकारो भविष्यति ?,		॥९७४२॥
३३९	” —ननु चोक्तं—अन्यनिर्देशो निवर्तक इति ।		॥९७४३॥
३४०	” —किञ्चाऽऽचार्याचार्याच शैलीयमाचार्यस्य यत्र पृथगधिकारस्तत्र तं करोति ।		॥९७४४॥
३४१	“ऋदुदितः”—अथ उदितो धातो. “उदितः स्वरा०” इत्युपदेशावस्थायामेव नागमविधानात् कृते च नागमे “धुटां प्राक्” इत्यनुवर्तनादनेन नागमाभावः, ऋदितस्तु कस्मान्न भवति ?, इत्याह—		॥९८१२६॥
३४२	“अनङ्गु०”—नन्वनङ्गु इत्यत्र ‘नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्याऽपि’ इति न्यायेनाऽत्र स्त्रीत्वविशिष्टस्यापि तस्य ग्रहणान्नागमः कथं न भवति ?, इति चेत्, न,		॥९८४३॥
३४३	“आ अम०”—नन्वत्र अता इत्यभावे “समानानां०” इति दीर्घेणैव गा इत्यादिसिद्धावपि तद्विना पुलिङ्गे स्त्रीलिङ्गे च “शसोऽता०” इति “लुगातो०” इति च प्रवर्त्तयताम् ।		॥९९३४॥
३४४	“पथिन्मथि०”—न च तस्य ऋयन्नर्थः सम्भवी, पथिन् इत्येतस्याऽतदर्थत्वात् ।		॥१००१७॥
३४५	” —नन्वनेन आत्वरूपे स्यादिविधौ विधातव्ये नलोपस्याऽसिद्धत्वाद् नान्तत्वमस्ति ?, न च वाच्यं “अतः” इत्यल्लुकः “स्वरस्य परे०” इति स्थानिवद्भावेन नान्तत्वानुपपत्तिरिति ।		॥१००२१॥
३४६	” —अत्र तु अस्य लुक् किपि, आत्वं तु सौ प्रत्यये प्राप्नोतीति कृत्वाऽत्र नान्तत्वमस्त्येवेति प्राप्नोत्यात्वम् ।		॥१००२२॥
३४७	” —एवं तर्हि “दीर्घडयावू०” इति सूत्रेण सेर्लुक्स्मान्न भवति ?, यतोऽयमपि स्यादिविधिः, स्यादिविधौ च नलोपोऽसन् भवतीति ।		॥१००२६॥
३४८	” —एवं तर्हि या सा इत्येवमादिषु च सेर्लुग्न प्राप्नोति ?,—		॥१००२८॥
३४९	“सख्युरि०”—अथ शौ सति ‘आदेशादागमः’ इति न्यायादैत्वात् प्रथममेव नागमेन भाव्यं, ततस्तेन व्यवधानादैकारो न भविष्यतीति ।		॥१०२१८॥
३५०	” —न च द्वयोरप्यन्यत्र सावकाशत्वादैकार स्यादिति वाच्यं, कृतेऽप्यैकारे “क्लीबे” ॥२१४१७॥ इति ह्रस्वत्वे ततो नागमे दीर्घत्वे न कश्चिद्दोषः ?,—		॥१०२१९॥
३५१	” —ननु भवत्वेवं तथापि कृता-कृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् पूर्वं नागम इति शुद्ध व्यवधायको भविष्यति ?,—		॥१०२१९॥
३५२	“इन्हन्०”—ननु इन्नादीना नान्तत्वात् शिस्योर्धुदत्त्वात् “नि दीर्घः” इत्यनेनैव दीर्घः सिध्यति किमनेनेति ?,—		॥१०३१८॥
३५३	” —यद्येषा शिस्योरेव दीर्घ इति नियमसामर्थ्यादेव दीर्घो न भविष्यति, तर्हि किमर्थ “अहन्पञ्चमस्य०” ॥४१११०॥ इत्यत्र इन्वर्जनम् ?,—		॥१०३३२॥
३५४	” —न च घुट्टप्रकरणत्वात् घुट्टयेव दीर्घस्य नियमेन निवृत्त्या नाऽन्यत्रेति घृत्रहणीति सप्तम्येकवचने “ईडौ वा” इत्यल्लोपाभावपक्षे “अहन्पञ्चमस्य कृति” इति दीर्घप्रसङ्ग इति वाच्यम्—		॥१०३३३॥
३५५	” —यद्येवं घृत्रहेवाऽऽचरतीति घृत्रहायते दण्डीभूत इति “दीर्घक्लिव्यङ्ग्येषु च” इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति ?, नैवम्;—		॥१०३३७॥
३५६	” —किञ्चैकसिन्नपि योगे घुहनिवृत्तावपि दोषः, यतो द्विविधो घुह-शिः स्यमौजसश्च, तत्र शिर्नपुंसकस्य, अन्ये तु स्त्रीपुंसयोरिति ।		॥१०३३८॥
३५७	” —ननु भवत्वत्र प्रकरणे तदन्तविधिस्तथापि इन्निति प्रत्यग्रहणं भवतीति दण्डीनी- त्यत्रैव दीर्घत्वेन भवितव्यं, न तु वहवो दण्डिनो येषामिति बहुदण्डीन्यत्र, नैतदस्ति;—		॥१०३४७॥
३५८	“नि वा”—ननु नीति विषयसप्तम्येव घटते, कथमुक्तं नागमे सतीति ?,—		॥१०४२४॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
३५९	”	—अयं तु दीर्घः साक्षादप्राशब्दमुच्चार्य विधीयमानोऽल्पाश्रयत्वादन्तरङ्ग इति पूर्वं प्रवर्त्तते पश्चात्तु नागम इति ।	॥१०४२६॥
३६०	“अभ्वादे०”	—नन्वसोऽर्थवतो प्रहणात् पिण्डग्र इत्यादौ घात्वेकदेशस्याऽनर्थकत्वादीर्घो न भविष्यति, किं भ्वादिचर्जनैः ? इत्याह—	॥१०४३५॥
३६१	”	—ननु अनिनसन्नित्यत्र अतोरनिर्दिष्टत्वादन्त्येकेन तदन्तविधेरप्रयोगात् ‘अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य’ इति न्यायात् क्रियानित्यत्रैव दीर्घः प्राप्नोति, न गोमानित्यादौ इति ।	॥१०४३९॥
३६२	”	—ननु तथापि ‘तदनुबन्धकग्रहणेऽतदनुबन्धकस्य ग्रहणं न’ इति ( स एवाऽनुबन्धो यस्यासौ तदनुबन्धकः, स चाऽन्यश्चाऽनुबन्धो यस्य सोऽतदनुबन्धक इति ) न्यायात् ‘यत्तदेतदो डायादेर्ग्रहणाप्रसङ्गः’ क्वतोरपि ककारानुबन्धसद्भावात् ग्रहणाभावः ।	॥१०४४१॥
३६३	”	—एवं तर्हि गोमन्तमिच्छतीति क्यनि, किपि, तदन्तस्य च घातुत्वाद्घानेः कथं दीर्घः ? इत्याह—	॥१०४४४॥
३६४	”	—न च कृतमतो भ्वादिपठितानामेव चर्जनमित्यर्थः ।	॥१०४४५॥
३६५	“कृशस्तु०”	—अथाऽत्र बहुव्रीहौ त्जादेशे सति ऋदन्तत्वात् “ऋचित्यदितः” ॥७३१७१॥ इति ऋदिलक्षणः समासान्तः कच् कस्यान्न भवति ? इत्याह—	॥१०५१९॥
३६६	”	—अथ लाघवार्थं ‘क्रोष्टोः क्रोष्टृ पुंसि’ इति किमिति न कृतं ? एवमपि कृते न काचिल्लक्ष्यक्षतिरिति चेत्, न; त्शब्दस्य विधीयमान आरादेशः क्रोष्टृशब्दस्य न स्यात्, इत्याह—	॥१०५२४॥
३६७	“टादौ०”	—ननु कुरुोस्तृप्रत्ययेनैव सिद्धे किमर्थोऽयं तुनस्त्वजादेशः ?,—	॥१०५३१॥
३६८	”	—न च तृप्रत्ययान्तः क्रियाशब्दो न मृगवचनः, तुनप्रत्ययान्तः पुनर्मृगे रूढस्तत्र तृप्रत्ययान्तेनाऽपि मृगाभिधानं यथा स्यादित्येवमर्थं आदेश इति वाच्यम्—	॥१०५३१॥
३६९	”	—नन्वेवं सत्यविशेषोपदेशादुभयोरविशेषेण प्रयोगः स्यात्तन्निवृत्त्यर्थं आदेश इत्यपि न वाच्यं, अविशेषोपदेशेऽपि हि विशेषेणैव प्रयोगदर्शनात् ।	॥१०५३३॥
३७०	”	—अथ च विशेषेणैव प्रयुज्यते—घृतं, घृणा, घर्म इति ।	॥१०५३४॥
३७१	“स्त्रियाम्”	—ननु घृटीत्यस्याऽनुवृत्तावपि स्याद्यधिकारस्याऽनुवृत्तिरस्तु ? “टादौ खरे वा” इत्यत्राप्यादिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वाद्वादि. स्यादरेव गृह्यत इति चेत्, मैवम्,	॥१०५४३॥
३७२	”	—ननु स्त्रियामीकारस्याऽवश्यम्भावित्वादीकार एवाऽयमादेशो भविष्यति, कथमुक्तं निर्निमित्त इति ?,—	॥१०६११॥
३७३	”	—ननु प्रथिल्लनिर्देशान्निर्दिष्ट एव, स्त्री ई स्त्रीति—स्त्रिया ई स्त्रीत्वस्य द्योतक ईकार इत्यर्थः ।	॥१०६११॥
३७४	”	—नन्वेवं सत्यपि इकणि “जातिश्च णि०” ॥३२१५१॥ इति पुंवद्भावः प्राप्नोति, तस्मिंश्च सति स्त्रीत्वाभावात् त्जादेशो न स्यात् ? नैवम्,—	॥१०६१६॥
३७५	”	—ननु तथापि इकणः प्लुपः पितृत्वस्य पुंवद्भावफलत्वात् “क्यङ्मानि०” ॥३२१५०॥ इति पुंवद्भावेन स्त्रीत्वनिवृत्त्या तन्निमित्तस्य त्जादेशस्यापि निवृत्तिः प्राप्नोति ?,—	॥१०६१८॥
३७६	“त्रिचतुर०”	—कथं तिस्रका नाम ग्रामः ? संज्ञाशब्दोऽयम् ।	॥१०७१३॥
३७७	”	—ननु प्रियतिसृणीत्यादौ स्यादौ परे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् “अनास्खरे नोऽन्तः” इति पूर्वं नागमे कृते पश्चात्तेन व्यवधानात् कथं तिस्रादेश इति चेत्, न,	॥१०७२९॥
३७८	”	—किञ्च “ऋतो रः खरेऽनि” इत्यत्र अनीतिवचनमन्त्यकं स्यात्, खरादौ पूर्वं नकारे तिस्राद्यादेशाभावाद्भवत्प्रसङ्ग एव नाऽस्तीत्यनीतिवचनान्नागमादेः पूर्वं तिस्राद्यादेश इति विज्ञायत इति ।	॥१०७३१॥
३७९	”	—कथमिति प्रियतिसृ कुलमित्यादौ प्रियत्रिशब्दात् “अनतो लुप्” इत्यन्तरङ्गमपि तिस्रादेशं पूर्वोक्तन्यायेन वाधित्वा लुपि कृतायां “लुप्यन्वृत्तेनत्” इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् स्यादेरभावात् कथं तिस्रादेश इति प्रश्नार्थः ।	॥१०७३५॥
३८०	”	—कथमिति—त्रिशब्दात् संज्ञायां के अपि बहुवचने च स्यादेर्व्यवधानात् कथं तिसृभाव इति प्रष्टुरभिप्रायः ।	॥१०७४०॥
३८१	“ऋतो रः०”	—ननु खरादौ तिस्राद्यादेशे परत्वाज्ञागमाच्चाऽनेन रत्वप्रवृत्तेः क अनीत्युपयुज्यत इति चेत्,	॥१०८१९॥
३८२	”	—ननु खरादौ स्यादौ तिस्राद्यादेशे “इवर्णादे०” इति रत्वं सिद्धमित्यत्र आह—	॥१०८२०॥
३८३	”	—ननु ऋत इति किमर्थं ? यावता पूर्वसृञ्चात्तिसृचतसृ इत्येतयोरनुवृत्तौ तयोश्च पृथगन्त-तया विपरिणामेन कार्यप्रतिपत्तौ “पृथ्याऽन्त्यस्य” इति तदन्तस्य विधिर्मवन्न ककार-स्यैव भविष्यति ?,—	॥१०८२७॥
३८४	“जराया०”	—ननु जरामतिक्रान्तावित्यादि विग्रहे “गोश्वान्ते०” इति ह्रस्वत्वे जराशब्दस्याऽभावात् कथं जरसादेशः ?,—	॥१०८३८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
३८५	“जराया०”—ननु जरसा दन्ताः शीर्यन्ते, जरसे त्वा परिदधुरिति तृतीयाचतुर्थ्येकवचनयोरेव चाहुल्येन प्रयोगदर्शनात् कथं सर्वत्रोदाहृतम् ?,—		॥१०८।४०॥
३८६	” —ननु पूर्वमपि नागमे कृते सनागमस्याऽऽदेशे पुनर्धुङन्तलक्षणे नागमे रूपस्य सिद्धत्वात् किं परत्वचिन्तयेति चेत्, न,—		॥१०८।४४॥
३८७	” —अथापि स्यात्तथापि सकारात् परस्य नागमस्य श्रवणं स्यात्, तस्मात् परत्वात् पूर्वं जरसादेश एवैष्टव्यः ।		॥१०८।४७॥
३८८	“आ रायो०”—ननु सत्यपि तदन्तग्रहणे रैशब्दान्तस्य नपुंसकवृत्तौ “क्लीवे” इति ह्रस्वत्वे ततो भ्यामादौ रैशब्दस्योच्यमानमात्वं रैशब्दाभावात्तदन्तस्यादिश्यते चेत्याह—		॥१०९।३०॥
३८९	” —ननु सकारभकारावन्तरेण रैशब्दात् स्यादेरन्यस्य व्यञ्जनस्याऽसम्भवाद्धावार्थं च स्मीत्येवोच्यता किं व्यञ्जनग्रहणेन ? इत्याह—		॥१०९।३१॥
३९०	” —यद्युत्तरार्थं व्यञ्जनग्रहणं तर्हि तत्रैव क्रियता किमत्रोपादानम् ? इति चेत्, उच्यते,—		॥१०९।३२॥
३९१	“टाड्योसि०”—नन्वोसि यत्ववचनं किमर्थम् ?, विनाऽप्योत्तरग्रहणं “शेषे लुक्” इत्यन्यस्य लोपे “पद्महु-स्मोसि” इत्येत्वेऽयादेशे च युवयोरित्यादौ यत्वं सिध्यति ?,—		॥११०।२४॥
३९२	“शेषे लुक्”—ननु त्वं ब्राह्मणीत्यादौ सामानाधिकरण्यात् सत्त्ववृत्तित्वात् सम्भाव्यमानलिङ्गयोगित्वात् युष्मभ्यमित्यादौ “पठ्याऽन्यस्य” इति न्यायेन दकारमात्रलोपेऽकारान्तत्वात् स्त्रिया-माप् प्राप्नोति ?,—		॥११०।३९॥
३९३	” —ततश्चाऽनिरूपतापत्तिरतस्तद्विवृत्त्यर्थमन्यस्वरादेरिति वक्तव्यम् ?, न च वक्तव्य-मित्याह—		॥११०।४०॥
३९४	“मोर्वा”—अथ शब्दान्तरप्रवृत्त्या यत्वस्याऽनित्यत्वे द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वात् त्वमाद्या-देशस्तदापि ‘पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्’ अकारस्य यत्वं प्राप्नोति ?,		॥१११।१९॥
३९५	” अथ सामान्याश्रयत्वात् पुनः प्रसङ्गविज्ञानाभावात् ‘सकृद्गते०’ इत्याश्रयणाद्यत्वाभाव एव—		॥१११।२०॥
३९६	” ननु त्वे मे इत्यत्राऽकारान्तत्वात् सिन्नादेशः कथं न भवति ? इत्याह—		॥१११।२१॥
३९७	“मन्तस्य०”—ननु “शेषे लुक्” इत्यादौ स्वयं कार्ययोगित्वेन विज्ञातयोर्युष्मदसदोः कथमिह मन्त-स्येतद्विशेषणत्वम् ?,—इति चेत्, सत्यम्,		॥१११।३०॥
३९८	” —नन्वत्राऽन्तर्भूतान्तार्थपरिग्रहार्थं परिग्रहणं विधेयं, अन्यथा युप्, अस् इत्येतयोरे-वाऽऽदेशाः स्युर्न युष्म अस् इत्येतयोः ?, नैष दोषः ।		॥१११।३४॥
३९९	” —न च नद्यन्तं क्षेत्रमित्यत्राऽन्तशब्दसद्भावेऽपि नद्याः क्षेत्रेऽननुभवेशात् कथमेव-मुच्यते इति वाच्यम् ।		॥१११।३५॥
४००	” —अथापि तस्य प्रयोक्तुरायत्तत्वाद् वैयधिकरण्यमाश्रीयते—युष्मदसदोरवयवस्य मन्तस्येति ।		॥१११।३९॥
४०१	” —न च व्यपदेशिवद्भावोऽस्ति, ‘अनाम्ना’ इति प्रतिषेधात् ।		॥१११।४०॥
४०२	” —ननु सिजसडेडसोऽतिक्रम्य कथमुदाहृतं, किञ्चत्र युवावौ न भवतः ?, ओमित्याह—		॥११२।१९॥
४०३	“त्वमौ प्रत्य०”—ननु त्वदयति, मदयतीत्यत्रोभयोरन्यत्राऽन्यत्र लघ्वावकाशत्वादन्यस्वरादिलोपः कस्मान्न भवति ? इत्याह—		॥११२।४३॥
४०४	” —नन्वत्राऽन्यस्वरादिलोपात् प्रागेव नित्यत्वात्तमादेशे कृते पश्चादप्यन्यस्वरादिलोपः कस्मान्न भवतीति चेत्,		॥११२।४४॥
४०५	” —ननु प्रत्ययोत्तरपदग्रहणं किमर्थम् ?, स्यादावित्येव सिद्धत्वात् ।		॥११३।२५॥
४०६	” —ननु स्यादेरपि प्रत्ययत्वात् तत्रापि प्रत्ययग्रहणेनैव भविष्यति ? इत्यत आह—		॥११३।३३॥
४०७	“त्वमहं०”—ननु त्वं पुत्रोऽस्य त्वत्पुत्र इत्यादौ ‘अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा बहिरङ्गा लुप् प्रवर्तते’ इति न्यायात् “पैकार्थ्ये” इति सेर्लुपि प्रत्ययलोपलक्षणेन स्थानिवत्त्वात्त्व-महमादेशः कस्मान्न भवति ? इत्याह—		॥११३।३८॥
४०८	” —ननु तन्मते त्वम्, अहम्, यूयम्, वयमित्यादयः कथं सिध्यन्ति ? इत्याह—		॥११३।४२॥
४०९	“तव मम”—ननु कथं तवता ?, ममता ?, तवायितं ?, ममायितम् ?;		॥११४।३४॥
४१०	“शसो न.”—ननु युष्मानित्यादौ द्वयं प्राप्नोति “शेषे” इत्यन्तलोपोऽनेन नकारश्च, तत्र कृताकृत-प्रसङ्गित्वेन नकारस्य नित्यत्वालोपस्य च कृते नकारे शेषत्वाभावादप्रसङ्गित्वेना-ऽनित्यत्वात् पूर्वं नकार एव भवति ?,		॥११५।१८॥
४११	” —यद्येवं किमनेन ? “शसोऽता०” इत्यनेनैव सिद्धत्वात् ? उच्यते—		॥११५।२०॥
४१२	“अभ्यम्०”—ननु पारिशेष्यादप्यस्यार्थस्य सिद्धेः, तथाहि—		॥११५।२४॥
४१३	” —नन्वेवमस्तु प्रक्रियागौरवं परिहृतं भविष्यति ।		॥११५।२६॥
४१४	“डसेश्वाद्”—ननु भवत्वत्र डसिसाहचर्यात् पञ्चमीभ्यसो ग्रहणेन चतुर्थीभ्यस आदेशाभावः ?,		॥११५।३३॥
४१५	” —अभ्यमादेशस्तु पञ्चमीभ्यसः कस्मान्न भवति ?, न चादेशेनाऽपोदितत्वादिति वाच्यम्—		॥११५।३४॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
४१६	“ङसेञ्चाद्”	—न हि गोधा सर्पणादहिर्भवति, एवं चतुर्थीभ्यसनुवर्तनात् पञ्चमीभ्यस् भवति ।	॥११५।३५॥
४१७	”	—नन्वनुवर्तनादर्थेषु अन्यथात्वं मा भूत्, शब्देषु तु दर्शनाद्भवत्, तर्हि आवृत्त्या एवं व्याख्यायते—पञ्चमीभ्यसस्तत्र सूत्रे ग्रहणाभावाच्चतुर्थीभ्यसस्तु युष्मभ्यं, असभ्यं; पञ्चमीभ्यसोऽभ्यमादेशाभाव इति ।	॥११५।३७॥
४१८	“आम आकम्”	—नन्वामः कमिति न्यासे “युष्मदस्मदोः” इत्यात्वे युष्माकमित्यादिसिद्धौ किमर्थमाकारकरणम् ?, इत्याह—	॥११५।४२॥
४१९	“पदाद्युग्म्”	—ननु च वाक्यान्तरस्थात् पदात् परयोर्युष्मदस्मदोः सामर्थ्याभावादेव वक्षसाद्यो न भविष्यन्ति, किमेकवाक्यग्रहणेन ?,	॥११६।१०॥
४२०	”	—अत्राऽनेकमपि त्याद्यन्त सम्भवति, पश्य मृगो धावति, पचति, भवति, इत्यादि ह्येतदेकार्थं साकाङ्क्षं च विभागे पश्य, किं मृगो धावतीत्येतदिति ।	॥११६।१९॥
४२१	”	—ननु च प्रयोगे वक्षसादीनां विकल्पेन प्रयुज्यमानत्वात् सूत्रे च तदर्थस्य वाग्रहणा देर्नैवेत्यधिकारस्य चाऽभावात् कथं विकल्पो लभ्यते ?, इत्याह—	॥११६।२३॥
४२२	”	—ननु वाक्ये व्यपेक्षालक्षणस्य सामर्थ्यस्याऽङ्गीकृतत्वाच्चत्वात्साऽत्र सद्भावात् कथमत्र व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यासद्भाव इति चेत् ?, उच्यते,	॥११६।३८॥
४२३	”	—अत्र तु प्रकारान्तरेण, तथाहि—	॥११६।४०॥
४२४	”	—ननु द्विवचनैकवचनयोरपदेशान्तरविधानाद्बहुत्व एव वक्षसौ विज्ञायेते ?, तथाहि—	॥११६।४५॥
४२५	”	—न चैतद्विषयेऽप्यनयोः प्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यं, यतोऽपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गः प्रवर्तते ।	॥११६।४६॥
४२६	”	—किञ्च यथा द्यण्विषये “कृवृपिमृजि०” ॥५।१।४२॥ इति प्रारभ्यमाणोऽपवादोऽपि क्यप् पक्षे द्यणः प्रवृत्तिं न विहन्ति ।	॥११६।४८॥
४२७	“डेङसा०”	—“कथं न मे श्रुता नाऽपि च दृष्टपूर्वा”?, —न मे न मयेति ह्यत्रार्थः, असाधुरेवाऽयं, स्यादिप्रतिरूपकमव्ययं वा ।	॥११७।१५॥
४२८	“पदाद्युग्म्”	—तत्रापि द्वितीयैकवचनस्य त्वामादेशविधानात् डेङसावेव परिशिष्येते किं तदुपादानेन ?,	॥११७।२४॥
४२९	“डेङसा०”	—ननु डेङसोर्द्वित्वसंख्याविषयत्वात् किमर्थमेकवचनम् ?, उच्यते,	॥११७।३२॥
४३०	”	—ननु साधुत्वं शिष्टप्रयुक्तेरिति चेत् ?, तदा स्यादिप्रतिरूपकमेवमर्थ, इत्याह—	॥११७।३४॥
४३१	“असदिवाम्”	—ननु पूर्वस्याऽऽमन्वस्याऽविद्यमानवद्भावात् कथं “शामाश्चैत्र ते स्वमथो” इत्यादौ पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरुच्यमानस्तेमयाद्यादेशः ?, इत्याह—	॥११८।१९॥
४३२	”	—ननु च परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा अतिदेशं गमयन्ति, यथा गौर्वाहीक इति ।	॥११८।२२॥
४३३	”	—अतिदेशधर्मश्च स्वाध्याया निवृत्तिरिति नार्थ इव ग्रहणेन ।	॥११८।२३॥
४३४	”	—ननु प्रत्यासत्तेरव्यवहितस्यैव पूर्वस्याऽविद्यमानवद्भावः, ततश्चैत्र । धर्मो वोऽथो रक्षत्वित्यादौ व्यवहितस्याऽऽमन्वस्य चैत्रादेरविद्यमानवद्भावाभावात् “सपूर्वात्प्र०” इति विकल्पप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्,	॥११८।२८॥
४३५	“नाऽन्यत्”	—ननु विशेष्यस्याऽसत्त्वप्राप्तौ तद्विशेषणपदे परतः सत्त्वमनेन विधीयते, परपदस्य च “असदिवामन्व०” इत्यसत्त्वात् परत्वाभावः ?, सत्यम्;	॥११९।२२॥
४३६	”	—ननु चामन्वपदमभिमुखीभव इति क्रियान्तरमाक्षिपद्वाक्यान्तरमेव, ततश्च वाक्यभेदादेवादेशाभावः सिद्धः किमनेन ?, इति चेत्, मैवम्;	॥११९।२४॥
४३७	“पादाद्यो”	—ननु किमर्थं पादाद्योरिति द्विवचननिर्देशः ?, पादादावित्युच्यमाने पादस्य प्रथमावयवत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोरिति विज्ञायमाने सिध्यत्येवेष्टं, सत्यम्,	॥११९।३३॥
४३८	“चाहह०”	—ननु किमर्थं योगग्रहणम् ?, “चाहहवैवे०” इति तृतीयानिर्देशस्य सापेक्षत्वात् तृतीयैव युक्तमध्याहरिष्यति, यथा “गौणात्समया०” ॥२।२।३३॥ इत्यादौ, इत्याह—	॥१२०।१९॥
४३९	”	—ननु सन्निकृष्टे साक्षाद्योगे प्रतिषेधस्य चरितार्थत्वात् न व्यवहिते विप्रकृष्टयोगे प्रवर्तिष्यत इति किं योगग्रहणेन ?, इति चेत्,—	॥१२०।२३॥
४४०	“नित्यम०”	—नन्विदं किमर्थम् ?, सामान्येन वक्षसादीनां विधानादन्वादेशोऽपि सिद्धत्वात्, नित्यार्थमित्यपि न वाच्यं, तत्र विकल्पाभावान्नित्यत्वस्यापि सिद्धत्वात् ।	॥१२०।३९॥
४४१	”	—न चाऽनन्वादेशे विकल्पार्थमिति वाच्यं, “अन्वादेशो” इत्यारम्भसामर्थ्यादनन्वादेशे विकल्पस्य सिद्धत्वादिति चेत्, मैवम्,—	॥१२०।४०॥
४४२	”	—न च “सपूर्वात्” इत्यन्वादेशे विकल्पविधानान्नित्यग्रहणमन्तरेणाऽप्यन्वादेश एव विकल्प इति वाच्यम्,—	॥१२०।४२॥
४४३	“त्यदामेन०”	—न हि पञ्चादुच्चारणमात्रमन्वादेशः, किं तर्हि ?, एकस्यैवाभिधेयस्य पूर्वं शब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीयं प्रतिपादनमन्वादेशस्तेनेह न भवति ।	॥१२१।४३॥

सूत्रम् ।

शङ्का ।

पृ० प०

- “त्यदाभेन०”—अत्र तु वस्तुमात्रानुवादेन वेदनक्रियां प्रति आकारस्य कर्मभावो दण्डस्य तु हरण-  
क्रियां प्रति करणत्वं विधीयत इत्येकमेव विधानं न विधानान्तरमस्ति, इत्याह— ॥१२२।२२॥
- “इदमः”—ननु ‘त्यदाभेनदेतदिदमो द्वितीयाटौस्यवृत्त्यन्ते’ इत्येकयोगेनैव सिद्धत्वाद्योगविभागः  
किमर्थः?, इत्याह— ॥१२२।२९॥
- “अद्व्य०”—ननु पूर्वसूत्रे इदमः पष्ठ्यन्तत्वात् “पष्ठ्याऽन्त्यस्य” इति न्यायादन्तस्यैव प्राप्नोति कथं  
सर्वस्याऽयमादेश इति?,— ॥१२२।३२॥
- ” —न च अदित्यकारकरणात् सर्वस्याऽयमादेशोऽन्वथा “आ द्वेः” इत्यकारे, “लुगस्यादे-  
त्यपदे” इति पूर्वस्य लुकि अकारस्याकारकरणमनर्थकं स्यादिति वाच्यम् । ॥१२२।३२॥
- ” —ननु सेरपि व्यञ्जनादित्वात्तस्मिन् कथं नाऽयमादेशः?, इत्याह— ॥१२२।४१॥
- ” —नन्विदं किमर्थम्?, यावतोत्तरसूत्रेणान्वादेशोऽनन्वादेशोऽप्यदादेशः सिद्ध इत्याह— ॥१२२।४३॥
- “अनक्”—नन्विदमहत्याधिकारादिदमरूपस्य विधिस्तत्राऽकि कृते इदमरूपस्याऽभावादेव न  
भविष्यति किं प्रतिषेधेनेति चेत्, सत्यम्,— ॥१२३।२४॥
- ” —ननु अनगिति इदमः पूर्वत्र पष्ठ्यन्तनिर्दिष्टस्य विशेषणत्वात् कथं कार्येणाऽभेद-  
निर्देशः?, इत्याह— ॥१२३।३२॥
- “अयमित्यं०”—नन्वत्रादेशे कृतेऽन्त्यमकारस्य “आ द्वेः” इत्यत्वं कथं न भवतीति चेत्, सत्यम्,— ॥१२३।४०॥
- “दो म.०”—ननु मकारस्य मकारकरणवैयर्थ्यात् “आ द्वेः” इत्यत्वप्रवृत्तेश्च व्यञ्जनत्वेन स्वरस्या-  
ऽनासन्नत्वादेकवर्णत्वेनाऽन्तस्य भवन्नपि सामर्थ्यादुपात्तस्य दकारस्यैव भविष्यति  
किं द इति ग्रहणम्?, इति चेत्, उच्यते,— ॥१२४।१७॥
- ” —अथवा मकारस्याऽभेदनिर्देशेन “अद् व्यञ्जने” इतिवत् सर्वस्याऽपि स्यादिति दग्रहणम् ॥१२४।१९॥
- “किमः०”—ननु “किमः क.” इति गुरुकरणं किमर्थम्?, ‘आ द्वेस्तसादौ च’ इति कृत्वा, ‘इम’  
इत्येव सूत्र्यताम् । ॥१२४।२६॥
- ” —न चैकवर्णत्वादन्यस्य स्यादिति वाच्यं ‘नानर्थके तदन्तविधिः’ इत्याश्रयणादिति । ॥१२४।२९॥
- ” —यद्वाऽभेदनिर्देशात् सर्वस्याऽपीमोऽकारादेशे न कश्चिद्दोष इति चेत्, मैवम्,— ॥१२४।३०॥
- “आ द्वेः”—ननु आ द्वेरिति किमर्थम्?, असदन्ताना भवदन्ताना वा मा भूदिति । ॥१२४।३६॥
- ” —तत्र सत्यपि द्विशब्दात् परतः शब्दचतुष्टयस्य पाठे भवच्छब्दस्यैवात्वापत्तिर्दोषो न किं-  
युष्मदसदाम् । ॥१२४।३९॥
- ” —नैषोऽस्ति दोषः—यद्यं त्यदादीनामत्वे सिद्धे “शेषे लुक्” शास्ति तज्ज्ञापयति नेतः  
प्रागकार इति, नैवम्,— ॥१२४।४०॥
- ” —किञ्चाऽत्वे सत्याप्पसङ्गात्तद्भावार्थः “शेषे लुक्” इति अन्त्यस्वरादिलोपो वोद्धव्यः ॥१२४।४२॥
- ” —नन्वेवं तर्हि—अन्त्यस्वरादिलोपो वक्तव्यः । ॥१२४।४३॥
- ” —न चाऽत्वेन सिद्धत्वाद्भवनादेव अन्त्यस्वरादिलोपो भविष्यतीति वाच्यं, उपसर्जन-  
स्यात्वासिद्धेरुपसर्जनार्थत्वात् तस्येति चेत्, न वक्तव्यः । ॥१२४।४३॥
- ” —तथाहि—लोपमुत्सर्गं विधाय व्यञ्जनादावात्वं टाडयोसि च यत्त्वमपवादो विधास्यत  
इति शेषग्रहणमनर्थकं तत्क्रियमाणं लोपस्य विषयार्थं स्यात्,— ॥१२४।४४॥
- ” —यदि च द्विशब्दात् परेपामत्वं स्यात् किमः कं न विदध्यात्, किन्तु “आ द्वेः” इत्य-  
नन्तरं “किम” इत्येव ब्रूयात् । ॥१२५।१३॥
- ” —ननु तथापि कुत एतज्ज्ञापकं?, किम इत्येवोच्यमानेऽन्त्यस्य मकारस्य पूर्वोणाऽकारे  
तस्यैव पुनरनेनाऽपि स्यात् । ॥१२५।१६॥
- ” —न चोक्तानुवाददोषादन्यस्य न भविष्यतीति वाच्यम्?, काभ्यां, केभ्य इति विध्यन्तर-  
वाधनार्थत्वादिति कथं द्विपर्यन्ताना भविष्यति न पुनरसदन्तानां भवदन्तानां वा ॥१२५।१६॥
- ” —किं चाऽवश्यं कादेशः सागर्थोऽपि वक्तव्यः, तेनाऽज्ञातार्थविवक्षायां क इत्येव  
भवति, न तु कक इति भवति । ॥१२५।१८॥
- ” —न च ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति’ इति साकः कादेशो न प्राप्नोतीति वाच्यम्,  
“किम. क.” इति वचनसामर्थ्याद्भविष्यति । ॥१२५।१८॥
- “अदसो०”—नन्वदस इति किमर्थम्?, पारिशेष्याददस एव दकारस्य सकारो भविष्यति । ॥१२५।२६॥
- ” —किं चाऽन्त्यदकारस्य सकारेऽपि “दित्यन्त्यस्वरादे.” इत्यन्त्यस्वरादिलोपे विशेषा-  
भावात् सकारकरणमनर्थकं स्यात् । ॥१२५।२८॥
- ” —न चाऽनन्त्यस्य भवन्निदमोऽपि स्यादिति वाच्यं “अयमित्यं पुंस्त्रियोः सौ” इत्य-  
शेषस्य विधानादयमित्यमोस्तत्र वाधकत्वात् । ॥१२५।२९॥
- ” —द्विशब्दस्य च द्वित्वार्थविषयत्वात् सेरभावादप्रसङ्ग इति चेत्, न, ॥१२५।२९॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
४७४	“अदसो”	—तस्मान्त्यदत्तदयदेतदामन्त्यदकारस्य सकारः स्यात्, अदस एव यथा स्यादन्यस्य मा भूदित्येतदर्थमदसग्रहणम् ।	॥१२५३१॥
४७५	”	—नन्वेवं यद्यदस एव दस्य सत्त्वं विधीयते, ततो द्वाविच्छति द्वीयति, ततः क्पि, अकारयकारक्पिपो लोपे, ततः सावीकारस्य त्यदाद्यत्वे द्व इति प्राप्नोति स्व इति चेप्यत इति चेत्, सत्यम्;	॥१२५३१॥
४७६	”	—एवं तर्हि—असकौ ब्राह्मणी, असौ ब्राह्मणीत्यत्र “एदापः०” इति, “दीर्घड्याव्०” इति चैत्त्वलोपयोः प्रसङ्गः ?	॥१२५३१॥
४७७	“मोऽवर्णस्य”	—नन्वसाविच दृश्यत इत्यदसः परतो दृशेः “त्यदाद्यन्यसमानादुपमानात्०” ॥५१११५२॥ इति क्पि, टकि, सकि च स्याद्यभावाद्वाभावे कथं ‘अमूहम्’ इत्यादौ मत्त्वं ? इत्याह—॥१२६१२५॥	
४७८	”	—ननु अदः कुलमिच्छतीत्यस्मिन् वान्येऽदस्शब्दान्पुंसकादमो लुपि “सो रु.” इति रुत्वे, “रोर्य.” इति यत्वे, “स्वरे वा” इति यलोपेऽवर्णान्तत्वान्मत्वप्रसङ्ग इति चेत्, उच्यते—	॥१२६१२५॥
४७९	“मादुवर्णो”	—नन्वत्र “इवर्णादे०” इति वकारः कस्मान्न भवति ? इत्याह—	॥१२६१४५॥
४८०	”	—ननु मत्वे कृते पूर्वं पश्चाद्वा उवर्णादेशे अमुमित्यादीनां सिद्धत्वाद्नुग्रहणं किमर्थम् ? इति पृच्छति ।	॥१२६१४५॥
४८१	“प्रागिनात्”	—ननु परत्वाभित्यत्वादिनादेशात् पूर्वमुवर्णः सिद्ध एव किमनेन ? इति चेत्,	॥१२७११६॥
४८२	“वहुष्वेरी.”	—नन्विकारस्य पष्ठ्यामेरूपस्य समानत्वात्तत्त्वात्पुंसकादमो लुपि “सो रु.” इति रुत्वे, “रोर्य.” इति यत्वे, “स्वरे वा” इति यलोपेऽवर्णान्तत्वान्मत्वप्रसङ्ग इति चेत्, उच्यते—	॥१२७११६॥
४८३	”	—किञ्च “अदो मुमी” ॥१२१३५॥ इत्यत्र मीति निर्देशात् हीकारपरिग्रहेऽदसो मीरूप- सम्भवोऽस्तीति तस्मात् सूक्तमेकारस्येति ।	॥१२७१२१॥
४८४	“घातोरि०”	—नन्विवर्णोवर्णस्येति घातोरित्यस्य विशेषणत्वात्तदन्तसम्प्रत्यये घातोरिवर्णोवर्णान्त- स्येति समानाधिकरणपष्ठ्या सम्भवन्त्यां व्यधिकरणपष्ठ्याः प्रतिपत्तिगौरवात् परि- ग्रहायोगात् कथमेवमुच्यत इति ?	॥१२७३३१॥
४८५	”	—न च समानाधिकरणपष्ठ्यामनेकवर्णत्वात् सर्वादेशप्रसङ्ग इति वाच्यं, यतो ‘निर्दिश्य- मानस्याऽऽदेशा भवन्ति’ इति इवर्णोवर्णयोरेवेयुचौ भविष्यत इति चेत्, सत्यम्;	॥१२७३३२॥
४८६	”	—ननु नयतेर्लुनातेश्च “करणाधारे” ॥५१३१२२॥ इत्यनटि, “णकट्चौ” ॥५११४८॥ इति कर्तरे णके च इवर्णोवर्णान्तत्वादियुचौ कस्मान्न भवतः ? इत्याह—	॥१२७३४३॥
४८७	“इणः”	—नन्विणो घातुत्वात् खरादौ प्रत्यये पूर्वणैवेयादेशो भविष्यतीति चेत्, उच्यते,—	॥१२८११८॥
४८८	”	—इणघातोर्वर्तमानाया अन्तिप्रत्यये पञ्चम्या अन्तुप्रत्यये च खरादित्वात् “इण.” इतीयादेशः कस्मान्न भवति ? इति प्रश्नार्थः ।	॥१२८१२१॥
४८९	”	—नन्वस्तु यन्ति, यन्त्वित्यत्र परत्वात् “ह्णिणो” इति यत्वं, परन्तु इणघातोरनटि णके च खरादौ प्रत्ययेऽनेनेयादेशः कस्मान्न भवति ? इत्याह—	॥१२८१२२॥
४९०	“संयोगात्”	—ननु घातोरिति विशेषणं कार्यितया प्राधान्यादिवर्णोवर्णयोरेव युज्यते न संयोगस्य, तस्य तद्विशेषणत्वेनाऽप्राधान्यात्; प्रधानासम्भवे हि विशेषणं गौणे युज्यत इति ।	॥१२८१२६॥
४९१	”	—न च तस्य प्रधानान्वये व्यावर्त्याभाव इति वाच्यं, घातोरेवाऽवयवो य इवर्ण उव- र्णश्च संयोगात् परस्तयोरियुवाविति विशेषणविशेष्यभावाद्घातव्यवयवस्य व्याव- र्त्याभावात् ।	॥१२८१२७॥
४९२	”	—न च तत्र “इवर्णादे०” इति यकारवकारयोः सम्भवाद्वावर्त्यत्वमिति शङ्क्यं, यत्र समानदीर्घत्वं वाधकमस्ति तत्र व्यभिचारादर्थवदिवर्णोवर्णयोर्घातोरिति विशेषण- मिति प्रधानगामिनि सम्भवति विशेषणे गुणस्य तेन सम्बन्धो न न्याय्य इति चेत्, उच्यते—	॥१२८१२८॥
४९३	“स्त्रियाः”	—न च तदन्तग्रहणात् शस्त्रीशब्दस्याऽपि रूपन्यत्वादिवादेशप्रसङ्ग इति वाच्यं, तदेकदेशस्याऽनर्थकत्वात्, इत्याह—	॥१२९११९॥
४९४	”	—नन्वतिस्त्रिशब्दाज्जसि टाया डेडसिडसडिषु चाऽनेनेयादेशः कस्मान्न भवतीति शङ्कते ।	॥१२९१२०॥
४९५	”	—ननु स्त्रीशब्दादामि प्राप्त इयादेशः कस्मान्न भवति ? इत्याह—	॥१२९१२१॥
४९६	“वाऽमृशसि”	—ननु घातुरूपस्यैव स्त्रीशब्दस्य विकल्पार्थमिदं कस्मान्न भवति ? कथमुक्तं “घातोर्- वर्णोवर्णो” इत्यादिना नित्यमियादेश इति ? उच्यते—	॥१२९१२८॥
४९७	”	—न चाऽनुवर्तमानस्याऽन्यथात्वं भवति, यदाह—श्रीदोषराजः—	॥१२९१३०॥
४९८	“क्विचूत्ते०”	—नन्वेवमनेन न्यायेन परमन्याविति भाव्यमिष्यते च परमन्याविति तत्कथमिति चेत्, उच्यते—	॥१३०११७॥



क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
४९९	“क्विञ्चुत्ते०”—	यदापि पष्ठीसमासस्तदापि सम्बन्धविवक्षायां तिरोहिता भवति समासहेतुभूत-कारकत्वविवक्षा ।	॥१३०।१९॥
५००	”	—यदापि परमं शास्त्रं नयतीति नयनक्रियाकर्मणः शास्त्रादेर्विशेषणं परमशब्दस्तदा सत्यपि कर्मत्वे शास्त्राद्यपेक्षत्वात् सामर्थ्याभावात् ऋद्धस्य राक्षः पुरुष इतिवत् वाऽन्तर्भावः, तस्मात् परमनियमित्येव भवति, इत्याह—	॥१३०।२०॥
५०१	“द्वन्पुन०”—	ननु भुवः क्विबन्तस्य दृष्टादिभिर्वृत्तौ पूर्वेण सिद्धत्वात् किमर्थमिदम्?, इत्याशङ्क्याऽऽह—	॥१३०।३५॥
५०२	“णषम०”—	ननु णषशब्देन णत्वपत्वविधायकशास्त्राभिधानात् तत्र च पत्वशास्त्रस्य पूर्वभावि-त्वात् पूर्वनिर्देशे प्राप्ते परनिर्देशः किमर्थः?, इति चेत्,—	॥१३०।४४॥
५०३	”	—ननु सिद्धस्य णषशास्त्रस्य तत्कार्यस्य च कथमनेन वचनमात्रेणासत्त्वमारोपयितुं शक्यम्?, इति चेत्, उच्यते—	॥१३१।११॥
५०४	”	—नन्वेवं तर्हि “पदस्य”, “रात्सः” इत्यादौ पष्ठीनिर्देशानां परस्यां “पष्ठ्याऽन्त्यस्य” इति परिभाषायामसिद्धत्वात् सा तेषु व्यवस्थापिका न स्यात्, प्रत्युत तस्याः पष्ठ्याः समीप-योगत्वरूपने पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य समीपे यस्तस्य लोपः स्यादित्यर्थापत्तेश्च ॥१३१।२३॥	॥१३१।२३॥
५०५	”	—एवं “हो धुट्पदान्ते” इत्यादौ सप्तमीनिर्देशस्याऽसिद्धत्वात् “सप्तम्या पूर्वस्य” इति परि-भाषानुपस्थितौ पूर्वस्यैवाऽनन्तरे भवितव्यमित्यस्य नियमस्याऽभावात् सामान्येन पूर्वस्य परस्य वाऽनन्तरे धुटि च कार्यं स्यात्, तथा “अधश्चतुर्थात्०” इत्यादौ “पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य” इत्यनुपस्थित्या परयोर्व्यवहितयोश्च तकार्थकारयोः कार्यं स्यादिति चेत्, उच्यते—	॥१३१।२५॥
५०६	”	—न चैवं तर्हि देशभेदेन निर्देशस्तासां कथमिति वाच्यम्?,	॥१३१।३१॥
५०७	”	—किञ्च प्रधानदेशे तासामुपदेशे यस्यैव प्रधानस्य समीपे उपदिष्टास्तदेव ता उपकुर्युर्न प्रधानान्तरम् ।	॥१३१।३२॥
५०८	”	—ननु यदि कार्यकाले संज्ञापरिभाषे इति स्त्रीक्रियेत तदा विपूर्वस्य स्फुरेरवपूर्वस्य गुरेश्च “ऋवर्णव्यञ्जनात्०” ॥५।१।१७॥ इति ध्यणि धातोरनयोः कुटादिपाठे सत्यपि “कुटादेर्द्विद्वज्जिण्त्” ॥४।३।१७॥ इत्यज्जिण्त्प्रत्ययस्य द्विद्वत्वेऽत्र तु णितो डित्वाभा-वात् “स्पधे” इति परिभाषायाश्च सत्त्वे “लघोरुपान्त्यस्य” ॥४।३।१४॥ इत्युपान्त्यगुणा प्रवृत्तौ “भ्वादेर्नामिन०” ॥२।१।६३॥ इति दीर्घत्वेऽनिरूपपापत्तेः, इष्टस्य च गुणस्या-ऽभावेन विस्फोर्यमवगोर्यमिति रूपानापत्तेश्च ।	॥१३१।३७॥
५०९	”	—ननु “स्पधे” इति परिभाषयोपान्त्यगुणो भवत्विति चेत्, तन्न,—	॥१३१।४०॥
५१०	”	—एवं पूर्वस्याऽप्यपचादस्य परस्मिन्नुत्सर्गं कर्तव्ये नाऽसिद्धत्वं, अपवादवचनस्य निर्वि-पयत्वेन वैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।	॥१३१।४३॥
५११	“भ्वादेर्ना०”—	ननु प्रतिपूर्वादिभेः “लृपृयुषुपि०” उणा० ९०१। इति कित्यनि तृतीयैकवचने चतुर्थ्यैक-वचने च “अनोऽस्य” इत्यकारलोपे तस्य “स्वरस्य परे प्राग्विधौ” इति स्थानिवद्भावे व्यञ्जनाभावात् प्रतिदीन्ना, प्रतिदीन्ने इति कथं दीर्घत्वम्?, इत्याह—	॥१३३।२४॥
५१२	”	—नन्वत्र पिति कृति “ह्रस्वस्य त०” ॥४।४।११३॥ इति तागमः कस्मान्न?, इति चेत्,— ॥१३३।३५॥	॥१३३।३५॥
५१३	”	—नन्वेवं ग्रामं नयतीति किपि “ग्रामाग्रा०” ॥२।३।७१॥ इति णत्वे “वेदूतोऽनव्ययवृद्धीच्-डीयुवः पदे” ॥२।३।९८॥ इति ह्रस्वत्वे ग्रामणिनो ब्रज्या, ग्रामणि ब्रज्या इत्यत्र धात्वि-कारसङ्गावादीर्घत्वप्रसङ्ग इति चेत्, उच्यते—	॥१३३।३९॥
५१४	“न थि त०”—	नन्वत्र वीरित्यनुवर्तनाद्यकारादितद्धितपरकरेफे नामिनो दीर्घ इत्यस्य भुर्य इत्याद्युदा-हरणदानात् तादृशकारे तददानान्मूनतैत्यत आह—	॥१३४।२१॥
५१५	”	—पुरिशब्दात् “स्त्रिया डितां वा०” इति डेर्नामादेशे किरिगिरीभ्यामोसि यत्त्वे च व्यञ्जन-सङ्गावादीर्घत्वं कस्मान्न भवति?, उच्यते—	॥१३४।३०॥
५१६	”	—नन्वेतत्पक्षाङ्गीकारे ‘प्रतिदीन्ना’ इत्यत्राऽपि दीर्घत्वं न सिध्यति, तस्याऽप्यौणादि-कत्वादिति?,—	॥१३४।३३॥
५१७	”	—नन्वकारलोपस्य बहिरङ्गासिद्धत्वाद् व्यञ्जने परे धातोर्वकारान्तत्वाभावाच्चेदं प्रवर्तत इति चेत्, न,—	॥१३४।३८॥
५१८	“कुक्कुटुर.”—	ननु “रीश्” गतिरेषणयोः, “रिं” गतौ, “वीक्” प्रजनकान्त्यसनखादनेषु, एभ्योऽनुसि उसि च द्वित्वे “योऽनेकस्वरस्य” इति यत्त्वे दीर्घत्वं कस्मान्न सम्भवति?, उच्यते— ॥१३५।१४॥	॥१३५।१४॥
५१९	“मो नो भ्वोश्च”—	ननु पूर्वत्राऽवयवपष्ठ्यन्तं भ्वादेरिति विशेषणं कथमत्र मकारस्य विशेष्यं भवितु-मर्हति?, न हि “गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति” इति न्यायादिति चेत्, नैवम्,— ॥१३५।२१॥	॥१३५।२१॥
५२०	“स्रन्स्रध्वन्स्र०”—	एवं तर्हि—अनङ्गान्, हे अनङ्गान्!, इत्यत्र नकारस्यापि प्राप्नोति तत्र विशेषणा-भावात्?, नैवम्,—	॥१३६।२१॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ५२१ “खन्स्ध्वन्स्” — ननु वसतिवस्त्योः सकारान्तत्वाव्यभिचाराद् व्यभिचारे च विशेषणस्याऽर्थवत्त्वाद् व्यभिचारिणः कस एव ग्रहणं भविष्यति, वस्सिति सकारोपादानात्, इति किमर्थं कस्सेत्यत्र ककारकरणं?, इति चेत्, उच्यते— ॥१३६२२॥
- ५२२ ” — ननु अनडुह्शब्दात् “अनडुहः सौ” ॥१३७२॥ इति नागमे “पदस्य” इति हलोपे दत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्,— ॥१३६२७॥
- ५२३ ” — ननु यदि नकारविधानसामर्थ्यात् प्राप्नुवन् विधिर्न भवति तर्हि अनङ्गास्तत्र इत्यादौ “नोऽप्रशानो” इति सकारोऽपि न प्राप्नोतीति चेत्, न,— ॥१३६२८॥
- ५२४ “ऋत्विजू” — ननु खजूधातो. क्विपि ऋकारस्य रत्वं कथम्?, इत्याह— ॥१३६३७॥
- ५२५ ” — ननु दधृप् इत्यत्र द्विरुक्ति. कस्मात्?, इत्याह— ॥१३६३८॥
- ५२६ “युजञ्च” — ननु “कुञ्च” गतौ इत्यस्मात् क्विपि “नो व्यञ्जनस्याऽनुदितः” ॥१३७५॥ इति नलोपे सति नकाराभावाद्नेन कथं नस्य ङ इत्यत आह— ॥१३७१८॥
- ५२७ “अङ्गः” — नन्वत्र सिलोपे परत्वात् नकारस्य रुत्वे नकाराभावात् कथं दीर्घ इति चेत्, न,— ॥१३७३१॥
- ५२८ ” — ननु हनेर्ह्यस्तन्या दिवि सिवि वा “अङ्घातो” इत्यङ्गागमे, “व्यञ्जनाद्देः सञ्च दः” ॥१३७८॥ इति, “सेः रुद्वा च रुर्वा” ॥१३७९॥ इति च दिव्सिबोर्लोपे अहन् इत्येतस्य पदत्वात् नस्य रुत्वं कस्मात् भवति?,— ॥१३७३३॥
- ५२९ ” — न च प्रतिपदोक्तस्य सम्भवो नाम तथाहि—अङ्गश्च “श्वन्मातरिश्वन्” । उ० ९०२ । इत्यनि निपातने कथं प्रतिपदोक्तं स्यात्?,— ॥१३७३५॥
- ५३० “धुट्स्त्” — ननु कश्चरतीत्यादौ रेफादेशस्य शकारादेशुद्भवादासन्नत्वात्तृतीयो जकारादिः कस्मान्न भवति?,— ॥१३८२८॥
- ५३१ “गडदवा” — ननु धातोरवयवस्येत्युच्यते, अत्र त्ववयवातिरिक्तस्य तुण्डिप् इत्यादिवत् धातोर-भावात् कथं प्राप्तिः?, इति चेत्, उच्यते— ॥१३८३८॥
- ५३२ “घागस्त” — नन्वत्राऽऽकारलोपस्य खरादेशत्वेन “खरस्य परे प्राग्विधौ” ॥७३११॥ इति स्थानि-वद्भावात् चतुर्थान्तत्वाभावात् कथमादेशश्चतुर्थ इत्याह— ॥१३९३०॥
- ५३३ “नाभ्यन्ता” — ननु घकारस्य कार्यभाक्त्वात् परोक्षादिभिश्च विशिष्यमाणत्वात् प्राधान्यं परोक्ष-दीना तु विपर्ययाद् गुणत्वं, गुणप्रधानसन्निधौ च प्रधानस्यैव घकारस्य नाभ्यन्तेन धातुना सम्बन्धो न्याय्य इति चेत्, उच्यते— ॥१४०१७॥
- ५३४ “हो धुट्” — ननु गुडलिद् विद्यतेऽस्येति “तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मनुः” ॥७२१॥ इति मतौ ढत्वे ढृतीयत्वे च “मावर्णान्तोपान्त” इति वकार. कस्मान्न भवति?, इत्याह— ॥१४११८॥
- ५३५ “भ्वादेर्दा” — ननु लक्ष्ये घकारस्य स्वरूपेणावस्थानाभावात् “धुट्स्त्तीय.” इति गकारेण भाव्य-मिति स एव उच्यतामिति चेत्, मैवम्; ॥१४१३१॥
- ५३६ ” — ननु किमर्थं भ्वादेरित्युपादीयते?, “भ्वादेर्नामिनो” इत्यत एव तदनुवृत्तेस्त एव तत्साध्यार्थसिद्धेः । ॥१४१३३॥
- ५३७ ” — एवं तर्हि “गडदवादे” इत्यत्र यथाऽनुवर्तनात् धातुमात्रार्थं तद्भवति न तु पठित-धात्वर्थं, अन्यथा तु तुण्डिप् गर्धवित्याद्यसिद्धेः । ॥१४१३६॥
- ५३८ ” — न च कुण्डमुम्भतीति कुण्डोवित्यादिव्यावृत्त्यर्थं, लोके प्रयुज्यमानानां शब्दानाम-न्वाख्यायकं शास्त्रं तत्तद्व्युत्पादकं, न चैतत् क्विन्ताः प्रयुज्यन्त इति । ॥१४१३७॥
- ५३९ ” — नन्वेवं यदि विशिष्टसम्बन्धिप्रतिपत्यर्थं भ्वादेरित्युपादीयते तर्हि भ्वादेर्दादेरित्येत-त्समानाधिकरणं विशेषणं भवतु दकारादेर्धातोरिति, तथा च दामलिङ्गिति भव-त्ययं दादिर्न तु भ्वादिः, समुदायस्य धातुष्वपाठात् । ॥१४१३९॥
- ५४० ” — अघोगित्यत्रापि दादिग्रहणेन तद्भक्तत्वादटो ग्रहणात् घत्वं भविष्यति पाठे ह्यस्य दादित्वादिति चेत्, सत्यम्, ॥१४१४१॥
- ५४१ “मुहद्गुह” — ननु किमेते मुहादयः स्वरूपेणोपादीयन्ते?, मुहादेरित्येवोच्यता, न चाऽधिकानां प्रसङ्गः, तदनन्तर वृत्करणात्, तद्धि पुपादिपरिसमाप्त्यर्थमपि भविष्यतीति चेत्, उच्यते— ॥१४२१७॥
- ५४२ ” — ननु वोमवीतीत्यादय एव नियता यद्भ्रुवन्ता लोके प्रयुज्यन्त इत्येषा प्रयोगो न भविष्यति?, एवं तर्हि स्पष्टार्थं पाठ । ॥१४२१९॥
- ५४३ “नहाहो” — नन्वाहेरपि घकारे “अघोपे प्रथमो” इति तकारे सति आत्येति सिध्यतीत्युभयोर्घ-कार एवोच्यता किं तकारकरणेनेति चेत्, मैवम्, ॥१४२२७॥
- ५४४ ” — न च सिचस्यविधानसामर्थ्यादेव घत्वं न भविष्यति, अन्यथा सिवो घत्वमेव विद-ध्यादिति वाच्यं, लाघवार्थं तत्स्यादन्यथा “वृग. पञ्चाना” इत्यत्र सिवो घ इति सूत्रा-न्तरे कृते गौरवं स्यात्तस्मात् सूत्रम् । ॥१४२२९॥

- ५४५ “चजः क०”—“तेन वित्ते०” ॥७।१।१७५॥ इति तच्छब्दात् चञ्चणयोश्चरतौ च परत्वात् पूर्वं तृती-  
यत्वे “तवर्गस्य०” इति जत्वे गत्वं, “अघोपे प्रथमो०” इति चत्वे कत्वं कस्मान्न  
भवति ?, नैवम्; ॥१४२।३७॥
- ५४६ ,, —नन्वत्र सूत्रे किमर्थमादेशद्वयविधानम् ?, यावता कविधानं गविधानं वा क्रियतां,  
यथा लक्षणं कस्य गत्वे, गस्य कत्वे च सर्वसाध्यलिङ्गेरिति चेत्, सत्यं, गाभावे  
लगादयः का भावे पक्कादयो न सिध्येयुरिति कगग्रहणम् । ॥१४२।४१॥
- ५४७ “यजसृज०”—ननु विपूर्वस्य आज्ञेः क्विचन्तस्य गत्वे विभ्रागिति प्रयोगदर्शनात् कथं तत्सिद्धिः ?,  
इत्याह— ॥१४३।३३॥
- ५४८ ,, —ननु श इति सामान्येनोपादानात् “मासनिशासनस्य०” ॥२।१।१००॥ इति निशा-  
शब्दस्याऽन्तलोपे शस्य पत्वं कस्मान्न प्राप्नोति ?, उच्यते— ॥१४३।३५॥
- ५४९ ,, —ननु परत्वात् प्रथमं वाधित्वा “चजः कगम्” इति जस्य गत्वं कस्मान्न भवति ? इत्याह—॥१४३।३७॥
- ५५० “संयोग०”—ननु स्कोर्लुकं परस्मिन्नसत्त्वात् “पदस्य” ॥२।१।८९॥ इति संयोगान्तस्य स्यात् ?,  
नैवम्, ॥१४४।५॥
- ५५१ ,, —ननु स्कोर्लुकि तु लुग्विधेश्चरितार्थत्वात् कार्यासत्त्वपक्षमाश्रित्य “पदस्य” इति अत्र  
लोपप्रसङ्ग इति चेत्, न, ॥१४४।२७॥
- ५५२ “पदस्य”—ननु पुमानित्यादौ “पदस्य” इति संयोगान्तलोपे नकारलोपः कस्मान्न भवति ?, इत्याह—॥१४५।२३॥
- ५५३ ,, —ननु भवाञ्चरोते इत्यत्र नकारस्य आदेशे संयोगान्तलोपः कस्मान्न भवति ?, इत्याह—॥१४५।२८॥
- ५५४ “रात्सः”—नन्वत्र रेफात् परत्वात् पदान्तकृतस्य सस्य पत्वेन भवितव्यं कथं लोपः ?, इत्याह—॥१४५।३३॥
- ५५५ ,, —नन्वेवं तर्हि कीर्तयतेरप्रत्यये कीरिति प्राप्नोति कीर्त् इति चेप्यते ?, अत्र भाष्यम्—॥१४५।४३॥
- ५५६ “नासो नो०”—नन्वत्र “रो लुप्यरि” इति, “अहः” इति च विशेषविहितत्वेनाऽपवादत्वान्नलोपमपोद्य  
रेफरुत्वे भविष्यतः, किमनह इति प्रतिषेधेन ?, उच्यते— ॥१४६।२६॥
- ५५७ ,, —न च रेफरुत्वयोरनवकाशत्वमिति वाच्यम्, हे अहः ?, हे दीर्घाहः ?, इत्यादौ सम्बो-  
धने तयोः सावकाशत्वात्, इत्याह— ॥१४६।२७॥
- ५५८ ,, —नन्वत्र परेऽसत् इत्यधिकृतस्य निवृत्तत्वात् “ह्रस्वस्य तः०” इति तोऽन्तो वृत्रहभ्या-  
मित्यादौ कथं न भवति ?, अत आह— ॥१४६।३३॥
- ५५९ “नाऽऽमन्थे”—ननु हे राजन्नित्यादौ सिलुकः स्थानिवद्भावेन “अघातुविभक्ति०” इति नामसंज्ञाप्रति-  
षेधे पूर्वेण लोप एव न प्राप्नोति, कथमनेन प्रतिषिध्यते ?, इत्याह— ॥१४६।३६॥
- ५६० ,, —नन्वामन्थे नलोपप्रतिषेधात् राजन्, वृन्दारकेत्यनयोरामन्थार्थयोः “वृन्दारकनाग-  
कुञ्जरे.” ॥३।१।१०८॥ इति समासे राजन्, वृन्दारकेति भाव्यम् ?, नैष दोषः, ॥१४६।३८॥
- ५६१ “भावर्णा०”—ननु “नास्मि” इति प्राप्तिरुर्म्यादीना वार्यत इति चेत्, न, ॥१४७।१६॥
- ५६२ “दन्तपाद०”—ननु द्वाद्यादेशवत् पूर्वेऽपि मास इत्यादि समस्तादेशः कर्तुमुचितस्तथा च सति  
प्रकरणभेदोऽपि न स्यात्, अत एव पूर्वं. “पदत्रोमासहृन्निशासन्यूपन्दोपन्यकञ्छक-  
ब्रुदन्नासन०” पा० ॥६।१।६३॥ इति कृतं, प्रकृतिस्तु तत्राऽनुमितेति चेत्, सत्यम्, ॥१४९।२८॥
- ५६३ ,, —ननु पूर्वेऽहन्दोविषयत्वमेपामुक्तं, न च छान्दसा भवद्भिर्व्युत्पाद्यन्ते इति “मास-  
निशा०” इत्यादि सूत्रद्वयमनर्थकम् ?, नैवम्, ॥१४९।३२॥
- ५६४ “यस्वरे०”—ननु द्विधा पाच्छब्दस्य सम्भवस्तथाहि—“पात्पादस्याऽहस्तादे.” ॥७।३।१४८॥ इत्या-  
दिभिः कृतपादादेशस्य तथा पादयतेः क्विचन्तस्य णिलुकि, तत्कस्मेह ग्रहणम् ?,  
उच्यते— ॥१४९।४१॥
- ५६५ ,, —नन्वेवमनेकवर्णत्वात् सर्वस्य पादन्तस्य प्राप्नोति केवलस्य चेष्यते, तस्मात् पादः पदा-  
देशमपास्य पादो ह्रस्व इति कर्तव्यम् ?, इति यः शङ्कते तम्प्रत्याह— ॥१४९।४६॥
- ५६६ “उदच०”—ननु उदञ्चेत्यादौ अद्युदस्वरे आदेशः कस्मान्न भवति ?, इत्याह— ॥१५०।४०॥
- ५६७ “अब् प्रा०”—ननु दृषदमञ्चतीति किपि टादावन्तरपूर्वस्वराभावे दीर्घत्वाभावादेकयोगनिर्दिष्ट-  
त्वादादेशस्याऽप्यभावात् कथं दृषचेत्यादि सिध्यति ?, इत्याह— ॥१५१।१७॥
- ५६८ ,, —नन्वत्र दकारस्य दन्त्यत्वात् लृकारो दीर्घ आसन्नत्वात् कस्मान्न भवति ?, इत्याह— ॥१५१।२०॥
- ५६९ “कसुप्म०”—ननु च पपुषः, निन्युप इत्यादौ यस्वरादाबुच्यमानस्योपादेशस्य बहिरङ्गत्वेनाऽसिद्ध-  
त्वात्तदपेक्षया अन्तरङ्गाण्याकारलोपादीनि न प्राप्नुवन्ति ?, नैष दोषः । ॥१५१।२६॥
- ५७० ,, —ननु चाऽप्राऽन्तरङ्गबहिरङ्गयोर्युगपदवस्थानमस्तीति । ॥१५१।३०॥
- ५७१ ,, —न चाऽप्राऽन्तरङ्गत्वादिटा भाव्यमिति वाच्यम् ?, नित्यत्वादिटं बाधित्वा उप भवति ॥१५१।३०॥
- ५७२ ,, —ननु वर्णविधित्वाभावात् स्थानिवत्त्वेन भवतीटः प्रसङ्ग इति चेत्, अस्तु वा पूर्वमिदं  
वसवयवत्वात् सेट्रकस्य वसोरुपादेशो भविष्यति । ॥१५१।३१॥
- ५७३ “श्वन्युवन्०”—ननु श्वन्नित्यादौ नकारान्तनिर्देशः किमर्थः ?, इत्यत आह— ॥१५१।४१॥

- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ५७४ “लुगातो०”—ननु क्त्वायां टायामित्येवमपि वैयाकरणा व्यवहरन्ति तत्कथम् ? इति चेत्, उच्यते—॥१५२२०॥
- ५७५ “अवर्णा०”—ननु तुदन्ती, भान्तीत्यादिमूलोदाहरणे ईड्योरनपेक्षत्वेन वर्णमात्राश्रयत्वेन चान्तरङ्गत्वात् “लुगस्यादेत्यपदे” इति, “समानाना०” इति चाकारलोपदीर्घत्वयोः कृतयोरवर्णात् परत्वं शतप्रत्ययस्य न संभवति तत्कथमकारावर्णशतप्रत्ययलीभावापेक्षत्वेन बहिरङ्गोऽन्त इत्यादेशः ? इत्याह— ॥१५२२१॥
- ५७६ ” —नन्वेवं तर्हि ददतीत्यादौ आकारलोपेऽपि भूतपूर्वतया शतुरन्तादेशे नकारश्रवणप्रसङ्गः ? इत्याह— ॥१५२२३॥
- ५७७ “इयशवः”—ननु ईड्योः पूर्वेणैव शतुरन्तादेशः सिद्धः किमर्थमिदम् ? नैष दोषः,— ॥१५२२३॥
- ५७८ “दिव औः सौ”—नन्वक्षपूर्वादीव्यते. किप्युटि कृते एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात् औत्वं कस्मान्न भवति ? न ह्यघातोरित्यस्ति ? इत्याह— ॥१५२२४॥
- ५७९ ” —ननु दिवो वकारस्य अमृशसोः आकारो विभापया वक्तव्यः, अन्यथा दिवमित्याद्येव स्यान्न तु घामित्यादीनि ? इत्याह— ॥१५२२६॥
- ५८० “उः पदान्ते०”—ननु द्युभ्यामित्यादौ दीर्घप्रसङ्ग एव नाऽस्ति कथमुच्यतेऽनूदिति ? इत्याह— ॥१५२२७॥
- ५८१ ” —ननु दिवाश्रय इत्यादावन्तर्धेतिर्नीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वेऽनेनोत्वे कथं दिवाश्रय इत्यादि ? इत्यत आह— ॥१५२२९॥
- ५८२ ” —ननु गमने निपिद्धे तेषां कथं स्वाभिप्रेतार्थसिद्धिः ? इत्याह— ॥१५२२९॥
- ५८३ ” —नन्वस्माकं मध्ये स्थितस्तु मूलराज इति कथं हरित्वेन बोधयसि ? इति चेत्, आह— ॥१५२३०॥
- ५८४ “क्रियाहेतुः०”—न चैवं सर्वदा क्रियोत्वत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यं, अभिव्यक्ताया एव तस्याः क्रियाकारणात् । ॥१५२३१॥
- ५८५ ” —न चैतावता तस्याऽसत्त्वं, उत्तरकालमभिव्यज्यमानत्वात् । ॥१५२३२॥
- ५८६ ” —न च तदैव तस्योत्पत्तिरित्यपि वाच्यं, रविकरस्पर्शस्य गन्धोपलब्धौ सामर्थ्यानवधारणात्, सामर्थ्ये वा जलान्तरेऽपि तथा गन्धोपलब्धिः स्यात्, तस्मात् क्रियाकालाभिव्यक्ता शक्तिः कारकमिति स्थितम् । ॥१५२३३॥
- ५८७ ” —ननु सक्षा इति प्रकृत्य कारकादयः शब्दाः पठितव्याः, अन्यथा कारकादयः संज्ञा इत्येव सम्प्रत्ययो न स्यात्, अतः संज्ञाधिकार इति वक्तव्यम् । ॥१५२३४॥
- ५८८ ” —यदपि सज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्य इत्युक्तं, तदपि न; आचार्यव्यवहारादेव तस्य सिद्धत्वात् । ॥१५२३५॥
- ५८९ ” —अथ संज्ञिनिर्देशः किमर्थः ? अकारस्य मा भूदित्यर्थः । ॥१५२३६॥
- ५९० ” —एवं तर्हि वृक्षस्य पत्रं पततीत्यत्राप्यादानसंज्ञा प्राप्नोति ? ॥१५२३७॥
- ५९१ ” —प्रत्यासत्त्या तु वृक्ष एव सम्बन्धित्वेन प्रतीयते, इति तस्मादवध्यादय एव संज्ञिनो लप्स्यन्ते ? सत्यम्; ॥१५२३८॥
- ५९२ ” —ननु तथापि संज्ञिविशेषस्याऽनिर्देशात् क्रियानिमित्तमात्रस्याऽपि हेत्वादेः प्रसङ्गः ? इत्याह— ॥१५२३९॥
- ५९३ ” —ननु च यथा करणाधिकरणयोः कर्तृत्वं निर्दिशितं न तथाऽपादानादीना निदर्श्यते ? न ह्यपादाने ग्रामे ग्राम आगच्छतीति प्रयोगोऽस्ति ? उच्यते— ॥१५२४०॥
- ५९४ ” —ननु सर्वत्राऽत्र स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं चाऽस्ति, तत्र प्रधानत्वात् कर्तृसंज्ञैव प्राप्नोति ? ॥१५२४१॥
- ५९५ ” —ननु सम्भवनक्रिया धारणक्रिया च कुर्वती स्थाली स्वतन्त्रेत्युक्तं, केदानीं परतन्त्रा ? न च प्रक्षालने परिवर्तने च पारतन्त्र्यमिति वाच्यम् ? ॥१५२४२॥
- ५९६ ” —ननु च भोः ? कर्तृस्थेऽपि यत्ने कथ्यमाने स्थाली सम्भवनधारणक्रिये करोति तत्र स्वतन्त्रा, केदानीं परतन्त्रेति ?— ॥१५२४३॥
- ५९७ ” —ननु सामग्रीतः क्रियोत्पादात् सर्वेषां च तत्र सामान्यान्न कस्याचित्प्राधान्यं सम्भावयाम इति कथं ज्ञायते कर्ता प्रधानमिति ? उच्यते— ॥१५२४४॥
- ५९८ “स्वतन्त्रः०”—यथा कर्तृसन्निधौ करणादीना स्वातन्त्र्याभावस्तथा प्रयोजकसन्निधौ प्रयोज्यस्याऽपीति पारतन्त्र्यादकर्तृकत्वाद्यद्दत्तेनेति कर्तृवृत्तीया न प्राप्नोति ? नैष दोषः,— ॥१५२४५॥
- ५९९ ” —यदि तु प्रयोज्यस्य स्वातन्त्र्यं न स्यान्नैवाऽसौ साधनान्तरविनियोगादिना क्रियां कुर्यात्, तथा चाऽकुर्वेत्यपि प्रयोज्ये प्रयोजक कारयतीति व्यपदिश्येत । ॥१५२४६॥
- ६०० ” —न चाऽकुर्वेत्यपि तस्मिन् कारयतीत्येतद्भवतीति प्राधान्यात् सिद्धमस्य कर्तृत्वम् । ॥१५२४७॥
- ६०१ ” —ननु प्रैपादूर्ध्वं प्रयोज्यस्य स्वव्यापारे प्रवर्तनात् स्वातन्त्र्यमिति सिध्यति वृत्तीया, प्रैपादाले तु कथम् ? तत्र स्वव्यापाराप्रवर्तनात्, प्रवृत्तौ च प्रैपवैयर्थ्यात् स्वातन्त्र्यं नास्तीत्यस्वतन्त्रस्य च प्रयोजक. “प्रयोक्तृ०” ॥३१२०॥ इति तद्व्यापारे णिग् न स्यात् ? नैष दोषः । ॥१५२४८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
६०२	“स्वतन्त्रः०”—नन्वेकस्य स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च विप्रतिपिद्धं, प्रयोजकसंनिधौ पारतन्त्र्येण स्वातन्त्र्यस्य तिरस्कृतत्वात् यौगपद्यानुपपत्तिः ? उच्यते—		॥१५८।२३॥
६०३	” —यद्येवं नदीकूलं पततीत्यादौ स्वातन्त्र्याभावात् कर्तृत्वाभावः, तथाहि—स्वातन्त्र्यं नाम परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोक्तृत्वं चेतनव्यापारो नाऽचेतनस्य कूलादेः सम्भवति ? उच्यते—		॥१५८।२५॥
६०४	“कर्तृव्या०”—किमर्थं क्रियया तदामुमिष्यते ? निर्वर्तयितुं गुणान्तराण्यापादयितुं विपयीकर्तुं वा ? अत एव निर्वर्त्य विकार्यं प्राप्यं चेति त्रेधा तदुच्यते ।		॥१५८।३१॥
६०५	” —व्याप्यशब्दस्य सञ्ज्ञात्वेनाऽनुपात्तत्वात् कथं “व्याप्ये केनः” ॥२।२।९९॥ इत्यादौ व्याप्य-शब्देन व्यवहारः ? उच्यते—		॥१५८।३३॥
६०६	” —न ह्यनिर्वर्तमानं शशविपाणमिव निर्वर्तयितुं शक्यं, तस्मान्निर्वर्त्यस्य निर्वृत्तियोग्यत्व-मवान्तरव्यापारः ।		॥१५८।४५॥
६०७	” —ननु शिक्षियाच्योरेकार्थत्वात् कथं द्वयोरुपादानम् ? इत्याह—		॥१५९।२१॥
६०८	” —नन्वेवमपि याचिरेवोपादातव्यस्तेनैव याञ्जानुनययोरभिधानात् ? अस्येतत् ?—		॥१५९।२२॥
६०९	” —यद्येवं गवादेः परार्थत्वात् क्रियायोगाभावाद् व्याप्यत्वात् कर्मसंज्ञा न सिध्यति ?—		॥१५९।२९॥
६१०	” —ननु गा दोग्धि पय इत्यस्याऽयमर्थो—गौः पयस्त्यजति, देवदत्तो गवा पयस्त्याजयति, तत्र प्रयोक्तृव्यापारेणाऽऽप्यमानत्वाद्गो. कर्मत्वं न तु दोहादिनेति ? नैतदस्ति,—		॥१५९।४०॥
६११	” —न चेत्यं लोकप्रतीतिरस्ति ? नैप दोषः,—		॥१५९।४३॥
६१२	” —अथ कथं भवितव्यं, तण्डुलानोदनं पचति ? आहोस्वित् तण्डुलानामोदनं पचतीति ? उभयथा प्रयोगदर्शनात् ।		॥१५९।४६॥
६१३	” —अथ द्विकर्मकेषु दुहादिधातुषु कर्मणि तिवाद्य उत्पद्यमानाः प्राधान्याऽप्राधान्याभ्या मिन्नकक्षमनेकं कर्म युगपदभिधानुमसमर्थं. किं प्रधानकर्मण्युत्पद्यन्तेऽथ गुण-कर्मणीति ?,—		॥१६०।१६॥
६१४	” —नन्वेवमपि कर्तृगुणत्वात् गुणे च संख्याया विवक्षणाद् द्वाभ्यां कर्तृभ्या बहुभिर्वा यद्विशेषेणाऽऽस्तुमिष्यते तस्य कर्मसंज्ञा न स्यात् ? नैप दोषः,—		॥१६०।४१॥
६१५	” —नन्वेवं तर्हि यदा कश्चित् कश्चिदामन्त्रयते—सिद्धं भुज्यतामिति, स आह—प्रभूतं भुक्-वानस्मि, आमन्त्रयमाण आह—दधि खलु भविष्यति ? आमन्त्रयमाण आह—दध्ना खलु भुञ्जीय, पयसा खलु भुञ्जीय ।		॥१६०।४७॥
६१६	” —अत्र चाऽन्वयव्यतिरेकाभ्या दधिपयसोरेव विशेषेणाऽऽप्यत्वात् कर्मसंज्ञा प्राप्नोति न त्वोदनस्येति चेत्, उच्यते—		॥१६०।४८॥
६१७	“वाऽकर्म०”—नन्वेवं तर्हि गत्यर्थादीनामप्यविवक्षितकर्मत्वेन विकल्पः प्राप्नोति, नित्यश्च विधि-रिष्यते ? इत्याह—		॥१६१।१७॥
६१८	” —नन्वोदनं पचतीत्यादिप्रयोगदर्शनात् कथं पचादीनामविवक्षितकर्मत्वम् ? इत्याह—		॥१६१।१९॥
६१९	“गतिवो०”—न चेपां बुद्ध्यर्थता, बोधशब्देन बोधसामान्याश्रयणपक्षे वेत्यादयो हि ज्ञानमात्रवचना.		॥१६१।३६॥
६२०	” —न च वाक्यभेद, श्वेतो घावतीति चत् ।		॥१६१।३८॥
६२१	” —अथ नित्यग्रहणमन्तरेणाऽपि अकर्मकग्रहणेनैव कर्मसत्तामात्रप्रतिषेधेनैवेष्टार्थो लभ्यत इति किमर्थं नित्यग्रहणम् ? इत्याह—		॥१६२।२५॥
६२२	” —ननु च कालाऽध्वभावदेशा आधारा अकर्मणामपि कर्माणि भवन्ति, गोदोहमात्रे, मासमास्ते इत्यादौ, तत्र नित्याऽकर्मणामसम्भव एव ? इत्याह—		॥१६२।३५॥
६२३	” —अथैवं किं न ज्ञायते कालादिभ्योऽन्येन कर्मणा सकर्मका अपि येषां कालादिकर्म-नैवाऽस्ति ते नित्याऽकर्माणः, यथा कालादिभिः सकर्मका अप्यन्यकर्माभिरपि पयसा पयसा		

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
६२९	“गतिवो०”—न चैकेन लक्षणेन नियमद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वादासिंश्च सति प्राकनस्याऽसत्त्वात् कथं नियमद्वयलाभ इति वाच्यं, अणिग्रहणात् ।		॥१६३११४॥
६३०	“भक्षेहि०”—ननु हिंसा हि प्राणव्यपरोपलक्षणा, सा च प्राणिन्येव सचेतने सम्भवति, कथमचेतने सस्ये ?,—		॥१६३२२॥
६३१	” —ननु पुत्रभक्षणस्य हिंसात्मकत्वाद्भक्षयति पुत्रान् गार्थेति कथं कर्मत्वाभावः ? , इत्यत आह—		॥१६३३०॥
६३२	” —न ह्यत्र गार्थो स्वयं पुत्रान् भक्षयति, न च तामन्यस्तत्र प्रयुङ्क्ते, अपि त्वेवमाक्रोशति भक्षय पुत्रानिति भक्षिर्न हिंसाविषयः ।		॥१६३३१॥
६३३	” —ननु भक्षयति पिण्डं शिशुनेत्यादौ मा भूदनेन कर्मत्वं, भक्षयतेराहारार्थत्वात् पूर्वेण कस्मान्न भवति ? , इत्याह—		॥१६३३२॥
६३४	“वहेः प्र०”—नन्वेवं विधौ सति नियमो नोपपद्यते ? , उच्यते—		॥१६३३३॥
६३५	“दृश्यभि०”—ननु विकल्पो हि प्राप्ते कार्ये पक्षे निवृत्तिफलः, अप्राप्ते च प्रवृत्तिफलस्तत्राऽयं प्राप्ते च स्यादप्राप्ते वेत्यत आह—		॥१६४३१॥
६३६	“स्मृत्यर्थ०”—ननु कर्माऽविवक्षाया पक्षे मापाणामश्रीयादित्यादिवत् “शेषे” पृष्ठी सिद्धैव तत्किमनेन ? , सत्यम् ;—		॥१६५१५॥
६३७	” —ननु इदं कर्म भवति कर्मभावजनितसंबन्धसम्बन्धि च, तत्र कर्माविवक्षायां “शेषे” इत्यनेनैव पृष्ठी;—		॥१६५२२॥
६३८	” —न हि काष्ठसंश्लेषहेतोर्जतुनः संश्लेषे जत्वन्तरमपेक्ष्यमिति तत्राऽपि स्थित्यादिक्रिया-ऽस्तीत्यपरे ।		॥१६५२४॥
६३९	” —न च कर्मभावनिवर्तनेन पृष्ठ्यां प्रवर्तितायामपि तत्कर्मप्रतिपत्तिसम्बन्धिभावो हि ततः प्रतीयते, अतो विवक्षभेदात् द्वितीयादेः पृष्ठ्यादेश्च सिद्धेरयं विकल्पोऽनर्थकः ? ; इति पृच्छति—		॥१६५२६॥
६४०	“जासनाट०”—ननु च जसनटक्रथेति धातवः पठ्यन्ते, तत्र निर्देशे तथैव निर्देश्यम् ? , इत्यत आह—॥१६६२५॥		॥१६६२५॥
६४१	” —ननु चौरस्योत्क्राथयतीति कथमाकारो घटादित्वाद्घटादिह्रस्वेनैव भवितव्यम् ?,—		॥१६६२९॥
६४२	” —न च णिग विनाऽस्य कर्माऽस्ति, अकर्मकत्वात् ; स च यदि सर्वत्र स्यादस्य घटा-दित्वमनर्थकमिति कर्माभाव एव न भवति ? , इत्याह—		॥१६६३१॥
६४३	” —ननु हिंसाया रुजारूपत्वात् “रुजार्यस्या०” इत्यनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति किमर्थ-मिदम् ? , यदि जासनाटक्रथेत्याकारार्थं यत्राऽऽकारस्तत्रैव यथा स्यादिति, तथापि पिप्पग्रहणमनर्थकम् ? , इत्याह—		॥१६६३३॥
६४४	“विनिमेय०”—ननु पणव्यवहोरित्यत्र विनिमेयश्रुतपणवत् समाहारद्वन्द्वदेकवचनं किमिति वचन-भेदाभावाय नोपादीयते ? , इत्याह—		॥१६७२४॥
६४५	“करणं च”—ननु च करणं कथं कर्म भवति ? , भिन्नौ हि तौ स्वभावौ प्रकृत्यमाणव्यापारस्तत्क्रिय-माणता चेति ?,—		॥१६७३८॥
६४६	” —अथ करणत्वयुक्तं भवतीति विज्ञायते, तदा सर्वद्वय्याणां सर्वकारकशक्तियुक्तत्वात् द्वयान्तरवदस्य कर्मत्वात् वचनमिदमनर्थकमिति चेत् ? , उच्यते—		॥१६७३९॥
६४७	” —ननु अक्षा दीव्यन्ते इत्यादौ द्वितीयादयः कथं न भवन्ति ? , इत्याह—		॥१६७४३॥
६४८	” —अथाऽक्षान् दीव्यतीत्यत्र सत्यपि संज्ञाद्वयसमावेशे परत्वात् करणत्वनिमित्तया तृतीययैव भवितव्यम् ? , नैवम् ;—		॥१६८३१॥
६४९	” —नन्वेवमक्षा दीव्यन्त इत्यत्राऽपि अकर्मकव्यपदेशव्यावृत्त्यर्थत्वात् कर्मसंज्ञा साव-काशा, अक्षा देवना इत्यत्र च अनर्द्ध्यत्वात् करणसंज्ञा; अक्षान् दीव्यतीत्यत्र तु कर्म-करणत्वस्वभावत्वाद्क्षादेर्द्वितीयातृतीयाप्राप्तौ स्पष्टत्वात् परत्वात्तृतीयैव प्राप्नोति ? , इत्याक्षिपति ।		॥१६८२१॥
६५०	“अधे. शी०”—अथ किमर्थमिदमारभ्यते ? , यावताऽकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति॥१६८३१॥		॥१६८३१॥
६५१	“उपान्व०”—ननु स्थानार्थस्यैव वसेर्ग्रहणमिष्यते, तेन ग्रामे तिष्ठतीत्यत्राऽर्थे ग्राममुपवसतीति प्रयोगः, अस्थानार्थत्वे तु ग्रामे उपवसतीति तदेतत्कथम् ? , उच्यते—		॥१६८३८॥
६५२	“कालाऽध्व०”—नन्वेवमनेन व्याप्तौ कर्मसंज्ञाया “कर्मणि” इति द्वितीयाया. सिद्धौ “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति सूत्रं किमर्थम् ? , इत्याशङ्का तन्मतेनैव परिहरति—		॥१६९१४३॥
६५३	“साघक०”—ननु सामग्रीत क्रियासिद्धिस्तत्र कथं किञ्चित्सातिशयोपकारकं किञ्चिद्विपरीतम् ? , अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि सर्वेषां सामान्यमवगम्यते तस्मात् क्रियासिद्धौ साघकत-मस्य सम्भवो नाऽस्तीति सम्भवं कल्पनया दर्शयति ।		॥१७०१२९॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
६५४	“साधक०”—यथा-अभिरूपाय कन्या देयेति लौकिके वाक्येऽभिरूपग्रहणं प्रकर्षपरिग्रहार्थं, तत्किमर्थं तमग्रहणम् ? इत्याह—		॥१७०१२७॥
६५५	” —ननु तरतमयोगो नाऽस्तीति कथं केवलयोः प्रत्यययोः प्रयोगः ? उच्यते—		॥१७०१३४॥
६५६	“कर्माभि०”—ननु कथं कर्मणः करणत्वम् ? उच्यते—		॥१७०१३८॥
६५७	” —एवमपि ‘कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे सम्प्रत्ययो भवति’ इति न प्राप्नोति ? नैवम्,		॥१७०१४४॥
६५८	” —किञ्च “कर्तुर्व्याप्यं कर्म” इत्युच्यते, कथं च नाम क्रिया क्रियाया व्याप्या स्यादिति चेत् ? अत्रोच्यते—		॥१७०१४६॥
६५९	” —यद्येवं ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामादेरपि क्रियाऽभिसम्बन्धमानस्य सम्प्रदानसंज्ञा-प्रसङ्गः ? नैष दोषः—		॥१७१११७॥
६६०	” —ननु भ्रतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादौ दीयमानपृष्ठवस्त्रलक्षणेन कर्मणा भ्रतो रजकस्य च व्याप्यमानत्वात् सम्प्रदानसंज्ञा कुतो न भवति ? इत्याह—		॥१७११२१॥
६६१	“कुड्डुहे०”—ननु कोपः-क्रोध एवेति भेदाभावात् कथं पौर्वापर्यम् ? उच्यते—		॥१७११४२॥
६६२	“नोपसर्गा०”—ननु केनाऽत्र द्वितीया ? यदि “लक्षणवीप्स्येत्यम्भूतेष्वभिना” ॥२।२।३६॥ इति सूत्रेण चेत्,		॥१७२।१८॥
६६३	” —अथ यदा मैत्रादेर्लक्षणाद्यर्थेनाऽभिना योगस्तदा कृधादीनामुपसर्गपरत्वाभावात् प्रतिषेधाप्रवृत्तेः सम्प्रदानाच्च “लक्षणवीप्स्ये०” इति द्वितीया वा स्यात् सम्प्रदान-चतुर्थी वा ? इति चेत्, उच्यते—		॥१७२।२३॥
६६४	“अपाये०”—अथाऽवधिग्रहणं किमर्थम् ? ‘न च ग्रामादागच्छति शकटेन’ इत्यपाये शकटस्याऽपि साधनत्वाद्पादानसंज्ञा प्राप्नोतीति वाच्यं, ‘धनुषा विध्यति’ इति चत्करणसंज्ञया वाधनात् ।		॥१७२।२६॥
६६५	” —नन्वागमने कंसपात्री साधनमेव न भवति, भुजिक्रियायां तु साधनमवधिभूता आधारभूता च, तत्र च परत्वादधिकरणसंज्ञेति ? नैवम्,		॥१७२।२८॥
६६६	” —नन्वत्राऽपि कारकत्वाभावात् संज्ञा न भविष्यति, अपायाभावाच्च, सत्येवाऽवधाव-पायो भवतीति पूर्वमुक्तत्वादिति चेत्, उच्यते—		॥१७२।३१॥
६६७	” —नन्वेवं तर्हि गतियुक्तेषु ‘धावतोऽश्वात् पतितः’ इत्यादिषु अपादानत्वं न स्यात्, ग्रामा-दागच्छति पर्वतादवरोहेतीत्यादिष्वेव स्यात्; अत्र हि धावन्नश्वः पातस्य निमित्तं, धावनं च गमनमेवेति नाऽस्त्यश्वस्याऽपायेनाऽनधिष्ठितत्वम् ? नैष दोषः,		॥१७२।३४॥
६६८	” —न हि गमनमात्रमपायः, किं तर्हि ? सावधिकं गमनं, तच्च देवदत्तकर्तृकं पातरूपं, तेन च धावतोऽप्यश्वस्याऽऽवेशाभावाच्च विरुध्यतेऽपादानसंज्ञेति ।		॥१७२।३६॥
६६९	” —एवं तर्हि ‘ग्रामान्नागच्छति’ इत्यत्र कथमपादानसंज्ञा ? उक्तस्य गमनस्याऽभावात् ? यस्यां हि सत्यामपादानसंज्ञा स्यात् प्रतिषिध्यतेऽत्र साऽऽगमनक्रिया, नैष दोषः ।		॥१७२।३७॥
६७०	” —ननु कुशलात् पचतीति कथं कुशूलस्याऽपादानसंज्ञा ? न हि पचनमपायो येनाऽपा-येऽवधि- स्यात् ? इत्याह—		॥१७२।४१॥
६७१	” —ननु कायसंसर्गपूर्वको विभागो मुख्यो बुद्धिपरिकल्पितस्तु गौणः, ततश्च गौणमुख्य-योर्मुख्यस्यैव परिग्रहात् साकाश्यकेभ्य इत्यादौ कारकशेषत्वात् पृष्ठी प्राप्नोति ? नैवम्;		॥१७२।४४॥
६७२	” —ननु यस्याऽऽत्मीया गावस्तस्य कथं यवा ईप्सिताः ? ईप्सितशब्दस्याऽभिप्रेतप-र्यायस्य लोके रूढत्वादिति चेत् ? उच्यते—		॥१७३।२२॥
६७३	” —यद्येवं कृपादन्धं वारयतीत्यत्र न प्राप्नोति, न हि तस्य कृप एवेप्सितो वारणक्रि-याया आशुमिष्टत्वात् ?—		॥१७३।२४॥
६७४	” —ननु सतो जन्माऽयोगादसतश्च कर्तृत्वासम्भवात् कथं शृङ्गाच्छरो जायत इत्यादि-प्रयोगः ? नैष दोषः—		॥१७३।३५॥
६७५	” —नन्वेवं तर्हि विवक्षान्तरे विभक्त्यन्तरे प्राप्नोति यन्नान्तरमनारम्भमाणस्येति चेत् ? सत्यम्;		॥१७४।२१॥
६७६	“क्रियाऽऽश्र०”—न च कर्तृकर्मणोः कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यां वाधितत्वान्मुख्यासम्भवात् गौणस्वीकार इति वाच्यम् ?—		॥१७४।२८॥
६७७	” —नन्वेवं क्रियाऽऽश्रयस्योपकारकत्वात् क्रियासिद्धौ व्यापाराभावादकारकत्वात् संज्ञाया अभाव इति चेत् ? उच्यते—		॥१७४।३२॥
६७८	” —नन्वाश्रय आधारे भवति, आश्रयश्च संयोगसमवायाभ्यां, न चाऽवस्थितिक्रिया-श्रयेण घोषादिना गङ्गादेः संयोगसमवायौ स्तः ? नैष दोषः,		॥१७४।४३॥
६७९	“नाम्नः प्र०”—ननु द्रव्येऽपि नामार्थे विशेषाभावादर्थशब्दस्य वस्तुपर्यायस्याऽपि सम्भवात् ‘वृक्षः’, ‘लृक्षः’ इत्यत्राऽपि बहुवचनप्रसङ्गः, बहवस्तेऽर्था मूलं स्कन्धः पलाशमिति ?		॥१७५।१८॥

- क्र० सूत्रम् । शब्दा । पृ० प०
- ६२९ “गतिवो०”—न चैकेन लक्षणेन नियमद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वादर्शित्यं सति प्राकनस्याऽसत्त्वात् कथं नियमद्वयलाभ इति चाच्यं, अणिग्रहणात् । ॥१६३११॥
- ६३० “भक्षोर्हि०”—ननु हिंसा हि प्राणव्यपरोपलक्षणा, सा च प्राणिन्येव सचेतने सम्भवति, कथमचेतने सस्ये?,— ॥१६३१२॥
- ६३१ ” —ननु पुत्रभक्षणस्य हिंसात्मकत्वाद्भक्षयति पुत्रान् गार्ग्येति कथं कर्मत्वाभावः?, इत्यत आह— ॥१६३१३॥
- ६३२ ” —न ह्यत्र गार्गी स्वयं पुत्रान् भक्षयति, न च तामन्यस्तत्र प्रयुक्ते, अपि त्वेवमाक्रोशति भक्षय पुत्रानिति भक्षिर्न हिंसाविषयः । ॥१६३१३॥
- ६३३ ” —ननु भक्षयति पिण्डं शिशुनेत्यादौ मा भूदनेन कर्मत्वं, भक्षयतेराहारार्थत्वात् पूर्वेण कस्मान्न भवति?, इत्याह— ॥१६३१३॥
- ६३४ “वहेः प्र०”—नन्वेवं विधौ सति नियमो नोपपद्यते?, उच्यते— ॥१६३१४॥
- ६३५ “दृश्यमि०”—ननु विकल्पो हि प्राप्ते कार्ये पक्षे निवृत्तिफलः, अप्राप्ते च प्रवृत्तिफलस्तत्राऽयं प्राप्ते च स्यादप्राप्ते वेत्यत आह— ॥१६३१५॥
- ६३६ “स्मृत्यर्थ०”—ननु कर्माऽविवक्षायां पक्षे मापाणामश्रीयादित्यादिचत् “शेषे” पृष्ठी सिद्धेव तत्किमनेन?, सत्यम्;— ॥१६५१५॥
- ६३७ ” —ननु इदं कर्म भवति कर्मभावजनितसंबन्धसम्बन्धि च, तत्र कर्माविवक्षायां “शेषे” इत्यनेनैव पृष्ठी;— ॥१६५१२॥
- ६३८ ” —न हि काष्ठसंश्लेषहेतोर्जतुनः संश्लेषे जत्वन्तरमपेक्षयामिति तत्राऽपि स्थित्यादिक्रियाऽस्तीत्यपरे । ॥१६५१२॥
- ६३९ ” —न च कर्मभावनिवर्तनेन पृष्ठां प्रवर्तितायामपि तत्कर्मप्रतिपत्तिसम्बन्धिभावो हि ततः प्रतीयते, अतो विवक्षाभेदात् द्वितीयादेः पृष्ठादेश्च सिद्धेरयं विकल्पोऽनर्थकः?, इति पृच्छति— ॥१६५१२६॥
- ६४० “जासनाट०”—ननु च जसनटक्रथेति घातवः पठ्यन्ते, तत्र निर्देशे तथैव निर्देष्टव्यम्?, इत्यत आह— ॥१६६१२५॥
- ६४१ ” —ननु चौरस्योक्ताथयतीति कथमाकारो घटादित्वाद्घटादिहस्वेनैव भवितव्यम्?,— ॥१६६१२९॥
- ६४२ ” —न च णिग विनाऽस्य कर्माऽस्ति, अकर्मकत्वात्; स च यदि सर्वत्र स्यादस्य घटादित्वमनर्थकमिति कर्माभाव एव न भवति?, इत्याह— ॥१६६१३१॥
- ६४३ ” —ननु हिंसाया रुजारूपत्वात् “रुजार्थस्या०” इत्यनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति किमर्थमिदम्?, यदि जासनाटक्राथेत्याकारार्थं यत्राऽऽकारस्तत्रैव यथा स्यादिति, तथापि पिप्पग्रहणमनर्थकम्?, इत्याह— ॥१६६१३३॥
- ६४४ “विनिमेय०”—ननु पणव्यवहोरित्यत्र विनिमेयद्यूतपणवत् समाहारद्वन्द्वादेकवचनं किमिति वचनभेदाभावाय नोपादीयते?, इत्याह— ॥१६७१२४॥
- ६४५ “करणं च”—ननु च करणं कथं कर्म भवति?, भिन्नौ हि तौ स्वभावौ प्रकृष्यमाणव्यापारस्तत्क्रियमाणता चेति?,— ॥१६७१३८॥
- ६४६ ” —अथ करणत्वयुक्तं भवतीति विज्ञायते, तदा सर्वद्रव्याणां सर्वकारकशक्तियुक्तत्वात् द्रव्यान्तरवदस्य कर्मत्वात् वचनमिदमनर्थकमिति चेत्?, उच्यते— ॥१६७१३९॥
- ६४७ ” —ननु अक्षा दीव्यन्ते इत्यादौ द्वितीयादयः कथं न भवन्ति?, इत्याह— ॥१६७१४३॥
- ६४८ ” —अथाऽक्षान् दीव्यतीत्यत्र सत्यपि संज्ञाद्वयसमावेशे परत्वात् करणत्वनिमित्त्यावृत्तीयैव भवितव्यम्?, नैवम्,— ॥१६८१३॥
- ६४९ ” —नन्वेवमक्षा दीव्यन्त इत्याऽपि अकर्मकव्यपदेशव्यावृत्त्यर्थत्वात् कर्मसंज्ञा सावकाशा, अक्षा देवना इत्यत्र च अनर्थात्त्वात् करणसंज्ञा, अक्षान् दीव्यतीत्यत्र तु कर्मकरणत्वस्वभावत्वाद्दक्षादेर्द्वितीयावृत्तीयाप्राप्तौ स्पष्टत्वात् परत्वाच्चृतीयैव प्राप्नोति?, इत्याक्षिपति । ॥१६८१२१॥
- ६५० “अधेः शी०”—अथ किमर्थमिदमारभ्यते?, यावताऽकर्मका अपि घातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति ॥१६८१३१॥
- ६५१ “उपान्व०”—ननु स्थानार्थस्यैव वसेर्ग्रहणमिष्यते, तेन ग्रामे तिष्ठतीत्यत्राऽयं ग्राममुपवसतीति प्रयोगः, अस्थानार्थत्वे तु ग्रामे उपवसतीति तदेतत्कथम्?, उच्यते— ॥१६८१३८॥
- ६५२ “कालाऽध्व०”—नन्वेवमनेन व्याप्तौ कर्मसंज्ञाया “कर्मणि” इति द्वितीयायाः सिद्धौ “कालाऽध्वनोर्व्याप्तौ” इति सूत्रं किमर्थम्?, इत्याशङ्कं तन्मतेनैव परिहरति— ॥१६९१४३॥
- ६५३ “साधक०”—ननु सामग्रीत क्रियासिद्धिस्तत्र कथं किञ्चित्सातिशयोपकारकं किञ्चिद्विपरीतम्?, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि सर्वेषां सामान्यमवगम्यते तस्मात् क्रियासिद्धौ सामकतमस्य सम्भवो नाऽस्तीति सम्भवं कल्पनया दर्शयति । ॥१७०१२९॥



क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
६५४	“साधक०”—यथा-अभिरूपाय कन्या देयेति लौकिके वाच्येऽभिरूपग्रहणं प्रकर्षपरिग्रहार्थं, तत्किमर्थं तमग्रहणम् ? इत्याह—		॥१७०१२७॥
६५५	” —ननु तरतमयोगो नाऽस्तीति कथं केवलयोः प्रत्यययोः प्रयोगः ? उच्यते—		॥१७०१३४॥
६५६	“कर्माभि०”—ननु कथं कर्मणः करणत्वम् ? उच्यते—		॥१७०१३८॥
६५७	” —एवमपि ‘कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे सम्प्रत्ययो भवति’ इति न प्राप्नोति ? नैवम्,		॥१७०१४४॥
६५८	” —किञ्च “कर्तृव्याप्यं कर्म” इत्युच्यते, कथं च नाम क्रिया क्रियाया व्याप्या स्यादिति चेत् ? अत्रोच्यते—		॥१७०१४६॥
६५९	” —यद्येवं ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामादेरपि क्रियाऽभिसम्बन्धमानस्य सम्प्रदानसंज्ञा-प्रसङ्गः ? नैप दोषः—		॥१७१११७॥
६६०	” —ननु घृतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादौ दीयमानपृष्ठवस्त्रलक्षणेन कर्मणा घृतो रजकस्य च व्याप्यमानत्वात् सम्प्रदानसंज्ञा कुतो न भवति ? इत्याह—		॥१७१२२॥
६६१	“कुहुहे०”—ननु कोपः-क्रोध एवेति भेदाभावात् कथं पौर्वापर्यम् ? उच्यते—		॥१७११४२॥
६६२	“नोपसर्गो०”—ननु केनाऽत्र द्वितीया ? यदि “लक्षणवीप्येत्यम्भूतेष्वभिना” ॥२१२३६॥ इति सूत्रेण चेत्,		॥१७२११८॥
६६३	” —अथ यदा मैत्रादेर्लक्षणाद्यर्थेनाऽभिना योगस्तदा कुधादीनामुपसर्गपरत्वाभावात् प्रतिषेधाप्रवृत्तेः सम्प्रदानाच्च “लक्षणवीप्ये०” इति द्वितीया वा स्यात् सम्प्रदान-चतुर्थी वा ? इति चेत्, उच्यते—		॥१७२१२३॥
६६४	“अपाये०”—अथाऽवधिग्रहणं किमर्थम् ? ‘न च ग्रामादागच्छति शकटेन’ इत्यपाये शकटस्याऽपि साधनत्वादपादानसंज्ञा प्राप्नोतीति वाच्यं, ‘धनुषा विध्यति’ इति वत्करणसंज्ञया वाधनात् ।		॥१७२१२६॥
६६५	” —नन्वागमने कंसपात्री साधनमेव न भवति, भुजिक्रियाया तु साधनमवधिभूता आधारभूता च, तत्र च परत्वादधिकरणसंज्ञेति ? नैवम् ;		॥१७२१२८॥
६६६	” —नन्वत्राऽपि कारकत्वाभावात् संज्ञा न भविष्यति, अपायाभावाच्च, सत्येवाऽवधाव-पायो भवतीति पूर्वमुक्तत्वादिति चेत्, उच्यते—		॥१७२१३१॥
६६७	” —नन्वेवं तर्हि गतियुक्तेषु ‘धावतोऽश्वात् पतितः’ इत्यादिषु अपादानत्वं न स्यात्, ग्रामा-दागच्छति पर्वतादवरोहतीत्यादिष्वेव स्यात्, अत्र हि धावन्नश्वः पातस्य निमित्तं, धावनं च गमनमेवेति नाऽस्त्यश्वस्याऽपायेनाऽनधिष्ठितत्वम् ? नैप दोषः,		॥१७२१३४॥
६६८	” —न हि गमनमात्रमपायः, किं तर्हि ? सावधिकं गमनं, तच्च देवदत्तकर्तृकं पातरूपं, तेन च धावतोऽप्यश्वस्याऽऽवेशाभावात् विरुध्यतेऽपादानसंज्ञेति ।		॥१७२१३६॥
६६९	” —एवं तर्हि ‘ग्रामान्नागच्छति’ इत्यत्र कथमपादानसंज्ञा ? उक्तस्य गमनस्याऽभावात् ? यस्या हि सत्यामपादानसंज्ञा स्यात् प्रतिषिध्यतेऽत्र साऽऽगमनक्रिया, नैप दोषः ।		॥१७२१३७॥
६७०	” —ननु कुशलात् पचतीति कथं कुशलस्याऽपादानसंज्ञा ? न हि पचनमपायो येनाऽपा-येऽवधिः स्यात् ? इत्याह—		॥१७२१४१॥
६७१	” —ननु कायसंसर्गपूर्वको विभागो मुख्यो बुद्धिपरिकल्पितस्तु गौणः, ततश्च गौणमुख्य-योर्मुख्यस्यैव परिग्रहात् साकाश्यकस्य इत्यादौ कारकशेषत्वात् षष्ठी प्राप्नोति ? नैवम्,		॥१७२१४४॥
६७२	” —ननु यस्याऽऽत्मीया गावस्तस्य कथं यवा ईप्सिताः ? ईप्सितशब्दस्याऽभिप्रेतप-र्यायस्य लोके रूढत्वादिति चेत् ? उच्यते—		॥१७३१२२॥
६७३	” —यद्येवं कृपादन्धं वारयतीत्यत्र न प्राप्नोति, न हि तस्य कृप एवेप्सितो वारणक्रि-यया आहुमिष्टत्वात् ?,—		॥१७३१२४॥
६७४	” —ननु सतो जन्माऽयोगादसतश्च कर्तृत्वासम्भवात् कथं शृङ्गाच्छरो जायत इत्यादि-प्रयोगः ? नैप दोषः—		॥१७३१३५॥
६७५	” —नन्वेवं तर्हि विवक्षान्तरे विभक्त्यन्तरं प्राप्नोति यत्नान्तरनारम्भमाणस्येति चेत् ? सत्यम् ;		॥१७३१२१॥
६७६	“क्रियाऽऽश्र०”—न च कर्तृकर्मणोः कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यां बाधितत्वान्मुख्यासम्भवात् गौणस्वीकार इति वाच्यम् ?,—		॥१७३१२८॥
६७७	” —नन्वेवं क्रियाऽऽश्रयस्योपकारकत्वात् क्रियासिद्धौ व्यापाराभावादकारकत्वात् संज्ञाया अभाव इति चेत् ? उच्यते—		॥१७३१३२॥
६७८	” —नन्वाश्रय आधारो भवति, आश्रयश्च संयोगसमवायाभ्यां, न चाऽवस्थितिक्रिया-श्रयेण घोषादिना गङ्गादेः संयोगसमवायौ स्तः ? नैप दोषः,		॥१७३१३३॥
६७९	“नाम्नः प्र०”—ननु द्रव्येऽपि नामार्थं विशेषाभावादर्थशब्दस्य वस्तुपर्यायस्याऽपि सम्भवात् ‘वृक्षः’, ‘लक्ष्म’ इत्यत्राऽपि बहुवचनप्रसङ्गः, बहवस्तेऽर्थाः मूलं स्कन्धः पलाशमिति ?		॥१७५१२८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
६८०	“नाम्न प्र०”—एवं तर्हि येष्वर्थेषु स्यादयो विधीयन्ते, तेषु केषु च स्यादयो विधीयन्ते ? एकत्वादिषु ।		॥१७५।१९॥
६८१	” —न च स्कन्धशाखाफलपलाशादिरूपेणाऽनेकत्वेऽपि घृक्षादिशब्दरूपं तथाऽऽचष्ट इति न तस्य सा संख्या, इति बहुवचनं न भवतीति मनस्यनुसन्धायाऽऽह—		॥१७५।२०॥
६८२	” —यद्येवं ‘एकद्विचहौ’ इति प्रकृत्यर्थविशेषणत्वात् कः प्रत्ययार्थः ? त पवेति ब्रूमः; ‘अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थं भवन्ति’ इति ।		॥१७५।२१॥
६८३	” —यद्येवं बहुत्वस्यैकत्वात् सर्वदा वहाविति भाव्यं, कथं बहुषु बहुवचनमिति प्रयोगः ?, उच्यते—		॥१७५।२२॥
६८४	” —ननु लौकिकादेव प्रयोगादेकत्वादिषु एकवचनादीनां व्यवस्था भविष्यति किमर्थमे- कद्विवहाविति ? उच्यते—		॥१७५।२३॥
६८५	” —अथ शास्त्रेऽनुपाचोऽप्यर्थः प्रयोगादेव व्यवस्थाप्यते, यतः स्यादयस्तावत्स्वार्थं विधीयमानाः पञ्चको नामार्थ इति दर्शने संख्यायां सिद्धाः ।		॥१७५।२४॥
६८६	” —न चैवं ब्राह्मणाः सङ्घ इत्यत्र ब्राह्मणसङ्घरूपस्याऽर्थस्य ब्राह्मणरूपेण बहुत्वात् सङ्घरू- पेण चैकत्वात् संख्याद्वययोगाद्वचनव्यतिकरप्रसङ्ग इति वाच्यम्,		॥१७५।२५॥
६८७	” —ननु नामाऽर्थव्यतिरेकेण अन्येषामेकत्वादीनां विशेषणीभूतानामभावादेक इत्यादौ प्रथमाया अभावः ? अत्रोच्यते—		॥१७६।२६॥
६८८	” —एवं तर्हि षष्ठी प्राप्नोति, कर्माद्यभावो हि शेषः ?,		॥१७६।२७॥
६८९	” —ननु चाऽव्ययेभ्य एकत्वाद्यभावाद्नेन प्रथमा न प्राप्नोति ? सत्यम्;		॥१७७।१॥
६९०	” —नन्वर्थमात्रे प्रथमेत्युक्तवान्मात्रग्रहणस्य चाऽधिकार्थव्यवच्छेदकत्वाद्द्वीरः पुरुष इत्यादौ सामानाधिकरण्यात् विशेषणविशेष्यभावस्याधिकस्य प्रतीतेः प्रथमा न प्राप्नोति ?,—		॥१७७।२३॥
६९१	” —ननु वर्णस्य निरर्थकत्वाद्भानुषाक्यार्थयोश्चाऽसत्त्वरूपत्वात् संख्यायाः सत्त्वधर्मरूप- त्वेन तद्व्यवभावात् सत्त्ववाचिनो नाम्न एव प्रथमा भविष्यति, किं नाम्न इत्यनेन ?, उच्यते—		॥१७७।२४॥
६९२	” —न चाऽत्र काकदन्तपरीक्षायामादरः, किमत्र युक्तं दर्शनम् ?,—		॥१७७।२५॥
६९३	” —यदा त्वयं न्यायोऽङ्गीक्रियते ‘संख्याकर्मादयो विभक्तिवाच्याः स्त्रियां वाऽभिधे- यायां स्त्रीप्रत्ययः’ तदा विभक्तिमन्तरेण स्त्रीप्रत्ययेन च विना कथं संख्यादि- प्रतिपत्तिः स्यात् ?,—		॥१७७।२६॥
६९४	” —ननु च प्रत्ययमन्तरेणाऽपि वर्तन्ते—गर्गाः, वत्साः, विदाः, उर्वा इति; तत्र यदि संख्याकर्मादयो विनैव विभक्तेर्नाम्नोऽपि प्रतीतेर्नामार्थ इति व्यवस्थाप्यते, अप- त्यार्थोऽपि तर्हि कदाचित्प्रकृतिमात्रादेव प्रतीयत इति सोऽपि प्रकृत्यर्थ एव स्यात् ।		॥१७७।२७॥
६९५	“आमन्थे”—नन्वामन्त्रविषयस्य देवदत्तादेः सत्त्वभूतस्याऽऽमन्थस्यैकत्वादिसंख्यायोगाच्चद्वा- चिनो नाम्नः पूर्वैणैव प्रथमा भविष्यति किमर्थमिदमारभ्यते ? इत्याह—		॥१७८।२८॥
६९६	“गौणात्स०”—नन्वन्तराशब्दः स्त्रियामावन्तोऽप्यस्ति अव्ययं च, एवमन्तरेणेत्यपि अन्तरशब्दात् तृतीयस्या भवत्वव्ययं च; तत्र विशेषानुपादानात् सामान्येनोभयस्यापि ग्रहणं कुतो न भवति ? इत्याह—		॥१७८।२९॥
६९७	” —नन्वन्तराऽन्तरेणशब्दाभिधेयस्य मध्यस्याऽवधिसव्यपेक्षत्वाद्गार्हपत्याहवनीययोर्म- ध्यस्य चाऽऽधारशक्तिप्राधान्यस्य मध्यस्य ताभ्यामभिधेयत्वात्तस्य च प्रधानभूता- धेयाधीनत्वात्तत्र यथा मध्यावच्छेदकाभ्यां षष्ठीमपोद्य द्वितीया विधीयते, तथा मध्येनाऽवच्छिद्यमानादाधेयादपि कुतो न विधीयते ? इत्याह—		॥१७९।१९॥
६९८	“लक्षण०”—नन्वभ्यादयः सम्बन्धद्योतका, तत्कसिन्नत्र सम्बन्धेऽभि. ? इत्याह—		॥१८०।१९॥
६९९	” —अथ कथं यदत्र मामभिष्यात् इत्यत्र द्वितीयाप्रयोगः ? अत्राऽभिरस्तिना युक्त उपस- र्गोऽत एव “प्रादुरुपसर्गा” ॥२।३।५८॥ इत्यस्ते. पत्वम् ? उच्यते—		॥१८०।२१॥
७००	” —ननु “लक्षणवीप्स्येत्यम्भूतेषु०” इति बहुवचनं किमर्थम् ? लाघवार्थमेकवचनमेव निर्दिश्यताम् ? इत्याह—		॥१८०।२४॥
७०१	“हेतुसहा०”—ननु तुल्ययोगाद्यर्थे सहादय एव शब्दा वर्तन्ते न पर्वतादिशब्दा इति कथं ततो द्वितीया ? इत्याह—		॥१८०।३१॥
७०२	” —ननु हेतोरपि लक्षणत्वात् तत्र पूर्वैणैव द्वितीया भविष्यति, किं हेतुग्रहणेन ? नैवम्, ॥१८०।३१॥		॥१८०।३१॥
७०३	” —ननु लक्षणेन हेतुव्याप्तौ हेत्वहेतुविषयत्वाद्द्विलक्षणस्य नाऽव्ययं तदेव लक्षणं येन पुनः पुनर्लक्ष्यते, किं तर्हि ? यत्सदृशपि निमित्तत्वाय कल्पते, तदपि लक्षणं भवति ।		॥१८०।३३॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
७०४	“कर्मणि”—अथेह कस्मान्न भवति—क्रियते कटः ? , कृतः—कटः ? ; शक्तेन कीतः—शत्यः पटः ? , आरूढो यानरो यं स आरूढवानरो वृक्ष इति ?,—		॥१८११६॥
७०५	” —यद्येवं कटं करोति भीष्ममुदार दर्शनीयमिति भीष्मादिविशेषणविशिष्टस्य कटस्य करोतिक्रियया व्याप्यत्वात् कर्मत्वं तच्च कटशब्दादेवोत्पन्नया द्वितीययाऽभिहितमिति भीष्मादिभ्यो द्वितीया न प्राप्नोति ? , यथा कृतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय इति करोते. कप्रत्ययेनेति ? , नैवम् ;—		॥१८१८॥
७०६	“उत्कृष्टे०”—ननु “लक्षणवीप्से०” इत्यादिसूत्रचतुष्टयी किमर्थमारभ्यते ? , यतोऽप्रयुज्यमानां काञ्चित्सकर्मिकां क्रियामाश्रित्य “कर्मणि” इत्यनेनैव द्वितीया भविष्यति ?,—		॥१८११७॥
७०७	“कर्मणि”—ननु दर्शितेषु नोक्तार्थत्वेन मत्वर्थीयाद्यभावः किन्त्वन्यथा, तथाहि—		॥१८११६॥
७०८	” —न चाऽत्राऽप्यपवादत्वात् श्रादयः शवादीनां वाधका इत्यन्यथासिद्धत्वाद्दुक्तत्वस्य दृष्टान्ताभावादहेतुत्वमिति वाच्यम् ।		॥१८११७३॥
७०९	” —अत्रानभिहिताधिकारवादी प्रत्यचतिष्ठते—किमिहाऽकर्तव्योऽनभिहिताधिकारः क्रियते ? , आहोस्विदपूपौ द्वावित्यभिहितेऽपि प्रत्ययेन द्वित्वे द्विशब्दप्रयोगदर्शनात् श्रादिभिरभिहिते शवादिनिवृत्त्यर्थोऽन्यत्र कर्तव्य. सन्न क्रियत इति ? , उच्यते—		॥१८११४५॥
७१०	” —न च “कर्मणि” इत्यादौ कर्मादीनां श्रुतत्वात्तेषामेव विभक्त्यर्थत्वेन भाव्यमिति वाच्यम् ?,—		॥१८२१०॥
७११	” —न च वृक्षः, प्लक्ष इत्यादौ अनभिहिते सावकाशत्वात् कथं वचनसामर्थ्यमिति वाच्यम् ? ,—		॥१८२१७॥
७१२	” —ननु च यदि कर्मादयो विभक्त्यर्थास्तदा यथोक्तं—कृतः कटो भीष्म इत्यादौ केन कर्मणोऽभिहितत्वाद्वितीया न भवति, एवं कटं करोति भीष्ममित्यादौ भीष्मादिविशेषणविशिष्टत्वात् कटादुत्पन्नया द्वितीययोक्तत्वात् भीष्मादिभ्यः कर्मणि द्वितीयस्या अप्रसङ्गः, इत्येकं सन्धिस्सतोऽन्यत्र उच्यते इति ।		॥१८२१८॥
७१३	” —ननु यद्यपि गुणद्रव्ययोः करोतिना सम्बन्धस्तथापि व्याप्यमित्यत्र विशब्दश्रुत्या प्रकर्षस्याऽऽश्रितत्वात् द्रव्यस्यैव क्रियान्तरे उपयोक्ष्यमाणत्वात् व्याप्यत्वात् कर्मत्वं न गुणस्येति कथं भीष्मादिभ्यो द्वितीया ? , उच्यते—		॥१८२१२५॥
७१४	” —ननु यस्याऽपि ‘कर्मादयो विभक्त्यर्थाः’ तस्याऽप्ययं दोषो यतस्तेनाऽपि “कर्मणि” इत्यादीनामेकद्विचहावित्यनेनैकवाक्यताऽभ्युपगमन्त्या, गुणप्रधानभाव एव तस्य तु विपरीतः ।		॥१८२१३२॥
७१५	” —एवं चैकत्वादिविशिष्टस्य कर्मणो वाचिका द्वितीया, तच्च नामैवाऽभिहितं, नामार्थव्यतिरेकेणान्येषामेकत्वादीना विशेषणीभूतानामभावादेक इत्यादौ भवतोऽपि प्रथमाया अभाव इति ? , अत्रोच्यते—		॥१८२१३३॥
७१६	” —अन्या अपि कस्मान्न भवन्ति ? , कर्मादीनामभावात्, कर्मण्येव द्वितीयेत्येवं द्वितीयादीना नियतत्वात्, तर्हि षष्ठी प्राप्नोति कर्माद्यभावस्य शेषरूपत्वात् ? , नैवम् ;—		॥१८२१४१॥
७१७	” —यदि वा द्रव्यस्य क्रियास्तु साक्षादुपयोगादस्तु कटस्यैव कर्मत्व, भीष्मादीनां तु ‘न केवला प्रकृति. प्रयोक्तव्या’ इति नियमात्,—		॥१८३११॥
७१८	” —कथं तर्हि कृतं पश्य ? , आहतमाहर ? , कर्त्रा क्रियते ? , दात्रेण लुनाति ? , दानीयाय ददाति ? , भीमाद्विभेति ? , प्रासादे प्रसीदति ? , शयने शेते ? , इत्यादिषु कादिभिरभिहितेषु कर्मादिषु द्वितीयादयो भवन्ति ? ; उच्यते—		॥१८३१५॥
७१९	” —ननु द्रव्यस्य कारकत्वात्तस्य चैकत्वात् युगपदुद्भूतत्वादिविरुद्धधर्मासम्भवस्योक्तत्वात् कथमेष परिहार इति ? , उच्यते—		॥१८३१३६॥
७२०	” —कथं पुनर्भाष्यते शक्ति. कारकं न द्रव्यमिति चेत् ? , उच्यते—		॥१८३१३७॥
७२१	” —नन्वेकस्याऽपि द्रव्यस्य स्वरूपादिभिन्नक्रियायां व्यापारवत्तयाऽनेककर्मादिशक्त्यधिष्ठानत्वात्तदभिधानाय च द्वितीयादिप्रवृत्तेः प्रतिपादितत्वादोदनः पक्त्वा भुज्यत इति भुजिप्रत्ययेन कर्मशकेरभिहितत्वेऽपि पचिप्रत्ययेनाऽनभिहितादोदनाद्वितीया कस्मान्न भवति ? , इत्याह—		॥१८३१४१॥
७२२	” —ननु गौणान्नामः कर्मणि द्वितीयेत्युक्तं, अजां नयति ग्राममित्यादौ तु ग्रामाद्यपेक्षयाऽजादेः प्रधानत्वात् न ततो द्वितीया प्राप्नोति ? , इत्याह—		॥१८३१४५॥
७२३	” —ननु यदि त्यादिरुत्तद्धितसमासैरभिहितत्वात् कर्मादिषु द्वितीयादयो न भवन्तीत्युच्यते, तदा कृतपूर्वा कटमित्यादौ कृतादिशब्देनैककटादिकर्मणोऽभिहितत्वात् कथं द्वितीयेति ? , उच्यते—		॥१८३१४६॥
७२४	” —अपि च करोतेर्व्याकरणेनाऽभिसम्बन्ध इति द्वितीया भवति ।		॥१८४१२०॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
७२५	“क्रियावि०”—ननु रूपाद्युपाधिवत् क्रिया द्रव्यस्यैवोपाधिः, न चोपाधेरुपाध्यन्तरसम्भवः; ‘निर्गुणा गुणाः क्रिया च’ इति वचनात् । तत्कथं क्रियाया विशेषणसम्भवः ? सत्यमेतत्किन्तु; ॥१८४२६॥		
७२६	” —ननु चाऽसत्त्वभूता क्रिया, तदुपाधिस्तु सुतरामसत्त्वभूतः; तत्कथं सत्त्वाभिधायिना नाम्ना प्रतिपद्यत इति ? उच्यते—		॥१८४३१॥
७२७	” —कथं पुनरसत्त्वभूतोऽर्थः सत्त्वरूपेण प्रकाश्यत इति चेत् ?,—		॥१८४३३॥
७२८	” —ननु ‘क्रियाव्ययविशेषणे’ इति लिङ्गाङ्कारिकावचनाच्चपुंसकत्वमेकत्वं च क्रियाविशेषणानामभिहितं, तत्र “नाम्नः प्रथमै०” इति सूत्रेण यथा प्रथमा विहिता समेभ्योऽव्ययेभ्यस्तथा क्रियाविशेषणादपि प्रथमा ।		॥१८४३६॥
७२९	” —ननु शोभनं पकेत्यादौ “कर्मणि कृत.” इत्यनेन कर्मणि पठ्युच्यते, शोभनमिति क्रियाविशेषणत्वेन कृदन्तस्य कर्म, तद्धि कृदन्तधातुवाच्यायाः क्रियाया विशेषणम् ?,—		॥१८४४१॥
७३०	” —न च सा क्रियाऽऽत्मन एव कर्माऽपि नु करोतीति क्रियान्तरस्य, सा यस्याः क्रियायाः कर्म तस्या एवेदमपि कर्म तत्सामानाधिकरण्याद्ब्रह्मस्य कर्मत्वमिति क्रियाविशेषणे षष्ठी न भवति ?, नैवम्,		॥१८४४२॥
७३१	” —नन्वस्तु प्रथमा, प्रथमा-द्वितीयैकवचनयो रूपं प्रत्यविशेष इत्युक्तत्वादोपाभावात् ?, नैवम्;		॥१८४४७॥
७३२	“कालाऽध्व०”—न च कालाऽध्वनो. कर्मत्वेन द्वितीयैव भाव्यं किमर्थमेतदिति वाच्यं “कालाऽध्वभावदेशं चाऽकर्मं चाऽकर्मणाम्” इत्यकर्मकधातुसम्बन्धित्वेनाऽऽधारस्य कर्मसंज्ञाविधानात् सकर्मकधातुसम्बन्धित्वेऽनयोरुक्तेन प्रकारेण षष्ठी सप्तमी वा स्यान्न कर्मत्वम् ?, इत्याह—		॥१८५१२॥
७३३	“सिद्धौ०”—ननु यदि क्रिया सिद्धिं व्यभिचरेत्तदा युज्येत एतद्विशेषणं क्रियाव्याप्तेः, न च काचित्क्रियाऽपरिसमाप्ताऽस्ति ?, सत्यमेतत्,		॥१८५३५॥
७३४	“हेतुकर्त०”—ननु योग्यस्य हेतुत्वे सर्वमेव कारकं हेतुरेव स्यात्, अयोग्यस्याऽकारकत्वात्, तत्र कर्तृकरणयोस्तृतीयाविधानमनर्थकम् “हेतु०” इत्येव गतत्वात् ?,—		॥१८६१५॥
७३५	” —कर्मादौ च यद्यपि विभक्त्यन्तरं विहितं तथापि यत्र कारकत्वमेव भवति न कर्मादिविशिष्टरूपता तत्राऽपवादाभावात् तृतीया प्राप्नोति-नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोतीति ?, उच्यते—		॥१८६१६॥
७३६	” —ननु यूपाय दार्वित्यादौ तादर्थ्यलक्षणे सम्बन्धे हेतुहेतुमद्भावस्य प्रकारभूते प्रतिपाद्ये दारुणो हेतोस्तृतीया कस्मान्न भवति ?, उच्यते—		॥१८६२३॥
७३७	” —ननु कमण्डलवादिलक्षणस्य हेतुत्वमप्यस्तीति तद्वारेणैवं भविष्यति ?, उच्यते—		॥१८६२९॥
७३८	” —न चेह तत्प्रतीतिः केनचिदभिधीयते ।		॥१८६३०॥
७३९	” —अत्र विद्योतनं नाम प्रकारस्तमापन्नस्य कस्यचिन्न वृक्षो लक्षणं, “लक्षणवीप्येत्यम्भूते०” इत्यादिना प्रत्यादियोगे लक्षणे द्वितीयस्या अपवादरूपाया विद्यमानत्वात् कथं प्रत्युदाहरणमिति चेत् ?, सत्यमेवैतत्;		॥१८६३३॥
७४०	” —न च प्रत्ययलक्षणेन “अधातुविभक्ति०” इति नामसंज्ञाप्रतिषेधः, “नाऽऽमन्त्रे” इति नलोपप्रतिषेधज्ञापकात् ।		॥१८६३६॥
७४१	” —न च तृतीयस्या लुप् प्राप्नोति समासनामावयवत्वात्, कृते समासे तस्या उत्पादात् ?, नैव दोषः—		॥१८६३६॥
७४२	” —न चाऽत्रेत्यम्भूतस्य लक्षणं पृथग्भूतं, तथा ह्ययं प्राधान्येन लक्षणं निर्दिशति ।		॥१८६३८॥
७४३	” —ननु कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीदित्यादौ कमण्डलुना सह छात्रमद्राक्षीदिति सहाय्ययोगोपपत्तेः “सहाय्ये” इति तृतीया सिध्यति, तदर्थमनर्थकमित्यम्भूतग्रहणम् ?, इत्याह ॥१८६४१॥		॥१८६४१॥
७४४	” —ननु धान्येनाऽर्थो धान्येनाऽर्थोत्यादौ क्रियापदाश्रवणात् कर्तृकरणयोरभावात् षष्ठी प्राप्नोति ?, इत्याह—		॥१८६४३॥
७४५	” —ननु च विद्यमानतायामपि तुल्ययोगोऽस्त्येव, सत्तया सहोभयो. सम्बन्धात्, तथाहिसहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभीति सहैव दशभिः पुत्रैः सत्त्रिरिति शक्यं प्रतिपत्तुं, तत्र विद्यमानता चेति तुल्ययोगात् किं पृथग्गुपादीयते ?, उच्यते—		॥१८६४६॥
७४६	“सहाय्ये”—ननु पुत्रेण सहाऽऽगत इत्यत्र प्रधानकर्तरि कस्य विधानाच्चत्रकेन शब्देन मिश्रकृत्वाहणप्रधानयोः कर्त्रोरभिधानासम्भवात् प्रधाने कार्यसम्प्रत्यायात् प्रधानस्यैवाऽभिधानं न्याय्यमित्यप्रधानस्य प्रतीयमानगमिक्रियापेक्षकर्तृत्वाश्रयेण सिद्धा तृतीया । ॥१८७१५॥		॥१८७१५॥
७४७	” —ननु प्रधानयोरेव कर्तृकर्मणो. षष्ठीत्यप्रधाने कर्तरि तृतीयैव भविष्यति ?, नैवम्; ॥१८७१९॥		॥१८७१९॥
७४८	” —ननु तिलैर्मिथीकृत्य मापा उच्यन्त इत्यन्तरङ्गत्वात् पूर्वं मिश्रणक्रियाया तिलानां कर्णत्वात् पश्चाद्दहनक्रियाया कर्मत्वाच्चत्र करण इत्यनेन सिद्धा तृतीया ?, सत्यम्; ॥१८७२३॥		॥१८७२३॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०	
७४९	“सहाय्ये”	—ननु ‘उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी’ इति यथा गाः स्वामी व्रजति—अत्र व्रजिक्रियायां गवां कर्मत्वात् तन्निवन्धना द्वितीया, “स्वामीश्वरा०” इति प्राप्ते उपपदविभक्ती पृष्ठीसप्तम्यौ वाधित्वा प्रवर्तते ।		॥१८७।३१॥
७५०	”	—अथ शिष्येणोपाध्यायस्य गौरित्यत्र गवापेक्षया शिष्योपाध्यायो द्वावपि गुणौ, उपाध्यायापेक्षया तु शिष्यो गुणः, उपाध्यायस्य शब्देन गवा सम्बन्धात् शिष्यस्य तु सहयोगान्यथानुपपत्त्या, तत्राऽसति गौणादित्यधिकारे उभाभ्यामपि शिष्योपाध्यायाभ्या पृष्ठीं वाधित्वा तृतीया स्यादिति ?, नैवम्;		॥१८७।३३॥
७५१	“यद्भेदे०”	—ननु च प्रकृत्या दर्शनीयः, प्रायेण वैयाकरण इति युक्तः प्रयोगः, दर्शनीयत्वं हि प्रारुतं वैकृतं चाऽस्ति वैयाकरणत्वं प्रायिकमन्यच्च, तत्रेतरन्युदासार्थं प्रकृत्या प्रायेणेति चाऽर्थवत् ।		॥१८८।११॥
७५२	”	—काण इत्यादिप्रयोगे तु अक्षणेत्यादिरव्यभिचारेण प्रतीतेरयुक्तः प्रयोगोऽर्थस्य गतत्वात् ?, उच्यते—		॥१८८।१२॥
७५३	”	—यदि तद्वदिति नोपादीयते तदाऽत्राऽपि स्यात् ?, काणशब्देन हि अक्षिभेदेनाऽक्षि आख्यायते, तद्वद्ग्रहणे तु काणशब्देन नेहाऽक्षिमान् आख्ययत इति न भवति ।		॥१८८।१८॥
७५४	”	—न च गौणादित्यधिकारादिह न भवतीत्याशङ्कनीयम् ।		॥१८८।१९॥
७५५	”	—ननु किमर्थमिदमारभ्यते ?, यावता ‘अक्षणा काण’ इत्यादौ कृतभवत्यादिक्रियाध्याहारेणाऽक्षिशब्दादिभ्यः कर्तृकरणलक्षणैव तृतीया भविष्यति ?, इत्याह—		॥१८८।२१॥
७५६	”	—ननु मा भूत्कर्त्तृदौ तृतीया, इत्थम्भूतलक्षणत्वादक्ष्यादेर्भविष्यति ?, यदाह—“इत्थम्भूतस्य काणस्य, लक्षणं ह्यक्षि बुध्यते । ततस्तृतीया तेनैव, तत्र सूत्रेण सिध्यति” ॥१॥ अत्रोच्यते—		॥१८८।२४॥
७५७	“कृताद्यैः”	—कृताद्यो न गर्गादिगणवत् सन्निविष्टा पव केचन ?, किं तर्हि ?, कृतप्रकाराः शक्तितोऽवसेया इत्याह—		॥१८८।२८॥
७५८	”	—नाऽयं प्रश्ने किं शब्दः ?, किं तर्हि ?, निषेधे । यद्वा प्रश्नार्थवृत्तिरेवाऽयं, प्रकृमात्तु निषेधप्रतीतिः सामर्थ्याक्षिप्तलक्षणया न तु शब्दादिति युक्ततरः प्रश्नः ।		॥१८८।३०॥
७५९	“काले भा०”	—ननु यदि नक्षत्रवाचिन इति शब्दो लक्षणत्वान्न तदानीमसौ नक्षत्रं वक्ति, नक्षत्रोपाधिकं कालं, रूपसामान्याच्च तत्त्वाध्यवसायः ।		॥१८८।३३॥
७६०	“प्रसितो०”	—ननु प्रसितशब्दस्य गुणवचनस्य क्रियार्थस्य च सम्भवादुभयार्थस्याऽपि ग्रहणप्रसङ्गो, न च गुणवचनस्य तृतीयेष्यते, न च नियामकमस्ति ?, इत्याह—		॥१८९।२६॥
७६१	”	—ननु समाहारद्वन्द्वमाश्रित्य ‘प्रसितोत्सुकाववद्धेन’ इति निर्देष्टव्ये किमर्थो बहुवचननिर्देशः ?, इत्याह—		॥१८९।२८॥
७६२	“व्याप्ये द्वि०”	—ननु वीप्सायां तृतीयाविधानं, न च वीप्सा तृतीयान्तस्य दृश्यते, तत्कथमिदम् ?, इत्याह—		॥१८९।३३॥
७६३	“समो ह्यो०”	—नन्वत्र मातरमिति व्याप्यमस्येव, तत्कथमिदं व्याप्य इत्यस्याऽनुवर्तमानस्य स्यात्प्रत्युदाहरणमिति ?, अथ स्वरेणेत्यत्र न भवतीति चेन्न—अत्र तृतीयायाः सिद्धत्वात् ?, इत्याह—		॥१९०।१२॥
७६४	“दामः सं०”	—ननु सम इति परदिग्योगलक्षणा पञ्चमी, ततश्च “पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य” तच्चाऽनन्तरस्येति, “समो ह्योऽस्मृतौ” इत्यत्र व्यवधाने सति न भवति, तत्कथं सम्प्रयच्छत इति प्रशब्देन व्यवधाने विधिः ?, इत्याह—		॥१९०।२६॥
७६५	”	—नन्वनेन ब्राह्मणेन दानं प्रवृत्तमित्यादिवत् सम्प्रदानस्य करणत्वविवक्षायां ‘दास्या सम्प्रयच्छते’ इत्यादौ तृतीयोपपत्तेः किमर्थमिदमारभ्यते ?,—		॥१९०।३१॥
७६६	”	—यद्वा सहाय्ये इयं तृतीया, तथाहि—दास्यै स्वयं धनं ददाति साप्यात्मानं तस्यै ददातीति दानपूर्वके वा सम्भोगे दाम् वर्तते, दत्त्वा दास्या सह सम्भुक्ते इति । पवं चाऽत्र क्रियाव्यतिहारोपपत्तेस्तद्द्वारेणैव आत्मनेपदम् । अत्रोच्यते—		॥१९०।३२॥
७६७	“रुचिह्र०”	—कथं रोचते मम घृतं सह मुद्गैः शालयो दधिशर कुकुराश्च ?, घृतमेव ममाऽपि रोचते घृतशीतं च सशर्करं पयः ?,—		॥१९१।९॥
७६८	“तादर्थ्ये”	—ननु तस्यै इदं तदर्थमिति सत्या चतुर्थ्यां समासः, सति च समासे तदनुवादेन चतुर्थ्याविधानमितीतरेतराश्रयादप्रसिद्धिर्निर्देशस्येति ?, उच्यते—		॥१९१।१८॥
७६९	“रुचिह्र०”	—ननु भयत्रैकवचननिर्देशोऽपि साम्याद्यथासंख्यं भविष्यति किं बहुवचनेन ?, इत्याह—		॥१९१।२८॥
७७०	”	—ननु भूत्रयवागूशब्दयोर्द्वयोरपि सम्पद्यत इति क्रियया सह सम्बन्धाद्गौणत्वाभावात् कथं भूत्रशब्दाच्चतुर्थ्यां ?, उच्यते—		॥१९१।४०॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
७७१	“प्रत्यनो०”—ननु ‘श्रुचाडोऽर्थिनि’, ‘गुणाऽनोश्चाऽऽख्यातरि’, इत्येव किं न विन्यस्यते ? एवं हि विन्यस्यमाने प्रतेरिति पूर्वणोत्तरेण वाऽनुवृत्त्याऽभिसम्बन्धाद्भिः प्रतिग्रहणं न कर्तव्यं भवति, चर्णेन चैकेन लाघवमिति ? नैवम्,—		॥१९२।३२॥
७७२	“यद्दीक्ष्ये०”—ननु राधीक्ष्योर्वृद्धिदशनयोर्वर्तमानत्वात् कथं देवादिनिरूपणे वृत्तिः ? उच्यते—		॥१९२।४१॥
७७३	” —ननु यद्गुणान्मा भूत् शुभाशुभाच्चतुर्थी, यस्य तद्द्वैतं ततो मैत्रात् कस्मात् भवति ? भवति ह्यत्र मैत्रो दैववान्; उच्यते—		॥१९२।४५॥
७७४	“उत्पातेन०”—ननु कपिलादिविद्युद्धि. वातादीना जन्यमानत्वात्तेभ्यस्तादर्थ्य एव भविष्यतीति चेत् ? न;—		॥१९३।२३॥
७७५	“तुमोऽर्थे०”—यद्येवं पाकेनेत्यादौ क्रियायाः क्रियार्थाया उपपदभूताया विद्यमानत्वात् प्रत्ययस्य च भाववचनत्वात्ततः कृतो न चतुर्थी ? सत्यम्,—		॥१९४।१६॥
७७६	” —ननु च तुमर्थ इति समासनिर्देशो मात्रालाघवाय कृतो न कृतः ? इत्याह—		॥१९४।२०॥
७७७	“गतेर्नवा०”—कथं हि शब्दाना साधुत्वं युक्तिवलेन शक्य व्यवस्थापयितुम् ?,—		॥१९४।४३॥
७७८	“मन्यस्या०”—ननु नावन्नयोरत्यन्तोपकारकत्वात् कथमतिकृत्सनं गम्यते ? इत्याह—		॥१९५।२९॥
७७९	” —अथ ‘अनावादेः’ इत्येकवचनेऽपि सिध्यति बहुवचनं किमर्थम् ? इत्याह—		॥१९५।३७॥
७८०	“तद्भद्रा०”—ननु हितसुखाभ्या योगे पूर्वणैव चतुर्थीविकल्पः सिद्धः, किं पुनस्तदर्थेन तद्ग्रहणेन ? इत्याह—		॥१९६।२१॥
७८१	“शक्तार्थे०”—ननु कारकविभक्तिरपि क्रियापदापेक्षणीति कथमन्तरङ्गा स्यात् ? नैव दोषः;—		॥१९६।४१॥
७८२	“पर्यपा०”—अन्वयेन साहचर्यात् परेरपि वर्जनार्थस्य ग्रहणाद्वर्जनार्थाभ्या पर्यपाभ्या युक्तात् पञ्चमीत्य- र्थावसायात् कर्तुर्यदर्थं क्रियारम्भस्तत्प्रधानमिति व्याप्यस्य वर्ज्यमानस्य प्राधान्यात्ताभ्यां युक्तत्वात् पाटलिपुत्रादेः क्रियाव्याप्ये द्वितीयायाः प्रसङ्गे सम्बन्धिरूपतया वाऽपेक्षिते पृथ्वा प्राप्तायां वर्जनीयादेव पञ्चमी भविष्यति किं वर्ज्यग्रहणेन ? सत्यम्,		॥१९७।३५॥
७८३	” —किञ्च न हि साहचर्यं प्रमाणमस्ति, अर्थप्रकरणादिभिलोकं सहचरितस्य ग्रहणात् सव्यभिचारत्वाच्चेत्यदोषः ।		॥१९७।३७॥
७८४	“गम्ययपः०”—ननु यथा कुशलादादाय पचति कुशलात् पचतीत्यत्राऽऽदानाङ्के पाके पचेर्वर्तमानाहु- पात्तविषयमेतदपादानमिति भवति, एवमिहाऽपि अपक्रमणाङ्के दर्शने दशेर्वर्तना- द्भविष्यति, तथाहि—तत्ततोऽपक्रामति अनपक्रामद्धि न विषयं गृह्णीयात् ? सत्यम्,		॥१९८।१३॥
७८५	“यतः प्रति०”—ननु प्रतिनिधिप्रतिदानयो. स्वेन प्रतियोगिना प्रतिनिधिप्रतिदानवता सम्बन्धमभि- व्यक्तुं प्रतिः प्रयुज्यते, तत्र द्विष्टत्वात् सम्बन्धस्य प्रतिनिधिप्रतिदानयोः प्रतिनिधि- प्रतिदानवतोश्च तुल्येऽपि प्रतिनायोगे प्रतिनिधिप्रतिदानाभ्या कारकविभक्तिविष- याभ्या नोपपदविभक्ति. पञ्चमी भविष्यति, किं तदर्थेन यत इत्यनेन ?,—		॥१९८।१९॥
७८६	“आख्यात०”—ननु यदा नटादेर्भरतशास्त्रादिकमात्मसात् कर्तुकाम. शृणोति तदा कथं पञ्चमी ? इत्याह—		॥१९८।३४॥
७८७	” —ननूपाध्यायादेरस्ति विद्यापरिग्रहेऽपायेऽवधिभूतत्वं, ततो हि विद्या श्रोतारमुपैति, सन्ततत्वात् नाऽत्यन्ताय ततोऽपक्रामतीति “पञ्चम्यपादाने” इति सिद्धा पञ्चमी किमनेनेति ? उच्यते—		॥१९८।३७॥
७८८	“गम्ययपः०”—ननु किमर्थमिदं सूत्रमारभ्यते ? प्रासादात् प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षत इति ततो दृष्टि- पैतीति प्रासादादेरपायेऽवधिभूतत्वादपादाने पञ्चमी सिद्धैव ?;		॥१९८।४४॥
७८९	” —किञ्च न भवद्दुदीरितः प्रेक्षतेरर्थश्चक्षुरिन्द्रियकरणिकायामुपलब्धौ सम्भवति, प्रेक्षते देवदत्तश्चक्षुरिन्द्रियेण करणभूतेन पदार्थमुपलभत इति देवदत्तस्य कर्तृत्वमुपल- भ्यते न चक्षुरिन्द्रियस्य ।		॥१९९।२१॥
७९०	” —न चाऽनुमानसमाधिगम्योऽर्थं शब्दार्थो भवितुमर्हतीति प्रेक्षत इति नायनरश्म- योऽस्य नि.सृत्य विषयं गृह्णन्तीत्यशब्दार्थोऽयमिति कथं प्रामादागच्छतीति शब्दो- पात्तक्रियापेक्षे कारकभावे सत्यनुमितक्रियापेक्षया साक्षादशब्दोपात्तव्यापार कार- कभावमुरीरुत्य पञ्चमी समर्थयामहे ?,—		॥१९९।२३॥
७९१	” —अपि चास्ता तावच्छब्दार्थताप्रयासः, नयनरश्मयोऽस्य नि.सृत्य विषयं गृह्णन्ती- त्ययमेव प्रेक्षतेर्भवत्वर्थः; प्रासादस्य तु तत्क्रियापेक्षयाऽपादानादन्वत्यत्वं ब्रूमः ।		॥१९९।२६॥
७९२	” —न तावत्प्रासादरश्मय. प्रसरन्ति किन्तु चक्षूरश्मय इति, प्रत्युत प्रासादो देवद- त्तस्याऽऽधार इति ।		॥१९९।२७॥
७९३	“प्रभृत्य०”—न च वर्तमाननिमित्तसम्भवे कालान्तरे वृत्तिपरिग्रहो युक्तः, तत्र दिश्येव प्रयोगे पञ्चमी स्यान्नाऽन्यत्र देशादौ ? इत्याह—		॥१९९।३६॥
७९४	” —अत्र कथमिदं विज्ञायते दिशि दृष्टा एव शब्दा दिक्शब्दा न दिशि वर्तमानाः ? इत्याह—		॥१९९।३८॥

क्र०	सूत्रम् ।	शङ्का ।	पृ० प०
७९५	“प्रभृत्य०”—	नन्वेतदेव कथं विज्ञायते ? एतदर्थमेव शब्दोपादानमिति, उच्यते—	॥१९९।४०॥
७९६	”	—अथ जिनदत्तादन्योऽयं मैत्रस्य, जिनदत्तादितरोऽयं चैत्रस्य, छात्राणां पूर्वमामन्त्रयस्व, कायस्य पूर्वमित्यादौ मैत्रचैत्रच्छात्रकायशब्देभ्यः कथं न भवति ? उच्यते—	॥२००।३॥
७९७	”	—अथ दूरान्तिकार्थमारोपितव्यं सूत्रेऽनुक्रियते, तद्योगे च “आरादर्थैः” इत्यनेनैव पञ्चमी सिद्धा किमिहोपादानेन ? सत्यम्,	॥२००।१५॥
७९८	“क्रणाद्धेतोः”—	ननु वध्नातिर्वन्धवृत्तिर्न गत्यर्थादिष्वन्तर्भवति, इति कथं प्रयोज्यस्य यत्कर्म तस्मिन्नायमिति कर्तृत्वेन विवक्षितस्य न हेतुभावः ? इत्याह—	॥२००।३६॥
७९९	“आरादर्थैः”—	अथ दूरं हितं ग्रामात्, दूरं हितं ग्रामस्य भूयादित्यादौ हितादियोगे पञ्चम्यभावपक्षे “हितसुखाभ्याम्” ॥२।२।६५॥ इति चतुर्थी कस्मान्न भवति ? उच्यते—	॥२०१।७॥
८००	“गुणाद०”—	न चाऽयमप्रयोगः, सर्वेशिष्टैरभिमानेन प्रयुज्यमानत्वात् ? इत्यत आह—	॥२०१।१९॥
८०१	“आरादर्थैः”—	ननु दूरं हितं ग्रामस्येत्यादौ पञ्चम्यभावपक्षे ग्रामस्य हितेन दूरेण च योगात् हितयोगे “हितसुखाभ्याम्” इति चतुर्थ्यपि प्राप्नोतीत्यारादर्थैर्योगे षष्ठीपञ्चम्यावेव यथा स्यातां न त्वन्या विभक्तिरिति तद्वाधनार्थं ‘आरादर्थैः षष्ठी च’ इति षष्ठीग्रहणं कर्तव्यमन्यथाऽत्र चतुर्थी स्यादिति पृच्छति ।	॥२०१।२८॥
८०२	“अज्ञाने०”—	ननु ज्ञानमिति भावेऽनटि रूपं, ततश्च तदेव ज्ञानं नाम यो जानातेरर्थः; तत्र जानातिर्वर्तते तत्कथमिदमुच्यते—अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य जानातेरिति ? उच्यते—	॥२०२।१३॥
८०३	“शेषे”—	नन्वनेकार्थः शेषशब्दः, तत्र न तावदप्रधानवचनो गौणाधिकारेणैव तदर्थलाभात् शेषग्रहणानर्थक्यप्रसङ्गात् ।	॥२०२।२७॥
८०४	”	—तथा सति सर्वेषां कारकाणां क्रियार्थत्वेनाऽप्राधान्यात् सर्वेभ्य एव कारकेभ्यः षष्ठी स्यात्, वचनप्रामाण्याच्च द्वितीयादिभिः समावेशो न बाध्यवाचकभाव इति ।	॥२०२।२८॥
८०५	”	—अपि च—अप्रधाने षष्ठीत्येवमर्थं जाते नीलमुत्पलमित्यादौ नीलशब्दाद्विशेष्यसमानाधिकरणादपि विशेषणत्वादप्राधान्यादुत्पलमित्यत्र कृतावकाशां प्रथमां बाधित्वा षष्ठ्येव स्यात् ।	॥२०२।२९॥
८०६	”	—अपि च शेषशब्दात्तृतीयादिविभक्तीनामनया षष्ठ्या बाधितत्वात् शेषेण ध्रियते भूमिरित्यादिप्रयोगराशिर्न स्यात्, तस्मात् केषुचिदर्थेषु सत्सु शेषशब्द उपाधीयमान उपयुक्तेतरवचन एव भवति ? इत्याह—	॥२०२।३१॥
८०७	”	—यद्येवं राक्षः पुरुष इत्यत्राऽपि सम्बन्धस्य वाक्यार्थत्वात् षष्ठी न प्राप्नोति ? नैष दोषः, ॥२०२।३५॥	॥२०२।३५॥
८०८	”	—ननु क्रियामन्तरेण सम्बन्धाभावात् सर्वत्र तस्या अवश्यम्भावात् तन्निमित्तस्य च कर्मादेः सत्त्वात् कथं तस्याऽविवक्षा ? इत्याक्षिपति ।	॥२०३।१२॥
८०९	”	—ननु शेषशब्देन स्वस्वामिभावादेः सम्बन्धस्याऽभिधानान्तस्य च द्विष्टत्वाद्वाहः पुरुष इत्यत्र तु पुरुषशब्दादपि षष्ठी प्राप्नोति, तत्र प्रथमा वक्तव्या, प्रतिषिद्धायामपि षष्ठ्यां नामार्थमात्रे विधीयमानायाः प्रथमायाः सम्बन्धस्याऽधिकस्य भावादप्रसङ्ग इति; नैष दोषः,	॥२०३।१२॥
८१०	”	—यद्येवं पुरुषपदसन्निधान एव राक्षः सम्बन्धित्वावगमो नाऽन्यथेति राजशब्दादपि प्रथमाप्रसङ्गः ? नैष दोषः,	॥२०३।१७॥
८११	”	—ननु नैतेनैवं भवितव्यं, न हि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य भावाभावौ क्रियेते, किं तर्हि ? अर्थस्य प्रतिषिद्धादपि विषयीकरणाकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावौ ।	॥२०३।२०॥
८१२	”	—किं पुनस्तत् ? स्वामित्वम्, ‘समासकृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानम्’ इति वचनात् स्वस्वामिसम्बन्ध इत्यर्थः ।	॥२०३।२४॥
८१३	”	—यद्येवं तर्हि राजनि स्वकृतं स्वामित्वं तत्र षष्ठी भवत्येवं पुरुषेऽपि राजकृतं स्वत्वं ततः षष्ठी प्राप्नोति ? उच्यते—	॥२०३।३१॥
८१४	“रिरिष्टा०”—	अथ पूर्वैणैवेदं सिध्यति किमर्थोऽयं योगः ? इत्याह—	॥२०३।४४॥
८१५	“कर्मणि०”—	एवं मन्यते—कर्म कारकं, तच्च क्रियामन्तरेण न सम्भवति, क्रियाया हि कारकं भवति । सा च वाचकं घातुं प्रत्ययसहितमाक्षिपति, घातोश्च द्वये प्रत्यया विधीयन्ते त्यादयः कृतश्च । तत्र “तद्वैत्यधीते” इति ज्ञापकात्यादिप्रयोगे द्वितीयाविधानात् कृत् प्रयोग एव षष्ठी भविष्यतीति व्यावृत्त्या असम्भवादिहाऽनर्थकं कृद्ग्रहणम् ? नैवम्,	॥२०४।१९॥
८१६	”	—कथमिति—त्यागादिभ्यस्त्यागोऽस्याऽस्तीतीनि तद्धितप्रयोगेऽर्थस्येत्यादिकर्मणि षष्ठी न प्राप्नोतीत्याशङ्कार्थं ।	॥२०४।२६॥
८१७	“वैकत्र०”—	अथ कृत इत्यस्यैव षष्ठ्यन्तस्य द्वयोरिति विशेषणं कस्मान्न क्रियते ? तत्राऽपि हि द्वयोः कृदन्तयोरेकं यत्कर्म तत्र षष्ठी वा भवतीत्ययमर्थः सम्पद्यते । तथा च सति—अपां स्रष्टा भेत्ता च मैत्र इत्यादावेव विकल्पः स्यादिति, नैवम्;	॥२०४।३४॥

- क० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ८१८ “वेकत्र०”—ननु ‘कर्मणि’ इत्यधिकृतत्वादेकशब्दस्य च द्वितीयसव्यपेक्षत्वादेकस्मिन् कर्मणीत्यु-  
क्तेऽपि द्वयोः कर्मणोरेकतरस्मिन्निति गम्यत एव किं द्वयोरित्यनेन ? उच्यते— ॥२०४३१॥
- ८१९ “द्विहेतो०”—ननु कथमिदमुच्यते ? घञ एफत्वादिति, नैवम्, ॥२०५३०॥
- ८२० “—अथ कथं चैत्रस्य मैत्रस्येत्युभयत्र कर्तरि पठ्यो ? यतोऽत्र प्रयोजककर्ता णिगर्थस्य  
प्राधान्यात् प्रधानं प्रयोज्यकर्ता तु प्रकृत्यर्थस्याऽप्राधान्यादप्रधानं, तत्र प्रधानाऽप्र-  
धानसन्निधौ प्रधानादेव पठ्यो नाऽप्रधानादिति चेत् ? सत्यम्, ॥२०५३२॥
- ८२१ “नोभयो०”—ननु द्विकर्मकेषु धातुध्वयं प्रतिषेधः, तत्र प्रधानकर्मणः कृत्येनैवाऽभिहितत्वात्  
कर्तव्यं प्रतिषेधो न्याय्य इत्युभयग्रहणमतिरिच्यते ? नैवम्; ॥२०६३०॥
- ८२२ “—न च ‘प्रधानकर्मण्याख्येये त्यादीनाद्द्विकर्मणाम्’ इत्यात्राऽऽदिशब्देन पृथगपि  
गृह्यत इति वाच्यं, तस्य व्यवस्थावाचित्वात् कृत्यकखलर्थानामेव ग्राहकत्वादिति ॥२०६३१॥
- ८२३ “—किञ्च ‘द्विकर्मणां धातूनां प्रधानकर्मणि तिवाद्य उत्पद्यन्ते’ इति न्यायोऽयं, यतो  
द्येकेन शब्देनाऽजाग्रामलक्षणयोर्द्वयोः कर्मणोः सन्निपातितयोरेकतरकर्माऽभिधा-  
नीयं, न तु द्वे अपि कर्मणी, अजावद्ग्रामस्यानिनीपितत्वात्तथा प्रतीत्यभावाच्च । ॥२०६३२॥
- ८२४ “—न ह्यजा ग्रामो नीयत इत्युक्ते अजा ग्रामं नीयत इति बहुणमुख्यभावेन प्रतीति-  
रस्ति, किन्तु तौ द्वावपि किमप्यन्यत्र नीयेते इत्यर्थान्तरं प्रतीयेत इति, तदत्र  
कतरत्कर्माऽनेनोच्यतामिति विरोधात् प्रधानकर्मणि त्याद्य उत्पद्यन्त इत्युच्यते । ॥२०६३४॥
- ८२५ “—यद्येवं कथमुक्तं—दुहादीनामप्रधाने कर्मणि तिवाद्य इति ? ॥२०६३७॥
- ८२६ “कयोर०”—ननु सन् धात्वर्थः, तत्र धातुरेव वर्तते, कृतप्रत्ययस्तु “कर्तरि” इत्यादिना कारके भावे  
च विधीयते । तत्र सति प्रत्ययविधिरेव नाऽस्ति कथं प्रतिषेधः ? सतोऽन्यस्मिन्नर्थे  
इति ? नैव दोषः; ॥२०६३७॥
- ८२७ “—कथं शीलितो मैत्रेण ? रक्षितश्चैत्रेण ? भूतेऽयं कः; वर्तमानताप्रतीतिस्तु  
प्रकरणादिनेति । ॥२०७३३॥
- ८२८ “—अथ केन सूत्रेण को भवति ? इत्याह— ॥२०७३२॥
- ८२९ “—कथमिति—शीलितो मैत्रेणेत्यादावपि “ज्ञानेच्छार्त्वा०” इत्यनेन कः, तथा च वर्तमा-  
नताप्रतीतिरत्र कस्मान्न भवतीति शङ्क्यार्थः—परिहरति— ॥२०७३२॥
- ८३० “—यद्येवं कथमत्र वर्तमानताप्रतीतिः ? अद्यापि शील्यते ? इत्याह— ॥२०७३४॥
- ८३१ “व्याप्ये केनः”—अथ यस्मात्कृत प्रत्ययादिन् विधीयते तस्य यत्कर्म तत्राऽधिकरणविचक्षया सप्तमी  
सिध्यति किमर्थमिदं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— ॥२०९३२॥
- ८३२ “तद्युक्ते०”—न च ‘उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्यलीयसी’ इति न भविष्यतीति वाच्यं, यतः  
कारकश्रुत्या कर्तृकरणयोस्तृतीयावत्कारकेण कर्मणा सम्बन्धे विधीयमानत्वादस्या  
अपि कारकविभक्तित्वम् । ॥२०९३७॥
- ८३३ “अप्रत्या०”—ननु साधुशब्देन सदाचार उच्यते, आचरणं च क्रियाविषयमिति मातृशब्देन  
तत्स्या परिचर्यादिक्रिया उच्यत इति मातृपरिचरणादिक्रियाणां सम्यगाचरिता  
मातरि साधुरित्युच्यते; तद्वैपरीत्येनाऽसाधुर्मातरीति । ॥२१०१८॥
- ८३४ “—यदि तु साधुशब्दो भक्तिप्रधाने सङ्कल्पविशेषे वर्तते तद्वैपरीत्ये चाऽसाधुशब्दस्तदा  
मातुरेव विषयभावसम्भवात् सिद्धैव सप्तमी, नैतदुपयुज्यत इति ?— ॥२१०३०॥
- ८३५ “—यद्येवमसाधुर्मातरीति मातृविषयस्य साधुत्वस्य निषेधात् प्रथमं मात्रा साधो-  
र्योगादन्तरङ्गत्वादुत्तरेणैव सिद्धा सप्तमी किमनेन ? नैवम्; ॥२१०३१॥
- ८३६ “—नन्वभियोगे “लक्षणवीप्ये०” इत्यनेन प्रत्यादियोगे तु “भागिनि०” इत्यनेन च द्विती-  
याया विशेषविधानात् सप्तमी न भविष्यति किमप्रत्यादावित्यनेन ? सत्यम्; ॥२१०३३॥
- ८३७ “स्वेषोऽधिना”—नन्वत्र क्रमेण परस्परमाधाराऽऽधेयभावविचक्षया पर्यायेणाऽप्रधानात् “सप्तम्यधि-  
करणे” इत्यधिकरणे एव सप्तमी भविष्यति किमनेनेति ? उच्यते— ॥२१०४१॥
- ८३८ “—ननु “विभक्तिसमीप०” ॥३१३१९॥ इत्यादिना विभक्त्यर्थे यद्व्ययं तद्विभक्त्यन्तेन  
सह समस्यते स चाऽव्ययीभावः, यथा—अधिनीति; एवमत्राऽपि कस्मान्न भवति ? ॥२१०४३॥
- ८३९ “—न च “सप्तम्या वा” ॥३१३१॥ इत्यम्मावाभावपक्षे सप्तमीश्रवणं फलमिति वाच्यम् ?  
वर्तिपदसप्तमीलोपात्; समाससप्तम्या हि स विकल्पः । ॥२१११५॥
- न चाऽत्राऽधिर्विभक्त्यर्थेऽस्ति, क तर्हि ? ॥२१११६॥
- ८४० “—यद्भाषो०”—अथ ऋद्धेषु भुजानेषु दरिद्रा आसत इत्यादौ यत्र क्रियार्हाणां कारकत्वं क्रियानर्हाणां  
मकारकत्वं तद्विपर्ययो वा गम्यते तत्र कथमियं सप्तमी ?— ॥२११३६॥
- ८४१ “—नन्वन्तेन सहाऽध्वनोऽभेदोपचारात् सिद्धमेवैकार्थ्यं किमनेन ? सत्यम्; ॥२१२१९॥
- ८४२ “गते गम्ये०”—नन्वन्तेन सहाऽध्वनोऽभेदोपचारात् सिद्धमेवैकार्थ्यं किमनेन ? सत्यम्; ॥२१२१९॥



- क्र० सूत्रम् । शङ्का । पृ० प०
- ८४३ “षष्ठी वा०”—ननु “यद्भावो” इति भावलक्षणे सामान्ये सप्तमी, तत्राऽनादरे इति विशेषे षष्ठी; सप्तम्यामनादरप्रतीतिरर्थप्रकरणादेरित्यर्थभेदान्न वाध्यवाधकभावोऽस्तीति किं पक्षे सप्तम्यर्थेन वाशब्देनेति ? उच्यते— ॥२१२।३४॥
- ८४४ “सप्तमी०”—ननु निर्धार्यमाणस्याऽवयवस्य समुदायाभ्यन्तरत्वात् समुदायस्य चाऽधिकरणवि-  
वक्षायां वृक्षे शाखेतिवत् सप्तम्याः सिद्धत्वात् सम्बन्धविवक्षायां त्ववयवस्य वृक्षस्य  
शाखेतिवत् षष्ठ्या अपि सिद्धत्वात् किमनेनेति ? नैवम्; ॥२१२।४३॥
- ८४५ “क्रियामध्ये०”—ननु च क्रोशे स्थितं लक्ष्यं विध्यति, ब्रह्मे पूर्णं भुङ्क्ते इत्यधिकरण एव सप्तमी, क्रोशा-  
न्निःसृत्य स्थितं लक्ष्यं विध्यति, ब्रह्ममतिक्रम्याऽनु भुङ्क्ते इत्यापदाने “गम्ययपः  
कर्माधारे” ॥२।२।७४॥ इति पञ्चमी सिद्धैव ? सत्यम्; ॥२१३।१९॥
- ८४६ “सप्तमी०”—यद्येवं सर्वथा समुदायभावानापक्षे निर्धारणमेव न युज्यते, समुदायाद्धि एकदेशस्य  
पृथक्करणं निर्धारणमित्युक्तत्वात् ? सत्यमेतत्;— ॥२१३।२४॥
- ८४७ “क्रियामध्ये०”—नन्विष्वास इति धनुरुच्यते, यथा—‘अङ्गराजो महेष्वास.’ इति, धनुश्च व्यधने करणं  
कर्ता तु मैत्रादिस्तत्कथमुक्तमिष्वासो विध्यतीति ? उच्यते— ॥२१३।३०॥
- ८४८ “” —ननु चेहस्योऽयमिष्वास इत्यादि क्रियाभेदाद्युक्तमुदाहरणं, इदं त्वयुक्तं अद्य भुक्त्वा  
मुनिर्ह्यहाद्रोकेति भुजिक्रियाया एकत्वात् ? सत्यम्,— ॥२१३।३२॥
- ८४९ “तुल्यार्थे०”—नन्वनन्तरात् पूर्वसूत्राचृतीयाऽनुवर्तते, ततः “तुल्यार्थेवा” इति तद्विकल्पे कृते “शेषे”  
इत्यनेन पक्षे शेषलक्षणां षष्ठी सिद्धैव किमर्थं तद्विधानम् ? इत्याह— ॥२१४।४१॥
- ८५० “असत्त्वा०”—कथं चिरं ? चिरेण ? चिराय ? चिरात् ? चिरस्येति ?,—विभक्तिप्रतिरूपका निपाता  
एते । ॥२१५।२६॥
- ८५१ “हेत्वर्थे०”—ननु ततोऽप्युत्तरसूत्रेण सर्वा विभक्तय इति सर्वविभक्त्यन्तर्गतत्वाचृतीयाद्या अपि  
सिद्धाः किमर्थमिदं ? इत्याह— ॥२१५।३३॥
- ८५२ “अविशे०”—कथं नाख्ये च दक्षा वयम् ? त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः ? सा  
बाला वयमप्रगल्भमनसः ? इत्यादि— ॥२१६।१२॥
- ८५३ “जात्या०”—अथेह कस्मान्न भवति ? एको व्रीहिः सम्पन्नः सुमिक्षं करोति, अस्ति ह्यत्रैको जाति-  
लक्षणोऽर्थः ? इत्याह— ॥२१६।३४॥
- ८५४ “” —नन्वेक इति संख्याशब्दः प्रयुज्यमानः स्वतः सदेकत्वमुद्गावयति, तेन चैकत्वेन विरुद्धं  
बहुत्वमिति बहुवदतिदेशो न भविष्यति किमसंख्य इति विशेषणेन ? सत्यम्;— ॥२१६।३४॥
- ८५५ “अविशे०”—नन्वेकसंख्याकप्रत्यात्मवचनत्वादसद् कथं द्वावर्थौ स्यातामिति ? नैष दोषः;— ॥२१६।३८॥
- ८५६ “फल्गुनी०”—ननु फल्गुनीप्रोष्ठपदाशब्दौ नक्षत्रवाचित्वाद्धित्वाऽव्यभिचारिणौ यतश्चन्द्रमसा योगे  
नक्षत्रता, तेन च द्वयोरेव नैकैकस्य; तद्धितारमेव तारकं नक्षत्रमुच्यत इति किमर्थं  
तस्य द्वाविति विशेषणमनुवर्त्यत इति ? नैष दोषः;— ॥२१७।३१॥
- ८५७ “” —अथ किमर्थमिदं ? न हि बहुवचनाद्धित्वप्रतीतिरस्ति, बहुत्वस्य ततः प्रतीतेः ?  
बहुत्वं च तत्र यथाकथञ्चित् सम्पाद्यं, चन्द्रोपेते हि ज्योतिषी इति बहुत्वं सिद्धम् । ॥२१७।३४॥
- ८५८ “गुरावे०”—नन्वाप इत्येकस्यामपि जलकणिकायां बहुवचनान्तोऽप्यशब्दः प्रयुज्यते ? ॥२१८।७॥



# १४ परिशिष्टम् ।

अस्मिन्नेव शब्दानुशासने प्रथमे विभागे सूत्रवृत्त्युदाहरणप्रत्युदाहरणाद्यनेकस्थले  
स्वमतानि अन्यथाप्रतिपादयतां स्वमतरक्षणैकवद्धकक्षाणां शेषकश्चिदन्या-  
परपरैकविरुद्धोपपदलाञ्छितशाब्दिकानामकाराद्यनुक्रमेण नामानि ।

क्र०	शाब्दिका ।	मतानि ।	पृ० प०
१	अन्यः ।	—अन्यस्तु तृतीयासमासार्थानि पदानि तृतीयासमास इति तादर्थ्यात् कट वीरणवत्ताच्छब्दं लभते तस्य ग्रहणे वाक्यस्यापि ग्रहणं भवतीति ।	॥७२।४५॥
२	”	क्षीरस्वामी—अन्यस्तु पुरुषस्यैव समासार्थत्वे सतीच्छति न खिया., तन्मते—अतिशकट्यै प्रियधेन्वै पुरुषायेत्यत्रैव भवति, न त्वतिशकटये प्रियधेनवे खियै इत्यत्र ।	॥७२।६॥
३	”	” —अन्यस्त्वद्दत्तेः संयोगादेर्दकारस्यापि लोपमिच्छति, तन्मते अद्, अद्भ्याम् ।	॥१४४।१॥
४	”	” —अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति गम्यते मैत्रं ग्रामश्चैवेण ।	॥१६०।६॥
५	”	रत्नमतिः—नामधातोरभिवाद्यतेरपीच्छत्यन्यः ।	॥१६४।१६॥
६	”	” —राधीष्यर्थविपयाद्विप्रप्रव्यादिच्छत्यन्यः ।	॥१९३।२॥
७	अन्येन	—तथाऽन्येनाऽप्युक्तं क्रीतप्रीतश्रीतपूतादीनां फ्यन्नादिपु तीशब्दः श्रूयमाण एव सम्भवति, तस्मात्तु कृतयादेशादुत्वं कसादुदाहृतं, क्रीत्युरागच्छति क्रीत्युः स्वामिति ?,—	॥८३।२४॥ ॥५।१२॥
८	अन्ये	शेषभट्टारकाः—येदौतौ चतुर्मात्रावपीत्यन्ये ।	॥८।१०॥
९	”	शाकटायना—सर्वमुखस्थानमवर्णं हविसर्गांशुरस्यौ कवर्गो जिह्वामूल इत्यन्ये ।	॥८।१२॥
१०	”	पा० शिक्षाकाराः—ए पे कण्ठतालव्यौ इत्यन्ये ।	॥८।१२॥
११	”	” —ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ इत्यन्ये ।	॥८।१३॥
१२	”	पाणिनीयादयः—चः सुक्स्थान इत्यन्ये ।	॥८।१३॥
१३	”	पा० शिक्षाकाराः—जिह्वामूलीयः कण्ठ्य इत्यन्ये ।	॥८।१४॥
१४	”	पा० शिक्षाकारादयः—अनुस्वारः कण्ठ्यनासिक्य इत्यन्ये ।	॥८।१५॥
१५	”	पा० शिक्षाकृत—अकारः संवृत इत्यन्ये ।	॥९।१॥
१६	”	” —विवृतं करणं स्वराणाम्, ऊष्मणां चेत्यन्ये ।	॥९।२॥
१७	”	” —अकारः संवृत इत्यन्ये ।	॥९।५॥
१८	”	पा० शाकटायनः—लवर्णस्य दीर्घा न सन्तीति द्वादश इत्यन्ये ।	॥९।१८॥
१९	”	औदञ्जिः—अन्ये तु वृवते—अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टादिनिर्द्वाववत् ।	॥१७।२॥
२०	”	प्राञ्च—शब्दधर्म इत्यन्ये ।	॥२६।१॥
२१	”	” —संवृततर सकलरेफकारमर्धमात्रस्वरभक्तिकमित्यन्ये ।	॥३५।७॥
२२	”	उत्पलादयः—अन्ये तु यथादर्शनं सन्धिमसन्धिं वेच्छन्ति ।	॥५२।२०॥
२३	”	” —अन्ये तु अवसानं अभावरूपमाहुः ।	॥६४।९॥
२४	”	श्रीशेषराजः—अन्ये त्वतिजरैरित्येवेच्छन्ति ।	
२५	”	पाणिनिस्त्वानुसारिणः—अन्ये तु प्रागेवेनादेशं सन्निपातलक्षणन्यायस्याऽनित्यत्वाश्रयणात् पश्चाज्ज- रसादेशं वेच्छन्तोऽतिजरसिनेत्यपि मन्यन्ते ।	॥६५।११॥
२६	”	” —अन्ये तु डतरडतमभिधावप्यन्यशब्दं न कथयन्ति तेषामयं डतरार्थ एव पाठः, अन्यतरमिति त्वन्य एवाऽयमव्युत्पन्न इति ।	॥६७।२३॥
२७	”	उत्पलादयः—अन्ये तु बहुव्रीहान्तरङ्गस्याऽप्यकः प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते कप्प्रत्यय एव; त्वत्कपितृको मत्कपितृकः ।	॥७५।७॥ ॥७८।५॥
२८	”	पाणिनिप्रभृतयः—अन्ये तु बहुप्रत्ययपूर्वोदपि पतिशब्दादौकारमेवेच्छन्ति, तन्मते बहुप्रत्ययौ ।	॥७८।५॥
२९	”	प्राह—अन्ये तु सख्यन्तादपि प्रतिषेधं पूर्वेण डेरौत्वं वेच्छन्ति—वह्वः सखायौ यस्य तेन बहुसख्या, एवं बहुसख्ये, बहुसख्युरागतं खं वा, बहुसख्यौ निघेहि ।	॥७८।१०॥
३०	”	श्रीशेषभट्टारका—अन्ये तु पुरुषस्य समासार्थत्वे सति नेच्छन्ति, तन्मते—प्रियवृद्धये, प्रियधेनवे पुरुषायेत्येव भवति ।	॥७९।५॥ ॥७९।३५॥
३१	”	” —अन्ये तु—अस्तीवचन एवेच्छन्ति ।	
३२	”	” —अन्ये त्वाहुः—पूर्वाऽऽगमेपु तीशब्दस्य लृनीशब्दावयवस्य कृतयत्वादेशस्योदा- हरणं दर्शितम्, न च सामान्येन सूत्रनिर्देशे विशेषान्युपगमो युक्त इति सर्व- मुदाहरणम् ।	॥८३।२६॥

क्र०	शाब्दिकाः ।	मतानि ।	पृ० प०
३३	अन्ये—	—अन्ये तु त्वपृक्षचृहोतृपोतृन् ताच्छील्यादिपु निपातयन्ति ।	॥८४१७॥
३४	उत्पलादयः—	अन्ये तु द्वितीयैकवचनस्यैवाऽमो योऽमादेशस्तस्यैव लुग्विकल्पमिच्छन्ति न स्यादेशस्य ।	॥९३२॥
३५	”	—चतुःशब्दस्याऽपि लुग्विकल्पमिच्छन्त्यन्ये ।	॥९३८॥
३६	”	—अन्ये तु व्यञ्जनानां कालभेदमिच्छन्त्येव ।	॥९६३६॥
३७	”	—बहूर्जि एवेच्छन्त्यन्ये ।	॥९७१२६॥
३८	शाकटायनादयः—	अन्ये तूपसर्जनयोस्तिस्वचतसृशब्दयोर्दौ घुटि चाऽपि खरादौ रत्वविकल्पमिच्छन्ति ।	॥१०८१४॥
३९	पाणिनिप्रभृतयः—	अन्ये त्वादेशे कृते पञ्चादकमिच्छन्ति ।	॥१२३१६॥
४०	”	—करशब्देनाऽप्यन्ये ( इच्छन्ति ) ।	॥१३०१९॥
४१	वार्तिककाराः—	अन्ये तु रात्रिरूपरथन्तरेष्वेव रेफादिषु परेषु रेफप्रतिषेधमिच्छन्ति ।	॥१३८१२॥
४२	भीमसेनादयः—	अन्ये तु अर्द्धं तोपान्त्यं पठन्ति, तन्मते किपि अत्, अद्, ।	॥१४४१९॥
४३	प्राञ्चः—	अन्ये त्वाहुः—इमन्निति प्रकृत्यन्तरमस्ति तस्यैतन्निपातनं नकारलोपाभावार्थं गत्वार्थं च ।	॥१४८११॥
४४	”	—अन्ये तु अभियुक्तस्मृतिमनभिनन्दयन्तः क्विन्तस्य प्रयोगं प्रतिजानते ।	॥१५०१३०॥
४५	पाणिनितन्त्रानुसारिणः—	अन्ये तु बोधविशेषार्थस्य दशरेवेच्छन्ति नाऽन्येषाम् ।	॥१६२१४॥
४६	विभ्रान्तविद्याधरादयः—	अन्ये तु सकर्मकाणामकर्मकाणां च प्रयोगे कालाऽध्वभावानामत्यन्तसयोगे सति नित्यं कर्मत्वमिच्छन्ति ।	॥१६९१९९॥
४७	”	—अन्ये त्वपकार एव द्रोहः इत्याहुः ।	॥१७११३४॥
४८	”	—अन्ये तु तृतीयार्थमात्र इच्छन्ति ।	॥१८०१२२॥
४९	”	—अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति वीप्सावीप्स्यमानयोः सम्बन्धो द्विर्वचनेनैव द्योत्यते न त्वभिना, इति सम्बन्धमद्योतयताऽपि तेन योगे वचनाद्वितीयेति ।	॥१८०११६॥
५०	”	—अन्ये त्वाहुः—धात्वर्थः क्रिया, सा च कारकचक्रनिष्पाद्यत्वात् कर्मरूपतां नातिक्रामति, ततो यथा भीष्ममुदार इदं कटं करोतीत्यादौ कटादिकर्मविशेषणतया भीष्मादिशब्देभ्यो द्वितीया तथा मन्दं पचति, साधु गच्छतीत्यादौ कर्मत्वात् क्रियाविशेषणादपि स्यात् किननेन ? इत्याशङ्क्याऽऽह—॥१८४३७॥	॥१८५१७॥
५१	प्राञ्चः—	भावादपीच्छन्त्यन्ये—गोदोहं वक्रं, गोदोहं बुद्बुदाः ।	॥१८५१२२॥
५२	”	—भावादपीच्छन्त्यन्ये—गोदोहेन कृतः कटः ।	॥१९११३३॥
५३	”	—अन्य आहुः—कारकशेषत्वे षष्ठी प्राप्ता नटस्य शृणोतीति यथा, सर्वथा तु कारकस्याऽविवक्षया न भवति—	॥१९२१४२॥
५४	”	—विमतिपूर्वकाभिप्रायनिरूपणे स्वोक्तां चतुर्थीमन्ये मान्याः स्त्रीभ्य ईक्षते इत्यादौ न मन्यन्त इत्याह—	॥१९२१४३॥
५५	”	—अन्ये तु राधीक्षी इत्यर्थनिर्देशमाहुः, यस्य साक्षाद्दीक्ष्य विषयता उपपद्यते सोऽर्थो राधीक्षी इति निर्दिष्टः, ततश्च तदर्थसर्वधातुयोगे चतुर्थी भवति इत्याह—	॥१९२१४३॥
५६	सारसंग्रहकारादयः—	द्वितीयैवेत्यन्ये ।	॥१९४११४॥
५७	उत्पलः—	चतुर्थी चेत्यन्ये ।	॥१९४११५॥
५८	ललितस्वभावः—	अन्ये त्वसत्त्ववचनैरेवाऽऽरादर्थैरिच्छन्ति ।	॥२०१११०॥
५९	वार्तिककृतः—	अन्ये तु नीवह्यादीनां द्विकर्मकाणां गौणे कर्मणि दुहादीनां तु प्रधाने विकल्पमिच्छन्ति ।	॥२०४११४॥
६०	पाणिनिः—	उभयत्राऽपि नित्यमेवेत्यन्ये ।	॥२०४११५॥
६१	”	—अन्ये सम्बन्धविवक्षायामेवेयं षष्ठीति प्रतियन्तः सूत्रं नाऽऽरमन्ते ।	॥२०४१३१॥
६२	ललितस्वभावः—	अन्ये तु घञलप्रत्यययोर्द्विहेत्वोः कर्मण्येव षष्ठीमिच्छन्ति न कर्तरि ।	॥२०५१२३॥
६३	पूर्व—	अन्ये तु ज्ञानेच्छार्चार्थञ्जीच्छील्यादिभ्योऽतीते कं नेच्छन्ति ।	॥२०७१३॥
६४	अभयनन्द्याचार्याः—	अन्ये तु पञ्चमीमपीच्छन्ति, गोभ्यः कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा ।	॥२१३१४॥
६५	”	—अन्ये तु द्वितीयामपीच्छन्ति ।	॥२१४१७॥
६६	”	—द्वितीया नेच्छन्त्यन्ये ।	॥२१४१२३॥
६७	”	—अन्ये तु हेत्वर्थशब्दयोगे नेच्छन्ति, हेतुशब्दप्रयोगे तु षष्ठीमेवेच्छन्ति ।	॥२१५१९॥
६८	शाकटायनाः—	एकवचनान्त प्रयोग एव नाऽस्तीत्यन्ये ।	॥२१७१७॥
६९	अपरे—	शेषाहिपादाः—द्विरेफश्रुतिकमध्यर्धस्वरमात्रमित्यपरे ।	॥२१८१२॥

क्र०	शाब्दिका ।	मतानि ।	पृ० प०
७०	अपरे—शाकटायनादयः—	अपरे तु भोभगोऽघोभ्यः स्वरं नित्यं लोपमेवेच्छन्ति ।	॥४८।१७॥
७१	”	—अपरे तु अन्नवध्नमध्राणां त्रयाणां धातूनां धुष्टि रेफलोपं नित्यमिच्छन्ति ।	॥५७।१०॥
७२	”	—अपरे तु ह्रस्वन्ति—अयमन्यतरशब्दो डतरान्तो न भवति निर्धारणे हि सा, अनिर्धारणेऽयमव्युत्पन्नः ।	॥६७।२३॥
७३	”	—अपरैः सामान्येन तृतीयान्तेन योगे प्रतिषेधः कृतो न तृतीयान्तात्, तेषां मते पूर्वोपमासेनेत्यपि भवति, तन्मतसंग्रहार्थं तु पूर्वदिग्योरेऽपि पञ्चमी व्याख्येया ।	॥७३।१९॥
७४	ललितस्वभावः—	अपरे त्वनि सरे सर्वत्र विकल्पं जस्शसोस्तु नित्यं मन्यन्ते ।	॥१०८।८॥
७५	—शाकटायनादयः—	करशब्देनाऽपीच्छन्त्येके ।	॥१३०।८॥
७६	”	—अपरे तु आसन्दीशब्दोऽस्तीति मन्यन्ते ।	॥१४७।३८॥
७७	शाकटायनाः—	णिजन्तस्याऽपि वदेर्णिगीच्छन्त्येके ।	॥१६४।१३॥
७८	”	—दैवे एवेक्ष्ये इच्छन्त्येके ।	॥१९२।१६॥
७९	चान्द्राः—	राधीक्ष्यर्थं धातुयोगेऽपीच्छन्त्येके ।	॥१९२।१६॥
८०	पा० सू० व्याख्यातारः—	कुत्सामात्रेऽपीच्छन्त्येके ।	॥१९५।१०॥
८१	पाणिन्यादयः—	द्वितीया नेच्छन्त्येके ।	॥२१४।१०॥
८२	वार्तिक-व्याख्यातारः—	प्रथमा नेच्छन्त्येके ।	॥२१५।१६॥
८३	”	—अपरे त्वकाकारयोर्भावाभिधायकयोः कृतोरुपयोगात्ताभ्यामन्यस्मिन्नपि भावाभिधायक एव पृष्ठीमिच्छन्ति ।	॥२०५।३५॥
८४	वार्तिक-व्याख्यातारः—	द्वितीयामपरे ( नेच्छन्ति ) ।	॥२१५।१७॥
८५	उत्पलः—	उत्पलस्तु भौवादिकस्य दैवादिकस्य च ङीयो ङीनसिद्धि प्रयोगमिच्छति-यदाह—	॥६१।४६॥
८६	”	—यदुत्पलः—एवं चाऽर्चाग्रहणं निपुणविशेषणार्थं सम्पद्यत इति ।	॥२१०।२८॥
८७	उद्घोतकरः—	उद्घोतकरोऽपि निपुणविशेषणार्थमेवाऽर्चाग्रहणस्य चरितार्थत्वादित्युवाच ।	॥२१०।२८॥
८८	”	उद्घोतकर आह—यथाऽत्र भवानस्मद्गुपाध्यायो व्याकरणरत्नाकरपूर्णे-चन्द्रमाः कैयटारयः शिष्यसार्थमिदमवोचत्—‘श्रुत्यापेक्षयाऽत्र पृष्ठी कृता न साध्वपेक्षया’ ।	॥२१०।३०॥
८९	एके—	शाकटायनादयः—रेफो दन्तमूल इत्येके ।	॥८।११॥
९०	”	पा० म० मतानुयायिनः—अर्थधर्म इत्येके ।	॥१७।२॥
९१	”	नैपधीयकाराः—तत्त्वातिशययोरित्येके ।	॥१८।२२॥
९२	”	प्राञ्च—तदपीपत्सृष्टकरणं द्विरेफतुरीयमध्यर्धस्वरमात्रमित्येके ।	॥२६।१॥
९३	”	—लृवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ।	॥२६।३॥
९४	”	—अत्रापि ऋवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ।	॥२६।८॥
९५	”	पा० शा० देवचन्द्रादयः—वत्सरशब्दस्याऽऽर नेच्छन्त्येके ।	॥२८।२॥
९६	”	शाकटायनः—अत्राऽपि पक्षे ह्रस्वत्वमिच्छन्त्येके ।	॥२९।३॥
९७	”	प्राञ्च—ऊट्टे नेच्छन्त्येके ।	॥२९।१४॥
९८	”	पाणिन्यादयः—संयुक्तव्यञ्जनेऽपीच्छन्त्येके ।	॥५१।९॥
९९	”	—एके त्वाहुः—नाऽयं इतरप्रत्ययान्तोऽन्यतरशब्दः किन्त्वव्युत्पन्नस्तरोचरपद-स्तरवन्तो वा ।	॥६७।४॥
१००	”	पाणिनीयैकदेशिनः—अतत्सम्बन्धिनोऽपि भवतीत्येके ।	॥८२।८॥
१०१	”	विश्रान्तविद्याधरादयः—अन्यसम्बन्धिनोर्जस्शसोर्नेच्छन्त्येके ।	॥९०।४॥
१०२	”	काशिकाकारादयः—अतत्सम्बन्धिनोरपीच्छन्त्येके ।	॥९०।१०॥
१०३	”	देवचन्द्रादयः—अमो लुक् नेच्छन्त्येके ।	॥९३।७॥
१०४	”	—एके तु मन्तयोर्युष्मदसदोरादेशात् नेच्छन्ति ।	॥१११।१९॥
१०५	”	चन्द्रादयः—एके तु निमिचनिरपेक्षमेकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोस्त्वमादेशाविच्छन्ति ।	॥११३।६॥
१०६	”	कश्चित्-दुर्गालिह्न्यासकृतौ—कश्चित् पक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति ।	॥३२।४॥
१०७	”	पाणिनिः—कश्चित्त्वसंक्षया गवाक्षणीत्यपीच्छति ।	॥३३।२३॥
१०८	”	विश्रान्तविद्याधरः—कश्चित् स्वरजयोरनादिस्थयोर्यकारवकारयोर्धोपवत्यवर्णादन्यतोऽपि लोप-मिच्छन्ति ।	॥४८।२॥
१०९	”	श्रीरस्वामी—कश्चित् पूर्वमतविपर्ययमेवेच्छति ।	॥८०।१२॥
११०	”	—क्रोष्टृनित्यपीति कश्चित् ।	॥१०५।९॥

क्र०	शाब्दिका ।	मतानि ।	पृ० प०
१११	कश्चित्-उत्पलः—	कश्चित् पूर्वमन्त्यस्वरादिलोपे त्वमादेशेऽकारस्य वृद्धौ ष्वागमे त्वापयति, मापयति, किपि तु त्वाप्, माप्, इत्याह—	॥११३१॥
११२	”	—प्रत्ययोत्तरपदस्यादिलक्षणनिमित्तनिरपेक्षत्वेऽप्येकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयो- रुष्मदसदोर्मान्तावयवस्य ‘अधित्वद्’ इत्यादौ त्वमादेशाविति कश्चिन्मन्यते	॥११३३॥
११३	”	—शासेरपि सौ विकल्पेन ककारमिच्छति कश्चित्, तन्मते शाक्षि, शास्सि, इति	॥१३२४॥
११४	”	दुर्गसिंहः—कश्चित् दीर्घत्वं नेच्छति ।	॥१३७१२॥
११५	”	—कश्चित् “अनुनासिके च च्छुः शूद्र” ॥४११०८॥ इति शत्वविधेरनित्यत्व- ज्ञापनार्थं छकारस्याऽपि षत्वमिच्छति ।	॥१४३१५॥
११६	”	—पादयतेः क्विबन्तस्य प्रयोगो नाऽस्तीति कश्चित् ।	॥१५०७॥
११७	”	—णिगन्तस्याऽपीति कश्चित् ।	॥१६४१५॥
११८	”	—अत्र कश्चिदाह—स चेत्, सिद्धं यदा वसतिर्विवक्षितः, यदा तूपवसतिरेव तदा प्राप्नोति, न चोपवसेराधारभावं प्रति ग्रामादिरयोग्य एव यदन्यापेक्ष एनाऽस्याऽऽधारभावः कल्प्यते, तस्माद्यतितव्यमेवाऽत्र, अत्रोच्यते—	॥१६८४२॥
११९	”	अजितयशोवादी—चतुर्थ्यपीति कश्चित् ।	॥१९५११॥
१२०	”	—गम्यमानं विभक्तिनिमित्तं नेति कश्चिन्मन्यते ।	॥२११३४॥
१२१	काशिकाकारस्तु—	काशिकाकारस्तु रुयधिकारविहितयोरणकयोः प्रतिषेधादन्यस्मिन्नपि स्त्रीप्रत्यय एव षष्ठीमिच्छति ।	॥२०५३५॥
१२२	केचन	—केचन मूले ऋत इति विहाय ऋवर्णस्य स्थानितया निर्देशं कुर्वन्ति, तथा सति ‘वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्’ इति सर्वविधन्नकारग्रहणं बोध्यम् ।	॥२६१२८॥
१२३	”	केचन त्वस्त्रीवचन एवेच्छन्ति, तन्मतस्य भाष्यरुदादिविरुद्धतयाऽपास्यत्वादेक- वचनेन निर्दिशति ।	॥८०१७॥
१२४	”	केचन सन्निपातपरिभाषाया नित्यत्वमाश्रित्य स्यादेशस्याऽमो लुपं नेच्छन्ति ।	॥९३१७॥
१२५	केचित्तु—	शाकटायनः—केचित्तु पक्षे ह्रस्वत्वमपि मन्यन्ते ।	॥२८१२८॥
१२६	”	देवनन्द्यादयः—केचित्त्विवर्णादिभ्यः परान् यवरलानिच्छन्ति ।	॥३११६॥
१२७	”	पाणिनीयाः—केचित्तु इति शब्दे विकल्पमिच्छन्ति ।	॥३४१४॥
१२८	”	जयादित्यादयः—केचित्तु ‘मणीवोष्टस्य लभ्येते, प्रियौ वत्सतरौ मम ।’ इति प्रयोगदर्शना- न्मणी इव मणीवेत्यादावसन्धिप्रतिषेधं वर्णयन्ति, तदयुक्तम्—	॥३५५॥
१२९	”	प्राञ्चः—केचित्तु चाद्यचादिस्थानस्याऽचादिरूपत्वात् खरनिमित्तकमपि सन्धि- मिच्छन्ति ।	॥३६१७॥
१३०	केचित्तु—	पाणिन्यादयः—केचित्तु व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके वाऽनुनासिकमिच्छन्ति ।	॥३९१७॥
१३१	”	केचित्तु अत्राऽप्यनुनासिकमिच्छन्ति ।	॥४४३३॥
१३२	”	पा०शाकटायनाश्च—केचित्तु टत्वमपीच्छन्ति ।	॥४५१४॥
१३३	”	कात्यायनः—केचित्तु भवद्भगवदघवतां सम्बोधने सौ परतोऽवशब्दस्यौत्वं तकारस्य च रुत्वं कृत्वा एतानि रूपाणीच्छन्ति ।	॥४७१८॥
१३४	”	पाणिन्यादयः—केचित्तु रुस्थानस्य यकारस्योञ्जि परे लोपमेवेच्छन्ति ।	॥४८१६॥
१३५	”	शाकटायनादयः—अनुनासिकादप्यादेशरूपात् केचिदिच्छन्ति ।	॥५२११॥
१३६	”	चान्द्रप्रभृतयः—केचित्तु पञ्चमान्तस्थायां पञ्चमान्तस्थामात्रे लोपमिच्छन्ति, न तु सरूप एव ।	॥५७१९॥
१३७	”	—केचित्तु यावद्भव्यभाविनी व्यवस्थेत्याहुः, तेषां पूर्वसौ पुरुषायेत्यादि न भवति ।	॥६८२८॥
१३८	”	पाणिनिप्रभृतयः—बहुप्रत्ययपूर्वादिपि पतिशब्दात् प्रतिषेधं केचिदिच्छन्ति-बहुपत्या, बहु- पत्ये, बहुपत्युः आगतं स्वं वा ।	॥७८१९॥
१३९	”	—केचित्तु पूर्वं पश्चादपि स्त्रीवचन एवेच्छन्ति ।	॥७९३१॥
१४०	”	पाणिनित्त्रानुसारिणः—केचित्तु समासार्थस्य स्त्रीत्व एवेच्छन्ति न पुंस्त्वे ।	॥८०११॥
१४१	”	सखिपतिशब्दयोरेव केचिदिच्छन्ति ।	॥८३१२३॥
१४२	”	केचिदाहुः—तत्र नेष्यते त्यादुत्तरस्य उत्त्वमिति ।	॥८३१२५॥
१४३	”	भोजप्रभृतयः—केचित्तु-प्रस्तोतुजनेतुजद्वात्प्रतिहर्त्प्रतिस्थात्शब्दानामौणादिकानाम- प्यार मन्यन्ते ।	॥८४१०॥
१४४	”	—केचिन्मन्यन्ते-उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानीति, अपरे व्युत्पन्नानीति ।	॥८४३९॥
१४५	”	विश्रान्तिविद्याधरादयः—केचित्तु सकारभकारादावेव स्यादाविच्छन्ति ।	॥९०१६॥
१४६	”	शाकटायनादयः—केचित्तु अष्टावाचक्षत इति णिचि किपि, अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्येती- च्छन्ति, तदप्येष्ट इति तन्नेण संगृहीतम् ।	॥९०११॥
१४७	”	वामनादयः—केचित्तु इत्यन्तात् कतिशब्दादेवेच्छन्ति ।	॥९१३३॥

क्र०	शाब्दिकाः ।	मतानि ।	पृ० प०
१४८	केचित्तु—पाणिनीयाः—केचिज्जरसः स्यमोर्लोपं नेच्छन्ति ।		॥९३४॥
१४९	” पाणिन्यादयः—केचित्तु त्वां मा चाऽऽचष्टे इति णौ त्वमादेशे वृद्धौ क्विपि मन्तयोरेव त्वाहा- देशविधानात् सौ त्वाम्, माम् इति, धातोरेव वृद्धिरिति मते त्वं, मम् इत्येव च भवतीति मन्यन्ते ।		॥११३११६॥
१५०	” ” —केचित्तु तत्सम्बन्धिना एवाऽऽम आकमादेशमिच्छन्ति, तथाऽऽमप्रत्यये दकारस्य यत्वमपीच्छन्ति ।		॥११५११६॥
१५१	” ” —केचित्त्विदम आदेशमेनमिति मकारान्तं द्वितीयैकवचने आहुः, तन्मते— इदं कुण्डमानयाऽथो एनं परिवर्तयेत्येव भवति ।		॥११२२१०॥
१५२	” चान्द्रभोजादयः—केचिदेतदोऽपीच्छन्ति ।		॥११२२१७॥
१५३	” ” —केचित्तु द्विशब्दात् पूर्वं किं शब्दमधीयते, तेन “किमद्भ्यादिसर्वाद्यवैपुल्य- बहोः पित्तस्” ॥७१२८९॥ इति किंशब्दोपादानं न विधेयम् ।		॥११२४३८॥
१५४	” ” —केचित्तु—असुकसिति सान्तं सिना सह निपातयन्ति ।		॥११२६११॥
१५५	” ” —तदाह—“परत. केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः । उभयो. केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयो.” ॥११॥		॥११२६११०॥
१५६	” ” —केचित्तु तासा यथोद्देशतामेव (यत्रैवोपदेशस्तद्देशतामेव) युक्तां मन्यन्ते ।		॥११३१३३॥
१५७	” ” —केचित्तु क्यनृक्पङ्कटोरपि प्रतिषेधमिच्छन्ति ।		॥११३४७॥
१५८	” शाकटायनाः—केचिदस्याऽपि प्रतिषेधमिच्छन्ति ।		॥११३५१॥
१५९	” ” —केचित्तु विसर्गजिह्वामूलीयोरप्यलाक्षणिकयोस्तृतीयत्वं गत्वमिच्छन्तीति ।		॥११३८१५॥
१६०	” देवनद्याचार्याः—केचित्तु यद्भ्रुवन्तस्याऽपीच्छन्ति ।		॥११३९१०॥
१६१	” देवनद्याचार्याः—केचित्तु यद्भ्रुवन्तधयतेरपीच्छन्ति ।		॥११३९११५॥
१६२	” चन्द्रगोभ्यादयः—केचित्त्वन्त्यस्वरादिलोपस्य स्थानि(व)त्वमनिच्छन्तो ह्यतीति द्वित्वे ऊढमूर्द्धि वाख्यत् औजिढदिति मन्यन्ते ।		॥११४११६॥
१६३	” ” —केचित्तु किं नेच्छन्ति ।		॥११४३५॥
१६४	” ” —तत्र प्रधानाऽप्रधानसन्निधौ प्रधानाभिधानस्यैव न्यायत्वमिति केचित् ।		॥११६०१७॥
१६५	” ” —केचिदाहुः—नाऽमी नयत्यादयो द्विकर्मका अन्यकर्मत्वात् ।		॥११६०२५॥
१६६	” ” —केचिदिच्छन्ति—मासस्य आसनेति ।		॥११७०१५॥
१६७	” ” —अत्र केचिदाहुः—अन्वादयो गम्यादिक्रियाजनिते नामार्थव्यतिरेके विषय- भावादौ वर्तन्ते ।		॥११८११७॥
१६८	” ” —किं पुनरत्र प्राप्तम् ? केचिदाहुः—देवदत्तो रोचयति मोदकमिति प्राप्नोति, देवदत्तं हि प्राप्य मोदको रुचिविषयो न सर्वमेव भिन्नेच्छत्वात् प्राणिनाम् ।		॥११९१३३॥
१६९	” ” —केचिदाहुः—कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां प्रीयमाणं देवदत्तं प्रीणयति मोदक इति ।		॥११९१३२॥
१७०	” भोजशाकटायनाः—केचित्त्वप्रयोज्यो यो ज्ञाप्यो य आख्यायते तत्रैवेच्छन्ति ।		॥११९३१२॥
१७१	” ” —केचिद्यस्यै आख्यायते तं ज्ञाप्यं सम्प्रदानत्वेन प्रतिपन्नाः ।		॥११९३३७॥
१७२	” ” —केचिद्य आख्यायते तमिति, तन्मते मैत्रमात्मने श्लाघत इत्युदाहरणम् ।		॥११९३३८॥
१७३	” ” —केचिदारादर्थैः पञ्चम्यन्तैर्युक्तात् पञ्चमीं नेच्छन्ति ।		॥११९५२३॥
१७४	” कैश्चित्—कैश्चिदन्वर्थसंज्ञाविधानाद्दातृक्रियाविषयैव सम्प्रदानसंज्ञेत्यभ्युपगतम् ।		॥११७१२५॥
१७५	” —यदुच्यते—कैश्चित्—मासेनाऽनुवाकोऽधीतः, क्रोशेनाऽनुवाकोऽधीत इति करण एव तृतीया, इतीदं नाऽऽरम्भणीयमिति तदसम्यक्—इत्याह—		॥११८५४१॥
१७६	” केपाञ्चित्—केपाञ्चिद्युष्मद्भवतु असदिति पाठः ।		॥११२४३७॥
१७७	” ” —केपाञ्चिद्युष्मदस्मद्भवत्विति पाठः ।		॥११२४३७॥
१७८	” क्षीरस्वामि०—क्षीरस्वामिन्यासकृन्मतम् ।		॥११५३२॥
१७९	” गोनर्दीयानां—गोनर्दीयाना मते—अतिजरम् प्र० ए०, अतिजरसम् अतिजरम् द्वि० ए० इति ।		॥११३१२१॥
१८०	” गोनर्दीयस्य—इष्टमेवैतत् गोनर्दीयस्य ।		॥११७२१॥
१८१	” दुर्गसिंहन्यासकृतो.—दुर्गसिंहन्यासकृतोर्मतम्, कश्चित्तु ह्रस्वत्वाभावपक्षे ऋतिभावमपीच्छति ।		॥११५३२॥
१८२	” पाणिनेः—पाणिनेरपि च तदेव सम्मतम् ।		॥११७५३२॥
१८३	” पूर्वैः—वार्तिककृद्भिः—“उभयोऽन्यत्र” । पा० वा० ॥७११५२॥		॥११७५३७॥
१८४	” प्राञ्चः—प्राञ्चो वैयाकरणाश्चादीना निपात इति संज्ञामभिदधते, इत्याह—		॥११९१२५॥
१८५	” ” —प्राञ्चो हि कर्तृविशेषमपि हेतुशब्देनाऽऽचक्षते, यतश्च “हेतुकर्तृकरणे०” इत्यत्र हेतुग्रहणं कृत्वा कर्तृकरणग्रहणं कृत्वा हेतुकर्तृकरणग्रहणं कृतमतो विज्ञायते कर्त्रादिभ्यो विल- क्षणो हेतुरिति ।		॥१२००३९॥

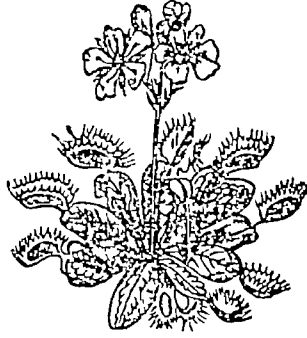
क्र० शाब्दिका ।

मतानि ।

दृ० प०

- १८६ भट्टोजिदीक्षितेन—तथा चोक्तं—‘वस्तुतस्तु प्रियत्रयाणाम्’, इति सि० कौ० “ब्रह्मय.” । पा० ॥७११५३॥  
सूत्रे भट्टोजिदीक्षितेन । ॥८२३४॥
- १८७ भर्तृहरिणा—यथोदाहृतं भर्तृहरिणा—यद्यपि पाणिनेरभिरुचिता नित्यताऽनित्यता चेति । ॥१९१३४॥
- १८८ भोजेन—भोजेन तु भूतपूर्वन्यायेन नपुंसकेऽपि नियामित्युक्तम् । ॥९०१६॥
- १८९ मनोरमायाः—सुनुतर्-अन्तर्धाने मनोरमाया मतेनेदम् । ॥१८१४॥
- १९० यश्च मन्यते—कर्मादयो विभक्त्यर्थास्तेष्वनभिहितेषु विभक्तीनामुत्पत्तिरिति, नाऽर्थोऽनभि-  
हिताधिकारेणेति ?— ॥१८२१२॥
- १९१ यस्य=भागुरेः—यस्य तु व्यञ्जानन्तादप्याप्, तन्मते क्षुधया ऋत इति समस्तप्रयोग एवाऽयम् । ॥२८१०॥
- १९२ ये=शिवमुख्याः—ये त्वनियोगेऽव्यापारणे इच्छन्ति, तन्मते शास्त्रलोकप्रतीतप्रयोगविरोधः । ॥३०८॥
- १९३ वि० विद्याधरः—विश्रान्तविद्याधरस्त्वत्राऽपि मन्यते । ॥१३०२४॥
- १९४ व्याख्यातारः—व्याख्यातारस्तु नेदं परिगणनमित्याहुः । ॥१३८१७॥
- १९५ शब्दनित्यत्ववादी—शब्दनित्यत्ववादिमतेन च इति । ॥३१९॥
- १९६ शब्दानित्यत्ववादी—शब्दानित्यत्ववादिमतेन निष्पत्तिः । ॥३१९॥
- १९७ शाकटायन०—इदं समतं शाकटायनसम्मतमपि । ॥२५३९॥
- १९८ सुखाकरस्तु—सुखाकरस्तु अकारलोपस्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानादनर्थकत्वाच्च न भवतीति मन्यते ॥१००१५॥

॥ समाप्तमिदं चतुर्दशं परिशिष्टम् । तत्परिसमाप्तौ च समाप्तानि सर्वाणि परिशिष्टानि ॥



## ॥ अथ वृत्ति-रचना-प्रशस्तिः ॥

अथ सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावाऽवस्थावर्च्यरिहन्तसिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधुदर्शनादिधर्मसाधनधर्मिसमुदायस्वरूपं, समग्रमनोवा-  
ञ्छितदानैकबद्धकक्षाऽचिन्त्यचिन्तामणिसमं, सुरासुरनरपत्यादिद्वादशपर्षत्सेवितसुप्रसिद्धमखिलमन्नतन्नयन्नाधिराजराजेश्वरं, श्रीसिद्ध-  
चक्र-महायन्त्रं हृद्यहृदयकमलकोशे धारयित्वा, जराजर्जरितयादवदुःखदौर्भाग्यदारिद्र्यरोगशोकनिवारक, सम्पूर्णजनसमुदायद्रव्य-  
भावसङ्घिष्टसङ्घटविचूरक, विश्वविश्वसमीहितपरिपूरकं, शङ्खेश्वरग्रामस्थ-शङ्खेश्वरतीर्थधिप-श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथजिनेश्वरं बहु-  
मानपुरस्सरं वन्दित्वा च प्रशस्तिलिख्यते ।

विश्वविख्यातविद्वन्मुकुटमणिसकलशास्त्रपारावारपारीणशब्दावतारकलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरविरचिताक्षरदेहं  
ध्यात्वा, श्रीपातञ्जलमहाभाष्य-वाक्यपदीय-शाकटायनीयाऽमोघावृत्ति-सिद्धहेमसूत्र-वृत्ति-न्यासाधनेकविधग्रन्थपरिशीलन कृत्वा च.  
वी० स० २४६८ वैक्रमीय १९९८ संवत्सरे भाद्रपदशुक्लपञ्चम्यामनेकाऽनेकप्रतोलीकराजनगरे (अहमदाबादनगरे) माढवीनाम-  
रथ्यास्थनागजीभूधरप्रतोलीवर्तिजैनध्वे० मू० पौषघशालया चातुर्मासिकस्थिताना शासनहितवर्धकाऽनेकाऽनेककार्यकारिताना तथा-  
गच्छकरूपपादपसागरशास्त्रीयाऽऽनन्दसागरसूरीश्वराज्ञावर्तिसुविनेयपत्र्यासप्रवरशिष्यप्रशिष्यमुनिपुङ्गवाना श्रीचन्द्रहीरहिमांशु-  
चन्द्रकान्तचन्द्रप्रभसागराणां प्रासुर्यवर्तिभिः श्रीसिद्धचक्राराधन-तीर्थोद्धारकैरखिलभारतवर्षीयमन्यभावभावोद्घोषस्योदय-  
श्रीसिद्धचक्र-नवपदाराधकसमाज-वर्द्धमानतपःसत्यादिशासनहितवर्धकविधिधसस्थासंस्थापकैर्वैयाकरणकेसरिभिवर्धमानतपोनिष्ठातैः  
पण्डितप्रवरानुयोगाचार्यैरस्मद्भुख्यैः श्रीचन्द्रसागरगणीन्द्रैरानन्दबोधिनीवृत्तौ प्रारम्भिकमङ्गल “ॐ नमः सिद्धचक्राय”  
इत्यादिनाऽऽरभ्य सज्ञाप्रकरण सन्धिप्रकरण च समाप्तीकृतम् ।

ततो गुर्जरदेशस्थोत्तरदिग्दर्शिनि ‘ऊक्षा’नामकग्रामे त्रैलोक्यनाथश्रीकुन्धुनाथस्वामिप्रासादसमीपे श्रीजैनध्वे० मू० पौषघ-  
शालया श्रीनामप्रकरण प्रारभ्याऽऽगमोद्धारकाचार्यवर्यश्रीसागरानन्दसूरीश्वरसदुपदेशमूर्त्तस्वरूपश्रीवर्द्धमानजैनाऽऽगममन्दिरस्था-  
ऽनिर्वचनीयाऽऽप्रतिमप्रतिमाञ्जनप्रतिष्ठाद्यनेकविधशासनहितवर्धककार्यसुप्रसिद्धसिद्धक्षेत्रस्थ (पालीताणानगरस्थ) श्रीजैनसाहित्य-  
मन्दिरान्तर्गतजैनपौषघशालया तैश्च तत्परिसमाप्तीकृतम् ।

ततो जैनाऽऽगमनवाङ्मूर्त्तिकारभगवदभयदेवसूरीश्वराद्यधीनविनाशशरीरस्थराजरोगनिवारकश्रीस्तम्भनपार्श्वनाथप्रभुविभूषित-  
श्रीस्तम्भनपुरतीर्थे स्व०श्रेष्ठिवर्यनानचन्द्रात्मजबुलाखीदासात्मजमूलचन्द्रादिसथापितजैनध्वे० मू० पौषघशालया चातुर्मासिकस्थिताना  
गणपत्र्यासपदारोपणाद्यनेकाऽनेकशासनहितवर्धककार्यकारिताना वर्तमानकालीनगीतार्थसर्वभौमाद्यप्रावचनिकप्रभावकश्रीमदानन्द-  
सागरसूरीश्वराज्ञावर्त्यन्तेवासिपत्र्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणिसुविनेयपत्र्यासदेवेन्द्रहीरसुनिज्ञानसुबोधप्रवीणहिमांशुदोलतहेमेन्द्रचन्द्र-  
कान्तचन्द्रप्रभसागराणामश्रेयसरवर्तिभिल्लैश्वरी० सं० २४७० वैक्रमीय २००० संवत्सरे पौषमासे परमपावनप्रभुश्रीपार्श्वनाथ-  
जन्मकल्याणकवासरे विद्यावारिधिनिमज्जनपवित्रितस्वान्तसाहित्यरसिकशिष्यप्रशिष्याद्यर्थे श्रीकारकप्रकरण सुपरिपूर्णकृतम् ।

ततो मुम्बापुरी-घाटकोपर-त्रैलोक्यनाथश्रीजिरावलिपार्श्वनाथमन्दिरसमीपवर्तिश्रीजैनध्वे० मू० पौषघशालया वी० स० २००१  
कार्तिक-पूर्णिमाया कलिकालसर्वज्ञभगवच्छ्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजन्मवासरे शास्त्रप्रस्तावना-परिशिष्ट-विषयानुक्रमाद्यनेकसारभूतसामग्री-  
सुशोभितोऽयं प्रथमविभागस्तैश्च सुसमाप्तीकृत ॥ इति शुभम् ॥

पूज्यपादगीतार्थसर्वभौमाऽऽगमोद्धारकाचार्यदेवेश-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरागामाज्ञावर्ति-  
परमविनेयसिद्धचक्राराधन-तीर्थोद्धारकपत्र्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्राणां  
चरणारविन्दचक्षरीक. चन्द्रप्रभसागरः ।





## ॥ साङ्केतिक-शब्दानां परिस्फुटता ॥

अ० चि० का०—अभिधानचिन्तामणिकाण्डः ।  
 अन्य यो० व्य०—अन्ययोगव्यवच्छेदिका ।  
 आ०—आत्मानन्द० ।  
 इ०—इन्स्टीट्यूट ।  
 इ०—इसु ।  
 उ० अथवा उणा०—उणादयः ।  
 ओ०—ओरिण्टलः ।  
 क० स०—कलिकाल-सर्वज्ञ ।  
 क्र०—क्रमाङ्कः ।  
 क्रा०—क्राइष्ट ।  
 खं ता०—खम्भात ताडपत्रीय ।  
 गुज०—गुजराती ।  
 ग्रं०—ग्रन्थः ।  
 चि०—चिन्तामणिः ।  
 चि० प०—चित्रपरिचय ।  
 छ०—छगनीरामजी ।  
 ॥ छ ॥—समाप्तिचिह्नम् ।  
 जै०—जैन ।  
 डा०—डाबडो ।  
 डॉ०—डॉक्टर ।  
 द०—दलीचन्द ।  
 दि०—दिगम्बर ।  
 नं०—नम्बर ।  
 नैषधीये०—नैषधीय महाकाव्ये ।  
 पं०—पण्डितः ।  
 प०—पङ्क्त्यङ्कः ।  
 परि०—परिषद् ।  
 पा०—पादः ।  
 पा०—पाणिनीयव्याकरणम् ।  
 पा० शि० श्लो०—पाणिनीयशिक्षाश्लोकः ।  
 पा० सू०—पाणिनीयसूत्राणि ।  
 पु०—पुण्यविजयजी महाराज ।  
 पृ०—पृष्ठाङ्कः ।  
 प्र० अ०—प्रथमाऽध्यायः ।  
 प्रो०—प्रोफेसर ।  
 वना०—वनारस ।  
 वा०—वापुभाई ।  
 वृ०—वृहत् ।

ख०—अध्यायः ।  
 वे० जी०—वेचरदास जीवराज ।  
 भा०—भागः ।  
 भा० ऑ० इ०—भाण्डारकर ऑरीएन्टल रिसर्च  
 इन्स्टीट्यूट ।  
 मनोर०—मनोरमा ( सिद्धान्त कौ० टीका ) ।  
 म० भ०—मनसुखभाई भगुभाई ।  
 महार्णव वृ० न्यास०—सिद्धहेमचन्द्रबृहन्न्यासः ।  
 मो० गि०—मोतीचन्द गिरधरलाल कापडीया ।  
 यादव.—यादवकोषः ।  
 रा०—राजचन्द्र० ।  
 राज०—राजस्थानीय ।  
 री०—रीसर्च ।  
 ली०—लीम्बडी ।  
 ले०—लेखक ।  
 वर्ना०—वर्नाक्युलर ।  
 विश्व०—विश्वकोषः ।  
 वि० सं०—विक्रम संवत् ।  
 वृ० वृ०—वृहद्वृत्तिः ।  
 व्या०—व्याकरण ।  
 शा०—शाकटायन ।  
 शा० नाम०—शास्त्रकारनाम ।  
 शा० प्र०—शास्त्र-प्रस्तावना ।  
 शा० प्रा०—शान्तिनाथप्राचीन ।  
 शा० सू०—शाकटायन-सूत्राणि ।  
 शिशुपाल०—शिशुपालवधमहाकाव्यम् ।  
 श्रीहैम०—श्रीहैम ( अभिधानचिन्तामणिः ) ।  
 श्वे०—श्वेताम्बर ।  
 सयाजि०—सयाजिराव ।  
 सं०—संवत् ।  
 सि०—सिरीझ ।  
 सि० कौ०—सिद्धान्तकौमुदी ।  
 सिंघी० जै०—सिंघी-जैनग्रन्थमाला ।  
 सो०—सोसायटी ।  
 स्ना०—स्नारक ।  
 स्व० स्तो०—स्वयम्भूस्तोत्रम् ।  
 ह० लि०—हस्तलिखित ।  
 हे० जै०—हेमचन्द्राचार्य जैन ।  
 है० प्रका०—हैमप्रकाश ( स्व० क्षमाभद्र ) ।  
 हे० वृ० न्या०—हैमबृहन्न्यास ।

## ॥ शुद्धिपत्रकम् ॥

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
नन्द	नन्द	१-१	शू(शो)	शु(शो)	१९-४६
नन्द	नन्द	१-१८	किंकिल	किङ्किल	२०-२
रक्षणं योगः	रक्षणं क्षेमः	२-२५	"	"	२०-१५
प्राप्तिः क्षेमः	प्राप्ति. योगः	२-२५	यावद्गत	यावद्गन्त	२०-२२
यन्त्रतन्त्रमन्त्रा	यन्त्रतन्त्रमन्त्रा	२-२६	ऊर्णा०	ऊर्णा०	२१-४४
योगो	क्षेमो	२-२९	बंध	बन्ध	२२-४८
प्राप्ति.-क्षेम	प्राप्ति:-योगः	२-२९	नान्ताद्	नाद्	३३-९
षेध-वि	षेधाऽधि	३-६	तयोरी	तयोरि	२३-१९
त्वादि	त्ववादि	३-९	टित्क	द्वित्क	२३-२०
तद्वा	तद्वा	४-४	मंत्रो	मन्त्रो	२४-३३
तनु	तनू	५-३८	मंदि	मन्दि	२४-३६
क्षस्य	क्षस्य	५-४५	आनन्द	आनन्द	२४-३७
व्यञ्ज	व्यञ्ज	६-३२	समामा	समाना	२५-१९
कण्ठ	कण्ठः	८-५	प्राच्छति	प्राच्छति	२५-३४
मारूप	मत्तारूप	८-४५	कृकारः	कृकारः	२६-३८
निहाद	निहोद	१०-१५ १६	स्त्रीणि	श्रीणि	२६-३९
सञ्ज्ञा	सज्ज्ञा	११-३८	कारय	कारीय	२८-४२
स्त्वक	स्त्वकः	१२-२७	ऊहं	ऊहे	२९-३३
कारे	कारो	१२-२९	पेष्यो	पेष्यो	२९-४०
र इव	रा इव	१३-१३	मित्तना	मित्तिना	३०-१७
शूनः	शुनः	१३-२१	त्र। ओ	त्रौ	३०-१८-१ ४३-४४
वृत्त्यन्त	वृत्त्यन्त	१३-३७	प्रसज्यत	प्रसज्येत	३१-३३
इति न	× × ×	१३-४१	नक्षेपा	नक्षेपा	३२-२०
सत्त्वे	पत्त्वे	१३-४४	अफ्ये	× ×	३२-३९
पदत्वं प्रति-	पदत्वप्रति-	१३-४४	गोरा	गोरो	३३-३८
वैय्य	वैय	१४-११	नितो	नितौ	३४-४०
त्वाद	त्वाद्	१४-२३	थत्त्वेन	थेन	३५-३३
घिता	घिता	१४-३०	दृढी	दृढी	३५-३५
वाभ्य	वाक्य	१५-१२	नादेः	दादेः	३८-४
वैय्य	वैय	१५-३०	मदि	मन्दि	३८-४८
णार्थ	नाऽर्थ	१६-८	नद	नन्द	३८-४९
अक्षेण	अक्षेण	१६-१३	ह्रस्वा	ह्रस्वा	३९-८
गौ	गौः	१६-२३	माह	माहुः	३९-१४
रोहाव	रोहावः	१७-४	वाच्	वाच् स	३९-१७
सत्त्व	सत्त्व	१७-४०	नहः	नहः	३९-२३
नीचस्	नीचैस्	१८-५	षड्	षड्	३९-३५
शु	शु.	१८-९	षड्	षड्	३९-३५
मंहु	मंहु	१८-२७	शंकते	शङ्कते	३९-३५
त्वंत	त्वन्त	१८-३९	लभ्यते	लभ्यते,	३९-३८
हुंफद्	हुम्फद्	१९-९	वाह्	प्राह्	४०-११
दृष्टांत	दृष्टान्त	१९-२७	तुर्थः	तुर्थः नवा	४०-२३
शंका	शङ्का	१९-३२	अधुट	अधुट	४०-४०
हुंफद्	हुम्फद्	१९-३९	कखफ	कखफ	४१-१
मंग	मङ्ग	१९-४१-४२	रेफे	सुपि	४१-१९
कुम्भी	कुम्भी	१९-४२	घुर्षु	धूर्षु	४१-३१
कुम्भ	कुम्भ	१९-४२	सनन्	सनम्	४२-१

सकलसङ्कटचूरकेभ्यः श्रीसिद्धचक्रेभ्यो नमो नम ।

सकलमनोवाञ्छितपूरकः श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो विजयतेतमाम् ।

॥ श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासने सूत्र-वृत्तिग्रन्थपरिमाणप्रदर्शक-यन्त्रम् ॥

श्रीसि० हे० श० पृष्ठाङ्क	अ०	पाद	प्रकरणम्	सूत्राणि	सू० तत्त्व० ग्रन्थाग्रम् श्लोका	अक्षराणि	आनन्दबोधिनी-ग्रन्थाग्रम् श्लो०	अक्षराणि
१-२८	१	१	सज्ञाप्रकरणम्	२२	२६६	९	१२६२	२२
२५-३८	१	२	सन्धिप्रकरणम्	४१	२०३	१७	५९४	१५
३९-६३	१	३	„	६५	२९६	२९	१२१२	१९
६४-१०६	१	४	नामप्रकरणम्	९३	५१४	०	२२३७	२७
१०७-१५५	२	१	„	११८	७६४	१०	२२४१	६
१५६-२१८	२	२	कारकप्रकरणम्	१२४	९७५	१	३१४४	७
				४८३	३०२०	२	१०६९३	०

नोंध—

प्रथम कॉलममा श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनना पृष्ठाङ्क जणावाय छे ।

बीजा ” ” ” ” ” नो अध्याय जणावाय छे ।

त्रीजा ” ” ” ” ” ना ” नो पाद जणावाय छे ।

चोथा ” ” ” ” ” ना अध्याय-पादमा आवेल प्रकरण जणावाय छे ।

पाचमा ” ” ” ” ” ना दरेक प्रकरणना कूलसूत्रो जणावाय छे ।

छट्टा ” ” ” ” ” नी तत्त्वप्रकाशिकानु श्लोकप्रमाण जणावाय छे ।

सातमा ” ” ” ” ” नी आनन्दबोधिनीनु श्लोकप्रमाण ” छे ।

दाखला तरीके एकथी २४ पृष्ठाङ्क सुधी प्रथम अध्यायना प्रथमपादमा सज्ञाप्रकरण चाले छे ते प्रकरणमा कुलसूत्रो ४२ छे, सूत्र-तत्त्वप्रकाशिकाना श्लो० सख्या २६६ तथा अक्षर ९ छे, अने आनन्दबोधिनीमा श्लो०सख्या १२६२ तथा अक्षर २२ छे ।

साराश—आ यत्रमा जणावेल विगत मुजव कुल सूत्रो ४८३ ।

” ” ” ” ” त० प्र० कुल श्लो० सख्या ३०२०-२ ।

” ” ” ” ” आ० वो० कुल श्लो० सख्या १०६९३ ।

सयोजकः } श्रीसिद्धचक्राराधन-तीर्थोद्धारकाऽऽनन्दबोधिनीवृत्तिकार-पू प प्रवरश्रीचन्द्रसागरजी गणिवरशिष्य—  
मुनिश्रीचन्द्रप्रमसागर ।

# ॥ शुद्धिपत्रकम् ॥

—००००००००—

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
नन्द	नन्द	१—१	शू(शो)	शु(शो)	१९-४६
नन्द	नन्द	१-१८	किंकिल	किङ्किल	२०—२
रक्षणं योगः	रक्षणं क्षेमः	२-२५	”	”	२०-१५
प्राप्तिः क्षेमः	प्राप्तिः योगः	२-२५	यावद्गत	यावद्गन्त	२०-२२
यन्त्रतन्त्रमन्त्रा	यन्त्रतन्त्रमन्त्रा	२-२६	उर्णा०	ऊर्णा०	२१-४४
योगो	क्षेमो	२-२९	बन्ध	वन्ध	२२-४८
प्राप्तिः-क्षेम	प्राप्तिः-योगः	२-२९	नान्ताद्	नाद्	३३—९
बेध-वि	बेधाऽधि	३—६	तयोरी	तयोरि	२३-१९
त्वादि	त्ववादि	३—९	टित्क	द्वित्क	२३-२०
तद्वा	तद्वा	४—४	मन्त्रो	मन्त्रो	२४-३३
तनु	तनू	५-३८	मंदि	मन्दि	२४-३६
क्षस्य	क्षस्य	५-४५	आनन्द	आनन्द	२४-३७
व्यज	व्यञ्ज	६-३२	समामा	समाना	२५-१९
कण्ठ	कण्ठः	८—५	प्राच्छति	प्राच्छति	२५-३४
मारूप	मतारूप	८-४५	कृकारः	कृकारः	२६-३८
निर्हाद्	निर्हाद्	१०-१५-१६	खीणि	खीणि	२६-३९
सञ्ज्ञा	सञ्ज्ञा	११-३८	कारय	कारीय	२८-४२
स्त्यक्त	स्त्यक्तः	१२-२७	ऊहं	ऊहे	२९-३३
कारे	कारो	१२-२९	पेण्यो	पैण्यो	२९-४०
र इव	रा इव	१३-१३	मित्तना	मित्तिना	३०-१७
शूनः	शुनः	१३-२१	त्र ! ओ	त्रौ	३०-१८-१४३-४४
वृत्यन्त	वृत्यन्त	१३-३७	प्रसज्यत	प्रसज्येत	३१-३३
इति न	× × ×	१३-४१	नह्येषा	नह्येषा	३२-२०
सत्वे	पत्वे	१३-४४	अष्ये	× ×	३२-३९
पदत्व प्रति-	पदत्वप्रति-	१३-४४	गोरा	गोरो	३३-३८
वैश्य	वैय	१४-११	नितो	नितौ	३४-४०
त्वाद	त्वाद्	१४-२३	र्थत्वेन	र्थेन	३५-३३
धिता	धिता	१४-३०	द्रढी	दृढी	३५-३५
वाक्य	वाक्य	१५-१२	नादेः	दादेः	३८—४
वैश्य	वैय	१५-३०	मंदि	मन्दि	३८-४८
णार्थ	नाऽर्थ	१६—८	नन्द	नन्द	३८-४९
अक्षेण	अक्षेण	१६-१३	ह्रस्वा	ह्रस्वा	३९—८
गौ	गौः	१६-२३	माह	माहुः	३९-१४
रोहाव	रोहावः	१७—४	वाच्	वाच् स	३९-१७
सत्त्व	सत्त्व	१७-४०	नहः	नहः	३९-२३
नीचस्	नीचैस्	१८—५	षड्	षड्	३९-३५
शु	शुः	१८—९	षह्	षह्	३९-३५
मंहु	मंहु	१८-२७	शंकते	शङ्कते	३९-३५
त्वन्त	त्वन्त	१८-३९	लभ्यतः	लभ्यते;	३९-३८
हुम्फद्	हुम्फद्	१९—९	वाह्	प्राह्	४०-११
दृष्टान्त	दृष्टान्त	१९-२७	तुर्थः	तुर्थः नवा	४०-२३
शंका	शङ्का	१९-३२	अधुट	अधुट	४०-४०
हुम्फद्	हुम्फद्	१९-३९	कखफ	कखपफ	४१—१
मङ्ग	मङ्ग	१९-४१-४२	रेफे	सुपि	४१-१९
कुम्भी	कुम्भी	१९-४२	धुषु	धूषु	४१-३१
कुम्भ	कुम्भ	१९-४२	सनन्	सनम्	४२—१

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
धुटप	धुट् प	४२-२२	त्यद्	त्यद्	७०-४
क्षेपे	प्रक्षे	४३-२६	दाहः	दाह	७०-२९
मित्तक	मित्तिक	४३-४४	दीय	दीयः	७०-२९
रति	रति	४४-८	अवेर्ध	अवेर्ध	७०-३८
डुवम्	डुवम्	४४-३७	असूच	असूच	७०-४६
शमूच	शमूच	४४-४६	वेः खः	वेः खः	७४-४२
णावे	णाभावे	४५-२८	अन्त	अन्त्य	७५-३६
गह	प्रह	४५-३१	डिडौ	डिडौ	७६-३८
प्राङ्	प्राङ्	४५-३६	पट्टः द्वौ	पट्टद्वौ	७९-२१
लुक	लुक	४७-४३	सनन्	सनम्	८०-१
भोप्र	भोःप्र	४८-८	कटप्रु	कटप्रु	८१-९
लुकि अस्प	× × अस्प	४८-२७	सुधी	सुधि	८१-३६
भो प्र	भोः प्र	४८-३२	वन्ध	वन्धि	८२-३
सौ ङ	सो ङ	४९-१७	नमिति	नामिति	८२-४
माडो	माडः	४९-३६	श्चि०	श्चिव०	८३-२१
छोद्	छौच	५०-३५	क्षत्	क्षत्	८४-१४
छुपत्	छुपत्	५०-३७	हृका	हृका	८४-१५
शनि	शे	५०-३८	क्षत्	त्वष्टृक्षत्	८४-१५
सर्थ्य	सर्थ्य	५१-६	क्षत्	क्षत्	८४-२७
’ङ्कः	’ङ्कः,	५१-७	गात	मात	८५-५
निर्वत्स्य	निवत्स्य	५१-२१	हृ	हृ	८५-२१
यती	यतीति	५३-३८	कलक्षण०	कन्नित्य०	८५-२९
‘समुड’	‘समुड्’	५४-१६	सत्या	सत्या	८५-३९
वहे	वहेः	५६-१५	नाम	नामाम	८६-८
स्तमो	स्तमो	५६-२२	श्चान्त	श्चान्ते	८६-२१
स्तमत्	स्तमत्	५६-२६	स्याऽऽम	स्याऽम	८७-२
बल	बलः	५६-३९	खत्	खत्	८७-४३
वाघ	वाघ्य	५६-४१	ण	णं राजेत्यादौ	८७-४६
प्रादा	प्रादा	५८-१४	नात् पर	नादपर	८८-२३
खरादि	खराच्छ्रौ	५८-१५	इडा	अडा	८८-२४
इत्त	ईत्त	५९-३५	धेनू	धेनूः	८९-४
सजूःपु	सजूःपु	५९-४२	भक्तुं	सुक्तुं	८९-२५
दान्तः०	दान्ते०	६०-३३	पष्ठ्या	षष्ठ्या	८९-४२
रत्व	टत्व	६१-३९	सनन्	सनम्	९२-१
सनन्	सनम्	६२-१	रसं	रसं कुलं	९३-४
७	१	६२-१	तखा	तखा	९३-३७
वंम	वम्म	६२-७-३१	न्यत्	न्यत	९४-८
औत्र	ओत्र	६२-२८	दधा,	दधा, दधे,	९४-१३
नाभ्य	नाभ्य	६३-२५	नपुं	नपुं	९४-४०
मंदि	मन्दि	६३-३९	प्राण्यौ	प्राण्यो	९६-१२
आनन्द	आनन्द	६३-४०	ति०	तौ०	९६-१५
पेसा	पसा	६४-४४	पत्ते;	पत्ते ;	९६-४२
मिस्सा	मिस्सटा	६५-१	दीष्टा	दीष्टा	९६-४३
ख्यका	ख्याक	६५-४६	उर्जा	उर्जा	९७-२५
वस्या	वमस्या	६६-४३	रेवे	रेवे	९७-२६
इदु	इदु	६७-२०	मिच्छं	मिच्छ	१००-२
घार्यं	घार्यं	६७-३२-४७	श्चि०	श्चिव०	१००-२०
त्वकं०	त्वतस्त्वकं०	६८-१६	साने	साने	१०१-३४
इदु	इदु	६९-२६	शेषु	शेषु	१०२-३७
स्त्व	रत्व	६९-३९	कट	कट	१०२-४३
			वाग्मी	वाग्मी	१०३-६

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
कर्तृ	कट्	१०३-१०	धुटि	धुटि	१३६-४५
हिंस	हिंस्र	१०३-१५	'अञ्'	'अञ्'	१३७-१७
सो	से	१०३-१५	रुप	रूप	१३८-१७-३५
वाग्मी	वाग्मी	१०३-२५	धुद्	धुद्	१३८-४०
श्चि	श्चि	१०३-३७	घञ्	घञ्	१३९-१८
दण्डीनी	दण्डीनी	१०३-४७	थ च	थश्च	१३९-२६
वाग्मी	वाग्मी	१०४-१६	घांक्	घांक्	१३९-२८-३४
चक्रः	चक्रू	१०६-२५	ऋतां	ऋतां	१४०-२३
मंदि	मन्दि	१०६-२६	घोढ	घो ढ	१४०-३४
आनन्द	आनन्द	१०६-२७	लु	लू	१४०-३६
रांत	रान्त	१०६-३०	वाऽ	वाऽऽ	१४१-३५
स्यव	स्यैव	१०७-१६	नूयि	नूयी	१४२-३३
लुग्या	लुग्वा	१०७-२५	चञ्चुप्	चञ्चुः	१४२-३८
स्त्री	स्त्री	१०९-३२	जत्	जन्त्	१४३-१९
वाभिः	वाभिः,	१११-१५	उत्र	ओत्र	१४३-२०
सनन्	सनम्	११२-१	शत्	शन्त्	१४३-३०
।२।	।४।	११३-१४	काष्ट	काष्ट	१४४-२३
लुम्भ	लुम्भ	११३-३०	न्सम	न्स	१४५-१८
दस	दसद्	११३-४५	स्पर्ध	स्पर्धि	१४५-३९
युष्य	युष्म	११५-११	हर्षे	घर्षे	१४५-३९
ञ्चैत	ञ्चैत	११५-४८	पुम्स	पुम्स	१४५-४०
यष्म	युष्म	११६-३	नादेः	नादेः०	१४५-४३
त्तनो	त्तिनो	११६-९	ग्मी	ग्मी	१४६-३
महां	महां	११८-४	पेत्	पैत्	१४७-३४
मप्रा	माः	११८-६	ऋक्	ऋक्	१४८-३२
जनं	जन	१२०-६	रुच्चा	रुच्चा	१४८-३९
इति के	इत्यके	१२२-४०	उका	उका	१४८-४०
विधि	विधिः	१२४-२९	विस	विश	१४८-४०
आनत्	आनात्	१२५-९	बन्धश्	बन्धश्	१४९-१६
इत्वं	ईत्वं	१२७-२२	रुप्य	रूप्य	१४९-२६
स्येका	स्यैका	१२७-२३	रुच्च	रुच्च	१४९-३८
इङ्क्	इङ्क्	१२७-३७	अञ्	अञ्	१५०-१४
भव	भव	१२८-१२-४०	अञ्	अञ्	१५०-४२
रंभा	रम्भा	१२९-३०	ग्न्याम्	ग्न्याम्	१५१-३
नैवं	नैवं	१३०-३७	भौ	भौ	१५२-१२
ओल	ओल	१३२-२७	यि	यी	१५४-२३
रुद्	रुद्	१३२-२८	रुघः	रुघां	१५४-२४
यागा	योगा	१३२-२८	ई	ईं	१५४-२५
क्लि	क्लि	१३३-१८	डिन्	डिन्	१५४-४२
दीवू	दिवू	१३३-२३	पा !	पा !	१५५-१०
नेति	ने इति	१३३-२५	एषः	एषः	१५५-२५
शासू	शासू	१३४-१४	मन्दि	मन्दि	१५५-३३
कुर्यात्	कुर्यात्	१३५-२	आनन्द	आनन्द	१५५-३४
घञ्	घञ्	१३५-१६	ण	ण	१५५-३६
न्सम	न्स	१३५-३३	मवे	मवे	१५६-४
"	"	१३६-२६	रभ	रभ	१५६-१३
दष्ट	दष्ट	१३६-३३	धृति	धृति	१५८-४६
'स्पृशंत्'	'स्पृशंत्'संस्पृशं,	१३६-३५	ञ्जा	ञ्जा	१५९-१८
विसर्गं,	'सृजंत्'विसर्गं,	१३६-३५	चिगृद्	चिगृद्	१५९-२०
घृपा	घृपा	१३६-३५	वृक्	वृक्	१५९-२०

अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति-।	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।	पृष्ठ-पङ्क्ति ।
नयो	नययो	१५९-२२	वृत्य	वृत्य	२१९-३३
ञ्चा	ञ्जा	१५९-२३	ओत	ओत	२२२-२१
चि	चीं	१५९-२६	वञ्च	वच	२२३-२५
त्यु	त्यु	१५९-४३	ड्या	ड्या	२२८-२६
सि	ति	१५९-४४	घुटि	घुटि	२२९-३८
गो	गो	१५९-४४	स्नुहस्त्रि	णुहस्त्रि	२३०-१६
त्या	त्या	१६०-१५	तीया	तीया च	२३०-२५
वृत्य	वृत्य	१६०-३८	साधा	साधा	२३०-२७
क्रिय	क्रिय(य.)	१६२-६	ध्याय	ध्याय	२३२-२१
व्याप्य	व्याप्य(प्यः)	१६२-७	दीप	दीयः	२३२-२५
भिप्	भिप्	१६२-१९	न्यास	न्यास	२३२-३७
कर्म	कर्माणि	१६२-३२	एका	एका	२३३-२२
हार्य	हारार्थ	१६३-३२	माल	मार	२३४-३
यः	य. स	१६३-३६	सिन्धी	सिन्धी	२३४-३४
स च	तच्च	१६६-३१	इंग्ली	इंग्ली	२३४-४६
धूप	धूप	१६७-२१	सिन्धी	सिन्धी	२३५-२७-३२
७०४	२०७	१६९-२४	पः ,, १ २.३.४.	पः	२३६-६
कत	कत	१७०-१	गंगा	गङ्गा	२३६-१३
णसाम	णामा...	१७०-२३	मुम्बा	मुम्ब	२३६-१३
यी	यी	१७०-३२	इंग्ली	इंग्ली	२३६-१८
पत्यो	पत्यो	१७०-३७	सिन्धी	सिन्धी	२३६-१८
स	सा	१७१-३४	सिन्धी	सिन्धी	२३६-२५
इक्षर्ष	इक्षर्ष	१७१-४४	ज्ञान्त	ज्ञान्त	२३६-३२
हावऽधि	हाऽवधि	१७२-३२	चन्द्र	चन्द्र	२३७-११
इति	इति न	१७३-२२	मञ्ज	मञ्ज	२३७-१८
मिच्च	मिच्चि	१७५-९	हृह	हृह	२३७-२८
ञ्चां	ञ्च	१७५-३७	गुजराती	हिन्दी	२३७-३०
अधी	आधी	१७८-४२	हैमच्छ	हैमच्छ	२३७-३४
इते	इते	१७९-१७	नान्ताद्	नाद्	२४१-३३
जन्ति	जति	१८०-२७	रुज	रुज	२४७-२०
वृत्य	वृत्य	१८१-४६	सर्तेगो	सर्तेगो	२५२-२९
तीय	तीये	१८२-९	हन	हन	२५३-२७
घते	घत्ते	१८२-२९	ध७	ध६	२५३-३०
पुत्रे	पुत्रे	१८७-२	करा	कारा	२५६-४
पूर्वा	पूर्वा	१९७-४०-४३-४४	पर्मः !	पर्म !	२५७-३२
त्राऽऽ	त्राऽऽ	१९९-१	दाभिषिचौ	दाभिषिचौ	२५८-२६
पोऽपे	पोऽपे	१९९-३२	शन्द	शब्द	२५९-१७
केन	केन	२०१-४०	राज	राजः	२६३-१८
थैवं	थैवं	२०३-३१	व्यय	व्यय	२६७-१४
णे"शा०॥१३॥६९॥२०४-४२	णे"शा०॥१३॥६९॥२०४-४२		ध्वं	ध्वं	२७३-४४
कर्ण	कर्ण	२०६-२-१९	णम	णम	२७६-१२
णो.	णो.	२०६-२३	मिधायितया	मिधायितया	२७८-३१
सोः	सोः	२०६-३६	प्वदि	प्वदि	२८०-२५
कर्ण	कर्ण	२०९-७	स्यापि	स्यापि	२८२-४३
डे अपि	डे अपि	२०९-१७	ण्यस्या	ण्यस्या	२८३-३२
अनेन	अनेन	२०९-१७	दशा	दशा	२८३-३४
ज्यू	ज्यू	२१२-८	पादः	पादः	२८५-४४
कय	कय	२१५-३५	पर्म	पर्म	२८७-२७
द	द	२१६-२७	ज्यते	ज्यते	२८८-३८